जैनाचार्य-जैनधर्म दिवाकर-पूज्य श्री घासीलालजी महाराज
विरचित दीपिका-निर्युक्ति व्याख्या द्वयोपेत
हिन्दी गुर्जर भाषानुवादसहितम्

॥ तत्त्वार्थसूत्रम् ॥

प्रथमो भागः

नियोजकः

संस्कृत प्राकृतज्ञ-जैनागमनिष्णात प्रियव्याख्यानि
पण्डित मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज

प्रकाशकः

राजकोट निवासी स्व. दोशीपोपटलाल मूलजीभ्रातुरात्मज प्रभुलालस्य
धर्मपत्नी लाभुबहेन प्रदत्त द्रव्यसाहाय्येन
अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धारसमिति प्रमुखः
श्रेष्ठि श्री शान्तिलाल मङ्गलदास भाई महोदयः
मु. राजकोट

प्रथमा आवृत्ति	वीर सम्वत्	विक्रम सवत्	इस्वी सन्
प्रति १०००	२४९९	२०२९	१९७३

मूल्य रु. ३५

मिलने का पत्ता
अ. भा. श्वे. स्थानक वासी
जैन शास्त्रोद्धार समिति
ठ. गरेडीया कूवारोड
राजकोट (सौराष्ट्र)

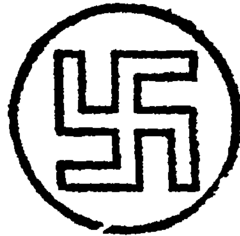
Published by .
Shri Akhil Bharat S S
Jain Shastraddhara Samiti,
Garedia Kuva, Road, RAJKOT,
(Saurashtra), W Ry, India

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्'
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैषयत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा,
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१॥



हरिगीतिच्छन्दः

करते अवज्ञा जो हमारी यत्न ना उनके लिए,
जो जानते हैं तत्त्व कुछ फिर यत्न ना उनके लिये,
जनमेगा मुझसा व्यक्ति कोई तत्त्व इससे पायगा,
है काल निरवधि विपुल पृथ्वी ध्यान में यह लायगा ॥२॥



मूल्य रु० ३५

प्रथम आवृत्ति. १०००
वीर संवत २४९९
विक्रम संवत् २०२९
ईस्वीसन १९७३

मुद्रकः
रामानन्द प्रिन्टिंग प्रेस
काकरिया रोड,
अहमदावाद-२२

तत्त्वार्थसूत्र की विषयानुक्रमणिका

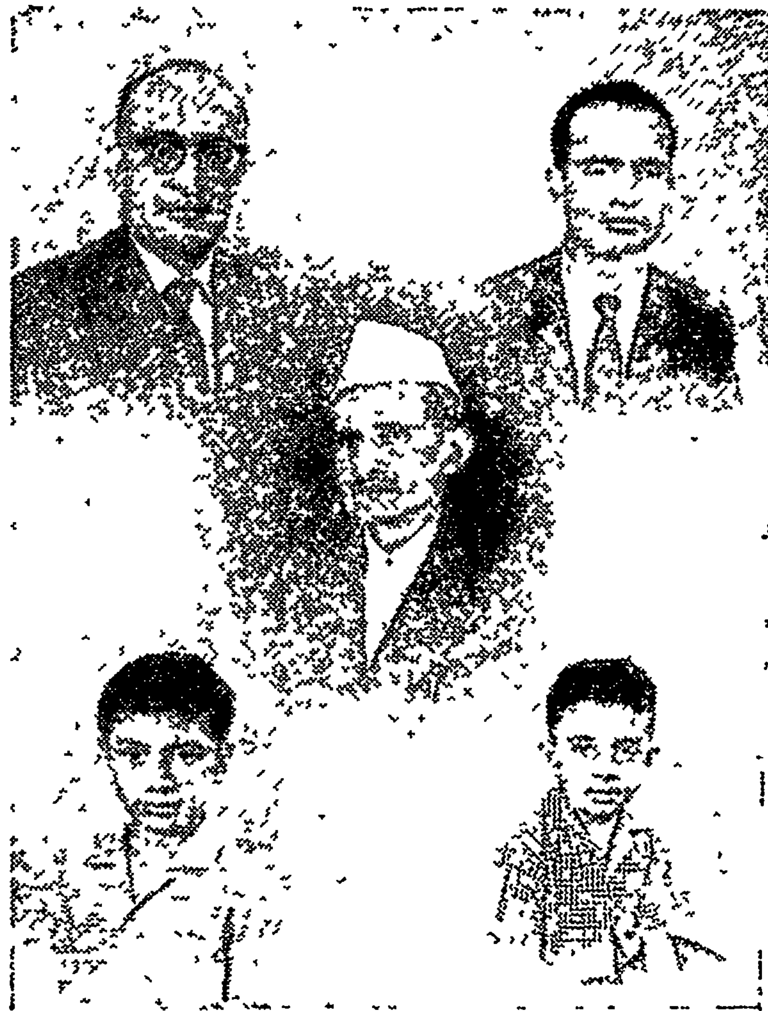
दूसरा अध्याय

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क

चौथा अध्याय

समाप्त

આ ગ્રંથના પ્રકાશનાર્થે સહાય કરનાર સદ્‌ગૃહસ્થ



રાજકોટવાળા

સ્વ. શેઠશ્રી પ્રભુદાસભાઈ દોશી તથા તેમના સુપુત્રો

શ્રી

તત્ત્વાર્થસૂત્ર ભા. ૧ ના ગુજરાતી વિભાગની

વિષયોનુક્રમણિકા

ત્રીજો અધ્યાય

ચોથો અધ્યાય

પાંચમો અધ્યાય

સમાપ્ત

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

॥ श्री जैनाचार्य–जैनधर्मदिवाकर–पूज्य–श्री घासीलालव्रतिविरचितं दीपिका–निर्युक्त्याख्यया व्याख्यया समलङ्कृतम् ॥

तत्त्वार्थसूत्रम्

मङ्गला चरणम्—जिनेन्द्रचन्द्रं नतदेववृन्दं विनष्टतन्द्रं समवाप्तभद्रम् ।
नत्वो विधत्ते नव तत्वसारं तत्त्वार्थसूत्रं मुनिघासीलालः ॥

मूलसूत्रम्—जीवाजीवबंधपुण्णपावासवसंवरणिज्जरा मोक्खा नव तत्ताइं ॥सूत्र १॥

छाया—जीवा-ऽजीव-बन्ध-पुण्य-पापा-ऽऽस्रव संवर निर्जरा मोक्षा नवतत्त्वानि ।सूत्र १।

दीपिका—अथाऽहं संसारार्णवं समुत्तितीर्षूणाम् आर्हततत्त्वजिज्ञासूनां भविकजनानां जैनाऽध्यात्मतत्त्वस्वाध्यायार्थं सर्वजैनाऽऽगमसाराणां स्वगवेषणात्मकबुद्ध्या यथाशक्ति संग्रहं कृत्वा तत्त्वार्थसूत्राणि प्राकृतभाषायां नवाध्यायेषु संरब्धवान् क्वचित्–शब्दश आगमशब्दानामेव संग्रहं कृतवानस्मि क्वचिच्चा-ऽऽगमार्थानां संक्षेपेण संग्रहं विहितवान् क्वचित्पुनरागमे बृहद्रूपेण प्रतिपादितानां विषयाणां सरलतया वर्णनं कृतवान् अस्मीत्येवं रीत्या जैनागमसमन्वयात्मकं तत्त्वार्थसूत्रस्याऽऽशयं

तत्त्वार्थटीकानुवाद

मंगलाचरण

'जिनेन्द्रचन्द्रं' इत्यादि ।

देवगण जिनके चरणो में नमस्कार करते है, जो तन्द्रा से रहित है अर्थात् जिनके ज्ञान की अनुपयोग–अवस्था दूर हो गई है—जो सतत उपयोगमय क्षायिक केवलज्ञान से सम्पन्न है अथवा मोहजनित प्रमाद से सर्वथा रहित हो गए है और जिन्होने भद्र अर्थात् कल्याण को पूर्ण रूपसे प्राप्त कर लिया है, उन जिनेन्द्र भगवान् रूपी चन्द्र को प्रणाम करके मुनि घासीलाल नौ तत्त्वो के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने वाले भव्य तत्त्वार्थसूत्र की रचना करते हैं ॥१॥

दीपिकार्थ—जो संसार–सागर से पार होने के अभिलाषी है और उसके लिए अर्हन्त भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक है, ऐसे भव्य जनो के स्वाध्याय के हेतु समस्त आगमो के सार का, अपनी गवेषणात्मक बुद्धि से यथाशक्ति सग्रह करके, प्राकृत भाषा में नौ अध्यायो में तत्त्वार्थसूत्र की मैंने रचना की है । यह रचना अपनी बुद्धि से तत्त्वो की नूतन कल्पनाकरके नहीं किन्तु कहीं–कहीं आगमो का शब्दशः सग्रह करके और कहीं–कहीं आगम के अर्थ को संक्षेप करके की है । कहीं–कहीं आगमो में विस्तृत रूप से प्रतिपादित किये

विशदीकर्तुं यथाशास्त्रं स्वमत्यनुसारं 'तत्त्वार्थ दीपका' विरच्यते तत्र–प्रथमं तावद् वक्ष्यमाणोत्तराध्ययनसूत्राऽनुसारं जीवादि नव तत्त्वानि प्ररूपयितुमाह—

जीवा १ ऽजीव २ बंध ३ पुण्ण ४ पावा ५ ऽऽसवसंवर ६ णिज्जरा ७ मोक्खा ८ नव तत्ताइं ९ इति।

जीवः १ अजीवः २ बन्धः ३ पुण्यं ४ पापम् ५ आस्रवः ६ संवरः ७ निर्जरा ८ मोक्षः ९ चेत्येतानि नव तत्त्वानि सन्ति।

तत्र–जीवस्तावद् उपयोगलक्षणचैतन्यस्वभावो बोधस्वरूपः प्रदीपप्रकाशादिवद् गज–पिपीलिकादिकायाऽनुसारेण संकोच–विकासशाली त्रसस्थावरादिरुच्यते।१

अजीव' खलु चैतन्यरहितः अबोध स्वरूपो धर्मास्तिकायादि रुच्यते।२

बन्धस्तु—जीव-कर्मणो र्जतुकाष्ठवत् संश्लेषः कर्मवर्गणारूपपुद्गलादानरूपः।३ पुण्यं-शुभकर्म पुनात्यात्मानमिति पुण्यम्।४। पापम्—अशुभकर्म पातयति दुर्गतौ वात्मानमिति पापम्—

गये विषयो का सुभग रूप से वर्णन किया है। इस प्रकार जैनागमों के समन्वय रूप इस तत्त्वार्थ सूत्र नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है।

इस तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रों के अनुकूल, अपनी मति के अनुसार तत्त्वार्थदीपिका नामक टीका की रचना करता हूँ।

प्रथम उत्तराध्ययन एवं स्थानांग सूत्र के अनुसार प्राकृत ग्रंथ में कहे जाने वाले नव तत्त्वों का निर्देश करते हैं—

(१) जीव (२) अजीव (३) बन्ध (४) पुण्य (५) पाप (६) आस्रव (७) संवर (८) निर्जरा और (९) मोक्ष, ये नव तत्त्व है।

(१) जीव उपयोग लक्षण चैतन्य स्वभाव बोध स्वरूप-एवं ज्ञानमय है। जैसे दीपक का प्रकाश संकोच–विस्तारमय होता है–छोटी जगह में भी समा जाता है और विस्तृत क्षेत्र में भी फैल जाता है, उसी प्रकार जीव जब पिपीलिका (कीड़ी) के पर्याय में उत्पन्न होता है तो उसके छोटे–से शरीरमें समा जाता है और हाथी के पर्याय में उत्पन्न होता है तो विस्तृत होकर उसके शरीर को व्याप्त करके रहता है। ऐसे त्रस और स्थावर आदि प्राणियों को जीव कहते है।

(२) चैतन्य से रहित, अज्ञान स्वरूप (ज्ञानशून्य) धर्मास्तिकाय आदि अजीवतत्त्व है।

(३) लाख और लकड़ी के समान या दूध और पानी के समान जीव और कर्मपुद्गलों का एकमेक हो जाना अर्थात् कार्मणवर्गणा के पुद्गलो का आदान बन्ध कहलाता है।

(४) शुभ कर्म पुण्य कहलाता है। पुण्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जो आत्मा को पुनीत–पवित्र करे सो पुण्य है।

।५ आस्रवः—खलु शुभाऽशुभकर्माऽऽगमनमार्गः प्राणातिपातादिः । भवागमनहेतुभूतः क्रियाविशेषः आस्रवत्यनेन कर्म—इत्यास्रवः । ६

संवरः खलु तथाविधास्रवनिरोधरूपः येनाऽऽत्मनि प्रविशत्कर्म संव्रियते- निरुध्यते स संवरः त्रिगुप्ति पञ्च समित्यादिः ।७ आस्रवं स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।

उक्तञ्च—आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् इति । निर्जरा च—उपार्जितकर्मणः तपः संयमादिना देशत्ये निर्जरणं—क्षपणम् , यद्वा—समुपार्जितकर्मणां विपाकात् तपसा वा देशतः शाटनं निर्जरा । तथा च पूर्वोपार्जितकर्मणां तपोध्यानादिभिर्निर्जरणं देशतः—आत्मनः सकाशात् पृथक्करणं निर्जरा । ८ मोक्षस्तु—आत्यन्तिककृत्स्नकर्मक्षयरूपो बोध्यः । तथाचोक्तम्—उत्तराध्ययनस्य २८ अष्टाविंशतितमे अध्ययने—

जीवाऽजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो णिज्जरामोक्खो संतेए तहिया नव ॥१॥

निर्युक्तिः—अथाहं भवतितीर्षुणां जिनतत्त्वजिज्ञासूनां जैनागमतत्त्वस्वाध्यायार्थम् आगमसारान् स्वबुद्धया यथाशक्ति संगृह्य तत्त्वार्थ सूत्राणि नवाध्यायेषु निर्मितवान् तत्र—कचित् शब्दश आगम

---

(५) आत्मा के दुर्गति में पतन का जो कारण हो वह अशुभ कर्म पाप कहलाता है।

(६) शुभ और अशुभ कर्मों के आगमन का मार्ग, भवभ्रमण का कारण प्राणातिपात आदि क्रिया रूप आस्रव है । अर्थात् जिससे कर्म आते है, वह आस्रव है ।

(७) आस्रव का रुक जाना सवर तत्त्व है । तात्पर्य यह है कि आत्मा में प्रविष्ट होते हुए कर्म जिस आत्मपरिणाम के द्वारा रुक जाते हैं, उन तीन गुप्ति, पाँच समिति आदि को संवर कहते हैं । जो आस्रव के स्रोत द्वार को रोक देता है - संवृत कर देता है, वह संवर है । कहा भी है— आस्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है !

(८) पहले जो कर्मबँध कर चुके है उनका तप—संयम आदि से निर्जीर्ण होना—झड़ जाना, खिर जाना या आंशिक रूप से क्षय हो जाना निर्जरा है । अथवा पूर्वोपार्जित कर्म यथाकाल अपना फल देकर या तपस्या आदि द्वारा क्षीण हो जाएँ वह निर्जरा तत्त्व है । अभिप्राय यह है कि पहले बँधे हुए कर्मों का तप, ध्यान आदि के द्वारा एकदेश से क्षीण हो जाना अर्थात् आत्मप्रदेशो से पृथक् हो जाना निर्जरा है ।

(९) सदा के लिए समस्त कर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है । उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में कहा है—

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व है ॥१॥

तत्वार्थ निर्युक्ति—बत्तीस आगमो की टीका रचने के पश्चात् मैंने संसार से तिरने की इच्छा रखने वाले और जिनप्रतिपादित तत्त्वो को जानने के अभिलाषी जनो के स्वाध्याय के

शब्दानेव संगृहीतवान् क्वचिच्च--आगमार्थान् संगृह्य तेषां संक्षेपेण वर्णनं कृतवानस्मि तथाच अर्हदागम-समन्वयात्मकं तत्त्वार्थसूत्रं समगृह्णाम् , तस्य संक्षेपेण संगृहीतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्याऽऽशयं विशदयितुं शास्त्रानुसारं यथामति मया निर्युक्तिः क्रियते 'जीवाजीव' इत्यादि ।

जीवाः १ अजीवाः २ बन्धः ३ पुण्यं ४ पापम् ५ आस्रवः ६ संवरः ७ निर्जरा ८ मोक्षश्च ९ इत्येतानि नव तत्त्वानि सन्ति ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनस्य २८ अष्टाविंशतितमेऽध्ययने....

जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरामोक्खो संतेए तहिया नव ॥१॥

इति---तत्र चैतन्यलक्षणो जीवो बोधस्वरूपः प्रदीपप्रकाशादिवत्" हस्ति--कुन्थु प्रभृति शरीरानुसारेण संकोचविकाशशाली--एकेन्द्रियादिर्व्यपदिश्यते ।

अथवा---औपशमिकक्षायोपशमिकादिभावान्वितसाकाराऽनाकारोपयोग व्यपदेश्यः । शब्द रूपादिविषयपरिच्छेदी भूतभविष्यद् वर्तमानेषु समानकर्तृकक्रियः पुण्यपापकर्त्ता तत्फलभोक्ता अमूर्त्त स्वभावश्च बोध्यः ।

अर्थ,-यथाशक्ति और यथामति आगमो का सार--संग्रह करके नौ अध्यायो में तत्त्वार्थ सूत्र का निर्माण किया है । प्रस्तुत तत्त्वार्थ सूत्र में कहीं--कहीं आगमो के शब्दो को ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया है,और कहीं-कहीं आगम के अर्थ का संक्षेप में वर्णन किया है । इस प्रकार यह ग्रन्थ आर्हतआगम का एक समन्वयात्मक ग्रंथ है । संक्षेप में रचित तत्त्वार्थसूत्र के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए अपनी मति के अनुसार निर्युक्ति की रचना की जाती है ।

(१) जीव (२) अजीव (३) वन्ध (४) पुण्य (५) पाप (६) आस्रव (७) संवर (८) निर्जरा और (९) मोक्ष, ये नौ तत्त्व है । स्थानांग सूत्र में, ६६५ वें सूत्र में, नवम स्थान में कहा है---'नौ सद्भाव रूप पदार्थ शब्द से तीर्थंकरो ने और अर्थ से गणधरों ने कहे है । वे इस प्रकार है --जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष ।

उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन में भी इन्हीं नौ तत्त्वो का निर्देश किया गया है, इनमें पहला तत्त्व जीव है जो चैतन्य स्वरूप अर्थात् ज्ञानमय है । जैसे दीपक के प्रकाश में संकोच-विस्तार का गुण है, उसी प्रकार जीव में भी है । इस गुण के कारण जीव हस्ती और कुन्थु आदि के वड़े--छोटे शरीर के अनुसार संकुचित और विस्तृत हो जाता है । सांसारिक अवस्था में अपने द्वारा उपार्जित नामकर्म के अनुसार वह त्रस--स्थावर, देवनारक, एकेन्द्रिय--द्वीन्द्रिय आदि कहलाता है । अथवा जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भावो से युक्त होता है, साकार--उपयोग (ज्ञान) तथा अनाकार--उपयोग (दर्शन) रूप है, शब्द रूप आदि विषयो

उक्तञ्चोत्तराध्ययनस्य विंशतितमेऽध्ययने गाथा ३७ 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य' इति । अस्य भेदोपभेदान् अग्रे वक्ष्यन्ति चैतन्यलक्षणरहितः अबोधात्मकोऽजीवो धर्मास्तिकायादि स्वरूपः । स च चतुर्विधः धर्मास्तिकाया--ऽधर्मास्तिकाया--ऽऽकाशाऽस्तिकायपुद्गलास्तिकायभेदात् ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनस्य २८ अध्ययने "धम्मो अहम्मो आगासं" । एवञ्च जीवाजीवात्मकं तत्त्वद्वयं परमावश्यकतया विज्ञातुम् अन्यत्राऽपि उक्तम् —

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयञ्च कुर्वतः ॥१॥

हेयं हि रागद्वेषादि तत्कार्यमविवेकिता उपादेयं परं ज्योतिरूपयोगैकलक्षणम् ॥१ इति॥

अयोगोलकवद् नीरक्षीर--वद् वा जीवकर्मणो र्जतुकाष्ठन्यायेन संश्लेषः कर्मवर्गणा रूप पुद्गलादानं बन्धः वक्ष्यमाणाऽऽस्रवरूपहेतुभिर्गृहीतस्य कर्मण आत्मना सह प्रकृत्यादि विशेषित संयोगो वा बन्धः ।

पुण्यं—शुभकर्म तच्चाऽन्नपुण्यादिकं नवविधं पुण्यमग्रे वक्ष्यते पुनाति पवित्रीकरोति आत्मानमिति पुण्यपदव्युत्पत्तिः ।४

का विज्ञाता, पुण्य—पाप का कर्त्ता एवं उनके फल का साक्षात् भोक्ता और स्वभावतः अमूर्त अर्थात् रूप रस गन्ध और स्पर्श से रहित है । उत्तराध्यय सूत्र के २० वें अध्ययन गाथा ३७ में कहा है—'आत्मा स्वयं ही अपने दुःख—सुख का कर्त्ता--हर्त्ता है ।' जीव के भेद-प्रभेदो का वर्णन आगे किया जाएगा ।

जिसमें चेतना न हो, जो जड़ हो वह अजीव तत्त्व है । उसके चार भेद है—(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय । उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में कहा है—धर्म, अधर्म आकाश । इस प्रकार जीव और अजीव इन दो तत्त्व का जानना परमावश्यक होने के कारण अन्यत्र भी कहा हैं—

'जो उपादेय ग्राह्य को ग्रहण करना चाहता है और हेय को त्यागना चाहता है, उसके लिए दो मूलभूत तत्त्व है—जीव और अजीव ।

राग—द्वेष आदि तथा उनसे उत्पन्न होने वाले अज्ञान आदि हेय है और उपयोग रूप परम ज्योति उपादेय है ।'

अग्नि और लोहे के गोले के समान अथवा क्षीर और नीर के समान कार्मणवर्गणाओ का आत्मप्रदेशो के साथ एकमेक हो जाना बन्ध कहलाता है । आगे कहे जाने वाले आस्रव के कारणों से गृहीत कर्म पुद्गलो का प्रकृति, स्थिति आदि विशेषणो से विशिष्ट संयोग होना बन्ध है ।

शुभ कर्म पुण्य कहलाता है । अन्नपुण्य आदि के भेद से उसके नौ भेद है, यह आगे

पापम्—अशुभकर्म प्राणातिपातादिकमष्टादशविधपापम्, तदग्रे स्फुटी करिष्यते। पातयति दुर्गतावात्मानमिति पापपदव्युत्पत्तिः ५ आस्रवति—आगच्छति येन कर्म स आस्रवः शुभाशुभकर्मादानहेतुः, भवागमनकारणमित्यर्थः ६; आस्रवनिरोधरूपः संवरः येनात्मनि प्रविशत् कर्म निरुध्यते, स त्रिगुप्ति—पञ्चसमित्यादिः संवर इत्युच्यते इति भावः आस्रवं स्रोतसोद्वारं संवृणोतीति संवरपदव्युत्पत्तिः।

उक्तञ्च—आस्रवो भवहेतु स्यात् ..संवरो मोक्षकारणम्

इतीयमार्हतीसृष्टिः अन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥इति॥

अथवा—तेषामेव प्राणातिपातादिरूपास्रवाणां निरोधः मनोगुप्त्यादिभिः स्थगनं संवरः ७

अर्जितस्य कर्मणः तपः संयमप्रभृतिर्निर्जरणं क्षपणं निर्जरा, अथवा—उपार्जितकर्मणां विपाकात् तपसा वा शाटनं निर्जरा।

एवञ्च—पूर्वोपार्जितकर्मणां तपो ध्यानादिभिः क्षपणं देशतः—आत्मनः सकाशात्—पृथक्करणं निर्जरेति भाव ८

कहा जाएगा। पुण्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पुनाति अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है, वह पुण्य है।

अशुभ कर्म पाप है। प्राणातिपात आदि अठारह उसके भेद हैं। इसका स्पष्टीकरण भी आगे किया जाएगा। जो आत्मा के दुर्गति में पतन का कारण हो, वह पाप है, यह पाप का व्युत्पत्ति जनित अर्थ हैं।

जिसके द्वारा कर्म आता है वह आस्रव है। अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के उपार्जन का हेतु आस्रव कहलाता है जिससे जीवका संसार में परिभ्रमण होता है।

आस्रव का रुक जाना संवर है। आशय यह है कि आत्मा में प्रविष्ट होते हुए कर्म जिसके द्वारा रुक जाते है, उस तीन गुप्ति और पाँच समिति आदि परिणाम को संवर कहा गया है। व्युत्पत्ति के अनुसार संवर शब्द का अर्थ है—जो आस्रव रूप स्रोत को संवृत करदे अर्थात् बन्द कर दे, वह संवर है। कहा भी है—

आस्रव भवभ्रमण का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है। इसी में सम्पूर्ण तत्त्व की समाप्ति हो जाती है। शेष कथन तो इसीं का विस्तार है।

अथवा प्राणातिपात आदि आस्रवों का मनोगुप्ति आदि के द्वारा निरोध हो जाना संवर है।

पूर्वोपार्जित कर्म का तप एवं संयम आदि कारणो से जीर्ण हो जाना—क्षय हो जाना निर्जरा है या उपार्जित कर्मों का विपाक अथवा तप आदि के द्वारा नष्ट हो जाना निर्जरा है तात्पर्य यह है कि तपस्या ध्यान आदि कारणों से पहले बँधे हुए कर्मों का आंशिक रूप सेपृथक् हो जाना निर्जरा है।

आत्यन्तिक कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः

यद्यपि—वाचकप्रवरोमास्वाति स्वामिना पुण्य–पाप–तत्त्वद्वयं परित्यज्य सप्तविधमेव पदार्थत्वं तत्त्वार्थसूत्रे प्रतिपादितम् किन्तु–स्थानाङ्गादौ पूर्वोक्तनवविधानामेव पदार्थतत्त्वानां प्रतिपादितत्त्वेन प्रकृतेऽपि तेषां सप्तानामिव, पुण्यपापरूपतत्त्वद्वयस्यापि हेयोपादेयतया परिज्ञानस्य परमावश्यकत्वेन नवविधतत्त्वकथनस्यैवौचित्यम्। यदि तु पुण्यपापयोरास्रवबन्धान्तर्भावेण तयोः पृथगुपादानं नोचितमित्युच्यते, तदा-ऽऽस्रवादिपञ्च तत्त्वानां जीवाजीवयोरेवान्तर्भावसंभवेन द्विविधस्यैव-जीवाजीवतत्त्वस्य तेषां कथनौचित्यापत्तिः।

तथाहि—आस्रवस्तावद् मिथ्यादर्शनादिरूपो जीवस्य परिणामविशेषः सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य न कोप्यतिरिक्तः संभवति। बन्धः पुनः पुद्गलस्वरूपमात्मप्रदेशसंश्लिष्टं कर्म-एव।

संवरस्तु—आस्रवनिरोधात्मको देश सर्वभेदलक्षण आत्मनो निवृत्तिरूपः परिणामः। निर्जरापि–तावद् देशतः कर्मपरिशाटना रूपा, ताञ्चापि जीवः स्वशक्त्या कर्मणा पार्थक्यरूप मापादयति। मोक्षोऽपि खलु–समस्तकर्म विरहितः–"आत्मैवायम्" इति रीत्या पञ्चानामपि–आस्रवादीनां जीवाजीवयोरन्तर्भावात् "जीवाजीवास्तत्त्वम्"–इत्येव सूत्रं वक्तुमुचितमासीत्, तथैव

पूर्ण रूप से समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष कहलाता है। बोध, शम, वीर्य, दर्शन तथा आत्यन्तिक, एवं ऐकान्तिक, अनाबाध एवं सर्वोत्तम सुख स्वरूप आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है।

यद्यपि वाचकवर्य उमास्वाति स्वामी ने पुण्य और पाप को छोड़ कर सात ही तत्त्वका तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादन किये हैं, तथापि स्थानांग आदि सूत्रो में पूर्वोक्त नौ पदार्थों का ही कथन किया गया है, अत एव यहाँ भी उन्हीं नौ तत्त्वो को ग्रहण किया है। जिस प्रकार हेय–उपादेय रूप से सात तत्त्वों का परिज्ञान होना परमावश्यक है उसी प्रकार पुण्य और पाप का परिज्ञान भी आवश्यक है अतएव नौ तत्त्वो का कथन करना ही उचित है। पुण्य और पाप का आस्रव और बन्ध तत्त्व में समावेश हो जाता है, अतएव उन्हें अलग गिनाना उचित नहीं है, ऐसा कहा जाय तब तो **आस्रव** आदि पाँच तत्त्वो का भी जीव और अजीव तत्त्वो में अन्तर्भाव करके दो ही तत्त्व कहना चाहिए था। यथा—आस्रव मिथ्यादर्शनादि रूप जीव का परिणामविशेष है। वह आत्मा और पुद्गल के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार आत्मप्रदेशो के साथ बद्ध कर्म भी पुद्गल होने से अलग नहीं है। संवर आस्रव का निरोध है। वह देशविरति और सर्वविरति रूप आत्मा का परिणाम ही है।

एक देश से कर्मों का पृथक् हो जाना निर्जरा है। जीव अपनी शक्ति से कर्मों को पृथक् करता है। वह भी जीव और अजीव से भिन्न नहीं है। समस्त कर्मों से रहित आत्मा ही मोक्ष है। इस प्रकार आस्रव आदि पाँचो तत्त्वों का जीव और अजीव तत्त्व में ही अन्तर्भाव हो जाता

कथं न कृतं सूत्रमिति, तथाविधसूत्ररचने हेतुवक्तव्यतापातो भवति। यदि च–शिष्याणां–तदन्येषां–जिज्ञासूनाञ्च प्रस्तुतशास्त्रे प्रवृत्त्यर्थम्–संसारमोक्षकारणतया तत्रापि–संसारकारणस्य हेयतया–मोक्षकारणस्य च–उपादेयतया, आस्रवादीनां पञ्चानां कथने परमावश्यकमित्युच्यते

तदा—तुल्ययुक्त्या पुण्य–पापयोरपि हेयोपादेयतया सूत्रेऽवश्यवक्तव्यतापातो भवति, तस्मात्–नवानामेव जीवादिपदार्थतत्त्वानां सूत्रे कथनमावश्यकमिति निरवद्यम्।

तेषाञ्च—नवविधतत्त्वानां लक्षणतो–विभागतश्च विशदरूपे विवेचनं यथायथमग्रे करिष्यते। यथा–"**उपयोगलक्षणो जीवः**" इत्येवं भावजीवस्य लक्षणं वक्ष्यते, स च–जीवो भेदोपभेदतो बहु प्रकारः–यथा–प्रथमं तावद् द्रव्यतो–भावतश्च द्विविधो जीवः, ततश्च–साकारोऽनाकारः संसारी–असंसारी त्रसाः–स्थावराश्च सूक्ष्माः–बादराः–पर्याप्ताः–अपर्याप्ताः। एवमजीवादीनामपि लक्षणं—विभागश्चाऽग्रे वक्ष्यति॥ सू०॥१॥

मूलसूत्रम्—"उवओगलक्खणो जीवो" ॥सू० २॥

छाया—उपयोगलक्षणो जीवः" ॥सू० २॥

दीपिका—प्रथमसूत्रे जीवादिनवतत्त्वानां सामान्यतो निर्देशः कृतः सम्प्रति—तेषु नवतत्त्वेषु नवमाध्याय्यां प्ररूपणीयेषु प्रथमाध्याये प्रथमोपात्तं जीवतत्त्वं प्ररूपयितुमाह—"**उवओगलक्खणो जीवो**"—इति। उपयुज्यते वस्तुस्वरूपपरिज्ञानार्थं वस्तु प्रति यः प्रेर्यते, स उपयोगः।

है। ऐसी स्थिति में **जीवाजीवास्तत्त्वम्** अर्थात् जीव और अजीव यही दो तत्त्व है, ऐसा सूत्र रचना ही उचित था फिर ऐसा सूत्र क्यो नहीं रचा? कदाचित् यह कहा जाय कि शिष्यो तथा अन्य जिज्ञासुओ को हेय उपादेय की शिक्षा देने के लिए अर्थात् आस्रव और बन्ध संसार के कारण होने से हेय है और संवर तथा निर्जरा मोक्ष के कारण होने से उपादेय है और मोक्ष तो मुख्य रूप से उपादेय है ही, यह समझाने के लिए उक्त पाँच तत्त्वो का पृथक् निर्देश किया गया है, तो यही युक्ति पुण्य—पाप के विषय में भी लागू होती है। पुण्य उपादेय और पाप हेय है, इस कारण उनका भी सूत्र में कथन करना आवश्यक है।

इन नौ तत्त्वों के लक्षण और भेद का सम्यक् विवेचन विस्तार पूर्वक आगे किया जाएगा जैसे—जीव का लक्षण उपयोग है, यह भावजीव का लक्षण कहा है। भेद प्रभेद की विवक्षा से जीव अनेक प्रकार का हैं। जैसे— प्रथम तो जीव द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। फिर साकार अनाकार संसारी असंसारी त्रस स्थावर, सूक्ष्म बादर, पर्याप्त अपर्याप्त आदि भेदो से अनेक प्रकार का है। इसी प्रकार अजीव आदि के भी भेद और लक्षण आगे कहेंगे॥१॥

मूलसूत्र का अर्थ—जीव उपयोग लक्षण वाला है॥२॥

तत्त्वार्थ दीपिकाका अर्थ—'उवओग लक्खणो' इत्यादि॥२॥

प्रथम सूत्र में जीव आदि नौ तत्त्वों का सामान्य रूप से कथन किया गया है। नौ अध्यायो में नौ तत्त्वो का विवेचन करना है, इस कारण प्रथम अध्याय में पहले जीव तत्त्व की प्ररूपणा

यद्वा—आत्मनः उप-समीपे योजनमुपयोगः, सामान्येन ज्ञानं-दर्शनञ्च। तथा च—उभय निमित्तवशादुपपद्यमानश्चैतन्याऽनुविधायी परिणामः उपयोग इति फलितम्। एवंविध उपयोगो लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणो जीवः स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगः दर्शनोपयोगश्च।

तत्र—वस्तुनो विशेषपरिज्ञानं ज्ञानमुच्यते, विशेषं विहाय सामान्यावलोकनमात्रं दर्शनमुच्यते। तत्र—ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः मतिज्ञान—श्रुतज्ञाना—ऽवधिज्ञान—मनःपर्ययज्ञान—केवलज्ञान—मत्यज्ञान—श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानभेदात्।

दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः—चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन—केवलदर्शनभेदात्।

यद्वा—उपयोगलक्षणः उपयोगो विवक्षितार्थनिश्चयरूपार्थपरिच्छेदः, स्वरूपव्यापारलक्षणम्—असाधारणस्वरूपं यस्य स उपयोगलक्षणः प्रस्तुतार्थनिर्धारणव्यापारपरिणामो जीवो भावजीव इत्युच्यते। तथा च जीवस्तावद् द्विविधः भावजीवो द्रव्यजीवश्च। तत्र—औपशमिक- क्षायिक—क्षायो-पशमिक—औदयिक पारिणामिकभावयुक्तो भावजीवः उपयोगलक्षणो व्यपदिश्यते।

द्रव्यजीवस्तु—गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञाव्यवस्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्त उच्यते।

करने के लिए कहते हैं—जीव उपयोग लक्षण वाला है।

वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए वस्तु के प्रति जो उपयुक्त अर्थात् प्रेरित किया जाय वह उपयोग कहा जाता है। इसका फलितार्थ यह हैं कि अन्तरंग और बहिरंग कारणो से उत्पन्न होने वाला चैतन्य रूप परिणाम उपयोग है। इस प्रकार का उपयोग जिसका लक्षण है वह जीव है।

उपयोग के दो भेद है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। सामान्य विशेष धर्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को जानने वाला ज्ञानोपयोग और सामान्य धर्म को विषय करने वाला दर्शनोपयोग कहलाता है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनः पर्ययज्ञान ५. केवलज्ञान ६. मत्यज्ञान ७. श्रुत—अज्ञान और ८. विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

अथवा—जीव उपयोग लक्षण वाला है, यहाँ उपयोग का तात्पर्य है—किसी पदार्थ को निश्चय रूप से जानना। यह उपयोग जिसका असाधारण गुण है, वह जीव भावजीव कहलाता है। जीव के दो भेद है—भावजीव और द्रव्यजीव। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव से युक्त जो भावजीव है, वह उपयोग लक्षण वाला कहलाता है।

जो गुण और पर्याय से रहित हो, बुद्धि द्वारा कल्पित और अनादि पारिणामिक भाव से युक्त हो, वह द्रव्यजीव है।

स पुनर्जीवो द्विविधः—संसारी मुक्तश्चेति एवञ्च—तथाविधोपयोगलक्षणस्य जीवस्य ज्ञानरूपे दर्शनरूपे-च द्विविधेऽपि व्यापारे चैतन्यरूपः स्वाभाविकःपरिणामः समान एवोपजायते । जीवस्य ज्ञानदर्शन-योश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायिकत्वात् ।

तत्र—साकारं—ज्ञानं व्यवह्रियते, निराकारं दर्शनमुच्यते। स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिं प्राप्नुवत् ।

ज्ञानदर्शनरूपोपयोगः परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात् कर्मणा—"ऽयोगोलकवद्" एकीभूतस्या-त्मनो भेदप्रतिपत्तिहेतु र्भवतीति भावः ।

तत्र—फलप्रदानोन्मुखस्य समुदीर्णस्य कर्मपुद्गलावयवा जीवा जीवप्रदेशसंयोगं राग-द्वेषादिना शिथिलीकृत्याऽन्तः प्रविशन्ति जीवकर्मणोः प्रदेशरूपावयवानां परस्परमिश्रणरूपप्रदेश-बन्धेन जीवः कर्मपुद्गलेन सहैकीभूतो भवति। दुग्धोदकवद् भेदेन ज्ञातुं न शक्यते । तदानीं सम्यगुपयोगेन तु—अयं खलु जीवः स्वस्मिन् मिश्रितेभ्य कर्मपुद्गलेभ्यः पार्थक्येन ज्ञातुं शक्यो भवति । तस्मिन्काले उपयोगावस्थायां कर्मपुद्गलानां चैतन्यरूपेण परिणत्यभावात् । इत्येवं रूपो भाव जीवो बोध्यः । यदा खलु अस्मिन् देहे स्थितो जीवो ज्ञानादिभिर्भावैर्विप्र-युक्तत्वेन विवक्ष्यते तदा—द्रव्यजीवो व्यपदिश्यते इति ॥ सू० २ ॥

इस प्रकार उपयोग लक्षण वाले जीव के ज्ञान रूप और दर्शनरूप दोनो प्रकार के व्यापार में चैतन्य रूप जो स्वाभाविक परिणाम है, वह तो समान ही होता है । जीव में ज्ञान या दर्शन रूप स्वाभावक चैतन्य परिणाम रहता ही है ।

यद्यपि कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशो के साथ उसी प्रकार एकमेक हो जाते है जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला और अग्नि, फिर भी जैसे उष्णता गुण के कारण अग्नि अलग और गुरुता गुण के कारण लोहे का गोला अलग पेहचान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने असाधारण उपयोग गुण के कारण जीव अलग से पेहचान लिया जाता है ।

कार्मण वर्गणा के अनन्तानन्त प्रदेश योग और कषाय का निमित्त पाकर आत्म-प्रदेशो के साथ बद्ध हो जाते हैं उस समय जीव के प्रदेशो और कर्मप्रदेशो का परस्पर में मिश्रण हो जाता है। जैसे दूध और पानी का मिश्रण होने पर दोनो एकमेक हो जाते है उसी प्रकार आत्मा और कर्म भी एकमेक हो रहे है—अनादिचाल से दोनों की मिश्रित स्थिति है, फिर भी उपयोग गुण के कारण जीवको पृथक् समझ लिया जाता क्योकि उपयोग रूप परिणति जीव में ही होती है । कर्म भले जीव के साथ मिले हुए हो फिर भी उनका चैतन्य—उपयोग रूप परिणमन कदापि नहीं होता । यही भावजीव है जब इस देह में स्थित जीवकी ज्ञान आदि भावो से रहित रूप में विवक्षा की जाय तब वह द्रव्यजीव कहलाता है ॥ २ ॥

निर्युक्तिः—त्रैविध्येन तावद् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्भवति । उद्देशतः—लक्षणतः—परीक्षणतश्च । तत्र—पदार्थानां नाम्ना संकीर्तनम् उद्देशः, पदार्थानामसाधारणधर्मकथनम्, लक्षणं परीक्षणन्तु लक्षितस्य लक्षणमिदं युज्यते—न वा—३ इति वचनं बोध्यम् ।

तत्र—जीवादिपदार्थानां नाम्ना स्वरूपनिर्देशरूपं संकीर्त्तनं प्रथमसूत्रेण प्रतिपादितम्, सम्प्रति—नवानामपि जीवादिपदार्थतत्त्वानां क्रमशो लक्षणानि निर्वक्तुं प्रथमं जीवस्य लक्षणमाह—

"**उवओगलक्खणो जीवो**—" इति । उपयोगलक्षणः—उपयोगः—विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थग्रहणव्यापाररूपः, लक्षणं—असाधारणधर्मो यस्य स उपयोगलक्षणो जीवः भावजीव इत्युच्यते । तथा च जीवस्तावद् प्रथमं द्विविधः द्रव्यजीवो—भावजीवश्च । तत्र—गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीव उच्यते । भावजीवः पुनः औपशमिक—१ क्षायिक—२ क्षायोपशमिक—३ औदयिक—४ पारिणामिक ५ भावयुक्तः उपर्युक्तोपयोगलक्षणो व्यपदिश्यते । स पुनर्द्विविधः संसारी—मुक्तश्चेति ।

तथा च – उक्तविधोपयोगलक्षणस्य जीवात्मनो ज्ञानरूपे दर्शनरूपे च द्विविधेऽपि व्यापारे

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है उद्देश से, लक्षण से और परीक्षा से । वस्तुओं के नाममात्र को कह देना उद्देश कहलाता है उनके असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण है और जिसका लक्षण कहा है उसका वह लक्षण उचित है या नहीं इस बात का विचार करना परीक्षा है ।

प्रथम सूत्र में जीवादि पदार्थों का नाम निर्देश किया जा चुका है । अब जीवादि नौ पदार्थों का अनुक्रम से लक्षण बतलाने के लिए सर्वप्रथम जीव के लक्षण का कथन किया जाता है ।

जीव उपयोग लक्षण वाला है । यहाँ उपयोग का अर्थ है किसी पदार्थ को जानना रूप व्यापार । यह उपयोग जिसका असाधारण धर्म है अन्य किसी में भी न पाया जाने वाला गुण है वही भावजीव कहलाता है

जीव के प्रथम दो भेद है—द्रव्यजीव और भावजीव । जो गुण और पर्याय से रहित हो प्रज्ञा में स्थापित किया गया हो अर्थात् वास्तव में न होने पर भी जो केवल कल्पना से मान लिया गया हो, ऐसा पारिणामिक भाव से युक्त जीव द्रव्यजीव कहलाता है । (वास्तव में कोई भी जीव, चाहे वह संसारी हो अथवा मुक्त हो कभी भी अपने गुण और पर्याय से रहित नहीं हो सकता । कोई न कोई गुण और पर्याय उसमें सदैव विद्यमान रहता है । फिर भी द्रव्य का भंग शून्य न रहे, इस प्रयोजन से ऐसी कल्पना कर ली जाती है, जो जीव औपशमिक भावो से युक्त है और जिसमें उपयोग लक्षण पाया जाता है, वह भावजीव कहलाता है । उसके दो भेद है— संसारी और मुक्त ।

उपयोग लक्षण वाले जीव का ज्ञानरूप और दर्शनरूप—दोनों प्रकार के व्यापार में चैतन्य

चैतन्यरूपेण स्वाभाविकः परिणामः समान एव भवति। ज्ञानदर्शनयोर्जीवात्मनश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायित्वात्, तत्र—साकारं ज्ञानं व्यपदिश्यते, निराकारं दर्शनमुच्यते।

स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिमासादयन् ज्ञानदर्शनरूपोपयोगः परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धत्वात् कर्मणा एकीभूतस्यात्मनो द्रव्यतत्व प्रतिपत्तिहेतुर्भवति।

तत्र—प्रदेशस्तावद् अवयवः जीवावयवानां परस्परं संयोगः कदाचिद् दृढो भवति, कदाचिच्च-शिथिलो भवति।

तत्र—फलप्रदानोन्मुखस्योदीर्णस्य कर्मणोऽवयवाः जीवात्मावयवसंयोगं राग-द्वेषादिना शिथिलीकृत्यान्तः प्रविशन्ति। जीवकर्मणो रवयवानां मिथो मिश्रणरूपप्रदेशबन्धेन जीवः कर्मणा सहैकीभूतो भवति भेदेन ज्ञातुं न शक्यते। यथा - दुग्धं पयोमिश्रितं सद् जलेन सहैकीभूतं पार्थक्येन ज्ञातुं न पार्यते—तथाऽवसेयम्। सम्यगुपयोगेन पुनरयं जीवः स्वस्मिन् मिश्रितेभ्यः कर्मपरमाणुभ्यः सकाशात् पार्थक्येन ज्ञातुं शक्यते, तस्मिन् समये कर्मपुद्गलानां चैतन्यरूपेण परिणत्यभावात् इत्याशयः।

द्रव्यजीवस्तु—यदा यस्मिन् शरीरे स्थितः आत्मा ज्ञानादिभिर्भावैर्वियुक्तो व्यपदिश्यते, लोके भाविराजत्वस्यापि राजपुत्रस्य सेवनं दृष्टम्। तस्मिन् समये तस्य केवल द्रव्यत्वात् पृथिवी शिला-

---

रूप समान ही स्वाभाविक परिणमन होता है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन जीव के, चैतन्य रूप में स्वाभाविक परिणाम है। इनमें से ज्ञान साकार अर्थात् विशेष धर्मो का ज्ञापक है और दर्शन निराकार अर्थात् सामान्य का ही बोधक होता है।

स्वाभाविक चेतन्य रूप परिणति को प्राप्त होता हुआ ज्ञान–दर्शन रूप उपयोग कर्मों के साथ मिले हुए होने के कारण एकमेक होने पर भी आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराता है।

अभिप्राय यह है कि कर्म जब योग और कशाय के कारण आत्मप्रदेशो के साथ बद्ध होते है तो एकमेक हो जाते है बन्ध के कारण जीव अलग नहीं रहता - कर्म के साथ एक रूप हो जाता है—भिन्न मालूम नहीं पड़ता। जैसे पानी के साथ मिला दूध पानी के साथ एकमेक हो जाता, अलग नहीं मालूम होता, उसी प्रकार बन्ध होने पर जीव और कर्म भी अलग-अलग मालूम नहीं होते एकाकार हो जाते है। फिर भी उपयोग रूप लक्षण के कारण जीव की कर्मों से भिन्नता जानी जा सकती है-जीव के साथ मिल जाने पर भी कर्मपुद्गलों की चैतन्यरूप परिणति नहीं होती वह तो जीव में ही हो सकती है।

जब शरीर में स्थित जीव ज्ञानादि भावो से रहित विवक्षित किया जाता है, तब वह द्रव्य जीव कहलाता है, लोक में देखा जाता है कि भविष्य में राजा होने वाला राजपुत्र भी राजा

तलकृतसंस्तारकगतजीवमुनिशरीरवत् प्रसिद्धम् । यत्तु—नामस्थापना द्रव्य-भावनिक्षेप भेदाच्चतुर्विधो जीव इत्युक्तम्, तथा च—नामजीवः स्थापनाजीवः, द्रव्यजीवः, भावजीवश्चेति । तत्र-नाम, संज्ञा, कर्म इति समानार्थकम् चैतन्यवतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति यन्नामसञ्ज्ञा क्रियते स नाम जीवो व्यपदिश्यते । यः पुनः काष्ठपुस्तकचित्र-कर्माक्षनिक्षेपादिषु जीवस्याकारः स्थाप्यते स स्थापनाजीवो व्यपदिश्यते । द्रव्यजीवो-भावजीवश्च प्रतिपादित एवेति ।

तत्र द्रव्य भावजीवयोरेव युक्तिसिद्धतया नामस्थापनाजीवयोः सर्वथा ज्ञानादिगुण-रहिततयाऽनुपादेयतैव बोध्या । न तु कदाचित् तयोरुपादेयत्वम् तथाहि-वस्तुनोऽभिधान रूपनामनिक्षेपः । आकृति विशेषरूपस्थापनानिक्षेपश्च तुच्छत्वान्न किञ्चिद् वस्तु ज्ञापकः संभवति ।

तन्निक्षेपद्वयस्य ज्ञानक्रियादिगुणशून्यत्वाद् भावशून्यत्वाच्च । कस्यचिद्गोपालदारकस्य-इन्द्रादिनामकरणेऽपि इन्द्रशब्दानुगुणार्थक्रियाकारीत्वाऽभावात् एवं स्थापनायामपि यस्यां कयाञ्चित् सर्वथैव तदनुगुणार्थक्रियाकारित्वाभावः प्रत्यक्षसिद्धः । तथा च यत्तु कैश्चिदुक्तम्—यथा प्रतिमारूपस्थापना दर्शनाद् भावः समुल्लसति-न तथा नाममात्रात् इति-नाम-स्थापनयो-र्भेदः । तथा च—इन्द्रादेः प्रतिमारूपस्थापनाया लोकस्योपचितेच्छा पूजाप्रवृत्ति समीहितलाभादयो

कहलाता है, उस समय में वह केवल द्रव्य है । अथवा, जैसे मुनिजीव का शरीर पृथिवी या शिला के संस्ताक पर रहा हुआ हो तो वह जीव या मुनि कहलाता है ।

इस प्रकार जीव के चार प्रकार हैं—नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव भावजीव । नाम का अर्थ है संज्ञा । किसी सचेतन अथवा अचेतन द्रव्य का जीव ऐसा नाम रख लिखा जाय तो वह द्रव्य नाम जीव कहलाता है । काष्ठ, पुस्त, चित्र, कर्माक्ष, निक्षेप आदि में जीव के आकार को स्थापित करना स्थापना जीव है । द्रव्य जीव और भावजीव पहले ही बतलाया जा चुका है । इनमें से द्रव्य जीव और भावजीव युक्ति से सिद्ध है ओर नामजीव तथा स्थापना जीव सवर्था ज्ञानादि गुणो से रहित होने के कारण अनुपादेय, है वे कभी भी उपादेय नहीं है । वस्तु का नाम रूप नामनिक्षेप और आकृतिविशेषरूप स्थापनानिक्षेप है । ये दोनो तुच्छ होने से किंचित् भी वस्तु के ज्ञापक नहीं है ।

ये दोनो निक्षेप ज्ञान क्रिया आदि गुणों से शून्य होने के कारण तथा भावशून्य होने के कारण. .... किसी गोपाल के बालक का इन्द्र आदि नाम रख दिया जाय तब भी वह इन्द्र शब्द के अनुरूप अर्थक्रिया नहीं कर सकता । यही बात स्थापना निक्षेप में भी है । उसमें भी मूल वस्तु के अनुरूप अर्थक्रिया करने का सामर्थ्य नहीं होता यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है । किसीं का मत है -- जैसे प्रतिमामें रूप स्थापना के देखने से भाव में उल्लास होता है वैसा नाम के सुनने से उल्लास नहीं होता, यह नाम और स्थपना में भेद है । यही कारण है कि इन्द्र आदि की प्रतिभा रूप स्थापना में लोगों की उपयाचना की इच्छा, पूजा की प्रवृति और इच्छित की

दृश्यन्ते, न तथा नामेन्द्रादौ, इत्यपि तयोर्भेदः। एवमन्यदपि वाच्यम्" इति—तत्—उत्सूत्रप्ररूपण जनिताऽनन्तसंसारजनकं बोध्यम्।

आगमे यदुक्तम्—"तहारूवाणं अरहंताणं नाम-गोय-सवणयाए महाफलं-" इति। तत्र नामनिक्षेपस्य विषयः कथमपि नास्ति "अरहंताणं भगवंताणं-" इत्युक्त्वा तस्मिन्नर्थे प्रयुक्तनाम्न एव श्रवणेन महाफलसंभवात्। गोपालदारकादौ प्रयुक्तस्य नाम्नः श्रवणेन तु—गोपाल-दारकाद्यर्थस्यैव बोधाद् आत्मपरिणामहेतुत्वं तस्य नास्तीति नाम निक्षेपस्थले भगवतोऽर्हतः स्मरणाऽसंभवः। तस्य भावशून्यत्वात्। भावजिनबोधकस्य नाम्न एव श्रवणेन महाफलसंभवः। एवं स्थापनापि भावरूपार्थशून्या भवति, स्थापनायाः भावरूपार्थस्य सम्बन्धाऽभावात्। भावजिन शरीर-वर्तिनी याऽऽकृतिरासीत् तस्या आश्रयाश्रयिभावरूपसम्बन्धो भावजिनेन सह तदानीं विद्यमान आसीत्।

यथा—भावजिनं पश्यतस्तदानीं भावोल्लासोऽपि कस्यचित् संजातः तथा भक्त्या तामाकृति स्मरतो जनस्य भावोल्लासोऽपि संभवतु, तस्मिन् समये आकृते र्भावजिनेन सम्बन्धात्। स्थापना-यास्तु—भावजिनेन सबन्धो नास्ति, तस्मात् कथं तावत् प्रतिमारूपा स्थापना भावजिनसम्बन्धाभावे

प्राप्ति देखी जाती है, वैसा नाम-इन्द्र आदि में नहीं होता। यह भी नाम और स्थापना मे भेद है। इसी प्रकार अन्य भेद भी समझ लेना चाहिए। यह कथन सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा से उत्पन्न होने वाले अनन्त संसार का जनक है।

आगम में जो कहा है कि तथारूप अरिहन्तों के नाम गोत्र के श्रवण से भी महान् फल की प्राप्ति होती है, यहाँ नामनिक्षेप का विषय किसी भी प्रकार नहीं है। 'अरिहन्त भग-वन्तो के' ऐसा कहने से उसी अर्थ में प्रयुक्त नाम के श्रवण से ही महाफल हो सकता है। गोपाल के बालक आदि में प्रयुक्त नाम के श्रवण से तो गोपाल—बालक आदि वस्तु का ही बोध होता है वह आत्म परिणाम का हेतु नहीं है। नामनिक्षेप के स्थल में भगवान् अर्हन्त का स्मरण होना असंभव है, क्योंकि नामनिक्षेप भावशून्य होता है।

भावजिन के बोधक नाम के श्रवण ही महान् फल होना संभव है इसी प्रकार स्थापना भी भावरूप अर्थ से शून्य होती है। स्थापना का भावरूप अर्थ से कोई सरोकार नहीं है। भाव-जिन के शरीर की जो आकृति थी, उसका 'आश्रय—आश्रयीभाव' सम्बंध भावजिन के साथ उस समय विद्यमान था।

जैसे—भावजिन को देखने वाले किसी पुरुष को उस समय भावोल्लास भी हुआ, वैसे ही भक्तिपूर्वक उस आकृति का स्मरण करने वाले पुरुष को भावोल्लास भी हो सकता है। क्योकि उस समय उस आकृति का सम्बन्ध भावजिन के साथ होता है। मगर, स्थापना का तो भाव, जिन के साथ संबंध नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रतिमा रूप स्थापना, भावजिन के साथ संबंध

सति भावजिनं तद्गुणं वा स्मारयितुं समर्था स्यात् इति भावजिनात्मनः तत्रावाहनं—स्थापनञ्च जिनाज्ञाबाह्यम्-प्रवचनविरुद्धं कर्त्तुं न योग्यम् ।

सर्वथा कुप्रावचनिकद्रव्यावश्यकवत् प्रतिमापूजनं कुर्वन्तः कारयन्तश्च मिथ्यादृष्टित्वमेव प्राप्नुवन्ति । न तु सम्यक्त्वमिति—"अनुयोगद्वारोक्तटीकारीत्याऽत्रापि नामस्थापनानिक्षेपस्य तुच्छत्वाद् वस्तुसाधकत्वं संभवतीति बोध्यम् ॥ सूत्र २ ॥

मूलसूत्रम्—**"समणायाऽमणाया" सूत्र ३**

छाया—समनस्काऽमनस्काः–३

दीपिका—पूर्वसूत्रे तावद् लक्षणतो जीवस्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति विभागादितो जीवस्य विशेषस्वरूपं प्रतिपादयितुमाह—

'समणायाऽमणाया' इति । संसारिणो जीवः संक्षेपतो द्विविधा समनस्काः—अमनस्काश्च । तत्र—मनस्तावद् द्विविधं वर्त्तते, द्रव्यमनः—भावमनश्च । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षया द्रव्य मनो व्यपदिश्यते, वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमाऽपेक्षयाऽत्मनो विशुद्धत्वं भावमन उच्यते

एवंविधेन द्रव्यमनसा—भावमनसा च युक्ता जीवाः समनस्का उच्यन्ते, तथाविधेन

न होने के कारण भावजिन का अथवा उनके गुण का स्मरण कैसे करा सकती है ? अतएव उसमें भावजिन का आह्वान एवं स्थापन करना जिनाज्ञा से बाह्य है और प्रवचन से विरुद्ध है। ऐसा करना योग्य नहीं ।

सर्वथा कुप्रावचनिको के द्रव्यावश्यक के समान प्रतिमा का पूजन करने वाले और करानेवाले मिथ्या दृष्टिपन ही प्राप्त करते हैं । सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते। अनुयोगद्वार में कथित टीका के अनुसार यहाँ भी नाम और स्थापना निक्षेप तुच्छ होने के कारण वस्तु के साधक नहीं हो सकते; ऐसा समझ लेना चाहिए ॥२॥

मूलसूत्र का अर्थ—संसारी जीव दो प्रकार के है—समनस्क और अमनस्क ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिकार्थ—**'समणाया'** इत्यादि ।३।

पूर्व सूत्र में जीव का लक्षण—निरूपण किया गया है । अव भेद आदि के द्वारा जीव के विशेष स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—**'समणाया'** इत्यादि । संसारी जीव संक्षेप से दो प्रकार है—समनस्क और अमनस्क ।

मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन । पुद्गलविपाकी कर्म के उदय की अपेक्षा से द्रव्यमन कहलाता है और वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा की विशुद्धता को भावमन कहते है ।

द्रव्यमनसा रहिताः केवलभावमनसैवोपयोगेण युक्ताः जीवाः अमनस्का उच्यन्ते । तथा च-द्रव्यमनसः सद्भावाऽसद्भावाभ्यां संसारिणो जीवा द्विधा विभज्यन्ते समनस्काः—अमनस्काश्चेति ।

अत्रेदमवधेयम्—मनोऽभिनिष्पत्त्यै वस्तुस्वरूपज्ञानार्थम् आत्मना गृहीतेन दलिकद्रव्यरूप-मनःपर्याप्तिकरणविशेषेण, सर्वात्मप्रदेशवर्तिना जीवश्चिन्तनार्थं यान् अनन्तप्रदेशस्वरूप ान् मनोवर्गणा योग्यान् पुद्गलस्कन्धान् गृह्णाति ।

ते खलु तथाविधमनःपर्याप्तिकरणविशेषपरिगृहीताः पुद्गलस्कन्धा द्रव्यमनो व्यपदिश्यन्ते ।

भावमनस्तु—जीवस्योपयोगरूपः चित्तचेतना योगाध्यवसानाऽवधानस्वान्तमनस्कारात्मक परिणाम उच्यते. एतन् मनोरूपकरणं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यतयाऽऽर्हद्भिरिष्यते । मनो-युक्तस्यैव जीवस्य धारणा भवति नाऽन्यस्येति भावः । तत्रोभयाभ्या मपि एवंविध द्रव्यमनोभाव-मनोभ्यां युक्ता जीवा समनस्का उच्यन्ते ।

तथाविध मनःपर्याप्तिकरणविशेषनिरपेक्षेण केवलमुपयोगमात्रभावमनसैव युक्ता जीवाः अमनस्का उच्यन्ते । एतेषां खलु अमनस्कानां जीवानां मनःपर्याप्तिकरण—निष्पत्त्या चेतना पटीयसी भवति । वृद्धस्य यष्ट्यवलम्बनवत्—द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन संज्ञिनः स्पष्टतयाऽनु-चिन्तनं कुर्वन्ति ।

इस प्रकार के द्रव्यमन और भावमन से युक्त जीव समनस्क कहलाते है । पूर्वोक्त द्रव्यमन से रहित, केवल भावमन से ही उपयोग मात्र से युक्त जीव अमनस्क कहलाते है । इस प्रकार द्रव्यमन के होने और न होने से संसारी जीव दो प्रकार के होते है—समनस्क और अमनस्क ।

आशय यह है—मन की निष्पत्ति के लिए, वस्तु के स्वरूप का ज्ञान करने के लिए आत्मा के द्वारा गृहीत समस्त आत्मप्रदेशो में रहे हुए दलिकद्रव्य रूप मन पर्याप्ति करण के द्वारा जीव चिन्तन करने के लिए जिन अनन्तप्रदेशी मनोवर्गणा के योग्य पुद्गलस्कंधो को ग्रहण करता है, वे मनः पर्याप्ति रूप करणविशेष के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गलस्कन्ध द्रव्य मन कहलाता है ।

चित्त, चेतना, योग अध्यवसान, अवधान स्वान्त, तथा मनस्कार रूप जीव का उपयोग भावमन कहलाता है । इस मन रूप करण को अरहन्त भगवान् श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला मानते है । तात्पर्य यह है कि मन वाले जीव को ही धारणा ज्ञान होता है, अन्य को नहीं । इस प्रकार द्रव्यमन और भावमन से युक्त जीव ही समनस्क या संज्ञी कहलाते हैं ।

जो जीव मन पर्याप्ति रूप करण से रहित है किन्तु केवल उपयोग रूप भावमन से युक्त हैं, वे अमनस्क कहलाते है । इन अमनस्क जीवो को, मनः पर्याप्ति रूप करण की प्राप्ति होने पर चेतना अत्यन्त पटु होती है । जैसे वृद्ध पुरुष को लकड़ी का सहारा मिल जाय, उसी प्रकार द्रव्यमन की सहायता से संज्ञी जीव स्पष्ट रूप से चिन्तन करते हैं ।

तत्र–नारकदेवगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः समनस्का बोध्याः । तदन्ये तु— अमनस्का ईहापोहयुक्तसंप्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का उच्यन्ते इति भावः । सूत्र ॥३॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे जीवस्य स्वरूपं लक्षणतः प्ररूपितम् सम्प्रति–तस्यैव विभागादि-विशेषस्वरूपं प्रतिपादयितु माह—**समणायाऽमणाया** इति ।

ते खलु संसारिणो जीवाः संक्षेपतो द्विविधा भवन्ति, समनस्का अमनस्काश्च ।

अत्र–समनस्काऽमनस्केति समस्तनिर्देशात् संसारिणामेव जीवानां सम्बन्धो न तु–मुक्ता नाम् । संसारिणामेव जीवानां समनस्काऽमनस्कत्वोभयवैशिष्ट्यं वर्त्तते–न तु–मुक्तानाम् । तेषां सिद्धानाममनस्कत्वस्यैव सत्वात् । प्रथमे द्वितीये च गुणस्थाने संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च द्विप्रकारका अपि जीवा भवन्ति । इतः परं द्वादशं गुणस्थानं यावत् संज्ञिन एव मानिताः सन्ति । त्रयोदशे चतुर्दशे च गुणस्थाने वर्त्तमाना जीवाः, सिद्धाः, नो संज्ञिनः नो असंज्ञिनः (नो समनस्काः, नो अमनस्काश्च कथिताः सन्ति ।

द्वितीयस्थानीये द्वितीयोद्देशके विद्यते–प्रथमनरकभवनपतिवानव्यन्तरपर्यन्तम् असंज्ञि तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय जीवा उत्पद्यन्ते, अल्पसमयं यावत् असंज्ञिनस्तिष्ठन्ति तत्पश्चात् पुनः संज्ञिनो जायन्ते ॥ सूत्र ३॥

नारक, देव, गर्भज मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच समनस्क होते हैं, इनसे अतिरिक्त दूसरे जीव अमनस्क कहलाते है । ईहा, अपोह से युक्त एवं सम्प्रधारण संज्ञा से संज्ञी जीव समनस्क कहे जाते है ॥३॥

तत्वार्थ निर्युक्ति पूर्वसूत्र में जीव के लक्षण का निरूपण किया गया है । अब भेद आदि करके उसी के विशेष स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए कहते है '**समणायाऽमणाया** ।' ससारी जीव संक्षेप से दो प्रकार के है– समनस्क और अमनस्क । यहाँ 'समनस्कामनस्क' इस प्रकार समास युक्त पद का प्रयोग करने से यह प्रकट किया गया है कि ससारी जीवो का ही यहाँ सम्बन्ध है, मुक्त जीवो का नहीं । समनस्क और अमनस्क का भेद संसारी जीवों में ही होता है, मुक्त जीवो में नहीं ।

सिद्ध जीव नो अमनस्क कहलाते है ।

बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव संज्ञी ही मानेहै । तेरहवें और चौदहवे गुणस्थान-वर्ती जीव और सिद्ध नो सज्ञी नो असज्ञी (नो समनस्क नो अमनस्क) कहे है ।

दूसरे स्थान के दूसरे उद्देशे में कहा है, पहलानरक, भवनपति वानव्यंतर वहाँ तक असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है, कुछ समय तक असंज्ञी रहते है फिर संज्ञी हो जाते हैं ॥सूत्र ३॥

मूलसूत्रम्—संसारिणो-मुत्ता य ॥४॥

छाया--संसारिणो मुक्ताश्च ॥४॥

दीपिका—पूर्वसूत्रे खलु संसारिणो जीवाः समनस्काऽमनस्कभेदेन द्विविधा सन्तीति प्रतिपादितम् सम्प्रति—सामान्यतो जीवाना द्वैविध्यं प्रतिपादयति-**संसारिणो मुत्ता य** इति । संसारिणो मुक्ताश्चेति, तत्र—संसरणं संसारः यद् अवष्टम्भेन जीवस्य संसरणं—भवाद्भवान्तरगमनं भवति स ज्ञानावरणादिकर्माष्टकरूपः संसार उच्यते। स च ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीय मोहनीया--ऽऽयुर्नाम--गोत्रान्तरायरूपो बोध्यः ।

एवंविधः संसारो येषामस्ति ते संसारिणः क्रोधमान—माया—लोभादि कषायादि बलवद् मोहरूपो वा ससारो येषामस्ति ते ससारिणः तथाविधात् संसाराद् ये मुच्यन्तेस्म ते मुक्ता व्यपदिश्यन्ते। निरस्ताशेषकर्माणो जीवाः ससाराद् मुक्तत्वान्मुक्ता उच्यन्ते।

यद्वा—द्रव्यपरिवर्त्तन—क्षेत्रपरिवर्त्तन—कालपरिवर्त्तन—भवपरिवर्त्तनभावपरिवर्त्तन—रूप पञ्चविधपरिवर्त्तनात्मक संसारलक्षण संसारयुक्ताः जीवाः संसारिण उच्यन्ते। तथाविधपञ्चविधात् संसाराद् निवृत्ता जीवाः मुक्ता उच्यन्ते ।

तत्र—द्रव्यपरिवर्त्तनं द्विविधम्—कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनम् नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तनञ्चेति। तत्रैकस्मिन् समये—एको जीवो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मभावेन यान् पुद्गलान् गृहीतवान् ते खलु—

मूलार्थ—'**संसारिणो मुत्ताय**' जीव दो प्रकार के है संसारी और मुक्त ॥४॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में संसारी जीवो के समनस्क और अमनस्क यो दो भेद बतलाए हैं। अब सामान्य जीवो के दो भेद बतलाते है—ससारी और मुक्त । ससरण को संसार कहते है । अर्थात् जिनके कारण जीव एक भव से दूसरे भव में गमन करता है, वह ज्ञानावरण आदि आठ कर्म ससार कहलाते है। वे आठ कर्म ये है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणोय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय ।

इस प्रकार ससार में भ्रमण करने वाले जीव संसारी कहलाते है। क्रोध, मान माया, लोभ, आदि कषाय या बलवान् मोह रूप ससार जिनमें विद्यमान है वे संसारी कहलाते है। जो इस प्रकार के ससार से छूट चुके वे मुक्त कहलाते है। समस्त कर्मों से रहित जीव संसार से मुक्त होने के कारण मुक्त कहे जाते है।

अथवा द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्रपरिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन, इन पाँच प्रकार के परिवर्त्तन रूप ससार से युक्त जीव ससारी कहलाते हैं और जो इससे मुक्त हो चुके है, वे मुक्त कहलाते है ।

इनमें से द्रव्यपरिवर्त्तन दो प्रकार का है—कर्मद्रव्यपरिवर्त्तन और नो कर्मद्रव्यपरिवर्त्तन। एक समय में एक जीव ने ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके जिन पुद्गलो को ग्रहण किया, वे कर्मपुद्गल

कर्मपुद्गलाः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिपु समयेषु निर्जीर्णाः:सन्तः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण तस्य जीवस्य यावत्कर्मभावमापद्यन्ते, तावत् – द्रव्यकर्मपरिवर्त्तनं बोध्यम्, औदारिकवैक्रिया–हारकत्रयाणां शरीराणां–षण्णां पर्याप्तानां योग्यान् यान् पुद्गलान् एकस्मिन् समये एकोजीवो गृहीतवान् ते खलु पुद्गलाः–स्निग्ध–रूक्ष–वर्ण–गन्ध रसादिभि स्तीव्र–मन्द–मध्यमभावेन च यथात्रस्थिताः, द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः सन्तोऽगृहीतान् पुद्गलवान् अनन्तवारान् व्यतीत्य--मिश्रकांश्चाऽनन्तवारान् व्यतीत्य गृहीतांश्च पुद्गलान् अनन्तवारान् व्यतीत्य, तेनैव प्रकारेण–तस्य जीवस्य यावद् नोकर्म भावमापद्यन्ते, तावत्समुदितं नो कर्म द्रव्यपरिवर्त्तनमवसेयम् । एवं क्षेत्रपरिवर्त्तनादिकमपि बोध्यम् ।सू० ४॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–समनस्काऽमनस्कभेदेन जीवानां द्वैविध्यं प्ररूपितम्, सम्प्रति—पुनस्तेषामेव जीवानां प्रकारान्तरेण विभागं प्रदर्शयन् विशेषस्वरूपं प्रतिपादयति–**संसारिणो मुक्ताश्च** इति पूर्वोक्तोपयोगलक्षणलक्षिताः खलु जीवाः संक्षेपतो द्विविधाः भवन्ति, संसारिणो–मुक्ताश्च । तत्र—यदवष्टम्भेनाऽऽत्मनः संसरणं—भवाद्भवान्तरगमनं भवति, स संसारः कर्माष्टरूपो बोध्य । ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीय–वेदनीय–मोहनीयाऽऽयु–र्नाम—गोत्रान्तरायिकरूपो बोध्यः ।

एवंविधःसंसारो येषामस्ति ते संसारिण उच्यन्ते । अथवा–बलवान् मोहरूप ससारो

एक समय अधिक आवलिका को छोड़कर द्वितीय आदि समयो में निर्जीर्ण होकर उसी पूर्वोक्त क्रम से उसी जीव के कर्म रूप में प्राप्त होते है । उतना काल द्रव्यकर्मपरिवर्त्तन समझना चाहिए

एक जीव ने औदारिक, वैक्रिय, आहारक, इन तीन शरीरो तथा छह पर्याप्तियों के योग्य जिन पुद्‌गलो को एक समय में ग्रहण किया, वे पुद्गल स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण गंध, रस, तीव्रता, मन्दता या मध्यम रूप से स्थित हुए । फिर द्वितीय आदि समयो में निर्जरा को प्राप्त हुए अगृहीत पुद्‌गलों को अनन्त वार छोड़ कर मिश्र पुद्‌गलो को भी अनन्त वार छोड़ कर तथा गृहीत पुद्‌गलो को अनन्त वार छोड़ कर उसी प्रकार, उसी जीव के, जितने काल मे नो कर्मपन को प्राप्त होते है, उतना काल नो कर्म द्रव्यपरिवर्त्तन कहलाता है । इसी प्रकार क्षेत्रपरिवर्त्तन आदि भी समझ लेना चाहिए ॥४॥

तत्वार्थ निर्युक्ति—पूर्वसूत्र में समनस्क और अमनस्क के भेद से जीवो के दो भेदो का प्रतिपादन किया गया । अव उन्हीं जीवो के दूसरे प्रकार से भेद दिखलाए जाते है ।

पूर्वोक्त उपयोग लक्षणवाले जीव संक्षेप से दो प्रकार के है–संसारी और मुक्त जिसके कारण आत्मा का ससरण अर्थात् एक भव से दूसरे भव मे गमन होता है, वह आठ कर्म ससार कहलाते है । कर्म आठ प्रकार के है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अंतराय ।

जो जीव ऐसे संसार के वशीभूत है, वे संसारी कहलाते हैं ।

येषामस्ति ते संसारिणो व्यपदिश्यन्ते । तथाविधात् संसाराद् मुच्यन्ते स्म- इति मुक्ताः निधूताऽशेषकर्माणो जीवाः संसारान् मुक्ता इति व्यपदिश्यन्ते । अत्रचा-ऽसमस्तनिर्देशेन संसारिणो वक्ष्यमाण—औपशमिकक्षायिक— क्षायोपशमिक-औदयिक--पारिणामिक—सान्निपातिकस्वभावाः ।

मुक्ताः पुनस्तथाविधस्वभावनिर्मुक्ता भवन्तीति सूच्यते, बहुवचननिर्देशेन च तदुभयेषामेवाऽनन्तत्वं व्यज्यते, चकारेण च—ससारिणां समनस्कादिभेदः ।

तथा चोक्तम्—स्थानाङ्गस्य २. स्थाने १. उद्देशके १०१ सूत्रे **'दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा—सिद्धाचेव असिद्धाचेव'**—इति । द्विविधा. सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा—सिद्धाश्चैव असिद्धाश्चैवेति । मुक्तानान्तु—अनन्तर—परम्परादि भेदो द्योत्यते । सूत्र ४॥

मूलसूत्रम्—'संसारिणो दुविहा तसा थावरा य' ॥५॥

छाया—संसारिणो द्विविधाः त्रसाः स्थावराश्च ॥५॥

दीपिका—पूर्वसूत्रे—जीवानां सक्षेपतः संसारि—मुक्तभेदेन द्वैविध्यमुक्तम् । सम्प्रति संसारि—जीवानधिकृत्य तद् विभागं प्रदर्शयन् प्रतिपादयति—**संसारिणो द्विविधास्त्रसाः स्थावराश्च** इति—

पूर्वसूत्रोक्ताः ससारिणो जीवास्तावद् द्विविधाः सन्ति त्रसाः स्थावराश्च । तत्र—त्रसनाम-

---

अथवा—बलवान् मोह रूप ससार वाले जीव ससारी कहलाते है । या नारक आदि अवस्था रूप ससार वाले जीव ससारी कहलाते है ।

जो जीव इस प्रकार के ससार से निवृत्त हो चुके है, वे मुक्त कहलाते है । अर्थात् समस्त कर्मों से रहित जीव संसार से मुक्त कहे जाते हैं ।

यहाँ समास रहित निर्देश करने से यह सूचित किया गया है कि आगे कहे जाने वाले औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक तथा सान्निपातिक स्वभाव वाले ससारी जीव होते है ।

मुक्त जीव क्षायिक और पारिणामिक भावो के अतिरिक्त शेष भावो से रहित होते है । बहुवचन के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि ससारी जीव भी अनन्त हैं और मुक्त जीव भी अनन्त है । च पद के प्रयोग से यह सूचित होता है कि ससारी जीवो के संज्ञी—असंज्ञी आदि अनेक प्रकार से भेद होते है ।

स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान, प्रथम उद्देशक सूत्र १०१ में कहा है—सर्व जीव दो प्रकार के कहे है । सिद्ध और असिद्ध । मुक्तजीव अनन्तरसिद्ध, परम्परासिद्ध आदि के भेद से भिन्न है ॥४॥

मूलार्थ—'संसारिणो दुविहा' इत्यादि ॥५॥

ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जीवो के संक्षेप में ससारी और मुक्त, ये दो भेद कहे गए है । अब संसारी जीवो के भेद बतलाते है पूर्वोक्त ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्था-

कर्मोदयात् परिस्फुटसुख-दुःखेच्छा-द्वेषादिलिङ्गास्त्रसा उच्यन्ते। स्थावरनामकर्मोदयात् पुनरपरिस्फुटसुख-दुःखादि लिङ्गाः स्थावरा व्यपदिश्यन्ते। द्वीन्द्रियादयो देवपर्यन्तास्त्रसा उच्यन्ते, एकेन्द्रियाः पृथिवीकायिकादिका वनस्पतिकायिकपर्यन्ताः पञ्च स्थावराः कथ्यन्ते। अत्र सुख ग्रहणार्थं प्रथमं त्रसाभिधानं कृतम् तेषां स्पष्टलिंगत्वात्। चकारेण तदुभयेषां परस्परोपसंक्रमः सूच्यते। तथा च-त्रसाः स्थावरेषु स्थावराश्च त्रसेषु मृत्वोपजायन्ते। इत्यवगन्तव्यम्। तदुभयेषामनेकत्वसूचनार्थम्। सूत्र ॥५॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे-संसारि-मुक्तभेदेन जीवानां द्वैविध्यं प्ररूपितम् सम्प्रति-संसारिणां प्रथमोपात्तानां भेदं प्रतिपादयितुमाह-**'संसारिणो दुविहा तसा थावरा य'** इति

संसारिणो जीवाः पुनर्द्विविधाः तद्यथा-त्रसाः, स्थावराश्च। तत्र-त्रसनामकर्मोदयवशवर्तिनो जीवास्त्रसा उच्यन्ते। एवम्-स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनो जीवाः स्थावरा उच्यन्ते, तत्र द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय प्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यन्ता जीवास्त्रसा अवसेया।

स्थावरास्तु-पृथिवीकायाऽप्काय-तेजस्काय वायु-काय-वनस्पतिकायरूपा एकेन्द्रियाः पञ्च विधा बोध्याः। एवञ्च-त्रसनामकर्मोदय-स्थावरनामकर्मोदयाऽपेक्षमेव त्रसस्थावरत्वं बोध्यम् न तु त्रस्यन्तीति त्रसाः स्थितिशीलाः स्थावरा इति व्युत्पत्या चलनाचलनापेक्षं त्रस-स्थावरत्वम्। तथा

वर। जो जीव त्रस नामकर्म के उदय से स्पृष्ट सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि से युक्त है, वे त्रस कहलाते है। स्थावर नामकर्म के उदय से जिन जीवो का दुःख आदि का अनुभव अस्पृष्ट होता है, वे स्थावर कहे जाते है।

द्वीन्द्रिय से प्रारंभ करके देवपर्यन्त सभी जीव त्रस हैं। पृथ्वीकायिको से लेकर वनस्पति कायिक के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते है। यहाँ सुगमता से समझने के लिए पहले त्रस ग्रहण किया है, क्योकि उनमें जीव के लक्षण सुख आदि स्पष्ट प्रतीत होते है। 'च' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि ये दोनो प्रकार के जीव बदलते रहते है, अर्थात् त्रस जीव मरकर स्थावर में और स्थावर जीव त्रसो में उत्पन्न हो जाते है। बहुवचन का प्रयोग करके यह ध्वनित किया गया है कि त्रस जीव भी बहुत है और स्थावर भी बहुत है ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले वाले सूत्र में ससारी और मुक्त के भेद से जीवो के दो प्रकार बतलाए थे। यहाँ प्रथम निर्दिष्ट ससारी जीवो के भेद बतलाने के लिए कहते है—ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर। जो जीव त्रसनाम कर्म के वशीभूत हैं, वे त्रस और जो स्थावर नामकर्म के अधीन है वे स्थावर कहलाते है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि से लेकर अयोगि केवली पर्यन्त त्रस जीव है।

पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव स्थावर है। इस प्रकार त्रसत्व और स्थावरत्व त्रसनामकर्म और स्थावर नामकर्म के उदय से होता है। चलने और न चलने पर त्रस स्थावरपन निर्भर नहीं है।

सति द्वीन्द्रियादारभ्याऽयोगि केवलिपर्यन्तस्य त्रसत्वप्रतिपादकाऽऽगमस्य विरोधापत्तिः स्यात् तस्मात् कर्मोदयापेक्षमेव त्रस–स्थावरत्वम् न तु–व्युत्पत्तिनिमित्तलभ्यमितिभावः। त्रसे-द्वादशविधोपयोग संभवेनाऽभ्यर्हितत्वात् प्रथमं तस्योपादानम्। स्थावरे तु त्रिविधस्यैवोपयोगस्य सद्भावेन तस्याऽभ्यर्हितत्वाऽभावेन पश्चादुपादानं कृतमिति बोध्यम्।

उक्तञ्च–स्थानांगे २ स्थाने १ उद्देशके ५, सूत्रे **'संसारसमावन्नगा तसा चेव थावरा चेव'** इति। संसारसमापन्नकास्त्रसाश्चैव–स्थावराश्चैव इति।

जीवाभिगमे १ प्रतिपत्तौ २७–सूत्रे चोक्तम् **'से किं तं ओराला तसा पाणा–३, चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा–बेइंदिया, तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया'**–इति। अथ कि ते उरालाः त्रसाः प्राणाः ३ चतुर्विधा प्रज्ञप्ताः तद्यथा–द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः इति॥सूत्र–५॥

मूलसूत्रम्—**"तं दुविहा सुहमा–बायरा य–"** सू० ६॥

छाया—तद् द्विविधाः, सूक्ष्माः बादराश्च–" ॥सू० ६॥

दीपिका—पूर्वसूत्रे–त्रस–स्थावरभेदेन संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्तीति प्रतिपादितम्–सम्प्रति–तेषामेव ससारिजीवानां पुनः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह–**"तं दुविहा, सुहुमा–बायरा य"**–इति। ते खलु ससारिणो जीवाः पुन द्विविधाः।

तद्यथा—सूक्ष्माः बादराश्चेति, तत्र–स्नेहसूक्ष्म–पुष्प–सूक्ष्म–प्राण्युत्तिङ्ग–पनक–बीज–हरि-

---

यदि यह मान लिया जाय कि जो गमन करे सो त्रस और जो स्थितिशील हो, वह स्थावर कहलाता है तो आगम से विरोध होगा, क्योकि आगम में द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगीकेवली पर्यन्त के जीवो को त्रस कहा है। अतएव त्रसत्व कर्मोदय की अपेक्षा से ही स्वीकार करना चाहिए, व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा से नहीं।

त्रस जीवो में बारहो उपयोग पाये जा सकते हैं, अतएव प्रधान होने के कारण सूत्र में उनका निर्देश पहले किया गया है। स्थावर जीवों में तीन ही उपयोग होते है, अतएव वे प्रधान नहीं है। इन कारण उनको बाद में ग्रहण किया है। स्थानांगसूत्र के द्वितीय स्थान प्रथम उद्देशक के ५ वे सूत्र में कहा है- ससारसमापन्न जीव दो प्रकार के होते है–त्रस और स्थावर।

जीवाभिगमसूत्र की प्रथम प्रतिपत्ति के २७ वें सूत्र में कहा है– 'उदार–स्थूल त्रस प्राणी कितने प्रकार के है? उत्तर–चार प्रकार के है–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय॥५॥

मूलसूत्रार्थ—तं दुविहा सुहुमा बायरा य' इत्यादि।६।

संसारी जीव पुनः दो प्रकार के है–सूक्ष्म और बादर॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में ससारी जीवो के दो भेद–त्रस और स्थावर बतलाये जा चुके है, अब उन्हीं ससारी जीवों के प्रकारान्तर से दो भेद बतलाये जाते है—

ससारी जीव पुनः दो प्रकार के है—सूक्ष्म और बादर।

ताण्ड—सूक्ष्मभेदेना—ऽष्टविधाः सूक्ष्मा जीवाः। तद्भिन्नाः पृथिवीकायादयो बादरा जीवा—अनेकविधाः सन्ति। मुक्ताजीवास्तु—न सूक्ष्माः नापि बादरा नो वा—ते त्रसाः, नापि स्थावरा इति भावः। सूत्र ६॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—संसारिजीवानां त्रसस्थावरभेदेन द्वैविध्यं प्ररूपितम्, सम्प्रति तेषामेव प्रकारान्तरेण पुन द्वैविध्यं प्रतिपादयति " **तं दुविहा सुहुमा—बायरा य**—इति।

ते पुनः संसारिणो जीवा द्विविधाः—द्वि प्रकारकाः भवन्ति सूक्ष्माः—बादराश्च। तथा-चोक्तम् दश वैकालिके—अध्ययने १५ गाथायाम्—"**सिहेणं पुप्फसुहमं च पाणुत्तिगं तहेव य—।**

पणगं बीयहरियं च अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥१॥

"स्नेहं पुष्पसूक्ष्मं च प्राण्युत्तिङ्गं तथैवच।
पनकं बीजहरितं च अण्डसूक्ष्मं च अष्टमम् ॥१॥

बादराणान्तु जीवानां पृथिवीकायिकादिभेदेनाऽनेकविधत्वमवगन्तव्यम्। तत्र—शुद्ध पृथिवी, शर्करा पृथिवी, बालुकापृथिवी, उपल, शिला, लवण, त्रपु, ताम्र, सीसक, रजत, सुवर्ण, हरिताल, हिंगुल, मनःशिला, सस्यका,—ऽञ्जन, प्रवाल,—ऽऽभ्रपटलाऽभ्रवालिका, गोमेद, रुचकाङ्ग, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसार, गल्ल, भुजगेन्द्र, नील, चन्दन, गैरिक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्र, सूर्यकान्त, वैडूर्य, जलकान्त, प्रभृतयो बादरपृथिवीकायिकभेदा अवगन्तव्या.॥

इनमेंसे सूक्ष्म जीव आठ प्रकार के है, यथा (१) स्नेह सूक्ष्म (२) पुष्पसूक्ष्म (३) प्राणिसूक्ष्म (४) उत्तिगसूक्ष्म (५) पनकसूक्ष्म (६) बीजसूक्ष्म (७) हरितसूक्ष्म (८) अण्डसूक्ष्म। इनसे भिन्न पृथ्वीकाय आदि बादर जीव है जो अनेक प्रकार के है। मुक्तजीव न सूक्ष्म हैं, न बादर है, न त्रस है और न स्थावर ही है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति— पूर्वसूत्र में ससारी जीवो के त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार कहे है। अब इन्हीं के प्रकारान्तर से दो भेदो का प्रतिपादन करते है—संसारी जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर दशवैकालिक के आठवें अध्ययन की गाथा १५ में कहा है —

आठ सूक्ष्म इस प्रकार है—स्नेहसूक्ष्म, पुष्पसूक्ष्म, प्राणिसूक्ष्म, उत्तिगसूक्ष्म पनकसूक्ष्म, बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्म, और आठवाँ अण्डसूक्ष्म।

[यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यहाँ जो आठ सूक्ष्म बतलाए गए है, वे सूक्ष्मनामकर्म के उदय की अपेक्षा से नहीं है, बल्कि परिमाण की अपेक्षा से हैं; ये आठ सूक्ष्म सामान्य तौर से दृष्टिगोचर नहीं होते; इस कारण इन्हे सूक्ष्म कहा गया है।]

बादर जीव पृथ्वीकाय आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। शुद्ध पृथिवी, शर्करा पृथिवी, बालुकापृथिवी, इसी प्रकार उपल, शिला, लवण, त्रपु, ताम्र, शीशा, रजत, स्वर्ण, हडताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल, अभ्रवालिका, गोमेद, रुचकांग, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजगेन्द्र, नील, चन्दन, गैरिक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, वैडूर्य, जलकान्त आदि बादरपृथ्वीकायिक जीवों के भेद है।

स्थानञ्चैषां पृथिव्यष्टकाऽधोऽधः पातालभवननरकप्रस्तरादि बोध्यम । सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः कज्जलसंभृतकूपिकावत् सर्वलोकव्यापिनः सन्ति. । बादरपृथिवीकायानामाद्याश्चतस्रो लेश्या वभन्ति । एवम्–हिमाऽवश्याय–मिहिका करका–हरतनु–शुद्ध–शीतो–ऽष्ण–क्षाराऽम्ल–लवण–क्षीर–घृतो–दकप्रभृतयो बादरा–अप्कायिका भवन्ति ।

बादराणां तेषां समुद्र–हृद नदी प्रभृति स्थानम् । सूक्ष्माणान्तु–अप्कायानां सर्वलोकः स्थानम् । एवमेव अङ्गाराऽर्चि–रतल (उल्मुक) शुद्धाग्नि प्रभृतयो बादरतेजस्कायिका अवसेयाः । तेषाञ्च–बादरतेजस्कायिकानां मनुष्यक्षेत्रमेव स्थानं बोध्यम् , नातःपरं तेषां स्थानम् । सूक्ष्मतेजस्कायिकानान्तु–सर्वलोकव्यापित्वम् प्राच्यप्रतीच्योदीच्याद्युत्कलिका–मण्डलिका प्रभृतयो बादरवायुकायिका बोध्याः । तेषाञ्च–बादरवायुकायानां घनवात, तनुवात तद् वलया–ऽधोलोकभवनप्रभृतिस्थानमवगन्तव्यम् । सूक्ष्माणां पुनर्वायुकायिकानां सर्वलोकव्यापित्वमवसेयम् । एवम्–शैवालावकपनकहरिद्रार्द्रकमूलकाल्लुकासिंहकर्णि वृक्ष गुच्छ गुल्म लताप्रतानप्रभृतयो बादरवनस्पतिकाया अवगन्तव्याः । तद् भिन्ना. सूक्ष्माःवनस्पतिकायिका अवसेयाः । बादराणां

इनके स्थान आठ पृथिवियाँ, पाताल वन, नरक प्रस्तर आदि जानने चाहिए ।

सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव काजल से भरी कुप्पी के समान सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है ।

बादर पृथिवीकायिक जीवो में चार लेश्याएँ —कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या–होती है ।

इसी प्रकार हिम, अवश्याय, मिहिका धूवर करक (ओले), हरतनु (पृथ्वी को भेद कर निकलने वाले जलविन्दु), शुद्धजल, शीतजल, उष्णजल, क्षारजल, अम्लजल (खट्टा पानी), लवणजल, क्षीरजल और घृतजल आदि बादर अप्कायिक जीव है ।

समुद्र, तालाब, नदी आदि बादरजलकायिक जीवो के स्थान है । सूक्ष्म जलकायिक जीवों का स्थान सम्पूर्ण लोक है ।

इसी प्रकार अंगार, अर्चि, उल्मुक शुद्धाग्नि आदि बादर तेजस्कायिक जीव समझने चाहिए । बादर तेजस्कायिक जीव मनुष्य क्षेत्र अर्थात् अढाई द्वीप में ही होते हैं; उससे आगे नहीं होते । सूक्ष्म तेजस्कायिक सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है ।

पूर्वी पछांही, उत्तरी आदि हवाएँ तथा उत्कलिका, मण्डलिका आदि हवाएँ बादर वायुकायिक जीव हैं । बादर वायुकाय के स्थान घनबात, तनुवातवलय, अधोलोक के भवन आदि है । सूक्ष्म वायुकायिको का स्थान समस्त लोक है ।

इसी प्रकार शैवाल, अवक, पनक, हरिद्रा (हल्दी) अदरख, मूलक, आलू, गुच्छ, गुल्म लता वितान आदि बादर वनस्पतिकायिक हैं । इनसे जो भिन्न है वे सूक्ष्म वनस्पति

वनस्पतिकायिकानां द्वीप-समुद्रादिस्थानं बोध्यम्। सूक्ष्माणाञ्च--वनस्पतिकायिकानां सर्वलोक-व्यापित्वं बोध्यम्।

अत्रेदं बोध्यम्-त्रसत्वं द्विविधम् क्रियातो लब्धितश्च। तत्र क्रिया तावत् कर्म--चलनं-देशान्तरप्राप्तिः-गतिः तस्मात्-क्रियामाश्रित्य तेजस्कायिक-वायुकायिकयोस्त्रसत्वमवगन्तव्यम्। लब्धिः पुनस्त्रसनामकर्मोदयः, तस्मात् त्रसनामकर्मोदयाद् देशान्तरप्राप्तिलक्षणक्रियावत्वाच्च द्वीन्द्रिया दयस्त्रसा व्यपदिश्यन्ते।

स्थावरनामकर्मोदयलक्षणलब्ध्या च सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकाः स्थावरा व्यपदिश्यन्ते। मुक्ताश्च न त्रसाः न स्थावराः, अतएव-न ते बादरा वा सूक्ष्मा वा व्यवह्रियन्ते संसारिणामेव त्रस-स्थावरत्वयोः सूक्ष्मबादरत्वयोश्च प्रतिपादितत्वात् इति भावः। सूत्र-६॥

मूल सूत्रम्--" पुणो दुविहा पज्जत्तिया-अपज्जत्तिया य ॥७॥

छाया--पुनर्द्विविधाः पर्याप्तकाः-अपर्याप्तकाश्च-"

दीपिका--पूर्वसूत्रे तावत्-सूक्ष्म-बादरभेदेन संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्तीत्युक्तम् सम्प्रति-तेषामेव जीवानां पुनः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह-**"पुणो दुविहा, पज्जत्तिया अपज्जत्तिया य"**-इति।

कायिक हैं। बादर वनस्पतिकायिकों के स्थान द्वीप समुद्र आदि हैं। सूक्ष्म वनस्पतिकाय सम्पूर्ण लोकव्यापी समझना चाहिए।

यहाँ यह समझना चाहिए कि त्रसत्व दो प्रकार का है-क्रिया से और लब्धि से। क्रिया का अर्थ है कर्म--चलन, एक जगह से दूसरी जगह पहुँचना अर्थात् गति करना। इस क्रिया की अपेक्षा से तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव भी त्रस है। लब्धि का अर्थ है त्रसनाम कर्म का उदय। इसकी अपेक्षा से तथा गमन रूप क्रिया की अपेक्षा से द्वीन्द्रिय आदि जीव ही त्रस कहलाते है।

स्थावरनामकर्म के उदय रूप लब्धि की अपेक्षा से सब पृथ्वी कायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव स्थावर कहलाते है।

'मुक्त जीवन न त्रस है, न स्थावर। अतएव वे न बादर कहलाते हैं, न सूक्ष्म ही। त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर का व्यवहार संसारी जीवो में ही होता है ॥६॥

मूलसूत्रार्थ--'पुणो दुविहा' इत्यादि ॥७॥

जीव पुनः दो प्रकार के है-पर्याप्त और अपर्याप्त ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्र में कहा जा चुका है कि सूक्ष्म और वादर के भेद से ससारी जीव दो प्रकार के होते है। अब उन्हीं के दूसरे प्रकार से दोभेद बतलाने के लिए कहा है। संसारी जीव पुनः दो प्रकार के है-पर्याप्त और अपर्याप्त।

तें खलु ससारिणो जीवाः पुनर्द्विविधाः तद्यथा पर्याप्ताः अपर्याप्ता श्चेति । तत्र–पर्याप्ति स्तावत् षड्विधा वर्त्तते, आहार–शरीरेद्रियश्वासोच्छ्वासभाषामनःपर्याप्तिभेदात् । तत्र तैजसकार्मणशरीरभाजः आत्मनो विवक्षितक्रियापरिनिष्पत्तिः पर्याप्तिः आत्मनः खलु कर्तुः करणविशेषपुद्गलरूपाऽपर्याप्तिः येन करणविशेषेणाऽऽत्मन आहारादिग्रहणसामर्थ्य निष्पद्यते, तच्च करणं यैः पुद्गलै निर्वर्त्यते ते खलु पुद्गला आत्मना गृहीतास्तथाविधपरिणतिभाजः पर्याप्तिशब्देनोच्यन्ते इति भावः ।

तत्रा–ऽऽहारग्रहणसमर्थकरणपरिनिष्पत्तिः आहारपर्याप्ति–शरीरकरणनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः । एवम्–इन्द्रियादिपर्याप्तिरपि बोध्या, तथाविधपर्याप्तियुक्ताः जीवाः पर्याप्ता उच्यन्ते । आहारादिपर्याप्तिरहितास्तु–अपर्याप्ता–उच्यन्ते–॥ सूत्र ७॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे जीवानां सूक्ष्म–बादरभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह—**"पुणो दुविहा"** इत्यादि । ते खलु जीवाः पुनर्द्विविधाः पर्याप्तकाः–अपर्याप्तकाश्च–तत्र पर्याप्तिः शक्तिः षड्विधा वर्त्तते । आहार–शरीरे–न्द्रिय–श्वासो–च्छ्वासभाषामनःपर्याप्तिभेदात् । तथाच–केचन जीवाः अहारादिपर्याप्ता भवन्ति केचन–पुनराहादिपर्याप्तिरहिता भवन्ति । तथा च–यावत्कालं पूर्णा पर्याप्ति न बध्नन्ति तावत्कालमपर्याप्तकाः अतएव–जीवाः पर्याप्तकाः अपर्याप्तकाश्च व्यपदिश्यन्ते इति भावः । सूत्र ७॥

पर्याप्ति के छह भेद है—(१) आहारपर्याप्ति (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति (५) भाषापर्याप्ति (६) मन;पर्याप्ति । तैजस और कार्मण शरीर वाले आत्मा की किसी क्रिया की पूर्ति होना पर्याप्ति है । कर्त्ता आत्मा है ।

जिस करण के द्वारा आत्मा में आहार आदि के ग्रहण की शक्ति उत्पन्न होती है, वह करण जिव पुद्गलो से उत्पन्न होता है, पुद्गल आत्मा के द्वारा गृहीत होकर असुक प्रकार के परिणमन करते है । वही पर्याप्ति कहलाती है । आहार को ग्रहण करने में समर्थ करण की निष्पत्ति हो जाना आहारपर्याप्ति है । शरीर रूप करण की निष्पत्ति होना शरीर पर्याप्ति है । इसी प्रकार इन्द्रियपर्याप्ति आदि भी समझ लेना चाहिए । जो जीव इस प्रकार की पर्याप्तियों से युक्त होते हैं वे पर्याप्त कहलाते है । जो जीव आहार आदि पर्याप्तियो से रहित होते है, उन्हें अपर्याप्त कहते हैं ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में सूक्ष्म और बादर के भेद से जीवों के दो भेद कहे गए है । अब उन्हीं के प्रकारान्तर से दो भेद बतलाने के लिए कहते है–वे जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से पुनः दो प्रकार के है । पर्याप्ति अर्थात् शक्ति छह प्रकार की है (१) आहार पर्याप्ति (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनः पर्याप्ति । कोई जीव आहार आदि पर्याप्ति से युक्त होते है और कोई–कोई उनसे रहित होते है । ये जब तक पूर्ण पर्याप्ति नहीं बाँधते तब तक अपर्याप्त कहलाते है । इस कारण कोई जीव पर्याप्त और कोई अपर्याप्त कहलाते है ॥७॥

मूलम् —"बेंदियतिंदियचउरिंदिय-पंचिंदिया य तसा" सू० ८

छाया—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाश्च त्रसाः" सू० ८

दीपिका—पूर्वं तावत् त्रस—स्थावरभेदेन संसारिणो जीवाः द्विविधा भवन्ति—इति प्रतिपादितम्, सम्प्रति-तेषामेव त्रसानां स्थावराणाञ्च स्वरूपाणि विशदरूपेण क्रमशः प्ररूपयितुमाह-वेइंदिय—तिंदिय —चउरिंदिय—पंचिंदिया य तसा—"इति—द्वीन्द्रियाः—त्रीन्द्रियाः—चतुरिन्द्रियाः—पञ्चेन्द्रियाः—चकारात् गतित्रसत्वेन बादरतेजोवायुकायिका अपि त्रसा उच्यन्ते। तत्र—स्पर्शन—रसनयुक्ताः द्वीन्द्रियाः —शंख—शुक्ति—वराट—कादयः, स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षुर्युक्ताः—कुन्थु—वृश्चिक—शतपदीन्द्रगोप—यूका—लिक्षा—मत्कुण—पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः। स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षुर्युक्ताः—दंश—मशक—पतङ्ग —भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियास्तु अण्डज—पोतज—जरायुजादयः॥ **सूत्र ८**॥

निर्युक्तिः—पूर्वं संसारिजीवानां त्रस—स्थावरभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपादितम्, सम्प्रति — तानेव त्रसान्—स्थावरांश्च विशेषरूपेण प्रतिपादयितुं -क्रमशः सूत्रद्वयमाह—**"बेंदिय—तिंदिय चउरिं-दिय—पंचिंदिया य तसा—"** इति। द्वीन्द्रियाः—त्रीन्द्रियाः—चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः चकारात् गति त्रसत्वेने—बादरतेजोवायुकायिका अपि त्रसाः व्यपदिश्यन्ते। तत्र—द्वीन्द्रियाः कृमिप्रभृतयः,

---

मूलसूत्रार्थ—**'बेंदियतिंदिय चउरिंदिय'** इत्यादि॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस है॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—त्रस और स्थावर के भेद से संसारी जीव दो प्रकार के कहे जा चुके हैं। अब उन त्रस और स्थावर जीवो का स्वरूप क्रमशः विस्तार के साथ कहते है—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और 'च' शब्द का ग्रहण करने से बादर तेजस्कायिक तथा वायुकायिक जीव त्रस कहलाते हैं।

इनमें से जो जीव स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियो में युक्त होते है, वे द्वीन्द्रिय कहलाते है, जैसे—शंख, सीप, कौड़ी आदि। जो स्पर्श रसना और घ्राण इन्द्रियो से युक्त होते है, वे त्रीन्द्रिय कहलाते है, जैसे—कुन्थु, बिच्छू, शतपदी, इन्द्रगोप, जूं, लीख, खटमल चिउँटी आदि। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु से युक्त चौइन्द्रिय कहलाते है, जैसे—डांस, मच्छर, पतंग, भ्रमर बिच्छू आदि अंडज (अंडे में उत्पन्न होने वाले), पोतज (पोत से उत्पन्न होने वाले) और जरायुज (जरायु —चमड़े की पतली झिल्ली (कोथली) में उत्पन्न होने वाले) जीव पंचेन्द्रिय होते है॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—त्रस और स्थावर के भेद से ससारी जीवो के दो भेद कहे जा चुके है। अब उनका विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए दो सूत्र कहते है—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तथा 'च' शब्द के ग्रहण से बादर-तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव त्रस कहलाते हैं। इनमें कृमि आदि द्वीन्द्रिय, पिपीलिका आदि

त्रीन्द्रिया–पिपीलिका प्रभृतयः । चतुरिन्द्रिया–भ्रमरादयः । पञ्चेन्द्रियाः–मनुष्यादयोऽवसेयाः । तथाचोक्तम्–जीवाभिगमस्य–१–प्रतिपत्तौ २–सूत्रे **"से किं तं ओराला तसा य पण्णत्ता—तं जहा बेइंदिया ते इंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया"**—इति ।

अथ के ते ओरालास्त्रसाः प्राणिनः ३ चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया इति । तत्र–द्वे–इन्द्रिये स्पर्शन–रसन रूपे येषां ते द्वीन्द्रियाः । एवम्—त्रीणि स्पर्शन–रसन–घ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः चत्वारि–स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः स्पर्शनादीनि (कर्णान्तानि) पञ्चेन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः ।

तत्र–शंख–शुक्ति–वराटक–जलोकप्रभृतयो द्वीन्द्रियाः, कुन्थु–वृश्चिक–शतपदी–न्द्रगोप—यूका–लिक्षा मत्कुण–पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः, दंस–मशक–पतङ्ग–भ्रमर–मक्षिकादयश्चतुरिन्द्रियाः, मनुष्य–गो–महिष–सर्प–गृहगोधिकादयः–पञ्चेन्द्रिया बोध्याः । सूत्र ॥८॥

मूलम्—"एगिंदिया पुढवीकाइयाइया पंच थावरा"—॥९॥

छाया—"एकेन्द्रियाः–पृथिवीकायिकादयः पञ्चस्थावराः"—सू० ॥९॥

दीपिका—पूर्वं स्थावराः संसारिणो जीवाः प्रतिपादिताः सम्प्रति–तेषां पञ्चभेदप्रतिपादनपूर्वकं स्वरूपाणि निरूपयितुमाह—**"एगिंदिया पुढविकाइया इया पंचथावरा"**–इति । एकेन्द्रियाः–स्पर्शनात्मकमेकमिन्द्रियं येषां ते–एकेन्द्रियाः पृथिवीकायिकादयः ।

त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय और मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जानने चाहिए । जीवाभिगम की प्रथम प्रतिपत्ति के २७ वें सूत्र में कहा है—उदार त्रस प्राणी कितने प्रकार के है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । जिन जीवो में स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं, वे द्वीन्द्रिय कहलाते है । इसी प्रकार जो स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियो से युक्त हैं, वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं । जिनके इन तीन इन्द्रियो के साथ चक्षुरिन्द्रिय भी होती हैं, वे चतुरिन्द्रिय हैं । कान सहित पाँचो इन्द्रियो वाले जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं ।

शंख, सीप, कौड़ी आदि द्वीन्द्रिय जीव है; कुन्थु, वृश्चिक शतपदी, इन्द्रगोप, जू, लीख खटमल, कौड़ी आदि त्रीन्द्रिय है; डांस, मच्छर , पतंग, भ्रमर,मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय है और मनुष्य, गाय, भैस सर्प छिपकली आदि पंचेन्द्रिय हैं ॥८॥

सूत्रार्थ—'एगिंदिया पुढवीकाईए' इत्यादि ।

पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावर एकेन्द्रिय है ॥९॥

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले संसारी जीवो का एक प्रकार स्थावर कहा गया था, अब उसके पाँच भेद बतलाकर स्वरूप का निरूपण करने के लिए कहते है—

जिन जीवोंमें सिर्फ एक स्पर्शन क्रिया पाई जाती है, वे पृथ्वीकायिक आदि स्थावर कहलाते है । आदि शब्द से अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक का ग्रहण होता

पृथिवीकायिका:—आदिना—ऽप्कायिका: तेजस्कायिका: वायुकायिका: वनस्पतिकायिका: इत्येवं पञ्चविधा: स्थावरा जीवा: सन्ति। किन्तु—देशान्तरप्राप्तिलक्षणगतिक्रियामाश्रित्य तेजवायु (तेजोवायु) कायिकास्त्रसा उच्यन्ते ।सू० ॥९॥

निर्युक्तिः—अथ पूर्वोक्तस्थावरान् प्रतिपादयितुमाह—**"एगिंदिया पुढवीकाइयाए पंचथावरा"**—इति। एकेन्द्रिया: एकं स्पर्शनरूपमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रिया: पृथिवीकायिकादय:। पृथिवीकायिका:—१ अप्कायिका:—२ तेजस्कायिका:—३ वायुकायिका:—४ वनस्पतिकायिका:—५ पञ्चसंख्यका: स्थावरा व्यपदिश्यन्ते। तथाचोक्तम्—स्थानाङ्गे—५ स्थाने—१ उद्देशके ३९४ सूत्रे **'पंच थावरा काया पण्णत्ता तं जहा पुढवीथावरकाए, आउथावरकाए, तेउथावरकाए, वाउथावरकाए, वणस्सइथावरकाए"**—इति। पञ्चस्थावरा काया: प्रज्ञप्ता:—तद्यथा—पृथिवीस्थावरकाया १ अप्स्थावरकाया:—२ तेज: स्थावरकाया:—३ वायुस्थावरकाया:—४ वनस्पतिस्थावरकाया: ५॥सू०९॥

मूलसूत्रम्—"तसा अणेगविहा, अंडयाइया"

छाया—"त्रसा अनेकविधाः अण्डजादयः"—

दीपिका—सामान्यत: पूर्वोक्तानां त्रसानां ससारिजीवाना विशेषस्वरूपाणि—भेदांश्च प्रतिपादयितुमाह—

"तसा अणेगविहा, अण्डयाइया"—इति। त्रसा:—त्रसनामकर्मोदयवशवर्त्तिनो जीवा द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय—पञ्चेन्द्रियाद्ययोगिकेवलिपर्यन्ता अनेकविधा: नानाप्रकारका भवन्ति।

है। ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं। किन्तु देशान्तर प्राप्तिरूप गतिक्रिया की अपेक्षा तेजस्कायिक और वायुकायिक भी त्रस कहलाते है ॥९॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—अब पूर्वोक्त स्थावरो का प्रतिपादन करने के लिए कहते है। एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीव स्थावर कहलाते है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक पांच स्थावर हैं। स्थानांगसूत्र के पाँचवे स्थान के प्रथम उद्देशक के ३९४ वें सूत्र में कहा है—

स्थावरकाय पॉच कहे गये है—(१) पृथिवीस्थावर काय (२) अप्स्थावरकाय (३) तेजस्थावरकाय (४) वायुस्थावरकाय और (५) वनस्पतिस्थावरकाय ॥९॥

सूत्रार्थ—'तसा अणेगविहा' इत्यादि।

त्रसजीव, अंडज आदि के भेद से अनेक प्रकार के है ॥१०॥

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले सामान्य रूप से कहे गए त्रसजीवो का विशेष स्वरूप और भेदबतलाने के लिए कहते है—

त्रसनामकर्म के उदय के वशीभूत द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि अयोगि-केवली पर्यन्त अनेक प्रकार के होते है। वे इस प्रकार है—अण्डज, जरायुज, रसज, संस्वेदज,

तद्यथा—अण्डजादयः, अण्डजाः आदिना जरायुजाः—रसजाः संस्वेदजाः—सम्मूर्च्छिमाः—उद्भिज्जाः—औपपातिकाश्च । तत्र—गर्भसंमूर्च्छिमोपपातलक्षणत्रिविधजन्मसु अण्डज—पोतज—जरायुजानां गर्भाज्जन्म भवन्ति ।

तत्राण्डजास्तावत्—सर्प—गृहगोधिकादयः । पोतजाः—सिंह—व्याघ्र—चित्रक—मार्जारादयः अनावरणजन्मानः । जरायुजाः—गो—महिष—मनुष्यादयः सावरणजन्मभाजो भवन्ति । रसजास्तु—मद्यादिविकृतघृतादिरसे चर्मादियोगे जाताः कृम्यादयो **प्रथमधातूद्भवाश्च** जीवा रसजाः संस्वेदजास्तु—संस्वेदःप्रस्वेदः, तत्र जाताः—संस्वेदजाः कुक्षाद्युत्पन्ना जीवाः संस्वेदजा बोध्याः ।

समन्तात्—पुद्गलानां मूर्च्छनं—सघातीभवनं संमूर्च्छः तत्र भवाः—संमूर्च्छिमाः सर्प—दर्दुर—मनुष्यादयोऽपि सम्मूर्च्छनाद् उत्पद्यमानत्वात् संमूर्च्छिता उच्यन्ते । उद्भिज्जास्तरु— गुल्मादयः—औपपातिक—देव—नारका उच्यन्ते—॥१०॥

तत्त्वार्थ निर्युक्तिः—पूर्वोक्तान् त्रसान् विभागपूर्वकं विशदरूपेण प्रतिपादयितुमाह—**"तसा अणेगविहा अण्डयाइया"**—इति । त्रसाः—द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय—पञ्चेन्द्रिया जीवाः अनेकविधाः—नानाप्रकारकाः प्रज्ञप्ताः सन्ति । तद्यथा—अण्डजाः 'आदिपदेन पोतजाः—जरायुजाः—रसजाः—संस्वेदजाः संमूर्च्छिमाः—उद्भिज्जाः—औपपातिकाश्च गृह्यन्ते । तत्र वक्ष्यमाणेषु गर्भ—संमूर्च्छिमोपपातलक्षणेषु त्रिविधजन्मसु, अण्डज—पोतज—जरायुजानां गर्भाज्जन्म भवति ।

सम्मूर्छिम, उदर्भिज्ज और औपपातिक । जीवो का जन्म तीन प्रकार का है—गर्भसम्मूर्छिम और उपपात । इनमें से अण्डज, पोतज और जरायुज जीव गर्भजन्म से उत्पन्न होते है ।

अण्डे से उत्पन्न होने वाले सर्प छिपकली आदि अण्डज हैं । जो विना आवरण के उत्पन्न होते है 'ऐसे सिंह, व्याघ्र, चीता बिलाव आदि जरायुज है । चमड़े की पतली झिल्ली आवरण में उत्पन्न होने वाले गाय भैंस मनुष्य आदि जरायुज कहलाते है। मद्यादि रस में उत्पन्न होने वाले कृम्यादि कीडे आदि उत्पन्न होनेवाले रसज कहलाते है । पसीने में उत्पन्न होने वाले जू आदि जीव संस्वेदज कहलाते है । स्त्री—पुरुष के समागम के बिना उत्पन्न होने वाला प्राणी संमूर्छ कहलाता है । सर्प, मेढक , मनुष्य आदि भी संमूर्च्छिम जन्म से उत्पन्न होने के कारण संमूर्च्छिम कहलाते हैं । ठीक ये त्रसजीव है ? पतंग आदि उद्भिज्ज कहलाते हैं । देव और नारक औपपातिक होते है ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त त्रस जीवो का भेद करके विशद रूप से प्रतिपादन करने के लिए कहते है—त्रस अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रियजीव अनेक प्रकार के है । जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, संमूर्छिम, उदभिज्ज और औपपातिक आगे कहे जाने वाले गर्भ, सम्मूर्छिम और उपपात, इन तीन प्रकार के जन्मो में से अण्डज, पोतज और जरायुज जीवो का गर्भ से जन्म होता है ।

तत्राऽण्डजाः अहि—गोधा—सरटा—गृहगोधिका—मत्स्य—कच्छप—शिशुमारादयः, हंस—चाप शुक—गृध्र—श्येन—पारावत—वायस—मयूर—मद्गु—[जल—विहायो गतिर्जलकाकिका—] वक—वलाका सारिकादयश्च ।

पोतजाः— शल्लक—हस्ति—श्व—विलावक—शश—नकुलमूषिकादयः, जलौका—वल्गुलि—भारण्ड—पक्षिविरालादयश्च । जरायुजाः—मनुष्य—गो—महिषा—ऽजा—ऽऽविक—गर्दभो—ष्ट्र—हरिण—चमर—शूकर—गवय—सिंह—व्याघ्र—द्वीपि—श्वान—क्रोष्टु—मार्जारादयो भवन्ति। एतेषां त्रयाणामपि—अण्डज—पोतज—जरायुजानां गर्भाज्जन्म भवति ।

रसजा—विकृतरसे समुत्पन्नाः कृम्यादयः । संस्वेदजाः—मत्कुणादयः । संमूर्च्छिमाः—माता—पितृसंयोगं विना जायमानाः गर्भव्युत्क्रान्तिकादिभिन्नाः। उद्भिज्जाः—पृथिवीं भित्वा जायमानाः । औपपातिकाः—नारक—भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकादयः सिद्धवर्जिता स्त्रसा व्यपदिश्यन्ते। सिद्धाः—न स्थावराः—नापि त्रसाः सन्ति, संमूर्च्छनजाश्चात्र द्वीन्द्रियादि तिर्यङ्—मनुष्यपर्यन्ताः अवगन्ताव्याः ।

जरायु स्तावद् गर्भवेष्टकचर्मपुटकमुच्यते, तस्मात् जाता जरायुजा भवन्ति । पोताः—शावकाः एवजाताः पोतजाः—शुद्ध प्रसवा भवन्ति, न तु—जरायुप्रभृतिभिर्वेष्टिता भवन्तीति भावः ।

सर्प. गोह, गिरगिट, छिपकली, मच्छ, कछुवा, नक्र, शिशुमार आदि तथा हंस, चाप, शुक. गिद्ध, श्येन (वाज), कवूतर, काक, मयूर, जल्काक, वगुला, वतक, मैना आदि जीव अण्डज हैं ।

शल्लक, हाथी. कुत्ता, विलाव, खरगोश, नौला, चूहा, जौक, वल्गुलि और भारण्ड पक्षी तथा विराल आदि पोतज होते हैं ।

मनुष्य, गाय, भैस, वकरी, भेड़, गाय, ऊँट, हरिण, चमर, शूकर, गवय(रोझ) सिंह, व्याघ्र द्वीपिक, श्वान, गीदड़, मार्जार आदि जरायुज हैं । इन अण्डज, पोतज और जरायुज जीवों का गर्भ जन्म होता है ।

विकृत हुए दूध आदि रसो में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि रसज कहलाते हैं । खटमल आदि जीव संस्वेदज है । माता-पिता के संयोग के विना ही उत्पन्न होते हैं और जो गर्भजों से भिन्न होते हैं, वे संमूर्छिम है । पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होने वाले उद्भिज्ज कहलाते हैं । नारक भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क वैमानिक आदि, सिद्धों को छोड़कर औपपातिक कहलाते हैं। ये सभी त्रस हैं । सिद्ध भगवान् न त्रस हैं और न स्थावर हीं द्वीन्द्रिय आदि तिर्यंच और कतिपय मनुष्य संमूर्छिम होते हैं ।

गर्भ को वेष्टित करने वाली चमड़े की पतली झिल्ली को जरायु (जड़—जेर) कहते हैं । उससे उत्पन्न होनेवाले जीव जरायुज होते हैं । पोत का अर्थ है शावक । जो जरायु से वेष्टित नहीं होते और जन्म लेते ही चलने-फिरते लगते हैं, वे जीव पोतज कहलाते हैं ।

तथाच—अण्डे पक्ष्यादि प्रादुर्भावककोषे जायन्ते—उत्पद्यन्ते इत्यण्डजाः पक्षि-सर्पादयः। पोता एव जाताः **पोतजाः** हस्त्यादयो न जराय्वादिना वेष्टिताः पूर्वावयवयोनिनिर्गतमात्रा एव परिस्पन्दादि सामर्थ्योपेताः **पोतजाः**।

अथवा—पोतश्चर्म, तेन वेष्टिता लक्ष्यन्ते। तथा च पोतो इव वस्त्र सम्मार्जिता इव गर्भ-वेष्टनचर्माऽपावृतत्वात् जायन्ते—उत्पद्यन्ते इति **पोतजाः**।

जरायुजाः—जरामेति—गच्छतीति **जरायुः** गर्भवेष्टनचर्म तस्माज्जायन्ते इति जरायुजाः मनुष्य—गो—महिषादयः। **रसजाः**—रसे मद्यलक्षणे—विकृतमधुरसादौ वा जायन्ते इति रसजाः। रसजो मद्यकीटः स्यात् इति हैमः। **संस्वेदजाः**—संस्वेदात्—घर्मात्—जायन्ते इति संस्वेदजाः यूका—लिक्षा मत्कुणादयः।

संमूर्च्छनं—संमूर्च्छः गर्भाधानम्, [मातापितृ सयोगं विनैव] स्वयं संमुत्पत्तिः मनोविकलो जीव उच्यते।

अथवा—समन्ततो देहस्य मूर्च्छनम् अवयवसंयोगः तेन निर्वृत्ताः संमूर्च्छिमाः माता-पितृ—संयोगं विनैव स्वयमुत्पद्यमानाः पिपीलिकाः—मक्षिका—मत्कोटकादयः। **उद्भिज्जाः** उद्भिद्य—पृथिवीं भित्वा जायन्ते इति उद्भिज्जाः शलभप्रभृतयः।

जो पक्षी तथा सर्प आदि अंडे में उत्पन्न होते है, वे अण्डज कहलाते है। जो पोत रूप ही जन्म लेते है, जरायु से लिपटे हुए नहीं जन्मते, योनि से बाहर आते ही चलने—फिरने लगते है, वे हाथी आदि पोतज कहलाते है।

अथवा पोत का अर्थ है चर्म, उससे वेष्टित लक्षित होते है। अतः पोत अर्थात् गर्भ को वेष्टित चर्म से अपावृत होने के कारण वस्त्र से पोछे हुए शरीर से जो उत्पन्न होते है, वे पोतज कहलाते है।

जो जरा को प्राप्त हो जाय वह जरायु है, अर्थात् गर्भ को लपेटने वाली चमडी। उससे जन्म लेने वाले मनुष्य, गाय, भैंस आदि जरायुज कहलाते है।

रस अर्थात् मद्य में या विकृत मधुर रस आदि में जन्मने वाले जीव रसज कहलाते है। हैम कोष में कहा है—मद्य का कीड़ा रसज कहलाता है। पसीने से उत्पन्न होने वाले जू, लीख मत्कुण आदि सस्वेदज कहलाते है।

जो जीव माता—पिता के संयोग के विना ही उत्पन्न होते है, वे अमनस्क जीव संमूर्छिम हैं।

अथवा इधर—उधर से देह का बन जाना अवयवों का संयोग हो जाना मूर्च्छन' कहलाता है। उससे जो उत्पन्न हो वे भी समूर्छिम कहलाते है। ये चिउंटी, मक्खी, खटमल आदि जीव माता पिता के संयोग के विना ही जन्म लेते है। जो शलभ (पतंग) आदि जीव पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होते है, वे उद्भिज्ज कहलाते है।

औपपातिकाः- उपपतनम् उत्पातः देवनारकाणां प्रसिद्धगर्भसंमूर्च्छनरूपजन्मप्रकारद्वय-विलक्षणउद्भवः तेन निर्वृत्ताः औपपातिका. देवनारका, देवाश्च–शय्यायाम् नारकाश्च कुम्भ्यादिषु स्वयं समुत्पद्यन्ते इतिभाव' ।

तथाचोक्तम्–अंडया–पोयया–जराउया–रसया–संसेयया संमुच्छिमा–उब्भिज्जा–उववाइया य–" इति । दशवैकालिक४–अध्ययने–॥ "गब्भवक्कंतिया य–संमुच्छिमा य–" इति । प्रज्ञापनाया. १–पदे–॥ "दोण्हं उववाए पण्णत्ते, देवाणं चेव नेरइया चेव,," इति स्थानाङ्गस्य २–स्थाने ३–उद्देशे ८५ सूत्रे!

[छाया] अण्डजा'–पोतजा'–जरायुजाः–रसजाः–संस्वेदजाः–समूर्च्छिमाः–उद्भिज्जा'–औपपातिकाश्चेति । गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च–समूर्च्छिमाश्चेति । द्वयोरुपपातः प्रज्ञप्तो देवानाञ्चैव, नैरयिकाणाञ्चैवेति । तत्र–रसो घृतादिः तस्माद् चर्मादियोगे जाताः । "रसा–ऽसृङ्–मांस–मेदोऽस्थि, मज्जा–शुक्राणि धातव'" इति वचनात् । रसः प्रथमो धातुः तस्मात् जाता रसजाः सूक्ष्मा. ।

संस्वेदः–प्रस्वेद तस्माज्जाता. **संस्वेदजाः** । कक्षाद्युत्पन्नाः सूक्ष्मा. । समन्तात् पुद्गलानां मूर्च्छनं सघाती भवनं **सम्मूर्च्छः** तस्माज्जाता. **सम्मूर्च्छिमाः**–सर्प–दर्दुर–मनुष्याद-योऽपि सम्मूर्च्छनादुत्पद्यन्ते । तथाचोक्तम् -

"शुक्र–सिघाणक–श्लेष्म कर्ण–दन्तमलेषु च–।
अत्यन्ताऽशुचिदेहेषु सद्य. सम्मूर्च्छनो भवेत्–" ॥१॥ इति

उद्भेदनमुद्भेदः भूमि–काष्ठ–पाषाणादिकं भित्वा ऊर्द्ध्वं निस्सरणम्—

जो उपपात से जन्म लेते हैं, वे औपपातिक है। उपपात का अभिप्राय है देवों और नारको का, गर्भ और संमूर्छन जन्म से भिन्न प्रकार का जन्म। देव शय्या में उत्पन्न होते है और नारक कुम्भी आदि में स्वयं उत्पन्न हो जाते है।

कहा भी है–'अंडज, पोतज. जरायुज,रसज, संस्वेदज, संमूर्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिका—दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन। गर्भज और संमूर्छिय–प्रज्ञापन प्रथम पद। दो प्रकार के जीवो का औपपातिक जन्म होता है—देवो का और नारको का।' स्थानांग २ स्थान ३ उद्देशक ८५ वाँ सूत्र।

अर्थात् मद्य आदि रस में जो उत्पन्न होने वाले है वे रसज कहलाते। संस्वेद अर्थात् पसीने से उत्पन्न होनेवाले सस्वेदज जीव है। इधर–उधर जाने से उत्पन्न होनेवाले जीव व सम्मूर्छिम है। सर्प मेढक ...जाता है। ओस. हिम. कुम्भटिका जन्म से पैदा होते है। ...उत्तिंगसूक्ष्म. पनक-, हरित समान जो अत्यन्त सूक्ष्म पुष्प है. उन्हे पुष्प

भूमि काष्ट पाषाण आदि को भेद कर चलते–फिरते समय ही दीख पड़ते है, स्थिर होने

उद्‌भेदः उद्‌भित् सम्पदादित्वात् क्विप् तस्माज्जाता उद्‌भिज्जाः, यथा रत्नपाषाणादिकं भङ्क्त्वा केनचिद् दर्दुरो निष्काशित इति प्रसिद्ध अन्यत्सर्वं स्पष्टम् ॥सूत्र १०॥

मूलम्--"अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया ॥सूत्र ११॥

छाया · "**अष्टविधाः सूक्ष्मा स्नेहकायादयः**--" ॥११॥

दीपिका--पूर्वं तावत् सूक्ष्मबादरभेदेन संसारिजीवाना द्वैविध्यस्योक्तत्वात् सम्प्रति तत्र सूक्ष्माणां भेदान्-स्वरूपञ्च प्ररूपयितुमाह--'**अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया**' इति अष्टविधाः अष्टप्रकारकाः सूक्ष्माः जीवाः स्नेहकायादिकाः स्नेहकायः आदिना पुष्पसूक्ष्मः प्राणिसूक्ष्मः उर्त्तिगसूक्ष्मः पनकसूक्ष्म. बीजसूक्ष्मः, हरितसूक्ष्मः अण्डसूक्ष्मश्चेति ।

तथाचोक्तम्--सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिगं तहेव य ।
पणगं बीयहरियं च अण्डसुहुमं च अट्ठमं ॥

छाया--स्नेहं पुष्पसूक्ष्मञ्च प्राण्युत्तिङ्गं तथैव च ।
पनकं बीजहरितं च अण्डसूक्ष्मं च अष्टमम् ॥

स्नेहम् स्नेहसूक्ष्मम्, अवश्यायहिमकुञ्झटिकादिरूपम् अत्र स्नेहपदेन अप्कायविशेषः सूक्ष्मः स्नेहकायोऽपि गृह्यते, पुष्पसूक्ष्मम्--उदुम्बरादिपुष्पसदृशम् सूक्ष्मम् प्राणिसूक्ष्मम्--यः प्राणी संचरमाण एव सर्वदा लक्ष्यते न तु स्थितो लक्ष्यते स चासौ सूक्ष्मः कुंथ्वादिकः उत्तिङ्गसूक्ष्मम्--सूक्ष्मकीटिकादीनाम् वृन्दम् कीटिका नगरादि, कीटिकादयः सूक्ष्माः प्राणिनो घनीभूता अपि पृथिव्यादिवत् प्रतिभासजाः जीवत्वेन दुर्लक्ष्या भवन्ति, पनकसूक्ष्मम्--वर्षाकाले भूमि-

---

जीव उत्पन्न होते है। वे उद्‌भिज्ज कहे गये है जैसे यह प्रसिद्ध है कि किसी ने पाषण आदि को भेदन करके मेंढक निकाल दिया ॥१०॥

सूत्रार्थ--अट्ठविहा सुहुमा,--इत्यादि ।
स्नेहका आदि आठ प्रकार के सूक्ष्म है ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका--पहले संसारी जीवों के दो भेद कहे गए थे--सूक्ष्म और बादर। अब सूक्ष्म जीवो के भेद और उनके स्वरूप की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं--स्नेहकाय आदि आठ प्रकार के सूक्ष्म है (१) स्नेह कायसूक्ष्म (२) पुष्पसूक्ष्म (३) प्राणिसूक्ष्म (४) उर्त्तिग सूक्ष्म (५) पनक सूक्ष्म (६) बीज सूक्ष्म (७) हरित सूक्ष्म और (८) अण्डसूक्ष्म ।

इनका अर्थ इस प्रकार है--ओस, हिम, कुंञ्झटिका (घूवंर) आदि स्नेहसूक्ष्म कहलाता है, यहाँ '**स्नेह**' शब्द से जलका ग्रहण किया गया है। गूलर आदि के सूक्ष्म पुष्प सदृश पुष्पसूक्ष्म कहलाते है। जो प्राणी चलने--फिरने से ही दिखाई दे और स्थित होने पर दिखाई न दे, वह प्राणिसूक्ष्म कहलाता है, जैसे कुन्थु आदि। छोटी--छोटी कीड़ियो का समूह--कीड़ी नगरा--उर्त्तिग सूक्ष्म है। ये प्राणी घनीभूत होने पर भी पृथ्वी आदि के समान होने के कारण सहज दिखाई नहीं

काष्ठादौ समुत्पन्नं पञ्चवर्णपनकाख्यसूक्ष्मम् बीजहरितं चेति. तत्र बीजसूक्ष्मम्—शाल्यादि तुष-मुखं यस्मादंकुरः समुत्पद्यते. हरितसूक्ष्मम्—नवीन मुत्पद्यमानं भूमिसवर्णम् तद्वत् कान्तिमत्तया दुर्लक्ष्यम्। अण्डसूक्ष्मम्—मक्षिकापिपीलिकागृहगोधिकाकृकलासाचण्डकवत्सच्छेत् ॥सूत्र ११॥

निर्युक्तिः—पूर्व सूक्ष्मबादरभेदेन जीवानां द्वैविध्यं प्रतिपादितं सम्प्रति तयोर्मध्ये सूक्ष्माणां भेदं प्रतिपादयितुमाह—**अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया**" इति अष्टविधाः अष्ट प्रकारकाः सूक्ष्मा जीवाः प्रज्ञप्तास्तीर्थकृदादिभिः, तद्यथा—स्नेहकायः,—तथाचोक्तम्—

सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिंगं तहेव य ।
पणगं बीयहरियं च अण्डसुहुमं च अट्ठमं ॥

छाया—स्नेहं पुष्पसूक्ष्मञ्च प्राण्युत्तिङ्गं तथैव च ।
पनकं बीजहरितं च अण्डसूक्ष्मं च अष्टमम् ॥

स्नेहम्—स्नेहसूक्ष्मम् अवश्यायहिम कुज्झटिकादिरूपम्, अत्र स्नेहपदेन अप्कायविशेष सूक्ष्मः स्नेहकायोऽपि गृह्यते पुष्पसूक्ष्मम्—उदुम्बरादि पुष्पसदृशम् सूक्ष्मम् प्राणिसूक्ष्मम्—यः प्राणी संचरमाण एव सर्वदा लभ्यते न तु स्थितो लभ्यते स चासौ सूक्ष्मः प्राणिसूक्ष्मः कुन्थ्वादिक. उत्तिङ्गसूक्ष्मम्—सूक्ष्मकीटिका दीनाम् वृन्दम् कीटिका नगरादि कीटिकादयः सूक्ष्मा प्राणिनो यत्र

देते। वर्षा काल में भूमि और काष्ठ आदि के ऊपर जो पाँच वर्णों की काई (नील फूल) उत्पन्न हो जाती है, वह पनक सूक्ष्म कहलाती है। शालि आदि के तुष का मुख, जिससे अंकुर उत्पन्न होता है, बीज सूक्ष्म कहलाता है। नवीन उत्पन्न होने वाला और भूमि के समान रूप—रंग का होने के कारण जो सरलता से दिखाई नहीं देता वह हरित काय हरितसूक्ष्म कहलाता है। मक्खी, कीड़ी, छिपकली, गिरगिट आदि के छोटे—छोटे अण्डे अण्डसूक्ष्म कहलाते हैं ॥११॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—पहले कहा जा चुका है कि सूक्ष्म और बादर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। अब उनमें से सूक्ष्म जीवों के भेदों का प्रतिपादन करने लिए कहते हैं—'**स्नेहकाय आदि आठ प्रकार के सूक्ष्म है।**'

तीर्थंकर आदिने आठ प्रकार के सूक्ष्म अर्थात् छोटे—छोटे जीव कहे है—(१) स्नेहसूक्ष्म (२) पुष्प सूक्ष्म (३) प्राणिसूक्ष्म (४) उत्तिंगसूक्ष्म (५) पनक सूक्ष्म (६) बीजसूक्ष्म (७) हरित सूक्ष्म और (८) अण्डसूक्ष्म।

कहा भी है—' आठ सूक्ष्म हैं—स्नेहसूक्ष्म, पुष्पसूक्ष्म, प्राणिसूक्ष्म, उत्तिंगसूक्ष्म, पनक-सूक्ष्म, बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्म और आँठवा अण्डसूक्ष्म।

यहाँ '**स्नेह**' पद से अप्काय विशेष ग्रहण किया जाता है। ओस, हिम, कुज्झटिका आदि स्नेह सूक्ष्म कहलाता है। गूलर के फूल के समान जो अत्यन्त सूक्ष्म पुष्प हैं, उन्हे पुष्प सूक्ष्म कहते हैं। जो प्राणी इतने छोटे हैं कि चलते—फिरते समय ही दीख पड़ते हैं, स्थिर होने

भूता पृथिव्यादिवत् प्रतिभासमानाः जीवत्वेन दुर्लक्ष्या भवन्ति पनकसूक्ष्मम्—वर्षाकाले भूमिकाष्ठादौ समुत्पन्नं पञ्चवर्णपनकाख्यसूक्ष्मम् बीजहरितं चेति तत्र बीजसूक्ष्मम्—शाल्यादि तुषमुख यस्मादंकुरः समुत्पद्यते। हरितसूक्ष्मम्—नवीनमुत्पद्यमानम् भूमिसवर्णम् तद्वत् कान्तिमत्तया दुर्लक्ष्यम् अण्डसूक्ष्मम्—मक्षिका—पिपीलिका—गृहगोधिका—कृकलासाद्यण्डकमवगच्छेत् । स्नेहसूक्ष्मः आदिना पुष्पसूक्ष्मम् प्राणिसूक्ष्मम् उत्तिङ्गसूक्ष्मम् पनकसूक्ष्मः बीजसूक्ष्मः हरितसूक्ष्मः अण्डसूक्ष्मश्च तत्र अवश्यायहिमकुज्झटिकादिः स्नेहसूक्ष्मः स्नेहकायपदेन उदुम्बरादि पुष्पसदृशः सूक्ष्मप्राणी गृह्यते, सर्वदा संचरमाणो न तु स्थितः कदाचित् कुन्थ्वादिकः प्राणिसूक्ष्मः सूक्ष्मकीटिकादिवृन्द उत्तिङ्गसूक्ष्मः एवं पनकसूक्ष्मे वर्षाकालिकपञ्चवर्णजीवविशेषः बीजसूक्ष्मः शाल्यादितुषमुखः हरितसूक्ष्मो भूमिसवर्णः अण्डसूक्ष्म-पिपीलिकादिरवसेयः ।सूत्र ११॥

मूलसूत्रम्—"वायरा अणेगविहा पुढवीकायाइया ।सूत्र १२॥

छाया—"बादरा अनेकविधाः पृथिवीकायादिकाः ।सू० १२॥

दीपिका—पूर्वं संसारिणो जीवा बादरा इत्युक्तत्वात् सम्प्रति तेषां बादरजीवानां स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—**'वायरा अणेगविहा पुढवीकायाइया"** इति बादरा. जीवाः अनेकविधा बहुप्रकारकाः सन्ति तद्यथा—पृथिवीकायादिकाः—पृथिवीकायाः आदिना अप्कायाः तेजस्कायाः वायुकायाः वनस्पतिकायादयश्चावगन्तव्याः एतेषां सूक्ष्मत्वेऽपि बादरत्वस्यापि सद्भावात् ॥सूत्र १२॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे सूक्ष्मजीवानामष्टविधत्वं प्रतिपादितं सम्प्रति बादरजीवानां भेदं प्रतिपादयितुमाह—**'वायरा अणेगविहा पुढवीकायाइया'** इति बादराः जीवाः अनेकविधा प्रज्ञप्ताः

पर दिखाई नहीं देते, वे कुंथु आदि प्राणिसूक्ष्म कहलाते है। छोटी—छोटी कीड़ियो आदि का समूह—कीड़ीनगराँ उत्तिंग सूक्ष्म कहलाता है। ये जीव इतने छोटे होते है कि बहुत से इकट्ठे होने पर भी पृथ्वी के रूप—रंग के होने के कारण जीव के रूप में लक्ष नहीं पड़ते। वर्षाकाल में भूमि और काष्ठ आदि के ऊपर पाँच वर्ण की जो काई—(नील) फूल जम जाती है, वह जब सहज ही दिखाइ नहीं देती तो पनकसूक्ष्म कहलाती है। शालि आदि के पुष्प का मुख, जिससे अंकुर की उत्पत्ति होती है, उसे बीजसूक्ष्म कहते है। नया—नया उत्पन्न होने वाला जमीन के रंग का हरितकाय हरित सूक्ष्म कहलाता है, जो साधारणतया दिखाई नहीं देता। मक्खी, चिउंटी, छिपकली, गिरगिट आदि के अत्यन्त छोटे—छोटे अण्डो को अण्ड- सूक्ष्म कहते है ॥११॥

सूत्रार्थ 'वायरा अणेगविहा'—इत्यादि।

बादर जीव पृथ्वीकायिक आदि के भेद से अनेक प्रकार के है ॥१२॥

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले संसारी जीवो का एक भेद बादर कहा जा चुका है—पृथ्वीकायिक आदि बादर जीव अनेक प्रकार के है, यथा—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमें सूक्ष्मता होने पर भी बादरता भी पाई जाती है ॥१२॥

तद्यथा–पृथिवीकायादिकाः आदिपदेन अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिका' वनस्पतिकायिकादयो गृह्यन्ते ऐताषां सूक्ष्मत्वेऽपि बादरत्वस्यापि सद्भावात् ।सूत्र १२॥

मूलसूत्रम्—'मुत्ता अणेगविहा तित्थसिद्धाइया ।सू० १३॥

छाया—"मुक्ताः अनेकविधाः तीर्थसिद्धोदयः ।सूत्र १३॥

दीपिका—पूर्वे संसारिमुक्तभेदेन जीवा द्विविधाः प्रतिपादिताः तत्र मुक्तानां स्वरूपमाह **'मुत्ता अणेगविहा तित्थ सिद्धाइया"** इति मुक्ताः–कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमुक्ति प्राप्ता' जीवा अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा–तीर्थसिद्धाः, अतीर्थसिद्धाद्येवमनन्तरसिद्धाः पञ्चदशविधा इति ।।सूत्र१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं संसारिमुक्तभेदेन द्विविधेषु जीवेषु संसारिणां सूत्राष्टकेन भेदोपभेदप्रतिपादनपूर्वकं प्ररूपणं कृतम् सम्प्रति क्रमप्राप्तानां मुक्तजीवानां प्ररूपणं कर्तुं माह–**'मुत्ता अणेगविहा तित्थसिद्धाइया"** इति मुक्ताः–कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमुक्तिं प्राप्ताः जीवाः अनेकविधाः प्रज्ञप्ताः–अनन्तरसिद्धाः पञ्चदशविधाः तद्यथा–तीर्थसिद्धाः १ अतीर्थ-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्र में सूक्ष्म जीवो के आठ प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। अब बादर जीवो के भेद बतलाते है–पृथ्वीकाय आदि बादर जीव अनेक प्रकार के कहे गए है। यहाँ आदि शब्द से अपूकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक आदि समझ लेने चाहिए।

ये जीव सूक्ष्म होते हुए बादर भी होते हैं, अर्थात् इनमें जो अत्यन्त छोटे होते है वे सूक्ष्म और जो अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाते है वे बादर कहलाते है।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि यहाँ सूक्ष्म और बादर का जो भेद किया गया है, वह जीवो के शरीर की सूक्ष्मता और स्थूलता की अपेक्षा से है। सूक्ष्म नामकर्म के उदय और बादर नामकर्म के उदय वाले जो सूक्ष्म और बादर जीव शास्त्रो में कहे गए है, यहाँ उनका उल्लेख नहीं हैं ॥१२॥

सूत्रार्थ—'मुत्ता अणेगविहा—इत्यादि।

मुक्तजीव तीर्थसिद्ध आदि के भेद से अनेक प्रकार के होते है ॥१३॥

तत्त्वार्थ दीपिका—ससारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के जीवो का कथन किया गया था, उनमें से यहाँ मुक्तजीवो का स्वरूप कहते है–समस्त कर्मों को क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त मुक्त जीव अनेक प्रकार के है। वे इस प्रकार हैं–तीर्थसिद्ध, अतीर्थ आदि नन्दी सूत्र के २१वे सूत्र में कहे है। इसी प्रकार अनन्तरसिद्ध, परम्परा सिद्ध आदि भेद भी जान लेने चाहिए ॥१३॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के जीवो में ससारीजीवो की आठ सूत्रों में प्ररूपणा की है। अब क्रमप्राप्त मुक्त जीवों का प्रतिपादन करते है–

समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त जीव मुक्त कहलाते है। वे अनेक प्रकार के हैं। इनमें अनन्तरसिद्ध जीव पन्द्रह प्रकार के है–(१) तीर्थसिद्ध (२) अतीर्थसिद्ध (३) तीर्थंकरसिद्ध

सिद्धाः २ तीर्थंकरसिद्धाः ३ अतीर्थंकरसिद्धाः ४ स्वयंबुद्धसिद्धा', ५ प्रत्येकबुद्धसिद्धाः ६ बुद्धबोधितसिद्धा : ७ स्त्रीलिङ्गसिद्धाः ८ पुरुषलिङ्गसिद्धाः ९ नपुंसकलिङ्गसिद्धाः १०, स्वलिङ्गसिद्धाः ११ अन्यलिङ्गसिद्धाः १२ गृहिलिङ्गसिद्धाः १३ एकसिद्धाः १४, अनेकसिद्धा इति नन्दीसूत्रे उक्तम्— तदर्थश्च तत एव द्रष्टव्याः—तत्र प्राप्ये तीर्थे सिद्धिं प्राप्नोति स तीर्थ सिद्धो व्यपदिश्यते, तथाचोक्तम्— "कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति । यथा दग्धेन्धनो वह्निः निरूपादानसंततिरित्यादि ॥सू.१३॥

मूलम्—"जीवस्स छब्भावा ओदइयउवसमियखाइयमिस्सपारिणामियसंनिवाइया ।

छाया—"जीवस्य षड्भावाःऔदयिकौपशमिक क्षायिकमिश्रपारिणामिकसांनिपातिकाः

दीपिका—पूर्वं तावत् संसारिमुक्तभेदेन सूक्ष्मबादरत्रसस्थावरसमनस्कामनस्कादि भेदेन च जीवानां निरूपणं कृतं सम्प्रति तेषामेव जीवानां स्वरूपलक्ष्यणमौदयिकादि षड्भावं प्ररूपयितुमाह—**"जीवस्स छब्भावा ओदइयउवसमियखाइयमिस्सपारिणामियसंनिवाइया"** इति जीवस्य बोधात्मकस्य उपयोगवतः षड्भावाः तीर्थकृद्भिः प्रज्ञप्ताः सन्ति, तद्यथा -औदयिकः१, औपशमिकः२, क्षायिकः३, मिश्रः४ पारिणामिकः ५ सान्निपातिकश्च६, तत्र भवनं भावः जीवस्य भवनलक्षणपरिणतिविशेषो भावः कथ्यते तथा च द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदय उच्यते

---

(४) अतीर्थंकरसिद्ध (५) स्वयं बुद्धसिद्ध (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध (७) बुद्धबोधित सिद्ध (८) स्त्रीलिंग, सिद्ध)९) पुरुष लिंग सिद्ध (१०) नपुंसकलिंगसिद्ध (११) स्वलिग सिद्ध (१२) अन्यलिंगसिद्ध (१३) गृहस्थलिंग सिद्ध (१४) एकसिद्ध (१५) अनेकसिद्ध । यह भेद नन्दीसूत्र के २१वें सूत्र में कहे है। इनका अर्थ वहीं से समझ लेना चाहिए। तींर्थंकर के द्वारा तीर्थ की स्थापना हो जाने पर जो सिद्ध होते हैं, वे तीर्थ तीर्थसिद्ध कहलाते है। कहा भी है—

समस्त कर्मों का क्षय होने से जीव ऊपर निर्वाण की ओर जाता है। जैसे ईंधन जल जाने से और नया ईंधन न मिलने से अग्नि निर्वाण को प्राप्त होतीहै ॥१३॥

सूत्रार्थ—'जीवस्स छब्भावा' इत्यादि ।

जीव के छह भाव होते है—औदियक, औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक) पारिणामिक और सान्निपातिक ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका— पहले ससारी और मुक्त के भेद से तथा सूक्ष्म—बादर, समनस्क —अमनस्क आदि के भेद से जीवो का निरूपण किया गया है। अब उन जीवो के स्वरूपभूत औदयिक आदि छह भेदों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—बोधमय, उपयोगवान् जीव के छह भाव तीर्थकरों ने कहे है। वे इस प्रकार हैं—(१) औदयिक २) औपशमिक (३) क्षायिक (४) मिश्र (क्षायोपशमिक) (५) पारिमाणिक और (६) सान्निपातिक ।

जीव की भवन अर्थात् होने रूप परिणति को भाव कहते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से कर्मों के फल की प्राप्ति होना उदय कहलाता हैं, जैसे जल में कीचड़ का उभराना ।

यथा पयसि पङ्कस्योद् भूतत्वम्, तथाविधकर्मोदये सति जायमानो भावः औदयिको व्यपदिश्यते; एवम् आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भवरूप उपशम उच्यते, यथा कतकादि द्रव्यसंयोगात् जले पङ्कस्याधस्तले स्थितिरूप उपशमो भवति क्षयस्तु कर्मण आत्यन्तिकी निवृत्तिरुच्यते, यथा काचादि पात्रस्थे मेघस्थे वा उदके कर्दमस्यात्यन्ताभावो भवति, एतदुभयात्मकः क्षयोपशमो मिश्र उच्यते यथा कूपतडागादिस्थे उदके पङ्कस्य क्षीणाऽ—क्षीणवृत्ति र्भवति, द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुको भावः परिणामो व्यपदिश्यते, एवञ्च कर्मफलविपाकाविर्भावविलक्षणेनोदयेन निष्पन्नो भाव औदयिकः, कर्मण उपशमः भस्मपटलाच्छन्नाग्निवत् कर्मणोऽनुत्पादावस्था प्रयोजनमस्येति औपशमिको भावः, कर्मणां क्षयेण निष्पन्नो भावः क्षायिकः, कर्मणः क्षयोपशमाभ्यां निष्पन्नो भावः क्षायोपशमिको मिश्रः कर्मणः परिणाम एव द्रव्यभाव प्राणावस्थालक्षणः पारिणामिको भावः, औदयिकादिभावसान्निपाते सति जायमानो भावः सान्निपातिक उच्यते, तत्रौदयिकादयः पञ्च भावाः जीवस्य कर्मोदयाद्यपेक्षत्वाद् नैमित्तका उच्यन्ते, पारिणामिको भावस्तु कर्मोदयानपेक्षत्वात् चैतन्यादिः स्वाभाविक उच्यते,

---

इस प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक भाव कहलाता है।

आत्मा में कर्म की शक्ति का कारणवश अनुद्भव होना उपशम कहलाता है, जैसे फिटकड़ी आदि द्रव्यों के संयोग से जल में मैल का नीचे जमा रहना—शान्त हो जाना।

कर्मों का सर्वथा शान्त हो जाना यह औपशमिक है। जैसे काचादि के पात्र में स्थित या मेघ में स्थित जल में मैल अत्यन्त अभाव होता है। कर्म का सर्वथा नाश होना क्षायिक-भाव है। दोनो अवस्थाओ का मिश्रण मिश्र या क्षयोपशम कहलाता है, जैसे कूप या तालाब के जल में मैल का कुछ—कुछ क्षीण हो जाना और कुछ—कुछ क्षीण न होना। वह क्षायोपशमिक भाव है। जो भाव स्वत; रहता है—कर्म के उदय आदि का आक्षेप नहीं रखता, वह पारिणामिक भाव है।

इस प्रकार कर्म के फल—विपाक के प्रकट होने रूप उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक है। भस्म से आच्छादित अग्नि के समान कर्म की अनुत्पाद—अवस्था को उपशम कहते हैं। उपशम से उत्पन्न भाव औपशमिक कहलाता है।

कर्म के क्षय से निष्पन्न होने वाला भाव क्षायिक है। कर्म के क्षय और उपशम से होने वाला भाव मिश्रभाव कहलाता है। जो भाव किसी कर्म के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से न होकर स्वभाव से ही होता है वह, पारिणामिक भाव है और औदयिक आदि भावो के सम्मिलन से उत्पन्न होने वाला भाव सान्निपातिक कहलाता है।

इनमें औदयिक आदि पांच भाव कर्म की अपेक्षा से होते है, अतएव वे नैमित्तक हैं, किन्तु पारिणामिक भाव कर्म के उदय आदि से नहीं होता, अतएव वह स्वाभाविक कहलाता है।

स एष षड्विधो भावो यथायोग्यं भव्यस्याभव्यस्य च जीवनस्य स्वरूपमुच्यते,तत्र मिथ्यादृष्टीनाम् अभव्यानाञ्च न कदाचित् औपशमिकक्षायिकौ भवतः अपितु भव्यानामेव, तौ स्तः पारिणामिकस्तू-भयेषामेव भवतीति भावः, यद्यपि मिश्रग्रहणे सन्निपातिकभावस्यापि युगपदेकस्मिन् जीवे निपतन-शीलस्य औपशमिकादि भावानां द्विकादि संयोगेन निष्पद्यमानस्यान्तर्भाव संभवेऽपि आगमप्रामाण्यात् पार्थक्येन ग्रहणं कृतम् औदयिकादि सान्निपातिकस्य मिश्रेऽन्तर्भावाऽसंभवश्चेति भावः। **सूत्र–१४**

निर्युक्तिः––पूर्वं जीवानां संसारिमुक्तभेदेन तदवान्तरभेदेन च सविशदं निरूपणं कृतम् सम्प्रति तेषामेव जीवानां स्वरूपलक्षणमौदयिकादि षड्विधभावं प्ररूपयितुमाह–**"जीवस्स छब्भावा"** इत्यादि जीवस्य चेतनालक्षणस्य वोधस्वरूपस्य षड्भावाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा औदयिकः १, औपशमिकः २, क्षायिकः ३, मिश्रः ४ पारिणामिकः ५, सान्निपातिकश्च ६ इति तत्र विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थग्रहणव्यापारात्मकोपयोगलक्षणस्य जीवात्मनो ज्ञानरूपे दर्शन-रूपे च द्विविधेऽपि व्यापारे चैतन्यरूपेण स्वाभाविकः परिणामः समान एव भवति ज्ञानदर्शन योर्जीवात्मनश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायित्वात्। तत्र साकारं ज्ञानं भवति परोक्षं निराकारं दर्शनमुच्यते, स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिमासादयन् ज्ञानदर्शनरूपोपयोगः

यह छह प्रकार के भाव यथायोग्य भव्य या अभव्य जीव के स्व रूप है। मिथ्या-दृष्टि और अभव्य जीवो को औपशमिक और क्षायिक भाव की प्राप्ति कदापि नहीं होती। ये दोनो भव्य जीवो को ही होते हैं। पारिणामिक भाव दोनो प्रकार के जीवो को होता है।

सान्निपातिक भाव एक साथ एक जीव में प्राप्त होता है, और औपशमिक आदि भावों मेंसे दो तीन आदि के सयोग से उत्पन्न होता है। मिश्र भाव में उसका अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि आगमप्रामाण्य के कारण उसका पृथक् ग्रहण किया गया है और औदयिक आदि सान्निपातिक का मिश्र में अन्तर्भाव भी नहीं है ॥१४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति––पहले जीवो का संसारी और मुक्त के भेद बतलाकर और उनके अवान्तर भेदो का प्रतिपादन करके विवाद निरूपण किया गया है। अब उन जीवो के स्वरूप भूत औदयिक आदि छह भावो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है––

चेतना लक्षण वाले जीव के छह भाव कहे गए है, यथा––(१) औदयिक (५) औपशमिक (३) क्षायिक (४) मिश्र (५) पारिणामिक और (६) सान्निपातिक।

किसी पदार्थ को ग्रहण करने के व्यापार रूप लक्षण वाले जीव का ज्ञान और दर्शन–दोनो प्रकार के व्यापार में चैतन्य रूप से स्वाभाविक परिणाम समान ही होता है। ज्ञान और दर्शन चैतन्य कहलाते है। यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है इनमें ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार होता है।..

स्वाभाविक चैतन्य रूप परिणति को प्राप्त होता हुआ ज्ञान दर्शन रूप उपयोग, कर्म के

परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात् कर्मणा अयोगोलकवद् एकीभूतस्यात्मनोऽन्यत्वप्रतिपत्तिहेतुर्भवति तत्र अवयवरूपः प्रदेशो जीवावयवानां परस्परं संयोगः कदाचिद् दृढो भवति, कदाचिच्च शिथिलो भवति, तत्र फलप्रदानोन्मुखस्यौदीर्णस्य कर्मणोऽवयवाः जीवात्मावयवसंयोगं शिथिलीकृत्यान्तःप्रविशन्ति जीवकर्मणोरवयवानां मिथो मिश्रणरूपप्रदेशवन्धेन जीवः कर्मणा सहैकीभूतो भवति, अयःपिण्डवद् भेदेन पार्थक्येन ज्ञातुं न शक्यते यथा दुग्धं पयोमिश्रितं सत् जलेन एकीभूतं पार्थक्येन ज्ञातुं न शक्यं भवति तद्वदिति भावः, उपयोगेन तु अयं जीवः स्वस्मिन् मिश्रितेभ्यः कर्मदलिकेभ्यः सकाशात् पार्थक्येन ज्ञातुं शक्यो भवति, कर्मपुद्गलानामुपयोगावस्थायां चैतन्यरूपेण परिणत्यभावात् ततश्च सकलजीवसाधारणं चैतन्यमुपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावेन कर्मोदयवशात् कलुषा कारणे च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीवस्वरूपं सम्पद्यते, द्रव्यादितन्निमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदय उच्यते यथा पयसि पङ्कस्योद्भूतत्वम् तत्र—भवनं भावः—भावे घञ् जीवस्य भवनलक्षणपरिणतिविशेषो भावः उच्यते कर्मोदये सति जायमानो भावः—औदयिको व्यपदिश्यते, एवमेवात्मनि कर्मणः स्वशक्तेः

साथ आत्मा का अयोगोलक (लोहे के गोले) के समान परस्पर प्रदेशबन्ध होने पर भी भिन्नता का ज्ञान कराता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा यद्यपि कर्मों से बद्ध है—एकमेक हो रहा है, तथापि अपने चैतन्य स्वभाव के कारण उनसे भिन्न पहचाना जाता है । अवयव रूप प्रदेश, जीवावयवों का परस्पर संयोग कभी–कभी दृढ़ होता है और कभी–कभी शिथिल होता है ।

अपना फल प्रदान करने के लिए उन्मुख, उदय में आये कर्म के अवयव जीवात्मा के अवयव-संयोग को शिथिल करके अन्दर प्रवेश कर जाते है । जीव और कर्मके परस्पर मिश्रण रूप प्रदेश बन्ध के कारण जीव कर्म के साथ एक रूप हो जाता है । वह लोहे के पिण्ड के समान भिन्न नहीं माल्रम होता ।

अभिप्राय यह है कि जैसे दूध और पानी परस्पर में मिल जाने पर अलग-अलग प्रतीत नहीं होते उसी प्रकार आत्मा और कर्म एकमेक हो जाते है तो दोनो पृथक्–पृथक् प्रतीत नहीं होते; फिर भी उपयोग रूप लक्षण के कारण जीव अपने साथ मिले हुए कर्मदलिकों से पृथक् पहचाना जा सकता है । उपयोग की अवस्था में कर्म पुद्गलो की चैतन्य रूप से परिणति नहीं होती । अतः जीव मात्र में समान रूप से पाया जाने वाला चैतन्य, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक भाव से तथा कर्मोदय के वश से कलुषित आकार से परिणत जीवपर्याय की विवक्षा में जीव के स्वरूप होते है ।

भवत् अर्थात् होने को 'भाव' कहते है । यहाँ भाव में 'घञ्' प्रत्यय हुआ है । इस प्रकार जीव भवन रूप परिणाम को भाव कहते हैं ।

कारणवशादनुद्भवरूप उपशम उच्यते, यथा कतकादि (निबलीति भाषाप्रसिद्धः) द्रव्यसंयोगाद् जले कर्दमस्योपशमोऽधस्तले स्थितिः भवति, क्षयः पुनः कर्मण आत्यन्तिकी निवृत्तिरुच्यते यथा काचादिपात्रस्थे जलदस्थे वा जले पङ्कस्यात्यन्तभावो भवति, एतदुभयात्मको मिश्रः क्षयोपशमो भण्यते, यथा कूपस्थे जले पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिर्भवति, द्रव्यात्मलाभमात्र हेतुकः परिणामो भवति तथा औदयिक कर्मण उपशमः भस्मपटलाच्छन्नाग्निवत् कर्मणः अनुदयावस्था प्रयोजनमस्य भावस्येत्यौपशमिको भावो जीवस्यावस्था विशेषः एवं कर्मणः क्षयेण निर्वृत्तो भावः क्षायिको भावः एवं कर्मणः क्षयोपशमाभ्यां निर्वृतः भावः क्षायोपशमिको भावः, एवं कर्मणः परिणाम एव द्रव्यभाव प्राणावस्थालक्षणः पारिणामिको भावः न तु परिणामः प्रयोजनमस्य परिणामेन वा निर्वृत्तः पारिणामिक इति व्युत्पत्तिः तथा सति जीवत्व भव्याभव्यत्वादेरादिमत्वापत्तिः स्यात्, यदि परिणामः प्रयोजनमस्येति व्युत्पत्त्या पारिणामिको जीव इत्युच्यते तदा ततः पूर्वावस्थायां नाभूज्जीवं इति रीत्या तस्यादिमत्त्व प्रसङ्गः एवं निवृत्त्यर्थेऽपि प्रागनिवृत्तौ निर्वर्त्येत तथा चोक्तदोषः, एवं भव्याभव्यत्वादिष्वपि योजनीयम् तथा चानादिप्रसिद्धः पारिणामिको भावः सकल पर्यायराशेः प्रह्वतामभिमुखता-

---

द्रव्यादि का निमित्त पाकर कर्मों के फल की प्राप्ति होना उदय कहलाता है, जैसे जल में पंक का उभार होना । कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक भाव कहा गया है । कर्म की शक्ति का आत्मा में कारणवश उभार न होना–कर्म की शक्ति का दबा रहना उपशम है, जैसे कतक (फिटकड़ी) आदि द्रव्यो के संयोग से जल में कचरा नीचे बैठ जाता है । कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति को क्षय कहते है, क्षय और उपशम का मिश्रण क्षयोपशम कहलाता है, जैसे कूप में स्थित जल में पंक की कुछ क्षीणता और कुछ अक्षीणता होती है । द्रव्य का स्वाभाविक रूप परिणाम कहलाता है । कर्म के विपाक का प्रकट होना उदय है और उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक कहा गया है । जैसे अग्नि को राख से आच्छादित कर दिया जाता है तो उसकी शक्ति प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार कर्म की शक्ति का दबा रहना उपशम कहलाता है और उपशम से उत्पन्न होने वाला भाव औपशमिकभाव है । यह भी जीव की एक अवस्था है ।

इस प्रकार कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक, क्षय और उपशम से उत्पन्न होने वाला भाव क्षायोपशमिक और आत्मा का परिणाम ही पारिणामिक भाव है, । परिणाम जिसका प्रयोजक हो अथवा परिणाम से जो उत्पन्न हो, वह पारिणामिक भाव है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । वास्तव में पारिणामिक भाव वही कहलाता है जो किसी भी कर्म के उदय क्षय, क्षयोयशम या उपशम की अपेक्षा न रखता हो, बल्कि स्वभावतः हो । पारिणामिक भाव कर्म के निमित्त से माना जाय तो जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व सम्यग्दर्शन आदि की भाँति सादि हो जाएँगे ।

परिणाम जिसका प्रयोजन हो वह पारिणामिक जीव है, ऐसी व्युत्पत्ति मानी जाय तो उससे पहले की अवस्था में जीव का अभाव होने से उसकी आदि हो जाएगी। इसी प्रकार परिणाम से

लक्षणां प्रतिपद्यमानः सकलभावधारत्वं बिभर्तीति नानेन विना कस्यचिद् भावस्य निष्पत्तिरिति, तत्र सेधनयोग्यः परिणामो भव्यः, अभव्यः पुन र्न कदाचित् सेधनयोग्यः परिणाम इति, एवं सन्निपातः प्रयोजनमस्य भावस्येति सांनिपातिको भावोऽवसेयः एते च षड्भावाः जीवपर्यायविवक्षयां जीवस्य स्वरूपमिति व्यपदिश्यन्ते, क्रमभाविनोऽवस्थाविशेषाः पर्यायाः कथ्यन्ते यथा मृतिकाया घटकपाल कपालिका शरावादयः पर्याया भवन्ति, द्रव्यविवक्षायां तु मृत्तिका स्वरूप एव भावः द्रवति गच्छति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यपदव्युत्पत्तेः तथाच कर्मोदये सति जायमानो भाव औदयिको व्यपदिश्यते तपःसंयमवैराग्यादिनाऽनुदयप्राप्तिलक्षणे कर्मोपशमे सति जीवस्योत्पद्यमान औपशमिको भावः यथा जलस्य कलुषताऽऽपादके पङ्के कतकादिद्रव्यसम्बन्धादधः स्थिते सति जलस्य स्वच्छता भवति, एवमार्हततत्त्वानुसन्धानवशाद् ज्ञानावरणादिकर्ममलक्षयेण नैर्मल्यविधायकः क्षायिको भावो व्यपदिश्यते कर्मणः क्षये सति उत्पद्यमानो भावःक्षायिक उच्यते इत्यर्थः यथा कर्दमात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिपात्रान्तर्वर्तिनः पयसः स्वच्छता भवति यथा मोक्षः, कर्मोपगमाद्यनपेक्षः

उत्पन्न भाव को यदि पारिणामिक भाव माना जाय तो उत्पत्ति से पहले उसकी अनुत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता, उसी की अनुत्पत्ति होती है । इस प्रकार मानने से भी पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होती है । यही बात भव्यत्व और अभव्यत्व के विषय में भी समझनी चाहिए । अतएव यही मानना उचित है कि पारिणामिक भाव अनादि काल से प्रसिद्ध है और वही समस्त भावों का आधार है । उसके बिना किसी भी भाव की निष्पत्ति नहीं होती । सिद्ध होने योग्य भाव भव्यत्व और सिद्ध न होने योग्य भाव अभव्यत्व कहलाता है ।

सन्निपात जिसका प्रयोजन हो वह सान्निपातिक भाव कहलाता है । यह छहों भाव जीव पर्याय की विवक्षा होने पर जीव के स्वरूप कहलाते है ।

क्रम से होनेवाली अवस्थाएँ पर्याय कहलाती है, जैसे मृत्तिका की घट, कपाल(ठीकरा), कलापिका, शराब(सिकोरा) आदि पर्याय है । जो एक के पश्चात् दूसरे पर्याय को प्राप्त होता रहता है, वह द्रव्य है, जैसे मृत्तिका ।

इस प्रकार कर्म का उदय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक कहलाता है । तप, संयम, वैराग्य आदि के कारण अनुदय रूप कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाला भाव औपशमिक कहलाता है । जैसे जल में मैलापन उत्पन्न करने वाला कीचड़ जब फिटकडी आदि द्रव्यों के सम्बंध से नीचे बैठ जाता है तो जल स्वच्छ हो जाता है ।

अर्हन्त भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो के अनुसधान से ज्ञानावरण आदि कर्ममल का क्षय हो जाने पर निर्मलता उत्पन्न करने वाला भाव क्षायिकभाव कहलाता है । तात्पर्य यह है कि कर्म के क्षय से जो भाव उत्पन्न होता है, वह क्षायिक भाव कहलाता है । जैसे कचरे पृथक् हुए, निर्मल एवं स्फटिक पात्र के अंदर रखे हुए जल में मलीनता का अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

स्वाभाविको भावश्चैतन्यादिकः पामिणामिको भवति,एवं औदयिकादिभाव सन्निपाते सति जायमानो भावः सन्निपातिको व्यपदिश्यते, तत्र औदयिकादयः पञ्चभावाः जीवस्य कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् नैमित्तिका उच्यन्ते, पारिणामिको भावस्तु चेतनत्वादिः स्वाभाविको व्यपदिश्यते कर्मोदयाद्यनपेक्षत्वात् स एष षड्विधो भावो याथायोगं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमुच्यते, तत्र मिथ्यादृष्टीनाम् अभव्यानाञ्च न कदाचिदौपशमिकक्षायिकौ भवतः अपितु भव्यानामेव, पारिणामिकः पुनस्तदुभयानामेव, औदयिकोऽभव्यानाम् सान्निपातिकोऽपि उभयेषामेव, मिश्रस्तु तदुभयेषामपि भवतीतिभावः क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्तो मिश्रो भावो दरविध्याच्छन्नवह्निवत् उदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मणः क्षीणत्वात् तच्छेषस्य च- कर्मणोऽनुद्रेकक्षयावस्थत्वात् एवंविधामुभयीमवस्थामाश्रित्य सम्पद्यते, अथौपशामिकभावापेक्षया-क्षायोपशमिकभावस्य मिश्रस्य न कोऽपि भेदः औपशमिकेऽपि भावे उदितस्य उदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मणः अनुदितत्वात् अनुदितस्य चोपशान्तत्वादितिचेदत्रोच्यते क्षयोपशमे खलु कर्मण उदयोऽपितिष्ठति तत्र प्रदेशतया कर्मणो वेदनस्यानुज्ञातत्वात् किन्तु नत्वसौ विघाताय भवतीति, अनुभावं पुनर्न तत्र वेदयते इति भावः उपशमे पुनः प्रदेशकर्मापि नानुभूयते, मनागपि नोदयस्तस्येति विशेषः। यद्यपि

जो भाव कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु स्वभाव से ही होता है, वह चैतन्य आदि पारिणामिक भाव कहलाता है। इसी प्रकार औदयिक आदि भावो के सन्निपात से अर्थात् मेल से उत्पन्न होने वाले भाव को सान्निपातिक भाव कहते हैं।

इनमें औदयिक आदि पाँच भाव कर्मोदय आदि की अपेक्षा से होने के कारण नैमित्तिक है, किन्तु चेतनत्व आदिरूप पारिणामिक भाव स्वाभाविक होता है, उसमें कर्म के उदय आदि की अपेक्षा नहीं रहती। यही छह प्रकार का भाव भव्य या अभव्य जीव का स्वरूप कहलाता है।

इन छह प्रकार के भावो में से मिथ्यादृष्टि और अभव्य जीवो को औपशमिक और क्षायिक भाव कदापि नहीं होते। यह दोनो भाव भव्य जीवो को ही प्राप्त होते हैं। पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक और सान्निपातिक भाव भव्यो और अभव्यो–दोनो में ही पाया जाता है।

मिश्रभाव क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है वह कुछ–कुछ बुझी हुई और कुछ–कुछ दबी हुई अग्नि के समान है। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म का क्षय हो जाने पर तथा क्षेत्र कर्म का अनुद्रेक होने पर–इस प्रकार दोनो की अवस्था में क्षयोपशमिक(मिश्र) भाव की उत्पत्ति होती है।

शंका–औपशमिकभाव और क्षायोपशमिक भाव में कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि औपशमिक भाव में भी उदितउदयावलिका में प्रविष्ट कर्म का उदय नहीं होता और अनुदित कर्म उपशान्त रहता है।

समाधान–क्षयोपशमभाव में कर्म का उदय भी रहता है। वहाँ प्रदेश रूप से कर्म का वेदन स्वीकार किया गया है, किन्तु वह विघातकारी नहीं होता, अर्थात् वहाँ विपाक का वेदन नहीं होता है। उपशम–अवस्था में कर्म का प्रदेशोदय भी नहीं होता। यही इन दो में अन्तर है।

उमास्वातिकृततत्त्वार्थसूत्रे औपशमिकादयः पञ्चैव भावाः प्रतिपादिता सन्ति सान्निपातिको भावस्तत्र नोक्तस्तथापि वक्ष्यमाणागमवचनप्रामाण्यात् तस्यापि सान्निपातिकभावस्य पार्थक्येनोपादानावश्यकत्वात्, तथाचोक्तम् स्थानाङ्गस्य ६ स्थाने ५३७ सूत्रे—"**छव्विहे भावे पण्णत्ते, तंजहा—ओदइए, उवसमिए, खाइए, खायोवसमिए, पारिणामिए, संनिवाइए**" षड्विधो भावः प्रज्ञप्तः तद्यथा औदयिकः औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिकः सान्निपातिकश्चेति, तथा च मिश्र ग्रहणेन युगपदेकस्मिन् जीवे निपतनशीलस्य सान्निपातिकभावस्य औपशमिकादीना भावानां द्विकादिसंयोगेन निष्पद्यमानस्यान्तर्भाव संभवेऽपि उक्तागमप्रामाण्यात् तस्य पृथग्ग्रहणस्यैवौचित्यादिति भावः । सूत्र । १४

मूलम् "**एगवीसइवेनोट्ठादसतिनेगभेया जहाकमं**—" सू. १५

छाया—"**एकविंशतिद्विनवाष्टादशत्रिनैकभेदा यथाक्रमम्**—" सू. १५

दीपिका—पूर्वसूत्रे तावत् जीवस्यौदयिकादयः षड्भावाः स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपिता सम्प्रति तेषामेव षड्भावानां प्रत्येकं भेदप्रदर्शनार्थमाह—"**एगवीसइवेनोट्ठादसतिनेगभेया जहाकमं**" इति, तत्र यथाक्रमम् क्रमानुसारेण औदयिकस्य भावस्यैकविंशतिर्भेदा, औपशमिकभावस्य द्वौ भेदौ स्तः क्षायिकभावस्य नव भेदाः सन्ति, क्षायोपशमिकभावस्य मिश्ररूपस्याष्टादशभेदा. पारिणामिकभावस्य त्रयो भेदाः, सान्निपातिकस्य च भावस्य अनेकभेदाः सन्ति, तत्रौदयिकभावस्यैकविंगतिर्भेदा यथा नारक-तैर्यग्योन-मानुष्य-देवगतिभेदात् चतुर्विधा गति ४ क्रोधमानमायालोभभेदाच्च-

---

यद्यपि उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र में औपशमिक आदि पाँच ही भाव कहे है, सान्निपातिक भाव नहीं कहा है तथापि आगे कहे जाने वाले आगमप्रमाण के अनुसार सान्निपातिक भाव को भी पृथक् कहना आवश्यक है । स्थानांगसूत्र के छठे स्थान के ५३७ वे सूत्र में कहा है—छह प्रकार के भाव कहे गए है । वे इस प्रकार है—(१) औदयिक (२)औपशमिक (३) क्षायिक (४) क्षायोपशमिक (५)पारिणामिक और (६) सान्निपातिक । ऐसी स्थिति में मिश्र का ग्रहण करने से एक जीव में उत्पन्न होने वाले सान्निपातिक भाव का, जो कि औपशमिक आदि भावोमें से दो तीन चार आदि के संयोग से उत्पन्न होता है, अन्तर्भाव होने पर भी उक्त आगम के प्रमाण से उसे अलग ग्रहण करना ही उचित है ॥१४॥

मूलसूत्रार्थ—'एगवीसइबेनोट्ठादसत्ति, इत्यादि ।

पूर्वोक्त छह भावों के अनुक्रम से इक्कीस दो, नौ, अठारह, तीन और अनेक भेद है ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जीव के औदयिक आदि छह भावो का स्वरूप और लक्षण निरूपण किया गया है । अब उनमें से प्रत्येक के भेद बतलाने के लिए कहते हैं—

अनुक्रम से औदयिक भाव के इक्कीस भेद है, औपगमिक भाव के दो भेद है. क्षायिक भाव के नौ भेद है, मिश्ररूप क्षयोपशमिक भाव के अठारह भेद है, पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं और सान्निपातिकभाव के अनेक भेद है ।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद—(१-४) नरकगति तिर्यंचगति. मनुष्यगति और देवगति के भेद से चार प्रकार की गति, (५-८) क्रोध मान माया और लोभ के भेद से चार कपाय.

तुर्भेद' कषायः ४ स्त्री पुंनपुंसकभेदात् त्रिभेदं वेदलक्षणं लिङ्गम् ३ एकविधा मिथ्यादर्शनरूपा मिथ्यादृष्टिः १ अज्ञानञ्चैकविधम् १, अविरतिलक्षणमसयतत्वञ्चैकविधम् १ कृष्णनीलकापोत तेजः पद्मशुक्लभेदात् षड्विधा लेश्या ६ इत्येवमेकविंशति र्भेदा औदयिकभावाः, औपशमिकभावस्य नवभेदाः सन्ति ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यसम्यक्त्वयथाख्यातचारित्रभेदात्, क्षायोपशमिकरूपमिश्रभावस्याष्टादशभेदा यथा मतिश्रुतावधिमनःपर्यवचतुर्विधं ज्ञानम् ४ त्रिविधमज्ञानं ३, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानभेदात् चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात् त्रिविधं दर्शनम् ३ दानलाभ भोगोपभोगवीर्यलब्धिभेदात् पञ्चविधा लब्धयः ५ सम्यक्त्व १ चारित्रम् १ संयमासंयमश्चे १ त्येवमष्टादशभेदाः जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वभेदात् त्रिविधः पारिणामिकः सान्निपानिको भाव बहुभेदः ॥सू. १५॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे औदयिकौपशमिकक्षायिकादिषड्भावाः स्वरूपतो लक्षणतश्च प्ररूपिताः सम्प्रति तेषामेव विभागप्रदर्शनार्थमाह—**"एगवीसइ"**—इत्यादि, तत्र **'जहाकमं'** यथाक्रमम्—क्रमानुसारेण औदयिकस्य भावस्य एकविंशतिभेदाः सन्ति, औपशमिकस्य द्वौ भेदौ, क्षायिकस्य नवभेदाः क्षायोपशमिकस्याष्टादशभेदाः, पारिणामिकस्य त्रयो भेदाः, सान्निपातिकस्य च भावस्य नैक भेदाः—अनेकभेदा' सन्ति तत्र जीवस्य भवनलक्षण—परिणतिविशेषाणां षड्भावानां मध्ये

(९-१२) स्त्रीवेद' पुरुषवेद और नपुंसकवेद के भेद से तीन प्रकार का वेद (लिंग), (१२) मिथ्यादर्शन, (१३) अज्ञान (१४) अविरति (१५) असिद्धत्व और (१६-२१) कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। ये औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं।

औपशमिकभाव के दो भेद है—सम्यक्त्व और चारित्र। क्षायिकभाव के नौ भेद इस प्रकार है—(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) दान (४) लाभ (५) भोग (६) उपभोग (७) वीर्य (८) सम्यक्त्व और (९) यथाख्यातचारित्र।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) मतिअज्ञान (६) श्रुतअज्ञान (७) विभंगज्ञान (८) चक्षुदर्शनि (९) अचक्षुदर्शनि (१०) अवधिदर्शनि (११) दान (१२) लाभ (१३) भोग (१४) उपभोग (१५) वीर्य, यह पाँच लब्धियाँ (१६) सम्यक्त्व (१७) चारित्र और (१८) संयमासंयम।

पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है—(१) जीवत्व (२) भव्यत्व (३) अभव्यत्व। सान्निपातिक भाव के बहुत से भेद है। इनमें से अन्तिम तीन क्रमशः इष्ट, इष्टतर, और इष्टतम हैं तथा प्रारंभ के तीन अनिष्टतम, अनिष्टतर और अनिष्ट है ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में औदयिक, औपशमिक, क्षायिक आदि छह भावों के स्वरूप और लक्षण बतलाये गये है, अब उनके भेद दिखलाने के लिए कहते है—

औदयिक भाव के इक्कीस, औपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौं, क्षायोपशमिक भाव के अठारह और पारिणामिक भाव के तीन भेद है। सान्निपातिक भाव बहुत प्रकार का है।

इनमें से जीव के प्रथम औदयिक भाव के इक्कीस भेद कहते है—(१-४) चार. प्रकार

प्रथमोपात्तस्यौदयिकभावस्य एकविंशतिभेदानाह—नारक—तैर्यग्योनमानुष्यदेवगतिभेदाच्चतुर्भेदा गतिः ४, क्रोध—मान—माया—लोभ—भेदाच्चतुर्भेदः कषायः ४ स्त्रीपुं नपुंसकभेदात् त्रिभेदं वेदलक्षणं लिङ्गम् ३ एकभेदा मिथ्यादर्शनरूपा मिथ्यादृष्टिः १, अज्ञानञ्चैकभेदम् १, अविरतत्वलक्षणमसंयतत्वमेकभेदम् १, असिद्धत्वञ्चैकभेदम् १, कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदात् षड्विधा लेश्याः ६ तत्र लिश्यन्ते सम्बध्यन्ते इति लेश्याः मनोयोगावष्टम्भजन्यपरिणामविशेषरूपा आत्मना सह लिश्यन्ते एकीभवन्ति इति लेश्याः ताश्च द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, द्रव्यलेश्याः भावलेश्याश्च, तत्र कृष्णादिवर्णमात्रं द्रव्यलेश्याः भावलेश्याः पुनः कृष्णादिवर्णद्रव्याष्टम्भजनिता परिणामकर्मबन्धनस्थितिविधायिन्यो भवन्ति चित्राद्यर्पितस्य वर्णस्येव श्लेषद्रव्यम् जतुलाक्षादिकम् तत्राविशुद्धोत्पन्न एव कृष्णवर्णस्तत्संबद्धद्रव्यावष्टम्भादविशुद्धपरिणामविशेष उपजायमानः कृष्णलेश्येति उच्यते, तथा चोक्तम्—"**जल्लेस्साइं दव्वाइं आदि अंति तल्लेस्से परिणामे भवइ**" इति प्रज्ञापनायां लेश्यापदे। एवं नीलवर्णद्रव्यावष्टम्भान्नीललेश्या, नीललोहितवर्णद्वययोगिद्रव्यावष्टम्भात् कापोतलेश्या, लोहितवर्णद्रव्यावष्टम्भात् तेजोलेश्या, पीतवर्णद्रव्यावष्टम्भात् पद्मलेश्या,शुक्लवर्णद्रव्यावष्टम्भात् शुक्ललेश्या भवतीति बोध्यम्—तत्रान्तिमास्तिस्रः क्रमश इष्टा इष्टतरा इष्टतमा आद्यास्तिस्रः क्रमशः अनिष्टतमा अनिष्टतरा अनिष्टा चेत्यवधेयम्, इत्येवं सर्वे मिलित्वा एकविंशतिभेदा औदयिकभावाः सन्ति, यद्यपि

की गति—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति, (५-८) चारकषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ (९-११) तीन वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद (१२) मिथ्यादर्शनि (१३) अज्ञान (१४) अविरति—असंयमत्व (१५) असिद्धत्व (१६-२१) छह लेश्याएँ—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

जो श्लिष्ट हो अर्थात् सम्बद्ध हों, उन्हे लेश्या कहते है। मनोयोग के निमित्त से उत्पन्न होने वाले परिणाम विशेष लेश्या कहलाते है। अथवा जो कर्मपुद्गल लिश्यन्ते अर्थात् आत्मा के साथ एकमेक हो जाएँ उन्हें लेश्या कहते हैं। लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्यलेश्या और भाव-लेश्या। कृष्ण आदि वर्ण वाले द्रव्यविशेषको द्रव्यलेश्या कहते है और कृष्ण आदि द्रव्योके निमित्तसे उत्पन्न होने वाला अध्यवसाय को भावलेश्या कहते हैं। यह भावलेश्या कर्मबन्ध का कारण होती है।

कृष्ण वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से जो अशुद्ध परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, वह कृष्णलेश्या कहलाता है। '**जिस लेश्या वाले द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है उसी लेश्या के अनुरूप उसके परिणाम होते हैं**' ऐसा प्रज्ञापना सूत्र के लेश्यापद में कहा है। इसी प्रकार नील द्रव्य के निमित्त से नीललेश्या होती है। नील और रक्त दोनो वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से कपोतलेश्या, रक्त वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से तेजोलेश्या, पीत वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से पद्मलेश्या और शुक्ल वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से शुक्ललेश्या उत्पन्न होती है। वहां अन्तिम तीनो लेश्याएँ क्रमिक इष्ट, इष्टतर, इष्टतम होती है आदि की तीनों लेश्याएं क्रमशः अनिष्टतम, अनिष्टतर, अनिष्ट होती है।

अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे औदयिकस्य बहवो भेदाः वक्ष्यमाणरीत्या प्रतिपादिताः सन्ति तथापि सूत्रेऽस्मिन् संक्षेपेणैव तस्य तावदौदयिकभावस्य वर्णितत्वेन तेषां सर्वेषामपि–औदयिकभावानां सूत्रोक्तैकविंशतिभेदेष्वेवान्तर्भावेण न–कोऽपि दोषः तथाहि—**से किं तं उदइए ? उदइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–उदइए य उदयनिप्फण्णे य। से किं तं उदइए ? उदइए अट्ठण्हं कम्मपयडीणं उदएणं, से त्तं उदइए। से किं तं उदयनिप्फण्णे ? उदयनिप्फण्णे दुविहे पण्णत्ते तं जहा–जीवोदयनिप्फन्ने य अजीवोदयनिप्फन्ने य। से किं तं जीवोदयन्निप्फण्णे? जीवोदयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई जाव लोहकसाई, इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए, कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे, मिच्छादिट्ठी अविरए असण्णी, अण्णाणी आहारए छउमत्थे संसारत्थे असिद्धे से तं जीवोदयनिप्फन्ने। से किं तं अजीवोदयनिप्फन्ने अजीवोदयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा—उरालियं सरीरं, उरालियसरीरपयोगपरिणामियं वा दव्वं, एवं वेउव्वियं वा सरीरं, वेउव्वियसरीरपयोगपरिणामियं वा दव्वं आहारगं सरीरं, तेयगं सरीरं, कम्मगं सरीरं च भाणियव्वं, पयोगपरिणामिए वण्णे गंधे रसे फासे, से तं अजीवोदयनिप्फण्णे, से तं उदयनिप्फण्णे, से त्तं उदइए ॥ इति ॥**

छाया–अथ कस्तावदौदयिकः? औदयिकः द्विविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा-औदयिकश्च उदयनिष्पन्नश्च, अथ कस्तावदौदयिकः? औदयिकः अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयेन, स तावदौदयिकः। अथ कस्तावदुदयनिष्पन्नः ? उदयनिष्पन्नः द्विविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा जीवोदयनिष्पन्नश्च अजीवोदयनिष्पन्नश्च, अथ कस्तावज्जीवोदयनिष्पन्नः ? जीवोदयनिष्पण्ण' अनेकविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा–नैरयिकः तिर्यग्योनिकः मनुष्यः देवः पृथिवीकायिकः यावत् त्रसकायिकः क्रोधकषायी यावद् लोभकषायी स्त्रीवेदकः पुरुषवेदकः नपुंसकवेदकः।

इस प्रकार सब मिला कर औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते है। यद्यपि अनुयोगद्वार सूत्र में छः भावो के प्रकरण में औदयिक भाव के बहुत से भेद बतलाए गए है, जिनका कथन आगे किया जाएगा, तथापि उन सब औदयिक भावो का सूत्र में कथित इक्कीस भेदों में ही समावेश हो जाता है, अतएव कोई दोष नहीं समझना चाहिए। अनुयोगद्वार सूत्र का कथन इस प्रकार है—

'औदयिक भाव कितने प्रकार का है ? औदयिकभाव दो प्रकार का कहा गया है– औदयिक और उदयनिष्पन्न। औदयिकभाव क्या है ? औदयिकभाव आठ कर्मप्रकृतियो के उदय से होता है वही औदयिक है। उदयनिष्पन्न क्या है ? उदयनिष्पन्न दो प्रकार का कहा गया है–जीवोदयनिष्पन्न और अजीवोदयनिष्पन्न।

जीवोदयनिष्पन्न किसे कहते है ? वह अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा- नैरयिक तिर्यंच, मनुष्य, देव, पृथिवीकायिक, यावत, त्रसकायिक, क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी, स्त्री-

कृष्णलेश्यो यावत् शुक्ललेश्यः मिथ्या दृष्टि अविरतः असंज्ञी अज्ञानी, आहारकः छद्मस्थः सयोगी संसारस्थः असिद्धः, स एष जीवोदयनिष्पन्नः ।

अथ कस्तावद् अजीवोदयनिष्पन्नः ? अजीवोदयनिष्पन्न अनेकविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—औदारिकं वा शरीरम्, औदारिकशरीरप्रयोगपारिणामिकं वा द्रव्यम् वैक्रियं वा शरीरम् वैक्रियशरीरप्रयोगपरिणामिकं वा द्रव्यम्, एवमाहारकं शरीरम् तैजसं शरीरम्, कार्मणशरीरम् च भणितव्यम्, प्रयोग पारिणामिको वर्णो गन्धो रसः स्पर्शः स एषः अजीवोदयनिष्पन्नः, स एष उदयनिष्पन्नः स एष औदयिक इति।

औपशमिकस्य भावस्य संक्षेपेण द्वौ भेदौ स्तः सम्यक्त्वं, चारित्रञ्चेति अत्रापि अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे यद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या औपशमिकभावस्य बहवो भेदाः प्रतिपादिताः सन्ति तथापि सूत्रेऽस्मिन् संक्षेपेणेव वर्णितत्वेन सम्यक्त्वचारित्ररूपद्वैविध्यमध्ये—एव तेषां सर्वेषामपि अन्तर्भावो बोध्यः तथा चोक्तं-तत्र—**"से किं तं उवसमिए ? उवसमिए दुविहे पण्णत्ते तं जहा—उवसमे य, उवसमनिप्फण्णे य से किं तं उवसमे ? उवसमे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं, से तं उवसमे से किं तं उवसमनिप्फण्णे २, । अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—उवसंतकोहे जावउवसंतलोभे, उवसंतपेज्जे उवसंत दोसे, उवसंतदंसणमोहणिज्जे उवसंतमोहणिज्जे, उवसमिआ सम्मत्तलद्धी, उवसमिआ चरित्तलद्धी, उवसंतकसाय छउमत्थवीयरागे, से तं उवसमनिप्फण्णे, से तं उवसमिए"** इति

वेदक, पुरुषवेदक, नपुंसकवेदक, कृष्णलेश्यावान् यावत् शुक्ललेश्यावान् मिथ्यादृष्टि, अविरत, असंज्ञी अज्ञानी आहारक छद्मस्थ सयोगी संसारस्थ असिद्ध यह जीवोदय निष्पन्न है ।

अब अजीवोदयनिष्पन्न क्या है ? वह भी अनेक प्रकार का कहा गया है यथा— औदारिक शरीर औदारिकशरीरप्रयोगपारिणामिक द्रव्य वैक्रिय शरीर वैक्रिय शरीर प्रयोगपारिणामिक द्रव्य इसी प्रकार आहारक शरीर तैजस शरीर कार्मण शरीर भी कह लेना चाहिए । प्रयोग परिणामिक वर्ण गंध रस स्पर्श यह सब अजीवोदयनिष्पन्न है । यह उदयनिष्पन्न का वर्णन समाप्त हुआ और साथ ही औदयिकभाव का प्रतिपादन भी पूर्ण हुआ ।

औपशमिकभाव संक्षेप से दो प्रकार का है—सम्यक्त्व और चारित्र। अनुयोगद्वारसूत्र में औपशमिकभाव के भी अनेक भेद कहे गए है किन्तु इस सूत्र में संक्षेप में ही वर्णन है अतः सम्यक्त्व और चरित्र-इन दो भेदोमें ही उनसबका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए । अनुयोग द्वार में कहा है—

औपशमिक भाव कितने प्रकार का है ? औपशमिक भाव दो प्रकार का है—औपशमिक और उपशमनिष्पन्न । औपशमिक भाव क्या है ? मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक भाव उत्पन्न होता है। उपशमिकानिष्पन्न भाव क्या है ? उपशमनिष्पन्न के अनेक भेद है, यथा—उपशान्तक्रोध यावत् उपशान्तलोभ, उपशान्तप्रेम, उपशान्तशम, उपशान्तदर्शनमोहनीय, उपशान्तचारित्रमो-

छाया–अथ कस्तावदौपशमिकः ? उपशमिकः द्विविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—औपशमिकश्च उपशमनिष्पन्नश्च अथ कस्तावदौपशमिकः? मोहनीयस्य कर्मण उपशमः स एष तावदौपशमिकः। अथ कस्तावद उपशमनिष्पन्नः? उपशमनिष्पन्नः, अनेकविधः प्रज्ञप्तः. तद्यथा—उपशान्तक्रोधः, यावदुपशान्तलोभः उपशान्तप्रेमा,उपशान्तद्वेषः उपशान्तदर्शनमोहनीयः, उपशान्तमोहनीयः उपशमितसम्यक्त्वलब्धिः उपशमिता चारित्रलब्धिः उपशान्तकषायच्छद्मस्थवीतरागः, स एष उपशमनिष्पन्नः स एष औपशमिक इति; पूर्वोक्तस्वरूपस्य क्षायिकस्य भावस्य नवभेदाः सन्ति, तद्यथा—ज्ञानं १, दर्शनं २, दानं ३, लाभः ४ भोगः ५ उपभोगः ६, वीर्यम् ७, सम्यक्त्वम् ८, यथाख्यातचारित्रञ्चेति तत्र सकलज्ञेयग्राहिसमस्तज्ञानावरणक्षयजन्यं केवलज्ञानमत्र ज्ञानपदेन गृह्यते नान्यत्, ज्ञानमसंभवात् दर्शनञ्चात्र समस्तदर्शनावरणक्षयजन्यं केवलदर्शनरूपं गृह्यते न तदन्यच्चाक्षुषादिकमसंभवात्, दानञ्च स्वस्यातिसर्गरूपमवसेयम् तच्च सकलदानान्तरायकर्मक्षयात् त्रिभुवनविस्मयाधायकं यथेप्सितमर्थिनो न कदाचित् प्रतिहन्यते प्रयच्छत इति लाभश्चान्यस्मात् समस्तसाधन—प्राप्तिरूपो बोध्यः, स च समस्तलाभान्तरायकर्मक्षयादचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिरूप आविर्भवति ये यत् प्रार्थ्यते तत् सर्वमेव लभ्यते नतु प्रतिषिध्यते भोगश्च शुभविषयकसुखानुभवरूपो बोध्यः स च सकलभोगान्तरायकर्मक्षयाद् यथेष्टमुपपद्यते न तु तस्य कदाचित् प्रतिबन्धो भवति नतु अभिलषितं न भवतीति, सत्यां विषयसम्पदितथोत्तरगुणप्रकर्षादविषयसम्पदनुभवरूप उपभोगः स च समस्तोपभोगान्तरायकर्मक्षये

हनीय उपशान्त सम्यक्त्वलब्धि, उपशान्ताचारित्रलब्धि, उपशान्त कषाय छद्मस्थवीतराग। यह उपनाशमनिष्पन्न और औपशामिक भाव का निरूपण समाप्त हुआ।

जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका है उस क्षायिक भाव के नौ भेद है, यथा—(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) दान (४) लाभ (५) भोग (६) उपभोग (७) वीर्य (८)सम्यक्त्व और (९) यथाख्यातचारित्र।

समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला एवं सम्पूर्ण ज्ञानवर्णीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान ही यहाँ 'ज्ञान' शव्द से ग्रहण करना चाहिए केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान क्षायिक नहीं, क्षायोपशमिक है, क्योकि वे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते है। दर्शन शव्द से यहाँ सम्पूर्ण दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवल दर्शन ही समझना चाहिए, चक्षुदर्शनादि नहीं। चक्षुर्दर्शनादि क्षायिक नहीं हो सकते। वे क्षयोपशम से उत्पन्न होते है। 'स्व' का उत्सर्ग करना दान कहलाता है। यह दान सम्पूर्ण दानान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है, तीनो लोको के जीवो को चकित कर देने वाला होता है और अर्थी जनो के द्वारा कभी प्रतिहत नहीं होता।

दूसरे से समस्त साधनो की प्राप्ति होना लाभ है। वह सम्पूर्ण लाभान्तराय, कर्म के क्षय से अचिन्तनीय माहात्म्य एव विभूति रूप में उत्पन्न होता है। जिसकी भी इच्छा की जाती है, इसके द्वारा उस सव की प्राप्ति हो जाती है, कभी कहीं निषेध नहीं होता।

सति यथेष्टमुपतिष्ठते, वीर्यन्तु आत्मनोऽव्याहतशक्तिविशेषरूपं बोध्यम्, तच्च समस्तवीर्यान्तरायकर्म-क्षयादप्रतिहतं सामर्थ्यं भवति, सम्यक्त्वञ्चानन्तानुबन्धिकषायमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वदर्शनसप्तकात्य-न्तिकक्षयाद् जीवादितत्त्वार्थश्रद्धान् लक्षणमप्रतिहतमसंहार्यमुपजायते, तथा च कषायचतुष्टयमिथ्यात्व-मोहनीयमिश्रमोहनीयसम्यक्त्वमोहनीय इत्येतत्सप्तप्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वं जायते इति भावः।

चारित्रं पुनः सकलमोहक्षयात् क्षायिकमानिर्भवति इत्येवं नवक्षायिकाभावा भवन्तीति भावः, यद्यप्यत्रापि अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारेऽवक्ष्यमाणरीत्या क्षायिकस्य भावस्य बहवो भेदाः प्रतिपादिताः सन्ति तथापि संक्षेपेणैव प्रकृते तस्य वर्णिततया तेषां सर्वेषामपि उक्तनवविधेष्वेवान्त-र्भावसंभवात् तथा चोक्तम्—"से किं तं खइए'? खइए दुविहे पण्णत्ते तं जहा—खइए य, खयनि-प्फण्णे य, से किं तं खइए२ अट्ठण्हं कम्मपयडीणं खएणं से तं खइए, से किं तं खयनिप्फण्णे २? अणे गविहे पण्णत्ते तं जहा—उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली खीणआभिणिबोहियणाणावरणे खीणसुयणाणावरणे खीणओहिणाणावरणे खीणमणपज्जवणाणावरणे, खीणकेवलणाणावरणे अणावरणे, निरावरणे, खीणावरणे णाणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के केवलदंसी सव्वदंसीखी णणिद्देखीणणिद्दाणिद्दे खीणपयलेखीणपयलापयले खीणथीणगिद्धीखीणचक्खुदंसणावरणेखीणअचक्खुदंसणावरणे खीण ओहि दंसणावरणे खीण केवल दंसणावरणे अणावरणे निरवणे खीणावरणे दरिसणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के

शुभ विषयक सुखानुभव भोग कहलाता है। यह सम्पूर्ण भोगान्तराय, कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसका कहीं प्रतिघात नहीं होता अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि इष्ट की प्राप्ति न हो।

विषय—सम्पत्ति की विद्यमानता में उत्तर गुणों के प्रकर्ष से विषय—सम्पत्ति का अनुभव करना उपभोग है। सम्पूर्ण उपभोगान्तराय कर्म के क्षय से यथेष्ट उपभोग की प्राप्ति होती है।

आत्मा की कभी निरुद्ध न होने वाली शक्ति को वीर्य कहते है। सम्पूर्ण वीर्यान्तरण कर्म क्षय से अप्रतिहत सामर्थ्य की प्रप्ति होती है।

अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, आदि इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जीवादि तत्त्वो का श्राद्ध न उत्पन्न होना क्षायिक सम्यकत्त्व है। यह सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुबंधी कषाय मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात प्रकृतियो के क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। ये नौ क्षायिक भाव है।

यद्यपि अनुयोग द्वारा सूत्र में छह भावो के प्रकरण में क्षायिक भाव के बहुत से भेद प्रतिपादित किये गये है, किन्तु यहाँ संक्षेप में ही वर्णन किया गया है, अतएव उन सब का नौ भेदो में समावेश हो जाता है। कहा भी है—

खीणसायावेयणिज्जे खीणअसायावेयणिज्जे अवेयणे निव्वेयणे खीणवेयणे सुभासुभवेयणिज्जकम्मविप्प-मुक्के खीणकोहे जावखीणलोहे खीणवेज्जे खीणदोसेखीणदंसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीणमोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणणेरइआउए खीणतिरिक्खजोणिआउए खीणमणु-स्साउए खीणदेवाउए अणाउए निराउए खीणाउए आउकम्मविप्पमुक्के गइजाइसरीरं गोवंगबंधण संघयणसंठाणअणेगवोदिविंदसघायविप्पमुक्के खीणसुभणामे खीणअसुभणामे अणामे निण्णामे खीण-नामे सुभासुभणामकम्मविप्पमुक्के खीणउच्चागोएखीणनीआ गोए अगोए निग्गेए खीणगोएउच्चणी यगोत्तकम्म विप्पमक्के खीणदाणंतराए खीणलाभंतराए खीणभोगंतराए खीणउवभोगंतराए)खीणविरि यंभंतराए अणंतराए णिरंतराए खीणंतराए अंतारायकम्मविप्पमुक्के सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुए अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे, से तं खय णिप्फण्णे से तं खइए' इति।

छाया—अथ कस्तावत् क्षायिकः? द्विविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—क्षायिकश्च क्षयनिष्पन्नश्च अथ कस्तावत् क्षायिकः ? अष्टाना कर्मप्रकृतीनां क्षयः स एष क्षायिकः, अथ कस्तावत् क्षयनिष्पन्नः ? अनेक विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा उत्पन्नज्ञानदर्शनधरः अर्हन् जिनः केवली क्षीणाभिनिबोधिकज्ञानावरणः क्षीणश्रुतज्ञानावरणः क्षीणावधिज्ञानावरणः क्षीणमनःपर्यवज्ञानावरणः क्षीणकेवलज्ञानावरणः अनावरणः निराकरणः क्षीणावरणः ज्ञानावरणीयकर्मविप्रमुक्तः केवलदर्शी सर्वदर्शी क्षीणनिद्रः क्षीणनिन्द्रानिद्रः क्षीणप्रचलः क्षीणप्रचला-प्रचलः क्षीणस्त्यानगृद्धिः क्षीणचक्षुर्दर्शनावरणः क्षीणाचक्षुर्दर्शनावरणः क्षीणावधिदर्शनावरणः क्षीण-

---

क्षायिकभाव क्या है? क्षायिक भाव दो प्रकार का कहा गया है, यथा—क्षायिक और क्षयनिष्पन्न। क्षायिक क्या है? क्षायिक आठ कर्मप्रकृतियो से उत्पन्न होता है। क्षयनिष्पन्न क्या ? क्षयनिष्पन्न अनेक प्रकार का है, जैसे—उत्पन्नज्ञानदर्शनधर, अर्हन्, जिन, केवली, क्षीणाभिनिबोधिकज्ञानावरण, क्षीणश्रुतज्ञानावरण, क्षीणावधिज्ञानावरण, क्षीणमनःपर्यवज्ञा-नावरण, क्षीणकेवलज्ञानावरण, निरावरण, क्षीणावरण, ज्ञानावणीयकर्मविप्रमुक्त, केवलदर्शी, सर्व-दर्शी, क्षीणनिद्र, क्षीणनिद्रानिन्द्र, क्षीणप्रचल, क्षीणप्रचलाप्रचल, क्षीणत्यानगृद्धि, क्षीणचक्षुदर्श-नावरण, क्षीणाचक्षुदर्शनावरण क्षीणावधिदर्शनावरण, क्षीणकेवलदर्शनावरण, अनावरण,

निरावरण, क्षीणावरण, दर्शनावरणीयकर्मविप्रमुक्त, क्षीणसातावेदनीय, क्षीण—असातावेद-नीय, अवेदन, निर्वेदन क्षीणवेदन शुभाशुभवेदनीयमर्मविप्रमुक्त, क्षीणक्रोधयावत्, क्षीणलोभ, क्षीणप्रेम, क्षीणद्वेष, क्षीणदर्शनमोहनीय, क्षीणचरित्रमोहनीय, अमोह, निर्मोह, मोहनीयकर्मविप्रमुक्त,

क्षीणनैरयिकायु, क्षीणतिर्यंचायु, क्षीणमनुष्यायु, क्षीणदेवायु, अनायु, निरायु, क्षीणायु, आयुकर्मविप्रमुक्त,

गति—जाति—सरीर—अंगोपांग—बंधन—संघानन—संहनन—संस्थान—अनेकशरीरवृन्दसंघातविप्र-मुक्त, क्षीणशुभनाम, क्षीण—अशुभनाम, नाम, निर्नाम, क्षीणनाम, शुभाशुभनामकर्मविप्रमुक्त, क्षीण-उच्चगोत्र, क्षीणनीचगोत्र, अगोत्र, निगोत्र क्षीणगोत्र, गोत्रकर्मविप्रमुक्त,

केवलदर्शनावरणः अनावरणः निरावरणः दर्शनावरणीयकर्मविप्रमुक्तः क्षीणसातावेदनीयः क्षीणासाता वेदनीयः अवेदनः निर्वेदनः क्षीणवेदनः शुभाशुभवेदनीयकर्मविप्रमुक्तः क्षीणक्रोधो यावत् क्षीणलोभ क्षीणाप्रेमाक्षीणदोषः क्षीणदर्शनमोहनीयः क्षीणचारित्रमोहनीयः अमोहः निर्मोहः क्षीणमोहः, मोहनीयकर्मविप्रमुक्तः क्षीणनैरयिकायुष्कः क्षीणतिर्यग्योनिकायुष्कः क्षीणमनुष्यायुष्कः क्षीणदेवायुष्कः, अनायुष्कः, निरायुष्कः क्षीणायुष्कः आयुःकर्मविप्रमुक्तः गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसंघातनसंहनन सस्थानानेक शरीर वृन्दसघातविप्रमुक्त क्षीणशुभनामा क्षीणाशुभनामा अनामा निर्नामा क्षीणनामा शुभाशुभनामकर्म विप्रमुक्तः क्षीणोच्चगोत्रः क्षीणनीच गोत्रः अगोत्रः निगोत्रः क्षीणगोत्रः उच्चनीचगोत्रकर्मविप्रमुक्तः क्षीणदानातंरायः । क्षीणलाभान्तरायः क्षीणभोगान्तरायः क्षीणोपभोगान्तरायः क्षीणवीर्यान्तरायः अनन्तरायो निरन्तरायः क्षीणान्तरायः अन्तरायकर्मविप्रमुक्तः सिद्धो बुद्धो मुक्तः परिनिर्वृत्तः अन्तकृतः सर्वदुःखप्रहीणः स एष क्षयनिष्पन्न' स एष क्षायिक इति क्षायोपशमिकस्य भावस्य पूर्वोक्त स्वरूपस्याष्टादशभेदाः सन्ति तद्यथा—चतुर्भेदं ज्ञानम् ४ मतिश्रुतावधिमनः पर्यवज्ञानभेदात् त्रिभेदमज्ञानम् ३ मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानभेदात् त्रिभेदं दर्शनम् ३ चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभेदात् पञ्चभेदालब्धयः ५ दानलाभभोगोपभोगवीर्यलब्धि भेदात् सम्यक्त्वम् १ चारित्रं ' संयमासंयमश्च १ इत्येते मिलिताः सन्तोऽष्टादशभेदाः क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति भावः तत्र मतिश्रुतावधिमनःपर्यनज्ञानचतुष्टयावरणीय

क्षीणदानान्तराय, क्षीणलाभान्तराय, क्षीणभोगान्तराय, क्षीणोपभोगान्तराय, क्षीणवीर्यान्तराय, अनन्तराय, निरन्तराय, क्षीणान्तराय, अनन्तरायकर्मविप्रयुक्त, सिंह, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त, अन्तकृत, सर्वदुःखप्रहीण, यह सब क्षयनिष्पन्न है।

पूर्वकथित स्वरूप वाले क्षायोपनामिक भाव के अठारह भेद है, यथा—चार प्रकार का ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञा न अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान, तीन प्रकार का अज्ञान मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान और बिभागज्ञान तीन प्रकार का दर्शन—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन पाँच प्रकार की लब्धियाँ—दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि सम्यक्त्व, चरित्र और सयमासयम। ये सब मिलकर क्षायोपना मियभा के अठारह भेद होते है।

मति ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय और मन.पर्यवज्ञानावरणीय कर्मों के स्पर्द्धक सर्वधाती भी होते है और देशधाती भी होते है। जब समस्त सर्वघाती स्पर्द्धक विनष्ट हो जाते है और आत्मा की विशुद्धि के कारण समय समय में देशघाती भी स्पर्द्धको के अनन्त भाग क्षय को प्राप्त हो जाते है और उनके भाग उपशान्त हो जाते है, तव सम्यग्दर्शन के साहचर्य से जीव ज्ञानी होता है।

क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति ज्ञान आदि जव मिथ्यात्व के साथ होते है तव अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहलाते है। यहाँ **'अज्ञात्'** शब्द से कुत्सित अर्थ में नञ् समास किया गया

कर्मणां सर्वोपघातीनि देशोपघातीनि च स्पर्द्धकानि (फड्डकानि) भवन्ति तत्र समस्तेषु फड्डकेषु विनष्टेषु देशोपघाति फड्डकानां च समये समये आत्मविशुद्धयपेक्ष्यमनन्तैर्भागैः क्षयं प्राप्नुवद्भिर्देशोप घातिभिर्भागैश्चोपशान्तैः सम्यग्दर्शन साहचर्याद् ज्ञानी भवति तच्चास्य क्षयोपशमजन्यं मत्यादिज्ञान चतुष्टयं भवति, ज्ञानमेव मिथ्यादर्शनसहचरितमज्ञानं भवति नञः कुत्सनार्थकत्वादपुत्रवत् मिथ्या दृष्टेरवधिर्विभङ्गो व्यपदिश्यते भङ्गः प्रकारः वेः कुत्सार्थकत्वाद्विगर्हितोभङ्गाविभङ्गविभङ्गरूपं ज्ञानं विभङ्गज्ञानमुच्यते तथा चैतत्त्रिविधमपि ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यमवगन्तव्यम् ।

चक्षुर्दर्शनश्रोत्राद्यात्मकाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शत्रितयमपि दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमादुपजायते, दानादिलब्धयः पञ्चापि अन्तरायकर्मणां क्षयोपशमाद्भवन्ति सम्यक्त्वञ्चानन्तानुवन्धि कषायदर्शनमोहक्षयोपशमाद् भवन्ति सम्यक्त्वञ्चानन्तानुवन्धि कषायदर्शनमोहक्षयोपशमादावि भवति तथा चानन्तानुवन्धिकषाय चतुष्टय मिथ्यामोहनीय मिश्रमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय इत्येतासां सप्तप्रकृतीनां क्षयोपशमात् क्षयोपशमिकसम्यक्त्वं भवतीति भावः । चारित्रञ्च सकलविंशतिलक्षणम् दर्शनमोहकषाय द्वादशकक्षयोपशमादुपजायते संयमश्चासावसंयमश्चेति संयमासंयमः संकल्पकृतात् प्राणातिपातन्निवृत्तिरूपः, आरम्भकृतादनिवृत्तिरूपश्च दर्शनमोहापोहादनन्तानुवन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकक्षयोपशमादुपजायते इति भावः, यद्यप्यत्रापिअनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे वक्ष्यमाणरीत्या

है, जैसे कुपुत्र को 'अपुत्र' कहते है। मिथ्यादृष्टि जीव का अवधिज्ञान विभंग कहलाता है, भंग का अर्थ 'प्रकार' है। 'वि' उपसर्ग कुत्सित अर्थ में है। अर्थात् अप्रशस्त भंग को विभंग कहते है। विभंग रूप ज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है। यह तिनो प्रकार का अज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उत्पन्न होता है । चक्षुदर्शन, श्रोत्रादि रूप अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन, यह तीनो दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते है। दान आदि पाँच लब्धियाँ पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है। सम्यक्त्व अनन्तानुबंधी कषाय तथा दर्शनमोह कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। अर्थात् चार अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात कर्मप्रकृतियो के क्षयोपशम से क्षयोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

सर्वविदित चारित्र दर्शनमोहनीय और बारह कषायों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। संयमासंयम अर्थात् देशविरति, जिसमें संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का त्याग किया जाता है और आरंभी हिंसा का त्याग नहीं किया जाता, वह दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुबंधी कषाय और अप्रत्याख्यानी कषाय के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है।

यद्यपि अनुयोगद्वारसूत्र में, छह भावो के प्रकरण में, क्षयोपशमिक भाव के भी बहुत से भेद कहे गये हैं, तथापि संक्षेप में प्रतिपादित इन अठारह भेदों में ही उन सबका समावेश हो जाता है, अतएव पूर्वोक्त इस प्रकार है—

क्षायोपशमिकभावस्यापि बहवो भेदाः प्रतिपादितास्तथापि संक्षेपेण वर्णितेषु अष्टादशविधेष्वेव तेषां सर्वेषामपि, अन्तर्भावो भवतीति पूर्वोक्तरीत्या न कश्चिद् विरोधो भवति, तथा हि—

"से किं तं खओव समिए ? दुविहे पण्णत्ते तं जहा खओव समिए य खओव मनिप्फण्णे य। से किं तं खओवसमे ? चउण्हं घाइकम्माणं खओव समेणं, तं जहा णाणावरणिज्जस्स दंसणवरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्समोहणिज्जस्स अंतरायस्स खओव समेणं से तं खओवसमे से किं तं खओवसमनिप्फण्णे ? अणेगविहेपणत्ते तं जहा—खओव समिआ आभिणिबोहिअ—णाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी, खओव समिआमइ अण्णाणलद्धी खओवसमिआ सुअ अण्णाणलद्धी खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी खओव समिआ चक्खुदंसणलद्धी अचक्खुदंसणलद्धी ओहि दंसणलद्धी एवं सम्मदं सणलद्धी मिच्छादं सणलद्धी सम्ममिच्छादं सणलद्धी खओव समिआ सामाइअचरित्तं लद्धी एवं छेदोवट्ठाणलद्धी परिहारविसुद्धिअलद्धी सुहुम संपरायचरित्तलद्धी एवं चरित्ताचरित्त लद्धी खओव समिआ दाणलद्धी एवं लाभलद्धी भोगलद्धी उवभोलद्धी खओव समिआ वीरिअलद्धी एवं पंडिअवीरिअलद्धी बालवीरिअ लद्धी बालपंडिअवीरिअलद्धी खओव समिओ सोइंदियलद्धी जाव खओव समिआ फासिंदियलद्धी खओवसमिए आयारंगधरे एवं सुअगडंगधरे ठाणंगधरे समवायंगधरे विवाह पण्णत्तिधरे नायाधम्मकहाधरे उवास गदसाधरे अंतगडदसाधरे अनुत्तरोववइअदसाधरे विवागसुअधरे खओव समिए दिट्ठिवायधरे खओव समिए णवपुव्वी खओव समीए। जाव चउद्दसपुव्वी खओव समिए गणी खओव समिए वायए, से तं खओव सम निप्फण्णे से तं खओवसमनिप्फण्णे से तं खओव समिए"

'क्षायोपशमिक भाव क्या है ? क्षायोपशमिक भाव दो प्रकार का कहा गया है—क्षायोपशमिक और क्षयोपशमनिष्पन्न। क्षायोपशमिक क्या है ? चार घातिया कर्मों के अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरम्यकर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशमिक भाव होता है।

क्षयोपशमनिष्पन्नभाव क्या है ? वह अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—क्षायोपशमिक अभिनिबोधिक ज्ञानलब्धि यावत् क्षायोपशमिक मनःपर्यवज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिक मत्यज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिक श्रुताज्ञानलब्धि, क्षयोपशमि विभ्यज्ञानलब्धि क्षायोपनामिक चक्षुदर्शनलब्धि, अवधिदर्शनलब्धि, इस प्रकार सम्यग्दर्शनलब्धि, मिथ्यादर्शनलब्धि, सम्यडमिथ्यादर्शनलब्धि, क्षायोपनामिक चारित्रलब्धि; छेदोपस्थापनालब्धि, परिहार विशुद्धलब्धि, सूक्ष्मसाम्परायलब्धि, चारित्राचारित्रलब्धि, क्षायोपनामिक दानलब्धि, क्षायोपनामिक लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्यलब्धि, पण्डितवीर्यलब्धि, बालवीर्यलब्धि, बालपण्डितवीर्यलब्धि, क्षायोपशमिक श्रोत्रेन्द्रियलब्धि, यावत् क्षायोपशमिक स्पर्शेन्द्रियलब्धि,

छाया—अथ कस्तावत् क्षायोपशमिकः ? द्विविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा— क्षायोपशमिकश्च क्षायोपशमनिष्पन्नश्च अथ— कस्तावत् क्षापोपशमिकः ? चतुर्णां घातिकर्मणां क्षायोपशमेन, तद्यथा— ज्ञानावरणीयस्य दर्शनावरणीयस्य मोहनीयस्य अन्तरायस्य क्षयोपशमेन न एष क्षयोपशमिकः अथ कस्तावत् क्षयोपशमनिष्पन्नः ? अनेक विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा क्षयोपशमिता आभिनिबोधिक ज्ञानलब्धिः यावत् क्षायोपशमिता मनः पर्यवज्ञानलब्धि क्षयोपशमिता मत्यज्ञानलब्धिः क्षयोपशमिता श्रुताज्ञानलब्धिः क्षयोपशमिता विभङ्गज्ञानलब्धिः क्षयोपशमिता चक्षुर्दर्शनलब्धिः अचक्षुर्दर्शनलब्धि अवधिदर्शनलब्धिः एवं सम्यग्दर्शनलब्धिः मिथ्यादर्शनलब्धिः सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धिः क्षयोपशमिता-सामयिकचारित्रलब्धि एवं छेदोपस्थानलब्धिः परिहार विशुद्धिकलब्धिः, सूक्ष्म संपराय चारित्र-लब्धिः, एवं चारित्राचारित्रलब्धिः क्षयोपशमितादानलब्धिः भोगलब्धिः उपभोगलब्धिः क्षयोपशमिता वीर्यलब्धिः एवं पण्डितवीर्यलब्धिः बालवीर्यलब्धि; बालपण्डितवीर्यलब्धिः क्षयोपशमिताश्रोत्रेन्द्रियलब्धिः यावत् क्षयोपशमितास्पर्शनेन्द्रियलब्धिः क्षयोपशमितः आत्माङ्गधरः एवं श्रुताङ्गधरः स्थानाङ्गधरः समवायाङ्गधरः विवाह प्रज्ञप्तिधरः ज्ञाताधर्मकथाङ्गधरः उपासकदशाङ्गधरः अन्तकृतदशाङ्गधरः अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गधरः अन्तकृतदशाङ्गधरः अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गधरः प्रश्नव्याकरणधरः विपाक-श्रुतधरः श्रयोपशमितः दृष्टिवादधरः क्षयोपशमितो नवपूर्वीक्षयोपशमितः यावत् चतुर्दशपूर्वीक्षयो-पशमितः गणीक्षयोपशमिकोवाचकः स एष क्षयोपशमनिष्पन्न स एप क्षायोपशमिकः इति ।

क्षायोपशमिक आचारांगधर, इसी प्रकार सूत्रकृतांगधर, स्थानांगधर, समवायांगधर, विवाहप्रज्ञप्तिधर, ज्ञातधर्मकथाधर, उपासकदशाधर, अन्तकृद्दशाधर, अनुत्तरौपपातिकदशाधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकश्रुतधर, क्षायोपशमिक दृष्टिवादधर, क्षयोपशमिक नवपूर्वी, क्षायोपशमिक यावत् चतुर्दशपूर्वी, क्षायोपशमिक गणी क्षायोपनामिक वाचक, यह सब क्षायोपशमनिष्पन्न के भेद कहे गये है ।

पारिणामिकभाव तीन प्रकार का होता है—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । जीव का भाव अर्थात् जीवपन, जीवत्व कहलाता है अर्थात् असंख्यात प्रदेशमय चैतन्य । जो जीव सिद्धिग-मन के योग्य हो वह भव्य और जो सिद्धिगमन के योग्य न हो वह अभव्य कहलाता है इनके भाव को भव्यत्व और अभव्यत्व कहा गया है । जीव के ये तीनों भाव स्वभाविक ही है, कर्मकृत नहीं अर्थात् किसी कर्म के उदय, उपनाम, क्षयया क्षयोपशम वे उत्पन्न नहीं होते । आत्मा अपने स्वभाव से ही जीवत्व, भव्यत्व या अभव्यत्व रूप से परिणतशील होता है ।

यद्यपि अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्व' असर्वगतत्व, अनादिकर्मसन्तानबद्धत्व, प्रदेशवत्व, अरूपित्व, नित्यत्व आदि भी जीव के अनादि पारिणामिक भाव हैं और अनुयोगद्वारसूत्र में, छह भावो के प्रकरण में अन्य बहुत से भेद भी प्रतिपादित किए गए है तथा पि यहाँ संक्षेप में ही पारिणामिकभाव का निरूपण किया गया है, अतएव इन तीन भेदो में ही उन सबका समावेश हो जाता है । अनुयोगद्वार में कहा है—

पारिणामिको भावास्तावत् त्रिविधः जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वभेदात् तत्र जीवभावे जीवत्वम् जीव एव जीवत्वं वा असंख्येयप्रदेशं चैतन्यमित्यर्थः भव्या सिद्धिर्यस्यासौ भव्यः, भव्य एव भव्यत्वम् सिद्धिगमनायोग्यः कदाचिदपि यो न सिद्धिं प्राप्स्यति सः अभव्यः अभव्य एव अभव्यत्वम् एते त्रयोऽपि भावाः जीवस्य स्वाभाविका एव सन्ति न तु कर्मकृता इत्यर्थः जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्व रूपेण स्वभावत एव आत्मापरिणमनशीलो वर्तते इति भावः यद्यपि अस्तित्वाऽन्यत्व–कर्तृत्व–भोक्तृत्वगुणवत्त्वाऽसर्वगतत्वाऽनादिकर्मसन्तानबद्धप्रदेशवत्त्वाऽरूपत्व–नित्यत्वादयोऽपिजीवस्यानादिपारिणामिका भावाः सन्ति एवमन्येऽपि बहवो भावा अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे प्रतिपादिता सन्ति तथापि संक्षेपेणैव पारिणामिकभावस्य वर्णितत्वेन तत्रैव तेषां सर्वेषामपि अन्तर्भावात् तथा चोक्तम्–"**से किं तं पारिणामिए। दुविहे पण्णत्ते–तं जहा—साइ पारिणामिए अणाइ पारिणामिए य से किं तं साइ पारिणामिए। अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा–उक्कावाया दिसादाहागज्जियं विज्जूणिग्घायाजूवयाजक्खादित्ता धूमिआ महिआ रयुग्घाया चंदोवराग गाचंदपरिवेसा सूरपरिवेसा पडिचंदा पडिसूरा इंदधणु अदगमच्छाकविहसिया अमोहा वासा वासधरा गामा णगरा घरा पव्वया पायाला भवणा निरयारयणप्पहा सक्करप्पहा वालुअप्पहा पंकप्पहा धूमप्पहा तमप्पहा सोहम्मे जाव अच्चुए गेवेज्जे अणुत्तरे ईसिप्पभाए परमाणुपोग्गले दुपए सिए जाव अणंत पएसिए से तं साइपरिणामिए से परिणामिए से किं तं अणाइपरिणामिए। धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए लोए अलोए भवसिद्धिआ–अभवसिद्धिआ से तं अणाइ परिणामिए**"

पारिणामिक भाव क्या है? पारिणामिक भाव दो प्रकार का है—सादि पारिणामिक और अनादि पारिणामिक सादि पारिणामिक भाव क्या है? वह अनेक प्रकार का है, यथा–उल्कापात, दिशादाह, गर्जना, विद्युत्–निर्घात, जूयदा, यक्षादित्य, धूमिका, मिहिका, रज उद्घात, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण, चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमत्स्य, कपिहसित, अमोघवर्ष, वर्षधारा' गुम्म, नगर' गृह, पर्वत, पाताल, भवन, नरक, रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, नमःप्रभा, नमस्तःमप्रभा, सौधर्म यावत् अच्युत. ग्रैवेयक. अत्तजर विमान ईषप्राग्भारा पृथ्वी परमाणुपुद्गल द्विप्रदेशिकस्कंध यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कध यह सब सादि पारिणामिक भाव हैं।

अनादिपारिणामिक भाव क्या है? धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय. आकाशास्तिकाय जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय अद्धासमय लोक अलोक भवासिद्धिक सब अनादि पारिणामिक भाव है।

छठा भाव सान्निपातिक भी अनेक प्रकार का है। एक जीवात्मा में एक साथ उत्पन्न होने वाला मिला–जुला भाव सान्निपातिक भाव कहलाता है। यह सान्निपातिक भाव पूर्वोक्त औदयिक औपशमिक आदि भावो में से यथायोग्य दो तीन आदिके सयोग से बनता है। यद्यपि उसके भेद बहुत है फिर भी मुख्य रूप से यहाँ पन्द्रह प्रकार का दिखलाया जाता है—औदयिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव एक साथ एक जीव में उत्पन्न होते है।

छाया—अथ कस्तावत् पारिणामिकः ? द्विविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—सादिपारिणामिकश्च अथ कस्तावत् सादिपारिणामिकः ? अनेकविधः तद्यथा उल्का पाताः दिग्दाहाः गर्जितम् विद्युन्निर्धाताः जूपदा यक्षादित्याः धूमिका महिका रज उद्धाताः चन्द्रोपरागाः सूर्योपरागाः चन्द्रपरिवेषाः सूर्यपरिवेषाः प्रतिचन्द्राः प्रतिसूर्याः इन्द्रधनुः उदकमत्स्याः कपिहसितम् अमोघं वर्षा वर्षधराः ग्रामा नगराणि गृहाः पर्वताः पातालाः भवनानि निरयाः रत्नप्रभाः शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमप्रभा तमतमप्रभा सौधर्मो यावत् अच्युतो ग्रैवेयकः अनुत्तरः ईषत्प्रभाः परमाणु पुद्गलाः द्विप्रदेशिकः स एषः सादिपारिणामिकः अथ कस्तावद् अनादिपारिणामिकः ? धर्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः अद्धा समयः लोकः अलोकः भवसिद्धिकाः अभवसिद्धिकाः स एषः अनादिपारिणामिकः स एष पारिणामिकः इति ।

सान्निपातिकस्तावत् षष्ठो भवो बहुविधो भवति सहैव युगपदेकस्मिन् जीवात्मनि निपतन्तीतिसन्निपाताः त एव संनिपातिका उच्यन्ते तथा च पूर्वोक्तानमिवौदायिकोपशमिकादीनां भावानां यथा योगं द्विकादिसयोगेन सान्निपातिको भावो निष्पद्यते तत्र तस्यबहुभेदसत्त्वेपि मुख्यतया पञ्चदशभेदाः प्रदर्श्यन्ते युगमदेकस्मिन् जीवे निपतन्ति तत्र नारकतिर्यग्योनिक मनुष्यदेव गतिभेदेन चैत चत्वारो भेदाः ४ एवमेवऔदयिकौपशामिकक्षायोपशमिकपारिणामिकाः क्वचिद् कृतत्रिपुञ्जोपशमसम्यक्त्वसद्भावाद् गतिभेदेनैव चत्वारोभेदा ४ पुनरौदयिक क्षायिक क्षयोपशमिकपारिणा-

---

नारक, निर्यग्योनिक, मनुष्य और देवगति के भेद से चार भेद होते है। (४), इसी प्रकार औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक, पारिणामिक, कहीं तीनपुंज न करने वाले जीव के उपनाम सम्य का सद्भाव होने से, गति के भेद से चार भेद हो जाते है (४) औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक' कहीं क्षायिक का सद्भाव होने से श्रेणिक आदि के समान गतिभेद से होते है। औदयिक, औपशमिक' क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक का एक भेद मनुष्यगति में उपनामश्रेणी के सद्भाव में ही होता है। यह भाव दर्शनसप्तक से रहित सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से, शेष कर्मों के क्षयोपशम आदि होने पर होता हैं (१)

इसी प्रकार । औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक का एक ही भंग होता हैं, जैसें केवली में औदयिक मनुष्यत्व, क्षायिक केवलज्ञान और पारिणामिक भाव जीवत्व पाया जाता है। (१)

इसी प्रकार क्षायिक और पारिणामिक का एक अंग है, जैसे सिद्ध में केवलज्ञान सम्यक्त्व आदि क्षायिक तथा जीवत्व पारिणामिक भाव होता है। इसी भाँति मत्यभेद भी समझ लेना चाहिए।

यहाँ यह वात समझने योग्य है— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक; ये तीन भाव कर्म के विघात से उत्पन्न होते है, जैसे वहुत—सी रज के समूह का विघात होने पर सूर्य की क्रिरणो का समूह उत्पन्न होता है। वह विघात दो प्रकार का है—स्वीवीर्य की अपेक्षा से कर्म

मिकाः ४ क्वचित् क्षायिकसद्भावात्श्रेणिकादिवद् गतिभेदतः पुनश्चौदयिकौपशामिक क्षायिक क्षायोपशमिकपारिणामिकाः दर्शनसप्तकरहितसकलमोहनीयापेशमाच्छेषकर्मक्षयोपशमादित्वे सति मनुष्यगतावेवोपशमश्रेणिसद्भावे सत्ये को भेदः एवम्, औदयिकक्षायिकपारिणामिका एक एव भङ्ग केवलिनो मनुष्यत्वकैवल्य जीवत्वप्राप्तेः । एवं क्षायिकपारिणामिकावेको भङ्गः, सिद्धे केवलं सम्यक्त्वादि जीवत्वेवः । इत्येवं रीत्या पञ्चदशभेदाः सान्निपातिका भावाः सम्पद्यन्ते एवमन्येऽपि भेदाः सान्निपातिकानां संभवन्ति अत्रेदं बोध्यम् औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिकास्त्रयो भावाः कर्म घातापेक्षया प्रादुर्भवन्ति बहुल रजो वितान विघाते सति सूर्यस्य किरण पुञ्जोत्पत्तिवत् स तावद् विघातो द्विविधो भवति स्ववीर्यापेक्षया कर्मणो देशक्षयः सर्वक्षयश्च स्वोपार्जित कर्मोदयात् आत्मनो नारकादि गत्यादयो भावा उत्पद्यन्ते मदिरासेवनजन्यनृत्यादिविकारवत् । मदोद्रेकाद यथा शीलवानपि मानवो हसति रोदिति गायति क्रुध्यति एवं गत्यादिकर्मोद्रेकात् जीवो गतिकषायादिकं विकारं प्रतिपद्यतेपारिणामिकस्तु स्वाभाविक एव भावो न तु सनिमित्तक इति भावः ॥सूत्र- -१५॥

मूलम् "उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य । सू.१६

छाया—"उपयोगो द्विविधः साकारः अनाकारश्च । सू. १६

के एक देश का क्षय और सर्वक्षय । तथा अपने द्वारा उपार्जित कर्म के उदय से आत्मा से नरक-गति आदि भाव उत्पन्न होते है, जैसे मदिरा के नृत्य(नाच) आदि विकार उत्पन्न होते है,, रोता है, गाता है, क्रोध करता है, इसी प्रकार गति आदि कर्मों के उद्रेक से जीव गति कषाय आदि विकारो को प्राप्त होता है किन्तु पारिणामिक भाव स्वाभाविक है वह किसी भी निमित्तकारण से नहीं उत्पन्न होता ॥ १५ ॥

मूल सूत्रार्थ—"उवओगो दुविहो सागरो इत्यादि ।

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले कहा गया था कि जीव का लक्षण उपयोग है, अब उपयोग का स्वरूप और भेद बतलाने के लिए कहते है—उपयोग दो प्रकार का है—साकारोपयोग और निराकारोपयोग

ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति को अर्थात् अपने-अपने विषय की ओर अभिमुख होने को 'योग' कहते है । उप अर्थात् जीव का समीपवर्त्ती योग 'उपयोग' कहलाता है । उपयोग को नित्य सम्बन्ध भी कहा जा सकता है ।

तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ को जानने के लिए जीव का जो व्यापार होता है, वह उपयोग कहलाता है । इसमें जो उपयोग साकार होता है वह ज्ञानोपयोग और जो उपयोग निराआर होता है वह दर्शनोपयोग कहलाता है । इन्द्रियो की प्रणाली से ज्ञान का विषयाकार परिणत होने के कारण साकार व्यापार होता है । किन्तु दर्शन विषयाकार परिणत नहीं होता, अतएव वह निराकार या अनाकार कहलाता है ।

दीपिका—पूर्वं तावद् उपयोग लक्षणो जीव इत्युक्त तत्रोपयोगस्य भेदं स्वरूप पञ्च प्रतिपादयितुमाह्—

"उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य" इति उपयोगस्तावत् द्विविधः साकारः अनाकारश्चेति तत्र उपयोगो नित्यसम्बन्धः तथा च जीवस्य विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थग्रहण-व्यापार उपयोग इत्यर्थः तत्र ज्ञानोपयोगः साकाराः दर्शनोपयोगश्च अनाकारो व्यपदिश्यते । तथा च ज्ञानस्येन्द्रियप्रणालिकया विषयाकारेण परिणतत्वात् साकारत्व व्यवहारो भवति, दर्शनस्य पुनः विषयाकारेण परिणतत्वाभावात् अनाकारत्व व्यपदेशो भवति तत्र ज्ञानोपयोगः अष्टविधः मति श्रुतावधिमनः पर्यवज्ञानमत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान भेदात् दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः चक्षुरचक्षुरवधि केवलदर्शनभेदात् । आकारेण विकल्पेन सह वर्तते इति साकारः सविकल्पो ज्ञानमुच्यते तद् विपरीतोऽनाकारो निर्विकल्पो दर्शनमुच्यते सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकं साकारम् निष्प्रकारकं निर्विकल्पकं निराकारम् दर्शनमुच्यते किं स्विद् वर्तते इत्येवमालोचमात्रम् ॥सूत्र–१६॥

निर्युक्तिः –पूर्वं जीवस्य उपयोगरूपं लक्षणमुक्तम् तत्र–उपयोगः उपलम्भः ज्ञानदर्शनयोः स्वविषयसीमाऽनुल्लंघनेन धारणमित्यर्थः, ।

यद्वा युञ्जनं योगः ज्ञानदर्शनयोः प्रवर्तनं विषयनिर्णयाभिमुखताः, उपजीवस्य समीपवर्ती योगः उपयोगो नित्यसबन्धः, एवञ्चात्मनो विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थ ग्रहणव्यापारउपयोग इति

ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—(१)प्रतिज्ञान(२)श्रुतज्ञान(३)अवधिज्ञान(४)मनःपर्यवज्ञान (५)केवल ज्ञान(६)मत्यज्ञान(७)श्रुताज्ञान(८)विभंग ज्ञान ।

दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्श, अवधिधदर्शन और केवलद-र्शन । जो आकार अर्थात् विकल्प से युक्त हो वह साकार या सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है और जो उससे विपरीत हो वह अनाकार या निर्विकल्पक दर्शन कहलाता है अथवा जो उपयोग प्रकार युक्त हो—सविकल्प हो वह ज्ञान और जो प्रकार से रहित हो—निर्विकल्प हो वह दर्शन है । 'कुछ है' बस इतना मात्र ही प्रतीत होता है ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—उपयोग जीव का लक्षण है, यह पहले कहा गया था । उपयोग को उपलम्भ भी कहते है और उसका अभिप्राय है अपनी–अपनी सीमा का उलंघन न करके ज्ञान और दर्शन का व्यापार होना । अथवा ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति या विषय के निर्णय के लिए अभिमिमु होना उपयोग है । उप अर्थात् जीव का सभीपवर्ती योग उपयोग कहलाता है । उसे नित्य संबंधी भी कहते है ।आशय यह निकला कि किसी भी पदार्थ को ग्रहण करने के लिए आत्मा का जो व्यापार होता है वह उपयोग कहलाता है ।

उपयोग के मेद बतलाते हुए प्रकारान्तर से उसकी विशेषता का प्रतिपादन करते के लिए कहते है—उपयोग दो प्रकार का है—साकार और निराकार । ज्ञान साकार उप-

फलितम् तस्य विभागपूर्वकं प्रकारान्तरेण वैशिष्ट्यं प्रतिपादयितुमाह—"**उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य**" इति पूर्वोक्तस्वरूप उपयोगो द्विविधः प्रज्ञप्तः, साकारः अनाकारश्च तथाहि—साकारं ज्ञानं निराकारं दर्शनं भवति सहआकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण विशेषणवर्तते इति साकारम् ज्ञानं तथा चोक्तम्—'**आगारो उविसेसा**" इति, अविद्यमानआकारो भेदो विशेषो वस्तुतो ग्राह्यस्यास्येति अनाकारम् विशेषरहितं सामान्यावलम्बिदर्शनम् ।

उक्तञ्च "साकारे सेणाणे अणागारे दंसणे" इति, 'मइसुयवहिमणकेवलविभंगमइ सुयणाण सागारा" इति तथा च चत्वारिचक्षुश्चक्षुरवधिकेवलदर्शनरूपाणि दर्शनानि अनाकाराणि साकाराणि, पञ्च ज्ञानानि त्रीणि अज्ञानानि च साकाराणि, तथाहि दूरादेव शालतमालबकुलाशोकचम्पककदम्ब-जम्बूनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तरुनिकरमवलोयत. सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तत्सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो-दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् यत्पुनस्तस्यैव । यत्पुनस्तस्यैव । निकटीभूतस्य तालतमाल-शालादि व्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव महीरूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूप-माभाति तद् विशेषरूपं साकारं ज्ञानं भवतीति भावः ।

तत्र ज्ञानोपयोगः साकारो व्यपदिश्यते दर्शनोपयोगश्च अनाकार उच्यते ज्ञानस्य इन्द्रियप्रणालया विषयाकारेण परिणतत्वात् साकारत्वव्यवहारो भवति, दर्शनस्य तु तदाकारेण परिणतत्वाभावादना-

---

योग है, दर्शन निराकार उपयोग है। जो उपयोग प्रतिनियत होता है अर्थात् जाति वस्तु आदि विशेष को ग्रहण करता है वह साकारउपयोग ज्ञान कहलाता है कहा भी है—आकार विशेष को कहते है । जिस उपयोग में वस्तु के विशेष अंश का ग्रहण नहीं होता, वह अनाकार उपयोग है। तात्पर्य यह है कि दर्शन विशेष रहित सामान्य मात्र का ही ग्राहक होता है। कहा भी है—ज्ञान साकार और दर्शन निराकार होता है। मति, श्रुत' अवधि' मनःपर्याय, केवलज्ञान और विभंगज्ञान, कुमतिज्ञान तथा कुश्रुतज्ञान साकार होते है। चार प्रकार के दर्शन अनाकार हैं।

किसी ने दूर से वृक्षो का समूह देखा किन्तु उसे साल, तमाल, वकुल, अशोक चम्पक, कदम्ब, जामुन नीम आदि विशेष का ज्ञान नहीं हुआ—सामान्य रूप से वृक्ष मात्र की ही प्रतीति हुई, कुछ है' ऐसी अपरिस्फुट प्रतीति हुई तो तो वह दर्शन है, क्योंकि जिस उपयोग में विशेषो का ग्रहण नहीं होता, वही दर्शनोपयोग कहलाता है। जब वहीं व्यक्ति निकट पहुँचता है और ताल, तमाल. साल आदि विशेष रूप में निश्चय करता है, तब वह परिस्फुट प्रतिभास ज्ञान कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विशेष धर्मों को ग्रहण करने वाला उपयोग ज्ञानोपयोग है।

कारत्वव्यवहारो भवति, वस्तुतस्तु आकारो विकल्प तेन सहवर्तते इति साकारः सविकल्पः तद्-विपरीतोऽनाकारः निर्विकल्पः इति भावः, तथा च सकारकं विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं सविकल्पकं साकारं व्यपदिश्यते प्रकारतादिशून्यं "किस्वित्' इत्येवमालोचनमात्रं निर्विकल्पकमनाकारमुच्यते इति फलितम् ॥

तत्र साकारात्मको ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—मतिज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोपयोगः २ अवधिज्ञानोपयोगः ३ मनः पर्यवज्ञानोपयोगः ४। केवलज्ञानोपयोगः ५। मत्यज्ञानोपयोगः ६। श्रुता ज्ञानोपयोगः ७। विभङ्गज्ञानोपयोगश्चेति ८। अनाकारात्मको दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा चक्षुर्दर्शनोपयोगः १। अचक्षुर्दर्शनोपयोगः २, अवधिदर्शनोपयोगः ३ केवलदर्शनोपयोगश्च ४।इति॥

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २९ पदे कतिविहे णं भंते ! उवओगे पण्णत्ते ! गोयमा ! दुविहे उव-ओगे पण्णत्ते, तं जहा—सागारोवओगे अणागारोवओगे य सागारोवओगे णं भंते! कतिविहेपण्णत्ते गोयमा ! अट्ठविहेपण्णत्ते त जहा मइ णाणोवओगे, सुअणाणोवओगे, ओहिणाणोवओगे, सुअ-अण्णाणोवओगे, विभंगणाणोवओगे य अणागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे ? गोयमा ? चउव्विहे तं जहाचक्खूदंसणोवओगे अचक्खूसणोवओगे ओहि । दंसणोवओगे ओहिदंसणोवओगे केवल-दंसणोव ओगेय । इति॥ कतिविधः खलुभदन्त १ उपयोगः प्रज्ञप्तः २ गौतम १ द्विविध उपयोगः प्रज्ञप्तः, तद्यथा साकारोपयोगः अनाकारोपयोगश्च साकारोपयोगः खलु भदन्त कतिविधः प्रज्ञप्तः ?

ज्ञानोपयोग साकार और दर्शनोपयोग निराकार कहा गया है। इन्द्रियो की प्रणाली द्वारा विषय के आकार में परिणाम होने के कारण ज्ञान साकार कहा जाता है।

वास्तव में आकार का अर्थ है—विकल्प। जो ज्ञान विकल्प सहित होता है वह सविकल्प कहलाता है। जो उससे विपरीत अर्थात् निर्विकल्प हो वह अनाकार कहलाता है। अतएव प्रकार युक्त विनिष्ट की लिशिष्टता को जमाने वाला ज्ञान सविकल्प अथवा साकार कहा आता हैं और ओ प्रकारता धे शून्य हो 'कुछ है' इस प्रकार का आभास मात्र ही हो वह निर्विकल्प अथवा अनाकार कहलाता है।

साकारोपयोग आठ प्रकार का है, यथा - (१)मतिज्ञानोपयोग)२)श्रुतज्ञानोपयोग(३)(अवधिज्ञानोपयोग(४)मनःपर्यवज्ञानोपयोग(५)केवलज्ञानोपयोग(६)सत्यज्ञानोपयोग(७)श्रुताज्ञानोप-योग(८)विभंगज्ञानोपयोग।

अनाकार दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—(१)चक्षुदर्शन(२)अचक्षुदर्शन(३)अवधिदर्शन (५)केवल दर्शन के भेद से(१,चक्षुदर्शनोपयोग(२)अचक्षुद४र्शनोपयोग(३)अवधिदर्शनोपयोग और (४)केवलदर्शनोपयोग।

प्रज्ञापनासूत्र के २९ वें पद में कहा है—भगवन् उपयोग कितने प्रकार का कहा है ?
उत्तर— उपयोग दो प्रकार का कहा है,—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।
प्रश्न—भगवन साकारोपयोग कितने प्रकार के है ?

गौतम ! अष्टविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा—मतिज्ञानोपयोगः १। श्रुतज्ञानोपयोगः २ अवधिज्ञानोपयोगः ३ मनःपर्यवज्ञानोपयोगः ४ केवलज्ञानोपयोगः ५ मत्यज्ञानोपयोगः ६ श्रुताज्ञानोपयोगः ७ विभङ्गज्ञानोपयोगः ८ ।

अनाकारोपयोगः खलु भदन्त ? कतिविधः प्रज्ञप्तः ३ । गौतम १ चतुर्विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—चक्षुर्दर्शनोपयोगः १ अचक्षुर्दर्शनोपयोगः २ अवधिदर्शनोपयोगः ३ केवलदर्शनोपयोगश्च ४ इति ॥१६॥

मूलसूत्रम्—"इंदियं पंचविहं—" ॥१७॥

छाया—इन्द्रियं पञ्चविधम् ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावद् जीवस्य ज्ञान–दर्शनोपयोगरूपं लक्षणं प्रतिपादितम् । तथा विधश्चोपयोग इन्द्रियद्वारेणैवसंभवति, अतोभेद प्रदर्शनपूर्वकमिन्द्रिय प्ररूपयितुमाह—

"इंदियं पंचविहं" इति । इन्द्रियम् इन्द्रणाऽऽत्मना ऽधिष्ठितम् इन्द्रियम् । इन्द्रेण सृष्टमेवेन्द्रियम्, इन्द्रस्याऽऽत्मनोलिङ्ग वा इन्द्रियम् । इन्दतीति इन्द्रोजीवः तस्य खलु ज्ञस्वभावस्याऽऽत्मनस्तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् । ग्रहीतुमसमर्थस्य यत्खलु अर्थोपलब्धिनिमित्तं लिङ्गम् तदिन्द्रस्य जीवस्यलिङ्गत्वात् । इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते ।

यद्वा—लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम् आत्मनः सूक्ष्मस्याऽस्तित्वाधिगमे पिङ्गमिन्द्रियं भवति । यथा—धूमो वह्नरधिगमे हेतुर्भवति, एवम् स्पर्शनादिकरणं कर्त्तर्यात्मनि असति न भवितुमर्हति

उत्तर—गौतम ! साकारोपयोग आठ प्रकार का कहा है, यथा—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मनःपर्यवज्ञानोपयोग, केवलज्ञानोपयोग, मति-अज्ञानोपयोग, श्रुत-अज्ञानोपयोग और विभंगज्ञानोपयोग ।

प्रश्न—भगवन् ! अनाकारोपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का है, यथा—चक्षुदर्शनोपयोग, अचक्षुदर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग और केवलदर्शनोपयोग ॥१६॥

मूलसूत्रार्थ "इंदियं पंच विहं" ॥१७॥

इन्द्रियो पाँच प्रकार की हैं ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका इससे पूर्व जीव का लक्षण ज्ञान—दर्शन उपयोग कहा है । वह उपयोग ससारी जीवों को इन्द्रियो के द्वारा ही उत्पन्न होता है, अतएव भेद बतलाते हुए इन्द्रिय की प्ररूपणा करते है —

इन्द्रियाँ पाँच है। इन्द्र अर्थात् आत्मा के द्वारा जो अधिष्ठितयुक्त हो अथवा इन्द्र नामकर्म के द्वारा जिसकी रचना की गई हो या इन्द्र अर्थात आत्मा का जो लिंग— चिह्न हो उसे इन्द्रिय कहते है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र अर्थात जीव यद्यपि स्वभाव से ही ज्ञानमय है किन्तु आवरणो के कारण स्वयं अर्थो को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता । अतएवं

तस्मात् स्पर्शनादिना इन्द्रियेण करणभूतेन ज्ञातुरात्ममनोऽस्तित्वमवगम्यते । तत्खलु–इन्द्रियं पञ्च-विधम् । स्पर्शन–रसन —घ्राण --चक्षुः —श्रोत्र भेदात् । उपयोगकरणात् न कर्मेन्द्रियाणां वाक्—पाणिपायूपस्थानमत्र ग्रहणम् किन्तु—ज्ञानेन्द्रियाणामेवेति भावः । मनस्तु –अनिन्द्रियं वर्त्तते ॥१७॥

तत्त्वार्थ निर्युक्तिः—पूर्वं जीवस्य ज्ञानदर्शनोपयोगरूपं लक्षणं प्ररूपितम् तथाविधश्चोप-योगः इन्द्रियद्वारेणैव सभवति तस्मात् विभागप्रदर्शनपूर्वकमिन्द्रियं प्ररूपयति ।

यद्वा—पूर्वं पृथिव्याद्येकेन्द्रिय- द्वीन्द्रियादयो जीवाः प्ररूपिताः अतस्तत्र कियन्ति इन्द्रि-याणि ? कतिविधानि वा ? तेषां वा मध्ये कस्योपयोगिनो जीवस्य किमिन्द्रियं भवतीत्याकां-क्षायामाह—

अथवा—जीवानां चेतनारूपं ज्ञानमिन्द्रियद्वारेणैव भवति तानि चेन्द्रियाणि न सर्वाणि सर्वस्य भवतीति विभागप्रदर्शनपूर्वकमिन्द्रियाणि संख्यया नियमयितुमाह—

यद्वा—जीवानामुपयोगोऽन्वयिलक्षणमुक्तम् तस्योपयोगस्य निमित्तानि प्रतिपादयितुमाह—**"इंदियं पंचविहं"** इति ॥

इन्दतीति—इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येषु ऐश्वर्ययोगात् , इन्दनाद्वा परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीवः सर्वभोगोपभोगाधिष्ठानसर्वद्रव्य विषयैश्वर्ययोगात् । रूप–रस–गन्ध–स्पर्शादिविषयेषु वा परमैश्वर्य-

---

पदार्थों के ग्रहण में जो सहायक निमित्त हो वह इन्द्रिय है । इस प्रकार इन्द्र – जीव का लिंग होने से इन्द्रिय कहा जाता है ।

अथवा लीन – छिपे हुए पदार्थ (आत्मा) का जो ज्ञान करवाता है उसे इन्द्रिय कहते है । आत्मा अति सूक्ष्म है उसका अस्तित्व इन्द्रियो के द्वारा ही विदित होता है । जैसे धूम अग्नि के बिना न होने के कारण अग्नि के जानने में कारण होता है, उसी प्रकार स्पर्शन आदि करण कर्त्ता अर्थात् आत्मा के ज्ञापक होते है; क्योकि जब स्पर्शन आदि करण है तो कर्ता अवश्य होना चाहिए; कर्त्ता के अभाव में करण नहीं होता । इस प्रकार स्पर्शनादि करणो से कर्त्ता– आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है ।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की है । यहाँ उपयोग का प्रकरण होने से परपरिकल्पित वाक् (वचन), पाणि (हाथ), पाद (पैर), वायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) को इन्द्रिय नहीं माना है । यहाँ ज्ञान के कारणो को ही इन्द्रिय कहा गया है । मन अतिन्द्रिय है ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले जीव का ज्ञान दर्शन–उपयोग रूप लक्षण बतलाया गया है । छद्मस्थ जीवो का वह उपयोग इन्द्रियो द्वारा ही होता है । अतएव भेद दिखलाकर इन्द्रियों की प्ररूपणा करते है ।

अर्थयोगात् इन्द्रो जीवः 'इंदिपरमैश्वर्ये'' इत्यनुशासनात् इन्द्रियेण—जीवेनाऽधिष्ठितमिन्द्रियं पञ्चप्रकारकं प्रज्ञप्तम्। स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षुःश्रोत्रभेदात्।

तत्र —स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणार्थं क्रमशः—स्पर्शनरसनादीनि पञ्चेन्द्रियाणि प्राधान्येन—स्वातन्त्र्येण च समभिपतन्ति। मनस्तु—चक्षुरादीन्द्रियजातनिर्धारितं रूपाद्यर्थकलापमनुपतति। न तु—साक्षान्निर्धारयति। चक्षुरादीन्द्रियाणां निमीलनाद्यवस्थायां मनसारूपादिविषयग्रहणाऽभावात् तस्मात्—चक्षुरादिवन्नेन्द्रियं मनः किन्तु अतीन्द्रियं तदुच्यते।

नवा—वाक्पाणि पादपायूपस्थानि वा—इन्द्रियाणि व्यपदेष्टुमर्हाणि सन्ति तेषां वचनादि-व्यापारपरायणत्वेऽपि चक्षुरादिद्वारजन्यविज्ञानस्य रूपाद्यर्थग्रहणाय परिणतिवत् वागादिद्वारजन्यवच-

---

अथवा पहले पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवों की प्ररूपणा की गई है। अतएव ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ कितनी होती है? कितने प्रकार की हैं? किस उपयोग वाले जीव को कौन—सी इन्द्रिय होती है? यहाँ इन्हीं सब प्रश्नो का उत्तर दिया जा रहा है।

अथवा संसारी जीवो का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा ही होता है किन्तु सभी इन्द्रियाँ सब जीवों को प्राप्त नहीं होतीं। अतएव इन्द्रियों का भेद बतलाते हुए उनकी संख्या का नियमन करने के लिए कहते हैं।

अथवा पहले बतलाया गया है कि उपयोग जीवों का अन्वयी लक्षण है, अतः अब उस उपयोग के जो निमित्त है, उन्हें दिखलाने के लिए कहा है—इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की है।

समस्त द्रव्यो में ऐश्वर्य का भाजन होने के कारण जीव इन्द्र कहलाता है। अथवा इन्दन करने—परमैश्वर्य का उपयोग करने के कारण भी जीव इन्द्र कहलाता है। रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि विषयों में परमैश्वर्यवान् होने से भी जीव इन्द्र कहा जाता है। व्याकरण के अनुसार 'इदि' धातु परमैश्वर्यभोग के अर्थ में है। इस कारण इन्द्रिय का अर्थ हुआ—इन्द्र—जीव के द्वारा अधिष्ठित।

इन्द्रियो के पाँच भेद हैं—१. स्पर्शन २. रसना ३. घ्राण ४. चक्षु और ५- श्रोत्र। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श को, रसना रस को, घ्राण गंध को, चक्षु रूप को और श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को प्रधान रूपसे ग्रहण करती हैं। मन, चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा निर्धारित रूप आदि पदार्थों को ग्रहण करता है। वह साक्षात् अर्थात् इन्द्रियनिरपेक्ष होकर पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि यदि आँख आदि बंद हो तो रूप आदि विषय का मन से ग्रहण नहीं होता। इस कारण मन, चक्षु, आदि की भाँति इन्द्रिय नहीं किन्तु अतीन्द्रिय कहलाता है।

वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पाँव), पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) इन्द्रियाँ नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि जैसे चक्षु आदि द्वारा जनित ज्ञान रूप आदि पदार्थों के ग्रहण में परिणत

नादीनां ज्ञानादौ परिणत्यभावात्, विषयग्रहणार्थं परिणतिमासादयतामेव–इन्द्रियत्वव्यपदेशात् । शरीरस्थितैरेव स्पर्शन–रसन–घ्राणैरुत्कृष्टतो योजननवकपरिच्छिन्नाद्‌, देशादागतानां स्पर्शरसगन्धानां समुपलभ्यमानत्वात्, स्पर्शन–रसन–घ्राणेन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वमवगन्तव्यम् ।

वह्नि–चन्दनादिभिश्चोपघाताऽनुग्रहदर्शनात् प्राप्यकारित्वमेतेषां प्रत्यक्षसिद्धम् श्रोत्रेण च स्वपरिणाममजहतामुत्कृष्टतो योजनद्वादशकपरिच्छिन्नप्रदेशाद् समागतानां शब्दानां गृह्यमाणत्वात् श्रोत्रस्यापि प्राप्यकारित्वमवगन्तव्यम् ।

तत्र—चक्षुरिन्द्रियं वक्ष्यमाणमनो रूपं नो इन्द्रियञ्चाऽप्राप्यकारि वर्त्तते, विषयदेशमप्राप्यैव रूपादिकं गृह्णाति । अप्राप्यकारित्वञ्च—चक्षुषः प्रत्यक्षसिद्धम् । विषयाऽनुग्रहोपघातशून्यत्वात् नहिचक्षुषो जलानलशूलाद्यवलोकनेन दाहक्लेदनोत्पाटनादयो भवन्ति । शरीरदेशस्थितस्य च चक्षुषो योग्यदेशस्थितस्यैव रूपादेर्ग्रहणयोग्यता स्वभावसिद्धा वर्त्तते ।

होता है, वैसे वाक् आदि द्वारा उत्पन्न होने वाले वचन आदि की परिणति ज्ञान में नहीं होती । यहाँ तो उन्हें ही इन्द्रिय कहा गया है जो अपने विषय को ग्रहण करने में परिणत हो अर्थात् ज्ञान के साधन हो ।

उत्कृष्ट नौ योजन दूर देश से आये हुए स्पर्श, रस और गंध को स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय ग्रहण कर सकती है और शरीर में स्थित रह कर ही वे अपने विषय को ग्रहण करती है । ये इंद्रियाँ प्राप्यकारी हैं अर्थात् अपने विषय को स्पर्श करके जानती हैं । इन इन्द्रियो का अग्नि आदि से उपघात और चन्दन आदि से अनुग्रह देखा जाता है, अतः इनकी प्राप्यकारिता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है । शब्द यदि अपने परिणमत का त्याग न कर दे तो बारह योजन दूर से आया हुआ श्रोत्र द्वारा ग्राह्य होता है, अतः श्रोत्रेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है ।

चक्षु इन्द्रिय और आगे कहा जाने वाला इन्द्रिय रूप मन ये दोनों अप्राप्यकारी है । ये विषय को प्राप्त हुए बिना ही ग्रहण कर लेते है । चक्षु की अप्राप्यकारिता प्रत्पक्ष से सिद्ध है। क्योंकि वह विषयकृत उपघात और अनुग्रह से रहित है । जब हम नेत्र के द्वारा जल, अग्नि या शूल आदि देखते हैं तो दाह, गीलापन या उत्पाटन (भेदन) आदि नहीं होते । शरीर देश में स्थित नेत्र में योग्य देश में स्थित रूप आदि को ग्रहण करने की योग्यता स्वभाव से ही सिद्ध है । नेत्र आवृत (ढँके हुए) पदार्थ को नहीं जानता, अतएव उसे भी प्राप्यकारी मानना चाहिए, ऐसा नहीं कहा जा सकता । ऐसा कहा जाय तो जैसे दीवाल आदि द्वारा व्यवहित पदार्थ को नेत्र ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार काच आदि द्वारा व्यवहित पदार्थ को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए । किन्तु उसे तो नेत्र ग्रहण कर लेता है । इसके अतिरिक्त इस युक्ति से तो मन भी, जिसे समस्तवादी निर्विवाद रूप से अप्राप्यकारी मानते है, अप्राप्यकारी नहीं रहेगा, क्योकि वह भित्त आदि से आवृत वस्तु का ग्रहण नहीं करता है ।

ननु—आवृता ग्रहणात् प्राप्यताऽस्य युक्ता, भित्तकुडयादिनेव काचादिनापि व्यावधानात् काचादिव्यवहितस्याऽपि रूपादेश्चक्षुषाऽग्रहणापत्तिः स्यात्, तुल्ययुक्त्या मनसोऽपि भित्याद्यावृतस्य वस्तुनो ग्रहणाभावेन सर्ववादिसिद्धस्य तस्याऽप्राप्यकारित्वस्याऽसिद्धापत्तिः अथैवमपि चक्षुरादीन्द्रि-यावत् सुख–दुःखेच्छादीनामपि जीवलक्षणत्वादिन्द्रियत्वापत्तिरिति चेत्– ।।

मैवम्–जीवलिङ्गंयद्भवे तत्सर्वमिन्द्रियमिति नाऽयं नियमः आश्रीयते, किन्तु—यदिन्द्रियं–तज्जीवलिङ्गमित्येवं नियमः । तथाच—जीवलिङ्गं कदाचित् सुखादिकं भवतु, इन्द्रियं वा, इत्यन्यदे-तदित्यवधेयम् । तथाचोक्तम्—

"कइणंभंते– ! इन्दिया पण्णत्ता– ! गोयमा– ! पंचेंदिया पण्णत्ता, तं जहा— सो इन्दिए चक्खिंदिए घाणिं दिए जिब्भिदिए फासिंदिए त्ति ,, प्रज्ञा–१५ इन्द्रियपदम् । कति खलु भदन्त–! इन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि । गौतम– ! पञ्चेन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियम्– १ चक्षुरि-न्द्रियम्– २घ्राणेन्द्रियम्– ३ जिह्वेन्द्रियम्– ४ स्पर्शनेन्द्रियम्–५ इति ।।१७।।

मूलसूत्रम्—"पुणादुविहं भाविंदियं दव्विंदियंय—" ।।१८।।

छाया—"पुनर्द्विविधम्, भावेन्द्रियं-द्रव्येन्द्रियञ्च—" ।।१८।।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–सामान्यतो ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चविधानि सन्ति इति प्रतिपादितम्, सम्प्रति तान्येवेन्द्रियाणि पुनः प्रकारान्तरेण प्रतिपादयितुमाह—"पुणादुविहं भाविंदियं– दव्विं-दियंय— ,, इति ।

शंका–जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, उसी प्रकार सुख, दुःख और इच्छा आदि भी जीव का लक्षण होने से इन्द्रिय होने चाहिए ।

समाधान–ऐसा नियम नहीं है कि जो जीव का लिंग हो वह सब इन्द्रिय है । अतएव सुख आदि कदाचित् जीव के लिंग हो सकते है तथापि उन्हें इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता । प्रज्ञापता सूत्र के १५ वें इन्द्रियपद में कहा है—

प्रश्न–भगवान् ! इन्द्रियाँ कितनी कही है ?

उत्तर–गौतम ! पाँच इन्द्रियाँ कही है यथा–श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय ।।१७।।

मूलसूत्रार्थ "पुणादुविहं भाविंदियं इत्यादि ।।१८।।

इन्द्रिय पुनः दो प्रकार की है–भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय ।।१८।।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की बतलाई गई है । उन्हीं इन्द्रियों का प्रकारान्तर से प्ररूण करने के लिए कहते है–इन्द्रियाँ दो प्रकार की है–भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । इस प्रकार स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो–दो

ज्ञानेन्द्रियं तावत् पुनर्द्विविधम्, भावेन्द्रियं द्रव्येन्द्रियञ्च। एवञ्च—स्पर्शनादीनि पञ्चापि ज्ञानेन्द्रियाणि प्रत्येकं द्विविधानि भवन्ति। द्रव्य–भावेन्द्रियभेदात्,

तत्र–सामान्यतो द्रव्यमयाणि–द्रव्यात्मकानि–इन्द्रियाणि आत्मपरिणतिरूपाणि भावेन्द्रियाणि व्यपदिश्यन्ते इति भावः ॥ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः- पूर्वसूत्रे संख्यातइन्द्रियाणि प्ररूपितानि सम्प्रति–प्रकारान्तरेण तान्येव पुनः प्ररूपयितुमाह "पुणादुविहं, भाविंदियं–दव्विंदियंय– „ इति। पूर्वोक्तचक्षुरादिभेदेन पञ्चविधमिन्द्रियं प्रकारान्तरेण पुनर्द्विविधं प्रज्ञप्तम्।

भावेन्द्रियं–द्रव्येन्द्रियञ्च। तथा च–चक्षुरादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि प्रत्येकं द्विविधानि भवन्ति। द्रव्य–भावेन्द्रियभेदात्। तत्र–सामान्यतो द्रव्यमयाणि–द्रव्यात्मकानि द्रव्येन्द्रियाणि व्यपदिश्यन्ते, भावात्मकानि–आत्मपरिणतिरूपाणि पुनर्भावेन्द्रियाणि उच्यन्ते। उक्तञ्च–प्रज्ञापनायाम्–१५ इन्द्रियपदे १–उद्देशे–"कइविहाणं भंते–१ इंदिया पण्णत्ता–२ गोयमा–१

दुविहा पण्णत्ता, तं जहा — दव्विंदियाय-भाविंदियायत्ति–" कतिविधानि खलुभदन्त–१ इन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि २

गौतम–१ द्विविधानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—द्रव्येन्द्रियाणिच–भावेन्द्रियाणि च। अभेदंबोध्यम्—प्रकृते च पुद्गलद्रव्यमेवाऽनन्तप्रदेशस्कन्धमात्मप्रयुक्तव्यापारापेक्षया यतते वक्ष्यमाणनिर्वृत्युपकरणरूपतया सर्वाणीन्द्रियाणि अनन्तप्रदेशानि–असख्येयात्मप्रदेशाधिष्ठितानि च द्रव्यात्मकानि भवन्ति। तदन्यस्मिन् वक्ष्यमाणभावेन्द्रियद्वये–आत्मपरिणामो भावः प्रयत्नमातिष्ठते इति भावः ॥

प्रकार की हैं। साधारणतया जो इन्द्रियाँ पुद्गलमय–पुद्गल की परिगति है, वे द्रव्येन्द्रिय और जो आत्मा की परिणतिरूप हैं, वे भावेन्द्रिय कहलाती हैं ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में इन्द्रियो की संख्या का प्रतिपादन किया गया है। अब दूसरे प्रकार से पुनः उनकी संख्या का निरूपण करने के लिए कहा है–इन्द्रियाँ पुनः दो प्रकार की हैं–भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त पाँचो इन्द्रियाँ दो–दो प्रकार की हैं–भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय। सामान्य रूप से पौद्गलिक इन्द्रियाँ जो नाम कर्म के द्वारा निर्मित है, वे द्रव्येन्द्रियाँ है और जो इन्द्रियावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम नाम से आत्मा की परिणति रूप उत्पन्न होती है, वे भावेन्द्रिय है। प्रज्ञापता सूत्र के १५वें इन्द्रिपद में कहा है—

प्रश्न–भगवन्! इन्द्रियाँ कितनी प्रकार की है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार की हैं–द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ।

तात्पर्य यह है कि द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त प्रदेशात्मक पुद्गलो के स्कंध है। वे निवृत्ति और उपकरण के भेद से दो प्रकार की है। असंख्यात आत्मप्रदेश उनमें रहते है। भावेन्द्रियाँ-आत्मा का परिणमन विशेष है, उनका स्वरूप आगे के सूत्र में ही बतलाया जाएगा ॥१८॥

मूलसूत्रम्—भाविंदियं दुविहं, लद्धीउवओगोय –„ ॥१९॥

छाया—भावेन्द्रियं द्विविधम्,लब्धिरुपयोगश्च—" ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–द्रव्येन्द्रिय–भावेन्द्रियभेदेन इन्द्रियाणांद्वैविध्यंप्रतिपादितम्. सम्प्रति–भावेन्द्रियस्यद्वैविध्यंप्रतिपादयन्स्वरूपं प्ररूपयितुमाह—"भाविंदियं दुविहं,लद्धी–उवओगोय–" इति. ।

भावेन्द्रियम्– आत्मपरिणति विशेषस्वरूपं वर्तते, लब्धिः–उपयोगश्चेति । तत्र–लम्भनं ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः । वस्तुतस्तु स्वं[स्वकीयम्-]इन्द्रियावरणकर्मक्षयोपशमजनितम्, गति-जात्यादिनामकर्मजनितम् मतिज्ञानावरणदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमजनितं सामर्थ्यम्. इन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्तं वा सामर्थ्यम् जीवस्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाऽपेक्षया –इन्द्रियविषयोपभोगज्ञानशक्तिर्वालब्धिरुच्यते

उपयोगस्तु–यत्सन्निधानात्–आत्तावक्ष्यमाणद्रव्येन्द्रियनिष्पत्ति प्रतिव्यापृतो भवति, श्रोत्रोपयोगादिभेदात् । तत्रोपयोगस्येन्द्रियफलत्वेऽपि कार्ये कारणोपचारात् तस्मिन्निन्द्रियत्वव्यपदेशः ।

लब्धिश्चपंचविधा,स्पर्शनेन्द्रियादिलब्धिभेदात् तत्र शीतोष्णादि स्पर्शपरिज्ञानसामर्थ्यरूपोपयोगात्मनाऽनभिव्यक्ता स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः एवम्—रसनेन्द्रियादिलब्धयोऽपि बोध्याः ॥१९॥

मूलसूत्रार्थ–'भाविंदियं दुविहं इत्यादि ॥१९॥

भावेन्द्रिय दो प्रकार की है–लब्धि और उपयोग ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की इन्द्रियाँ कही थीं । अब भावेन्द्रिय के दो भेद प्रतिपादन करने के लिए कहते है–भावेन्द्रिय दो प्रकार की है—लब्धि और उपयोग ।

ज्ञानावरण कर्म के एक विशिष्ट क्षयोपशम को लब्धि कहते है । असल में तो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से गति–जाति आदि नाम कर्म से तथा मतिज्ञानकरण एवं दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य अथवा इन्द्रियाश्रय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य या अन्तरायकर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से होने वाला इन्द्रिय विषय के उपयोग की और ज्ञान की शक्ति को लब्धि कहते है ।

जिसके सन्निधान से आत्मा आगे कही जाने वाली द्रव्येन्द्रिय की निष्पत्ति के प्रति व्यापार करता है, तत्कारणक आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है । उपयोग श्रोत्रोपयोग आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । यद्यपि उपयोग इन्द्रिय का फल (कार्य) है, मगर कार्य में कारण का उपचार करके उसे इन्द्रिय कहा है । स्पर्शनेन्द्रियलब्धि आदि के भेद से लब्धि भी पाँच प्रकार की है । शीत, उष्ण आदि स्पर्शों को जानने की शक्ति, जो उपयोग के रूप में अभिव्यक्त न हुई हो, वह स्पर्शनेन्द्रियलब्धि कहलाती है । इसी प्रकार रसनेन्द्रियलब्धि आदि भी समझ लेना चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–भावेन्द्रियद्रव्यभेदेन–इन्द्रियद्वैविध्यं प्रतिपादितम्, सम्प्रति–तयोर्मध्ये–भावेन्द्रियस्य द्वैविध्यप्रतिपादन द्वारा स्वरूपं निरूपयति—"भाविंदियं दुविहं लद्धी–उवओगोय–" इति पुर्वोक्तमात्मपरिणतिविशेषरूपं भावेन्द्रियं द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद्यथा—लब्धिः–उपयोगश्चेति ।

तत्र–लब्धिस्तावत् स्वंस्वमिन्द्रियाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमजनितम् गतिजात्यादिनामकर्मजनितम् मतिज्ञानदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमजनितम् ज्ञानावरणक्षयोपशमंजनितम् दर्शनावरणक्षयोपशमजनितम् भवति तद्धेतुकः आत्मनः परिणाम उच्यते स चोपयोगः पञ्चविधः ।

श्रोत्रोपयोगादिभेदात् तत्रोपयोगस्येन्द्रियत्वेऽपिकार्थे कारणोपचारात् तस्मिन्निन्द्रियत्वव्यपदेशः । लब्धिश्चपञ्चविधा, स्पर्शनेन्द्रियादिलब्धिभेदात् । तत्र–शीतोष्णादिस्पर्शपरिज्ञानसामर्थ्य–रूपा–उपयोगात्मनाऽनभिव्यक्ता स्पर्शनेन्द्रियलब्धि एवं रसनेन्द्रियादिलब्दयोऽपि बोध्याः ।

सामर्थ्यमिन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्तं वा जीवस्य भवति अन्तरायकर्मक्षयोपशमाऽपेक्षया इन्द्रियविषयोपभोगज्ञानशक्तिर्वा लब्धिरुच्यते । सा च लब्धिः पञ्चविधा स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः–१ रसनेन्द्रियलब्धिः २ घ्राणेन्द्रियलब्धि–३ चक्षुरिन्द्रियलब्धि ४ श्रोत्रेन्द्रियलब्धिश्च ।

तत्र–शीतोष्णादिस्पर्शपरिज्ञानसामर्थ्यरूपा उपयोगात्मनाऽनभिव्यक्ता स्पर्शनेन्द्रिलब्धिरवग-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व के सूत्र में भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय के भेद से इन्द्रियो के दो–दो भेदो का कथन किया गया है । अब उनमें से भावेन्द्रिय के दो भेद बतलाकर उसका स्वरूप कहते है । भावेन्द्रिय दो प्रकार की है—लब्धि और उपयोग ।

अपने–अपने इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से जनित, गति जाति आदि नामकर्म के द्वारा जनित, मतिज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जनित आत्मा की शक्ति है ।

उपयोग श्रोत्रोपयोग आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । यद्यपि उपयोग इन्द्रिय का कार्य है, फिर भी यहाँ कार्य में कारण का उपचार कर उसे इन्द्रिय कहा है । इसी प्रकार लब्धि भी स्पर्शनेन्द्रियलब्धि आदि के भेद से पाँच प्रकार की है । ठंडे या गर्म स्पर्श को ग्रहण करने की शक्ति जो उपयोग रूप में प्रकट न हुई हो, वह स्पर्शनेद्रिय लब्धि कहलाती है । इसी प्रकार रसनेन्द्रिय लब्धि आदि भी समझ लेनी चाहिए ।

अथवा इन्द्रियाश्रय कर्म के उदय से जीव में सामर्थ्य उत्पन्न होता है । अन्तरायकर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से इन्द्रियों के विषयों के उपभोग या ज्ञान की जो शक्ति होती है वह लब्धि कहलाती है । वह लब्धि पाँच प्रकार की है–(१) स्पर्शनेन्द्रिय लब्धि (२) रसनेन्द्रिय लब्धि (३) घ्राणेन्द्रिय लब्धि (४) चक्षुरिन्द्रिय लब्धि (५) श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि ।

शीत उष्ण आदि स्पर्शों के परिज्ञान का सामर्थ्य जो उपयोग रूप से व्यक्त न हुआ हो

न्तव्या एवं रसनेन्द्रियादिलब्धयोऽपि वक्तव्याः ³पयोगश्च—स्वविषयव्यापारः प्रणिधानरूपो वीर्यलक्षणोऽवगन्तव्यः। तथाच—तथाविधलब्धीन्द्रियकृते वक्ष्यमाणनिर्वृत्त्युपकर—क्रमेणोपयोगो भवति, तदाऽतीन्द्रियोपयोगाभावः स्यात् निवृत्त्याद्यपेक्षाभावात् अवध्यादीनामतीन्द्रियत्वादत्यन्ताभावो भवेदितिचेदुच्यतेकृतएवभवतीति। अपितु-उपयोग एवैकस्त्रितयनिमित्तो भवतीति भावः। तथाच स्पर्शनादिषु मतिज्ञानोपयोगो भवति, स चोपयोगः प्रणिधानरूपोव्यापारविशेषः। आयोगस्तावद् भावः—परिणाम इतिभावः। उक्तञ्च—प्रज्ञापनायाम् २—उद्देशके १५—इन्द्रियपदे—

"कइविहाणं भंते—१ इंदियलद्धीयण्णत्ता—३ गोयमा—१ पंचविहाइंदियलद्धीयण्णत्ता, तं जहा—फासिंदियलद्धी जिब्भिदियलद्धी, घाणिंदियलद्धी, चक्खिदियलद्धी, सोइंदियलद्धीय,

'कतिविहाणं भंते—१ इंदियउवउगद्धापण्णत्ता—३ गोयमा—१ पंचविहा इंदिय उवगद्धा पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियउवउगद्धा जावफासिंदियउवउगद्धाय—,, । कतिविधा खलु भदन्त—१ इन्द्रियलब्धिः प्रज्ञाता—३ गौतम—१ पञ्चविधाइन्द्रियलब्धिः प्रज्ञता तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियलब्धिः, जिह्वेन्द्रियलब्धिः, घ्राणेन्द्रियलब्धिः चक्षुरिन्द्रियलब्धिः लोभेन्द्रियलब्धिश्च।

कतिविधा खलु भदन्त—१ इन्द्रियोपयोगद्धा प्रज्ञता—? गौतम—! पञ्चविधा इन्द्रियोपयोगद्धा प्रज्ञता, तद्यथा—लोभेन्द्रियोपयोगद्धा, यावत्—स्पर्शनेन्द्रियोपयोगद्धा चेति ॥१९॥

स्पर्शनेन्द्रिय लब्धि कहलाता है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय लब्धि आदि भी कह लेना चाहिए।

अपने विषय में व्यापार होना उपयोग कहलाता है। वह आत्मा का वीर्य रूप है।

अगर आगे कही जाने वाली निवृत्ति और उपकरण के क्रम से, लब्धीन्द्रिय के होने पर उपयोग होता है तो अतीन्द्रिय उपयोग का अभाव हो जाएगा, क्योंकि उसमें निवृत्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती। अवधिज्ञान आदि का अभाव हो जाएगा क्योकि वे अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियो से उत्पन्न् नहीं होते है। इस आशंका का समाधान यह है—ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब उपयोग निर्वृत्ति एवं उपकरण इन्द्रिय से ही उत्पन्न हो किन्तु एक मतिज्ञान का उपयोग ही उक्त तीनो निमित्तों से होता है। इस प्रकार स्पर्शनादि में मतिज्ञान का उपयोग होता है। वह उपयोग प्रणिधान रूप व्यापार विशेष है।

प्रज्ञापनासूत्र के १५ वे इन्द्रियपद के दूसरे उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन्! इन्द्रियलब्धि कितने प्रकार की है?

उत्तर—गौतम! पाँच प्रकार की इन्द्रियलब्धि कही है, यथा—स्पर्शनेन्द्रियलब्धि, जिह्वेन्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रियलब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि, श्रोत्रेन्द्रियलब्धि।

प्रश्न—भगवन्! इन्द्रियउपयोगद्धा के कितने प्रकार है?

उत्तर—गौतम! पाँच प्रकार है—श्रोत्रेद्रिय—उपयोगद्धा यावत् स्पर्शनेन्द्रिय—उपयोगद्धा॥१९॥

मूलसूत्रम्—"दुविहं दव्विदियं निवत्ति-उवगरणं य-" ॥२०॥

छाया—द्विविधं द्रव्येन्द्रियम्, निर्वृत्तिः-उपकरणञ्च—" ॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं भावेन्द्रियं द्वैविध्येन प्ररूपितम्, सम्प्रति द्रव्येन्द्रियं प्ररूपयितुमाह—दुविहं दव्विदियं निवत्ति-उवगरणं य-,, इति । द्रव्येन्द्रियम् द्विविधम्, निर्वृत्तिः-उपकरणञ्चेति ।

तथाच—निर्वृत्तीन्द्रिय-उपकरणेन्द्रियभेदेन द्रव्येन्द्रियं द्विविधम्, तत्र—स्वरूपभेदाभ्यां निर्वर्तनं निष्पादो निर्वृत्तिः अकारनिष्पत्तिः तत्तदिन्द्रियाणामाकारविशेषो निर्वृत्तिः प्रतिविशिष्टसंस्थानोत्पत्तिरित्यर्थः निर्वृत्तिरूपमिन्द्रियं निर्वृत्तीन्द्रियम् । तच्च द्विविधं बोध्यम्, आभ्यन्तरं—बाह्यञ्च । तत्र—घनरूपव्यवहाराङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानां जीवप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनाऽवस्थितानामभ्यन्तरवृत्तिविशिष्टम् आभ्यन्तरनिर्वृत्तीनिन्द्रियम्, तेषु चाऽऽत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशशालिषु नामकर्मोदयापादिताऽवस्थाविशेषरूपप्रतिनियतसंस्थानपुद्गलप्रचयरूपं बाह्यनिर्वृत्तीन्द्रियमुच्यते ।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् येन निर्वृत्तीन्द्रियस्योपकारः क्रियते तदुपकरणेन्द्रियम् । तदपि—द्विविधम्, आभ्यन्तर-बाह्यभेदात्, तत्राभ्यन्तरं चक्षुषः कृष्ण-शुक्लमण्डलम् । बाह्यन्तु—अक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादिकम्, तथाच—उभयमपिनिर्वृत्त्युपकरणेन्द्रियं पुद्गलपरिणामरूपं पूर्वोक्तभावेन्द्रियोपकरणकारणत्वात्

मूलसूत्रार्थ ॥ दुविहं दव्विदियंनिवत्ति इत्यादि ॥

द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की है—निर्वृत्ति और उपकरण ॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—भावेन्द्रिय के दो भेद कहे जा चुके है, अब द्रव्येन्द्रिय की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है—निर्वृत्ति और उपकरण । विभिन्न इन्द्रियों के अलग-अलग आकार का उत्पन्न होना निर्वृत्ति रूप इन्द्रिय को निर्वृत्ति-इन्द्रिय कहते हैं । निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है—आभ्यन्तर और बाह्य । घनरूप व्यवहारांगुल के असंख्येय भाग परिमित, चक्षु आदि इन्द्रियो के आकार में स्थित शुद्ध जीव प्रदेशो की आभ्यन्तर वृत्ति से युक्त आभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय कहलाती है । उन आत्मप्रदेशो में, जो इन्द्रिय कहलाते हैं, नामकर्म के उदय से उत्पन्न अवस्था विशेष रूप नियत आकार वाले पुद्गलो का समूह बाह्य निर्वृत्ति है । तात्पर्य यह है कि श्रोत्र आदि इन्द्रियो के आकार में पुद्गलो की जो रचना है वह बाह्य नि त्ति कहलाती है । यह रचना नामकर्म के उदय से होती है ।

जो उपकार करता है उसे उपकरण कहते है । अभिप्राय यह है कि निर्वृत्ति इन्द्रिय का उपकार करने वाले को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं । उपकरण के भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य । नेत्र का जो काला और श्वेत मंडल है, वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा बरौनी आदि बाह्य उपकरण है । इस प्रकार ये दोनो निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रियाँ पौद्-

उपयोगरूपस्यभावेन्द्रियस्याऽऽत्मभावपरिणामस्यसाहाय्यकरणे समर्थं द्रव्यत्वाद् द्रव्येन्द्रियत्वं व्यपदिश्यते। तत्र–निर्वृत्तिरूपं द्रव्येन्द्रियं खलु अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिष्पादितमुपयोगात्मकभावेन्द्रियस्यविवरं–छिद्रं कर्मविशेषसंस्कृतशरीरप्रदेशरूपं निर्माणनामकर्माङ्गोपाङ्गनामकर्मप्रत्ययं मूलगुणनिर्वर्तनमुच्यते।

उपकरणेन्द्रियञ्च–द्विविधमपिनिष्पन्नस्य श्रोत्रादिसञ्ज्ञकस्यनिर्वृत्तिरूपद्रव्येन्द्रियस्यानुपघाताऽनुग्रहाभ्यामुपकारकं भवति ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–भावेन्द्रियं द्विविधं प्ररूपितम्, सम्प्रति–द्रव्येन्द्रियं द्वैविध्येन प्ररूपयितुमाह—"दुविहं दव्विदियं, निवत्ति–उवगरणंय–„ इति। पूर्वोक्तं द्रव्येन्द्रियं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा–निर्वृत्तिः उपकरणञ्च। तथाच–निर्वृत्तीन्द्रिय–उपकरणेन्द्रियभेदेन द्रव्येन्द्रियं द्विविधं भवति।

तत्र–स्वरूपभेदाभ्यां निर्वर्तनं निर्वृत्तिः आकारनिष्पत्तिः–तत्तदिन्द्रियाणामाकारविशेषनिर्वृत्तिः, प्रतिविशिष्टसंस्थानोत्पत्तिरित्यर्थः। उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, निवृत्तिरूपमिन्द्रियं निर्वृत्तीन्द्रियम्। उपकरणरूपमिन्द्रियम्–उपकरणेन्द्रियम्, एतदुभयमपि पुद्गलपरिणामरूपं सदपि–इन्द्रियपदव्यपदेशां लभते। एतयोरुक्तभावेन्द्रियोपयोगकारणत्वात्, उपयोगरूपस्य भावेद्रियस्य भाविन आत्मभावपरिणामस्य। साहाय्यसम्पादने समर्थं द्रव्यं द्रव्येन्द्रियं व्यपदिश्यते।

गलिक है और पूर्वोक्त भाव इन्द्रिय की सहायक होती हैं। इन्हें द्रव्येन्द्रिय कहने का कारण यह है कि आत्मपरिणाम रूप उपयोग भावेन्द्रिय की सहायता करने में समर्थ है और द्रव्य है।

मूलगुण निर्वर्त्तना निर्वृत्ति को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते है। वल अंगोपांगनामकर्म के द्वारा उत्पन्न होती है, उपयोग रूप भावोन्द्रिय का छिद्र है, कर्मविशेष के द्वारा सस्कृत शरीर का प्रदेश रूप है तथा निर्माणनामकर्म एवं अंगोपांगकर्म के निमित्त होती है।

दोनो प्रकार की उपकरणेन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय आदि नामक निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय की अनुपघात और अनुग्रह के द्वारा उपकारक होती है। अर्थात् उपकरणेन्द्रिय, निर्वृत्ति--इन्द्रिय का उपघात न हो जाय और अनुग्रह हो, इस रूप में सहायक होती है। ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में भावेन्द्रिय के दो भेद कहे जा चुके है, अव द्रव्येन्द्रिय के भेदों की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं–द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की है–निर्वृत्ति और उपकरण।

स्वरूप और भेद से रचना होने को निर्वृत्ति कहते है। निवृत्ति का अभिप्राय है विभिन्न इन्द्रियो का अपना–अपना आकार उत्पन्न होना। जो उपकार करे–सहायता करे वह उपकरण है। निर्वृत्ति–इन्द्रिय और उपकरणेन्द्रिय, दोनो वास्तव में पुद्गल का परिणमन है, फिर भी ये इन्द्रिय कहलाती है। इसका कारण यह है कि ये उपयोग रूप भावेन्द्रिय का कारण है। तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य उपयोग भावेन्द्रिय की सहायता करने में समर्थ होता है, उसे द्रव्येन्द्रिय कहते है।

तत्र—निर्वृत्तीन्द्रियं तावत्—अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्वर्तितमुपयोगरूपभावेन्द्रियस्य वित्ररं[छिद्रं] कर्मविशेषसंस्कृतशरीरप्रदेशरूपम्, निर्माणनामकर्माङ्गोपाङ्गकर्मप्रत्ययं मूलगुणनिर्वर्त्तनरूपमुच्यते उपकरणेन्द्रियं द्विप्रकारकं भवति—बाह्यमाभ्यन्तरञ्च, तदुभयमपि निर्वर्तितस्य श्रोत्रादिसंज्ञकस्य द्रव्येन्द्रियस्याऽनुपधाताऽनुग्रहाभ्यामुपकारी भवति ।

अयं भावः—निर्माणनामकर्मान्तर्वर्तीवर्द्धकिवत् कर्णशष्कुल्याद्यवयवसंनिवेशविशेषरचनानिपुणः एवम्—औदारिक–वैक्रियाऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनामकर्मविशेषश्च यदुदयादङ्गान्युपाङ्गानि च शिरोङ्गुल्यादीनि निष्पद्यन्ते, एतत् कर्मद्वयं निर्वृत्ति—उपकरणरूपद्रव्येन्द्रियद्वयनिर्माणाय यतते ।

अनेन चाङ्गोपाङ्गनाम्नाऽतिप्रविशिष्टेन कर्मविशेषेण उपयोगरूपभावेन्द्रियस्याऽवधानप्रदानमार्गरूपाणि विवराणि जन्यन्ते तान्येव कर्णशष्कुल्यादिरूपाणि बहिरुपलभ्यमानाकाराणि विवराणि एकानिवृत्तिरुच्यते अन्यापुनरभ्यन्तरनिर्वृत्तिर्भवति ॥

यद्वा—अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्माणकर्मविशेषाभ्यां विशिष्टावयवरचनया निष्पादिता औदारिकादि त्रयाणां शरीराणां प्रतिविशिष्टाः कर्णशष्कुल्यादयः प्रदेशाः निर्माणनामाङ्गोपाङ्गनिमित्ता उत्तरगुणनिर्वर्त्तनापेक्षयामूलगुणनिर्वर्त्तनारूपा निर्वृत्तिः संजायते । उत्तरगुणनिर्वर्तनापुनः श्रोत्रयोर्वेधः प्रलम्बतापादनं चक्षुर्घ्राणयोरञ्जननस्याभ्यां—उपकारः । औषधप्रदानाज्जिह्वाया जडतापनयनम्, स्पर्शस्य च नानाचूर्ण—पटवास—गन्धद्रव्यप्रघर्षात् विमलत्वकरणं भवति ॥

निर्वृत्ति—इन्द्रिय अंगोपांगतामकर्म से उत्पन्न होती है, उपयोग रूप भावेन्द्रिय का छिद्र है, निर्माणनामकर्म और अंगोपांग नामकर्म के कारण उत्पन्न होती वह मूलगुणनिर्वर्त्तनारूप है ।

उपकरणेन्द्रिय दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर । श्रोत्रादि द्रव्येन्द्रियो को उपघात से वचाने और उनका अनुग्रह करने में उपकरणेन्द्रिय सहायक होती है ।

तात्पर्य यह है- निर्माण नामक नामकर्म भीतर रहे हुए सुतार के समान है जो कर्णशष्कुली आदि अययवों की आकृति बनाने में कुशल हैं । इसी प्रकार औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक इन तीन शरीरो का अंगोपांग नामकर्म भी अवयवो की रचना करना है । इसके उदर से शिर आदि अंगों और अंगुली आदि उपांगो की रचना होती है । ये दोनों कर्म निर्वृत्ति उपकरण रूप दोनो द्रव्येन्द्रियो का निर्माण करने के लिए यत्न करते है ।

अंगोपांग नामक अत्यन्त विशिष्ट जो कर्म है वह उपयोगरूप भावेन्द्रिय के, अवधान देने के मार्ग रूप छिद्रो को उत्पन्न करता है । वही कर्णशष्कुली आदि रूप छिद्र जो रूप वाहर से माल्यम पड़ते है, उन्हे एक निवृत्ति कहते है, दूसरी आभ्यन्तर निवृत्ति कहलाती है ।

अथवा—अंगोपांग नामकर्म और निर्माणनामकर्म के द्वार विशिष्ट प्रकार की अवयव रचना से रचित, औदारिक आदि तीन शरीरो के कर्णशष्कुली आदि प्रदेश, निर्माणनामकर्म अंगोपाग नामकर्म निमित्तक, उत्तर गुणनिर्वर्त्तना की अपेक्षा मूलगुणनिर्वर्त्तना रूप उत्पन्न होती है ।

एवं विविधविशेषनिरपेक्षा यथोत्पन्नवर्तिनी औदारिकप्रायोग्यद्रव्यवर्गणामूलकारणव्यवस्थित-गुणनिर्वर्त्तना व्यपदिश्यते । तस्मिंश्च निर्वृत्तिरूपेन्द्रियेसत्यपिकृपाणधारस्थानीये प्रागुक्तमुपकरणेन्द्रिय पश्चाद्भागरूपमवश्यमपेक्षणीयम् । तच्च स्वविषयग्रहणशक्तियुक्तं छेदनसमर्थखड्गधारेव तच्छक्ति-रूपमिन्द्रियान्तरं स्वीकर्त्तव्यम् ।

अन्यथा—निर्वृत्तौ सत्यामपि शक्त्युपघातैर्विषयं न गृह्णाति तस्मात्–निर्वृत्तिरूपे श्रवणादि-संज्ञके द्रव्येन्द्रिये ।

तद्भावादात्मनोऽनुपघाताऽनुग्रहाभ्यां यदुपकारकं भवति तदुपकरणेन्द्रियं व्यपदिश्यते, तदपि द्विविधम् बहिर्वर्त्ति--अन्तर्वर्त्ति च, निर्वृत्तिरूपद्रव्येन्द्रियापेक्षयाऽस्यापि द्वैविध्यमुच्यते । यत्र–निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रियं भवति तत्रोपकरणेन्द्रियमपि न तस्य भिन्नदेशवर्ति भवति, तस्याः खलु—स्वविषयग्रहण-शक्तेर्निर्वृत्तिरूपद्रव्येन्द्रियमध्यवर्तित्वात् ।

तत्र—इन्द्रियसंस्थानानि, आह—नानाविध संस्थानं स्पर्शेन्द्रिम्–१ प्रदीर्घत्र्यस्र संस्थितं क्षुरप्रकारं–रसनेन्द्रियम्–२ अतिमुक्तकपुष्पदलचन्द्रकाकारं किञ्चित् सकेसरवृत्ताकारमध्यविनतं–घ्राणेन्दियम्–३ किञ्चित् समुन्नतमध्यपरिमण्डलाकारं धान्यमसूरसदृशं–चक्षुरिन्द्रियम्–४ कद-म्बपुष्पकाकारं श्रोत्रेन्द्रियं भवतीति भावः–५ ।

कानो का वेधन तथा उनमें लम्बाई उत्पन्न करना, चक्षु का अंजन द्वारा और घ्राण का नस्य द्वारा उपकार होना, औषध प्रदान करके जिह्वा की जड़ता दूर करना और नाना प्रकार के चूर्ण, पटवात तथा गंधद्रव्यो के घिसने से स्पर्शनेन्द्रिय का विमल होना, यह सब उत्तरगुण निर्वर्त्तना है।

इसी प्रकार विविध विशेषों से निरपेक्ष, जैसी उत्पन्न हुई हो वैसी ही रही हुई, औदा-रिक शरीर के योग्य द्रव्यवर्गणा मूलकारणव्यवस्थित गुणनिर्वर्तना कहलाती है। तलवार की धार के समान निवृत्ति रूप द्रव्येन्द्रिय के होने पर भी, उसके पिछले भाग के समान उप-करणेन्द्रिय की अपेक्षा रहती ही है। अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति से युक्त छेदन करने में समर्थ तलवार की धार के समान शक्ति रूप अलग इन्द्रिय को स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा निवृत्ति के होने पर भी शक्ति का उपघात होने से इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं करती है। अतएव निवृत्ति रूप श्रवणादि संज्ञा वाले द्रव्येन्द्रिय की विद्यमानता में जो अनुपघात और अनुग्रह के द्वारा उपकारक होता है, उसे उपकरणेन्द्रिय कहते है। उपकर-णेन्द्रिय के भी दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। जहाँ निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय होती है, वहाँ उपकरणेन्द्रिय होती है। वह उससे भिन्न देश में नहीं रहती।

अब इन्द्रियों के आकार कहते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय का आकार कोई एक नियत नहीं है—उसके आकार विविध प्रकार के होते है। रचनेन्द्रिय का आकार लम्वे और त्रिकोण छुरे के समान होता है। अतिमुक्तक के पुष्प–दल–चन्द्रक के आकार जैसी, कुछ–कुछ केसर सहित वृता-

तथाचोक्तम्—"कइविहेणं भंते–१ इंदिय उवचए पण्णत्ते–३ गोयमा–? पंचविहे इंदिय उवचए पण्णत्ते। तं जहा–सोइंदियउवाचए, चक्खिदियउवचए, घाणिंदियउवचए, जिब्भिदिय उवचए, फासिंदियउवचएय कइविहाणं भंते–१ इंदियणिव्वत्तणा पण्णत्ता–३ गोयमा–१ पंचविहा इंदियणिव्वत्तणा पण्णत्ता, तं जहा–सोइंदियणिव्वत्तणा, चक्खिदियणिव्वत्तणा, चक्खिदियणिव्वत्तणा, घाणिंदियणिव्वत्तणा, जिब्भिदियणिव्वत्तणा, फासिंदियणिव्वत्तणाय।

कतिविधः खलु भदन्त-! इन्द्रियोपचयः प्रज्ञप्तः–? गौतम–! पञ्चविध इन्द्रियोपचयः प्रज्ञप्तः तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियोपचयः १ चक्षुरिन्द्रियोपचयः–२ घ्राणेन्द्रियोपचयः–३ जिह्वेन्द्रियोपचयः ४ स्पर्शनेन्द्रियोपचयश्च–५। कतिविधा खलु भदन्त–! इन्द्रियनिर्वर्त्तना प्रज्ञप्ता– ? गौतम– !। पञ्चविधा खलु इन्द्रियनिर्वर्तना प्रज्ञप्ता,।

तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियनिर्वर्तना १ चक्षुरिन्द्रियनिर्वर्तना २ घ्राणेन्द्रियनिर्वर्तना ३ जिह्वेन्द्रिय-निर्वर्तना ४ स्पर्शनेन्द्रियनिर्वर्तना ५ चेति प्रज्ञापनायां २ द्वितीयोद्देशके १५ सूत्रे।

"ततश्चोक्तम्"—फासिंदिएणं भंते–! किंसठिएपण्णत्ते–? गोयमा–! नाणासंठाणसंठिए जिब्भिदिएणंभंते–! किंसठिएपण्णत्ते–? गोयमा–! खुरप्पसठिए, घाणिंदिएणंभंते–! किंसंठिए-पण्णत्ते–? गोयमा–! अतिमुत्तयचंदकसठिए। चक्खुरिंदिएणंभंते–! किंसंठिएपण्णत्ते–? गोयमा! मसूरयचंदसंठिएपण्णत्ते सोइंदिएणंभंते–! किंसंठिएपण्णत्ते–? गोयमा–! कलंबुयापुप्फसंठिएपण्णत्ते –इति।

कार और मध्य में कुछ विनत घ्राणेन्द्रिय होती है। बीच में किंचित् ऊँची उठी हुई गोलाकार मसूर (दाल) नामक धान्य के समान चक्षु इन्द्रिय है। श्रोत्रेन्द्रिय का आकार कदम्ब के पुष्प जैसा है। प्रज्ञापनासूत्र के इन्द्रियपद में कहा भी है—

प्रश्न–भगवन्! इन्द्रिय-उपचय कितने प्रकार का है?

उत्तर–गौतम! इन्द्रिय–उपचय पाँच प्रकार का है। वह इस प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय-उपचय, चक्षु–इन्द्रिय–उपचय, घ्राणेन्द्रिय–उपचय, जिह्वेन्द्रिय–उपचय, स्पर्शनेन्द्रिय–उपचय।

प्रश्न–भगवन्! इन्द्रियनिर्वर्त्तना कितने प्रकार की है?

उत्तर–गौतम! पाँच प्रकार की इन्द्रियनिर्वर्त्तना कही है, यथा–श्रोत्रइन्द्रिनियर्वर्तना, चक्षुरिन्द्रिय निर्वर्तना, घ्राणेन्द्रियनिर्वर्तना, जिहवेन्द्रियनिर्वर्त्तना और स्पर्शेन्द्रियनिर्वर्त्तना।

प्रश्न–भगवन्! स्पर्शेन्द्रिय किस आकार की कही गई है?

उत्तर–गौतम! नाना आकार की कही गई है।

प्रश्न–भगवन्! जिह्वेन्द्रिय किस आकार की कही है?

उत्तर–गौतम! छुरे के आकार की कही है।

स्पर्शनेन्द्रियं खलु भदन्त–! किंसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नानासंस्थानसंस्थानं प्रज्ञप्तम्। जिह्वेन्द्रियंखलुभदन्त–! किंसंस्थान संस्थितं प्रज्ञप्तम्–? गौतम ! क्षुरप्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। घ्राणेन्द्रियं खलु भदन्त ! किं संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! अतिमुक्तकचन्द्रक संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। चक्षुरिन्द्रियं खलु भदन्त ! कि संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? मसूरकचन्द्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। श्रोत्रेन्द्रियं खलु भदन्त ! किं संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! कदम्बकपुष्पसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तमितिप्रज्ञापनायामिन्द्रियाख्ये पञ्चदशेपदे १९१ सूत्रे प्रतिपादितम् ॥२०॥

मूलसूत्रम्––"इंदियविसए पंचविहे फासे रसे गंधे वण्णे सद्देय" ॥२१॥

छाया––इन्द्रियविषयः पञ्चविधः स्पर्शो रसो गन्धो वर्णः शब्दश्च ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका :––पूर्वं खलु श्रोत्रादीनि पञ्चेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियात्मकानि प्रतिपादितानि सम्प्रति–तेषां पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चविषयान् प्रतिपादयितुमाह–**"इंदियविसए पंचविहे फासे–रसे गंधे वण्णे सद्देय–"** इति इन्द्रियविषय. इन्द्रियाणां स्पर्शन–रसन–घ्राण–चक्षुः–श्रोत्राणां विषयः विषिणोति–निबन्धाति स्वेन रूपेण–स्वाकारेण निरूपणीयं करोति अन्तःकरणवृत्ति-विशेषं–ज्ञानादिकमिति विषयः––

प्रश्न–भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय किस आकार की कही है ?

उत्तर–गौतम ! अतिमुक्तक के चन्दक के आकार की कही है।

प्रश्न–भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय किस आकार की कही है ?

उत्तर–गौतम ! मसूर या चन्द के आकार की कही है।

प्रश्न–भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय किस आकार की कही है ?

उत्तर–गौतम ! कदम्ब के आकार की कही है।

इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें पद में १९१ वें सूत्र में कहा गया है ॥२०॥

मूलसूत्रार्थ–– ॥इंदिय विसए पंच विहेत्यादि ॥२१॥

इन्द्रियो का विषय पाँच प्रकार का है–स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका– पहले कहा जा चुका है कि श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ द्रव्य और भाव के भेद से दो–दो प्रकार की है। अब उनके विषय बतलाने के लिए कहते है–इन्द्रियों के विषय पाँच है–स्पर्श, रस, गंध, और शब्द।

जो इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है, वह इन्द्रियों का विषय कहलाता है। उसके पाँच भेद है–(१) स्पर्श–जिसे छूकर जाना जाय। (२) रस–जो चखने से जाना जाय। (३)गंध–जो सूंघने से मालूम हो। (४) वर्ण–देखने से जिसका ज्ञान हो और (५) शब्द–जो कान से प्रतीत हो।

पञ्चविधो वर्तते तद्यथा—स्पर्शः १ रसः २ गन्धः ३ वर्णः ४ शब्दश्चेति ५ तत्र स्पर्शनं स्पर्शः, स्पृश्यते इति वा स्पर्शः रस्यते इति रसः रसनं वा रसः गन्ध्यते इति गन्धः गन्धनं वा गन्धः वर्ण्यते इति वर्णः वर्णनं वा वर्णः शब्द्यते इति शब्दः शब्दनं वा शब्दः इत्येवं कर्मणि भावे वाऽच्प्रत्ययः ।

तत्र—स्पर्शस्तावत् कर्कश—मृदु—गुरु—लघु—शीतोषण—स्निग्ध—रूक्षभेदादष्टविधः । । रसश्च तिक्त—कटु—कषायाम्ल—मधुरभेदात्पञ्चविधः । गन्धस्तु—सुरभि—दुरभिभेदात् द्विविध' वर्णश्च—कृष्ण—नील—रक्त—पीत—शुक्लभेदात् पञ्चविधः शब्दःपुनस्त्रिविधः जीवाजीवमिश्रभेदात् ।

तत्र—वाग्योगप्रयत्ननिसृष्टोऽनन्तानन्तप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धप्रतिविशिष्टपरिणामः पुद्गलद्रव्यसंघातजन्यो वा स्तनितध्वनिशब्दरूपोबोध्यः । एते च स्पर्शादयः पञ्च विषयाः क्रमशः स्पर्शन रसन—घ्राण—चक्षुः—श्रोत्ररूपपञ्चेन्द्रियैर्गृह्यन्ते, एते च जीवैरर्थ्यमानत्वात्—अर्था इत्यपिव्यपदिश्यन्ते ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षुः—श्रोत्राणि—पञ्चेन्द्रियाणि प्रतिपादितानि सम्प्रति—तेषां पञ्च विषयान् प्रतिपादयितुमाह—"इंदियविसए पंचविहे फासे—रसे—गंधे—वण्णे सद्देय—इति । इन्द्रियविषयः—इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां विषयः ।

विषिणोति—बध्नाति स्वेन—रूपेण स्वाकारेण निरूपणीयां करोति अन्तःकरणवृत्तिं यः स विषयः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—स्पर्शः—रसः—गन्धः—वर्णः—शब्दश्च । तत्र—स्पृश्यते इति स्पर्शः कर्कश १ मृदु २ गुरु ३ लघु ४ शीतोष्ण ५—६ स्निग्ध ७ रूक्ष ८ भेदात् अष्टविधः प्रज्ञप्तः ।

स्पर्श आठ प्रकार का है—(१) कर्कश (२) मृदु (३) गुरुभारी (४) लघु—हल्का (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध चिकना और (८) रूक्ष—सूखा । रस पाँच प्रकार का है—(१) तिक्त (२) (३) कटु कसैला (४) खट्टा (५)मधुर । गंध के दो भेद है—सुगंध और दुर्गंध । वर्ण के पाँच भेद हैं— कृष्ण, नील, रक्त पीत और शुक्ल । शब्द तीन प्रकार के है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द ।

वचनयोग से निकला हुआ, अनन्तान प्रदेशी पुद्गलद्रव्यो का स्कंध या पुद्गल द्रव्य के संघात से उत्पन्न ध्वनि को शब्द कहते है ।

ये स्पर्श आदि पाँचों विषय क्रमशः स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते है । जीव उनकी अर्थना—अभिलाषा करना है, अतएव इन्हें अर्थ भी कहते है ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति— पहले स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ कही जा चुकी है । अब इनके पाँच विषयों का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—इन्द्रियों के के विषय पाँच है—स्पर्श, रस; गंध, वर्ण और शब्द ।

इन्द्रियो के द्वारा जिसे ज्ञान,किया जाय, वह इन्द्रियों का विषय कहलाता है । उसके पाँच भेद है—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द । जो छुआ जाय वह स्पर्श कहलाता है ।

रस्यते रसनया—आस्वाद्यते इति रसः, स च तिक्त १ मधुर २ कटु ३ कषाया ४ ऽम्ल ५ भेदात् पञ्चविधः । लवणस्य मधुरान्तर्गतत्वात्, गन्धस्तावत् सुरभि १ दुरभि २ भेदात् द्विविधः प्रज्ञप्तः । वर्णस्तु—कृष्ण—नील—रक्त—पीत—शुक्लभेदात् पञ्चविधः । शब्दश्च—वाग्योगप्रयत्न-निसृष्टोऽनन्तानन्तप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धप्रतिविशिष्टपरिणामः, ।

पुद्गलद्रव्यसंघातभेदजन्यो वा गर्जितादिरूपस्त्रिविधोऽवगन्तव्यः । जीवाजीवमिश्रभेदात् । एते च स्पर्शादयः पञ्चविषयाः क्रमशः स्पर्शन रसन—घ्राण चक्षुः श्रोत्राग्राह्या भवन्ति । अत एव स्पर्शादयः पञ्च अर्थ्यमानत्वाद् अर्थाव्यपदिश्यन्ते, सर्वे मिलित्वा त्रयो विंशतिर्विषयाः । उक्तञ्च —स्थानाङ्गस्य ५ पञ्चमस्थाने ३ उद्देशके ४४३ सूत्रे । **"पंच इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा सोइं दियत्थे चक्खि दियत्थे घाणिंदियत्थे जिब्भिदियत्थे फासिंदियत्थे"** इति । पञ्च—इन्द्रियार्थाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—

श्रोत्रेन्द्रियार्थः चक्षुरिन्द्रियार्थः घ्राणेन्द्रियार्थः जिह्वेन्द्रियार्थः स्पर्शनेन्द्रियार्थः इति ॥२१॥

मूलसूत्रम्—"णो इंदियं मणे ताविसए सुअं' ॥२२॥

छाया—नो इन्द्रियं मनः तद्विषयः श्रुतम् ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं तावद् इन्द्रियाणां तद्विषयाणाञ्च निरूपणं कृतम् तत्र श्रोत्रा-दीनामुपयोगकरणत्वाद् इन्द्रियत्वं संभवति तेषां शब्दादिविषयं प्रतिनियतत्वेनाऽवस्थितत्वात् मनसः पुनः शब्दादिकं प्रतिनियतत्वाऽभावेनाऽवस्थानादिन्द्रियत्वं न संभवति ।

वह आठ प्रकार का है—कर्कश (कठोर), मृदु (कोमल), गुरु (भारी) लघु (हल्का) शीत (ठंडा) उष्णं (गर्म), स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) ।

जिह्वा द्वारा जो चखा जा सके वह रस कहलाता है । तिक्त, मधुर, कटु, कषाय, और अम्ल खट्टा के भेद से रस के पाँच भेद है । लवण (नमक) मधुर रस में सम्मिलित है । गंध के दो प्रकार हैं—सुरभि गंध और दुरभि गंध । वर्ण पाँच तरह का होता है—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल । वचनयोग से निकला हुआ, अनन्तानप्रदेशी पुद्गलस्कंध का एक विशिष्ट परिणमन शब्द कहलाता है । शब्द कभी पुद्गल दव्यो के टकराने से और कभी पृथक्—पृथक् होने से उत्पन्न होता है । उसके तीन भेद है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द ।

ये स्पर्श आदि पाँचो विषय अनुक्रम से स्पर्शन, रसना. घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते है । इस कारण इन्हे 'अर्थ' भी कहते हैं । क्योकि जीव इनकी अभिलाषा करते है । ये सव मिलकर तेईस विषय है । स्थानांगसूत्र के पाँचवें स्थान में, तीसरे उद्देशक के ४४३ वे सूत्र में कहा है—इन्द्रियो के पाँच विषय कहे है. यथा—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय, चक्षुरिन्द्रिय का विषय, घ्राणेन्द्रिय का विषय, रसनेन्द्रिय का विषय और स्पर्शेन्द्रिय का विषय ॥२१॥

अपितु—तस्य नो इन्द्रियत्वमेव युक्तमित्याशयेनाऽऽह "णो इंदियंमणे ताविसएसुअं इति मनस्तावद् नोइन्द्रियम् अनिन्द्रियमुच्यते, तस्य शब्दादिनियतविषयाभावात् । किन्तु तदपि उपयोगस्योपकार्येव भवति श्रोत्रादिवत् । तेन विना श्रोत्रादीन्द्रियाणां शब्दादिविषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात् ।

तथाच—सर्वेषामिन्द्रियाणामुपयोगस्य च सहकारित्वं मनसः सिध्यति परन्तु—न केवलं तेषां सहकारित्वमेव मनसो वर्तते अपितु—श्रुतज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण विषयो वर्तते इत्यभिप्रायेणाह—'तद् विषयः श्रुतम्' इति । तस्याऽनिन्द्रियस्य मनसोविषयः श्रुतम् श्रुतज्ञानं वर्तते, श्रुतज्ञानविषयोऽर्थो वा तस्य विषयः प्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मनः श्रुतस्यार्थेऽनिन्द्रियमनोऽवलम्बतज्ञानप्रवृत्तिसत्वात् ।

तथा च—श्रुतज्ञानमनिन्द्रियस्य मनसोऽर्थ.प्रयोजनं वर्तते अनिन्द्रियस्य स्वातत्र्यसाध्यं श्रुतज्ञानं प्रयोजनमस्तीति फलितम् । एवञ्च—प्रकृते श्रुतशब्देन श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यद्रव्यश्रुतानुसारि प्रायशो निजार्थोपसगतमात्मनः परिणति प्रसादलक्षणं तत्त्वार्थपरिच्छेदस्वरूपं भावश्रुतज्ञानमुच्यते ॥ अथवा—अर्थावग्रहानन्तरं मतिज्ञानमेव श्रुतज्ञानरूपं सम्पद्यते, ।

तच्च—न सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रहाऽनन्तरं भवति, अपितु मनसोऽर्थावग्रहानन्तरमेव मतिज्ञानं श्रुतज्ञानरूपं सम्पद्यते । विशेषतस्तु—श्रुतग्रन्थानुसारेण श्रुतज्ञानं भवति- तच्च—मनसोऽनिन्द्रियस्य विषयरूपं श्रुतज्ञानं द्विप्रकारकं वर्तते—अङ्गबाह्यम् अङ्गान्तरगतञ्च तत्राऽऽवश्यकादिकमङ्गबाह्यमनेकविधं बोध्यम् । अङ्गान्तरगतञ्च द्वादशविधम् । आचाराङ्गादिद्वादशभेदात् ।

सूत्र—"णोइंदिय मणे ताविसए सुअं ॥२२॥

मूलसूत्रार्थ—मन तो इन्द्रिय है और उसका श्रुत है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले इन्द्रियो का और उनके विषयो का निरूपना किया गया है। श्रोच आदि उपयोग के कारण होने से इन्द्रिय है और शब्द आदि उनके विषय नियत हैं, अर्थात् श्रोच शब्द को ही जानना है, चक्षु रुप को ही ग्रहण करती है, इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत है। किन्तु मन का विषय नियत नहीं हैं। वह शब्द, रुप, रस आदि समस्त त्रिषयो में प्रवृत्त हो सकता है। इस कारण उसे इन्द्रिय नहीं माना गया है। उसे नोइन्द्रिय कहना ही उपयुक्त है। इस अभिप्राय को लेकर कहा है—

मन नोइन्द्रि कहलाता है, क्योकि उसका विषय शब्दादि नियत नहीं है। फिर भी वह श्रोत्र आदि की तरह उपयोग में निमित्त तो होता ही है। उसके विना श्रोत्र आदि इन्द्रियो की शब्द आदि विषयो में ९ स्वप्रयोजनभूत प्रवृत्ति नहीं होती।

इस प्रकार मन सभी इन्द्रियो का और साथ ही उपयोग का भी सहायक सिद्ध होता है। मगर मन केवल इन्द्रियो का सहायक मात्र नहीं है, अपितु स्वतत्र रुप से श्रुत ज्ञान के विषय को भी जानता है। अतएव सूत्र में कहा है—मन का विषय श्रुत है। अर्थात् मन का विषय

तच्च मनः—चक्षुर्वदप्राप्यकारि वर्तते वह्न्युदकादिपरिचिन्तनकाले दाहशैत्यादिरूपोपघातानुग्रहाभावात् तत् खलु मनो द्विविधम्, द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यमनः स्वशरीरपरिमाणम्, भावमनःपुनरात्मा वर्तते स चात्मा—भाव—मनोरूपस्त्वक्पर्यन्तदेशव्यापी भवति।

द्रव्यमनसोऽवलम्बनद्वारेणैव भावमन इन्द्रियपरिणामं मनुते, तस्मात्तस्यतद्व्यापारानुविधायित्वात् अनिन्द्रियस्य मनसः श्रोत्रप्रणालिकया गृहीतशब्दवाच्यविचारशीलस्य श्रुतज्ञानमर्थो विषय इति भावः। तच्च श्रुतज्ञानं प्रयोगविशेष संस्कारज्ञानसाध्यं वर्ण—पद—वाक्य—प्रकरणाध्यायादिज्ञानरूपं मनो विना न कारणान्तरं परिच्छेत्तुं समर्थं भवेदिति तदर्थं मनोऽवश्यमभ्युपेतव्यम् इति भावः।२२।

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—स्पर्शादीन्द्रियाणां स्पर्शादयो विषयाः प्रतिपादिताः सम्प्रति—मनसो निरूपणपूर्वकं तद् विषयं प्ररूपयति—**"णो इंदियं मणे ताविसए सुअं"** नो इन्द्रियम्—अनिन्द्रियं तावद् मन उच्यते। तस्य—अनिन्द्रियरूपमनसो विषयः श्रुतम् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यं द्रव्यश्रुतानुसारिप्रायो निजार्थोपसङ्गतमात्मनः परिणतिप्रसादात्मकं तत्त्वार्थपरिच्छेदस्वरूपं भावश्रुतज्ञानं व्यपदिश्यते। यद्वाऽर्थविग्रहसभयानन्तरं मतिज्ञानमेव श्रुतज्ञानरूपं सम्पद्यते, तच्च न सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थविग्रहानन्तरं भवति अपितु—मनोऽर्थविग्रहानन्तरमेव मतिज्ञानं श्रुतज्ञानरूपं सम्पद्यते विशेषतः पुनः श्रुतग्रन्थानुसारेण श्रुतज्ञानं भवति। तच्च—मनसोऽनिन्द्रियस्यार्थरूपं श्रुतज्ञानं द्विविधं भवति॥

श्रुतज्ञान है। यहाँ श्रुतज्ञान शब्द से श्रुतज्ञान का विषय समझना चाहिए अर्थात् श्रुतज्ञान का जो विषय है वही मन का विषय है। जिस आत्मा को श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। वह श्रुतज्ञान के विषय में मन की सहायता से ही प्रवृत्ति करता है। तत्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान का जो विषय है, वह मन का स्वतंत्र विषय है।

इस प्रकरण में श्रुत शब्द का अर्थ भावश्रुतज्ञान समझना चाहिए। यह भावश्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपनाम से उत्पन्न होता है, प्रव्यश्रुत का अनुसरण करता है और आत्मा का ही एक विशिष्ट परिणमन है। अथवा अर्थावग्रह के पश्चात् मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु सभी इन्द्रियों से होने वाले अर्थावग्रह के अन्तर मतिज्ञान श्रुतिज्ञान रूप नहीं परिणत होना वान् कन से होने वाले अथावग्रह के पश्चात् ही श्रुतज्ञान रूप होता है।

खास तौर से श्रुतज्ञान श्रुतशास्त्र के अनुसार होता है। मन का विपय जो श्रुतज्ञान है, वह दो प्रकार का है अङ्गबाह्य और अंगप्रविष्ट। आवश्यक आदि अंगबास्थश्रुतज्ञान अनोर प्रकार का है। अंगप्रविष्ट बारह प्रकार का है आचाएंग आदि।

चक्षु के समान मन भी अप्राज्ञाकारी है, क्योकि जव मन से अग्नि का गि को लेकर जाता है तब मन में दाह नहीं होता और जव जल का चिन्तन किया जाता है। वह अनियत

 .सा या समधान करने के

अङ्गबाह्यम्—अङ्गान्तरगतञ्च । तत्राऽङ्गबाह्यमनेकविधं बोध्यम्, आवश्यकादिभेदात् । अङ्गान्तरगतञ्च द्वादशविधम् आचाराङ्गादिद्वादशभेदात् । तच्च मनोऽनिन्द्रियं व्यपदिश्यते तस्य रूपादिग्रहणादावस्वतन्त्रत्वात् । अपूर्णत्वात्, इन्द्रियकार्याकरणत्वाच्च । तच्च मन.—चक्षुवद्, अप्राप्यकारि-वर्तते जलाऽनलपरिचिन्तनकालेऽनुग्रहोपघातशून्यत्वात् ।

तद् मनो द्विविधम् द्रव्य—भावभेदात् । तत्र द्रव्यमनः स्वशरीरपरिमाणम्, आत्मा च भावमनः सोऽपि—त्वक्पर्यन्तदेशव्यापी भवति द्रव्यमनः समवलम्बन द्वारेण यदिन्द्रियपरिणामं भावमनो मनुते तस्य व्यापारानुविधानात् ।

तस्मादेवं रूपस्याऽनिन्द्रियस्य मनसः श्रोत्रप्रणालिकया गृहीतशब्दवाच्यविचारशीलस्य श्रुतज्ञानमर्थो विषयो बोध्यः । तच्च प्रयोगविशेषसंस्कृतं श्रुतं वर्ण—पद—वाक्य—प्रमाणाध्यपनादि भेदं मनो विना न करणान्तरं परिच्छेत्तुं समर्थं स्यात् । तथा चाऽऽत्मपरिणतिविशेषरूपं श्रुतज्ञानमेवाऽनिन्द्रियस्य विषयः, नतु—शब्दरूपं श्रुतं मनसो विषयः सम्भवति ॥

शब्दात्मकस्य श्रुतस्य तु—प्रतिघाताभिभवयुक्तत्वात्—मूर्त्तित्वात्—श्रोत्रग्राह्यत्वमेव, न तु मनोग्राह्यत्वमिति भाव' ॥ एवञ्च—मनस्तावन्नेन्द्रियं सम्भवति तस्मिन् प्रागुक्तेन्द्रियलक्षणानुपपत्तेः । अत एव—नो इन्द्रियं व्यपदिश्यते ॥२२॥

नहीं होता । मन के दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन । द्रव्यमन अपने शरीर के बराबर हैं और भावमन आत्मा ही है । वह भावमन रूप आत्मा त्वचा पर्यन्त देश में व्याप्त रहता है ।

भावमन द्रव्यमन का अवलम्बन करके भी इन्द्रियो के विषय का मनन करता है, अतएव वह द्रव्यमनन के व्यापार का ही अनुसरण करता है । तात्पर्य यह है कि श्रोत्र की प्रणाली से ग्रहण किये हुए शब्दो के वाच्य का विचार करने वाले मन का विषय श्रुतज्ञान है । वह श्रुतज्ञान प्रयोग विशेष और सस्कारज्ञान से उत्पन्न होता है, वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण अध्येना आदि के ज्ञानरूप है । उसे मनके अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्रिय ग्रहण करने में समर्थ नहीं है । अतएव मन को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए ॥२२॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति— पूर्वसूत्र में स्पर्शन आदि इन्द्रियो के स्पर्श आदि विषयो का प्रतिपादन किया गया है । अब मन का निरूपण करके उसके विषय का प्ररूपण करते है—मन नोइन्द्रिय कहलाता है । उसका विषय श्रुत है । श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने द्रव्यश्रुत का अनुसरण करने वाला निज अर्थ से उपसगत आत्मपरिणति का प्रमाद तथा तत्त्वार्थ को जानने का स्वरूप वाला भावश्रुतज्ञान कहलाता है । अथवा अर्थावग्रह के समय के पश्चात् मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान बन जाता है । किन्तु सभी इन्द्रियो से होने वाले अर्थावग्रह के पश्चात् नहीं होता है किन्तु मानसिक अर्थविग्रह के अनन्तर ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान बनता है । विशेष रूप से तो श्रुतशास्त्र के अनुसार श्रुतज्ञान होता है । मन का विषय वह श्रुतज्ञान दो प्रकार का

मूलसूत्रम्—"पोग्गलजीवगईदुविहा, अणुसेढीय-विसेढीय" ॥२३॥

छाया—'पुद्गलजीवगतिर्द्विविधा, अनुश्रेणिश्च-विश्रेणी च ।२३॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं तावद् जीवानां स्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति तत्प्रस्तावाद् येषां जीवानां भवान्तरप्रापिकागतिर्भवति, सा गतिः किं तेषां यथाकथञ्चित् भवति ? उताहो कश्चित् तत्र प्रतिनियमो वर्तते ? इति जिज्ञासायां-प्रथमं तावद् गतिस्वरूपं प्ररूपयितुमाह—"पोग्गल-जीवगई दुविहा, अणुसेढीय-विसेढीय' इति पुद्गलजीवगतिः—पुद्गलानां जीवानां च गतिः देशान्तरप्राप्तिर्द्विविधा वर्तते अनुश्रेणिश्च विश्रेणिश्च ।

हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट । आवश्यक आदि के भेद से अगबाह्य अनेक प्रकार का है । वह मन नोइन्द्रिय कहलाता है, क्योकि रूप आदि के ग्रहण में वह स्वतंत्र नहीं है, अपूर्ण है, और इन्द्रियों का कार्य नहीं करता है ।

जैसे चक्षु अप्राज्ञाकारि है उसी प्रकार मन भी अप्राज्ञाकारि है क्योकि जल और अग्नि का चिन्तन करते समय न उसका अनुग्रह—(उपकार) होता है और न उपघात होता है ।

मन दो प्रकार का है - द्रव्यमन और भावमन द्रव्यमन अपने शरीर के बराबर है और भावमन रहता है । भावमन द्रव्यमन का अवलम्बन करके इन्द्रियपरिणाम का मनन करता है वह द्रव्यमन का ही अनुसरण करता है ।

इस प्रकार श्रोत्र की प्रणाली द्वारा ग्रहण किये हुए शब्दो के अर्थ का विचार करने वाले अतीइन्द्रिय किये रुप मन का विषय श्रुतज्ञान है । प्रयोगविशेष से संस्कृत उस श्रुत को जावर्ण पद, वाक्य, प्रकरण, अध्यायन आदि भेद वाला है, मन के सिवाय अन्य कोई इन्द्रिय जानने हे समर्थ नहीं हैं । इस कारण आत्मा की परिणति विशेष रूप श्रुतज्ञान ही मनका विषय है । शब्द स्वरुप श्रुत मन का विषय नहीं हो सकता ।

शब्दात्मक श्रुत प्रतिघात और अभिमल से युक्त होने के कारण तथा मूर्तिक होने के कारण श्रोत्र के द्वारा ही ग्राह्य होता है; मन के द्वारा ग्रमह्य नहीं होता इस प्रकार मन इन्द्रिय नहीं हो सकता है क्योकि उसमें इन्द्रिय का पूर्वोक्त लक्षण घटित नहीं होता । इसी कारण वह नोइन्द्रिय कहलाता है ॥२२॥

सूत्र—"पोग्गल जीवगई दुविहा इत्यादि ॥२३

मूलसूत्रार्थ—पुदगल और जीव की गति दो प्रकार के होती है—अनुश्रेणिगति और विश्रेणिगति ॥२३॥

तत्त्वार्थदिपिका—पहले जीवों का स्वरुप प्रतिपादन किया गया है इसी प्रसंग को लेकर यह बतलाते है कि जीवो की भवान्तर को प्राप्त कराने वाली जो गति होती है । वह अनियत अर्थात् चाहे जैसी होती है अथवा उसमें कोई नियम है ? इस जिज्ञासा या समधान करने के

तथाच–परमाणुरूपपुद्गलानां इत्यादि प्रदेशिकपुद्गलस्कन्धानां जीवानां च देशान्तरप्राप्ति-लक्षणागतिः त्रिधा वर्तते अनुश्रेणिरूपा । तत्र परमाणुपुद्गलानां ध्यादिप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धानां चाऽनु-श्रेणि रूपागतिर्भवति । जीवानामपि तथैव अनुश्रेणिरूपैव ।

तत्र–श्रेणिस्तावद् लोकमध्यादारम्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यकचक्रमसन्निविष्टानामाकाशप्रदेशानां पंक्तिःस्वशरीरावगाहप्रमाणाबोध्या । तथाविधश्रेणिमनुगता–अनुश्रेणिः, श्रेणेरानुपूर्व्यायाजीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवति । साऽनुश्रेणिर्गतिरुच्यते ॥

तत्राऽनुश्रेणिरूपागतिः पुद्गलानां जीवानां च भवति, जीवानामेव स्वभावतो भवति, तत्रापि-जीवानां संसारिणा मरणकाले–भवान्तरसङ्क्रमे मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्यैव गतिर्भवति–

पुद्गलानामपिपरप्रयोगनिरपेक्षाणां स्वाभाविकीगतिरनुश्रेणिरूपैव भवति तथाच–परप्रयोगा-पेक्षयापुद्गलानामनुश्रेणिरूपा–गतिर्भवति, परप्रयोगानपेक्षया तु अनुश्रेणिरूपैव गतिर्भवति पुद्गलाना-मिति वस्तुस्थितिः ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः––पूर्वं जीवानां स्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति–येषां जीवानां भवान्तर–प्रापिणीगतिर्भवति सा किं यथा कथञ्चिद् भवति ? आहोस्विदस्ति तत्र कश्चिन्नियमः इति शङ्कायां प्रथमं गति प्ररूपयति––**"पोग्गलजीवगई दुविहा अणुसेढोय"** इति ।

लिए पहले गति का स्वरूप कहते है—पुद्गलो और जीवो की गति अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह पहुँच दो प्रकार की होती है–अनुश्रेणि और विश्रेणि ।

परमाणुप्रद्गलो की द्विप्रदेशो आदि स्कंधो की और जीवो की देशान्तरप्राप्ति रुप गति एक प्रकार की होती है–अनुश्रेणिरूप परमाणुपुद्गलों की साथ द्विप्रदेशी आदि स्कंधो की गति अणुश्रेयि ही होती है ।

जीवो की भी अनुश्रेणि ही होती है । लोक के मध्यभाग से लगाकर ऊपर नीचे और तिर्छे अनुक्रम से रहे हुए आकाशप्रदेशो की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं । इस श्रेणि के अनुसार जीवों और पुद्गलो की जो गति होती है वह अनुश्रेणि गति कहलाती है ।

इनमें से अनुश्रेणि गति पुद्गलो और जीवो की होती है । पुद्गलो की इसमें भी जीव जब मरण करके दूसरे भव में जाता है और मुक्त जीव जब ऊर्ध्वगमन करते है तब उनकी अनुश्रे-णिगति होती है ।

परप्रयोग के बिना पुद्गलों की भी स्वभाविक गति श्रेणी के अनुसार ही होती है; परप्रयोग से अर्थात् वाहरी दवाव से प्रद्गलों की अनुश्रेणि गति होती है । यह वस्तुस्थिति है ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीवों के स्वरूप का निरूपण पहले किया जा चुका है, अब जीवों की भवान्तर प्रापिणी (परभव में पहुँचाने वाली) जो गति होती है, वह चाहे जैसी हो जाती है अथवा उसका कोई नियम है ? इस प्रकार को शंका होने पर पहले गति का निरूपण करते हैं ।

पुद्गलजीवगतिरेकविधा प्रज्ञप्ताः अनुश्रेणि । तत्र—गमनंगतिः देशान्तरप्राप्तिः पुद्गलानाम् परमाणुरूपपुद्गलानां व्यादि प्रदेशिकपुद्गलस्कन्धानां जीवानां च देशान्तरप्राप्तिलक्षणा गतिरेकविधा । प्रज्ञप्ता, अनुश्रेणिरूपा—तत्र—परमाणुपुद्गलाना द्यादिप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धानां चाऽनुश्रेणिरूपागतिः ।

जीवानामपितथैव । तत्र—श्रेणिस्तावत् आकाशप्रदेशपंक्तिः । स्वशरीरावगाहप्रमाणा, प्रदेशाश्चाऽमूर्ता. क्षेत्रपरमाणवोऽत्यन्तसूक्ष्माः नैरन्तर्यभाजो भवन्ति, सा चाऽऽकाशप्रदेशपंक्तिरूपा श्रेणिर्जीवगत्यपेक्षयाऽसख्येयप्रदेशा भवन्ति । पुद्गलगत्यपेक्षया पुनर्मौक्तिकहारलतेव एकैकाकाशप्रदेशरचनाहितस्वरूपापिग्रहीतव्या ।

परमाणुपुद्गलाना तावत्यामेवश्रेण्यां व्यवस्थानं भवति । द्विप्रदेशिकादिपुद्गलानान्तु—तावत्यां तदधिकायां च श्रेण्यां व्यवस्थानं भवति, इत्येवं—अप्रदेशिकस्कन्धपर्यवसानं पुद्गलद्रव्यमुपयुज्य वक्तव्यम् । श्रेणिमनुगताऽनुश्रेणिः तथाविध श्रेण्यनुसारिणी गतिरित्यर्थः ।

तत्र—पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला व्यपदिश्यन्ते, तेषां पुद्गलानां जीवानां च ससारिणां संसरणधर्मवतां सर्वाऽपि ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्वादेशान्तरप्राप्तिलक्षणागतिराकाशप्रदेशाऽनुश्रेणिरूपा भवति ॥

पूर्वापरायता आकाशप्रदेशश्रेणयो दक्षिणोत्तरायताश्चाऽन्याः श्रेणय. एवमूर्ध्वमधश्च धर्माधर्मद्रव्यद्वयावधिका याः श्रेणयस्तास्वेवश्रेणिषुगतिसद्भावात् ।

पुद्गलो और जीवो की गति एक प्रकार की है -अनुश्रेणि गमन करना गति कहलाता है और गमन का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचना ।

परमाणपुद्गलो को, द्विप्रदेशी आदि स्कंधो की और जीवो की गति एक प्रकार की होती है—अनुश्रेणिरूप इनमें से परमाणुपुद्गलो और द्विप्रदेशी आदि स्कंधो की अनुश्रेणि गति ही होती है ।

जीवों की गति एक प्रकार की होती है—अनुश्रेणि रूप अपने शरीर की अवगाहना जितनी आकाश के प्रदेशो की पंक्ति को श्रेणी कहते है । अमूर्त्त क्षेत्र के परमाणु प्रदेश कहलाते है । वे अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और निरन्तर व्याप्त रहते है । आकाश के प्रदेशों की पंक्ति अर्थात् श्रेणी जी वगति की अपेक्षा से असख्यात प्रदेशों वाली होती है । पुद्गलगति की अपेक्षा से मोतियो के हार के समान एक–एक आकाशप्रदेश की रचना वाली भी समझ लेना चाहिए ।

परमाणुपुद्गलों का उतनी ही श्रेणी में अवस्थान होता है, किन्तु द्विप्रदेशी आदि पुद्गलो का उतनी और उससे अधिक श्रेणी में अवस्थान होता है । इस प्रकार अनन्तप्रदेशिक स्कंध पर्यन्त पुद्गलद्रव्य के विषय में कह लेना चाहिए ।

श्रेणी के अनुसार जो गति हो वह अनुश्रेणि कहलाती है ।

ता एव विभिद्यनकदाचिदपि प्रयान्तीति भावः। एवञ्च—जीवपुद्गलावगाहलक्षणस्याऽऽका-शस्य परमाणुरूपा मूर्तप्रदेशानां प्रदर्घाश्रेणिरसंख्यातप्रदेशा भवति जीवानां गमने, पुद्गलानां गमने तु—संख्यातप्रदेशापि श्रेणिर्भवति। तामेवं विधा श्रेणिमनुपत्यगमनं सम्पद्यते, आकाशप्रदेशानां याश्रेणिस्तामनुश्रित्य उपपद्यते गतिजीवानां—पुद्गलानां चेति।

तथाचाऽऽकाशश्रेण्यभेदवर्त्तिनी देशान्तरप्राप्तिलक्षणागति. स्वयमेव समासादितगतिपरिणामाज्जन्तोर्गतिहेतुसकललोकव्यापिधर्म—द्रव्यापेक्षया प्रादुर्भवति। भवान्तरसक्रमणाभिमुखोजीवः कर्मणो मन्दक्रियावत्वात् येषामेवा काशप्रदेशानामवष्टम्भं कृत्वा शरीरत्यागं करोति तानेवाऽभिनन्दन् देशान्तरमूर्ध्वमदस्तिर्यग्वा गच्छति,।

धर्मास्तिकायाभावाच्च परतो लोकपर्यन्ते एव व्यवतिष्ठते, लोकनिष्कुटोपपातक्षेत्रवशाच्च भवान्तरप्राप्तो नूनमेव जीवधर्माद्वक्रां गति प्रतिपद्यते। पुद्गलानामपि—परप्रयोगनिरपेक्षाणां स्वाभाविकीगतिरनुश्रेणिरूपा भवति यथा परमाणो. प्राच्याद् लोकान्तात् प्रतीच्यलोकान्तमेकेन समयेन प्राप्तिर्भवति वस्तुगतिमनुरुध्य सूत्रेण प्रतिपादितम्।

उक्तंच—व्याख्याप्रज्ञप्तौ २५—शतके ३—उद्देशके—**"परमाणुपोग्गलाणं भंते! किं अणुसेढीगई पवत्तइ—विसेढीगई पवत्तइ—? गोयमा! अणुसेढीगई पवत्तइ नोविसेढीगइ पवत्तइ। दुपएसियाणं भंते! खंधाणं अणुसेढीगई पवतइ, विसेढीगई पवत्तइ एवं चेव, एवं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं नेरइयाणं भंते! किं अणुसेढीगई पवत्तइ—विसेढीगईपवत्तइ एवं चेव एवंजाववेमाणियाणं"**।

जिनमें पूरण और गलत अर्थात् मिलना और बिछुड़ना पाया जाय उन्हें पुद्गल कहते है। उन पुद्गलो की तथा संसारि जीवो की ऊँची नीची अथवा तिर्छी जो गति होती है, वह आकाश के प्रदेशो की श्रेणी के अनुसार होती है।

पुद्गलो की स्वभाव लम्बी होती है। इसी प्रकार ऊपर—नीचे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पर्यन्त जो श्रेणियाँ है, उन श्रेणियो में ही गति होती है। उनको लांघ कर—भेदन करके कदापि गमन नहीं करते।

इस प्रकार जीवो और पुदगलो के अवगाह रूप आकाश के परमाणुरूप अमूर्त्त प्रदेशो की लम्बी श्रेणी असख्यात प्रदेशो की होती है, किन्तु वह जीवों के गमन में ही होती है। पुदगलो के गमन में तो सख्यात प्रदेना वाली श्रेणी भी होती है। इस प्रकार की श्रेणी में ही गमन होता है। आकाश के प्रदेशो की जो श्रेणी है, उसके अनुसार ही जीवों और पुदगलो की गति हो सकती है।

स्वत गति परिणाम को प्राप्त जीव की देशान्तर प्राप्ति रूप गति आकाश श्रेणी को उल्लंघन न करके, गति के कारणभूत एवं समस्त लोक में व्याप्त धर्मद्रव्य के निमित्त से होती है। परभव में जाने के लिए अभिमुख हुआ जीव मनक्रिया वाला होने से जिन आकाशप्रदेशो

परमाणुपुद्गलानां भदन्त–! किमनुश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते, विश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते ? गौतम–! अनुश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते नो विश्रेणिर्गतिर्गतिः प्रवर्तते । द्विप्रदेशिकानां भदन्त– ! स्कन्धानामनुश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते, विश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते एवं चैव एवं यावद् अनन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानाम् । नैरयिकाणां भदन्त– ! किमनुश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते विश्रेणिर्गतिः प्रवर्तते एवमेव एवं यावद् वैमानिकानाम् इति ॥२३॥

मूलसूत्रम्—"जीवगई यदुविहा विग्गहा–अविग्गहाय" ॥२४॥

छाया "जीवगतिश्च द्विविधा विग्रहा–अविग्रहाश्च" ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं तावत् जीवानां पुद्गलानां च गतिः प्ररूपिता, तत्र–जीवानां भवान्तरप्रापिणी, पुद्गलानान्तु–देशान्तरप्रापिणी खलु सा गतिर्भवतीति बोध्यम् तत्र–किं जीवः–पुद्गलो वा ऋज्वेव गत्वा विरमति–? आहोस्वित् वक्रं गत्वापि पुनरुपजायते तिष्ठति वा–? इति जिज्ञा-

---

की सहायता लेकर शरीर का त्याग करता है, उनका भेदन न करता हुआ ऊपर, नीचे या तिर्छे देशान्तर में गमन करता है। उसकी अनुश्रेणी गति होती है।

आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के पर्यन्त भाग में गति एक जाती है। लोक के निष्कर–पर्वत के सामान निश्चल उपपातन तेत्र के नश से जीव धर्मास्तिकाय की सहायता से वक्र गति करता है। पुद्गलो की भी पर प्रेरणा के बिना जो स्वाभाविक गति होती है, वह अनुश्रेणि रूप ही होती है। जैसे परमाणु पूर्वदिशा के लोकान्त से पश्चिम दिशा के लोकान्त तक एक समय में प्राप्त होता है। वस्तुगति के अनुरोध से सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया गया है ।

पर की प्रेरणा की अपेक्षा से पुद्गलो की भी अनुश्रेणी रूप भी गति होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के २५ वे शतक में, तीसरे उदेशक में कहा है—

प्रश्न -भगवन्! परमाणुपुद्गलो की गति अनुश्रेणि–श्रेणी के अनुसार होती है।

उत्तर—गौतम! अनुश्रेणि गति होती है, विश्रेणि गति नहीं होती है।

प्रश्न—भगवन्! द्विप्रदेशी स्कंधो की अनुश्रेणि गति होती है या विश्रेणि गति होती है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर पूर्ववत् है। इसी प्रकार अनन्त प्रदेशी स्कधो तक कह लेना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! नारक जीवो की गति अनुश्रेणि होती है या विश्रेणि होती है।

उत्तर इसका उत्तर भी पूर्ववत् ही है। इसी प्रकार वैमानिक देवो तक समझ लेना चाहिए ॥२३॥

सूत्र ॥ जीवा गई या दुविहा इत्यादि ।

मूलसूत्रार्थ— जीव की गति दो प्रकार की है—सविग्रह और अविग्रह ॥२४॥

सायां पुद्गलानां नियमाभावेन 'परप्रयोगानपेक्षया ऋज्वीगतिः, परप्रयोगानपेक्षया तु-उभयथापि गतिर्भवति, ।

सिद्धिं प्राप्नुवतां जीवानामेकान्तेनाऽविग्रहेव । ऋज्वीगतिर्भवति तदन्यजीवानां पुनः संसारिणां विग्रहा [वक्रा] अविग्रहा [ऋज्वी] वागतिर्भवतीति प्ररूपयितुमाह—**"जीवगई दुविहा विग्गहा-अविग्गहाय"** इति ।

जीवगतिश्च—भवान्तरप्रापिणी रूपा द्विविधा भवति तद्यथा—विग्रहावक्रा, अविग्रहा—अवक्रा-ऋज्वी च । तत्रैकसमयाऽविग्रहागतिर्भवति, सा चाऽविग्रहागतिर्मोक्षगामिनः सिद्धजीवस्य भवति । अविग्रहागतिश्च एकसमया द्विसमया, त्रिसमया च भवति । तत्र जघन्येन एकसमया, उत्कृष्टेन त्रिसमया विग्रहा गतिरवगन्तव्या । एवञ्चैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिजात्यन्तःसंक्रमणे, स्वजातिसंक्रमणे वा ससारिणो जीवस्य विग्रहा-वक्रा, अविग्रहा—अवक्रा—ऋज्वी च गतिर्भवति ।

तत्र—कदाचिद् वक्रगतित्वे कदाचिदवक्र गतित्वेकारणन्तु- -उपपातक्षेत्रस्याऽनुकूलत्वं—प्रतिकूलत्वंचाऽवगन्तव्यम् । तथाहि—यस्मिन् क्षेत्रे जीवो जन्मप्राप्स्यति तस्य क्षेत्रस्याऽनुकूल्यात् तिर्यगूर्ध्वमधश्च दिक्षु—विदिक्षु च व्यावहारिकीषु म्रियमाणो यावत्यामाकाशश्रेण्यामवगाढो भवति ।

तत्त्वार्थदीपिका -पहले जीवो और पुद्गलो की गति की प्ररूपणा की गई है । उसमें जीवो की वह गति भवान्तर प्रापिणी और पुद्गलो की गति देशान्तर प्रापिणी होती है, ऐसा समझना चाहिए । क्या जीव या पुद्गल सीधा ही जाकर रुक जाता है अथवा वक्र— टेढा जाकर भी उत्पन्न होता है अथवा ठहर जाता है ? इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान यह है कि पुद्गलों के लिए नियम न होने से पर प्रयोग के अभाव में उनकी सोधी ही गति होती है; किन्तु परप्रयोग के निमित्त से दोनो प्रकार की गति होती है ।

सिद्धि प्राप्त करने वाले जीवो की गति नियम से बिना विग्रह (मोड़) के ऋजु हो होती है । उनके अतिरिक्त संसारी जीवो की गति विग्रह वाली (वक्र) भी होती है और बिना विग्रह की (सीधी) भी होती है । इस प्रकार की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

जीवो की गति दो प्रकार की होती है—सविग्रहा गति और अविग्रहा गति ।

एक भव से दूसरे भव को प्राप्त कराने वाली जीव की गति दो प्रकार की होती है—विग्रह वाली अर्थात् वक्र गति और अविग्रहवाली अर्थात् सरल गति । विग्रह रहित—ऋजु गति एक समय की ही होती है । मोक्ष गामी सिद्ध जीव की अविग्रह गति होती है । अविग्र गति एक समय, दो समय और तीन समय की होती है । जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट तीन समय की जाननी चाहिए, इस प्रकार एकेन्द्रि, द्वीन्द्रिय आदि जातियो के अन्दर संक्रमण करने में अथवा स्वजाति में सक्रमण करने में ससारी जीव की गति सविग्रह अर्थात् वक्र और अविग्रह अर्थात् सरल—सीधी होती ।

तावत्प्रमाणां श्रेणिमविजहत् चतुर्भ्यो विग्रहेभ्यः प्राक् विग्रहया गत्या—उत्पद्यमान एकसमय-विग्रहया-द्विसमयविग्रहया, त्रिसमयविग्रहया वा गत्या—उत्पद्यते । परन्तु—अन्तर्गत्याऽवश्यमेव त्रिवक्रगत्या भवितव्यम्, इत्येवं नियमो नाऽभ्युपेतव्यः, अपितु—येषां जीवानां विग्रहा गतिः । तेषामुपपातक्षेत्रवशाद् वक्रागतिरुत्कृष्टेन विग्रहत्रययुक्ता भवति, ।

इत्येताश्चतस्रो गतयोऽविग्रहा—एकविग्रहा द्विविग्रहा—त्रिविग्रहा च चतुःसमयपरा भवन्ति । तत्र—एकसमयाऽविग्रहागतिर्भवति, विग्रहागतिस्त्रिविधा भवति । एकसमया—द्विसमया—त्रिसमया च, । ततः परं न संभवति तस्यास्तथास्वभावात् प्रतिघाताभावात्, विग्रहनिमित्ताभावाच्च । तथा च—यस्य जीवस्योपपातक्षेत्रसमश्रेण्यां व्यवस्थितं वर्तते, स जीव ऋज्वायतां श्रेणिमनुत्पत्योत्पद्यते ।

तत्र—एकेन समयेन वक्रगतिमकुर्वन् समुत्पद्यते, यदा पुनः कदाचित् तदेवोपपातक्षेत्रं विश्रेणिस्थं भवति, तदा एकसमया, द्विसमया त्रिसमया चेति तिस्रो विग्रहगतयो भवन्तीति भावः ।

अत्र—विग्रहशब्दो विरामार्थको गृह्यते न तु—कुटिलार्थक इत्यवधेयम् । तथाहि—एकसमयेन वा गतेरवच्छेदेन विरामेण—उत्पद्यते, द्विसमयेन वा गतेरवच्छेदेन—विरामेण, त्रिसमयेन वा गतेरवच्छेदेन—विरामेणोत्पद्यते इति फलितम् ।

कभी वक्रगति और कभी सरलगति होने का कारण उपपात क्षेत्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता है । जिस क्षेत्र में जीव जन्म लेने वाला है, उस क्षेत्र की अनुकूलता होने से, तिर्छे, ऊपर या नीचे, दिशाओ में अथवा विदिशाओ में मरता हुआ जितनी आकाशश्रेणी में अवगाढ होती है, उसी प्रमाण वाली श्रेणी का परित्याग न करता हुआ चार विग्रह से पहले, विग्रहगति से उत्पन्न होता हुआ एक विग्रह वाली, दो विग्रह वाली या तीन विग्रह वाली गति से उत्पन्न होती है । परन्तु अन्तर्गति अवश्य ही तीन विग्रह वाली होती है, ऐसा नियम नहीं स्वीकार करना चाहिए, किन्तु जिन जीवो की गति विग्रहवाली होती है, उपपात क्षेत्र की वजह से उनकी विग्रहवाली गति उत्कृष्ट तीन विग्रहवाली होती है ।

इस प्रकार विग्रह की दृष्टि से चार गतियाँ है एक विग्रहवाली, दो विग्रहवाली, तीनविग्रह वाली जो चार समय की होती है । इनमें विग्रहरहित गति एकसमय की होती है और विग्रह वाली गति तीन प्रकार की है एकसमय की, दो समय की और तीन समय की । इससे अधिक नहीं होती, क्योकि उसका स्वभाव ही ऐसा है, प्रतिघात का अभाव है और विग्रह के निमित्त का अभाव है । जिस जीव का उपपातक्षेत्र समश्रेणी में रहा हुआ होता है वह जीव ऋजुश्रेणी मे जाकर उत्पन्न हो जाता है ।

वक्रगति नहीं करने वाला जीव एक ही समय में उत्पन्न हो जाता है अर्थात् अपने उपपातक्षेत्र तक पहुँच जाता है । किन्तु उसका उपपातक्षेत्र यदि विश्रेणी में होता है तव एकसमय दो समय और तीन समय वाली तीन विग्रह गतियाँ होती है ।

"अत्रेदं बोध्यम्" अविग्रहगतिरिपुगतिशब्देन व्यपदिश्यते, यथा—इषो खलु बाणस्य गतिर्वेध्यपर्यन्तम् ऋज्वी भवति तथा—सिद्धानां ससारिणां चाऽविग्रहागतिरेकसामयिकी—समानैव भवति, विग्रहा—विरम्यगतिःसंसारिणामेव भवति तस्यास्त्रयः प्रकारा भवन्ति-हस्तप्रक्षिप्ता-लाङ्गलिका गोमूत्रिकेति, भेदात्, तत्र—हस्तप्रक्षिप्ता वक्रगतिर्यथा हस्तेन—एकतस्तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य एकतो वक्रा गतिर्भवति ॥

एवं संसारिणो हस्तप्रक्षिप्ता एकतो वक्रा गतिर्द्वैसामयिकी भवति, लाङ्गलिकागतिर्द्विधातो वक्रा यथा—लाङ्गलं हलं द्विधातो वक्रं भवति । तथा—संसारिणां द्विधातो वक्रा लाङ्गलिकागति भवति, सा च त्रैसामयिकी, गोमूत्रिका—गतिबर्हुवक्रा—त्रिवक्रा भवति । सा च गोमूत्रिकागतिः संसारिणां चतु'सामयिकी भवति, तत्र—ससारिणां भवान्तरे उत्पित्सूनां विग्रहवती वक्रा गतिश्चतुर्थसमयात्पूर्व भवति, चतुर्थसमयस्य मध्येऽन्ते वा वक्रगति र्न भवति स संसारीजीवश्चतुर्थसमये प्राञ्जल गत्वा उत्पत्तिक्षेत्रे प्रविशति ।

चतुर्थसमये कथं न विग्रहगतिरितिचेत् सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तलोकाग्रकोणरूपनिष्कुटक्षेत्रे उत्पत्तुमिच्छुः खलु जीवः निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावात् इषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रमाणनिमित्तां त्रिविग्रहां गतिमारभते न तत ऊर्ध्वम् तथाविधोपपातक्षेत्राभावादिति ॥२४॥

यहाँ 'विग्रह' शब्द 'विराम' अर्थ में ग्रहण करना चाहिए, 'कुटिल' अर्थ में नहीं लेना चाहिए। अतः फलितार्थ यह हुआ कि एक समय में गति के अवच्छेद से अर्थात् विराम से उत्पन्न होता है दो समय में गति के अवच्छेद अर्थात् विराम से उत्पन्न होता है । अथवा तीन समयों में गति के अवच्छेद से अर्थात् विराम से उत्पन्न होता है ।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए—अविग्रह गति इषुगति (बाण जैसी सीधी गति) कहलाती है। जैसे बाण की अपने वेध्य (लक्ष्य) पर्यन्त सीधी गति होती है, उसी प्रकार सिद्धो और ससारी जीवो की अविग्रहगति एक समय वाली समान ही होती है । सविग्रहा गति ससारी जीवो की ही होती है । उसके तीन भेद है—हस्तप्रक्षिप्त लांगलिका और गोमूत्रिका ।

जैसे हाथ एक ओर तिर्छा फैका जाय तो एक तरफ तिर्छी गति होती है, इसी प्रकार संसारी जीव की हस्तप्रक्षिप्त गति एक विग्रह वाली दो समय की होती है । लांगलिका गति दोनों ओर से वक्र होती है, जैसे हल दोनो ओर से वक्र होता है, उसी प्रकार संसारी जीवो की जो गति दोनो ओर से वक्र हो वह लांगलिका कहलाती है, वह गति तीन समय की होती है । गोमूत्रिका गति तीन विग्रह वाली होती है । वह गति चार समय की होती है । इस प्रकार भवान्तर में उत्पन्न होने वाले संसारी जीवों की विग्रह वाली वक्रगति चौथे समय से पहले ही हो जाती है । चौथे समय में या चौथे समय के अन्त में वक्रगति नहीं होती है ।

विग्रहवाली गति चौथे समय में क्यो नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सब से अधिक विग्रह के निमित्तभूत लोकाग्र के कोणरूप निष्कुट क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला जीव निष्कुट क्षेत्र के अनुकूल श्रेणी न होने के कारण इषुगति नहीं कर सकता, अतएव निष्कुट क्षेत्र में जाने

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रोक्ता जीवानां भवान्तरप्रापिणी गतिः पुद्गलानां वा देशान्तर-प्रापिणी गतिः किम्–ऋज्वेव गत्वा विरमति उताहो कृत्वापि वक्रं पुनरुत्पद्यते । इत्याशङ्कायां पुद्गलानां नियमाऽभावेन सिद्धिं गच्छतां जीवानामेकान्तेनैवाऽविग्रहागति भवति, तदन्यजीवान् तु संसारिणां विग्रहाऽविग्रहा वा गतिर्भवतीति प्रतिपादयितुमाह–'**जीवगईय दुविहा, विग्गहा अवि-ग्गहा य,** इति ।

सामान्यतो जीवगतिश्च द्विविधा भवति, विग्रहा–वक्रा, अविग्रहा–सरला च । तत्रैकसमयाऽ-विग्रहा गतिर्भवति, सा चाऽविग्रहागतिः मोक्षगामिनो जीवस्य भवति । विग्रहागतिश्च एकसमया द्विसमया त्रिसमया वा भवति । तत्र–जघन्येन एकसमया उत्कृष्टेन त्रिसमया विग्रहागतिरवगन्तव्या तथा च एकेन्द्रियादिजात्यन्तरसंक्रमणलक्षणगमने स्वजातिसंक्रमणे वा संसारिणो जीवस्य विग्रह-वती वक्रा–अविग्रहा चाऽवक्रा गतिर्भवति ।

तत्र—कदाचिद् वक्रत्वे कदाचिदवक्रत्वे च कारणन्तु–उपपातक्षेत्रस्यानुकूलत्वमेव बोध्यम् । तथाहि—यस्मिन् क्षेत्रे जीवो जन्मग्रहीष्यति, तस्य क्षेत्रस्याऽऽनुकूल्यात् तिर्यगूर्ध्वमधश्च दिक्षु–विदिक्षु च व्यावहारिकीषु म्रियमाणो यावत्यामाकाशश्रेण्यामवगाढो भवति तावत्प्रमाणां श्रेणिमपरित्यजन् प्राक् चतुर्भ्यो विग्रहेभ्यो विहग्रया गत्या एकविग्रहया–द्विविग्रहया त्रिविग्रहया वा उत्पद्यते, किन्तु–नावश्यमयं नियमोऽङ्गीकर्तव्योऽन्तर्गत्या नूनं विग्रहवत्या भवितव्यमिति, अपितु–येषां जीवानां विग्रहवतीगतिस्तेषामुपपातक्षेत्रवशाद् वक्रागति उत्कर्षेण विग्रहत्रययुक्ता भवति इत्येताश्चतस्रो गत-

---

के लिए तीन विग्रहवाली गति का आरंभ करना है, उससे अधिक विग्रह वाली गति नहीं करता; क्योकि ऐसा कोई भी उपपातक्षेत्र नहीं है जहा जाने के लिए तीन से अधिक विग्रह करने पड़े ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में कही हुई जीवो की भवान्तर प्रापिणी गति और पुद्गलों की देशान्तर प्रापिणी गति क्या सीधे जाकर विरत हो जाती है अथवा विग्रह करके भी पुन. उत्पन्न होती है ? ऐसी आशंका होने पर पुद्गलो के लिए कोई नियम नहीं है: सिद्धिगमन करने वाले जीवों की गति नियम से अविग्रहा–सरल ही होती है । सिद्धो से भिन्न जो ससारी जीव है, उनकी गति सविग्रहा और अविग्रहा दोनो प्रकार की होती है । इस आशय को प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

जीवों की गति दो प्रकार की है सविग्रह और अविग्रह । सामान्यतया जीव की दो प्रकार की गति होती है–विग्रह अर्थात् वक्रता वाली और अविग्रह अर्थात् सीधी–सरल । इसमें जो अवि-ग्रहगति है वह नियम से एक समय वाली ही होती है । ऐसी गति मोक्षगामी जीव की होती है । विग्रहवाली गति एक समय की, दो समय की या तीन समय की होती है । जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट तीन समय की समझनी चाहिए । अतएव एकेन्द्रिय आदि दूसरी जातियों में

यश्चतुःसमयपरा—अविग्रहा—एकसमया विग्रहा एकसमया—द्विसमया—त्रिसमया चावगन्तव्याः ।

तत्परो न संभवन्तीति भावः, तथास्वभावात् प्रतिघाताभावात् विग्रहनिमित्ताभावाच्च । विग्रहो वक्रिमम् विग्रहोऽवग्रहः श्रेण्यन्तरसंक्रान्तिरिति समानार्थकम् बोध्यम् । अत्रेदं बोध्यम्—समश्रेणि—व्यवस्थितमुपपातक्षेत्रं यस्योत्पित्सो र्जीवस्य भवति स जीवः ऋज्वायता श्रेणिमनुत्पत्योत्पद्यते । तत्र—एकेन समयेन वक्रमकुर्वाण उत्पद्यते, यदा च कदाचित् तदेवोपपातक्षेत्रं विश्रेणिस्थं भवति तदा—एकसमया—द्विसमया—त्रिसमयाचेति तिस्रो गतयो निष्पद्यन्ते ।

तथाचोक्तम्—आगमे—'**अपज्जत्तसुहुमपुढविक्काइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरमंते समोहए समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविक्काइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइए णं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा**'

संक्रमण के समय या अपनी ही जाति में सक्रमण करते समय संसारी जीव की विग्रह वाली वक्र और बिना विग्रह की अवक्रगति होती है ।

इस प्रकार कभी वक्र और कभी अवक्र (सीधी) जो गति होती है, उसका कारण उपपात क्षेत्र की विशेषता ही है । जिस क्षेत्र में जाकर जीव को जन्म लेना है, वह यदि अनुकूल होता है तो तिर्छे, ऊपर या नीचे, दिशा या विदिशा में मर कर जितनी आकाशश्रेणी में अवगाढ़ होता है, उसी प्रमाण वाली श्रेणी का परित्याग न करता हुआ, चार विग्रहो से पहले—पहले एक, दो या तीन विग्रह करके उत्पन्न हो जाता है । किन्तु ऐसा नियम नहीं समझना चाहिए कि अन्तर्गति निश्चित रूप से विग्रह वाली ही होती है । किन्तु जिन जीवो की गति विग्रह वाली होती है, उनकी वह विग्रहवाली गति उपपात क्षेत्र के अनुसार अधिक से अधिक तीन विग्रह वाली होती है । इस प्रकार समय की अपेक्षा से चार प्रकार की गतियाँ होती है—एक समय की अविग्रहागति, एक विग्रहवाली, दो विग्रह वाली और तीन विग्रहवाली इससे अधिक विग्रहवाली गति का संभव नहीं है, क्योंकि जीव का ऐसा ही स्वभाव है, प्रतिघात का अभाव होता है और अधिक विग्रह करने का कोई कारण नहीं है ।

विग्रह का अर्थ है वक्रता, अवग्रह अथवा एक आकाशश्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाना । ये सब समानार्थक शब्द हैं । अभिप्राय यह है कि भवान्तर में उत्पन्न होने वाले जीव का उपपात-क्षेत्र यदि समश्रेणी में रहा हुआ हो तो वह उसी श्रेणी के अनुसार बिना कहीं मुड़े—सीधा जा कर एक ही समय में उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब उपपातक्षेत्र विश्रेणी में अर्थात् किसी दूसरी श्रेणी में होता है, तब वहाँ तक पहुँचने के लिए वह एक, दो या तीन बार मुड़ता है । जब उसे मुड़ना पड़ता है तब मोड़ के अनुसार अधिक समय लगते हैं । आगम में कहा है—

'से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ एगसमइएण वा–दुसमइएण वा–जाव–उववज्जेज्जा, एवं खलु गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ तंजहा–उज्जुआयता सेढी एगओ वंका दुहओ वंका, एगओ खहा–दुहओ खहा, चक्कवाला–अद्धचक्कवाला, उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव-उववज्जेज्जा' इति भगवतीगतके–३४--चतुस्त्रिंच्छतकस्य–१–उद्देशे १–सूत्रे—

छाया—-अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिको भदन्त ! अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वस्मिन् चरमान्ते समवहतः, समवहत्य यो भव्योऽस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पश्चिमे चरमान्ते अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकतया उत्पत्तुं स खलु भदन्त–! कतिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्येत–?

गौतम–! एकसामयिकेन वा–द्विसामयिकेन वा–त्रिसामयिकेन वा विग्रहेण उत्पद्येत तत्केनार्थेन भदन्त–! एवमुच्यते ? गौतम–! मया सप्तश्रेणयः प्रज्ञप्ताः तद्यथा ऋज्वायता-

---

प्रश्न–भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव ने इस रत्नप्रभा पृथ्वी के पूर्व चरमान्त में समुद्घात किया और वह इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के पश्चिम चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाला है, तो हे भगवन् ? वह जीव कितने समय का विग्रह करके उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ? एक समय का दो समयो का अथवा तीन समयो का विग्रह करके उत्पन्न होता है ।

प्रश्न–भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहा है ?

उत्तर–गौतम-! मैने सात श्रेणियो की प्ररूपणा की है (१) ऋज्वायताश्रेणि (सीधी–लम्बी श्रेणी), (२) एकतो बक्रा अर्थात् एक ओर से टेढी, (३) द्विधा वक्रा अर्थात् दोनो ओर से टेढी (४) एक ओर से खहा (५) दोनो ओर से खहा (६) चक्रवाला (गोलाकार) और (७) अर्धचक्रवाला (अर्द्धगोलाकार) जो जीव सीधी लम्बी श्रेणी से उत्पन्न होता है, वह एक समय के विग्रह से उत्पन्न होता है । जोएक तो वक्र श्रेणी से उत्पन्न होता है वह दो समय वाले विग्रह से उत्पन्न होता है जो द्विधावक्र श्रेणी से उत्पन्न होता है वह तीन समय के विग्रह से उत्पन्न होता है । इस हेतु से हे गौतम ! मै ऐसा कहता हूँ, यावत् ···· उत्पन्न होता है ।

—भगवतीसूत्र, श. ३४, उ. १, सूत्र १ ।

यहाँ 'विग्रह' का अर्थ विराम' है, वक्रता नहीं । अतएव आशय यह निकला कि एक समय के गति के विराम से अर्थात् एक समय परिमाण गतिकाल के बाद होने वाले विराम से

श्रेणिः—१ एकतो वक्रा—२ द्विधा वक्रा—३ एकतः खा—४ द्विधा खा—५ चक्रवाला—६ अर्द्धचक्रवाला—७, ऋज्वायतया श्रेण्या-उत्पद्यमानः एकमयेन विग्रहेण उत्पद्यते ।

एकवक्रया श्रेण्या उत्पद्यमानो द्विसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्यते । द्विवक्रया श्रेण्या उत्पद्यमान-स्त्रिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्यते, तदेतेनाऽर्थेन गौतम—! एवमुच्यते इति ।

अत्र विग्रहशब्दस्य अवच्छेदार्थकतया विरामार्थे पर्यवसानं भवति न तु—वक्रतार्थः । तथा च—एकसमयेन वाऽवच्छेदेन गतेर्विरामेण, एकसमयपरिमाणगतिकालोत्तरभाविनाऽवच्छेदेन विरामेण उत्पद्येत तत्रापि—वक्रया श्रेण्योत्पद्यमान' समयद्वयपरिमाणगतिकालोत्तरभाविनाऽवच्छेदेन उत्पद्येत ।

यद्यप्यत्र— गतिमाणसूत्रे त्रिवक्रापि गतिर्नोक्ता, तथापि—अर्थतस्तत्प्रस्ताव एवोपरिष्टादभि-हिता । तथाहि **अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइएणं भंते—! अहोलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहित्ता जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढवी-काइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते—! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा—गोयमा—तिसमइएणं वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा—"** इति ।

अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिको भदन्त—! अधोलोकक्षेत्रनाड्या बहिःक्षेत्रे समवहतः समवहत्य यो भव्यः ऊर्ध्वलोकक्षेत्रनाड्या बहिःक्षेत्रे अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाइकतयोत्पत्तुं स खलु भदन्त—! कतिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्येत—? गौतम—! त्रिसामयिकेन वा—चतुःसामयिकेन वा—विग्रहेण उत्पद्येत इति । एवञ्च—त्रिवक्रायामेव गतौ चत्वारः समयाः संभवन्ति अतो न दोषः। एवं चक्रवालादयोऽपि एतास्वेव चतसृषु गतिषु अन्तर्भवन्ति तस्मात्पार्थक्येन नोक्ताः ।

जीव उत्पन्न होता है । इस प्रकार वक्र श्रेणी से उत्पन्न होता हुआ जीव दो समय परिमाणवाली गति के पश्चात् होने वाले विराम से उत्पन्न होता है ।

यद्यपि गति का परिमाण बतलाने वाले सूत्र में त्रिवक्रा गति का कथन नहीं किया है, फिर भी अर्थतः उसका कथन ऊपर हो ही गया है । जैसे—

प्रश्न—भगवन् ? अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अधोलोक—क्षेत्र की नाली से बाहर के क्षेत्र से ऊर्ध्वलोक के क्षेत्र की नाली से बाहर के क्षेत्र में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाला है, वह कितने समय के विग्रह से उत्पन्न होता है ?

उत्तर गौतम ! तीन या चार समय के विग्रह से उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार त्रिवक्रा गति में ही चार समय हो सकते हैं, अतएव कोई दोष नहीं है । इसी प्रकार चक्रवाला आदि भी इन्हीं चार समयों में अन्तर्गत हो जाती हैं, इसी कारण उनका अलग कथन नहीं किया गया है ।

इस प्रकार ऋजु आदि चार प्रकारकी गतियाँ चार समयपर्यन्त ही होतीहैं। कोई भी गति ऐसी

तथाच -ऋज्वादयश्चतुःसमयपर्यन्ता एव चतुर्विधा गतयो भवन्ति, नतु---पञ्चसमयादिका गतिः संभवति। आसां च--चतसृणां गतीनां मध्ये नारकादीनामविग्रहैकद्विविग्रहा एव गतयो भवन्ति, न तु---त्रिविग्रहा' एकेन्द्रियाणां त्रिविग्रहाश्चेतराश्च गतयो भवन्ति।

" तथाचोक्तं स्थानाङ्गे तृतीयस्थाने चतुर्थोद्देशे २२५--सूत्रे---" **नेरइयाणं उक्कोसेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति एगिंदियवज्जं जाव--वेमणियाणं** इति"। नैरयिकाः खलु उत्कृष्टेन त्रिसामयिकेन विग्रहेण उपपद्यन्ते एकेन्द्रियवर्जं यावद् वैमानिकाः। एवं व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ३४--शतके१ उद्देशे (१--सूत्रे-- "**कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति--? गोयमा! एगसमइएणं वा--दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति** इति। कतिसामयिकेन विग्रहेण उपपद्यन्ते--? हे गौतम--! एकसामयिकेन वा-- द्विसामयिकेन वा--त्रिसामयिकेन वा--चतुःसामयिकेन वा विहेण उपपद्यन्ते।

अथ कथं तावदेकसमयैवाऽविग्रहा गतिर्भवति, न द्विसमया, न वा--त्रिसमया भवति कालावसरे तावदसौ कालं कृत्वा कदाचित् समयद्वयं यावत् कालतः पूर्णमेव समयत्रयमपि अवक्रं गमनं कुर्यादिति चेदुच्यते-- ? एकसमयं यावत् प्रतिघाताभावात् शास्त्रसमतत्वात् विग्रहनिमित्ताभावाच्च ऋज्वागत्या यत् स्थानं प्राप्तं स तदविश्राम्यन् अपान्तराले स्वभावादेव केनचित् प्रतिघातहेतुना प्रतिहतःसन् तदवश्यं प्राप्नोति किं तत्र--द्विसमयादिसमयपरिकल्पनया, अतःप्रतिघाताभावात् तस्यापान्तराले एकसमयैवाऽविग्रहागतिर्भवति सिद्धिगतिः। ऋजुताया अवच्छेदस्तावद् अवग्रहरूपो-

---

नहीं हो सकती जो चार से अधिक--पाँच आदि समयो की हो। इन चार गतियो में से नारक आदिको की अविग्रहा (सरल) और एक या दो विग्रह वाली गति ही होती है, तीन विग्रह वाली नहीं। एकेन्द्रिय जीवो की तीन विग्रह वाली तथा अन्य गतियाँ भी होती है।

स्थानांगसूत्र के तीसरे स्थान के चौथे उद्देशक के सूत्र २२५ में कहा है---नारक जीव उत्कृष्ट तीन समय वाले विग्रह से उत्पन्न होते है। एकेन्द्रियो को छोड कर वैमानिको तक इसी प्रकार समझना चाहिए।

इसी प्रकार भगवतीसूत्र के ३४ वें शतक, प्रथम उद्देशक के सूत्र १ में कहा है---

प्रश्न---नारकजीव कितने समय के विग्रह से उत्पन्न होते है ?

उत्तर---गौतम! एक समय, दो समय, तीन समय अथवा चार समय के विग्रह से उत्पन्न होते है।

प्रश्न हो सकना है कि अविग्रहगति एक समय की ही क्यो होती है ? दो या तीन समय की क्यो नहीं होती ? काल के अवसर पर काल करके कोई जीव दो या तीन समय तक अवक्र (सीधा) गमन क्यों नहीं करता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऋजुगति में प्रतिघात नहीं है और विग्रह का कोई कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त शास्त्रकी यही मान्यता है। जो जीव ऋजुगति से अपने उपपातक्षेत्र जाता है, वह बीच में कहीं भी रुके बिना एक ही समय में उसे प्राप्त कर लेना है। वहाँ दो या दो से अधिक समय लगने का कोई कारण नहीं है। अतएव उसकी वह गति

विग्रह उच्यते । उक्तञ्च—"उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागरोवउत्ते सिज्झहिइ–इति ॥ औपपातिके सिद्धाधिकारे ९२ सूत्रे अस्मत्कृतपीयूषवर्षिणीटीकायाम् ऋजुश्रेणिप्रतिपन्नः अस्पृशद्गतिः ऊर्ध्वम् एकसमयेनाऽविग्रहेण गन्ता साकारोपयुक्तः सेत्स्यति इति ।

यथा–संसारिणां चतस्रो गतयः संभाविताः तथा–परमाण्वादीना पुद्गलानामपि विस्रसा प्रयोगाभ्यां संभावनीया । अन्तर्गतौ–अयं कालनियमो–विग्रहनियमश्च प्रतिपादितः, भवस्थाना मौदारिकादिशरीरिणां च प्रयोगपरिणामवशाद् विग्रहवती–अविग्रहवती च गतिर्भवति । किन्तु–तत्र नियमो नास्ति, औदारिकादिशरीरिषु विग्रहा नैव नियम्यन्ते, अल्पा वा–बहवो वा यथोक्तविग्रहेभ्य इति भावः ॥२४॥

मूलसूत्रम्—कम्म जोगा विग्गहगई—,, ॥२५॥

छाया—कर्मयोगा विग्रहगतिः—,, ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका पूर्वं तावत् ससारिणां प्रति विशिष्टानामेव भवावस्थितानां मनोयोगनियमः प्ररूपितः । सम्प्रति–भवान्तरगमनमार्गेऽन्तर्गतौ वर्तमानानां जीवानां कतमो योगो भवेदिति प्ररूपयितुमाह–**कम्मजोगा विग्गहगई"** इति कर्मयोगा–कर्मणो योगः कार्मणशरीरकृताचेष्टा यस्यां सा कर्मयोगा जीवस्य विग्रहगतिः विग्रहेण–वक्रत्वेन युक्ता गतिर्विग्रहगतिः सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मण-

---

एक ही समय की होती है । औपपातिकसूत्र के सिद्धप्रकरण में, ९२ वें सूत्र की हमारे द्वारा की हुई पीयूषवर्षिणी टीका में कहा है—ऋजुगति को प्राप्त, अफुसमाण गति वाला जीव एक समय के अविग्रह से जाकर साकार उपयोग से युक्त होकर सिद्ध होगा ।

जैसे संसारी जीवों की चार गतियाँ सभवित है, उसी प्रकार परमाणु आदि पुद्गलो की भी विस्रसा और प्रयोग के द्वारा समझ लेनी चाहिए । काल का और विग्रह का यह नियम अन्तराल गति के लिए वतलाया गया है । भवस्थ और औदारिक शरीर वाले जीवों की प्रयोग-परिणाम के वश से विग्रह वाली और बिना विग्रह की–दोनो प्रकार की गति होती है । उसके लिए कोई नियम नहीं है । औदारिक आदि शरीरधारियो के लिए विग्रहो का नियम नहीं है–वे थोड़े भी होते है और वहुत भी हो सकते हैं ॥ २४ ॥

सूत्र—"कम्मजोगा विग्गहगई' ॥२५॥

मूलसूत्रार्थ—विग्रहगति कार्मणकाययोग से होती है ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले विशिष्ट संसारी जीवो के ही मनोयोग का नियम बतलाया गया है । अब भवान्तरगमन के मार्ग में अन्तर्गति में वर्त्तमान जीवो के कौन सा योग होता है, यह वतलाने के लिए कहते है—

जीव की विग्रहगति कर्मयोग से अर्थात् कार्मणशरीर के निमित्त से होती है । जो गति विग्रह अर्थात् वक्रता से युक्त हो वह विग्रहगति कहलाती है । जो शरीर समस्त शरीरो की उत्पत्ति मे बीज के समान–कारण हो, वह कार्मण शरीर कहलाता है मनोवर्गणा, कायवर्गणा और

शरीरं कर्मेत्युच्यते। योगो मनोवाक्कायवर्गणाहेतुकआत्मप्रदेशपरिस्पन्द उच्यते तथाच- विग्रहगतौ कार्मणशरीरकृतो योगो भवति। तेन कर्मादानं देशान्तरसंक्रमश्च भवति।

यदा खलु आत्मा एकं शरीरं परित्यज्य उत्तरं शरीरं प्रतिगच्छति, तदा—कार्मणशरीरेण सह योगः सङ्गतिर्भवति। तथाच—कार्मणशरीराधारेण जीवो भवान्तरं गच्छतीति फलितम्। परमार्थतस्तु—भवान्तरगमनमार्गस्थितस्य विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्याऽन्तर्गतौ कार्मणशरीरयोगो भवति। अन्तर्गतेरन्यत्र तु —आगमोक्तानुसारं कायवाङ्मनोयोगो भवतीति बोध्यम् ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं प्रतिविशिष्टानामेव भवस्थानां मनोयोगनियमः प्रतिपादितः। सम्प्रति अन्तर्गतौ वर्तमानानां प्राणिनां कतमो योगः स्यादिति प्रतिपादयितुमाह—**कम्मजोगा विग्गहगई**—इति

कर्मयोगा—कर्मणो योगः कार्मणशरीरकृता चेष्टा यस्यां सा कर्मयोगा जीवस्य विग्रहगतिः विग्रहेण—वक्रत्वेन युक्ता गतिर्विग्रहगतिः, अश्वरथवत् विग्रहप्रधाना वा गतिर्विग्रहगति र्भवति। विग्रहगति समापन्नस्य भवान्तरगमनमार्गस्थितस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति, अन्तर्गतौ कार्मणशरीरयोगो भवति अन्तर्गतेरन्यत्र तु—आगमे यथाभिहितः कायवाङ्मनो योगो भवतीत्यर्थः।

तथाच—नारकगर्भव्युत्क्रान्तिक तिर्यग्मनुष्यदेवानां त्रयोऽपि योगः। संमूर्च्छनजन्मशालिनाम्—तिर्यङ्मनुष्याणां कायवाग्योगावेव भवतः। यद्वा—अन्तर्गतेरन्यत्र तत्तद्भवस्थितो यथायोगं पञ्चदशभेदः कायादियोगो भवति। तत्र—मनोयोगश्चतुर्विधः—

वचनवर्गणा के निमित्त से होने वाला आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्दन अर्थात् हलन—चलन योग कहलाता है। इस प्रकार विग्रह गति में कार्मणकाययोग होता है। उसी से नवीन कर्मों का ग्रहण और देशान्तर में गमन होता है।

जब आत्मा एक शरीर को त्याग कर अगला शरीर धारण करने के लिए गमन करता है, उस समय वह कार्मण शरीर के साथ होता है। इसका फलितार्थ यह है कि जीव कार्मण शरीर के आधार से भवान्तर में गमन करता है। इसका परमार्थ यह है कि भवान्तर के गमन के मार्ग में स्थित और विग्रहगति को प्राप्त जीव की अन्तराल गति में कार्मण काययोग होता है। अन्तराल गति के अतिरिक्त अन्य समय में आगम के कथनानुसार काययोग, वचनयोग और मनोयोग तीनो भी हो सकते है, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति –पहले खास-खास संसारी जीवो के ही मनोयोग का नियम प्रतिपादन किया गया है, किन्तु अन्तर्गति में जीवो के कौन सा योग होता है ? यह प्रतिपादन करने के लिए कहते है—विग्रहगति कर्मयोग अर्थात् कार्माण काययोग से होती है। जिसमें कार्मण शरीर के द्वारा चेष्टा हो वह गति 'कर्मयोग कहलाती है। विग्रहगति कर्मयोग है।

सत्यः असत्यः—सत्यासत्यः—असत्यामृषश्च । एवम्—वाग्योगोऽपि चतुर्विधो भवति । काययोगश्च सप्तविधः—औदारिकः—औदारिकमिश्रः—वैक्रियः वैक्रियमिश्रः—आहारकः—आहारकमिश्रः कार्मणश्चेति। तजसं च सयोगिवृत्तित्वात् कार्मणात्—न भिन्नम् एकमेवेदमिति, अतः पञ्चधा योगः, न तु—षोडशधा ।

तथाहि संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारब्धो यावत् सयोगकेवली तावद्—आद्यतुरीयौ मनोयोगौ प्राप्येते । एतेष्वेव स्थानेषु सत्यवाग्योगोऽपि । तुर्यस्तु वाग्योगो द्वीन्द्रियमिथ्यादृष्टेरारब्धो यावत् सयोगिकेवली तावत्समस्ति । द्वितीय-तृतीय वाग्योगौ संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारब्धौ यावत् क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थस्तावत् प्राप्यते ।

एवं—मनोयोगावपि द्वितीय—तृतीयौ, ऋजुगत्यां यावद्भवान्तरसम्प्राप्तिर्भवति—तावद् अपान्तराले भवान्तरगमनमार्गे यथासम्भवमौदारिकवैक्रियकाययोगौ भवतः । वक्रायान्तु—

विग्रह अर्थात् वक्रता या मोड़ से मुक्त जो गति हो वह विग्रहगति अथवा घोड़ो के रथ के समान विग्रह की प्रधानता वाली गति विग्रहगति कहलाती है । जो जीव विग्रहगति को प्राप्त है भवान्तर गमन के मार्ग में स्थित है, उस जीव को कार्मणकाययोग ही होता है । अन्य समय में आगम के अनुसार काययोग, वचनयोग और मनोयोग तीनो योग हो सकते है ।

इस प्रकार नारक, गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तथा जीवो में तीनो योग पाये जाते है । सम्मूर्छिम जन्म वाले तिर्यंचों और मनुष्यो में काययोग और वचनयोग ही होते हैं । अथवा अन्तरालगति के सिवाय दूसरे समय में भिन्न भिन्न पर्यायों में स्थित देवों के यथायोग्य काययोग आदि पन्द्रह ही योग होते है ।

उनमें से मनोयोग चार प्रकार का है—(१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) सत्यासत्य (मिश्र) मनोयोग और (४) असत्यतामृषा (व्यवहार) मनोयोग । वचनयोग भी इसी प्रकार चार प्रकार का है । (१) औदारिक (२) औदारिक मिश्र (३) वैक्रिय (४) वैक्रियमिश्र (५)आहारक (६) आहार मिश्र (७) कार्मणयोग तैजस, कार्मण के साथ ही होता है अतः कार्मण से भिन्न नहीं है, अतः पन्द्रह ही प्रकार का योग है, सोलह प्रकार का नहीं ।

सत्यमनोयोग और व्यवहार मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली पर्यन्त होता है । सत्य वचनयोग भी इन्हीं स्थानो में पाया जाता है । चौथा वचनयोग द्वीन्द्रिय से लेकर सयोग केवली पर्यन्त रहता है । दूसरा और तीसरा वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ पर्यन्त पाया जाता है ।

इसी प्रकार दूसरा और तीसरा काययोग ही भवान्तर की प्राप्ति पर्यन्त होताहै । अन्तराल में—भवान्तर गमन के मार्ग में यथासंभव औदारिक एवं वैक्रिय काययोग होते है । वक्र-

औदारिक–वैक्रियकाययोगौ निवृत्तौ भवतः । नारकसुराः–वैक्रिययोगभाज । तिर्यग्मनुष्या–औदारिक–वैक्रिययोगिनः । आहारकयोगं प्रमत्तोऽनगारो निष्पादयन्ति, पश्चादप्रमत्तस्याऽऽहारकयोगो भवति, एते–एव नारकादयोऽपर्याप्तावस्थावर्त्तिनो मिश्रयोगभाजो भवन्ति ।

यो जीव आगामिनि भवे औदारिकशरीरं लप्स्यते स आहरग्रहणानन्तमेव, मौदारिकमिश्र-शरीरः कथ्यते, पुनर्यो जीवो वैक्रियशरीरं धरिप्यति तस्य वैक्रियमिश्रशरीरं भवति । केवलिसमुद्घात काले च तृतीय–चतुर्थ–पञ्चसमयेषु कार्मण एव ।

द्वितीय–षण्ठ–सप्तमेषु–औदारिककार्मणमस्ति प्रथमाष्टमयोरौदारिक एव एवमन्यत्र तु यथोक्तः कायादियोगः समायोजितो बोध्यः । अथ कार्मणयोगा विग्रहगतिश्चेत् एकविग्रहायामपि गतौ कार्मण एव योगः कथं न भवति–? तस्या अपि विग्रहगतित्वात् ।

गति में औदारिक तथा वैक्रिय काययोगो की निवृत्ति हो जाती है । नारक और देव वैक्रिययोग वाले होते है । तिर्यंच और मनुष्य औदारिक तथा वैक्रिययोग वाले होते है । आहारयोग का प्रमत्त अनगार ही प्रारंभ करता है , फिर अप्रमत्त के भी आहारकयोग होता है । यही नारक आदि जीव जब अपर्याप्त अवस्था में होते है, तब वे मिश्रयोग वाले होते है ।

जीव आगामी भव में औदारिक शरीर धारण करेगा उसके आहार ग्रहण ही औदारिक मिश्र होता है । और जो जीव वैक्रिय शरीर धारण करते है उसके वैक्रिय मिश्र होता है ।

केवलिसमुद्घात के समय, तीसरे चौथे और पाँचवे समयो में कार्मण काययोग ही होता है, दूसरे, छठे और सातवें समयो में औदारिक कार्मणयोग औदारिकमिश्र होता है तथा प्रथम और आठवें समय में औदारिक योग ही होता है । अन्य अवस्थाओ में पूर्वोक्त काययोग आदि की योजना कर लेनी चाहिए ।

शंका यदि विग्रहगति में कार्मग काययोग होता है तो एकविग्रह वाली गति में भी कार्मण काययोग ही क्यो नहीं होता ? वह भी तो विग्रहगति ही है ।

समाधान — विग्रहगति में कार्मण काययोग की व्याप्ति तिल और तेल के समान विवक्षित नहीं है, किन्तु विषयमात्र की विवक्षा की गई है । जैसे आकाश में पक्षी और जल में मत्स्य की विवक्षा की जाती है उसी प्रकार विग्रहगति में कार्मण काययोग कहा जाता है । अन्यथा दो या तीन विग्रह वाली गति में आदि और अन्त के समयो में भी कार्मणयोग की प्राप्ति होती । किन्तु दो विग्रह वाली गति में मध्यम समय में एवं तीन विग्रह वाली गति में दो मध्य के समयों में ही कार्मण काययोग माना जाता है ।

अत्रोच्यते–तिलतैलवत् न विग्रहगतौ कर्मयोगव्याप्तत्वं विवक्षितम् अपितु—विषयमात्रं विवक्षितम् , यथा–खे पक्षी, जले मत्स्यः, तथा–विग्रहगतौ कर्मयोग इति व्यपदिश्यते। अन्यथा—द्विविग्रहायां त्रिविग्रहायां वा गतावाऽऽद्यन्तयोरपि समययोः कार्मणयोगः प्राप्येत । किन्तु–द्विविग्रहायां मध्यमसमये त्रिविग्रहायां गतौ पुनर्मध्यमयो र्द्वयोरपि समययो रिष्यते ।

अथैवमपि विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्य कार्मणेन योगेन भवान्तरसंक्रमणं भवतीति लभ्यते तत्कथं विग्रहगतौ निरुपभोगताप्रतिपादिता, भवान्तरसक्रमणस्यापि–उपभोगरूपत्वात् इतिचेत्–? उच्यते सुखदुःखयोर्विशिष्टोपभोगस्य कर्मवन्धानुभवस्य निर्जरालक्षणस्य प्रतिषिद्धत्वेन चेष्टारूपस्य कार्मणयोगस्य प्रतिषिद्धत्वाभावात् । अथैवमपि—**जावं च णं भंते–? अयं जीवे एयइ वेयइ–चलइ फंदइ तावं च णं णाणावरणिज्जेणं जाव अंतराइएणं वज्झइत्ति–२**

हंता गोयमा–! यावच्च खलु भदंत–! अयं जीव एजते–व्येजते–चलति–स्पन्दते तावच्च ज्ञानावरणीयेन यावद् आन्तरयिकेण वध्यते इति, हन्त–गौतम–? इति सूत्रेण विरोध आपद्यते कार्मणयोगकाले चास्ति चलनं तत्कथं बन्धादिलक्षणोपभोगस्य प्रतिषेधः कृतः इति चेदुच्यते भवस्थापेक्षयैव भगवता उक्तसूत्रस्य प्रणीतत्वात् ज्ञानावरणाद्यास्रवाणां भवस्थावस्थायामेव सद्भावात् किञ्च—समयद्वयं तावद्, अल्पः कालो वर्तते तत्रोपभोगाभिसबन्धः संभवति ।

शंका ऐसा मान लिया जाय तो भी तात्पर्य यह निकला कि विग्रहगति वाला जीव कार्मण काययोग के द्वारा ही भवान्तर में संक्रमण करता है, तो फिर विग्रह गति में निरुपभोगता का प्रतिपादन क्यो किया गया है ? भवान्तर में संक्रमण करना भी तो उपभोग ही है !

समाधान—यहाँ उपभोग का जो निषेध किया गया है सो सुख और दुःख के विशिष्ट उपभोग का, कर्मवन्ध के अनुभव एवं निर्जरा का निषेध किया गया है । चेष्टा रूप कार्मणयोग का निपेध नहीं किया गया है ।

शंका– ऐसा मानने में भी आगम से विरोध आता है । आगम में प्रश्न किया गया है कि—भगवन् ! यह जीव जव तक हिलता डुलता गमन या स्पन्दन करता है, तब तक क्या ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय कर्म का वन्ध करता है ? इसका उत्तर दिया गया है कि–हाँ गौतम ! जव तक जीव हिलता डुलता गमन स्पन्दन करता है तबतक वह ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय कर्म का वन्ध करता है ।

इसका उत्तर दिया गया है कि–हाँ गौतम ! जव तक जीव हिलता, डुलता गमन या स्पन्दन करता है, तव तक वह ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय कर्म का वन्ध करता है ।

उक्त कथन में इस सूत्र से वाधा आती है । कार्मणयोग के समय चलन होता है तो फिर बन्ध आदि रूप उपभोग का निपेध क्यो किया गया है ?

"यद्वा—काययोगप्रत्ययलक्षणस्य बन्धस्य सम्भवेपि प्रकृते तस्याविवक्षितत्वेन दोषाभावात् एवञ्च—कार्मणशरीरयोगा एव विग्रहगतिर्भवतीति भावः ॥२५॥

मूलम् —सिद्धस्स अविग्गहा ॥२६॥

छाया—सिद्धस्याऽविग्रहा—" ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् साधारणतया भवान्तरसङ्क्रमणे जीवानां सविग्रहागति र्भवतीति प्ररूपितम् सम्प्रति—सिद्धिं गमिष्यतः सिद्धपुरुषस्य सेधनशक्तिसम्पन्नस्य कीदृशीगतिर्भवतीति प्ररूपयितुमाह—**"सिद्धस्स अविग्गहा"** —"इति ।

सिद्धस्य—सिद्धिं प्राप्स्यतो लप्स्यमानस्य सिद्धिगतिगमनशीलस्य पुरुषस्य अविग्रहा अवक्रा ऋज्वीगतिर्भवति न तु सविग्रहागतिरिति भावः । एवञ्च—सिध्यमानजीवस्य एकान्तत एवाऽवि ग्रहागतिर्भवति । सिद्ध्यमानव्यतिरिक्तस्य जीवस्य पुनः सविग्रहा—अविग्रहा वा गतिर्भवतीति भावः । विग्रहो व्याघातः कौटिल्यं यस्यां न विद्यते सा अविग्रहागतिः सिद्धस्य भवति । सा च—अविग्रहा-गति एकसमया भवति । सविग्रहागतिस्तु द्विसमया वा भवतीति पूर्वमुक्तमेवेति भावः ॥२६॥

समाधान—भवस्थ जीव की अपेक्षा से ही भगवान् ने उक्त सूत्र का प्रणयन किया है, क्योंकि भवस्थ अवस्था में ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आस्रव होता है । इसके अतिरिक्त दो समय इतना अल्पकाल है कि उसमें उपभोग आदि का संबंध हो सकता है ।

अथवा—काययोग निमित्तक बन्धका संभव होने पर भी यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है, इस कारण कोई दोष नहीं है । इस प्रकार तात्पर्य यह है कि विग्रहगति कार्मणकाययोग वाली ही होती है ॥२५॥

सूत्र—सिद्धस्स अविग्गहा ॥२६॥

सिद्धजीव की अविग्रह गति होती है ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले बतलाया गया है कि साधारण तथा भवान्तर में जाते समय जीवो की गति विग्रहवती होती है । अब सिद्धि—मुक्ति में गमन करने वाले सिद्ध पुरुप की गति कैसी होती है ? यह बतलाने के लिए कहते है—

सिद्धि प्राप्त करने वाले—मोक्षगामी—पुरुष की गति अवक्र—सीधी होती है । वह विग्रह वाली नहीं होती । इस प्रकार सिद्ध होने वाले जीव की एकान्त रूप से विग्रह रहित गति ही होती है । सिद्ध होने वाले के सिंवाय दूसरे जीवो की सविग्रह और अविग्रह—दोनो प्रकार की गति होतीं है । विग्रह का अर्थ है व्याघात या कुटिलता अथवा वक्रता है । यह जिसमें न हो वह गति अविग्रहा कही जाती है । सिद्ध जीव की ऐसी अविग्रहा गति होती है । अविग्रहा गति एक

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्रे साधारणतो जीवाना विग्रहाया गतेर्निरूपणं कृतम् सम्प्रति—सिद्धस्य गतिप्रतिपादयितुमाह—"सिद्धस्स अविग्गहा–" सिद्धस्य–सेधनशक्तियुक्तस्य, सेधनशीलस्य वा सिद्धिगतिगमनशीलस्य पुरुषस्य नियतं सिध्यतः अविग्रहा–ऋज्वी सरला न तु–वक्रा गतिर्भवति। सा च पूर्वप्रयोगादिहेतुचतुष्टय जनिताऽवसेया। तथाचोक्तं भगवतीसूत्रे **निःसंगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणच्छेयणयाए, निरंधणयाए पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई–"** इति।

छाया—निःसङ्गतया निरङ्गणतया गतिपरिणामेन बन्धनच्छेदनतया निरिन्धनतया पूर्वप्रयोगेण अकर्मणो गतिः इत्यादि।

तत्र—निरङ्गणं निर्लेपः निरिन्धनम् इन्धनरहिताग्निज्वाला तस्य भावस्तया इत्यर्थः। तथाच–सिध्यमानजीवस्यैकान्तत–एवाऽविग्रवागतिर्भवतीति भावः। सिध्यमानजीवव्यतिरिक्तस्य तु विग्रहा–अविग्रहा वा गतिर्भवति। उक्तञ्च **"उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागरोवउत्ते सिज्झिहिइ**-,, इति। औपपातिके सिद्धाधिकारे ९३ -सूत्रेऽस्मत्कृतपीयूषवर्षिण्याम् ऋजुश्रेणिप्रतिपन्नोऽस्पृशद्गतिः ऊर्ध्वमेकसमयेनाऽविग्रहेण गन्ता साकारोपयुक्तः सेत्स्यति इति ॥२६॥

समय की होती है, सविग्रहा गति दो या तीन समय की होती है, यह पहले कहा जा चुका है॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्र में साधारणतया जीवो की विग्रहगति का निरूपण किया गया, अब सिद्ध जीवों की गति का प्रतिपादन करते है—

सिद्ध गति में गमन करने वाले सिद्ध जीव की गति ऋजु–सरल ही होती है, वक्र नहीं। वह गति पूर्वप्रयोग आदि चार कारणो से उत्पन्न होती है। भगवती सूत्र में कहा है ...

मुक्त जीव की गति कर्म–नो कर्म का संसर्ग हट जाने के कारण, निर्लेप (बन्धहीन) होने के कारण, जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण, बन्धनो का छेद होने से, और निरिन्धन (कर्मरूप इन्धन से मुक्त होने के कारण भग. श. ७ उ० १) होने के कारण तथा पूर्वप्रयोग के कारण होती है।

तात्पर्य यह है कि सिध्यमान जीव की गति एकान्ततः विग्रह रहित ही होती है। सिध्यमान जीव के सिवाय दूसरे जीवों की गति विग्रह वाली भी होती है और विग्रहरहित भी होती है। औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में, ९३ वें सूत्र की हमारी बनाई हुई पीयूष वर्षिणीटीका में कहा है– ऋजु श्रेणी को प्राप्त मुक्तजीव अफुसमाण गति करता हुआ, ऊपर, एक ही समय में बिना विग्रह के, साकारोपयोग से युक्त होकर सिद्ध होता है ॥२६॥

सूत्र—'ति समयं सिया अणाहारगो' ॥२७॥

मूलसूत्रम्—'तिसमयं सिया अणाहारगो—॥२७॥

छाया— त्रिसमयं स्यादनाहारकः—॥२७

तत्त्वार्थदीपिका पूर्वं खलु सविग्रहाया गतेः प्ररूपणस्य कृतत्वात् सम्प्रति—तत् प्रस्तावात् विग्रहगतिं समापन्नस्य जीवस्याऽनाहारकत्वं प्रतिपादयितुमाह—'**तिसमयं सिया अणाहारगे**'—इति,

त्रिसमयम्—त्रयाणां समयानां समाहारः त्रिसमयम्, एकसमयं—द्विसमयं त्रिसमयं वा विग्रह गतिसमापन्नो जीवोऽनाहारको भवति। तदतिरिक्तकाले तु—अनुसमयम् आहारको भवति। तत्र द्विविग्रहायां गतौ—एकं समयमनाहारको भवति। त्रिविग्रहायां गतौ तु—द्वौ समयौ—अनाहारको भवति। केवलीच—समुद्घातकाले तृतीय—चतुर्थ समयेषु त्रीन् समयान् अनाहारको भवतीति ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः --- वँ विग्रहगतिप्ररूपणं कृतम् सम्प्रति विग्रहगतिसमापन्नस्याऽनाहारकत्वं प्रतिपादयितुमाह '**हति समयं सीया अणाहारगो**—इति। विग्रहगतिसमापन्नो जीव एकं वा समयं—द्वौ वा समयौ—त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति। शेषं कालम् अनुसमयम् आहारको भवति।

तत्र विग्रहायां गतौ एकं समयमनाहारको भवति त्रिविग्रहायां—द्वौ समयौ—अनाहारको भवति। केवली च समुद्घातकाले—तृतीयचतुर्थपंचमसमयेषु त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति केचित्तु—विग्रहगतिसमापन्नस्यैव प्रस्तावात् केवलिसमुद्घातकालस्याऽप्रस्तुतत्वात् एकं वा समयं द्वौ वा समयौ अनाहारको भवति इत्येवाऽऽचक्षते—त्रीन् बा समयान् अनाहारको भवति इति नाऽनुमन्यते तन्न समीचीनम् सूत्रेऽस्मिन् सामान्यतोऽनाहारकस्यैव प्रस्तुत्वेन केवलिसमुद्घातकालस्यापि

मूलसूत्रार्थ विग्रहगति वाला जीव अधिक से अधिक तीन समय तक अनाहारक रहता है ॥२७॥

तत्त्वार्थदिपिका—पूर्वसूत्र में सविग्रहा गति का निरूपण किया गया है, इसी प्रसंग को लेकर अब विग्रहगति को प्राप्त जीव की अनाहारकता का प्रतिपादन करते है--

विग्रहगति को प्राप्त जीव एक समय तक, दो समय तक अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य समयो में जीव निरन्तर आहारक रहता है। दो विग्रह वाली गति में एक समय तक अनाहारेक रहता है और तीन विग्रह वाली गति में दो समय तक अनाहारक रहता है।

केवली समुद्धात के काल में तीसरे, चौथे समय तक अनाहारक रहते है ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले विग्रहगति की प्ररूपणा की गई है, अब विग्रहगति को प्राप्त जीव की अनाहारकता की प्ररूपणा करते है—

विग्रहगति को प्राप्त जीव एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक होता है। शेष काल में प्रत्येक समय आहारक ही बना रहता है।

दो विग्रह वाली गति मे एक समय अनाहारक रहता है और तीन विग्रहवालीगति में दो समय पर्यन्त अनाहारक रहता है। समुद्घात करने के काल मे केवली तीसरे, चौथे और पाँचवे समय में, इस प्रकार तीन समयों में अनाहारक होते है। कोईकोई कहते हैं कि यहाँ विग्रह गति का ही प्रकरण होने से केवली समुद्घात अप्रस्तुत है, अत. स्थापि अनाहारक-

अनाहारकतया संग्रहसम्भवात्। वस्तुतस्तु-पञ्च समयायां विग्रहगतौ त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति इत्यभिप्रायेण समयत्रयमुक्तम् अथ पञ्चसमयायां विग्रहगतौ न कश्चिदुपपद्यते इतिचेत्

अत्रोच्यते पञ्चसमयाया अपि विग्रहगतेः प्रमाणसिद्धतया तत्रापि–कस्यचिज्जीवस्योत्पत्तिसम्भवात्। एतेनाऽन्तर्मुहूर्त्ताऽर्धं शैलेश्यवस्थायामनाहारकतया अन्तर्मुहूर्तार्धमपि अनाहारकत्वं कथं नोक्तमित्यपास्तम्। विग्रहगतेरेव प्रस्तुतत्वेन शैलेश्यवस्थाया अप्रस्तावात् तत्समयानाहारकत्वस्य ग्रहणायुक्तत्वात्। अथ किमाहारकविशेषं स्वीकृत्याऽनाहारकत्वमुच्यते–? आहोस्वित्–सर्वाहारप्रतिषेधः क्रियते ?

अत्रोच्यते–सर्वाहारप्रतिषेधस्यैव प्रस्तुतत्वात् तथाहि–आहारस्तावत् त्रिविधः ओजआहारः १ लोमाहारः २ प्रक्षेपाहारः–३ च। तत्रौज आहारोऽपर्याप्तकावस्थायाम्। कार्मणशरीरेणोदक निक्षिप्त पात्रवत् पुद्गलानामादानं सर्वप्रदेशैर्यत् क्रियते जीवेन प्रथमोत्पत्तिकाले योनौ प्रथमकाल-प्रक्षिप्तेन अपूपेनेव घृतादौ इति, अयञ्चाऽन्तर्मुहूर्तिको भवति। लोमाहारः पुनः पर्याप्तकावस्थाप्रभृतित्वचया–आभवक्षयात् पुद्गलानामुपादानरूपो बोध्यः। प्रक्षेपाहारस्तु–ओदनादिकवलपानाभ्यवहारलक्षणोऽवसेयः कवलाहार इत्यर्थः। तस्माद् विग्रहावस्थायामत्रौक्ताहारत्रयस्यैव प्रतिषेधः क्रियते भवावस्थायामेव तथाविधाहारत्रितयस्याऽभ्यनुज्ञातत्वात्। संमतत्वात्।

प्रथमान्त्यसमयोरन्तर्गतौ च्युत जन्मदेशस्थत्वादाहारकत्वमेवावगन्तव्यम् पूर्वोत्तरशरीर-परित्यागोपादानकालाभेदवर्तित्वात्। कर्मपुद्गलानामादानन्तु–योगकषायहेतुकमन्तर्गतावपि सर्वत्रैव

एक या दो समय तक ही जीव अनाहारक रहता है। वे तीन समय तक अनाहाराक रहता है ऐसा नहीं मानते; किन्तु उन की मान्यता समीचीन नहीं है। इस सूत्र में सामान्य रूप से अनाहारक का ही प्रकरण है, अतएव केवली समुद्घात के समय होने वाली अनाहारकता का भी समावेष हो जाता है वास्तव में तो पाँच समयवाली विग्रह गति में जीव तीन समय तक इसमें अनाहारक रहता है, इस अभिप्राय से तीन समय की अनाहारक अवस्था कही गई है।

शंका–पाँच समय की विग्रह गति से कोई जीव उत्पन्न ही नहीं होता ?

समाधान–पाँच समय की विग्रह गति भी प्रमाण से सिद्ध है, अतः किसी जीव की उससे भी उत्पति का संभव है।

शैलेशी अवस्था अर्ध अन्तर्मुहूर्त्त तक अनाहारक अवस्था रहती है, ऐसी स्थिति में अर्ध अन्तर्मुहूर्त्त तक अनाहारक रहना क्यो नहीं कहा ? इस शंका का भी निराकरण इससे हो जाता है कि यहाँ विग्रह गति का ही प्रकरण है और शैलेशी अवस्था का प्रकरण नहीं है अतएव शैलेशी अवस्था में होने वाली अनाहारक अवस्था को यहाँ ग्रहण करना उचित नहीं है।

प्रश्न—यहाँ किसी खास आहार की अपेक्षा से अनाहारक कहते है अथवा सम्पूर्ण आहार के निषेध की अपेक्षा से ?

उत्तर—यहाँ सम्पूर्ण आहार का निषेध ही प्रस्तुत है। आहार तीन प्रकार का है—(१)

सर्वकालं सम्भवति । जलवर्षणसमये समादीप्तनाराचप्रक्षेपवत्, तद्यथा—जलधारासन्निपाताऽऽपादितसामर्थ्ये मेघे वर्षति नाराचद्रव्यं ज्याहस्तविप्रयोगाहितवेगमग्निज्वालाकलापादीप्तमुदकपुद्गलग्रहणं कुर्वदेव गच्छति ।

एवमयमन्तरात्मा कार्मणेन शरीरेण कर्मोष्णत्वात् पुद्गलग्रहणं कुर्वन् अविच्छिन्नमागाऽमि जन्मनेऽभिधावति, इति । न खलु एवं रूपस्य पुद्गलादानस्य प्रतिषेधः प्रकृतेऽनेन सूत्रेण क्रियते, अपितु औदारिक–वैक्रियशरीरद्वयस्य परिपोषहेतुकाऽऽहारकस्य प्रतिषेधः क्रियते, तस्मादन्तर्गतौ एकं वा समयं, समयद्वयं वा, समयत्रयं वाऽनाहारको भवति ।

एक–द्वि–त्रिसमयव्यतिरिक्तः शेषकालमविच्छेदेनाऽऽहारमभ्यवहरति । उत्पत्तौ प्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्त्तिक ओज आहारो भवति । पश्चात्—आभवक्षयं लोमाहारः । कवलाहारस्तु—

ओज आहार (२) लोमाहार (३) प्रक्षेपाहार । ओजआहार अपर्याप्तक अवस्था में कार्मण शरीर के द्वारा किया जाता है । जैसे अग्नि में तपे हुए पात्र को जल में डाल दिया जाय तो वह सपूर्ण अवयवों से जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव अपनी आपत्ति के प्रथम समय में—जन्मस्थान में पहुँचने के पहले समय में समस्त आत्मप्रदेशों के द्वारा पुद्गलो का ग्रहण करता है । अथवा वह जैसे कढाई में तप्त तैल या घृत में पुवा डाला जाता है तो वह सर्वांग से तेल तथा घृत को ग्रहण करता है, यह पुद्गलो का ग्रहण करना ही ओजआहार कहलाता है । ओज आहार अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ही होता है ।

पर्याप्त अवस्था से लेकर भव के क्षय पर्यन्त त्वचा के द्वारा पुद्गलो को ग्रहण करना लोमाहार है । प्रक्षेपाहार का अर्थ है कवलाहार अर्थात् ओदन आदि के कवलो को खाना, पीना आदि ।

विग्रहगति में इन तीनो प्रकार के आहारों का निषेध किया गया है । ये तीनो आहार भव-अवस्था में ही स्वीकार किये गये हैं ।

विग्रहगति के प्रथम समय में जीव त्यागे जाने वाले देश में और अन्तिम समय में जन्मदेश में रहने के कारण आहारक होता है, क्योकि उस समय वह त्यागे जाने वाले एवं ग्रहण किये जाने वाले पूर्व तथा उत्तर शरीर से सम्बद्ध होता है ।

योग और कषाय के निमित्त से होने वाला कर्मपुद्गलों का ग्रहण तो विग्रहगति में भी प्रत्येक स्थान पर होता ही रहता है । जैसे जल की वर्षा के समय जलते वाण को छोड़ा जाय तो वह जल को ग्रहण करता हुआ जाता है उसी प्रकार संसारी जीव कर्मों से उष्ण होने के कारण कार्मण शरीर के द्वारा निरन्तर कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता हुआ ही आगामी जन्म के

चतुःपञ्चविग्रहायां त्रीन् समयान् अनाहारको भवतीति भावः। तथाचोक्तम्—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रस्य सप्तशतके प्रथमोद्देशे २६०–सूत्रे–'जीवे णं भंते–! कं समयमणाहारए भवइ–! गोयमा–! पढमे समए सिय अणाहारए, बितीए समए सिय आहारए सिय अणाहारए, ततिए समए सिय आहारए सिय अणाहाए, चउत्थे समए नियमा आहारए एवं दंडओ जीवाय एगिंदियाय चउत्थे समए सेसा ततिए समए–" । जीवः खलु भदन्त–! कं समयमनाहारको भवति–? गौतम–! प्रथमे समये स्यादाहारकः–स्यादनाहारकः, द्वितीये समये स्यादाहारकः–स्यादनाहारकः, तृतीये समये स्यादाहारकः–स्यादनाहारकः, चतुर्थे समये नियमादाहारकः एवं दण्डकः, जीवाश्चैकेन्द्रियाश्च चतुर्थे समये शेषास्तृतीये समये –इति ॥२७॥

मूलसूत्रम् –"तिविहं जम्मं, गब्भ संमुच्छिणोववाया–" ॥२८॥

छाया—"त्रिविधं जन्म गर्भ-सम्मूर्च्छनोपपाताः—" ॥२८॥

लिए गमन करता है। प्रकृत सूत्र में इस प्रकार के पुद्गलों के ग्रहण का निषेध नहीं किया गया है किन्तु औदारिक, और वैक्रिय शरीर का पोषण करने वाले आहार का ही निषेध किया गया है, अर्थात् अनाहार दशा में जीव औदारिक, वैक्रिय एवं आहारक शरीर के तथा छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण नहीं करता है। इसी कारण विग्रहगति में एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। पूर्वोक्त एक, दो या तीन समय को छोड़कर शेष सभी समयो में निरन्तर आहारक ही रहता है। उत्पत्ति के प्रथम समय से आरम्भ करके अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ओजआहार करता है तत्पश्चात् भवपर्यन्त लोमाहार करता है। चार–पाँच विग्रह वाली गति में कवलाहार की दृष्टि से अनाहारक रहता है। भगवती सूत्र के सातवें शतक में, प्रथम उद्देशक में, २६० वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन्! जीव किस समय अनाहारक होता है?

उत्तर—गौतम! प्रथम समय में कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, दूसरे समय में कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, तीसरे समय में कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, चौथे समय में नियम से आहारक होता है। ऐसे ही सम्पूर्ण दंडक कह लेना चाहिए। वहुत जीव और एकेन्द्रिय चौथे समय में और शेष सब तीसरे समय में कहना चाहिए ॥२७॥

सूत्र—'तिविहं जम्मं इत्यादि ॥२८॥

मूलसूत्रार्थ—जन्म तीन प्रकार के है—गर्भजन्म, संमूर्छिमजन्म और उपपातजन्म

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सविग्रहयाऽविग्रहया वा वक्ररूपया ऋजुरूपया गत्या उत्पत्तिक्षेत्रं प्राप्तः सन् पूर्वोपात्त–औदारिकवैक्रियशरीरनाशे सति जीवः खलूत्पद्यत इत्युक्तम् । सम्प्रति कीदृशस्योत्पादो भवतीति प्ररूपयितुमाह—

"तिविहं जम्मं गब्भ–संमुच्छिणो–ववाया–" इति । जीवानां त्रिविधं जन्म भवति । तद्यथा -गर्भः–१ सम्मूर्च्छनम्–२ उपपातश्चे–३ ति । तत्र–स्त्रीयोनौ एकत्रीभूतयोः शुक्र–शोणितयोर्जीवो मातृभक्षिताहाररसपरिपोषापेक्षं यद्ग्रहणं करोति, तद् गर्भजन्म, गर्भरूपं जन्म—गर्भजन्मेत्युच्यते । आगन्तुकशुक्रशोणितग्रहणात् स्त्रीयोनेः शुक्रशोणितमात्रस्वरूपत्वाभावात्, जन्मतु—शरीरद्वयसम्बन्धितया आत्मनः परिणतिलक्षणमवसेयम् ।

सम्मूर्च्छामात्रं–सम्मूर्च्छनम्, सम्यग्वृद्धिः । यस्मिन् स्थाने जीवो जनिष्यते तत्रत्य पुद्गलान् उपमृद्य संगृह्य च शरीरं कुर्वन् शुक्रशोणितं विनैव सम्मूर्च्छनं जन्म लभते. तदेव–तथाविधं सम्मूर्च्छनं जन्मेत्युच्यते ।

त्रिषु लोकेषु ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च शरीरस्य समन्तात् मूर्च्छनं–वर्द्धनम् अवयवप्रकल्पनं सम्मूर्च्छनम् । गर्भस्तु–स्त्रिया उदरे शुक्र–शोणितयोर्मिश्रणरूपः । तथाच–सम्मूर्च्छनजन्मउत्पत्तिक्षेत्रवर्त्तिपुद्गलसमूहमगृहीत्वा नोद्भवति । तत्र-बाह्यपुद्गलोपमर्दनलक्षणं सम्मूर्च्छनजन्मकाष्ठादिषु कृम्यादीनां प्रतीतम् । काष्ठत्वचा पक्वफलादिषु उत्पद्यमानाः कृम्यादयो जन्तवस्तानेव काष्ठत्वक्

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कहा जा चुका है कि संसारी जीव पूर्वगृहीत औदारिक अथवा वैक्रिय-शरीर का त्याग करके सविग्रह अथवा अविग्रह गति से अपने उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँचता है । अब यह दिखलाते है कि उसका उत्पाद किस प्रकार होता है ?

जीवो का जन्म तीन प्रकार का होता है—(१) गर्भ (२) संमूर्च्छन और (३) उपपात । स्त्री की योनि में एकत्र हुए शुक्र और शोणित का जीव माता के द्वारा किये गये आहार के रस को परिपोषण की अपेक्षा जो ग्रहण करता है, वह गर्भजन्म कहलाता है । गर्भ रूप जन्म को गर्भजन्म कहते है ।

स्त्री की योनि आगन्तुक शुक्र और शोणित को ग्रहण करती है, अतः वह मात्र शुक्र शोणित रूप नहीं है । जन्म दोनो शरीरो से सबन्ध रखने वाला होने से आत्मा का परिणमन विशेष समझना चाहिए ।

सम्यक् प्रकार से वृद्धि होने को सम्मूर्च्छा अथवा सम्मूर्च्छन कहते हैं । जिस जगह जीव जन्म लेने वाला है, वहाँ के पुद्गलो को संग्रह करके शरीर बनाता हुआ शुक्र और शोणित के बिना ही वृद्धि पाना संमूर्च्छन जन्म है

फलवर्तिनः पुद्गलान् शरीरीकुर्वन्तः संजायन्ते। एवं—जीवद्गो—महिष—मनुष्यादिशरीरेषु उत्पद्यमानाः कृम्यादयो जीवास्तानेव जीवद्गोमहिषादिशरीरावयवान् समादाय स्वशरीरत्वेन परिणतिं प्राप्नुवन्ति।

एवम्—उपपातक्षेत्रप्राप्तिमात्रहेतुकं जन्म उपपातकजन्म व्यपदिश्यते, यथा—प्रच्छदपटस्योपरिष्टात् देवदूष्यस्याऽधस्ताद् अन्तराले विद्यमानान् पुद्गलान् वैक्रियशरीरतया गृह्णन् देवः समुद्भवति। इदञ्च—पूर्वोक्तजन्मद्वयलक्षणतो भिन्नमेव लक्षणं देवोऽसौ नहि प्रच्छदपटदेवदूष्यपुद्गलानेव शरीरी करोति। नापि शुक्रशोणितादि पुद्गलानुपादाय संजायते।

तस्मात्—अस्योपपातरूपजन्मनः प्रतिविशिष्टक्षेत्रप्राप्तिरेव हेतुर्भवतीति भावः। एवं नारकाणामपि बोध्यम् ॥२८॥

तीनों लोको में, ऊपर, नीचे और तिर्छे शरीर का सब ओर से बढ़ना अर्थात् अवयवों की रचना होना सम्मूर्च्छन जन्म है। स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित का मिश्रण होना गर्भ कहलाता है। सम्मूर्च्छन जन्म उत्पत्तिक्षेत्र में रहे हुए पुद्गल समूह को ग्रहण किये बिना नहीं होता है। काष्ठ आदि में जो कीड़े वगैरह उत्पन्न हो जाते है उनका संमूर्च्छन जन्म कहलाता है। काष्ठत्वचा तथा पके हुए फल आदि में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि जन्तु उस काष्ठत्वचा या फल आदि के पुद्गलो को ही अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते है। इसी प्रकार जीवित गौ, भैंस, मनुष्य आदि के शरीर में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि जीव उन्हीं गाय भैंस आदि के शरीर के अवयवो को ग्रहण करके अपने शरीर के रूप में परिणत करते हैं।

इसी प्रकार उपपात क्षेत्र में पहुँचना ही जिस जन्म का कारण हो वह उपपात जन्म कहलाता है। बिछे हुए वस्त्र के ऊपर और देवदूष्य के नीचे—बीच में विद्यमान पुद्गलों को वैक्रिय शरीर के रूप में ग्रहण करके देव उत्पन्न होता है। यह जन्म पूर्वोक्त दोनो प्रकार के जन्मों से विलक्षण है। यह न तो शुक्र—शोणित आदि से होता है और न देवदूष्य और बिछे वस्त्र के पुद्गलो से। अतएव प्रतिनियत उपपातक्षेत्र में प्राप्त होना ही इस जन्म का कारण है। यह जन्म देवो और नारको का होता है ॥२८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्वग्रहीत औदारिक या वैक्रिय शरीर का क्षय होने पर संसारी जीव ऋजुगति या वक्रगति करके परभव सम्बन्धी उत्पत्ति क्षेत्र में जाता है। किन्तु वहाँ जाकर किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह नहीं बतलाया गया है, अतः अब इसका कथन किया जाता है—

जन्म तीन प्रकार का होता है—गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपात। स्त्री की योनि में इकठे हुए शुक्र और शोणित को जीव ग्रहण करता है और माता के द्वारा भुक्त आहार के रससे पुष्ट होता

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं विग्रहयाऽविग्रहया वा गत्या वक्रया—ऋज्व्या वा गत्या गतः सन् उत्पत्तिदेशं प्राप्तः सन् प्रागुपात्तौदारिकवैक्रियशरीरपरिक्षये सति जीवः पुनरुत्पद्यत इत्युक्तम्। सम्प्रति—केन प्रकारेण स पुनरुत्पद्यते इति प्रतिपादयितुमाह

"तिविहं जम्मं गब्भसमुच्छणो–ववाया–" इति त्रिविधं जन्म प्रज्ञप्तम्, गर्भः—सम्मूर्च्छनम्—उपपातश्चेति। तत्र—स्त्रीयोनौ एकत्रीभूतशुक्रशोणितयोर्यद् ग्रहणं करोति जीवो मातृभक्षिताहाररसपरिपोषापेक्षं तद्गर्भजन्म व्यपदिश्यते, गर्भ एवजन्म प्रतिपत्तव्यम्। इदंच—लक्षणं वक्ष्यमाणसम्मूर्च्छनजन्मलक्षणतो भिन्नमवसेयम्।

आगन्तुकस्य शुक्रशोणितग्रहणात्। स्त्रीयोनेः शुक्रशोणितमात्रस्वरूपत्वाभावात् जन्म च शरीरद्वयसम्बन्धितयाऽऽत्मनः परिणतिलक्षणं बोध्यम्। समूर्च्छामात्रं—सम्मूर्च्छनम् यस्मिन् स्थाने स जीवो जनिष्यते तत्रत्य पुद्गलानुपमृद्य—संगृह्य शरीरीकुर्वन् शुक्रशोणितं विनैव सम्मूर्च्छनं जन्म प्राप्नोति। तदेव तथाविधं सम्मूर्च्छनं जन्म उच्यते। एवञ्च—सम्मूर्च्छनजन्म उत्पत्तिस्थानवर्त्तिपुद्गलपुञ्जमनुपमृद्याऽगृहीत्वा न प्रादुर्भवति सुराजन्मवत् किण्वाद्युपमर्दनात् यथा—पिष्टकिण्वोदकादीनामुपमर्दनेन सुराया उत्पत्तिर्भवति। तथा—बाह्यपुद्गलानामाध्यात्मिकपुद्गलानां चोपमर्दनाद् यज्जन्म भवति तत्सम्मूर्च्छनजन्म व्यपदिश्यते।

है, उस जीव का जन्म गर्भ जन्म कहलाता है। उसका गर्भ ही जन्म समझना चाहिए। आगे कहे जाने वाले संमूर्च्छन जन्म के लक्षण से यह लक्षण भिन्न है। इस जन्म में : आगन्तुक (अन्य जगह से आए) शुक्र और शोणित को ग्रहण किया जाता है, स्त्री की योनि शुक्र—शोणित स्वरूप वाली नहीं होती। जन्म दो शरीरों से संबंधित होने के कारण आत्मा की परिणति विशेष है।

संमूर्च्छा को संमूर्च्छन कहते है। जिस स्थान में जीव उत्पन्न होने वाला है, वहाँ के एकत्रित पुद्गलो को ग्रहण करके, शुक्र—शोणित के विना ही अपने शरीर का निर्माण करता है। वह संमूर्च्छन जन्म कहलाता है। इस प्रकार संमूर्च्छन जन्म अपने उत्पत्तिस्थान में रहे हुए पुद्गलो के समूह को ग्रहण किये विना नहीं होता है। जैसे आटा, किण्व दारु का बीज जल आदि के सम्मिश्रण से सुरा की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार बाह्य और भीतरी पुद्गलों के ग्रहण से जो जन्म होता है, वह संमूर्च्छन जन्म कहलाता है।

बाह्य पुद्गलो के ग्रहण से काष्ट आदि में घुन आदि कीड़ो का जन्म होता है, यह प्रसिद्ध ही है। काष्ट की त्वचा (छाल) एवं पके फल आदि में कृमि आदि जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे उन्हीं काष्टत्वचा एवं फल आदि में रहे हुए पुद्गलो को अपना शरीर बना लेते हैं। इस प्रकार जीवित गाय, भैस, मनुष्य आदि के शरीरो में उत्पन्न होने वाले कीडे आदि जीव उन्हीं गाय भैस आदि के शरीर के अवयवों को ग्रहण करके अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते है। इन कृमि आदि का संमूर्च्छन जन्म भीतरी पुद्गलों के ग्रहण से होता है, यह भी प्रसिद्ध है।

तत्र—बाह्यपुद्गलोपमर्दनलक्षणं संमूर्च्छनजन्म तावत्—काष्ठादिषु कृम्यादीनां प्रसिद्धम्। काष्ठत्वचा पक्वफलादिषु कृम्यादयो जन्तवः समुपजायमानास्तानेव काष्ठत्वक् फलवर्तिनः पुद्गलान् शरीरी कुर्वन्तः उत्पद्यन्ते। एवं जीवद्गोर्माहिषमनुष्यादिशरीरेषु प्रादुर्भवन्तः कृम्यादयो जीवास्तानेव जीवद्गोमहिषादिशरीरावयवान् उपादाय स्वशरीरतया परिणतिमासादयन्ति।

इत्याध्यात्मिकपुद्गलोपमर्दनलक्षणमेतज्जन्मप्रसिद्धम्। प्रायशस्तत्र गर्भाद्युपलब्धिदर्शनात्। एवमुपपातक्षेत्रप्राप्तिमात्रनिमित्तं जन्म उपपातजन्मपदेन व्यपदिश्यते, यथा—प्रच्छदपटस्योपरिष्टात् देवदूष्यस्याधस्तादपान्तराले वर्तमानान् पुद्गलान् वैक्रियशरीरतया समुपाददानो देवः समुद्भवति। इदञ्च—पूर्वद्वयलक्षणतो भिन्नलक्षणम् देवोऽसौ न हि प्रच्छदपटदेवदूष्यपुद्गलानेव शरीरी करोति न वा—शुक्रशोणितादि पुद्गलानाददानो जायते।

तस्मात्—अस्योपपातरूपजन्मनः प्रतिविशिष्टक्षेत्रप्राप्तिरेव निमित्तं भवति। एवम्—नारकाणां नरकक्षेत्रस्थितातिसंकटमुखनिष्कुटागवाक्षसदृशी विविधाकारकुम्भी भवति। तत्र वैक्रियपुद्गलानादाय संगृह्यमाणा वज्रमयनरकतले जलमध्यक्षिप्तपाषाणवत् महता वेगेन परिपतन्ति। उपपद्यन्ते इत्यर्थः एवमेतत् त्रिविधं जन्म जीवानामवगन्तव्यम्।

अत्रेदं बोध्यम् सर्वसंसारिणां प्राणिनां स्वजीवितव्यवच्छेदविशिष्टकाले प्रागुपात्तौदारिक—वैक्रियशरीरपरिक्षयलक्षणे भवक्षये सति यस्मिन् क्षेत्रे जीवः पुनरुत्पत्स्यते तदुपपातक्षेत्रं स्वकर्मवशात् पर्वोपात्तकर्मपरिणति सामर्थ्यादेव, न तु—ईश्वरादिप्रेरणया प्राप्नोति, प्राणान् परित्यज्य भवान्तरमासादयति, तदा—सर्वन्तस्य ज्ञानावरणादिकर्माण्येव निष्पादयन्ति ऋजु वा—वक्रं वा उत्पत्तिस्थानं गन्तव्यमनेन वा मार्गेण गन्तव्यम् अस्यां वा वेलायां प्रवर्तितव्यम् अस्मिन् योन्यन्तरे मया

इसी प्रकार अपने उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँचने मात्र से जो जन्म होजाता है, वह उपपात जन्म कहलाता है। जैसे देव बिछे हुए वस्त्र के ऊपर और देवदूष्य के नीचे—दोनों के बीच में विद्यमान पुद्‌गलो को वैक्रिय शरीर के रूप में ग्रहण करता हुआ उत्पन्न होता है। यह जन्म पहले कहे गये दोनों जन्मो के लक्षण से विलक्षण है, क्योकि इसका कारण न तो नीचे या ऊपर के वस्त्र के पुद्‌गल है और न शुक्र—शोणित के पुद्‌गल ही। इस प्रकार इस जन्म का कारण अमुक स्थान में पहुँचता ही है।

नारक जीव नरकभूमियो में स्थित कुंभी में उत्पन्न होते है। कुंभी अत्यन्त सँकड़े मुख की गवाक्ष जैसी होती है। उनके आकार भी नाना प्रकार के होते है। नारक जीव वहा के वैक्रिय पुद्‌गलों को ग्रहण करते हुए वज्रमय नरकतल में जल के बीच डाले हुए पाषाण की भाँति, बड़े वेग के साथ जाकर पड़ते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं।

यह जीवों का तीन प्रकार का जन्म है। यहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि—संसारी जीवों के वर्तमान जीवन का जब अन्त होता है और पूर्वगृहीत औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर

समुत् पत्तव्यम्—नान्यत्रेत्येतत्सर्वं तावद् अचिन्त्यसामर्थ्यशालीनि कर्माण्येव—आत्मपरिणत्यपेक्षाणि प्रसाधयन्ति न पुनरेपान्तरालवर्तितां वेलां प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ।

तस्मात् कर्मानुभावात् उत्पत्तिक्षेत्रमनुप्राप्तः सन् औदारिक—वैक्रियशरीरनिष्पत्तये तच्छरीर-प्रायोग्यानां पुद्गलानामुपादानं करोति, अथ केन हेतुना ते पुद्गलास्तदयोग्याः संलग्न्ते— इतिचेत् ? उच्यते सकषायत्वाद् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानुपादत्ते । ते पुद्गलाः स्नेहाभ्यक्तशरीरवस्त्रादौ रेणुलगनवत् सकषायत्वात् लगन्ति । काय-वाङ्मनःप्राणाः पुद्गलानामुपकारः औदारिकादिपञ्च-विधशरीराणि पुद्गलानामुपकार इतिरीत्या ते पुद्गलास्तथाश्लेषात् तद्रूपतया परिणतिमासादयन्ति तस्यामवस्थायामिति भावः ।

एवं नाम प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् इति रीत्या सूक्ष्माः एकक्षेत्रावगाढतया स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तप्रदेशा भवन्ति । एवम्—बन्धननामकर्मोदयहेतुतः कर्मपुद्गलग्रहणमिति

का विच्छेद होता है अर्थात् वर्तमान भव का क्षय होता है तब वह जीव जिस क्षेत्र में पुनर्जन्म ग्रहण करने वाला है, उस क्षेत्र में वह अपने पूर्वार्जित कर्म के सामर्थ्य से ही जाता है, ईश्वर आदि की प्रेरणा से नहीं जाता । वह ऋजु या वक्र उत्पत्तिस्थान में जाए, वाएँ मार्ग से जाए, अमुक समय में जाए, अमुक योनि में उत्पन्न हो, अन्यत्र नहीं; इन सब बातो के नियामक अचिन्त्य सामर्थ्यशाली नामकर्म आदि ही है । मृत्यु के पश्चात् समय की प्रतीक्षा करता हुआ कहीं ठहरा नहीं रहता ।

इस प्रकार कर्म के प्रभाव से अपने उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँच कर जीव अपने योग्य औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर की निष्पत्ति के लिए शरीर के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है ।

प्रश्न—शरीर के योग्य पुद्गल किस कारण से सम्बन्ध हो जाते है ?

उत्तर—कषाययुक्त होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है । वे पुद्गल उसी प्रकार चिपक जाते है जैसे चिकनाई लगे शरीर या वस्त्र पर रेत चिपक जाती है । काय, वचन मन और प्राण पुद्गलो का उपकार है, इस कथन के अनुसार पाँचों शरीर पुद्गलो का उपकार है अर्थात् पुद्गलो के निमित्त से उत्पन्न करते है । अतएव ग्रहण किये हुए वे पुद्गल विशेष प्रकार से श्लेष को प्राप्त होकर शरीर के रूप में परिणत हो जाते है ।

वे पुद्गल सब ओर से, योग की विशेषता के अनुसार गृहीत, सूक्ष्म, एक ही क्षेत्र में अव-गाढ अर्थात् जिन आकाशप्रदेशो में जीव रहा हुआ हो उन्हीं आकाशप्रदेशों में स्थित तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले होते है । इस प्रकार बन्धननामकर्म के उदय से कर्मपुद्गलो का ग्रहण होना पहली उत्पत्ति है, उपकार भेद की विवक्षा के द्वारा मध्यम उत्पत्ति है और प्रदेशबन्ध के

प्रथमा—उत्पत्तिः बन्धसामान्ये, मध्यमा—उत्पत्तिः उपकारभेदविवक्षाद्वारेण, अन्तिमा—उत्पत्तिः प्रदेशबन्धप्रस्तावाकृष्टा भवति। तस्मात् तिसृणामपि—उत्पत्तीनां सूचनं भवति।

न तु—अभिन्नैकवस्तुसन्निपातिन्यस्तिस्रोऽपि उत्पत्तयो भवन्ति पुनरुक्तदोषापत्तेः। तस्मात् तदेवंविधं पुद्गलग्रहणं जन्म व्यपदिश्यते इतिभावः। इत्येवं रीत्या शरीरिणां प्रादुर्भावमात्रलक्षणं जन्म प्ररूपितम् सम्प्रति—कीदृशे स्थाने प्रथमतः समुत्पद्यमानाः जीवाः शुक्रशोणितग्रहणं कुर्वन्ति सम्मूर्च्छन्ति वा वैक्रियशरीरं वा समुपाददेत किं गुणे किं विशिष्टे वा स्थाने नारकदेवाः प्रादुर्भवति इति शङ्कां समाधातुं तेषां जन्मना विशिष्टस्थानप्ररूपणाय योनिस्वरूपमुच्यते संसारे जीवानामुपर्युक्तस्य त्रिविधस्य जन्मनः प्रत्येकशो नवयोनयो भवन्ति सचित्ता १ अचित्ता २ सचित्ताचित्ता ३ शीत—४उष्णा—५शीतोष्णा—६संवृता—७विवृता—८संवृतविवता—९चेति। तत्र—नारकदेवानामचित्तायोनिः। गर्भजन्मनां मनुष्यतिरश्चां मिश्रा सचित्ताचित्तरूपा। तदन्येषां सम्मूर्च्छनजन्मनां तिर्यग्मनुष्याणां त्रिविधा कदाचित्तत् सचित्ता, कदाचिदचित्ता, कदाचिन्मिश्राचेति। गर्भव्युत्क्रान्तानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाञ्च शीतोष्णा। संमूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां मध्ये कस्यचिच्छीता कस्यचिदुष्णा कस्यचित्—शीतोष्णा च।

नारकाणां प्रथमे पृथिवीत्रये प्रकृष्टोष्णा। चतुर्थ्यां कचिन्नरके शीता क्वचिदुष्णा। एवं पञ्चम्याम् षष्ठयाम् सप्तम्यां च पृथिव्यां प्रकृष्टशीता। नारकाणां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनां देवानां च

प्रस्ताव से आकृष्ट अन्तिम उत्पत्ति होती है। इससे तीनो उत्पत्तियो की सूचना होती है। ये तीनो उत्पत्तियाँ अभिन्न एक वस्तु विषयक नहीं है, ऐसा होने से पुनरुक्ति दोष का प्रसंग आता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पुद्गलो का ग्रहण जन्म कहलाता है।

किस प्रकार के स्थान में पहलेपहल उत्पन्न होते हुए जीव शुक्र और शोणित का ग्रहण करते हैं, सम्मूर्च्छित करते हैं अथवा वैक्रियशरीर को ग्रहण करते है? नारक और देव किस प्रकार के गुण वाले और विशेषता वाले स्थान में उत्पन्न होते हैं? इस शंका का समाधान करने के लिए पूर्वोक्त जन्मो के विशिष्ट स्थान की प्ररूपणा करने के उद्देश्य से योनियो के स्वरूप का कथन किया जाता है—

संसारीजीवों के उपर्युक्त तीन प्रकार के जन्मों में नौ योनियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) सचित्त (२) अचित्त (३) सचित्ताचित्त (४) शीत (५) उष्ण (६) शीतोष्ण (७) संवृत (८) विवृत और (९) संवृतविवृत। इनमें से नारको और देवो की अचित्त योनि होती है। गर्भज मनुष्यो और तिर्यंचो की सचित्ताचित्त योनि होती है। सम्मूर्च्छिम मनुष्यो और तिर्यंचों की तीनो प्रकार की योनि होती है—किसी की सचित्त, किसी की अचित्त और किसी की सचित्ताचित्त

गर्भज तिर्यंचों और मनुष्यो की तथा देवों की शीतोष्ण योनि होती है। सम्मूर्च्छिम तिर्यंचो और मनुष्यो में किसी की शीत, किसी की उष्ण और किसी की शीतोष्णयोनि होती है।

संवृताप्रच्छन्नासंकुटा । गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्मनुष्याणां संवृतविवृतप्रच्छन्नप्रकाशा । तदन्येषां सम्मूर्च्छिमद्वीन्द्रियादितिर्यग्मनुष्याणां विवृता योनिः प्रज्ञप्ता अतिप्रकाशत्वात् ।

तत्र—यस्मिन् स्थाने युवन्तिमिश्रीभवन्ति जन्महेतुद्रव्याणि कार्मणेन सह तद् योनिः । यद्वा—स्थानमाश्रयं भावेन यूयते-मिश्रीक्रियते इति योनिः । सा च योनिः काचित् जीवप्रदेशाधिष्ठितत्वात् सचित्ता व्यपदिश्यते, तद्विपरीता—अचित्ता । उक्तोभयस्वभावा मिश्रा—सचित्ताऽचित्ता शिशिरत्वात्—शीताः । तद्विपरीता-उष्णा, शीतोष्णोभयस्वभावा मिश्रा, प्रच्छन्नत्वात्—संवृता—संकटा वा व्यपदिश्यते।

तद् विपरीता प्रकाशत्वात् विवृता, तदुभयस्वभावा मिश्रा, संवृतविवृता योनिरुच्यते । तत्र—देवानां प्रच्छदपटदेवदूष्यान्तरालरूपा योनिः जीवप्रदेशानधिष्ठितत्वात् चेतना—उच्यते । नारकाणां वज्रमयनरकक्षेत्रे गवाक्षसदृशी नानाप्रकारककुम्भीयोनिः अचेतना भवति । तिरश्चीना मानुषीणां च स्त्रीणां खलु नाभेरधस्तात् सिराद्वयं पुष्पमाला वैकक्ष्यकाकारं भवति । तस्याधस्तात् अधोमुखसंस्थितकोशाकारा योनिर्भवति ।

नारको की प्रारंभ की तीन पृथ्वियो में शीत योनि होती है। चौथी और पांचवी पृथ्वी में किसी—किसी नारकावास में शीत और किसी—किसी में उष्ण होती है । छठी और सातवीं नरकभूमि में उष्ण योनि होती है ।

नारको, पृथ्वीकाय. अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और देवो की संवृत (प्रच्छन्न ढंकी हुई) योनि होती है । गर्भज तिर्यचों और मनुष्यो की संवृत—विवृत अर्थात् ढंकी उघाडो योनि होती है । इनसे अतिरिक्त समूर्च्छिम, द्वीन्द्रिय आदि तिर्यचो और मनुष्यो की विवृत योनि कही गई है; क्योकि वह बिल्कुल उघाडी होती है ।

जिस स्थान पर जन्म के कारणभूत द्रव्य कार्मण शरीर के साथ मिश्रित होते है, उसे योनि कहते है अथवा जो स्थान आश्रय के रूप में मिश्रित किया जाता है, वह योनि है । जीव के प्रदेशो से अधिष्ठित (युक्त) होने के कारण कोई योनि सचित्त कहलाती है और जो इससे विपरीत हो वह अचित्त कही जाती है। जो दोनो प्रकार की हो वह सचित्ताचित्त है । ठंडी योनि शीत, इससे विपरीत उष्ण और दोनो स्वभाव वाली शीतोष्ण कहलाती है । जो ढंकी हो वह संवृत, उससे विपरीत उघाड़ी जो हो वह विवृत और जो दोनो प्रकार की हो वह संवृत विवृत कही जाती है ।

प्रच्छद पट और देवदूष्य के बीच का स्थान जीवप्रदेशो से अधिष्ठित न होने के कारण देवो की योनि अचित्त मानी गई है । नारक जीवो की वज्रमय नरकक्षेत्र में गवाक्ष के समान, अनेक आकारो की कुंभी योनि अचेतन होती है । तिर्यञ्च और मनुष्य स्त्रियों की नाभि से नीचे पुष्पमाला वैकक्ष्य के आकार की दो शिराएँ होती है । उनके नीचे अधोमुख कोश के आकार की योनि होती है । उसके बाहर आम की कली के आकार की मांस की मंजरियाँ होती है । वे ऋतु के समय फूट जाती है और उनसे रुधिर बहता है । उनमें से कतिपय रुधिर कण

तस्याश्च वहिराम्रकलिकाकारामांसमञ्जर्यो भवन्ति ताः खलु[किल-]शोणितं स्फुटीत्वा ऋतौ स्रवन्ति। तत्र—कियन्तः शोणितलवाः कोशकाकृति योनिमनुप्रविश्य सन्तिष्ठन्ते।

पश्चाच्छुक्रसंमिश्रां स्तानाहारयन् जीवस्तत्र जायते। तत्र ये योन्यात्मसात्कृतास्ते सचित्ताः कदाचिन्मिश्रा इति। ये पुनर्न स्वरूपतामापादितास्तेऽचित्ता भवन्ति, सम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां मध्ये गोकृम्यादीनां सचित्ता काष्ठघुणादीनामचित्ता योनि र्भवति। कषांचित् पूर्वकृते क्षते समुद्भवतां मिश्रा सचित्ताचित्ता योनिर्भवति। गर्भव्युत्क्रान्तिकानां तिर्यग्मनुष्याणां देवानां च शीतोष्णा योनि र्भवति।

सम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां मध्ये कस्यचिच्छीता, कस्यचिदुष्णा, कस्यचित् शीतोष्णा योनि-र्भवति। स्थानविशेषप्रभावात् प्रथमतः त्रिषु नरकेषु योनयः शीता भवन्ति पुनः कुम्भीतो बहिर्नि-र्गताः सत्यः क्षेत्रवेदना उष्णा भवति। षष्ठ सप्तमयोर्योनय उष्णा भवन्ति पुनः कुम्भीतो बहिर्निर्गताः सत्यः वेदनाः शीता भवन्ति कुम्भ्यां तु अल्पसमये एव तिष्ठन्ति पुनः शेषं बहिरायुः पूर्णं भवति, तत्क्षेत्रं च तस्य प्रतिकूलं भवति। उष्णवेदनातः शीतवेदना भयकारिणी भवति शेषं स्पष्टम्।

अथ चतुरशीतिलक्षा योनयःप्रवचने प्रतिपादिताः सन्ति। तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवायूना प्रत्येकं सप्तसप्तयोनिलक्षाः प्रत्येकवनस्पतीनां दश, साधरणानां चतुर्दशा द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वे-द्वे लक्षे, तदतिरिक्ततिर्यङ्नाकदेवानां प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रो लक्षाः मनुष्याणां चतुर्दशलक्षाः इति सर्वस-म्मिलितेन चतुरशीतिलक्षा योनयो भवन्ति प्रकृते च प्रत्येकं नवयोनय एव प्रतिपाद्यन्ते इति परस्परं विरोधापत्तिरिति चेत्—

कोशाकार योनि में प्रवेश करके स्थित हो जाते है। पश्चात् शुक्र से मिश्रित उन रुधिर कणों को जीव ग्रहण करता है। जो रुधिर कण अपने स्वरूप में नहीं रहते, वे अचित्त हो जाते है। सम्मूर्च्छिम तिर्यचो और मनुष्यो में से गाय की कृमि आदि जीवो की योनि सचित्त होती है और काठ के घुन आदि की योनि अचित्त होती है। पूर्वकृत घाव में उत्पन्न होने वाले किन्हीं किन्हीं कीड़ो की मिश्रण अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है। गर्भज तिर्यचो, मनुष्यों और देवो की शीतोष्णयोनि होती है।

समूर्छिम तिर्यचो और मनुष्यो में किसी की शीत, किसी की उष्ण और किसी की शीतोष्ण योनि होती है। स्थानविशेष के प्रभाव से यह योनिभेद होता है। पहले तीन नरकों में योनि शीत है और कुंभी से बाहर निकलने पर क्षेत्र वेदना उष्ण है। छठी सातवीं में योनि उष्ण है, और कुम्भी से बाहर निकलने पर वेदना शीत है। कुम्भी में तो थोड़ी देर ही रहते हैं और शेष आयुष्य बाहर ही पूरा होता है और वह क्षेत्र उनके प्रतिकूल होता है। उष्ण वेदना से शीत वेदना भयंकर होती है।

आगम में चौरासी लाख योनियो का प्रतिपादन किया गया है। वे इस प्रकार है—पृथ्वी अप्, तेज और वायुकाय की सात-सात लाख योनियाँ है, प्रत्येक वनस्पति की दश लाख साधारण वनस्पति की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की दो—दो लाख, शेष तिर्यचो, नारकों और देवो की चार—चार लाख और मनुष्यो की चौदह लाख योनियाँ है। ये सब मिलकर चौरासी लाख होती है।

आशका हो सकती है कि योनियाँ यदि चौरासी लाख है तो यहाँ सिर्फ नौ का ही

उच्यते प्रवचनोक्तानां चतुरशीतिलक्षयोनीनां सग्रहकतया 'नवयोनय इति प्रतिपादितम । विस्तरस्तु—प्रतिजाति—वक्तव्यः, पृथिवीकायस्य याऽभिहिता योनिः सैव स्वजातिभेदापेक्षया । सप्तलक्षपरिमाणा भवति। शर्करा वालुकाप्रभृतिभेदा यावत्यो जातयो भवन्ति, तावद् भेदाः योनयोऽपि पृथिवीकायस्यावगन्तव्या इति ।

ताश्च न मूलयोनिमतिक्रमन्ति, अपितु जातिभेदात् भिद्यन्ते. । अत सग्राहकमेतद् वचनमवगन्तव्यम्, एवमन्येषामपि स्वजातिभेदात् बहुत्वं वक्तव्यम् । तथाच—स्वजातिभेदापेक्षमेतत् । परिमाणमवगन्तव्यम् ॥२८॥

मूलसूत्रम्—"सरीराइं पंच, ओरालिय वेउव्विय—आहारग—तेयगकम्माइं—"॥२९॥

छाया—'शरीराणि पञ्च औदारिक-वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि ' ॥२९॥

तत्त्वार्थ दीपिका—पूर्वंतावत् जीवानां ससारिणा गर्भोपपातसम्मूर्च्छनजन्मभेदेन त्रिविधं जन्मप्ररूपितम् सम्प्रति—तेषां खलु जीवानां तेषु जन्मसु कानि शरीराणि कियन्ति वा कि लक्षणानि वा तानि शरीराणि भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह—"**सरीराइं पंच, ओरालिय—वेउव्विय—आहारग तेयग—कम्माइं**

शरीराणि—शीर्यन्ते इति शरीराणि प्रतिक्षणं शीर्यमाणत्वात् तानि विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तिनि पञ्च सन्ति औदारिक—वैक्रिय—आहारक—तैजस—कार्मणानि, एतानि तावद् शरीराणि यथासम्भवं नारकादिगतिचतुष्टयवर्तिनामेव जीवानां भवन्ति- नसिद्धानामिति सामर्थ्याद् वोधयितु

निरूपण क्यो किया है ? इसका समाधान यह है कि शास्त्र में प्रतिपादित चौरासी लाख योनियो का उक्त नौ योनियो में ही संग्रह हो जाता है । चौरासी लाख का कथन विस्तार की अपेक्षा से है, यथा—पृथ्वीकाय की जो योनि कही है वही जातिभेद की अपेक्षा सात लाख परिमाणवाली है । शर्करा बालुका आदि पृथ्वी की जो जातियाँ कही गई है, पृथ्वीकाय की योनियाँ भी उतनी ही समझना चाहिए । वे योनियाँ अपनी मूलयोनि से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु जातिभेद से उनमें भेद हो जाता है । अतएव यह वचन सग्राहक वचन समझना चाहिए । इसी प्रकार अन्य जीवों की योनियाँ भी जातिभेद की अपेक्षा से बहुसख्यक है ॥२८॥

सूत्र—'सरीराइं पंच' इत्यादि ॥२९॥

मूलसूत्रार्थ—शरीर पाँच है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले संसारी जीवो के गर्भ, उपपात और समूर्च्छन के भेद से तीन प्रकार के जन्म वतलाए गए है । अब यह वतलाते है कि उन जन्मो में जीवो के कौन से शरीर होते है ? कितने होते है ? उन शरीरो के लक्षण क्या है ?

जो प्रतिक्षण शीर्ण—विनष्ट होते रहते है, वे शरीर कहलाते है । विशिष्ट नामकर्म के उदय से उनकी रचना होती है । वे पांच है औदारिक, वैक्रिय.. आहारक. तैजस और कार्मण । यह शरीर यथासभव नरक आदि चार गतियो के जीवो को ही होते है, सिद्ध जीवो को नहीं, यह

प्रथमं शरीरग्रहणं कृतम् विशरणशीलत्वात् शरीराणि इत्यन्वर्थसंज्ञाबलात् विनश्वरत्वयुक्तशरीरस्य सिद्धानां सम्भवात् ।

अत एव–शरीरशब्दापेक्षया कायशब्दोपादाने लाघवसत्वेऽपि तदुपादानं कृतम् शरीरशब्देनाऽन्वर्थताप्रतिपादनद्वारा प्रतिपिपादयिषितस्य विशरारुतार्थस्य प्रतिपादितत्वात् । एवञ्च–औदारिकं-वैक्रियं–आहारकं–तैजसं–कार्मणं चैतानि पञ्च शरीराणि ससारिजीवानां भवन्ति ।

तत्र–पूर्वपूर्वापेक्षया परं परं शरीरं सूक्ष्मम् बोध्यम् । यथौदारिकापेक्षया–वैक्रियं सूक्ष्मम् । वैक्रियापेक्षया आहारकं सूक्ष्मम्, आहारकापेक्षया तैजसं सूक्ष्मम्, तैजसापेक्षया कार्मणं सूक्ष्मम् तत्रोदारेण वृहदसारेण द्रव्येण निष्पन्न शरीरमौदारिकम् । सारहीनस्थूलद्रव्यवर्गणारचितम् औदारिकप्रायोग्यपुद्गलग्रहणहेतुभूतपुद्गलविपाक्यौदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नं शरीरमौदारिकमुच्यते । उदारे स्थूले भवं वा औदारिकम्, उदारं स्थूलं वा प्रयोजनमस्येत्यौदारिकम् ।

एकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियम् विक्रिया-विकुर्वणा-शक्त्या वा निर्वृत्तं निष्पादितं शरीरं वैक्रियमुच्यते . । देवानां मूलशरीरं जिनजन्मादिकालेपि वैक्रियशरीरमवधार्य जन्मोत्सवस्थानेषु आगच्छति मूलरूपतो न, उत्तरशरीरं पुनरेकमनेकं वा जिन-

---

बतलाने के लिए सूत्र में सर्वप्रथम शरीर शब्द का प्रयोग किया गया है। शरीर नाशशील है और सिद्धो में उनका होना संभवित नहीं है।

'शरीर' शब्द की अपेक्षा 'काय' शब्द छोटा है । फिर भी यहाँ कायशब्द का प्रयोग न करके जो शरीर शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका उद्देश्य शरीर की बिनाशशीलता दिखलाता है । 'शरीर' का व्युत्पत्त्यर्थ ही यह है कि जो विनाशशील हो । इस प्रकार ससारि जीवो के औदारिक, वैक्रिण, आहारक, तैजस और कार्माण, ये पाँच शरीर होते है ।

इन पाँच शरीरो में पूर्व–पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म होता है । औदारिक शरीर स्थूल है । उसकी अपेक्षा वैक्रय शरीर सूक्ष्म है, वैक्रय की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म है, आहारक की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म है और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्म है ।

उदार अर्थात् स्थूल एवं असार द्रव्य से बना शरीर औदारिक कहलाता है । इस शरीर की उत्पत्ति औदारिक के योग्य पुद्गलो के ग्रहण के कारणभूत पुद्गलविचारी औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से होती है । अथवा जो शरीर उदार अर्थात् स्थूल हो वह औदारिक या जिसका प्रोयजन उदार–स्थूल हो वह औदारिक ।

एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि अनेक रूप शरीर करना विक्रिया कहलाता है । विक्रिया करना जिसका प्रयोजन हो वह वैक्रिय शरीर । अथवा विक्रियाशक्ति के द्वारा उत्पन्न किया गया शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है ।

देवो का मूल शरीर तीर्थंकर भगवान् के जन्मकल्याणक आदि के समय भी वैक्रिय शरीर धारण कर जन्मउत्सव के स्थान पर आते है । मूल रूप से नहीं एक अथवा अनेक रूप उत्तरशरीर

जन्मोत्सवादौ सर्वत्र गच्छति। विक्रिया विकारो बहुरूपता एकस्याऽनेककरणं तया निर्वृत्तमनेका-श्चर्याधायक नानागुणर्द्धिसम्प्रयुक्त पुद्गलवर्गणाकृतं शरीरं वैक्रियं बोध्यम् .।

एवं सूक्ष्मपदार्थविज्ञानार्थम् असयमजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाहियते—निर्वर्त्यते यत् तद् आ-हारकम्। शुभतरशुक्लविशुद्धद्रव्यवर्गणानिर्मितं •प्रतिविशिष्टप्रयोजनायाऽऽह्रियते उपादीयते यत् तदन्त-र्मुहूर्तस्थित्याहारकं शरीर। एतच्च प्रमत्तसंयतेनैव निष्पाद्यते,

प्रमत्तसंयतस्य यदा सूक्ष्मपदार्थे सयमविचारे वा सन्देहो जायते तदा—तीर्थकरस्य सन्निधौ सन्देहनिवारणार्थं तस्य तालुप्रदेशच्छिद्राद् निर्गत्य हस्तप्रमाणं पुत्तलकं गच्छति ततश्च—तीर्थकरशरीरं स्पृष्ट्वा पश्चात् परावृत्य तेनैव तालुच्छिद्रेण प्रमत्तसयते प्रविशति तस्य सन्देहो-विनश्यतीति भावः।

तेजोनिमित्तकं तेजसि वा भवं तैजस शरीरम्। कर्मणा निष्पन्नं शरीरं कार्मणमुच्यते अशेषकर्म-राशेराधारभूतं बदरीफलादीना कुण्डादिवत्,कर्मणां कार्यं वा कार्मणं शरीरमुच्यते सकलकर्मजननस-मर्थं वेति.॥२९॥

ही उनके जन्मोत्सव आदि में सम्मिलित होता है। विक्रिया, विकार, बहुरूपता या एक को अनेक बनाना, यह सब समानार्थक शब्द है। तात्पर्य यह है कि•जो शरीर विक्रिया से बना हो, अनेक आश्चर्य उत्पन्न करने वाला हो, नाना प्रकार के गुणो से युक्त हो, ऐसा वैक्रियवर्गणा के पुद्गलों से निर्मित शरीर वैक्रिय कहा गया है।

सूक्ष्म तत्त्व को जानने के लिए या असंयम को निवारण करने के लिए आदि कारणो से प्रमत्तसंयत के द्वारा जो शरीर निष्पादित किया जाता है, वह आहारक कहलाता है। यह शरीर अत्यन्त शुभ, शुक्ल और विशुद्ध द्रव्यों से निर्मित होता है। विशेष प्रयोजन से बनाया जाता है और अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला होता है। प्रमत्तसंयत मुनि ही इस शरीर को निष्पन्न करते है।

जब प्रमत्तसंयत को किसी गहन तत्त्व में अथवा संयम के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है, तब तीर्थंकर तथा केवली भगवान् के निकट सन्देह को दूर करने के लिए तालुप्रदेश के छिद्र से निकल कर एक हाथ का पुतला वहाँ जाता है, जाकर तीर्थंकर आदि से पूछ करके वापिस लौट आता है और उसी तालु के छिद्र से प्रमत्तसंयत के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा करने से उसका संदेह दूर हो जाता है।

तेज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह तैजस कहलाता है। कर्म द्वारा निष्पन्न शरीर को कार्मण कहते है। जैसे बोर आदि का आधार कुण्ड (कूंडा) होता है, उसी प्रकार यह कार्मणशरीर समस्त कर्मराशि का आधार है। अथवा जो शरीर कर्मों का कार्य हो वह कार्मण कहलाता है। यह समस्त कर्मों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वोक्तजन्मसु यथोक्तयोनीनां जीवानां कानि शरीराणि कियन्ति वा किं लक्षणानि वा भवन्तीतिप्ररूपयितुमाह—**सरीराइं पंच, ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेयग-कम्माइं,,** इति-।

शरीराणि—विशीर्यन्ते प्रतिक्षणमिति शरीराणि जीर्यमाणत्वात्—चयापचयवत्वाच्च विशरारुता युक्तानि शरीराणि पञ्चसख्यकानि भवन्ति । तद्यथा—औदारिक-वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मणानि एतानि च शरीराणि यथायोग्यं नारकादि गति चतुष्टयवर्तिनामेव जीवानां सम्भवन्ति न सिद्धानाम् इतिसामर्थ्यात् प्रतिपादयितुमादौ शरीरग्रहणं कृतम् विशरणशीलत्वाद् विशरारुत्वा च्छरीराणि इत्यन्वर्थसंज्ञावलात् लब्धविनश्वरत्वरूपार्थयुक्तशरीरस्य सिद्धानामसम्भवात् । अतएव-शरीरशब्दापेक्षया कायशब्दोपादाने लाघवसत्वेऽपि कायग्रहणं न कृतम् । शरीरशब्देनान्वर्थता प्रतिपादनद्वारा विशरारुतार्थस्य प्रतिविप्सितस्य प्रतिपादितत्वात् । तथाच—औदारिकं, वैक्रियम्—आहारकं—तैजसं—कार्मणं चैतानि पञ्च शरीराणि संसारिणा प्राणिना भवन्ति ।

तथाचोक्तम्—प्रज्ञापनायां शरीरपदे२१—एकविंशतिसंख्यके **"कइ णं भंते-१ सरीरा पण्णत्ता-२ गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता तंजहा—ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए,"** कति खलु भदन्त-१ शरीराणि प्रज्ञप्तानि-२ गौतम-१ पञ्च शरीराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—औदारिकम्, वैक्रियम्, आहारकम्, तैजसम्, कार्मणम् इति ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त जन्मो मे, पूर्वोक्त योनियो वाले जीवो के कौन से और कितने शरीर होते है ? उन शरीरो के लक्षण क्या है ? यह बतलाने के लिए कहते है—

शरीर पाँच है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ।

क्षण-क्षण में शीर्ण—जीर्ण, विनाशशील होने से एवं चय और अपचय वाले होने से शरीर सज्ञा प्रदान की गई है । शरीर पाँच है जिनका नामनिर्देश ऊपर किया गया है ।

ये पाँच शरीर नरक आदि चार गतियो के जीवो के ही होते है, सिद्ध जीवो के नहीं । सिद्ध जीव समस्त कर्मों से रहित होने के कारण समस्त शरीरों से भी रहित होते है । इस तथ्य को प्रकट करने के लिए सूत्र की आदि में 'शरीर' शब्द का प्रयोग किया गया है । शरीर शब्द का अर्थ है—जो विनाशील हो, क्षण-क्षण में पलटता रहे । ऐसा विनाशशील शरीर सिद्धों में नहीं पाया जा सकता । यही कारण है कि शरीर शब्द की अपेक्षा **काय** शब्द छोटा है और उसका प्रयोग किया गया होता तो सूत्र में लघुता होता, फिर भी उसका प्रयोग नहीं किया । **शरीर** शब्द का, बड़ा होने पर भी प्रयोग किया गया है सो उसकी विनश्वरता प्रकट करने के लिए ही।

तात्पर्य यह है कि संसारी जीवो के पाँच प्रकार के शरीर होते है-औदारिक, वैक्रिय, आहारक तैजस और कार्मण । प्रज्ञापनासूत्र के एकवीसवे २१ शरीरपद में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! शरीर कितने कहे है ?

उत्तर—गौतम ! पाँच शरीर कहे है—(१) औदारिक (२) वैक्रियक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण ।

तत्र—उदारेण बृहदसारेण द्रव्येण निर्वृत्तं शरीरमौदारिकं व्यपदिश्यते। एवम्—विक्रियया विकुर्वणाशक्त्या निर्वृत्तं-निष्पादितं शरीरं वैक्रियमुच्यते, विक्रिया-विकारो बहुरूपता एकस्याऽनेककरणम् तया निवृत्तमनेकाद्भुताश्रयं नानागुणर्द्धिसम्प्रयुक्तपुद्गलवर्णसमारब्धं वैक्रियं भवतीति भावः।

एवम्-आहारकम् शुभतरशुक्लविशुद्धद्रव्यवर्गणाप्रारब्धं प्रतिविशिष्टप्रयोजनायाऽऽह्रियते उपादीयतेऽन्तर्मुहूर्तस्थित्या-आहारकं शरीरं व्यपदिश्यते ॥

एवम्—तेजोऽग्निगुणयुक्तद्रव्यवर्गणाप्रारब्धं तेजोविकारः तेज एव वा तैजसमुष्णगुणं शापाऽनुग्रहसामर्थ्योद्भावनम्, तदेव यदोत्तरगुणप्रत्यया लब्धिरुत्पद्यते तदा परं जीवं प्रतिदाहाय क्रोधविषजाज्वल्यमानमानसोविसृजति गोशालादिवत्, प्रसन्नतायुक्तः पुनः शीततेजसाऽनुग्रहं करोति। यस्य तु-उत्तरगुणप्रत्यया लब्धिर्नोत्पन्ना भवति, तस्य सततमभ्यवहृताहारमेव पाचयति। यच्च खलु-पाचनशक्तियुक्तम्-, तदपि तैजसमुच्यते ॥

एवम्-कर्मणा निर्वृत्तं-निष्पन्नं शरीरं कार्मणमुच्यते अशेषकर्मराशेराधारभूतं वदरीफलादीनां कुण्डादिवत्, अशेषकर्मजननसमर्थं वा बीजादिवत् इति भावः। इयं च खलु-उत्तरगुणप्रकृतिः शरीरनामकर्मणः पृथगेव कर्माष्टकात् समूहादित्यतः कर्मैव-कार्मणमुच्यते।

जो शरीर स्थूल और निस्सार पुद्गलद्रव्यों से बना हो वह औदारिक कहलाता है। जो विक्रिया शक्ति से उत्पन्न हुआ हो वह वैक्रिय कहलाता है। विक्रिया, विकार, बहुरूपता या एक का अनेक बनाना, यह सब समानार्थक हैं, जो शरीर विक्रिया से बना हो, अनेकरूप और अद्भुत हो, नाना गुणो से युक्त पुद्गलवर्गणा से बना हो, वह वैक्रिय कहलाता है।

जो शरीर अत्यन्त शुभ, शुभ्र और विशुद्ध द्रव्यवर्गणाओं से उत्पन्न हो और एक विशेष प्रयोजन से ही बनाया जाय, तथा जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र हो, वह आहारक शरीर कहलाता है।

जो तैजस गुण वाले द्रव्यो से निर्मित हो, तेज का विकार हो या तेज रूप ही हो, वह तैजस शरीर है। यह शरीर उष्णगुण वाला तथा शाप और अनुग्रह के सामर्थ्य वाला भी हो सकता है।

यह शरीर जिसे प्राप्त होता है और यदि वह तेजोलेश्या लब्धिवाला हो तो वह जब क्रोध से प्रज्वलित होता है तब दूसरे जीव को दाह करने के लिए उसे बाहर निकालता है, जैसे गोशालक ने निकाला था। और जब प्रसन्न होता है तब शीत तेज से अनुग्रह भी करता है। जिस जीव को उत्तरगुणप्रत्ययक लब्धि प्राप्त नहीं होती उसका तैजस शरीर खाए आहार को पचाने का काम करता रहता है। इस प्रकार जो शरीर आहार को पचाने की शक्ति वाला हो वह भी तैजस कहा जाता है।

इसी प्रकार कर्म के द्वारा निष्पन्न शरीर कार्मण कहलाता है। यह शरीर समस्त कर्मराशि का उसी प्रकार आधारभूत है जैसे बोर आदि का अधार कुंड आदि होता है। अथवा यह शरीर

वस्तुतस्तु-कर्मभिर्निष्पन्नं-कर्मसु भवं कर्मसु जातं-कर्मैव वा कार्मणमुच्यते। एतेषां च; औदारिकादीनां शरीराणां ग्रहणप्रायोग्यानि न सर्वपुद्गलद्रव्याणि भवन्ति अपितु द्रव्यवर्गणाप्ररूपणक्रमेण कानिचिदेव पुद्गलद्रव्याणि भवन्ति। तद्यथा परमाणूनामेका वर्गणा राशिरूपा भवति, द्विप्रादेशिकानामपि स्कन्धानामेका वर्गणा भवति। एवम् एकपरमाणुवृद्ध्या संख्येयप्रादेशिकस्कन्धानां संख्येयवर्गणाः। असंख्येयप्रादेशिकस्कन्धानामसंख्येयवर्गणा भवन्ति।

अनन्तप्रदेशिकस्कन्धानामनन्ता वर्गणा भवन्ति। स्वल्पपुद्गलप्रयोगत्वाद् अयोग्याः समुल्लङ्घ्या अनन्तएवौदारिकशरीरयोग्या वर्गणा भवन्ति। तस्यैव पुनः-औदारिकशरीरस्याऽग्रहणयोग्याः ततोऽनन्ता, अतिबहुपुद्गलात्मकत्वात्। एवम्—एकैकपुद्गलप्रक्षेपपरिवृद्ध्या वैक्रियाहारकतैजसमाणप्राणापानमनः कार्मणानामेकैकस्याऽयोग्याः [योग्याः] अयोग्याश्चेति द्रव्यवर्गणत्रयमवसेयम्।

तत्र-प्रथमा द्रव्यवर्गणाऽल्पत्वाद् अयोग्या अन्तिमा-पुनर्बहुत्वाद् अयोग्या मध्यमा पुनस्तदनुरूपत्वाद् योग्याचेति सर्वत्र विभावनीयम्। अत्राऽप्रस्तुतमपि भाषा प्राणापानमनोग्रहणम्-कार्मण

वीज के समान समस्त कर्मों का जनक है। यह शरीरनामकर्म की उत्तरप्रकृति है अर्थात् शरीर नामकर्म का एक उपभेद है, अतः आठ कर्मों से कथंचित् भिन्न है। कर्म ही कार्मण कहलाता है। वास्तव में तो कर्मों के द्वारा निष्पन्न, कर्मों में होने वाला अथवा कर्म ही कार्मण शरीर कहलाता है।

औदारीक आदि शरीर चाहे जिन पुद्गलो से नहीं बनते, बल्कि इनके योग्य पुद्गलो की वर्गणा (राशि) अलग—अलग होती है। औदारिक वर्गणा के पुद्गलो से औदारिक शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलो से वैक्रिय शरीर आहारक वर्गणा के पुद्गलो से अहारकशरीर तैजसवर्गणा के पुद्गलों से तैजसशरीर और कार्मण वर्गणा के पुद्गलो से कार्मणशरीर का निर्माण होता है।

पुद्गलो के समूह को वर्गणा कहते है। इन समूहो या वर्गणाओ का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जैसे द्रव्य की अपेक्षा से समस्त परमाणुओ की एक वर्गणा अर्थात् राशि है। द्विप्रदेशी स्कंधो की एक वर्गणा है। इसी प्रकार एक—एक परमाणु की वृद्धि करके सख्यात वर्गणाएँ है, असंख्यात प्रदेशी स्कंधो की असंख्यात वर्गणाएँ है। अनन्तप्रदेशी स्कंधों की अनन्त वर्गणाएँ होती हैं।

अल्प पुद्गलो वाली कुछ ऐसी वर्गणाएँ होती है जिनसे औदारिक शरीर का निर्माण नहीं हो सकता अर्थात् वे औदारिक शरीर के अयोग्य होती है। उनसे आगे की अनन्त वर्गणाएँ औदारिकशरीर के योग्य होती है। इन योग्य वर्गणाओं से आगे की उनसे भी अनन्तगुणी ऐसी वर्गणाएँ है जो (अधिक द्रव्योवाली होने के कारण) औदारिक शरीर के योग्य नहीं होतीं। इस प्रकार औदारिक वर्गणाएँ तीन प्रकार की है अल्प पुद्गलो वाली होने के कारण अयोग्य। उचित परिणाम वाली होने से योग्य और वहुपुद्गलोवाली होने के कारण अयोग्य इसी प्रकार

शरीरयोग्यवर्गणा प्रदर्शनार्थमुपात्तम्। एवं तावत् प्रतिविशिष्टपुद्गलद्रव्यनिर्मापितानि औदारिकादीनि शरीराणि अवसेयानि,

तेषु पुनरौदारिकादिषु स्थूलाल्पप्रदेशबहुस्वामित्वात् प्रथमौदारिकस्य ग्रहणं कृतम्। तदनन्तरम्—पूर्वस्वामिसाधर्म्याद् वैक्रियग्रहणम्, तदनन्तरम्—लब्धिसामर्थ्याद् आहारकग्रहणम्। ततः सूक्ष्माऽसख्येयस्कन्धकत्वात् तैजसग्रहणम् ततश्च-सर्वकरणाश्रयसूक्ष्मानन्तप्रदेशत्वात् कार्मण-ग्रहणं कृतमित्यवसेयम् ॥२९॥

वैक्रिय, आहारक तैजस, भाषा, आणा पाणु मन और कार्मण में से प्रत्येक जाति की वर्गणाएँ तीन–तीन प्रकार की कही है—अयोग्य, योग्य और अयोग्य।

तात्पर्य यह है कि औदारिक आदि शरीरो के तथा भाषा आदि के निर्माण के लिए उचित परिमाणवाली वर्गणाएँ ही योग्य होतो हैं। इन उचित परिमाणवाली वर्गणाओ से कम परिमाणवाली जो वर्गणाएँ है, वे अयोग्य होती हैं और अधिक परिमाणवाली हो तो भी अयोग्य होती है। कम परिमाणनाली वर्गणाओ में पुद्गलद्रव्यो की कमी होने से उन्हे अयोग्य कहा गया है और अधिक परिमाण वालीं वर्गणाओं में उचित से अधिक पुद्गल होने से अयोग्य कहा गया है। पहले की वर्गणाएँ अल्पद्रव्य वाली होने के कारण अयोग्य है जब कि अन्त की वर्गणाएँ बहुत द्रव्य वाली होने से अयोग्य है। बीच की वर्गणाएँ उचित परिमाणवाली होने से योग्य कही गई है, अर्थात् उन योग्य वर्गणाओ से ही औदारिकशरीर आदि की निष्पत्ति होती है।

यहाँ पर वात ध्यान में रखना चाहिए कि प्रचुरतम द्रव्य वाली औदारिक वर्गणा में, जो औदारिकशरीर के अयोग्य होती है, एक पुद्गल मिला दिया जाय तो वह वैक्रिय शरीर के अयोग्य प्राथमिक वैक्रियवर्गणा के समान हो जाती है। इसी प्रकार आहारक आदि सभी आगे की वर्गणाओ के विषय में समझ लेना चाहिए।

यद्यपि यहाँ भाषावर्गणा आणा पाणु वर्गणा और मनोवर्गणा का उल्लेख करने का कोई प्रकरण नहीं है, तथापि कार्मणशरीर के योग्य वर्गणाओ को दिखलाने के उद्देश्य से उनका भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ये औदारिक आदि शरीर अलग–अलग औदारिक वर्गणा आदि से बने हुए है।

पाँच शरीरो में औदारिक शरीर का सर्वप्रथम निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि वह सब से अधिक स्थूल है, अल्पप्रदेशी है और उसके स्वामि सब से अधिक हैं। तत्पश्चात् वैक्रिय शरीर के निर्देश करने का कारण पूर्वस्वामी का साधर्म्य है अर्थात् जिसे पहले औदारिक शरीर प्राप्त हो वही वैक्रिय शरीर को प्राप्त करता है। जैसे वैक्रियशरीर लब्धि से भी होता है, उसी प्रकार आहारक शरीर भी लब्धि से प्राप्त होता है। इस समानता के कारण वैक्रियशरीर के पश्चात् आहारक का ग्रहण किया है। आहारक की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म होने से उसके वाद तैजस का और तैजस अधिक सूक्ष्म होने के कारण उसके वाद

मूलसूत्रम्- "उत्तरोत्तरं सुहुमं आदिओ चत्तारि भयणिज्जाइं-" ॥३०॥

छाया—उत्तरोत्तरं सूक्ष्मम् आदितश्चत्वारि भाज्यानि-" ॥३०॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे औदारिकादि पञ्च शरीराणां प्ररूपणं कृतम् सम्प्रति–तेषामुत्तरोत्तरं सूक्ष्मत्वं युगपत् खलु कदाचित्–द्वे, कदाचित् त्रीणि, कदाचित्-चत्वारि वा शरीराणि जीवविशेषस्य भवितुमर्हन्तीति प्रतिपादयितुमाह— 'उत्तरोत्तरं सुहुमं आदिओ चत्तारि भयणिज्जाइं' इति तेषां खलु पूर्वसूत्रोक्तानामौदारिकादि पञ्चशरीराणां मध्ये पूर्वपूर्वशरीरापेक्षया उत्तरोत्तरं-परं परं सूक्ष्मम् सूक्ष्मपरिणामपुद्गलद्रव्यारब्धं बोध्यम्। सूक्ष्मत्वादेव प्रायशः वैक्रियादिशरीरचतुष्टयदर्शनं न भवति। अथौदारिकशरीरमुत्कृष्टेन सहस्रयोजनाधिकप्रमाणमेव शास्त्रे प्रतिपादितं वर्तते। वैक्रियन्तु—उत्कृष्टेन योजनलक्षप्रमाणमुक्तम्। अतः कथं तावद् औदारिकाद् वैक्रियं सूक्ष्ममुच्यते इतिचेत्—?

सत्यम्। प्रमाणतो यद्यपि–वैक्रियशरीरम् औदारिकापेक्षयाऽतिमहद् भवति। तथापि—अदृश्यत्वात् वैक्रियशरीरं सूक्ष्ममेव व्यपदिश्यते, तत् पुनर्वैक्रियं शरीरं कदाचिद् वैक्रियकर्तुरिच्छया दृष्टिगोचरमपि भवतीति तु अन्यदेतत्। तथा च—औदारिकाद् वैक्रियं सूक्ष्मम्। वैकियात्–आहारकं सूक्ष्मम्, आहारकात्–तैजसं सूक्ष्मम्, तैजसात् शरीरात्–कार्मणं शरीरं सूक्ष्मं भवति।

कार्मणशरीर का ग्रहण किया है। आहारक शरीर की अपेक्षा तैजस में और तैजस की अपेक्षा कार्मणशरीर में अनन्त प्रदेश अधिक होते हैं ॥२९॥

सूत्र—'उत्तरोत्तरं सुहुमं' इत्यादि ॥३०॥

मूलसूत्रार्थ—पूर्वोक्त शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है और एक जीव में एक साथ चार शरीरो की भजना है ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिता—पूर्वसूत्र में औदारिक आदि पांच शरीरो की प्ररूपणा की गई है। वे शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है और किसी जीव के दो, किसी के तीन और किसी–किसी के चार तक एक साथ हो सकते हैं, यह बतलाने के लिए कहते है –

पूर्वोक्त पाँच शरीरो में से पूर्व शरीर की अपेक्षा आगे–आगे के शरीर सूक्ष्म है अर्थात् सूक्ष्म परिणमन वाले पुद्गलद्रव्यो से बनते हैं। सूक्ष्म होने के कारण ही वैक्रिय आदि चार शरीर हमें प्रायः दिखाई नहीं देते है।

शंका—शास्त्र में औदारिक शरीर का उत्कृष्ट परिमाण एक हजार योजन से किंचित् अधिक कहा है जब कि वैक्रिय शरीर का उत्कृष्ट परिमाण एक लाख योजन से किंचित् अधिक का कहा गया है। ऐसी स्थिति मे औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय शरीर सूक्ष्म कैसे हो सकता है ?

समाधान—सत्य है। परिमाण की अपेक्षा से यद्यपि औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर बडा होता है, तथापि अदृश्य होने के कारण वह सूक्ष्म ही कहा जाता है। यह बात दूसरी है कि विक्रिया करने वाले की इच्छा से उसका वैक्रिय शरीर दृष्टिगोचर भी हो सकता

औदारिकापेक्षया वैक्रियस्य, वैक्रियापेक्षया—आहारकस्य, आहारकापेक्षया तैजसस्य, तैजसापेक्षया—कार्मणस्य च शरीरस्य बहुतरपुद्गलद्रव्यारब्धत्वेऽपि तेषामुत्तरोत्तरेषां सूक्ष्मपरिणामपरिणतत्वात् सूक्ष्मत्वमवगन्तव्यम्। तस्मात्तेषामापेक्षिकीसूक्ष्मता बोध्या। न तु—सूक्ष्मनामकर्मोदयजनिता सूक्ष्मता तेषां भवति।

तेषु च पञ्चसु शरीरेषु कस्यचिज्जीवस्य आदितश्चत्वारि शरीराणि युगपद् भजनया-भवन्ति। कदाचित्कस्यचिद् द्वे शरीरे भवतः। कदाचित्कस्यचित्—त्रीणि शरीराणि, कदाचित्कस्यचित् चत्वारि शरीराणि भवन्ति, न तु—कदाचिदपि कस्यचित् पञ्चापि शरीराणि युगपद् भवन्तीति भावः।

तथा च—एकस्य जीवस्य युगपत् तैजसकार्मणे वा भवतः १। तैजस—कार्मणौ—दारिकाणि वा भवन्ति २। तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा भवन्ति ३। तैजस—कार्मणौ—दारिक—वैक्रियाणि वा भवन्ति ४। तैजस—कार्मणौ—दारिका—हारकाणि वा भवन्ति५—नापि वैं याहारके द्वे युगपद् भवतः। एकस्य युगपद् लब्धिद्वयाऽभावात्, कार्मणन्तु—सर्वेषाँ भवत्येवेति भाव॥३०॥

है। इस प्रकार औदारिक से वैक्रिय, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

यद्यपि शरीर अनुक्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म है तथापि पुद्गलप्रदेशो की अपेक्षा औदारिक शरीर से वैक्रिय और वैक्रिय से आहारक शरीर असख्यात गुणा है। आहारक की अपेक्षा तैजस शरीर में अनन्तगुणे अधिक प्रदेश है और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर में अनन्तगुणे प्रदेश है। इस प्रकार बहुतर द्रव्यो से उत्पन्न होने पर भी उनका उत्तरोत्तर सूक्ष्म परिणमन है, अतएव वे सूक्ष्म कहे गए है।

इन पाँच शरीरो में से किसी जीव को एक साथ चार शरीर तक हो सकते है। किसी को दो, किसी को तीन और किसी को चार शरीर तक प्राप्त हो सकते है।

(१) एक साथ एक जीव को दो शरीर हो तो तैजस और कार्मण होते है। दो शरीर सिर्फ विग्रहगति के समय ही होते है। (२) तीन शरीर एक साथ हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक होते हैं। यह तीन शरीर ऋद्धिहीन तिर्यंचो और मनुष्यों में पाये जाते है। (३) अथवा तीन शरीर तैजस, कार्मण और वैक्रिय होते है। जो देवगति और नारक गतिके जीवो को प्राप्त होते है। (४) चार हो तो तैजस, कार्मण, औदारिक तथा वैक्रिय हों अथवा (५) तैजस, कार्मण, औदारिक तथा आहारक, हो। यह चार शरीर वैक्रिय लब्धि या आहारक लब्धि वाले जीव को होते है।

एक जीव में एक साथ पाँचो शरीर नहीं होते और न वैक्रिय और आहारक शरीर एक साथ पाये जा सकते है, क्योकि एक साथ दोनों—वैक्रिय और आहारक लब्धियाँ नहीं हो सकतीं। कार्मण शरीर तो प्रत्येक संसारी जीव को होता ही है॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—तेषां च—औदारिकशरीराणामुत्तरोत्तरं सूक्ष्मं विज्ञेयम् । तद्यथा—औदारिकाद्—वैक्रियं सूक्ष्मं, वैक्रियादाहारकम् । आहारकात्—तैजसम्, तैजसात्—शरीरात्—कार्मणं सूक्ष्मं भवति । तथा च—औदारिकादीनां शरीराणां पूर्वं पूर्वमपेक्ष्य परं परं सूक्ष्मम्, सूक्ष्मं तद् यत्रास्ति, तत्सूक्ष्मम्—अर्शआदित्वादच् ।

एवञ्च उत्तरोत्तरं शरीरं सूक्ष्मपरिणामपुद्गलद्रव्यारब्धं सूक्ष्मत्वादेव च प्रायशो वैक्रियादि-चतुष्टयस्य दर्शनं नोपपद्यते । अत्र परिणति विशेषमासाद्य केचन पुद्गलाः अल्पेऽपि सन्तोऽति स्थूलतया भेण्डकाष्ठादिषु वर्तन्ते, केचन पुनर्निचितपरिणामभाजोऽतिभूयांसोऽपि हस्तिदन्तादिषु सूक्ष्मावस्थामासादयन्ति ।

प्रसिद्धमेतत् । प्रायशस्तुलामारोपिते भेण्डदन्तखण्डे प्रमाणतः सदृशे परिणामागतामति-विप्रकृष्टां धियमातनोति इति, तदेतत्—परिशिथिलां परिणतिमनपेक्ष्य निचिततरां परिणतिं पुद्ग-लानामाधत्ते । अन्यथा—तुल्यप्रमाणत्वे सति लाघवं—गौरवं वा, प्रतिपत्तुमशक्यम् भवेत् । तस्मात् पूर्वं पूर्वं शरीरमुत्तरोत्तरशरीरापेक्षया परिस्थूलद्रव्यारब्धमतिशिथिलनिचयमदभ्रं च भवति, उत्तरं सूक्ष्मं प्रत्यारब्धमतिघननिचयमणु च भवति । पुद्गलद्रव्यपरिणतेर्विचित्रत्वात् ।

एवञ्चौ—दारिकं शरीरमल्पद्रव्यं स्थूलं शिथिलनिचयं भवति, तदपेक्षया—वैक्रियं बहुतरद्रव्यं

तत्त्वार्थनिर्युक्त—औदारिक आदि शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है, यथा—औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है । इस प्रकार औदारिक आदि पाँच शरीरो में पूर्व—पूर्व की अपेक्षा उत्तर—उत्तर शरीर सूक्ष्म है ।

इस प्रकार उत्तर—उरत्त शरीर सूक्ष्म द्रव्यो से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म है और इसी कारण औदारिक शरीर के अतिरिक्त शेष चार वैक्रिय आदि शरीर प्रायः दिखाई नहीं देते है । पुद्गलो का परिणमन विचित्र प्रकार का है । कोई—कोई पुद्गल थोड़े होने पर भी पोले—पोले होने से स्थूल दिखाई पड़ते हैं, जैसे भिंडी या काष्ठ के पुद्गल; कोई इससे विप-रीत अत्यन्त सघन रूप में परिणत होते है । वे बहुत अधिक होने पर भी सूक्ष्म—परिणत होने से अल्प मालूम होते है, जैसे हाथीदांत के पुद्गल ।

यह वात प्रसिद्ध है कि लम्बाई—चौडाई में वरावर भिंडी के और हाथीदांत के खण्ड को यदि तराजू पर तोला जाय तो उनके तोल में बहुत अन्तर होता है । इससे सिद्ध होता है कि कोई पुद्गल सघन एवं सूक्ष्म परिणमन वाले और कोई शिथिल परिणमन वाले होते है; अन्यथा जव उनका प्रमाण तुल्य है तो लघुता और गुरुता क्यो होती ? इस कारण पहले—पहले के शरीर उत्तरोत्तर शरीरो की अपेक्षा स्थूल द्रव्यो से वने हुए, और शिथिल परिण-मन वाले होते है और उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म द्रव्यों से निर्मित, सघन परिणति वाले और सूक्ष्म होते है । यह पुद्गल द्रव्यो के परिणमन की विचित्रता है ।

इस प्रकार औदारिक शरीर अल्पद्रव्य वाला, स्थूल और पोला होता है, उसकी

सूक्ष्मघननिचयं चेति। अतः सूक्ष्मे व्यपदिश्यते। अथ–औदारिकं शरीरमुत्कृष्टतो योजनसहस्राधिकप्रमाणमेव शास्त्रे प्रतिपादितम्, वैक्रियं पुनर्योजनलक्षप्रमाणमुक्तम् अतः कथं तत्–सूक्ष्मं कथ्यते? इति चेत्—

अत्रोच्यते **प्रमाणो** यद्यपि–अतिमहद्वैक्रियं भवति। तथापि–अदृश्यत्वात् सूक्ष्ममेव तद् व्यपदिश्यते, तत्कर्तुरिच्छया पुनर्दृष्टिगोचरं भवतीति न कोऽपि दोषः एवम्–वैक्रियादाहारकं सूक्ष्मं भवति तस्य बहुतरपुद्गलद्रव्यारब्धत्वेऽपि सूक्ष्मतरपरिणतत्त्वात्–आहारकात् तैजसमतिसूक्ष्मपरिणामपरिणतं बहुतरपुद्गलद्रव्यारब्धं च भवति। तैजसात्–कार्मणमतिसूक्ष्ममतिबहुकद्रव्यप्रचितं च भवति तस्मात् आपेक्षिकीसूक्ष्मता तेषामवगन्तव्या, न तु–सूक्ष्मनामकर्मोदयजनिता सूक्ष्मता भवति इति भाव.।

अथैवं तावत् कारणानां सूक्ष्मत्वात् अतिबहुपुद्गलद्रव्यारब्धमपि प्रचयविशेषात् परं परं शरीरं सूक्ष्मं भवतु–३ किन्तु–उत्तरोत्तरेषु बहुतरद्रव्यारब्धत्वे किं प्रमाणमितिचेत्–?

उच्यते तेषामौदारिकशरीराणां परं परमेव प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति तैजसं–कार्मणं च विहाय। तथाचौदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असख्येयगुणा भवन्ति वैक्रियशरीर-

---

अपेक्षा वैक्रिय शरीर बहुतर द्रव्यो वाला, सूक्ष्म और सघन परिणमन वाला होता है। इसी कारण वह औदारिक की अपेक्षा सूक्ष्म कहा जाता है।

प्रश्न—औदारिक शरीर शास्त्र में अधिक से अधिक एक हजार योजन से कुछ अधिक परिमाण वाला कहा गया है किन्तु वैक्रिय शरीर कुछ अधिक एक लाख योजन परिणाम वाला होता है; फिर भी उसे सूक्ष्म कैसे कहा?

उत्तर—यद्यपि प्रमाण की अपेक्षा वैक्रिय शरीर बहुत बड़ा होता है तथापि अदृश्य होने के कारण वह सूक्ष्म ही कहलाता है। हाँ, वैक्रिय शरीर बनाने वाले की इच्छा हो तो वह दृष्टिगोचर भी हो जाता है, अतएव उसे सूक्ष्म कहने में कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार वैक्रिय की अपेक्षा आहारक शरीर सूक्ष्म होता है। वह बहुसख्यक द्रव्यो से उत्पन्न होने पर भी सूक्ष्मतर परिणाम वाला होने से सूक्ष्म है। आहारक की अपेक्षा तैजस शरीर बहुत सूक्ष्म और बहुत द्रव्यो से बना होता है। तैजस शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर बहुत अधिक द्रव्यो से बना हुआ होने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यहाँ उत्तरोत्तर शरीरो में जो सूक्ष्मता का विधान किया गया है, वह आपेक्षिक है, सूक्ष्मनाम कर्म के उदय से उत्पन्न सूक्ष्मता नहीं।

प्रश्न—कारणों की सूक्ष्मता होने से बहुसख्यक पुद्गलो द्वारा रचित होने पर भी प्रचय की विशेषता के कारण आगे–आगे के शरीर भले सूक्ष्म हो किन्तु आगे–आगे के शरीर बहुसंख्यक पुद्गलो से बने है, इसमें प्रमाण क्या है?

उत्तर—औदारिक आदि शरीरों का निर्माण क्रमशः असख्यात गुणे अधिक प्रदेशों से होता है। अर्थात् औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर के प्रदेश असंख्यातगुणे

प्रदेशेभ्यश्चाहारकशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणा भवन्ति । प्रवृद्धो देशः प्रदेश इति व्युत्पत्याऽनन्तगुण-स्कन्धो यदाऽन्यैरनन्ताणुकैः स्कन्धैरसंख्यातैर्गुणितो भवति तदा—वैक्रियशरीरग्रहणयोग्यो भवति ।

एवं वैक्रियशरीरग्रहणयोग्यएकोऽनन्तप्रदेशस्कन्धे यदाऽन्यैरनन्ताणुकस्कन्धैरसंख्यातैर्गुणितो भवति तदाहारकशरीरग्रहणयोग्यतामासादयति किन्तु—तैजस—कार्मणशरीरयोर्नायं नियमो वर्तते, तयोर्नियमान्तर मधुनैवाग्रेऽभिधास्यते । एवञ्च—औदारिकशरीरयोग्यस्कन्धोऽनन्ताणुकोऽपि सर्व-स्तोको भवति, उत्तरस्कन्धापेक्षया ऽनन्तसंख्यायाश्चाऽनन्तभेदत्वात् ।

तस्मात्—औदारिकशरीरयोग्यएकः स्कन्धो यदाऽन्यैरनन्तप्रदेशस्कन्धैरसंख्यातैर्गुणितो भवति, तदा—वैक्रियशरीरयोग्यः सम्पद्यते इति भावः । एवं वैक्रियशरीरयोग्यस्कन्धेभ्य आहारकशरीरयोग्याः स्कन्धा असंख्येयगुणा भवन्ति एतावता—वैक्रिययोग्यः स्कन्धो यदाऽन्यैरनन्तप्रदेशस्कन्धैरसंख्यातै-र्गुणितो भवति । तदा—ऽऽहारकयोग्यो जायते इति फलितम् ।

तैजस—कार्मणशरीरे पुनः पूर्वपूर्वापेक्षया—प्रदेशार्थत्वेनाऽनन्तगुणे भवतः । तथाच—आहारकात् तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, भवति । एवञ्च—ऽऽहारकशरीर-

---

अधिक है, और वैक्रिय शरीर के प्रदेशो से आहारक शरीर के प्रदेश असंख्यातगुणे अधिक होते है । आहारक की अपेक्षा तैजस के और तैजस की अपेक्षा कार्मणशरीर के प्रदेश अन-न्तगुणे अधिक होते हैं । प्रवृद्ध देश प्रदेश कहलाता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जब अन-न्तगुण स्कन्ध अन्य अनन्ताणुक स्कंधो से असंख्यात बार गुणित किया जाय तब वह वैक्रिय शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है ।

इसी प्रकार वैक्रिय शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य एक अनन्त प्रदेशी स्कन्ध जब अन्य अनन्ताणुक स्कंधो से असंख्यात वार गुणित किया जाता है, तब वह आहारकशरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है । मगर तैजस और कार्मण शरीर के विषय में यह नियम लागू नहीं होता । उनके लिए दूसरा नियम है जो अभी आगे कहा जाएगा । इस प्रकार औदारिक शरीर के योग्य स्कंध अनन्ताणुक होने पर भी उत्तर स्कंधो की अपेक्षा सब से छोटा होता है । क्योकि अनन्त संख्या के अनन्त भेद है ।

इसका भावार्थ यह है कि औदारिक शरीर के योग्य एक स्कंध जब अन्य अनन्त-प्रदेशी स्कंधो के साथ असंख्यात वार गुणित किया जाता है तब वह वैक्रिय शरीर के योग्य बनता है । इसी प्रकार वैक्रिय शरीर के योग्य स्कंधों से आहारकशरीर के योग्य स्कंध असं-ख्यातगुणा होता है । इसका फलितार्थ यह है कि वैक्रिय शरीर के योग्य स्कंध जब अन्य अन-न्तप्रदेशी असंख्यात स्कंधो से गुणित होता है तब वह आहारक शरीर के योग्य होता है ।

तैजस और कार्मण शरीर पूर्व—पूर्व के शरीर की अपेक्षा प्रदेशो से अनन्त गुणित होते हैं । इस प्रकार आहारकशरीर से तैजस में अनन्तगुणा प्रदेश है और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर अनन्तगुणित प्रदेशो वाला है । अभिप्राय यह हुआ कि आहारक शरीर के योग्य अन-

योग्योऽनन्ताणुकस्कन्धोऽन्यैरनन्तपरमाणुप्रचितस्कन्धैरनन्तैर्यदा गुणितो भवति, तदा—तैजसशरीर-ग्रहणयोग्यो भवति। एवम्—तैजसशरीरयोग्योऽनन्ताणुकस्कन्धोऽन्यैरनन्ताणुकैः स्कन्धैर्यदा गुणितो भवति, तदा—कार्मणशरीरग्रहणयोग्यः सम्पद्यते तथाचोक्तम्प्रज्ञापनायां २१ एकविंशतितमे शरीरपदे—

"सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा तेयाकम्मगसरीरा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाए, अणंतगुणा पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा पदेसट्ठयाए, वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठ-याए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, तेयगसरीरा पदेस-ट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा" इत्यादि।

छाया—सर्वस्तोकानि आहारकशरीराणि द्रव्यार्थतया, वैक्रियशरीराणि द्रव्यार्थतया असंख्येय-गुणानि, औदारिकशरीराणि द्रव्यार्थतया—असंख्येयगुणानि, तैजसकार्मणशरीरे द्वे अपि तुल्ये द्रव्यार्थतया—अनन्तगुणे प्रदेशार्थतया, सर्वस्तोकानि आहारकशरीराणि प्रदेशार्थतया, वैक्रिय-शरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि, औदारिकशरीराणि प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणानि, तैजसशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, कार्मणरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि इति।

किञ्च—अन्यशरीरेभ्य स्तैजसकार्मणशरीरयोः अपरोऽयं विशेषः यत—तैजसकार्मणशरीर लोकान्तं विहाय सर्वत्राऽप्रतिहते भवतः। लोकान्ते तु—ते अपि प्रतिहते भवतः।

अयमाशयो जीवाजीवाधारक्षेत्रं तावद् लोकपदेन व्यपदिश्यते, तस्य लोकस्याऽन्तोऽवसानं लोकान्त उच्यते, तस्मिन्—लोकान्ते हि—तैजस—कार्मणशरीरे प्रतिहन्येते, तत्र—गतिस्थितिहेतुधर्मा-धर्मद्रव्याभावात्, तदुपग्रहाद्धि जीवानां पुद्गलानां च गतिः सञ्जायते।

न्ताणुक स्कंध जब अन्य अनन्त अनन्त प्रदेशो वाले स्कंधो से गुणित किया जाय, तब वह तैजस शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है। इसी प्रकार तैजस शरीर के योग्य अनन्ता-णुक स्कंध अन्य अनन्ताणुक स्कंधो से गुणित किया जाय तब कार्मणशरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है। प्रज्ञापनासूत्र के शरीर पद के इक्कीसवें २१ पद में कहा है—

द्रव्य की अपेक्षा आहारक शरीर सब से थोड़े है, द्रव्य की अपेक्षा वैक्रिय शरीर उनसे असख्यात गुणा अधिक है, द्रव्य की अपेक्षा औदारिकशरीर उनसे भी असख्यात गुणा हैं, तैजस और कार्मणशरीर दोनो द्रव्य की अपेक्षा तुल्य है किन्तु अनन्तगुणा है, प्रदेशो की अपेक्षा सबसे कम आहारक शरीर है, वैक्रिय शरीर प्रदेशो की अपेक्षा उनसे असंख्यातगुणा है, औदारिक-शरीर प्रदेशो की अपेक्षा असंख्यातगुणा है तैजसशरीर प्रदेशो की अपेक्षा अनन्तगुणा है और कार्मणशरीर प्रदेशो की अपेक्षा अनन्त गुणा है, इत्यादि।

अन्य शरीरो से तैजस और कार्मण शरीर की एक विशेषता यह भी है कि ये दोनों लोकान्त के सिवाय सर्वत्र अप्रतिहत होते है। हाँ, लोक के अन्त में ये भी प्रतिहत हो जाते है। आशय यह है कि जीवो और अजीवो का आधारभूत क्षेत्र लोक कहलाता है। लोक के अन्त

यथा—जलचराणां मत्स्यादीनां जलद्रव्यापेक्षा गति रुपजायते, लोकान्तादन्यत्र तु—सर्वस्मिन् लोके न तयोः प्रतिघातः क्वापि सम्भवति, तयोर्मूर्तत्वेऽपि—अतिसूक्ष्मत्वात सर्ववर्त्मसु गतेः प्रतिघात सदाचारमुनेरिव सम्भवति, ते द्वेअपि तैजसकार्मणशरीरे न किञ्चित् प्रतिहतस्नेहपर्वतजलधिवलयद्वीपपातालनरकविमानप्रस्तराणामपि भेदने विदधति वज्रवदक्षतस्वरूपे सति न कदाचिदपि कुण्ठतामासादयतः । यथाहि —परिस्फुरन्मूर्त्तयोऽपि तेजोऽवयवाः लोहपिण्डान्तः प्रविशन्तः कयापि युक्त्या निवारयितुं न पार्यन्ते, तन्निवारणाय च जलकणाः समाहृता भवन्ति ।

सूक्ष्मत्वात् एवमेव— तैजस—कार्मणशरीरे राजवल्लभपुरुषविशेषवत सर्वत्राप्रतिहतप्रवेशनिर्गमे अवगन्तव्ये । उक्तञ्च राजप्रश्नीयसूत्रे—६६—सूत्रे "अप्पडिहयगई" अप्रतिहतगतिः । किञ्च—तैजसकार्मणशरीराभ्यां न जातुचित् ससारीजीवो विरहितो भवति संसारिभिः सह तयोरनादिसम्बन्धात् ।

को लोकान्त मे तैजस और कार्मण शरीर प्रतिहत हो जाते है, अर्थात् जहाँ लोक का अन्त होता है वहाँ तैजस—कार्मण शरीर की गति का भी अन्त हो जाता । लोक के बाहर गति का कारण धर्मद्रव्य और स्थिति का कारण अधर्मद्रव्य नहीं होता । धर्मद्रव्य के निमित्त से ही जीवों और पुद्गलो की गति होती है । अतएव जहाँ धर्मद्रव्य का अभाव है वहाँ गति का भी अभाव होता है ।

जैसे मत्स्य आदि जलचरो की गति जल की सहायता से होती है, उसी प्रकार समस्त जीवो और पुद्गलो की गति धर्मद्रव्य की सहायता से ही होती है ।

लोकान्त को छोड़ कर सम्पूर्ण लोक में कहीं भी उनका प्रतिघात नहीं होता अर्थात् उनकी गति में रुकावट नहीं आती । यद्यपि ये दोनो शरीर भी मूर्त्त है, फिर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अप्रतिहत है । चाहे पर्वत हो या समुद्र, वलय, द्वीप, पाताल, नरक अथवा विमान का पाथड़ा हो, उसे भेद कर वे सर्वत्र अप्रतिहत गति होते हैं । उनका स्वरूप वज्र के समान अक्षत है । जैसे चम चमाते हुए तेज के अवयव लोहे के पिण्ड के भीतर प्रवेश कर जाते है और किसी भी युक्ति से रोके नहीं जा सकते, क्योकि वे सूक्ष्म होते हैं, उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर भी राजा के प्रिय पुरुष के समान सर्वत्र प्रवेश करते और निकलते है । राजप्रश्नीय सूत्र के, ६६ वें सूत्र में उन्हे 'अप्पडिहयगई' अर्थात् बिना किसी रुकावट के गति करने वाले कहा है ।

तैजस और कार्मण शरीर से संसारी जीव कदापि रहित नहीं होता । समस्त संसारी जीवों के साथ उनका संवन्ध अनादि काल से है । जैसे सुवर्ण और पाषाण का संयोग अनादि है तथा आकाश और पृथ्वी आदि का संयोग अनादिकालीन है, उसी प्रकार जीव के साथ

एवञ्च - सुवर्णधातुपाषाणसंयोगवत् गगनपृथिव्यादिसंयोगवद् वा तयोर्जीवेन सह संबन्धः नैकान्तत एवाऽनादिः सम्बन्धः अपि तु—द्रव्यास्तिकनयाऽवष्टम्भेन तयोरतिदीर्घकालप्रवाहादविच्छेद-वर्त्ती निखिलभविष्यदवस्थान्तरबीजभूतो विचित्रपरिणामशक्तिप्रचितपुद्गलद्रव्यैः—राधीयमानप्रचयाऽपचयोऽनादिपुरुषप्रयत्ननिष्पाद्य विविधरूपकर्मविकाराविच्छेदः सन्तानविशेषस्तदभ्युपगमेनाऽयमनादि-सम्बन्धो व्यवह्रियते। आदिमांश्च पर्यायवक्तव्यताभ्यन्तरितत्वात्।

अथा—ऽनादिसम्बन्धे सत्यपि एते तावत् तैजसकार्मणशरीरे किम् अशेषसंसारिण एव भवतः—? आहोस्वित्—कस्यचिदेव संसारिणो भवतः इति चेत्— उच्यते सर्वस्यैव संसारिणो जीवस्य तैजसकार्मणशरीरे भवतः न तु—कस्यचिदेव जीवस्येति भाव।

अथ—यथा तैजसकार्मणशरीरेऽनादिसम्बन्धात् सर्वस्य संसारिजीवस्य युगपद्भवतः तथा—किमन्यपि शरीराणि युगपदेकस्य भवन्ति? उताहो न, इत्याशङ्कायामुच्यते। आदितश्चत्वारि भाज्यानि एकस्य जीवस्य युगपत् तैजसकार्मणे वा भवतः? तैजसकार्मणौदारिकाणि वा भवन्ति—२ तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा भवन्ति ३ तैजसकार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा भवन्ति—४ तैजसकार्मणौ-दारिकाहारकाणि वा भवन्ति—५ कार्मणमेव वा भवति—६ कार्मणौदारिके वा भवतः—७कार्मण-वैक्रिये वा भवतः—८ कार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा भवन्ति—९ कार्मणौदारिकाहारकाणि वा भवन्ति—१०कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा भवन्ति—११कार्मणतैजसौदारिकाणि वा भवन्ति—१२ न तु कदाचित्-युगपत् पञ्चशरीराणि भवन्ति एकस्य जीवस्य, नापि—वैक्रियाहारके कस्यचिद् युगपद् भवतः, स्वाभिविशेषात्—लब्धिद्वयाभावात्'

इन दोनो शरीरो का सम्बन्ध अनादिकालीन है। किन्तु यह अनादि सम्बन्ध एकान्त रूप से नहीं समझना चाहिए। किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। दोनों शरीर प्रवाह रूप में अनादि कालिन है। तात्पर्य यह है कि इन दोनो शरीरो की परम्परा अनादि-काल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है और जब तक जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक चलती रहती है। परन्तु पर्याय की अपेक्षा से उनका सम्बन्ध आदिमान भी है।

द्रव्य से अनादि सम्बन्ध होने पर भी ये तैजस और कार्मण शरीर क्या सभी संसारी जीवो के होते हैं अथवा किसी—किसी के ही होते है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी संसारी जीवो के तैजस—कार्मण शरीर होते है; ऐसा नहीं कि किसी के हो और किसी के न हों।

प्रश्न - जैसे तैजस और कार्मण शरीर अनादि कालीन सम्बन्ध होने से सभी संसारी जीवों के साथ—साथ होते है, उसी प्रकार क्या अन्य शरीर भी एक साथ एक जीव को होते है, अथवा नहीं?

उत्तर भजना से एक जीव के एक साथ चार शरीर तक हो सकते है—(१) एक जीव के एक साथ तैजस और कर्मण—दो शरीर होते हैं (२) किसी के तैजस, कार्मण और औदारिक होते है (३) किसी के तैजस, कार्मण और वैक्रिया होते है (४) किसी के तैजस, कार्मण, औदा-रिक और वैक्रिय होते है (५) किसी को तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक होते है। (६) किसीको कार्मण ही होता है (७) किसीको कार्मण और औदारिक होते हैं (८) किसीको कार्मण और वैक्रिय होते है (९) किसीको कार्मण औदारिक और वैक्रिय होते हैं (१०) किसीको कार्मण

इमे उभे लब्धी युगपदेकत्र न सम्भवतो व्यक्तिरूपेण, यस्मिन्—काले वैक्रियम्—तस्मिन्नेव काले नाहारकं सम्भवति. । पर्यायेण पुनः सम्भवतः, वैक्रियं कृत्वा—उपरततद् व्यापारः आहारकं करोत्येव । तदभावाच्च नैककाले पञ्चशरीराणि सम्भवन्ति—एकस्य जीवस्येति भावः ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां एकविंशतितम २१ शरीरपदे—"**जस्स णं भंते—! ओरालियसरीरं—० । गोयमा? जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं सिय अत्थि-सिय नत्थि, जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि-सिय णत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं— गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं णियमा अत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं, जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ! गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स पुण तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं कम्मगसरीरेवि,**

जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं, जस्स आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियरीरं ! गोयमा ! जस्स वेउव्विसरीरं तस्स आहारगसरीरं णत्थि, जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं णत्थि, तेया कम्माइं जहा ओरालिएणं समं तहेव, आहारगसरीरेण वि समं तेयाकम्माइं तहेव उच्चारियव्वाइं, जस्स णं भंते—! तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं ? गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्स वि तेयगसरीरं णियमाअत्थि" इति

छाया—यस्य खलु भदन्त—? औदारिकशरीरम्० गौतम ! यस्य—औदारिकशरीरम्—तस्य वैक्रियशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति । यस्य वैक्रियशरीरं तस्य—औदारिकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति,

---

औदारिक और आहारक होते है (११) किसीको कार्मण, तैजस औदारिक और वैक्रिय होते है (१२) किसीको कार्मण, तैजस और औदारिक होते है।

एक जीवको पांच शरीर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि आहारक औरक-वक्रिय शरीर साथ साथ नहीं होते, दोनो लब्धियां एकजीवको एक साथ नहीं होती ।

ये दोनो लब्धियाँ एक साथ एक जीव में व्यक्त रूप में नहीं हो सकती जिस काल में वैक्रिय लब्धि का प्रयोग किया जाता है, उस समय आहारक लब्धि का प्रयोग नहीं होता । हाँ आगे—पीछे प्रयोग किया जा सकता है; पहले वैक्रिय शरीर करके उसके व्यापार से निवृत्त हो जाय तो बाद में आहारकशरीर बना सकता है । ऐसी स्थिति में एक जीव के एक साथ पाँच शरीर नहीं हो सकते । प्रज्ञापना के २१ वें पद में कहा है —

प्रश्न—भगवन् ! जिस जीव को औदारिक शरीर है उसको वैक्रिय शरीर और जिसको वैक्रिय शरीर होता है उसको औदारिक शरीर होता है या नहीं ?

उत्तर—गौतम ! जिसको औदारिकशरीर है उसको वैक्रिया शरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता । जिसके वैक्रिय है उसके औदारिक शरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होना ।

यस्य खलु भदन्त! औदारिकशरीरं तस्य आहारकशरीरम्, यस्य आहारकशरीरं तस्य—औदारिकशरीरम्। गौतम! यस्य औदारिकशरीरं तस्य—आहारकशरीरं स्यादस्ति स्याद् नास्ति,

यस्य आहारकशरीरं तस्य—औदारिकशरीरं नियमादस्ति यस्य खलु भदन्त! औदारिकशरीरम्. तस्य तैजसशरीरम्, यस्य तैजसशरीरं तस्य—औदारिकशरीरम्। गौतम! यस्यौदारिकशरीरं तस्य तैजसशरीरं नियमादस्ति, यस्य पुनस्तैजसशरीरं तस्य औदारिकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति। एवं कार्मणशरीरेऽपि

यस्य खलु भदन्त—! वैक्रियशरीरं तस्य-आहारकशरीरम् यस्य—आहारकशरीरं तस्य वैक्रियशरीरम्। गौतमा—! यस्य वैक्रियशरीरं तस्याऽऽहारकशरीरं नास्ति। यस्य पुनराहारकशरीरं तस्य वैक्रियशरीरं नास्ति तैजसकार्मणे यथा—औदारिकेण समम् तथैव आहारकशरीरेऽपि समं तैजसकार्मणे तथैव—उच्चारयितव्ये। यस्य खलु भदन्त ? तैजसशरीरं तस्य कार्मणशरीरम् यस्य कार्मणशरीरं तस्य तैजसशरीरम्।

प्रश्न—भगवन्! जिसको औदारिक शरीर है उसको आहारकशरीर और जिसको आहाकशरीर है उसको औदारिकशरीर होता है?

उत्तम—गौतम! जिसको औदारिकशरीर हो उसको आहारक शरीर कदाचित होता है, कदाचित् नहीं; जिसको आहारक शरीर है उसको औदारिक शरीर नियम से होता है।

प्रश्न—भगवन्! जिसको औदारिक शरीर होता है उसके तैजस और जिसको तैजस शरीर होता है उसके औदादिक होता है कि नहीं?

उत्तर—गौतम! जिसको औदारिक शरीर है उसको तैजस शरीर नियम से होता है; किन्तु जिसक तैजस शरीर हो उसको औदारिक शरीर होता भी है अथव नहीं भी होता। ऐसा ही कार्मण शरीर के लिए भी कहना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! जिसको वैक्रिय शरीर है उसको आहारक शरीर और जिसको आहारक शरीर है उसको वैक्रिय शरीर होता है?

उत्तर—गौतम! जिसको वैक्रिय शरीर होता है, उसको आहारक शरीर नहीं होता, जिसको आहारक शरीर होता है उसको वैक्रिय शरीर नहीं होता। तैजस और कार्मण शरीर के विषय में औदारिक के संवन्ध में जैसा कहा है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए और आहारक शरीर के विषय में भी उसी प्रकार कहना चाहिए; अर्थात् जिसक वैक्रिय अथवा आहारक शरीर होता है, उसके तैजस और कार्मण शरीर नियम से होते है।

प्रश्न—भगवन्! जिसके तैजस शरीर होता है उसके कार्मण और जिसके कार्मण होता है उसके तैजस होता है?

गौतम ! यस्य तैजसशरीरं तस्य कार्मणशरीरं नियमादस्ति, यस्यापि कार्मणशरीरम् तस्यापि तैजसशरीरं नियमादस्ति. इति ॥३०॥

मूलसूत्रम्—"कम्मगं उवभोगवज्जिए" ॥३१॥

छाया—कार्मणमुपभोगवर्जितम्—" ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे—औदारिकवैक्रियतैजसकार्मणभेदेन पञ्चविधं शरीरं प्ररूपितम् सम्प्रति—कार्मणप्रस्तावात् तद् विषयं किञ्चिद् वैशिष्ट्यं प्रतिपादयितुमाह "कम्मगं उवभोग—वज्जिए—" इति। कार्मणम्—कर्मणा निर्वृत्तं निष्पन्नं पूर्वोक्तस्वरूपं कार्मणशरीरम् उपभोगवर्जितम् इन्द्रियप्रणालिकया शब्द—वर्ण—गन्धरस—स्पर्शादीनामुपलब्धिरूपयोग., तद्वर्जितम् तद्रहितं वर्तते विग्रहगतौ कार्मणशरीरसत्त्वे भावेन्द्रियनिवृत्तिक्षयोपशमलब्धौ सत्यामपि द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्यभावात् शब्दाद्युपभोगाभावो भवति।

तथाच—औदारिकादिशरीरसद्भावे सुखदुःखरूपविषयभोगः प्रत्यक्षसिद्धो वर्तते, किन्तु—यदा—विग्रहगतौ कार्मणशरीरं भवति तदा नाऽनेन शरीरेण शब्दादिविषयोपभोगः सम्भवति। तस्मात्—कार्मणशरीरं निरूपभोगं भवति ॥३१॥

मूलसूत्रम्—ओरालिए दुविहे संमुच्छिमे—गब्भवक्कंतिए य ॥३२॥

छाया—"औदारिकं द्विविधम् , सम्मूर्च्छिमं—गर्भव्युत्क्रान्तिकं च—" ॥३२॥

उत्तर—गौतम ! जिसको तैजस शरीर होता है उसको कार्मण शरीर नियम से होता है और जिसको कार्मण शरीर होता है उसको तैजस शरीर नियम से होता है ॥३०॥

सूत्र—'कम्मगं उवभोग वज्जिए' ॥३१॥

मूलसूत्रार्थ—कार्मण शरीर उपभोग से रहित है ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण के भेद से पाँच प्रकार के शरीरो का निरूपण किया गया। अब कार्मण का प्रकरण होने से उसके विषय में कुछ विशिष्टता का प्रतिपादन करते है—

कर्म से उत्पन्न होने वाला; पूर्वोक्त स्वरूप वाला कार्मण शरीर उपभोग से रहित है। इन्द्रियों के द्वारा शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि की उपलब्धि होता उपभोग कहलाता है। कार्मण शरीर इस उपभोग से रहित है। विग्रहगति में कार्मण शरीर के विद्यमान रहने पर भी और लब्धि रूप भावेन्द्रिय के होने पर भी द्रव्येन्द्रियो का अभाव होने से शब्द आदि भोगा उपभोग नहीं होता है।

औदारिक आदि शरीरो के सद्भाव में सुख—दुःख रूप विषयों का उपभोग तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है, किन्तु जब विग्रह गति में कार्मण शरीर होता है तब इस शरीर से शब्द आदि विषयों का उपभोग नहीं हो सकता। इस कारण कार्मण शरीर को उपभोग से रहित कहा गया है ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्तेषु गर्भव्युत्क्रान्तिक–सम्मूर्च्छनो–पपातेति त्रिषु जन्मसु कस्मिन् जन्मनि–औदारिकादिपञ्चशरीराणां मध्ये कतमत्–शरीरं भवतीति जिज्ञासायामाह—**ओरालिए दुविहे संमुच्छिमे गब्भवक्कंतिए य–**" इति। औदारिकम् उदारेण स्थूलेन पुद्गलेन निर्वृत्तं शरीरम् औदारिकमुच्यते तच्च–द्विविधम् सम्मूर्च्छिमम्–गर्भव्युत्क्रान्तिकं च तथाच–सम्मूर्च्छनजन्मनां गर्भव्युत्क्रान्तिकानां जीवानाम् औदारिकं शरीरं भवति, न तु–तेषमौदारिकमेवेत्यवधारणम्। तैजस कार्मणशरीरद्वयमपि तेषां सम्भवति। लब्धिप्रत्ययवैक्रिया–ऽऽहारकयोर्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकानां जीवानामुत्तरकालभावित्वात्। औदारिकशरीरं खलु जघन्येनाऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणम् उत्कृष्टेन–सहस्रयोजनप्रमाणं चेति।

तत्रोदारं तावत्–वयः परिणामेनोपचीयमानतया वर्धनम्, वयो हानिप्राप्त्या च जीर्णता भवति औदारिकशरीरस्य, शिथिलसन्धिबन्धनेन–लम्बमानचर्ममण्डलेन च शीर्णता तस्य भवतीति भावः॥३२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वोक्तानामौदारिकादिपञ्चानां शरीराणां कतमत् शरीरं सम्मूर्च्छनादिषु त्रिषु जन्मसु क्व जायते इत्याशङ्कायामाह–औदारिकं शरीरं तावद् द्विविधं प्रज्ञप्तम्, सम्मूर्च्छिमं–गर्भव्युत्क्रान्तिकञ्चेति तथाच–सम्मूर्च्छनजन्मनां–गर्भजन्मनां च प्राणिनामौदारिकं शरीरं

मूलसूत्रार्थ—"ओरालिए दुविहे" इत्यादि ॥३२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले तीन प्रकार के जन्म कहे गए है। उनमें से किस जन्म में औदारिक आदि पाँच शरीरो में से कौन सा शरीर होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं

औदारिक शरीर दो प्रकार का है–समूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक।

उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलों से बनने वाला शरीर औदारिक कहलाता है। उसके दो भेद है–सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रन्तिक। इस प्रकार सम्मूर्छन जन्म और गर्भजन्म से उत्पन्न होने वाले जीवों को औदारिक शरीर होता है। यहाँ ऐसा अवधारण नहीं करना चाहिए कि उनको औदारिक ही होता है। क्योंकि उनके तैजस और कार्मण शरीर भी होते है, लब्धिनिमित्तक वैक्रिय और आहारक शरीर भी गर्भज जीवों के आगे चल कर हो सकते हैं। औदारिक शरीर जघन्य से अंगुल के असख्यात भाग प्रमाण और उत्कृष्ट से हजार योजन प्रमाण से कुछ अधिक होता है।

औदारिक शरीर, जैसे–जैसे उम्र बढती जाती है, वैसे–वैसे वृद्धि को प्राप्त होता रहता है और जब उम्र की हानि होने लगती है तो जीर्ण होने लगता है; फिर जब सन्धिबन्धन ढीले पड जाते है और चमड़ी लटकने लगती है तो शीर्ण होता है ॥३२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त औदारिक आदि पाँच शरीरों में से कौनसा शरीर सम्मूर्च्छन आदि तीन जन्मो में से कहाँ होता है ? इस प्रकार की आशंका होने पर कहते है—

औदारिक शरीर दो प्रकार का है–सम्मूर्छिम और गर्भज। अतः सम्मूर्च्छन जन्म वाले तथा गर्भजन्म वाले प्राणियों को औदारिक शरीर होता है, किन्तु ऐसा नियम नहीं

भवति न तु–औदारिकमेवेत्यवधारणम्। तैजस–कार्मणशरीरद्वयमपि तेषां सम्भवति, लब्धिप्रत्यय-वैक्रियाहारकयोर्वा गर्भजन्मनां प्राणिनामुत्तरकालभावित्वात्। औदारिकं शरीरं जघन्येनाऽङ्गुला-ऽसंख्येयभागप्रमाणमुत्कृष्टतो योजनसहस्रप्रमाणञ्चेति।

तत्र–उदारम्, उद्गमः उद्गमनं प्रादुर्भावः यतउत्पादनात् प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति–वर्धते–जीर्यते–शीर्यते–परिणमति इत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम् वयःपरिणामेनोपचीयमानतया वर्धनं भवति। वयोहानिप्राप्त्या जीर्णनं भवति, शिथिलसन्धिबन्धनेन लम्बमानचर्ममण्डलेन च शीर्णता भवति। समन्तात्–जराभारविधुरिततया–ऽऽनमति, परिपेलवग्रहणशक्तीन्द्रियग्रामं वलीवलयलेखा विचित्रम् अन्यदेवोपजायते इति परिणमनमपि तस्य प्रत्यक्षसिद्धम् यथा चेदमौदारिकमेवं विधाऽनेक-विशेषणविशिष्टं वर्तते न तथा–वैक्रियाहारक–तैजसकार्मणानि भवन्ति। वैक्रियस्य जरसा–विवृद्ध्या-वा प्रतिक्षणं योगो नास्ति यथावस्थितत्वात्। एवमाहारकस्यापि, तैजस–कार्मणयोस्तु–सुतरां न तत्समस्ति तस्याङ्गोपाङ्गाद्यनिवृत्तेः।

कि उनको औदारिक शरीर ही होता है; क्योकि उन्हे तैजस और कार्मण शरीर भी प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त गर्भ जन्म वालो को आगे चलकर लब्धिजनित वैक्रिय और आहारक शरीर भी हो सकते हैं। औदारिक शरीर की अवगाहना जघन्य से अंगुल के असंख्यातवे भाग और उत्कृष्ट से एक हजार योजन से कुछ अधिक की होती है।

उदार अर्थात् उद्गम, उद्गमन का अर्थ है प्रादुर्भाव जो शरीर उत्पत्ति सेले कर प्रत्येक समय उद्गम करता है अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, फिर जीर्ण और शीर्ण होता है, वह औदारिक शरीर कहलाता है। यह शरीर वय के परिणमन के अनुसार उपचित–पुष्ट होता जाता है और वय की हानि होने पर जीर्ण होता है। इसके जोड़ जब ढीले पड जाते है और चमड़ी लटकने लगती है तो शीर्ण भी होता है। जरा के भार के कारण झुक जाता है। इन्द्रियो की विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षीण–क्षीणतर होने लगती है और झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे यह कुछ का कुछ हो जाता है। पहचाना भी नहीं जा सकता कि यह वही सुन्दर और सुपुष्ट शरीर है; इस प्रकार का परिणमन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इस औदारिक शरीर में ये जो विशेषता हैं, वे वैक्रिय, आहारक, तैजस या कार्मण शरीर में नहीं है। वैक्रिय शरीर आदि से अन्त तक ज्यो का त्यों रहता है। उसमें औदारिक शरीर की भाँति क्षण–क्षण में परिवर्त्तन नहीं होता। न जरा के कारण क्षीण होता है और न विशिष्ट प्रयोगो से वृद्धि को ही प्राप्त होता है। आहारक शरीर में भी ऐसा परिवर्त्तन नहीं होता। तैजस और कार्मण शरीर में तो उसका सभव ही नहीं है, क्यों कि उनमें अंगोपांगों का निर्माण नहीं होता है।

किञ्च—ग्राह्यादिधर्मयोगाद् गृह्यते—हस्ताद्यवयवैरिन्द्रियैर्वा, छिद्यते—परश्वादिना, भिद्यते—नाराच—कुन्तादिना, दह्यते—वह्निसूर्यादिना, अपह्रियते महावायुवेगेन इत्येवमादिभिर्विदारणादुदारमुच्यते मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वाच्च। वैक्रियादिषु च—मांसास्थिग्राह्यादयो विशेषा न भवन्ति।

किञ्च—स्थूलमेवो- दारमुच्यते, स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् बृहत्त्वाच्च, प्रधानं वा उदारम्, तीर्थभेण्डवदुदारं स्थूलमुच्यते। स्थूलत्वाद् भेण्डकवत् ऊर्ध्वं गतमुच्छ्रायमुद्गतमतिप्रमाणत्वात्, पुष्टं—शुक्रशोणितादिप्रचितत्वात् बृहत्—प्रतिक्षणं वृद्धियोगात् महच्च—योजनसहस्रप्रमाणावस्थितारोहण—परिणाहत्वात्, उदारमेवौदारिकमुच्यते। वैक्रियादीनां च परस्य—परस्य सूक्ष्मत्वान्नैवं सम्भवति इतिभावः॥

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २१ एकविंशतितमे शरीरपदे—**"ओरालियसरीरे णं भंते! कइ-विहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—संमुच्छिमे—गब्भवक्कंतिए य"** इति। औदारिकशरीरं खलु भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्—? गौतम—? द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद्यथा—सम्मूर्च्छिमम् गर्भव्युत्क्रान्तिकञ्चेति ॥३२॥

इसके अतिरिक्त औदारिक शरीर ग्राह्य होने के कारण ग्रहण किया जा सकता है - हाथ आदि अवयवों के द्वारा भी ग्रहण किया जा सकता है और इन्द्रियो के द्वारा भी ग्रहण किया जा सकता है। परशु आदि के द्वारा उसका छेदन हो सकता है, बाण या भाले आदि के द्वारा भेदन हो सकता है अग्नि और सूर्य आदि के द्वारा जलाया जा सकता है, महावायु के वेग के द्वारा अपहृत हो सकता है। इत्यादि अनेक प्रकार से विदारण संभव होने से यह शरीर उदार या औदारिक कहलाता है इसके अतिरिक्त मांस, हड्डी, नसो आदि से बना हुआ होने के कारण भी इसे औदारिक कहते है। वैक्रिय आदि अन्य शरीर न तो मास, हड्डी आदि के बने होते है और न उनका ग्रहण, विदारण, छेदन, भेदन आदि हो सकता है।

अथवा जो स्थूल हो वह उदार कहलाता है। थोडे प्रदेशो से बना होने पर भी यह बडा होता है। या उदार का अर्थ प्रधान भी है। प्रधान इस कारण कि इसी शरीर के द्वारा सकल संयम, तीर्थकरत्व, मुक्ति आदि की प्राप्ति हो सकती है। अथवा भिंडी के समान पोला होने से भी यह उदार कहा जाता है। उदार का अर्थ ऊँचा भी है—यह शरीर बडे परिणाम वाला होता है। या उदार अर्थात् पुष्ट, क्यो कि यह शुक्र—शोणित से उपचित होता है। यह बृहत् भी है, क्यो कि क्षण—क्षण में इसकी वृद्धि होती है। उदार का अर्थ बड़ा भी है, क्यो कि यह एक हजार योजन की अवगाहना वाला होता है। जो उदार है वही औदारिक कहलाता है वैक्रिय आदि शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते है, अतएव उनमें इस प्रकार की उदारता का संभव नहीं है। प्रज्ञापनासूत्र के २१ इक्कीस वें शरीरपद में कहा है—

प्रश्न—भगवन्! औदारिक शरीर कितने प्रकार का है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार का है, यथा सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक ॥३२॥

मूलसूत्रम् - वेउव्वियं दुविहं, उववाइयं-लद्धिपत्तयं च-" ॥३३॥

छाया वैक्रियं द्विविधम् औपपतिकं लब्धिप्रत्ययं च—" ॥३३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत्—औपपातिकशरीरं प्ररूपितम् सम्प्रति—वैक्रियं शरीरं प्ररूपयितुमाह—"वेउव्वियं दुविहम्, उववाइयं-लद्धिपत्तयं च–" वैक्रियं—विक्रियया निर्मितं शरीरम् वैक्रियं विकुर्वणतया निष्पादितं द्विविधं भवति। तद्यथा—औपपातिकम्, लब्धिप्रत्ययञ्च, तत्रोपपाते भवमौपपातिकम्। लब्धिप्रत्ययञ्च—लब्धिः प्रत्ययो हेतुर्यस्य तत्—लब्धिप्रत्ययम्, तपो विशेषाद् ऋद्धिप्राप्तिः खलु लब्धिरुच्यते।

तथाच—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं चेत्येवं वैक्रियशरीरं द्विप्रकारकं भवति। वक्ष्यमाणतैजसशरीरमपि लब्धिप्रत्ययं भवतीति वक्ष्यते। लब्धिप्रत्ययञ्च—वैक्रियशरीरं षष्ठगुणस्थानवर्तिनः कस्यचिद्भवतीति बोध्यम्। उत्तरवैक्रियशरीरस्थितिश्च जघन्येनोत्कृष्टेन चाऽन्तर्मुहूर्त्त भवति, तीर्थकृज्जन्मादौ च बहुकालसाध्यं तत्तत् सम्बन्धिकर्मकर्तुं घटिकाद्वयात्—घटिकाद्वयात् मुहूर्तरूपाद् उपर्युपरिअन्यद् अन्यद् वैक्रियं शरीरं देवादय उत्पादयन्ति।

छिन्नकमलिनीकन्दोभयपार्श्वलग्नतन्तुवद् उत्तरशरीरेषु आत्मप्रदेशान् अन्तर्मुहूर्ते पूरयन्ति च तेनोत्तरवैक्रियशरीरं यथेष्टकालं तिष्ठति। अत्रोपपातजन्म—उपपातशब्देन कथ्यते, तस्मिन् उपपात-

---

मूलसूत्रार्थ—'वेउव्वियं दुविहं'—इत्यादि ॥३३॥

वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय ॥३३।

तत्त्वार्थदीपिका— पहले औदारिक शरीर का निरूपण किया गया, अब वैक्रिय शरीर का प्रतिपादन करते है—

वैक्रिय शरीर के दो भेद हैं—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय जो शरीर विक्रिया या विकुर्वणा से उत्पन्न होता है, उसे वैक्रिय कहते है, वह दो प्रकार का है—औपपातिक और लब्धि प्रत्यय। जो उपपातजन्म में हो वह औपपातिक शरीर कहलाता है और जो शरीर लब्धि अर्थात् विशिष्ट तपस्या आदि से उत्पन्न ऋद्धिविशेष से पैदा हो वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है।

लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर किसी—किसी मनुष्य और तिर्यञ्चो को होता है। उस उत्तर वैक्रिय शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। तीर्थंकरके जन्म आदि अवसरो पर देवो को ऐसे कार्य करने पड़ते है जो बहुत काल में सम्पन्न हो, तब उन कार्यों को करने के लिए वे वैक्रिय शरीर बनाते है।

कमलिनी के कन्द को तोड़ दिया जाय तो उसके टुकड़ो में जैसे तन्तु लगे होते है और उन तन्तुओं के द्वारा वे टुकडे आपस में जुडे रहते है, उसी प्रकार उत्तर शरीरो में अन्तर्मुहूर्त्त में वे आत्मप्रदेशों को पूरित करते है ऐसा करने से उत्तरवैक्रिय शरीर यथेष्ट समय तक टिका रहता है।

जन्मनि भवम् औपपातिकं वैक्रियं शरीरं भवति । तन्निमित्तत्वात्–सहजम् तच्च–सामर्थ्यान्नारक-देवानामेव भवति, न तदन्येषाम्, । द्विविधं च तत्, भवधारकम्–उत्तरवैक्रियं च, तत्र–प्रथमं जघन्येनाऽङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणम् उत्कृष्टेन च–पञ्चधनुशतप्रमाणम् । उत्तरवैक्रियञ्च–जघन्येनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितम् उत्कृष्टेन–योजनलक्षप्रमाणमवसेयम् । लब्धिप्रत्ययं च–वैक्रियं शरीरं तिर्यग्योनीनां–मनुष्याणां च भवति । तत्र–तपोविशेषजनिता लब्धिरुच्यते, तत् प्रत्ययं–तत्कारणमेतच्छरीरं भवति, अजन्मजमेतद् बोध्यम् ।

गर्भजन्मनामेव वा–इदमुत्तरकालं भवति । तथाच—तपोविशेषानुष्ठानात् भूयसां गर्भव्युत्क्रान्तिक–तिर्यङ्मनुष्याणां लब्धिप्रत्ययं वैक्रियं शरीरं भवति शेषतिर्यग्योनिजानां मध्ये नान्यस्य । वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव भवतीति भावः उक्तञ्च स्थानाङ्गसूत्रे १–प्रथमस्थाने १–उद्देशके ७५–सूत्रे **"नेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता तंजहा–अब्भंतरगे चेव, बाहिरगे चेव, अब्भंतरए कम्मए, बाहिरए वेउव्विए, एवं देवाणं–"** इति । नैरयिकाणां द्वे शरीरे प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आभ्यन्तरं चैव, बाह्यं चैव, आभ्यन्तरं–कार्मणम्, बाह्यं वैक्रियम्, एवं देवानाम् । औपपातिके ४० सूत्रे चोक्तम्–**"वेउव्वियलद्धीए"** इति । वैक्रियलब्धिकम् ॥३३॥

यहाँ उपपात का आशय उपपातजन्म से है । जो वैक्रिय शरीर उपपातजन्म में हो, वह औपपातिक वैक्रिय शरीर कहलाता है । यह शरीर औपपातिक जन्म के साथ ही उत्पन्न हो जाता है, क्यो कि उसका कारण उपपात जन्म ही है । नारको और देवों को ही औपपात्तिक वैक्रिय शरीर होता है, किसी भी अन्य प्राणी को नहीं होता । इसके भी दो भेद हैं—भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय ।

भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असख्यातवे भाग की और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष की होती है । उत्तरवैक्रिय की जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन को होती है ।

लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर तिर्यचो और मनुष्यो को होता है । लब्धि, तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है जिसे ऋद्धि भी कहते है । उसके कारण जो वैक्रिय शरीर उत्पन्न होता है वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है । यह शरीर जन्मजात नहीं होता बल्कि बाद में उत्पन्न होता है । विशिष्ट तप आदि के अनुष्ठान से बहुत से गर्भज तिर्यंचो और मनुष्यो को लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है । तिर्यंचो में अन्य किसी को नहीं होता । इसमें अपवाद एक ही है और वह यह कि वायुकाय को लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर भी होता है । स्थानांगसूत्र के प्रथम स्थान के प्रथम उद्देशक के ७५ पचोतर वे सूत्र में कहा है—

नारक जीवो को दो शरीर होते है– आभ्यन्तर और बाह्य । आभ्यन्तर कार्मण शरीर और बाह्य वैक्रिय शरीर । इसी प्रकार देवो को भी येही दो शरीर होते हैं ।

औपपातिक सूत्र के ४० वे सूत्र में कहा है–वैक्रियलब्धि से होने वाला शरीर वैक्रिय कहा जाता है ॥३३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत्–शरीरं द्विधं प्रज्ञप्तम् औपपातिकम्–लब्धिकं च । तत्र–प्रथमं-तावदवयवार्थमाह–विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरण मित्येते शब्दाः समानार्थकाः, विविधा–विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया उच्यते, तस्यां भवं वैक्रियम् । प्रकृतेरन्यत्वरूपो विकारः, विचित्रा कृतिर्विकृतिः, विविधं क्रियते इति विकरणम्, तत्र यद् विविधमनेप्रकारं क्रियते–तद् वैक्रियमुच्यते ।

तद्यथा—विक्रियाकर्तुः समासादितवैक्रियलब्धेरिच्छानुसारात् एकं भूत्वा यदनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकं भवति, अणुभूत्वा महद्भवति, महच्च भूत्वा–अणुभवति, एकाकृतिभूत्वा–अनेकाकृति भवति, अनेकाकृतिभूत्वा–एकाकृतिभवति । दृश्यं भूत्वा–अदृश्यं भवति, अदृश्यं भूत्वा–दृश्यं भवति, भूमिचरं भूत्वा–खेचरं भवति, खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, स्खलद्गति भूत्वा अस्खलद्गति भवति प्रतिघातिभूत्वा अप्रतिघाति भवति, अप्रतिघातिभूत्वा–प्रतिघाति भवति,

युगपच्चैतान् भावान् अनुभवति वैक्रिय शरीरम् नैवं तदितराणि शरीराणि युगपद् एतान् भावाननुभवन्ति । अत्र स्थूलत्वात्–प्रतिहननशीलं भूत्वा सूक्ष्मावस्थानं सम्प्राप्तं सदप्रतिघाति भवति । उक्तञ्च–भगवतीसूत्रे तृतीयशतके पञ्चमोद्देशके–'**अणगारे णं भंते ! भावियप्पा वाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं इत्थीरूवं जाव संदमाणिया रूवं वा विउव्वित्तए ?**

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले वैक्रिय शरीर दो प्रकार के कहे गए है–औपपातिक और लब्धिप्रत्यय । पहले अवयवार्थ कहते हैं–विक्रया, विकार, विकृति, विकरण, ये सब एक समानार्थक है । विविध प्रकार की अथवा विशिष्ट प्रकार की क्रिया को विक्रिया कहते है, उसमें जो उत्पन्न हो वह वैक्रिय । जिस वस्तु की जो प्रकृति (मूल स्वभाव) है, उसमें भिन्नता आना विकार है। विचित्र कृति को विकृति कहते है । विविध प्रकार से करना विकरण है । जो शरीर विविध–अनेक प्रकार का बनाया जाय वह वैक्रिय कहलाता है।

विक्रियालब्धि जिसे प्राप्त होती है, उसकी इच्छा के अनुसार जो शरीर एक होकर अनेक हो जाता है, अनेक होकर एक हो जाता है, छोटे से बड़ा और बडे से छोटा हो जाता है, एक आकृति वाला होकर अनेक आकृति वाला हो जाता है, अनेकाकृति से एकाकृति हो जाता है, दृश्य होकर अदृश्य और अदृश्य होकर दृश्य हो जाता है भूमिचर हो कर खेचर (आकाश गामी) और खेचर हो कर भूमिचर हो जाता है, सखलित गति वाला होकर असखलित गति वाला हो जाता है, प्रतिघाती होकर अप्रतिघाति हो जाता है और अप्रतिघाती होकर प्रतिघाती हो जाता है; और इन सब भावों का जो एक साथ अनुभव करता है, वह वैक्रिय शरीर है । वैक्रिय के अतिरिक्त अन्य शरीर एक साथ इन भावो का अनुभव नहीं करते, पहले स्थूल होने के कारण प्रतीघाती होता है फिर सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त करके अप्रतिघाती हो जाता है । भगवतीसूत्र के तीसरे शतक के पाँचवे उद्देशक में कहा है—

हंता पभू, अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू इत्थीरूवाइं विउव्वित्तए ? गोयमा ! से जहानामए जुवतिजुवाणे हत्थेणं हत्थंसि गिण्हिज्जा चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवमेव गोयमा !

अणगारे णं भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ, जाव दोच्चं वि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता पभू केवलकप्पं जम्बुद्दीवं दीवं बहूहिं इत्थीरूवेहिं आइण्णं वितिकिण्णं जाव करित्तए ? अदुत्तरं च णं गोयमा ! पभू तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे भरिए जाव नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंति वा—विउव्विस्संति वा—"

छाया—अनगारः खलु भदन्त—! भावितात्मा बाह्यान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः एकं महत् स्त्रीरूपं वा, यावत् स्यन्दमानिकारूपं वा विकुर्वितुम् ? हन्त—प्रभुः, अनगारः खलु भदन्त—! भावितात्मा कियन्ति प्रभुः स्त्रीरूपाणि विकुर्वितुम् ? गौतम ! तद्यथानाम कश्चिद्युवा युवति हस्तेन हस्ते गृह्णीयात् चक्रस्य वा नाभिः अरकायुक्ता स्यात् एवमेव गौतम ! अनगारोऽपि भावितात्मा वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्ति, यावत्—प्रभुः । गौतम ! अनगारोऽपि भावितात्मा केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं बहुभिः स्वरूपैः आकीर्णम्—व्यतिकीर्णम् यावत्कर्तुम् ।

अथोत्तरं च गौतम ! प्रभुः तिर्यगसंख्येयद्वीपसमुद्रान् भर्तुं विकुर्व्य यावत् नोचैव सम्पत्त्या विकुर्वति वा—विकुर्विष्यति वा इति । एवं चतुर्दशशतके—अष्टमोद्देशके चोक्तम्—

अत्थि णं भंते ! अव्वाबाहा देवा ? हंता—अत्थि, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अव्वाबाहा देवा—अव्वाबाहा देवा ? गोयमा ! पभू णं एगमेगे अव्वाबाहे देवे—एगमेगस्स पुरिसस्स एगमेगंसि अच्छिपत्तंसि दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं

प्रश्न—भगवन् ! भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके एक महान् स्त्री रूप की यावत् पालकी के रूप की विक्रिया करने में समर्थ है ?

उत्तर—हाँ, समर्थ है,

प्रश्न—भगवन् ! भावितात्मा अनगार कितने स्त्रीरूपो की विक्रिया करने में समर्थ होता है ?

उत्तर—गौतम ! जैसे कोई युवा पुरुष किसी युवती के हाथ को अपने हाथ में ग्रहण करे अथवा चक्र की नाभि आरो से युक्त हो, इसी प्रकार हे गौतम ! भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात करके सख्यात योजनो का दंड निकालता है । यावत् दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को बहुत—से स्त्रीरूपो से व्याप्त कर सकता है । इतना ही नहीं, वह तिर्छे असंख्यात द्वीपो और समुद्रो को भी स्त्रीरूपो से व्याप्त कर सकता है । यह भावितात्मा अनगार की विक्रिया करने की शक्ति बतलाई है, मगर कोई अनगार इतनी विक्रिया करता नहीं और करेगा भी नहीं ।

दिव्वं वत्तीसइविहं नट्टविहिं उवदंसेत्तए नो चेव णं तस्स पुरिसस्स किंचि आबाधं वा—वाबाहं वा उप्पाएइ छविच्छेदं वा करेइ, सुहुमं च णं उवदंसेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव अव्वाबाधादेवा —

छाया—सन्ति खलु भदन्त ? अव्याबाधा देवाः ? हन्त ! सन्ति। तत्केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते अव्याबाधा देवाः अव्याबाधा देवाः ? गौतम ! प्रभुः खलु एकैकोऽव्याबाधदेवः एकैकस्य पुरुषस्य एकैकस्मिन् अक्षिपत्रे दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावं दिव्यं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिम् उपदर्शयितुम्।

नैव तस्य पुरुषस्य कांचिदाबाधां वा व्याबाधां वा उत्पादयति, छविच्छेदं वा करोति, सूक्ष्मतया—उपदर्शयेत्। तत्तेनार्थेन यावदव्याबाधा देवाः इति। एवं भगवतीसूत्रे एव अष्टादशशतके सप्तमोद्देशके चोक्तम् —"देवे णं भंते ! महड्ढिए जाव महेसक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू णं अण्णमण्णेणं सद्धिं संगामं संगामित्तए ! हंता, पभू, ताओ णं भंते ! बोंदीओ किं एगजीवफुडाओ अणेगजीवफुडाओ गोयमा एगजीवफुडाओ नो अणेगजीवफुडाओ, ते णं भंते ! तेसिं बोंदीणं अंतरा किं एगजीवफुडा, अणेगजीवफुडा-?

गोयमा-! एगजीवफुडा नो अणेगजीवफुडा, पुरिसे णं भंते ! अंतरे हत्थेण वा पाएण वा असिणा वा पभू विच्छित्तए ? नो इणट्ठे समट्ठे नो खलु तत्थ सत्थं कमइ"

देवाः खलु भदन्त ! महर्द्धिको यावत् महेशाख्यो रूपसहस्रं विकुर्वित्वा प्रभुरन्योऽन्येन सार्धं संग्रामं संग्रामयितुम्—? हन्त—! प्रभुः,

---

इसी प्रकार चौदहवें शतक के अष्टम उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! क्या देव अव्याबाध है ?

उत्तर—हाँ है।

प्रश्न—भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि देव अव्याबाध है, देव अव्यबाध है ?

उत्तर—गौतम ! एक—एक अव्याबाध देव एक—एक पुरुष को, एक—एक पल में दिव्य देव—ऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव (दैवी प्रभाव) और दिव्य वत्तीस प्रकार की नाटयविधि दिखलाने में समर्थ है। किन्तु वह देव उस पुरुष को कोई भी बाधा या व्याबाधा नहीं उत्पन्न करता है, न उसकी चमड़ी का छेदन करता है, वह सूक्ष्म रूप से यह सब दिखलाता है। इस अभिप्राय से कहा गया है कि देव अव्याबाध है।

इसी प्रकार भगवती सूत्र में अठारहवें शतक के सातवें उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! महान् ऋद्धि का धारक और यावत् 'महेश' इस प्रकार की आख्या वाला देव क्या अपने एक हजार रूपो की विक्रिया करके आपस में ही एक दूसरे के साथ संग्राम करने में समर्थ है ? उत्तर—हाँ समर्थ है।

तानि खलु भदन्त–! शरीराणि किमेकजीवस्पृष्टानि, अनेकजीवस्पृष्टानि ? गौतम ! एकजीवस्पृष्टानि, नाऽनेकजीवस्पृष्टानि, पुरुषः खलु भदन्त ! अन्तरा हस्तेन वा पादेन वा असिना वा प्रभुर्विच्छेत्तुम् ? नायमर्थः समर्थः नैव तत्र शस्त्रं क्रामति ॥३३॥

मूलसूत्रम्—"तेयगं दुविहं, लद्धिपत्तयं–सहजं च" ॥३४॥

छाया—"तैजसं द्विविधम्, लब्धिप्रत्ययं सहजं च" ॥३४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–क्रमप्राप्तं वैक्रियशरीरस्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति प्रसङ्गादागतं तैजसशरीरस्वरूपं प्ररूपयितुमाह—""तेयगं दुविहं, लद्धिपत्तयं–सहजं च"–इति । तैजसम्, तेजसा निष्पादितं शरीरं तैजसमुच्यते । तद् द्विविधं भवति । लब्धिप्रत्ययम्–सहजं चेति ।

तत्र तपोविशेषाद् ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरुच्यते । एवंविधा लब्धिः प्रत्ययः कारणं यस्य तत्–लब्धिप्रत्ययमुच्यते । सहजम्–स्वाभाविकमुच्यते । तथाच–निःसरणात्मकम्–अनिस्सरणात्मकं च तैजसं शरीरं द्विविधं भवति । यथा–कश्चिद् यतिरुग्रचारित्रः केनचिद् विराधितः सन् यदाऽत्यन्तक्रुद्धो भवति तदा–तस्य वामभुजतो जीवप्रदेशसहितं तैजसशरीरं वहिर्निर्गच्छति, जाज्वल्य-

---

प्रश्न—भगवन् ! उसके वे एक हजार शरीर एक हो जीव से युक्त है ? अर्थात् उन हजार शरीरो में एक ही जीव व्याप्त है ? अथवा वे अनेक जीवो से युक्त है ? भगवन् ! उन जीवो के अन्तर (बीच के भाग) क्या एक जीव से व्याप्त है अथवा अनेक जीवो से व्याप्त है ?

उत्तर—गौतम एक ही जीव से युक्त है, अनेक जीवो से युक्त नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! क्या पुरुष अपने हाथ से, पैर से या तलवार से उन अन्तरो का विच्छेद करने में समर्थ है ?

उत्तर—नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता । वहाँ शस्त्र काम नहीं करता ॥३३॥

मूलसूत्रार्थ—'तेयगं दुविहं लद्धिपत्तयं' इत्यादि । सूत्र ॥३४

अर्थ–तैजस शरीर दो प्रकार का है–लब्धिप्रत्यय और सहज ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में क्रमप्राप्त वैक्रिय शरीर का स्वरूप वतलाया गया, अव प्रसंग से प्राप्त तैजस शरीर का स्वरूप वतलाने के लिए कहते है–

तैजस अर्थात् तेज से उत्पन्न किया हुआ शरीर दो प्रकार का है–लब्धिप्रत्यय और सहज ।

विशिष्ट प्रकार की तपस्या से ऋद्धि की प्राप्ति होना लब्धि है । यह लब्धि जिस शरीर का कारण हो वह शरीर लब्धिप्रत्यय कहलाता है । सहज का मतलव है स्वाभाविक ।

इस प्रकार तैजस शरीर के दो भेद है–निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक । कोई उग्र चारित्र वाला साधु किसी के द्वारा विराधित (अपमानित या आहत) होने पर जव कुपित होता है तव उसके वाये भुजा से, तैजस शरीर जीव के प्रदेशों के साथ वाहर निकलता है ।

मानाऽग्निपुञ्जसदृशं दाह्यं वस्तुपरिवेष्ट्याऽवतिष्ठते। यदा तत्र चिरकालं तिष्ठति तदा—दाह्यं वस्तु भस्मसात् करोति, एतन्निःसरणात्मकं तैजस शरीरमवसेयम् । अनिःसरणात्मकं पुनरौदारिक-वैक्रियाहारकशरीराऽभ्यन्तरवर्ति तेषां त्रयाणामपि—औदारिकादीनां दीप्तिहेतुकमवगन्तव्यम् ॥३४।

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—तेजोमयं तैजस शरीरं द्विविधं प्रज्ञप्तम् लब्धिप्रत्ययं—सहजं च। तत्र—तपोविशेषजनिता शक्तिः लब्धिरुच्यते, तत्प्रत्ययं—तत्कारणकं तैजसं शरीरं लब्धिप्रत्ययमुच्यते इदञ्च—प्रथमं तैजसं शरीरं तैजसशरीरलब्धिकारणसमुद्भुतशक्तितपोविशेषानुष्ठानात् कस्यचिदेव महात्मनो जीवस्य कदाचिद् भवति। न तु—सर्वस्य।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ३—स्थाने २—उद्देशके **"तिहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे संखित्त-विउलतेउलेस्से भवइ, तं जहा—आयावणयाए—१ खंतिखमाए—२ अपाणगेणं तवोक-म्मेणं"**—इति। त्रिभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यो भवति, तद्यथा—आता-पनातः, क्षान्तिक्षमातः, अपानकेन तपःकर्मणा, इति ।

सहजन्तु—द्वितीयं तैजस शरीरं रसाद्याहारपाकजनकं सर्वप्राणिविषयमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मात्—सर्वजन्मसु सहजं तैजसं भवतीति ॥३४॥

मूलसूत्रम्—"आहारगं एगविहं, पमत्तसंजयस्स चेव"—॥२५॥

छाया—आहारकमेकविधम्, प्रमत्तसयतस्यैव"—॥३५॥

वह जाज्वल्यमान अग्नि के पुंज के समान होता है। जिसे जलाना है उसे घेर कर वह रह जाता है। जब वहाँ चिरकाल तक ठहरता है तो उस जलाने योग्य वस्तु को भस्म कर देता है।

इस प्रकार का तैजस शरीर निःसरणात्मक कहलाता है। दूसरा जो अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है वह औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के भीतर रहता है और इन तीनों शरीरो की दीप्ति का कारण होता है ॥३४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—तेजोमय या तेज का पिण्ड तैजस शरीर दो प्रकार का कहा गया है—लब्धिप्रत्यय और सहज। विशिष्ट प्रकार के तप से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह लब्धि कहलाती है। उसके निमित्त से उत्पन्न होने वाला शरीर लब्धि प्रत्यय तैजस शरीर कहा जाता है। ऐसा शरीर किसी—किसी महात्माओ को कभी—कभी ही प्राप्त होता है, सब को नहीं।

स्थानांग सूत्र के तीसरे स्थानक, दूसरे उद्देशक में कहा है—निर्ग्रन्थ श्रमण तीन कारणो से अपनी विपुल तेजोलेश्या को संक्षिप्त करता है—(१) आतापना लेकर (२) क्षमाभाव धारण करके और (३) चौवीहार तपस्या करके।

दूसरा सहज तैजस शरीर समस्त संसारी प्राणियो को प्राप्त होता है और वह रस आदि आहार के परिपाक का कारण होता है। अर्थात् हम जो भोजन करते है उसे पचाना इसी तैजस शरीर का काम है ॥३४॥

मूलसूत्रार्थ—'आहारगं एगविहं' ॥सूत्र ३५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे तैजसशरीरं प्ररूपितम्। सम्प्रति—आहारकशरीरमाह—**'आहारगं एगविहं, पमत्तसंजयस्स चेव"**—आहारकं शरीरं चैकविधमेव प्रमत्तसंयतस्यैव चतुर्दशपूर्वधरस्य। एवञ्च—आहारकशरीरं तावत् प्रमत्तसयतस्यैव निष्पद्यते। प्रमत्तसंयतस्य यदा खलु वक्ष्यमाणप्राणिदयादिकारणमुत्पद्यते, तदा स विचारं करोति परमदेवतीर्थंकरदर्शनमन्तराऽयं संशयो न विनश्यति, स च भगवान् तीर्थकरोऽस्मिन् क्षेत्रे न विद्यते **"इदानीमस्माभिः किं कर्तव्यम्"** इत्येवं विधां चिन्तां कुर्वाणे सति प्रमत्तसयते तस्य प्रमत्तसंयतस्य शरीराद् तालुप्रदेशे विद्यमानाद् रोमाग्रस्याऽष्टमभागरूपाच्छिद्रात् हस्तप्रमाणं घनघटितस्फटिकाकारं पुत्तलकं निर्गतं भवति।

तत्पुत्तलक यत्र कुत्रापि क्षेत्रे परमदेवतीर्थंकरः केवली वा तिष्ठति, तस्मिन् क्षेत्रे गच्छति तस्य शरीरस्पर्शं विधाय स्वकार्यं सम्पाद्य पश्चात् परावर्तते, तेनैव तालुच्छिद्रेण तस्य प्रमत्तसंयतस्य मुनेः शरीरे प्रविशति एवं सति तस्य मुनेः स संशयो विनश्यति।

अर्थात्—वक्ष्यमाणचतुर्भिः कारणैश्चतुर्वारं कृत्वा मोक्षं प्राप्नोति—आहारकलब्धि प्रकटयति। तद्यथा—प्राणिदया—१ तीर्थंकरऋद्धिदर्शनम्—२ छद्मस्थावग्रहणम्—३ संशयव्यवच्छेदनार्थम् ४

अर्थ—आहारक शरीर एक ही प्रकार का है और वह प्रमत्त संयत को ही प्राप्त होता है ॥३५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में तैजस शरीर की प्ररूपणा की गई है; अब क्रमप्राप्त आहारक शरीर का कथन किया जाता है—

आहारक शरीर एक ही प्रकार का होता है और वह चौदह पूर्वों के धारक प्रमत्तसयत को ही प्राप्त होता है।

प्रमत्त संयत अर्थात् षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधु के मन में जब आगे कहे जाने वाले प्राणिदया तत्त्वजिज्ञासा आदि में से कोई कारण उत्पन्न होता है, तब वह सोचता है—परमदेव तीर्थंकर भगवान् के दर्शन के बिना इस सशय का निवारण नहीं होगा और इस क्षेत्र में तीर्थंकर भगवन् विद्यमान नहीं है। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रकार की चिन्ता करने वाले प्रमत्तसयत के शरीर से तालुप्रदेश से विद्यमान बालाग्र के आठवे भाग के बराबर छोटे से छिद्र से एक हाथ के बराबर ठोस बना हुआ स्फटिक मणि जैसा स्वच्छ एक पुतला निकलता है। वह पुतला उस जगह जाता है, जहाँ तीर्थंकर भगवान् या केवली स्थित हो, वहाँ उनके शरीर का स्पर्श करके और अपना प्रयोजन पूरा करके वापिस लौट आता है। फिर उसी साधु के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर उस साधु का संशय दूर हो जाता।

यह आहारक शरीर इन चार कारणो से चार बार किया जा सकता है और फिर उस साधु को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी को आहारक लब्धि प्रकट करना कहते हैं। जिन चार प्रयोजनो से आहारक शरीर का निर्माण किया जाता है, वे इस प्रकार हैं—(१)

एतैः कारणैर्महात्माऽऽहारकलब्धिं प्रकटय्याऽऽहारकशरीरं गृह्णाति। तथाच-प्राणिदयादिकारणैः आहारकलब्धिं प्रकटय्य, आहारकशरीरं प्राप्य च तीर्थकरसमीपे गच्छति।

तत्र यदि तीर्थङ्करो न मिलति तदा-हस्तप्रमाणमात्रात्-आहारकशरीरात् बद्धमुष्टिहस्त-प्रमाणं शरीरं निःसृत्य तीर्थङ्करसमीपे गच्छति। तत्र च-सर्वं निर्णयं विधाय पुनः परावर्त्य हस्त-प्रमाणशरीरे प्रविशति, हस्तप्रमाणशरीराच्च मुनिशरीरे प्रविशति इत्यभिप्रायः। उक्तंच—**पाणिद-य-रिद्धिदरिसण-छम्मत्थोवग्गहणहेऊ वा, संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि"**-इति।

प्राणिदया-ऋद्धिदर्शन-छद्मस्थावग्रहणहेतोर्वा, संशयव्युच्छेदनार्थं गमनं जिनपादमूले इति। तथाचा-ऽऽहारकं शरीरं शुभकर्मणः आहारककाययोगस्य कारणत्वात् शुभं व्यपदिश्यते एवं विशुद्धस्य पुण्यस्य कर्मणोऽशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद् विशुद्धं चोच्यते। एवम्-आहारकशरी-रेणाऽन्यस्य व्याघातो न भवति, नाऽप्यन्येनाऽऽहारकस्य व्याघातो भवति।

यदा खलु आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवति। अतएव-प्रमत्तसं-यतस्यैवाऽऽहारकं भवति, नाऽन्यस्य। प्रमत्तसंयतस्याऽन्यद् औदारिकं तु भवत्येवेति भावः ॥३५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—आहारकं शरीरम्-एकविधम्, एकप्रकारकमेवाऽवगन्तव्यम्। तदपि-

---

प्राणी की दया (२) तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि का दर्शन (३) छद्मस्थ का अवग्रहण अर्थात् नया ज्ञान ग्रहण और (४) संशय का निवारण। इन्हीं चार प्रयोजनो से मुनि आहारक लब्धि प्रकट करके आहारक शरीर का निर्माण करता है।

मुनि ने आहारक शरीर का निर्माण करके उसे तीर्थंकर के पास भेजा और कदाचित् वहाँ तीर्थंकर न मिले तो उस एक हाथ प्रमाण वाले आहारक शरीर में से मुट्ठीबंधे हाथ के बराबर दूसरा आहारक शरीर निकलता है और वह तीर्थंकर के पास जाता है, वहाँ अपने मन का समाधान करके पुनः लौटता है और एक हाथ प्रमाण प्रथम शरीर में प्रविष्ट होता है और वह प्रथम शरीर मुनि के मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। कहा भी है-

'प्राणी की दया के लिए, तीर्थंकर की ऋद्धि को देखने के लिए, छद्मस्थ के अवग्रहण के लिए अथवा संशय को दूर करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् के पादमूल में गमन करता है।'

आहारक शरीर शुभकर्म का आहारक काययोग का कारण होने से शुभ कहा जाता है। इसी प्रकार विशुद्धनिर्दोष कर्म का कार्य होने से विशुद्ध भी कहलाता है। आहारक शरीर किसी को रुकावट पैदा नहीं करता और न कोई उसे रोक सकता है। इसलिये उसे अप्रति-घाती कहते है।

मुनि जब आहारक शरीर का निर्माण करना प्रारंभ करता है तब प्रमादयुक्त होता है, अतः प्रमत्तसयत को ही आहारक शरीर होता है, अन्य किसी को नहीं। प्रमत्तसंयत को दूसरा औदारिक शरीर तो होता ही है, यह बात ध्यान में रहनी चाहिए ॥३५॥

प्रमत्तसंयतस्यैव भवति, अन्तर्मुहूर्तकालपरिमाणमिदं भवति। तच्चाऽऽहारकं शरीरं शुभद्रव्योपचितं शुभैर्द्रव्योपचितैरिष्टवर्ण–गन्ध–रस–स्पर्श–शालिभिरुपचितं निष्पादितं भवति। •शुभपरिणामाच्च–शुभः परिणामः समचतुस्र संस्थानमाकारो यस्य तच्छुभपरिणामं चाहारकं भवति।

एवं विशुद्धद्रव्योपचितम्–असावद्यं चाहारकं बोध्यम्। निरवद्याहारपानीयादिभिरिदं भवति। तत्र–स्वच्छस्फटिकखण्डमिव निखिलवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतं विशुद्धद्रव्योपचितमुच्यते। यद्वा–अवद्येन–गर्हितेन पापेन सह यद् वर्तते तत्सावद्यं, न सावद्यं प्राणिवधादिप्रवृत्तिर्यस्मात् भवति, तद् असावद्यमुच्यते।

तथाचाहारकं न कदाचिद् हिंसादौ प्रवर्त्तते। न वा–हिंसादिप्रवृत्तित उत्पद्यते तस्मात्–विशुद्धमसावद्यमाहारकं भवति। एवमाहारकशरीरमव्याघाति भवति। व्याहन्तुं शीलमस्य तद्व्याघाती, न व्याघाति–अव्याघाति, आहारकशरीरं न किञ्चिद् व्याहन्ति–विनाशयति, न वा–तदअन्येन केनचित् पदार्थेन व्याहन्तुं शक्यते। तदेवंविधमाहारकं चतुर्दशपूर्वधरएव लब्धिप्रत्ययमेवोत्पादयति।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—आहारक शरीर के भेद–प्रभेद नहीं है। वह एक ही प्रकार का होता है, प्रमत्त संयत को ही होता है और उसका समय अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही है।

आहारक शरीर शुभ द्रव्यो से अर्थात् प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले द्रव्यो से बनता है और शुभ परिणाम वाला अर्थात् समचतुरस्र संस्थान वाला होता है।

इस प्रकार आहारक शरीर विशुद्ध पुद्गलो से उपचित होने से निरवद्य होता है अर्थात् निरवद्य आहार—पानी से उसका निर्माण होता है। आहारक शरीर विशुद्ध द्रव्यों से वनता है, इसका अर्थ यह है कि वह स्वच्छ स्फटिकमणि के खण्ड के समान समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब का आधारभूत होता है। अथवा वह गर्हित–पापमय नहीं होता–उससे प्राणिवध आदि पापों में प्रवृत्ति नहीं होती, अतएव वह निरवद्य होता है।

आहारक शरीर न तो हिंसा आदि पापकर्मों में कभी प्रवृत्त होता है और न हिंसा आदि करने से उत्पन्न होता है,, इस कारण वह विशुद्ध–असावद्य होता है।

आहारक शरीर अव्याघाती भी होता है। अर्थात् न तो वह किसी को रुकावट उत्पन्न करता है और न कोई दूसरी वस्तु उसमें रुकावट उत्पन्न कर सकती है। यह शरीर चौदह पूर्वों के धारक मुनि को लब्धि के निमित्त से ही प्राप्त होता हैं।

चौदह पूर्वधारी दो प्रकार के होते है—भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर। जिस चौदह पूर्वधारी को श्रुतज्ञान का एक–एक अक्षर असंदिग्ध होता है अर्थात् जिसे किसी प्रकार का संशय नहीं होता वह भिन्नाक्षर कहलाता है। भिन्नाक्षर को श्रुतज्ञान संबन्धी संशय निवृत्त

चतुर्दशपूर्वधरश्च द्विविधः भिन्नाक्षरः–अभिन्नाक्षरश्च । तत्र–यस्यैकैकमक्षरं श्रुतज्ञानगम्य-पर्यायैः सत्कारिकाभेदेन भिन्नम्–वितिमिरामितं–संशयरहितं भवति स भिन्नाक्षरो व्यपदिश्यते । तस्यच–भिन्नाक्षरस्य श्रुतज्ञानसंशयापगमात् प्रश्नो नोपपद्यते । अतएव–स भिन्नाक्षरः श्रुतकेवली उच्यते, तदन्योऽभिन्नाक्षर आहारकलब्धितामपि करोति कृत्स्नश्रुतज्ञानालाभात्–अवीतरागत्वाच्च ।

एवंविधश्चतुर्दशपूर्वधर एव सञ्जातलब्धिराहारकं निर्वर्तयति । स च–प्रमत्तसंयतो व्यपदिश्यते, तस्य चाहारकलब्धेराश्रयणे कारणं तु–पुनरिदमेव भाति यत् श्रुतज्ञानगम्ये कस्मिंश्चिदेवार्थेऽत्यन्तगूढतरे सन्दिहानः सन् तदर्थनिश्चयाय विदेहादिक्षेत्रवर्तिनस्तीर्थकृतः पादारविन्दनिकटे औदारिकेण शरीरेण गन्तुं कथमपि न पार्यते इति विचार्य सञ्जातर्द्धिविशेषो लब्धिप्रत्ययमेवाहारकं शरीरमुपजनयति नाऽन्यप्रत्ययम् ।

तत्र गत्वा–यदि तत्र तीर्थकरमन्यत्रगतं जानाति । तदा–तस्मादाहारकशरीरादन्यद्बद्धमुष्टि-प्रमाणं शरीरं निःसृत्य यत्र भगवान् वर्तते तत्र गत्वा शीघ्रं भगवन्तमालोकितसकललोकालोकं विलोक्य–प्रणम्य–पृष्ट्वा च विच्छिन्नसशयः पापरहितः पुनरागत्य तमेव देशं यत्र गच्छता तद् आहारकमनाबाधवुद्धा न्यासवन्निक्षिप्तं स्वप्रदेशजालावबद्धं तदवस्थमास्ते ।

हो जाने के कारण प्रश्न उत्पन्न नहीं होता । अभिन्नाक्षर आहारक लब्धि का प्रयोग करता है, क्योकि उसे सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं होता और वह वीतराग नहीं होता है ।

इस प्रकार का चतुर्दश पूर्वधर ही आहारक लब्धि प्राप्त करके आहारक शरीर बनाता है । वह प्रमत्तसयत कहलाता है ।

प्रमत्तसंयत और चौदह पूर्वों का धारक मुनि आहारक लब्धि का आश्रम क्यों लेता है ? इसका कारण यही जान पड़ता है कि–श्रुतज्ञान के गोचर किसी अत्यन्त गूढ़ पदार्थ में उसे संशय उत्पन्न होता है तव उसका समाधान प्राप्त करने के लिए उसे तीर्थंकर भगवान् के चरण–कमलो में जाना अनिवार्य हो जाता है किन्तु विदेह आदि दूरवर्ती क्षेत्र में औदारिक शरीर से जाना संभव नहीं होता । ऐसी स्थिति में वह अपनी पूर्वप्राप्त लब्धि का उपयोग करता है और उससे आहारक शरीर का निर्माण करके उसे तीर्थंकर के पादमूल में भेजता है या यो कहना चाहिए कि वह उस शरीर के द्वारा स्वयं भगवान् के चरण कमलो के निकट उपस्थित होता है ।

वहाँ पहुँचने पर यदि पता चले की तीर्थंकर भगवान् विहार करके कहीं अन्यत्र चले गए हैं तो उस आहारक शरीर से बद्धमुष्टि हस्त प्रमाण दूसरा आहारक शरीर निकलता है और वह दूसरा आहारक शरीर तीर्थंकर भगवान के निकट जाता है, वहाँ जाने पर शीघ्र ही भगवान के दर्शन करके, उन्हे नमस्कार करके और प्रश्न करके संशय हीन हो जाता है । जब उसका संशय निवृत्त हो जाता है तो लौटता है । दूसरा आहारक शरीर पहले आहारक शरीर में समाहित हो जाता है और प्रथम आहारक शरीर मूल शरीर में समा जाता है । इस प्रकार अपने प्रयोजन को सिद्ध करके वह मुनि तदवस्थ–ज्यो का त्यो– हो जाता है ।

तदनन्तरं च तदाहारकशरीरं विहाय आत्मप्रदेशजालमुपसंहृत्य पूर्वौदारिकमेवानुप्रविशति। तथाच–"कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छ्रेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिगमार्थं क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हतः पादमूलमौदारिकेण शरीरेणाऽशक्यगमनं मत्वा लब्धिप्रत्ययमेव उत्पादयति, पृष्ट्वाऽथभगवन्तं छिन्नसंशयः पुनरागत्य व्युत्सृजति अन्तर्मुहूर्तस्य"–इति भाष्यमपि सगच्छते।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २१ शरीरपदे–**आहारगसरीरे णं भंते ? किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! समचउरंससंठाणसंठिए"–पण्णत्ते**–इति । आहारकशरीरं खलु भदन्त ! किं संस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् इति ।

तथाचाहारकमाह्रियते–प्रतिगृह्यते प्रतिविशिष्टप्रयोजनसाधनाय, कार्यपरिसमाप्त्यनन्तरं च–"**याचितमण्डन**" न्यायेन पुनर्मुच्यते। संशयव्यवच्छेदार्थाऽवग्रहऋद्धिदर्शनादि च कार्यमवसेयम्। तच्चाहारकमन्तर्मुहूर्तस्थितिकम्। अन्तर्मुहूर्तेनैव कालेनाहरणकर्तुरिष्टप्रयोजनसिद्धिरुपजायते।

सिद्धप्रयोजनश्च स पुनस्तदाहारकं शरीरं विमुञ्चति। तस्मात्–नोत्तरकालमपि ता लब्धिमुपजीवति। अन्तर्मुहूर्तं स्थितिरात्मलाभो यस्य तदन्तर्मुहूर्तस्थितिकम्। तदन्यानि चौदारिकादीनि वत्साध्यप्रयोजनसम्पादनाय नालं भवन्ति, नाऽपि–नियमतोऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकान्येव तानि भव-

---

'किसी कठिन और अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ में सन्देह उत्पन्न होने पर उसका निश्चय–निर्णय करने के लिए दूर देशवर्ती अर्हन्त भगवान् के पादमूल में औदारिक शरीर से जाना अशक्य समझ कर लब्धि निमित्तक शरीर को उत्पन्न करता है। भगवान् से प्रश्न करने पर संशय रहित हो जाता है और फिर लौट कर उस शरीर का त्याग कर देता है। यह सब एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही हो जाता है।, भाष्य का यह कथन भी इससे संगत होता है।

प्रज्ञापना के २१ इक्कीस वें शरीरपद में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! आहारक शरीर का संस्थान कैसा होता है ?

उत्तर—गौतम ! समचौरस संस्थान होता है।

इस प्रकार भावार्थ यह हुआ कि जो शरीर एक विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए उत्पन्न किया जाता है और उस प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर 'माँगे हुए आभूषण' के समान त्याग दिया जाता है, वह आहारक शरीर है। संशय को निवारण करना, अवग्रह (नया ज्ञान सीखना) ऋद्धिदर्शन आदि उसका प्रयोजन है। यह शरीर सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है। अन्तर्मुहूर्त्त काल में ही इष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। प्रयोजन सिद्धि हो जानेपर आहारक शरीर का त्याग कर दिया जाता है। तदनन्तर वह मुनि उस लब्धि का प्रयोग नहीं करता।

आहारक शरीर से जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है, उसे औदारिक आदि अन्य कोई भी शरीर सिद्धि नहीं कर सकते। अन्य शरीर नियम से अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की स्थिति वाले ही हों, ऐसा नियम नहीं है।

न्तीति भावः। तैजसं शरीरं पुनस्तेजोविकाररूपं तेजः स्वतत्त्वं शापानुग्रहप्रयोजनं भवति। तस्य नाऽत्राधिकारः। उष्णतालक्षणं तेजः सर्वशरीरेषु अन्नस्य पाचकं जठराग्निरूपं संसिद्धम्। एवं-विधस्य तेजसो विकारस्तैजसमवस्थान्तरापत्तिरिति।

कार्मणं शरीरन्तु—कर्मणो विकाररूपं ज्ञानावरणादिकर्मणो विकृतिः कर्ममयं-कर्मात्मकं भवति। नैव मौदारिकादीनि भवन्ति। एतेभ्य एवौदाराद्यर्थविशेषेभ्य उक्तलक्षणेभ्यो विभिन्नस्वरूपेभ्यः शरीराणां घट—पटादिवत् लक्षणभेदात् नानात्वं सिद्धम्। न केवलमुक्तान्वाख्यानद्वारेणैव औदा-रिकादीनां शरीराणां परस्परं भेदो भवति। अपितु—निम्नकारणतोऽपि भेदो भवति।

तत्र—कारणतस्तावत् स्थूलपुद्गलोपचितमूर्तिरूपमौदारिकं भवति। नैवं वैक्रियादीनि, उत्त-रोत्तरस्य सूक्ष्मत्वात्, एवं विषयकृतोऽपि तेषां परस्परं भेदो भवति। तथाहि—विद्याधरौदारिकश-रीराणि प्रत्यानन्दीश्वराद् औदारिकस्य विषयः जङ्घाचारणं प्रत्यारुचकपर्वतात् तिर्यक् ऊर्ध्व-मापाण्डुकवनात्।

वैक्रियं शरीरमसंख्येयद्वीप—समुद्रविषयम्, आहारकं महाविदेहक्षेत्रपर्यन्तविषयम्। तैजस—कार्मणे सर्वलोकपर्यन्तविषये भवतः। एवं स्वामिकृतोऽपि तेषां भेदो भवति। तथाहि—औदारि-

---

तैजस शरीर तेज का विकार रूप' तेजोमय, तेजःस्वभाव होता है। उसका प्रयोजन शाप और अनुग्रह करना है। यहाँ उसका अधिकार नहीं है। तेज का लक्षण उष्णता है। वह समस्त शरीरो में अन्न को पचानेवाला, जठराग्नि के रूप में प्रसिद्ध है। यह तैजस शरीर आहारक से भिन्न है।

कार्मण शरीर कर्म का विकार, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विकृति, कर्ममय या कर्मात्मक होता है। औदारिक आदि शरीर ऐसे नहीं होते। जैसे उदारता—स्थूलता—औदारिक शरीर का लक्षण हैं, उसी प्रकार इन पाँचो शरीर के लक्षण अलग-अलग है। लक्षण अलग-अलग होने से इनमें भिन्नता होती है, जैसे घट और पट में भिन्नता है। हाँ, उक्तव्युत्पत्ति के भेद से ही औदारिक आदि शरीरो में भेद नहीं है, अपितु निम्नलिखित कारणो से भी उनमें भेद सिद्ध होता है।

सर्व प्रथम औदारिक आदि शरीरो के कारण भिन्न-भिन्न है। औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलो से वनता है वैक्रिय आदि शरीर ऐसे नहीं; वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते है, क्योकि उनका निर्माण जिन पुद्गलो से होता है, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते है।

विषय अर्थात् गतिक्षेत्र की अपेक्षा से भी शरीरो में भेद है। विद्याधरो के औदारिक शरीर नन्दीश्वर द्वीप तक ही जा सकते है। जंघाचरण मुनि तिर्छे रुचकपर्वत तक और ऊपर पाण्डुक वन तक जा सकते है। वैक्रिय शरीर का विषय असंख्यात द्वीप-समुद्र है, अर्थात् वैक्रिय शरीर-धारी असंख्यात द्वीप-समुद्रों तक जा सकता है। आहारक शरीर महाविदेह क्षेत्र पर्यंत जा सकता है और तैजस तथा कार्मण शरीर का विषय सम्पूर्ण लोक है।

कशरीरं मनुष्य–तिरश्चां भवति, वैक्रियं देव–नारकाणां तिर्यङ्–मनुष्याणां च कतिपयानाम् । आहारकं चतुर्दशपूर्वधरमनुष्याणाम् । तैजस–कार्मणे सर्वसंसारिणां भवतः ।

एवं प्रयोजनकृतोऽपि तेषां विशेषः तथाहि–औदारिकस्य धर्माधर्मसुखदुःखकेवलज्ञानप्राप्त्यादिप्रयोजनम्, वैक्रियस्य स्थूलसूक्ष्मैकत्वगगनचरक्षितिगतिविषयाद्यनेकविभूतिप्राप्तिः प्रयोजनम् । आहारकस्य पुनः सूक्ष्मव्यवहितदुरवगाहार्थव्यवस्थितिः प्रयोजनम्, तैजस्य–आहारपाकः प्रयोजनम् । कार्मणस्य तु–भवान्तरगतिपरिणामः प्रयोजनम् ।

एवं प्रमाणकृतोऽपि तेषां परस्परं भेदो भवति ।

तथाहि– औदारिकं तावत् सातिरेकं योजनसहस्रम्, वैक्रियं योजनलक्षप्रमाणं भवति । आहारकं रत्निप्रमाणम्, तैजस–कार्मणे लोकायामप्रमाणे भवतः । एवं प्रदेशसंख्यातोऽपि भेदस्तेषां परस्परं भवति, तैजसात् प्राक् औदारिकादिप्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति, तैजसं–कार्मणं च–अनन्तगुणं भवति ।

एवमवगाहनतोऽपि विशेषो बोध्यः तथाहि–सातिरेकयोजनसहस्रप्रमाणमौदारिकमसंख्येयगुणप्रदेशेषु यावत्सु अवगाढं भवति, ततो बहुतरासंख्येयप्रदेशावगाढं योजनलक्षप्रमाणं वैक्रिय

स्वामी की अपेक्षा भी शरीरो में भेद है । वह इस प्रकार औदारिक शरीर मनुष्यों और तिर्यंचो को होता है, वैक्रिय देवो और नारको को होता है और किसी किसी मनुष्य एवं तिर्यंच को हो सकता है । आहारक चौदहपूर्वो के धारक मुनियो को ही होता है । तैजस और कार्मण सब संसारी जीवो को होते है ।

प्रयोजन की अपेक्षा भी शरीरो में भेद है–धर्म, अधर्म, सुख, दुःख एवं केवलज्ञान की प्राप्ति आदि औदारिक शरीर का प्रयोजन है । स्थूलता, सूक्ष्मता, एकता, अनेकता, आकाशगमन भूमिगमन आदि अनेक विभूतियो की प्राप्ति वैक्रिय शरीर का प्रयोजन है । सूक्ष्म, गहन, दुर्ज्ञेय अर्थ के विषय में समाधान प्राप्त करना आहारक शरीर का प्रयोजन है । आहार को पचाना आदि तैजस शरीर का प्रयोजन है और भवान्तर में गति होना कार्मण शरीर का प्रयोजन है ।

प्रमाण की अपेक्षा भी शरीरो में भेद है । यथा–औदारिकशरीर का प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन वैक्रिय का एक लाख योजन, आहारक का एक हाथ और तैजस तथा कार्मण का लोक के बराबर है ।

प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा भी शरीरो में भेद है । यथा–औदारिक से वैक्रिय और वैक्रिय से आहारक शरीर के प्रदेश असख्यातगुणित है, । आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर के प्रदेश अनन्तगुणा है ।

अवगाहना से भी उनमें भेद है, यथा–किंचित् अधिक एक हजार अधिक योजन प्रमाण वाला औदारिक शरीर लोक के असंख्यातवे भाग में अवगाढ होता है, एक लाख योजन प्रमाण वाला वैक्रिय शरीर उनकी अपेक्षा अधिक प्रदेशों में अवगाढ होता है । आहारक शरीर

भवति । ताभ्यामल्पप्रदेशावगाढमाहारकं भवति । तस्य हस्तमात्रत्वात् । तैजसकार्मणे च-लोकान्तायताऽऽकाशश्रेण्यवगाढे भवतः ।

एवं तेषां स्थितिकृतोऽपि भेदो भवति । तथाहि—औदारिकं शरीरं जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकं भवति, उत्कृष्टेन—त्रिपल्योपमस्थितिकम् । वैक्रियं आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थितिकमेव । तैजसकार्मणे च सन्तानानुरोधात् अभव्यसम्बन्धितया—अनाद्यपर्यवसाने भवतः । भव्यसम्बन्धितया चाऽनादिसपर्यवसाने ।

एवमल्पबहुत्वकृतोऽपि भेदो भवति सर्वस्तोकमाहारकं यदि सम्भवति कदाचिन्नापि सम्भवति यतस्तस्यान्तरमुक्तं—जघन्येनैकसमयः, उत्कृष्टेन षण्मासाः तद्यदि भवति तदा जघन्येन एकमादिकृत्वा यावदुत्कृष्टतो नवसहस्राणि आहारकशरीराणि युगपद् भवन्ति ।

आहारकाद् वैक्रियाणि—असंख्येयगुणानि भवन्ति । नारकदेवानामसंख्येयत्वात् असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयराशिसमसंख्यकानि, वैक्रियशरीरापेक्षया—औदारिकशरीराणि असंख्येयगुणानि तिर्यङ्मनुष्याणामसंख्येयत्वात् असंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयराशिसमसंख्यानि । अथ तिरश्चामनन्तत्वात् कथं तेषामानन्त्ये सति असंख्येयानि शरीराणि स्युरिति चेत्—

उच्यते प्रत्येकशरीराणा तिरश्चामसंख्येयानि शरीराणि साधारणानामनन्तत्वात् तेषामनन्तानामेकं शरीरं भवति । अतोऽसंख्यातानि, न तु—अनन्तानामपि प्रत्येकं शरीरं भवति । तस्मात्—तिरश्चां शरीराणि असंख्येयान्येव न पुनरनन्तानि इति भावः ।

इन दोनो से कम प्रदेशो में अवगाढ होता है, क्योकि उसका प्रमाण एक हाथ का ही होता है तैजस और कार्मण शरीर लोकपर्यंत लम्बी आकाशश्रेणी में अवगाहन करते है ।

स्थिति की दृष्टि से भी शरीरो में भेद है, यथा—औदारिक शरीरकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है । वैक्रिय शरीर तेतीस सागरोपम तक रहता है । आहारक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की है । तैजस और कार्मण शरीर प्रवाह की अपेक्षा अनादि एवं अभव्य की अपेक्षा अनन्त तथा भव्य की अपेक्षा सान्त है ।

अल्पबहुत्व की अपेक्षा से भी शरीरो में भेद है, यथा—आहारक शरीर सबसे थोड़े है । कदाचित् होते है, कदाचित् नहीं भी होते । उनका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट छह मास का है । आहारक शरीर यदि हो तो जघन्य एक हो और अधिक से अधिक एक साथ नौ हजार तक होसकते है । आहारक की अपेक्षा वैक्रियक शरीर असंख्यात है—असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो की समय राशि के बराबर है, और सब नारक तथा देव वैक्रिय शरीरी ही होते है । वैक्रिय की अपेक्षा औदारिक शरीर असंख्यातगुणा है, असंख्यात उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी कालो की समय राशि के बराबर हैं ।

शंका—तिर्यंच अनन्त है, ऐसी स्थिति में उनके शरीरी असंख्यात ही क्यो कहे ?

समाधान—प्रत्येक शरीरी तिर्यंचो के असंख्यात शरीर होते है । यद्यपि साधारण निगोद काय के तिर्यन्च अनन्तसंख्यक है, मगर उनके अलग-अलग शरीर नहीं होते, बल्कि अनन्त

औदारिकशरीरेभ्य स्तैजसकार्मणानि अनन्तगुणानि भवन्ति। तैजसकार्मणानि प्रत्येकं संसारिणां सर्वजीवानां भवन्ति, तस्मात्—अनन्तानि, न तु–बहूनां जीवानामेकं तैजस–कार्मणं वा भवतीति भावः। इत्येवं नवभ्यो विशेषेभ्यः कारणेभ्यः औदारिकादिशरीराणां नानात्वं सिद्धम्।

इदमत्र बोध्यम्—अन्तर्गतौ तैजसकार्मणे केवले भवतः, भवस्थतायां तैजसकार्मणे—औदारिकं चेति त्रीणि युगपद् भवन्ति। अथवा–तैजसकार्मणे च वैक्रियं चेति त्रीणि बोध्यानि। तिर्यङ्मनुष्याणां तैजसकार्मणौदारिकैः सह लब्धिप्रत्ययवैक्रियशरीरसद्भावे युगपदविविच्छिन्नप्रदेशत्वात् चत्वारि भवन्ति। चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्याऽऽहारकलब्धौ सत्यां तैजसकार्मणौदारिकैः सह लब्धिप्रत्ययाहारकशरीरसद्भावे युगपदेवं चत्वारि भवन्ति।

कमलनालतन्तुवदेवाऽविच्छेदेन एकजीवप्रदेशैश्चतुष्टयमपि प्रतिबद्धमवगन्तव्यम्। अनुत्पन्नलब्धेः संसारिणो जीवस्य तैजसकार्मणौदारिकाणि त्रीणि भवन्ति। अथवा कार्मणवैक्रिये देवनारकाणाम्। अनुत्पन्नलब्धीनां तिर्यङ्मनुष्याणां तैजसकार्मणौदारिकाणि युगपद् भवति। अनुत्पन्नवैक्रियलब्धेश्चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्य तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा भवन्ति।

साधारण जीवो का एक ही शरीर होता है। अतएव जीव अनन्त होने पर भी उनके शरीर असंख्यात ही होते है, अनन्त नहीं।

औदारिक शरीर की अपेक्षा तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणा है, क्योकि ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवो को होते है और सब को अलग-अलग होते है। औदारिक शरीर के समान अनन्त जीवो का एक ही तैजस या कार्मण शरीर नहीं होता।

इस प्रकार औदारिक आदि शरीरो में उक्त नौ आधारो से भेद होता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए–की विग्रहगति के समय सिर्फ तैजस और कार्मण दो शरीर होते है भवस्थ दशा में तैजस, कार्मण और औदारिक ये तीन अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रिय, ये तोन होते हैं तिर्यचो और मनुष्यो को तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर के साथ जब लब्धिनिमित्तक वैक्रिय शरीर भी प्राप्त होता है तो एक साथ चार शरीर भी पाये जाते है। चतुर्दशपूर्वधारक मुनि को आहारकलब्धि प्राप्त हो और वह आहारक शरीर बनावे तो उस समय तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर के साथ आहारक के होने से भी चार शरीर हो सकते है।

जब एक जीव में चार शरीर एक साथ होते है तो जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ चारो शरीर का संबंध होता है।

इस प्रकार लब्धिरहित संसारी जीव को तीन शरीर होते है–तैजस, कार्मण, औदारिक यदि वह देव या नारक हो तो औदारिक के बदले वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रियलब्धि से रहित और आहारकलब्धि से सम्पन्न चतुर्दशपूर्वधर मनुष्य को तैजसः कार्मण, औदारिक तथा आहारक, ये चार शरीर होते है। अगर किसी मनुष्य या तिर्यन्च को वैक्रियलब्धि प्राप्त हो तो उसके तैजस, कार्मण, औदारिक तथा वैक्रय, ये चार शरीर एक साथ पाये जाते

उत्पन्नलब्धीनां मनुष्यतिरश्चां कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि युगपच्चत्वारि भवन्ति । चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्याऽनुत्पन्नवैक्रियलब्धेः कार्मणतैजसौदारिकाहारकाणि युगपद्भवन्ति । पञ्चशरीराणि तु न युगपद् भवन्ति कदापि नापि—वैक्रियाहारके युगपद् भवतः लब्धिद्वयाऽभावात् इति भावः ॥३५॥

मूलसूत्रम्—"कम्मए सव्वेसिं—" ॥३६॥

छाया—कार्मणं सर्वेषाम् ॥३६॥

तत्वार्थदीपिकाः— पूर्वं तावत्—आहारकशरीरस्वरूपं प्ररूपितम्, सम्प्रत्यन्तिमं कार्मण शरीरस्वरूपं प्ररूपयितुमाह — **'कम्मए सव्वेसिं'** इति. कार्मणम्—कर्मणा निर्मितम्.कार्मणं कार्यं वा, कार्मणं शरीरं सर्वेषामौदारिकादिशरीराणां निबन्धनं-कारणं भवति. यदा-जीवः एकं शरीरं विहाय-उत्तरशरीरं प्रति गच्छति, तदा-कार्मणशरीरेण सह तस्य योगः—सङ्गतिर्भवति तथा च कार्मण-शरीराधारेण जीवो गत्यन्तरं गच्छति ।

अत एव सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मणं शरीरं बोध्यम् एवञ्च-ज्ञानावरणादिकर्मणो विकाररूपं- कर्ममयं वा कार्मणं शरीरं भवति. तस्य ज्ञानावरणादिकर्मव्यतिरिक्तं कारणं न वर्तते कार्मणस्य कर्ममात्रतया कर्मस्वभाववत्वात्, सर्वेषां च संसारिणां जीवानां कार्मणं शरीरं भवति. विग्रहगतौ खलु—जीवानां कार्मणशरीरकृत एव वाड्मनःकायवर्गणा निमित्तक आत्ममपरिस्पन्दन-रूपो योगो भवति ॥३६॥

है । इस प्रकार अधिक से अधिक एक जीव में चार ही शरीर का संभव है, पाँच का नहीं, क्यों कि जव वैक्रिय शरीर होता है तो आहारक शरीर नहीं हो सकता और आहारक शरीर होता है तो वैक्रिय शरीर नहीं हो सकता । इसका भी कारण यह है कि एक साथ ये दोनो लब्धियाँ नहीं होती है ॥३५॥

मूलसूत्रार्थ—"कम्मए सव्वेसिं' सूत्र ॥३६॥

कार्मण शरीर सब शरीरो का कारण है ॥३६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले आहारकशरीर का निरूपण किया गया है, अब अन्तिम कार्मण शरीर का निरूपण किया जाता है—

कर्म के द्वारा निर्मित अथवा कर्म का कार्य कार्मण शरीर औदारिक आदि सब शरीरों का कारण है ।

जीव जव एक शरीर का त्याग करके भावी शरीर को प्राप्त करने के लिए गमन करता है अर्थात् विग्रहगति में होता है, उस समय कार्मण शरीर के द्वारा ही उसका योग अर्थात् प्रयत्न होता है । कार्मण शरीर के द्वारा होने वाले प्रयत्न से ही वह दूसरी गति में जाता है ।

इस प्रकार कार्मण शरीर अन्य समस्त शरीरों को उत्पन्न करने के लिए बीज के समान है । वह ज्ञानावरण आदि कर्मों के सिवाय उसका अलग कोई कारण नहीं हैं । वस्तुतः कार्मण शरीर कर्मस्वरूप ही है । यह शरीर समस्त संसारी जीवो को प्राप्त होता है । योग का अर्थ है—वचन, मन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में होने वाला परिस्पन्दन अर्थात् हलन—चलन ॥३६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—कार्मणं च शरीरमेषां सर्वेषामौदारिकदीनां शरीराणां निवन्धनं कारणं बीजं वर्तते सकलशक्त्याधारत्वात् चित्रकर्मणः कुडयवत्. भवप्रपञ्चवीजभूतस्य कार्मणशरीरस्य समूलच्छेदे तु प्रक्षालितसकलल्मषाः सन्तो न पुनः शरीराणि समाश्रयन्ति. एवंविधं चेदं कार्मणं ज्ञानावरणादिभ्यः कर्मभ्यो जायते न पुनरन्यत् तस्य कारणमस्ति तथा च—ज्ञानावरणादिकं कर्म तदात्मकत्वात् कार्मणस्य कारणम् अन्येषां चौदारिकादिशरीराणाम् ।

आदित्यप्रकाशवत् न स्वात्मनि क्रियाविरोधः सम्मवति यथा-सविता स्वमण्डलं प्रकाशयति अन्यानि च घटपटादीनी प्रकाशयन्ति न हि स्वेतरः कश्चित्पदार्थः सवितृमण्डलस्य प्रकाशको भवति अनवस्थाप्रसक्तेः एवं ज्ञानावरणादिकर्मव्यतिरिक्तं न कार्मणस्य कारणं सम्भवति, कार्मणस्य कर्ममात्रतया कर्मस्वभाववत्वात् इति भावः ॥३६॥

मूलसूत्रम्—"वेए तिविहे–"

छाया—"वेदस्त्रिचिधः–"

तत्वार्थदीपिका—पूर्वं तावद्- औदारिकादिपञ्चशरीराणि प्ररूपितानि सम्प्रति-तानि शरीराणि यथायोग्यं धारयतां जीवानां केषां चित् पुंवेदः केषांचिद् नपुंसकवेदः केषाञ्चित्

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—कार्मण शरीर औदारिक आदि सब शरीरो का कारण है । जैसे चित्र-कर्म का आधार दीवार होती है, उसी प्रकार यह कर्म सकल शक्ति का आधार है । भवपरम्परा के कारणभूत इस कर्म का जब समूल उच्छेद हो जाता है तो समस्त कल्मष धुल जाते है और जीव फिर किसी भी शरीर को धारण नहीं करते । यह कार्मण शरीर ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न होता है । इसका अन्य कोई कारण नहीं है ।

ज्ञानावरण आदि कर्म, कार्मण शरीर रूप होने से कार्मण शरीर के कारण है । उनमें सूर्य के प्रकाश के समान अपने आपमें क्रिया का विरोध नहीं है । जैसे सूर्य अपने मण्डल को भी प्रकाशित करता है और घट पट आदि अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है—सूर्यमण्डल को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती । यदि सूर्यमण्डल को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता मानी जाय तो अनवस्थादोष का प्रसंग आता है, अर्थात् उस प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता माननी पडेगी और उसके लिए भी अन्य प्रकाश की । इस प्रकार मानते—मानते कहीं विराम ही नहीं होगा ।

इसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों से भिन्न कार्मण शरीर का कोई कारण नहीं । कार्मण शरीर कर्मस्वरूप ही है, कर्म-समुदाय रूप ही है ॥३६॥

मूलसूत्रार्थ—"वेए तिविहे"

वेद तीन प्रकार का है ॥३७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले औदारिक आदि पाँच शरीरो की प्ररूपणा की गई है, अब यह

स्त्रीवेदो भवतीति प्रतिपादयितुं पुंस्त्वादिवेदत्रयं प्ररूपयति—" **वेए तिविहे**" इति. ।

वेदः—वेदनं वेदः, वेद्यते वा वेदः-लिङ्गम्, अभिलाषविशेषो वा स च वेदस्त्रिविधः पुंस्त्वं-स्त्रीत्वं-नपुंसकत्वञ्चेति तच्च-लिङ्गं द्विविधम्, द्रव्यलिङ्ग-भावलिङ्गम् तत्र द्रव्यलिङ्गे तावद् योनि लिङ्गादि नामकर्मोदयनिष्पादितं भवति भावलिङ्गं पुनर्नोकषायोदयविशेषापादितवृत्तिरूपं भवति । तत्र—पुंवेदोदयात् सूते—अपत्यं जनयति इति पुमान्-पुंस्त्वम्.

स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायति-अस्यां गर्भ इति स्त्री स्त्रीत्वम् नपुंसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकं नपुंसकत्वमुच्यते तथाच–हास्यरत्यरत्यादिनवविधेषु नोकषायवेदनीयेषु वेदस्त्रिविधः पुरुषवेद-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदभेदात् तत्र पुरुषवेदोदयात्—अनेकाकारासु स्त्रीष्वभिलाषो भवति उद्रिक्त श्लेष्मण आम्रफलाभिलाषवत् ।

एवं सङ्कल्पविषयीभूतासु स्त्रीष्ववपि अभिलाषो बोध्यः एवं स्त्रीवेदोदयात् पुरुषेष्वभिलाषो भवति. एवं सङ्कल्पजातेषु पुरुषेष्वपि अभिलाषो बोध्यः एवं नपुंसकवेदोदयात् कस्यचित् पुरुष

बतलाते है कि उन शरीरों को धारण करने वाले जीवो में कोई स्त्री वेद वाला होता है, कोई पुरुषवेद वाला होता है । यह बतलाने के लिए पहले वेद के भेद बतलाते है—

एक प्रकार के वेदन को अथवा जिसके कारण वह वेदन हो, उसे वेद कहते है । वेद एक प्रकार की अभिलाषा है और लिंग को भी वेद कहते है ।

वेद के तीन भेद है—पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकबेद । लिंग दो प्रकार के है द्रव्यलिंग और भावलिंग । योनिनामकर्म और लिंगनामकर्म के उदय से द्रव्यलिंग उत्पन्न होता है । भावलिंग की उत्पत्ति नोकपायमोहनीय कर्म के उदय से होती है ।

(२) पुंवेद के उदय से पुमान् (पुरुष) होता है । संस्कृतभाषा के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति है—'सूते अपत्यं' इति पुमान्' अर्थात् जो सन्तान को उत्पन्न करे (१) स्त्रीवेद के उदय से जिसमें गर्भ जमता है, उसे स्त्री कहते हैं (३) नपुंसकवेद के उदय से जो जीव पूर्वोक्त दोनों शक्तियो से हीन होता है अर्थात् न सन्तान उत्पन्न कर सकता है और न गर्भ धारण कर सकता है, वह नपुंसक कहलाता है ।

इस प्रकार हास्य, रति, अरति आदि नौ प्रकार के नोकपायवेदनीय के भेदो में एक जो वेद है, उसके तीन प्रकार है—१ पुरुषवेद, २ स्त्रीवेद और ३ नपुंसकवेद ।

पुरुषवेद के उदय से स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न होती है जैसे कफ के प्रकोप वाले पुरुष को आम्रफल आदि की इच्छा होती है । इसी प्रकार **संकल्प की विषयभूत स्त्रियो में भी** अभिलाषा समझ लेनी चाहिए । इसी स्त्रीवेद के उदय से पुरुषों के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है । संकल्प जनित पुरुषों के प्रति भी इसी के कारण अभिलाषा होती है । नपुंसकवेद के उदय से किसी को पुरुष और स्त्री—दोनो की अर्थात् दोनों के साथ रमण करने की अभि-

स्त्रीद्वयविषयाभिलाषो भवति धातुद्वयोदये सति मार्जितादि द्रव्याभिलापवत्. कस्यचित्पुनः पुरुषेष्वेवाभिलाषो जायते इति भावः ॥३७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सादिनवविधे नोकषायवेदनीये वेदस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः स्त्रीवेदः पुरुषवेदः नपुंसकवेदश्च तत्र वेदनं वेदोऽभिलाषविशेषः अयम्भावः मोहनीयबन्धो द्विविधः दर्शनमोहनीयः चारित्रमोहनीयश्च तत्र दर्शनमोहनीयबन्धस्त्रिविधः मिथ्यात्ववेदनीयसम्यक्त्ववेदनीयसम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयभेदात् । चारित्रमोहनीयबन्धश्च द्विविधः, कषाय-वेदनीय—नोकषायवेदनीयभेदात् । तत्र—कषायवेदनीयबन्धः षोडशभेदः क्रोध-मान माया-लोभाः प्रत्येकम् अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-कषाय-प्रत्याख्यानकषाय-संज्वलनकषायभेदात् षोडशभेदा भवन्ति

नोकषायवेदनीयं नवविधम्, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सापुरुषवेदस्त्रीवेदनपुंसकवेदभेदात् तत्र—पुरुषवेदमोहोदयात्—अनेकाकारासु स्त्रीष्वभिलाषो भवति उद्रिक्तश्लेमण आम्रफलाभिलाषवत् तथा सङ्कल्पजास्वपि स्त्रिषु—अभिलाषः स्त्रीवेदमोहोदयात् पुरुषेष्वभिलाषो भवति एवं सङ्कल्पजेषु च पुरुषेष्वभिलाषः ।

लाषा उत्पन्न होती है। जैसे दो धातुओ के कुपित होने पर मार्जित आदि द्रव्यों की अभिलाषा होती है। किसी—किसी को सिर्फ पुरुषो के साथ रमण करने की इच्छा होती है ॥३७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद; यह नोकषायवेदनीय कर्म के नौ भेद है। इन नौ भेदों में तीन वेदो की गणना की गई है। एक विशेष प्रकार के वेदन या अभिलाषा को वेद कहते है। आशय यह है—मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद है—१ मिथ्यात्वमोहनीय, २ सम्यक्त्वमोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रमोहनीय। चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। इनमें से कषाय-मोहनीय के सोलह भेद है—क्रोध, मान, माया, और लोभ; और इन चारों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से चार—चार भेद होने से सोलह भेद हो जाते हैं ।

नोकषायमोहनीय के नौ भेद है—हास्यादि पूर्वोक्त तीन वेदो की गणना इसी के अन्तर्गत है। इनमें से पुरुष वेदमोहकर्म के उदय से स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जैसे कफ के कुपित होने पर आम्रफल का सेवन करने की अभिलाषा होती है। इसी प्रकार स्त्री विषयक सकल्पजनित स्त्रियो के प्रति भी अभिलाषा पैदा होती है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है तो पुरुष के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है। साथ ही संकल्पज पुरुषों की भी अभिलाषा होती है।

नपुंसकवेदमोहोदयात् कस्यचित् स्त्रीपुरुषद्वयविषयोऽभिलाषः प्रादुर्भवति, धातुद्वयोदये सति मार्जितादिद्रव्याऽभिलाषवत् । कस्यचित्पुनः पुरुषेष्वेवाऽभिलाषो भवति.सङ्कल्पजविषये चाऽनेकरूपोऽभिलाषो भवति ।

तथोक्तं समवायाङ्गसूत्रे "**कइविहे णं भंते ! वेए पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे वेए पण्णत्ते तं जहा–इत्थीवेए-पुरिसवेए-नपुंसकवेए**—इति । कतिविधः खलु भदन्त ! वेदः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! त्रिविधो वेदः प्रज्ञप्तः । तद्यथा—स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदः इति ॥३७॥

मूलसूत्रम्—'देवे दुवेए, इत्थीवेए पुरिसवेए य–

छाया—देवो द्विवेदः स्त्रीवेदः पुरुषवेदश्च—.

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावद् वेदः पुंस्त्व-स्त्रीत्व-नपुंसकत्ववेदभेदेन त्रिविधः प्रतिपादितः सम्प्रति-नैरयिकदेवतिर्यग्योनिकमनुष्यादि गर्भव्युत्क्रान्तिकसम्मूर्च्छिमौपपातिकजीवानां मध्ये केषां कियन्तो वेदा भवन्तीति सूत्रत्रयेण प्ररूपयितुं प्रथमं देवानां द्विवेदमाह—

"**देवे दुवेए, इत्थीवेए–पुरिसवेए य–**" इति । देवस्तावत् चतुर्विधोऽपि भवनपति-वानव्यन्तर-वैमानिकरूपो द्विवेदो भवति, द्वौ वेदौ पुंस्त्वं-स्त्रीत्वरूपौ यस्याऽसौ द्विवेदः । तद्यथा–स्त्रीवेदः पुरुषवेदश्च एवञ्च–चतुर्निकाया अपि देवाः नपुंसकवेदिनो न भवन्ति अपितु–पुंवेदिनः स्त्रीवेदिनश्च । तत्र–केचन पुंवेदिनः केचन पुनः स्त्रीवेदवदिनो भवन्ति । तत्र भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–सौधर्मे–शानद्वयवैमानिकेषु उपपातो वेदद्वयमपि भवति ।

नपुंसकवेद का उदय होने पर किसी–किसी को स्त्री और पुरुष, दोनो की इच्छा उत्पन्न होती है, जैसे वातादि दो धातुओ के कुपित होने पर मार्जित द्रव्य की इच्छा होती है । कसी किसी को पुरुषो के प्रति ही अभिलाषा जाग्रत होती है । संकल्पज विषय में भी अनेक प्रकार की अभिलाषा होती है । समवायांग सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! वेद कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! वेद तीन प्रकार का कहा है–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ॥३७॥

मूलसूत्रार्थ—"देवे दुवेए इत्थीवेए पुरिसवेए" सूत्र ३८

देव दो वेद वाले ही होते है—स्त्रीवेद वाले और पुरुषवेद वाले ॥३८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले वेद के तीन भेद बतलाए जा चुके है, अब तीन सूत्रो में यह बतलाएँगे कि देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, गर्भज, सम्मूर्च्छिम, एवं औपपातिक जीवो में से किनके कितने वेद होते है ? सर्वप्रथम देवो में वेद का प्रतिपादन करते है—

भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक, इन चारो प्रकारो के देवो में दो ही वेद होते है—स्त्रीवेद और पुरुषवेद । तात्पर्य यह है कि चारों निकायो के देव नपुंसकवेदी नहीं होते; सिर्फ स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते है । भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ऐशान विमान के वैमानिकों में दोनों वेद वालो की उत्पत्ति होती है । जैसे असुर-

यथा-ऽसुरकुमाराः—असुरकुमार्यश्च नागकुमारा —नगकुमार्यश्चेत्यादिरीत्या—ऽसुरकुमारादीशान्तेषु पुंवेदिनः केचिद्देवा भवन्तिः स्त्रीवेदिन्य काश्चिद्देव्यश्च भवन्ति। तेषु शुभगतिनामकर्मोदयापेक्षनिरतिशयसुखविशेषरूपपुंस्त्वस्त्रीत्ववेदानुभवात् सनत्कुमारादिषु पञ्चानुत्तरोपपातिकान्तेषु तु—केवलं पुरुषवेदिन एव देवा भवन्ति न तु—स्त्रीवेदिनो नापि—नपुंसकवेदिनो भवन्ति ।

अथ देवानां नपुंसकवेदः कथं न सम्भवतीतिचेत्—उच्यते चतुर्विधानामपि देवानां शुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कापेक्षमोहोदयादभिलषितप्रीतीकारकं मायाऽऽर्जवोपेतं करीषाग्निसदृशं स्त्रीवेदनीयमेकं पुंस्त्ववेदनीयं द्वितीयं पूर्वबद्धनिकाचितमुदितं भवति । न तु—तद्भिन्नं नपुंसकवेदनीयं कदापि, पूर्वभवे—नपुंसकवेदमोहनीयकर्मणोऽबद्धत्वात् ।

सनत्कुमारादिषु तु—स्त्रीवेदमोहनीयकर्मणोऽप्यबद्धत्वात् तेषु स्त्रीवेदोऽपि न भवतीतिभावः ॥३८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—देवस्तावद चतुर्निकायोऽपि भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकरूपो द्विवेदो भवति । स्त्रीवेदवान्—पुरुष वेदवांश्च । तथाच—चतुर्निकाया अपि देवा नपुंसकवेदिनो न भवन्ति, अपितु—स्त्रीवेदिनः पुंवेदिनश्च भवन्ति । केचन देवाः स्त्रीवेदवेदिनो भवन्ति । केचन पुनः पुरुषवेदिनो भवन्ति ।

कुमार और असुरकुमारियाँ, नागकुमार और नागकुमारियाँ, इत्यादि प्रकार से असुरकुमार से लेकर ईशान देवलोक तक कोई-कोई पुरुषवेदी देव होते हैं और स्त्रीवेद वाली देवियाँ होती हैं। उनमें शुभगति नामकर्म के उदय से निरतिशय सुखविशेष रूप पुरुष और स्त्री वेद का अनुभव होता है । सनत्कुमार देवलोक से पाँच अनुत्तर विमानो तक केवल पुरुषवेद वाले ही देव उत्पन्न होते है; न स्त्रीवेदी और न नपुंसक वेदी होते है ।

देवो में नपुंसकवेद क्यो नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चारो प्रकार के देवो में शुभगति आदि नाम गोत्र वेद्य और आयुष्क से सापेक्ष मोह के उदय से अभिलषित में प्रीति उत्पन्न करने वाला, माया आर्जव से युक्त छाणे की अग्नि के समान एक स्त्रीवेदनीय और दूसरा पुरुषवेदनीय हो, जो पहले निकाचित रूप में बाँधा है, अब उदय में आया है । इन दोनो से भिन्न नपुंसक वेदनीय का कदापि उदय नहीं होता, क्योंकि उन्होंने पूर्वभव में नपुंसक वेदमोहनीय कर्म का बंध नहीं किया है। सनत्कुमार आदि देवलोको के देवो ने पूर्वभव में स्त्रीवेदमोहनीय कर्म का भी बन्ध नहीं किया, इस कारण वहाँ स्त्रीवेद भी नहीं होता है ॥३८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चारों निकायो के देव दो वेद वाले होते है—स्त्रीवेद वाले और पुरुषवेद वाले । इस प्रकार चारों निकायो के देव नपुंसकवेदी नहीं होते, सिर्फ स्त्रीवेदी और पुरुष ही होते हैं । अर्थात् कोई पुरुषवेदी और कोई स्त्रीवेदी होते हैं ।

तत्र भवनपति–व्यन्तर–ज्योतिष्क सौधर्मैशानेषु–उपपाततो वेदद्वयमपि भवति । तदुपरि तु पुरुषवेद एव भवति, नाऽन्यः । अथ देवानां नपुंसकवेदः कथं न भवतीति चेत्–

उच्यते तेषां हि देवानां चतुर्विधानामपि शुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कापेक्षमोहोदयादभिलषितप्रीतिजनकं मायार्जवोपचितं करीषतृणपूलवह्नितुल्यं स्त्रीवेदनीयमेकं पुंवेदनीयमधिकं पूर्वबद्धनिकाचितमुदयप्राप्तं भवति । न तु–तद्भिन्नं नपुंसकवेदनीयं कदापि पूर्वभवे नपुंसकवेदमोहकर्मणोऽबद्धत्वात् ।

अत्र च स्त्रीवेदो नपुंसकवेदापेक्षया शुभउच्यते, न तु–वस्तुतः शुभ एवेति भावः । तथा चोक्त समवायाङ्गसूत्रे–"**असुरकुमारा णं भंते ! किं इत्थीवेया–पुरिसवेया–णपुंसगवेया ? गोयमा ! इत्थीवेया–पुरिसवेया, णो णपुंसगवेया थणियकुमारा, जहा–असुरकुमारा तहा–वाणमंतरा जोइसियवेमाणियावि**"–इति । असुरकुमाराः खलु भदन्त ! किं स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाः नपुंसकवेदाः–? गौतम ! स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाः नो नपुंसकवेदाः । स्तनितकुमाराः, यथा–असुरकुमाराः–तथा वानव्यन्तराः ज्योतिष्कवैमानिका अपि, इति ॥३८॥

मूलसूत्रम्—"**नारगे संमुच्छिमे य नपुंसगवेए–**" ॥३९॥

छाया—"**नारकः सम्मूर्च्छिमश्च नपुंसकवेदः—**" ॥३९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे देवानां चतुर्निकायानामपि भवनपतिवानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकानां पुंस्त्ववेदः स्त्रीत्ववेदश्च यथायोग्यं प्ररूपितः सम्प्रति–नारकाणां सम्मूर्च्छिमानां च जीवानां केवलं नपुंसकत्ववेदो भवतीति प्ररूपयितुमाह—

भवनपति, व्यन्तर ज्योतिष्क, सौधर्म ऐशान देवलोक में उपपात की अपेक्षा से दोनों वेद होते है । उनके आगे केवल पुरुषवेद ही होता है । देवो में नपुंसकवेद क्यो नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि चारो प्रकार के देवो में शुभगति आदि नाम गोत्र वेद्य आयुष्क की अपेक्षा रखने वाले मोहकर्म के उदय से अभिलषित प्रीतिजनक, मायाआर्जव से उपचित करीष की अग्नि के समान स्त्रीवेदनीय और घास की पूली की आग के समान पुरुषवेदनीय, जो पहले निकाचित रूप में बाँधा था, उदय को प्राप्त होता है । इन दोनो से भिन्न नपुंसकवेदनीय का कदापि उदय नहीं होता, क्योंकि पूर्वभव में उसका बंध नहीं किया था ।

यहाँ नपुसकवेद की अपेक्षा स्त्रीवेद शुभ कहलाता है, वास्तव में वह शुभ है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । समवायांगसूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! क्या असुरकुमार स्त्रीवेदी होते है, पुरुषवेदी होते है या नपुंसकवेदी होते है ?

उत्तर—गौतम ! स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी होते है, नपुंसकवेदी नहीं होते । स्तनितकुमारों तक ऐसा ही कहना चाहिए । जैसा असुरकुमारो के विषय में कहा है, एवं वैसा ही वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिको के सबन्ध में भी समझना चाहिए । ॥३८॥

"नारगे संमुच्छिमे य नपुंसगवेए"—इति । नारकः—रत्नप्रभादिसप्तमपृथिवीषु नरकभूमिषु नारकाः सर्वेः सम्मूर्च्छिमश्च पूर्वोक्तस्वरूपो जीवः केवलं नपुंसकवेद एव भवति । न पुंस्ववेदः, नापि—स्त्रीवेदः, । तथा च—सर्वे नैरयिकाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायद्वि—त्रि—चतुरिन्द्रियाः केचन—तिर्यङ्मनुष्याश्च सम्मूर्च्छिमाः नपुंसकवेदवेदिन एवाऽवसेयाः ।

यतो हि तेषां नारकाणां सम्मूर्च्छनजन्मशालिनाञ्च चारित्रमोहनीयविशेषनोकषायवेदनीयहास्यादिनवविधान्तर्गतत्रिवेदेषु—एक नपुंसकवेदनीयमेवाऽशुभगतिनामकर्मापेक्षं पूर्वबद्धनिकाचितमुदितं भवति, न तु—पुंस्त्वस्त्रीत्ववेदनीये तेषामुदिते भवतः पूर्वभवे—पुंस्त्वस्त्रीत्ववेदशुभमोहनीयकर्मणोरबद्धत्वात् इति भावः ॥३९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—नारकाः—नरकेषु भवाः सप्तपृथिवीषु वर्तमाना नैरयिकाः सर्वे सम्मूर्च्छिनश्च सम्मूर्च्छनं—सम्मूर्च्छः सम्मूर्च्छनजन्म येषामस्ति ते सम्मूर्च्छिनः सम्मूर्च्छनजन्मशालिनश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वि—त्रि—चतुरिन्द्रियाः केवच—तिर्यङ्मनुष्याश्च भवन्ति । सर्वे—एते नपुंसकान्येव नपुंसकवेदिन एवाऽवगन्तव्या, नो स्त्रियः, नो वा पुमांसः, न ते स्त्रीवेदवेदिनः—न वा—पुरुषवेदवेदिनो भवन्ति—इत्यर्थः ।

मूलसूत्रार्थ—'नारगे संम्मुच्छिमे य' इत्यादि' ॥३९॥

नारक और संमूर्छिम जीव नपुंसकवेदी ही होते है ॥३९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में चारो निकायो के देवो में स्त्रीवेद और पुरुषवेद का विधान किया गया, अब नारक और संमूर्छिम जीवों में केवल नपुंसकवेद ही होता है, यह प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

रत्नप्रभा आदि सातों नरकभूमियो में रहने वाले नारक जीव और पूर्वोक्त स्वरूप वाले संमूर्छिम जीव सिर्फ नपुंसकवेदी ही होते है । उनमें न पुरुषवेद होता है, न स्त्रीवेद । इस प्रकार सभी नारक, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कोई—कोई पंचेन्द्रिय मनुष्य तथा तिर्यंच समूर्छिम होते है और उन सब को नपुंसकवेदी ही समझना चाहिए । इसका कारण यह है कि नारको और संमूर्छिमो ने तीन वेदो में से केवल नपुंसकवेद ही पूर्वकाल में निकाचित रूप में बाँधा होता है और उसी का उनको उदय होता है । उन्होंने पूर्वकाल में पुरुषवेदमोहनीय और स्त्रीवेद मोहनीय कर्म, जो शुभ है, नहीं बाँधे होते ॥३९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—सात नरकभूमियो में रहे हुए नारक जीव और सभी समूर्छिम जीव अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कोई—कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य नपुंसक ही होते है । न वे स्त्रीवेदी होते है, न पुरुषवेदी होते है । क्योकि चारित्रमोहनीय कर्म का भेद जो नोकषायवेदनीय है, उसके हास्यादि नौ भेदो में से जो तीन वेद है उनमें से एक नपुंसकवेद का ही उदय होता है ।

यस्मात्तेषांनारकाणां सम्मूर्च्छनजन्मवताञ्च चारित्रमोहनीयविशेषनोकषायवेदनीयनवविधहास्याद्याश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुंसकवेदनीयमेव—एकमशुभगतिनामापेक्षं पूर्वबद्धनिकाचितमुदयप्राप्तं भवति। न तु—स्त्रीपुरुषवेदनीये तेषां कदाचित्—उदयप्राप्ते भवतः। तथा च—नैरयिकाः सर्वे सम्मूर्च्छिनश्चाऽशुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कोदयापेक्षमहामोहोदयेनाऽशुभं महानगरदाहोपमं मैथुनाभिलाषमनुभवन्ति।

सम्मूर्च्छनजन्मशालिनोऽपि तिर्यञ्चो मनुष्याश्चाऽशुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कोदयापेक्षमोहोदयाकाङ्क्षावन्तो नपुंसकत्वमनुभवन्ति। अनन्तरे पूर्वस्मिन् जन्मनि नपुंसकत्वयोग्यास्रवैः परिगृहीतं पूर्वबद्धनिकाचित ग्रहणानन्तरमात्मसात् कृतं क्षीरोदकवत् परस्परानुगतिलक्षणेन सम्बन्धेनाऽऽत्मप्रदेशैः सह विभागितयाऽध्यवसायविशेषात् व्यवस्थापितं समासादितपरिपाकावस्थरूपमुदयप्राप्तं नपुंसकवेदनीयमेव नारकसंम्मूर्च्छिमानां प्राणिनां दुःखबहुलत्वाद् भवति, न तु—कदाचित् स्त्रीपुरुषवेदनीये इति भावः। उक्तञ्चसमवायाङ्गसूत्रे—

"नेरइया णं भंते ! किं इत्थीवेया—पुरिसवेया—णपुंसगवेया पण्णत्ता ? गोयमा ! णो इत्थीवेया—णो पुंवेया—णपुंसगवेया पण्णत्ता, पुढवी—आउ—तेउ—वाउ—वणस्सई बिति चउरिंदियसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खसंमुच्छिममणुस्सा णपुंसगवेया"—इति। नैरयिकाः खलु भदन्त ! किं स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाः नपुसकवेदाः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! नो स्त्रीवेदाः, नो पुंवेदाः, नपुंसकवेदाः प्रज्ञप्ताः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वि—त्रि-चतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसम्मूर्च्छिममनुष्या नपुंसकवेदा इति ॥३९॥

स्त्रीवेद या पुरुषवेद का उदय नहीं होता। इस कारण सभी नारक और संमूर्छिम जीव अशुभ नगरदाह के समान मैथुन की अभिलाषा वाले होते है।

आशय यह है कि नारको और समूर्छिम जीवो ने अनन्तर पूर्वभव में नपुंसकवेद के योग्य कर्म का आस्रव किया है, उस कर्म का निकाचित बन्ध किया है अर्थात् ग्रहण करने के पश्चात् दूध और पानी की तरह एकमेक करके ग्रहण किया है, वह कर्म आत्मप्रदेशों के साथ मिल गया है—उनसे पृथक् नहीं मालूम पड़ता है। विशेष प्रकार के अध्यवसाय से उस कर्म का बन्ध किया है। वही कर्म अब वर्त्तमान भव में परिपाक को प्राप्त होकर उदयावस्था में आया है। इस कारण नारक और समूर्छिम जीव दुःख की बहुलता वाले होने से नपुंसक ही होते है। वे कदापि स्त्री या पुरुष नहीं होते।

समवायागसूत्र में कहा है—'भगवन् ! नारक जीव क्या स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुंसकवेदी होते हैं ?

'गौतम ! स्त्रीवेदी नहीं होते, पुरुषवेदी भी नहीं होते, नपुंसकवेदी होते है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच और सम्मूर्छिम पुरुष नपुसकवेद वाले ही होते है' ॥३९॥

मूलसूत्रम्—"सेसा ति वेया"—॥४०॥

छाया—"शेषा स्त्रिवेदाः—" ॥४०

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे नारकाणां सम्मूर्च्छिमानाञ्च जीवानां केवलं नपुंसकत्ववेद एव भवतीति प्रतिपादितम् । सम्प्रति—तेभ्यो नारकसम्मूर्च्छिमेभ्योऽतिरिक्तानां गर्भव्युत्क्रान्तिकप-ञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकमनुष्याणां त्रिवेदत्वं प्रतिपादयितुमाह—**"सेसा तिवेया"**—इति ।

शेषाः नारकसम्मूर्च्छिमभिन्नाः गर्भव्युत्क्रान्तिकाः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः मनुष्याश्च त्रिवेदाः, त्रयो वेदाः । पुंस्त्वस्त्रीत्वनपुंसकत्वलक्षणा येषां ते त्रिवेदास्तथाविधा भवन्ति । एवञ्च—गर्भव्युत्क्रान्तिकाः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजा मनुष्याश्च केचन—पुंस्त्ववेदिनः केचन—स्त्रीत्ववेदिनः केचन पुनर्नपुंसकत्ववेदिनश्च भवन्ति ॥४०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—शेषाः नैरयिक—सम्मूर्च्छिमभिन्ना गर्भव्युत्क्रान्तिक—मनुष्य—पञ्चे-न्द्रिय—तिर्यग्योनिकास्त्रिवेदाः स्त्रीवेदवेदिनः पुरुषवेदवेदिनो नपुंसकवेददेदिनश्च भवन्ति ।

तथाच—जरायुजाण्डजपोतजा स्त्रिविधा भवन्ति । स्त्रियः पुमांसो नपुंसकानि चेति फलि-तम् । उक्तञ्च समवायाङ्गसूत्रे—**"गब्भवक्कंतियमणुस्सा पंचिंदियतिरिया य तिवेया"**—इति । गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च त्रिवेदाः इति ॥४०॥

मूलसूत्रम्- "आऊ दुविहे, सोवक्कमे निरुवक्कमे य—" ॥४१॥

छाया—"आयुर्द्विविधम्, सोपक्रम निरुपक्रमं च—॥४१॥

मूलसूत्रार्थ—"सोसा तिवेया" सू० ४०

शेष जीव तीनो वेद वाले होते है ॥४०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में प्रतिपादन किया गया है कि नारक और संमूर्छिम जीव सिर्फ नपुंसकवेद वाले ही होते है । अब उनके अतिरिक्त अर्थात् नारको और संमूर्छिमों के सिवाय जो गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य है, वे तीनो वेदो वाले होते है, यह प्रतिपा-दन करने के लिए कहते है—

शेष जीव अर्थात् नारको और समूर्छिमो से भिन्न गर्भजन्म से उत्पन्न होने वाले पंचे-न्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तीनो वेदो वाले होते है । जिन जीवो में पुरुपवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद तीनो पाये जाएँ, वे तीनवेद वाले होते है । इस प्रकार गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यो में कोई पुरुपवेदी, कोई स्त्रीवेदी और कोई नपुंसकवेदी होते हैं ॥४०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—शेप अर्थात् नारको और सम्मूर्छिमों से भिन्न गर्भज मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच त्रिवेदी होते है अर्थात् उनमें स्त्रियाँ भी होती है, पुरुष भी होते हैं और नपुंसक भी होते हैं।

इस कथन का फलितार्थ यह है कि जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणी तीनों प्रकार के होते है—स्त्री, पुरुष और नपुंसक । समवायांग सूत्र में कहा है गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच तीनो वेदो वाले होते हैं ॥४०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् नारकदेवतिर्यङ्मनुष्यगतिरूपससारवतां जीवानां प्ररूपणं कृतम् । सम्प्रति—तेषामायुष स्थितिं प्ररूपयितुमाह—"**आऊ दुविहे, सोवक्कमे—निरुवक्कमे-य**" इति । आयुस्तावद् जीवनकालः द्विविधं भवति । तद्यथा—सोपक्रमम् निरुपक्रमञ्च । तत्र उपक्रमसुपक्रमः—क्षयः, तेन सहितं सोपक्रमम् । अति दीर्घकालस्थितिकमप्यायुर्येन कारणविशेषेणाऽध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापाद्यते स कारणकलापविशेष उपक्रमः स्वल्पकरणम्—प्रत्यासन्नीकरणकारणम् तेन तथाविधेनोपक्रमेण सहितं सोपक्रममायुष्यं भवति ।

यथा—विषाग्निजलादिमज्जनादिबाह्यस्योपघातनिमित्तस्य सान्निध्ये दीर्घायुरपि ह्रस्वं भवति एतदेवाऽपवर्त्यमायुरित्युच्यते । निर्गत उपक्रमो यस्मात् तद् निरुपक्रममायुरुच्यते, अध्यवसानादिकारणकलापविशेषाभावात्—दीर्घं यदायुर्ह्रस्वं न भवति तद् निरुपक्रममुच्यते । तथा च—अतिदीर्घकालस्थितिकमपि यद् आयुः येन—विषाग्निजलपाशबन्धनादिकारणकलापेन स्वपरिणतिविशेषात् अल्पकालस्थितिकमापाद्यते—तद्आयु सोपक्रममपवर्त्यमुच्यते । यत्पुनरायुस्तथाविधकारणकलापेन दीर्घकालस्थितिक खलु, अल्पकालस्थितिकं नाऽऽपाद्यते तदायुर्निरुपक्रममुच्यते । तदेव अनपवर्त्यम् [अकाटर्यं] उच्यते ॥४१॥

मूलसूत्रार्थ—"**आऊ दुविहे**" इत्यादि सू० ४१

आयु दो प्रकार की है—सोपक्रम और निरुपक्रम ॥४१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले नरकगति, देवगति, तिर्यंचगति और मनुष्यगति रूप ससार वाले जीवो का कथन किया गया है । अब उनकी आयु का निरूपण करने के लिए कहते है—

आयु अर्थात् जीवन काल । वह दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम जो आयु उपक्रम अर्थात् क्षय से युक्त हो वह सोपक्रम कहलाता है । दीर्घ काल पर्यन्त भोगने योग्य आयु अध्यवसान आदि जिस कारण से अल्पकाल में ही भोगने योग्य बन जाते है, उस कारण को उपक्रम कहते है । अर्थात् आयु के क्षय को समीप ले आने वाला कारण उपक्रम कहलाता है । जो आयु उपक्रम सहित हो वह सोपक्रम कहलाता है ।

विष, अग्नि जलमज्जन आदि उपघात के बाह्य कारण मिलजाने पर दीर्घायु भी अल्प हो जाती है. अर्थात् जो आयु शनैः शनैः दीर्घकाल में भोगा जाने वाला था, वह अल्पकाल में ही भोग लिया जाता है । इस प्रकार का आयु अपवर्त्य आयु भी कहलाता है । इसके विपरीत जो आयु उपक्रम से रहित हो वह निरुपक्रम कहलाता है । उसमें अध्यवसान आदि कारण नहीं होते । तात्पर्य यह है कि जो आयु जिस रूप में बाँधा हुआ है उसी रूप में भोगा जाय—दीर्घ बंधा हो तो ह्रस्व न हो, वह निरुपक्रम कहलाता है ।

इस प्रकार जो अति दीर्घकालिक आयु विष, अग्नि, जल, पाशबन्धन आदि कारणो से अल्पकालिक हो जाती है, वह सोपक्रम—अपवर्त्य आयु कहलाता है किन्तु पूर्वोक्त कारणो से जो दीर्घकालिक आयु अल्पकालिक नहीं होता, वह निरुपक्रम कहा जाता है । वह अपवर्त्य आयु भी कहलाता है ॥४१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—नारक–तिर्यङ्–मनुष्य–देवात्मकचतुर्गतिरूपे संसारे आयुषः स्थितिः किं व्यवस्थिता वर्तते उताहो अकालमृत्युरपि भवतीत्याशङ्कायामुच्यते **"आऊ दुविहे, सोवक्कमे–निरुवक्कमे य–"** इति ।

आयुस्तावद् द्विविधं भवति, अपवर्तनीयम् अनपवर्तनीयं च । तत्रापि–अनपवर्तनीयं पुनर्द्विविधम्, सोपक्रमं–निरुपक्रमं च । तत्रोपक्रमणमुपक्रमः क्षयः तेन सहितं सोपक्रमम, अतिदीर्घकालस्थित्यपि–आयुर्येन कारणविशेषेणाऽध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापाद्यते स कारणकलाप उपक्रमः स्वल्पकरणम्, प्रत्यासन्नीकरणकारणमित्यर्थः ।

तेन तादृशोपक्रमेण सहितं सोपक्रममनपवर्तनीयमायुर्विषाग्निजलादिमज्जनादिकं । निर्गतउपक्रमो यस्य तद् निरुपक्रमं चायुर्भवति अध्यवसानादिकारणकलापाऽभावात् । अथ यथा–ऽतिदीर्घकालस्थितिकमप्यायुः स्वपरिणतिविशेषाद् अल्पकालस्थितिकमापाद्यते, एवम्–अल्पकालस्थितिकमपि आयुः रसायनाद्युपयोगतो दीर्घकालस्थितिरूपा वृद्धिमप्यापादयिष्यते ?

इति चेदुच्यते, दीर्घकालस्थितिकत्वेनाऽबद्धत्वात्–अल्पस्यायुषो वर्धनासम्भवात् । जन्मान्तरे वृद्धस्यैवाऽऽयुषस्तावता कालेन वाऽनुभवो भवति लघीयसा–दीर्घेण वा-ऽध्यवसानाद्यियोगात् । अभिचारिककर्मणोवाऽपि. अकालफलपाकवत् क्षीयते । अबद्धमायुस्तु—न शक्यते सम्बर्धयितुममृतरसायनोपयोगेनापि कदाचित्, यथा–दीर्घपटः वेष्टनयाऽल्पः शक्यते कर्तुम् ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति रूप ससार मे आयु की स्थिति क्या व्यवस्थित है ? अथवा क्या अकालमृत्यु भी होती है ? इस प्रकार की आशंका होने पर कहते हैं—

आयु दो प्रकार का होता है—अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय । अनपवर्त्तनीय आयु के भी दो भेद है–सोपक्रम और निरुपक्रम । जो आयु उपक्रमण अर्थात् क्षय वाली हो वह सोपक्रम कहलाता है । लम्बे समय तक भोगने योग्य आयु जिस कारण विशेष से अर्थात् अध्यवसान आदि निमित्त से अल्पकालिक हो जाता है, वह कारण उपक्रम कहलाता है, उसे स्वल्पकरण या प्रत्यासन्नीकरण भी कह सकते है, क्योकि उससे आयु स्वल्प होता है या सन्निकट आ जाता है । जो आयु इस प्रकार के उपक्रम से सहित हो उसे सोपक्रम आयु कहते हैं ।

जिस आयु में विष, अग्नि, जलनिमज्जन आदि उपक्रम लागू न होसके, वह निरूपक्रम कहलाती है । वहाँ अध्यवसान आदि कारण नहीं होते ।

शंका—जैसे दीर्घकाल की स्थिति वाला आयु कारण मिलने पर अल्पकालिक हो जाता है, इसी प्रकार क्या अल्पकालिक आयु रसायन आदि के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होकर दीर्घकालिक भी होता है ?

समाधान—जो आयु दीर्घकालिक रूप में नहीं बँधा है, ऐसी अल्प आयु की वृद्धि होना सभव नहीं है । वास्तविकता यह है कि पूर्वजन्म में जो आयु जितना बांधा गया है, अगले जन्म में वह सब भोगना ही पडेगा. न उसमे कोई कमी होती है और न वृद्धि ही हो सकती है केवल विष शस्त्र आदि कारण उपस्थित हो जाने पर दीर्घ काल तक भोगे जाने

न तु—लघुपटोद्राघियमानमापादयितुं शक्यते । एवम्—आयुरपि, अल्पानुपात्ततावदलिकत्वाद् दीर्घं कर्त्तुं न शक्यते । अपवर्तनीयानि पुनरायूंषि नियमतः सोपक्रमाणि भवन्ति । तथाच सोपक्रमाण्येवाऽपवर्तनीयानि भवन्ति सर्वदाऽऽयूंषि इति फलितम् । अध्ययसानादिकं निमित्तं विनाऽपवर्तना न प्रतिपद्यते ।

एवञ्च—तदनुसारेणाऽकालमृत्युरपि सम्भवतीति भावः । "अयम्भावः—त्रिभागावशेषायुषो नवभागशेषायुषः सप्तविंशतिभागावशेषायुषो वा जीवाः परभवायुर्बध्नन्ति, तत्र—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाः निरुपक्रमायुश्च पञ्चेन्द्रिया नियमत एव त्रिभागावशेषे आयुर्बध्नन्ति ।

वाले आयु अल्पकाल में ही जल्दी—जल्दी भोग लिया जाता है; जैसे एक मास में पकने वाले वृक्ष में लगे फल को तोड़ कर यदि पाल में डाल दिया जाय तो वह दो—तीन दिन में पक जाता है, और एक मास में होने वाली फल के परिपाक की विभिन्न अवस्थाएँ पाल में दबाये फल में भी होती है' मगर वे जल्दी-जल्दी हो जाती है । इसी प्रकार जीव ने आयु कर्म के जितने प्रदेशो का बन्धन किया है वे सब तो उदय में आए बिना निर्जीर्ण हो नहीं सकते । चाहे सोपक्रम आयु हो अथवा निरुपक्रम, सम्पूर्ण आयु भोगना ही पड़ता है । अन्तर केवल इतना ही होता है कि विष अग्नि आदि उपक्रम मिलने पर, दीर्घ काल में जो आयु भोगे जाने वाला था, वह शीघ्र उदय में आ जाता और भोग लिया जाता है । ऐसी स्थिति में आयु की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? अमृत—रसायन का सेवन करने पर भी बद्ध आयु बढ़ नहीं सकता । लम्बे फैले हुए वस्त्र को लपेट कर थोड़ी जगह में समाया जा सकता है किन्तु और अधिक लम्बा नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार जिस आयु के दलिक थोड़े बाँधे गए हैं, उसे लम्बा करना शक्य नहीं है । जो आयु अपवर्त्तनीय होता है, वह नियम से सोपक्रम होता है । अतएव यह फलित हुआ कि अपवर्त्तनीय आयु सर्वदा सोपक्रम ही होता है, क्योंकि अध्यसाय आदि निमित्त के बिना अपवर्त्तनीय हो नहीं सकता ।

इस प्रकार आयु की अपवर्तना ही लोक में अकालमरण के रूप में प्रसिद्ध है । वस्तुतः कोई भी प्राणी अधूरी आयु भोग कर नहीं मरता ।

भाव यह है—भुज्यमान आयु के तीन भागो में से दो भाग जब व्यतीत हो जाते है और तीसरा भाग शेष रहता है तव परभव की आयु का बन्ध होता है । कदाचित् उस समय बन्ध न हो तो नौवाँ भाग शेष रहने पर वन्ध होता है और उस समय भी बन्ध न हुआ तो भुज्यमान आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर तो अवश्य ही बँध होता है । अन्य सात कर्मों की तरह आयु का निरन्तर वन्ध नहीं होता, जीवन में एक बार ही बन्ध होता है । पृथ्वीकाय ,अप्काय तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और निरुपक्रम आयु वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य नियम से वर्त्तमान आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर नवीन आयु

सोपक्रमायुषः पुनः पञ्चेन्द्रिया अनियमतो त्रिभागावशेषेणादारभ्य यावत्सप्तविंशतितम-विभागावशेषे परभवायुर्बध्नन्ति । ते च जीवास्तदैव तदायुर्बध्नन्तोऽध्यवसायविशेषात् केचनाऽपवर्तना-र्हमायुः कुर्वन्ति, केचन पुनरनपवर्तनीयमायु' कुर्वन्ति । तत्र—मन्दपरिणामप्रयोगोपचितमनपवर्त्य-मायुर्भवति, तीव्रपरिणामप्रयोगोपचितमनपवर्त्यम् ।

तत्रापवर्तना तावत् प्राक्तनजन्मविरचितायुः स्थितेरध्यवसानादिविशेषात् । अल्पताऽऽपादन-रूपा । अनपवर्तनीयत्वन्तु—तावत्कालस्थितिकत्वरूपम् स्वकालावधेः प्राक् न ह्रासप्राप्तिः कदा-ऽप्यायुषो भवति, तैलवर्तिकाक्षयेण निर्विघातप्रदीपोपशान्तिवत् । तच्च प्रबलतरवीर्यारब्धत्वाद् असंख्येयसमयोपार्जितमायुरनपवर्त्यं भवति ।

एवं गाढबन्धनात् निकाचितबन्धात्मनियमादनपवर्त्यायुर्भवति । अथवा एकनाडिकापरिगृही-तमायुः संहतिमत्वात् संहतपुरुषसमुदायवत् एकनाडिकाविवरप्रक्षिप्तबीजनिष्पादितसस्यसंहतिवद् वाऽभेद्यम्, विवराद्बहिःपतितबीजप्रसूतं सस्यमसंहतत्वात् प्रविरलतायां सत्या सर्वेषामेव गो—महि-षादिपशूनां गम्यं भवति ।

एवमेवाऽयं जीव आयुर्बध्नन् अनेकात्मलब्धिपरिणामस्वाभाव्याच्छरीरव्याप्यपि सन् नाडिका-मार्गपरिणामो भवति । तदनन्तरं तामवस्थामासाद्य यान् आयुष्कपुद्गलान् बध्नाति ते आयुष्क-

---

का बन्ध करते हैं । सोपक्रम आयु वाले पंचेन्द्रियो के लिए ऐसा नियम नहीं है वे तीसरे भाग में, नौवे भाग में या सत्ताईसवे भाग में आगामी भव की आयु बाँधते है ।

जीव जब आयु बाँधते है तो अध्यवसाय की विशेषता से कोई अपवर्त्तना के योग्य आयु बाँधते है और कोई अनपवर्त्तनीय आयु का बन्ध करते है । तीव्र परिणाम के द्वारा जो गाढी आयु बाँधा जाता है वह अपवर्त्तनीय होता है ।

अपवर्त्तनीय का मतलब है—पूर्व जन्म में बाँधा हुआ । आयु की स्थिति का अध्यवसान आदि कारणो में से किसी कारण के द्वारा अल्प हो जाना और आयु के अनपवर्त्तन का अभि-प्राय है जितने काल की आयु बँधी है उतने ही काल में भोगने योग्य होना । यह आयु अपनी कालावधिके अनुसार ही भोगा जाता है, ह्रास को प्राप्त नहीं होता । जैसे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो तो तेल और वत्ती का क्षय होने पर दीपक का बुझना । यह आयु प्रबलतर वीर्य—पराक्रम से बाँधा जाता है, अतएव अपवर्त्तनीय नहीं होता ।

इस प्रकार गाढी बाँधने के कारण—निकाचित रूप में बद्ध होने से आयु अनपवर्त्तनीय होता है । अथवा एक नाडिका द्वारा परिगृहीत आयु समुदाय रूप होने से इकट्ठे हुए पुरुषों के समुदाय के समान, अथवा एक नाडिका के विवर मे डाले हुए बीजों से उत्पन्न धान्य के समूह के समान अभेद्य होता है, किन्तु विवर (छिद्र)से बाहर पडे हुए बीज से उत्पन्न धान्य संहत (सघन) न होने से वह गाय, भैंस आदि पशुओ के लिए गम्य होता है ।

इसी प्रकार आयु का बन्ध करता हुआ यह जीव अनेक आत्मलब्धिपरिणाम स्वभाव होने से शरीरव्यापी होने पर भी नाडिकामार्ग परिमाण वाला होता है । तत्पश्चात् उस

पुद्गला नाडिकाप्रविष्टत्वेन सहतिमत्वात् विषशस्त्रवह्न्यादीनामभेद्या भवन्ति । मन्दतीव्रपरिणाम-सन्निधानाच्च स जीवस्तदायुर्जन्मान्तरे एव रचयति अत्रत्य जन्मव्याधिवत् ।

अल्पाद् धातुवैषम्यनिदानपथ्यसेवनात् समुत्पन्नो व्याधिः कालान्तरेणोपेक्ष्यमाणोऽत्यन्तां वृद्धिमापन्न' सन् शरीर चिरेण समूलघातमपहन्ति । निपुणवैद्यवरोपदिष्टतत्प्रत्यनीकक्रियाकलापा-नुष्ठानाच्च झटित्येव स व्याधिः विनाशमापद्यते, एवमेव—मन्दपरिणामप्रयोगकारणाभ्यासाद् यद् आयुरतीतजन्मनि—अनेकजीवेनासादितं तदपवर्तनार्हमुच्यते ।

यस्तु—व्याधिः अतिमहान्तं धातुक्षोभमाश्रित्याऽपथ्यनिदानसेवनादिना सञ्जातः अतिदीर्घकालक-लापापादितजठरिमसमुपगूढनिरवशेषाऽङ्गोपाङ्गसंघातकुष्ट—क्षयादिवत् स खलु दुश्चिकित्स्यो व्याधिर्भैष-ज्यजातमनेकधमुपचीयमानमपि उत्तरोत्तरमवगणय्य प्रवृद्धः सन् रोगिणं तम् अकाण्ड एव क्षिप्रमेव ग्रसति, न खलु प्रयत्नपरेणाऽपि धन्वन्तरिणा समुच्छेत्तुं शक्यते । एवमेव तीव्रपरिणामप्रयोगबीजजनित-शक्तितद् आयुरतीतानेकजन्मनि—उपात्तमन्तरालेन शक्यं समुच्छेत्तुमिति तदपवर्तनीयं व्यपदिष्यते ।

तथहि—आयुषः काले—ऽकाले च समाप्तौ अनेको दृष्टो दृष्टान्तो भवन्ति । बलवत्वाच्च ततः श्रोतुः प्रतीति रुपजायते, तस्मात्—द्विविधमायु अपवर्त्य मनपवर्त्यं च व्यवस्थितम् । तत्र—के तावद्

अवस्था को प्राप्त करके जीव जिन आयुष्क के पुद्गलो को बाँधता है, वे आयुष्कपुद्गल नाडिकाप्रविष्ट होने के कारण सहति रूप होते है, अतः विष, शस्त्र, अग्नि आदि के लिए अभेद्य होते है । मन्द—तीव्र परिणाम होने से वह जीव उस आयु को जन्मान्तर में ही बाँधता है, इस जन्म की व्याधि के समान ।

थोडी—सी धातुविषमता के कारणभूत अपथ्यसेवन से उत्पन्न हुआ रोग लापरवाही से कालान्तर में बहुत बढ जाता है और शरीर का समूल घात कर डालता है तथा निपुण वैद्य के द्वारा उपदिष्ट रोगविरोधी क्रियाकलाप के सेवन से वह व्याधि शिघ्र ही विनष्ट हो जाती है । इसी प्रकार जो आयु मन्द परिणाम—प्रयत्न के कारण पिछले भव में गाढ़ी नहीं बाँधी गई है, वह अपवर्त्तना के योग्य होता है ।

इसके विपरीत जो व्याधि अत्यन्त तीव्र धातुक्षोभ को आश्रित करके अपथ्य सेवन आदि से उत्पन्न हुआ है और कुष्ट-रोग अथवा क्षय के समान दीर्घकालिक हो जाने से शरीर के समस्त अगोपांगो मे व्याप्त हो गई है, उसकी चिकित्सा होना बहुत कठिन होता है । विविध प्रकार के औषधो का सेवन करने पर भी वह उत्तरोत्तर बढती जाती है और रोगी को अकाल में ही निगल लेती है, अधिक से अधिक प्रयत्न करके धन्वन्तरि भी उस रोग को नष्ट नहीं कर सकता इसी प्रकार जो आयु तीव्र परिणाम—प्रयोग से प्रगाढ रूप में बँधा हुआ है, उसका अपवर्त्तन नहीं हो सकता—वह शीघ्र समाप्त नहीं हो सकता । वह अपवर्त्तनीय आयु कहलाती है ।

आयु के यथाकाल और अकाल में समाप्त होने के अनेक दृष्टान्त विद्यमान है ।सबल होने के कारण श्रोता को प्रतीति उत्पन्न हो जाती है । अतएव आयु दोनो प्रकार का है

अपवर्त्यायुषो भवन्ति ? के च अनपवर्त्यायुषः इत्याकाङ्क्षायामुच्यते ।

उपपातजन्मानो नारकदेवाः चरमदेहा मनुष्याः ये च तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति, उत्तमपुरुषाः तीर्थकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवाः, असंख्येयवर्षायुषो मनुष्याः, तिर्यग्योनिजाश्च, अनपवर्त्यायुषो निरुपक्रमायुषो भवन्ति ।

तत्र—ये तेनैव शरीरेण सकलकर्मजालमपहायाऽशेषकर्मापगमलक्षणां सिद्धिमाप्नुवन्ति ते चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति न तु—नारकतिर्यग्देवाः तेषां सिध्ययोग्यत्वात् । उत्तमपुरुषास्तु—तीर्थकरनामकर्मोदयवर्जिनस्तीर्थकराः चक्रवर्तिनो नवनिधिपतयश्चतुर्दशरत्नानां नेतारः स्वपौरुषोपात्तमहाभोगशालिनः सकलभरताधिपाः अर्धचक्रवर्तिनो बलदेवाः, गणधरादयश्च गृह्यन्ते ।

असंख्येयवर्षायुषो मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति, **न तु—नारकदेवाः,** मनुष्येषु तिर्यग्योनिष्वेव चाऽसंख्येयवर्षजीवित्वमुपलभ्यते, **न तु—नारकदेवेषु** । तत्र—देवकुरूत्तरकुरुषु सान्तरद्वीपकासु—अकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुष्षमायामसंख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति ।

तत्रैव च देवकुर्वादिषु बाह्येषु मनुष्यक्षेत्राद बहिर्वर्तमानेषु द्वीपेषु समुद्रेषु च तिर्यग्योनिजा असंख्येयवर्षायुषो न भवन्ति, किन्तु संख्येयवर्षायुषो भवन्ति कर्मभूमिष्वपि सुषमआदिकाले असंख्येय-

---

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय ।

कौन जीव अपवर्त्तनीय आयु वाले होते है और कौन अनपवर्त्तनीय आयु वाले ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है ।

उपपातजन्म वाले नारक और देव, चरम शरीरी मनुष्य (जो उसी शरीर से सिद्धि प्राप्त करने वाले है) उत्तम पुरुष अर्थात् तीर्थकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तथा तिर्यंच निरुपक्रम आयु वाले होते है ।

जो उसी शरीर से समस्त कर्म—जाल को नष्ट करके समस्त कर्मक्षय रूप सिद्धि प्राप्त करते है, वे चरमशरीरी मनुष्य ही होते है, नारक, तिर्यंच या देव नहीं क्योंकि वे सिद्धि के योग्य नहीं होते ।

जिन्हे तीर्थंकर नाम कर्म का उदय हो चुका है. वे तीर्थंकर कहलाते है । नौ निधियां और चौदह रत्नो के अधीश्वर, अपने पुरुषार्थ से महान् भोगशाली और सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के स्वामी चक्रवर्ती कहलाते है । अर्धचक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव कहे जाते है । गणधर आदि चरमशरीरी की श्रेणी में गिने जाते है ।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच निरुपक्रम वाले होते है, मनुष्यो और तिर्यंचो में ही असंख्यात वर्ष का जीवन पाया जाता है, नारकों और देवों में नहीं देवकुरु, उत्तरकुरु अन्तर्द्वीपो सहित अकर्मभूमियो में तथा सुषमसुषमा काल, सुषमा काल और

वर्षायुष्का तिर्यंचो भवन्ति। तत्रापि—औपपातिका नारकदेवाः असंख्येयवर्षायुषश्च मनुष्यतिर्यग्-योनिजा निरुपक्रमा अनपवर्त्यायुषो भवन्ति, तेषां प्राणापानाहारनिरोधाध्यवसाननिमित्तवेदनापराघातस्पर्शरूपादिवेदनाविशेषायुर्भेदकोपक्रमाभावात्, अतो निरूपक्रमा एव ते भवन्ति।

संख्येयवर्षायुभ्यो व्यतिरिक्ता मनुष्या, तिर्यग्योनिजाश्च केचित् प्राणापाननिरोधादिकारण-कलापोपक्रम्यत्वात् सोपक्रमायुषः केचित्पुनः प्राणापानादिभिर्नोपक्रम्यन्ते इति निरुपक्रमायुषोऽपवर्त्या-युषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। तत्र—येऽपवर्त्यायुषो मनुष्यास्तिर्यञ्चस्ते नियमतः सोपक्रमायुषः। ये तु—अनपवर्त्यायुषस्ते निरुपक्रमायुषो बोध्याः।

तत्र—येऽपवर्त्यायुषो भवन्ति तेषां विषशस्त्र-कण्टका—ग्न्यु-दकसर्पा-ऽजीर्णा-ऽशनिप्रपातो-द्बन्धन-श्वापदादिभि; क्षु-त्पिपासा-शीतो—ष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैरायुरपवर्त्यते, तत्रापवर्तनं तावद्झटिति-अन्तर्मुहूर्तात् कर्मफलोपभोगरूपम् आयुषः स्वल्पीभवनम् उपक्रमश्चाऽपवर्तननिमित्तं भवति।

अथ यदि कर्मविनाशलक्षणमपवर्तनमुच्यते, तदा—कृतनाशः प्रसज्येत, आयुष्कं कर्मफलम-दत्त्वैव विनश्यति-यतो नाऽनुभूयते तत्, नापि वेद्यते। अनिष्टञ्चैतत् यतोऽवश्यमुपात्तं कर्म अनुरूपं

सुषमदुषमाकाल में असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य होते है। उन्हीं देवकुरु आदि में तथा मनुष्य क्षेत्र से बाहर के द्वीपो और समुद्रो में असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच नहीं हैं। औपपातिक नारक और देव तथा असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच निरुपक्रम—अनपवर्त्य आयु वाले होते है। उनके प्राणापाननिरोध, आहारनिरोध, अध्यवसान, निमित्त, वेदना, पराधाततथा स्पर्श आदि वेदना विशेष, जो आयु के भेद का उपक्रम है, वे नहीं होते है। अतएव वे निरुपक्रम आयु वाले गिने जाते है।

असख्यात वर्ष की आयु वालो से भिन्न मनुष्यो और तिर्यंचो में कोई कोई प्राणापान-निरोध आदि किसी कारण के मिलने के कारण सोपक्रम आयु वाले होते है। कोई—कोई ऐसे भी होते है जिस की आयु का उपक्रम नहीं होता, अतः वे अपवर्तनीय आयु वाले और अनपवर्तनीय आयु वाले दोनो प्रकार के होते है। जो मनुष्य और तीर्यंच अपवर्त्य आयु वाले होते है, वे नियम से सोपक्रम आयु वाले होते है और जो अनपवर्त्य आयु वाले होते है, वे निरुपक्रम आयु वाले होते है।

जो जीव अपवर्त्य आयु वाले होते है, उनकी आयु विष; शस्त्र, कंटक अग्नि, जल सर्प, अजीर्ण, अशनिपात, फाँसी, हिंसकपशु क्षुधा, पिपासा शीत एवं उष्णता आदि उपक्रमो से अपवर्तित हो जाता है। अपवर्त्तित होने का अर्थ है—शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त्त काल में आयु के दलिको को भोग लेना, आयु का स्वल्प हो जाना और अपवर्त्तन का कारण पूर्वोक्त निमित्त होते है।

शंका—यदि अपवर्त्तन का अर्थ कर्म का विनाश होता है तो कृतनाश का प्रसंग आता है, क्योंकि आयुकर्म अपना फल दिये विना ही नष्ट हो जाता है। बाँधने पर भी उसका फल नहीं भोगा जाता। यह मन्तव्य इष्ट भी नहीं है, क्योंकि बाँधा हुआ कर्म कर्त्ता को

फलं कर्तरि–उपाधाय परिशटत्युत्तरकालम्, न तु–फलमदत्वैव विलीनं भवति, "**कडाणकम्माण-न मोक्खअत्थि**–,, इति वचनात् । एवमायुष्केऽननुभूते सत्येव यदि म्रियते, तदा-ऽकृतमरणाभ्यागमोऽन्तराले एव प्रसज्येत येन सत्यायुष्के म्रियते ततश्चायुषो वैफल्यप्रसङ्गः ।

अनिष्टं चैतत्, न खल्वयं जैनसिद्धान्तः यत् कृतकर्माऽदत्तफलमेव प्रणश्यति अकृतमेव चानुभूयते । किञ्च–एकभवस्थितिकमायुष्कं कर्म न जात्यन्तरानुवन्धिभवति अर्थात्–एकस्मिन्नेव भवे-आयुष उपभोगो भवति न भवान्तरे । त्वदभ्युपगमानुसारं सत्येवायुषि चेन्म्रियते, तदा–तेनैवायुषा जात्यन्तरानुबन्धिना भवितव्यम् ।

उक्तञ्चैतत्– तस्मान्नापवर्तनमायुषोऽस्तीति चेत् अत्रोच्यते आयुषः स्वल्पीभवनमेवाऽपवर्तनम्, न तु–विनाशरूपमपवर्तनम् । तथाच–आयुषो ह्रासरूपेऽपवर्तने सत्यपि कृतनाशा-ऽकृतनाशाभ्यागमादयो दोषा न सम्भवन्ति, नापि–आयुष्कं भवान्तरानुबन्धि च सम्भवति अपितु–पूर्वोक्तरूपैरुपक्रमै रुपलिप्तस्य जीवस्य सर्वात्मना–उदयप्राप्तमायुष्कं कर्म झटित्येव प्राप्तविपाकं भवति शीघ्रमेव परिपच्यते प्रदेशत्वभोगरूपेण तदेवाऽपवर्तनमत्रोच्यते ।

अपना अनुरूप फल देकर ही निर्जीर्ण होता है, फल दिये विना नहीं । शास्त्र में भी कहा है '**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि**' अर्थात् किये हुए कर्मों के फल भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता । इस प्रकार यदि आयु का अनुभव किये बिना ही मृत्यु हो जाती है तो कृतनाश और अकृतागम दोषों का प्रसंग आता है, क्योंकि आयु की विद्यमानता में भी मरण हो जाता है । ऐसी स्थिति में आयु की विफलता का भी प्रसंग होता है । यह अनिष्ट है । जैन सिद्धान्त में ऐसा है भी नहीं कि उपार्जित किया कर्म फल दिये बिना ही नष्ट हो जाय और जो कर्म उपार्जन नहीं किया है उसे भोगा जाय ।

इसके अतिरिक्त एक ही भव की स्थिति वाला आयु कर्म दूसरे भव तक रह नहीं सकता; उसका उपभोग एक ही भव में होता है, भवान्तर में नहीं । अगर आप की मान्यता के अनुसार आयु के रहते भी जीव मर जाता है तो फिर अवशिष्ट आयु दूसरे जन्म में भोगनी पड़ेगी । इससे सिद्ध हुआ कि आयु का अपवर्त्तन नहीं होता ।

समाधान–धीरे–धीरे लम्बे काल तक भोगने योग्य आयु को शीघ्र अल्पकाल में भोग लेना ही अपवर्त्तन कहलाता है । अपवर्त्तन का मतलब यह नहीं कि बद्ध आयु फल दिये बिना ही नष्ट हो जाय । इस कारण आयु के वेदन काल में अल्पता हो जाने पर भी कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों का प्रसंग नहीं आता । आयु दूसरे भव में भोगी जाय, ऐसा भी नहीं होता । होता यह है कि पूर्वोक्त विष शस्त्र आदि उपक्रमों से उपलिप्त जीव के पूर्ण रूप से आयु उदय मे आ जाता है, शीघ्र ही अपना फल प्रदान करता है, और प्रदेशोदय द्वारा शीघ्र ही उसका परिपाक हो जाता है । यही यहाँ अपवर्त्तन माना गया है ।

संघीभूतशुष्कतृणराशिवह्निवत् । यथाहि-संघीभूतस्यैकत्रितस्य शुष्कस्यापि तृणपुञ्जस्याऽव-यवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरकालेन दाहो भवति, तस्यैव पुनः शिथिलविकीर्णोपचितस्य समन्तात् युगपदेव सन्दीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याऽऽशु दाहो जायते शीघ्रमेव सर्वं भस्मसात् सम्पद्यते, ।

एवमेवायुषोऽप्यनुभवो बोध्यः । तथाच-यदाऽऽयुर्दृढसहतमतिघनतया बन्धनकाले एव परिणामापादितं भवति पवनससर्गवत् तत् क्रमेण वेद्यमानं चिरकालेन वेद्यते, यत्तु आयुष्कं कर्म-बन्धकाले एव शिथिलमाबद्धं तद् विप्रमाणविकीर्णतृणपुञ्जदाहवदपवर्त्याऽऽशु वेद्यते इति ॥ ४१ ॥

इति श्री-विश्वविख्यातजगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक शाहुच्छत्रपति कोल्हापुरराज-प्रदत्त जैनशास्त्राचार्य-जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलाल-व्रतिविर-दीपिका-निर्युक्ति टीकाद्वयोपेतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्य

प्रथममध्ययनं समाप्तम्

जैसे एकत्र किये हुए सूखे घास के ढेर को एक ओर से जलाया जाय तो क्रम से जलता हुआ वह ढेर चिरकाल मे भस्म होता है और वही ढेर यदि पोला हो और सब तरफ से एक साथ आग लगाई जाय और तेज हवा चल रही हो जल्दी जल जाता है और शीघ्र ही भस्म हो जाता है। आयु के भोग के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जो आयु बन्ध के समय अत्यन्त गाढ रूप में निकाचित रूप में बाँधा जाता है, वह धीरे-धीरे चिरकाल में भोगा जाता है, किन्तु जो आयु कर्मबन्ध के समय ही शिथिल रूप में बाँधा गया है, वह शिथिल घास के ढेर के दाह के समान अप-वर्त्तित होकर जल्दी वेदन किया जा सकता है। ॥४१॥

जैनशास्त्राचार्य जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज विरचित तत्वार्थ सूत्रकी दीपिका एवं निर्युक्ति नामक व्याख्या का प्रथम अध्ययन समाप्त ॥१॥

॥ अथ–द्वितीयोऽध्यायः ॥

मूलसूत्रम्—"धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा,, ॥१॥

छाया—**"धर्माधर्माकाशकालपुद्गला अजीवाः,,** ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—"प्रथमेऽध्याये जीवादि नवतत्त्वेषु एकचत्वारिंशतसूत्रैः साङ्गोपाङ्गं संक्षेपतो जीवतत्त्वं प्ररूपितम्। सम्प्रति क्रमप्राप्तं द्वितीयमजीवतत्त्वविषयमध्यायं प्ररूपयितुमाह—**"धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा–"** इति। धर्मः—अधर्मः—आकाशः—कालः—पुद्गलश्चेत्येते पञ्चाऽजीवाः। जीवभिन्नानि तत्त्वानि व्यपदिश्यन्ते इत्यर्थः ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं यथायोगं द्रव्यभावप्राणपुञ्जवर्तिनो जन्तवो देवतिर्यङ्मनुष्यनारकविधानतः साकारानाकारोपयोगद्वयोपलक्षितचैतन्यशक्तितश्च प्रतिपादिताः सम्प्रति—धर्मादीन् पञ्चाऽजीवान् विधानतो लक्षणतश्च प्रतिपादयितुमाह—**"धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा–"** इति। अजीवाः—जीवद्रव्यविपर्ययास्तावद् धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलरूपा पञ्च सन्ति।

एवञ्च—जीवादन्योऽजीव इति पर्युदासः सत एव वस्तुनः सम्भवति, विधिप्रधानत्वात्। तस्मात्-समानास्तित्वेषु भावेषु चैतन्यप्रतिषेधद्वारेण धर्मादिषु पञ्चसु-अजीवा इत्युक्तम्। तथाचोक्तम्—

द्वितीय अध्याय का प्रारंभ

मूल सूत्रार्थ 'धम्माधम्मागास' इत्यादि–सूत्र॥१॥

धर्म, अधर्म- आकाश, काल और पुद्गल अजीव है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—प्रथम अध्याय में जीव आदि नौ तत्त्वो में से जीव तत्त्व का इकतालीस सूत्रो द्वारा सांगोपांग प्ररूपण किया गया। अब क्रमप्राप्त दूसरे अजीव तत्त्व का इस अध्याय में निरूपण करने के लिए कहते है—

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच अजीव अर्थात् जीव से भिन्न तत्त्व है ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले यथायोग्य द्रव्य और भावप्राणो से युक्त जिवो का उसके देव तिर्यंच, मनुष्य और नारक के भेदो का, साकार और अनाकार उपयोग रूप चैतन्य शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। अब धर्म आदि पाँच अजीवो के भेद और लक्षण बतलाकर उनका प्रतिपादन करते है।—

अजीव अर्थात् जीव द्रव्य से विपरीत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव हैं।

जो जीव नहीं सो अजीव. यहाँ पर्युदास नामक नञ्समास है। इस समास से अजीव एकान्त निषेध रूप नहीं किन्तु विधिरूप ही तत्त्व सिद्ध होता है: क्योंकि पर्युदास में विधि

"प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधोऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।१ इति एवमेव—
"अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसह्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्२।। इति च

तत्र—जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहकार्याऽनुमेयो धर्मः १ तेषामेव जीवपुद्गलानां स्थित्युपग्रहकार्याऽनुमेयोऽधर्मः २, नत्वत्र शुभाऽशुभफलादयौ धर्माधर्मौ धर्माधर्मपदेन गृह्यते।

प्रकृते द्रव्यप्रस्तावात्—द्रव्यरूपयोरेव धर्माऽधर्मयोर्ग्रहणेनाऽदृष्टरूपयोस्तयोर्गुणत्वेन ग्रहणाऽसम्भवात्। अवगाहोपकारकार्यानुमेयमाकाशम्। अथाऽलोकाकाशस्याऽवगाहोपकाराऽसम्भवेन कथमाकाशत्वव्यवहार इति चेत्—

अत्रोच्यते-अलोकाकाशे तत्त्वतो जीवपुद्गलानां गतिस्थितिहेतुभूतयोर्धर्माऽधर्मयोरभावेन तत्र विद्यमानस्याऽपि अवगाहनगुणस्य नाऽभिव्यक्तिर्भवति। एवञ्चाऽनवगाह्यत्वेऽपि अलोकाकाशमवकाशदानेन व्याप्रियेतैव, यदि तत्र-जीवपुद्गलानां गतिस्थितिहेतुभूतौ धर्माऽधर्मौ भवेताम्। किन्तु-न हि तत्र तौ विद्येते तदभावाच्चाऽलोकाकाशस्य विद्यमानोऽप्यवगाहनगुणो नाऽभिव्यज्यते इति।

की प्रधानता होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म आदि पाँच तत्त्व अस्तित्व की दृष्टि से जीव के समान ही है, मगर उनमें चैतन्य का सद्भाव नहीं है, इस कारण उन्हे अजीव कहा है। कहा भी है—'जिस नञ्समास में विधि की प्रधानता और निषेध की अप्रधानता होती है, वह पर्युदासनञ्समास कहलाता है।' इसी प्रकार—जिस नञ्समास मे विधि अप्रधान और निषेध प्रधान हो वह प्रसह्य(प्रसज्य) नञ्समास कहा जाता है। जिसमें क्रिया के साथ नञ् समासहोता है।)

इनमें से जो जीवो और पुद्गलो की गति के उपकार करने के कार्य द्वारा अनुमेय हो अर्थात् जाना जाय, वह धर्मद्रव्य है। जीवों और पुद्गलो की स्थिति में उपग्रह करने से जिसका अनुमान किया जाता है, वह अधर्मद्रव्य है। यहाँ धर्म और अधर्म पदो से शुभ फल देने वाले और अशुभ फल देने वाले धर्म—अधर्म को नहीं समझना चाहिए।

यहाँ द्रव्य का प्रकरण चल रहा है, अतएव द्रव्यरूप धर्म और अधर्म ही यहाँ विवक्षित है। अदृष्ट—पुण्य—पाप—रूप धर्म अधर्म विवक्षित नहीं है, क्योकि वे द्रव्य नहीं, गुण है।

अवगाहना रूप कार्य से जिसका अनुमान किया जाता है; वह आकाश है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि अलोकाकाश अवगाहना रूप उपकार नहीं करता है तो उसे आकाश कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि अलोकाकाश मे जीवो और पुद्गलों की गति और स्थिति के निमित्तभूत धर्म—अधर्म द्रव्य नहीं है। अतएव अलोकाकाश में अवगाहना गुण विद्यमान होने पर भी प्रकट नहीं होता। यदि वहाँ धर्म और अधर्म होते और

कालो, वर्तनालक्षणः, नूतनस्य-जीर्णकरणम् जीर्णस्य-क्षपण वर्तना, तल्लक्षणो ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादिव्यवहारहेतुभूतः काल. समयाऽऽवलिकादिरूपो बोध्यः। तथाचोक्तम् उत्तराध्ययने२८अष्टाविंशति अध्ययने-१०-गाथायाम्-"वत्तणा लक्खणो कालो" इति। वर्तनालक्षण'-वर्तन्ते भवन्ति जीवादयो भावास्तेन रूपेण तान् प्रति प्रयोजकत्वं, वर्तना सैव लक्षणं-स्वरूपं यस्य स काल. इति।

पूरणादपरस्थानस्य गलनाच्च पूर्वस्थानाद् पुद्गला' गलनधर्माण इति कथ्यन्ते, पुरुषं वा गिलन्ति-पुरुषेण वा गीर्यन्ते इति पुद्गलाः, मिथ्यादर्शनादिहेतुवर्तिनं पुमांसं बध्नन्ति-वेष्टयन्तीति गिरेरर्थः। अथवा-कषाययोगशालिना पुरुषेण कर्मतया-आदीयन्ते इति पुद्गला इति। तथाचैते धर्मादयः पञ्चाऽजीवा व्यपदिश्यन्ते।

यद्यपि-कालः अद्धारूपः तस्यैकसमयादिरूपस्याऽस्तिकायत्वं न सम्भवति, अत एव-जीवाऽस्तिकाय-धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकायपुद्गलास्तिकायरूपपञ्चास्तिकायमध्ये कालस्य ग्रहणं न कृतम् तथापि-धर्मादीनामिव कालेऽपि-अजीवत्वस्य सत्वात्तस्याऽपि अजीवद्रव्यमध्ये ग्रहणं नाऽनुपपन्नमिति भावः।

जीव-पुद्गल वहाँ जाते-ठहरते तो अलोकाकाश उन्हे अवगाहन देता, मगर वहाँ वे हैं नहीं। इस कारण अलोकाकाश में विद्यमान भी अवगाहन गुण प्रकट नहीं होता।

काल का लक्षण वर्त्तना है। नये को पुराना करना और पुराने का क्षय करना वर्त्तना है। काल द्रव्य के कारण ही ज्येष्ठता, कनिष्ठता आदि का व्यवहार होता है। वह काल समय आवलिका आदि रूप है। उत्तराध्ययन के २८वे अध्ययन की गाथा १०वीं में कहा है-'काल वर्त्तना' लक्षण वाला है। जीवादि पदार्थ अमुक-अमुक रूप मे वर्त्त रहे हैं उनके वर्त्तने में जो निमित्त कारण है, वह वर्त्तना है। यह वर्त्तना ही काल का लक्षण है।

जिसमें पूरण और गलन हो अर्थात् मिलना और बिछुड़ना पाया जाय वह पुद्गल है। एक पुद्गल के सिवाय ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो बिखर सकता हो और मिल सकता हो। पुद्गल बिखर कर अनेक रूप बन सकता है और अनेक पुद्गल मिलकर एक स्कंध रूप परिणाम हो सकते है! मगर पुद्गल के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में ऐसा स्वभाव नहीं है। इस कारण पूरण और गलन पुद्गल द्रव्य का असाधारण लक्षण है।

अथवा पुरुष जो जो गिलन करते है—वशीभूत कर लेते हैं अथवा पुरुष के द्वारा जो ग्रहण किये जाते है-मिथ्यादर्शन आदि कारणो के वशवर्त्ती पुरुष को बद्ध करते-वेष्टित करते हैं अथवा कषाय और योग वाले पुरुष के द्वारा कर्म रूप मे जिन्हें ग्रहण किया जाता है, वे पुद्गल है। इस प्रकार ये धर्म आदि पाँच अजीव कहलाते हैं।

अद्धा रूप काल एक समय रूप होने से अस्तिकाय नहीं हो सकता। अतः जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, इन पाँच अस्तियों

अत एवात्र–"अजीवाः–" इत्येवोक्तम्, न तु अजीवकाया इति–,अजीवास्तिकाया इति वा, अस्तिशब्दस्य ध्रौव्यार्थप्रतिपादकतया-कायशब्दस्य च प्रचीयमानाकारतारूपसमुदायार्थकतया विभागे सत्येव समुदायः सम्भवतीति धर्मादिद्रव्यप्रदेशाना विभक्तेऽपि अद्धारूपैकसमयरूपस्य कालस्य विभागासम्भवेन समुदायत्वासम्भवात् । अद्धाचाऽसौ समयश्चेति-अद्धासमयः, स च सार्धद्वयद्वीपान्तर्वर्ती एक समयः परमसूक्ष्मो निर्विभागोऽवगन्तव्यः तस्य कायत्वं न सम्भवति, समुदायस्य कायशब्दवाच्यत्वात् ।

अजीवकायशब्देन कालस्य ग्रहणं न स्यात्,केवलम्–अजीवा इति कथने तु–जीवभिन्नानां सर्वेषामपि तेन ग्रहीतु शक्यतया कालस्यापि अद्धासमयरूपस्य जीवभिन्नतया अजीवशब्देन ग्रहणसम्भवात् "धर्माधर्माकाशकालपुद्गला अजीवा–" इत्युक्तम्, तत्र–धर्माधर्मयोरुभयोरपि प्रत्येकमसख्येयप्रदेशत्वम्, आकाशस्य चाऽनन्तप्रदेशत्वम् ।

वस्तुतस्तु–लोकपरिमाणस्याकाशस्याऽसंख्येयप्रदेशत्वम् लोकालोकरूपसमस्ताकाशस्य पुनरन्तप्रदेशत्वमवसेयम् । कालस्य तु- अद्धासमयैकसमयरूपस्य नाऽसख्येयप्रदेशत्वं–न चाऽनन्तप्रदेशत्वम् ।

मे काल को ग्रहण नहीं किया गया है । फिर भी धर्मादि की तरह काल में भी अजीवत्त्व की सत्ता होने से अजीव द्रव्यो में उसे ग्रहण करना अनुपयुक्त नहीं है !

इस कारण यहाँ 'अजीव' ऐसा ही कहा गया है 'अजीवकाय' ऐसा अथवा 'अजीवास्तिकाय' ऐसा नहीं कहा गया है ।

'अस्ति' शब्द का अर्थ यहाँ प्रदेश है और 'काय' शब्द का अर्थ 'समूह' है । तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य प्रदेशो का समूह रूप हो वही अस्तिकाय कहलाता है । काल प्रदेशों का समूह नहीं एक समय रूप है; क्योकि अतीतकाल कि विनष्ट हो जाने से सत्ता नहीं और भविष्यत् काल अनुत्पन्न होने से सत् नहीं है । सिर्फ वर्तमान काल को सत्ता होती है और वर्तमान काल एक समय ही है । इस कारण काल की अस्तिकायो में गणना नहीं की गई है ।

समय आदि रूप काल अढ़ाई द्वीप के अन्दर ही होता है । (अढाई द्वीप के बाहर चन्द्र सूर्य आदि स्थिर होने से वहाँ काल की कल्पना नहीं की जाती ।) वह एक समयरूप है, अत्यन्त सूक्ष्म है, निर्विभाग है । उसे 'काय' नहीं कह सकते, क्योकि 'काय' शब्द समूह वाचक है ।

अगर धर्म आदि को 'अजीवकाय' कहा जाय तो काल का उनमें ग्रहण नहीं हो सकता: मगर प्रकृत सूत्र मे केवल अजीव द्रव्यो का ही निर्देश किया गया है, अतएव जीव से भिन्न होने के कारण काल का भी उनमें समावेश होता है ।

इनमें से धर्म और अधर्म के असख्यात असंख्यात प्रदेश है और आकाश के अनन्त प्रदेश है । वास्तव मे लोकपरिमित आकाश असख्यात प्रदेशी है और लोकालोक रूप सम्पूर्ण आकाश

पुद्गलद्रव्यस्य पुनरवयवबहुत्वमवगन्तव्यम् । तथा च बह्ववयवं पुद्गलद्रव्यमवसेयम्. सङ्ख्येयप्रदेशः स्कन्धः,–असंख्येयप्रदेशः, अनन्तप्रदेशः,–अनन्तानन्तप्रदेशश्चेति ।

अथ परमाणोरपि पुद्गलद्रव्यत्वेन तस्याऽपि बह्ववयवत्वं स्यात्, परमाणोरपि–एकरसगन्धवर्णत्वस्य द्विःस्पर्शस्य प्रसिद्धत्वात् ? अत्रोच्यते–परमाणुरपि भावावयवैः सावयवो द्रव्यावयवैस्तु–निरवयवो भवति ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे २०–शतके ४–उद्देशके **"कइविहे णं भंते ! भावपरमाणू पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे भावपरमाणू पण्णत्ते, तं जहा–वण्णमंते–रसमंते–गंधमंते–फासमंते–"** इति ।

कतिविधो भदन्त ! भावपरमाणुः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! चतुर्विधो भावपमाणुः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—वर्णवान्—रसवान्–गन्धवान्–स्पर्शवान्–इति । तस्मात्–वर्णाद्यवयवैः परमाणुपुद्गलद्रव्यस्यापि बह्ववयवत्वमवगन्तव्यम् ।

अतएव–अजीवेषु चत्वारएवाऽस्तिकायाः प्रतिपादिता-यथा—१-धर्मास्तिकाय २-अधर्मास्तिकायः ३-आकाशास्तिकाय' ४-पुद्गलास्तिकायश्चेति जीवास्तिकायेन सह पञ्चाऽस्तिकायाः सन्ति न तु–कालास्तिकायः केनापि शास्त्रकृता प्रतिपादितः तथाचोक्तम्–स्थानाङ्गे ४–स्थाने १–उद्देशके—**"चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा–धम्मत्थिकाए, अधम्म-**

अनन्त प्रदेश वाला है । अद्धासमय एक समयरूप काल के न असख्यात प्रदेश है और न अनन्त प्रदेश हैं ।

पुद्गल द्रव्य बहुत अवयवों वाला होता है । कोई पुद्गल बहुत अवयवो वाला कोई संख्यात प्रदेशो वाला, कोई असंख्यात प्रदेशों वाला कोई अनन्त प्रदेशो वाला और कोई अनन्तानन्त प्रदेशों वाला होता है ।

शंका–परमाणु भी पुद्गल द्रव्य होने के कारण बहुत अवयवो वाला होना चाहिए । उसमें एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्शो का होना प्रसिद्ध है ।

समाधान–परमाणु भाव–अवयवो की अपेक्षा सावयव है और द्रव्य–अवयवों की अपेक्षा निरवयव है । भगवती सूत्र शतक २०: उद्देशक ५ में कहा है—

प्रश्न भावपरमाणु कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का भावपमाणु कहा है—वर्णवान्, रसवान, गंधवान् और स्पर्शनवान् ।

इस प्रकार वर्णादि रूप अवयवो की अपेक्षा परमाणु पुद्गल द्रव्य भी बहुत अवयवों वाला समझना चाहिए । अत अजीवों में अस्तिकाय चार है—(१)धर्मास्तिकाय(२)अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय । इनमें जीवास्तिकाय को मिला दिया जाय तो पाँच अस्तिकाय हो जाते है । किसी भी शास्त्रकार ने कालास्तिकाय का प्रतिपादन

त्थिकाए, आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए" इति । चत्वारोऽस्तिकायाः अजीवकायाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः पुद्गलास्तिकाय इति ।

प्रकृतसूत्रे तु—केवलम् अजीवा इत्येवोक्तम् अतएवात्र—अजीवपदेन कायस्यापि ग्रहणाद् धर्मऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गला इत्येते पञ्च तावद् अजीवाः सन्तीति फलितम् । तत्र प्रशस्ताभिधानाद धर्मग्रहणं प्रथमं कृतम् तदनन्तर लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् तद्विपरितत्वाद वा अधर्मग्रहणम्, तदनन्तरं लोकत्वात् तत्परिच्छेद्यस्याऽऽकाशस्य ग्रहणम्, तदनन्तरममूर्तसाधर्म्यात् कालग्रहणम्, ततश्चा-ऽऽकाशमिति विशिष्टक्रमसन्निवेशप्रयोजनमेतदवगन्तव्यम् ॥१॥

मूलसूत्रम् "**एयाणि दव्वाणि य छ—**" ॥२॥

छाया "**एतानि द्रव्याणि च षट्—**" ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—एतानि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलरूपाणि पञ्च वस्तूनि चकाराज्जीवश्चेत्येतानि षड् द्रव्याणि वर्तन्ते एवञ्च धर्मादयःपञ्च, जीवश्चेति षड् द्रव्याणि भवन्तीति भावः ।

उक्तञ्च—"**अनुयोगद्वारे**" द्रव्यगुणप्रकरणे "**छव्विहे दव्वे पण्णत्ते तंजहा—धम्मत्थिकाए' अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए,पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमये य, से त्तं दव्वणामे—**" इति ।

छाया—षड्विधं द्रव्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकाय· पुद्गलास्तिकाय , अद्धासमयश्च, तदेतद् द्रव्यनाम, इति ॥२॥

नहीं किया है । स्थानांगसूत्र के चौथे स्थानक के प्रथम उद्देशक में कहा है—चार अस्तिकाय अजीवकाय कहे गये है, वे ये है —धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय ।

प्रस्तुत सूत्र में केवल 'अजीवा' इतना ही कहा है, अतएव 'अजीव' पद से काल का भी ग्रहण हो जाता है । फलितार्थ यह है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव हैं । इनमें प्रशस्त नाम होने से सर्व प्रथम धर्म को ग्रहण किया हैं, फिर धर्म से विपरीत होने के कारण अधर्म को, तत्पश्चात् लोक होने से उनके द्वारा परिच्छेद्य आकाश का और तदन्तर अमूर्त्तत्व के लिहाज से समान होने के कारण काल का ग्रहण किया गया है । यह सूत्र के विशिष्ट क्रमसन्निवेश का प्रयोजन समझ लेना चाहिए ॥१॥

मूलसूत्रार्थ—'**एयाणि दव्वाणि य' सूत्र** ॥२॥—ये ही छह द्रव्य है ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, और पुद्गल और 'च' शब्द से जीव ये सब मिलकर छह द्रव्य कहलाते है । भाव यह है कि धर्म आदि पाँच और जीव ये छह द्रव्य है । अनुयोगद्वार में द्रव्यगुण प्रकरण में, कहा है—

'द्रव्य छह कहे गये है —धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय यह द्रव्यनाम का निरूपण हुआ ॥२॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः पूर्वसूत्रे धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गला अजीवा इत्युक्तम्, तेषां च-धर्मादीनां द्रव्यगुणपर्यायत्वेनाऽनुपदेशे सति संशयो भवेदतः संशयनिवारणार्थमाह—**"एयाणि दव्वाणि य छ"** इति। एतानि धर्मादीनि पञ्च, चकारात् जीवश्चेत्येते षट् द्रव्याणि व्यपदिश्यन्ते तथाच-द्रूयते गम्यते प्राप्यते यथास्वं यथायथं स्वपर्यायैण यद् तदद्रव्यम्।

परमार्थतस्तु-गुणान् द्रवति-प्राप्नोति, गुणैर्वा द्रूयते-ज्ञायते यद्‌तद् द्रव्यं व्यपदिश्यते, **"गुणपर्यायवद्द्रव्यम्"** इति द्रव्यलक्षणसद्भावात्। वस्तुतस्तु—स्व-स्वस्वभावस्थानमेव द्रव्यलक्षणं पर्यवसितम्. धर्मादीनां षण्णां द्रव्यसज्ञा च द्रव्यत्वनिमित्ता। द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण- तच्च-द्रव्यत्वं परमार्थतो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तपक्षद्वयमवलम्बते।

नैकान्तेन धर्मादिभ्योऽन्यदेव तत् नानन्यदेव वा वर्तते। तस्माद् एतानि धर्मादीनि मयूराण्डकरसवत्, सम्मूर्च्छितसर्वभेदप्रभेदमूलभूतानि देशकालक्रमव्यङ्ग्यभेदसमरसावस्थैकरूपाणि द्रव्याणि व्यपदिश्यमानानि गुणपर्यायकलापरिणाममूलकारणत्वाद् भेदप्रत्यवमर्शेनाऽभिन्नान्यपि भिन्नानीव भासन्ते।

'द्रव्यञ्च भव्ये, इति पाणिनिसूत्रेण द्रुधातोर्भावे-कर्तरिच द्रव्यमिति निपातनात प्रकृते पर्यायाश्च भवनसमवस्थानमात्रका एवोत्थिताऽऽसीनोत्कुटकशयितपुरुषवत्, तदेवच—**"जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति—"** इति रीत्योच्यते।

तत्वार्थनिर्युक्ति पूर्व सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल अजीव है, ऐसा कहा गया है। इन धर्म आदि का यदि द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से निरूपण न किया जाय तो संशय हो सकता है। अतएव सशय का निवारण करने के लिए कहते है।

जो यथायोग्य अपने पर्यायो के द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह द्रव्य कहलाता है। वास्तव में जो गुणो को प्राप्त होता है अथवा गुणो के द्वारा जाना जाता है, वह द्रव्य कहलाता है। **'जो गुणों और पर्यायों वाला हो, वह द्रव्य है'** ऐसा द्रव्य का लक्षण कहा गया है। असल मे तो अपने-अपने स्वभाव में अवस्थित रहना ही द्रव्य का लक्षण है। धर्मादि छहो की द्रव्यसंज्ञा द्रव्यत्व के निमित्त से द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से है। वह द्रव्यत्व वास्तव में भिन्न और अभिन्न-इन दोनो पक्षो का अवलम्बन करता है। वह धर्मादि से न तो सर्वथा भिन्न ही है और न सर्वथा अभिन्न ही है। इस कारण मयूर के अण्डे के रस के समान, जिनमें सब भेद-प्रभेद सम्मिलित है और जो देश, काल, क्रम, व्यंग्यभेद एवं समरस अवस्था रूप हैं, ऐसे ये धर्म आदि द्रव्य कहलाते है। ये अभिन्न होते हुए भी गुण पर्याय कला और परिणाम के मूल कारण होने से भिन्न मालूम पडने से भिन्न प्रतिभासित होतेहैं।

'द्रव्यञ्च भव्ये' इस पाणिनि के सूत्र के अनुसार द्रु धातु से भाव और कर्त्ता अर्थ में 'द्रव्य' शब्द का निपात किया गया है। इस प्रकार द्रव्य, भव्य और भवन, इन सब का एक ही अर्थ है। गुण और पर्याय, भवन रूप ही हैं, खडे हुए, बैठे हुए, उकडू और सोये

पिण्डातिरिक्तवृत्त्यन्तरावस्थाप्रकाशतादशायां जायते इति व्यवहारः। स व्यापारे च भवनवृत्तिः. अस्तीत्यनेन निर्व्यापारात्मकसत्ता–उच्यते, भवनवृत्तिरुदासीना, विपरिणमते इत्यनेन पुनस्तिरोभूतात् प्ररूपस्याऽनुच्छिन्नतयाऽनुवृत्तिकस्य रूपान्तरेण भवनमुच्यते।

यथा–दुग्धं दधिभावेन परिणमति विकारान्तरवृत्त्या भवनमवतिष्ठते वृत्त्यन्तरव्यक्तिवृत्तिः हेतुभाववृत्तिर्वा परिणाम आख्यायते, वर्धने इत्यनेन तु उक्तस्वरूपः परिणामः उपचयेन प्रवर्तते, यथाऽङ्कुरो वर्धते, उपचयशालिपरिणामरूपेण भवनवृत्तिर्व्यज्यते, अपक्षीयते इत्यनेन पुनः पूर्वोक्तस्वरूपस्यैव परिणामस्याऽपचयवृत्तिराख्यायते,

दुर्बलतामासादयत् पुरुषवदपचयभवनरूपवृत्त्यन्तरव्यक्तिरुच्यते। विनश्यतीत्यनेन भवनवृत्तेराविर्भूततिरोभवनमाख्यायते, यथा-घटो विनष्ट इत्यनेन प्रतिविशिष्टसमवस्थानात्मिका भवनवृत्तिस्तिरोभूता, न तु अस्वभावतैव संजाता, कपालाद्युत्तरभवनवृत्त्यन्तरक्रमावच्छिन्नरूपत्वाद् इत्येवमादिभिराकारैर्द्रव्याण्येव भवनलक्षणानि व्यपदिश्यन्ते इति भाव·

हुए पुरुष के समान। अर्थात् जैसे पुरुष की ये अवस्थाएँ भिन्न–भिन्न होती है, मगर सब अवस्थाओ में पुरुष ज्यो का त्यो वही रहता है, इसी प्रकार पर्यायो के पलटते रहने पर भी मूल द्रव्य एक रूप ही बना रहता है। यही बात यो भी कही जाती है–उत्पन्न होता है, पलटता है बढता है, घटता है और बिनष्ट भी होता है।"

पिण्डातिरिक्त वृत्यन्तर–अवस्था–प्रकाशता की दशा में **'जायते'** (उत्पन्न होता है) ऐसा व्यवहार होता है; व्यापार सहित होने पर भवनवृत्ति होती है। **'अस्ति'** (है) इससे व्यापार शून्य सत्ता कही जाती है, भवनवृत्ति उदासीन है, **'विपरिणमते'** (पलटता) है) इसके द्वारा अनुवृत्ति वाली वस्तु का रूपान्तर से होना कहा जाता है।

जैसे दूध दधि रूप से परिणत होता है, यहा विकारान्तरवृत्ति से **'भवन'** कायम रहता है। जो व्यक्त्यन्तर व्यक्तिवृत्ति हो या हेतुभाववृत्ति हो वह परिणाम कहलाता है। **'वर्धते'** यहाँ उक्त स्वरूप वाला परिणाम उपचय रूप में प्रवृत्त होता है, जैसे अंकुर बढता है अर्थात् उपचयशाली परिणाम रूप से **'भवन'** की वृत्ति व्यक्त होती है। **'अपचीयते'** (घटता है) इस शब्द से पूर्वोक्त स्वरूप वाले परिणाम की अपचयवृत्ति प्रकट की जाती है - दुर्बलता को प्राप्त होने वाले पुरुष के समान अपचय भवन रूप नवीन वृत्ति का प्रकट होना कहा जाता है। **विनश्यति'** इस पद के द्वारा भवनवृत्ति का आविर्भूत–तिरोभाव कहा जाता है। जैसे घट विनष्ट हो गया, इस वाक्य का अर्थ यही है कि विशिष्ट समवस्थान रूप भवनवृत्त तिरोहित हो गई (छिप गई) इसका आशय यह नहीं कि कोई स्वभावहीनता उत्पन्न हो गई–शून्यता आ गई; क्योकि घट–आकार के पश्चात् कपाल आदि रूप नवीन भवनवृत्ति देखी जाती है। इत्यादि आकारों के द्वारा द्रव्य ही भवन लक्षण वाले कहलाते हैं।

तथाच– मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्यां सर्वाणि द्रव्याणि धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलाजीवरूपाणि जानाति, न तु–तेषाँ धर्माऽधर्मादीनां सर्वद्रव्याणां सर्वान् उत्पातादीन् पर्यायान् जानाति, मतिज्ञानी तावत्-श्रुतज्ञानेनोपलब्धेष्वर्थेषु यदाऽक्षरपरिपाटीं विनैव स्वभ्यस्तविद्यः सन् द्रव्याणि ध्यायति तदा–सर्वद्रव्याणि धर्माऽधर्मादीनि मतिज्ञानविषयतया भासन्ते न तु–तेषां सर्वान् पर्यायान् जानाति, अल्पकालत्वात्-मनसश्चाशक्तेः,एवं श्रुतज्ञानानुसारेण सर्वाणि धर्मादीनि जानाति न तु–तेषां सर्वपर्यायान् वेत्ति अवधिज्ञानेन तु रूपिद्रव्याण्येव पुद्गलद्रव्यस्वरूपाणि जानाति, न तु–सर्वपर्यायान् जानाति, अत्यन्तविशुद्धावधिज्ञानेनापि रूपिण्येव द्रव्याणि पुद्गलद्रव्यात्मकानि जानाति तान्यपि रूपिद्रव्याणि न सर्वैःपर्यायैः—

अतीतानागतवर्तमानैरुत्पादव्ययध्रौव्यादिभिरनन्तैः पर्यायैर्जानातीति भावः। यानि च रूपीणि द्रव्याणि पुद्गलात्मकानि शुक्लादिगुणोपेतानि अवधिज्ञानेन जानाति तेषामवधिज्ञानविषयीकृतरूपिद्रव्याणामनन्तभागमेकं मनःपर्ययज्ञानेन जानाति, तान्यपि–अवधिज्ञानविषयानन्तभागवर्तीनि रूपाणि द्रव्याणि न कुड्याद्याकारव्यवस्थितानि जानाति, अपितु–मनोरहस्यविचारगतानि,

तान्यपि द्रव्याणि न सर्वलोकवर्तीनि जानाति अपितु मनुष्यक्षेत्रे व्यवस्थितान्येव जानाति। अवधिज्ञानिनः सकाशात् विशुद्धतराणि बहुतरपर्यायाणि जानाति. केवलज्ञानेन पुनः सर्वद्रव्याणि तेषां सर्वपर्यायां श्च जाना ति।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव रूप सब द्रव्यो को जीव जानता है, किन्तु धर्म अधर्म आदि सब द्रव्यो की सब उत्पाद आदि पर्यायो को नहीं जानता है। मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी के द्वारा जाने हुए पदार्थों में जब अक्षर परिपाटी के बिना ही, विद्या का भलीभाँति अभ्यास करके द्रव्यो का चिन्तन करता है, जब धर्म अधर्म आदि समस्त द्रव्य मतिज्ञान के विषय रूप प्रतिभासित होते है, मगर मतिज्ञानी उनके सब पर्यायो को नहीं जानता। इसका कारण है काल की अल्पता और मन की अशक्ति इसी प्रकार श्रुतज्ञान के अनुसार धर्म आदि सब द्रव्यो को जानता है, किन्तु सब पर्यायो को नहीं जानता। अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्यो को–पुद्गलद्रव्यो–को ही जानता है किन्तु सब पर्यायो को नहीं। अवधिज्ञान अत्यन्त विशुद्ध हो तो भी उसके द्वारा रूपीद्रव्य पुद्गल ही जाने जा सकते है और वे रूपी द्रव्य भी सब पर्यायों से नहीं।

भाव यह है कि अतीत, अनागत और वर्त्तमान काल सबन्धी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि अनन्त पर्यायो से जानता है। और जिन शुक्ल आदि गुणो से युक्त पुद्गल रूप रूपी द्रव्यो को अवधिज्ञान से जानता है. उनके अनन्तवे भाग को मन पर्यय ज्ञान से जानता है। उन अनन्तवे भागवर्त्ती रूपी द्रव्यो को भी दीवार के सहारे रहे हुओ को नहीं. वरन् मनोगतो को जानता है। उन द्रव्यो को भी सम्पूर्ण लोक में रहे हुओं को नहीं वरन् मनुष्यक्षेत्र के भीतर ही जानता है और अवधिज्ञानी की अपेक्षा विशुद्धतर और बहुतर पर्यायों को जानता है।

अथ कथं तावत् केवलज्ञाने सर्वाणि द्रव्याणि, सर्वे पर्यायाश्च विषयी भवन्तीति चेद् उच्यते—केवलज्ञानं सर्वेषां भावानां द्रव्यक्षेत्रकालभावविशिष्टानामवभासक भवति, सम्पूर्णलोकालोकविषयञ्च, यदिह लोके धर्माधर्मद्रव्यद्वयाविच्छिन्नाकाशरूपे धर्माऽधर्मद्रव्यद्वयविच्छिन्नाकाशरूपे अलोके च किञ्चिद् ज्ञेयमस्ति तद्यथा—बहिः पश्यति तथैवान्तः पश्यति;

अस्माच्च केवलज्ञानात् परं प्रधानतरं किमपि ज्ञानं नयपरिच्छेदकं नास्ति; नापि—केवलज्ञानविषयात्परं किञ्चिदन्यद् ज्ञेयमस्ति। तथाहि—सर्वद्रव्येषु धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवरूपेषु सर्वपर्यायेषु चोत्पादादिषु धर्मादीनां च त्रयाणां परापेक्षया उत्पाद—विगमौ भवतः,

---

अभिप्राय यह है कि पाँच ज्ञानो में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी द्रव्यो को जानते है, किन्तु उनकी कतिपय पर्याये ही उनका विषय होती है; क्योकि ये दोनो ज्ञान क्षायोपशमिक है और क्षायोपशमिक ज्ञान परिपूर्ण नहीं होते। इसके अतिरिक्त ये दोनो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य हैं और इस कारण भी वे परिपूर्ण नहीं है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय—मनोजन्य नहीं है, अतएव वे प्रत्यक्षज्ञान की कोटि में परिगणित है, फिर भी क्षायोपशमिक होने के कारण अपूर्ण है, अतएव उन्हे विकल प्रत्यक्ष भी कहते हैं। ये दोनो ज्ञान रूपी द्रव्यो को ही जानते है, फिर भी उनमें विषयकृत भिन्नता है। अवधिज्ञान सम्पूर्ण लोक के समस्त रूपी द्रव्यों को जान सकता है, जब कि मनःपर्ययज्ञान सिर्फ मनोवर्गणा के पुद्गलो को ही जानता है। इसी कारण अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग ही मनःपर्यय का विषय कहा गया है। मनःपर्ययज्ञान अढाई द्वीप के अन्तर्गत जो संज्ञी जीव है, उनकी मनोवर्गणाओं को, जानता है। ऐसा होने पर भी मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त विशुद्ध है और जिन रूपी द्रव्यों को जानता है, उनकी बहुतर पर्यायो को जानता है।

केवलज्ञान के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें जानी जाती है। पूछा जा सकता है कि केवलज्ञान सब द्रव्यो और सब पर्यायों को कैसे जानता है? इसका उत्तर यह है कि केवलज्ञान समस्त भावो का अवभासक है तथा सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानता है। धर्म और अधर्म द्रव्यो से व्याप्त लोक में और उनसे रहित अलोक में जो कुछ भी ज्ञेय है, उस सब को जानता है।

केवलज्ञान से बड़ा दूसरा कोई ज्ञान नही है और केवलज्ञान की विषय-मर्यादा से बाहर कोई ज्ञेय नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि केवलज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है। जब ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म समूल नष्ट हो जाता है तो आत्मा की ज्ञानशक्ति अपने विशुद्ध परिपूर्ण और स्वाभाविक रूप मे प्रकट हो जाती है। उस समय ऐसा कोई ज्ञेय (पदार्थ) नहीं रहता जो केवलज्ञान का विषय न हो।

यथा शुक्लतया विगच्छन् नीलतयोत्पद्यमानः पुद्गल इत्यवस्थितो भवति जीवोऽपि देवत्वेनोत्पद्यमानो मनुष्यतया विगच्छति, जीवत्वेन सर्वदाऽवस्थितो भवति। एवमाकाशकालयोरपि केवलज्ञानविषयताऽवसेया। अतएव-केवलज्ञानं परिपूर्णं समग्रम् असाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायं भवति।

ज्ञेयस्याऽनन्तपर्यायतया तदनुसारेण केवलज्ञानमपि अनन्तपर्यायमवगन्तव्यम् सर्वस्यैव द्रव्यभावजालस्य परिच्छेदकत्वात् केवलज्ञानं परिपूर्णं भवतीति विज्ञेयम्।

तथाचोक्तम्-अनुयोगद्वारे—**कइविहा णं भंते! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा-दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा-जीवदव्वा य-अजीवदव्वा य-**"इति। कतिविधानि खलु भदन्त! द्रव्याणि-प्रज्ञप्तानि? गौतम! द्विविधानि द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-जीवद्रव्याणि च अजीवद्रव्याणि चेति। एवमुत्तराध्ययने २८-अध्ययने ८-गाथायां चोक्तम्

"धम्मो अधम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं-
अणंताणि य दव्वाणि-कालो पुग्गलजंतवो-॥१॥ इति"
छाया— धर्मोऽधर्ममाकाशं द्रव्यमेकैकमाहितम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि कालःपुद्गलजन्तव इति ॥सू०२॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन सभी द्रव्यो मे प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रहता है। जो भी सत् पदार्थ है वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक ही होता है। किसी वस्त्र का श्वेत वर्ण नष्ट होता है, उसमें नील वर्ण का उत्पाद होता है, किन्तु वस्त्र द्रव्य दोनो अवस्थाओ में कायम रहता है। इसी प्रकार पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होने पर भी द्रव्य ध्रुव ज्यो का त्यो-बना रहता है। जैसे जीव देव पर्याय के रूप में उत्पन्न होता है, मनुष्यपर्याय के रूप मे विनष्ट होता है मगर जीव के रूप में सर्वदा अवस्थित रहता है। इन सब पर्यायों को केवल ज्ञान साक्षात् जानता है। इसी प्रकार आकाश और काल जैसे अपूर्व द्रव्य भी केवलज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं। अतएव केवलज्ञान परिपूर्ण समग्र असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्वभावों का ज्ञायक, लोकालोक को विषय करने वाला और अनन्त पर्यायो वाला है।

एक-एक ज्ञेय की स्व-परपर्यायों की गणना की जाय तो वह अनन्तानन्त है। ऐसे अनन्तानन्त पर्यायो वाले अनन्तानन्त ज्ञेय पदार्थ केवलज्ञान के विषय है। ऐसी स्थिति में केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्यायें है, यह समझना कठिन नहीं है।

अनुयोगद्वार के १४१ वे सूत्र में कहा है।

प्रश्न—भगवन्! द्रव्य कितने प्रकार के कहे हैं?

उत्तर—गौतम! द्रव्य दो प्रकार के कहे हैं - जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य।

उत्तराध्ययन के अध्ययन २८ की आठवीं गाथा में कहा है—धर्मास्तिकाय, अधर्मा

मूलसूत्रम्—"निच्चावट्ठियाणि अरूवाणि य–" ॥३॥

छाया—"नित्यावस्थितानि-अरूपाणि च ॥३॥',

तत्त्वार्थदीपिका—धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकानि षडपि द्रव्याणि नित्यावस्थितानि भवन्ति, नैतानि कदाचिदपि न सन्तीति न चाऽन्ये तत्तथा परिणमन्ति, तत्रापि—धर्माऽधर्माऽऽकाशकाल-जीवात्मकानि पञ्च द्रव्याणि अरूपीणि–रूपरसादिरहितानि भवन्ति । तथा च—धर्मादीनां षण्णा-मपि द्रव्याणां नित्याऽवस्थितत्वम्, पुद्गलव्यतिरिक्ताना धर्मादीनां पञ्चाना द्रव्याणान्तु रूपरसा-दिशून्यत्वं भवतीति भावः ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः- पूर्वसूत्रे धर्मादीनि षड् द्रव्यणि प्रतिपादितानि सम्प्रति–तानि द्रव्यणि किं कदाचित् स्वभावात् प्रच्युतानि भवन्ति ? ततोऽधिकानि वा किं भवन्ति ? तानि किं मूर्तानि–अमूर्तानि वा ? इति प्रश्नत्रयं समाधातुमाह–निच्चावट्ठियाणि अरूवाणि य–" इति ।

धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि नित्यावस्थितानि भवन्ति, तत्र–नित्यपदोपादानात् धर्मादीनां स्वभाव त् अप्रच्युतिरुच्यते, अवस्थितिपदोपादानाच्च तेषां षड्त्वाद् अन्यूनानधिकत्वमाख्यायते, अनादि-निधने यत्ताभ्या तानि न कदाचित् स्वतत्त्वं परित्यजन्ति, तेषु च–पुद्गलव्यतिरिक्तानि धर्मादीनि पञ्चद्रव्याणि- अरूपाणि ।

स्तिकाय और आकाश, ये तीन द्रव्य एक–एक रूप है और काल, पुद्गल तथा जीव, ये तीन द्रव्य अनन्त–अनन्त है ॥सू० २।

'-निच्चावट्ठियाणि' इत्यादि ॥सूत्र॥३॥

मूलसूत्रार्थ—पूर्वोक्त द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी है ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, ये छहों द्रव्य नित्य और अवस्थित है । इनमें से कभी कोई न हो, ऐसा नहीं है अर्थात् ये सदैव रहते है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप में भी परिणत नहीं होता है । इनमें से धर्म. अधर्म, आकाश, काल और जीव, ये पाँच द्रव्य अरूपी है अर्थात् रूप–रस आदि से रहित है। इस प्रकार छहो द्रव्य नित्य और अवस्थित है तथा पुद्गल के सिवाय शेष पाँच द्रव्य अरूपी है ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पूर्वसूत्र में धर्म आदि छह द्रव्यो का प्रतिपादन किया गया है, अब ये द्रव्य क्या कभी अपने–अपने स्वभाव से च्युत होते है ? क्या कभी न्यूनाधिक होते है ? ये मूर्त हैं या अमूर्त हैं ? इन तीन प्रश्नो का समाधान करने के लिये कहते है—

धर्म आदि छहो द्रव्य नित्य और अवस्थित है। नित्य का अर्थ यह है कि ये द्रव्य कभी अपने–अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते और अवस्थित का आशय यह है कि इन की सख्या कभी न्यूनाधिक नहीं होती अर्थात् ये सभी द्रव्य अनादिनिधन है और नियत सख्या वाले है कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते है । इनमें पुद्गल के सिवाय पाँच द्रव्य अरूपी है ।

न रूपं येषां तानि-अरूपाणि भवन्ति तत्र-रूपपदस्योपलक्षणत्वाद् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श रहितानि भवन्ति इत्यर्थः। अरूपग्रहणात्-धर्माऽधर्माऽऽकाशकालजीवानाममूर्त्तत्वमाविष्क्रियते, तथाच-पुद्गलव्यतिरिक्तानि धर्मादीनि पञ्चद्रव्याणि रूप-रस-गन्ध-स्पर्शपरिणामबहिर्वर्तित्वात्-अमूर्तानि-व्यपदिश्यन्ते,-"**पोग्गला रूविणो**-" इति वक्ष्यमाणसूत्रानुसारात् पुद्गलभिन्नान्येव धर्मादीनि द्रव्याणि अविद्यमानरूप-रसादीनि भवन्ति,

नित्यावस्थितानि तु सर्वाण्यपि द्रव्याणि भवन्ति। उक्तञ्च-नन्दिसूत्रे-"**पंचत्थिकाए न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ, भुविंच भवइ अ भविस्सइ अ धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे अरूवी**-" इति।

पञ्चास्तिकाया न कदाचित्- नासन्, न कदाचित् न सन्ति, न कदाचित्-न भविष्यन्ति अभूवंश्च- भवन्ति च भविष्यन्ति च ध्रुवाः- नियताः- शाश्वताः-अक्षयाः-अव्ययाः अवस्थिताः-नित्याः- अरूपिणः।

एवञ्च-एतानि पूर्वोक्तानि धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यानि भवन्ति न तु-पर्यायार्थिकनयेन। द्रव्यार्थिकनयस्तावत्-ध्रौव्यमेव प्रतिपादयति, नोत्पाद-विनाशौ, तस्माद्-द्रव्यार्थिकनयेन धर्मादीनां नित्यत्वमवगन्तव्यम्। अन्यथा- द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षतया नित्यत्वस्वीकारे एकान्तवाद आपतेत्, एकान्तवादश्च-बहुविधदोषग्रस्तत्वादसमञ्जसः स्यात्।

जिसमें रूप न हो उसे अरूपी कहते है। यहाँ रूप शब्द उपलक्षण है उससे रस गंध और स्पर्श का भी ग्रहण होता है। सूत्र में अरूप शब्द के ग्रहण से धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्य की अमूर्त्तता प्रकट की गई, है। अतः पुद्गल को छोड कर शेष पाँच धर्म आदि द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने के कारण अमूर्त्त कहलाते है। '**पोग्गला रूपिणो**' इस आगे कहे जाने वाले सूत्र के अनुसार पुद्गल सिवाय धर्म आदि पाँच द्रव्य ही अरूपी है। मगर नित्य और अवस्थित तो पुद्गल द्रव्य भी है।

नन्दीसूत्र के सूत्र ५८ में कहा है-'पाँच अस्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है; कभी नहीं है, ऐसा नही है, कभी नहीं होगे, ऐसा भी नहीं है। सदा ये थे, है, और रहेगे। वे ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है और अरूपी है।

इस प्रकार ये धर्म आदि छहो द्रव्य द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नहीं। द्रव्यार्थिकनय वस्तु के ध्रौव्य का ही प्रतिपादन करता है, उत्पाद और विनाश का नहीं। इस कारण द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से ही धर्म आदि द्रव्य नित्य समझना चाहिए। द्रव्यार्थिकनय से निरपेक्ष रूप मे नित्यता स्वीकार करने पर एकान्तवाद का प्रसंग होगा और एकान्तवाद अनेक प्रकार के दोषो से दूषित है।

अथ--एकनयप्ररूपण न जैनदर्शनपरिपूर्णाय पर्याप्तं सम्भवति, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक-नयद्वयो' प्रधानगुणभावविवक्षावशाद् वस्तुतत्त्वस्य प्रतिपादनात् । अन्यथा वस्तुप्रज्ञापनमतिदुष्कर न भवेत् तस्माद् अभिन्नांशस्य वस्तुनो नरसिंहवत् नरकेसरिशब्दभेदेन प्रज्ञापना क्रियते, तत्र--द्रव्यार्थिक-नयस्य प्राधान्यमाश्रित्य पर्यायार्थिकनयादेश्च गुणभावमाश्रित्य धर्मादिद्रव्याणां नित्यता प्रज्ञाप्यते ।

तथाच--द्रव्यार्थिकनयप्रज्ञाप्यं ध्रौव्यांशमादाय धर्मादीनि द्रव्याणि नित्यानि उत्पाद-विनाशरहितानि ध्रुवाणि व्यपदिश्यन्ते । तथाच--धर्मादीनां सकलकालाऽविकारिणी सत्ताऽऽख्यायते नित्यत्वकथनेनेति भावः । एवं धर्मादीनि सर्वद्रव्यणि-अवस्थितानि भवन्ति, न हि कदाचित् तानि द्रव्याणि षट्त्वसख्यां भूतार्थत्वं च परित्यजन्ति-परित्यक्षन्ति वा,

अवस्थितशब्दोपादानेन तद्भावाऽव्ययतया तेषां षट्त्वसंख्यारूपेयत्ता निर्धार्यते । तथाच--षडेव द्रव्याणि भवन्ति, न न्यूनानि, नाऽप्यधिकानि वा इति सख्यानियमोऽभिप्रेतः । सर्वदा जगत' पञ्चास्तिकायात्मकत्वेन कालस्यैतत् पर्यायत्वेऽपि भिन्नतया प्रतीयमानत्वात् षडेव द्रव्याणि न तु--पञ्चेति भावः । तानि च धर्मादीनि अन्योऽन्यावबन्धिताया सत्यामपि धर्मादीनि न स्वतत्त्वं भूतार्थत्वरूपं वैशेषिक लक्षणमतिक्रामन्ति ।

तच्च--भूतार्थत्वं धर्माऽधर्मयोर्गतिस्थित्युपग्रहकारित्वम् आकाशस्य-अवगाहदानव्यापारः, जीवानां स्वपरप्रकाशिचैतन्यपरिणामः, पुद्गलानामचैतन्यशरीरवाङ्मनःप्राणापानसुखदुःखजीवितमरणो-

---

जैनदर्शन के अनुसार एकनय से वस्तु की प्ररूपणा करना पर्याप्त नहीं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक--दोनो में से एक को प्रधान और दूसरे को गौणरूप से विवक्षित करके ही वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जा सकता है । ऐसा किये विना वस्तुस्वरूप की प्ररूपणा करना बहुत कठिन है । अतएव यहाँ द्रव्यार्थिकनय को प्रधान और पर्यायार्थिकनय को गौण करके धर्म आदि द्रव्यो की नित्यता की गई है ।

द्रव्यार्थिकनय द्वारा प्रज्ञाप्य ध्रौव्य अंश की अपेक्षा से धर्म आदि द्रव्य नित्य अर्थात उत्पाद और विनाश से रहित ध्रुव है । नित्य कहकर यह प्रकट किया गया है कि धर्म आदि द्रव्यो की सत्ता समस्त काल में अविकारिणी है । इसी प्रकार धर्म आदि सब द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात् वे अपनी छह की संख्या को और भूतार्थता को न कभी भी त्यागते है और न कभी त्यागेंगे ।

'अवस्थित' शब्द के ग्रहण से यह निर्धारित किया गया है कि ये द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करते, अत' छह ही रहते है । न कभी कम होते है और न अधिक ही । जगत् सदा पंचास्तिकायात्मक है और काल पर्याय होने पर भी भिन्न रूपसे प्रतीत होता है, अतः छ ही द्रव्य है, पाँच नहीं । ये धर्म आदि द्रव्य आपस में मिलेजुले रहते है, फिर भी अपने अपने स्वरूप को और भूतार्थता को नहीं त्यगते है और न अपने विविध असाधारण लक्षण का उल्लंघन करते है ।

धर्मद्रव्य का स्वरूप गति में और अधर्मद्रव्य का स्वरूप स्थिति में निमित्त होता है। आकाश

पग्रहमूर्तत्वादयो भूतार्थत्वं बोध्यम् । अथवा—असख्येयादिप्रदेशानादिपरिणामस्वभावत्वं वा भूतार्थत्वं मूर्तत्वञ्चेति । तांश्च मर्यादामनादिकालप्रसिद्धिवशोपनीतां नातिक्रमन्ति धर्मादिद्रव्याणि। तस्मात्—स्वगुणं परित्यज्य नान्यदीयगुणसम्परिग्रहमेतानि आश्रयन्ति, अतएवैतानि अवस्थितानि व्यपदिश्यन्ते । तेषु च—षट्सु द्रव्येषु पुद्गलव्यतिरिक्तानि पञ्चद्रव्याणि धर्मादीनि अरूपाणि भवन्ति.

पुद्गलव्यतिरिक्तानामेव धर्मादि पञ्चद्रव्याणाममूर्तत्वात्, चक्षुर्ग्रहणलक्षणं रूपम् अविद्यमानत्वं येषां तान्यरूपीणि । अरूपत्वादेव नैतानि चक्षुषा गृह्यन्ते इति, न तु—एतेषा चक्षुषाऽगृह्यमाणत्वमरूपत्वे हेतुरुच्यते, तथासति-पुद्गलपरमाण्वादिषु अरूपत्वापत्तिः स्यात् तस्मात्—धर्मादिषु पञ्चसु अरूपत्वप्रतिपादनम्,

रूपन्तावत्—मूर्तिरुच्यते, मूर्तिरेव रूपादिशब्दैरभिधीयते, सा च मूर्तिः- रूपादिसंस्थान परिणामा भवति न तु—वैशेषिकाभिमता, असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणा मूर्तिरूपादेया, सर्वतः परिमितत्वे लोकस्य—आत्मनोऽपि मूर्तिमत्त्वापत्तिः स्यात् ।

लोकस्य विशिष्टसंस्थानत्वादिभिः परिमितत्वं वैशेषिकैरपि—अवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मात्—

का स्वरूप अवगाह प्रदान करता है । जीव का स्वरूप स्व-पर प्रकाशक चैतन्यरूप परिणाम है । पुद्गल का स्वरूप शरीर, वचन, मन, प्राणापान, जीवन, मरण में निमित्त होना तथा मूर्त्तत्व आदि है।

धर्मादि द्रव्य अनादिसिद्ध अपनी अपनी इस स्वरूपमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते है । कोई भी द्रव्य अपने स्वाभाविक गुण का परित्याग करके अन्य द्रव्य के गुण को धारण नहीं करते इस कारण ये द्रव्य अवस्थित कहलाते है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि छह द्रव्यो में से पुद्गल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अरूपी अर्थात् अमूर्त्त हैं ।

धर्म पुद्गल के सिवाय धर्म आदि पाँच द्रव्य अमूर्त्त होने के कारण अरूपी है—उनमें रूप नहीं है और रूपी न होने के कारण वे नेत्र के द्वारा देखे नहीं जा सकते ।

धर्म आदि द्रव्यो के नेत्र ग्राह्य न होने में अरूपित्व को हेतु नहीं कहा है, अन्यथा पुद्गल परमाणु भी नेत्रगोचर नहीं होता तो उसे भी अरूपी मानना पड़ेगा । मगर वह अरूपी नहीं है, इस प्रकार धर्म आदि पाँच द्रव्यो में ही अरूपत्व का प्रतिपदन किया गया है।

रूप का अर्थ मूर्ति ! मूर्ति ही रूपादि शब्दो के द्वारा कही जाती है । वह मूर्ति रूपादि सस्थान (आकार) वाली होती है । वैशेषिक, द्रव्य का सर्वव्यापक न होना मूर्त्तत्व मानते है अर्थात उनके कथन के अनुसार मूर्ति वह है जो सर्वव्यापि परिमाण वाला न हो; मगर यह मान्यता यहाँ स्वीकार नहीं की गई है, क्योकि ऐसा मानने पर आत्मा भी मूर्तिक हो जाएगी । लोक सब ओर से परिमित है, अतः आत्मा भी परिमित ही है ।

लोक परिमित है, यह वैशेषिको को भी स्वीकार करना चाहिए क्योकि उसका एक विशिष्ट आकार है । इस कारण रूप को मूर्ति मानना ही निर्दोष है ।

रूपमेव निर्दिष्टत्वात् मूर्तिरुच्यते । अथ यदि रूपमेव मूर्तिरुच्यते तदा-गुणमात्रं मूर्तिशब्दस्य विषयः प्रसज्येत तस्माद् न रूपमेव मूर्तिरितिचेन्न ।

द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण रूपस्य मूर्तित्वप्रतिपादनात् न खलु द्रव्यस्य रूपादयः केचन मूर्त्या विविक्ततया समुपलभ्यन्ते, तस्मात्-सैव तावद मूर्तिर्द्रव्यस्वभावानयनग्रहणमासाद्य रूपमिति व्यवह्रियते । अतएव मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय उच्यन्ते, स्पर्शादयस्तावद् मूर्तिं न परित्यजन्ति, परस्परसहचरितत्वात् । यत्र खलु रूपपरिणामो भवति तत्राऽवश्यमेव स्पर्शरसगन्धा अपि तिष्ठन्त्येव

तस्मात्-स्पर्शादिचतुष्टयं सहचरितं वर्तते । परमाणावपि-एतच्चतुष्टयं विद्यत एव, किन्तु-सर्वेषामेकरूपत्वात् परमाणवश्चतुर्गुणादिजातिभेदभाजां न भवन्ति केवलमयमेव विशेषो यत्किल-किमपि द्रव्यमुत्कटां गुणपरिणतिं प्राप्य तमेव परित्यजति तथाहि लवण-हिङ्गुनी संघातपरिणामसामर्थ्यशालिनी नयनस्पर्शनग्रहणविषयतामासाद्य-उदके विलीने सती रसनघ्राणग्रहणयोग्यतां प्राप्नुतः। किन्तु तत्र वर्णस्पर्शौ विद्यमानावपि ग्रहीतुं न पार्येते परिणामविशेषवत्त्वात् ।

एव पार्थिवजलीयतैजसवायवीयपरमाणवोऽपि एकजातीयाः कदाचित् कञ्चित् परिणामं धारयन्तो न सर्वेन्द्रियग्रहणयोग्या भवन्ति । तस्मात्-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा एव विशिष्टपरिणामानुगृहीता सन्तो मूर्तित्वेन व्यपदिश्यन्ते इत्यन्यदेतत् ॥ ३ ॥

शंका—यदि रूप को ही मूर्ति माना जाय तो मूर्ति शब्द का वाच्य अकेला गुण ही होगा । इस कारण रूप ही मूर्ति नहीं है ।

समाधान-द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से रूप को मूर्ति कहा गया है। द्रव्य के रूप आदि उससे भिन्न प्रतीत नहीं होते । इस कारण वही मूर्ति द्रव्यस्वभाव के आनयन ग्रहण आदि को प्राप्त करके रूप कहलाती है । अतएव-स्पर्श आदि मूर्ति के आश्रित कहे जाते है । स्पर्श आदि मूर्ति का परित्याग नहीं करते है,, क्योकि वे परस्पर में सहचर है जहाँ रूप होता है, वहाँ स्पर्श रस और गंध, भी अवश्य रहते है । इस कारण स्पर्श आदि चारो सहचर है ।

परमाणु में भी रूप आदि चारो गुण विद्यमान रहते है । किन्तु वे सब एक रूप होकर रहते हे, अत. परमाणु चतुर्गुण आदि जातिभेद वाले नहीं होते । विशेषता केवल यही है कि कोई द्रव्य उत्कट गुणपरिणति को प्राप्त होकर उसे त्याग देता है । उदाहरण के लिए नमक और हींग को लीजिए ।-जब वे सधान रूप होते है तो नेत्र, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियों के विषय होते है, किन्तु जब जल मे घुस जाते हैं तब रसना और घ्राण के ही विषय रह जाते हैं । वर्ण और स्पर्श तो उनमे उस समय भी रहता है मगर वह इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता । यह उनके परिणमन की विशेषता है ।

इसी प्रकार एक जातीय पार्थिव, जलीय तैजस और वायवीय परमाणु भी कभी किसी परिणमन को प्राप्त होकर सब इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नहीं होते है। इस कारण रूप, रस, गंध और स्पर्श ही विशेष परिणाम से युक्त होकर मूर्ति कहलाते है ॥३॥

मूलसूत्रम् "पोग्गला रूविणो–" ॥ ४ ॥

छाया– "पुद्गला रूपिणः–" ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पुद्गलास्तावद् वर्ण–गन्ध–रस–स्पर्शवत्वात् चक्षुषा गृह्यमाणत्वात्–मूर्त्तत्वाच्च रूपिणो भवन्ति, न तु–अरूपिणः। यदि–पुद्गला अरूपिणः स्युः तदा–तेषां चाक्षुपप्रत्यक्षत्वं न स्यात्। उक्तञ्च स्थानाङ्गसूत्रे५–स्थाने तृतीयोद्देशके —"**पोग्गलत्थिकायं रूविकायं–**" इति। **पुद्गलास्तिकायो रूपिकाय** इति। एवं व्याख्याप्रज्ञप्तौभगवतीसूत्रेऽपि ७ शतके १०–उद्देशके—"**पोग्गलत्थिकायं रूविकायं–**" इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे सामान्यत एव "**अरूपीणि द्रव्याणि भवन्ति**" इत्युक्तम् तत्र–विशेषरूपेण पुद्गलद्रव्यस्याऽरूपत्वप्रतिषेधेन रूपित्वं प्रतिपादयितुमाह—

"**पोग्गला रूविणो–**" इति। **पुद्गला रूपिणोभवन्ति न तु–अरूपाः**, नित्यत्वावस्थितत्वे तु–पुद्गलानामपि भवत एव, तत्स्वभावाव्ययत्वात् नित्यत्वं सदैव समस्ति, रूपादिमत्तया चाऽव्यतिकीर्यमाणस्वभावत्वेनाऽवस्थितत्वमपि पुद्गलानां भवत्येवेति भावः। अथोत्पादविनाशवत्वात् पुद्गलद्रव्याणामनित्यतैव युक्ता न तु–तद्विरुद्धा नित्यता तेषां सम्भवतीति चेत् अत्रोच्यते।

द्विविधं तावत् नित्यत्वं प्रज्ञप्तम्, अनाद्यपर्यवसाननित्यत्वम्–सावधिनित्यत्वञ्च। तत्र–प्रथमं

मूलसूत्रार्थ—"पोग्गला रूविणो" सूत्र ४

पुद्गल द्रव्य रूपी होते हैं "४"

तत्वार्थदीपिका—पुद्गल वर्ण गंध रस और स्पर्श से युक्त होने के कारण, चक्षु द्वारा ग्राह्य होने के कारण और मूर्त्त होने के कारण रूपी है–वे अरूपी नहीं है। पुद्गल यदि अरूपी होते तो नेत्र के द्वारा उन्हें देखना संभव न होता। स्थानांगसूत्र के पाँचवे स्थान, तीसरे उद्देशक के प्रथम सूत्र में कहा है–'पुद्गलास्तिकाय रूपीकाय है।, भगवतीसूत्र के सातवें शतक के दशम उद्देशक में भी कहा है–पुद्गलास्तिकाय रूपीकाय है ॥४॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में सामान्य रूप से द्रव्यो को अरूपी कहा गया था, किन्तु विशेष रूप से पुद्गलास्तिकाय की अरूपता का निषेध करके उसे रूपी प्रतिपादन करने के लिए कहते है–

पुद्गल रूपी है अरूपी नहीं। नित्यता और अवस्थितता तो पुद्गलो में भी पाई जाती है, क्योंकि वे अपने पुद्गल स्वभाव का कभी परित्याग नहीं करते। सदैव रूपदिमान् ही रहने के कारण वे अवस्थित भी है। केवल अरूपीपन उनमें नहीं पाया जाता।

शंका–पुद्गलद्रव्य उत्पन्न और विनष्ट होते रहते है, अतएव उन्हे अनित्य मानना ही उचित है। उनमें अनित्यता से विरुद्ध नित्यता नहीं हो सकती।

समाधान–नित्यता दो प्रकार की कही गई है-(१) अनादिअनन्तता अर्थात् आदि भी न होना और अन्त भी न होना और (२) सावधिनित्यता–अवधियुक्त नित्यता। प्रथम प्रकार की

तावत् लोकसन्निवेशवदनासादितपूर्वापरावधिविभागं सन्तानाव्यवच्छेदेन स्वभावमजहत् तिरोहिताऽनेकपरिणामप्रसवशक्तियुक्तं भवनमात्रकृतास्पदं प्रसिद्धमेव ।

द्वितीयं पुनः श्रुतोपदेशनित्यतावदुत्पत्तिप्रलयवत्त्वेऽपि अवस्थानात् पर्वतोदधिवलयाद्यवस्थानवच्च सावधिकम् । एवम्—अनित्यत्वमपि द्विविधं प्रज्ञप्तम्, परिणामाऽनित्यत्वम्—उपरमाऽनित्यत्वञ्च। तत्र—परिणामाऽनित्यत्वं तावत् मृत्पिण्डो विस्रसाप्रयोगाभ्यामनुसमयमवस्थान्तरं पूर्वावस्थाप्रच्यवेन समासादयति,

उपरमाऽनित्यत्वं पुनर्भवोच्छेदवदपास्तगतिचतुष्टयपरिभ्रमक्रियाक्रमपर्यन्तवर्तिपरिप्राप्तावस्थानविशेषरूपं भवति, न तु—अत्यन्ताभाववर्ति । तत्र—परिणामाऽनित्यतया पुद्गलद्रव्यमनित्यं व्यपदिश्यते, तद् भावाव्ययतया च नित्यं व्यवह्रियते, उभयथा व्यवहारदर्शनात् न हि कश्चिद् विरोध आपतति । उभयीमेव तादृशी व्यवस्थामास्थाय निखिलां वास्तवीं बुद्धि किमपि वस्तु आधिनोति ।

केवलं प्रधानोपसर्जनतया कदाचित् किञ्चिद् विवक्ष्यते तस्मात् पुद्गलानित्यत्वाऽनित्यत्वयोरुभयोरपि एकमास्पदं भवन्ति इति न किञ्चित् कस्यचिद् बाध्यते इति भावः ।

नित्यता लोक की है । न उसकी आदि है, न अन्त है । उसके प्रवाह का कभी विच्छेद नहीं होता—वह अपने स्वभाव का कभी परित्याग भी नहीं करता । विविध प्रकार के परिणमनों को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है । यह अनादि—अनन्तनित्यता है ।

दूसरे प्रकार की नित्यता श्रुतोपदेश की है । श्रुत का उपदेश उत्पत्तिमान् और प्रलयवान् है, फिर भी वह अवस्थित रहता है । पर्वत, समुद्र, वलय आदि का अवस्थान भी सावधिनित्यता में परिणमित है ।

इसी प्रकार अनित्यत्व भी दो प्रकार का है—(१) परिणामानित्यत्व और (२) उपरमानित्यत्व । मृत्तिका का पिण्ड स्वभाव से और प्रयत्न से अपनी पूर्व—अवस्था को त्याग कर नवीन अवस्था को प्रतिसमय प्राप्त होता रहता है । इस प्रकार की अनित्यता को परिणामानित्यता कहते हैं ।

उपरमानित्यत्व भवोच्छेद—ससार का अन्त आना है। चारो गतियो में परिभ्रमण का अन्त होने पर पर्यन्तवर्त्ती जो अवस्थान है, वह उपरमानित्यत्व है अत्यन्ताभाववर्त्ती नहीं है ।

इनमें से परिणामानित्यत्व की दृष्टि से पुद्गलदव्य अनित्य कहलाता है और अपने पुद्गलपन का त्याग न करने के कारण नित्य भी माना जाता है । दोनो प्रकार का व्यवहार देखा जाता है अत· कोई विरोध—नहीं आता । प्रत्येक वस्तु में उक्त दोनो ही प्रकार की अर्थात् नित्यता और अनित्यता की व्यवस्था है, और इसी प्रकार की प्रतीति होती है । हाँ कभी अनित्यता को गौण करके नित्यता की प्रधानता से विवक्षा की जाती है और कभी नित्यता की प्रधानता करके अनित्यता को गौण कर दिया जाता है । इस प्रकार पुद्गल में अनित्यता और नित्यता दोनों ही धर्म रहते है । ऐसा मानने में किंचित् भी बाधा नहीं है ।

ते च पुद्गला रूपिणो भवन्ति रूपमस्ति एषामेषु वा—इति रूपिणः, रूपवन्त इत्यर्थः पूरणाद्—गलनाच्च पुद्गलाः परमाणुप्रभृतयोऽनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपर्यवसाना अवगन्तव्याः। त एवाऽनेकरूपपरिणतिसामर्थ्यापादितसूक्ष्म—स्थूलविशेषाऽविशेषप्रकर्षाऽप्रकर्षवर्तिनीमनन्यसाधारणीं रूपवत्तां धारयन्ति, न तु—धर्माधर्मादिद्रव्यविशेषा इति पुद्गलेषु रूपवत्त्वमवधार्यते तथाच—रूपवत्त्वं तावत् न कदाचित् अतिदीर्घकालपरिचितपरमाणुद्व्यणुकादिक्रमवृद्धपुद्गलद्रव्यकलापं जहाति सामर्थ्याच्च पुद्गलद्रव्याण्यपि न रूपवत्तां परित्यज्य कदाचिदपि वर्तन्ते तस्मात्—पुद्गला एव रूपिणो भवन्तीति सम्यगुच्यते।

तत्र—चक्षुर्ग्रहणलक्षणं रूपमस्ति एषां परामणुद्व्यणुकादिक्रमभाजां पुद्गलानामिति रूपिण इति विग्रहेण षष्ठीप्रदर्शनात् भेदविवक्षावशाल्लब्धं द्रव्यगुणयोर्नानात्वमवगन्तव्यम्. अभेदविवक्षावशपरिप्रापितञ्च द्रव्यपर्याययोरैक्यं भवति इत्यभिप्रायेण रूपमस्ति एषु वा इति व्यापकाधिकरणलक्षणं सप्तमीमाश्रित्य विग्रहः क्रियते.।

अथवा—द्रव्यार्थिकनयापेक्षः पर्यायार्थिकनयापेक्षश्च भेदोऽभेदश्च द्रव्यगुणयोरवगन्तव्यः न हि-रूपात्मकमूर्तिव्यतिरेकेण पुद्गलाः समुपलभ्यन्ते भिन्नदेशसम्बन्धित्वेनाऽनुपलब्धेरित्युभयोरभेदः एवँ यद् इदं चन्दनमुपलभ्यते. तस्य श्वेतं रूपं तिक्तो रसः सुरभिर्गन्धः-शीतलः स्पर्शः इति व्यवहारो भेदे एव सम्भवति।

वे पुद्गल रूपी अर्थात् रूप वाले है। पूरण और गलन स्वभाव वाले होने से वे परमाणु से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक जानने चाहिए। पुद्गल अनेक रूप परिणमन के अपने सामर्थ्य के कारण सूक्ष्म, स्थूल, विशेष, अविशेष, प्रकर्ष, अपकर्ष रूप असाधारण रूपवत्ता को धारण करते है। धर्म, अधर्म आदि द्रव्यो में यह बात नहीं है इस कारण पुद्गलो में रूपवत्त्व का अवधारण किया गया है। पुद्गल चाहे परमाणु हो या द्व्यणुकादि रूप में बढ़ कर बड़ा स्कंध बन जाय, मगर रूपवत्त्व पुद्गल का त्याग नहीं करता और पुद्गलद्रव्य कभी रूपवत्ता का परित्याग नहीं करते। अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि पुद्गल रूपी होते है।

चक्षुग्राह्य रूप जिन परमाणु द्व्यणुक आदि पुद्गलो का हो वे रूपी कहलाते है. इस प्रकार का विग्रह करके षष्ठी विभक्ति दिखलाने से यह सूचित किया गया है कि भेद विवक्षा से द्रव्य और गुण में भिन्नता है। अगर दोनो में अभेद की विवक्षा की जाय तो अभेद भी है।इस अभिप्राय से 'रूप जिनमें है वे रूपी' ऐसा सप्तमी विभक्ति को लेकर विग्रह किया गया है।

अथवा द्रव्य और गुण में पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से भेद और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अभेद समझना चाहिए। रूपात्मक मूर्ति से भिन्न पुद्गल कहीं उपलब्ध नहीं होते—दोनो भिन्न भिन्न देशो में नहीं पाये जाते, अतः उनमें अभेद है। इसी प्रकार यह जो व्यवहार होता है कि चन्दन का रूप श्वेत है, रस तिक्त है, गंध सुरभि है, स्पर्श शीतल है, यह भेद होने पर ही संभव है।

तद्यथा—अस्य मुनेरियं मुखवस्त्रिका वर्तते इति मुनिमुखवस्त्रिकयोर्भेदे सत्येव षष्ठीदृश्यते इतिरीत्या द्रव्यगुणयोर्भेदः सिध्यन्ति अथ द्रव्यस्य द्रव्यान्तरात् पार्थक्येनोपलम्यमानतयाऽर्थान्तरत्वेऽपि गुणस्य रूपादेर्द्रव्यात्पार्थक्येनाऽनुपलब्धेः द्रव्यस्य वा रूपादिगुणेभ्यः पार्थक्येनानुपलभ्यमानतया कथं तयोर्भेदसिद्धिरितिचेत् —

उच्यते. यदि द्रव्यगुणयोर्भेदो न स्यात् तदा—भेदे एव षष्ठीविधानेन चन्दनस्य श्वेतं रूपम्, तिक्तो रसः, सुरभिर्गन्धः, इत्येवं रीत्या षष्ठी न स्यात् तयोरभेदे षश्ठचनुपपत्ति. स्यात् तस्मात्तयर्भेदोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः

अथ सेना-वनादिवदनर्थान्तरेऽपि षष्ठीदृश्यते, यथा—सेनायाः कुञ्जरः काननस्य सहकारः इति, कुञ्जरादिसमूहस्यैव सेनापदार्थत्वात् सहकारादिवृक्षसमुदायस्यैव च काननत्वात् इतिचेत् उच्यते सेनाकाननयोः कुञ्जसहकारतोऽनर्थान्तरत्वाभावः तथाहि—अनियतदिग्देशसम्बन्धिषु हस्ति—पुरुप—घोटक—रथेषु वहुत्वसख्याया एव सेना पदार्थता स्यात्, न तु—केवलं कुञ्जरएव सेनापदार्थः इति. ।

एवं सहकाराम्रजम्बूजम्बीरदाडिमादिवृक्षसमुदायस्यैव काननपदार्थता न केवलं सहकारस्य काननपदार्थता स्यात् इति द्वयमपि पदार्थान्तरमिति भावः

'इस मुनि की यह मुखवस्त्रिका है' यहाँ जैसे मुनि और मुखवस्त्रिका का भेद होने पर ही षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, इसी प्रकार द्रव्य और गुण में भी भेद है।

शंका—जैसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न उपलब्ध होता है, उस प्रकार रूप आदि गुण द्रव्य से पृथक् नहीं उपलब्ध होते और न द्रव्य ही रूप आदि गुणो से भिन्न उपलब्ध होता है।

समाधान—यदि द्रव्य और गुण में भेद न होता तो 'चन्दन का श्वेत रूप, तिक्त रस, सुरभिगंध, इस प्रकार षष्ठी विभक्ति न होती। षष्ठी विभक्ति भेद होने पर ही होती है, अभेद में नहीं होती। अतएव द्रव्य और गुण में भेद अवश्य मानना चाहिए।

कदाचित् कहा जाय कि सेना, वन आदि के समान अन्य अर्थों में भी षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, जैसे—सेना का हाथी, कानन का आम । हाथी आदि पदार्थों का समूह ही सेना पद का अर्थ है और आम आदि के वृक्षो का समूह ही वन होता है। इसका उत्तर यह है कि सेना का हाथी और कानन का आम में भेद नहीं है। अनियत दिशाओ और देशों में रहे हुए, हस्ती, पुरुष, घोडा और रथो में, जो सम्बन्ध विशेष से विशिष्ट है, जिनकी सख्या निश्चित-अनिश्चित है, उन सबकी जो बहुत्व सख्या है, वही सेना पद का अर्थ है। अकेला हस्ती ही ऐसा शब्द का वाच्य नहीं है।

इसी प्रकार सहकार, आम, जामुन, जंवरी दाडिम आदि के वृक्षो का समूह ही कानन शब्द का वाच्य है, केवल सहकार ही कानन शब्द का अर्थ नहीं है इस कारण वे दोनो भी भिन्न है।

एवं यूष-पङ्क्त्यादयोऽपि अर्थान्तरतयैव समुन्नेयाः, तथाहि—यूषस्तावत् समुत्पन्नपाकजानां द्रव्याणां कालविशेषानुग्रहे सति द्रव्यान्तरसम्पृक्तानां पाकजोत्पत्तौ संयोगविशेषरूपओदनाद-र्थान्तरभूतो भवति एवं पंक्तिरपि एकदिग्देशसम्बन्धिषु परस्परप्रत्यासत्त्युपकृतेषु निर्धारिताऽनिर्धारिते यताकेषु भिन्नाऽभिन्नजातीयेषु आधारेषु विद्यमाना बहुत्वसङ्ख्यैव व्यपदिश्यते तस्मात्- सापेक्षमिदं द्रव्यार्थिक —पर्यायार्थिकनयद्वयं वस्तुनः सद्भावमापादयति नैकान्तत इति,

अतः पुद्गलेषु विवक्षावशाद् रूपात्मिका मूर्तिर्भेदाऽभेदवर्तिनीति भावः ॥४॥

मूलसूत्रम्—'आइमाणि तिन्नि एगदव्वाणि अकिरियाणि अंतिमाणि अणंताणि' ॥५॥

छाया—आदिमानि त्रीणि एकद्रव्याणि अक्रियाणि अन्तिमाणि अनन्ताणि ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—आदिमाणि—प्रथमानि त्रीणि धर्माऽधर्माऽऽकाशानि एकद्रव्याणि एक-द्रव्यात्मकानि भवन्ति न तु—कालजीवपुद्गलवद् धर्मादीन्यपि त्रीणि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानि बहूनि सन्ति द्रव्यापेक्षया प्रत्येकमेषामेकत्वं भवति क्षेत्रकालभावापेक्षया पुनरसंख्येयत्वमनन्तत्वं बोध्यम्. ।

तानि पुनर्धर्माऽधर्माऽऽकाशानि त्रीणि द्रव्याणि अक्रियाणि—क्रियारहितानि भवन्ति एवञ्च—यथा जीवद्रव्यं नानाजीवापेक्षया भिन्नं वर्तते. एवं—पुद्गलद्रव्यमपि प्रदेशस्कन्धत्वापेक्षया भिन्नं भवति. एवम्—कालद्रव्यं च अद्धासमयाद्यपेक्षया भिन्नं विद्यते,

---

इसी प्रकार यूष और पंक्ति आदि भी अर्थान्तर ही समझना चाहिए। दूसरे दूसरे द्रव्यो के संसर्ग से युक्त, समुत्पन्न पाकज द्रव्यो का कालविशेष का अनुग्रह होने पर पाकज की उत्पत्ति होने पर संयोग विशेष रूप होता है। वह ओदन से भिन्न है। इसी प्रकार पंक्ति भी एक दिशा और देश में स्थित, प्रत्यासत्ति से उपकृत नियत-अनियत सख्या वाले भिन्न अभिन्न जाति वाले आधारो में विद्यमान बहुसख्या ही कहलाती है। इस कारण दोनो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय परस्पर सापेक्ष होकर ही वास्तविकता का प्रतिपादन करते है, एकान्त रूप से नहीं। अतएव तात्पर्य यह है कि विवक्षा के अनुसार रूपात्मिका मूर्ति पुद्गलो में कथंचित्‌भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ॥४॥

मूलसूत्रार्थ—'आइमाणि तिन्नि' इत्यादि सूत्र ॥५॥

आदि के तीन एक-एक द्रव्य हैं और अन्त के तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त है ॥५॥

तत्वार्थदीपिका—पहले के तीन द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य है वे काल, जीव और पुद्गल के समान भिन्न-भिन्न बहुत नहीं हैं द्रव्य की अपेक्षा इनमें से प्रत्येक द्रव्य एक-एक समझना चाहिए. किन्तु क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असंख्यात तथा अनन्त समझना चाहिए।

धर्म, अधर्म और आकाश, यह तीन द्रव्यो क्रियारहित है। इस प्रकार जैसे जीवद्रव्य नाना जीवो की अपेक्षा से भिन्न है, पुद्गल द्रव्य भी प्रदेश और स्कंध की अपेक्षा से भिन्न है, इसी प्रकार कालद्रव्य भी अद्धासमय आदि की अपेक्षा से भिन्न है। उसी प्रकार धर्म

न तथा–धर्मोऽधर्म आकाशश्च द्रव्यं भिन्नं भिन्नं वर्तते इति भावः अन्तिमानि पुनस्त्रीणि द्रव्याणि कालपुद्गलजीवात्मकानि अनन्तानि भवन्तीत्यर्थः ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—अथ यथा किल पुद्गलद्रव्यं परमाणुद्व्यणुकादिभेदेन प्रदेशस्कन्धत्वाद्यपेक्षया अनेकधा भवति एवं कालद्रव्यमपि अद्धासमयावलिकादिभेदेन अनेकधा वर्तते एवम्–जीवद्रव्यमपि नारक–देव–तिर्यङ्मनुष्यादिभेदेन अनेकधा भवति तथैव धर्मादिद्रव्याण्यपि किमनेकानि भवन्ति–इत्याशङ्कायामाह—**"आइमाणि तिन्नि एगदव्वाणि अकिरियाणि' अंतिमाणि–अणंताणि**–इति आदिमानि त्रीणि धर्माऽधर्माऽऽकाशद्रव्याणि एकद्रव्याण्येव भवन्ति, न त्वेषां समानजातीयानि द्रव्यान्तराणि भवन्ति, अविलक्षणोपकारवत्वात् धर्माधर्माकाशानां गति–स्थित्यवगाहोत्पत्त्या प्रभावित उपकारो भवति, सकृत्सकलगतिपरिमाणाना सान्निध्याधानादधर्म इत्युच्यते।

"एवं सकृत्सकलस्थितिपरिणामसान्निध्याधानात् अधर्म इति व्यपदिश्यते आकाशन्तेऽस्मिन्द्रव्याणि स्वयं वाऽऽकाशते इत्याकाशम् इति व्युत्पत्त्या धर्मादीनां द्रव्याणां गति–स्थित्यवग्राहदानरूपा उपकारा भवन्ति गत्यादित्रययुक्तं वस्तु अर्थक्रियासमर्थं भवतीत्यनेकान्तवादिभिरभ्यु-

---

अधर्म और आकाश द्रव्य भिन्न भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि अन्त के तीन द्रव्य–काल, पुद्गल और जीव अनन्त है ।।५॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—जैसे पुद्गल द्रव्य परमाणु द्व्यणुक आदि के भेद से, प्रदेश और स्कंध आदि की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है, काल द्रव्य भी अद्धासमय आवलिका आदि के भेद से अनेक प्रकार का है और जैसे जीवद्रव्य नारक, देव, तिर्यंच और मनुष्य आदि के भेद से अनेक प्रकार का है उसी प्रकार क्या धर्म आदि द्रव्य भी अनेक हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते है—

आदि के तीन द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य ही हैं इनके समान जातीय दूसरे द्रव्य नहीं है। अर्थात् जैसे एक जीव से दूसरे जीव का पृथक् अस्तित्व है और एक जीव अपने आपमें परिपूर्ण द्रव्य है, वैसे धर्म द्रव्य पृथक् पृथक् नहीं है, वह असंख्यात प्रदेशो का एक ही समूह है जो अखण्ड रूप से सम्पूर्ण लोकाकाश व्याप्त है। अधर्म द्रव्य भी ऐसा ही एक अखण्ड द्रव्य है। आकाश भी व्यक्तिशः पृथक् नहीं है वह अनन्तानन्त प्रदेशों का एक ही अखण्ड पिण्ड है ।

धर्म, अधर्म और आकाश का क्रमशः स्थिति और अवगाह रूप उपकार है। समस्त गति परिणत जीवों और पुद्गलो की गति में सहायक होने वाला धर्मद्रव्य है। इसी प्रकार स्थितिपरिणत सब की स्थिति में सहायता करनेवाला अधर्मद्रव्य है। जिसमें सब द्रव्य प्रकाशित होते हैं या जो स्वयं प्रकाशित होता है, वह आकाश कहलाता है। इस प्रकार की व्युत्पति

पगम्यते प्रकृतसूत्रे एकशब्दस्याऽसहायार्थकस्याग्रहणेन यथा परमाणुपुद्गलद्रव्यं परमाण्वन्तरेण सद्वितीयं भवति ।

आत्माच—ज्ञानसुखदुःखजीवनादिभेदभाजा—आत्मान्तरेण सद्वितीयो भवति कालश्चाद्धा समयावलिकादिभेदशालिना कालान्तरेण सद्वितीयो भवति,

न तथा धर्मद्रव्यं धर्मद्रव्यान्तरेण ससहायं भवति न वा—अधर्मद्रव्यम् अधर्मद्रव्यान्तरेण ससहायं भवति नापि--आकाशः आकाशान्तरेण ससहायो भवति तथाच—एक द्रव्याण्येण धर्मादीनि त्रीणि द्रव्याणि भवन्ति नाऽनेकद्रव्याणि ।

तेषां त्रयाणां तुल्यजातीयद्रव्याभावात् कालपुद्गलजीवद्रव्याणि पुनरनेकद्रव्याणि भवन्ति, तत्र कालद्रव्यम् अद्धासमयावलिका निमेषक्षणलवादिरूपेणाऽनेकद्रव्यं भवति एवं पुद्गलद्रव्यञ्च-- परमाणुप्रभृति अनन्ताणुकस्कन्धावसानं बहुद्रव्यं भवति जीवद्रव्यञ्च—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति-द्वि-त्रि चतुष्पञ्चेन्द्रियात्मभेदेन नानाद्रव्यरूप भवति ।

एवं धर्मादीनि—आकाशान्तानि त्रीणि द्रव्याणि अक्रियाणि— निष्क्रियाणि क्रियारहितानि भवन्ति । तथाहि क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यमभ्यन्तरनिमित्तम् प्रेरणादिकं बाह्यनिमित्तं भवति, एतदुभयनिमित्तवशादुपजायमान· पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियोच्यते । सा च क्रिया

के अनुसार धर्म आदि द्रव्यो के गति, स्थिति और अवगाहयान उपकार है गति आदि तीनो से युक्त वस्तु अर्थक्रिया करने मे समर्थ होती है, ऐसा अनेकान्तवादी स्वीकार करते है ।

प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द असहायक अर्थ मे ग्रहण किया गया है । अतएव जैसे परमाणु रूप पुद्गलद्रव्य दूसरे परमाणु से सद्वितीय है अर्थात् एक परमाणु दूसरे पमाणु से भिन्न स्वतंत्र असंपृक्त अस्तित्त्व रखता है, और जैसे एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न अस्तित्व वाला है और उन सबके चैतन्य, सुख, दुःख आदि गुण पर्याय भिन्न-भिन्न हैं और जैसे कालद्रव्य का कालान्तर से भेद है, वैसा भेद धर्म आदि द्रव्यो में नहीं है । एक धर्मद्रव्य से भिन्न दूसरे धर्मद्रव्य की पृथक् सत्ता नहीं है अधर्मद्रव्य भी परस्पर भिन्न दो या बहुत नहीं है । आकाश भी व्यक्तिशः अनेक नहीं है । इस कारण धर्म आदि तीन द्रव्यो को एक-एक कहा गया है ।

कालपुद्गल और जीव अनेक द्रव्य है कालद्रव्य समय आवलिका, निमेष, क्षण लव आदि रूप से अनेक द्रव्य है पुद्गल भी अनेक द्रव्य है, क्योकि परमाणुओ तथा द्व्यणुको से लेकर अनन्तानन्ताणुक स्कंधो की सत्ता स्वतंत्र है । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय आदि जीवो की अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता है ।

इसी प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य अक्रिय अर्थात गमन रूप क्रिया से रहित है । क्रियारूप परिणमन से युक्त द्रव्य आभ्यन्तर कारण है और प्रेरणा आदि बाह्य कारण है । इन दोनो कारणों से द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति (एक स्थान से दूसरे स्थान मे पहुँचाना) रूप पर्याय क्रिया कहलाती है । यह क्रिया धर्म आदि तीन द्रव्यो मे नहीं हो सकती ।

न धर्मादित्रयाणां द्रव्याणां सम्भवति तानि खलु धर्माधर्माकाशानि अनासादिताऽतिशयान्येव सदा पूर्वापरावस्थाभेदमनाजिहानान्येव संलक्ष्यन्ते ।

एवञ्च—पुद्गलजीववर्त्तिन्या देशान्तरप्राप्तिलक्षणा या विशेषक्रियाया एव धर्मादित्रिकेषु प्रतिषेध' क्रियते, न तूत्पादव्ययध्रौव्यधर्मात्मव्यवस्थानातिक्रामति इति धर्मादयोऽपि यदि सत्तां नोल्लङ्घयन्ति, तदा—जीवादीनामिव उत्पादविगमलक्षणया क्रियया भवितव्यमेषामपि । अतएव—द्रव्यत्वान्मुक्तात्मवदुत्पादव्ययस्थितिमत्वमनुमियतेऽनुमातारः ।

एवञ्च—आकाशस्यावगाहः स्वलक्षणमुपकारः स चावगाढारं जीवादिकं विना नाभिव्यज्यते इत्यवगाढजीवादिसयोगमात्रमवगाहः । सयोगश्चो-त्पादशालिनी सयुज्यमानवस्तुजन्यत्वाद् द्व्यङ्गुलसंयोगवत् यथैवावगाहआकाशस्य, तथैव गतिस्थित्युपकारावपि धर्माधर्मयोर्गतिमदादिद्रव्यसयोगमात्रत्वादुत्पादादिस्वभावौ वर्तेते इत्यादिप्रश्नः समाहितो भवति । जीवादिगतदेशान्तरप्राप्तिलक्षणविशेपक्रियाया एव धर्मादित्रिके निषेधेन उत्पादादिसामान्यक्रियायास्तत्र सत्वेऽपि दोषाभावादिति प्रकृतसूत्राशयः ।

अथ धर्मादीनि त्रिणि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि भवन्ति, तदा—तेषामुत्पादो न संघटते, घटादीनां क्रियापूर्वकस्यैवोत्पादस्य दृष्टत्वात् उत्पादाभावे च व्ययोऽपि न स्यात् तथाच—सर्वद्रव्या-

---

इस प्रकार पुद्गल और जीव में होने वाली देशान्तरप्राप्ति रूप जो विशेष क्रिया है, उसी का धर्म आदि तीन द्रव्यो मे निषेध किया गया है । ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि इनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप क्रिया भी नहीं है । जब इनमें सत्ता है तो उत्पाद और व्यय का होना भी अनिवार्य है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के विना कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती । अतएव द्रव्य होने के कारण जैसे मुक्तात्माओ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना जाता है, उसी प्रकार धर्म आदि द्रव्यो में भी माना जाता है ।

इस प्रकार अवगाह देना आकाश का लक्षण है और वही उसका उपकार है । वह उपकार अवगाह्य जीव आदि के बिना अभिव्यक्त नहीं होता, अत' अवगाढ जीवादि का संयोग मात्र ही अवगाह है । सयोग. उत्पन्न होने वाली दो वस्तुओ में होता है, जैसे दो अंगुलो का सयोग । इस प्रकार जैसे अवगाह देना आकाश का उपकार है, वैसे ही धर्म और अधर्म का उपकार गति और स्थिति में सहायक होना है । वह भी गतिमान् और स्थितिमान् द्रव्यो का सयोगमात्र ही है । इस कारण धर्म और अधर्म द्रव्य भी उत्पाद, व्यय आदि स्वभाव वाले है । इत्यादि प्रश्न का समाधान हो जाता है ।

इस सूत्र का आशय यह है कि जैसे जीव और पुद्गल में एक जगह से दूसरि जगह जाने की विशेष क्रिया होती है. वैसी क्रिया धर्म आदि तीन द्रव्यो में नहीं होती है । किन्तु उत्पाद आदि सामान्य क्रिया उनमे मानने में कोई भी दोप नहीं है ।

शंका—यदि धर्म आदि तीन द्रव्य निष्क्रिय है तो उनमें उत्पाद नहीं घटित होता, क्योंकि

णामुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयकल्पनाव्याघातो भवेदिति चेत्? अत्रोच्यते—धर्मादिद्रव्यत्रयाणां क्रियानिमित्तोत्पादाभावे तदन्यरीत्यैवोत्पादः कल्प्यते ।

तथाहि—उत्पादो द्विविधः प्रज्ञप्तः, स्वनिमित्तः—परनिमित्तश्च । तत्र—स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रमाण्यादभ्युपगम्यमानाना षड्स्थानपतितया वृद्ध्या-हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेवैतेषामुत्पादो व्ययश्च भवत ।

एवं परनिमित्तोऽप्युत्पादः, अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् प्रतिक्षणं तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो व्ययश्च व्यपदिश्यते ।

अथापि धर्मादिद्रव्यत्रयाणां निष्क्रियत्वे सति जीवपुद्गलानां गतिस्थित्यादिहेतुत्वदर्शनात् इति चेन्नैवम् धर्मादीना चक्षुर्वत् बलाधाननिमित्तत्वान्न दोषो भवति, एतावता धर्मादीनि त्रिणि द्रव्याणि गतिस्थित्यवगाहपरिणतानां जीवपुद्गलानां बलाधानं कुर्वन्ति, न तु स्वयमेव प्रेरयन्ति, इति फलितम् ।

घट आदि में जो उत्पाद देखा जाता है, वह क्रियापूर्वक ही होता है । उत्पाद के अभाव में व्यय भी नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है, यह मान्यता खंडित हो जाती है ।

समाधान—धर्म आदि तीन द्रव्यों में घट के समान क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं होता । वहाँ दूसरी रीति से ही उत्पाद की कल्पना की गई है ।

उत्पाद दो प्रकार का है—स्वनिमित्तक और परनिमित्तक । अनन्त अगुरुलघु गुणों का, जो आगम की प्रमाणता के आधार पर विचार किये जाते है और जो षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि से प्रवृत्त होते है, स्वभाव से ही उत्पाद और व्यय होता है । इसे स्वनिमित्तक उत्पाद कहते है । अश्व आदि की गति स्थिति और अवगाहन में कारण होने से धर्मादि द्रव्यों में क्षण—क्षण में भेद होता रहता है । अर्थात् धर्म द्रव्य कभी अश्व की, कभी मनुष्य की और कभी किसी पुद्गल की गति में सहायक होता है । इसी प्रकार अधर्मद्रव्य उनकी स्थिति में सहायक होता है । जब एक जगह से घट हटा कर दूसरी जगह रख दिया जाता तो पहले के आकाशप्रदेशो से उसका विभाग और दूसरी जगह के आकाशप्रदेशो के साथ सयोग होता है । यह सयोग-विभाग की उत्पत्ति एवं विनाश ही आकाश का उत्पाद-विनाश है । यह परनिमित्तक उत्पाद—विनाश कहलाता है ।

धर्मादि द्रव्य यदि निष्क्रिय है तो वे जीवो और पुद्गलो की गति आदि में कारण कैसे हो सकते है? यह कहना ठीक नहीं; धर्मादि द्रव्य नेत्र के समान केवल सहायक ही होने हैं, अतएव यह दोष नहीं है । तात्पर्य यह है कि धर्म द्रव्य स्वयं गति में परिणत जीव-पुद्गलों की गति मे, अधर्मद्रव्य स्वयं स्थिति मे परिणत जीव-पुद्गलो की स्थिति में और आकाश स्वयं आकाशरूप परिणत अन्य द्रव्यो की अवगाहन मे सहायक होते है । गति आदि की प्रेरणा करना उनका स्वभाव नहीं है ।

तथाहि—यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्तं सदपि न व्याक्षिप्तमनस्कस्य भवति, एवं प्रकृतानां धर्माऽधर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगते सति जीवपुद्गलानां सक्रियत्वेन तेषां सक्रियत्वमर्थादापन्नं भवति। एवं सति–कालस्यापि सक्रियत्वमर्थादापद्यते, तस्याऽनधिकृतत्वात्। अत एवाऽसौ एतैः सह नाऽधिक्रियते इति भावः।

उक्तञ्च—"उप्पण्णेति वा, विगमेति वा, धुवेति वा" इति। उत्पन्न इति वा, विगम इति वा, ध्रुव इति वा, इति। एवमन्यत्राऽप्युक्तम्—

"अवगाहादओ नणु गुणत्तओचेव पत्तधम्मव्व–।
उप्पादादिसभावा, तह जीवगुणावि को दोसो– ॥१॥
अवगाढा रं च विणा, कत्तोऽवगाहोत्ति तेण संजोगो।
उप्पत्तीसोऽवस्सं गच्चुवकारादओ चेवं– ॥२॥
णयपज्जयतो भिन्नं दव्वमिहेगं ततो जतो तेण।
तण्णासम्मि कहं वा नभादओ सव्वहा णिच्चा ॥३॥
[गाथा–२८२१–२८२३]

छाया—अवगाहादयो ननु गुणत्वतश्चैव पत्र धर्मइव–।
उत्पादादिस्वभावा स्तथा जीवगुणा अपि को दोषः ॥१॥
अवगाढारं च विना कुतोऽवगाह इति तेन सयोगः।
उत्पत्तिःसाऽवश्य गत्युपकारादयश्चैवम्– ॥२॥
न च पर्यायतो भिन्नं द्रव्यमिहैकान्ततो यतस्तेन–।
तन्नाशे कथं वा नभ आदयः सर्वथा नित्याः ॥३॥ —३ इति ॥५॥

जैसे रूप की उपलब्धि में चक्षु निमित्त होती है, फिर भी विक्षिप्तचित्त वाले के लिए वह निमित्त नहीं होती, इसी प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश को क्रियाहीन मानने पर भी, जीवो और पुद्गलो के सक्रिय होने से उनमें भी सक्रियता की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार काल भी सक्रिय सिद्ध होता है। इन द्रव्यो के साथ का प्रकरण नहीं है।

आगम में कहा है–प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट भी होती है और ध्रुव भी रहती है। अन्यत्र भी कहा है–

जैसे अवगाह आदि गुण होने के कारण उत्पाद–व्ययध्रौव्य स्वभाव वाले है, उसी प्रकार जीव के गुण भी यदि उत्पाद आदि स्वभाव वाले है तो क्या दोष है? ॥१॥

अवगाहक के विना अवगाहन कैसे हो सकता है? गति आदि उपकार भी इसी प्रकार के है ॥२॥

द्रव्य, पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं है अर्थात् कथंचित् अभिन्न है। ऐसी स्थिति में पर्याय का नाश होने पर आकाश आदि द्रव्यों को सर्वथा नित्य कैसे माना जासकता है? ॥३॥५॥

मूलसूत्रम्— "धम्माधम्मलोगागासैगजीवाणमसंखेज्जा पएसा-" ॥६॥

छाया—"धर्माऽधर्मलोकाकाशैकजीवानामसंख्येया प्रदेशाः-" ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धर्मादिद्रव्याणां प्ररूपितत्वात्। सम्प्रति अधिकृतधर्मादिद्रव्याणां सर्वेषामेव क्रमशः प्रदेशावयवे यत्तामाविष्कर्तुमाह-"धम्माधम्मे" त्यादि। **धर्मस्या-ऽधर्मस्य लोका**काशस्य एकजीवस्य चाऽसंख्येयाः प्रदेशाः प्रत्येकं भवन्तीत्यर्थः ॥६॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—परमाणुं विहाय सर्वेषां द्रव्याणां मूर्तानाममूर्तानाञ्च प्रदेशा भवन्ति। अवयवास्तु-स्कन्धानामेव भवन्ति। संव्यवहारार्थं प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः, प्रकृष्टो वा देशः प्रदेशः, अवयूयमानाः प्रथक्क्रियमाणाः सम्बध्यमाना वा अवयवाः।

तथाचा-ऽमूर्तेषु धर्माधर्माकाशकालजीवेषु अवयवव्यवहारो न भवति, एवं मूर्तेष्वपि अन्त्यभेदावस्थेषु परमाणुषु अवयवव्यवहारो न जायते, मूर्तेष्वेव परमाणुभिन्नपुद्गलेषु अवयव-व्यवहारो भवति। प्रदेशव्यवहारस्तु-परमाणुं विहाय सर्वेष्वेव द्रव्येषु भवति।

तत्र-धर्माधर्माकाशकालजीवानां द्रव्यपरमाणू मूर्त्ति व्यवच्छिन्नाः प्रदेशा भवन्ति। पुद्गलद्रव्यस्य तु निरंशो द्रव्यात्मना भागः प्रदेश इत्युच्यते, न तु-तस्य कश्चिदन्यः प्रदेशोऽस्ति, तथाच—ये न कदाचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशा उच्यन्ते, ये पुनर्विशकलिताः सन्त

मूलसूत्रार्थ 'धम्माधम्मलोगागास' इत्यादि—सूत्र-॥६॥

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असख्यात-असंख्यात प्रदेश होते है ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले धर्म आदि द्रव्यो का प्ररूपण किया गया है, अब उनके प्रदेशो की संख्या बतलाने के लिए कहते है—

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव में से, प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश होते है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—परमाणु को छोड कर शेष सब मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यो के प्रदेश होते है। अवयव स्कंधो में ही होते है। व्यवहार के लिए जो कल्पित किये जाते हैं, वे प्रदेश है। अथवा प्रकृष्ट देश को अर्थात् किसी स्कंध के सबसे छोटे अवयव को. जिस से छोटा कोई अवयव न हो सके, प्रदेश कहते हैं। जो पृथक् किये जा सके या सम्बद्ध होते हो, वे अवयव कहलाते है। इस कारण अमूर्त्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्य में अवयवों का व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार अन्य परमाणुओ में भी अवयवों का व्यवहार नहीं होता है। परमाणु के सिवाय मूर्त्त पुद्गलो में ही अवयव का व्यवहार होता है।

प्रदेशो का व्यवहार परमाणु को छोड़कर सभी द्रव्यों में होता है।

तात्पर्य यह होता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्यों के परमाणु-मूर्ति व्यवच्छिन्न प्रदेश होते है। पुद्गल द्रव्य का निरंश द्रव्यरूप भाग प्रदेश कहलाता है, उसका कोई अन्य प्रदेश नहीं होता है। अत जो कभी भी वस्तु से भिन्न उपलब्ध नहीं होते, वे प्रदेश कहलाते है और जो अलहदा होकर पृथक् प्रतीत होते है, उन्हे अवयव

1रिकलितमूर्तयो बुद्धिपथमारोहन्ति तेऽवयवा उच्यन्ते तत्वतो हि स्पष्टोपलभ्याः स्नेहादिकृतसंयोग-वियोगभाज' अंशा अवयवाः ते भवन्ति यैः द्रव्यमन्यत् क्रियते ते स्कन्धेष्वेव भवन्तीति भावः।

विस्रसाप्रयोगाभ्याम् अवयूयन्ते पृथक् क्रियन्ते इत्यवयवाः, ते च द्व्यणुकादिक्रमवतामेवाऽनतिक्रान्तरूपादिभेदानां स्कन्धानामेव भवन्ति। न तु धर्माधर्माकाशकालजीवपरमाणूनामिति। वियुतानामवयवानां संहतिपरिणामे स्कन्धा उत्पद्यन्ते, संहतानां च भेदपरिणामे द्व्यणुकादयः सम्पद्यन्ते, परमाणवः पुनर्भेदादेव स्वयमवयूयमाना अवयवा भवन्ति। तस्मात्—पुद्गलद्रव्यविषयक एवाऽवयवव्यवहारोऽवगन्तव्यः।

तथाच—षट्त्वसंख्यावच्छिन्नेषु धर्मादिद्रव्येषु धर्मस्य—अधर्मस्य—जीवाजीवाधारक्षेत्ररूप-लोकाकाशस्य—एकजीवस्य चाऽसंख्येयाः प्रदेशा भवन्ति। तत्र- प्रदेशस्तावत् प्रकृष्टो देशः प्रदेशः परमनिरुद्धो निरवयवः स्वसिद्धोऽपि सर्वज्ञैः प्रत्यक्षतयोपलभ्यमानोऽपि अर्वाग्दर्शनैरस्मदादिभि' अनेनाऽभ्युपायेन प्रज्ञाप्यमानः सर्वेषां धर्माधर्माकाशकालजीवानां प्रज्ञाप्यमानत्वे सत्यपि सूक्ष्म एव, न तु—स्थूलो वर्तते।

द्रव्यपरमाणुपरिग्रहेण प्रदेशपरिमाणस्यावगतिः कर्तव्या—। एवञ्च—तन्मूर्तिमात्राक्रान्तो देशः प्रदेशोऽवगाहरूपो बोध्य' अथाऽवगाहलक्षण' प्रदेश. आकाशस्यैव, न तु—धर्मादीनाम्, यतोऽवगाहस्याऽऽकाशलक्षणत्वात्—[१] इति चेत्—का नु हानिः।

कहा जाता है। वास्तव में स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले तथा स्निग्धता आदि के कारण संयोग और विभाग वाले वे अंश अवयव है जिसके द्वारा द्रव्य भिन्न किया जाता है। वे स्कन्धों में ही होते है।

स्वभाव से अथवा प्रयोग से जो पृथक् किये जाते हैं वे अवयव कहलाते है। वे अवयव द्व्यणुकादि से लेकर अन्य जो रूपी स्कंध है उन्हीं मे होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश काल जीव और परमाणु में नहीं होते। अलग-अलग अवयवो का जब संघात (पिण्ड) रूप परिणमन होता है, तब स्कन्ध उत्पन्न होते हैं और जो सहत (इकट्ठे) हैं उनका भेद होने पर द्व्यणुक आदि की उत्पत्ति होती है। मगर परमाणु भेद होने पर ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अवयवो का व्यवहार पुद्गल द्रव्य के विषय में ही होता है।

इस प्रकार छह द्रव्यो में से धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते है। प्रकृष्टदेश अर्थात जो सबसे सूक्ष्म हो, निरवयव हो और स्कंध के साथ मिला हो वह प्रदेश कहलाता है। सर्वज्ञ भगवान् उसे साक्षात् देखते-जानते हैं, मगर हम अल्पज्ञ उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते केवल इस प्रकार के उपाय से उसकी प्ररूपणा करते है।

द्रव्य परमाणु को लेकर प्रदेश के परिमाण को समझ लेना चाहिए। एक परमाणु से आक्रान्त देश अवगाह रूप प्रदेश है। कहा जा सकता है कि अवगाह रूप प्रदेश आकाश का ही होता है, धर्म आदि का नहीं, क्योकि अवगाहना आकाश का लक्षण है। किन्तु इससे

अवगाहरूपे प्रदेशलक्षणे ज्ञाते सति लोकाऽऽकाशे यत्राकाशप्रदेशो यावान् वर्तते तत्रैव यो धर्मास्तिकायप्रदेशोऽवगाढः स च—तावानेवेति। एवमधर्मादिप्रदेशोऽपि तत्र वक्तव्यः, तत्राकाशमवकाशदाने व्यापृतं भवति। परिणामे धर्मद्रव्यम् उपकारकं भवति। स्थितिपरिणामे चाऽधर्मद्रव्यमुपकारकं भवति। इति रीत्या सर्वप्रदेशानामिदमव्याहितं लक्षणं बोध्यम्।

अत्र प्रतिजीवमसंख्येयप्रदेशत्वख्यापनाय एकपदोपादानं कृतम्। अन्यथा-केवलजीवपदोपादाने ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावस्य जीवसमूहस्यैवाऽसंख्येयप्रदेशत्वं स्यात् न तु—प्रत्येकजीवस्य, साङ्कर्यापत्तेः। एकपदोपादाने तु प्रत्येकजीवस्याऽसंख्येयप्रदेशत्वं लभ्यते। तथाच—प्रत्येकं सर्वेषां जीवानामसंख्येयप्रदेशत्वे तुल्येऽपि चर्मादिवत् संकोच—विकासस्वभावा जीवप्रदेशा वर्तन्ते तेन—सङ्कोचविकासस्वाभाव्यात् कदाचित् त एव जीवप्रदेशाः परमनिकृष्टकुन्थुशरीरग्राहिणो भूत्वाऽपि कदाचित्—विकासिततया तामेव संख्यामपरित्यजन्तोऽतिविशालहस्तिशरीरग्राहिणो भवन्ति।

एवं जीवाजीवाधारक्षेत्रभूतलोकाकाशस्याऽपि असंख्येया एव प्रदेशा भवन्ति न तु—संख्येयाः, नाऽप्यनन्ताः। सर्वाकाशरूपस्य लोकालोकाकाशस्य तु—अनन्ताः प्रदेशाः सन्ति, न तु—असंख्येया, नाऽपि—संख्येयाः प्रदेशाः, इत्यग्रिमसूत्रेणाऽभिधास्यते।

हमारी कोई हानि नहीं है अवगाहरूप प्रदेश का लक्षण जान लेने पर यह भी जाना जा सकता है कि लोकाकाश में आकाश के एक प्रदेश में जितना धर्मास्तिकाय का प्रदेश अवगाढ है, वह उतना ही है। अर्थात् लोकाकाश के एक प्रदेश सूक्ष्मतम अंश में धर्मास्तिकाय का जो सूक्ष्मतम अंश व्याप्त है, वही धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश कहलाता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेश के सबंध में भी जानना चाहिए।

आकाश अवकाश देने में काम आता है, धर्मद्रव्य गति में उपकारक होता है अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होता है। इस प्रकार सभी प्रदेशो का यह अव्याहत लक्षण समझ लेना चाहिए।

प्रत्येक जीव के असख्यात-असंख्यात प्रदेश होते है, इस तथ्य को प्रगट करने के लिए सूत्र में 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है। सिर्फ जीव पद का ही प्रयोग किया गया होता तो ज्ञान-दर्शन-उपयोग स्वभाव वाले जीवसमूह के अर्थात् सब जीवो के मिलकर असख्यात प्रदेश समझ लिए जाते, एक जीव के नहीं। इस प्रकार संकरता हो जाती। 'एक' पद का प्रयोग करने से एक-एक जीव के असंख्यात प्रदेशो का बोध होता है।

इस प्रकार प्रत्येक जीव के असख्यात प्रदेश तुल्य है तथापि चर्म (चमड़े) आदि के समान वे सकोच और विस्तार स्वभाव वाले होने के कारण वही जीवप्रदेश कदाचित सबमे छोटे कुंथु आदि के शरीर में समा जाते है और कदाचित् फैलकर, संख्या मे उतने के उतने रहते हुए भी विशाल हस्ति शरीर को व्याप्त कर लेते है।

अत्रेदं बोध्यम्—संख्यामतीता असंख्येया उच्यन्ते, असंख्येयश्च—त्रिविधः प्रज्ञप्तः। जघन्यः उत्कृष्टः, अजघन्योत्कृष्टश्च, तत्र—जघन्योत्कृष्टोऽसंख्येयः प्रकृतसूत्रे गृह्यते, प्रदेशश्च—प्रदिश्यते इति व्युत्पत्या परमाणुर्यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स उच्यते, धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवास्तुल्या संख्येयप्रदेशा भवन्ति। उक्तञ्च स्थानाङ्गे ४ स्थाने ३ उद्देशे ३३४ सूत्रे -**"चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला असंखेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे—"** इति।

छाया—चत्वारः प्रदेशकेन तुल्या असख्येयाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः लोकाकाशः, एकजीव इति।

तत्र—धर्माधर्मौ तावत् निष्क्रियौ लोकाकाश व्याप्य स्थितवन्तौ, जीवस्तावत्—प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशोऽपि सङ्कोचविकासस्वभावत्वात् कर्मनिष्पादितं शरीरमणुमहद्वाऽधितिष्ठन् तावदवगाह्य वर्तते। यदा—पुनर्लोकपूरणं भवति। तत्र चतुर्भिः समयैर्लोकपूरणं करोति, चतुर्भिः समयैः संहरन्ति, एवं रीत्या लोकपूरणेऽष्टौ समया लगन्ति ॥६॥

मूलसूत्रम्—"अलोगागासजीवाणमणंता—" ॥ ७ ॥

छाया—"अलोकाकाशजीवानामनन्ताः—" ॥ ७ ॥

इसी प्रकार जीवो और अजीवो के आधार क्षेत्र रूप लोकाकाश के भी असंख्यात ही प्रदेश होते है, न सख्यात होते है न अनन्त होते है। मगर सम्पूर्ण लोक आलोक रूप आकाश के अनन्त प्रदेश होते है, न सख्यात और न असंख्यात प्रदेश होते है यह बात अगले सूत्र मे कहेगे।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए—जो संख्या से अतीत—बाहर हो वे असंख्येय कहलाते हैं असंख्यात के तीन भेद हैं—(१) जघन्य (२) उत्कृष्ट और (३) अजघन्योत्कृष्ट याने मध्य में। इस सूत्र में जघन्योत्कृष्ट असख्यात ग्रहण किया है।

जितने क्षेत्र को परमाणु घेरता है, उतना क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश कहलाता है। धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असंख्यात प्रदेश बराबर-बराबर हैं। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के तीसरे उद्देशक के ३३४ वे सूत्र में कहा है—प्रदेशो के परिमाण की अपेक्षा से चार द्रव्य समान हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोककाश और एक जीव।

इनमें से धर्म और अधर्म द्रव्य क्रिया रहित है और सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके स्थित है। प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशी होता हुआ भी संकोच—विस्तार स्वभाव होने के कारण नामकर्म के द्वारा निष्पन्न छोटे या मोटे शरीर में रहता हुआ उसी को अवगाहन करके रहता है। केवलिसमुद्घात के समय चार समयो में अर्थात् चौथे समय में सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लेता है और फिर चार समयों में फैले हुए प्रदेशों को सिकोड़ लेता है। इस प्रकार केवलिसमुद्घात में आठ समय लगते है ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका —अलोकाकाशस्य-लोकालोकाकाशरूपस्य, जीवाजीवाधारक्षेत्रभूतलोकाकाशस्य, ततः परस्याऽलोकाकाशस्य, सर्वाकाशस्येत्यर्थः। जीवानाञ्च-ज्ञान-दर्शनोपयोगस्वभावलक्षण-सकलनारकदेवतिर्यङ्मनुष्यजीवानाम् अनन्ताः अविद्यमानोऽन्तो येषां तेऽनन्ताः अपर्यवसानाः प्रदेशा भवन्ति, नात्वसंख्येयाः—नापि—सख्येया इत्यर्थः असमन्ताल्लोके—ऽलोके च काशते इत्याकाशः ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानामसंख्येयप्रदेशत्वमुक्तम् सम्प्रति—सर्वाकाशस्य सर्वजीवानां चाऽनन्तदेशत्वं प्ररूपयितुमाह—"**अलोगागासजीवाणमणंता**—" इति.। अलोकाकाशस्या—ऽलोकइत्युपलक्षणम् लोकालोकाकाशस्य—अविशिष्टाकाशस्य, सामान्याकाशरूपस्य—सर्वाकशस्येत्यर्थः जीवानां च—नारकादिसमस्तजीवसमूहानामनन्ताः प्रदेशाः सन्ति ।

अथावगाहदानमाकाशस्योपकारः इति रीत्याऽवगाहदानादेवाकाशो भवतीति लोकाकाशेतादृशाकाशत्वसत्वेऽपि अलोकाकाशे नेदमाकाशत्वं संघटते अलोकाकाशे कस्यापि जीवपुद्गलादेरवगाढत्वाभावेनाऽवगाहासम्भवात् इति चेन्मैवम् । धर्मादिसंज्ञावत् "आकाशः—"इत्यपि—अनादिकालीना द्रव्यान्तरस्य सञ्ज्ञैवाऽवसेया. ।

मूलसूत्रार्थ— 'अलोगागासजीवाणमणंता ॥सूत्र ७॥

अलोकाकाश और जीवो के अनन्त प्रदेश होते है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीव और अजीव का आधार क्षेत्र लोकाकाश कहलाता है । लोकाकाश से आगे सब ओर जो शून्य आकाश है वह अलोकाकाश कहलाता है । यहाँ सम्पूर्ण आकाश से अभिप्राय है । अर्थात् सम्पूर्ण आकाश के और जीवो के अर्थात् ज्ञान दर्शन रूप उपयोग वाले सकल नारको, देवो, तिर्यंचो और मनुष्यो के अनन्त जिनका अन्त नहीं है,-प्रदेश होते है । अर्थात् उनके न सख्यात प्रदेश होते हैं और न असंख्यात ही होते है ।

जो लोक और अलोक में पूरी तरह प्रकाशमान होता है, आकाश कहलाता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असंख्यात प्रदेश कहे है । अब समस्त आकाश के और समस्त जीवो के अनन्त प्रदेशों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—अलोक शब्द यहाँ उपलक्षण है अतः उसका तात्पर्य है समस्त आकाश जिसमें लोक और अलोक—दोनो का समावेश हो जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण आकाश के तथा नारक आदि समस्त जीवसमूह के अनन्त प्रदेश होते है ।

शंका—अवगाह देना आकाश का उपकार है; इसका फलितार्थ यह है कि अवगाह देने के कारण ही वह आकाश कहलाता है यह आकाश का लक्षण लोकाकाश में ही पाया जाता है, अलोकाकाश मे नहीं । क्योंकि अलोकाकाश मे कोई जीव या पुदगलादि अवगाढ नहीं है अतएव वहाँ अवगाह होना असभव है ।

समाधान—जैसे धर्म आदि संज्ञामात्र है उसी प्रकार 'आकाश' भी एक द्रव्य की अनादि काल से चली आई सज्ञा मात्र ही है ।

अथवा–ऽलोकाकाशेऽपि अवगाहदानशक्तिरस्त्येव, किन्तु–तत्र जीवपुद्गलाद्यवगाहकाभावात् सा शक्तिर्नाऽभिव्यज्यते । यदि तत्रापि किञ्चिदवगाहक भवेत् तदा–तदवगाहपरिणामेन व्यापारे-व्यापृतं स्यात्. किन्तु न किमपि तत्रास्ति तस्मात्–अलोकाकाशोऽपि अवगाहदानशक्तियुक्तत्वादाऽकाशः सम्भवति इति. ।

अथवा–ऽलोकाकाशे आकाशवदाकाशइत्यौपचारिकः आकाशप्रयोगः शुषिरदर्शनात् इति । अथाकाशस्य नित्यतया कथमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपं वस्तुलक्षणं तत्र संघटते इतिचेदत्रोच्यते. विस्रसापरिणामेनोत्पादादित्रयसत्वात् .। प्रयोगपरिणामेन च जीवपुद्गलानामुत्पादादित्रयसत्वात्. उक्तञ्च प्रज्ञापनायां३पदे४१सूत्रे --

"आगासत्थिकाए पएसट्ठयाए अणंतगुणे--"इति.आकाशास्तिकायः प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुण इति.॥७॥

मूलसूत्रम्--"पोग्गलाणं.संखेज्जा–असंखेज्जा अणंता य नो परमाणूणं–"

छाया--"पुद्गलानां संख्येया असख्येया अनन्ताश्च नो परमाणूनाम्–"॥ ८ ॥

अथवा–अलोकाकाश मे भी अवगाह देने की शक्ति तो विद्यमान ही है, किन्तु वहाँ जीव पुद्गल आदि कोई अवगाहक नहीं होने से वह शक्ति प्रकट नहीं होती । यदि वहाँ कोई अवगाहक होता तो वह भी अवगाह परिणाम से होता अर्थात् स्थान देता, किन्तु वहाँ कोई अवगाहक है ही नहीं । इस प्रकार अलोकाकाश भी अवगाह देने की शक्ति से युक्त होने के कारण आकाश ही कहा जाता है ।

अथवा आलोकाकाश के समान होने के कारण उपचार से आकाश कहलाता है, क्योकि वहाँ पोलार दिखलाई देती है ।

तात्पर्य यह है कि लोकाकाश और अलोकाकाश कोई भिन्न–भिन्न दो द्रव्य नहीं है । आकाश एक अखण्ड द्रव्य है जो सर्वव्यापी है । मगर उसके जिस भाग में धर्मादि द्रव्य–अर्थात् पञ्चास्तिकाय अवस्थित है, वह भाग लोक और जिस भाग में धर्मादि द्रव्य नहीं हैं वह आलोकाकाश कहलाता है । इस प्रकार आकाश के जो दो भेद किये गये है, वे पर निमित्तक हैं, स्वनिमित्तक नहीं है । आकाश अपने स्वरूप से एक और अखण्ड है ।

शंका–नित्य होने के कारण आकाश में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कसे घटीत हो सकते हैं? यह लक्षण न होने से वह वस्तु भी नहीं हो सकता, क्यो कि जिसमें उत्पाद आदि हो उसी को वस्तु कहा जा सकता है।

समाधान –आकाश मे स्वाभाविक परिणम न होताहै, अतएव उसमें भी उत्पाद व्यय और ध्रौव्य घटित होते है । जीवो और पुद्गलों में प्रयोगपरिणाम से भी उत्पाद आदि होते हैं । प्रज्ञापना के तीसरे पद के ४१ वे सूत्र में कहा है–'आकाशास्तिकाय' प्रदेशो की अपेक्षा से अनन्तगुणा है '॥७॥

तत्वार्थदीपिका—पुद्गलानाम्. पूरणाद्गलनाच्च पूरणगलनपरिणतिलब्धसञ्ज्ञकान्पर-माणुप्रभृत्यचित्तमहास्कन्धपर्यवसानानां विचित्ररूपरसादिपरिणामशालिना पुद्गलानां प्रदेशा पूर्वो-क्तस्वरूपाः यथासंभवं सख्येया असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति, तत्र—संख्येयपरमाणूपचितः पुद्गलस्कन्धः संख्येयप्रदेशः

एवम्—असंख्येयपरमाणूपचितः पुद्गलस्कन्धोऽसख्येयप्रदेशः, अनन्तपरमाणूपचितः पुद्गल-स्कन्धः—अनन्तप्रदेशोऽवगन्तव्यः किन्तु—परमाणूनां निरन्तरतया प्रदेशत्वाऽभावेन तेषां संख्येया असंख्येया बा अनन्ता वा प्रदेशा न भवन्ति. ॥८॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—"पूर्वसूत्रेऽमूर्तानां धर्मादीनां प्रदेशपरिमाणं प्रतिपादितम्, सम्प्रति—मूर्तानां पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणं प्रतिपादयितुमाह—**"पोग्गलाणं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता य णो परमाणूणं—"** इति। पुद्गलानां द्व्यणुकादिमहास्कन्धपर्यन्तानां द्रव्यपुद्गलानां यथायोग्यं संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च प्रदेशा भवन्ति. ।

तत्र—कस्यचित् द्व्यणुकादेः पुद्गलद्रव्यस्य संख्येयाः प्रदेशा भवन्ति. । कस्यचित्पुनः पुद्गलद्रव्यस्याऽसंख्येयाः, कस्यचिदनन्ताः प्रदेशा भवन्ति. अथैवं कस्यचित् पुद्गलद्रव्यस्याऽन-न्तानन्तप्रदेशा अपि वक्तव्याः इतिचेन्न अनन्तसामान्यात्—अनन्तानन्तस्यापि ग्रहणसम्भवात्।

मूलसूत्रार्थ—**'पोग्गलाणं संखेज्जा' इत्यादि ॥८॥** पुद्गलो के सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं, किन्तु परमाणुओ के प्रदेश नहीं होते ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूरण और गलन स्वभाव वाले, परमाणु से लगाकर अचित्त महास्कंध तक के, विविध प्रकार के रूप रस आदि से युक्त पुद्गलो के पूर्वोक्त स्वरूप वाले प्रदेश यथासंभव संख्यात, असख्यात, और अनन्त, होते है। ज पुद्गल स्कन्ध संख्यात परमाणुओ के मिलने से बना है वह संख्यातप्रदेशी कहलाता है, जो असंख्यात परमाणुओ के संयोग से बना है वह असंख्यात प्रदेशी कहा जाता है और जिस पुद्गलस्कंध की उत्पत्ति अनन्त प्रदेशो से हुई है, वह अनन्त प्रदेशी कहलाता है। किन्तु परमाणु मे प्रदेश होते नहीं है, अतएव व हन संख्यातप्रदेशी है, न असंख्यात प्रदेशी है और न अनन्त प्रदेशी ही है ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में धर्म आदि अमूर्त द्रव्यो के प्रदेशो का परिमाण बतलाया जा चुका है, अब मूर्त्त पुद्गलो के प्रदेशो का परिमाण बतलाने के लिए कहते हैं—

द्व्यणुक से लगाकर महास्कंध तक के पुद्गलो में यथयोग्य सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश होते है।

किसी किसी द्व्यणुक आदि पुद्गलस्कंध के सख्यात प्रदेश होते है. किसी—किसी पुद्गल के असंख्यात प्रदेश होते है और किसी—किसी के अनन्त प्रदेश होते है। यहाँ शंका हो सकती है कि किसी—किसी पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश भी होते है तो उनका भी अलग विधान करना

तथाहि—अनन्तप्रमाणं तावत् त्रिविधं प्रज्ञप्तम्. परीतानन्तम्–१ युक्तानन्तम्–२ अनन्तानन्तं च–३ 'तत्सर्वमपि–अनन्तसामान्येनैव परिगृह्यते । अथ लोकस्याऽसख्यातप्रदेशत्वात् कथं स लोकोऽनन्तप्रदेशानाम्—अनन्ताऽनन्तप्रदेशानां च स्कन्धस्याऽधिकरणं भवेत्. परस्परविरोधात्, अतो नाऽनन्त्यमस्ति प्रदेशानामिति चेन्मैवम् सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात् परमाण्वादयः पुद्गलाः सूक्ष्मभावेन परिणताः सन्तः एकैकस्मिन्नपि आकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ताः सन्तिष्ठन्ते, एतेषाञ्च परमाणुपुद्गलानामवगहनशक्तिश्चाऽव्याहता विद्यते तस्मादेकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानामपि प्रदेशानामवस्थान न विरुद्धमिति ।

अथ पुद्गलानामिति सामान्यवचनात् परमाणूनामपि पुद्गलतया प्रदेशवत्वापत्तिरित्यतआह—"**णोपरमाणूणं–,,**" **नोपरमाणूनाम्**, परमाणुरूपपुद्गलानां प्रदेशाः सन्ति, तेषां स्वतःप्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशा न सम्भवन्ति । यथा—एकस्याकाशप्रदेशस्य प्रदेशभेदाभावात् प्रदेशाभावो वर्तते तथैव—परमाणोरपि प्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशाभावोऽस्ति न तु -प्रदेशोऽस्ति ।

किञ्च–परमाणुपरिणामापेक्षया कस्यचित्तदन्यस्याऽल्पपरिमाणाभावान्न परमाणोरल्पीयान् कश्चिदन्योऽस्ति येन परमाणोः प्रदेशा भिद्येरन् । एवञ्च- यथैकाकाशप्रदेशस्यापि प्रदेशभेदाभावा-

---

चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं है । अनन्तानन्त भी अनन्त का ही एक भेद है । अतएव सामान्य रूप से अनन्त कहने से अनन्तानन्त का भी ग्रहण हो जाता है । अनन्त के तीन भेद है—परितानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त । इन सब का अनन्त में ही ग्रहण हो जाता है ।

प्रश्न—लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही है, ऐसी स्थिति में उसमें अनन्त प्रदेशी और अनन्तानन्द प्रदेशी स्कंध कैसे समा सकते है ? इससे तो प्रतीत होता है कि प्रदेश अनन्त नहीं है अथवा लोकाकाश भी अनन्त प्रदेशी है ।

उत्तर—पुद्गलो में सूक्ष्म रूप से परिणत होकर अवगाहन करने की शक्ति होती है । अतएव सूक्ष्म रूप में परिणत हो कर वे एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त तक समा जाते है । इस कारण असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश मे अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कंधो का समावेश होने में कोई विरोध नहीं है ।

सामान्य रूप से पुद्गलो के प्रदेश कहने से परमाणु के भी प्रदेश होने की संभावना हो सकती है, अतः उसे दूर करने के लिए कहते है—'नो परमाणूनाम्' अर्थात् परमाणुरूप पुद्गलो के प्रदेश नहीं होते, वह स्वय एक प्रदेश वाला होता है । एक जैसे आकाश के एक प्रदेश में प्रदेश भेद नहीं होता, उसी प्रकार परमाणु मे भी प्रदेश भेद नहीं होता है—वहस्वयं एक प्रदेश मात्र ही है ।

परमाणु पुद्गल का सब से छोटा द्रव्य है । उससे छोटा अन्य कोई पुद्गल नहीं होना । अत परमाणु में प्रदेशभेद की कल्पना ही नहीं की जा सकती । इस प्रकार जैसे आकाश के एक प्रदेश में प्रदेशभेद का अभाव है और वह अप्रदेशी है, इसी प्रकार अंश

दप्रदेशत्वं भवति एवमेकस्य विभागरहितस्य परमाणोरपि—अप्रदेशत्वमवगन्तव्यम् यत एकस्य परमाणोर्भेदं कश्चिदपि कर्त्तुं न शक्नोति ।

उक्तञ्च—"**परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्**—" इति, तस्मात्—अणोरपि अणीयान, अपरो न विद्यते कथमणोः प्रदेशा भिद्यन्ते इतिफलितम् । परमार्थतस्तु—अणोरापूरकाः परिणामिकारणभावभाजो द्रव्यरूपाः प्रदेशा न भवन्ति । यदि परमाणोऽपि प्रदेशाः स्युः तदा परमाणुरन्त्यः प्रदेशोऽस्तीति प्रतीतिविरोधः स्यात् ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां ५—पदे—"**रूवि अजीवदव्वाणं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा—! चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—खंधा—१ खंददेसा—२ खंधप्पएसा—३ परमाणुपोग्गला ४ अणंता परमाणुपोग्गला, अणंता दुप्पएसिया खंधा, जाव अणंता दसपएसिया खंधा, अणंता संखेज्जपएसिया खंधा, अणंता असंखेज्जपएसिया खंधा, अणंता अणंतपएसिया खंधा**-" इति

रूपीणि अजीवद्रव्याणि खलु भदन्त ! कतिविधानि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! चतुर्विधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—स्कन्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाः, अनन्ताः परमाणुपुद्गलाः, अनन्ताः द्विप्रदेशिकाः स्कन्धाः, यावत्—अनन्ता दशप्रदेशिकाः स्कन्धाः, अनन्ताः सख्येयप्रदेशिकाः स्कन्धाः, अनन्ताः असंख्येयप्रदेशिकाः स्कन्धाः अनन्ताः अनन्तप्रदेशिकाः स्कन्धा इति ॥८॥

मूलसूत्रम् –"**धम्माधम्मागासकालपोग्गलजीवा लोगो**—" ॥९॥

छाया—"**धर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलजीवा लोकः**-" ॥९॥

रहित एक परमाणु में भी प्रदेश नही होते । एक परमाणु का विभाग कोई नहीं कर सकता । कहा भी है—'परमाणु से छोटा और आकाश से बडा कोई पदार्थ नहीं है ।'

ऐसी स्थिति में अब अणु से छोटा कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता तो अणु में प्रदेशभेद किस प्रकार संभव होसकता है ?

वास्तव में अणु में पूर्त्ति करने वाले, परिणामिकारण मूल द्रव्य नहीं होते है । अगर परमाणु के भी प्रदेश होते तो वह अन्त्य नहीं कहलाता अर्थात् उसे निर्विभाग नहीं कहा जा सकता था । प्रज्ञापनासूत्र के पाँचवे पदमें कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल कितने प्रकार का कहा है !

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का कहा है—(१)स्कंध (२) स्कंध देश (३) स्कध प्रदेश और (४) परमाणु पुदगल अनन्त हैं, द्विप्रदेशी स्कंध अनन्त है, यावत् दश प्रदेशी स्कंध अनन्त है. सख्यात प्रदेशी स्कंध अनन्त है, असंख्यात प्रदेशी स्कध अनन्त है, अनन्तप्रदेशी स्कंध अनन्त है ॥८॥

मूलसूत्रार्थ—'**धम्माधम्मागास**' इत्यादि सूत्र ॥९॥ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, ये छह द्रव्य ही लोक कहलाते है ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं लोकस्योक्तत्वात् तच्छब्दार्थमाह "धम्माधम्मे' ति धर्मः-अधर्मः-आकाशः-कालः-पुद्गलः-जीवश्चेत्येते लोकपदेन व्यपदिश्यन्ते, तथाच- जीवाजीवाधारक्षेत्रं लोक इत्युच्यते। लोक्यन्ते धर्मादयः पदार्था यत्र स लोक इतिव्युत्पत्तेः ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—"धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशाः-" इत्यत्र षष्ठसूत्रे लोकपदोपादानात् तदर्थं प्ररूपयितुमाह-"धम्माधम्मागासकालपोग्गलजीवा लोगो-" इति धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवा इत्येते षट् लोकपदेन व्यवह्रियन्ते।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनसूत्रेऽष्टाविंशत्यध्ययने गाथा-"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं-" ॥७॥ एवञ्च-जीवानाम् अजीवानाञ्च-धर्माधर्माकाशकालपुद्गलात्मकानाम् आधारक्षेत्रं लोक इति फलितम्। ततः परम् अलोको भवति, तथाच लोके एव जीवाजीवादिकं तिष्ठति, नाऽलोके किमपि वस्तुतिष्ठति तस्याऽलोकस्य शून्यत्वादिति भावः ॥९॥

मूलसूत्रम्—"ओगाहो लोगागासे' नो अलोगागासे" ॥१०॥

छाया—"अवगाहो लोकाकाशे नो अलोकाकाशे -" ॥१०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले लोक का कथन किया है, अतः उसका अर्थ कहते हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, यह लोक एक के द्वारा कहे जाते हैं। जीव—अजीव का आधारक्षेत्र लोक कहलाता है, क्योंकि जहाँ धर्म आदि पदार्थ लोक किये जाएँ अर्थात् देखे जाएँ वह लोक, यह लोक शब्द की व्युत्पत्ति है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं, इस सूत्र मे लोक पद ग्रहण किया है, अतः उसके अर्थ का प्ररूपण करने के लिये कहते हैं—

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और, जीव ये छहद्रव्य और लोक कहलाते है।

उत्तराध्ययनसूत्र के २८ वें अध्ययन की गाथा ८ वीं में कहा है—सर्वदर्शी जिनेन्द्रों ने धर्म; अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव को लोक कहा है।

इससे यह फलित होता है कि जीवो का तथा अजीव धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल का जो आधार क्षेत्र है, वह लोक है। लोक से आगे अलोक है। जीव आदि द्रव्य लोक में ही होते हैं, अलोक में आकाश के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है। अलोक अन्य द्रव्यो से शून्य है।

इस सूत्र से यह भी प्रकट किया गया है कि धर्मादि द्रव्य जहाँ हो वह तो लोक कहलाता ही है, मगर धर्मादि द्रव्य भी लोक कहलाते है। इस अर्थ में लोक शब्द की व्युत्पत्ति यों होती है—लोक्यते इति लोकः अर्थात जो देखा जाय वह लोक ॥९॥

"ओगाहो लोगागासे' इत्यादि ॥१०॥

मूलसूत्रार्थ—अवगाह लोकाकाश में होता है, अलोकाकाश में नहीं ॥१०॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वोक्तानां धर्मादिद्रव्याणामवगाहनम् अवगाहः प्रवेशः प्रतिष्टा-व्यापनं लोकाकाशे भवति, न ततो बहिरलोकाकाशे भवति। तत्र लोक्यन्ते धर्मादयः पदार्था यस्मिन् स लोक उच्यते, तथाविधस्य लोकस्य सम्बन्धी आकाशो लोकाकाश उच्यते ॥१०॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—अवगाहिनामनुप्रवेशवतां धर्मादीनां द्रव्याणामवगाहः प्रवेशः पुद्गलादीनां प्रतिष्ठा लोकाकाशे धर्माधर्मद्वयाऽवगाढे व्योम्नि भवति, धर्माऽधर्मयोश्चाऽनादिकालीनोऽवगाह-आकाशे वर्तते परम्पराश्लेषपरिणामेन तथा सन्निवेशात्

तदन्यस्मिन्नाकाशे अलोकाकाशे जीवादीनां नास्त्यवगाहः, तत्र धर्माऽधर्मविरहात्, तयोरेव-धर्माऽधर्मयोर्गतिस्थित्युपग्रहकारित्वात्। अथाऽलोकाकाशे धर्माऽधर्मौ गति स्थित्युपग्रहकारिणौ कथं न वर्तेते इतिचेदुच्यते

तयोः स्वभावएवैतादृशो विद्यते यत् अलोकाकाशे तौ न तिष्ठतः, स्वभावे च कस्यापि वस्तुनः पर्यनुयोगो न भवति तस्माद् धर्मादीनां लोकाकाशे एवाऽवगाहो भवतीत्युक्तम्।

अथ यदि धर्मादीनां लोकाकाशेऽवगाहात् लोकाकाशमाधारो भवति, तर्हि लोकाकाशस्य क आधारः इतिचेन्नैवम् आकाशस्य स्वप्रतिष्ठत्वात् तस्याऽन्यः आधारो नास्ति।अथ यथाऽऽकाशं

तत्वार्थदीपिका—पूर्वोक्त धर्म आदि द्रव्यो का अवगाहन अवगाह, प्रवेश, प्रतिष्ठा या व्यापना लोकाकाश में ही होती है, लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश में नहीं होती। जहाँ धर्म आदि पदार्थ देखे जाते है, वह लोक कहलाता है और लोक संबंधी आकाश लोकाकाश कहा जाता है ॥१०॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—धर्म आदि द्रव्यो का अवगाह या स्थिति लोकाकाश में है। वह लोकाकाश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त है। ये दोनो द्रव्य अनादि काल से परस्पर मिले हुए लोक में अवस्थित है। पुद्गलो और जीवो की अवगाहना भी लोकाकाश में अनादि कालीन है, किन्तु इनमें, गतिक्रिया होने से ये धर्म अधर्म की तरह अवस्थित नहीं है। इनकी अवगाहना कभी किन्हीं अकाशपदेशो के साथ होती है और कभी किन्ही अन्य प्रदेशो के साथ।

लोक से भिन्न अलोकाकाश में जीवादि नहीं होते, क्योकि वहाँ अधर्म द्रव्य नहीं है और वही गति तथा स्थिति के निमित्त होते है।

शंका—अलोकाकाश में गति का उपग्राहक धर्म और स्थिति का उपग्राहक अधर्म क्यो नहीं है ?

समाधान—धर्म और अधर्म का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अलोकाकाश में नहीं रहते। स्वभाव के विषय में प्रश्न की कोई गुंजाइस ही नहीं होती। इसीसे कहा है कि धर्म आदि का अवगाह लोकाकाश में ही है।

शंका—धर्मादि द्रव्य का लोकाकाश में अवगाह होने से यदि लोकाकाश धर्मादि का अधार है तो लोकाकाश का आधार क्या है ?

स्वप्रतिष्ठं भवति तथा धर्मादीनामपि स्वप्रतिष्ठत्वसिद्ध्या न तेषामाधार आकाशः यदि तु धर्मादीनामन्य आकाशात्मक आधारः कल्प्यते, तदाऽऽकाशस्यापि अन्य आधारः कल्पनीयः स्यात् तथासति अनवस्थादोषप्रसङ्ग इति चेन्न

आकाशादधिकपरिमाणस्याऽन्यस्य द्रव्यस्याऽसद्भावेन तस्याऽऽकाशाधारतया कल्पयितुमशक्यत्वात्। आकाशमेव सर्वतोऽनन्तं वर्तते तस्माद् व्यवहारनयानुसारेणाऽऽकाश धर्मादीनामधिकरणतया कल्प्यते, निश्चयनयात्मकैवंभूतनयापेक्षया पुनः सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठितान्येव सन्ति अतएव **"क्व भवानास्ते"**? इति प्रश्ने सति **"आत्मनि"** इत्युत्तरं भवति, तथाच धर्मादीनि न लोकाकाशाद् वहिः सन्तीति एतावन्मात्र मत्राधाराधेयभावकल्पनो साध्यो व्यवहार उपपद्यते।

अथ लोके यथा कुण्डे बदरादीनां पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो दृष्टो न तथाऽऽकाशं पूर्वं धर्मादीनि पुनरुत्तरकालभावीनि सन्ति इति व्यवहारनयापेक्षयापि नो आकाशधर्मादीना माधाराधेयभावकल्पनोपपद्यते इति चेन्मैवम्।

घटे रूपादयः शरीरे हस्तादयः इत्यादौ युगपद्भाविनामपि पदार्थानामाधाराधेयभावदर्शनात्

समाधान—लोकाकाश आप ही अपने सहारे टिका है। उसके लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है।

शंका—जैसे आकाश आप ही अपने सहारे रहा हुआ है। उसी प्रकार धर्मादि भी अपने सहारे रह सकते है। उनका आधार आकाश मानने की क्या आवश्यकता है? यदि धर्मादि का अलग आधार—आकाश—स्वीकार किया जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार नहीं मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष का प्रसंग होगा।

समाधान—आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य कोई द्रव्य नहीं है, जिसे आकाश का आधार माना जाय। आकाश सब ओर से अन्तरहित है। अतएव व्यवहारनय के अनुसार आकाश धर्मादि द्रव्यो का आधार मानागया है, किन्तु निश्चयनयरूप एवंभूतनय की अपेक्षा से सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् सभी अपने—अपने प्रदेशो में रह गए है। इसी कारण जब यह प्रश्न किया जाता है कि आप कहाँ रहते है? तब उत्तर होता है—'अपने आप में।' धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं रहते और लोकाकाश में ही रहते हैं, बस इसी कारण उनमें आधार—आधेयभाव की कल्पना की जाती है।

शंका—लोक में ऐसा देखा जाता है कि जो पूर्वोत्तर कालभावी होते है, उन्हीं में आधार—आधेयभाव होता है, जैसे कुंड और वदर का। यहाँ ऐसा तो है नहीं कि आकाश पहले—से हो और धर्मादि वाद में हो। इस कारण व्यवहारनय के अनुसार भी आकाश और धर्मादि में आधाराधेयभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

समाधान—पूर्वोत्तरकालीन पदार्थों मे ही आधाराधेयभाव हो, ऐसा नियम नहीं है। घट में रूप है, शरीर मे हाथ आदि है, यहाँ एक साथ होने वाले पदार्थों में भी आधाराधेय भाव

आकाशधर्मादीनां युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावे उपपद्यते, तत्र धर्माऽधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोकः अधिकरणे घञ्, तादृशो लोको यत्र तल्लोकाकाशम्, ततो बहिः सर्वतोऽनन्तमलोकाकाशम् लोकालोकविभागश्च धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकाय सद्भावाऽसद्भावादवगन्तव्यः।

तस्मिन् धर्मास्तिकायेऽसति हि जीवपुद्गलानां गतिनियामकहेत्वभावात् विभागो नोपपद्येत, एवम् अधर्मास्तिकायेऽसति स्थितेराश्रयनिमित्ताभावात् स्थिते रभाव आपद्येत। स्थितेरभावे सति-लोकालोकविभागो न स्यात, तस्मात्—जीवपुद्गलानां गतिस्थितिनियामकधर्माधर्मास्तिकायसद्भावाल्लोकालोकविभागः सम्पद्यते। अथ स्थितिदानस्वभावस्याऽधर्मद्रव्यस्य लोकाकाशे स्थितस्य परतोऽभावात् कथमलोकाकाशः स्थितिं करोति ? एवं कालद्रव्यं विना कथमलोकाकाशो वर्तते. ? इतिचेन्न,तथाविधस्वभावात।

तस्मात्-धर्माऽधर्मपुद्गलकालजीवद्रव्याणां लोकाकाशे एवावगाहो भवति, नतु—ततो बहिरलोकाकाशे तेषामवगह इति भावः। उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्रीभगवतीसूत्रे२-शतके१० उद्देशके

कतिविहे णं भंते! आगासे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते तं जहा-लोयागासे य-अलोयागासे य,। लोयागासे णं भंते! किं जीवा जीवदेसा-जीवपदेसा अजीवा-अजीवदेसा-अजीवपदेसा? गोयमा! जीवावि, जीवदेसावि, जीवपदेसावि, अजीवावि,अजीवदेसावि,

---

देखा जाता है। अतः आकाश और धर्मादि युगपद्भावी पदार्थों में भी आधाराधेय भाव संगत है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म आदि द्रव्य जहाँ देखे जाते है, वह लोक है। यहाँ अधिकरण में धर्म प्रत्यय हुआ है। जहाँ ऐसा लोक है वह लोकाकाश है और उससे बाहर सब तरफ अनन्त अलोकाकाश है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के सद्भाव और असदभाव के कारण ही लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग है—वास्तवमें तो आकाश खण्डरहित एक द्रव्य है।

धर्मास्तिकाय न होता तो जीवो और पुद्गलो की गति का नियामक कारण न रहने से यह विभाग भी न होता। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के अभाव में स्थिति का निमित्त कारण न होता तो स्थिति का ही अभाव हो जाता। ऐसी हालत में लोक—अलोक का विभाग भी न होता। अतएव जीवो और पुद्गलो की गति और स्थिति के नियामक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के सद्भाव और असद्भाव के कारण ही लोक और अलोक का विभाग होता है।

शंका—स्थिति में सहायक अधर्मास्तिकाय सिर्फ लोक में ही है, लोक के आगे नहीं है, तो अलोकाकाश की स्थिति किम प्रकार है? इसी प्रकार काल के अभाव में अलोकाकाश कैसे वर्त्तना करता है?

समाधान—इनकी स्थिति और वर्त्तना अपने अपने—स्वभाव से ही होती है,

अत धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल और जीव द्रव्यो की अवगाहना लोकाकाश में ही है; उससे आगे अलोकाकाश में उनकी अवगाहना नहीं है। श्रीभगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १० वे सूत्रमे कहा है—

अजीवपदेसावि, जे जीवा ते नियमा एगिंदिया-बेइंदिया-तेइंदिया-चउरिंदिया पंचेंदिया-अणिंदिया, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा, जाव अणिंदियदेसा, जे जीवपदेसा ते-नियमा एगिंदयपदेसा जाव-अणिंदियपदेसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-रूवी य अरुवि य, । जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा खंधा खंधदेसा खंधपदेसा परमाणुपोग्गला।

जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा-धम्मत्थिकाए. नोधम्मित्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए-" नो अधम्मत्थिकायस्स देसे अधम्मत्थिकायस्स पदेसा अद्धासमए इति।

छाया—कतिविधः खलु भदन्त! आकाशः प्रज्ञप्तः गौतम! द्विविध आकाशः प्रज्ञप्तः तद्यथा—लोकाकाशश्च, अलोकाकाशश्च। लोकाकाशः खलु भदन्त! किं जीवाः जीवदेशाः-जीवप्रदेशाः, अजीवा अजीवदेशाः-अजीवप्रदेशाः। गौतम! जीवा अपि, जीवदेशा अपि, जीवप्रदेशा अपि, अजीवा अपि, अजीवदेशा अपि, अजीवप्रदेशा अपि। ये जीवास्ते नियमाद् एकेन्द्रियाः-द्वीन्द्रियाः-त्रीन्द्रियाः-चतुरिन्द्रियाः-पञ्चेन्द्रियाः-अनिन्द्रियाः ये जीवदेशास्ते नियमाद् एकेन्द्रियास्ते नियमाद् एकेन्द्रियदेशाः यावद्-अनिन्द्रियदेशाः, । ये जीवप्रदेशास्ते नियमाद् एकेन्द्रियप्रदेशा यावद्-अनिन्द्रियप्रदेशाः।

ये-अजीवास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-रूपिणश्च अरूपिणश्च। ये रूपिणस्ते चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा, स्कन्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाः। ये-अरूपिणस्ते पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा धर्मास्तिकायः नो धर्मास्तिकायस्य देशः, धर्मास्तिकायस्य प्रदेशाः अधर्मास्तिकायः नोअधर्मास्तिकायस्य देशाः अधर्मास्तिकायस्य प्रदेशाः अद्धासमय इति।

प्रश्न—भगवान्! आकाश कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार का कहा है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

प्रश्न—भगवन्! लोकाकाश में क्या जीव, जीवदेश, जीवप्रदेश, अजीव—अजीवदेश अथवा अजीवप्रदेश है?

उत्तर—गौतम! जीव भी है, जीवदेश भी है, जीवप्रदेश भी है, अजीव भी हैं, अजीवदेश भी हैं, अजीवप्रदेश भी है, जो जीव है वे नियम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, और अनिन्द्रिय होते है। जो जीवदेश है वे नियम से एकेन्द्रियदेश है यावत् अनिन्द्रियदेश है. जो जीवप्रदेश है, वे नियम से एकेन्द्रियप्रदेश है यावत् अनिन्द्रियप्रदेश हैं।

जो अजीव है, वे दो प्रकार के है—रूपी और अरूपी। रूपी चार प्रकार के है, यथा—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणुपुद्गल।

जो अरूपी हैं, वे पाँच प्रकार के है—यथा—धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकायदेश, धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नो अधर्मास्तिकायदेश, अधर्मास्तिकायप्रदेश, अद्धासमय।

तदनन्तरं तत्रव चोक्तम् व्याख्याप्रज्ञप्तौ२-शतके१०-उद्देशके—**अलोगागासे णं भंते ! किं जीवा पुच्छा ? तहचेव, गोयमा ! नो जीवा जाव नो अजीवप्पएसा एगं अजीवदव्वदेसे अगुरु य लहुए अणंतेहिं, अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे**-"इति ।

अलोकाकाशः खलु भदन्त ! कि जीवाः-? पृच्छा, तथाचैव, गौतम ! नो जीवा यावत्-नो अजीवप्रदेशाः एकोऽजीवप्रदेशः अगुरुकलघुकः अनन्तैः अगुरुकलघुकगुणैः संयुक्तः सर्वाकाश. अनन्तभागोन इति । एवम्—उत्तराध्ययनेऽपि २८—अध्याये ७—गाथायामुक्तम्—

"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥ १ ॥ इति
"धर्मोऽधर्मआकाशः कालः पुद्गलजन्तवः ।
एष लोकोऽस्ति प्रज्ञप्तो जिनैर्वरदर्शिभिः" इति ॥१०॥

मूलसूत्रम्"धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे—" ॥११॥

छाया—"धर्माऽधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशे-" ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे धर्मादीनां द्रव्याणां लोकाकाशेऽवकाशः प्रवेशरूपो भवतीत्युक्तम् तत्र किं दुग्धोदक-विषरुधिरादिवत् सर्वात्मना सर्वलोकाकाशप्रदेशव्याप्त्या धर्मादीनां भवति-? आहोस्वित् ह्रदे त्रसजीव-पुरुषादिवत्, एकदेशात्मनां तेषामवगाहो भवतीति शङ्कां निराकर्तुमाह—**'धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे—,'**इति । धर्माँऽधर्मयोर्द्रव्ययोः कृत्स्ने सम्पूर्णे लोकाकाशे" **तिलेषु तैलमिवाऽवगाहः** प्रवेशो भवति न तु—-एकदेशेनैवाऽवगाहो भवतीति भाव ॥११॥

तत्पश्चात् उसी भगवतीसूत्र के दूसरे शतक के दसवे उद्देशक में कहा है—

भगवन् ! अलोकाकाश क्या जीव है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना । उसका उत्तर भी उसी प्रकार है कि—गौतम ! अलोकाकाश जीव नहीं है यावत् अजीवप्रदेश नहीं है, अजीव-द्रव्य (आकाश) का एक देश है, वह अगुरुलघु है, अनन्त अगुरुलघु गुणो से सयुक्त है, सर्वाकाश से अनन्तभाग न्यून है ।

उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन की ७ वीं गाथा में कहा है—'सर्वदर्शी जिनेद्रो ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव को लोक कहा है जहाँ ये द्रव्य नहीं है सिर्फ आकाश का देश है उसे अलोक कहा है ॥१०॥

मूलसूत्रार्थ—"धम्माधम्माणं कसिणे" इत्यादि । सूत्र ११

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय की अवगाहना सम्पूर्ण लोकाकाश में है ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में बतलाया गया है कि लोकाकाश मे धर्म आदि द्रव्यों का प्रदेशरूप अवगाह है किन्तु वह अवगाह दूध और पानी के समान और विप और रुधिर के समान समस्त लोकाकाश के सब प्रदेशो को व्याप्त करके होता है अथवा तालाब में त्रसजीव या पुरुष आदि के समान एक देश से होता है, इस आशंका का समाधान करने

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः --पूर्वं लोकाकाशे धर्मादीनामवगाहो भवतीत्युक्तम् तत्राऽवध्रियमाणानामवस्थानभेदसम्भवाद् विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—**"धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे—"** इति। धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकाययोः कृत्स्ने संपूर्णे लोकाकाशेऽवगाहः प्रवेशो भवति। न तु--लोकाकाशस्यैकदेशेऽवगाहो भवतीति।

'तत्र--कृत्स्नपदोपादनेन सम्पूर्णदेशव्याप्तिः सूच्यते। तथाच—यथा गृहस्यैकदेशे कस्मिंश्चित्कोणादौ घटोऽवस्थितो भवति, न तथा-लोकाकाशे धर्माऽधर्मयोरवगाहो भवति। अपितु—कृत्स्ने सम्पूर्णे लोकाकाशे **"तिलेषु तैलवत्" "दुग्धेषु घृतवत्—"** सर्वावयव्याप्त्याऽवगाहो भवति। एवञ्चा —ऽवगाहनशक्तियोगाद् धर्माऽधर्मयोः सम्पूर्णे लोकाकाशे परस्परप्रदेशप्रवेशव्याघाताऽभावोऽवगन्तव्यः।

"एतावता--धर्माऽधर्मयोः सर्वत्र लोकाकाशेऽयुतसिद्धावपि चन्द्रमण्डलाऽऽधेयचन्द्रिकावत् अवगाहो भवति, न ततः परत चेतनावत्--शरीरे एवोपकारदर्शनात् बहिरदर्शनाच्च तन्मात्रवृत्तित्वं निश्चीयते तस्माद्-दुग्धोदकवत् परस्परावगाहपरिणामेन धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशे व्यवस्थानं

के लिए यहाँ कहा गया है कि धर्म और अधर्मद्रव्य का लोकाकाश में अवगाह सम्पूर्ण रूप से तिल में तेल के समान है, एक देश से नहीं ॥११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति--धर्मादि द्रव्यो का लोकाकाश में अवगाह है, यह पहले कहा जा चुका है, किन्तु वह अवगाह किस प्रकार का है, यह बतलाने के लिए कहा है--धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का सपूर्ण लोकाकाश में अवगाह है, लोकाकाश के किसी एक देश में नहीं।

सूत्र में 'कृत्स्न' पद का प्रयोग करके धर्म--अधर्मद्रव्य का सपूर्ण देश में व्याप्त होना सूचित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जैसे घर के किसी एक कोने में घर रहता है, उसप्रकार से लोकाकाश में धर्म और अधर्म का अवगाह नहीं है। बल्की तिलो में तेल के समान और दूध में घी के समान सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह है। इस प्रकार अवगाहनशक्ति के कारण समस्त लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य प्रदेशो का परस्पर व्याघातरहित अवस्थान समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि लोकाकाश का जिस एक प्रदेश है वही धर्म द्रव्य का भी एक प्रदेश है और वहीं अधर्मद्रव्य का भी प्रदेश है। ये सब प्रदेश व्याघात के विना ही स्थित है-- कोई किसी के अवस्थान में रुकावट नहीं डालता।

इस प्रकार लोकाकाश में सर्वत्र धर्म अधर्म का अवगाह है, उससे आगे नहीं है। जैसे चेतना का कार्य शरीर मे ही देखा जाता है, बाहर नहीं, इस कारण चेतना शरीरव्यापी ही है, इसी प्रकार धर्म--अधर्म का उपकार लोकाकाश में ही देखा जाता है, बाहर नहीं, अत. वे द्रव्य भी बाहर नहीं है।

फलितार्थ यह है कि धर्म और अधर्मद्रव्य दूध और पानी की तरह परस्पर अवगाहन करके समस्त लोकाकाश में व्याप्त है, ऐसा नहीं की तालाब में पुरुष के समान या घर में घर

भवति न तु—हृदगृहादौ पुरुषघटादिवदिति कृत्स्नपदोपादानेन व्यवच्छिद्यते इति फलितम् ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३६ अध्ययने ७ गाथायाम्—

धम्माधम्मे य दो चेव लोगमित्तावियाहिया । '

लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए ॥इति॥ "

"धर्माऽधर्मौ च द्वौ चैव लोकमेत्यविगाहकौ—।

लोकालोके च आकाशे समयः समयक्षेत्रिकः ॥११॥ इति. ॥११॥

मूलसूत्रम्—"पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसेसु—" ।१२॥

छाया—"पुद्गलानां भजना एकादिप्रदेशेषु—" ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहप्रकारः प्रतिपादितः सम्प्रति—पुद्गलानां लोकाकाशेऽवगाहप्रकारं प्रतिपादयितुमाह—"पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसे—" इति. । पुद्गलानां—परमाणुप्रभृतिपुद्गलद्रव्याणां भजनया-वैकल्पितया—एकादिप्रदेशेषु— अवगाहो भवति ।

तथाच—अप्रदेशसंख्येयाऽसख्येयाऽनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां द्रव्याणामेकादिष्वाकाशप्रदेशेषु भजनयाऽवगाहोऽवगन्तव्यः । तत्र—परमाणोरेकस्मिन्नेवाकाशप्रदेशे, द्व्यणुकस्य तु—आकाशस्यैकस्मिन्—द्वयोश्च प्रदेशयोः' त्रसरेणोरेकस्मिन्—द्वयो—स्त्रिषु च प्रदेशेषु, चतुरणुक—पञ्चाणुकादीना मध्ये संख्येयाऽसख्येयप्रदेशस्य —एकादिषु सख्येयेषु—असंख्येयेषु च लोकाकाशस्य प्रदेशेषु अवगाहो भवति । चतुरणुकादीनामेवानन्तप्रदेशस्य चाऽपि लोकाकाशस्यैकादिषु सख्येयेष्वसंख्येयेषु च प्रदेशेषु—अवगाहो भवतीति भावः ॥ १२ ॥

के समान किसी एक भाग में हो यह कृत्स्न शब्द से प्रकट किया गया है। उत्तराध्ययन के ३६ वें अध्ययन की गाथा ७ वीं में कहा है—

धर्म और अधर्म, ये दो द्रव्य लोकाकाश में ही कहे गए है । आकाश लोक—आलोकव्यापी है और काल सिर्फ समयक्षेत्र में अर्थात् अढाई द्वीप में ही है ॥११॥

मूलसूत्रार्थ—"पोग्गलाणं भयणा" इत्यादि । सूत्र ॥१२॥

पुद्गलद्रव्य की एक प्रदेश आदि में भजना है ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में यह बतलाया जा चुका है कि धर्म और अधर्म की लोकाकाश मे किस प्रकार अवगाहना है। अब लोकाकाश में पुद्गलो का अवगाह बतलाने के लिए कहते है । परमाणु आदि पुद्गल द्रव्यो का अवगाह लोकाकाश के एक आदि प्रदेशो में होता है ।

इस प्रकार अप्रदेशी परमाणु का, सख्यात. असंख्यात, तथा अनन्त प्रदेश वाले स्कंध द्रव्यो का एकादि आकाशप्रदेशो में भजना से अवगाह समझना चाहिए। इनमें से परमाणु का तो एक ही आकाशप्रदेश में अवगाह होता है, द्व्यणुक का एक या दो प्रदेशो में, त्र्यणुक का एक, दो अथवा तीन प्रदेशो मे, चतुरणुक तथा पचाणुक आदि सख्यात—असख्यात प्रदेशो

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः---पूर्वसूत्रे--धर्माधर्मयोरमूर्तत्वात् कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहः प्रतिपादितः सम्प्रति--तद् विपरीतानां मूर्तिमतामप्रदेशसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशानां परमाणुप्रभृतिपुद्गलानां लोकाकाशेऽवगाहविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह---**पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसेसु--**" इति। एकादिषु प्रदेशेषु--एकः प्रदेश आदिर्येषान्ते एकादिप्रदेशाः तेषु पुद्गलानाम् परमाणुप्रभृतिपुद्गलद्रव्याणामवगाहो भजनया भवति, कस्यचित्--पुद्गलस्यैकप्रदेशे, कस्यचित्पुनर्द्वयोर्बहुषु वा--ऽऽकाशप्रदेशेषु--अवगाहो भवति।

तद्यथा--–एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे पुद्गलपरमाणोरवगाहो भवति, द्व्यणुकस्यैकस्मिन् आकाशप्रदेशे, द्वयोश्चाकाशप्रदेशयोर्बद्धस्याऽबद्धस्य चावगाहो भवति, त्र्यणुकस्यैकत्र द्वयोस्त्रिषु चाऽऽकाप्रदेशेषु बद्धस्याऽबद्धस्य चावगाहो भवति, एवम्--सख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशानां पुद्गलस्कन्धानां लोकाकाशस्यैकसंख्येयाऽसंख्येयप्रदेशेषु अवस्थानरूपोऽवगाहोऽवगन्तव्यः।

अथाऽमूर्तयोर्धर्माऽधर्मयोरेकत्राऽविरोधेनाऽवस्थानसम्भवेऽपि मूर्तिमतां पुद्गलद्रव्याणां कथमेकत्राऽवगाहरूप'वस्थानं सम्भवति--परस्परविरुद्धत्वादिति चेन्मैवम्।

अवगाहनस्वभावत्वात्, सूक्ष्मपरिणामाच्च, मूर्तिमतामपि पुद्गलानामेकत्राऽवगाहो न

स्कन्ध का एक आदि सख्यात या असख्यात प्रदेशो मे अवगाह होता है। यहाँ तक कि अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का भी एक दो सख्यात अथवा असख्यात आकाशप्रदेशो में अवगाह होता है॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---पूर्वसूत्र में अमूर्त्त धर्म--अधर्म द्रव्यों का सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह प्रतिपादन किया गया है। अब उनसे विपरीत मूर्त्तिमान् अप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी परमाणु आदि पुद्गलो का लोकाकाश में अवगाह निरूपण करने के लिए कहते है---

परमाणु आदि पुद्गलद्रव्यो का अवगाह भजना से एक आदि आकाशप्रदेशो में होता है। अर्थात् किसी पुद्गल का एक प्रदेश मे, किसी का दो प्रदेशो में और किसी का सख्यात--असंख्यात प्रदेशो में अवगाह होता है।

परमाणु का एक आकाश प्रदेश में, बद्ध या अबद्ध द्व्यणुक का एक या दो आकाशप्रदेशो मे अवगाह होता है। बद्ध या अबद्ध त्र्यणुक का एक, दो या तीन प्रदेशो में अवगाह होता है। इसी प्रकार संख्यात, असख्यात तथा अनन्त प्रदेश वाले पुद्गलस्कन्धो का लोकाकाश क एक, संख्यात अथवा असख्यात प्रदेशो मे अवगाह समझना चाहिए।

शंका--अमूर्त्त होने के कारण धर्म और अधर्म द्रव्यो का एक ही आकाशप्रदेश में विना विरोध अवस्थान होना तो संभव है, मगर रूपी पुद्गलद्रव्य एक ही स्थान पर किस प्रकार रह सकते है? मूर्त्त द्रव्य परस्पर प्रतिघाती होते है।

समाधान--अपने अवगाहन स्वभाव के कारण तथा सूक्ष्म रूप में परिणत होने के कारण मूर्त्तिमान पुद्गलों का भी एक जगह अवगाह होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे एक ही

विरुध्यते । यथा एकापवरकेऽनेकदीपप्रकाशाऽवस्थानं प्रत्यक्षसिद्धत्वात् अविरुद्धं भवति, तद्वदेव प्रकृतेऽपि प्रत्येतव्यम्, आगमप्रामाण्यादपि तथाऽध्यवसेयम् ।

एवञ्च—परमाणुस्तावत् अविद्यमानद्रव्यान्तरप्रदेशत्व—अप्रदेश उच्यते स्वयंतु—प्रदेशात्मक एव परमाणुरवसेयः, प्रचयविशेषात् । संख्येयपरमाणुघटितः पुद्गलस्कन्धः संख्येयप्रदेशी भवति एवम्—प्रचयविशेषादेवाऽऽसख्येयपरमाणुघटित पुद्गलस्कन्धः असंख्येयदेशो भवति । एवम्—अनन्तपरमाणुघटितः पुद्गलस्कन्धोऽनन्तप्रदेशो व्यपदिश्यते. ।

तत्र—परमाणोः प्रदेशान्तराभावादेकस्मिन्नेव लोकाकाशप्रदेशेऽवगाहो भवति, द्वयणुकस्य तु—परमाणुद्वयात्मकतया बद्धस्य तस्यैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहः अबद्धस्य पुनः परमाणुद्वयरूपस्य द्वयोराकाशप्रदेशयोरवगाहः, एवम्—त्र्यणुकस्य परमाणुत्रयात्मकत्वात् बद्धस्य तस्य स्कन्धरूपस्यैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहः अबद्धस्य तु द्वयोस्त्रिषु चाकशप्रदेशेषु—अवगाहो भवतीति भावः । एवम्—चतुरणुकादीनां बद्धानामबद्धानाञ्च यथायोग्यं सख्येयाऽसख्येयप्रदेशस्यैकादिषु संख्येयेषु—असंख्येयेषु चाऽऽकाशप्रदेशेष्ववगाहो बोध्यः, तेषामनन्तप्रदेशस्यापि लोकाकाशस्याऽनन्तप्रदेशत्वाभावाद् असख्येयप्रदेशेष्वेवावगाहो भवतीति फलितम्. ॥१२॥

मूलसूत्रम्—'जीवाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे' पदीवोविव पएस–संकोचविगासेहिं १३

छाया—"जीवानां लोकस्याऽसंख्येयभागे' प्रदीप इव प्रदेश-संकोचविकासाभ्याम्

कमरे में अनेक दीपको के प्रकाश का रहना प्रत्यक्ष से सिद्ध है, उसी प्रकार एक ही आकाशप्रदेश में अनेक परमाणु समूह रूप स्कन्ध भी रह सकता है । इसके अतिरिक्त आगम की प्रमाणता से भी इसे स्वीकार करना चाहिए ।

निर्विभाग होने के कारण परमाणु प्रदेशविहीन होता है, उसमें कोई प्रदेश नहीं होता वह स्वतन्त्र और अखण्ड होता है । सख्यात परमाणुओ के प्रचय से संख्यातप्रदेशी स्कंध बनता है, असंख्यात परमाणुओ के मेल से असंख्यातप्रदेशी स्कंध का निर्माण होता है और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है ।

परमाणु में प्रदेशो का अभाव होने से वह आकाश के एक ही प्रदेश में अवस्थित होता है । दो परमाणुओ से बना द्वयणुक यदि बद्ध हो तो एक ही आकाशप्रदेश में समा जाता है । और यदि बद्ध न हो तो दो आकाशप्रदेशो मे समाता है । इसी प्रकार तीन परमाणुओं से निर्मित त्र्यणुक यदि बद्ध हुआ तो एक ही आकाशप्रदेश में रह सकता है और यदि अबद्ध हुआ तो दो या तीन प्रदेशो को घेरता है । इसी प्रकार बद्ध और अबद्ध चतुरणुक की आदि की अवगाहना एक, दो, आदि सख्यात–असंख्यात प्रदेशो में यथायोग्य समझ लेना चाहिए । हाँ, इतना स्मरण रखना चाहिए कि लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही है, अनन्त नहीं; अतएव अनन्त एवं अनन्तानन्त प्रदेश वाला स्कंध भी एक, संख्यात या असंख्यात आकाशप्रदेशों में ही अवगाढ होता है । यह पुद्गल के परिणमन की विचित्रता है ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—"अथ जीवाना कियतिक्षेत्रेऽवगाहो भवतीति जिज्ञासायामाह— "जीवाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, पदीवोविव पएस–संकोचविगासेहिं—" इति ।

जीवानां लोकस्य लोकाकाशप्रदेशस्याऽसंख्येयभागेऽवगाहोऽवस्थानरूपो भवति. । तत्र—कदाचिद् लोकाकाशैकप्रदेशरूपाऽसख्येयभागे, कदाचिद्—द्विप्रदेशादिरूपाऽसख्येयभागे, कदाचित्—त्रिप्रदेशरूपाऽसंख्येयभागे, इत्यादिरीत्या जीवानामवगाहो भवति. ।

अथ तुल्यपरिमाणानां पटादीनामवगाहे वैषम्यस्याऽदृष्टत्वात् कथं जीवानां तुल्यप्रदेशत्वेऽपि कस्यचिदेकस्मिन् लोकाकाशाऽसंख्येयभागे कस्यचित् द्वयोरसख्येयभागयोः, कस्यचित्—त्रिषु असख्येयभागेपु अवगाहः, इत्येवं वैषम्यमित्याशङ्कायामाह—"पदीवोविव–" इत्यादि ।

प्रदीपस्येव जीवस्य प्रदेशानां सङ्कोच–विकाशाभ्यां क्वचिदल्पप्रदेशाऽवगाहित्वम्. कचिच्च—बहुप्रदेशावगाहित्वं भवति ॥१३॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे पुद्गलानामवगाहः प्ररूपितः सम्प्रति–जीवानामवगाहप्रकारं प्ररूपयति–"जीवाणं–"इत्यादि । जीवानां लोकाकाशस्याऽऽसख्येयभागादिषु—अवगाहो भवति । तत्र—लोकाकाशस्यैकप्रदेशरूपाऽसंख्येयभागे एको जीवोऽवगाहते अर्थात् – लोकाकाशस्याऽसख्येया भागाः क्रियन्ते तेषां मध्ये एकस्मिन् भागे एको जीवोऽवतिष्ठते ।

मूलसूत्रार्थ "जीवाणं लोगस्स" इत्यादि । सूत्र–१३"

जीवद्रव्य का अवगाह लोक के असख्यातवे भागमें होता है । जैसे दीपक का प्रकाश फैल जाता है, और सिकुड भी जाता है, उसी प्रकार जीवप्रदेश भी फैल जाते और सिकुड़ जाते है ॥१३॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीवो का अवगाह कितने क्षेत्र में होता है, इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है—

जीवो का अवगाह लोकाकाश के असंख्यात वें भाग में होता है । कदाचित् लोकाकाश के एक असख्यात वे भागमें, कदाचित् दो असख्यात भागों में और कदाचित् तीन असख्यात भागों में अवगाह होता ।

शंका—समान परिमाण वाले पट आदि के अवगाह में विषमता नहीं देखी जाती तो फिर सब जीवो के प्रदेशो में तुल्यता होने पर भी किसी जीव की अवगाहना लोक के एक असंख्यात वें भाग में, किसी की दो असख्यात भागो में, किसी की तीन असंख्यात भागो में अवगाहना हो, इस विषमता का क्या कारण है ?

समाधान—दीपक के प्रकाश के समान जीव के प्रदेशों में सकोच और विस्तार होता है, अतः कोई जीव थोड़े प्रदेशों में और कोई बहुत प्रदेशो में अवगाहता है ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में पुद्गलो का अवगाहन प्रकार प्रदर्शित करके अब जीवों की अवगाहना का निरूपण करते है—

एवं लोकाकाशस्य द्वि-त्रि-चतुराष्वप्यसख्येयभागेपु सर्वलोकात्प्राक् अवगाहो भवति नानाजीवानां पुनः सर्वलोक एवाऽवगाहो बोध्यः ।

अथ लोकाकाशस्यैकस्मिन्नसख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते तदा-कथं द्रव्यप्रमाणेना-ऽनन्तानन्तो जीवराशिः सशरीरोऽवतिष्ठते इतिचेदुच्यते-लोकाकाशे सूक्ष्मवादरभेदादवस्थानमवगन्तव्यम् । तत्र---बादरास्तावत् सप्रतिघातशरीरा स्तिष्ठन्ति । सूक्ष्माः पुनः सशरीरा अपि सूक्ष्मभावादेव एकनिगोदजीवावगाहेऽपि प्रदेशे साधारणशरीरा अनन्तानन्ता स्तिष्ठन्ति, किन्तु-न ते परस्परं बादरैश्च व्याहता भवन्ति इति रीत्या तेषा मवगाहविरोधो न भवति ।

तत्र कदाचित्-एकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशाऽसख्येयभागे, कदाचिद्---द्वयोरसख्येयभागयोः, कदाचित्-त्रिषु-असख्येयभागेषु जीवानामवगाहो भवति । एतावता सर्वएव लोकाकाशप्रदेशा असख्येयाः सन्ति । ते पुनरसख्येयैरङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणैर्धिया विभज्यन्ते तत्रैकस्मिन्नसंख्येयप्रदेश आकाशखण्डे जघन्येनैकजीवस्याऽवगाहो भवति कार्मणशरीरानुसारित्वात् ।

कश्चित्पुनरसख्येयप्रदेशद्वयरूपे आकाशखण्डेऽवगाह्य तिष्ठति, कश्चित्तु---असंख्येयप्रदेशत्रयरूपआकाशखण्डे, कश्चित्तावत् संख्येयप्रदेशचतुष्टयरूपे आकाशखण्डेऽवागाह्य तिष्ठति, इत्या-

---

जीवो का अवगाह लोकाकाश के असंख्यात भाग आदि में होता है तात्पर्य यह है कि कदाचित् एक जीव का अवगाह लोकाकाश के असंख्यात भागो में से एक भाग में होता है, किसी का दो या तीन आदि भागो में होता है। नाना जीवो का अवगाह सम्पूर्ण लोक में है ।

कहा जा सकता है कि यदि लोकाकाश के असंख्यात वें भाग में एक ही जीव अवगाहन कर लेता है तो अनन्तानन्तसंख्यक जीव शरीरसहित किस प्रकार इस लोक में समा सकते है ? इस का उत्तर यह है कि लोकाकाश में सूक्ष्म और वादर का भेद होने से अवगाहना असभव नहीं है, जो जीव बादर है उनके शरीर प्रतिघातयुक्त होते है किन्तु जो सूक्ष्म है वे शरीरसहित होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण एक ही आकाशप्रदेश में अनन्तानन्त समा जाते है । न वे परस्पर एक दूसरे के अवस्थान में वाधा पहुँचाते है और न वादर जीवो के अवस्थान में रुकावट डालते है, इस प्रकार लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशो में अनन्तानन्त जीवो की अवगाहना होना विरुद्ध नहीं है ।

इस प्रकार कदाचित् लोकाकाश के एक असंख्यातवे भाग में, कदाचित् दो असंख्यात भागो में और कदाचित् तीन असंख्यात भागो में जीवो का अवगाह होता है । इस प्रकार सव लोकाकाश के असख्यात प्रदेश होते है । वे असख्यातअंगुलासंख्येय भाग प्रमाण प्रदेशो से, कल्पना द्वारा विभक्त होते है । उनमें से जघन्य एक जीव का असंख्यातप्रदेश वाले एक आकाशखण्ड मे अवगाह होता है, कार्मण शरीर के अनुसारी होने से कोई जीव दो असंख्यातप्रदेश परिमित आकाशखंड में अवगाहन करता है, कोई जीव तीन असंख्यात प्रदेश

दिरीत्या यावत् कश्चित्—सकललोकाकाशं व्याप्यावतिष्ठते केवलिसमुद्घातापेक्षया समुद्घातकाले केवल्येव केवलं सर्वलोकाकाशं व्याप्य तिष्ठति नाऽन्यःकश्चिद् लोकमर्यादया, न पुनरलोकाकाशस्यैकमपि देशमक्रामतीति फलितम् ।

अथैकजीवस्य लोकाकाशतुल्यप्रदेशत्वात् कथं तस्य लोकाकाशाऽसख्येयभागादिषु—अवगाहः सम्भवति तस्य सर्वलोकाकाशव्याप्त्या—एव भवितव्यमित्याशङ्कायामाह **"पदीवोविव पएससंकोचविगासेहिं—"** प्रदीपस्येव जीवस्य प्रदेशानाम् सकोचविकासाभ्यां लोकाकाशस्याऽसंख्येयभागादिष्ववगाहः सजायते, यथा—प्रदीपाः तेजोऽवयना यथावकाशाऽनुसारिणः सन्तः स्वल्पेऽवकाशे सङ्कोचमास्थाय तिष्ठन्ति ।

महति चावकाशे विकाशं समाश्रयन्ति, एवं जीवस्यापि कस्यचित् प्राप्तप्रकृष्टसकोचस्य लोकाकाशस्यैकस्मिन्नसख्येयभागेऽवस्थानं भवति । कस्यचित्पुनः केवलिनः समुद्घातसमये प्राप्तोत्कृष्टविकाशस्य सर्वलोकेऽवगाहो भवति अन्या मध्यमावस्थाऽनेकभेदा भवति ।

एतेन—निर्णीताऽसख्येयप्रदेशपरिमाणस्य जीवस्य कार्मणशरीरापादितौदारिकादिशरीरसम्बन्धाद अल्पबहुप्रदेशव्यापिताया मवस्थायां न कश्चिद् हेतुः प्रतिभाति, नहि तुल्यपरिमाणानां पटादीनामवगाहे किमपि वैषम्यं दृश्यते इत्याशङ्काऽपि समाहिता यस्मात्—किल जीवस्य प्रदेशानां

परिमित आकाशखंड में अवगाहन करता है, कोई चार आकाशखंडो में व्याप्त होकर रहता है, इत्यादि रूप से कोई जीव सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होकर रहता है । मगर संपूर्ण लोकाकाश को केवली ही केवलिसमुद्घात के समय में व्याप्त करते है; अन्य कोई जीव नहीं । वे भी लोक से बाहर अलोकाकाश के एक भी प्रदेश में नहीं जाते है ।

शंका—एक जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर असख्यात है, ऐसी स्थिति में लोक के असख्यातवे भाग में उसका समावेश कैसे हो सकता है ? उसे तो सम्पूर्ण लोकाकाश में ही व्याप्त होना चाहिए ।

समाधान—जीव के प्रदेशो में दीपक के प्रकाश के समान संकोच—विस्तार होता है, अतएव लोकाकाश के असख्यात भाग आदि में उसका समावेश हो जाता है । जैसे बड़े कमरे में दीपक रक्खा जाय तो उसका प्रकाश उस सम्पूर्ण कमरे में फैला हुआ रहता है और उसको यदि छोटे स्थान मे रख दिया जाय तो प्रकाश सिकुड़ कर छोटे स्थान में समा जाता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेश भी नाम कर्म द्वारा प्राप्त शरीर के अनुसार सकुचित और विस्तृत हो जाते है । कोई जीव लोक के एक असख्यात भाग में समा जाता है और कोई केवलिसमुद्घात के समय विस्तार को प्राप्त होकर समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर लेता है । इन दोनो के बीच मध्यम अवगाहना भी अनेक प्रकार की होती है ।

इस कथन से इस आशंका का भी समाधान हो जाता है कि जब जीव के असख्यात प्रदेश है और औदारिक शरीर के साथ उसका सबंध है तो किसी का थोड़े प्रदेशो में और किसी का बहुत प्रदेशो में अवगाह हो, इस विषय में कोई हेतु नहीं है; समान परिमाण वाले

सङ्कोचविकासशालिता भवति पटस्येव पिण्डितवितताऽवस्थायिता प्रदीपप्रकाशस्येव सङ्कुचनप्रसारणे चर्ममण्डलस्येव संहरण-विसर्पणे इति भावः ॥

एवञ्चा—ऽमूर्तस्वभावस्य जीवस्याऽनादिबन्धं प्रत्येकत्वात् कथञ्चित् मूर्ततां धारयतः कार्मणशरीरवशात् महत्—अणु च शरीरमधितिष्ठतस्तद्वशात् प्रदेशसंहरणविसर्पणस्वभावस्य तावत्प्रमाणत्वे सति लोकाकाशस्याऽसङ्ख्येयभागादिषु अवगाहः सम्पद्यते प्रदीपवत् यथा खलु निरावरणगमनप्रदेशेऽनवधृतप्रकाशपरिणामस्य प्रदीपस्य शरावो-दञ्छन-माणिका-ऽपवरकाद्यावरणवशात् तत्परिमाणता भवति ।

तथैवैकस्यापि जीवस्य लोकाकाशतुल्यप्रदेशत्वेऽपि प्रदेशानां सङ्कोच—विकासस्वभावतया लोकाकाशस्याऽसङ्ख्येयभागादिषु अवगाहो भवत्येवेति भावः । अथैवमात्मनः सङ्कोचविकासस्वभावत्वे प्रदीपादिवदेवाऽनित्यत्वमापद्येतेति चेन्मैवम् । स्याद्वादिनां जैनानां मते कस्यापि वस्तुन एकान्ततो नित्यता अनित्यताया वा सत्वात् ।

सर्वस्यैव वस्तुनो द्रव्यपर्यायनयद्वयाऽऽविष्टतया सर्वेषामेव पदार्थानां नित्याऽनित्यत्वादिविकल्पशालित्वात् आत्मनोऽपि—द्रव्यार्थिकनयेना—ऽऽत्मत्वचैतन्यादिरूपेण नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेन ज्ञानशरीरादिपर्यायैरनित्यत्वाभ्युपगमात् । एतेनैतदपि प्रत्युक्तम्—

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
"चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥१॥ इति

पट आदि के अवगाह में किसी प्रकार की विषमता नहीं देखी जाती, क्योंकि जीव के प्रदेशो में संकुचित और विस्तृत होने का स्वभाव है जैसे वस्त्र में सकोच—विस्तार देखा जाता है, प्रदीप के प्रकाश में तथा चमड़े में भी संकोच- विस्तार होता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशो में भी संकोच विस्तार का स्वभाव विद्यमान है ।

जीव अपने स्वभाव से अमूर्त्त है, किन्तु मूर्त्त कर्मो के साथ बद्ध होने के कारण मूर्त्त हो गया है । कार्मण शरीर के वश से वह बड़े या छोटे शरीर को धारण करता है, उसी के कारण उसके प्रदेशो में संकोच—विस्तार होता है, इस कारण लोक के असख्यातवें भाग आदि में, लोकाकाश के प्रदेशो के बराबर प्रदेश होने पर भी एक जीव का अवगाह संभवित होता है ।

शंका—यदि जीव प्रदीप के समान संकोच—विस्तार स्वभाव वाला है तो प्रदीप समान ही अनित्य भी होना चाहिए ।

समाधान—अनेकान्तवादी जैनो के मत मे कोई भी वस्तु न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य ही है । प्रत्येक वस्तु द्रव्य—पर्यायात्मक है, अतः द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य होने के कारण सभी में नित्यता तथा अनित्यता है । आत्मा भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है, क्योंकि उसका आत्मत्व शाश्वत है, वह अपने चैतन्य स्वभाव का कदापि परित्याग नहीं करता, किन्तु अपने ज्ञानपर्यायो और शरीरपर्यायो की अपेक्षा अनित्य है । इस कथन से

स्याद्वादिभिर्नहि एकान्तेन व्योमनित्यमभ्युपगम्यते, नाऽपि चर्म–एकान्तेनानित्यं सर्वस्यैव वस्तुनः उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् । एकान्तनित्यानित्ययोश्च–कर्मफलसम्बन्धोऽपि नोपयुज्यते इति ।

एवञ्च—यथा तैलवर्तिका वह्निसामग्रीप्रवृद्धःप्रज्वलन् प्रदीपो विशालामपि कूटागारशालां प्रकाशयति । शरावो–दञ्चन-माणिकाद्यावृत्तस्तु-लघ्वीरपि शरावोदञ्चनमाणिका' प्रकाशयति । एवं द्रोणावृतः पुनर्द्रोणम्, आढकावृतश्चाढकम्, प्रस्थावृतः प्रस्थम्, हस्तावृतश्च हस्तं प्रकाशयति, इत्येवं रीत्याऽपरित्यक्तस्वात्मावयवोऽपि प्रदीपोऽनेकमाकारमादत्ते ।

एवं जीवोऽपि–स्वप्रदेशानां सहारविसर्गाभ्यां विशालं–लघु वा पञ्चविधं शरीरस्कन्धं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं व्याप्नोति, अवगाह्याऽवतिष्ठते ।

तथा चाऽवश्यमेव लोकाकाशे धर्माऽधर्माकाशपुद्गला' सन्ति, जोवप्रदेशश्च–भजनया यत्रैको जीवोऽवगाढो भवति, तत्राऽन्यस्याप्यवगाहो न विरुध्यते इति भावः । तथाच —एकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशेऽनेकजीवानामनेकप्रदेशावगाहात् अनावृतो द्वीपः स्वावयवमानमेवाऽवकाशं व्याप्नोति, न तु सम्पूर्ण जगत् । आत्मा पुनः समुद्घातकाले लोकव्यापि भवति । सिद्धिकाले तु–त्रिभागोनाऽवशिष्टः, अशुपिरसम्भूतशरीरानुकार्यवगाहादनन्तरं निष्प्रयोजनत्वेना–ऽवगाह-सङ्कोचाऽभावोऽवसेयः ।

इस आरोप का निराकरण भी हो जाता है कि चाहे वर्षा हो, चाहे धूप हो, आकाश का क्या विगड़ता है ? वर्षा और धूप का प्रभाव तो चमड़े पर ही होता है । यदि आत्मा चमड़े के समान है तो अनित्य हो जाएगा और यदि आकाश के समान नित्य है तो सुख–दुःख का भोग नहीं कर सकेगा ।

स्याद्वादी न तो आकाश को एकान्त नित्य स्वीकार करते है और न चमड़े को एकान्त अनित्य, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है । आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने पर कर्मफल का सयोग भी घटित नहीं हो सकता ।

इस प्रकार जैसे तेल, वत्ती, अग्नि आदि सामग्री से वृद्धि को प्राप्त जलता हुआ दीपक विशाल कूटागारशाला को प्रकाशित करता है, और शराव,ढकना उदंचन एवं माणिका आदि से आवृत होकर उनको ही प्रकाशित करता है, इसी प्रकार द्रोण से आवृत होकर द्रोण को,आढक से आवृत होकर आढक को प्रस्थ से आवृत होकर प्रस्थ (सेर) को हस्त से आवृत होकर हस्त को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशो के सकोच और विस्तार से बड़े अथवा छोटे पाँच प्रकार के शरीरस्कध को तथा धर्म, अधर्म, अथवा, पुद्गल और जीव के प्रदेशो के समूह को व्याप्त करता है अर्थात् उन्हे अवगाहन करके रहता है ।

इस प्रकार लोकाकाश मे धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अवश्य होते है । जीवप्रदेश भजना से होते है । जहाँ एक जीव का अवगाह होता है वहो दूसरे जीव के अवगाह का कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में अनेक जीवो के अनेक प्रदेशो का अवगाह है । अच्छादनरहित दीपक उतने ही आकाशप्रदेशो को व्याप्त करता है जितने उसके अवयव हो । वह सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित नहीं कर सकता, पर आत्मा समुद्घात के समय समस्त

एवञ्च–धर्माधर्माकाशजीवानां परस्परं पुद्गलेषु चावगाहरूपा वृत्तिरमूर्तत्वाद् न विरुध्यते। एतावता–धर्माधर्माकाशजीवानाममूर्तत्वात् परस्परेण वर्तनं न विरुद्धम्, नाऽपि–धर्मादीनां पुद्गलविषयकं वर्तनं विरुध्यते, तद्बलेन गतिस्थित्यवगाहदर्शनादात्मनश्च कर्मपुद्गलव्यापनात् जीवः संहरणविसर्पाभ्यां महान्तमणुं वा देहं गृह्णातीति फलितम्।

अथ जीवानां प्रदेशसहारविसर्गसामर्थ्ये सति, अविकलकारणकलापः खलु स जीवः सर्वान् प्रदेशानुपसहृत्य–एकस्मिन्नाकाशदेशे कथं नाऽवस्थानं करोति प्रतिबन्धकवत्वभावात् कस्माल्लोकाकाशस्याऽसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिषु? इतिचेदत्रोच्यते.

सर्वस्य संसारिणः कार्मणशरीरसम्बन्धाद् अनन्तानन्तपुद्गलप्रचितसर्वससारिकार्मणशरीरोपश्लेषाद् लोकाकाशस्याऽसंख्येयप्रदेशावगाहितैव सम्भवति, नैकादिप्रदेशावगाहिता। सिद्धास्तु–चरमशरीरत्रिभागहीनमवगाहन्ते। तथाच–शरीर त्रिभागः शुषिरो वर्तते। तत्पूरणात्-त्रिभागहीनाऽवगाहो भवति। स च–योगनिरोधकाले एव सम्भवति। तस्मात्–सिद्धोऽपि तदवस्थ-

---

लोक में व्याप्त हो जाता है। सिद्ध होने के पश्चात् जीव की अन्तिम शरीर से त्रिभाग न्यून अवगाहना रहती है; तीसरा भाग शरीर के छिद्रो की पूर्ति में लग जाता है। किन्तु सिद्ध जीवो का आकार वही रहता है जो आकार मुक्ति के समय शरीर का होता है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और जीवो की परस्पर में तथा पुद्गलो में अवगाहना का विरोध नहीं है, क्योकि वे अमूर्त्त है। इस कारण धर्म, अधर्म, आकाश और जीव का अमूर्त्त होने के कारण परस्पर में रहना विरुद्ध नहीं है और न धर्मादि का पुद्गलो में रहना विरुद्ध है; क्यों कि उन्हीं के निमित्त से गति, स्थिति और अवगाहना देखी जाती है और आत्मा कर्मपुद्गलो को व्याप्त करता है। फलितार्थ यह है कि जीव संकोचविस्तार स्वभाव के कारण बड़े अथवा छोटे शरीर को ग्रहण करता है।

शंका--यदि जीव के प्रदेशो में सकोच-- विस्तार का सामर्थ्य है तो सम्पूर्ण कारण मिलने पर जीव समस्त प्रदेशो के सिकोड़ कर अकाश के एक ही प्रदेश में क्यो नहीं समा जाता? रुकावट डालने वाली कोई वस्तु तो है नहीं! ऐसी स्थिति में जीवो का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में क्यो होता है? एक प्रदेश आदि में क्यो नहीं होता?

समाधान- प्रत्येक ससारी जीव का कार्मण शरीर के साथ सबंध है और कार्मण शरीर अनन्तानन्त पुद्गलो के संचय से बना है। अतएव लोक के असख्येय प्रदेशो में ही जीव का अवगाह हो सकता है, एकादि प्रदेश में नहीं। हाँ सिद्ध जीव चरम शरीर के तीसरे भाग कम में अवगाहन करते है। इसका कारण यह है कि शरीर का तीसरा भाग छिद्रमय–पोला है। उस पोलेपन की पूर्ति में तीसरा भाग कम हो जाता है। यह त्रिभागन्यूनता योग निरोध के समय ही हो जाती है, अतःसिद्ध जीव भी त्रिभागन्यून अवगाहना वाले होते है।

प्रमाणएवेति सामर्थ्याभावेन नातः परम् अनावरणवीर्यस्यापि भगवतः संहरणं सम्भवति, किमुत वक्तव्यं शेपसंसारिण इति ।

स्वभावश्चाऽयम् एतावानेवोपसंहारः, नहि हि स्वभावे पर्यनुयोगः सम्भवति । किञ्च–सकर्माऽसौ विद्यते तस्माद् अल्पतर उपसंहारो न भवति । अथ कर्मवियुक्तः कस्मान्नोपसंहरतीति चेन्मैवम् प्रयत्नाऽभावात् । प्रयत्नाभावश्च–करणाभावात् ।

अत्रेदं वोध्यम्—संक्षिपतो विकसन-सङ्कोचनधर्मत्वात् आत्मप्रदेशसमूहः कमलनालतन्तु-सन्तानवत्–अविच्छेदेन विकासमासादयति । अविच्छेदश्च–प्रदेशानाममूर्तत्वात् विकासधर्मत्वात् एकत्वपरिणतत्वात् जीवाभिवृद्धेर्विकासश्च सिद्धः । छेददर्शनात् सक्रियत्वाच्च कमलनालतन्तु-सन्तानवद–गृहगोधिकापुच्छवदेव च जीवप्रदेशाः सकलमन्यद् विशन्ति स्वल्पं परित्यज्य ।

अथ मस्तके छिन्ने सति शिरोऽपविध्य कथं स प्रदेशसन्तानं छिन्नमस्तकं शरीरं नाऽऽविशति इति चेत् ? उच्यते–वेदनायुषोर्भेदेन दोषाभावः । बहवो जीवप्रदेशाः संघीभूयासते

यद्यपि सिद्ध जीवो का सहज वीर्य निरावरण होता है तथापि उनमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे उससे अधिक अवगाहना का सकोच कर सकें। संसारी जीवो का तो कहना ही क्या ? जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि इससे अधिक संकोच नहीं हो सकता और स्वभाव के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त संसारी जीव कर्ममुक्त होने के कारण उससे अधिक संकोच नहीं कर सकता ।

शंका—कर्ममुक्त जीव क्यो अधिक संकोच नहीं करता ?

समाधान—इस कारण कि वे प्रयत्न नहीं करते ।

शंका—प्रयत्न क्यो नहीं करते ?

समाधान—प्रयत्न करने का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए–सकुचित आत्मप्रदेश जब विकसित होते हैं तब उनका संवन्ध परस्पर टूट नहीं जाता, वरन् कमल की नाल के तन्तुओ के समान वे आपस में जुड़े रहते हैं। सम्बन्ध न टूटने का कारण यह है कि प्रथम तो वे अमूर्त्त हैं, दूसरे विकासशील है और तीसरे एकत्व रूप परिणाम में परिणत होते है। जीव की वृद्धि देखने से-आत्मप्रदेशों का विकास सिद्ध होता है।

छिपकली की पूछ जव कट जाती है तो थोडी देर तक वह छटपटाती है, वाद में स्तब्ध हो जाती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि छिपकली के कतिपय जीवप्रदेश उसकी कटी हुई पूछ में भी कुछ समय तक रहते है और वाद में नहीं रहते। वे प्रदेश कहाँ चले जाते है ? छिपकली के शरीर में ही चले जाते है, क्योंकि उनका संवन्ध सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुआ था, कमल की नाल के तन्तुओं की तरह वे परस्पर में सम्बद्ध थे ।

शंका—ऐसा है तो मस्तक कट जाने पर भी मस्तक में स्थित प्रदेश शेष शरीर में क्यों नहीं चले जाते ? और मनुष्य उस पूछ–कटी छिपकली के समान जीवित क्यो नहीं रहता ?

यत्र तत् मर्मव्यपदिश्यते, बहुमर्मकश्च मूर्धा भवति, मर्मदेशेषु च महती वेदना भवति । आयुर्भेदश्चाऽध्यवसानादिनिमित्तः सप्तप्रकारकः प्रसिद्धः ।

तस्मात्—आत्मनः कर्माऽनुभावजनितौ सङ्कोच--विकासौ भवतः, न तु—नाशो भवति, सत्यपि सङ्कोचविकासे वाऽमूर्तत्वात् । स्यद्वादिनां मते कस्यचिद्वस्तुनः सर्वथा स्वतत्त्वनाशो न भवति, आत्मनः प्रदेशसंख्यायाः सङ्कोचविकासयोः सतोरपि ह्रासो वा—वृद्धिर्वा न सम्भवति, क्षेत्रतः पुनरात्मनस्तौ स्यातामेवेति भावः ।

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २—पदे जीवस्थानाधिकारे—"**लोयस्स असंखेज्जइभागे**—" इति । लोकस्याऽसंख्येयभागे—इति, राजप्रश्नीयसूत्रे चोक्तम्—"**दीवं व० जीवे वि जं जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धं वोंदिं णिव्वत्तेइ तं असंखेज्जेहिं जीवपदेसेहिं सचित्तं करेइ खुड्डियं वा—महालियं वा**—इति । दीप इव जीवोऽपि यद् यादृशं पूर्वकर्मनिबद्धं वोन्दि निर्वर्तयति । तत्—असंख्येयैर्जीवप्रदेशैः सचित्तं करोति क्षुद्रं वा महालयं वा, ॥इति॥ १३ ॥

मूलसूत्रम्—"**मणुस्सक्खेत्ते ओगाहो कालस्स**" ॥१४॥

छाया—**मनुष्य क्षेत्रेऽवगाहः कालस्स** ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धर्माऽधर्माकाशपुद्गलजीवानां पञ्चद्रव्याणां लोकाकाशेऽवगाहः प्रतिपादितः सम्प्रति—कालद्रव्यस्याऽवगाहं प्रतिपादयितुमाह—"**मणुस्सक्खेत्ते ओगाहो कालस्स**"

समाधान—वेदन आयु का भेद हो जाने से यह दोष नहीं आता । जहाँ बहुसंख्यक जीवप्रदेश एकत्र होकर रहते है, उसे मूर्त्त कहते हैं । मस्तक बहुत मर्म वाला है । मर्मदेशो में महान् वेदना होती है । अध्यवसान आदि सात कारणो से आयु का भेदन हो जाता है, यह बात प्रसिद्ध है ।

इस कारण आत्मा का कर्मोदय के अनुसार संकोच और विस्तार होता है, किन्तु नाश नहीं होता, क्योंकि वह अमूर्त्त है । भावार्थ यह है कि जैनमत में किसी भी वस्तु का समूल विनाश नहीं होता है और प्रदेशो का संकोच—विस्तार होने पर भी आत्मा का ह्रास अथवा वृद्धि नहीं होती । हाँ, क्षेत्र की अपेक्षा वृद्धि—ह्रास हुआ करता है, प्रदेशों की अपेक्षा नहीं, प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद में जीवस्थान प्रकरण में कहा है—'जीव लोक के असंख्यातवे भाग में रहता है ।' राजप्रश्नीयसूत्र में भी कहा है—'अपने पूर्वार्जित कर्म के अनुसार जीव जैसे शरीर को प्राप्त करता है, उसी को अपने असंख्यात प्रदेशो से व्याप्त कर लेता है—सजीव बना लेता है; चाहे वह छोटा हो अथवा बडा हो' ॥१३॥

मूलसूत्रार्थ—'**मणुस्सक्खेत्ते**' इत्यादि ॥सूत्र १४॥

मनुष्य क्षेत्र में कालद्रव्य का अवगाह है ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्य का अवगाह लोकाकाश में है, यह बात बतलाई जा चुकी है, अब कालद्रव्य का अवगाह बतलाने के लिए कहते

इति । कालस्य कालद्रव्यस्य मनुष्यक्षेत्रेऽवगाहो भवति,नाऽन्यत्रेति भावः ॥१४॥

मूलसूत्रम्—"गइठिइओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा ॥१५॥

छाया—गति-स्थित्यवगाहानां निमित्तानि धर्माऽधर्माकाशानि ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—अथ धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवानां षण्णां पूर्वोक्तद्रव्याणां क्रमशो लक्षणानि प्रतिपादयितुं प्रथमं धर्माऽधर्माऽऽकाशानां लक्षणानि वक्ति—"**गइ ठिइ ओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा**—" इति । गतिस्थित्यवगाहानां निमित्तानि यथाक्रमं धर्माधर्माकाशानि भवन्ति । तथाच—गतिनिमित्तं धर्मः स्थितिनिमित्तमधर्मः, अवगाहनिमित्तमाकाशं भवतीति भावः ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सामान्यतो धर्मादीनि षड्द्रव्याणि प्ररूपितानि सम्प्रति—तेषां यथायथं लक्षणानि प्ररूपयितुम् अथवा—तुल्येऽसंख्येयप्रदेशत्वे सति कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयोर्वर्तते न तु—असंख्येयभागादिषु वृत्तिमत्वम् । एवम्—असख्येयप्रदेशे लोकाकाशे एवाऽवगाहो भवति. नत्वलोकाकाशे तत्कथम् इत्याशङ्कां समाधातुं प्रयोगविस्रसापरिणामजनितामनेकप्रकारां सार्वलौकिकीमन्यद्रव्येषु असम्भाविनीं क्रियामारभमाणानां जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योरूपग्राहकौ-तावद् धर्माधर्मौ चक्षुषोदर्शनशक्तेरूपग्राहकसूर्यरश्मिवदिति कार्यतो धर्माधर्मयोः सकललोकव्या-

---

है—कालद्रव्य का अवगाह मनुष्यक्षेत्र में ही है, अन्यत्र नहीं ॥१४॥

मूलसूत्रार्थ—'गइ ठिइ ओगाहाणं' इत्यादि ॥सूत्र १५॥

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य क्रमशः गति, स्थिति और अवगाहना के निमित्त कारण हैं ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छहो द्रव्यो के लक्षण क्रमशः प्रतिपादन करने के लिए प्रथम धर्म, अधर्म आकाश का लक्षण कहते हैं—धर्मद्रव्य गति का, अधर्मद्रव्य स्थिति का और आकाशद्रव्य अवगाहना का निमित्त है ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सामान्य रूप से धर्म आदि द्रव्यों का निर्देश किया गया है, अब उनका लक्षण बतलाते है । अथवा धर्म और अधर्म द्रव्य के असख्यात प्रदेश तुल्य होने पर भी वे सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, असंख्यातवे भाग आदि में नहीं । इस प्रकार उनका अवगाह लोक में ही है, अलोक में नहीं, ऐसा क्यों है ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते है—छह द्रव्यो में से केवल जीव और पुद्गलद्रव्य में ही गतिक्रिया होती है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं । वह गतिक्रिया प्रयोग परिणाम से भी होती है और विस्रसा (स्वभाव) परिणाम से भी होती है । इस गतिक्रिया में धर्म और अधर्म उसी प्रकार सहायक होते हैं जैसे सूर्य की किरणें नेत्रों के देखने में सहायक होती है । गतिक्रिया समस्त लोक में देखी जाती है, अतएव अनुमान प्रमाण से यह निश्चय हो जाता है कि धर्म और अधर्मद्रव्य भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं ।

पित्वं निश्चीयते। एवम् लोकाकाशे एव जीवानामजीवानाञ्च धर्माधर्मपुद्गलादीनां सत्त्वेन अलोकाकाशस्य तु शून्यत्वात्तत्रावगाहो नोपपद्यते, इतिरीत्या त्रयाणां धर्माधर्माकाशानामसाधारणं कार्यं सूत्रेण दर्शयितुमाह—"गइ ठिइ ओगाहणं निमित्ता धम्माधम्मागासा–" इति।

गतिस्थित्यवगाहानां निमित्तानि खलु यथासङ्ख्यं धर्माधर्माकाशानि भवन्ति। तत्र देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः, तद्विपरीतः परिणामः स्थितिः, अवकाशदानहेतुः परिणामः अवगाह उच्यते। तथाच—देशान्तरप्राप्तिपरिणामलक्षणगत्याविष्टानां जीवपुद्गलादिद्रव्याणां गतिनिमित्तं धर्मो व्यपदिश्यते।

एवं देशान्तरप्राप्तिविपरीतपरिणामलक्षणस्थित्याविष्टानां जीवपुद्गलादिद्रव्याणां स्थितिनिमित्तमधर्म उच्यते। एवं जीवपुद्गलादीनामवगाहिनां द्रव्याणामवकाशदानपरिणामलक्षणावगाहनिमित्तमाकाशं व्यवह्रियते, एतावता गतिपरिणामिनां जीवपुद्गलादीनां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायस्योपकारोऽवगन्तव्यः जलस्येव मत्स्यादिगमने।

एवं स्थितिपरिणामिनां जीवपुद्गलादीनां स्थित्युपग्रहे कर्त्तव्येऽधर्मास्तिकायस्योपकारो भूम्यादेरिवाश्वादिस्थितौ बोध्यः। एवं जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानलक्षणेऽवगाहे कर्त्तव्ये आकाशस्योपकारो द्रष्टव्य इति फलितम्, तथाच—गतिमतां गते रुपग्रहे धर्मस्योपकारः, स्थिति-

---

इस प्रकार लोक में ही जीवो का तथा धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि अजीव द्रव्यो का अस्तित्व है। अलोकाकाश सूना है, वहाँ किसी अन्य द्रव्य का अवगाह नहीं है। इस प्रकार से धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का असाधारण कार्य बतलाने के लिए कहते है—गति, स्थिति और अवगाहना के निमित्तकारण धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य है।

एक देश से दूसरे देश में प्राप्ति रूप परिणाम को गति कहते है। उससे विपरीत परिणाम को स्थिति कहते है। अवकाश देने के कारण रूप परिणाम को अवगाह कहा गया है। इस प्रकार देशान्तर प्राप्ति रूप परिणाम वाले जीवो और पुद्गलो की गति में जो निमित्त होता है, वह धर्मद्रव्य कहलाता है।

इसी प्रकार देशान्तर प्राप्ति से विपरीत परिणाम रूप स्थिति वाले जीव एवं पुद्गल द्रव्यो की स्थिति का जो निमित्त है वह अधर्मास्तिकाय कहलाता है। जीव पुद्गल आदि अवगाहन करने वाले द्रव्यो के अवकाशदान परिणाम रूप अवगाह में जो निमित्तकारण हो, वह आकाश कहा गया है। इससे गतिपरिणमन वाले जीवो और पुद्गलो की गति में सहायता पहुँचाना धर्मद्रव्य का उपकार है, जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल सहायता पहुँचाता है। इसी प्रकार स्वयं स्थिति में परिणत होने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होना अधर्मद्रव्य का उपकार है, जैसे अश्व आदि की स्थिति में भूमि आदि निमित्त होतेहै।

इसी प्रकार अवगाहन करने वाले जीवो, पुद्गलो आदि के अवकाशदान रूप अवगाह करने मे आकाश का उपकार समझ लेना चाहिए, यह फलित हुआ। इस प्रकार गति-

मतां स्थिते रुपग्रहोऽधर्मस्योपकारः अवगाहिनां धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकार इति पर्यवसितम् ।

एवञ्च—जीवपुद्गलाः क्रियावन्तो भवन्ति, यत्र च गतिर्भवति—तत्राऽवश्यमेव स्थितिरपि भवेत् । एवं येषां गतिस्थिती भवतस्तेषामवकाशोऽप्यावश्यकः । अथवा—गतिप्रयोजकस्य धर्मद्रव्यस्य सर्वदा सन्निहितत्वात् कथं तावदत्याहतागतिरेव सततं न भवति अविकलकारणकलापसान्निध्ये कार्योत्पत्तेरवश्यं भावित्वात् । एवं सर्वदाऽधर्मद्रव्यस्यापि सन्निहितत्वात् कथं सदा स्थितिरेव न भवति ?

एवमवगाहविषयेऽपि शङ्का भवति ? तत्राह—स्वत एव गतिपरिणामो येषां द्रव्याणाम् एव स्थितिपरिणामा—ऽवगाहपरिणामावपि येषां जीवपुद्गलादीनां स्वतः सिद्धौ तेषामुपग्राहकानि धर्माधर्माकाशानि भवन्ति । तानि च धर्मादीनि त्रीणि द्रव्याणि गतिस्थित्यवगाहेषु अपेक्षाकारकाणि सन्ति,, न तु—निवर्त्तकं कारणम् ।

निवर्तकं कारणन्तु—तदेव जीवद्रव्यं पुद्गलादिद्रव्यं वा गतिस्थित्यवगाहक्रियाविष्टं भवति । धर्माधर्माकाशानि तु—उपग्राहकानि । अनुपघातकानि—अनुग्राहकाणि भवन्तीति भाव. । स्वभावत एव गतिस्थित्यवगाहपरिणतानि जीवपुद्गलादि द्रव्याणि धर्माऽधर्माऽऽकाशाः अनुगृह्णन्ति । यथाहि-सरित्तडागहृदोदधिषु अवगाहित्वे सति स्वयमेव जिगमिषोर्मत्स्यस्याऽनुग्राहकं जलं निमित्ततयोपकारं करोति घटादिरूपेण परिणामिन्याः मृदो दण्डादिवत् इतिभावः । उक्तञ्च—

मान जीव पुद्गलो की गति में धर्मद्रव्य का स्थितिमान् जीव–पुद्गलो की स्थिति में अधर्मद्रव्य का और अवगाहनशील धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य के अवगाहन में आकाश का उपकार है, यह सिद्ध हुआ ।

जीव और पुद्गल द्रव्य ही गतिक्रिया वाले है और जहाँ गति होती है वहाँ स्थिति भी अवश्य होती है और जिनमें गति तथा स्थिति है, उनका अवकाश भी आवश्यक है।

शका—गति सहायक धर्मद्रव्य जब सदैव विद्यमान रहता है। तो निरन्तर गति ही क्यो नहीं होती रहती ? क्योकि कारण के होने पह कार्य की उत्पत्ति अवश्य देखी जाती है। इसी प्रकार सदा अधर्मद्रव्य सन्निहित रहने से सदैव स्थिति ही क्यों नहीं रहती ?

समाधान—धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के जनक नहीं, सहायक है। जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करते है तब वे सहायक मात्र बन जाते है। धर्मद्रव्य किसी को बलात् चलाता नहीं और अधर्म द्रव्य किसी को बलात् ठहराता नहीं ।

उपादान कारण तो जीव की गति में स्वयं पुद्गल ही है। धर्म और अधर्मद्रव्य तो सहायक मात्र है, अनुग्रहकारी है, निमित्त हैं। जैसे नदी, तालाव, हृद या समुद्रों में स्वयं ही गमन करने वाले मत्स्य के लिए जल सहायक हो जाता है. जल मत्स्य को चलाता नहीं है. इसी प्रकार धर्मास्तिकाय गतिक्रिया में सहायक होता है, प्रेरक नहीं। या जैसे घट आदि

"निर्वर्तको निमित्तं परिणामी च त्रिधेष्यते हेतुः ।
"कुम्भस्य कुम्भकारो वर्ता मृच्चेति समसंख्यम् ॥१॥ इति

अस्यार्थः—कार्यम्प्रति कारणं त्रिविधं भवति, निर्वर्तकम्—निमित्तम्—परिणामि च तदेव दर्शयति "निर्वर्तकम्" इत्यादि । घटं प्रति त्रिधा हेतुरिष्यते निर्वर्तकः निमित्तम् परिणामी च, तत्र—घटस्य निर्वर्तको हेतुः कुम्भकारः, निमित्तं—कारणम्, वर्ताचक्रम्, मृच्च परिणामि—उपादानकारणमिति ।

न खलु तावत्—तज्जलद्रव्यं गते हेतुभावं बिभ्राणं गमनमकुर्वाणमपि मत्स्यं हठाद् गन्तुं प्रेरयति, भूमिर्वा—स्वयमेव स्थितवतो द्रव्यस्य स्थानभावमासादयति, न वा—स्वयं स्थितिमकुर्वाणं द्रव्यं बलादवनिः स्थापयति, आकाशं वाऽवगाहं कुर्वतः स्वत एव द्रव्यस्याऽवगाहं प्रति कारणतामुपैति, न पुनरवगाहमानं स्वावष्टम्भात् अवगाहयति, स्वयमेव कर्षकाणां कृष्यारम्भं कुर्वतां वर्षाऽपेक्षाकारणं भवति ।

नहि कृषिमकुर्वतो जनान् तदर्थमारम्भयति वर्षाजलम्, प्रावृषि वा वर्षर्तौ नूतनजलधरध्वनिश्रवणहेतुकोपाधीयमानगर्भा बलाका स्वत एव प्रसूते, न वा प्रसूयमानां बलाकां नूतनजलधरध्वनिर्हठात् प्रसावयति, पुरुषो वा प्रतिबोधं प्राप्य प्रतिबोधहेतुकां विरतिमासादयन् अवद्याद् विरमन् दृश्यते न पुनरविरमन्तं पुरुषं बलात् प्रतिबोधो विरमयतीति भावः ।

अथैवं तर्हि गतिस्थित्यवगाहं प्रति दण्डादिवत् धर्माऽधर्माकाशानि निमित्तकारणान्येव स्युः नत्वपेक्षाकारणानि । तथाचापेक्षाकारणतैव हीयते तेषाम्, यतो निर्व्यापारमपेक्षाकारणमुच्यते इति चेन्मैवम् ।

रूप में परिणत होने वाली मृत्तिका के लिए दंड आदि सहायक हो जाते हैं, उसी प्रकार उक्त द्रव्य सहायक होते है । कहा भी है—

कारण तीन प्रकार के होते है—निर्वर्त्तक निमित्त और परिणामी । यही यहाँ दिखलाते हैं—घट में तीन कारण माने जाते है—निर्वर्त्तक, निमित्त और परिणामी कारण । घटका निर्वर्त्तक कारण कुंभकार है, निमित्तकारण डोरी तथा चाक आदि है और परिणामी कारण मृत्तिका है ।

जल मत्स्य की गति का कारण तो है मगर गमन करने वाले मत्स्य को जबर्दस्ती नहीं चलाता । भूमि स्थिति में सहायक है मगर गमन करने वाले को बलात् स्थित नहीं करती । आकाश अवगाहना में कारण है मगर स्वयं अवगाढ द्रव्यो के अवगाह में वह निमित्त होता है: जबर्दस्ती अवगाढ नहीं करता, जैसे स्वयं खेत जोतने वाले कृषक के लिए वर्षा निमित्त कारण होती है । स्वयं खेत न जोतने वाले कृषको को वर्षा का जल बलात् जोतने में प्रवृत्त नहीं करता । वर्षाकाल में नूतन मेघो की ध्वनि को सुनकर बलाका स्वय गर्भ धारण कर के प्रसव करती है; प्रसव करने वाली बलाका-बकपंक्ति को नूतन मेघ जबर्दस्ती प्रसव नहीं कराते । किसी प्रतिबोधक का निमित्त पाकर मनुष्य प्रतिबोधहेतुक विरति को धारण करता हुआ पाप से विरत होता देखा जाता है: किंतु विरत न होने वाले पुरुष को प्रतिबोध जबर्दस्ती विरत नहीं करता ।

शंका—अगर ऐसा है तो गति, स्थिति और अवगाह में धर्म, अधर्म और आकाश

निर्युक्तिकमेतत् । नहि—निर्व्यापार किमपि कारणं भवति । अपितु कुर्वदेव कारणं व्यपदिश्यते, धर्मादीनामपेक्षाकारणत्वञ्चैतावतैवोच्यते यत् धर्मादिद्रव्यगतक्रियापरिणाममपेक्षमाणं जीवपुद्गलादि गतिस्थित्यवगाहक्रियापरिणतिं पुष्णाति ।

अथैवं तर्हि निमित्तकारणाऽपेक्षाकारणयोर्न कश्चिद्विशेषः स्यादिति चेन्न, दण्डादिषु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया भवति, धर्माधर्माकाशेषु पुनर्वैस्रसिक्येव क्रियेति विशेषः । एवञ्च गत्युपकारो नावगाहलक्षणस्याऽऽकाशस्योपपद्यते । अपितु धर्मस्यैव गत्युपकारो दृष्टः । एवं स्थित्युपकारश्चाऽधर्मस्यैव नाऽवगाहलक्षणस्याऽऽकाशस्य ।

एव मवगाहोपकारश्चाकाशस्यैव, न तु धर्माऽधर्मयोरिति । द्रव्यस्य तावत् अवश्यमेव द्रव्यान्तराद् विशेष. कश्चिद्गुणोऽभ्युपगन्तव्यः । धर्माधर्माकाशानां परस्परं द्रव्यान्तरत्वञ्च युक्तेरागमाद्वा प्रतिपत्तव्यम् ।

तथाचोक्तम्—आगमे "**कइ णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये**" इति । कति खलु भदन्त ! द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! षड् द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशोस्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः जीवा-

---

निमित्त कारण ही होने चाहिए, अपेक्षा कारण नहीं । ऐसी स्थिति में अपेक्षा कारणता की ही हानि हो जाएगी, क्योंकि अपेक्षाकारण व्यापाररहित होता है ।

समाधान—ऐसा मत कहो । कोई भी कारण व्यापाररहित नहीं होता । व्यापार करने वाला ही कारण कहा जा सकता है । धर्मादि को इसीलिए अपेक्षाकारण कहा जाता है कि जीवादि द्रव्य धर्मादिगत क्रियापरिणाम की अपेक्षा रखते हुए ही गति आदि क्रिया करते हैं ।

शंका—ऐसा है तो निमित्तकारण और अपेक्षाकारण में कोई भेद नहीं रहता ।

समाधान—दंड आदि में प्रायोगिकी और वैस्रसिकी दोनो प्रकार क्रिया होती है, धर्म, अधर्म और आकाश में वैस्रसिकी ही क्रिया होती है । दोनो मे यह अन्तर है । इस प्रकार गति में सहायक होना अवगाह लक्षण वाले आकाश में घटित नहीं होता, किंतु गति में सहायक होना धर्मद्रव्य का ही उपकार है इसी प्रकार स्थिति में सहायक होना अधर्मद्रव्य का ही उपकार है, अवगाह लक्षण वाले आकाश का नहीं । अवगाह रूप उपकार आकाश का ही है, धर्म और अधर्म द्रव्य का नहीं ।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से भिन्न कोई विशिष्ट गुण अवश्य स्वीकार करना चाहिए । धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य परस्पर भिन्न है, यह तथ्य युक्ति से अथवा आगम से समझ लेना चाहिए । आगम में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! द्रव्य कितने कहे है ?

उत्तर—गौतम ! छह द्रव्य कहे है, यथा— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धासमय ।

स्तिकायः अद्धासमयश्चेति । अथ धर्मद्रव्यस्य गत्युपकारनिरपेक्षमेव काकादिपक्षिणामुत्पतनं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोश्च तिर्यग्गमनम् अनादिकालीनात्स्वभावादेव भवति इतिचेदत्रोच्यते ।

धर्मद्रव्योपकारनिरपेक्षायां स्वाभाविक्यां काकादिगतौ स्वीक्रियमाणाया मुक्तहेतुदृष्टान्तौ नानवद्यौ स्तः, यतः सर्वेषामेव जीवपुद्गलादीनामासादितगतिपरिणामानामनुग्राहकतया धर्ममभ्युपगच्छन्ति—अनेकान्तवादिनः । एवं सर्वेषामेव जीवपुद्गलादीनां द्रव्याणामासादितस्थितिपरिणतीनामुपग्राहकतयाऽधर्ममनुसरन्ति-आर्हता अनेकान्तवादिनः ।

एवमेव हि—आसादितावगाहपरिणतीनां जीवपुद्गलादीनामुपग्राहकतयाऽऽकाशमभ्युपगच्छन्ति जैनसिद्धान्तानुसारिणो जैनाः । एतैश्च त्रिभिर्धर्माऽधर्माकाशैर्न गतिस्थित्यवगाहा जीवपुद्गलादीनां विधीयन्ते अपितु—केवलं साचिव्यमात्रेणोपकारकत्वमेतेषां धर्मादीनां वर्तते ।

अथैवमपि——लोकव्यापि धर्मद्रव्यास्तित्ववादिनोऽनेकान्तवादिनो धर्मद्रव्यसान्निध्यमात्रमेव धर्मद्रव्योपकारो गत्युपग्रहः । एवम्—अधर्मद्रव्योपकारः स्थित्युपग्रहोऽपि अधर्मद्रव्यसान्निध्यमात्रमेव तन्मात्रत्वात् एवमेवाऽवग्रहोपग्रहोऽपि आकाशद्रव्योपकारः तत्सान्निध्यमात्रमेवेति चेदुच्यते ।

जीवपुद्गलानां ये गतिस्थित्यवगाहा भवन्ति ते स्वतः परिणामाभावात् परिणामिकर्तृनिमित्तकारणत्रयव्यतिरिक्तोदासीनकारणान्तरसापेक्षात्मलाभा अवगन्तव्याः अस्वाभाविकपर्यायत्वे सति कदाचिद् भावात्—उदासीनकारणजलापेक्षात्मलाभमत्स्यगत्यादिवत् तद् ऐतेषाममूर्तानामपि सतां गमकम् एकैकस्यासद्भावे न भवति, न वा-तदन्येनोपक्रियते,

---

शंका——धर्मास्तिकाय के गति—उपकार के विना ही पक्षियो का उड़ना, अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन और वायु का तिर्छा चलना अनादि कालीन स्वभाव से ही देखा जाता है ।

समाधान——धर्मद्रव्य के उपकार के विना ही, काक आदि पक्षियो की स्वाभाविक गति मानने में उक्त हेतु और दृष्टांत समीचीन नहीं है, क्योकि अनेकान्तवादी गतिपरिणाम को प्राप्त सभी जीवो और पुद्गलो की गति में धर्मद्रव्य को अनुग्राहक स्वीकार करते है। इसी प्रकार अनेकान्तवादी आर्हत स्वयं स्थितिपरिणाम में परिणत सभी जीवो और पुद्गलो की स्थिति में अधर्मद्रव्य को सहायक मानते है। इसी प्रकार जैनसिद्धान्त के अनुयायी जैन सभी अवगाहपरिणाम में परिणत जीव पुद्गल आदि के अवगाह में आकाश को सहायक मानते है। धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीन द्रव्य जीव और पुद्गल की गति, स्थिति और अवगाह को उत्पन्न नहीं करते हैं, अपितु केवल सहायता मात्र करते है ।

जीवो और पुद्गलो की जो गति, स्थिति और अवगाहना होती है, वह स्वतः परिणाम का अभाव होने से परिणामी कर्त्ता और निमित्त इन तीनो कारणो से भिन्न, अलग उदासीन कारण से उत्पन्न समझना चाहिए। क्योकि वह स्वाभाविक पर्याय न होते हुए कभी—कभी होती है; जैसे मत्स्य की गति उदासीन कारण जल की सहायता से होती है। इस प्रकार यद्यपि धर्मादि द्रव्य अमूर्त्त है, फिर भी गति आदि कार्य उनके गमक होते है: क्योकि इनके अभाव में ये कार्य हो नहीं सकते और एक का कार्य दूसरा कोई भी नहीं कर सकता ।

तथाच—गतिस्थित्यवगाहपरिणतजीवपुद्गलद्रव्यसामीप्येन धर्मादीनां व्याप्रियमाणतैव तदुपकारो व्यपदिश्यते इति फलितम्। अथैवमपि धर्माधर्मपुद्गलजीवानामनुप्रवेशनिष्क्रमणस्वभावरूपोऽवगाह आकाशस्य लक्षणं पर्यवसितं तन्नोपपद्यते, उक्तलक्षणावगाहस्य पुद्गलजीवसम्बन्धितया—ऽऽकाशसम्बन्धितया चोभयनिष्ठत्वात् तदुभयजन्यत्वाच्च अङ्गुलादिसंयोगवत् न केवलम् आकाशस्यैव स्वतत्वम् न हि द्रव्यद्वयजनितसंयोग एकेनैव द्रव्येण व्यपदेष्टुं शक्यते एकस्यैव वा लक्षणं वक्तुं पार्यते इति चेत्सत्यम्।

आकाशस्यैवा—ऽवगाह्यस्य प्रधानतया लक्ष्यत्वेन विवक्षितत्वात् प्रधानमवगाहनमनुप्रवेशो यत्र तद् आकाशमवगाहलक्षणं प्रतिपादितम् अन्यत्पुनरवगाहकं जीवपुद्गलादिसंयोगजनकत्वस्य सत्वेऽपि प्रधानतया लक्ष्यत्वेन न विवक्ष्यते तस्माद्—आकाशस्यैवा-ऽवगाहलक्षणं युक्तम् यतोहि—आकाशमेवा—ऽसाधारणकारणतयाऽवगाहमानजीवपुद्गलादिद्रव्याणामवगाहदायि भवति, न तु—अनवगाहमानं जीवपुद्गलादिबलादवगाहयति।

एवञ्च—द्रव्यान्तरासम्भाविना जीवपुद्गलानामवगाहदानलक्षणोपकारेणाऽतीन्द्रियमपि आकाशमनुमातव्यम्। आत्मवत्—धर्मवद्वा। एवञ्च यथा—पुरुषहस्तदण्डभेर्याघातजन्यः शब्दो भेरी-

---

इस कथन का फलितार्थ यह है कि गति, स्थिति और अवगाह रूप में परिणत जीव और पुद्गल द्रव्य के सामीप्य से धर्मादि का व्यापार होना ही उनका उपकार कहलाता है।

शंका की जा सकती है कि ऐसा मानने पर भी धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य का प्रवेश और निष्क्रमण रूप अवगाह आकाश का लक्षण सिद्ध होता है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षण वाला अवगाह पुद्गल—जीव संबन्धी तथा आकाश संबन्धी होने से उभयनिष्ठ है—दोनो में रहता है। और दोनो के द्वारा जनित होने के कारण, दो उंगलियों के सयोग के समान, किसी एक का लक्षण नहीं कहा जा सकता। अर्थात् जैसे दो उङ्गलियों के संयोग को एक उंगली का धर्म नहीं कह सकते, उसी प्रकार उक्त अवगाह भी सिर्फ आकाश का नहीं कहा जा सकता।

उक्त शंका ठीक है किन्तु यहाँ लक्ष्य होने के कारण आकाश की ही प्रधान रूप से विवक्षा की गई है। इसी कारण ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि जहाँ अवगाहन—अनुप्रवेश हो, वह आकाश है। इस तरह आकाश का लक्षण अवगाहना कहा गया है। अवगाहक जो जीव और पुद्गल है, वे भी यद्यपि सयोग के जनक है तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है। इस कारण अवगाह को आकाश का लक्षण मानना उचित ही है। अवगाहमान जीव और पुद्गल आदि द्रव्यो को अवगाह देने में आकाश ही असाधारण कारण है। मगर वह अवगाह देने में जबर्दस्ती नहीं करता।

इस प्रकार आकाश यद्यपि अमूर्त्त है तथापि जीवादि को अवगाहना देने रूप उपकार से इसका अनुमान किया जा सकता है; जैसे कि आत्मा अथवा धर्म के विषय में अनुमान

शब्दत्वेन व्यपदिश्यते। यवाङ्कुरम्प्रति यवस्या-ऽसाधारणकारणत्वात्। यवाङ्कुरमिति व्यवह्रियते। एवम्-जीवपुद्गलादीनामवगाहम्प्रति आकाशस्या-ऽसाधारणकारणत्वादवगाहोऽपि। आकाशस्य लक्षणमवगन्तव्यम्।

अथैवमपि--अवगाहते परमाणुः अवगाहते जीव इति सामानाधिकरण्येन व्यवहारात् अवगाहकजीवपुद्गलादिद्रव्यविषय एवा--ऽवगाहः स्यात् न तु आकाशविषये, यथा-"**उपविशति देवदत्तः**" इत्यत्र उपवेशनं देवदत्तस्येति चेन्मैवम्।

यथा **आस्ते देवदत्तोऽस्मिन्** इत्यासनपदेन भूम्यादिकमाधार उच्यते। एवम्-**अवगाहतेऽस्मिन्** इति रीत्याऽवगाहस्य व्यवहार आकाश एवोपयुज्यते इति भावः।

अथैवम्—अलोकाकाशे जीवपुद्गलादीना मवगाहाभावेन तत्रावगाहलक्षणमव्याप्तमितिचेत्—उच्यते, लोकाकाशस्यैवाऽवगाहलक्षत्वात् अलोकाकाशेऽवगाहलक्षणस्याऽव्याप्तत्वेऽपि दोषाऽभावात्। आकाशं तावत् शुषिरलक्षणमेकरूपं वर्तते, तस्याकाशस्याऽवगाहिभिर्धर्मादिद्रव्यैर्विभागः कृतो बोध्यः। एवञ्च-प्रकृतेः सामान्यतः आकाशपदोपादानेऽपि लोकाकाशस्यैव ग्रहणं बोध्यम्।

किया जाता है। इस प्रकार पुरुष के हस्त, दंड, एवं भेरी के आघात से उत्पन्न होने वाला शब्द भी भेरी का शब्द कहलाता हैं। पृथ्वी पानी आदि कारण होने पर भी यव विशिष्ट कारण होने से जैसे यवांकुर यवांकुर कहलाता है, इसी प्रकार अवगाहना में यद्यपि जीव और पुद्गल आदि भी कारण हैं, फिर भी असाधारण कारण होने के कारण आकाश का ही वह लक्षण कहा जाता है।

ऐसा होने पर भी 'परमाणु अवगाहना है' या 'जीव अवगाहना है' इस प्रकार समानाधिकरण व्यवहार देखा जाता है, अतएव अवगाहक जीव पुद्गल आदि द्रव्य संबन्धी ही अवगाह होना चाहिए, आकाश सबन्धी नहीं; जैसे कि '**देवदत्त बैठता है**' यहाँ बैठना देवदत्त का ही माना जाता है। यह कथन ठीक नहीं है। जैसे '**आस्ते देवदत्तोऽस्मिन्**' इस प्रकार का विग्रह करने से आसन भूमि आदि कहलाते है, उसी प्रकार '**अवगाहतेऽस्मिन्**' ऐसा विग्रह करने पर अवगाह का व्यवहार आकाश में ही उपयुक्त होता है।

शंका—यदि अवगाहना आकाश का लक्षण माना जाय तो अलोकाकाश में यह लक्षण घटित न होने से अव्याप्ति नामक दोष आता है। अलोक में जीव आदि की अवगाहना का संभव नहीं है।

समाधान—अवगाहना लक्षण लोकाकाश का ही है. अत वह यदि अलोकाकाश में नहीं पाया जाता तो भी अव्याप्ति दोष नहीं है।

पोलार रूप आकाश तो सर्वत्र एक ही है, केवल धर्म आदि द्रव्यों के सद्भाव और असद्भाव के कारण ही लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद-व्यवहार होता है। यहाँ सामान्य रूप से 'आकाश' पद का प्रयोग करने पर भी लोकाकाश का ही ग्रहण समझना

तस्यैवा--ऽवगाहलक्षणत्वात् तत्र धर्माधर्मप्रदेशानां लोकाकाशप्रदेशाभ्यन्तरवर्तितया--ऽलोकाकाशेऽसम्भवात् ते धर्माधर्मप्रदेशाः अलोकाकाशान्ताल्लोकाकाशप्रदेशनिर्विभागवर्तित्वेनाऽवस्थिता भवन्ति। तस्मात्--अन्तरावकाशदानेन धर्माधर्मयोरुपकारं करोति, पुद्गलानां--जीवानाञ्च स्वल्पतरासंख्येयप्रदेशव्यापित्वात् क्रियावत्वाच्च संयोगैर्विभागैश्चोपकारं करोति ।

एवञ्च अन्यत्राऽवगाढाः सन्तो मनुष्यमृल्लोष्ठखण्डादयः पुनरन्यत्रोपलभ्यन्ते, सर्वत्र चाऽभ्यन्तरेऽवकाशदानादेकोऽपि अवगाहोऽवगाह्योपाधिभेदादनेक इव लक्ष्यते । तथाच--जीवपुद्गलानामन्तःप्रवेशसम्भवेन संयोगविभागैश्चोपकारं करोति. ।

अथ जीवपुद्गलानां गतिस्थितिलक्षणे धर्माधर्मयोरूपकार आकाशस्यैव सर्वगतत्वादभ्युपगन्तव्य इति चेन्मैवम्, आकाशस्यावगाहलक्षणोपकारसद्भावेन तस्य गतिस्थित्युपकारकल्पनाया असम्भवात्, षण्णामपि धर्मादीनां द्रव्याणामवगाहदानस्याकाशप्रयोजनत्वात्, एकस्याऽनेकप्रयोजनकल्पनायां लोकालोकविभागो न स्यात् ।

अथापि पृथिवी जलादीनामेव जीवपुद्गलादिगतिस्थितिप्रयोजनसमर्थत्वात् तदर्थं धर्माधर्मयोरनावश्यकत्वमितिचेन्न. जीवपुद्गलादीनां गतिस्थितिनियामकतया धर्माधर्मयोरसाधारणकारणत्वात् एकस्य कार्यस्याऽनेककारणसाध्यत्वाच्च तदर्थं धर्माधर्माभ्युपगमस्य परमावश्यकत्वात्. ।

चाहिए; क्योंकि लोकाकाश मे ही अवगाह लक्षण घटित होता है। धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशो के साथ ही मिले हुए रहते है और वे अलोकपर्यन्त सम्पूर्ण लोकाकाश में भरे हुए है। इस कारण लोकाकाश अपने अन्दर अवकाश देकर धर्म--अधर्म का उपकार करता है। पुद्गल और जीव स्वल्पतर असख्यातवे भाग में व्याप्त होने से और क्रियावान् होने से सयोग और विभाग के द्वारा उनका उपकार करता है।

इस प्रकार एक जगह अवगाहे हुए मनुष्य, मृत्तिका, लोष्ठखण्ड आदि पुनः दूसरी जगह पाये जाते है। सर्वत्र अन्दर अवकाश देने के कारण एक अवगाह भी अवगाह्य रूप उपाधि के भेद से अनेक सा प्रतीत होता है। अतएव जीव पुद्गल आदि का अन्दर प्रवेश होने से तथा सयोग--विभाग के द्वारा वह उपकार करता है।

शंका--जीवों और पुद्गलो का गतिरूप धर्मका उपकार और स्थितिरूप अधर्म का उपकार आकाश का ही स्वीकार करना चाहिए, क्योकि आकाश सर्वव्यापी है।

समाधान--आकाश का उपकार अवगाह है, अतएव गति और स्थिति को आकाश का उपकार मानने की कल्पना नहीं की जा सकती। धर्म आदि समस्त द्रव्यों को अवगाह देना आकाश का प्रयोजन है। एक द्रव्य के अनेक प्रयोजन माने जाएंगे तो लोक और अलोक का विभाग नहीं होगा!

शंका--पृथ्वी जल आदि ही जीवो और पुद्गलो की गति एवं स्थिति रूप प्रयोजन में समर्थ है, उनके लिए धर्म और अधर्मद्रव्य की कल्पना करना अनावश्यक है।

समाधान जीवों और पुद्गलों की गति और स्थिति के नियामक होने में धर्म और

अथ तयोरनुपलब्धेः शशशृङ्गवन्न तौ धर्माधर्मौ स्त इति चे दुच्यते—तथासति—सर्वप्रतिवादि-नामविप्रतिपत्ति. स्यात् यतः सर्वेऽपि प्रतिवादिनः प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षपदार्थान् अभ्युपगच्छन्ति तथा—अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धत्वं भवति सर्वज्ञस्य केवलिनो निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्माधर्मादीनां सर्वेषामुपलभ्यमानत्वात् तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिनामपि धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिसम्भवात् ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे १३ शतके ४ उद्देशके—"धम्मत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ-? गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगा-वइजोगा—कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति. गइलक्खणेणं धम्मत्थिकाए ।

अधम्मत्थिकाए णं भंते-? जीवाणं किं पवत्तइ ? गोयमा ? अहम्मत्थिकाएणं जीवाणं ठाणनिसीयणतुयट्टणमणस्स य एगत्तीभावकरणता जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाये पवत्तंति, ठाणलक्खणेणं अहम्मत्थिकाए ।

आगासत्थिकाए णं भंते ? जीवाणं—अजीवाण य किं पवत्तइ ? गोयमा ! आगासत्थिकाएणं--जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए—"

एगेण वि से पुन्ने, दोहिवि पुन्ने सयंपि माएज्जा ।
कोडिसएण वि पुन्ने, कोडिसहस्संवि माएज्जा—॥१॥ इति

"धर्मास्तिकायाना भदन्त ! जीवानां किं प्रवर्तते ? गौतम !" धर्मास्तिकायः खलु जीवानाम् आगमन—गमन—भाषण—मनोयोगा-वचोयोगाः—काययोगाः ये चाऽप्यन्ये तथाप्रकाराश्चला भावाः सर्वे ते धर्मास्तिकाये प्रवर्तन्ते, गतिलक्षणः खलु धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकाये खलु जीवाना किं प्रवर्तते ?

अधर्म ही असाधारण कारण है । एक कार्य अनेक कारणो द्वारा साध्य होता है, अतएव गति और स्थिति के लिए धर्म और अधर्म द्रव्य को स्वीकार करना परमावश्यक है ।

शंका धर्म और अधर्मद्रव्य का शशक श्रृङ्ग के समान अनुपलब्ध होने से सद्भाव ही नहीं है ।

समाधान—ऐसा होता तो सभी प्रतिवादियो को विवाद ही न रहता । सभी प्रतिवादी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों को स्वीकार करते है । इसके अतिरिक्त आपका हेतु हमारे लिए असिद्ध है । सर्वज्ञ केवली अपने सर्वश्रेष्ठ केवल ज्ञान रूपी नेत्रो से धर्म अधर्म आदि सभी द्रव्यो को उपलब्ध करने—जानते है । उनके उपदेश से श्रुतज्ञानी भी उन्हें जान सकते है ।

भगवतीसूत्र के १३ वे शतक, उद्देशक और में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! धर्मास्तिकाय से जीवो का क्या प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—गौतम ! धर्मास्तिकाय से जीवो के आगमन, गमन, भाषण, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, तथा इसी प्रकार के जो अन्य चलभाव है, वे सत्र धर्मास्तिकाय से प्रवृत्त, होते है, क्योकि धर्मास्तिकाय गति लक्षण वाले है ।

प्रश्न—भगवन् ! अधर्मास्तिकाय से जीवो का क्या प्रवृत्त होता है ?

गौतम ! अधर्मास्तिकाये खलु जीवानां स्थाननिसदनत्वग्वर्तन मनसश्च एकत्रीभावकरणता ये चाऽप्यन्ये तथाप्रकारा' स्थिरा भावाःसर्वे तेऽधर्मास्तिकाये प्रवर्तन्ते, ।

स्थानलक्षणः खलु अधर्मास्तिकायः आकाशास्तिकाये खलु भदन्त ! जीवानामजीवानाञ्च कि प्रवर्तते ? गौतम--! आकाशास्तिकाये खलु जीवद्रव्याणाञ्च--अजीवद्रव्याणाञ्च भाजनभूते एकेनापि तस्मिन् पुनर्द्वाभ्यामपि पुनः स्वयमपि मायात् कोटिशतेनापि पुनः कोटिसहस्रमपि मायात् अवगाहलक्षण' खलु आकाशास्तिकायः--" इति ॥१५॥

मूलसूत्रम्—"सरीरवयमणो पाणापाणाणं सुहदुहजीवियमच्चूणं च निमित्ता पोग्गला—"॥१६॥

छाया—"शरीर-वचो-मनः-प्राणा-ऽपानानां सुख-दुःख-जीवित-मृत्यूनां च निमित्तानि पुद्गला—" ॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-धर्माऽधर्माऽऽकाशानां लक्षणानि प्रतिपादितानि सम्प्रति—पुद्गलानां लक्षणमाह—"**सरीरवयमणो**" इत्यादि । औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक तैजस-कार्मणरूपाणां पञ्च-विधशरीराणां वाचोमनस-—प्राणस्या-ऽपानस्य-सुखस्य-दुःखस्य जीवीतस्य-मृत्योश्च-उपग्राहकत्वेनोपकारकतया पुद्गला निमित्तानि भवन्ति ।

तथाच—शरीराद्युपकारकत्वं पुद्गलानां लक्षणमवगन्तव्यम् ॥१६॥

उत्तर—गौतम ! अधर्मास्तिकाय से जीवो के स्थान, निषीदन, त्वग्वर्त्तन (लेटना), मन का स्थिरीकरण तथा इसी प्रकार के जो अन्य स्थिर भावहै, वे सब अधर्मास्तिकाय से प्रवृत्त होते है; क्योकि अधर्मास्तिकाय स्थिति लक्षण वाला है ।

प्रश्न—भगवन् ! आकाशास्तिकाय से जीवो और अजीवो का क्या प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—गौतम ! आकाशास्तिकाय जीवद्रव्यो और अजीवद्रव्यो का आधार है । वह एक से भी पूर्ण हो जाता है, दो से भी पूर्ण हो जाता है, उसमें सौ भी समा जाते है, सैकडो करोड़ भी समा जाते है और हजारो करोड भी समा जाते है । आकाशास्तिकाय का लक्षण अवगाह है ॥१५॥

मूलसूत्रार्थ— "सरीरवयमणो पाणा' इत्यादि । सूत्र ॥१६॥

पुद्गल द्रव्य शरीर, वचन, मन, प्राणापान, सुख, दुःख, जीवन और मरण के कारण है ॥१६॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षणो का प्रतिपादन किया गया है. अब पुद्गलो का लक्षण कहते है—

पुद्गल, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पाँच शरीरों के वचन के, मन के, प्राण के, अपान के, सुख के, दुःख के, जीवन के और मरण के उपकारक होने में निमित्त होते है । अतएव शरीर आदि रूप उपकार करना पुद्गलो का लक्षण समझना चाहिए ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— विशरणशीलाना औदारिकादि पञ्चप्रकारकशरीराणाम् वाङ्-मन·-प्राणा-ऽपानानाम् सुख-दुःखजीवित-मृत्यूनाञ्चोपग्राहकतयोपकारकत्वेन परमाण्वादिमहास्कन्धपर्यन्ताः पुद्गला हेतवो भवन्ति। तथाचौदारिकादीनि पञ्चविधशरीराणि प्रतिवाङ्मनःप्राणापानान् प्रति सुख-दुःख-जीवीतमृत्यून् प्रति च पुद्गलानामुपकारो बोध्यः।

औदारिकशरीरादीनामुपकारका· पुद्गला भवन्तीति भाव·। तथाहि—औदारिकादीनि शरीराणि पौद्गलिकानि भवन्ति अतस्तानि प्रतिपुद्गलाना मुपकारकत्वाद हेतुत्वमवसेयम्। एवं वागपि पौद्गलिकी भवति सा च भाषापर्याप्तिभाजां प्राणिना वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाऽङ्गोपाङ्गा नामनिमित्ता रणनस्वभावा भवति, अर्थात्—भाषायोग्यान् पुद्गलस्कन्धान् कायव्यापारेणोपादाय वीर्यवान् जीवो भाषात्वेन परिणमय्य वाक्पर्याप्तिकरणेन स्वपरोपकारस्य निसृजति.। तथाच—वाचः पौद्गलिकतया मूर्त्तत्वे सत्यपि न चक्षुर्ग्राह्यत्वं भवति. जलमध्यप्रकीर्णलवणशर्करावत्, नहिहि—सकलमेव रूपादिमद् वस्तु चक्षु रादिग्राह्यं भवत्येवेति नियमोऽस्ति. पुद्गलानां परमाण्वादिविचित्रपरिमाणावेशात्. अतो न वाक्—अमूर्त्ता भवति, पूर्ववायुवेगाऽभ्याहत पश्चिमदिग्भागावस्थितश्रवणपरिणतोपलभ्यत्वात्— प्रतिघाताभिभवसद्भावाच्च.।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति--विनाशशील औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीरो के वचन, मन, प्राण, अपान, सुख, दुःख, जीवन और मरण के उपग्राहक होने के कारण परमाणु से लेकर महास्कंध पर्यन्त पुद्गल उपकारक होते है। इस प्रकार औदारिक आदि पाँच शरीरो के प्रति, मन वचन और प्राणापान के प्रति तथा सुख, दु·ख, जीवन और मरण के प्रति पुद्गलो का उपकार समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल शरीर आदि के कारण होते है। औदारिक आदि पाँचो शरीर पुद्गल के बने होते है, अतः पुद्गल उपकारक होने से उनका कारण है। इसी प्रकार वचन भी पौद्गलिक है। वह भाषापर्याप्ति वाले प्राणियो में पाये जाते है। वीर्यान्तराय एव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांगनामक नामकर्म के निमित्त से उत्पन्न होते है और गूंजना—ध्वनित होना उनका स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि भाषापर्याप्ति से पर्याप्त वीर्यवान् जीव भाषा के योग्य पुद्गल स्कंधो को कायिक व्यापार से ग्रहण करके और भाषा के रूप में परिणत करके वचनयोग्य के द्वारा स्व पर के उपकार के लिए निकालता है। वचन पौद्गलिक होने के कारण यद्यपि अमूर्त्त है, फिर भी जलमें घुले हुए नमक या शक्कर के समान नेत्रग्राह्य नहीं होते। ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक रूपी वस्तु नेत्रग्राह्य होनी ही चाहिए। पुद्गलद्रव्य परमाणु आदि अनेक पर्यायो को धारण करता है। अत· वचन अमूर्त्त नहीं है, क्योकि वह पूर्वीय वायुवेग से प्रेरित हो कर पश्चिम दिशा में स्थित श्रोता को सुनाई देती है। इसके अतिरिक्त उसका प्रतिघात भी होता है और अभिभव भी होता है।

मनश्चापि पौद्गलिकं भवति. अनन्त पुद्गलस्कन्धमनोद्रव्यप्रायोग्योपचित्तमूर्तिमत्वात्, तच्चाऽपि पौद्गलिकं मनः पर्याप्तिभाजां पञ्चेन्द्रियाणामेव भवति । छद्मस्थाना श्रुत—ज्ञानावरणक्षयोपशमजननाय करणं तदवष्टम्भजनितञ्च गुणदोषादिविचारणात्मकं सम्प्रधारणं सज्ञाज्ञानं धारणाज्ञानञ्च यद् भवति तद्—भावमनोऽवगन्तव्यम्. ।

उक्तञ्च—"चित्तं चेतो योगोऽध्यवसानं चेतनापरिणामः ।
भावो मन इति चैते ह्युपयोगार्थो जगति शब्दाः ॥१॥

इति, प्रकृते तु—तथाविधभावमनोनिमित्तस्य पौद्गलिकस्य सर्वात्मप्रदेशवर्त्तिनो मनसोऽधिकारः प्रत्येतव्यः ।

एवम्—उच्छ्वासलक्षणः कोष्ठ्यो वायुः प्राणः पौद्गलिको व्यपदिश्यते. पुद्गलानां प्राणतया परिणमनात्. । एवं बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणोऽपानसञ्ज्ञकः पौद्गलिक उच्यते. तेषामेव पुद्गलानामपानतया परिणमनात् एतावपि—आत्मनोऽनुग्राहकौ भवतः । एतयोश्च—प्राणापानयोः पौद्गालेकयोरूपिद्रव्यपरिणामात् द्वारानुसारित्वाच्च मूर्तत्वमवगन्तव्यम्. ।

एवञ्च—द्वि—त्रि- चतुःपञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तरसनेन्द्रियसम्बन्धा । भाषापरिणामयोग्यान् अनन्तप्रदेशान् पुदगलस्कन्धान् काययोगेनोपाददते भाषापर्याप्तिकरणेन निसृजति । तथाच—यत्रैव रसनेन्द्रिययोगस्तत्रैव भाषापर्याप्ति र्भवति, रसनाश्रयत्वात्। तस्मात्-पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ता एकेन्द्रिया भाषात्वेन न पुद्गलान् गृह्णन्ति, तेषां रसनेन्द्रिययोगाभावात्--जिह्वारहितत्वात् भाषाया अभावो बोध्यः।

द्रव्यमन भी पौद्गलिक है, वह अनन्तपुद्गलस्कधो से, जो मनोवर्गणा के पुद्गल कहलाते है, अतः मूर्त्तिमान् है । मन पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीवो के ही होता है । छद्मस्थ जीवो को श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम उत्पन्न करने में कारण भूत, उसकी सहायता से उत्पन्न होने वाला, गुण-दोष की विचारणास्वरूप, सम्प्रधारणसज्ञा एवं धारणाज्ञान जिससे होता है, वह भावमन कहलाता है । कहा भी है -'चित्त, चेतन, योग, अध्यवसान, चेतनापरिणाम और भावमन ये सब उपयोग वाचक शब्द है । मगर प्रकृत मे इस भावमन के कारण, पौद्गलिक, समस्त आत्मप्रदेशों मे रहे हुए द्रव्यमन को ही ग्रहण करना चाहिए ।

इसी प्रकार उच्छ्वास रूप कोष्ठवायु जो प्राण है, उसे भी पौद्गलिक, समझना चाहिए । क्योंकि पुद्गल ही प्राण रूपमे परिणत होते है । बाहरी वायुको भीतर ले जाना अपान कहलाता है । वह भी पौद्गलिक है, क्योकि पुद्गल ही अपान के रूप में परिणत होते हैं । यह प्राण और अपान भी आत्मा के अनुग्राहक होते है । यह दोनो रूपी द्रव्य के परिणाम हैं और द्वारो का अनुसरण करने है, अर्थात् नासिका के छिद्रो से घुसते—निकलते है, अतः इन्हे भी मूर्त्त समझना चाहिए । इस प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय औरपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव रसनेन्द्रिय के सयोग से भाषा परिणाम के योग्य अनन्तप्रदेशी स्कंधो को काययोग से ग्रहण करते हैं और भाषापर्याप्ति करण के द्वारा त्यागता है । जहाँ रसनेन्द्रिय होती है, वहीं भाषापर्याप्ति

द्वीन्द्रियादयस्तु–रसनेन्द्रिययुक्ताः सन्तः स्वभाषात्वेन तान् पुद्गलान् परिणमय्याऽऽर्य–म्लेच्छादिभाषावत् प्रतिनियता एव भाषाः व्यवहरन्ति । गुणदोषविचारणात्मक सम्प्रधारणसंज्ञायोगात् संज्ञिनः प्राणिन एव मनःपरिणामेन मनोवर्गणा योग्यान् अनन्तान् पुद्गलस्कन्धान् मन्तुकाम. सन्तः सर्वाङ्गीणान् तान् गृह्णन्ति ततश्च--तद्बलेन पुनर्गुणदोषविचारणाभावेन परिणमन्ते ।

ये पुनरेकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तास्तथाविधसज्ञायुक्ता न भवति,ते नैव मन्यन्ते, मनःपर्याप्तिकारणाऽभावात्.। यत्–पुनस्तेषां द्वीन्द्रियाऽसज्ञिप्रभृतीना स्वनीडाभिसर्पणं भवति, कृमि--पिपीलिकादीनां तण्डुलकण–श्यामाकबीजादिसंग्रहणं मनोव्यापार विनैव तदवग्रहपाटवाद-वसेयम्. ।· तादृशी च लब्धिरेव सा, न तु–ईहादिज्ञानभेदविचारयोग्यो द्वीन्द्रियादिः ।

अथ कथं तावद् जीवः औदारिकादियोग्यान् पुद्गलान् उपाददते ? कथं वा ते–उपा-दीयमानाः पुद्गलाः सहता एव तिष्ठन्ति. परस्परं न विशीर्यन्ते ? इति चेदुच्यते.

क्रोधादिकषाययुक्तत्वात् जीवो ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यान् सर्वात्मप्रदेशैर्नोकर्मयोग्यांश्च पुद्गलानुपादत्ते. उपादीयमानाश्च ते बन्धकारणात्संहता एव तिष्ठन्ति–न विशीर्यन्ते इति. । तथाचोक्तम्—

होती है, क्योकि वह रसनेन्द्रिय के आश्रित है । इसी कारण पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के एकेन्द्रिय जीव भाषावर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण ही नहीं करते है । इस प्रकार जिह्वा का अभाव होने से उनमें भाषा का भी अभाव है ।

द्वीन्द्रिय आदि जीव रसनेन्द्रिय से युक्त होकर भाषापुद्गलो को अपनी भाषा के रूप में परिणत करके आर्य म्लेच्छ आदि भाषाओ के समान नियत–नियत भाषाओ का ही व्यवहार करते है ।

गुण–दोष की विचारणा रूप सम्प्रधारणसज्ञा के योग से संज्ञी प्राणी ही मनोयोग्य मनोवर्गणा के पुद्गलो को सर्वांग से ग्रहण करता है और उन्हे मन के रूप में परिणत करके उनसे गुण–दोष की विचारणा करता है ।

एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव उस सम्प्रधारण संज्ञा से युक्त नहीं होते । मनःप्रर्याप्ति का अभाव होने से उनमें मनन करने का सामर्थ्य नहीं होता । जो असज्ञी द्वीन्द्रिय प्राणी अपने बिल की ओर जाते–रेंगने देखे जाते है या कृमि, पिपीलिका (चिउंटी) आदि तन्दुल के कणो का अथवा श्यामाक के बीजो का सग्रह करते है, वे मन के बिना ही अवग्रह की पटुता के कारण ऐसा करते है । उनमें ऐसी ही लब्धि होती है, वे गुण–दोष की विशिष्ट विचारणा नहीं कर सकते ।

शका—जीव औदारिक आदि शरीरो के योग्य पुदगलो को किसी प्रकार ग्रहण करता है ? और ग्रहण किये हुए वे पुदगल मिले हुए ही कैसे रहते है ? बिखर क्यो नहीं जाते ?

समाधान—जीव क्रोधादि कषाय से युक्त होकर ज्ञानावरण आदि कर्मो और नो

"उष्मगुणः सन् दीपः स्नेहं वर्त्या यथा समादत्ते. ।
आदाय शरीरतया परिणमयति चापि तं स्नेहम्. ॥१॥
"तद्वद्रागादिगुणः स्वयोगवर्त्यात्मदीप आदत्ते. ।
स्कन्धानादाय तथा परिणमयति तांश्च कर्मतया. ॥२॥ इति ।

तस्मात्–जीवानामौदारिकादिशरीराद्याकारेणोपकारिणः पुद्गला एव भवन्ति. न तु–प्रधान-रूपप्रकृतिविज्ञानस्वभावपरमेश्वरनियतिरूपाऽदृष्टपुरुषकालादयः शरीराद्याकारपरिणामभाजो भवन्ति, युक्तिशून्यत्वात्, इत्येवं तावत्–जीवानां पुद्गलकृत--औदारिकादिशरीराद्युपकारकः प्रतिपादितः ।

सम्प्रति–प्रकारान्तरेणाऽपि निमित्तमात्रतया पुद्गलानां जीवोपकारकत्वमुच्यते । जीवानां सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहे च पुद्गला हेतवो भवन्ति । तथाच–सातवेदनीयाऽसातवेदनीयो-दयादौ पुद्गलानामपेक्षाकारकत्वमवगन्तव्यमिति पर्यवसितम् ।

एवञ्च इष्टाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दरूपाः पुद्गला निमित्ततया सुखोपकारका भवन्ति । अनिष्टाः पुनस्ते–दुःखजनकाः, स्थानाच्छादना-ऽनुलेपनभोजनादयः पुद्गला जीवितस्य–उपकारकाः; आयुष्कस्य चाऽनपवर्तनका भवन्ति, विषशस्त्राग्न्यादयश्च पुद्गला मरणकारका भवन्ति अयुष्कस्य चा-ऽनपवर्तनकारिणो बोध्याः तथाच–औदारिकादिशरीराद्याकारेण परिणताः सन्तः पुद्गलाः साक्षादेवा-ऽऽत्मन उपकारं कुर्वन्ति ।

कर्म के योग्य पुद्गलो को समस्त आत्मप्रदेशो से ग्रहण करता है, ग्रहण किये वे पुद्गल बन्ध के कारणसंहत (मिले हुए) ही रहते है विखरते नहीं है । कहा भी है—

'उष्णता गुण वाला दीपक वत्ती के द्वारा स्नेह (तेल) को ग्रहण करता है. उसी प्रकार रागादि की उष्णता से युक्त होकर योग रूपी वत्ती के द्वारा आत्मा रूपी दीपक कर्म स्कंध रूपी तेज को ग्रहण करके उन्हे कर्म रूप में परिणत करता है ।'

इस प्रकार पुद्गल ही औदारिक आदि शरीरो के रूप में जीवो के उपकारक होते है, प्रकृत, विज्ञान, स्वभाव, परमेश्वर, नियति, अदृष्ट, हठपुरुष अथवा काल आदि नहीं । वे शरीर आदि के रूप में परिणत नहीं होते । उनको स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है । इस प्रकार जीवो के प्रति पुद्गलो का उपकार प्रतिपादन किया गया ।

अव दूसरे प्रकार से यह दिखलाते है कि निमित्त वन कर पुद्गल किस प्रकार जीवो का उपकार करते है ? जीवो से सुख. दुःख, जीवन और मरण रूप उपग्रह में भी पुद्गल कारण होते हैं । साता और असातावेदनीय कर्म के उदय में पुद्गल निमित्त कारण होते हैं ।

इसी प्रकार इष्ट स्पर्श. रस, गध वर्ण और शब्द रूप पुद्गल सुख के निमित्त कारण होते है और अनिष्ट स्पर्श आदि दुःख के कारण होते है । स्थान' आच्छादन, लेपन, भोजन आदि सवंधी पुद्गल जीवन के उपकारक हैं और आयु के अनपवर्त्तक होते है, इनसे विपरीत विष' शस्त्र, अग्नि आदि के पुद्गल मरण के कारण वन जाते है—आयु का अपव-

सुखदुःखाद्याकारेण परिणममानस्यात्मनस्तु—निमित्ततया पुद्गला उपकारका भवन्ति । तत्र-बाह्य-द्रव्यसम्बन्धापेक्षसद्वेद्योदयेन संसारिणो जीवस्य—इष्टवनिता-पुत्र-स्रक्-चन्दनान्नपानादिपुद्गलद्रव्योपजनितं प्रसादपरिणामात्मकं सुखम्, पुद्गलानां निमित्ततया-ऽऽत्मनःपरिणतावुपकाररूपं भवति ।

"एवमसद्वेद्योदयात् बाह्यपुद्गलरूपाऽनिष्टद्रव्यापेक्षः संक्लेशरूपः आत्मपरिणामो दुःखम् । तत्रापि तेषां पुद्गलानां निमित्ततयोपकारकत्वमेवोपकाररूपं बोध्यम् । भवस्थितिकारणायुर्द्रव्यसम्बन्धभाजः पुरुषस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाऽप्रगमनं जीवितम्, तथाविधस्य पुरुषस्य प्राणापानलक्षणाशेषक्रियोपरमणं मरणमुच्यते ।

अथ मरणं तावद् आत्मनः प्रतिकूलतया कथमनुग्राहकं भविष्यति-? इतिचेदुच्यते—पण्डितमरणस्य सद्गतिप्रापकत्वेन तस्य मरणप्रियत्वात् तथा—निर्विण्णस्य पुरुषस्य मरणप्रियत्वात् विषाग्निद्रव्यसम्बन्धे सति आयुषो योगपद्येनोपभागोदयात्कण्टकादिवेदनावत् । एवञ्च स्वचेतो विकल्पापेक्षमेव स्पर्शरसगन्धरूपशब्दादीनामिष्टत्वमनिष्टत्वञ्च भवति ।

तथाचोक्तम्—**तावानेवार्थान् द्विषत स्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य ।**
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥ १ ॥ इति ।

र्त्तन करने वाले होते है । औदारिक शरीर आदि के रूप में परिणत हुए पुद्गल आत्मा का साक्षात् उपकार करते है ।

सुख—दुःख पर्याय में आत्मा स्वयं परिणत होती है, पुद्गल उसमें निमित्त हो जाते है । बाह्य द्रव्यो के सबंध रूप निमित्त से सातावेदनीय का उदय होने पर संसारी जीव को इष्ट स्त्री, पुत्र, माला, चन्दन, अन्न—पान आदि पुद्गलो से प्रसाद परिणाम रूप सुख की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार आत्मा की परिणति में पुद्गल निमित्त बनकर उपकार करते है ।

अशातावेदनीय कर्म के उदय अनिष्ट बाह्य पुद्गलो के कारण आत्मा में सक्लेश रूप परिणति होना दुःख कहलाता है । इसमें भी पुद्गल निमित्त होते है ।

भवस्थिति के कारणभूत आयु कर्म के सबंध वाले पुरुष की श्वासोच्छ्वास क्रिया का पूरी तरह बंद हो जाना मरण कहलाता है ।

शका—मरण आत्मा के लिए प्रतिकूल है, अत उसे अनुग्राहक—उपकारक कैसे कह सकते है ?

समाधान—पण्डितमरण सद्गति को प्राप्त कराने वाला है. अत वह मरण प्रिय होता है . इसी प्रकार विरक्त पुरुष को भी मरण प्रिय होता है स्पर्श. रस. गंध- वर्ण और शब्द का इष्ट या अनिष्ट होना जीव की अपनी चित्तवृत्ति पर निर्भर करता है । कहा भी है—निश्चय नय से अर्थात् वास्तविक रूप से न कोई पदार्थ इष्ट होता है. न अनिष्ट: मगर जिस पदार्थ पर द्वेष उत्पन्न होता है वहीं अनिष्ट बन जाता है और जिस पर रागवृत्ति उत्पन्न होती है, वह इष्ट प्रतीत होने लगता है ।

अथ सोपक्रमायुषामनशनव्याधिप्रभृतिबाधाभिरूपक्षीणायुषाम्—अपवर्तनीयायुषाञ्च भृगुपतनोद्वन्धनादिभिरपवर्तनायुषां जीवानां पुद्गला उपकारका भवन्तु तावत् किन्तु—अपवर्तनीयाऽऽयुषामौपपातिकचरमशरीरोत्तमपुरुषाऽसख्येयवर्षायुषां कथं मरणोपकारकाः पुद्गलाः स्युरिति चेत्-? शृणु.

तेषामपि-अपवर्तनीयायुषां जीवितोपग्रहोमरणोपग्रहश्च पुद्गलाधीन एव । न चा-ऽनपवर्तनीयायुषां जीवानामायुषोवर्धयितु-ह्रासयितुञ्चाऽशकचत्वात् कथं पुद्गलकृतस्तेषां जीवितमरणोपग्रह इति वाच्यम्, पौद्गलिकस्यायु' कर्मण' स्थितिक्षयाभ्यामेव जीवितमरणयोः सम्भवात् ।

तथाचा—ऽनपवर्तनीयायुषामपि नायुःकर्मविना जीवितं भवति, न चायुः कर्मक्षयमन्तरा मरणं सम्भवति इति-अनपवर्तनीयायुषामपि जीवितमरणे पुद्गलाधीने एवेति भावः उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ १३ शतके ४ उद्देशके—

"पोग्गलत्थिकाए णं पुच्छा-? गोयमा ! पोग्गलत्थिकाए णं जीवाणं ओरालियवेउव्वियआहारयतेयाकम्मय सोइंदियचक्खुंदियघाणिंदियजिब्भिंदिय फासिंदियमणजोगवयजोगकायजोग आणापाणूणं च गहणं पवत्तइ' गहणलक्खणेणं पोग्गलत्थिकाए—"

इति । पुद्गलास्तिकाये खलु पृच्छा ? गौतम ! पुद्गलास्तिकाय' खलु जीवानाम् औदारिक

शंका—जो जीव सोपक्रम आयु वाले है, अनशन या रोग आदि के कारण जिनकी आयु क्षीण हो जाती है, जिनकी आयु अपवर्त्तनीय है, ऐसे जीवो के लिए पुद्गल उपग्रहकारक भले हो किन्तु अनपवर्त्तनीय आयु वाले औपपातिक अर्थात् देवो और नारको, चरमशरीर धारियो, उत्तम पुरुषो तथा असंख्यात वर्ष की आयु वालो के लिए पुद्गल मरणोपकारक कैसे हो सकते है ?

समाधान—सुनिए, चाहे कोई अपवर्त्तनीय आयु वाला हो, चाहे अनपवर्त्तनीय वाला; सव का जीवन और मरण पुद्गलो के ही अधीन है । अनपवर्त्तनीय आयु वाले जीवों की आयु को न कोई बढा सकता है और न घटा सकता है, ऐसी स्थिति में उनके जीवन और मरण को पुद्गल कृत उपग्रह कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि पौद्गलिक आयु कर्म जब तक बना रहता है तव तक जीवन रहता है और जब उसका क्षय हो जाता है तो मरण होता है । इस प्रकार सभी जीवो का जीवन-मरण पुद्गलो के अधीन है ।

अनपवर्त्तनीय आयु वालो का जीवन भी आयु कर्म के बिना मरण नहीं टिक सकता और आयु कर्म के क्षय के बिना मरण नहीं हो सकता । इस कारण अनपवर्त्तनीय आयु वालो का जीवन–मरण भी पुद्गल के अधीन है । भगवतीसूत्र के शतक १३ उद्देशक ४ में कहा है—

प्रश्न—पुद्गलास्तिकाय के विषय में पृच्छा ?

उत्तर—गौतम ! पुद्गलास्तिकाय के निमित्त से जीवो के औदारिक, वैक्रिय, आहा-

वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रिय मनोयोग-वचोयोगा-काययोगा-ऽऽनप्राणञ्च ग्रहणलक्षण' पुद्गलास्तिकाय इति ॥ १६ ॥

मूलसूत्रम्—"परोप्परनिमित्ता जीवा" ॥१७॥

छाया—परस्परनिमित्तानि जीवाः"

तत्त्वार्थदीपिका—जीवास्तावत्—परस्परस्योपकारे निमित्तानि भवन्ति । तद्यथा—राज-भृत्ययोः, आचार्यशिष्ययोरित्येवमादिभावेन परस्परोपकारोऽवगन्तव्यः । तत्र राजा तावत् धन-दानादीना भृत्यानामुपकारको भवति, भृत्यश्च—हितसाधनेनाऽहितप्रतिषेधेन च राज्ञ उपकारको भवति । आचार्यः उभयलोकफलप्रदोपदेशदानेन तदुपदेशविहितक्रियाऽनुष्ठापनेन च शिष्यस्योप-कारको भवति,

शिष्यश्च—तदानुकूल्यविधानेनाऽऽचार्यस्योपकारको भवति । एवं सुखदुःखजीवितमरणान्यपि जीवानां जीवकृत उपकारो भवति, । तथाहि—यो जीवो यस्य जीवस्य सुख विदधाति स जीव-स्तं जीवमनेकवारं सुखयति, यो जीवो यं दुःखयति स तमपि बहुवारं दुःखयति, यो यं जीवयति स तं बहुवारं जीवयति । एवं यो मारयति स तमपि बहुवारं मारयति । तथा चोक्तम्—

"मारि वि चूरिवि जीवडा जं तु हु दुक्खुकरीसि ।
पुत्तकलत्तहकारणे तं तुह एक्कु सहीसि ॥१॥ इति १७॥

रक, तैजस, कार्मण शरीर श्रोतेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग तथा श्वासोच्छ्वास का ग्रहण प्रवृत होता है । पुद्गलास्तिकाय ग्रहण लक्षण वाला है ॥ १६ ॥

मूलसूत्रार्थ—'परोप्परनिमित्ता जीवा' सूत्र १७

जीव परस्पर में निमित्त होते है ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीव परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते हैं । राजा और सेवक, आचार्य और शिष्य जैसे एक दूसरे के उपकारक है उसी प्रकार और जीवो का भी पारस्प-रिक उपकार समझना चाहिए । राजा धन आदि को देकर भृत्यों का उपकार करता है, सेवक हितसाधन करके और अहित को रोक करके राजा का उपकार करता है । आचार्य इह—परलोक मे उत्तम फल देने वाला उपदेश के अनुसार क्रिया करवा कर शिष्य का उपकार करता है । शिष्य आचार्य के लिए अनुकूल कार्य करके आचार्य का उपकारक होता है ।

इस प्रकार जीवो का सुख, दुःख, जीवन और-मरण भी जीवकृत उपकार है । जो जीव जिस जीव को सुख पहुँचाता है, वह उसे अनेक वार सुखी बनाता है । इसके विपरीत जो जीव जिसे दुख देता है, वह वदले मे उसे वारंवार दुखी बनाता है । जो जिस का घात करता है, उसे उसके द्वारा बहुत वार मरना पड़ता है । कहा भी है—

अरे जीव ! तू अपने पुत्र—कलत्र आदि परिवार के लिए जीवों का जो घात करेगा,

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वं धर्माधर्माकाशपुद्गलानामुपकारकतया लक्षणं प्रतिपादितम्, तत्र जीवानां सर्वे धर्माधर्मादय उपकारका भवन्ति। एवं–धर्माधर्माकाशाः पुद्गलद्रव्याणामुपकारकाः, आकाशं धर्माधर्मपुद्गलानामुपकारकम् इत्यादिरीत्या प्ररूपितम्

सम्प्रति—जीवाः केषामुपकारका भवन्ति इति प्ररूपयितुमाह—**"परोप्परनिमित्ता जीवा"** इति। जीवाः परस्परस्या–ऽन्योन्यस्योपकारकरणे निमित्तानि हेतवो भवन्ति। तथाच जीवानां परस्परस्य हिताऽहितोपदेशप्रतिषेधाभ्यामुपकारकत्वमवगन्तव्यम् एवञ्च—आपत्यां–वर्त्तमानकाले वा यद्–हितं योग्यं क्षमं न्याय्यं वा भवेत् तत्प्रतिपादनेन हितविपरीतस्या–ऽहितस्य प्रतिषेधेन चोपकारको भवति परस्परम्, एकेन जीवेन द्वितीयस्य जीवस्य तेन तृतीयस्य जीवस्य तेन च चतुर्थस्येत्येवं परम्परया वा–उपकारको भवति,

यथाच—धर्माधर्माकाशकालपुद्गलानां स्वभावेनैवोपकारकता वर्तते न तथा जीवानामुपकारकता स्वभावेनैव, अपितु—अनुग्रहबुद्ध्यैवोपकारकत्वं तेषामवगन्तव्यम्। तथाच—परस्परहिताहितोपदेशकरणेन जीवाजीवान्तरमनुगृह्णन्ति, नत्वेवं पुद्गलादयो भवन्ति।

यद्वा—जन्तोः सुखादीना साधक एकैकोऽपि पुद्गलादिः सम्भवति, सर्वदैव द्विप्रभृतीनां समुपकारको भवति। नैककानाम्। तथाच–पूर्वं गौणउपकारः पुद्गलादीनां प्रतिपादितः, अत्रतु

उन्हे चूर–चूर करेगा, दुःख उपजाएगा, स्मरण रखना कि तुझ अकेले को ही उसका फल भोगना पड़ेगा ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य का उपकारक रूप में लक्षण कहा गया है। जीवों के लिए धर्म, अधर्म आदि सभी उपकारक होते हैं; धर्म अधर्म और आकाश पुद्गलो के उपकारक होते है, आकाश धर्म अधर्म और पुद्गलो का उपकारक है इत्यादि रूप से कथन किया गया है। अव जीव किसके उपकारक होते है, यह बतलाने के लिए कहते हैं–जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करने में निमित्त होते है।

एक जीव दूसरे जीव को हित का उपदेश देकर तथा अहित से रोक कर उपकार करता है। इसी प्रकार भविष्यत काल में अथवा वर्त्तमान काल में जो हित है, योग्य क्षेम या न्याय्य है, उसका प्रतिपादन करके तथा हित के विपरीत अहित का प्रतिषेध करके परस्पर उपकारक होते है। एक जीव दूसरे का, दूसरा तीसरे का और तीसरा चौथे का उपकार करता है और इस प्रकार उपकार की परम्परा चालू रहती है।

जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल द्रव्य में स्वभाव से ही उपकारकता है, वैसी जीवो मे स्वभाव से उपकारकता नहीं है। जीवो की उपकारकता तो अनुग्रह बुद्धि से ही समझनी चाहिए। इस प्रकार परस्पर हिताहित का उपदेश करके जीव दूसरे जीव का अनुग्रह करते है पुद्गल आदि ऐसा नहीं कर सकते।

अथवा जीव के सुख आदि का साधक एक–एक पुद्गल आदि हो सकता है। सदैव दो आदि का उपकारक होता है, एक–एक का नहीं। इस प्रकार पहले पुद्गल आदि

मुख्यउपकारो जीवकर्तृकः प्रतिपत्तव्यः। जीवा यथा—भूयस्त्वेनोपदेशद्वारा जीवानामुपकारका भवन्ति। न तथा—धनादिभिर्जीवानुपकुर्वन्ति।

अथ जीवानामुपयोगलक्षणत्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वेन पुनरत्र लक्षणान्तरकरणं व्यर्थमिति चेन्मैवम् जीवानामुपयोगस्याऽन्तरङ्गलक्षणतया तेषां परस्परोपकारकत्वस्य बहिरङ्गलक्षणत्वेन प्रतिपादितत्वात्। एवं तर्हि धर्मादीनामपि लक्षणान्तरं कथं न कृतम् इतिचेन्न। धर्माधर्माकाशानान्तु—गतिस्थित्यवगाहानामेव स्वाभाविकानामसाधारणलक्षणत्वात्। उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे-१३ शतके ४ उद्देशके -

जीवत्थिकाए णं भंते! जीवाणं किं पवत्तइ? गोयमा—? जीवत्थिकाए णं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं, अणंताणं सुयनाणपज्जवाणं, एवं जहा—बितियसए अत्थिकायउद्देसए जाव उवओगं गच्छइ, उवओगलक्खणे जीवे" इति।

जीवास्तिकायेन भदन्त! जीवाना किं प्रवर्तते? गौतम! जीवास्तिकायेन जीवोऽनन्तानाम् आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानाम् श्रुतज्ञानपर्यवानाम्, एवं यथा—द्वितीयशते अस्तिकायउद्दशके यावदुपयोगं गच्छन्ति, उपयोगलक्षणः खलु जीव इति।

"तत्रैव च भगवतीसूत्रे२शतके१०उद्देशके उक्तम्—"**जीवे णं अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं एवं सुयनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइ अन्नाणपज्जवाणं**

का गौण उपकार प्रतिपादन किया गया है, यहाँ जीव के द्वारा होने वाला मुख्य उपकार समझना चाहिए। जीव जितना अधिक उपदेश द्वारा जीवो के उपकारक होते है, उतना धन आदि के द्वारा उपकार नहीं करते।

शंका- पहले जीव का लक्षण उपयोग बतलाया जा चुका है, फिर यहाँ उसका दूसरा लक्षण बतलाना वृथा है।

समाधान—उपयोग जीव का अन्तरंग लक्षण है। यहाँ जो परस्पर उपकार करना लक्षण कहा है, वह उनका बहिरंग लक्षण है।

शंका—ऐसा है तो धर्म आदि का भी दूसरा लक्षण क्यो नहीं बतलाया?

समाधान—धर्म, अधर्म और आकाश का स्वाभाविक गति स्थिति, और अवगाह ही असाधारण लक्षण है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र) शतक १३ उद्देशक ४ के ४८ वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन्! जीवास्तिकाय से जीवो को क्या होता है?

उत्तर—गौतम! जीवास्तिकाय से जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायो को, अनन्त श्रुतज्ञान की पर्यायो को प्रवृत्त करता है, इत्यादि जैसा द्वितीय शतक के अस्तिकाय उद्देशक मे कहा है, वही यहाँ समझ लेना चाहिए। जीव उपयोग लक्षण वाला है।

उसी भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के दशम उद्देशक मे कहा है—

सुयअण्णाणपज्जवाणं विभंगनाणपज्जवाणं चक्खुदंसणपज्जवाणं अचक्खुदंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवाणं उवओगं गच्छइ " इति ।

जीवः खलु अनन्तानाम् आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणाम् एवं श्रुतज्ञानपर्यवाणाम् अवधिज्ञान-पर्यवाणाम्, मनःपर्यवज्ञानपर्यवाणा केवलज्ञानपर्यवाणाम् मत्यज्ञानपर्यवाणाम् श्रुताज्ञानपर्यवाणाम् विभङ्गज्ञानपर्यवाणाम् चक्षुर्दर्शनपर्यवाणाम् अचक्षुर्दर्शनपर्यवाणाम् अवधिदर्शनपर्यवाणाम् केवल-दर्शनपर्यवाणाम् उपयोगं गच्छति इति । उत्तराध्ययने च २८ अध्ययने १०गाथायामुक्तम्

जीवलक्षणम्—"जीवो उवओगलक्खणो, नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य–" इति । जीव उपयोगलक्षणः, ज्ञानेन–दर्शनेन च सुखेन च दुःखेन च, इति ॥ १७ ॥

मूलसूत्रम्—"वट्टणा परिणामकिरियापरत्तापरत्ताणं निमित्तं कालो-" ॥ १८ ॥

छाया—वर्तनापरिणामक्रियापरत्वाऽपरत्वानां निमित्तं कालः—" ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे जीवाना लक्षणं प्रतिपादितम्, सम्प्रति–कालस्य लक्षणं प्रतिपा-दयितुमाह—"वट्टणा-" इत्यादि कालस्तावत्–धर्मादीनां द्रव्याणां वर्तनव्यवहारस्योपकारकतया भवति । एवं द्रव्यस्य पर्यायतया, जीवस्य क्रोधतया, पुद्गलस्य वर्णरसगन्धस्पर्शादितया, धर्माधर्माका-शानामगुरुलघुगुणवृद्धिह्रासतया, परिणतिलक्षणस्य च परिणामस्य–उपकारकतया निमित्तं भवति । एवं–परिस्पन्दनात्मकक्रियायाः, ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्वादिव्यवहारलक्षणपरत्वापरत्वयोश्चोपकारकतया कालो निमित्तं भवति ॥१८॥

जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायो को, उसी प्रकार श्रुतज्ञान की पर्यायों को, अवधिज्ञान की पर्यायो को, मन.पर्यवज्ञान की पर्यायों को केवलज्ञान की पर्यायो को मतिअज्ञान की पर्यायों को श्रुतअज्ञान की पर्यायो को विभंगज्ञान की पर्यायो को, चक्षुदर्शन की पर्यायों को, अचक्षुदर्शन की पर्यायो को, अवधिदर्शन की पर्यायो को, केवलदर्शन की पर्यायों को अर्थात् इन सब के उपोग को प्राप्त करता है ।

उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन की १२वीं गाथा में कहा है–'जीव उपयोग लक्षण वाला है । ज्ञान से दर्शन से, सुख से और दुःख से ॥१७॥

मूलसूत्रार्थ—'वट्टणा परिणाम किरिया' इत्यादि सूत्र १८

कालद्रव्य वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व का निमित्त कारण है ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे जीवो के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है । अब काल का लक्षण प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

काल धर्म आदि द्रव्यो की वर्त्तना अर्थात् वर्त्तनव्यवहार का उपकारक होकर निमित्त होता है । इसी प्रकार द्रव्य के पर्याय रूप में जीव के क्रोध रूप में पुद्गल के वर्णरस गंध और स्पर्श रूप में धर्म अधर्म और आकाश के अगुरुलघुगुण को वृद्धि हानि रूप में होने वाले परिणाम का उपकारक होकर निमित्त होता है । इसी प्रकार परिस्पन्दन रूप क्रिया का तथा ज्येष्ठता और कनिष्टता के व्यवहार का निमित्त होता है ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवानामुपकारादिप्रदर्शनद्वारा स्वरूपं निरूपितम्, सम्प्रति—कालस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह——**"वट्टणा—"**इत्यादि। धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवानां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मैव वर्तमानाना बाह्योपकाराद् विना तद्वृत्त्यसम्भवात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितस्तावत्कालो भवतीति द्रव्यपर्यायाणां वर्तना कालकृतउपकारोऽवगन्तव्यः। एवञ्च—द्रव्यपर्यायोवर्तना वर्तते, कालस्तस्य वर्त्तयिता भवति।

अथैवं तर्हि—**"शिष्योऽधीते"** उपाध्यायस्तमध्यापयतीति वत् कालस्य क्रियावत्ता—आपद्यते इति चेदत्रच्यते मार्गगमने प्रकाशस्योपकारकत्ववत् कारीपोऽग्निः शिष्यमध्यापयतीति व्यवहारे कारीषाऽग्नेः शिष्याध्यापने निमित्तमात्रत्वेऽपि हेतुकर्तृत्वव्यपदेशवत् द्रव्यपर्यायादीना वर्तनव्यवहारे कालस्य निमित्तमात्रत्वेऽपि हेतुकर्तृत्वव्यपदेशसम्भवः अथ समयादिनैवोक्तव्यवहारोपपत्तेः कालस्य सत्वे किं प्रमाणमिति चेन्मैवम्।

समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिभि र्निष्पद्यमानानाञ्च पाकादीनां—**"समयः—पाकः-"** इत्येवं स्वसञ्ज्ञाप्रसिद्धिसद्भावेऽपि—**"समयः—कालः—"** **"ओदनपाककालः"** इत्येव क्रियमाणः कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशे हेतुभूतस्य मुख्यस्य कालस्य सत्तामनुमापयति मुख्यापेक्षयैव गौणव्यवहारात्

एव द्रव्यस्य पर्यायलक्षणे धर्मान्तरनिवृत्तिपूर्वकधर्मान्तरोपजननरूपे अपरिस्पन्दात्मके परिणामे, जीवस्य क्रोधादिरूपे, पुद्गलस्य वर्णगन्धरसस्पर्शादिरूपे, धर्माधर्माकाशाना मगुरुलघुगुणवृद्धिह्रासरूपे च परिणामे उपकारकतया कालो हेतुर्भवति।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति प्रथम धर्म अधर्म आकश एवं पुद्गल जीवो के उपकार प्रकट करके उनके स्वरूप का कथन किया गया है। अब कालका स्वरूप प्रकट करने के लिये 'वट्टणा' इत्यादि रूप आगे का सूत्रका कथन करते है—धर्म अधर्म आकाश एव पुद्गल जीवो के द्रव्यो का स्वपर्याय निवृत्ति प्रति आत्मरूप से वर्तमान बाह्य उपकार के विना उनको वृत्ति का सभव नहीं हो सकता है, उनकी प्रवृत्ति से काल उपलक्षित होता है—जाना जाता है—अतः द्रव्य और पर्याय का वर्त्तना कालकृत उपकार जानना चाहिए। इस प्रकार द्रव्यपर्याय वर्तनारूप है, और काल उनको वर्तन कराने वाला होता है।

शंका—यदि ऐसा है तो शिष्य पढ़ता है, उपाध्याय उसको पढाता है, इत्यादि के समान काल में सक्रियता का प्रसग उपस्थित होता है।

समाधान—जैसे राह चलने में प्रकाश उपकारक होता है कारीप (छाणे की) अग्नि शिष्य को पढ़ाती है इस प्रकार के व्यवहार में कारीप अग्नि यद्यपि शिष्य के अध्ययन मे निमित्त मात्र है, फिर भी उसमें हेतुकर्तृत्व का कथन किया जाता है इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय आदि के वर्त्तनव्यवहार में काल यद्यपि निमित्त मात्र है फिर भी इसमें हेतुकर्तृत्व का कथन होना सभव है।

शका—समय आदि से ही उक्त व्यवहार हो सकता है. ऐसी स्थिति मे कालके अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

समाधान—समय आदि क्रियाविशेषो की तथा समय आदि के द्वारा निष्पन्न होने वाले पाक आदि की **समयः पाकः** ऐसी सज्ञा की प्रसिद्धि होने पर भी 'समयःकालः' 'ओदनपाककालः'

एवं क्रिया तावत्- परिस्पन्दस्वरूपा द्विविधा प्रज्ञप्ता, प्रायोगिकी—वैस्रसिकी च। तत्र—शकटादीनां प्रायोगिकी क्रिया, मेघादीना वैस्रसिकी च। द्विविधाया अपि तस्याः क्रियाया उपकारकतया कालो निमित्तं भवति।

एवं—दूरदेशवर्तिनि परत्वस्य, समीपदेशवर्तिनि पुद्गलादिद्रव्ये, अपरत्वस्य च दैशिकस्य प्रसिद्धतया दैशिकपरत्वापरत्वयोः सत्वेऽपि अतिसमीपदेशवर्तिनि अतिवृद्धे ज्येष्ठे पुरुषे परत्वव्यवहारस्य, अतिदूरदेशवर्तिनि अतिबाले कनिष्ठे पुरुषेऽपरत्वव्यवहारस्य कालकृतस्यैव जायमानत्वात् इमे द्वे अपि परत्वापरत्वे कालकृते अवगन्तव्ये।

तथाच—पुद्गलादिद्रव्यपर्यायाणां वर्तनादिव्यवहारस्य कालकृतत्वात् काल एव तेषां निमित्तं भवतीति फलितम्। अथ वर्तनाग्रहणेनैव तद्भेदाना परिणामक्रियादीनामपि ग्रहणसम्भवेन परि-

---

इस तरह से जो काल का कथन किया जाता है, उससे मुख्य काल की सत्ता का अनुमान होता है, क्योकि मुख्य की अपेक्षा से ही गौण व्यवहार होता है।

इस प्रकार द्रव्य के पर्याय—परिणमन में अर्थात् एक पर्याय के विनाश होने पर दूसरी पर्याय की उत्पत्ति रूप परिणाम मे, अपरिस्पन्द रूप परिणाम में, जीवके क्रोधादि रूप परिणाम में, पुद्गलके वर्ण गंध रस स्पर्श आदि रूप परिणाम मे तथा धर्म अधर्म और आकाश के अगुरु लघु गुण को वृद्धि एवं हानि रूप परिणाम में काल उपकारक रूप से हेतु होता है।

परिस्पन्द अर्थात् हलन-चलन रूप क्रिया दो प्रकार की कही गई है—प्रायोगिकी अर्थात् प्रयत्न जनित और वैस्रसिकी अर्थात् स्वाभाविकी शकट आदि की प्रायोगिकी और मेघ आदि की वैस्रसिकी क्रिया होती है। दोनो प्रकार की क्रिया में काल निमित्त कारण है।

परत्व और अपरत्व दो-दो प्रकार के है—देशकृत और कालकृत। देशकृत परत्व का अर्थ है दूरी और अपरत्व का अर्थ है सामीप्य। यह दोनो परस्पर सापेक्ष है। कालकृत परत्व का अभिप्राय है ज्येष्ठता और अपरत्व का अभिप्राय है कनिष्ठता। इस सूत्र में जो परत्व और अपरत्व का ग्रहण किया है, वह कालकृत समझने चाहिए। काल के आधार पर ही ज्येष्ठता-कनिष्ठता का व्यवहार होता है। अतएव परत्व और अपरत्व भी काल के उपकारक है। यह दोनो भी परस्पर सापेक्ष होते है।

इसका फलितार्थ यह है कि पुद्गल आदि द्रव्य पर्यायों के वर्त्तन आदि का व्यवहार कालकृत होने से काल ही उन सब का निमित्त कारण है।

शंका—वर्त्तना का ग्रहण करने से ही उसके भेद परिणाम, क्रिया आदि का भी ग्रहण हो सकता है। अत. परिणाम आदि का पृथक्ग्रहण करना व्यर्थ है।

समाधान—काल दो प्रकार का है—परमार्थकाल और व्यवहार काल। इन दोनो प्रकार के कालों का ग्रहण करने के लिए परिणाम आदि को वर्त्तना से अलग कहा हैं।

वर्त्तना लक्षण वाला काल परमार्थ काल है और परिणाम क्रिया आदि लक्षण वाला काल व्यवहार काल कहलाता है। इस प्रकार अन्य पदार्थों के द्वारा परिच्छिन्न और अन्य पदार्थों के,

णामादीनां पृथग्ग्रहणं व्यर्थमिति चेन्नैवम् परमार्थकालस्य—व्यवहारस्य च द्विविधस्यापि कालस्य ग्रहणार्थं परिणामादीनां वर्तमानः पृथक्त्वेनोपादानात् ।

तत्र—वर्तमानलक्षणः कालः परमार्थकालः, परिणाम क्रियादिलक्षण कलस्तु—व्यवहारकालो व्यपदिश्यते । एवञ्चा—ऽन्येन परिच्छिन्नः सन् अन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यपदिश्यते, । स च कालपुनस्त्रिविधः, भूत- भविष्य—द्वर्त्तमानभेदात् । तत्र—वर्तमानलक्षणे परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः, भूतादिव्यपदेशश्च गौणो भवति ।

परिणामक्रियादिलक्षणे व्यवहारकाले तु भूतभविष्यद्वर्त्तमानव्यदेशो मुख्यः, कालव्यपदेशो गौणो भवति, क्रियावद् द्रव्यापेक्षत्वात्—कालकृतत्वाच्चेति भावः । अथ कालस्य सिद्धत्वेऽपि समयादि सत्वे किं मानमिति चेदुच्यते,

तण्डुलानां विक्लेदनं-पचनं पाक इत्युच्यते ते पुनस्तण्डुलाः पच्यमानाः शनैः शनैरोदनत्वेन परिणमन्ते, तण्डुलानां पाकेन स्थूलत्वाऽवयवशिथिलत्वादिदर्शनात् समयं—समयं प्रतिसूक्ष्म कालो भवतीति निश्चीयते, यदि च प्रतिक्षण तण्डुलानां सूक्ष्मः पाको न स्यात् तदा—स्थूलपाकस्य लाभो न स्यात्, एवं—सर्वेषां द्रव्याणां प्रतिसमयं स्थूलपर्यायदर्शनात् स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्यं निश्चयकालं परमाणुरूपं प्रतीक्ष्य प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तनं परिणमनम् यद् भवति सा चेद्वर्तना—इति निर्णीयते ।

तदा—द्रव्याणां प्रतिसमयं परिणामो नैव स्यात् एवं—द्रव्याणां स्थूलपर्यायोऽपि न स्यात् तस्मात्— सा वर्तना परमाणुलक्षणस्य मुख्यस्य कालस्य निमित्तभूता—इति हेतोः वर्तनया मुख्यकालोऽणुरूपोऽस्तीति निश्चीयते। एवञ्च—वर्तनालक्षणो निश्चयकालस्योपकारोऽवगन्तव्यः। एतादृशस्य

परिच्छेद का कारण जो क्रियाविशेष है, वह काल कहलाता है । उसके तीन भेद है—भूत, भविष्य, वर्त्तमान । इनमें से वर्त्तमान रूप परमार्थ काल में काल का व्यवहार होना मुख्य और भूत आदि का व्यवहार गौण है ।

परिणाम क्रिया आदि रूप व्यवहार काल में भूत भविष्यत् और वर्त्तमान का व्यपदेश मुख्य है, काल के व्यपदेश में गौण है । क्योकि वह क्रियावान् द्रव्य की अपेक्षा रखता है और कालकृत होता है ।

शंका—काल द्रव्य तो सिद्ध है परन्तु समय आदि की सत्ता में क्या प्रमाण है ?

समाधान—चावलो का पकना पाक कहलाता है । पकते हुए चावल धीरे—धीरे ओदन (भात) रूप में परिणत हो जाते है, क्योकि उनके कठिन अवयव शिथिल होते देखे जाते है । इससे सिद्ध होता है कि समय-समय के प्रति सूक्ष्म काल का अस्तित्व है । यदि एक-एक समय में चावल थोड़े-थोडे न पकते तो उनमे स्थूल पाक दिखलाई न देता । इसी प्रकार सभी द्रव्यो में प्रति समय स्थूल पर्याय देखी जाती है, अतः स्वयं ही वर्त्तन स्वभाव होने के कारण बाह्य निश्चय काल, जो परमाणुरूप है, उसकी अपेक्षा रखकर उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायो मे जो वर्त्तन—परिणमन होता है, वह वर्त्तना है, ऐसा निश्चय होता है तो द्रव्यो का समय-समय परिणमन होता । फिर तो द्रव्यों की स्थूल पर्याय भी न होती । अतएव वह वर्त्तना परमाणुरूप मुख्य काल को समझने में कारण है

च कालस्य मनुष्यलोके एव वृत्तित्वं कथमभ्युपेयते न तु—मनुष्यलोकात् परतस्तस्य वृत्तित्वं मनुष्यलोकात्परतोऽपि काललिङ्गोपपत्तेः ।

तथाहि— वर्तमानलक्षणस्य कालस्य मनुष्यलोकात्परतोऽपि वृत्तित्वमवगम्यते एवं—प्राणापान निमेषोन्मेषाऽऽयुःप्रमाणादिकालस्य परत्वापरत्वलिङ्गश्च मनुष्यलोकात्परतोपि समुपलभ्यते इति चेद-त्रोच्यते—भावानां वृत्तौ सत्यामपि तस्यावृत्तेः काललिङ्गत्वं नाऽभ्युपगम्यते किन्तु—सन्तस्तावद्भावाः स्वयमेवोत्पद्यन्ते—व्ययन्ति—अवतिष्ठन्ते च, भावानामस्तित्वं च वस्त्वन्तरापेक्षं भवति ।

नहिहि—मनुष्यलोकात्परवर्तिन्यः प्राणादिवृत्तयः कालापेक्षा भवन्ति तुल्यजातीयानां सर्वेषां युगपत् अजायमानत्वात् तुल्यजातीयानां कालापेक्षा अर्थतः एकस्मिन् काले भवन्ति—न विजातीयानाम् । ताश्च तुल्यजातीयानां प्राणादिवृत्तये नैकस्मिन् काले भवन्ति उपरमन्ति च तस्मात्—न कालापेक्षाः प्राणादिवृत्तयो भवन्ति, नापि मनुष्यलोकात्परतः परत्वापरत्वे कालापेक्षे भवतः

तथाहि परत्वापरत्वे तावत् स्थितिविशेषापेक्षे भवतः । यथा—सप्ततिवर्षात्परो वर्षशतिकः अपरश्च—सप्ततिवर्षः इति सप्ततिर्वर्षाणाम् शतं वर्षाणाम् इत्येषा स्थितिः । सा च—स्वत्वापेक्षास्तित्वादेव भवति, भावनामस्तित्वञ्चाऽनपेक्षं भवतीत्युक्तम् ।

इस कारण से वर्त्तना के द्वारा अणुरूप मुख्य काल का अस्तित्व निश्चित होता है। इस प्रकार वर्त्तना निश्चय काल का उपकार समझना चाहिए ।

इस प्रकार के काल का अस्तित्व मनुष्य लोक में ही क्यो, स्वीकार किया जाता है? मनुष्य लोक से बाहर क्यो नहीं स्वीकार किया जाता? मनुष्य लोक से बाहर भी तो काल का लिंग (लक्षण) घटित ह ता है। जैसे वर्त्तना रूप काल का होना मनुष्यलोक से बाहर भी प्रतीत होता है। **प्राणापान** श्वाशोच्छ्वास निमेष, उन्मेष, आयु का प्रमाण आदि काल तथा परत्व अपरत्व आदि लिंग मनुष्य लोक से बाहर भी पाये जाते है। इसका समाधान यह है कि वहाँ भावो की वृत्ति होने पर भी वह वृत्ति काल के कारण नहीं मानी जाती, किन्तु सत् पदार्थ स्वयं ही उत्पन्न होते है, स्वयं ही नष्ट होते है, और स्वयं ही स्थिर रहते है। पदार्थो का अस्तित्व किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता है।

मनुष्यलोक से बाहर जो प्राणापान आदि व्यापार है, वे काल की अपेक्षा नहीं रखते। क्योकि समानजातीय सब एक साथ उत्पन्न नहीं होते। समान जातीय बालों के काल की अपेक्षा रखने वाले अर्थ एक काल मे होते है, विजातीयो के नहीं। तुल्य जातीयों के प्राण आदि व्यापार एक ही काल में न उत्पन्न होते है और न बन्द होते है। अतएव प्राण आदि वृत्तियाँ कालापेक्ष नहीं है और न मनुष्यलोक से बाहर जो परत्व और अपरत्व है, उसे काल की अपेक्षा होती है।

परत्व और अपरत्व स्थितिविशेष की अपेक्षा से होते है। जैसे सत्तर वर्ष वाले की अपेक्षा सौ वर्ष वाला पर कहलाता है और सत्तर वर्ष वाला 'अपर' कहलाता है। यह व्यवहार पदार्थों के अस्तित्व से ही होता है और किसी का अस्तित्व किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता। यह कहा जा चुका है।

अथैवं तर्हि–मनुष्यलोकेऽपि वर्तनापरिणामक्रियादयः कालनिरपेक्षा एव भविष्यन्ति अलं तत्र कालकल्पनयेति चेन्मैवम् कालो यदि वर्तनादीनां निर्वर्तककारणतया–परिणामकारणतया वा मनुष्यलोके कल्पेत–तदा-न स्यादेवतदर्थं कालस्य कल्पनम् । परन्तु–नत्वेवं कालः कल्प्यते अपितु वर्तनादिकं प्रति–अपेक्षाकारणत्वेन स उच्यते, नहि–असौ कालः स्वातन्त्र्येण पुद्गलादिकमधिष्ठाय कुलालादिवत् तेषां वर्तनादिकं करोति ।

नापि–मृत्तिकादिवत् परिणामिकारणं वा भवति, अपितु–स्वयमेव सम्भवता पुद्गलादीना मर्थानाम् अस्मिन् काले भवितव्यम्-नान्यदेत्येवमपेक्षाकारणं संभवति । यथा–पुद्गलादीनां गतौ धर्मद्रव्यमपेक्षाकारणमिति मनुष्यलोके पुद्गलादिद्रव्याणां वर्तनादिकम्प्रति अपेक्षाकारणतया कालद्रव्याभ्युपगमः परमावश्यकः इति न कोऽपि दोषो मनुष्यलोके कालस्य वृत्तिकल्पने इति भावः ।

यदितु–तिर्यग्लोकवृत्तिपदार्थानां चन्द्रसूर्यादिगतिक्रिययोपकृतिर्भवति, तदा–तया सूर्यादिगतिक्रियया स्पष्ट एवोपकार स्तस्य तिर्यग्लोके, । देवलोकादौ च न चन्द्रसूर्यादेर्गतिक्रिया भवति, न च तया तस्योपकारो भवतीति स्पष्ट एवाऽन्यत्र तदुपकारः । अतएव–मनुष्यलोकवर्त्तिनैव कालेनाऽन्यत्राऽपि कालव्यवहारोऽवगन्तव्यः, परमनिरुद्धः समयोऽपि सूर्यादिक्रियया व्यज्यमानदिनादेः परमो लव एवाऽवसेयः ।

शंका ऐसा है तो मनुष्य लोक में भी वर्त्तना, परिणाम, क्रिया आदि काल के विना ही हो जाएँगे । वहाँ काल का अस्तित्व स्वीकार करने से क्या लाभ ?

समाधान- मनुष्य लोक में काल को यदि वर्त्तना आदि का जनक कारण माना होता या उपादान कारण माना होता तो ऐसी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं थी । मगर ऐसा तो माना नहीं है । वर्त्तना आदि में काल अपेक्षा कारण ही कहा गया है । जैसे कुम्भकार मिट्टी लेकर घट बनाता है, वैसे काल पुद्गलादि को लेकर उनकी वर्त्तना आदि नहीं करता । काल मृत्तिका आदि के समान उपादान कारण भी नहीं होता है । किन्तु स्वयं ही होने वाले पुद्गल आदि पदार्थ इस काल में हो, अन्य काल में नहीं, इस प्रकार काल सिर्फ अपेक्षा कारण है । जैसे पुद्गलादि की गति में धर्मद्रव्य अपेक्षा कारण है, उसी प्रकार मनुष्यलोक में पुद्गलादि द्रव्यो की वर्त्तना में काल को अपेक्षा कारण मानना परमावश्यक है । इस प्रकार मनुष्यलोक में काल का अस्तित्व स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है ।

यदि तिर्छे लोक के पदार्थों का उपकार चन्द्र–सूर्य आदि की गति क्रिया से होता है तो वह सूर्य आदि की गतिक्रिया से तिर्छे लोक में उनका उपकार स्पष्ट ही है । देवलोक आदि में चन्द्र सूर्य आदि की गतिक्रिया नहीं होती । उससे उनका उपकार नहीं होता । इस प्रकार अन्यत्र उनका उपकार स्पष्ट ही है । अतएव मनुष्यलोकवर्त्ती काल के द्वारा ही अन्यत्र भी काल का व्यवहार समझ लेना चाहिए । सब से छोटा जो समय है, वह भी सूर्य आदि की क्रिया से प्रकट होने वाला दिन आदि का परम लव ही जानना चाहिए ।

सूर्यादिगतावपि प्राचीना कालगतिर्हेतुरेव भवति। तथाच—तिर्यग्लोकात्मके मनुष्यलोके एव कालस्य वृत्तिर्युक्ता। अन्यथा—लोकालोकयोर्वर्तनादिसद्भावान् सकालः सर्वत्रैव कथं न स्यात्, तथाच कालस्य पर्यायताऽपि युज्यत एवेति भावः।— एवञ्च—सर्वभावानां वर्तना तावत्।

कालाश्रयावृत्तिरुच्यते, तत्र वर्तनातावत् उत्पत्तिः—स्थितिः—गतिश्च प्रथमसमयाश्रया व्यपदिश्यते। एवञ्च—वर्तनादीनां सकलभावपदार्थव्यापित्वं बोध्यम् वर्तन्ते स्वयमेव पदार्थास्तेषां वर्तनाशीलानां पदार्थानां प्रयोजिका कालाश्रया वृत्तिर्भवति, वर्त्यन्ते पदार्था यया सा वर्तना। इतिव्युत्पत्तेः कालाश्रया वृत्तिरेव वा वर्तना—वर्तनशीलता, उच्यते, वृत्तिर्वर्तनं तथाशीलतेति भावः।

"अनुदात्तेतश्चहलादेः" इति युच् प्रत्ययः तस्य—**"युवोरनाकौ—"** इत्यनादेशः। पूर्वव्युत्पत्तौ तु—**"ण्यासश्रन्थो युच्—"** इति युच् सा वर्तना तावत् प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैकसमयस्वसत्तानुभवरूपा—उत्पाद्यस्य तदितरस्य वा भावपदार्थस्य प्रथमसमयसंव्यवहारोऽनुमानगम्यः तस्य तण्डुलादि विपाकवत्—अग्निजलसयोगहेतुकः प्राथमिकी विक्रिया, अतीतानागतविशेषविनिर्मुक्ताऽवसेया।

सा च वर्तना परमप्रवीणपुरुषबुद्धिगम्या भवति। तथाचोक्तम्—

"विसस्य वाला इव दह्यमाना न लक्ष्यते वैकृतिरग्निपाते—।
तां वेदयन्ते मितसर्वभावाः सूक्ष्मो हि कालोऽनुमितेन गम्यः ॥१॥ इति

सूर्य आदि की गति में भी प्राचीन कालगति कारण होती है। अतएव मनुष्यलोक में ही काल द्रव्य का सद्भाव मानना उचित है। अन्यथा लोक और अलोक में वर्त्तना आदि का सद्भाव होने से सर्वत्र ही उसकी सत्ता क्यो न मानी जाय? तात्पर्य यह है कि इससे काल की पर्यायता भी सगत हो जाती है।

इस प्रकार वर्त्तना कालाश्रित वृत्ति कहलाती है। वर्त्तना उत्पत्ति स्थिति और गति है जो प्रथम समय आश्रित है। वर्त्तना आदि समस्त भावरूप पदार्थों में व्यापक है। पदार्थ स्वयं ही वर्त्तते है, उन वर्त्तनशील पदार्थों के लिए कालाश्रयवृत्ति निमित्त हो जाती है। जिसके द्वारा पदार्थ वर्तते है, वह वर्त्तना; ऐसी वर्त्तना शब्द की व्युत्पत्ति है। कालाश्रयवृत्ति ही वर्त्तना या वर्त्तनशीलता कहलाती है। वृत्ति, वर्त्तन या वर्त्तनशीलता यह सब एकार्थक है। **'अनुदात्तेतश्च हलादेः'** इस सूत्र से युच् प्रत्यय होता है, उसको **'युवोरनाकौ'** इस सूत्र से आदेश नहीं होता। पहली व्युत्पत्ति में **ण्यासश्रन्थो** युच् इस सूत्र से युच् प्रत्यय होता है। वह वर्त्तना प्रत्येक द्रव्य और पर्याय में एक समय सम्बन्धी स्वसत्ता का अनुभव रूप है। उत्पाद्य या उससे इतर पदार्थ का प्रथम समय का व्यवहार अनुमान गम्य है। तण्डुल आदि के पाक के समान। अग्नि और जल हेतुक प्राथमिक विक्रिया अतीत एवं अनागत विशेषो से रहित जानना चाहिए।

वह वर्त्तना अत्यन्त कुशल बुद्धिमान् पुरुष की ही समझ में आती है। कहा भी है—'विसस्य वाला' इत्यादि।

अथ वर्तमानेन सूर्यस्योदयेनोपलक्ष्यमाणाभावपदार्थानां प्रति विशिष्टा क्रियैव वर्तते इत्यादि-व्यवहारविषयतामवगाहते, न तु—तद् व्यतिरिक्तः कश्चित्कालस्तद्व्यवहारविषयः, एवं—"ह्यः श्वः" इत्येवमतीतानागतोदयलक्षणा सूर्यमण्डलभ्रमणानुमेया वस्तुक्रियैव—अवर्तत वर्तिष्यते—" इत्यादिना व्यवह्रियते इति चेन्मैवम् ।

धर्मादिद्रव्यपरिणतिमात्रं कालस्तदन्यो वा कश्चिद् भवतु, न पक्षद्वयेऽपि कश्चिद्दोषः, किन्तु सूर्यगत्युपलक्षिता नैषा वस्तुक्रिया, "वर्तते—" इत्यादिव्यवहारविषयतामवगाहते, सूर्यगतावपि तत् सद्भावात् । तस्मात्—सर्वेषामेव भावानां "वर्तते" इत्यादिविषयतामवगाहमानानां वर्तनादिनिर्वाहकतया कश्चिदतिरिक्त—कालः कल्पनीय इति,

अन्यथा—कालेऽविद्यमाने सति "कालाश्रया वृत्ति"—रिति वक्तुं न पार्येत, काले निश्चिते सति तदाश्रया वृत्तिर्वक्तुं शक्यते । तस्मात्सकलवस्तुगुणाश्रया वर्तना कालं विना न संघटते अतः पदार्थपरिणतिहेतुतया कश्चित्कालः कार्यानुमेयोऽस्ति । एवं कालद्रव्याभिधायिनः शब्दा अपि बहवो लोकप्रतीताः सन्ति, न तु—वस्तुक्रियामात्राऽभिधायिस्ते सम्भवन्ति ।

तद्यथा—"युगपद्युगपत् क्षिप्रं चिरं चिरेण परमिदमपरमिदमिति च ।
वर्त्स्यति, नैतद्वर्त्स्यति वर्तते वृत्तमपि वर्तते इदमन्तर्वर्तते"

शंका - वर्त्तमान सूर्य के उदय से प्रतीत होने वाली भावरूप पदार्थों की विशिष्ट क्रिया ही वर्त्तती है ऐसे व्यवहार की विषय होती है । उससे भिन्न कोई काल व्यवहार का विषय नहीं होता । इसी प्रकार 'ह्य(अतीत दिन) और 'श्व' (आगामी दिन) इस प्रकार अतीत और अनागत उदयरूप, सूर्यमण्डल के भ्रमण से अनुमान की जाने वाली वस्तु की क्रिया ही 'वरती' या 'वरतेगी' इत्यादि रूप से व्यवहार की जाती है ।

समाधान—काल चाहे धर्म आदि द्रव्यो का परिणमन मात्र हो, चाहे उससे भिन्न कुछ हो, दोनो पक्षो में कोई दोष नहीं है, मगर सूर्य की गति से प्रतीत होने वाली वस्तु की क्रिया 'वर्त्तते' ऐसे व्यवहार का विषय नही होती । क्योंकि सूर्य की गति में भी उसका सद्भाव है । अतएव 'वर्तते' इस प्रकार के व्यवहार का विषय बनने वाले सभी पदार्थों की वर्त्तना आदि का निर्वाहक काल कोई भिन्न ही होना चाहिए । यदि काल का अस्तित्व न माना जाय तो कालाश्रित वृत्ति भी नहीं मानी जा सकती । काल के निश्चित होने पर ही कालाश्रित वृत्ति कही जा सकती है । इस प्रकार सकल पदार्थों में होने वाली वर्त्तना काल के विना घटित नहीं हो सकती । अतएव पदार्थों के परिणमन के कारण काल का कार्य से अनुमान होता ही है । काल द्रव्य के वाचक बहुत-से शब्द भी लोक में प्रसिद्ध हैं । वे वस्तु की क्रियामात्र के वाचक नहीं हो सकते । वे शब्द इस प्रकार है—युगपद् (एक साथ) अयुगपद (एक साथ नहीं), क्षिप्र (शीघ्र) चिर (देरी), चिरेण (देरसे), यह पर है, यह अपर है, यह वरतेगा, नहीं वरतेगा, यह वरत रहा है, यह वरता, यह अन्दर वरतता है, इत्यादि सब शब्द काल की अपेक्षा रखते हैं । आग

इत्येवं सर्वं कालापेक्षमेव–आप्ता व्यवहरन्ति । एवम्–ह्यः श्वोऽद्य इदानीम् ऐष मः परुत् परारि नक्तं दिवा सायं प्रात'–इत्यादिकालवचनानि तावत् कालस्याऽसद्भावेनोपपद्येरन् । तस्मात् कालपदार्थोऽवश्यमेवाऽभ्युपगन्तव्यः ।

परिणामस्तावत्—पुद्गलादिद्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्दभिन्नप्रयोगजन्यपर्यायस्वभावः उच्यते, तद्यथा—अङ्कुरावस्थस्य वनस्पतिकायस्य मूल–काण्डत्वक्–पत्र–स्कन्ध–शाखा–विटप–पुष्प–फल सद्भावस्वरूप' परिणामो भवति, अयमङ्कुर आसीत् सम्प्रति स्कन्धवान् संवृत्तः, हायनेऽस्मिन् पुष्पिष्यति–फलिष्यतिचेति, पुरुषजीवद्रव्यस्य वा बाल्य–शैशव–पौगण्ड–यौवन—वार्धक्याद्यवस्थासद्भावलक्षणः परिणामो भवति ।

स च—परिणामो द्विविधः, अनादिः–सादिश्च, तत्राऽमूर्त्तेषु धर्माधर्माकाशकालजीवेषु—अनादिपरिणाम., मूर्तेषु पुनः–अभ्रेन्द्रधनुरादिषु, स्तम्भकुम्भादिषु च सादिः परिणामो बोध्यः ।

एवं, हेमन्त १ शिशिर–२ वसन्त–३ ग्रीष्म–४ वर्षा–५ शरत्–६ संज्ञकाः षड्ऋतवोऽपि एकस्य–कालस्यैव शक्तिभेदाः परिणामविशेषाः प्रतिविशिष्टकार्यप्रसवाऽनुमेया भवन्ति ।

"तथाहि—हेमन्ते–तुषारपातप्रम्लानानि भवन्ति कार्पासादिकाननानि, पथिकाश्च–सङ्कुचितकरकमला' क्वणद्दन्तवीणाः वेपमानशरीरयष्टयः प्रत्यग्निशलभा इव पतन्तः सलक्ष्यन्ते, पवनाश्च–तुषारकणसम्पर्कतोऽतिशयशिशिराः जीवानायासयन्त' प्रवान्ति—१

पुरुष इसी प्रकार व्यवहार करते हैं । इसी प्रकार गया कल, आगामी कल, आज, अब, अभी, परसो नरसो, सुबह, प्रातः, इत्यादि व्यवहार कालवाचक प्रयोग काल के अभाव में नहीं हो सकते । अत' कालद्रव्य अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए ।

परिणाम पुद्गल आदि द्रव्यो की एक पर्याय है जो अपनी जाति का त्याग न करते हुए परिस्पन्द से भिन्न प्रयोग के द्वारा जनित होता है । जैसे–अंकुर अवस्था वाले वनस्पतिकाय के मूल, काण्ड, त्वचा, पत्र, स्कंध, शाखा, विटप, पुष्प, फल का सद्भाव रूप परिणाम होता है । यह अंकुर था, अब स्कंधवान हो गया, इस वर्ष में यह फूलेगा, फलेगा । पुरुष जीवद्रव्य का परिणाम शैशव, बाल्य, पौगंड, यौवन, बुढापा आदि है ।

परिणाम दो प्रकार का है –अनादि और सादि । अमूर्त्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव में अनादि परिणाम होता है और मूर्त्त मेघ, इन्द्रधनुष आदि में तथा स्तंभ कुंभ आदि में सादि परिणाम होता है ।

इसी प्रकार (१) हेमन्त (२) शिशिर (३) वसन्त (४) ग्रीष्म (५) वर्षा और (६) शरद् नामक छह ऋतुएँ भी काल के ही शक्तिभेद रूप परिणाम विशेष है, जिनका विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति से अनुमान किया जाता है । जैसे कि हेमन्त ऋतु में कपास आदि के कानन तुषारपात-हिम से मुरझा जाते हैं, पथिको के कर-कमल सिकुड जाते हैं, उनकी दन्तवीणा बजने लगती है, शरीर थर–थर काँपने लगता है और वे पतंगों की तरह आग की तरफ टूट पड़ते है । तुषार-कणों के सम्पर्क से अत्यन्त शीतल वायु जीवो को क्लेश उत्पन्न करती है ।

"शिशिरे चाऽतिधूमिकापिहितचन्द्रकिरणा बदरीवृक्षाश्च फलभरावनतशाखाः शिशुवृन्दैरनुस्रियमाणतला भवन्ति, तुहिमकणविशदकुन्दमालतीपुष्पवासवासिता वायवः प्रवहन्ति—२

"वसन्तेच—समन्ततः किञ्चिद् विकसत्प्रसूनाः कुन्दलता', केसरतिलककुरवकशिरीषादिपुष्पपरागशालिनः युवजनमनोहारिणः समीरणाः शनैः शनैः सरन्ति, सहकारमञ्जरीरजः परागधूसरितशरीराः मञ्जुगुञ्जन्ति भृङ्गाः, कोकिलाश्च—कलरवकुहूशब्दैराम्रतरुवनानि मुखरयन्ति, मलयाचलपवनवेगकम्पितपरागपटलैः पिहितनयनपुटाः पथिकजना' प्रत्यावर्त्तन्ते स्वस्वप्रेयसीगृहाभिमुखम् -३

ग्रीष्मे च—सहस्रकिरणः किरणनिकरैः पृथिवीतलं किरन आस्तीर्णाङ्गारसमूहमिव विदधाति, पथिकजनाश्च अत्यन्तसन्तप्तमानसा' कथञ्चिदतिद्राघीयसो दिवसान् अतिवाहयन्ति, चन्दनपङ्काङ्गरागपरिलिप्ताङ्गाः भृत्यजनहस्तोत्क्षिप्ततालव्यजनपवने विद्यच्छक्तिञ्चालितविद्युद्व्यजनप्रक्षिप्तात्यन्तचञ्चलपवनेन च शिशिरीकृतशरीराः भोगविलासिनो जनाः शिशिरेषु गृहोपवनेषु सरित् सरसीतीरेषु च विविधधारागृहान्तर्गताः सन्तो निरस्तनिदाघघर्मप्रसरमभिरमन्ते, गजदन्तखण्डशुभ्रमल्लिकाकलिका बहुलपरिमलवाहिनः परिकल्पितपाटलपुष्पाः सायं प्रातश्च सुरभय' पवनाः सुवासयन्ति विलासिजनजङ्गमशरीराणि—४

शिशिर ऋतु में चन्द्रमा की किरणें अत्यन्त धुंध से आच्छादित हो जाती है, बेरी (बोरडी) के वृक्षो की शाखाएँ फलो के भार से झुक जाती हैं, और बालक उनके नीचे घूमते—फिरते है, वायु बर्फ के कणो से विशद, कुन्द एवं मालती आदि के पुष्पो से सुवासित हो जाती है।

वसन्त में चारो ओर कुन्दलताओ के फूल किंचित् विकसित हो उठते है. केसर तिलक कुरबक शिरीष आदि के फूलो के पराग से युक्त तथा तरुण जनो के मन को हरण करने वाला समीरण-पवन मंद—मंद चलती है, आम्र की मजरी के रज एवं पराग से धूसरित शरीर वाले भ्रमर मनोहर गुंजार करने लगते है। कोकिलाएँ अपने 'कुहू—कुहू' के कलरव से आम्रवनो को मुखरित करने लगती है। मलयाचल के पवन के वेग से कम्पित चम्पा के परागसमूह से अपने नयन—पुटो को बन्द करके पथिक जन अपनी—अपनी प्रेयसियो के गृह की ओर लौटने लगते है।

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य अपनी प्रखर किरणो से पृथ्वीतल को इतना तप्त बना देता है मानो उस पर अंगारो का समूह बिखेर दिया हो। पथिक जनो का मानस अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है, वे जैसे—तैसे अत्यन्त लम्बे दिनो को पूरा करते हैं। भोगीविलासी लोग अपने शरीर पर चन्दन का लेपन करते है। सेवको के हाथो से पखा झलवाते हैं, अथवा बिजली की शक्ति से चलने वाले बिजली के पंखे से फेंका जाने वाला अत्यन्त चचल वायु से अपने शरीर को शीतल करते है। शीतल गृहो, उपवनो, नदी या तालाब के किनारो पर विविध प्रकार के धारागृहो के अन्दर रह कर अपनी गर्मी और धूप के प्रसार को दूर करते हैं। हाथीदात के खण्ड के समान श्वेत वर्ण मल्लिका की कलियाँ, प्रभृत सौरभ से सम्पन्न पाटल—पुष्प और सायकाल तथा प्रात: काल की सुरभित वायु विलासी जनो के जगम शरीर को सुवासित करता है।

"वर्षासु च—लपलावलयविद्योतितकदम्बिनीघटाटोपस्थगिताम्बरमारचितेन्द्रचापलेखं मुसलधारासारप्रपातोपशमितधूलिजालं धरातलं विभाति, कदम्बकोरककेतकीरजः परागपरिमलशालिन सुरभय समीरणा विलासिनामङ्गानि समीरयन्ति, वर्षाजलप्रवाहपूरकलितकूलाः सरितः प्रवहन्ति, विकसत्कुटजपुष्पकन्दलीशिलीन्ध्रालङ्कृताः पर्वतोपत्यका भान्ति, घनघोरघटाटोपध्वनिश्रवणोपजाततीव्रोत्कण्ठाः सन्त प्रवासिनो जना परिभूषितमनीषा इव सलक्ष्यन्ते मयूरमण्डलचातकमण्डूकध्वनिश्रवणोद्दीपितविषमबाणविषवेगमोहिताः महिलाजना क्षणं क्षणद्युतिविद्युत्प्रदीपप्रकाशितासु क्षणदासु अभिसरन्ति नायकमन्दिरम् । पन्थानस्तावत्—पङ्कबहुलाः क्वचिज्जलाकुला दरीदृश्यन्ते—५

शरदि च— रविकिरणाः पङ्कं शोषयन्त स्तीव्रसन्तापं धारयन्ति, विकसितकमल—कुमुदवनानि हंससारसयुतानि सरांसि स्फटिकमणिभित्तिधवलजालपूर्णानि भवन्ति, वेलानियमप्राप्तपाटवानिकमलकोशजालानि प्रातः सूर्यकिरणसम्पर्कात् विकसन्ति, कुमुदिनीनाथकिरणकलापस्पृष्टानि च कुमुदकुवलयवनानि सुरभिपरिमलं वयन्ति - दलन्ति च,—६

इत्येवं रीत्या षड्ऋतुविभागो वेलानियमश्च विलक्षणपरिणामो नियामकं कारणं कालं विना—

वर्षा ऋतु में भूतल बिजली की चमक से प्रकाशित हो जाता है। मेघमाला के आडम्बर से आकाश आच्छादित हो जाता है। इन्द्रधनुष अपनी अनुपम छटा दिखलाती है। मूसलधार वारिवर्षा से धरा की समस्त धूल उपशान्त हो जाती है। कदम्ब, कोरक एवं केतकी की सौरभमय पराग से युक्त सुगंधित वायु विलासी जनो के अंगो को प्रकम्पित करने लगती है। वर्षा के जल के प्रवाह के कारण सुन्दर तट वाली नदियाँ प्रवाहित होती है। पर्वतो की उपत्यकाएँ खिले हुए कुटज पुष्पो से तथा शिलीन्ध्रो से सुशोभित हो उठती है।

मेघो की घोर घटा की गर्जना सुनकर प्रवासी जनो के चित्त में तीव्र उत्कंठा जागृत हो जाती है। वे ठगे—से रह जाते है। मयूरो, चातको एवं मण्डूको की ध्वनि को सुनने से महिला जनो के मन में काम उद्दीप्त हो जाता है, और वे क्षणभर के लिए विद्युत् रूपी प्रदीप के द्वारा प्रकाशित रात्रि में अपने प्रेमी जनो के घर की ओर अभिसार करने लगती है। मार्ग कीचड़ की बहुलता वाले और कहीं—कहीं जल से युक्त दिखाई देते हैं।

शरद् ऋतु मे सूर्य की किरणे कीचड को सोखती हुई तीव्र सन्ताप को धारण करती है। वनो मे कमल और कुमुद विकसित हो उठते है। सरोवर हंसो और सारसो से सुशोभित तथा स्फटिक मणि की भीत के समान धवल जल से परिपूर्ण होते है। वेला के नियम से प्राप्त पटुता वाले कमलो के कोशजाल प्रातः काल सूर्य की किरणो का सम्पर्क पाकर विकसित होते है। चन्द्रमा की किरणो के समूह से स्पृष्ट कुमुदो और कुवलयो के वन सौरभ का वमन करते है।

इस प्रकार छह ऋतुओ का विभाग और वेला का नियम नियामक कारण काल के बिना, अन्य कारणों के होने पर भी घटित नहीं हो सकता। अनेक प्रकार की शक्तियों से

इतरकारणकलापसान्निन्ध्ये सत्यपि नोपपद्यते । तथाविधानेकशक्तिशालिकालद्रव्यापेक्षः पुनस्तथाविध-ऋतुविभागादिपरिणामः समुपपद्यते । तस्मात्तथाविधप्रतिविशिष्टकार्याऽनुमेय. तावत्कालोऽवगन्तव्यः ।

अन्यथा—कस्यापि नियामकस्य हेतो रसद्भावे युगपदेव एते पूर्वोक्ता भावा' पराधीनत्वा-भावेन सम्भवेयु अतोऽमीषां परिणामाना प्रतिनियतकालभावित्वात् समस्तितावद् अनेकशक्तिक-लापयुक्तं कालरूपमेकं कारणम्, ताश्च कालनिष्ठा' शक्तय. कदाचिदेव समासादिपरिपाका' स्वका-र्यनिष्पादनाय प्रवर्तन्ते न सर्वदेतिभाव' । क्रियागतिस्त्रिधा भवति,

प्रयोगगतिः—विस्रसागतिः—मिश्रिकाचेति । तत्र—प्रयोगगतिः जीवपरिणामप्रयुक्ता शरीराहार-वर्णगन्धसरर्शसंस्थानविपया भवति, विस्रसागतिस्तु—प्रयोगं विना केवलं जीवभिन्नद्रव्यपरिणाम-रूपा परमाण्वभ्रेन्द्रधनु'परिवेषादिरूपा विचित्रसंस्थाना भवति. मिश्रिकागति'पुनः—प्रयोग विस्र-साभ्यामुभयपरिणामरूपत्वाद जीवप्रयोगसहचरिताऽऽचेतनपरिणामात् कुम्भस्तम्भादिविपया भवति. । कुम्भादयस्तु — तावत् तेन परिणामेन स्वत एवोत्पत्तुं शक्ता' कुम्भकारसान्निध्यात् तादृशाः सञ्जा-यन्ते । परत्वापरत्वे च त्रिविधे स्त', प्रशंसाकृते—क्षेत्रकृते—कालकृते च भवत' । तत्र प्रशंसाकृते परत्वापरत्वे यथापरो धर्मः पर ज्ञानम् अपरोऽधर्मः, अपरमज्ञानम्, इत्यादि ।

सम्पन्न कालद्रव्य के कारण ही पूर्वोक्त ऋतुविभाग आदि परिणाम उत्पन्न होता है । अतएव इन सब कार्यों से कालद्रव्य का अनुमान किया जा सकता है ।

अन्यथा किसी भी नियामक हेतु के अभावमें एक ही साथ पूर्वोक्त सब भाव हो जाने चाहिए क्योकि वे पराधीन न होंगे । मगर ऐसा होता नहीं ये सभी परिणाम अपने नियत काल में ही होते हैं अतएव अनेक शक्तिसमूहो से युक्त काल ही इनका कारण है। काल में रही हुई शक्तियां कभी—कभी ही परिपाक को प्राप्त होकर अपना कार्य करने के लिए प्रवृत्त होती है. सर्वदा नहीं ।

क्रियागति तीन प्रकार की है—प्रयोगगति, विस्रसागति और मिश्रगति । जीव के परिणाम से शरीर आहार वर्ण गन्ध रस स्पर्श और संस्थान विषयक गति प्रयोगगति कहलाती है । विस्रसागति प्रयोग के विना ही होती है और वह जीव से भिन्न द्रव्यो का परिणमन है । परमाणु इन्द्रधनुष मेघपरिवेष आदि उसके विविध आकार प्रकार होते है । मिश्रगति प्रयोग और स्वभाव दोनो से होती है । वह जीव के प्रयोग के साथ अचेतन के परिणाम से कुम्भ स्तंभ आदि मे उत्पन्न होती है । कुम्भ आदि उस उस रूप मे स्वय ही उत्पन्न होने मे समर्थ होते हुए कुम्भकार के सान्निध्य से उस रूप मे परिणित हो जाते है ।

परत्व और अपरत्व तीन प्रकार के है—प्रशंसाकृत क्षेत्रकृत और कालकृत । प्रशंसाकृत जैसे—धर्म पर अर्थात् श्रेष्ठ है, ज्ञान पर 'श्रेष्ठ' है और अज्ञान अपर है इत्यादि ।

एक ही दिशा और एक ही काल मे स्थित दो पदार्थों में से जो दूर होता है, वह पर कहलाता है और जो सन्निकट होता है, वह अपर कहलाता है

क्षेत्रकृते परत्वापरत्वे च यथा एकदिक्कालावस्थितयोर्द्वयोर्भावपदार्थयोर्विप्रकृष्टे परत्वव्यवहारो भवति, सन्निकृष्टे चाऽपरत्वव्यवहारो जायते । कालकृते परापरत्वे यथा—षोडशवर्षायुषः परो वर्षशतिको भवति वर्षशतिकादपरः षोडशवर्षायु र्भवति । तत्र–प्रशंसाक्षेत्रकृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा तदितराणि सर्वाणि वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानि कालकृतानि भवन्ति तानि वर्तनादीनि प्रति कालस्यैवाऽपेक्षाकारणत्वात् कालद्रव्यं सिध्यति ॥१८॥

मूलसूत्रम्—'पोग्गलेसु वण्णगंधरसफासा" ॥१९॥

छाया—पुद्गलेषु वर्णगन्धरसस्पर्शाः—॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवानामुपकारादिकार्यप्रदर्शनद्वारा-सामान्यतः स्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति–विशेषतः पुद्गलादीनां स्वरूपं निरूपितुमाह–'पोग्गलेसु' इत्यादि । पुद्गलेषु–पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला व्यपदिश्यन्ते तेषु वर्णगन्धरसस्पर्शा भवन्ति ते च पुद्गलाः परमाणुप्रभृति महास्कन्धपर्यन्ताः सन्ति ।

तथाच–कृष्णनीलादिवर्णः सुरभ्यसुरभिगन्धः तिक्ताऽम्लमधुरादिरसः, मृदुकर्कशादिस्पर्शश्च पुद्गलानां विशेषलक्षणमवगन्तव्यम् । तथाच—वर्णवत्वं गन्धवत्वं रसवत्वं, स्पर्शवत्वं पुद्गलस्य लक्षणम् ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पुद्गलविषये बहवस्तावत्परतीर्थिकाः विप्रतिपद्यन्ते, तत्र–केचन सौत्रान्तिकाः पुद्गलपदेन जीवमभ्युपगच्छन्ति पुनः पुनर्गत्यादानात्–जीवः पुद्गल इत्युच्यते योगाचारा

कालकृत परत्व और अपरत्व ज्येष्ठता और कनिष्ठता है। जैसे सौ वर्ष वाले की अपेक्षा पर कहलाता है और सौ वर्ष वाले को अपेक्षा सोलह वर्ष वाला अपर कहलाता है । इनमें से प्रशंसाकृत और क्षेत्रकृत परत्व-अपरत्व को छोड कर उनके सिवाय सब वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व कालकृत है क्योंकि काल उन सब में अपेक्षा कारण है । उनसे कालद्रव्य की सिद्धि होती है ॥१८॥

मूलसूत्रार्थ—'पोग्गले सुवण्ण' इत्यादि सूत्र ॥१९॥

पुद्गलो में वर्ण गंध रस और स्पर्श होता है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले धर्म अधर्म आकाश, पुद्गल और जीवो का उपकार आदि दिखलाकर सामान्य रूप से स्वरूपनिरूपण किया गया है, अब विशेष रूप से पुद्गल आदि का स्वरूप निरूपण करने के लिये कहते है—

जिसमें पूरण और गलन अर्थात मिलना और विछुडना होता है, वह पुद्गल कहलाता है । पुद्गल मे वर्ण गंध, रस और स्पर्श पाये जाते है । पुद्गल परमाणु से लेकर महास्कंध तक होते है ।

अतएव कृष्ण नील आदि वर्ण, सुरभि और असुरभि गंध तिक्त आम्ल मधुर आदि रस मृदु कर्कश आदि स्पर्श पुद्गलो का विशेष लक्षण जानना चाहिये । इस प्रकार जो वर्ण गंध रस और स्पर्शवान् हो वह पुद्गल है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पुद्गल के विषय में अन्यतीर्थिको की विविध प्रकार की विरोधी मान्यताएँ है । जैसे सौत्रान्तिक पुद्गल शब्द का अर्थ जीव कहते है क्योंकि वह पुनः पुनः

स्तु बौद्धविशेषा विज्ञानपरिणामः पुद्गल इत्यङ्गीकुर्वन्ति तथाचोक्तम्--

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते--।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥इति

तन्न समीचीनम् तान्निराकर्तुमाह--'पोग्गलेसु' इत्यादि पुद्गलेपु- वर्णगन्धरसस्पर्शा भवन्ति एवञ्च--पुद्गलेषु शुक्लादि वर्ण--गन्ध--रसादिमत्त्वेन मूर्तत्वात् जीवानाञ्च--वर्णादिरहितत्वेनाऽमूर्तत्वात् मूर्तस्याऽमूर्तत्वाऽसम्भवात ।

तथाच---पृथिवीवत्--जलादीन्यपि वर्ण--गन्ध--रस--स्पर्शवन्ति सन्ति मनोऽपि--स्पर्शादिमद् वर्तते असर्वगतत्वात् पार्थिवपरमाणुवत् । तत्र वर्णः कृष्ण नील--पीत--शुक्ल लोहितभेदात् पञ्चविधः । गन्धस्तावद् द्विविधः सुरभि--रसुरभिश्च । रसस्तु-तिक्तकटुकषायाऽम्लमधुरभेदात्पञ्चविधः स्पर्शः पुनरष्टविधो भवति कर्कश--१ मृदु--२ गुरु-३लघु--४ शीतो--५ ष्ण--६स्निग्ध ७ रूक्ष--८ भेदात । यद्यपि---लवणोऽपि रस. सर्वैरनुभूयते । तथापि---मधुररसे तस्यान्तर्भावो बोध्यः अस्तुवा--तस्य पञ्चस्वेव रसेष्वन्तर्भावः, लवणरसस्य सर्वेषां रसानामपि व्यञ्जकत्वात् । येषु च--जलादिपुद्गलेपु द्वित्राः गन्धादयः प्रकटतया नाऽनुभूयन्ते तेष्वपि--स्पर्शसद्भावात्

गति को ग्रहण करता है। बौद्धों का एक सम्प्रदाय जो यौगाचार कहलाता है, वह विज्ञान के परिणाम को पुद्गल कहते है । कहाभी है---आत्मधर्म का जो उपकार विविध प्रकार से प्रवृत्त होता है वह विज्ञान का परिणाम है ।वह परिणाम तीन प्रकार का है ।

यह मान्यता समीचीन नहीं है अतः उनका निराकरण करने के लिए कहते है---पुद्गलों में वर्ण गन्ध रस और स्पर्श होते है। इसप्रकार पुद्गलो में शुक्ल आदि वर्ण गंध रस और स्पर्श का सद्भाव होने से जीव को पुद्गल नहीं कहा जा सकता । वर्ण आदि से युक्त होने के कारण पुद्गल मूर्त होते है और जीव वर्ण आदि से रहित होने के कारण अमूर्त है इस प्रकार जो मूर्त है वह अमूर्त कैसे हो सकता है ?

पृथ्वी के समान जल आदि भी वर्ण गंध रस और स्पर्श वाले है। मन भी स्पर्श आदि से युक्त है, क्यों कि वह सर्वव्यापि नहीं है, जैसे पार्थिव परमाणु ।

वर्ण के पाँच प्रकार है---काला, नीला, पीला, धौला और लाल। गंध के दो भेद है---सुगंध और दुर्गंध। रस पाँच तरह का है--- तिक्त, कटुक, कपाय, खट्टा और मीठा। स्पर्श के आठ भेद है---(१) कर्कश (२) मृदु (३) गुरु (४) लघु (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध--चिकना और (८) रूक्ष--रूखा। यद्यपि नमकीन रस का भी सभी को अनुभव होता है परन्तु उसका समावेश मधुर रस में हो जाता है । अथवा पांचो ही रसो में उसका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए, क्योंकि वह सभी रसो का अभिव्यजक होता है। जल आदि जिन पुद्गलो में प्रकट रूप से गन्ध आदि की प्रतीति नहीं होती, उनमें भी

अप्रकटाः गन्धादयः सन्तीति कल्पनीयम् । परमाण्वादि पुद्गलगता रूपादयो गुणाः परमाण्वादिभ्यो भिन्नाश्चा-ऽभिन्नाश्च कथञ्चिद् भवन्ति । न त्वेकान्ततो भिन्नावाऽभिन्नावा भवन्ति ।

उक्तञ्च-व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे १२ शतके ५ उद्देशके-'**पोग्गले पंच वण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे पण्णत्ते**'-इति पुद्गलःपञ्चवर्णः पञ्चरसो द्विगंधः अष्टस्पर्शः प्रज्ञप्त इति ।

अथ विज्ञानाद्बहिः स्पर्श रूप-रस-गन्धवन्तो नहि केऽपि पुद्गलाः सन्ति, अपितु-विज्ञान-मेव घटपटादिनानापुद्गलाकारेण प्रत्यवभासते- बाह्यार्थनिरपेक्षस्वप्नादिवत्, नहि-स्वप्नावस्थायां प्रतीयमाना बाह्याः पदार्था भवन्ति । अपितु—बुद्धिपरिकल्पिता एव प्रत्यवभासन्ते, एवं स्वान्तः स्थितं विज्ञानमेव घटपटाद्याकारेण प्रतीयते, न तु परमार्थतो काल्पनिकघटादयो बाह्याः पदार्था सन्तीति चेत्-मैवम्, अनुभवविरुद्धत्वात् तथाहि-देशविच्छेदेन स्वान्तर्वर्त्यनुभवाद् बहिरवभासमानो घटपटादिरर्थोऽवलोकयते स्वसंवेद्यो नीलपीतादिरर्थो बुद्धिसन्निविष्टो बाह्यार्थाकारानुकारोऽपलपितुं न शक्यते, यदा तावत् ज्ञानग्राह्यं पदार्थस्य स्वरूपं द्योतते तदा-कथ सोऽर्थो नास्तीति वक्तुं पार्येत, स्वप्ने च विपर्ययदर्शनात्-अविपर्ययदर्शनाच्च जाग्रदवस्थायां स दृष्टान्तो न युक्तः--? प्रमाणप्रमाणाभासाविशेषापत्तेश्च ।

स्पर्श होने के कारण अप्रकट गन्ध आदि का सद्भाव समझ लेना चाहिए; क्यों कि ये वर्ण आदि चारो नियम से सहचर है। जहाँ एक होता है वहाँ चारो अवश्य होते है। परमाणु आदि पुद्गलो के रूप आदि गुण उनसे कथचित भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं; एकान्त भिन्न या अभिन्न नहीं है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र) के शतक १२, उद्देशक ५ में कहा है—'पुद्गल पाँच वर्ण वाला पाँच रस वाला, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाला कहा गया है।

शंका—विज्ञान से भिन्न स्पर्श, रूप रस और गन्ध वान् कोई किसी पुद्गलद्रव्य का अस्तित्व नहीं है। विज्ञान ही घट पट आदि विविध पुद्गलो के आकार में प्रतिभासित होता है जैसे स्वप्न मे अनेक पदार्थोंकि प्रतीति होती है, किन्तु वास्तव में उनका अस्तित्व नहीं होता, वे बुद्धिकल्पित ही होते है, इसी प्रकार विज्ञान ही घट पट आदि के रूप में प्रतीत होता है। उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

समाधान—ऐसा न कहिए। आपका यह कथन अनुभव से विरुद्ध है। ज्ञान अन्तः-स्थित प्रतीत होता है, घट आदि पदार्थ बाह्य रूप में, पृथक् देश में प्रतीत होते है। अतएव ज्ञान से पृथक् नील पीत आदि नाना आकारो में प्रतिभासित होने वाले बाह्य पदार्थों का अपलाप नहीं किया जा सकता। जो बाह्य पदार्थ प्रतीत होते है, उनकी सत्ता का निषेध किस प्रकार कियाजा सकता है? आपने स्वप्न का जो दृष्टान्त दिया है, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वप्न मे विपर्यय और जागृत अवस्था मे अविपर्ययदेखा जाता है।

आपके कथनानुसार प्रमाण और प्रमाणाभास में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। वस्तु

तथाहि—बाह्यार्थस्याऽस्तित्वाभावे वस्तुस्वरूपग्राहिज्ञानं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अर्थान्तरवि-कल्पद्वारा प्रवर्तमानं प्रत्यक्षप्रमाणाभासम् इत्येव विशेषो न स्यात् । तस्माद् विज्ञानं बाह्यार्थ स्वरूपाऽनुकारितयैव साकारं भवति, तस्य बाह्यार्थस्वरूपाऽनुकारित्वाभावेनाऽनाकारत्वस्वीकारे प्रत्यासन्ति विप्रकर्षाभावेन सर्वार्थानामेव ग्रहणं वा स्यात्—अग्रहणं वाऽऽपद्येत: अतोग्राहक-विशेषादेव ग्राह्यदृष्टिनिबन्धनं भवति ।

अन्यथा—'अर्थज्ञानम्" इत्येवं व्यवहारोऽपि न स्यात्, व्यवहारस्योपकारप्रभावित्वात उपकारस्य च प्रयोज्य-प्रयोजकभावस्याऽविनाभावत्वेन नान्तरीयकत्वात् । तथाच कृष्णादिवर्णगन्ध-रसस्पर्शवत्वात् पुद्गलानां जीवभिन्नत्वं विज्ञानादिपरिणामभिन्नत्वञ्च सिद्धम् अतो जीवविज्ञानपरि-णामात्मकत्वं पुद्गलानां भवतीति भावः ॥१९॥

मूलसूत्रम्—"सद्दंधयारउज्जोयपभा छायातववंधसुहुमवायरत्तसंठाणभेया य–"॥२०

छाया—"शब्दान्धकारोद्योतप्रभाछायाऽऽतपसूक्ष्मबादरत्वसंस्थानभेदाश्च—'॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पुद्गलेषु न केवलं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा एव भवन्ति अपितु—अन्येपि शब्दादयो भवन्तीति प्रतिपदयितुमाह—"सद्दंधयार–" इत्यादि । पूरण-गलनलक्षणेपु शब्दः- अन्ध-कारः-उद्योतः-प्रभा-छाया-आतपः-बन्धः-सूक्ष्मबादरत्वसस्थानभेदश्चेत्येते पुद्गलद्रव्यविकारा अपि

के स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है और अर्थान्तर के विकल्प द्वारा प्रवृत्त होने वाला प्रत्यक्षप्रमाणाभास है; इस प्रकार का भेद बाह्य पदार्थ का अस्तित्व माने विना हो नहीं सकता ।

ज्ञान बाह्य पदार्थों के स्वरूप के अनुकरण करके ही साकार होता है । यदि वह बाह्य पदार्थों का अनुकरण न करे तो सभी पदार्थों के लिए समान होगा । ऐसी स्थिति में वह ग्रहण करे तो सभी को ग्रहण करे और न ग्रहण करे तो किसी भी पदार्थ को ग्रहण न करे । अतः ग्राहक के विशेष से ही ग्राह्य के दृष्टि का कारण होता है ।

अन्यथा 'अर्थज्ञान' ऐसा व्यवहार भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि व्यवहार उपकार से प्रभावित होता है। निमित्त नैमित्तिकभाव रूप उपकार अविनाभाव होने से अन्यथानुपपन्न है।

इस प्रकार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त होने के कारण पुद्गल जीव से भिन्न है और जीव के ज्ञानादि परिणामो से भी भिन्न है । तात्पर्य यह है कि पुद्गल जीव या विज्ञान का परिणाम नहीं है ॥१९॥

मूलसूत्रार्थ—"सद्दंधयार उज्जोय' इत्यादि सूत्र २०

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया. आतप. बंध. सूक्ष्मत्व, बादरत्व, संस्थान और भेद भी पुद्गलरूप है॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पुद्गल केवल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शात्मक ही नहीं है किन्तु शब्द आदि भी पुद्गल ही है, यह निरूपण करने के लिए कहते है—

भवन्ति । अत एव–पुद्गलाः परमाण्वादिमहास्कन्धपर्यन्ताः शब्दाऽन्धकारोद्द्योतप्रभाछाया-ऽऽतपबन्धसूक्ष्मबादरत्वसंस्थानभेदवन्तो भवन्तीति भावः ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—"पूर्वसूत्रे पुद्गलानां रूपरसगन्धस्पर्शाः पर्यायाः भवन्तीति प्रतिपादितम्, सम्प्रति–तेषामेव पुद्गलानां शब्दादयोऽपि परिणामा भवन्ति–इति प्रतिपादयितुमाह–"**सद्दंधयार–**" इत्यादि । पुद्गलेषु तावत्-शब्दो द्विविधो भवति भाषालक्षणः–तद्भिन्नश्च ।

तत्र–भाषालक्षणोद्विविधः, साक्षरो-ऽनक्षरश्च । तत्र-साक्षरः वर्णपदवाक्यात्मकः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृत-तद्विपरीतभेदाद् आर्य-म्लेच्छव्यवहारप्रयोजको भवति । अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियप्राणीनां ज्ञानातिशयस्वभावप्रतिपादनहेतुर्भवति । तत्र–तेषां ज्ञानातिशयैकेन्द्रियापेक्षयाऽवगन्तव्यः । एकेन्द्रियाणान्तु—ज्ञानमात्रं भवति, अतिशयज्ञानं न भवति–तेषामतिशयज्ञानहेत्वभावात्, अतिशयज्ञानवान् सर्वज्ञ एकेन्द्रियाणां स्वरूपं निरूपयति स खलु भगवान् तीर्थङ्करः परमातिशयज्ञानवान् वर्तते, एष सर्वः शब्दः प्रायोगिको भवति ।

अभाषात्मकोऽपि शब्दो द्विविधः, प्रायोगिकः–वैस्रसिकश्च । तत्र प्रायोगिकश्चतुर्विधो भवति, तत-वितत-घन-सौषिरभेदात् । तत्र-ततस्तावत् शब्दः चर्मतननहेतुकः पुष्कर-भेरीदुन्दुभिदर्दुरादि-चर्मपात्रजन्यो भवति । विततः पुनस्तन्त्रीकृतवीणासुघोषादिप्रभवो बोध्यः । घनात्मकः शब्दस्तु—

शब्द अन्धकार, उद्योत, प्रभा छाया, आतप, बन्ध, सूक्ष्मत्व, बादरत्व, संस्थान और भेद भी पुद्गल के ही पर्याय है । अतएव पुद्गल शब्दादि वाले होते हैं ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति–पहले कहा जा चुका है कि पुद्गल, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पर्याय वाले होते है । अब यह बतलाते है कि शब्द आदि पर्याय भी पुद्गल के ही है ।

शब्द दो प्रकार का है—भाषात्मक और अभाषात्मक भाषात्मक शब्द के दो भेद है साक्षर और अनक्षर शब्द । जो शब्द वर्ण पद एवं वाक्यात्मक होता है, शास्त्र का अभिव्यंजक होता है, संस्कारयुक्त और संस्कारहीन के भेद से आर्य और अनार्यजनों के व्यवहार का कारण होता है, वह अक्षरात्मक कहलाता है । अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियो के ज्ञानातिशय के प्रतिपादन का हेतु होता है । उनका ज्ञानातिशय एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा से जानना चाहिए । एकेन्द्रिय जीवो को सामान्यज्ञान होता है अतिशयज्ञान नहीं होता । अतिशयज्ञानवान् सर्वज्ञ एकेन्द्रियो के स्वरूप का निरूपण करते है । वह भगवान् तीर्थंकर परमातिशयज्ञानी होते है । यह शब्द प्रायोगिक होते है ।

अभाषात्मक शब्द भी दो प्रकार के है प्रायोगिक और वैस्रसिक । प्रायोगिक शब्द के चार भेद है—तत, वितत, घन और सौषिर । पुष्कर, भेरी, दुन्दुभि, दर्दुर आदि चर्मवेष्टित वाद्यो का शब्द तत कहलाता है । वीणा सुघोषा आदि का शब्द वितत कहलाता है । ताल घंटा आदि के बजाने से उत्पन्न होने वाला शब्द घन कहा जाता है और बांसुरी तथा शंख आदि

तालघण्टाताडनाद्यभिधातजन्योऽवसेयः सौषिरः शब्दस्तु—वंशशङ्खादिजन्यो भवति, वैस्रसिकस्तु—मेघादिप्रभवो ध्वनि गर्जनात्मको भवति ।

इत्येते सर्वेऽपि शब्दाः पुद्गलपरिणामात्मकपुद्गलविकारा एव अन्धकारस्तावत्—दृष्टिप्रतिबन्धकारणम् प्रकाशविरोधी तमःपर्यायः पौद्गलिको बोध्यः । उद्योतः—चन्द्रसूर्याग्निमणिखद्योतादिप्रभवः प्रकाशविशेषोऽपि पौद्गलिक एव. । प्रभा खलु दीप्तिः प्रकाशविशेषरूपा पौद्गलिकी बोध्या । छाया पुनः—प्रकाशावरणहेतुका वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका च दर्पणादिसंस्थानरूपाऽपि पौद्गलिकी भवति. ।

आतपश्च—सूर्यादिनिमित्तः उष्णप्रकाशलक्षणः पौद्गलिकोऽवगन्तव्यः । बन्धः पुनर्द्विविधो भवति, प्रायोगिकः—वैस्रसिकश्च । तत्र—प्रायोगिको बन्धः पुरुषप्रयोगनिमित्तः, अजीवविषयः जीवाऽजीवविषयश्चेति द्विविधः । तत्राऽजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणो बन्धः । जीवाऽजीवविषयश्च—कर्म-नोकर्मबन्धः, वैस्रसिकश्च बन्धः पुरुषप्रयोगानपेक्षो भवति. ।

तथाहि—स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणनिमित्तो वैस्रसिको बन्धः विद्युदुल्काजलधाराऽग्नीन्द्रचापादिविषयो बोध्य इत्येवं रूपः सर्वोऽपि बन्धः पौद्गलिकोऽवगन्तव्य । एवम्—सूक्ष्मत्वं तावद् द्विविधं भवति. अन्त्यम्—आपेक्षिकञ्च, । तत्राऽन्त्यसूक्ष्मत्वं परमाणूनां भवति, आपेक्षिकं सूक्ष्मत्वञ्च—बिल्वाऽऽमलकबदरादीनां बोध्यम्. । द्विविधमपीदं सूक्ष्मत्वं पौद्गलिकमवगन्तव्यम्. । एवं—बादरत्वमपि स्थूलत्वात्मकं द्विविधं बोध्यम्. ।

से उत्पन्न शब्द सौषिर होता है । वैस्रसिक शब्द मेघ आदि का कहा जाता है जो गर्जनात्मक होता है ।

ये सभी शब्द पुद्गल के पर्याय होने से पौद्गलिक है । देखने में रुकावट पैदा करने वाला प्रकाश का विरोधी तम के नाम से प्रसिद्ध अन्धकार भी पौद्गलिक है । चन्द्र सूर्य अग्नि मणि जुगनू आदि से उत्पन्न होने वाला प्रकाश उद्योत है । वह भी पौद्गलिक है । प्रभा जिसे दीप्ति या चमक कहते है, वह भी पौद्गलिक है छतरी आदि के निमित्त से प्रतिनियत देश में प्रकाश के रुकने से उत्पन्न होने वाली छाया भी पौद्गलिक है । वह दर्पण आदि के सस्थान रूप भी होती है ।

सूर्य के निमित्त से उत्पन्न उष्ण प्रकाश को आतप कहते है । वह भी पुद्गलात्मक ही है । बन्ध दो प्रकार का है—प्रायोगिक और वैस्रसिक । पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है अजीवविषयक और जीवाजीव विषयक । लाख और लकड़ी का बन्धन अजीवविषयक है । जीवाजीवविषयक बन्ध जीव के साथ कर्म और नोकर्म का होता है । जिस बन्ध में किसी पुरुष के प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती वह वैस्रसिक (स्वभाविक) बन्ध कहलाता है ।

वैस्रसिक बन्ध स्निग्धता और रूक्षता के कारण होता है । विद्युत् उल्का, जलधारा, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि उसके उदाहरण है । यह सभी प्रकार का बन्ध पौद्गलिक समझना चाहिए.

सूक्ष्मत्व दो प्रकार का है—अन्त्य और आपेक्षिक । अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणु में होता है.

अन्त्य-मापेक्षिकञ्चेति । तत्राऽन्त्यं बादरत्वं विश्वव्यापिनो महास्कन्धस्य भवति, आपेक्षिकञ्च बादरत्वं बदरामलकबिल्वतालफलादिपु विज्ञेयम्, इत्येवं द्विविधमपि बादरत्वम्पुद्गलसम्बन्धित्वात् पौद्गलिकमुच्यते । सस्थानं पुनराकृतिरूपम्, तदपि द्विविधम्, इत्थंस्थलक्षणम्-अनित्थंस्थलक्षणञ्च. अनेन प्रकारेणेति-इत्थं लक्षणम् । वर्तुलत्र्यस्रचतुरस्रा-ऽऽयतपरिमण्डलादीनामित्थंस्थलक्षणं संस्थान भवति. । तत्र-वर्तुलं दर्पणादिसंस्थानमवगन्तव्यम् । इत्थं प्रकारकमिदं संस्थानमित्येवं निरूपणयोग्यमित्थंस्थलक्षणं संस्थानमुच्यते । अनित्थंस्थलक्षण सस्थानं मेघादीनामनेकविधं भवति, । इत्थंप्रकारकमिदं संस्थानम् इत्येव निरूपयितुमशक्यम् अनित्थंस्थलक्षणं संस्थानमुच्यते मेघादीनामित्थमेव सस्थानमिति न वक्तुं शक्यते, एतद् द्वयमपि संस्थानं पौद्गलिकं भवति ।

भेदाःपुनः-उत्कर१-चूर्ण२-खण्ड३-चूर्णिका४-प्रतर भेदात् पञ्चविधाःसन्ति तत्र-क्रकचादिभिः-काष्ठादीनामुत्करणमुत्कर उच्यते । गोधूम-यवादीनां सक्तुकणिकादिरूपश्चूर्णो व्यपदिश्यते । घट-पटादीनां कपाल-शकलादि खण्ड उच्यते । माष-मुद्गलादीना प्रतनुरूपा चूर्णिका व्यपदिश्यते । अभ्रपटलादीनां प्रतरो भवति- ।

इत्येते शब्दादयः पुद्गलद्रव्यविकारा भवन्तीति शब्दादीनां पुद्गलद्रव्यपरिणामत्वं सिद्धम् । सूत्रस्थचकारेण प्रेरणाऽभिघातादीना पुद्गलद्रव्यपरिणामानामागमोक्तानां समुच्चयोऽवगन्तव्यः । तथाच-

---

आपेक्षिक वेल, आमला बोर आदि में । यह दोनो तरह का सूक्ष्मत्व पुदगल का ही विकार है ।

इसी प्रकार बादरत्व अर्थात् स्थूलता के भी दो भेद है-अन्त्य और आपेक्षिक । अन्त्य बादरत्व समग्र लोकव्यापी महास्कंध में पाया जाता है, आपेक्षिक बादरत्व बोर, आमला, बिल्व, तालफल आदि में होता है । यह दोनो प्रकार का बादरत्व भी पौद्गलिक है ।

आकृति या आकार को संस्थान कहते है । इसके भी दो भेद है-इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ । जिस आकार के विपय में कहा जा सके कि यह ऐसा है वह इत्थंस्थ आकार कहलाता है । वर्तुल , त्रिकोण चतुष्कोण दीर्घ, परिमण्डल आदि आकार इत्थंस्थ संस्थान के अन्तर्गत है । जिस आकार में किसी प्रकार की नियतता न हो और जिसे पूर्वोक्त किसी आकार की सज्ञा न दी जा सके, वह अनित्थंस्थ आकार कहलाता है यह मेघ आदि में अनेक प्रकार से पाया जाता है । यह दोनो प्रकार के सस्थान पौद्गलिक है ।

भेद के छह भेद है-(१) उत्कर भेद (२) चूर्णभेद (३) खण्डभेद (४) चूर्णिका भेद और (५) प्रतर भेद करौत आदि से काष्ट आदि को चीरना उत्कर भेद है । गेहूँ जो आदि को पीसकर आटा बना लेना चूर्ण भेद है । घट पट आदि के टुकडे-टुकड़े होना खण्डभेद है । उडद मूंग आदि का बारीक चूरा होना चूर्णिका भेद है । अभ्रपटल आदि के तह के तह पृथक् होना प्रतर भेद है ।

इस प्रकार शब्द आदि पूर्वोक्त सभी पुद्गलद्रव्य के विकार है । सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से प्रेरणा, अभिघात आदि आगमोक्त पुद्गल द्रव्य के परिणामों को ग्रहण कर लेना चाहिए ।

ध्वन्यात्मको–वर्णात्मको वा शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामो भवति. । तस्य–पुद्गलद्रव्यपरिणामता च मूर्तत्वादवसेया. । मूर्तत्वञ्च–द्रव्यान्तरविक्रियापादनसामर्थ्यात् सिध्यति, पिप्पलादिवत् ।

एवं शङ्खादिशब्दानामतिमात्रप्रवृद्धानां श्रवणबधिरीकरणसामर्थ्यं भवति, तच्च–सामर्थ्यं न गगनादौ अमूर्ते सम्भवति । एवं–गिरिप्रतिहताऽश्मवत्–शब्दस्य प्रतिपर्यायित्वात्, आतपवत्–द्वारानुसारित्वात्, तृणपत्रादिवत्–वायुना प्रेर्यमाणत्वात्, प्रदीपवत्—सर्वदिग्ग्राह्यत्वात्, तारासमुदायवत्—अभिभूयमानत्वात्, रविमण्डलप्रकाशवत्—अभिभावकत्वात, महता शब्देनाऽल्पशब्दस्याऽभिभूयमानत्वदर्शनात्. ।

तस्मात्–शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामः सिद्धः । न तु–वैशेषिकाभिमतः आकाशस्य क्षणिको गुणः शब्दः, पूर्वोक्तरीत्याः शब्दस्य मूर्तत्वसिद्धेः मूर्तस्य गुणत्वाभावात्. । मूर्तस्य शब्दस्याकाशगुणत्वं नोपपद्यते, न हि रूपादय आकाशस्य गुणाः सन्तीति व्यपदिश्यते. । इति पुद्गलानामेव तथाविधः शब्दपरिणामो भवतीति द्रष्टव्यम् । ततश्च— शब्दः कथञ्चिद्द्रव्यं कथञ्चिद्गुणः सम्भवति, परिणामस्य परिणामिनोऽर्थान्तराऽभ्युपगमात्, सर्ववस्तुनां द्रव्यपर्यायात्मकत्वात् । एवं तर्हि–आकाशस्यापि केनचिदाकारेण शब्दो गुणः स्यादिति चेन्मैवम्– नामाकाशादिविवक्षावशात्-"अनेकान्तवादिनोऽदोषः ।

इस कारण शब्द चाहे ध्वन्यात्मक हो, चाहे वर्णात्मक. वह पुद्गल का ही परिणाम–पर्याय है । मूर्त्त होने के कारण उसे पुद्गल द्रव्य का परिणाम समझना चाहिए और शब्द मूर्त्त है क्योकि वह अन्य द्रव्यो में विकार उत्पन्न करने में समर्थ है, जैसे पिप्पल आदि ।

शंख आदि का अत्यन्त तीव्र शब्द कानो को वधिर कर देता है । अमूर्त्त आकाश आदि में ऐसा सामर्थ्य नहीं हो सकता । इसी प्रकार शब्द मूर्त्त है क्योकि पर्वत से टकराए हुए पाषाण की तरह पीछे लौटता है–प्रतिध्वनित होता है; आतप के समान द्वार का अनुसरण करता है, तृणो एवं पत्रो के समान वायु के द्वारा प्रेरित होता है, दीपक के समान सभी दिशाओ में ग्रहण किया जाता है, तारागण के समान अभिभूत होता है और सूर्य मंडल के समान दूसरो का अभिभव करता है । तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य के प्रकाश से ताराओ का प्रकाश अभिभूत (छूप जाना) हो जाता है, अतएव वह मूर्त्त है, इसी प्रकार मंद शब्द तीव्र शब्द के द्वारा अभिभूत हो जाता है. इस कारण शब्द मूर्त्त है ।

इन सब हेतुओ से यह सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गल द्रव्य का पर्याय है । पुद्गल द्रव्य का पर्याय होने के कारण उसका मूर्त्तत्व भी सिद्ध है । ऐसी स्थिति में वैशेषिकों ने शब्द को आकाश का जो गुण माना है सो समीचीन नहीं है मूर्त शब्द अमूर्त आकाश का गुण नहीं हो सकता, जैसे कि रूप आदि आकाश के गुण नहीं है ।

तथ्य यही है कि शब्द पुद्गल का ही परिणाम है । परिणाम परिणामी से अर्थात्

तस्मात्—पुद्गलद्रव्यमेव प्रतिविशिष्टपरिणामाऽनुगृहीतं सत् शब्दत्वेन परिणतं भवतीति—सिद्धम्—एवं पौद्गलिकस्तावद् बन्धस्त्रिविधोऽवगन्तव्यः प्रयोगबन्धः—१ विस्रसाबन्धः२ मिश्रबन्धश्च—३ तत्र—परस्पराऽऽश्लेषलक्षणो बन्धः, प्रयोगेन जीवव्यापारेण सम्पन्नः प्रायोगिक औदारिकशरीरजतु-काष्ठादिविषयो बोध्यः। विस्रसया स्वभावेन प्रयोगनिरपेक्षेण निष्पन्नो बन्धः वैस्रसिक उच्यते,

स च—साद्यनादिभेदात्—द्विविधो भवति, तत्र—सादिर्विस्रसाबन्धो विद्यु-दुल्का-मेघ-वह्नी-न्द्र-चापप्रभृतिविषमगुणविशेषपरिणतपरमाणुसमुद्भूतः स्कन्धपरिणामो बोद्धव्यः। अनादिश्च विस्रसा-बन्धो धर्माधर्माकाशविषयो भवति। मिश्रस्तावद् बन्धः प्रयोग—विस्रसाभ्याम् जीवप्रयोगसहचरिता-ऽचेतनद्रव्यपरिणति लक्षणः स्तम्भकुम्भादिविषयो द्रष्टव्यः। अत्र चोभयमपि प्राधान्येन विवक्षितं बोध्यम्. । एवञ्च—पूर्वं सामान्यतो द्वैविध्येनोक्तोऽपि बन्धः किञ्चिद्विशेषप्रतिपादनार्थं पुनरत्र प्रतिपादितः

एवं सूक्ष्मत्वमपि पुद्गलपरिणाम एव, तद् द्विविधम्, अन्त्यम्—आपेक्षिकञ्च भवतीति पूर्वमपि सामान्यः प्रतिपादितः, तस्यैव किञ्चिद विशेषमाह—तत्राऽन्ते भवमन्त्यमुच्यते। अन्तेषु परमाणुषु भवं सूक्ष्मत्वमन्त्य मुच्यते, अन्त्य सूक्ष्मत्वस्य परमाणून् विहाया—ऽन्यत्राऽसम्भवात्। अपेक्षाकृत-

---

पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है, अतएव शब्द भी पुद्गल द्रव्य से कथंचित् भिन्नाभिन्न मानना चाहिए।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ध्वनि रूप परिणाम से या श्रोत्रग्राह्यरूप से परिणत पुद्गल ही शब्द कहलाता है।

पौद्गलिक बन्ध तीन प्रकार का है—प्रयोग बन्ध, विस्रसाबन्ध और मिश्रबन्ध। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ आश्लेष होना—मिल जाना या चिपक जाना बन्ध कहलाता है। जीव के व्यापार से उत्पन्न होने वाला बन्ध प्रायोगिक बन्ध कहलाता है, जैसे औदारिक शरीर अथवा लाख और काष्ठ का बन्ध। विस्रसा अर्थात् स्वभाव से जीव के प्रयोग के बिना ही होने वाला बन्ध विस्रसा बन्ध कहलाता है।

विस्रसाबन्ध दो प्रकार का है—सादि और अनादि। विद्युत्, उल्का, मेघ, अग्नि, इन्द्र-धनुष आदि में विषम गुण वाले परमाणुओं के कारण जो स्कन्ध रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह सादि विस्रसाबन्ध है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य अनादि काल से स्वभाव से ही परस्पर सम्बद्ध है। उनका बन्ध अनादि विस्रसाबन्ध कहलाता है। मिश्रबन्ध उपर्युक्त दोनों कारणो से अर्थात् जीव के व्यापार और स्वभाव से होता है। वह जीव के व्यापार से सहचरित अचेतन द्रव्य की परिणति है। स्तंभ कुंभ आदि मिश्रबन्ध के अन्तर्गत है। मिश्रबन्ध में दोनों की प्रधानता होती है। इस प्रकार पहले यद्यपि बन्ध के दो भेद कहे गए हैं तथापि किंचित् विशेष बतलाने के लिए यहाँ तीन भेदों का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार सूक्ष्मत्व भी पुद्गल का ही परिणाम है। वह दो प्रकार का होता है—अन्त्य और आपेक्षिक इसका कथन पहले किया जा चुका है, यहाँ कुछ विशेषता कहते हैं—

मापेक्षिकमुच्यते । अपेक्षा तावत्—प्रतीत्य बुद्धिरुच्यते, यथा—द्यणुकस्कन्धः त्र्यणुकस्कन्धाद्यपेक्षया सूक्ष्मो भवति, एवं चतुरणुकादीन् प्रतीत्य—अपेक्ष्यत्र्यणुकस्कन्धः सूक्ष्मो भवतीति रीत्या—आपेक्षिकं सूक्ष्मत्वं बहुविधं बोध्यम् । द्विविधं चैतत् सूक्ष्मत्वपौद्गलिकमुच्यते, यथाऽऽमलकापेक्षया बदरं सूक्ष्मं भवति एवं—स्थूलत्वमपि पूर्वोक्तं द्विविधमवगन्तव्यम्, अन्त्यम् आपेक्षिकञ्चेति । तत्रा—ऽन्त्यं स्थूलत्वं सर्वलोकंव्यापिनि अचित्तमहास्कन्धे अथवोत्कृष्टप्रदेशिके द्रष्टव्यम् ।

स्थूलत्वं तावत्—परमाणुप्रचयपरिणामरूपम्—अवयवविकासरूपं वा विवक्षितम् । आपेक्षिकं स्थूलत्वं बदरापेक्षया—ऽऽमलके, आमलकापेक्षया दाडिमे वाऽवगन्तव्यम् । द्विविधमप्येतत्स्थूलत्वं पौद्गलिकपरिणाममवसेयम् । एवं संस्थानं खलु अवयवसन्निवेशरूपं रचनारूपम्—आकृतिविशेषरूपं द्रष्टव्यम् । तद्द्विविधम्, जीवाजीवपरिग्रहात् । तत्र जीवाः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकाया एकेन्द्रिया' द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च,

एतेषाञ्च जीवानां क्रमेण मसूरस्तिबुकसूचीकलापपताकाऽनित्थंस्थत्वसस्थानानि पृथिव्यप्तेजो वायुप्रभृतीनां पौद्गलिकानि शरीराणि भवन्तीति बोध्यम् । तत्रापि—विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपि—द्वि-त्रिचतुरिन्द्रियाणां हुंडकं संस्थानं भवति । पञ्चेन्द्रियाणां पुनः षड्विधः शरीरसन्निवेशो यथायोग्यं नामकर्मोदयनिष्पन्नः समचतुरस्र—न्यग्रोध-सादि कुब्ज-वामन-हुण्डलक्षणो बोध्यः उक्तञ्च—

जो सूक्ष्मत्व अन्तिम हो, वह अन्त्य कहलाता है । अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणु में ही पाया जाता है, क्योकि परमाणु ही सब से अधिक सूक्ष्म है, उससे अधिक सूक्ष्मत्व किसी अन्य वस्तु में नहीं होता । जो सूक्ष्मत्व किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से माना जाता है वह आपेक्षिक कहलाता है । जैसे द्यणुक स्कन्ध त्र्यणुक स्कन्ध की अपेक्षा सूक्ष्म है, त्र्यणुक चतुरणुक की अपेक्षा सूक्ष्म है । इस प्रकार आपेक्षिक सूक्ष्मत्व अनेक प्रकार का होता है । यह दोनो ही प्रकार का सूक्ष्मत्व पौद्गलिक ही है ।

स्थूलत्व भी इसी प्रकार दो तरह का है—अन्त्य और आपेक्षिक । अन्त्य स्थूलत्व सर्व-लोकव्यापी अचित्त महास्कन्ध में पाया जाता है, क्योकि उससे अधिक स्थूल अन्य कोई पुद्गल नहीं होता । आपेक्षिक स्थूलत्व बेर की अपेक्षा आमले में, और आमले की अपेक्षा दाडिम में होता है । परमाणुओ के प्रचय परिणाम को अथवा अवयवो के विकास को स्थूलत्व कहते है । यह दोनो प्रकार का स्थूलत्व पौद्गलिक है ।

संस्थान का अर्थ आकृति है । आकृति अवयवो की अमुक प्रकार की रचना से बनती है । संस्थान दो प्रकार के है—जीव का और अजीव का । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये एकेन्द्रिय जीव है और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय. चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय जीव अनेकेन्द्रिय है । इन पृथ्वी अप् तेजस्काय आदि जीवो के शरीर का संस्थान क्रम से मसूर के समान. स्तिवुक के समान, सूचीकलाप के समान. पताका के समान और अनित्थंस्थ होता है । इनमे जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय नामक तीन विकलेन्द्रिय

तुल्लं वित्थडवहुलं, उस्सेहवहुंच मडहकोट्ठंच ।
हिट्ठिल्लकायमडहं, सव्वत्था संठियं हुंडं ॥इति॥

"तुल्यं विस्तृतबहुलम्, उत्सेधबहुलञ्च मडमकोष्ठञ्च ।
अधस्तनकायमडमं, सर्वत्रासस्थितं हुण्डम् ॥१॥ इति

अजीवपरिगृहीतं सस्थानं वृत्त-त्र्यस्र-चतुरस्रा-ऽऽयत-परिमण्डलभेदात् पञ्चविधं भवति, तत्र वृत्तं सस्थानं द्विविध भवति, युग्मायुग्मभेदात् । युग्ममपि-पुनर्द्विविधम्, प्रतर—घनभेदात्, एवमन्यदपि सस्थानमवसेयम् - अनित्थंस्थपर्यन्तम् । इत्थमुक्तेन वृत्तादिना प्रकारेण यन्न प्ररूपयितुं शक्यं तदनित्थस्थलक्षणं सस्थानमवगन्तव्यमिति भावः सर्वमिदं संस्थानं पौद्गलिकं वर्तते ।

एवमेकत्वद्रव्यपरिणतिविश्लेषलक्षणो भेदः पञ्चविधो भवति, औत्करिक—चौर्णिक—खण्ड—प्रतरा—ऽनुतटभेदात्, स च—भिद्यमानपुद्गलद्रव्यविषयत्वात् पुद्गलपरिणामलक्षणः पौद्गलिक उच्यते । भिद्यमानपुद्गलद्रव्यव्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेर्भिन्नवस्तुद्वयमेव भेदो व्यपदिश्यते । तत्रौत्करिको भेदस्तावत् समुत्कीर्यमाणदारुप्रस्थकादिविषयो बोध्यः १

अवयवशश्चूर्णनं तावत् चौर्णिको भेदः क्षिप्तमुष्ट्यादिवत्—२ खण्डभेदस्तु—खण्डशो विशरणं क्षिप्तमृत्पिण्डादिवत्—३ प्रतरभेदः पुनः—अभ्रपटलभूर्जपत्रादिषु बहुविधपुटोच्छोटनलक्षणो बोध्यः—

जीव है, उनका सस्थान हुंडक होता है । पंचेन्द्रियों का यथायोग्य नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला छह प्रकार का संस्थान होता है—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्जक, वामन और हुण्डक । कहा भी है—

जो सस्थान चौकोर हो अर्थात् जिसमें चारो ओर से नापने पर समान मान हो, वह समचतुरस्र कहलाता है । जिसमें ऊपर के अवयव बड़े हो' वह न्यग्रोध संस्थान, जिसमें नीचे के अवयव बडे हो वह सादि संस्थान, जिसमें पेट भीतर घुसा हो अर्थात् जो कुबड़ा हो वह कुब्जकसंस्थान, जो बौना हो वह वामन संस्थान और जो सभी जगह विषम हो—वेढङ्गा हो वह हुडक संस्थान कहलाता है ।

अजीव का संस्थान पाँच प्रकार का होता है—वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत (लम्बा) और परिमण्डल वृत्त सस्थान युग्म और अयुग्म के भेद से दो प्रकार का होता है । युग्म सस्थान भी दो तरह का है—प्रतर और घन इसी प्रकार अन्य संस्थान भी समझ लेने चाहिए । जो सस्थान वृत्त आदि किसी रूप में भी न कहा जा सके वह अनित्थंस्थ कहलाता है । ये सभी सस्थान पौद्गलिक है ।

किसी वस्तु के एकत्व का भंग हो जाना भेद कहलाता है । भेद पाँच प्रकार का है—औत्करिक, खण्ड, चौर्णिक प्रतर और अनुत्तर । भेद विभक्त होने वाले पुद्गलद्रव्य में ही होता है, अतएव वह पौद्गलिक है । वह पुद्गल के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं होता ।

४ अनुतटभेदस्तु—वंशेक्षुदण्डत्वगुत्पाटनादिकलक्षणोऽवगन्तव्यः—५ एते सर्वेऽपि भेदा पौद्गलिका भवन्ति प्रागुक्तयुक्तेः । एवं तमश्छायाऽऽतपोद्द्योताश्च पुद्गलद्रव्यपरिणामजन्या भवन्ति ।

तथाहि—तमस्तावदन्धकारः पुद्गलद्रव्यस्यैव परिणामो बोध्यः, दृष्टिप्रतिबन्धकत्वात्—कुड्यादिवत्, आवरकत्वात्—पटादिवत् । छायाऽपि तावत्—पुद्गलपरिणामात्मिका भवति, उदक—वातवादिवत्—शिशिरत्वात्, आप्यायकत्वाच्च । एवमातपोऽपि—पुद्गलद्रव्यपरिणामो भवति, अग्न्यादिवत्, तापकत्वात्—स्वेदजनकत्वात्—उष्णत्वाच्च । एवम्—उद्द्योतश्चापि चन्द्रिकादेः प्रकाशविशेषस्वरूपः पुद्गलद्रव्यपरिणामो बोध्यः जलादिवदाह्लादकत्वात्—अग्न्यादिवत् प्रकाशमयत्वाच्च ।

एवं पद्मराग—नीलमणि—हीरकोपलादीनामुद्द्योतोऽपि पुद्गलद्रव्यपरिणामोऽवसेयः, जलादिवदनुष्णशीतत्वात् तस्मात्—तमश्छायादिमूर्तद्रव्यविकारत्वात्पौद्गलिकः । अथा—ऽन्धकारात्मकस्य तमसो द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् न तत् पुद्गलद्रव्यपरिणामः । अपितु—भावाभावात्मकमेव । यदि च—तमो द्रव्यं स्यात्, तदा—ऽनित्यत्वाद् घटादिद्रव्यवन्निष्पद्येत, यतश्च—द्रव्यवन्निष्पद्यमानत्वाऽभावात्, अमूर्तत्वात्, स्पर्शरहितत्वात्, प्रकाशविरुद्धत्वात्, परमाणुभिरकृतत्वाच्च न तमः पुद्गलद्रव्यपरिणामः ।

चीरी जाने वाली लकड़ी आदि में औत्करिक भेद होता है । किसी वस्तु का चूरा—चूरा हो जाना चौर्णिक भेद है मृत्पिड की तरह खंड—खंड होना खण्डभेद है, अभ्रक (भोडल) या भोजपत्र आदि के समान तह के तह अलग—अलग होना प्रतर भेद है । बास या ईख के समान किसी के छिलके अलग हो जाना अनुत्तर भेद है । पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार ये सभी भेद पौदगलिक है । इसी प्रकार अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत भी पुद्गलद्रव्य के ही परिणाम हैं ।

अन्धकार पुद्गल का ही परिणाम है, क्योंकि वह देखने में रुकावट डालता है, जैसे दिवाल, अथवा आवरणकर्त्ता होने के कारण वह पट आदि के समान पौद्गलिक है । छाया भी पुद्गल का परिणाम है, क्योकि वह शीतल और तृप्तिजनक होती है, जैसे जल और वायु । इसी प्रकार आतप भी संतापजनक होने से, स्वेदजनक होने से और उष्ण होने से अग्नि आदि के समान पौद्गलिक है । इसी प्रकार चन्द्रिका आदि का प्रकाशरूप उद्योत भी पुद्गलद्रव्य का परिणाम है, क्योकि वह आह्लादक होता है, जैसे जल आदि अथवा वह प्रकाश मय होता है, जैसे अग्नि आदि ।

इसी प्रकार पद्मराग, नीलम हीरा आदि मणियो का उद्योत भी पुद्गलद्रव्य की ही पर्याय है, क्योकि वह अनुष्ण—अशीत (न गरम, न शीतल) होता है जैसे जलादि । इस प्रकार अन्धकार और छाया आदि मूर्त्त द्रव्य का कार्य होने से पौद्गलिक है ।

शंका—अंधकार पौद्गलिक नहीं है, क्योकि वह द्रव्य गुण और कर्म से विलक्षण है । वह भावाभाव रूप है । अन्धकार अगर द्रव्य होता तो अनित्य होने के कारण घट आदि के समान उसकी उत्पत्ति होनी चाहिए थी, मगर द्रव्य के समान उत्पन्न नहीं होने के कारण,

नापि—तमो गुणः सम्भवति, तदाश्रयाऽनुपलब्धेः, गुणस्य—द्रव्याश्रितत्वेनैवोपलभ्यमानत्वात्, प्रकाशविरुद्धत्वाच्च, । एवं—तमः कर्माऽपि न सम्भवति, कर्मणोऽपि—द्रव्याश्रितत्वेनैवोपलभ्यमानत्वेन तमस आश्रयाऽनुपलब्धेः । तमो यदि क्रिया स्यात्, तर्हि तस्य क्रियारूपस्य तमस-आश्रयोऽपि कश्चिदुपलभ्येत, यतश्च—तस्याश्रयो नोपलभ्यते, अतो न तमः क्रियापि भवितुमर्हति, अपितु—तेजसो यत्राऽभावो भवति तत्रैव—तम उपलभ्यते, तेजसो द्रव्यान्तरावरणाच्चान्धकारो भवति।

तस्मात्—तेजोऽभाव एव तमः न तु पुद्गलपरिणामः इतिचेत् ? मैवम् । तमस्तावत् पौद्गलमेव कुड्यादिवत्—व्यवधानक्रियासामर्थ्यात्, मूर्तत्वात्, स्पर्शवत्वात्, परमाणुकृतत्वाच्च । तथाच—अमूर्तत्व—स्पर्शरहितत्व—परमाण्वकृतत्वानां हेतुत्रयाणां तमसोऽपौद्गलिकत्वसाधकानामसिद्धत्वात् ।

अथ तमसो मूर्तत्वादिमत्वे कथं न स्पर्शादय तत्र सलक्ष्यन्तेऽस्माभिरिति चेत्—अत्रोच्यते तमसस्तथाविधपरिणतिशालित्वात्—गवाक्षदृश्यरेणुस्पर्शादिवत् तस्य स्पर्शादयो नाऽनुभूयन्ते । तथा—जलस्याग्निना विरोधः, एवं तैजसप्रकाशेन सह तमसोऽपि पुद्गलपरिणामस्य विरोधो भवति, अलिन्दकस्थापितप्रदीपरश्मीनां पुष्करा—ऽऽवर्तकधाराभिरप्यनुपघातात् न सर्वथा जलाऽनलयोर्विरोध एव, अपितु—उत्पत्तिस्थान एव विरोधो बोध्यः ।

यदि—पौद्गलिकं न स्यात् तदा—तेजोऽभावेन—तमसा प्रकाशस्य विरोधो न—स्यात् इति भावः । "उक्तञ्चोत्तराऽध्ययने २८ अध्ययने—

अमूर्त होने के कारण स्पर्श से रहित होने के कारण प्रकाश से विरुद्ध होने के कारण और परमाणुओ द्वारा उत्पन्न न होने के कारण वह पुद्गल, द्रव्य का परिणाम नहीं हो सकता ।

अन्धकार गुण भी नहीं हो सकता, क्योकि उसका आधार उपलब्ध नहीं होता । गुण द्रव्य के आश्रित ही होता है । प्रकाश का विरोधी होने से भी अन्धकार गुण नहीं हो सकता ।

अन्धकार कर्म भी नहीं है, क्योकि कर्म भी किसी न किसी द्रव्य के आश्रित ही होता है और अन्धकार का कोई आश्रय उपलब्ध नहीं होता । अन्धकार यदि क्रियारूप होता तो उसका कोई आश्रय भी प्रतीत होता, मगर उसका कोई आश्रय उपलब्ध नहीं होता, अतएव उसे क्रिया नहीं माना जा सकता । जहाँ तेज का अभाव होता है वहीं अन्धकार की प्रतीति होती है । तेज जब किसी दूसरे द्रव्य से आवृत हो जाता है तभी अन्धकार होता है । इससे यही सिद्ध होता है कि अन्धकार पुद्गल का परिणाम नहीं वरन् तेज का अभाव ही है ।

समाधान—यह कहना युक्तिसगत नहीं । अन्धकार पौद्गलिक है, क्योकि वह व्यवधान क्रिया में समर्थ होता है, मूर्त्त है, स्पर्शवान् है और परमाणुओ से उत्पन्न होता है, जैसे दीवार अतएव अन्धकार को अपौद्गलिक सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त आपके अमूर्त्तत्व, स्पर्शरहितत्व और परमाणु—अकृतकत्व, ये तीनों हेतु असिद्ध है ।

शंका—अगर अन्धकार मूर्त्त है तो हम लोगों को उसके स्पर्श आदि की प्रतीति क्यों नहीं होती ?

"सद्दंधयार-उज्जोओ पभाछायातवोइ वा।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१३॥
"एगत्तंच पुहुत्तं च संखासंठाणमेव च।
संजोगाय-विभागाय पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१४॥

छाया—"शब्दान्धकारउद्द्योतः प्रभाछायाऽऽतप इति वा।
वर्णरसगन्धस्पर्शाः पुद्गलानान्तु लक्षणम्।
"एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च संख्यासंस्थानमेव च।
संयोगाश्च विभागाश्च पर्यवाणां तु लक्षणम् ॥इति ॥२०॥

मूलसूत्रम्—"पोग्गला दुविहा परमाणुणो खंदाय" ॥२१॥

छाया—पुद्गलाः द्विविधाः परमाणवः स्कन्धाश्च-" ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्ता रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परिणतिशालिनः पुद्गला द्विविधा प्रज्ञप्ताः, परमाणवः-स्कन्धाश्च। तथा च—पुद्गलजातीयत्वे सत्यपि निरवयव-सावयवभेदेन प्राप्तानन्त्येऽपि तेषां स्थूल-सूक्ष्मभेदेन द्वैविध्यमवगन्तव्यम्। तत्र-परमाणुपुद्गला अस्मदादीन्द्रियव्यापारातीताः केवलसंशब्देन समधिगम्या भवन्ति, तेषां निरवयवत्वात्-सूक्ष्मत्वाच्च।

स्कन्धपुद्गलाश्च-ग्रहणादानादिव्यपारसमर्थाः भवन्ति, स्थूलत्वात्-सावयवत्वाच्चेति भावः।

समाधान—जैसे गवाक्ष में रजः कण दिखलाई देते है पर उनका स्पर्श प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार अन्धकार का परिणमन ऐसा विलक्षण है कि हमें उसके स्पर्श की प्रतीति नहीं होती। जैसे अग्नि के साथ जल का विरोध है, वैसे ही प्रकाश के साथ अन्धकार का विरोध है। किसी बराण्डें में रक्खे हुए दीपक की रश्मियो का उपघात पुष्करावर्त्त मेघ की मूसल जैसी धाराएँ भी नहीं कर सकतीं। अतएव जल और अनल (अग्नि) का सर्वथा ही विरोध हो यह बात नहीं है अपितु उत्पत्तिस्थान में ही उनका विरोध होता है।

अगर अन्धकार पौद्गलिक न होता तो उसके साथ प्रकाश का विरोध भी नहीं हो सकता था। उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में कहा है—

'शब्द, अन्धकार, उद्योत' प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध, और स्पर्श यह सब पुद्गलो के लक्षण है।

'एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग, ये सब पर्यायो के लक्षण है॥२०॥

मूलसूत्रार्थ—"पोग्गला दुविहा" इत्यादि। सूत्र २१

पुद्गल दो प्रकार के होते है परमाणु और स्कंध ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्त रूप, रस, गंध और स्पर्श वाले पुद्गल दो प्रकार के कहे गए है—परमाणु और स्कन्ध। यद्यपि इन दोनो में पुद्गलत्व जाति समान है, फिर भी अवयवविहीन (रहित) होने से अणु सूक्ष्म है और सावयव होने से स्कंध स्थूल होता है। यही दोनों में अन्तर है। परमाणु हमारी इन्द्रियो से अगोचर है, सिर्फ अनुमान और आगम से

उक्तञ्च–स्थानाङ्गसूत्रे २–स्थाने३–उद्देशके८२-सूत्रे—"**दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तंजहा–परमाणुपोग्गला, नोपरमाणुपोग्गला चेव**" इति । द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्ता', तद्यथा–परमाणुपुद्गलाः–नोपराणुपुद्गलाश्चैव, इति ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वं पुद्गलाः प्रतिपादिताः सम्प्रति तेषां भेदान् संक्षेपतः प्रतिपादयितुमाह–"**पोग्गला दुविहा—**" इत्यादि । पुद्गलास्तावत् द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, परमाणवः स्कन्धाश्च, तत्रा–ऽण्यन्ते इत्यणवः परमाश्च ते अणवः परमाणवः सूक्ष्मत्वात् तेषामस्मदादीन्द्रियव्यापाराऽविषयत्वात् केवलसशब्दे समधिगम्यत्वं वर्तते, न त्विन्द्रियविषयत्वम्- तथाचोक्तम् --

"कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च—॥१॥ इति ।

सर्वेषामेव द्व्यणुकस्कन्धप्रभृतिस्थूलसूक्ष्मभेदयावदचित्तमहास्कन्धपर्यन्तकार्यम्प्रति परमाणवः कारणम्, तच्च–कारणम् अन्त्यम्, अन्तेऽवसाने वर्तते इत्यन्त्यम् सकलकार्यभेदपर्यन्तबर्तित्वात् । तत्र-द्व्यणुकादिर्महास्कन्धपर्यन्तस्य मूर्तस्य वस्तुनः परमाणवः कारणम्, अमूर्तस्य–ज्ञानादेरात्मादयः कारणम्, तदुभयमपि कारणं न सर्वथा विनष्टं भवति । तथासति–तस्या-ऽसत्वापत्तिः स्यात् न वा तादृगवस्थं तदुभयं किञ्चिज्जनयति. गगनकुसुमवत्, ते च परमाणव' सूक्ष्मा निरवयवा नित्याश्च

जाने जाते हैं । वे निरवयव और सूक्ष्म होते है ।

स्कंधरूप पुद्गल हमारे ग्रहण में आ सकते है, क्योंकि वे सावयव और स्थूल होते है । स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थानक के तीसरे उद्देशक के ८२ वे सूत्र में कहा है—

पुद्गल दो प्रकार के है—परमाणुपुद्गल और नोपरमाणु पुद्गल ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले पुद्गलो का प्रतिपादन किया जा चुका है, अब संक्षेप में उनके भेदो का निरूपण करते है—पुद्गल दो प्रकार के है—परमाणु और स्कन्ध ।

परम अणु को परमाणु कहते है । परमाणु इतने सूक्ष्म होते है कि वे हमारी इन्द्रियो के विषय नहीं हो सकते। उन्हे अनुमान और आगम प्रमाण से ही जाना जा सकता है। कहा भी है—

परमाणु कारण ही होता है, कार्य नहीं, तथा सूक्ष्म और नित्य होता है । उसमें एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते है । कार्य ही उसका लिग है अर्थात् स्कंध से उसका अनुमान किया जाता है ।

जितने भी द्वयणुक से लेकर अचित्त महास्कंध पर्यन्त स्कन्ध है, उनका कारण परमाणु है; क्योंकि परमाणुओ के मेल से ही उनकी निष्पत्ति होती है वह अन्त्य है, क्योकि समस्त भेदो के अन्त तक व्याप्त रहता है ।

द्वयणुक से लगाकर महास्कन्ध तक की मूर्त्त वस्तुओ का कारण परमाणु हैं । अमूर्त्त ज्ञानादि के कारण आत्मा आदि है । इन दोनो कारणो का सर्वथा विनाश नहीं होता । ऐसा हो तो उसकी असत्ता की प्राप्ति हो जाए और उस अवस्था में वे किसी को उत्पन्न न कर सकें, जैसे कि आकाशकुसुम किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता ।

भवन्ति एवम् प्रत्येकं ते एकरसगन्धवर्णवन्तो द्विस्पर्शवन्तः कार्यलिङ्गाश्च भवन्ति । तत्र—परमाणवा-त्मादि परिणामिकारणं भवति, तस्य परमाणोः आत्मनश्च सत्वे द्व्यणुकादि—ज्ञानादि वा कार्यं भव-त्येव, परमाणो रात्मश्चाऽसत्वे न ते कार्ये भवतः । तथाच—यस्मिन् सति यस्य सद्भावो भवत्येव, तदभावे च यद् न भवत्येव, तत्कार्यं व्यपदिश्यते ।

तदन्यत्कारणं बोध्यम्, "तत्सत्वे तत्सत्ता" "तदभावे—तदभावः—" इत्यन्वयव्यतिरे-कयोः कार्यकारणभावनियामकत्वात्, एतेन यस्मिन् सति कार्यं भवत्येव, तदन्यथा च न भवत्ये-वेत्यवधारणमनुपपन्नम्, करवीरोत्पत्तेररुणोत्पलफलात्-स्वकाण्डात् स्वबीजत्वाच्च दृष्टत्वात्, दूर्वोत्पत्तेश्च गोलोमाऽऽविलोमादिभ्यः, गोमयादिभ्यो वृश्चिकोत्पत्तेश्च दर्शनात् इत्यपि समहितम् ।

कारणे सत्येव कार्योत्पत्तिरिति नियमस्य सर्वत्रैव व्यवस्थितत्वात्, तथाविधकार्योत्पादकतया-ऽरुणोत्पलादिगोमयादीनापि कारणत्वोपपत्तेः । एवं—प्रकृतेऽपि परमाणुषु सत्सु भवत्येव द्यणुका-दिकम्, आत्मनि च सति भवत्येव ज्ञानादिकमिति भावः । सक्षेपतः परिणामिकारणापेक्षाः परि-णामाः प्रतिस्वमुत्पत्तिमासादयन्ति, कारणवैकल्ये तु मन्त्रप्रतिबद्धविषमारणशक्तिवत् कार्याणि न प्रादुर्भवन्ति, एवमेव—कर्तृनिमित्तापेक्षारूपाणि कुम्भकारदण्डाकाशादीनि कारणान्यपि—उक्तदिशैव निरूपणीयानीति भावः ।

परमाणु सूक्ष्म, निरवयव और नित्य है । प्रत्येक परमाणु में एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं । कार्य से परमाणुओ का अनुमान किया जाता है । परमाणु द्व्यणुक आदि का उपादान कारण है और आत्मा ज्ञान का उपादान कारण है । परमाणु और आत्मा के अस्तित्व में द्व्यणुक आदि और ज्ञान आदि कार्य होते ही है। अगर परमाणु का और आत्मा का अभाव माना जाय तो उनके पूर्वोक्त कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते ।

जिसके होने पर ही जो होता है और जिसके अभाव मे जो नहीं होता, वह उसका कार्य--कारण कहलाता है ।

अमुक के होने पर ही अमुक का होना—जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना—और अमुक के न होने पर अमुक का न होना—जैसे अग्नि के अभाव में धूम का न होना—यह अन्वयव्यतिरेक कहलाता है । इसी के अधार पर कार्य कारणभाव का निश्चय किया जाता है । अर्थात् इसी से हम जानते है कि अग्नि कारण और धूम कार्य है ।

जिसके होने पर कार्य होता ही है और जिसके अभावमें नहीं ही होता है इस प्रकार का अवधारण करना अयुक्त है क्योंकि करवीर की उत्पत्ति लाल कमल के फल से, अपनी शाखा से और अपने वीज से भी देखी जाती है, दूब की उत्पत्ति गाय के रोमों से और भेड़के रोमों आदि से होती है और गोबर आदि से बिच्छू की उत्पत्ति देखी जाती है इसका समाधान हो जाता है ।

परमाणोः सूक्ष्मत्वञ्चाऽऽगमतः समधिगम्यमस्मदादिभिः, द्रव्यार्थिकनयेन च तस्य नित्यत्वमवसेयम् पर्यायार्थिकनयेन तु–नीलादिभिराकारैः परमाणोरनित्यत्वमवगन्तव्यम् न ततः परमणुतर किमपि द्रव्यं वर्तते, अतः परमाणुरित्युच्यते, एवंविधः स परमाणुः पञ्चानामपि तिक्ताम्ल-मधुरकटुकषायाणां रसानामन्यतमेन रसेन युक्तो भवति, द्वयोश्च सुरभि-दुरभिगन्धयोरेकेन गन्धेन, पञ्चविधस्य–शुक्लकृष्णहरितपीतरक्तवर्णानामन्यतमेन वर्णेन च युक्तो भवति, चतुर्णाञ्च—स्पर्श-युग्मानां मध्येनाविरुद्धेन स्पर्शद्वयेन युक्तश्च बोध्यः।

एवं कार्येणाऽस्मदादिप्रत्यक्षदृश्येन बादरपरिणामशालिनाऽनेकविधेन पुद्गलादिस्कन्धात्मकेन स परमाणुः लिङ्ग्यते- समधिगम्यते इति कार्यलिङ्गश्च द्रष्टव्यः स्कन्धपुद्गलस्तु अवयवीबादरः प्रत्यक्षदृश्यो भवति, परमाणव अबद्धाः परस्परेणाऽसंयुक्ता भवन्ति, स्कन्धास्तु–बादरपरिणामपरिणता अष्टस्पर्शाः बद्धा एव परमाणुसंघाताः भवन्ति ।

सूक्ष्मपरिणामशालिनः पुनः स्कन्धाश्चतुःस्पर्शाः परमसंहत्या च व्यवस्थिता भवन्तीति भावः तथाच प्रदेशमात्रभाविना स्पर्शादिपर्यायाणामुत्पत्तिसामर्थ्येन परमागमे अण्यन्ते–साध्यन्ते कार्यलिङ्गं दृष्ट्वा सद्रूपतया प्रतिपाद्यन्ते इत्यणवः, परमाश्चते अणवः परमाणवः इति परमाणु-पदव्युत्पत्त्या सूक्ष्मत्वात् आत्मादयः आत्ममध्या आत्मान्ताश्च भवन्ति तथाचोक्तम्—

कारण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, यह नियम सर्वत्र लागू होता है। उन-उन कार्यों के जनक होने से लाल कमल आदि और गोबर आदि भी कारण ही सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी परमाणुओ के होने पर हीं द्वयणुकादि होते है और आत्मा के होने पर ही ज्ञान होता है। यह भाव है।

कारण के अभाव में या विकलता में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे विष में मारण शक्ति होने पर भी यदि वह शक्ति मंत्र के द्वारा प्रतिबद्ध हो गई हो तो उसके द्वारा मारण-कार्य नहीं होता। कर्त्ता रूप निमित्त की अपेक्षा रखने वाले कुम्भकार, दंड, आकाश आदि कारणों का निरूपण भी पूर्वोक्त प्रकार से ही कर लेना चाहिए।

हम लोगों को परमाणु की सूक्ष्मता आगम से जान कर द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्यता समझनी चाहिये। परमाणु से अधिक छोटा अन्य कोई द्रव्य नहीं है इसी कारण वह परमाणु कहलाता है। ऐसा यह परमाणु तिक्त आम्ल, मधुर, कटुक और कषाय रसों में से किसी एक रस से युक्त होता है, सुरभि और दुरभि गन्धों में से एक गन्ध वाला होता है, शुक्ल, कृष्ण, हरित, पीत और रक्त–इन पांच वर्ण में से एक वर्ण वाला होता है और चार स्पर्शयुगलों में से अविरोधी दो स्पर्शो से युक्त होता है।

बादर परिणाम वाले अनेक प्रकार के पुद्गल आदि कार्यों से, जो हमें प्रत्यक्ष दिखाई

"अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं ।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विजाणेहि ॥ १ ॥ इति
"आत्मादि-आत्ममध्यम् आत्मान्तं नैव इन्द्रियग्राह्यम् ।
यद्द्रव्यम्-अविभागि तं परमाणुं विजानीहि ॥ १ ॥ इति

एवं स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादि व्यापारस्कन्धनात् स्कन्धा इति सञ्ज्ञायन्ते । क्वचित्पुनारूढौ सत्यां क्रियाया उपलक्षतया समाश्रयणाद् ग्रहणादिव्यापाराऽयोग्येष्वपि द्व्यणुकादिषु स्कन्ध इति संज्ञा प्रवर्तते, पुद्गलानामनन्तभेदत्वेऽपि परमाणुजात्या—स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्यमानैस्तैः सर्वे गृह्यन्ते इति तज्जात्याधारानन्तभेदान् सूचियतुं वहुवचनमुक्तम् ।

तत्र—पुद्गलपरमाणव स्पर्शरसगन्धवर्णशालिनो भवन्ति । स्कन्धात्मकपुद्गलाः पुन. शब्दान्धकारोद्द्योतप्रभाछायाऽऽतपसूक्ष्मत्वबादरत्वसंस्थानभेदवन्तो भवन्ति, स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तश्च । एवञ्च —"अणवः कार्यलिङ्गाः स्यु र्द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः ।
एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्यायैः ॥१॥" इत्युक्तं सङ्गच्छते ॥ २१ ॥

देते है, परमाणु का अनुमान किया जाता है। इस कारण वह कार्यलिंग कहलाता है। स्कन्धपुद्गल सावयव बादर और प्रत्यक्ष दृश्य होता है। परमाणु अवद्ध होते है। स्कंध में आठो स्पर्श पाये जा सकते हैं और वे परमाणुओ के पिण्ड होने के कारण बद्ध ही होते हैं।

सूक्ष्मपरिणाम वाले स्कंध चार स्पर्शवाले होते है और परम संहति से व्यवस्थित होते है इस प्रकार प्रदेशमात्रभावी स्पर्श आदि पर्यायो के उत्पत्तिसामर्थ्य से परमागम में जो कार्य रूप लिंग के द्वारा साधे जाते है —सत्‌रूप में प्रतिपादन किये जाते है— वे अणु कहलाते है। परम अणु को परमाणु कहते है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह स्वयं ही अपनी आदि, स्वयं ही अपना मध्य और स्वयं ही अपना अन्त है। तात्पर्य यह हे कि एक अप्रदेशी होने के कारण उसमें आदि मध्य और अन्त के विभाग नहीं होता। कहा भी है—

'जो द्रव्य आदि मध्य और अन्त के विभाग से रहित है, जो इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नहीं है और जो निर्विभाग है, उसे परमाणु समझना चाहिए।'

जो पुद्गल स्थूल होने के कारण ग्रहण किया जा सके, रक्खा जा सके, अन्यान्य व्यवहारो में आ सके वह स्कन्ध कहलाता है। यद्यपि द्व्यणुक आदि कोई—कोई सूक्ष्म स्कन्ध ग्रहण निक्षेप आदि व्यवहारो के योग्य नहीं होते तथापि रूढ़ि के अनुसार वे भी स्कन्ध कहलाते है। पुद्गलो के यो तो अनन्त भेद हैं मगर परमाणु और स्कध के भेद से वह दो प्रकार के ही है। इन दो भेदो में ही उन सब का समावेश हो जाता है। व्यक्तिशः वैसे ही परमाणु भी अनन्त है और स्कंध भी अनन्त है, यह सूचित करने के लिए वहुवचन का प्रयोग किया गया है।

इनमें से पुद्गलपरमाणु स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले होते है और स्कन्धपुद्गल शब्द, अन्धकार,, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, सूक्ष्मत्व, वादरत्व, संस्थान और भेद वाले होते हैं और

मूलसूत्रम्—"एगत्तपुहुत्तेहि कंधा पुहुत्तेण परमाणू य" ॥ २२ ॥

छाया—एकत्व पृथक्त्वाभ्यां स्कन्धा पृथक्त्वेन परमाणवश्च ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं पुद्गलानां पराणुस्कंधभेदाद् द्वैविध्यमुक्तम् सम्प्रति–परमाणुपुद्गलस्य स्कन्धपुद्गलस्य चोत्पत्तिहेतुमाह–"एगत्तपुहुत्तेहिं" इत्यादि ! एकत्व–पृथक्त्वाच्च स्कन्धा उत्पद्यन्ते पृथक्त्वेन परमाणवश्चोत्पद्यन्ते । तत्र—पृथग्भूताना परमाणुपुद्गलादीनां संघातोपपत्तिरेकत्वम् ।

तस्मात्—संघातानां च तेषां द्वितीयनिमित्तवशात् विदारणलक्षणो भेदः पृथक्त्वम् तस्माच्च स्कन्धा उत्पद्यन्ते तद्यथा—द्वयो पुद्गलपरमाण्वोः संघातलक्षणाद् एकत्वाद् द्विप्रदेशः पुद्गलस्कन्धः उत्पद्यते । एवं द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाणोश्चैकस्य सघातलक्षणादेकत्वात् त्रयाणां वा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वात् त्रिप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते, द्वयोर्द्विप्रदेशयोः संघातलक्षणादेकत्वाद्वा चतुर्णां परमाणूनां संघातलक्षणादेकत्वाद्वा चतुः प्रदेशः स्कन्ध उच्यते ।

एवं संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तानामनन्तानां च संघातलक्षणादेकत्वात् तावत्प्रदेशाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते एवमेतेषामेव द्विप्रदेशस्कन्धप्रभृतिसंख्येयासंख्येया–ऽनन्ताऽनन्तानन्तप्रदेशस्क-

---

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले भी । अतएव यह कथन संगत हो जाता है कि—

'अणु अपने कार्य (घट आदि) के द्वारा ही जाने जाते है, दो स्पर्श वाले, एक वर्ण, एक रस और एक गध वाले होते है । द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी होते है ॥२१॥

मूलसूत्रार्थ—"एगत्त पुहुत्तेहिं खंधा" इत्यादि ।

स्कंधों की उत्पत्ति एकत्व से, पृथक्त्व से तथा एकत्वपृथक्त्व से होती है, परमाणु सिर्फ पृथक्त्व से उत्पन्न होती है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—परमाणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल के दो भेद पहले कहे जा चुके है, अब परमाणु और स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण बतलाते है—

स्कन्ध एकत्व से, पृथक्त्व से और एकत्व–पृथक्त्व दोनो से उत्पन्न होते हैं । परमाणुओं की उत्पत्ति सिर्फ पृथक्त्व से ही होती है ।

जो परमाणु या स्कंध अलग–अलग हो, उनका संघात हो जाना अर्थात् आपस में मिल जाना या पिण्ड रूप में परिणत हो जाना एकत्व कहलाता है । इसके विपरीत कोई अन्य निमित्त मिलने से मिले हुए पुद्गलो का विछुड़ जाना अलग–अलग हो जाना पृथक्त्व कहलाता है । स्कंधों की उत्पत्ति इन दोनो कारणो से होती है । जैसे दो परमाणुओ के मिलने से द्विप्रदेशी स्कंध उत्पन्न होता है । इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक परमाणु के मिलने से अथवा तीन परमाणुओं के मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध वन जाता है । दो द्विप्रदेशी स्कन्धों के मिलने से अथवा एक त्रिप्रदेशी स्कंध और एक परमाणु के मिलने से अथवा चार परमाणुओ के मिलने से चतुः प्रदेशी स्कन्ध वन जाता है ।

न्धानां पर्यन्तवर्तिनः स्कन्धादेकदेशस्य परमाणोर्भिन्नत्व लक्षणात्—पृथक्त्वात् तन्न्यूनः स्कन्धो यावद् द्विप्रदेशस्कन्धपर्यन्ताः स्कन्धा उत्पद्यन्ते। एवम्—सघातभेदलक्षणाद् एकत्व—पृथक्त्वाच्च एकसामयिकाद् द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः उत्पद्यन्ते अन्यतो भेदेन पृथक्त्वलक्षणेन अन्यस्य संघातलक्षणेन एकत्वेनेति।

एवम्—संघातानां द्वितीयनिमित्तवशाद् विदारणरूपभेदलक्षणपृथक्त्वादेव परमाणुरुत्पद्यते, न तु पृथग्भूतानां संघातलक्षणादेकत्वात् परमाणुरुत्पद्यते इति भावः ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे पुद्गलद्रव्याणां परमाणुलक्षणः—स्कन्धलक्षणश्च परिणामः प्रतिपादितः स च—तथाविधः परिणामः किम् अनादि आहोस्वित् सादिः ? इत्याशङ्काः समाधातुः सादिरसौ परिणामो भवति नत्वनादिः उत्पत्तिमत्त्वात् अतःपरमाणुस्कन्धानामुत्पत्तिहेतुमाह **'एगत्तपुहुत्तेहिं'** इत्यादि।

एकत्वपृथक्त्वाभ्यां पुद्गलानां स्कन्धाः उत्पद्यन्ते पृथक्त्वे च पुगद्लानां परमाणव उत्पद्यन्ते परमार्थतस्तु—संहतत्वलक्षणादेकत्वात्, भिन्नत्वलक्षणात् पृथक्त्वात् संघातभेदलक्षणात् एकत्व-

---

इसी प्रकार संख्यात, असख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त परमाणुओ अथवा छोटे—छोटे स्कन्धो या स्कंधो और परमाणुओ के मेल से उतने ही प्रदेश वाले स्कंध उत्पन्न होते है।

इस प्रकार जैसे एकत्व से स्कंध उत्पन्न होते है, उसी तरह पृथक्त्व अर्थात् भेद से उत्पन्न होते हैं। जब किसी बड़े स्कंध में से एक परमाणु पृथक् हो जाता है तो वह छोटा स्कंध रह जाता है। यह भी स्कंध की उत्पत्ति है। जब एक बडा स्कंध दो भागो में या अनेक भागो में विभक्त हो जाता है तो अपेक्षाकृत छोटे—छोटे अनेक स्कंधो की उत्पति होती है। अगर उन छोटे—छोटे स्कंधो में भी पृथक्त्व पैदा हो जाय तो और अधिक छोटे अनेक स्कंध उत्पन्न होते है। इस प्रकार द्विप्रदेशी स्कंध तक भेद से उत्पन्न हो सकते हैं।

कभी—कभी ऐसा होता है कि एक बडे स्कंध का एक भाग पृथक् हुआ और दूसरे स्कंध का भाग उसमें मिल गया, यहाँ एकत्व भी हुआ और पृथक्त्व भी हुआ। इस एकत्व पृथक्त्व से भी स्कंध बनते है।

किन्तु परमाणु की उत्पत्ति एकत्व अर्थात् संघात से नहीं होती वह भेद—पृथक्त्व से ही उत्पन्न होता है। जब किसी स्कंध में से एक प्रदेश पृथक् होकर स्वतन्त्र हो जाता है, तब परमाणु कहलाने लगता है। इस प्रकार परमाणु पृथक्त्व से ही उत्पन्न होता है ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में पुद्गलों का परमाणु रूप और स्कंधरूप परिणमन बतलाया गया है, मगर वह परिणमन क्या अनादि है अथवा सादि ? इस शंका का समाधान करने के लिए—वह परिणमन सादि है, अनादि नहीं है, क्योकि वह उत्पत्तिमान् है—परमाणुओ और स्कंधो की उत्पत्ति का कारण कहते हैं—

पृथक्त्वाच्च पुद्गलानां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते तथाहि—द्वयोः परमाणुपुद्गलयोः संघात-भेदलक्षणात् द्विप्रदेशः पुद्गलस्कन्ध उत्पद्यते ।

द्विप्रदेशस्कन्धस्य परमाणोश्चैकस्य त्रयाणां वा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वात् त्रिप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते एवं त्रिप्रदेशस्कन्धस्य परमाणोश्चैकस्य द्वयो र्द्विप्रदेशस्कन्धयोर्वा चतुर्णां वा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वात् चतुःप्रदेशःस्कन्धः उत्पद्यते। एवं सख्येयानामसंख्येयानामनन्तानामनन्तानाञ्च प्रदेशानां सघातलक्षणादेकत्वात् सख्येयासख्येयानन्तानन्तानन्तप्रदेशाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते ।

एवम्—एतेषामेव द्व्यणुकादिक्रमेणाऽनन्ताऽनन्तपरमाणुकपर्यवसानानां स्कन्धानां तथाविधसघातलक्षणादेकत्वात्समुत्पद्यमानानां पर्यन्तवर्तिन. स्कन्धाद् यदा-एक परमाणुर्भिन्नः सन् पृथग्भवति तदैकपरमाणु भेदात् तन्न्यूनः स्कन्धः उत्पद्यन्ते एवम्—द्वित्रादिपरमाणुभेदक्रमेणाऽधोऽधो यावद् द्विप्रदेशस्कन्धः समुत्पद्यते ।

एवम्—एत एव पूर्वोक्ता द्व्यणुकप्रभृतयः स्कन्धाः संघातभेदलक्षणाभ्यामेकत्व-पृथक्त्वाभ्यामुत्पद्यन्ते । तथाच-विभागीयः कालः परमविरुद्धश्च समयो व्यपदिश्यते, तत्रैकस्मिन् समयेऽभिन्नकाले द्व्यणुकस्कन्धाद् एकः परमाणुर्भिद्यते, परश्च-परमाणुःसममेव संहन्यते, तस्मात्-संघातभेदलक्षणाभ्यामेकत्व-पृथक्त्वाभ्यां पूर्वोक्ताः द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः उद्भवन्ति. अन्यस्य परमाणोः

एकत्व और पृथक्त्व से पुद्गलो के उत्पन्न होते है और पृथक्त्व से पुद्गलों के परमाणु उत्पन्न होते है ।

वास्तव में सघातरूप एकत्वसे, भेदरूप पृथक्त्व से और सघातभेदरूप एकत्व-पथक्त्व से पुदगलो के द्विप्रदेशी आदि स्कंध उपन्न होते है । जैसे-दो परमाणु पुद्गलो के संघात रूप एकत्व से अर्थात् मिलने से द्विप्रदेशी पुद्गलस्कंध उत्पन्न होते है ।

एक द्विप्रदेशी स्कंध और एक परमाणु के सघात से अथवा तीन परमाणुओ के संघात से त्रिप्रदेशीस्कंध की उत्पत्ती होती है । इसी प्रकार एक त्रिप्रदेशीस्कध और एक परमाणुसे अथवा दो द्विप्रदेशी स्कंधो से अथवा चार परमाणु से चार प्रदेशी स्कंध उपन्न होता है। इसी तरह संख्यात असख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशों के संघात रूप एकत्व से संख्यात असंख्यात अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशो वाले स्कन्ध उत्पन्न होते है ।

इसी प्रकार इन्हीं द्व्यणुक से लेकर अनन्तानन्तप्रदेशी स्कंधो में जो संघातरूप एकत्व से उपन्न हुए है, जब भेद होता है । अर्थात् एक परमाणु भिन्न होकर अलग हो जाता है तब वह एक परमाणु से हीन स्कंध के रूप में उपन्न होता है । इसी प्रकार यदि उसमें से दो परमाणु निकल जाय या तीन परमाणु अलग हो जाएँ तो क्रमशः छोटा होता हुआ वह अन्ततः द्विप्रदेशी स्कंध के रूप मे उपन्न हो जाता है।

ये द्व्यणुक आदि स्कंध सघात और भेद अर्थात् एकत्व और पृथक्त्व—दोनो से भी उपन्न होते

संघातेनाऽन्यतः संघाताद् भेदेनेत्येवं व्यणुकः उत्पद्यते इति भावः। परमाणुस्तु–पुद्गलानां भेद-लक्षणात् पृथक्त्वादेवोत्पद्यते, न तु–संघातलक्षणादेकत्वात् नापि–सघातभेदलक्षणादेकत्वपृथक्त्वाद्वा परमाणुरुत्पद्यते इति भावः।

अत्रेदं बोध्यम्—द्वयोः परमाण्वोः संघातरूपाऽन्योन्याश्लेषपरिणामलक्षणादेकत्वाद् व्यणुक-स्कन्धः सम्पद्यते। उक्तञ्च स्थानांगसूत्रे २स्थाने ३उद्देशके ८२सूत्रे—"**दोहिं ठाणेहिं पोग्गला-साहन्नंति, तंजहा—सइंवा पोग्गला साहन्नंति परेण वा पोग्गला साहन्नंति, सइंवा पोग्गला भिज्जंति परेण वा पोग्गला भिज्जंति**—"

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पुद्गला' संहन्यन्ते, तद्यथा—स्वयं वा पुद्गलाः सहन्यन्ते परेण वा-पुद्गलाः सहन्यन्ते, स्वयं वा–पुद्गला भिद्यन्ते, परेण वा–पुद्गला भिद्यन्ते इति।

उत्तराध्ययने ३६ अध्ययने ११ गाथाया–मुक्तञ्च—**एगत्तेण पुहुत्तेण खंधा य परमाणु-य–**" इति, एकत्वेन–पृथक्त्वेन स्कन्धाश्च–परमाणवश्च,, इति। अथ–निरवयोर्द्वयोः परमाण्वोः संहतौ सत्यौ कथं व्यणुकस्कन्धो निष्पद्यते ? तथाहि–तयोर्द्वयोः परमाण्वोः संश्लेषः किं परस्परेण सर्वात्मना भवेत् ? एकदेशेन वा।

तत्र–यदि सर्वात्मना संश्लेषोऽभ्युपगम्यते, तदा–निखिलमपि जगद् एकपरमाणुमात्रं स्यात्। यदि तु–एकदेशेन संश्लेष उच्यते, तदा–परमाणु' सावयवः प्रसज्येत, तस्य एकदेशत्वे सावयवत्व-

---

हैं। काल के सबसे छोटे निरंश अंश को समय कहते है। उस एक ही समय में कोई परमाणु किसी द्व्यणुक से पृथक् हुआ और उसी समय में दूसरा कोई परमाणु उसमें मिल गया तो इस भेद और संघात से भी द्व्यणुक स्कंध की उत्पत्ति हुई।

मगर परमाणु की उत्पत्ति संघात से या भेद सघात से नहीं किन्तु भेद से ही होती है।

यहां यह समझ लेना चाहिए–दो परमाणुओं के पारस्परिक मिलन रूप एकत्व परिणाम से एक द्व्याणुकस्कन्ध बन जाता है। स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक के ८२ वे सूत्र में कहा है–दो कारणो से पुद्गलों का सघात (मिलन) होता है'-या तो पुद्गल स्वयं ही संहत हो जाते है या दूसरे के द्वारा सहत किये जाते है। इसी प्रकार पुद्गलो में दो प्रकार से भेद (पृथक्त्व) उपन्न होता है--या तो वे स्वयं ही पृथक् हो जाते हैं या दूसरे के द्वारा पृथक् किये जाते है।

उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की ११ वीं गाथा में कहा है–एकत्व और पृथक्त्व के कारण स्कंध और परमाणु उपन्न होते है।

शंका--निरंश दो परमाणुओ के एकत्व से द्व्यणुक स्कंध की निष्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? उन दो परमाणुओ का सयोग सर्वात्मना अर्थात् एक परमाणु में दूसरे परमाणु के पूर्ण रूप में समाजाने से होता है अथवा एक देश से होता है ?

यदि सर्वात्मना सयोग माना जाय तो सारा ही जगत् एक परमाणु मात्र ही होगा क्योंकि एक परमाणु मे जब दूसरा परमाणु पूरी तरह समा गया तो दो परमाणुओ के मिल

मवश्यमेव स्यात, "सेयमुभयतः पाशारज्जु—" रितिन्यायापत्त्या संघातो दुर्घटः स्यात्। तस्मात् परमाणवः परस्परेणाऽनाश्लिष्टाः सन्त एव प्रत्यासत्तिशालिनो गगने कचाः इव समुदिता एव समुपलभ्यन्ते, न विदूरवर्त्तिन इति न कथमपि परमाणुद्वयसंश्लेषेण द्व्यणुकस्कन्धः सम्भवतीति चेदत्रोच्यते ।

परमाणूनां रूपरसगन्धस्पर्शात्मकत्वात् ते सतिधाः सयोगकाले सव्यवधाना न परस्परव्याप्त्या वर्तन्ते रूपाद्यवयवत्वात्. स्तम्भकुम्भादिवत्, तथाच परमाणुः स्यान्निरवयवः, स्यात्-सावयवो भवति, द्रव्यभावभेदात् । किञ्च—द्रव्यात्मना परमाणुरेकस्तिरोहितसकलभेदो वर्तते तत्र--कथं तावत् प्रयुज्यमानः सर्वशब्दोऽनेकवस्तुविषयोऽपि निरवशेषाभिधायित्वेन लोके प्रसिद्धत्वादसम्बद्धार्थो न स्यात्. कथं वा नानात्वेनाऽध्यवसितस्य वस्तुनः कस्यचिदेवाऽभिधाय्येकदेशशब्दो निर्भेदपरमाणुविषये प्रसज्यमानः साध्यमानं प्रतिपत्स्यते ?

तस्मादुपर्युक्तविकल्पद्वयानुसारी वाक्यप्रयोगस्तावदत्यन्तप्रसिद्धलोकव्यवहारविमुखानां क्षुद्रसत्वानां शब्दार्थानभिज्ञाना नितान्तं जडिमाक्रान्तानामेव सम्भवति, न तु--प्रेक्षावतां विदुषामिति,

---

जाने पर भी वह पहले की ही तरह एक परमाणु मात्र रहा। इसी प्रकार जब उसमें तीसरा परमाणु मिला तो भी वह परमाणु मात्र ही रहा । इस प्रकार अनन्त परमाणुओं के मिलने पर वह परमाणुमात्र ही रहेगा । इस दोष से बचने के लिए यदि परमाणुओ का संयोग एक देश से माना जाय तो परमाणु सावयव अर्थात् अवयय वाला मानना पड़ेगा । जब उसमें एक देश से संयोग होता है तो सावयव (अवयव सहित) हुए विना वह किस प्रकार रह सकता है ? इस प्रकार इधर कुआ उधर खाई की कहावत चरितार्थ होती है अर्थात् दोनो पक्षो में दोष आता है । ऐसी स्थिति में परमाणुओं का संयोग बन ही नहीं सकता ।

समाधान- परमाणु रूप रस, गंध और स्पर्श वाले होते है अतः संयोग के समय व्यवधानयुक्त परस्पर में व्याप्त होकर रहते है क्योकि उनमें रूप आदि अवयव होते है; जैसे स्तम्भ कुम्भ आदि । इस प्रकार परमाणु कथंचित् निरवयव और कथंचित् सावयव भी है। द्रव्य से निरवयव और भाव से सावयव है ।

इसके अतिरिक्त द्रव्य की अपेक्षा जव परमाणु एक है और उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है तो उसके लिए सर्वात्मना कहकर सर्व शब्द का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? सर्व शब्द तो निरवशेष अनेक का वाचक है यह वात लोक में प्रसिद्ध है। अतएव सर्व शब्द का प्रयोग करना असम्भव है । इसी प्रकार नाना रूप में प्रसिद्ध वस्तु के किसी एक भाग का प्रतिपादक एकदेश शब्द भेद रहित परमाणु के विषय में कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है ?

इस कारण उपर्युक्त सर्वात्मना और एकदेशेन इन दोनो विकल्पो को प्रकट करने वाला वाक्यप्रयोग वही लोग कर सकते है जो अत्यन्त प्रसिद्ध लोकव्यवहार से भी विमुख हैं, क्षुद्र है शब्द और अर्थ से अथवा शब्द के अर्थ से अनभिज्ञ है, और अत्यन्त ही जड है ।

अत्यन्तैकान्तवादग्रहग्रहिलानामेव तथाविधविकल्पद्वयप्रयोजको वचनप्रयोगः समुद्भवति, न तु--सकल वादेमूर्धन्यस्याद्वादसिद्धांतसमाश्रयोपपन्नानुपमसामर्थ्यशालिनां स्याद्वादिनामिति भावः ।

नहि--परमाण्वन्तरेण सह सघटमानोऽसौ परमाणुः केनचिद्देशेन सयुज्यते, तस्य निरवयवत्वात् । अपि तु स्वयमेवावयवो द्रव्यान्तरावयवद्रव्यरहितः परमाण्वन्तरेण सह भेदेन योगमासादयति, न तु--परमाण्वन्तरमाविशति, स हि परमाणुः सक्रियः परमाणुस्थानभूतमाकाशमेवाविशति ।

अथ परमाणोः यद्यावेशो नास्ति देशे तदा न योगः प्रसज्येत परस्परमनाश्लिष्टत्वाद् ब्यङ्गुलवत्. इति चेन्नैवम्, आवेशतः खलु वयं योगं न प्रतिपादयामः अपि तु निरवयवत्वादेव योगमाचक्ष्महे, तस्य च परमाणो र्द्रव्यप्रदेशान्तरं संयुक्तं ब्यङ्गुलस्येव न वर्तते किन्तु--स्वयमेवासौ युक्तो भवति. इत्येतावन्मात्रं ब्रूमहे, । परस्परमनाश्लिष्टत्वहेतुश्चाऽनैकान्तिको वर्तते सूक्ष्मच्छेदप्रविभक्तब्यङ्गुलपर्यन्तवर्तिनौ प्रदेशौ. निरन्तरावस्थितौ अनाविशन्तावेव संयुक्तौ भवतः ।

न तु प्रदेशसूक्ष्मत्वाद् देशान्तरस्याऽसम्भवात्, अङ्गुल्यौ च युक्ते भवतः निरन्तरत्वात्, नहि परस्परावेशो भवति प्रदेशानाम् । तथासति--व्यङ्गुलाभावप्रसङ्गः स्यात् । अथ परमाणोः

विचारशील विद्वान् ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते । जिनके मस्तक पर एकान्तवाद का भूत सवार है, वही ऐसे दो विकल्पो को प्रकट करने वाला वचन प्रयोग कर सकते है । समस्त वादो में शिरोमणि स्याद्वाद सिद्धांत का आश्रय लेने से जिनमें अनुपम सामर्थ्य उपन्न हो गया हो ऐसे अनेकान्त बादी ऐसे अर्थहीन वाक्यो का प्रयोग नहीं कर सकते ।

एकपरमाणु जब दूसरे परमाणु के साथ मिलता है तो एक देश से नहीं; क्योंकि उसमें देश अर्थात् अवयव होते ही नहीं है । अपितु स्वयं ही अवयव द्रव्यान्तर के अवयवद्रव्यो से रहित होकर दूसरे परमाणु के साथ, भेद से सयोग को प्राप्त होता है । वह दूसरे परमाणु में समा नहीं सकता । परमाणु सक्रिय होता है और अपनी अवगाहना के स्थान रूप आकाश में ही समाया रहता है ।

शंका---अगर परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक देश से भी प्रवेश नहीं होता तो उनका सयोग ही नहीं हो सकता, क्योकि वे परस्पर में आश्लिष्ट नहीं है, जैसे दो उंगलियों के अलग अलग रहने पर संयोग नहीं होता ।

समाधान--हम एक दूसरे में प्रविष्ट होने के कारण सयोग नहीं कहते किन्तु निरवयव होने से ही उनका संयोग हो जाता है । दो उंगलियो के समान परमाणु का दूसरा कोई सयुक्त अलग प्रदेश नहीं होता, किन्तु वह स्वयं ही संयुक्त हो जाता है. इतना ही हमारा कथन है । आपका परस्पर में आश्लिष्ट न होना, हेतु अनैकान्तिक है । सूक्ष्म छेदन से अलग अलग हुए दो अंगुलियो के पर्यन्तवर्त्ती (अन्त के) दो प्रदेश अगर एक दूसरे से सटे हों तो परस्पर में आश्लिष्ट न होने पर भी उनका संयोग होता है । दो अंगुलियाँ आपस में संयुक्त होती है, क्योकि उनके बीच अन्तर नहीं होता, फिर भी एक अंगुली दूसरी में प्रविष्ट नहीं होती ।

संस्थानवत्वात् सावयव एव परमाणुः सम्भवति, न तु—निरवयवा तस्येति चेन्न संस्थानस्य द्रव्यावयवकृतत्वात् । तच्च–संस्थानं घटादेरवयविनोऽवयवेषु सत्सु भवति, ते चाऽवयवाः परमाणोर्न सन्ति. तस्मान्निरवयवत्वात् परमाणोः संस्थानवत्वमसिद्धम् ।

अथैवं संस्थानवत्वाभावात्—"असत्–" परमाणुरिति चेन्मैवम् । आकाशं संस्थानरहितमपि सदेव वर्तते । ननु—'असत्' इतिसंस्थानवत्वाभावो हेतुरनैकान्तिकः, न चा–ऽऽकाशं कन्दुकादिवत् दृष्टपरिधित्वेनाऽभ्युपगम्यते इति संस्थानवत्वं तस्यापि सिद्धमिति वाच्यम्, सकललोक- शास्त्रानुभवविरुद्धत्वात् । किञ्च–सम्प्राप्तिलक्षणो योगो नहि–प्रदेशैरव विधीयते, निष्प्रदेशस्याऽपि स्वयं प्राप्तिरस्त्येवेति ।

तथाच—सर्वमेव खलु स्थूलं द्रव्यं प्रविभज्यमानमवश्यमेव निरवयवनिष्ठं सम्पद्यते, स्थूलस्य सूक्ष्मपूर्वकत्वात् । उक्तञ्च—"सर्वं सविभागमविभागप्रविष्टम्–" इति यत्पुनः—तेषामेवानन्तानां परमाणूनामेकस्मिन्नेवाकाशप्रदेशेऽवगाढं भवति, तत्तु—अप्रतिघातपरिणामपरिणतत्वाद, अवगन्तव्यम् । व्याप्तैकावरकेऽन्यप्रदीपप्रमाणां प्रदीपप्रभयेव, शीततमः शब्दत्वपरिणतपुद्गलानां चाऽप्रतिघातित्वदर्शनात्—।

शंका परमाणु संस्थानवान् होने से सावयव ही होना चाहिए, निरवयव नहीं ।

समाधान—संस्थान द्रव्य अवयवो से उत्पन्न होता है । अवयवों के होने पर घटः आदि अवयवीवस्तुओ में संस्थान होता है । परमाणु में अवयव होते नहीं, अतएव परमाणु में संस्थान भी नहीं होता ।

शंका—अगर परमाणु में संस्थान नहीं है तो वह असत् हो जाएगा ।

समाधान—जिसमें संस्थान न हो उसकी सत्ता ही नहीं होती, ऐसा कोई नियम नहीं आकाश संस्थान से रहित होने पर भी असत् नहीं, सत् ही है ।

शंका—आकाश भी संस्थानवान् है, क्योकि उसकी परिधि देखी जाती है, जैसे गेंद ।

समाधान—यह कथन सम्पूर्ण लोक और शास्त्रो से प्रतिकूल है, साथ ही अनुभव से भी विरुद्ध है ।

योग या संयोग का अर्थ है—सम्प्राप्ति अर्थात् ठीक तरह मेलाप हो जाना । यह योग प्रदेशों से ही होता हो सो बात नहीं है । जो प्रदेशरहित है, उसकी स्वयं ही संप्राप्ति हो जाती है ।

इस प्रकार सभी स्थूल पदार्थ यदि विभक्त किए जाएँ तो निस्सन्देह अन्त में वे निरंश होंगे । स्थूल वस्तु सूक्ष्मपूर्वक ही होती है । कहा भी है—सब सविभाग वस्तु अविभाग में प्रविष्ट है ।' अनन्त परमाणुओं का एकही आकाशप्रदेश में जो अवगाह होता है, उसका कारण यह है कि वे अप्रतिघाती रूप में परिणत होते है— उन अनन्त परमाणुओं में से कोई किसी के अवगाह में रुकावट नहीं डालता । जैसे एक कमरा दीपक के प्रकाश से व्याप्त हो

एवमेव परमाणुरेकस्मिन् आकाशप्रदेशे व्यवस्थितः सन् अन्येषामपि परमाणूनां प्रभूतानामवगाहनं कुर्वतां विघातम्प्रति न निवर्तितुमुत्सहते. । अथैवं तर्हि–असति प्रतिघाते कथं महतो द्रव्यस्य निष्पत्तिः स्यात् ? संघातस्तु–सति संयोगे सम्भवति, संयोगः पुनरप्राप्तयोः प्राप्तिमात्रम्, न तु—परस्परावेशः संयोगः ? इतिचेदत्रोच्यते—महतो द्रव्यस्याऽऽरम्भकाले परमाणूनामप्रतिघातित्व मस्मान्प्रति--असिद्धम्. ।

तथाहि—परमाणूनां त्रिविधं प्रतिघातमामनन्ति भगवन्तो बन्धपरिणामोपकाराभाववेगाख्यम्, तत्र–बन्धपरिणामप्रतिघातः स्निग्धरूक्षत्वाद्भवति, । उपकाराभावलक्षणप्रतिघातस्तु धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहोपकारप्रकरणे प्रतिपादितः । लोकादन्यत्र जीवानामजीवानाञ्च गतेः प्रतिघातः, गत्युपग्रहहेतुरहितत्वात् मत्स्य–ग्राहादेरिवजलादन्यत्र । तस्मात्–परमाणो र्लोकान्ते प्रतिघातो भवति, उपकाराभावात्प्रतिघातः । एवं–परमाणोः परमाण्वन्तरेणा–ऽऽपतता–विस्रसा-समुद्भूतगतिवेगेन प्रतिघातो दृष्टः,

वेगगतिं प्राप्तः सन् परमाणुरापतन् जवशालिनमेव परमाणुः प्रतिहन्ति, वेगवत्वे सति स्पर्शवत्वात्—मूर्त्तिमत्वाच्च प्रबलवेगो वायुर्वाद्यन्तरमिवे--ति वेगात्प्रतिघातित्वमध्यवसीयते । तथा-

और उसमें दूसरा दीपक रख दिया जाय तो उसका प्रकाश भी उसमें समा जाता है और साथ ही गीत, शब्द आदि के पुद्गल भी समाये रहते है; उनमें से कोई पुद्गल दूसरे पुद्गल की अवगाहना का प्रतिरोध नहीं करता, इसी प्रकार आकाश के एक ही प्रदेश में अनन्त परमाणु बिना विरोध के समाये रहते है ।

शंका—अगर परमाणु प्रतिघातरहित हैं तो स्थूल द्रव्य की निष्पत्ति कैसे होगी ? योग होने पर संघात होता है और संयोग का अर्थ है अप्राप्त की प्राप्ति, न कि एक दूसरे में समाना ।

समाधान—स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति के समय परमाणुओ का अप्रतिघाती होना हमें सिद्धनहीं है । परमाणुओ का प्रतिघात भगवान् तीन प्रकार का मानते है—बन्धपरिणाम, उपकाराभाव और वेग । बन्धपरिणाम प्रतिघात स्निग्धता और रूक्षता के कारण होता है । उपकाराभाव प्रतिघात धर्म, अधर्म और आकाश के गति, स्थिति और अवगाह रूप उपकार के प्रकरण में प्रतिपादन किया जा चुका है । लोक से बाहर जीवों और पुद्गलो की गति का प्रतिघात हो जाता है, क्योकि वहाँ गति का निमित्त कारण मौजूद नहीं है; जैसे मत्स्य और ग्राह आदि की गति जल से बाहर निमित्त कारण (जल) के अभाव में नहीं होती । इसी कारण लोक के अन्त में परमाणु का प्रतिघात हो जाता है । इसी प्रकार जब कोई परमाणु स्वाभाविक गति करता हुआ वेग में होता है और वह आडा आ जाता है तो उसके वेग के कारण परमाणु का प्रतिघात होता है ।

वेगयुक्त गति करता हुआ परमाणु वेगवान् परमाणु का ही प्रतिघात करता है, क्योंकि वह वेगवान् होते हुए स्पर्शवान् होता है और मूर्त्तिमान् होता है, जैसे प्रबल वेग वालीवायु

चोक्तरीत्या परमाणुविषये प्रतिघातित्वाऽप्रतिघातित्वे च प्रतिपादिते, तत्र–परिणामविशेषात् तदुभयमपि पुद्गलेषु संघटते। तथाहि—शब्दस्तावत् तिरस्कृतोऽपि कुड्यादिभिरप्रतिहन्यमानः सन् श्रवणपथमासादयति, स एव शब्दः कदाचिद् वायुनोह्यमानः प्रतिहतो भवति, प्रतिकूलवातस्थितेनाऽनुपलभ्यमानत्वादनुकूलवातस्थितेन चोपलभ्यमानत्वात्–गन्धवत्, वायुना—ऊह्यते इति प्रत्यक्षसिद्धम्।

तथाच—सघातात् परमाणूनामेकत्वलक्षणात् स्कन्धानामुत्पत्तिर्भवतीति सम्यगुक्तम्। तत्र–द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाण्वन्तरेण योगे त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते, एवं त्रयाणां परमाणूनामेकत्वलक्षणसघातपरिणामे सति त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते, इत्येवं रीत्या संख्येयराशिपर्यन्तं सघातपरिणामभावना कर्तव्या, एवम्– असख्येयराशावपि एकत्वलक्षणसघातपरिणामभावना कर्तव्या। तस्मादप्यसख्येयादुपरिबहु–बहुतर–बहुतमपरमाणुप्रचयात्मकाऽनन्तराशौ–अपि एकत्वलक्षणसंघातपरिणामभावनाऽवसेया।

एवमनन्तकराशेरनन्तस्थानानाञ्चाऽनन्तानन्ताना राशौ एकत्वलक्षणसघातपरिणामेन तावत्प्रदेशा· स्कन्धा उत्पद्यन्ते। परमाणवश्च—तथाविधस्कन्धानां पृथक्त्वलक्षणभेदादेवोत्पद्यन्ते, न तु–

दूसरी वायु का प्रतिघात कर देती है। इससे परमाणु का वेग के कारण प्रतिघात होना प्रतीत होता है।

उक्त प्रकार से परमाणु के विषय में प्रतिघातित्व और अप्रतिघातित्व का प्रतिपादन किया गया है। परिणमन की विशेषता के कारण पुद्गलो में यह दोनो ही घटित हो जाते है। जैसे–शब्द दीवार आदि के द्वारा प्रतिहत हो जाता है अगर प्रतिहत न हो तो कर्ण–गोचर हो जाता है और वही शब्द कभी–कभी वायु के द्वारा प्रेरित होकर प्रतिहत हो जाता है। क्योकि जो प्रतिकूल वायु की दिशा में स्थित होता है उसे वह सुनाई नहीं देता और अनुकूल वायु की दिशा में बैठे हुए को सुनाई देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे गन्ध को वायु प्रेरित करती है, उसी प्रकार शब्द को भी प्रेरित करती है।

इस प्रकार परमाणुओ के संघात रूप एकत्व से स्कन्धो की उत्पत्ति होती है, यह जो कहा है सो ठीक ही कहा है। तीन परमाणुओ का संघात होने पर अथवा द्विप्रदेशी स्कन्ध के साथ एक परमाणु का सघात होने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध (त्र्यणुक) की उत्पत्ति होती है। यही बात सख्यात प्रदेशी और असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति के विषय में समझ लेना चाहिए। असख्यात से भी आगे बहु, बहुतर और बहुतम परमाणुओ के प्रचय रूप अनन्त प्रदेश में भी एकत्वरूप सघात की बात समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जितने प्रदेश वाले पुद्गलो का संघात होगा, उतने प्रदेशो वाला ही स्कन्ध उत्पन्न होगा इस प्रकार अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गलो के संघात से अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है।

तेषामेकत्वलक्षणसंघातात्, भेदसंघाताद्वा--एकत्वपृथक्त्वलक्षणात्। अथ स्नेहरूक्षताविगमात्—स्थितिक्षयाद्--द्रव्यान्तरेण भेदात्, स्वभावगत्या च द्व्यणुकादिस्कन्धभेदादुत्पद्यमानः परमाणुः कार्यमपि भवति, द्व्यणुकादिस्कन्धेषु च संघातपरिणता सत्या न परिमाणभावेन परमाणोरवस्थान भवति, अपितु--स्थूलद्रव्यत्वेनैव तस्य तत्राऽवस्थानं भवति, पूर्वपरिणामोपमर्देनोत्तरपरिणामभवनम्। तस्मिश्चोत्तरपरिणामे पूर्वपरिणामस्याऽसम्भवात्, परिणामस्य भवान्तरापत्तिफलत्वात्। तस्मात्—सूक्ष्मपरिणामाद् बादरपरिणामस्याऽर्थान्तरत्वात् तत्र न परमाणुपरिणामोऽस्ति,

यथा—गुडोदकधातकीद्रव्यसयोगविशेषात् सरकद्रव्यपरिणामो जायते, तदेव खलु तत्तद्द्रव्यत्रयसंयोगविशेषात् कालान्तरापेक्षमन्यदेव भावान्तरं भवति। यत्र तेषां भेदावगमो दुःशको भवति, अथ च तानि द्रव्याणि विना सपणामो नास्ति-नैव वा—तानि द्रव्याणि तदानीं प्राक्तनरूपेण सन्ति। यदि च–तदानीं तानि द्रव्याणि प्राक्तनरूपेणैव तत्र भवेयुः तदा पूर्वकालवत् तस्मिन्कालेऽपि तत्परिणामाऽसम्भवएव स्यात। तथाच—बादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणवः स्वेन रूपेण न सन्ति परिणामान्तरापन्नत्वात् मदिरापरिणतौ गुडादिवत्। एवञ्च—परमाणुर्द्व्यणुकादीनामल्पं कारणमेवेत्येवकारप्रयोगो नोचितः? इतिचेन्मैवम्—

मगर परमाणुओ की उत्पत्ति संघात से नहीं, पृथक्त्व से ही होती है।

शंका—स्निग्धता और रूक्षता के हट जाने पर स्थिति का क्षय होने से जब किसी द्रव्य से भेद होता है और स्वभाव गति से द्व्यणुक आदि स्कन्धो का भेद होता है, उस समय उत्पन्न होने वाला परमाणु कार्य होना चाहिए। जब परमाणु द्व्यणुक आदि में मिला हुआ था, उस समय वह परमाणु के रूप में नहीं था बल्कि स्कन्ध के रूप में था। जब उसके स्कन्ध रूप पूर्वपर्याय का विनाश हुआ तभी उसमें परमाणु रूप उत्तर पर्याय का उत्पाद हुआ। उत्तरकालीन पर्याय में पूर्व कालीन पर्याय का रहना सभव नहीं है। क्योकि परिणाम का अर्थ ही है भवान्तर का होना। अतः सूक्ष्म परिणाम से बादरपरिणाम भिन्न है; अतएव स्कन्ध परिणाम में परमाणु परिणाम नहीं होता।

जैसे गुड, जल और धातकी पुष्प के संयोग से सरक द्रव्य रूप परिणमन उत्पन्न होता है। वही विभिन्न द्रव्यो के सयोग विशेप से कालान्तर में एक नवीन रूप धारण कर लेता है, जिसमें उनके भेद को समझना कठिन हो जाता है। मगर उन द्रव्यों के बिना वह परिणाम नहीं होता और न वे द्रव्य उस समय अपने पूर्व रूप में रहते है। अगर उस समय भी वे द्रव्य अपने पूर्व रूप में ही रहे तो पूर्व काल के समान उस काल मे भी वह परिणाम नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार बादर परिणाम के रूप में परिणत महाद्रव्य मे परमाणु अपने रूप मे अर्थात् परमाणु के रूप में नहीं होते। क्योकि वे दूसरे परिणाम मे परिणत होते है. जैसे मदिरा पर्याय

सर्वस्यैव स्थूलस्य मूर्तद्रव्यस्य विदार्यमाणत्वे सति अशक्यभेदपरमाणुषु पर्यवसानं भवति, न तु—अत्यन्ताभावरूपं सर्वथाऽलीकं गगनकुसुमादिवत् । अथवा—द्रव्यनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकादि-द्रव्याणा परमाणव एव कारणं भवति, पर्यायनयाऽपेक्षया तु—उत्पद्यन्ते । एवञ्च—कथञ्चिदुपजायमा-नत्वात कार्यमपि परमाणवो भवन्ति, ते च—परमाणवः प्रत्येकं स्वतो द्रव्यावयवद्वारेणाऽभेद्या भवन्ति । रूपरसादिपरिणामैः पुनर्भेदवन्तोऽपि भवन्ति । अथाऽप्रदेशत्वात् परमाणुः, 'शशशृङ्गादि-वत्" न सन् वर्तते इति चेत् ? नैवन् तस्य सावयवद्रव्यत्वाभावात् सावयवप्रतिपक्षेण चाऽवश्यं केनचिन्, सतैव वस्तुनाऽनवयवेन भवितव्यम् स चादिमप्रदेशः परमाणुरिति युक्त्या-ऽऽगमेन च द्रव्यपरमाणुसिद्धिः तत्सिद्धौ च क्षेत्रकालभावपरमाणुसिद्धिरपि भवतीति विभावनीयम्—॥२२॥

मूलसूत्रम्—"एगत्तपुहुत्तेहिं चक्खुसा,' ॥२३॥

छाया—**"एकत्व-पृथकृत्वाभ्यां चाक्षुषाः—"** ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—"अथा-ऽनन्तपरमाणुसमुदायेन निष्पद्यमानोऽपि स्कन्धः कश्चित्-चाक्षुष-

---

के होने पर गुड़ आदि अपने रूप में नहीं रहते । अतएव परमाणु द्व्यणुक आदि का कारण ही है, यहाँ 'ही' का प्रयोग करना उचित नहीं है ।

समाधान—किसी भी स्थूल मूर्तद्रव्य का यदि पृथक्करण किया जाय तो परमाणुओं के रूप में ही उसका अन्त होगा, जिनका फिर पृथक्करण हो ही नहीं सकता । उस द्रव्य का गगन कुसुम के समान सर्वथा शून्य रूप नहीं होगा । अथवा यो कहे कि द्रव्यमय की अपेक्षा से द्व्यणुक आदि द्रव्यो के कारण परमाणु हीं है और पर्यायनय की अपेक्षा से उनकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार किसी अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण परमाणु को कार्य भी कहा जा सकता है । वे परमाणु स्वयं किसी भी द्रव्य के अवयव के द्वारा भेद्य नहीं होते ।

हाँ, रूप रस आदि परिणाम उनमें पाये जाते है, इस अपेक्षा से वे भेदवान् भी होते हैं-उनमें भेद किया जा सकता है ?

शंका—परमाणु प्रदेशहीन होने के कारण शशकविषाण के समान असत् है ।

समाधान—परमाणु सावयव द्रव्य नहीं हैं, सावयव द्रव्य का प्रतिपक्षी है और सावयव द्रव्य का प्रतिपक्षी होने से अवश्य ही सत् होना चाहिए और निरवयव होना चाहिए । वह प्रदेश रहित है। इस युक्ति और आगम प्रमाण से द्रव्यपरमाणु की सिद्धि होती है । द्रव्य परमाणु की सिद्धि हो जाने पर क्षेत्रपरमाणु कालपरमाणु और भावपरमाणु की भी सिद्धि हो जाती है। यह स्वयं समझ लेना चाहिए ॥२२॥

मूलसूत्रार्थ—"एगत्त-पुहुत्तेहिं", इत्यादि ॥

संघात और भेद से स्कंध चक्षुग्राह्य हो जाते है ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—अनन्तानन्त परमाणुओं के समूह से निष्पन्न हुआ भी कोई स्कंध चक्षु

प्रत्यक्षविषयो भवति, कश्चित्तु–न चाक्षुषप्रत्यक्षविषयः। तत्र–योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषः सम्पद्यते ? इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह—**"एगत्तपुहुत्तेहिं चक्खुसा—"** इति।

एकत्वपृथकत्वाभ्यां भेदसंघातलक्षणाभ्यां स्कन्धाश्चाक्षुषाः–चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरा भवन्ति, न तु–भेदाच्चाक्षुषा भवन्ति। अचाक्षुषाः पुनः पूर्वोक्तात्–संघातात्, भेदात्–संघातभेदाच्च, उपजायन्ते॥२३

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—भेदसंघाताभ्यां पृथकत्वैकत्वलक्षणाभ्यां चाक्षुषाः चक्षुःप्रत्यक्षविषयाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते तथाच–प्रयोगविस्रसाजनितात् सांगत्या-आयत्या स्कन्धनात् स्कन्धाश्चाक्षुषाः–चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरा उत्पद्यन्ते, न तु–भेदसंघाताभ्यामुत्पन्नाः सर्वे चाक्षुषा एव भवन्ति अचाक्षुषाणामपि स्कन्धानां भेदसंघाताभ्यां पृथक्त्वैकत्वलक्षणाभ्यामुत्पत्तिदर्शनात्। तस्मात्–स्वत एव परिणतिविशेषात्–चाक्षुषप्रत्यक्षविषयतापरिणतिशालिनो बादराः स्कन्धाः संघातभेदाभ्यामुत्पद्यन्ते इति नियम।

एवञ्च–न सर्व एव संघातश्चक्षुषा ग्राह्यो भवति, अपि तु–अनन्तानन्तपरमाणुसंघातनिष्पाद्योऽपि पुद्गलस्कन्धो बादरपरिणतिशाल्येव लोचनगोचरतामुपैति न तु सूक्ष्मपरिणतिशाली सूक्ष्मपरिणामोपरतौ बादरपरिणामे भवति। बादरपरिणामे च यथा परमाणवः संहता भवन्ति, तथा केचन भिद्यन्तेऽपि। तस्मात्–संघातभेदाभ्यामेव चाक्षुषाः स्कन्धा निष्पद्यन्ते, न संघातादेव नाऽपि–भेदादेव। यतोहि–सूक्ष्मपरिणामस्य भेदे सत्यपि सूक्ष्मत्वापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव।

के द्वारा ग्राह्य होता है और कोई नहीं होता ऐसी स्थिति में जो चक्षुग्राह्य नहीं है, वह चक्षुग्राह्य कैसे हो जाता है ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते है–

एकत्व अर्थात् संघात और पृथक्त्व अर्थात् भेद से स्कंध चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय बन जाते है, भेद से चाक्षुष नहीं होते है। अचाक्षुष पूर्वोक्त संघात से, भेद से और संघात–भेद से होते हैं॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—भेद और संघात से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य स्कंध उत्पन्न होते है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भेद और संघात से उत्पन्न होने वाले सभी स्कंध चाक्षुष ही होते है। भेद और संघात से तो अचाक्षुष स्कंधो की भी उत्पत्ति देखी जाती है। अतएव नियम यह है कि स्वतः ही परिणमन की विशिष्टता के कारण चक्षुइन्द्रिय के गोचर होने वाले बादर स्कंध संघात और भेद के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार सभी स्कंध चक्षुग्राह्य नहीं होते, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं के संघात से बनने वाला पुद्गलस्कंध भी यदि बादर परिणाम वाला होता है तो ही वह नेत्रगोचर हो सकता है, 'सूक्ष्म परिणाम वाला नहीं। बादरपरिणाम तब उत्पन्न होता है। जब सूक्ष्म परिणाम हट जाता है। बादर परिणाम होने पर जैसे कुछ परमाणु उसमें मिलते हैं: उसी प्रकार कुछ अलग भी होते है। इस कारण संघात और भेद के द्वारा ही चाक्षुष स्कंधों की निष्पत्ति होती है, न अकेले संघात से और न अकेले भेद से। सूक्ष्म परिणाम वाले

सूक्ष्मत्वपरिणत:पुनरपरः स्कन्धः सत्यपि तद्भेदे सघातान्तरसंयोगात् सूक्ष्मत्वपरिणामोपरमे बादरत्वोत्पत्तौ सत्यां चाक्षुषो भवति. । अथा–ऽचाक्षुषाणां परमाणूनां समुदायोऽपि परमाणुमात्र एव भवति, स कथमतिशयाधानमन्तराचाक्षुषो भवेदिति चेद्–?

अत्रोच्यते–सर्वस्यैव वस्तुनो विद्यमानात् परिणामात् परिणामान्तरं भिन्न भवत्येव । तथाच परमाणुत्वपरिणामाच्चाक्षुपत्वपरिणामस्य भिन्नत्वात् परमाणवस्तावद् अणुत्वपरिणामपरिणतत्त्वं विहाय स्नेहरूक्षताविशेषात् स्थूलत्वपरिणतिमासादयन्ति । स्कन्धेषु चाऽष्टविधानां स्पर्शानां यथासम्भवं प्रतिपादितत्वात्, परमाणुपु पुनश्चतुर्विधस्यैव स्पर्शस्य स्निग्ध-रूक्ष-शीतोष्णात्मकस्य सत्त्वात्, तत्राऽपि एकस्मिन् परमाणौ परस्पराऽविरोधिस्पर्शद्वयं भवति ।

बन्धपरिणतौ च–स्निग्धरूक्षलक्षणं स्पर्शद्वयमुपयुज्यते, केचन–परमाणवो रूक्षपरिणतिशालिनः, केचन स्निग्धपरिणामपरिणता भवन्ति. तदुभयं तु रूक्षस्निग्धरूपं परस्परविरुद्धत्वादेकस्मिन् परमाणौ न सम्भवति । तत्राऽपि–केचित् परमाणव एकगुणस्निग्धत्वपरिणता यावदनन्तगुणस्निग्धत्वपरिणता भवन्ति । एवम्–रूक्षत्वेऽपि बोध्यम्

परमाणवश्च ते सर्वेऽपि सजातीया एव न केचिद् विजातीया अपि भवन्ति । रूप-रस.गन्ध-स्पर्श-

---

स्कंध का भेद होने पर भी वह अचाक्षुष ही बना रहता है । और इस कारण वह अचाक्षुष ही रहता है। किन्तु दूसरा कोई सूक्ष्म स्कंध भेद होने पर दूसरे स्कंध में मिल जाता है । उस समय उसका सूक्ष्म परिणाम हट जाता है,उसमें बादर परिणाम उत्पन्न हो जाता है और वह चक्षुग्राह्य बन जाता है ।

शंका—अचाक्षुष परमाणुओका समुदाय भी परमाणुमात्र ही होता है । वह किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न हुए विना चाक्षुष कैसे हो सकता है ?

समाधान—सभी वस्तुओ के मौजूदा परिणाम से कोई दूसरा परिणाम उत्पन्न होता है तो वह भिन्न ही होता है । इस प्रकार परमाणु रूप परिणमन से चाक्षुष परिणमन भिन्न ही है । परमाणु अपने परमाणुत्व-परिणाम को त्याग कर स्निग्धता-रूक्षता के कारण स्थूल परिणमन को प्राप्त कर लेते है । स्कधो में यथासम्भव आठो प्रकार के स्पर्श कहे गये हैं, परमाणुओं में स्निग्ध रूक्ष, शीत और उष्ण, ये चार स्पर्श ही होते है इनमें से भी परस्पर अविरोधी दो स्पर्श ही एक परमाणु में होते है ।

बन्ध रूप परिणति के लिए स्निग्धता और रूक्षता –इन दो स्पर्शों की ही आवश्यकता होती है, कोई परमाणु रूक्ष परिणाम वाले होते है, कोई स्निग्ध परिणाम वाले । स्निग्धता और रूक्षता परस्पर विरोधी धर्म है, वे एक परमाणु में नहीं रह सकते । उनमें भी कोई परमाणु एक गुण स्निग्ध होते है, कोई दो गुण स्निग्ध होते है यावत् कोई अनन्त गुण स्निग्ध तक भी होते है इसी प्रकार रूक्षता के विषय में भी समझना चाहिए ।

सामान्य रूप से सभी परमाणु सजातीय ही होते है, कोई विजातीय नहीं होते

चतुर्गुणत्वं सर्वेषां भवति. स्पर्शवत्त्वात्, तथाच परमाणूनां रूक्षता स्नेहविशेषाद् द्रव्यान्तरेण तथाविधो बन्धपरिणामो भवति । येन प्रचयविशेषात् महान् स्थूलो घटादिः सम्पद्यते, स्निग्धमृद्रजःसम्बन्धितृणादिवत् । तस्मात्–तन्मात्रत्वमनाहिताऽतिशयत्वं च न सङ्गतं भवति,

तथाचोक्तस्वगतभेदाभ्युपगमान्निरतिशयत्वं केषामपि वस्तूनां सर्वथा नोपपद्यते कदापि, नाप्यात्यन्तिको भेद एव भवति, अपितु–किञ्चित्सामान्यमपि भवत्येवेति । न वा–ऐन्द्रियकत्वे इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वरूपे परिणामएव केवलं कारणं भवति, अपि तु–प्रतिविशिष्टानन्तसंख्यासघातापेक्षा स्थूला परिणतिः प्रतीन्द्रियनियतविषयतामासादयति । तस्मात् नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वे केवलं संघात एव कारणं भवति । नापि–केवलं परिणाम एव, अपि तु–द्वाभ्यां भेदसंघाताभ्यामेककालिकाभ्यां स्कन्धाश्चाक्षुषा भवन्ति, अत्र-चक्षुःशब्देन समस्तेन्द्रियपरिग्रहो बोध्यः। तेन–स्पर्शरसगन्धशब्दा अपि तथाविधपरिणतिशालिन एव स्वोपलब्धिजनकैरिन्द्रियैरुपलभ्यन्ते । ये पुनरतीन्द्रिया द्व्यणुकादयोऽनन्तपरमाणुपर्यवसानाः स्कन्धाः सूक्ष्मा अचाक्षुषा भवन्ति, ते त्रिविधात्-पूर्वोक्तात्--कारणात्-संघाताद् एकत्वलक्षणात्, भेदात्–पृथक्त्वलक्षणात्-संघातभेदाच्च तदुभयलक्षणाद् उत्पद्यन्ते ।

अथ कथं तावद् य एव बादरास्त एव पुनः सूक्ष्माः ? इति नाशङ्कनीयम्, पुद्गलानां विचित्र

क्योंकि सभी रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाले होते है । इस प्रकार रूक्षता और स्निग्धता गुण के कारण परमाणुओं का किसी अन्य द्रव्य के साथ बन्ध होता है और उस बन्ध विशेष से घट आदि स्थूल की उत्पत्ति होती है। अगर परमाणु परमाणु मात्र ही रहे, उसमें कोई विशेषता उत्पन्न न हो तो स्थूल की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार स्वगत भेद को स्वीकार करने से किन्हीं भी वस्तुओं में सर्वथा निरतिशयता (अभेद) का संभव नहीं होता और न उनमें सर्वथा भेद ही है, किन्तु कुछ समानता भी है।

इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष का विषय होने रूप परिणाम में ही केवल कारण नहीं होता. किन्तु विशिष्ट प्रकार के अनन्त संख्यक परमाणुओं के संघात से उत्पन्न होने वाली स्थूल परिणति अमुक–अमुक इन्द्रियो का विषय बनती है । इस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होने में केवल संघात ही कारण नहीं है और न केवल परिणाम ही कारण है. वरन् भेद और सघात दोनो जब एक ही 'काल में होते है, तबी स्कंध चाक्षुप होते हैं । यहाँ चक्षु' शब्द से सभी इन्द्रियो को ग्रहण कर लेना चाहिए और यह भी समझ लेना चाहिए कि स्पर्श, रस, गंध और शब्द भी पूर्वोक्त परिणति से युक्त होकर ही स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जाने जाते है ।

जो द्व्यणुक से लेकर अनन्त परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म स्कंध अचाक्षुप है. वे पूर्वोक्त तीन प्रकार के कारण से अर्थात् संघात से. भेद से और सघात- भेद (उभय) से उत्पन्न होते है ।

शंका—जो स्कंध बादर है, वे ही सूक्ष्म कैसे कहे जा सकते है ?

परिणामत्वात् त एव पुद्गला कदाचित् बादरपरिणामं मेघेन्द्रधनुर्विद्युदादिकमनुभूय पश्चादलक्षणीयपरिणाममात्मस्वरूपावस्थानस्वभावमतिसूक्ष्मं गृह्णन्ति. इन्द्रियान्तरग्रहणलक्षणत्वं वा प्राप्नुवन्ति लवणहिङ्वादयः। सूक्ष्मपरिणामाश्चोत्पद्य पुनरप्याकाशे समन्तात् निखिलदिगन्तरावच्छादकजलधरत्वादिना स्थूलेनाकारेण परिणमन्तीति भावः ॥२३॥

मूलसूत्रम्——"सद् दव्वलक्खणं——" ॥२४॥

छाया——"सद् द्रव्यलक्षणम्——" ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका——पूर्वं धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवानां षण्णामपि द्रव्याणां विशेषलक्षणानि प्रतिपादितानि, सम्प्रति--तेषां सामन्यलक्षणमाह——"**सद् दव्व लक्खणं**–" इति। सदिति द्रव्यसामान्यलक्षणमवसेयम्, यत्-सत्, तद्–द्रव्यलक्षणमिति व्यपदिश्यते। तथाच--सत्त्वं द्रव्यसामान्यलक्षणं बोध्यम्। तथाचोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे——८शतके ९ उद्देशके--सत्पदद्वारसूत्रे——"सद् दव्वं वा–" इति. "सद्द्रव्यं वा–" ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः——पूर्वसूत्रे धर्मादीनां द्रव्याणां यथायोगं गतिस्थित्यवगाहोपग्रहादीनि विशेषलक्षणान्युक्तानि, सम्प्रति--सर्वद्रव्यव्यापि लक्षणमभिधातुमाह–"**सद् दव्व लक्खणं**" इति। द्रव्य-

---

समाधान— पुद्गलो का परिणमन वडा विचित्र होता है। वही पुद्गल कदाचित् मेघ इन्द्रधनुष विद्युत आदि बादर परिणाम को धारण करते है और कभी वही ऐसा सूक्ष्म रूप भी धारण कर लेते हैं कि इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते। कभी–कभी उनमें ऐसा परिणमन हो जाता है कि एक इन्द्रिय के वदले किसी दूसरी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य बन जाते हैं, जैसे नमक, हींग आदि। नमक और हींग पहले चक्षुग्राह्य होते है, मगर जल में घुल जाने पर चक्षुग्राह्य नहीं रहते, रसनाग्राह्य हीं रह जाते है। कोई–कोई सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होकर ऐसे जलधर का आकार धारण कर लेते है जो आकाश में सभी दिशाओ में फैल जाता है। इस प्रकार पुद्गलो के परिणमन की विचित्रता के कारण स्थूल का सूक्ष्म और सूक्ष्म का स्थूल हो जाना तनिक भी आश्चर्यजनक या असंगत नहीं है ॥ २३ ॥

मूलसूत्रार्थ——"सद्दव्वलक्खणं'–सूत्र ॥२४॥

द्रव्य का लक्षण सत् होता है ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका - पहले धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छदो द्रव्यों के विशेष लक्षणो का प्रतिपादन किया जा चुका है, अव उनका सामान्य लक्षण कहते है——

द्रव्य का लक्षण सत् है अर्थात् जो सत् है वही द्रव्य का लक्षण है इस प्रकार सत्व द्रव्यसामान्य का स्वरूप है व्याख्याप्रज्ञप्ति–(भगवती) सूत्र में कहा भी है–सत् द्रव्य कहलाता है ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति——पहले धर्म आदि द्रव्यो का गति-उपग्रह, स्थिति-उपग्रह, अवगाह-उपग्रह आदि विशेष लक्षण कहे जा चुके हैं, अव समस्त द्रव्यव्यापक लक्षण कहते है–

सामान्यस्य लक्षणं तावत् सदिति विज्ञेयम् । एतेन किं विकारग्रन्थिरहितं सत्तामात्रं धर्मादीनां लक्षणम् ? किंवा--उत्पादविनाशरूपं विकारमात्रं तेषां लक्षणम् ! इति विप्रतिपत्तिरपि समाहिता ।

सत्त्वस्यैव धर्मादीनां सामान्यलक्षणत्वात्, तथाच--पूर्वोक्तगतिस्थित्यवगाहाद्युपकारेण तेपामस्तित्वनिश्चयात् प्रसिद्धसत्ताकत्वेन सत्त्वं खलु द्रव्यसामान्यलक्षणं निष्प्रत्यूहतया निर्दुष्टं भवति । अथ गतिस्थित्याद्युपग्रहकारिणः खलु केऽपि धर्मादयः 'अप्रसिद्धसत्ताकाः—'एवेतिचेत् ? अत्रोच्यते—एकीभावात् सग्रहात् उत्पादव्ययध्रौव्यरूपस्य सल्लक्षणस्य धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकेषु द्रव्येषूपलभ्यमानत्वेन तेषां सत्त्वेन प्रसिद्धत्वात् अस्तित्वाव्यभिचारात् ।

"अत्रेदं बोध्यम्—" धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवरूपाणि षड्द्रव्याणि जगतः स्वतत्त्वं वर्तन्ते, तत्र—जीवद्रव्यं धर्माधर्मादीनां स्वरूपस्य च ग्राहकं भवति । संक्षेपतः शब्दार्थज्ञानानि सत्त्वलक्षणस्य लक्ष्याणि लक्ष्यन्ते तद्व्यापिलक्षणं भवति, तस्मात्, धर्माधर्मादिद्रव्याणां सामान्यं सत्त्वलक्षणं समुपपन्नमिति भावः । उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ८ शतके ९ उद्देशके सत्पदद्वारे "सद्दव्वं वा इति "सद्द्रव्यं वा"—इति, सदिति द्रव्यसामान्यलक्षणमवसेयम् ॥ २४ ॥

मूलसूत्रम्—"उप्पायवयधौव्वजुत्तं स—" ॥ २५ ॥

छाया—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २५ ॥

द्रव्यसामान्य का लक्षण सत् है । इस कथन से क्या विकार की ग्रन्थि से रहित सत्तामात्र (ध्रौव्य) धर्मादि का लक्षण है ? अथवा उत्पाद और विनाश रूप विकार ही उनका लक्षण है ? अथवा दोनो उनके ही लक्षण है ? इन सब विप्रतिपत्तियो का भी निवारण हो जाता है; क्योंकि सत्ता ही धर्म आदि का सामान्य लक्षण है । इस प्रकार गति, स्थिति, अवगाह आदि उपकार के द्वारा उनके अस्तित्व का निश्चय होता है ।

शंका—गति, स्थिति आदि में निमित्त होने वाले धर्मादि कोई अप्रसिद्ध सत्ता वाले हैं ।

समाधान—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सत्त्व धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्यो में उपलब्ध होता है, अतएव उनकी सत्ता प्रसिद्ध है । वे सत्त्व से अलग नहीं हो सकते ।

यहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव यही छह द्रव्य जगत् का स्वरूप है । इनमें जीवद्रव्य ही धर्म अधर्म आदि के और अपने निज के स्वरूप का ग्राहक है । संक्षेप से शब्द, अर्थ और ज्ञान सभी में सत्त्व लक्षण पाया जाता है; अतएव यह लक्षण सर्वव्यापी है । तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म आदि द्रव्यो का सामान्य लक्षण सत्त्व ही सगत होता है। भगवतीसूत्र के आठवे शतक के ९ नव वे उद्देशक में सत्पदद्वारमें कहा है—द्रव्य का लक्षण सत् है ॥२४॥

मूलसूत्रार्थ—"उप्पाय वय धौव्वा' इत्यादि ॥२५॥

जो सत् है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे धर्मादिद्रव्यसामान्यलक्षणं–"सद्" इति प्रतिपादितं, तत्र किं तावत् सदिति जिज्ञासायां सतो लक्षणमाह—"उप्पायवयधोव्व-जुत्तं स–" इति। उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तु सदित्युच्यते तत्र चेतनस्य जीवस्य, अचेतनस्य धर्मादेर्वा द्रव्यस्य स्वजातिम-परित्यजोऽन्तरङ्ग–बहिरङ्गनिमित्तवशाद्भवान्तरप्राप्तिरूपोत्पत्तिरुत्पाद उच्यते, यथा–मृत्पिण्डादेर्घटा-दिपर्यायो भवति एव पूर्वभावस्य व्यपगमरूपो विनाशो "व्ययः–" इत्युच्यते, यथा–घटादेरुत्पत्तौ पिण्डाकृतेर्विनाशो भवति।

एवमेवाऽनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद ध्रुवति–स्थिरी भवतीति ध्रुवः स्थिर-इत्युच्यते, ध्रुवस्य भावः–कर्म वा, ध्रौव्यं स्थैर्यम्, यथा सुवर्णपिण्डकटकवलयकुण्डलाद्यवस्थासु सुवर्ण-द्रव्यस्याऽन्वयो भवति मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु वा यथा–मृदाद्यन्वयः, तथाविधैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तं वस्तु सदिति व्यपदिश्यते।

युक्तशब्दस्य "युज्समाधौ–" इति दैवादिकयुज्धातुनिष्पन्नत्वात् समाहितार्थकतया उत्पाद-व्ययध्रौव्यं समाहितम्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्–उत्पादव्ययध्रौव्यमयम् उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावं यद् वस्तु भवति तत्–सदित्युच्यते। तथाच–उत्पादव्ययध्रौव्याणि सद्रूपस्य, द्रव्यस्य लक्षणानि अव-सेयानि द्रव्यं पुनर्लक्ष्यं वर्तते सद्रूपम् तत्रौत्पादव्ययध्रौव्याणां पर्यायार्थिकनयेन परस्परं द्रव्याच्चा-

---

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में द्रव्यसामान्य का लक्षण सत् कहा गया है; मगर 'सत्' किसे कहना चाहिए? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर सत् का स्वरूप कहते है–

जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होती है, वही सत् कहलाती है।

जीव अथवा धर्म आदि अजीव द्रव्यो में अपनी मूल जाति का परित्याग न करते हुए, अन्तरंग और बहिरग निमित्तो से नूतन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, जैसे मिट्टी के पिण्ड से घट की उत्पत्ती होती है। इसी प्रकार पूर्व पर्याय का विनाश हो जाना व्यय कहलाता है, जैसे घट पर्याय की उत्पत्ति होने पर पिण्ड पर्याय का न रहना व्यय है। इसी प्रकार अनादि पारिणामिक भाव से व्यय और उत्पाद न होना अर्थात् मूलभूत द्रव्य का ज्यों का त्यो स्थिर रहना ध्रौव्य, ध्रुवता, स्थिरता आदि समानार्थक शब्द है। जैसे स्वर्णपिण्ड, कटक, वलय, कुण्डल आदि स्वर्ण की एक के पश्चात् दूसरी होने वाली अनेक स्थितियो में स्वर्ण द्रव्य कायम रहता है। इस प्रकार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त वस्तु सत् कहलाती है।

'युज् समाधौ' धातु से 'युक्त' शब्द निष्पन्न हुआ है, अतएव युक्त का मतलब है–समा-हित। जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से समाहित है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, उत्पाद–व्यय ध्रौव्यमय है या उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य स्वभाव वाली होती है, वही सत् कहलाती है।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सद्रूप द्रव्य के लक्षण हैं। सद्रूप द्रव्य लक्ष्य है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न है और द्रव्य से भी

र्थान्तरत्वं बोध्यम् द्रव्यार्थिकनयेन तु–परस्परं व्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेरर्थान्तरत्व न भवति, अपि तु–तन्मयत्वमेव वर्तते इति भावः ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं धर्मादिद्रव्याणां सदिति सामान्यलक्षणमुक्तम्, तत्र–किंतावत् सतोलक्षणमित्याकाङ्क्षायामाह **"उप्पायवयधोव्वजुत्तं स–"** इति । उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं वस्तु सदित्युच्यते, तथाहि–उत्पत्तिस्थितिविनाशस्वभावं सद् भवति, नियमत एवोत्पत्तिस्थितिविनाशाः समुदिता एव सत्त्वं गमयति, सत एव वस्तुन उत्पत्त्यादयो भवन्ति–न तु सर्वथाऽसद्भूतस्य निरूपाख्यस्य गगनकुसुमादेरलीकस्योत्पत्त्यादयः सम्भवन्ति । गगनकुसुमादेः केनाऽप्याकारणाऽनु पाख्यायमानत्वात्, यद्धि न कथञ्चिद्ध्रुवम्–न वा, उत्पद्यते, नचाऽपि व्येति,न तत्-सत् अपितु-असदेव यथा–शशशृङ्गबन्ध्यापुत्रगगनकुसुमकूर्मक्षीरा,दि तथा चेदं सूत्रं **द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकनयद्वयापेक्षया प्रतिपत्तव्यम्** तौ हि द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयौ–उत्सर्गापवादस्वभावौ नैगमसग्रहव्यवहार-नयानामपि मूलभूतौ स्तः तयोः सामान्यविशेषोभयग्राहित्वान्नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोश्चान्तर्भावात्,

द्रव्यार्थिकनयस्तावद् उत्सर्गो-विधि-र्व्यापित्वमप्रतिषेधो न किञ्चिद्विशेषमाकाङ्क्षति विशेष-स्तावद् इतरप्रतिषेधे नाऽऽत्मानं भवान्तरत्वेन प्रतिपादयति नाप्यभावे इतरप्रतिषेधमात्रं

भिन्न है; मगर द्रव्यार्थिक नय से अलग–अलग उपलब्ध न होने से भिन्न नहीं है बल्कि तन्मय ही है ।।२५ ।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म आदि द्रव्यो का सामान्य लक्षण 'सत्' कहा गया है, मगर सत् किसे कहते है, इस आशंका का समाधान करने के लिए कहते हैं—

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त वस्तु सत् कहलाती है । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश स्वभाव वाला सत् होता है । नियम से उत्पत्तिस्थिति और विनाश ये तीनो समुदित होकर ही सत्त्व के बोधक होते है सत वस्तु से ही उत्पत्ति आदि होते, है जो सर्वथा असत् है, आकाश कुसुम की तरह निःस्वरूप है, उसमें उत्पत्ति आदि नहीं होती क्योकि आकाश कुसुम आदि किसी भी स्वरूप से कहे नहीं जा सकते । जो कथंचित ध्रुव नहीं है न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है वह सत् भी नहीं होता है. असत् होता है, जैसे शशक के शींग, बन्ध्या का पुत्र, आकाश का कुसुम और कछुवे का दूध आदि ।

इस प्रकार यह सूत्र द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से समझना चाहिए ।
द्रव्यार्थिकनय सामान्य का ग्राहक और पर्यायार्थिक नय विशेष का ग्राहक है । यह दोनों नय नैगम सग्रह और व्यवहार नयो के मूल है, क्योकि नैगमनय सामान्य और विशेष, दोनों का ग्राहक होने से संग्रह और व्यवहारनय में ही अन्तर्गत हो जाता है ।

द्रव्यार्थिकनय उत्सर्ग. विधि. व्यापकता, अप्रतिषेध. सामान्य अथवा द्रव्य को ही ग्रहण करता है । वह विशेष या भेद को स्वीकार नहीं करता । विशेष, दूसरे का निषेध

भवति तथाहि—घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डरूपो भवति, घटोत्पादात् प्राग्घटस्याऽभावोऽनाविर्भूतघटाकारो मृत्पिण्डइवेति, भावः। प्रध्वंसाभावोऽपि—घटादेः कपालाद्यवस्थाप्राप्तिरूप एव,

विनाशरू. प्रध्वंसोऽवस्थान्तररूपत्वाद् वस्तुस्वभावं न परित्यजति कविवर्णनरचनामात्रप्रापितनटान्यत्ववत् कञ्चुकादिसंस्थानमात्रपरित्यागिसर्पवद्वा एवम्—स्तम्भ-कुम्भादीनां घटादीनां वान्योन्याभावोऽपि परस्परव्यतिरेकरूपत्वात्- अवस्तुरूपो न भवति, सकलवस्तुन एव तथाविधत्वाऽभ्युपगमत्वात्। अन्योन्याभावोऽपि वस्त्वेव भवति। नाप्यत्यन्ताभावः कश्चिदलीकरूपोऽनुपाख्यो भवति, सर्वथाऽनुपाख्यायमानस्वरूपावगमाऽभावात्।

तस्मात्—सर्वाण्येव वस्तूनि द्रव्यक्षेत्र—काल—भावभेदापेक्षाणि कदाचित् प्रत्यक्षादिनोपलभ्यन्ते प्रमाणेनाऽवधार्यन्ते। कदाचिदुपलब्धानि सन्त्यपि द्रव्यादिविप्रकर्षात्पुनर्नोपलभ्यन्ते, मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमकारणसमुदाये सत्यप्युपयोगे किञ्चित् द्रव्यजातमन्यात्मपरमाणुद्व्यणुकादिवैक्रियशरीरादि च विद्यमानमपि नोपलभ्यते। तस्य द्रव्यस्य तेषाञ्चाऽनुपलब्धौ तथाविधपरिणाम एव हेतुरितिबोध्यम्।

दिवसे तारकादयः धान्यराशौ प्रक्षिप्तं धान्यञ्च नोपलभ्यते किञ्चित्क्षेत्रविप्रकर्षाद् दूरात्यासन्नसव्यवधानस्थितं सदपि वस्तु नोपलम्भविषयतामासादयति। एवमन्यत्किमपि वस्तुकालविप्रकर्षात्-

करके किसी वस्तु की भिन्नता का प्रतिपादन करता है। अभाव केवल निषेधमात्र—शून्यरूप नहीं है, जैसे—घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड है। घट की उत्पत्ति से पहले जो घट का अभाव है, वह मृत्पिण्ड ही है जिसमें घट पर्याय की उत्पत्ति नहीं हुई है। घट का प्रध्वंसाभाव उसके ठीकरे हो जाता है। प्रध्वंसाभाव भी वस्तुस्वरूप ही है, घट की कपाल अवस्था हो जाना ही उसका प्रध्वंस है। इसी प्रकार स्तंभ कुंभ आदि एक ही द्रव्य की विभिन्न पर्यायो में जो परस्पर भिन्नता होती है; वह अन्योन्याभाव है; जैसे स्तंभ, कुंभ नहीं है और कुंभ स्तंभ नहीं है। यह भी अवस्तु रूप —शून्य- नहीं है। क्योकि जितनी भी वस्तुपर्यायें है, सब अन्योन्याभाव रूप है। इसी तरह एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य रूप न होना अत्यन्ताभाव है। यह भी एकान्त निरुपाख्य नहीं है, जैसे चेतन अचेतन नहीं है और अचेतन चेतन नहीं है।

सभी वस्तुएँ द्रव्य, क्षेत्रकाल और भाव की अपेक्षा रखती है। वे कभी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से उपलब्ध होती है और कभी उपलब्ध होकर भी द्रव्य आदि के विप्रकर्ष के कारण उपलब्ध होने योग्य नहीं रहती। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम रूप कारण समूह के विद्यमान रहने पर भी आत्मा परमाणु, द्व्यणुक आदि तथा वैक्रिय शरीर आदि विद्यमान रहते हुए भी उपलब्ध नहीं होते हैं इसका कारण उस वस्तु का परिणमन है।

दिन में तारे नज़र नहीं आते। धान्य की राशि में डाला हुआ धान्य उपलब्ध नहीं होता। कोई—कोई वस्तु क्षेत्र की दूरी के कारण, अत्यन्त समीपता के कारण अथवा व्यवधान (आड) आ जाने के कारण भी उपलब्ध नहीं होती है।

अनाविर्भूतं सत् तिरोहितत्वादुपलब्धिगोचरो नोपजायते । एवं भावविप्रकर्षादन्यत् किमपि परकीयात्मनिष्ठमतिज्ञानादिविकल्पजातं परमाण्वादिवर्तिच रूप-रस-गन्धस्पर्शादिपर्यायकलापजातं विद्यमानं सदपि नोपलभ्यते विविक्षितोपलब्धेरन्या—उपलब्धिरनुपलब्धिरुच्यते न तु—उपलब्ध्यभावोऽनुपलब्धि अलीकरूपाऽनुपाख्यस्याऽभावस्य प्रत्याख्यातत्वात् ।

भावस्यैव च कथञ्चिदभावशब्देनाऽभिधीयमानत्वात् तस्मादुपलब्धिकारणशालिन एवाऽनुपलब्धिर्भवति नाऽन्यथेति । तथाच—नाऽभावप्रतिषेधमात्रं भवति अपितु—भावरूपोऽपीति सिद्धम् एवञ्च—ध्रौव्यं द्रव्यं भवनलक्षण मयूराण्डकरसवद् विद्यमानसर्वभेदबीजं निर्भेदं—देशकालक्रमव्यङ्ग्यभेदं समरसावस्थम्—एकरूपम् अभिन्नमपि भेदप्रत्यवमर्शेन भिन्नवदाभासते भवनाश्रयाच्च भाविनिविशेषे भावत्वं भवति ।

अन्यथा—भावीविशेषोभाव एव न भवेत् भवनव्यतिरेकित्वात् भाविनो विशेषस्य तदव्यतिरिक्तरूपाभावात् तत्स्वरूपवद् भावत्वं भवति तदव्यतिरिक्तरूपत्वाच्च तथासति भवनमात्रमेवेदं सकलं वर्तते भेदाभिमताः पुनरेता वृत्तयस्तस्यैव सन्ति न तु—जात्यन्तराणि । पर्यायार्थिकनयः पुनरपवाद-

---

कोई वस्तु काल के विप्रकर्ष के कारण आविर्भूत नहीं रहती । वह तिरोहित होने से उपलब्धि के योग्य नहीं होती । कोई-कोई भाव सबंधी विप्रकर्ष के कारण उपलब्धि के गोचर नहीं होती, जैसे परकीय आत्मा में रहा हुआ मतिज्ञान आदि तथा परमाणु आदि में रहा हुआ रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि पर्यायो का समूह विद्यमान होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता है । किसी एक उपलब्धि से भिन्न दूसरी उपलब्धि ही अनुपलब्धि कहलाता है, उपलब्धि का अभाव अनुपलब्धि नहीं है, क्योकि पहले ही कहा जा चुका है कि अभाव कोई शून्य रूप—निस्स्वरूप वस्तु नहीं है, बल्कि भाव ही कथंचित् अभाव शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है । इस प्रकार जिसकी उपलब्धि के कारण विद्यमान हो, उसकी उपलब्धि होती है । जिसकी उपलब्धि के समस्त कारण न हो और इसलिए जो उपलब्धि के योग्य न हो, उसकी उपलब्धि नहीं होती । इससे सिद्ध हुआ कि अभाव केवल प्रतिषेध रूप नहीं है बल्कि भावान्तर रूप ही होता है ।

ध्रौव्य का अर्थ है द्रव्य या होना । मयूर के अंडे के रस के समान उसमें भेदो का बीज विद्यमान रहता है, मगर वह स्वयं भेदविहीन है । देश—काल—क्रम से उसमें भेद व्यक्त होने योग्य होता है । वह स्वयं समरस अवस्था में रहता है, एक रूप में रहता है; और अभिन्न होता हुआ भी भेद प्रतिभासी होने के कारण भिन्न—सा प्रतीत होता है । भवन का आश्रय होने से भावी विशेष में 'भावत्व' है । अन्यथा भावी विशेष भाव ही न कहलाए, क्योंकि वह भवन से भिन्न है । भावी विशेष उससे अभिन्न रूप है अतएव उसके स्वरूप के समान भाव ही है और उससे अभिन्न रूप वाला है । इस प्रकार यह जो भी कुछ है वह सब भवन मात्र ही है । भेद रूप में प्रतीत होने वाली ये समस्त वृत्तियाँ उसी की है, भिन्न जाति की नहीं ।

स्वभावोऽन्यपरिवर्जनेनाऽन्यपरिवर्जनस्याऽपवादरूपत्वात् स हि—पर्यायार्थिकनयः इतरपरिवर्जनेना-ऽन्यं प्रतिपादयति तस्य प्रतिषेधरूपत्वात् ।

तथाहि– अघटो न भवतीति घटः पर्याया एव सन्ति न तु–द्रव्यं तावदेकं किञ्चित् पर्यायादर्थान्तरमस्ति द्रव्यार्थिकनयावधारितध्रौव्यवस्तुनिरासेन भेदा एव वस्तुत्वेन प्रतिज्ञायन्ते । तस्मात्—पर्यायार्थिकनयस्याऽस्तित्वम् समुपलभ्यमानाऽयःशलाकासदृशभेदकलापव्यतिरेकेण, द्रव्य-स्याऽनुपलम्भात् अथच–रूपादिव्यतिरेकेण मृद्द्रव्यमित्येकवस्त्वाश्रयिका चाक्षुषप्रतीतिरपलपितुमशक्या

घोरान्धकारपटलाच्छन्नप्रदेशस्थायिनो मृद्द्रव्यमात्रावलम्बनमसत्यमितिवक्तुं न शक्यते, तस्माद् भिन्नमेकं द्रव्यमस्ति, अभेदज्ञानविषयत्वात् । नेयमभेदप्रतीतिभ्रमात्मिका सम्भवति ? प्रेक्षावद्भिः पौनः पुन्येन तथैवोपलभ्यमानत्वात् । तस्मात्—उत्पादव्ययव्यतिरिक्तः कश्चिद् ध्रौव्यांशोऽपि अस्ति

पर्यायार्थिक नय अपवाद स्वभाव वाला है, क्योंकि अन्य का निषेध अपवाद है । पर्या-यार्थिक नय किसी वस्तु का प्रतिपादन दूसरी वस्तुओ का निषेध करके करता है; क्योंकि उसका स्वरूप निषेध करना है ।

जो अघट नहीं है वह घट है; इस प्रकार पर्यायों का ही अस्तित्व है । पर्यायों से पृथक् द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है । इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय के द्वारा समर्थित ध्रौव्य का निषेध करके भेदो को ही वास्तविक स्वीकार किया जाता है । इस कारण पर्यायार्थिक नय का अस्तित्व है । उपलब्ध होने वाले लोहे की शलाकाओ के सदृश भेद–समूह को छोड़कर द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु मृत्तिका द्रव्य रूप आदि से भिन्न एक वस्तु है, इस प्रकार एक वस्तु को विषय करने वाली चक्षुजन्य प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

अघट नहीं है वह घट है, इसप्रकार पर्यायोकाही अस्तित्व है । पर्यायो से पृथक द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है । इसप्रकार द्रव्यार्थिक नय के द्वारा समर्थित ध्रौव्य का निषेध करके भेदो को ही वास्तविक स्वीकार किया जाता है । इस कारण पर्यायार्थिकनय का अस्तित्व है । उपलब्ध होने वाले लोहे की शलाकाओ के सदृश भेद–समूह को छोड कर द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु मृत्तिकाद्रव्य रूप आदि से भिन्न एक वस्तु है, इस प्रकार एक वस्तु को विषय करने वाली चक्षुजन्य प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

घोर अन्धकार के समूह से व्याप्त किसी प्रदेश में रहे हुए मृत्तिका द्रव्य का जो स्पर्शे-न्द्रियजनित ज्ञान होता है, वह मृत्तिका द्रव्य को ही विषय करता है । उसे किस प्रकार असत्य कहा जा सकता है ? इस कारण एक अभिन्न द्रव्य का अस्तित्व अवश्य सिद्ध होता है । अभिन्न द्रव्य का अस्तित्व न होता तो अभेद का ज्ञान भी न होता । अभेद का यह ज्ञान भ्रमात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिमान् जनो को बार–बार ऐसा ज्ञान होता है । इस कारण उत्पाद और व्यय से भिन्न एक ध्रौव्य अंश भी है, जिसके कारण द्रव्य एक या अभिन्न प्रतीति का विषय होता है ।

यमाश्रित्य द्रव्यमेकमभेदप्रतीति हेतुरिति प्रज्ञाप्यते। एवञ्च स्थित्युत्पत्तिविनाशस्वभावं सकलमेववस्तु सद् वर्तते, ।

एतौ च द्रव्यपर्यायौ न ध्रौव्योत्पादव्ययरूपौ, न परस्परनिरपेक्षौ सन्तौ सतोलक्षणे भवतः । द्रव्यार्थिकस्य ध्रौव्यमात्रवृत्तित्वात्, पर्यायस्योत्पादव्ययमात्रवृत्तित्वात्, परस्परापेक्षौ पुनस्तौ वस्तु स्वत्वं भवतः । नहि–द्रव्यांशः पर्यायांशो वा परमार्थतः कश्चिदस्ति, तयोः परिकल्पितत्वात्. ।

उक्तञ्च—"नाऽन्वयो भेदरूपत्वान्न भेदोऽन्वयरूपतः ।
मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥१॥ इति

तस्माद् एकान्तवादिपरिकल्पिताद् वस्तुनोऽनेकान्तवादिनः–सम्मतं वस्तु जात्यन्तरमेवाऽविभक्तरूपद्वयसंसर्गात्मकत्वात, नृसिहादिवत् ।

उक्तञ्च—"न नरःसिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः ।
शब्दविज्ञानकार्याणां भेदाज्जात्यन्तरं हि तत् ॥१॥ इति

इत्थञ्च-- घटाद्यपि वस्तु कल्पिताद् द्रव्यार्थिकरूपात् पर्यायार्थिकरूपाच्च जात्यन्तरं वर्तते

यह ध्रौव्य रूप द्रव्य और उत्पाद–व्यय रूप पर्याय परस्पर निरपेक्ष होकर सत् का लक्षण नहीं है। द्रव्यार्थिक नय ध्रौव्य को विषय करता है और पर्यायार्थिक नय उत्पाद और व्यय को ग्रहण करता है। यह दोनो परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तु के स्वरूप है। द्रव्यांश या पर्यायांश कोई वास्तविक नहीं है, ये दोनो अंश तो कल्पित है। वस्तु अपने आपमें एक अखण्ड रूप हैं; सिर्फ नित्य अनित्य होने के कारण उसमें दो अंशो का व्यवहार होता है। कहा भी है—

अकेले अन्वय को अर्थात् अभेद (सामान्य) को स्वीकार करना उचित नहीं है. क्योकि भेद की भी प्रतीति होती है और केवल भेद को स्वीकार करना भीं युक्तिसगत नहीं है, क्योकि अभेद की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार घट मृत्तिका से भेद और अभेद वाला होने से एक भिन्न ही प्रकार का है।

अतएव एकान्तवादियो द्वारा कल्पित वस्तु से अनेकान्तवादियो द्वारा सम्मत वस्तु स्वरूप भिन्न प्रकार का है, क्योकि उसमें नित्यता और अनित्यता दोनो पाई जाती है। जैसे नर और सिंह से 'नरसिंह' का रूप भिन्न है. उसी प्रकार एकान्त नित्यता और अनित्यता से नित्यानित्यता भिन्न है। कहा भी है—

'नरसिंह अकेला नर नहीं है, क्योकि उसमें सिंह का भी रूप पाया जाता है और वह सिंह भी नहीं है क्योकि उसमें नर का भी रूप पाया जाता है। इस प्रकार शब्द ज्ञान और कार्य में भिन्नता होने से नृसिंह भिन्न ही जाति है ॥ १ ॥

इस प्रकार घटादि प्रत्येक वस्तु कल्पित द्रव्यरूप और पर्याय रूप से विलक्षण प्रकार

एवंविधप्रक्रियाऽभ्युपगमेन च—एकनयमतानुसारिसर्वमेव दूषणजातम् उपस्थाप्यमानमसम्बद्धत्वाद-पाकृतं भवति । तस्मात्—कथञ्चिद् भेदाभेदस्वभावेऽपि वस्तुनि कदाचिदभेदप्रत्ययः स्वसंस्कारा-वेगात् केवलमनन्वयिनमंशं द्रव्यात्मकमलपन्—संगोपयंश्च प्रवर्तते ।

कदाचित्पुनर्भेदमात्रवादिनो भेदावलम्बना प्रतीतिः प्रादुर्भवति । अनेकान्तवादिनस्तु—आकाङ्क्षितविवक्षिताऽर्थाधीनज्ञानाभिधानस्य द्रव्यपर्याययोः प्रधान—गौणभावापेक्षया सकलवस्तुविषय-व्यवहारप्रवृत्तिर्वस्तुत्वमनेकाकारमेव वर्तते ।

उक्तञ्च—"सर्वमात्रासमूहस्य विश्वस्याऽनेकधर्मणः ।
सर्वथा सर्वदाभावात् क्वचित्किञ्चिद् विवक्ष्यते ॥१॥ इति ।

किञ्च—"स्थितिजननविरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन—! सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥१॥

इतिचोक्तं सङ्गच्छते । एतेन रूपादिव्यतिरेकेण मृद्द्रव्यमित्येकवस्त्वालम्बना चाक्षुषप्रतीतिः प्रत्या-ख्यातुमशक्येति केषाञ्चिन्मतमपि केवलद्रव्यसाधकमपास्तम् अनेकान्तवादिप्रक्रियाऽनवबोधात् ।

की है । इस प्रकार की नित्यानित्यता को स्वीकार करने से एकान्तवाद में आने वाले समस्त दोषो का परिहार हो जाता है क्योकि अनेकान्त वाद के साथ उन दोषोका कोई संबंध नहीं है । भेदाभेद स्वभाव वाली वस्तु में भी कभी-कभी अभेद की जो प्रतिति होती है, उसका कारण संस्कार का आवेश मात्र है इस प्रकार का आवेग भेद अंश का अपलाप करके अथवा संगोपन करके प्रवृत्त होता है ।

कभी—कभी उसी वस्तु के विषय में भेदविषयक प्रतीति उत्पन्न होती है । ऐसी प्रतीति भेदवादी की होती है और उसमें अभेद का अपलाप होता है ।

किन्तु अनेकान्तवादी द्रव्य और पर्याय या अभेद और भेद दोनो को स्वीकार करता है । केवल कभी द्रव्य को प्रधान और पर्याय को गौण विवक्षित करता है और कभी पर्याय को प्रधान रूप में विवक्षित करके द्रव्य को गौणता प्रदान करता है। वह दोनो अंशो में से किसी भी एक अंश का निषेध नहीं करता । इस प्रकार अनेकान्तबाद के अनुसार सभी वस्तुएँ अनेकधर्मात्मक है । कहा भी है—

यह विश्व सर्व अंशात्मक है अर्थात् संसार के सभी पदार्थ अनेक धर्मों से युक्त है, फिर भी कहीं किसी धर्म की विवक्षा की जाती है और भी कहा है—

यह जंगम और स्थावर जगत् प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश से युक्त है, अर्थात् जगत् के प्रत्येक पदार्थ में यह तीनों धर्म एक साथ रहते है। हे जिन! वक्ताओ में श्रेष्ठ आपके यह वचन आपकी सर्वज्ञता के चिह्न है ।

रूपादि से भिन्न 'मृत्तिकाद्रव्य' इस प्रकार एक वस्तु रूप से जो चाक्षुप प्रतीति होती है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता, ऐसा जो किसी का मत है वह खंडित हो जाता

तथाहि–अनेकान्तवादे रूपादिभ्यो नाऽत्यन्तव्यतिरिक्तं किमपि द्रव्यमस्ति कथञ्चिद् भेदाभेदयोरुभयोरभ्युपगमात् ।

तथाचोक्तम्—**द्रव्यं पर्यायवियुक्तं पर्याया द्रव्य वर्जिताः**
क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥१॥ इति ।

न खलु विशेषनिरपेक्षः सामान्यलक्षणः कश्चिद्ध्रौव्यांशो वर्तते क्वचिद् यः केवलो गृह्येत, नवा—सामान्यनिरपेक्षो विशेषमात्रग्रहणवादिनः सामान्योपलम्भानुभवविरोधः स्यात् । तस्मात् सामान्यं ध्रौव्यलक्षणमवश्यमभ्युपेत्तव्यम् । एवं विशेषोऽपि कश्चिदवश्यं स्वीकर्तव्यः, न हि—वस्तुनः सर्वथा तुल्यतैव भवति- । यदि तस्य सर्वथा तुल्यतैव स्यात् तदा—वैरूप्यरहितत्वात् विवक्षितं वस्त्वन्तरादन्यदित्येषा प्रतीति र्न स्यात् ।

केनचिदप्याकारेण भेदाभावात् तस्माद् भेदमभिवाञ्छता प्रेक्षावता वैरूप्यमपि विशेपलक्षणमुत्पादव्ययस्वरूपं केनचिदाकारेणाऽवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । तथाच–सामान्यविशेपस्वभावं सर्वमेव वस्तु सर्वदा भवतीति–अभ्युपगन्तव्यम् ।

किन्तु–सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणभेदेऽपि नाऽत्यन्तभेदो वर्तते, तस्य खलु वस्तुनः शवल-

---

है क्योकि वह केवल द्रव्य का ही साधक है । उन्होने अनेकान्तवाद की प्रक्रिया को नही समझा है । अनेकान्त बाद में रूपादि गुणो से सर्वथा भिन्न द्रव्य कुछ भी नहीं है। वहाँ तो भेद और अभेद– दोनों ही स्वीकार किये गये है । कहा भी है—

पर्यायो से रहित द्रव्य और पर्यायो से रहित पर्याय कहाँ, कव, किसने, किस रूपमें, किस प्रमाण से देखे है ? अर्थात् कभी देखे ही नहीं जा सकते । जहाँ द्रव्य है वहाँ पर्यायो की सत्ता और जहाँ पर्याय है वहाँ द्रव्य की सत्ता अवश्य होती है ।

विशेषो से रहित, सामान्य रूप ध्रौय अंश अकेला नहीं ग्रहण किया जा सकता और न सामान्य अंश के विना विशेष अंश ही कहीं ग्रहण किया जा सकता है । अतः ध्रौव्य रूप सामान्य अवश्य स्वीकाव करना चाहिए और विशेप अंश को भी अवश्य अंगीकार करना चाहिए ।

सव वस्तुएँ सर्वथा समान ही नहीं होती । यदि वे समान हों तो उनमें किसी भी प्रकार की असमानता हो ही न सके । ऐसी स्थिति में एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् कैसे प्रतीत होगी ? उनमें किसी भी रूप में भेद तो है नहीं, फिर भेद प्रतीति का क्या कारण है ?

अतएव जो विद्वान् भेद को स्वीकार करता है, उसे किसी न किसी रूप में विरूपता उत्पात और व्यय भी अवश्य अंगीकार करना चाहिए और ऐसा मानना चाहिए कि सव वस्तुएँ सदा सामान्य विशेपात्मक ही हैं ।

सामान्य और विशेप के लक्षण में भेद होने पर भी दोनों में सर्वथा भेद नहीं है, क्योकि वे वस्तु से अभिन्न है । एक वस्तु को यदि वस्तुत्व की अपेक्षा भी दूसरी वस्तु से

रूपत्वात् वस्तुनश्च—वस्तुत्वेनापि वस्त्वन्तरा तुल्यत्वे सति एकतरस्याऽवस्तुत्वमापद्येत, तदविनाभावाच्च द्वितीयस्याऽप्यभावप्रसङ्गः स्यात्।

तथाच—सर्वं शून्यमित्यापत्तिः स्यात् नहि सर्वशून्यत्वमिष्टम्, तस्मात्—सकलशून्यताऽऽपत्तिभिया सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद् वस्तुत्वेनाऽपि तुल्यत्वमभ्युपेयम्। ततश्च—सामान्यविशेषस्वभावं सर्वमिति व्यवस्थितं "स्याद्वाद" सिद्धान्ते सामान्यविशेषयोः परस्परं वा स्वभावविरहाभावात् सङ्कीर्णतायां सत्यामपि धर्मभेदप्रसिद्धेः समस्तव्ययहारसंसिद्धिर्भवति।

एवञ्च—उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सद्द्रव्यमिति सिद्धम्। उक्तञ्च—स्थानाङ्गसूत्रे १० स्थाने—"**उप्पन्ने वा विगए वा—धुवे वा" इति उत्पन्नो वा विगतो वा ध्रुवो वा इति ॥२५॥**

मूलसूत्र—'तब्भाववयं निच्चं'—॥२६॥

छाया—तद्भावाऽव्ययं नित्यम्—॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावं वस्तु सदित्युक्तम्। तत्र—ध्रौव्यपदेन नित्यत्वमुच्यते, तस्माद्—नित्यस्य लक्षणमाह— **'तब्भाववयं निच्चं"** इति। तद्भावाऽव्ययं नित्यम् तद्भावः भवनं—भावः तस्य भावस्तद्भावः, येन भावेन—स्वभावेन स्वरूपेण वस्तु पूर्वं दृष्टं तेनैव स्वरूपेण पुनरपि भावात्—सत्त्वात् तदेव वस्तु इत्येवं प्रत्यभिज्ञानं भवति।

समान नहीं माना जाय तो एक वस्तु अवस्तु हो जाएगी और तदविनाभावी होने से दूसरी वस्तु का भी अभाव हो जाएगा।

ऐसी स्थिति में सर्वशून्यता की आपत्ति होगी, अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध न होगी। सर्वशून्यता अभीष्ट नहीं है, अतएव सर्वशून्यता के भय से सामान्य और विशेष में कथंचित वस्तुत्व की दृष्टि से भी तुल्यता स्वीकार करना चाहिए। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ सामान्य—विशेष स्वभाव वाले है। सामान्य और विशेष में परस्पर स्वभाव विरह का अभाव होने से एक रूपता होने पर भी धर्मभेद की सिद्धि होने के कारण समस्त व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सत् द्रव्य का लक्षण है। स्थानागसूत्र में स्थान १० में कहा है—**'वस्तु उत्पन्न भी होती है, विनष्ट भी होती है और ध्रुव भी रहती है"** ॥२५॥

मूलसूत्रार्थ—"तब्भाववयं निच्चं" ॥सूत्र २६॥

वस्तु का अपने मूल स्वरूप से नष्ट न होना नित्यत्व है ॥२६

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाली वस्तु ही सत् है। वहाँ ध्रौव्य का अर्थ नित्यत्व है, अतः अब नित्य का लक्षण कहते हैं—जो वस्तु जिस स्वभाव में पहले देखी गई है, उसीस्वभाव में वह पुनः भी देखी जाती है। 'यह वही वस्तु है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है।

प्रत्यभिज्ञानञ्च—पूर्वदृष्टस्य वस्तुनः चक्षुः पुरोवर्तित्वे सति इदं तत्–" इत्येवं चाक्षुप-प्रत्यक्षस्मरणात्मकं ज्ञानमुच्यते, तच्च प्रत्यभिज्ञानं निर्हेतुकं न भवति इति योऽस्य प्रत्यभिज्ञानस्य हेतुः स सद्भाव इत्युच्यते। यथा–घटस्य, शरावस्य उदञ्चनादेर्वा मृत्पिण्डभावः कटक-वलय कुण्ड-लादीनां वा सुवर्ण द्रव्यम्, तद्भावेन मृत्पिण्डसुवर्णादिरूपेण अव्ययं व्ययो विनाशस्तद्रहितम् अव्ययं नित्यमुच्यते।

तथाच—घटकुण्डलादौ मृत्पिण्डसुवर्णादिकं नित्यमिति निश्चीयते। तत्र–मृत्पिण्डाद् जाय-मानो घटपर्यायोऽप्रधानभूतः मृत्पिण्डभावस्तु–प्रधानभूतः इति तेन भावेन नित्यं घटादिवस्तु व्यवह्रियते तदपि नित्यं द्रव्यार्थिकनयेन कथञ्चिद् ज्ञातव्यम्। सर्वथा नित्यत्वस्वीकारे तु—अन्यथाभावस्य पर्यायादेरभावः स्यात् तथा सति–आत्मनः सर्वथा नित्यत्वे-नरनारकादिरूपेण संसारः तद्विनिवृत्तिरूपमोक्षश्च न सघटेत ततश्च संसारस्वरूपकथनम्, मोक्षोपायकथनञ्च विरुध्येत तस्मात् कथञ्चिन्नित्यमिति ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वसूत्रे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सदित्युक्तम् तत्र–गगनादिसद्वस्तु नित्यं वर्तते, सच्च–घटादिद्रव्यमनित्यं दृष्टम्। तस्मात्–सतां नित्यत्वदर्शनाज्जायमानं सन्देहं दूरीकर्तुमाह

पहले देखी हुई वस्तु जब पुनः नेत्रो के सामने आती है तब वह यही है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष और स्मरण का जोड़ रूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। वह प्रत्यभिज्ञान निर्हेतुक नहीं हो सकता, अतः प्रत्यभिज्ञान का जो कारण है वह 'सद्भाव' कहा जाता है। जैसे घट, शराब, उदंचन आदि का मृत्पिण्डभाव; कटक; वलय, कुण्डल आदि का स्वर्ण द्रव्य तद्भाव अर्थात् मृत्पिण्ड या स्वर्ण आदि रूप से व्यय–विनाश न होना अव्यय अर्थात् नित्य कहलाता है।

घट आदि में तथा कुण्डल आदि में मृत्पिण्ड और स्वर्ण आदि नित्य हैं, यह निश्चित होता है। मृत्तिकापिण्ड से उत्पन्न होने वाला घट पर्याय गौण है और मृत्पिण्डभाव प्रधान है। अतएव मृत्तिकापिण्डभाव से घट आदि वस्तु नित्य कही जाती है। उसकी नित्यता द्रव्यार्थिक नय से ही कथंचित् जानना चाहिए। सवथा नित्यता का स्विकार करने से तो अन्यथारूप होने का–पर्याय का अभाव ही हो जाएगा ऐसी स्थिति में आत्मा को सर्वथा नित्य मान लेने पर नर नारक आदि रूप से ससार और उसकी निवृत्तिरूप मोक्ष भी घटित नहीं हो सकेगा। फिर तो ससार के स्वरूप का कथन और मोक्ष के स्वरूप का कथन भी विरुद्ध हो जाएगा। इस कारण वस्तु को कथंचित् नित्य ही मानना चाहिए ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे बतलाया गया है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। उनमें से आकाश आदि सत् वस्तु नित्य है और घट आदि सत् अनित्य है। इस प्रकार सत् पदार्थों में नित्यता और अनित्यता–दोनो देखने से उत्पन्न होने वाले सन्देह का

अथवा—"निच्चावट्टिया रूवाइं—' इति पूर्वम् अस्मिन्नेव द्वितीयेऽध्याये तृतीयसूत्रे नित्यमित्युक्तम् तत्र—न सर्वं सद् नित्यं भवति, अरूपग्रहणात् अतो रूपवतोऽनित्यत्वमर्थां दापद्यते तस्मात् सर्वं सद् न नित्यम् , नाऽप्यनित्यं वक्तुं शक्यते। अतोऽवस्थितिरूपाऽन्वयांशमादाय रूपवदपि वस्तु नित्यं कथञ्चित्सम्भवति—इत्यभिप्रायेणाह—"तब्भाववयं णिच्चं—,, इति।

तद्भावाव्ययं नित्यमिति तच्छन्दस्य प्रक्रान्तपरामर्शकत्वात् सदित्यर्थः तस्य सतो वस्तुनो भवनं भावस्तद्भावः तदेव सद्वस्तु—मृत्पिण्डसुवर्णादिजीवादि च तथा तथा भवति शरावोदञ्चन कपाल घट—कटकवलयकुण्डलादिरूपेण देवादिरूपेण च, किन्तु—न कदाचिदपि स्वतत्त्वमृत्पिण्डत्व—सुवर्णत्व जीवत्वादित्यागेन तथाविधान्यथा जायते। सर्वत्रैव घटकुण्डलदेवादिषु मृत्पिण्डसुवर्णजीवतत्त्वाना मन्यथा दर्शनात् अतस्तद्भावाव्ययमविनाशि नित्यं भवति घटादिसद्वस्त्विति भावः।

अन्यथा—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति सल्लक्षणमव्यापकं भवेत्, घटादिषु—उत्पादव्ययरूपपर्यायस्यैवाऽभ्युपगमे ध्रौव्यांशग्रहणाभावात्। तस्मात्—रूपादिमद् घटादि सद्वस्त्वपि मृत्पिण्डाद्यन्वयवत्त्वेन ध्रौव्यांशवत्वाद् उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणाक्रान्तत्वात् ध्रौव्यांशमादाय कथञ्चिन्नित्यमिति व्यपदिश्यते।

निवारण करने के लिए कहते है—अथवा इसी द्वितीय अध्याय के तीसरे सूत्र "णिच्चा वट्ठिया रूवाइं" में 'नित्य' कहा है; वहाँ सर्व सत् नित्य नहीं हैं, क्योकि स्वरूप का ग्रहण किया है; ऐसी स्थिति में रूपी वस्तु की अनित्यता प्रतीत होने लगती है, अतः समस्त सत् पदार्थ न नित्य और न अनित्य कहे जासकते है, अतएव ध्रौव्य रूप अंश की अपेक्षा से रूपी वस्तु भी कथंचित् नित्य है, इस आशय को प्रकट करने के लिए कहते है—

'तब्भाववयं निच्चं' इस सूत्र में 'तत्' शब्द से 'सत्' का ग्रहण करना चाहिए। सत् वस्तु का भाव 'तद्भाव' कहलाता है। वह सद् वस्तु मृत्तिका हि शराव, उदंचन, कपाल, घट आदि रूप में और स्वर्ण ही कटक, वलय, कुण्डल आदि रूप में तथा जीव ही देव आदि के रूप में होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि अपने मूल स्वभाव मृत्तिका पिण्डत्व, सुवर्णत्व और जीवत्व का त्याग करके वह अन्यथा रूप में हो जाए। क्योकि घट, कुण्डल और देव आदि में मृत्पिण्ड, स्वर्ण और जीव तत्त्व का अन्वय देखा जाता है। अतएव घट आदि सद् वस्तु अपने मौलिक स्वभाव से विनष्ट नहीं होती है; यही उसकी नित्यता है।

ऐसा नहीं माना जाएगा तो 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता हैं, यह सत् का लक्षण अव्यापक हो जायगा; क्योकि घट आदि में उत्पाद और व्यय रूप पर्याय ही मानने से ध्रौव्य अंश का ग्रहण नहीं होगा। इस कारण रूपादिमान् घट आदि सत् वस्तु भी मृत्तिका आदि का अन्वय होने से ध्रौव्य अंश वाली है एवं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से युक्त है। इस कारण ध्रौव्य अंश की अपेक्षा से कथंचित् नित्य कहलाती है।

एतत्सूत्रस्थनित्यग्रहणेन पूर्वसूत्रोक्तध्रौव्यांशपरिग्रहो भवतीति स खलु–अन्वयी द्रव्यास्तिकांशो न कदापि व्यवच्छिन्नो भवति ।

सदाकारेणाऽनुत्पद्यमानत्वादविनाशित्वाच्च सूत्रे भावशब्दोपादानेन परिणामनित्यता गृह्यते न तु–कूटस्थ नित्यता कूटमयोघनस्तद्वत्तिष्ठतीति–अविलालिभावः यदि–कूटस्थनित्यताया ग्रहणं भवेत्–तदा "तदव्ययं नित्यम् इत्येव सूत्रं स्यात् । यत्खलु न केनचित्–आकारेण विक्रियते, तदनुपाख्यमेव भवेत् । एवञ्च–सर्वेषामन्वयिनां मत्पिण्डसुवर्णादीनां धर्माणामुपलक्षणं बोध्यम् ।

सत्वं तु–षड्द्रव्यव्यापकत्वादुक्तम् । जीवस्तावत् साक्षात् सत्वं चैतन्यममूर्तत्वमसंख्येयत्वञ्चाऽपरित्यजन् तादृशतादृशपरिणामान्न व्यगात्–न विनष्टः, न व्येति न विनश्यति, न व्येष्यति-न विनङ्क्ष्यति वा । अतएवाऽविनाशी नित्योऽव्यय उच्यते, न तु–देवनारकादिनाऽनन्वयिना पर्यायेणाऽपि जीवस्य नित्यत्व ध्रौव्यं वर्तते । एवं–परमाणुद्व्यणुकादिपुद्गलद्रव्यं सत्त्वमूर्तत्वाऽजीवत्वाऽनुपयोगग्राह्यादिधर्मानजहत् विपरिणमते न तु–घटादिपर्यायविवक्षया तस्य ध्रौव्यं भवति ।

धर्मद्रव्यमपि सत्वाऽमूर्तत्वाऽसंख्येयप्रदेशवत्वलोकव्यापित्वादिधर्माऽपरित्यागेनाऽवतिष्ठते सदा न खलु तस्य धर्मद्रव्यस्य परमाणु यज्ञदत्तादीनां प्रत्येक गन्तृत्वस्य विवक्षायामपि गत्युपकारित्वेन नित्यत्वं सम्भवति । गन्तृत्वभेदाद् गत्युपकारित्वं भिद्यते अन्यादृशाकारेण पूर्व. परिणामो भवति–अन्यादृशाकारेण च पर.पणाम, न तावत्प्रथमोत्पन्नो गत्युपकारित्वपरिणामः सर्वदा तिष्ठति ।

इस सूत्र में गृहीत नित्य शब्द से पूर्वसूत्र में कथित ध्रौव्य अंश समझना चाहिए । द्रव्य का वह अन्वयी अंश कदापि और कहीं भी नष्ट नहीं होता ।

कोई भी वस्तु सत् रूप से उत्पन्न नहीं होती और न नष्ट होती है, अतएव सूत्र में भाव शब्द के ग्रहण से परिणामिनित्यता ही समझना चाहिए, कूटस्थनित्यता नहीं समझना चाहिए । यदि कूटस्थनित्यता का ही ग्रहण करना होता तो 'तदव्यं नित्यम्' ऐसा सूत्र होता । जिस वस्तु में किसी भी रूप में विकार–अन्यथापन–नहीं होता, वह नित्यत्वरूप ही होता है । इस प्रकार सभी अन्वयी मृत्पिण्ड एवं स्वर्ण आदि का उपलक्षण जानना चाहिए । सत्त्व छहों द्रव्यो में व्यापक 'सत्त्व' है । जीव सत् है । वह अपने चैतन्य, अमूर्त्तत्व, असंख्यातप्रदेशवत्त्व स्वभाव का परित्याग नहीं करता । अपने इन धर्मों से वह कभी नष्ट नहीं हुआ, नष्ट नहीं होता और नष्ट नहीं होगा । इस कारण जीव अविनाशी, नित्य और अव्यय कहलाता है । मगर यह नहीं समझना चाहिए कि जीव देव नारक आदि पर्याय की दृष्टि से भी नित्य है । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य सत्त्व, मूर्त्तत्व, अचेतनत्व धर्मों का परित्याग नहीं करता, इस कारण उस में नित्यता है । घट आदि पर्यायो की अपेक्षा से नित्यता नहीं है ।

धर्मद्रव्य सत्त्व, अमूर्त्तत्व, असंख्येय प्रदेशवत्त्व लोकव्यापित्व आदि धर्मों का परित्याग न करता हुआ सदैव स्थिर रहता है, पर्याय की दृष्टि से नहीं अर्थात् परमाणु या यज्ञदत्त की गति

एवमधर्मद्रव्यमपि-सत्त्वाऽमूर्तत्वादि धर्मापरित्यागेन सन्तिष्ठते सर्वदा, स्थित्युपकारितया चाऽधर्मद्रव्यस्याऽनित्यत्वं भवति। आकाशस्य पुनः सत्त्वाऽमूर्तत्वाऽनन्तप्रदेशत्वादिधर्मवत्त्वेन नियत्त्वं भवति, अवगाहकानां पुद्गलादिद्रव्याणामवगाहदातृत्वेन चाऽनित्यत्वम्। यत्राऽप्यलोकाकाशेऽवगाहकं जीवपुद्गलादिक न भवति, तत्राऽपि-अगुरुलघ्वादिपर्याया भिन्नाभिन्ना एव भवन्ति।

अन्यथा—अलोकाकाशादौ न स्वत उत्पादव्ययौ भवतः, नाऽप्यापेक्षिकौ स्याताम्, तथासति-तत्रो-त्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तावत् सन्मात्रलक्षणमव्यापकं भवेत्। तस्मात्-यद्वस्तु सतो भावाद् न व्यगाद्-न व्येति, न वा-व्येष्यति तन्नित्यमुच्यते। तथाच—यद्वस्तु द्रव्यं सत्वाद्यन्वयिनोऽशाद् न व्यगाद्—न विनष्टः, न व्यनङ्क्षीत्, न वा—व्येति न विनश्यति नापि-व्येष्यति-न विनङ्क्ष्यति तन्नित्यं व्यपदिश्यते।

अथवा—तद्भावेन तेन सदात्मना स्थिरत्वंशेन, अव्ययम्-अविगतं परिणामापत्तौ सत्यामपि-स्वतत्त्वाप्रच्यवाद् नित्यमुच्यते, अथ यथा तद् द्रव्यमात्मपरित्यागात् तथोत्पत्तिनाशलक्षणः पर्यायोऽपि द्रव्यस्यात्मभूत इति पर्यायनिवृत्तिवद् द्रव्यस्यापि निवृत्त्यापत्तिरिति चेदुच्यते—

यदि घटादिपर्यायनिवृत्तौ सत्यां मृत्पिण्डस्या—ऽपि निवृत्तिर्दृश्येत, मृन्निवृत्तौ वा पुद्गलनिवृत्तिः तदा-स्यादेतद् एवम्, न तु—तथा दृश्यते, न हि-अन्वयिन्या मृदः पुद्गलजातेर्वा कस्यामप्यवस्थायां

में निमित्त होने रूप पर्याय की अपेक्षा से उसमें नित्यता नहीं है। गमनकर्ता के भेद से गत्युपकारित्व भी भिन्न होता रहता है। अर्थात् उसके पूर्वापर पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी सत्त्व अमूर्तत्व आदि धर्मों का कभी परित्याग न करने के कारण नित्य है, मगर विभिन्न पदार्थों की स्थिति में निमित्त बनने रूप पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य है।

आकाश सत्त्व, अमूर्तत्व, अनन्तप्रदेशित्व, अवगाहना आदि गुणो के कारण नित्य है किन्तु अवगाहक वस्तुओ के भेद के कारण उसके अवगाहमान परिणाम में भी भेद होता रहता है। इस दृष्टि से वह अनित्य है। अलोकाकाश में जीव पुद्गल आदि अवगाहक नहीं है, फिर भी वहाँ अगरुलघु आदि पर्याय भिन्नाभिन्न होते है। यदि ऐसा न माना जाय तो अलोकाकाश में स्वत उत्पाद और व्यय नहीं होंगे और न परापेक्ष ही होगे। ऐसी दशा में वहाँ उत्पाद' व्यय और ध्रौव्य न होने से सत् का लक्ष्य भी घटित नहीं होगा। अतः जो वस्तु सत भाव से नष्ट नहीं हुई, नहीं होती और नहीं होगी, वही नित्य कहलाती है।

अथवा—क्षण—क्षण में विविध प्रकार के परिणमन होते रहने पर भी वस्तु का अपने मूल अस्तित्व से अर्थात ध्रौव्य रूप अंश से च्युत न होना नित्यत्व कहलाता है।

शंका—उत्पत्ति और विनाश पर्याय द्रव्य से अभिन्न है, अत' पर्याय का विनाश होने पर द्रव्य का भी विनाश हो जाना चाहिए।

समाधान—यदि घट पर्याय का विनाश होने पर मृत्तिका का भी विनाश देखा जाता और मृत्तिका का विनाश होने पर पुद्गलद्रव्य का विनाश हो जाता होता तो ऐसा कहा जा सकता था;

निवृत्तिर्दृश्यते तदभिधानप्रत्ययव्यवहारविषयत्वात् । घटादिपर्यायनिवृत्तौ वा यदि न किञ्चित् पश्चादुपलभ्यते तदा—प्रेक्षावान्—जनः पर्यायनिवृत्तौ सत्यां द्रव्यांशनिवृत्तिं श्रद्धधानोऽभ्युपगच्छेत् ।

यतश्च—पर्यायनिवृत्तावपि मृद्द्रव्यांशः उपलभ्यते तस्मान्नद्रव्यांशनिवृत्तिरभ्युपगन्तुं शक्यते । तथाच—प्रत्यक्षविरोधेन तर्काऽवतारः सम्भवति तस्मादुपपत्त्यागमाभ्यां तद्भावाऽव्ययं नित्यमिति व्यवस्थितम् ।

उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ-भगवतीसूत्रे १४ शतके ४ उद्देशके —"**परमाणुपोग्गले-णं भंते? किं सासए—असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए—**"इति । परमाणुपुद्गलः खलु भदन्त ! कि शाश्वत.—अशाश्वतः ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वतः, वर्णपर्यवैः यावत् स्पर्शपर्यवैरशाश्वतः, इति ।

एवं जीवाभिगमे ३ प्र० १ उद्देशके ७७ सूत्रे—चोक्तम्—'**परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सासए—असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं—गंधपज्जवेहिं—फासपज्जवेहि असासए—**"इति । परमाणुपुद्गलः खलु भदन्त ! किं शश्वतः अशाश्वतः ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वतः, वर्णपर्यवैः—रसपर्यवैः— गन्धपर्यवैः स्पर्शपर्यवैः अशाश्वत, इति ।

मगर ऐसा तो देखा नहीं जाता । अन्वयी मृत्तिका का अथवा पुद्गलजाति का किसी भी अवस्था में अभाव नहीं देखा जाता, क्योंकि उसका वही का वही नाम बना रहता है, उसका ज्ञान भी होता रहता है और मृत्तिकासाध्य व्यवहार भी होता रहता है । अगर घट का अभाव होने पर बाद में कुछ भी उपलब्ध न होता तो बुद्धिमान् पुरुष श्रद्धा कर लेते कि पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव हो जाता है । किन्तु पर्याय की निवृत्ति हो जाने पर भी मृत्तिका का सद्भाव बना रहता है । अतएव द्रव्य का विनाश होना स्वीकार नहीं किया जा सकता । जहाँ प्रत्यक्ष से विरोध आता हो वहाँ तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं रहता । इस प्रकार युक्ति और आगम से '**तद्भावव्यं नित्यम्**' यह सिद्ध हुआ ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—(भगवती) सूत्र के शतक १४, उद्देशक ४ में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! परमाणुपुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और वर्णपर्याय यावत् स्पर्शपर्याय से अशाश्वत है।

इसी प्रकार जीवाभिगम के ३ री प्र. उ. १ सूत्र ७७ में भी कहा है-

प्रश्न—भगवन् ! परमाणुपुद्गल क्या शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है—नित्य है और वर्णपर्याय, रसपर्याय, गन्धपर्याय और स्पर्शपर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत—अनित्य है ।

भगवतीसूत्र श. ७. उ. २ में कहा है—

पुनश्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ ७शतके २उद्देशके उक्तम्—"जीवा णं भंते ! किं सासया-असासया ? गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय-असासया, से केणट्ठेणं भंते-एवं वुच्चइ जीवा सिय-सासया, सिय असासियां ? गोयमा- दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सिय सासया, सिय-असासया । नेरइया णं भंते !किं सासया, असासया एवं जहा जीवा, तहा नेरइया वि, । एवं जाव-वेमाणिया, जाव-सिय सासया, सिय असासया सेवं-भंते-? सेवं-भंते–? इति ।

छाया—जीवाः खलु भदन्त-? कि शाश्वताः-अशाश्वताः ?गौतम ! जीवाःस्यात् शाश्वताः, स्यात् अशाश्वता',तत्केनार्थेन भदन्त—? एवमुच्यते जीवाः स्यात् शाश्वताः, स्यात् अशाश्वताः—? गौतम—द्रव्यार्थतया शाश्वताः, भावार्थतया अशाश्वताः, तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते स्यात् शाश्वताः, स्यात् अशाश्वता' नैरयिकाः खलु भदन्त ! कि शाश्वताः अशाश्वताः, एवं यथा जीवास्तथा नैरयिका अपि । एवं यावद्वैमानिका', यावत्—स्यात् शाश्वताः स्यात् अशाश्वताः, तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त !, इति ॥२६॥

मूलसूत्रम्—"अप्पियणप्पिएहिं अणेगंतं" ॥२७॥

छाया—"अर्पिता नर्पिताभ्याम्-अनेकान्तम्"॥२७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे पर्यायार्थिकनयेन घटादिवस्तुन उत्पादव्ययशालितयाऽनित्यस्यापि द्रव्यार्थिकनयेन मृत्तिकाद्यन्वयसद्भावात् नित्यत्वं प्रतिपादितम् तद् विरुद्धमिव प्रतीयते कथं तावद्—यदेवाऽनित्यं तदेव नित्यमपि भवेत् ?

प्रश्न—भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—गौतम ! कथंचित् शाश्वत है, और कथंचित अशाश्वत है ।

प्रश्न—भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा गया है कि जीव कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत हे ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत हैं और भाव अर्थात् पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत हे । हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा गया है कि जीव कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिक जीव क्या शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—जैसा जीवो के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार नैरयिको के विषय में समझना चाहिए । इसी प्रकार वैमानिको तक चौवीसो दण्डको के जीवो के संबंध में समझ लेना चाहिए कि सभी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं ॥२६॥

मूलसूत्रार्थ—"अप्पियणप्पिएहिं" इत्यादि । सूत्र २७॥

प्रधानता और अप्रधानता से विवक्षा करने पर अनेकांत की सिद्धि होती हैं ॥२७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि घट आदि प्रत्येक वस्तु

यदि–नित्यं स्यात्, तदा–विनाशोदयाभावात् अनित्यत्वं व्याहन्येत यदि तु–अनित्यं स्यात् तदा–स्थिरत्वाभावेन नित्यत्वं व्याहतं स्यात्, इत्याशङ्कां समाधातुमाह–"अप्पियणप्पिएहिं-अणेगंतं–" इति। अर्पिताऽनर्पिताभ्याम्–प्राधान्येन विवक्षिताऽविवक्षिताभ्यां किमपि वस्तु–अनेकान्तं भवतीति भावः।

तथाच–अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद् यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतम्, तद्भिन्नमनर्पितमुच्यते प्रयोजनाभावात सदपि–अविवक्षितं सत् उपसर्जनीभूतमनर्पितमिति भावः अर्पितञ्चा–ऽनर्पितञ्चेतिअर्पिताऽनर्पिते,ताभ्यां सर्वमपि वस्तुअनेकान्तात्मकम् कथञ्चिन्नित्यं कथञ्चिदनित्यं भवति, इति न पूर्वोक्तविरोधः।

तद्यथा कश्चित्पुरुषः पितेत्युच्यते स पुरुषः कस्यचित्पुत्रस्यापेक्षया पिता भवति, तस्य पितुरपि कश्चित्पिता भवति तदपेक्षया तु–स पूर्वः पिता पुत्र इति व्यपदिश्यते-पुनः स एव पुरुष. पितृत्वेन पुत्रत्वेन च व्यपदिश्यमानः कस्यचिदन्यस्य भ्रातुरपेक्षया भ्रातेत्युच्यते एवं स एव पुरुष.–पितामहापेक्षया पौत्र इत्युच्यते, मातुलापेक्षया भागिनेय इति.। मातामहापेक्षया दौहित्र'—

पर्यार्थिक नय से उत्पाद और व्यय से युक्त होने के कारण अनित्य होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मृत्तिका द्रव्य का अन्वय होने के कारण नित्य भी है, मगर यह कथन परस्पर विरुद्ध सा प्रतीत होता है। जो वस्तु अनित्य है वही नित्य कैसे हो सकती है? यदि नित्य है तो विनाश और उत्पाद का होना असभव है और यदि अनित्य है तो ध्रुव न रहनेके कारण नित्यता में विरोध आता है। इस आशंका का समाधान करने के लिए कहते है—

किसी धर्म की प्रधान रूप से विवक्षा करने पर और किसी धर्म की अप्रधान रूप से विवक्षा करने पर अनेकांत की सिद्धि होती है।

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। उनमें से अपनी विवक्षा के अनुसार जिस किसी धर्म को विवक्षित करते है वह धर्म अर्पित कहलाता है और शेष धर्म विद्यमान होने पर भी प्रयोजन न होने के कारण विवक्षित नहीं किये जाते तब वे अनर्पित कहलाते है। इस प्रकार अर्पित और अनर्पित से अर्थात् धर्मों को प्रधान और गौण करने से वस्तु अनेक-धर्मात्मक सिद्ध होती है। इसी कारण वह नित्य भी है और अनित्य भी है। अतएव पूर्वोक्त विरोध का परिहार हो जाता है।

वह इस प्रकार है—कोई पुरुष पिता कहलाता है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है। मगर उस पिता का भी कोई पिता होता है। उसकी अपेक्षा से वह पिता पुत्र भी कहलाता है। इसके साथ ही पिता और पुत्र कहलाने वाला पुरुष अपने भाई की अपेक्षा से भ्राता भी कहा जाता है। इसी प्रकार अपने पितामह की अपेक्षा से पौत्र, मामा की अपेक्षा

इत्येवं रीत्या एकस्यैव पुरुषस्य जनकत्वजन्यत्वादि नानासम्बन्धसद्भावाद् अनेकविधो व्यवहारः परस्परं विरुद्धवद्भासमानोऽपि न विरुद्धो भवति—। एवम् एकमपि घटपटादिवस्तुद्रव्यं सामान्यमृदादेरन्वयार्पणया—प्राधान्येन विवक्षया नित्यमुच्यते, घटादिपर्यायार्पणया—विशेषविवक्षया पर्यायार्थिकनयेन नित्यमपि द्रव्यं वस्तु अनित्यमुच्यते. । आत्मनो नित्यत्वेऽपि पर्यायनयेनाऽनित्याकारसन्दर्शनात् मृत इत्यादिवत्,

तौ च समान्यविशेषौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयेन व्याख्यानं कृत्वा केनचिन्नयप्रकारेण कथञ्चिद्-भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतू भवतः । ऊक्तञ्च द्रव्यार्थिकनयेन—

"परिणामोऽह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्. ।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥

पर्यायार्थिकनयेन—

सत्पर्यायेण नाशः प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः ।
द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥२॥ इति.

एवमर्पिताऽ नर्पितसिद्धिवशाद् एकस्मिन्नेव पदार्थे नित्यत्वाऽनित्यत्वे, इत्यादयो बहवः परस्परं विरुद्धत्वेन प्रतीयमाना धर्मा भासन्ते, अर्पणाभेदात्— ॥२७॥

से भागिनेय और मातामह की अपेक्षा से दोहित्र कहा जाता है। इस प्रकार एक ही पुरुष में जनक एवं जन्य आदि का यह व्यवहार परस्पर विरुद्ध—सा लगता है, फिर भी वास्तव में वह विरुद्ध नहीं है ।

इसी प्रकार एक ही घट या पट आदि वस्तु मृत्तिका आदि सामान्य की विवक्षा करने पर नित्य कहलाती है, मगर घट आदि पर्यायो की विवक्षा करने पर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य भी कही जाती है । आत्मा नित्य होने पर भी पर्यायनय से अनित्य प्रतीत होती है। इसी कारण उसमें 'मृत' जैसा व्यवहार होता है ।

वह सामान्य और विशेप, जो क्रमशः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के विषय हैं, कथंचित् अभेद और भेद द्वारा व्यवहार के हेतु होते हैं। कहा भी है—

परिणमन का अर्थ है अर्थान्तर होना अर्थात् एक पर्याय का विनाश होकर दूसरे पर्याय का उत्पन्न होना। परिणमन के स्वरूप के ज्ञाता विद्वान् वस्तु का सर्वथा ज्यो का त्यों बना रहना अथवा सर्वथा विनष्ट हो जाना परिणाम नही मानते ।

इस प्रकार अर्पित और अनर्पित की सिद्धि होने से एक ही पदार्थ में नित्यता आदि बहुत-से धर्म, जो परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होते है, मगर वास्तव में विवक्षाभेद के कारण विरुद्ध नहीं है, प्रतिभासित होते हैं ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सर्वं वस्तु–उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावम् अर्थाभिधानप्रत्यय रूपं प्रतिपादितम्, तत्र–यद् उत्पद्यते–व्येति च तत्कथं सत्–ध्रौव्यरूपं नित्यञ्च भवेत् ? सन्नित्यत्वाभ्यां निराकृतत्वेन न किञ्चिदसदनित्यं वा स्यात्–। तथासति–लोकव्यवहार उच्छिन्नः स्यात्–एतस्य दुरूपपादत्वाद दु श्रद्धेयत्वाच्च साङ्गत्यम्।

नित्यत्वं खलु –उत्पादव्ययाभ्यां विरुद्धम् । उत्पादव्ययौ च नित्यत्वेन विरुद्धौ स्तः। तथाच–पयःपावकयोरिव, छायातपयोरिव परस्पराऽत्यन्तविरुद्धयोरुत्पादव्यय–ध्रौव्ययो' सहावस्था नासभवेन सतो वस्तुनः उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं न –विद्वज्जनमनोरञ्जक मित्याशङ्कां समाधातुं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयानुसारेणाऽन्यतरप्रधानोपसर्जनभावविवक्षया–एकस्मिन्नपि वस्तुनि सर्वत्रैव सन्नित्यत्वस्य, असदनित्यत्वस्य च सम्भवेनोक्तविरोध परिहरति—"**अप्पिय–णप्पिएहिं अणेगंतं**–" इति. ।

अर्पिताऽनर्पिताभ्याम् प्राधान्येन विवक्षिताऽविवक्षिताभ्याम् प्राधान्याऽप्राधान्यविवक्षयोपात्ताऽनुपात्ताभ्याम् एकमपि वस्तु सद् द्रव्यं नयापेक्षयाऽनेकान्तम्. कथञ्चिन्नित्यम् कथञ्चिदनित्यं सम्भवति–। तथाहि—घटादिवस्तुपु द्रव्यार्थिकनयस्य प्रधानतया विवक्षानुसारेण मृत्तिकादिद्रव्यान्व-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया जा चुका है कि समस्त वस्तुएँ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाली है। इस संबंध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो वस्तु उत्पाद और विनाश वाली है वह ध्रौव्य स्वभाव वाली अर्थात् नित्य कैसे हो सकती है ? अगर वस्तु सत् है तो असत् नहीं हो सकती और यदि नित्य है तो अनित्य नही हो सकती। अतएव वस्तु का पूर्वोक्त स्वरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता और इस कारण वह सगतनहीं है ।

उत्पाद और व्यय का नित्यता के साथ विरोध है। और नित्यताका उत्पाद और व्यय के साथ विरोध है। जैसे जल और अग्नि या छाया और धूप परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध है, उसी प्रकार ध्रौव्य के साथ उत्पाद–व्यय का विरोध है। वे एक स्थान में रह नहीं सकते। ऐसी स्थिति मे वस्तु का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य कहना विद्वज्जनो के लिए मनोरंजक नहीं हो सकता। इस आशंका का समाधान करने के लिए द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय के अनुसार किसी धर्म को प्रधान और किसी को अप्रधान विवक्षित करके एक ही वस्तु में सत्ता, असत्ता, नित्यता और अनित्यता का सद्भाव दिखलाते हुए उक्त विरोध का परिहार करते है—

प्रधान और अप्रधान रूप से विवक्षा करने मे अर्थात् किसी धर्म को प्रधान रूप में और किस को गौण रूप में विवक्षित करने से एक ही वस्तु अनेकान्तात्मक कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हो जाती है। वह इसप्रकार–घटादि वस्तुओं में द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से

यदर्शनात् ध्रौव्यलक्षणे स्थित्यंशेऽर्पिते—उपात्ते सति साक्षात्—तद्विपरीतयोरुत्पादव्यययोरनर्पितयोरनुपात्तयोरपि ग्रहणं भवत्येव ।

ध्रौव्यं तावत्—पूर्वमुत्तरं च पर्यायमुत्पादव्ययलक्षणमासादयति, न पुन रुत्पादलक्षणो—व्ययलक्षणो वा पर्यायः पूर्वोत्तरपर्यायानुभावी भवति । तस्माद् विलक्षणौ विभिन्नौ उत्पाद—व्ययौ सुज्ञातौ भवत । त्रिविधमपि—उत्पादव्ययस्थितिलक्षण सद् वस्तु अर्पणाऽनर्पणाभ्यां नित्यमनित्यञ्च सिद्धम् । अनेकधर्मवत्त्वेन व्यवस्थितं वर्तते ।

तत्र—प्रयोजनवशात्कदाचित्कश्चिद्धर्मो वचनेनार्पितो विवक्षितो भवति, कश्चित्पुनः सन्नपि प्रयोजनाभावात्—अनर्पितोऽविवक्षितो भवति । किन्तु—न हि एतावता स धर्मी विवक्षितधर्ममात्र एव भवति, अपितु—अविवक्षितधर्मयुक्तोऽपि भवत्येव । तस्मात् सत्पर्यायविवक्षायां सद् उत्पादादिस्थित्यंशविविक्षायां नित्यमसदपि उत्पादादि अनित्यञ्च भवति । सत्त्वाऽसत्त्वविशिष्टग्रहणात् सर्वदा वस्तुनो येन प्रमाणेन यद् वस्तु सद्विशिष्टं गृह्यते । अन्यथा—अविवक्तग्रहणमेवापद्येत, चाक्षुषादिवुद्धयो विविक्ता एव प्रतीयन्ते ।

उक्तञ्च—स्थानाङ्गे १० स्थाने—"अप्पियणप्पिए—" इति । अर्पिता-ऽनर्पिते—इति॥२७॥

मूलसूत्रम्—"वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण खंधाणं बंधो—" ॥२८॥

छाया—"विमात्र-स्निग्ध-रूक्षत्वेन स्कन्धानां बन्धः—" ॥२८॥

विवक्षा करके, मृत्तिका द्रव्य का अन्वय देखने से ध्रौव्य रूप स्थिति—अंश को अर्पित—ग्रहण करने पर उससे साक्षात् विरुद्ध अनर्पित उत्पाद और व्यय का भी ग्रहण हो जाता है ।

ध्रौव्य द्रव्य उत्पाद रूप व्यय रूप पूर्वोत्तर पर्याय को धारण करता है, उत्पाद पर्याय या व्ययपर्याय पूर्वोत्तर पर्यायो मे अनुगमन नहीं करता । इस कारण उत्पाद और व्यय विभिन्न और विलक्षण है, यह सहज ही ज्ञात हो जाता है । इस प्रकार अर्पण औ अनर्पण के द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप वस्तु नित्य और अनित्य सिद्ध होती है ।

प्रयोजन के अनुसार कदाचित् कोई धर्म वचन से अर्पितविवक्षित किया जाता है और दूसरा धर्म विद्यमान होते हुए भी प्रयोजन न होने से अनर्पित—अविवक्षित होता है । मगर इतने मात्र से ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए उस वस्तु में विवक्षित धर्म ही है । उसमें अविवक्षित धर्म भी रहता ही है । इसकारण जब नित्यता को प्रधानता दी जाती है । तब भी वस्तु में पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता रहती है और प्रयोजनवशात् जब पर्याय की मुख्यता से अनित्यता का विधान किया जाता है तब वस्तु में नित्यता भी विद्यमान रहती है ।

स्थानाग सूत्र में १० वें स्थान में कहा है—'अप्पियणप्पिए' अर्थात् अर्पित और अनर्पित ॥२७॥

मूलसूत्रार्थ—"वेमाय णिद्धलुक्ख" इत्यादि । सूत्र ॥२८॥

विसदृश परिमाण में स्निग्धता और रूक्षता होने से स्कंधो का बन्ध होता है ॥२८॥

तत्त्वार्थदीपिका- पूर्वं भेद–सघातलक्षणाभ्यां पृथक्त्वैकत्वाभ्या परमाणुपुद्गलाना स्कन्धात्मना–उत्पादो भवतीत्युक्तम्, तत्र–किं संयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षणः संघातो भवति ? आहोस्वित्–कश्चिद्विशेष आस्थीयते, इत्याशङ्कायां सयोगे सति एकत्वपरिणामात्मकाद् बन्धात् खलु सघातो निष्पद्यते इति प्रतिपादितम् । तत्रेयं पुनराशङ्का जायते यत्कथं तावत् पुद्गलजात्यपरित्यागे सति केषाञ्चित्पुद्गलानां बन्धो भवति ? केषाञ्चिच्च बन्धो न भवति, इति तत्समाधानार्थं मुच्यते **"वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण खंधाणं बंधो–"** इति । विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन स्कन्धाना बन्धः विषमा–असमाना मात्रा–अंशो ययोस्तौ विमात्रौ, तौ च तौ स्निग्धरूक्षौ विमात्रस्निग्धरूक्षौ, तयोर्भावो विमात्रस्निग्धरूक्षत्वं तेन विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन असमस्निग्धरूक्षत्वेन द्व्यणुकादिस्कन्धानाम् एकत्वपरिणामलक्षणो बन्धो भवतीति भावः ।

एवञ्च—तेषा सर्वेषां पुद्गलानां पुद्गलात्मत्वाविशेषेऽपि अनन्तपर्यायाणा केषाञ्चित् परस्परविलक्षणपरिणामाऽहितस्निग्धरूक्षत्वसामर्थ्याद्बन्धो भवति, केषाञ्चित्पुनस्तथाविधपरिणामाहितत्वाभावाद्बन्धो न भवतीति फलितम् । तत्र–बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्धः, एवम्–रूक्षणाद्, स्निग्धश्च-रूक्षश्चेति स्निग्धरूक्षौ तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम् । स्निग्धत्वञ्च- चिक्कणगुण लक्षणः पर्यायः, तद्विपरीतपरिणामो रूक्षत्वम्, विमात्रयोः-असमानमात्राविशिष्टयो स्निग्धरूक्षयोः परमाण्वोः परस्परसश्लेषलक्षणे एकत्वपरिणामात्मके बन्धे सति द्व्यणुकस्कन्धो जायते ।

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कहा जा चुका है कि भेद और सघात रूप पृथक्त्व से परमाणुपुद्गलो का स्कंध रूप मे उत्पाद होता है । तो क्या दो परमाणुओ का संयोग होने से ही द्व्यणुक आदि स्कंध उत्पन्न हो जाते है अथवा अन्य किसी विशेषता से उत्पन्न होते है ? ऐसी शंका होने पर एकत्व परिणाम रूप बन्ध से सघात (स्कंध) की निष्पत्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । इसमें भी यह आशंका उत्पन्न होती है कि पुद्गल जाती की समानता होने पर भी किन्हीं पुद्गलो का बन्ध होता है और किन्हीं का क्यो बन्ध नही होता है ? इस आशंका का समाधान करने के लिए कहते है—

विसदृश अश वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलो का बध होता है । इससे यह फलित हुआ कि यद्यपि समस्त पुद्गलो में पुद्गलपन समान है तथापि अनन्त पर्यायो वाले किन्हीं पुद्गलो का परस्पर विलक्षण परिणाम से प्राप्त स्निग्धत्व और रूक्षत्व के सामर्थ्य से बन्ध होता है । जिन पुद्गलो मे पूर्वोक्त प्रकार का परिणमन नही होता, उनका बन्ध नहीं होता ।

जिस पुद्गल मे बाह्य और आभ्यन्तर कारणो का सयोग मिलने पर स्नेह पर्याय प्रकट हो जाता है, वह स्निग्धपुद्गल कहलाता है । वह चिकना होता है । उससे विपरीत परिणाम को रूक्षत्व कहते है । विमात्र का मतलब है—असमान अशो वाले । इस प्रकार असमान अश वाले स्निग्ध और रूक्ष दो परमाणुओ का परस्पर सश्लेष रूप एकत्व परिणामात्मक बन्ध होने पर द्व्यणुक स्कन्ध उत्पन्न होता है ।

एवं क्रमेण त्र्यणुकस्कन्धोऽपि द्व्यणुकस्य परमाणोश्च विमात्रस्निग्धरूक्षस्य परस्परसंश्लेषलक्षणे. तथाविधे वन्धे सजायते । एवं—संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशस्कन्धा अपि निष्पद्यन्ते । तत्र—स्नेहः एक-द्वि-त्रि-चतु·संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणभेदादनेकविधो बोध्य· । एवम्—रूक्षोऽपि एक-द्वि-त्रि-चतु·संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणभेदादनेकविधोऽवगन्तव्यः ।

यथा—जलाऽजागोमहिष्युष्ट्री—आविक्षीरघृतेषु स्नेहगुणः प्रकर्षाऽप्रकर्षेण प्रवर्तते, एवं—पांशु-धूलिरजः कणिकाशर्करादिपु रूक्षगुणश्च प्रकर्षाऽप्रकर्षेण दृष्टिगोचरो भवति । एवम्—परमाणुष्वपि स्निग्धरूक्षगुणयोः स्थितिः प्रकर्षाऽप्रकर्षेणाऽनुमीयते । उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां १३ पदे १९५ सूत्रे—

"वंधपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—णिद्धवंधणपरिणामे लुक्खवंधणपरिणामे य,

"समणिद्धयाए वंधो, न होइ समलुक्खयाए वि ण होइ ।
वेमयणिद्धलुक्खत्तणेण वंधो उ खंधाणं — ॥१॥
"णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ वंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥२॥ इति ।

वन्धपरिणामः खलु भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—स्निग्धवन्धपरिणामः रूक्षवन्धपरिणामश्च ।

इसी प्रकार क्रम से त्र्यणुक स्कंध भी, द्व्यणुक और परमाणु का, जो विसदृश मात्रा में स्निग्ध और रूक्ष हो, परस्पर में सश्लेप होने पर उत्पन्न होता है ।

स्नेह किसी पुद्गल में एक गुण (अंश) वाला, किसी में दो अंश वाला, किसी में तीन अंश वाला, किसी में चार अंश वाला, किसी में संख्यात असंख्यात अनन्त अंश वाला समझना चाहिए । इसी प्रकार किसी पुद्गल में रूक्षता एक गुण, किसी में दो गुण यावत् किसी में अनन्त गुण होती है । जैसे जल, वकरी के दूध, गाय के दूध, भैस के दूध, ऊंटनी के दूध और भेड़ के दूध में तथा घृत में स्निग्धता गुण की न्यूनाधिकता रहती है और पांशु, धूल, रजकण एवं शर्करा आदि में रूक्षता गुण हीनाधिक रूप में दिखाई देता है, इसी प्रकार परमाणुओ में भी स्निग्धता और रूक्षता गुण के प्रकर्ष और अप्रकर्ष का अनुमान किया जाता है । प्रज्ञापनासूत्र के १३ वे पद के १८५ वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! वन्धनपरिणाम कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा है, यथा—स्निग्धवन्धन परिणाम और रूक्षवन्धन परिणाम।

'समान स्निग्धता से और समान रूक्षता से वन्धन नहीं होता; किन्तु स्निग्धता और रूक्षता जब विसदृश परिमाण में होती है. तभी स्कंधो का वन्ध होता है ।

"समस्निग्धतया बन्धो न भवति, समरूक्षतया पि न भवति ।
विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन बन्धस्तु स्कन्धानाम् ॥ १ ॥
"स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्यधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण द्व्यधिकेन ॥
स्निग्धस्य रूक्षेण उपैति बन्धो जघन्यवर्जो विषमः समो वा ॥१॥ ॥२८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व संघाताद् एकत्वलक्षणात् स्कन्धाः द्व्यणुकादय उत्पद्यन्ते इत्युक्तम्, तत्र—स खलु संघातः किं संयोगमात्रादेव भवति ? आहोस्वित् संयोगविशेषात् ? इत्याशङ्कासमाधातुमाह—संयोगे सति बद्धस्य संघातो भवति, संघाते सति बद्धस्य सतः स्कन्धपरिणामो भवतीति ।

तत्र—एकत्वपरिणामः खलु बन्धः केन प्रकारेण द्वयोः परमाण्वोः बहूनां परमाणूनां जायते—? किं परस्परानुप्रवेशेन, उताहो सर्वात्मना प्रवेशाभावेऽपि तथाविधो बन्धो भवति ? तत्र—परमाण्वोः—परमाणूनां वा शुषिराभावात् परस्परानुप्रवेशस्तावन्नैव सम्भवति । अपितु—परमाणूनां परिणतिविशेषात् सर्वात्मना सर्वथा बन्धो भवति ।

तथाचा—ऽयोगोलकवत् परस्परानुप्रवेशाभावेऽपि गुणविशेषात् सर्वात्मना—एकत्वपरिणामलक्षणो बन्धो भवतीति फलितम्, कथं पुनः स तथाविधो बन्धो गुणविशेषाद् जायते—? इत्याकाङ्क्षाया-

---

'स्निग्ध पुद्गल का दो अंश अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ और रूक्ष का दो अंश अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होता है; परन्तु जघन्य गुण वाले पुद्गल का किसी के भी साथ बन्ध नहीं होता है ॥२८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा गया है कि एकत्व रूप संघात से द्व्यणुक आदि स्कन्धो की उत्पत्ति होती है, मगर वह संघात संयोगसामान्य से होता है अथवा विशेष प्रकार के संयोग से होता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहते है—संयोग होने पर बद्ध का संघात होता है और संघात होने पर बद्ध का स्कंध रूप परिणाम उत्पन्न होता है ।

एकत्वपरिणाम रूप बन्ध दो परमाणुओ का अथवा बहुत परमाणुओ का किस प्रकार से होता है ? क्या एक परमाणु में दूसरे परमाणु का प्रवेश होने से होता है या पूरी तरह प्रवेश न होने पर भी वह बन्ध हो जाता है ? परमाणुओ में पोलापन तो होता नहीं है, इस कारण वे एक दूसरे में प्रविष्ट नहीं हो सकते, किन्तु परमाणुओ के परिणमन विशेष से ही सर्वथा सर्वात्मना बन्ध हो जाता है ।

इससे यह फलित हुआ कि लोहे के गोले में अग्नि जैसे समा जाती है वैसे एक परमाणु दूसरे परमाणु में समाता नहीं है, फिर भी गुण कि विशेषता के कारण सर्वात्मना—पूर्ण रूप से एकत्वपरिणाम रूप बन्ध हो जाता है । किन्तु गुण की विशेषता के कारण बन्ध किस प्रकार हो जाता है ? इस प्रकार की आशंका होने पर कहते है—

माह–"वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण खंधाणं बंधो" इति। विमात्र–स्निग्ध–रूक्षत्वेन स्कन्धानां बन्ध, विषमा–असमा मात्रा अंशो ययोस्तौ विमात्रौ, स्पर्शाख्यो गुणः स्नेहः, तत्परिणामः स्निग्धः।

एव रूक्षोऽपि स्पर्शाख्यगुणपरिणामः, स्निग्धश्च–रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ, एकः स्निग्धः–अपरो रूक्ष इत्यर्थः। विमात्रौ च तौ स्निग्धरूक्षौ तयोर्भावो विमात्रस्निग्ध–रूक्षत्वं तेन–विमात्रस्निग्ध रूक्षत्वेन तत्परिणत्या–यत्त्या स्कन्धानां द्व्यणुकादीनां बन्धो भवतीति भावः।

तथाच—विमात्रयोः स्निग्धरूक्षयोः परस्परसंयुक्तोः परमाण्वादिपुद्गलयोरेकत्वपरिणामलक्षणबन्धेन द्व्यणुकादिस्कन्धाः सम्पद्यन्ते। एवञ्च–एकस्थानाद् गलति-अपरं स्थानं पूरयति–इति पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः पूरकत्वेन स्कन्धान् निष्पादयन्ति गलनेन च–स्कन्धभेदं कुर्वन्ति। पुद्गला। तत्र–सकलो बन्धः संयोगपूर्वको भवति, रूक्षता स्नेहविशेषात् परमाणोः परमाण्वन्तरेण संश्लेपात्मको बन्धो मृद्रजोभिस्तृणादिबन्धवत् संजायते।

तथाहि–परमाणव एकगुणस्निग्धादि क्रमेण संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्ताऽनन्तगुणास्निग्धाः सन्ति उदकाजागोमहिष्युष्ट्रयवीदुग्ध–घृतस्नेहप्रवर्षाऽप्रकर्षवत्। एवम्–एकगुणरूक्षादिक्रमेण हीन-मध्यमोत्कृष्टसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणरूक्षा भवन्ति। तत्र–चिक्कणत्वलक्षणः स्नेहः तद्विपरीतः

असमान अंशो में स्निग्धता और रूक्षता होने से बंध होता है। स्नेह का मतलब है चिकनापन और रूक्षता का अर्थ है सूखापन। यह दोनो पुद्गल के स्पर्शनामक गुण की अवस्थाएँ है। दो परमाणुओ में से एक स्निग्ध और दूसरा रूक्ष होता है और वह स्निग्धता एवं रूक्षता जब विसदृश मात्रा में होती है तब उनका परस्पर में बन्ध हो जाता है।

इस प्रकार विभिन्न मात्रा (अंश) वाले परस्पर में संयुक्त स्निग्धता और रूक्ष परमाणु आदि पुदगलो के एकत्व परिणमन रूप बन्धन से द्व्यणुक आदि स्कंध उत्पन्न हो जाते है। इस तरह एक स्थान से गलता अर्थात् बिछुडता है और दूसरे स्थान को पूरता है–दूसरे में मिलता है, इस प्रकार पूरण और गलन के कारण वह पुद्गल कहलाता है। पूरक होकर वह स्कधो को उत्पन्न करता है और गलन करके स्कंध में भेद उत्पन्न करता है। जितने भी बन्धन है, सब सयोग पूर्वक ही होते है। स्निग्धता और रूक्षता की विशेषता के कारण परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सश्लेषरूप बन्ध होता है।

सब परमाणुओ मे स्निग्धता एक-सी नहीं होती। किसी में एक गुण (डिगरी) स्निग्धता होती है, किसी मे असख्यात गुण और किसी में अनन्त गुण भी स्निग्धता होती है।

जल में थोडी स्निग्धता है। उसकी अपेक्षा बकरी के दूध मे अधिक है और फिर गाय, भैस, ऊंटनी एवं भेड क दूध में क्रमशः अधिकाधिक स्निग्धता पाई जाती है। घृत में और अधिक होती है। इसी प्रकार रूक्षता भी न्यूनाधिक मात्रा मे विद्यमान रहती है। कोई पुद्गल हीन रूक्षता वाला कोई मध्यम रूक्षता वाला और कोई उत्कृष्ट रूक्षता वाला होता है।

स्पर्शगुणपरिणामो रूक्षः' ततश्च—संश्लेषणस्नेहरूक्षपरिणतिमत्त्वात् सर्वात्मना संयोगजन्यबन्धो भवतीति सिद्धम् । तथाविधो हि बन्धविशेषः एतादृशपुद्गलद्रव्याणां प्रत्यक्षतया प्रसिद्ध. ।

संहतं महद्द्रव्यं घटपटादिकं प्रत्यक्षसिद्धं परमाणुबन्धस्याऽनुमापकं बोध्यम् । तथाहि—परमाणुसंहतिविशेषं विना महत्संहतं न सम्भवति । एवञ्च—प्रत्यक्षसिद्धघटादि द्रव्यसंहतेन परमाणुसंहतिरपि बन्धरूपाऽनुमीयते, तथाच—स्निग्धगुणानां च बन्धो भवतीति बोध्यम् ।

परन्तु—नाऽयं नियमो वर्तते यत्—सर्वस्यैव स्निग्धगुणस्य रूक्षगुणेन सह बन्धो भवत्येव । एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षेण सह पुद्गलेन न बन्धः जघन्यगुणवत्त्वेन द्वयोर्विमात्राया अभावात् । स्वस्थानापेक्षया स्निग्धस्य पुद्गलस्य स्निग्धेव पुद्गलेन बन्धो न भवति । एवं—स्वस्थानापेक्षया ऽपि—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एकगुणस्निग्ध—रूक्षादीनां संयोगे सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वे च सत्यपि न परस्परमेकत्वपरिणतिलक्षणो बन्धः सञ्जायते।

तेषां परस्परबन्धाभावे कारणं तु—तथाविधपरिणतिशक्त्यभाव एव प्रतीयते । पुद्गलद्रव्याणां परिणतिशक्तयश्च क्षेत्रकालानुसारिण्यो विचित्रा एव प्रयोगविस्रसापेक्षाः प्रभवन्ति । जघन्यश्च -स्नेह-

---

किसी में सख्यात, किसी में असंख्यात और किसी में अनन्त गुण रूक्षता होती है । इस प्रकार स्निग्धता (चिकनाहट) और रूक्षता (सूखेपन) के कारण परमाणुओ में संश्लेप होता है और वे एक दूसरे के साथ बद्ध हो जातेहै । बद्ध होने पर स्कंध की उत्पत्ति होती है । पुद्गल द्रव्यो का इस प्रकार बन्ध होना प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

स्थूल जो घट पट आदि पुद्गल स्कंध है और जो प्रत्यक्ष से प्रतीत होते है, वही परमाणुओ के बन्ध के अनुमापक है, अर्थात् उन्हें देखने से परमाणुओ के बन्ध का अनुमान किया जा सकता है । क्योकि परमाणुओ का संघात हुए विना महान् आकार उत्पन्न नहीं हो सकता । इस प्रकार प्रत्यक्ष से सिद्ध घट आदि पिण्डो से परमाणुओ के सयोग बन्ध का अनुमान होता है । अतएव यह समझना चाहिए कि स्नेह गुण वाले और रूक्ष गुण वाले परमाणुओ का बन्ध होता है ।

मगर ऐसा नियम नहीं कि सभी स्निग्धता गुण वाले पुद्गलो का सभी रूक्ष पुद्गलों के साथ बन्ध हो ही जाता है । अगर किसी पुद्गल में एक गुण स्निग्धता है तो एक गुण रूक्षता वाले पुद्गल के साथ उसका बन्ध नहीं होता, क्यो कि दोनो ही पुद्गल जघन्य गुण वाले हैं, अत उनमें गुण की विसदृशता अर्थात् विषम परिमाण नहीं है । स्वस्थान की अपेक्षा से स्निग्ध पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध पुद्गल का एक गुण रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष पुद्गलों का सयोग होने पर भी और उनमें स्निग्धता तथा रूक्षता होने पर भी परस्पर बन्ध नहीं होताहै ।

इन पुद्गलो का बन्ध न होने का कारण तो उनमे उस रूप में परिणत होने की शक्ति

गुणोऽल्पत्वादेव जघन्यगुणरूक्षं पुद्गलं परिणामयितुं समर्थो न भवति । एवम्-जघन्यो रूक्षगुणः स्तोकत्वादेव जघन्यगुणस्निग्धं न स्वाधीनं कर्तुं समर्थो भवति ।

तत्र–जघन्यस्तावद् एकगुणस्निग्धः–एकगुणरूक्षः । स्नेहादिगुणानाञ्च प्रकर्षाऽप्रकर्षभेदोऽस्त्येव, यथा–उदकापेक्षया–ऽजादुग्धमधिकस्निग्धं भवति–अजादुग्धाद् गोदुग्धमधिकं स्निग्धम्, गोक्षीराद् महिषीपयः, तदपेक्षया–उष्ट्रीपयोऽधिकम्, ततोऽप्यविपयोऽधिकं स्निग्धं भवति, इत्युत्तरोत्तरमेषां स्नेहाधिक्यम्, पूर्वं पूर्वं रूक्षताधिक्यमवगन्तव्यम् । तत्र–एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणस्निग्धेनैव द्यादिना सर्वेण समानेन सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाऽनन्तगुणस्निग्धेन वा पुद्गलेन बन्धो न भवति ।

एवमेव–एकगुणरूक्षस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षादिभिः सदृशैः सङ्ख्येयासङ्ख्येयाऽनन्तानन्तगुणरूक्षैः पुद्गलैर्बन्धो न भवति । एवं जघन्यगुणस्निग्धानां जघन्यगुणरूक्षाणां च पुद्गलानां परस्परं बन्धो न भवति । अतो जघन्य (निकृष्ट) गुणस्निग्धरूक्षौ परित्यज्य तदन्येषां मध्यमोत्कृष्टस्निग्धानां रूक्षैः सह रूक्षाणां च तथाविधानां स्निग्धैः सह परस्परं बन्धो भवति ।

तथाच–द्विगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवम्–एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एकस्य जघन्यगुण-

---

का अभाव ही प्रतीत होता है। पुद्गलों में परिणमन करने की शक्तियाँ क्षेत्र और काल के अनुसार विचित्र प्रकार की होती है। उनमें से कोई स्वाभाविक और कोई-कोई प्रयत्नसापेक्ष हुआ करती है। जघन्य अर्थात् एक डिगरी का स्नेह गुण अल्पमात्रा में होने के कारण जघन्य गुण वाले रूक्ष पुद्गल को परिणत करने में समर्थ नहीं होता इसी प्रकार जघन्य रूक्ष गुण वाला भी अल्प होने के कारण जघन्य गुण वाले स्निग्ध पुद्गल को अपने रूप में परिणत नहीं कर सकता।

जघन्य का अर्थ है–एक गुण स्निग्ध या एक गुण रूक्ष। स्निग्धता रूक्षता आदि गुणों का परिमाण न्यूनाधिक होता ही है, जैसे जल की अपेक्षा बकरी का दूध अधिक स्निग्ध होता है, बकरी के दूध से गाय का दूध अधिक स्निग्ध होता है, इसी प्रकार गाय के दूध से भैंस का, भैंस के दूध से ऊँटनी का और ऊँटनी के दूध की अपेक्षा भेड का दूध अधिक स्निग्ध होता है। इनमें उत्तरोत्तर स्निग्धता अधिक हैं। और पूर्व पूर्वमें रूक्षता के अंश अधिक है। एक गुण स्निग्धपुद्गल का जैसे एक गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार दो, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ भी बन्ध नहीं होता।

इसी प्रकार एक गुण रूक्षता वाले पुद्गल का एक गुण रूक्षता वाले तथा संख्यात असंख्यात और अनन्त गुण रूक्षता वाले पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार जघन्य गुण वाले स्निग्ध और जघन्य गुण वाले रूक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध नहीं होता।

दो गुण स्निग्धता वाले पुद्गल का एक गुण रूक्षता वाले पुद्गल के साथ बन्ध नहीं

त्वात् । यथा—जघन्यविषयाणां स्निग्धरूक्षाणां परस्परं बन्धो न भवति, एवंगुणसाम्येऽपि सदृशानां बन्धो न भवतीति बोध्यम् ।

तथाहि—तुल्यगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य तुल्यगुणस्निग्धेन पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवं—तुल्यगुणरूक्षस्य पुद्गलस्य तुल्यगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवतीति । तेषां परस्परसमबलगुणमल्लद्वयाऽभिघातवत्, परिणतशक्तेरभावात् । परन्तु—पञ्चगुणरूक्षेण सह बन्धो भवति, स्निग्धगुणवैषम्ये—रूक्षगुणवैषम्ये च सदृशानामपि पुद्गलानां भवति बन्ध ।

एवं द्विगुणस्निग्धस्य चतुर्गुणस्निग्धेन सह बन्धः, त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन सह बन्धः, चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेन सह बन्धः यावदनन्तगुणस्निग्धेन सह बन्धोऽवगन्तव्य । एवं रूक्षगुणवैषम्येऽपि—स्वयमूहनीयम् । अथैवमपि—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणस्निग्धेनाऽपि पुद्गलेन सह बन्धप्रसङ्गः गुणवैषम्यस्य तत्रापि सत्त्वादिति चेन्मैवम् । द्व्यधिकादिगुणानामेव सदृशानां पुद्गलानां परस्परबन्धाऽभ्युपगमात् ।

तथाहि—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणाधिकस्निग्धेन सह, द्विगुणाधिकस्निग्धस्य पुद्गलस्य एकगुणस्निग्धेन सह, एकगुणरूक्षस्यापि पुद्गलस्य द्विगुणाद्यधिकरूक्षेण पुद्गलेन सह, द्विगु-

---

होता । इसी प्रकार एक गुण स्निग्धता वाले का दो गुण रूक्षता वाले पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता, क्योकि एक गुण जघन्य गुण होता है । जैसे जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलो का बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार गुणो की समानता होने पर सदृश पुद्गलों का बन्ध नहीं होता ।

वह इसप्रकार है—तुल्यगुण स्निग्ध पुद्गल का तुल्यगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । इसीप्रकार तुल्यगुण रूक्षपुद्गलका तुल्यगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । समान बल और गुण वाले दो मल्लो के आघात के समान उनमें परिणत करने की शक्ति नहीं होती है । किन्तु पंचगुणस्निग्धका पंचगुणरूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है । स्निग्धता गुण की विषमता या रूक्षता गुण की विषमता होने पर सदृश पुद्गलो का भी बन्ध होता है ।

इस प्रकार द्विगुण स्निग्ध का चतुर्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है, त्रिगुण स्निग्ध का पंचगुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है, चतुर्गुण स्निग्ध का षड्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है इसी प्रकार अनन्तगुण स्निग्ध के साथ बंध समझ लेना चाहिए । इसी प्रकार रूक्षगुण की विषमता होने पर भी बन्ध होना स्वयं समझ लेना चाहिए ।

शंका—ऐसा होने पर भी एकगुण स्निग्ध पुद्गल का द्विगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध होना चाहिए क्योकि गुण की विषमता वहाँ भी विद्यमान है ।

समाधान—ऐसा न कहिए । दो गुण अधिक आदि सदृश पुद्गलो का ही परस्पर बन्ध स्वीकार किया गया है । अतएव एकगुण स्निग्ध पुद्गल का दो अधिक गुण वाले स्निग्ध के

णाद्यधिकरूक्षस्य-एकगुणरूक्षेण पुद्गलेन च सह बन्धो न भवति। एकादिगुणाधिकयोः पुनः सदृशयोः स्निग्धपुद्गलयोः रूक्षपुद्गलयोः रूक्षपुद्गलयोर्वा बन्धो न भवति।

तेषु खलु—एकादिगुणाधिकेषु सदृशस्निग्धेषु सदृशरूक्षेषु वा प्रतिविशिष्टपरिणतिशक्तेरभावात्। तथाच एकगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलादेद्विगुणस्निग्धः परमाणुपुद्गलः—एकगुणाधिकः द्विगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुणस्निग्धः—परमाणुपुद्गलः—एकगुणाधिकः, त्रिगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलस्य चतुर्गुणस्निग्धः परमाणुपुद्गलः—एकगुणाधिको भवति, इत्यादिरीत्या यावदनन्तगुणः पुद्गलः—एकगुणाधिकोऽवगन्तव्यः।

एतेषाञ्च सदृशानां परस्परं बन्धो न भवति, उक्तयुक्तेः। एवम्—"**जघन्यवर्जः**" इतिवचनात्—एकगुणं विहाय द्विगुणस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुणेन परमाणुपुद्गलेन सह बन्धो न भवति। एवम्—त्रिगुणस्य चतुर्गुणेन सह बन्धो न भवति इत्यादिरीत्या शेषविकल्पयोजनमपि स्वयं करणीयम्।

एवम्—एकगुणरूक्षस्य परमाणुपुद्गलादेद्विगुणरूक्षः परमाणुपुद्गलः—एकगुणाधिको भवति, एवं द्विगुणरूक्षस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुण रूक्षः परमाणुपुद्गलः एक गुणाधिको भवति, त्रिगु

साथ द्विगुण अधिक स्निग्ध पुद्गल का एक गुण स्निग्ध के साथ, एकगुण रूक्ष पुद्गल का द्विगुण अधिक रूक्ष के साथ, द्विगुणअधिक रूक्षका एकगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता। एक आदि गुण अधिक सदृश दो स्निग्ध पुद्गलो अथवा रूक्ष पुद्गलो का बन्ध नहीं होता।

उन एकादि गुण अधिक पुद्गलो में सदृश स्निग्ध पुद्गलो में तथा सदृश रूक्ष पुद्गलों में विशिष्ट परिणमन की शक्ति का अभाव होता है।

एकगुण स्निग्ध परमाणु आदि पुद्गल की अपेक्षा द्विगुण स्निग्ध परमाणु पुद्गल एक गुणाधिक कहलाता है, दो गुण स्निग्ध परमाणु पुद्गल की अपेक्षा तीन गुण स्निग्ध परमाणु पुद्गल एकगुणाधिक कहलाता है, तीन गुण स्निग्ध परमाणुपुद्गल की अपेक्षा चतुर्गुण स्निग्ध परमाणुपुद्गल एक गुणाधिक कहलाता है: इसी प्रकार यावत् अनन्तगुण पुद्गल एक दूसरे की अपेक्षा एकगुणाधिक समझ लेना चाहिए।

पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार इन सदृश पुद्गलो का परस्पर बंध नहीं होता। इस प्रकार जघन्य वर्ज अर्थात् जघन्य को छोडकर इस वचन के अनुसार एक गुण को छोड़कर द्विगुण परमाणु पुद्गल का त्रिगुण परमाणु पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार त्रिगुण का चतुर्गुण के

णरूक्षस्य चतुर्गुणरूक्षः—एकगुणाधिको भवति, इत्येवं रीत्या यावदनन्तगुणरूक्षः—एकगुणाधिको भवति। एतेषाञ्चापि सदृशानां परस्परं बन्धो न भवति, प्रागुक्तयुक्तेस्तुल्यत्वात्।

एवमत्रापि—"जघन्यवर्जः" इतिवचनात्, द्विगुणस्य त्रिगुणेन सह बन्धो न भवति, एवं—त्रिगुणस्य चतुर्गुणेन सह बन्धो न भवति, इत्यादिरीत्या शेषविकल्पयोजनमपि स्वयमूहनीयम्। अपितु—पूर्वोक्तरीत्या द्विगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य चतुर्गुणस्निग्धेन पुद्गलेन सह बन्धो भवति त्रिगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य पञ्चगुणस्निग्धेन पुद्गलेन सह बन्धो भवतीत्यादिरीत्याऽवगन्तव्यम्।

"तथाचोक्तम्—प्रज्ञापनायां २०गाथायाम्—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुआधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुआधिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ॥१॥ इति।

"स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्याधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण द्व्याधिकेन।
स्निग्धस्य रूक्षेण उपैति बन्धो जघन्यवर्जो विषमः समो वा ॥१॥ इति।

अत्रैतद् गाथापूर्वार्द्धेन सदृशानां स्निग्धाना—रूक्षाणाञ्च पुद्गलानां द्व्यधिकादिगुणवैषम्ये बन्धो भवतीति प्रतिपाद्यते।

तथाच—स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्याधिकेन रूक्षस्यापि रूक्षेण द्व्याधिकेन सह बन्धो भवतीति सिद्धम्। एवमेतस्या एव गाथाया उत्तरार्द्धेन तु जघन्यगुणवर्जितयोः स्निग्धरूक्षयोः पुद्गलयोर्विषमगुणयोः—समगुणयोर्वा परस्परं बन्धो भवतीति फलितम्।

इसी प्रकार यावत् अनन्तगुण रूक्ष एकगुणाधिक होता है। इन सब सदृश पुद्गलो का परस्पर बन्ध नहीं होता इन के बन्ध न होने के विषय में पूर्वोक्त युक्ति समान है—वही युक्ति यहा भी लागू होती है।

यहां भी जघन्यवर्ज इस कथन के अनुसार द्विगुण का त्रिगुण के साथ बन्ध नहीं होता त्रिगुण का चतुर्गुण के साथ बन्ध नहीं होता इत्यादि शेष विकल्पो की योजना स्वयं कर लेना चाहिए। किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से द्विगुण स्निग्ध का चतुर्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है त्रिगुण स्निग्ध पुद्गल का पंचगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध होता है। इत्यादि रूप से आगे भी समझ लेना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र मे कहा है—

स्निग्ध पुद्गल का दो अंश अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ और रूक्ष का दो अंश अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है। स्निग्ध पुद्गल का रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है चाहे वे समगुण वाले हो चाहे विषम गुण वाले हो। इसमें अपवाद यही है कि जघन्य गुण वाले का बन्ध नहीं हो सकता।

इस गाथा के पूर्वार्ध में प्रतिपादित किया गया है कि जब स्निग्ध या रूक्ष—सदृश पुद्गल हो तो दो अंश अधिक आदि के साथ बन्ध होता है। इस प्रकार स्निग्ध का

अथ संहन्यमानाः परमाणवः किं द्विप्रदेशादिकस्कन्धाकारेण परिणता भवन्ति ? आहोस्वित् परिमण्डलादिपञ्चप्रकारकसंस्थानाकारेण परिणमन्ते ? तत्र—यदि परमाणुषु स्पर्शादयः परिणामा-व्यवस्थिता भवन्ति, तदा—तेषां तत्र सर्वदा व्यवस्थितत्वान्नोत्पादो, नापि—विनाशः सम्भवति। उत्पाद—विनाशौ च विना स्निग्धगुण—रूक्षगुणपरमाणुपुद्गलयोः परिणामाऽभावे तदवस्थयोः कथं द्व्यणुकादिस्कन्धपरिणामः—?

स्कन्धेषु वा—स्पर्शादिशब्दादिपरिणामेषु एकस्यैव कस्यचित् परिणामस्य नित्यत्वेनेष्टतया शेषस्पर्शादि शब्दादिपरिणामाऽभावापत्तिः स्यात्। यदि तु—परमाणुषु स्कन्धेषु वा स्पर्शादिपरिणामा अव्यवस्थिता सन्तीत्युच्यते, तदा—सर्वमिष्यमाणमुपपद्यते, पूर्वपरिणामत्यागेनोत्तरपरिणामान्तराभ्युपगमात्। अन्ये स्पर्शादयो—ऽन्ये च स्पर्शादिशब्दादयो द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावविशेषा भवन्तीति, यथा—परिणामं। वस्त्ववगम्येत। तथाच—कोऽत्र सिद्धान्तः इति नाऽवगम्यते,

कथञ्चिदव्यवस्थितत्वपक्षाभ्युपगमेऽपि किं समगुणः समगुणतयैव परिणमयति ? उताहो विषमगुणतयापि परिणमयति ? इतिचेदत्रोच्यते परमाणुषु—स्कन्धेषु वा स्पर्शादयः स्पर्शादिशब्दा-

---

दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ और रूक्ष का दो गुण अधिक रूक्ष के साथ बन्ध होना सिद्ध होता है। और इसी गाथा के उत्तरार्ध से यह फलित होता है कि जघन्य गुण से वर्जित स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का, चाहे वे विषम गुण वाले या सम गुण वाले हो, परस्पर में बन्ध हो जाता है।

प्रश्न—जब परमाणु आपस में मिलते हैं तो क्या द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों के आकार में परिणत होते हैं अथवा परिमंडल आदि पाँच प्रकार के आकार में परिणत होते हैं ? यदि परमाणुओं में स्पर्श आदि परिणाम व्यवस्थित ही होते हैं या स्कंधों में स्पर्श आदि परिणाम व्यवस्थित होते हैं तो उनके वहाँ सदैव व्यवस्थित रहने के कारण न उत्पाद होगा, न विनाश होगा। जब उत्पाद और विनाश नहीं होगा तो स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले परमाणुओं के परिणमन के अभाव में कैसे द्व्यणुक आदि स्कन्ध परिणाम उत्पन्न होगा ?

स्पर्श आदि तथा शब्द परिणाम वाले स्कंधों में एक ही किसी परिणाम को नित्य रूप में अंगीकार करने के कारण शेष स्पर्श आदि एवं शब्द आदि परिणामों के अभाव की आपत्ति होगी।

यदि आप स्कन्धों में स्पर्श आदि परिणामों को अव्यवस्थित कहते हैं तो सब ठीक है; क्योंकि पूर्व परिणाम का त्याग होने पर उत्तर परिणाम को स्वीकार किया गया है। स्पर्श आदि भिन्न हैं और स्पर्श आदि, शब्द आदि भिन्न हैं जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव संबंधी परिणाम विशेष होते हैं। इस प्रकार परिणाम के अनुसार वस्तु का ज्ञान हो जाएगा। तो इस विषय का सिद्धांत क्या है, यह मालूम नहीं पडता।

दयश्च परिणामा अव्यवस्थिताः अनवस्थिता एव भवन्ति परिणामित्वात् । तथाच–परमाणुपुद्गलः स्कन्धो वा द्रव्यादिजातिस्वभावमपरित्यजन् स्पर्शान्तरादिगुणं शब्दान्तरादिगुणं प्रतिपद्यते स्पर्शादि-सामान्यमपरित्यजन्तः परमाण्वादयः पुद्गलाः स्पर्शादिविशेषान् प्राप्नुवन्ति ।

तस्मादवस्थिताऽनवस्थितत्वं स्पर्शादीनां वर्तते परिणन्तारः खलु मरिचहिंग्वादयः स्वशक्ति-पाटवशालिनः सन्तः परिणतियोग्यं वस्तु क्वथिततक्रादिस्वाद्वाद्याकारेण स्वात्मसात्कुर्वन्तो दृष्टि-गोचरा भवन्ति । केचित् पुनः–दधिगुडप्रभृतयः पदार्थाः परिणमनशक्तिस्वभावतयाऽन्योन्यपरिणति हेतवो भवन्ति पूर्वेषामेकतः परिणतिशक्तिर्भवति, पाटवातिशयात् । तथाच—परिणामात् स्पर्शा-दिशब्दादयोऽनवस्थिता भवन्तीति सिद्धम्'।

अथ परिणतिविशेषाद् गुणवत्त्वस्याऽनवस्थितत्वेपि बध्यमानयोः परमाणुपुद्गलयोर्गुणवत्त्वे सति समगुणयोर्विषमयोर्वा द्विगुणस्निग्धस्य–द्विगुणरूक्षस्य वा, एवं–द्विगुणस्निग्धस्य–चतुर्गुणरूक्षस्य वा कया रीत्या परिणामो भवति ? किं द्विगुणस्निग्धः पुद्गलो द्विगुणरूक्षं पुद्गलं स्नेहात्मतया परि-णमयति ? उताहो–द्विगुणरूक्षः पुद्गलो द्विगुणस्निग्धं पुद्गलं रूक्षात्मतया परिणमयति ? —

कथंचित् अव्यवस्थितत्व पक्ष को स्वीकार करने पर भी क्या समगुणवाला समगुण रूप से ही परिणत होता है ? या विषम गुण रूप से भी परिणत होता है ?

उत्तर- परमाणुओ में अथवा स्कंधो में स्पर्श आदि एवं शब्दादि परिणाम अवस्थित और अनवस्थित ही होते है, क्योकि वे परिणामी होते है । परमाणु पुद्‌गल या स्कंध द्रव्य आदि जातिस्वभाव का परित्याग न करता हुआ दूसरे स्पर्श आदि गुण को या शब्दान्तर आदि गुण को प्राप्त होता है । परमाणु आदि पुद्‌गल स्पर्श आदि सामान्य को त्याग न करते हुए स्पर्श आदि विशेषो को प्राप्त होते है ।

इस प्रकार स्पर्श आदि अवस्थित भी है और अनवस्थित भी है । मिर्च और हींग आदि, अपनी शक्ति की पटुता वाले होते हुए परिणाम योग्य वस्तु को सडे तक्र आदि या स्वादु आदि रूप से आत्मसात् करते हुए देखे जाते है । कोई–कोई दही या गुड आदि पदार्थ परिणमनशक्ति स्वभाव वाले होने से एक दूसरे के परिणमन के हेतु होते हैं । पटुता के अतिशय के कारण पूर्व वालों में परिणमन की शक्ति होती है । इस प्रकार यह सिद्ध है कि स्पर्श आदि तथा शब्द आदि अनवस्थित होते है, क्योकि उनमें परिणमन होता है ।

प्रश्न–परिणमन की विशेषता के कारण गुणवत्त्व अनवस्थित होने पर भी बद्ध होने वाले दो परमाणु पुद्गलो में गुणवत्त्व होने पर दो समान गुण वाले अथवा विषमगुण वाले का द्विगुण स्निग्ध या द्विगुण रूक्ष का, इसी प्रकार द्विगुण स्निग्ध और चतुर्गुण रूक्ष का परिणमन किस प्रकार होता है ? क्या दो गुण स्निग्धता वाला पुद्गल दो गुण रूक्ष पुद्गल को स्निग्ध रूपमें परिणत कर लेता है ? अथवा दो गुण रूक्ष पुद्गल दो गुण स्निग्ध पुद्गल को रूक्ष के रूप में

एवम्—किमेकगुणस्निग्धः पुद्गलः एकगुणस्निग्धं पुद्गलं स्वात्मसात्करोति ? इति चेत्स-त्यम् संघट्टात्मके बन्धे सति तुल्यगुणस्य पुद्गलस्य तुल्यगुणः पुद्गलःपरिणामको भवति अधिकगुणः पुनः पुद्गलो हीनगुणस्य पुद्गलस्य परिणामको भवति । तथाच—संघट्टलक्षणे परस्परबन्धे सति विस्रसाद्वारेण तुल्यगुणौ द्विगुणस्निग्धः पुद्गलः तुल्यगुणस्य तद्द्विगुणरूक्षस्य परिणामको भवति स्वगतेन स्नेहगुणेन रूक्षतागुणं स्वात्मसात्करोतीति भावः ।

एवं तुल्यगुणो द्विगुणरूक्षः पुद्गलो विस्रसाद्वारेण तुल्यगुण—तद् द्विगुणस्निग्धस्य कदा-चित्परिणामको भवति, स्वगतेन रूक्षतागुणेन स्नेहगुणमात्मसात् करोति इति भावः । गुणसाम्ये पुनः—सदृशाना बन्धो न भवति, उपरितनौ तु—पुद्गलौ विसदृशौ वर्तेते एकः पुद्गलो द्विगुणस्निग्धो अन्यस्तु द्विगुणरूक्ष इति भावः । स्नेहरूक्षत्वयोर्भिन्नजातीयतया सादृश्याभावात् ।

किन्तु—त्रिगुणस्निग्धः पुद्गलोऽधिकगुणत्वात् हीनगुणस्य—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य परिणामको भवति तथाच—एकगुणस्निग्धः पुद्गलस्त्रिगुणस्निग्धतामासादयति कस्तूरिकांशाक्तविलेपनवत् एतावच्च बन्धजातं समगुणयो विषमगुणयोर्वाऽवगन्तव्यम् । एवं—परिणाम्यत्वञ्चाऽपि समगुणयो—र्विषम-

---

परिणत करता है ? इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध पुद्गल एक गुण स्निग्ध पुद्गल को अपने रूप में परिणत कर लेता है !

उत्तर—बन्ध होने पर तुल्य गुण वाला पुद्गल तुल्य गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परि-णत करता है । और जो अधिक गुण वाला पुद्गल होता है वह हीन गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणत कर लेता है । अतएव सघट्ट रूप परस्पर बन्ध होने पर स्वभाव से तुल्य गुण वाला दो गुण स्निग्ध पुद्गल तुल्य गुण वाले दो गुण रूक्ष पुद्गल का परिणामक हो जाता है अर्थात् अपने रूप में परिणत कर लेता है । तात्पर्य यह है कि अपने अन्दर रहे हुए स्नेह गुण के द्वारा रूक्षता गुण को आत्मसात् कर लेता है ।

इसी प्रकार तुल्य गुण वाला द्विगुण रूक्ष पुद्गल स्वभाव से ही तुल्यगुण या उससे द्विगुण स्निग्ध पुद्गल को परिणत कर लेता है; अर्थात् अपने में रहे हुए रूक्षता गुण से स्नेह गुण को आत्मसात् कर लेता है ।

गुणों की समानता होने पर सदृश पुद्गलो का बन्ध नहीं होता । ऊपर के पुद्गल विसदृश होते है अर्थात् एक पुद्गल द्विगुण स्निग्ध और दूसरा द्विगुण रूक्ष होता है । स्निग्धता और रूक्षता भिन्नजातीय होने के कारण उनमें सदृशता का अभाव है ।

किन्तु त्रिगुण स्निग्ध पुद्गल अधिक गुण वाला होने से एक गुण स्निग्ध पुद्गल को अपने स्वरूप में परिणत करता है । उस अवस्था मे एक गुण स्निग्ध पुद्गल त्रिगुण स्निग्ध बन जाता है, जैसे कस्तूरी के अंश मे युक्त विलेपन । यह समान गुण वालो का और विषम गुण वालों का बन्ध समझना चाहिए । इसी प्रकार सम गुण एवं विषम गुण वालों का परिणाम्यत्व भी जान लेना चाहिए ।

गुणयोर्वाऽवसेयम् । तथाच—अन्यमात्मसात् कुर्वन् परिणमति इति व्युत्पत्त्या परिणामक इति व्यपदिश्यते, परिणम्य गुणसंख्यां वा निरस्य स्वगुणसंख्यामपरित्यजन् परिणमते इति परिणामको भवति ।

यद्वा—परिणमनं परिणामस्तं करोति परिणामयति इति परिणामक स्वात्मरूपेणाऽन्यस्यापि परिणामं विधातीति सर्वमुपपन्नम् । **अत्रेदं बोध्यम्** स्निग्धगुण—रूक्षगुणपुद्गलानां परस्परसंघट्टलक्षणो बन्धः संजायते, किन्तु जघन्य गुणानां स्निग्धानां रूक्षाणां वा पुद्गलानां बन्धो न भवति । यथा—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य एक गुणस्निग्धेन द्वि—त्रि चतुरादि संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तानन्तगुणास्निग्धेन च पुद्गलेन सह बन्धो न भवति ।

एवं तस्यैव—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य एकगुणरूक्षेण द्वि—त्रि—चतुरादिसख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणरूक्षेण च पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवम्—एकगुणरूक्षस्यापि पुद्गलस्य—एकगुणरूक्षेण द्वि—त्रि चतुः प्रभृतिसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणरूक्षेण च पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवमेकगुणरूक्षस्य पुद्गलस्य एकगुणस्निग्धेन द्व्यादिसंख्येयासख्येयाऽनन्तगुणस्निग्धेन च पुद्गलेन सह बन्धो न भवतीति भावः ।

गुणशब्दस्य नानार्थकत्वेऽपि प्रकृतेर्भागार्थः परिगृह्यते । एवञ्च—जघन्या निकृष्टा गुणाभागाः येषा परमाण्वादिपुद्गलानां ते जघन्यगुणाः एकगुणस्निग्धरूक्षपरमाण्वादि पुद्गला उच्यन्ते

जो दूसरे को अपने रूप में परिणत कर लेता है अर्थात् पलट लेता है वह परिणामक कहलाता है । या परिणत होने वाले पुद्गल की गुण सख्या को हटा कर अपनी गुणसख्या को नहीं त्यागता हुआ जो परिणत होता है, वह परिणामक कहलाता है ।

अथवा परिणमन या परिणाम को जो उत्पन्न करता है वह परिणामक कहलाता है । वह दूसरे को अपने स्वरूप में बदल लेता है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए—स्निग्धता और रूक्षता गुण वाले पुद्गलो का परस्पर बन्ध होता है, किन्तु जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलो का बन्ध नहीं होता । जैसे—एक गुण स्निग्ध पुद्गल का एक गुण स्निग्ध के साथ तथा द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण यावत् संख्यात असंख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है ।

इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध पुद्गल का एक गुण रूक्ष के साथ तथा दो तीन चार सख्यात असंख्यात और अनन्त गुण वाले रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार एक गुण रूक्ष पुद्गल का एक गुण रूक्ष पुद्गल के साथ तथा दो तीन चार संख्यात असख्यात और अनन्त गुण वाले रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार एक गुण रूक्ष पुद्गल का एक गुण स्निग्ध के साथ तथा दो आदि सख्यात असंख्यात और अनन्त गुण वाले स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता ।

गुण शब्द के अनेक अर्थ होते है, मगर यहाँ उसका 'भाग' अर्थ है । अतएव जिन परमाणु आदि पुद्गलो में जघन्य अर्थात् सब से कम गुण—भाग हो, वह जघन्यगुण कहलाता है । जिनमें

तेषा बन्धो न भवतीति फलितम् । एवमेव द्विभागस्निग्धानां पुद्गलानां द्विभागस्निग्धैः पुद्गलैः सह, त्रिभागस्निग्धानां त्रिभागस्निग्धैः सह बन्धो न भवति ।

एवं—यावदनन्तभागस्निग्धानां पुद्गलानां सदृशानां सदृशैः पुद्गलैर्यावदनन्तपुद्गलैः सदृश बन्धो न भवति । एवं द्विभागरूक्षाणं पुद्गलानां द्विभागरूक्षैः सह त्रिभागरूक्षाणां त्रिभागरूक्षैः पुद्गलैः सह बन्धो न भवति । एवं--यावदनन्तभागरूक्षाणां पुद्गलानां सदृशानां यावदनन्तभाग-रूक्षः सदृशैः सह बन्धो न भवति । वैषम्ये तु—सदृशानामपि पुद्गलानां जघन्यवर्जितानां बन्धो भवत्येवेति निर्णयः ॥२८॥

मूलसूत्रम्—"गुणपज्जायासयो दव्वं—॥२९॥

छाया—गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं यद्यपि **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** इति द्रव्यलक्षणं प्रतिपादितम्, तथापि—किञ्चिद्विशेषं प्रतिपादयितुं प्रकारान्तरेण तल्लक्षणमाह—**गुणपज्जायासयो दव्वं** इति । गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् इति । तत्र-गुण्यते विशिष्यते द्रव्यान्तरात्पृथक्क्रियते द्रव्यं यैस्ते गुणाः रूपा-दयो—ज्ञानादयश्च परितः समन्तात् स्वभाव—विभावरूपतया यन्ति—गच्छन्ति ये ते पर्यायाः । यथा-

---

एक गुण स्निग्धता या एक गुण रूक्षता होती है, वे परमाणु आदि पुद्गल जघन्यगुण वाले कहे जाते है । उनका बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार द्विभाग स्निग्ध पुद्गलो का द्विभाग स्निग्ध पुद्गलो के साथ तथा त्रिभाग स्निग्ध पुद्गलो का त्रिभाग स्निग्ध पुद्गलो के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार यावत् अनन्त भाग स्निग्ध सदृश पुद्गलो का अनन्त भाग सदृश पुद्गलो के साथ बन्ध नहीं होता ।

इसी तरह द्विभाग रूक्ष पुद्गलो का द्विभाग रूक्ष पुद्गलो के साथ, त्रिभागरूक्षो का त्रिभाग रूक्षो के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार अनन्त भाग रूक्ष पुद्गलो का सदृश यावत् अनन्त रूक्ष पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता । यदि गुण (भाग) की विषमता हो तो जघन्यगुण को छोड़ कर सदृश पुद्गलो का भी बन्ध हो जाता है ॥२८॥

मूलसूत्रार्थ---"गुणपज्जायासयो दव्वं" सूत्र ॥२९॥

जो गुणो और पर्यायो का आश्रय हो वह द्रव्य कहलाताहै ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले यद्यपि **'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'** यह द्रव्य का लक्षण कहा जा चुका है तथापि कुछ विशेष प्रतिपादन करने के लिए दूसरे प्रकार से द्रव्य का लक्षण कहते हैं—गुणो और पर्यायो का जो आश्रय है, वह द्रव्य कहलाता है ।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्यो से पृथक् करने वाले विशेष को 'गुण' कहते है । रूप आदि तथा ज्ञान आदि गुण है । जो स्वभाव और विभाग रूप से पलटते रहे, उन्हे पर्याय कहा है । जैसे

मृद्द्रव्यस्य घटकपाल–कपालिका–शरावोदञ्चनस्थासकोशादयः जीवद्रव्यस्य च ज्ञानं क्रोध–मान–माया–लोभादयः। एवं तीव्रो मन्दः इत्येवमादयः,

गुणाश्च–पर्यायाश्चेति गुणपर्यायाः तेषामाश्रयः–आधार–स्तावद्द्रव्यमित्युच्यते। तथाचाऽन्वयिनो गुणा भवन्ति व्यतिरेकिणश्च–पर्याया उच्यन्ते, तदुभयैरुपेतं द्रव्यं भवति। तथाहि–जीवो ज्ञानादिभिर्गुणैः पुद्गलादिभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यो विशिष्यते–पृथक्क्रियते। तस्माद् ज्ञानादयो जीवद्रव्यस्य गुणा उच्यन्ते तदाश्रयश्च जीवो द्रव्यमिति व्यपदिश्यते। एव–पुद्गलादयश्च–रूपरसगन्धस्पर्शादिभिर्गुणैः परस्परं द्रव्यान्तरेभ्यो विशिष्यन्ते पृथक्क्रियन्ते

अतो रूपादयः पुद्गलादीनां गुणा उच्यन्ते, पुद्गलादयश्च–द्रव्याणि व्यपदिश्यन्ते। तथाच सामान्यापेक्षयाऽन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः पुद्गलादीनाञ्च–रूपादयो गुणा यदि न स्युः तदा–जीवपुद्गलादीनां सर्वेषां द्रव्यत्वेनाऽविशेषात् सङ्करप्रसङ्गःस्यात्। एवम्––तेषाञ्च जीवपुद्गलादीनां विकाराविशेषात्मनाभिद्यमानाः पर्याया भवन्ति, तेभ्यो गुणपर्यायेभ्यः कथञ्चिद अन्यत्वमापद्यमानः समुदायो द्रव्यत्वेन व्यपदिश्यते इति भावः ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः––पूर्वं तावद् धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाः षड्द्रव्याणि सामान्यतया प्रतिपादितानि किन्तु––सामान्यतोऽभिधानमात्रादेव धर्मादीनां द्रव्याणां विशेषस्वरूपपरिज्ञानं न सम्भवति

घट कपाल, कपालिका, शराव (सिकोरा), उदंचन स्थास, कोश आदि मृत्तिका द्रव्य के पर्याय है और ज्ञान, क्रोध मान माया लोभ आदि जीव द्रव्य के पर्याय है।

इन गुणो और पर्यायो का जो आधार है, वही द्रव्य है। गुण और पर्याय का अन्तर यह है कि गुण अन्वयी और पर्याय व्यतिरेकी होते है।

जीव अपने ज्ञान आदि गुणो के कारण पुद्गल आदि अन्य द्रव्यो से पृथक् है। इसी कारण ज्ञानादि जीव के गुणकहलाते है और उनका आश्रय जीव द्रव्य कहा जाता है। इसी प्रकार पुद्गल आदि द्रव्य अपने–अपने रूप रस गन्ध स्पर्श आदि गुणो के कारण जीवादि अन्य द्रव्यो से पृथक् किये जाते है। इस कारण रूप आदि पुद्गल आदि के गुण कहलाते है और पुद्गल आदि द्रव्य–कहजाते है। यदि जीव में ज्ञानादि विशिष्ट गुण न होते और पुद्गल में रूप आदि विशिष्ट गुण न होते तो जीव और पुद्गल आदि में द्रव्यत्व समान होने से कोई भेद न रहता–सभी द्रव्य एकमेक हो जाते। गुण यद्यपि द्रव्य की भाँती नित्य है परन्तु उनका पर्यायो में परिवर्तन होता रहता है। यह अवस्थापरिवर्तन पर्याय कहलाता है। इसप्रकार पर्याय जैसे द्रव्य के होते है वैसे ही गुण के भी होते है। इस प्रकार गुणो और पर्यायो का समूह, जो उनसे कथंचित् भिन्न है, द्रव्य कहलाता है ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति––पहले धर्म अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छह द्रव्यो का सामान्य रूप से प्रतिपादन किया गया है, किन्तु सामान्य मात्र कथन से ही

तस्मात् तेषां द्रव्याणां स्वरूपज्ञानार्थमसाधारणं विशेषलक्षणमाह—

'गुणपज्जायासयो दव्वं' इति । गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यमित्युच्यते । तत्र—गुणास्तावद् रूपादयो ज्ञानादयश्च सख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तसख्यया सख्यायमानत्वाद् गुणपदव्यपदेश्याः द्रव्यस्य परिणतिविशेषाः शक्तिविशेषा एव त एव क्रमेण सह भवन्तः परितः सर्वतोमुखत्वात् पर्यायाः भेदाः पिण्ड–घट–कपालादयः उच्यन्ते । तथाच—व्यवहारनयापेक्षया । युगपदवस्थायिनो गुणा व्यपदिश्यन्ते अयुगपद्अवस्थायिनः पर्याया व्यवह्रियन्ते ।

ततश्च—समभिरूढनयाभिप्रायेण इन्दन-शकन-पूर्दारणादयोऽर्थविशेषाः रूपादयश्च भावान्तराः भावभेदाः इन्द्र-शक्र-पुरन्दररूपादिसंज्ञान्तरप्रवृत्तौ निमित्तभूता अर्थभेदाः सञ्ज्ञाभेदाश्च गुणपर्याया निमित्ता भवन्ति । एवञ्च—व्यवहारनिश्चयात्मकगुणगब्दाभिधेयपर्यायशब्दाऽभिधेयशालिद्रव्यमुच्यते ।

द्रव्यं तावत्—स्थित्यंशरूपं परिणामि भवति, उत्पादव्ययलक्षणाः पुनर्गुणपर्यायाः परिणामा भवन्ति । एवञ्च—स्थित्यात्मकस्य द्रव्यस्य रूपादयो ज्ञानादयः पिण्ड-घट-कपालादयश्च तद्भावलक्षणपरिणामा भवन्ति । न खलु कदाचिद् निष्परिणामं द्रव्यं सन्तिष्ठते, तत्र द्रव्यतः—गुणपर्यायाणां विकाराणां कथञ्चिद् भेदोऽभेदश्च । नत्वेकान्तेन भेदः,अभेदो वा, यथा—कदाचित् परिणामि-परिणामयोर्भेदप्रधानायां व्यावहारिक्या माधाराधेयविवक्षायां स्थित्यंशे परिणामिनि रूपादयः पिण्डादयश्च परिणामा भेदान्तरकल्पनया भवन्ति ।

धर्म आदि द्रव्यो के विशेष स्वरूप का परिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव उनके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए विशेष लक्षण कहते है ।

जो गुणो और पर्यायो का आधार हो वह द्रव्य है । रूप आदि और ज्ञान आदि गुण कहलाते है । सख्यात, असख्यात और अनन्त संख्या के द्वारा उनकी गणना की जाती है, इस कारण उन्हे गुण कहते है । द्रव्य की विशिष्ट अवस्था पर्याय कहलाती हैं । द्रव्य शाश्वत है, पर्याय का उत्पाद और विनाश होता रहता है । मृत्तिका को यदि द्रव्य मान लिया जाय तो घट, कपाल आदि उसके पर्याय है । व्यवहारनय की अपेक्षा गुण सहभावी और पर्याय क्रमभावी होते हैं ।

समभिरूढ नय की अपेक्षा से इन्दन–शकन और पूर्दाहादि (नगर का विध्वंस) आदि अर्थ विशेष और रूप आदि भावान्तर भावभेद इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि सञ्ज्ञा की प्रवृत्ति में निमित्तभूत अर्थभेद और सञ्ज्ञाभेद गुण–पर्याय के निमित्त से होते है । इस प्रकार जो गुणो और पर्यायो से युक्त हो अर्थात् गुण–पर्यायमय हो, वही द्रव्य कहलाता है ।

द्रव्य ध्रौव्य–अंश है और परिणामी है, पर्याय उत्पाद और व्यय रूप होते है । वे परिणाम है । गुण द्रव्य का अंश कहलाता है । इस प्रकार स्थितिरूप द्रव्य के रूप आदि और ज्ञानादि तथा पिण्ड, घट, कपाल आदि गुण और पर्याय है । कोई भी द्रव्य कभी भी परिणामरहित नहीं होता । गुण और पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न

एवमात्मनि चैतन्यं भवति, तदाहि—आत्मा पुनर्ज्ञानाद्याकारेण परिणममानो भेदेऽप्यसति भेदेन व्यवह्रियते—"आत्मनि चैतन्यमिति । एव तदेव पुद्गलद्रव्यं स्वरूपमपरित्यजत् समासादिततत्त-द्गुणविशेषरूपादि—घटादिव्यवहारे हेतुर्भवतीति कथञ्चिद्भेदाऽभेदस्वरूपगुणपर्यायवद् द्रव्यमुच्यते । एवं—धर्माधर्माकाशकालजीवद्रव्याण्यपि गुणपर्यायवत्तया उपर्युक्तरीत्या भावनीयानि ।

द्रव्यं तावत् सहभाविना—क्रमभाविनाञ्च गुणपर्यायाणां भव्यं योग्यं भवति । तत्रचा—ऽगुरु-लघुरूपादयो गुणाः सह भाविनो भवन्ति, पर्यायाश्च—पिण्डघटकपालादयः क्रमभाविनोऽवगन्तव्याः । एवं- गतिस्थित्यवगाहज्ञानदर्शननारकप्रभृतयो गुणपर्यायाः पूर्वोक्तरीत्यैव तेषां यथायोग्यं भावनीया इति । उक्तञ्चोत्तराध्ययने २८ अध्ययने ६ गाथायाम्—

"गुणाण मासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे—" ॥१॥
"गुणानामाश्रयो द्रव्यम् एकद्रव्यश्रिता गुणाः ।
लक्षणं पर्यवाणान्तु उभयोराश्रिता भवेयुः—" ॥१॥ इति ॥२९॥

हैं; न एकान्त भिन्न है और न एकान्त अभिन्न है। फिर भी कभी—कभी द्रव्य से गुण—पर्याय के भेद की विवक्षा की जाती है ।

इस भेदविवक्षा के अनुसार ही कहा जाता है कि—आत्मा मे चैतन्य है। आत्मा ज्ञानादि रूप में स्वयं परिणत होता है, अतएव चैतन्य और आत्मा में भेद न होने पर भी आत्मा में चैतन्य है इस प्रकार भेद रूप से व्यवहार होता है। वही पुद्गल द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ विशेष—विशेष रूप आदि और घट आदि के व्यवहार में कारण बनता है । इस प्रकार कथंचित् भिन्न और अभिन्न गुण एवं पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्यो के विषय में भी यही सम-झना चाहिए कि वे भी गुण और पर्याय वाले है ।

द्रव्य सहभावी गुणो और क्रमभावी पर्यायो के योग्य होता है। इनमे अगुरुलघुत्व तथा रूप आदि गुण सहभावी है और पिण्ड, घट, कपाल आदि पर्याय क्रमभावी हैं। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय में गति हेतुत्व, अधर्मास्तिकाय में स्थितिहेतुत्व, आकाश में अवगाहहेतुत्व, जीव में ज्ञान—दर्शन आदि गुण तथा नारक आदि पर्यायो का यथायोग्य पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर लेना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन की ६ ठी गाथा में कहा है -

जो गुणो का आधार हो, वह द्रव्य कहलाता है । जो सिर्फ द्रव्य में आश्रित हो वे गुण है। किन्तु पर्यायो का लक्षण दोनो के आश्रित होता है। तात्पर्य यह है कि गुण और पर्याय दोनो ही द्रव्य के अंश है, किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि गुण सिर्फ द्रव्य में रहता है और पर्याय द्रव्यो तथा गुणो दोनो के आश्रित होता है। जैसे जीव द्रव्य है, 'चैतन्य उसका

मूलसूत्रम्—दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा–" ॥३०॥

छाया—'द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणाः—" ॥१॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यमित्युक्तम्, तत्र–के तावद् गुणा इत्याकाङ्क्षायामाह "दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा–"इति। द्रव्याश्रिताः द्रव्यम् आश्रिताः द्रव्याश्रिताः निर्गुणाः–गुणेभ्यो निष्क्रान्ताः निर्गताः गुणरहिताश्च गुणा व्यपदिश्यन्ते । तत्र–निर्गुणा इतिकथनेन द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धद्रव्याणां व्यावृत्तिर्भवति,

तदकथने–द्व्यणुकादीनां परमाण्वादिद्रव्याश्रितत्वेन गुणत्वापत्तिः स्यात् । निर्गुत्वविशेषणत्वे तु–तेषां द्व्यणुकादीनां रूपादिगुणवत्त्वेन निर्गुणत्वाऽभावात् नातिव्याप्तिस्तेपु । तथाच–द्रव्याश्रितत्वे-सति निर्गुणत्वे सति गुणत्वं गुणानां लक्षणं पर्यवसितम्, क्रियाया द्रव्याश्रितत्त्वनिर्गुणत्वयोः सत्त्वेऽपि गुणत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं गुणपर्यायपरिणामिद्रव्यमित्युक्तम्, तत्र–कीदृशाः खलु गुणा भवन्ति. यैस्तद्द्रव्यं गुणवदिति व्यपदिश्यते ? इति जिज्ञासायामुच्यते–"दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा–"

गुण है । मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव द्रव्य के पर्याय है । और मतिज्ञान आदि चैतन्य गुण के पर्याय है । इस प्रकार जो द्रव्य के आश्रित हो वह गुण और जो द्रव्य तथा गुण दोनो के आश्रित हो उसे पर्याय कहते है ॥२९॥

मूलसूत्रार्थ—"दव्वस्सिया निग्गुणा' इत्यादि–सूत्र ॥३०॥

जो द्रव्य के आश्रित हो, स्वयं निर्गुण हो, वे गुण है ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में कहा गया है कि गुण और पर्याय का आश्रय द्रव्य कहलाता है, मगर गुण किसे कहते है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर उसका समाधान करते है—

जो द्रव्य में रहते हो और गुणों से रहित हो, वे गुण कहलाते है । यहाँ 'निर्गुणा' ऐसा कहने से द्व्यणुक आदि पुद्गलस्कन्धो की व्यावृत्ति हो जाती है । अगर निर्गुण विशेषण का प्रयोग न किया होता तो द्व्यणुक आदि परमाणु द्रव्यो के आश्रित होने से गुण कहलाने लगते । किन्तु द्व्यणुक आदि में रूपादि गुणो का अस्तित्व है, वे निर्गुण नहीं है, अतएव गुण का उक्त लक्षण उनमें घटित नहीं होता । इस कारण लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है । इससे यह फलित हुआ कि जो द्रव्य के आश्रित हो, स्वयं निर्गुण हो और जिसमे गुणत्व पाया जाय वही गुण है । क्रिया यद्यपि द्रव्याश्रित होती है, निर्गुण भी होती है मगर उसमें गुणत्व का अभाव होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता ॥३०॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा जा चुका है कि द्रव्य, गुण और पर्याय का आधार होता है, किन्तु गुण कैसे होते है, जिनके कारण द्रव्य गुणवान् कहा जाता है ? इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कहा गया है—

इति । द्रव्याश्रिताः निर्गुणाः गुणाः इति, द्रव्यमाश्रिताः, द्रव्यपरिणामा इत्यर्थः । द्रव्यवर्तिनः. निर्गुणाः–गुणेभ्यो निष्क्रान्ता निर्गताइति निर्गुणाः, गुणशून्याश्च गुणा भवन्तीति भावः । एवञ्च–स्थित्यंशो ध्रौव्यरूपं द्रव्यम् आश्रयः–परिणामिकारणं येषां परिणामविशेषणां गुणानां ते द्रव्याश्रिताः गुणरहिताश्च गुणा व्यपदिश्यन्ते ।

तत्र–द्रव्यस्य गुणानाञ्च परस्परं परिणामि–परिणामभावलक्षणआश्रयाश्रयिभावोऽत्र विवक्षितः तत्र–परिणामिद्रव्यम्, परिणामा गुणाः, नत्वाधाराधेयभावलक्षण आश्रयाश्रयिभावः । कुण्ड-बदरादिवत् द्रव्यगुणानामेकान्ततो भिन्नत्वाभावेनाऽऽधाराधेयभावानुपपत्तेः, नापि–द्रव्यगुणानां पराभिमतसमवाय लक्षणः सम्बन्धोपि युक्तः ।

तेषां समवायसम्बन्धाभ्युपगमे समवायस्य गुणानाञ्च कश्चित्सम्बन्धः स्वीकर्तव्यः । तत्र-यदि–अपरः समवाय एव सम्बन्धः कल्प्यते, तदा–तस्यापि अपरेण समवायेन भवितव्यमित्यनव-स्थादोषः समापतति । यदि पुनः सम्बन्धान्तरमभ्युपगम्यते, तदाऽऽगमविरोधापत्तिः । तथाहि–समवायिनो द्रव्यगुणयोर्यदि समवायाख्यः सम्बन्धो वर्तते, तदा–स समवायः किं संयोग-वृत्त्या–समवायवृत्त्या वा वर्तेत ? तत्र–न तावत् सयोगवृत्त्या वक्तुं शक्यते, अद्रव्यत्वाद् गुणानाम् द्रव्यविषय एव संयोगोऽभ्युपगतः, नतु–द्रव्यगुणविषयोऽपि । यदिच–समवायवृत्त्या तत्र–समवाय

जो द्रव्य के आश्रित हों और स्वयं निर्गुण हो, उन्हें गुण कहते है । जो द्रव्य के आश्रित हों अर्थात् द्रव्य के परिणाम हो या द्रव्यवर्त्ती हो, गुणों से रहित हो–निर्गुण–गुणशून्य हो वे गुण कहलाते है ।

यहाँ द्रव्य और गुणो का जो आश्रय–आश्रयिभाव कहा गया है वह परिणामि–परि-णामाभाव समझना चाहिए । द्रव्य परिणामी है और गुण परिणाम है । आधाराधेय भाव यहाँ विवक्षित नहीं है, क्योकि जैसे कूडा और बोर–दोनो की सत्ता पृथक् पृथक् है, उस तरह द्रव्य और गुण भिन्न–भिन्न नहीं है । अतएव द्रव्य को आधार और गुण को आधेय नहीं कहा जा सकता ।

अन्य मतानुयायियो ने द्रव्य और गुण में समवाय संबंध का स्वीकार किया है; वह भी ठीक नहीं है । यदि गुणो का द्रव्य के साथ समवाय सबंध माना जाय तो समवाय और गुणो में भी कोई संबंध मानना पडेगा । उस समवाय का भी फिर दूसरा समवाय संबन्ध माना जाय तो अनवस्था दोष आता है । दूसरा समवाय मानने मे आगम से विरोध आता है ।

समवायी द्रव्य और गुण में यदि समवाय नामक सबंध है तो वह समवाय किस सम्बन्ध से उनमें रहता है–सयोग सबंध से अथवा समवाय संबंध से ? संयोग संबंध तो माना नहीं जा सकता क्योंकि सयोग दो द्रव्यो का ही होता है । यहाँ गुण द्रव्यरूप नहीं है । अगर समवाय समवाय, संबंध से रहता है तो यह दूसरा समवाय भी तीसरे सम-

उच्यते, तदा—तस्यापि समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तित्वम्, तद्धटकसमवायस्यापि पुनः—समवा-
इस प्रकार की यान्तरेण वृत्तित्वमित्येवमनवस्थापातः ।

यदि तु—अनाश्रित एवासौ समवायः स्वतन्त्रः सम्बन्धो भवति, तदा—द्रव्यगुणयोः कयाचिद्-वृत्त्याऽनाश्रित एव समवाय इति न द्रव्यं गुणैः सम्बद्धं समवायेन सम्भवति, तस्य समवायस्य घट पटादिवद् द्रव्यगुणयोरनाश्रितत्वात् घटपटयोः खलु न परस्परं समवायलक्षणः सम्बन्धः सम्भवति, तस्मात् स्थित्यंशलक्षणं द्रव्यं गुणपर्यायवृत्त्या परिणमते, गुणपर्यायाश्च—परिणामविशेषा भवन्ति । ते चापि परिणामविशेषा गुणा निर्गुणा भवन्ति । शुक्लादिरूपादीनां—घटकपालादीनाञ्च गुणपर्या याणां नाऽन्ये गुणपर्यायाः सन्ति, अपितु—परिणामिनो द्रव्यस्यैव शुक्लादिरूपादिगुणपरिणामः—पिण्डघटकपालसंस्थानादिपर्यायपरिणामश्च भवति । न खलु तस्यैव शुक्लादिरूपादेरन्ये शुक्लादि—रूपादयो गुणाः परिणामाः, नापि कुम्भादिसस्थानस्याऽन्ये सस्थानादयः पर्यायाः परिणामा भवन्ति ।

तस्मात्—गुणा निर्गुणा उच्यन्ते । पर्यायाश्च—गुणेभ्य एकान्तेन नातिरिच्यन्ते, गुणपर्यायाणां परस्परं कथञ्चिदैक्याऽभ्युपगमात् ।

"**अत्रेदं बोध्यम्**—द्रव्यं तावद् भव्यं योग्यं युगपद्भाविन्याः शुक्लादि—रूपादि—ज्ञाना-

---

वाय से रहेगा और तीसरे समवाय के लिए पुनः चौथे समवाय की आवश्यकता होगी इस प्रकारक की स्थिति में अनस्था दोष आता है ।

अगर समवाय सम्बन्ध आश्रित हुए बिना स्वतंत्र ही रहता है तो फिर द्रव्य में गुणों के रहने के लिए भी समवाय की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। तब तो यह भी नहीं मानना चाहिए कि द्रव्य समवाय सबंध के द्वारा गुणों के साथ सम्बद्ध है, क्योकि आपके कथ-नानुसार घट और पट की समान समवाय द्रव्य और गुण में आश्रित नहीं है । घट और पट में समवाय सबंध का संभव नहीं है । अतएव तथ्य यह है कि, स्थितिअंश रूप द्रव्य गुणों और पर्यायों के रूप में परिणत होता रहता है । गुण पर्याय उसके परिणमन विशेष है । उनमें जो गुण रूप परिणाम है, वह निर्गुण है अर्थात् गुण में गुण नहीं होता ।

शुक्ल आदि रूप आदि तथा घट कपाल आदि गुणो और पर्यायो के अन्य कोई गुण—पर्याय नहीं होते । किन्तु परिणामी द्रव्य का ही शुक्ल आदि रूप आदि गुण परिणाम होता है और पिण्ड घट कपाल संस्थान आदि पर्यायपरिणाम होता है । उस शुक्ल आदि रूप आदि गुण रूप आदि के दूसरे कोई शुक्ल आदि नहीं होते और न घट आदि संस्थान (आकार) के अन्य कोई सस्थान आदि पर्याय होते है ।

इस कारण गुण निर्गुण होने है । पर्याय गुणो से एकान्त भिन्न नहीं है; क्योंकि गुणो और पर्यायो की कथंचित् एकता स्वीकार की गई है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए की द्रव्य—युगपद भाविनी शुक्ल आदि रूप आदि ज्ञान

दिगुणपरिणतेः अयुगपद्भाविन्याः पिण्डघटकपालादिपर्यायपरिणतेश्च परिणामिस्थित्यंशलक्षणमाश्रयो भवति। उत्पादव्ययस्वरूपाणां रूप–रस–गन्ध–स्पर्शादिलक्षणानां ज्ञानदर्शनादिलक्षणानां गुणानां घटस्थासकोशादिलक्षणपर्यायाणाञ्च परिणामविशेषाणां सामान्यं परिणामिद्रव्यमाश्रयो वर्तते—

द्रव्यमेव सामान्यात्मकं रूपरसादिज्ञानादिगुणतया–पिण्डघटादिपर्यायादितया च परिणमते, पुनस्तेनाकारेण निवर्तते–द्रव्यतया व्यवस्थितञ्च भवति। परिणाम–परिणामिनोर्द्रव्यार्थिक–नयद्वयापेक्षया कथञ्चिदभिन्नत्वं कथञ्चिद् भिन्नत्वञ्चाऽवगन्तव्यम्। तथा चैषां शुक्लादिरूपादिज्ञानादिगुणानां केचन नाऽन्ये गुणाः सन्तीति ते निर्गुणाः इति व्यपदेशस्तावद् गुणगुणिनो र्भेदे सति सम्भवति।

स च भेदः कथञ्चिदभ्युपगम्यते–नत्वेकान्तेन, सर्वस्य वस्तुनो भेदाऽभेदस्वरूपत्वात्। यदा पुनर्द्रव्यमेव तथा परिणतं भवति–शुक्लादिरूपरसाद्यात्मना, ज्ञानदर्शनाद्यात्मना च, तदा–द्रव्यस्य तादात्म्येन गुणानां स्वरूपं भिन्नं नाऽस्तीति कथञ्चित्तयोरभिन्नत्वं भवति।

तथा च—केवलद्रव्यार्थिकनयमपेक्ष्याऽनन्यत्वमेव द्रव्याद्गुणानां निर्गुणत्वं व्यपदिश्यते। पर्यायार्थिकनयापेक्षया तु–गुणप्रधानत्वात् कथञ्चिद् द्रव्याद् गुणानां भिन्नत्वमपि व्यपदिश्यते। अथ द्रव्यार्थिकनयपक्षे गुणा एव न सन्तीति कुतोऽनन्यत्वं भवेदिति चेदत्रोच्यते, तत्पक्षेऽपि–गुणाः

आदि गुणपरिणति के तथा क्रमभाविनी पिण्ड घट- कपाल आदि पर्याय परिणति के योग्य होता है। वह परिणामी और ध्रुव–अंश रूप है, आश्रय है। उत्पाद और व्यय स्वरूप रूप रस गंध स्पर्श तथा ज्ञान दर्शन आदि रूप गुणो का एवं घट स्थास कोश आदि रूप पर्यायो का आश्रय द्रव्य है।

द्रव्य ही सामान्यात्मक रूप रस आदि एवं ज्ञानादि गुणो के रूप में तथ्य पिण्ड घट आदि पर्यायो के रूप में परिणमन करता है, फिर उन–उन आकारो से निवृत्त होता है और द्रव्य रूप से अवस्थित रहता है। परिणाम और परिणामी में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता जानना चाहिए। इन शुक्ल आदि रूप आदि तथा ज्ञान आदि गुणो के अन्य कोई गुण नहीं है, अतएव वे निर्गुण है, इस प्रकार का कथन तभी सभव हो सकता है जव गुण और गुणी में भेद माना जाय।

वह भेद कथंचित् ही स्वीकार किया जाता है, एकान्त रूप से नहीं, क्योकि सभी वस्तुएँ भेद और अभेद रूप है। जव द्रव्य ही शुक्ल रस आदि के रूप में या ज्ञान दर्शन आदि के रूप मे परिणत होता है तो द्रव्य के साथ तादात्म्य संबंध होने के कारण गुण द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकते। इस प्रकार उनमें कथंचित् अभिन्नता है। यह अभिन्नता केवल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए और गुणो को निर्गुण समझना चाहिए।

पर्यायार्थिक नय से गुणो की प्रधानता होने के कारण द्रव्य से गुण कथंचित भिन्न भी है।

सन्त्येव, किन्तु-द्रव्याद्व्यतिरिच्यमान स्वरूपा एव गुणा भवन्ति। तथाच-यदि द्रव्यं शुक्लाद्याकारेण परिणतं भवति, तदा-नीलाद्याकारपरिणामो न भवति। तस्मात्-निर्गुत्वं तेषां स्पष्टमेव भवतीति भावः।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनसूत्रे २८ अध्ययने ६ गाथायाम्—"**दव्वस्सिया गुणा**—" इति, द्रव्याश्रिता गुणा इति। द्रव्याश्रिता इति निर्गुणानामप्युपलक्षणमित्यवगन्तव्यमिति भावः ॥३०॥

मूलसूत्रम्—"तब्भावो परिणामो—" ॥३१॥

छाया—"तद्भावः परिणामः—"

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वं बहुतरं परिणामस्य विचारः कृतः तत्र-कस्तावत्। परिणामपदार्थ इत्याकाङ्क्षायामाह—"**तब्भावो परिणामो—**" इति, तद्भावः परिणामः धर्माधर्माकाशादीनि द्रव्याणि येन स्वरूपेण भवन्ति। तस्य स्वरूपस्य भवनं तद्भावः-तत्स्वरूपप्राप्तिः परिणाम इति व्यपदिश्यते। स च-परिणामो द्विविधः, अनादिः-सादिश्च।

तत्र-धर्माधर्माकाशादीनां द्रव्याणा गत्युपग्रहस्थित्युपग्रहाऽवगाहोपग्रहादयः सामान्यापेक्षया-

---

शंका—द्रव्यार्थिक नय के मत से गुणो का अस्तित्व ही नहीं है तो अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है ?

समाधान—द्रव्यार्थिकनय के मत से भी गुणों का अस्तित्व तो है मगर वे द्रव्य से भिन्न है।

द्रव्य जब शुक्ल रूप में परिणत होता है तब उसमें नीलाकार आदि परणमन नहीं होता, अतएव गुणो की निर्गुणता स्पष्ट ही है।

जैसे द्रव्य में गुण रहता है वैसे गुण में गुण नहीं रहता। शंख में शुक्लता गुण है मगर उस शुक्लता में पुनः शुक्लता नहीं रहती-वह स्वयं शुक्लता स्वरूप ही है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन की ६ ठी गाथा में कहा है—'गुण द्रव्यों के आश्रित होते हैं' यहाँ द्रव्य के आश्रित कहने से उपलक्षण से गुणो को निर्गुण भी समझ लेना चाहिए ॥३०॥

मूलसूत्रार्थ—"तब्भावो परिणामो" सूत्र ॥३१॥

धर्म आदि द्रव्यो का अपने-अपने स्वरूप में होना ही परिणाम कहलाता है ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले परिणाम का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है, मगर परिणाम का अर्थ क्या है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है—

धर्म, अधर्म, आकाश आदि द्रव्य जिस स्वरूप से होते है उस स्वरूप का होना अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति परिणाम है। वह परिणाम दो प्रकार का है-अनादि और सादि।

धर्म, अधर्म और आकाश आदि द्रव्यो का गति-उपग्रह, स्थिति-उपग्रह और अवगाह-उपग्रह आदि सामान्य रूप से अनादि परिणाम कहलाता है। वही परिणाम विशेष की अपेक्षा से

ऽनादि परिणाम उच्यते । विशेषापेक्षया पुनः सपरिणामः सादिरित्युच्यते । यथा मृत्तिकाद्रव्यस्य–पिण्डघटकपालकपालिकास्थासकोशशरावोदञ्चनादयः परिणामा भवन्तीति ॥३१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वमसकृत्परिणामः प्रतिपादितः यथा–समगुणः समगुणस्य परिणामं विधत्ते, अधिकगुणो हीनगुणस्य परिणाममासादयतीत्यादि । तत्र–कः खलु परिणामपदार्थः ? किं धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि अर्थान्तरभूतं परिणामं जनयन्ति ? आहोस्वित्–त एव द्रव्यविशेषा धर्माधर्माकाशकालपुद्गला अजीवा - जीवाश्च स्वरूपमपरित्यजन्त एव किमपि वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यमानास्तथा तथा भवन्तीति सन्देहं निराकर्तुं परिणामं प्ररूपयति—"**तब्भावो परिणामो–**" इति ।

तद्भावः परिणामः, तस्य - धर्माधर्मादिद्रव्यषट्कस्य तेन तेनाकारेण गति–स्थित्यवगाहपरत्वापरत्वशरीरादिज्ञानादिना भवनमात्मलाभो भावः तत्तद्रूपप्राप्तिः परिणाम इत्युच्यते । तान्येव खलु धर्मादिद्रव्याणि तथा–तथा ऽऽकारेण भवन्ति–परिणमन्ति, न तु–कूटस्थानि अचलरूपेणाऽवतिष्ठन्ते, नापि–सर्वथोत्पद्यन्ते, नो वा–सर्वथोच्छिद्यन्ते ।

तथाच–धर्मादिद्रव्याणा स्वस्वावस्थान्तरापत्तिः परिणामः तत्र धर्मद्रव्यं तावत् पुद्गलजीवादि द्रव्याणां जलचराणां जलमिव गत्युपग्रहकारकलोकाकाशव्यापि च वर्तते । एवम्–अधर्मद्रव्यं पुद्गलादीनां पान्थानां छायेव स्थित्युपग्रहकारकं लोकाकाशव्यापि च वर्तते इति धर्माधर्मादीनां षण्णा द्रव्याणां स्वभावः स्वतत्त्वं–परिणामः ।

सादि होता है, जैसे मृत्तिका द्रव्य के पिण्ड, घट, कपाल, कपालिका, स्थास, कोश, शराव और उदंचन आदि परिणाम ॥३१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व में अनेक वार परिणाम का जिक्र किया गया है, जैसे समगुण समगुण वाले के परिणाम को धारण करता है, और अधिक गुणो वाला पुद्गल हीन गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणत कर लेता है, इत्यादि । तो परिणाम शब्द का अर्थ क्या है ? क्या धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अर्थान्तर भूत परिणाम को उत्पन्न करते हैं ? अथवा वे द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ही कीसी न किसी विशिष्टता को प्राप्त हो कर परिणत होते रहते है ? इस सन्देह का निवारण करने के लिये परिणाम शब्द की व्याख्या की जाती है

धर्म अधर्म आदि छहो द्रव्यो का उस–उस आकार से अर्थात् गतिसहायकत्व, स्थितिसहायकत्व, अवगाहसहायकत्व, परत्व, अपरत्व, शरीर आदि तथा ज्ञानादि रूप से होना–आत्मलाभ–भाव ही परिणाम कहलाता है । धर्म आदि द्रव्य ही विभिन्न आकारों में परिणत होते रहते हैं ; वे अचल या कूटस्थनित्य नहीं है । न तो उनका सर्वथा उत्पाद होताहै और न सर्वथा विनाश ही ।

इस प्रकार धर्म आदि द्रव्यो की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की प्राप्ति होना परिणाम है । उनमे धर्म द्रव्य जीवो और पुद्गलों की गति मे उसी प्रकार सहायक होना है जैसे जल जलचरजीवो की गति में सहायक होता है । अधर्मद्रव्य उनकी स्थिति में निमित्त होना

परिणामशब्दस्य वाच्यार्थस्तु–परिशब्दस्य व्याप्तिरर्थ , यथा–गुणेन परीतः गुणेन व्याप्त इत्युच्यते, नम् धातोः प्रह्वत्वं–नम्रीभावः, ऋजुत्वम् अवस्थान्तरप्राप्ति', परितो नमनम्–सर्वत्राऽनुवर्त्तनम् परिणामः। यथा–मृद्द्रव्यस्य सर्वत्र पिण्डघटकपालादिष्वनुवर्तनं दृश्यते, सुवर्णस्य च द्रव्यस्य कटककुण्डलवलयरुचकादिषु सर्वत्रैवानुवर्तनं प्रत्यक्षतया प्रसिद्धम् ।

एवमेव–घटादिककुण्डलादिकं मृदा–सुवर्णेन द्रव्येण व्याप्तञ्च भवति। एवं धर्मादिद्रव्यं स्वस्वरूपमपरित्यजदेव सर्वत्रैव गतिस्थित्यादिषु अनुवर्तते, इति सामान्यरूपः परिणामो भवति, अनुवृत्तिरूपत्वात् । सकलद्रव्यस्थित्यंशसामान्येनो–त्पादोऽव्ययश्च व्याप्तो भवति, नहि–कस्यापि उत्पादो व्ययो वा स्थित्यंशसामान्येनाऽव्याप्तो भवति, द्रव्यं द्रव्यं परितो नमनं परिणामः। तथाच–धर्मद्रव्यस्यैव स्वतत्त्वं निजमवस्थानान्तरं परिणामः, नतु-अधर्मद्रव्यादेरवस्थान्तर धर्मद्रव्यस्य परिणामः सम्भवति। एवमधर्मद्रव्यस्य स्वतत्त्वम्–निजमवस्थान्तरं परिणामः, न तु-धर्माकाशादेरवस्थान्तरम् अधर्मद्रव्यस्य परिणाम. सम्भवति। एवमाकाशादिद्रव्याणामपि स्वस्वावस्थान्तरापत्तिः परिणामोऽवसेयः।

धर्मस्तावत्स्वस्वरूपमपरित्यजन्नेव गमनकर्तुर्गत्युपग्रहाकारेण परिणतो भवति अधर्मः पुनः–

है, जैसे पथिको के ठहराने में छाया सहायक हो जाती है। ये दोनो द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। इसी प्रकार छहो द्रव्यो का जो स्वभाव है, स्वरूप है; वही परिणाम कहलाता है।

परिणाम शब्द का वाच्यार्थ इस प्रकार है–परिणाम यहाँ परि शब्द का अर्थ है व्याप्ति, जैसे गुण से परिणत का मतलब होता है–गुण से व्याप्त नम् धातु का अर्थ है—नम्रीभाव ऋजुता या अवस्थान्तर की प्राप्ति। दोनो शब्दांशो का आशय निकला–सर्वत्र अनुवर्त्तन करना। यही परिणाभ शब्द का अर्थ है। जैसे मृत्तिका का पिण्ड घट कपाल आदि सभी अवस्थाओ में अनुवर्त्तन देखा जाता है और स्वर्णद्रव्य का कटक, कुंडल वलय रुचक आदि सभी अवस्थाओ मे अन्वय-प्रत्यक्ष देखा जाता है।

इसी प्रकार घट आदि तथा कुण्डल, आदि मृत्तिका और स्वर्ण द्रव्य से व्याप्त रहते है। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ही गति सहायकत्व आदि में अनुवर्त्तन करते हैं। अनुवृत्ति रूप होने से यह सामान्य स्थिति-अंश से व्याप्त रहता है। किसी भी द्रव्य का उत्पाद या व्यय सामान्य स्थिति–अंश से अव्याप्त नहीं होता।

इस प्रकार धर्मद्रव्य का ही अपनी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणत होना परिणाम है, ऐसा नहीं कि धर्मद्रव्य किसी अन्य अधर्मद्रव्य आदि की अवस्था में परिणत होजाय इसी प्रकार अधर्मद्रव्य अपनी ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणत होता है। वह धर्म आदि किसी अन्य द्रव्य की अवस्था रूप में परिणत नहीं होता। इसी प्रकार आकाश आदि द्रव्यो का भी अपनी–अपनी अवस्थाओ में परिणमन होता रहता है अर्थात् एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी अवस्था होती रहती है। इसी को परिणाम समझना चाहिए।

स्वस्वरूपापरित्यागेनैव स्थितिकर्तुः स्थित्युपग्रहाकारेण परिणमते. । आकाशोऽपि–स्वस्वरूपमपरित्यजन्नेवाऽवगाहकर्तुरवगाहदायित्वेन परिणमति । कालःखल्वपि–ज्येष्ठ–कनिष्ठादीनां । परत्वापरत्वजननेन ह्यः–श्वः–समय–क्षण–निमेष–दिन–रात्रि–पक्ष–मासा–यन–वर्षादिव्यवहारकारकत्वेनोपजायते तदाकारेण. ।

पुद्गला अपि–औदारिकादिशरीरादि–रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादिरूपेण स्वस्वरूपमत्यजन्त एव परिणमन्ते । जीवोऽपि–ज्ञान–दर्शनोपयोगवृत्त्या नारक देव मनुष्य–तिर्यग्भावेन स्वस्वरूपमपरित्यजन्नेव परिणमते । एवं शुक्लादयो गुणावर्णादिसामान्यमपरित्यजन्त एव कृष्णादित्वेन परिणमन्ते. । घटपर्यायोऽपि–सामान्यं मृत्स्वभावमपरित्यजन्नेव कपालावस्थां प्राप्नोति. । एवम्–कपालादयोऽपि पर्याया कपालिकाशकल–स्थास कोश शरावो–दञ्चनाद्याकारेण सामान्यभूतं मृत्स्वभावमपरित्यजन्त एव परिणमन्ते ।

एवं–परमाणवोऽपि, रूप–रस–गन्ध–स्पर्शाद्यात्मना द्व्यणुकादिस्कन्धात्मना स्वरूपापरित्यागपूर्वकमेव परिणता भवन्ति. ! तथाच–द्रव्याणि सर्वाणि सर्वदा सूक्ष्म–बादर भेदोत्पाद–व्ययरूपेण

धर्मास्तिकाय अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही गमन करने वाले के गमन में सहायक रूप से परिणत होता है । अधर्मास्तिकाय अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ स्थित होने वाले की स्थिति में सहायक रूप से परिणत होता है । आकाश भी अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही अवगाह करने वाले को अवगाहना देता है । काल ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि में परत्व और अपरत्व उत्पन्न करके गत कल, अगामी कल, समय, क्षण. निमेष दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन, वर्ष आदि का व्यवहार कारक रूप से परिणत होता है ।

पुद्गल भी औदारिक आदि शरीर आदि रूप रस गंध स्पर्श आदि रूप से अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही परिणत होता है । जीव ज्ञान–दर्शन–उपयोग रूप से तथा नारक देव मनुष्य तिर्यंच रूप से अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही परिणमन करता है ।

इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण वर्ण आदि सामान्य स्वरूप का त्याग न करते हुए ही कृष्ण आदि रूप से परिणत होते है । घट पर्याय भी अपने सामान्य मृत्तिका स्वभाव का परित्याग न करते हुए ही कपाल (ठीकरे) अवस्था को प्राप्त करता है । इसी प्रकार कपाल आदि पर्याय भी कपालिका (छोटी ठीकरी). शकल (टुकडा) स्थास, कोश. कुशूल. शराव. उदंचन आदि रूप से सामान्य मृत्तिका स्वभाव का परित्याग न करते हुए ही परिणत होते हैं ।

इसी प्रकार परमाणु भी रूप. रस. गंध–स्पर्श आदि रूप से या द्व्यणुक आदि स्कंध रूप से अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए ही परिणत होते हैं । इसी प्रकार सब द्रव्य सदैव सूक्ष्म, बादर, उत्पाद, व्यय रूप से स्थिति अंश रूप सामान्य का परित्याग न करते हुए ही परिणत होते है ।

स्थित्यंशलक्षणसामान्यापरित्यागपूर्वकमेव परिणतानि भवन्ति. । स च परिणामो द्विविधः, अनादिः सादिश्च. । तत्राऽरूपिषु धर्माधर्माकाशकालजीवेषु पञ्चद्रव्येषु अनादिः परिणामो वोध्यः ।

तत्र—धर्मद्रव्यस्याऽनादिःपरिणामस्तावत्असख्येयप्रदेशत्वं लोकाकाशव्यापित्वम्—अमूर्तत्वम्—गुन्तृगत्यपेक्षाकारणत्वम्—अगुरुलघुत्वादिकमवसेयम् । अधर्मद्रव्यस्य पुनरनादिः परिणामः—असख्येयप्रदेशत्वलोकाकाशव्यापित्वादिक स्थित्यपेक्षाकारणत्वञ्च । आकाशस्याऽनादिः परिणामस्तु—अनन्तप्रदेशत्वा—ऽमूर्तत्वाऽगुरुलघुपर्यायत्वाऽवगाह कर्त्रवगाहदायित्वादिः । कालस्य चाऽनादिः परिणामः पुनः—समय—क्षणावलिकादि ह्यः—श्वो वर्तमानत्वादि' परत्वापरत्वादिः अमूर्तत्वम् अगुरुलघुत्वादिश्च— ।

जीवस्य पुनरनादिः परिणाम' जीवत्व—भव्यत्वादयः अमूर्तत्वम्, ज्ञानदर्शनादयश्चाऽवगन्तव्याः । रूपिषु तावत् पुद्गलद्रव्येषु सादि'परिणामोऽनेकविधः प्रज्ञप्तः । तथाहि—पुद्गलेषु द्यणुकादिस्कन्धलक्षणः शब्दादि' शुल्क—कृष्ण—रक्त—पीतादिः—रसादिश्च । तत्र—यदा द्वौ परमाणू विस्रसया द्यणुकस्कन्धारम्भं कुरुतः तदा—परमाणुद्वयस्य द्यणुकस्कन्धपरिणामः सादिरुच्यते. ।

एवं रूपिषु रूपरसगन्धस्पर्शवत्सु द्रव्येषु उत्पादव्ययवत्सु रूपरसगन्धस्पर्शादिरनेकविधः सादिः परिणामो भवति । स्पर्शश्चाष्टविधः—कर्कश—मृदु—गुरु—लघु—शीतोष्ण—स्निग्ध—रूक्षरूपः । कर्कशतर-

---

परिणाम दो प्रकार का है अनादि और सादि । अरूपी धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव इन पाँच द्रव्यो में अनादि परिणाम जानना चाहिए ।

असख्यात प्रदेशवत्त्व, लोकाकाशव्यपित्व, अमूर्त्तत्व, गमननिमित्तत्व, अगुरु लघुत्व आदि धर्मास्तिकाय का अनादि परिणाम है । असख्यात प्रदेशवत्त्व, लोकाकाशव्यापित्व, स्थितिनिमित्तत्व, अधर्मास्तिकायका अनादि परिणाम है । अनन्त प्रदेश बन्ध अमूर्त्तत्व, अगुरुलघुपर्यायत्व, अवगाह हेतुत्व आदि आकाश का अनादि परिणाम है । आवलिका आदि, कल, आगामी कल, वर्त्तमानता आदि, परत्व—अपरत्व आदि, अमूर्त्तत्व, अगुरुलघुत्व आदि काल का अनादि परिणाम है । जीवत्व, भव्यत्व आदि, अमूर्त्तत्व तथा ज्ञान—दर्शन आदि जीव का अनादि परिणाम है !

रूपी पुद्गल द्रव्यों मे सादि परिणाम अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—द्व्यणुक आदि स्कंध रूप, शब्दादि शुक्ल, कृष्ण, रक्त, पीत, आदि रस, आदि । जब दो परमाणु स्वभाव से द्व्यणुक स्कंध को उत्पन्न करते हैं तब दोनो परमाणुओ मे जो स्कंध रूप परिणाम उत्पन्न होता है, वह सादि परिणाम है ।

इसी प्रकार रूपी और उत्पाद—व्यय वाले द्रव्यो में रूप रस गंध स्पर्श आदि रूप अनेक प्रकारका सादि परिणाम होता है ।

स्पर्श आठ प्रकार का है—(१) कर्कश (कठोर), (२) मृदु (३) गुरु—भारी (४) लघु—हल्का (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष—रुखा । इसमें कर्कशतर कर्कशतम

कर्कशतमादिश्च सादिःपरिणामः। पञ्चविधो रसः-तिक्त २ कटुक-२कषाया-ऽम्ल-४ मधुररूप.। तिक्ततर-तिक्ततमादिश्च सादिः परिणामः। द्विविधो गन्धः—सुरभिर्दुरभिश्च, सुरभितरादिश्च सादि॰ परिणामः।

वर्णश्च—पञ्चविधः कृष्णादिःकृष्णतरादिश्च सादिः परिणामो बोध्यः। किन्तु—पुद्गलद्रव्येऽपि द्रव्यत्व—मूर्तत्व—सत्त्वादयः परिणामाः अनाद्या एव सन्ति, न तु साद्याः इत्यवधेयम्.। एवं च यथा रूपीषु पुद्गलद्रव्येषु सादिरनादिश्च परिणामः प्रतिपादितः तथा—अरूपिष्वपि द्रव्येपु सादिरपि परिणामः सम्भवति.। यथा—योगोपयोगलक्षणः परिणामो जीवेषु सादिः।

एवं धर्मादिष्वपि—अरूपिद्रव्येषु सादिरपि परिणामः सम्भवति, यथा—स्वयं गन्तुर्जिगमिषापरिणतस्य खलु इदानीं धर्मद्रव्यमुपग्राहकं भवति। उपग्राहकत्वञ्चेदं धर्मपर्यायः पूर्वं नासीत् तस्य गन्तुर्गतिपरिणतेरभावात्। अधुनाचोपजायमानः स उपग्राहकत्वपरिणामः सादिरेव सम्भवति, न तु—अनादिः।

मैत्रादिगन्तृगत्युपरमे च विनाशी भवति, इति—उत्पादविनाशवत्त्वात् सादिमत्त्वम्। उपग्राह्यं विना च नोपग्राहकत्वं सम्भवति। आकाशद्रव्यमपि—अवगाहनाकर्तुरवगाहदानपर्यायेण परिणमते, तस्याऽवगाहदानपर्यायश्चेदानींतनत्वात् सादिरेव सम्भवति, न तु—अनादिः। कालद्रव्यमपि—वृत्त

आदि सादि परिणाम है। रस पाँच प्रकार का है—(१) तिक्त (२) कटुक (३) कषाय (४) अम्ल—खट्टा और (५) मधुर। तिक्ततर, तिक्ततम आदि सादि परिणाम है। गंध दो प्रकार की है—सुगंध और दुर्गंध। सुरभितर आदि सादि परिणाम है।

वर्ण कृष्ण आदि पाँच प्रकार का है। कृष्णतर आदि सादि परिणाम जानना चाहिए। किन्तु पुद्गल द्रव्य में द्रव्यत्व, मूर्तत्व, सत्त्व आदि परिणाम अनादि ही होते हैं, सादि नहीं। इस प्रकार जैसे रूपी पुद्गल द्रव्यों में सादि और अनादि दोनो प्रकार का परिणाम प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार अरूपी द्रव्यो में भी सादि परिणाम भी हो सकता है. जैसे योग और उपयोगरूप परिणाम जीवो में सादि होता है।

इसी प्रकार धर्म आदि अरूपी द्रव्यो में भी सादि परिणाम का संभव है। जैसे गमन करने की इच्छा वाला कोई पुरुष जब गमन करना प्रारंभ करता है तो धर्मद्रव्य उसके गमन में निमित्त बन जाता है। यह निमित्त बन जाना धर्मद्रव्य का पर्याय है, जो पहले नहीं था, अब उत्पन्न हुआ है। अतएव यह गति निमित्तत्व परिणाम सादि ही हो सकता है, अनादि नहीं। जब वह मैत्र नामक पुरुष गति से विरत हो जाता है—स्थिर हो जाता है, तब वह गति निमित्तत्व भी नहीं रह जाता। इस प्रकार उत्पाद और विनाशवान् होने से वह सादि है। उपग्राह्य के अभाव में उपग्राहकत्व भी नहीं होता।

आकाशद्रव्य भी अवगाहना करने वाले के लिए अवगाहदान रूप पर्याय से परिणत होता है। वह अवगाहदानपर्याय अभी-अभी उत्पन्न होने के कारण सादि ही हो सकता है, अनादि नहीं।

वर्तमानादिपरिणतियुक्तं भवति, तथाचाऽयं परिणामो द्रव्यार्थिकनयव्यापारात्—धर्मादिस्वभावो भवति न तु—धर्मादिव्यतिरिक्तं ।

एवं—क्वचिद् वैस्रसिकः, क्वचित्तु प्रायोगिकः, क्वचित्पुनरुभयथा भवति सद्वस्तुन उत्पाद व्ययध्रौव्यलक्षणात् । एवञ्चा—नेकान्तवादानुसारेण रूपिषु पुद्गलेषु द्रव्येषु प्रधानतया सादि-परिणामस्य सत्त्वेऽपि कथञ्चित्—अनादिपरिणामोऽपि सघटते । एवमरूपिषु धर्मादिद्रव्येषु प्रधानतयाऽनादिपरिणामस्य सत्त्वेऽपि कथञ्चित्सादिपरिणामो भवति, न तु—अरूपिषु, अमूर्त-द्रव्यधर्मादिषु, इतिकेचिदाहुः—

तन्न तेषां मतेऽरूपिद्रव्येषु पर्यायाश्रयव्यवहारविलोपापत्त्या—उत्पादव्ययादि लक्षणाऽसङ्गमात् परिणामाभावः स्यात् । तेपाञ्च—धर्मादीनामरूपिद्रव्याणामपरिणामित्वेऽनिर्धार्यमात्र-स्वभावत्वं भवेत्, स्वत उत्पादव्ययपरिणामरहितत्वात् । तस्मात्—सर्वेत्रैव मूर्तेषु—अमूर्तेपु च द्रव्येषु केचित्—साद्याः केचिदनाद्याश्च परिणामाः सन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्—

तथाहि—जीवेषु तावदरूपिषु अनादिजीवत्व—भव्यत्वाऽभव्यत्वादिपरिणामवत्स्वपि योगोपयोगौ—आदिमन्तौ परिणामौ स्तः । तत्र—योगः खलु पुद्गलसम्बन्धादात्मनो वीर्यविशेषः परि-

---

कालद्रव्य भी वृत्त, वर्त्तमान आदि परिणमन से युक्त होता है । इस प्रकार यह परिणाम द्रव्यार्थिकनय के व्यापार से धर्म आदि का स्वभाव है, धर्म आदि से भिन्न नहीं है ।

इसी प्रकार परिणाम कहीं स्वभाविक होता है, कहीं प्रायोगिक होता है और कहीं दोनो प्रकार का होता है । क्योकि सद्वस्तु वही है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाली हो ।

इस प्रकार अनेकान्तवाद में रूपी पुद्गल द्रव्यो में प्रधान रूप से सादि परिणाम होने पर भी कथंचित् अनादि परिणाम भी घटित होता है । इसी प्रकार अरूपी धर्मादि द्रव्यो में प्रधान रूप से अनादि परिणाम होने पर भी कथंचित् सादि परिणाम भी घटता है ।

किसी—किसी ने कहा है कि रूपी पुद्गलद्रव्यो में ही सादि परिणाम होता है, अरूपी धर्म आदि द्रव्यो में नहीं होता, उनका कथन यथार्थ नहीं है । उनके मत के अनुसार अरूपी द्रव्यो में पर्यायाश्रयी व्यवहार के अभाव की आपत्ति होती है और ऐसा होने से उत्पाद—व्यय आदि लक्षण की सगति नहीं बैठती । इस कारण परिणाम के अभाव का ही प्रसंग हो जाता है ।

धर्म आदि अरूपी द्रव्यो को अपरिणामी मान लेने पर उनका स्वरूप अनिर्धारित हो जाएगा, क्योकि वे स्वत उत्पाद और व्यय परिणाम-से रहित है । अतएव मूर्त्त और अमूर्त्त सभी द्रव्यो में कोई परिणाम सादि होते है, कोई अनादि होते है; ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

अरूपी जीवो में जैसे जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये अनादि परिणाम है, उसी प्रकार योग और उपयोग आदिमान् परिणाम भी है ।

पुद्गलद्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा के वीर्य का स्फुरण होना योग कहलाता है । वह काय;

णामः आत्मनः काय–वाङ्मनोरूपेण शक्तिविशेषस्योत्पाद । उपयोगश्च चैतन्यस्वभावस्यात्मनो ज्ञान–दर्शनाभ्यां प्रणिधानादिलक्षणः । स्वविषयोपलम्भादिव्यापारः समाधिविशेषो वा तद्द्वारको-ऽर्थपरिच्छेदोऽप्युपयोगस्तेनाकारेणात्मनः परिणामो भवति ।

तत्र–योगः पञ्चदशविधः—साकाराऽनाकारलक्षणः । उपयोगो जीवस्वभवो द्वादशविधः—मतिश्रुत्राऽवधिमनःपर्यवकेवलज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् । योगः-पञ्चदशविधः–औदारिक–वैक्रिया-ऽऽहारकमिश्रतैजसकार्मणकाययोगसत्यमृपाऽसत्यामृपावाग्योग-मनोयोगभेदात् । आत्मा कायादि पुद्गलशतसम्बन्धात् तां तां गमनादिकथनचिन्तनक्रियां-प्रतिपद्यते, क्षीरोदकवत्–ताद्रूप्येण, मृद्घटवत्ताढात्म्येन परिणमते इति भावः ।

वचन और मन रूप से आत्मा की शक्तिविशेष की उत्पत्ति है । चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान–दर्शन के द्वारा प्रणिधान आदि रूप अपने विषय को ग्रहण करने का जो व्यापार है, वह उपयोग कहलाता है । समाधि को भी उपयोग कहते है । उसके द्वारा होने वाला पदार्थ का परिच्छेद भी उपयोग कहलाता है । इस उपयोग के रूप में आत्मा का परिणाम होता है ।

उपयोग बारह प्रकार का है । जीव का स्वभाव जो उपयोग है वह मूल में दो प्रकार का है—साकार और अनाकार । दोनो के मिलाकर बारह भेद होते है—(१) मतिज्ञान (२) श्रुत-ज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान (६) मति–अज्ञान अर्थात् कुमतिज्ञान (७) श्रुताज्ञान अर्थात् कुश्रुतज्ञान (८) विभंगज्ञान अर्थात् कुअवधिज्ञान (९) चक्षुदर्शन (१०) अचक्षुदर्शन (११) अवधिदर्शन (१२) केवलदर्शन ।

योग के पन्द्रह भेद ये है—(१) औदारिककाययोग (२) वैक्रियकाययोग (३) आहा-रककाययोग (४) औदारिकमिश्रकाययोग (५) वैक्रियमिश्रकाययोग (६) आहारकमिश्रकाययोग और (७) कार्मणकाययोग (८) सत्यवचनयोग (९) असत्यवचनयोग (१०) मिश्रवचनयोग (११) व्यवहार–असत्यामृषावचन योग (१२) सत्यमनोयोग (१३) असत्यमनोयोग (१४) मिश्रमनोयोग और (१५) असत्यामृषा मनोयोग ।

आत्मा काय आदि सैकड़ो प्रकार के पुदगलो के साथ संबंध होने के कारण नाना प्रकार की गमन, कथन एवं चिन्तन आदि क्रियाएँ किया करता है । उस समय उसकी उसी रूप में परिणति हो जाती है । वह दूध और पानी की भाँति अथवा मृत्तिका और घट की भाँति एक-मेक–सा हो जाता है । तद्रूप में परिणत होता है ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १३ परिणामपदे १८१ सूत्रे—"**दुविहे परिणामे पण्णत्ते,** तं जहा **जीवपरिणामे य, अजीवपरिणामे य–**" इति। द्विविधः परिणामः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—जीवपरिणामश्च, अजीवपरिणामश्चेति ॥३१॥

इति श्री विश्वविख्यात जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक-पञ्चदश भाषा
कलितललितकलापालापक प्रविशुद्धगद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक
शाहुच्छत्रपति कोल्हापुर राजप्रदत्त जैनशास्त्राचार्य
जैनधर्मदिवाकर **पूज्य श्री घासीलाल** व्रतिविर-
चितस्य दीपिका निर्युक्ति टीकाद्वयोपतेस्य
तत्वार्थसूत्रस्य द्वितीयमध्ययननं
समाप्तम् ॥२॥

प्रज्ञापनासूत्र के तेरह वें परिणाम पद के १८१ वें सूत्र में कहा है—

'परिणाम दो प्रकार का कहा है; वह इस प्रकार है—जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम ॥३१॥

श्री जैन शास्त्राचार्य जैन धर्मदिवाकर **पूज्य श्री घासीलाल जी**
महाराज विरचित तत्वार्थसूत्र की दीपिका एवं निर्युक्ति
नामक व्याख्या का दूसरा अध्ययन समाप्त ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

मूलसूत्रम्—"सकसायजीवस्स कम्मजोगा पोग्गलादाणं बंधो" ॥१॥

छाया—कषायजीवस्य कर्मयोग्यपुद्गलादानं बन्धः ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—नवविधेषु प्रथमसूत्रोक्ततत्त्वेषु—उत्तराध्ययनस्याऽष्टाविंशति अध्ययनानुसारं क्रमप्राप्तं तृतीयं बन्धतत्त्वं प्ररूपयितुमाह—"सकसायजीवस्स" इत्यादि ।

कषन्ति—दुर्गतौ जीवानाकृष्य पातयन्ति—इति कषायाः, कष्यन्ते पीड्यन्ते जीवा अनेनेति कषं—ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्म, कषः—संसारो वा, तस्याऽऽयोलाभो यतस्ते कषायाः दुर्गतिपातलक्षणस्वभावाः क्रोध—मान—माया—लोभास्तैः सह वर्तते इति सकषायस्तस्य सकषायस्य जीवस्य कर्मयोग्यानाम्—कर्मणो योग्यानां पुद्गलानामादानम्-उत्पादनं ग्रहणं कर्म कारणभावयोग्यानां पुद्गलानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इति व्यपदिश्यते ।

तथाच जीवकर्मणोरनादिः सम्बन्धो वर्तते तेन कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति न कर्मरहितस्य जीवस्य कषायलेशः सम्भवति । अतएव—तयोरनादिसम्बन्धादेवाऽमूर्तोऽपि जीवो मूर्तेनाऽपि कर्मणा बद्धो वर्तते, आकाशस्य पुद्गलादिवत् । अन्यथा—बन्धस्यादिमत्त्वे सति—आत्य-

---

तृतीय अध्याय

सूत्रार्थ—"सकसाय जीवस्स" इत्यादि" ?

कषाययुक्त जीव कर्मयोग पुद्गलो को ग्रहण करता है, वही बन्ध कहलाता है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—प्रथम सूत्र में कथित नौ तत्त्वो में से उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन के अनुसार क्रमप्राप्त तीसरे बन्धतत्त्व की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं—

जो जीवो को खींच कर दुर्गति में पटकते है, उन्हे कपाय कहते है अथवा जो जीवो को कषते है अर्थात् पीड़ा पहुँचाते है, उन्हे कपाय कहते है । कप का अर्थ है ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म अथवा संसार, उनका जिससे आय—लाभ हो अर्थात् जिसके कारण ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध हो या जन्म—मरण रूप ससार की प्राप्ति हो वह कपाय है क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कपाय है ।

कषाययुक्त जीव सकपाय कहलाता है । सकपाय जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को अर्थात् कार्मण वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है अर्थात् अन्य प्रदेशो के साथ एकमेक कर लेता है, वह बन्ध कहलाता है ।

जीव और कर्म का संवन्ध अनादि काल से चला आरहा है । कर्म के उदय के कारण जीव कपाययुक्त होता है । जव जीव कर्म से सर्वथा रहित हो जाता है तब कपाय का लेप का सभव नहीं है । अतएव जीव और कर्म के अनादि कालीन संवन्ध के कारण ही स्वभाव से अमूर्त्त जीव भी मूर्त्त कर्म के द्वारा बद्ध हो रहा है ।

न्तिकीं शुद्धिं धारयतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत । एवञ्च—यथा भाजनविशेषे स्थापितानां नानारसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणतिर्भवति । एवं—कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो भवतीति भावः ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—आदौ प्रतिपादितेषु जीवाजीवबन्धादिनवतत्त्वेषु प्रथम—द्वितीयाध्ययनयोः क्रमतो जीवाजीवयोः प्ररूपणानन्तरं क्रमप्राप्तं बन्धतत्त्वं प्ररूपयितुमाह—"**सकसायजीवस्स**" इत्यादि । अनन्तानुबन्ध्यादिभेदाः षोडशविधाः—क्रोध—मान—माया—लोभाः कषायाः तैः कषायैः सह वर्तते इति सकषायस्तस्य सकषायस्य जीवस्य कर्मयोग्यपुद्गलानां कर्मवर्गणाभावप्राप्तियोग्यानां पुद्गलानामादानं ग्रहणं सश्लेषणं बन्ध उच्यते ।

तत्र—बन्धशब्दवाच्यार्थस्तु—बन्धनं बन्ध. आत्मप्रदेशपुद्गलाना परस्पराश्लेषः, नीर—क्षीरवत्सम्बन्धः प्रकृत्यादिभेदः । यद्वा—येन बध्यते—आत्मा अस्वातन्त्र्यमापाद्यते ज्ञानावरणादिना स पुद्गलपरिणामलक्षणो बन्धः, आत्मप्रदेशेषु रागद्वेषाद्यभ्यञ्जनेषु कर्मभावप्राप्तियोग्यपुद्गलानामाश्लेष इत्यर्थः ।

कषायशब्दार्थस्तु—कषति हिनस्ति आत्मानं दुर्गतौ पातनद्वारा—इति कषाय' '**कषहिंसा**-

---

अगर बन्ध की आदि मानी जाय तो उससे पूर्व जीव को सिद्ध के समान अत्यन्त शुद्ध मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में बन्ध के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा ।

जैसे किसी विशेष भाजन में रक्खे हुए नाना प्रकार के रस, बीज, पुष्प एवं फलादि का मदिरा के रूप में परिणमन हो जाता है. उसी प्रकार कर्मवर्गणा के पुद्गलो का योग और कषाय के कारण कर्म रूप में परिणमन हो जाता है ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—प्रारंभ में प्रतिपादित जीव, अजीव, बन्ध आदि नौ तत्त्वो में से प्रथम और द्वतीय अध्ययन में क्रम से जीव और अजीव तत्त्व का प्ररूपण किया गया। तदनन्तर क्रम से प्राप्त बन्ध तत्त्व की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ आदि के भेद से कषाय सोलह प्रकार के है । जो कषाय से युक्त होता है वह सकषाय कहलाता है । कषाययुक्त जीव कर्म के योग्य अर्थात् कार्मणवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है। यहीं बन्ध कहलाता है ।

आत्मप्रदेशो का और कार्मण जातीय पुद्गलो का परस्पर में बद्ध होना सश्लेष होना एकमेक हो जाना बन्ध शब्द का अर्थ है। बन्ध होने पर आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल क्षीर—नीर की तरह मिल जाता है । प्रकृति बन्ध आदि के भेद से बन्ध के चार प्रकार है ।

अथवा जिसके द्वारा आत्मा बाँधा जाय—पराधीन किया जाय, वह पुद्गल का परिणमन बन्ध कहलाता है । राग-द्वेष आदि से युक्त आत्मप्रदेशो में कार्मण—पुद्गलो का आश्लेष होना बन्ध है ।

जो आत्मा को दुर्गति में गिरा कर कषता है अर्थात् उसका घात करता है, वह

याम्' इति भौवादिकात् कषधातोर्बाहुलकादायप्रत्ययः, स च मुख्यतया चतुर्विधः क्रोध–मान–माया–लोभभेदात्–"कषायगुरभौ रसे रागवस्तुनि निर्यासे क्रोधादिषु विलेपने" इति हैमः।

जीवस्तु–आत्मा कर्ता स्थित्युत्पत्तिव्ययपरिणतिलक्षणो ग्राह्यः, तस्य कर्तृत्वे सत्येव कर्मबन्धफलानुभवौ सम्भवतः। कर्मशब्दार्थस्तु–क्रियते इति कर्म, तच्चाष्टविधम्–ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय–मोहनीय–आयुष्य–नाम–गोत्रा–ऽन्तराय भेदात्। तस्याऽष्टविधस्य कर्मणो योग्यानाम्–अष्टसु औदारिकवर्गणासु ज्ञानावरण–दर्शनावरणादि कर्मभावप्राप्तियोग्यानां पूरण–गलनलक्षणानां पुद्गलानाम् अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धीभूतानां चतुःस्पर्शानामादानमात्मप्रदेशेषु लगनं संश्लेषणं स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य धूलिरजःकणलगनवद् बन्धो भवतीति भावः।

मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मन स्तदाकारपरिणतिक्रिया कर्मलगनहेतुः तस्याः क्रियाया कर्ता चात्मा भवति। तथाविधक्रियानिर्वर्त्यं कर्म अष्टविधं कर्मबन्धं प्रति वक्ष्यमाणमिथ्यादर्शनादीनां सामान्यहेतुत्वेऽपि कषायस्य क्रोधादिरूपस्य प्रधानहेतुत्वं वर्तते, अतएवाऽत्र कषायग्रहणं कृतम्।

कषाय है। यह कषाय शब्द 'कष् हिंसायाम्' धातु से बना है। कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार मुख्य भेद है।

हैमकोश के अनुसार कषाय शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे–सुरभि, रस, राग, वस्तु, निर्यास; क्रोधादि और विलेपन।

जीव का अर्थ है आत्मा जो स्थिति, उत्पत्ति और व्यय रूप परिणाम से युक्त है। वह जीव कर्त्ता है। उसके कर्त्ता होने पर ही कर्म का बन्ध और फल का अनुभव संभव हो सकता है।

कर्म शब्द का अर्थ है–जो किया जाय सो कर्म। कर्म के आठ भेद है–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, और अन्तराय।

औदारिक आदि आठ प्रकार की पुद्गल की वर्गणाएँ है। उनमेंसे कार्मणवर्गणा के पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होने के योग्य होते हैं। अनन्तानन्त प्रदेशी और चार स्पर्श वाले ही वे पुद्गल आत्मप्रदेशो में मिल जाते है, जैसे तेल से चिकने शरीर पर धूलिके कण चिपक जाते है। यही बन्ध कहलाता है।

मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आत्मा तद्रूप मे परिणत होती है, वह परिणति क्रिया ही कर्मों के लगने का कारण है। उस क्रिया का कर्त्ता आत्मा है। आत्मा की क्रिया से उत्पन्न होने वाले कर्म आठ प्रकार के है। आगे कहे जाने वाले मिथ्यादर्शन आदि कर्मबन्ध के सामान्य कारण है, उसका प्रधान कारण तो क्रोध आदि कषाय ही है। इसी कारण यहाँ कषाय का ग्रहण किया गया है।

तत्र—क्रोधनं, क्रुध्यति वा येन स क्रोधः अक्षान्तिपरिणतिरूपः स्वपरात्मनोऽप्रीतिलक्षणः क्रोध-मोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेष' कृत्याऽकृत्यविवेकोन्मूलक' प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः। माननम्—स्वमपेक्षयाऽन्यस्य हीनतया परिच्छेदनं मानः अहङ्काररूप आत्मपरिणतिविशेषः। मीयते—प्रतार्यते—प्रक्षिप्यते वा नरकादौ लोकोऽनया इति माया, मान्ति वा सर्वे दुर्गुणा यस्यामिति वा—माया। पराऽभिसन्धानहेतुकोऽशुद्धप्रयोगः—छद्मप्रयोगो वा माया व्यपदिश्यते। लुभ्यते—व्याकुली-क्रियते आत्माऽनेनेति लोभ'। अभिकाङ्क्षा—गर्धः, स पुनस्तृष्णापिपासाऽभिष्वङ्गास्वादो गार्ध्यमिति। "तत्र—प्रत्येकमपि क्रोधादिकषायोऽनन्तससारानुबन्धी भवति। एते चत्वारस्तावद् अत्यन्तपापिष्ठा भवहेतनो भवन्ति भवप्राप्ते मूलकारणम् जन्मजराभावरूपायाः संसारस्थितेर्निदानं प्राणिनां कष्टतमाः अनपराधवैरिणः सन्ति।

"तथाचोक्तं दशवैकालिके ८–अध्ययने २–उद्देशके ४०–गाथायाम्—

"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥ १ ॥

एवम्— जं अइदुक्खं लोए, जं च सुहं उत्तमं तिहुयणंमि।
तं जाण कसायाणं, वुड्ढिक्खयहेउयं सव्वं ॥ २ ॥

क्रोधन अर्थात् कोप होना क्रोध है अथवा जिसके कारण जीव क्रुद्ध हो जाय वह क्रोध कहलाता है। यह क्रोध अक्षमारूप अर्थात् क्षमा का विरोधी है, स्वात्मा एवं परात्मा के प्रति अप्रीति रूप है और क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला जीव का एक प्रकार का परिणमन है वह कृत्य और अकृत्य के विवेक को नष्ट कर देता है, प्रज्वलन रूप होता है।

अपनी अपेक्षा दूसरे को हीन मानना मान है। यह अहंकाररूप आत्मा की एक परिणति है।

जिसके द्वारा ठगा जाता है अथवा जिसके द्वारा लोग नरक आदि में डाले जाते हैं, वह माया है। अथवा जिसमें सभी दुर्गुण आ जाते है—समा जाते है, वह माया है। दूसरे को ठगने के लिए जो अशुद्ध प्रयोग या छद्म प्रयोग किया जाता है, वह सब माया है।

जिसके द्वारा आत्मा लुब्ध या व्याकुल किया जाता है, वह लोभ कहलाता है। उसके दो रूप है- आकांक्षा और गृद्धि। अप्राप्त वस्तु की कामना होना आकांक्षा है और प्राप्त वस्तु पर आसक्ति होना गृद्धि है। लोभ को तृष्णा, पिपासा, अभिष्वंग, आस्वाद, गार्ध्य आदि भी कहते है।

इनमें से क्रोध आदि एक-एक कषाय भी अनन्त ससार भ्रमण का कारण होता है। यह चारो कषाय अत्यन्त पापमय है, संसार के कारण है, भव की प्राप्ति के मूल कारण है, जन्म-जरा रूप ससार स्थिति के निदान है, प्राणियो के लिए अत्यन्त कष्टजनक है और निरपराध वैरी है। दशवैकालिक सूत्र में ८ वे अध्ययन के दूसरे उद्देशक की ४० वीं गथा में कहा है—

"क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीतौ माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषाया सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥ १ ॥
"यदतिदुःखं लोके यच्च सुखमुत्तमं लोके ।
तज्जानीहि कषायाणां, वृद्धिक्षयहेतुजं सर्वम् ॥ २ ॥

स च कषायपरिणामः परिणन्ता चेदात्मा तदा—तस्य सम्भवति, न तु—अपरिणतुः सर्वगतस्याऽक्रियस्यात्मनः । तस्मात्—परिणन्तुरात्मनः कषायपरिणाम' । उक्तञ्च—

जीवस्तु कर्मबन्धनबद्धो वीरस्य भगवतः कर्त्ता ।
सन्तत्याऽनाद्यं च तदिष्टं कर्मात्मनः कर्तुः ॥ १ ॥
"संसारानादित्वाद्—बन्धस्यानादिता भवति सिद्धा ।
अतएव कर्ममूर्त्त—नाऽमूर्तं बन्धकं हीष्टम् ॥ २ ॥
"न च निर्हेतुक मिष्टं—देहग्रहणं यदादिमं नृणाम् ।
सतिचाप्यहेतुकत्वे—न स्यात् संसारनिर्मोक्षः ॥ ३ ॥
"तस्मान्मूर्तं कर्मेष्यतेऽर्हता यच्च तस्य परिणामः ।
दृष्टोमूर्तिर्दृष्टौ च—येन तदुदीरणोपशमौ ॥ ४ ॥

क्रोध और मान अगर निगृहीत न किये गये और माया तथा लोभ अगर बढ़ते रहे तो ये चारो कषाय पुनर्भव के मूल का सिंचन करते है और भी कहा है—

'लोक में जो अत्यन्त दुःख है और तीनो लोको में जो उत्तम सुख है, वह कषायो की वृद्धि और क्षय के कारण ही जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कषायो की वृद्धि से दुःख और क्षय से उत्तम सुख की उपलब्धि होती है ।

आत्मा में कषाय-परिणाम तभी सभव है जब कि उसे परिणमनशील माना जाय । अगर आत्मा को अपरिणामी, सर्वव्यापी और निष्क्रिय माना जाय तो उसमें कषायपरिणाम नहीं हो सकता । इस कारण परिणमन शील आत्मा में ही कषायपरिणामका सभव है कहा भी है—

'भगवान् महावीर के मतानुसार जीव कर्मबन्धन से वद्ध है और कर्त्ता आत्मा के साथ कर्म प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से लगे हुए है ॥१॥

संसार अनादि काल से है अतः कर्मबन्ध भी अनादिकालीन ही सिद्ध होता है इसी कारण कर्म मूर्त्त है; जो अमूर्त्त होता है वह बन्धकर्त्ता नहीं होता ॥२॥

मनुष्य प्रारम्भ में जो देह को ग्रहण करता है, वह निर्हेतुक नहीं । उसका कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए । अगर विना कारण ही देह का ग्रहण माना जाय तो संसार से कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता ॥३॥

अर्हन्त भगवान् कर्म को मूर्त्त मानते है, क्योकि कर्म का फल (देह आदि) मूर्त्त दिखाई देता है, और उसकी उदीरणा तथा उपशम का होना भी देखा गया है ॥४॥

"यदि रूपि कर्म न स्यात्–न स्यात्मसद्दवत्त्येवद्धत्वात् ।
वद्धे वा सति कर्मणि–ननु सिद्धा रूपिता तस्य ॥ ५ ॥

तथाच–कर्मणा मूर्तत्वे सिद्धे सति न सर्वे एव पुद्गला कर्मणो योग्या भवन्ति, अपितु–वर्गणा क्रमेण, तत्र-मनोवर्गणायोग्यपुद्गलराशेरुपरि भूयस्त्वादयोग्यवर्गणामतीत्या–ऽत्यल्पत्वाच्च कार्मण-शरीरायोग्यवर्गणामतिक्रम्य–आत्मा कर्त्ता–अस्थगितास्त्रवद्वार' अतिसूक्ष्म'न् अतिस्थूलांश्च पुद्गल-स्कन्धान् अयोग्यान् परित्यज्य, अनन्तावयवानपि पुद्गलस्कन्धान् कर्मभावप्राप्तियोग्यानेवा–ऽऽदत्ते । तथाचोक्तम्—"न स आदातुं स्कन्धानतिसूक्ष्मान् वादरांश्च शक्नोति ।

स्वादेन न बध्यन्ते जात्वणवः शर्कराश्च तथा ॥ १ ॥
"अणवः स्कन्धाश्चैकोत्तरपरिवृद्धाः सुसूक्ष्मपरिणामाः ।
केचिदनन्तावयवा अप्यग्राह्या जिनैरुक्ताः ॥ २ ॥
एभ्यस्तु पराः स्कन्धाः एकोत्तरवृद्धिवर्धिताः सूक्ष्माः ।
पञ्चरसपञ्चवर्णा स्तथा द्विगन्धाश्चतुः स्पर्शाः ॥ ३ ॥
अगुरुलघवव्यवस्थिताश्च क्षेत्रैकत्वेन वर्तमानाश्च ।
प्रायोग्याः कर्मतया ग्रहीतुमुक्ताः परिणमय्य ॥ ४ ॥

अगर कर्म रूपी न होते तो आत्मा के साथ बद्ध न होने से आत्मा के साथ रह नहीं सकते थे। जब कर्म बद्ध है तो उसका रूपीपन भी सिद्ध हो सकता है ॥५॥

इस प्रकार कर्म का मूर्त्त होना सिद्ध हो जाता है। किन्तु सभी पुद्गल कर्म के योग्य होते है, ऐसा नहींसमझ लेना चाहिए। सिर्फ कार्मण वर्गणा के पुद्गल ही, जो अन्य समस्त वर्गणाओ की अपेक्षा सूक्ष्म होते है। वही कर्म रूपमें ग्रहण किये जाते है। जिस आत्मा ने कर्मोंके आगमन के द्वारो को–मिथ्यात्व, अविरति आदि को–नहीं रोका है, वह अति सूक्ष्म और अति स्थूल, पुद्गलो को, जो कि बन्ध के योग्य नहीं होते, छोड़ कर अनन्त प्रदेशी कर्म योग्य पुद्गलस्कन्धो को ही कर्म के रूप में ग्रहण करता है। कहा भी है—

जीव अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त बादर पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता। अणु और शर्करा कभी इस रूप से जीव के साथ बद्ध नहीं होते है ॥१॥

कोई पुद्गल अणुरूप और कोई स्कन्धरूप होता है। अत्यन्त सूक्ष्म परिणाम वाले कोई–कोई पुद्गल एक–एक प्रदेश की वृद्धि होते–होते अनन्तप्रदेशी हो जाते है। जिनेन्द्र भगवन्तो ने कहा है कि कितनेक अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी अग्राह्य होते है ॥२॥

उन स्कन्धो में भी एक–एक प्रदेश की वृद्धि हो कर जो पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध और चार स्पर्श वाले अगुरु लघु, अवस्थित और जीव प्रदेशो के साथ एक ही क्षेत्र में अवगाढ हो और कर्मरूप में परिणत होने के योग्य हो, वही पुद्गल कर्मरूप में ग्रहण किये जाते है ॥४॥

"अणवोऽसेत्स्यद्भ्योऽनन्तगुणाः सिद्धवदनन्ततमभागाः ।
एकस्कन्धीभूताः स्कन्धानां चापि मानं तत् ॥५॥
"औदारिकादिशेषद्रव्यादाने स एव विधिरुक्तः ।
तत्राद्यस्य स्कन्धाः सर्वेऽल्पिष्ठप्रदेशास्तु ॥६॥
"तेभ्योऽसंख्येयगुणा वैक्रिययोग्याः प्रदेशतः स्कन्धाः ।
आहारकस्य तेभ्योऽपि तथा स्कन्धा असंख्येयगुणाः ॥७॥
"तेभ्यः प्रभृतितथैवाऽनन्ताभ्यस्ताः प्रदेशतः स्कन्धाः ।
क्रमशस्तैजसभापा द्रव्यमनःकर्मणां योग्याः ॥८॥ इति ॥

तथाच—सकषायो जीवः औदारिकवैक्रिय-आहारक-तैजस-भाषा-प्राणा-ऽपान-मन·-कर्म भेदे-नाऽष्टविधेषु परमाणुद्विप्रदेशादिस्कन्धप्रभृतियावद् अचित्तमहास्कन्धपर्यन्तेपु पुद्गलेपु मध्ये ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽऽयुष्या-ऽन्तरायकर्मवर्गणायोग्यानेव सूक्ष्मपरिणतियोग्यान्, न तु बादरपरिणतियोग्यान् पुद्गलानादत्ते कर्त्राऽऽत्मना ज्ञानावरणादिसमर्थास्ते पुद्गला आदीयमानाः ज्ञानमाव्रियते येन कर्मणा तद्ज्ञानावरणं कर्म,—

अभव्य जीवो की राशि से अनन्तगुण और सिद्धो से अनन्तवें भाग परमाणु मिलकर एक स्कन्ध (पिण्ड) के रूप में परिणत हुए हो; यह स्कन्धो का परिमाण है ॥५॥

औदारिक आदि शेप पुद्गलद्रव्यो के ग्रहण करने की भी यही विधि कही गई है । औदारिक वर्गणा के सभी स्कन्ध अल्प प्रदेशो वाले होते है ॥६॥

उन औदारिक शरीर के योग्य स्कन्धो की अपेक्षा, वैक्रिय शरीर के योग्य स्कन्ध प्रदेशों की अपेक्षा असख्यात गुणा अधिक होते है और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा आहारक शरीर के योग्य स्कन्ध प्रदेशो की अपेक्षा असख्यातगुणा होते है ॥७॥

आहारक शरीर के योग्य स्कन्धो की अपेक्षा क्रमशः अनन्तगुणित प्रदेशो वाले स्कन्ध तैजस शरीर के योग्य होते है । तैजस शरीर के योग्य स्कन्धो से अनन्तगुणित प्रदेशो वाले स्कन्ध भाषा के उनसे अनन्तगुणित प्रदेशों वाले स्कन्ध प्राणापान के, उनसे अनन्त गुणित प्रदेशों वाले स्कन्ध मन के तथा उनसे भी अनन्त गुणित प्रदेशो वाले स्कन्ध कर्म के योग्य होते है ॥८॥

कषाय युक्त जीव औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भापा, प्राणापान, मन और कर्मवर्गणा के भेद से आठ प्रकार के, परमाणु द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि से लगाकर सर्वलोक व्यापी अचित्त महास्कन्ध पर्यन्त, पुद्गलो में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय. मोहनीय नाम, गोत्र, आयु और अन्तराय कर्मवर्गणा के योग्य सूक्ष्म परिणमन वाले पुद्गलो को ही ग्रहण करता है, बादर परिणमन के योग्य पुद्गलो को नहीं । आत्मा ज्ञान के आवरण में समर्थ उन पुद्गलो को ग्रहण करता है ।

एवं-दर्शनमाव्रियते येन-तद्दर्शनावरणं कर्म, इत्येवं रीत्या ज्ञानावरणादिसमर्थान्-पुद्गलान् विहाय ज्ञानावरणादिसंज्ञाः सिध्यन्ति एवञ्च-एकलोलीभूतः आत्मप्रदेशकर्मपुद्गलपिण्डः आत्मप्रदेशानां ज्ञानावरणादिसमर्थपुद्गलानां च परस्परानुगमनलक्षणो बन्धो व्यपदिश्यते ।

कार्मणशरीरमात्मैक्यात् योगकषायपरिणतियुक्तमपि ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यपुद्गलानामात्मसात्करणे, एकत्वपरिणामापादने समर्थं भवति । अतःकार्मणशरीरेण तद्योग्यपुद्गलानां ग्रहणकृतो बन्ध उच्यते, । यथा—दीप ऊष्मगुणयोगाद् वर्त्या स्नेहमादाया-ऽर्चीरूपेण परिणमयति, तथा आत्मदीपो राग-द्वेषादिगुणयोगात् काषादियोगवर्त्या ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यपुद्गलस्कन्धानादाय ज्ञानावरणादिकर्मतया परिणतिमासादयति । तथाच—स्नेहाभ्यक्ते शरीर उदकार्द्रीभूते वस्त्रे वा धूलिरजः प्रभृति कणा लगन्ति मलिनयन्ति च एवं—रागादिस्नेहाभ्यक्तस्याऽऽत्मनःकार्मणशरीरपरिणामोऽपूर्वकर्मग्रहणे योग्यतां प्रापयति, आत्मशरीरयोरैक्यादिना भोगवीर्यतः कर्मबन्धो भवतीति भावः । तथाचोक्तम्

"अपि चायं प्रायोगिकबन्धः स च भवति कर्तृसामर्थ्यात् ।
इष्टश्च स प्रयोगोऽनाभोगिकवीर्यस्तस्य ॥१॥
"ननु वीर्येणाऽनाभोगिकेन परिपाच्यरसमुदाहरति ।
परिणमयति धातुतया स च तमनाभोगवीर्येण ॥२॥

जो कर्म ज्ञान को आच्छादित करता है वह ज्ञानावरण कहलाता है । इसी प्रकार जो दर्शन गुण को आच्छादित करता है उसे दर्शनावरण कर्म कहते है । इस प्रकार ज्ञान आदि गुणो को आवृत करने में समर्थ कर्म पुद्गलो की ज्ञानावरण आदि संज्ञाएँ प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार आत्मा के प्रदेशो के साथ कर्मपुद्गलो का एकमेक हो जाना बन्ध कहलाता है।

कार्मण शरीर आत्मा के साथ एकमेक हो रहा है । योग और कषाय से युक्त आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है । इस कारण कार्मण शरीर के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलो का ग्रहण करना बन्ध कहा जाता है । जैसे दीपक अपनी उष्णता के कारण बत्ती के द्वारा, तैल ग्रहण करके ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी दीपक राग-द्वेष आदि गुणो के योग से कषाय एवं योग रूपी बत्ती से ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधो को ग्रहण करके ज्ञानावरण आदि कर्मों के रूप में परिणत करता है।

जैसे तैल से लिप्त शरीर में और जल से गीले हुए वस्त्र में धूल और रेत के कण चिपक जाते है और शरीर या वस्त्र को मलीन बना देते है, उसी प्रकार रागादि की चिकनाई से चिकना बना हुआ आत्मा नवीन कर्मों को ग्रहण करने के योग्य होता है । आशय यह है कि आत्मा और शरीर के एकमेक होने से आभोग वीर्य के द्वारा कर्मका बन्ध होता है। कहा भी है—

यह प्रायोगिक बन्ध कर्त्ता के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है और उसके अनाभोगिक वीर्य से माना गया है ॥१॥

"घटकादिभाविनो मृदवयवा आम्रेडिता यथा पिण्डे ।
तद् वद् ज्ञानावरणादिकर्मदेशा अपि ज्ञेयाः ॥३॥
आम्रेडितमविभक्तं यद्यप्यष्टविधमिष्यते कर्म ।
एवमपि जिनैर्दृष्टं नानात्वं प्रकृतितस्तस्य ॥४॥
"पुद्गलता साम्येपि द्रव्याणां ननु विपाकतो भेदः ।
दृष्टः पित्तकफानिलपरिणामवतां स्वगुणभेदात् ॥५॥
"यस्य गुणो यादृक् स्यात् तादृशमेव भवति तस्य फलम् ।
नहि जाम्ववानि निम्बः फलति न जम्बुश्च निम्बानि ॥६॥
"कर्मतरवोऽपि तद्वन्नाना स्व-स्वप्रयोगपरिषिक्ताः ।
नाना स्वस्वगुणसमान् फलन्ति तांस्तान् गुणविशेषान् ॥७॥ इति ॥

"उक्तञ्च—समवायाङ्गसूत्रे ५-समवाये—"जोगबन्धे—कसायबन्धे य—" इति योगबन्धः—कषायबन्धश्चेति । एवं-स्थानाङ्गे २—स्थाने २—उद्देशके,—"दोहिं ठाणेहिं पावकम्मा बंधंति, तंजहा—

अनाभोगिक वीर्य के द्वारा रस को पचाकर वह अनाभोगिक वीर्य के द्वारा ही उसे धातु रूप में परिणत करता है ॥२॥

जैसे घट आदि में होने वाले मृत्तिका के अवयव पिण्ड में समाहित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के देश (अवयव) भी समझ लेना चाहिए ॥३॥

कर्म यद्यपि समाहित एवं अविभक्त है—कार्मण वर्गणा द्रव्य की अपेक्षा से एक रूप है, फिर भी जिनेन्द्रोने प्रकृतिके भेद से उसे आठ प्रकार का देखा है, अर्थात् कर्म की प्रकृतियाँ आठ होने से कर्म के आठ भेद माने गए है ॥४॥

जैसे पुद्गलत्व की अपेक्षा से सभी पुद्गल द्रव्य समान है, फिर भी उनके विपाक में अन्तर देखा जाता है । कोई द्रव्य पित्तकारी होता है, कोई कफजनक होता है और कोई वातवर्द्धक होता है, इस प्रकार गुणो में भेद होने से उन-उन द्रव्यो मे भी भेद माना जाता है. इसी प्रकार कर्मो में भी प्रकृति के भेद से भेद माना गया है ॥५॥

जिस कर्म की जैसी प्रकृति (गुण स्वभाव) है, उसका विपाक- फल भी वैसा ही होता है । जामुन मे निबौली नहीं लगती और नीम के वृक्षमें जामुन नहीं लग सकते ॥६॥

इसी प्रकार नाना प्रकार के अपने प्रयोग रूपी जल से सींचे हुए कर्म रूपी वृक्ष भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार नाना प्रकार के फलो को उत्पन्न करते है ॥७॥

समवायांग सूत्र के पाँचवे समवाय मे कहा है—योग से होने वाला बन्ध और कषाय से होने वाला बन्ध ।

इसी प्रकार स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान के दूसरे उद्देशक म कहा है—'पापकर्मों का बन्ध दो कारणो से होता है, यथा—राग से और द्वेष से । राग दो प्रकार का कहा गया है—

रागेण य दोसेण य–"। "रागे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–माया य लोभे य"। "दोसे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–कोहे य माणे य–"इति।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पापकर्माणि बध्यन्ते, तद्यथा–रागेण च,द्वेषेण च,। रागो द्विविधः प्रज्ञप्तः-तद्यथा माया च–लोभश्च। द्वेषो द्विविधः प्रज्ञप्तः–तद्यथा-क्रोधश्च मानश्चेति। एवं प्रज्ञापनायां त्रयोविंशति पदेऽपि ॥१॥

मूलसूत्रम्—"सो चउव्विहो, पगइ-ठिइ-अणुभाग-पएसभेयओ–" ॥२॥

छाया—"स चतुर्विधः-प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदतः–" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रोक्तो बन्धः किमेकप्रकार एव, आहोस्विदनेकप्रकारः–? इत्याकाङ्क्षायामाह–**"सो चउव्विहो"** इत्यादि। तथाच–प्रकृतिबन्धः–१ स्थितिबन्धः–२ अनुभागबन्धः–३ प्रदेशबन्धश्च–४ इत्येवं चतुर्विधो बन्ध इति फलितम्।

तत्र–प्रकृतिबन्धः कर्मणः प्रकृतयोऽशाः भेदाः ज्ञानावरणीयादयोऽष्टौ, तासां बन्धः–प्रकृतिबन्धः,प्रकृतेर्वाऽविशेषितस्य कर्मणो बन्धः प्रकृतिबन्धः। !

स्थितिबन्धः–अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य स्थितिकालनियमनम् अष्टानां ज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीनां जघन्यभेदभिन्नावस्थानस्य निवर्तनं वा स्थितिबन्ध उच्यते ॥२॥

अनुभागबन्धः–अनुभागो विपाकस्तीव्रादिभेदो रसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः ॥३॥

माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का कहा गया है–क्रोध और मान।, प्रज्ञापनासूत्र के तेवीसवे पद में भी इसी प्रकार का प्ररूपण किया गया है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—"सो चउव्विहो, पगइ-ठिइ' इत्यादि। सूत्र–२

सूत्रार्थ—बन्ध चार प्रकार का है–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ॥२॥

पूर्व सूत्र में कथित बन्ध क्या एक ही प्रकार का है अथवा अनेक प्रकार का है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है–बन्ध के चार भेद है (१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध।

१–प्रकृतिबन्ध–प्रकृति का अर्थ है–अंश या भेद उसके ज्ञानावरण आदि आठ भेद है। उनका बन्ध होना प्रकृतिबन्ध कहलाता है। अथवा अविशिष्ट–साधारण जो कर्मद्रव्य है उनमें नाना प्रकार की प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानादि गुणो को आवृत करने के विभिन्न स्वभावो का उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है।

२–स्थितिबन्ध–परिणामविशेष के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म के दलिको की आत्मा के साथ बँधे रहने को कालमर्यादा को स्थितिबन्ध कहते है। अथवा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मप्रकृतियो के जघन्य आदि भेद से भिन्न अवस्थान का निर्वर्तन स्थिति बन्ध कहलाता है।

३–अनुभागबन्ध –अनुभाग अर्थात् गृहीत कर्मदलिको मे उत्पन्न होने वाला तीव्र या

प्रदेशबन्धः—जीवप्रदेशेषु-कर्मप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानामनन्तानन्ताना प्रतिप्रकृतिप्रतिनियतपरिमाणानां सम्बन्धरूपो बन्धभेदः । कर्मपुद्गलानां—पदग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्रधानत्वेनैव करोति यः स प्रदेशबन्ध उच्यते ॥४॥

तथाचोक्तम् "प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः–प्रदेशः प्रचयात्मकः ॥१॥ इति ।

तत्र—योगहेतुकौ प्रकृतिप्रदेशबन्धौ भवतः, कषायहेतुकौ च स्थित्यनुभागौ स्तः, तत्प्रकर्षाप्रकर्षभेदात् तदबन्धविचित्रभावः सम्भवति ।

उक्तञ्च—"जोगा पयडिपएसा ठिइअणुभागा कसायओ कुणइ ।
अपरिदुच्छिण्णे सुयबंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥१॥ इति ।

"योगात्प्रकृतिप्रदेशौ—स्थित्यनुभागौ कषायतः करोति ।
अपरिणतोच्छिन्नयोगश्च बन्धस्थितिकारणं नास्ति ॥१ इति ॥

अपरिणतस्य—उपशान्तकषायस्य, उच्छिन्नस्य-क्षीणकषायादिकस्य च स्थितिबन्धहेतुर्न भवति इति ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—अथ पूर्वसूत्रोक्तलक्षणः खलु कर्मभावबन्ध किमेकविधः—' उताहो-अनेकविधः—' इत्याशङ्कायामाह "सो चउव्विहो" इत्यादि । स खलु पूर्वसूत्रोक्त कर्मभावबन्धश्चतुर्विधः

मन्द विपाक—रस, उसका बन्ध अनुभागबन्ध कहलाता है ।

४—प्रदेश बन्ध—जीवप्रदेशो में, कर्मप्रदेशो में अनन्त कर्म प्रदेशो का प्रत्येक प्रकृति में नियत परिमाण के रूप में सम्बंध होना प्रदेशबन्ध है । कर्मदलिको का सचय प्रदेशबन्ध कहलाता है अतः स्थिति और रस की अपेक्षा न रखते हुए दलिकों की सख्या की प्रधानता से ही जो बध हो उसे प्रदेशबन्ध समझना चाहिए । कहा भी है—

'परिणाम को प्रकृति कहते है, काल की अवधि को स्थिति कहते है, रस को अनुभाग और दलिकों का प्रचय—समूह को प्रदेश कहते है ।'

इन चार प्रकार के बन्धो मे प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से होते है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के निमित्त से होते है । योग और कषाय की तीव्रता और मन्दता के भेद से बन्ध मे विविधता हो जाती है । कहा भि है—'योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध जीव करता है । जिस जीव का योग और कषाय अपरिणत होता है अथवा नष्ट होजाता है, उसको विशेष स्थितिबन्ध का कारण नहीं रहता ।

उपशान्त कषाय वीतराग अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थान के जीव अपरिणत योग कषाय वाले कहलाते है और क्षीण कषाय आदि जीव उच्छिन्न या विनष्ट योग—कषाय वाले कहलाते हैं । ऐसे जीवो को जो कर्मबन्ध होता है, उसमे दो समय से अधिक स्थिति नहीं पड़ती है ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्रो मे प्रतिपादित बन्ध क्या एक प्रकार का है या अनेक प्रकार का ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

प्रज्ञप्तः, प्रकृति—स्थित्य नुभाग-प्रदेशभेदात् । तत्र—प्रकृतिः खलु मूलं कारणम्, यथा-घटकपालदीनां मृद्द्रव्यं भवति । प्रक्रियन्ते यस्या सकाशात् सा प्रकृतिः—स्वभाव इत्यादि उक्तञ्च—**'शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य—"** इति, यथा वा—**"दुष्टप्रकृतिरयं—"** दुष्टस्वभावः इति लोके प्रसिद्धम् ।

ज्ञानावरणकर्मणो ज्ञानाच्छादनं प्रकृति स्वभावो वर्तते । तथाच ज्ञानावरणकर्मणा-अर्थानवगमो भवति एवं- दर्शनावरणकर्मणा-अर्थानालोचन भवति, एवं—वेदनीयकर्मादावपि विज्ञेयम्, स्वभाव-वचनः प्रकृतिशब्दो भावसाधनो बोध्य । प्रकृतिरूपो बन्धः प्रकृतिबन्धः, ज्ञानावरणादिकर्मात्मनो-रैक्यलक्षणः पुद्गलादानरूपः तत्स्वभावादप्रच्युत स्थिति रुच्यते, स्थितिशब्दोऽपि भावसाधनः ।

उपात्तस्याऽवस्थानकालपरिच्छेदात् स्थितिबन्धो भवति, यथा—गवादीक्षीराणां माधुर्यस्वभावा-दप्रच्यवः स्थितिः, तथा—ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्यवः स्थितिः कर्त्रा खलु-आत्मना परिगृहीतस्य कर्मपुद्गलराशेरात्मप्रदेशेष्ववस्थान स्थिति रितिपर्यवसितम्, तया तद्रूपो वा बन्धःस्थितिबन्धः

अनुभागो—ऽनुभावः कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेष उच्यते । तथाच—कालान्तरावस्थाने-सति विपाकावस्था अनुभावबन्ध उच्यते, प्राप्तपरिपाकावस्थस्य बदरादेरिवोपभोग्यत्वात् । स्थितौ-

---

पूर्वोक्त कर्मबन्ध चार प्रकार का कहा गया है—(१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनु-भागबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध । प्रकृति का अर्थ है—मूलकारण, यहाँ उसका आशय स्वभाव है । जैसे—शीतलता जो है सो जल का स्वभाव है, अथवा यह पुरुष दुष्ट प्रकृति है, इसका अर्थ है 'यह पुरुष दुष्ट स्वभाव वाला है । यह उक्ति लोक में प्रसिद्ध है ।

ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति या स्वभाव ज्ञान को अच्छादित करना है। इस कारण ज्ञानावरण कर्म के उदय से पदार्थों के ज्ञान का अभाव होता है। दर्शनावरण कर्म के उदय से पदार्थों के आलोचन (सामान्यज्ञान) का अभाव होता है । इसी प्रकार वेदनीय आदि कर्मों की भी विभिन्न प्रकृतियाँ समझ लेना चाहिए। स्वभाव का वाचक प्रकृति शब्द भावसाधन है। प्रकृति रूप बन्ध को प्रकृति-बन्ध कहते है ।

ज्ञानावरण आदि कर्मों का आत्मप्रदेशो के साथ एक भेद होना जो बन्ध है, उसका अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है तात्पर्य यह है कि आत्मप्रदेशो के साथ कर्म पुद्गलो के बद्ध रहने के काल की जो अवधि है, वह स्थितिबन्ध है । स्थिति शब्द भी भावसाधन है अर्थात् ठह-रने को स्थिति कहते है । गृहीत वस्तु के ठहरने के काल की मर्यादा स्थिति कहलाती है । जैसे गाय आदि के दूध की मधुरता—स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के ज्ञानाच्छादन आदि स्वभाव का च्युत न होना स्थिति है । निष्कर्ष यह है कि आत्मा के द्वारा ग्रहण की हुई कर्म—पुद्गलो की राशि का आत्मप्रदेशो में अवस्थित रहना स्थिति है । उसके द्वारा या उस रूप में होने वाला बन्ध स्थितिबन्ध है ।

अनुभाग अर्थात् अनुभाव । कर्म पुद्गलो में रहा हुआ एक विशेष प्रकार का सामर्थ्य अनुभाग है । तात्पर्य यह है कि ग्रहण किये जाते हुए कर्मपुद्गलो में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम

सत्यां फलदानक्षमत्वादनुभावबन्धो भवति, स च- सर्वदेशघात्याघात्येक–द्वि-त्रि-चतुःस्थान शुभाशुभतीव्रमन्दादिरूपः इयत्तपरिच्छेदलक्षणःप्रदेशः । तथाच–कर्तुरात्मनः स्वप्रदेशेपु कर्मपुद्गलद्रव्य-परिमाणपरिच्छेदः प्रदेशबन्ध उच्यते ।

एवञ्च–विचित्रःखलु पुद्गलपरिणामः कर्तुरात्मनोऽध्यवसायाऽनुगृहीतो भवति । यथा–मोदकोवातपित्तहरो बुद्धिवर्धनः संमोहकारी–इत्यादिरीत्या जीवसयोगाद् नानाकारेण परिणमते, एवं–कर्मवर्गणा योग्यपुद्गलस्कन्धराशिरपि कश्चिदात्मसम्बन्धात् ज्ञानस्यावरणं करोति, तदन्यः कश्चिद् दर्शनस्य स्थगनं विधत्ते, अपरःकश्चित् सुखदुःखानुभवहेतु र्भवति, कश्चित्पुनस्तत्त्वार्थश्रद्धानं कारयति, इत्यादिबोध्यम् ।

तथाचोक्तम्—"इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च-तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः ।
तासां यः स्थितिकाल-निवन्धः स्थितिबन्धः स उक्तः ॥१॥
"तासामेव विपाकनिबन्धो यो नाम निर्वचनभिन्नः ।
सरसोऽनुभावसंज्ञस्तीव्रो मन्दोऽथ मध्यो वा ॥२॥
"तेषां पूर्वोक्तानां स्कन्धानां सर्वतोऽपि जीवेन ।
सर्वैर्देशैर्योग विशेषाद् ग्रहणं प्रदेशाख्यम् ॥३॥

अथवा मन्द, मन्दतर और मन्दतम फल प्रदान करने की जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे अनुभाग बन्ध कहते है । कर्मों का अनुभाव कषाय की तीव्रता–मन्दता के अनुसार होता है और इसी कारण वह अनेक प्रकार का है कोई अनुभाग देशघाती तो कोई सर्वघाती होता है । कोई एक स्थानक, कोई द्विस्थानक, कोई त्रिस्थानक तो कोई चतुःस्थानक होता ।

आत्मा के प्रदेशो में कर्मपुद्गलद्रव्य के परिमाण का परिच्छेद प्रदेशबन्ध है ।

इस प्रकार आत्मा के अध्यवसायो के कारण पुद्गलो का परिणमन विचित्र प्रकार का होता है । जैसे मोदक वात और पित्त को हरने वाला, बुद्धिवर्धक, संमोह कारी होता है, इत्यादि रूप से जीव के संयोग से वह नाना आकारो में परिणत होता है, इसी प्रकार कर्म वर्गणा के पुद्गलो की कोई राशी आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान का आवरण करती है, कोई दर्शन का आवरण करती है, कोई,सुख–दुःख की अनुभूती का कारण होती है, कोई तत्त्वो के विपय मे अश्रद्धा उत्पन्न करती है, इत्यादि । कहा भी है—

इस प्रकार कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियां कही गई है, उनकी स्थिति के काल का जो कारण है । वह स्थितिबन्ध कहा गया है ॥१॥

उन प्रकृतियो के विपाक का जो कारण है, जो उनके नाम के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार का है, उस रस को अनुभाव कहते है । उसमें कोई तीव्र कोई मन्द और कोई मध्यम होता है ॥२॥

"प्रत्येकमात्मदेशाः कर्मावयवैरनन्तकैर्बन्धाः ।
कर्माणि बध्नतो मुञ्चतश्च सातत्ययोगेन ॥४ इति ॥

उक्तञ्च समवायाङ्गे ४ समवाये—"**चउव्विहे बंधे पण्णत्ते, तंजहा पगइबंधे—ठिइबंधे—अणुभावबंधे पएसबंधे—**" इति । चतुर्विधो बन्ध' प्रज्ञप्तः, तद्यथा—प्रकृतिबन्ध'-१ स्थितिबन्ध'-२ अनुभावबन्धः-३ प्रदेशबन्ध' ४ इति ॥२॥

सूलसूत्रम्—"बंधहेउणो पंच मिच्छादंसणाविरइपमायकसायजोगा—" ३॥

छाया —बन्धहेतवःपञ्च, मिथ्याऽदर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाययोगाः—" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व कर्मभावबन्धः प्ररूपित', सम्प्रति—तस्य बन्धस्य हेतून् प्रतिपादयति—"**बंधहेउणो**" इत्यादि । तत्र मिथ्यादर्शनं तावत् तत्त्वार्थाश्रद्धानम्, कुदेव—कुगुरु-कुधर्माणां श्रद्धानमित्यर्थः सम्यग्दर्शनस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपस्य प्रतिपक्षरूपम् ।

अविरतिः—प्राणातिपातादिपापस्थानेभ्योऽनिवृत्तिर्विरतिपरिणत्यभाव—रूपस्य या विपरीतरूपा—प्रमादस्तु—प्रमदनं-प्रमत्तता, सदुपयोगाभाव' पुण्यकर्मस्वनादरः—३ कषायाः —क्रोध-मान-माया-

---

उन पूर्वोक्त कर्मस्कन्धो का जीव के द्वारा संपूर्ण प्रदेशो से योग विशेप के द्वारा ग्रहण होना प्रदेशबन्ध है ॥३॥

आत्मा का प्रत्येक प्रदेश अनन्त—अनन्त कर्म प्रदेशो से बद्ध है । यह जीव निरन्तर योग के कारण कर्मों का बन्ध करता है और उनकी निर्जरा भी करता रहता है ॥४॥

समवयांग सूत्र के चौथे समवाय में कहा है—बन्ध चार प्रकार का कहा गया है वह इस प्रकार है—(१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभावबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध ॥२॥

सूत्रार्थ—'बंधहेउणो पंच'—इत्यादि सूत्र ॥३॥

कर्मबन्ध के पोच कारण है (१) मिथ्यादर्शन (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कर्मबन्ध के प्रकार प्रदर्शित किये गये है, अब उसके हेतुओं का प्रदिपादन करते है मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबन्ध के कारण है। इन का अर्थ इस प्रकार है—

१—मिथ्यादर्शन—तत्त्वार्थ को अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते है । तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का यह विरोधी है ।

२—अविरति—प्राणातिपात आदि पापस्थानो से निवृत्त न होना । यह अविरति विरति रूप परिणति से विपरीत है ।

३—प्रमाद—प्रमदन, प्रमत्तता, समीचीन उपयोग का अभाव पुण्य कृत्यों में अनादर यह सब प्रमाद है ।

लोभाः, अनन्तसंसारानुबन्धिनः—४ योगाः पुनर्मनो-वाक्कायव्यापारलक्षणाः-५ एते पञ्च तावद्बन्धस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धानाम् आत्मप्रदेशानाञ्च परस्परानुगमनलक्षणस्य हेतवो भवन्ति। एते खलु पञ्च सर्वकर्मबन्धस्य सामान्यहेतवोऽवसेयाः।

ज्ञानावरणादेस्तु-विशेषहेतवोऽग्रे वक्ष्यन्ते। तत्र—मिथ्यादर्शनं तावद् द्विविधम् नैसर्गिकम्—परोपदेशनिमित्तञ्च। तत्र परोपदेशं विनैव मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यत् तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणः मिथ्यादर्शनं प्रादुर्भवति, तन्नैसर्गिकमुच्यते।

परोपदेशनिमित्तकञ्च-मिथ्यादर्शनं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् क्रियावाद्यक्रियावाद्यज्ञानिवैनयिकभेदात्। यद्वा—मिथ्यादर्शनं पञ्चविधम् एकान्तमिथ्यादर्शनम्—१ विपरीतमिथ्यादर्शनम्—२ संशयमिथ्यादर्शनम्—३ वैनयिकमिथ्यादर्शनम्—४ अज्ञानमिथ्यादर्शनं—५ चेति। १

अविरतिस्तु—द्वादशविधा भवति, षट्काय-षट्करणविषयविकल्पात्—२ प्रमादः खलु बहुविधः प्रज्ञप्तः, पञ्चसमिति—त्रिगुप्ति-शुद्धयष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्—३ कषायाःपुनः—षोडशकषाय—नवनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधाः—४ योगस्तु—चतुर्मनोयोग-४ चतुर्वाग्योग-४ पञ्चकाययोग—५भेदेन

४—कषाय—अनन्त संसार की परम्परा को भमाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहते है।

५—योग—मन, वचन और काय का व्यापार योग है।

ये पाँचो कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धो और आत्मप्रदेशो के परस्पर सम्बन्ध रूप बन्ध के कारण है। ये पाँचो समस्त कर्मों के बन्ध के सामान्य कारण समझना चाहिए।

ज्ञानावरण आदि के बन्ध के विशेष हेतु आगे कहेगे।

मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है—नैसर्गिक और परोपदेशनिमित्त जो मिथ्यादर्शन परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हो जाता है, वह नैसर्गिक कहलाता है।

परोपदेश से उत्पन्न होने वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार का कहा गया है—(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानिक और (४) वैनयिक।

अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का है—(१) एकान्त मिथ्यादर्शन (२) विपरीत मिथ्यादर्शन (३) संशय मिथ्यादर्शन (४) वैनयिक मिथ्यादर्श (५) अज्ञानमिथ्यादर्शन।

अविरति बारह प्रकार की है—षट् काय और षट् इन्द्रीयो के विषय। अर्थात् छह कायो के जीवों की हिंसा से निवृत्त होना और मनसहित छहो इन्द्रियो के विषय में रागद्वेष धारण करना। प्रमाद बहुत प्रकार का कहा गया है, पाँच समीतियो में प्रमाद करना, तीन गुप्तियो में प्रमाद करना, शुद्धयष्टक में सावधान न रहना, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों में प्रमाद करना आदि। सोलह कषाय और नौ नो कषाय मिल कर पच्चीस कषाय हैं। चार मनोयोग, चार वचन योग, पाँच काययोग, यो तेरह प्रकार के योग हैं आहारकशरीर के धारक प्रमत्त

त्रयोदशविधाः सन्ति आहारककाययोग- आहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्तसंयतवर्तिनो भेदेन पुनः पञ्चदशविधाः भवन्ति ।

एते मिथ्यादर्शनादयः पञ्च समस्ता-व्यस्ताश्च बन्धहेतवो भवन्ति । तत्र--मिथ्यादर्शिनः पञ्चापि समुदिता बन्धहेतवः, सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरतिप्रमादकषाययोगाश्चत्वारो बन्धहेतवो भवन्ति । संयतासयतस्य-विरति-मिश्रा-ऽविरतिः, प्रमाद-कषाययोगाश्च बन्धहेतवः । अप्रमत्तादीनां चतुर्णा--योगकषायौ बन्धहेतू ।

उपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगिकेवलिनामेक एव योगो बन्धहेतुः अयोगिकेवलिनो न बन्धहेतुर्भवति कश्चिदिति भावः ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः---पूर्वसूत्रे कर्मभावबन्धः प्ररूपितः सम्प्रति--बन्धस्य पञ्चहेतून् प्ररूपयितुमाह--"**बंधहेउणो पंच मिच्छादंसणाऽविरइपमायकसायजोगा**--" इति । बन्धहेतवः पञ्च, मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद--कषाय--योगा इति,

बन्धस्य-कर्मभावबन्धस्य हेतवः सामान्यहेतवो मिथ्यादर्शनादयः पञ्च सन्ति । तत्र--तत्त्वातत्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यग्दर्शनस्य विपरीतं मिथ्यादर्शनं तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं बोध्यम् । अविरतिश्च --अवद्यस्थानेभ्यो निवृत्तिलक्षणा विरतिः विपरीता पापस्थानेभ्योऽनिवृत्तिलक्षणाविरतिर्विपरीत्यभावरूपा ।

संयत में आहारककाय योग और आहारकमिश्र काययोग भी होते है । इन्हे मिलाने से योग के पन्द्रह भेद हो जाते है ।

मिथ्यादर्शन आदि पूर्वोक्त पाँच मिले हुए भी कर्मबन्ध के कारण होते हैं और पृथक्--पृथक् भी कारण होते हैं । मिथ्यादृष्टि में पाँचो मिले हुए कारण होते है । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्--मिथ्या दृष्टि (मिश्रदृष्टि) असंयतसम्यग्दृष्टि में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये चार बन्ध कारण पाये जाते है । सयतासंयत्त (देशविरत) में विरतिमिश्रित अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कारण होते है । संयतासंयत (देशविरत) में विरति मिश्रित अविरति प्रमाद कषाय और योग कारण होते है । प्रमत्तसंयत में प्रमाद, कषाय और योग कारण होते है अप्रमत्त आदि चार गुणस्थानो में योग और कषाय कारण है । उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय तथा सयोगि केवली में अकेला योग ही बन्ध का कारण होता है । अयोगि केवली में बन्ध का कोई कारण न रहने से बन्ध ही नहीं होता ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---पूर्वसूत्र में कर्मभावबन्ध का प्ररूपण किया गया है, अब बन्ध के पाँच हेतुओ का निरूपण करने के लिए कहते है--बन्ध के पाँच कारण है--मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ।

कर्मबन्ध के इन सामान्य कारणो में पहला मिथ्यादर्शन है । तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन से विपरीत तत्त्वार्थ का अश्रद्धान मिथ्यादर्शन कहलाता है । पापस्थानो से निवृत्ति को विरति कहते है, उससे जो विपरीत है अर्थात् पापस्थानोसे निवृत्त न होता है, उसे अविरति कहते है । इन्द्रियों

प्रमादःपुन-रिन्द्रियविकथोत्कटनिद्रारूपः, इन्द्रियदोषान्मोक्षमार्गशैथिल्यं प्रमादः कुशलकर्मसु वा-ऽनादरः । कषायस्तु—क्रोध-मान-माया-लोभाःअनन्तानुबन्धिप्रभृतयश्च ते । योगाः पुनःमनो-वाक्कायव्यापारविशेषाः । एते पञ्च मिथ्यादर्शनादयः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धानामात्मप्रदेशानाञ्च परस्परानुगतिलक्षणस्य बन्धस्य सामान्यहेतवो भवन्ति ।

तत्र--मिथ्यादर्शनादीनां वाच्यार्थस्तु--मिथ्या-ऽयथार्थम्--अलीकं दर्शनं-दृष्टिः, अयथार्थश्रद्धानं-मिथ्यादर्शनम् हिंसादिसावद्यव्यापारतो विरमण-विरतिः संयमः । न विरतिरविरतिः असंयमः, प्राणिवधादिगर्हितकर्मतोऽनिवृत्तिः प्रमाद्यत्यनेनेति प्रमादः, अनवधानत्वम् । कष्यते-हिंस्यते शारीर-मानस-दुःखैरात्मा यत्र स कषः संसारः, तस्याऽऽया आगमनहेतवः, उपादानकारणानि वा कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाः ।

युज्यतेऽनेन मनोवाक्कायव्यापारलक्षणेन नो कर्मणा-योगद्रव्येण-वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमजनितेन, वीर्यपर्यायेण वा इति योगः । तत्र—सम्यग्दर्शनाद् विपरीतम् अयथार्थश्रद्धानलक्षणं मिथ्यादर्शनं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, अभिगृहीतम्—अनभिगृहीतञ्च । सन्दिग्धन्तु-अनभिगृहीतमिथ्यादर्शनभेदः । तत्र-मत्यज्ञानादिकिमपि परिकल्प्याऽसम्यग्दर्शनाऽभ्युपगमः -"एतदेवैकं सत्य" मित्येवं रूपोऽभ्यु-

---

के विषयो में राग —द्वेष पूर्वक प्रवृत्ति करना, विकथाएं करना, गहरी और खूब निद्रा लेना, इन्द्रियो के दोप से मोक्षमार्ग में शिथिलता होना अथवा कुशल कृत्यो मे आदरभाव न होना प्रमाद कहलाता है। अनन्तानुबन्धी आदि के भेद से चार—चार प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है । मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापार योग कहलाता है। ये मिथ्यादर्शन आदि पॉच कर्मबन्ध के सामान्य कारण हैं ।

मिथ्यादर्शन आदि का शब्दार्थ इस प्रकार है—मिथ्या अर्थात् अयथार्थ—झूठा, दर्शन अर्थात् दृष्टि। अभिप्राय यह है कि अयथार्थ श्रद्धान मिथ्यादर्श है । हिसा आदि पापमय कृत्यो से विरत होना विरति अर्थात् संयम है । विरति न होना अविरति अर्थात् असयम है, जिसका अभिप्राय है हिंसा आदि निन्द्य कर्मो का त्याग न करना। सावधान न रहना प्रमाद कहलाता है। कष का जिससे आय हो, वह कषाय। जीव जहाँ शारीरिक और मानसिक दुःखो से कसा जाता है—पीडित किया जाता है, वह ससार 'कष' है और उसके 'आय' अर्थात् आगमन के जो आभ्यन्तर करण है उन्हे, कषाय कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय हैं ।

जिस मन वचन और काय के व्यापार के द्वारा, नो कर्म से योग द्रव्य से या वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य पर्याय के द्वारा जो युक्त किया जाय, वह योग है ।

इनमे से मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है—अभिगृहीत और अनभिगृहीत। संदिग्ध अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन का भेद है। मतिज्ञान आदि किसी भी विषय को दृष्टि में रख कर असम्यग्दर्शन को स्वीकार करना, जैसे 'यही सत्य है' यह अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है। उसमें

पगमः। अभिगृहीतं मिथ्यादर्शनमुच्यते तद्भिन्नं मिथ्यादर्शनमनभिगृहीतमुच्यते। सन्दिग्धमप्यनभिगृहीतमिथ्यादर्शनविशेषएवेति भावः।

प्रमादस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः, स्मृत्यनवस्थानम् कुशलेष्वनादर'--योगदुष्प्रणिधानञ्च। तथाच--पूर्वोनुभूतवस्तुविषयस्मृतिभ्रंशलक्षणं स्मृत्यनवस्थानं प्रमादः, विकथाद्यासक्तचित्तत्वादिदं विधाय-इदं-कर्तव्यमिति न स्मर्यते, एवं कुशलेषु आगमविहितेषु क्रियाकलापानुष्ठानेषु अनादरोऽनुत्साहोऽ-प्रवृत्तिलक्षणः प्रमादः। योगानां मनोवाक्कायव्यापाराणां दुष्टेन प्रणिधानेन आर्तध्यानपरायणेन चेतसा समाचरणं दुष्प्रणिधानं प्रमादोऽवगन्तव्यः।

कषायस्तु--प्रधानतया चतुर्विधः क्रोधकषायः—मानकषायः---मायाकषायः—लोभकषायश्च। चतुर्विधोऽपि कषायः प्रत्येकं पुनश्चतुर्विधः अनन्तानुबन्ध्यादिभेदात्। तथाच---षोडशकषायाः, नव-च नोकषायाः; सर्वे पञ्चविंशतिःकषायाःसन्ति। तत्र--त्रयोदशकषायाःबन्धहेतवो भवन्ति,। योगःपुनर्मनोवाक्कायभेदेन त्रिविधः, तत्र---सत्यासत्योभयव्यापारलक्षणो मनोयोगश्च चतुर्विधः। वाग्योगोऽपि सत्यासत्योभयाऽनुभयलक्षणश्चतुः प्रकारः। काययोगस्तु-औदारिकवैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणभे-

---

भिन्न मिथ्यादर्शन अनभिगृहीत कहलाता है। तात्पर्य यह है कि संदिग्ध भी अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन ही है।

प्रमाद के तीन भेद है—स्मृति का अनवस्थान शुभ कृत्यो में अनादर होना और योगो का दुष्प्रणिधान होना।

पहले अनुभव की हुई वस्तु के विषय में स्मृति न रहना स्मृत्यनवस्थान कहलाता है। विकथा आदि में चित्त रमा रहने के कारण स्मरण नहीं रहता कि 'यह करने के पश्चात् यह करना है। इसी प्रकार आगम विहित क्रियाकलाप अर्थात् अनुष्ठानो में अनादर—अनुत्साह या प्रवृत्ति न होना भी प्रमाद है। मन वचन और काय का दूषित व्यापार होना, जैसे मन से आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान करना, खोटे वचनो का प्रयोग करना और काय से हिंसा आदि मे प्रवृत्त होना, यह सब प्रमाद है।

कषाय प्रधान रूप से चार प्रकार का है—क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभ कषाय। इनमें से क्रोध आदि चारो के चार—चार भेद है— अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी क्रोध और संज्वलन क्रोध। इसी प्रकार मान आदि के भी भेद समझ लेने चाहिए। इस प्रकार सोलह कषाय और नौ नोकषाय मिल कर पचीस कषाय होते है। इनमें से तेरह कषाय बन्ध के कारण है।

मन, वचन और काय के भेद से योग तीन प्रकार का है—मनो योग के चार भेद है—सत्यमनो योग, असत्यमनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग। वचन योग भी चार प्रकार का है—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन योग। औदारिक काययोग, वैक्रिय काययोग, आहारक काययोग, कर्मण काययोग, यह

दाच्चतुर्विधः इति सर्वे द्वादशयोगाः, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकमिश्रभेदात् त्रयो योगाः, इति सर्वे पञ्चदशयोगा भवन्ति ।

तत्रा-ऽऽहारका-ऽनाहारकमिश्रवर्जिताः सर्वे योगाः कर्मभाववन्धहेतवो भवन्ति । तत्र-पञ्चानामपि बन्धहेतूनां मिथ्यादर्शनादीनां मध्ये पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सति-अवश्यमुत्तरेषां सद्भावो भवति, यथा—मिथ्यादर्शनसत्त्वेऽविरत्यादयश्चत्वारोऽवश्यं भवन्ति, अविरतौ सत्यामप्रमादादयस्त्रयोऽपि भवन्ति, प्रमादे सति—अवश्यं कषाय-योगौ भवतः, कषायेषु सत्सु-अवश्यं योगा भवन्त्येवेति भाव । किन्तु—उत्तरोत्तरभावे पूर्वेषां सद्भावो नाऽवश्यं भवति, यथा—योगे सति, नेतरे चत्वारोऽवश्यं भवन्त्येव योग-कषाययोःसतोर्नावश्यमितरे त्रयः, योग-कषाय-प्रमादेषु सत्सु नाऽवश्यमितरौ द्वौ भवत एव, अविरति प्रमाद-कषाय-योगेषु सत्सु नावश्यं मिथ्यादर्शनप्रत्ययो भवत्येवेति भावः ।उक्तश्च समवयाङ्गसूत्रे;५—समवाये—"**पंच आसवदारा पण्णत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं—अविरइ—पमाया—कसाया—जोगा—**" इति । पञ्चा-ऽऽस्रवद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मिथ्यात्वम्-अविरतिः-प्रमादाः कषायाः-योगाः, इति ॥

मिथ्यात्वश्चाविरति, भवति, प्रमादाः कषाया योगाः- ।
आस्रवद्वारा एते, प्रोक्ताः समवायाङ्गे पञ्च- ॥१॥ सू० ३॥

चार तथा औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग और आहारकमिश्र काययोग, यह तीन मिल कर सात काययोग होते है। सब मिल कर योग पन्द्रह प्रकार के कहे हैं।

इनमें से आहारक और आहारकमिश्र को छोड कर शेष सब योग कर्मभाववन्ध के कारण होते है ।

मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्धके कारणो में से पूर्व—पूर्व के विद्यमान होने पर उत्तर-उत्तर का सद्भाव अवश्य होता है जैसे मिथ्यादर्शन का सद्भाव होने पर अविरति आदि चारो अवश्य होते है, अविरति होने पर प्रमाद आदि तीन अवश्य होते हैं, प्रमाद होने पर कषाय और योग भी अवश्य होते है और कषाय के होने पर योग अवश्य होता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अगले कारण के होने पर पिछला कारण भी अवश्य हो। जैसे योग के होने पर पहले के चार कारणो का होना आवश्यक नहीं, योग और कषाय के होने पर बाकी तीन अवश्य हों ऐसा नहीं है. योग कषाय और प्रमाद की विद्यमानता में शेष दो का होना नियत नहीं है. इसी प्रकार जहाँ अविरति. प्रमाद, कषाय और योग है वहाँ मिथ्यादर्श अवश्य हो ऐसा नियम नहीं है।

समवायांग सूत्र के पाँचवें समवाय में कहा है—आस्रवद्वार पांच कहे गए हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

समवायांगसूत्र में मिथ्यात्व. अविरति, प्रमाद. कषाय और योग, यह पाँच आस्रवद्वार कहे है ॥३॥

मूलसूत्रम्—"अट्ठ कम्मपगडीओ णाणावरणदंसणावरणवेयणिज्जमोहणिज्जाउनामगोत्तंतराया—" ॥ ४ ॥

छाया—अष्टौ कर्मप्रकृतयः ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीय-मोहनीया-ऽऽयु-र्नाम गोत्रा ऽन्तरायाः—"

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्तो बन्धस्तावद् द्विविधः, मूलप्रकृतिबन्धः उत्तरप्रकृतिवन्धश्च । तत्राऽष्टविधं मूलप्रकृतिबन्ध प्ररूपितुमाह—"एट्टकम्म" इत्यादि । आद्यस्तावत् प्रकृतिबन्धोऽष्टविधः प्रज्ञप्तः, ज्ञानावरण—१ दर्शनावरण—२ वेदनीय—३ मोहनीय—४ आयुष्य—५ नाम—६ गोत्रा—७ ऽन्तराय—८ भेदात् । तत्रा—ऽऽव्रियनेऽनेन, आवृणोति वेत्यावरणम्, ज्ञानस्यावरणं— १ एवं—दर्शनावणमपि—२

वेद्यते यत्तद्-वेदनीयम्, बेदनीयम्, वेदयति वा—वेदनीयम्—३ एवं—मुह्यतेऽनेन, मोहयतीति वा । मोहनीयम्—४ एति नारकादिभवमनेनेत्यायुः—५ नानायोनिपु नारकादिपर्यायैर्नमयत्यात्मानम्, नक्यतेऽनेनेति नाम—६ उच्चैर्नीचैश्च गूयते—शव्यते—इति गोत्रम्- ७ दातृदेयपात्रादीनामन्तरं-मध्ये एति मध्ये आगत्य विघ्नं करोतीत्यन्तराय—८

एकात्मपरिणामेनादीयमानाः कर्मभावयोग्याः पुद्गला ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयादिनानाभेदं प्रतिपद्यन्ते, सकृदुपभुक्तान्नपरिणामरस—रुधिर—शुक्र—मांस—मज्जादिवत् । तथाचोक्तमष्टकर्मप्र-

---

सूत्रार्थ—'अट्ठ कम्मपगडीओ' इत्यादि ॥सूत्र ४॥

कर्मप्रकृतियाँ आठ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ॥४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्त बन्ध के दो प्रकार है—मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृति बन्ध । इनमें से आठ प्रकार के मूलप्रकृति बन्ध का निरूपण करने के लिए कहते है—मूलप्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय जिसके द्वारा जीव का ज्ञान गुण वृत—आच्छादित किया जाय या जो ज्ञान गुण को आच्छादित करता है, वह ज्ञानावरण कहलाता है । जो कर्म दर्शन गुण को आवृत करता है, वह दर्शनावरण कहलाता है । जिसके निमित्त से सुख दुःख का वेदन अर्थात् अनुभव किया जाता है, वह वेदनीय कहलाता है जिसके द्वारा जीव मोहित होता है या जो जीव को मूढ बनाता है, वह मोहनीय है । जिसके उदय से जीव नारक आदि भवो को प्राप्त करके वहाँ टिका रहता है वह आयु कर्म है । जो कर्म आत्मा को नाना योनियो में, नारक आदि पर्यायो के द्वारा निमित्त करता है अर्थात् जिसके कारण जीव नारक आदि कहलाता है वह नाम कर्म है । जिसके उदय से जीव ऊँचा या नीचा कहा जाता है, उसे गोत्र कहते हैं । जो दाता, देय और दानपात्र के अन्तराल में—बीच में आजाता है, आकर विघ्न डाल देता है, उसे अन्तराय कहते है ।

जैसे एक साथ खाया हुआ आहार रस, रुधिर, मांस, मज्जा, शुक्र आदि नाना धातुओ के रूप मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के एक ही परिणाम से ग्रहण किये हुए कर्म

कृतिविषयं प्रज्ञापनायाम्–२१–पदे १–उद्देशके २८८–सूत्रे–"अट्ठकम्मपगडीओ पण्णत्ताओ, तंजहा–णाणावरणिज्जं-दंसणावरणिज्जं-वेदणिज्जं-मोहणिज्जं- आउयं-नामं-गोयं-अंतराइयं–" इति ।

अष्टकर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–ज्ञानावरणीयम्–दर्शनावरणीयम्–वेदनीयम्–आयुष्यम–नाम–गोत्रम्–अन्तरायिकम्, इति । तथाच–मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधो भवतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रोक्तेषु प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धलक्षणेषु चतुर्षु बन्धभेदेषु प्रथमस्तावत्प्रकृतिबन्धो द्विविधः प्रज्ञप्तः, मूलप्रकृतिबन्ध.–उत्तरप्रकृतिबन्धश्च । तत्र–प्रथमं मूलप्रकृति-बन्धमष्टविधं प्रतिपादयितुमाह—"अट्ठकम्म–" इत्यादि ।

अष्टौ कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः, ज्ञानावरण–१ दर्शनावरण–२ वेदनीय–३ मोहनीय–४ ऽऽयुष्य–५ नाम–६ गोत्रा–७ ऽन्तराय–८ भेदात् । तत्र–ज्ञानं तावद् बोधस्वरूपं विशेषविषयकम् आत्मनः पर्यायः । एवं-सामान्यविषयकं दर्शनमपि । आत्मपर्यायएव ज्ञान-दर्शनयोरावरणम्–आच्छादनम् ज्ञानावरणम्–१ दर्शनावरणञ्च–२ आवरणमावृत्तिः आव्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या भावकरणयोर्ल्युटि-अनादेशे, आवरणशब्दनिष्पत्तिः । सुखदुःखरूपेण वेदनीयतया वेदनीयमिति–३ कर्मव्युत्पत्ति. । मुह्यति–अनेन मोहयति मोहनं वा मोहनीयम्–४ करणकर्तृभावव्युत्पत्तिः । एत्यनेन नरकादि-

---

वर्गणा के पुद्गल ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि नाना भेदो को प्राप्त होते हैं । प्रज्ञापनासूत्र के २१ वे पद में, प्रथम उद्देशक के २८८ वे सूत्र में कहा है–'कर्म की आठ प्रकृतियाँ कही गई है यथा–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ।'

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में कथित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध–इन चार प्रकार के बन्धो में से पहला प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का कहा गया है–(१) मूल प्रकृतिबन्ध और (२) उत्तर प्रकृतिबन्ध । इन दो भेदो में से प्रथम मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है, यह बतलाने के लिए कहते है—

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ है, जिन्हे आठ कर्म भी कहते है । उनके नाम इस प्रकार है–(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय ।

ज्ञान आत्मा का एक असाधारण बोधात्मक गुण है. जिसके द्वारा वस्तु के विशेष अंश का परिज्ञान होता है । दर्शन आत्मा का वह असाधारण गुण है जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य अंश जाना जाता है । जो कर्म प्रवृत्ति ज्ञान और वस्तु को आवृत्त या आच्छादित करती है अर्थात् ढँक देती है, उसे क्रमश. ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहते हैं ।

'आवरण' शब्द भावसाधन भी है और करणसाधन (आच्छादन) भी है । आवृत्ति, को भी आवरण कहते है और जिसके द्वारा आवृत्ति की जाय उसे भी आवरण कहते हैं । संस्कृत भाषा के अनुसार ल्युट् प्रत्यय करने पर 'आवरण' शब्द निष्पन्न होता है ।

गत्यन्तराणि इत्यायुः, आयुरेवाऽऽयुष्यम्—५ नमयति—प्रह्वयति-आत्मानं नानायोनिपु गत्याद्यभिमुखमिति नाम—नम्यतेऽनेनेति नामशब्दकर्तृकरणसाधनः—६

उच्च-नीचभेदलक्षणं गोत्रं, गच्छति-प्राप्नोति आत्मा यत् तद्गोत्रम्—७ आत्मनो वीर्यलाभादि अन्तर्धीयते येन सोऽन्तरायः—८ । एवञ्च—ज्ञानावरण-दर्शनावरणोदयजनिता भवव्यथा सर्वसंसारिप्राणीनां भवति । ताञ्च भवव्यथां वेदयमानोऽपि जीवो मोहग्रस्तत्वान्न विरज्यति । अविरक्तश्च—नारक-देवमानुष—तिर्यगायुषि वर्तमानो भवति । नहिनामरहितं जन्म सम्भवति ।

जन्मधारिणश्च प्राणिनः सर्वदैवोच्चावच—गोत्रेणाऽनुस्यूता भवन्ति' तत्रापि संसारिणां जीवानां सुखलवानुभवः सर्वोऽपि सान्तरायो भवति, इत्येवमष्टविधं मूलप्रकृतिबन्धरूपं कर्माऽवगन्तव्यम् ॥४॥

मूलसूत्रम्—"एए पंच नवदुअट्ठावीसचउदोचत्तालीसदुपंचभेया—" ॥ ५ ॥

छाया—"एते पञ्च नव अष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः—" ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रेऽष्टविधो मूलप्रकृतिबन्धः प्ररूपितः, सम्प्रति—सप्तनवतिविधम्

जिसके कारण सुख और दुःख रूप वेदन—अनुभूति हो, उसे वेदनीय कहते है । जीव को जो मूढ अर्थात् तत्त्वातत्त्व के विवेक से विकल बना देता है या जिसके द्वारा जीव मोहित किया जाता है, वह मोहनीय है । मोहित होना भी मोहनीय है । 'मोहनीय' शब्द करणसाधन, कर्तृसाधन और भावसाधन भी है । जिसके कारण जीव नरक गति आदि को प्राप्त करके वहाँ स्थित रहता है, वह आयु है । 'आयु' को ही 'आयुष्य' भी कहते है । जो कर्मप्रवृत्ति आत्मा को नाना योनियो में गति आदि के सन्मुख नमाती है या जिसके कारण आत्मा नमता है, वह नाम है । यह नाम शब्द कर्तृसाधन और करणसाधन है ।

गोत्र के दो भेद है—उच्च और नीच । आत्मा जिसे प्राप्त करता है वह गोत्र है । आत्मा के वीर्य में तथा लाभ आदि में जो अन्तर—विघ्न डालता है, वह अन्तराय है ।

इस प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण के उदय से उत्पन्न होने वाली भवव्यथा समस्त ससारी जीवो को होती है । उस भवव्यथा का वेदन करता हुआ भी जीव मोह से ग्रस्त होने के कारण विरक्त नहीं हो पाता और जब विरक्त नहीं होता तो नारक, तिर्यंच, देव, और मनुष्य आयु में वर्तता है । जब किसी आयु में रहता है तो उसका नारक आदि कोई न कोई नाम अवश्य होता है, क्योकि नाम से रहित जन्म होता नहीं । जन्मधारी प्राणी सदैव उच्च या नीच गोत्र से युक्त होते है । ससारी जीवो को वहाँ जो सुख के लेश का अनुभव होता है, वह भी अन्तराययुक्त अर्थात् विघ्नो से परिपूर्ण होता है । यह आठ प्रकार का मूलप्रकृतिबंध समझना चाहिए ।

मूलसूत्रार्थ—"एए पंचनवदुअट्ठावीसचउदो" इत्यादि । सूत्र—५

मूल कर्मप्रकृतियो के क्रमश. पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पॉच भेद है ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे आठ प्रकार का मूलप्रकृतिबन्ध कहा गया है । अब सत्तानवे (९७) प्रकार के उत्तरप्रकृति बन्ध की प्ररूपणा करते है—

उत्तरप्रकृतिबन्धं प्ररूपयितुमाह–"एए पंच–" इत्यादि । एते ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयु-र्नाम-गोत्रा-ऽन्तरायाः क्रमशः पञ्च नव व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा भवन्ति ।

तथाच–ज्ञानावरणीयं कर्म पञ्चविधम्–५ दर्शनावरणीयं नवविधम्–९ वेदनीयं द्विविधम्–२ मोहनीयम् अष्टाविंशतिविधम्–२८ आयुष्यं चतुर्विधम्–४ नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधम्–४२ गोत्रं कर्म–द्विविधम्–२ अन्तरायकर्म पञ्चविधम् ५ अवसेयमिति भावः ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे मूलप्रकृतिबन्धः आत्मकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धद्रव्यैकत्वपरिणतिलक्षणः अयोगोलकाग्निवत् परस्परानुषक्ततया प्रतिभासमानः अष्टप्रकारको भवतीति प्ररूपितः सम्प्रति–उत्तरप्रकृतिबन्धं सप्तनवतिविधं प्ररूपयितुमाह—"एए पंच" इत्यादि । एते पूर्वोक्ता अष्टप्रकारका मूलप्रकृतिबन्धरूपाः ।

ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय–मोहनीय–आयुष्य–नाम–गोत्रा–ऽन्तरायाः प्रत्येकं क्रमशः पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा भवन्ति । तथा च ज्ञानावरणप्रकृतिबन्धः पञ्चविधः । दर्शनावरणप्रकृतिबन्धो नवविधः । वेदनीयप्रकृतिबन्धो द्विविधः । मोहनीयप्रकृतिबन्धोऽष्टाविंशतिविधः आयुष्यप्रकृतिबन्धश्चतुर्विधः । नामप्रकृतिबन्धो द्विचत्वारिंशद्विधः–गोत्रप्रकृतिन्धो द्विविधः । अन्तरायप्रकृतिबन्धः पञ्चविधोऽवगन्तव्यः ।

तत्र–ज्ञानावरणीयं पञ्चविधम्–उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५–स्थाने ३–उद्देशके—"**पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा–आभिणिबोहियणाणावरणिज्जे, सुयणाणावरणिज्जे, ओहिणाणावरणिज्जे मणपज्जवणाणावरणिज्जे केवलणाणावरणिज्जे–**" इति । पञ्चविधं

ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है । दर्शनावरण के नौ भेद है । वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नामकर्म के बयालीस, गोत्रकर्म के दो और अन्तराय के पाँच भेद है।।५।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में मूलप्रकृतिबन्ध का निरूपण किया गया है । आत्मा के प्रदेशो और कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धो का एकमेक हो जाना उसका लक्षण है । इस बन्ध के कारण आत्मा और कर्म, अग्नि और लोहे के गोले के समान परस्पर मिले हुए प्रतीत होने लगते हैं । वह आठ प्रकार का होता है, यह कहा जा चुका है ।

अब उत्तरप्रकृतिबंध की प्ररूपणा करते है । उसके सत्तानवे भेद इस प्रकार होते हैं—

ज्ञानावरणप्रकृतिबन्ध के पाँच भेद है, दर्शनावरण प्रकृतिबन्ध के नौ भेद हे ९ (१४) वेदनीय प्रकृतिबन्ध के दो, २ (१६) मोहनीयप्रकृतिबंध के अट्ठाईस २८ (४४). आयुष्य प्रकृतिबंध के चार ४ (४८) नामप्रकृतिबंध के बयालीस ४२ (९०) गोत्रप्रकृतिबध के दो २ (९२) और अन्तरायप्रकृतिबंध के पाँच ५ (९७) भेद हैं ।

ज्ञानावरणीय के पाँच भेद हैं । स्थानांगसूत्र के पाँचवें स्थान के तृतीय उद्देशक में कहा है—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का कहा गया है, यथा–'आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय,

ज्ञानारवणीयं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयम्—१ श्रुतज्ञानावरणीयम्—२ अवधिज्ञानावरणीयम्—३ मनःपर्यवज्ञानावरणीयम्—४ केवलज्ञानावरणीयम्—५

दर्शनावरणीयं नवविधम्—उक्तञ्च स्थानाङ्गे ९—स्थाने —"**णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा-निद्दा—१ निद्दानिद्दा—२ पयला—३ पयलापयला—४ थीणगिद्धी—५ चक्खुदंसणावरणे—६अचक्खुदंसणावरणे—७ ओहिदंसणाव-रणे—८ केवलदंसणावरणे—९—**" इति।

नवविधं दर्शनावरणीयं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—निद्रा—निद्रानिद्रा—प्रचला—प्रचला—प्रचला—स्त्यानर्द्धिः, चक्षुर्दर्शनावरणम्—अचक्षुर्दर्शनावरणम्—अवधिदर्शनावरणम्—केवलदर्शनावरणम् इति। वेदनीयं द्विविधम्, उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २३—पदे २—उद्देशके २९३-सूत्रे—"**सातावेदणिज्जे य—असातावेदणिज्जे य—**" इति। सातावेदनीयञ्च—असातावेदनीयञ्चेति।

मोहनीयमष्टाविंशतिविधम्,—उक्तञ्च तत्रैव '**मोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कइविहे पण्णत्ते—? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—दंसणमोहणिज्जे य-चरित्तमोहणिज्जे य** मोहनीयं **खलु भदन्त!**, कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम्? गौतम! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—दर्शनमोहनीयं च—चारित्रमोहनीयञ्च,

'**दंसणमोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे** । दर्शनमोहनीयं खलु भदन्त! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम्? गौतम! त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—सम्यक्त्ववेदनीयम्—मिथ्यात्ववेदनीयम्—सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीयञ्चेति।

श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यवज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।

दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद हैं। स्थानांगसूत्र के नवम स्थान में कहा है—दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार का कहा गया है यथा— (१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला (५) स्त्यानर्द्धि (६) चक्षुदर्शनावरण (७) अचक्षुदर्शनवरण (८) अवधिदर्शनावरण और (९) केवलदर्शनावरण।

वेदनीयकर्म के दो भेद है। प्रज्ञापनासूत्र के २३ वे उद्देशक में कहा है—सातावेदनीय और असातावेदनीय।

मोहनीय कर्म अट्ठाइस प्रकार का है—प्रज्ञापना में उक्त स्थल पर ही कहा है—

प्रश्न—भगवन्! मोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार का कहा है, यथा—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

प्रश्न—भगवन्! दर्शनमोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर—गौतम! तीन प्रकार का कहा है—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व वेदनीय और सम्यक् मिथ्यात्ववेदनीय।

'चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते' गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा—कसायवेयणिज्जे नो कसायवेयणिज्जे' चारित्रमोहनीयं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विविधं प्रज्ञप्तम् ? तद्यथा— कषायवेदनीयम् नो कषायवेदनीयञ्चेति ।

'कसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलसविहे पण्णत्ते, तंजहा—अणंताणुबंधीकोहे, अणंताणुबंधीमाणे—अणंताणुबंधीमाया, अणंताणुबंधीलोभे, अपच्च क्खाणे कोहे, एवं—माणे. माया, लोभे, पच्चक्खाणावरणे कोहे, एवं—माणे, माया, लोभे, संजलणकोहे, एवं—माणे, माया, लोभे ।

कषायवेदनीयं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! षोडशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अनन्तानुबन्धी क्रोधः—अनन्तानुबन्धीमानः—अनन्तानुबन्धिनीमाया, अनन्तानुबन्धीलोभः, अप्रत्याख्यानक्रोधः, एवं—मानो, माया, लोभः, प्रात्याख्यानावरणः क्रोधः, एवं—मानः माया लोभः, संज्वलनक्रोधः, एवं—मानः—माया—लोभः

'णोकसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविहे पण्णत्ते, तंजहा—इत्थीवेयणिज्जे, पुरिसवेयणिज्जे, नपुंसगवेयवेयणिज्जे हासे—रति—अरती—भए—सोगे—दुगुंछा—इति ।

नोकषायवेदनीयं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नवविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—स्त्रीवेदनीयम् , पुरुषवेनीयम् , नपुंसकवेदनीयम् , हासो—रति—ररति—र्भयं—शोको—जुगुप्सा इति ।

आयुष्यं चतुर्विधम् उक्तञ्च तत्रैव—**'आउए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा !**

प्रश्न—भगवन् ! चारित्रमोहनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा है—कषायवेदनीय और नो कषायवेदनीय ।

प्रश्न—भगवन् ! कषायवेदनीय कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! सोलह प्रकार का है—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ । अप्रत्याख्यान मान अप्रत्याख्यान माया और अप्रत्याख्यान लोभ ।

प्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान मान, प्रत्याख्यान माया और प्रत्याख्यान लोभ तथा संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ ।

प्रश्न—भगवन् ! नो कषायवेदनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! नौ प्रकार का है, यथा—स्त्रीवेद वेदनीय पुरुष वेद वेदनीय, नपुंसकवेद वेदनीय, हास्य, रति, अरति, भय शोक और जुगुप्सा ।

आयु कर्म के वहीं पर चार भेद कहे हैं, यथा—

चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–णेरइयाउए, तिरिक्खआउए, मणुस्साउए, देवाउए, । आयुष्यं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् गौतम ! चतुर्विधम् प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–नैरयिकायुष्यं–तिर्यगायुष्यं–मनुष्यायुष्यं–देवायुष्यम् ।

नाम–द्विचत्वारिंशद्विधम्, उक्तञ्च तत्रव–"णाम णं भंते १ कम्मे कइविहे पण्णत्ते–३ गोयमा ! वायालीसविहे पण्णत्ते, तंजहा–गतिणामे–१ जातिणामे–२ सरीरणामे–३ सरीरोवंगणामे–४ सरीवंधणणामे–५ सरीरसंघयणणामे–६ संघायणणामे–७ संठाणणामे–८ वण्णणामे–९ गंधणामे–१० सणामे–११ फासणामे–१२ अगुरुलघुणामे–१३ उवघायणामे–१४ पराघायणामे–१५ आणुपुव्वीणामे–१६ उस्सासणामे–१७ आयवणणामे–१८ उज्जोयणामे–१९ विहायगइणामे–२० तसणामे–२१ थावरणामे–२२ सुहुमणामे–२३ वादरणामे–२४ पज्जत्तणामे–२५ अपज्जत्तणामे–२६ साहारणसरीरणामे–२७ पत्तेयसरीरणामे–२८ थिरणामे–२९ अथिरणामे–३० सुभणामे–३१ असुभणामे–३२ सुभगणामे–३३ दुभगणामे–३४ सूसरणामे–३५ दूसरणामे–३६ आदेज्जणामे–३७ अणादेज्जणामे–३८ जसोकित्तिणामे–३९ अजसोकित्तिणामे–४० णिम्माणणामे–४१ तित्थगरणामे–४२

छाया–नाम खलु भदन्त–१ कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विचात्वारिंशद्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–गतिनाम–१ जातिनाम–२ शरीरनाम–३ शरीरोपाङ्गनाम–४ शरीरबन्धननाम–५ शरीरसंहनननाम–६ संघातननाम–७ संस्थाननाम–८ वर्णनाम–९ गन्धनाम–१० रसनाम–११ स्पर्शनाम–१२ अगुरुलघुनाम–१३ उपघातनाम–१४ पराघातनाम–१५ आनुपूर्वीनाम–१६ उच्छ्वासनाम–१७ आतपनाम–१८ उद्योतनाम–१९ विहायोगतिनाम–२० त्रसनाम–२१ स्थावरनाम–२२ सूक्ष्मनाम–२३ बादरनाम–२४ पर्याप्तनाम–२५ अपर्याप्तनाम–२६ साधारण-

---

प्रश्न–भगवन् ! आयु कर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर–गौतम ! चार प्रकार का कहा है– नैरयिकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु

नामकर्म के बयालीस भेद हैं । उसी स्थान पर कहा है–

प्रश्न–भगवन् ! नामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर–गौतम ! बयालीस प्रकार का कहा है यथा– (१) गतिनाम (२) जातिनाम (३) शरीर नाम (४) शरीरयोग नाम (५) शरीर बन्धन नाम (६) शरीर संहनन नाम (७) संघात नाम (८) संस्थान नाम (९) वर्णनाम (१०) गंधनाम (११) रसनाम (१२) स्पर्श नाम (१३) अगुरुलघुनाम (१४) उपघात नाम (१५) पराघात नाम (१६) आनुपूर्वीनाम (१७) उच्छ्वास नाम (१८) आतप नाम (१९) सूक्ष्मनाम (२०) विहायोगतिनाम (२१) त्रस नाम (२२) (२३) स्थावर नाम (२३) सूक्ष्म नाम (२४) बादर नाम (२५) पर्याप्तनाम (२६) अपर्याप्त-

शरीरनाम--२७ प्रत्येकशरीरनाम--२८ स्थिरनाम--२९ अस्थिरनाम--३० शुभनाम--३१ अशुभनाम--३२ सुभगनाम--३३ दुर्भगनाम--३४ सुस्वरनाम--३५ दुःस्वरनाम--३६ आदेयनाम--३७ अनादेयनाम--३८ यशःकीर्तिनाम--३९ अयशःकीर्तिनाम--६० निर्माणनाम--४१, तीर्थकरणाम--४२

गोत्रं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, उक्तञ्च--'**गोए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ! गोयमा ? दुविहे पण्णत्ते, तंजहा--उच्चागोए य, नीयागोए य,** गोत्रं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम्--? गौतम--! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा--उच्चगोत्रञ्च, नीचगोत्रञ्च ।

अन्तरायिकं पञ्चविधम्, उक्तञ्च--"**अंतराए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा--दाणंतराइए, लाभंतराइए, भोगंतराइए उवभोगंतराइए, वीरियंतराइए--', इति** अन्तरायः खलु भदन्त--! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा--दानान्तरायः, लाभान्तरायः, भोगान्तरायः, उपभोगान्तरायः, वीर्यान्तरायः इति ॥५॥

मूलसूत्रम्--"**णाणावरणिज्जं पंचविहं मइआइ भेयओ--**" ॥६॥

छाया--"**ज्ञानावर्णीयं पञ्चविधं मत्यादि भेदतः--**" ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्रे ज्ञानावरणादिरूपाष्टविधमूलकर्मप्रकृतिबन्धस्य --उत्तरप्रकृतीनां पञ्चनवाद्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः प्रतिपादिताः--सम्प्रति--तान् भेदान् क्रमशः प्रतिपादयितुं प्रथमं ज्ञानावरणकर्मणः पञ्चभेदान् प्रतिपादयति--**णाणावरणिज्जं** इत्यादि ? ज्ञानावरणीयं-

---

नाम (२८) साधारण शरीर नाम (२७) प्रत्येक शरीर नाम (२९) स्थिर नाम (३०) अस्थिर नाम (३१) शुभनाम (३२) अशुभनाम ३३ सुभग नाम ३४ दुर्भग नाम ३५ सुस्वर नाम ३६ दुःस्वर नाम ३७ आदेय नाम ३८ अनादेय नाम ३९ यशोकीर्त्ति नाम ४० अयशोकीर्त्ति नाम ४१ निर्माण नाम और ४२ तीर्थंकर नाम ।

गोत्र कर्म दो प्रकार का है कहा भी है--

प्रश्न--भगवन् ! गोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर--गौतम ! दो प्रकार का कहा है-- उच्च गोत्र और नीच गोत्र ।

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है । कहा भी है--

प्रश्न--भगवन् ! अन्तराय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर--गौतम ! पाँच प्रकार का है, यथा-- १ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय ॥५॥

मूलसूत्रार्थ--'णाणावरणिज्जं पंचविहं'' इत्यादि सूत्र ॥६॥ ज्ञानावर्णीय कर्म पाँच प्रकार का होता है मतिज्ञानवरणीय आदि भेद से ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्र में ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म प्रकृति बन्ध की उत्तर प्रकृतियों के पाँच, नौ, दो अट्ठाईस, चार, दो, बयालीस, दो और पाँच भेद कहे गए हैं।

पञ्चविधं भवति मत्यादिभेदतः यथामति—श्रुता—ऽवधि-मनःपर्यव-केवलज्ञानानामावरणानि पञ्च-सन्ति तेन ज्ञानावरणीयं पञ्चविधं तथाहि—मतिज्ञानावरणम्—श्रुतज्ञानावरणम्—अवधिज्ञानावरणम्—मनःपर्यवज्ञानावरणम्—केवलज्ञानावरणञ्चेति संक्षेपः ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रेऽष्टविधमूलकर्मप्रकृतिबन्धस्य सप्तनवतिविधोत्तरप्रकृतिबन्धेषु—प्रतिपादितव्येषु प्रथमं ज्ञानावरणकर्मणो भेदान् प्रतिपादयति—**"नाणावरणिज्जं"** इत्यादि । ज्ञानावरणीयं पञ्चविधं भवति तथाहि—मतिज्ञानावरणम्—१ श्रुतज्ञानावरणम्—२ अवधिज्ञानावरणम्—३ मनःपर्यवज्ञानावरणम्—४ केवलज्ञानावरणञ्चेति, ज्ञानावरणरूपप्रथमकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतिभेदा पञ्च ।

तत्र—ज्ञस्वभावस्यात्मनः प्रकाशरूपस्य ज्ञानावरणक्षयोपशमक्षयसमुद्भूताः प्रकाशविशेषाः मतिज्ञानादिपर्यायाः बहुभेदा भवन्ति । तथाहि—अवग्रह—ईहा-ऽवायधारणादयः इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तत्वाद् मतिज्ञानस्य भेदाः । अङ्गाऽनङ्गविकल्पाः श्रुतज्ञानस्य भेदाः । भवक्षयोपशमजन्यप्रतिपात्यादिविकल्पाः अवधिज्ञानस्य भेदाः ऋजुविपुलमतिविकल्पौ मनःपर्यवज्ञानस्य भेदौ । सयोगायोगस्थादिविकल्पाः केवलज्ञानस्य भेदा भवन्ति ।

तत्र—इन्द्रियनिमित्तं श्रोत्रादिपञ्चकसमुद्भवं क्षयोपशमजन्यं योग्यदेशावस्थितस्वविषयग्राहिज्ञानं

अब उन भेदो का क्रमशः प्रतिपादन करने के लिए सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेदो का निर्देश करते हैं—

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के आवरण भी पाँच हैं— मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में कथित आठ मूलप्रकृति बन्ध की सत्तानवे उत्तरप्रकृतियों का प्रतिपादन करता है । उनमें से प्रथम ज्ञानावरण कर्म प्रकृति के भेदों का कथन करते हैं ।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान, इन पाँच ज्ञानों के आवरण भी पाँच होते हैं, यथा— १ मतिज्ञानावरण २ श्रुतज्ञानावरण ३ अवधिज्ञानावरण ४ मनःपर्यवज्ञानावरण ५ केवलज्ञानावरण । यह प्रथम ज्ञानावरण नामक मूल प्रकृति की पांच उत्तर प्रकृतियाँ है ।

ज्ञान स्वभाव वाले—प्रकाशरूप आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले प्रकाश विशेष रूप मतिज्ञान आदि बहुत—से भेद होते है । जैंसे—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि । मतिज्ञान इन्द्रियों और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, अतएव मतिज्ञान के अनेक भेद है । अंगप्रविष्ट, और अंगबाह्य ये दो श्रुतज्ञान के भेद हैं । भव प्रत्यय और क्षयोपशमप्रत्यय यह दो अवधिज्ञान के भेद है । क्षयोपशमप्रत्यय के भी प्रतिपाती, अप्रतिपाती आदि छह भेद होते है । ऋजुमति और विपुलमति, ये दो मनःपर्यवज्ञान के भेद हैं । सयोगि केवल ज्ञान, अयोगिकेवलज्ञान आदि केवलज्ञान के भेद है ।

जो श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होता है- क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण से

भवति । अनिन्द्रियं पुनर्मनोवृत्तिः—ओघज्ञानञ्चेति, तदेतन्मतिज्ञानमात्रियते येन तन्मतिज्ञानावरणं देशघातिनयनपटलवत्—चन्द्रप्रकाशाभ्रादिवद्वा । श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः—श्रुतं, शेपेन्द्रियमनोविज्ञानञ्च श्रुतशास्त्रानुसारिस्वार्थाऽभिधानसमर्थं श्रुतज्ञानम् । तदनेकविधम्

तथाचोक्तम्—"जावंति अक्खराइं, अक्खरसंजोयगा जेत्तिया लोए ।
एवइया पगडीओ, सुयनाणे हौंति नायव्वा ॥१॥
"यावन्ति-अक्षराणि अक्षरसंयोगा यावन्तो लोके ।
एतावत्यःप्रकृतयः श्रुतज्ञाने भवन्ति ज्ञातव्याः ॥१॥ इति ।

तस्य श्रुतज्ञानस्या-ऽऽवरणं श्रुतज्ञानावरणम्, एतदपि देशघाति भवति । अन्तर्गतवहुतर पुद्गलद्रव्यावधानादवधिरुच्यते, पुद्गलद्रव्यमर्यादयैव वाऽऽत्मनः क्षयोपशमजन्यः प्रकाशाविर्भावोऽवधिः इन्द्रियनिरपेक्षः साक्षात्—ज्ञेयग्राहीलोकाकाशप्रदेशमानप्रकृतिभेदः ।

तस्याऽवधिज्ञानस्यावरणम्—अवधिज्ञानावरणम्, एतदपि देशघात्येव भवति । एव मात्मनो मनोद्रव्यपर्यायान् निमित्तीकृत्य जायमानः प्रतिभासः [संज्ञि-] मनुष्यक्षेत्राभ्यन्तरवृत्तिपल्योपमाऽस-

---

जनित होता है वह ज्ञान योग्य देश में स्थित अपने विषय को ग्रहण करना—जानता है । अनिन्द्रिय मनोवृत्ति और ओघज्ञान है यह मतिज्ञान जिसके द्वारा आच्छादित किया जाता है, वह मतिज्ञानावरण कर्म कहलाता है । यह कर्म देशघाति है । नयनपटल के समान है या चन्द्रमा के प्रकाश को रोकने वाले मेघ के समान है । श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाली उपलब्धि को श्रुत कहते है, शेष इन्द्रियो से और मन से होने वाला ज्ञान जो श्रुत—शास्त्र का अनुसरण करता हो और अपने विषय के प्रतिपादन में समर्थ हो वह श्रुतज्ञान कहलाता है । श्रुत ज्ञान अनेक प्रकार का है । कहा भी है—'लोक में जितने अक्षर है और अक्षरो के संयोग हैं, उतनी श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ जानना चाहिए ।

श्रुतज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरण कहलाता है । यह कर्म भी देशघाति है ।

अन्तर्गत बहुत—से पुद्गल द्रव्यों के अवधान से अवधि कहलाता है, अथवा पुद्गलद्रव्यो को ही जानने की मर्यादा के कारण अवधि कहलाता है । यह क्षयोपशम से उत्पन्न होता है इसमें इन्द्रियो के व्यापार की अपेक्षा नहीं रहती, साक्षात् ज्ञेय पदार्थों को जानता है और लोकाकाश के प्रदेशो के वरावर असख्यात भेद है ।

इस अवधिज्ञान को आच्छादित करनेवाला कर्म अवधिज्ञानावरण कहलाता है । यह कर्म भी देशघाति ही है ।

जो ज्ञान आत्मा के मनोद्रव्य के पर्यायो को अवलम्बन करके उत्पन्न होता है, मनुष्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीप तक ही जिसका व्यापार होता है, पल्योपम के असंख्यात भाग परिमित

ख्येयभागावच्छिन्नपश्चात्पुरःकृतपुद्गलसामान्यविशेषग्राही मनःपर्यायज्ञानसंज्ञस्तस्यावरणं मनःपर्यायज्ञानावरणम्, इदमपि देशाघाति ।

समस्तावरणक्षयाविर्भूतमात्मप्रकाशतत्त्वम् सकलद्रव्यपर्यायग्राहिकेवलज्ञानम्. तस्यावरणं—केवलज्ञानावरणम्, एतच्च सर्वघातिभवतीति भावः ॥६॥

मूलसूत्रम्—"दंसणावरणिज्जं नवविहं चक्खुमाइ भेयओ–" ॥७॥

छाया—"दर्शनावरणीयं नवविधं चक्षुरादिभेदतः ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे ज्ञानावरणकर्म मूलप्रकृतिबन्धस्य पञ्चोत्तरप्रकृतयो मतिज्ञानावरणादिरूपाः प्रतिपादिताः, सम्प्रति—दर्शनावरणकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य 'नव' उत्तरप्रकृतीः प्रतिपादयितुमाह दर्शनावरणीयं नवविधं भवति चक्षुरादिभेदतः. चक्षु—रचक्षु—रवधिकेवलदर्शनावरणानि४ निद्रा निद्रानिद्रा—प्रचला—प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धयश्च नव-भेदा सन्ति तथाच—चक्षुर्दर्शनावरणम्—१ अचक्षुर्दनावरणम्—२, अवधिदर्शनावरणम्—३, केवलदर्शनावरणम्—४, निद्रा—५, निद्रानिद्रा—६, प्रचला—७, प्रचलाप्रचला—८, स्त्यानर्द्धिश्च—९ इत्येवं दर्शनावरणं नवविधं बोध्यम् ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे मतिज्ञानावरणादिरूपाः पञ्चोत्तरप्रकृतयः प्रतिपादिताः सम्प्रति—दर्शनावरणस्य भेदान् विवक्षुराह—**'दंसणावरणिज्जं'** इत्यादि दर्शनावरणीयं नवविधं भवति

आगे पीछे भूत—भविष्यत् काल के पुद्गलो को सामान्य और विशेष रूप से जानता है वह मनः पर्याय ज्ञान कहलाता है; इस ज्ञान को ढंकने वाला कर्म मनः पर्ययज्ञानावरण कहलाता है । यह कर्म भी देशघाति है ।

जो ज्ञान समस्त आवरणो के क्षय से उत्पन्न होता है और समस्त द्रव्यो और पर्यायों को जानता है, वह केवल ज्ञान कहलाता है उसे आवृत करने वाला कर्म ज्ञानावरण है । केवल ज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है ॥६॥

मूलसूत्रार्थ—'दंसणावरणिज्जं 'नवविहं' इत्यादि सूत्र ७

दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार का होता है चक्षुर्दर्शनावरणीयआदि भेदसे ॥सू० ७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरणकर्म रूप मूल प्रकृतिबन्ध की मतिज्ञानावरण आदि पाँच उत्तरप्रकृतियाँ बतलाइ गई है। अब दर्शनावरण कर्म रूप मूलप्रकृतिबन्ध की नौ उत्तरप्रकृतियाँ कहते है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि, यह दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म नौ प्रकार का है— (१ चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षु दर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरणकर्म की मतिज्ञानावरण आदि पाँच प्रकृतियों का

दर्शनावरणरूपद्वितीयं कर्म मूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतिभेदा नव भवन्ति तथाहि

चक्षुर्दर्शनावरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम्--२, अवधिदर्शनावरणम्--३, केवलदर्शनावरणम्--४. निद्रा--५ निद्रानिद्रा--६, प्रचला--७, प्रचलाप्रचला ८, स्त्यानर्द्धि--९, श्चेति ।

तत्र--सुखप्रतिबोधलक्षणः स्वापो निद्रा, निद्रा निद्राच--दुःखप्रतिबोधस्वरूपा, । ऊर्ध्वशयनलक्षणातिष्ठच्छयनरूपा प्रचला, चङ्क्रमणेन चलनं प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धिः स्त्यानं स्तिमितं तस्य ऋद्धि स्त्यानर्द्धिः,स्तब्धताऽतिशयः। तथाच-दर्शनावरणभेदाश्च-क्षुर्दर्शनावरणादयो निद्रादयश्चेति नव भवन्ति ।

तत्र चष्टे पश्यत्यनेनाऽऽत्मेति चक्षुः दर्शनार्थकचक्षिङ्-धातोःचिक्षेः शिच्च इतिसिच् सर्वाण्येवेन्द्रियाणि सामान्य-विशेषबोधस्वभावस्यात्मनः करणरूपाणि द्वाराणि सन्ति तद् द्वारकञ्च चक्षुर्दर्शनं सामान्यमात्रोपलम्भनात्मक मात्मपरिणतिरूपं बोध्यम् तल्लब्धि-घातिच चक्षुर्दर्शनावरणं भवति चक्षुर्भिन्नेन्द्रियमने विषयमविशिष्टमचक्षुर्दर्शनमात्मपरिणतिरूपं बोध्यम्, तल्लब्धिघातिचा--ऽचक्षुर्दनावरणं भवति ।

अवधावपि प्रथमसम्पाते सामान्यमात्रोपलम्भनात्मकमात्मपरिणतिरूपमवधिदर्शनम् । केवलदर्शनञ्च सामान्योपभोगरूपं भवति । एतदुत्तरावरणमवधिदर्शनावरणम्--केवलदर्शनावरणञ्चाऽव-

---

निरूपण किया गया, यहाँ दर्शनावरण के नौ भेद कहे जाते है--दर्शनावरण नामक जो कर्म की दूसरी मूल प्रकृति है, उसके नौ भेद हैं। वे यो है--

१ चक्षुदर्शनावरण २ अचक्षुदर्शनावरण ३ अवधिदर्शनावरण ४ केवलदर्शनावरण ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि।

जो नींद सरलता से टूट जाए वह निद्रा कहलाती है निद्रारूप--अनुभव करने योग्य-को निद्रा कहते है। जो नींद कठिनाई से टूटे वह गाढी नींद निद्रानिद्रा है। खडे-खडे या बैठे-बैठे आने वाली निद्रा प्रचला है, जिस निद्रा में, सोचा हुआ कार्य कर डाला जाता है, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा कहलाती है। इस प्रकार पाँच निद्राएँ और चार चक्षुदर्शनावरण आदि मिलकर दर्शनावरण के नौ भेद होते है।

जिसके द्वारा आत्मा देखता है, उसे चक्षु कहते है! सभी इन्द्रियाँ सामान्य विशेष बोधस्वरूप आत्मा के लिए कारण हैं--रूपादि को ग्रहण करने के द्वार है। चक्षु रूप द्वार से होने वाला दर्शन अर्थात् सामान्य बोध चक्षुदर्शन कहलाता है वह आत्मा की ही एक विशिष्ट परिणति है। चक्षुदर्शनावरण चक्षुदर्शन लब्धि का घातक होता है।

चक्षु के अतिरिक्त शेष इन्द्रियो से तथा मन से होने वाला सामान्य बोध अचक्षुदर्शन है। वह भी आत्मा की ही परिणति है। उसकी लब्धि का घात करने वाला अचक्षुदर्शनावरण कहलाता है।

अवधिज्ञान के उपयोग से पहले जो सामान्य ज्ञान होता है वह अवधिदर्शन है। यह भी आत्मा की परिणति है। इसका घात करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है।

गन्तव्यम् । इति नवविधं दर्शनावरणरूपद्वितीयमूलप्रकृतिकर्मण उत्तरप्रकृतिकर्माऽवसेयम्—॥७॥

मूलसूत्रम्—"वेयणिज्जं दुविहं सायासायभेयओ—"॥ ८ ॥

छाया—"वेदनीयं द्विविधं शाताऽशातभेदतः—" ॥ ८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे द्वितीयस्य दर्शनावरणरूपमूलप्रकृतिकर्मणो नवविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपितम् सम्प्रति वेदनीयत्वेन प्रसिद्धस्य तृतीयस्य मूलप्रकृतिकर्मणो द्विविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपयितुमाह **"वेयणिज्जं दुविहं,सायासायभेयओ–"** इति. । वेदनीयं तावत् मूलप्रकृतिकर्म उत्तरप्रकृतिकर्मत्वेन द्विविधं प्रज्ञप्तम्, शाताशातभेदतः, शातावेदनीयम्–अशातावेदनीयञ्चेति ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे दर्शनावरणरूपमूलप्रकृतिकर्मणो द्वितीयस्य नवविधमुत्तरप्रकृतिकर्म प्ररूपितम्, सम्प्रति—वेदनीयत्वेन प्रसिद्धतृतीयमूलप्रकृतिकर्मणो द्वैविध्यमुत्तरप्रकृतिकर्म प्ररूपयितुमाह—**वेयणिज्जं दुविहं,सायासायभेयओ—"** इति. ।

वेदनीयं खलु तृतीयं मूलप्रकृतिकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन द्विविधं प्रज्ञप्तम्, शातशातभेदतः सद्वेद्यम्—असद्वेद्यञ्चेत्येवं वेदनीयमूलप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिद्वयं भवति. । तथा च यदुदयादुपभोक्तुः कर्तुरात्मनो मनुष्य—देवादिजन्मसु—औदारिकादिशरीरमनोद्वारेणाऽभिमतमिष्टं सुखपरिणतिरूपम् आगन्तुकविविधमनोज्ञद्रव्य—क्षेत्र—काल—भावसम्बन्धवशात् प्राप्तपरिपाकावस्थम् अनेकभेदं भवति तत्सद्वेदनीयमवगन्तव्यम् ।

तदेव सद्वेद्यं—शातावेदनीयञ्चेत्युच्यते, तद्विपरीतम्—असद्वेदनीयम्—असद्वेद्यम्—अशातावेद-

---

केवलदर्शन भी सामान्य उपयोग है, इसे आवृत करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है । दूसरी मूल कर्मप्रकृति की यह नौ उत्तरप्रकृतियां है ॥७॥

सूत्रार्थ—"वेयणिज्जं दुविहं' इत्यादि ॥८॥"

वेदनीय कर्म दो प्रकार का है—सातावेदनीय और असातावेदनीय ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में द्वितीय मूल कर्मप्रकृति दर्शनावरण की नौ उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया है, अब तीसरी मूलप्रकृति वेदनीय के भेदो का कथन करते है—वेदनीय नामक तीसरी मूल कर्मप्रकृति के दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्रमें दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियो का कथन किया है, अब वेदनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियो का प्रतिपादन करते है—

वेदनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ दो है सातावेदनीय और असातावेदनीय । जिसके उदय से आत्मा को मनुष्य और देव आदि जन्मो में औदारिक आदि शरीर तथा मन के द्वारा, आगन्तुक विविध मनोरम द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव और भव के सम्बन्ध से अनेक प्रकार के सुख का अनुभव होता है, वह सातावेदनीय कहलाता है । उसे सातावेदनीय या सद्वेद्य भी कहते है । इससे जो विपरीत हो वह असातावेदनीय, असद्वेद्य या अशातावेदनीय कहलाता है । तात्पर्य यह है कि

नीयञ्चोच्यते । एवञ्च–आत्मनोऽभिमतविषयत्वम् सद्वेदनीयत्वम् । आत्मनोऽनभिमतविषयत्वञ्चाऽसद्वेदनीयत्वमवगन्तव्यम्–॥८॥

मूलसूत्रम्––"मोहणिज्जं अट्ठावीसविहं दंसणचरित्तादिभेयओ––" ॥९॥

छाया––"मोहनीयम्-अष्टाविंशतिविधं दर्शनचारित्रादिभेदतः–" ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे वेदनीयाख्यस्य तृतीयमूलप्रकृतिकर्मणो द्वैविध्येनोत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपितम्, सम्प्रति–मोहनीयस्य चतुर्थमूलप्रकृतिकर्मणोऽष्टाविधमुत्तरकर्म प्ररूपयति "मोहणिज्जं–" इत्यादि । तथाच–मोहनियं कर्म द्विविधम्, दर्शनमोहनीयम्–१ चारित्रमोहनीयञ्च–२।

तत्र–दर्शनमोहनीयं त्रिविधम्, मिथ्यात्वमोहनीयम्–१ सम्यक्त्वमोहनीयम्–२ सम्यग्मिथ्यात्व मिश्रमोहनीयञ्च–३ । चारित्रमोहनीयन्तु–कषायमोहनीय–१ नोकषायमोहनीय–२ भेदेन द्विविधम्–। तत्र–कषायमोहनीयं षोडशविधम्, क्रोध–मान–माया–लोभचतुष्टयस्य कषायमोहनीयस्य प्रत्येकम् अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायप्रत्याख्यानकषाय–संज्वलनकषायभेदेन चातुर्विध्यात् षोडशभेदा भवन्ति–।

नोकषायमोहनीयं खलु नवविधं भवति, हास्य–रत्य–रति–शोक–भय–जुगुप्सा–पुरुषवेद–स्त्रीवेद–नपुंसकवेदभेदात् इत्येवं रीत्या दर्शनमोहनीयस्य –उपर्युक्तत्रैविध्येन सह चारित्रमोहनीयस्य षोडशकषायमोहनीय, नवनोकषायमोहनीयभेदैः पञ्चविंशतिभेदानां सम्मेलनेना–ऽष्टाविंशतिविधं मोहनीयमूलप्रकृतिकर्मण उत्तरप्रकृतिकर्मसम्पद्यते –इति भावः ॥ ९ ॥

जिस कर्म के उदय से अनिष्ट सामग्री प्राप्त होने पर असाता–दुःख रूप अनुभूति हो, वह असद्वेद्य कर्म है ॥८॥

सूत्रार्थ––"मोहणिज्जं अट्ठावीसविहं' इत्यादि ॥९॥

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय आदि के भेद से मोहनीय कर्म अठाईस प्रकार का है ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका––पिछले सूत्र में वेदनीय नामक मूल कर्मप्रकृति की दो उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया; अब मोहनीय नामक चौथी मूल कर्मप्रकृति की अठाईस उत्तर प्रकृतियों का निरूपण करते है–मोहनीय कर्म दो प्रकार का है–दर्शमोहनीय और चारित्रमोहनीय ।

इनमें से दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का है–१ मिथ्यात्वमोहनीय २ सम्यक्त्वमोहनीय और ३ सम्यग् मिथ्यात्वमोहनीय अर्थात् मिश्रमोहनीय । चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है–कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय । इनमें से कषायमोहनीय के सोलह भेद है क्रोध, मान, माया, और लोभ, यह चारो कषाय अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार के होने के कारण सोलह प्रकार के हो जाते हैं ।

नोकषायमोहनीय के नौ भेद है– १ हास्य २ रति ३ अरति ४ शोक ५ भय ६ जुगुप्सा ७ पुरुषवेद ८ स्त्रीवेद और ९ नपुंसक वेद । इस प्रकार दर्शनमोहनीय के तीन भेदों के साथ चारित्रमोहनीय के सोलह, कषायमोहनीय और नौ नो कषायमोहनीय के पचीस भेदों को सम्मिलित करने से मोहनीय नामक मूल प्रकृति की अठाईस उत्तरप्रकृतियाँ हो जाती है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे वेदनीयाख्यतृतीयमूलप्रकृतिकर्मणो द्वैविध्येनोत्तरप्रकृतिकर्मप्र- रूपितम् सम्प्रतिहि—चतुर्थस्य मोहनीयमूलप्रकृतिकर्मणोऽष्टाविंशतिविधमुत्तरकर्मप्ररूपयितुमाह—"**मोहणिज्जं अट्ठावीसविहं दंसणचारित्ताइभेयओ**—" इति । मोहनीयं खलु मूलप्रकृतिकर्म, उत्तरप्रकृतित्वेनाऽष्टाविंशतिविधं प्रज्ञप्तम्, दर्शनचारित्रादिभेदतः ।

मिथ्यात्वमोहनीय—सम्यक्त्वमोहनीय—सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयरूपत्रिविधदर्शनमोहनीयाऽनन्ताऽनुबन्ध्यप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान—सज्वलनकषायरूपभेदचतुष्टयाऽवच्छिन्नप्रत्येकक्रोध—मान—माया—लोभचतुष्टयभेदावच्छिन्नषोडशकषाय—हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदनपुंसकवेदभेदावच्छिन्ननव- नोकषायरूपपञ्चविंशतिभेदावच्छिन्नचारित्रमोहनीयभेदात् तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वं तद्रूपं मोहनीयम् सम्यक्त्वमोहनीयम् तद् विपरीतम् अतत्त्वार्थश्रद्धानं तत्त्वार्थाश्रद्धानं वा मिथ्यात्वम्, तद्रूपं मोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयम्—तदुभयं सम्यग् मिथ्यातत्वश्रद्धानलक्षणं च सम्यग् मिथ्यात्वम्, तद्रूपं मोहनीयं सम्यग् मिथ्यात्वमोहनीयम् इत्येवं तावत् त्रिविधं दर्शनमोहनीयस्योत्तरप्रकृतिकर्म बोध्यम् तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनं तन्मोहनाद् दर्शनमोहनीयमुच्यते प्राणातिपातादिरूपप्राणिवधादितो विरतिरूपं चारित्रम्—तन्मोहनात् मूर्च्छारूपात्, चारित्रमोहनीयं कर्म व्यपदिश्यते तत्र दर्शनमोहनीयस्योक्तत्रै- विध्यं वर्तते तेषां त्रयाणामपि बन्धो भवति तथा चोक्तम्—॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में वेदनीय नामक मूलकर्मप्रकृति की दो उत्तर प्रकृतियाँ बतलाई जा चुकी है, अब चौथी मोहनीय मूलप्रकृति की अठाईस उत्तरप्रकृतियों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—मोहनीय नामक मूलप्रकृति दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय आदि के भेद से अठाईस प्रकार की है ।

तीन प्रकार का दर्शन मोहनीय—मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय, अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और सज्वलन के क्रोध, मान, माया, लोभ, यो सोलह कषाय मोहनीह तथा नौ नो कषाय मोहनीय अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, यह सब मिलकर मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

तत्त्वार्थ के विषय में सम्यक् श्रद्धान न हो—विपरीत श्रद्धान होना मिथ्यात्व कहलाता है । जिस कर्म के उदय से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है, वहमिथ्यात्वमोहनीय कर्म कहलाता है । जिसके उदय से सम्यक्त्व का घात तो न हो किन्तु वह दूषित बना रहे, वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म कहलाता है। जिसके उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिला जुला परिणाम उत्पन्न हो, वह सम्यग्—मिथ्यात्व या मिश्रमोहनीय कहलाता है । यह तीन दर्शनमोहनीय की उत्तर प्रकृत्तियाँ है ।

प्राणातिपात अर्थात् प्राणिविराधना आदि की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। उसे जो मोहित—मूर्छित करदे अर्थात् जो चारित्र परिणाम को जागृत न होने दे, वह चारित्रमोहनीय कर्म कहलाता है।

यद्यपि दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद है, और तीनो में बन्ध होता है । कहा भी है—

मिथ्यात्वस्य ह्युदये जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।
न च तस्मै सद्धर्मः स्वदेत पित्तोदये घृतवत् ॥१॥ इति,

उक्तरीत्या च मिथ्यात्वशुद्धौ ग्रन्थिभेदानन्तरं सम्यक्त्वावाप्तिर्भवति, तदनन्तरञ्च—

"सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवामदनाः ॥१॥
यत् सर्वथा तत्र विशुद्धं तद्भवति सम्यक्त्वम् ।
मिश्रंतु दरविशुद्धं भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥२॥ इति,

मदनकोद्रवा स्तु त्र्यवस्था भवन्ति अविशुद्ध विशुद्ध—दरविशुद्धाः तस्मादत्र तद्दृष्टान्तः मिथ्यात्व-सम्यग् मिथ्यात्वेषु मिथ्यात्वोदयाच्च तत्त्वार्थाश्रद्धा भवति विपरीतदृष्टित्वात् । तथाचोक्तम्—॥ ननु कोद्रवान् मदनकान् भुक्त्वा नात्मवशतां नरो याति । शुद्धादी (शुद्धभक्षी) न च मुह्यति मिश्र-गुण—श्चापि मिश्राद् वा ॥१॥ इति, स खलु मिथ्यात्ववान् मिथ्यात्वोदयानुगुणपरिणामवर्तित्वेन पीतमद्यहृत्पूरभक्षणपित्तोदयाद् व्याक्षिप्तेन्द्रियकरणपुरुषवदयथास्थितार्थरुचिविघातकारिणा मिथ्यात्वेन विपरीतमेव प्रतिपद्यते, उक्तञ्च—

मिथ्यात्व का उदय होने पर जीव की दृष्टि (रुचि, प्रतीति, श्रद्धा) विपरीत हो जाती है । उसे समीचिन धर्म रुचता नहीं, जैसे पित्त का प्रकोप होने पर घृत भी कटुक लगने लगता है ॥१॥

मिथ्यात्व की शुद्धि होने पर ग्रंथिभेद को पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । तदनन्तर—जीव अपने सम्यक्त्व गुण के द्वारा मिथ्यात्व कर्म का विशोधन करता है, जैसे मादक कोद्रवों को छाछ आदि से शोधित किया जाता है । शोधन करने पर जो कर्म विशुद्ध हो जाता है, वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म कहलाता है । जो अर्द्ध शुद्ध होता है अर्थात् कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध होता है वह मिश्र कहलाता है और जो पूरि तरह अशुद्ध रहता है वह मिथ्यात्व कर्म कहलाना है ॥१–२॥

मदनकोद्रव की तीन अवस्थाएं होती है—अविशुद्ध, विशुद्ध और अर्धविशुद्ध । इस कारण यहाँ उसका दृष्टान्त दिया गया है । मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह में से मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वार्थ में अश्रद्धा होती है क्योकि मिथ्यात्व के उदय से जीव विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है । कहा भी है—

मदन-कोद्रवो को खाकर मनुष्य अपने वश में नहीं रहता है । शुद्ध किये हुए कोद्रवों को खाने वाला मोहित—मूढ नहीं होता और अर्द्ध शुद्ध कोद्रवों को खाने वाला अर्द्ध मूर्छित होता है

जैसे मदिरापान करने से अथवा धतूरे के भक्षण से या पित्त के प्रकोप से जिसकी इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जाती हैं, ऐसा पुरुष वास्तविकता—अवास्तविकता का विवेक नहीं कर पाता, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन तत्त्वरुचि का विघात करने वाले मिथ्यात्व के उदय से विपरीत ही श्रद्धा करता है । कहा भी है—

मिच्छत्ततिमिरपच्छाइयदिट्ठीरागदोससंजुत्ता ।
धम्मं जिणपण्णत्तं भव्वावि नरा नरोयंति ॥१॥
मिच्छादिट्ठीजीवो उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥२॥
पयमक्खरं च इक्कंपि जो न रोएइ सुत्तनिदिट्ठं ।
सेसं रोयंतो वि हु मिच्छादिट्ठीमुणेयव्वो ॥३॥ इति,
मिथ्यात्वतिमिरप्रच्छादितदृष्टयो रागद्वेषसंयुक्ताः ।
धर्मं जिनप्रज्ञप्तं भव्या अपि नरा न रोचन्ते ॥१॥
मिथ्यादृष्टिर्जीवउपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्धधाति ।
श्रद्दधात्यसद्भावमुपदिष्टं वाऽनुपदिष्टम् ॥२॥
पदमक्षरं चैकमपि यो न रोचते सूत्रनिर्दिष्टम् ।
शेषं रोचमानोऽपि खलु मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥३॥ इति
किञ्चोक्तञ्च—॥ तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण जाण भावाणं ।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तिविहं च ॥१॥ इति ।
तन्मिथ्यात्वं यद् अश्रद्धानं तथ्यानां जानीहि भावानाम् ।
सांशयिकमाभिग्रहिकमानाभिग्रहिकञ्च त्रिविधञ्च ॥ इति ।

जिनकी दृष्टि मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से आच्छादित हो गई है, जो राग और द्वेष से युक्त है, ऐसे जीव भव्य होने पर भी जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म पर रुचि नहीं करते ॥१॥

मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन पर तो श्रद्धा करता नहीं, किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव पर अर्थात् विपरीत तत्त्व पर श्रद्धा करता है ॥२॥

जो जीव सूत्र–आगम में कथित एक भी पद या एक भी अक्षर पर अरुचि (अश्रद्धा) करता है, वह शेष समग्र आगम पर श्रद्धा करता हो तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिए ॥३॥

तत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व पाँच प्रकार का है–(१) औपशमिक (२) सास्वादन (३) वेदक (४) क्षायोकशमिक और (५) क्षायिक ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय की तीन, यों सातों प्रकृतियो का उपशम होने पर औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है यह सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है। तत्पश्चात् अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व का निश्चय ही घात हो जाता है। कहा भी है—

अगर संयोजना का अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय का उदय रहता तो सास्वादन सम्यक्त्व हो जाता है और यदि उसका अभाव होता है तो निर्दोष सम्यक्त्व प्राप्त होता है ॥१॥

सम्यक्त्ववेदनीयं तावत् शुद्धपुद्गलप्रत्ययआत्मनस्तत्त्वार्थश्रद्धानपरिणामः, स चौपशमिकसास्वादन—वेदक—क्षायोपशमिक—क्षायिकभेदेन; पञ्चविधः, तत्र दर्शनमोहसप्तके उपशान्ते सति औपशमिकं भवति, सदैव सम्यक्त्वमन्तर्मुहूर्तकालावच्छिन्नं बोध्यम्, उपशमसम्यग्दर्शनकाले संयोजनाः षण्णामावलिकानामन्ते कस्यचिदुभयभावं गच्छन्ति; अनन्तानुबन्धिभिरूपशमसम्यक्त्वं नित्यमेव विहन्यते, उक्तञ्च—

"संयोजनोदयश्चेत् स्यात्सास्वादनसम्यक्त्वम् ।
तस्य विशुद्ध्यतस्तदभावात्—सम्यक्त्वमनवद्यम्" ॥१॥

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वपुद्गलचरमग्रासानुभवकाले वेदकसम्यक्त्वं भवति उदितमिथ्यात्वपुद्गलक्षये अनुदितमिथ्यात्वोपशमे च क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति, क्षायिक सम्यक्त्वं पुनर्निरवशेषदर्शनमोहक्षये सति संजायते, न नु—विशुद्धपुद्गलक्षये तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य परिणामस्याऽभावो भवति । तथाचोक्तम्—

"प्रक्षीणे तर्हि सम्यक्त्वे सम्यग्दृष्टिः कथं मता ?
क्षयो द्रव्यस्य तत्रेष्टः परिणामस्य न क्षयः-„ ॥१॥

इति, सम्यग् मिथ्यात्ववेदनीयन्तु—प्रथमतः सम्यक्त्वमुत्पादयन् करणत्रयं विधायो-पशमसम्यक्त्वमासादयति । तदनन्तरम् मिथ्यात्वदलिकं त्रिपुञ्जीत्वेन शुद्धमिश्राऽशुद्धत्वेन परिणमति-। तदुक्तम्-

सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम्-।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः-॥११॥

इति, इत्येवं तावत् त्रिविधं दर्शनमोहीयकर्मोत्तरप्रकृतिबन्धं प्रतिपाद्य, सम्प्रति—पञ्चविंशतिविधम् चारित्रमोहनीयकर्मोत्तरप्रकृतिबन्धं प्रतिपादयति ।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अन्तिम पुद्गलो का अनुभव करने के काल में वेदक सम्यक्त्व होता है। उदय में न आये मिथ्यात्व के पुद्गलोका क्षय, और उदय में न आये मिथ्यात्व का उपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। सम्पूर्ण दर्शनमोहनीय का क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। ऐसा नहीं है कि विशुद्ध पुद्गलों का क्षय होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान रूप परिणाम का अभाव हो जाए। कहा भीहै—

सम्यक्त्व मोहनीय को पुद्गलो के क्षय हो जाने पर सम्यग् दृष्टि कैसे मानी गई है ? इस का उत्तर यह है कि वहाँ द्रव्य का क्षय माना गया है, परिणाम का क्षय नहीं ॥१॥

सम्यग्—मिथ्यात्व वेदनीय पहले सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ, तीन करण कर के, उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व के दलिक को शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध, इस प्रकार तीन पुंज के रूप में परिणत करता है। कहाभी है—

तत्पश्चात् सम्यक्त्वगुण के द्वारा मिथ्या कर्म का उसी प्रकार विशोधन करता है जैसे छाछ आदि से मदन कोद्रव शुद्ध किये जाते है ॥१॥

चारित्रमोहनीयं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, कषायमोहनीयं नोकषायमोहनीयम् । तत्र-कषायवेदनीयं षोडशविधम् तद्यथा—क्रोध, मान, माया, लोभकषायाणां चतुर्णां प्रत्येकम् अनन्तानुवन्ध्य-प्रत्याख्यानकषाय-प्रत्याख्यान-कषाय-संज्वलनकषायचतुष्टयभेदेन षोडशभेदा अवसेयाः ।.तत्रा-ऽनन्तः ससारो नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवरूपचतुर्गति जन्म-जरा-मरणलक्षणस्तदनुवन्धादनन्तानुबन्धिनः संयोजनाश्च क्रोध-मान-माया-लोभः सन्ति । तत्रा-ऽप्रीतिलक्षणः क्रोधः -१गर्वलक्षणो मानः -२शाठ्यलक्षणा माया -३गार्ध्यलक्षणो लोभः -४ उक्तञ्च—

"संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसंख्येयैर्भवैः कषायास्ते-।
सयोजनतानन्ताऽनुवन्धिता वा ऽप्यतस्तेषाम्- ॥११॥ इति,

अनन्तानुवन्धिना खलु गिरिराजिशैलस्तम्भधनवंशमूलकृमिलाक्षारागा उदाहरणानि । एवम्—अप्रत्या-

---

इस प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म की तीन उत्तरप्रकृतियो का प्रतिपादन करके अब पचीस प्रकार के चारित्रमोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृति रूप बन्ध का प्रतिपादन करते है,

चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय । कषाय-मोहनी के सोलह भेद है; यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के भेद से ४×४=१६—सोलह भेद होते है ।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चतुर्गति तथा जन्म, जरा, मरण रूप अनन्त संसार का अनुवन्ध करने वाला कषाय अनन्तानु वंधी कहलाता है । क्रोध, मान, माया और लोभ, इसके चार भेद होते है ।

इनमें से क्रोध का लक्षण अप्रीति है, मान का लक्षण गर्व है, माया का लक्षण शठता (कपटता) है और लोभ का लक्षण गृद्धिआसक्ति है । कहा भी है

जो कषाय जीव को अनन्त भवो से संयोजित करता है उसे अनन्तानुबंधी या संयोजना कषाय कहते है ॥२॥

अनन्तानुबंधी कषायो के गिरि राजी (पर्वत में पड़ी हुई दरार) शैल स्तंभ (पर्वत) वांस की जड़ और किरमिची रंग, ये चार उदाहरण है तात्पर्य यह है कि जैसे पर्वत की दरार कभी मिटती नहीं है, उसी प्रकार जो क्रोध जीवन पर्यन्त कभी न मिटे उसे अनन्तानुबंधी क्रोध समझना चाहिए । जैसे पत्थर कभी नमता नहीं उसी प्रकार जो मान जीवन पर्यन्त दूर न हो, वह अनन्तानुबंधी मान है । जैसे वांस की जड़ में अत्यन्त वक्रता होती है, उसी प्रकार की वक्रता अनन्तानुबंधी माया में होती है । जैसे वस्त्र में लगा हुआ किरमिची रंग अन्त तक छूटता नहीं है, उसी प्रकार जो लोभ जीवन के अन्त तक न छूटे वह अनन्तानुबंधी लोभ कहलाताहै । अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध का स्वभाव पत्थर भी लकीर=१मान का स्वभाव वज्र का स्तम्भ माया का स्वभाव वांस की जड़ लोभ का स्वभाव कृमिज रंग के समान होता है ।

ख्यानकषायस्तावतक्रोधादिचतुष्टयभेदेन चतुर्विधो व्यपदिश्यते । तत्र-द्विविधं तावत् प्रत्याख्यान भवति, देशविरतिरूपं सर्वविरतिरूपञ्च ।

तत्र-देशविरतिलक्षणमल्पं प्रत्याख्यानम् अप्रत्याख्यानमुच्यते तदावरणकषायो-ऽप्रत्याख्याना-ऽवरणकषायो व्यपदिश्यते । यः खलु कषायः स्वल्पप्रत्याख्यानमावृणोति सर्वविरतिलक्षणमपि प्रत्याख्यानमावृणोत्येवेति न किमपि चित्रमस्ति । उक्तञ्च—

आवृण्वन्ति प्रत्याख्यानं स्वल्पमपि येन जीवस्य ।
तेनाऽप्रत्याख्यानावरणास्ते निर्विशेषोक्त्या— ॥१॥ इति.

एषां कषायाणामुदये सति सम्यक्त्वलाभः सर्वदेशविरतिलक्षणं प्रत्याख्यानं न सम्भवति, । सर्वविरति-लक्षणप्रत्याख्यानस्याऽऽवरणकषायः-प्रत्याख्यानकषाय उच्यते "सर्वान् प्राणिनो यावज्जीवनं न हन्मि—" इत्यादिप्रत्याख्यान स्थगयन्तीति ये कषायास्ते प्रत्याख्यानावरणकषाया उच्यन्ते । तथाचोक्तम्

"सर्वप्रत्याख्यानं येनावृण्वन्ति तदभिलषतोऽपि- ।
तेन प्रत्याख्यानाऽऽवरणास्ते निर्विशेषोक्त्या— ॥१॥ इति,

सज्वलनकषायाः खलु समस्तपापस्थानविरतिशालिनमपि यतिं दुःसहपरिषहसंपाते सति युगपत् संज्वलयन्तीति संज्वलनाः । तथाचोक्तम्—

अप्रत्याख्यात कषाय भी क्रोध आदि के भेद से चार प्रकार का है । प्रत्याख्यात दो प्रकार का होता है—देशविरति रूप और सर्वविरतिरूप । इनमें से देश विरति प्रत्याख्यान अल्प होने के कारण अप्रत्याख्यात कहलाता है । उसको आवृत करने वाला अर्थात् उत्पन्न न होने देने वाला कषाय अप्रत्याख्यानावरण कहलाता है । जो कषाय स्वल्प प्रत्याख्यान भी नहीं होने देता वह सर्वविरतिप्रत्याख्यान को भी रोकता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । कहा भी है—'जो कषाय जीव के स्वल्प (एकदेशीय) प्रत्याख्यान को भी रोकते हैं, वे सामान्यतया अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है ॥१॥

इन अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी सर्वविरति या देशविरति प्रत्याख्यान नहीं होता ।

जो कषाय सर्वविरति प्रत्याख्यान का आवरण करता है अर्थात् सर्वविरति चारित्र नहीं होने देता, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है । मैं किसी भी प्राणी को जीवनपर्यन्त मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से घात नहीं करूंगा' इत्यादि प्रकार का प्रत्याख्यान सर्वविरति प्रत्याख्यान कहलाता है । इसको जो उत्पन्न न होने दे, वह प्रत्याख्या-नावरण कषाय है । कहा है 'जिसमें कषाय के उदय से जीव चाहता हुआ भी सर्वविरति प्रत्या-ख्यान नहीं कर पाता, वह सामान्य रूप से प्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है ॥ १ ॥

संज्वलन कषाय समस्त पापस्थानको से विरत सर्वविरति से सम्पन्न साधु को भी दुस्सह

"संज्वलयन्ति यतिं यत् संविग्नं सर्वपापविरतमपि ।
तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरानिरुच्यन्ते- ॥१॥ इति,

संज्वलनाश्च ते कषायाः संज्वलनकषायाः तथाचैकैकस्याऽप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानसंज्वलनकषायस्य क्रोधादयश्चत्वारो भेदा इति द्वादशभेदाः संजाता' पूर्वोक्ताः, अनन्तानुबन्धिनश्च चत्वारः क्रोध-मान-माया-लोभा इति कषायमोहनीयस्य षोडशभेदाः भवन्ति- । तत्रा-ऽप्रत्याख्यानकषायक्रोध-मान-माया-लोभोदाहरणानि भूराज्य-ऽस्थि,मेषशृङ्ग-कर्दमरागाः, ।

प्रत्याख्यानकषायक्रोधमानादेः रेणुराजि-काष्ठ-गोमूत्रमार्ग-खञ्जनरागा उदाहरणानि । संज्व-लनकपायक्रोधादेरुदाहरणानि जलराजि-तृणशलाकावलेखनिकाहरिद्रारागाः भवन्ति इति पोडशविधं कषायवेदनीयं प्ररूपितम् ।

सम्प्रति-नवविधं नोकषायवेदनीयं प्रतिपादपति, हास्यं-रतिः, अरतिः-शोकः, भयं-जुगुप्सा-

---

परीषह के उपस्थित होने पर एकदम संज्वलित (कषायाविष्ट) कर देते है । इस कारण उन्हें संज्वलन कषाय कहते है । कहा भी है—

जो कषाय ससार से विरक्त और समस्त पापो से रहित साधु को भी संज्वलित कर देते है, अर्थात् मुनि–अवस्था में भी जिनकी सत्ता रहती है, उन्हें संज्वलन कषाय कहते है ।

संज्वलन रूप कषायों को संज्वलन कषाय कहते है । इस प्रकार अप्रत्याख्यान, प्रत्या-ख्यान और संज्वलन कषाय के क्रोध आदि चार–चार भेद होने से वारह भेद हो जाते हैं। इनमें अनन्तानुवन्धी के पूर्वोक्त चार भेद सम्मिलित कर देने पर कषाय मोहनीय के सोलह भेद होते हैं । अप्रत्याख्यान क्रोध मान, माया और लोभ के उदाहरण ये है–क्रोध का स्वभाव तालाव के तरड, (१) मान का स्वभाव अस्थि (हड्डी) का स्तम्भ (२) माया का स्वभाव मेष शृङ्ग (मेढेका सींग) और लोभका स्वभाव कर्दम राग । अर्थात् अप्रत्याख्यान क्रोध का स्वमाव तालावकी तड़ (दरार) मान का स्वभाव हड्डी का स्तम्भ, मायाका स्वभाव मेष–मेंढा–का सींग, लोभ का स्वभाव कर्दम राग के समान होता है ।

प्रत्याख्यान कषाय के क्रोध मानादि के उदाहारण है–क्रोध का स्वभाव वालू में खींची हुई लकीर, मान का स्वभाव काष्ट का स्तम्भ, मायाका स्वभाव चलते बैल के मूत्र, लोभ का स्वभाव खंजन के समान होता है । सज्वलन क्रोध जलमें खींची हुई रेखा, मान का स्वभाव तृण का स्तम्भ, माया का स्वभाव अवलेखनिका वांस की खपची–वांस की छिली हुई पतली त्वचा, लोभ का स्वभाव हल्दी पतंग के रंग के समान होते है । इस प्रकार कषाय वेदनीय के सोलह भेदो का निरू-पण किया गया है ।

अव नौ प्रकार के नो कषाय कर्म का प्रतिपादन करते है–(१) हास्य (२) रति (३) अरति

पुरुषवेदः-स्त्रीवेदः-नपुंसकवेदश्चेति। तत्र—कषायैकदेशत्वात्—कषायविशेषत्वाद्वा हास्यादयो नोकषायशब्देन व्यपदिश्यन्ते। मिश्रार्थको वा नोशब्दोऽत्र गृह्यते, तथाचैते हास्यादयः कषायसहकृताः सन्तः स्वकार्यसम्पादने समर्था भवन्ति, न खलु हास्यादीनां कषायं विना स्वकार्यसम्पादने पृथक्सामर्थ्यमस्ति।

यद्दोषश्च यः कषायो भवति तत्सहचरिणो हास्यादयोऽपि तत्तद्दोषा एव भवन्ति तथाचाऽनन्तानुबन्ध्यादिसहचरिताहास्यादयस्तत्स्वभावका एव सम्पद्यन्ते। तस्मादेतेऽपि हास्यादयश्चरणोपघातकारित्वेन तत्तुल्यत्यैव ग्रहीतव्याः उक्तञ्चान्येनाऽपि—

"कषायसहवर्तित्वात्—कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता—नोकषायकषायता॥१॥-इति।

तत्र-हास्य नो कषायमोहोदयात् सकारणं-निष्कारणं वा हसति रङ्गावतीर्णनटवत्। रतिनोकषायमोहोदयाद् बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु-आसक्तिलक्षणा प्रीतिर्भवति, इष्टेषु वा रूपरसादिषु-आसक्तिरूपा रतिः सञ्जायते-। अरतिनोकषायमोहोदयात् धर्मेऽप्रीतिरूपाऽरति र्भवति। शोकरूप नो कषाद मोहोदयात् विलापनं करोति, स्वशिरआद्यवयवान् आहन्ति-निःश्वसति-रोदिति, भुवस्तले लुठति च-।

भयरूपनोकषायमोहोदयात् उद्विजति त्रस्यति-कम्पते,इत्यादि। जुगुप्सालक्षणनोकषायमोहो-

---

(४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) पुरुष वेद (८) स्त्री वेद और (९) नपुंसक वेद।

कषाय के एक देश होने से अथवा कषाय विशेष होने से हास्य आदि को नो कषाय कहा जाता है। अथवा नो शब्द यहाँ (मिश्र) अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसका आशय यह है कि कषाय के साथ मिलकर ही हास्य आदि अपना कार्य करने में समर्थ होते है। कषाय के अभाव में हास्य आदि अपना कार्य सम्पादन करने में स्वतन्त्र रूप से समर्थ नहीं होते है।

कषाय जिस दोष वाला होता है, उसके साथी हास्य आदि भी उसी दोष को उत्पन्न करते है। ऐसी स्थिति में अनन्तानुबन्धी आदि से सहचरित हास्य आदि भी उसी के से स्वभाव वाले होते हैं।

अतएव इन हास्य आदि को भी, चारित्र का घातक होने के कारण कषायो के तुल्य ही समझना चाहिए। दूसरो ने भी कहा है—ये हास्य नो कषायो के साथी होने के कारण तथा कषायो को प्रेरित करने अर्थात्—भडकाने वाले होने से नो कषाय कहे गये है॥१॥ हास्य नो कषाय मोहनीय के उदय से जीव रंग भूमि में नट के समान सकारण अथवा निष्कारण ही हँसने लगता है। रति नो कषाय मोहनीय के उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओ में आसक्ति—प्रीति उत्पन्न होती है अथवा इष्ट रूप—रस आदि मे आसक्तिरूप प्रीति होती है। अरति नो कषाय मोहनीय के उदय से धर्म मे अरुचि उत्पन्न होती है। शोक नो कषायमोह के उदय से मनुष्य विलाप करता है, अपने मस्तक आदि अवयवो को पीटता है, ठण्डी सांसे लेता है, रोता है और धरती पर लोटता है।

भय नोकषायमोहनीय के उदय से उद्विग्न होता है—घबराता है, त्रस्त होता है काँपने लगता

दयात् शुभाऽशुभद्रव्यविषयकं घृणाजननं व्यलीकमुपजायते । पुरुषवेदरूपनोकषायमोहोदयात् स्त्री-स्वभिलाषो भवति, उद्रिक्तश्लेष्मण आम्रफलाभिलाषवत् । एवं सङ्कल्पविषयीभूतास्वपि स्त्रीषु पुरुष-वेदरूपनोकषायमोहोदयात् अभिलाषो भवति ।

स्त्रीवेदलक्षणनोकषायमोहोदयात् स्त्रियाः पुरुषेषु-अभिलाषो भवति, तन्मोहोदयादेव सङ्कल्प-विषयीभूतेषु च पुरुषेषु-अभिलाषो जायते। नपुंसकवेदलक्षणनोकषायमोहोदयात् कस्यचित् स्त्री-पुरुषद्वयविषयोऽपि-अभिलाष संजायते, धातुद्वयोदये सम्मार्जितादिद्रव्याभिलाषवत्, कस्यचित्पुनः पुरुषेष्वेवाभिलाषः प्रादुर्भवति सङ्कल्पजन्यविषयेषु चाऽनेकरूपोऽभिलाषो भवति ।

तत्र-पुरुषवेदादीनां नोकषायाणां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो दृष्टान्ता भवन्ति । पुरुषवेदमोहा-नलस्याऽत्यन्तं ज्वलतः प्राप्तप्रतिक्रियस्य वडवेव प्रशमो भवति, समासादिततृणपूलस्येव न चिर स्थायी अनुबन्धो भवति । स्त्रीवेदमोहानलस्य चिरकालावस्थायिनः सम्भाषण-स्पर्शन-शुष्केन्धनाऽभि वर्द्धितस्य चिरकालानन्तरं प्रशमो भवति, दृढतम-खदिरादिकाष्ठप्रवृद्धज्वालामालाकलापाऽनलवत् ।

नपुंसकवेदमोहानलस्य महानगरदाहदहनस्येव करीषाग्नेरिवाऽन्तर्विजृम्भमाणदीप्ततमकणनिक-

---

है । जुगुप्सा नो कषायमोह के उदय से शुभ और अशुभ द्रव्यो के विषय में घृणा उत्पन्न होती है । पुरुषवेद नो कषाय मोहनीय के उदय से स्त्रियों की अभिलाषा होती है, जैसे कफ के प्रकोप वाले को आम्रफल की अभिलाषा होती है । इसी प्रकार संकल्प की विषयभूत स्त्रियों में भी पुरुष वेद नो कषाय मोह के उदय से अभिलाषा होती है ।

स्त्री वेद नो कषाय मोह के उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है और इसी वेद के उदय से संकल्प के विषयभूत पुरुषो में भी अभिलाषा होती है । नपुंसकवेद नो कषाय मोहनीय के उदय से स्त्री और पुरुष, दोनो के साथ रमण करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जैसे दो धातुओ का उदय होने पर सम्मार्जित आदि द्रव्यो की अभिलाषा होती है किसी–किसी को पुरुषो की ही अभिलाषा होती है तथा संकल्पजनित विषयो में अनेक प्रकार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

पुरुष वेद आदि तीन नो कषायों के लिए घास की अग्नि, काष्ठ की अग्नि और करीष (छाणो) की अग्नि का उदाहरण प्रसिद्ध है पुरुष वेद मोहनीय रूपी अग्नि जब तीव्रता के साथ प्रज्व-लित होती है तब उसका प्रतीकार होने पर वडवा की भाँति उपशम हो जाता है । जैसे घास का पूला जल्दी ही जल जाता है, वैसे पुरुषवेद का असर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है-चिरस्थायी नहीं होता । स्त्री वेद मोह रूपी अग्नि चिरकाल में शान्त होती है वह झटपट प्रज्वलित भी नहीं होती बल्कि संभाषण, स्पर्शन आदि रूपि सूखे ईधन से शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त होती है । स्त्री वेद की आग अत्यन्त मजबूत खदिर की लकड़ी की खूब बढी हुई ज्वालाओ के समूह के समान होती है । उसके शान्त होनेमें देर लगती है ।

नपुंसक वेद मोहनीय रूपी अग्नि उक्त दोनो से अधिक उग्र होती है। वह किसी महानगर

रस्य चिरकालेन प्रशमो भवति, इत्येवं रीत्या चारीत्रमोहनीयं पञ्चविंशतिविधं प्ररूपितम्, त्रिविधञ्च दर्शनमोहनीयं प्रागेव निरूपितम्, इत्यष्टाविंशतिविधं मोहनीय कर्म–उत्तप्रकृतित्वेन सम्पन्नम् ।

तत्राऽनन्तानुबन्धी क्रोधादिकषायोदयः सम्यग्दर्शनमुपहन्ति तदुदयात् सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते पूर्वोत्पन्नमपि तत् परिपतति, अप्रत्याख्यानक्रोधादिकषायोदयाद् सर्वदेशलक्षणायाः विरतेरभावः संजायते, प्रत्याख्यानक्रोधादिकपायोदयाद् देशविरतिर्भवति, किन्तु–उत्तमचारित्रस्य लाभो न भवति सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमामीति रूपस्य लाभो न भवतीति भावः।

सज्वलनकषायोदये पुनरकषायचारित्रलाभो न भवति । तत्र–क्रोध, मान, माया, लोभानां चातुर्णामपि प्रत्येकमनन्ताऽनुबन्ध्यप्रत्याख्यान–प्रत्याख्यानसंज्वलनानामेकैकस्य चातुर्विध्यक्रमेण क्रोधादेस्तीव्र–मध्य विमध्य–मन्दभावान् प्रदर्शयति तत्र–तीव्रस्तावद अनन्तानुबन्धी क्रोधः पर्वत-राजिसदृशो भवति, यथा–पर्वताना शिलादिविभागरूपपाषाणखण्डानां राजिभिर्दारुरूपा–उत्पद्यते स च शिलायामुत्पन्नाराजिर्यावत्कालं शिलारूपं तावत्कालपर्यन्तमवतिष्ठते, नहि तस्याः सन्धानं भवति ।

के दाह की अग्नि के समान या छाणो की आग के समान भीतर ही भीतर खूब धधकती रहती है। उसकी उपशान्ति चिर कालमे होती है ।

इस प्रकार पच्चीस तरह के चारित्रमोहनीय कर्म का निरूपण किया गया। तीन प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म का निरूपन पहले किया जा चुका है यो मोहनीय कर्म की अट्ठाईस ही प्रकृतियो का प्रतिपादन हो चुका ।

अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सम्यग्दर्शन का घात करता है जब तक उसका उदय रहता है तब तक सम्यग्दर्शनि की उत्पत्ति नहीं होती । सम्यग्दर्शन यदि पहले उत्पन्न हो चुका हो और वाद में अनन्तानुबन्धी कपाय का उदय हो तो वह नष्ट हो जाता है। अप्रत्यख्यानाव-रण कषाय के उदय से देशविरति भी उत्पन्न नहीं हो पाती, सर्वविरति तो होगी ही कैसे ! प्रत्या-ख्यान कषाय के उदय से देशविरति में तो रुकावट नहीं होती किन्तु सर्वविरति रूप उत्तम चारित्र की प्राप्ति नहीं होती । तात्पर्य यह है कि 'सब प्रकार के प्राणातिपात से विरत होना है' इस प्रकार के सकलसयम का लाभ नहीं होता ।

संज्वलन कपाय के उदय से वीतराग चारित्र की प्राप्ति नहीं होती ।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन, इन चारो के क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार–चार भेद है। अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकार के क्रोधमें, इसी प्रकार मान, माया और लोभ मे परस्पर जो तारतम्य है अर्थात् तीव्रभाव, मध्यभाव, विमध्यभाव और मन्दभाव है, उसे दिखलाते है––

चारो प्रकार के क्रोधो में अनन्तानुबन्धी क्रोध तीव्र होता है। वह पर्वत मे पडी हुई दरार के समान है। जैसे पर्वत मे या पाषाणशिला आदि में जो दरार पड जाती है, वह जब तक

एवमनन्तानुवन्धी क्रोध उत्पन्नः सन् भवापेक्षया यावत्कालं तस्मिन् भवे जीवस्तिष्ठति, तावत्कालमनुवर्तते न तस्यास्ति कश्चिदुपसहरणोपायः, तदनुमरणाच्च भूयसा नरकं व्रजति मध्यः खल्वप्रत्याख्यानकषायक्रोधो भूमिराजिसदृशः संवत्सरमात्रकालाऽनुवन्धी भवति, यथा—भूमौ राजिः समुद्भूता-सती—अवश्यमेव वर्षासु विनाशमुपगच्छति, एवमेव—तथाविधः क्रोधः समुत्पन्नो वर्षाभ्यन्तरे प्रशान्तो भवति, मरणानन्तरं च तादृशक्रोधशालिनो जीवास्तिर्यग्योनौ समुत्पद्यन्ते।

विमध्यस्तावत्—प्रत्याख्यानकषायक्रोधो वालुकाराजिसदृशो भवति, यथा—वालुकायां काष्ठशलाका—शर्करादीनामेकतमेन निमित्तेन समुत्पन्नः राजिः प्रकर्षतश्चतुर्मासाभ्यन्तरे पुनः सन्धानमेति, एवमेव—तथाविधः क्रोधः समुत्पन्नः प्रत्याख्यानावरणकषायश्चतुर्मासाभ्यन्तरं नियमतः उपशाम्यति, तथाविधं क्रोध मनुसृताः प्राणिनो मरणानन्तरं मनुष्ययोनौ समुत्पद्यन्ते। मन्दः पुनः—सञ्ज्वलनकषायक्रोध उदकराजिसदृशो भवति, यथा उदके दण्डशलाकाऽङ्गुल्यादीनामेकतमेन निमित्तेन समुत्पन्ना राजिरुदकस्य द्रवत्वाद् उत्पत्यनन्तरमेव झटित्येव सन्धानमेति, एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य विदुषोऽप्रमत्तस्य क्रोधो भवति तस्य प्रत्यवमर्शेनो त्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगतो भवति, तथाविधं क्रोधमनुसृताः प्राणिनो देवेषु समुत्पद्यन्ते।

शिला है तब तक वनी रहती है, जुड़ नहीं सकती, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध उत्पन्न होता है तो वह जीवनपर्यन्त कभी नहीं शान्त होता। उसका संस्कार जीवनव्यापी होता है। उसके संस्कार को नष्ट करने का कोई उपाय नहीं है। अनन्तानुबंधी क्रोध के साथ मरण प्राप्त करने वाले जीव प्रायः नरक गति में उत्पन्न होते हैं।

अप्रत्याख्याती क्रोध मध्य श्रेणी का होता है। वह भूमि में पड़ी हुई दरार के समान है, जिसका संस्कार एक वर्ष तक बना रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे जमीन में जो दरार पड़ जाती है, वह वर्षाऋतु में अवश्य ही मिट जाती है। इसी प्रकार जो क्रोध एक बार उत्पन्न होकर एक वर्ष के अन्दर–अन्दर प्रशांत हो जाता है, वह अप्रत्याख्यानी क्रोध कहलाता है। इस क्रोध वाले जीव मृत्यु के पश्चात् तिर्यंच गति में उत्पन्न होते है।

प्रत्याख्यानावरण का क्रोध विमध्य कहा गया है वह वालुका में खींची हुई रेखा के समान होता है। तात्पर्य यह कि वालु के ढेर में लकड़ी से या अन्य किसी सलाई से अगर रेखा बना दी जाय तो वह अधिक से अधिक चार महीने के भीतर मिट जाती है। इसी प्रकार जो क्रोध नियम से चार मास में शान्त हो जाय वह प्रत्याख्यानक्रोध कहलाता है। इस क्रोध वाले जीव मर कर मनुष्ययोनि में जन्म लेते है।

संज्वलनक्रोध मन्द होता है। वह जल में खींची हुई रेखा के समान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दण्ड, शलाका या उंगली आदि से जल में यदि रेखा खींची जाय तो जल तरल होने से वह रेखा उसी समय मिट जाती है, इसी प्रकार जिस अप्रमत्त ज्ञानी पुरुष का

एवं मानोऽपि--अनन्तानुबन्धी--अप्रत्याख्यानकषायः--प्रत्याख्यान--संज्वलनकषायश्च तीव्रो-मन्दो विमध्यो -मन्दश्च--भाव आत्मपरिणतिविशेषः क्रमशः शैलस्तम्भसदृशः अस्थिस्तम्भसदृश· तृणस्तम्भसदृशश्चावगन्तव्यः तत्र यथा-शैलस्तम्भस्तथाऽनन्तानुबन्धी मनोऽपि कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नो मरणपर्यन्तं तिष्ठति, सजात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयोऽप्रत्यवमर्शश्च शैलस्तम्भसदृशो भवति, तथाविधं मानमनुसृत्य मरणानन्तरं नरकेषू त्पद्यन्ते ।

एवं तावत् अस्थिस्तम्भसदृशादिष्वपि मानेपु उपर्युक्तक्रोधरीत्यैव यथायथं निगमनं विधातव्यम् एवं-मायाऽपि-अनन्तानुबन्ध्यप्रत्यख्यान-प्रत्याख्यानसज्वलनकषायभेदाच्चतुर्विधा, तीव्रा-मध्या-विमध्या-मन्दाचा-ऽऽत्मपरिणतिविशेवभावरूपाक्रमशो वंशमूलसदृशी, मेषवृषाणसदृशी, गोमूत्रिका-सदृशी, अवलेखनिका सदृशी, चाऽवगन्तव्या तत्र-यथावंशमूलमतिकुटिलमुपायसहस्रेणापि सरलं कर्तुमशक्यं भवति, अवलेखनिका-वधक्युपकरणविशेषः, तद्वारोल्लिखितमत्यन्तकुटिलं भवति शेषं गतार्थम् ।

एवं तथाविधा मायाऽपि, अनन्तानुवन्धिनी तीव्रा न कदापि जीवनपर्यन्तं सरलाविधातुं शक्या भवति तथाविधां मयामनुसृताः प्राणिनो मरणानन्तरं नरकेपु उत्पत्ति लभन्ते एवमेव-

---

क्रोध उत्पन्न होते ही उपशान्त हो जाता है, उसका वह क्रोध संज्वलनक्रोध कहलाता है। इस प्रकार के क्रोध वाले जीव देवगति में उत्पन्न होते है ।

इसी प्रकार मान भी चार प्रकार का है । अनन्तानुबंधी मान तीव्र, अप्रत्याख्यानी मान मध्य, प्रत्याख्याती मान विमध्य और संज्वलन मान मन्द होता है। यह चार प्रकार का मान अनुक्रम से शैलस्तम्भ के समान, और अस्थिस्तम्भ के समान, दारुस्तम्भ के समान और तृणस्तम्भ के समान जानना चाहिए। जैसे शैलस्तंभ अर्थात् पर्वत कदापि नहीं नमता, उसी प्रकार किसी निमित्त से उत्पन्न हुआ जो मान जीवनपर्यन्त नहीं मिटता, वह अनन्तानुवन्धी मान कहलाता है। इस मान के वशीभूत होकर मरने वाले प्राणी नरकगति मे उत्पन्न होते है इसी प्रकार वह अस्थि-स्तंभ (हड्डी) आदि के समान मान भी पूर्वोक्त क्रोध के सदृश ही घटित करलेना चाहिए। उनके फलस्वरूप होने वाली गति भी पूर्ववत् ही समझलेना चाहिए ।

इसी प्रकार माया भी चार प्रकार की है—अनन्तानुवंधी माया, अप्रत्याख्यानी माया, प्रत्याख्यानी माया और सज्वलनमाया। क्रोध और माना की भाँति माया भी अनुक्रम से तीव्र मध्य, विमध्य और मन्द होती है। अनन्तानुवंधी माया वांस की जड के समान, अप्रत्याख्यानी माया मेढे के सींग के समान, प्रत्याख्यानी माया गोमूत्रिका (चलते -चलते मूतने वाले बैल के मूत्र की टेढी--मेढी रेखाओ) के समान और सज्वलन माया अवलेखनिका के समान होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे वांस की जड़ अत्यन्त कुटिल--वक्र होती है और हजार प्रयत्न करने पर भी सीधी नहीं हो सकती, इसी प्रकार तीव्र अनन्तानुवंधी माया भी जीवनपर्यन्त कदापि नहीं मिटाई जा सकती। इस माया के वशीभूत होकर मरने वाले जीव मरण के अनन्तर नरकगति

पूर्वोक्त क्रोधरीत्यैव क्रमश मेषविषाणसदृशी प्रभृतीनामपि मायानां यथायोग्यं निगमनं विधातव्यम् सा चेयं माया-निकृति-वञ्चना-दम्भ-कूटच्छलनाऽऽ-र्जवादिशब्दैरपि व्यपदिश्यते ।

एवं लोभोऽपि तावदनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान—सञ्ज्वलन—कषायभेदेन चतुर्विधः क्रमशस्तीव्रो मध्यो—विमध्यो-मन्दश्चात्मपरिणतिविशेषरूपो भावः लाक्षारागसदृशः कर्दमरागसदृश. खञ्जनरागसदृशः हरिद्रारागसदृश्चावगन्तव्यः । तत्र—लाक्षारागसदृशः खलु तीव्रोऽनन्तानुबन्धी लोभकषाय आमरणान्न व्यपगच्छति जात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयोऽप्रत्यवमर्शश्च भवति, तथाविधं लोभमनुसृताः प्राणिनो मरणान्तरं नरकेषूत्पत्ति प्राप्नुवन्ति कर्दमरागसदृशस्तावद् मध्योऽप्रत्याख्यानकषायो लोभो वर्षपर्यन्तं तिष्ठति, तथाविधं लोभमनुसृता जीवा मरणानन्तरं तिर्यग्योनिषु समुत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति ।

एवं खञ्जनरागसदृशः खलु प्रत्याख्यानकषायो विमध्यो लोभश्चतुर्मासपर्यन्तं तिष्ठति, तथाविधं लोभमनुसृताः प्राणिनो मरणानन्तरं मनुष्येषूत्पत्ति लभन्ते । एवं हरिद्रारागसदृशः पुनर्मन्दो लोभ. आत्मपरिणतिविशेषो भावः प्रत्यवमर्शनोत्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगच्छति, तथाविधं लोभमनुसृता जीवा मरणानन्तरं देवेषु समुत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति एषाञ्च चतुर्णां क्रोध-मान-माया-लोभानां कषायाणां प्रत्यनीकाः क्षमा—मार्दवा-ऽऽर्जव-सन्तोषाः प्रतिघातहेतवो भवन्ति ।

में उत्पन्न होते है इसी तरह पूर्वोक्त क्रोध की भाँती मेढे के सींग के सदृश आदि तीन प्रकार की माया को भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए। माया के अनेक पर्यायवाचक शब्द है, जैसे—निकृति, वंचना, दंभ' कूट छलना, अनार्जव आदि । इन शब्दो से माया के अनेक रूपो को भी समझा जा सकता है ।

लोभ भी चार प्रकार का है—अनन्तानुबंधी लोभ, अप्रत्याख्यानी लोभ, प्रत्याख्यानी लोभ और सञ्ज्वलनलोभ । ये चारो प्रकार के लोभ क्रमशः तीव्र, मध्य, विमध्य और मन्द होते है । ये लाक्षाराग (कृमिजरङ्ग) के समान, कर्दमराग के समान, खंजनराग के समान और हरिद्राराग के समान हैं । लाक्षाराग के समान तीव्र अनन्तानुबंधी लोभ मरणपर्यन्त दूर नहीं होता है। इस लोभ का अनुसरण करके मरने वाला प्राणी मरने के बाद नरक में उत्पन्न होते है । कर्दमराग के समान अप्रत्याख्यानी लोभ एक वर्ष पर्यन्त ठहरता है । इस लोभ के वशीभूत होकर मरने वाले प्राणी तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते है । खञ्जनराग के समान विमध्य प्रत्याख्यानी लोभ चार मास तक ठहरता है। इस लोभ का अनुसरण करके मरने वाले प्राणी मृत्यु के पश्चात् मनुष्यगति में उत्पन्न होते है। इसी तरह हरिद्राराग—हल्दी के रङ्ग—के समान मन्द संज्वलन लोभ उत्पत्ति के पश्चात् शीघ्र ही दूर हो जाता है । इस लोभ के वशीभूत होकर मरने वाले जीव मरण के अनन्तर देव गति में उत्पन्न होते है । इन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायो के विरोधी भाव अनुक्रम से क्षमा, मृदुता, ऋजुता और सन्तोष है । क्षमा आदि विरोधी भावो का अवलम्बन करके क्रोध आदि कषायो का प्रतिघात किया जा सकता है ।

तत्र क्रोधस्य प्रतिघातहेतुः क्षमा–१ मानस्य प्रतिघातहेतुर्मार्दवम्–२ मायाया अनार्जवादि-रूपायाः प्रतिघातहेतुरार्जवम्–३ लोभस्य प्रतिघातहेतुः सन्तोषो भवति । इतिभावः

इदमत्रावधेयम्–मोहनीयप्रधानानि खलु कर्माणि भवन्ति, तानि च सर्वदेशोपघातद्वारा प्राणिनां नरकादिभवप्रपञ्चप्रापणे बीजानि सन्ति, तत्र–मोहस्तावत् कषायजनितो भवति, कषायवशात्खलु बन्धस्थितिविशेषः सकलदुःखप्राप्तिश्च, तस्मात् कर्मणां लाघवैषिणा मुमुक्षुणा क्रोधादिकषायमोहसंवरणोपायाः क्षमादयः सततमभ्यसनीयाः उक्तञ्च —

यदतिदुःखं लोके यच्च सुखमुत्तमं त्रिभुवनेऽपि ।
तद्विद्धि कषायाणां वृद्धिक्षयहेतुकं सर्वम् ॥ २ ॥
जं अइदुक्खं लोए, जं च सुहं उत्तमं तिहुयणंमि ।
तं जाण कसायाणं, वुड्ढिक्खयहेउयं सव्वं ॥ १ ॥ इति ॥९॥

मूलसूत्रम्—"आउए चउव्विहे, नारग–तिरिक्ख–मणुस्स–देव-भेयओ–" ॥१०॥
छाया "आयुष्यं चतुर्विधम्, नारक तैरश्च-मानुष्य देवभेदतः—" ॥१०॥

तात्पर्य यह है कि क्रोध के प्रतिघात का कारण क्षमा है । मान के प्रतिघात का कारण मार्दव है । माया के प्रतिघात का कारण आर्जव (सरलका) है । लोभ के प्रतिघात का हेतु सन्तोष है ।

यहाँ समझने योग्य वस्तु यह है कि ये सब कर्म मोह प्रधान है, अर्थात् आठो कर्मो में मोहनीय कर्म ही प्रधान है । इन कर्मों में कोई–कोई सर्वघाती और कोई–कोई देशघाती है, अर्थात् कोई आत्मा के गुण का पूर्ण रूप से घात करते है तो कोई आंशिक रूप से घात करते है । ये कर्म ही नरकभव आदि के प्रपंच को प्राप्त कराने मे कारणभूत है । मोह कषाय से उत्पन्न होता है । कषाय की विशेषता से कर्म की स्थिति में विशेषता होती है । कषाय से ही समस्त दुःखो की प्राप्ति होती है । अत एव जो मुमुक्षु कर्मों की लघुता चाहता है उसे क्रोध आदि कषायो का संवरण करने के उपाय क्षमा आदि सद्गुणो का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए । कहा भी है -

इस लोक मे जो भी घोर दुःख है और तीनों लोको में जो भी उत्तम सुख है, वह सब कषायो की वृद्धि और नाश के कारण ही समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि ज्यो–ज्यो कषायो की वृद्धि होती है, त्यो–त्यो दुःख की वृद्धि होती है और ज्यों–ज्यो कषायो का नाश होता है, त्यो–त्यो दुःख का नाश होता है । अतएव कषायो के विनाश के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥९॥

"आउए चउव्विहे" इत्यादि ॥१०॥

आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—(१) नारकायु (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु और (४) देवायु ॥१०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे चतुर्थस्य मोहनीयस्य कर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्याऽष्टाविंशतिभेदा उत्तरप्रकृतयः प्ररूपिताः, सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य पञ्चमस्या-ऽऽयुष्यकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य चतुर्भेदा उत्तरप्रकृतीः प्ररूपयितुमाह—**"आउए चउव्विहे—"** इत्यादि ।

आयुष्यं कर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, नारक—तैरश्च—मानुष्य—देवभेदतः। तथाच—आयुष्यकर्मणः उत्तरप्रकृतित्वस्य नारकायुष्यं—तैर्यग्योनायुष्यं—मानुष्यायुष्यं—देवायुष्यम् इत्थं चातुर्विध्यं बोध्यम् ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे चतुर्थमोहनीयकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्याऽष्टाविंशतिभेदा उत्तरप्रकृतीः प्ररूपयन्—सम्प्रति—पञ्चमस्याऽऽयुष्यकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य चतुर्भेदा उत्तरप्रकृती प्ररूपयितुमाह—**"आउए चउव्विहे नारग—तिरिक्ख—मणुस्स—देवभेयओ—"** इति. । आयुष्यं कर्म—उत्तरप्रकृतिरूपं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् ।

नारक—तैरश्च—मानुष—दैवभेदतः, नारकायुष्य—तैर्यग्योनायुष्य—मानुष्यायुष्य देवायुष्याणि भेदाः। तथाच—यस्य कर्मण उदयात् आत्मा प्रायोग्यप्रकृतिविशेषानुशायी भूतः सन् नारकतैर्यग्योनमानुषदेवगतिभावेन जीवति, यस्य च क्षयात् म्रियते , तदायुष्यं व्यपदिश्यते. तथाचोक्तम्—

"स्वानुरूपास्रवोपात्तं पौद्गलं द्रव्यमात्मनः ।
जीवनं यत्तदायुष्कं उत्पादाद् यस्य जीवति. ॥१॥ इति.॥

तथाविधस्य खलु प्रथमबद्धस्या—ऽऽयुषोऽन्नादय उपकारका भवन्ति, । तस्य चा—ऽऽयुषः कर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्यो—त्तरप्रकृतिचतुष्टयं वर्तते नारकायुष्कम्—तैर्यग्योनिकायुष्कम्—मानुषायुष्कम्—दैवायुष्कञ्चेति,

---

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में कर्म की चौथी मूलप्रकृति मोहनीय की अठाईस उत्तर प्रकृतियो का प्ररूपण किया गया, अब पाँचवीं मूल प्रकृति आयु की चार उत्तर प्रकृतियाँ बतलाते है—

आयुष्यकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में चौथी मोहनीय रूप मूल कर्मप्रकृति की अठाईस उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया, अब आयु नामक पाँचवीं मूलकर्मप्रकृति की चार उत्तरप्रकृतियाँ कहते है—उत्तर प्रकृतिरूप आयुष्यकर्म चार प्रकार का कहा गया है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ।

जिस कर्म के उदय से—आत्मा नारक, तिर्यंच मनुष्य या देव के रूप में जीवित रहता है और जिस कर्म के क्षय से मर जाता है, उसे आयुष्यकर्म कहते हैं । कहा भी है—

अपने अनुरूप आस्रव के द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न आदि उस प्रथमबद्ध आयु के उपकारक होते है । उस आयु नामक मूलप्रकृति की चार उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) नारकायुष्क (२) तैर्यग्योनिकायुष्य (३) मानुषायुष्क (४) देवायुष्क । 'आयुष्' पद की व्युत्पत्ति इस

आयुष्पदव्युत्पत्तिस्तु—आनियन्ते शेषप्रकृतय उपभोगाय जीवेन यस्मिन् तदायुः, कांस्यपात्राधारे भोक्तुरेव परिभोगाय शालयोदनादि व्यञ्जनविकल्पाः कल्पन्ते। यद्वा—ऽऽनीयते तद्भवान्तर्भावी प्रकृतिगणोऽनेनेत्यायुः, रज्जुबद्धेक्षुयष्टिभारवत् । अथवा—शरीरधारणं प्रतिबन्ध आयतते इत्यायुर्निगडादिवत्. पृषोदरादित्वात्सिद्धिः । आयुरेवाऽऽयुष्कम्, तच्चतुर्विधम्—संसारस्य चतुर्गतिकत्वात्, तत्र—नरकाः पृथिवीपरिणतिविशेषा—उत्पत्ति—यातनास्थानरूपाः तत्सम्बन्धिनः—प्राणिनोऽपि नरकास्तात्स्थ्याद्व्यपदिश्यन्ते, तेषामिदमायुर्नारकमुच्यते । तिर्यग्योनय एक—द्वि—त्रि—चतुः—पञ्चेन्द्रियाः तेषामिदं तैर्यग्योनयम्, । मनुष्या—सम्मूर्च्छिमाः, गर्भजाश्च, तेषामिदं मानुषम्, । देवानां भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क-वैमानिकानामिदं दैवमुच्यते, इत्येवं तावद आयुष्यस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य कर्मणः उत्तरप्रकृतिकर्मचतुर्विधं सम्पन्नम् ॥ १०

मूलसूत्रम्—"णामे बायालीसविहे, गइ—जाइ—सरीराइ भेयओ—" ॥११॥

छाया—"नाम-द्विचत्वारिंशद्विधम्, गति-जाति-शरीरादिभेदतः-" ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे पञ्चमस्या--ऽऽयुष्यकर्मणश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः प्रतिपादिताः,

---

प्रकार है-आनीयन्ते अर्थात् लाई जाती है शेष कृतियाँ उपभोग के लिए जीव के द्वारा जिसमें उसे 'आयु' कहते है। कांसे के पात्र रूप आधार में भोजन करने वाले के लिए ही शालि (चावल) और ओदन आदि विविध प्रकार के व्यंजन रखे जाते हैं अथवा आनीयन्ते अर्थात् लाई जाती है उस भव के अन्दर होने वाली प्रकृतियाँ जिसके द्वारा, उसे आयु कहते है; रस्से से बँधे हुए ईख ईक्षु के भारे के समान । तात्पर्य यह है कि जैसे रस्सा ईखो को इकट्ठा रखना है, उसी प्रकार आयुष्यकर्म अमुक भव संबन्धी समस्त प्रकृतियो को इकट्ठा कर रखता है। अथवा निगड़ (बेड़ी) आदि के समान शरीर धारण के प्रति जो यत्नशील होता है, वह आयु कहलाता है। आयु को ही आयुष्क कहते हैं। आयु चार प्रकार का है क्योकि संसार चार गति रूप है ।

नरक पृथ्वी का एक विशेष प्रकार का परिणमन है। नरक वे यातनाओं के स्थान हैं। नरक में रहने वाले प्राणी भी नरक कहलाते है; नरक संबंधी (आयु) को नारक कहते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिको की आयु को तैर्यग्योनिक कहते है। सम्मूर्छिम और गर्भज मनुष्यों की आयु को मानुषायु कहते हैं। भवनपति. वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिको की आयु देवायु कही जाती है। इस प्रकार आयुष्य मूल-प्रकृति की चार प्रकृतियाँ सिद्ध हुई ॥१०॥

सूत्रार्थ—"णामे बायालीसविहे गइजाइ" इत्यादि सूत्र ॥११

गति, जाति, शरीर आदि के भेद से नाम कर्म बयालीस प्रकार का है ॥११

तत्त्वार्थ दीपिका—पिछले सूत्र में पाँचवीं मूल कर्मप्रकृति आयुष्य की चार प्रकृतियाँ

सम्प्रति—क्रमप्राप्तस्य षष्ठस्य नामकर्मणोमूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशद् विधा उत्तरप्रकृतीः प्ररूपयितुमाह—"णामे" इत्यादि ।

नामकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन द्विचत्वारिंशद्विधं प्रज्ञप्तम्, गति—जातिशरीरादिभेदतः । गतिनाम—१ जातिनाम—२ शरीरनाम—३ शरीराङ्गोपाङ्गनाम—४ शरीरबन्धनाम—५ शरीरसंघातनाम—६ संहनननाम—७ सस्थाननाम—वर्णनाम—९ गन्धनाम—१० रसनाम—११ स्पर्शनाम—१२ अगुरुलघुनाम—१३ उपघातनाम—१४ पराघातनाम—१५ आनुपूर्वीनाम—१६ उच्छ्वासनाम—१७आतपनाम—१८ उद्द्योतनाम—१९ विहायोगतिनाम—२० त्रसनाम—२१ स्थावरनाम—२२ सूक्ष्मनाम—२३ बादरनाम—२४ पर्याप्तनाम- २५ अपर्याप्तनाम—२६ साधारणशरीरनाम—२७ प्रत्येकशरीरनाम—२८ स्थिरनाम—२९ अस्थिरनाम—३० शुभनाम—३१ अशुभनाम—३२ सुभगनाम—३३ दुर्भगनाम—३४ सुस्वरनाम—३५ दुःस्वरनाम—३६ आदेयनाम—३७ अनादेयनाम—३८ यशःकीर्तिनाम—३९ अयशःकीर्तिनाम—४० निर्माणनाम—४१ तीर्थङ्करनाम—४२.इत्येवमुत्तरप्रकृतिनाम द्विचत्वारिंशद्विधं बोध्यम्— ॥११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे पञ्चमायुष्यकर्मणश्चतस्र उत्तरप्रकृतयः प्रतिपादिताः, सम्प्रति—क्रमप्राप्तषष्ठनामकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशद्विधा उत्तरप्रकृतीः प्ररूपयितुमाह—"**णामे-बायालीसविहे, गइ—जाइ—सरीराइ भेयओ—**" इति ।

नामकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन द्विचत्वारिंशद्विधं प्रज्ञप्तम्, गति—जाति—शरीरादिभेदतः ।

कहीं गई है, अब क्रमप्राप्त छठी मूल कर्म प्रकृति नामकर्म की बयालीस उत्तरप्रकृतियाँ कहते है—

उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा से नामकर्म के बयालोस भेद है । वे इस प्रकार है—(१) गतिनाम (२) जातिनाम (३) शरीर नाम (४) शरीरांगोपांग नाम (५) शरीर बन्धन नाम (६) शरोर सघात नाम (७) संहनन नाम (८) संस्थान नाम (९) वर्णनाम (१०) गंध नाम (११) रसनाम (१२) स्पर्शनाम (१३) अगुरुलघु नाम (१४) उपघात नाम (१५) पराघात नाम (१६) आनुपूर्वी नाम (१७) उच्छ्वास नाम (१८) आतप नाम (१९) उद्योतनाम (२०) विहायोगति नाम (२१) त्रसनाम (२२) स्थावर नाम (२३) सूक्ष्मनाम (२४) बादर नाम (२५) पर्याप्त नाम (२६) अपर्याप्त नाम (२७) साधारण शरीर नाम (२८) प्रत्येक शरीर नाम (२९) स्थिर नाम (३०) अस्थिर नाम (३१) शुभ नाम (३२) अशुभ नाम (३३)सुभग नाम (३४) दुर्भग नाम (३५) सुस्वर नाम (३६) दुःस्वर नाम (३७) आदेय नाम (३८) अनादेय नाम (३९) यशःकीर्त्ति नाम (४०) अयशःकीर्त्ति नाम (४१) निर्माण नाम और (४२) तीर्थंकर नाम; ये नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियों है ॥११॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति- पिछले सूत्र में आयुष्य कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ कही गईं, क्रमप्राप्त नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियो को प्रतिपादन करते हैं—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
गति–जाति–शरीर–शरीराङ्गोपाङ्ग–शरीरबन्ध–शरीरसंघात-संहनन–संस्थान–वर्ण-गन्ध–रस–स्पर्शा
१३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४
ऽगुरुलघूपघात पराघाता–ऽऽनुपूर्व्युच्छ्वास - आतपो--द्द्योत विहायोगति–त्रस-स्थावर-सूक्ष्म–बादर-
२५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५
पर्याप्ता--ऽपर्याप्त-साधारणशरीर--प्रत्येकशरीर--स्थिरा–स्थिर--शुभा–ऽशुभ–सुभग- दुर्भग--सुस्वर--दुः-
३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२
स्वरा--ऽऽदेया--ऽनादेय--यशःकीर्त्य--यशःकीर्ति--निर्माण–तीर्थङ्करनामभेदात् ।

इत्येवं तावद् द्विचत्वाशिद्भेदाः नामकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतयोऽवगन्तव्याः । आसामुत्तरप्रकृतीनां भेदास्तु–त्रिनवतिसख्यका बोध्या, तथाहि–(१) गतिनामचतुर्विधम्, । नरक–तिर्यग्–मनुष्य–देवगतिभेदात्४., (२) जातिनाम--पञ्चविधम्, एकेन्द्रिय--द्वीन्द्रिय--त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय--पञ्चेन्द्रियजातिभेदात् (९) (३) शरीरनाम--पञ्चविधम्, औदारिक–वैक्रिया ऽऽहारकतैजस कार्मणशरीरनामभेदात्–(१४)

(४)शरीराङ्गोपाङ्गनाम--त्रिविधम्, औदारिक–वैक्रिया–ऽऽहारक शरीराङ्गोपाङ्गनामभेदात्-३(१७)(५) शरीरबन्धनामपञ्चविधम्, औदारिकादिपञ्च शरीरबन्धभेदात्५ (२२) । (६) शरी-

---

गति, जाति, शरीर आदि के भेद से नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ होती है। उनके नाम इस प्रकार है—(१) गति (२) जाति (३) शरीर (४) शरीरांगोपांग (५) शरीर बन्धन (६) शरीर सघात (७) सहनन (८) सस्थान (९) वर्ण (१०) गंध (११) रस (१२) स्पर्श (१३) अगुरु लघु (१४) उपघात (१५) पराघात (१६) आनुपूर्वी (१७) उच्छ्वास (१८) आतप (१९) उद्योत (२०) विहायो गति (२१) त्रस (२२) स्थावर (२३) सूक्ष्म (२४) बादर (२५) पर्याप्त (२६) अपर्याप्त (२७) साधारण शरीर (२८) प्रत्येकशरीर (२९) स्थिर (३०) अस्थिर (३१) शुभ (३२) अशुभ (३३) सुभग (३४) दुर्भग) (३५) सुस्वर (३६) दुःस्वर (३७) आदेय (३८) अनादेय (३९) यशःकीर्त्ति (४०) अयशः कीर्त्ति (४१) निर्माण और (४२) तीर्थंकरनाम।

इन (४२) उत्तरप्रकृतियो के तिरानवे (९३) भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं।

(१) गतिनाम कर्मके चार भेद है—नरकगति, तिर्यंचगति. मनुष्यगति और देवगति । (२) जातिनामकर्म के पांच भेद है—एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पंचेन्द्रियजाति ५(९) । (३) शरीरनामकर्म पांच प्रकार का है—औदारिकशरीर-नामकर्म, वैक्रिय शरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म और कार्मणशरीरनाम-कर्म ५(१४) । (४) अंगोपांगकर्म के तीन भेद है—औदारिक–अंगोपाग. वैक्रिय–अंगोपाग. आहारक–अंगोपांग ३(१७) । (५) शरीरबन्धननामकर्म के पांच भेद है—औदारिकशरीरबन्धन. वैक्रियशरीरबन्धन, आहारकशरीरबन्धन, तैजसशरीरबन्धन, कार्मणशरीरबन्धन ५(२२) । शरीर-

रसघातनाम--औदारिकादिपञ्चभेदात्पञ्चविधम्५(२७) (७)संहननं नाम--षड्विधम्, वज्रऋषभनाराचऋषभनाराच--नाराचाऽर्धनाराच--कीलिका--सेवार्त्तसंहननभेदात् ।६ (३३)

(८)सस्थाननामषड्विधम्--समचतुरस्र--न्यग्रोधपरिमण्डल -सादि--कुब्ज--वामन--हुण्डनामभेदात् ६(३०) (९)वर्णनाम पञ्चविध कृष्ण--नील--रक्त--पीत--श्वेतभेदात्५ (४४)। (१०)गन्धनामद्विविधं सुरभि--दुरभिभेदात्२ (४६) (११)रसनामपञ्चविधं तिक्त--कटु--कषाया-ऽम्ल--मधुरभेदात् ५ (५१)। (१२) स्पर्शनामाष्टविधं गुरुलघुकर्कश-.मृदु--शीतो-ष्ण-रूक्ष-स्निग्धभेदात् (५९) (१२-१५) अगुरुलघूपघात--परोघातनामाप्रत्येकमेकैकविधम् । ३ (६२)। (१६) आनुपूर्वीनाम--चतुर्विधम्, नरक--तिर्यग्--मनुष्य--देवगत्यानुपूर्वीनामभेदात् ४. (६६)।)१७-१९) उछ्वासोद्द्योताऽऽतपनामान्यपि-एकैकविधानि । ३ (६९) (२०) विहायोगतिनाम--द्विविधम्, प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभेदात् २ (७१)।

२१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९
शेषाणि--त्रस--स्थावर--सूक्ष्म--बादर--पर्याप्त--ऽपर्याप्त--प्रत्येकशरीर--साधारणशरीर--स्थिरा-

---

संघातनामकर्म के पाँच भेद है--औदारिकशरीरसंघात, वैक्रियशरीरसंघात आहारकशरीरसंघात तैजसशरीरसंघात, कार्मणशरीरसंघात ५(२७) । (७) सहनननामकर्म के छह भेद है--वज्र--ऋषभनाराचसंहनन, ऋषभनाराचसहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलिकासंहनन, सेवार्त्तसहनननामकर्म ६(३३) । (८) संस्थाननामकर्म के छह भेद हैं--समचतुरस्रसंस्थाननाम न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, सादिसस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डसंस्थाननामकर्म ६६(३९) । (९) वर्ण, (१०) गंध, (११) रस और (१२) स्पर्श के बीस २० भेद होते है---वर्ण नामकर्म के पाँच भेद है--काला, नीला, राता, पीला और श्वेत ५ (४४) गन्धके दो भेद--सुरभि गंध और दुरभिगन्ध २(४६) रसके पॉच भेद--तिक्त, (तीखा) कटु, (कडुआ) कषायला, खट्टा, और मीठा ५(५२) स्पर्शनाम के आठ भेद--गुरु, लघु, कर्कश, मृदु (कोमल), शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध (५९) (१३) अगुरुलघु भी एक प्रकार का है ६० । (१४) उपघात और (१५) पराघात का भी एक--एक भेद है । (६२) (१६) आनुपूर्वीनामकर्म के चार भेद है--नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, और देवानुपूर्वी ४(६६)। (१७) उच्छ्वास, (१८) उद्योत (१९) आतप नामकर्म का एक--एक भेद है । (६९) (२०) विहायोगतिनामकर्म के दो भेद है--प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगतिनाम (७१) । नामकर्म के बयालीस भेदो में से यहाँ २० भेदो का वर्णन हुआ ? शेष वाईस भेद ये है---

२१ त्रस, २२ स्थावर, २३ सूक्ष्म, २४ बादर, २५ पर्याप्त, २६ अपर्याप्त २७ साधारणशरीर, २८ प्रत्येकशरीर, २९ स्थिर, ३० अस्थिर, ३१ शुभ, ३२ अशुभ, ३३

३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४०
ऽस्थिर—शुभा—ऽशुभ—सुभग—दुर्भग—सुस्वर—दुःस्वरा—ऽऽदेया—ऽनादेय—यशः कित्र्य—यशःकीर्ति—नि
४१ ४२
र्माण—तीर्थङ्करनामानि द्वाविंशतिसंख्यकान्येकैकविधानि सन्ति २२(९३) इत्येवं रीत्या नामकर्मण एक सप्ततेर्द्वाविंशतेश्च संमेलने भवन्ति त्रिनवतिभेदास्तासां मूलोत्तरप्रकीतनामिति सविस्तरं विविच्यते—

तत्र—नमयति—प्रापयति जीवं नारकादिभवान्तराणीति नाम—यद्वा—नमयति—प्रह्वयति जीवप्रदेशसम्बन्धिपुद्गलद्रव्यविपाकसामर्थ्यात् नामेति यथार्थसंज्ञा यथा—शुक्लादिगुणोपेतद्रव्येषु चित्रपटादिव्यपदेशप्रवृत्तिर्नियतसंज्ञाहेतुर्भवति, तत्र—गतिनाम्नः पिण्डप्रकृतेश्चत्वारो भेदा नरकगतिनामादयो भवन्ति यदुदयात्—नारक इति व्यपदिश्यते तन्नारकगतिनाम, एवं तिर्यग् गतिनामादयोऽप्यवगन्तव्याः।

एवं जातिनाम्नः पिण्डप्रकृतेः पञ्चभेदाः एकेन्द्रियजातिनाम—द्वीन्द्रियजातिनाम—त्रीन्द्रियजातिनाम—चतुरिन्द्रियजातिनाम—पञ्चेन्द्रियजातिनामसंज्ञकाः। तत्रैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रिय इति व्यपदिश्यते, एकेन्द्रियसंज्ञाव्यपदेशहेतुरेके—न्द्रिय जातिनाम, एवं द्वीन्द्रियजातिनामादिष्वप्यवगन्तव्यम्. ।

तत्रैकेन्द्रियजातिनामा—ऽनेकविधम्, पृथिवीकायिका-ऽप्कायिक—तेजस्कायिक—वायुकायिक—वनस्पतिकायिकजातिनामभेदात्, द्वि—त्रि—चतु—ष्पञ्चेन्द्रियजातिनामान्यपि शङ्ख—शुक्तिका—युपदे-

---

सुभग, ३४ दुर्भग, ३५ सुस्वर, ३६ दुःस्वर ३७ आदेय, ३८ अनादेय, ३९ यशः-कीर्त्ति, ४० अयशःकीर्त्ति, ४१ निर्माण और ४२ तीर्थङ्करनामकर्म का एक—एक ही भेद है। इस प्रकार (७१+२२=९३) इकहत्तर और ये बाईस सब मिलाकर पूर्वोक्त (नामकर्मकी) बयालीस प्रकृतियो के तिरानवे (९३) भेद होते है।

अब यहाँ नामकर्म का सविस्तर विवेचन किया जाता है—

जो कर्म जीव को नरकभव आदि में ले जाता है अथवा जो कर्म जीवप्रदेशो से सबद्ध पुद्गलद्रव्य के विपाक के सामर्थ्य से जीव को नमाता है, वह नामकर्मकहलाता है। 'नाम' यह यथार्थ संज्ञा है, अर्थात् जैसा इस कर्म का नाम है, उसी प्रकार का उसका स्वभाव भी है। जैसे शुक्ल आदि गुणो से युक्त द्रव्यो में 'चित्रपट' ऐसा व्यवहार होता है, यह नियत संज्ञा का कारणहै।

गतिनामक पिण्डप्रकृति के चार भेद है—नरकगति आदि। जिस कर्म के उदय से जीव नारक कहलाता है, वह नरकगतिनामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार शेप भी समझ लेना चाहिए।

जातिनामक पिण्डप्रकृति के पाँच भेद है—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रिजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पंचेन्द्रियजातिनामकर्म। एकेन्द्रियजातिनामकर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय कहलाता है अर्थात् 'एकेन्द्रिय' ऐसे व्यवहार का कारण एकेन्द्रियजातिकर्म है। इसी प्रकार द्वीन्द्रियजातिनामकर्म आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

एकेन्द्रियजातिनामकर्म भी अनेक प्रकार का है—पृथिवीकायिक—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, अप्कायिक—एकेन्द्रियजातिकर्म, तेजस्कायिक—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, वायुकायिक—एकेन्द्रियजातिनाम-

द्रिका पिपीलिकादिभ्रमरसरघादितिर्यग्मनुष्यादिजातिनामभेदेन वक्तव्यानि औदारिक—वैक्रिया—ऽऽहा-रक–तैजस—कार्मणशरीरनामानि पञ्चविधानि नामकर्मण उत्तरप्रकृतिरूपाणि भवन्ति ।

औदारिक—वैक्रियाहारकभेदभिन्नानि त्रिविधान्यपि शरीराङ्गोपाङ्गनामानि प्रत्येकमनेकविधानि भवन्ति, । तत्र—शरीराङ्गनाम खलु शिरोनाम—१उरोनाम—२पृष्ठनाम—३बाहुनाम—४उदरनाम—५ चरणनाम—६हस्तनाम—७। उपाङ्गनामान्यपि अनेकविधानि भवन्ति, स्पर्शननाम—रसननाम घ्राण-नाम—चक्षुर्नाम—श्रोत्रनाम प्रभृतीनि ।

एकेन्द्रियादिलक्षणपञ्चविधजातिषु स्त्रीपुरुषनपुंसकलिङ्गव्यवस्थानियामकमाकाररूपावयवर-चनाव्यवस्थानियामकञ्च शरीरनिर्माणनामोच्यते । तथाच—सर्वजीवाना स्वकीय—स्वकीयशरीरावयव-विन्यासनियमकारणं तावत् [शरीर]निर्माणनाम भवति. । हर्म्यादिनिर्माणकलाकौशलशालितक्षकवत्. ।

शरीरनामकर्मोदयात् गृहितेषु—गृह्यमाणेषु वा तद्योग्यपुद्गलेषु–आत्मप्रदेशस्थितेषु शरीरा-कारेण परिणामितेष्वपि जतुकाष्ठवत् । परस्पराविवियोगलक्षणं [शरीर] बन्धननाम यदि न स्यात्—तदा—

कर्म, वनस्पतिकायिक—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, । इसी प्रकार द्वीन्द्रियजातिनामकर्म शंख और शुक्तिका आदि के भेद से, त्रीन्द्रियजातिनाम उपदेहिका (उदयी) पिपीलिका आदि के भेद से, चतुरिन्द्रियजातिनाम भ्रमर तथा सरघा (मधुमक्खी) आदि के भेद से और पंचेन्द्रियजातिनाम-मनुष्य आदि जातिनाम के भेद से अनेक प्रकार के समझ लेने चाहिए ।

शरीरनामकर्म के पाँच भेद है—औदारिकशरीरनामकर्म, वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारक-शरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म, कार्मणशरीर नामकर्म ।

औदारिक—अंगोपांग, वैक्रिय—अंगोपांग और आहारक—अंगोपांग के भेद से तीन प्रकार के अंगोपांगनामकर्म में से भी प्रत्येक के अनेक भेद होते हैं । शिरोनामकर्म ,उरोनामकर्म, पृष्ठ-नामकर्म, बाहुनामकर्म, उदरनामकर्म, चरणनामकर्म, हस्तनामकर्म, ये अंगनामकर्म के भेद है। इसी प्रकार उपांगनामकर्म भी अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—स्पर्शनउपांगनामकर्म, रसना—उपांगनामकर्म, घ्राण—उपांगनामकर्म, चक्षु-उपांगनामकर्म, श्रोत्र—उपांगनामकर्म इत्यादि ।

एकेन्द्रियजाति आदि पाँच प्रकार की जातियों में स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिग की व्यवस्था का नियमन करने वाला एवं अमुक प्रकार के अवयवों की रचना की व्यवस्था का नियामक निर्माण नाम कर्म: है। निर्माण नाम कर्म के उदय से ही समस्त जीवों के अपने—अपने ढंग के शरीर अवयवों की रचना होती है। यह निर्माण नाम कर्म महल—मकान आदि बनाने में कुशल कारीगर के समान है।

शरीर नाम कर्म के उदय से शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर लिया, वे आत्म प्रदेशो में स्थित भी हो गए और शरीर के आकार में परिणत होगए, किन्तु उन्हें लाख और काष्ठ के समान आपस में अवियोग (एक मेक रूप) करने वाला बन्धन नाम कर्म

वालुकानिर्मितपुरुषवत् शरीराणि विघटेरन्. । तस्मात्–[शरीर=]वन्धननामस्वीकृतम्, यदपि–औदारिकशरीरादिभेदात् पञ्चविधम् प्रज्ञप्तम् ।

बद्धानामपि पुद्गलानां परस्परं जतुकाष्ठन्यायेन पुद्गलरचनाविशेषः संघातः । संयोगेनाऽऽत्मना गृहीतानां पुद्गलानां यस्य कर्मण उदयात्–औदारिकादिशरीरविशेषरचना भवति तत्संघातनामकर्मदारुमृत्पिण्डाय·पिण्डसंघातवत् एतदपि संघातनाम–औदारिकादिशरीरभेदात् पञ्चविधम् ।

स चैवं विधः संघातनामकर्मभेदो यदि न स्यात् तदा–प्रत्यक्षतया विनिश्चेयः पुरुषस्त्री गवादिलक्षणो विविधशरीरभेदो नैव संभाव्येत, संघातकर्मविशेषाभावात्. । संहनननामापि षड्विधम्, वज्रऋषभनाराचादिभेदात्. । तत्राऽस्थ्नां बन्धविशेषः संहननम्,तत्र–वज्रं–कीलिका–ऋषभः–परिवेष्टनपट्टः, नाराचः–उभयतोमर्कटबन्धः इति पदार्थः। यत्र द्वयोरस्थ्नो रुभयतो मर्कटवन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनाऽस्था परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रितयभेदि कीलिकाकारं वज्रनामकमस्थिभवेत्तद् वज्रर्षभनाराचसंहननम् १ यत् वज्राकारकीलिकारहितं पूर्वोक्तं संहननं तदृषभनाराचसंहननम्२ यत्र उभयपार्श्व-

---

आदि न होता तो बालू से बने हुए पुरुष के समान शरीर बिखर जाते । तात्पर्य यह है कि जैसे बालू के कण आपस में मिले हुए होकर भी पृथक्–पृथक् रहते हैं, उसी प्रकार शरीर के पुद्गल पृथक्–पृथक् ही न रह जाएँ, इसके लिए बन्धन नाम स्वीकार किया गया है। बन्धन नाम कर्म भी औदारिक आदि शरीरो की तरह पाँच प्रकार का है।

लाख और काष्ठ के समान परस्पर बद्ध पुद्गलो को जो प्रगाढ रचनाविशेष है, उसे संघात कहते है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के द्वारा गृहीत पुद्गलों का बन्धन नाम कर्म के द्वारा आपस में बन्ध तो हो जाता है, मगर उस बन्ध में प्रगाढता लाने वाला सघात नाम कर्म है। अतएव जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरो की गाढी रचना होती है वह संघात नाम कर्म कहलाता है। जैसे काष्ठ मे या मृत्तिका के पिण्ड में एक प्रकार की सघनता होती है, उसी प्रकार की सघनता शरीर–पुद्गलो मे भी देखी जाती है। यह सघनता संघात लोभ कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। सघात नाम कर्म भी शरीर नाम कर्म के समान औदारिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का है।

अगर सघात नाम कर्म न होता तो शरीर में जो ठोसपन दिखाई पडता है, वह न होता।

संहनन नाम कर्म छह प्रकार का है–वज्र–ऋषभनाराच–सहनन, वज्र का अर्थ कीलिका है, ऋषभ का अर्थ परिवेष्टन पट्ट है, नाराच का अर्थ दोनो तर्फ मर्कट बन्ध है, इस प्रकार यह पदो का अर्थ हुआ। सहननो का अर्थ किया जाता है–जिसमें दो हड्डियाँ दोनो तर्फ मर्कट वन्ध से वन्धी हुई और फिर पट्टे की आकृति वाली तीसरी हड्डी से परिवेष्टित की हुई हो, उनके उपर उन तीनो हड्डियों को कीली के आकार की वज्र नाम की तीसरी हड्डी लगी हुई हो उस वन्धन विशेष को वज्र ऋषभनाराच संहनन कहते हैं १। जिसमें हड्डियां सव

योर्मर्कटबन्धो भवेत्तत्—नाराचसंहननम् ३। यत्र—एकस्मिन् पार्श्वे मर्कटबन्धः, द्वितीये कीलिका भवेत्तद् अर्धनाराचसहननम् ४। यत्र द्वयोरस्थ्नोःसन्धिभागः कीलिकया विद्धो भवेत् यत्र कीलिकाविद्धास्थिद्वयसंचितं तत् कीलिकासंहननम् ५। यत्र अस्थ्नां परस्परं पर्यन्तभागैःस्पर्शनमात्रं भवेत्तत् सेवार्त्तसंहननम् ६।

संस्थाननाम—तावत्षड्विधम् समचतुरस्रादिभेदात्, तत्र सस्थानं—संस्थितिः आकारविशेषो—ऽवयवरचनाविवेषःपूर्वोक्तेष्वेव बध्यमानेषु पुद्गलेषु यस्य कर्मणउदयात् सस्थानविशेषो भवति. तत्सस्थाननाम। तत्र—समञ्च तत् चतुरस्रञ्चेति समचतुरस्रम्, मानोन्मानप्रमाणमन्यूनमनधिकम्, एवं न्यग्रोधपरिमण्डलादिकमपि बोध्यम्।

वर्णनाम—कृष्णनीललोहितपीतशुक्लनामभेदात् पञ्चविधम्—। गन्धनाम—द्विविधम्, सुरभि—

पूर्वोक्त प्रकार से हों किन्तु वज्राकार कीलिका मात्र नहीं हो उस बन्धन विशेष को ऋषभनाराचसंहनन कहते है २। जिसमें दोनो तर्फ में मर्कट बन्ध हो उसको नाराचसंहनन कहते है। ३ जिसमें एक तर्फ तो मर्कट बन्ध हो दूसरी तर्फ कीलिका हो उसको अर्द्धनाराच संहनन कहने है ४। जिसमें दो हड्डियो का संधि भाग (जोड) कीलिका से विद्ध—बंधी हुई हो उसको कीलिका संहनन कहते है ५। और जिसमें हड्डियो का अग्रभाग परस्पर में स्पर्श मात्र से मिले हुए हो उसको सेवार्त्त संहनन कहते है ६।

संस्थान नाम कर्म के छह भेद है—समचतुरस्रसंस्थान आदि। यहाँ संस्थान का आशय है—आकार अर्थात् अमुक आकार में शरीर की रचना होना तात्पर्य यह है कि शरीर के योग्य बाँधे जाने वाले पुद्गलो में जिस कर्म के उदय से कोई विशिष्ट आकृति उत्पन्न होती है, वह संस्थान नाम कर्म कहलाता है। जो संस्थान सम चौरस हो वह समचतुरस्र कहलाता है। मान, उन्मान और प्रमाण की अपेक्षा से उसमें न न्यूनता होती है, और न अधिकता।

जिसमें नाभि से ऊपर के भाग में सभी अवयव चउरस्र समचतुष्कोण अर्थात् यथोचित लक्षण वाले हो किन्तु नाभि के नीचे का भाग ऊपर जैसा न हो उसको न्यग्रोध परिमंडल संस्थान कहते है २। जिसमें नाभि के नीचे के भाग में सभी अवयव समचतुरस्र समचतुष्कोण अर्थात् यथोचित लक्षण वाले हो किन्तु नाभि के उपर का भाग नीचे जैसा न हो उसको सादि संस्थान कहते है ३। जिसमें ग्रीवा—गर्दन—हस्त और चरण समचतुरस्र—समचतुष्कोण अर्थात् यथोचित लक्षणवाले हो किन्तु शरीर का मध्यभाग—हृदय पीठ आदि संक्षिप्त—विकृत हो उसको कुब्जसंस्थान कहते है ४। जिसमे शरीर का मध्य भाग तथा ग्रीवा—गर्दन हस्त और चरण सब समचतुरस्र—समचतुष्कोण और यथोचित लक्षणवाले हो किन्तु प्रमाण में छोटे हो उसको वामन—संस्थान कहते है ५। जिसमें हस्त चरण आदि अवयव बहुप्राय अर्थात् प्रमाणोपेत नहीं हो उसको हुंडसंस्थान कहते है ६।

वर्णनामकर्म पाँच प्रकार का है—कृष्ण वर्णनामकर्म, नील वर्ण नामकर्म, रक्त वर्ण

दुरभिगन्धभेदात् । एवं तिक्तकटुकषाया–ऽम्लमधुरनामभेदात्, रसनाम पञ्चविधम् । स्पर्शनाम खलु औदारिकादिषु शरीरेषु यस्य कर्मण उदयात् कर्कशादिः स्पर्शविशेषो भवति, तदुच्यते । तच्चाष्टविधम् कर्कश–मृदु–गुरु–लघु–शीतो–ष्ण–स्निग्ध–रूक्षभेदात् ।

अगुरु–लघुपरिणामनियामकमगुरुलघुनाम व्यपदिश्यते, गुरुत्व–लघुत्व–गुरुलघुत्वपरिणामत्रय-निषेधकमगुरुलघुनामा–ऽवसेयम् । तथाच–यस्य कर्मण उदयात् सर्वजीवानां कुब्जादीनां निजशरीराणि न गुरूणि–नापि लघूनि स्वतो भवन्ति, किन्तु–अगुरुलघुपरिणामेवा–ऽवरुन्धन्ति, तत्कर्म अगुरुलघु-शब्देन व्यपदिश्यते, सर्वद्रव्याण्येव स्थित्यादिनाऽनेकेन स्वभावेन परिणमन्ते, तत्राऽगुरुलघुपरिणामस्य नियामकं तावद् अगुरुलघुनामवर्तते ।

शरीराङ्गोपाङ्गानां पूर्वोक्तानां यस्य कर्मण उदयात् परैरनेकवारमुपघातः क्रियते, तदुपघात-नाम. । परत्रासप्रतिघातादिजनक पराघातनाम, यस्य कर्मण उदयात् कश्चिद्विपश्चिद् दर्शनमात्रेणैवौ–जस्वीवाक्चातुर्येणा–ऽन्यां सभामुपगतः सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति परप्रतिभाप्रतिघातं वा करोति-तत्पराघातनामव्यपदिश्यते. ।

नाम कर्म, पीतवर्ण नाम कर्म, शुक्ल वर्ण नाम कर्म ।

गन्ध नाम कर्म के दो भेद है–सुरभिगंधनाम कर्म और दुरभिगंध नाम कर्म ।

रसनाम कर्म के पाँच भेद है–तिक्तरसनाम कर्म, कटुकरस नाम कर्म, कषायरस नाम कर्म, अम्लरस नाम कर्म और मधुरसनाम कर्म ।

स्पर्शनाम कर्म आठ प्रकार का है–कर्कशस्पर्श नामकर्म, मृदुस्पर्शनामकर्म, गुरुस्पर्श नाम कर्म, लघुस्पर्श नाम कर्म, शीतस्पर्श नाम कर्म, उष्णस्पर्श नाम कर्म, स्निग्धस्पर्श नाम कर्म और रूक्षस्पर्श नाम कर्म ।

ये वर्ण-गंध-रस-स्पर्श नामक नामकर्म शरीर में अमुक-अमुक प्रकार के वर्ण गन्ध आदि को उत्पन्न करते है ।

अगुरु लघु नाम कर्म वह है जो शरीर की अगुरु लघुता का नियामक होता है । गुरुता, लघुता और गुरु-लघुता, इन तीन प्रकार के परिणामों का निषेधक जो परिणाम है, वह अगुरुलघु कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिस कर्म के उदय से सब जीवो के शरीर न अति गुरु होते हैं, न अति लघु होते है, किन्तु अगुरुलघु परिणाम वाले होते है, वह अगुरुलघु नाम कर्म कहलाता है । सब द्रव्य स्थिति आदि अनेकस्वभावों से परिणत होते है । उनमें से अगुरु लघु परिणाम का नियामक अगुरु लघु नाम कर्म है ।

जिस नाम कर्म के उदय से अपने ही शरीर के अवयव आपको ही कष्टदायक होते है, वह उपघात नाम कर्म है । दूसरे को त्रास या प्रतिघात आदि उत्पन्न करने वाला पराघात नामकर्म है । जिस कर्म के उदय से कोई विद्वान् दर्शनमात्र से ओजस्वी प्रतीत

आनुपूर्वीच—क्षेत्रसन्निवेशक्रमरूपा—ऽवसेया, तत्र यत्कर्मोदयात्—अतिशयेन तद्गमनाऽनुगुण्यं स्यात् तदप्यानुपूर्वी कथ्यते.। साचा—ऽन्तर्गति द्विविधा भवति, ऋज्वी--वक्रा च, । तत्र यदा समय-प्रमाणया ऋज्व्या गच्छति तदा—अग्रिमायुःकर्मानुभवन्नाऽऽनुपूर्वी नाम कर्मणैवोत्पतिस्थानं प्राप्तः सन् पुरःसमुपस्थितमायुरासादयति. । वक्रगत्यातु—द्वि—त्रि—चतुःसमयप्रमाणया कूर्पर—लाङ्गल—गोमूत्रिका लक्षणया प्रवृत्तो वक्रारम्भकाले पुरस्कृतमायुरासादयति. तदैव चाऽऽनुपूर्वीनामकर्माऽप्युदेति ।

अथ यथा—ऋज्व्यां गतौ—आनुपूर्वी नाम कर्मविनैवोत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति. । एवं वक्रगत्यामपि कथं ना--ऽऽनुपूर्वी नामविनैवोत्यत्तिस्थान प्राप्नोतीति चेत् ? उच्यते, ऋज्व्यां गतौ पूर्वायुर्व्या-पारेणैव गच्छति, यत्र तत्पूर्वमायुःकर्मक्षीणं भवति, तत्रैव तस्य खलु अध्वयष्टिस्थानीयस्याऽऽनुपूर्वीना-मकर्मण उदयो भवति— । तथाच—वक्रगतौ वर्त्तमानभवायुः कर्मणः क्षयादानुपूर्वी नामकर्म भवति ।

होता है और किसी सभा में पहुँच कर वचनचातुर्य से अन्य सदस्यो को त्रास उत्पन्न करता है अथवा दूसरो की प्रतिभा का प्रतिघात करता है, वह पराघात नाम कर्म कहलाता है ।

जीव जब वर्तमान शरीर को त्याग कर नवीन जन्म ग्रहण करने के लिए विग्रहगति करता है, उस समय इस कर्म का उदय होता है। इस आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय से जीव अपने नियत उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँचता है।

क्षेत्र के सन्निवेश क्रम को आनुपूर्वी कहते हैं। जिस कर्म के उदय से अति-शय के साथ गमन की अनुकूलता होती है, उसे भी आनुपूर्वी कहते है । वह अन्तराल-गति दो प्रकार की है—ऋजुगति और वक्रगति । जीव जब एक समय प्रमाण ऋजुगति से गमन करता है तब अगली आयु कर्म का अनुभव करता हुआ ही आनुपूर्वी नाम कर्म के द्वारा उत्पत्ति स्थान को प्राप्त होकर अगली आयु को प्राप्त करता है। दो, तीन या चार समय वाली वक्रगति से, जो पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका लक्षण वाली होती है, गमन करता है तो मोड़ आरम्भ होने के समय आगामी आयु को प्राप्त कर लेता है। उसी समय आनुपूर्वी नाम कर्म का ऊदय होता है।

शंका—जैसे ऋजुगति में आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय के बिना ही जीव अपने उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँच जाता है, उसी प्रकार वक्रगति करके भी आनुपूर्वी नाम कर्म के बिना ही उत्पत्ति क्षेत्र में क्यो नहीं प्राप्त हो जाता ?

समाधान—ऋजुगति में पूर्वभव सबंधी आयु के व्यापार से ही जीव का गमन होता है ; जहाँ पूर्वभव की आयु का क्षय हो जाता है वही आनुपूर्वी नाम कर्म का, जो अध्वयष्टि अर्थात् मार्ग में पड़ी लकड़ी के समान है, उदय होता है। इस प्रकार वक्रगति में वर्तमान भव के आयु कर्म का क्षय होने पर आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय होता है।

प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकम्—उच्छ्वासनाम। आतपसामर्थ्यजनकं तावद् आतपनाम—उच्यते। प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्द्योतनाम। लब्धिशिक्षर्द्धिहेतुकस्याऽऽकाशगमनस्य जनकं विहगगतिनाम, तत्र—प्रशस्ता विहगगति हंसादीनाम्, अप्रशस्ता पुनरुष्ट्रादीनाम्। त्रसत्वनिष्पादकं त्रसनाम, त्रसाः—द्वि—त्रि—चतुष्पञ्चेन्द्रियलक्षणा जीवा उच्यन्ते, त्रस्यन्तीति त्रसाः।

स्थावरत्वनिष्पादकं स्थावरनाम, । सूक्ष्म शरीरनिवर्तकं—सूक्ष्मनाम। बादरशरीरनिवर्तकं—बादरनाम। पर्याप्तनामविविच्यते—तत्र पर्याप्तं पर्याप्तिः सा तावत्पञ्चविधा—आहारपर्याप्तिः—शरीरपर्याप्तिः—इन्द्रियपर्याप्तिः—भासामणपज्जत्ति—भाषामनःपर्याप्तिश्च—। तत्रात्मनः क्रियापरिसमाप्तिः पर्याप्तिरुच्यते। तथा च—पुद्गलरूपात्मनःकरणविशेषः पर्याप्तिः, येन करणविशेषेणाऽऽत्मनः आहारादिग्रहणसामर्थ्यं निष्पद्यते, तच्च करणं यैः पुद्गलै निष्पाद्यते ते पुद्गला आत्मना गृहीताः सन्तस्तथाविधपरिणतिशालिनः पर्याप्तिशब्देन व्यपदिश्यन्ते।

मनःप्रर्याप्तिरपि—इन्द्रियपर्याप्तिमध्ये गतार्था—। पर्याप्तिनिवर्तकं—पर्याप्तिनाम। एवमपर्याप्ति-

---

प्राणापान अर्थात् उच्छ्वास और निश्वास के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न करने वाला कर्म उच्छ्वास नाम कर्म कहलाता है। आतप के सामर्थ्य का जनक कर्म आतपनाम कर्म है। प्रकाश की शक्ति उत्पन्न करने वाला उद्योतनाम कर्म है। लब्धि, शिक्षा या ऋद्धि के प्रभाव से आकाश में गमन करने की शक्ति उत्पन्न करने वाला कर्म विहगगति या विहायोगति नाम कर्म कहलाता है। प्रशस्त विहायोगति हंस आदि की सुन्दर चाल और अप्रशस्त विहायोगति ऊंट आदि की भद्दी चाल समझना चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहे जाते है। जिस कर्म के उदय से त्रस पर्याय की प्राप्ति होती है वह त्रस नाम कर्म है।

जिस कर्म के उदय से स्थावर पर्याय की प्राप्ति हो, वह स्थावर नामकर्म है। सूक्ष्म शरीर का जनक सूक्ष्मनामकर्म है। जिसके उदय से बादर शरीर उत्पन्न हो वह बादरनामकर्म कहलाता है।

पर्याप्त नाम कर्म का विवेचन—जिस कर्म के उदय से अपने—अपने योग्य पर्याप्तियों की पूर्णता हो वह पर्याप्ति नाम कर्म कहलाता है। पर्याप्तियाँ पाँच है—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति **'भासामणपज्जत्ति'** और भाषामन पर्याप्ति। आत्मा की क्रिया की समाप्ति को पर्याप्ति कहते है। इस तरह पर्याप्ति आत्मा का एक प्रकार का करण है। उस करण से आत्मा में आहार आदि को ग्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वह करण जिन पुद्गलो से उत्पन्न होता है, वे पुद्गल आत्मा के द्वारा गृहीत होकर एवं विशिष्ट परिणाम से परिणत होकर पर्याप्ति कहलाते हैं। मनः पर्याप्ति इन्द्रियपर्याप्ति में सम्मिलित है, अतः उसकी पृथक् गणना नहीं की गई है।

निर्वर्तकमपर्याप्तिनाम । अनेकजीवसाधारणशरीरनिवर्तकं साधारणशरीरनाम, अनन्तानां जीवानामेकं शरीरं साधारणं किसलय–निगोदवज्रप्रभृति, यथा–एकजीवस्य परिभोगः तथा ऽनेकस्यापि तदभिन्नम् एकं साधारणं सत् यस्य कर्मण उदयात् निष्पद्यते तत्–साधारणशरीरनाम ।

स्थिरत्वनिष्पादकं स्थिरनाम । तद्विपरीतमस्थिरनाम । एवम्–शुभा–ऽशुभ–सुभग–दुर्भग–सुस्वर–दुःस्वरेष्वपि कर्मसु विभावनीयम् । आदेयत्वनिर्वर्तकम्–आदेयनाम । तद्विपरीतमनादेय नाम यशोर्निवर्तकं यशः कीर्त्तिनाम । तद् विपरीतमयशः कीर्त्तिनाम । तीर्थकरत्वनिर्वर्तकं तीर्थकरनाम—

एवं यस्य कर्मण उदयाद् दर्शन–ज्ञान–चरण लक्षणं तीर्थं प्रवर्तयति मुनिगृहस्थ सर्वविरति–देशविरतिधर्मञ्चोपदिशति आक्षेपिणी–संक्षेपिणी–संवेग–निर्वेदकथाभिर्भव्यजनसंसिद्धये सुरा–ऽसुर–नरपतिपूजितश्च भवति तत् तीर्थकरनाम, इत्येवं सोत्तर नामकर्मभेदो बहुविधः प्रज्ञप्तः ॥११॥

जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण न कर पावे उसे अपर्याप्तिनाम कर्म कहते है ।

जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर का निर्माण हो जो अनेक (अनन्त) जीवों के लिए साधारण हो, वह साधारण नाम कर्म कहलाता है । अनन्त जीवो का जो एक ही शरीर होता है, उसे साधारणशरीर कहते है । ऐसा शरीर कोपल आदि निगोद में ही पाया जाता है । वहाँ एक जीव का आहार अनन्त जीवो का आहार होता है, एक का श्वासोच्छ्वास ही अनन्त जीवो का श्वासोच्छ्वास होता है । ऐसा साधारण शरीर जिस कर्म के उदय से निष्पन्न होता है, वह साधारणशरीर नाम कर्म है ।

स्थिरता उत्पन्न करने वाला कर्म स्थिरनामकर्म है । इससे जो विपरीत हो वह अस्थिर नामकर्म है । इसी प्रकार शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर और दुःस्वर नाम कर्म भी समझ लेने चाहिए । आदेयता उत्पन्न करने वाला आदेयनामकर्म कहलाता है और जो उससे विपरीत हो वह अनादेयनामकर्म है । जिसके उदय से यश और कीर्त्ति फैले वह यशः कीर्त्तिनामकर्म और जिसके उदय से अपयश एवं अपकीर्त्ति हो, वह अयशःकीर्त्तिनामकर्म कहलाता है । जिस कर्म के उदय से तीर्थकरत्व की प्राप्ति हो, उसे तीर्थकरनामकर्म कहते है । इस कर्म के उदय से जीव दर्शन ज्ञान–चारित्र रूप तीर्थ की प्रवृत्ति करता है, मुनियो के सर्वविरति और गृहस्थों के देशविरति धर्म का उपदेश करता है, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी और निर्वेदिनी कथाओं के द्वारा भव्य जनो की सिद्धि–मोक्ष के लिए मोक्षमार्ग प्रदर्शित करता है और जिस कर्म के प्रभाव से सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो एवं नरेन्द्रो द्वारा पूजित होता है वह तीर्थकरनामकर्मकहलाता है ।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर एवं उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ अनेक प्रकार की कही गई है ॥११॥

मूलसूत्रम्—"गोए दुविहे, उच्चे-नीए य-" ॥१२॥

छाया—"गोत्रं द्विविधम्, उच्चैर्नीचश्च-' ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नामकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशद्विधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्रतिपादितम् सम्प्रति-गोत्रकर्मणो द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह-"गोए दुविहे उच्चे नीए य-" इति। गोत्रं कर्म-द्विविधं प्रज्ञप्तम्। उच्चगोत्रम्-नीचगोत्रं चेति।

तत्रोच्चगोत्रम्—देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारै-श्वर्याद्युत्कर्षनिष्पादकं भवति, तद्विपरीतं-नीचगोत्रम्। चण्डाल-व्याध-मीनबन्धदास्यादिनिष्पादकं भवति ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—द्विचत्वारिंशद्विधमुत्तरप्रकृतिकर्म, नामकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य द्विविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्रतिपादयितुमाह—"गोए दुविहे उच्चा-नीया य-"इति। गोत्रं कर्म द्विविधम् प्रज्ञप्तम्, उच्चगोत्रं-नीचगोत्रं चेति।

तत्र-यदुदयाद् जीव उच्चैर्जातिं प्राप्नोति तदुच्चगोत्रम्। यदुदयाच्च जीवो नीचैर्जातिं प्राप्नोति तन्नीचगोत्रमुच्यते। तत्रोच्चगोत्रम्-आर्यदेशेषु मगधाऽङ्गकलिङ्गवङ्गादिपु-उत्पत्तिप्रयोजकं भवति। एवम्-हरिवंशेक्ष्वाकुप्रभृतिपितृवंशरूपजातिषु, एवं मातृवंशरूपोग्रभोगादिकुलेपु चोत्पत्तिप्रयोजकं भवति। एवं-प्रभोः समीपे प्रत्यासन्नतयो-पवेशनादिरूपस्थानस्य स्वकरेण वस्त्रप्रदानादि-

---

सूत्रार्थ—"गोए दुविहे उच्चा नीयाय' सूत्र-१२

गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृति है-उच्चगोत्र और नीच गोत्र।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में नाम कर्म नामक मूल प्रकृति की बयालीस उत्तर प्रकृतियो का प्रतिपादन किया गया; अब गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृतियो का कथन करते हैं—गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ दो है-उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

उच्चगोत्र देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कार-ऐश्वर्य आदि का उत्कर्ष उत्पन्न करता है। नीचगोत्र इससे विपरीत होता है। इसके उदय से चाण्डाल, व्याध, मच्छीमार, दास दासी आदि अवस्थाओ की प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया है। अब गोत्र नामक जो मूलप्रकृति है, उसकी दो प्रकृतियो का कथन करते हैं—

गोत्रकर्म के दो भेद है उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च जाति को प्राप्त करता है, वह उच्चगोत्र और जिसके उदय से नीच जाति को प्राप्त करे वह नीचगोत्र कर्म कहलाता है। उच्चगोत्र कर्म मगध, अंग, कलिंग, वंग आदि आर्य देशों में जन्म लेने का हरिवंश, इक्ष्वाकु आदि पितृवंश रूप जातियो में तथा उग्रकुल भोगकुल आदि मातृवंश रूप उत्तम कुलों में जन्म लेने का कारण होता है। इसी प्रकार प्रभु प्रभावशाली के समीप में नज़दीकी से बैठने आदि

रूपमानस्य, अभ्युत्थानासनाऽञ्जलिप्रग्रहादिरूपसत्कारस्य, गजाश्वरथपदातिप्रभृत्यैश्वर्यस्य चोत्कर्ष-निर्वर्तकमुच्चगोत्रं भवति । नीचगोत्रं पुनश्चाण्डाल–वरुड–व्याध–धीवरजालपाशदासभावा–ऽवस्कर-शोधकादिनिर्वर्तकं भवति, यदुदयात् सर्वलोकसमादृते–इक्ष्वाकुवंशे, सूर्यवंशे, चन्द्रवंशे, कुरुवंशे, हरिवंशे–उग्रवंशे, इत्यादिवंशेषु जीवस्य जन्म भवति तदुच्चैर्गोत्रमिति व्यपदिश्यते ।

यदुदयाच्च–निन्दिते दरिद्रे–भ्रष्टाचारे–ऽसत्यवादिके–तस्करवृत्तिकारके–व्यभिचारिणि–प्राणिवधकारके चाण्डालादिनिन्दितकुले जीवस्य जन्म भवति, तद्नीचगोत्रमिति फलितम् ॥१२॥

मूलसूत्रम्—"अंतराए पंचविहे, दाण–लाभ–भोग–उपभोग–वीरियंतरायभेयओ"

छाया—'अन्तरायः पञ्चविधः, दान–लाभ–भोगो–पभोग–वीर्यान्तरायभेदतः" १३

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे गोत्रकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य द्विविधमुत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूपं प्रतिपादितम्, सम्प्रत्यष्टमस्याऽन्तरायकर्मणः पञ्चविधमुत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूपं प्रतिपादयितुमाह–"**अंतराए**" इत्यादि । अन्तरायकर्म–उत्तरप्रकृतित्वेन पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, दानान्तराय–लाभान्तराय भोगान्तरायो–पभोगान्तराय–वीर्यान्तरायभेदात् ।

तत्र–दानलाभभोगोपभोगवीर्यपरिणामव्याघातहेतुत्वाद् दानान्तरायादिव्यपदेशो भवति ।

रूप स्थान का, अपने हाथ से वस्त्र प्रदान आदि रूप मान का, अभ्युत्थान, आसन, अंजलि-प्रग्रह आदि सत्कार का तथा हाथी घोड़ा रथ एवं पदाति आदि ऐश्वर्य पैदा करने वाला उच्चगोत्र कर्म कहलाता है ।

नीचगोत्र कर्म के उदय से चाण्डाल, वरुड, व्याध, धीवर जालपाश, दासभाव, कूड़ा–कचरा बुहारने वाला आदि होता है । जिसके उदय से समस्त लोक में आहृत इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश तथा उग्रवंश आदि उत्तम वंशो में से किसी में जन्म होता है, उसे उच्चगोत्र कर्म कहते है । इसके विपरीत जिस कर्म के उदय से निन्दित, दरिद्र, भ्रष्टा-चारी, असत्यभाषी चौरवृत्तिकारक, व्यभिचारी, हिंसक, चाण्डाल आदि कुलों में जीव का जन्म होता है; वह नीच गोत्र कहलाता है ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—" अंतराए पंचविहे' इत्यादि । सूत्र–१३

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है–दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्त-राय और वीर्यान्तराय ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में गोत्र कर्म रूप मूल प्रकृति की दो उत्तर प्रकृतियो का प्रतिपादन किया गया है, अब आठवीं मूलप्रकृति अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियों का निरूपण करने के लिए कहते हैं- अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां पाँच कही गई है, यथा–दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ।

यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य परिणाम में विघ्न डालने का कारण होता

तथाच—यदुदयात् दातुकामोऽपि, न ददाति, लब्धुकामोऽपि, न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते, तद्अन्तरायकर्म दानान्तरायादिभेदात् । पञ्चविधं तावत् उत्तरप्रकृतिरूपं सम्पद्यते ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे सप्तमस्य गोत्रकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूपं प्रतिपाद्य सम्प्रति—अष्टमस्याऽन्तरायकर्मणः । पञ्चविधमुत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूपं प्रतिपादयितुमाह—**"अंतराए"** इति ।

अन्तरायकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन पञ्चविधं प्रज्ञप्तम् । दानलाभभोगोपभोग वीर्यान्तरायभेदात् तथाच—अन्तरायकर्मोत्तरप्रकृतयो दानान्तराय—लाभान्तराय—भोगान्तरायो—पभोगान्तराय—वीर्यान्तरायरूपाः पञ्च भवन्ति । तत्र—दानं देयद्रव्यस्य त्यागरूपम् तस्याऽन्तरायो दानान्तरायः ? तदुदयात्सत्यपि देयद्रव्ये, यद्विकर्म—उदितं सत् दीयमानद्रव्यदानकर्मणोऽन्तरायं विघ्नमन्तर्धानरूपं करोति तद्दानान्तरायकर्म उच्यते तदुदयाद्—देयद्रव्ये, प्रतिग्रहीतरिच सन्निहितेऽपि **"अस्मै दत्तं द्रव्यं महाफलजनकं भविष्यति"** इति जानन्नपि दाता देयद्रव्यं न प्रयच्छति ।

एवं—यदुदयाद् विद्यमानं लभ्यवस्तुलब्धुकामोऽपि न लभते, तल्लाभान्तरायकर्म व्यपदिश्यते।

है, इस कारण दानान्तराय आदि के नाम से कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से जीव दान देने का इच्छुक हो कर भी दे नहीं पाता, लाभ पाने का अभिलाषी हो कर भी लाभ नहीं कर सकता, भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं सकता, उपभोग करने की वांछा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर पाता और उत्साह प्रकट करने की कामना होने पर भी उत्साह प्रकट नहीं कर सकता, वह अन्तराय कर्म कहलाता है । दानान्तराय आदि उसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति— पूर्वसूत्र में सातवीं मूलकर्म प्रकृति गोत्र की उत्तरप्रकृतियाँ बतला कर अब आठवीं मूलप्रकृति अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ दिखलाते है -

उत्तरप्रकृतियो के रूप में अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है—दानान्तराय, लाभान्तराय भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, अन्तरायकर्म की ये ही पाँच उत्तरप्रकृतियाँ है,, ।

देय वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है । उसमे होने वाला अन्तराय अर्थात् विघ्न दानान्तराय कहलाता है । तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से देय द्रव्य के मौजूद होने पर भी दाता दान नहीं कर सकता—जो दान में विघ्न डाल देता है, वह दानान्तराय कर्म कहलाता है । देने योग्य द्रव्य विद्यमान रहता है: लेने वाला भी सामने होता है और दाता यह भी जानता है कि इसे द्रव्य दिया जायगा तो महान् फल की प्राप्ति होगी फिर भी दानान्तराय कर्म के उदय से दाता दान नहीं दे पाता ।

इसी प्रकार लभ्य वस्तु की मौजूदगी होने पर भी और लाभ की इच्छा होने पर भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो सके, वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है । भोगान्तराय, उपभोगा-

एवम्—भोगो—पभोग—वीर्यान्तरायकर्माण्यपि बोध्यानि तथा सकलार्थिभ्यस्तदीयप्रार्थनानुसारं यथाशक्तिनिर्विशेषमुदारचेताः सन्नपि यस्य याचमानस्यापि देयमल्पमपि द्रव्यं न ददाति तस्य लाभान्तराय कर्मोदयो बोध्यः।

एवं सकृदुपभुज्य यत् परित्यज्यते पुनरुपभोगाक्षमं स्रक्चन्दनप्रभृति, तच्च—भोगरूप सम्भवदपि यस्य कर्मण उदयाद् थो न भुङ्क्ते तस्य भोगान्तरायकर्मोदय. वस्त्र—शयना—सन भाजनादिरूप उपभोग उच्यते, पुनः पुनरुपभुज्यमानत्वादुपभोगशब्देन तदुच्यते, तस्य वस्त्राद्युपभोगस्य सम्भवेऽपि यस्य कर्मण उदयाद् न परिभोगो भवति, तत्कर्म उपभोगान्तराय कर्म व्यपदिश्यते।

वीर्यं पुनरुत्साहश्चेष्टाशक्तिरित्युच्यते, तत्र—यस्य कर्मण उदयात् कस्यचित्समयस्यापि—बलसम्पन्नस्यापि उपचितशरीरस्यापि—तरुणस्यापि अल्पप्राणता धर्मादिकार्यकर्तुः सामर्थ्योत्साहादिकं न भवति तद् वीर्यान्तरायकर्म उच्यते, तथाविधस्य च वीर्यान्तरायकर्मणः पृथिव्यप्तेजो वायुवनस्पतिकायेषु क्षयोपशमजनिततारतम्यात् साकल्येनोदयो बोध्यः।

द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियादेस्तु—वीर्यस्य वृद्धि यावत् चरमछद्मस्थो भवेत् इति प्रकर्षाप्रकर्षविशेषोपलब्धेः। तीर्थङ्करे पुनरुत्पन्नकेवले सर्ववीर्यान्तराय कर्मक्षयः, तस्मिन् भगवति निरतिशयं वीर्यं भवतीति भावः।१३।

न्तराय और वीर्यान्तराय कर्म भी इसी प्रकार स्वयं समझ लेने चाहिए। कोई उदारचित्त पुरुष, समान भाव से, याचको की इच्छा के अनुसार यथाशक्ति दान दे रहा हो, मगर कोई ऐसा याचक हो जिसे याचना करने पर भी, स्वल्प भी द्रव्य न दे तो समझना चाहिए कि उस याचक को लाभान्तराय कर्म का उदय है।

जो वस्तु एक बार भोगी जाय वह भोग कहलाती है, जैसे माला चन्दन आदि। भोग के योग्य वस्तु विद्यमान हो फिर भी जिस कर्म के उदय से उसका भोग न किया जासके वह भोगान्तराय कर्म कहलाता है। वस्त्र, शय्या, आसन, भाजन आदि उपभोग कहलाता है, क्योकि उनका बार—बार भोग किया जाता है। इन वस्त्र आदि वस्तुओं के होने पर भी जिस कर्म के उदय से परिभोग न किया जा सके, उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते है।

वीर्य का अर्थ है उत्साह, चेष्टा, या शक्ति। कोई मनुष्य बलसम्पन्न है, पुष्ट शरीर वाला है, तरुण है, फिर भी धर्म कार्य आदि करने में सामर्थ्य प्रकट नहीं करता, उत्साह नहीं दिखलाता, तो समझना चहिए कि उसके वीर्यान्तराय कर्म का उदय है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवो में वीर्यान्तराय कर्म का, क्षयोपशम जनित तरतमता के अनुसार पूर्णरूप से उदय समझना चाहिए। इनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवो में, द्वीन्द्रियो की अपेक्षा त्रीन्द्रिय जीवो मे कम वीर्यान्तराय पाया जाता है। इस प्रकार छद्मस्थ—अवस्था के चरम समय मे अर्थात् बारहवे क्षीण कषाय नामक गुणस्थान के अंतिम समय में वीर्यान्तराय कर्म सब से कम पाया जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर चाहे तीर्थंकर केवली हो या सामान्य-केवली, वीर्यान्तराय कर्म से सर्वथा रहित हो जाते है। उनमें सर्वोत्कृष्ट वीर्य होता है ॥१३॥

मूलसूत्रम्—"णाणदंसणावरणिज्ज वेयणिज्जंतरायाणं तीसई कोडाकोडीओ ठिई उक्कोसिया, ॥१४॥

छाया—'ज्ञान-दर्शना-ऽवरण-वेदनीया-न्तरायाणां त्रिंशत्कोटिकोट्यः स्थितिरुत्कर्षिका, ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां मूलप्रकृतिबन्धः प्ररूपितः सम्प्रति–तेषां स्थितिबन्धं प्ररूपयितुमाह—"णाणदंसणा–" इत्यादि। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयाऽन्तरायाणां चतुर्णां कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः उत्कर्षिका–उत्कृष्टा स्थितिःप्रज्ञप्ता। एतेषां चतुर्णां जघन्यिका–जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा प्रज्ञप्ता। तथाच–ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीयान्तरायकर्मणामुत्कर्षेण त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटयः स्थितिर्भवतीति विज्ञेयम् ॥१४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद्ज्ञानावरणादिकर्मणां मूलप्रकृतिबन्धःप्रतिपादितः सम्प्रति–तेषां स्थितिबन्धं प्रतिपादयितुं प्रथमं तावद् ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायणां चतुर्णां कर्मणां स्थितिबन्धं प्रतिपादयति—"णाणदंसणावरणिज्जवेयणिज्जंतरायाणं तीसई कोडिकोडीओ ठिई उक्कोसिया" इति। ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयाऽन्तरायाणां चतुर्णां कर्मणा त्रिशत्सागरोपमकोटिकोटयः उत्कर्षिका–उत्कृष्टा स्थितिः प्रज्ञप्ता, बन्धकालादारभ्य यावदशेष निर्जीर्णं भवति तावान् खलु स्थितिकालः स्थितिपदेनोच्यते।

तथाचा–ऽऽसां चतसृणां मूलप्रकृतीनां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीरूप उत्कृष्टः स्थितिबन्धः

सूत्रार्थ—'णाणदंसणावरणिज्ज' इत्यादि सूत्र ॥१४॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व प्रकृतिबन्ध का प्ररूपण करने के लिए कहते हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चारकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्रो मे मूल और उत्तर प्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा की गई है। अव स्थितिबन्ध की प्ररूपणा करते हुए पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की स्थिति वतलाते हैं—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। बन्ध के समय से आरंभ करके जब तक वह कर्म पूर्ण रूप से निर्जीर्ण होता है, तब तक का काल स्थितिकाल कहलाता है। स्थिति काल को ही यहाँ स्थिति शब्द से कहा है।

इस प्रकार पूर्वोक्त चार मूलप्रकृतियों का स्थिति बन्ध उत्कृष्ट तीस कोड़ा कोड़ी सागरो-

प्रतिपत्तव्यः । तत्र—वर्षसहस्रत्रयमबाधाकालो बोध्यः, यावत्कालपर्यन्तं बद्धं कर्म नाऽनुभूयते उदयेनाऽऽयाति, तावान् कालो बाधाकालपदेनोच्यते । बाधाकालस्तु—यत्प्रभृतिज्ञानावरणादिकर्म उदयावलिकाप्रविष्टं सत् निःशेषमुपक्षीणं भवति तावान्काल उच्यते । तथाचैतद् ज्ञानावरणादि-कर्मचतुष्टयं बन्धकालादारभ्य त्रिषु वर्षसहस्रेषु व्यतीतेषु उदयावलिकां प्रविशतीति भावः ।

एवञ्च—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीरूपोत्कृष्टा-स्थितिः संज्ञिनो मिथ्यादृष्टेः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जीवस्यावगन्तव्या ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनसूत्रे ३३ अध्ययने

"उदहीसरिसनामाण, तीसईकोडिकोडीओ— ।
उक्कोसिया ठिई होई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया— ॥१९॥
आवरणिज्जायदुण्हंपि, वेयणिज्जे तहेव य— ।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया— ॥२०॥

छाया—उदधिसदृशनाम्नां त्रिंशत्कोटिकोटयः ।
उत्कर्षिका स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका ॥
"आवरणीययोर्द्वयोरपि वेदनीये तथैव च— ।
अन्तराये च कर्मणि स्थितिरेषा व्याख्याता— ॥१४॥ इति ।

मूलसूत्रम्—"मोहणीजस्स सत्तरि कोटिकोडीओ—' ॥१५॥

छाया—"मोहनीयस्य सप्ततिः कोटिकोटयः ॥१५॥

पम का समझना चाहिए इन चारो कर्मों का अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है । बन्ध होने के पश्चात् जितने काल तक कर्म का उदय नहीं होता, उतना काल अबाधाकाल कहलाता है । अबाधाकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् ज्ञानावरण आदि कोई कर्म जब उदयावलिका में प्रविष्ट होता है, तब से आरभ करके उसको पूर्णरूप से क्षय होने तक के काल को बन्धकाल कहते है । तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानावरण आदि उक्त चारो कर्म बन्ध काल से लेकर तीन हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर उदयावलिकामें प्रविष्ट होते हैं ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की तीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, वह संज्ञी, मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए । उत्तराध्ययनसूत्र के ३३ वे अध्ययन में कहा गया है—

दो आवरणो की अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण की, वेदनीय की तथा अन्तराय कर्म की तीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है । इन चारो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ १९--२० ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—**'मोहणिज्जस्स सत्तरि'** इत्यादि । **सूत्र—१५**

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की है ॥ १५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीया–ऽन्तराय–कर्मचतुष्टयस्य स्थितिः प्रतिरूपिता, सम्प्रति–मोहनीयस्य कर्मणः स्थिति प्रतिपादयितुमाह—**"मोहणिज्जस्स सत्तरि कोडिकोडीओ–"** इति। मोहनीयस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्य कर्मणः सप्ततिसागरोपमकोटिकोटयः उत्कृष्टतः स्थितिर्भवति, जघन्येन तु–अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा स्थितिरवगन्तव्या– ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ज्ञानावरणादीनां चतसृणां कर्मप्रकृतीनां स्थितिकाल. सविस्तरं प्ररूपितः, सम्प्रति-मोहनीयकर्मप्रकृतेः स्थितकालं प्ररूपयितुमाह—**"मोहणिज्जस्स सत्तरि कोडीकोडीओ–"** इति। मोहनीयस्य कर्मणः सप्ततिःसागरोपमकोटिकोटिभ्यः उत्कृष्टतः स्थितिः सम्भवति, जघन्येन पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा स्थितिर्भवति । तत्र चाबाधाकालः सप्तवर्षसहस्राणि बोध्यः । तदनन्तरं बाधाकालो यावदशेषं कर्मक्षीणं भवति, यावत्कालादारभ्य मोहनीयं कर्म उदयावलिकाप्रविष्टं सत् यावच्च निःशेषःमुपक्षीणं भवति–तावान्कालो बोध्यः, तच्च मोहनीयं कर्म सप्तसु वर्षसहस्रेषु व्यतीतेषु उदयावलिकां प्रविशतीति भावः ।

इयञ्चापि मोहनीयस्य कर्मण उत्कृष्टा स्थितिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य मिथ्यादृष्टेः पर्याप्तकस्य जीवस्याऽवगन्तव्या ।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्म की स्थिति बतलाई गई है, अब मोहनीय कर्म की स्थिति का प्रतिपादन करते है—

मोहनीय कर्म की, जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका है, उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोड़ी सागरोपम की है। इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ १५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले ज्ञानावरण आदि चार कर्मप्रकृतियो का स्थिति काल विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका है, अब मोहनीय कर्म का स्थिति काल बतलाते है–

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम की तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

मोहनीय कर्म का अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है। अबाधाकाल के समाप्त होने से लेकर सम्पूर्ण कर्म के क्षय होने तक का काल बाधाकाल कहलाता है। अर्थात् जिस समय मोहनीय कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हुआ, उस समय से लगाकर उसके पूर्ण रूप से क्षीण होने तक का समय बाधाकाल कहा जाता है। फलितार्थ यह है कि सात हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की स्थिति वाला मोहनीय कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होता है ।

मोहनीय कर्म की यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि पर्याप्त जीव की अपेक्षा से समझना चाहिए। अर्थात् मिथ्यादृष्टि संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीव ही सत्तर कोड़ा कोडी सागरोपम की स्थिति का वन्ध कर सकता है ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३३ अध्ययने २१ गाथायाम्—

"उदहीसरिसनामाण सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१॥ इति ।

छाया—**"उदधिसदृशनाम्नां सप्ततिकोटिकोट्यः ।**
मोहनीयस्य उत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका ॥१॥ इति ॥१५॥

मूलसूत्रम्—"नामगोत्ताणं वीसईकोडिकोडीओ—" ॥१६॥

छाया—"नाम-गोत्रयोर्विंशतिः कोटिकोट्यः—" ॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मोहनीयस्य कर्मणः स्थितिकालः प्ररूपितः, सम्प्रति—नामगोत्रयोः कर्म मूलप्रकृत्योः स्थितिकालं प्ररूपयितुमाह—**नामगोत्ताणं वीसईकोडाकोडीओ—"** इति । नामगोत्रयोः कर्मणो रुत्कृष्टतः स्थितिर्विंशतिः कोटिकोटयः प्रज्ञप्ता, जघन्यतोऽष्टमुहूर्तप्रमाणा स्थितिबोध्या—॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं मोहनीयकर्ममूलप्रकृतेः स्थितिः कालावधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति नामगोत्रकर्मणोः स्थितिकालं प्रतिपादयितुमाह—**"नामगोत्ताणं वीसईकोडिकोडीओ—"** इति ।

नामगोत्रयोः—नामकर्ममूलप्रकृतेः—गोत्रकर्ममूलप्रकृतेश्च प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटिकोटयः उत्कृष्टतः स्थितिः सम्भवति । तत्र—प्रत्येकं वर्षसहस्रद्वयं नामकर्मणो—गोत्रकर्मणश्चाऽबाधाकालो भवति, तदनन्तरं बाधाकालो भवति द्वयोरपि, तथाच—यदारभ्य नामकर्मगोत्रकर्म च—उदयाव-

---

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन में कहा है—

'मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है' ॥ १५

सूत्रार्थ—'नामगोत्ताणं विसई' इत्यादि सूत्र–१६

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम की है ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में मोहनीय कर्म का स्थिति काल प्ररूपित किया गया है, अब नाम और गोत्र नामक मूल प्रकृतियो का स्थितिकाल प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति का उत्कृष्ट काल वीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम है । इनका जघन्य स्थितिकाल आठ मुहूर्त्त समझना चाहिए ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्ववर्त्ती सूत्र में मोहनीयकर्म की स्थिति कही गई है, अब नाम और गोत्रकर्म की स्थिति का काल प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

नामकर्म और गोत्रकर्म नामक मूलप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बीस—बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम है इन दोनों का अबाधाकाल दो—दो हजार वर्ष का है । तत्पश्चात् बाधाकाल प्रारंभ हो जाता है । उदयावलिका में प्रविष्ट होने के समय से आरंभ होकर पूर्णरूप से क्षय हो

लिकाप्रविष्टं सत् यावद्निःशेषमुपक्षीणं भवति तावान् कालो बाधाकालोऽवगन्तव्यः ।

एवञ्च—बन्धकालादारभ्य वर्षसहस्रद्वये व्यतीते सति नामकर्म–गोत्रकर्म च उदयावलिकां प्रविशति, नामकर्म गोत्रकर्म च बन्धकालादारभ्य यावन्तं कालं नानुभूयते तावान्कालोऽबाधाकालस्तयोरुच्यते, इयञ्चापि नामकर्मणो–गोत्रकर्मणश्चोत्कृष्टा विंशतिसागरोपमा स्थितिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकमिथ्यादृष्टेः प्राणिनोऽवसेया ।

तथाचोक्तमुत्तराध्ययने–३३–अध्ययने–२३–गाथायाम्—

"उदहीसरिसनामाणं–वीसइकोडिकोडीओ– ।

नामगोत्ताणं उक्कोसा–अंतोमुहुत्तं जहन्निया– ॥ १ ॥ इति ।

"उदधिसदृशनाम्नां विंशतिः कोटिकोटयः ।

नामगोत्रयोरुत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका ॥ १ ॥ इति ॥ १६ ॥

मूलसूत्रम्—"आउकम्मस्स तेत्तीस सागरोवमा ठिई उक्कोसा– " ॥ १७ ॥

छाया—आयुः कर्मणस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा स्थितिः– " ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नामगोत्रकर्मणो मूलप्रकृत्योरुत्कृष्टा स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति–पुनरायुष्यकर्मणोमूलप्रकृतेरुत्कृष्टां स्थिति प्ररूपयितुमाह—**"आउकम्मस्स–"** इत्यादि ।

आयुः कर्मणो मूलप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाऽभ्यधिकानि–उत्कृष्टा-स्थितिरवगन्तव्या, जघन्या स्थितिः पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवतीत्यग्रे वक्ष्यते– ॥ १७ ॥

जाने तक का समय बाधाकाल कहलाता है ।

इस प्रकार बन्धकाल से लेकर दो सहस्र वर्ष का व्यतीत हो जाने पर नामकर्म और गोत्रकर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होते है । नामकर्म और गोत्रकर्म बन्ध के समय से लेकर जितने समय तक अनुभव में नहीं आते, उतना समय उनका अबाधाकाल कहलाता हैं ।

नाम और गोत्रकर्म की वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति कहीं गई है, उसका बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव ही कर सकता है । उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की गाथा २३ में कहा है–नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोड़ी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१६॥

सूत्रार्थ—'आउकम्मस्स तेत्तीस' इत्यादि सूत्र–१७

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे नाम और गोत्र नामक मूल प्रकृतियों की स्थिति का निरूपण किया गया. अब आयु नामक मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

आयु नामक मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कोटि के त्रिभाग से अधिक तेतीस सागरोपम की जानना चाहिए । इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है, यह आगे कहेंगे ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं नामगोत्रकर्मणो स्थितिकालावधिः प्रतिपादितः सम्प्रति पुनरायुष्यकर्मणो मूलप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिकालावधिं प्रतिपादयितुमाह—**"आउकम्मस्स तेत्तीस सागरोवमा ठिई उक्कोसा—"** इति । आयुःकर्मणो मूलप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाऽभ्यधिकानि उत्कृष्टा स्थितिः सम्भवति, जघन्या स्थितिस्तु—अन्तर्मुहूर्तमात्रा भवतीत्यग्रे समाधास्यते, अत्रच—सागरोपमग्रहणेन कोटिकोटिपदस्य निवृत्तिरवगन्तव्या ।

त्रयस्त्रिंशत् पदोपादानादपि कोटिकोटिग्रहणस्य निवृत्तिर्भवति । अत्रच—पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधाकालो बोध्यः । तदनन्तरञ्च बाधाकालो भवति तथाच—यत्कालादारभ्याऽऽयुष्यकर्म उदयावलिकाप्रविष्टं सत् यावन्निःशेषमुपक्षीणं भवति तावान्कालो बोध्यः ।

एवञ्च—बन्धकालादारभ्य पूर्वकोटित्रिभागेऽबाधाकाले व्यतीते सति आयुःकर्ममूलप्रकृतिरुदयावलिकां प्रविशति । यावत्कालं तत्कर्म नानुभूयते तावत्कालोऽबाधाकालपदेन व्यपदिश्यते, इयञ्चापि—आयुष्यकर्मणस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपोत्कृष्टा स्थितिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्या । "तथाचोक्तमुत्तराध्ययने—३३—अध्ययने—२२—गाथायाम्—

तेत्तीससागरोवमा—उक्कोसेण विगाहिया— ।
ठिई उ आउ कम्मस्स—अंतोमुहुत्तं जहन्निया— ॥ १ ॥ इति

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—नाम और गोत्रकर्म की स्थिति का काल बतलाया जा चुका है, अब आयुष्य नामक मूलप्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति काल प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

आयुकर्म नामक मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति करोड़ पूर्व के तीसरे भाग से अधिक तेतीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिए । जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है, यह आगे कहा जाएगा । यहाँ 'सागरोपम' का ग्रहण करने से 'कोड़ाकोड़ी' पद का निषेध हो जाता है । 'तेत्तीस' पद ग्रहण करने से भी 'कोड़ाकोड़ी' की निवृत्ति हो जाती है । तात्पर्य यह है कि आयुकर्म की स्थिति सिर्फ तेतीस सागरोपम की है, तेतीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की नहीं है ।

यहाँ करोड़ पूर्व का त्रिभाग अबाधाकाल समझना चाहिए । उसके पश्चात् बाधाकाल का प्रारंभ होता है । जिस काल में आयु कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होता है उससे लेकर पूर्ण रूप से उसके क्षय होने तक का काल बाधाकाल कहलाता है । इस प्रकार आयु बन्ध के पश्चात् करोड़ पूर्व का तीसरा भाग बीतने पर आयु कर्म का उदय होता है । जितने काल तक उसका अनुभव नहीं होता, उतना काल 'अबाधाकाल' कहलाता है । आयुकर्म की तेतीस सागरोपन की जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, वह संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से समझना चाहिए ।

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की २२ वीं गाथा में कहा है—'आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है ॥ १७ ॥

"त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि–उत्कृष्टेन व्याख्याता– ।
स्थितिस्तु आयुष्कर्मणः–अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका– ॥ १ ॥ इति ॥ १७ ॥

मूलसूत्रम्—"वेयणिज्जस्स बारसमुहुत्ता ठिई जहन्निया–" ॥ १८ ॥

छाया –"वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ता स्थिति र्जघन्यिका –" ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्ममूलप्रकृतीनां सामान्येन स्थिति रुत्कृष्टा प्रतिपादिता, सम्प्रति-जघन्यां स्थितिं प्ररूपयितुं पूर्वोक्तसूत्रक्रमानुसारेण वेदनीयस्य कर्मणो जघन्यां स्थितिमाह—"संपराइय सायावेयणिज्जस्स–" इत्यादि । साम्परायिकसातावेदनीयस्य कर्मणो-द्वादशमुहूर्ता जघन्यिका-जघन्या स्थितिर्भवति, उत्कृष्टा स्थितिस्तु–पञ्चदशसागरोपमकोटिकोटय: प्रज्ञप्ता ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावदष्टविधकर्ममूलप्रकृतीनामुत्कृष्टः स्थितिकालः प्ररूपितः सम्प्रति सूत्रक्रमानुश्रयणेन वेदनीयस्य कर्मणो जघन्यस्थितिकालं प्ररूपयति–"वेयणिज्जस्स बारस मुहुत्ता ठिई जहन्निया–" इति. ।

वेदनीयस्य मूलप्रकृतिरूपस्य कर्मणो द्वादशमुहूर्ता स्थितिः, जघन्यिका–जघन्या भवति । तत्रा–ऽबाधाकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तस्योत्कृष्टा स्थितिस्तु–पञ्चदशसागरोपमकोटिकोटय. प्रज्ञप्ता । तत्राऽबा-धाकालस्तु–पञ्चदश शतवर्षाणि, असातावेदनीयस्य तावद् वेदनीयकर्मोत्तरप्रकृतिविशेषरूपस्यो-त्कृष्टा स्थिति स्त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटयः

तस्य जघन्या पुनः स्थिति. सागरोपमस्य सप्तभागास्त्रयः पल्योपमा संख्येयभागोनाः प्रज्ञप्ताः अत्राऽबाधाकालउत्कृष्टायां स्थितौ सहस्रत्रयवर्षाणि, जघन्यायां पुनरन्तर्मुहूर्तमात्रम् अबाधाकालो बोध्यः ॥१८॥

मूलसूत्रम्—"नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहन्निया–" ॥१९॥

सूत्रार्थ—'वेयणिजस्स' इत्यादि सूत्र ॥ १८ ॥

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थदीपिका–इससे पहले ज्ञानावरणीय आदि आठो मूल प्रकृतियो का सामान्य रूप से उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध कहा गया है, अब वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति कहते है—

वेदनीय रूप (साम्परायिक सातावेदनीय) मूल प्रकृति की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है। उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडा कोड़ो सागरोपम की कही गई है ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले मूल कर्मप्रकृतियों का सामान्य रूपसे स्थितिकाल कहा गया है, अब वेदनीय की स्थिति का प्ररूपण किया जाता है—

वेदनीय कर्म (साम्परायिक साता वेदनीय) की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है। इसका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ १८ ॥

छाया— नामगोत्रयोरष्टमुहूर्तो स्थितिर्जघन्यिका— ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे वेदनीयस्य कर्मणः सातावेदनीयरूपोत्तरप्रकृतेः स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—नामगोत्रयोः स्थितिं प्रतिपादयितुमाह—**नामगोत्ताणं अट्ठ मुहुत्ता ठिई जहन्निया**—इति । नामगोत्रयो रष्टमुहूर्ता स्थितिर्जघन्या प्रज्ञप्ता, अबाधाकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं वेदनीयस्य कर्मणः स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—नामगोत्रयोः स्थितिं प्रतिपादयितुमाह— **नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहन्निया**"—इति । नामगोत्रकर्मणोरष्ट मुहूर्त्ता स्थितिः जघन्यिका जघन्येन सम्भवति ।

उक्तञ्च भगवतीसूत्रे ६ शतके ३ उद्देशके **'नामगोयाणं—जहण्णेणं अट्ठमुहुत्ता—"** इति । नामगोत्रयोर्जघन्येनाऽष्टौ मुहूर्त्तानि, इति ॥१९॥

मूलसूत्रम्— 'सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहन्निया" ॥२०॥

छाया—शेषाणाम् अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रद्वये वेदनीयनामगोत्रेति त्रयाणां मूलप्रकृतीनां स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—तदन्येषां पञ्चानां ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनां स्थितिं प्ररूपयितुमाह—**"सेसाणं अंतोमुहुत्ता जहन्निया—"** इति । शेषाणाम्—पूर्वसूत्रद्वयोक्तेभ्यो वेदनीयनामगोत्रेभ्योऽतिरिक्तानां

सूत्रार्थ—'नामगोत्ताणं अट्ठ मुहुत्ता ठिई' इत्यादि । सूत्र—१९ ॥

नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है ॥ १९ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में वेदनीय कर्म की स्थिति कही गई है, अब नाम और गोत्र कर्म की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है । इसका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पहले वेदनीय कर्म की स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब नाम और गोत्र रूप मूल प्रकृतियो का प्रतिपादन करते है—

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त प्रमाण है ।

भगवती सूत्र शतक ६, उद्देशक ३ में कहा है—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है ॥१९॥

सूत्रार्थ - 'सेसाणं अंतो मुहुत्ता' इत्यादि । सूत्र ॥ २० ॥

शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ २० ॥

तत्त्वार्थदीपिका —इससे पहले के दो सूत्रों में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म, रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति बतलाई गई है, अब शेष पाँच ज्ञानावरण आदि रूप मूल प्रकृतियो की स्थिति कहते है—

शेष अर्थात् पूर्वोक्त वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म से अतिरिक्त ज्ञानावरण, दर्शना-

ज्ञानावरण–दर्शनावरण–मोहनीया–ऽऽयुष्का–ऽन्तरायाणां पञ्चकर्मणां प्रकृतीनां स्थितिरन्तावद् जघन्या–अन्तर्मुहूर्त्ता भवति ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् वेदनीयनामगोत्रकर्मणां मूलप्रकृतिनां स्थितिः प्रतिपादिता, सम्प्रति–तदन्येषां ज्ञानावरणादिकर्मणां मूलप्रकृतीनां स्थितिं प्रतिपादयितुमाह—"सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहन्निया–" इति । शेषाणाम्–वेदनीयनामगोत्राऽतिरिक्ताना ज्ञानावरण–दर्शनावरणमोहनीया–ऽऽयुष्या–ऽन्तरायाणां कर्मणां मूलप्रकृतिनां स्थितिः खलु जघन्या–ऽन्त-र्मुहूर्तं भवति । आवाधाकालोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेवेति ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३३ अध्ययने १९–२२ गाथायाम्—"अंतो मुहुत्तं जहन्निया–" इति । अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका, इति ॥२०॥

मूलसूत्रम्—"कम्माणं विवागो अणुभावो–" ॥२१॥

छाया कर्मणां विपाकोऽनुभावः

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानादिकर्मणां मूलोत्तरप्रकृतिवन्धनिरूपणपूर्वकं स्थितिवन्ध. प्ररूपितः, सम्प्रति–तावदनुभाववन्धं प्ररूपयितुमाह—"कम्माणं विवागो अणुभावो–" इति ।

कर्मणां ज्ञानावरण–दर्शनावरणादीनां मूलप्रकृतीनां–मतिज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतीनाञ्च सर्वेषां कर्मणां विपाकः फलम्–अनुभाव उच्यते, कर्म्मवन्धस्य फलं विपाकोऽनुभाव इत्यर्थ ॥२१॥

वरण, मोहनीय, आयुष्क और अन्तराय कर्म रूप मूल प्रकृतियों की जघन्य स्थिति अन्त-र्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥ २० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति प्रतिपादन की गई है, अब शेष ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मूल प्रकृतियो की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

शेष अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, आयुष्य और अन्तराय कर्मों की–मूल प्रकृतियो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है । अवाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त का होता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की गाथा १९–२२ मे कहा है—जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—'कम्माणं विवागो अणुभावो' ॥ २१ ॥

कर्मों का विपाक–फल–अनुभाव कहलाता है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मूल प्रकृतियों का तथा उनके स्थितिवन्धकाल का निरूपण किया गया. अव अनुभाववन्ध का निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि मूल प्रकृतियो का तथा मतिज्ञानावरण आदि उत्तर-प्रकृतियों का जो विपाक अर्थात फल है, वह अनुभाव कहलाता है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रपञ्चकेन ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्कृष्टा जघन्या च स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—क्रमप्राप्तमनुभावबन्धं विशेषलक्षणपूर्वकं प्ररूपयितुमाह—"**कम्माणं विवागो अणुभावो**—" इति। कर्मणां—ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां मतिज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतीनाञ्च सर्वेषां कर्मणां विपाकः—विपचनं फलम् उदयावलिकाप्रवेशोऽनुभाव उच्यते।

ज्ञानावरणादिकर्मणां विशिष्टो—नानाविधो वा पाको विपाकः, वक्ष्यमाणकषाय-तीव्र—मन्दादिभावविशेषाद् विशिष्टः पाको विपाकः,। यद्वा—द्रव्यक्षेत्रकालभावभवलक्षणनिमित्तभेदजनितनानाविधः पाको विपाकः—अनुभवरूपोऽनुभावः। तत्र—प्रशस्ताप्रशस्तपरिणामानां तीव्र—मन्दादिविपाकः पूर्वोक्तज्ञानावरणादिकर्मजनितसुख—दुःखफलविशेषाऽनुभवनमनुभावः।

तत्र—शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां कर्मणां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः। अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः, शुभप्रकृतीनां निकृष्टोऽनुभवो भवतीतिभावः। यद्वा—येन करणभूतेन बन्धनमनुभूयते—आत्मनाऽसावनुभावः, अनुगतोवा भावोऽनुभावः, सर्वासामेव कर्ममूलोत्तरप्रकृतीनां फलं विपाकोदयावलिकाप्रवेशरूपाऽनुभावाज्जीवस्याऽनुसमयमिच्छा—ऽनिच्छापूर्वकं कर्मानुभवनं भवति।

तत्र—ज्ञानावरणकर्मणः फलं ज्ञानाभावः, दर्शनावरणस्य कर्मणः फलं तावद् दर्शनशक्त्य-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले पाँच सूत्रो में ज्ञानावरण आदि कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है, अनुक्रम से प्राप्त अनुभावबन्ध का विशिष्ट लक्षण बतलाते हुए प्ररूपण करते है—ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियो का तथा मतिज्ञानावरण आदि उत्तरप्रकृतियो का—सभी कर्मों का विपाक—फल या उदयावलिका में प्रवेश अनुभाव कहलाता है।

ज्ञानावरण आदि कर्मों का विशिष्ट या विविध प्रकार का पाक विपाक कहलाता है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप निमित्तकारणो के भेद से उत्पन्न नाना प्रकार का पाक विपाक—अनुभवरूप अनुभाव कहलाता है। प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामो का तीव्र मन्द आदि विपाक, जो पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के द्वारा जनित सुख-दुःख आदि फल रूप होता है, उसका अनुभव करना अनुभाव है।

शुभ परिणामो का प्रकर्ष होने से शुभ कर्म प्रकृतियो में उत्कृष्ट अनुभाव उत्पन्न होता है। और अशुभ कर्म प्रकृतियो में निकृष्ट—कम अनुभाव उत्पन्न होता है। जब अशुभ परिणामो में प्रकर्ष होता है तो अशुभ कर्मप्रकृतियो तीव्र अनुभाव और शुभ प्रकृतियो में मन्द अनुभाव उत्पन्न होता है।

अथवा जिसके कारण आत्मा बन्ध का अनुभव करता है उसे अनुभाव कहते है। या अनुगत भाव अनुभाव कहलाता है। जब पूर्वबद्ध कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होता है, तो जीव को इच्छा से या अनिच्छा से अनुसमय—प्रतिसमय—उसे भोगना ही पड़ता है।

ज्ञानावरण कर्म का फल ज्ञान का अभाव होता है। दर्शनावरण का फल दर्शनशक्ति

वरोधो भवति, एवं रीत्या सर्वकर्मणां स्व—स्वकार्येसुखदुःखरूपाऽनुभूतिर्भवति । स च कर्मविपाकः तथा तथाच भवति, तत्तद् अन्यथा भवति, तत्र—येनाऽध्यवसायप्रकारेण यादृग्भाववद्धं कर्म, तत्तथा, तेनैव प्रकारेण विपच्यते—तत्तत्कर्ममनुभूयते । अन्यथा च प्रकारान्तरेणापिच विपच्यते तत्तत्कर्मफलमऽनुभूयते । स च विपाको—ऽनुभाव स्तीव्र—मन्द—मध्यावस्थाभेदो भवति । तत्र—कदाचिच्छुभमपि कर्माऽशुभविपाकतयाऽनुभूयते, अशुभञ्च—शुभविपाकतयाऽनुभूयते, इत्येवं द्वैविध्यं कर्मफलविपाकेऽवगन्तव्यम् । तथाचोक्तम्—

"तासामेव विपाकनिवन्धो-यो नाम निर्वचनभिन्नः ।
"स—रसोऽनुभाव संज्ञ-स्तीव्रो—मन्दोऽथ मध्योवा ॥१॥ इति

तत्र खलु ज्ञानाद्यावरणाद्यष्टप्रकारकेषु मूलप्रकृतिकर्मसु किञ्चित्कर्म पुद्गलेस्वेव विपच्यते—ऽनुभूयते, विविधप्रकारेण पुद्गलान् तत्कर्म परिणतिमापादयति । किञ्चित्पुनः कर्मभावविपाकिभवति, भवान्तरे प्राप्ते जन्मवतो जीवस्य शरीरधारिण एव विपच्यते तेनाऽनुभूयते । किञ्चित्खलु कर्म क्षेत्रविपाकिभवति, क्षेत्रान्तरे विपच्यते—नरकादिक्षेत्रादावनुभूयते । किञ्चित्कर्म पुनर्जीव विपाकिभवति—तस्मिन्नेव जन्मनि जीवे विपच्यते ।

उक्तञ्च—"संहननं संस्थानं वर्णस्पर्शरसगन्ध नामानि ।
अङ्गोपाङ्गानि तथा शरीरनामानि सर्वाणि ॥१॥

का रुकना है । इस प्रकार सभी कर्मो के द्वारा उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख रूप अनुभूति होती है । वह कर्मविपाक असुक-अमुक प्रकार का होता है । जिस प्रकार के अध्यवसाय से जो कर्म जिस रूप में बाँधा है, वह उसी रूप में फल प्रदान करता है । वही कर्मफल जीव को भोगना पड़ता है । कभी-कभी अन्य प्रकार से भी भोगा जाता है ।

कर्म का विपाक कोई तीव्र, कोई मन्द और कोई मध्यम होता है । कभी-कभी शुभ रूप में बाँधे हुए कर्म का फल अशुभ रूप में भोगा जाता है और अशुभ रूप में बाँधे कर्म का फल शुभ रूप में भोगा जाता है । इस प्रकार कर्म फल विपाक में द्विरूपता समझना चाहिए । कहा भी है—

ज्ञानावरण आदि आठ कर्म प्रकृतियो में से कोई कर्म पुद्गलविपाकी होता है । उसका फल पुद्गलो में ही होता है अर्थात् वह कर्म पुद्गलों में ही विविध प्रकार का परिणमन उत्पन्न करता है । कोई कर्मप्रकृति भवविपाकी होती है । उस का फल भवान्तर की प्राप्ति होने पर शरीरधारी जीव ही भोगता है । कोई-कोई कर्मप्रकृति क्षेत्रविपाकी होती है, उस का फल क्षेत्र की प्रधानता से भोगा जाता है । कोई कर्म जीवविपाकी होता है । उस का फल आत्मा को ही भोगना पड़ता है अर्थात् आत्मा के गुणो को वह प्रभावित करता है । कहा है—

संहनन, संस्थान, वर्ण, स्पर्श, रस, गंधनामकर्म, अंगोपांगनामकर्म, सब शरीरनामकर्म, अगुरु लघु, पराघात उपघात आतप उद्योत प्रत्येक शरीर स्थिर शुभ नामकर्म तथा इनके विप-

"अगुरुलघु पराघातो–पघातनामातपोद्द्योतनामानि ।
प्रत्येकशरीर स्थिरशुभनामानीतरैः सार्धम् ॥२॥
"प्रकृतय एताः पुद्गलपाकाः भवपाकमुक्तमायुष्यम् ।
क्षेत्रफलमानुपूर्वो जीवविपाकाः प्रकृतयोऽन्याः ॥३॥ इति

अथ कथं तावदन्यथा कर्मबन्ध स्तदन्यथाप्रकारेण विपच्यते ? इतिचेत् अत्रोच्यते–उक्तप्रत्ययवशादुपात्तो विपाकलक्षणोऽनुभावो द्विधा प्रवर्त्तते स्वमुखेन–परमुखेन च, तत्र–सर्वासां ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवाऽनुभवो भवति, नतु–परमुखेन ।

नहि ज्ञानावरणं कर्म दर्शनावरणतया विपच्यते किन्तु–उत्तरप्रकृतीनां कासाञ्चित् तुल्य-जातीयानां परमुखेनापि विपाको भवति, यथा- मतिज्ञानावरणस्य श्रुतज्ञानावरणतयाऽपि विपाकोऽनुभव' एवं–श्रुतज्ञानावरणस्यापि मतिज्ञानावरणतयाऽनुभवो भवति, एवं रीत्या पञ्चानामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनां परस्परं परमुखतया रूपान्तरेण विपाकोऽवसेयः ।

परन्तूत्तरप्रकृतीना मध्येऽपि आयुष्क–दर्शनचारित्रमोहानां तुल्यजातीयानामपि परस्परं संक्रमो-न भवति, नहि–नरकायुष्यमुखेन तिर्यगायुष्यं मनुष्यायुष्यं वा विपच्यतेऽनुभूयते, नो वा–दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन विपच्यते, नापि–चारित्रमोहो दर्शनमोहतया विपच्यते इतिभावः । तथाच—

रीत अर्थात् साधारण शरीर अस्थिर और अशुभनाम कर्म, यह सब कर्म प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी है । आयु कर्म की चारों प्रकृतियाँ भवविपाकी है । आनुपूर्वी कर्म क्षेत्र विपाकी है और शेष सब प्रकृतियाँ जीवविपाकी है ।

प्रश्न-अन्य प्रकार से बाँधा हुआ कर्म अन्य प्रकार से कैसे भोगा जाता है ?

उत्तर–उक्त कारणो से उत्पन्न हुआ विपाक रूप अनुभाव दो प्रकार से प्रवृत्त होता है–स्वमुख से और परमुख से ज्ञानावरण आदि सभी मूल प्रकृतियो का अनुभाव स्वमुख से ही होता है, परमुख से नहीं । ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण के रूप में फल नहीं देता; इसी प्रकार किसी भी मूल प्रकृति का दूसरी मूल प्रकृति के रूप मे सक्रमण नहीं होता । किन्तु एक ही कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ समानजातीय अन्य प्रकृतियो के रूप में परिणत हो जाती है । इस प्रकार उनका विपाक परमुख से भी होता है, जैसे मति ज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण के रूप में विपाक हो जाता है और श्रुतज्ञानावरण का मतिज्ञानावरण के रूप में संक्रमण हो सकता है । इस प्रकार ज्ञानावरण कर्म की पाँचो प्रकृतियाँ परमुख से अर्थात् रूपान्तर से भी फलप्रदान करती है।

परन्तु उत्तर प्रकृतियो के सक्रमण में भी कुछ अपवाद है । चार प्रकार की आयुकर्म की प्रकृतियों का परस्पर में सक्रमण नहीं होता, अर्थात् कोई भी एक आयु दूसरी आयु के रूप में नहीं बदल सकता । इसी प्रकार दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय है तो एक मोहनीय कर्म की ही उत्तर प्रकृतियाँ, मगर उनका भी परस्पर सक्रमण नहीं होता ।

एवञ्च–जीवः कर्मफलविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेवाऽनाभोगवीर्यपूर्वकं कर्म सक्रमयति । तथाच --आत्मा–उत्पादव्ययध्रौव्यपरिणतिशीलो ज्ञानावरणादिकस्य कर्मणो विपाकमनुभवन् कर्महेतुकमेव तदन्यनिमित्तवर्जितमनाभोगवीर्यपूर्वकं कर्मसंक्रमं विधत्ते । निर्निमित्तस्तावदनाभोगो ज्ञानाद्यावरणोदय उच्यते । आभुञ्जानस्य कर्मफलविपाकमध्यवस्यत आत्मनश्चेष्टाविशेष आभोगवीर्यम् । अनाभुञ्जानस्य तत्फलविपाकमनध्यवस्यतः आत्मनः सामर्थ्यं विशिष्ट–क्रियापरिणामोऽनाभोगवीर्यम् एवंविधाऽनाभोगवीर्यपूर्वकं कर्म संक्रम विधत्ते एवञ्च–कासाञ्चित् उत्तरप्रकृतीनां स्वस्वजातीयस्वेवोत्तरप्रकृतिषु सक्रमो भवति, न सर्वासामुत्तरप्रकृतीनाम् । तत्रापि–सजातीयास्वेवोत्तरप्रकृतीपु संक्रमो. न तु विजातीयासु । यथा–पञ्चप्रकारकं मतिज्ञानावरणादिकं ज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणादिषु चतुर्षु संक्रमते, नतु–चक्षुर्दर्शनावरणादिषु दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिविशेषासु ।

नापि—ज्ञानावरणदर्शनावरणादिषु मूलप्रकृतिषु संक्रामति, नापि–दर्शनावरणं ज्ञानावरणादिस्वभिन्न जातीयमूलप्रकृतिषु वा सङ्क्रमं विदधातीतिभावः । बन्धविपाक निमित्तानां विभिन्नजातीयत्वात् ।

उदाहरणार्थ नरकायु तिर्यंचायु के रूप में नहीं पलट सकती, और दर्शनमोहनीय चारित्र मोहनीय के रूप में अपना फल नहीं देती तथा चारित्र मोहनीय का दर्शन मोहनीय के रूप में परिपाक नहीं हो सकता ।

इस प्रकार कर्म विपाकफल का अनुभव करता हुआ जीव कर्म के कारण ही अनाभोग वीर्य पूर्वक कर्म का सक्रमण करता है ।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणति वाला आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मों के विपाक का अनुभव करता हुआ कर्म के कारण, अन्य निमित्तो के बिना ही अनाभोग वीर्यपूर्वक कर्म का सक्रमण करता है । निमित्तहीन अनाभोग ज्ञानावरण आदि का उदय कहलाता है । आभोग करने वाले अर्थात् कर्मफल विपाक को भुगतने वाले आत्मा की विशेष चेष्टा आभोगवीर्य कहलाती है । तात्पर्य यह है कि समझबूझ कर जो प्रयत्न किया जाता है, उसे आभोगवीर्य कहते है । और बिना सोचे-समझे, अनजान मे जो चेष्टा होती है, वह अनाभोग वीर्य कहलाती है ।

जीव अनाभोग वीर्यपूर्वक ही कर्म सक्रमण करता है । इस प्रकार किन्हीं उत्तर प्रकृतियो का अपनी सजातीय उत्तरप्रकृतियो में संक्रम होता है, सब का नहीं । वह सक्रमण सजातीय उत्तर प्रकृतियो में ही होता है, विजातीय प्रकृतियो मे नहीं । जैसे ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरण कर्म आदि पाँच प्रकृतियों का श्रुतज्ञानावरण आदि चार प्रकृतियों के रूप में सक्रमण हो सकता है, दर्शनावरण की विशिष्ट प्रकृति चक्षुदर्शनावरण आदि में नहीं ।

तथाहि—ज्ञानावरणस्य बन्धनिमित्तं तावत् प्रकृष्टदोषनिह्नवादिकम् असातावेदनीयादेर्बन्ध निमित्तं दुःखशोकादिकम्, ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्बन्धनिमित्तस्याऽभिन्नत्वेऽपि सदाशयविशेषात् परिणामभिन्नत्वमवसेयम्, ज्ञानावरणस्य विशेषग्राहित्वात्, दर्शनावरणस्य तु—सामान्यग्राहित्वात् सामान्योपयोगस्यैवाऽऽच्छादकत्वं भवति। एवञ्च—बन्धनिमित्तत्वाद्—विपाकनिमित्तभेदाच्च भेदवतीषु ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीय मोहनीया—ऽऽयुष्य—नाम—गोत्रा—ऽन्तरायरूपासु मूलप्रकृतिषु परस्पर सक्रमो न भवतीतिभावः।

किन्तु—उत्तरप्रकृतिष्वेव परस्परं संक्रमो भवति, किन्तु तत्रापि कासाञ्चिदेवोत्तरप्रकृतिनां कासुचित्प्रकृतिषु सङ्क्रमो भवति, नतु—सर्वासां सर्वासु सङ्क्रमो भवति तथाहि—

दर्शनमोहस्तावत्—चत्वारोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधादयो मिथ्यात्वं—सम्यग्मिथ्यात्वं—सम्यचवञ्चेति। चारित्रमोहस्तु अप्रत्याख्यानकषाय—प्रत्याख्यानकषायादिर्वर्तते। तत्र—दर्शनमोहो न चारित्रमोहे सङ्क्रमं करोति, नो वा—चारित्रमोहो दर्शनमोहे सङ्क्रमं विधत्ते, एवं—सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वेन संक्रामति—किन्तु—सम्यग्मिथ्यात्वस्याऽसत्यपिबन्धे सम्यक्त्वे सक्रमो भवति। एवं—सम्य-

---

ज्ञानावरण भी दर्शनावरण आदि दूसरी मूल प्रकृतियो में सक्रान्त नहीं होता। इसी प्रकार दर्शनावरण का किसी दूसरी मूल कर्म प्रकृति के रूप में सक्रमण नहीं होता क्योकि उनके बन्ध के कारण भिन्न जाति के होते है।

बन्ध के कारण इस प्रकार है—ज्ञानावरण के बंध के कारण निह्नव आदि है, असातावेदनीय के बन्ध के कारण दुःख शोक आदि है। यद्यपि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बन्ध के कारण समान है, फिर भी आशय में भिन्नता होने के कारण उनके परिणाम में भिन्नता हो जाती है। ज्ञानावरण कर्म विशेष ग्राही बोध का निरोध करता है और दर्शनावरण सामान्य उपयोग (दर्शन) को आच्छादित करता है इस प्रकार भिन्न भिन्न बंध के कारण होने से तथा भिन्न भिन्न फल वाली होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय प्रकृतियो का परस्पर संक्रमण नहीं होता।

सक्रमण उत्तर प्रकृतियो में ही होता है, किन्तु उनमें भी किन्हीं—किन्हीं ही उत्तरप्रकृतियो का किन्हीं—किन्हीं उत्तर प्रकृतियों में ही सक्रमण होता है; सभी का सभी में संक्रमण नहीं होता। उदाहारणार्थ—दर्शन मोहनीय कर्म का चारित्र मोहनीय के रूप में सक्रमण नहीं होता है और चारित्र मोहनीय का दर्शनमोहनीय के रूप में संक्रमण नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्—मिथ्यात्व रूप से सक्रान्त नहो होती, किन्तु सम्यग्—मिथ्यात्व अर्थात् मिश्रप्रकृति का बन्ध न होने पर भी सम्यक्त्वमें सब सक्रम होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति और मिश्र प्रकृति का मिथ्यात्व में सक्रमण होता है। आयुष्क कर्म की

क्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वं संक्रामयति, किन्तु—आयुष्यस्य नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदस्य परस्परं संक्रमो न भवति। नहि—नारकायुष्यं तिर्यगायुष्यं वा मनुष्यायुष्ये—देवायुष्ये वा संक्रम विद्यते। तथाचोत्तरप्रकृतिष्वपि दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मणोः सम्यग्मिथ्यात्व—वेदनीयायुष्काणाञ्चोत्तरप्रकृतीनां जात्यन्तरानुबन्धविपाकनिमित्तानां भिन्नजातीयकत्वादेव संक्रमो न भवतीतिभावः तथाचोक्तम्—

"मूलप्रकृतिभिन्नाः संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः।
नत्वात्मामूर्तत्वा दध्यवसानप्रयोगेण ॥ १ ॥
शिथिलयति दृढबद्धं द्रढयति च कर्म ननु जीवः।
उत्कृष्टाश्च जघन्याः स्थितिर्विपर्यासयति चापि- ॥ २ ॥ इति

संक्रमण-स्थित्यु-दीर्णात्रियेच दृष्टान्तत्रयं प्रदर्श्यते—

"तारीकरणं ताम्रस्य शोषणस्तेमनेमृदः क्रमशः।
आम्रपरिपाचनं वा काले तेषूपदृष्टान्ताः- ॥ १ ॥

यथासंख्यमन्वयो बोध्यः—

अनुभावांश्च विपर्यासयति तथैव प्रयोगतो जीवः।
तीव्रान् वा मन्दान् वा स्वासु प्रकृतिस्वभिन्नासु- ॥ २ ॥

चार उत्तरप्रकृतियो का परस्पर संक्रमण नहीं होता—नरकायु बदल कर तिर्यंचायु आदि के रूप में नहीं हो सकती। इसी प्रकार कोई भी अन्य आयु किसी दूसरी आयु प्रकृति के रूप में नहीं प्राप्त की जाती।

तात्पर्य यह है कि उत्तर प्रकृतियो में भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का, सम्यग्—मिथ्यात्ववेदनीय का तथा आयु कर्म की प्रकृतियो का परस्पर संक्रमण नहीं होता; क्योंकि उनके बन्ध के कारणो में भिन्नता है, इस कारण वे भिन्न जातिय है। कहा भी है—

'आत्मा अमूर्त्त होने के कारण अपने अध्यवसाय की विशेषता से मूल प्रकृतियो से अभिन्न उत्तर प्रकृतियो में संक्रमण करता है, अर्थात एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियो में उलट—पलट कर लेता है। इसी प्रकार दृढ़ बाँधे हुए कर्म को अध्यवसाय की विशेषता से शिथिल कर लेता है और शिथिल बाँधे हुए को दृढ भी कर लेता है। और जघन्य स्थिति को उत्कृष्ट स्थिति के रूप में बदल सकता है।

सक्रमण, स्थिति और उदीरणा, इन तीनों के विषय में तीन दृष्टान्त दिखलाते है—

संक्रमण का दृष्टान्त है तांबे को तारो के रूप में पलटना—तांबा प्रयोग के द्वारा तारो के रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्थिति का उदाहरण है—मृत्तिका का शोषण एवं आर्द्रीकरण उदीरणाका उदाहरण है आम को जल्दी पका लेना यह क्रमशः तीन उदाहरण है।

"यद्यद्वा मन्दं सत् क्षारीक्रियते हरिद्रया चूर्णम्- ।
वातातपादिभिश्च क्षारं मन्दीक्रियते यथा- ॥ ३ ॥
"तीव्रोऽनुभावयोगो भवतिहि मिथ्यात्ववेदनीयस्य- ।
सम्यक्त्वे त्वतिमन्दो मिश्रे मिश्रोऽनुभावश्च ॥ ४ ॥ इति

एवञ्च–दर्शनमोहनीय–चारित्रमोहनीय–वेदनीया-ऽऽयुष्य कर्मोत्तरप्रकृतिनामागमे आस्रवाणां भिन्नतयैव पठितत्वेन जात्यन्तरानुवर्त्तनकारि विपाकनिमित्तानां तेषां विभिन्नजातीयकत्वेन न तासामुत्तरप्रकृतीनां सक्रम इति भावः । किन्तु–सर्वासामेव मूलोत्तरप्रकृतिनामपवर्तनं तु–भवत्येव, तच्चापवर्तनं द्राघीयस्याः कर्मस्थितेरल्पीकरणरूपं बोध्यम् । अध्यवसायविशेषात्-सर्वासामेव प्रकृतिनां तत्सम्भवति ।—

प्रस्तुतः खल्वनुभावलक्षणो विपाको यथा नाम भवति, एवञ्च- -यस्य कर्मणो यद्नाम संज्ञा भवति, तत्कर्मनामानुरूपमेव विपच्यते तथाच—ज्ञानावरणादिकर्मणां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थनिर्देशो वर्तते । तथाहि– ज्ञानमाव्रियते येन तद् ज्ञानावरणं कर्मोच्यते तद्धि ज्ञानावरणं कर्म विपच्यमानं ज्ञानाभावे पर्यवस्यति, ज्ञानावरणकर्मणो विपाकावस्थायां ज्ञाने भावे पर्यवसानं बोध्यम् ।

'इसी प्रकार जीव अपने प्रयोग से अनुभाव में भी संक्रमण करता है अर्थात् किसी कर्म प्रकृति का तीव्र अनुभाव बन्ध किया हो तो अपवर्तनाकरण के द्वारा उसे मंद रूप में पलट सकता है और बाँधे हुए मन्द अनुभाव को उद् वर्त्तना करण के द्वारा तीव्र अनुभाव में बदल सकता है ।,

जैसे मन्द अनुभाव वाला चूर्ण हरिद्रा (हल्दी) के द्वारा तीव्र कर दिया जाता है और तीव्र चूर्ण वायु एवं धूप के द्वारा मन्द बना दिया जाता है ।

'मिथ्यात्व प्रकृति का अनुभाव तीव्र होता है, सम्यक्त्व–प्रकृति का अनुभाव मन्द होता है और मिश्र प्रकृति का अनुभाव मिश्र–मध्यम होता है ।'

इस प्रकार दर्शनमोहनीय, चरित्रमोहनीय, और आयुष्कर्म की उत्तर प्रकृतियो का संक्रमण नहीं होता । इसका कारण यह है कि इनके बन्ध के कारण आगम में भिन्न–भिन्न बतलाए गए है और भिन्न करणों से बन्ध होने से ये प्रकृतियाँ भिन्न जाति की है । इनका फल भी भिन्न है । हाँ अपवर्त्तन सभी प्रकृतियो का हो सकता है, चाहे मूलप्रकृति हो या उत्तर प्रकृति । दीर्घकालीन स्थिति का अल्पकालीन हो जाना अपवर्त्तन कहलाता है। परिणाम की विशेषता के अनुसार सभी प्रकृतियो का अपवर्त्तन हो सकता है ।

यह जो अनुभाव–विपाक है, वह नाम के अनुसार होता है । जिस कर्म का जो नाम है, उसी के अनुरूप उसका फल भी होता है । ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों के विषय में यही समझना चाहिए । जैसे–जो कर्म ज्ञान को आवृत–अच्छादित करता है, वह ज्ञानावरण

एवं दर्शनावरणं कर्म विपच्यमानं सामान्योपयोगोपरोधे पर्यवस्यति, दर्शनं सामान्योपयोगलक्षणम् आव्रियते येन तत्कर्म-दर्शनावरणमित्यन्वर्थत्वमवसेयम् । एवं सातावेदनीयं-कर्म विपच्यमानं सुखानुभवे पर्यवस्यति, असातावेदनीयञ्च कर्म विपच्यमानं दुःखानुभवे पर्यवस्यति । एवम्---दर्शनमोहनीयं कर्म विपच्यमानं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं दर्शनं मोहयतीति बोध्यम् । चारित्र-मोहकर्म विपच्यमानं मूलोत्तरगुणभेदलक्षणं चारित्रं मोहयतीति बोध्यम् ।

एवं--यदुदयाद् आयुर्जीवनं प्राणधारणं भवति, तदायुः कर्म विपच्यमानं प्राणधारणे पर्यवस्यति । एवं तांस्तान् गतिजात्यादीन् भावान् प्रशस्तान्--अप्रशस्तांश्च नामयति--प्रापयतीति नामकर्म विपच्यमानं गतिनामाद्यनुभवे पर्यवस्यति । एवं नामकर्मणः प्रतिभेदमपि--अन्वर्थत्वमनुसृत्यैव विपाकोऽवगन्तव्यः, यथा--गतिं नामयतीति गतिनाम. ।

एवं जातिनाम--शरीरनाम--अङ्गोपाङ्गनामादि तीर्थकरनामकर्म विपच्यमानं तत्तद्भावे पर्यवस्यति । एवं--गोत्रकर्म, गूयते--शब्द्यते इति गोत्रं--सशब्दनम् "गुङ्शब्दे" इत्यस्माद्धातो ष्ट्रन् प्रत्यये गोत्रशब्दसिद्धिः तच्च गोत्रं द्विविधं भवति, उच्चैर्गोत्रम्-१ नीचैर्गोत्रञ्चेति-२

तत्र--यस्य कर्मण उदयादुच्चैरयं पूज्यः--उग्रो- भोज--इक्ष्वाकु रित्येवं गूयते--संशब्द्यते गीयते तदुच्चै र्गोत्रं कर्म विपच्यमानं तथाविधोच्चवंशसंशब्देन पर्यवस्यति !

कहलाता है । ज्ञानावरण कर्म जो फल देता है उसका पर्यवसान ज्ञान के अभाव में होता है । अर्थात् ज्ञानावरण कर्म अपने नाम के अनुसार ज्ञान का निरोध करता है ।

इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म का फल दर्शन अर्थात् सामान्य बोध को आच्छादित करना है । दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोग, उसे जो आवृत करे वह दर्शनावरण । इस प्रकार नाम के अनुरूप ही उसका विपाक होता ।

सातावेदनीय का फल सुख का वेदन कराता है । आसातावेदनीय असाता अर्थात् दुःख का वेदन--अनुभव कराता है । दर्शनमोहनीय कर्म जब फल देता है तो दर्शन अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान को मोहित- कलुषित या नष्ट करता है । चारित्रमोहनीय कर्म चारित्र को उत्पन्न नहीं होने देता ।

इसी प्रकार जिस कर्म के विपाक से आयु अर्थात् प्राणधारण होता है, वह आयु कर्म कहलाता है । इस प्रकार आयु कर्म का विपाक प्राणधारण है । इसी प्रकार गति जाति आदि प्रशस्त या अप्रशस्त भावों को जो कर्म प्राप्त कराता है वह नामकर्म भी गतिनाम आदि कहलाता है इसका फल भी नाम के अनुसार ही समझना चाहिए । गोत्र कर्म का फल भी उसके नाम के अनुकूल होता है । 'गुङ्' धातु शब्द के अर्थ में है । ष्ट्रन् प्रत्यय होने से 'गोत्र' शब्द सिद्ध होता है गोत्र दो प्रकार है--उच्चगोत्र और नीचगोत्र । जिस कर्म के फल स्वरू जीव ऊंचा कहलाता है--यह पूज्य है । उग्र कुल

एवं—यस्य कर्मण उदयाद् दरिद्रोऽयम् गर्हितश्चाण्डालादिरित्येवं नीचशब्देन गूयते—शब्द्यते इति तत्कर्म नीचै गोत्रं विपच्यमानं निन्दितवंशशब्देन पर्यवस्यति-। एवं यस्य कर्मण उदयाद् देय—दान—दात्रादीनां मध्ये विघ्नो जायते — तत्कर्माऽन्तरायपदेन व्यपदिश्यते, तथा—विधान्तरायकर्म विपच्यमानं सत् दानादीनां विघ्नकरणे पर्यवस्यति.। एवञ्च—नारकादि गति जाति शरीरादिवृत्ते जीवस्य ज्ञानावरणादि सर्वकर्मणामुदये सति यथानाम विपाको भवति.। तथा—चोक्तं समवायाङ्गे विपाकश्रुतवर्णने—

"अणुभागफलविवागा सव्वेसिं च कम्माणं—" इति, अनुभागफलविपाकाः सर्वेषाञ्च कर्मणाम् इति.। एवं—प्रज्ञापनायां २३-पदे ३३-उद्देशे, उत्तराध्ययने-३३-अध्ययने चोक्तम्। अथोक्तरीत्या यदि तथाविधकर्मणां विपाकलक्षणोऽनुभाव इत्युच्यते, तदा किं तत्कर्मा—ऽनुभूतं सद् आभरणवदवतिष्ठते-? आहोस्वित्—निःसारं सत् प्रवच्यते-? इतिचेद् अत्रोच्यते—बद्धं कर्माऽनुभूतं सत् यथायोग्यमात्मनः पीडानुग्रहौप्रदाया—ऽभ्यवहृतौदनादिविकारवत् अवस्थाननिमित्ताऽभावात् विनष्टं निर्जीर्णं भवति.।

एवञ्च—ज्ञानावरणादिकर्मणो विपाकलक्षणादनुभावात् क्षयलक्षणपरिशटनं भवति आत्मप्रदेशेभ्यः परिपतनलक्षणं निर्जरणं कर्मपरिणते विनाशो जायते, आकर्मपरिणामफलपरिणामभोग-

---

भोजकुल या इक्ष्वकु कुल का है इस प्रकार के शब्दो से कहा जाता है वह उच्च गोत्र कर्म भी अपने नाम के अनुसार ही फल देता है। जिस कर्म के उदय से 'यह दरिद्र है, गर्हित है, चाण्डाल है, इत्यादि नीचशब्दो से शब्दित होता है वह नीचगोत्र कहलाता है। इसका फल नीच वंश आदि की प्राप्ति है।

जिस कर्म के उदय से देय, दान, दाता आदि के मध्य में अन्तराय—विघ्न उपस्थित हो जाता है, वह अन्तरायकर्म कहलाता है। अन्तरायकर्म जब अपना फल देता है तो वह दान आदि में विघ्न डालने के रूप में ही होता है। इस प्रकार ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों का फल उनको अपने—अपने नाम के अनुसार ही होता है। समवायांग सूत्र में विपाकश्रुत के वर्णन में कहा है—'अनुभाग—फल—विपाक सभी कर्मों का होता है।'

'प्रज्ञापनासूत्र के पद २३ में तथा उत्तराध्ययन के अध्ययन ३३ में भी ऐसा ही कहा है।

शंका—यदि कर्मों का फल पूर्वोक्त प्रकार से होता है तो फल देने के पश्चात् वह कर्म आभूषण की तरह रहता है अथवा निस्सार होकर च्युत हो जाता है—झड़ जाता है?

समाधान—बाँधा हुआ कर्म जब भोग लिया जाता है तो आत्मा को पीड़ा या अनुग्रह प्रदान करके, खाये हुए भोजन आदि के विकार की तरह झड़ जाता है, क्योंकि उस समय उसके ठहरने का कोई कारण नहीं रह जाता।

परिसमाप्तेः कर्मवेदनालक्षणो रसानुभवो निर्जरा भवतितीभावः । कर्मणो निर्जरा च–द्विविधा प्रज्ञप्ता, विपाकजन्याऽविपाकजन्या च । तत्र–विपाक उदय', अविपाकःपुनरुदीरणा उच्यते । तत्र–विपाक-जन्या कर्मनिर्जरा तावत् चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघर्पिते संसारार्णवे परिभ्रमानस्य जीवस्य शुभा-ऽशुभात्मकर्मणः प्राप्तविपाककालस्य यथायोग्यमुदयावलिकाप्रवाहे पतितस्य फलोपमोगादुपजात स्थितिक्षये सति निवृत्तिरूपा बोध्या. ।

यस्य पुनः कर्मणो विपाककालाप्राप्तस्य औपक्रमिकक्रियाविशेपसामर्थ्यादनुदीर्णस्य सतो-ऽपि बलादुदीरणया–उदयावलिकाणामनुप्रवेशनेन पनस–तिन्दुका–ऽऽम्रफलादिपाकवद् वेदनेन-निर्जरा भवति, सा-ऽविपाकजन्या निर्जरोच्यते । तथाचोक्तम्—

तारीकरणं ताम्रस्य शोपणस्ते मृदः क्रमशः ।
आम्रपरिपाचनं वा काले तेपूपदृष्टान्ताः ॥ १ ॥

एते त्रयोदृष्टान्ताः संक्रमस्थित्युदीरणासु यथासख्यं योजनीयाः, सैवेयमविपाकजन्या कर्मनि-र्जरा तपोहेतुका व्यपदिश्यते, वक्ष्यमाणेन द्वादशप्रकारेण–तपसा च कर्मण आस्रवनिरोधलक्षण'संवरश्च भवति, निर्जरा च भवतीत्यग्रे संवराधिकारे वक्ष्यते, उक्तञ्च–भगवतीसूत्रे १-शतके १ उद्देशके ११-सूत्रे–**"उदीरिया वेइया य निज्जिन्ना–"** इति, उदीरितानि–वेदित्तानि च निर्जीर्णानि,इति-।।२१।।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों के विपाक के पश्चात् उसकी निर्जरा हो जाती अर्थात् वह आत्मप्रदेशो से अलग हो जाता है ।

कर्म की निर्जरा दो प्रकार की है–विपाकजन्य और अविपाकजन्य । यहाँ विपाक का अर्थ है उदय और अविपाक का अर्थ उदीरणा । इस चतुर्गति रूप एवं अनेक प्रकार के जन्मो वाले संसार–सागर में वहते हुए जीव के शुभ अशुभ कर्म जव विपाककाल के आने पर स्वयं उदय में आते है तो उनका फल भोग लेनेपर उनकी स्थिति का क्षय हो जाता है । स्थितिक्षय हो जाने पर वे निवृत्त हो जाते है । यह विपाकजन्य निर्जरा है ।

जिस कर्म के विपाक का काल प्राप्त न हुआ हो, फिर भी किसी औपक्रमिक क्रिया के द्वारा उसे वलात् उदय में ले आना उदीरणा है । उदीरणा के द्वारा कर्मफल भोग लेने के पश्चात् उसकी निर्जरा हो जाती है । वह अविपाक जन्य निर्जरा कहलाती है । जैसे पनस, तेंदू या आम का फल घास आदि मे दवा देने से समय से पूर्व ही पक जाता है, उसी प्रकार कोई–कोई कर्म भी अपने नियत समय से पहले ही उदीरणा के द्वारा अपना फल दे देता है और फल देने के पश्चात् झड जाता है । इसे अविपाकजन्य निर्जरा कहते है । कहा भी है—

'तावे का तार वनाना, मिट्टी का शोषण या आर्द्रीकरण करना और आम को पकाना, यह तीन उदाहरण संक्रम, स्थिति और उदीरणा के विषय मे यथाक्रम समझ लेने चाहिए ।'

यह अविपाकजन्य निर्जरा तपहेतुक होती है, क्योंकि यह तप से होती है । आगे कहे जाने वाले वारह प्रकार के तप से निर्जरा के अतिरिक्त संवर भी होता है । यह बात आगे

मूलसूत्रम्—"सव्व कम्माणं अणंताणंता पएसगा अभव्वाणं अणंतगुणा, सिद्धाणं अणंतभागा–" ॥ २२ ॥

छाया—"सर्वकर्मणामनन्ताऽनन्ताः प्रदेशकाः, अभव्यानां अनन्तगुणाः—सिद्धानामनन्तभागाः—" ॥ २२ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे कर्मणामनुभावबन्धः प्ररूपितः, सम्प्रति–तेषां सामान्यतो निर्दिष्टं प्रदेशबन्धं विशेषतः प्रतिपादयितु माह–"सव्वकम्माणं–" इत्यादि- । सर्वकर्मणाम्–ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मप्रकृतियोग्यानां पुद्गलानामनन्ताऽनन्ताः प्रदेशाः सन्ति, नो संख्येयाः, नाऽप्यसंख्येयाः प्रदेशाः ते खलु–कर्मभावयोग्यपुद्गलस्कन्धाः अभव्यानामनन्तगुणाः– सिद्धानाञ्चा–नन्ततमभागे सन्ति । तथाच–कर्मभावयोग्यानां पुद्गलानां जीवेन कियान् भागो बध्यते' इति जिज्ञासायाम्- कर्मभावयोग्यपुद्गलद्रव्याणामियत्ताऽवधारणरूपपरिमाणपरिच्छेदलक्षणः प्रदेशबन्ध. पूर्वं प्रतिपादितः तस्य च प्रदेशबन्धस्य विशेषतः स्वरूपज्ञानाय किं हेतुः स प्रदेशबन्धः ? कदा वा-? कुतो वा-? किं स्वभावो वा-? कस्मिन् वा-? कि परिमाणश्च-? इति वक्तव्यम्. । तत्र–सर्वकर्मप्रकृति-हेतुकाः सर्वेषु च भवेषु तत्रैकैकस्य जीवस्य व्यतीतेषु, अनन्तेषु भवेषु-आगमादिषु च संख्येयेषु–

संवर के प्रकरण में नहीं की जाएगी । भगवतीसूत्र के प्रथम शतक में कहा है—कर्मों की उदीहरणा होती है, वेदन होता है और फिर उनकी निर्जरा हो जाती है ॥२॥

'सव्वकम्माणं अणंताणंता पएसगा' इत्यादि ॥ सूत्र–२२ ॥

सूत्रार्थ—समस्त कर्मों के प्रदेश अनन्तानन्त—अभव्यो से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग है ॥ २२ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में कर्मों के अनुभाव का प्ररूपण किया गया है, अब सामान्य रूप से निर्दिष्ट प्रदेशबन्ध का विशेष रूप से प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं–ज्ञानावरण आदि आठो कर्मके अनन्तानन्तप्रदेश होते है–सख्यात या असंख्यात नहीं होते ।

अनन्तानन्त संख्या अनन्त प्रकार की है, अतएव उसको नियत करने के लिए कहते है–वे अनन्तानन्त प्रदेश अभव्य जीवो की राशि से अनन्तगुणित अधिक समझने चाहिए और सिद्ध जीव राशि के अनन्तवे भाग समझने चाहिए ।

जीव कर्मयोग्य पुद्गलो का कितना भाग बाँधते हैं ? इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कर्म के योग्य पुद्गलो का परिमाण–परिच्छेद रूप प्रदेशबन्ध का पहले प्ररूपण किया जा चुका है; मगर प्रदेशबन्ध के स्वरूप का विशेष रूप से ज्ञान कराने के लिए यहाँ इन बातो पर प्रकाश डालना आवश्यक है-प्रदेशबन्ध का कारण क्या है ? वह कब होता है ? कहाँ से होता है ? उसका स्वभाव क्या है ? वह किसमें होता है ? उसका परिमाण क्या है ?

समस्त कर्मप्रकृतिहेतुक, प्रत्येक जीव के भूतकालीन अनन्त भवो में तथा आगामी सख्यात, असंख्यात या अनन्त भवोमें, काययोग वचनयोग और मनोयोग के निमित्त से–इन

असंख्येयेषु–अनन्ताऽनन्तेषु वा भवेषु काय-वाङ्-मनःकर्मयोगविशेषाच्च कर्म भावग्रहणयोग्याः सूक्ष्माः पुद्गलाः, न तु–स्थूलाः एकक्षेत्रावगाहिनः स्थितिपरिणताः, न तु–गतिपरिणता. आत्मनो-पादीयन्ते।

एवञ्च–ते खलु ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मप्रकृतिग्रहणयोग्याः सूक्ष्माः पुद्गलस्कन्धाः न तु–बादराः अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्ततमभागप्रमितप्रदेशाः घनाङ्गुलस्याऽसंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः एक-द्वि-त्रि-चतुःसंख्येयाऽसंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्ण पञ्चरस द्विगन्ध चतुःस्पर्श स्वभावाः काय-वाङ्-मनोयोगवशादात्मनाऽऽत्मसात् क्रियन्ते इति भावः ॥ २२ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे कर्मणामनुभावबन्धः प्ररूपितः, सम्प्रति–तेषां सामान्यतः प्रतिपादितमेव विशेषतः प्रदेशबन्धं प्ररूपयितुमाह—"**सव्वकम्माणं**–" इत्यादि।

सर्वकर्मणाम्–ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मप्रकृतिग्रहणयोग्यपुद्गलानाम् अनन्तानन्ताः प्रदेशा-बध्यन्ते, न तु–संख्येयाः, नाऽप्यसंख्येयाः, नाप्यनन्ताः प्रदेशाः।

अत्र प्रदेशबन्धशब्दार्थस्तु–इयत्ताऽवधारणम्, कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परिमाण-परिच्छेदेनाऽवधारणरूपः प्रदेशबन्ध इति भावः। तथाच–प्रदेशबन्धस्वरूपज्ञानार्थमत्र प्रश्नोत्तरा-

---

योग की तीव्रता या मन्दता के अनुसार कार्मण वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं। वे पुद्गल सूक्ष्म होते हैं, स्थूल नहीं। जिन आकाशप्रदेशो में आत्मप्रदेशो का अवगाहन होता है, उन्हीं आकाशप्रदेशो में रहे हुए वे पुद्गल ग्रहण किये जाते है–बाहर (भिन्न क्षेत्र में) रहे हुए पुद्गलो का ग्रहण नहीं होता। स्थित पुद्गल ही ग्रहण किये जा सकते है, जो गति-रूप में परिणत हो–गमन कर रहे हो, उनका ग्रहण नहीं होता।

उल्लिखित समस्त विशेषताएँ होने पर भी अगर उनकी प्रदेशो की संख्या अभव्य जीवो की समग्र राशि से अनन्तगुणी और सिद्ध जीवो की राशि के अनन्तवे भाग हो तो ही उनका ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार वे घनागुल के असंख्यातवे भाग क्षेत्र में स्थित होने चाहिए; पाँच वर्ण वाले पांच रस वाले दो गन्ध वाले, और चार स्पर्श वाले होने चाहिए। फिर इसकी स्थिति चाहे एक समय की हो, चाहे दो, तीन, चार, संख्यात या असंख्यात समय की हो, । ऐसे पुद्गलो को आत्मा अपने काय, वचन और मन के योग से ग्रहण करता है ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में कर्मों के अनुभावबन्ध का निरूपण किया गया है। अब सामान्य रूप पूर्वकथित प्रदेश बन्ध का विशेष रूप से प्रतिपादन करते है—

ज्ञानावरण आदि आठ प्रकृतियों के योग्य पुद्गल जो अनन्तानन्त प्रदेशो वाले होते हैं, उन्हीं को आत्मा ग्रहण करता है। संख्यात असख्यात या अनन्त प्रदेशो वाले पुद्गलों को नहीं ग्रहण करता।

कर्मयोग पुद्गलस्कंधों का नियत परिमाण में बँधना प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबंध

ष्टकमवसेयम् । तथाहि—

किं निमित्ताः पुद्गला बध्यन्ते-? इति प्रथमः प्रश्नः १ आत्मा तावत्—तान् पुद्गलान् कर्मभावेन परिणतियोग्यान् बध्नन् किमेकेन दिक्प्रदेशेन बध्नाति-? उताहो सर्वदिक्प्रदेशैर्बध्नाति-? इति द्वितीयः प्रश्नः-२ स खलु पुद्गलानां प्रदेशबन्धः किं सर्वजीवानां समान एव भवति-? उताहो कुतश्चिन्निमित्तादसमानः-? इति तृतीयः प्रश्नः—३ किं गुणा-केवलाः पुद्गला बध्यन्ते-? इति चतुर्थः प्रश्नः -४ अथ-यत्र च गगनतले व्यवस्थिताः पुद्गला भवन्ति-तत्रैव ये जीवप्रदेशा अवगाढाः सन्ति, किं तेषामेव पुद्गलानां तेषु जीवप्रदेशेषु बन्धो भवति-? आहोस्विद्-जीवप्रदेशावगाढाकाशदेशव्यतिरिक्तप्रदेशवर्तिनोऽपि पुद्गला बध्यन्ते इति पञ्चमः प्रश्नः—५ अथ किं गतिपरिणताः पुद्गला बध्यन्ते-? उताहो—स्थितिपरिणताः पुद्गला बध्यन्ते ? इति षष्ठः प्रश्नः ६ अथ ते खलु कर्मभावेन बध्यमानाः पुद्गलाः किमात्मनां सर्वप्रदेशेषु श्लिष्यन्ति-? किंवा—एकैकप्रदेशे श्लिष्यन्ति—? इति सप्तमः—७ ।

अथ ते किल कर्मभावपरिणतियोग्याः पुद्गलस्कन्धाः किं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशा बध्यन्ते-? किं वा—ऽनन्तानन्तप्रदेशा बध्यन्ते-? इत्यष्टमः प्रश्नः—८ एषामष्टानामपि प्रश्नानां क्रमशोऽष्टावुत्तराणि वक्ष्यमाणानि बोध्यानि । तथाहि—

के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आठ प्रश्नो के उत्तरो को समझ लेना आवश्यक है। वे इस प्रकार है—

(१) उन पुद्गलो के बन्ध का कारण क्या है ?

(२) आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलो को जब बाँधता है तो एक दिशा से बाँधता है अथवा सर्व दिशाओ से ?

(३) क्या प्रदेशबन्ध सब जीवो को एक समान होता है ? या किसी कारण से उसमें असमानता होती है ?

(४) किन गुणो वाले पुद्गलो का बन्ध होता है ?

(५) जिन आकाशप्रदेशो में कर्मवर्गणा के पुद्गल अवगाढ है, उन्हीं आकाशप्रदेशों में स्थित आत्मा, वहीं का वहीं, उन्हे बद्ध कर लेता है अथवा बाहरी आकाशप्रदेशो में स्थित पुद्गलों को खींच कर ग्रहण करता है ?

(६) क्या गतिपरिणत पुद्गल बद्ध होते है? अथवा स्थिति—परिणत—स्थिर पुद्गलो का बन्ध होता है ?

(७) बँधने वाले पुद्गल समस्त आत्मप्रदेशो में बँधते है या आत्मा के एक—एक प्रदेश में बंधते है ?

(८) कार्मणवर्गणा के वे पुद्गल संख्यातप्रदेशी या असंख्यातप्रदेशी हो तो बंधते है अथवा अनन्तप्रदेशी हो तो ही उनका बन्ध होता है ?

"नामप्रत्ययाः पुद्गला बध्यन्ते-१ सर्वतः सर्वदिग्भ्यः पुद्गला बध्यन्ते-२ कायादियोगविशेषात् परिणतिवैचित्र्यात् सर्वेषामसमानः पुद्गलकर्मप्रदेशबन्धः—३ सूक्ष्माः पुद्गला बध्यन्ते-४ एकक्षेत्रावगाढाः पुद्गला बध्यन्ते—५ स्थितिपरिणताः पुद्गला बध्यन्ते-६ सर्वात्मप्रदेशेषु तेषां पुद्गलानां बन्धो भवति-७ अनन्तानन्तप्रदेशाः पुद्गला बध्यन्ते-८ इत्येवमष्टावुत्तराणि तेषां प्रश्नानाम्

अयमेतेषामभिप्रायः—नामप्रत्ययाः नाम्नो ज्ञानावरणाद्यन्तरायपर्यन्तस्या—ऽन्वर्थसंज्ञकस्या ऽष्टविधकर्मणः प्रत्ययाः—कारणानि नामप्रत्यया स्ते पुद्गला भवन्ति,

तान् पुद्गलान् विना ज्ञानावरणादि कर्मोदयादि न सम्भवति, मुक्तस्येवात्मनः ससारिण इति भावः। यद्वा—नामप्रत्ययो निमित्तं येषां ते नामप्रत्ययाः गतिजात्यादिभेदानि नामकर्माणि—

इन आठ प्रश्नो के उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) कार्मणवर्गणा के वे पुद्गल नाम—प्रत्यय बँधते है अर्थात् जिस प्रकृति का जो नाम है उसी के अनुसार बँधते है।

(२) सभी दिशाओ से—सब ओर से बँधते है।

(३) सब जीवो के योग का व्यापार समान नहीं होता। किसी जीव के योग का व्यापार तीव्र होता है तो किसी के योग का व्यापार मन्द होता है। तीव्रता और मन्दता में भी अनेक श्रेणियाँ होती है, अतएव सब जीवो का प्रदेशबन्ध समान नहीं होता, वरन् योग की असमानता के कारण असमान होता है। योग की प्रवृत्ति तीव्र हो तो अधिक पुद्गलप्रदेशों का बंध होता है और यदि मन्द होती है तो कम प्रदेश बँधते हैं।

(४) सूक्ष्म पुद्गलो का ही बन्ध होता है।

(५) एक क्षेत्रावगाढ पुद्गल ही बद्ध होते है अर्थात् जहाँ आत्मा के प्रदेश हैं, वहीं पर अवगाढ पुद्गल आत्मप्रदेशो के साथ श्लिष्ट हो जाते है; इधर—उधर से आकर्षित होकर नहीं बँधते।

(६) जो कर्मपुद्गल स्थित हो अर्थात् गमन न कर रहे हों, उन का ही बन्ध होता है।

(७) उन पुद्गलो का बन्ध आत्माके सभी प्रदेशों में होता है। जैसे अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले को पानी में छोड़ दिया जाय तो वह अपने सभी प्रदेशों से जलको ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा अपने सभी प्रदेशो से कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है।

(८) अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गल ही बँधते हैं।

यह पूर्वोक्त आठ प्रश्नो के उत्तर है। इनका आशय यह है कि आत्मा के साथ बँधने वाले पुद्गल नाम प्रत्यय होते है अर्थात् अपने—अपने अर्थ के अनुसार नाम वाले कर्मो के कारण होते है। ऐसे पुद्गलो के बिना ज्ञानावरण आदि कर्मो का उदय आदि नहीं हो सकता, जैसे मुक्तात्मा को उदय आदि नहीं होता। अथवा नाम जिनका प्रत्यय अर्थात कारण

औदारिकादिशरीरादियोगाः कर्मणो हेतुतामासादयन्ति, परम्परया—गत्यादयोऽपि तस्माद् नामकर्महेतुकानां पुद्गलानां बन्धो भवति। अथवा— नामकर्मण उत्तरप्रकृतिभूतशरीरनामान्तर्गत-वन्धननामप्रत्ययाः खलु पुद्गला बध्यन्ते,

यस्य कर्मण उदयाद् गृहीत-गृह्यमाणपुद्गलानामन्यशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो भवति, तत् कर्मबन्धननामपदेनोच्यते, काष्ठद्वयखण्डस्य सयोजने जतुवत्। अथवा—यादृशाः पुद्गलाः प्रदेशबन्धस्य हेतवो भवन्ति, ते पुद्गला ज्ञानावरण—दर्शनावरणादिनाम्नैव प्रत्याय्यन्ते ज्ञानावरणादि नाम्ना तेषां पुद्गलानां स्वरूपमाख्यायते।

यतोहि—ज्ञानावरणसमर्थानां दर्शनावरणादिसमर्थानामेव च पुद्गलानां बन्धनात्। अथैकाकाराणामेव पुद्गलानामात्मना—उपादीयमानतया कथं ते उपादीयमानाः एकाकाराः पुद्गला ज्ञानावरणादिविशिष्टतया—ऽऽत्मप्रदेशेषु श्लिष्टा भवन्ति? नहि ज्ञानावरणादिविशिष्टाः केचन पुद्गला बहिः सन्तीति चेदत्रोच्यते—ज्ञानावरणादि सर्वमूलप्रकृतिकर्मभाववर्गणायोग्यानां पुद्गलानां सामान्यतो गृहीतानामपि अध्यवसायविशेषात् पृथक्-पृथग्ज्ञानावरणादिभेदतयाऽऽत्मना परिणमनात् ते खलु पुद्गला ज्ञानावरणादितया परिणता भवन्तीति प्रथमप्रश्नोत्तराशयः

है, वे नाम प्रत्यय कहलाते है। गति-जाति आदि नाम कर्म—औदारिक शरीर आदि योग कर्म के कारण होते है और परम्परा से गति आदि भी कारण होते है, इस कारण नाम कर्म हेतुक पुद्गलो का बन्ध होता है। अथवा- नामकर्म की उत्तरप्रकृति शरीर नाम कर्म के अन्तर्गत जो वन्धन नामकर्म है, उसके कारण पुद्गलो का बन्ध होता है।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत शरीर के पुद्गलो का संबंध होता है, वह बन्धन नाम कर्म कहलाता है। यह कर्म काष्ठ के दो खंडो को जोड़ने वाली लाख के समान है।

अथवा जिस प्रकार के पुद्गल प्रदेशबन्ध के कारण होते है, वे पुद्गल ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि नाम से ही जाने जाते है। ज्ञानावरण आदि नामो से उन पुद्गलो के स्वरूप का कथन किया जाता है। क्योकि ज्ञान के आवरण और दर्शन के आवरण आदि में समर्थ ही पुद्गलो का बन्ध होता है।

प्रश्न—एक-से स्वरूप वाले पुद्गलों को आत्मा ग्रहण करता है, ऐसी स्थिति में वे पुद्गल ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि विशेष स्वरूपों में आत्मा के साथ किस प्रकार श्लिष्ट होते है? अर्थात् जब कर्मपुद्गल मूलतः एक सरीखे हैं तो उनके स्वभाव में आत्मा के साथ वह होते ही कैसे अन्तर पड़ जाता है?

उत्तर—ज्ञानावरण आदि समस्त मूल और उत्तर प्रकृतियों के योग्य पुद्गल यद्यपि ग्रहण करने से पहले एक-से होते है, उनमें ज्ञानावरण आदि का भेद नहीं होता, फिर भी आत्मा अपने अध्यवसाय की विशेषता के कारण उन सामान्य पुद्गलों को भी ज्ञानावरण दर्शनावरण

सम्प्रति द्वितीयप्रश्नोत्तराशय उच्यते—

सर्वतः—सर्वासु खलु दशसु दिक्षु व्यवस्थितान पुद्गलान् कर्मभावयोग्यान् आत्मो-पादत्ते। एवञ्च—तिर्यगष्टौ दिशः सन्ति ऊर्ध्वमधश्चैकैका दिग् इत्येवं दशदिक्ष्ववस्थितान पुद्गलस्कन्धान, गृह्णाति, नत्वेकदिक्प्रतिष्ठान्। अथवा सर्वतः-सर्वैरात्मप्रदेशैरात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलान उपादत्ते.

एते चात्मप्रदेशाः ससारिणो जीवस्य केचन ऊर्ध्वम्—केचन पुनरधस्ताद् भवन्ति। वक्ष्यमाण-सप्तमप्रश्नोत्तरस्य पुनरुक्ततादोषस्तु न सम्भवति, तस्य—"**सर्वात्मप्रदेशेषु—**" इत्यस्याऽनन्तानन्त-प्रदेशेषु सम्बन्धार्थकत्वात्। —२।

सम्प्रति—तृतीयप्रश्नोत्तराशय. प्रतिपाद्यते सर्वजीवानां तुल्य' कर्मबन्धो न भवति, अपितु—अतुल्यः खलु कर्मबन्धो बोध्य आत्मना काय—वाङ् मनोयोगविशेषात् कायस्य—वाचो—मनसश्च क्रिया चेष्टाऽनुष्ठानभाषणचिन्तादिरूपयाऽऽत्मनो योगः सम्बन्ध स्तद्विशेषात्—परिणतिवैचित्र्यात् तीव्र—तीव्रतर—तीव्रतममन्दादिरूपाद् अतुल्यं खलु कर्मबन्धनं भवति। ३।

आदि भिन्न—भिन्न रूप में परिणत कर लेता है। तात्पर्य यह है कि सामान्य कर्मपुद्गलो में ज्ञानावरण आदि जो अलग—अलग प्रकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है, उसका कारण आत्मा का अध्यवसाय है। यह प्रथम प्रश्नोत्तर का आशय समझना चाहिए।

दूसरे प्रश्नोत्तर का आशय यह है—

आत्मा समस्त अर्थात् दशो दिशाओ में स्थित पुद्गलो को जो कर्मरूपमें परिणत होने के योग्य हों, ग्रहण करता है। तिर्छि दिशाएँ आठ है—चार पूर्व आदि दिशाएँ चार ईशान आदि विदिशाएँ; और ऊर्ध्वदिशा तथा अधोदिशा। इस प्रकार दशों दिशाओं में स्थित पुद्गल-स्कंधो को आत्मा ग्रहण करता है, किसी एक दिशा मे स्थित पुद्गलों को नहीं।

अथवा आत्मा समस्त आत्मप्रदेशो से कर्मवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है। संसारी जीव के ये आत्मप्रदेश कोई ऊपर और कोई नीचे होते है। इस अर्थ में आगे कहे जाने वाले सातवें प्रश्नोत्तर से पुनरुक्ति नहीं है। वहाँ 'सर्वात्मप्रदेशेषु' का अर्थ 'अनन्तानन्त-प्रदेशेषु' ऐसा अर्थ होता है।

अब तीसरे प्रश्नोत्तर का आशय प्रकट करते हैं—सब जीवो को कर्मबन्ध समान नहीं होता बल्कि सब के कर्मबन्ध में असमानता होती है। इस का कारण है योग की विशेषता अर्थात् मन वचन और काय की चेष्टा—अनुष्ठान, भाषण और चिन्तन आदि की विभिन्नता। सब जीवो के योग की प्रवृत्ति समान न होने से कर्मबन्ध भी समान नहीं होता है। किसी को तीव्र, किसी को तीव्रतर, किसी को तीव्रतम और किसी को मन्द, मन्दतर और मन्दतम बन्ध होता है।

अथ चतुर्थप्रश्नोत्तराशय उच्यते सूक्ष्मा एव पुद्गलाः सूक्ष्मपरिणतिरूपाः कर्मवर्गणायोग्या बध्यन्ते, न तु—बादराः—बादरपरिणतिशालिनः पुद्गलाः । अत्र सूक्ष्मार्थस्तावदापेक्षिकत्वाद्-बहुविधो भवति, । परमाणुप्रभृत्यनन्तप्रदेशवर्गणायामपि भूयोऽनन्तराशिप्रदेशात् केचन ग्रहणयोग्या भवन्ति, केचन पुन र्ग्रहणयोग्या न भवन्ति ।

तस्मात्—सूक्ष्मग्रहणेन क्रमश औदारिक—वैक्रियाऽऽहारक—तैजस—भाषा—प्राणा—ऽपान-मनो-वर्गणा उल्लंध्य कर्मवर्गणायोग्याः सूक्ष्मपरिणतिशालिन एव पुद्गला बध्यन्ते इतिभावः । उक्तक्र-मेण सूक्ष्मपरिणतिभाजः केचन—पुद्गला भवन्ति ।४।

अथ पञ्चमप्रश्नोत्तराशय उच्यते

एक क्षेत्रावगाढा एव पुद्गला बध्यन्ते, न तु—क्षेत्रान्तरावगाढाः, एकस्मिन्नभिन्ने क्षेत्रे जीव-प्रदेशैः सह येऽवगाढा आश्रिता' पुद्गला भवन्ति—त एव बध्यन्ते । तथाच—यत्राकाशे जीवो-ऽवगाढो भवति तत्रैव ये कर्मवर्गणायोग्याः पुद्गला अवगाढाः सन्ति, तेषामेव पुद्गलानां बन्धो भवति—न तु—क्षेत्रान्तरावगाढानाम् ।

आत्मावगाढाकाशक्षेत्रे वर्तमाना' पुद्गलाः आत्मवृत्तिरागादिस्नेहगुणयोगादात्मनि लगन्ति, आत्मानवगाढाकाशक्षेत्रावगाढास्तु—आत्मानाश्रितत्वेन तद्भावपरिणत्यभावात् आत्मनि नो लग्नानि भवन्ति ।

सम्प्रति—षष्ठ प्रश्नोत्तराऽभिप्राय उच्यते—स्थिताः—स्थितिपरिणता एव पुद्गलाः कर्म-

---

चौथे प्रश्नोत्तर का आशय—सूक्ष्म परिणमनवाले कार्मणवर्गणा के पुद्गलो का ही बन्ध होता है, बादर परिणमन वाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता । सूक्ष्म शब्द का अर्थ आपेक्षित होने से अनेक प्रकार का होता है । परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी वर्गणा में भी सूक्ष्म शब्द का प्रयोग किया जा सकता है । उन अनन्त प्रदेशी वर्गणाओ में कोई-कोई कर्म रूप में ग्रहण करने के योग्य होती है, कोई ग्रहण करने योग्य नहीं होती ।

अतएव 'सूक्ष्म' शब्द को ग्रहण करने का आशय यह है कि क्रमशः औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणा को लाधकर कार्मणवर्गणा के योग्य सूक्ष्म परिणमन वाले पुद्गलों का ही बन्ध होता है । उक्त क्रम से कोई-कोई पुद्गल सूक्ष्म परि-णमन वाले होते है ।

पाँचवें प्रश्न और उत्तर का आशय—एक क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलो का ही बन्ध होता है अन्य क्षेत्रमें अवगाढ पुद्गलोंका बंध नहीं होता है । जो पुद्गल जीव प्रदेशो के साथ अभिन्न क्षेत्र में रहे हुए होते है, वही बद्ध होते है । भिन्न क्षेत्र में रहे हुए कर्मपुद्गल भिन्न क्षेत्र में स्थित जीवप्रदेशों के साथ नहीं बँधते हैं ।

छठे प्रश्न और उत्तर का अभिप्राय—कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल स्थित होते है अर्थात्

वर्गणायोग्या बध्यन्ते. न तु—गतिपरिणताः । यतोहि—गतिपरिणतिभाजः पुद्गला गच्छन्त्येव परिणामविशेषाद् आत्मनि न श्लिष्यन्ते, वेगवत्त्वात् । ६

अथ—सप्तमप्रश्नोत्तराभिप्रायः प्रतिपाद्यते सर्वेषु तावदसंख्येयरूपेषु आत्मप्रदेशेषु ज्ञानावरणादिसर्वप्रकृतिकर्मवर्गणायोग्याः पुद्गला बध्यन्ते, एकैकस्य पुनर्ज्ञानावरणादि कर्मणो योग्याः कतिपयाः पुद्गला एकैकस्मिन् आत्मप्रदेशे बध्यन्ते, असङ्ख्येयप्रदेशात्मनो जीवस्यैकैक. प्रदेशोऽनन्तैर्ज्ञानावरणकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्बद्धो भवति । एव—दर्शनावरणादि कर्म पुद्गलस्कन्धैरप्यनन्तैर्बद्धो बोध्यः । ७

अथान्ते चाऽष्टमप्रश्नोत्तराशय. प्रतिपाद्यते—अनन्तानन्तप्रदेशा कर्मवर्गणायोग्याः पुद्गला बध्यन्ते, न तु—सङ्ख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशा., तेषां खलु—संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशस्कन्धानामग्रहणयोग्यत्वाद् बन्धो न सम्भवति । अपितु—अनन्तानन्तप्रदेशानामेव पुद्गलस्कन्धानां बन्धो भवति, तत्रानन्ते पुद्गलराशौ भूयोऽनन्तपुद्गलप्रक्षेपाद अनन्तानन्ता इति व्यपदिश्यन्ते, ते चानन्तानन्तप्रदेशाः पुद्गला ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणायोग्या आत्मन एकैकस्मिन् प्रदेशे बध्यन्ते—श्लिष्यन्ते कर्मवर्गणाया अयोग्यास्तु—न बध्यन्ते, इत्येवं प्रदेशबन्धस्वरूपं प्ररूपितम् ।

तत्र—प्रकृष्टा देशा बहवोऽवयवा येषु ते प्रदेशाः स्कन्धा इत्युच्यन्ते ' उक्तञ्चोत्तराध्ययने—३३—अध्ययने—१७—१८—गाथायाम्—

गति परिणत नहीं होते, उन्हीं का बन्ध होता है। जो पुद्गल गमन करते हुए होते हैं, उनका आत्मा के साथ बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे वेगवान् होते है

सातवें प्रश्न और उत्तर का आशय—एक आत्मा के असख्यात प्रदेश होते है। उन सभी प्रदेशो मे ज्ञानावरण आदि के योग्य कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ बद्ध होते है। इस प्रकार आत्मा का एक-एक प्रदेश अनन्त-अनन्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्यपुद्गलों से बद्ध है यही बात दर्शनावरण आदिकर्मों के विषय मे भी समझनी चाहिए।

अन्तिम आठवे प्रश्नोत्तर का अभिप्राय—कर्म के योग्य अनन्तानन्तप्रदेशी पुद्गलो का बन्ध होता है। सख्यातप्रदेशी. असंख्यातप्रदेशी या अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्धो में आत्मा के साथ बन्ध होने की योग्यता ही नहीं, अतएव उनका बन्ध भी नहीं होता। अनन्त प्रदेशो वाले पुद्गलस्कंध में पुनः अनन्त प्रदेश और मिला दिये जाएँ तो वह स्कंध अनन्तानन्त प्रदेशी कहलाता है। ऐसे अनन्तानन्त प्रदेशी कर्मपुद्गलो के स्कंध एक—एक आत्मप्रदेश मे बद्ध होते हैं। अयोग्य पुद्गलो का बन्ध नहीं होता है।

यह प्रदेशबन्ध का निरूपण हुआ। जिस पुद्गल में बहुत से प्रदेश और देश होते हैं, वह स्कंध कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३३ की गाथा १७—१८ में कहा है—

सव्वेसिं चेव कम्माणं–पएसग्गमणंतगं– ।
गंठिय सत्ताईयं–अंतो सिद्धाण आउयं– ॥ १ ॥
सव्वजीवाणकम्मंतु–संगहे छद्दिसागयं– ।
सव्वेसु वि पएसेसु–सव्वं सव्वेण बद्धगं– ॥ २ ॥ इति,
सर्वेषाञ्चैव कर्मणां–प्रदेशकमनन्तकम्– ।
ग्रथित सत्त्वादिकम्–अन्ते सिद्धाना मायुष्कम्– ॥ १ ॥
सर्वजीवानां कर्मतु–संग्रहे षड् दिशागतम्– ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु–सर्वं सर्वेण बद्धकम्– ॥ २ ॥ इति,

यत्र यत्र षट्स्वपि दिक्षु लोका भवन्ति, तत्र षड्भ्य एव दिग्भ्यः कर्माणि गृह्यन्ते, पुनः यत्र तिसृषु चतसृषु पञ्चसु वा दिशासु लोका भवन्ति तत्र क्रमशः तिसृभ्यश्चतसृभ्यः पञ्चभ्यो दिग्भ्य एव कर्माणि गृह्यन्ते । शेषदिशासु, लोकाऽभावभवनात् न सन्ति पुद्गलाः । अतः कर्माण्यपि न गृह्यन्ते ॥सू० २२॥

इति श्री विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदश भाषाकलितललितकलापालापक प्रविशुद्ध गद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक शाहुच्छत्रपति कोल्हापुरराजप्रदत्त 'जैन-शास्त्राचार्य' पदभूषित जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलाल व्रतिविरचितस्य दीपिकानिर्युक्ति टीकाद्वयोपेतस्य तत्वार्थ-सूत्रस्य तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

सभी कर्मों के प्रदेशों का परिमाण अनन्त होता है।

सभी जीव छहो दिशाओ से आगत कर्म पुद्गलो को ग्रहण करते हैं और समस्त आत्म-प्रदेशो से ग्रहण करते है । इस प्रकार जीव के साथ कर्मपुद्गलो का 'सर्व से सर्व का' बन्ध होता है ॥ १–२ ॥

जहां छहों दिशाओं में लोक होता है, वहां छहो दिशाओ से कर्म गृहीत होते है और जहां तीन चार या पांच दिशाओं में लोक हो वहां क्रमशः तीन–चार और पांच दिशाओ से ही कर्मों का ग्रहण होता है । शेष दिशाओं में अलोक होने से पुद्गल नहीं है । इसलिये कर्मों का ग्रहण भी नहीं होता है ॥सू० २२॥

श्री जैनशास्त्राचार्य, जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज विरचित तत्वार्थ सूत्रकी दीपिका एवं निर्युक्ति नामक व्याख्याका तीसरा अध्ययन समाप्त ॥३॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः

मूल सूत्रम्—"सुभकम्मं पुण्णं" ॥ १ ॥

छाया—"शुभकर्म पुण्य" ॥ १ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीवाजीवबन्धपुण्यपापाऽऽस्रवसंवरनिर्जरामोक्षाख्येषु नवतत्त्वेषु जीवाजीवबन्धात्मकानि त्रीणि तत्त्वानि प्रथम-द्वितीय-तृतीयाध्यायेषु क्रमशः प्ररूपितानि, सम्प्रति—क्रमप्राप्तं चतुर्थं पुण्यतत्त्वं प्ररूपयितुमाह—**"सुभकम्मं पुण्णं"** इति. ।

शुभकर्म पुण्यमुच्यते, पुणति-शुभयत्यात्मानमिति पुण्यम् **"पुणशुभे"**इत्यस्माद औणादिको यत्प्रत्ययः, अथवा—पूज्यते पवित्री क्रियते आत्माऽनेनेति पुण्यम्, पुनात्यात्मानमिति वा पुण्यं शुभकर्म, पूञ् पवने इत्यस्मात् **"पूञो यण्णुक्ह्रस्वश्च—"** इत्यौणादिकसूत्रेण यत्प्रत्ययः, णुगागमो-ह्रस्वश्चेति पुण्यशब्दसिद्धिः ।

तत्र—शुभं कल्याणं सुखं तज्जनकं कर्माऽहिंसादिकं पुण्यम् पुण्यजनकं व्यपदिश्यते, कारणे कार्योपचारात्, पुण्यजनकेऽहिंसादिशुभकर्मणि पुण्यशब्दोपचाराद् शुभकर्म पुण्य-मित्युच्यते । तच्च—शुभकर्माऽनेकविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—सातावेदनीयम्-सम्यक्त्वम्-पञ्चमहाव्रतानि-पञ्चाणुव्रतानि-शुभायुष्यम्-शुभनाम-शुभगोत्रम्-सत्यभाषणमित्यादि ॥ १ ॥

चतुर्थ अध्याय

सूत्रार्थ—'सुभकम्मं पुण्णं' सूत्र—१

शुभ कर्म पुण्य कहलाता है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका- जीव, अजीव. बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, नौ तत्त्वों में से जीव, अजीव और बन्ध तत्वो का प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्यायो में क्रमशः विवेचन किया जा चुका है । अब प्रसग प्राप्त पुण्य तत्त्व का विवेचन किया जाता है ।

शुभ कर्म को पुण्य कहते है । जो आत्मा को पुनीत (पवित्र-शुभ) बनाता है, या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र बनता है, वह पुण्य है । 'पुञ् धातु का अर्थ है पवित्र करना । इस धातु से 'पूञो यण्णुक् ह्रस्वश्च' इस उणादि सूत्र से यत् प्रत्यय, 'णुक्' का आगम और ह्रस्व होने पर 'पुण्य' शब्द की निष्पत्ति हुई है ।

कल्याण या सुख को 'शुभ' कहते हैं और उन्हे उत्पन्न करने वाला कर्म भी 'शुभ' कहलाता है । पुण्य के जनक, अहिंसा आदि शुभ कर्म भी कारण में कार्य का उपचार करने से पुण्य कहे जाते हैं । वे शुभ कर्म अनेक प्रकार के हैं, जैसे—सातावेदनीय, सम्यक्त्व, पाँच महाव्रत, पांच अणुव्रत शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र, सत्यभाषण आदि ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—यद्यपि—"**नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता, तंजहा–जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरनिज्जरा बंधो मोक्खो–**" इतिस्थानाङ्गस्य ९स्थाने कथनानुसारेण नवतत्त्वेषु पुण्यं तृतीयतत्त्वमेव वर्तते। तथाहि—

"जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा–।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव–॥ इति

उत्तराध्ययने बन्धतत्त्वमेव तृतीयं प्रतिपादितम् तस्मात् तदनुसारेण प्रथम–द्वितीय–तृतीयाध्यायेषु क्रमशो जीवाजीवबन्धरूपाणि त्रीणि तत्त्वानि प्ररूप्य सम्प्रति –क्रमप्राप्तं चतुर्थं पुण्यतत्त्वं प्रतिपादयितुमाह–'**सुभकम्मं पुण्णं**" इति। शुभकर्मपुण्यमित्युच्यते। तथाच-,यत्कर्मोदयात् शुभोज्वलपुद्गलबन्धद्वारा यत्फलोपभोगआत्मानुकूलो भवति, तत्पुण्यतत्त्वमुच्यते इतिभावः। एवञ्च–सोत्तरप्रकृतिकमष्टप्रकारकं ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय–मोहनीया–ऽऽयु–र्नामगोत्रान्तरायरूपं मूलप्रकृतिकं पौद्गलिकं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, पुण्यं पापञ्च। तत्र–यच्छुभं कर्म तत्पुण्यम्, तत्र–भूतानुकम्पा–व्रत्यनुकम्पा–दान सराग–सयमादिहेतुकं सातावेदनीयम्–१ शुभायुष्कं तैरश्चं मानुषं दैवंच–२ सप्तत्रिंशत्प्रकारकं शुभनाम–३उच्चैर्गोत्रात्मकं शुभगोत्रं च-४इत्येतच्चतुर्विधं शुभकर्मपुण्यम्,

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—यद्यपि स्थानांग सूत्र के नौवे स्थान में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इस क्रम से नौ तत्त्वो की गणना की गई है। इसके अनुसार तीसरा तत्त्व पुण्य है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार तीसरा तत्त्व बन्ध है। उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में कहा है।

'जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व है।'

यहाँ उत्तराध्ययन सूत्र में प्ररूपित क्रम के अनुसार ही प्रथम अध्याय में जीव का, दूसरे म अजीव का और तीसरे में बन्ध के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है। अब क्रम प्राप्त चौथे पुण्य तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए कहा गया है—'शुभ कर्म पुण्य है।'

तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से शुभ-उज्ज्वल कर्म के बन्ध द्वारा आत्मा को अनुकूल फलोपभोग होता है, वह पुण्य तत्त्व कहलाता है। इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय, इन आठ मूल प्रकृतियाँ है तथा इनकी उत्तर प्रकृतियाँ दो प्रकार की है—पुण्य रूप और पापरूप। इनमें जो कर्म शुभ है वह पुण्य है। प्राणियो की अनुकम्पा, व्रती जनो की अनुकम्पा तथा सराग संयम आदि कारणो से बँधने वाला साता वेदनीय (१), शुभआयु अर्थात् तिर्यंचआयु, मनुष्यआयु और देवआयु (२), सैंतीस प्रकार का शुभ नाम (३), और उच्च गोत्र (४), यह चार प्रकार के शुभ कर्म पुण्य है। इसके सिवाय सब अशुभ कर्म पाप रूप है। पाप तत्त्व की प्ररूपणा पाँचवें अध्याय में की जाएगी।

ततोऽन्यत्पापम् । तच्च–पञ्चमे पापाध्याये प्ररूपयिष्यते । शुभायुष्कं कर्म त्रिप्रकारकम्,–तिर्यक्सम्बन्धि–मनुष्यसम्बन्धि–देवसम्बन्धिभेदात् । शुभनामकर्म तावत्–सप्तत्रिंशत्प्रकारमवसेयम् । मनुष्यदेवगति–२ पञ्चेन्द्रियजाति–१ औदारिकादिशरीरपञ्चक–५ समचतुरस्रसंस्थान–१ वज्रर्षभ नाराचसंहनन–१ औदारिकवैक्रिया–ऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्ग–३ प्रशस्त-वर्ण,गन्ध,रस,स्पर्श,४ मनुष्यदेवानुपूर्वी–२ अगुरुलघु–पराघातो–च्छ्वासा–ऽऽतपो-द्योत–प्रशस्तविहायोगति-त्रस-बादर–पर्याप्त–प्रत्येक–स्थिर–शुभ–सुभग–सुस्वरा–ऽऽदेय-यशः–कीर्ति–निर्माण–तीर्थंकरनाम–१८ भेदात् इति ॥ १ ॥

मूल सूत्रम्—"नवविहे–पुण्णे–" ॥ २ ॥

छाया—"नवविधं पुण्यम्–" ॥ २ ॥

तत्त्वार्थदीपिका– पूर्वसूत्रे–पुण्यस्वरूपमुक्तम्, सम्प्रति–तद्भेदान् प्रतिपादयितुमाह—**'नवविहे पुण्णे–"** इति ॥ २ ॥ –॥-

नवविधम्–नवप्रकारकं तावत्– पुण्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अन्नपुण्यम् –१ पानपुण्यम्–२ वस्त्रपुण्यम्–३ लयनपुण्यम्–४ शयनपुण्यम्–४ मनःपुण्यम्–६ वचःपुण्यम्–७ कायपुण्यम्–८ नमस्कारपुण्यम्–९ इति–॥

शुभ आयु कर्म के तीन भेद हैं—तिर्यंचसंबंधी, मनुष्यसंबंधी और देवसंबंधी। शुभ नामकर्म सैंतीस प्रकार का है—(१) मनुष्यगति (२) देवगति (३) पंचेंद्रियजाति (४-८) औदारिक आदि पाँच शरीर (९) समचतुरस्र संस्थान (१०) वज्र–ऋषभनाराच संहनन (११) औदारिक–अंगोपांग (१२) वैक्रिय–अंगोपांग (१३) आहारक–अंगोपांग (१४) प्रशस्त वर्ण (१५) प्रशस्त गंध (१६) प्रशस्त रस (१७) प्रशस्त स्पर्श (१८) मनुष्यानुपूर्वी (१९) देवानुपूर्वी (२०) अगुरु लघु (२१) पराघात (२२) उच्छ्वास (२३) आतप (२४) उद्योत (२५) प्रशस्त विहायोगति (२६) त्रस (२७) बादर (२८) पर्याप्त (२९) प्रत्येक (३०) स्थिर (३१) शुभ (३२) सुभग (३३) सुस्वर (३४) आदेय (३५) यश कीर्ति (३६) निर्माण और (३७) तीर्थंकर नाम कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ - 'नवविहे पुण्णे' सूत्र २

पुण्य नौ प्रकार का है ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका– पूर्व सूत्र में पुण्य का स्वरूप बतलाया गया है। अब उसके भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

पुण्य के नौ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं (१) अन्नपुण्य (२) पानपुण्य (३) वस्त्र-पुण्य (४) लयनपुण्य (५) शयनपुण्य (६) मनःपुण्य (७) वचनपुण्य (८) कायपुण्य और (९) नमस्कारपुण्य ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वसूत्रेण क्रमप्राप्तं चतुर्थं पुण्यतत्त्वस्वरूपं प्ररूपितम्, सम्प्रति— पुण्यस्य नवभेदान् प्रतिपादयति—"नवविहे पुण्णे—" इति । नवविधं पुण्यं प्रज्ञप्तम् उक्तञ्च स्थानाङ्गे ९—स्थाने ३—उद्देशके **"णवविहे पुन्ने पण्णत्ते, तंजहा—अन्नपुण्णे—१ पाणपुन्ने—२ वत्थपुन्ने—३ लेणपुन्ने—४ सयणपुन्ने—५ मणपुन्ने—६ वयपुण्णे ७ कायपुन्ने—८ नमोकारपुण्णे—९ इति—।**

नवविधं पुण्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अन्नपुण्यम्—पानपुण्यम्—वस्त्रपुण्यम्—लयनपुण्यम्—शयनपुण्यम्—मनःपुण्यम्—वचःपुण्यम्—कायपुण्यम्—नमस्कारपुण्यम्— इति- । तत्र—सुपात्राय योग्यायाऽन्नदानाद् यः खलु तीर्थंकरनाम-यशःकीर्तिनामादिपुण्यकर्मप्रकृतिबन्धो भवति तदन्नपुण्यमित्युच्यते । अनुकम्पया यद्दानम्—तदपि—पुण्यमुच्यते ।

तत्र—यस्य कर्मणः उदयात् दर्शनज्ञानचरणलक्षणं तीर्थं प्रवर्तयति, यति—श्रमण—गृहस्थधर्मञ्चाऽऽक्षेपं सक्षेपं सवेगनिर्वेदद्वारेण भव्यजनसंसिद्धये समुपदिशति, सुरासुरमनुजपतिपूजितश्च भवति तत्तीर्थंकरनामकर्मेत्युच्यते । एवम्—यशो नाम कीर्तिनामाद्यपि पूर्वोक्तरीत्याऽवगन्तव्यम् । एवम्—सुयोग्यपात्राय कल्पनीयपानदानाद् यस्तीर्थंकरनामादि शुभकर्मप्रकृतिबन्धो भवति तत्पानपुण्यं व्यपदिश्यते ।

एवम्—सुयोग्याय वस्त्रदानादपि तीर्थंकरनामादिशुभकर्मप्रकृतिबन्धो भवति तस्माद्—वस्त्र-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में अनुक्रम से प्राप्त चौथे तत्त्व पुण्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा चुका है। प्रकृत सूत्र में उसके नौ भेदो का प्ररूपण करते है—

पुण्य नौ प्रकार का है । स्थानांगसूत्र के नौवे स्थान के तृतीय उद्देशक में कहा है—पुण्य के नौ भेद कहे है। वे इस प्रकार है— (१) अन्नपुण्य (२) पानपुण्य (३) लयन पुण्य (४) शयनपुण्य (५) वस्त्रपुण्य (६) मनःपुण्य (७) वचनपुण्य (८) कायपुण्य और (९) नमस्कारपुण्य ।

योग्य सुपात्र को अन्न का दान करने से तीर्थंकर नामकर्म, या यशः कीर्त्ति नाम कर्म आदि पुण्य कर्मो का बन्ध होता है, उसे अन्न पुण्य कहते है । अनुकम्पा पूर्वक अन्न का दान देने से भी बँधने वाला शुभ कर्म अन्नपुण्य कहलाता है ।

जिस कर्म के उदय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप तीर्थ की प्रवृत्ति करता है, साधु धर्म और श्रावक धर्म का आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी धर्मकथाओं द्वारा भव्य जीवों की सिद्धि के लिए धर्म करता है और सुरेन्द्रो असुरेन्द्रो तथा नरेन्द्रो द्वारा पूजित होता है, वह तीर्थंकर नाम कर्म कहलाता है। इसी प्रकार यशः कीर्त्ति नाम कर्म आदि का स्वरूप पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

(२) इसी प्रकार सुयोग्य पात्र को कल्पनीय पान (जलादिक) देने से तीर्थंकर नाम

पुण्यं तदुच्यते। एवम्—लयनस्य गृहस्य योग्याय पात्राय दानादपि तीर्थंकरनामादि शुभकर्मप्रतिबन्धो भवति, अतस्तद् लयन—पुण्यमित्युच्यते। एवम्—शय्यासंस्तारकस्य शयनस्य योग्याय श्रमणादिपात्राय दानादपि तीर्थंकरनामादिशुभकर्मप्रकृतिबन्धाद् शयनपुण्यं तदुच्यते।

एवम्—मनसा गुणिजनेषु तोषात्, वचसा तेषां प्रशंसनात् कायेन वन्दनादिना पर्युपासनात्, मुनिजनादीनां नमस्कारकरणाच्च यस्तथाविधनामादिपुण्यकर्मप्रकृतिबन्धो भवति तद्—मनःपुण्यम्, वचःपुण्यम्, कायपुण्यम्, नमस्कारपुण्यमित्युच्यते।

उक्तञ्च --"अन्नं पानञ्च वस्त्रञ्च, आलयः शयनासनम्— ।
सुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः पुण्यं नवविधं स्मृतम्— ॥ १ ॥

इति एवञ्चा—ऽन्नपानवस्त्रगृहशयनाऽऽसनदानादिना तीर्थकृद् मुनिजनप्रभृतियोग्यानां शुश्रूषा वैयावृत्त्याऽऽराधनवन्दनपर्युपासनादिना च शुभकर्मबन्धेन पुण्यं भवतीति निरूपितम् ॥२॥

मूलसूत्रम्—"तब्भोगो बायालीसभेएणं--"३॥

छाया—"तद्भोगो द्वाचत्वारिंशद् भेदेन—"

कर्म आदि शुभ प्रकृतियो का जो बन्ध होता है, वह पानपुण्य कहलाता है।

(३)सुपात्र को वस्त्र का दान करने से भी तीर्थंकर नाम कर्म आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अतएव उसे वस्त्र पुण्य कहते है।

(४) योग्य पात्र को लयन अर्थात् गृह देने से भी तीर्थंकर नाम आदि शुभ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है। वह लयनपुण्य कहलाता है।

(५) इसी प्रकार श्रमण आदि योग्य पात्र को शय्या-संथारा दान करने से भी तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध होता है। अतएव वह शयनपुण्य है।

(६) इसी तरह गुणीजनो को देखकर मन से सन्तुष्ट होने—मन में प्रमोदभाव जागृत होने से, वचन द्वारा उनकी प्रशंसा करने से और काय द्वारा वन्दनआदि करके उपासना करने से और मुनिजनो को नमस्कार करने से भी शुभ नामादि कर्मप्रकृतियो का बन्ध होता है। वह अनुक्रम से मनःपुण्य, वचनपुण्य, कायपुण्य और नमस्कारपुण्य कहलाता हैं। कहा भी है—

अन्न, पान, लयन, शयन, वस्त्र, मन, वचन, काय, शुश्रूषा, वन्दन और तुष्टि, यह नौ प्रकार का पुण्य है ॥१॥

इससे यह प्रतिपादित हुआ कि तीर्थंकर, मुनिजन आदि योग्य पात्रों की शुश्रूषा, वैयावृत्य, आराधन, वन्दन और पर्युपासना आदि करने से शुभ कर्म का बन्ध होने से पुण्य होता है ॥२॥

सूत्रार्थ—"तब्भोगो बायालीसभेएणं ॥३॥

पुण्य का भोग बयालीस प्रकार से होता है ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे अन्नपुण्यादिभेदेन पुण्यं नवविधं प्ररूपितम्, सम्प्रति—तस्य पुण्यस्य द्विचत्वारिंशद्विधं भोगं प्रतिपादयितुमाह—"तब्भोगो बायालीसभेएणं—" इति। तस्य पूर्वोपात्तस्य शुभकर्मरूपपुण्यस्य भोग सुखदुःखानुभवलक्षणो द्वाचत्वारिशदभेदेन भवति। तद्यथा—सातावेदनीयम्—१, युगलतिर्यङ्मनुष्यदेवायूंषि—३, मनुष्यदेवगती—२, पञ्चेन्द्रियजातिः—१, औदारिकादिशरीराणि पञ्च—५, समचतुरस्रसंस्थानम् १,

वज्रर्षभनाराचसंहननम्—१, औदारिक—वैक्रियाऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गानि—३, प्रशस्त वर्णगन्धरसस्पर्शाः—४, मनुष्यदेवानुपूर्व्यौ—२, अगुरुलघु-पराघातो- च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-प्रशस्त विहायोगति—स-बादर—पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभसुभग-सुस्वरा—ऽऽदेय-यशः कीर्ति—निर्माण — तीर्थकरो—च्चैर्गोत्राणि १९ इत्येतैर्द्वाचत्वारिंशद्विधैः पुण्यस्य सुखरूपफलभोगो भवतीति बोध्यम्॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं नवधाभिन्नं पुण्यं प्ररूपितम्, पुण्यस्य द्विचत्वारिंशद्भेदान् फलभोगप्रकारं प्ररूपयितुमाह—"तब्भोगो बायालीसभेएणं—" इति। तद्भोगः—तस्य शुभकर्मरूपपुण्यस्य भोगः सुखरूपफलानुभवः द्वाचत्वारिशद्भेदेन सम्पद्यते—तथाहि— **'सायं—१ उच्चागोयं—१ नरतिरियदेवाउ—३ मणुस्सदेवगई—२। पंचिंदियजाइ—१ तणुपणगं—५ अंगोवंगतियंपि—३ वज्जरिसहनारायं संहननं—१ समचउरंससंठाणं—१ वण्णाइ चउक्कसुपसत्थं—४ मणुस्सदेवाणुपुव्वीए—२ अगुरुलहु—१ पराघायं—१ उस्सासं—१ आयवं—१ उज्जोयं—सुपसत्था विहयगई—तसाइदसगं—१० णिम्माणं—१ तित्थयरं—१ बायालीसा पुन्नपगईओ—"** इति।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य का प्ररूपण किया गया अब पुण्य के बयालीस प्रकार के भोग बतलाने के लिए कहते हैं—पूर्वोपार्जित शुभ कर्म रूप पुण्य का सुखानुभव रूप भोग बयालीस प्रकार से होता है। वह इस प्रकार है—(१) सातावेदनाय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) मनुष्यगति (६) देवगति (७) पंचेन्द्रियजाति ८—१२ औदारिक आदि पाँच शरीर (१३) समचतुरस्र संस्थान (१४) वज्र ऋषभनाराचसहनन (१५--१७) औदारिक, वैक्रिय, आहारक के अंगोपांग (१८) प्रशस्तवर्ण (१९) प्रशस्तगन्ध (२०) प्रशस्तरस (२१) प्रशस्त स्पर्श (२२) मनुष्यानुपूर्वी (२३) देवानुपूर्वी (२४) अगुरुलघु (२५) पराघात (२६) उच्छ्वास (२७) आतप (२८) उद्योत (२९) प्रशस्तविहायोगति (३०) त्रस (३१) बादर (३२) पर्याप्त (३३) प्रत्येक शरीर (३४) स्थिर (३५) शुभ (३६) सुभग (३७) सुस्वर (३८) आदेय (३९) यशःकीर्ति (४०) निर्माण (४१) तीर्थंकर गोत्र और (४२) उच्चगोत्र।

इस बयालीस प्रकारो से पुण्य का सुख रूप भोग होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया गया है कि पुण्य नौ प्रकार का होता है। अब यह बतलाते है कि पुण्य बयालीस प्रकार से भोगा जाता है अर्थात् पुण्य के फलस्वरूप बयालीस भावो की प्राप्ति होती है—

सातम्—१ उच्चैर्गोत्रम्—१ नरतिर्यग्देवायूंषि—३ मनुष्यदेवगती—२ पञ्चेन्द्रियजातिः—१ तनुपञ्चकम्—५ अङ्गोपाङ्गत्रितयमपि—३ समचतुरस्रसंस्थानम्—१ वज्रर्षभनाराचसंहननम्—१ वर्णादिचतुष्कसुप्रशस्तम्—४ मनुष्यदेवानुपूर्व्यौ—२ अगुरुलघु—१ पराघातः—१ उच्छ्वासः—१ आतपः—१ उद्द्योतः—१ सुप्रशस्ता विहायोगतिः— त्रसादिदशकम्—१० निर्माणम्—१ तीर्थकरः—१ एता द्वाचत्वारिंशत् पुण्यप्रकृतयः सन्ति

तथाच—सातावेदनीयम्, तिर्यगायुष्ययुगलरूपम्, मनुष्यायुषम् देवायुष्यम्, मनुष्यगतिः, देवगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकशरीरम्, वैक्रियशरीरम्, आहारकशरीरम्, तैजसशरीरम्, कार्मणशरीरम् औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गम्, वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गम्, आहारकशरीराङ्गोपाङ्गम्, वज्रर्षभनाराचसंहननम्, समचतुरस्रसंस्थानम, शुभवर्णः, शुभगन्धः, शुभरसः, शुभस्पर्शः, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी अगुरुलघुनाम, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम उद्द्योतनाम, प्रशस्तविहायोगति, निर्माणनाम, तीर्थकरनाम त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकशरीरनाम, स्थिरनाम, शुभनाम सुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम, उच्चैर्गोत्रनामभेदैः पुण्यस्य फल सुखमनुभूयते जीवैः ॥३॥

शुभ कर्म रूप पुण्य का सुखानुभव रूप फल बयालीस प्रकार से प्राप्त होता है। वह बयालीस प्रकार इस तरह हैं—(१) सातावेदनीय (२) उच्चगोत्र (३) मनुष्यायु (४) तिर्यंचायु (५) देवायु (६) मनुष्यगति (७) देवगति (८) पंचेन्द्रियजाति (९) औदारिक शरीर (१०) वैक्रियशरीर (११) आहारकशरीर (१२) तैजसशरीर (१३) कार्मणशरीर (१४) औदारिक–अंगोपांग (१५) वैक्रिय–अंगोपांग (१६) आहारक–अंगोपांग (१७) वज्रऋषभनाराचसंहनन (१८) समचतुरस्रसंस्थान (१९) शुभवर्ण (२०) शुभगंध (२१) शुभरस (२२) शुभस्पर्श (२३) मनुष्यानुपूर्वी (२४) देवानुपूर्वी (२५) अगुरुलघु (२६) पराघात (२७) उच्छ्वास (२८) आतप (२९) उद्योत (३०) सुप्रशस्त विहायोगति (३१–४०) त्रसदशक अर्थात् त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय, यशःकीर्ति, तथा (४२) तीर्थंकरप्रकृति और (४१) उच्चगोत्र निर्माण यह बयलीस पुण्यप्रकृतियाँ कही गई हैं।

अभिप्राय यह है कि पूर्वोपार्जित पुण्य के फलस्वरूप सातावेदनीय की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदरिकशरीरांगोपांग, वैक्रियशरीरांगोपांग, आहारकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, शुभ (इष्ट) वर्ण, शुभगंध, शुभरस, शुभस्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी अगुरुलघुनाम पराघातनाम, उच्छ्वासनाम आतपनाम, उद्योतनाम, प्रशस्तविहायोगति, निर्माणनाम तीर्थंकरनाम, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम प्रत्येकशरीरनाम स्थिरनाम, शुभनाम, सुभगनाम, सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्त्तिनाम और उच्चगोत्रनाम इन भेदों से पुण्य का फल भोगा जाता है ॥३॥

मूलसूत्रम्—"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं- " ॥४॥

छाया—"सातावेदनीयं प्राणानुकम्पादिभिः-" ॥४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे सातावेदतीयादिद्वाचत्वारिंशद्विधकर्मभिः पुण्यफलभोगो भवतीति प्रतिपादितम्, सम्प्रति–तेषु प्रथमोपात्तं सातावेदनीयं कर्म किं स्वरूपं कश्च तद्धेतुरिति प्ररूपयितु-माह—"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं--" इति।

सातावेदनीयं कर्म प्राणानुकम्पादिभिर्भवति, तत्र कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः इष्टमभिमतं मनुजदेवादि-जन्मनि शरीरमनोद्वारेण सुखपरिणतरूपमागामिबहुविधमनोज्ञद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धसमासादित-परिपाकावस्थमनेकप्रकारकं यदुदयाद् भवति तत् सातावेदनीयं कर्मोच्यते, तच्च प्राणानुकम्पा–भूतानुकम्पा–जीवानुकम्पा–सत्त्वानुकम्पाभिः,तथा प्राणभूतजीवसत्त्वानाम्-अदुःखनता, १ अशोचनता, २ अझूरणता, ३ अतेपनता, ४ अपिट्टनता, ५ अपरितापनता, ६ एभिःषड्भिश्च एवं दशभिः कारणैर्बध्यते ॥ सू. ४ ॥

सूत्रार्थ—'सायावेयणिज्जं' इत्यादि सू. ४

प्राणानुकम्पा आदि कारणों से सातावेदनीय कर्म बंधता है ॥४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले सूत्रमें प्रतिपादन किया गया है कि सातावेदनीय आदि बयालीस प्रकार से पुण्य के फल का भोग होता है। अब यह प्रतिपादन करते है कि उन बयालीस भेदो में सर्वप्रथम गिने हुए सातावेदनीय कर्म का स्वरूप क्या है? और उसका कारण क्या है?

सातावेदनीय कर्म की प्राप्ति प्राणियो की अनुकम्पा आदि कारणो से होती है। उसका फल कर्त्ता और भोक्ता आत्मा को इष्ट–मनोज्ञ होता है। मनुष्यजन्म या देवादिजन्मो में शरीर और मन के द्वारा सुख-परिणतिरूप होता है। आगामी काल में अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से उसका मनोज्ञ परिपाक होता है। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के परिपाक से अनुकूल एवं अभीष्ट सुख रूप अनुभूति होती है वह सातावेदनीय कर्म कहलाता है।

प्राणियो पर अनुकम्पा करने से, भूतो पर अनुकम्पा करने से, जीवो पर अनुकम्पा करने से, सत्त्वों पर अनुकम्पा करने, तथा प्राणभूत जीव सत्त्वो को अदुःखनता–दुःख नहीं पहुँचाने से १, अशोचनता–शोक नहीं पहुँचाने से २, अजूरणता–शरीर शोषणजनक शोक नहीं पहुँचाने से ३, अतेपनता–अश्रुपातजनक शोक नहीं पहुँचाने से ४, अपिट्टनता–लाठी आदि द्वारा नहीं पीटने से ५, अपरितापनता–शारीरिक मानसिक संताप नहीं पहुँचाने से ६, इस प्रकार चार प्रकार की अनुकम्पा और छ प्रकार की अदुःखनता आदि ऐसे दश कारणो से साता वेदनीय कर्म का वन्ध होता है ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पुण्य शुभ कर्म है, यह पहले कहा जा चुका है। साता वेदनीय आदि

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं शुभकर्मरूपं पुण्यं प्रतिपादितम् तस्य च "सुखानुभवलक्षणफलभोगः सातावेदनीयादिद्विचत्वारिंशद्विधैः कर्मभिः सम्पद्यते इत्यप्युक्तम् । तत्र–प्रथमोपात्तं सातावेदनीयं कर्म प्ररूपयितुमाह-"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं" इति । सातावेदनीयं कर्म प्राणानुकम्पा-दिभिर्हेतुभिर्बध्यते, तत्र प्राणानुकम्पागतादिशब्देन भूतानुकम्पा, जीवानुकम्पा, सत्त्वानुकम्पा, एषां त्रयाणां पदानाम्, तथा एषा चतुर्णां विषये अदुःखनतादीनां षण्णां पदानां च संग्रहो बोध्यः । तत्र प्राणाः– द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, भूताः–वनस्पतयः जीवाः–पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाः पृथिव्यप्तेजोवायवः–उक्तञ्च—

"प्राणा–द्वि त्रि चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः ।
जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥ इति "।

तेषां तेषु वा अनुकम्पा–कारुण्यं दयाभावः, एषां दुःखेषु दुःखभावना, म्रियमाणेषु मार्यमाणेषु वा तद्रक्षणमित्यादि, समवेदनाऽनुभवनं चेति चत्वारः प्रकाराः ४, तथा एषामेव अदुःखनता १, अशोचनता २, अजूरणता ३, अतेपनता ४, अपिट्टनता ५, अपरितापनता ६, एते षडपि यावत् पदसंग्राह्याःसन्ति, तत्र अदुःखनता–प्राणादीनां दुःखानुत्पादनम् १, अशोचनता–शोकानुत्पादनम् २, अजूरणता–शरीरशोषणजनकशोकानुत्पादनम् ३, अतेपनता–अश्रुपातादिजनकशोकानुत्पादनम् ४, अपिट्टनता यष्ट्यादिभिरताडनम् ५, अपरितापनता–शारीरमानससन्तापानु-

---

बयालीस प्रकार से उसके फल का भोग होता है, यह भी बतलाया जा चुका है । अब पहले ग्रहण किये हुए सातावेदनीय कर्म की प्ररूपणा करने के लिये कहते है—

"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं" इत्यादि । —

सातावेदनीय कर्म का प्राणानुकम्पा आदि कारणों से बन्ध होता है । यहाँ प्राणानुकम्पा के साथ लगे हुए आदि शब्द से भूतानुकम्पा, जीवानुकम्पा, सत्वानुकम्पा इन तीन पदों का तथा इन्हीं प्राणभूत जीव सत्वों के विषय में अदुःखनता आदि छह पदों का संग्रह समझना चाहिये । वे छह पद इस प्रकार है - अदुःखनता-१ अशोचनता-२ अजूरणता-३ अतेपनता-४ अपिट्टनता-५, और अपरितापनता-६, यहाँ प्राण शब्द से द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, भूतशब्द से वनस्पतिकाय, जीवशब्द से पञ्चेन्द्रिय और सत्व शब्द से शेष पृथिवी पानी, अग्नि और वायुकाय समझना चाहिये । इसी के विषय में कहा भी है "प्राणा द्वि-त्री –चतुः प्रोक्ता" इत्यादि । इनकी अथवा इनमें अनुकम्पा–करुणा अर्थात् दयाभाव रखना, इनके दुःख में दुःख प्रकट करना, मरते हुए अर्थात् किसी अन्य द्वारा मारे जाते हुए इनका रक्षण करना । तथा इनकी वेदना में समवेदना प्रकट करना अनुकम्पा कहलाती है, इन चार प्रकार की अनुकम्पा से तथा इन्हीं चारों के विषय में अदुःखनता—दुःख नहीं पहुँचाना १, अशोचनता–शोक नहीं पहुँचाना २, अजूरणता–जिससे शरीर सूख जाय ऐसा शोक नहीं पहुंचाना ३, अते-

त्पादनम् एते षट्ट् पूर्वोक्तैश्चतुर्भिरेभिः- षड्भिरेवं दशभिः कारणैर्जीवस्य सातावेदनीयं कर्म बध्यते। उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ७, शतके—६ उद्देशके—

"कहं णं भंते जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति? गोयमा! "पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए-जीवाणुकंपाए-सत्ताणुकंपाए-बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए-असोयणयाए-अजूरणयाए-अतिप्पणयाए-अपिट्टणयाए-अपरियावणयाए, एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति-" इति।

कथं खलु भदन्त! जीवानां शातावेदनियानि कर्माणि क्रियन्ते? गौतम! प्राणानुकम्पतया भूतानुकम्पतया—जीवानुकम्पतया सत्त्वानुकम्पतया बहूनां प्राणानां यावद्भूतानां जीवानां सत्त्वानाम् अदुःखनतया—अशोचनतया अजूरणतया अतेपनतया अपिट्टनतया अपरितापनतया, एवं खलु गौतम! जीवानां शातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते इति॥ सू० ४॥

मूलसूत्रम्—"अप्पारंम्भ-अप्पपरिग्गहाइएहिं मणुस्साउए-" ॥५॥

छाया—"अल्पारम्भाऽल्पपरिग्रहादिभिर्मनुष्यायुष्यम्-" ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे सातावेदनीयरूपपुण्यकर्मबन्धहेतवः प्ररूपिताः, सम्प्रति—मनुष्यायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—**"अप्पारम्भ०"** इत्यादि। अल्पारम्भाल्पपरिग्रहादिभिर्हेतुभिर्मनुष्यायुष्यं पुण्यकर्म बध्यते—।

तत्राऽल्पारम्भः—अल्पः स्तोकः आरम्भः प्राणिप्राणव्यपरोपणजनककार्यम्—तत्राल्पता—

पनता जिसके कारण अश्रुपात होने लगे, मुंह से लारे गिरने लगे, ऐसा शोक नहीं पहुंचाना४, अपिट्टनता लाठी आदि से नही पीटना५, अपरितापना—शारीरिक मानसिक किसी प्रकार का सन्ताप नहीं पहुंचाना६, इस प्रकार पूर्वोक्त चार प्रकार की अनुकम्पा रूप कारण तथा ये छह कारण, इन दश प्रकार के कारणो से जीव के सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इस विषय पर व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश ६ में कहा है—**'कहं णं भंते! जीवाणं सायावेणिज्जा कम्मा कज्जंति"** इत्यादि। सूत्र—४

सूत्रार्थ—"अप्पारंभ अप्पपरिग्गहाइ" सूत्र—५

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह आदि कारणो से मनुष्यायु का बन्ध होता है॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में सातावेदनीय रूप पुण्य कर्म के कारणो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह आदि कारणों से मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म का बन्ध होता है।

आरम्भ का अर्थ है प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण—नाश करने वाला कार्य—

अल्पारम्भः—स्थूलप्राणातिपातादिजनकव्यापारत्यागः अल्पपरिग्रहः—आभ्यन्तरेषु रागद्वेषाद्यात्मपरिणामेषु बाह्यक्षेत्रवास्तुहिरण्यधनधान्यादिषु ममत्वत्यागः, आदिपदेन स्वभावमार्दवम् आर्जवञ्च गृह्यते। तथाच—अल्पारम्भाऽल्पपरिग्रहस्वभावमार्दवार्जवैश्चतुर्भिर्हेतुभूतैर्मनुष्यायुष्यं पुण्यकर्म बध्यते. ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वभूतानुकम्पादयः सप्त सातावेदनीयरूपपुण्यकर्मबन्धहेतुतया प्रतिपादिताः सम्प्रति—मनुष्यायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धस्य हेतुत्वेना-ऽल्पारम्भादयः प्ररूप्यन्ते—

"**अप्पारंभ अप्पपरिग्गहाइएहिं मणुस्साउए**—" इति अल्पारम्भाऽल्पपरिग्रहादिभिः कारणैर्मनुष्यायुष्यं कर्म बध्यते, तच्च—पुण्यरूपमवसेयम्। तत्रा—ऽल्पारम्भः स्थूलप्राणातिपातादिजनकव्यापारविरतिरूपः। अल्पपरिग्रहः—आन्तरेषु रागद्वेषाद्यात्मपरिणामरूपेषु बाह्येषु च क्षेत्रवास्तुधनधान्यसुवर्णादिषु परिग्रहेषु ममत्वविरतिरूपः।

आदिपदेन स्वभावमार्दवम्, आर्जवञ्च गृह्यते। तत्र—स्वभावेन निसर्गेण—प्रकृत्यैव मार्दवम्—मृदुता, जातिकुल—बलरूपलाभ—तपः श्रुतैश्वर्यस्थानेषु गर्वाभावः स्वभावमार्दवमुच्यते। प्रकृतिभद्रत्वम्—प्रकृतिविनीतत्वम् ; अमत्सरत्वम्, सानुक्रोशत्वम्—। एवं स्वभावेन सहजेन आर्जवम। ऋजुता—सरलता यथावस्थितमनोवचः कायविषयककुटिलताराहित्यम्।

तथाचा—ऽल्पारम्भता स्तोकप्राणिवधाद्याचरणमपि नान्तरीयकम् अल्पपरिग्रहता शब्दादि-

---

उसकी अल्पता अर्थात् स्थूलप्राणातिपातादिजनक व्यापार का त्याग, अल्पपरिग्रह का अर्थ है आभ्यन्तर रागद्वेषादि आत्मपरिणाम तथा बाह्य क्षेत्र (खेत—खुली जगह), वास्तु (मकान आदि), धन धान्य—स्वर्ण आदि पर ममत्व का त्याग २, । सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से स्वभाव की मृदुता अर्थात् कोमलता और ऋजुता अर्थात् सरलता ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह, स्वभाव की मृदुता तथा ऋजुता, इन चार कारणो से मनुष्यायु रूप पुण्यकर्म का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व सर्वभूतानुकम्पा आदि सात सातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारणो का प्रतिपादन किया गया है अब मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म के कारणो की प्ररूपणा करते हैं

अल्प आरंभ १ और अल्प परिग्रह २ आदि कारणो से मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म का बन्ध होता है।

अल्पारम्भ वह है जिसमें स्थूल प्राणातिपातादिजनक व्यापार का परित्याग करना। परिग्रह का अर्थ है मूर्छा या गृद्धि। उसमें अल्पता, अर्थात् आन्तरिक रागद्वेषादि आत्मपरिणाम, तथा बाह्य क्षेत्र, वास्तु (महल—मकान) धन धान्य स्वर्ण आदि पदार्थों में ममत्व का त्याग करना है।

'आदि' शब्द से स्वभावमार्दव और आर्जव का ग्रहण किया गया है। स्वभाव से अर्थात् प्रकृति से ही मृदुता होना अर्थात् जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, श्रुत एवं, ऐश्वर्य के विषय में अभिमान न होना स्वभावमार्दव कहलाता है ३। प्रकृतिभद्रता ४, प्रकृति विनीतता ५,

विषयकाऽल्परागता, अल्पेच्छा वा । स्वभावमृदुता स्वाभाविकीभद्रता । स्वभावऋजुता नैसर्गिकी-सरलता, सुखप्रज्ञापनीयत्वम्, वालुकाराजितुल्यरोषत्वम् स्वागतकरणाद्यभिलाषित्वम्, स्वभाव-मधुरत्वम्, लोकयात्राऽनुग्रहोदासीनता गुरुदेवताऽभिवन्दनाऽतिथिसंविभागशीलत्वम्, धर्मध्यान-शीलत्वम्, मध्यमपरिणामत्वञ्च, इत्येतै खलु—मनुष्यायुष्य कर्म बध्यते इति फलितम् ।

उक्तञ्च—औपपातिके—सूत्रे—"**अप्पारंभा-अप्पपरिग्गहा-धम्मिया-धम्माणुया**" ॥इति॥

अल्पारम्भाः, अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः—धर्मानुगाः— इति ।

"स्थानाङ्गे ४—स्थाने ४—उद्देशके चोक्तम्—"चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पगइभद्दयाए—पगइविणीययाए—साणुक्कोसयाए—अमच्छरि-याए—" इति । चतुर्भिःस्थानैर्जीवा मनुष्यायुष्कतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—प्रकृतिभद्रतया, प्रकृतिविनीततया, सानुक्रोशतया, अमत्सरितया, इति ।

एवम्—उत्तराध्ययने ७—अध्ययने २०—गाथायाञ्चोक्तम्—

वेमायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहि सुव्वया ।
उवेंति माणुसं जोणिं कम्मसच्चाहु पाणिणो ॥ १
विमायाभिः शिक्षाभिः ये नरा गृहि सुव्रताः ।
उपयन्ति मानुषीं योनिं कर्मसत्याः हि प्राणिनः ॥ १ ॥ इति ॥ ५ ॥

अमत्सरता ५, दयालुता ७, आदि भी इसी के अन्तर्गत है । इसी प्रकार स्वभाव से ऋजुता, सरलता होना या मन, वचन, काय की कुटिलता का त्याग करना आर्जव कहलाता है ।

पूर्वोक्त कथन का फलितार्थ इस प्रकार है—अल्प आरंभ करने से अर्थात् कम से कम हिंसाजनक प्रवृत्ति करने से, शब्द आदि विषयों मे राग की अल्पता होने से, इच्छा की न्यूनता से, स्वाभाविक भद्रता से, स्वाभाविक सरलता से, सुख प्रज्ञापनीयता से, वालुका में खींची हुई लकीर के समान अल्प क्रोध होने से, स्वागत करने आदि की अभिलाषा से, स्वभाव की मधुरता होने से, उदासीन भाव के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करने से, गुरु एवं देव को वन्दन करने से, अतिथिसंविभागशील होने से, धर्मध्यानशील होने से एवं मध्यम प्रकार के परिणामों को धारण करने से मनुष्यायुकर्म का बन्ध होता है । औपपातिकसूत्र में कहा है—

अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक तथा धर्मानुगामी जीव मनुष्यायु का बन्ध करते है ।'

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान, चौथे उद्देशक में कहा है—चार कारणो से जीव मनुष्यायु कर्म का उपार्जन करता है; वे चार कारण इस प्रकार है—(१) प्रकृति से भद्र होना (२) प्रकृति से विनीत होना (३) दयालु होना और (४) अमत्सरी होना ।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन की २० वीं गाथा में कहा है—

मूलसूत्रम्—"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" ॥ ६ ॥

छाया—"सरागसंयमादिकैर्देवायुष्यम्" ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मनुष्यायुष्यात्मक पुण्यकर्मबन्धहेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति—देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" इति । सरागसंयमादिकैर्देवायुष्यं कर्म बध्यते, तत्र—सरागसयमस्तावत् संज्वलनकषायरूपरागसहवर्तिनः सर्वतो हिंसादिविरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतरूपः सयमः

आदिपदेन—देशविरतिलक्षणाणुव्रतरूपः संयमासयम । परवशतया—ऽनुरोधाच्चाऽकुशलकर्मनिवृत्तिरूपाऽऽहारादिनिरोधरूपा—ऽकामनिर्जरा, बालस्या—ज्ञानिनस्तपो बालतपः, इत्येतैश्चतुर्भिर्हेतुभिर्देवायुष्यबन्धो भवतीति भावः ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावदल्पारम्भा—ऽल्पपरिग्रहप्रकृतिभद्रत्वादयो मनुष्यायुष्यबन्धहेतुत्वेन प्ररूपिताः सम्प्रति—देवायुष्यबन्धस्य हेतुत्वेन सरागसयमादान् प्ररूपयितुमाह —"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" इति । सरागसयमादिभिः कारणभूतैर्देवायुष्यं कर्म बध्यते ।

तत्र—सर्वतो हिंसाऽनृतस्तेयमैथुनपरिग्रहेभ्यः पापकर्मभ्यो विरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतरूपः संज्वलनकषायात्मकरागसहवर्तिनः संयमः—सरागसंयम । आदिपदेन—स्थूलप्राणातिपातादिनिवृ-

---

जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षा के द्वारा सुव्रतो को धारण करते हैं, वे मनुष्ययोनि को प्राप्त करते है । सब प्राणियो को अपने—अपने कर्म के अनुसार फल की प्राप्ति होती है ॥५॥

सूत्रार्थ —'सरागसंजमाइ' इत्यादि ॥सूत्र –६॥

सराग संयम आदि कारणो से देवायु का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में मनुष्यायु कर्म के बन्ध के कारणो का कथन किया गया, अब देवायु रूप पुण्यकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा करते है -

सरागसंयम आदि देवायु कर्म के बंध के कारण है । सरागसयम प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रत रूप संयम जब संज्वलन कषाय से युक्त होता है, तब वह सरागसयम कहलाता है ।

आदि शब्द से अणुव्रत रूप देशविरति या संयमासयम का ग्रहण करना चाहिए । तथा पराधीन होकर अथवा दूसरेके अनुरोध से अकुशल कृत्य से निवृत्त होने रूप अकामनिर्जरा एवं बालतप इन चार कारणो से देवायु का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया गया है कि अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव की भद्रता आदि कारणो से मनुष्यायु का बन्ध होता है अब सरागसंयम आदि को देवायु के बन्ध का कारण कहते है—सरागसयम आदि कारणो से देवायु का बन्ध होता है ।

हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच पापो के पूर्ण रूप से विरत होना

विषयकाऽल्परागता, अल्पेच्छा वा । स्वभावमृदुता स्वाभाविकीभद्रता । स्वभावऋजुता नैसर्गिकी-सरलता, सुखप्रज्ञापनीयत्वम्, वालुकाराजितुल्यरोषत्वम् स्वागतकरणाद्यभिलाषित्वम्, स्वभाव-मधुरत्वम्, लोकयात्राऽनुग्रहोदासीनता गुरुदेवताऽभिवन्दनाऽतिथिसंविभागशीलत्वम्, धर्मध्यान-शीलत्वम्, मध्यमपरिणामत्वञ्च, इत्येतैः खलु—मनुष्यायुष्य कर्म बध्यते इति फलितम् ।

उक्तञ्च—औपपातिके—सूत्रे—"**अप्पारंभा-अप्पपरिग्गहा-धम्मिया-धम्माणुया**" ॥इति॥

अल्पारम्भाः, अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः—धर्मानुगाः— इति ।

"**स्थानाङ्गे ४—स्थाने ४—उद्देशके चोक्तम्—"चउहि ठाणेहि जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पगइभद्दयाए—पगइविणीययाए—साणुक्कोसयाए—अमच्छरियाए—**" इति । चतुर्भिः स्थानैर्जीवा मनुष्यायुष्कतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—प्रकृतिभद्रतया, प्रकृतिविनीततया, सानुक्रोशतया, अमत्सरितया, इति ।

एवम्—उत्तराध्ययने ७—अध्ययने २०—गाथायाञ्चोक्तम्—

वेमायाहिं सिक्खाहि जे नरा गिहि सुव्वया ।
उवेंति माणुसं जोणिं कम्मसच्चाहुपाणिणो ॥ १
विमायाभिः शिक्षाभिः ये नरा गृहि सुव्रताः ।
उपयन्ति मानुषीं योनिं कर्मसत्याः हि प्राणिनः ॥ १ ॥ इति ॥ ५ ॥

अमत्सरना ५, दयालुता ७, आदि भी इसी के अन्तर्गत है । इसी प्रकार स्वभाव से ऋजुता, सरलता होना या मन, वचन, काय की कुटिलता का त्याग करना आर्जव कहलाता है ।

पूर्वोक्त कथन का फलितार्थ इस प्रकार है—अल्प आरंभ करने से अर्थात् कम से कम हिंसाजनक प्रवृत्ति करने से, शब्द आदि विषयो मे राग की अल्पता होने से, इच्छा की न्यूनता से, स्वाभाविक भद्रता से, स्वाभाविक सरलता से, सुख प्रज्ञापनीयता से, वालुका में खींची हुई लकीर के समान अल्प क्रोध होने से, स्वागत करने आदि की अभिलाषा से, स्वभाव की मधुरता होने से, उदासीन भाव के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करने से, गुरु एवं देव को वन्दन करने से, अतिथिसंविभागशील होने से, धर्मध्यानशील होने से एवं मध्यम प्रकार के परिणामों को धारण करने से मनुष्यायुकर्म का वन्ध होता है । औपपातिकसूत्र में कहा है—

अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक तथा धर्मानुगामी जीव मनुष्यायु का वन्ध करते हैं ।'

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान, चौथे उद्देशक मे कहा है—चार कारणो से जीव मनुष्यायु कर्म का उपार्जन करता है; वे चार कारण इस प्रकार है—(१) प्रकृति से भद्र होना (२) प्रकृति से विनीत होना (३) दयालु होना और (४) अमत्सरी होना ।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन की २० वीं गाथा में कहा है—

मूलसूत्रम्—"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" ॥ ६ ॥

छाया—"सरागसंयमादिकैर्देवायुष्यम्" ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मनुष्यायुष्यात्मक पुण्यकर्मबन्धहेतव. प्ररूपिता सम्प्रति—देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—**"सरागसंजमाइएहिं देवाउए"** इति । सरागसंयमादिकैर्देवायुष्यं कर्म बध्यते, तत्र—सरागसंयमस्तावत् सज्वलनकषायरूपरागसहवर्तिनः सर्वतो हिंसादिविरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतरूपः संयमः

आदिपदेन—देशविरतिलक्षणाणुव्रतरूप संयमासयम । परवशतया—ऽनुरोधाच्चाऽकुशलकर्मनिवृत्तिरूपाऽऽहारादिनिरोधरूपा—ऽकामनिर्जरा, बालस्या—ज्ञानिनस्तपो बालतपः, इत्येतै श्चतुर्भिर्हेतुभिर्देवायुष्यबन्धो भवतीति भावः ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावदल्पारम्भा—ऽल्पपरिग्रहप्रकृतिभद्रत्वादयो मनुष्यायुष्यबन्धहेतुत्वेन प्ररूपिताः सम्प्रति—देवायुष्यबन्धस्य हेतुत्वेन सरागसयमादान् प्ररूपयितुमाह —**"सरागसंजमाइएहिं देवाउए"** इति । सरागसयमादिभिः कारणभूतैर्देवायुष्यं कर्म बध्यते ।

तत्र—सर्वतो हिसाऽनृतस्तेयमैथुनपरिग्रहेभ्यः पापकर्मभ्यो विरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतरूपः संज्वलनकषायात्मकरागसहवर्तिनः सयमः—सरागसयम. । आदिपदेन—स्थूलप्राणातिपातादिनिवृ-

---

जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षा के द्वारा सुव्रतो को धारण करते हैं, वे मनुष्ययोनि को प्राप्त करते है । सब प्राणियो को अपने—अपने कर्म के अनुसार फल की प्राप्ति होती है ॥५॥

सूत्रार्थ —'सरागसंजमाइ' इत्यादि ॥सूत्र –६॥

सराग संयम आदि कारणो से देवायु का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में मनुष्यायु कर्म के बन्ध के कारणो का कथन किया गया, अब देवायु रूप पुण्यकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा करते है

सरागसयम आदि देवायु कर्म के बंध के कारण है । सरागसंयम प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रत रूप सयम जब सज्वलन कषाय से युक्त होता है, तब वह सरागसयम कहलाता है ।

आदि शब्द से अणुव्रत रूप देशविरति या संयमासयम का ग्रहण करना चाहिए । तथा पराधीन होकर अथवा दूसरेके अनुरोध से अकुशल कृत्य से निवृत्त होने रूप अकामनिर्जरा एवं बालतप इन चार कारणो से देवायु का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति —पहले बतलाया गया है कि अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव की भद्रता आदि कारणों से मनुष्यायु का बन्ध होता है अब सरागसंयम आदि को देवायु के बन्ध का कारण कहते हैं—सरागसयम आदि कारणो से देवायु का बन्ध होता है ।

हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच पापो के पूर्ण रूप से विरत होना

त्तिलक्षणदेशविरतिरूपपञ्चाऽणुव्रतात्मकः संयमासंयमः स्थूलप्राणातिपातादितो निवृतिः सम्पूर्ण-प्राणातिपाताद्येकदेश–स्थूलप्राणातिपातादिरूपदेशतो विरितिःसयमासयम इत्युच्यते–

अतएव–सयमासंयमोऽणुव्रतमिति व्यपदिश्यते, अणुच तद् व्रतमित्यणुव्रतम्, अणु–अल्पं-स्तोकं देशतो हिंसादिनिवृत्तिरूपं व्रतमणुव्रतमिति व्युत्पत्ति । तस्मात्–सर्वतो हिसादिविरतिः पञ्चमहाव्रतम्, देशतो हिसादिविरितिः पञ्चाऽणुव्रतम् ।

इदमेव व्रतद्वयमत्र सरागसयम–सयमाऽसंयमरूपद्वयं क्रमशोऽवसेयम् । अकामनिर्जराच–अकामयमानस्याऽनभिलषत एव कर्मपुद्गलपरिशटनरूपा, तत्र–काम इच्छा, प्रेक्षा पूर्वकारित्वम् तदर्थोपयोगवतो निर्जरा–कर्मपुद्गलनिर्जरणम् कामनिर्जरा, न कामनिर्जराया भवति–सा–ऽकाम-निर्जरोच्यते । सा खलु–अकामनिर्जरा परवशतयाऽनुरोधाचा–ऽकुशलकर्मनिवृत्तिरूपा चतुर्विधाहार-निरोधरूपा च ।

बालतपस्तावत्—मिथ्यादर्शनसहवर्तिरागद्वेषाभ्यां व्याप्तस्य सत्वावबोधविमुखस्याऽतत्वेत-त्वाभिनिवेशप्रवृत्तस्य यथावस्थित ज्ञेयविपरीतज्ञानस्य बालस्य धर्मार्थ शीतोष्णादिसहनरूपं तपो-बालतप प्रोच्यते । इत्येतैश्चतुर्भिः–सरागसंयम–संयमासंयमा–ऽकामनिर्जराबालतपो लक्षणै-

---

पाँच महाव्रत रूप सयम कहलाता है। यह संयम जब सज्वलनकषाय रूप राग से युक्त होता है तो सरागसंयम कहलाता है।

सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप का ग्रहण करना चाहिए। इनमें से संयमासंयम का अर्थ है–स्थूलप्राणातिपात आदि से निवृत्ति रूप देशविरति अर्थात् अणुव्रत आदि का पालन करना। देशविरति, सर्वविरति का आंशिक रूप है, अतएव उसे अनुव्रत भी कहते है। इस प्रकार पूर्णरूप से अर्थात् तीन करण और तीन योग से हिंसा आदि का त्याग करना महाव्रत है, और दो करण तीन योग आदि आंशिक रूप से उन्हीं पापो का त्याग करना अणुव्रत है। इसी को देशविरति या संयमासंयम भी कहते है।

तीसरा कारण है अकामनिर्जरा। बिना इच्छा ही जो कर्मनिर्जरा होती है, वह अकाम-निर्जरा कहलाती है। काम अर्थात् इच्छा या सोच–समझकर कोई कार्य करना। बिना कामना के ही जो निर्जरा होती है, उसे अकामनिर्जरा कहते है। पराधीनता के कारण या किसी के अनुरोध–आग्रह से प्रेरित होकर आहार आदि का त्याग करने से–भूख सहन कर लेने आदि से होती है।

मिथ्यादर्शन के सहवर्त्ती राग और द्वेप से जो युक्त है, जो तत्त्वज्ञान से विमुख है, मूढ है, कुतत्त्व के आग्रह के वशीभूत होकर प्रवृत्ति करता है, जो वस्तुस्वरूप से विपरीत ज्ञान का धारक है और धर्म समझ कर शीत उष्ण आदि को सहन करता है और अज्ञान कष्ट करता है। अथवा इसी प्रकार के अन्य विपरीत कृत्य करता है, उस पुरुष की तपस्या को बाल तप अर्थात् अज्ञानतप कहते है।

हेतुभिर्देवायुष्यबन्धो भवतीतिभावः । एवम्–धर्मश्रवणगौरव तपोभावना योग्यपात्रदान सम्यग्दर्शनादिभिश्च देवायुष्यबन्धो भवतीति वोध्यम् ।

उक्तञ्च–स्थानाङ्गे ४–स्थाने ४–उद्देशके–"**चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा —सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं, अकामणिज्जराए**" इति । चतुर्भिः स्थानै जीवा देवायुष्यतया कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा सरागसयमेन, सयमासंयमेन, बालतपःकर्मणा, अकामनिर्जरया इति ।

एवं सम्यक्त्वेनाऽपि देवायुष्यकर्मबन्धो भवतीतिवोध्यम । उक्तञ्च प्रज्ञापनायां ६–पदे "**वेमाणियावि जइ समद्दिट्ठि पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संजय सम्मद्दिट्ठिहिंतो असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तएहिंतो संजयासंजय सम्मदिट्ठिपज्जत्तसंखेज्ज०हिंतो उववज्जंति गोयमा ! तिहिंतोवि उववज्जंति, एवं जाव अच्चुगो कप्पो**" इति ।

वैमानिका अपि यदि सम्यग्दृष्टिपर्याप्तसंख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिगगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येभ्य उत्पद्यन्ते [तर्हि] किं संयतसम्यग्दृष्टिभ्योऽसयतसम्यग्दृष्टिपर्याप्तेभ्यः सयतासंयतसम्दृष्टि पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिगगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येभ्य उपपद्यन्ते ? गौतम त्रिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते, एव यावदच्युतः कल्पः इति ॥६॥

तात्पर्य यह है कि सरागसंयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप, इन चार कारणों से देवायुष्य का बन्ध होता है । इसी प्रकार धर्मश्रवण करने से, तपस्या करने से, बारह भावनाओं के चिन्तन से या तप में भावना रखने से, योग्य पात्र को दान देने से तथा सम्यग्दर्शन आदि कारणो से भी देवायु का बन्ध होता है ।

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के चौथे उद्देशक मे कहा है —'चार कारणो से जीव देवायु कर्म का बन्ध करते हे–(१) सरागसयम से (२) सयमासयम से (३) बालतप का आचरण करने से और (४) अकामनिर्जरा से ।

सम्यक्त्व से भी देवायु कर्म का बन्ध होता है । प्रज्ञापनासूत्र के छठे पद में कहा है–

यदि वैमानिक देव....सम्यग्दृष्टि, पर्याप्त, संख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज, गर्भज मनुष्यो से आकर उत्पन्न होते है तो क्या सयतसम्यग्दृष्टियों से आकर उत्पन्न होते हैं अथवा असयत सम्यग्दृष्टियो से आकर या सयतासंयतसम्यग्दृष्टियों से आकर उत्पन्न होते हैं ? उत्तर में प्रभु श्री कहते है हे गौतम तीनो से ही आकर उत्पन्न होते हैं । इस कथन का भाव यह है कि असयतसम्यग्दृष्टि भी वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हो सकता है, सयतासंयत भी और संयत भी वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हो सकता है । इस कथन से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन भी देवायु का कारण होता है ॥६॥

"मूलसूत्रम्—कायभावभासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" ॥७॥

छाया— "कायभावभाषाऋजुताऽविसंवादनयोगैः शुभनामकर्म ॥ ७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति–शुभनामकर्मबन्ध हेतून् प्ररूपयितुमाह—

"कायभावभासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" इति कायऋजुता भावऋजुता–भषाऋजुताऽविसंवादनयोगरूपैश्चतुर्भिः कारणैः शुभनामकर्म बन्ध्यते। तत्र कायऋजुता कायस्य सरलता परवञ्चनकायचेष्टा वर्जनम् १। भावऋजुता–अत्र भावशब्देन मनो गृह्यते, तेन मनोयोगऋजुता–मनसः सरलता. परवञ्चनमनःप्रवृत्तिवर्जनम् २। भाषाऋजुता-भाषा सरलता–अकुटिलभाषणम् ३। अविसंवादनयोगः–विसंवादनम् अन्यथा प्रतिपन्नस्यान्यथाकरणं तद्रूपो योगो व्यापारः, तेन वा योगः सम्बन्धो विसंवादनयोगः, तदभावात्–अविसंवादनयोगः ४। एभिश्चतुर्भिः-र्हेतुभिः शुभनाम कर्म बन्धो भवतीति। अस्य सप्तत्रिंशत्प्रकारैरुपभोगो जायते ॥ ७ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व सरागसंयम–संयमासयमा–ऽकामनिर्जरा–बालतपः प्रभृति देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतवः प्ररूपिताः, सम्प्रति–शुभनामकर्मबन्धहेतुतया कायऋजुतादि चतुष्टयं प्रतिपादयितुमाह—

सूत्रार्थ—'कायभावभासुज्जुयअविसंवादण' इत्यादि। सूत्र–७

काय, भाव–मन, भाषा–वचनकी सरलतासे, तथा अविसवादन प्रतारण–ठगाई–न करनेसे शुभनामकर्मका बन्ध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में देवायु रूप पुण्यकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा की गई है। अब शुभनामकर्म के बन्ध के कारण कहते है—

काय की ऋजुता १ भाव अर्थात् मन की ऋजुता २ भाषा अर्थात् वचन की ऋजुता ३ और अविसंवादन–कपटरहितयथार्थ प्रवृत्ति ४ इन चार कारणो से शुभनामकर्मका बन्ध होता है। कायकी सरलताको काय ऋजुता कहते है, १ एवं भाव अर्थात् मनकी सरलता को भावऋजुता कहते है। भाषा अर्थात् वचन की सरलता को भाषा ऋजुता कहता है। तथा धोखा देना अथवा ठगाई करना विसंवादन है, इसका अभाव अविसंवादन होता है, इसके योग–संबन्ध को अविसंवादन योग कहते है ४। तात्पर्य यह है कि इन चार कारणो से शुभनामकर्म का बन्ध होता है वह सैंतीस शुभ प्रकृतियों से भोगा जाता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व बतलाया गया है कि सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतपस्या आदि देवायु रूप पुण्य कर्म के बन्ध के कारण है। अब शुभनाम कर्म के चार कारणों का कथन करते है—

'काय–भाव भासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" काय–भाव–भाषर्जुना-ऽविसंवादनयोगैः शुभनामकर्म बध्यते।

तत्र कायऋजुता तावत् कायस्यावक्रता–अकुटिलता परवञ्चनकायचेष्टावर्जनम्। सा च कुब्जत्व–वामनत्व–निकृष्टाङ्गोपाङ्गावयवचेष्टन–नयनानिकोचन–नासिकाभङ्ग–स्त्री–पुरुषभृत्य भृतकादि चेष्टारूपाऽसद्भावानामनुद्भावनरूपा १। भावऋजुता–भावशब्देनात्र मनो गृह्यते, तेन मनोयोगऋजुता–मनसोऽकुटिलता–परवञ्चनमनःप्रवृत्तिवर्जनम् २। भाषाऋजुता–भाषाया वचस ऋजुता–सरलता–परवञ्चनवचनव्यापारवर्जनम्। यथार्थं कायचेष्टानुसारेणैव मनसो वचसश्चापि यथार्थतया व्यवहरणमिति भावः ३। अविसंवादनयोगः–तत्र–विसंवादनं परविप्रतारणं परवञ्चनम् अन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणमित्यर्थः, न विसंवादनम् अविसंवादनं परवञ्चनाभावरूपम्, विवक्षितार्थस्य यथावस्थितस्वभावस्य परं प्रति यथार्थतया प्रतिपादनम् अविसंवादनं बोध्यम्, तस्य तद्रूपो वा योगः, तेन वा योगः सबन्धः—अविसंवादनयोगः ४।

तथा चैवंविधैः कायऋजुता–भावऋजुता–भाषाऋजुता–ऽविसंवादनयोगात्मकैश्चतुर्भिर्हेतुभिः शुभनामकर्मबन्धो भवति। उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ अष्टमे शतके नवमोद्देशके—

"सुहनामकम्मा सरीरपुच्छा?, गोयमा कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा सरीर जाव प्पयोगवंधे।" इति,

---

कायामे वक्रता न होना कायकी ऋजुता कहलाती है १, भाव अर्थात् वचनमें कुटिलता न होना भाव की ऋजुता कहलाती है २ एवं भाषा अर्थात् वचनमें कुटिलता न होना भाषा की ऋजुता कहलाती है ३। तथा ठगना, धूर्त्तता करना, धोखा देना–दूसरे के साथ छलकपट करना विसंवादन कहलाता है, ऐसा न करना, अविसंवादन कहलाता है। अर्थात् काया संबंधी कुचेष्टा का न होना काय की ऋजुन्ता है. कायाकी कुचेष्टा का अभिप्राय है कि–शरीर के किसी अंगको विकृत करना जैसे कुवडा हो जाना, वामन वनना, अंगोपांगकी खराव चेष्टा करना आँखे मट काना, मुंह विगाडना, नाक सिकोडना, स्त्री भृत्य–नोकर चाकर की चेष्टा करना इत्यादि असद्भावोको प्रदर्शित करके दूसरे के साथ छल न करना काय की ऋजुता कहलाती है. भाव अर्थात मनमें कुटिलता न होना भावकी ऋजुता है, वचनसे किसी को धोखा न देना भाषाकी ऋजुता है। तात्पर्य यह है कि मनमें जो विचार आया हो उसको वचन द्वारा उसी रूप से प्रकट करना और उसी के अनुरूप शारीरिक प्रवृत्ति करना मन वचन काया की सरलता कहलाती है ३। तथा जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में कहना, अन्यथा स्वीकार करके अन्यथा न करना उसी रूप से उसका आचरण करना अविसंवाद योग कहलाता है ४। इन चार प्रकार की प्रवृत्ति से शुभनाम कर्मका बन्ध होता है. इस शुभनामकर्मके विषयमें भगवती सूत्र के आठवें शतकके नौवें उद्देशमें कहा है—

"मूलसूत्रम्—कायभावभासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" ॥७॥

छाया— "कायभावभाषाऋजुताऽविसंवादनयोगैः शुभनामकर्म ॥ ७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति—शुभनामकर्मबन्ध हेतून् प्ररूपयितुमाह—

"कायभावभासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" इति कायऋजुता भावऋजुता—भषाऋजुताऽविसंवादनयोगरूपैश्चतुर्भिः कारणैः शुभनामकर्म बन्ध्यते । तत्र कायऋजुता कायस्य सरलता परवञ्चनकायचेष्टा वर्जनम् १ । भावऋजुता—अत्र भावशब्देन मनो गृह्यते, तेन मनोयोगऋजुता—मनसः सरलता. परवञ्चनमनःप्रवृत्तिवर्जनम् २ । भाषाऋजुता-भाषा सरलता—अकुटिलभाषणम् ३ । अविसवादनयोगः—विसवादनम् अन्यथा प्रतिपन्नस्यान्यथाकरणं तद्रूपो योगो व्यापारः, तेन वा योगः सम्बन्धो विसंवादनयोगः, तदभावात्—अविसंवादनयोगः ४। एभिश्चतुर्भिः-र्हेतुभिः शुभनाम कर्म बन्धो भवतीति । अस्य सप्तत्रिंशत्प्रकारैरुपभोगो जायते ॥ ७ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सरागसंयम—संयमासयमा—ऽकामनिर्जरा—बालतपः प्रभृति देवायुष्यरूपपुण्यकर्मवन्धहेतवः प्ररूपिताः, सम्प्रति—शुभनामकर्मबन्धहेतुतया कायऋजुतादि चतुष्टयं प्रतिपादयितुमाह—

सूत्रार्थ—'कायभावभासुज्जुयअविसंवादण' इत्यादि । सूत्र—७

काय, भाव—मन, भाषा—वचनकी सरलतासे, तथा अविसवादन प्रतारण—ठगाई—न करनेसे शुभनामकर्मका वन्ध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में देवायु रूप पुण्यकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा की गई है। अब शुभनामकर्म के बन्ध के कारण कहते है—

काय की ऋजुता १ भाव अर्थात् मन की ऋजुता २ भाषा अर्थात् वचन की ऋजुता ३ और अविसंवादन—कपटरहितयथार्थ प्रवृत्ति ४ इन चार कारणो से शुभनामकर्मका बन्ध होता है। कायकी सरलताको काय ऋजुता कहते है, १ एवं भाव अर्थात् मनकी सरलता को भावऋजुता कहते है। भाषा अर्थात् वचन की सरलता को भाषा ऋजुता कहता है। तथा धोखा देना अथवा ठगाई करना विसंवादन है, इसका अभाव अविसंवादन होता है, इसके योग—संबन्ध को अविसंवादन योग कहते है ४। तात्पर्य यह है कि इन चारे कारणो से शुभनामकर्म का वन्ध होता है वह सैतीस शुभ प्रकृतियो से भोगा जाता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व बतलाया गया है कि सरागसंयम, संयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतपस्या आदि देवायु रूप पुण्य कर्म के वन्ध के कारण है। अब शुभनाम कर्म के चार कारणों का कथन करते है—

'काय-भाव-भासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" काय-भाव-भाषर्जुता-ऽविसंवादनयोगैः शुभनामकर्म बध्यते।

तत्र कायऋजुता तावत् कायस्यावक्रता-अकुटिलता परवञ्चनकायचेष्टावर्जनम्। सा च कुब्जत्व-वामनत्व-निकृष्टाङ्गोपाङ्गावयवचेष्टन-नयनानिकोचन-नासिकाभङ्ग-स्त्री-पुरुषभृत्य भृतकादि चेष्टारूपाऽसद्भावानामनुद्भावनरूपा १। भावऋजुता-भावशब्देनात्र मनो गृह्यते, तेन मनोयोगऋजुता-मनसोऽकुटिलता-परवञ्चनमनःप्रवृत्तिवर्जनम् २। भाषाऋजुता-भाषाया वचस ऋजुता-सरलता-परवञ्चनवचनव्यापारवर्जनम्। यथार्थं कायचेष्टानुसारेणैव मनसो वचसश्चापि यथार्थतया व्यवहरणमिति भावः ३। अविसंवादनयोगः-तत्र-विसंवादनं परविप्रतारणं परवञ्चनम् अन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणमित्यर्थः, न विसंवादनम् अविसंवादनं परवञ्चनाभावरूपम्, विवक्षितार्थस्य यथावस्थितस्वभावस्य परं प्रति यथार्थतया प्रतिपादनम् अविसंवादनं बोध्यम्, तस्य तद्रूपो वा योगः, तेन वा योगः संबन्धः--अविसंवादनयोगः ४।

तथा चैवंविधैः कायऋजुता-भावऋजुता-भाषाऋजुता-ऽविसंवादनयोगात्मकैश्चतुर्भिर्हेतुभिः शुभनामकर्मबन्धो भवति। उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ अष्टमे शतके नवमोद्देशके--

"सुहनामकम्मा सरीरपुच्छा?, गोयमा कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा सरीर जाव प्पयोगबंधे।" इति,

---

कायामें वक्रता न होना कायकी ऋजुता कहलाती है १, भाव अर्थात् वचनमें कुटिलता न होना भाव की ऋजुता कहलाती है २ एवं भाषा अर्थात् वचनमें कुटिलता न होना भाषा की ऋजुता कहलाती है ३। तथा ठगना, धूर्तता करना, धोखा देना-दूसरे के साथ छलकपट करना विसवादन कहलाता है, ऐसा न करना, अविसंवादन कहलाता है। अर्थात् काया संबंधी कुचेष्टा का न होना काय की ऋजुन्ता है, कायाकी कुचेष्टा का अभिप्राय है कि-शरीर के किसी अंगको विकृत करना जैसे कुबडा हो जाना, वामन बनना, अंगोपांगकी खराब चेष्टा करना आँखे मट काना, मुंह बिगाडना, नाक सिकोडना, स्त्री भृत्य-नोकर चाकर की चेष्टा करना इत्यादि असद्भावोको प्रदर्शित करके दूसरे के साथ छल न करना काय की ऋजुता कहलाती है, भाव अर्थात् मनमें कुटिलता न होना भावकी ऋजुता है, वचनसे किसी को धोखा न देना भाषाकी ऋजुता है। तात्पर्य यह है कि मनमे जो विचार आया हो उसको वचन द्वारा उसी रूप से प्रकट करना और उसी के अनुरूप शारीरिक प्रवृत्ति करना मन वचन काया की सरलता कहलाती है ३। तथा जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में कहना, अन्यथा स्वीकार करके अन्यथा न करना उसी रूप से उसका आचरण करना अविसंवाद योग कहलाता है ४। इन चार प्रकार की प्रवृत्ति से शुभनाम कर्मका बन्ध होता है, उस शुभनामकर्मके विषयमें भगवती सूत्र के आठवें शतकके नौवे उद्देशमे कहा है--

छाया—शुभनामकर्म शरीरपृच्छा ? गौतम ! कायऋजुकतया, भावऋजुकतया, भाषाऋजुकतया, अविसंवादनयोगेन शुभनाम कर्म शरीर यावत्प्रयोगबन्धः, इति.

एतच्च शुभनामकर्म देव मनुष्यगत्यादिसप्तत्रिंशत्प्रकारैरुपभुज्यते, तथाहि—देवगति१—मनुष्यगति२—मनुष्यदेवानुपूर्वीद्वय४- पञ्चेन्द्रियजात्यौ५—दारिकादिशरीरपञ्चकौ१०—दारिकवैक्रियाहारकशरीर—त्रयाङ्गोपाङ्गमध्यवर्तिशिरउरः पृष्ठवाहूदरचरणरूपाङ्गनाम—रसनघ्राणचक्षुः—श्रोत्ररूपोपाङ्गनाम१३—वज्रऋषभनाराचसहनन१४—समचतुरस्रसंस्थान१५ -प्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टय१९—त्रसादिदशक—त्रस—बादरपर्याप्त—प्रत्येकशरीर—स्थिर—शुभ—सुभग—सुस्वरा—ऽऽदेय—यशःकीर्त्य२९—ऽगुरुलघु३०—च्छ्वासा३१—ऽऽतपा३२—द्योत३३—प्रशस्तविहायोगति३४—पराघात३५—तीर्थकर३६—निर्माण३७—नामानीति ३७। इत्येतैः सप्तत्रिंशत्प्रकारैः शुभनामकर्म समुपभुज्यते, इति ॥सू० ७॥

मूलसूत्रम्—"वीसईठाणाराहणेणं तित्थयरत्तं—" ॥ ८ ॥

छाया— "विंशतिस्थानाराधनेन तीर्थकरत्वम्—" ॥ ८ ॥

प्रश्न—शुभनामकर्म के विषययमें पृच्छा—अर्थात् हे भदन्त ! शुभनाम कर्म का बन्ध किन कारणो से होता है ?"

उत्तर—हे गौतम ! कायकी ऋजुतासे १, भावकी ऋजुता से २, भाषा की ऋजुता से ३ और अविसवादन योग से शुभनाम कर्म का बन्ध होता है ॥"

यह शुभनामकर्म देवगति मनुष्य गति आदि सैंतीस प्रकार से भोगा जाता है जैसे—

देवगति[१], मनुष्यगति[२], मनुष्यानुपूर्वी[३], देवानुपूर्वी[४], पञ्चेन्द्रियजाति[५], औदारिकादि पांच शरीर[१०] तीन अंगोपांग अर्थात् औदारिक अंगोपांग १, वेक्रिय अंगोपांग २, आहारक अंगोपांग३,[१३] वज्रऋषभनाराच सहनन[१४], समचतुरस्र सस्थान[१५], प्रशस्त—वर्ण गन्ध रस स्पर्श[१९] त्रस आदि दश अर्थात् त्रस[२०], बादर[२१], पर्याप्त[२२], प्रत्येकशरीर[२३], स्थिर[२४], शुभ[२५] सुभग[२६], सुस्वर[२७], आदेय[२८], यश. कीर्त्ति[२९], अगुरुलघु[३०], उच्छ्वास[३१], आतप[३२], उद्योत[३३],प्रशस्तविहायोगति[३४], पराघात[३५], तीर्थंकर[३६] और निर्माणनामकर्म[३७] ।

इन सैंतीस प्रकारसे शुभनामकर्मका भोग होता है । इनमें जो अंगोपांगनाम कर्मका निर्देश किया है वहां शिर १, वक्षस्थल—(छाती) २, पृष्ठ (पीठ) ३, दोनो बाहू (भुजाएं) ५, उदर (पेट) ६, और दोनो चरण ८, यह आठ अंग कहलाते है । अगुलियाँ, जीभ, आँख, कान, नाक आदि उपाग कहलाते है ॥सूत्र ७॥

तत्त्वार्थदीपिका—विंशतिस्थानाराधनेन तीर्थकरत्व शुभनामकर्मबन्धो भवति. तत्र-विंशति-स्थानकानि तावदिमानि सन्ति, [१-७] अर्हत सिद्ध- प्रवचन-गुरु-स्थविर-बहुश्रुत-तपस्विषु वत्सलता-७। यथावस्थितगुणग्रामोत्कीर्तनरूपा भक्तिः-८।, तथा तेषामेवा-ऽर्हदादीनां ज्ञानेऽभीक्ष्णम्-शाश्वतं पुनःपुनरुपयोगः, ज्ञानेषूपयोगो ज्ञानोपयोगः इत्यष्टस्थानकानि।

दर्शनं सम्यक्त्वश्रद्धानरूपम्-९ विनयो गुरुदेवादिविषयकः-१०, आवश्यकम् उभयकालम् आवश्यककरणम्-११, शीलव्रतञ्च-निरतिचारम्, व्रतप्रत्याख्याननिर्मलपालनम्-१२ क्षणल वादि कालेषु प्रमादं विहाय शुभध्यानकरणम्-१३ तपो-द्वादशविधम्-१४ त्यागो दानम्, तच्च -परैः भयं प्राप्तस्य मार्यमाणस्य कथञ्चिन् म्रियमाणस्य च परिरक्षणम्, अभयदानमत्र करुणा-दानस्योपलक्षणम्, सुपत्रेभ्यो दानम् सुपात्रदानम्. महाव्रतधारिभ्यः प्रतिमाधारिश्रावकेभ्यश्च दानं सुपात्रदानम् चतुर्विध श्रमण-श्रमणी श्रावक-श्राविका रूप-सघसुखोत्पादनमित्यर्थः -१५।

वैयावृत्त्यम्- आचार्यादीनां सुश्रूषा १६ समाधिः-सर्वजीवानां सुखोत्पादनम्-१७ अपूर्व ज्ञानग्रहणं प्रसिद्धम्-१८ श्रुतभक्तिः जिनोक्तागमेषु परमानुरागः-१९ प्रवचने प्रभावना. प्रभूत-

---

सूत्रार्थ--'वीसई ठाणाराहणेणं' इत्यादि। सूत्र. ८

वीस स्थानो की आराधना से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है।'८॥

तत्त्वार्थदीपिका—वीस स्थानो अर्थात् बोलों का आराधन करने से तीर्थंकर नामक शुभनाम कर्म का बन्ध होता है। वे वीस स्थानक निम्नलिखित है—

(१) अर्हन्त भगवान् के प्रति वात्सल्यभाव होना अरिहन्त भगवान् का गुणग्राम करना। २, सिद्ध भगवान् के प्रति वात्सल्यभाव होना। ३ प्रवचन के प्रति वत्सलता होना। ४, गुरु के प्रति वत्सलता होना। ५ स्थविर (वृद्ध) के प्रति वत्सलभाव होना। ६ बहुश्रुत अर्थात् विविध शास्त्रो के ज्ञाता के प्रति वात्सल्य होना ७ तपस्वी जनो के प्रति वात्सल्य होना अर्थात् इनके वास्तविक गुणो का कीर्त्तन करने रूप भक्ति होना। तथा ८ इनके ज्ञानमें निरन्तर उपयोग लगाये रखना। ९ दर्शन अर्थात् निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान होना १० देव और गुरु के प्रति विनयभाव होना। ११ दोनो कालो मे आवश्यक क्रिया करना। १२ शीलव्रत प्रत्याख्यान को निर्मल पालना। १३ क्षण, लव आदि कालो में प्रमाद त्याग कर शुभ ध्यान करना। १४ बारह प्रकार का तपश्चरण करना। १५ दान देना दूसरे किसी को भयभीत कर रहे हो या मार रहे हो या किसी कारण कोई मर रहा हो तो उस की रक्षा करना। यह अभय दान यहाँ करुणादान का उपलक्षण सूचक है। सुपात्रों को दान देना अर्थात् महाव्रतधारी तथा प्रतिमाधारी श्रावकों को दान देना अर्थात् श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप सघ को सुख साता उपजाना। १६ वैयावृत्य आचार्य आदि की शुश्रूषा करना। १७ समाधि-समस्त जीवों को सुख उपजाना। १८ नित्य नया

भव्येभ्यः प्रव्रज्यादानम् भवकूपपतत् संसारार्णवनिमग्नप्राणिजातत्राससमाश्वासनपरायणं जिनशासनमहिमोपवृंहणम् समस्तस्य जगतो जिनशासनरसिककरणम्, मिथ्यात्वतिमिरापहरणम् चरणकरणशरणीकरणञ्च, २० इत्येतानि विंशतिस्थानकानि सर्वजीवसाधारणानि तोर्थकरत्वशुभनामकर्मबन्धहेतुभूतानि सन्ति एतैर्विंशतिस्थानकैर्जीवस्तीर्थकरत्वं लभते इतिभावः। स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्, अधिकरणे ल्युट्। स्थित्याधारभूतं कारणमित्यर्थः तथाच अर्हदादि वत्सलतादीनि विंशतिस्तीर्थकरत्वप्राप्तिः स्थानानि कारणानि सन्तीति भाव' ॥ ८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सामान्यतोऽविसवादनकायवचोमनोयोगऋजुतादीनां मनुष्यगत्यादिसप्तत्रिंशत्प्रकारकशुभनामकर्मबन्धहेतुत्वेन प्ररूपणेऽपि, अनन्तानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविभूतिविशेषकारणस्य त्रैलोक्यातिशायिनस्तीर्थंकरनामकर्मणो विशेषहेतून् प्रतिपादयितुमाह— **"वीसईठाणाराहणेणं तित्थयरत्तं—"** इति।

विशतिस्थानाराधनेन तीर्थकरत्वनामकर्म बध्यते। उक्तञ्च—ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रे २५२ पृष्ठे

सीखना १९ श्रुतभक्ति-जिनप्रतिपादित आगमों में अनुराग रखना। २० प्रवचन-प्रभावना—प्रचुर भव्य जीवो को दीक्षा देना, ससार रूपी कूप में गिरते हुए और संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियो के लिए आश्वासन रूप जिनशासन की महिमा बढाना, समस्त जगत् को जिनशासन का रसिक बनाना, मिथ्यात्व—तिमिर को नष्ट करना और मूलोत्तर गुणो को धारण करना।

सर्व जीवो के लिए साधारण यह वीस स्थान तीर्थङ्कर नाम कर्म के बन्ध के कारण है तात्पर्य यह है कि इन वीस कारणो से जीव तीर्थकरत्व प्राप्त करता है। व्यस्त एकऔर समस्त दोनो रूप से इन्हे कारण समझना चाहिए अर्थात् इनमें से एक कारण के द्वारा भी तीर्थङ्करनाम कर्म वाँधा जा सकता है और अनेक कारणो से भी। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि उत्कृष्टतम रसायन आने पर ही इस महान् सर्वोत्तम पुण्यप्रकृति का बन्ध हो सकता है।

यहाँ स्थान का अर्थ वासना है, अतएव पूर्वोक्त अर्हद्वात्सल्य आदि वीस स्थानो का अर्थ वीस कारण समझना चाहिए ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति यद्यपि सामान्य रूप से अविसवादन, काय, वचन और मन की ऋजुता को सैतिस प्रकार के शुभ नाम कर्म के वाद का कारण बतलाया जा चुका है; इन प्रकारों मे तीर्थङ्कर प्रकृति का भी समावेश हो जाता है, किन्तु तीर्थङ्कर एक विशिष्ट प्रकृति है। वह अनन्त एवं अनुपम प्रभाववाली, अचिन्त्य आत्मिक एवं वाह्य विभूति का कारण और त्रिलोक मे सर्वोत्कृष्ट है; अतएव उसके कारण भी विशिष्ट है। इसीलिए उसके विशिष्ट कारणो का पृथक् रूप से निर्देश किया जाता है—

वीस स्थानों की उत्कृष्ट आराधना से तीर्थङ्करनाम कर्म का बंध होता है। ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र मे कहा हैं—

"तंजहा–अरहंत–१ सिद्ध–२ पवयण–३ गुरु–४ थेर–५ बहुस्सुए–६ तवस्सीसु–७ वच्छल्लयाइ–८ तेसिं अभिक्खणं णाणोवओगे य– ॥१॥

दंसण–९ विणए–१० आवस्सए य–११– सीलव्वए निरइयारं–१२
खणलव–१३ तव–१४ च्चियाए–१५ वेयावच्चे–१६ समाहीय–१७ ।.२॥
अप्पुव्वणाणगहणे–१८सुयभत्ती–१९ पवयणे पभावणया २० ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥ इति ॥ सू०–५ ॥

"अर्हत् सिद्धप्रवचन गुरुस्थविरबहुश्रुततपस्विषु ।
वत्सलता च तेषाम् अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगश्च ॥ १ ॥
"दर्शनविनयावश्यकञ्च शीलव्रतनिरतिचारः ।
क्षणलवतपश्चर्या वैयावृत्त्यं समाधिश्च ॥ २ ॥
"अपूर्वज्ञानग्रहणं श्रुतभक्तिः प्रवचनप्रभावना ।
एतैः कारणैः स्तीर्थकरत्वं लभते जीवः ॥ ३१ ॥ इति ॥

गाथात्रयेण ससूचितानि विंशतिस्थानकानि यथा–वत्सलता–अर्हत्–सिद्ध–प्रवचन–गुरु–स्थविर–बहुश्रुततपस्विषु वत्सलता, भक्तिः–यथाऽवस्थितगुणग्रामोत्कीर्तनरूपा १–७ ज्ञानोपयोग'–एतेषामर्हदादीनामेव ज्ञानेऽभीक्ष्णं पुनःपुनरूपयोगः इत्यष्टस्थानानि **दर्शनं**–सम्यक्त्वं परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धि स्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणा, दर्शनं दृष्टिस्तत्त्वविषया रुचिः प्रीतिः जीवादिषु प्रत्ययावधारणरूपा, क्षायोपशमिकौपशमिकक्षायिकाणां सम्यग्दर्शनानां यथायोग्यं नानाप्रकारिकाशुद्धिर्विशुद्धिस्तीर्थंकरनामकर्मणो हेतुः । **विनयः**–विनयपदेन विनयसम्पन्नता गृह्यते, तत्र विनीयतेऽष्टप्रका-

(१) अरिहत (२) सिद्ध (३) प्रवचन (४) गुरु (५) स्थविर (३) बहुश्रुत और (८) तपस्वी पर वत्सलता रखना उनके ज्ञान-प्रवचनमें उपयोग रखना (९) सम्यक्त्व (१०) विनय (११) आवश्यक (१२) निरतिचार शीलो और व्रतो का पालन (१३) क्षणलव (१४) तप (१५) त्याग (१६) वैयावृत्य (१७) समाधि (१८) अपूर्वज्ञानग्रहण (१९) श्रुतभक्ति और प्रवचनप्रभावना, इन वीस कारणो से जीव तीर्थङ्करत्व प्राप्त करता है ॥१–३॥

ज्ञातासूत्र की इन तीन गाथाओ में वीस स्थानो का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार (१–७) अर्हत्. सिद्ध प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी पर वात्सल्य होने से तथा इसकी भक्ति अर्थात् यथावस्थित गुणो का कीर्त्तन करने से (८)

ज्ञानोपयोग—इसके ज्ञान-प्रवचनमें निरन्तर उपयोग लगाये रखना । ९ **दर्शन** अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट दर्शनविशुद्धि—निरतिचार सम्यक्त्व की निर्मलता से—क्षयोपशमिक, क्षायिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्श की यथायोग्य उत्कृष्ट विशुद्धि होने से, (१०) **विनयसम्पन्नता**—से जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्म हटाये जाएं वह विनय है । उसके चार भेद

रकं कर्माऽनेनेति विनयः, स चतुर्विधो बोध्यः, ज्ञान–दर्शन–चारित्रोपचारभेदात् । तत्र बहुमानादिर्ज्ञानविषयः, निःशङ्कनिराकाङ्क्षादिभेदो दर्शनविनयः, वक्ष्यमाणसमिति–गुप्तिप्रधानश्चारित्रविनयः, अभ्युत्थानाऽऽसनप्रदानाऽञ्जलिप्रग्रहादिभेदः पुनरुपचारविनय उच्यते, एवंविधविनयपरिणामपरिणतआत्मा विनयसम्पन्नो भवति तस्य भावो विनयसम्पन्नता, सा चापि–तीर्थकरनामकर्मणो हेतुः १० आवश्यकम्–एवमत्र–आवश्यकपदेना–ऽऽवश्यककरणमुच्यते आवश्यकानां सामायिकादीनां भावतोऽनुष्ठानम्–उभयकालावश्यककरणमिति बोध्यम्, एतदपि खलु तीर्थकरनामकर्मबन्धस्य हेतुर्भवति, सामायिकशब्दार्थस्तु–समो–रागद्वेषराहित्यम्, तद्भावस्या–ऽऽयः-प्राप्तिः समायो–ज्ञानादिलाभः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकम् सावद्यकर्मविरतिरूपं प्रतिक्रमणादिकम्, तदादिर्येषामावश्यकानां चतुर्विंशति स्तवादीनाम् तानि सामायिकादीन्या–वश्यकानि अवश्यमहोरात्राऽभ्यन्तरे कर्तव्यतयाऽनुष्ठेयानि–आवश्यकानि, तानि च सप्तदशविधसंयमविषयव्यापाररूपत्वाद् विविधप्रकाराणि इच्छा–मिथ्या तथाकारादीनि भवन्ति, तेषां भावतस्तदुपयोगानन्यत्वेनाऽनुष्ठानम् तस्मात्–सद्भावावहितचित्तस्याऽनुष्ठानकरणम् अन्यूनानतिरिक्ततया यथाविहितकालाऽऽसेवनं तीर्थकरनामकर्मबन्धस्य हेतुरिति भावः । ११

हैं–(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय । ज्ञान और ज्ञानी के प्रति बहुमान होना ज्ञानविनय है, निःशंक और निराकांक्ष आदि भेदोवाला दर्शन विनय है, आगे कही जाने वाली समिति गुप्ति की प्रधानता वाला चारित्रविनय है, ऊठकर खड़ा हो जाना, आसन देना हाथ जोड़ना आदि उपचार विनय है । इस प्रकार के विनय रूप परिणाम वाला आत्मा विनय सम्पन्न कहलाता है । यह विनयसम्पन्नता भी तीर्थङ्कर नाम कर्म के बन्ध का कारण है ।

आवश्यक–यहां आवस्यक पद से आवश्यक क्रिया का करना समझना चाहिए ।सामायिक आदि आवश्यको का भावपूर्वक अनुष्ठान करना–प्रातः और सायंकाल आवश्यक क्रिया का आचरण करना । इससे भी तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध होता है । रागद्वेष की रहितता सम की प्राप्ति को 'समाय' कहते है समाय अर्थात् ज्ञान आदि का लाभ जिसका प्रयोजन हो वह सामायिक है । सावद्य कर्मो से विरत होना प्रतिक्रमण आदि है । 'आदि' शब्द से यहाँ चतुर्विंशतिस्तव वगैरह समझना चाहिए, जो दिन और रात्रि के अन्तिम समय में अवश्य करने योग्य हो वे आवश्यक है । ये आवश्यक सतरह प्रकार के संयम विषयक व्यापार रूप होने के कारण विविध प्रकार के है, यथा–इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार आदि । इनका अनुष्ठान सद्भावपूर्वक करने से, यथाकाल विधिपूर्वक, न्यूनता एवं अधिकता आदि दोषों को वर्जित करके आचरण करने से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है ।

शीलव्रतम्, तत्र—शीलं पिण्डविशुद्धिसमितिभावनादयः उत्तरगुणाः अभिग्रहलक्षणाः मुमुक्षोः समाधिकारणत्वात्, व्रतञ्च पञ्चमहाव्रतात्मकम् रात्रिभोजनविरतिपर्यवसानं च गृह्यते शीलानि च व्रतानि चेति शीलव्रतानि तेषु निरतिचारत्वं निरतिचार इति, नितरामत्यन्तमनतिचारो—ऽप्रमादः-संयमप्रतिपत्तिकालादारभ्याऽऽयुषः क्षयपर्यन्तमविश्रान्त्या—ऽऽत्यन्तिकाऽप्रमादात्मकः सप्तदशविध संयमः सर्वज्ञश्रीतीर्थंकर भगवत्प्रणीतसिद्धान्तानुसरणरूपनिरतिचारपूर्वकं शीलव्रतविषयमनुष्ठानमित्यर्थः, एतदपि—तीर्थंकरनामकर्मणो हेतुरिति भाव. ॥ १२ ॥

क्षणलवेति - कालोपलक्षणम् क्षणलवादिकालेषु प्रमाद विहाय शुभध्यानकरणम् १३ **तपः** स्वानुरूपशक्त्यपेक्षं तपश्च तीर्थंकरत्वनामकर्मणो हेतुरवगन्तव्यः, कर्मणस्तापनात् । शोषणात्तप उच्यते, तच्च तपो द्विविधम्, बाह्याभ्यन्तरभेदात् । प्रत्येकं पुनः षड्विधम्, प्रायश्चित्तादिभेदात् अनशनादिभेदाच्च तच्च -तप. स्वशक्त्यपेक्षम्, लौकिकपूजाप्रतिष्ठासत्कारसम्मानतृष्णानिरपेक्षेण चित्तेनाऽनुष्ठीयमानं सत् तीर्थंकरनाकर्मबन्धहेतुर्भवति ॥१४॥

त्यागः—त्यागो दानम्, तच्चा—ऽभयदानं करुणादानं, सुपात्रदानं च तत्रा—ऽभयदानं भयानुत्पादनं परैर्भयं प्राप्तस्य मार्यमाणस्य कथञ्चिन्म्रियमाणस्य च परिरक्षणम्, करुणादानं—करुणया

---

(१२) **शील और व्रत**—का निरतिचार पालन करने से भी तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है । यहाँ शील का अर्थ है—पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना आदि उत्तरगुण एवं नाना प्रकारके अभिग्रह; क्योंकि इनसे मुमुक्षु को समाधि की प्राप्ति होती है । पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन विरमण को व्रत शब्द से ग्रहण किया जाता है । इनका पूर्णरूप से निरतिचार पालन करना अर्थात् सयम को स्वीकार करने से लगा कर जीवन पर्यन्त अप्रमत्तभाव से सेवन करना निरतिचार शील—व्रत पालन कहलाता है । अर्थात्—सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भजवान द्वारा प्रणीत सिद्धांत के अनुसार शीलो और व्रतों का अनुष्ठान करना निरविचार शील व्रतका पालन कहलाता है । इससे भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है ।

(१३) **क्षणलव**—यह काल का सूचक है । क्षण भर या लव मात्र भी प्रमाद न करके शुभ ध्यान करना ।

(१४) **तप**—अपने सामर्थ्य के अनुसार तपस्या करने से भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है । जो कर्मों को तप्त कर दे—सोख ले, वह तप । तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर बाह्य तप छह प्रकार का है और आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है । प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप है और अनशन आदि बाह्य तप हैं । इन तपों का यदि लौकिक पूजा—प्रतिष्टा, सत्कार—सम्मान आदि की इच्छा के विना, केवल कर्मनिर्जरा के हेतु ही अनुष्ठान किया जाय तो तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है ।

(१५) **त्याग**—का अर्थ दान है । दान दो प्रकार का है—अभयदान और सुपात्रदान । अपनी ओर से भय उत्पन्न न करना, दूसरा किसी को भयभीत कर रहा हो, मार

यद्दीयते तत् करुणादानम् । सुपात्रदानं महाव्रतधारिभ्यः प्रतिमाधारिश्रावकेभ्यश्च यद्दानं तत् । इदमुपलक्षणम्, तेन चतुर्विधसंघसुखोत्पादनमित्यर्थः ॥१५॥

वैयावृत्त्यं—आचार्यादीनां शुश्रूषा, १६ **समाधिः**—सर्वजीवानां सुखोत्पादनम्, तथा—संघस्य श्रमणानां च समाधि. वैयावृत्त्यकरणमपि तीर्थकरनामकर्मबन्धहेतुर्भवति तत्र संघस्तावत्—सम्यक्त्व—ज्ञानचारित्राणां समूहस्तदाधारत्वात् श्रमणश्रमणी—श्रावकश्राविकारूपोऽपि संघस्तस्य समाधिः—समाधानं निरुपद्रवत्वमिति ॥ १७ ॥ **अपूर्वज्ञानग्रहणं** —प्रसिद्धम् १८ **श्रुतभक्तिः**—जिनोक्तागमेषु परमानुरागः, स्वगुणदोषावर्जितसकलसुरासुरमनुजेश्वरेषु महामहिमशालिषु—अचिन्त्यसामर्थ्ययुक्तेषु सन्मार्गोपदेशात् परोपकारपरायणेषु परमयोग्याचार्येषु प्रकृष्टमनःपरिणामशुद्धिपूर्विका भक्तिः, सद्भावातिशयोत्कीर्तनवन्दनपर्युपासनादि रूपा तीर्थकरत्वनामकर्मण हेतुर्भवतीतिभावः ॥१९॥

एवम्—**प्रवचनप्रभावना**—प्रभूतभव्येभ्यः प्रव्रज्यादानम्, भवकूपपतत्प्राणित्राणसमाश्वासनपरायणजिनशासनमहिमोपबृंहणं समस्तस्य जगतो जिनशासनरसिककरणं मिथ्यात्वतिमिरापहरणं

रहा हो या कोई मर रहा हो तो उसकी रक्षा करना अभयदान है। अभयदान यहाँ करुणादान का उपलक्षण है। महाव्रतधारी मुनियो को तथा प्रतिमाधारी श्रावकों को दान देना सुपात्रदान कहलाता है। यह कथन उपलक्षण मात्र है, अतएव चतुर्विध संघ को साता उपजाना ही सुपात्रदान समझना चाहिए।

(१६) **वैयावृत्य**—आचार्य, उपाध्याय आदि की निर्मल भाव से सेवाशुश्रूषा करना वैयावृत्य है।

(१७) **समाधि**—सब जीवो को सुख उपजाना। तथा—संघ और श्रमणो की समाधि एवं वैयावृत्य करने से भी तीर्थंकरनाम कर्म बधता है। संघ का मतलब है सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का समूह। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका में ये सम्यग्दर्शन आदि पाये जाते है, अतः इनका समूह भी संघ कहलाता है। इनको साता पहुँचाना अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव न होने देना, शान्ति प्रदान करना संघसमाधि है।

(१८) **अपूर्वज्ञानग्रहण**—नित्य नया—नया ज्ञान प्राप्त करना।

१९) **श्रुतभक्ति**—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित आगमो में परम अनुराग होना। सुरेन्द्रों असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों आदि को आकर्षित करने वाले, महामहिमाशाली और अचिन्तनीय सामर्थ्य से सम्पन्न, सन्मार्ग का उपदेश करने के कारण परोपकार करने में तत्पर परम योग्य आचार्यों के प्रति उत्कृष्ट मानसिक शुद्धिपूर्वक भक्ति करना श्रुतभक्ति है। भक्ति का आशय है—उनमें रहे हुए गुणों का कीर्तन करना, वन्दन करना, उपासना करना। यह श्रुतभक्ति भी तीर्थंकर नामकर्म के वन्ध का कारण है।

(२०) **प्रवचनप्रभावना**—बहुत—से भव्य जीवो को दीक्षा देना, संसार रूपी कूप में

चरणकरणशरणीकरणं च । व्यस्तरूपेण समस्तरूपेणवा एतानि तीर्थंकरत्वप्राप्ति हेतुभूतानि विंशतिस्थानकानि, येषामाराधनेन जीवस्तीर्थंकरत्वं लभते ॥८॥

मूलसूत्रम्---"आयणिंदा-परप्पसंसाइहिं उच्चागोए-" ॥९॥

छाया---"आत्मनिन्दा-परप्रशंसादिभिरुच्चैर्गोत्रम्-" ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका---पूर्वसूत्रे दर्शनविशुद्ध्यादीनामात्मपरिणतिभावविशेषाणा तीर्थंकरनाम कर्मबन्धहेतुत्वेन प्ररूपणं कृतम् सम्प्रति--उच्चैर्गोत्रकर्मबन्धहेतोः प्ररूपणं कर्तुमाह **"आयणिंदा-परप्पसंसाइहिं उच्चागोए-"** इति । आत्मनिन्दापरप्रशंसादिभिः उच्चैर्गोत्रकर्मबन्धो भवति ।

तत्रात्मनः--स्वस्य निन्दनं--गर्हणमात्मनिन्दा परस्य च प्रशंसनं श्लाघनं परप्रशंसा, आदिपदेन परस्य सद्गुणप्रकाशनमसद्गुणाच्छादानम्, स्वस्य च सद्गुणाच्छादनम् असद्गुणप्रकाशनं नम्रवृत्तित्वम् निरभिमानत्वञ्चेत्येतैः षड्भिर्हेतुभिरुच्चैर्गोत्रकर्मबन्धः ॥ ९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः--पूर्वं तीर्थंकरत्वनामकर्मबन्धहेतुत्वेन दर्शनविशुद्ध्यादयो विंशतिर्भावा आत्मपरिणामविशेषाः प्ररूपिताः, सम्प्रति--उच्चैर्गोत्रकर्मबन्धहेतुं प्ररूपयितुमाह -- **"आयणिंदा परप्पसंसाइहिं उच्चागोए---"** इति । आत्मनिन्दा परप्रशंसादिभिः कारणविशेषैरुच्चैर्गोत्रनामकर्म बध्यते ।

पड़ते हुए प्राणियो का त्राण करने वाले एवं उन्हें आश्वासन देने वाले जिनशासन की महिमा को बढाना, सारे ससार को जिनशासन का रसिक बनाना, मिथ्यात्व रूपी अंधकार का अपहरण करना तथा चरण और करण को शरण करना अर्थात् इनका निर्दोष पालन करना, यह सब प्रवचनप्रभावना के अन्तर्गत है ।

तीर्थंकरत्व की प्राप्ति के ये बीस कारण है अर्थात् इन सब का अथवा इनमें से किसी एक दो या अधिक का उत्कृष्ट रूप से सेवन करने से जीव तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध करता है ॥८॥

सूत्रार्थ---'आयणिंदा परप्पसंसाइहिं' इत्यादि सूत्र--॥९॥

आत्मनिन्दा और परप्रशंसा आदि कारणो से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका --पूर्वसूत्र में दर्शनविशुद्धि आदि आत्मा की परिणतिविशेषों को तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध का कारण कहा है । अब उच्चगोत्र कर्म के बन्ध के कारणों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है---

अपनी निन्दा और दूसरो की प्रशंसा करने से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ।

अपनी निन्दा करना आत्मनिन्दा है और दूसरे की प्रशंसा करना परप्रशंसा है । आदि शब्द से दूसरों के सद्गुणो को प्रकाशित करना और दोषो को ढंकना तथा अपने सद्गुणों को ढंकना और दोषो को प्रकट करना, नम्रता धारण करना, निरभिमान होना, इन छह कारणों से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---पूर्व सूत्र में दर्शनविशुद्धि आदि बीस आत्मपरिणामो को तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध का कारण कहा, अब उच्चगोत्रकर्म के बंध के कारणो की प्ररूपणा करते हैं---

तत्रा-ऽऽत्मनः स्वस्य जाति-कुल-रूप-बल-श्रुता-ऽऽज्ञै-श्वर्यप्रभृतीनां गर्हणम् आत्मनिन्दा, परस्याऽन्यस्य—जातिकुलरूपबलश्रुता-ऽऽज्ञै-श्वर्यादीनां प्रशंसनम् परप्रशंसा, आदिपदेन—आत्मनः स्वस्य सद्‌गुणानामाच्छादनम् असद्‌गुणानाञ्चोद्भावनम्, परस्य सद्‌गुणानामुत्कीर्तनम् असद्‌गुणानाञ्चाऽनुत्कीर्तनम् नम्र-वृत्तित्वम् गर्वराहित्यम्। निरभिमानत्वम् निरहङ्कारत्वम ।

इत्येतैः षड्भिःकारणैरुत्कृष्टेक्ष्वाकु-हरिवंश-भोजराजाद्युच्चैर्गोत्रकर्मबन्धो भवति । तथाचोक्तम्—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे ८—शतके ९—उद्देशके—**"जाइअमदेणं,—कुलअमदेणं,—बलअमदेणं,—रूवअमदेणं—,तवअमदेणं,—सुय अमदेणं,—लाभअमदेणं,—इस्सरियअमदेणं,—उच्चागोयकम्मासरीर जाव पओगवंधे—"** इति ।

जात्यमदेन कुलाऽमदेन बलाऽमदेन रूपाऽमदेन तपोऽमदेन श्रुताऽमदेन लाभाऽमदेन ऐश्वर्याऽमदेन उच्चैर्गोत्रकर्मशरीरयावत्प्रयोगबन्धः इति ॥ ९ ॥

मूलसूत्रम्—पाणाइवायाइहिंतो मुसावायअदिन्नादाण अबंभचेरपरिग्गहेहिंतो सव्वओ वेरमणं पंचमहव्वया—" ॥ १० ॥

छाया—प्राणातिपाता-दिभ्यः-मृषावादा-ऽदत्तादाना-ऽब्रह्मचर्यपरिग्रहेभ्यः सर्वतो-विरमणं पञ्चमहाव्रतानि ॥ १० ॥

तत्त्वार्थदीपिका—द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतिस्वरूपमुक्तम्, पुण्यप्रकृतिबन्धेन च सद्‌गतिः-सद्धर्मप्राप्तिश्च भवति, तदेवं प्रस्तावात् मोक्ष हेतुभूतानि पञ्चमहाव्रतान्याह—**"पाणाइवाय-मुसावाय"** इत्यादि ।

आत्मनिन्दा और परप्रशंसा आदि कारणो से उच्चगोत्र कर्म का बंध होता है ।

जाति, कुल, रूप, बल, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य आदि का अभिमान न करते हुए अपने दोषों की निन्दा करना आत्मनिन्दा है और दूसरे के सद्‌गुणो की प्रशंसा करना परप्रशंसा है। सूत्र में ग्रहण किये आदि शब्द से यह समझना चाहिए—अपने सद्‌गुणो को आच्छादित करना और दोषों को प्रकाशित करना, नम्रता धारण करना और निरभिमान होना; इन छह कारणो से उच्चगोत्रकर्म का बंध होता है। उच्चगोत्र कर्म के उदय से इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, भोजराजवंश आदि जैसे उच्चगोत्रो में जन्म प्राप्त होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवतीसूत्र के शतक ८, उद्देशक ९ वें में कहा है—

जाति का मद—न करने से कुल का मद न करने से, बल का मद न करने से, रूप का मद न करने से, तप का मद न करने से, श्रुत का मद न करने से, लाभ का मद न करने से और ऐश्वर्य का मद न करने से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ॥९॥

सूत्रार्थ—'पाणाइवायाइहिंतो' सूत्र—॥१०॥

प्राणातिपात आदि से पूर्णरूप में निवृत्त होना पाँच महाव्रत है ॥१०॥

प्राणातिपातादिभ्यः, प्राणातिपातः आदिशब्देन मृषावादा–ऽदत्तादानाऽब्रह्मचर्य–परिग्रहाणां ग्रहणं भवति, तेभ्यः सर्वतो विरमणं महाव्रतानि उच्यन्ते तानि पञ्च । तत्र–प्राणातिपात· प्राणिबधः, मृषावादो–ऽसत्यभाषणम् , अदत्तादानम्–स्तेयम् , अब्रह्मचर्य–मैथुनम् , परिग्रहो मूर्च्छा एतेभ्यः सर्वतः–सर्वप्रकारेण, त्रिकरण–त्रियोगै र्विरमणं विरति र्निवृत्ति रितिभावः ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—द्विचत्वारिंशद्विधपुण्यप्रकृतिबन्धेन सद्गतिः सद्धर्मप्राप्तिश्च भवति, प्रस्तावात् मोक्षहेतुभूतानि पञ्चमहाव्रतान्याह—**"पाणाइवाय–मुसावाय अदिन्नादाण अबंभचेरअपरिग्गहेहिंतो सव्वओ वेरमणं पंचमहव्वया–"** इति । प्राणातिपातः मृषावादा–ऽदत्तादाना–ब्रह्मचर्य–परिग्रहेभ्यः सर्वतः सर्वांशेन गृह्यन्ते तेभ्यः द्रव्यक्षेत्रकालभावा त्रिकरणैस्त्रियोगैः सर्वथा विरतिनिवृत्तिः पञ्चमहाव्रतान्युच्यन्ते ।

तत्र–प्राणातिपातः कषायादिप्रमादपरिणामपरिणतेना–ऽऽत्मना कर्त्रा मनोवाक्कायादिरुपयोगव्यापारात् करणकारणानुमोदनरूपकायव्यापारेण द्रव्यभावभेदेन द्विविधेन प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपः । मृषावादस्तावद् असत्यभाषणम्–अनृतवचनम्–अलीकाभिभाषणम्–२ अदत्तादानञ्च—अदत्तस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकमवितीर्णस्या–ऽऽदान मुच्यते–३

अब्रह्मचर्यम्–स्त्रीसंयोगः, मैथुनमिति यावत्–४ परिग्रहस्तु—मूर्च्छा, सचित्ताचित्तमिश्रेषु

तत्त्वार्थदीपिका—प्राणातिपात के साथ जुडे हुए आदि शब्द से मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का ग्रहण होता है । तात्पर्य यह है कि प्राणातिपात आदि पाँच पापो से तीन करण और तीन योग से निवृत्त हो जाना पाँच महाव्रत है । प्राणातिपात अर्थात् जीवो की हिंसा, मृषावाद अर्थात् असत्यभाषण, अदत्तादान अर्थात् स्तेय (चोरी), अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन और परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा– ममता, इन सब से पूर्णरूप से विरत होना महाव्रत है ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---बयालीस प्रकार की पुण्य प्रकृति के बन्ध से सद्गति की प्राप्ति होती है, तथा सद्धर्म होता है । इस प्रसंग से यहाँ पाँच महाव्रतो का कथन करते हैं--

प्राणातिपात और 'आदि शब्द से मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह से. पूर्ण रूप में अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से, तीन करणो और तीनों योगो से निवृत्त होना पाँच महाव्रत है ।

कषाय और प्रमाद रूप परिणत आत्मा के द्वारा, मन वचन और काय रूप योग के व्यापार से तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप तीन करणों के द्वारा द्रव्य और भाव प्राणो का व्यपरोपण करना प्राणातिपात कहलाता है । असत्य भाषण करना, असत्य वचन कहना या झूठ बोलना सावद्य वचन बोलना मृषावाद कहलाता है । स्वामी के दिये बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है । स्त्रीसंयोग या मैथुन को अब्रह्मचर्य कहते है ।

शास्त्राऽनुमतिरहितेषु द्रव्यादिषु ममत्वरूपः, एतेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः सर्वतः सर्वात्मना, त्रिकरणै स्त्रियोगैर्मनोवाक्कायैर्विरमणं निवृत्तिः पञ्चमहाव्रतान्यवसेयानि ।

प्राणिवधादितो निवृत्तिर्व्रतमुच्यते हिंसादिलक्षणं क्रियाकलापं नानुतिष्ठति, अपितु अहिंसादिलक्षणमेव क्रियाकलापमनुतिष्ठतीति फलति । प्राणातिपातादिभ्यो निवृत्तस्य शास्त्रविहितक्रियानुष्ठानात् सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियासाध्यं कर्मक्षपणं भवति, कर्मक्षपणाच्च मोक्षावाप्तिरिति भावः ।

अत्रेदं बोध्यम्—प्राणातिपातस्तावत् प्राणवियोजनम्, प्राणाश्चेन्द्रियादयः तत्सम्बन्धात्प्राणिनो जीवाः पृथिवीकायाद्येकेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय–पञ्चेन्द्रिया स्तान् जीवान् विज्ञाय श्रद्धया प्रतिपद्य भावत स्तस्याऽकरणं ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं चारित्रमुच्यते । तच्च–सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियालक्षणं चारित्रं मनोवाक्कायकृतकारिताऽनुमोदितभेदेनाऽनेकविधं बोध्यम् । उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५–स्थाने १–उद्देशके—"**पंचमहव्वया पण्णत्ता, तंजहा– सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, जाव सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं–**" इति । पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा–सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम्, यावत्–सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम् इति, एवं आवश्यके दशवैकालिकेऽप्युक्तम् ॥ १० ॥

सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्यों में मूर्च्छारखना उसका नाम परिग्रह है, ममत्व धारण करना परिग्रह है । इन पांचों पापो से पूर्णरूप से अर्थात् तोन करण और तीन योग से निवृत्ति होना पाँच महाव्रत है ।

प्राणिहिंसा आदि से निवृत्ति व्रत है इसका अभिप्राय यह है कि अमुक पुरुष हिंसा आदि क्रियाओं का आचरण नहीं करता है किन्तु अहिंसादि क्रियाओ का ही आचरण करता है । जो प्राणातिपात आदि से विरत हो जाता है, वह शास्त्र में प्रतिपादित सत् क्रियाओ मे प्रवृत्ति करता है, और असत् क्रियाओ से निवृत्त होता है इस कारण उसके कर्मों का क्षय होता है, और कर्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि प्राणातिपात का अर्थ है प्राणियो को प्राणो से वियुक्त करना । प्राण इन्द्रिय आदि को कहते है । प्राण जिसमें पाये जाए वह प्राणी अर्थात् जीव कहलाता है । प्राणी कंई प्रकार के होते हैं ।–पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, इन जीवो के स्वरूप को समझकर और उस पर श्रद्धा करके उनके प्राणों का वियोग न करना ज्ञान श्रद्धानपूर्वक चारित्र कहलाता है । सत् में प्रवृत्ति करना और असत् से निवृत्ति करना चारित्र का लक्षण है । मन वचन काय कृत कारित और अनुमोदन के भेद से वह अनेक प्रकार का है ।

स्थानांगसूत्र के ५ वे स्थान के प्रथम उद्देशक में कहा है–'महाव्रत पाँच कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं–समस्त प्राणातिपात से विरत होना यावत् समस्त परिग्रह से विरत होना । आवश्यक और दशवैकालिकसूत्र में भी महाव्रत पॉच ही कहे गये है ॥१०॥

मूलसूत्रम्—"पाणाइवायाइहिंतो देसओ वेरमणं पंचाणुव्वया–" ॥ ११ ॥

छाया—"प्राणातिपातादिभ्यो देशतो विरमणं पञ्चाणुव्रतानि–" ॥ ११ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे प्राणातिपातादिभ्यः सर्वतो विरतिलक्षणानि पञ्च महाव्रतानि प्ररूपितानि, सम्प्रति–तेभ्य एव प्राणातिपातादिभ्यो देशतो विरतिलक्षणानि पञ्चाणुव्रतानि प्ररूपयितुमाह–"**पाणाइवायाइहिंतो देसओ वेरमणं पंचाणुव्वया–**" इति । प्राणातिपातादिभ्यो देशतः एकदेशतो विरमणं विरतिः निवृत्तिः पञ्चाणुव्रतान्युच्यन्ते । तत्र प्राणातिपातः प्राणिप्राण-व्यपरोपणम् जीवहिंसा, आदिपदेना–ऽनृतभाषण-स्तेय-मैथुनपरिग्रहा गृह्यन्ते, तेभ्यः पञ्चभ्यो देशतः एकदेशतो विरमणम्, स्थूलप्राणातिपात–स्थूलानृतभाषणस्थूलस्तेय-स्थूलाब्रह्मचर्य–स्थूलपरिग्रहेभ्यो निवृत्तिः खलु—पञ्चाणुव्रतानि उच्यन्ते ॥ ११ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सकलप्राणिगणप्राणव्यपरोपण-मृषावाद-स्तेया-ऽब्रह्मचर्य-परिग्रह-निवृत्तिरूपपञ्चमहाव्रतानि प्ररूपितानि, सम्प्रति–स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणपञ्चाणुव्रतानि प्ररूपयितुमाह—**पाणाइवायाइहिंतो देसओ वेरमणं पंचाणुव्वया–**" इति ।

प्राणातिपातादिभ्यो देशतो विरमणम् एकदेशतो निवृत्तिः पञ्चाणुव्रतानि उच्यन्ते । तथाच

सूत्रार्थ—'पाणाइवायाइहिंतो देसओ वेरमणं' इत्यादि । ११

प्राणातिपात आदि से एक देश से विरत होना पंच अणुव्रत है ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में प्राणातिपात आदि से पूर्ण रूप से विरत होने रूप पाँच महाव्रतो का प्ररूपण किया गया, अब यह बतलाते है कि उन्हीं प्राणातिपात आदि से आंशिक रूप से विरत होना पाँच अणुव्रत है—

प्राणातिपात आदि पाँच पापो से देश से विरत होना पांच अणुव्रत है । प्राणव्य-परोपण या जीवहिंसा को प्राणातिपात कहते है । सूत्र मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द से असत्यभाषण, स्तेय, मैथुन और परिग्रह का ग्रहण कर लेना चाहिए । इन पाँचो से एक देश से विरत होना पाँच अणुव्रत है । अर्थात् स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावाद-विरमण, स्थूल चोरी (स्तेय) विरमण स्थूल अब्रह्मचर्यविरमण और स्थूल परिग्रहविरमण अर्थात् परिग्रह परिमाण, यह पाँच अणुव्रत हैं ॥११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सम्पूर्ण प्राणियो के प्राणव्यपरोपण से निवृत्ति सम्पूर्ण मृषावाद से, सम्पूर्ण अदत्तादान से, सम्पूर्ण अब्रह्मचर्य से तथा सम्पूर्ण परिग्रह से निवृत्ति रूप पाँच महाव्रतो का निरूपण किया गया है, अब स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्ति रूप पाँच अणुव्रतो का कथन करते हैं ।

प्राणातिपात आदि का आंशिक रूप से त्याग करना पाँच अणुव्रत कहलाते हैं । हिंसा दो प्रकार की है संकल्पजा और आरम्भजा, अथवा सूक्ष्म और स्थूल के भेद से भी

स्थूलसूक्ष्मभेदात्, सङ्कल्पजारम्भभेदाद्वा द्विविधस्तावद् हिंसारूपः प्राणातिपातः सकलप्राणिगण-विषयो भवति, तस्माच्च—प्राणातिपातात् न सर्वस्मात् प्राणिप्राणव्यपरोपणमात्राद् विरतिः। किन्तु—एकदेशादेव सङ्कल्पजाद्वा स्थूलरूपात्प्राणातिपातान्निवृत्तिः।

एवम्—न सर्वस्माद् मृषावादान्निवृत्तिः, अपितु—एकदेशादेव कूटसाक्षीदानादिरूपम् नतु मर्मादिजन्यमृषावादात्। एवम्—न सर्वस्मात् स्तेयाद् अदत्तादानरूपाद् विरतिः, अपितु—एकदेशादेव हठहरणादिकाद् बलाहरणादिस्थूलरूपात्, यत्रैहिकाऽऽमुष्मिकाश्चौर्यदोषाः राजदण्ड-कारागारनरकपातादिरूपाः गृहस्थानां भवति, तत्—स्तेय बलादाहरणादिकं स्थूलं बोध्यम्।

सूक्ष्मं स्तेयं तावत्—परिहासादिना परकीयवस्तुग्रहणरूपमवगन्तव्यम्। एवम्—स्थूलादेव एकदेशात् परदाराद् मैथुनाद् विरतिः स्वदारसन्तोषरूपा, न तु—सर्वस्माद् मैथुनात् स्वपरदार-रूपान्निवृत्तिः, स्वदारसन्तुष्टः सन् तदन्ययोषितौ जननीवदनुपश्यति।

एवम्—परिग्रहो मूर्च्छा-गार्ध्यं ममत्वम्, स च द्विविधः बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्रान्तरेषु शरीरा-दिषु ममत्वरूपआन्तरपरिग्रहः, बाह्येषु च—क्षेत्रवास्तुसुवर्णधनधान्यादिषु वस्तुषु स्नेहरूपो बाह्यपरि-ग्रहो बोध्यः। तत्र—बाह्यादेव स्थूलरूपात् क्षेत्रवास्तुहिरण्यादिवस्तुनो विरतिः, न तु—सर्वस्माद

हिंसा के दो भेद हैं। सम्पूर्ण प्राणातिपात से विरत न होना किन्तु एकदेश से ही विरत होना केवल स्थूल रूप सकलपजा हिंसा का त्याग करना स्थूलप्राणातिपातविरति नामक अणुव्रत है।

इसी प्रकार सब प्रकार के मृषावाद का त्याग न करके सिर्फ एकदेश से अर्थात् झूठी साक्षी देने आदि रूप असत्यभाषण से निवृत्त होना स्थूलमृषावादविरति अणुव्रत है। इस अणुव्रत में स्थूल असत्य का ही त्याग किया जाता है, सूक्ष्म मृषावाद का नहीं। इसी प्रकार स्थूल अदत्तादान का त्याग करना अदत्तादानविरमण अणुव्रत कहलाता है। इस अणुव्रत में सभी प्रकार के अदत्तादान का त्याग नहीं होता, अपितु स्थूल अदत्तादान का ही त्याग किया जाता है। जिस अदत्तादान से इस लोक और परलोक में चोरी का दोष लगता है, जिसे सामान्यतया चोरी कहा जाता है और जो चोरी राज्य द्वारा दण्डनीय होती है, जिस कारण से कारागार और नरक का पात्र बनना पड़ता है, उसे स्थूल चोरी समझना चाहिए। हँसी मजाक में किसी की वस्तु ले लेना या छिपा देना स्थूल चोरी नहीं, सूक्ष्म चोरी है। गृहस्थो को ऐसी चोरी का त्याग नहीं होता।

इसी प्रकार एक देश से मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। एकदेश से मैथुन के त्याग का तात्पर्य है परस्त्रीसंयोग का त्याग करना। जो स्वस्त्री में सन्तुष्ट रहकर परस्त्री को माता के समान समझता है, वह स्वदार सतोंष व्रती कहा जाता है।

परिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा, गृद्धि या ममत्व। परिग्रह के दो भेद हैं—बाह्य और आन्तरिक, आन्तरिक शरीर आदि पर ममता होना आन्तरिक परिग्रह है। क्षेत्र, वास्तु (महल—

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान्निवृत्ति' इति । एवञ्चोक्तरीत्या स्थूलेभ्य. प्राणातिपात–मृषावाद-स्तेय-मैथुन-परिग्रहेभ्यो विरमणरूपाणि पञ्चाणुव्रतानि भवन्तीति फलितम् ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५–स्थाने १–उद्देशके–**"पञ्चाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे–"** इति ।

पञ्चाणुव्रतानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा– स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, स्थूलाद् मृषावादाद् विरमणम्, स्थूलाददत्तादानाद् विरमणम्, स्वदारसन्तोषः, इच्छापरिमाणम् इति ॥११॥

मूलसूत्रम्—"तत्थेज्जट्ठं ईरियाइया पणवीसं भावणाओ–"॥१२॥

छाया—तत्स्थैयार्थम्-ईर्यादिकाः पञ्चविंशतिर्भावनाः" ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं देशतो हिंसादिविरतिलक्षणपञ्चाऽणुव्रतादिस्वरूपं प्ररूपितम्. सम्प्रति तेषां व्रतानां स्थिरतासम्पादनार्थं तावद् ईर्यादिका पञ्चविंशतिर्भावनाः प्ररूपयितुमाह–"तत्थेज्जट्ठं, इत्यादि, । तत्स्थैर्यार्थम्–तेषां पूर्वोक्तानां व्रतानां स्थूलप्राणातिपातविरमणादिलक्षणानां स्थैर्यार्थम्– स्थिरताकरणार्थं दृढीकरणार्थम् ईर्यादिकाः–इर्यादिलक्षणा. पञ्चविंशतिर्भावना भवन्ति ।

तत्र—ईर्या–ईरणम्, यतनया गमनम् , १ आदिपदेन—मन' प्राशस्त्य–२ वचः प्राशस्त्यं ३

मकान), सुवर्ण धन, धान्य आदि बाह्य वस्तुओं पर ममत्व होना बाह्य परिग्रह है । परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत में समस्त वस्तुओ का त्याग नहीं किया जाता किन्तु उनकी मर्यादा कर ली जाती है । इसी को स्थूलपरिग्रहत्याग भी कहते है ।

इस प्रकार स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूलअदत्तादानविरमण, स्थूल मैथूनविरमण और परिग्रहपरिमाण नामक पाँच अणुव्रत होते हैं ।

स्थानांगसूत्र के पाँचवे स्थानक के प्रथम उद्देशक में कहा है–अणुव्रत पांच कहे गये हैं–स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोप और इच्छापरिमाण ॥११॥

सूत्रार्थ –'तत्थेज्जट्ठं इरियाइया पणवीसं' इत्यादि ॥१२॥

व्रतो की स्थिरता के लिए पच्चीस भावनाएँ होती है ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका–इससे पूर्व स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करना आदि पांच अणुव्रतो का प्रतिपादन किया गया, अब उन व्रतो में स्थिरता लाने के लिए ईर्या आदि पच्चीस भावनाओ का कथन करते है–पूर्वोक्त प्राणातिपातविरमण आदि व्रतो की स्थिरता के लिए ईर्या आदि पच्चीस भावनाए है (२) प्राणातिपात विरमणमहाव्रत की पाँच भावनाएँ –(१) इर्या–यतनापूर्वक गमन करना (२) मन की प्रशस्तता (३) वचन की प्रशस्तता (४) एषणा

४ ५
पणाऽऽदाननिक्षेपरूपाः पञ्च प्रथममहाव्रतस्य भावनाः —५ आलोच्य सम्भाषणं —१ क्रोध–लोभ–३ भय–४ हास्येषु–५ अनृतविवर्जनञ्चेति द्वितीयमहाव्रतस्य भावनाः — १०

अष्टादशविधविशुद्धवसतेर्याचनापूर्वकं सेवनं —१ प्रतिदिनमवग्रहं याचित्वा तृणकाष्ठादिग्रहणं २ पीठफलकाद्यर्थमपि वृक्षादीनामच्छेदनं– साधारणपिण्डस्याधिकतो न सेवनं–४ साधुवैयावृत्य-करणञ्चे–५ ति पञ्च तृतीयमहाव्रतस्य भावनाः —१५ स्त्री-पशु-पण्डकरहितवसतिसेवन १ स्त्रीकथा-वर्जनं–२ स्त्र्यङ्गोपाङ्गाऽनवलोकनम् ३ पूर्वकृतसुरतरतेरस्मरणं ४ प्रतिदिनं भोजनपरित्यागश्चे—५ ति पञ्च चतुर्थमहाव्रतस्य—२०

प्रशस्ताऽप्रशस्त शब्द १ रूप २ रस ३ गन्ध ४ स्पर्शेषु ५ रागद्वेषवर्जनं शब्दादिभेदात् पञ्च पञ्चममहाव्रतस्येति मिलिताः पञ्चविंशतिर्भावनाः कर्तव्याः ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वप्राणातिपातविरमणादिलक्षणानि पञ्चमहाव्रतानि प्ररूपितानि, सम्प्रति तेषां दार्ढ्यार्थमेकैकस्य महाव्रतस्य पञ्च–पञ्चभावना प्ररूपयितुमाह–**"तत्थेज्जट्टं ईरिया-इयापणवीसं भावणाओ–"** इति ।

और (५) आदाननिक्षेप ।

(२) सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाएँ–(१) सोचविचार कर बोलना (२) क्रोध का त्याग लोभ का त्याग (४) भय का त्याग (५) हास्य का त्याग करना ।

(३) अदत्तादानविरमणव्रत की पांच भावनाऍ- (१) अठारह प्रकार से विशुद्ध वसति (उपाश्रय–स्थान) की याचना करके सेवन करना (२) विशुद्ध पीठ–फलक आदि की याचना करना (३) वृक्ष आदि का छेदन न करना (४) साधारण पिण्ड (भोजन) का अधिक सेवन करना और (५) साधुओ की वैयावृत्य करना ।

(४) ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ– (१) स्त्री, पशुऔर पंडक से रहित स्थान में वास करना (२) स्त्रीयो सबंधी कथा न करना (३) स्त्री के अंगोपांगो का अवलोकन न करना (४) पूर्वकाल में अर्थात् गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगो का स्मरण न करना और (५) प्रति-दिन गरिष्ट भोजन का परित्याग करना ।

(५) परिग्रहत्यागमहाव्रत की पाँच भावनाऍ–(१) मनोज्ञ शब्दो में राग और अमनोज्ञ शब्दो में द्वेष न करना (२) मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ रूप में राग–द्वेष न करना (३) मनोज्ञ–अमनोज्ञ रस मे राग- द्वेष न करना (४) मनोज्ञ- अमनोज्ञ गंध मे राग–द्वेष न करना और (५) मनोज्ञ–अमनोज्ञ स्पर्श में राग–द्वेष न करना ।

पाँचों व्रतों की मिलकर ये पच्चीस भावनाएँ है । ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रतो का प्ररूपण किया गया है, उन व्रतो को दृढ करने के लिए प्रत्येक की पाँच–पाँच भावनाऍ कहते हैं —

तत्स्थैर्यार्थम्–ईर्यादिकाः पञ्चविंशतिर्भावना भावनीयाः, तेषां पूर्वोक्तस्वरूपाणां सर्वतः प्राणातिपातविरमणादिलक्षणानां पञ्चमहाव्रताना, देशतः प्राणातिपातादिविरतिलक्षणाऽणुव्रतानाञ्च स्थैर्यार्थं दृढतासम्पादनार्थम् ईर्यासमितिः–१ आदिपदेन–मनोगुप्तिः–२ वचोगुप्तिः–३ एषणा–४ आदाननिक्षेपणा–५ आलोच्यसम्भाषण–६ क्रोधप्रत्याख्यान–७ लोभप्रत्याख्यान–८ भयप्रत्याख्यान –९ हास्यप्रत्याख्यान–१० अष्टादशविधविशुद्धवसतेर्याचनापूर्वक सेवनम्–११ प्रतिदिनमवग्रहं याचित्वा तृणकाष्ठादिग्रहणम्–१२ पीठफलकाद्यर्थमपि वृक्षादीनामच्छेदनम्–१३ साधारणपिण्डस्याऽधिकतो न सेवनम्–१४ साधुवैयावृत्त्यकरणञ्च–१५ स्त्री-पशुनपुंसकसंसक्तशयनाऽऽसनवर्जनम्–१६ रागयुक्तस्त्रीकथावर्जनम्–१७ स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियदर्शनवर्जनम्–१८ पूर्वरताऽनुस्मरणवर्जनम्–१९ प्रतिदिनं भोजनरित्यागश्च२०

मनोज्ञा-ऽमनोज्ञस्पर्श–२१ रस–२२ गन्ध–२३ वर्ण–२४ शब्दानां–२५ रागद्वेषवर्जनञ्च-इत्येवं पञ्चविंशतिर्भावना भावनीयाः। तत्र-प्रथमाः पञ्चभावनाः ईर्यासमितेः [प्राणातिपातविरतेः] द्वितीयाः पञ्चभावना असत्यविरतेः तृतीयाः पञ्चभावनाः स्तेयविरते., चतुर्थ्यः पञ्चभावनाः ब्रह्मचर्यस्य, पञ्चम्यः पञ्चभावनाः परिग्रहविरतेरवगन्तव्याः।

उन पूर्वोक्त व्रतो को स्थिर रखने के लिए ईर्या आदि पच्चीस भावनाएँ करनी चाहिए सर्वथा प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रतो को तथा एकदेश प्राणातिपातविरमण रूप अणुव्रतो की स्थिरता–दृढता के लिए निम्नलिखित भावनाओं का सेवन करना चाहिए

(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) एषणा (५) आदाननिक्षेपण (६) आलोच्यसभाषण–सोच–विचार कर बोलना (७) क्रोध का त्याग (८) लोभ का त्याग (९) भय का त्याग (१०) हास्य का त्याग (११) अठारह प्रकार से विशुद्ध वसति (स्थान) का सेवन (१२) प्रतिदिन अवग्रह की याचना करके तृण काष्ट आदि को ग्रहण करना (१३) पीठ–फलक आदि के लिए भी वृक्ष आदि का छेदन न करना (१४) साधारण पिण्ड का अधिक सेवन नहीं करना (१५) साधुओ की सेवा करना (१६) स्त्री पशु और पंडक (नपुंसक–हिजड़ा) के संसर्ग वाले शयन आसन स्थान का सेवन न करना (१७) रागपूर्वक स्त्रियों की कथा न करना (१८) स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियो का अवलोकन न करना (१९) पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण न करना (२०) प्रतिदिन गरिष्ठ भोजन का त्याग करना (२१–२५) मनोज्ञ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द में राग और अमनोज्ञ स्पर्श आदि में द्वेष न करना।

यह पच्चीस भावनाएँ है। इनमे प्रारंभ की पाँच प्राणातिपातविरति की है। दूसरी पाँच असत्यविरमणमहाव्रत की तीसरी पाँच अदत्तादानमहाव्रत की. चौथी पाँच ब्रह्मचर्यमहाव्रत की और अन्तिम पाँच परिग्रहपरित्यागमहाव्रत की हैं इनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है (१) ईर्यासमिति–ईर्या का अर्थ है गमन करना। गमन में समिति अर्थात् सगतता या आगम के अनुसार प्रवृत्ति होना

तत्र तावद्—ईरणं गमनम् ईर्या, तस्यां समितिः—सङ्गतिः श्रुतरूपेणाऽऽत्मनः परिणतिः, तदुपयोगेन पुरस्तात् युगमात्रया दृष्ट्या स्थावरजङ्गमानि भूतानि परित्यजन् अप्रमत्तः सन् गच्छेदित्यादिरूपो विधिरीर्यासमितिरुच्यते मनोगुप्तिश्च—मनसो रक्षणम्, आर्तरौद्रध्यानाऽप्रचारः—धर्मध्याने उपयोगश्च—२

वचोगुप्तिश्च—एषणासमितिरूपा—३ एषणा च—त्रिविधा, गवेषणा—१ ग्रहण—२ ग्रास—३ भेदात्। तस्यामेषणायामसमितस्य षण्णामपि कायानामुपधानापत्तिः स्यादतस्तत्संरक्षणार्थं सकलेन्द्रियोपयोगलक्षणा एषणा समितिः कर्तव्या—४ आदाननिक्षेपणासमितिस्तु—औधिको—१ पग्रहिक—२ भेदेन द्विविधस्योपधेर्ग्रहण—स्थापनलक्षणयोरादान—निक्षेपणयोरागमानुसारेण प्रत्यवेक्षण-प्रमार्जनरूपा समितिरुच्यते— ५

आलोकितपानभोजनन्तु—प्रतिगृहं पात्रमध्यपतितपिण्डस्य चक्षुराद्युपयोगेन तत्समुत्थागन्तुकसत्त्वसरक्षणार्थं प्रत्यवेक्षणं कर्तव्यम्, उपाश्रयमागन्य च पुनरपि प्रकाशयुक्ते प्रदेशे स्थित्वा। पानभोजनं सुप्रत्यवेक्षितं कृत्वा प्रकाशप्रदेशावस्थितेन वल्गनं कर्तव्यमिति बोध्यम्, इत्येवं रीत्या—एताः—पञ्चभावनाः पुनः पुनर्भावयन् वासयन् बाहुल्येन सम्पादयन् समस्तान्यप्राणातिपातलक्षणामहिंसां

ईर्यासमिति है, तात्पर्य यह है कि उपयोग के साथ चार हाथ भूमि को देखते हुए, स्थावर और त्रस जीवों को बचाते हुए अप्रमत्त होकर गमन करना चाहिए।

मनोगुप्ति मन की रक्षा करना। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान न होने देना, धर्मध्यान में मनको लगाना।

(३) वचनगुप्ति वचन का निरोध करके मौन धारण करना या आवश्यकता होने पर सोच विचार कर हित मित भाषण करना।

(४) एषणासमिति—शुद्ध आहार आदि की गवेषणा करना एषणा तीन प्रकार की है—गवेषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा जो एषणामें यतनावान् नहीं होता, वह छह काय के जीवों का घात करता है, अतएव उससे बचने के लिए सब इन्द्रियो से उपयोग लगा कर एषणासमिति का पालन करना चाहिए।

(५) आदाननिक्षेपणासमिति साधु वेग औधिक—और औपग्रहिका कारण परने पर जो लिया जाय दोनो प्रकार की उपधि के रखने और उठाने में यतना करना अर्थात् आगमोक्त विधि से उसका प्रतिलेखन करके एवं प्रमार्जन करके रखना उठाना चाहिए। अथवा

आलोकितपानभोजन—प्रत्येक घर में पात्र में पड़े हुए आहार को नेत्रो द्वारा देख लेना चाहिए जिससे उसमें उत्पन्न हुए या इधर—उधर से आये हुए जीवो की रक्षा हो। उपाश्रय में आकर प्रकाश युक्त स्थान में स्थित होकर पुनः भोजन—पानी को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए और प्रकाशयुक्त स्थान में ही उसका सेवन करना चाहिए। इन पाँच भाव-

पातुं समर्थो भवतीति भावः ॥

अथाऽनृतविरतिलक्षणसत्यवचनस्य दार्ढ्यार्थं पूर्वोक्तपञ्चभावनासु प्रथमं तावद् अनुवीचिभाषणमुच्यते, अनुवीचिशब्दो देशीय आलोचनार्थकः। तथाच–समीक्ष्य–आलोच्य वचनप्रवर्तनम्–अनुवीचिभाषणं बोध्यम्, अनालोचितवक्ता कदाचिन्मृषाऽपि ब्रूयात्, ततश्चात्मनो लाघव वैर–पीडाः खलु–ऐहिकानि फलानि स्युः, परप्राणोपघातश्चाऽवश्यंभावी, अतः समीक्ष्योदाहरणेनात्मानं भावयन् न मृषाभाषणजनितपापेन सम्पृक्तो भवति–१ क्रोधस्य–कषायविशेषस्य मोहकर्मोदयनिष्पन्न-प्रद्वेषप्रायस्याऽप्रीतिलक्षणस्य प्रत्याख्यानं–निवृत्तिरनुवृत्तिर्वा, तेन–क्रोधप्रत्याख्यानेन। सततमात्मानं भावयेत्- तथा भावयन् वासयंश्च सत्यादि न व्यभिचरतीति–२ ॥

एवं–लोभप्रत्याख्यानं तावत्–तृष्णालक्षणस्य लोभस्य प्रत्याख्यानं परित्याग. तेना ऽप्यात्मानं भावयन् न वितथभाषी भवति –३ एवं–भयशीलस्य भीरुत्वस्य प्रत्याख्यानेनाऽपि–आत्मानं भावयन् नाऽनृत कदाचिद् वदति, भयशीलो जनः कदाचिद् वितथमपि भाषते। चौरोऽथ पिशाचो वा मया रात्रौ दृष्ट इति, तस्माद्–निर्भयवासनाध्यानमात्मनि भावयेत् –४

नाओ को पुनः–पुनः भाने वाला अहिंसाव्रत की रक्षा करने मे समर्थ होता है।

असत्यविरमण व्रत को दृढ़ता के लिए कही हुई पाँच भावनाओ में से पहले अनुवीचिभाषण का कथन करते हैं।

(१) अनुवीचिभाषण–यहाँ 'अनुवीचि' शब्द देश्य है और उसका अर्थ है–आलोचना तात्पर्य यह हुआ कि सोच–समझ कर वचनो का प्रयोग करना अनुवीचि भाषण करना है। बिना सोचे–समझे बोलने वाला वक्ता कदाचित् मिथ्या (असत्य) भाषण भी कर बैठता है। उससे अपनी लघुता होती है तथा वैर, पीडा आदि इह लोक सबंधी अनर्थ उत्पन्न होते है। उससे दूसरे के प्राणो का घात भी अवश्य होता है। अतएव अनुवीचिभाषण से जो अपने आपको भावित करता है, वह मृषाभाषण के दोष का भागी नहीं होता।

(२) क्रोधप्रत्याख्यान–मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले द्वेषरूप क्रोधकषाय का त्याग करना चाहिए और अपनी आत्मा को क्रोधप्रत्याख्यान से भावित करना चाहिए। जो क्रोधत्याग की भावना करता है, वह प्रायः सत्य का उल्लंघन न करके उसका पालन करने में समर्थ होता है।

(३) लोभप्रत्याख्यान—लोभ का अर्थ है तृष्णा। उसका त्याग करना लोभप्रत्याख्यान कहलाता है। जो लोभ का त्याग कर देता है उसे असत्यभाषण नहीं करना पड़ता।

(४) भयप्रत्याख्यान - भय असत्य भाषण का कारण है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा को निर्भयता से भावित करता है, वह असत्य भाषण नहीं करता। भयशील मनुष्य मिथ्याभाषण भी करता है। जैसे आज रात्रि में मुझे चोर दिखाई दिया, पिशाच दिखा आदि। इस

एवं—मोहोद्भवपरिहासलक्षणहास्यपरिणत आत्मा परिहास कुर्वन् परेण सह वितथमपि भाषेत, तस्मात् तस्य प्रत्याख्यानेना—ऽऽत्मानं भावयन् सत्यव्रतपालनक्षमो भवति १० एवं—खलु—अनुवीच्य-वग्रहयाचनं तावद्—आलोच्या ऽवग्रहयाचनरूपं बोध्यम्—११ अवग्रहश्च—देव राज—गृहपतिशय्यातर—साधर्मिक—भेदेन पञ्चविधः तत्र यो यत्र स्वामी स एव याचनीयः। अस्वामिकग्रहण दोषा धिक्यं स्यात्, तस्मादालोच्या—ऽवग्रहो याच्य इत्येवमात्मनि भावयेत् इत्थञ्च भावयन् ना—ऽदत्ता दाने प्रवर्तते इति।

अभीक्ष्णावग्रहयाचनं तावत् स्वामिना सकृद्दत्तेऽपि परिग्रहे मुहुर्मुहुरवग्रहयाचनरूपं बोध्यम् पूर्वलब्धपरिग्रह—ग्लानाद्यवस्थासु उच्चारप्रस्रवणपात्रहस्तपादप्रक्षालनस्थानानि स्वामिचित्तपीडापरिहारार्थं याचनीयानि।

एव मेतावत्परिमितं सर्वत क्षेत्रमवग्रहीतव्यम् इत्येतदेवा—ऽवधारणरूपम् एतावदित्यवग्रहा—ऽवधारणं बोध्यम् १२ एवं—पीठफलकाद्यर्थमपि वृक्षादीनामच्छेदनं ज्ञेयम् —१३ एवं—साधारणपिण्डस्यापि सेवनं नाऽधिकतः—अपितु —गुरुभिरनुज्ञापितमेव पानभोजनं गृहीतव्यम् गुरुणा मनुज्ञया

कारण असत्य से वचने के लिए अपनी आत्मा में निर्भयता की भावना जागृत करनी चाहिए।

(५) मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले परिहास से युक्त व्यक्ति हँसी—मजाक में असत्य भाषण करता है। अतएव हँसी—मजाक के त्याग की भावना से भावित होना चाहिए। जो परिहास का त्याग कर देता है, वह सत्यव्रत का पालन करने में समर्थ होता है। (१०)

(११) इसी प्रकार सोच—विचार कर अवग्रह की याचना करना चाहिए, यह अनुवीचि अवग्रहयाचना नामक भावना है। अवग्रह—(आज्ञा) पाँच प्रकार का है—(१) देव का (२) राजा का (३) गृहपति का (४) शय्यातर का और (५) साधर्मिक का। जो जिसका स्वामी हो, उसके लिए उसीसे आज्ञा लेना चाहिए। जो स्वामी न हो उससे अगर याचना की जाय तो अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति होती है। अतएव सोच—विचार कर ही अवग्रह की याचना करनी चाहिए। जो इस भावना से युक्त होता है, वह अदत्तादान में प्रवृत्ति नहीं करता।

(१२) अभीक्ष्ण अवग्रहयाचना—स्वामी ने एक वार कोई वस्तु प्रदान कर दी हो फिर भी वारंवार उसकी याचना करना अभीक्ष्ण अवग्रहयाचना है। पूर्व प्राप्त वस्तु के लिए—अर्थात् रुग्णावस्था आदि में उच्चार प्रस्रवण के पात्र रखने के लिए, हाथ आदि प्रक्षालन के स्थान आदि के लिए पुनः याचना करना चाहिए जिससे उसके स्वामी के चित्त में पीड़ा न उपजे। इसी प्रकार सब ओर से इतना—इतना स्थान हम ग्रहण करेंगे, इस प्रकार निश्चित करके उसका अवग्रह लेना चाहिए।

(१३) पीठ—फलक अर्थात् पीढ़ा तथा पाटा आदि के लिए भी वृक्ष आदि का छेदन न करना अदत्तादानव्रत की तीसरी भावना है।

(१४) जो आहार साधारण हो अर्थात् अनेक साधुओं का सम्मिलित हो, उसमें से

स्वीकृतं पानभोजनं सूत्रोक्तविधिना भुञ्जीत, औधिकौपग्रहिकभेदमुपधिरूपं वस्त्रादिकमपि सर्वगुरुभिरनुज्ञातं वन्दनपूर्वकं गुरुवचनविधिना परिभोक्तव्यम्, एवं रीत्या–ऽऽत्मनि भावयन् वासयंश्चा–ऽस्तेयव्रतं नातिक्रामति. । १४

एवं साधुवैयावृत्यकरणमपि बोध्यम् १५ एवं–ब्रह्मचर्यस्य मैथुनविरतिलक्षणस्य पूर्वोक्तासु-पञ्चभावनासु स्त्री–पशु–नुपुंसकसंसक्तशयनासनवर्जनं तावत् देव–मनुष्य स्त्री–तिर्यग्जातिवडवा-गो महिष्य–जा–ऽऽविकादिभिः सह संसक्ता–ऽऽसन–शयनादिपरित्यागरूपं बोध्यम्, ताभिः सह प्रतिश्रयसंस्तारका–ऽऽसनादिबह्वपायत्वाद्वर्जनीयमित्येवं वासयन्नात्मानं भावयेदिति ।१६

एवं–स्त्रीपशुनपुंसकानामसद्भावेऽपि रागसंयुक्तस्त्रीकथावर्जनं कर्तव्यम्, मोहोद्भवकषायरूपरा-गाकारपरिणतियुक्ता रागजननी खलु स्त्रीकथा देश–जाति–कुल–नेपथ्य–वचना–ऽऽलापगति–विलास–विभ्रम–भ्रूभङ्ग–कटाक्ष–हास्य–लीला–प्रणयकलह–शृङ्गाररसपरिपूर्णा सती वात्येव [वंटोलियाजैसे] चित्तोदधिं नूनमेवविक्षोभयति, - तस्मात् रागानुवन्धिस्त्रीकथावर्जनं श्रेय इति भावयेत्. १७

एवं–स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियालोकनवर्जनं कर्तव्यम्, तासां कमनीयकुचकलशाद्यवलोकनादिविरतिः खलु श्रेयसी वर्तते इत्येवं भावयेत् १८ एवं–पूर्वरतानुस्मरणवर्जनं कर्तव्यम्, साध्ववस्थायां

लेकर अधिक का सेवन न करना चाहिए। जिस और जितने आहार को ग्रहण करने की गुरु की अनुमति हो, उतना ही ग्रहण करना चाहिए। गुरु की आज्ञा से ग्रहण किये हुए आहार पानी का सूत्रोक्त विधि के अनुसार उपभोग करना चाहिए। इसी प्रकार औधिक एव औपग्रहिक उपधि–वस्त्र आदि सभी कुछ गुरु की आज्ञा से, वन्दनपूर्वक, गुरु के कथनानुसार ही काम में लाना चाहिए। इस प्रकार की भावना वाला अदत्तादान विरमणव्रत का उल्लंघन नहींकरता।

(१५) सदा साधु का वैयावृत्य करना चाहिए।

(१६) ब्रह्मचर्यव्रत की पूर्वोक्त पाँच भावनाओ में से स्त्री–पशु–पंडक से रहित स्थान के सेवन का तात्पर्य है देव–मनुष्यस्त्री, तिर्यंचजाति–घोडी, गाय, भैस, बकरी, भेड आदि के सम्पर्क वाले आसन–शयन आदि का त्याग करना। जिस स्थान में यह हो उसमें निवास करने से अनेक हानियाँ होती है। अतएव ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने के लिए इस भावना से आत्मा को वासित करना चाहिए।

(१७) स्त्री, पशु, पंडक का सद्भाव न हो तो भी रागयुक्त होकर स्त्री कथा अर्थात् स्त्रियो सबंधी वार्त्तालाप का त्याग करना चाहिए। मोह जनित राग रूप परिणति से युक्त स्त्री कथा, जिसमें देश, जाति, कुल, वेषभूषा बोलचाल, गति, विलास, विभ्रक, भ्रूभंग (भौंहों का मटकाना), कटाक्ष, हास्य, लीला, प्रणय कलह आदि शृङ्गार रस सम्मिलित है, उससे परिपूर्ण होने के कारण ववंडर के समान चित्त रूपी समुद्र को क्षुब्ध कर देती है। अतएव राग सबंधित स्त्रीकथा का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

गृहस्थदशानुभूतरतक्रीडाद्यनुस्मरणात् कामाग्नि संदीपनं [सन्धुक्षणं] भवति, तस्मात्–तद्वर्जनं श्रेयः इति स्वात्मनि भावयेत् । १९

एवं–प्रणीतरसभोजनवर्जनं कर्तव्यम्, प्रणीतस्य–वृष्यस्य स्निग्धमधुरादिरसस्य दुग्ध–दधि–हैयङ्गवीन–घृत–गुड–तैलादिभक्षणेन मेदो–मज्जा–शुक्राद्युपचयादपि मोहोद्भवो भवति, तस्मात्–निरन्तराभ्यासेन प्रणीतरसभोजन वर्जनीयमिति ब्रह्मचर्यरक्षार्थमात्मनि भावयेत् २०

एवं–बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहशून्यस्य श्रमणस्य पञ्चानां रूप–१रस२गन्ध–३स्पर्श–४शब्दानां–मनोज्ञानामिन्द्रियार्थाना प्राप्तौ गार्ध्यतर्जनम् अमनोज्ञानाञ्च तेषां प्राप्तौ द्वेषवर्जनं कर्तव्यमित्यात्मनि भावयेत् २५

"उक्तञ्च समवायाङ्गे पञ्चविंशतितमे २५ समवाये–"**पंचजामस्स पणवीसं भावणाओ पण्णत्ताओ, तंजहा–ईरियासमिति, मणगुत्ती, आलोयभायणभोयणं आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई, अणुवीइभासणया, कोहविवेगे, लोभविवेगे, भयविवेगे, हासविवेगे, उग्गह अणुण्णवणया, उग्गहसीमजाणणया, सयमेव उग्गहं अणुगिण्हणया, साहम्मिउग्गहं अणुण्णवियपरिभुंजणया, साहारणभत्तपाणं अणुण्णाविय पडिभुंजणया, इत्थी पसुपंडगसंसत्तसयणासणवज्जणया, इत्थीकहवज्जणया इत्थीणं इंदियाण मालोयणवज्जणया, पुव्वरत्तपुव्वकीलियाणं–अणणुसरणया, पणीयाहारवज्जणया, सोइंदियरागोवरई, चक्खिंदियरागोवरई, घाणिंदिय रागोवरई, जिब्भिंदियरागोवरई फासिंदियरागोवरई,** इति ।

पञ्चयामस्य पञ्चविंशतिर्भावनाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–ईर्यासमितिः–१ मनोगुप्तिः–२ वचो-

---

(१८) स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियो को देखने से भी बचना चाहिए । उनके मनोरम कुच आदि के अवलोकन से विरत होना ही श्रेयस्कर है, ऐसी भावना करनी चाहिए ।

(१९) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगो का स्मरण नहीं करना चाहिए । साधु–अवस्था में गृहस्थदशा में भोगे हुए भोगो का स्मरण करने से कामाग्नि प्रदीप्त हो जाती है । अतएव उनके स्मरण का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है ।

(२०) प्रतिदिन विना कारण पौष्टिक भोजन भी नहीं करना चाहिए । बल–वीर्यवर्धक स्निग्ध-मधुर आदि रसो का सेवन करने से तथा दूध, दही, घृत, गुड़ तैल आदि का सेवन करने से मेद, मज्जा एवं शुक्र आदि धातुओ का उपचय होता है और उससे मोह की उत्पत्ति होती है । अतएव हमेशा, अभ्यास रूप में पौष्टिक रसो के सेवन का त्याग करना चाहिए । ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इनका त्याग आवश्यक है ।

(२१–२५) इसी प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण को मनोज्ञ रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की प्राप्ति होने पर राग और अमनोज्ञ रूप आदि की प्राप्ति होने पर द्वेष नहीं करना चाहिए । इन भावनाओ से अपरिग्रह महाव्रत में दृढ़ता आती है ।

गुप्तिः—३ आलोकितभाजनभोजनम्—४ आदानभाण्डामत्रनिक्षेणासमितिः—५ अनुवीचिभाषणम्—६ क्रोधविवेकः—७ लोभविवेकः—८ भयविवेक—९ हास्यविवेकः—१० अवग्रहानुज्ञापनता—११ अवग्रहसीमाज्ञानता—१२ स्वयमेवावग्रहानुग्रहणता—१३ साधर्मिकावग्रहमनुज्ञाय परिभुंजनता—१४ साधारणभक्तपानमनुज्ञाप्य परिभुञ्जनता—१५ स्त्रीपशुपण्डकससक्तकशयनासनवर्जनता—१६ स्त्रीकथा-वर्जनता—१७ पूर्वरतपूर्वक्रीडितानामननुस्मरणता—१८ स्त्रीणामिन्द्रियालोकनवर्जनता—१९ प्रणीता-हारवर्जनता—२० श्रोत्रेन्द्रियरागोपरतिः—२१ चक्षुरिन्द्रियरागोपरतिः—२२ घ्राणेन्द्रियरागोपरतिः—२३ जिह्वेन्द्रियरागोपरतिः—२४ स्पर्शेन्द्रियरागोपरतिः—२५ इति ॥ १२ ॥

मूलसूत्रम्—"हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं चउग्गइभमणं च—" ॥ १३

छाया—"हिंसादिषूभयलोके घोरदुःखं चतुर्गतिभ्रमणं च" ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे प्राणातिपातादिविरमणलक्षणेषु पञ्चसु व्रतेषु प्रतिव्रतमधिकृत्य पञ्च—पञ्चभावनाः प्ररूपिताः, सम्प्रति—सामान्यतः सर्वव्रतसाधारणी भावनाः प्रतिपादयितुमाह "हिंसादिसु" इत्यादि ।

हिंसादिषु—प्राणातिपाता-ऽनृत-स्तेया-ऽब्रह्मचर्य-परिग्रहेषु पञ्चसु वक्ष्यमाणास्रवेषु—उभयलोके,

---

समवायांगसूत्र के पचीसवें समवाय में कहा है—

पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाएँ कही है, वे इस प्रकार है—(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) आलोकितपानभोजन (५) आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति (६) अनुवीचिभाषण (७) क्रोधविवेक (८) लोभविवेक (९) भयविवेक (१०) हास्यविवेक (११) अवग्रहानुज्ञापनता (१२)अवग्रहसींमाज्ञानता (१३) स्वयमेवावग्रहानुग्रहणता (१४) साधर्मिको की अनुमति लेकर आहार आदि भोगना (१५) सामान्य आहार—पानी की अनुमति लेकर भोगना (१६) स्त्री-पशु पण्डकरहित शयनासन का त्याग करना (१७) स्त्री कथा का त्याग (१८) पूर्व भोगे हुए भोगो का स्मरण न करना (१९) स्त्रियो की इन्द्रियो के अवलोकन का त्याग करना (२०) प्रणीताहारवर्जन (२१) श्रोत्रेन्द्रियरागोपरति—शब्द के विषय मे राग न करना (२२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय में राग नकरना (२३) घ्राणेन्द्रिय के विषय में राग न करना (२४) जिह्वा-इन्द्रिय के विषयमें राग न करना और (२५) स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में राग न करना ॥१२॥

सूत्रार्थ—'हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं' इत्यादि सूत्र १३

हिंसादि पाप करने पर इह—परलोक में घोर दुःख होते है और चारो गतियो में परि-भ्रमण करना पड़ता है ॥१३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रतों में से प्रत्येक की पाँच—पाँच भावनाओ की प्ररूपणा की, अब ऐसी भावनाओं का निरूपण करते है जो सभी व्रतो की स्थिरता के लिए समान है—

इहलोके परलोके च नरकादिजन्मनि घोरदुःखं, तद्विपाकान्नरकादिषु तीव्रयातनानुभवनं तद्भावयेत् ज्ञानपूर्वकक्रियानुष्ठानेन हिंसादिषु—ऐहिक, पारलौकिकनरकादिजन्माऽनर्थपरम्परां गर्हितनारकादितीव्रदु.खानुभवनञ्चोपलभमानो जीवः प्राणातिपातादिषु न प्रवर्तते इति भाव. घोरदुःखमेव हिंसादिषु सर्वत्र भावयेत्, चतुर्गतिभ्रमणञ्च—नरक—तिर्यङ्—मनुष्य—देवगतिरूपचतुर्गतिषु भ्रमणञ्च भवति हिंसादिनेति भावयेत् ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वतो—देशतश्च हिंसा—ऽनृत—स्तेया--ऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिलक्षणेषु पञ्चमहाव्रता--ऽणुव्रतेषु प्रतिव्रतं पञ्च—पञ्चभावना तेषां दाढर्च्यार्थं प्ररूपिताः, सम्प्रति—सर्वव्रतसामान्यभावना' प्ररूपयितुमाह—"**हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं, चउग्गइभमणं च**—"इति

हिंसादिषु—हिंसा-ऽसत्य-स्तेय-मैथुन परिग्रहेषु पञ्चसु वक्ष्यमाणा सर्वेषु तिष्ठतामुभयलोकेऽस्मिन् परलोके च नरकादौ घोरदु'खं **तीव्रयातना**, तद्विपाकजन्यतीव्रनारकादियातनानुभवनम् "मा भूयाद्" इति भावनया व्रतीजीवो हिंसादिषु कथञ्चिदपि न प्रवर्तते। तथाचेहैव तावद् हिंसादिषु प्रवृत्तस्य जनस्या—ऽमी प्रत्यवाया दरीदृश्यन्ते,

---

प्राणातिपात. मृषावाद, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पाँचो आस्रवो का सेवन करने से दोनो लोको में अर्थात् इस लोक मे और नरक आदि परलोक में घोर दुःख भुगतना पड़ता है। इन आस्रवो के फलस्वरूप नरक आदि में तीव्र यातनाएँ भोगनी पड़ती है, ऐसी भावना करनी चाहिए अर्थात वार—वार ऐसा विचार करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जो जीव ज्ञानपूर्वक क्रिया का अनुष्ठान करता है और हिंसा आदि पापो के आचरण से इह—परलोक सबंधी अनर्थों के होने का चिन्तन करता है, नरक आदिमें होने वाले अत्यन्त तीव्र दुःखो का विचार करता है उसकी हिंसा आदि में प्रवृत्ति नहीं होती। इस कारण ऐसी भावना करनी चाहिए कि हिंसा आदि पापो में सर्वत्र दुःख ही दु ख है। इन पापो का सेवन करने वाले नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव—इन चारो गतियो में भ्रमण किया करते है॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति --इससे पूर्व पूर्णरूप से हिंसा आदि से विरतिरूप पाँच महाव्रतों और देशविरति रूप पाँच अणुव्रतों में से प्रत्येक की स्थिरता के लिए पाँच—पाँच भावनाओ का कथन किया गया है। अव ऐसी कतिपय भावनाओं का प्ररूपण किया जा रहा है जो सभी व्रतों के लिए समान है—

हिसा असत्य चौर्य, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच आस्रवों का सेवन करने वालों को इसी लोक में और नरक आदि परलोक मे तीव्र दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। हिंसा आदि के फलस्वरूप घोर यातनाएँ सहन करनी पडती है! कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी इन दु'खो को सहन करना पडे। इस प्रकार वार—वार विचार करने वाला व्रती पुरुष हिंसा आदि में प्रवृत्ति नहीं करता।

नरकादौ चा-ऽमुत्र दारुणो ह पापविपाको भवतोति भूयो भूयो भावयेदिति । तत्र प्राणिवधे तावत् घोरदुःखं प्रदर्श्यते, हिंसनशीले हिंस्रो जनः सततमुद्वेजयिता संत्रासकारी भवति, स खलु-हिंस्रो भीषणवेषो ललाटरचितकुटिलभ्रूभङ्गो नितान्तेर्ष्यामर्षनिर्भरनेत्रदृढदन्तदष्टोष्ठः प्राणिनां संत्रासजनको भवति, नित्यानुबद्धवैरश्च संजायते, एवञ्चे-हलोकेऽपि वंशदलकशादिभिस्ताडनं निगडश्रृंखलादि भिर्बन्धनं विविधकाष्ठेष्टकारोपणादि परिक्लेशञ्च प्रतिलभते,

प्रेत्यच-नरकादिगति प्रतिप्राप्नोति लोके गर्हितो निन्दितश्च भवति, पूर्वजन्मोपार्जिताऽशुभकर्म विपाकोऽयं खलु "एतस्य मम पापिनो वराकस्ये" त्येवं सम्भावयतश्च विवेकबलात् 'प्राणिवधाद् व्युपरमः श्रेयान् इति तस्य दृढनिश्चयः समुत्पद्यते इति भावः । एवम् हिंसादिना नारकतिर्यङ् मनुष्यदेवगतिरूपचतुर्गतिससारे भ्रमणम् नरकनिगोदादिषु अनन्तजन्म मरणादिकं घोरातिघोरं दुःख प्राप्नुवन्ति ।

अथ-हिंसको जनो यथा प्रत्यवायेन लिप्यते, एवम् असत्यवादी जनोऽपि प्रत्यवायभा-

---

हिसा आदि पापो का आचरण करने वाले को प्रथम तो इसी लोक में अनेक प्रकार की मुसीबते झेलनी पड़ती है और आगामी जन्मों में जाकर भयानक कष्ट सहने पडते है, इस प्रकार पुनः पुनः चिन्ता करना चाहिए। हिंसा करने से किस प्रकार घोर दुःख सहन करने पड़ते है, इसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

हिंसक जन सदैव त्रासदायक एवं भयकर होता है। वह भयानक वेष धारण करता है, अपनी भोहे ललाटपर चडा लेता है। उसके चित्त में ईर्ष्या और द्वेष का वास होता है। अतएव इसकी आकृति भीषण होती है। वह दांत पीसता है, होठ चबाता है और उसके नेत्रो से क्रूरता टपकती है। वह प्राणीयों के लिए बड़ा ही त्रास जनक होता है। सदैव वैर बाँधे रहता है उसे इसी जन्म में लाठियो से और कोडो से पीटा जाता है, हथकड़ियों और बेड़ियों से बाँधा जाता है और विविध प्रकार के काष्ठों एवं ईंटो आदि का आरोपण करके कष्ट पहुँचाया जाता है।

परलोक में उसे नरक आदि दुर्गति प्राप्त होती है। वह लोक में गर्हित और निन्दित होता है। उस समय उसे इस तथ्य का निश्चय होता है कि—मुझ पापी को पूर्व जन्ममें उपार्जित पापों का ही यह फल भोगना पड़ रहा है। इस प्रकार की भावना करता हुआ वह सोचता है कि हिंसा से विरत होना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार हिसा आदि कुकृत्यो के आचार से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति रूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। नरक और निगोद आदि में अनन्त—अनन्त जन्म—मरण करके घोर—अतिघोर दुःख सहन करने पडते है।

जैसे हिसक को अनेक अनर्थो का सामना करना पडता है। इसी प्रकार असत्यवादी-जन भी दुःखो का भागी होता है। लोक में उसके वचन पर कोई विश्वास नहीं करता।

भवति लोकेऽश्रद्धेयवचनश्च संजायते एवमैहिकं प्रत्यवायजन्यम् असत्यभाषणप्रयुक्तं जिह्वाच्छेदन-श्रोत्र–नासिकाच्छेदनादिकं प्रतिगर्हितं फलं लभते, नारकादितीव्रयातनादुःखञ्चाऽऽमुष्मिकं फलं लभते

एवमनृतभाषणजनितदुःखयुक्तेभ्यो बद्धवैरेभ्यो जिह्वाच्छेदनादि पूर्वोक्तदोषाऽपेक्षयाऽपि यातना विशेषानधिकान् वधबन्धादीन् दुःखहेतून् प्राप्नोति तीव्राशयो जन स्तीव्रस्थित्यनुभावमेव कर्मो--पादत्ते–प्रेत्यचा–ऽशुभां तीव्रनारकादियातनामासदयति, तस्मादनृतभाषणस्यैवंविधविषमफलविपाक-मात्मन्यनुभावयन् **"तद्व्युपरमःश्रेयान्"** इतिरीत्या विचार्या–ऽनृतभाषणाद् व्युपरतो भवति,

यथाच प्राणातिपाता ऽसत्यभाषणाऽनुष्ठायिनः प्रत्यवाययुक्ता भवन्ति, एवं परद्रव्यहरणप्रसक्त-मतिरपि स्तेनः सर्वस्योद्वेजको भवति अपह्रियमाणद्रव्यादिधनस्वामिन उद्वेगं समुत्पादयति, [तेन] इहलोकेऽन्यद्रव्यापहरणजन्यताडनपीडनकशाद्यभिघातनिगडशृंखलादि बन्धनकर-चरण-श्रोत्र-नासिकौ ष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादिकं प्रतिलभते, प्रेत्य च नारकादितीव्रयातनागति प्राप्नोति, तस्मात्-स्तेयाद्व्युपरमः श्रेयान् इति भावयन चौर्याद् व्युपरतो भवति, यथा-खलु प्राणातिपाताऽसत्यभाषणस्तेयाऽनुष्ठायिनः प्रचुरान् प्रत्यवायान प्राप्नोति ।

असत्य भाषण करने वाले की जीभ काट ली जाती है, कान और नाक का छेदन किया जाता है। इस प्रकार असत्यवादी अत्यन्त निन्दनीय फल भोगता है। परलोक में उसे नरक आदि की तीव्र यातनाएँ एवं घोर दुःख सहन करने पडते हैं।

इस प्रकार असत्य भाषण से जीव नाना प्रकार के दुःखो से युक्त होता है। दूसरों के साथ उसका वैर बंध जाता है। जिह्वा छेदन आदि के कष्ट उसे प्राप्त होते है। इन सब पूर्वोक्त दोषो की अपेक्षा भी उसे वध- बन्धन आदि दुःखो के विशेष कारण प्राप्त होते है। जिसका अध्यवसाय तीव्र होता है, वह दीर्घ स्थिति और तीव्र अनुभाव (रस) वाले कर्मों का बन्ध करता है। फलस्वरूप परलोक में तीव्र अशुभ वेदना का वेदन करता है। असत्य भाषण के इस प्रकार के फल–विपाक की विचारणा करने वाले के चित्तमें उससे अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह सोचता है कि असत्य भाषण से विरत होना ही श्रेयस्कर है! इस तरह के विचार के फलस्वरूप वह असत्य भाषण से विरत हो जाता है।

जैसे प्राणातिपात और असत्य भाषण करने वालों को अनर्थों का सामना करना पडता है, उसी प्रकार परकीय द्रव्य के अपहरण में आसक्त चोर को भी अनर्थ भोगने पड़ते है। वह सबके लिए त्रासदायक होता है। वह जिसके धन को चुराता है, उसे वडा ही उद्वेग उत्पन्न होता है। इस पापकृत्य का सेवन करने से चोर को ताड़न, पीडन चाबुकों की मार, हथकड़ियो–बेड़ियों का बन्धन, हाथो पैरों कान नाक होठ आदि अवयवों का छेदन–भेदन, सर्वस्वहरण आदि–आदि दुष्परिणाम भुगतने पड़ते है। परलोक में भी उसे नरक आदि की तीव्र यातनाएँ भोगनी पड़ती है। अतएव चोरी से विरत हो जाना ही कल्याणकर है। इस प्रकार की भावना करने वाला चोरी से निवृत हो जाता है।

एवमब्रह्मसेविनोऽपि कामिनीविलासविशेषविभ्रमोद्भ्रान्तस्वान्ताः विप्रकीर्णेन्द्रियवृत्तयस्तुच्छविषये प्रवर्तितेन्द्रियाः मनोज्ञेषु शब्दरसगन्धस्पर्शेषु अनुरक्ताः सन्तो मदोन्मत्तगजेन्द्रा इव निरङ्कुशा इष्टानिष्ट प्रवृत्तिनिवृत्तिविचाररहिताः कुत्रापि न शर्म लभते, मोहाभिभूताश्च कर्त्तव्याकर्तव्य विवेकरहितत्वात् सर्वमपि कर्म शोभनमेव मन्यमानाः कर्तुं प्रवर्तन्ते ग्रहाविष्टपुरुषवत् ।

परस्त्रीगमनप्रयुक्ताश्चेहलोके वैरानुबन्धलिङ्गच्छेदनवधबन्धनसर्वस्वापहरणादीन् अपायान् प्रतिलभते, प्रेत्यच नारकादिगतिं प्राप्नुवन्ति, तस्मान्मैथुनतो व्युपरमः श्रेयान् इति भावयन् ततो व्युपरतो भवति। एवं—परिग्रहवानपि जनस्तस्करादीनामाक्रमणीयो भवति, यथा—कश्चित्पक्षी मांसपेशीकरः श्येनादिपक्षिभिः आममांसभक्षिभिरभिभवनीयो भवति ।

तथैव-परिग्रहीजनोऽपि तस्करादिभिरभिभूयते, तदपार्जनरक्षणक्षयप्रयुक्ताश्च दुःखपरिश्रमशोकादिदोषान् प्रतिलभते, परीग्रहशीलस्य शुष्केन्धनैरग्नेरिव द्रव्यादिभिस्तृप्तिर्न भवति, लोभाभिभ-

---

जैसे प्राणातिपात, असत्य भाषण और चौर्य करने वालों को बहुत से अनर्थों का सामना करना पडता है, उसी प्रकार अब्रह्म का सेवन करने वालो को भी नाना प्रकार के दुःख भोगने पडते है। कामिनी के हाव भाव को देख कर जिनका चित्त उद्भ्रान्त हो जाता है, जिनकी इन्द्रियाँ काबू में नहीं रहतीं और तुच्छ विषयों में प्रवृत्त होती है, जो मनोज्ञ शब्द रूप गंध रस और स्पर्श में, जो राग के कारण है, अनुरक्त होकर मदमाते हाथी के समान निरंकुश हो जाते है, इष्ट प्रवृत्ति और अनिष्टनिवृत्ति के विचार से शून्य है, उन्हें कहीं पर भी सुख—शान्ति प्राप्त नहीं होती। वे मोह से ग्रस्त होकर कृत्य—अकृत्य के विवेक से रहित होने के कारण अपने प्रत्येक कार्य को ठीक समझते है। उनकी दशा ऐसी हो जाती है जैसे उन्हें भूत लगा हो।

जो पुरुष परस्त्री लम्पट होते है, वे इस लोक में बहुतो से वैर बाँधते है और इन्द्रियछेदन, वध बन्धन, सर्वस्व हरण आदि अनर्थों को प्राप्त करते है। परलोक में नरक आदि गति में जाकर दुःख भोगते है। इस कारण मैथुन से निवृत्त हो जाना ही श्रेयस्कर है: इस प्रकार की भावना करने वाला पुरुष मैथुन से विरक्त हो जाता है।

इसी प्रकार परीग्रहवान् जन पर चोर—लुटेरे आक्रमण करते है। जैसे कोई पक्षी मांस का खंड चोच में दवा कर उड रहा हो तो मांस भक्षण करने वाले श्येन आदि दूसरे पक्षी उस पर झपटते है, उसी प्रकार परिग्रही पुरुष को तस्कर आदि सताते हैं! उन्हे प्रथम तो धनादि परिग्रह के उपार्जन के लिए दुःख सहन करना पड़ता है, फिर उसकी रक्षा के लिए परिश्रम करना पडता है; इतना सव करने पर भी अन्त में जब उसका विनाश हो जाता है तो घोर—शोक का अनुभव करना पडता है।

जैसे सूखे ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार लालची परिग्रही को धन

वाच्चं कर्त्तव्याकर्तव्यविवेकरहितत्वान्महदनिष्टं प्राप्नोति, प्रेत्यच नारकादितीव्रयातनागतिं प्राप्नोति लुब्धोऽयं जन इतिच लोके स गर्हितो भवति, तस्माद्—परिग्रहतो व्युपरतिः खलु श्रेयसी' इत्यात्मनि-भावयन् परिग्रहाद् व्युपरतो भवति ।

लोभरूपया तृष्णापिशाचिकया वशीकृतचित्तो न कानपि प्रत्यवायान् पश्यति, लोभग्रस्तो जनः पितरमपि धनार्थं व्यापादयति—मातरमपि ताडयति हिनस्ति च सुतमपि हन्तु मुद्यतो भवति भ्रात्रा-दीनपि द्रव्यार्थं जिघांसति किं बहुना—स्वप्राणप्रियां प्रेयसीमपि तदर्थं हन्ति एवमन्यानपि बहूनर्थान् करोति—इति लोभाभिभूतो जनः किमपि कार्यमकार्यं न परिगणयति, तस्मात्—परिग्रहेऽनर्थान् बहून् भावयन् ततो निवृत्तिं समासादयति हिंसादिषु पञ्चसु दुःखमेव च भावयेत् ।

एवञ्च——हिंसादिपञ्चकं यथा मम दुःखजनकत्वादप्रियं भवति, एवं सर्वेषामपि प्राणिनां-हिंसादिकं वधबन्धनच्छेदनादिहेतुकमप्रियं भवति, इत्यात्मानुभवेन सर्वेषां दुःखं हिंसां भावयन् प्राणातिपाताद् विरतिः श्रेयसीति भावनया तस्माद् व्युपरतो भवति । एवं—यथा ममाऽसत्य

से तृप्ति नहीं होती, चाहे कितना ही क्यो न प्राप्त हो जाय । जो लोभ से अभिभूत होता है, वह कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य के विवेक से रहित हो जाता है और इस कारण महान् अनिष्ट को प्राप्त करता है । परलोक में नारकों संबंधी तीव्र यातनाएँ उसको भुगतनी पड़ती हैं । दुनिया लालची कह कर उसकी निन्दा करती है । अतएव परिग्रह से निवृत्त हो जाना ही हितकर है। इस प्रकार की भावना करने से जीव परिग्रह से निवृत्त हो जाता है ।

लोभ का अंग यह जो तृष्णा रूपी पिशाचनी है , इसके वशीभूत हो जाने वाले पुरुष किसी प्रकार के अनर्थों की परवाह नहीं करते । उन्हें कोई अनर्थ ही नहीं दीख पड़ते । लोभग्रस्त मनुष्य धन के लिए अपने पिता के भी प्राण हरण करने से नहीं झिझकता । वह अपनी माता को भी मारता यहाँ तक कि मार डालता है । अपने बेटे का वध करने को भी उद्यत हो जाता है । सहोदर भाई को भी संहार करने का विचार करता है । अधिक क्या कहा जाय; अपनी प्राणप्रिया पत्नी के भी प्राणों का ग्राहक बन जाता है इसी प्रकार के अन्याय अनर्थ भी करने में सकोच नही करता । लोभी मनुष्य कार्य और अकार्य को कुछ भी नहीं गिनता ।

इस प्रकार जो पुरुष लोभ से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करता है, वह परिग्रह से विरत हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त ऐसी भावना भी करनी चाहिए कि ये हिंसा आदि पाँचों पाप दुःख स्वरूप ही हैं !

जैसे हिंसा आदि पाँचों दुःखजनक होने के कारण मुझे अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियो को भी वध बन्धन छेदन आदि से होने वाली हिंसा आदि अप्रिय है । इस प्रकार अपने निज के अनुभव से जो हिंसा को दुःखमय सोचता है, वह प्राणातिपात आदि से निवृत्त हो जाता है ।

भाषणादि बहुमहद्दुःखमुपजायते, एवं सर्वेषामपि प्राणिनामसत्यभाषणाऽभ्याख्यानेना–ऽभ्याख्यानहेतुकं महद्दुःख मस्मिन् लोके भवति।

परलोके तु–असत्यभाषणपरो यत्र जन्म मासादयति, तत्र–तत्र च तथाविधैरेवा–ऽसत्यभाषणाभ्याख्यानै रभियुज्यमानः सदा महद्दुःखमनुभवतीति भावयन् अनृतभाषणा द्विरतो भवति। एवं यथा तस्करादिभि र्ममेष्ट द्रव्यापहरेण भवति भूतपूर्वं च तथा सर्वप्राणिना मपि द्रव्यापहारे भवतीत्यात्मानुभवेन भावयन्नदत्तादानाद् विरतो भवति।

एवं मैथुनस्यापि राग–द्वेषमूलकत्वाद् हिंसादि वदेव दुःखजनकत्वेन–लोकसमाजगर्हितत्वेन च दुःखजनकत्वं भावयन् तस्माद्विरतो भवति। अथ स्त्रीणामुपभोगे यतोऽधरपानादि संस्पर्शजनितसुखविशेषाऽनुभव एव लौकिकशास्त्रकारिभिः सडिण्डिम मुद्घुष्यते–संशब्द्यते तदनुयायिभिश्च रागानुसारिभिर्वाचैरिव तत्किमिति तस्य दुःखात्मकत्वमितिचेद्–? अत्रोच्यते–

यथा खलु–क्षय–कुष्ठादयो व्याधिविशेषा भैषज्योपयोगेन–पथ्या–ऽऽसेवनेन चांशतः–समुच्छिद्यमाना अपि पुनः पुनरुद्भवन्ति, एवं–कामदेवव्याधयोऽपि न खलु मैथुनसेवनेन सर्वथा शान्ता अभवन्–न वा भवन्ति–भविष्यन्ति च। तथाचोक्तम्–

"न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ १ ॥ इति

तस्मात्–कर्मणां क्षयोपशमादयः क्षेत्र–काल–द्रव्य–भावाऽपेक्षिणो नात्यन्तिकं सुखमुपजन-

---

इसी प्रकार जैसे असत्यभाषण से मुझे महान् दुःख उत्पन्न होता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियो को असत्यभाषण से तथा मिथ्यादोषारोपण आदि से घोर कष्ट पहुँचता है। इस तरह का विचार इसी लोक को लेकर करना चाहिए।

असत्यभाषी पुरुष मृत्यु के पश्चात् जहाँ जन्म लेता है, वहाँ उसे असत्य भाषण, मिथ्या दोषारोपण आदि का उसी प्रकार सामना करना पड़ता है जैसा उसने पहले स्वयं किया था। इससे उसे महान् दुःख का अनुभव करना पड़ता है।

ऐसी भावना करने वाला मिथ्या भाषण से निवृत्त हो जाता है। जैसे चोर–डाकुओं के द्वारा पहले मेरे धन के अपहरण से मुझे दुःख हुआ था, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी धन के अपहरण से दुःख होता है', इस प्रकार आत्मानुभव के आधार पर जो भावना करता है, वह अदत्तादान से निवृत्त हो जाता है।

इसी प्रकार से जो व्यक्ति मैथुन को राग–द्वेष मूलक होने, हिंसा आदि के समान दुःखजनक होने तथा लोक एवं समाज में गर्हित होने के कारण दुःखजनक होने की भावना करता है, वह मैथुन से विमुख हो जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा रखने वाले कर्मों के क्षयोपशम आदि

यितुं समर्था भवन्ति, केवलं तेषां किञ्चित्कालार्थं दुःखप्रतिबन्धमात्रकारित्वात् तस्मात् मूढास्तम-वस्थाविशेषं वस्तुतो दुःखमपि सुखमभिमन्यन्ते।

यथा—कण्डूयनं [गात्रखर्जनम्] कुर्वन् जनो दुःखमेव तदानीं सुखमभिमन्यते मोहात्, तथा—मैथुनमुपसेवमानोऽपि मोक्षप्रतिबन्धकीभूता—ऽनन्तानन्तसंसारभ्रमणादिदुःखमेव [आपातरम-णीयकम्-] स्पर्शसुखमभिमन्यते, तस्मान्मैथुनेऽपि—दुःखभावनाभावितचेतसो मैथुनाद् विरतिर्भवतीति।

एवं—धनादिषु ममत्वरूपपरिग्रहवान् जनोऽप्राप्तप्राप्तनष्टेषु धनादिवस्तुषु क्रमशोऽभिलाषा-रक्षणशोकोद्भवं दुःखमेव सर्वथा प्राप्नोति तस्माद्—अप्राप्तेषु वस्त्रादिवस्तुषु प्राप्त्यभिलाषां कुर्वन् तद-नासादयन् दुःखमेवाऽनुभवति प्राप्तेषु च तेषु राज—तस्करा—ऽनल—दायाद—मूषिकादिभ्यो रक्षणे सततमुद्विग्नः सन् दुःखमेवासादयति, विनष्टेषु च तेषु परिग्रहेषु तद्वियोगजनितोऽसह्यःस्मृत्यनु-षङ्गलक्षणः शोकानलो नितरां सन्तापयति।

तस्मात्—तेषु परिग्रहेषु दुःखमेव भावयतो जनस्य परिग्रहाद् विरमो भवति, एवं रीत्या—प्राणा-तिपाता—ऽनृतभाषण—स्तेयो—ऽब्रह्म—परिग्रहेषु दुःखमेव भावयतो व्रतिनः पञ्चव्रतेषु स्थिरता लक्ष-

---

आत्यन्तिक सुख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते है। वे तो कुछ समय के लिए दुःख का प्रतीकार मात्र करते है अतएव मूढजन उस अवस्था—विशेष को, दुःखरूप होने पर भी सुख मानते है।

जैसे खाज खुजलाने वाला पुरुष अज्ञानवश दुःख को भी उस समय सुख मान लेता है, उसी प्रकार मैथुन सेवन करने वाला भी मुक्ति के विरोधी एवं अनन्तानन्त ससार परिभ्रमण के कारण, आपातरमणीय भोगों—दुःख को भी स्पर्शसुख समझलेता है। इस प्रकार मैथुन में दुःख की भावना से जिस का चित्त भावित होता है, वह मैंथुन से निवृत हो जाता है।

इसी प्रकार धन आदि पर ममता धारण करने वाला जन धन प्राप्त न हो तो उसकी लालसा करता है, प्राप्त हो जाय तो उसकी रक्षा करने का दुःख भोगता है और नष्ट हो जाय तो शोकजनित दुःख का भागी होता है। वस्त्र आदि वस्तुओ को प्राप्त करने की अभिलाषा हो और वह प्राप्त न हो सके तो दुःख का ही अनुभव होता है। कदाचित् उसकी प्राप्ति हो जाय तो राजा, चोर, अग्नि, भागीदार और चूहो आदि से उसे बचाने के लिए सदैव उद्विग्न रहना पड़ता है। इस प्रकार उद्वेगजन्य दुःख का अनुभव करना पड़ता है जब रक्षा करते—करते भी वह परिग्रह चला जाता है, तो उसके वियोग से उत्पन्न होने वाले असह्य शोक की अग्नि उसे अत्यन्त सन्तप्त बनाती है। इस प्रकार परिग्रह प्रत्येक दशा में दुःखरूप ही है। जो ऐसी भावना करता है, वह परिग्रह से विरक्त हो जाता है।

पूर्वोक्त प्रकार से प्राणातिपात, असत्यभाषण, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में दुःख ही दुःख है, ऐसी भावना करने वाले व्रती की पाँचो व्रतो में दृढता उत्पन्न होती है।

णदृढताभवतीति भावः। उक्तञ्च–स्थानाङ्गे–४–स्थाने२–उद्देशके२८२–सूत्रे—

संवेगिणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा–इहलोगसंवेगिणी, परलोगसंवेगिणी, आयसरीरसंवेगिणी, परसरीरसंवेगिणी। णिव्वेयणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा––इहलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥१॥ इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥२॥ परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥३॥ परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा परलोगे दुहविवागफलसंजुत्ता भवंति ॥४॥ इहलोगे सुचिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥१॥ इहलोगे सुचिण्णा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति–॥२॥ एवं चउभंगो–"

सवेगिनीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–इहलोकसवेगिनी, परलोकसवेगिनी, आत्मशरीरसवेगिनी, परशरीरसवेगिनी। निर्वेदिनीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–इह लोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इहलोके दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति–॥१॥ इह लोके दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोके दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति ॥२॥ परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इह लोके दुःखफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥३॥ परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोके दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति ॥४॥ इहलोके सुचीर्णानि कर्माणि इहलोके सुखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति ॥१;। इह लोके सुचीर्णानि कर्माणि परलोके सुखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति ॥२॥ एवं चतुर्भंग', तथाच–परलोके सुचीर्णानि कर्माणि इहलोके सुखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति ॥३॥ परलोके सुचीर्णानि कर्माणि परलोके सुखफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥४॥

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के दूसरे उद्देशक के सूत्र २८२ में कहा है–

संवेगिनी अर्थात् वैराग्यवर्द्धक कथा चार प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है–(१) इहलोकसंवेगिनी (२) परलोकसवेगिनी (३) आत्मशरीरसवेगिनी और (४) परशरीरसंवेगिनी। निर्वेदिनी कथा चार प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है–(१) इसलोक में दुश्चीर्ण कर्म इसलोक में दुःखरूप फलविपाक से सयुक्त होते हैं (२) इस लोक में दुश्चीर्णकर्म परलोक में दुःखरूप फलविसे सयुक्त होते है (३) परलोक में दुश्चीर्ण कर्म इस लोक में दुःखरूप फलविपाक से संयुक्त होते है (४) परलोक में दुश्चीर्ण कर्म परलोक में दुःखरूप विपाक से सयुक्त होते हैं।

(१) इस लोक में सुचीर्ण कर्म इस लोक में सुखरूप फलविपाक से सयुक्त होते हैं अर्थात् सुखरूप फल प्रदान करते है (२) इस लोक में सुचीर्ण कर्म परलोक में सुखरूप फल प्रदान करते है, इत्यादि चारो भंग पूर्ववत् समझ लेने चाहिए। अर्थात् परलोक में सुचीर्ण कर्म इस लोक में सुखरूप विपाक से सयुक्त होते है और परलोक मे सुचीर्ण कर्म परलोक में सुखरूप फलविपाक से संयुक्त होते हैं. यह दोनों भंग भी समझ लेते चाहिए.

इत्येवं चत्वारो भङ्गाः—सुचीर्णकर्मसुखफलविपाकाना बोध्याः। संवेद्यते—संवेग्यते संसारा-ऽसारताप्रदर्शनेन मोक्षाभिलाषउत्पाद्यतेऽनयेति सवेदनी—संवेगिनी। तत्र—या कथा संसारस्याऽसा-रतां प्रदर्श्य भव्यजीवेषु मोक्षाभिलाषां जनयति, सा संवेगिनी बोध्या, यथा—मल्लीकुमारी स्वस्या मनुरक्तान् षडपि भूमिपालान् विज्ञाय तेभ्यः ससारासारतां प्रदर्श्य—विनीय मोक्षाभिलाषं जनयामास।

तथाचोक्तम्—"यस्याः श्रवणमात्रेण मुक्तिवाञ्छा प्रजायते। संवेदनी यथा मल्ली षड्नृपान् प्रत्यबोधयत्" ॥१॥ निर्वेद्यते विषयभोगेभ्यो विरज्यते श्रोताऽनयेति निर्वेदनी, तथाचोक्तम्—"यदाकर्णनमात्रेण वैराग्यमुपजायते। निर्वेदनी यथा शालिभद्रो वीरेण बोधितः—" ॥१॥ यस्याः कथायाः श्रवणमात्रेणैव वैराग्यमुपजायते सा निर्वेदनीकथा—धर्मकथा प्रोच्यते, यथा—भगवान् महा-वीरः शालिभद्रं प्रतिबोधितवान् इति ॥१३॥

मूलसूत्रम्—"सव्वभूए—गुणाहिग—किलिस्समाणाविणेएसुं मित्ति—प्पमोयकारुण्ण—मज्झत्थाइं—,' ॥१४॥

छाया—"सर्वभूत-गुणाधिक-क्लिश्यमाना-ऽविनयेपु मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्य-स्थानि," ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—हिसादिनिवृत्तिलक्षणपञ्चव्रतसाधारणतया प्राणातिपातादिषु—इहाऽमुत्रे घोरदुःखभावना च प्ररूपिता, सम्प्रति तद्व्रतस्यैव दार्ढ्यार्थं सर्वसत्त्वादिषु मैत्र्यादिभा-

---

जो कथा संविग्न को अर्थात् संसार को असारता प्रदर्शित करके मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न करे वह संवेगिनी अथवा संवेदिनी कथा कहलाती है। जैसे राजकुमरी मल्ली ने अपने ऊपर अनुरक्त छह राजाओं को संसार की असारता दिखला कर और समझाकर उनमें मोक्ष की अभिलापा उत्पन्न कर दी थी। कहा भी है—

जिस कथा के श्रवण मात्र से मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, वह संवेदिनी कथा कहलाती है। जैसे मल्ली कुमारी ने छह राजाओ को प्रतिबोध दिया ॥१॥

जिस कथा के द्वारा श्रोता विषयभोगो से विरक्त होता है वह निर्वेदनी कथा कहलाती है। कहा भी है—

जिस कथा को सुनने से वैराग्य की उत्पत्ति हो, वह निर्वेदिनी कथा है जैसे भगवान् महावीर ने शालिभद्र को प्रतिबोध दिया था ॥१॥ सूत्र— ॥१३॥

सूत्रार्थ—'सव्वभूए गुणाहिग' इत्यादि सूत्र—१४

समस्त प्राणियों पर मैत्री भावना, अधिक गुणवानों के प्रति प्रमोद भावना, दुःखी प्राणियों पर करुणाभावना और अविनीतो पर माध्यस्थभावना रखनी चाहिए ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में हिंसा आदि पाँचों पापो की निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतों की सामान्य प्राणातिपात आदि में इह—परलोक में घोर दुःखभावना का निरूपण किया

वनाः प्ररूपयितुमाह "सव्वभूय-गुणाहिग-किलिस्समाणा विणेएसुं मित्तिपमोयकारुण्ण मज्झत्थाइं-" इति।

सर्वभूतगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि, इति। तत्र-सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु मैत्रीं भावयेत् गुणाधिकेषु स्वापेक्ष्यया-ऽधिकगुणवत्सु प्रमोदं-हर्षातिशयं भावयेत् क्लिश्यमानेषु क्लेशमनुभवत्सु च कारूण्य-दयादाक्षिण्यं भावयेत्, अविनयेषु-अविनीतेषु शठेषु च माध्यस्थ्यम्-औदासीन्य मुपेक्षावृत्तिं भावयेत्, एवंविध मैत्र्यादिभावनाभिः सर्वैः सह वैरादिकं विनष्टं भवतीति भावः।

तथाचोक्तम्—"सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु दयापरत्वम।
माध्यस्थ्यमावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ? ॥१॥ इति ॥ १४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं प्राणातिपातादिविरतिलक्षणपञ्चव्रतानां स्थिरतार्थं सर्वसाधारणतया हिंसादिषु ऐहिक-पारलौकिकाऽपायावद्यदर्शनरूपा भावना दुःखभावना च प्ररूपिता, सम्प्रति-तेषामेव व्रतानां परम्परया स्थिरतासम्पादनार्थं सर्वभूतादिषु मैत्र्यादिभावनाः प्रतिपादयितुमाह

गया; अब उन्हीं महाव्रतो की दृढता के लिए सवप्राणियो पर मैत्री आदि भावनओ की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–

सर्व प्राणियो, गुणाधिको, क्लिश्यमान जीवो और अविनीतों पर क्रमशः मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ भावना होनी चाहिए। अर्थात् सभी प्राणियो पर मैत्रीभावना धारण करे, जो अपनी अपेक्षा अधिक गुणवान् है, उनके प्रति प्रमोद—हर्षातिशय की भावना धारण करें, जो अपनो अपेक्षा अधिक गुणवान् है, उनके प्रति प्रमोद—हर्षातिशय की भावना धारण करें। जो जीव दुःख का अनुभव कर रहे है उन पर करुणाभावना रक्खें और जो अविनीत अर्थात् शठ है, अपने से विरुद्ध विचार और व्यवहार करते है, उसके प्रति मध्यस्थभाव धारण करे। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार मैत्री आदि भावनाओ से सव के प्रति वैर—विरोध नष्ट हो जाता है। कहा भी है—'सत्त्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदमित्यादि'।

हे देव! मेरी आत्मा प्राणिमात्र पर मैत्रीभाव धारण करे, गुणी जनों को देख कर प्रमोद का अनुभव करे, दुखी जनो पर करुणाभाव धारण करे और विपरीत व्यवहार करने वालों पर मध्यस्थभाव धारण करें ॥ १४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले प्राणातिपातविरति आदि पाँच व्रतो को स्थिरता के लिए सामान्य रूप से सभी व्रतो से सम्बन्ध रखने वाली दुखभावना का निरूपण किया गया, जिसमें यह बतलाया गया है कि हिंसा आदि का आचरण करने से इसलोक और परलोक में दुःख की प्राप्ति होती है। अव उन्हीं व्रतों की परम्परा से स्थिरता के लिए मैत्री आदि भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

"सव्वभूय–गुणाहिग–किलिस्समाणा विणएसुं मित्ति प्पमोयकारुण्णमज्झत्थाइं–" इति । **सर्वभूत गुणाधिक क्लिश्यमाना–ऽविनयेषु मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्यानि इति।**

तत्र यथाक्रमं सर्वसत्त्वेषु मैत्रीम् गुणाधिकेषु प्रमोदम्–२ क्लिश्यमानेषु कारुण्यम्– ३ अविनयेषु माध्यस्थ्यञ्च भावयेदिति बोध्यम् ।

तत्र–मेद्यति स्निह्यति, इति मित्रम्,, तस्य भावो मैत्री परहितचिन्तारूपा सकलप्राणिविषयः आत्मनः स्नेहपरिणामः, प्रमादादन्यथा वा कृतापकारेष्वपि प्राणिषु मित्रतां हृदये निधाय **"अहमेतस्य मित्रमस्मि" "एतेच मम मित्राणि सन्ति"** इति, नाऽहं मित्रद्रोहित्वं प्रतिपत्स्ये, मित्रद्रोहित्वस्य दुर्जनाश्रयत्वात् ।

तस्मात्–**"सर्वप्राणिनोऽहं क्षमे–"** इति सर्वसत्त्वान्प्रति भावयेत्, **"सम्यग् मनोवचनकायैः सर्वसत्त्वानहं सहे"** इत्येवं भावनया मित्रता यथार्थतया-ऽऽसाद्यते·। ये च मयाऽपकृताः प्राणिन स्तानपि मित्रत्वात् क्षमेऽहम् तथा च सर्वप्राणिषु मम मैत्री वर्तते, न केनापि मम वैरमिति,

स चैष वैरानुबन्धः प्रसृतप्रत्यवायशाखाशतसंबाधो मात्सर्यविषयोदयो भूयो भूयो विच्छिन्नबीजाङ्कुरप्रसवसमर्थोऽपि तीक्ष्णप्रज्ञाविवेकासिधाराच्छेदस्तिरस्कृतनिखिलशेषहेतुरपि मैत्री भावनया निरवशेषं समूलघातं प्रतिहन्तव्य इति बोध्यम्–। एवं-सम्यक्त्वादिगुणाधिकेषु व्रतिषु प्रमोदं-हर्षातिशयं भावयेत् ।

सब प्राणियों पर मैत्री, अधिक गुणवानो पर प्रमोद, दुःखी जनो पर दया और अविनीतों पर माध्यस्थ्यभाव धारण करना चाहिए ।

जो मेद्यति–स्निह्यति अर्थात् स्नेह करता है, वह मित्र कहलाता है । मित्र के भाव को मैत्री कहते है । दूसरे के हित का विचार करना मैत्री है । प्रत्येक प्राणी पर मैत्रीभाव होना चाहिए । प्रमाद से अथवा अन्य किसी कारण से किसी ने अपकार किया हो तो उनके प्रति भी मैत्रीभाव धारण करके ऐसा विचार करना चाहिए–मै इसका मित्र हूँ, ये मेरे मित्र है, मैं अपने मित्र के साथ द्रोह नहीं करूँगा, मित्र से द्रोह करना दुर्जनो का काम है–सत्पुरुषों का नहीं । इस कारण मैं समस्त प्राणियों पर क्षमाभाव धारण करता हूँ । इस प्रकार का भाव निरन्तर धारण करने से वास्तविक मैत्रीभाव की प्राप्ति होती है । जिन्होने मेरा अपकार किया है, वे भी मेरे मित्र है । उनके प्रति भी मेरे मन में क्षमाभाव है । सभी प्राणियों से मेरी मैत्री है । किसी के साथ मेरा वैर या विरोध नहीं है ।

वैरानुबन्ध बडा ही विषम है । उससे अनेक प्रकार के अनर्थों की सैकड़ों शाखाएँ फूटती है । ईर्ष्या–द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है । बार–बार काटने पर भी उसकी जड़ फिर हरी–भरी हो जाती हैं । बीजांकुर के समान उसकी परम्परा चलती रहती है । अतएव उसे जड़ से उखाड़ने के लिए तीव्र प्रज्ञा एवं विवेक रूपी खड्ग–धारा का उपयोग करना चाहिए । मैत्री भावना से ही विरोध का समूल नाश हो सकता है ।

तत्र–प्रमोदस्तावत् वन्दनस्तवनप्रसंशनवैयावृत्त्यकरणादिभिः सम्यक्त्वज्ञानचारित्र तपोऽधिकेषु मुनिवरेषु स्व-पर-तदुभयकृतसम्मानजन्यः सर्वेन्द्रियाभिव्यक्त आनन्दातिरेक उच्यते। तत्र–सम्यक्त्वं तावत् तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप बोध्यम्, ज्ञानञ्चे–ष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयक बोधरूपम् चारित्रञ्च–मूलोत्तरगुणभेदम् तपश्च बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधमवसेयम्।

एतैश्चो–पर्युक्तलक्षणैःसम्यक्त्वादिभिः श्रावकापेक्षया विशिष्टेषु श्रमणेषु स्वेन-परेण-तदुभाभ्या वा कृतवन्दनादिना मुनिजनगुणोत्कीर्तनसमये एकतान श्रवणसमुत्फुल्लनयनाविर्भूतरोमाञ्च कञ्चुकितगात्रयष्ट्यादिलिङ्गेन प्रकटितो मनःप्रहर्षः प्रमोदो व्यपदिश्यते तं भावयेदिति। एवम्-क्लेशमनुभवत्सु क्लिश्यमानेषु दीनेषु अनाथबालवृद्धादिषु कारुण्यं भावयेत् तत्र–कारुण्य खलु अनुकम्पारूपमुच्यते दीनोपरि–अनुग्रहः दयादृष्टिः, दीनत्वञ्च–मानसिकशारीरिकदुःखैरभिभूतत्वं बोध्यम्।

तत्र–करुणाक्षेत्रेषु सत्वेषु मिथ्यादर्शनानन्तानुबन्ध्यादिरूपमहामोहाभिभूतेषु मतिश्रुतविभङ्गज्ञानव्याप्तेषु इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारवर्जितेषु अनेकदुःखपीडितेषु दीनकृपणा-ऽनाथबालवृद्धादिषु अवि-

---

जो जीव सम्यक्त्व आदि गुणो में अपने से बढ़ कर है, विशिष्ट व्रती है, उन पर प्रमोद अर्थात् हर्ष की अधिकता की भावना करनी चाहिए।

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र या तप की अपेक्षा से जो अपने से अधिक है, उनको वन्दन करना; उनका स्तवन करना, उनकी प्रशंसा करना, वैयावृत्य आदि करना; सन्मान करना और समस्त इन्द्रियो से आनंद के अतिरेक को प्रकट करना प्रमोद कहलाता है।

इनमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते है। इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति विषयक बोध ज्ञान कहलाता है। मूलगुणो को और उत्तर गुणो को चारित्र कहते है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का तप है।

यह सम्यक्त्व आदि श्रावको की अपेक्षा श्रमणों में विशिष्ट रूप में पाये जाते हैं। अतएव उन्हे देखकर वन्दन आदि करना, उनके गुणो का उत्कीर्त्तन करना, एकाग्र होकर उनके प्रवचन को सुनना, नयनो का खिल उठना, हर्ष से रोमांच उत्पन्न हो जाना, इत्यादि चिह्नो से प्रकट होने वाला हर्ष प्रमोद कहलाता है। उसकी भावना करनी चाहिए।

इसी प्रकार जो जीव क्लेश के पात्र बने हुए है, दीन हैं, अनाथ है, बाल या वृद्ध है, उनके ऊपर करुणा भाव धारण करना चाहिए। करुणा का अर्थ है अनुकम्पा। दीनों पर अनुग्रह अर्थात् दया की दृष्टि रखनी चाहिए।

जो प्राणी मानसिक अथवा शारीरिक दुःखो से पीडित है, उन्हे दीन कहते हैं।

जो करुणा के पात्र है, मिथ्यादर्शन एवं अनन्तानुबन्धी आदि महामोह से ग्रस्त हैं, कुमति कुश्रुत एवं विभंग, ज्ञान से युक्त है, जो इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार से रहित हैं, अनेक दुःखो से पीडित है, दीन, दरिद्र, अनाथ, बाल वृद्ध है, उनके प्रति अविच्छिन्न करुणाभावना धारण

च्छिन्नं कारुण्यं भावयेत्, तथाविधं कारुण्यं भावयंश्च मोक्षोपदेशदेशकालापेक्षवस्त्राऽन्नपानप्रति-श्रयौ-षधादिभिस्ताननुगृह्णीयादिति ।

अविनेयेषु शठेषु जनेषु माध्यस्थ्यम् औदासीन्यम्—उपेक्षां भावयेत् । तत्र—विनीयन्ते शिक्षां ग्राहयितुं शक्यन्ते ये ते विनेया शिक्षार्हाः ये न तथा भवन्ति तेऽविनेयाः शिक्षाऽनर्हा उच्यन्ते । चेतना-अपि काष्ठ कुड्या-ऽश्मसन्निभाः ग्रहण-धारणेहा-ऽपोहशून्याः मिथ्यादर्शना-भिभूता दुष्टजनविप्रलब्धा उच्यन्ते, तेषु—औदासीन्यं भावयेत्,

तेषु—सदुपदेशादिकं शुद्धबीजमिवो-परभूमिषूप्तं न किमपि फलार्थकं भवति, तस्मा-त्तेषु—उपेक्षैव कर्तव्येति भावः । तथाचोक्तम्

परहितचिन्तामैत्री—परदुःखनिवारणं तथा करुणा— ।
परसुखतोषो मोदः—परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१॥ इति

उक्तञ्च सूत्रकृताङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे १५—अध्ययने ३—गाथायाम्—"**मित्तिं भूएहिं कप्पए—**" मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् इति ।

एवम्—औपपातिके १—सूत्रे २०—प्रकरणे चोक्तम्—

"**सुप्पडियाणंदा—**" सुप्रत्यानन्दाः इति । पुनस्तत्रैवौपपातिके भगवदुपदेशे चोक्तम्—

करनी चाहिए । करुणाभाव धारण करके उन्हें मोक्ष का उपदेश देना चाहिए तथा देश और काल के अनुसार वस्त्र, अन्न, पानी, स्थान, औषध आदि देकर उनका अनुग्रह करना चाहिए ।

अविनीत है—शठ है, ऐसे लोगों के प्रति उदासीनता का भाव धारण करना चाहिए । जिन्हें शिक्षा दी जा सकती हो, जो उनके योग्य हों, वे विनीत कहलाते हैं । जो शिक्षा के भी योग्य न हो वे अवीनीत हैं । वे चेतन होने पर भी लक्कड़ या दीवार के समान जड होते हैं । ग्रहण, धारण ईहा, अपोह से शून्य, मिथ्यात्व से ग्रस्त और दुष्टो द्वारा बहकाये होते हैं । ऐसे लोगो पर भी द्वेष न धारण करते हुए उदासीनता रखना चाहिए ।

ऊपर भूमि में बोया हुआ शुद्ध बीज भी जैसे फलवान् नहीं होता' उसी प्रकार ऐसे लोगों को दिया हुआ सदुपदेश सफल नहीं होता । अतएव उनके प्रति उपेक्षा रखना ही उचित है कहा भी है—'परहित चिन्ता मैत्री' इत्यादि ।

दूसरों के हित का चिन्तन करना मैत्री है, दूसरो के दुःख का निवारण करना करुणा है, दूसरो का सुख देखकर सुखी होना प्रमोद है और दूसरो के दोषो की उपेक्षा करना माध्यस्थ्य है ।

सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के १५ वें अध्ययन में, तीसरी गाथा में कहा है—'प्राणिमात्र पर मैत्रभाव धारण करना चाहिए ।'

औपपातिकसूत्र के प्रथम सूत्र के बीसवे प्रकरण में कहा है—'**सुप्पडियाणंदा**' अर्थात् दूसरों के सुख को देखकर आनन्द का अनुभव करना चाहिए ।' इसी सूत्र में भगवान् के उपदेश के

"साणुक्कोसयाए-" **सानुक्रोशतया,** इति । आचाराङ्गप्रकरणे श्रुतस्कंधे ८ अध्ययने ७-उद्देशे '५-गाथायाञ्चोक्तम्-"

"मज्झत्थो निज्जरापेही-समाहिमनुपालए" इति ।

'मध्यस्थो निर्जरापेक्षी-समाधिमनुपालयेत्' इति ॥१४॥

मूलसूत्रम्—"संवेगणिव्वेयणट्ठं जगकायसभावा य-" ॥१५॥

छाया—"संवेगनिर्वेदार्थं जगत्कायस्वभावौ-" ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे प्राणातिपातादिविरमणलक्षणव्रतस्थैर्यार्थं पञ्चव्रतसाधारणतया मैत्री कारुण्यमुदितोपेक्षाभावना प्ररूपिताः सम्प्रति- तस्यैव पूर्वोक्तपञ्चव्रतस्य स्थिरतार्थं पञ्चव्रतसाधारणतयैव भावनां प्ररूपयितुमाह—

"संवेगणिव्वेयणत्थं जगकायसभावा य" इति । सवेगनिर्वेदार्थम्-ससारभीरुत्वलक्षण-संवेगार्थम्, वैराग्यलक्षणनिर्वेदार्थञ्च यथाक्रमं जगत्काय-स्वभावौ च, ससारलक्षणजगत्-स्वभाव-शरीरलक्षणकायस्वभावञ्च भावयेत्, भूयो भूयः परिचिन्तयेत् । तत्र-जगत्पदार्थस्तावत् तांस्तान् देवमानुषतिर्यङ्नारकपर्यायान् अत्यन्तं गच्छति प्राप्नोतीति जगत् प्राणिनिवहः-

---

प्रकरण मे कहा है-**'साणुक्कोसयाए'** अर्थात दया युक्त होकरके ।

आचारांगसूत्र के, प्रथम श्रुतस्कंध में, आठवें अध्ययन के सातवे उद्देशक की पाँचवीं गाथा में कहा है—'अनगार मध्यस्थ-समभावी होकर तथा केवल कर्मनिर्जरा की ही इच्छा करता हुआ समाधि का पालन करे ।' ॥१४॥

सूत्रार्थ—'संवेगणिव्वेयणट्ठं' इत्यादि सूत्र-१५

सवेग और निर्वेद की वृद्धि के लिए जगत् के और शरीर के स्वभाव का चिन्तत करना चाहिए ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पहले के सूत्र में अहिंसा आदि व्रतो की स्थिरता के लिए सामान्य रूप से अर्थात् सभी व्रतो के लिए समान रूप से उपयोगी मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं का कथन किया गया, अब उन्हीं पाँचो महाव्रतादिकी दृढता के लिए समान रूप से उपयोगी अन्य भावनाओ का निरूपण करते है—

सवेग और निर्वेद के लिए ससार के और शरीर के स्वभाव का विचार वार-वार करना चाहिए । संसार से भयभीत होना सवेग है और विषयो से विरक्ति होना निर्वेद है । इन दोनों की वृद्धि और पुष्टि के लिए अनुक्रम से ससार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए अर्थात् जगत् के स्वभाव का पुन पुन. चिन्तन करने से सवेग की वृद्धि होती है और काय के स्वरूप का विचार करने से वैराग्य की वृद्धि होती है ।

विभिन्न मनुष्य तिर्यंच नारक और देव पर्यायो को जो गमन करता अर्थात् प्राप्त होता रहता है, उसे जगत कहते है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत का अर्थ है-जीवसमूह । अथवा

यद्वा—धर्माधर्माकाशकालपुद्गलादिद्रव्यसन्निवेशस्थानं जगत्—उच्यते, संसार इत्यर्थः । चीयते यः स कायः, चीयते वाऽस्मिन् अवस्थादिकमिति कायः शरीरम्, जगच्च—कायश्चेति जगत्कायौ तयोः स्वभावः-स्वरूपम् जगत्कायस्वभावः तौ चेति शब्दार्थः ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं हिंसादितो निवृत्तिलक्षणव्रतपञ्चकदृढतार्थं पञ्चव्रतसाधारणतयैव प्राणिमात्रादिषु मैत्र्यादिभावनाः प्रतिपादिताः सम्प्रति—तथाविधहिंसाद्यकुशलनूतनकर्मादाननिवृत्ति-परायणपञ्चव्रतधारिणां क्रियाविशेषप्रणिधानार्थं भावनान्तरं प्रतिपादयितुमाह—"**संवेगणिव्वेयणट्ठं जगकायसभावा य**" इति

संवेगनिर्वेदार्थम् जगत्कायस्वभावौ च पञ्चव्रतधारीजीवो भावयेत् । तत्र—संवेगार्थं जगत्स्वभावं भावयेत्, वैराग्यार्थञ्च कायस्वभावं भावयेत् । तत्र संवेगस्तावत् संसारभीरुत्वादिलक्षणः नानाविधोच्चावचप्राणिजातजन्म-मरणजरादिपीडाक्लेशकर्मविपाकपरिपूर्णसंसारसन्त्रास-इति भावः ।

निर्वेदस्तु—वैराग्यरूप. शरीरनिष्प्रतिकर्मतादिलक्षणो वोध्यः, वक्ष्यमाणवास्तुक्षेत्रादिदशविध-वाह्योपधिषु एव वक्ष्यमाणरागद्वेषादिचतुर्दशाभ्यन्तरोपधिषु चाऽनभिषङ्गः मूर्च्छाराहित्यम् अलोभात्मकः आत्मनः परिणाम इति भावः ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल आदि के रहने का जो क्षेत्र—स्थान—है, वह भी जगत् कहलाता है जिसे ससार कहते है ।

जिसका उपचय होता है, वह 'काय' कहलाता है, अथवा जिसमें अवस्था आदि का उपचय होता है, उसे काय कहते है । काय का अर्थ 'शरीर' है । संवेग और निर्वेद को बढाने के लिए जगत् के और शरीर के स्वरूप का वार—वार विचार करना चाहिए ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व हिंसापरित्याग आदि पाँचो व्रतो की दृढता के लिए पाँचों महाव्रत आदि के लिए साधारण मैत्री आदि भावनाओ का प्रतिपादन किया गया । अब हिंसा आदि अशुभ नवीन कर्मवन्ध की निवृत्ति में तत्पर पंचमहाव्रत धारी साधुओ की क्रियाविशेष के प्रणिधान के हेतु अन्यभावनाओं का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

पाँचमहाव्रतो आदि को धारण करने वाला जीव सवेग और निर्वेद के लिए जगत् के और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करे । अर्थात् संवेग के लिए जगत् के स्वभाव का और निर्वेद के लिए शरीर के स्वभाव का विचार करे ।

ससार के प्रति भीरुता होना सवेग है अर्थात् नाना प्रकार के उच्च और नीच प्राणियों के जन्म, मरण, जरा पीडा, क्लेश एवं कर्मविपाक से परिपूर्ण संसार के त्रास का विचार करना सवेग है।

वैराग्य को निर्वेद कहते है । इसका तात्पर्य है शरीर का साज—शृंगार आदि न करना । आगे कहे जाने वाले क्षेत्र, वास्तु, आदि दस प्रकार की वाह्य उपधि में और राग

तत्र—जगत्स्वभावस्तु—प्रियवस्तुविप्रयोग—विप्रियवस्तुसंप्राप्तिसमभीप्सिताऽलाभदारिद्र्यदौर्भाग्यदौर्मनस्यवधबन्धनाभियोगाऽसमाधिदुःखसवेदनलक्षणो वर्तते। एवं ससारे खलु संसारिणां सर्वस्थानानि अशाश्वतानि भवन्ति, धर्माधर्मादिद्रव्याणाञ्च परिणामित्वात् अनन्तपर्यायरूपेण गमनात्, तेष्वपि—धर्मादिषड्द्रव्येषु परिणामानित्यतां भावयेत्।

कायस्वभावस्तावत्—मातापित्रोः रजः शुक्रमेकीभूतं सद् गर्भजन्मनां प्राणिनां शरीरतया परिणतं भवति, इत्यादिलक्षण, संमूर्च्छनोपपातजन्मना प्राणिनां पुनरुत्पत्तिदेशावगाढस्कन्धादाननिर्माणानि शरीराणि नानाकाराणि अशुभपरिणामवन्ति परिशटनोपचयत्वात् विनश्वराणि भवन्ति इत्येवं लक्षणश्च बोध्यः।

परमार्थतस्तु—जीवाजीवद्रव्याणि जगत् पदेनोच्यते, तेषां पुद्गलद्रव्यादीना स्वभावाः अनादिसादियुक्ताः प्रादुर्भावतिरोभावस्थित्यन्यतानुग्रहविनाशात्मका भवन्ति। तथाहि—जीवस्यासख्येय-

---

द्वेष आदि चौदह प्रकार की आन्तरिक उपधि में आसक्ति—ममता न होना। तात्पर्य यह है कि निर्लोभतारूप आत्मा का परिणाम निर्वेद कहलाता है।

प्रिय पदार्थ का वियोग हो जाना, अप्रिय का सयोग होना इष्ट की प्राप्ति न होना, दरिद्रता होना, दुर्भाग्य होना, दुर्मनस्कता होना, वध, बन्धन, अभियोग, असमाधि और दुःख का अनुभव होना, ऐसा जगत् का स्वभाव है। ससार के सभी स्थान अशाश्वत है। कोई भी जीव या अजीव का ऐसा पर्याय नहीं जो स्थायी हो। धर्म और अधर्म आदि सभी द्रव्य परिणमनशील है। उनमें निरन्तर परिवर्त्तन होते रहते है। अतीतकाल में एक—एक द्रव्य की अनन्त अवस्थाएँ हो चुकी है और यह क्रम एक क्षण भी कभी रूकता नहीं है। इस प्रकार धर्म आदि छहो द्रव्यो में परिणति नित्यता की भावना करे, अर्थात् ऐसा विचार करे कि आत्मद्रव्य अजर अमर अविनाशी और नित्य होने पर पर्यायो की उपेक्षा से क्षण क्षण में रूपान्तरित होता रहता है। कभी देव कभी मनुष्य कभी तिर्यंच और नारक पर्याय का धारण करता है और वहाँ विविध प्रकार की आधि——व्याधियो को भोगता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यो की नित्यानित्यता का भी चिन्तन करे।

काय के स्वभाव का इस प्रकार विचार करे—माता और पिता का रज और वीर्य जब मिश्रित होता है, तो वह गर्भज प्राणियों के रूप में परिणत हो जाता है। सम्मूर्छिम और उपपात जन्म वाले जीवो के शरीर उत्पत्ति क्षेत्र में रहे हुए पुद्गलस्कंधो को ग्रहण करने से निर्मितहोते हैं। वे शरीर विविध आकारो के और अशुभ परिणमन वाले होते है। उनमें अपचय और उपचय अर्थात् बिछुड़ना और मिलना होता रहता है और वे सब विनश्वर होते है।

वास्तव में तो जगत शब्द से जीवऔर अजीव द्रव्यों का ग्रहण होता है। उन पुद्गल आदि द्रव्यो के स्वभाव अनादि—सादि युक्त होते है। प्रादुर्भाव (प्रगट) होना और तिरोभाव (छिपना) होना फिर भी द्रव्य रूप से स्थिति रहना, अन्य का अनुग्रह करना और पर्याय से विनष्ट होना, यह सब द्रव्यो का स्वभाव है।

प्रदेशत्व चेतनावत्त्वज्ञानवत्त्वादिः खलु परिणामोऽनादिर्भवति, कश्चित्पुनः परिणामस्तस्यैव जीवस्य देवत्व—मनुष्यत्वादिलक्षणः सादिर्भवति ।

पुद्गलद्रव्यस्यापि—मूर्तत्वरूप—रस—गन्ध—स्पर्शादिमत्त्वलक्षणः परिणामोऽनादिः किन्तु—घट-पटादिपर्यायलक्षणः परिणामस्तु सादिर्भवति । एवम्—धर्माधर्मरूपद्रव्यद्वयस्य लोकाकाशव्यापकत्वा-दिस्तावत् परिणामोऽनादिः । जीवपुद्गलादिगति स्थितिनियामकस्य तस्य तावद् धर्माधर्मद्रव्यद्वयस्य गतिस्थितिपरिणतिमज्जनितः परिणामः पुनः सादिर्भवति ।

एवं—लोकाकाशस्यापि—अमूर्तत्वासख्येयप्रदेशवत्त्वादिरनादिः परिणामः । अवग्राहकद्रव्यज-नितः परिणाम. पुनरवगाहलक्षण. सादिर्भवति । इत्येवं रीत्याऽनादिसादिपरिणामविशिष्टः पर्यायान्त-रोत्पादलक्षणः प्रादुर्भावो द्रव्याणा भवति । तिरोभावस्तु—सन्ततिरूपेणावस्थितौ वैस्रसिको विनाश-इत्यादिरूपो भवति । स्थितिर्ध्रौव्य तेषां द्रव्याणामनादिः परिणाम । एवम्—सर्वेषां द्रव्याणां परस्परं भेदलक्षणोऽन्यत्वरूपः परिणामोऽनादि. सम्भवति । जीवानाञ्च—परस्परोपकारादिलक्षणः परिणामो-ऽनादिः । विनाशस्तु—प्रायोगिकः परिणामः सादिर्वर्तते ।

असख्यातप्रदेशवत्त्व, ज्ञानवत्त्व आदि जीव के अनादि परिणाम है । उसके कोई—कोई परिणाम, जैसे देवत्व, मनुष्यत्व आदि, सादि भी होते है ।

इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का मूर्तत्त्व रूप, रस, गंध, और स्पर्शवत्व परिणाम अनादि है, घट—पट आदि पर्याय रूप परिणाम सादि है । धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकाशव्यापकत्व आदि परिणाम अनादि है । ये द्रव्य जीवो और पुद्गलो की गति और स्थिति के नियामक हैं, अतएव गतिशील और स्थितिशील जीव—पुद्गलो के परिणमन से उत्पन्न होने वाला धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का वह परिणाम सादि है ।

इसी प्रकार लोकाकाश का अमूर्त्तत्व एवं असंख्यातप्रदेशवत्वपरिणाम अनादि है; किन्तु अव-गाहक द्रव्यों के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवगाह परिणाम सादि है ।

इस प्रकार द्रव्यो में पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद रूप सादि परि-णाम होना ही प्रादुर्भाव और तिरोभाव है । अर्थात् नवीन पर्याय की उत्पत्ति को प्रादुर्भाव कहते हैं और पूर्वपर्याय के विनाश को तिरोभाव कहते है । यह सभी द्रव्यो में निरन्तर होते रहते है । वस्तु सतान (द्रव्य) रूप से अवस्थित रहती है, फिर भी उसमें स्वाभाविक और कारण जन्य विनाश होता ही रहता है ।

स्थिति या ध्रौव्य सभी द्रव्यो का अनादि परिणाम है । इसी प्रकार छहो द्रव्यों में परस्पर भिन्नता रूप जो परिणाम है, वह भी अनादि है, अर्थात् अनादि काल से प्रत्येक द्रव्य का ऐसा स्वरूप है कि वह किसी अन्य द्रव्य के रूप में परिणत नहीं होता । परस्पर में उपकार करना, यह जो जीव द्रव्य का परिणाम है, वह भी अनादि कालिन है । जीव का सादि परि-णाम तो पर्यायों के रूप में स्पष्ट ही है ।

इत्येवं तावत् पुनःपुनरालोच्यमानः खलु जगत्स्वभावः ससारतो भीरुत्वलक्षणाय संवेगाय सम्पद्यते,अज्ञानहिंसादिचेष्टितानां ससारानन्तफलदोपदर्शनात् तदुच्छेदार्थमहर्निशं सवेगमेव भावयतीति भावः । अचेतनानामपि नित्यानित्यमूर्तामूर्तरूपरसगन्धस्पर्शशब्दसंस्थानादिपरिणामशुभाशुभकल्पनानामनाद्यसन्तानैकस्वभावत्वमनुभवन् अरक्तमूढदृष्टी जगद् अन्यायन्यायचेष्टितानि भीतियुक्तानि अभयभूतानि च भावयन् संवेगवान् भवतीति भावः ।

एवम्—कायस्वभावस्तावद् अनित्यताजन्मप्रभृतिविनश्वरता बालकुमारयौवनप्रौढस्थविरावस्था पूर्वपूर्वावस्थोपमर्देनो-त्तरोत्तरावस्थास्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, तस्मादायुपः परिसमाप्तिपर्यन्तं शरीरस्य परिणामानित्यत्वं भावयेत् तदनन्तरं क्रोधेन वह्निना वा श्वानगृद्ध्रादिशकुन्तसम्पातेन वा वाता-तपशोषणेन वा विघटित. शरीराकारपरिणत पुद्गलप्रबन्धो द्व्यणुकादिस्कन्धभेदेन परमाणुपर्यवसानेन विभक्तत्वादनित्य उच्यते ।

बहुकालमपि चैष कायः कुङ्कुमा-ऽगुरु-कर्पुर-कस्तूरिका-ऽनुलेपनमिष्टान्न-पान-वस्त्राऽऽच्छादनादिना उपलालितः पालितश्चा-ऽकाण्ड एव विध्वंसमासादयति इत्येवं भावयतश्च शरीरे निर्ममत्वं

इस प्रकार बार—बार जगत् के स्वभाव का चिन्तन किया जाय उससे सवेग की प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह है कि अज्ञान एवं हिंसा आदि कृत्यो का अनन्त ससार रूप फल—दोष दिखाई देने से उनके त्याग के लिए रात—दिन संवेग की ही भावना होती है । सवेगवान् व्यक्ति जब यह अनुभव करता है कि अचेतन पदार्थों की भी नित्य—अनित्य, मूर्त्त—अमूर्त्त, रूप, रस गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि परिणाम की शुभ—अशुभ परिणति होती है ।

राग—द्वेष से रहित होकर अन्यायपूर्ण चेष्टाएँ भययुक्त है और न्यायसंगत चेष्टाएँ अभय रूप है, इस प्रकार की भावना करता हुआ संवेगवान् होता है ।

काम के स्वभाव का विचार इस प्रकार करना चाहिए—यह शरीर अनित्य है । जन्मकाल से लगाकर विनाशशील हैं । इसमें कभी बाल्यावस्था, कभी कुमारावस्था, कभी यौवनावस्था. कभी प्रौढावस्था और कभी वृद्धावस्था उत्पन्न होती है ! पूर्व—पूर्व अवस्था को विनष्ट करके आगे—आगे की अवस्थाएँ उत्पन्न होती है ! इस प्रकार यह शरीर आयु की समाप्ति पर्यन्त अनित्य है ! तत्पश्चात् क्रोध से, आग से, श्वान या गीध आदि पक्षियो के निमित्त से. हवा और धूप से सूख कर शरीर के आकार में परिणत हुए पुद्गलस्कंध बिखर जाते हैं । बिखरते—बिखरते द्वयणुक आदि रूप धारण करते हुए अन्त में परमाणुओ के रूप में विभक्त हो जाते है इस प्रकार यह शरीर अनित्य है !

दीर्घ काल तक इस शरीर का कुंकुम. अगर. कपूर कस्तूरी आदि का लेपन करके, मिष्टान्न, पान, वस्त्राच्छादन आदि से लालन—पालन किया जाता है, फिर भी असमय में ही विध्वंस को प्राप्त हो जाता है !

भवति । ततश्च-संवेगवैराग्ये भवतः । किञ्चा-ऽन्यः खलु कायस्वभावो दुःखहेतुत्वं भवति । तत्र-पीडारूपबाधालक्षणं दुःखम्, सा च बाधा शरीरस्वान्ताश्रया भवति,

ततश्च-यावत्कालपर्यन्तं शरीरं तिष्ठति तावदपि शरीराश्रयो दुःखोपभोगो न व्यवच्छिन्नो भवति कर्मपुद्गलात्मप्रदेशानां परस्परानुगतौ नीरक्षीरवदविभागे सति आत्मनः कर्मपुद्गलहेतुको दुःखानुभवो भवति, ततश्च कायस्य दुःखहेतुतां भावयन् भव्यआत्माऽस्य शरीरस्या-ऽऽत्यन्तिकोच्छेदाय प्रयतते । एवं निःसारत्वमपि कायस्वभावो वर्तते, तथाहि त्वङ् मांस-मज्जादिपटलमेदेन परिवेष्ट्यमानेऽपि अस्मिन्-शरीरे कदलीगर्भ इव मेदोऽस्थिपञ्जराऽऽन्त्रजजलमलमूत्रकफपित्तमज्जादिसमुदाये न कोपि सारभागः समुपलभ्यते,

अपितु--निःसार उपलभ्यते खलु अकालभङ्गुरोऽयं काय इत्येवं भावयतः शरीरे मूर्च्छालक्षणेऽभिष्वङ्गो न भवतीति । एवम्-अशुचित्वमपि कायस्वभावो वर्तते, तत्रा-ऽशुचित्वञ्च-लोकप्रसिद्धं शरीरे एवं बाहुल्येन दरीदृश्यते । तथाहि-गर्भव्युत्क्रान्तिकमानुषशरीरस्य खलु मूलं कारणं शुक्रशोणिते भवतः, तदनन्तरञ्च तयोरेव शुक्ररजसो कलल-बुदबुदमांसपेशीप्रभृतिपरिणामः किञ्चिन्मासानन्तरं शिरः पाणिपादाद्यवयवाऽभिव्यक्तिमातृभक्षिताहारनिःस्यन्दप्रवाहपूरितरसहरणीकुल्या-

इस प्रकार चिन्तन करने से शरीर के प्रति जो ममत्व होता है, वह दूर हो जाता है। इससे संवेग और वैराग्य की उत्पत्ति होती है ।

इसके अतिरिक्त यह शरीर दुःखो का कारण है। पीडारूप बाधा को दुःख कहते है। वह बाधा दो प्रकार की होती है-शरीर के आश्रय से और मन के आश्रय से। यह शरीर जब तक विद्यमान रहता है तब तक दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्म के पुद्गल और आत्मा के प्रदेश जब मिलते है और दूध-पानी की तरह एक मेक होकर रहते है तो कर्म-पुद्गलों के निमित्त से दुःख का अनुभव होता है। इस प्रकार यह शरीर दुःख का कारण है, ऐसी भावना करता हुआ भव्य जीव शरीर के अत्यन्त विनाश के लिए प्रयत्न करता है अर्थात् ऐसी साधना करता है जिससे शरीर के साथ का संबंध सदा के लिए नष्ट हो जाय !

यह शरीर निस्सार भी है। त्वचा (चमड़ी) मांस, मज्जा आदि से वेष्टित इस शरीर मे, जो कि मेद, अस्थिपंजर, आंतों, जल, मल, मूत्र, कफ, पित्त, मज्जा आदि का समुदाय है, कदली स्तंभ के समान निःसार है, इसमें कुछ भी सार नहीं है !

अपितु अकाल में ही नष्ट हो जाने वाला यह शरीर निस्सार ही प्रतीत होता है। ऐसी भावना करने वाले के चित्त में शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रहती।

यह शरीर अशुचि अर्थात् अपवित्र भी है। लोक में जो अशुचि के रूप से प्रसिद्ध है, शरीर के अन्दर ही उसकी बहुलता देखी जाती है। गर्भज मनुष्य के शरीर का मूल कारण शुक्र और शोणित है। तत्पश्चात उन्हीं शुक्र और शोणित का कलकल, बुद् बुद, मांसपेसी आदि के

नालिकया परिप्रापिताऽशेषरसास्वादनपरिवर्ध्यमानपोष: पुरीषमध्यासीन: परिपूर्णावयवोपचित: सन परिपाकवशान्मातृगर्भयोनिविवरनिर्गत: मातृदुग्धाहाराऽऽसेवनोपचितशोणितमांसकीकसासघात: पुरीषमूत्रयुक्त: श्लेष्मपित्तवायुधातुवैषम्यप्रकोपोद्भूतशोथ:,

गण्डौष्ठतलादिसंस्पर्शाद्वा गलच्छोणितलवलसिकापूयपटलप्रायपरिणाम: सर्वावस्थासु-अशुचिरेवकाय इत्येवं भावयेत् । इत्येवं भावयतश्च पूर्वोक्तलक्षणसंवेगवैराग्ये भवत. । तत्रा-ऽऽरम्भपरिग्रहेषु दोषदर्शनादरतिर्धर्मे बहुमानो भवति,शरीरभोगससाराभ्यां च निर्विण्णता वैराग्यभाव: वैमुख्यमुद्वेग: सम्भवतीति, भाव: ॥

मूलसूत्रम्–"देवा चउव्विहा, भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिय वेमाणियभेया-"।१६।

छाया –"देवाश्चतुर्विधा: भनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्क-वैमानिकभेदात्-"॥१६॥

तत्त्वार्थदीपका—नवविधेषु जीवादितत्वेषु क्रमप्राप्तं चतुर्थं पुण्यतत्त्वं प्ररूपयितुं चतुर्थाध्यायं कृत: तत्र-पुण्यतत्त्वं सविशेषं प्ररूप्य तत्फलभूतां देवगति प्ररूपयितुं प्रथमं देवभेदान् प्ररूपयति-"देवा चउव्विहा, भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणियभेया-" इति । देवा:-

---

रूप में परिणमन होता है । कुछ महीनो के पश्चात् शिर, हाथ, पैर, आदि अवयव प्रकट होते हैं । गर्भ में स्थित जीव माता के द्वारा खाये हुए आहार के रस को रसहरणी नाडी के द्वारा ग्रहण करता है और उसी से अपना पोषण प्राप्त करता है । वह .मैले में निवास करता है । जब अवयव परिपूर्ण हो जाते है तव परिपक्व होकर माता के गर्भ से वाहर निकलता है। फिर माता के दूध का आहार करके उसमें रुधिर मास आदि धातुओ का उपचय होता है । मल-मूत्र से युक्त होता है । क्या, पित्त एवं वात रूप धातुओ की विपमता के प्रकोप से उसमें सूजन उत्पन्न हो जाती है !

गंड, ओष्ठ नलादि के स्पर्श से रक्त बहने लगता है, पीव झरता है । इस प्रकार यह शरीर सभी अवस्थाओ में अशुचि ही बना रहता है । ऐसी भावना करनी चाहिए । इससे संवेग वैराग्य की उत्पत्ति और वृद्धि होती है । तात्पर्य यह है कि आरंभ परिग्रह आदि में दोप देखने से उनके प्रति अरुचि और धर्म में बहुमान उत्पन्न होता है । शरीर-भोग और ससार से विरक्ति होती है, विमुखता होती है, उद्वेग उत्पन्न होता है ॥१५॥

सूत्रार्थ—'देवा चउव्विहा' इत्यादि सूत्र १६

देव चार प्रकार के है-- भवनपत्ति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीव आदि नौ तत्वो में से क्रमप्राप्त चौथे पुण्यतत्त्व की प्ररूपणा करने लिए चौथे अध्याय का निर्माण किया गया है । इसमें विशिष्ट रूपसे पुण्यतत्त्व की प्ररूपणा करके पुण्य के फल से प्राप्त होने वाली देवगति की प्ररूपणा करने के लिए सर्वप्रथम देवों के भेद कहते है—

देवगतिनामकर्मोदयेऽभ्यन्तरे हेतौ सति बाह्यविभूतिविशेषैर्द्वीपपर्वतसमुद्रादिषु प्रदेशेषु यथाकामं दीव्यन्ति—क्रीडन्तीति देवाः, पचादित्वादच् प्रत्ययः, ते चतुर्विधा सन्ति, भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकभेदात् तथाच—भवनपतयः—वानव्यन्तराः ज्योतिष्काः—वैमानिकाश्चेत्येवं चतुर्विधा देवाः सन्तीति भावः ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् यथाक्रमं पुण्यतत्त्वस्वरूपं सविस्तरं प्ररूपितम्, सम्प्रति—पुण्यकर्मफलभूतां देवगतिं प्ररूपयितुं प्रथमं देवभेदान् आह—**"देवा चउव्विहा, भवणवइ—वाणमंतर—जोइसिय—वेमाणियभेया—,,** इति । देवाः—देवगतिपुण्यनामकर्मोदये सति द्वीपपर्वतादिविशेषदिव्यप्रदेशेषु दीव्यन्ति-क्रीडन्ति-रमन्ते, इति देवाः, यथेष्टविचरणशीलत्वात् सततक्रीडासक्तमानसा भवन्ति ।

अथवा—दीव्यन्ति द्योतन्ते इति देवाः, अत्यन्तभास्वरशीलत्वाद्—अस्थि-मांसा-ऽसृङ्-मज्जादिरहितत्वेन परमरमणीय सर्वाङ्गोपाङ्गत्वाच्चेति । यद्वा—विद्या—मन्त्रा-ऽञ्जनादिकं विनापि पूर्वकृततपःसापेक्षजन्मप्राप्त्यनन्तरमेव निरालम्बाकाशातिशयगतिचारिणः खलु देवा भवन्ति, दिवु—क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्यनुशासनात्,

तेषामतिशयगतिश्चागमे प्रतिपादिता वर्तते । तथाचोक्तम्—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ११ शतके १०—उद्देशके—**"के महालए णं भंते ! लोए पण्णत्ते ? गोयमा ! अयंच णं**

देव चार प्रकार के है— भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । आभ्यन्तर कारण देवगतिनामकर्म का उदय होने पर बाह्य विभूतियो से द्वीप, पर्वत, समुद्र आदि प्रदेशो में इच्छानुसार जो क्रीडा करते हैं, वे देव कहलाते है । (पचादि गण) में पाठ होने से देव शब्द में अच् प्रत्यय हुआ है । देवो के पूर्वोक्त चार प्रकार है ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले विस्तारपूर्वक पुण्यतत्त्व को प्ररूपणा की गई है । अब पुण्यकर्म के फल देवगति की प्ररूपणा करने के लिए सर्वप्रथम देवो के भेद कहते है ।

देवगति नामक पुण्य नामकर्म के उदय से द्वीप पर्वत आदि दिव्य प्रदेशो में जो क्रीड़ा करते है, वे देव कहलाते है । यथेष्ट विचरण करने के स्वभाव वाले होने से उनका मन सदैव क्रीड़ा में आसक्त रहता है ।

अथवा दीव्यन्ति का अर्थ है— द्योतन्ते । अत्यन्त तेजोवान् होने से और अस्थि, मांस, रुधिर, मज्जा आदि से रहित होने के कारण जिनके सभी अंगोपांग अत्यन्त रमणीय होते हैं वे देव कहलाते है । अथवा विद्या, मंत्र एवं अजन आदि के बिना ही पूर्वकृत तप के प्रभाव से जो जन्मकाल से ही बिना आलम्बन के आकाश में गमन करते हैं, वे देव कहलाते हैं । व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'दिवु' धातु के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे—क्रीड़ा, विजिगीषा (जीतने की इच्छा), व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति ।

जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं मज्झे खुड्डुलए पण्णत्ते, तेणं कालेणं तेणं समएणं छद्देवा-महिड्ढिया जंबुद्दीवे दीवे मंदरपव्वए मंदरचूलियं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ताणंचिट्ठेज्जा, अहेणं चत्तारि दिसाकुमारी महयरियाओ चत्तारि वलिपिंडे गहाय जंबुद्दीवस्स दीवस्स चउसु वि दारेसु वहियाभिमुहीओ ठिच्चा ते चत्तारि वलिपिंडे जमगसमगं वहियाभिमुहे पवाहेज्जा, पभू णं गोयमा–! तओ एगमेगे देवे ते चत्तारि वि वलिपिंडे धरणितलमसम्पत्ते खिप्पामेव पडिसाहरित्तए, तेणं गोयमा ! उक्किट्ठाए जाव देवगतीए एगे पुरत्थाभिमुहे, पयाते, एवं–छस्सु वि दिसासु पयाता, तेणं कालेणं तेणं समएणं वाससहस्साउए दारए पयाते, तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पहीणा भवंति, णो चेव णं ते देवा लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स आउए पहीणे भवइ, णो चेव णं ते देवा लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स अट्ठिमिंजा पहीणा भवंति, णो चेव णं ते लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स-समत्ते वि कुलवंसे पहीणे भवइ, णोचेव णं ते लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स नामगोत्तेवि पहीणे भवइ, नो चेव णं ते लोयंतं संपाउणंति, तेसिं णं भंते ! देवाणं किं गए बहुए अगए बहुए ? गोयमा ! गए बहुए नो अगए बहुए, गताओ से अगए असंखि-ज्जइभागे,अगताओ से गए असंखेज्जगुणे, एवं महालए गोयमा ! लोए पण्णत्ते–,, इति ।

कियन्महान् खलु भदन्त ! लोकः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! अयञ्च खलु जम्बूद्वीपो द्वीपः सर्वद्वीपसमुद्राणां मध्ये क्षुल्लकः प्रज्ञप्तः, तस्मिन् काले तस्मिन् समये खलु षड्देवा महर्द्धिकाः जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरपर्वते मन्दरचूलिकां सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्य तिष्ठेयुः, अथ खलु चतस्रो दिक्कुमार्यो महत्तरिकाश्चतुरो बलिपिण्डान् गृहीत्वा जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य चतुर्ष्वपि द्वारेषु बहिर-भिमुख्यः स्थित्वा तान् चतुरो बलिपिण्डान् युगपद् बहिरभिमुखान् प्रवाहयेयुः ।

प्रभुर्गौतम ! तत एकैको देवस्तान् चतुरोऽपि बलिपिण्डान् धरणितलमसंप्राप्तान् क्षिप्र-मेव प्रतिसंहर्तुम् ? ते गौतम ! उत्कृष्टया यावद् देवगत्या एको देवः पूर्वाभिमुखः प्रयातः,

---

देवो की विशिष्ट गति का वर्णन आगमो में किया गया है । व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र के ग्यारहवें शतक के दसवे उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! लोक कितना बडा है ?

उत्तर—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप समस्त द्वीपों और समुद्रों के अन्दर है और सब से छोटा है । किसी काल और किसी समय मे छह महान् ऋद्धि के धारक देव जम्बूद्वीप में, मेरुपर्वत की चोटी को सब ओर से घेर कर खड़े हों । इधर चार बडी दिशा-कुमारियाँ चार बलिपिण्डो को ग्रहण करके जम्बूद्वीप के चारों द्वारो पर बाहर की ओर मुख करके खड़ी होकर उन चारो बलिपिण्डो को एक साथ छोड दें । तो हे गौतम ! उन छह देवो में से एक-एक देव उन चारों बलिपिण्डों को धरती पर प्राप्त होने से पहले ही,

एवं–षट्स्वपि दिक्षु प्रयाताः ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये खलु वर्षसहस्रायुष्को दारकः प्रयातः, ततस्तस्य दारकस्य माता-पितरौ प्रहीणौ भवतः नैव ते देवा लोकान्तं संप्राप्नुवन्ति,। ततस्तस्य दारकस्यायुः प्रहीणं भवति नैव ते देवा लोकान्तं सम्प्राप्नुवन्ति, तत स्तस्य दारकस्याऽस्थिमज्जाः प्रहीणा भवन्ति, नैव ते देवा लोकान्तं सम्प्राप्नुवन्ति, ततस्तस्य दारकस्य सप्तमोऽपि कुलवंशः प्रहीणो भवति नैव ते देवा लोकान्तं सम्प्राप्नुवन्ति ।

ततस्तस्य दारकस्य नामगोत्रमपि प्रहीणं भवति नैव ते देवा लोकान्तं सम्प्राप्नुवन्ति। तेषां खलु भदन्त ! देवानां किं गतं बहुकम् अगतं बहुकम् ? गौतम ! गतं बहुकम् न–अगतं बहुकम्, गतात् तद् अगतम् असख्येयभागा । अगतात् तद् गतम् असंख्येयगुणम् "एव–महान् गौतम ! लोकः प्रज्ञप्तः, इति । एवं–देवानां विमानमहत्वञ्च २–द्वितीयपदे प्रज्ञापनायामुक्तम्–के **महालया णं भंते ! विमाणा पण्णत्ता ! गोयमा ! अयं णं जम्बुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं मज्झे खुड्डुलए, देवे महिड्डिए जाव महानुभागे जाव इणामेवत्ति-कट्टु केवलकप्पं जंबुदीवं दीवं तिहिं अच्छराणिवातेहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चंडाए चवलाए सीहाए उद्धुयाए**

शीघ्रतापूर्वक झेल सकता है, ग्रहण कर सकता है। देवो की गति इतनी तीव्र होती है। ऐसी तीव्र गति से एक देव पूर्व दिशा की ओर चला, इसी प्रकार छहो देव छहों दिशाओं में रवाना हुए।

उस काल और उस समय में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक बालक उत्पन्न हुआ उसके माता–पिता मृत्यु को प्राप्त हो गए। फिर भी उस उत्कृष्ट गति से जाते हुए वे देव लोग के अन्त तक नहीं पहुँचे। तत्पश्चात् उस बालक की आयु पूर्ण हो गई। तब तक देव उसी तीव्र चाल से चलते ही गए। फिर भी वे लोक के अन्त तक नहीं पहुँच पाये।

तत्पश्चात् समय वीतने पर उस वालक का नाम–गोत्र भी मिट गया। तब तक निरन्तर चलते–चलते भी वे देव, लोक का अन्त नहीं पा सकें।

प्रश्न—भगवन् ! उन देवों ने जो फासला तय किया वह अधिक है, या जो फ़ासला तय करना शेपरह गया, वह अधिक है ?

उत्तर—हे गौतम ! तय किया हुआ फासला अधिक है तय न किया हुआ फासला अधिक नहीं है। तय को हुई दूरी से तय न की हुई दूरी असंख्यातवाँ भाग है तय न की हुई दूरी से तय की हुई दूरी असख्यातगुणी है। हे गौतम ! लोक इतना वड़ा है; अर्थात् इससे कल्पना की जा सकती है कि यह लोक कितना महान् है !

इसी प्रकार प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय पद में देवो के विमानो की विशालता प्रदर्शित करने के लिए कहा है—

जयणाए छेयाए दिव्वाए देवगतीए जाव एगाहं वा वियाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीइवएज्जा, अत्थेगइयं विमाणं वीइएज्जा, अत्थेगइयं नो वीइवएज्जा, ए महालयाणं गोयमा ! विमाणा पण्णत्ता" कियन्महान्तो भदन्त ! विमानाः प्रज्ञप्ताः ! गौतम ! अय खलु जम्बूद्वीपो द्वीपः सर्वद्वीपसमुद्राणां मध्ये क्षुल्लको देवो महर्द्धिको यावत् महानुभागो यावत इदमेवेति कृत्वा केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं त्रिभिरक्षरनिपातैस्त्रिसप्तकृत्वः अनुपरिवर्त्य शीघ्रमागच्छेत् स देवस्तया उत्कृष्टया त्वरितया चण्डया चपलया शीघ्रया उद्धतया यतनया छेकया दिव्यया यावद् एकाहं वा, द्व्यहं वा त्र्यहं वोत्कृष्टतः षण्मासं व्यतिवर्तेत कियदेकं विमानं व्यतिवर्त्तेत कियदेवं न व्यतिवर्त्तेत इयन्महान्तो गौतम ! विमानाः प्रज्ञप्ताः । तथाचैवंविधाः खलु गतयो देवानां वि मध्यमाः सन्ति, अन्येषाञ्च देवाना मुत्कृष्टतमा गतयः सन्ति । एवञ्च—पुण्यनामकर्मोदयजनिता देवगतयो भवन्ति ।

सातिशयक्रीडागतिद्युतिस्वभावाः प्रतिविशिष्टस्थानवर्तिनः सुखबाहुल्या देवा भवन्ति इति । ते खलु देवाश्चतुर्विधाः सन्ति भवनपति—वानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदात् । तत्र—भवनपतयोऽधो लोके निवसन्ति । वानव्यन्तराः—ज्योतिष्काश्च तिर्यग्लोके । वैमानिकाश्चोर्द्ध्वलोके निवसन्ति ।

प्रश्न—भगवन् ! विमान कितने बड़े कहे गए है ?

उत्तर—हे गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप सर्व द्वीपो और समुद्रो के मध्य में है और सब से छोटा (एक लाख योजन विस्तार वाला) है । कोई महान् ऋद्धि का धारक यावत् महान् प्रभाव वाला देव 'ये लो' ऐसा कह कर सिर्फ तीन चुटकियो में अर्थात् तीन बार चुटकी बजाने में जितना समय लगता है उतने से स्वल्प काल में इक्कीस बार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की प्रदक्षिणा करके एकदम लौट आये, ऐसी अतिशय तीव्र गतिवाला हो वह देव अपनी उसी उत्कृष्ट, त्वरायुक्त, प्रचण्ड, चपल, शीघ्र, उद्धत, वेगयुक्त (या यातनामय) छेक और दिव्य गति से, एक दिन, दो दिन, तीन दिन और उत्कृष्ट छह महिने तक लगातार चलता रहे, तो किसी एक विमानको पार कर ले और किसी विमान को छह महीने में भी पार न कर पावे । हे गौतम ! देवविमान इतने विशाल होते हैं ! तात्पर्य यह है कि जो देव तीन चुटकियो में इक्कीस बार समग्र जम्बूद्वीप का चक्कर काट सकता है, वही देव छह मास तक लगातार चल कर भी किसी—किसी विमान को पार नहीं कर सकता ! इससे देव विमानो की विशालता की कल्पना आसकती है ।

यह तो देवो की मध्यम गतियाँ है । दूसरे देवो की गतियाँ उत्कृष्टतम होती है । इस प्रकार देवगतियाँ पुण्यनाम कर्म के उदय से जनित होती है ।

देव विशिष्ट क्रीडा, गति और द्युति स्वभाव वाले विशिष्ट—विशिष्ट स्थानों में रहने वाले तथा सुख की बहुलता वाले होते है । वे देव चार प्रकार के हैं—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक । उक्त चार प्रकार के देवो में से भवनपति अधोलोक में निवास करते है, वानव्यन्तर और ज्योतिष्क मध्य लोक में रहते हैं और वैमानिक ऊर्ध्वलोक में निवास करते है ।

तत्र—भवनपतयो रत्नप्रभापृथिव्यामूर्ध्वमधश्च योजनसहस्रं विहाय जन्मसमासादयन्ति । वानव्यन्तराः पुनरस्या एव रत्नप्रभाया उपरि अधश्च परित्यक्तस्य योजनसहस्रस्यो--र्ध्वमधश्च योजनशतमेकैकमपहाय मध्येऽष्टसु योजनशतेषु जन्म प्रतिलभन्ते । ज्योतिष्कदेवास्तु समतलाद् भूभागात् नवत्यधिकसप्तयोजनशतानि आरुह्य दशाधिकशतयोजनविस्तारे आकाशदेशे लोकान्तात् किञ्चिन्न्यूने जन्म प्राप्नुवन्ति ।

वैमानिकाः पुनरस्मादप्यर्धां रज्जुमधिरुह्य सौधर्मादिसवार्थसिद्धिविमानपर्यन्तेषु जन्मत उपपद्यन्ते तदेव—मुत्पादनिवासस्थानभेदाच्चतुर्विधास्ते देवा व्यपदिश्यन्ते ते खलु भवनपत्यादयो देवाः स्वस्थानेषूत्पन्नाः सन्तोऽन्यत्रापि लवणोदधिमन्दराचलभरतादिवर्षधरहिमवदादिपर्वततरुगहनप्रभृतिषु उक्तस्थानव्यतिरेकेणापि वसन्ति । केवलं तेषु जन्मना तेषामुत्पादो न भवतीति भावः ।

अथ भगवतीसूत्रे १२ शतके ९ उद्देशके ४६१—सूत्रे—पञ्चविधा देवाः प्रतिपादिताः तथाहि— **कतिविहा णं भंते ! देवा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा देवा पण्णत्ता, तंजहा भवियदव्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा य भावदेवा य"** कतिविधाः खलु भदन्त ! देवाः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! पञ्चविधा देवाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—भविकद्रव्यदेवाः, नरदेवाः, धर्मदेवाः

भवनपतिदेव रत्नप्रभा पृथ्वीमें ऊपर और नीचे के एक एक हजार योजन क्षेत्र को छोड़ कर जन्म लेते है । वानव्यन्तर इसी रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर छोड़े हुए एक एक हजार योजन क्षेत्र में से ऊपर—नीचे एक—एक सौ योजन छोड कर बीच के आठ सौ योजनों में उत्पन्न होते हैं । ज्योतिष्क देव इस समतल भूमिभाग से सात सौ नव्बे योजन ऊपर से लगाकर एक सौ दस योजन में अर्थात् ७९० योजन की उँचाई से लेकर ९०० तक के ११० योजनों में उत्पन्न होते है ।

वैमानिकदेव ज्योतिष्क दोवों से डेढ रज्जु ऊपर सौधर्म देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमान पर्यन्त में वैमानिक देव जन्म ग्रहण करते हैं ।

इस प्रकार उत्पाद और निवास स्थान के भेद से देव चार प्रकार के कहे जाते हैं । भवनपति आदि देव अपने—अपने स्थानो में उत्पन्न होकर अन्यत्र लवणसमुद्र, मन्दराचल, हिमवान् पर्वत तथा तरुगहन आदि में भी, पूर्वोक्त स्थानो को छोड़ कर निवास करते है । हाँ, इन स्थानो में उनका जन्म नहीं होता ।

यहाँ शंका की जा सकती है कि भगवतीसूत्र के बारहवें शतक के नौवें उद्देशक में, पाँच प्रकार के देव कहे गये हैं । भगवतीसूत्र का वह कथन निम्नलिखित है—

प्रश्न—भगवान् ! देव कितने प्रकार के कहे हैं ?

उत्तर— गौतम ! पाँच प्रकार के देव कहे गए है; यथा—(१) भव्यद्रव्यदेव (२) नरदेव (३) धर्मदेव (४) देवाधिदेव और (५) भावदेव ।

देवाधिदेवाः भावदेवाश्च, इति । तत्र भव्यदेवस्तावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजो वा, मनुष्यो वा, बद्धे खलु देवायुषि अनन्तरागामिनि जन्मनि देवत्वेनोत्पत्स्यते, स खलु आगामिनी देववृत्तिमाश्रित्य देव इति व्यपदिश्यते तद्दलिकत्वाद् दारुच्छेदप्रज्ञापनवत् ।

नरदेवाः पुनश्चक्रवर्तिनश्चतुर्दश रत्नाधिपतय उच्यन्ते, अन्यमनुष्यापेक्षया तेपामुत्कृष्टत्वात् । धर्मदेवास्तावत श्रमणाः साधवो यथोक्तप्रवचनार्थानुष्ठातार उच्यन्ते तेषां सद्धर्मप्रधानतया व्यवहारवत्वात् देवाधिदेवास्तु—तीर्थकृन्नामकर्मोदयवर्तिनः कृतार्थाः अर्हन्तो व्यपदिश्यन्ते भव्य-जीवानां सदुपदेशद्वाराऽनुग्राहकत्वात् शेषदेवानां पूजार्हत्वाच्च ।

भावदेवाः पुनर्भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्क—वैमानिकाः देवगतिनामकर्मोदयवर्तिनो देवका उच्यन्ते, क्रीडाद्यतिशयवर्तित्वात् एवञ्च—देवानां पञ्चभेदत्वेन कथं तेषा चतुर्विधत्व मेवोक्त मिति चेत् ?

उच्यते । भावदेवानामेव प्रकृते विवक्षितत्वेन चतुर्विधत्वं प्रतिपादितम् किञ्चा—ऽऽद्यानां चतुर्णां मनुष्यत्वेन किञ्चिदतिशयमङ्गीकृत्य तेषां देवत्वं प्रतिपादितम् । तस्माद्—भावदेवा श्चतुर्विधा एव सन्तीति बोध्यम् ।

---

(१) भव्यद्रव्यदेव—जिस पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य ने देवायु का बन्ध कर लिया है और जो अगले जन्म में देव के रूप में उत्पन्न होगा, वह आगामी देवपर्याय की अपेक्षा से भव्य द्रव्य देव कहलाता है । यह कथन लकड़ी काटने के उदाहरण से नैगमनय की अपेक्षा समझना चाहिए ।

(२) नरदेव—चौदह रत्नो के अधिपति चक्रवर्ती नरदेव कहलाते हैं; क्योकि अन्य मनुष्यो की अपेक्षा वे उत्कृष्ट होते है ।

(३) धर्मदेव—साधु धर्मदेव है, क्योकि वे प्रवचन में प्रतिपादित अर्थ का अनुष्ठान करते है और उनके व्यवहार में समीचीन धर्म की प्रधानता होती है ।

(४) देवाधिदेव—जिनके तीर्थंकर नामकर्म का उदय है, जो कृतार्थ हो चुके है और अर्हन्त है, वे देवाधिदेव कहलाते है; क्योंकि वे धर्मोपदेश के द्वारा भव्य जीवो पर अनुग्रह करते है और अन्य देवो के द्वारा भी पूजनीय होते हैं ।

(५) भावदेव—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव, जिनके देवगति-नामकर्म का उदय है, भावदेव कहलाते हैं । क्योकि वे अतिशय क्रीडा में निरत रहते है ।

इस प्रकार जब देव पाँच प्रकार के है तो आपने चार ही प्रकार के क्यों कहे ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है—यहाँ सिर्फ भावदेवो की ही विवक्षा की गई है, इसी कारण देवो के चार भेद कहे है, इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त पाँच प्रकार के देवों में प्रारम्भ के तीन वास्तव में मनुष्य हैं । और भव्यद्रव्य देव मनुष्य या तिर्यञ्च है । कुछ विशेषताओं के कारण ही उन्हे देव कहा गया है । अतएव भावदेवों के भेद चार ही समझना चाहिए ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे १ शतके ७ उद्देशके-"चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तंजहा भवणवइ-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया-" । चतुर्विधा देवा प्रज्ञप्ताः, तद्यथा भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका इति ॥१६॥

मूलसूत्रम्-"तत्थ भवणवइ दसविहा,असुर-नाग सुवण्णविज्जू अग्गी दीव उदहि-दिसा वाउ थणियकुमारभेदा ॥१७॥

छाया—"तत्र—भवनपतयो दशविधाः, असुर-नाग-सुपर्ण-विद्युदग्नि-द्वीपो-दधि-दिशा-वायु-स्तनितकुमार-भेदात्-" ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे भवनपति-वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकभेदेन देवाश्चतुर्विधाः प्रतिपादिताः, सम्प्रति-तेषु प्रथमोपात्तानां भवनपतीनां विशेषतो दशभेदान् प्ररूपयितुमाह-"तत्थ-भवणवई दसविहा-" इत्यादि । तत्र-तेषु चतुर्विधेषु भवनपति-वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकदेवेषु भवनपतयस्तावद् दशविधा भवन्ति, असुरकुमार-नागकुमार-सुपर्णकुमार-विद्युत्कुमारा-ऽग्निकुमार-द्वीपकुमारो-दधिकुमार-दिशाकुमार-वायुकुमारस्तनितकुमारभेदात्, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्ध । एते च दशभवनवासिशब्देनाऽपि व्यपदिश्यते- ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सामान्यतो देवाश्चतुर्विधाः-भवनपति-वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकरूपा प्ररूपिताः, सम्प्रति-तेषु प्रथमोपात्तानां भवनवासिनां विशेषतो दश-

---

भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के सातवे उद्देशक में कहा है-'देव चार प्रकार के कहे गए हैं, यथा-भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥१६॥

सूत्रार्थ—'तत्थ भवणवई दसविहा' इत्यादि सूत्र १७

भवनपतिदेव दस प्रकार के है-असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायु-पवन) कुमार और स्तनितकुमार ॥१७॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से चारप्रकार के देवो का प्रतिपादन किया गया है; अब उनमें सब से पहले गिने गये भवनपतियों के दस अवान्तर भेदों का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

उनमें से अर्थात् चार प्रकार के भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो में से भवनपति दस प्रकार के होते है-(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) पवनकुमार और (१०) स्तनितकुमार। द्वन्द्वसमास के अन्त में जुड़ा हुआ पद सभी के साथ लगाया जाता है, इस नियम के अनुसार 'कुमार' शब्द यहाँ सब के साथ लगाया जाता है । ये भवनपति देव 'भवनवासी' भी कहलाते हैं ॥१७॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से

भेदान् प्रतिपादयितुमाह—"तत्थ भवणवई दसविहा—" इत्यादि ।

तत्र- तेषु, पूर्वोक्तेषु देवेषु भवनपतिवानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकरूपेषु भवनपतयस्तावद् दशविधा भवन्ति, असुरकुमार—नागकुमार—सुपर्णकुमार—विद्युत्कुमाराऽग्निकुमार—द्वीपकुमारोदधिकुमार—दिशाकुमार—वायुकुमारस्तनितकुमारभेदात् । तत्रा—ऽसुरनागादीनां द्वन्दसमासेन द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् तथाविधार्थलाभः । एते च दश भवनेषु वसनशीलत्वाद् भवनवासिशब्देनाऽपि व्यपदिश्यन्ते, भूमिष्ठत्वाद् भवनानि उच्यन्ते तेषु वस्तुं शीलं येषां ते भवनवासिन इति व्युत्पत्तिः, कुमारवद् एते कान्तदर्शनाः कमनीयदर्शनाः सुकुमारा मृदुमधुरकलितललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभूषाभाषाप्रहरणचरणपातयानवाहनाः कुमारवदेव स्फुटरागाः क्रीडनपरायणाश्च भवन्ति तस्मात्कुमारा उच्यन्ते । तत्रा—ऽसुरकुमाराऽऽवासेषु—असुरकुमाराः प्रतिवसन्ति. ।

आवासास्तावत—महामण्डपाः विविधरत्नप्रभासितोल्लोलाः भवन्ति, तथाविधेषु आवासेषु प्रायशो बाहल्येना—ऽसुरकुमारा वसन्ति कदाचिद् भवनेष्वपि निवसन्ति नागकुमारादयस्तु—भवनेष्वेव

चार प्रकार के देवो का प्रतिपादन किया गया है । अब उनमें से सर्वप्रथम गिनाये भवनवासियों के दस विशेष भेद बतलाते है—

उनमें से अर्थात् पूर्वोक्त भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो में से भवनपति दस प्रकार के है । उनके नाम ये है—(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुवर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) पवनकुमार और (१०) स्तनितकुमार ।

असुर—नाग आदि में मूलसूत्र में द्वन्द्व समास है और द्वन्द्वसमास के अन्त में जोड़ा गया पद प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ा जाता है; इस नियम के अनुसार यहाँ दसो भेदो के साथ कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है । ये दसो भवनो मे निवास करने के स्वभाव वाले हैं, अतएव भवनवासी भी कहलाते है । उनके निवास भूमि में होने से भवन कहे जाते है । उन भवनो में जो वास करते हो वे भवनवासी कहलाते हैं ।

ये सब कुमार के समान देखने में कमनीय होते है । सुकुमार होते है । इनकी गति अति ललित, कलित, मृदु और मधुर होती है । सुन्दर शृङ्गार, रूप और विक्रिया से युक्त होते है । कुमारो के समान रूप, वेषभूषा, भाषा, आयुध, यान, वाहन और चरणन्यास वाले, कुमारो के समान ही रागवान् और क्रीडापरायण होते है । इसी कारण इन्हे कुमार कहते है ।

असुरकुमार असुरकुमारावास में निवास करते है । उनके आवास विशाल मंडपों वाले और विविध प्रकार के रत्नो की प्रभा से चमकते हुए होते है । प्रायः असुरकुमार ऐसे आवासों में रहते है और कदाचित् भवनो मे भी निवास करते है ।

प्रायो वसन्ति नानावासेषु, तानि खलु भवनानि बहि र्वृत्तानि अन्तश्चतुरस्राणि अधस्तात् पुष्कर-कर्णिका संस्थानानि भवन्ति ते खलु—आवासा भवनानि च क्व भवन्तीति जिज्ञासायामाह

आवासास्तावत्—महामन्दरस्य योजनसहस्रमात्रावगाहिनो दक्षिणस्यां दिशि तिर्यग्बह्वीषु योजनलक्षकोटी कोटीषु भवन्ति भवनानि तु—दक्षिणार्धाधिपतीनां चमरादीनाम्, उत्तरार्धाधिपतिनाञ्च वलिप्रभृतीनां यथायथमसुरादीनां सन्ति। वस्तुतस्तु—रत्नप्रभाया अशीतिसहस्राधिकलक्षयोजनबाहल्याया उपरि-अधश्चैकैकं सहस्रयोजनं परित्यज्य मध्येऽष्टसप्ततिसहस्राधिकलक्षयोजनेषु कुसुमप्रकरवत् प्रकीर्णा आवासा भवन्ति।

भवनानि तु—रत्नप्रभाया बाहल्यार्धरूपाणि नवतिसहस्रयोजनानि—अधोऽवगाह्य मध्ये वर्तन्ते एतेषाञ्चा—ऽसुरकुमारादीनां नामकर्मनियमात् भवनप्रत्ययाश्च स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति। तत्र—भवहेतुका स्तावद् जन्मतपोऽनुष्ठाननिरपेक्षा विक्रिया सम्बध्यन्ते, नामकर्मनियमाच्च स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्तीति भावः।

अङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयात् निर्माणनामकर्मोदयाद् वर्ण—रस—गन्ध—स्पर्शादिनामकर्मोदयाच्च प्रतिजातिविशेषकारिण्यः खलु—विक्रियाः सम्भवन्ति। तत्रा—ऽसुरकुमाराःखलु—गम्भीराशयाः—घनशरीराः—श्रीमन्त—सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दराः—पाण्डुरवर्णाः—महाकायाः—रत्नोत्कट—मुकुटभास्वराः—रक्षावन्धनलाञ्छिता भवन्ति। सर्वञ्चैतत् खलु—एतेषामसुरकुमाराणां नामकर्मोदयजनितं भवति—१।

नागकुमार आदि प्रायः भवनो में ही रहते है और नाना वासो में रहते है। वे भवन वाहर गोलाकार और भीतर चौकोर होते हैं। नीचे से कमल की कर्णिका के समान होते हैं। वे आवास और भवन कहाँ होते है। ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

एक हजार योजन अवगाह वाले महा मन्दर पर्वत से दक्षिण दिशा में तिर्छे बहुत सी कोड़ाकोडी लाख योजनों में आवास होते है। भवन दक्षिणार्ध के अधिपति चमरइन्द्र आदि के और उत्तरार्ध के अधिपति वलि वगैरह असुरों के यथायोग्य होते है। वास्तव में तो एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रभा पृथ्वी के एक–एक हजार ऊपरी और नीचले भाग को छोड़ कर एक लाख अठहत्तर हजार योजनो में फूलों के समान फैले हुए आवास होते हैं। भवन समतल भूमि भाग से चालीस हजार योजन नीचे जाने पर प्रारम्भ होते है।

इन असुर कुमार आदि की नामकर्म के नियम के अनुसार और भवनों के कारण से अपनी– अपनी जाति में नियतविक्रिया होतो है। अंगोपांग नामकर्म के उदय से, निर्माणनाम कर्म के उदय से प्रत्येक जाति में अलग अलग विक्रियाएँ होती है।

असुर कुमार गंभीर आशय वाले सघन शरीर वाले, श्रीमन्त, सुन्दर समस्त अंगोपागों वाले, पांडुर वर्ण, स्थूल शरीर वाले, रत्नजटित मुकुट से देदीप्यमान और राखडी के चिह्न से युक्त होते हैं। असुर कुमारों को यह सब नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है।

नागकुमाराश्च—शिरोमुखेष्वधिकप्रतिरूपा' पाण्डुरवर्णाः श्यामाः—मृदुललितगतय शिरःसु नागफणालाञ्छिता भवन्ति--२ । सुवर्णकुमारास्तु—अधिकप्रतिरूपग्रीवोरस्काः—सुवर्णवर्णाः गरुडलाञ्छिता भवन्ति— ३ ।

विद्युत्कुमाराश्च—स्निग्धाः रक्तवर्णाः—वज्रलाञ्छिता भवन्ति—४ अग्निकुमारास्तु मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तवर्णा' पूर्णकलशलाञ्छना भवन्ति—५ द्वीपकुमाराश्चो—रःस्कन्धभुजाग्रहस्तेपु—अधिकप्रतिरूपाः रक्तवर्णा अवदाता' सिंहलाञ्छना भवन्ति—६ उदधिकुमाराः पुनरुरुकटिष्वधिक प्रतिरूपा'। पाण्डुरवर्णा अश्वलाञ्छना भवन्ति—७दिक्कुमारा' पुन—र्जङ्घाग्रपादेपु—अधिकप्रतिरूपाः सुवर्णवर्णाः।गजलाञ्छना भवन्ति—८ वायुकुमारास्तु—'स्थरस्थूलवृत्तगात्रा निम्नोदरा नीलवर्णा मत्स्यलाञ्छना भवन्ति९.—स्तनितकुमारास्तु स्निग्धा. स्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वना सुवर्णवर्णा वर्धमानचिह्ना भवन्ति १०

सर्वे च नानावस्त्राभरणा अवगन्तव्याः। तत्रा—ऽसून् प्राणान् रान्ति—गृह्णन्ति नारकाणा परस्परयोधनेन' दुःखं जनयन्तीति—असुरा, प्रायेण तेषां सश्लिष्टपरिणामत्वात्, असुराश्च—ते

नागकुमारो का शिर और मुख अधिक सुन्दर होता है। थे पाण्डुर वर्ण मृदु और ललित गति वाले और मस्तक पर सर्प के चिन्ह से युक्त होते है।

सुवर्ण कुमारो की ग्रीवा और वक्षस्थल अधिक सुन्दर होते है। सुवर्ण वर्णवाले सुन्दर होते है। उनके मुकुट पर गरुड़ का चिह्न होता है।

विद्युत्कुमार स्निग्ध (चिकने), देदीप्यमान रक्तवर्णवाले सुन्दर और वज्र के चिह्नवाले होते हैं।

अग्निकुमार मान, उन्मान और प्रमाण से युक्त भास्वर, सुन्दर रक्तवर्ण, और पूर्णकलश के चिह्न से युक्त होते है।

द्वीपकुमार वक्ष, स्कंध, भुजा और हाथो के अग्रभाग में अधिक सुन्दर होते हे, रक्त वर्ण होते है, सलौने होते है और सिह के चिह्न से युक्त होते है।

उदधिकुमारो की उरु और कटि भाग वहुत सुन्दर होता है। वर्ण से पाण्डुर वर्ण होते है। उनके अश्व घोडे का चिन्ह होता है।

दिक्कुमारो की जघाएँ और पैरों का अग्रभाग अधिक सुन्दर होता है। वे सुवर्णवर्ण और गज के चिह्न वाले होते है। वायुकुमार स्थिर स्थूल और गोल गात्र वाले, धँसे हुए उदर वाले, नीलवर्ण सुन्दर और मत्स्य के चिह्न वाले होते हे। स्तनितकुमार स्निग्ध एव गम्भीर तथा महान् ध्वनि वाले, सुवर्ण वर्ण तथा •वर्द्धमानक सराव—सिकोरा, के चिह्न वाले होते है। ये सभी नाना प्रकार के वस्त्रो और आभरणो वाले होते हे। जो नारक जीवों के असु—प्राणो को ग्रहण करते हे, अर्थात् उन्हे आपस में लडा—लडाकर दुःख उत्पन्न करते हैं वे असुर कहलाते हे। असुर प्राय' संक्लिष्ट परिणामों वाले होते हैं। असुर रूप कुमारों को असुर

कुमाराश्चेत्यसुरकुमाराः—१ न गच्छन्तीति नगाः पर्वताः चन्दनादिवृक्षावा तेषु—भवा नागाः—२ सुष्ठु शोभनानि पर्णानि पक्षा वा येषान्ते सुपर्णा ३

विद्योतन्ते दीप्यन्ते इति विद्युतः ४ अङ्गानि पाताललोकं विहाय क्रीडार्थमूर्ध्वमागच्छन्तीति अग्नयः—५उदकानि धीयन्ते एकत्री भवन्ति येषु ते उदधयः —[५] उदधिषु क्रिडायोगात् ते देवा अपि उदधिपदेन व्यपदिश्यन्ते ६ द्विर्गता आपो येषु ते द्वीपाः—तेषु द्वीपेषु क्रिडायोगाद्देवा अपि द्विपपदेनोच्यन्ते—७दिशन्ति—वितरन्ति—अवकाशमिति दिशः, तासु—दिक्षु क्रिडायोगात् तेऽपि देवा दिक्पदेन व्यपदिश्यन्ते—८वान्ति तीर्थकरविहारमार्गं शोधयन्ति इति वायवः—९'स्तनन्ति शब्दं कुर्वन्ति स्तन' शब्दे वा संजातो येषां ते स्तनिताः, तथाविधाश्च ते कुमाराश्चेति क्र१०असुरकुमारादयोऽवगन्तव्याः एतेषाञ्चाऽसुरकुमारादीनां भवनसंख्या तावत्—सामान्यतो द्विसप्ततिलक्षाधिकसप्तकोटयः सन्ति, विशेषतस्तु—दक्षिणदिग्व्यवस्थि ाऽसुरकुमाराणां चतुस्त्रिंशल्लक्षसंख्यकानि भवनानि भवन्ति उत्तर दिग्व्यवस्थितानां पुनस्त्रिंशल्लक्षाणि एकत्र—चतुष्षष्टिः।

दक्षिणदिग्वर्ति नागकुमाराणां चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि, उत्तरदिग्वर्ति नागानान्तु—चत्वारिंशल्लक्षाणि, एकत्र—चतुरशीतिः। दक्षिणदिग्वासिनां द्वीपकुमारदिक्कुमारो—दधिकुमार—विद्युत्कुमार—स्तनितकुमाराग्निकुमाराणां च षण्णां प्रत्येकं चत्वारिंशल्लक्षाण्येव।

कुमार कहते है। जो गमन न करें उन्हे नग कहते है अर्थात् पर्वत या चन्दन आदि वृक्ष। उन नगो में होने वालो को नग कहते है। जिनके पर्ण अर्थात् पंख सुन्दर हो वे सुपर्ण। जो विद्योतित—दीप्त हो वे विद्युत् जो अपने अङ्गो को पाताललोक में छोड़कर क्रीड़ा करने के लिए ऊपर आवे वे अग्नि। उदक (जल) एकत्रित होता है जिनमें वे उदधि अर्थात् समुद्र और उदधि में क्रीडा करने वाले देव भी उदधि कहलाते है, अप् जिनके द्विर्गत—दो ओर हो वे द्वीप और द्वीप में क्रीडा करने वाले देव भी द्वीप कहलाते है। जो अवकाश देती है वे दिशाएँ कहलाती है। दिशाओं में क्रीड़ा करने वाले देव भी दिशा कहलाते है। जो वाती—चलती है अर्थात् तीर्थंकरके विहार के मार्ग को साफ करती है, वे वायु। जो स्तनन्ति अर्थात् शब्द करते है वे स्तनित या जिन्होंने स्तन अर्थात् शब्द किया हो वे स्तनित। ऐसे कुमार असुर कुमार आदि कहलाते है।

असुरकुमार आदि के भवनो की संख्या सामान्य रूप से सात करोड बहत्तर लाख (७७२००००००) है। विशेष रूप से दक्षिण दिशा के असुर कुमारो के भवन चौत्तीस लाख और उत्तर दिशा वालों के तीस लाख हैं। दोनो दिशाओं के मिलकर चौसठ लाख भवन है।

दक्षिण दिशा के नाग कुमारो के भवन चवालीस लाख और उत्तरदिशा के नाग कुमारों के भवन चालीस लाख है। दोनों के मिलाकर चौरासी लाख है।

दक्षिण दिशा के द्वीपकुमारो दिशाकुमारो उदधिकुमारों, विद्युत्कुमारों स्तनितकुमारो और अग्निकुमारों इन छहो मेंसे प्रत्येक के चालीस—चालीस लाख भवन है और उत्तर दिशा में

उत्तरदिग्वासिनामपि–द्वीपकुमार––दिक्कुमारो–दधिकुमार–विद्युत्कुमार–स्तनितकुमार–ग्नि-कुमाराणां च षण्णां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षाणि एकत्र–प्रत्येकं–षट्सप्ततिरेव दक्षिणदिग्वासिना सुवर्णकुमाराणां खलु अष्टात्रिंशल्लक्षाणि उत्तरदिग्वासिनां पुनः सुवर्णकुमाराणां चतुस्त्रिंशल्लक्षाणि एकत्र द्विसप्ततिश्चेति- । वायुकुमाराणां षट्चत्वारिंशल्लक्षाणि, एकत्र षण्णवतिश्चेति भवनानि सन्तीति बोध्यम् ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां प्रथमे पदे देवाधिकारे–"**भवणवई दसविहा पण्णत्ता, तंजहा असुरकुमारा–नागकुमारा–सुवण्णकुमारा–विज्जुकुमारा–अग्गीकुमारा–दीवकुमारा-उदहि–कुमारा–दिसाकुमारा–वाउकुमारा–थणियकुमारा**–इति भवनपतयो दशविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–असुरकुमाराः–नागकुमाराः–सुवर्णकुमारा – विद्युत्कुमारा––अग्निकुमाराः––द्वीपकुमाराः–उदधिकुमारः–दिक्कुमाराः–वायुकुमाराः–स्तनितकुमाराः–इति ॥१७॥

मूलसूत्रम्––वाणमंतरा अट्ठविहा, किण्णर–किंपुरिस–महोरग–गंधव्व–जक्ख–रक्खस–भूय–पिसायभेदा–" ॥१८॥

छाया— वानव्यन्तरा अष्टविधाः,किन्नर–किम्पुरुष महोरग-गन्धर्व–यक्ष–राक्षस-भूत पिशाच भेदात्–" ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे भवनपतीनां देवानां विशेषतोऽसुरकुमारादि दशभेदाः प्ररूपिताः सम्प्रति–क्रमप्राप्तान् वानव्यन्तरान् देवान् विशेषतोऽष्टभेदान् प्ररूपयितुमाह–"**वाणमंतरा**

रहने वाले द्वीपकुमारो, दिशाकुमारो उदधिकुमारो, विद्युत्कुमारो स्तनित कुमारों और अग्निकुमारो, इन छहो के छत्तीस–छत्तीस लाख है। दोनो दिशाओ के मिलकर प्रत्येक के छियत्तर–छियत्तर लाख भवन है।

दक्षिण दिशा के सुवर्णकुमारो के अडतीस लाख भवन है, उत्तरदिशा के सुवर्णकुमारो के चौतीस लाख है। दोनो के मिलकर बहत्तर लाख है।

दक्षिण दिशा में निवास करते वाले वायु कुमारों के पचास और उत्तर दिशा के वायु कुमारो के छीयालीस लाख; दोनो के मिल कर छियानवे लाख भवन है।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में देवों के प्रकरण में कहा है–

भवनपति देव दस प्रकार के है, यथा–(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्ण कुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) वायु कुमार और (१०) स्तनितकुमार ॥१७॥

सूत्रार्थ––'वाणमंतरा अट्ठविहा' सूत्र––१८

वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं

तत्वार्थदीपिका––पूर्व सूत्र मे भवनपति देवो के दस भेदो की प्ररूपणा की गई, अब क्रमप्राप्त वानव्यन्तर देवो के आठ विशेष भेदो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है––

अट्ठविहा, किण्णर-किंपुरिम-महोरग-गंधव्व जक्ख-रक्खस-भूय-पिसायभेदा-" इति

वानव्यन्तरा'—वने भवाः वानाः, विविधानि देशान्तराणि निवासा येषां ते व्यन्तराः, वानास्ते व्यन्तरा' वानव्यन्तरा. वानव्यन्तरा देवयोनिविशेषा अष्टविधाः प्रज्ञप्ताः, किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचभेदात् । अयं क्रम' प्रज्ञापनासूत्रोक्तः—

उत्तराऽध्ययनेत्वयं क्रमः—"वाणमंतरा अट्ठविहा,-पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर--किंपुरिस-महोरग-गंधव्व-भेदा-" इति । एतेषाञ्चाष्टानां देवानां पिशाचादि स्व स्वनामकर्मोदयविशेषवशात् पिशाचादिसंज्ञाव्यपदेशो भवति । एतेषामावासाः—अस्या रत्नप्र. भाया' पृथिव्याः सहस्रयोजनबाहल्यस्य रत्नमयस्य काण्डस्योपरि—एकं योजनशतमवगाह्य—ऽधश्चैकं योजनशतं वर्जयित्वा मध्येऽष्टसु योजनशतेषु तिर्यग्—असंख्यातसहस्रा भौमेया नगरावासाः सन्ति।

ते खलु—भौमेया नगरावासाः बहिर्वृत्ताः अन्तश्चतुरस्राः अधस्तात् पुष्करकर्णिका संस्थाना. सन्ति । तत्रैते-वानव्यन्तरा वसन्तीति ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति'—पूर्वं तावत्—भवनपतिदेवा असुरकुमारादि दशविधा विशेषतः प्ररूपिताः सम्प्रति—क्रमप्राप्तानां—वानव्यन्तराणां विशेषतो अष्टभेदान् प्ररूपयितुमाह—"वाणमंतरा अट्ठ-

---

वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के है—(१) किन्नर (२) किम्पुरुष (३) महोरग (४) गंधर्व (५) यक्ष (६) राक्षस (७) भूत और (८) पिशाच ।

जो वन में हों वे 'वान' कहलाते है और जो विविध देशान्तरों में निबास करते हो वे व्यन्तर कहलाते है । वान जो व्यन्तर है, उन्हे वानव्यन्तर कहते है । यह एक प्रकार की देवयोनि है । ये आठ प्रकार के होते है—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच । यहाँ जिस क्रम का उल्लेख किया गया है वह प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार है । उत्तराध्ययन सूत्र का क्रम इस प्रकार है—वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के है—पिशाच, भूत, यक्ष राक्षस किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ।

इन आठो प्रकार के देवो की जो पिशाच आदि सज्ञाएँ हैं, वे अपने अपने नाम कर्म के उदय विशेष से समझनी चाहिए ।

वानव्यन्तरो के आवास—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन मोटे रत्नमय काण्ड के ऊपर सौ योजन अवगाहन करके और नीचे भी एकसौ योजन छोडकर बीच में आठसौ योजन मे तिर्छे असख्यात हजार भौमेय नगरावास है वे नगरावास बाहर से गोल, भीतर से चतुष्कोंण और नीचे से पुष्कर की कर्णिका के आकार के है । इन नगरावासो में वानव्यन्तर देव निवास करते है ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में भवनपति देवो के दस विशेष भेद कहेगाये हैं अब क्रम प्राप्त वानव्यन्तर देवों के आठ विशेष भेदो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—वानव्यन्तर देव

किण्णर–किंपुरिस–महोरग–गंधव्व–जक्ख–रक्खस–भूय–पिसायभेदा-'' इति। वानव्यन्तरा.–वने भवाः -वाना वनचराः, विविधम्–अन्तरम् आवसनं येषां ते व्यन्तराः वानाश्चते व्यन्तराश्चेति वान व्यन्तराः खल्वष्टविधाः सन्ति। किन्नर-किम्पुरुष–महोरग–गन्धर्व-यक्ष–राक्षस–भूत–पिशाचभेदात्

तथाच—यस्मात्खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वञ्च त्रिष्वपि लोकेषु स्वातन्त्र्येण–स्वेच्छया पराभियोगाच्च-शक्रादिदेवेन्द्रचक्रवर्त्याद्याज्ञया विचरन्तः अनियतगतिप्रचाराः सन्तः प्रायेण प्रतिपतन्ति, मनुष्यानपि केचन व्यन्तरा भृत्यवदुपचरन्ति, विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवन–विवरादिषु तिर्यग्लोके प्रतिवसन्ति, तस्माद्–वानव्यन्तरा इति व्यपदिश्यन्ते ।

उत्तराध्ययनधृताऽष्टवानव्यन्तरपाठक्रमेतु–पिशाच–भूत–यक्ष–राक्षस–किन्नर–किम्पुरुष–महोरग–गन्धर्वाणामित्थं पाठक्रमः ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १ पदे देवाधिकारे **"वाणमंरा अट्ठविहा, पण्णत्ता तंजहा किण्णरा, किंपुरिसा, महोरगा, गंधव्वा, जक्खा, रक्खसा, भूया, पिसाया–"** इति । वानव्यन्तराअष्टविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–किन्नराः–किम्पुरुषाः–महोरगाः–गन्धर्वाः–यक्षाः–राक्षसाः–भूताः–पिशाचाः, इति–॥१८॥

मूलसूत्रम्— "जोइसिया पंचविहा, चंदसूरगहणक्खत्ततारामेदओ–"॥१९॥

छाया—"ज्योतिष्काः पञ्चविधाः, चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारामेदात्–"॥१९॥

आठ प्रकार के है–किन्नर किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ।

वन में रहने वाले वान कहलाते हैं और विविध देशान्तरों में रहने वाले व्यन्तर कहलाते है। वान जो व्यन्तर हैं, वे वानव्यन्तर कहे जाते है। वानव्यन्तर योनि के ये देव आठ प्रकार के है—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच।

ये देव अधोलोक, मध्य लोक और ऊर्ध्वलोक में–तीनो लोको में स्वतंत्रतापूर्वक इच्छानुसार विचरण करते हैं और देवेन्द्र–शक्र तथा चक्रवर्त्ती की आज्ञा के अनुसार भी विचरण करते हे ।

इनका गतिप्रचार अनियत होता है। कोई—व्यन्तर भृत्य के समान मनुष्यों की भी सेवा करते है ' तिर्छे लोक में अनेक प्रकार की शैल, ककरा, वन और विल आदि स्थानो में निवास करते है । इस कारण इनकी सज्ञा वानव्यन्तर है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इन आठ भेदो का क्रम इस प्रकार है–पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुप, महोरग और गन्धर्व, ।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में देवाधिकार में कहा है–

वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के कहे गये है, यथा–किन्नर, किम्पुरुप, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—'जोइसिया पंचविहा' इत्यादि । सूत्र. ॥१९॥

ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के है–

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु चतुर्विधेषु देवेषु प्रतिपादितेषु विशेषतो भवनपति—वानव्यन्तराणां देवानां प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति- क्रमप्राप्तान् ज्योतिष्कदेवान् विशेषतो निरूपयितुमाह **"जोइसिया पंचविहा-"** इत्यादि ।

ज्योतिष्का—ज्योतिःस्वभाववत्वात् तेजोमयाः ज्योतिष्कसंज्ञका देवाः पञ्चविधाः सन्ति, चन्द्र—सूर्य—ग्रहनक्षत्रताराभेदत. तथाच—चन्द्रसूर्यादिनामकर्मोदयात् तत्प्रत्ययाः खलु चन्द्रसूर्य- ग्रहनक्षत्रतारासंज्ञकास्ते ज्योतिष्कदेवा भवन्ति, एतेषां प्रत्येकं प्रभावश्च भिन्नभिन्नरूपाः सन्ति।

अस्मात् खलु—समतलभूभागात्—ऊर्ध्वं नवत्यधिकसप्तशतयोजनानि उपरि, सर्वज्योति- षामधोभागे व्यवस्थितास्तारकाः सन्ति ततो दशयोजनानि ऊर्ध्वं सूर्याश्चरन्ति, ततोऽशीतियो- जनान्यूर्ध्वं चन्द्राश्चरन्ति । ततश्चत्वारि योजनानि ऊर्ध्वं नक्षत्राणि चरन्ति ततश्चत्वारि योजनान्युत्प- त्य बुधाश्चरन्ति ।

ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शुक्राश्चरन्ति ततस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्वं बृहस्पतयः सञ्चरन्ति, त- तस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य कुजाः सञ्चरन्ति । ततस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य शनैश्चराश्चरन्ति, स एष ज्योतिर्गणसञ्चरणविषयो नभोऽवकाशो दशाधिकयोजनशतविस्तारस्तिर्यगसंख्येयद्वीप- समुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तोऽवगन्तव्यः ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका- पहले सामान्य रूप से भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से चार प्रकार के देवो की प्ररूपणा की गई थी, उनमें से भवनपति और वानव्यन्तर देवों की विशेष रूप से प्ररूपणा की गई । अब क्रम से प्राप्त ज्योतिष्क देवों की विशेष प्ररूपणा की जाती है—

तेजोमय ज्योतिष्क नामक देव पाँच प्रकार के कहेगये है – (१) चन्द्र (२)सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारा । चन्द्र—सूर्यादि नामकर्म के उदय से चन्द्र, सूर्य ग्रह, नक्षत्र और तारा नामक ज्योतिष्क देव होते है इन सब के प्रभाव भिन्न – भिन्न प्रकार के होते हैं ।

इस भूमि के समतल भाग से सातसौ नब्बे योजन की उँचाई पर सभी ज्योतिष्क देवों के नीचे तारक देव विद्यमान है । इनसे दश योजन ऊपर अर्थात् आठसौ योजन की उँचाई पर सूर्य देव होते हैं सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्र देव विचरण करते है अर्थात् ८८० योजन ऊपर चन्द्र हैं । चन्द्र से चार योजन ऊपर नक्षत्रो का चार होता है। और उनसे भी चार योजन की उँचाई पर बुध का चार होता है । बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र का विमान है, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पत्ति का विमान है और इससे भी तीन योजन ऊपर मंगल का चार होता है । इससे भी तीन योजन ऊपर शनैश्चर का विमान है । इस प्रकार समस्त ज्योतिष्क देवो का सम्पूर्ण चार क्षेत्र एक सौ दस योजन का है । तिर्छे में असंख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण घनोदधि पर्यन्त समझना चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सामान्यतो भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाश्चतुर्विधा देवाः प्ररूपिताः ततो विशेषतो भवनपतयो वानव्यन्तराश्च देवाः प्ररूपिताः सम्प्रति-क्रमप्राप्तान् ज्योतिष्कदेवान् विशेषतः प्ररूपयितुमाह—

"**जोइसिया पंचविहा, चंदसूरगहणक्खत्ततारा भेदओ**—" इति । ज्योतिष्काः-द्योतन्ते इति ज्योतीषि विमानानि, पृषोदरादित्वात्-दस्य जत्वे साधु, तेषु भवाः ज्योतिष्का देवाः ज्योतिस्वरूपा वा देवा ज्योतिष्काः मुकुटेषु शिरो मौलिमुकुटाश्रितैः प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैश्चन्द्रसूर्यतारामण्डलैर्यथायथं चिह्नैर्विराजमाना द्युतिमन्तः खलु ज्योतिष्का देवाः पञ्चविधाः सन्ति ।

चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराभेदतः तत्र सर्वेषु ज्योतिष्केषु देवेषु चन्द्राणां प्रधानत्वप्रतिपादनार्थं प्रथमोपादानं कृतम् तत्र-समतलादस्माद् भूमिभागान्नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य तावत्-प्रथमो ज्योतिष्कताराविमानप्रस्तारो वर्तते, तदुपरि-दशयोजनान्यारुह्य सूर्यविमानप्रस्तारो विद्यते, तदुपरि-अशीतियोजनान्यतिक्रम्य चन्द्रविमानप्रस्तारो वर्तते, तदुपरि विंशतियोजनान्यारुह्य तारानक्षत्र बुध-शुक्र-बृहस्पति-कुजशनैश्चराणां विमानप्रस्तारो विद्यते ।

सूर्यादधस्तात् किञ्चिदूनयोजने केतुर्वर्तते, चन्द्रादधोभागे किञ्चिदूनयोजने खलु राहुरस्ति, चन्द्र—

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सामान्य रूप से भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो का निरूपण किया गया है तत्पश्चात् भवनपति और वानव्यन्तर देवो के भेदो की प्ररूपणा की गई है । अब अनुक्रम से प्राप्त ज्योतिष्क देवों को विशेष रूप से प्ररूपणा करते है—

जो द्योतित हो उसे ज्योति कहते है अर्थात् विमान । पृषोदरादि गण में पाठ होने से 'द' के स्थान पर 'ज' आदेश होता है, अतः ज्योति' शब्द निष्पन्न होता है । उस ज्योति अर्थात् विमान में जो उत्पन्न हो, वे ज्योतिष्क देव कहलाते है । अथवा जो देव ज्योतिस्वरूप हो वे ज्योतिष्क कहलाते है । ये ज्योतिष्क देव मस्तक पर मौलि—मुकुट धारण करते है, प्रभामण्डल के समान उज्ज्वल चन्द्र, सूर्य और तारामण्डल के चिह्नो से यथायोग्य सुशोभित होते है, कान्तिमान् होते है । इनके पाँच प्रकार है (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारा !

इन ज्योतिष्क देवो में चन्द्र देवो की प्रधानता है, इस कारण उनका आदि में ग्रहण किया है ।

इस समतल भूमिभाग से सातसौ नव्वे योजन ऊपर सर्वप्रथम ताराविमानों का प्रस्तार है । उससे दस योजन ऊपर सूर्यविमान का प्रस्तार है । उससे अस्सी योजन की ऊँचाई पर चन्द्र विमान का प्रस्तार है । उससे बीस योजन तारा, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर के विमान प्रस्तार है ।

सूर्यग्रहान् विहाय शेषा नक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च एकस्मिन् स्वस्व मार्गे चरन्ति ।तत्र—ताराग्रहाणा मनियतचारित्वात् चन्द्रसूर्याणामूर्ध्वमधश्चरन्ति ।तथाच—सर्वेभ्यो ज्योतिष्केभ्योऽधस्तात् सूर्याश्चरन्ति, तत ऊर्ध्वं चन्द्राश्चरन्ति,तत ऊर्ध्वं ग्रहाः, तत ऊर्ध्वं नक्षत्राणि,तत ऊर्ध्वं विप्रकीर्णतारका श्चरन्ति ।

किन्तु—ताराग्रहाणामनियतचारितया सूर्यादधस्तादपि सञ्चारो भवति. इत्येवं रीत्या खलु ज्योतिर्लोको दशाधिकयोजनशतविस्तारः , एकविंशत्यधिकैकादशयोजनशतैर्जम्बूद्वीपमेरुस्पर्शमकुर्वन् सर्वासु दिक्षु मण्डलाकारेण व्यवस्थितः। लोकान्तञ्चैकादशाधिकैकादशयोजनशतैरस्पृशन् सर्वतोऽवसेयः । कुजादयस्ताराग्रहाश्चो—र्ध्वमधस्तिर्यक्संचरणशीलत्वेनाऽनियतचारित्वाद् अधस्तात् तावल्लम्बमाना भवन्ति, यावत्—सूर्याद् दशयोजनेषूपलभ्यन्ते ।

ज्योतिष्केषु तावत्—सर्वोपरि स्वातिनक्षत्रं नक्षत्रमण्डलस्य सर्वाधस्ताद भरणीनक्षत्रम् । सर्वदक्षिणतो मूलनक्षत्रम्, सर्वोत्तरतश्चाऽभिजित्नक्षत्रं वर्तते । ततो—ऽत्यन्तप्रकाशकारित्वाद् ज्योतिः शब्दनामधेयेषु विमानेषु भवा देवा ज्योतिष्का उच्यन्ते ।

सूर्य से कुछ योजन नीचे केतु का विमान है और चन्द्र से कुछ योजन नीचे राहु का विमान है । चन्द्र, सूर्य और ग्रहो के सिवाय शेष नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे अपने अपने एक ही मार्ग में संचरण करते हैं । तारा और ग्रह अनियत रूप से चार करते हैं,अतः कभी चन्द्र और सूर्य से ऊपर और कभी नीचे चलते है । इस प्रकार सबसे नीचे सूर्य,सूर्य के ऊपर चन्द्रमा, चन्द्रमा से ऊपर ग्रह, ग्रहों के ऊपर नक्षत्र और नक्षत्रों के ऊपर प्रकीर्णक तारे चलते हैं । किन्तु तारा और ग्रह अनियत रूप से गति करने के कारण सूर्य से नीचे भी गति करते है । सम्पूर्ण ज्योतिर्लोक एकसौ दस योजन के विस्तार में है । ग्यारहसौ एक्कीस योजनो में, जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत का स्पर्श न करते हुए, सभी दिशाओं में गोलाकार रूप से स्थित है । ग्यारहसौ ग्यारह योजन से स्पर्श न करता हुआ सभी ओर लोकान्त समझना चाहिए ।

मंगल आदि तारा, ग्रह, ऊपर, नोचे और तिर्छे चलते हैं, अतएव अनियत रूप से चलते है, इस कारण नीचे लम्बायमान होते हैं यावत् सूर्य से दस योजनों में पाये जाते है ।

ज्योतिष्कों में सबसे ऊपर स्वाति नक्षत्र है और नक्षत्रमंडल के सबसे नीचे भरणी नक्षत्र है । सबसे दक्षिण में मूलनक्षत्र है और सबसे उत्तर में अभिजित् नक्षत्र ।

अत्यन्त ही प्रकाश करने वाले होने के कारण ज्योति नामक विमानो में जो देव हैं, वे ज्योतिष्क कहलाते है । अथवा विमानो संबन्धी ज्योति के कारण वे देव ज्योतिष्क कहलाते हैं । वे देव क्रीडा नहीं करते, सिर्फ द्योतित—प्रकाशमान होते है । अथवा यों कहा जा सकता है कि वे शरीर संवन्धी ज्योति के द्वारा द्योतित होते है, क्यों कि उनका शरीर ज्योतिपुंज की भाँति चमचमाता हुआ देदीप्यमान होता है ।

बिमानगतज्योतिषः सम्बन्धिनो वा देवाः तेन दीव्यन्ति–द्योतन्ते, वपुःसम्बन्धिना वा ज्योतिषा दीव्यन्ते इति ज्तोतिष्का उच्यन्ते। ज्योतिरेव भास्वरदेदीप्यमानशरीरत्वात समस्तदिङ्मण्डलद्योतकत्वाद्वा ज्योतिष्काः उच्यन्ते, स्वार्थे कन प्रत्ययः, । मुकुटेपु तावत्–प्रभामण्डलस्थानीयानि–उज्ज्वलानि चन्द्रसूर्यादीनि भवन्ति। चन्द्रस्य –चन्द्राकार चिह्नम्, सूर्यस्य–सूर्याकारं चिह्नम एवम् ग्रहनक्षत्राणामप्यवगन्तव्यम्. ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां प्रथमपदे १ देवाधिकारे—'जोइसिया पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा चंदा–सूरा–गहा–णक्खत्ता–तारा–,,इति. । ज्योतिष्काः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–चन्द्राः–सूर्याः–ग्रहाः– नक्षत्राणि–ताराः इति ॥१९॥

मूलसूत्रम्— 'कप्पोववण्णगा वेमाणिया बारसविहा,सोहम्म–ईसाणसणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतय–महासुक्क–सहस्सार–आणय–पाणयआरणाच्चुयभेदा–॥२०॥

छाया—कल्पोपपन्नका वैमानिकाः द्वादशविधाः सौधर्मै-शान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोकलान्तक-महाशुक्र-सहस्रारा-ऽऽनत-प्राणताऽऽरणा-च्युतभेदात्-॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—वैमानिकस्वरूपं निरूपयितुं पूर्वं चतुर्विधदेवेषु भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकेषु विशेषतो भवनपतयो वानव्यन्तरा ज्योतिष्काश्च देवाः प्ररूपिताः सम्प्रति–कल्पोपपन्नकवैमानिकदेवान्द्वादशविधान् प्रतिपादयितुमाह—

अथवा उन देवो को समस्त दिशामंडल प्रकाशित करने के कारण ज्योतिष्क कहते हैं । 'ज्योतिष्क' शब्द में स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय हुआ है, अर्थात् 'ज्योतिप्' शब्द में 'कन्' प्रत्यय करने पर भी उसके अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता–जो अर्थ 'ज्योतिप्' शब्द का है वही 'ज्योतिष्क' शब्द का भी है ।

उन देवो के मुकुटो में प्रभामण्डल स्थानीय चन्द्र-सूर्य आदि के चिह्न हो होते है । चन्द्रदेव के मुकुट में चन्द्र के आकार का और सूर्य देव के मुकुट में सूर्य के आकार का चिह्न है। यही बात ग्रहो और नक्षत्रो के सवन्ध में भी समझना चाहिए ।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में देवो के प्रकरण में कहा है-ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार क है –चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारा ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—'कप्पोववण्णगा वेमाणिया' इत्यादि सूत्र---॥२०॥

कल्पोपपन्नवैमानिक देव वारह प्रकार के है । —(१) सौधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक ६) लान्तक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११)आरण और (१२) अच्युत । सूत्र २०॥

तत्त्वार्थदीपिका—भवनपति, वानव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो में से पहले भवनपति. वानव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों की प्ररूपणा की गई है । अब बारह प्रकार के कल्पोपपन्न देवो का कथन करने के लिए कहते है–

'कप्पोववण्णगा वेमाणिया बारसविहा, सोहम्म–ईसाण–सणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतय–महासुक्कसहस्सार–आणय–पाणय–आरणाच्चुयभेदा–इति. । कल्पोपपन्नकाः–कल्पेषु द्वादशदेवात्मकेषु उपपन्नाः सम्बद्धाः कल्पोपपन्नकाः वैमानिका वि विशेषेण दानशीलतपोभावैः पूर्वभवोपार्जितपुण्यपुञ्जशालिनः–प्राणिनः–स्वस्थितान् सुकृतिनो मानयन्ति आद्रियन्ते –आधारं ददति–इति विमानानि, तेषु विमानेषु भवा वैमानिका देवा द्वादशविधाः सन्ति, सौधर्मै–शान–सनत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्मलोक–लान्तक–महाशुक्र–सहस्रारा–ऽऽनत–प्राणतारणाच्युताः वक्ष्यमाणप्रकारेणावस्थिता सन्ति तथाहि यस्मिन् पटले सौधर्मनामा कल्पो दक्षिणदिशि वर्तते, तस्मिन् एव पटले उत्तरदिशि–ईशाननामा कल्पो समश्रेण्या स्थितः । समीपवर्ती एतौ द्वावपि प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ समश्रेण्या स्थितौ । एवम्–सनत्कुमारमाहेन्द्रदेवलोकावपि एवमेव समश्रेण्या स्थितौ । तदग्रे–ब्रह्म–लान्तक–महाशुक्रसहस्रारपर्यन्ता देवलोका एकैकस्योपर्युपरि वर्त्तन्ते तदग्रे आनतप्राणतनामानौ द्वौ देवलोकौ, तदग्रे आरणाच्युतौ च । एते चत्वारो देवलोका द्वौ द्वौ युगलरूपेण सौधर्मेशानदेवलोकवदेवार्द्धचन्द्राकारौ समश्रेण्या स्थितौ इत्येवं द्वादशदेवलोकाः समवस्थिताः सन्ति ॥ सू० २० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सामान्यतः प्रतिपादितेषु चतुर्विधेषु भवनपति–वानव्यन्तर-ज्योतिष्क–वैमानिकदेवेषु विशेषतः क्रमशो भवनपति–वानव्यन्तरज्योतिष्कदेवानां प्ररूपणं विहि-

---

कल्पों में अर्थात् बारह देवलोकों में जो उत्पन्न हो, वे देव कल्पोपपन्नक कहलाते हैं । जो अपने अन्दर रहने वालो को जिन्होने विशेष रूप से दान, शील तप और भावना का आसेवन करके पूर्वभव में पुण्यराशि प्राप्त की है उनको सुकृती–पुण्यात्मा मानते हैं उनका आदर करते हैं तथा उन्हें आधार प्रदान करते है उन्हें बिमान कहते है । बिमानो मे उत्पन्न होने वाले देव वैमानिक कहेगये है और वे बारह प्रकार के हैं (१) सौधर्म (२) ईशान(३)सनत्कुमार (४) माहेन्द्र(५)ब्रह्मलोक (६) लान्तक (७)महाशुक्र (८) सहस्रार (९)आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२)अच्युत । ये कल्प वक्ष्यमाण प्रकार से व्यवस्थित है, जैसे–ज्योतिश्चक्र के उपर असख्यात करोड़ा करोड योजन जाने पर सौधर्म और ईशान देवलोक हैं, जिस प्रदेश में सौधर्म कल्प दक्षिणदिग्वर्त्ती है उसि प्रदेश के समीप उत्तर दिग्वर्त्ती ईशान कल्प भी है । ये दोनों ही कल्प प्रत्येक अर्द्धचन्द्राकार से समश्रेणिमें स्थित है । इनके ऊपरे असंख्यात करोडा करोड़ योजन जाने पर इसी प्रकार सनत्कुमार कल्प और माहेन्द्र कल्प ये दोनों भी अर्द्धचन्द्राकारसे समश्रेणिमे स्थित है । उनके ऊपर ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, और सहस्रार, ये चार कल्प एक एक के प्रत्येक असख्यात असख्यात योजन जाने पर है और सहस्रार कल्प के ऊपर आनत–प्राणत ये दो देवलोक तथा इन के ऊपर आरण और अच्युत ये चारो कल्प दो दो युगल रूप से सौधर्म और ईशान देवलोक की तरह अर्द्धचन्द्राकार से समश्रेणि में स्थित है ।२। इसप्रकार बारहों देवलोक व्यवस्थित हैं । सूत्र ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सामान्य से प्रतिपादित चार प्रकार के जो भवनपति वानव्यन्तर

तम् सम्प्रति वैमानिकदेवानां विशेषतः प्ररूपणं कर्तुं कल्पोपपन्नककल्पातीतभेदेन द्विविधेषु वैमानिकेषु प्रथमं प्रथमोपात्तकल्पोपपन्नकवैमानिकदेवान् प्ररूपयति "कप्पोववण्णगा वेमाणिया बारसविहा सोहम्म-ईसाण सणंकुमार माहिंद बंभलोय लंतय महासुक्क सहस्सार आणय पाणय आरणाच्चुयभेया" इति ।

कल्पोपपन्नका—कल्पेषु द्वादशदेवलोकेषु उपपन्नकाः कल्पोपपन्नका वैमानिका विशेषतः स्वस्थितान् सुकृतशालिनो मानयन्ति सम्मानयन्ति धारयन्ति इति विमानानि, तेषु भवा, वैमानिकाः ते देवा खलु द्वादशविधा सन्ति, सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तक महाशुक्रसहस्राराऽऽनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतभेदात् । तत्र—ते खलु कल्पा वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवस्थिताः सन्ति, तथा हि ज्योतिश्चक्रादुपरि असंख्यातकोटिकोटियोजनान्यतिक्रम्यात्र मेरूपलक्षिताद्धर्धदक्षिणोत्तरभागव्यवस्थितौ पूर्वपश्चिमायतौ दक्षिणोत्तरविष्कम्भौ अर्चिमालीव देदीप्यमानौ असङ्ख्येय योजनायामविष्कम्भपरिक्षेपौ सर्वरत्नमयौ मध्यव्यवस्थितसर्वरत्नमयावशोकसप्तपर्णचम्पकसहकारसुशोभितशक्रेन्द्रैशानेन्द्रावासयुक्तौ सौधर्मैशानदेवलोकौ प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलरूपेण दक्षिणोत्तरभाग-

---

ज्योतिष्क और वैमानिक है उनमें विशेषतः क्रम से भवनपति वानव्यन्तर ज्योतिष्क देवों की प्ररूपणा करदी गई है अब वैमानिक देवो की विशेष रूप से प्ररूपणा करने के लिये कल्पो पपन्न और कल्पातीत के भेदो को लेकर दो प्रकार के वैमानिको में प्रथम ग्रहण किये हुए कल्पोपपन्न वैमानिक देवो का प्ररूपणकरते है—

"कप्पोववन्नगा वेमाणिया बारसविहा०' इत्यादि ।

कल्पोपपन्नक देव सौधर्म—ईशान—सनत्कुमार—माहन्द्र; ब्रह्म लोक—लान्तक—महाशुक्र—सहस्रार आनत—प्राणत आरण अच्युत के भेद से बारह प्रकार के होते है । कल्पो में अर्थात बारह प्रकार के देवलोको में जो उत्पन्न होते है वे कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कहे जाते हे, वैमानिक का अर्थ है विमानो में रहने वाले देव, विशेष रूप से अपने में रहे हुए पूर्वोपाजित पुण्य शाली प्राणियो को मानते है, अर्थात् सम्मान करते है धारण करते है उनको विमान कहते हे, और विमानो में होने वाले देव वैमानिक कहलाते है । वे वैमानिक देव सौधर्म आदि बारह कल्पो में होने से देव भी बारह प्रकार के कहे जाते है । बारह कल्प आगे कहे जाने वाले प्रकार से व्यवस्थित है—

ज्योतिश्चक्र के ऊपर असख्यात करोडा करोड योजनो के उल्लंघने पर यहाँ मेरु पर्वत को आश्रय करके दक्षिणार्द्ध तथा उत्तरार्ध भाग मे व्यवस्थित पूर्वपश्चिम से लम्बे और दक्षिण उत्तर से चौडे अचिमाली सूर्य की तरह देदीप्यमान असख्यात योजन आयाम विष्कंभपरिक्षेप वाले सर्व रत्नमय मध्यस्थित सर्वरत्न मय अशोक सप्तपर्ण चम्पक सहकार सुशोभित शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के आवास से युक्त दो पहला और दूसरा सौधर्म और ईशान देवलोक एक एक अर्धचन्द्राकार युगल रूप दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि में व्यवस्थित है १—२। उनके ऊपर असख्यात

मपेक्ष्य स्थितौ समश्रेण्यां तदुपरि—असंख्यातकोटिकोटियोजनान्यतिक्रम्यात्र तृतीय—चतुर्थौ सनत्कुमार माहेन्द्रदेवलोकौ अपि प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलरूपे दक्षिणोत्तरमपेक्ष्य स्थितौ ४ । तदुपरि असंख्यातयोजनातिक्रमे ब्रह्मदेवलोको वर्त्तते तत्र च लोकान्तिकदेवा जिनेन्द्रजन्मादिमहोत्सवविलोकनोत्सुकाः शुभाध्यवसायप्राया भक्तिश्रवणतावशीकृतचित्ता निवसन्ति ।

अथ ब्रह्मलोकादारभ्याष्टमसहस्रारदेवलोकपर्यन्तं चत्वारो देवलोका एकैकस्योपर्युपरि असंख्यातयोजनान्तरेण वर्तन्ते, तथाहि सनत्कुमार—माहेन्द्रदेवलोकयुगलादुपरि असंख्यातयोजनान्यतिक्रम्यात्र पञ्चमो ब्रह्मदेवलोको वर्तते ५ । तदुपरि—असंख्यातकोटियोजनातिक्रमे षष्ठो लान्तकदेवलोको वर्तते ६, तदुपरि असंख्यातयोजनातिक्रमे सप्तमो महाशुक्रदेवलोको वर्तते ७ । तदुपरि असख्यातयोजनातिक्रमेऽष्टमः सहस्रारदेवलोको वर्तते ८। इति । अथ—तदुपरि असंख्यातयोजनातिक्रमे नवमदशमौ आनतप्राणतदेवलोकौ अपि प्रथमद्वितीयदेवलोकवत् प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलदक्षिणोत्तरभागमपेक्ष्य स्थितौ समश्रेण्यां १० । तदुपरि असंख्यातयोजनातिक्रमे एकादश—द्वादशौ आरणाच्युत—देवलोकौ एतौ द्वावपि पूर्ववत् प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलरूपेण समश्रेण्यां स्थितौ ११—१२ । इति द्वादशदेवलोकस्थितिस्वरूपम् ।

योजनजाने पर यहां तीसरा और चौथा सनत्कुमार माहेन्द्र ये दो देवलोक भी प्रत्येक अर्द्धचन्द्राकार युगल रूप से दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि में व्यवस्थित है ३—४। इनके ऊपर असंख्यात योजन जाने पर यहा ब्रह्म देव लोक है। इस ब्रह्म देव लोक में लोकान्तक देव रहते है वे जिनेन्द्र जन्मादि के महोत्सव को देखने में उत्सुक शुभ अध्यवसाय वाले भक्ति भाव में वशीकृतचित्त वाले होते है। अब ब्रह्मलोक से लेकर आठवें सहस्रार देव लोक पर्यन्त चार देव लोक एक एक के ऊपर असख्यात असख्यात योजनो के अन्तर से व्यवस्थित है, जैसे—सनत्कुमार और माहेन्द्र इन युगल देव लोंको से ऊपर असख्यात योजनो के लांघने पर यहाँ पाँचवाँ ब्रह्म देव लोक है ५। उसके ऊपर असंख्यात योजन जाने पर छठा लान्तक देवलोक है ६ । उसके ऊपर असख्यात योजन जाने पर सातवाँ महाशुक्र देव लोक है ७) उसके ऊपर असंख्यात योजन जाने पर आठवाँ सहस्रार देवलोक है ८। इस के ऊपर असंख्यात योजन जाने पर नौवाँ दसवाँ आनत और प्राणत देव लोंक भी पहले दूसरे सौधर्म ईशान की तरह प्रत्येक अर्द्धचन्द्राकार युगल रूप से दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि में स्थित है ८—१० । इसी प्रकार इनके ऊपर असख्यात योजन जाने पर ग्यारहवाँ और बारहवाँ आरण और अच्युत देवलोक, ये दोनों देव लोक भी पूर्व के आनत प्राणत की तरह प्रत्येक अर्ध चन्द्राकार युगल रूप से दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि मे स्थित है ११—१२ । यह बारह देवलोक की स्थिति का स्वरूप है ।

तत ऊर्ध्वं नवग्रैवेयकानि उपर्युपरि क्रमेण सन्ति, तदुपरि च पञ्चमहाविमानानि सन्तीति वैमानिकदेवानामवस्थितिक्रमोऽवगन्तव्यः तत्र—सौधर्मकल्पसाहचर्यात्तदिन्द्रोऽपि सौधर्म उच्यते ईशानदेवलोकस्य ऐशानो नाम इन्द्रः स्वभावतो वर्त्तते, ऐशानस्य निवासः कल्प ऐशान उच्यते, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि ऐशान उच्यते इत्येवं रीत्या सनत्कुमारादयोऽप्यवगन्तव्याःसौधर्मादिकल्पवासिनां देवानां दशइन्द्रा भवन्ति, नवम—दशमयोः,एकादश—द्वादशयोश्चेति युगलद्वये एकैकेन्द्रस्य सद्भावात् ।

अथ सौधर्मादयो देवलोकाः समतलभूमितः कियत्कियद्दूरमुपरि वर्त्तते इति प्रदर्श्यते प्रथमद्वितीयौ सौधर्मैशानौ द्वौ कल्पौ युगलरूपेण स्थितौ समतलभूमितः सार्द्धैकरज्जुकमुपरि वर्त्तेते२, तृतीय—चतुर्थकौ सनत्कुमार—माहेन्द्रकल्पौ युगलरूपेण स्थितौ समतलभूमितः सार्द्धे द्विरज्जुकमुपरि वर्त्तेते४। एवं पञ्चमः कल्पः सपादत्रिरज्जुकम्, षष्ठः कल्पः सार्द्धत्रिरज्जुकम् ,सप्तमः कल्प एकभागोन चतुरज्जुकम् अष्टमः कल्पः चतूरज्जुकम्, एवं नवमदशमौ युगलरूपेण स्थितौ द्वौ कल्पौ सार्द्धचतूरज्जुकम्, एवमेव एकादश—द्वादशौ युगलरूपेण स्थितौ द्वौ कल्पौ समतलभूमितः पञ्चरज्जुकमुपरि वर्त्तेते१२, इति—कल्पोपपन्नदेवसम्बन्धिनां द्वादशदेवलोकानां समतलभूमित उच्चैस्त्वं विज्ञेयमिति ।

बारहवें कल्प के ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान है। जो एक —दूसरे के ऊपर अवस्थित हैं। उनके ऊपर पाँच अनुत्तर नामक महा विमान है। यह वैमानिक देवों की अवस्थिति का क्रम है।

सौधर्म कल्प के कारण वहां का इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है। ईशान नामक देव स्वभावतः निवास करता है। उसका निवास होने से वह कल्प ऐशान कहलाता है और ऐशान कल्प के सहचर्य से वहाँ का इन्द्र ऐशान इन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार आगे के कल्पों एवं इन्द्रों के विषय में भी समझलेना चाहिये। सौधर्म आदि कल्पो में निवास करने वाले देवो के दस इन्द्र होते है। क्यो कि नौवे और दस वें इन दो देव लोको का भी एक ही इन्द्र होता है,

अब यहाँ सौधर्मादि देवलोक समतल भूमिसे कितने ऊँचे हैं! यह दिखलाया जाता है— पहला और दूसरा जो सौधर्म और ईशान कल्प है वे युगलरूप से स्थित दोनो कल्प समतल भूमि से डेढ राजू २। तीसरा और चौथा जो सनत्कुमार और माहेन्द्र ये युगल रूप से स्थित दोनों कल्प समलत भूमि से (२॥) ढाई राजू ऊपर है ४। इसी प्रकार पाँचवाँ कल्प (३।) सवा तीन राजू ऊपर है, छठा कल्प (३॥) साढे तीन राजू ऊँचा है, सातवाँ कल्प (३॥।) पौने चार राजू ऊँचा है, और आठवां सहस्रार कल्प (४) चार राजू समतल भूमि से ऊँचा है ८। इसी प्रकार नौवां और दसवाँ युगल रूप से स्थित ये दोनों कल्प (४॥) साढे चार राजू ऊँचे हैं, तदनन्तर ग्यारहवाँ और बारहवां युगल रूप से स्थित ये दोनों कल्प समतल भूमि से पाँच राजू ऊँचे हैं। यह कल्पोपपन्न बारह देवलोको का समतल भूमि से ऊपर होने का प्रमाण जानना चाहिये!

तदग्रे त्रित्रिरूपेण त्रीणि त्रिकाणि कल्पातीतानां नवग्रैवेयकदेवानां सन्ति, तेषु प्रथमं त्रिकं समतलभूमितः पञ्चरज्जुकम् एकरज्जुकस्य त्रयो भागाः क्रियन्ते तेभ्य एको भागश्चैतावत्कमुपरि वर्तते ३ द्वितीयं त्रिकं पञ्चरज्जुकम् एकस्य रज्जुकस्य भागत्रयमध्याद् द्वौ भागौ चेतावत्कं समभूमित उपरि वर्त्तते ६ तृतीयं त्रिकं परिपूर्णं षड्रज्जुकं समतलभूमित उपरि वर्त्तते ९ एते नव पुरुषाकारलोकस्य ग्रीवास्थाने वर्त्तमानत्वाद् ग्रैवेयका उच्यन्ते । तदग्रे पञ्चानुत्तरविमानानि येषामुत्तरेऽग्रे न केऽपि विमानविशेषा विद्यन्ते इति तान्यनुत्तरविमानानि प्रोच्यन्ते ते पञ्च प्रत्येकं चतुर्दिक्षु समश्रेण्या स्थिताः किञ्चिदूनसप्तरज्जुकं समतलभूमित उपरि वर्त्तते। तेषां पञ्चानां परस्परमन्तरम् एकरज्जुकस्य किञ्चिदूनाः पञ्चभागा क्रियन्ते, तन्मध्यादेकैकभागपरिमितमन्तरमेकैकस्य वर्तते । इति पञ्चानुत्तरविमानवर्णनम् । नवग्रैवेयका., पञ्चानुत्तरदेवाश्चेति चतुर्दशानां कल्पातीतदेवानां वर्णनमग्रिमसूत्रे करिष्यते इति।

जम्बूद्वीपे महामन्दरः सहस्रयोजनावगाहो नवनवतिसहस्रयोजनोच्छ्रायः । तस्याधस्तदधोलोको वर्त्तते । तिर्यक्प्रसृतश्च तिर्यग्लोको वर्त्तते तस्योपरिष्टात् उर्ध्वलोको वर्त्तते । मेरूचूलिका च चत्वारिंशद् योजनोच्छ्राया वोध्या । उक्तञ्च–प्रज्ञापनायां प्रथमपदे देवाधिकारे — "वेमाणिया-"दुविहा पण्णत्ता, तजहा कप्पोववण्णगा य कप्पाईया य, से किं तं कप्पोववण्णगा-? कप्पोव-

---

इनके आगे तीन तीन करके तीन त्रिक में कल्पातीत नव ग्रैवेयक देव है। उन तीन त्रिकों में से पहला त्रिक समतल भूमि से पाँच राजू और एक राजू के तीन भागों में का एक भाग जीतना ऊँचा है ३ ।दूसरा त्रिक पाँच राजू और एक राजू के तीन भागो में का दो भाग जितना ऊँचा है ६ । और तीसरा त्रिक पूरा छह राजू समतल भूमि से ऊँचा है । ये नव पुरुषाकार लोक के ग्रीवा (गला) स्थल पर होने से ग्रैवेयक कहलाते हैं ९ ।

इन के आगे पाँच अनुत्तर विमान है, जिनके उत्तर अर्थात् आगे कोई विमान न होने से ये अनुत्तर विमान कहलाते हैं ये पाँच प्रत्येक चारों दिशाओ मे समश्रेणि से स्थित है ये समतल भूमि से कुछ कम सात राजू ऊँचे है । ये पांचो अनुत्तर विमान एक राजू के कुछ कम पाँच भाग किये जायँ, उन में से एक–एक भाग के अन्तर से स्थित है। यह पाँच अनुत्तर विमानो का वर्णन हुआ। ऐसे ये नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान वासी इस प्रकार चौदह कल्पातीत देव कहलाते हैं, इन चौदह प्रकार के कल्पातीत देवो का वर्णन अगले सूत्र में किया जायगा ।

जम्बूद्वीप का महामन्दर पर्वत एक हजार योजन पृथिवी के अन्दर है, निन्यानवे (९९) हजार योजन की इसकी ऊँचाई है, इसके नीचे के भाग में अधोलोक है । तिर्यक् अर्थात् टेढ़ा फैला हुआ तिर्यग्लोक है । इसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है । इस मेरुकी चूलिका चालीस योजन की ऊँचाई वाली है ।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में देवाधिकार में कहा है --वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—कल्पोपपन्नक और कल्पातीत कल्पोपपन्नक कितने प्रकार के हैं ? वे

वण्णगा, बारसविहा पण्णत्ता, तंजहा-सोहम्मा-ईसाणा-सणंकुमारा-महिंदा-बंभलोगा-लंतया-महासुक्का-सहस्सारा-आणया-पाणया-आरणा-अच्चुया य" इति ।

वैमानिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-कल्पोपपन्नकाश्च-कल्पातीताश्च । अथकिं ते कल्पोपपन्नकाः—? ।

कल्पोपपन्नका द्वादशविधाः प्रज्ञप्ताः , तद्यथा—सौधर्माः—ईशानाः सनत्कुमाराः—माहेन्द्राः ब्रह्मलोकाः—लान्तकाः—महाशुक्राः— सहस्राराः— आनताः—प्राणताः—आरणाः—अच्युताश्चेति । पुनरप्युक्तञ्च प्रज्ञापनायां ६—पदे, अनुयोगद्वारे औपपातिके सिद्धाधिकारेच—"सोहम्म—ईसाण सणंकुमारे—माहिंद—बंभलोय-लंतग—महासुक्क—सहस्सार—आणय—पाणय—आरण—अच्चुया" इति । सौधर्मे—शान—सनत्कुमार—माहेन्द्र—ब्रह्मलोक—लान्तक—महाशुक्र—सहस्रारा—ऽऽनत-प्राणता—ऽऽरणा—ऽच्युताः इति—॥ सू०२० ॥

मूलसूत्रम्—"कप्पाईया वेमाणिया चउद्दसविहा, णवगेवेज्जगा पंचाणुत्तरोववाइयभेया—" ॥ सू० २१ ॥

छाया—"कल्पतीता वैमानिकाश्चतुर्दशविधाः" नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरो-पपातिकभेदात्-॥ सू० २१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं कल्पोपपन्नका वैमानिकदेवा, सौधर्मादयो द्वादशविधा विशेपतः प्ररूपिताः सम्प्रति—कल्पातीतानां वैमानिकदेवानां चतुर्दशविधानां विशेपतः प्ररूपणं कर्तुमाह—"कप्पाईयवेमाणिया चउद्दसविहा, णवगेवेज्जगपंचानुत्तरोववाइयभेया—" इति ।

बारह प्रकार के होते है, यथा—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, औरे अच्युत ।

प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद में तथा अनुयोगद्वार में और औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में कहा है—

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक. महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत ॥सूत्र—२०॥

सूत्रार्थ—'कप्पाईया वेमाणिया' इत्यादि ॥सूत्र.२१॥

कल्पातीत वैमानिक देव चौदह प्रकार के है—नवग्रैवेयक देव और पाँच अनुत्तरौपपातिकदेव ॥सूत्र॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के सौधर्म आदि बारह विशेष भेदो का निरूपण किया गया अब कल्पातीत वैमानिक देवों के चौदह अवान्तर भेदों की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं—कल्पातीत वैमानिक देव चौदह प्रकार के हैं—नौग्रैवेयक और पाँच अनुत्तरौपपातिक ।

ग्रैवेयकाः कल्पातीताः— कल्पेभ्योऽतीताः कल्पं वाऽतिक्रान्ताः,उपरितनक्षेत्रवर्तिनो वैमानिकाः, विमानेषु भवा.—वैमानिकाः देवा. चतुर्दशविधाःसन्ति,नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौ—पपातिकभेदात् । तत्रा—ऽधस्तनग्रैवेयकत्रयम् , मध्यमग्रैवेयकत्रयम्, उपरितनग्रैवेयकत्रयम्, इत्येवं नवग्रैवेयकाःपञ्चा—ऽनुत्तरौपपातिकाः, न—उत्तरं येभ्यस्तेऽनुत्तरा, अनुत्तराश्चते—औपपातिकाश्चेति अनुत्तरौपपातिकाः। उपपातोऽस्ति येषा ते—औपपातिकाः देवाः—विजय—वैजयन्त—जयन्ता—ऽपराजित—सर्वार्थसिद्धाः,तेषां भेदात् तथाच—नवग्रैवेयकाः पञ्चाऽनुत्तरौपपातिकाश्चेत्येवं समिलिताश्चतुर्दशविधाः खलु कल्पातीताः वैमानिकदेवा भवन्ति—॥ २१

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सौधर्मैशानादिका द्वादशविधाः कल्पोपपन्नका वैमानिकदेवाः प्ररूपिताः सम्प्रति—चतुर्दशविधान कल्पातीतान् वैमानिकदेवान् प्ररूपयितुमाह—

"कप्पाईया वेमाणिया चउद्दसविहा,णवगेवेज्जग पंचाणुत्तरोववाइयभेया—" इति ।

कल्पातीताः—कल्पेभ्यो द्वादशसख्यकेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यः सौधर्मादिसंज्ञकेभ्योऽतीतास्तानतिक्रान्ताः उपरितनक्षेत्रे वर्तमानाः कल्पातीताः वैमानिका देवाश्चतुर्दशविधाः सन्ति, नवग्रैवेयक—पञ्चानुत्तरौपपातिकभेदात् तत्र—नवग्रैवेयकास्तावत्—लोकरूपपुरुषस्य ग्रीवेव ग्रीवा कण्ठप्रदेशः, तस्यां भवा ग्रैवेयकाः ग्रीवाभरणभूता देवविशेषाः ग्रैवेयका उच्यन्ते

तत्राधस्तनग्रैवेयकास्त्रयः, मध्यमग्रैवेयकास्त्रयः,उपरितनग्रैवेयकास्त्रयश्चेत्येवं समील्य नवसंख्य-

---

जो देव वारह कल्पो से अतीत—बाहर है वे कल्पातीत कहे जाते हैं। अथवा जिन देवो में इन्द्र, सामानिक आदि की कल्पना नहीं होती—जिनमें स्वामी-सेवक भाव नहीं होता, जो सभी अहमिन्द्र है, उन देवों को कल्पातीत कहते हैं। ये देव वारह देवलोकों से ऊपर रहते है। विमानों में उत्पन्न होने के कारण उनकी वैमानिक सज्ञा है। वे चौदह प्रकार के है—नौग्रैवेयक विमानों में उत्पन्न होने वाले और पाँच अनुत्तरविमानो में उत्पन्न होने वाले ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले सौधर्म, ईशान, आदि वारह प्रकार के कल्पोपपन्नक वैमानिक देवोंकी प्ररूपणा की गई है। अव चौदहप्रकार के कल्पातीत वैमानिको की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

कल्पातीत वैमानिक देव चौदह प्रकार के हैं—नौ ग्रैवेयकदेव एवं पाँच अनुत्तरौपपातिक

सौधर्म आदि पूर्वोक्त वारह कल्पो से जो अतीत हो अर्थात् उनसे भी ऊपरके क्षेत्र में जो हों, वे कल्पातीत कहलाते है अथवा जो इन्द्र सामानिक की भेदकल्पना से अतीत हों—सव समान श्रेणी के हों, वे कल्पातीत कहलाते है। कल्पातीत देवों के पूर्वोक्त चौदह भेद है।

ग्रैवेयक विमान नौ है। प्ररूपणा की अनुकूलता को दृष्टि से उन्हे तीन भागों में विभक्त किया गया है—तीन अधस्तन अर्थात् नीचे के, तीन मध्यम अर्थात् बीच के

काः खलु ग्रैवेयकाः सन्ति पञ्चानुत्तरौपपातिकाः पुनः विजय–वैजयन्ता–ऽपराजित–सर्वार्थसिद्धरूपाः सन्ति एतेभ्यः पञ्चभ्य उत्तरक्षेत्रे केषामपि देवानां निवासाभावात् न सन्ति विमानान्तराणि–उत्तरं येभ्यस्तान्यनुत्तराणि विमानानि यद्वा–शब्दानामनेकार्थत्वात् नास्त्युत्तरं विमानं यस्मात्तत् तदुपरि न कोऽपि देवलोकः ।

इमे पञ्चाऽनुत्तरौपपातिका देवा उच्यन्ते नवपञ्चभेदाच्चतुर्दशदेवाः कल्पातीता उच्यन्ते तत्र--पञ्चविमानविशेषाः सर्वोपरिवर्तमानाः सन्ति, अतएव तेऽनुत्तरा इति व्यपदिश्यन्ते अविद्यमानम्--उत्तरम् अन्यद्विमानादि येषां तेऽनुत्तराः विजयादिनामानः एव विमानविशेषाः सन्ति ।

तत्र--विजिताः अभिभूता निरस्ताः स्वर्गरूपाऽभ्युदयस्य विघ्नहेतवो यैस्ते त्रयो विजय–वैजयन्तजयन्तनामानो देवाः सन्ति । ते खलु समस्तान् अभ्युदयविनाशहेतून् निरस्याऽमन्दानन्दरूपस्वर्गसुखसन्दोहरसमात्मसात्कृत्योपभुञ्जते, तैरेवाऽभ्युदयविघातहेतुभिर्न पराजिता भवन्ति ये तेऽपराजिता उच्यन्ते । सर्वेषु चाऽभ्युदयार्थेषु सिद्धाः सर्वार्थसिद्धाः उच्यन्ते, ते खलु सर्वार्थसिद्धाः स्वर्गाऽभ्युदयिकसुखप्रकर्षवर्तित्वात् सर्वप्रयोजनेषु–अव्याहतशक्तयो भवन्ति ।

सर्वार्थैर्वा सिद्धा. सर्वार्थसिद्धाः, सर्वैरेवाऽतिशयशालिभिः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिभिरतिरमणी-

---

और तीन उपरितन अर्थात ऊपर के । जो विमान सर्वोत्कृष्ट है, जिनसे उत्तम अन्य कोई विमान नहीं है, वे अनुत्तर विमान कहलाते हैं । वे पाँच ये है–विजय वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ।

नौ ग्रैवेयकवासी और पोच अनुत्तर विमानवासी, यो दोनो मिलकर कल्पातीत देव चौदह प्रकार के है ।

यह लोक पुरुषाकार है । लोक–पुरुष की ग्रीवा के स्थान पर जो विमान अवस्थित है, वे ग्रैवेयक कहे गये है उन विमानो में रहने वाले देव भी ग्रैवेयक कहलाते हैं ।

पांच अनुत्तर विमान सभी विमानो के ऊपर अवस्थित हैं, इस कारण उन्हे अनुत्तर कहा गया है । नहीं है उत्तर–श्रेष्ट जिनसे, वे अनुत्तर । विजय वैजयन्त आदि देवों के नाम है, और देवो के नाम से विमानो के भी येही नाम है ।

जिन्होने स्वर्ग संबंधी अभ्युदय की प्राप्ती में विघ्न डालने वाले सभी कारणो को विजित कर लिया है, अर्थात उन पर विजय प्राप्त कर लिया है, वे तीन देव विजय, वैजयन्त और जयन्त कहलाते है । वे देव अभ्युदय का विनाश करने वाले कारणो को दूर करके अमन्द (तीव्र) आनन्द रूप स्वर्गसुख के समूह को आत्मसात् करके भोगते है । इसी प्रकार स्वर्गीय सुख में वाधा डालने वाले कारणो से जो पराजित न हुए हों, वे अपराजित कहलाते है । जो देव अभ्युदय सबंधी समस्त अर्थों में सिद्ध (सफल) हों वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते हैं । सर्वार्थसिद्ध देव स्वर्ग के सुखो की चरम सीमा पर पहुँच चुके है, अतएव समस्त प्रयोजनो में उनकी शक्ति अव्याहत होती है ।

अथवा जो देव सर्व अर्थों अर्थात् प्रयोजनो से सिद्ध हो वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते है ।

यैः सिद्धाः प्रख्याताः सवार्थसिद्धाः यद्वा—सर्वे अर्थाः सिद्धा भवन्ति यत्र ते सर्वार्थसिद्धाः। तत्रैकमनुष्यभवं कृत्वा तत्रत्यः सर्वे देवा मोक्षं प्राप्य सिद्धा भवन्तीति भावः। विजयादिषु च केचन देवा द्विमनुष्यभवमपि कृत्वा मोक्षं प्राप्नुवन्ति,

सर्वार्थसिद्धे च —नियमत एकभवमेव कृत्वा मोक्षं प्राप्नुवन्तीति विशेषः अत एवं—सर्वार्थ सिद्धा उच्यन्ते , सर्वे चाऽभ्युदयार्थाः। एषां सिद्धा भवन्तीति सवार्थसिद्धा उच्यन्ते अथवा—विजितप्रायाणि वा कर्माणि एभिरिति विजयादयः प्रतनुकर्मपटलाच्छन्नत्वात् प्रत्यासन्नवर्त्यनवद्य सुखनिर्भरसिद्धिविभूतिसमागमत्वात्प्राप्तपरमकल्याणाः मुनिजन्मनि परीषहै द्वाविंशतिसंख्यकैः क्षुत्पिपासादिभिपराजिताः सन्तो मरणान्तरमपि अपराजिता एव देवाः समुत्पन्नाः भवन्ति ।

यद्वा—सततततृप्तत्वात्तत्र क्षुधादिभिर्न पराजीयन्ते इत्यपराजिता उच्यन्ते एवं संसारसम्बन्धिन्याः सर्वकर्तव्यतायाः परिसमाप्तत्वात् सर्वार्थसिद्धो व्यपदिश्यन्ते. । अथवा—सिद्धप्रायःसकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष रूप उत्तमार्थो येषान्ते सर्वार्थसिद्धाः । तेषां मोक्षस्याऽन्ते आगामिजन्मभावित्वात् , इत्येव रीत्या यद्यपि विजयादयोऽपि सवार्थसिद्धत्वेन व्यपदेष्टुं शक्यन्ते. तथापि—गोशब्दादिवत्

समस्त अतिशयशाली एवं अत्यन्त रमणीय शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से जो सिद्ध अर्थात् प्रख्यात हो, वे सर्वार्थसिद्ध समझने चाहिए।

अथवा जहाँ सर्व अर्थ सिद्ध हो जाता है; वे सर्वार्थसिद्ध । इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ (सर्वार्थसिद्ध विमान) के देव एक मनुष्यभव करके मोक्ष प्राप्त कर लेते है और सिद्ध हो जाते हैं। विजय आदि चार विमानो के कोई—कोई देव दो मनुष्यभव करके भी सिद्ध होते है, जब कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव नियम से एक ही भव धारण करके सिद्धि प्राप्त कर लेते है । यह सर्वार्थसिद्ध विमान की चार विमानो से विशेषता है ।

विजय आदि देवों के नाम का दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है । जिन्होने कर्मों को लगभग विजित कर लिया है, वे विजय आदि देव कहे जा सकते हैं। उनके कर्म बहुत हल्के पड़ जाते है, इस कारण सिद्धि—मुक्ति की निरवद्य सुखमय विभूति उनके सन्निकट आ जाती है। अतएव वे परम कल्याण को प्राप्त कर चुके है। क्षुधा पिपासा आदि बाईस परीषहो से अपने पूर्व मुनि जीवन में पराजित न होकर, मरण के अनन्तर भी वे अपराजित देवो के रूप में उत्पन्न होते हैं।

अथवा सदैव तृप्त रहने के कारण वे देव क्षुधा आदि से पराजित नहीं होते, इस कारण उन्हें अपराजित कहा है। इसी प्रकार ससार सवन्धी समस्त कर्त्तव्यो को परिसमाप्त कर चुकने के कारण उन्हे सर्वार्थसिद्ध कहा जाता है। अथवा समस्त कर्मो का क्षय स्वरूप मोक्ष रूप उत्तम अर्थ जिनका प्राय सिद्ध हो चुका है, वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते है; क्योकि अगले दूसरे ही भव में उन्हें मोक्ष प्राप्त होने वाला है ।

सर्वार्थसिद्धपदस्यापि सर्वार्थसिद्धनामकदेवविशेषेषु रूढत्वात् ते एव देवविशेषाः सर्वार्थसिद्धा उच्यन्ते । नाऽन्ये विजयादयोऽपीति समवसेयम्. । उक्तञ्च प्रज्ञापनाया ६—पदे,अनुयोगद्वारे औपपातिके सिद्धाधिकारे च

"हेट्ठिमगेवेज्जग, मज्झिमगेवेज्जग' उवरिम गेवेज्जग,विजय, वेजयंत, जयंत अपराजिय, सव्वट्ठसिद्धदेवा य—,, इति । अधस्तनग्रैवेयक,मध्यमग्रैवेयको—परितनग्रैवेयक,विजय, वैजयन्त, जयन्ताऽपराजित, सर्वार्थसिद्धदेवाश्चेति ॥२१॥

मूलसूत्रम्—"भवणवइवाणमंतराणं आइल्लाओ चत्तारि लेस्सा, जोइसियाणं तेउलेस्सा, वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा य—'॥२२॥

छाया—भवनपतिवानव्यन्तराणामाद्याश्चतस्रो लेश्याः,ज्योतिष्काणां तेजोलेश्या, वैमानिकानामुपरितन्यस्तिस्रो लेश्याश्च—॥२२॥

"तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो विशेषतश्च भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क वैमानिकानां देवानां स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति—तेषु देवेषु केषां कियत्यो लेश्या भवन्तीति

इस प्रकार की व्युत्पत्तियो के अनुसार यद्यपि विजय आदि चार अनुत्तर विमानो के देव भी सर्वार्थसिद्ध कहे जा सकते है, किन्तु 'गो' पद के समान 'सर्वार्थसिद्ध' पद भी सर्वार्थसिद्ध नामक बिमान के निवासी देवो के लिए रूढ है। तात्पर्य यह है कि 'गौ' शब्द का अर्थ है—गमन करने वाला । इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो भी गमन करता है, उस मनुष्य, अश्व आदि सभी को 'गौ' कहा जा सकता है, किन्तु 'गौ' शब्द गाय नामक पशु के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतएव सब चलने—फिरने वालो का वाचक नहीं माना जाता, इसी प्रकार 'सर्वार्थसिद्ध' पद से यद्यपि विजय आदि देवो को भी कहा जा सकता है, परन्तु कहा नहीं जाता, क्योंकि वह पाँचवें अनुत्तर विमान के देवो के लिए रूढ़ है ।

प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद में, अनुयोगद्वार में और औपपातिकसूत्र के सिद्धाधिकार में कहा है—

'अधस्तन ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक, उपरितन ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध देव ॥२१॥

सूत्रार्थ—'भवणवइवाणमंतराणं' इत्यादि ॥२२॥

भवनपति और वानव्यन्तर देवों में प्रारम्भ की चार लेश्याएँ ज्योतिष्कों में तेजोलेश्या और वैमानिको मे अन्त की तीन लेश्याएँ होती है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया, अब यह बतलाते हैं कि उन देवों में कितनी और कौन—कौन सी लेश्याएँ होती हैं —

प्ररूपयितुमाह—'भवणवइ-वाणमंतराणं आइल्लाओ चत्तारिलेस्सा, जोइसियाणं तेउलेस्सा, वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा—,,इति ।

भवनपतिवानव्यन्तराणां दशविधाऽसुरकुमारादिभवनवासिदेवानाम्, अष्टविधकिन्नरादिवान-व्यन्तराणाञ्चा–ऽऽद्याः–प्रथमाश्चतस्रः खलु कृष्णनीलकापोत–तेजोलेश्या भवन्ति । ज्योतिष्काणां –पञ्चविधचन्द्र–सूर्यादिज्योतिष्कदेवानान्तु–केवलमेका तेजोलेश्या भवति, वैमानिकानाञ्च–कल्पोप-पन्नकानां द्वादशविधसौधर्मादीनाम्, कल्पातीतानाञ्च–नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकानां देवानाम् उपरितन्योऽन्तिमाः तिस्रः खलु तेजः पद्म–शुक्ललेश्या भवन्ति एता देवानां यथायथमवगन्तव्याः ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् देवाः सामान्यतश्चतुर्विधाः, भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकाः, विशेषतश्चाऽसुरकुमारादिदशविधभवनपतयः, अष्टविधाश्च–किंनरादयो वानव्यन्तराः, चन्द्र–सूर्यादय पञ्चविधा ज्योतिष्का, सौधर्मादिद्वादशविधाः कल्पोपपन्नका वैमानिकदेवा, नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकाश्च कल्पातीता वैमानिका देवाः, प्ररूपिता सम्प्रति–तेषु देवेषु केषां देवानां कियत्यो लेश्या–भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह **"भवणवइ वाणमंतराणं आदिल्लाओ चत्तारि लेस्सा. जोइसियाणं तेउलेस्सा, वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा य–"इति** । भवनपति–वानव्यन्तराणाम् देवानाम् आद्याश्चतस्रः खलु लेश्या कृष्ण–नील–कापोत–तेजोरूपा लेश्या भवन्ति ज्योतिष्काणां देवानां केवलमेका तेजोलेश्या भवति वैमानिकानां कल्पो-पपन्नकानां सौधर्मादिद्वादशविधानम्, कल्पातीतानाञ्च–नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकानां च देवानाम्, उपरितन्योऽन्तिमास्तिस्रः खलु लेश्याः– तेज.पद्मशुक्लरूपा लेश्या भवन्ति ।

असुरकुमार आदि दस भवनपति देवो में तथा किन्नर आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तर देवो में प्रारम्भ की चार लेश्याएँ–कृष्ण, नील, कापोत और तेज पाई जाती है । चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देवो में एक मात्र तेजोलेश्या होती है और बारह कल्पोपपन्न, नौ ग्रैवेयक एवं पाँच अनुत्तरौपपातिक देवो में अन्तिम तीन लेश्याएँ–तेज, पद्म और शुक्ल, पाई जाती है । ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले देवो के सामान्य रूप से चार भेद कहे गए–भवनपति, वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । तत्पश्चात् भवनपतियो के असुरकुमार आदि दस भेद, वान-व्यन्तरों के किन्नर आदि आठ भेद, ज्योतिष्को के चन्द्र–सूर्य आदि पाँच भेद और, कल्पोपपन्न वैमानिकों के बारह भेद, ग्रैवेयकों के नौ भेद और अनुत्तरौपपातिको के पाँच भेद बतलाये गये हैं। अब यह प्रतिपादन करते है कि उन देवों में कितनी–कितनी भावलेश्याएँ होतीं है ?

भवनपतियों और वानव्यन्तरो में आदि की चार लेश्याएं, ज्योतिष्कों में तेजोलेश्या और वैमानिकों में अन्त की तीन लेश्याएं पाई जाती है । भवनपतियो और वानव्यन्तरो में कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या ये चार लेश्याएं है ।

सौधर्म आदि बारह प्रकार के कल्पोपपन्नक और कल्पातीत नवग्रैवेयक एवं पाँच अनु-त्तरौपपातिक वैमानिक देवों में अन्त की तीन अर्थात् तेज़, पद्म और शुक्ल नामक लेश्याएं होती है

तत्र सौधर्मे–शानयोस्तावत् तेजो लेश्या भवति। सनत्कुमार–माहेन्द्र ब्रह्मलोकेषु च पद्मलेश्या भवति। लान्तक–महाशुक्र–सहस्रारा–ऽऽनत–प्राणता–ऽऽरणाऽच्युतनवग्रैवेयकाणामेका-शुक्ला लेश्या भवति। ऊपर्युपरि पुनस्ता लेश्या विशुद्धतरा अवसेयाः। पञ्चानुत्तरोपपातिकेषु च परमशुक्ललेश्या भवति,

"उक्तञ्च स्थानङ्गे १–स्थाने ५१–सूत्रे–"भवणवइ–वाणमंतराणं चत्तारि लेस्साओ, जोइसियाणं एगा तेउलेस्सा, वेमाणियाणं तिन्नि उवरिमलेस्साओ–" इति। भवनपति–वानव्यन्तराणां चतस्रो लेश्याः, ज्योतिष्काणामेका तेजोलेश्या, वैमानिकानां तिस्र उपरितनलेश्या इति। तत्राऽऽद्याश्चतस्रः कृष्णनीलकापोततेजो लेश्या भवनपति–वानव्यन्तराणां देवानामवसेयाः। ज्योतिष्काणां–चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराख्पाणां तेजोलेश्या एवाऽवगन्तव्या। तत्र–सौधर्मेशानयोस्तेजोलेश्याः सनत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्मलोकानां पद्मलेश्या, शेषाणां शुक्ललेश्या उत्तरोत्तरं विशुद्धाश्च ता लेश्या बोध्याः।

उक्तञ्च जीवाभिगमे ३–प्रतिपत्तौ १–उद्देशके, प्रज्ञापनायां १७–पदे–१ उद्देशेच **"सोहम्मीसाणदेवाणं कतिलेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! एगा तेऊलेस्सा पण्णत्ता' सणंकुमारमाहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा एवं बंलोगेवि पम्हा, सेसेसु एका सुक्कलेस्सा, अणुत्तरोववाइयाणं एका परमसुक्कलेस्सा–"** इति

सौधर्मेशानदेवानां कति लेश्याःप्रज्ञप्ता, सनत्कुमार–माहेन्द्रयो रेका पद्मलेश्या। एवं ब्रह्मलोकेऽपि पद्मा, शेषेषु एका शुक्ललेश्या, अनुत्तरोपपातिकानामेका परमशुक्ला इति ॥२२॥

वैमानिको में सौधर्म और ईशान में तेजोलेश्या पाई जाती है। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्म लेश्या पाई जाती है, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत आरण और अच्युत में तथा नवग्रैवेयको और पाँच अनुत्तरौपपातिक में शुक्ललेश्या होती है। यह शुक्ललेश्या ऊपर–ऊपर अधिक विशुद्ध होती है।

स्थानांगसूत्र के प्रथम स्थान में कहा है–भवनपतियो और वानव्यन्तरो में चार लेश्याएं होती हैं, ज्योतिष्कों में एक तेजोलेश्या होती है और वैमानिकों में अन्त की तीन लेश्याएं होती हैं।

इनमें प्रारम्भ की चार कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या भवनपतियो और वानव्यन्तरो में होती है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारा नामक पाँच ज्योतिष्को मे एक तेजोलेश्या होती है, सौधर्म तथा ईशान मे तेजोलेश्या, सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेश्या और शेष वैमानिको में उत्तरोत्तर विशुद्ध शुक्ललेश्या होती है।

जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के प्रथम उद्देशक में तथा प्रज्ञापनासूत्र के १७ सत्रह वे पद के प्रथम उद्देशक में कहा है–सौधर्म और ईशान देवों में कितनी लेश्याएं होती है ? गौतम ! एक तेजोलेश्या होती है। सनत्कुमार और माहेन्द्र मे पद्मलेश्या, ब्रह्मलोक मे भी पद्मलेश्या और शेष वैमानिको में शुक्ललेश्या तथा अनुत्तरौपपातिको मे परमशुक्ललेश्या होती है ॥२२॥

मूलसूत्रम्—कप्पोववन्नगदेवाणं इंदसामाणियतायत्तीसग आयरक्खगलोगपाल परिसोववन्नग अणियाहिवइ पकिण्णग आभिजोगिय किब्बिसिया दस-" ॥२३॥

छाया—"कल्पोपपन्नकदेवानाम् ईन्द्र-सामानिक त्रायस्त्रिंशका-ऽऽत्मरक्षक-लोकपाल-परिषदुपपन्नका-ऽनीकाधिपति-प्रकीर्णका-ऽऽभियोगिक-किल्बिषिकाश्च दश-" ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो विशेषतश्च चतुर्विधदेवानां भवनपति-वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानां स्वरूपनिरूपणानन्तरं तेषां चतुर्विधानामपि देवानां कृष्णनीलादि षड्लेश्या यथायथं प्ररूपिताः सम्प्रति-तेषु देवनिकायेषु चतुर्विधेष्वपि कियन्त इन्द्रसामानिक-त्रायस्त्रिंशकाऽत्मरक्षकलोकपालादयो भवन्तीति प्ररूपयितुं प्रथमं कल्पोपपन्नकवैमानिकदेवाना-मिन्द्रादयो दशभवन्तीति प्रतिपादयति **"कप्पोववन्नग०-"** इत्यादि ।

कल्पोपपन्नकदेवानाम् सौधर्माद्यच्युतान्तद्वादश कल्पोपपन्नकवैमानिकदेवानामाज्ञैश्वर्यादि भोगोपभोगादिसम्पादकतया-इन्द्रसामानिकादयो दश परिवारा भवन्ति । तत्र-इन्दन्ति-अन्यदेवासाधारणाऽणिमादिगुणयोगात् परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्तीति-इन्द्राः-१

समाने भवाः सामानिकाः इन्द्रस्य समान मेवा-ऽऽज्ञै-श्वर्यवर्जितमायु-वीर्य-परिवार-

---

'सूत्रार्थ-'कप्पोववन्नगदेवाणं' इत्यादि । सू० । २२ ।

कल्पोपपन्नक वैमानिक देवो में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, आत्मरक्षक, लोकपाल, पारिषद, अनीकाधिपति, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक ये दस भेद होते है ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का सामान्य और विशेष रूप से स्वरूप बतलाया गया; तत्पश्चात् चारों प्रकार के देवों में पाई जाने वाली कृष्ण नील आदि लेश्याओं का निरूपण किया गया । अब यह बतलाते है कि चारों देवनिकायों में से किसमें इन्द्र, सामानिक आदि कितने भेद होते है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सर्वप्रथम कल्पोपपन्नक वैमानिक देवों के इन्द्र आदि दस भेदों का प्रतिपादन करते है—

सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त बारह कल्पोपपान्नक वैमानिक देवों में आज्ञा ऐश्वर्य आदि तथा भोगोपभोग आदि के सम्पादक रूप से इन्द्र आदि दस परिवार होते है ।

(१) इन्द्र । अन्य देवों को प्राप्त न हो सकने वाले अणिमा आदि गुणो के योग से जो इन्दन्ति अर्थात् परम ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं, वे इन्द्र कहलाते है । वह राजा के समान होता है ।

(२) सामानिक-जो इन्द्र तो न हों किन्तु इन्द्र के समान हों । अर्थात् इन्द्र के समान ही जिनका मनुष्य, विर्य परिवार भोग और उपभोग हों किन्तु इन्द्र के समान आज्ञा और ऐश्वर्य न हों, वे सामानिक देवलोक कहलाते हैं । उन्हें 'महत्तर भी' कहते है । ये देव राजा के पिता, गुरु या उपाध्याय के समान हैं,

भोगो–पभोगादिकं येषामस्ति ते सामानिका उच्यन्ते महत्तरा इत्यर्थः–२ पितृगुरूपाध्यायसदृशाः त्रयस्त्रिंशदेवा त्रायस्त्रिंशकाः' मन्त्रि–पुरोहितस्थानीयाः वयस्य–सन्धानकारि–पीठमर्दादितुल्याः–३ आत्मरक्षकाः–आत्मन इन्द्रस्य रक्षा येभ्यस्ते आत्मरक्षकाः अङ्गरक्षकोपमानाः ४ । लोकपालाः–लोक पालयन्तीति लोकपालाः, आरक्षकसमानाः, कोषाध्यक्षादिसदृशाः, कोट्टपालाः पत्तनरक्षकाः-महातलवराः । दुर्गपालसमाना लोकपाला उच्यन्ते ५ । परिषदुपपन्नकाः-पारिषदा ६ । अनीकाधिपतयः–पदादि हस्तिघोटकरथचरादिसप्तविधानामनीकानां सेनानामधिपतयःअनीकाधिपतयः दण्डस्थानीया उच्यन्ते–८ प्रकीर्णकाः पौरजानपदसदृशाः–८ आभियोगिकाः–वाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः दाससदृशाः उच्यन्ते ९ किल्बिषिकाः किल्बिप पापं येषामस्ति ते किल्बिषाः दिवाकीर्ति समानाश्चाण्डालतुल्याः किल्बिषिका उच्यन्ते १०

एते दश-दश तावद् इन्द्रादयः सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु द्वादशसु वैमानिकेषु इन्द्रादयो-दशदश यथायोग्यं प्रत्येकं क्वचिद्द्वयो र्द्वयोर्मध्ये च भवन्तीति भावः ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् चतुर्विधानामपि देवानां भवनपति–वानव्यन्तरज्योतिष्क–वैमानिकानां कृष्णनीलादिषड्विधलेश्या यथायथं प्रतिपादिताः सम्प्रति तेषां देवानाम् आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिसम्पादनार्थं खलु यथायथेन्द्रादयो दश भवन्ति, तत्र–प्रथमं कल्पोपपन्नक-

(३) त्रायस्त्रिंश– ये मंत्रि और पुरोहित स्थानीय है । मित्र, पीठ मर्द आदि के समझना चाहिए

(४) आत्मरक पर इन्द्र की रक्षा करने वाले, अंगरक्षक के समान

(५) लोकपाल–लोक–जनता–की रक्षा करने वाले, कोषाध्यक्ष के समान अर्थचर, कोतवाल के समान देशरक्षक, दुर्गपाल के समान महातलवर देव लोकपाल कहलाते है ।

(६) पारिषद--सदस्यो के समान ।

(७) अनीकाधिपति–पैदल, हस्ती, अश्व, रथचर आदि सात प्रकार की सेनाओं के अधिपत्ति इन्हें दण्डस्थानीय भी कह सकते है ।

(८) प्रकीर्णक–नागरिक जनता के समान ।

(९) आभियोगिक–दास के समान जो वाहन आदि के काम में आते हें ।

(१०) किल्बिषिक– दिवाकीर्त्ति नापित के समान, चाण्डाल के समान भिन्न कोटि के देव । इन्द्र आदि ये दस भेद सौधर्म आदि अच्युत देव लोक तक बारहों वैमानिको में ये दसा भेद पाये जाते है । कहीं–कहीं दो– दो देव लोको म ये भेद होते हें ॥ २३ ॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले भवनपति, वानव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की कृष्ण नील आदि छह लेश्याओ का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया; अब इन्हीं देवों के आज्ञा, ऐश्वर्य, भोग उपभोग आदि के सम्पादन के लिए इन्द्र आदि दस भेद होते है, उन का प्रतिपादन करने केलिए प्रथम भवनपति और कल्पोपपन्नक वैमानिक देवो में होने वाले दस भेदों का प्रतिपादन

वैमानिकदेवानां प्रत्येकमिन्द्रादिदशभेदान् प्रतिपादयितुमाह **"कप्पोववन्नगदेवाणं इंद सामा-**
२ णिय ३ तायत्तीसग ४ आयरक्ख ५ लोगपाल ६ परिसोववन्नग ७ अणियाहिवइ ८ पइण्णग आभिओ-
गिय ९ किव्विसिया १० दस" इति । कल्पोपपन्नदेवानाम् इन्द्र–सामानिक–त्रायस्त्रिंशका–ऽऽत्म-रक्षक–लोकपालपरिषदुपपन्नकाऽनीकाधिपति प्रकीर्णका–ऽऽभियोगिककिल्बिषिका दश देवाः प्रत्येकं यथायथं भवन्ति ।

तत्रेन्द्रास्तावत् परमैश्वर्ययुक्ताः सामानिकादिभेदानां नवानामधिपतयः–१ सामानिकास्तु आज्ञैश्वर्यवर्जिता–ऽऽयुष्कवीर्यभोगोपभोगादिभिरिन्द्रतुल्या भवन्ति, केवलमिन्द्रत्वरूपपरमैश्वर्यं–सकलकल्पाधिपतित्वञ्च सामानिकानां नास्ति । अतएवेन्द्रस्य समानस्थाने भवाः सामानिका उच्यन्ते, ते च सामानिकाः अमात्यपितृगुरूपाध्यायमहत्तरतुल्या भवन्ति २ त्रायस्त्रिंशकाः खलु–मन्त्रिपुरोहितस्थानीया भवन्ति । तत्र–मन्त्रिणो राज्यकार्यभारचिन्तकाः पुरोहितास्तु–शान्तिक–पौष्टिकाद्याभिचारिककर्मकारिणो भवन्ति ३। आत्मरक्षकाः–आत्मनः स्वस्येन्द्रस्य रक्षकाः शिरोरक्षकस्थानीयाः उद्यतायुधा रौद्राः पृष्ठतोऽवस्थायिनो भवन्ति–४।

लोकपालास्तु–लोकान् पालयन्तीति व्युत्पत्त्या–ऽऽरक्षकस्थानीया भवन्ति, तत्रा–ऽऽरक्षकाः स्वविषय(देश)सन्धिरक्षणतत्पराः लोकपाला भवन्ति ५। परिषदुपपन्नकाः–पारिषद्याः, मित्रस्थानीया

करते हैं–कल्पोपपन्नक देवो के इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिंशक आत्मरक्षक लोकपाल, परिषदुपपन्नक (पारिषद), अनीकाधिपति, प्रकीर्णक आभियोगिक और किल्बिषिक ये दस–दस देव होते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

(१) इन्द्र–जो परम ऐश्वर्य से युक्त हो और सामानिक आदि नौ का अधिपति हो।

सामानिक– जिनका आज्ञा–ऐश्वर्य इन्द्र के समान न हो, परन्तु आयु वीर्य (पराक्रम), भोग उपभोग आदि उस के समान ही हो । तात्पर्य यह है कि इन्द्र शासक होता है–उसकी आज्ञा चलती है, वह सम्पूर्ण कल्प का अधिपती होता है, यह विशेषता सामानिक देवो में नही होती, परन्तु आयु आदि में वे इन्द्र के समान ही होते हैं इन्द्र राजा के सदृश है तो ये उसके अमात्य, पिता गुरु, उपाध्याय या महत्तर के समान हैं!

(३ त्रायस्त्रिंश–ये मत्री और पुरोहित के सदृश है! जो राज्य के कार्यभार की चिन्ता करते हैं–शासन सूत्र संचालित करते हैं। वे मंत्री कहलाते है। शान्ति कर्म पुष्टि कर्म आदि करने वाले पुरोहित कहलाते हैं।

(४) आत्मरक्षक–जो इन्द्र के रक्षक हो, आयुध तान कर पीछे खड़े रहते हो और रौद्र हो।

(५) लोकपाल–जो लोकों का पालन करें वे लोकपाल। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये आत्म रक्षक स्थानीय होते हैं! आरक्षक वे कहलाते हैं जो देश की सन्धियो सीमाओ की रक्षा करते है

(६) पारिषद–मित्रों के समान, सभासदों के सदृश ।

वयस्य तुल्या भवन्ति ६। अनीकाधिपतयः सेनापतिस्थानीयाः दण्डनायकसदृशा', अनीकानि — तावद् हस्ति, घोटक, रथ, पदातिवाहनस्वरूपाणि—७। प्रकीर्णकाः—पौरजानपदतुल्याः, प्रजासदृशा इत्यर्थः—८। आभियोगिका'--भृत्यस्थानीयाः, आभिमुख्येन योगोऽभियोग' अन्याराधनेच्छया-ऽभिमुखीकृतकर्मविशेपस्तमर्हन्तीति—आभियोगिका दाससदृशाः—९। किल्विपिका—किल्विपं पापं चरन्तीति किल्विपिकाः—चाण्डालादिस्थानीया' भवन्ति—१० ॥सूत्र २३॥

मूलसूत्रम्—"वाणमंतरजोइसियाणं इंदसामाणियपरिसाआयरक्खगअणियाहिवइणो पंच भवणपईणं सत्त । कप्पाईया य अहमिंदा" ॥सूत्र २४॥

छाया—"वानव्यन्तरज्योतिष्काणाम् इन्द्र १ सामानिक २, पारिपद ३, आत्मरक्षक-४ अनीकाधिपतयः पञ्च भवनपतीनां सप्त कल्पातीताश्च अहमिन्द्राः" ॥सूत्र २४॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे द्वादशवैमानिकानां देवानामिन्द्रादयो दशदशाऽऽज्ञैश्वर्य-भोगोपभोगादिसम्पादकतया प्ररूपिताः । सम्प्रति वानव्यन्तरज्योतिष्काणा देवानामिन्द्रादयः पञ्च भवन्तीति, कल्पातीतानाञ्च नव ग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकदेवानाम् —अहमिन्द्रत्वं भवतीति च प्ररूपयितु माह—

"वाणमंतरजोइसियाणं इंदसामाणियपरिसोववण्णगआयरक्खअणियाहिवइणो पंच भवणवईणं सत्त कप्पाईया य अहमिंदा"—इति।

---

(७) अनीकाधिती— सेनापति या दण्डनायक के समान। सेनाएँ अनेक प्रकारकी होती है— गजसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदातिसेना आदि ।

(८) प्रकीर्णक— जनता(प्रजा)के समान ।

आभियोगिक— भृत्यो—दासो के समान, जो दूसरो का काम करने को तत्पर रहे ।

(१०)किल्विषिक—किल्विप का अर्थ है पाप । जो देव चाण्डालो — समान घृणित समझे जाते है, वे किल्विषिक कहलाते है । सू. ॥२३॥

सूत्रार्थ—'वाणमंतरजोइसियाणं इंद' इत्यादि सूत्र २४ ॥ वानव्यन्तर और ज्योतिष्कों में (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) पारिपद्धुपपन्नक (४) आत्मरक्षक (५) अनीकाधिपति ये पांच देव होते है कल्पातीत देव सब अहमिन्द्र होते हे ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे बारह कल्पोपपन्न वैमानिक देवो के इन्द्र आदि दस—दस भेद, आज्ञा, ऐश्वर्य, भोग उपभोग आदि के सम्पादक रूप मे प्रतिपादन किये गये है । अब यह बतलाते है कि वानव्यन्तरो और ज्योतिष्को में इन्द्रादि पांच होते है नौ ग्रैवेयक देव और पांच अनुत्तरौपपातिक देव सभी अहमिन्द्र होते है । उनमे इन्द्र आदि का कोई भेद नहीं होता । वानव्यन्तर और ज्योतिष्क देवो में ये पांच पांच भेद वाले देव होते है (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) पारिपद (४) आत्मरक्षक (५) अनीकाधिपति कल्पातीत देव अहमिन्द्र होते है ।

किन्नर किम्पुरुप आदि आठ वानव्यन्तरो तथा चन्द्र सूर्य आदि पांच ज्योतिष्को मे (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) पारिषद्धुपपन्नक (४) आत्मरक्षक (५) अनीकाधिपति (६) प्रकीर्णक (७) आभियोगिक और (८) किल्विपि ये आठ भेद होते है ।

वानव्यन्तरज्योतिष्काणाम्—किन्नरकिम्पुरुषाद्यष्टविधवानव्यन्तराणां चन्द्रसूर्यप्रभृतिपञ्चज्योतिष्काणाञ्च देवानां—इन्द्र—१ सामानिक २, पारिषदुपपन्नका -३ ऽऽत्मरक्षका—४ऽनीकाधिपतयः पञ्च तावद आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिविधायकाः सन्ति । भवनपतीनामिन्द्रसामानिकादयः सप्तदेवा तत्तदिन्द्राणामाज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिविधायका सन्ति किन्तु—कल्पातीताश्च नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिका अहमिन्द्रा भवन्ति, अहमिन्द्राः स्वस्य स्वयमेवा—ऽऽज्ञैश्वर्यस्वामित्वभर्तृत्वपोपकत्वादिविधायका भवन्ति । इत्येव तेषामहमिन्द्रत्वमवसेयम् ॥सूत्र—२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद सौधर्मेशानादिद्वादशवैमानिकदेवानामाज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादि विधायकतया—इन्द्रादयो दश—दशदेवाः प्रत्येकं प्रतिपादिताः—सम्प्रति—किन्नरादिवानव्यन्तराणां चन्द्रसूर्यादिज्योतिष्काणाञ्च देवानां इन्द्रादयः पञ्च—पञ्च भवन्ति, कल्पातीतानां चेन्द्रादयो न भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह—

"वाणमंतरजोइसियाणं"—इत्यादि । वान—व्यन्तरज्योतिष्काणाम, किन्नर—किम्पुरुषाद्यष्टविधवानव्यन्तराणाम्—चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारापञ्चकज्योतिष्काणां देवानाम् इन्द्र—सामानिकादयः प्रत्येकं पञ्च—पञ्च—आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिविधायका भवन्ति ।

तेषां वानव्यन्तराणां ज्योतिष्काणाञ्चेन्द्रास्तावत् चतुर्णां सामानिकादीनामधिपतयः परमैश्वर्यसम्पन्ना भवन्ति १, सामानिकाः पुनरिन्द्रस्य समानस्थाने भवाः सामानिकाः आयुष्कवीर्य—परिवार—भोगो—पभोगादि—भिरिन्द्रतुल्या भवन्ति । ते खलु सामानिका महत्तरा आमात्य—

कल्पातीत देव अर्थात् नव ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरौपपातिक अहमिन्द्र होते हैं । उनमें शास्य—शासकभाव नहीं है, स्वामी—सेवक का भेद नहीं है, वे स्वय ही अपने स्वामी, भर्त्ता या पोषक है । वे किसी की आज्ञा में नहीं होते, किसी के ऐश्वर्य के विध यक नहीं होते । इस कारण उन्हे अहमिन्द्र कहते है ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सौधर्म ईशान आदि बारह प्रकार के वैमानिकों के अज्ञाऐश्वर्य-भोग उपभोग के विधायक रूप से इन्द्र आदि दस-दस भेद प्रतिपादन किये गये अब किन्नर आदि वानव्यन्तरों और चन्द्र-सूर्य आदि पाँच ज्योतिष्को में इन्द्रादि देवो के भेद बतलाते है । यहा इन्द्र आदि पाच भेद वाले देव होते है—

किन्नर किम्पुरुप आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो में तथा चन्द्र—सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारे, इन पाच ज्योतिष्क विमानो में इन्द्र सामानिक पारिषद्य आत्मरक्षक अनीकाधिपति । ये पांच प्रकार ही आज्ञा—ऐश्वर्य, भोगोपभोग के विधायक रूप में होते हैं ।

इस प्रकार वानव्यन्तरों और ज्योतिष्को में इन पांच प्रकारों में से—

(१) इन्द्र वह है जो शेप चार के अधिपति है और परम ऐश्वर्य से सम्पन्न होते है ।

(२) सामानिक—जो इन्द्र के सामान स्थान पर हो वे सामानिक आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि की अपेक्षा वे इन्द्र के ही बराबर होते है । उन्हें महत्तर, गुरु, पिता या

पितृ–गुरू–पाध्यायसदृशा अवसेयाः २, पारिषद्याः–परिषदि भवाः पारिषदाः वयस्यसदृशाः मित्रस्थानीया ३।

आत्मरक्षकाः– उद्यतायुधाः–रौद्राः–पृष्ठतोऽवस्थायिनः ४ अनीकाधिपतयः–सेनापतिस्थानीयाः ४। भवनपतिदेवाना च–इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशक–लोकपालपरिषदुपपन्नका–ऽनीकाधिपत्यात्मरक्षकेति सप्त भवन्ति, तत्र सामानिकादयः षट् तत्तदिन्द्रस्य–आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादि-विधायकाः भवन्तीति ।

के पुनः–कल्पातीताः–१ ये केचन कल्पेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यः षोडशसौधर्मादिस्वर्गेभ्योऽतीता अतिक्रान्ताः त एव–उपरितनक्षेत्रवर्तिनो नवग्रैवेयकदेवाः पञ्चानुत्तरोपपातिकाश्च कल्पातीतवैमानिकाः–अहमिन्द्राः, अहं–स्वयमेव स्वेषामिन्द्राः। न तु–तेषामन्ये केचनेन्द्राः सन्ति। अतएव—तेऽहमिन्द्रा व्यपदिश्यन्ते, नापि–तेषां सामानिकादयो वानव्यन्तरा भवन्ति। ते खलु–आदिमत्रिक–मध्यमत्रिकोपरितनत्रिकेति नवग्रैवेयकाः, विजय–वैजयन्त—जयन्ताऽपराजितसर्वार्थसिद्धाश्चेत्येवं पञ्चानुत्तरौपपातिकाश्च वैमानिकदेवाः स्वेषां–स्वेषामाज्ञैश्वर्याधिपत्यपौरपत्यस्वामित्वभर्तृत्वपोषकत्वादिकं स्वयमेव कुर्वन्ति इत्याशयः।

उपाध्याय के समान समझना चाहिए।

(३) पारिषद्य—जो मित्रों के समान हो।

(४) आत्मरक्षक–जो अपने शस्त्रास्त्रों को उद्यत रखते है, रौद्र होते है और इन्द्र की रक्षा के लिए उसके पीछे खड़े रहते है।

(५) अनीकाधिपति–ये सेनापतियो के समान होते हैं।

भवनपति देवो के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल पारिषद्य, अनीकाधिपति और आत्मरक्षक ये सात आज्ञा ऐश्वर्य भोगोपभोग के विधायक होते है।

कल्पातीत देव कौन है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो देव पूर्वोक्त सौधर्म आदि वारह कल्पो से परे है ऊपर है वे नौ प्रकार के ग्रैवेयक देव और पांच प्रकार के अनुत्तरौप–पातिक देव कल्पातीत कहलाते है। वे सब अहमिन्द्र होते हैं–आप ही अपने इन्द्र है। उनका कोइ अन्य इन्द्र नहीं होता। इसी कारण वे अहमिन्द्र कहलाते हैं। उनमें सामानिक आदि विभाग नहीं होते। ऐसे कल्पातीत देवो में नव ग्रैवेयक देव नीचे मध्य और ऊपर ऐसे तीन त्रिको मे तीन तीन सख्या से रहते हैं। अनुत्तरौपपातिक देव विजय–वैजयन्त जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ सिद्ध नामक पाँच अनुत्तर विमानों में रहते है। वे स्वय ही अपने आज्ञा ऐश्वर्य, अधिपतित्व, भर्तृत्व पोषकत्व के विधायक होते है। भवनपति देवों के–इन्द्र सामानिक, त्रायस्त्रिंशक लोकपाल–पारिषद्य–अनीकाधिपति और आत्मरक्षक, ये सात आज्ञा ऐश्वर्य के विधायक होते है।

तथाचोक्तं प्रज्ञापनायां द्वितीये स्थानपदे ३८ सूत्रे **"कहि णं भंते—वाणमंतराणं"** इत्येतस्मिन् सूत्रे **"साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं, साणं साणं अणीयाणं, साणं साणं अणीयाहिवईणं, साणं साणं आयरक्खदेव साहस्सीणं अण्णेसिंच बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा ...जाव विहरंति"**—इति ।

"स्वासां—स्वासां सामानिकसाहस्रीणाम् स्वासां स्वासामग्रमहिषीणाम्—स्वेषां स्वेषां सपरिषदाम्, स्वेषां स्वेषामनीकानाम्, स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनाम् स्वासां स्वासामात्मरक्षकदेवसाहस्रीणाम् अन्येषाञ्च बहूनां वानव्यन्तराणां देवानाञ्चा—ऽऽधिपत्यम् पौरपत्यम्—स्वामित्वम्, भर्तृत्वम्, महत्तरकत्वम् आज्ञैश्वर्यसेनापत्यं कुर्वन्ति ...यावद्विहरन्तीति ॥

ततश्चा—ग्रे प्रज्ञापनायामेव २—पदे ४२ सूत्रे चोक्तम्—**"कहि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं ...तत्थ साणं साणं विमाणावाससहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं, साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साणं साणं परिसाणं, साणं साणं अणीयाणं, साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाणं देवीणय आहेवच्चं जाव विहरंति"**—इति । कुत्र खलु भदन्त ! ज्योतिष्काणां देवानाम् . . तत्र स्वेषां स्वेषां विमानावाससहस्राणाम्, स्वासां स्वासां सामानि साहस्रीणाम् स्वासा स्वासामग्रमहिषीणां सपरिवाराणाम्, स्वासां स्वासां परिषदाम् स्वेषां स्वेषां अनीकानाम्—स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनाम्, स्वासां स्वासामात्मरक्षकदेवसाहस्रीणाम् अन्येषां च बहूना ज्योतिष्काणां देवानाञ्च देवीनां चा—ऽऽधिपत्यं कुर्वन्तो यावद्विहरन्ति—इति ॥

उक्तञ्च भवनपतिदेवविषये प्रज्ञापनाया द्वितीये स्थानपदे २८सूत्रे **"कहि णं भंते ! भव-**

प्रज्ञापना के दूसरे स्थानपद के ३८ वें सूत्र में **"कहि णं भंते वाणमंतराणं"** इस सूत्र में कहा है—-अपने—अपने सहस्रो सामानिक देवो का, अपनी—अपनी अग्रमहिषियों का, अपने—अपने पारिषद्य देवो का, अपने—अपने अनीक देवो का, अपने—अपने अनीकाधिपतियो का अपने—अपने आत्मरक्षक सेना के देवो का और भी बहुत-से वानव्यन्तर देवो का अधिपतित्व, पौरपत्य, स्वामित्व भर्तृत्व, महत्तरत्व, आज्ञा—ऐश्वर्य सेनापतित्व करते हुए विचरते है ।

प्रज्ञापना सूत्र में इसी स्थान पदके ४२वे सूत्रमें **" कहि णं भंते ! जोइसियाणं"** इस सूत्र में कहा है --वे अपने—अपने सहस्रो विमानावासो का, अपने—अपने सहस्रों सामानिकदेवो का अपनी—अपनी सपरिवार अग्रमहिषियो का, अपनी—अपनी परिषदो का, अपने—अपने अनीको का अपने—अपने अनीकाधिपतियो का, अपने—अपने सहस्रो आत्मरक्षक देवो का तथा अन्य भी बहुत से ज्योतिष्क देवों और देवियों का अधिपतित्व करते हुए यावत् विचरते हैं ।

भवनपति देवों के विषय में इसी प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद में **'कहि णं भंते भवणवा-**

णवासीणं" इति सूत्रे—तेण तत्थ साणं २, तायत्तीसाणं साणं २, लोगपालाणं साणं २, अग्गमहिसीणं, साणं साणंपरिसाणं, साणं २, अणीयाणं, साणं २, अणीयाहिवईणं साणं २, आयरक्खगदेवसाहस्सीणं अन्नेसिंच .. कारेमाणा जाव विहरंति इति ॥सू० २४॥

मूलसूत्रम्—"भवणवइ–वाणमंतराणं पाडिएक्कं दो इंदा जोइसियाणं दो वेमाणियाणं एगेगे" सू० ॥२५॥

छाया—"भवणपति—वानव्यन्तराणां प्रत्येकं द्वाविन्द्रौ, ज्योतिष्काणां द्वौ, वैमानिकानामेकैकः"—सूत्र ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्कवैमानिकदेवानां यथायथं प्रत्येकं केषां कियन्त इन्द्रादयो भवन्तीति प्ररूपितम्, सम्प्रत्यसुरकुमारादिदशविधभवनपतीनां किन्नर–किम्पुरुषाद्यष्टविधवानव्यन्तराणाञ्च प्रत्येकं द्वौ–द्वाविन्द्रौ भवतः, ज्योतिष्काणां द्वौ, वैमानिकानां पुनरेकैकइन्द्रो भवतीति प्ररूपयितुमाह "भवणवइ–वाणमंतराण पाडिएक्कं वे इंदा, जोइसियाणं दो वेमाणियाणं एगेगे' इति। भवनपति-वानव्यन्तराणाम् असुरकुमारादिदशविधभवनवासिनाम्, किन्नराद्यष्टविधवानव्यन्तराणाञ्च प्रत्येकं द्वौ–द्वाविन्द्रौ स्तः। ज्योतिष्काणां चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्र ताराणां द्वाविन्द्रौ चन्द्र–सूर्यौस्तः। वैमानिकानान्तु–सौधर्मादीनां कल्पोपन्नकानामेकैकइन्द्र.।

सीणं' इस २८ वे सूत्रमें कहा है—अपने–अपने लाखों भवनावासों अपने २, हजारों सामानिक देवो का अपने २, त्रायस्त्रिंक देवों का अपने २, लोकपालो का अपनी अपनी अग्रमहिषियों का अपने २, पारिषद्य देवो का अपनी २,सेनाओका अपने २ अनीकाधिपतियों का अपने २ आत्मरक्षक देवो का तथा और भी बहुत से देवो काआधिपत्य आदि करते हुए रहते है। सूत्र ॥२४॥

सूत्रार्थ—'भवणवइ–वाणमंतराणं पाडिएक्कं' इत्यादि। सूत्र ॥२५॥

भवनपतियो और वानव्यन्तरो की प्रत्येक जाति में दो दो इन्द्र है, ज्योतिष्को में कुल दो इन्द्र है और वैमानिको में (एक–एक कल्प में) एक–एक इन्द्र हैं। सूत्र॥ २५॥

तत्त्वार्थदीपिका—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिको मे इन्द्र आदि कितने २, प्रकार के होते है, यह बतलाया जा चुका है। अब असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनपतियों मे तथा किन्नर किम्पुरुष आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो में, प्रत्येक जाति में दो–दो इन्द्र होते है, ज्योतिष्को में जातिवाचक कुल दो इन्द्र है और वैमानिको में एक–एक इन्द्र है यह प्रतिपादन करते हैं।

असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनवासियों मे और किन्नर आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो मे प्रत्येक जाति मे दो–दो इन्द्र होते है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे इन पाँच प्रकार के ज्योतिष्को मे केवल जातिवाचक दो इन्द्र -चन्द्र और सूर्य–होते है। सौधर्मआदि प्रत्येक वैमानिक देवो में एक–एक इन्द्र होता है। सौधर्मकल्प में शक्र इन्द्र है,

तत्र–सौधर्म शक्रः, ईशाने–ईशान', तन्नामा इन्द्रः। आनत–प्राणतयोः प्राणतः आरणाच्युतयोरच्युतः ॥सूत्र॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वोक्तेषु चतुर्विधेषु भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकदेवेषु कुत्र तावद् एकैकइन्द्र.–२ कुत्रवा–द्वौ-द्वाविन्द्रौ स्तः–१ इतिप्ररूपयितुं प्रथमं भवनपतिवानव्यन्तराणां देवानां प्रत्येकं द्वौ-द्वाविन्द्रौ भवतः ज्योतिष्काणां वैमानिकानामेकैकइन्द्र इतिप्ररूपयितुमाह' **'भवणवइवानमंतराणं पाडिएक्कं वे इंदा, । जोइसियाणं दो वेमाणियाणं एगेगे–''** इति। भवनपतिवानव्यन्तराणाम्–असुरकुमारादिदशविधभवनवासिनां किन्नरादि–अष्टविधवानव्यन्तराणाञ्च प्रत्येकं द्वौ द्वाविन्द्रौ भवतः। तत्र–भवनवासिष्वसुरकुमाराणां चमरो बलीश्चेत्येवं द्वाविन्द्रौ स्त', नागकुमाराणांधरणो भूतानन्दश्च.।

विद्युत्कुमाराणां हरिर्हरिसहश्च,। सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवौ वेणुदाली च, अग्निकुमाराणाम् अग्निशिखो-ऽग्निमाणवश्च, वायुकुमाराणां वेलम्बः प्रभश्च, द्वीपकुमाराणां–पूर्णो वशिष्ठश्च, दिक्कुमाराणाञ्चा–ऽमितगतिः–अमितवाहनश्चेति-।

वानव्यन्तरेष्वपि–किन्नराणां किन्नरः–किम्पुरुषश्चेत्येवं द्वाविन्द्रौ, किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च, महोरगाणाम् अतिकायो महाकायश्च, गन्धर्वाणां गीतरति गीतयशश्च, यक्षाणां

ईशान कल्प में ईशान इन्द्र है; (यावत) आनत–प्राणत में प्राणत इन्द्र है, आरण–आच्युत कल्पों में अच्युत नामक इन्द्र है ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—भवनवासी, वानव्यत्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन पूर्वोक्त चार प्रकार के देवों में से किनके एस -एक इन्द्र है। और किनके दो–दो इन्द्र हैं। यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं कि भवनवासी और वानव्यन्तरों में प्रत्येक जाति के दो–दो इन्द्र होते है, ज्योतिष्कों में जातिवाचक दो ही इन्द्र है और वैमानिको में प्रत्येक कल्प में एक–एक इन्द्र है—

असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनवासियों में दो–दो इन्द्र है, किन्नर आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरों में भी दो–दो इन्द्र है।

असुरकुमारों में चमर और वलि नामक दो इन्द्र है। नागकुमारो में धरण और भूतानन्द नामक दो इन्द्र हैं। विद्युत्कुमारों में हरि और हरिसह, सुपर्णकुमारों में वेणुदेव और वेणुदाली, अग्निकुमारों में अग्निशिख और अग्निमाणव, वायुकुमारो में वेलम्ब और प्रभंजन, द्वीपकुमारों मे पूर्ण और विशिष्ट, उदधिकुमारो में जलकान्त और जलप्रभ, दिक्कुमारो मेंअमितगति और अमितवाहन नामक इन्द्र है। स्तनितकुमारों में घोष और महाघोष नामक दो इन्द्र हैं।

वानव्यन्तरों में—किन्नरों में किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषों में सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगों में अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों में गीतरति और गीतयश, यक्षों में पूर्ण-

पूर्णभद्रौ माणिभद्रश्च । राक्षसाणां–भीमो महाभीमश्च, भूतानां प्रतिरूपो-ऽतिरूपश्च, पिशाचानां-कालो महाकालश्चेति,

ज्योतिष्काणाञ्च चन्द्रसूर्यग्रहादीनां बहवश्चन्द्राः सूर्याश्चेन्द्राःसन्ति । वैमानिकानां पुनःकल्पोपपन्नकानामेकैक इन्द्रो भवति- । तत्र–सौधर्मे शक्रः, ऐशाने–ईशानः, सनत्कुमारे–सनत्कुमारः, माहेन्द्रे माहेन्द्रः, ब्रह्मलोके ब्रह्मा, लान्तके–लान्तकः, महाशुक्रे–महाशुक्रः । सहस्रारे-सहस्रारः, द्वयोरप्यानत-प्राणतयोःप्राणतनामा–एकएवेन्द्रः । आरणाच्युतयोश्च द्वयोरच्युतनामा–एक एवेन्द्रो भवति । अच्युतात्परतो नवग्रैवेयकेषु विजयादिषु पञ्चानुत्तरौपपातिकेषु चेन्द्रादयो न भवन्ति, सर्वे एव ते कल्पातीताः स्वतन्त्रत्वाद् अहमिन्द्रा भवन्ति प्रायशो गमनागमनरहिताश्च- ।

"उक्तञ्च–स्थानाङ्गे २–स्थाने ३–उद्देशके—"दो असुरकुमारिंदा पण्णत्ता,तंजहा—चमरेचेव, वलीचेव, दो नागकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा—धरणे चेव भूयाणंदे चेव, दो सुवण्णकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा—वेणुदेवेचेव वेणुदालीचेव, दो विज्जुकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—हरिच्चेव हरिसहेचेव, दो अग्गिकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—अग्गिसिहे चेव-अग्गिमाणवे चेव, दो दीवकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—पुन्नेचेव विसिट्ठेचेव, दो उदहि कुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—जलकंतेचेव-जलप्पभेचेव, दो दिसाकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा–अमियमती चेव अमियवाहणे चेव, दो वातकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—वेलंवेचेव–पभंजणेचेव, दो थणियकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—घोसेचेव महाघोसेचेव, दो पिसाअइंदा पण्णत्ता, तं जहा–काले चेव महाकाले चेव, ।

दो भूइंदा पण्णत्ता, तंजहा—सुरूवेचेव पडिरूवेचेव, दो जक्खिंदा पण्णत्ता, तं जहा—पुन्नभद्देचेव मणिभद्दे चेव, दो रक्खसिंदा पण्णत्ता, तंजहा–भीमेचेव महाभीमे-

---

भद्र और मणिभद्र, राक्षसो में भीम और महाभीम, भूतो मे प्रतिरूप और अतिरूप तथा पिशाचो में काल और महाकाल नामक दो इन्द्र है ।

ज्योतिष्कोमें–चन्द्र, सूर्य और ग्रह आदि में चन्द्र और सूर्य नामक दो इन्द्र है । और सूर्य बहुत से है । अतः जातिवाचक दो इन्द्र है ।

कल्पोपपन्नक वैमानिको में प्रत्येक कल्प में एक–एक इन्द्र है । सौधर्म में शक्र, ऐशान में ईशान, सनत्कुमार में सनत्कुमार, माहेन्द्र मे माहेन्द्र, ब्रह्मलोक मे 'ब्रह्म' लान्तक मे लान्तक, महाशुक्र में महाशुक्र, सहस्रार में सहस्रार, आनत—प्राणत नामक दोनों कल्पों में एक प्राणत आरण और अच्युत कल्पो में एक अच्युत नामक इन्द्र है ।

अच्युतकल्प से आगे नौ ग्रैवेयकों मे और पांच अनुत्तर–विमानों मे इन्द्र आदि का भेद नहीं है, वे कल्पातीत हैं । वहाँ के सभी देव स्वतन्त्र होने के कारण 'अहमिन्द्र' हैं और वे प्रायः गमन–आगमन से रहित है–इधर–उधर आवागमन नहीं करते हैं ।

स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक मे कहा है—

चेव, दो किन्नरिंदा पण्णत्ता, तं जहा—किन्नरेचेव किंपुरिसेचेव, दो किंपुरिसा पण्णत्ता, तं जहा—सप्पुरिसेचेव महापुरिसेचेव, दो महोरगिंदा पण्णत्ता, तंजहा—अतिकाए चेव महाकाएचेव, दो गंधव्विंदा पण्णत्ता, तंजहा— गीतरतीचेव गीयजसेचेव—,, इति–।

द्वावसुरकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा चमरश्चैव-बलिश्चैव, द्वौ नागकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा धरणश्चैव-भूतानन्दश्चैव, द्वौ सुपर्णकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा वेणुदेवश्चैव-वेणुदालीचैव, द्वौ विद्युत्कुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ. तद्यथा हरिश्चैव–हरिसहश्चैव, द्वावग्निकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा अग्निशिखश्चैव अग्निमाणवश्चैव, द्वौ द्वीपकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा पूर्णश्चैव—वशिष्ठश्चैव, द्वावुदधिकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा जलकान्तश्चैव—जलप्रभश्चैव,

द्वौ दिक्कुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा अमितगतिश्चैव—अमितवाहनश्चैव, द्वौ वायुकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा वेलम्बश्चैव—प्रभञ्जनश्चैव, द्वौ स्तनितकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—घोषश्चैव—महाघोषश्चैव, द्वौ पिशाचेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—कालश्चैव—महाकालश्चैव, द्वौ भूतेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सुरूपश्चैव—प्रतिरूपश्चैव, द्वौ यक्षेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—पूर्णभद्रश्चैव—माणिभद्रश्चैव, द्वौ राक्षसेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—भीमश्चैव,—महाभीमश्चैव, द्वौ किन्नरेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—किन्नरश्चैव—किम्पुरुषश्चैव, द्वौ किम्पुरुषेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सत्पुरुषश्चैव—महापुरुषश्चैव, द्वौ महोरगेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—अतिकायश्चैव—महाकायश्चैव, द्वौ गन्धर्वेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—गीतरतिश्चैव—गीतयशाश्चैव, इति. ॥ २५ ॥

मूलसूत्रम्—"ईसाणंता देवा कायपरियारणा अच्चुयंता फासरूवसद्दमणपरियारणा कप्पाईया अपरियारणा य—" ॥२६॥

'दो असुरकुमारेन्द्र कहे गये है—चमर और बलि। दो नागकुमारेन्द्र कहे गये हैं—धरण और भूतानन्द। दो सुवर्णकुमारेन्द्र कहे गये हैं—वेणुदेव और वेणुदाली। दो विद्युत्कुमारेन्द्र कहे गये हैं—हरि और हरिस्सह। दो अग्निकुमारेन्द्र कहे गये है—अग्निशिख और अग्निमाणव। दो द्वीपकुमारेन्द्र कहे गये है—पूर्ण और विशिष्ट। दो उदधिकुमारेन्द्र कहे गये हैं—जलकान्त और जलप्रभ, दो दिशाकुमारेन्द्र कहे गये है—अमितगति और अमितवाहन। वायुकुमारो के दो इन्द्र कहे गये है—वेलम्ब और प्रभंजन। स्तनितकुमारो के दो इन्द्र कहे गये हैं—घोप और महाघोष।

वानव्यन्तरो में पिशाचो के दो इन्द्र हैं—काल और महाकाल, भूतो के दो इन्द्र हैं—सुरूप और प्रतिरूप, यक्षो के दो इन्द्र हैं—पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षसो के दो इन्द्र है—भीम और महाभीम, किन्नरो के दो इन्द्र हैं—किन्नर और किंपुरुष, किंपुरुषो के दो इन्द्र है—सत्पुरुष और महापुरुष। महोरगों के दो इन्द्र हैं- अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के दो इन्द्र हैं—गीनरति और गीतयश' ॥२५॥

छाया—"ईशानान्ता देवाः कायपरिचारणा अच्युतान्ताः स्पर्शरूपशब्दमनः परिचारणाःकल्पातीताः-अपरिचारणाश्च" ॥ २६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे भवनपत्यादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तदेवेषु यथायोग्यमिन्द्राणां प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति-देवानां तेषां विषयसुखभोगप्रकारमाह—"ईसाणंता-" इत्यादि ।

ईशानान्ताः—असुरकुमारादिदशभवनपतिकिन्नरप्रभृत्यष्टवानव्यन्तरचन्द्रसूर्यादिपञ्चज्योतिष्कसौधर्मैशाना देवास्तावत् कायपरिचारणाः, परिचारणं प्रवीचारः मैथुनोपसेवनम् कायेन-शरीरेण परिचारणं येषां ते कायपरिचारणाः कायप्रवीचाराः मनुष्यवत् शरीरेण विषयोपभोगं कुर्वन्ति । किन्तु-अच्युतान्ताः-सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र-सहस्रारा-ऽऽनत,-प्राणता-ऽऽरणा,-च्युतान्ता दशवैमानिकाः कल्पोपपन्नका देवाः—स्पर्श-रूप-शब्द-मनः-परिचारणाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःसु परिचारणं प्रवीचारो येषां ते तथाविधा भवन्ति । तत्र-सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पस्थिता देवाः देवाङ्गनाः स्पर्शमात्रादेव विषयभोगसुखमनुभवन्तः परां प्रीतिमुपलभन्ते । एवं-तद्द्वयकल्पस्थिता देव्योऽपि तथैव-देवाङ्गस्पर्शमात्रादेव विषयोपभोगसुखमनुभवन्ति ।

ब्रह्मलोक-लान्तक-देवाश्च देवाङ्गनानां शृङ्गारपूर्णविलास मनोज्ञवेषभूषारूपाऽवलोकनमात्रादेव विषयोपभोगसुखमनुभवन्ति महाशुक्र-सहस्रारकल्पस्थिताः देवास्तु-दिव्याङ्गनानां मनोहारिमधुरसङ्गीतमृदुमन्दहासोल्लासकलितललिताभरणवचनालापश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमासादयन्ति ।

सूत्रार्थ—'ईसाणंता देवा कायपरियारणा' इत्यादि ॥सूत्र-२६॥

ईशानकल्प तक के देव काय से परिचारणा करते है, अच्युतकल्प तक के देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से परिचारणा करते है, कल्पातीत देव परिचारणा रहित होते हैं ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में भवनपति से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों में यथायोग्य इन्द्रो की प्ररूपणा की गई है । अब देवो में विषयसुख को भोगने का प्रकार बतलाते हैं—

असुरकुमार आदि दस भवनपति, किन्नर आदि आठ वानव्यन्तर, चन्द्र-सूर्य आदि पाँच ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान देवलोक के देव काय से मनुष्यो के समान प्रवीचार अर्थात् मैथुनसेवन करते है । सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्मलोक. लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत पर्यन्त दस देवलोको के वैमानिक स्पर्श, रूप, शब्द और मन से प्रवीचार करते हैं । अर्थात् सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के देव देवांगनाओ के स्पर्शमात्र से विषयभोग के सुख का अनुभव करके परम प्रीति प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार इन दोनो कल्पो मे आने वाली देवियाँ देवो के स्पर्श से ही विषयसुख का अनुभव करती है । ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के देव देवांगनाओं के शृङ्गारपरिपूर्ण विलास को, मनोज्ञ वेषभूषा को तथा रूप को देखने मात्र से रतिजन्य सुख की अनुभूति करते हैं । महाशुक्र

आनत–प्राणता–ऽऽरणा–ऽच्युतकल्पवासिनो देवाः पुनः स्वाङ्गनामनःसङ्केतमात्रादेव परमसुखमनुभवन्ति कल्पातीताः–नवग्रैवेयक–पञ्चानुत्तरौपपातिकास्तु अपरिचारणाश्चा–ऽविद्यमाने परिचारणं प्रवीचारो येषां तेऽपरिचारणाः अप्रवीचारा मनसापि मैथुनसुखानुभवसहिता न भवन्ति। तेषां हि–कल्पवासिभ्योऽपि–देवेभ्यः परमप्रकृष्टहर्षलक्षणं विलक्षणं सुखमुत्कृष्टं वर्तते, तेषां कदाचिदपि कामसम्भवाभावेन कामसम्भववेदनाप्रतीकाररूपप्रवीचारासम्भवात्. । तेषामहमिन्द्रत्वादनवच्छिन्नसुखस्यैव सर्वदा सद्भावात् ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वं तावद् भवनपत्यादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तानां चतुर्विधदेवानां यथायथमिन्द्रादयः प्रतिपादिताः , सम्प्रति–ते खलु सर्वे देवास्त्रिधा भवन्ति केचन–सदेविकाः–सप्रवीचाराश्च, केचन पुनरदेविकाः–सप्रवीचाराश्च, अन्ये पुनः–अदेविका अप्रवीचाराश्चेत्येवं त्रिविधानपि तान्देवान् क्रमशः प्ररूपयितुमाह **"ईसाणंता देवा कायपरियारणा, अच्चुयंता फास–रूव–सद्दमणपरियारणा,कप्पाईया अपरियारणा य–,,** इति. । तत्र–ईशानान्ताः—असुरकुमारादिदशभवनपतिमारभ्येशानपर्यन्ताः पञ्चविंशतिसंख्यका देवाः कायपरिचारणाः–कायेन परि-

---

और सहस्रार कल्प में स्थित देव देवियो के मनोहर एवं मधुर संगीत, मृदु मंद मुस्कराहट से युक्त आभूषणों की ध्वनि तथा वचनालाप को श्रवण करके ही काम की तृप्ति प्राप्त कर लेते हैं।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो के देव अपनी–अपनी देवियो के मन के संकल्प मात्र से ही कामभोग संबंधी परम सुख का अनुभव करते हैं।

नौ ग्रैवेयको और पाँच अनुत्तर विमानो के कल्पातीत देव प्रविचारणा रहित होते हैं अर्थात् वे मन से भी मैथुन सेवन नहीं करते है।

उन कल्पातीत देवो को कल्पोपपन्नक देवो की अपेक्षा भी परमोत्कृष्ट हर्ष रूप सुख प्राप्त रहता है जो विषय जनित सुख से भी उत्तम कोटि का और विलक्षण होता है। उनका वेदमोहनीय इतना उपशान्त रहता है कि उनमें कामवासना उत्पन्न ही नहीं होती और जब कामवासना ही उत्पन्न नहीं होती तो कामवेदना का प्रतीकार करने के लिए प्रवीचार का विचार भी किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, उन अहमिन्द्र देवो को निरन्तर सन्तोष का सुख ही होता रहता है ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले भवनपतियो से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक के चार प्रकार के देवो के यथायोग्य इन्द्र आदि का विचार किया गया है। अब यह प्रतिपादन करते है कि वे सब देव तीन प्रकार के होते है। कोई–कोई सदेवीक (देवियो वाले) और सप्रवीचार, कोई अदेवीक और सप्रवीचार और कोई–कोई अदेवीक और अप्रवीचार। इन तीनो प्रकार के देवों की क्रमशः प्ररूपणा करते हैं—

असुरकुमार आदि दस भवनपतियो से लेकर ईशान तकके पच्चीस प्रकार के देव काय-

चारणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते कायपरिचारणाः, ते खलु संक्लिष्टकर्माणो मनुष्यवदेव मैथुनसुखमनुभवन्तस्तीव्रानुशयाः कायसंक्लेशजन्यं सर्वाङ्गीणं स्पर्शसुखमवाप्य परमा प्रीतिमुपलभन्ते तेष्वेव भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानकल्पेषु जन्मना देवीनामुत्पादात्, न तु—तत.परत.—

अतएव ते सदेवीकाः सप्रवीचाराश्च भवन्ति सौधर्मेशानौ वर्जयित्वाऽच्युतान्ताः सनत्कुमार-माहेन्द्र–ब्रह्मलोक–लान्तक–महाशुक्र–सहस्रारा–ऽऽनत–प्राणता–ऽऽरणा ऽच्युता. दशवैमानिकाः कल्पोपपन्नका देवास्तु स्पर्शरूप–शब्द–मनःपरिचारणाः, स्पर्श–रूप–शब्द–मन.सु परिचारणं प्रवीचारो विषयभोगोपभोगो येषां ते स्पर्शरूपशब्दमनःपरिचारणा स्तथाविधा भवन्ति ।

तत्र—सनत्कुमार—माहेन्द्रकल्पयो र्देवान् मैथुनसुखाभिलाषिणः प्रादुर्भूतादरान् अवबुध्या-ऽनाहूताः सत्योऽपि सौधर्मेशानदेव्यः स्वयमुपगम्योपस्थिता भवन्ति ब्रह्मलोक—लान्तकस्थदेवांस्तु—तथाविधमैथुनसुखप्रेप्सून् बुद्ध्वादेव्य स्तत्र स्वयमुपस्थाय दिव्यानि सर्वाङ्गसुन्दराणि शृङ्गार—हाव—भाव विलासोल्लासपूर्णपरम—रमणीयवेष—भूषा रूपाणि प्रदर्शयन्ति. ।

तानि चाऽवलोक्यैव ते देवा निवृत्तकामभोगेच्छाः सन्तः परमां प्रीतिमासादयन्ति महाशुक्र-सहस्रारकल्पवासिनो देवान् समुत्पन्नकामभोगेच्छान् विदित्वा तास्ता देव्यस्तावत् श्रुतिमुखजनकान् मनोहारिसङ्गीता—ऽऽभरण—नूपुर—मञ्जीरादिक्वणनमिश्रितमधुरहासोल्लासवचनालापानुदीर-

---

प्रवीचार होते हैं, अर्थात् शरीर से मैथुनक्रिया करते है। वे संक्लिष्ट कर्मों वाले होते है, अतः मनुष्य के समान मैथुनसुख का अनुभव करते हुए, तीव्र आशय वाले हो कर शारीरिक संक्लेश से उत्पन्न स्पर्शसुख को प्राप्त करके प्रीति प्राप्त करते है। इन्हीं भवनवासियों, वानव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और सौधर्म तथा ईशान कल्प में ही देवियां (उत्पन्न) होती है। दूसरे कल्प से ऊपर देवियां उत्पन्न नहीं होती है। अतएव इन देवलोको को सदेवीक और सप्रवीचार कहते हैं।

सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत– ये दस कल्पोपपन्न वैमानिक देव स्पर्श, रूप शब्द और मन से प्रवीचार अर्थात् मैथुनसेवन करते है।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में देवियां अपने देवोको मैथुन—सुख का अभिलाषी जान कर तथा अपने प्रति आदर उत्पन्न हुआ समझकर विना बुलाये ही स्वयं उपस्थित हो जाती हैं।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प में देवियाँ जब अपने देवोको मैथुनसुख का इच्छुक जानती है तो वे स्वयं उपस्थित होकर अपने दिव्य, सर्वांगसुन्दर हाव—भाव—विलास—उल्लास से पूर्ण परम रमणीय वेष—भूषा एवं रूप को प्रदर्शित करती है। उसे देखकर उन देवो की कामेच्छा शान्त हो जाती है और वे अतिशय प्रीति का अनुभव करते हैं।

महाशुक्र और सहस्रार कल्प के देवों को जब कामेच्छा उत्पन्न होती है तो उनकी नियोगिनी देवियाँ यह जान कर श्रोत्रो को सुख पहुँचाने वाले. मनोहर संगीत का गान करती

यन्ति, तान्-श्रुत्वैव खलु ते देवाः परमां प्रीतिभजमानाः निवृत्तकामभोगादरा भवन्ति.। आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्पस्थिता देवाः पुनः—कामभोगादराःसन्तो देवीः सङ्कल्पयन्ति, तासां सङ्कल्पमात्रेणैव परमां प्रीतिमासदयन्तो निवृत्तेच्छा भवन्ति. अतएव-तेऽदेवीकाः सप्रवीचारा श्चोच्यन्ते, ततःपरं तु कल्पातीताः खलु नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरौपपातिका देवाः देवी-विषयमनःसङ्कल्पशून्या भवन्ति, मनसाऽपि ते देवाः-देवीं न सङ्कल्पयन्ति, किमुत-कायादिना [वक्तव्यम्-] तेषां कामवासनारहितत्वात्-पूर्णसुखित्वाच्च नाभिलाषो देवाङ्गनाकाम-भोगेषु सम्भवन्ति ।

यतस्तएते-रूपरसादिपञ्चविधप्रवीचारसमुदायोत्पन्नादपि सुखविशेषादपरिमितगुणप्रतिप्र-कर्षाः परमसुखतृप्ताः स्वसमाधिजमेव सुखमुपभुञ्जते । दुर्लभतरं हि तादृक् सुखं संसारेऽन्य-निवासेषु, अतस्ते जन्मप्रभृत्या शब्दादिविषयनिरपेक्षत्वात् सन्ततं तृप्ता एव भवन्ति ।

उक्तञ्च-प्रज्ञापनायां ३४-पदे प्रचारणाविषये-"**कतिविहा णं भंते ! परियारणा-पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा-कायपरियारणा, फासपरियारणा, रूव-परियारणा, सद्दपरियारणा, मणपरियारणा, भवणवासिवाणमंतरसोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा कायपरियारणा, सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु देवा फासपरियारणा, बंभलो-**

है। संगीतशब्द तथा उनके नूपुर मंजरी आदि आभूषण के शब्द को सुन कर और मधुर हास-उल्लास से परिपूर्ण वचनो को सुन कर वे देव तृप्त हो जाते है। उनकी कामाभिलाषा शान्त हो जाती है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों में स्थित देव कामभोग के अभिलाषी होकर अपनी देवियो का संकल्प चिन्तन करते है। देवियो का संकल्प करने मात्र से ही वे परम प्रीति प्राप्त कर लेते हैं और कामतृप्ति का अनुभव करते है । ये देव अदेवीक और सप्रवीचार कहलाते है।

इससे ऊपर — ग्रैवेयको और अनुत्तर विमानो के देव कामभोग की इच्छा से रहित होते है । उनके चित्र में देवियो का संकल्प भी नहीं उत्पन्न होता है-काम आदि से प्रवीचार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ? वेदमोहनीय के उपशान्त हो जाने से इतने सुखी होते है कि कामसेवन की इच्छा ही उनके मन में जागृत नहीं होती।

रूप, रस, स्पर्शादि पांच प्रकार विषय का सेवन करने से जो सुख उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा उन्हें अपरिमितगुणित सुख का अनुभव होता है, उस परम सुख में वे तृप्त रहते हैं। इस प्रकार वे कल्पातीत देव आत्मसमाधिजनित सुख का उपभोग करते रहते है । उन्हें जो सुखानुभव होता है वह इस ससार में अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। इस कारण वे इन्द्रियजनित स्पर्श शब्द आदि विषयों के सुख की अपेक्षा नहीं करते और सदैव तृप्त रहते है।

यलंतगेसु कप्पेसु देवा रूवपरियारणा, महासुक्कसहस्सारेसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारणा, आणय-पाणय-आरण-अच्चुएसु कप्पेसु देवा मणपरियारणा, गेवेज्ज अणुत्तरोववाइया देवा अपरियारणा—" इति ।

कतिविधा खलु भदन्त ! प्रचारणा प्रज्ञप्ता ? गौतम ! पञ्चविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—कायप्रचारणा स्पर्शप्रचारणा रूपप्रचारणा मनःप्रचारणा भवणवासि—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—सौधर्मेशानेषु कल्पेषु देवाः कायप्रचारणाः, सनत्कुमार—महेन्द्रयोर्देवाः स्पर्शप्रचारणाः,

ब्रह्मलोक—लान्तकयोः कल्पयोर्देवाः रूपप्रचारणाः, महाशुक्र—सहस्रारयोः कल्पयोर्देवाः शब्दप्रचारणाः, आनत—प्राणता—ऽऽऽरणा--ऽच्युतेषु देवा मनःप्रचारणाः, ग्रैवेयकानुत्तरौपपातिका देवा अप्रचारणाः इति । कल्पोपपन्नकानां—कल्पातीतानाञ्च देवानां प्रवीचारविषये चोक्तम् -

"वे काये बे फासे चउ रूवे तहेव चउ सद्दे—॥
चउरो य मणवियारा सेसा सुरबंभयारिया—॥१॥
"धादुविहीणत्ता रेदक्खलणं ण होइ देवाणं—।
संकप्पसुहं जायइ वेदस्सोदीरणाविगमे—॥ २ ॥ इति ॥
"द्वौ काये द्वौ स्पर्शे—चात्वारो रूपे तथैव चत्वारः शब्दे—।
चात्वारश्च मनोविचाराः—शेषाः सुरा ब्रह्मचारिणः—॥ १ ॥
"धातुविहीनात्वाद्—रेतःस्खलनं न भवति देवान् ।
सङ्कल्पसुखं जायते—वेदस्योदीरणाविगमे —॥ २ ॥ इति ॥ २६ ॥

प्रज्ञापना सूत्र के ३४ वें पद में प्रवीचारणा के विषय में कहा है

प्रश्न— भगवन् ! प्रवीचारणा (काम सेवन) कितने प्रकार की कही गई है ?

उत्तर — गौतम ! पाँच प्रकार की कही गइ है—कायपरिचारणा, स्पर्शपरिचारणा, रूप परिचारणा, शब्दपरिचारणा, और मनः परिचारणा । भवनवासि, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क सौधर्म तथा ईशान कल्प में देव काया से परिचारणा करते है; सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पो के देव स्पर्श से परिचारणा करते है, ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पो में रूप से परिचारणा होती है, महाशुक्र और सहास्रार कल्पो में देव शब्द से परिचारणा करते हैं, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो में देव मन से परिचारणा करते है, ग्रैवेयकऔर अनुत्तरोपपातिक देव परिचारणा रहित होते हैं ।"

कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवो के प्रवीचार के विषय में कहा है—

दो देवलोको मे काय से, दो में स्पर्श से, दो में रूप से और दो में शब्द से और चार में मन के संकल्प से प्रवीचार होता है । शेष देव परिचारणा रहित होते हैं ॥ १ ॥

देवों का शरीर सात धातुओं से रहित होता है ,,अतएव उन का वीर्य स्खलित नहीं होता जब वेद की उदीरणा दूर हो जाती है तब उन्हें संकल्प—सुख उत्पन्न होता है ॥ २ ॥ २६ ॥

मूलसूत्रम्—जोइसिया मेरुपयाहिणा कालविभागहेउणो निच्चगइया मणुस्सक्खेत्ते वाहिरए अवट्ठिया य–" ॥२७॥

छाया—ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणाः कालविभागहेतवो नित्यगतयो मनुष्यक्षेत्रे वहिरवस्थिताश्च—" ॥ २७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् भवनपत्यादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्तानां देवानां क्रमशः कायप्रवीचार–स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा–ऽप्रवीचाराश्च यथायोग्यं प्रतिपादिताः सम्प्रति–ज्योतिष्काणां गतिविशेषकालविभाजकत्वादिकं प्ररूपयितुमाह—"जोइसिया मेरुपयाहिणा कालविभाग हेउणो निच्चगइया मणुस्सक्खेत्ते बाहिरए अवट्ठिया य—" इति

ज्योतिष्काः—चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारकाः पञ्च मेरुप्रदक्षिणाः, मेरोः प्रदक्षिणकारकाः कालविभागहेतवः समयावलिकादि कालविशेषपरिच्छेदजनकाः नित्यगतयः सर्वे ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणेन गत्वा सर्वदा भ्रमन्तीति नित्यगतयः, क्षणमपि तेषां गतिः केनाऽप्यवरोद्धुं न पार्यते, ते खलु–ज्योतिष्काः मनुष्यलोकोपरिस्थितत्वात् मनुष्यक्षेत्रे सदा गतिमन्तो भवन्ति, मानुषोत्तरपर्वतात् वहिर्भागे ज्योतिष्का न भ्रमन्ति । अपितु–अवस्थिताः एव तिष्ठन्ति ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–विषयोपभोगादिकं यथायोग्यं चतुर्विधानामपि भवनपत्यादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्तानां देवानां प्रतिपादितम् सम्प्रति–ज्योतिष्काणां चन्द्रसूर्यादिदेवानां गतिस-

---

सूत्रार्थ—'जोइसिया मेरूपयाहिणा काल' इत्यादि । सूत्र २७॥

ज्योतिष्क देव मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा देते है, दिंन रात आदि काल के विभाग के कारण हैं, मनुष्य क्षेत्र में अर्थात् अढ़ाई द्वीप में निरन्तर गमन करते हैं और मनुष्य से वाहर स्थित हैं ॥ २७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले वतलाया जा चुका है कि भवनवासियों से लेकर सर्वार्थ सिद्ध तक के देव काम से,स्पर्श से, रूप से, शब्द से और मन से प्रवीचार करते है और कोई–कोई प्रवीचार से रहित भी होते हैं । अब ज्योतिष्क देवों की गति और कालबिभाजकत्व आदि की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–

चन्द्र सूर्य ग्रह, नक्षत्र और तारा, यह पाँच प्रकार के ज्योतिष्क मेरु पर्वत की परिक्रमा करते है , यही काल के विभाग के कारण है अर्थात् इनकी गती के कारण हीं समय, आवलिका आदि काल का भेद होता है, वे नित्य अर्थात् अनवरत गतिशील रहते है–क्षण भर के लिए भी उनकी गती को कोई नहीं रोक सकता । किन्तु मनुष्य क्षेत्र से वाहर अर्थात् मानुपोत्तर पर्वत के आगे वे भ्रमण नहीं करते–स्थिर रहते ह ॥ २७ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में भवनपतियों से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों के विषय भोग आदि का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया है, अब ज्योतिष्क देवों की गति आदि के

ञ्चारादिविषयमधिकृत्य प्ररूप्यते—"जोइसिया मेरुपयाहिया--" इत्यादि ।

ज्योतिष्काः—चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारकाः पञ्चविधा मनुष्यक्षेत्रे—मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्तवर्तिनि मनुष्यलोके आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमाणे मेरुप्रदक्षिणाःमेरो. प्रदक्षिणाः नापसंव्याः सन्तः मेरुपर्वतस्य प्रादक्षिण्यक्रमेण सततं भ्रमन्तो नित्यगतयो भवन्ति । काल-विभागहेतवः—समयावलिकोच्छ्वासप्रश्वासस्तोकलवनालिकामुहूर्तादिकालविशेषविभाजकाश्च भवन्ति । चन्द्रसूर्यादिगतिसञ्चारेणैव घटिका पल—क्षण—प्रहर—रात्रि—पक्ष--मास—वर्षा -ऽयन—कल्पादि व्यव-हारः सम्भवति, नाऽन्यथा ।

अतएव—चन्द्रसूर्यादयो ज्योतिष्का देवा' कालविभागहेतवः सन्ति । मनुष्यक्षेत्रा-द्बहिः प्रदेशे तु चन्द्रसूर्यादयो ज्योतिष्कदेवा नो सञ्चरन्ति, अपितु—अवस्थिता एव तिष्ठन्ति । तथाच—जम्बूद्वीपे, धातकीखण्डद्वीपे, पुष्करद्वीपार्धेच सार्धद्वयद्वीपप्रमाणे मनुष्यक्षेत्रे मानुषोत्तरपर्व-ताभ्यन्तर एव ज्योतिष्काश्चन्द्रसूर्यादयो भ्रमन्ति

मानुषोत्तरपर्वताद् बहिर्भागेतु—न भ्रमन्ति, केवलमवस्थिता सन्ति । तत्र—ध्रुवताराया: स्थिरत्वात् मेरोः प्रादक्षिण्यक्रमेण सञ्चरणाऽभावेऽपि, अन्यासां ताराणां—चन्द्रसूर्यादीनाञ्च ज्योतिष्काणां मेरोः प्रदक्षिणतयैव सञ्चरणशीलतया तदभिप्रायेणैव गतिप्ररूपणमवगन्तव्यम् ।

यद्वा—केचन चन्द्रसूर्यादयो ज्योतिष्काः मेरुप्रदक्षिणतया नित्यगतय., केचन पुनर्ध्रुवता-

---

विषय में कहते है—

चन्द्र, सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारा, ये पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव मनुष्य क्षेत्र में अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त के पैतालीस लाख योजन लम्बाई चौडाई वाले अढाई द्वीपो में मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर गति करते रहतेहैं । यही ज्योतिष्क देव काल के विभाग के कारण है अर्थात् समय, आवलिका, श्वासोच्छ्वास, स्तोक. लव और मुहूर्त आदि काल के भेदो के कारण होते है । चन्द्र सूर्य आदि के सचार से ही घड़ी. पल क्षण. प्रहर दिन, रात, पक्ष मास, अयन, वर्ष कल्प आदि का व्यवहार होता है अन्यथा व्यवहार नहीं होसकता । इस प्रकार चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देव कालविभाग के हेतु है ।

हाँ, यह ज्योतिष्क देव मनुष्य क्षेत्र से बाहर सचार नहीं करते. किन्तु स्थिर रहते है ।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में. धातकी खण्ड द्वीप में तथा आधे पुष्करद्वीप में, यों अढाई द्वीप परिमित मनुष्यक्षेत्र में. मानुषोत्तर पर्वत के भीतर—भीतर ही चन्द्र सूर्य आदि चलते हैं । उससे आगे भ्रमण नहीं करते—अवस्थित रहते है ।

ध्रुव नामक तारा स्थिर है । वह मेरु की प्रदक्षिणा करता हुआ सचार नहीं करता है । किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य सभी तारे और चन्द्र सूर्य आदि मेरु की परिक्रमा करते हुए ही संचार करते है, उन्हीं को लक्ष्य में रख कर गति की प्ररूपणा की गई है ।

रादयो मेरुप्रादक्षिण्यमकुर्वन्त एव नित्यगतयो भवन्ति । ध्रुवतारादीनामपि स्वपरिधिषु सञ्चरण-शीलत्वात् तत्र—जम्बूदीपे द्वौ सूर्यौ वर्तेते, लवणसमुद्रेच—चत्वारः सूर्याः सन्ति, धातकीखण्डे—द्वादशसूर्याः सञ्चरन्ति, कालोदधौ—द्वाचत्वारिंशत् सूर्याः सन्ति ।

पुष्करद्वीपार्धे—द्वासप्ततिःसूर्याःसन्ति,इत्येवं रीत्या तावन्मनुष्यलोके द्वात्रिंशदधिकशतसूर्या भवन्ति । चन्द्रा अपि एतावन्त एव मनुष्यक्षेत्रे सन्ति, ग्रहाश्चा—ऽष्टाशीतिसंख्यका भस्मराश्यादय सन्ति । नक्षत्राणिचा—ऽष्टाविंशतिसख्यकाःसन्ति, ताराश्च—पञ्चसप्तत्यधिकनवशतोत्तरषट्षष्टिसहस्रकोटिकोटयः एकैकस्य चन्द्रस्य परिग्रहरूपेण सन्ति ।

तत्र—सूर्याश्चन्द्राः ग्रहानक्षत्राणि ताराश्चेति सर्वज्योतिष्कास्तिर्यग्लोक एव व्यवस्थिताःसन्ति ते खलु सूर्याः—स्वतापच्छेदतः प्रकाशयन्तो मेरो प्रदक्षिणं कुर्वन्तः सञ्चरन्ति । तिर्यक्तापक्षेत्रञ्च प्रत्येकं सूर्याणामन्तः संकुटं बहिर्विशालं ऊर्ध्वमुख—कलम्बुका पुष्पाकृतिः त्रिषष्टयधिक शतद्वयोत्तरसप्तचत्वारिंशत् सहस्रयोजनप्रमाणं योजनस्यैकविंशतिः षष्टिभागा इत्यवसेयम् (४७२६३ $\frac{२१}{६०}$)

अथवा—चन्द्र सूर्य आदि कोई—कोई ज्योतिष्क मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर गतिशील हैं और कोई—कोई ध्रुवतारा आदि ज्योतिष्क मेरु की प्रदक्षिणा न करते हुए ही नित्य गतिशील है, क्योकि वे भी अपनी परिधि में सचार करते रहते है ।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य है, लवण समुद्र में चार सूर्य है, धातकीखंड द्वीप में बारह सूर्य है और कालोदधि समुद्र में बयालीस सूर्य है । अर्धपुष्कर द्वीप में बहत्तर सूर्य हैं । इस प्रकार सब मिल कर मनुष्यलोक में १३२ सूर्य हैं । मनुष्य लोक में चन्द्रमाओ की भी इतनी ही संख्या है । भस्मराशि आदि ग्रह अठासी (८८) है । नक्षत्र अट्ठाईस हैं । एक—एक चन्द्रमा के परिवार रूप तारे (६६९७५००००००००००००००००) छ्यासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोडी हैं ।

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये सभी ज्योतिष्क तिर्छे लोक में ही रहे हुए है । सूर्य अपने ताप से प्रकाशित होते हुए और मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए संचार करते है । प्रत्येक सूर्य का तापक्षेत्र अन्दर की ओर सिकुडा हुआ और बाहर की ओर विशाल कलंबुका नामक पुष्प के—संस्थान—आकार का होता है । जम्बूद्वीप में सूर्य का उत्कृष्ट तापक्षेत्र परिमाण सैंतालीस हजार दोसौ त्रेसठ योजन—और एक योजन का इक्कीस साठिया भाग (४७२६३—$\frac{२१}{६०}$) ।

सूर्यस्य च–द्वियोजनान्तरितमार्गाणां त्र्यशीत्यधिक मण्डलशतं वर्तते सर्वोत्तरोदयस्य–सर्वदक्षिणो-दयस्य च सूर्यस्याऽन्तरं दशाधिकपञ्चशतयोजनानि, । तत्रा–ऽशीत्यधिकशतयोजनान्यन्तरं जम्बूद्वीपे समुपलभ्यते, त्रिंशदधिकशतत्रययोजनानि चान्तरं लवणोदधौ लभ्यते । चन्द्रस्य च–पञ्चदश मण्डलानि सन्ति, जम्बूद्वीपे–सूर्ययोश्चन्द्रयोश्च सर्वाभ्यन्तर मण्डलवर्तिनो ऽन्तरं चत्वारिंश दधिकषट्शतोत्तरनवनवतिसहस्रयोजनानि वर्तते ।

सूर्यस्य- स्वविमानमण्डलायामविष्कम्भाश्चा–ऽष्टाचत्वारिंशद्योजनानि एकषष्टिभागाश्च योजनस्य [$\frac{४८}{६१}$] मनुष्यलोकाद् बहिर्वर्तिनः सूर्यस्य विमानमण्डलविष्कम्भस्तु—चतुर्विंश तियोजनानि, एकषष्टिभागाश्च योजनस्य [$\frac{२४}{६१}$] मनुष्यलोकाद् बहिर्वर्तिन सूर्यस्य विमानमण्डलविष्कम्भश्च–द्वादशयोजनानि एकषष्टिभागाश्च योजनस्य [$१२\frac{१}{६१}$] इति

चन्द्रस्य विमानमण्डलविष्कम्भश्च षट्पञ्चाशद् योजनानि एकषष्टिभागाश्च [$\frac{५६}{६१}$] ग्रहाणां विमानमण्डलविष्कम्भस्तु--अर्धयोजनम् । नक्षत्राणा--विमानमण्डलविष्कम्भो एकयोजनस्य एकषष्टी भागाः क्रियन्ते तेषु षट्पञ्चाशत भागपरिमितम् चन्द्रमण्डलम् ।

गव्यूतं क्रोशद्वयरूपम्-- ताराया' पुन. सर्वोत्कृष्टाया विमानमण्डलविष्कम्भोऽर्धक्रोश ।

सूर्य के एक सौ चौरासी मंडल है। सूर्य के सर्वोत्तर में और सर्वदक्षिण मे उदित होने पर ५१० योजन का फासला होता है। यह फासला १८० योजन जम्बूद्वीप में और ३३० योजना लवण समुद्र में पाया जाता है।

चन्द्रमा के मंडल पन्द्रह है। जम्बूद्वीप मे सूर्य और चन्द्र जब सब से अन्दर के मंडल में होते है तो उनमें निन्यानवे हजार, छहसौ, चालीस योजन का अन्तर होता है। सूर्य के मंडल की लम्बाई–चौडाई एक योजन के इकसठ भाग मे से अडतालीस भाग है। ($\frac{४८}{६१}$) मनुष्यलोक के बाहर के सूर्य के विमान मण्डल का विस्तार चोवीस योजन और इकसठ भाग ($\frac{२४}{६१}$) है। मनुष्य लोक के बाहर के सूर्य के विमानमंडल का विस्तार बारह योजन और एक योजन के इकसठ भाग ($१२\frac{१}{६१}$) है।

चन्द्रमा के विमानमंडल का विस्तार $\frac{५६}{६१}$ इगसठिया छप्पन भाग है। ग्रहों के विमानमंडल का विस्तार आधा योजन है। नक्षत्रों के विमानमंडल का विस्तार एक कोस का है। सब

जघन्यायास्तारायास्तु--पञ्चधनुःशतानि विमानमण्डलविष्कम्भो बोध्यः । किन्तु—मनुष्यलोका-द्वहिर्भागे मानुषोत्तरपर्वतवहिर्देशे ये सूर्यादयो ज्योतिष्काः सन्ति, ते यथावस्थिता भवन्ति, न तु—परिभ्रमन्ति—।

तेषां विमानप्रदेशा अप्यवस्थिता एव भवन्ति, न तु—मनुष्यलोकान्तर्वर्तिनामुपरागाभिरिवाऽन्यत्वं—मालिन्यं वा प्राप्नुवन्ति.। तत्रोपरागादीनामसद्भावात्, तेषां सूर्यचन्द्रादीनां सुखशीतोष्ण रश्मयस्तत्र भवन्ति, चन्द्रसूर्यास्तत्र नात्यन्तशीताः—नात्यन्तोष्णाश्च क्रमशो भवन्ति. ।

सर्वचन्द्राश्च तत्राभिजिता युक्ता भवन्ति, सूर्याश्च--पुष्यैर्युक्ता स्तत्र भवन्ति । उक्तञ्च जीवाभिगमे ३--प्रतिपत्तौ २--उद्देशके

ते मेरुपरियडंता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे ।
अणवट्ठियजोगेहिं चंदा सूरा गहगणा य ॥१॥
" अंतो मणुस्सक्खेत्ते हवंति चारोवगाय उववण्णा ।
पंचविहा जोइसिया चंदसूरागहगणा य ॥२॥
" तेण परं जे सेसा चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता ।
नत्थि गई न वि चारो अवट्ठिया ते मुणेयव्वा ॥३॥
"ते मेरुं पर्यटन्तः- प्रदक्षिणावर्तमण्डलाः सर्वे- । ।
अनवस्थितयोगैः—श्चन्द्राः सूर्या ग्रहगणाश्च- ॥ १
"अन्तर्मनुष्यक्षेत्रे—भवन्ति चारोपगाश्चोपपन्नाः— ।
पञ्चविधा ज्योतिष्का—श्चन्द्राः सूर्याग्रहगणाश्च- ॥ २ ॥

से वड़े तारा के विमानमंडल का विस्तार आधे कोस का है । सब से छोटे तारा के विमानमंडल का विस्तार पाँचसौ धनुष है ।

किन्तु मनुष्यक्षेत्र से वाहर अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के बहिर्देश में जो सूर्य आदि ज्योतिष्क हैं, वे अवस्थित होते है, भ्रमण नहीं करते है । उनके विमानप्रदेश भी अवस्थित है और उनका लेश्या—प्रकाश भी अवस्थित ही है । जैसे मनुष्यलोक में ग्रहण आदि होते हैं, वैसे वहाँ नहीं होते । वहाँ कभी उनमें मलिनता नहीं आती । वहाँ ग्रहण (ग्रास) का कोई कारण ही नहीं है । वहां सूर्य और चन्द्र की सुखद शीतोष्ण किरणें होती हैं । वहाँ चन्द्रमा न अति शीतल है और न सूर्य अति उष्ण है ।

वहाँ सभी चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र के योग से युक्त होते है और सूर्य पुष्य नक्षत्र के योग से युक्त होते हैं । जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के दूसरे उद्देशक में कहा है—

वे चन्द्र सूर्य ग्रह आदि सभी ज्योतिष्क मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते रहते हैं और कभी भी ठहरते नहीं हे ॥१॥

चन्द्र, सूर्य और ग्रह आदि पाँचो प्रकार के ज्योतिष्क देव मनुष्यलोक के भीतर संचार शील होते हैं—निरन्तर गमन करते रहते हैं ॥२॥

"तेन परं यानि शेषाणि–चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्राणि– ।
नास्ति गतिर्नापि चारो–ऽवस्थितानि तानि ज्ञातव्यानि– ॥३॥

"व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रेऽपि १२–शतके ६–उद्देशके चोक्तम्"—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सूरे आइच्चे सूरे ? गोयमा ! सूराइयाणं समयाइवा, आवलियाइवा, जाव–उस्सप्पिणीवा, अवसप्पिणीइवा,

"से तेणट्ठेणं जाव–आइच्चे–" तत्केनार्थेन भदन्त ! एवं मुच्यते 'सूर्य आदित्य' सूर्यः–इति, गौतम ! सूर्यादिका खलु–समयादयो वा, आवलिकादयो वा, यावद्–उत्सर्पिणीवा, अवसर्पिणी–इतिवा, तत्तेनार्थेन यावद् आदित्यः इति ।

ततश्चा–ऽग्रेऽपि व्याख्याप्रज्ञप्तौ ११–शतके ११–उद्देशके चोक्तम्—"से किं तं-पमाणकाले २ दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–दिवसप्पमाणकाले, राइप्पमाणकाले इच्चाइ—" इति । अथ किं तावत्-प्रमाणकालः ? प्रमाणकालः द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–दिवसप्रमाणकालः, रात्रिप्रमाणकालश्चेत्यादि ।

एवञ्च–"जम्बूद्वीपोपरि–द्वौ सूर्यौ" इत्युक्तमेव, षट् पञ्चाशन्नक्षत्राणि, षट् सप्तत्यधिक-शतग्रहाः, लवणसमुद्रोपरि–चत्वारो दिनमणयः, द्वादशाधिकशतनक्षत्राणि, द्विपञ्चाशदधिकश-तत्रयग्रहाः, धातकीखण्डोपरि-द्वादशसूर्याः, षट्त्रिंशदधिकशतत्रयनक्षत्राणि, षट्पञ्चाशदधिकसहस्र-ग्रहाः, कालोदसमुद्रोपरि–द्वाचत्वारिंशत्सूर्याः, षट्सप्तत्यधिकैकशतोत्तरसहस्रनक्षत्राणि, षण्णवत्य-धिकषट्शतोत्तरसहस्रत्रयग्रहाः, पुष्करार्धोपरि–द्वासप्तति सूर्याः, षोडशाऽधिकसहस्रद्वयनक्षत्राणि, षट्-

---

मनुष्यक्षेत्र से बाहर जो चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा और नक्षत्र है, उनमें गति नहीं होती, वे सचार नहीं करते किन्तु अवस्थित ही रहते है ॥३॥

भगवतीसूत्र शतक १२, उद्देशक ६ में भी कहा है—प्रश्न–भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सूर्य आदित्य सूर्य है ? गौतम ! समय, आवलिका यावत् उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी आदि का विभाग सूर्य से ही होता है, इस कारण से आदित्य ऐसा कहा जाता है ।

आगे भी व्याख्याप्रज्ञप्ति के ग्यारहवें शतक के ग्यारहवें उद्देशक में कहा है—

'प्रमाणकाल के कितने भेद हैं ? उत्तर–प्रमाण काल दो प्रकार का कहा गया है—दिवस प्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल, इत्यादि ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जम्बूद्वीप के ऊपर दो सूर्य हैं । छप्पन नक्षत्र हैं, एक सौ छिहत्तर ग्रह हैं । लवणसमुद्र के ऊपर चार दिनमणियाँ हैं, एक सौ बारह नक्षत्र हैं, तीनसौ बावन ग्रह है । धातकी खंड द्वीप के ऊपर बारह सूर्य, तीनसो छत्तीस नक्षत्र और एक हजार छप्पन ग्रह है । कालोद समुद्र के ऊपर बयालीस सूर्य, एक हजार एक सौ छिहत्तर नक्षत्र और तीन हजार छहसौ छियानवे ग्रह हैं ।

त्रिंशदधिकत्रिशतोत्तरत्रिसहस्रग्रहा सन्ति । यत्र यावन्त सूर्यास्तत्र तावन्तश्चन्द्रा अपि बोध्याः ततः परं स्वयमूहनीयाः ॥२७॥

मूलसूत्रम्—"देवाणं उत्तरमुत्तरं आउप्पभाव-सुह-ज्जुइ-लेस्साविसुद्धि-दियओहि-विसया-अहिया, गइ-सरीरपरिग्गहा-भिमाणा हीणा—" ॥२८॥

छाया—"देवानामुत्तरोत्तरम्, आयुष्य-प्रभाव-सुखद्युतिलेश्याविशुद्धी-न्द्रिया-ऽवधिविषया अधिकाः, गति-शरीर-परिग्रहा-ऽभिमाना हीनाः—' ॥२८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत्—चतुर्विधानामपि देवानां प्रवीचारेन्द्रादिस्वरूपनिरूपण कृतम्, सम्प्रति—तेषामेव भवनपत्यादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तानामायुष्य—प्रभाव—सुख—कान्तिलेश्याविशुद्ध्यादि विषयेषु यथाक्रममधिकत्वं—न्यूनत्व च प्ररूपयितुमाह—"**देवाणं उत्तरमुत्तरं**" इत्यादि ।

वानव्यन्तरापेक्षया ज्योतिष्कस्य; स्तदपेक्षया भवनपते स्तदपेक्षया वैमानिकादेश्चायुः प्रभावोऽनुभाव' सुखं द्युति' लेश्याविशुद्धि इन्द्रियाणा विषयः अपिच अवधिज्ञानविषयोऽधिकाधिको भवति किन्तु ऊर्ध्वदेवेषु गतिः अर्थाद्देशान्तरगमन शरीरप्रमाणं परिग्रहमूर्च्छा अभिमानम् एतानि सर्वाणि उत्तरोत्तरत' अल्पानि भवन्ति ॥सूत्र-२८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं भवनपत्यादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्तानां सर्वेषां खलु देवानां यथायथं

पुष्करार्ध द्वीप में बहत्तर सूर्य है, दो हजार सोलह नक्षत्र है और तीन हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह है। जिस जगह जितने सूर्य है, उस जगह उतने ही चन्द्रमा भी समझ लेना चाहिए। उससे आगे स्वयं समझ लेना चाहिए ॥२७॥

सूत्रार्थ—"देवाणं उत्तरं आउप्पभाव—सुह—ज्जुई' इत्यादि ॥सूत्र २८॥

देवो में उत्तरोत्तर आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियो का विषय और अवधि का विषय अधिक है। किन्तु गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान कम है ॥२८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले चारो निकायो के देवो के प्रवीचार का तथा इन्द्र आदि के स्वरूप का निरूपण किया गया। अब भवनपतियो से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक के देवो के आयुष्य, प्रभाव, सुख, कान्ति, लेश्या विशुद्धि आदि के विषय में अधिकता और न्यूनता का प्ररूपण करने के लिए कहते हैं—

वानव्यंतरो की अपेक्षा ज्योतिष्कके, ज्योतिष्क की अपेक्षा भवनपतिके भवनपति की अपेक्षा वैमानिक आदि की आयु, प्रभाव, अनुभाव, सुख, द्युति (कान्ति) लेश्या विशुद्धि यथा योग्य शुद्धि, इन्द्रियो का विषय और अवधिज्ञान का विषय अधिक—अधिक है। किन्तु ऊपर के देवो में गति अर्थात् देशान्तर में गमन शरीर प्रमाण अर्थात् ऊँचाई परिग्रह मूर्च्छा और अभिमान, अहंकार—ये सब उत्तरोत्तर अल्प होते है ॥सूत्र २८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पहले भवनपतियो से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त सभी देवों के यथा-

विषयभोगेन्द्रादि स्वरूपं प्ररूपितम् , सम्प्रति–तेषां सर्वेषामपि देवानां पूर्वपूर्वदेवापेक्षया–उत्तरोत्तरदेवानां खलु–आयुः–प्रभाव–सुख–लेश्या विशुद्धि-न्द्रिया-ऽवधिज्ञानविषया अधिकाः, गतिशरीरप्रमाणपरिग्रहाभिमानाश्च न्यूना भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह––

"देवाणं उत्तरमुत्तरआउप्पभावसुहज्जुइ लेस्साविसुद्धिंदियओहिविसया अहिया, गइसरीरपरिग्गहाभिमाणा हीणा–" इति– । देवानाम्–असुरकुमारादि भवनपति -किन्नरादिवानव्यन्तर–चन्द्रसूर्यादि ज्योतिष्क–सौधर्मेशानादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्तवैमानिकदेवानाम् पूर्वपूर्वदेवापेक्षया–उत्तरोत्तरं खलु––आयुः–स्थितिरूपम्, प्रभावोऽनुभावः, सुखम् , द्युतिः–कान्तिः, लेश्याविशुद्धिः–कृष्णनीलकापोतपीतपद्मशुक्ललेश्याविशुद्धि–अवधिविषयः इन्द्रियविषयश्चेत्येते उत्तरोत्तरदेवानामधिका भवन्ति । तथाचोत्तरोत्तरदेवाः आयुष्य रूप स्थितितोऽधिका पूर्वपूर्वदेवापेक्षया भवन्ति ।

एवम्–निग्रहाऽनुग्रहवैक्रियपराभियोगादिरूपप्रभावतोऽपि पूर्वपूर्वदेवापेक्षया उत्तरोत्तरदेवा अधिका भवन्ति । एवं सुखतः, कान्तिरूपद्युतितः, इन्द्रियविषयतः, अवधिज्ञानविषयतश्चोत्तरोत्तरदेवाः 'पूर्वपूर्वदेवापेक्षयाऽधिका भवन्ति । एवं सुखतः, कान्तिरूपद्युतितः, लेश्याविशुद्धित इन्द्रियविषय, अवधिज्ञानविषयतश्चोत्तरोत्तरदेवाः पूर्वपूर्वदेवानां दूराविष्ट विषयोपलब्धौ यद्इन्द्रियपाटवं भवति, तदपेक्षया–प्रकृष्टतरगुणत्वा–दल्पतरसंक्लेशत्वा च्चोत्तरोत्तरदेवानामधिकं भवति ।

योग्य विषयभोग, उपभोग तथा इन्द्र आदि स्वरूप का प्ररूपण किया गया, अब यह निरूपण करते है कि पूर्वोक्त सब देवो में, पहले वालो की अपेक्षा आगे वालो में आयु, प्रभाव, सुख, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञान का विषय अधिक–अधिक होता है किन्तु गति, शरीरप्रमाण, परिग्रह और अभिमान कम होता है —

असुरकुमार आदि भवनपति, किन्नर आदि वानव्यन्तर, चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क और सौधर्म–ईशान से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त वैमानिक देवों में पूर्व–पूर्व देवो की अपेक्षा उत्तरोत्तर अर्थात् आगे–आगे के देवो में आयु अर्थात् स्थिति, प्रभाव अर्थात् अनुभाव, सुख, द्युति, अर्थात् कान्ति, लेश्या विशुद्धि अर्थात् कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल लेश्या की शुद्धि, इन्द्रियो का विषय और अवधिज्ञान का विषय अधिक–अधिक होता है । इस प्रकार पहले–पहले के देवो की अपेक्षा आगे–आगे के देव आयु में अधिक है ।

निग्रह करना–अनुग्रह करना, विक्रिया करना तथा पराभियोग करना, यह सब प्रभाव कहलाता है । पूर्व–पूर्व के देवों की अपेक्षा उत्तरोत्तर देवों में प्रभाव अधिक होता है । इसी प्रकार, सुख, कान्ति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रियों द्वारा अपने–अपने विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य और अवधिज्ञान, यह सब भी आगे–आगे के देवो में पूर्व–पूर्व देवों की अपेक्षा अधिक होते हैं । तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्त्ती देव अपनी इन्द्रियों से जितनी दूरी की

एवम्—अवधिज्ञानविषयतोऽपि–उत्तरोत्तरदेवा अधिकाः । यथा—सौधर्मेशानयोर्देवा अवधिज्ञानविषयेणाऽधोरत्नप्रभापृथिवीचरमान्तं पश्यंति–तिर्यग्असंख्येयानि द्वीपसमुद्राणि–ऊर्ध्वम् आदिमानात् । सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्पयोर्देवाः–अधः शर्कराप्रभापृथिवीचरमान्तं पश्यन्ति तिर्यग्असंख्येयानि द्वीपसमुद्राणि । ऊर्ध्वम् आदिमानात् एवंरीत्योत्तरोत्तरमधिकमवसेयम् अनुत्तरौपपातिका पुन-र्विजयवैजयन्तादय पञ्च देशोन लोकं पश्यन्ति, देशान्तरगमन-लक्षणगतिविषयत, शरीरदैर्घ्यतः, परिग्रहतः, अभिमानतश्चोत्तरदेवाः- पूर्व-पूर्वदेवापेक्षया हीना भवन्ति नत्वधिकाः । यथा द्विसागरोपमजघन्यस्थितिका देवाः सप्तमपृथिवी पर्यन्तं गच्छन्ति तिर्यग्–असंख्येयानि द्वीपसमुद्राणि यावत् गच्छन्ति असुरकुमारा देवाः पुनस्तृतीया पृथिवीं यावत् पूर्ववैरिकस्य वेदनोदीरणार्थं पूर्वसाङ्गतिकस्य च वेदनोपशमनार्थं गच्छन्ति तिर्यग्नन्दीश्वरद्वीपं यावद् गच्छन्ति(भग० श० ३ उ० २ सूत्र १)

महानुभाव क्रियातो–माध्यस्थ्याच्चोपर्युपरिदेवाः गतिरतयो न भवन्ति ।

वस्तु ग्रहण करते है; उत्तरोत्तर देव उनकी अपेक्षा अधिक दूर की वस्तु–विषय को जानते है । इसका कारण यह है कि उत्तरोत्तर देव उत्कृष्ट गुणों वाले अल्पतर संक्लेश वाले होते हैं।

अवधिज्ञान भी पूर्व–पूर्व के देवो की अपेक्षा उत्तर–उत्तर के देवों में अधिक पाया जाता है। उदाहरणार्थ- सौधर्म और ईशान कल्प के देव अवधिज्ञान के द्वारा नीचे रत्नप्रभा के चर-मान्त–अन्तिमभाग तक देखते–जानते हैं, तिर्छी दिशा में असंख्यात द्वीप समुद्रों तक जानते देखते हैं और ऊपर अपने-अपने विमानो तक अर्थात् विमानो की ध्वजा तक जानते–देखते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के देव नीचे शर्कराप्रभा पृथ्वी के चरमान्त तक जानते–देखते हैं, तिर्छी दिशा में असंख्यात द्वीप समुद्रो को जानते–देखते है और ऊपर अपने–अपने विमानों की ध्वजा तक जानते–देखते है ।

इस प्रकार अवधिज्ञान का क्षेत्र आगे–आगे के देवो का अधिक–अधिक होता है ।

विजय वैजयन्त आदि पाँच अनुत्तर विमानो के देव अपने अवधिज्ञान से एक देश ऊन लोक को जानते–देखते है । किन्तु देशान्तर में गमन रूप गति शरीर की लम्बाई परिग्रह और अभिमान ये सब पूर्व–पूर्व के देवो की अपेक्षा उत्तरोत्तर देवो के कम होते है। जैसे–दो सागर की जघन्य स्थिति वाले देव नीचे सातवीं पृथ्वी तक जाते हैं और तिर्छी दिशा में असंख्यात द्वीप समुद्रो तक जाते है । असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक जाते है ये देव अपने पूर्वभव के साथी मित्र को शाता उपजाने के लिये और पूर्वभव के वैरीको वेदना देने के लिये वहाँ जाते हैं (भग०श०३उ०२सू०१) उससे आगे अतीत काल में न कभी गए है वर्तमान में न कभी जाते हैं और न भविष्यत में जाएँगे ऊपर के देवों मे महानुभावता अधिक होती है और माध्यस्थ–भाव भी अधिक होता है इस कारण इधर–उधर जाने मे उनकी रुचि नहीं होती ।

एवम् असुरकुमारादि सौधर्मेशानकल्पं यावद् देवाः सप्तरत्निशरीरोच्छ्राया भवन्ति। ततः परं सहस्रारकल्पपर्यन्तं द्वयोर्द्वयोःकल्पयो एकैकरत्निहीनशरीरोच्छ्राया भवन्ति अयं भावः- सनत्कुमारमाहेन्द्रदेवा षड्रत्निशरीरोच्छ्रायाः ब्रह्मलान्तकदेवाः पञ्चरत्निशरीरोच्छ्राया. महाशुक्रसहस्रारदेवाश्चतूरत्निशरीरोच्छ्राया भवन्तीति। आनत-प्राणताऽऽरणा ऽच्युतकल्पेषु रत्नित्रयशरीरोच्छ्राया देवा भवन्ति। ग्रैवेयकेषु रत्निद्वयशरीरोच्छ्राया., पञ्चाऽनुत्तरौपपातिकेषु मध्ये विजयादि चतुर्षु विमानेषु एकरत्निशरीरोच्छ्राया देवा भवन्ति।

सर्वार्थसिद्धविमाने तु देवा' किञ्चिदून रत्निशरीरोच्छ्राया देवा भवन्तीति।

वैमानिकानां विमानसंख्या यथा—सौधर्मे विमानानि—द्वात्रिंशच्छतसहस्राणि। इशानेऽष्टाविंशतिशतसहस्राणि। सनत्कुमारे—द्वादशसहस्राणि। माहेन्द्रे—ऽष्टशतसहस्राणि। ब्रह्मलोके चत्वारि शतसहस्राणि। लान्तके—पञ्चाशत् सहस्राणि। महाशुक्रे—चत्वारिंशत् सहस्राणि सहस्रारे षट् सहस्राणि। आनत—प्राणता-ऽरणा-ऽच्युतेषु सप्तशतानि तत्र आनतप्राणतयोर्द्वयोर्देवलोकयो श्चत्वारिशतानि आरणाच्युतयोर्द्वयोर्देवलोकयो स्त्रीणि शतानि विमानानामिति संमेल्य चतुर्षु देवलोकेषु सप्तशतानि भवन्तीति।

ग्रैवेयकत्रिके—क्रमशः एकादशाधिकसप्ताधिकशतमेकशतं च विमानानामिति। अनु-

---

असुरकुमारों से लेकर सौधर्म-ईशान कल्प तक के देवो का शरीर सात हाथ ऊँचा होता है। इससे आगे दो दो कल्पो मे, सहस्रार कल्प पर्यन्त, एक-एक हाथ की ऊँचाई कम होती जाती है। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में देवो की छह हाथ की ऊँचाई होती है। ब्रह्म और लान्तक कल्प में देवो की ऊँचाई पाँच हाथ की होती है। महाशुक्र और सहस्रार कल्प में देवो की ऊँचाई चार हाथ की होती है।

आनत प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो में देवो का शरीर तीन हाथ ऊँचा होता है। ग्रैवेयक विमानो के देवो के शरीर की ऊँचाई दो हाथ की है। पाँच अनुत्तरौपपातिक देवो में विजयादि चार विमानो के देवो का शरीर एक हाथ का होता है और सर्वार्थ सिद्ध देवो का शरीर कुछ कम एक हाथ का ही होता है।

अब वैमानिको के विमानो की सख्या बतलाते है—सौधर्म देवलोक मे बत्तीस लाख विमान हैं ईशान देव लोक में अट्ठाइस लाख, सनत्कुमार में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख, ब्रह्मलोक में चार लाख, लान्तक में पचास हजार, महाशुक्र में चालिस हजार, सहस्रार में छह हजार तथा आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पों मे सात सौ विमान है। उनमे आनत प्राणत, दो देवलोको में चारसौ विमान है और आरण अच्युत इन दो देवलोकों में तीनसौ विमान हैं, ऐसे सातसो विमान है। ग्रैवेयकत्रिक में क्रमशः एकसौ ग्यारह, एकसौ सात और एकसौ विमान होते है।

त्तरेषु पञ्चैव विमानानि सन्ति । एवं-स्थानपरिवारशक्तिविषयसम्पत्-स्थितिषु चोत्तरोत्तरदेवाः पूर्वपूर्वदेवापेक्षयाऽल्पाभिमानाः परमसुखभागिनो भवन्तीति भावः । उक्तञ्च प्रज्ञापनायाः २१- शरीरपदे "असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालया ओगाहणा पण्णत्ता गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं सत्तरयणीओ तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागो, उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं एवं जाव थणियकुमाराणं एवं ओहियाणं वाणमंतराणं एवं जोइसियाण वि सोहम्मीसाणदेवाणं एवं चेव, उत्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पो, नवरं सणंकुमारे भवधारणिज्जा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागे, उक्कोसेणं छ रयणीओ, एवं माहिंदे वि, बंभलोयलंतगेसु पंचरयणीओ, महासुक्क सहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ, आणय-पाणयआरणच्चुएसु तिण्णि रयणीओ । गेविज्जग-कप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियाणं वेउव्वियसरीरोगाहणा के महालया पण्णत्ता ? गोयमा ! गेविज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पण्णत्ता सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं दो रयणी, एवं अनुत्तरोववाइयदेवाण वि, णवरं एक्का रयणी"

छाया—"असुरकुमारभवनवासिदेवपञ्चेन्द्रियवैक्रियशरीरस्य खलु भदन्त ! किं महालया अवगाहना प्रज्ञप्ता ? गौतम ! असुरकुमाराणां देवानां द्विविधा शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता तद्यथा—भवधारणीया च उत्तरवैक्रिया च । तत्र खलु याऽसौ भवधारणीया—सा जघन्येन अंगुलस्यासंख्येयभागः उत्कृष्टेन सप्तरत्नयः । तत्र खलु या उत्तरवैक्रिया, सा जघन्येनाऽङ्गुलस्य संख्येयभागः उत्कृष्टेन—योजनशतसहस्रम् ।

पाँच अनुत्तरों में पांच ही विमान हैं ।

इसी प्रकार स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, सम्पत्ति और स्थिति आदि का अभिमान आगे-आगे के देवों को पहले-पहले वाले देवों की अपेक्षा कम होता है। आगे-आगे के देव उत्कृष्ट सुख के भागी होते है ।

प्रज्ञापना सूत्र के इक्कीसवे शरीरपद में, कहा है—

प्रश्न—भगवन् भवनवासियों में जो असुरकुमार देव हैं, उनके वैक्रिय शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी है ?

उत्तर—गौतम ! असुरकुमार देवो की अवगाहना दो प्रकार की कही गई है—एक भवधारणीय शरीर की अर्थात् उस भव में सदैव रहने वाले मूल शरीर की अवगाहना और दूसरी उत्तर वैक्रिय अर्थात् कभी-कभी विक्रिया लब्धि से बनाये जाने वाले शरीर की अवगाहना । उनके भवधारणीय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सात हाथ की होती है । उत्तर वैक्रिय शरीर की जघन्य अवगाहना

एवं—यावत् स्तनितकुमाराणाम् ।

एवम्—औघिकानां वानव्यन्तराणाम् । एवं ज्योतिष्काणामपि । सौधर्मेशानदेवानां खलु—एव-म्चैवोत्तरवैक्रिया, यावदच्युतः कल्पः । नवरं सनत्कुमारे भवधारणीया जघन्येना—ऽङ्गुलस्यासंख्येयभागः ।

उत्कृष्टेन षड्रत्नयः । एवं माहेन्द्रेऽपि, ब्रह्मलोके लान्तकेषु पञ्च रत्नयः । महाशुक्र-सहस्रारयोश्च चतस्रो रत्नयः । आनत—प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतेषु तिस्रो रत्नयः । ग्रैवेयककल्पातीत-वैमानिकदेवपञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियशरीरावगाहना किं महालया प्रज्ञप्ता ? गौतम ! ग्रैवेयक देवानाम् एका भवधारणीया शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता, सा जघन्येनाऽङ्गुलस्याऽसंख्येयभागः उत्कृष्टेन द्वे रत्निः ॥

असुरकुमाराणं भंते ! ओहिणा केवइ खेत्तं जाणइ पासइ ? गोयमा ! जहण्णेणं पणवीसं जोयणाइं, उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति । नागकुमाराणं जहण्णेणं पणवीसं जोयणाइं उक्कोसेणं संखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति एवं जाव थणियकुमारा ०००० वाणमंतरा जहा नागकुमारा । जोइसियाणं भंते

अंगुल के सख्यातवे भाग की और उत्कृष्ट एक लाख योजन की होती है ।

इसी प्रकार स्तनितकुमारो तक समझ लेना चाहिए । सामान्य रूप से वानव्यन्तरो की, ज्योतिष्को की तथा सौधर्म और ईशान देवो की अवगाहना भी पूर्वोक्त ही है । अच्युत कल्प तक के देवों के उत्तरवैक्रिय शरीर की अवगाहना इसी प्रकार अर्थात् एक लाख योजन की है । सनत्कुमार कल्प के देवों के भवधारणीय शरीर की अवगाहना जघन्यअंगुल के असंख्यतवें भाग की और उत्कृष्ट छह हाथ की है' माहेन्द्र कल्प में भी इतनी ही अवगाहना है । ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पो में पाँच हाथ की, महाशुक्र और सहस्रार कल्प में चार हाथ की एवं आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्प में तीन हाथ की अवगाहना होती है ।

प्रश्न—ग्रैवेयक कल्पातीत वैमानिक पंचेन्द्रिय देवो के वैक्रिय शरीर की अवगाहना कितनी बडी है ?

उत्तर—गौतम ! ग्रैवेयक देवो में एक भवधारणीय शरीर की ही अवगाहना होती है (उत्तर वैक्रिय शरीर की अवगाहना नहीं होती, क्यों कि वे देव उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते नहीं है—उनमें वैसी उत्सुकता—उत्कंठा नहीं होती) । भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असख्यातवे भाग की और उत्कृष्ट दो हाथ की होती है । अनुत्तरविमानों के देवो के विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए, अर्थात उनमें भी भवधारणीय शरीर की ही अवगाहना होती है । और वह एक हाथ की होती है । उत्तर वैक्रिय शरीर वे भी नहीं बनाते हैं ।"

केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा जहण्णेणं संखेज्जे दीवसमुद्दे उक्कोसेण वि संखेज्जे दीवसमुद्दे, सोहम्मगदेवाणं भंते केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए हिट्ठिल्ले चरमंते तिरियं जाव असंखिज्जे दीवसमुद्दे उड्ढं जाव—सगाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति ।

एवं ईसाणगदेवावि सणंकुमारदेवावि एवं चेव नवरं जाव अहे दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरमंते एवं माहिंददेवावि बंभलोयलंतगदेवा तच्चाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरमंते, महासुक्कसहस्सारगदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरमंते आणय—पाणय आरण—च्चुयदेवा अहे जाव पंचमाए धूमप्पभाए हेट्ठिल्ले चरमंते हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जगदेवा अहे जाव छट्ठाए तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले जाव चरमंते उवरिमगेविज्जगदेवाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ? गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं अहे सत्तमाए हेट्ठिल्ले चरमंते तिरियं जाव—असंखेज्जे दीवसमुद्दे उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति अणुत्तरोववाइयदेवाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति गोयमा ! संभिन्नं लोगनालिं ओहिणा जाणंति पासंति ।

असुरकुमाराः खलु भदन्त ! अवधिना कियत क्षेत्रं जानन्ति—पश्यन्ति । गौतम ! जघन्येन पञ्चविंशतियोजनानि, उत्कृष्टेनाऽसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अवधिना जानन्ति पश्यन्ति । नागकुमाराः खलु—जघन्येन पञ्चविंशति योजनानि, उत्कृष्टेन—संख्येयान् द्वीपसमुद्रान् अवधिना जानन्ति पश्यन्ति ।

एवं यावत्—स्तनितकुमाराः ... वानव्यन्तराः यथा नागकुमाराः । ज्योतिष्काः खलु भदन्त—! कियत् क्षेत्रम् अवधिना जानन्ति पश्यन्ति—? गौतम—जघन्येन संख्येयान् द्वीपसमुद्रान्, उत्कृष्टेनाऽपि—संख्येयान् द्वीपसमुद्रान् । सौधर्मदेवाः खलु भदन्त ! कियत् क्षेत्रम् अवधिना-

---

प्रज्ञापनासूत्रके ३३ तेतीसवें अवधिपद में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! असुरकुमार अवधिज्ञान के द्वारा कितने क्षेत्र को जानते—देखते है?

उत्तर—गौतम, जघन्य पच्चीस योजन, उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप- समुद्रों को अवधिज्ञान से जानते देखते हैं । नागकुमार अवधिज्ञान से जघन्य पच्चीस योजन और उत्कृष्ट सङ्ख्यात द्वीप--समुद्रो को जानते देखते है । इसी प्रकार स्तनितकुमारों तक समझनाचाहिए वानव्यन्तर नागकुमारो की तरह जानते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ज्योतिष्क देव अवधिज्ञान से कितने क्षेत्र को जानते देखते है ?

उत्तर—गौतम ! जघन्य से सख्यात द्वीप समुद्रो को और उत्कृष्ट से भी संख्यात द्वीप समुद्रोंको अवधिज्ञान से जानते देखते है,

जानन्ति पश्यन्ति ? गौतम ! जघन्येनांऽगुलस्या–ऽसंख्येयभागम् , उत्कृष्टेना–ऽधो यावत्–अस्या रत्नप्रभायाः आदिमं चरमान्तं तिर्यग् यावदसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् ऊर्ध्वं यावत्–स्वकानि विमानानि अवधिना जानन्ति पश्यन्ति । ,

एवम्––ईशानदेवा अपि, सनत्कुमारदेवाऽपि, एवञ्चैव । नवरं यावद् अधो द्वितीयस्याः शर्कराप्रभायाः आदिमं चरमान्तम् । एवम्–माहेन्द्रदेवा अपि, ब्रह्मलोक–लान्तकदेवा स्तृतीयाः पृथिव्या आदिमं चरमान्तम् ।

आनत–प्राणता–ऽऽरणा–ऽच्युतदेवाः अधो यावत् पञ्चम्या धूमप्रभाया अधस्तनं–चरमान्तम् । अधस्तनमध्यमग्रैवेयकदेवाः अधो यावत् षष्ठ्या स्तमःप्रभायाः पृथिव्या अधस्तनं यावत्–चरमान्तम् ।

उपरितनग्रैवेयकदेवाः खलु भदन्त ! कियत् क्षेत्रम् अवधिना जानन्ति पश्यन्ति–' गौतम ! जघन्येनाङ्गुलस्या–ऽसंख्येयभागम् , उत्कृष्टेना–ऽधः सप्तम्या पृथिव्याः अधस्तनं–चरमान्तम् तिर्यग् यावदसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् , ऊर्ध्वं यावत् स्वकानि विमानानि–अवधिना जानन्ति-पश्यन्ति।

प्रश्न––सौधर्मकल्प के देव अवधि ज्ञानसे कितने क्षेत्र को जानते देखते है ?

उत्तर––गौतम' जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग को, उत्कृष्ट नीचे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचले चरमान्त तक, तिरछे असंख्यात द्वीप–समुद्रो तक, ऊपर अपने-अपने विमानों तक अवधिज्ञान से जानते-देखते है'

ईशान कल्प के देव भी इतना ही जानते-देखते हैं । सनत्कुमार नीचे दूसरी शर्करा-प्रभा पृथ्वी के नीचले चरमान्त तक जानते-देखते हैं । माहेन्द्र देव भी इतना ही जानते देखते हैं । ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के देव तीसरी पृथ्वी के चरमान्त तक जानते-देखते हैं, महाशुक्र और सहस्रारकल्प के देव चौथी पंकप्रभा पृथ्वी के नीचले चरमान्त तक जानते-देखते है । आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देव नीचे पाँचवीं धूमप्रभा के नीचले चरमान्त तक, अधस्तन और मध्यम ग्रैवेयको के देव नीचे छठी तमा नामक पृथ्वी के नीचले चरमान्त तक जानते-देखते हैं ।

प्रश्न––उपरितन ग्रैवेयको के देव अवधिज्ञान से कितने क्षेत्र को जानते देखते है ।

उत्तर––गौतम' जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग को, उत्कृष्ट नीचे सातवीं पृथ्वी के नीचले चरमान्त तक, तिर्छे असंख्यात द्वीप-समुद्रों तक, ऊपर अपने-अपने विमानों के ध्वजा पताका तक अवधिज्ञान से जानते-देखते हैं ।

अनुत्तरौपपातिका देवाः खलु भदन्त ! कियत् क्षेत्रम् अवधिना जानन्ति–पश्यन्ति–? गौतम ! सभिन्नां लोकनाडीम् अवधिना जानन्ति–पश्यन्ति, इति ॥

इति श्री विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदश भाषाकलित
ललितकलापालापक प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक शाहुच्छत्र
पति कोल्हापुरराजप्रदत्त, जैनशास्त्राचार्य पदभूषित
जैनधर्मदिवाकर **पूज्य श्री घासीलाल-**
वृति विरचितस्य दीपिका निर्युक्ति
टीकाद्वयोपेतस्य **तत्त्वार्थ**
सूत्रस्य चतुर्थमध्ययनं
समाप्तम् ॥४॥

प्रश्न—भगवन् अनुत्तरौपपातिक देव कितने क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानते-देखते हैं ?
उत्तर—गौतम ! संभिन्न (कुछ कम) लोक को जानते-देखते हैं ॥२८॥

श्री जैनशास्त्राचार्य, जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री **घासीलालजी**
महाराज विरचित तत्वार्थ सूत्र की दीपिका–एवं
निर्युक्ति नामक व्याख्या का **चोथा**
अध्ययन समाप्त ॥४॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

मूलसूत्रम्—"असुभकम्मे पावे" ॥

छाया—"अशुभकर्म पापम्—" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—चतुर्थाऽध्याये क्रमप्राप्तं पुण्यस्वरूवं प्रतिपादितम् सम्प्रति—पञ्चमाऽध्याये क्रमप्राप्तमेव पापस्वरूपं प्रतिपादयितुमाह—"असुभकम्मे पावे–" इति । अशुभकर्म–अकुशलकर्म दुःखजनककर्म पापमित्युच्यते ।

तच्च—पापमष्टादशविधम्–प्रज्ञप्तम् । तद्यथा–प्राणातिपातः—१मृषावादः–२अदत्तादानम्–३ मैथुनम्–४ परिग्रहः–५ क्रोधः–६ मानः–७ माया–८ लोभः–९ रागः–१० द्वेषः–११ कलहः–१२ अभ्याख्यानम्–१३ पैशून्यम्–१४ परपरिवादः–१५ रत्यरती–१६ मायामृषा–१७ मिथ्यादर्शनशल्यञ्चे–१८–त्यष्टादशप्रकारकं पापं बोध्यम्—॥सू० १॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः- पूर्वं जीवाजीवादिनवतत्त्वेषु, अध्यायचतुष्टयेन क्रमशो जीवाजीव-बन्धपुण्यरूपाणि चत्वारि तत्त्वानि प्ररूपितानि, सम्प्रति–क्रमप्राप्तं पञ्चमं पापतत्त्वं प्ररूपयितुं पञ्चमाऽध्यायं प्रारभते, तस्येदं प्रथमं सूत्रमाह—"असुभकम्मे पावे–" इति ।

पंचम अध्याय

सूत्रार्थ—'असुभकम्मे पावे ।" सूत्र–१

अशुभ कर्म पाप कहलाता है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—चतुर्थ अध्याय में क्रमप्राप्त पुण्यतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया है । अब अनुक्रमागत पापतत्त्व का विवेचन इस पाँचवें अध्याय में किया जाएगा । सर्वप्रथम पापतत्त्व का लक्षण कहते है ।

अशुभ अर्थात् अकुशल या दुःखजनक कर्म को पाप कहते हैं । पाप के अठारह भेद हैं । वे इस प्रकार है–(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीव अजीव आदि नौ तत्त्वों में से पहले के चार अध्यायों में क्रम से जीव, अजीव, बन्ध और पुण्य तत्त्व का निरूपण किया गया । अब क्रम प्राप्त पाँचवें पाप तत्त्व का विवेचन करने के लिए पांचवां अध्याय प्रारंभ किया जाता है । उसका प्रथम सूत्र यह है–'असुभकम्मे पावे ।'

अशुभकर्म–अकुशलकर्म–पापम् अपुण्यं व्यपदिश्यते। तत्र–पं–पङ्किलम्, अर्थात्–मलिनं भावमापयति–प्रापयतीति पापम्। अथवा–पं–क्षेमम् आ–समन्तात् पिबति, नाशयतीति पापम्। यद्वा पानं पास्तमर्थात् प्राणिनामात्मानन्दरसपानम् आप्नोति–गृह्णातीति पापम्। अथवा–नरकादिकुगतिषु जीवान् पातयतीति पापम्। पृषोदरादित्वात्साधुः आत्मानं कर्मरजोभिः पांशयति मलिनयतीतिवा पापम् इति पापपदव्युत्पत्तिः। ज्ञानावरणीयादिकर्म पापमुच्यते।

तच्चा–ऽष्टादशविधं बोध्यम्। प्राणातिपात–१ मृषावाद–२ स्तेय–३ मैथुन–४ परिग्रह–५ क्रोध–६ मान–७ माया–८ लोभ–९ राग–१० द्वेष–११ कलहा–१२ ऽभ्याख्यान–१३ पैशुन्य–१४ परपरिवाद–१५ रत्यरति–१६ माया मृषा–१७ मिथ्यादर्शनशल्य–१८ भेदात्।

तत्र–प्राणातिपातः प्राणव्यपरोपणम्, जीवहिंसेत्यर्थः–१, मृषावादोऽसत्यभाषणम्–२, स्तेयम्–अदत्तादानम्–३, मैथुनं–स्त्रीसङ्गमः, अब्रह्मचर्य मित्यर्थः–४ परिग्रहो मूर्च्छा–ममत्व मभिष्वङ्गः–५ क्रोधः–स्वान्तसंज्वलनलक्षणः कषायविशेषः–६ मानोऽहङ्कारः, गर्व इतियावत–७

अशुभ अर्थात् अकुशल कर्म पाप कहलाता है। पाप शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–पं–पंकिल अर्थात् मलिनता को आपयति–जो प्राप्त कराता है, वह पाप अथवा पं–क्षेम को, आ–सब ओर से, पूरी तरह से जो, पिबति–पी जाता है–नष्टकर देता है सो पाप। अथवा पानं–पा अर्थात् प्राणियों के आत्मानन्दरस के पान को जो आप्नोति–ग्रहण कर लेता है अर्थात् जिसके कारण जीव आत्मानन्द के रसपान से वंचित हो जाते हैं, उसे पाप कहते हैं। अथवा नरक आदि दुर्गतियो को जो प्राप्त करता है वह पाप कहलाता है। या आत्मा को कर्म–रज से जो पांशयति–मलीन करता है, वह पाप है।

पाप अठारह प्रकार का है। –(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) स्तेय (४) अब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशून्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामृषा (१८) मिथ्यादर्शनशल्य। इसका अर्थ इस प्रकार है,

१–प्रणातिपात–प्राणो का व्यपरोपण नाश करना

२–मृषावाद–असत्य भाषण करन

३–स्तेय–अदत्तादान–चोरी.

४–अब्रह्मचर्य–मैथुन–कुशील.

५–परिग्रह–ममत्व, आसक्ति.

६–क्रोध–मन में जलन होना.

माया—कापट्यम् , ८ लोभो गृद्धिः—९ रागः आसक्तिः—१० द्वेषोऽप्रीतिः—११ कलहः—परस्पर-वैमनस्यकारकशब्दविग्रहः—१२ अभ्याख्यानं—मिथ्याभियोगः, मिथ्या रोपः—१३ पैशुन्यं—परोक्षे-दोषसूचनम्—१४ परपरिवादः—परस्य निन्दा, प्रसिद्धा—१५ रत्यरती—प्रीत्यप्रीती—१६ मायामृषा—शाठ्याऽसत्यम्—१७ मिथ्यादर्शमशल्यम्—तत्त्वार्थाऽश्रद्धान—मायानिदानमिथ्यात्वम्—१८ इति बोध्यम् ॥सूत्र १॥

मूलसूत्रम्—"तब्भोगो बासीइभेएणं" ॥२॥

छाया—"तद्भोगो द्व्यशीति भेदेन" ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं सूत्रे पापकर्मस्वरूपं प्रतिपादितम् , सम्प्रति—तस्य पापकर्मणो भोगं द्व्यशीतिप्रकारतया प्रतिपादयितुमाह—"तब्भोगो बासीइभेएणं—" इति ।

तद्भोगः—तस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्याऽष्टादशप्रकारेण वद्धस्य पापकर्मणो भोगः दुःखरूपफलानु-भवः, द्व्यशीतिभेदेन—द्व्यऽधिकाशीति प्रकारतया सभवति, तस्य पापकर्मणः फलभोगसाधनानि द्व्यधिकाशीति प्रकाराणि सन्तीति भावः

७—मान—अहंकार—गर्व
८—माया—कपट
९—लोभ—गृद्धि
१०—राग—प्रेम
११—द्वेष—अप्रीति
१२—कलह—पारस्परिक वैमनस्य जनक वाचिक युद्ध
१३—अभ्याख्यान—किसी पर झूठा आरोप लगाना
१४—पैशून्य—दूसरे की चुगली खाना
१५—परपरिवाद—दूसरे की निन्दा करना
१६—रत्यरति—ससार—विपयो में राग,, धर्म में अप्रीति,
१७—मायामृषा—कपट पूर्वक मिथ्या भापण करना
१८—मिथ्यादर्शनशल्य—कुदेव कुगुरु कुधर्म पर श्रद्धा होना ये शल्य हैं ॥सू. १॥

सूत्रार्थ—'तब्भोगो बासीइभेएणं'—२

पाप का फल बयासी प्रकार से भोगा जाता है ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में पापकर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया । अब उसके उपभोग के बयासी प्रकारों का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

पूर्वोक्त स्वरूप वाले, अठारह प्रकार से बांधे हुए पाप कर्म का भोग अर्थात् दुःख रूप फल का अनुभव बयासी प्रकार से होता है । अर्थात् पाप के फलभोग साधन बयासी

तद्यथा–पञ्च ज्ञानावरणानि–५ नव दर्शनावरणानि–९ एकम्–असातावेद्यम्–१ षड्विंशतिविधं मोहनीयम्–२६ सम्यक्त्वं–सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिद्वयरहितं बोध्यम्, तयोर्बन्धकत्वाभावात्. मिथ्यात्वमेकैकं बद्धं मोहनीयपापकर्मतया परिणमते। एकं नरकायुष्यम्–१ एकं नीचैर्गोत्रम्-१ पञ्चविधमन्तरायम्–५ एका नरकगतिः–१ एका च नरकगत्यानुपूर्वी–१ चतस्रो-जातयः–४ दशसहननसंस्थानानि–१० चतुष्कम्–अप्रशस्त वर्ण–गन्ध–रस–स्पर्शरूपम्–४ एकमुपघातनाम–१ एकादशं तावद्–अप्रशस्त विहायोगतिस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तकसाधारणनामाऽस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्ति नामानि चेति—

अशीति भेदानि, पूर्वोक्त सम्यक्त्व–सम्यग् मिथ्यात्वरूपमोहनीयद्वयभेदसंमेलनेन ब्यधिकाऽशीति प्रकाराणि पापकर्मफलभोगसाधनानि भवन्तीतिभावः ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं पापकर्मणः स्वरूपं प्रतिपादितम्, सम्प्रति–तस्य खलु पापकर्मणो दुःखफलभोगसाधनानि ब्यधिकाऽशीति प्रकारेतया प्ररूपयितुमाह—

"तब्भोगो वासीइभेएणं–" इति। तद्भोगः–तस्य खलु पापकर्मणः फलभोगो ब्यधिकाशीतिप्रकारतया प्रज्ञप्त इति। तथाहि पञ्च ज्ञानावरणानि–५ नव दर्शनावरणानि–८ असातावेदनीयं–मिथ्यात्वम् १ षोडशकषाया–१६ नव नोकषाया–९नरकायुष्यम्–१ नरकतिर्यग्गती २ एक द्वि–त्रि चतुरिन्द्रिय जातयः प्रथमवर्जितानि–५ पञ्च संस्थानानि–५ पञ्चैव संहननानि

प्रकार के है। वे इस प्रकार है–

ज्ञानावरण (५), दर्शनावरण (९), असातावेदनीय (१), मोहनीय (२६—मोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को छोड़करके क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। एक मात्र मिथ्यात्व का बन्ध होता है, वही उदय के समय तीन रूप में परिणत हो जाता है), नरकायु (१), नीचगोत्र (१), अन्तराय (५), नरकगति (१), नरकगत्यानुपूर्वी (१), एकेन्द्रियजाति आदि जातियाँ (४), दस संहनन और संस्थान (१०) अप्रशस्त वर्ण. गंध, रस, स्पर्श (४) उपघात (१) अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशः कीर्ति नाम कर्म ये ग्यारह मिलकर अस्सी भेद हुए इनमें सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय भेदों को मिला देने से पाप कर्म के फलोपभोग के बयासी प्रकार होते हैं ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पाप कर्म का स्वरूप बतलाया गया है अब पापकर्म के दुःख रूप फल को भोगने के बयासी (८२) प्रकार कहते हैं—

पापकर्म का फलभोग बयासी प्रकार से होता है। वे बयासी प्रकार ये है–पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असाता वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौनोकषाय, नरकायु नरकगति, तिर्यंचगति एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, समचतुरस्र संस्थान

–५ अप्रशस्त वर्ण–गन्ध रस–स्पर्शाः–४ नारकगति २ तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यौ–२ उपघातनामा –१ प्रशस्त विहायोगतिनाम–१ स्थावर–१ सूक्ष्मा–१ ऽपर्याप्तक–१ साधारण शरीरा–१ ऽस्थिरा–१ ऽशुभ–१ दुर्भग–१ दुःस्वरा–१ ऽनादेया–१ऽ यशःकीर्तयः–१ नीचैर्गोत्रम्–१ पञ्चविधमन्तरायम्–५ इति–च ।

तत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानावरणीयम्, श्रुतज्ञानावरणीयम्, अवधिज्ञानावरणीयम्, मनःपर्यव-ज्ञानावरणीयम्, केवलज्ञानावरणीयम्, इत्येवं ज्ञानावरणानि पञ्च-५ तथाचोक्तं स्थानाङ्गे ५–स्थाने ३–उद्देशके—"**पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणावर-णिज्जे, सुयणाणावरणिज्जे ओहिणाणावरणिज्जे, मणपज्जवणाणावरणिज्जे, केवलणा-णावरणिज्जे–**" इति । पञ्चविधं ज्ञानावरणीयं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयम्, श्रुतज्ञानावरणीयम्, अवधिज्ञानावरणीयम्, मनःपर्यवज्ञानावरणीयम्, केवलज्ञानावरणीयम्, इति । एवं चक्षुर्दर्शनावरणम्–अचक्षुर्दर्शनावरणम्, अवधिदर्शनावरणम्, केवलदर्शनावरणम्, निद्रा–निद्रानिद्रा प्रचला–प्रचलाप्रचला–स्त्यानर्द्धिः इत्येवं दर्शनावरणानि नव। उक्तञ्च स्थानाङ्गे ९–स्थाने

'**णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—निद्दा–निद्दानिद्दा–पयला–पयला पयला–थीणद्धी, चक्खुदंसणावरणे–अचक्खु दंसणावरणे–अवधि [ओहि–] दंसणा-वरणे–केवलदंसणावरणे—**" इति ।

नवविधं दर्शनावरणीयं कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–निद्रा–निद्रानिद्रा प्रचला–प्रचला प्रचला–

के सिवाय पाँच संस्थान, वज्रऋषभनाराच सहनन के सिवाय पाँच सहनन अप्रशस्त वर्णरस गंध और स्पर्श, नरकागत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उपघात, प्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति नीच–गोत्र और पांच प्रकारका अन्तराय ।

पाच प्रकार के ज्ञानावरणीय ये हैं–(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञाना-वरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मनःपर्यवज्ञानावरणीय और (५) केवलज्ञानावरणीय ।

स्थानांगसूत्र के पांचवें स्थान के तृतीय उद्देशक में कहा है–पांच प्रकार का ज्ञानावरणीय कर्म कहा गया है—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय, मनः पर्यव ज्ञानावरणीय, अयशः कीति नीचगोत्र और पांच प्रकार का अन्तराय और केवलज्ञानावरणीय ।'

दर्शनावरणीय के नौ प्रकार हे–चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा--निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्धि ।

स्थानागसूत्र के नौवे स्थान में कहा है–दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला (५)

स्त्यानर्द्धिः, चक्षुर्दर्शनावरणम्—अचक्षुर्दर्शनावरणम्—अवधिदर्शनावरणम्—केवलदर्शनावरणम्—इति । असातावेदनीयञ्चैकविधमेव भवति ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २३–पदे २–उद्देशे—"**असायावेयणिज्जे य–**" इति, असातावेदनीयञ्चेति । सातावेदनीयन्तु—पुण्यकर्मरूपमवसेयम् । मिथ्यात्वञ्च—मिथ्यात्ववेदनीयरूपमेकविधमेव । यद्यपि–प्रज्ञापनायां २३–कर्मवन्धपदे २–उद्देशके–"**मोहणिज्जेणं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—दंसणमोहणिज्जे य–चरित्तमोहणिज्जे य। दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तं जहा–सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे–**" इति । मोहनीयं भदन्त–! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम्–? गौतम ! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—दर्शनमोहनीयञ्च चारित्रमोहनीयञ्च । दर्शनमोहनीयं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ! त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—सम्यक्त्ववेदनीयम्—मिथ्यात्ववेदनीयम्—सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयञ्चेतिरीत्या त्रिविधमुक्तम् तथा सम्यक्त्ववेदनीय–सम्यग् मिथ्यात्ववेदनीयकर्मणोः पुण्यत्वपरिणतिसम्भवात् पापकर्मपरिणतत्वाभावेन पापकर्मणि केवलं मिथ्यात्वकर्मणः परिगणनं बोध्यम् ।

षोडशकषायास्तु—अनन्तानुवन्धी क्रोधः, अनन्तानुबन्धीमानः, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुवन्धीलोभः, अप्रत्याख्यानक्रोधः, अप्रत्याख्यानमानः, अप्रत्याख्यानमाया, अप्रत्याख्या-

---

स्त्यानर्द्धि (६) चक्षुर्दर्शनावरण (७) अचक्षुर्दर्शनावरण (८) अवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरण ।'

प्रज्ञापना सूत्र के तेईसवें पद के द्वितीय उद्देशक में कहा है–'आसतावेदनीय' सातावेदनीय कर्म पुण्यप्रकृति में परिगणित किया जा चुका है । मिथ्यात्ववेदनीय रूप मिथ्यात्व एक ही प्रकार का है । प्रज्ञापना में २३ वें कर्मबंधपद के दूसरे उद्देशक में कहा है–

प्रश्न—भगवन् ! मोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा है–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ।

प्रश्न—भगवन् ! दर्शनमोहनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! तीन प्रकार का है–सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय और सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीय ।

यहाँ यद्यपि दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का कहा गया है तथापि सम्यक्त्ववेदनीय और सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीय प्रकृतियाँ पुण्यरूप परिणत होती है, पापकर्म रूप नहीं; अतएव पापकर्म में केवल मिथ्यात्व कर्म की ही गणना की गई है ।

सोलह कषाय इस प्रकार है–अनन्तानुवंधी क्रोध, अनन्तानुवंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, अनन्तानुवंधी लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, अप्रत्याख्यान मान, अप्रत्याख्यान माया अप्रत्याख्यान लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावरण माया,

नलोभः, प्रत्याख्यानावरणक्रोधः, प्रत्याख्यानावरणमानः, प्रत्याख्यानावरणमाया, प्रत्याख्याना-वरणलोभः, संज्वलनक्रोधः, सज्वलनमानः, संज्वलनमाया, संज्वलनलोभश्चेत्येवं रूपाऽवगन्तव्याः।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १३—कर्मबन्धपदे २—उद्देशके—"**कसायवेयणिज्जे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलसविहे पण्णत्ते, तं जहा—अणंताणुवंधीकोहे, अणंता-णुवंधीमाणे, अणंताणुवंधीमाया, अणंताणुवंधीलोभे, अपच्चक्खाणे कोहे, एवं—माणे—माया—लोभे, पच्चक्खाणावरणे कोहे, एवं—माणे माया लोभे, संजलणकोहे, एवं—माणे माया लोभे—**" इति।

कषायवेदनीयं खलु भदन्त ! कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! षोडशविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अनन्तानुबन्धीक्रोधः—अनन्तानुबन्धी मानः—अनन्तानुबन्धिनी माया, अनन्तानुबन्धी-लोभः। अप्रत्याख्यानः क्रोधः, एवं—मानो मायालोभः। प्रत्याख्यानावरणः क्रोधः, एवं—मानो माया लोभः। संज्वलनक्रोधः, एवं—मानो माया लोभ.। इति।

नव नोकषायास्तु—स्त्रीवेदनीयम्, पुरुषवेदनीयम्, नपुंसकवेदनीयम्, हासो—रति—रति—र्भयं—शोको—जुगुप्साचेत्येवं रूपा अवसेयाः।

तथाचोक्तं तत्रैव प्रज्ञापनायां २३ कर्मबन्धपदे द्वितीयोद्देशके—"**चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—कसायवेय-णिज्जे, नोकसायवेयणिज्जे,। नोकसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविहे पण्णत्ते, तं जहा—इत्थीवेयवेयणिज्जे, पुरिसवेयवेयणिज्जे, नपुंसग-वेयवेयणिज्जे, हासे रती—अरती—भए—सोगे—दुगुंछा—**" इति।

चरित्रमोहनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—कषायवेदनीयं—नोकषायवेदनीयम्,। नोकषायवेदनीयं खलु भदन्त ! कर्म कति-विधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नवविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—स्त्रीवेदवेदनीयम्—पुरुषवेदवेदनीयम्—नपुंसकवे-दवेदनीयम्, हासो—रति—ररति—र्भयं—शोको—जुगुप्सा चेति, नरकायुष्य तावदेकविधमेव बोध्यम्।

प्रत्याख्यानावरण लोभ; संज्वलनक्रोध, सज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ। यह वर्णन—प्रज्ञापनासूत्र के २३ वे कर्मबन्ध पद में, दूसरे उद्देशक में इसी प्रकार कहा है।

नोकषाय नौ इस प्रकार है—(१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसकवेद (४) हास्य (५) रति (६) अरति (७) भय (८) शोक (९) जुगुप्सा।

प्रज्ञापनासूत्र के २३ वें कर्मबंध नामक पद के दूसरे उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवान् ! चारित्रमोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय।

प्रश्न—भगवन् ! नोकषायवेदनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २३–पदे २ उद्देशके—"आउएणं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—णेरइयाउए, तिरियआउए, मणुस्साउए, देवाउए—" इति ।

नरकगति—स्तिर्यग्गतिश्चेति द्विविधा गतिः पापकर्मण्यन्तर्भवति । एकेन्द्रियपृथिवीकायिकादिजातिः, द्वीन्द्रिय शङ्ख शुक्तिकादिजातिः, त्रीन्द्रिय पिपीलिकामत्कुणादि जातिः, चतुरिन्द्रियमक्षिकादिजातिश्च पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । पञ्चेन्द्रियजातेः पुण्यकर्मान्तर्भावात् ।

वज्रर्षभनाराचसंहननभिन्नानि पञ्चसहननानि—अर्धवज्रर्षभनाराच–नाराचा–ऽर्धनाराच–कीलिकासृपाटिकारूपाणि पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । एवं—समचतुरस्रसंस्थानवर्जितानि पञ्चसंस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन, हुण्ड रूपाणि पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । अप्रशस्त–रूप–रस–गन्ध–स्पर्शा अपि पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । एवं—नारकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वीचापि पापकर्मण्यन्तर्भवतः ।

उत्तर—गौतम ! नौ प्रकार का है–जो ऊपर बता चुके है ।

आयुकर्म की प्रकृतियो में एक नरकायु ही पाप में परिगणित है ।

यद्यपि प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवें पद के दूसरे उद्देशक में ऐसा कहा है–

प्रश्न—भगवन् ! आयुष्ककर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का है, यथा–नैरयिकायु, तिर्यक्आयु, मनुष्यायु और देवायु ।

यहाँ आयुकर्म के चार भेद बतलाए गए है, तथापि अन्त के तीन आयु जीवों को प्रिय होने के कारण पुण्यकर्म मे गिने गए है । अतएव शेष रहे एक नरकायु की ही पापकर्म में गणना की गई है ।

नरकगति और तिर्यंचगति, ये दोनो पापकर्म के अन्तर्गत है ।

पृथ्वीकयिका आदि की एकेन्द्रिय जाति, शंख सीप आदि की द्वीन्द्रिय जाति, चिउंटी मत्कुण आदि की त्रीन्द्रिय जाति, मक्षिका आदि की चौइन्द्रिय जाति, यह चार जातियाँ पापकर्म में सम्मिलित है । पचेन्द्रिय जाति का पुण्यकर्म में समावेश है ।

वज्रऋषभनाराचसहनन को छोड़ कर शेष पाँच सहनन कीलिका संहनन और सेवार्त्त संहनन पापकर्म के अन्तर्गत है ।

इसी प्रकार समचतुरस्रसस्थान को छोड कर शेष पाँच संस्थान पापकर्म में अन्तर्गत हैं । वे इस प्रकार है–न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्डक ।

अप्रशस्त रूप, रस, गंध और स्पर्श भी पापकर्म में गिने जाते है । इसी प्रकार नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी भी पापकर्म में सम्मिलित है ।

अन्तर्गतौ वर्तमानस्य क्षेत्रसन्निवेशक्रमरूपा-ऽऽनुपूर्वी विज्ञेया । अन्तर्गतिश्च-द्विविधा, ऋज्वी-वक्राच, तदुभयत्रापि-आनुपूर्वी नामकर्म । एवम्---उपघातनामापि पापकर्मभवति, शरीराङ्गो पाङ्गोपघातजनकत्वात् । एवम्-अप्रशस्तविहायोगतिनामापि पापकर्म भवति । एवं-स्थावरना-मापि पापकर्मवर्तते, तस्या-ऽवश्य लक्षणसूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकत्वात् ।

एवम्-अपर्याप्तकनामापि पापकर्मभवति, अपर्याप्ति निर्वर्तकत्वात् । तथाच-यस्य कर्मण उदये सति पर्याप्तयः परिपूर्णतां नासादयन्ति, अपर्याप्तएव म्रियते, कदाचिद्वा तद्विनापि भवति । यथा-संमूर्च्छनज मनुष्यादिः तत्कर्माऽपर्याप्तिनामपदेनो-च्यते ।

एवं-साधारणशरीरनामापि पापकर्म भवति, अनेकजीव साधारणशरीरनिर्वर्तकत्वात् । अनन्तानां जीवानामेकं शरीरं साधारणं किसलय-निगोद-वज्रकन्दप्रभृति । तत्र-यथैकस्य परिभोगो भवति, तथा-ऽनेकस्यापि जीवस्येति, तद्भिन्नं सद् यस्य कर्मण उदयान्निवर्तते तत् साधारणशरीर-नाम व्यपदिश्यते ।

एवम्---अस्थिरत्वनामापि पापकर्म भवति शरीरावयवानां कर्ण-त्वगादीनामस्थिरतारूप चलता निवर्तकत्वात् । एतदुदयाद् शरीरावयवानां स्थिरता न भवतीतिभावः ।

एवम्---अशुभनामापि पापकर्मभवति पादादि शरीरावयवानां निर्वर्तकत्वात् । अत एव-

---

विग्रह---अन्तराल गति में वर्त्तमान जीव के क्षेत्रसन्निवेशक्रम को आनुपूर्वी कहते हैं । अन्तरालगति दो प्रकार की है-ऋज्वी (सीधी-जिसमें मुड़ना न पड़े) और वक्रा (मोड वाली) । दोनो में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है ।

उपघात नामकर्म भी पापप्रकृति है, क्योकि वह अपने ही शरीर के अंगोपांगों के उपघात का कारण है । अप्रशस्तविहायोगति भी पापकर्म है और स्थावर नामकर्म भी पाप में ही परिगणित है, क्योकि उसके उदय से अवश्य सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है ।

अपर्याप्त नाम कर्म भी पापकर्म है, क्योंकि उसके उदय से पर्याप्तियों की पूर्ण रूप से प्राप्ति नहीं होती । जिस कर्म के उदय से यथायोग्य पर्याप्तियाँ पूरी नहीं हो पाती और अप-र्याप्त अवस्था मे ही मृत्यु हो जाती है, वह अपर्याप्त नामकर्म कहलाता है ।

साधारण शरीर नामकर्म भी पापकर्म है, क्योकि उसके फलस्वरूप ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है जो अनन्त जीवो के लिए साधारण (एक ही शरीर) होता है । किसलय (कौपल), निगोद और वज्रकंद आदि के ऐसे ही साधारण शरीर होते है । वहाँ जैसा परि-भोग एक जीव का होता है, वैसा ही अनेक जीवों का होता है ।

अस्थिर नामकर्म भी पापकर्म ही है; क्योंकि उसके उदय मे शरीर के अस्थिर अव यव उत्पन्न होते हैं । जिसको इस कर्म का उदय होता है, उसके शरीर के अवयवों मे स्थिरता नहीं होती ।

लौकिके व्यवहारे पादादिना स्पृष्टोऽनेनाऽपमानितोऽहमिति तस्मै क्रुध्यति । शिरःप्रभृति-शरीरावयवजनकं तु–शुभनाम पुण्यकर्म भवति, अतः शिरसा स्पृष्टचरणाः पूजा–सद्‌भावं मन्यन्ते प्रीयन्ते च । एवमेव–दुर्भगनामापि पाप कर्म भवति, तस्य–दौर्भाग्यनिर्वर्त्तकत्वात्–मनसोऽप्रियता-जनकत्वाच्च । एवम् -दुःस्वरनामापि पापकर्मवर्तते, तस्य–कर्णकटुताकारणनिर्वर्तकत्वात् श्रुतोदुः-स्वरोगर्दभस्येव श्रोतृणां मनो दुःखाकरोति । एवम्–अनादेयनामापि पापकर्म भवति, तस्या–ऽनुपा-देयताजनकत्वात् यदुदयाद् युक्तियुक्तमपि तदीयं वचो लोकानप्रमाणयन्ति–नवा–ऽऽगतवति तस्मिन् अर्हणार्हस्याऽपि तस्या–ऽभ्युत्थानादि कुर्वन्ति तदनादेयनामकर्मोच्यते ।

"एवमेवा–ऽयशःकीर्तिनामापि–पापकर्म–उच्यते, तस्य दोषप्रवादप्रख्यायकत्वात् । एवम् नीचैः गोत्रमपि पापकर्म प्रोच्यते, तस्य चण्डाल–मुष्टिक–व्याधमत्स्यबन्ध–दास्यादि निर्वर्तकत्वात् ।

तथाचोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे ८–शतके ९–उद्देशके–**"जातिमएणं–कुलमएणं –बलमएणं, जाव–इस्सरियमएणं णीयागोयकम्मा सरीर जाव पयोगबंधे–"** इति । जातिमदेन–बल यावत्–ऐश्वर्यमदेन नीचैः गोत्र कर्म शरीर यावत् प्रयोगबन्धः इति, यावत्–पदेन रूपमदेन–तपोमदेन श्रुतमदेन–लाभमदेन, इतिसंग्राह्यम् ।

अशुभ नामकर्म भी पापप्रकृति है; क्योंकि इसके उदय से शरीर के चरण आदि अव-यव अशोभन होते हैं । जिस कर्म के उदय से शरीर के सिर आदि अवयव शोभन बने, वह शुभकर्म पुण्य में परिगणित है । इसी प्रकार दुर्भाग्य का जनक दुर्भग नामकर्म भी पाप-कर्म है । वह मन की अप्रियता का जनक है ।

दुःस्वर नामकर्म भी पापकर्म है, क्योकि उसके उदय से जीव का स्वर कर्णकटु होता है, जैसे गधे का स्वर सुनने वालों को अप्रिय प्रतीत होता है ।

अनादेय नामकर्म भी पापप्रकृति रूप है । इसके उदय से मनुष्य के वचन ग्राह्य–मान्य नहीं होते । युक्ति युक्त बात कहने पर भी लोग उसकी बात नहीं मानते और न उसके आने पर सन्मान–सत्कार करते हैं ।

अयशःकीर्त्ति नामकर्म भी पापकर्म कहलाता है, क्योकि इसके उदय से सत्कृत्य करने पर भी जगत् में अपयश और अपकीर्त्ति फैलती है ।

नीचगोत्र कर्म भी पापरूप है, क्योकि इसके उदय से चाण्डाल, व्याध, मच्छीमार, दासी आदि के रूप में जन्म लेना पड़ता है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति–भगवती सूत्र के आठवे शतक के नौवे उद्देशक में कहा है–'जाति का मद करने से कुल का मद करने से बल का मद करने से रूप मद, लाभ मद, तप मद, सूत्र मद ऐश्वर्यमद करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है ।

एवं–पञ्चविधमन्तरायकर्माऽपि पापमुच्यते, दानान्तराय–लाभान्तराय–भोगान्तरायो–पभोगान्तराय–वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमन्तरायकर्म प्रज्ञप्तम् ।

तथाचोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे–८–शतके ९–उद्देशके–"दाणंतराएणं–लाभंतराएणं–भोगंतराएणं–उवभोगंतराएणं–वीरियंतराएणं, अंतराइयकम्मा सरीरप्पओगबंधे––" इति ।

दानान्तरायेण–लाभान्तरायेण–भोगान्तरायेण–उपभोगान्तरायेण–वीर्यान्तरायेणाऽन्तरायकर्म शरीरप्रयोगबन्धः इति ॥सूत्र ॥२॥

मूलम् –णाणदंसणाणं पडिणीययाइहिं णाणदंसणावरणं ॥ सूत्र ३॥

छाया—ज्ञानदर्शनयोः प्रत्यनीकतादिभिर्ज्ञानदर्शनावरणम् ॥ सूत्र-३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे पापकर्मणो द्व्यधिकाशीतिप्रकारतया भोगः प्ररूपितः साम्प्रतं ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्बन्धकारणानि प्रतिपादयितुमाह्—"णाणदंसणाणं" इत्यादि ।

'णाणदंसणाणं' ज्ञानदर्शनयोः ज्ञानस्य दर्शनस्य च 'पडिणीययाइहिं' प्रत्यनीकतादिभिः अत्रादिशब्दात् निह्नवता, अन्तराय प्रद्वेषः अत्याशातना, विसवादनायोगः एषां संग्रहः, एतैः षड्भिः कारणैः 'णाणदंसणावरण', ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च कर्म बध्यते ॥३

इसी प्रकार पाँच अन्तराय कर्म भी पाप कर्म है । दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, यह पाँच प्रकार का अन्तराय कर्म है ।

भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र में आठवें शतक के नौवे उद्देशक में कहा है–दान में अन्तराय (विघ्न–बाधा) डालने से, लाभ में अन्तराय डालने से, भोग में अन्तराय डालने से, उपभोग में अन्तराय डालने से और वीर्य में अन्तराय डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है ॥२॥

सूत्रार्थ—'णाणदंसणाणं' इत्यादि ॥ सूत्र ३॥

ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बंध होता है ॥सूत्र–३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में पापकर्म बयासी प्रकार से भोगा जाता है यह बताया गया है, अब ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मबन्ध के कारण बताते हैं—'णाणदंसणाणं' इत्यादि ।

'णाणदंसणाणं'– ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि करने से पंचविध ज्ञानावरण और नवविध दर्शनावरण कर्म का बंध होता है । प्रत्यनीकता आदि शब्द से भगवती सूत्र के आठवे शतक के नौवे उद्देशे में कहे हुए पदों का यहाँ ग्रहण करना चाहिये, वे इस प्रकार हैं–ज्ञान और दर्शन प्रत्यनीकता १। निह्नवता २। अन्तराय ३। प्रद्वेष ४। अत्याशातना ५। और विसंवादनयोग ६। इन छह कारणों से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है ॥ सू० ३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ज्ञानावरणादि द्व्यशीतिप्रकारपापकर्मणां स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति-तेषां मध्ये पञ्च ज्ञानावरणं नव दर्शनावरणपापकर्मबन्धनहेतून् प्ररूपयितुमाह—

'णाणदंसणाणं पडिणीययाइहिं णाणदंसणावरणं' इति । ज्ञानदर्शनयोः प्रत्यनीकतादिभि ज्ञानदर्शनावरणम् इति । ज्ञानस्य—मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानरूपस्य पञ्चविधस्य दर्शनस्य च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलरूपस्य चतुर्विधस्य ये प्रत्यनीकतादय उपघाताः तैः खलु-उपघातै ज्ञानावरणं-दर्शनावरणरूप पापकर्मणी बध्येते ।

तत्र—ज्ञानविषया. प्रत्यनीकतादयो ज्ञानावरणस्य पापकर्मणो बन्धनहेतवो भवन्ति, दर्शनविषया प्रत्यनीकतादयश्च दर्शनावरणस्य पापकर्मणो बन्धहेतवो भवन्ति । इति द्रष्टव्या —अत्रादिशब्देन निह्नवता, अन्तराय; प्रद्वेषः अत्याशातना विसंवादनायोगः, एषां पञ्चानां पदानां संग्रह कर्त्तव्यः, तेन ज्ञानस्य दर्शनस्य च प्रत्यनीकतादिभिः षड्भिर्हेतुभि ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च कर्म बध्यते इति बोध्यम्, तथाहि—ज्ञानप्रत्यनीकतया १, ज्ञाननिह्नवतया २, ज्ञानान्तरायेण ३, ज्ञानप्रद्वेषेण ४, ज्ञानात्याशातनया ५, ज्ञानविसंवादनायोगेन ६, इत्येवं संयोज्यम् ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरण आदि बयासी प्रकार के पापों का स्वरूप कहा गया है अब उनमें से प्रथम पाँच प्रकार के ज्ञानावरण और नौ प्रकार के दर्शनावरण पापकर्म के बन्ध के कारण बताते हैं—**'णाणदंसणाणं'** इत्यादि । ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म बंधता है । ज्ञान—मति श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का होता है । दर्शन—चक्षु, अचक्षु अवधि और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का होता है । इस प्रकार पाँच प्रकार के ज्ञानके और चार प्रकार के दर्शन के प्रत्यनीकता आदि छह उपघातक होते हैं । इनके आचरण से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है ।

ज्ञान के पाँच भेद होने से ज्ञानावरण भी पाँच प्रकार का होता है, दर्शनावरण नौ प्रकार का होता है—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण, और केवलदर्शनावरण, एवं—निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि ऐसे नौ प्रकार का है ।

यहां ज्ञान विषयक प्रत्यनीकता आदि ज्ञानावरण पापकर्म के बंध के कारण और दर्शन विषयक प्रत्यनीकता आदि दर्शनावरण कर्म के बन्ध के कारण होते है ऐसा समझना चाहिये । यहां आदि शब्द से—निह्नवता अन्तराय, प्रद्वेष, अत्याशातना और विसवादनायोग, इन पांच पदों को ग्रहण करना चाहिये ।

अर्थात् ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि छह कारणों से ज्ञानावरण और दर्शनावरण का बन्ध होता है, ऐसा कहना चाहिये जैसे—ज्ञान प्रत्यनीकता १ ज्ञान निह्नवता २, ज्ञानान्तराय ३, ज्ञानप्रद्वेप ४, ज्ञान की अत्याशातना ५ और ज्ञानका विसंवादनयोग ६ ऐसे

एवं दर्शनविषया: प्रत्यनीकतादयोऽपि दर्शनेन सह संयोजनीयाः। तत्र ज्ञानावरणं कर्म प्रत्यनीकतादिभि षड्भि' कारणै बंध्यते तच्च ज्ञानस्यावरणरूपं पञ्चभिः प्रकारै स्तस्य भोगो भवति। दर्शनावरणं च, दर्शनविषयैः पूर्वोक्तैरेव षड्भिः कारणैर्बध्यते चक्षुर्दर्शना-वरणादिभि श्चतुर्भिः, निद्रादिभि. पञ्चभिश्च, एवं नवभिः प्रकारैस्तस्य भोगो भवतीतिभावः।

तत्र प्रथमं ज्ञानावरणकर्मबन्धस्य षट् कारणानि व्याख्यायन्ते, तथा हि—ज्ञानप्रत्यनीक-तया अत्र ज्ञानस्य ज्ञानं पञ्चविधं—मतिश्रुतावधिमनः पर्यवकेवलभेदात् तत स्तस्य ज्ञानस्य पञ्चविधस्य धर्मधर्मिणोरभेदेन—तद भेदात् पञ्चविधज्ञानवतां वा प्रत्यनीकता सामान्येन प्रति-कूलता, सा, तथा, तया, ज्ञानस्य ज्ञानिनो वा प्रतिकूलतयेत्यर्थः १, ज्ञाननिह्नवतया ज्ञानस्य श्रुतादेः श्रुतगुरूणां वा या निह्नवता अपलपनं सा तथा तया, तेन ज्ञानस्य ज्ञानदातुगुरोर्वा अपलापेनेत्यर्थ' २, ज्ञानान्तरायेण ज्ञानस्य श्रुतस्य अन्तारायः तद् ग्रहणादौ यो विघ्नः स तथा, तेन ज्ञानग्रहणप्रतिबन्धक प्रत्यवायेनेत्यर्थः ३, ज्ञानप्रद्वेषेण, ज्ञाने श्रुतादौ श्रुतादि ज्ञानवस्तुषु गुरुषु वा स. प्रद्वेषः अप्रीतिः स तथा तेनेत्यर्थः ४, ज्ञानात्याशातनया ज्ञानस्य श्रुतादेः श्रुतादि ज्ञानिनां वा या अत्याशातना अवहेलना सा तथा तया ५, ज्ञान विसंवादनयोगेन ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा यो विसंवा-दनयोगः निष्फलता प्रदर्शनव्यापारः स तथा तेन ६, एभिः षड्भिः कारणै ज्ञानावरणकर्म बध्यते।

एवं—दर्शनस्य दर्शनवतां दर्शनसाधनानाञ्च तथाविधा' षट् प्रत्यनीकतादयो नवविध

जोडलेना चाहिये। इसी प्रकार दर्शनविषयक प्रत्यनीकता आदि को भी दर्शन के साथ जोड़ लेना चाहिये। यहां प्रथम ज्ञानावरण कर्मबन्धके छह कारणो की व्याख्या की जाती है, ज्ञान प्रत्यनीकता—मति ज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान, इस पांच प्रकार के ज्ञान के विषय में अथवा धर्म धर्मी के अभेद से अर्थात् धर्म से धर्मी का ग्रहण करने से मति श्रुतानि पांच ज्ञान वालो की प्रत्यनीकता—अर्थात् श्रुतज्ञानादिक विरुद्ध आचरण करने से या श्रुतज्ञानादिवालो में विरुद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति रखने से तथा ज्ञान के निन्हव करने से कोई किसी से पूछे या श्रुतज्ञानादिका साधन मांगे, तव ज्ञान या ज्ञान के साधन अपने पास होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मै नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु ही नहीं है यह ज्ञान निह्नव है—इस प्रकार के ज्ञान निह्नव से, अथवा श्रुतप्रदाता गुरुजनो के निह्नव से—अपलाप से, तथा ज्ञानांतराय से कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति मे किसी को बाधा पहुँचाने से तथा ज्ञानप्रद्वेष से. श्रुतादिक में अथवा श्रुतादिज्ञान वाले गुरुजनों मे अप्रीति रखने से, तथा ज्ञानात्याशातना से—श्रुतादिज्ञान की या श्रुतादिज्ञानवालेजनों की अवहेलना करने से तथा (णाणविसंवायणाजोगेणं) ज्ञान और ज्ञानिजनों को निष्फल बतलाने की चेष्टा करते रहने से, इन छहकारणो से ज्ञानावरणकर्म का बंध होता है।

इसी प्रकार दर्शन के दर्शनवालों के तथा दर्शन के साधनों की भी प्रत्यनीकता आदि

दर्शनावरणकर्मबन्ध हेतवो भवन्ति–इति फलितम् ॥ यतोह्येतैः कारणभूतैरध्यवसायविशेषैः प्रत्यनीकतादिभिरात्मनः परिणामविशेषैर्नवविधदर्शनावरणाख्यं कर्म बध्यते,

एवं–पूर्वोक्तस्वरूपैः प्रत्यनीकतादिभिरध्यवसायविशेषैरात्मनः परिणामविशेषैः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलरूपस्य चतुर्विधदर्शनस्य सामान्य मात्रोपयोगरूपस्य चेतनादि विशेषस्य चक्षुर्दर्शनावरणादि नवविधमावरणं दर्शनावरणाख्यं कर्मबन्धहेतवो भवन्तीति भावः। तत्र–चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणकेवलदर्शनावरण निद्रा, निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला प्रचला, स्त्यानर्द्धयश्च पूर्वोक्तस्वरूपा एतेऽपि पञ्च, चक्षुर्दर्शनादि विघातकारित्वात् दर्शनावरणपदेनोच्यन्ते। एवं दर्शनावरणं कर्म नवविधं कथ्यते।

तथाचोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवति सूत्रे ८, शतके ९–उद्देशके **"णाणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पओगबंधेणं भंते! कस्स कम्मस्स उदएणं? गोयमा! नाणपडिणीययाए णाणनिण्हवणयाए णाणंतराएणं, णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणाए णाणविसंवादणाजोगेणं दरिसणावरणिज्जकम्मा सरिरप्पओगबंधेणं भंते .. . गोयमा! दंसणपडिणीययाए एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसण नाम घेत्तव्वं"** इति।

छाया—ज्ञानावरणीयकर्म शरीरप्रयोगबन्धः खलु भदन्त? कस्य कर्मण उदयेन–गौतम! ज्ञानप्रत्यनीकतया, ज्ञाननिह्नवतया, ज्ञानान्तरायेण, ज्ञानप्रद्वेषेण, ज्ञानासातनया ज्ञानविसंवादना

छह, नौ प्रकार के दर्शनावरणकर्म बन्ध के कारण होते है यह जाना जाता है, क्योंकि कारण भूत अध्यवसाय विशेष अर्थात् आत्मा का परिणाम विशेष जो प्रत्यनीकता आदि है इन से नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है।

यहा चक्षुर्दर्शनावरण १, अचक्षुदर्शनावरण २, अवधिदर्शनावरण ३, केवलदर्शनावरण, ये चार आवरण, ताथा निद्रा १ निद्रानिद्रा २, प्रचला ३, प्रचलाप्रचला ४, और स्त्यानर्द्धि ५ ये पांच भी चक्षुर्दर्शन आदि चार प्रकार के दर्शन के विघातक होने से दर्शनावरण पद से कहे जाते है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म नौ प्रकार का कहाजाता है। यहां ज्ञानावरणकर्म ज्ञान संबंधी प्रत्यनीकता आदि छहकारणों से बांधा जाता है और उस उस ज्ञान के आवरणरूप पांच प्रकार से भोगा जाता है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म दर्शन संबंधी प्रत्यनीकता आदि छह कारणों से बांधा जाता है और चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार और निद्रा आदि पांच ऐसे नौ प्रकार से भोगा जाता है।

भगवती सूत्र के ८ वे शतक के ९ वे उद्देशक में कहा है–भगवन्! किस कर्म के उदय से ज्ञानावरणीयकर्म का बंध होता है? 'गौतम! ज्ञान प्रत्यनीकता (शत्रुता–विरोध) से, ज्ञान का अपलाप करने से, ज्ञान प्राप्ति में अन्तराय डालने से, ज्ञान संबंधी प्रद्वेष से, ज्ञान की आशातना करने से और ज्ञान सम्बन्धी विसंवादना से ज्ञानावरणीय कर्म का

योगेन, दर्शनावरणीय कर्म शरीरप्रयोगबन्धः खलु. . ... गौतम! दर्शनप्रत्यनीकतया, एवं ज्ञानावरणीयं नवरं दर्शन नाम ग्रहीतव्यम् इति । सूत्र–३॥

सूत्रम्—'असायावेयणिज्जं परदुक्खणयाइहिं' ॥सूत्र–४॥

छाया—अशातावेदनीयं परदुःखनतादिभिः ॥ सूत्र-४॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयकर्मणो र्बन्धकारणानि प्रदर्शितानि साम्प्रतं पापतत्त्वप्रसगाद् अशातावेदनीयकर्मबन्धस्य कारणानि प्ररूप्यन्ते–'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

"असायावेयणिज्जं" अशाता वेदनीयं 'परदुक्खणयाइहि' परदुःखनतादिभिः परदुःखनतादिभि र्द्वादशभिः कारणैरशातावेदनीयकर्म बध्यते, तेन जीवस्य शारीरमानसी अशाता समुद्भवति। आदि शब्देन परशोचनता २, परजूरणता ३, परतेपनता ४ परपिट्टनता ५, परपरितापनता ६, एवं बहूनां प्राणभूतजीवसत्त्वानां विषयेऽपि दुःखनतादीनां षण्णां समाचारणम् एभिः द्वादशभिः कारणैर्जीवस्याऽशातावेदनीय कर्म बध्यते । सूत्र–४॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे प्रत्यनीकतादीनि षट्ज्ञानावरणीयस्य दर्शनावरणीयस्य च कर्मणो

बन्ध होता है। जिन कारणो से ज्ञानावरणीय कर्म बन्धता है, उन्ही कारणो से दर्शनावरण कर्म का भी बंध होता है। भेद इतना ही है कि ज्ञान सम्बन्धी प्रत्यनीकता आदि से ज्ञानावरण और दर्शन सबंधी प्रत्यनीकता से दर्शनावरणकर्म का बन्ध होता है ॥सूत्र–३॥

सूत्रार्थ--'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ॥४॥

पर दु:खनता आदि से अशाता वेदनीयकर्म का बन्ध होता है ॥सू० ४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म बन्ध के कारण दिखलाये गये है, अब पाप तत्त्व के प्रसग से अशातावेदनीय कर्म बन्ध के कारण प्रदर्शित करते है —'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

अशातावेदनीय कर्म परदु:खनता आदि बारह कारणो से बन्धता है, उससे जीव के शारीरिक और मानसिक अशाता का उद्भव होता है। आदि शब्द से सगृहीत बारह कारण ये है--पर दुःखनता–दूसरे को दु ख पहुँचाना १, परशोचनता–दूसरे को शोक पहुँचाना २, परजूरणता–दूसरे को शरीर शोषण जनक शोक पहुँचाना ३, परतेपनता–दूसरे को अश्रुगिरने लगे ऐसा शोक पहुँचाना ४, परपिट्टनता–दूसरे को लाठी आदि से पीटना ५, पर परितापनता–दूसरे को शारीरिक मानसिक सन्ताप पहुँचाना ६, इसी प्रकार प्राण भूत जीव सत्त्वो के विषय मे भी पूर्वोक्त दु खनता आदि छहो का समाचरण करना १२ इन बारह प्रकार के कारणो से जीवके अशाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥सूत्र ४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः--पूर्वसूत्र मे ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म के प्रत्यनीकता आदि छह बन्ध के कारण प्रतिपादित किये गये हैं, अब पाप तत्त्व के प्रसग से अशातावेदनीय कर्म

बन्धकारणानि प्रतिपादितानि साम्प्रतं पापतत्त्वत्वेनाशातावेदनीयकर्मणो बन्धकारणानि विविच्यते असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

वेदनीयं कर्म वेद्यते अनुभूयते सुखं दुःखं वा यस्य कर्मण उदयेन तद् वेदनीयम् यद्वा वेदितुम् सुखदु खत्वेन अनुभवितुं योग्यं वेदनीयम् तत् शातावेदनीयम् अशातावेदनीयं चेति द्विविधं द्विप्रकारकं भवति, तत्र शातावेदनीयं चतुर्थे पुण्यतत्त्वाध्याये गतम्, अत्र पापतत्त्वप्रकरणाद् अशातावेदनीयं व्याख्यायते—यस्य कर्मण उदयेन जीवस्य अशातम् असुख दुःखमित्यर्थः उद्भवति तत्कर्म अशाता-वेदनीयमुच्यते तस्याऽशातावेदनीयस्य कर्मणो बन्धः पर दु.खनतादिभिर्द्वादशभिः कारणैर्भवति ।

तन जीवः शरीरमानसीमशातामनुभवति । तत्र तानि कारणानि प्रदर्श्यन्ते, तथाहि—परदुः-खनता—परेषां स्वातिरिक्तानां दु खन—दु.खोत्पादनम् , परशोचनता—परेषां शोचनं दैन्योत्पादनम् , परजूरणता-परेषां शरीरशोषणकारि शोकोत्पादनम्, परतेपनता—परेषाम् अश्रुपातादिजनक शोकोत्पा-दनम् परपिट्टनता—परेषां यष्ट्यादिना ताडनम् परपरितापनता—परेषां शारीरिकमानसिकपरितापो-त्पादनम् एव वहुनां प्राणभूतजीवसत्त्वानां—तत्र—प्राणाः—विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियादितश्चतुरिन्द्रिय

बन्ध के कारणो का विवरण किया जाता है—'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

जिस कर्म के उदय से सुख दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय कर्म कहलाता है, अथवा जो कर्म सुख दुःख के रूप से वेदन करने योग्य हो वह वेदनीय कहलाता है वह वेदनीय कर्म शातावेदनीय अशातावेदनीय के भेद से दो प्रकार का है, जिसमें शातावेदनीय पुण्य प्रकृति जन्य होने से चतुर्थ पुण्यतत्त्व में उसका विवेचन हो चुका है । यहां पाप तत्त्व का प्रकरण होने से अशातावेदनीय कर्म की व्याख्या की जाती है ।

जिस कर्म के उदय से जीव के अशाता अर्थात् दुःख उत्पन्न हो तो वह कर्म अशाता वेदनीय कहलाता है । उस अशाता वेदनीय कर्म का बन्ध परदुःखनता आदि बारह कारणो से होता है जिससे जीव शारीरिक मानसिक अशाता का अनुभव करता है । वे कारण इस प्रकार हैं—परदुःखनता—अपने अतिरिक्त दूसरे को हर प्रकार दुःख पहुँचाना १, परशोचनता—दूसरे को दीनता जनक शोक में डालना २, परजूरणता—दूसरे को जिससे शरीर का शोषण हो ऐसा शोक पहुँचाना ३, परतेपनता—दूसरे को जिससे अश्रुपात और लार गिरने लगे ऐसा हृदयद्रावक शोक पहुँचाना ४, परपिट्टनता—दूसरे को लाठी आदि से पीटना ५, परपरितापनता—दूसरे को शारीरिक और मानसिक संताप पहुँचाना ६, ये छह बोल समुच्चय जीवो को आश्रित करके कहे गये हैं, इसी प्रकार प्राण भूत जीव और सत्वो के विषय में भी इन्हीं छहो का आचरण करना १२। इस प्रकार इन बारह कारणों से जीव के अशाता वेदनीय कर्म का बंध होता है । वे प्राण भूत जीव सत्त्व की व्याख्या इस प्रकार है—

पर्यन्ताः, भूताः—वनस्पतयः, जीवाःपञ्चेन्द्रियाः—सत्त्वाः—पृथिव्यप्तेजोवायवः ।

उक्तञ्च—"प्राणाद्वि—त्रि—चतु. प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः ।

जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥१॥ इति ॥

एषां चतुर्णा दुःखनेन—दुःखोत्पादनेन, शोचनेन शोकोत्पादनेन, जूरणेन—शरीरशोषक-शोकोत्पादनेन, तेपनेन—अश्रुपातचीत्कादिजनकशोकोत्पादनेन, पिट्टनेन—यष्ट्यादिना ताडनेन, परिता-पनेन—शारीरिकसन्तापोत्पादनेन, इत्येवं द्वादशभिः कारणैः जीवस्याशातावेदनीयं कर्म बध्यते । उक्तञ्च भगवती सूत्रे ७ शतके ६—उ. के "कहं णं भंते ! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति,, गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतेपणयाए परपिट्ट-णयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परिया-वणयाए, एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति—,, इति

छाया—कथं खलु भदन्त ! जीवानामशातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते ? गौतम, परदुःख-नतया परशोचनतया परजूरणतया परतेपनतया परपिट्टनतया परपरितापनतया बहूनां प्राणीनां यावत्—सत्त्वानाम् दुःखनतया शोचनतया यावत् परितापनतया, एवं खलु गौतम ! जीवानाम् असातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते, इति । सूत्र—४॥

"तित्थयरायरियोवज्झायकुलगणसंघसुयधम्म सुरावण्णवादेणं मिच्छत्तमोहणिज्जं" ॥५॥

छाया— 'तीर्थकरा-ऽऽचार्यो-पाध्याय-कुल-गण संघ श्रुतधर्म-सुराऽवर्णवादेन मिथ्या त्वमोहनीयम्" ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे अशीति पापकर्मभोगेष्वसद्वेद्यस्य पापकर्मणो बन्ध-

---

विकलेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय प्राण कहलाते है । भूत शब्द से वनस्पतिकाय लिया जाता है । जीव शब्द से पञ्चेन्द्रिय लिये जाते हैं और पृथिवी पानी अग्नि वायु ये सत्त्व कहलाते है—कहा भी है—"प्राणा—द्वि—त्रि—चतुः प्रोक्ताः" इत्यादि ।

इन चारो को दुःखन—दुःख पहुँचाने से, शोचन- शोक पहुँचाने से, जूरण—अर्थात् शरीर सूखाने जैसा—शोक पहुँचाने से, तेपन—जिससे अश्रुपात गिरने लगे चिल्लाने लगे ऐसा शोक पहुचाने से, पिट्टन—लाठी आदि—द्वारा पीटने से, और परितापन—शारीरिक मानसिक-सन्ताप पहुचाने से । जीव के अशाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥सूत्र ४॥

सूत्रार्थ—'तित्थयरायरियावज्झाय' इत्यादि

तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण, सघ, श्रुत, धर्म, और देवों का अवर्णवाद करने से मिथ्यात्व का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—बयासी पापकर्म प्रकृतियों में से पूर्व सूत्र में अशाता वेदनीय कर्म

हेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति दर्शनमोहनीयप्रकृतिभूतस्य मिथ्यात्वमोहनीयस्य पापकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—

"तित्थयरायरियोवज्झाय—इत्यादि । तीर्थकरा ऽऽचार्योपाध्यायकुलगण—संघ—श्रुत धर्मसुरावर्णवादेन—

तीर्थकृताम् आचार्याणाम् उपाध्यायानां कुलस्य गणस्य, सङ्घस्य श्रमणश्रमणीश्रावक-श्राविकासमुदायरूपस्य, श्रुतस्याऽर्हत्प्रणीतस्य साङ्गोपाङ्गस्याऽऽगमस्य, धर्मस्य पञ्चमहाव्रत-साधनस्य, सुराणाञ्चतुर्विधानां देवानां भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकानाञ्चाऽवर्ण-वादेन निन्दावादेन मिथ्यात्वकर्मबन्धो भवतीति भावः ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ज्ञानावरणीयादि द्व्यशीतिप्रकारपापकर्मभोगेषु मत्यादि पञ्च ज्ञानावरण चक्षुरादिनवदर्शनावरणाऽशातावेदनीयपापकर्मणां बन्धहेतवः प्रतिपादिताः सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य मिथ्यात्वस्य दर्शनमोहनीस्य पापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह—"**तित्थयराय-रियोवज्झाय—**' इत्यादि ।

तीर्थकरा—ऽऽचार्योपाध्यायकुलगणसंघश्रुतधर्मसुराऽवर्णवादेन मिथ्यात्वकर्म बध्यते तत्र तीर्थकराणां सकलज्ञानावरणक्षयसमुद्भूतसमस्तज्ञेयविषयाऽवबोधलक्षणकेवलज्ञानवताम् अर्हताम् आचा

के बन्ध हेतुओ की प्ररूपणा की गई, अब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के बन्ध हेतुओ की प्ररूपणा की जाती है—

तीर्थंकर की आचार्यों की, उपाध्यायो की, कुल की, गण की, संघ अर्थात् श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकाओ के समुदाय की, अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्रणीत अंगोपांग-सहित आगम की, पाँच महाव्रतो के साधन भूत धर्म की, चारो प्रकार के देवो की अर्थात् भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की निन्दा करने से मिथ्यात्व कर्म का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पहले ज्ञानावरणीय आदि जो बयासी प्रकार के पापकर्म भोग कहे थे, उनमें से मति आदि पाँच ज्ञानावरणीयो, चक्षुदर्शनावरणीय आदि नौ दर्शनावरणीयों और असातावेदनीय पापकर्म के बन्ध के कारणों का प्रतिपादन किया गया है; अब क्रमप्राप्त मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय पापकर्म के बन्धहेतुओ का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय, कुल गण, संघ, श्रुत, धर्म और देवो का अवर्णवाद करने से मिथ्यात्व कर्म का बन्ध होता है ।

सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले और समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकरों की अर्थात् अर्हन्त भगवन्तो का, आचार्यों की,

र्याणाम् उपाध्यायानां सम्यग् ज्ञानदर्शनचारित्रसम्पन्नानां रागद्वेषमोहसमावेशादसद्भूतदोषोद्भावनरूपावर्णवादेन—

एवं कुलस्य, गणस्य चा-ऽवर्णवादेन श्रमण—श्रमणी श्रावकश्राविकारूपस्य चातुर्वर्णस्य सङ्घस्य, यद्वा—सम्यक्त्वज्ञानसंवरतपोरूपचातुर्वर्णसङ्घस्याऽवर्णवादेन--

एवम्—तीर्थकरप्रोक्तस्य द्वादशाङ्गाचारादिदृष्टिवादान्तरूपाङ्गसहितस्यौ- पपातिकप्रभृत्यङ्गार्थानुवादरूपोपाङ्गसहितस्य च श्रुतस्य प्रवचनस्या—ऽऽगमरूपस्या—ऽवर्णवादेन पञ्चमहाव्रतजन्यस्य क्षमादिरूपस्य दशलक्षणकस्य क्षान्त्यादिधर्मस्याऽवर्णवादेन— सुराणाम् तपःसंयममाराध्य प्राप्तदेवभावानां विपक्वतपो ब्रह्मचर्यहेतुक प्राप्तदेवायुष्काणां देवानां भवनपतिवानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकाना मवर्णवादेन च मिथ्यात्वरूपदर्शनमोहनीयविशेषपापकर्मबन्धो भवतीति भावः ।

तत्र तीर्थकराणामवर्णवादो यथा नास्त्यर्हन् जानानो वा कथं भोगान् भुनक्ति ? प्राभृतिका समवसरणादिरूपा वोपजीवतीत्यादि । आचार्योपाध्यायानामवर्णवादो बाला एते इत्यादि । एवं कुलगणयोः तत्र कुलस्य एकगुरुकसाधुसमुदायस्य गणस्य अनेकगुरुकसाधुसमुदायस्य

उपाध्यायो की, जो सम्यग्ज्ञान—दर्शन और चारित्र से सम्पन्न होते हैं, राग द्वेष या मोह के आवेश से निन्दा करने के कारण अर्थात् असद् भूत दोषो को प्रकट करने रूप अवर्णवाद करने से,

इसी प्रकार कुल और गण का अवर्णवाद करने से, साधु—साध्वी—श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से या सम्यक्त्व—ज्ञान—संवर—और तप रूप चार प्रकार के संघ का अवर्णवाद करने से,

इसी प्रकार तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित आचाराग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त, अंगों के अनुवाद रूप औपपातिक वगैरह उपांगो सहित श्रुत—प्रवचन—आगम का अवर्णवाद करने से, तथा पांच महाव्रतो से उत्पन्न होने वाले क्षमा आदि स्वरूप वाले दशलक्षण क्षमा आदि धर्म का अवर्णवाद करने से,

तप और संयम की आराधना करके देवगति प्राप्त करने वाले तथा परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य से जिन्हे देवायु की प्राप्ति हुई है ऐसे भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का अवर्णवाद करने से मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है ।

इनमें से तीर्थंकरों का अवर्णवाद इस प्रकार होता है—अर्हन्त नहीं है—नहीं होते ! वे जानते हुए कैसे भोग—भोगते है ! समवसरण आदि रूप प्राभृति का आश्रय लेते है ! इत्यादि आचार्यों और उपाध्यायो आदि का अवर्णवाद जैसे—ये बालक है । इत्यादि कहना एक ही गुरु के शिष्य जो साधु होते है, उनका समूह कुल कहलाता है और अनेक गुरुओं के शिष्यों का समूह गण कहलाता है । उनका अवर्णवाद करने से भी मिथ्यात्व

चाऽवर्णवादः। सघस्य श्रमणादीनां संघस्या-ऽवर्णवादो यथा श्रमणास्तावत् केवलबाह्यशौचाचाराः पूर्वजन्मोपार्जितपापकर्मोदयजनित केशोल्लुञ्चनाताप्नदुःखानुभावन· कलहप्रिया असहिष्णव· प्राग-वितीर्णदानाः पुनरपि दुःखिता एव भविष्यन्ति इत्यादि रूपोऽवसेयः। एवं श्रमणीनामपि अवर्णवादोऽवसेयः

एवं श्रावकश्राविकानामवर्णवादो बोध्यः सामान्यतो वा संघस्याऽवर्णख्यापनम् तथाहि गर्दभशृगालकाकश्वानादीनामपि समूहः सघ एव भवति तस्मात्को विशेष संघस्येति न किमपि गौरवास्पदं संघ इति।

श्रुतस्याऽवर्णवादो यथा श्रुतं तावत् अतिदग्धप्राकृतभाषायां निबद्धं व्रतं कायशोषण-प्रायश्चित्तप्रमादोपदेशपुनरुक्ततादोषवहुलं कुत्सितापवादप्रायं वर्तते। इत्यादिरूपो बोध्य·।

एवं सर्वतो हिंसादि विरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतहेतुकस्य धर्मस्य क्षमादेर्दशलक्षणकस्याऽवर्ण-वादो यथाऽभ्युदयाऽपवर्गहेतुभूतो धर्मो न प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन विषयी क्रियते न वाऽयमप्राणिकोधर्मो ऽस्तीत्यपि वक्तु शक्यते, नाऽपि पुद्गला धर्मपदवाच्याः सम्भवन्ति धर्मस्य पुद्गत्वाऽसम्भवात् न वाऽत्मपरिणामविशेषो धर्मः सम्भवति तस्याऽऽत्मशब्दपरिणामवाच्यत्वे क्रोधादि-

---

मोहनीय का वन्ध होता है। श्रमण आदि के संघ का अवर्णवाद जैसे—इन साधुओं में केवल वाह्य शौच का ही आचार है, पूर्वजन्म में ये पाप उपार्जन करके आये है, उसी के कारण केशलोच आतापना आदि का कष्ट भोगते है, ये कलहप्रिय हैं, असहनशील हैं, इन्होंने पूर्वभव में दान नहीं दिया है, आगे फिर दुःख ही भोगेंगे, इत्यादि। ऐसा ही साध्वियो का अवर्णवाद भो समझ लेना चाहिए और श्रावक—श्राविकाओ का भी अवर्णवाद समझ लेना चाहिए।

अथवा सामान्य रूप से संघ का अवर्णवाद करना, जैसे—गधों, सियारो, काकों और कुत्तो का भी समूह संघ ही कहलाता है। फिर संघ में क्या विशेषता है? संघ में कुछ भी गौरव की वात नहीं है।

श्रुत का अवर्णवाद, जैसे—आगम मूर्खों की प्राकृत भाषा में लिखा गया है। व्रत, शरीर शोषण, प्रायश्चित्त, और प्रमाद के उपदेश की पुनरुक्तियाँ उसमें भरी पड़ी है। खोटे—खोटे अपवाद वतलाये है, इत्यादि।

पूर्ण रूप से हिंसा आदि से विरति रूप पाँच महाव्रत हेतुक तथा क्षमा आदि दस लक्षणो वाले धर्म का अवर्णवाद इस प्रकार होता है—स्वर्ग और मोक्ष का कारण कहा जाने वाला धर्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं जाना जाता, धर्म अप्राणिक है ऐसा नहीं कहा जा सकता, पुद्गल 'धर्म' इस पद के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि धर्म पुद्गल नहीं हो सकता। धर्म आत्मा का परिणाम भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे आत्मा का परिणाम कहा

परिणामोऽपि धर्मपदवाच्यः स्यात् इत्यादि रूपो बोध्यः

एवं तीव्र मिथ्यात्वपरिणामोन्मार्गोपदेशेन धार्मिकजनबुद्धिभेदनसर्वत्र सिद्धदेवाऽनर्थाऽभिनिवेशाऽसमीक्ष्यकारिताऽसंयतजनार्चनादिप्रयोगाः संसारपरिवृद्धिमूलनिदानस्याऽनन्तसंसारानुबन्धिनो मिथ्यात्वस्य पापकर्मणो दर्शनमोहनीयविशेषस्य बन्धहेतवो भवन्ति इति निष्कर्षः ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५ स्थाने २ उद्देशके **"पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा अरहंताणं अवन्नं वदमाणे अरहंतपन्नत्तस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे विपक्कतववंभचेराणं देवाणं अवण्णं वयमाणे"** इति ।

पञ्चभिः स्थानै जीवा दुर्लभबोधितया कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा अर्हतामवर्णं वदन्–१ अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याऽवर्णं वदन् २ आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन्–३ चातुर्वर्णस्य संघस्याऽवर्णं वदन् ४ विपक्व–तपोब्रह्मचर्याणां देवानामवर्णं वदन् ५ इति ॥५॥

मूल सूत्रम्—'तिव्वकसायजणियत्तपरिणामेणं चारित्तमोहणिज्जं'–

छाया—"तीव्रकषायजनितात्मपरिणामेण चारित्रमोहनीयम्—" ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मिथ्यात्वरूपदर्शनमोहनीयविशेषपापकर्मबन्धहेतुस्वरूपं प्ररूपि-

---

जाएगा तो क्रोधादि परिणाम भी धर्म कहलाएँगे ।

भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का अवर्णवाद इस प्रकार समझना चाहिए दूसरे,बलवान् देव अल्प बल वाले देव को हठात् अपने वश में कर लेते है ? उनके नेत्र स्तब्ध रहते है–आँखो के पलक नहीं गिरते, वे अत्यन्त असद्भूत दोषों को प्रकट करने वाले होते है, इत्यादि ।

इसी प्रकार तीव्र मिथ्यात्व रूप परिणाम से उन्मार्ग का उपदेश करना, जनता की बुद्धि में भेद उत्पन्न करना अर्थात् उसकी श्रद्धा को डिगाना, आवेश के वशीभूत होकर विना सोचे–समझे काम कर बैठना, असंयमी जनो की पूजा करना. ये सब ससार–वृद्धि के मूल कारण, अनन्त संसार को बढाने वाले, दर्शनमोहनीय रूप मिथ्यात्व पापकर्म के बन्ध के कारण है ।

स्थानांगसूत्र के स्थान ५ उद्देशक २ में कहा है–'पाँच कारणों से जीव दुर्लभ बोधि वाले कर्मों का उपार्जन करते है–(१) अरहंतों का अवर्णवाद करने से (२) अर्हत्प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करते से (३) आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने से (४) चार प्रकार के संघ का अवर्णवाद करने से (५) परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य का फल भोगने वाले देवों का अवर्णवाद करने से ॥५॥

सूत्रार्थ—'तिव्वकसायजणिय' इत्यादि ॥सूत्र ६॥

तीव्र कषाय के उदय से उत्पन्न आत्मा के परिणामों से चारित्रमोहनीय कर्म का बन्ध होता है ॥६॥

तम् सम्प्रति षोडशानन्ताऽनुबन्धि क्रोधादिकषायवेदनीयहास्यादि नोकषायरूपचरित्रमोहनीयपाप-कर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह —

"तिव्वकसायजणियत्तपरिणामेणं चारित्तमोहणिज्जं" इति । तीव्रकषायजनितात्मपरिणामेन-चारित्रमोहनीयं षोडशकषाय नव नोकषायरूपं पापकर्म बध्यते इति तत्र क्रोधमानमाया लोभादीनां कषायाणामुदयात् विपाकात् तीव्रो यः आत्मनः परिणामविशेष स्तेन चारित्रमोहनीयस्य षोडशविधकषायरूपस्य नवविध नोकषायरूपस्य च पापकर्मणो बन्धो भवतीति भावः ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ब्यधिकाशीतिपापकर्मसु क्रमशः पञ्च ज्ञानावरण नव दर्शनावरण सातावेदनीय मिथ्यात्वपापकर्मणां बन्धहेतव. प्रतिपादिताः सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य चारित्रमोहनीय-रूपस्य षोडशकषायनवनोकषायपापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह—

"तिव्वकसायजणियत्त–" इत्यादि । तीव्र कषायात्मजनितपरिणामेन चारित्रमोह-नीयरूप षोडशकषायानवनोकषायाख्यं पापकर्म बध्यते इति तत्र कषन्ति नरकादिदुर्गतौ पातयन्तीति कषाया दुर्गतिपातलक्षणस्वभावा । यद्वा कृष्यते संसारे समाकृष्यते आत्मा यै स्ते कषाया यद्वा कषति हिनस्ति विषयकरवालेन प्राणिन इतिकषः संसारः तस्य लाभो यैस्ते कषायाः ।

कष्यन्ते संसाराटवीगमनाऽगमनादिकण्टकेषु घृष्यन्ते प्राणिनो यैस्ते कषायाः कृष्यते सुख-

---

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय पापकर्म के बन्ध के हेतुओं का स्वरूप कहा गया, अब अनन्तानुबंधी क्रोध आदि सोलह कषायो के और हास्य आदि नो कषायों के बन्ध हेतु बतलाते है—

तीव्र कषाय के कारण आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते है, उनसे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय चारित्रमोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो के उदय से आत्मा में जो तीव्र परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, उससे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय पाप कर्म का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बयासी प्रकार के पापकर्मों में से पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, साता–असाता वेदनीय और मिथ्यात्व पापकर्मो के बन्धहेतुओं का प्रतिपादन किया गया, अब क्रमप्राप्त सोलह प्रकार के चारित्रमोहनीय और नौ प्रकार के नो कषा-यमोहनीय पाप कर्म के बन्धहेतुओ का प्रतिपादन करते है—

तीव्र कषाय से उत्पन्न आत्मा के परिणामों से सोलह कषाय और नौ नो कषाय रूप चारित्र मोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है ।

कषन्ति अर्थात् जीव को नरक गति आदि दुर्गति में जो गिराते हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कृष्यते अर्थात् जिनके द्वारा जीव संसार में आकर्षित किया जाता है, वे कषाय । अथवा

दुःखादिसस्यफलयोग्या क्रियते कर्मभूमि र्यैस्ते कषायाः क्रोधमान-माया लोभादय स्तेषा-मुदयो विपाकः कषायोदयः तस्मात् तज्जन्यो यः क्रोधादेः कषायस्य तीव्रः प्रकृष्ट. आत्मनः परिणामोऽवस्थाविशेषः शब्दरूपगन्धस्पर्शादिविषयेषु गार्ध्यम ईर्ष्यालुताऽसत्यवादिता वक्रता परस्त्री-रतिप्रियतादि' तेन चारित्रमोहनीयरूपस्य षोडशकषायवेदनीयनवनोकषायवेदनीयपापकर्मणो बन्धो भवति । तत्र षोडशकषायाः यथा

अनन्ताऽनुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः ४ अप्रत्याख्यानि क्रोधमानमायालोभाः-४ प्रत्या-ख्यानि क्रोधमानमायालोभाः ४ सञ्ज्वन क्रोधमानमायालोभाः ४ इति । तेषा मुदयो तीव्रपरिणाम श्चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्तीति ।

तथा नवनोकाषायाः हास्य १ रत्य-२ रति-३ भय-४ जुगुप्सा-५ शोक-६ स्त्रीवेद ७ पुरुषवेद-८ नपुंसकवेदरूपाः-९

तत्र हास्य मोहनीयकर्मोदयतो विवृतमुखेन विधीयमानो-त्प्रासन दीनाभिलापित्व कन्दर्पो-पहासनाऽतिप्रलापहासशीलतादयो हास्यवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति १ मोहनीयोदयाद्विष-येषु चित्ताभिरुचि विचित्र परिक्रीडनान्यचित्ताकर्षणाऽनेकविधरमणपीडाऽभावदेशाद्यौत्सुक्य प्रीति

कषति-जो विषय रूपी खड्ग से प्राणियों का घात करे वह कष अर्थात् संसार । उसका जिससे आय-लाभ हो सो कषाय । अथवा कष्यते अर्थात् संसार रूपी अटवी में गमन- आगमन रूप कांटो में प्राणी जिनके द्वारा घसीटे जाते हैं, उन्हे कषाय कहते है । अथवा कृष्यते अर्थात् जिनके द्वारा कर्म भूमि सुख-दुःख आदि धान्य-फल के योग्य बनाई जाती, है, वे कषाय है । क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषायोदय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का जो तीव्र परिणाम अर्थात् अध्यवसाय है, जैसे रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि विषयों में लोलुपता, ईर्षालुता असत्यवादिता, वक्रता, परस्त्री प्रति अनुराग आदि, ऐसे परिणामन विशेष से सोलह कषाय वेदनीय और नौ नो कषायवेदनोय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का बंध होता है । इनमें से सोलह कषाय ये है —

अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ (४), अप्रत्याख्यानी क्रोध मान माया लोभ (४), प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ (४), संज्वलन क्रोध मान माया लोभ । इन कषायों का उदय रूप तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के बंध का कारण होता है ।

नौ नोकषाय ये है- (१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) भय (५) जुगुप्सा (६) शोक (७) स्त्री वेद (८) पुरुष वेद और (९) नपुंसक वेद ।

(१) हास्यमोहनीय कर्म के उदय से मुहँ फाड़ कर हँसना, दीनाभिलापित्व, कन्दर्प, उपहासना, अतिप्रलाप, हास शीलता, आदि हास्य वेदनीय कर्म के बन्ध के कारण होते है ।

(२) मोहनीय कर्म के उदय से विषयों के प्रति चित्त की अभिरुचि होना, विविध प्रकार

संजननादयश्च रतिवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति—२

मोहनीयोदयात्समुत्पन्नमनोविकारपररागप्रादुर्भावरतिविध्वंसपापशीलताऽकुशलक्रियाप्रोत्साहनस्त्येयादयः पुनररतिवेदनीयपापकर्मबन्धहेतवो भवन्ति—३ मोहनीयप्रकृतिसमुत्थात्मपरिणामस्वयं भयपरिणामभयोपजनन निष्करुणत्व त्रासादयश्च—भयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति—४

यद्धर्माचरणतत्परं चतुर्वर्णकुशलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सापरिवादशीलत्वादयो जुगुप्सा कर्मबन्धहेतवो द्रष्टव्याः, [यदा मानसनिमित्तमनिमित्तं वा धर्मं प्रति घृणोत्पादः] ५ यदुदया दिष्टवियोगाऽनिष्टसंयोगजनितचित्तोद्रेकनिजशोकोत्पादशोचनपरदुःखनिर्हेतुक शोकमूलताभिनन्दित्वादयः शोकवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति-६ ईर्ष्यालुत्वाऽनृतवादित्ववक्रत्वपरदाररतिप्रियतादयः—

स्त्रीवेदबन्धहेतवः—७ ऋजुसमाचारता मदक्रोधकषायादिना स्वदाररतिप्रियताऽनीर्ष्यालुतादयश्च पुरुषवेदबन्धहेतवो भवन्ति—८ तीव्रक्रोधादिना पशूनां मुण्डनरतित्वम्, स्त्री—पुरुषेषु—कामसेवनशीलत्वम् शीलव्रतगुणवतां पाषण्डस्त्रीव्यभिचारकारित्वम्, तीव्रविषयानुबन्धित्वञ्च नपुंसकवेदबन्धहेतवो भवन्ति - ९

से क्रीडा करना, दूसरों के चित्त को आकर्षित करना, अनेकविध रमण करना, पीडा का अभाव, देशादि के विषय में उत्सुकता—प्रीति—उत्पन्न करना, आदि कारणो से रति वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(३) मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मनोविकार, परराज, प्रादुर्भाव, रतिविध्वंस पापशीलता, अशुभ कृत्यों में प्रोत्साहन, चौर्य आदि अरतिवेदनीय पाप कर्म के बन्ध के कारण होते हैं।

(४) मोहनीय कर्म के उदय से स्वयं के प्रति भय का परिणाम उत्पन्न होना, दूसरे को भय उत्पन्न कराना, करना हीनता होना, त्रास पाना या पहुँचाना आदि भय कर्म के बन्ध के कारण हैं।

(५) धर्म का आचरण करने में तत्पर श्रमण, श्रमणी श्रावक, श्राविका के कुशल क्रिया के आचरण के प्रति घृणाभाव रखना, उनकी निन्दा करना आदि कारणो से जुगुप्सा कर्म का बन्ध होता है।

(६) इष्ट वस्तु का वियोग और अनिष्ट का संयोग होने चित्तमें शोक का उद्रेक होना, शोक निमग्न रहना, दूसरे को दुःख देना, निष्कारण शोकाकुल बना रहना, इत्यादि कारणों से शोकवेदनीय कर्म का बंध होता है।

(७) ईर्ष्यालुता, असत्य भाषण, वक्रता, परस्त्री लम्पटता आदि से स्त्रीवेद का बंध होता है।

(८) सीधा—सरल व्यवहार करने से, स्वस्त्री में रतिप्रियता होने से, ईर्ष्यालुता का अभाव होने से पुरुष वेद कर्म का बन्ध होता है।

(९) तीव्र क्रोध आदि से पशुओं के मुंडन में रति होना, स्त्री और पुरुष—दोनों के साथ

एवं-परमधार्मिकाणां श्रमणानां गर्हणा, धर्माभिमुखानां विघ्नकारित्वम् , देशविरतिजना-न्तरायकरणम् , मधु—मद्य—मांसाविरतिगुणदर्शनम्, चारित्रगुणसन्दूषणम्, अचारित्रदर्शनम्, परस्य-कषायनोकषायोदीरणञ्च, चारित्रगुणोपघातकारिकषाय—नोकषायवेदनीयरूप चारित्रमोहनीयकर्मबन्ध-हेतवो भवन्तीति भावः ।

उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती-सूत्रे—"**मोहणिज्जकम्मा सरीरप्पओगपुच्छा ? गोयमा तिव्वकोहयाए, तिव्वमायाए तिव्वमाणयाए, तिव्वलोभए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्व-चारित्तमोहणिज्जाए**—" इति, मोहनीयकर्म शरीरप्रयोगपृच्छा ? गौतम ! तीव्रक्रोधतया —तीव्रमानतया—तीव्रमायया—तीव्रलोभतया तीव्रदर्शनमोहनीयतया तीव्रचारित्रमोहनीयानि—इति—। ६ ॥

मूलसूत्रम्— "महारंभ महापरिग्गहा—पंचिंदिय—वह—मंसाहारेहिं नारगाउए"—॥७॥

छाया—"महारम्भ-महापरिग्रह-पञ्चेन्द्रिय—बध—मांसाहारैर्नारकायुष्कम्—॥ ७ ॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे षोडशकषायवेदनीय—नवनोकषायवेदनीयपापकर्मणां बन्ध हेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति—नारकायुष्यकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—"**महारंभमहापरिग्गह—पंचिंदियवहमंसाहारेहिं नारगाउए**—" इति—।

कामभोग सेवन करने की अभिलाष या आदत होना, शील व्रत एवं गुण वलो को तिव्र विषयों के प्रति तीव्र अभिलाषा होना, यह सब नपुंसकवेद के बंध के कारण है ।

तात्पर्य यह है कि परम धर्मनिष्ठ श्रमणों की निन्दा करने से, जो धर्माचरण करनेमें तत्पर हैं उनके धर्माचरण में विघ्न डालने से, देशविरत जनों के धर्मकृत्य में. अन्तराय डालने से, मधु, मांस एवं मधका त्याग करने में गुण समझने से, चारित्र गुण को दूषित करने से, कुत्सित चारित्र को सच्चरित्र समझने से और दूसरे के कषायो एवं नो कषायो कीउदीरणा करने से मोहनीय कर्म का बन्ध होता है ।

भगवानसूत्र में कहा है—मोहनीय कर्म—शरीरप्रयोग के विषय में पृच्छा ? हेगौतम ! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया सेवन करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शनमोहनीय से और तीव्र चारित्र मोहनीय से मोहनीय कर्म बँधना है ॥६॥

सूत्रार्थ—'महारंभमहापरिग्गह' इत्यादि सूत्र ॥७॥

महारंभ, महापरिग्रह, पचेन्द्रियवध और मांसाहार से नरकायु का बन्ध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में सोलह कषायवेदनीय और नौ नोकषाय वेदनीय पाप-कर्मों के बन्धहेतु प्रतिपादन किये गये, अब नरकायु कर्म के बन्ध के कारणों की प्ररूपणा करते है—महान आरंभ, महान् परिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों का वध और मांसाहार करने से नरकायु का बंध होता है ।

महारम्भमहापरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधमांसाहारैर्नारकायुष्यकर्म बध्यते। तत्रा—ऽऽरम्भस्तावत् प्राणिपीडाजनकव्यापार., परिग्रहः खलु क्षेत्र—वास्तु—हिरण्यादिषु ममत्वलक्षणः पञ्चेन्द्रियवधः कुमांसाहारश्च तैर्महताऽऽरम्भेण—महता परिग्रहेण पञ्चेन्द्रियवधेन मांसाहारेण च मांसभक्षणरूपेण नारकायुष्यकर्मबन्धो भवतीति भावः ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं द्व्यधिकाशीतिपापकर्मसु क्रमशः पञ्चज्ञानावरण-नवदर्शनावरणाऽसातावेदनीयमिथ्यात्व षोडशकषायवेदनीय नवनोकषायवेदनीयपापकर्मणां बन्धहेतवः प्रतिपादिता सम्प्रति—क्रमप्राप्तस्य नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह—"**महारंभमहापरिग्गहपंचिंदियवहमंसाहारेहिं नारगाउए—**" इति।

महारम्भमहापरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधमांसाहारैर्नारकायुष्कं कर्म बध्यते। तत्रा—ऽऽरम्भः खलु-प्राणातिपातजनको व्यापारो यान्त्रिकादिलक्षण, महापरिग्रहश्च बाह्याभ्यन्तरवस्तुविषयममत्वलक्षणो धन—धान्य—क्षेत्र—वास्त्वादिविषयः, आरम्भश्च परिग्रहश्चेति, आरम्भपरिग्रहौ, महांश्चारम्भो महांश्च परिग्रह इति महारम्भमहापरिग्रहौ, पञ्चेन्द्रियवधः मांसाहार. तैः खलु महारम्भ—महापरिग्रह-पञ्चेन्द्रियवध-मांसाहारैर्नारकायुष्यकर्मबन्धो भवति।

तथाच—प्राणातिपातादिक्रूरकर्मसततप्रवर्तन—परद्रव्यापहरण—विषयातिगार्ध्यकृष्णलेश्याऽभिजातरौद्रध्यानमरणकालता पञ्चेन्द्रियवधमांसाहारादयो नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतवो भवन्तीति फलितम्।

प्राणियों को पीड़ा पैदा करने वाली प्रवृत्ति आरंभ कहलाती है। क्षेत्र, वास्तु (मकान आदि), हिरण्य स्वर्ण आदि परपदार्थों में ममत्व होना परिग्रह है। पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा और मांसाहार प्रसिद्ध ही हैं। इन चार कारणों से नरकायु कर्म का बंध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त बयासी पापकर्मप्रकृतियों मे से पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असातावेदनीय. मिथ्यात्व, सोलह कषायवेदनीय और नौ नो कषाय वेदनीय पापकर्मों के बन्ध के कारण बतलाये जा चुके हैं। अब क्रमप्राप्त नरकायु पापकर्म के बन्धहेतुओं का कथन किया जाता है—

महारंभ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय वध और मांसाहार से नरकायु का बंध होता है। प्राणातिपातजनक व्यापार को आरंभ कहते हैं। धन—धान्य—क्षेत्र—वास्तु आदि बाह्य वस्तुओं में ममत्व होना परिग्रह है। महान् आरंभ और महान् परिग्रह महारंभ और महापरिग्रह कहलाता है। इनसे तथा पंचेन्द्रिय जीवों का वध और मांस का भक्षण करने से नरकायु कर्म का बंध होता है।

इस कथन का फलितार्थ यह है कि हिंसा आदि क्रूर कर्मों मे सदैव प्रवृत्ति करने से, पराये द्रव्य का अपहरण करने से, इन्द्रियविषयों में अत्यन्त गृद्धि रखने से, कृष्णलेश्या के कारण उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान से, पंचेन्द्रिय प्राणी के वध से और मांसाहार आदि से नरकायु पापकर्म का बन्ध होता है

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ४ स्थाने ४ उद्देशके "चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं **पकरेंति तं जहा–महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं–"** इति।

चतुर्भिःस्थानै जीवा नैरिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा–महारम्भतया, महापरिग्रहतया, पञ्चेन्द्रियवधेन, कुणिमाहारेण, इति ॥७॥

मूलसूत्रम्—"**जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय असुभनामकम्मं–**" ॥८॥

छाया—"**योगवक्रत्वविसंवादनाभ्यां चाऽशुभनामकर्म**" ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नारकायुष्यस्य पापकर्मणो वन्धहेतवः प्ररूपिता सम्प्रति–क्रमप्राप्तस्य चतुस्त्रिंशत्प्रकारस्य नरकगत्याद्यशुभनामकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह "**जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय असुभनामकम्मं–**" इति। योगवक्रत्व–विसंवादनाभ्या चा–ऽशुभनामकर्म बध्यते।

तत्र–योगः शक्तिरूपआत्मनः करणविशेषः कायवाङ्मनोलक्षणत्रिप्रकारकः तस्य–वक्रत्वं कौटिल्यप्रवृत्तिः, यथा–कायेनाऽन्यत्करोति, वचसाऽन्यद् ब्रवीति मनसाऽन्यच्चिन्तयति, इत्येव रूपा योगवक्रता। विसंवादनन्तु अन्यथाप्रवर्तनम् परवञ्चनम्, निष्फलप्रवर्तनम्, चकारेण–मिथ्यादर्शन–पैशुन्य–चञ्चलचित्तता–कूटमान–तुलाकरण–परनिन्दादिश्च गृह्यते, तैः खलु–कायिकादियोगवक्रत्वविसंवादनादिभिर्नरकगत्यादिचतुस्त्रिंशत्प्रकारकाऽशुभनामकर्मबन्धो भवति ॥८॥

स्थानांगसूत्र के स्थान चौथे, उद्देशक चौथे में कहा है—'चार कारणो से नरकायुकर्म का उपार्जन करते है—महा आरंभ करने से, महापरिग्रह से, पञ्चेन्द्रिय के वध से और मांस का भक्षण करने से' ॥७॥

सूत्रार्थ—'**योगवक्कत्तविसंवायणे०**' इत्यादि ॥८॥

योगो की वक्रता और विसवाद से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होना है ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पिछले सूत्र में नरकायु पापकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा की गई; अब क्रमप्राप्त चौतीस प्रकार के अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतुओं की प्ररूपणा करते हैं–

योग की वक्रता और विसवाद से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

योग का अर्थ है आत्मा की एक विशेष शक्ति जो करणरूप होती है। उसके तीन प्रकार हैं–मन, वचन, और काय उसकी वक्रता का मतलब है कुटिलता पूर्वक प्रवृत्ति। जैसे मन से कुछ सोचना, वचन से कुछ और ही कहना और काय से अन्य ही प्रकार की प्रवृत्ति करना इसे योगवक्रता कहते हैं।

विसंवाद का आशय है–अन्यथा प्रवृत्ति करना, दूसरे को ठगना। सूत्र में 'च' पद का जो प्रयोग किया है, उससे मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, चंचलचित्तता, झूठा तोलना-नापना, और दूसरों की निन्दा आदि का ग्रहण किया गया है। इन योगवक्रता और विसंवाद आदि कारणों से नरकगति आदि चौतीस प्रकार का अशुभ नाम कर्म बंधता है ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत्–नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतुतया बह्वारम्भबहुपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधकुणिमाहाराः प्रतिपादिता सम्प्रति–क्रमप्राप्तस्य नरकगत्यादिचतुस्त्रिंशत्प्रकारकाऽशुभनाककर्मणा बन्धहेतुतया योगवक्रता विसवादनादिकं प्रतिपादयितुमाह—**जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय असुभनामकम्मं**—" इति। योगवक्रत्वविसंवादनाभ्याञ्चाऽशुभनाम कर्मबध्यते।

तत्र–कायवाङ्मनोलक्षणत्रिविधयोगगतं वक्रत्वम्–कुटिलतया प्रवृत्तिः, स्वगतयोगता योगवक्रतोच्यते। विसवादनन्तु–अन्यथा प्रवर्तनम् सत्यवदभ्युपगमे तदपह्नवोपाये व्युत्थापनं परगतं बोध्यम्। तत्र–कायस्य तावत् कुब्ज–वामननिकृष्टाङ्गप्रत्यङ्गावयवनयननिकोचननासिकाभङ्गमलव्याधिविदूषकस्त्रीपुरुषभृत्यमृतकाद्याकारैरसद्भावनरूपा वक्रताऽवसेया। वाग्वक्रता तु मायापूर्वकं जल्पनम् मनोवक्रता पुनः—स्वान्ते–ऽन्यदेवनिश्चित्य लोकसमाजपूजासत्कारादिमिच्छां कुर्वन् वाचा–ऽन्यदेव समाचरति, कायेनाऽन्यदेव चेष्टते इत्येवं रीत्या स्वविषयैव कायादियोगवक्रता बोध्या।

विसवादनं पुनः परविषयमन्यथैव प्रवर्तनरूपम् निर्देष्टुमित्यस्य विवक्षितस्यार्थस्य यथावस्थितस्वभावस्य नैष्फल्यविधानमवसेयम्। पितापुत्रयोर्वा प्रीतिशालिनोः परस्परं प्रीतिभेदोत्पादनं विसवादनं बोध्यम्।

एवं—चकारात् मिथ्यादर्शनमायिकप्रयोगपैशुन्यचञ्चलचित्तता कूटमानतुलाकरण सुवर्णा-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया जा चुका है कि महा आरंभ, महा परिग्रह, पंचेन्द्रिय वध और मांसाहार से नरक की आयु का बन्ध होता है। अब अनुक्रम से प्राप्त नरकगति आदि चौतीस प्रकार के नाम कर्म के बन्ध के कारण कहते है—

योगों की वक्रता और विसवाद करने से अशुभ नाम कर्म का बंध होता है।

काय, वचन और मन, ये तीन योग है इनकी वक्रता अर्थात् कुटिलता पूर्ण प्रवृत्ति को योग वक्रता कहा गया है। अन्यथा प्रवृत्ति को विसंवाद कहते है। योग वक्रता स्वगत होती है, विसंवादन परगत होता है।

काय की वक्रता कुब्ज (कुबड़ा), वामन, (बौना), निकृष्ट अंग–प्रत्यंग, नयनो का संकोचन, नासिकाभंग, मल, व्याधि, विदूषक स्त्री–पुरुष, मृतक आदि के आकारो द्वारा अयथार्थ को को प्रकट करना है। कपटपूर्वक बोलना वचन की वक्रता है। चित्त में अन्य बात सोचकर लोक या समाज में पूजा–प्रतिष्ठा या आदर–सन्मान आदि पाने की अभिलाषा से वचन द्वारा कुछ अन्य ही कहना और शरीर से दूसरे ही प्रकार का आचरण करना मन की वक्रता है। इस प्रकार काय योग आदि की वक्रता स्वविषयक ही होती है।

विसंवादन का सम्बन्ध दूसरे के साथ होता है। उस का अर्थ है अन्यथा प्रवृत्ति। जो बात सत्य है उसे असत्य कहकर दिखलाना विसंवाद है। अथवा अत्यन्त स्नेहशील पिता और पुत्र के बीच भेद उत्पन्न कर देना–उन के स्नेह को भंग कर देना विसंवादन कहलाता है।

सूत्र में ग्रहण किये हुए 'च' पद से मिथ्यादर्शन, मायिक प्रयोग, पैशुन्य, चंचलचित्तता,

दिप्रतिरूपकत्वानुष्ठानकूटसाक्ष्यादयश्च' चतुस्त्रिंशत्प्रकारस्य नरकगति-१ तिर्यग्गतिनाम-२ एकेन्द्रिय-३ द्वीन्द्रिय-४ त्रीन्द्रिय-५ चतुरिन्द्रियजातिनाम-६ न्यग्रोधपरिमण्डल-७ सादि-८ कुब्ज-९ वामन-१० हुण्ड-११ संस्थाननामा-११ऽर्धवज्रर्षभनाराच-१२ नाराचा-१३ ऽर्धनाराच-१४ कीलिका-१५ सृपाटिका-सहनननामा-१६ ऽप्रशस्त-रूप-१७ रस-१८ गन्ध-१९, स्पर्शनाम-२० नारकगत्यानुपूर्वी-२१ तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामो-२२ पघातनामा-२३ ऽप्रशस्त-विहायोगतिनाम-२४ स्थावरनाम-२५ सूक्ष्मशरीरनाम-२६ ऽपर्याप्तकनाम-२७ साधारण-शरीरनामा-२८ ऽस्थिरनामा-२९ ऽशुभनाम-३० दुर्भगनाम-३१ दुःस्वरनाम-३२ अनादेयनामा-३३ ऽयशःकीर्तिनाम-३४ रूपाऽशुभनामकर्मणो वन्धहेतवो भवन्ति ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्रीभगवतीसूत्रे ८-शतके ९-उद्देशके—"असुभनामकम्मा सरीरपुच्छा ? गोयमा ! कायअणुज्जुययाए, जाव विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पओगबंधे—" इति ।

अशुभनामकर्मशरीरपृच्छा ? गौतम ! कायाऽनृजुतया, यावद्-विसंवादनायोगेना-ऽशुभनाम कर्म, यावत्प्रयोगबन्धः इति । तत्र-प्रथमयावत्पदेन भाषानृजुतया भाषानृजुतयेति संग्राह्यम्, द्वितीययावत्पदेन शरीरादिसंग्राह्यम् ॥८॥

कूटमान-तुलाकरण अर्थात् कम-ज्यादा नापना- तोलना, किसी भी एक वस्तु में दूसरी वस्तु की मिलावट करना और झूठी साक्षी देना आदि समझ लेना चाहिए । इन कारणों से चौतीस प्रकार के अशुभ नाम कर्म का बंध होता है । वे चौतीस प्रकार इस प्रकार से हैं—

(१) नरक गति (२) तिर्यंचगति (३) एकेन्द्रियजाति (४) द्वीन्द्रिय जाति (५) त्रीन्द्रिय जाति (६) चतुरिन्द्रिय जाति (७) न्यग्रोध परिमंडल (८) सादि (९) कुब्ज (१०) वामन और (११) हुण्ड संस्थान (१२) अर्धवज्रर्षभनाराच सहनन (१४) नाराच सहनन (१४) अर्धनाराच संहनन (१५) कीलिकासहनन (१६) सृपाटिका संहनन (१७) अप्रशस्त रूप (१८) अप्रशस्त-रस (१९) अप्रशस्त गन्ध (२०) अप्रशस्त स्पर्श (२१) नरक गत्यानुपूर्वी (२२) तिर्यग्गत्यानु-पूर्वी (२३) उपघात नाम (२४) अप्रशस्त विहायोगति (२५) स्थावर नाम (२६) सूक्ष्म नाम (२७) अपर्याप्तक नाम (२८) साधारण नाम (अस्थिर नाम (३०) अशुभ नाम (३१) दुर्भग नाम (३२) (३३) अनादेयनाम और (३४) अयशः कीर्तिनाम ।

श्री भगवति सूत्र में शतक ८ उद्देशक ९ में कहा है—अशुभनाम कर्म के विषय में प्रश्न ? उसका उत्तर यह है—गौतम ! काय की ऋजुता न होने से अर्थात् वक्रता होने से यावत् विसंवादना योग से अशुभनाम कर्म का बन्ध होता है ।

इस जगह पहले जो 'जाव' शब्द आया है, उससे भाषा की ऋजुता न होना और मन की ऋजुता न होना अर्थात् वचन और मन की वक्रता को ग्रहण करना चाहिए तथा दूसरे 'जाव' शब्द से शरीर आदि को समझ लेना चाहिये । सूत्र ॥८॥

मूलम्—अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं नीया गोयकम्मं ॥ सूत्र ९ ॥

छाया—अष्टभिर्मदस्थानैर्नीचैर्गोत्रकर्म ॥ सूत्र ९ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे चतुस्त्रिंशत्प्रकारकाणां नरकगत्याद्यशुभनामकर्मणां बन्धहेतुतया कायादियोगवक्रता–विसंवादनादयः प्ररूपिताः सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य नीचैर्गोत्रस्य कर्मणो वन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह–"अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं" इत्यादि ।

अष्टभिः–अष्टसंख्यकैः मदस्थानैः मदानां अहङ्कालरूपाणां स्थानानि आश्रयरूपाणि मदस्थानानि तैः नीचैर्गोत्रकर्मणो वन्धो भवति, तानि मदानि, जाति– कुल–बल–रूप–तपः श्रुतिलाभैश्वर्यरूपाणि भवन्ति, एतैः कारणभूतैर्नीचैर्गोत्रकर्मबन्धो भवतीति भावः ॥ सूत्र–९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं द्व्यधिकाशीतिप्रकारकपापकर्मसु क्रमशः पञ्चज्ञानावरणनवदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकशाय, नवनोकषायनारकायुष्यनरकगत्यादिचतुर्स्त्रिंशत् प्रकारा-ऽशुभनामकर्मणां बन्धहेतवः प्रतिपादिताः संम्प्रति–क्रमप्राप्तस्य नीचैर्गोत्रस्य कर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह "अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं" इत्यदि० ।

अष्टभिः अष्टसंख्यकैः जातिमदादिभिर्मदस्थानैः मदानाम् अहङ्काराणां स्थानानि आश्रयभूतानि, तैः कारणभूतैर्नीचै गोत्रं कर्म बध्यते, तानि–जाति- कुल–बल–रूप–तपः–श्रुत-लाभैश्वर्य विषयाणि भवन्ति, तत्र जातिमदेन अहं सर्वोत्तमजातीयः, इत्येवं जात्यहंकारेण १, कुलमदेन

'अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं नीया' इत्यादि ॥सूत्र–९॥

सूत्रार्थ—आठ प्रकार के मदस्थानो से अर्थात् मदकारणो से नीच गोत्र का बन्ध होता है।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रमें चौतीस प्रकार के नरक गत्यादि अशुभकर्म के बन्ध के हेतु रूप से कायादियोगो की वक्रता तथा विसंवादनादि की प्ररूपणा की गई है। अब क्रमप्राप्त नीच गोत्र कर्म वन्ध के कारणों को कहते है—'अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं, इत्यादि ।

अष्ट प्रकार के मदस्थानो से अर्थात्–जाति, कुल, वल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य, इन आठों के विषय में अहङ्कार करने से नीच गोत्रकर्म का बन्ध होता है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्रमें बयासी प्रकार के पाप कर्मो में क्रम से पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नो कषाय, नरकायु नरक गति आदि चौतीस प्रकार के अशुभ नाम कर्म के बंध के कारणों का प्रतिपादन किया, अब यहां क्रम प्राप्त नीच गोत्र कर्म बंध के कारणो का प्रतिपादन किया जाता है–"अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं" इत्यादि—

आठ प्रकार के जाती मद आदी मदस्थानों से अर्थात् जाति आदि आठों के विषय में अहंकार करने से नीच गोत्र कर्म का वन्ध होता है। वे आठ इस प्रकार हैं—जाती, कुल, बल, रूप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य । जसे–जातिमदसे–मैं सब से मातृपक्षरूपजाती में ऊँचा हूँ, इस प्रकार जाति सम्बन्धी अहंकार से १ कुल मदसे–मेरा पितृपक्ष

मम—सर्वोत्तमं कुलमित्येवं कुलाभिमानेन २. बलमदेन अहं सर्वापेक्षया विशिष्टशक्तिशाली' इत्येवं शक्त्यहंकारेण ३. रूपमदेन—सौन्दर्याहङ्कारेण ४. तपोमदेन—'अहमुग्रतपस्वी' इत्येवं तपस्या-दर्पेण ५. श्रुतमदेन,—विद्याज्ञानाभिमानेन—'अहमेव लाभवान्' इत्यभिमानेन ७. ऐश्वर्यमदेन सम्पत्तिदर्पेण ८. एतैरष्टभिः—मदस्थानैः मदकारणैः नीचगोत्रस्य कर्मणो बन्धो भवति ।

उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्री भगवती सूत्रे—८ शतके ९. उद्देशके'जाइमएणं-कुलमएणं बलमएणं, जाव इस्सरियमएणं-णीयागोयकम्मा सरीरजाव पओगबंधे" इति ।

जातिमदेन-कुलमदेन-बलमदेन यावदैश्वर्यमदेन नीचैर्गोत्रकर्म शरीरयावत्प्रयोग-बन्धः इति ।

यावत्पदेन—रूपमदेन, तपोमदेन, श्रुतमदेन, लाभमदेन, इति संग्राह्यम् एवञ्च—जाति-मदकुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमदैश्वर्यमदैः खलु नीचैर्गोत्रकर्मबन्धो भतीति भावः ॥ सू० ९ ॥

मूलसूत्रम्—दाणादीणं विग्घकरणेणं अंतराइयकम्मं" ॥ सूत्र–१० ॥

छाया · दानादीनां विघ्नकरणेना—ऽन्तरायकर्म–' ॥ १० ॥

तत्त्वर्थदीपिका—पूर्वसूत्रे ज्ञानावरणादिद्व्यधिकाशीति—प्रकारकपापकर्मसु क्रमप्राप्तस्य नीचैर्गोत्रस्य कर्मणो बन्धहेतवः प्ररूपिताः, सम्प्रति—अन्तिमस्याऽन्तरायकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूप-यितुमाह—"दाणादीणं" इत्यादि. । दानादीनाम्—दान—लाभ—भोगो—पभोग—वीर्याणाम्

वंश सर्वश्रेष्ठ है मै उत्तम वंशज हूँ, इस प्रकार के कुल सम्बन्धी अहंकार से २ बल मद से—मै सबकी अपेक्षा से शक्तिशाली व्यक्ति हूँ, इस प्रकार बल का अहंकम् करने से ३, रूपमदसे—मेरा रूप सौन्दर्य दिव्य है, इस प्रकार रूपका अहङ्कार करने से ४, तप मदसे-मै उग्रतपस्वी हूँ मेरे जैसे—उग्रतपस्या कौन कर सकता है ? इस प्रकार तप के अहकार से ५, श्रुत मद से—मै सब आगमो का ज्ञाता हूँ मेरा ज्ञान विशाल है, इस प्रकार श्रुत सम्बन्धी अहंकार से ६, लाभ मद से—लाभ ही लाभ होता है जो वस्तु चाहता हूँ मुझे उसी वस्तु का लाभ हो जाता है, इस प्रकार लाभ के अहङ्कार से ७, इसी प्रकार · ऐश्वर्य मदसे—ऐश्वर्य अर्थात् अधिकार पदवी परिवार ऋद्धिआदि संपत्ति मेरे अनुपम और विशाल है, इस प्रकार ऐश्वर्य सम्ब-न्धी अहङ्कार करनेसे ८, अर्थात् इन आठ प्रकार के मद—अहंकार से जीव के नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है, इसी विषय में भगवती सूत्र शतक ८ वे के ९ नौवें ऊद्देशे में भगवान् ने ऐसा ही कहा है । सूत्र—॥९॥

'दाणादीणं विग्घकरणेणं' इत्यादि

सूत्रार्थ—दान आदि में विघ्नडालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है ॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरणीय आदि बयासी प्रकार के पापकर्मो में से क्रमप्राप्त नीच गोत्र कर्म के बन्ध के कारणों का प्ररूपण किया गया, अब अन्तिम कर्म अन्त-रायके बन्ध के कारणों का प्ररूपण किया जाता है—

दान आदि अर्थात् दान लाभ भोग, उपभोग, और वीर्य में विघ्न डालने से बाधा पहुँचाने

विघ्नकरणेन–विहननेन विघ्नसम्पादनेनाऽन्तरायकर्म बध्यते । तथाच—दान लाभ–भोगोपभोग-वीर्याणां विघ्नसम्पादनमन्तरायकर्म बन्धहेतुर्भवतीति भावः ॥ १० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः - पूर्वं क्रमशो ज्ञानावरणादिकर्मणामेकाशीतिप्रकाराणां बन्धहेतवः प्रतिपादिताः, सम्प्रत्यन्तिमस्याऽन्तरायकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह **"दाणादीणं-"** इत्यादि । दानादीनां–दानलाभभोगोपभोगवीर्याणा विघ्नकरणेन–विघ्नसम्पादनेना–ऽन्तरायकर्मबन्धो भवति ।

तत्र–दानं तावद्देयवस्तुनस्त्यागः प्रतिविशिष्टपरिणामपूर्वकं स्ववस्तुनि परस्वत्वोत्पादनम् , तस्यैव दीयमानस्य वस्तुनः प्रतिग्रहीत्रा गृह्यमाणत्वे–आदानरूपो लाभः इत्युच्यते, २ केषामपि वस्तूनां ग्रहणम् आत्मसात्करणम्–भोगः ३ तेषामेव वस्तूनामसकृद्वारंवारं ग्रहणमुपभोगः ४ यदेकवारमेव भुज्यते, यथा–ऽन्नादिकम्, तद्भोगः यत्पुनर्वारवारमप्युपभुज्यते यथा–वस्त्रादिकम् तदुपभोग इत्युच्यते ।

विशिष्टचेष्टास्वरूपआत्मनो बलपरिणामविशेषो वीर्यम् इच्युच्यते-५ एतेषाञ्च-दानलाभभोगो-

---

से अन्तराय कर्मका बंध होता है । आशय यह है, कि दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य में वीघ्नडालना अन्तराय कर्म के वन्ध का कारण है ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति–इससे पहले ज्ञानावरणीय आदि बयासी प्रकार के पाप कर्म के बन्धके बन्ध हेतुओं का प्रतिपादन किया जाचुका है, अब अन्त में बचे हुए अन्तराय कर्मबन्धके हेतुओं का प्रतिपादन करने के लिए कहा है–दान लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, में विघ्नडालने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। अपनी वस्तु अपनी सत्तात्यागपूर्वक किसी को देना उसे दान कहते हैं १ किसी वस्तु की प्राप्ती होना उसे लाभ कहते है २ जो एक बार भोग में आवे वह भोग कहलाता है जैसे–आहारआदि ३, जों वार वार भोग में आ सके वह उपभोग है–जैसे वस्त्रादि ।४। धर्मादि करने में उत्साह रखना यह वीर्य है ।५। इन दानादि पांचो में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का वन्ध होता है ।

इन दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालना अन्तराय कर्म के बंध का कारण है ।

जिस कर्म के उदय से दान देने योग्य वस्तु का भी दान नहीं दे सकता वह वह दानान्तराय कर्म कहलाता है । जिस कर्म के उदय से ग्रहण करने वाला ग्राह्य वस्तु को ग्रहण करने में असमर्थ होता है, वह लाभान्तराय कर्म है । जिस कर्म के उदय से अशन आदि का भोग करने में समर्थ होने पर भी जीव भोग नहीं सकता वह भोगान्तराय कर्म है । जिस कर्म के उदय से वस्त्र आदि का उपभोग करने में समर्थ हो कर भी जीव उसका उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म कहलाता है। जिस कर्म के उदय से जीव में वीर्य–उत्साह–पराक्रम नहीं होना, वह वीर्यान्तराय कर्म समझना चाहिये ।

पभोगवीर्याणां विघ्नकरणमन्तरायं कर्म येन--येन कर्मणा दाताऽदेयमपि वस्तु न ददाति तं तमुपायं दातुरापादयति तत्कर्म दानान्तरायकम् १ एवं—येन—येनोपायेन कर्मणाऽऽदेयं वस्तु प्रतिग्रहीता न लभते तल्लाभान्तरायम् २ एवं--येन येन कर्मणाऽज्ञानादिवस्त्रादिभोगोपभोगानुभवनसमर्थोऽपि भोक्तु मुपभोक्तुञ्च न पारयति तद्भोगोपभोगान्तरायम् ।३।४।

एवं येन येन कर्मणा वीर्यमुत्साहः—पराक्रमो न भवति तत्तकर्म वीर्यान्तरायम्—यथा--यथाऽनुष्ठानेन दानादिषु विघ्नमुत्पद्यते तथा—तथा ऽनुष्ठानेना-ऽन्तरायस्य कर्मणो बन्धो भवतीति भावः तथाच--दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विघ्नकरणमन्तरायकर्मबन्धहेतुर्भवतीति फलितम्—।

उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्रीभगवतीसूत्रे ८ शतके ९, उद्देशके—'**दाणंतराएणं, लाभंतराएणं, भोगंतराएणं, उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मा सरीप्पओगबंधे**—" इति।

दानान्तरायेण—लाभान्तरायेण—भोगान्तरायेणो—पभोगान्तरायेण वीर्यान्तरायेणा—ऽन्तरायकर्म शरीरप्रयोगबन्धः इति।

एवञ्चा—ऽन्तरायशब्दस्य विघ्नकरणाऽर्थतया दानान्तराय, लाभान्तराय—भोगान्तरायो—पभोगान्तराय—वीर्यान्तरायाः पञ्चा—ऽन्तरायकर्मबन्धहेतवो भवन्तीति बोध्यम् ॥सू० १०॥

मूलम्—-रयण—सक्कर—वालुय—पंक—धूम—तम—तमतमप्पभा—सत्त नरगभूमीओ घणोदहि—घणवाय—तणुवाया—गासपइट्ठिया अहो—अहो पिहुला ॥सूत्र—११॥

छाया—रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तम-स्तमस्तमःप्रभाः सप्तनरकभूमयो—घनोदधि घनवात-तनुवाता-ऽऽकाशप्रतिष्ठिता अधोऽधः पृथुला ॥सूत्र ११॥

फलितार्थ यह है कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न उपस्थित करने से अनुक्रम से दानान्तराय आदि का बन्ध होता है ।

व्यख्याप्रज्ञप्ति श्री भगवतीसूत्र में शतक ८, उद्देशक ९ में कहा है—दान में अन्तराय करने से, लाभ मे अन्तराय करने से भोग में अन्तराय करने से उपभोग में अन्तराय करने से और वीर्य में अन्तराय करने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है

अन्तराय शब्द का अर्थ है—विघ्न डालना । इस प्रकार दानान्तराय लाभन्तराय भोगान्तराय उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच अन्तराय कर्म के बंध के कारण हैं ॥१०॥

सूत्रार्थ -'रयण-सक्कर०' इत्यादि ॥सू० ११॥

सात नरक भूमियां है जैसे—१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुकाप्रभा, ४ पङ्कप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा, ७ तमस्तमः प्रभा । ये सातों भूमियां घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश, इनपर टिकी हुई हैं नीचे नीचे उत्तरोत्तर चौड़ी होती जाती हैं अर्थात् तमस्तमः प्रभा सातवीं पृथिवी उपर की छहों पृथिवियों से चौड़ी है ॥सू० ११॥

तत्वार्थदीपिका—पापाधिकारात्—तत्फलभोगदुःखविपाकस्थानतया रत्नप्रभादिसप्तनरकभूमीः प्ररूपयितुमाह—"रयणसक्कर" इत्यादि। रत्न—१—शर्करा—२—वालुका—३—पङ्क—४—धूम—५—तम—६—तमस्तमः—प्रभा—७, सप्त नरकभूमयो, घनोदधि-घनवात-तनुवाता—ऽऽकाशप्रतिष्ठिताः, अधोऽधः पृथुलाः। तत्र—द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रभापदस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् रत्नप्रभया-सहचरिता युक्ता पृथिवीरत्नप्रभोच्यते १, एवं शर्कराप्रभया सहचरिता युक्ता पृथिवी शर्कराप्रभा २, वालुकाप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी पङ्कप्रभा ४, धूमप्रभया सहचरिता—युक्ता भूमिर्धूमप्रभा५, तमःप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी तमःप्रभा उच्यते, ६, तमस्तमः प्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी च तमस्तमः प्रभो—च्यते ७, भूमिग्रहणेन यथा—देवलोकाः भूमिमनाश्रित्यैव स्थिताः सन्ति, न तथा नैरयिकावासाः भूमिमनाश्रित्य स्थिताः—अपितु—भूमिमाश्रित्यैव स्थिताः सन्तीति प्रतिपाद्यते। तासाञ्च सप्तभूमीनामाधारज्ञानार्थं घनोदधिघनवातादिग्रहणं कृतम्, घनोदधिश्च घनवातश्च तनुवातश्चा—ऽऽकाशञ्चेति घनोदधिघनवाततनुवाताकाशानि तेषु प्रतिष्ठिताः अवस्थिता यास्ता घनोदधिघनवाततनुवाताऽऽकाशप्रतिष्ठिताः अधोऽधः अधस्त्वमाश्रित्य उत्तरोत्तरपृथुला विस्तीर्णाः सन्ति ॥सूत्र ११॥

तत्त्वार्थदीपिका—यहां पापतत्त्व का प्रकरण होने से पाप के फल भोग दुःखविपाक का स्थानभूत होने से रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियो की प्ररूपणा की जाती है 'रयण०' इत्यादि

रत्नप्रभा १ शर्कराप्रभा २ वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभा ४ धूमप्रभा ५ तमःप्रभा ६, तमस्तमःप्रभा ७ ये सातो नरकभूमियां घनोदधि घनवात तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है। इन सात पृथिवियो के नाम रत्नप्रभा आदि जो है वह इस प्रकार से सार्थक हैं, जैसे रत्नो की प्रभा से सहचरित अर्थात् युक्त होने से प्रथम पृथिवी का नाम रत्नप्रभा है १, शर्करा अर्थात् छोटे छोटे कंकरो के जैसी प्रभावाली होने से दूसरी पृथिवी का नाम शर्कराप्रभा है २। वालुकाकी प्रभा से युक्त होने से तीसरी पृथिवी का नाम वालुकाप्रभा है ४। पङ्क अर्थात कीचड से युक्त होने से चौथी पृथिवी का नाम पङ्कप्रभा है ४। जहाँ धूम—धूआँ जैसी प्रभा है इस कारण पांचवीं पृथिवी का नाम धूमप्रभा है ५, जहां अन्धकार छाया हुआ रहता है उस छठी पृथिवी का नाम तमःप्रभा है ६, जहां निबिड अर्थात् घनघोर अन्धकार छाया रहता है इस कारण सातवीं पृथिवी का नाम तमस्तमःप्रभा है, ७। यहां भूमि शब्द ग्रहण इसलिये किया गया है कि जिस प्रकार देवलोक भूमि के आश्रय के विना अपने स्वभाव से टिके हुए है उसी प्रकार नरकावास भूमि के आश्रय के विना नहीं टिका हुआ हैं। इन सात भूमियो के आधारभूत घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश ये चार हैं वे सातो भूमियां एक एक से आगे आगे पृथुल—चौडी—होती गई हैं। अर्थात् सप्तम पृथिवी उपरकी छहों पृथिवी से चौडी होती है ॥सू० ११॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—जीवाजीवादिनवतत्त्वेषु क्रमप्राप्तस्य पापतत्त्वस्यास्मिन् पञ्चमाध्याये प्ररूपितत्वेन तत्प्रस्तावत् दुःखविशेषरूपतत्फलभोगतीव्रविपाकस्थानतया रत्नप्रभादिसप्त नरकभूमीः प्ररूपयितुमाह—"**रयणसक्कर**" इत्यादि ।

रत्न–शर्करा–वालुका–पङ्क–धूम–तमस्तमः प्रभाः सप्त नरकभूमयो घनोदधिघनवाततनुवाताकाशप्रतिष्ठिताः अधोऽधः पृथुलाः सन्ति । तत्र–प्रभाशब्दस्य प्रत्येकमन्वयेन रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा–वालुकाप्रभा–पङ्कप्रभा–धूमप्रभा–तमः प्रभा–तमस्तमः प्रभा इत्येताः सप्त पृथिव्या–भूमयो घनोदधिघनवाततनुवाताकाश प्रतिष्ठिताः ।

तथाहि—सर्वाध आकाशं, तदुपरि तनुवातः, तदुपरि घनवातः, तदुपरि घनोदधिः, तस्योपरिसप्तमी तमस्तमप्रभापृथिवीप्रतिष्ठिता वर्त्तते । एवं तमस्तमःप्रभापृथिव्याउपर्यपि—आकाश-तनुवातघनवातघनोदधयो वर्त्तन्ते । तदुपरि षष्ठी तमःप्रभा पृथिवी प्रतिष्ठिता वर्त्तते । एवमेकैकशः प्रत्येकं पृथिव्या अन्तराले आकाशादयः सन्ति । ताः सप्तापि रत्नप्रभादिभूमयः परांऽपराः अधोऽधो–ऽधस्ताद्वर्तन्ते, उत्तरोत्तरञ्च पृथुतराः विशालाः सन्ति ।

यथा–रत्नप्रभापेक्षया शर्कराप्रभा–पृथुला, शर्कराप्रभापेक्षया वालुकाप्रभा पृथुला वालुका-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीव अजीव आदि नौ तत्त्वो से क्रमप्राप्त पापतत्त्व का इस पांचवें अध्यायमें प्ररूपित होने के प्रस्ताव से दुःखरूप उसका फलभोग के तीव्र विपाक स्थान होने से रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियो का प्ररूपण किया जाता है–'**रयणसक्कर**' इत्यादि ।

रत्नप्रभा, १ शर्कराप्रभा, २ वालुकाप्रभा ३ पङ्कप्रभा ४ धूमप्रभा ५, तमःप्रभा ६, तमस्तमःप्रभा ७ ये सात नरकभूमियां घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश के आश्रय से रही हुई है, और नीचे नीचे आगे आगे की पृथिवी पृथुल–चौडी होती है । ये सातों पृथिवियां अपने अपने नाम से सार्थक नामवाली है, जैसे रत्नो की प्रभावाली रत्नप्रभा १, शर्करा–तीक्ष्णककरो की प्रभावाली शर्कराप्रभा २. इसी प्रकार वालुका, पङ्क, धूम, तमः, तमस्तमःप्रभा इन पांचो के विषयमें जान लेना चाहिये ये सातो पृथिवियां घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश पर रही हुई है, जैसे—सबसे नीचे पहले आकाश है, उसके ऊपर तनुवात–सूक्ष्म वायु है, उसके ऊपर घनवात अर्थात् घनिष्ट वायु है, उसके ऊपर घनोदधि–घन-वज्र समान जमा हुआ पानी है. उस पर सातवीं तमस्तमः प्रभा पृथिवी टिकी हुई है । इसी प्रकार उसके ऊपर फिर इसी क्रम से आकाश, तनुवात, घनवात घनोदधि हैं उस घनोदधि पर छठी तम.प्रभा पृथिवी प्रतिष्ठित है । इसी प्रकार प्रत्येक पृथिवी के अन्तरालमें आकाश आदि चार बोल होते हैं, प्रत्येक चार बोलके ऊपर ऊपर छठी पांचवीं चौथी तीसरी दूसरी और पहली रत्नप्रभा पृथिवी प्रतिष्ठित है तथा रत्नप्रभा से लेकर आगे आगे की पृथिवी ऊपर ऊपर की अपेक्षा से नीचे नीचे की पृथिवी चौडी होती है ये सातो पृथिवीयां एक एक के नीचे नीचे होती है ।

प्रभापेक्षया पङ्कप्रभा पृथुला, पङ्कप्रभापेक्षया धूमप्रभा पृथुला, धूमप्रभापेक्षया तमः प्रभा पृथुला, तमःप्रभापेक्षया तमस्तमः प्रभा पृथिवी पृथुलतराऽस्तीति भावः । एवञ्च—सप्तापि पृथिव्यः घनोदधिवलयप्रतिष्ठिताः सन्ति, घनोदधिवलयं—घनवातवलयप्रतिष्ठितं, घनवातवलयं—तनुवातवलयप्रतिष्ठितं, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठितं भवति । एतानिसर्वाणि वलया कारत्वेन वलयमिति प्रोक्तम् ।

तथा च—रत्नप्रभाया अधस्तात् योजनाऽसंख्येय कोटीरतिक्रम्य शर्कराप्रभास्ति । एवं—शर्कराप्रभाया अधो योजनकोटीनामसंख्येयकोटीरतिवाह्य वालुकाप्रभाऽस्ति । एवं रीत्या-शेषा पङ्कप्रभाद्याः पृथिव्योऽपि असंख्येययोजनकोटीकोट्यन्तराला अधोऽधोवक्तव्याः । घनग्रहणेन च प्रत्येकं पृथिव्याः अधस्तात् घनएवोदधिर्वर्तते, न तु तत्र द्रवीभूतमम्बु, वातास्तूभयथाऽपि वर्तन्ते घनाश्च तनवश्चेति ज्ञाप्यते ।

घनोदधिवलयं चाऽसंख्येययोजनसहस्रवाहल्ये घनवातवलये प्रतिष्ठितम्, घनवातवलयं चासंख्येययोजनसहस्रबाहल्ये तनुवातवलये प्रतिष्ठितम् । तनुवातवलयानन्तरं च महातमोभूतमाकाशमसंख्येययोजनकोटिकोटीप्रमाणं वर्तते, तच्चाकाशम्—अस्याः खरकाण्डपङ्कबहुलाऽब्बहुल-

---

जैसे रत्नप्रभा के नीचे शर्कप्रभा पृथिवी रत्नप्रभा की अपेक्षा चौडी है २ । एवं शर्कराप्रभा की अपेक्षा उसके नीचे की वालुकाप्रभा पृथिवी चौडी है ३ । उसकी नीचे पङ्कप्रभा पृथिवी वालुका प्रभा पृथिवी की अपेक्षा चौड़ी है ४, । पङ्कप्रभा पृथिवी की अपेक्षा इसके नीचे की धूमप्रभा पृथिवी चौड़ी है ५ । धूमप्रभा की अपेक्षा इसके नीचे की तमःप्रभा पृथिवी चौड़ी है ६ । तमः प्रभा की अपेक्षा इसके नीचे की तमस्तमः प्रभा पृथिवी चौड़ी है ७ ॥

इस प्रकार सातो पृथिवियां घनोदधि वलय पर प्रतिष्ठित है । घनोदधिवलय घनवातवलयपर प्रतिष्ठित है । घनवातवलय तनुवातवलयपर प्रतिष्ठित है तनुवातवलय आकाश प्रतिष्ठित है । ये सब वलयाकार होने से वलय शब्द से कहे गये हैं ।

इन पृथिवियो का परस्पर कितना अन्तराल है वह कहते हैं—रत्नप्रभा की नीचे असंख्यात करोड योजन जाने पर शर्कराप्रभापृथिवी आती है २ शर्कराप्रभा पृथिवी के नीचे असंख्यात करोड करोड योजन जाने पर वालुकाप्रभापृथिवी आती है । इसी प्रकारसे शेष पङ्कप्रभा आदि पृथिवियां भी एक एक के नीचे असंख्यात करोड करोड योजन की अन्तरालतासे प्रतिष्ठित है ।

यहां घनशब्दके ग्रहण करने से वह पानी घनीभूत है नहीं कि द्रवीभूत अर्थात् वह पानी वज्र सा जमा हुआ घनरूप है किन्तु द्रव तरल पतला नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । इसके नीचे का वायु दोनों प्रकार का है, पहला घन और दूसरा तनु तरल पतला है । घनोदधि असंख्यात हजार योजन की चौडाई वाले घनवात पर प्रतिष्ठित है, घनवात असंख्यात हजार योजन की चौडाई वाले तनुवात पर प्रतिष्ठित है, तनुवात के बाद असंख्यात करोडा करोड योजन वाला महा तमोभूत आकाश रहा हुआ है, वह आकाश खरकाण्ड, पङ्क बहुलकाण्ड,

भेदेन त्रिधा भिद्यमानायास्तनुवातपर्यन्ताया रत्नप्रभापृथिव्याः परस्परयाऽऽधारभूतमवगन्तव्यम् । सर्वञ्चैतत्—पृथिव्यादि तनुवातान्तमाकाशे प्रतिष्ठितम् । आकाशञ्च—स्वप्रतिष्ठितम् । तथा स्वाभाव्यात् तस्मादुक्तक्रमेण घनोदधि-घनवाततनुवाताकाशप्रतिष्ठिताः प्रत्येकं रत्नप्रभादि सप्तपृथिव्यो लोकस्य तथास्वाभाव्या सन्निविष्टाः—असंख्येययोजन कोटिकोटयो विस्तृता. सन्ति ।

तत्र—रत्नप्रभाऽऽयामविष्कम्भाभ्यामेकरज्जुप्रमाणा, शर्कराप्रभा-सार्द्धद्वयरज्जुप्रमाणा, वालुका-प्रभा च चतूरज्जुप्रमाणा, पङ्कप्रभा—पञ्चरज्जुप्रमाणा, धूमप्रभा रज्जुषट्कप्रमाणा, तमःप्रभा—सार्द्धषट्रज्जुप्रमाणा, तमस्तमःप्रभा- सप्तरज्जुप्रमाणा वर्तते । तासा चोत्कीर्तन नामतो-गोत्रतश्चोभ-यथा भवति । तत्र—प्रथमा पृथिवीनाम्ना धर्मा, गोत्रेण च रत्नप्रभा, द्वितीया पृथिवीनाम्ना वंशा, गोत्रेण च शर्कराप्रभा तृतीया—पृथिवीनाम्ना शैला, गोत्रेण च वालुका प्रभावर्तते ।

चतुर्थी पृथवी नाम्ना अञ्जना, गोत्रेण च पङ्कप्रभा, पञ्चमी पृथिवी नाम्ना—रिष्ठा, गोत्रेण च धूमप्रभा, षष्ठी पृथिवी—नाम्ना माघव्या, गोत्रेण च तमःप्रभा, सप्तमी पृथिवी नाम्ना माघवी-गोत्रेण च तमस्तमःप्रभा इत्युच्यते ।

तत्र—रत्नप्रभा, पूर्वापरादिविभागव्यवच्छिन्ना सर्वत्र-घनभावेन वाहल्येना-ऽशीतिसहस्राधिक

अव्बहुलकाण्ड इन तीनकाण्डोवाली तनुवात पर्यन्तकी रत्न प्रभा पृथिवी का परस्पर आधारभूत है । यह पृथिवी आदि तनुवात पर्यन्त सब उस आकाश के ऊपर प्रतिष्ठित हैं । आकाश अपने स्वभाव से अपने रूपसे प्रतिष्ठित है यह किसी के आश्रयपर नहीं है । इसी कारण घनोदधि घनवात और तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित—रही हुई है । वह प्रत्येक पृथिवी असंख्यात करोडा करोडयोजनके विस्तार वाली लोकस्थिति के स्वभाव से स्थित हैं ।

अब इन सातो पृथिवियो का प्रमाण कहते है—

रत्नप्रभा नामकी पहली पृथिवी आयामविष्कम्भ—लम्बाई चौडाई से ऐकरज्जु प्रमाण की है १, शर्कराप्रभा ढाई रज्जुप्रमाण २, वालुकाप्रभा चार रज्जु प्रमाण ३, पङ्कप्रभा पांच रज्जुप्रमाण ४, धूमप्रभा छह रज्जु प्रमाण ५, तमः प्रभा साडे छह रज्जुप्रमाण ६, और तमस्तमः प्रभा सातवीं पृथिवी सात रज्जुप्रमाण की है ७, इनका उत्कीर्त्तन नाम और गोत्र दोनों प्रकार से होता है । जैसे पहली पृथिवी नाम से धर्मा और गोत्र रत्नप्रभा कहलाती है १. दूसरी पृथिवी नामसे वंशा और गोत्रसे शर्कराप्रभा २, तीसरी पृथिवी नामसे शैला और गोत्र से वालुकाप्रभा, ३ चौथी नाम से अञ्जना गोत्र से पङ्कप्रभा ४, पांचवीं नामसे रिष्टा और गोत्र से धूमप्रभा ५, छठी नाम से मघा और गोत्र से तमःप्रभा ६, और सातवीं पृथिवी नाम से माघवती और गोत्र से तमस्तमःप्रभा कहलाती है ७ ।

इन सातों पृथिवियो में से प्रथम रत्नप्रभा पृथिवी पूर्वापरआदि सब विभागों में सर्वत्र एकसमान घन रूपसे ऊपर से नीचे तक अर्थात् पिण्डरूप से एक लाख अस्सी हजार योजन

लक्षयोजनप्रमाणा वर्तते शर्कराप्रभा—द्वात्रिंशत्सहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणा, वालुकाप्रभा—चाऽष्टविंशतिसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणा धूमप्रभा अष्टादशसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणाः तमःप्रभा खलु षोडशसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणाः तमस्तमःप्रभाचा-ऽ-ष्टसहस्राऽधिकलक्षयोजनप्रमाणा-वाहल्येन वर्तते इति ॥ सूत्र–११ ॥

मूलसूत्रम्—नरगा तेसुं जहा कमं तीसा--पन्नवीसा--पण्णरसदस--तिण्णि पंचूणसयसहस्सं पंच य ॥ सू० १२ ॥

छाया—नरकास्तासु यथाक्रमं त्रिंशत् पञ्चविंशतिः पञ्चदश–दश–त्रीणि–पञ्चोनशत सहस्रं पञ्च च ॥ सूत्र–१२ ॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–रत्नप्रभादि सप्तनारकभूमयःप्ररूपिताः सम्प्रति–तासु प्रत्येकं क्रमशो नरकावासाना संख्यामाह–**"नरगा तेसुं"** इत्यादि नरकाः–नरकावासाः तासु-रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु यथाक्रमं क्रमशः, त्रिंशत् शतसहस्राणि, पञ्चविंशति सहस्राणि, पञ्चदशशतसहस्राणि दशशतसहस्राणि, त्रीणि शतसहस्राणि पञ्चोनशतसहस्रम् पञ्च च सन्ति तत्र-रत्नप्रभायां त्रिंशल्लक्षाणि नरकावासाः, शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिलक्षाणि नरकावासाः, वालुकाप्रभायां पञ्चदशलक्षाणि नरकावासाः पङ्कप्रभायां दशलक्षाणि नरकावासाः, धूमप्रभायां–त्रिलक्षाणि नरकावासाः । तमःप्रभायां पञ्चन्यूनैकलक्षं नारकावासाः तमस्तमप्रभायां पृथिव्यां च पञ्च नरकावासा सन्तीतिभावः ॥सू० १२॥

मोटी है(१,८००००) इसीप्रकार शर्करा प्रभा पृथिवी की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन की है (१,३२०००) २ । वालुकाप्रभा पृथिवी की मोटाई एकलाख अट्ठाईस हजार योजन की है(१,२८०००) ३ । पंकप्रभा की मोटाई एक लाख बीस हजार योजन की है (१,२००००) ४ । धूमप्रभा की मोटाई एक लाख अठारह हजार योजन की है (१,१८०००) ५. तमः प्रभा पृथिवी की मोटाई एक लाख सोलह हजार योजनकी है (१,१६०००) ६ । तमस्तमः प्रभा पृथिवी की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है (१,०८०००) ७। सू. ११॥

सूत्रार्थ—'नरगा तेसुं जहा' इत्यादि ॥ सू. १२ ॥

रत्न प्रभा आदि पृथ्वियो में यथाक्रम तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख तीन लाख, पाँच कम एक लाख और सिर्फ पाँच नरकावास है । सू. १२

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियो की प्ररूपणा की गई, अब उनमें से प्रत्येक में नारकावासो की संख्या का प्ररूपण करते है—

नरक का तात्पर्य यहाँ नारकावास अर्थात् नारक जीवो के रहने के स्थान समझना चाहिये । पूर्वोक्त भूमियो में उनकी सख्या इस प्रकार है–(१) रत्न प्रभा पृथ्वी मे तीस लाख (२) शर्करा प्रभा मे पच्चीस लाख (३) वालु का प्रभामें पन्द्रह लाख (४) पंकप्रभा में दस लाख (५) धूमप्रभा में तीन लाख (६) तमःप्रभा में पाँच कम एक लाख और (७) तमस्तमःप्रभा में केवल पांच नारकावास है । सूत्र–॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः-- पूर्वं रत्नप्रभादिसप्तनारक पृथिवीनां स्वरूपाणि विशदरूपेण प्ररूपितानि सम्प्रति नारकजीवविवक्षायां प्रथमं तदाधारनरकावासान् प्ररूपयितुमाह "नरगा तेसु जहाकम तीसा पन्नवीसा पण्णरसदसतिण्णि पंचूणसयसहस्सं पंच य- इति । तासु--रत्नप्रभादिसप्त-नारकपृथिवीषु, नरकाः--नरकावासाः, यथाक्रमं--क्रमशः त्रिंशल्लक्षाणि--पञ्चविंशतिलक्षाणि--पञ्च-दशलक्षाणि--दशलक्षाणि--त्रिणि लक्षाणि पञ्चोनशतसहस्रम्--पञ्चन्यूनैकलक्षं--पञ्च च सन्ति ।

तथाच--रत्नप्रभायां त्रिंशल्लक्षाणि नरकावासाः । शर्कराप्रभायां- पञ्चविंशतिलक्षाणि वालुका प्रभायां पञ्चदशलक्षाणि पङ्कप्रभायां दशलक्षाणि धूमप्रभायां त्राणि लक्षाणि तमःप्रभायां पञ्चोनैक-लक्षम् तमस्तमःप्रभायां--पञ्चैव नरकावासाः सन्ति । इत्येवं सर्वसकलनया चतुरशीतिलक्षा नरकावासा भवन्तीति ।

तत्र--नरकशब्दव्युत्पत्तिस्तु--नरान् अशुभकर्मयुक्तान् कायन्ति--आह्वयन्ति इति नरकाः पापकर्मभाजां प्राणीनामशुभकर्मफलभोगस्थानानि इति बोध्याः ते खलु नारका सीमान्तकादयो उष्ट्रिका पिष्टपचनी लोही कारकाद्याकृतयो विशिष्टाकाराः पापकर्मण. संभारजनित गौरवाणां जीवाना-मुत्पत्तिस्थानविशेषाः । तमस्तमःप्रभा नामक सप्तमपृथिवी मध्यवर्तिनां खलु पञ्चानां नरकाणाम्-काल, महाकाल,रौरव,महारौरवा--ऽप्रतिष्ठानात्मकानि नामानि सन्ति । तत्रा-ऽप्रतिष्ठाननामकनरकेन्द्रकात्

तत्त्वार्थनिर्युक्ति--इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि सातो पृथ्वियों के स्वरूप--का विशद रूप से विवेचन किया गया है । अव नारक जीवो का प्रसंग होने से सर्व प्रथम उनके स्थानों का अर्थात् नारकावासो का निरूपण किया जाता है--

रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियों में अनुक्रम से नारकावासों की संख्या इस प्रकार है --तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नारकावास है । तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख, शर्करा प्रभा में पच्चीस लाख, वालुका प्रभा में पन्द्रह लाख, पंकप्रभा में दस लाख, धूम प्रभा में तीन लाख, तमः प्रभा में पाँच कम एक लाख और तमस्तमः प्रभा में पाँच नारकावास है ।

नरक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है--नरान् अर्थात् अशुभ कर्म वाले मनुष्यों को कायन्ति अर्थात् जो बुलाते है, वे 'नरक' कहलाते है । तात्पर्य यह है कि पाप कर्म वाले प्राणियो के अशुभ कर्म का फल भोगने के स्थान नरक कहलाते हैं । वे सीमन्तक आदि नरक उष्ट्रिका. पिष्ट पचनी. लोही तथा करक (घड़ा) आदि के आकार के होते हैं । जो जीव पाप कर्म के भारे से भारी है, वे वहां उत्पन्न होते है ।

तमस्तम प्रभा नामक सातवीं पृथ्वी के मध्य में रहे हुए पाँच नारकावासों के नाम इस प्रकार है--काल. महाकाल, रौरव. महारौरव और अप्रतिष्ठान । इनमें अप्रतिष्ठान नामक मुख्य नारकावास से पूर्व दिशा में काल नामक नारकावास है, पश्चिम में महाकाल नारका-

पूर्वतः कालनामा नरकः, अपरतो महाकालनामा नरकाः, दक्षिणतो रौरवनामा नरकः, उत्तरतो-महारौरनामा नरकः, मध्येचा-ऽप्रतिष्ठाननामनरकेन्द्रको वर्तते । सू० १२

मूलसूत्रम् —णिच्चासुभयरलेस्सा परिणामसरीरवेयणाविक्किया नारगा ॥सूत्र-१३

छाया—नित्या-ऽशुभतरलेश्यापरिणामशरोरवेदनाविक्रिया नारकाः सूत्र-१३

तत्त्वार्थदीपिका -- पूर्वसूत्रे रत्नप्रभादिसप्तनरकपृथिवीषु यथाक्रमं नरकावासाः प्ररूपिताः सम्प्रति-तेषु नरकेषु वासिनां नारकाणां जीवानां स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह **"णिच्चासुभयर-लेस्सापरिणामसरीरवेयणाविक्किया नारगा-"** इति । नारकाः-पूर्वोक्तनरकेषु भवाः निरय-वासिनो नैरयिका नरकाश्च नित्याशुभतरलेश्याः—नित्यम् अभीक्ष्णम् शश्वत्-अशुभतराः ।

तिर्यग्गतिविषयाशुभलेश्याद्यपेक्षयाऽधोऽधः स्वगत्यपेक्षया चाऽतिशयेना-ऽशुभा लेश्याः येषां येषु वा ते नित्याशुभतरशरीरलेश्याः नित्याशुभतरपरिणामाःक्षेत्र विशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशुभतरा शब्द-१ वर्ण-२ रस-३ गन्ध-४ स्पर्शाः येषां-येषु वा ते नित्याशुभतरपरिणामाः नित्याशुभतरशरीराः—नित्यमभीक्ष्णमशुभनामकर्मोदयादत्यन्ताशुभतराणि शरीराणि विकृताकृतयो हुण्डसंस्थानानि दुर्दर्शानि येषां येषु च ते नित्याशुभतरशरीराः ।

नित्याशुभतरवेदनाः-नित्यमभीक्ष्णं शश्वत्-अशुभतराः-अभ्यन्तरासातावेदनीयोदये सत

वास है, दक्षिण में रौरव नामक और उत्तर में महारौरव नामक नारकावास है । इन सब के मध्य में अप्रतिष्ठान नामक प्रधान नारकावास है ॥सूत्र १२॥

सूत्रार्थ—'णिच्चासुभयरलेस्सा' इत्यादि ॥सूत्र १३॥

नारक जीव नित्य ही अत्यन्त अशुभ लेश्या वाले, वेदना वाले और विक्रिया वाले होते है ॥ सू० १३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियों में अनुक्रम से नरकावासो की प्ररूपणा की गई, अब उन नरकों में निवास करने वाले नारक जीवो के स्वरूप का कथन करते है—

पूर्वोक्त नरकों में रहने वाले नारक जीवों की लेश्या सदैव अर्थात् निरन्तर अशुभतर ही रहती है । अशुभतर का अभिप्राय यह कि तिर्यंच गति की अपेक्षा अशुभ होती है और स्वगति अर्थात् नरकगति की अपेक्षा भी ऊपर-ऊपर की अपेक्षा से नीचे-नीचे अधिकाधिक अशुभ होती है ।

वहाँ शब्द, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का परिणमन भी उस क्षेत्र के निमित्त से अत्यन्त अशुभ होता है । वह परिणमन नारक जीवों के घोर दुःख का कारण होता है ।

अशुभ नामकर्म के उदय से नारको का शरीर अतीव अशुभ होता है । उनकी आकृति वड़ी ही विकृत होती है, हुंडक संस्थान होता है और देखने में अत्यन्त अरुचिकर होता है ।

अनादि पारिणामिकशीतोष्ण बाह्यनिमित्तोत्पादिकाः सुतीव्रा वेदना येषां येषु ते नित्याशुभतरवेदना तत्र–सप्तस्वपि नरकभूमिषु दशविधाः क्षेत्रवेदना भवन्ति, तद्यथा–अनन्तक्षुधा–१ अनन्ततृषा-२ अनन्तशीतम्-अनन्तोष्णम्-अनन्तपरवशता-अनन्तदाहः—६ अनन्तकण्डूया-७ अनन्तभयम–८ अनन्तशोकः-९ अनन्तजरा च ।

एवं–नित्याशुभतरविक्रियाः–नित्यं प्रतिक्षणम् अशुभतरा विक्रियाः येषा–येषु च ते नित्याशुभतरविक्रियाः, ते खलु–नारका जीवाः आकालिकप्रयत्ना अपि, उत्तरवैक्रियं शरीरं रूपवत्तेच्छया रचयन्तोऽपि क्षेत्र [कर्मा]ऽनुभावाद्, विरूपतरमेवा–ऽऽविष्कुर्वन्ति–विदूषकादिवत इति भावः ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं रत्नप्रभादिसप्तभूमिषु क्रमशस्त्रिंशत्–पञ्चविंशति–पञ्चदश-दश–त्रिलक्ष पञ्चोनैकलक्षपञ्चसंख्यका नरकाः प्ररूपिताः सम्प्रति–तेषु नरकेषु भवानां नारकजीवानां स्वरूपादीनि प्ररूपयितुमाह—"**नारगा णिच्चा**—" इत्यादि ।

नारकाः— पूर्वोक्तलक्षणेषु नरकेषु भवाः निरयवासिनो जीवा. नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम–शरीर–वेदना–विक्रिया भवन्ति नित्यं शश्वत्–अशुभतराः–अतिशयेनाशुभा. लेश्याश्च कृष्णादि-लेश्याः, परिणामाश्च–शब्द, वर्ण, रस, गन्ध. स्पर्शादयः, शरीराणि च–भवधारकवैक्रियरूपाणि,

---

उन जीवो को सदैव अशुभतर वेदना होती है। उस अशुभतर वेदना का अन्तरंग कारण तीव्र असातावेदनीय कर्म का उदय और बहिरंग कारण अनादि पारिणामिक शीत और उष्णता आदि है। नरकभूमियों में दस प्रकार की क्षेत्रजनित वेदना होती है। वह इस प्रकार है –(१) अनन्त क्षुधा (२) अनन्त तृषा (३) अनन्त शीत (४) अनन्त उष्ण (५) अनन्त परवशता (६) अनन्त दाह (७) अनन्त खुजली (८) अनन्त भय (९) अनन्त शोक और (१०) अनन्त जरा।

इसी प्रकार उन नारक जीवो की विक्रिया भी सदैव अशुभतर ही होती है। वे जीव अपना उत्तरवैक्रिय रूप सुन्दर रूप सम्पन्न बनाना चाहते हे मगर क्षेत्र के और कर्म के प्रभाव से वह विदूषक आदि के समान बड़ा विरूप बनता है ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि सात भूमियों में क्रमशः तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाच नरकों की प्ररूपणा की है। अब उन नरकों में उत्पन्न होने वाले नारक जीवों के स्वरूप आदि की प्ररूपणा करते है—

नरकों मे उत्पन्न होने वाले नारक जीव निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया वाले होते है, यहाँ नित्य का अर्थ है सदैव और अशुभतर का अभिप्राय है। अत्यन्त अशुभ–अनिष्ट। कृष्ण आदि लेश्याएँ प्रसिद्ध है। परिणाम का अर्थ शब्द, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श समझना चाहिए। शरीर का आशय है भवधारणीय वैक्रिय शरीर।

वेदनाश्च असाता वेदनीयकर्मोदयनिमित्तजनितः सुतीव्रादिदुःखानुभवरूपाः विकृताश्च विकृतोत्तर-वैक्रियशरीररूपं येषां ते—नित्याशुभतरलेश्या परिणामशरीरवेदनाविक्रियाः नारका भवन्ति तत्र—लेश्यादीनां विक्रियान्तानां द्वन्द्वसमासः, द्वन्द्वादौ श्रूयमाणस्य नित्याशुभतरशब्दस्य, प्रत्येकं लेश्यादावन्वयात् नित्याशुभतरलेश्याः, नित्याशुभतरपरिणामाः, नित्याशुभतरशरीराः, नित्याशुभतरवेदनाः, नित्याशुभतरविक्रियाः नारका इत्यर्थो लभ्यते नित्यशब्दश्चाऽत्रा-ऽभीक्ष्णार्थको बोध्यः नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पितः इत्यादिवत् ।

तत्र—रत्नप्रभाशर्कराप्रभापृथिव्योर्नारकाणां कापोतिलेश्या, वालुकाप्रभापृथिव्यामुपरि कापोति लेश्या, अधश्च—नीललेश्या नारकाणां भवति पङ्कप्रभायां नैरयिकाणां नीललेश्या, धूमप्रभायामुपरिष्टात्—नीललेश्या-अधस्तात् कृष्णलेश्या तमःप्रभायां तेषां कृष्णलेश्या, तमस्तमःप्रभायां नैरयिकाणां परमकृष्णलेश्या भवति, एताश्च तेषां नारकाणां स्वायुषः प्रमाणावधृता लेश्याः प्रतिपादिताः ।

परिणामाश्च तेषां क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादत्यन्तदुःखहेतवोऽशुभतराः शब्दवर्णरसगन्धस्पर्शा भवन्ति, शरीराणि च तेषां नारकाणामशुभनामकर्मोदयादशुभतराणि विकृताकृतीनि हुण्डसंस्थानानि निर्लूनाऽण्डजशरीराकाराणि दुर्दर्शानि भवन्ति

वेदना का तात्पर्य है असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला तीव्र दुःख और विक्रिया का मतलब है विकृत उत्तर वैक्रिय शरीर की विकुर्वणा । ये सब नारक जीवो में सदैव अतीव अशुभ होते है ।

मूल सूत्र में लेश्या आदि पदो में द्वन्द्व समास है । इस समास की आदि में प्रयोग किया हुआ 'नित्याशुभतर' शब्द लेश्या आदि सभी के साथ जोड़ा जाता है, अतएव आशय यह निकला कि नारक जीव नित्य अशुभतर लेश्या वाले, नित्य अशुभतर परिणाम वाले, नित्य अशुभतर शरीर वाले, नित्य अशुभतर वेदना वाले और नित्य अशुभतर विक्रिया वाले होते हैं । 'नित्यप्रहसित' या नित्यप्रजलित में जैसे 'नित्य' शब्द सातत्य सदा का वाचक है उसी प्रकार यहाँ भी सातत्य का वाचक है । उसका अभिप्राय हमेशा, सदैव, लगातार समझ लेना चाहिए ।

रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा पृथ्वियो के नारक जीवो में कापोत लेश्या होती है । वालुकाप्रभा के उपरी भाग में नारकों में कापोत और नीचे के भाग में नील लेश्या होती है । पंकप्रभा के नैरयिक नील लेश्या वाले, धूमप्रभा के ऊपरी भाग के नारक नीललेश्या वाले और निचले भाग के कृष्ण लेश्या वाले होते हैं । तमःप्रभा के नारक भी कृष्ण लेश्या वाले होते है । तमस्तमः प्रभा के नारकों में परमकृष्ण लेश्या होती है । यह नारक जीवों की आयु के अन्त तक रहने वाली लेश्या का प्रतिपादन किया गया ।

नरकभूमि रूप क्षेत्र के प्रभाव से उनके परिणाम अर्थात् शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श अत्यन्त अशुभ एवं दुःख के कारण होते है । अशुभ नामकर्म के उदय से उनके शरीर

तेषां च तथाविधशरीराणा मुत्सेधस्तावत् रत्नप्रभायां–सप्तधनूंषि. हस्तत्रयं–षडङ्गुलयः अधो-ऽधो द्विगुण–द्विगुण उत्सेधो बोध्यः वेदनाश्च–तेषां नारकाणामभ्यन्तरासातवेदनीयकर्मोदये सति अनादिपारिणामिकशीतोष्णवाह्यनिमित्तजनिता–उष्णतीव्रतीव्रतरबाधा भवन्ति प्रथमे द्वितीये च नरके उष्णवेदना भवन्ति । चतुर्थे च नरके उष्णवेदनावन्तो बहव. शीतवेदनावन्तश्च अल्पा भवन्ति पञ्चमे च नरके उष्णवेदनावन्तोऽल्पाः शीतवेदनावन्तश्च बहवो भवन्ति षष्ठे च नरके शीतवेदना सप्तमे च परमशीतवेदना, भवन्ति । विक्रियास्तु तेषां नारकाणामशुभतरा एव भवति

"शुभं विकरिष्याम" इत्येवं भावनासत्त्वेऽपि ते क्षेत्रकर्मानुभावात् अशुभतरमेव विकुर्वते, "सुखहेतूनुत्पादयाम" इत्येवं शुभभावनासत्त्वेऽपि क्षेत्रकर्मानुभावात् दु.खहेतूनेवोत्पादयन्ति नरकाश्च–सप्तसु पृथिवीषु वर्तमानाः–रत्नप्रभादिभूमिक्रमेणा ऽधोऽधो निर्माणतो–ऽशुभतरा भयङ्करा.सन्ति, यथा–रत्नप्रभायामशुभानरकाः, तदपेक्षया–शर्कराप्रभायामशुभतराः, ततोऽप्य-शुभतराः वालुकाप्रभायाम्, तदपेक्षयाऽपि-अशुभतराः पङ्कप्रभायाम् ततोऽप्यशुभतमाः धूमप्रभायाम्, तदपेक्षयाऽपि अशुभतरास्तमःप्रभायाम् , ततोऽप्यशुभतमा नरका स्तमस्तम.प्रभायां पृथिव्यां सन्ति

भी अत्यन्त अशुभ होते है । विकृत आकृति वाले, हुण्ड संस्थान वाले, छेदन–भेदन किये पक्षी के शरीर जैसे दुर्दर्शन होते हैं । उनके शरीरो की ऊँचाई रत्नप्रभा पृथ्वी मे सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल की होती है । इसके पश्चात् प्रत्येक पृथ्वी में दुगुनी–दुगुनी लम्बाई बढती गई है ।

नारक जीवो के असातावेदनीय कर्म का उदय होता है । उनकी अशुभतर वेदना का आभ्यन्तर कारण यही असातावेदनीय है और बाह्य कारण अनादि परिणामिक शीत, उष्ण आदि हैं जो अत्यन्त ही तीव्र होते हैं ।

पहली दूसरी और तीसरी नरक में उष्ण वेदना होती है । चौथी मे उष्ण वेदना वाले बहुत और शीत वेदना वाले थोडे होते है । पांचवीं में उष्ण वेदना वाले थोडे और शीत वेदना वाले बहुत होते है । छठी में शीतवेदना और सातवीं में परमशीत वेदना होती है । (जीवा० ३ प्रति. उद्दे. २ में) है ।

नारक जीवों की अशुभतर विक्रिया इस प्रकार होती है–'अच्छी विक्रिया करें' इस प्रकार की भावना होने पर भी क्षेत्र और कर्म के प्रभाव से वे अशुभतर विक्रिया ही किया करते है । वे चाहते तो है सुख के हेतुओं को उत्पन्न करना, मगर क्षेत्र और कर्म के प्रभाव से दुःख के हेतुओं को ही उत्पन्न करते है ।

सातो पृथिवियो में विद्यमान नरक नीचे–नीचे अनुक्रम से अधिकाधिक अशुभ होते है, भयंकर होते है । जैसे–रत्नप्रभा मे अत्यन्त अशुभ है तो शर्कराप्रभा में उससे भी अधिक अशुभ है और वालुकाप्रभा मे उससे भी अधिक अशुभ हैं । पंकप्रभा मे उससे भी अधिक

नित्यग्रहणेन च गतिजाति–शरीराङ्गो–पाङ्ग कर्मनियमात् नरकगतौ–नरकजातौ च नैरन्तर्येण भवक्षयोद्वर्तनपर्यन्तमुपर्युक्ता लेश्या परिणामशरीरवेदना विक्रियाः तेपामशुभतरा एव भवन्ति। न तु कदाचित् भवन्ति

इति विज्ञाप्यते, नयननिमेषमात्रमपि नारकाणामशुभतरलेश्यादिभिर्वियोगो न भवतीति नित्य-पदोपादेन व्यज्यते एवञ्च--रत्नप्रभायां तीव्राः कापोतिकलेश्या स्तेषा खलु नारकाणां मानसपरिणाम-विशेषरूपा भवन्ति तदपेक्षया तीव्रतरसक्लेशाऽध्यवसानाः कापोतलेश्याः शर्कराप्रभायां तेषां भवन्ति ततोऽपि–तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतमाःकापोतलेश्या स्तीव्राश्च नीललेश्या स्तेषां वालुका प्रभायां भवन्ति ।

तदपेक्षयापि–तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतरा नीललेश्या पङ्कप्रभायां भवन्ति, ततोऽपि तीव्रतरसंक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतमा नीललेश्याः, तीव्राश्च कृष्णलेश्या स्तेषां धूमप्रभायां भवन्ति ततोऽपि तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतराः कृष्णलेश्या स्तमःप्रभायां तेषां भवन्ति तदपेक्षयापि–तीव्रतरसक्लेशाध्यवसानास्तीव्रतमाः कृष्णलेश्यास्तमस्तमःप्रभायां तेषां नारकाणां भवन्ति, तेषाञ्च नारकाणां पुद्गलपरिणामोऽशुभतरो भवति ।

तथहि—शब्द–वर्ण–रस–गन्ध–स्पर्श–संस्थान-भेद-गति-बन्धना-ऽगुरु–लघुपरिणामभेदेन

और धूमप्रभा में उससे भी अधिक अशुभ है, तमः प्रभा में उससे भी अधिक तो ततस्तमः प्रभा में सब से अधिक अशुभ हैं।

सूत्र में 'नित्य' शब्द को जो ग्रहण किया है, उससे यह प्रकट होता है कि नरक गति में उपर्युक्त लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया सदैव अर्थात् नरक भव के प्रारंभ से लेकर भव के क्षय होने तक अशुभतर ही बनी रहती है। ऐसा नहीं होता कि कभी शुभ हो जाय ! पलक मारने जितने अल्प समय के लिए भी नारक जीवो का अशुभतर लेश्या आदि से वियोग नहीं होता है।

इस प्रकार रत्न प्रभा पृथ्वी में नारक जीवो की तीव्र मानसिक परिणामरूप कापोत लेश्या होती है। उसकी अपेक्षा अधिक तीव्र अध्यवसाय रूप कापोत लेश्या शर्कराप्रभा में होती है। उससे भी अधिक तीव्रतर अध्यवसाय रूप तीव्रतम कापोत लेश्या और तीव्र नील लेश्या वालुकाप्रभा में होती है। वालुकाप्रभा की अपेक्षा तीव्रतर संक्लेश स्वरूप नीललेश्या पंकप्रभा में पाई जाती है। पंकप्रभा की अपेक्षा भी तीव्रतर संक्लेशमय तीव्रतम नीललेश्या और तीव्र कृष्णलेश्या धूमप्रभा में होती है। धूमप्रभा की अपेक्षा भी तीव्रतर संक्लेशरूप तीव्रतर कृष्णलेश्या तमःप्रभा में होती है और उससे भी अधिक तीव्र अध्यवसाय रूप तीव्रतम कृष्णलेश्या तमस्तमःप्रभा में नारक जीवो को होती है।

नारको में दस प्रकार का अशुभ पुद्गल परिणाम पाया जाता है, जो इस प्रकार हैं— (१) अशुभ वर्ण (२) अशुभ गध (३) अशुभ रस (४) शब्द (५) अशुभ स्पर्श (६)

दशविधस्तावदशुभतरः पुद्गलपरिणामो नरकेषु तेषां भवति तत्र शब्दस्तावत्—तीक्ष्णपरुषनिष्ठुरप-रिणामो नारकाणां भवति

वर्णश्च—भयङ्करोगम्भीररोमाञ्चकारीत्रासातङ्कजनक. परमकृष्णो भवति, रसस्तु नर-कस्थपुद्गलानां पिचु–मन्द–कोशातकी निर्यासससदृशपरिणामो भवति ।

गन्धश्च—श्वान–मार्जार–शृगाल–गजाश्व–कुथितमृतकगन्धातिरेका–ऽशुभपरिणामो भवति स्पर्शःपुन–वृश्चिकदंश–कपिकच्छू–मुर्मुराङ्गारसदृशपरिणामः, संस्थानञ्च–नरक–नारकाकृतिश्च दर्शनमात्रेणैवोद्वेगजनकं भवति पिशाचाकृतिवत् , पुद्गलानां भेदपरिणामोऽपि नरकेषु अशुभतरो भवति शरीरनरककुडयादिभ्यो भिद्यमानाः पुद्गलाः स्पर्शवर्णादिभिरशुभपरिणतिमासादयन्तो दुःख-जनका भवन्ति ।

गतिश्च—नारकाणां खलु अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मोदयाद् अशुभतरा उष्ट्रपतङ्गादि वद् अशुभतरा भवति । बन्धनञ्च—पुद्गलानां शरीरादिषु सश्लिष्टानामशुभतरपरिणामात्मकं भवति. स्पर्श–वर्णादिभिरगुरु-लघुपरिणामोऽपि अशुभतर एव भवति, सर्वेषां खलु नारकीयजीवाना शरीराणि आत्मनो न गुरूणि भवन्ति नापि–लघूनि भवन्ति ।

इत्येव मगुरुलघुपरिणामोऽनेकविधदुःखाश्रयत्वादनिष्टतरो भवति । एवञ्च–नरका-

---

अशुभ सस्थान (७) अशुभ भेद (८) अशुभ गति (९) अशुभ बन्धन और (१०) अशुभ अगुरुलघु परिणाम ।

नारको का शब्द तीक्ष्ण, कठोर, और निष्ठुर परिणाम वाला होता है । उनका रूप भयंकर, गंभीर रोमांचजनक एवं त्रास तथा आतंक उत्पन्न करने वाला बहुत काला होता है । नरक के पुद्गलो का रस नीम तथा कटु कोशातकी (तुरई) के समान कटुक होता है । वहाँ के गन्ध का परिणमन मरे हुए और सडे हुए श्वान, मार्जार, शृगाल, गज और अश्व के शव से भी अधिक अशुभ होता है । स्पर्श ऐसा होता है जैसे बिच्छू के डंक, खाज, मुर्मुर (मूमर) या अंगार का हो, नरको और नारको की आकृति देखने ही घबराहट पैदा करती है जैसे पिशाच की आकृति हो, नरको मे पुद्गलो का भेद परिणाम भी अत्यन्त अशुभ होता है । शरीर और नरक की दीवाल आदि से भिन्न होने वाले पुद्गल स्पर्श वर्ण आदि की अपेक्षा अशुभ परिणति को प्राप्त होते हुए अत्यन्त दुःखजनक होते है ।

अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म के उदय से नारक जीवों की गति ऊट और पतंग आदि की गति के समान अतीव अशुभ होती है । शरीर आदि से सटद्ध पुद्गलों का बन्धन भी अशुभतर ही होता है । स्पर्श वर्ण आदि से अगुरुलघु परिणमन भी अशुभतर ही होता है । सभी नारक जीवो के शरीर न गुरु होते है और न लघु होते है ।

इस प्रकार उनका अगुरुलघु परिणाम भी अनेक प्रकार के दुःखो का आश्रय होने के कारण बड़ा ही अनिष्ट होता है ।

वासाः—तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वत–समन्तात् खलु अनन्तघोरभयङ्करतमसा सततव्याप्तान्धकाराः श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतो मलशोणितवसा–मज्जा–मेदः–पूयलिप्ततलभागा भवन्ति। श्मशानभूमिरिव पूतिमांसकचा–ऽस्थिचर्मदन्तनखाच्छन्नभूमयः श्वान–शृगाल–मार्जार–नकुल–वृश्चिक सर्पमूषिकह-स्त्यश्व गो महिषमानुषशवकोष्ठा–ऽशुभतरदुर्गन्धाश्च भवन्ति, अत्यन्त हृदय द्रावकतीव्रकरुणरुदि-तैर्दीनविक्लवैरार्तध्वनिभिर्विलापैर्याचितैर्बाष्पसन्निरुद्धैर्गाढवेदनैः सन्तप्तोच्छ्वास -निश्वासैरशान्त-मुखरितकोलाहलभयत्रासजनकस्वनाश्च भवन्ति।

नारकीयशरीराणि चा–ऽशुभनामकर्मोदयादशुभतराणि अङ्गोपाङ्गनिर्माणसंस्थानस्पर्श रस-गन्धवर्णस्वराणि हुण्डानि निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि वर्तक (वटर) पक्षि शरीराकाराणि–अत्यन्तबीभ-त्सानि जुगुप्सा-जनकानि भवन्ति, यदवलोकनेन घृणा-भयञ्चोत्पद्यते परेषां जीवानाम्। अतएव तानि शरीराणि क्रूरकरुणबीभत्सा-ऽत्यन्तभयदर्शनानि तीव्रदुःखयातनापूर्णानि नित्याशुचीनि च भवन्ति।

तानि च शरीराणि रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु क्रमशोऽधोऽधोऽशुभतराणि सन्ति। तेषाञ्च नार-काणां तानि शरीराणि द्विविधानि भवन्ति, भवधारणीयानि–उत्तरवैक्रियाणि च। तत्र च सप्तस्वपि पृथिवीषु भवधारणीय शरीरावगाहना जघन्येनाऽङ्गुलासख्येयभागप्रमाणाः, तेषां नारकाणां भवति।

वहाँ जो नरकावास है वे तिर्छे, ऊपर और नीचे सब ओर से अत्यन्त घोर और भयंकर अन्धकार से सदैव परिपूर्ण होते है। उनको लगभग श्लेष्म (कफ), मूत्र, विष्ठा, मल, रुधिर, चर्बी, मज्जा, मेद, एवं मवाद से लिप्त होते हैं। श्मशान भूमि के समान बदबूदार मांस, बाल, अस्थि, चर्म, दाँत नाखून आदि से वहाँ की भूमि व्याप्त रहती है। वहाँ ऐसी दुर्गन्ध आती रहती है जैसे मृतक कुत्ता, सियार, मार्जार, नकुल (न्यौला), बिच्छू, सर्प मूषिका हस्ती अश्व, गौ, भैस या मनुष्य का सड़ा शव हो। वहाँ अत्यन्त ही हृदयद्रावक, करुणाजनक रुदन की ध्वनि सुनाई देती है। नारक जीवो की आर्त्तध्वनि, विलाप, याचित शब्द सुनाई पडते है। अश्रुओ से परिपूर्ण, गाढी वेदना से युक्त, संतापपूर्ण उच्छ्वास–निःश्वास का अशान्त एवं मुखरित कोलाहल मय, एवं त्रास जनक होता है।

नारकीय जीवो के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से अत्यन्त अशुभ होते है। उनके अंग उपांगो का निर्माण संस्थान, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और स्वर हुण्ड होता है, छेदे–भेदे पक्षी के शरीर के आकार के, बतक पक्षी के आकार के, अत्यन्त बीभत्स एवं घृणाजनक होते हैं। उन्हे देख कर दूसरे जीवो को घृणा और भय होता है। इस कारण वे शरीर क्रूर, करुणा, बीभत्स और अत्यन्त भयोत्पादक दिखाई देते हैं। तीव्र दुःखो और यातनाओ से परिपूर्ण एवं नित्य अशुचि होते हैं।

नारको के शरीर रत्नप्रभा आदि सातो पृथ्वियों में क्रम से नीचे–नीचे अधिकाधिक अशुभ होते हैं। उनके शरीर दो प्रकार के होते है।—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। इनमें से

उत्कृष्टेन तु–शरीरावगाहना रत्नप्रभानारकाणां षडङ्गुलाधिकानि पादोनाष्टधनूंषि (ध. – अं.) ७॥ – ६ शर्कराप्रभानारकाणां द्वादशाङ्गुलाधिकसार्द्धपञ्चदशधनूंषि (१५॥ध. १२ अं.) ३। वालुकाप्रभानारकाणां सपादैकत्रिंशद्धनूंषि (३१।.) ३। एवं शेषासु चतसृषु पङ्कप्रभादि तमस्तम प्रभापर्यन्तपृथिवीषु नारकाणामवगाहना उत्तरोत्तरं द्विगुणा द्विगुणाऽवगन्तव्या। एवं सप्तसु पृथिवीषु नारकाणामुत्तरवैक्रियावगाहना तु स्व स्व स्थानगतभवधारणीयशरीरस्योत्कृष्टावगाहनातो द्विगुणाद्विगुणा भवतीति बोध्यम्।

उत्तरवैक्रियन्तु–नारकाणां शरीरं रत्नप्रभायां जघन्येना–ऽङ्गुलस्य सङ्ख्येयभागप्रमाणम्, शर्कराप्रभादि षट् पृथिवीषु चाऽपि- जघन्येनाऽङ्गुलस्य सङ्ख्येयभागप्रमाणमेव तेषामुत्तरवैक्रिय शरीरमवसेयम्। सूत्र ॥१३॥

मूलसूत्रम्- -"अण्णमण्णोदीरिय दुक्खाय–" सूत्र–१४

छाया—"अन्योऽन्योदीरित दुःखाश्च—"

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे नारकाणां स्वरूपाणि शीतोष्णादिजनितदुःखादिकानि च प्ररूपितानि, सम्प्रति-तेषां-प्रकारान्तरेणापि दु.खादिकं संजायते इति च प्ररूपयितुमाह—"अण्णमण्णोदीरिय दुक्खाय–" इति। अन्योऽन्यं-परस्परम् उदीरितम् उत्पादितं दुःखं येषां–थैर्वा ते ऽन्यो

भवधारणीय शरीर रत्नप्रभा पृथ्वी में जघन्य अंगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण होता है। शर्कराप्रभा आदि में भी भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना इतनी ही होती है। उत्कृष्ट अवगाहना रत्नप्रभा में सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल की है। यह परिमाण जो बतलाया गया है सो उत्सेधांगुल की अपेक्षा से समझना चाहिए। परमाणु आदि के क्रम से आठ यवमध्य को एक अंगुल कहते है। चौवीस अंगुल का एक हाथ होता है और चार हाथ का एक धनुष।

रत्नप्रभा पृथ्वी में शरीर की जितनी उत्कृष्ट अवगाहना बतलाई गई है, उससे दुगुनी शर्कराप्रभा में होती है। शर्कराप्रभा से दुगुनी वालुकाप्रभा में, इस प्रकार सातवीं पृथ्वी तक दुगुनी–दुगुनी अवगाहना होती गई है।

नारको के उत्तर वैक्रिय शरीर इस प्रकार होता है—रत्नप्रभा पृथ्वी में जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण और शर्कराप्रभा आदि आगे की छहों पृथ्वियों में भी अंगुल के संख्यातवें भाग की जघन्य अवगाहना होती है। तात्पर्य यह है कि नारक जीव यदि छोटे से छोटे शरीर की विक्रिया करें तो वह अंगुल के संख्यातवें भाग की होती है। सूत्र–॥१३॥

सूत्रार्थ—'अण्णमण्णो' इत्यादि। सूत्र १४—

नारक जीव आपस आपस में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते रहते है ॥१४॥

तत्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में नारकों के स्वरूप का और उन्हें होने वाले शीत एवं उष्णता जनित दुःखों का प्ररूपण किया गया है। अब यह प्ररूपणा करते है कि

ऽन्योदीरितदु खा तथाविधाश्च नारका भवन्ति । अथ कथं तावद् नारकाः परस्परोत्पादित दुःखा भवन्तीतिचे दुच्यते—भवप्रत्ययेना-ऽवधिज्ञानेन मिथ्यादर्शनोदयाद्-विभङ्गज्ञानेन च दूरादेव दुःख हेतून् विज्ञायोत्पन्नदुःखा भवन्ति । एवं-सान्निध्ये सति परस्परावलोकनाच्च प्रज्वलितकोपानला, पूर्वभवबद्धवैरानुस्मरणाच्चा-ऽतितीव्रानुबद्धवैरा., श्वान-शृगालवत् , अश्वमहिषादिवद्वा परस्पराभिघाते प्रवर्तमाना स्ववैक्रियक्रिययोत्पादिता-ऽसि-पट्टिश-परशु-भिण्डिपाल-शक्ति-तोमर-कुन्ता-ऽऽयोधनादिभिः परस्परस्या-ऽति तीव्रं दुःखमुदीरयन्ति समुत्पादयन्तीति भावः ॥सूत्र १४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं रत्नप्रभादिसप्तसु पृथिवीषु नरकाऽऽवासा नारका जीवाश्च यथायथम्-अशुभतरकृष्णादि लेश्यास्पर्शादिपरिणाम-भवधारणीयो-त्तरवैक्रियशरीरं-तीव्रादि वेदना-विक्रिया स्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं प्ररूपिता—सम्प्रति—नारकाणां पूर्वभवानुबद्धवैरानुस्मरणादिभिरपि परस्परदुःखोत्पादनं भवतीति प्ररूपयितु माह—

"अण्णमण्णो दीरिय दुक्खाय-" इति । अन्योऽन्योदीरितदुःखाश्च-अन्योऽन्यस्य परस्परस्यो-दीरितमुत्पादित दु ख येषां—यैर्वा , ते ऽन्योऽन्योदीरीतदु खाः, तथाविधाश्चापि नारका

उनको अन्य प्रकार से भो दु.ख का अनुभव होता है—

नारक जीव परस्पर में भी एक दूसरे को दुःख उपजाते रहते है ।

नारक जीव क्यो आपस में दुःख उत्पन्न करते है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान के द्वारा और मिथ्यादर्शन के उदय से विभंगज्ञान द्वारा दूर से ही दु.ख के कारणो को जान कर परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते है।

इसी प्रकार जब एक नारक दूसरे नारक के निकट आता है तो एक की दूसरे पर नजर पडते ही-उसकी क्रोधाग्नि भभक उठती है। उन्हें पूर्वभव में बाँधे हुए वैर का स्मरण हो जाता है, वे परस्पर तोव्र वैरभाव युक्त हो जाते है । तब वे श्वान और शृगाल की तरह तथा अश्व और महिष की भाँति परस्पर में आघात—प्रत्याघात करने लगते है । अपनो विक्रियाशक्ति के द्वारा वे असि, पट्टिश, परशु, भिण्डपाल, शक्ति, तोमर, कुन्त एवं अयोघन आदि शास्त्रो की विक्रिया करके परस्पर में एक दूसरे को अत्यन्त तीव्र दुःख की उदीरणा करते है —दुःख उत्पन्न करते है । ॥ १४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले नारक जीवो की प्ररूपणा की गई है। सात नरकभूमियो में कितने—कितने नारकावास है, उनमें कहाँ कौन—सी अशुभ लेश्या होती है, उनके स्पर्श आदि परिणाम भवधारणीय एवं उत्तर वैक्रिय शरीर, तीव्र वेदना, विक्रिया आदि का निरूपण किया जा चुका है । यहाँ यह बतलाते है कि नारक जीव पूर्वभव में बाँधे हुए वैर का स्मरण करके आपस में भी एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते है ।—

नारक जीव आपस में भी एक—दूसरे को दुःख उत्पन्न करते है । तात्पर्य यह है कि

भवन्ति । नरकक्षेत्रानुभावजनितादशुभात्-पुद्गलपरिणामात पूर्वभवाऽनुबद्धपरस्परवैरानुस्मरणाच्च नरकेषु नारकाणां परस्परोत्पादितानि दुःखानि भवन्ति।

तत्र–ये खलु नारकाः मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, ते भवप्रत्यय विभङ्गानुगतत्वाद्वलोक्य परस्पर मेवाऽभिघातादिभिर्दुःखानि समुदीरयन्ति, ये पुनः–सम्यग्दृष्टयो नारका स्तेतु–सञ्ज्ञित्वादेव पूर्वजन्म-कृताऽनाचारकारिणं स्वात्मानमेवाऽनुशोचन्तो नरकक्षेत्रस्वभावजनितानि दुःखानि सहमानाः परान् अनिघ्नन्तः परैरुत्पादितवेदनाःसन्तोऽपि नितान्तदुःखिनः स्वायुषः क्षयमपेक्षन्ते, न पुनस्ते ऽन्यनारकाणां दुःखवेदनाः समुत्पादयन्ति, तेषामवधिज्ञानस्य विभङ्गानात्मकत्वात् ।

किन्तु–न केवलं तेषां परस्परोदीरणजनितान्येव दुःखानि भवन्ति, अपितु—सहजान्यपि दुःखानि भवन्ति । नरकक्षेत्रस्य-दुःखात्मकस्वभावत्वात् , न हि तत्र किञ्चित् सुखमात्राऽप्यस्ति उपपातादिहेतुकं तत्रत्यं सुखमपि–बहुतरदुःखसंमिश्रितत्वाद्–अल्पकालस्थायित्वाच्च विषसम्पृक्त मध्वन्नादिवत् दुःखमेवावसेयम् । तस्मादेवंविधनरकक्षेत्रानुभावनिष्पादितपुद्गलपरिणामाच्च नारका दुःखमनुभवन्ति ।

तथाचा-ऽतिशयशीतो-ष्ण-क्षुत्तृषादिः खलु नरकक्षेत्रस्वभावजनितः पुद्गलपरिणामो भवति ।

नरक क्षेत्र के स्वाभाविक अनुभाव से उत्पन्न होने वाले अशुभ पुदगल परिणामसे तथा पूर्वभव में बाँधे हुए पारस्परिक वैर का स्मरण हो जाने से नरको में नारक जीव परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते है ।

जो नारक जीव मिथ्यादृष्टि होते है वे विभंग ज्ञान से युक्त होने के कारण आपस में एक दूसरे को देखते ही परस्पर आघात–प्रत्याघात करने लगते है और दुःख उपजाते है, किन्तु जो नारक सम्यग्दृष्टि होते है, वे सञ्ज्ञी होने के कारण पूर्व जन्म में अनाचार करने वाले अपने आत्मा का ही विचार करते है, उसके लिये पश्चात्ताप करते है और नरक क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न दुःखो को सहन करते रहते है । वे दूसरे नारको को आघात नहीं करते, सिर्फ दूसरों के द्वारा उत्पादित वेदना को सहन करते है और नितान्त दुःखी रहते हुए अपने नरकायु क्षय की प्रतीक्षा करते रहते है, वे अपनी ओर से दूसरे नारको को दुःख वेदना उत्पन्न नहीं करते है क्यों कि उनका अवधिज्ञान कु–अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) नहीं होता है ।

नारक जीवो को परस्पर में उदीरित दुःख ही नहीं होते वरन् सहज दुःख भी होते है, क्यो कि नरक भूमि स्वभाव से ही दुःखमय होती है वहाँ सुख का लेश भी नहीं होता उपपात आदि के कारण वहाँ होने वाला सुख भी बहुतर दुःख से मिश्रित होने के कारण विषमिश्रित मधु या अन्न के समान दुःखरूप ही समझना चाहिए ।

इस प्रकार नरकक्षेत्र के अनुभाव से उत्पन्न पुदगल परिणाम से भी नारक जीव दुःख का अनुभव करते है ।

अतिशय शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि नरक क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाला

अनुपशान्तशुष्केन्धनो-पादाना-ऽनलेनेव तीक्ष्णेन व्यातक्षुधाग्निना दंदह्यमानशरीराः प्रतिसमयमा हारयन्तस्ते नारकाः सर्वपुद्गलानपि भक्षयेयु', तीव्रया च सततानुपक्तया तृपया शुष्ककण्ठौष्ठ-तालु जिह्वा' सर्वानपि सम्पूर्णान् समुद्रान् अहम्पूर्विकया पिबेयुः।

किन्तु--तथापि तृप्तिं नासादयेयुः क्षुधा-पिपासेच तेषां नारकाणा वर्द्धैयातामेवेत्येवं प्रभृतीनि नरकक्षेत्रानुभावप्रत्ययानि भवन्ति पुद्गलपरिणामफलानि, परस्परोदीरितदुःखानि च नारकाणां भवन्ति। तथाहि--नारकेषु तावद् अवधिज्ञानम् अशुभहेतुकं मिथ्यादर्शनयोगाच्च विभङ्गज्ञानं भवति।

तत्र--मिथ्यादृष्टीनां विभङ्गज्ञानम्, तदितरेषां नारकाणामवधिज्ञानम्, भावदोषोपघातात्पुनस्तेषां तदपि दुःखकारणमेवोपजायते। तेन हि--अवधिज्ञानेन सर्वत.--समन्तात् ते नारकास्तिर्यगूर्ध्वमधश्च दूरादेव दुःखहेतून् सततमवलोकयन्ति। यथा--खलु "अहि-नकुलम्, अश्व-माहिषम्, काकोलूकञ्च--" जन्मनैव परस्परवद्धवैरं भवति, तथैव--नारका' अपि परस्परं बद्धवैरा भवन्ति, यथावा--अपरिचितकुक्कुरानवलोक्य श्वानो भ्रूभङ्गपूर्वकं क्रुध्यन्तो घुरघुरायन्ते--परस्पर माघातं कुर्वन्ति च, तथैव--तेषां नारकाणा मवधिज्ञानेन दूरत एव परस्परं विलोकयताम् तीव्रानुशयो दुरन्तो भवहेतुकः कोप उपजायते।

परिणमन है। सूखा ईंधन मिलते रहने से जैसे अग्नि शान्त नहीं होती बल्कि बढती जाती है, उसी प्रकार नारक जीवों का शरीर तीव्र क्षुधा की आग से जलता ही रहता है। प्रतिसमय आहार करते-करते नारक जीव कदाचित् समस्त पुद्गलो का भक्षण कर ले और निरन्तर बनी रहने वाली तीव्र पिपासा के कारण सूखे कंठ, होठ, तालु एवं जिह्वा वाले वे नारक कदाचित् समस्त समुद्रो का जल पी डाले तो भी उन्हे तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसा करने से उनकी भूख और प्यास में वृद्धि ही होगी! ऐसी उत्कट भूख और प्यास वहाँ होती है, यह सब परिणमन नरक क्षेत्र के प्रभाव से होती है।

इस क्षेत्र प्रभाव जनित वेदना के अतिरिक्त नारक जीवो को परस्पर जनित वेदना भी होती है। नारक जीवों को अशुभ भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। जो मिथ्यादृष्टि नारक हैं, उन्हें विभंगज्ञान होता है और सम्यक्दृष्टि नारकोंको अवधिज्ञान होता है' भावदोष के कारण उनका वह ज्ञान भी दुःख का ही कारण होता है उस ज्ञान से नारक जीव ऊपर, नीचे और तिरछे--सभी ओर दूर से ही दुःख के कारणों को सदा देखते हैं। जैसे सर्प और न्यौला, अश्व और महिष तथा काक और उल्लूक जन्म से ही वैरी होते है। उसी प्रकार नारक भी स्वभाव से ही एक दूसरे के वैरी होते है जैसे किसी अपरिचित कुत्ते को देखकर दूसरे कुत्ते एकदम क्रुद्ध हो उठते है और घुरघुराते हुए उस पर हमला कर देते हैं, उसी प्रकार नारकों को, एक दूसरे को देखते ही तीव्र भवहेतुक क्रोध उत्पन्न होता है। तब क्रोध से प्रज्वलित चित्त हो कर, दुःख समुद्घात आर्त्त अचानक झपटे हुए कुत्तों

ततश्च—ते सपद्येव दुःखसमुद्घातार्ताः क्रोधानलप्रज्वलितमानसाः अतर्कितोपनता श्वान इव समुद्धताः अत्यन्तभयानकं वैक्रियं रूपमासाद्य तत्रैव—पृथिवीपरिणामजातानि नरकक्षेत्रानुभावोत्पादितानि चा—ऽयः शूल—शिला—शक्ति—तोमर—मुसल—मुद्गर—कुन्ता—ऽसि—पट्टिश—खड्ग—यष्टि—परशु-भिन्दीपाल प्रभृतीन्यस्त्र-शस्त्राणि समादाय तैः हस्त-पाद-दन्तादिभिश्च परस्परमभिघातं कुर्वन्ति।

ततश्च—परस्पराभिघातहताः सन्तो विकृताङ्गाः आर्तनाद कुर्वन्तो गाढवेदनाः सूनाघातन प्रविष्टाः महिष—शूकर—मेषा इव स्फुरन्तः शोणितकर्दमेऽपि लुठन्ते इत्येवं रीत्या खलु नरकेषु नरकाणां परस्परोत्पादितानि दुःखानि भवन्ति इतिभाव सूत्र—१४॥

मूलसूत्रम्—"तच्चं पुढविं जाव संकिलिट्ठासुरोदीरियदुक्खाय—॥१५॥

छाया—'तृतीयां पृथिवीं यावत् संक्लिष्टा-ऽसुरोदीरितदुःखाश्च"—॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नारकाणां पूर्वजन्मानुबद्धवैरस्मरणाद्—नरकानुभावाच्च परस्परोत्पादितानि दुःखानि भवन्तीति प्ररूपितम्, सम्प्रति—वालुकाप्रभा पृथिवीपर्यन्त नारकाणा विशेषत संक्लिष्टा—ऽसुरैर्दुःखानि-उत्पाद्यन्ते इति प्ररूपयितुमाह—"तच्चं पुढविं जाव संकिलिट्ठा सुरोदीरियदुक्खा य—" इति। तृतीयां पृथिवीं यावत्—वालुकाप्रभा पृथिवीपर्यन्तं। संक्लिष्टासुरैः—पूर्वजन्मनि सम्भावितेना—ऽतितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन उपार्जितस्य पापकर्मणः उदयात् सततं क्लिष्टाः सर्वथा वा—क्लिष्टाः संक्लिष्टाः असुरा. परमाऽधार्मिका संक्लिष्टा सुरास्तैरुदीरितानि—उत्पादितानि दुःखानि येषां ते संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखा. तथाविधाश्च भवन्ति।

के समान उद्धत, वे नारक अत्यन्त भयानक वैक्रिय रूप बनाकर, उसी जगह पृथ्वी के परिणमन से—बने हुए एवं नरकभूमि के अनुभाव से उत्पन्न किए हुए शूल, शिला, शक्ति, तोमर, मुसल, मुद्गर, कुन्त, खड्ग, पट्टिश, लाठी, परशु, भिन्दिपाल आदि शस्त्र लेकर तथा हाथों पैरो और दातो से भी परस्पर आक्रमण करते हैं।

आपस के आघात—प्रत्याघातो से आहत होकर वे आर्त्तनाद करते है। उनके अंग—अंग विकृत हो जाते है। उन्हे इतनी गाढी वेदना होती है कि वे कत्लखान में प्रविष्ट भैसे, शूकर एवं मेढे के समान तडफते है और रुधिर के कीचड मे लोटते है! तात्पर्य यह है कि नारकों को नरक में परस्परोत्पन्न ऐसे घोर दुःख सहन करने पडते है। सूत्र—१४

सूत्रार्थ—"तच्चं पुढविं जाव" इत्यादि। ॥सूत्र १५॥

अत्रा—ऽसुराणां संक्लिष्ट इति विशेषणेन न सर्वेऽसुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति, अपितु—कतिपया एव परमाधार्मिकसंज्ञकाः—अम्बाऽम्बरीषादयोऽसुरा इतिज्ञाप्यते,

तेन—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा पृथिवीषु तिसृष्वेव संक्लिष्टासुरा नारकाणां बाधाहेतवो भवन्ति । न तु—तृतीयपृथिवीतः परासु पङ्कप्रभाप्रभृति तमस्तमःप्रभापर्यन्तपृथिवीषु ते खलु तेषां बाधाहेतवो भवन्ति । चकारेण—सुतप्ताऽयोरसपायननिष्टप्ताऽयः स्तम्भाश्लेषणकूट शाल्मल्यारोहणा-वतारणायोघनाभिघातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनाऽयः कुम्भीपाकाऽम्बरीष भर्जन वैतरणी मज्जन यन्त्रनिष्पीडनादिभिश्च नारकाणां दुःखं समुत्पादयन्ति—परस्परं ते नारकाः इति गृह्यते । एवम्—छेदनभेदनादिभिः खण्डीकृतशरीराणामपि तेषां नारकाणां नाऽकाले मरणं भवति, तेषामनपवर्त्यायुष्कत्वात् इतिभावः

असुरशब्दव्युत्पत्तिस्तु—देवगतिनामकर्मविकल्पस्या—ऽसुरत्वसवर्तनस्य कर्मण उदयाद् अस्यन्ति—क्षिपन्ति परान् इत्यसुरा अवगन्तव्याः इति ॥सूत्र—१५॥

सूत्र में 'सक्लिष्ट' विशेषण का प्रयोग करके यह प्रदर्शित किया गया है कि सभी असुर नारको को पीड़ा नहीं पहुँचाते अपितु कतिपय परमाधार्मिक नाम के अम्ब, अम्बरीष आदि असुर ही पीड़ा देते है ।

सक्लिष्ट असुर रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा इन तीन भूमियों में ही नारक जीवो की बाधा के निमित्त बनते है, इनसे आगे की पंकप्रभा आदि पृथ्वियों में वे बाधा नहीं पहुँचाते, क्योकि तीसरी पृथ्वी से आगे उनका गमन होता ही नहीं है ।

ये असुरकुमार नारक जीवो को अत्यन्त तपाये हुए लोहरस का पान कराते हैं, खूब तपे हुए लोहमय स्तंभों का आलिंगन करवाते हैं, कूटशाल्मली वृक्ष पर—जिसके पत्ते तलवार के समान तीखे होते है, चढाते—उतारते हैं, लोहे के घनो की मार मारते हैं, वसूला छुरा आदि से छीलते है, उनके घावो पर तपा हुआ नमकीन तेल छिड़कते है, लोहमय कुंभियो में उन्हें पकाते है, भाड़ में भूनते है, वैतरणी नामक नदी में डुबाते है, यंत्रो में पील देते हैं; इत्यादि अनेक तरीको से नारको को वे दुःख उत्पन्न करते है ।

नारक जीवो के शरीर का छेदन—भेदन करने पर भी और शरीर के खण्ड—खण्ड कर देने पर भी अकाल मे उनकी मृत्यु नहीं होती । वे अनपवर्त्य आयुष्य वाले होते हैं ।

असुर शब्द की व्युत्पत्ति यो समझना चाहिए—असुरत्व उत्पन्न करने वाले देवगति नाम कर्म के एक भेद के उदय से जो दूसरो को अस्यन्ति—क्षिपन्ति अर्थात् दुःख में डालते हैं, वे 'असुर' कहलाते है ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत्—ते नारकाः पूर्वजन्मानुबद्धवैरानुस्मरणात् परस्परं दुःख-मुत्पादयन्ति सततमितिप्रतिपादितम् सम्प्रति—वालुकाप्रभापृथिवीपर्यन्तं संक्लिष्टासुरा स्तेषां नाराकाणां दुःखानि समुत्पादयन्तीति प्रतिपादयितुमाह— **'तच्चं पुढविं जाव संकिलिट्ठासुरो-दीरियदुक्खा य'** इति।

तृतीयां पृथिवीं यावत्—वालुकाप्रभा पृथिवीपर्यन्तम् संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाः—संक्लिष्टाः पूर्वभवसम्भाविता—ऽतितीव्रसंक्लेशपरिणामेन यदुपार्जितं पापकर्म तस्योदयात् सर्वथा क्लिष्टाः—संक्लिष्टाः असुराः संक्लिष्टासुरा स्तैरुदीरितानि—उत्पादितानि दुःखानि येषां ते—संक्लिष्टा सुरोदीरितदुःखाः तथाविधाश्च नारका भवन्ति। चकारेण—तेषां नारकाणां नरकक्षेत्रानुभावजनितञ्च परस्परोत्पादितदुःखं भवतीति ज्ञाप्यते। संक्लिष्टचित्ता असुराः पुन—रशुभानुबन्धित्वाल्लतपोऽकाम-निर्जरोपार्जितदेवजन्मानः स्वल्पविभवसमृद्धिलब्ध्या ध्माताः सन्तो भवान्तरानवलोकिन एताव-देव त्रैलोक्यसुखमित्येव मन्यमानाः भवनपतीनां चतुर्विधनिकाये प्रथम एवा-ऽसुरनाम्नि निकाये भवन्ति, नान्येपु देवनिकायेपु।

ते नामो—त्कीर्तनेनापि रौद्रतया भयमुत्पादयन्ति, किमुत—दर्शनेन। तेच खलु—अम्बाः—१ अम्बरीषाः—२ श्यामा—३ शबलाः—४ रुद्राः—५ उपरुद्राः—६ काला—७ महाकालाः—८

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा जा चुका है कि नारक जीव पूर्वजन्म में बांधे हुए वैर से युक्त होते है। उस वैर का स्मरण आते ही वे परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते है और परस्पर दुःख उत्पन्न करने का उनका सिलसिला सदैव चालू रहता है। अब यह बतलाते हैं कि वालुकाप्रभा पृथ्वी तक संक्लिष्ट असुर भी नारकों को दुःख उत्पन्न करते हैं—

पूर्वभव में सभावित अति तीव्र सक्लेश परिणामो द्वारा उपार्जित पाप कर्म के उदय से पूरी तरह क्लिष्ट असुर तीसरी पृथ्वी तक अर्थात् वालुकाप्रभा पृथ्वी पर्यन्त नारक जीवों को दुःख उत्पन्न करते है। 'च, शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि नारकों को नरक-भूमियों के प्रभाव से परस्पर जनित दुःख भी होता है। उस परस्पर जनित दुःख के अतिरिक्त

असयः—९ असिपत्रवनाभिधानाः—१० कुम्भीनामानः—११ वालुकाभिधानाः—१२ वैतरणीसंज्ञकाः—१३ खरस्वराः—१४ महाघोषाश्च—१५ पञ्चदश—असुरनिकायान्तः—पातिनो देवविशेषा एव मिथ्यादृष्टयः पूर्वजन्मसु संक्लिष्टकर्मणः पापाभिरतयः आसुरीं गतिं प्राप्ताः परमाधार्मिकाः सन्ति। एतेच—भिन्नहेतुकदुःखोत्पादनादेव प्राप्ततथाविधसंज्ञाः समवसेयाः। क्लेशकर्मजनिताः खलु—एते पञ्चदशा—ऽसुरास्ताच्छील्यान्नारकाणां विचित्राभिरुपपत्तिभिर्वेदनाः समुत्पादयन्ति,

तथाहि—तप्तायोरसपायन निष्टप्तायःस्तम्भाश्लेषण-कूटशाल्मल्यग्रारोहण-ऽवतारणा-ऽऽयोघना-ऽभिघातवासी क्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचना—ऽयःकुम्भीपाका—ऽम्बरीषभर्जनयन्त्रपीडना—ऽयः शूल-शलाकाभेदन क्रकचविदारणा—ऽङ्गारज्वालादहनसूचीतीक्ष्णाग्रभागा—ऽपकर्षणादिभिः सिंह-व्याघ्र-द्वीपि—तरक्षु—श्व—शृगालवृक—मार्जार—नकुल—सर्प—काक—गृध्र—वायसो—लूक—श्येनादिभक्षणैः,

तप्तवालुकावतरणा—ऽसिपत्रवनप्रवेशनवैतरणी नदी निमज्जन परस्पराऽयोधनादिभिश्च तेषां दुःखोत्पादकाः भवन्ति। एवञ्च—नरकेषु पूर्वोक्तस्वरूपेषु नारकाणां त्रिविधानि दुःखानि भवन्ति। परस्परोदीरणजनितानि क्षेत्रस्वभावोत्पन्नानि, तृतीय पृथिवीपर्यन्तं संक्लिष्टा सुरोदीरितानि

---

(९)असि (१०)असिपत्रवन (११)कुंभी (१२)वालुका (१३)वैतरणी (१४)खरस्वर (१५)महाघोष।

यह पन्द्रह असुरनिकाय के अन्तर्गत देव ही, मिथ्यादृष्टि पूर्व जन्मो में क्लिष्ट कर्म करनेवाले पाप में अभिरुचि रखनेवाले एवं असुरगति को प्राप्त परमाधार्मिक कहलाते है। नारक जीवों को नाना प्रकार से दुःख उत्पन्न करने के कारण ही वे 'परमाधार्मिक' कहलाते है।

क्लिष्ट कर्मो के कारण उत्पन्न ये पन्द्रह प्रकार के असुर अपनी जन्मजात प्रकृति से ही नारक जीवो को विविध प्रकार से वेदनाएँ उत्पन्न किया करते है। वेदनाएँ उत्पन्न करने के कतिपय प्रकार निम्नलिखित है—

लोहे को खूब तपाकर पिलाना, अत्यन्त तपे हुए लोहमय स्तंभ का आलिंगन करवाना कूट शाल्मली वृक्ष पर चढाना—उतारना, लोहे के घनो से आघात करना वसूला एवं छुरा आदि शस्त्रो से छीलना, तपाये हुए नमकीन तैल का छिड़कना, लोहे की कुंभियो में पकाना, भाड़ में चने की तरह भूनना, यंत्रो में पीलना, लोहे के शूलो और सलाइयो से भेदन करना, करौत से चीरना, अंगारो की ज्वाला में जलाना, सुइयो की नोको पर रगड़ना, सिंह, व्याघ्र दीपिक (दीवड़ा), तरक्ष श्वान, शृगाल, भेड़िया, मार्जार, नौला, सर्प, काक, गृध्र, वायस, (काक) उल्लूक और वाज आदि पक्षियो के द्वारा भक्षण किया जाना, गर्म बालू पर चलाना, असिपत्र वन में घुसेडना वैतरणी नामक नदी में डुबाना और आपस में लड़ाना—भिड़ाना; इत्यादि प्रकारो से वे परमाधार्मिक देव नारक जीवो को दुःख उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त स्वरूप वाले नरको में नारक जीवो को तीन प्रकार के दुःख होते है—(१) नारको द्वारा परस्पर में दिए जाने वाले दुःख (२) नरक क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख और (३) तीसरी पृथ्वी तक सक्लेशपरिपूर्ण असुरो द्वारा पैदा करने वाले दुःख।

च, चतुर्थ्यादिपृथिवीषु पुनः परस्परोदीरणजनितानि क्षेत्रानुभावजनितानि चेति द्विविधान्येव भवन्तीति फलितम् ।

"अथ किमर्थं ते खलु—अम्बाम्बरीषादयो नारकाणां तथाविधानि दुःखानि समुत्पादयन्ति इति चेत्—? अत्रोच्यते, तेषामसुराणां पापकर्माभिरतस्वभावत्वात् तथाविधो व्यापारो भवति । तथाच—यथा—ऽश्व महिषवराहमेषकुक्कुटवार्तकलावकादीन्—मुष्टिमल्लांश्च परस्परं युध्यमानान् दर्शं-दर्शं तेषां रागद्वेषाभिभूताना मकुशलानुबन्धिपुण्यानां मनुष्याणामत्यन्तं प्रीतिरुपजायते,

एव मेतेषामम्बरीषादीनामप्यसुराणां नारकान् पूर्वोक्तरीत्या तेषां—युद्ध—सलग्नानां तथाविधानि युद्धानि—तज्जन्य दुःखानिच कारयतां परस्परमभिघ्नतश्चाऽवलोकयतां परा प्रीतिरुत्पद्यते । ते खल्वसुरा दुष्टमनोभावास्तथाविधान् तान् तान् दृष्ट्वाऽट्टहास कुर्वन्ति महतश्च सिंहनादान् गर्जन्ति । तच्च खलु—तेषामम्बाऽम्बरीषादीनां सत्यपि देवत्वे—ऽन्येष्वपि च प्रीतिकारणेषु मायानिमित्तमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायो—ऽदयोपहतस्य भावदोषालोचनारहितस्याऽप्रत्ययकर्षस्याऽकुशलानुबन्धिपुण्यकर्मणो बालतपसश्च बालदोषाऽनुकर्षिण फलम् । यस्मात्—सत्स्वन्यन्येषु प्रीतिकारणेषु तेषामशुभभावा एव प्रीतिहेतवो भवन्ति, ।

इससे यह भी फलित हुआ कि चौथी आदि आगे की पृथ्वियों में दो ही प्रकार के दुःख होते हैं । आपस में उत्पन्न किए हुए और क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले ।

प्रश्न हो सकता है कि वे अम्ब अम्बरीष आदि परमाधार्मिक देव नारकों को जो पूर्वोक्त वेदनाएँ उत्पन्न करते हैं, उसका कारण क्या है ? इसका समाधान यह है कि वे असुर स्वभाव से ही पाप कर्म में निरत होते हैं इसी कारण वे ऐसी प्रवृत्ति किया करते हैं । जैसे अश्वो, भैंसो, शूकरो, मेढो, मुर्गों, वत्तको और लावक पक्षियों को तथा मल्लो को परस्पर लड़ते देख—देख कर राग—द्वेष से युक्त तथा पापानुबंधी पुण्य वाले मनुष्यों को अत्यन्त प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार अम्ब, अम्बरीष आदि असुर परस्पर युद्ध निरत नारकों को लड़ते देख कर उनके दुःखो को देख कर, आपस मे एक दूसरे पर आघात करते देख कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं दुष्ट मनोभावना वाले वे असुर उन्हे उस अवस्था मे देख कर अट्टहास करते है और बड़े जोर का सिंहनाद करते है । यद्यपि ये अम्ब और अम्बरीष आदि देव हैं और उनकी प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि के अन्य अनेक साधन विद्यमान हैं, फिर भी मायानिमित्तक मिथ्यादर्शन शल्य एवं तीव्र कषाय के उदय से उपहत (पीडित), भावपूर्वक दोषों की आलोचना से रहित पापानुबंधी पुण्यकर्म बालतप का ही ऐसा फल है कि वे इस प्रकार के दृश्य करके और देख कर प्रसन्नता का लाभ करते हैं । प्रसन्नता प्राप्त करने के अन्यान्य साधन विद्यमान रहने पर भी अशुभ भाव ही उनकी प्रसन्नता के कारण होते हैं ।

इस प्रकार अप्रीतिजनक, अत्यन्त तीव्र दुःख निरन्तर अनुभव करते हुए भी और भय

इत्येव रीत्याऽप्रीतिजनक निरन्तरं नितान्ततीव्रं दुःखमनुभवतां निधनमपि वाञ्छतां तेषां नारकाणां कर्म निर्धारितायुषामकाले विपन्नतापि (मृत्युरपि) न भवति–नापि तेषां तत्र शरणं किमपि,–नाऽप्यपक्रमणं तेषां ततो नरकाद् संभवति। तस्मात्–कर्मवशादेव दग्ध–विदारित-च्छिन्नभिन्नक्षतान्यपि तेषां–शरीराणि सद्यएव सरोहन्ति, अम्भसि–दण्डराजिवत्।

तथाचोक्तरीत्या नरकेषु नारकाणां त्रिविधानि दुःखानि भवन्तीतिभावः ॥सू० १५॥

मूलसूत्रम्—"**ते नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणा, णिच्चं धयाराइया–**" ॥१६॥

छाया—"**ते नरकाः–अन्तो वृत्ताः वहिश्चतुरस्राः, अधः–क्षुरप्रसंस्थानाः नित्या-न्धकारादिकाः**"—॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रेषु नारकाणां नरकेषु परस्परोदीरितानि, क्षेत्रस्वभावोत्पन्नानि, परमाधार्मिकसङ्क्लिष्टा–ऽसुरोदितानि च दुःखानि त्रिविधानि भवन्तीति प्ररूपितम्, सम्प्रति–नरकाऽऽकारान् प्ररूपयितुमाह–"**ते नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे–खुरप्प-संठाणा, णिच्चंधयाराइया–**" इति।

ते खलु पूर्वोक्ताः–रत्नप्रभाऽऽदिसप्तपृथिवीषु वर्तमानाः नरकाः–नरकावासाः अन्तो वृत्ताः–अभ्यन्तरभागे वृत्ताः गोलाकाराः, बहिश्चतुरस्राः–बाह्यप्रदेशे चतुरस्राः समचतुष्कोणाः, अधः–अधोभागे क्षुरप्रसंस्थानाः क्षुरं–छेदनास्त्रविशेषं प्रतिपूरयतीतिक्षुरप्रः, तदाख्यास्त्रविशेषः। तस्यैव संस्थानम्-आकारो येषां ते क्षुरप्रसंस्थानाः,

---

की कामना करते हुए भी कर्म के द्वारा निर्धारित आयु वाले उन नारक जीवो का अकाल में मरण नहीं होता! उनके लिए वहाँ कोई शरण भी नहीं है न वे नरकसे निकल कर अन्यत्र कहीं जा सकते है। कर्म के उदय से जलाये हुए, विदारण किए हुए छिन्न–भिन्न किये हुए और क्षत– विक्षत किये हुए शरीर भी पुनः शीघ्र ही जल में दण्डराजि के समान परिपूर्ण हो जाते हैं।

आशय यह है कि नारक जीव नरको में तीन प्रकार के दुःखो का अनुभव करते है ॥१५॥

सूत्रार्थ–'ते नरगा अंतो वट्टा' इत्यादि।

वे नरकावास अन्दर गोलाकार, बाहर चौकोर, खुरपा के समान आकार वाले तथा सदैव अन्धकार के युक्त आदि होते है ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रो में निरूपण किया गया है कि नरको में नारक जीवों को आपस में पैदा किये हुए, क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले और परमाधार्मिक नामक संक्लिष्ट असुरो द्वारा उदीरित, यो तीन प्रकार के दुःख होते है। अब नरकावास के आकार आदि बतलाने के लिए कहते है–

वे नरकावास अन्दर गोल, बाहर चौकोर और नीचे खुरपा के समान आकार वाले होते हैं। क्षुर नामक एक अस्त्र है जो छेदन करने के काम आता है। उसे जो प्रतिपूर्ण करे

पुनः कीदृशास्ते नरका इत्याह—नित्यान्धकाराः—तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वत्र—समन्तात् अनन्तेना—ऽत्यन्तभयानकेन च तमसा—नित्यान्धकारा—नित्यं—सन्ततम् अन्धकारो यत्र ते नित्यान्धकाराः गाढान्धकारयुक्ताः, आदिपदेनाऽन्यान्यपि नरकविशेषणानि सग्राह्याणि सन्ति ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीस्थनरकेषु नारकाणां त्रिविधानि दुःखानि, तथा—परस्परोदीरणजनितानि नरकक्षेत्रानुभावोत्पन्नानि तृतीयपृथिवीपर्यन्तं संक्लिष्टासुरोदीरितानि च प्ररूपितानि, चतुर्थ्यादिपृथिवीषु च—परस्परोत्पादितानि क्षेत्रस्वभावजनितानि चेत्येवं द्विविधानि प्ररूपितानि,

सम्प्रति—तेषां नरकाणां स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—"**ते नरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणा तमसा णिच्चंधयाराइया—**" इति।

ते खलु—पूर्वोक्ताः रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीस्थाः नरकाः अन्तो वृत्ता—अन्तः अभ्यन्तरं वृत्ताः—वर्तुलाः सन्ति, बहिः—बाह्यदेशे च चतुरस्रा—चतस्रोऽस्रयो येषां ते चतुरस्राः—समचतुष्कोणाः, अधः—अधोभागे क्षुरप्रसंस्थानाः—क्षुरप्रो लघुच्छेदनाऽस्त्रविशेष तस्येव संस्थानमाकारो येषां ते क्षुरप्रसंस्थाना. तथाविधा भवन्ति। एवं—तमसा सर्वतः समन्तात् सन्तमसेन नित्यान्धकाराः सततगाढान्धकारावृता भवन्ति।

वह 'क्षुरप्र' कहा जाता है। इस नाम का एक विशेष अस्त्र होता है। जिनका आकार क्षुरप्र के समान हो उन्हें क्षुरप्रसंस्थान कहते हैं।

नरक और किस प्रकार के होते हैं सो कहते हैं—नरक नित्यान्धकार मय हैं अर्थात् वहाँ ऊपर, नीचे, तिर्छे, सर्वत्र अनन्त और अत्यन्त भयानक अंधकार ही अंधकार व्याप्त रहता है और वह सदैव बना रहता है। सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से नरकों के अन्य विशेषण भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पहले प्रतिपादन किया गया है कि सातों पृथ्वियों के अन्दर जो नरक है, उनमें रहने वाले नारकों को तीन प्रकार के दुःख होते हैं— परस्पर में उदीरित दुःख, नरक क्षेत्र के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख और तीसरी पृथ्वी तक परमाधार्मिक असुरों द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःख। यह भी प्रतिपादन किया जा चुका है कि चौथी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक परस्पर उत्पन्न किये हुए और क्षेत्रस्वभाव से उत्पन्न दुःख ही होते हैं।

अब नरकों का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

पूर्वोक्त रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वीयों में स्थित नरक भीतर से गोलाकार, बाहर से चौकोर अर्थात् समचतुष्कोण और निचले भाग में क्षुरप्र अर्थात् खुरपा के समान आकार के होते हैं। क्षुरप्र एक छोटा अस्त्र है। जो छेदन करने के काम आता है। वहाँ सदैव घोर अंधकार व्याप्त रहता है।

आदि पदेन—अन्यान्यपि नरकविशेषणानि संग्राह्यानि—। तथाहि—व्यपगतग्रह—नक्षत्र ज्योतिष्कप्रभाः—व्यपगताः दूरीभूताः ग्रहचन्द्रनक्षत्रज्योतिष्काणां प्रभा दीप्तिर्यत्र ते व्यपगतग्रह-चन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कप्रभाः तथाविधा भवन्ति। पुनः कीदृशाः—इत्याह—मेदो वसा पूयपटल रुधिरमांसचिक्खललिप्तानुलेपनतलाः,

मेदो—वपा, वसा—शुद्धमांसस्नेहरूपा, "चर्वी" इति लोकप्रसिद्धा, पूयपटलः—दूषित-रुधिरसमुदाय, रुधिरं—शोणितम्, मांसम्, चिक्खलम्—कर्दमः केशास्थिचर्मादि तैर्युक्तम् अनुलेपनं येषां ते मेदो वसा पूयपटलरुधिरमांसचिक्खललिप्तानुलेपनतला तथाविधा नरका भवन्ति। पुनः कीदृशा—इत्याह—अशुचि वीभत्साः नरकाः, परमदुरभिगन्धाः, कापोताग्निवर्णाभाः—कर्कशस्पर्शाः, दुरध्यासाः अशुभा नरकाः, अशुभाः—नरकेषु वेदनाः इति।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २—पदे नरकाधिकारे—**"तेणं णरगा अंतो वट्टा वाहिं चतुरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगय गह चंदसूरणक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसा पूयपटलरुहिरमंसचिक्खललित्ताणुलेवणतला, असुई वीभच्छा परमदुब्भिगंधा काउगगणि-वण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभाओ णरगेसु वेयणाओ"**—इत्यादि।

ते खलु नरकाः अन्तोवृत्ताः वहिश्चतुरस्राः अधः क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः नित्यान्धकाराः तमसाः व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कप्रभाः, मेदो वसा पूयपटलरुधिरमांसचिक्खललिप्तानु-लेपनतलाः, अशुचिबीभत्साः, परमदुरभिगन्धाः, कापोताग्निवर्णाभाः, कर्कशस्पर्शाः, दुरध्यासाः, अशुभाः नरकाः, अशुभाः—नरकेषु वेदनाः इत्यादि—॥१६॥

सूत्र में दिये हुए 'आदि' पद से नरको के अन्यान्य विशेषण समझ लेने चाहिए। उनमें से कुछ इस प्रकार है—नरको चन्द्र, सूर्य ग्रह नक्षत्र और ताराओ की प्रभा से रहित होते हैं। अर्थात् वहाँ न सूर्य—चन्द्रमा है न ग्रह—नक्षत्र हैं और न तारे ही हैं। ये सब ज्योतिष्क मध्य लोक में होते है। नरकों में इनका अभाव होने से सदैव गाढ़ा अन्धकार फैला रहता है।

इसके अतिरिक्त नरक कैसे होते है, सो कहते हैं—उनके तलभाग मेद से वसा अर्थात् चर्बी से जो शुद्ध मांस का स्नेह रूप होती है, पूयपटल अर्थात् दूषित रूधिर का समूह जिसे मवाद भी कहते है, रूधिर अर्थात् लोहू, मांस, चिक्खल अर्थात् कीचड़ तथा केशो, हड्डियो एवं चमड़ी आदि अशुचि पदार्थों से व्याप्त होते है। वे अत्यन्त अशुचि, भयानक गंदे, घोर दुर्गन्ध से व्याप्त, कापोत अग्नि के समान वर्ण वाले, कर्कश स्पर्श वाले, दुस्सह और अशुभ होते है। ऐसे नरकों में वेदनाएँ भी अशुभ ही होती है। प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद में नरक के प्रकरण में कहा है—वे नरक भीतर से गोलाकार वाहर से सम चौकर और नीचे से खुरपा के आकार के होते हैं उनमें सदैव अन्धकार बना रहता है, ग्रह चन्द्र सूर्य एवं नक्षत्र—इन ज्योतिष्कों की प्रभा से रहित होते हैं, मेद, चर्वी, मवाद के समूह, रुधिर, मांस एवं कीचड़ या रुधिर- मांस आदि की कीचड़ से उनके तलभाग लिप्त होते हैं, वे अशुचि और वीभत्स, घोर दुर्गन्ध से भरे हुए,

मूलसूत्रम्—"तेसुं नारगाणं उक्कोसेणं ठिई जीवाणं जहाकमं-एग-ति-सत्त-दस-सत्तरस-बावीस-तेत्तीसा सागरोवमा-" ॥१७॥

छाया—"तेषु नारकाणा मुत्कृष्टेन स्थितिर्जीवानां यथाक्रमम्--एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वा-विंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व तावन्नारकाणां—नरकाणाञ्च स्वरूपाणि प्ररूपितानि सम्प्रति—तेषां नारकाणामायुः परिमाणरूपां स्थितिं—परममुत्कृष्टां स्थितिं प्ररूपयितुमाह—"तेसुं नारगाणं" इत्यादि। तेषु पूर्वोक्तेषु नरकेषु रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीरूपेषु नारकाणां—नरकजीवानाम् उत्कृष्टेन—उत्कर्षतः स्थितिः—आयुः—प्रमाणरूपा यथाक्रमं—क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम्, रत्नप्रभादि पृथिवीक्रमानुसारेण—एक—त्रि—सप्त—दश—सप्तदश—द्वाविंशति—त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाः भवन्ति। तथा च—रत्नप्रभायां नरकेषु नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमा भवति—१ शर्कराप्रभायां तेषामुत्कृष्टा स्थिति स्त्रिसागरोपमा—२ वालुकाप्रभायां नारकाणामुत्कर्षेण सप्तसागरोपमा स्थितिर्भवति—३ पङ्कप्रभाया तेषा मुत्कृष्टा स्थितिर्दश सागरोपमा भवति—४ धूमप्रभायां नारकाणा-

---

कापोत अग्नि जैसे रंग वाले, कठोर स्पर्श वाले दुस्सह और अशुभ होते है। नरको की वेदनाएँ भी अशुभ ही होती है, इत्यादि ॥१६॥

सूत्रार्थ 'तेसुं नारगाणं उक्कोसेणं' इत्यादि ॥१७॥

उन नरको में नारक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति यथाक्रम से एक, तीन, सात, दस, सतरह, वाईस और तेतीस सागरोपम की होती है ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले नारक जीवो के तथा नरको के स्वरूप का निरूपण किया गया है, अब उन नारक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति का अर्थात् आयु के परिमाण का निरूपण करते है—

पूर्वोक्त सात रत्नप्रभा पृथ्वी आदि स्वरूप वाले नरको मे निवास करने वाले नारक जीवो की उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति या आयु अनुक्रम से अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमियो के क्रम के अनुसार एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तेतीस सागरोपम की होती है। इसका अनुक्रम इसप्रकार है—(१) रत्नप्रभा नामक भूमि में जो

मुत्कृष्टा स्थितिः सप्तदशसागरोपमा—५ तमःप्रभायां नारकाणामुत्कर्षेण द्वाविंशति सागरोपमा स्थितिः—६ तमस्तमःप्रभायान्तु तेषा मुत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवति ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—नारकाणामनपवर्त्यायुष्कत्वादनुबद्धविषमदुःखानुमूलकर्मालीढमूर्तत्वेनाऽकाले मुमूर्षूणामपि मृत्युर्न भवति, किन्तु—पूर्णेस्वायुषि पश्चात्ते-उद्वर्तिष्यन्ते, तस्मात्—किं तत्तेषां नारकाणां मायुष्क मित्याकांक्षयां प्रथममुत्कृष्टत आयुःपरिमाणमाह—**"तेसुं नारगाणं उक्कोसेणं—"** इत्यादि।

तेपु पूर्वोक्तस्वरूपेषु रत्नप्रभादिसप्तपृथिवीषु नरकेषु यथासंख्यं—त्रिंशत्—पञ्चविंशति—पञ्चदश—दश—त्रिलक्ष—पञ्चोनैकलक्ष—पञ्चमञ्चकेषु नरकावासेषु नारकाणामुत्कृष्टेन—उत्कर्षतः स्थितिः आयुः प्रमाणम् यथाक्रमम्—क्रमशः रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीक्रमानुसारेण एक—त्रि—सप्त—दश—सप्तदश—द्वाविंशति—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा अवसेयाः।

तत्र—रत्नप्रभाया मेका-सागरोपमा—उत्कृष्टा स्थितिर्नारकाणाम्—१ शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा उत्कृष्टत स्थिति स्तेषाम्—२ वालुकाप्रभायां नारकाणा मुत्कृष्टा स्थितिः सप्तसागरोपमा—३ पङ्कप्रभायां तेषा मुत्कृष्टा स्थिति र्दशसारोपमा—४ धूमप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टतः स्थितिः सप्तदश सागरोपमा—५ तमः प्रभायां तु—नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति र्द्वाविंशति सागरोपमा—६ तमस्तमः प्रभायां पुन र्नारकाणा मुत्कृष्टतः स्थिति स्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवतीति बोध्यम्—७

पम की होती है (६) तमःप्रभा में नारको की स्थिति उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की होती है। और (७) तमस्तमःप्रभा में नारको की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—अत्यन्त विषम दुःखजनक कर्मो का बन्ध करने के कारण एवं अनपवर्त्तनीय आयु वाले होनेके कारण नारक जीव अकाल में ही मृत्यु की अभिलाषा करते हुए भी अकाल में नहीं मरते। आयु पूर्ण होने पर यथाकाल ही उनका मरण होता है। यहाँ यह आशंका उत्पन्न होती है कि उनकी आयु कितनी होती है? इस शंका का समाधान करने के लिए उनकी आयु का उत्कृष्ट प्रमाण बतलाया जाता है—

जिनका स्वरूप पहले बतालाया जा चुका है, उन रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियों में यथाक्रम तीस, पच्चीस, पन्द्रह, दस, तीन, लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नारकावासो में नारक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् आयु का प्रमाण रत्नप्रभा आदि भूमियों के अनुक्रम से एक सागरोपम, तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सत्रह सागरोपम, बाईस सागरोपम और तेतीस सागरोपम की होती है।

इस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी में नारको की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की, शर्कराप्रभा में तीन सागरोपम की, वालुकाप्रभा में सात सागरोपम की, पंकप्रभा में दस सागरोपम की, धूमप्रभा में सत्रह सागरोपम की, तमःप्रभा में बाईस सागरोपम की और तमस्तम प्रभा में तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है।

उपमानमुपमा—सादृश्यं, सागरेणोपमा सागरोपमा, एका सागरोपमा यस्याः स्थितेः सा—एकसागरोपमा। एवं—त्रिसागरोपमादिष्वपि विग्रहोऽवगन्तव्यः। तेषु नरकेषु मद्यपायिनः—मांसभक्षकाः—असत्यवादिनः—परस्त्रीलम्पटाः—महालोभाभिभूताः—स्त्री—बाल-वृद्ध-महर्षि—विश्वासघातकाः जिनधर्मनिन्दकाः—रौद्रध्यानाविष्टाः इत्यादिरीत्या पापकर्माऽनुष्ठातारः समुत्पद्यन्ते। तेचो-र्ध्वपादा अधोमुखाः सर्वेऽपि समुत्पद्या—ऽधः पतन्ति, दीर्घकालं दुःखान्यनुभवन्ति च।

किञ्चा-ऽसञ्ज्ञिनः—प्रथमनरकमेव गच्छन्ति. सरीसृपा—द्वितीयनरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, पक्षिण स्तृतीयनरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, सिंहाश्चतुर्थनरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, भुजगाः पञ्चम नरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, स्त्रियः षष्ठ नरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति। मनुष्या मत्स्याश्च सप्तमनरक पर्यन्तं गच्छन्तीति।

सप्तमान्नरकान्निर्गतस्तिर्यगेव भवति, सम्यक्त्वं तु तस्य न निषिध्यते। षष्ठान्नरकान्निर्गतो यदि—मनुष्यत्वं प्राप्नोति, तदा विरतित्वं प्राप्नोति। पञ्चमान्नरकान्निर्गतस्तु—यदि मनुष्यत्वं प्राप्नोति तदा सर्वविरतित्वं लभते। चतुर्थान्नरकान्निर्गत कश्चित्—मनुष्यत्वं प्राप्य निर्वाणमपि प्राप्नोति।

उपमान या उपमा का अर्थ है सादृश्य। सागर अर्थात् समुद्र से उपमा होना सागरोपम है। एक सागर जिस आयु का उपमान हो वह एक सागरोपम कहलाती है। त्रिसागरोपम आदि में भी इसी प्रकार का विग्रह कर लेना चाहिए।

उन नरकों में मद्यपान करने वाले, मांस भक्षण करने वाले, असत्यवादी, परस्त्रीलम्पट, महान् लोभ से ग्रस्त, अपनी स्त्री, बालक, वृद्ध और महर्षियों के साथ विश्वासघात करने वाले, जिनधर्म के निन्दक, रौद्रध्यान करने वाले, तथा इसी प्रकार के अन्य पापकर्म करने वाले जीव उत्पन्न होते हैं। जब कोई जीव नरक में उत्पन्न होता है तो उस के पैर ऊपर और मुख नीचे की ओर होता है और नीचे गिरते हैं। उसके पश्चात् वे दीर्घ काल तक दुःखों का अनुभव करते हैं।

तृतीयाद्–द्वितीयात्–प्रथमाच्च नरकान्निर्गतः कश्चिन्मनुष्यत्वं प्राप्य, तीर्थकरोऽपि भवति। देवा–नारका वा नरकेषूत्पत्तिं नाऽऽसादयन्ति तथा स्वभावात्।

नापि–नरकादुद्वृत्य देवेषूत्पद्यन्ते। नरकादुद्वृत्ताः खलु नारकास्तिर्यग्योनौ मनुष्येषु वा समुत्पद्यन्ते। आदितस्तिसृभ्यः पृथिवीभ्यः उद्वृत्य केचन–मनुष्यत्वं प्राप्य तीर्थकरत्वमपि प्राप्नुवन्ति। चतसृभ्यः खलु पृथिवीभ्य उद्वृत्य मनुष्यत्वञ्च प्राप्य केचन–निर्वाणमपि प्राप्नुवन्ति, आदितः खलु पञ्चभ्यः पृथिवीभ्य उद्वृत्य केचन–मनुष्यत्वं प्राप्य संयममपि प्राप्नुवन्ति।

षड्भ्यः पृथिवीभ्य उद्वृत्य पुनः केचन मनुष्यत्वं प्राप्य सयमासंयममपि प्राप्नुवन्ति। किन्तु सप्तमी पृथिवीत उद्वृत्तास्तु तिर्यक्त्वमेव प्राप्नुवन्ति, तत्र कश्चित् सम्यग्दर्शनमपि प्राप्नोति। सूत्र॥१७॥

मूलसूत्रम्––"जहण्णेणं नारगाणं ठिई जहाकमं दसवाससहस्सा–एग–ति–सत्त–दस–सत्तरस-वावीसा––" ॥ १८ ॥

छाया––"जघन्येन नारकाणां स्थितिः यथाक्रमं दशवर्षसहस्राणि एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति सागरोपमा––" ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे–रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु वर्तमानानां नारकाणामायुः प्रमाण-रूपा स्थिति रुत्कृष्टतः प्ररूपिता, सम्प्रति–तेषामेव जघन्येन स्थितिं प्ररूपयितुमाह–**"जहण्णेणं"** इत्यादि। जघन्येन–जघन्यतः पूर्वोक्तेषु नरकेषु वर्तमानानां नारकाणां स्थितिः–आयुः परिमाणरूपा।

दूसरे और प्रथम नरक से निकला जीव मनुष्यगति प्राप्त करके तीर्थंकर भी हो सकता है। देव और नारक मरकर नरकगति में उत्पन्न नहीं होते है। इसी प्रकार नारक जीव नरक से निकलकर सीधे देवगति में उत्पन्न नहीं होते हैं।

नरक से निकले जीव या तो तिर्यचयोनि में उत्पन्न होते हैं या मनुष्य गति में। पहले के तीन नरको से निकल कर कोई–कोई मनुष्य होकर तीर्थंकर पद भी प्राप्त कर सकते हैं। चार नरको से निकल कर और मनुष्यगति पाकर कोई–कोई जीव निर्वाण भी प्राप्त कर लेते है। प्रारंभ की पाँच पृथ्वियो से निकल कर कोई–कोई जीव मनुष्य होकर सर्वविरति सयम की प्राप्ति भी कर सकती है। छठी पृथ्वी से निकलकर कोई–कोई जीव मनुष्य होकर संयमा-सयम (देशविरति भी प्राप्त कर सकते है। किन्तु सातवीं से निकले जीव तो तिर्यञ्च गति को ही पाते है वहाँ कोई जीव सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर सकता है। सूत्र––१७॥

सूत्रार्थ––'जहण्णेणं नारगाणं' इत्यादि। सूत्र १८॥

नारको की जघन्य स्थिति अनुक्रम से दस हजार वर्ष, एक सागरोपम, सतरह सागरोपम और वाईस सागरोपम है। सूत्र––१८॥

तत्त्वार्थदीपिका––इससे पहले के सूत्र में रत्नप्रभा आदि सातो नरकभूमियों में निवास करने वाले नारको की उत्कृष्ट स्थिति का प्ररूपण किया गया है। अब उनकी जघन्य अर्थात्

यथाक्रमम्—क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमं रत्नप्रभादि पृथिवीक्रमानुसारेण दशवर्षसहस्राणि, एकं सागरोपमम्, त्रिसागरोपमा, सप्तसागरोपमा, दशसागरोपमा, सप्तदशसागरोपमा, द्वाविंशसागरोपमा चाऽवसेया। तत्र—रत्नप्रभा पृथिवीवर्ति नारकाणां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थितिः, शर्कराप्रभा पृथिवीवर्तिनारकाणां जघन्येनै—कसागरोपमा स्थितिः, वालुकाप्रभापृथिवीमध्यवर्ति नारकाणां जघन्येन त्रिसागरोपमा स्थितिः, पङ्कप्रभापृथिवी मध्यवर्तिनारकाणां जघन्येन सप्तसागरोपमा स्थितिः, धूमप्रभा पृथिवीमध्यवर्ति नारकाणां जघन्येन दशसागरोपमा स्थितिः, तमःप्रभापृथिवीमध्यवर्ति नारकाणां जघन्येन सप्तदश सागरोपमा स्थितिः, तमस्तमःप्रभापृथिवीमध्यवर्तिनारकाणां जघन्येन द्वाविंशति सागरोपमा स्थितिः आयुःप्रमाणरूपा भवतीतिभावः ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं नाराकाणामुत्कृष्टेन स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—तेषां जघन्येन स्थितिं प्ररूपयितुमाह

"जहण्णेणं नारगाणं ठिई जहाकमं दसवाससहस्सा एग–ति–सत्त–दस–सत्तरस–बावीस तेत्तीसा सागरोवमा—" ॥ इति ॥

रत्नप्रभादिपृथिवीषु—नारकाणां जघन्येन स्थिति आयुःप्रमाणरूपा यथाक्रमम्–क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम्, रत्नप्रभादि पृथिवीक्रमानुसारेण दशवर्षसहस्राणि, एकं सागरोपमम्, त्रिसागरोपमा, सप्तसागरोपमा, दशसागरोपमा, सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशति सागरोपमा–ऽवसेया। तत्र रत्नप्रभापृथिव्यां—नारकाणां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थिति र्भवति, शर्क-

---

कम से कम स्थिति का प्ररूपण करने के लिए कहते है। रत्नप्रभा आदि भूमियो के क्रम के अनुसार उसमें रहने वाले नारको की जघन्य स्थिति इस प्रकार है—दस हजार वर्ष, एक सागरोपम तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सत्तरह सागरोपम और बाइस सागरोपम।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकों की जघन्य स्थिति अर्थात् आयु का प्रमाण दस हजार वर्ष का है। शर्करप्रभा पृथ्वी के नारको को जघन्य स्थिति एक सागरोपम की है। वलुका प्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारकों को जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की है। पंकप्रभा पृथ्वी में निवास करने वाले नारक जीवो की स्थिति सात सागरोपम की है। धूमप्रभा पृथिवी के नारको की जघन्य स्थिति दस सागरोपम की है। तमःप्रभा पृथ्वी के नारको की जघन्य स्थिति सतरह सागरोपम की है। तमस्तमा नामक सातवीं पृथ्वी के नारको की जघन्य स्थिति वाईस सागरोपम की है ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व नारक जीवो की उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब उनकी जघन्य स्थिति कहते है—रत्नप्रभा आदि पृथिवियो मे नारक जीवो की जघन्य स्थिति अर्थात् आयु का प्रमाण, क्रम के अनुसार इस प्रकार है—दस हजार वर्ष एक सागरोपम तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सतरह सागरोपम और वाईस सागरोपम।

इसमें रत्नप्रभा पृथ्वी में नारको की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की

राप्रभापृथिव्यां नारकाणां जघन्येन–एकसागरोपमा स्थितिः, वालुकाप्रभायां पृथिव्यां नारकाणां जघन्येन त्रिसागरोपमा स्थितिः, पङ्कप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नारकाणां सप्तसागरोपमा स्थितिः, धूमप्रभायां पृथिव्यां–नारकाणां जघन्येन दशसागरोपमा स्थितिः, तमःप्रभापृथिव्यां नारकाणां जघन्येन सप्तदशसागरोपमा स्थितिः, तमस्तमःप्रभाया पृथिव्यां नारकाणां जघन्येन द्वाविंशति सागरोपमा स्थितिरवसेया । तथाचोक्तम्—उत्तराध्ययने सूत्रे ३६–अध्ययने—

"सागरोवममेगंतु उक्कोसेणं वियाहिया ।
पढमाए जहण्णेणं दसवाससहस्सिया ॥१६०॥
"तिण्णेव सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहण्णेणं एगंतु सागरोवमं ॥१६१॥
"सत्तेव सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहण्णेणं तिण्णेव सागरोवमा ॥१६२॥
"दस सागरोवमाऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहण्णेणं सत्तेव सागरोवमा ॥१६३॥
"सत्तरस सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहण्णेणं दसचेव सागरोवमा ॥१६४॥
"बावीस सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहण्णेणं सत्तरस सागरोवमा ॥१६५॥
"तेत्तीस सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमा ॥१६६॥

"छाया—"सागरोपममेकन्तु–उत्कर्षेण व्याख्यातम् ।
प्रथमायां जघन्येन–दशवर्षसहस्रिका ॥१६०॥

होती है । शर्कराप्रभा पृथ्वी में नारको की जघन्य स्थिति एक सागरोपम की होती है । वालुका प्रभा में नारको की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की होती है । पंकप्रभा पृथ्वी में नारकों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की होती है । धूमप्रभा मे नारको की जघन्य स्थिति दस साग-रोपम की होती है । तम प्रभा पृथ्वी में नारको की जघन्य स्थिति सतरह सागरोपम की होती है । तमस्तमःप्रभा पृथिवी में नारको की जघन्य स्थिति बाईस सागरोपम की समझनी चाहिए । उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्ययन में कहा है–

'प्रथम भूमि अर्थात् रत्नप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है और जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥१६०॥

"त्रय एव सागरास्तु—उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
द्वितीयायां जघन्येन—एकन्तु सागरोपमम् ॥१६१॥
"सप्तैव सागरास्तु—उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
तृतीयायां जघन्येन—तिस्र एव सागरोपमा' ॥१६२॥
"दश सागरोपमास्तु—उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
चतुर्थ्यां जघन्येन—सप्तैव सागरोपमाः ॥१६३॥
"सप्तदश सागरास्तु—उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
पञ्चम्या जघन्येन—दशचैव सागरोपमाः ॥१६४॥
"द्वाविंशतिः सागरास्तु—उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
षष्ठ्यां जघन्येन—सप्तदश सागरोपमाः ॥१६५॥
"त्रयस्त्रिंशत्सागरास्तु—उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
सप्तम्यां जघन्येन—द्वाविंशतिः सागरोपमाः ॥१६६॥ इति

तथाच—नारकाणां पूर्व-पूर्व पृथिव्यां या—उत्कृष्टा स्थितिः सा परपरपृथिव्यां जघन्या स्थिति र्भवति, यथा— रत्नप्रभायां नारकाणा मुत्कृष्टा स्थितिः एकं सागरोपमं वर्त्तते । सा चैक-सागरोपमा स्थितिः शर्कराप्रभायां जघन्या वर्त्तते नारकाणाम् ।

'दूसरी पृथ्वी अर्थात् शर्कराप्रभा में उत्कृष्ट आयु तीन सागरोपम की तथा जघन्य आयु एक सागरोपम की है ॥१६१॥

'तीसरी पृथ्वी में अर्थात् वालुकाप्रभा में उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम की और जघन्य आयु तीन सागरोपम की है ॥१६२॥

'चौथी पृथ्वी पंकप्रभा में उत्कृष्ट आयु दस सागरोपम की है और जघन्य आयु सात सागरोपम की है ॥१६३॥

'पाँचवीं धूमप्रभा पृथ्वी में उत्कृष्ट आयु सतरह सागरोपम की और जघन्य आयु दस सागरोपम की है' ॥१६४॥

छठी अर्थात् तमःप्रभा में उत्कृष्ट आयु बाईस सागरोपम की और जघन्य आयु सत-रह सागरोपम की है' ॥१६५॥

'सातवीं पृथ्वी तमस्तमःप्रभा में उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम की और जघन्य आयु बाईस सागरोपम की है' ॥१६६॥

सातो नरकभूमियो के नारको की ऊपर जो उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति दिखलाई गई है, उसे ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि पूर्व-पूर्व के नरक में जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उत्तरोत्तर में वही जघन्य बन जाती है। उदाहरणार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वी में नारकों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, वही शर्कराप्रभा में जघन्य स्थिति है। शर्कराप्रभा में तीन

शर्कराप्रभायां नारकाणां या त्रिसागरोपमो-त्कृष्टा स्थिति रस्ति, सा वालुकाप्रभायां तेषां जघन्या स्थितिरवसेया । या च-वालुकाप्रभायां नारकाणा मुत्कृष्टा स्थितिः सप्तसागरोपमा वर्तते, सा-पङ्कप्रभायां नारकाणां जघन्या स्थितिरस्ति । या च-पङ्कप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टा स्थिति र्दशसागरोपमा वर्तते, सा धूमप्रभायां तषां जघन्या स्थिति रस्ति । या च-धूमप्रभायां—नारकाणा मुत्कृष्टा स्थितिः सप्तदशसागरोपमा वर्तते सा तमःप्रभायां नारकाणां जघन्या स्थिति र्भवति। या च तमःप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिः द्वाविंशतिसागरोपमा वर्तते, सा खलु-तमस्तमः प्रभायां नारकाणां जघन्या स्थिति र्भवति। रत्नप्रभायान्तु-नारकाणां दशवर्ष-सहस्राणि जघन्या स्थिति रवगन्तव्या ॥ १८ ॥

मूलसूत्रम्—"जंबूदीव लवण समुद्दाइ नामाओ असंखेज्जा दीवसमुद्दा-" ॥१९॥

छाया—"जम्बूद्वीप लवणसमुद्रादि नामानोऽसंख्येयाः द्वीपसमुद्राः—" ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु नरकवासिनां नारकाणां जघन्येन स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति-भूमिप्रस्तावाद् जम्बूद्वीपादि द्वीपान्-लवणसमुद्रांश्च प्ररूपयितुमाह—

"जंबूदीव लवण समुद्दाइ-" इत्यादि । जम्बूद्वीपलवणसमुद्रादयोऽसंख्येया द्वीपसमुद्राः सन्ति । तत्र-जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः लवणोदधिप्रभृतयः समुद्रा श्चाऽसंख्येयाः सन्ति ।

तद्यथा-जम्बूद्वीपो नामा द्वीपः-१ लवणोदधिनामा समुद्रः, धातकी खण्डनामा द्वीपः-२ कालोदधिनामा समुद्रः, पुष्करवरनामा द्वीपः-३ पुष्करवरोदनामा समुद्रश्च, वारुणीवरनामा

सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह तीन सागरोपम वालुका प्रभा में जघन्य समझनी चहिए। वालुकाप्रभा में जो सात सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है वही पंकप्रभा में जघन्य है। पंकप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है, वही धूमप्रभा में जघन्य है। धूम-प्रभा में उत्कृष्ट स्थिति सतरह सागरोपम की है, वही तमःप्रभा में जघन्य स्थिति है। तमःप्रभा में नारको की उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम है, वही बाईस सागरोपम तमस्तमःप्रभा में जघन्य है। रत्नप्रभा में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥१८॥

सूत्रार्थ—'जबुदीवलवण' इत्यादि ॥१९॥

जम्बू द्वीप आदि द्वीप और लवण आदि समुद्र असंख्यात है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्व सूत्र में रत्नप्रभा आदि भूमियो के नारको की जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब प्रसंगवश जम्बूद्वीप आदि द्वीपो की और लवण समुद्रो की प्ररूपणा करते है—

जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि द्वीप और समुद्र असंख्यात है वे इस प्रकार है—(१) जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लवणोदधि नामक समुद्र, (२) धातकी खण्ड नामक द्वीप, कालोदधि नामक समुद्र (३) पुष्करवर नामक द्वीप, पुष्करवरोद नामक समुद्र, (४) वारुणी-

द्वीपः—४ वारुणीवरोदनामा समुद्रश्च, क्षीरवरनामा द्वीपः-५ क्षीरवरोदनामा समुद्रश्च, घृतवरनामा द्वीपः—६ घृतवरोदनामा समुद्रश्च ।

इक्षुवरनामा द्वीपः—७ इक्षुवरोदनामा समुद्रश्च, नन्दीश्वरवर नामा द्वीपः—८ नन्दीश्वरवरोद नामा समुद्रश्च, अरुणवर नामा द्वीपः—९ अरुणवरोद नामा समुद्रश्चेत्येवं रीत्या स्वयम्भूरमण-पर्यन्ता असंख्येया द्वीपसमुद्रा अवगन्तव्याः ॥ १९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—इतः पूर्वं रत्नप्रभादि पृथिवीषु स्थितानां सीमन्तकादिनरकावास-निवासिनां जीवानां नरकेषु स्थिति रायुः परिमाणरूपा प्ररूपिता, सम्प्रतिहि—भूमिप्रस्तावाद् जम्बूद्वीपादि द्वीपानां—लवणोधदिप्रभृति समुद्राणाञ्च स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—**"जंबूदीव लवण समुदाइ नामाओ असंखेज्जा दीवसमुद्दा—"** इति ।

जम्बूद्वीप लवणसमुद्रादिनामानोऽसंख्येया द्वीपसमुद्राः सन्ति । तत्र—जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः लवणोदधिप्रभृतयः समुद्राश्चा-ऽसंख्येयास्तत्तन्नामधेयाः सन्ति । तथाचा सख्येयपदेना-ऽत्र सार्द्धद्वयोद्धारसागरोपमरूपमसंख्यातत्वं गृह्यते । तच्चोद्धारसागरोपमं उद्धारपल्योपमै र्निष्पद्यते, तथाहि—पल्यं स्यात् यत् आयामविष्कम्भाभ्यां उर्ध्वोच्चत्त्वेन च प्रत्येकं योजनपरिमितम् साधिक त्रिगुणपरिक्षेपयुक्तं च भवेत्, तच्च उत्कृष्टेन सप्तरात्रप्ररूढबालाग्रैः संनिचितमेतादृशं

वर नामक द्वीप, वारुणीवरोद नामक समुद्र (५) क्षीरवर नामक द्वीप, क्षीरवरोद नामक समुद्र (६) घृतवर नामक द्वीप, घृतवरीद नामक समुद्र (७) इक्षुवर नामक द्वीप, इक्षुवर नामक समुद्र (८) नंदीश्वर नामक द्वीप, नदीश्वरवरोद नामक समुद्र (९) अरुनामवरणक द्वीप, अरुणवरोद नामक समुद्र; इस प्रकार एक द्वीप और एक समुद्र, इस क्रम से स्वयंभूरमण द्वीप और स्वय-भूरमण समुद्र तक असंख्यात द्वीप—समुद्र समझने चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनियुक्ति— इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि पृथ्वियो में स्थित सीमन्तक आदि नारका-वासों में निवास करने वाले नारक जीवो की स्थिति अर्थात् आयु के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है । अब भूमि का प्रकरण होने से जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का तथा लवणोदधि आदि समुद्रो का स्वरूप वतलाने के लिए कहते है ।

जम्बूद्वोप और लवणसमुद्र आदि असख्यात द्वीप और समुद्र है । तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप आदि द्वीप असख्यात है और लवणोदधि आदि समुद्र भी असख्यात है । अस-ख्यात मे तरतमता के भेद से असंख्यात प्रकार हो सकते है । यहाँ असख्यात पद से अढाई उद्धार सागरोपम की समयराशि के बराबर असख्यात का ग्रहण करना चाहिए । यह उद्धार सागरोपम उद्धार पल्योपम से निष्पन्न होता है । जैसे—एक कोई पल्य आधारपात्र—जो एक एक योजन आयामविष्कम वाला अर्थात् एक योजन का लम्बा और एक योजन का चौडा तथा एक योजन का गहरा तथा इस माप से कुछ अधिक हीनगुनी परिधि गोलाई वाला

भृतं स्यात् यन्नाग्निना दह्यते न वायुनाऽपह्रियते न जलेन क्लिद्यते, ततस्तस्मा त्तादृशात्पल्यात् प्रतिसमयमेकैकबालाग्रामपह्रियते। ततो यावता कालेन तत्पल्यं रिक्तं भवेत्तावत्कालपरिमितमेकमुद्धारपल्योपमं भवति, तैस्तादृशैः दश कोटि कोटि परिमितै, पल्योपमैरेकमुद्धारसागरोपमं निष्पद्यते एतादृश सार्धद्वयोद्धारसागरोपम समयराशिप्रमाणतुल्याः खलु द्वीपसमुद्राः सन्ति।

तत्राऽपि-प्रथमद्विपादनन्तरः प्रथमः समुद्रः, द्वितीय द्वीपादनन्तरो द्वितीयः समुद्रः, तृतीयादनन्तर स्तृतीयः समुद्र इत्यादि रीत्या प्राक् तावद् द्वीपो वर्तते पश्चात् समुद्रोऽस्ति, तदनन्तरः पुनर्द्वीपः-तदन्तरः पुनः समुद्रः-इत्येवं यथासंख्यमवगन्तव्यम्। तद्यथा—

प्रथमं तावद् जम्बूद्वीपो नाम द्वीपः लवणोदधिः समुद्रश्च-१ ततो धातकीखण्डो नाम द्वीपः कालोदधिः समुद्रश्च-२ ततः पुष्करवरो नाम द्वीपः पुष्करोदधिः समुद्रः-३ ततो वरुणवरोनाम द्वीप वरुणोदधिः समुद्रश्च-४ ततः क्षीरवरो नाम द्वीपोऽस्ति क्षीरोदधिः समुद्रश्च-५ ततो घृतवरो नाम द्वीपः घृतोदधि समुद्रश्च-६ततश्च-ईक्षुवरोनाम द्वीपः इक्षुवरोदधिः समुद्रश्च-७ ततो नंदीश्वरो नाम द्वीपः नन्दीश्वरोदधि समुद्रश्च-८ ततश्च-अरुणवरो नाम द्वीपः अरुणवरोदधिः समुद्रश्च-९ इत्येवं रीत्या स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ताः असंख्येया द्वीपसमुद्राः सन्तीति भावः।

ते खलु सर्वे द्वीप-समुद्रा न शक्यन्ते नामग्राहमाख्यातुं तेषामसंख्येयत्वात्, तत्र-"**जंबूद्वीपः** इत्यादि सज्ञा-संज्ञिसम्बन्धश्चा-ऽनादिकालिकोऽवसेयः। द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीप-

---

हो, वह पल्य एक दो तीन उत्कृष्ट से सात रात्रि के उगे हुए बालाग्रों से ऐसा ठोंस ठोंसकर भरा जाय कि जिस बालाग्र को न अग्नि जला सके न वायु उडा सके और न पानी उन्हे क्लिन्न-गीला कर सके। इस तरह ठोसकर भरे हुए पल्यसे प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाय, तो जितने काल से वह पल्य रिक्त-खाली होवे उतने काल प्रमाण का एक उद्धार पल्योपम होता है। वैसे दस करोडा-करोड उद्धारपल्योपम होते है तब एक उद्धारसागरोपम होता है। इस प्रकार के अढाई उद्धार सागरोपमो में जितने समय होते है उतने ही द्वीप और समुद्र है।

इन द्वीपो और समुद्रो की अवस्थिति अनुक्रम से इस प्रकार है-पहले द्वीप के बाद पहला समुद्र है, दूसरे द्वीप के बाद दूसरा समुद्र है तीसरे द्वीप के बाद तीसरा समुद्र है, इत्यादि क्रम से पहले द्वीप फिर समुद्र फिर द्वीप और समुद्र इस प्रकार अनुक्रम से द्वीप और समुद्र है। उदहारणार्थ-सर्वप्रथम जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, उसे चारो ओर से वेष्टित किये हुए लवणोदधि नामक समुद्र है; तत्पश्चात् लवणोदधि समुद्र को चारो ओर से घेरे हुए धातकीखंड नामक द्वीप है, फिर कालोदधि नामक समुद्र है, फिर पुष्करवर नामक द्वीप और पुष्करोदधि समुद्र है, फिर वरुणवर नामक द्वीप और वरुणोदधि समुद्र है, फिर क्षीरवर नामक द्वीप और क्षीरोदधि समुद्र है, फिर घृतवर नामक द्वीप और घृतोदधि समुद्र है, फिर इक्षुवर नामक द्वीप और इक्षुवरोदधि समुद्र है, फिर नन्दीश्वर नामक द्वीप और नन्दीश्वरोदधि समुद्र है, फिर अरूणवर नामक द्वीप और अरूणवरोदधि नामक समुद्र है; इस क्रम से स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं।

सभी द्वीपों और समुद्रो का नामोल्लेख करके गिनाना संभव नहीं है, क्योंकि वे असंख्येय हैं। जम्बूद्वीप अनादि काल से है और उसका 'जम्बूद्वीप, यह नाम भी अनादि काल से है।

पदव्युत्पत्त्या उभयपार्श्वजलपरिगतभूप्रदेशो द्वीप उच्यते, सर्वं खल्वेतद् जम्बूद्वीपादि द्वीपसमुद्र-वलयजालमस्या एव रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरि-अवस्थितमवगन्तव्यम्, एतावानेव खलु तिर्यग्लोको वर्तते-न ततःपरमिति भावः ।

उक्तञ्च जीवाभिगमे ३-प्रतिपत्तौ २ उद्देशके द्वीपप्रकरणे-**केवलिया णं भंते ! जंबुद्दीवा पण्णत्ता ? गोयमा असंखेज्जा जंबुद्दीवा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता । केवलिया णं भंते ! लवण-समुद्दा पण्णत्ता असंखेज्जा लवणसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता, एवं धायइसंडावि एवं जाव असंखेज्जा सूरदीवा नामधेज्जेहिय, एगे देवे दीवे पण्णत्ते एगे देवोदे समुद्दे पण्णत्ते, एवं णागे, जक्खे, भूए, जाव-एगे सयंभूरमणे दीवे, एगे सयंभूरमणसमुद्दे णामधेज्जेणं पण्णत्ते" ।**

["**छाया-**"] कियन्तः खलु भदन्त ! जम्बूद्वीपाः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! असख्येयाः जम्बूद्वीपाः नामधेयैः प्रज्ञप्ताः । कियन्तः खलु भदन्त ! लवणसमुद्राः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! असं-ख्येयाः लवणसमुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ताः एवं-धातकीखण्डा अपि, एवं-यावत् असख्येया स्सूर्य-द्वीपाः नामधेयैश्च, एको देवो द्वीपः प्रज्ञप्तः, एको देवोदधिः समुद्रः प्रज्ञप्तः, एकः स्वयम्भूरमण-समुद्रो नामधेयेन प्रज्ञप्तः इति ।

पुनश्चाग्रे तत्रैव जीवाभिगमे तृतीयप्रतिपत्तौ २ उद्देशके चोक्तम् **"जावतिया लोगे सुभा णामा सुभा वण्णा जाव सुभा फासा एवतिया दीवसमुद्दा णामधेज्जेहिं पण्णत्ता-"**

जिसके सब (चारो) ओर पानी हो वह द्वीप, इस व्युत्पत्ति के अनुसार चारो पार्श्वों में जल से व्याप्त जो भूमिभाग होता है, वह द्वीप कहलाता है ।

जम्बूद्वीप एवं लवणसमुद्र आदि असंख्यात द्वीप समुद्रो का यह जो समूह है, सब इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर अवस्थित है । इतनी ही तिर्यक् लोक की सीमा है । स्वयंभूरमण समुद्र से आगे तिर्छा लोक नहीं है ।

जीवाभिगम सूत्र में तीसरी प्रतिपत्ति, दूसरे उद्देशक, सूत्र १८६ वें में द्वीप प्रकरण में कहा है-

प्रश्न-भावन्ः जम्बूद्वीप कितने कहे गए है ?

उत्तर-गौतम ! जम्बूद्वीप नाम से असंख्यात द्वीप कहे गए है ।

प्रश्न-भगवन् ! लवणसमुद्र कितने कहे गए है ।

उत्तर-लवणसमुद्र नाम से असख्यात समुद्र कहे है । इसी प्रकार धातकीखण्ड नामक द्वीप भी असख्यात समझने चाहिए । यावत् सूर्यद्वीप नामक द्वीप भी असं-ख्यात है । देवद्वीप एक है, देवोदधि समुद्र एक है, इसी प्रकार नाग, यक्ष, भूत यावत् स्वयंभूरमण द्वीप एक है, स्वयंभूरमण नामक समुद्र भी एक है ।

आगे जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देशक में भी कहा है-

"यावन्ति लोके-शुभानि नामानि, शुभा वर्णा यावत् शुभा स्पर्शा एतावन्तो द्वीप समुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ता" इति ॥१९॥

मूल सूत्रम् "ते दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणा वलयागारा पुव्वपुव्व परिक्खेविणो य-"

छाया—"ते द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणा वलयाकाराः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणश्च" ॥२०

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपादि द्वीपानां लवणोदधि-प्रभृति समुद्राणाञ्च निरूपणं कृतम् सम्प्रति-तेषां विष्कम्भायामाकारादि स्वरूपाणि प्रतिपादयितुमाह—'ते दीवसमुद्दा" इत्यादि । ते खलु-जम्बूद्वीपा लवणोदधिप्रभृतयो द्वीपसमुद्राः द्विगुणद्विगुणाः पूर्वपूर्वापेक्षया परपराः द्विगुण-द्विगुणविस्तारा वलयाकारा -वलयाकृतय'—

वलयो-वृत्तम् मण्डलम् आकारो येषां ते वलयाकाराः करकङ्कणादिवत् गोलाकृतयःसन्ति पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणश्च पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रान् यथाक्रमं परपरद्वीपसमुद्राः परिवेष्टय स्थिताः सन्तीतिभावः । तथा च-जम्बूद्वीपनाम्नः प्रथमद्वीपस्य यो विस्तारो वर्तते तद्विगुणविस्तारो लवणोदधिरस्ति । एवम्-लवणोदधेर्यो विष्कम्भो नाम विस्तारो वर्तते-तद् द्विगुणविष्कम्भो धातकीखण्ड-नाम्नो द्वीपस्य भवति । तद् द्विगुणविष्कम्भः कालोदधिसमुद्रोऽस्ति, तद् द्विगुणविष्कम्भः पुष्कर-वरोनाम द्वीपो वर्तते, तद्द्विगुणविष्कम्भः पुष्करवर समुद्रः इत्यादिरीत्या विस्तारः उत्तरोत्तरस्याऽवगन्तव्यः ॥२०॥

'लोक मे जितने शुभ नाम है, शुभ वर्ण यावत्-शुभ स्पर्श है, उतने ही नाम वाले द्वीप और समुद्र भी कहे गये है ॥१९॥

'ते दीवसमुद्दा दुगुण' इत्यादि ॥सू० २०॥

सूत्रार्थ—वे द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले, वलय के आकार के और पहले-पहले वालों को घेरे हुए है ॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का लवणोदधि आदि समुद्रो का निरूपण किया गया है । अब उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि का प्रतिपादन करने के लिए कहते है-

पूर्वोक्त जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं अर्थात पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर का विस्तार दुगुना-दुगुना है ।

सभी द्वीप और समुद्र चूड़ी के आकार के जैसा वृत्त अर्थात् गोल है । वे सब पूर्व-पूर्व वाले को घेर हुए स्थित है । अर्थात् क्रम के अनुसार पहले द्वीप को आगे का समुद्र घेरे हुए है, उस समुद्र को आगे का द्वीप घेरे हुए है और उसको भी आगे का समुद्र घेरे हुए है ।

इस प्रकार पहले द्वीप-जम्बूद्वीप का जितना विस्तार है, उससे दुगुना विस्तार लवणसमुद्र का है । लवणसमुद्र का जितना विस्तार है उससे द्विगुणित धातकीखण्ड द्वीपका विस्तार है । धातकीखड द्वीप से कालोदधि समुद्र का दुगुना विस्तार है, कालोदधि समुद्र से पुष्करवर द्वीप का दुगुना विस्तार है और पुष्करवर द्वीप की अपेक्षा पुष्करवर समुद्र का दुगुना विस्तार है । यही क्रम आगे भी सर्वत्र समझ लेना चाहिए ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—जम्बूद्वीपादिद्वीपानां-लवणोदधिप्रभृति समुद्रणाञ्च यथासम्भव नामतो निर्देशः कृतः सम्प्रति—तेषामेव द्वीप—समुद्राणामायाम—विष्कम्भाकारादिस्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—"ते दीवसमुद्दा दुगणा-दुगुणा वलयागारा पुव्वपुव्वपरिक्खेविणो य—" इति।

ते खलु—पूर्वोक्ता. जम्बूद्वीप—लवणोदधि प्रभृतयो द्वीपसमुद्राः द्विगुणद्विगुणाः पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्राऽपेक्षया—उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्राः द्विगुणद्विगुणाधिका सन्ति। यथा जम्बूद्वीपस्य यो विष्कम्भो नामविस्तारः, तदपेक्षया—द्विगुणविष्कम्भो लवणोदधिरस्ति। एवम्—लवणोदधेर्यो विष्कम्भोवर्तते ततो द्विगुणविष्कम्भो धातकी खण्डद्वीपोऽस्ति। तद् द्विगुणविष्कम्भः कालोदधि समुद्रोऽस्ति, तद् द्विगुणविष्कम्भः पुष्करवरो द्वीपो वर्तते, तद् द्विगुणविस्तारः पुष्करवर. समुद्रोऽस्ति,

इत्येवं रीत्या जम्बूद्वीपादयो द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ताः येन—येन क्रमेण व्यवस्थिता निर्दिष्टा वा सन्ति, तेनैव क्रमेण लवणसमुद्रप्रभृति स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तं द्विगुणविष्कम्भा भवन्ति—इत्यवसेयम् तत्क्रमानुसारेणैव पूर्वं पूर्वं द्वीपसमुद्रपरिक्षेपिण उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रा सन्तीत्यभिप्रायेणाह—पूर्वं पूर्वपरिक्षेपिण इति।

तथाच—जम्बूद्वीपं परिवेष्ट्य लवणोदधिरस्ति, लवणोदधि परिवेष्ट्य धातकीखण्डो द्वीपश्चकास्ति, धातकीखण्डद्वीपञ्च परिवेष्ट्य कालोदधिसमुद्रोऽस्ति, कालोदधि च परिवेष्ट्य पुष्करवरो

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का तथा लवणोदधि आदि समुद्रों का यथासभव नामनिर्देश किया गया है। अब उन्हीं द्वीप—समुद्रो की लम्बाई—चौड़ाई, आकृति आदि आदि का प्ररूपण करने के लिए कहते है—

पूर्वोक्त जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणोदधि आदि समुद्र दुगुने—दुगुने है अर्थात् पहले—पहले वाले की अपेक्षा अगले—अगले द्विगुण अधिक है। जम्बूद्वीप का जितना विस्तार है, उससे दुगुना लवणसमुद्र का विस्तार है। इसी प्रकार लवणसमुद्र के विस्तार की अपेक्षा धातकीखण्ड द्वीप का विस्तार दुगुना है। धातकीखण्ड के विस्तार से कालोदधि समुद्र का विस्तार दुगुना है। कालोदधि की अपेक्षा पुष्करवर द्वीप का और पुष्करवर द्वीप की अपेक्षा पुष्करवर समुद्र का विस्तार दुगुना है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यत जिस क्रम से द्वीप और समुद्र अवस्थित है और जिस क्रम से उनमें से कुछ का नामोल्लेख किया गया है, उसी क्रम के अनुसार उनका विस्तार दुगुना—दुगुना समझना चाहिए।

पूर्वोक्त नामो के अनुक्रम से ही वे द्वीप और समुद्र एक—दूसरे को वेष्टित किये हुए है, इस आशय को व्यक्त करने के लिए उन्हे 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः' कहा है। तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप को परिवेष्टित करके लवणसमुद्र स्थित है, लवणसमुद्र को परिवेष्टित करके धातकीखण्ड द्वीप रहा हुआ है, धातकीखण्ड को घेर कर कालोदधि समुद्र फैला हुआ है और कालोदधि समुद्र

द्वीपो वर्तते, इत्यादिरीत्या बोध्यम् । अतएव—वलयाकाराः खलु ते—लवणोधधिप्रभृतयः स्वयम्भूरमणपर्यन्ताः द्वीपसमुद्राः सन्ति । सर्वद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ती जम्बूद्वीपस्तु—कुलालचक्राकृतिः प्रतरवृत्तो-वर्तते, न तु वलयाकृतिरिति वक्ष्यते—उक्तञ्च—जीवाभिगमे ३—प्रतिपत्तौ २—उद्देशे—

"जंबद्दीवं णामं दीवं—लवणे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ—" जम्बूद्वीपो नाम द्वीपो लवणो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकार-संस्थानसंस्थितः सर्वतः—समन्तात् सपरिक्षिप्य—खलु तिष्ठति—" इति ।

पुनस्तत्रैवोक्तम्—**"जंबुद्दीवाइया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविह विधाणा वित्थारओ अणेगविहविधाणा दुगुणा दुगुणे पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा "ओभासमाणवीचिया—"**इति ।

जम्बूद्वीपादिका द्वीपाः, लवणादिकाः समुद्राः संस्थानतः ऐकविधविधानाः, विस्तारतोऽनेकविधविधानाः द्विगुण—द्विगुणाः प्रत्युत्पन्नायमानाः अवभासमानवीचयः—इति" ॥२०॥

मूलसूत्रम् - "सव्वब्भंतरे वट्टे मेरुणाभिए लक्खजोयणविक्खंभे जंबुद्दीवे ॥२१॥

छाया—"सर्वाभ्यन्तरो वृत्तो मेरुनाभिकः लक्षयोजनविष्कम्भो जम्बूद्वीपः—" ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—यद्यपि सामान्यतः सर्वद्वीपसमुद्राणां विष्कम्भा—ऽऽयामाकारादिस्वरूपाणि प्ररूपितानि, तथापि—तत्रा—ऽपवादरूपेण जम्बूद्वीपस्या—ऽन्यापेक्षया किञ्चिद्

को परिवेष्टित करके पुष्करवर द्वीप स्थित है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए । जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि सभी द्वीप—समुद्र वलयाकार है अर्थात् हाथ में पहनी जाने वाली चूड़ी के समान गोलाकार है । मगर इन सभी द्वीप—समुद्रो के मध्य में स्थित यह जम्बूद्वीप कुभार के चाक के समान प्रतरवृत्त अर्थात् सपाट गोल है । यह वलय के सदृश गोलाकार नहीं है ।

जीवाभिगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के दूसरे उद्देशक में, कहा है—'जम्बूद्वीप नामक द्वीप को वृत्त वलयाकार सस्थान वाला लवण नामक समुद्र सभी ओर से घेर कर स्थित है ।' आगे वहीं पुनः कहा है—'जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवण आदि समुद्र आकार में एक ही प्रकार के है अर्थात् सभी गोलाकार है मगर विस्तार में अनेक प्रकार के हैं—किसी का भी विस्तार किसी के बराबर नहीं है । सब एक—दूसरे से दुगुने—दुगुने विस्तार वाले है, पन्नायमान है, विस्तृत है और अवभासमान वीचियो वाले है ॥२०॥

'सव्वब्भंतरे वट्टे' इत्यादि ॥सू० २१॥

मूलसूत्रार्थ—समस्त द्वीप के भीतर, गोलाकार, मध्य में मेरु पर्वतवाला, तथा एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में यद्यपि सामान्य रूप से समस्त द्वीपो और समुद्रो के विस्तार लम्बाई, चौड़ाई आदि का निरूपण किया जा चुका है, तथापि अन्य द्वीपो की अपेक्षा किंचित्

वैशिष्ट्येन स्वरूपं प्ररूपयितुमाह—"सव्वब्भंतरे वट्टे—" इत्यादि। सर्वाभ्यन्तर'—सर्वेषां द्वीपसमुद्राणां जम्बूद्वीपप्रभृति स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तानां मध्ये जम्बूद्वीपः सर्वाभ्यन्तरवर्तीत्यर्थः, एवं वृत्त' कुलालचक्रवत् प्रतरवृत्तः, पूर्णिमचन्द्रवत् गोलाकारः न तु—वलयाकारः। लवणसमुद्रादयस्तु—वलयाकृतयः सन्ति, एवं—मेरुनाभिक—मेरुः मन्दरपर्वतो नाभौ—मध्ये यस्य स मेरुनाभिः खलु जम्बूद्वीप वर्तते। जम्बूद्वीपमध्ये मेरुरस्ति।

मेरुस्तावत्—मन्दराचलनामा सकलतिर्यग्लोकमध्यभागस्य मर्यादाकारित्वान्मेरुः कनकपर्वतः एकसहस्रयोजनानि भूमिमध्ये प्रविष्टो वर्तते, नव—नवतियोजनानि चोर्ध्वन्नतोऽस्ति, श्रीभद्रशालवनं नन्दनवनसौमनसवनपाण्डुकवननामानि तत्रो—पर्युपरि क्रमशश्चत्वारि वनानि सन्ति, उपरि चूलिका वर्तते। तत्र—श्रीभद्रशावलनादुपरि पञ्चशतयोजनलभ्यं नन्दनवनं वर्तते

नन्दनवनादुपरि सार्धद्विषष्टियोजनसहस्रप्राप्यं सौमनसवनं वर्तते, सौमनसवनादुपरि—षट्त्रिंशत्सहस्रयोजनगम्यं पाण्डुकवनं विलसति चत्वारिंशत्सहस्र योजनोन्नता चूलिका वर्तते, सा खलु—चूलिका सार्धपञ्चत्रिंशत्सहस्रयोजनमध्यान्तर्गतैर्वा—ऽवसेया, एवंभूतमेरुनाभिकः खलु जम्बूद्वीपोऽवसेयः।

स च जम्बूद्वीपो विस्तारेण कियत्परिमाणः इत्याकाङ्क्षायामाह—लक्षयोजनविष्कम्भः—योजनशतसहस्रविस्तारः, लक्षयोजनानि विष्कम्भो विस्तारो—बाहल्यं यस्याऽसौ लक्षयोजनविष्कम्भ' लक्षयोज-

---

विशेष रूप से जम्बूद्वीप के स्वरूप का प्ररूपण करते है—

इस रत्नप्रभा पृथ्वी पर पहले जो असंख्यात द्वीप समुद्र कहे गए है, उन सब के भीतर जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप कुंभार के चाक के समान प्रतरवृत्त अर्थात् सपाट गोलाकार है या पूर्णिमा के चन्द्र की तरह गोल है; वलय के आकार का नहीं है। जम्बूद्वीप के अतिरिक्त शेष लवणसमुद्र आदि समुद्र और समस्त द्वीप वलय अर्थात् चूड़ी के समान गोलाकार है। जम्बूद्वीप के बिलकुल मध्य में सुमेरु पर्वत है।

मेरुपर्वत का दूसरा नाम मन्दराचल भी है। वह संपूर्ण तिर्छे लोक की मर्यादा अर्थात् सीमा बनाने वाला है, इस कारण मेरु कहलाता है। वह स्वर्णमय है। सुमेरु पर्वत एक हजार योजन भूमि में धँसा हुआ है और निन्यानवे हजार योजन ऊपर है। उस पर एक—दूसरे के ऊपर चार वन हैं और ऊपर चोढी—शिखर है। चारो वनो के नाम इस प्रकार है—भद्रशाल वन, नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन। भद्रशाल वन से पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर नंदनवन है। नन्दनवन से साढ़े बासठ हजार योजन की ऊँचाई पर सौमनस वन है और सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है। सुमेरु की चूलिका चालीस योजन ऊँची है। वह चूलिका चारसौ चौराणवे योजन मध्यान्तर्गत है। इस प्रकार मध्य में सुमेरु पर्वत से युक्त जम्बूद्वीप है जम्बूद्वीप का विस्तार कितना है, यह आशंका होने पर उत्तर दिया गया है—उसका विस्तार एक लाख योजन का है। जम्बू नामक वृक्ष से युक्त होने के कारण यह द्वीप जम्बूद्वीप

नविशालः, जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वाद् जम्बूद्वीप इत्युच्यते, जम्बूवृक्षश्चो-त्तरकुरूणां मध्यवर्ती अनादिनिधनः पृथिवीपरिणामः स्वाभाविको वर्तते तदुपलक्षितः खलु जम्बूद्वीपो वर्तते इति भावः ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं द्वीपानां समुद्राणाञ्च-वलयाकृतित्वमुक्तम्, तथाच-जम्बूद्वीपस्यापि द्वीपतया वलयाकृतित्वं प्रसक्तम्-अतस्तदपवादरूपेणाह—"सव्वब्भंतरे वट्टे-" इत्यादि। जम्बूद्वीपः खलु द्वीपः सर्वाभ्यन्तरः सर्वेषां द्वीपसमुद्राणां स्वयम्भूरमणपर्यन्तानां मध्ये सर्वाभ्यन्तरवर्ती वर्तते। स खलु जम्बूद्वीपो वृत्तः प्रतरवृत्तः कुम्भकारचक्राकारः न तु वलयाकारः लवणसमुद्रादीनां वलयाकृतित्वस्योक्तत्वात्। वलयाकृतिभिश्च तत्र चतुरस्राकारयोरपि परिवेष्टनसम्भवेन जम्बूद्वीपस्य त्र्यस्र चतुरस्राकृतित्वनिरासार्थं वृत्तग्रहणं कृतमत्रसेयम्। तथाच सर्वेषां द्वीपसमुद्राणां वृत्तत्वे सत्यपि जम्बूद्वीपस्य प्रतरवृत्तत्वमेव कुलालचक्रादिवत्-नतु-वलयवृत्तत्वकरकङ्कणादिवत्,

लवणसमुद्रादीनां वलयवृत्तत्वमेव न तु-प्रतरवृत्तत्वमितिभावः स जम्बूद्वीपः पुनः कीदृशः इत्याह—मेरुनाभिकः मेरुः-मन्दराचलो नाभौ-मध्ये यस्याऽसौ मेरुनाभिकः, यस्य मध्ये मेरुपर्वतो वर्तते तथाविधो मध्यवर्ति मेरुः खलु जम्बूद्वीपो वर्तते, पुनः कीदृशो जम्बूद्वीप इत्याह—

लक्षयोजनविष्कम्भः लक्षं-योजनानि विष्कम्भो नाम विस्तारो बाहल्यं यस्य स लक्षयोजनविष्कम्भः योजनशतसहस्रविस्तारः स जम्बूद्वीपो वर्तते इतिभावः। मेरूपर्वतश्च काञ्चनस्थालपात्रस्य-

---

कहलाता है। वह जम्बू वृक्ष उत्तर कुरु क्षेत्र के मध्य में है, अनादि-अनन्त है, पार्थिव अर्थात् पृथ्वी का परिणमन और स्वाभाविक है। जम्बूद्वीप इसी वृक्ष से युक्त है ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा गया है कि द्वीप और समुद्र वलय के आकार के है। इस कथन से जम्बूद्वीप के वलयाकार होने का प्रसंग आता है, मगर वह वलय के आकार का नहीं है; अतएव पूर्वोक्त कथन का अपवाद यहाँ प्रदर्शित किया जाता है—

जम्बूद्वीप सब द्वीप-समुद्रो के अन्दर है, अर्थात् स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यन्त जितने भी द्वीप और समुद्र है, उन सब के भीतर है। वह प्रतरवृत्त अर्थात् कुंभार के चाक के समान गोल है, मगर चूडी के समान गोल नहीं है। लवण समुद्र आदि को वलय के आकार का कहा गया है और जो वलयाकार होते है वे तिकोने और चौकोर पदार्थों को भी वे विष्टित कर सकते है। ऐसी स्थिति में जम्बूद्वीप को त्रिकोण या चतुष्कोण न समझ लिया जाय, इस उद्देश्य से सूत्र में 'वृत्त' शब्द ग्रहण किया गया है। अतएव समस्त द्वीपो और समुद्रो के गोलाकार होने पर भी जम्बूद्वीप प्रतरवृत्त है जैसे कुंभार का चाक होता है। वह हाथ में पहने जाने वाले कंकण के समाण गोलाकार नहीं है, जब कि उससे आगे के लवण समुद्र आदि वलय के समान गोलाकार है, प्रतरवृत्त नहीं हैं।

जम्बूद्वीप मेरुनाभिक है अर्थात् उसके मध्यभाग में मन्दराचल-पर्वत है। जम्बूद्वीप का एक लाख योजन का विस्तार है। चाहे पूर्व से पश्चिम तक नापा जाय या उत्तर से दक्षिण तक; उसका परिमाण सर्वत्र एक लाख योजन ही होता है।

मध्यस्थानवद्-वृत्तः, भूमेरधस्तात् योजनसहस्रं प्रविष्टो नव-नवतियोजनसहस्रं दृश्योच्छ्रायो यद्दृश्यं योजनसहस्रं भूमौ वर्तते, तत्सर्वं विष्कम्भरूपबाहल्यायामाभ्यां दशसहस्रयोजनानि वर्तन्ते, । उपरिच-योजनसहस्रं यत्र चूलिकोद्भवति, त्रिकाण्डस्तावत्-त्रिलोकस्पृक् चतुर्भिश्च वनैर्भद्रशालनन्दन-सौमनस पाण्डुकैः परिवेष्टितो वर्तते ।

तत्र-काण्डं तावद् विशिष्टप्रमाणानुगतविच्छेदरूपं भवति, तत्र च यद् भूमौ प्रविष्ट शुद्धपृथिव्यु-पलवज्रशर्कराबहुलं योजनसहस्रप्रमाणं वर्तते तत्प्रथमं काण्डमवसेयम्, । द्वितीयं काण्डन्तु-भूपरि-तलारब्धं त्रिषष्टियोजनसहस्राणि रजत-जातरूपाङ्कस्फटिकबहुलं वर्तते, तदुपरि तृतीयं काण्डं पुनः षट्त्रिंशद्योजनसहस्राणि जाम्बूनदबहुलं वर्तते । तदुपरि-वैडूर्यबहुलाऽस्य चूलिकाचत्वारिंशद्-योजनोच्छ्रायाः ।

मूले-उद्गमप्रदेशे बाहल्यायामाभ्यां द्वादशयोजनानि, मध्येऽष्टौ योजनानि, उपरि च-चात्वारि योजनानि सन्ति, भूमौ तावद् व्यवस्थितं प्रथमं भद्रशालवनं वलयाकारं वर्तते, भद्र-शालवनभूमेः पञ्चयोजनशतान्युपरि-आरूह्य प्रथममेखलायां पञ्चयोजनशतविस्तारं द्वितीयं नन्दनं नाम वनं वर्तते, ततः सार्धद्विषष्टियोजनसहस्राणि-उपरि-आरूह्य पञ्चयोजनशतविस्तारमेव

मेरुपर्वत सुवर्ण के थाल के मध्यस्थान के समान गोलाकार है । उसका एक हजार योजन-परिमित भाग भूमि के नीचे प्रविष्ट है और निन्यानवे हजार योजन-परिमित भाग पृथ्वी के ऊपर है जो दृश्य है । पृथ्वी में जो एक हजार योजन है उनकी लम्बाई, और चौडाई १००९० $\frac{१०}{११}$ भाग है । ऊपरी भाग में, जहाँ से चोटी प्रारंभ होती है, वहां एक हजार योजन है । वह पर्वत तीन काण्डो वाला, तीनो लोको को स्पर्श करने वाला तथा भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक नामक चार बनोसे परिवेष्टित है ।

एक विशिष्ट प्रमाण से युक्त विच्छेद या रचनाविशेष को काण्ड कहते है । तीन काण्डो में से प्रथम काण्ड वह है जो भूमि के अंदर है, शुद्ध पृथ्वी, पाषाण, वज्र एवं शर्करा की बहुतायत वाला है और एक हजार योजन परिमाण वाला है । दूसरा काण्ड पृथ्वी के ऊपर से प्रारंभ होता है, त्रेसठ हजार योजन का है और चांदी, स्वर्ण अंक तथा स्फटिकरत्नो की बहुलता वाला है । दूसरे काण्ड के ऊपर तीसरा काण्ड शुरु होता है । वह छत्तीस हजार योजन का है और जाम्बूनद की वहुलता से युक्त है । तीसरे काण्ड के ऊपर चालीस योजन ऊची चूलिका है, जिसमे वैडूर्य की बहुलता है ।

मूल अर्थात् उद्गमप्रदेश में चूलिका की चौड़ाई और लम्बाई वारह योजन की है । मध्यभाग में आठ योजन और ऊपर चार योजन की है । भूमि के ऊपर रहा हुआ पहला भद्रशालवन वलयाकार है । भद्रशालवन की भूमि से पाँच सौ योजन ऊपर प्रथम मेखला में पाँच सौ योजन विस्तृत नन्दन नामक दूसरा वन है । नन्दन वन से साढ़े वासठ हजार

सौमनस नाम तृतीयं द्वितीयमेखलायां वर्तते ।

ततोप्युपरि षट्त्रिंशत् सहस्राण्यारूह्य चतुर्नवत्यधिकचतुर्योजनशतविस्तृतं पाण्डुकं नाम-चतुर्थं वनं मेरोः शिखरे विलसति अयं खलु मेरूपर्वतो न सर्वत्र ममप्रमाणतया प्रवृद्धो वर्तते, अपितु—प्रदेशपरिहाण्या परिहीयमानः प्रवृद्धोऽस्ति । तत्र—नन्दनवनादुपरि सौमनसवनाच्चा-ऽधस्तात् खलु मध्ये एकादशयोजनसहस्राण्यारूह्य विस्तारस्य योजनसहस्रं परिहीयते । समभूमि-भागे मेरूपर्वतीयो विष्कम्भो दशसहस्रयोजनपरिमितोऽस्ति, तस्मात् एकादशयोजनेषु उर्ध्वं गतेषु सत्सु एकयोजनं तथा एकादशेषु योजनशतेषु गतेषु एकं शतम् तथा एकादशेषु योजनसहस्रेषु गतेषु एकसहस्रविष्कम्भे न्यूनत्वं गच्छन्नस्ति । अनेन प्रकारेण नवनवतियोजनसहस्रेषु गतेषु एकं सहस्रं योजनस्य विष्कम्भोऽवशिष्टः उक्तञ्च जम्बूप्रज्ञप्तौ ३—सूत्रे—"**जम्बूद्दीवे सव्व-दीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डाए वट्टे ...एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेण—**" इत्यादि । जम्बूद्वीपः सर्वद्वीपसमुद्राणां सर्वाभ्यन्तरः सर्वक्षुल्लको वृत्तः....एकं योजनशतसहस्रम् आयामविष्कम्भेण, इत्यादि, ।

पुनस्तत्रैवोक्तम्—१०३ सू०—"**जंबूदीवस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं जंबूदीवे मंदरे णामं पव्वए पण्णत्ते, णवणउतिजोयणसहस्साइं उद्धं उच्चत्तेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वे-हेणं—**" इति जम्बूद्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु—जम्बूद्वीपे मन्दरो नाम पर्वतः प्रज्ञप्तः नवनवतियोजनसहस्राणि ऊर्ध्वम् उच्चत्वेन, एकं योजसहस्रमुद्वेधेन, इति ॥२१॥

मूलसूत्रम् "तत्थ-भरह—१ एरवत—२ हेमवत—३ हेरण्णवत—४ हरि—५ रम्मग—६ महाविदेहा—७ सत्तवासा—,, ॥२२॥

योजन की उँचाई पर पाँच सौ योजन विस्तृत सौमनस नामक तीसरा वन दूसरी मेखला में है

सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन की उँचाई पर चार सौ चौरानवे योजन विस्तार वाला पाण्डुक नामक चौथा वन मेरु के शिखर पर शोभायमान है । यह मेरु पर्वत सभी जगह समान परिमाण वाला नहीं है किन्तु सम भूमि भाग पर मेरूपर्वत की चोड़ाई दशहजार योजन है वहा से ग्यारह योजन ऊपर जाने पर एक योजन और ग्यारह सौ योजन जाने पर एक सौ तथा ग्यारह हजार योजन जाने पर एक हजार योजन चौड़ाई में कम होता गया है । इस हिसावसे ९९ नीन्यानवे हजार योजन ऊपर जाने पर एक हजार योजन का चौड़ा रह गया है ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के तीसरे सूत्र में कहा है—

जम्बूद्वीप समस्त द्वीप—समुद्रों के अन्दर है, सब से छोटा है, गोलाकार है और लम्बाई—चौडाई में एक लाख योजन विस्तृत है ।'

वहीं फिर सूत्र १०३ में कहा है—'जम्बूद्वीप के ठीक बीचोबीच में मन्दर नामक पर्वत कहा गया है । वह निन्यानवे हजार योजन जमीन पर उँचा है और एक हजार योजन जमीन के भीतर धँसा हुआ है—' ॥२१॥

छाया--तत्र-भरतै-१ रवत-२ हैमवत-३ हैरण्णयवत-४ हरि-५रम्यक-६महाविदेहाः-७सप्तवर्षाः--,, ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भायामस्वरूपादिकं प्ररूपितम्, सम्प्रति हि तस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्तक्षेत्राणि सन्तीति प्ररूपयितुमाह "तत्थ भरहे" इत्यादि । तत्र खलु जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतै-१ रवत-२ हैमवत-३ हैरण्यवत-४ हरि-५ रम्यक-६ महाविदेहा·-७सप्तवर्षाः क्षेत्राणि सन्ति । तथाच-भरतवर्षैरवतवर्ष-हैमवतवर्ष-हैरण्यवतवर्ष-हरिवर्ष रम्यकवर्ष महाविदेहवर्षा. सप्तक्षेत्राणि तावद्जम्बूद्वीपे सन्तीति भावः ।

तत्र-भरतवर्षस्तावद् हिमवतो दक्षिणदिग्भागे वैताढ्येन, गङ्गा सिन्धुभ्याञ्च विभक्त षट्खण्डोऽस्ति, यस्य त्रिदिक्षु समुद्रोऽधिज्यचापाकारो वर्तते ॥१॥ शिखरिण उत्तरतस्त्रयाणाञ्च समुद्राणां मध्ये ऐरवतवर्षो रक्ता-रक्तोदाभ्याञ्च विभक्तः षट्खण्डविस्तारः । २ उत्तरेण-क्षुद्रहिमवतो दक्षिणेन च महाहिमवतः पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतवर्षो विद्यते ।३

'तत्थ-भरह एरवत' इत्यादि सूत्रार्थ ॥सू० २२॥

जम्बूद्वीप में सात वर्ष (क्षेत्र) है-(१) भरत (२) ऐरवत (३) हैमवत (४) हैरण्यवत (५) हरि (६) रम्यक और (७) महाविदेह ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पहले के सूत्र में जम्बूद्वीप की लम्बाई-चौड़ाई आदि की प्ररूपणा की गई है । अब उसी जम्बूद्वीप में छह कुलपर्वतो के कारण विभक्त हुए सात क्षेत्रो की प्ररूपणा की जाती है-

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में (१) भरत (२) ऐरवत (३) हैमवत (४) हैरण्यवत (५) हरि वास (६) रम्यकवास और (७) महाविदेह नामक सात क्षेत्र है जो 'वर्ष' कहलाते है । जैसे-भरतवर्ष, ऐरवतवर्ष, हैमवतवर्ष, हैरण्यवतवर्ष हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, महाविदेहवर्ष; तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप में ये सात क्षेत्र है ।

(१) इन सात क्षेत्रो में से प्रथम भरतवर्ष हिमवान् पर्वत के दक्षिण में है । वैताढ्य नामक पर्वत और गंगा-सिन्धु नामक दो महानदियो के कारण विभक्त हो जाने से उसके छह विभाग हो गए है । भरतवर्ष के तीनो ओर लवण समुद्र है । वह ज्या (डोरी) सहित धनुष के आकार का है ।

(२) उपर उत्तर दिशा मे शिखरि नामक पर्वत से उत्तर में और तीन समुद्रो के मध्य में ऐरवतवर्ष है ! उसके भो वैताढ्यपर्वत और रक्ता तथा रक्तोदा नामक नदियो से विभक्त हो जाने के कारण छह खड हो गए है ।

(३) क्षुद्रहिमवान् पर्वत से उत्तर में और महाहिमवान् पर्वत से दक्षिण में हैमवन नामक वर्ष अवस्थित है । उससे पूर्व और पश्चिम में लवण समुद्र है ।

रुक्मिण उत्तरतः शिखरिणो दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये सन्निविष्टो हैरण्यवतवर्षः ।४ निषधस्य दक्षिणतः, महाहिमालयस्योत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले सन्निविष्टो हरिवर्षः ।५ नीलादुत्तरतः रुक्मिणो दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये सन्निवेशविशिष्टो रम्यकवर्षः ।६।

निषधस्योत्तरतः, नीलाद्दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले स्थितो महाविदेहवर्षो भवति ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं जम्बूद्वीपस्वरूपं विष्कम्भायामाकारादिभिः प्ररूपितम्, सम्प्रति-तस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे वक्ष्यमाणैः षड्भिर्वर्षधरपर्वतैः प्रविभक्तानि सप्तक्षेत्राणि प्ररूपयितुमाह **तत्थ-भरह–हेमवत–हरि–महाविदेह–रम्मग–हेरण्णवत एरवता–सत्तवासा–**" इति ।

तत्र–तस्मिन् खलु पूर्वोक्तस्वरूपे जम्बूद्वीपे भरत–हैमवत–हरि–महाविदेह–रम्यक–हैरण्यवत ऐरवताः सप्तवर्षाः क्षेत्राणि सन्ति । तथाच–भरतवर्ष–हैमवतवर्ष हरिवर्ष महाविदेहवर्ष–रम्य-कवर्ष–हैरण्यवतवर्ष–ऐरवतवर्ष–नामधेयाः सप्तवर्षाः सन्ति, । एते भरतवर्षादयः सप्त न द्वीपान्त-राणि सन्ति, अपितु–एकस्य जम्बूद्वीपस्यैव विशिष्टावधिका विभागा अवसेयाः जगतः स्थितेर-नादित्वात् सञ्ज्ञामात्रमेव तेषां बोध्यम् ।

अथवा–भरतदेवनिवाससम्बन्धाद् भरतं–भारतं वोच्यते, हिमवतोऽदूरभवत्वाद् हैमवत-

---

(४) रुक्मि पर्वत से उत्तर में और शिखरि पर्वत से दक्षिण में हैरण्यवत नामक वर्ष है । इसके पूर्व और पश्चिम में भी लवणसमुद्र है ।

(५) निषध पर्वत से दक्षिण में और महाहिमवान् पर्वत से उत्तर में हरिवर्ष है । इसके भी पूर्व और पश्चिम में लवणसमुद्र है ।

(६) नील पर्वत से उत्तर में और रुक्मि पर्वत से दक्षिण में, पूर्व एवं पश्चिम समुद्र के मध्य में रम्यकवर्ष है ।

(७) निषधपर्वत से उत्तर में और नील पर्वत से दक्षिण में, पूर्व एवं पश्चिम समुद्र के मध्य में महाविदेहवर्ष अवस्थित है ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व जम्बूद्वीप के स्वरूप का लम्बाई–चौड़ाई आदि द्वारा प्ररू-पण किया गया है । अब उसी जम्बूद्वीप में आगे कहे जाने वाले छह वर्षधर पर्वतो के कारण विभाजित हुए सात क्षेत्रो की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं–

पूर्वोक्त स्वरूप वाले जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरिवास, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत नामक सात वर्ष–क्षेत्र है । इस प्रकार भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, महाविदेह-वर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और, ऐरवतवर्ष नामक सात वर्ष है । ये सातो क्षेत्र जम्बूद्वीप के ही एक विशिष्ट सीमा वाले विभाग है, अलग द्वीप नहीं है । जगत् की स्थिति अनादिकालीन है, अतएव इनकी संज्ञा भी अनादिकालीन समझना चाहिए ।

अथवा भरत नामक देव के निवास के सम्बन्ध से वह क्षेत्र भी भरत या भारत कहलाता

मुच्यते । हरयो–महाविदेहाश्च पञ्चालवद् बोध्याः रम्यमेव रम्यकमिति संज्ञायां स्वार्थे कनिन् प्रत्ययोऽवसेयः हैमवतदेवनिवाससंबन्धात्–हैरण्यवतमुच्यते, एव मैरवतमपि बोध्यम् । तथाचैते सप्तवर्षाः क्षेत्राणि वा व्यपदिश्यन्ते, तत्र–वर्षधरसन्निधानाद् वर्षा उच्यन्ते, मनुजादि निवासाच्च क्षेत्राणि इत्युच्यन्ते, क्षिपन्ति–निवसन्ति प्राणिनो येषु तानि क्षेत्राणीति व्युत्पत्ते.

तत्र–भरतस्योत्तरतो हैमवतम्–१ हैमवतस्योत्तरतो हरिवर्ष–३ हरिवर्षस्योत्तरतो महाविदेहवर्षः ४ महाविदेहस्योत्तरतो रम्यकवर्ष ५ रम्यकवर्षस्योत्तरतो हैरण्यवतम्–६ हैरण्यवतस्योत्तरतः–ऐरवतवर्षो वर्तते इति सर्वेषाञ्चैतेषां भरत, हैमवत हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यकवर्ष, हैरण्यवत ऐरवतवर्षाणां खलु व्यवहारनयापेक्षया सूर्यकृताद् दिङ्नियमादुत्तरतो मेरुर्भवति, न तु–निश्चयेन उक्तञ्चा–ऽन्यत्रापि "**सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थित**" इति । एवञ्च–व्यवहारनयेन रविगतिजनितदिग्नियमात् सर्वेषामुत्तरतो मेरुपर्वत, दक्षिणतश्च लवणोदधिरस्तीति फलितम् ।

व्यवहारनयमाश्रित्य यस्मिन्-क्षेत्रे यत्र रविरुदेति–सा दिक् प्राचीति व्यपदिश्यते, यस्यां दिशि रविरस्तमेति सा प्रतीची, कर्कटकादिधनुरन्तान् राशीन् यस्यां दिशि व्यवस्थितो रविश्च–

है । जो क्षेत्र हिमवान् पर्वत से दूर नहीं–निकट में है, वह हैमवत कहलाता है । हरि और महाविदेह पंचाल के समान समझ लेने चाहिए । जो क्षेत्र रम्य (रमणीय हो) वह रम्यक । यहाँ स्वार्थ में कनिन् प्रत्यय हुआ है । हैरण्यवत देव का निवास होने के कारण वह क्षेत्र भी हैरण्यवत कहलाता है । ऐरवत क्षेत्र का नाम भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

वे सातो वर्ष, क्षेत्र भी कहलाते है । वर्षधर पर्वतो के निकट होने से उन्हे वर्ष कहते है और मनुष्यो आदि का निवास होने से उन्हे क्षेत्र भी कहते है । क्षिपन्ति अर्थात् निवास करते है प्राणी जिनमें वह क्षेत्र; ऐसी क्षेत्र शब्द की व्युत्पत्ति है ।

इन सात वर्षों में भरत से उत्तर में हैमवत है, हैमवत से उत्तर में हरिवर्ष है, हरिवर्ष से उत्तर में महाविदेहवर्ष है, महाविदेह से उत्तर में रम्यकवर्ष है, रम्यकवर्ष से उत्तर में हैरण्यवतवर्ष है, और हैरण्यवतवर्ष से उत्तर में ऐरवत वर्ष है ।

इन सब भरत, हैमवत, हरि, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत वर्षों से, व्यवहारनय की उपेक्षा से, सूर्य के कारण होने वाले दिशाओ के नियम के अनुसार, मेरुपर्वत उत्तर में है, निश्चयनय से ऐसा नहीं है । अन्य जगह भी कहा है–'मेरुपर्वत सभी वर्षों के उत्तर में है ।' इस कथन से यह फलित हुआ कि व्यवहारनय से, सूर्य की गति के कारण उत्पन्न दिशाओ के नियम के अनुसार मेरुपर्वत सभी के उत्तर में है और लवणसमुद्र सव के दक्षिण में है ।

व्यवहारनय की अपेक्षा जिस क्षेत्र में जिस ओर सूर्य का उदय होता है, वह दिशा पूर्वदिशा कहलाती है । और जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा कहलाती है । कर्क से लेकर धनुष् राशि पर्यन्त जिस दिशा में रहकर क्रम से सूर्य चलता है, वह

रति क्रमेण सा दक्षिणा दिगुच्यते एवं–मकरादिमिथुनान्तान् राशीन् यस्यां दिशि व्यवस्थितो रविः क्रमेण चरति सा–उत्तरा दिगू व्यपदिश्यते ।

एवमन्तरालदिश ऊर्ध्वमधश्चापि रविसंयोगाद्बोध्याः, इति सवित्रपेक्षयैव दिग्व्यवह्रियते, इति सर्वेषां व्यावहारिकी खलु दिग्भवतीति भावः । न पुनर्निश्चयतः एवं वक्तुं शक्यते, अस्मदादीनां सवितुरुदयमपेक्ष्य या प्राचीदिक् उच्यते, सैव खलु–दिक् पूर्वविदेहकानां कृते प्रतीची भवति । तत्र–तदपेक्ष्य सवितुरस्तमितत्वात्, तस्माद्–व्यवहारमात्रमिदम् न तु–निश्चयः

निश्चयनयापेक्षया तु–तिर्यग्लोकमध्याऽवस्थितं समतलभूभागमेरुव्यवस्थितमाकाशप्रदेशाष्टकनिर्माणं चतुरस्राकृतिं रुचकं तावद्दिङ्नियमहेतुतया–ऽऽश्रित्य यथासम्भव दिग्व्यवस्था कर्तव्या, स खलु रुचकः–ऐन्द्र्यादीनां दिशाम्, आग्नेयादीनां विदिशां च प्रभवो वर्तते ।

तत्र–दिशस्तावद् द्विप्रदेशादिकाः प्रदेशद्वयोत्तरवृद्धया वृद्धि लभमाना विशालशकटोद्धिसस्थानाकृतयः सादिकाः पर्यवसानरहिता विशिष्टाकृतिलब्धव्यवस्थानै रनन्तैराकाशदेशैर्जनितस्वरूपाश्चतस्रो भवन्ति ।

विदिशः पुनर्मुक्तावलीसदृशाः एकैकाकाशप्रदेशरचनाकृतस्वरूपाः सादिकाः पर्यवसानरहिता

दक्षिण दिशा कहलाती है और मकर राशि से लगा कर मिथुन राशि तक जिस दिशा में रहकर सूर्य क्रम से चलता है, वह उत्तर दिशा कहलाती है ।

इसी प्रकार इन चारो दिशाओं के मध्य की दिशाएँ अर्थात् विदिशाएँ, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा भी सूर्य के सयोग से होती है। इस प्रकार सर्वत्र सूर्य की अपेक्षा से ही दिशाओ का व्यवहार होता है । तात्पर्य यह है कि सभी की दिशा व्यवहारिक है । मगर निश्चय से ऐसा नहीं कहा जा सकता। सूर्योदय की अपेक्षा से हमारे लिए जो पूर्वदिशा है, वही दिशा पूर्वविदेह के निवासियो के लिए पश्चिम दिशा है, क्योकि उनकी अपेक्षा से वहाँ सूर्य अस्त होता है । इस कारण यह व्यवहार मात्र है, निश्चय नहीं ।

निश्चयनय की अपेक्षा से मध्यलोक में स्थित, मेरुपर्वत के समतल भूभाग में रहे हुए, आठ आकाशप्रदेशो से निर्मित चतुष्कोण जो रुचक है, वह दिशाओ के नियम का कारण है। उसी को केन्द्रमानकर दिशाओ की व्यवस्था करना चाहिए ।-वह रुचक ही पूर्वदिशाओं और आग्नेय आदि विदिशाओ का प्रभव–उद्गम स्थान है ।

दिशाएँ दो प्रदेशो से प्रारंभ होती हैं और दो प्रदेशो की वृद्धि से बढ़ती हुई विशाल शकटोर्द्धि के आकार की होती है । उनकी आदि है पर अन्त नहीं है । विशिष्ट आकार में उनका अवस्थान है, और अनन्त (अलोक की अपेक्षा) आकाश प्रदेशो से उनका स्वरूप उत्पन्न होता है । ये दिशाएँ चार हैं ।

विदिशाएँ मुक्तावली के समान होती है । एक–एक आकाशप्रदेश की रचना से उनका

अनन्तप्रदेशाश्चतस्र एव सन्ति, ऊर्ध्वं पुनस्तानेव चतुरः प्रदेशान् मर्यादीकृत्यो–परिस्थितचतुः प्रदेशादिकाऽनुत्तरा विमलानामदिक् व्यपदिव्यते, एवमधस्तात् खलु तमोऽभिधाना–ऽधस्तना–ऽऽकाशप्रदेशचतुष्टयप्रवहो भवति, एताश्च--दशदिशोऽनादिकालसन्निवेशिन्यो निश्चयनयाऽनुसारेणा–ऽनादिकालप्रसिद्धनामानश्चावगन्तव्याः ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गसूत्रे ७–स्थाने–**"जम्बूदीवे सत्तवासा पण्णत्ता, तंजहा भरहे, एरवते हेमवते हेरण्णवते, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे"** इति । जंबूद्वीपे सप्त वर्षा प्रज्ञप्ता.– तद्यथा–भरतम्–ऐरवतम्–हैमवतम्–हैरण्यवतम् हरिवर्षः रम्यकवर्ष–महाविदेहः, इति ।

तत्र–भरतवर्षस्तावद् हिमाचलस्य दक्षिणदिग्भागावस्थितस्त्रयाणां समुद्राणाञ्च मध्ये-आरोपितचापाकृतिरस्ति वैताढयेन–गङ्गासिन्धुभ्याञ्च विभक्तः षट् खण्डः ।१ हैमवतवर्षस्तु–क्षुद्र-हिमवत उत्तरतो महाहिमवतश्च दक्षिणतः पूर्वाऽपरसमुद्रयोर्मध्ये वर्तते ।२ हरिवर्षश्च–निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयो रन्तराले वर्तते ।३

महाविदेहवर्षश्च–निषधस्योत्तरतो नीलस्य दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरालवर्ती विद्यते ।४

स्वरूप निष्पन्न होता है; उनकी आदि तो है पर अन्त नहीं है । विदिशाएँ चार है और वे अनन्त प्रदेशो से निर्मित है ।

ऊर्ध्वदिशा भी उन्हीं चार प्रदेशों से उत्पन्न होती है । उसकी आदि ऊपर स्थित चार प्रदेशो से होती है । उसे अनुत्तरा–विमला दिशा भी कहते है ।

अधोदिशा का नाम तमस् है, वह नीचे के चार आकाश प्रदेशो से उत्पन्न हुई है । ये दशो दिशाएँ अनादिकालीन है और इनके नाम भी अनादिकाल से प्रसिद्ध है । यह निश्चयनय के अभिप्राय से समझना चाहिए ।

स्थानांगसूत्र के सातवें स्थान में कहा है–'जम्बूद्वीप में सात वर्ष–क्षेत्र कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं–भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष महाविदेह ।'

(१) भरतवर्ष हिमवान् पर्वत के दक्षिण में अवस्थित है । उसके दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में तीनो ओर लवणसमुद्र है । वह धनुष के आकार का है । वैताढ्य नामक पर्वत और गंगा–सिन्धु नामक दो महानदियो से विभाजित होने के कारण उसके छह खण्ड हो गए हैं ।

(२) हैमवतवर्ष–चुल्लहिमवान् पर्वत से उत्तर में और महाहिमवान् पर्वत से दक्षिण में हैम-अतवर्ष हैं । उसके पूर्व और पश्चिम में लवणसमुद्र है ।

(३) हरिवर्ष–निषध पर्वत से दक्षिण में और महाहिमवान् पर्वत से उत्तर में स्थित है । इसके पूर्व और पश्चिम में लवणसमुद्र है ।

(४) महाविदेहवर्ष–निषध पर्वत से उत्तर में और नीलपर्वत से दक्षिण में महाविदेह क्षेत्र है। इसके पूर्व और पश्चिम में भी लवणसमुद्र है ।

रम्यकवर्षस्तु—नीलस्योत्तरतो रुक्मिणो दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये वर्तते । ५ हैरण्यवतवर्षश्च रुक्मिण उत्तरतः शिखरिणो दक्षिणतश्च पूर्वपश्चिमसमुद्रयोर्मध्ये सन्निविष्टोऽस्ति । ६ ऐरवतवर्षः पुनः—शिखरिण उत्तरतस्त्रयाणां समुद्राणाञ्च मध्ये वर्तते । ७।

विजयार्धेन—रक्तारक्तोदाभ्याञ्च विभक्तः षट् खण्डोऽस्तीति बोध्यम् । तथाच—वक्ष्यमाणैः-षड्भिः कुलपर्वतैः प्रविभक्तानि—उक्तस्वरूपाणि खलु सप्तक्षेत्राणि जम्बूद्वीपे सन्तीतिफलितम् ॥२२॥

जम्बूद्वीपस्य स्वरूपं विष्कम्भायामाकारादिकञ्च पूर्वसूत्रे प्रतिपादितमेव, एतेषां सप्तक्षेत्राणाञ्च स्वरूपं प्ररूपयितुमाह—

मूलसूत्रम् - "तव्विभायगा पुव्वापरायया चुल्लहिमवंत—महाहिमवंत—निसढ—नीलवंत—रुप्पि—सिहरिणो छ वासहरपव्वया—" ॥२३॥

छाया—"तद्विभाजकाः पूर्वापरायताः क्षुल्लहिमवन्—महाहिमवन्—निषध—नीलवद्—रुक्मि—शिखरिणः षड्वर्षधरपर्वताः—" ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपे वर्तमानानां सप्तानां भरतवर्षादीनां प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति—तेषां विभाजकानां षण्णां क्षुल्लहिमवदादीनां वर्षधरपर्वतानां प्ररूपणं कर्तुमाह—**"तव्विभायगा—"** इत्यादि । तद्विभाजकाः—तेषां जम्बूद्वीपस्य भरतवर्षादीनां सप्तानां विभाजिनः पूर्वापरायताः पूर्वपश्चिमसमुन्द्रपर्यंतविस्तृताः पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिनः—

---

(५) रम्यकवर्ष—नील पर्वत से उत्तर में और रुक्मि पर्वत से दक्षिण में, पूर्व—पश्चिम लवण-समुद्र के बीच में है ।

(६) हैरण्यवत—रुक्मि पर्वत से उत्तर में और शिखरीपर्वत से दक्षिण में; पूर्व—पश्चिम लवण-समुद्र के मध्य में स्थित है ।

(७) ऐरवतवर्ष—शिखरिपर्वत से उत्तर में है । यह तीन दिशाओ में लवणसमुद्र से घिरा हुआ है । विजयार्ध पर्वत तथा रक्ता और रक्तोदा नामक नदियों से विभक्त होने के कारण इसके छह खण्ड हो गए है ।

फलितार्थ यह है कि आगे कहे जाने वाले छह कुल पर्वतो से विभक्त होने के कारण उक्त स्वरूप वाले सात क्षेत्र जम्बूद्वीप में है ॥२२॥

जम्बूद्वीप का स्वरूप लम्बाई-चौड़ाई आदि पहले ही दिखलाया जा चुका है। उसमें स्थित सात क्षेत्रो के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते है ।

'तव्विभायगा' इत्यादि ॥ सू० २३ ॥

मूलसूत्रार्थ—उक्त सात क्षेत्रो को विभाजित करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक लम्बे चुल्लहिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नीलवन्त, रुक्मि और शिखरि नामक छह वर्षधर पर्वत हैं ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में, जम्बूद्वीप में विद्यमान भरतवर्ष आदि सात क्षेत्रो का निरूपण किया गया है। अब उन क्षेत्रो को विभक्त करने वाले चुल्लहिमवन्त आदि छह वर्षधर

क्षुल्लहिमवान्—महाहिमवान्—निषधः—नीलवान्—रुक्मी—शिखरीचेत्येवं षट्संख्यका वर्षधरपर्वताः—भरत-हैमवत—हरि—महाविदेह—रम्यक—हैरण्यवत—ऐरवतवर्षाणां पूर्वोक्तसप्तक्षेत्राणां धारकपर्वताः सन्ति ।

वर्षाणां भरतादीनां सप्तानां क्षेत्राणां विभागनिमित्तत्वाद् वर्षधरा स्ते षट्पर्वता व्यपदिश्यन्ते हिमवदादयश्चाऽनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्तकसंज्ञाः सन्ति, किन्तु—भरतादिवर्षविभागहेतुत्वाद् वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते । तत्र—क्षुद्रहिमवान् तावद्—भरतवर्षस्य—हैमवतवर्षस्य च सीमायां व्यवस्थितो वर्तते, स खलु—क्षुद्रहिमवान् वर्षधरपर्वतः शतयोजनोच्छ्रायोऽस्ति ।

महाहिमवान् खलु—हैमवतस्य-हरिवर्षस्य च विभाजको योजनशतद्वयोच्छ्रायो वर्तते । निषधो नामवर्षधरपर्वतस्तु महाविदेहस्य दक्षिणतो हरिवर्षस्य चोत्तरतस्तयोर्विभाजकत्वात् तद् द्वयमध्यवर्तीयोजनशतचतुष्टयोच्छ्रायः खलु वर्तते । नीलवान् पर्वतस्तावद्—महाविदेहस्योत्तरतो रम्यकवर्षस्य च दक्षिणतो वर्तते तद् द्वयवर्षविभाजकतया तयोर्मध्येऽस्ति, सचापि—योजनशतचतुष्टयोच्छ्रायोऽवसेयः । रुक्मिपर्वतश्च—रम्यकवर्षस्योत्तरतो हैरण्यवतस्य च दक्षिणतो वर्तते, स च—योजनशत-

---

पर्वतों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

जम्बूद्वीप में स्थित भरतवर्ष आदि क्षेत्रो का विभाजन करने वाले, पूर्व से पश्चिम लम्बे तक पूर्व—पश्चिम लवणसमुद्र तक फैले हुए, अपने पूर्व एवं पश्चिम छोरो से लवणसमुद्र को स्पर्श करने वाले क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नामक छह वर्षधर पर्वत है। अर्थात् भरत, हैमवत, हरि,, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत इन सात क्षेत्रो के धारक ये छह पर्वत है ।

भरत आदि सात क्षेत्रो को विभक्त करने के कारण ये छह पर्वत वर्षधर कहलाते है । इन पर्वतो के जो हिमवान् आदि नाम है, वे अनिमित्तक है, अर्थात् किसी विशेष कारण से नहीं है; ये पर्वत और इनके उल्लिखित नाम भी अनादिकाल से चले आ रहे है । हाँ, भरत आदि वर्षो के विभाजक होने से इन्हें वर्षधर कहते हैं ।

क्षुद्रहिमवान् पर्वत भरतवर्ष और हैमवतवर्ष की सीमा पर स्थित है । उसकी ऊँचाई सौ योजन की है । महाहिमवान् पर्वत हैमवत और हरिवर्ष को विभक्त करता है । उसकी ऊँचाई दो सौ योजन की है । निषध नामक वर्षधर पर्वत महाविदेह से दक्षिण में और हरिवर्ष से उत्तर में है । इन दोनों के मध्य में है अतएव दोनो का विभाजक है । इसकी ऊँचाई चार सौ योजन की है । नीलवान् पर्वत महाविदेह से उत्तर में और रम्यकवर्ष से दक्षिण में है । वह इन दोनो क्षेत्रो के मध्य में होने से इनको विभक्त करता है । यह पर्वत भी चार सौ योजन ऊँचा है । रुक्मिपर्वत रम्यकवर्ष से उत्तर में और हैरण्यवत से दक्षिण में है । दो सौ योजन ऊँचा है । शिखरि-

द्वयोच्छ्रायो बोध्यः । शिखरीनामवर्षधरपर्वतः पुन–हैरण्यवतस्योत्तरतः–ऐरवतवर्षस्य च दक्षिणतो वर्तते सचैकशतयोजनोच्छ्रायोऽवसेयः । सर्वेषां खलु पर्वतानामुच्छ्रायस्य चतुर्थो भागोऽवगाहो भवतीति बोध्यम् ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं भरतादिसप्तवर्षाणां प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति–तेषां सप्तानामपि क्षेत्राणां विभागकारकान् हिमवदादिषड्वर्षधरपर्वतान् प्ररूपयितुमाह–**"तव्विभायगा पुव्वापरायया चुल्ल हिमवंत–महाहिमवंत–निसढ–नीलवंत-रुप्पि–सिहरिणो छ वासहरपव्वया–"** इति ।

तद् विभाजकाः–तेषां भरतादिसप्तक्षेत्राणां स्वाभाविकसन्निवेशितया विभक्तारः विभागकर्तारः पूर्वापरायताः पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिमवगाढाः लवणसमुद्रस्पर्शिनः, क्षुद्रहिमवान्–महाहिमवान्–निषधः–नीलवान्–रुक्मी–शिखरीचेत्येवं षट् तावत्–वर्षधरपर्वताः । वर्षाणां–भरतादिसप्तक्षेत्राणां धारकत्वाद् विशिष्टतया व्यवच्छेदकारित्वात् वर्षधरास्ते पर्वताः अनादिकालव्यवस्थिता वर्तन्ते ।

तथाच–पूर्वोक्तानां सप्तानामपि भरतादिवर्षाणां विभागकर्त्तारः खलु हिमवान्–महाहिमवान्–निषधो–नीलवान्–रुक्मी–शिखरीचे त्येते षड् वर्षधराः पर्वतास्सन्तीति सञ्जातम् । तत्र–भरतस्य हैमवतस्य च वर्षस्य मध्ये व्यवस्थितत्वात् क्षुद्रहिमवान् खलु–भरत हैमवतयोर्विभागं करोति । महाहिमवान्–खलु हैमवत–हरिवर्षस्योर्विभागकारी वर्तते । निषधस्तावत्–हरिवर्षमहाविदेहयोर्विभाजकोऽस्ति । नीलवान् पर्वतस्तु महाविदेह-रम्यकवर्षयोर्विभाजको वर्तते । रुक्मीपर्वतस्तु रम्य-

---

पर्वत हैरण्यवत से उत्तर में और ऐरवतवर्ष से दक्षिण में है । उसकी ऊँचाई एक सौ योजन की है । सभी पर्वतो का अवगाह उनकी ऊंचाई का चौथाई भाग है ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व भरत आदि सात क्षेत्रो का निरूपण किया गया है; अब उन सातो क्षेत्रो का विभाग करने वाले हिमवान् आदि छह वर्षधर पर्वतो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–

उन भरत आदि सातो क्षेत्रो का अपनी स्वाभाविक रचना द्वारा विभाग करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक लम्बे, अपने पूर्ववर्त्ती और पश्चिमवर्त्ती छोरो से लवणसमुद्र को स्पर्श करने वाले क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी और शिखरी नामक छह वर्षधर पर्वत है । भरत आदि सात वर्षों के विभाजक होने से अर्थात् उन्हे जुदा करने वाले होने से वे पर्वत वर्षधर कहलाते है । वे अनादिकाल से है ।

आशय यह है कि पूर्वोक्त भरत आदि सातों क्षेत्रो का विभाग करने वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान, रुक्मी और शिखरी नामक छह वर्षधर पर्वत है । भरतवर्ष और हैमवतवर्ष के मध्य में स्थित होने के कारण क्षुद्रहिमवान् पर्वत भरत और हैमवतवर्ष का विभाग करता है । महाहिमवान् पर्वत हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक है । निषध पर्वत हरिवर्ष और महाविदेह की सीमा को पृथक् करता है । नीलवान् पर्वत महाविदेह और रम्यकवर्ष को विभक्त करता है । रुक्मीपर्वत रम्यकवर्ष और हैरण्यवतवर्ष को अलहदा करता है और शिखरिपर्वत हैर-

कवर्ष—हैरण्यवतयोर्विभाजकः शिखरीनामा षष्ठः पर्वतः पुनर्हैरण्यवतै-रवतयोर्विभक्तो वर्तते, एभिश्च षड्भिः कुलाचलैर्विभक्ताः खलु—भरतादयः सप्तवर्षाः क्षेत्ररूपा जम्बूद्वीपे सन्ति ।

सम्प्रति—तेषां खलु षण्णां क्षुद्रहिमवदादिकुलपर्वतानामवगाहोच्छ्रायाः प्रतिपाद्यन्ते तत्र—क्षुद्रहिमवान् खलु योजनशतोच्छ्रायो वर्तते सर्वेषाञ्च—पर्वतानामुच्छ्रायचतुर्थभागस्याऽवगाहत्वेन क्षुल्लहिमवान् पञ्चविंशतियोजनान्यवगाढो वर्तते महाहिमवान् वर्षधरपर्वतस्तु—तद्द्विगुणावगाहोच्छ्रायत्वात् योजनशतद्वयोच्छ्रायः पञ्चाशद्योजनान्यवगाढश्च भवति ।

निषधपर्वतश्च—तद्द्विगुणावगाहोच्छ्रायतया योजनशतचतुष्टयोजनोच्छ्रायः, शतयोजनान्यवगाढश्च भवति । नीलवानपि पर्वतो योजनशतचतुष्टयोच्छ्राय एव वर्तते, शतयोजनान्यवगाढश्च रुक्मी पर्वतस्तु योजनशतद्वयोच्छ्रायः, पञ्चाशद्योजनान्यवगाढश्च । शिखरी खलु कुलाचलः—एकशतशोजनोच्छ्रायः, पञ्चविंशति योजनान्यवगाढश्च वर्तते ।

भरतक्षेत्रमध्यवर्ती वैताढ्यपर्वतः खलु—दक्षिणोत्तरार्धविभागकारी पूर्वापरायत उभयतो लवणसमुद्रमवगाढो विद्याधराधिवासभूमिः पञ्चाशत्षष्टिनगरयुक्तदक्षिणोत्तरश्रेणिद्वयविभूषितो गुहा-

---

ण्यवत और ऐरवत क्षेत्र की सीमाओ को अलग करता है। इन छह कुलपर्वतो से जम्बूद्वीप में स्थित भरत आदि सात वर्ष विभक्त हो गए है।

अब क्षुद्रहिमवान् आदि छहो कुलाचलो के अवगाह और ऊँचाई का प्रतिपादन करते है—क्षुद्रहिमवान् पर्वत सौ योजन ऊँचा है। सभी पर्वतो का अवगाह उनकी ऊँचाई का चतुर्थांश होता है, अतएव क्षुद्रहिमवान् का अवगाह पच्चीस योजन है।

महाहिमवान् पर्वत क्षुद्रहिमवान् से दुगुना ऊँचा और अवगाह वाला है। इस प्रकार उसकी ऊँचाई दो सौ योजन की अवगाह पचास योजन का है।

निषधपर्वत उससे भी दुगुना अवगाह और ऊँचाई वाला है, अतः उसकी ऊँचाई चार सौ योजन की और अवगाह सौ योजन का है।

नीलवान् पर्वत भी चार सौ योजन ऊँचा है, अतएव उसका अवगाह सौ योजन का है।

रुक्मिपर्वत दो सौ योजन ऊँचा है। उसका अवगाह पचास योजन का है।

शिखरीपर्वत एक सौ योजन ऊँचा है। उसका अवगाह पचास योजन का है।

वैताढ्यपर्वत भरतक्षेत्र के मध्य में स्थित है, इसके कारण भरतक्षेत्र दो भागो में बट गया है। वैताढ्य से उत्तर की ओर का भाग उत्तर भरत कहलाता है और दक्षिण की ओर का भाग दक्षिण भरत। वैताढ्यपर्वत पूर्व से पश्चिम तक लम्बा है। दोनो ओर से उसका कुछ भाग लवण समुद्र को स्पर्श करता है। उस पर्वत पर विद्याधर निवास करते है। दक्षिण में पचास और उत्तर में साठ नगरो से युक्त, दक्षिणश्रेणि और उत्तरश्रेणि नामक दो श्रेणियो से विभूषित है। दो

द्वयालङ्कृतः स क्रोशषड्योजनानि धरणिमवगाढः पञ्चाशद्योजनानि विस्तृतः पञ्चविंशविंशतियोजनोच्छ्रितो वर्तते विदेहेषु मेरुपर्वतस्य दक्षिणतो निषधस्य चोत्तरतो देवकुरवा भवन्ति।

ते च काञ्चनगिरिशतेन चित्र-विचित्रकूटाभ्यामलङ्कृताः सन्ति। एवञ्च ह्रदपञ्चकोभयपर्यन्ततटोपरि व्यवस्थितैर्दशभि-र्दशभिः काञ्चनपर्वतैरुपशोभिताः शीतोदानदीपूर्वापरगामिनौ निषधाच्चतुस्त्रिंशाऽष्टशतसचतुःसप्तभागान्तरौ चित्र-विचित्रकूटौ सहस्रयोजनोच्छ्रायौ अधोविस्तृतौ तदर्धमुपरितनभागौ स्तः ताभ्याञ्चा-ऽलङ्कृताः खलु देवकुरवः सन्ति। ते च-द्विभागाधिकद्विचत्वारिंशदधिकाष्टशतोत्तरैकादशसहस्रयोजनविस्तृताः सन्ति।

एवमेवोत्तरोत्तरेण-उत्तरोत्तराः कुरवः काञ्चनपर्वतशतेनोपशोभिताः सन्ति, किन्तु-ते खलु चित्र-विचित्रकूटाभ्यां हीनाः सन्ति तत्स्थाने च काञ्चनाभ्यां तत्कूटद्वयप्रमाणाभ्यामेव यमकपर्वताभ्यां शीतोदा नदीतटवर्तिभ्यां समलङ्कृताः सन्ति। महाविदेहाः खलु-मन्दराचलदेवकुरूत्तरकुरुभिः क्षेत्रान्तरवद् विभक्ताः सन्ति पूर्वेचापरे च खलु ते विदेहाः मेरुपर्वतेन देवकुरूत्तरकुरूभिश्च विभक्ताः व्यवच्छिन्नमर्यादया स्थापिताः सन्तः एकस्यैव महाविदेहरूपक्षेत्रस्याऽन्तःपातिनोऽपि भिन्न-भिन्नक्षेत्रवद्भवन्ति।

गुफाओं से सुशोभित है। छह योजन और एक कोस तक पृथ्वी में उसका अवगाह है। पचास योजन का विस्तार है और पच्चीस योजन की ऊंचाई है।

विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत से दक्षिण में और निषध पर्वत से उत्तर में देवकुरु नामक क्षेत्र है। वह सौ कांचन पर्वतों से तथा चित्र-विचित्र कूटो से अलंकृत है। इस प्रकार पाँच ह्रदो के दोनों अन्त के तटो पर स्थित दस-दस कांचनपर्वतो से शोभायमान है। शीतोदा नदी से पूर्व और पश्चिम में जाने वाले, निषधपर्वत से आठ सौ चौतीस तथा चार के सातवें भाग ८३४ $\frac{४}{७}$ के अन्तर वाले चित्र-विचित्र कूट है, जो एक हजार योजन ऊंचे है, नीचे की ओर विस्तृत हैं, जिनका ऊपरी भाग उससे आधा है। देवकुरु उनसे सुशोभित है। उसका विस्तार दो भाग अधिक ग्यारह हजार आठ सौ बयालीस योजन का है।

इसी प्रकार मेरुपर्वत से उत्तर में उत्तरकुरुक्षेत्र है। वह भी सौ कांचनपर्वतो से शोभायमान है, मगर उसमें चित्र-विचित्र कूट नहीं है। उनके स्थान पर उन्हीं जितने प्रमाण वाले, काचनमय एवं शीता नदी के तट पर स्थित दो यमक पर्वत है।

महाविदेह क्षेत्र मेरु पर्वत और देवकुरु तथा उत्तर कुरु से विभस्त हो जाने के कारण चार भागों में बट गया है। मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में स्थित विदेह का भाग पूर्व विदेह कहलाता है, पश्चिम दिशा में स्थित भाग पश्चिमविदेह कहलाता है, दक्षिण का एक भाग देवकुरु और उत्तर का भाग उत्तर कुरु के नाम से प्रसिद्ध है। ये सब यद्यपि एक ही महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, तथापि अलग-अलगक्षेत्र जैसे है। वहाँ जो

तत्रत्य मनुष्यादीनां परस्परं गमनाऽगमनं न भवति, तस्मात्—पूर्वे चाऽपरे चोभये खलु विदेहा भवन्ति । तत्र—मेरूपर्वतात्पूर्वतः पूर्वविदेहाः सन्ति मेरोरपरतोऽपरे विदेहाः । तत्र—पूर्वेषु विदेहेषु षोडश—चक्रवर्तिविजया नदीपर्वतविभक्ताः परस्परस्यागम्याश्चक्रवर्तिना विजेतव्याः क्षेत्रविशेषाः सन्ति ।

एवमेव—तुल्यायामविस्तारावगाहोच्छ्रायौ दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ स्तः तथा—हिमवच्छिखरिणौ महाहिमवद्रुक्मिणौ निषधनीलौ च वर्तेते । क्षुद्रमन्दराः पुनश्चत्वारः सन्ति, तत्र—द्वौ तावद् धातकीखण्डद्वीपे, द्वौ च—पुष्करार्धद्वीपे स्तः । ते चत्वारोऽपि मन्दरा जम्बूद्वीपमध्यवर्तिमन्दरापेक्षया हीनप्रमाणाः सन्ति । तत्र—ते तावद् महामन्दरात्—पञ्चदशसहस्रयोजनहीनोच्छ्रायाः चतुरशीतियोजनसहस्रोच्छ्रिताः सन्ति ।

षड्भिर्योजनशतैश्च धरणीतले—हीनविष्कम्भाः चतुःशतोत्तरनवसहस्रयोजनविष्कम्भाः सन्ति तेषां चतुर्णामपि क्षुद्रमन्दराणां प्रथमं काण्डं महामन्दरप्रथमकाण्डतुल्यम् सहस्रयोजनप्रमाणं धरणिमवगाढं वर्तते । द्वितीयं काण्डन्तु महामन्दरद्वितीयकाण्डात् सप्तभिः सहस्रयोजनैर्हीनं षट्पञ्चाशत्सहस्रयोजनप्रमाणं वर्तते । तृतीय काण्डं पुनर्महामन्दरतृती-

---

मनुष्य आदि निवास करते हैं, उनका एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आवागमन नहीं होता ।

मेरु पर्वत से पूर्व में जो पूर्वविदेह है और पश्चिम में जो पश्चिमविदेह है, उनमें सोलह—सोलह चक्रवर्तिविजय है । वे विजय नदियो और पर्वतो से विभक्त है । वहाँ के निवासी एक बिजय से दूसरे विजय में नहीं आ जा सकते । चक्रवर्ती उन पर विजय प्राप्त करते है, और शासन करते है । । इस प्रकार दोनो दिशाओ के मिलकर वत्तीस विजय महाविदेह में है ।

इसी प्रकार समान लम्बाई, चौड़ाई, अवगाह एवं ऊँचाई वाले दक्षिण और उत्तर वैताढ्य है, हिमवान् और शिखरी पर्वत है, महाहिमवान् और रुक्मिर्वत है, निषध और नील पर्वत है । क्षुद्रमेरु पर्वत चार है । उनमें से दो धातकीखण्ड द्वीप में और दो पुष्करार्ध द्वीप में है । ये चारो मेरुपर्वत जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित मेरुपर्वत को अपेक्षा प्रमाण में हीन हैं । महामन्दर पर्वत की अपेक्षा इसकी ऊँचाई पन्द्रह हजार योजन कम है, अतः ये चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं ।

पूर्वोक्त चार क्षुद्रमन्दर पर्वत पृथ्वी में नव हजार पाँच सौ विष्कभ वाले है । भूतल पर उनका विष्कम्भ नौ हजार चार सौ योजन का है । इन चारो क्षुद्रमन्दरपर्वतो का प्रथम काण्ड महामन्दर पर्वत के प्रथम काण्ड के बराबर है और पृथ्वी में एक हजार योजन अवगाढ है । द्वितीय काण्ड महामन्दर पर्वत के दूसरे काण्ड से सात हजार योजन कम है, अतः साढे पाँच हजार योजन प्रमाण है । तीसरा काण्ड महामन्दर पर्वत

यकाण्डादष्टभिः सहस्रयोजनैर्हीनम् अष्टाविशति सहस्रयोजनप्रमाणं विद्यते इति भावः।

तेषु–क्षुद्रमन्दरेषु चतुर्षु विद्यमाने भद्रशालनन्दनवने द्वे अपि महामन्दरतुल्ये एवा–ऽवगन्तव्ये धरणितले–भद्रशालवनम्, तदुपरि–सार्धपञ्चशतयोजनेषु नन्दनवनं विद्यते, तदुपरि पञ्चपञ्चाशत्सहस्रगतयोजनान्यारुह्य सौमनसवनं वर्तते, द्वितीयकाण्डस्य–पञ्चशतयोजनानि नन्दनवनेन परिवेष्टितानि सन्ति।

तस्मात्–सार्धपञ्चपञ्चाशत् सहस्रयोजनानि गत्वा तत्–पञ्चशतयोजनविस्तृतमेव भवति ततोऽष्टाविंशति शतसहस्रयोजनान्यारुह्य पाण्डुकवनं भवति तत –खलु चतुर्नवत्यधिकचतुःशतयोजनविस्तृतमेव भवति। एव मुपरिचाऽधस्ताच्च विष्कम्भोऽवगाहश्च महामन्दरेण तुल्य एव भवति। तथाचोपरिशिखरे यो विष्कम्भो भवति स एतेषां महामन्दरेण तुल्यः, सहस्रयोजनप्रमाणो भवति अधश्च योवगाहः सोऽपि महामन्दरेण तुल्य एव सहस्रयोजनप्रमाण एषां भवति, चूलिकाचैतेषां चतुर्णां महामन्दरस्य चूलिकातुल्यैव प्रमाणतो बोध्या।

उक्तञ्च–स्थानाङ्गे ६–स्थाने –"**जम्बूदीवे छ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा चुल्लहिमवंते, महाहिमवंते, निसढे, नीलवंते, रुप्पि, सिहरी,**—"जम्बूद्वीपे षड्वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्ताः तद्यथा क्षुल्लहिमवान्, महाहिमवान् निषधः, नीलवान् रुक्मी, शिखरी–इति।

के तीसरे काण्ड से आठ हजार योजन कम होने से अट्ठाईस हजार योजन प्रमाण है।

चारो क्षुद्रमन्दर पर्वतों पर जो भद्रशाल और नन्दनवन है, वे दोनो महामदर पर्वत के भद्रशाल और नन्दनवन के बराबर ही है। पृथ्वी तल पर भद्रशाल वन है। उससे पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर नन्दनवन है। उससे साढे पचपन हजार योजन ऊपर सौमनसवन है। दूसरे काण्ड के पाँच सौ योजन नन्दनवन के द्वारा घिरे हुए है। अतएव साढे पचपन हजार योजन चलकर वह पाँच सौ योजन विस्तृत है। उससे आगे अट्ठाईस हजार योजन की ऊँचाई पर पाण्डुकवन है। वह चार सौ चौरानवे योजन विस्तार वाला है। इसप्रकार ऊपर और नीचे विस्तार और अवगाह महामन्दर पर्वत के बराबर ही है। अतएव ऊपर शिखर पर जो विस्तार है, वह इनका महामंदर पर्वत के ही बराबर हैं और वह एक हजार योजन प्रमाण है। नीचे जो अवगाह है, वह भी महामंदर के ही बराबर है और वह भी महामदर के बराबर एक हजार योजन प्रमाण ही है। चारो क्षुद्रमंदर पर्वतो की भूमि का महामंदर पर्वत की चूलिका के बराबर ही है।

स्थानांगसूत्र के छठे स्थान में कहा है–'जम्बुद्वीप मे छह वर्षधर पर्वत कहे है, वे इस प्रकार हैं–चुल्ल (क्षुद्र) हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नीलवन्त रुक्मि, शिखरी।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ चोक्तम्—१५–सूत्रे–"**विभयमाणे–**" इति, विभजमान इति । तदग्रे च तत्रैवोक्तम्–७२ सूत्रे "**पाईणपडीणायए–**" इति, प्राचीन–प्रतीचीनायता–इति ॥२३॥

मूलसूत्रम्—"**ते कणग रयण तवणिज्ज वेरुलिय रूप्प हेममयाइया–**" ॥२४॥

छाया—"**ते कनकरत्नतपनीयवैडूर्य रूप्यरत्नमयादिकाः** " ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपस्थ भरतवर्षादिसप्तक्षेत्रविभाजकतया क्षुद्रहिमवदादयः षड्वर्षधरपर्वताः प्ररूपिताः सम्प्रति–तेषा षण्णामपि हिमवदादीनां वर्णविशेषसंस्थानपद्महृदादि षड्हृद पुष्करविष्कम्भादि प्रतिपत्यर्थमाह "**ते कणगरयण**" इत्यादि । ते खलु क्षुद्रहिमवद् निषध–नील रुक्मि–शिखरिनामानः षड्वर्षधरपर्वताः क्रमशः–कनक, रत्न तपनीय, वैडूर्य रूप्य, रत्न-मयादिकाः सन्ति ।

तथा च–क्षुद्रहिमवान् खलु कनकमयो हेममय चीनपट्टवर्णो वर्तते, १ महाहिमवान्–रत्न-मयः शुक्लवर्णः, २ निषधपर्वतस्तु–तपनीयमयः तरुणरविवर्णः, ३ नीलवान्–पर्वत. खलु वैडूर्य-मयो मयूरग्रीवा निभः,४ रुक्मीपर्वतश्च–रूप्यमयो रजतमयः शुक्लवर्णः, शिखरीपर्वतस्तु–हेममयः चीनपट्टवर्णो विद्यते, ६

कनक–रत्न–तपनीय–वैडूर्य रूप्यहेममयाः प्रकृतेर्विकारः अवयवो वेत्यर्थे मयट् प्रत्ययः । आदिपदेन–मणिविचित्रपार्श्वाः उपरि- मध्ये–मूले च तुल्यविस्ताराः तदुपरि–वर्तमानाः पद्म महा-

---

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र १५ में कहा है–विभजमान ।' वहीं आगे सूत्र ७२ में कहा है–'(वे वर्षधर पर्वत) पूर्व–पश्चिम में लम्बे है ॥२३॥

'ते कणगरयण' इत्यादि **सू०** २४

सूत्रार्थ—वे पर्वत क्रमशः कनक–रत्न–तपनीय–वैडूर्य–रुप्य–हेममय आदि है ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका–जम्बूद्वीप में स्थित भरतवर्ष आदि सात क्षेत्रो को विभक्त करने वाले क्षुद्रहिमवन्त आदि छह वर्षधर पर्वतो का पूर्वसूत्र में प्ररूपण किया गया है; अब उन वर्षधर पर्वतो के रंग, आकार उन पर बने हुए पद्महृद आदि छह हृद, उनके अन्दर के पुष्कर आदि का विस्तार वगैरह वतलाने के लिए कहते है–

वे क्षुद्रहिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नामक छह वर्ष धर पर्वत अनुक्रम से कनक, रत्न तपनीय, वैडूर्य, रुप्य और रत्नमय आदि है ।

(१) क्षुद्रहिमवन्त पर्वत स्वर्णमय है, चीनपट्ट के वर्णवाला है । (२) महाहि-वन्त पर्वत रत्नमय–शुक्क वर्ण का है (३) निषध पर्वत तपनीयमय–मध्याह्न कालिक सूर्य जैसे वर्णका है । (४) नीलवान् पर्वत वैडूर्यमय–मयूर की गर्दन के समान है ।(५) रुक्मी पर्वत रजतमय–सफेद रंग का है और (६) शिखरी पर्वत हेममय–चीन–पट्ट के रंग का है ।

कनक–रत्न– तपनीय वैडूर्य रूप्य–हेममयाः यहाँ प्रकृति के विकार या अवयव अर्थ में मयट् प्रत्यय हुआ है । सूत्र में जो 'आदि' पद का प्रयोग किया गया है, उससे इतना और

पद्म–तिगिच्छ–केसरिपुण्डरीक–महापुण्डरीक नामानः षड्ह्रदाः ।

तेषाञ्च षण्णां ह्रदानां तत्रत्य पुष्कराणाञ्च यथाक्रममायाम–विष्कम्भाऽवगाहाश्च गृह्यन्ते तत्र–पद्मह्रदस्याऽऽयामो योजनसहस्रपरिमितः, विष्कम्भश्च–पञ्चशतयोजनमितः, अवगाहो निम्नता अधः प्रवेशो दशयोजनमितो वर्तते । तद् द्विगुणतद् द्विगुणादिक्रमेण महापद्मह्रदादीनामायाम–विष्कम्भा बोध्याः अवगाहस्तु–सर्वेषां दशयोजनमित एव वर्तते । सर्वेषां ह्रदानां मध्यवर्ति पुष्करा-णाञ्चा–ऽऽयाम–विष्कम्भाः योजनादि क्रमेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या अवगन्तव्याः ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं हिमवदादीनां जम्बूद्वीपवर्तिनां षण्णां वर्षधरपर्वतानां प्ररूपणं कृतम् सम्प्रति—तेषां वर्णविशेषसंस्थानाकार तत्रत्य पद्मह्रदादि षड्ह्रदपुष्करा-ऽऽयाम-विष्कम्भादिप्रतिपत्त्य-र्थमाह—**ते कणगरयणतवणिज्ज वेरुलिय रूप्पहेममयाइया**—" ॥ इति ॥

ते खलु–क्षुद्रहिमवदादयः षड्वर्षधरपर्वताः कनक–रत्न–तपनीय–वैडूर्य–रूप्य–हेममयाः सन्ति । तत्र–हिमवान् पर्वतः कनकमयत्वात्–चीनपट्टवर्णः, १ महाहिमवान्–खलु रत्नमयत्वात्–

समझ लेना चाहिए–उन पर्वतों के पार्श्वभाग मणियो से चित्र विचित्र है और उनका विस्तार ऊपर मध्य में तथा मूल में है।

उन छह पर्वतो के ऊपर क्रमशः पद्म, महा पद्म तिगिच्छ केसरी, पुण्डरीक और महा-पुण्डरीक नामक छह ह्रद है।

उन छहों ह्रदो का और उनमें स्थित पुष्करो का आयाम (लम्बाई) विष्कंभ (विस्तार) और अवगाह इस प्रकार है–पद्म नामक ह्रद (द्रह) एक हजार योजन लम्बा है, पाँच सौ योजन विस्तृत है और दस योजन अवगाह (गहरा) वाला है। अवगाह का अर्थ यहाँ निचाई है, जिसे निचला प्रदेश भी कह सकते है। महापद्म तथा तिगिच्छ ह्रदों का विस्तार एवं आयाम उत्तरोत्तर द्विगुणित है। अवगाह सबका दस योजन ही है । सभी ह्रदों के मध्य में स्थित पुष्करों का आयाम विष्कंभ एक योजन आदि क्रम से उत्तरोत्तर बढता हुआ समझना चाहिए।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि पद्म आदि ह्रद तथा उनमें स्थित पुष्कर दक्षिण दिशा में द्विगुणित हैं, अर्थात् पद्मह्रद से महापद्मह्रद द्विगुण आयाम विस्तार वाला है। और महापद्म ह्रद से तिगिच्छ ह्रद दुगुना आयाम विस्तार वाला है। उसके पश्चात् उत्तर दिशा के तीनों ह्रद और पुष्कर दक्षिण जैसे ही है, अर्थात् तिगिच्छ ह्रद के बराबर विस्तारादि वाला केसरी ह्रद है, महापद्म के बराबर पुण्डरीक ह्रद है और पद्म ह्रद के समान महापुण्डरीक ह्रद है ॥२४॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—इससे पूर्व जम्बूद्वीप में स्थित हिमवन्त आदि छह वर्षधर पर्वतों की प्ररूपणा की गई है । अब उन पर्वतों के वर्ण एवं आकार का तथा उनमें जो पद्म ह्रद आदि हैं उनका और उनके पुष्करो का आयाम विष्कम्भ आदि की प्ररूणा करते हैं–

वे क्षुद्रहिमवन्त आदि छह वर्षधर कनक,रत्न, तपनीय, वैडूर्य रूप्यमय और हेममय हैं। उनमें से हिमवन्त पर्वत कनकमय होने से चीनपट्ट के वर्ण का है। महाहिमवन्त रत्नमय होने से

शुक्लवर्णः, २ निषधपर्वतस्तु—तपनीयत्वात् तरुणादित्यवर्णः, ३ नीलवान् पर्वतस्तु—वैडूर्यमयत्वात् मयूरग्रीवाभः ४, रुक्मीपर्वतस्तु—रुप्यमयत्वाद् रजतवद्धवलवर्णः ५ शिखरीपर्वतः पुनर्हैममयत्वात् चीनपट्टवर्णो वर्तते ६ ।

आदिपदेन—क्रमशस्तेषां संस्थानादिकं बोध्यम् । एतेषाञ्च षण्णां वर्षधरपर्वतानाम्—क्षुल्लहिमवद्, महाहिमवद्, निषध, नीलवद्, रुक्मि शिखरिणां स्वरूपाणि तावत्—क्रमशो हेमधवल तपनीयवैडूर्यरजतहेममयानि सन्ति । ते च—षट्पर्वताः पुन र्मणिविचित्रपार्श्वाः उपरि—मूले च तुल्यविस्ताराः सन्ति ।

तथाचोक्तं जम्बूप्रज्ञप्तौ ७२—७९—८३—११०—१११—सूत्रेषु—"**चुल्लहिमवंते जंबुद्दीवे सव्वकणगामए अच्छे संडे तहेव जाव पडिरूवे, महाहिमवंते णाम ..सव्वरयणामए, निसहेणामं... सव्व तवणिज्जमए, नीलवंते णामं सव्ववेरुलियामए, रुप्पिणामं.... सव्वरूप्पामए, सिहरीणामं.... सव्वरयणामए**—" इति ।

क्षुल्लहिमवान् जम्बूद्वीपे....सर्वकनकमयोऽच्छः श्लक्ष्णः—तथैव यावत्प्रतिरूपः, महाहिमवान् नाम. सर्वरत्नमयः, निषधो नाम....सर्वतपनीयमयः, नीलवान् नाम ...सर्ववैडूर्यमयः, रुक्मीनाम.. सर्वरूप्यमयः, शिखरीनाम सर्वरत्नमयः, इति ।

स्थानाङ्गे २—स्थाने ३—उद्देशके —चोक्तम्—"**बहु समतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमण्णं णाइवट्टंति आयामविक्खम्भ उव्वेह संठाणपरिणाहेणं**—" इति । बहुसमतुल्या अविशेष मनाज्ञप्ताः अन्योऽन्यं नातिवर्तन्ते आयीमविष्कम्भोद्वेधसस्थानपरिणाहेन इति ।

शुक्लवर्ण है । निषध पर्वत तपनीयमय होने से तरुण सूर्य के समान वर्ण वाला है । नीलवान् पर्वत वैडूर्यमय होने से मयूर की ग्रीवा के वर्ण का है । रुक्मी पर्वत रूप्यमय होने से चांद के समान श्वेत वर्ण का है । शिखरी पर्वत हेममय (स्वर्णमय) होने से चीन पट्ट जैसे वर्ण का है ।

'आदि' शब्द से क्रमशः उनके वर्ण आदि का ग्रहण करना चाहिए । इन छह वर्षधर पर्वतो का अर्थात् क्षुद्रहिमबान्, महाहिमवान्, निषध नीलवंत रुक्मी और शिखरी क्रमशः स्वर्ण वर्ण तपनीयवैडूर्य रजत और हेम के रंग के है । इन छहो पर्वतो के पार्श्वभाग मणियों से चित्र—विचित्र है तथा उनका विस्तार ऊपर और नीचे वराबर—बराबर है ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में ७२—७९—८३—११० और १११ सूत्रो में कहा है—'जम्बूद्वीप में क्षुद्रहिमवान् पर्वत पूर्ण रूप से स्वर्णमय है । स्वच्छ है, चिकना है यावत् वहुत सुन्दर है । महाहिमवान् पर्वत सर्व रत्नमय है, निषध सर्व तपनीयमय है, नीलवान् पर्वत सर्ववैडूर्यमय है, रुक्मी पर्वत सर्वरूप्यमय है और शिखरी पर्वत सर्वरत्नमय है ।'

स्थानांगसूत्र के द्वितीय स्थान; तृतीय उद्देशक, ८७ वे सूत्र में कहा है—'ये छहों पर्वत आयाम, विष्कंभ, अवगाह संस्थान (आकार) तथा परिधि की अपेक्षा विलकुल समान हैं, इनमें कोई भिन्नता नहीं है , नानापन नहीं है, परस्पर में विसदृश नहीं है ।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ७२–सूत्रे चोक्तम्—"**उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइयाहिं दोहिय वणसंडेहिं संपरिक्खित्ते–**" इति। उभयोः पार्श्वयो द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वाभ्याञ्च वनखण्डाभ्यां संपरिक्षिप्ताः इति। तेषाञ्च षण्णां क्षुल्लहिमवदादिवर्षधरपर्वतानामुपरि जम्बूद्वीपे खलु–क्रमशः षड्महाहूदाः सन्ति। ते च–पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरि, पुण्डरीक, महापुण्डरीकनामानो हूदा अवगन्तव्याः।

तथाचोक्तं स्थानाङ्गे ६–स्थाने—"**जंबुदीवे छ महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा–पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छद्दहे, केसरिद्दहे पोंडरीयद्दहे, महापोंडरीयद्दहे,–**" इति। जम्बूद्वीपे षड्महाहूदाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–पद्महूदः–१ महापद्महूदः–२ तिगिच्छहूदः–३ केसरिहूदः–४ पुण्डरीकहूदः–५ महापुण्डरीकहूदः–६ इति।

तत्र–प्रथमस्तावत्–पद्महूदः सहस्रयोजनायामो वर्तते, पञ्चशतयोजनविस्तारो दशयोजनावगाहश्चा-ऽवसेयः। "तथाचोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ पद्महूदाधिकारे—"**तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एक्के महे पउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते, पाइणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे एक्कं जोयणसहस्सं आयामेणं पंचजोयणसयाइं, विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे–**" इति।

तस्य खलु बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र खलु–एको महापद्महूदो नामहूदः प्रज्ञप्तः, प्राचीन–प्रतीचीनायतः–उदीचीन–दक्षिणविस्तीर्णः एकं योजनसहस्रमायामेन–पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण, दशयोजनानि–उद्वेधेन, अच्छः इति। तस्य खलु–पद्महूदस्य मध्यभागे–एकयोजनायामविस्तारमेकं पुष्करं नाम पद्मं विलसति।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के सूत्र ७२ में कहा है–'ये पर्वत दोनों पार्श्वों में दो पद्मवर वेदिकाओं से तथा दो वनखंडों से घिरे हुए है।'

उन क्षुद्रहिमवन्त आदि छहो वर्षधर पर्वतों के ऊपर क्रम से छह महाह्रद है। उनके नाम ये है–पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, पुण्डरीक और महापुण्डरीक।

स्थानांसूत्र के छठे स्थान में कहा है–जम्बूद्वीप में छहहूद कहे गए है, वे इस प्रकार है–पद्महूद, महापद्महूद, तिगिच्छहूद, केसरीहूद, पुण्डरीकहूद, और महापुण्डरीकहूद।'

इनमें से पहलापद्महूद, एक हजार योजन लम्बा है, पाँच सौ योजन चौड़ा है और दस योजन गहरा है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में पद्महूद के प्रकरण में कहा है–क्षुद्रहिमवान् पर्वत के समतल भाग के बीचों बीच एक विशाल पद्महूदनामक हूद है। वह पूर्व पश्चिम में लम्बा है, उत्तर दक्षिण में चौड़ा है। उसकी लम्बाई एक हजार योजन की, चौड़ाई पाँच सौ योजन की और गहराई दस योजन की है। वह स्वच्छ है।' उस पद्महूद के मध्यभाग में एक योजन लम्बा और चौड़ा एक पुष्कर नामक कमल है।

उक्तञ्च–जम्बूप्रज्ञप्तौ पद्महृदाधिकारे ७३–सूत्रे–'तस्स पउमदहस्स बहुमज्झदेसभाए **एत्थ महं एगे पउमे पण्णत्ते, जोयणं आयामविक्खंभेणं, अद्धजोयणं–दसजोयणाइं उव्वेहेणं दो कोसे ऊसिए जलंताओ साइरेगाइं दसजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता—''** इति ।

तस्य पद्महृदस्य बहुमध्यदेशभागे–अत्र महद् एकं पद्मं प्रज्ञप्तम्, योजनमायामविष्कम्भेण–अर्धयोजनं बाहल्येन दशयोजनानि उद्वेघेन द्वौ क्रोशौ जलान्तात्, सातिरेकाणि दशयोजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि, इति ।

पद्महृदापेक्षया तन्मध्यवर्त्तिपुष्करापेक्षया च–द्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि चाऽवगन्तव्यानि । तथाच–पद्महृदापेक्षया–द्विगुणायामविस्तारः खलु महापद्महृदः । महापद्महृदापेक्षया–द्विगुणायामविस्तार स्तावत्–तिगिच्छहृदः तिगिच्छहृदापेक्षया द्विगुणायामविष्कम्भश्च केसरि हृदः केसरिहृदापेक्षया द्विगुणायामविस्तारो पुण्डरीकहृदः । पुण्डरीकहृदापेक्षया–द्विगुणायामविस्तारः पुन–महापुण्डरीकहृदो वर्तते ।

एवं–पद्महृदमध्यवर्तिपुष्करापेक्षया द्विगुणं पुष्करं महापद्महृदे वर्तते, तत्पुष्करापेक्षया–द्विगुणं पुष्करं तिगिच्छहृदे विलसति तत्पुष्करापेक्षया–द्विगुणं पुष्करं केसरिहृदे वर्तते, तत्पुष्करापेक्षया द्विगुणं पुष्करं पुण्डरीकहृदे विलसति, । तथाच–पद्महृदस्य योजनसहस्रायामतया–पञ्चशतयोजनविस्तारतयोत्तरत्वेन तद् द्विगुणो महापद्महृदः । सहस्रयोजनायामः सहस्रयोजनविस्तारश्च भवति ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र ७३ पद्महृद के अधिकार में कहा है– उस पद्महृद के बिलकुल मध्य भाग में एक विशाल पद्म कहा गया है । वह एक योजन लम्बा–चौड़ा है, आधा योजन मोटा है और दस योजन गहरा है, जल से दो कोस ऊँचा है । उसका समग्र परिमाण कुछ अधिक दस योजन का कहा गया है ।

पद्महृद का जो परिमाण कहा गया है, उसकी अपेक्षा महापद्महृद का और महापद्महृद की अपेक्षा तिगिच्छहृद का परिमाण दुगुना–दुगुना है । इसी प्रकार उनमें स्थित कमलों का परिमाण भी दुगुना दुगुना है, जो परिमाण दक्षिण दिशा के इन हृदों और पुष्करो का है, वही उत्तर दिशा के हृदों और कमलो का है । जैसे तिगिच्छ के समान केसरी हृद का, महापद्म के बराबर पुण्डरीक हृद का और पद्महृद के समान महापुण्डरीक हृद का आयाम विष्कंभ है । इनमें स्थित कमलो के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि पद्महृद के मध्य में स्थित पुष्कर की अपेक्षा महापद्महृद में स्थित पुष्कर दुगुना है, महापद्म हृद के पुष्कर की अपेक्षा तिगिच्छ हृद पुष्कर दुगुना है । तत्पश्चात् उत्तर में केसरी हृद का पुष्कर तिगिच्छहृद के पुरष्कर के वरावर, पुण्डरीक हृद का पुष्कर महापद्म हृद के पुष्कर के बराबर और महापुण्डरी हृद का पुष्कर पद्म हृद के पुष्कर वरावर है ।

एवं रीत्या—तद्द्विगुणत तद्द्विगुणतयोत्तरोत्तरं क्रमश स्तिगिच्छ—केसरि—पुण्डरीक—महापुण्डरीक-हूदानामपि स्वयमायामविस्ताराः ऊहनीयाः अवगाहस्तु—सर्वेषां हूदानां दशयोजनान्येवाऽवसेयः। उक्तञ्च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ महापद्महूदाधिकारे—८० सूत्रे—"**महाहिमवंतस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महापउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते दो जोयणसहस्साइं आयामेणं एगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे रययामयकूले एवं आयामविक्खंभविहूणा जा चेव पउमद्दहस्स वत्तव्वया सा चेव णेयव्वा पउमप्पमाणं दो जोयणाइं अट्ठो जाव महापउमद्दहवण्णाभाइं हिरीअ एत्थ देवीजाव पलिओवमट्ठिइया परिवसइ**" इति

महाहिमवतो बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु एको महापद्महूदो नाम हूदः प्रज्ञप्तः, द्वे योजनसहस्रे-आयामेन, एकं योजनसहस्र विष्कम्भेण—दशयोजनानि—उद्वेधेन, अच्छो रत्नमयकूलः, एवम्—आयामविष्कम्भविहीना या चैव पद्महूदस्य वक्तव्यता—सा चैव ज्ञातव्या पद्मप्रमाणं द्वे योजने, अर्थो यावद महापद्महूदवर्णाभानि, ह्रीश्चात्र देवी यावत्—पल्योपमस्थितिका परिवसति, इति

तदग्रे चोक्तम्—जम्बूप्रज्ञप्तौ षड्हूदाधिकारे ८३—सूत्रतः ११०—सूत्रपर्यन्तम्—,,**तिगिंछद्दहे-णामं दहे पण्णत्ते....चत्तारि जोयणसहस्साइं आयामेणं, दो जोयणसहस्साइं विक्खं भेणं, दसजोयणाइं उव्वेहेणं....धिइअ एत्थ देवी पलिओवमट्ठिइया परिवसइ—**" इति। तिगिञ्छकहूदो नामहूदः प्रज्ञप्तः....चत्वारि योजनसहस्राणि आयामेन, द्वे योजनसहस्रे विष्कम्भेण, दशयोजनानि उद्वेधेन, धृतिश्चात्र देवी पल्योपमस्थितिका परिवसति इति।

तेषु च षट्सु पुष्करेषु उत्तरोत्तरविशालेषु कर्णिकामध्यदेशनिवेशिनः शरत्पूर्णिमा पूर्णचन्द्र चन्द्रिकाद्युतिहराः क्रोशायामाः अर्धक्रोशविस्ताराः देशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः षड् विलसन्ति,

---

अवगाह सभी हूदों का दस योजन ही है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के महापद्म हूद के प्रकरण में सूत्र ८० में कहा है—'महाहिमवंत पर्वत के ठीक बीचोबीच एक महापद्म हूद नामक हूद है, उसकी लम्बाई दो हजार योजन की, चौड़ाई एक हजार की, और गहराई दस हजार योजन की कही गई है। वह स्वच्छ है, उसके किनारे रजतमय है। इस प्रकार लम्बाई—चौडाई को छोड़ कर शेष वर्णन पद्महूद के समान ही समझ लेना चाहिए। उसमें स्थित पद्म का प्रमाण दो योजन है अर्थात् यावत् महापद्महूद के वर्ण के समान........उस कमल में एक पल्योपम की स्थिति वाली ह्री देवी निवास करती हैं।

आगे जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति में छह हृदो के प्रकरण में सूत्र ८३से११० पर्यन्त में कहा है—तिगिंछ हूद नामक हूद है जो चार हजार योजन लम्बा है, दो हजार योजन चौड़ा है और दस हजार योजन गहरा है। यहाँ धृति नाम की देवी निवास करती है जिसकी स्थिति एक पल्योपम की है।

उत्तरोत्तर विशाल उन छहो पुष्करों की कर्णिका के मध्य भाग में बने हुए, शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा की चांदनी की कान्ति को भी हरण करने वाले, एक कोस लम्बे, अर्ध कोस विस्तार

तेषु प्रासादेषु निवासिन्य षड्देव्यः श्रीः ह्री धृति–कीर्तिबुद्धि–लक्ष्मीनामधेयाः पल्योपमस्थितिकाः ससामानिकाः सपरिषदश्च ता विलसन्ति तेषां पुष्काराणां परिवारपुष्करेषु प्रासादानामुपरि सामानिका परिषदश्च तासां वसन्ति ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ६– स्थाने —"तत्थ णं छ देवयाओ महड्डियाओ जाव पलिओपमट्ठिइयाओ परिवसंति तं जहा–सिरी–हिरी–धिई कित्ती बुद्धी लच्छी–" इति ।

यावत् पदेन– महाद्युतिकाः महाबलाः महायशसः इत्यादिग्राह्यम् । तत्र–श्रीह्रीधृतयस्तिस्रो- देव्यः स्व–स्वपरिवारपरिवृता सौधर्मेन्द्रेण संबद्धाः सन्ति, अतएव तास्तिस्रो देव्यः सौधर्मेन्द्रसेवा- परायणा वर्तन्ते कीर्ति–बुद्धि–लक्ष्म्यस्तिस्रः खलु देव्यस्तु–सपरिवारा ईशानेन्द्रेण सम्बद्धाः सन्ति तस्मात्ताः तिस्र ईशानेन्द्रस्य सेवातत्परा वर्तन्ते एवं रीत्या–पञ्चस्वपि मेरुषु ये तावत् षट्–षट् कुलपर्वताः सन्ति, तेषु सर्वेषु षट्–षड्देव्योऽवगन्तव्याः सर्वाश्च ताः देव्यस्त्रिंशत्सञ्ज्ञका भवन्ति ॥

मूलसूत्रम्—"तत्थ–गंगाइया सत्तनदीओ पुरत्थाभिमुहवाहिणीओ सिंधूआइया सत्त पच्चत्थाभिमुहवाहिणीओ—" ॥ २५ ॥

छाया—"तत्र-गङ्गादिकाःसप्त नद्यः पूर्वाभिमुखवाहिन्यः' सिन्ध्वादिकाः सप्त पश्चिमाभिमुखवाहिन्यः–?' ॥२५॥

वाले तथा एक कोस से कुछ कम ऊँचे छह प्रासाद है । उन प्रासादो में छह देवियाँ निवास करती है, जिनके नाम इस प्रकार है–श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, एवं लक्ष्मी इन सब देवियोंकी स्थिति पल्योपम की है और वे सामानिक एवं पारिषधो के साथ वहाँ विलास करती हैं । उन पुष्करो के परिवाररूप अन्य पुष्करो में प्रासादो के ऊपर उन देवियो के सामानिक और पारिषध देव निवास करते है ।

स्थानांगसूत्र के छठे स्थान में कहा है–'वहाँ छह महान् ऋद्धि की धारक यावत् पल्योंपम की स्थिति वालो देवियाँ रहती है । वे इस प्रकार है–श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी । 'यावत्' शब्द से महान् द्युति वाली, महायश वाली, इत्यादि ग्रहण करना चाहिए ।

इन छह देवियो में से श्री, ह्री और धृति नामक तीन देवियाँ अपने–अपने परिवार सहित सौधर्मेन्द्र के साथ सम्बन्ध रखती है, अतः वे तीनो सौधर्मेन्द्र की सेवा में तत्पर रहती है । कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नामक तीन देवियाँ ईशानेन्द्र से सम्बद्ध है, अतएव वे ईशानेन्द्र की सेवा में तत्पर रहती है ।

इस प्रकार पाँचों मेरुपर्वतो के उत्तर और दक्षिण में जो छह–छह कुलपर्वत है, उन सब पर छह–छह देवियाँ है । इस प्रकार सब देवियाँ मिलकर तीस होंती है ॥२४॥

सूत्रार्थ–'तत्थ गंगाइया' इत्यादि सूत्रार्थ सू. २५

जम्बूद्वीप में गंगा आदि सात नदियाँ पूर्व दिशा की ओर बहती है और सिन्धु आदि सात नदियाँ पश्चिम की ओर बहती है ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपे भरतादि सप्तक्षेत्रविभाजकानां क्षुद्रहिमवदादिषट्-कुलपर्वतानां वर्णविशेषसंस्थानपद्मादिषड्ह्रदादि स्वरूपवर्णनं कृतम्, सम्प्रति—तत्रत्य तत्तत्क्षेत्र-विभाजकगङ्गादिचतुर्दशनदीनां स्वरूपं प्ररूपयितुमाह—"तत्थ गंगाइया—" इत्यादि ।

तत्र—तस्मिन् खलु पूर्वोक्तस्वरूपे जम्बूद्वीपे गङ्गादिकाः—गङ्गा—१ रोहिता—२ हरिता—३ सीता—४ नरकान्ता—५ सुवर्णकूला—६ रक्ता—७ इत्येवमादिकाः सप्तनद्यः सरितः पूर्वाभिमुखवाहिन्य. पूर्वाभिमुखीभूय भरतादिक्षेत्रेषु प्रवहन्त्यः पूर्वलवणसमुद्रं प्रविशन्ति [पत्युःकुल-पुनर्गमनाय स्वात्मानमर्पयन्ति—] ।

सिन्ध्वादयः—सिन्धु—१ रोहितांशा—२ हरिकान्ता—३ सीतोदका—४ नारीकान्ता—५ रूपकूला—६ रक्तवत्यः—७ इत्येवमादिकास्तु सप्तनद्य· पश्चिमाभिमुखवाहिन्यः पश्चिमाभिमुखीभूय प्रवहन्त्य. पश्चिमलवणसमुद्रं प्रविशन्ति, तत्र—नदीद्वयनदीद्वयमध्ये—एकैकं क्षेत्रमवगन्तव्यम् तेन—नैकत्र सर्वासां प्रवहणप्रसङ्गः ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं भरतवर्षादिक्षेत्रविभाजकक्षुद्रहिमवदादीनां स्वरूपवर्णविशेषसंस्थाना—ऽऽयामविष्कम्भावगाहपद्मह्रदादितन्मध्यवर्तिपुष्करादीनां निरूपणं कृतम् , सम्प्रति—पद्मह्रदादि-निर्गतगङ्गादिचतुर्दशमहानदीनां स्वरूपादिकं प्ररूपयितुमाह— "तत्थ गंगाइया सत्त नदीओ पुरत्थाभिमुहवाहिणीओ, सिंधूआइया सत्त पच्चत्थाभिमुहीवाहिणीओ—"

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप के अन्दर भरत आदि क्षेत्रो को विभाजित करने वाले क्षुद्रहिमवन्त आदि छह कुलपर्वतों के वर्ण, संस्थान, पद्महृद आदि के स्वरूप का वर्णन किया गया । अब विभिन्न क्षेत्रों को विभक्त करने वाली गंगा आदि चौदह नदियों के स्वरूप का प्ररूपण किया जाता है—

जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका, है उस जम्बूद्वीप में गंगा आदि अर्थात् (१)गंगा (२) रोहिता (३) हरिता (४) सीता (५) नरकान्ता (६) सुवर्णकूला और (७) रक्ता, ये सात नदियाँ पूर्व की ओर बहती है और भरत आदि क्षेत्रो में बहती हुई पूर्वलवण समुद्र में प्रवेश करती है (पुनः वापिस न लौटने के लिए पति—सागर—के घर में अपने आपको अर्पित करती है।)

सिन्धु आदि अर्थात् (१) सिन्धु (२) रोहितांशा (३) हरिकान्ता (४) सीतोदा (५) नारीकान्ता (६) रूयकूला (७) रक्तवती, ये सात नदियाँ पश्चिम की ओर बहने वाली हैं और पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती हैं।
भरत आदि सात क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र में दो—दो नदियाँ बहती है अतएव एक ही जगह सभी के बहने का कोई प्रसंग नहीं हैं ॥२५॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले भारतवर्ष आदि क्षेत्रों को पृथक्—पृथक् करने वाले क्षुद्रहिमवन्त आदि पर्वतों के स्वरूप, वर्ण आकार, आयाम, विष्कंभ, अवगाह आदि का, उनके ऊपर बने हुए पद्महृद आदि का तथा पद्महृद आदि के मध्य में स्थित कमलों आदि का वर्णन किया गया

इत्यादि—तत्र—तस्मिन् खलु, पूर्वोक्तस्वरूपे जम्बूद्वीपे गङ्गादिकाः—गङ्गा—१ रोहिता—२ हरिता—३ सीता—४ नरकान्ता—५ सुवर्णकूला—६ रक्ता—७ इत्येवं रूपा सप्तनद्यः महासरितः पूर्वाभिमुखवाहिन्यः — पूर्वाभिमुखीभूय भरतादिक्षेत्रेषु प्रवहन्त्यः पूर्वलवणसमुद्रं प्रविशन्ति सिन्ध्वादिकाः—सिन्धु रोहितांशा हरिकान्ता सीतोदा नारीकान्ता रूप्यकूला रक्तवत्यः इत्येवं भूताः सप्तनद्यस्तु—पश्चिमाभिमुखवाहिन्यः पश्चिमाभिमुखीभूय प्रवहन्त्यः पश्चिमलवण समुद्रं प्रविशन्ति तत्र नदीद्वयनदीद्वयमध्ये एकैकं क्षेत्रमवसेयम् तत्र पद्महृदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गानदी वर्तते, तद्हृदप्रभवा पश्चिमतोरणद्वारनिर्गत सिन्धुरस्ति उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितांशा नदी विद्यते महापद्महृदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता रोहिता नदी विद्यते महापद्महृदप्रभवा—उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता खलु—हरिकान्ता नदी वर्तते।

तिगिच्छहृदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता खलु हरिता नदी वर्तते' तिगिच्छहृदप्रभवा उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता सीतोदा नदी वहति केसरिहृदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता सीतानदी वर्तते, केसरिहृदप्रभवा—उदीच्यतोरणद्वारनिःसृता खलु नरकान्ता नदी विद्यते पुण्डरीक हृदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता नारीकान्ता नदी प्रवहति, तद्हृदप्रभवा उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रूप्यकूलानदी भवति।

है। अब पद्महृद आदि से निकली हुई गंगा आदि चौदह महा नदियों के स्वरूप आदि का प्ररूपण करने के लिए कहते है—

जम्बूद्वीप में गंगा आदि अर्थात् (१) गंगा (२) रोहिता (३) हरिता (४) सीता (५) नरकान्ता (६) सुवर्णकूला और रक्ता, ये सात महानदियाँ पूर्व दिशा की ओर अभिमुख होकर भरत आदि क्षेत्रो में बहती हुई पूर्व लवणसमुद्र में प्रवेश करती है। सिन्धु आदि अर्थात् (१) सिन्धु (२) रोहितांशा (३) हरिकान्ता (४) मीतोदा (५) नारिकन्ता (६) रूप्यकूला और रक्तवती, ये सात महानदियाँ पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती है। एक—एक क्षेत्र में दो—दो नदियाँ समझनी चाहिए। उनमें गंगा नदी पद्महृद से उत्पन्न होती है और पूर्व तोरण द्वार से निकलती है। इसी पद्महृद से निकलने वाली और पश्चिम तोरणद्वार से निकलने वाली सिन्धु नदी है इसी पद्महृद से उत्तरीय तोरणद्वार से रोहितांशा नदी निकलती है। रोहिता नदी महापद्महृद से उद्गत होती है और दक्षिणी तोरणद्वार से निकलती है। महापद्महृद से, उत्तरीय तोरणद्वार से हरिकान्ता का उद्गम होता है।

हरिता नदी तिगिच्छहृद से दक्षिणीतोरणद्वार से निकलती है सीतोदा नदि इसी उत्तरीय तोरणद्वार से निकलती है। सीता नामक नदी केसरी हृद से उत्पन्न होती और दक्षिणी तोरण द्वार से निकलती है। नरकान्ता भी केसरी हृद से निकलती है और उत्तरीय तोरणद्वार से होकर बहती है। नारीकान्ता पुण्डरीक हृद से उद्गत होकर दक्षिणी तोरणद्वार से निकल कर बहती है। इसी हृद से उद्गत होकर उत्तरीय तोरणद्वार से रूप्यकूला नदी बहती है।

महापुण्डरीकह्रदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूलानदी प्रवहति, महापुण्डरीकह्रदप्रभवा पूर्ववतोरणद्वारनिर्गता रक्तानदी प्रवहति तत्पश्चिमतोरणद्वारनिर्गता रक्तोदा–रक्तवतीवा नदी प्रवहति। उक्तञ्च स्थानाङ्गे ७ स्थाने

'जंबुद्दीवे सत्त महानदीओ पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समुप्पेंति, तं जहा–गंगा रोहिता-हरी-सीता-णरकंता-सुवण्णकूला रत्ता-जंबुद्दीवे सत्त महानदीओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समुप्पेंति, तंजहा–सिंधू–१ रोहितंसा–२ हरिकंता–३ सीतोदा–४ णारीकंता–५ रुप्पकूला–६ रत्तवई–" इति

जम्बूद्वीपे सप्त महानद्यः—पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समर्पयन्ति [स्वस्वाऽऽत्मानम्] तद्यथा—गङ्गा–१ रोहिता–२ हरित्–३ सीता–४ नरकान्ता–५, सुवर्णकूला–६ रक्ता–७ जम्बूद्वीपे–सप्तमहानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवनसमुद्रं समर्पयन्ति, तद्यथा–सिन्धुः–१ रोहितांशा–हरिकान्ता–३ सीतोदा–४ नारीकान्ता–५ रुप्यकूला–६ रक्तवती–७ इति।–

तत्राऽपि–गङ्गा–सिन्धुः–रक्तारक्तवतीचे–त्येवं खलु चतस्रो महानद्यः प्रत्येकं चतुर्दशसहस्रनदीभिः परिवृताः सत्य पूर्वपश्चिमलवणसमुद्रं प्रविशन्ति। तत्र–गङ्गा–रक्ता च तथाविधं महानद्यो द्वे पूर्वलवणसमुद्रं प्रविशतः। सिन्धुः–रक्तवती च द्वे महानद्यौ तथाविधे पश्चिमलवणसमुद्रं प्रविशतः। तत्र–गङ्गा–सिन्धुश्च द्वे महानद्यौ भरतवर्षे प्रवहतः। रक्ता–रक्तवती च द्वे महानद्यौ ऐरवतक्षेत्रे प्रवहतः इति।

उक्तञ्च–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ६ वक्षस्कारे १२६–सूत्रे–" जम्बुद्दीवे भरहेरवएसु वासेसु

सुवर्णकूला नदी महापुण्डरीक ह्रद से उद्गत होकर दक्षिणी तोरणद्वार से निकल कर वहती है। रक्ता और रक्तोदा नामक नदियाँ भी इसी ह्रद निकली है और वे क्रमशः पूर्व तोरणद्वार तथा पश्चिम तोरणद्वार से होकर वहती है।

स्थानांग सूत्र के सातवें स्थान के में कहा है—

जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पूर्व को ओर अभिमुख होकर लवणसमुद्र में जाकर मिलती हैं। वे ये हैं—गंगा, रोहिता, हरी, सीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला और रक्ता। जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पश्चिम की ओर अभिमुख होकर लवण समुद्र में मिलती है। वे इसप्रकार है। सिन्धु, रोहितांशा, हरिकान्ता, सीतोदा, नारीकान्ता, रूप्यकूला और रक्तवती।

पूर्वोक्त चौदह नदियो में से गंगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती नामक चार महा नदियाँ चौदह–चौदह हजार नदियो के साथ मिलकर पूर्व और पश्चिम के लवण समुद्र में मिलती हैं। इसमें से गंगा और रक्ता नामक दो महानदियाँ पूर्व लवण समुद्र में प्रवेश करती है। सिन्धु और रक्तवती नामक दो महा नदियाँ पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती है। गंगा और सिन्धु भरतक्षेत्र में वहती हैं और रक्ता तथा रक्तवती ऐरवत क्षेत्र में वहती हैं।

कइ महाणईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि महाणईओ, पण्णत्ताओ, तं जहा–गंगा–सिंधू–रत्ता–रत्तवई, तत्थ णं एगमेगा महाणई चउद्दसहिं सलिलासहस्सेहिं समग्गा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ–" इति।

जम्बूद्वीपे–भरतैरवतयोर्वर्षयोः कति महानद्यः प्रज्ञप्ताः–? गौतम–! चतस्रो महनद्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–गङ्गा–१ सिन्धु–२ रक्ता–३ रक्तवती–४ तत्र खलु। एकैका महानदी चतुर्दशभिः सलिलासहस्रैः समग्रा पूर्वपश्चिमं खलु लवणसमुद्रं समर्पयति।। इति, ॥ २५ ॥

मूलसूत्रम्—"भरहवासस्स विक्खंभे पंचछव्वीसे जोयणसयाइं छच्च एगूणवीसइ-भाया–" ॥ २६ ॥

छाया—"भरतवर्षस्य विष्कम्भः पञ्चषड्विंशतिर्योजनशतानि षट्च एकोनविंशति भागाः—" ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं जम्बूद्वीपस्य भरतादिक्षेत्रेषु गङ्गादिमहानदीनां स्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति भरतक्षेत्रस्य विस्ताररूपबाहल्यं विष्कम्भापरपर्यायं प्ररूपयितुमाह–**"भरहवासस्स विक्खंभे–"** इत्यादि।

भरतवर्षस्य भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो–विस्तारस्तावत्। योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशतिः षट्चैकोनविंशतिभागाः सन्ति तथाच–षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनानि षट्चैकोनविंशति भागः ५२६ $\frac{६}{१९}$ भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो वर्तते ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–गङ्गा–सिन्ध्वादिमहानदीनां भरतादिक्षेत्रविभाजकहिमवदादि-वर्षधरपर्वतादीनाञ्च स्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति–भरतवर्षस्य विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह—'भरत-

---

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के छठे वक्षस्कार के सूत्र १२५ में कहा है–'जम्बूद्वीप के अन्दर भरतवर्ष और ऐरवत वर्ष में कितनी महानदियाँ कही गई है ? उत्तर–गौतम ! चार महानदियाँ कही गई है, इस प्रकार है– गंगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती। इनमें से प्रत्येक महानदी चौदह हजार नदियों से युक्त होकर पूर्व और पश्चिम लवणसमुद्र में जा मिलती है ॥२५॥

सूत्रार्थ—'**भरहवासस्स**' इत्यादि। सूत्र. २६

भरतवर्ष का विष्कंभ पाँच सौ छब्बीस योजन एवं एक योजन के उन्नीस भाग में से छह भाग (५२६ $\frac{६}{१९}$) है ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्रोमें गंगा आदि जो महानदियाँ प्रवाहित हो रही है, उनके स्वरूप का निरूपण किया गया। अव भरतक्षेत्र का विस्तार कहते हैं–

भरतक्षेत्र का विष्कंभ अर्थात् विस्तार पाँचसौ छव्वीस योजन और एक योजन का $\frac{६}{१९}$ भाग है ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले के सूत्र में गंगा सिन्धु आदि महानदियो का तथा भरत आदि क्षेत्रों का विभाग करने वाले हिमवन्त आदि वर्षधर पर्वतो का स्वरूप वतलाया गया है।

वासस्स विक्खंभे पंचछव्वीसे जोयणसयाइं छच्च एगूणवीसइभाया—" इति

भरतवर्षस्य—भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो—बाहल्यं विस्तारः खलु योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशतिः षट्च एकोनविंशतिभागा सन्ति। एतावता षडविंशत्यधिक पञ्चशतयोजनानि षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य तावद् भरतवर्षस्य विस्तार इति फलितम्। उक्तञ्च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ १२ सूत्रे—

"जंबूद्दीवे दीवे भरहेणामं वासे जंबूदीवदीवणउयसयभागे पंचछव्वीसे जोयणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं—" इति। जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतो नामवर्षः जम्बूद्वीप द्वीपनवतिशतभागः पञ्च षड्विंशतिः योजनशतानि षट् च एकोनविंशतिभागाः योजनस्य विष्कम्भेण—" इति।

एवञ्च—जम्बूद्वीपस्य लक्षयोजनप्रमाणायामविष्कम्भतया तस्य नवतिशतभागविष्कम्भो भरतवर्षस्य षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनषडेकोनविंशतिभागा इति ॥२६॥

मूलसूत्रम्—"भरहदुगुणविक्खंभाः चुल्लहेमवंताइ विदेहंता वासहरवासा—" ॥

छाया—"भरतद्विगुण द्विगुणविष्कम्भाः क्षुल्ल हिमवदादिविदेहान्ता वर्षधरवर्षाः" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—भरतवर्षस्य जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनो विष्कम्भस्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति क्षुल्लहिमवदादिविदेहान्तानां वर्षधराणां वर्षाणाञ्च विष्कम्भस्वरूपं प्ररूपयितुमाह—

"भरहदुगुण—" इत्यादि। भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भाः—भरतवर्षस्य द्विगुणद्विगुणाः विष्कम्भाः विस्तारा येषां ते भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भाः क्षुल्लहिमवदादि—विदेहान्ताः, क्षुल्लहिमवद्-१ हैमवत—२ महाहिमवत्—३ हरिवर्ष—४ निषध—५ महाविदेहाः वर्षधरवर्षाः—प्रथम-

---

अव भरत क्षेत्र के विस्तार की प्ररूपणा करते है—

भरतवर्ष अर्थात् भरतक्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भाग में से छह भाग ($५२६\frac{६}{१९}$) है।

जम्पूद्वीपप्रज्ञप्ति के वारहवें सूत्र में कहा है—'जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरत नामक वर्ष—क्षेत्र है........ उसका विस्तार $५२६\frac{६}{१९}$ योजन है। तात्पर्य यह है कि एक लाख योजन लम्बे—चौड़े जम्बूद्वीप का $५२६\frac{६}{१९}$ वां भाग भरतक्षेत्र का विस्तार है ॥२६॥

'भरहदुगुण विक्खंभा' इत्यादि।

सूत्रार्थ—क्षुद्रहिमवात् पर्वत से लेकर विदेह क्षेत्र पर्यन्त पर्वतो और क्षेत्रों का विस्तार दुगुना—दुगुना है ॥२७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र का विस्तार निरूपण किया है, खुल्ल हिमवन्त पर्वत से विदेह क्षेत्र तक के पर्वतो और क्षेत्रो का विस्तार बतलाते हैं—भरत क्षेत्र से आगे के पर्वतों और क्षेत्रो का विस्तार उत्तरोत्तर दुगुना—दुगुना है। भरत क्षेत्र से

तृतीयपञ्चमाः वर्षधराः, द्वितीय–चतुर्थ-षष्ठाः वर्षाश्चोत्तरोत्तरं यथाक्रमं भरतापेक्षया उत्तरोत्तरं द्विगुणद्विगुणविस्ताराः सन्तीति भावः। तथाहि–भरतापेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पर्वतस्य वर्तते, क्षुल्लहिमवन्तमपेक्ष्य द्विगुणविष्कम्भो हैमवतवर्षस्य वर्तते। हैमवतस्य द्विगुणविष्कम्भः खलु–महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य विद्यते, महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भश्च–हरिवर्षस्यास्ति। हरिवर्षस्य द्विगुणविस्तारो निषधवर्षधरस्य वर्तते, निषधापेक्षया–द्विगुणविष्कम्भो महाविदेहस्य वर्तते इति ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनो भरतवर्षस्य बाहल्यं प्ररूपितम्, सम्प्रति–क्षुल्लहिमवदादि विदेहान्तानां वर्षधराणां वर्षाणाञ्च बाहल्यप्रमाणं प्ररूपयितुमाह–**"भरहदुगुणदुगुणा विक्खंभा चुल्लहेमवंताइ विदेहंता वासहरवासा—"** इति।

भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भाः–भरतक्षेत्रापेक्षया–उत्तरोत्तरं द्विगुणद्विगुणाः विष्कम्भाः विस्ताराः बाहल्यानि येषां ते–भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भाः, क्षुल्लहिमवदादिमहाविदेहान्ताः–क्षुल्लहिमवद्–१ हैमवत–२ महाहिमवद्–३ हरिवर्ष–४ निषध–५ महाविदेहाः–क्रमशो वर्षधराः वर्षाश्च सन्ति। तत्र–भरतवर्षस्य द्विगुणविस्तारः क्षुल्लहिमवान् वर्षधरपर्वतोऽस्ति। क्षुल्लहिमवतो द्विगुणविस्तारो हैमवतो वर्षो वर्तते। हैमवतस्य-वर्षस्य द्विगुणविस्तारो महाहिमवान् वर्षधरपर्वतोऽस्ति।

आगे क्षुद्रहिमवान् पर्वत, फिर हैमवत क्षेत्र, फिर महाहिमवान् पर्वत फिर हरिवर्ष, फिर निषध पर्वत, और फिर महाविदेह क्षेत्र है, इसमें पहले तीसरे और पाँचवें स्थान पर वर्षधर पर्वत हैं और दूसरे, चौथे तथा छठे स्थान पर क्षेत्र है ये वर्षधर पर्वत और वर्ष भरतवर्ष की अपेक्षा दुगुने–दुगुने विस्तार वाले है। जैसे– भरतक्षेत्र का ऊपर जो विस्तार कहा है उससे दुगुना विस्तार क्षुद्रहिमवान् पर्वत का समझना चाहिए, क्षुद्रहिमवान् पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार हैमवत क्षेत्र का है, हैमवत क्षेत्र की अपेक्षा दुगुना विस्तार महाहिमवान् पर्वत का है, महाहिमवान् पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार हरिवर्ष का है, हरिवर्ष से दुगुना विस्तार निषध पर्वत का है और निषध पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार महाविदेह क्षेत्र का है ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व जम्बूद्वीपके अन्दर स्थित भरत क्षेत्रके विस्तार का प्ररूपण किया गया है, अब चुल्ल हिमवन्त से लेकर विदेह पर्यन्त तक के वर्षधर पर्वतो और वर्षों के विस्तार का परिमाण बतलाने के लिए कहते है—

क्षुद्रहिमवात् पर्वतसे लेकर विदेहक्षेत्र पर्यन्त जो वर्षधर और वर्ष है, उनका विस्तार उत्तरोत्तर दुगुना–दुगुना है। वे वर्षधर पर्वत और वर्ष इस प्रकार है–(१) चुल्लहिमवन्त (२) हैमवत वर्ष (३) महाहिमबन्त पर्वत (४) हरिवर्ष (५) निषध पर्वत और (६) महाविदेह क्षेत्र। इनमें से भरत क्षेत्र के पूर्व लिखित परिमाण को अपेक्षा चुल्लहिमवन्त पर्वत का परिमाण दुगुना है, चुल्लहिमवन्त पर्वत की अपेक्षा हैमवत क्षेत्र का परिमाण दुगुना है। हैमवत क्षेत्र के परिमाण से दुगुना महाहिमवान् पर्वत का परिमाण है।

महाहिमवतो वर्षधरस्य द्विगुणविस्तारो हरिवर्षोऽस्ति, हरिवर्षस्य द्विगुणविस्तारो निषधो-नाम वर्षधरो वर्तते। निषधाद्-द्विगुणविस्तारो महाविदेहो वर्षो वर्तते इतिभावः।

तत्र-भरतवर्षः खलु-षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणषड़ेकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ५२६ $\frac{६}{१९}$ क्षुल्लहिमवान् खलु-द्विपञ्चाशदधिकसहस्रयोजनप्रमाणद्वादशैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः १०५२ $\frac{१२}{१९}$ हैमवतवर्षश्च-पञ्चाधिक शतोत्तर द्विसहस्रयोजनप्रमाण-पञ्चैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः-२१०५ $\frac{५}{१९}$ महाहिमवान् पर्वतस्तु-दशाधिकद्विशतोत्तरचतुःसहस्रयोजनप्रमाण-दशैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ४२१० $\frac{२०}{१९}$ वर्तते हरिवर्षस्तु-एकविंशत्यधिकचतुःशत्तोत्तराष्टसहस्रयोजनप्रमाण-एकैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ८४२१ $\frac{१}{१९}$ वर्तते निषधपर्वतः पुन-र्द्वाचत्वारिंशदधिकाऽष्टशतोत्तरषोडशसहस्रयोजनप्रमाण द्व्येकोनविंशति भागयोजनविष्कम्भः १६८४२ $\frac{२}{१९}$ वर्तते महाविदेहस्तु-चतुरशीत्यधिकषट् शतोत्तर त्रयस्त्रिंशत्सहस्रयोजनप्रमाण चतुरेकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ वर्तते इतिभावः।

१-उक्तञ्च-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ क्षुल्लहिमवत् पर्वताधिकारे **'जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाइण पडीणायए उदीणदाहिणवित्थिण्णे दुहा लवणसमुद्दं**

महाहिमवान् पर्वत के परिमाण से दुगुना हरिवर्ष का विस्तार है। हरिवर्ष से दुगुना निषध पर्वत का विस्तार है और निषध पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार महाविदेह वर्ष का है।

भरतवर्ष का विस्तार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन का $\frac{६}{१९}$ भाग है, इससे दुगुना एक हजार बावन योजन तथा $\frac{१२}{१९}$ भाग विस्तार चुल्लहिमवान् पर्वत का है। इससे दुगुना २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन का विस्तार हैमवत वर्ष का है। महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस योजन और दस का उन्नीस या दस भाग है (४२१० $\frac{१०}{१९}$ के योजन) हरिवर्ष का विस्तार ८४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन है। निषध पर्वत १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन विस्तृत है, महाविदेह क्षेत्र का विस्तार ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ योजन है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में क्षुद्र हिमवन्त पर्वत के वर्णन प्रकरण में कहा है-'जम्बूद्वीप नामक द्वीप

पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दंपुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे एगं जोयणसयं उड्ढं ऊच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणाइं उव्वेहेणं एगंजोयणसहस्सं बावन्नं जोयणाइं दुवालसयएगूणवीसईभाए जोयणस्स विक्खंभेणं-" इति ॥ जम्बूद्वीपे द्वीपे—क्षुल्लहिमवान् नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः, प्राची-प्रतीचिना-ऽऽयत उदीची दक्षिणविस्तीर्णः द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः पौरस्त्यया कोटचा पोरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पाश्चात्यया कोटचा पाश्चात्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः एकं योजनशतम् ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, पञ्चविंशतिर्योजनानि उद्वेधेन, एकं योजनसहस्रं द्वापञ्चाशद्योजनानि द्वादशचैकोनविंशतिभागा योजनस्य विष्कम्भेण—इति ।

२—ततश्चाग्रे हैमवतवर्षाधिकारे जम्बूप्रज्ञप्तावेवोक्तम्—"जंबुद्दीवे दीवे हेमवए णामं वासे पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे पलियंकसंठाणसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे-पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे—दोण्णि जोयणसहस्साइं एगंच पंचुत्तरं जोयणसयपंचय एगूणवीसईभाए जोयणस्स विक्खंभेणं-" इति । जम्बूद्वीपे द्वीपे—हैमवतो नाम वर्षः प्रज्ञप्तः, प्राचीन—प्रतीचीना—ऽऽयतः उदोची—दक्षिणविस्तीर्णः पल्यङ्कसस्थानसंस्थितो द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः पौरस्त्यया कोटचा पौरस्त्यं लवणसमुद्रंस्पृष्टः, पाश्चात्यया कोटचा—पाश्चात्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टःद्वे योजनसहस्रे, एकश्च पञ्चोत्तरं योजनशतं पञ्चचैकोनविंशतिभागाः योजनस्य विष्कम्भेण—" इति ।

३—ततश्चाऽग्रे पुनस्तत्रैव महाहिमवन्त मधिकृत्योक्तम्—"जंबदीवे दीवे महाहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपाडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दे पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए जाव पुट्ठे, दो जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णासं जोयणे उव्वेहेणं—चत्तारि जोयणसहस्साइं

में चुल्ल (क्षुद्र) हिमवन्त नामक वर्षधर पर्वत कहा गया है । वह वर्षधर पर्वत पूर्व और पश्चिम में लम्बा है, उत्तर दक्षिण में चौड़ा है और दोनो ओर लवणसमुद्र से स्पृष्ट है । उसका पूर्व का किनारा पूर्व लवणसमुद्र से स्पृष्ट है और पश्चिमी किनारा पश्चिम लवणसमुद्र के साथ स्पृष्ट है । वह एक सौ योजन ऊँचा है, पच्चीस योजन अवगाह वाला है और १०५२ $\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तार वाला है ।

आगे हैमवतवर्ष के प्रकरण में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ही कहा है । 'जम्बूद्वीप नामक द्वीप में हैमवत नामक वर्ष कहा गया है । वह पूर्व से पश्चिम में लम्बा है, उत्तर—दक्षिण में चौड़ा है, पलंग के आकार में स्थित है, दोनों ओर लवण समुद्र को स्पर्श करता है । अपने पूर्वी किनारे से पूर्वसमुद्र को और पश्चिमी किनारे से पश्चिमी समुद्र को स्पर्श करता है । उसका विस्तार २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन का है ।

दोण्णि य दसुत्तरं जोयणसए दस एगूणवीसईभाए जोयणस्स विक्खंम्भेणं—" इति।

जम्बूद्वीपे द्वीपे—महाहिमवान् नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः प्राचीन-प्रतीचीना-ऽऽयतः उदीची-दक्षिणविस्तीर्णो द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पौरस्त्यया कोट्या पौरस्त्यं लवणसमुद्रं, स्पृष्टः, पाश्चात्यया कोट्या यावत्स्पृष्टः द्वे योजनशते-ऊर्ध्वमुच्चत्वेन; पञ्चाशद्योजनानि-उद्वेधेन; चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च दशोत्तरे योजनशते दशचैकोनविंशतिभागाः योजनस्य विष्कम्भेण-इति।

४—पुनश्चाग्रे-हरिवर्षमधिकृत्य तत्रैव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ प्रतिपादितम्—"जंबुद्दीवे दीवे हरिवासणामं वासे पण्णत्ते, एवं पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, अट्ठजोयणसहस्साइं चत्तारि एगवीसे जोयणसए एगं च एगूणवीसइभागं जोयणस्स विक्खंभेणं—" इति।

जम्बूद्वीपे द्वीपे—हरिवर्षो नाम वर्षः प्रज्ञप्तः, एवं-प्राचीनप्रतीचीनायतः उदीची-दक्षिण-विस्तीर्णः, द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः पौरस्त्यया कोटया-पौरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः पाश्चात्यया कोटया पाश्चात्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, अष्टयोजनसहस्राणि चत्वारि एकविंशानि योजनशतानि एकश्चैकोनविंशतिभागो योजनस्य विष्कम्भेण—इति।

५—ततश्चाग्रे पुनस्तत्रैव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ निषधवर्षधरपर्वतमधिकृत्य चोक्तम्—"जंबुद्दीवे दीवे-णिसहे णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा-लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे चत्तारिजोयण-सयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारि गाउयसयाइं उव्वेहेण-सोलसजोयणसहस्साइं अट्ठय बायाले जोयणसए दोण्णिय एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं—" इति।

तत्पश्चात् वहीं महाहिमवन्त पर्वत के प्रकरण में कहा है—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में महा हिमवन्त नामक वर्षधर पर्वत कहा गया है। वह पूर्व पश्चिम में लम्बा, उत्तर—दक्षिण में चौडा दोनों लवणसमुद्र से छुआ हुआ है। उसका पूर्वी भाग पूर्वी लवण समुद्र से और पश्चिमी भाग पश्चिम लवणसमुद्र से स्पृष्ट है। दो सौ योजन ऊँचा है, पचास योजन अवगाह वाला है और उसका विस्तार ४२१० $\frac{१०}{१९}$ योजन है।

फिर हरिवर्ष के विषय में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ही कहा है—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में हरिवर्ष नामक क्षेत्र कहा है। पूर्व—पश्चिम में लम्बा—उत्तर— दक्षिण में चौड़ा और दोनों—ओर लवण समुद्र में प्रविष्ट है। अपने पूर्वीय छोर से पूर्व लवणसमुद्र से और पश्चिमी छोर से पश्चिम लवणसमुद्र से छुआ हुआ है उसका विस्तार ८४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन का है

जम्बूद्वीपे द्वीपे—निषधनामा वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः, प्राचीन-प्रतीचीनायतः उदीची-दक्षिण-विस्तीर्णः, द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पौरस्त्यया कोट्या-पौरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, चत्वारि योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन-षोडषयोजनसहस्राणि अष्टच द्वाचत्वारिशान योजनशतानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेण- इति ।

६—पुनश्चाग्रे तत्रैव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ महाविदेहमधिकृत्योक्तम्—"जंबुद्दीवे दीवे-महाविदेहे-वासे पण्णत्ते, पाईणपडिणायए उदीण-दाहिणविच्छिण्णे, पलियंकसंठाणसंठिए दुहा-लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे तेत्तीसं जोयणसए चत्तारि य एगूणवीसइभाए जोयणसहस्सविक्खम्भेणं—" इति ।

"जम्बूद्वीपे द्वीपे-महाविदेहवर्षः प्रज्ञप्तः, प्राचीन-प्रतीचीनायतः उदीची-दक्षिणविस्तीर्णः पल्यंङ्कसंस्थानसंस्थितो द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पौरस्त्यया कोटया पौरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पाश्चात्यया कोटया पाश्चात्यलवणसमुद्रं स्पृष्टः त्रयस्त्रिंशद् योजनसहस्राणि-षट्च-चतुरशीतानि योजनशतानि चत्वारश्चैकोनविंशतिभागाः योजनस्य विष्कम्भेण" इति ॥२७॥

मूलसूत्रम्—"उत्तरा वासहरवासा दाहिणतुल्ला विक्खंभेणं—" ॥२८॥

छाया—"उत्तरा वर्षधरवर्षाः दक्षिणतुल्या विष्कम्भेण—" ॥ २८ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-क्षुद्रहिमवदादि महाविदेहान्तानां षण्णाँ वर्षधराणं—वर्षाणाञ्च यथाक्रमं विष्कम्भः प्ररूपितः, सम्प्रति—नील रूक्मि-शिखरिणां त्रयाणां वर्षधराणां, रम्यक-हैरण्यवतै-रवतानाञ्च त्रयाणां वर्षाणां विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह—

तदनन्तर वहीं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में निषधपर्वत के विषय में कहा है —'जम्बूद्वीप नामक वर्षधर पर्वत कहा है । वह पूर्व—पश्चिम में लम्बा, उत्तर—दक्षिण में चौड़ा, दोनो ओर लवण समुद्र से स्पृष्ट है। उसका पूर्वी छोर पूर्व लवणसमुद्र से और पश्चिमी छोर पश्चिमलवण समुद्र से छुआ हुआ है। वह चार सौ योजन ऊंचा है। उसका अवगाह चार सौ गव्यूति का है और विस्तार १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन का है।

फिर जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति में ही महाविदेह के विषय में कहा है।—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में महाविदेह नामक वर्ष है वह पूर्व —पश्चिम में लम्बा, उत्तर—दक्षिण में चौडा, पलंग के आकार का लम्ब—चौकोर, और दोनो ओर लवणसमुद्र से स्पृष्ट है। उसका पूर्वी किनारा पूर्व के लवणसमुद्र से स्पृष्ट है। और पश्चिमी किनारा पश्चिमी लवण समुद्र से स्पृष्ट है। उसका विष्कम्भ ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ योजन का है ॥२७॥ है,

'उत्तरा वासहरवासा' इत्यादि

सूत्रार्थ—उत्तर दिशा के वर्षधर पर्वत और वर्ष अर्थात् क्षेत्र दक्षिण के विष्कम्भ के समान हैं ॥ २८ ॥

"उत्तरा वासहरवासा–" इत्यादि । उत्तराः–नील-रम्यक-रुक्मि-हैरण्यवत-शिखरि-ऐरवताः खलु षट् वर्षधरवर्षाः विष्कम्भेण–बाहल्येन विस्तारेण दक्षिणतुल्याः–क्षुद्रहिमवदादिदक्षिणवर्षधरवर्षप्रमाणाः अवसेयाः ।

तत्र–नीलवर्षधरपर्वतो निषधपर्वततुल्यविष्कम्भः । रम्यकवर्षश्च–हरिवर्षतुल्यविष्कम्भः । रुक्मी वर्षधरपर्वतो महाहिमवद्वर्षधरतुल्यविष्कम्भः ।

हैरण्यवतवर्षस्तु–हैमवतवर्षतुल्यविष्कम्भः । शिखरी वर्षधरपर्वतस्तु–क्षुद्रहिमवद्वर्षधरतुल्यविष्कम्भः । ऐरवतवर्षः पुनर्भरतवर्षतुल्यविष्कम्भो भवतीतिभावः ।

तथाच–भरतक्षेत्रस्य यावान् विस्तारो वर्तते, तावान्–ऐरवतक्षेत्रस्य विस्तारो बोध्यः । क्षुद्रहिमवत्-पर्वतस्य–यावान् विस्तारः, तावान्–शिखरिपर्वतस्य विस्तारः । हैमवतक्षेत्रस्य यावान् विस्तारः, तावान्–हैरण्यवतक्षेत्रस्य विस्तारः । महाहिमवत् पर्वतस्य यावान् विस्तारः, तावान्–रुक्मिपर्वतस्य विस्तारः । हरिवर्षस्य–यावान् विष्कम्भो वर्तते, तावान्–विष्कम्भो रम्यक क्षेत्रस्य वर्तते । निषधपर्वतस्य च–यावान् विष्कम्भ स्तावान्–विष्कम्भो नीलपर्वतस्य वर्तते । एवमेव–ऐरवतादि स्थितं हृदपुष्करादिकम् , भरतादिस्थित हृद-पुष्कर सदृशमेवाऽवगन्तव्यमिति फलितम् ॥२८॥

तत्वार्थदीपिका––पूर्व सूत्र में क्षुद्रहिमवान् पर्वत से महाविदेह क्षेत्र तक के क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार बतलाया गया है; अब नील, रुक्मि और शिखरि नामक पर्वतों का तथा रम्यक् हैरण्यवत और ऐरवत क्षेत्रो के विस्तार का प्ररूपण करते है–

उत्तर दिशा में स्थित नील पर्वत, रम्यक्क्षेत्र, रुक्मि पर्वत, हैरण्यवत क्षेत्र, शिखरिपर्वत और ऐरवत क्षेत्र ये छह क्षेत्र एवं पर्वत विस्तार में दक्षिणदिशा के क्षुद्रहिमवान् आदि पर्वतो और क्षेत्रो के समान ही समझने चाहिए ।

उनमें से नीलनामक वर्षधर पर्वत निषध पर्वत के समान है, रम्यक क्षेत्र हरिवर्ष क्षेत्र के बराबर है और रुक्मी नामक वर्षधर पर्वत महाहिमवान् पर्वत–समान विस्तार वाला हैं ।

हैरण्यवतवर्ष हैमवत क्षेत्र के बराबर है और शिखरी नामक पर्वत का विस्तार क्षुद्रहिमवान् पर्वत के बराबर है । ऐरवत क्षेत्र भरत क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला है ।

इस प्रकार जितना विस्तार भरत क्षेत्र का है उतना ही ऐरवतक्षेत्र का भी समझना चाहिए । क्षुद्रहिमवान् पर्वत का जितना विस्तार है, उतनाही विस्तार शिखरी पर्वत का है । हैमवत क्षेत्र का जितना विस्तार है उतना ही विस्तार हैरण्यवत क्षेत्र का है महाहिमवान् पर्वत का जितना विस्तारहै, उतना ही विस्तार रुक्मी नामक पर्वत का है । हरिवर्ष का जितना विस्तार है उतना ही रम्यक क्षेत्र का विस्तार है । निषधपर्वत का जितना विस्तार है. उतनाही नील पर्वत का विस्तार समझना चाहिए । इसी प्रकार शिखरी पर्वत आदि के ऊपर हृदों और पुष्करो का विस्तार भी क्षुद्रहिमवान् आदि पर्वतो पर स्थित हृदों एवं पुष्करों आदि के विस्तार के समान समझना चाहिए ॥ २८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–क्षुद्रहिमवदादिमहाविदेहान्तानां षण्णां वर्षधराणां-वर्षाणाञ्च यथाक्रमं विष्कम्भः प्ररूपितः, सम्प्रति-नीलरुक्मि-शिखरिणां त्रयाणां वर्षधराणां, रम्यकहैरण्यवतै-रवतानाञ्च त्रयाणां वर्षाणां विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह–"उत्तरा वासहरवासा दाहिणतुल्ला" इति।

उत्तराः—नीलादि–ऐरवतान्ताः षट्संख्यकाः वर्षधरवर्षाः, त्रयो वर्षधराः–त्रयो वर्षाश्च दक्षिणतुल्याः दक्षिणैः-निषध-हरिवर्ष-महाहिमवद्-हैमवत-क्षुद्रहिमवद्-भरतवर्षैस्तुल्यविष्कम्भाः सन्ति। तत्र–ऐरवतक्षेत्रं भरतक्षेत्रस्य तुल्यबाहल्यं वर्तते। शिखरीपर्वतः–क्षुद्रहिमवत्पर्वतस्य तुल्यबाहल्यो वर्तते। हैरण्यवतक्षेत्रञ्च हैमवतक्षेत्रस्य तुल्यबाहल्यम्। रुक्मिपर्वतश्च–महाहिमवत्पर्व-तस्य तुल्यबाहल्यो वर्तते,

रम्यकक्षेत्रञ्च-हरिवर्षक्षेत्रस्य तुल्यबाहल्यं विद्यते। नीलपर्वतस्तु–निषधपर्वतस्य तुल्यबाहल्यो वर्तते। "तत्र–ऐरवतक्षेत्रविष्कम्भस्तावत्–षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणः षडेकोनविंशतिभाग-योजनरूपञ्च ५२६ $\frac{६}{१९}$ वर्तते। शिखरिपर्वतविष्कम्भस्तु–द्वापञ्चाशदधिकसहस्रयोजनप्रमाण-द्वादशैकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च १०५२ $\frac{१२}{१९}$ वर्तते। हैरण्यवतक्षेत्रविष्कम्भश्च–पञ्चाधिकशतो-त्तरसहस्रद्वययोजनप्रमाणः पञ्चैकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च २१०५ $\frac{५}{१९}$ विद्यते। रुक्मिपर्वत-विष्कम्भस्तु—दशाधिकशतद्वयोत्तरचतुःसहस्रयोजनप्रमाणो दशैकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च ४२१० $\frac{१०}{१९}$ वर्तते। रम्यकक्षेत्रविष्कम्भस्तु एकविंशत्यधिक चतुःशतोत्तराष्ट सहस्रयोजनप्रमाणः,

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्रो में क्षुद्रहिमवान् आदि नील पर्वतो के तथा भरत क्षेत्र आदि क्षेत्रों के विस्तार की अनुक्रम से प्ररूपणा की गई है। अब नील रुक्मी तथा शिखरी नामक तीन वर्षधर पर्वतो के तथा रम्यक, हैंरण्यवत और ऐरवत नामक तीन क्षेत्रो के विस्तार की प्ररूपणा करते हैं—

उत्तर दिशा में अवस्थित नील आदि तीन वर्षधर पर्वत ऐरवत आदि तीन क्षेत्र–छहो वर्षधर एवं वर्ष दक्षिणदिशा के पर्वतो और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं। उनमें से ऐरवत क्षेत्र भरत क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला है शिखरी पर्वत क्षुद्रहिमवान् पर्वत के बराबरविस्तार वाला है, हैरण्यवत क्षेत्र हैमवत क्षेत्र के समान विस्तार वाला है, और रुक्मीपर्वत महा-हिमवान् पर्वत के बराबर विस्तार वाला है, रम्यक क्षेत्र हरिवर्ष के बराबर विस्तार वाला है एवं नील पर्वत निषध पर्वत के बराबर विस्तार वाला है।

इस प्रकार ऐरवत क्षेत्र का विस्तार ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन का है, शिखरी पर्वत का विस्तार १०५२ $\frac{१२}{१९}$ योजन का है, हैण्यवत क्षेत्र का विस्तार २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन का है,

एकश्चैकोन विंशतिभागयोजनरूपश्च ८४२१ $\frac{१}{१९}$ विद्यते ।

नीलपर्वतविष्कम्भः पुन—द्विचत्वारिंशदधिका–ऽष्टशतोत्तरषोडशसहस्रयोजनप्रमाणः द्वेकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च १६८४२ $\frac{२}{१९}$ वर्तते इति भावः ।

एवं–नीलपर्वतोपरि केसरिहृदस्तावत्—चतुःसहस्रयोजनविष्कम्भो वर्तते, केसरिहृदमध्यभागेच चतुर्योजनाऽऽयामविष्कम्भं पुष्करमेकं विलसति– । रुक्मिपर्वतोपरिच–पुण्डरीक नामहृदो द्विगुणविष्कम्भो विशालो दशयोजनाऽवगाहश्च वर्तते । पुण्डरीकहृदमध्यभागेच–पूर्वोक्त पुष्करापेक्षया द्विगुणायामविष्कम्भं पुष्करमेकं वर्तते । एवं शिखरिपर्वतोपरिच-महापुण्डरीक नामहृद स्तद् द्विगुणविस्तारो दशयोजना-ऽवगाहश्च विलसति ।

तथाच–महाविदेहवर्षस्य–चतुरशीत्यधिक षट्शतोत्तरत्रयस्त्रिंशत्सहस्रयोजनप्रमाण चतुरेकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ प्रमाणतया तदर्धविष्कम्भस्तावद् नीलपर्वतो वर्तते। नीलपर्वतार्धविष्कम्भो रम्यकवर्षो वर्तते, रम्यकवर्षार्धविष्कम्भो रुक्मिपर्वतो विद्यते, रुक्मिपर्वतार्ध विष्कम्भो हैरण्यवतवर्षोऽस्ति । हैरण्यवतवर्षार्धविष्कम्भश्च शिखरिपर्वतो भवति, शिखरिपर्वतार्ध विष्कम्भः पुनरैरवतवर्षो भवतीति फलितम् ।

"उक्तञ्च स्थानाङ्गे २ स्थाने २– उद्देशके ८७ सूत्रे—"जंबू मंदरस्स पव्वयस्स-य उत्तरदाहिणेणं दो वासहरपव्वया वहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाति-

---

रुक्मि पर्वत ४२१० $\frac{१०}{१९}$ योजन विस्तृत है और रम्यकक्षेत्र का विस्तार ८४२१ $\frac{९}{१९}$ योजन का है । नीलपर्वत का विस्तार १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन का है ।

इसी प्रकार नील पर्वत के ऊपर जो केसरी नामक हृद है, उसका विष्कंभ दो हजार योजन का है । केसरी हृद में चार योजन की लम्बाई–चौड़ाई वाला एक पुष्कर शोभायमान है। रुक्मी नामक पर्वत के ऊपर पुण्डरीक हृद है जो उससे आधा विस्तार वाला है, विशाल है और दस योजन के अवगाह वाला है । पुण्डरीक हृद के मध्यभाग में पूर्वोक्त पुष्कर की अपेक्षा से आधा लम्बा–चौड़ा एक पुष्कर है । इसी प्रकार शिखरी पर्वत के ऊपर महापुण्डरीक नामक हृद है, जिस का विस्तार उससे भी आधा है और अवगाह दस योजन का है ।

इस प्रकार तेतीस हजार छह सौ चौरासी योजन तथा उन्नासिया चार भाग महाविदेह क्षेत्र का विस्तार है । नील पर्वत का विस्तार इससे आधा है । नील पर्वत का जितना विस्तार है उससे आधा विस्तार रम्यक वर्ष का है, रम्यक वर्ष से आधा विस्तार रुक्मी पर्वत का है, रुक्मी

वट्टंति, आयामविक्खंभोच्चत्तोव्वेह संठाणपरिणाहेणं, तं जहा—चुल्लहिमवंते चेव-सिहरिच्चेव, एवं महाहिमवंतेचेव—रुप्पिच्चेव, एवं निसढे चेव-णीलवंते चेव—" इत्यादि।

जम्ब्वाः मन्दरस्य पर्वतस्य चोत्तरदक्षिणे खलु द्वौ वर्षधरपर्वतौ बहुसमतुल्यौ अविशेषाज्ञतौ अन्योऽन्यं नाति वर्तते, आयामविष्कम्भ उच्चतोद्वेध-सस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—क्षुल्लहिमवांश्चैव-शिखरीचैव, एवं—महाहिमवांश्चैव—रुक्मीचैव। एवं—निषधश्चैव—नीलवांश्चैव, इत्यादि ॥ २८ ॥

मूलसूत्रम्—"भरहे-रवएसुं छस्समयाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं मणुयाणं वुड्ढीहासातइयरेसु जहावट्ठिया-" ॥२९॥

छाया—"भरतै-रवतयोः षट्समयाभ्याम् उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां मनुष्याणां वृद्धि-ह्रासौ, तदितरेषु यथावस्थिताः— ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—'पूर्वं भरतादिक्षेत्राणां क्षुल्लहिमवदादिवर्षधर-पर्वतानाञ्चाऽऽयाम-विष्कम्भादि स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति—तेषु खलु भरतादि क्षेत्रेषु मनुष्याणामुपभोगायुः शरीरप्रमाणादिविषये वृद्धि-ह्रासादिकं प्ररूपयितुमाह—

"भरहेरवएसुं-" इत्यादि। पूर्वोक्तेषु भरताद्यैरवतान्तेषु सप्तसु क्षेत्रेषु, भरतैरवतयोः क्षेत्रयोर्मध्ये, षट्समयाभ्याम्—षट्समयाः ययोस्ताभ्यां षट्समयाभ्याम्—सुषमसुषमा—सुषमा—सुषम-

---

पर्वत से आधा विस्तार हैरण्यवत वर्ष का, है हैरण्यवत वर्ष से आधा विस्तार शिखरी पर्वत का है और शिखरी पर्वत से आधा विस्तार ऐरवत बर्ष का है।

स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थान, दूसरे उद्देशक के ८७ वें सूत्र में कहा है—जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से उत्तर और दक्षिण में दो वर्षधर पर्वतबिलकुल समान है, उनमें कोई विशेषता नहीं है, विसदृशता नहीं है, वे लम्बाई, ऊँचाई, चोड़ाई, अवगाह संस्थान और परिधि में एक—दूसरे से भिन्न प्रकार के नहीं है, वे दो पर्वत है—चुल्लहिमवन्त और शिखरी। इसी प्रकार महाहिमवन्त और रुक्मी पर्वत तथा निषध और नीलवन्त पर्वत। इत्यादि ॥२८॥

'भरहे—रवएसु' इत्यादि ॥सू० २९॥

भरत और ऐरवत क्षेत्रो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह आरो में मनुष्यों की आयु आदि की वृद्धि—हानि होती रहती है। शेष क्षेत्रों में वृद्धि-हानी नहीं होती ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका - इससे पूर्व भरत आदि क्षेत्रो के तथा चुल्लहिमवन्त आदि वर्षधर पर्वतों के आयाम, विष्कंभ आदि का प्ररूपण किया गया, अब उन भरत आदि क्षेत्रों में निवास करनेवाले मनुष्यो के उपयोग, आयु शरीर प्रमाण आदि के वृद्धि एवं ह्रास की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

पूर्वोक्त भरत से लेकर ऐरवत तक सात क्षेत्रो में से भरत और ऐरवत इन दो क्षेत्रो में छह आरो वाले उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो में मनुष्यों के उपयोग, आयु शरीर के अवगाह आदि में वृद्धि और हानि होती रहती है। अवसर्पिणी काल के छह आरे है (१) सुषमसुषम (२) सुषम (३) सुषमदुष्षम (४) दुष्षमसुषम (५) दुष्षम और (६)

दुष्षमा—दुष्षमसुषमा—दुष्षमा—दुष्षमदुष्षमा रूपकालविशेषयुक्ताभ्याम्—उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् मनुष्याणाम् उपभोगायुः शरीरोत्सेधप्रमाणादिकृतौ वृद्धि—ह्रासौ भवतः।

तदितरेषु—भरतैरवताऽतिरिक्तेषु पुनः—हैमवत हरिवर्ष—महाविदेह-रम्यक—हैरण्यवत क्षेत्रेषु मनुष्याः यथावस्थिता एव भवन्ति। नहि-हि हैमवतादिपञ्चक्षेत्रेषु मनुष्याणाम्—उपभोगायुः शरीरोत्सेधप्रमाणादिकृतौ वृद्धि—ह्रासौ भवतः।

अपितु—तेषु क्षेत्रेषु—उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसद्भावेन कालस्य यथावस्थितत्वेनो—पभोगायुः शरीरोत्सेधप्रमाणादिषु साम्यमेव भवति मनुष्याणाम्, न तु वैषम्यमितिभावः ॥ २९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनां भरतादिसप्तक्षेत्राणां प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति—तेषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां किं समानता एवा-ऽनुभवलक्षणो—पयोगजी—वितायुः शरीरोत्सेधप्रमाणादयो भवन्ति ? आहोस्वित्—कश्चित्प्रतिविशेषो भवतीत्याशङ्का समाधातुमाह—**"भरहेरवएसुं छस्समयाहिं उस्सप्पिणि ओसप्पिणीहिं—मणुयाणं वुड्ढी-हासा, तइयरेसु जहावट्ठिया—"** इति।

पूर्वोक्तानां—भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवतै—रवतक्षेत्राणां मध्ये भरतैरवतयोः क्षेत्रयोः खलु षट् समयाभ्याम्—षट्-षट् संख्यकाः समयाः यत्र ताभ्यां षट् समयाभ्यां कालविशेषस्वरूपाभ्याम्—सुषमसुषमा—१ सुषमा—२ सुषमदुष्षमा—३ दुष्षमसुषमा-४

दुष्षम—दुष्षम। उत्सर्पिणी काल के आरों के भी यही नाम है, किन्तु उनका नाम विपरीत होता है, जैसे दुष्षमदुष्षम, दुष्षम आदि।

भरत और ऐरवत क्षेत्रो मे ही यह वृद्धि—ह्रास होता है। इन दो क्षेत्रों के अतिरिक्त हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह रम्यक हैरण्यवत क्षेत्रो में मनुष्यो की आयु आदि ज्यो की त्यो रहती है अर्थात् उसमें वृद्धि या हानि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि हैमवन्त आदि क्षेत्रो में न तो उत्सर्पिणी-अपसर्पिणी रूप काल का विभाग होता है। और न मनुष्यों की आयु ऊँचाई आदि में वृद्धि-ह्रास होता है। वहाँ सदैव एक सरीखा काल रहता है, अतएव काल की विषमता के कारण आयु अवगाहना आदि में होने वाली विषमता वहाँ नहीं है ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले जम्बूद्वीप के अन्दर स्थित भरत आदि सात क्षेत्रों की प्ररूपणा की गई है। अब उन क्षेत्रो में निवास करने वाले मनुष्यों के उपयोग आयु, शरीर के उत्सेध आदि में समानता होती है अथवा किसी प्रकार की विशेषता होती रहती है! इस आशंका का समाधान करने के लिए कहते हैं—

पूर्वोक्त भरत, हैमवत, हरिवर्ष महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत क्षेत्रो में से भरत और ऐरवत नामक क्षेत्रो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो में मनुष्यों के भोग, उपभोग आयुष्य और शरीर के उत्सेध (ऊँचाई) आदि में वृद्धि और ह्रास होता रहता है। इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो में से प्रत्येक में छह समय होते है, जिन्हे 'आरा' भी कहते हैं।

दुष्षमा–५ दुष्षमदुष्षमा–६ रूप षट् समययुक्ताभ्याम् उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां मनुष्याणां तावद् उपभोगरूपानुभव–जीवितलक्षणायु.–शरीरोत्सेधलक्षणप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ भवतः ।

तथाच–भरतक्षेत्रे-ऐरवतक्षेत्रे च मनुष्याणाम् उपभोग' आयु'–शरीरप्रमाणञ्च समानरूपतया न भवति, तयोः क्षेत्रयोः पूर्वोक्त षड्विध कालविशेषयुक्तोत्सर्पिण्योः सत्त्वेन तन्निवृत्तौ वृद्धिह्रासौ उपभोगादिषु मनुष्याणां भवतः ।

तदितरेषु पुनः–भरतै-रवताऽतिरिक्तेषु हैमवत हरिवर्ष–महाविदेह–रम्यक–हैरण्यवतक्षेत्रेषु तथाविधोत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालाभावेन मनुष्याणां तत्प्रयुक्तौ वृद्धिह्रासौ–उपभोगादिषु न भवत' । तथाच–भरतैरवतबर्षयोर्मनुष्याणामनुभवायुः शरीरप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ भवतः, तौ चापि-वृद्धिह्रासौ षट् सामयिकोत्सर्पिणीरूपकालविशेषन्निमित्तकौ अवसेयौ ।

तत्रा–ऽनुभवस्तावद् उपभोगरूपः । आयुर्जीवितम्, प्रमाणञ्च–शरीरोत्सेधरूपम्, इत्येवं प्रभृतिषु मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ भवत' । उत्सर्पिणीकालः अवसर्पिणीकालश्च प्रत्येकं षड्विधः ।

अबसर्पिणीकाल में छह और इस प्रकार होते है–– (१) सुषम सुषमा (२) सुषम (३) सुषमदुष्षमा (४) दुष्षमसुषमा (५) दुष्षमा और (६) दुष्षमदुष्षम । अवसर्पिणी काल के इन छह आरो की समाप्ति के पश्चात् उत्सर्पिणी काल आरंभ होता है, जिसका प्रथम आरा दुष्षदुष्षमा और अन्तिम सुषमसुषमा होता है । अर्थात् अवसर्पिणीं काल के छह आरो से उत्सर्पिणी काल के आरे एकदम विपरीत क्रम से होते है । उत्सर्पिणी काल में आयु, उत्सेध आदि में क्रमशः वृद्धि होती रहती है और अवसर्पिणी काल में अनुक्रम से हानि होती है ।

यह विषमता सिर्फ भरत और ऐरवत क्षेत्रो में ही होती है । इन दोनो क्षेत्रो में मनुष्यो आदि के उपभोग में, आयु में तथा शरीर के प्रमाण आदि सदैव समानता नहीं होती, वरन् उत्सर्पिणी काल में वृद्धि और अवसर्पिणी काल में हानि होती है । इसका कारण यह है कि इन दोनो क्षेत्रो में ही उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल का भेद है ।

भरत और ऐरवत क्षेत्रो के सिवाय हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल नहीं होता । यह कालभेद न होने से मनुष्यो आदि की आयु, अवगाहना आदि में भी भेद नहीं होता है, आयु आदि में जो वैषम्य होता है उसका कारण कालकृत वैषम्य है । काल को वैषम्य के अभाव मे तज्जनित आयु अवगाहना आदि का वैषम्य भी नहीं होता है ।

अनुभव का अर्थ है भोग और उपभोग, आयु से तात्पर्य है जीवन या जीवित रहने का कालमान और प्रमाण का मतलब है शरीर की ऊँचाई । इन सब में वृद्धि और हानि होती रहती है ।

उत्सर्पिणी के छह विभाग होते है वे इस भाँति है–(१) दुष्षमदुष्षमा (२) दुष्षमा

तत्रोपभोगायु: शरीरोत्सेधादिभि: उत्सर्पण-वर्धनशीलत्वाद् **'उत्सर्पिणी'** तिव्यपदिश्यते, तैरेव-उपभोगादिभिरवसर्पणशीलत्वाद् 'अवसर्पिणी' त्युच्यते ।

तत्र-उत्सर्पिण्या षड्विधः काल: । यथा-दुष्षमदुष्षमा-१ दुष्षमा-२ दुष्षमसुषमा-३ सुषमदुष्षमा-४ सुषमा-५ सुषमसुषमा-६ चेति । अवसर्पिण्याः षड्विधः कालो यथा-सुषमसुषमा-१ सुषमा-२ सुषमदुष्षमा-३ दुष्षमसुषमा-४ दुष्षमा-५ दुष्षमदुष्षमा-६ चेति ।

तत्र-दशसागरकोटीकोटयः-उत्सर्पिण्याः परिमाणम्, अवसर्पिण्या अपि परिमाणं दशसागरकोटी-कोटय एवेति, सा चो-भयी मिलित्वा 'कालचक्रम्' इत्याख्यायते । तत्र-सुषमसुषमा चतस्र: सागरोपमकोटीकोटय, तत्रादौ मनुष्या स्तावद्-वक्ष्यमाणोत्तरकुरुमनुष्यतुल्या त्रिक्रोशप्रमाणा भवन्ति । १ तदनन्तर मवसर्पिणीकालत्वेन क्रमशो हानौ सत्यां सुषमा भवति,

सा च-सुषमा त्रिस्र: सागरोपमकोटी कोटयः तत्रादौ मनुष्या:-हरिवर्ष मनुष्यसदृशाद्विक्रोशप्रमाणा भवन्ति, । २ ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमदुष्षमा भवति, सा च द्वे सागरोपम-कोटी कोटयौ, तदादौ-मनुष्या हैमवतवर्षमनुष्यसमाना एकक्रोशप्रमाणा भवन्ति-३ ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमसुषमा भवति, सा च-द्वाचत्वारिंशत्सहस्रवर्षोना-एक सागरोपमकोटीकोटी

(३) दुष्षमसुषमा (४) सुषमदुष्षमा (५) सुषमा और (६) सुषम सुषमा । इससे विपरीत क्रम वाला अवसर्पिणीकाल है, यथा-(१) सुषम सुषमा (२) सुषमा (३) सुषम दुष्षमा (४) दुष्षमसुषमा (५) दुष्षमा और (६) दुष्षमदुष्षमा ।

इनमें से उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस कोड़ा कोडी सागरोपम का है और अवसर्पिणी काल का प्रमाण भी दस कोड़ा-कोडी सागरोपम ही है। दोनो का काल वीस कोडाकोडी सागरोपम है । इसे एक कालचक्र कहते है । इनमें से सुषमसुषमा आरा चार कोडा-कोडी सागरोपम का होता है । इस आरा की आदि में मनुष्य आगे कहे जाने वाले उत्तर कुरुक्षेत्र के मनुष्यो के समान तीन कोस की अवगाह वाले होते है । फिर अवसर्पिणी काल के प्रभाव से क्रमश: हानि होते-होते चार कोडा-कोडी सागरोपम समाप्त होने पर सुषमाकाल आरम्भ होता है ।

सुषमा काल तीन कोड़ा-कोडी सागरोपम का है । इसके प्रारम्भ में मनुष्य हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यो के समान दो कोस की अवगाहना वाले होते है । तत्पश्चात् क्रमशः हानि होते-होते उक्त काल व्यतीतहोने पर सुषमदुषमा काल आरम्भ होता है । उसका कालमान दो कोड़ा-कोडी सागरोपम का है । उसके प्रारम्भ में मनुष्य हैमवत वर्ष के मनुष्यो के समान एक कोस की अवगाहना वाले होते है । तत्पश्चात् अनुक्रम से ह्रास होते-होते दुष्षमसुषमा काल प्ररम्भ होता है । वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है। इस काल के आरम्भ में मनुष्य महाविदेह क्षेत्र के मनुष्यो के समान

तदादौ मनुष्या महाविदेहवर्षमनुष्यतुल्याः पञ्चशतधनुःप्रमाणा भवन्ति–४ । ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमा भवति, साचैकविंशति, सहस्रवर्षप्रमाणा भवन्ति, मनुष्या सप्तहस्तप्रमाणाः सपादशतवर्षायुष्का भवन्ति–५ ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमदुष्षमा भवति, साचापि एकविंशति सहस्रवर्षप्रमाणाः मनुष्या एकहस्तप्रमाणा विंशतिवर्षायुष्का भवन्ति—६

एवमुत्सर्पिण्यपि अवसर्पिणी वैपरीत्यक्रमेणाऽवगन्तव्या । तत्र प्रथमः एकविंशतिवर्ष-सहस्रप्रमाणो दुष्षमदुष्षमानाम उत्सर्पिणी कालो भवति–१ ततो दुष्षमा नाम एकविंशतिवर्षसहस्र-प्रमाणो द्वितीय उत्सर्पिणीकालो भवति–२ ततो दुष्षमसुषमानाम–तृतीयउत्सर्पिणी कालो द्वाचरि-शत्सहस्रवर्षोन एककोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति–३ ततश्च-सुषमदुष्षमानाम चतुर्थ उत्सर्पिणी कालो द्विगुणकोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति–४ ततः सुषमानाम पञ्चमः उत्सर्पिणी कालस्त्रिकोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति–५ ततश्च–सुषमसुषमानामषष्ठ उत्सर्पिणी-कालश्चतुः कोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति–६

तत्रोत्सर्पिण्याः प्रथमकालस्याऽऽदौ षोडशवर्षायुष्का मनुष्या एकहस्तशरीरप्रमाणा

पाँचसौ धनुष की अवगाहना वाले होते हैं । तदनन्तर हानि होते–होते उक्त समय पूर्ण होने पर पाँचवां आरा दुष्षमा आरम्भ होता है । उसकी कालमर्यादा इक्कीस हजार वर्ष की है । उसके आरम्भ में मनुष्यो के शरीर की ऊँचाई सात हाथ की और आयु सवा सौ वर्ष की होती है । अनुक्रम से वह आरा समाप्त हो जाता है और दुष्षम–दुष्षम नामक छठा आरा आरम्भ होता है । वह भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है । उसमें मनुष्यों की अवगाहना एक हाथ की और आयु बीस वर्ष की रह जाती है ।

उत्सर्पिणी काल भी इसी प्रकार समझना चाहिए, परन्तु उसके आरो का क्रम विप-रीत होता है । प्रथम आरा इक्कीस हजार वर्ष का होता है, जिसका नाम दुष्षम–दुष्षम है । उसके पश्चात् उत्सर्पिणी का दूसरा आरा दुष्षम आता है उसका कालप्रमाण भी इक्कीस हजार वर्ष है । तदनन्तर दुष्षम सुषम नामक तीसरा आरा चालू होता है । जो बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा–कोड़ो सागरोपम का होता है । उसके बाद चौथा आरा दो कोड़ा–कोड़ो सागरोपम का आता है जिसका नाम सुषमदुष्षम है। फिर पाँचवाँ सुषमा नामक तीन कोड़ा–कोड़ी सागरोपम का आरा प्रारम्भ होता है अन्त मे सुषमसुषम नामक छठा आरा होता है जो चार कोड़ा–कोडी सागरोपम का होता है ।

उत्सर्पिणी काल के प्रथम आरे की आदि में मनुष्यो की आयु सोलह वर्ष की होती है । और उनका शरीर एक हाथ का होता है । उत्सर्पिणी के दूसरे आरे की आदि में मनुष्यो की आयु बोस वर्ष की शरीर का प्रमाण साढे तीन हाथ का होता है । उत्सर्पिणी

भवन्ति। उत्सर्पिण्या द्वितीयकालस्याऽऽदौ विंशतिवर्षायुषो मनुष्याः सार्धहस्तत्रयशरीरोत्सेधा भवन्ति उत्सर्पिण्यास्तृतीयकालस्यादौ विंशत्यधिकशतवर्षायुषो मनुष्याः सप्तहस्तशरीरोत्सेधा भवन्ति। उत्सर्पिण्याश्चतुर्थकालस्यादौ कोटिपूर्वायुषो मनुष्याः पञ्चशतधनुःशरीरोत्सेधा भवन्ति।

उत्सर्पिण्याः पञ्चमकालस्यादौ मनुष्याः एकपल्योपमायुष्का एकक्रोशशरीरोत्सेधा भवन्ति। उत्सर्पिण्याः षष्ठकालस्यादौ मनुष्या द्विपल्योपमायुष्काः द्विक्रोशशरीरोत्सेधा भवन्ति, अस्य षष्ठ कालस्यान्ते तु मनुष्या त्रिपल्योपमायुष्काः त्रिशरीरोत्सेधाश्च भवन्तीति विशेषः। चतुर्थ्यां-पञ्चम्यां पष्ठ्या श्चोत्सर्पिण्याम् एकापि 'ईति' न भवतीति बोध्यम्।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे २--स्थाने ८९-सूत्रे-"**जंबुद्दीवे दीवे दोसु कुरासु मणुया सया सुसमसुसम मुत्तमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-देवकुराए चेव उत्तर-कुराए चेव। जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसम मुत्तमिड्ढिपत्ता पच्चणुब्भव-माणा विहरंति, तं जहा-हरिवासे चेव, रंमगवासे चेव।**

जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसमदुसम मुत्तममिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भव-माणा विहरंति, तं जहा-हेमवएचेव-एरण्णवएचेव। जंबुद्दीवे दीवे दोसु खित्तेसु मणुया सया दुसमसुसम मुत्तममिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-पुव्वविदेहे चेव अवरविदेहे चेव जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-भरहे चेव, एरवए चेव-,, इति।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोः कुर्वोः मनुष्या सदा सुषमसुषमा मुत्तमर्द्धि प्राप्य प्रत्यनुभ-वन्तो विहरन्ति, तद्यथा-देवकुरौ चैव। उत्तरकुरौचैव। जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोर्वर्षयोः-

---

काल के तीसरे आरे की आदि में मनुष्य एक सौ बीस वर्ष की आयु वाले और सात हाथ ऊँचे शरीर वाले होते है। उत्सर्पिणी के चौथे आरे की आदि में मनुष्य करोड़ पूर्व की आयु और पाँच सौ धनुष की शरीर की अवगाहना वाले होते हैं।

उत्सर्पिणी के पाँचवें आरे की आदि में मनुष्यो की आयु एक पल्योपम की और शरीर की ऊँचाई एक कोस की होती है उत्सर्पिणी काल के छठे आरे की आदि में दो पल्योपम की आयु होती है और दो कोस का शरीर होता है। इस छठे आरे के अन्त में मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम की और शरीर की ऊँचाई तीन कोस की होती है। उत्सर्पिणी काल के चौथे, पाँचवें और छठे आरे में एक प्रकार की भी ईति नहीं होती-मनुष्य सब प्रकार के उपद्रवों से रहित होते है।

स्थानांगसूत्र के द्वितोय स्थान के सूत्र ८९ में कहा है जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दोनों कुरु क्षेत्रों में अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरु में मनुष्य सुषमसुषमा रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए विहार करते है। जम्बूद्वीप के दो वर्षों में अर्थात्

मनुष्या सदा सुषमामुत्तमर्द्धिं प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–हरिवर्षेचैव, रम्यकवर्षेचैव जम्बूद्वीपे द्वयोर्वर्षयोर्मनुष्या सदा सुषमदुष्षमामुत्तमर्द्धिम्प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–हैमवतेचैव, हैरण्यवतेचैव । जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोः क्षेत्रयोः मनुष्याः सदा दुष्षमसुषमामुत्तमर्द्धिं प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–पूर्वविदेहे चैव, अपरविदेहे चैव ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोर्वर्षयोर्मनुष्याः षड्विधमपि कालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–भरतेचैव, ऐरवते चैव इति ।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ५–शतके १ उद्देशके चोक्तम्–'**जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम–पच्चत्थिमेणवि–णेवत्थि ओसप्पिणी, णेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिए णं तत्थ काले पण्णत्ते**–" इति जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्यपश्चिमे नाऽपि नैवास्त्यवसर्पिणी, नैवास्ति–उत्सर्पिणी, अवस्थितः खलु तत्र कालः प्रज्ञप्तः–', इति ॥२९॥

मूलसूत्रम्–"हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु दाहिणोत्तरेसु एगदुति पलियोवमट्ठिइया, विदेहेसु य संखेज्जकाला–" ॥ ३० ॥

छाया–"हैमवताद्युत्तरकुर्वन्तेषु दक्षिणोत्तरेषु एकद्वित्रिपल्योपमस्थितिकाः विदेहयोश्च-संख्येयकालाः–" ॥ ३० ॥

हरिवर्ष और रम्यक वर्ष में मनुष्य सदा सुषमा रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए रहते है। जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो वर्षों में अर्थात् हैमवत और हैरण्यवत नामक क्षेत्रो में मनुष्य सदा सुषमदुष्षम रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते रहते हैं। जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो क्षेत्रो में अर्थात् पूर्वविदेह और अपर विदेह में मनुष्य सदैव दुष्षमसुषम रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका परिभोग करते हुए विचरते है।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो क्षेत्रो में मनुष्य छहों प्रकार के काल का अनुभव करते हैं। वे दो क्षेत्र हैं–भरत और ऐरवत।

भगवती सूत्र के पाँचवें शतक में, प्रथम उद्देशक में भी कहा है–जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सुमेरु पर्वत से पूर्व और पश्चिम में न उत्सर्पिणीकाल होता है और न अवसर्पिणी काल ही होता है वहाँ काल सदैव अवस्थित अर्थात् एक सा रहता है ॥२९॥

'हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' इत्यादि। हैमवत क्षेत्र से लेकर उत्तरकुरु तक दक्षिण और उत्तर में मनुष्य एक, दो, तीन पल्योपम की स्थिति वाले तथा दोनो विदेह क्षेत्रों में संख्यात काल की आयु वाले होते हैं ॥३०॥

सूत्रार्थ–'हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' इत्यादि।

हैमवतक्षेत्र से लेकर उत्तरकुरु तक दक्षिण और उत्तर में एक, दो, तीन, पल्योपम की स्थिति वाले तथा दोनो विदेह क्षेत्रों में सख्यातकाल की आयु वाले होते हैं ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं भरतैरवतादिक्षेत्रेषु मनुष्याणामुपभोगायुः शरीरोत्सेधादिविषये-उत्स-र्पिण्यवसर्पिणी प्रभृतिकालविशेषनिमित्तकवृद्धिह्रासादिकं प्ररूपितम्, सम्प्रति—हैमवत—१ हरिवर्ष—२ रम्यकवर्ष—३ हैरण्यवर्ष—४ देवकुरू—५ त्तरकुरुषु—६ महाविदेहयोश्च मनुष्याणां स्थितिं प्ररूपयितुमाह । "हिमवयाइ—" इत्यादि ।

हैववताद्युत्तरकुर्बन्तेषु हैमवत—हरिवर्ष—रम्यकवर्ष—हैरण्यवत—देवकुरू—त्तरकुरुषु दक्षिणोत्तरेषु यथाक्रमं मनुष्या एक—द्वि—त्रिपल्योपमस्थितिका भवन्ति । तत्र—हैमवत हैरण्यवतयोः दक्षिणोत्तरयोः मनुष्या एकपल्योपमस्थितिका भवन्ति । हरिवर्ष-रम्यकबर्षयोश्च मनुष्यास्त्रिपल्योपमस्थितिका भवन्ति, किन्तु—महाविदेहेषु पूर्वविदेहेषु—अपरविदेहेषु च मनुष्याः संख्येयकालस्थितिका भवन्ति ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं भरतै-रवतवर्षयोरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकाल विशेषनिमित्तकेषु मनुष्याणामुपभोगायुः शरीरोत्स्येधादिषु वृद्धिह्रासौ भवतः, हैमवत-हरिवर्ष-महाविदेह-रम्यकवर्ष—हैरण्यवतेषु च उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरभावेन तेषु—सुषमदुष्षमायाः सुषमायाश्च कालविशेषरूपायाः सदावस्थितत्वान्न तत्र—मनुष्याणामुपभोगादिषु वृद्धिह्रासौ भवत इति प्ररूपितम्, सम्प्रति—तासु-पञ्चसु भूमिषु देवकुरूत्तरकुरुषु च केवलं मनुष्याणामायुष्ये तारतम्यं न्यूनाधिकत्वरूपं प्रति विशेषं प्ररूपयितुमाह—

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कहा जा चुका है कि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के निमित्त से भरत और ऐरवतक्षेत्रो में मनुष्यो के उपभोग, आयु, तथा शरीर की अवगाहना आदि में वृद्धि और हानि होती रहती है । अव हैमवत, हरिवर्ष राम्यकवर्ष हैरण्यवत, देवकुरु, उत्तर कुरु तथा पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह में मनुष्यो की स्थिति की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं—

हैभवत से लेकर उत्तर कुरु पर्यन्त अर्थात् हैमवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष हैरण्यवत, देवकुरु और उत्तर कुरु क्षेत्रो में यथाक्रम से मनुष्य एक, दो और तीन पल्योपम की आयु वाले होते हैं । हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में मनुष्यो की आयु एक पल्योपम की होती है । हरिवर्ष एवं रम्यक् वर्ष में मनुष्य तीन पल्योपम की आयु वाले होते है । परंतु महाविदेह क्षेत्र में पूर्वविदेह क्षेत्र में एवं अपर विदेह में संख्यात काल की स्थिति वाले होते हैं ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इसके पहले भरत एवं ऐरवत में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालविशेष निमित्तक मनुष्यों के उपभोग आयु शरीरका उत्सेध आदि में वृद्धि ह्रास कहा एवं हैमवत—हरिवर्ष महाविदेह—रम्यकवर्प एवं हैरण्यवत क्षेत्र में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के अभाव होने से उन क्षेत्रो में सुपम दुप्पम, सुपमादि काल विशेष रूप सदा अवस्थित होने से उन क्षेत्रो में मनुष्यों के उपभोग आदि में वृद्धि एवं ह्रास नहीं होता है यह प्ररूपित किया है

अव पांच क्षेत्रों में एवं देवकुरु उत्तर कुरु क्षेत्रो में केवल मनुष्यो के न्यूनाधिकत्वरूप विशेप प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

"हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु दाहिणोत्तरेसु एग–दु–ति पलियोवमट्ठिइया, विदेहेसु य-संखेज्जकाला–" इति–। हैमवताद्युत्तरकुर्वन्तेषु हैमवत–हरिवर्ष–रम्यकवर्ष–हैरण्यवत–देवकुरूत्तर-कुरुषु दक्षिणोत्तरेषु क्षेत्रेषु मनुष्या यथाक्रमम्–एक–द्वि–त्रिपल्योपमस्थितिका भवन्ति।

तत्र—हैमवतक्षेत्रेषु हैरण्यवतक्षेत्रेषु च दक्षिणोत्तरेषु मनुष्याणामेकपल्योपममायुष्यं भवति, हरिवर्षरम्यकवर्षेषु च मनुष्याणां द्विपल्योपममायुष्यं भवति, देवकुरुषु–उत्तरकुरुषु च–मनुष्याणां त्रिपल्योपममायुष्यं भवति। तत्र—पञ्चसु हैमवतक्षेत्रेषु–पञ्चसु हैरण्यवतक्षेत्रेषु च सुषमदुष्षमाया-सदाऽवस्थितत्वात् तत्र मनुष्या एक पल्योपमायुषो द्विधनुः सहस्रोच्छ्रायाश्चतुर्भक्ताहारा, एकान्तर-भुक्तिमन्तः, नीलोत्पलवर्णाश्च भवन्ति।

एवं–पञ्चसु हरिवर्षेषु-पञ्चसु रम्यकवर्षेषु च सुषमाथाः सदाऽवस्थानात् तत्र मनुष्या द्विपल्यो-पमायुषश्चतुर्धनुः सहस्रोत्सेधाः षष्ठभक्ताहारा द्विदिनान्तरितभुक्तिभाजः शङ्खवर्णाश्च भवन्ति। एवम्–पञ्चसु देवकुरुषु, पञ्चसूत्तरकुरुषु च सुषमसुषमायाः अहरहः सान्निध्ययोगात्–

तत्र–मनुष्या स्त्रिपल्योपमायुषः षड्धनुः सहस्रोच्छ्रिता अष्टमभक्ताहारास्त्रिदिनान्तरभुक्ति-मन्तः कनकवर्णाभाश्च भवन्ति, किन्तु-विदेहेषु च पञ्चसु पूर्वविदेहेषु–पञ्चसु–अपरविदेहेषु च महाविदेह-

---

'हिमवयाइ' इत्यादि हैमवत से लेकर उत्तरकुरु पर्यन्त के अर्थात् हैमवत–हरिवर्ष–रम्यक-वर्ष हैरण्यवत देवकुरु एवं उत्तरकुरु के दक्षिण उत्तर क्षेत्रो में मनुष्य क्रम से एक, दो, तीन, पल्योपम मी स्थिति वाले होते है।

उनमें हैमवत क्षेत्र में हैरण्यवत क्षेत्र में दक्षिणोत्तर क्षेत्रो में मनुष्यो का आयु एक पल्योपम का होता है। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष में दो पल्योपम की आयु होती है और देवकुरु तथा उत्तरकुरु में तीन पल्योयम की आयु होती है।

पोच हैमवत और पाँच हैरण्यवत क्षेत्रो में सदैव सुषमदुष्षम के सदृश काल रहने से वहां के मनुष्य एक पल्योपम की आयु वाले दो हजार धनुष की अवगाहना वाले, चतुर्थ भक्ताहारी अर्थात् एकान्तर से भोजन करने वाले तथा नील कमल के समान वर्ण वाले होते है।

इसी प्रकार पाँच हरिवर्ष तथा पाँच रम्यक वर्ष क्षेत्रो में सदा सुषमा सदृश काल रहने से वहाँ के मनुष्यो की आयु दो पल्योपम की होती है, शरीर की अवगाहना चार हजार धनुष की होती है और वे षष्ठ भक्ताहारी होते है अर्थात् दो दिन के अन्तर से भोजन करते है। उनका वर्ण शंख जैसा होता है।

पाँच देव कुरु और पाँच उत्तर कुरु क्षेत्रो में सुषमा सुषमा सदृश सदैव रहने से वहाँ के मनुष्यो की आयु तीन पल्योपम की होती है, अवगाहना छह हजार धनुष की होती है और वे अष्टम भक्त–भोजी आकर्ष होते है अर्थात् तीन दिन के अन्तर से भोजन करते है। उनके शरीर का वर्ण स्वर्ण जैसा होता है। किन्तु पाच पूर्वविदेहो और पाँच पश्चिमविदेहो में मनुष्य

लक्षणेषु क्षेत्रेषु मनुष्याः संख्येयकालस्थितिका भवन्ति तत्र—सुषमदुष्षमाकालान्तिमकालसदृशस्य कालविशेषस्य सदावस्थितत्वात् मनुष्याः पञ्चधनुःशतोत्सेधाः नित्याहाराः उत्कृष्टेन एकपूर्वकोटिस्थितिकाः जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तायुषो भवन्ति, विगतो-विनष्टो देहः शरीरं मुनीनां येषु ते विदेहाः प्रायेण-विदेहवर्षाणां मुक्तिप्राप्तिहेतुत्वात् तेषु विदेहेषु पञ्चानां मेरूणां सम्बन्धिनः पञ्च—पञ्चपूर्वाऽपरभेदवन्तोऽपि विदेहा पञ्चमहाविदेहा आख्यायन्ते इति ।

उक्तञ्च--जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ४-वक्षस्कारे **"जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं-वासा पण्णत्ता, हिमवए चेव—हेरण्णवए चेव, हरिवासेचेव—रम्मगवासेचेव—देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव एगं पलियोवमं ठिई पण्णत्ता, दोपलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तिण्णि पलियोवमाईठिईपण्णत्ता, महाविदेहे मणुआणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ! गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पुव्वकोडी आउयं पालेंति—"** इति ।

छाया—जम्बूद्वीपे-द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, हैमवतश्चैव-हैरण्यवतश्चैव, हरिवर्षश्चैव—रम्यकवर्षश्चैव, देवकुरवश्चैव—उत्तरकुरवश्चैव, एकं पल्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता, द्वेपल्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता, त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, महाविदेहे मनुष्याणां कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ! गौतम ! जघन्येना-ऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टेन पूर्वकोटीः आयुष्यं पालयन्ति—इति ॥३०॥

सख्यात काल की आयु वाले होते है। वहाँ सदा दुष्षम सुषम काल के प्रारम्भ के समय जैसा काल बना रहता है, अतः वहाँ के मनुष्यो की ऊँचाई पाँच सौ धनुष की होती है, वे प्रतिदिन भोजन करते है और उन की उत्कृष्ट स्थिति एक करोड़ पूर्व की तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती हैं।

जिस क्षेत्र में मुनिओ का देह विगत—विनष्ट होता है अर्थात् जहाँ सदैव धर्म—शासन की प्रवृत्ति रहने से तथा तीर्थकरो की विद्यमानता होने से मुनिजन विदेह—अवस्था प्राप्त करते हैं, वह क्षेत्र भी विदेह कहलाता है। यद्यपि मध्य में मेरु पर्वत के अवस्थित होने से विदेह होने से क्षेत्र पूर्व, अपर आदि भागो में विभक्त हैं, तथापि सामान्य रूप से एक ही है। जम्बूद्वीप में एक धातकीखण्ड द्वीप में दो तथा पुष्करार्ध में दो विदेह होने के कारण पाँचमहा विदेह क्षेत्र कहेजाते है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के चौथे वक्षस्कार में कहा है—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दर पर्वत से उत्तर और दक्षिण दिशा में दो वर्ष कहे गये है—हैमवन्त और हैरण्यवत, हरिवर्ष और रम्यक वर्ष, देव-कुरु और उत्तरकुरु। उनमें एक पल्योपम की स्थिति कही है, दो पल्योपम की स्थिति और तीन पल्योयम की स्थिति कही है। प्रश्न—भगवन् महविदेह में मनुष्यों की कितनी स्थिति कही है।

उत्तर—गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की आयु कही गई है ॥३०॥

मूलसूत्रम्—धायइखंडे पुक्खरद्धे य दो दो वासा–कुराय–,, ॥ ३१ ॥

छाया—"धातकोखंण्ड-पुष्करार्धे च द्वौ द्वौ वर्षौ कुरवश्च-" ॥ ३१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावज्जम्बू द्वे भरत–हैमवत–हरिवर्षमहाविदेह–रम्यकवर्ष–हैरण्यवतै रवताश्च सप्तवर्षाः प्रत्येकमेकैके प्रतिपादिताः, सम्प्रति–धातकीखंडे, पुष्करार्धे च द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त इति प्रतिपादयितुमाह–"**धायइखंडे**–" इत्यादि ।

धातकीखण्डे–पुष्करार्द्धे च द्वौ द्वौ वर्षौ इति कृत्वा भरतादयः सप्त ये ते तत्र–चतुर्दश चतुर्दश सन्ति कुरवश्च पञ्च महाविदेहेष्वेव भवेयुरिति जम्बूद्वीपातिरिक्तेषु चतुर्षु महाविदेहेषु चत्वारो देवकुरवः-चत्वार उत्तरकुरवश्चेति धातकीखण्डे पुष्करार्द्धेचा–ऽष्टौ सन्ति तथाच–जम्बूद्वीपे एकैको भरतादिवर्षः, धातकीखण्डेच–द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ, पुष्करार्द्धेच–द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त इति एवं–मेरुपर्वता अपि–पञ्च सन्ति तथैव–महाविदेहेषु देवकुरवः–उत्तरकुरवश्चाऽपि पञ्चपञ्च सन्ति ॥ ३१ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः– पूर्वं जम्बूद्वीपे भरतवर्षादीनि सप्तक्षेत्राणि प्ररूपितानि–भरतादिक्षेत्रं न्वैकैकं जम्बूद्वीपे वर्तते–इत्युक्तम् ,–सम्प्रति धातकीखण्डे–पुष्करार्द्धेच द्वे द्वे भरतादिक्षेत्रे स्तः इतिप्रतिपादयितु माह "**धायइखण्डे–पुक्खरड्ढेय दो दो वासा कुरा य–,,इति ।**

धातकीखण्डे–पुष्करार्द्धे च द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्तः, कुरवश्च–पञ्चमहाविदेहेष्वेव

'धइयखंडे' पुक्खरद्धे' सूत्र ३१

सूत्रार्थ—धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में दो-दो वर्ष और दो–दो कुरु है ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यकवर्ष, हैरण्यवत, और ऐरवतवर्ष, इन सात वर्षों का प्रतिपादन किया गया है । अत्र यह निरूपण करते है कि धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में भरत आदि क्षेत्र दो–दो है–

धातकीखण्ड द्वीप में तथा पुष्करार्ध द्वीप में भरत आदि प्रत्येक क्षेत्र दो–दो है । अतएव वहाँ सात के बदले चौदह-चौदह क्षेत्र होते है । कुरु महाविदेहो में ही होते हैं, अतः जम्बूद्वीप के देवकुरु और उतरकुरु के अतिरिक्त चार देवकुरु और चार उत्तरकुरु धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में है । इस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत आदि क्षेत्र एक–एक है । धातकीखण्ड में दो–दो है और पुष्करार्ध में भी दो–दो है, ये सब मिलकर पाँच-पाँच होते है । मेरुपर्वत भी पाँच-पाँच है । महाविदेहो में देवकुरु और उत्तरकुरु भी पाँच-पाँच ही होते है ॥३१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जम्बूद्वीप में सात क्षेत्रो का पहले कथन किया गया है और यह भी बतलाया जा चुका है कि जम्बूद्वीप में एक-एक भरत आदि क्षेत्र है । अब यह निरूपण किया जाता है कि धातकी खण्ड एवं अर्द्ध पुष्करद्वीप में भरत आदि क्षेत्र दो-दो है—

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध क्षेत्र में भरत आदि वर्ष दो-दो है । कुरु सिर्फ पाँच-

भवेयुरिति ; जम्बूद्वीपातिरिक्तेषु चतुर्षु महाविदेहेषु चत्वारो देवकुरवः—चत्वार उत्तरकुरवश्चेति धातकीखण्डे पुष्करर्धेचाऽष्टौ सन्ति तत्र—द्वाभ्यां खलु-इश्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां लवणोदधि—कालोदधिवेदिकास्पृष्टकोटीभ्यां विभक्तः पूर्वापरो धातकीखण्डो वर्तते तत्र—पूर्वस्या—ऽपरस्य च धातकीखण्डस्य मध्ये द्वौ मन्दराचलौ वर्तेते ।

तयोरुभयतो भरतादीनि क्षेत्राणि सन्ति, हिमवदादयोर्वर्षधरपर्वताश्च सन्ति, एवं रीत्या द्वौ भरतवर्षौ—द्वौ हिमवन्तौ, द्वौ हैमवतौ वर्षौ—द्वौ महाहिमवन्तौ, द्वौ हरिवर्षौ—द्वौ निषधपर्वतौ, द्वौ महाविदेहौ—द्वौ नीलवन्तौ, द्वौ रम्यकवर्षौ—द्वौ रुक्मिपर्वतौ, द्वौ हैरण्यवतौ द्वौ शिखरिपर्वतौ, द्वौ-एरवतौ च वर्तेते ।

चतुर्थमहाविदेहेषु--द्विसंख्यका देवकुरवः द्विसंख्यका उत्तरकुरवश्च सन्ति, एवं--जम्बूद्वीपहिमवदादीनां वर्षधरपर्वतानां विष्कम्भापेक्षया--द्विगुणविष्कम्भो धातकीखण्डवर्तिनां हिमवदादीनां वर्षधराणामवगन्तव्यः ते खलु वर्षधराश्चक्रारवदवस्थिताः सन्ति, भरतादिक्षेत्राणि चा-ऽरविवरसंस्थानानि सन्ति, । जम्बूवृक्षःस्थित स्तत्र-धातकीखण्डे-धातकीवृक्षः सपरिवारः स्थितः, अतएव धातकीखण्ड इति धातकीवृक्षयोगाद् व्यपदिश्यते । तथाच—धातकीखण्डनामद्वीपः प्रतीतः,

---

महाविदेहो में ही है, अतः जम्बूद्वीप के महाविदेह को छोड़कर शेष जो चार महाविदेह हैं, उनमें चार देवकुरु है और चार उत्तरकुरु है । इस प्रकार दोनो कुरु मिलकर धातकीखण्ड और पुष्करार्ध क्षेत्र मे आठ कुरु है । जम्बूद्वीप के दोनों कुरु सम्मिलित कर लिये जाएँ तो इनकी संख्या दस हो जाती है-पॉच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ।

दक्षिण और उत्तर में लम्बे, अपने छोरो से लवणोदधि और कालोदधि समुद्रो का स्पर्श करने वाले दो इषुकार पर्वतों से धातकीखण्ड द्वीप पूर्व और पश्चिम में विभक्त है । इसके पूर्व भाग में और पश्चिम भाग में एक-एक मेरु पर्वत है ।

उसके उक्त दोनो विभागों में भरत आदि सभी पूर्वोक्त क्षेत्र हैं और हिमवन्त पर्वत है । इस कारण दो भरतक्षेत्र, दो हिमवन्त पर्वत, दो हैमवत क्षेत्र, दो महाहिमवान् पर्वत, दो हरिवर्ष, दो निषध पर्वत, दो महाविदेह, दो नीलवन्त पर्वत, दो रम्यकवर्ष, दो रुक्मी पर्वत दो हैरण्यवत क्षेत्र, दो शिखरि पर्वत और दो ऐरवतवर्ष है ।

चौथे महाविदेह क्षेत्र में दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु हैं । इस प्रकार जम्बूद्वीप में जो हिमवन्त आदि वर्षधर पर्वत है, उनके विस्तार से धारतकीखंड द्वीप में स्थित हिमवन्त आदि पर्वतो का विस्तार दुगुना-दुगुना हैं । वे वर्षधर--पर्वत चक्र (पहिया) के आकार में स्थित है और भरत आदि क्षेत्र उनके आरों के आकार के है ।

जम्बूद्वीप में जहाँ जम्बूवृक्ष है धातकीखंड में वहाँ धातकीखंड वृक्ष परिवारसहित स्थित है । धातकी नामक वृक्ष के कारण ही वह द्वीप धातकी खंड कहलाता है । धातकी-

तत्परिक्षेपी कालोदः समुद्रः अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भो वर्तते, अत्र द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्तः। कालोदपरिक्षेपी खलु पुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भो वर्तते।

एवं-जम्बूद्वीपापेक्षया पुष्करार्धे च-द्वौ भरतवर्षौ द्वौ हिमवन्तौ च, द्वौ हैमवतौ-द्वौ महाहिमवन्तौ च, द्वौ हरिवर्षौ द्वौ निषधपर्वतौ च, द्वौ महाविदेहौ-द्वौ नीलवन्तौ च, द्वौ रम्यकवर्षौ रुक्मिपर्वतौ च, द्वौ हैरण्यवतौ-द्वौ शिखरिपर्वतौ च, द्वौ-ऐरवतौ च वर्तेते, द्विसंख्यकाः- देवकुरवः द्विसंख्यका उत्तरकुरवश्च सन्ति। एव यथा धातकी- खण्डे हिमवदादीनां विष्कम्भउक्त स्तथा-पुष्करार्धेऽपि तेषां षण्णां वर्षधराणां विष्कम्भोऽवसेयः। इष्वाकारौ मन्दरौ च द्वौ पुष्करार्धेऽपि वर्तेते।

यत्र जम्बूद्वीपे जम्बूवृक्ष स्तत्र-पुष्करद्वीपे पुष्करवृक्षः सपरिवारः स्थितः, अतएव-तस्य द्वीपस्य पुष्करद्वीप नाम रूढं प्रतीतम्, मानुषोत्तरशैलेन च विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसञ्ज्ञा बोध्या।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे २-स्थाने ३-उद्देशके ९२-सूत्रे-"**धायइखण्डे दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला जाव भरहेचेब, एरवएचेव.. धायइखंडदीवे पच्चत्थिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर दाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला जाव-भरहेचेव एरवए चेव इच्चाइ**—" इति।

धातकीखण्डे द्वीपे पौरस्त्यार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्यो-त्तरदक्षिणे खलु-द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, बहुतुल्यौ यावद् भरतश्चैव-ऐरवतश्चैव ।

खंड द्वीप को चारो ओर से घेर हुए कालोदसमुद्र है। उसका विष्कभ आठ लाख योजन आठ लाख योजन का है उसमें भी दो-दो भरतआदि क्षेत्र है। कालोद समुद्र के चहुँओर पुष्कर द्वीप है। उसका विस्तार सोलह लाख योजन है।

इस प्रकार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा पुष्कारार्ध क्षेत्र में दो भरतक्षेत्र है, दो हिमवन्त पर्वत है, दो हैमवत क्षेत्र हैं, दो महाहिमवान् पर्वत हैं, दो हरिवर्ष है, दो निषध पर्वत है, दो महाविदेह है, दो नीलवन्त पर्वत है, दो रम्यकवर्ष हैं, दो रुक्मिपर्वत है, दो हैरण्यवत क्षेत्र हैं, दो शिखरी पर्वत हैं और दो ऐरवत क्षेत्र है। दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु है। धातकी खंड द्वीप में हिमवन्त आदि पर्वतो का विस्तार जितना कहा गया है, उतना हीं विस्तार पुष्करार्ध द्वीप में भी समझना चाहिए। जैसे धातकीखंड द्वीप में दो इष्वाकार पर्वत और दो मन्दर पर्वत हैं, उसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप में भी हैं।

जम्बूद्वीप में जिस स्थल पर जम्बूवृक्ष है, पुष्करद्वीप में उस स्थल पर पुष्करनामक वृक्ष सपरिवार स्थित है। इसी वृक्ष के कारण उसका नाम पुष्करद्वीप रूढ़ है। पुष्करद्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत होने से उसके आधे-आधे दो भाग हो गये है। इस कारण उसे पुष्करार्ध कहते है।

स्थानांसूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक में, सूत्र ९२ में कहा है—'धातकीखंड द्वीप में पूर्वार्ध में मेरुपर्वत के उत्तर दक्षिण में दो वर्ष (क्षेत्र) कहे हैं, जो बिल्कुल एक समान

धातकीखण्डे पश्चिमार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्य—उत्तरदक्षिणे खलु—द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ यावद्—भरतश्चैव-ऐरवतश्चैव....इत्यादि। ततश्च तत्रैव स्थानाङ्गे २—स्थाने ३—उद्देशके ९३-सूत्रे चोक्तम्-"पुक्खरवरदीवड्ढे पुरत्थिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला जाव-भरहे चेव, एरवए चेव, तहेव जाव-दो कुडाओ पण्णत्ता-" इति।

पुष्करवरद्वीपार्धे पौरस्त्यार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरदक्षिणे खलु द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ यावद्—भरतश्चैव, ऐरवतश्चैव, तथैव—यावद् द्वौ कुरू प्रज्ञप्तौ—इति ॥३१॥

'मूलसूत्र—'माणुसुत्तराओ पुव्वं मणुआ ते दुविहा आरिया मिलक्खू य—" ॥३२॥

छाया—"मानुषोत्तरात्पूर्वंमनुष्याः, ते द्विविधाः, आर्या-म्लेच्छाश्च—" ॥३२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धातकीखण्डे पुष्करार्धेच द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ हिमवदादिवर्षधरपर्वतौ च प्ररूपितौ, तत्र—सम्पूर्ण पुष्करद्वीपमनुक्त्वा पुष्करार्धे एव तेषां द्विरावृत्तत्वाभिधानेकारणमाह— "माणुसुत्तराओ पुव्वं मणुआ, ते दुविहा आरिया मिलक्खूय —"इति।

मानुषोत्तरात् पुष्करद्वीपबहुमध्यभागवर्तिनो मानुषोत्तरशैलात् पूर्वमेव मनुष्याः सन्ति, न ततो बहिर्भागे, तथाच मानुषोत्तरशैलेन पुष्करद्वीपस्य विभक्तार्धत्वात् तस्य पुष्करद्वीपस्य पूर्वार्द्धेष्वेव मनुष्या भवन्ति, न तु तस्य बहिरर्धे इति फलितम्। ते मनुष्या द्विविधाः द्विप्रकारकाः सन्ति, आर्याश्च म्लेच्छाश्चेति भावः ॥३२॥

हैं, वे हैं भरत और ऐरवत, इत्यादि....धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमार्ध में मेरुपर्वत से उत्तर और दक्षिण में दो क्षेत्र कहे गए हैं, जो बिल्कुल एक समान हैं, वे हैं भरत और ऐरवत; इत्यादि।

आगे स्थानांगसूत्र में ही दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक के सूत्र ९३ में कहा है—'पुष्कर वर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में मेरुपर्वत से उत्तर दक्षिण में दो क्षेत्र कहे गए हैं, जो बिल्कुल एक जैसे है, वे है – भरत और ऐरवत। इत्यादि सब पूर्ववत् ही कह लेना चाहिए यावत् दो कुरु कहे गए है' ॥३१॥

'माणुसुत्तराओ पुव्वं' इत्यादि सू० ३२—

सूत्रार्थ—मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत से पहले—पहले ही रहते है और वे दो प्रकार के होते हैं—आर्य और म्लेच्छ ॥३२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप में दो—दो भरत आदि क्षेत्र और दो—दो हिमवन्त आदि पर्वत है, यह प्रतिपादन किया गया है। मगर सम्पूर्ण पुष्कर द्वीप मे भरत आदि क्षेत्रो का तथा हिमवन्त आदि पर्वतों का कथन न करके 'पुष्करार्ध' में जो कथन किया गया है, इसका कारण क्या है? यह बतलाने के लिए कहते हैं।

पुष्कर द्वीप के बीचो-बीच स्थित मानुषोत्तर पर्वत से पहले—पहले ही मनुष्यो का बास है उससे बाहर मनुष्य नहीं होते, मानुषोत्तर पर्वत के द्वारा पुष्कर द्वीप के दो विभाग हो गए

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् धातकीखण्डे पुष्करार्धे च द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ हिमवदादिवर्षधरपर्वतौ च प्ररूपितौ, तत्र सम्पूर्णपुष्करद्वीपमनुक्त्वा पुष्करार्धे एव तेषां द्विरावृत्तत्वाभिधाने कारणमाह—**"माणुसुत्तराओ पुव्वं मणुआ ते दुविहा आरिया-मिलक्खूय—"** इति ।

मानुषोत्तरात् पुष्करद्वीपमध्यभागवर्ति मानुषोत्तरनामशैलात् पूर्वमेव—प्रागेव मनुष्याः सन्ति, न तु—तस्य पुष्करद्वीपस्य बहिरर्धे, तथाच पुष्करद्वीपबहुमध्यभागवर्ती वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलो वर्तते तेनैव मानुषोत्तरशैलेन पुष्करद्वीपस्य विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा जाता । तस्मात् खलु मानुषोत्तरशैलात्प्रागेव पुष्करार्धपर्यन्ते मनुष्याः सन्ति न ततो बहिरर्धे, न वा—ततो बहिः पूर्वोक्त/भरतादि क्षेत्र पर्वतविभागो वर्तते चारणमुनिः मनुष्यक्षेत्रतो नन्दीश्वररुचकवरद्वीपपर्यन्त गच्छति । नद्योऽपि न बहिर्भागे प्रवहन्ति ।

अपितु -मानुषोत्तरपर्वतमाश्रित्य तिष्ठन्ति मानवक्षेत्रं त्रसाश्चापि न वहिर्गच्छन्ति यदा पुनः-—खलु मानुषोत्तरपर्वताद् बहिर्भागे मृतो जीव—स्तिर्यग्-देवो वा मनुष्यक्षेत्रमागच्छति, तदा मानवविग्रहगत्यानुपूर्व्या समागच्छन् मानुषोत्तराद् बहिर्भागेऽपि मनुष्योऽस्तीति व्यपदिश्यते एवम्- दण्ड कपाट-

---

हैं अतः पुष्करद्वीप के •पूर्वार्ध में ही मनुष्य होते हैं, आगे नहीं । वे मनुष्य दो प्रकार के होते है—आर्य और म्लेच्छ ॥३२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—धानकीखण्ड और पुष्करार्ध में भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवन्त आदि पर्वत दो—दो है, यह पहले बतलाया जा चुका है, मगर दो—दो की संख्या पुष्कर द्वीप में न कहकर पुष्करार्ध में कही है। इसका क्या कारण है ? सो कहते है—

पुष्करद्वीप के मध्य में स्थित मानुषोत्तर पर्वत से पहले—पहले ही मनुष्यो का निवास है; उसके आगे के अर्धभाग में मनुष्य नहीं होते और न उससे आगे के अन्य किसी द्वीप में ही मनुष्य होते है। तात्पर्य यह है कि पुष्कर द्वीप के बीचो बीच, वलय के आकार का एक पर्वत है जो मानुषोत्तर पर्वत कहलाता है। वह पर्वत पुष्कर द्वीप को दो भागों में विभक्त कर देता है: इस कारण उसका एक भाग पुष्करार्ध कहा जाता है। इस प्रकार उस मानुषोत्तर पर्वत से पहले-पहले ही पुष्करार्ध तक मनुष्य है, उससे आगे के आधे भाग में नहीं। उस अगले भाग में पूर्वोक्त भरत आदि क्षेत्रो एवं पर्वतो का विभाग भी नहीं है। चारण मुनि मनुष्य क्षेत्र से बाहर नन्दी प्रवर और रुचकवर द्वीप तक जाते है ऐसा भगवती सूत्र शत. २० उद्देशक ९ नौ में कहा है। वहाँ नदियाँ भी प्रवाहित नहीं होती। मनुष्य क्षेत्र के त्रस जीव भी पुष्करार्ध से आगे नहीं जाते। किन्तु जब मानुषोत्तर पर्वत के आगे के किसी द्वीप अथवा समुद्र में मरा हुआ जीव—तिर्यंच या देव, मनुष्य क्षेत्र में जल लेने के लिए आता है और मनुष्य—पर्याय में उत्पन्न होने वाला होता है, तव मनुष्यगत्यानुपूर्वी से आता हुआ वह जोव, मनुष्य की आयु का उदय हो जाने के कारण मनुष्य कहलाता है। अतएव विग्रह-

प्रतर लोकपूरणसमुद्घातकाले च मानुषोत्तरशैलबहिर्भागेऽपि मनुष्या भवन्तीति व्यपदिश्यते ।

तथाच--जम्बूद्वीप-धातकीखण्डद्वीप-पुष्करार्धभागात्मकसार्धद्वयद्वीपे द्वयोश्च समुद्रयोर्लवण-कालोदयोर्मध्ये च मनुष्याः सन्तीत्यवधेयम् अतएव--पुष्करार्धे एव भरतादिक्षेत्रहिमवदादि-पर्वतानां द्वयोर्द्वयो रस्तित्वमुक्तम् , न तु--सम्पूर्णपुष्करद्वीपे इतिभावः तथाच-मनुष्यलोकस्ता-वन्मनुष्योत्तरपर्वतात्प्रागेव जम्बूद्वीपो--धातकीखण्डः--पुष्करार्धद्वीपश्चेत्येवं सार्धद्वीपद्वयम् , लवणसमुद्रः कालोदसमुद्रश्चेत्येवं समुद्रद्वयम् ,

पञ्च मन्दरपर्वताः भरतादिसप्तक्षेत्राणां पञ्चभिर्गुणितत्वे पञ्चत्रिंशत् क्षेत्राणि, क्षुद्रहिवदादि-वर्षधरपर्वतानां षण्णां पञ्चभिर्गुणितत्वे त्रिंशत् संख्यका वर्षधरपर्वताः, पञ्चदेवकुरवः, पञ्चोत्तरकु-वरः, षष्ट्यधिकशतसंख्यकाश्चक्रवर्तिविजयाः, पञ्चपञ्चाशदधिकशतद्वयजनपदाः, षट्पञ्चा-शद्--अन्तर्द्वीपाश्चेत्येवं रूपो बोध्यः मानुषोत्तरपर्वतश्च--मनुष्यलोकपरिक्षेपी महानगरप्राकार-प्रतीकाशः काञ्चनमयः पुष्करद्वीपार्धविभागकारी एकविंशत्यधिकसप्तदशशतयोजनोच्छ्रितः,

त्रिंशदधिकचतुःशतक्रोशञ्चा-ऽधो धरणितलमवगाढः, द्वाविंशत्यधिकसहस्रयोजनानि मूल-भागे विस्तीर्णः, चतुर्विं शत्यधिकचतुः शतयोजनानि--उपरितनभागे विस्तीर्णो वर्तते इति। मनुष्यो द्विप्र-

---

गति की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र से बाहर भी मनुष्य की सत्ता मानी जाती है। इसी प्रकार केवली जब समुद्घात करते हैं तो दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण करके समग्र लोक में अपने आत्मप्रदेशों को फैला लेते हैं। उस समय भी मानुषोत्तर पर्वत से आगे मनुष्य की सत्ता स्वीकार की गई है तथा लब्धिधारी भी जा सकते हैं।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में, धातकीखण्ड द्वीप में और अर्धपुष्कर द्वीप में अर्थात् अढ़ाई द्वीपो में तथा लवण समुद्र और कालीदधि समुद्र में मनुष्य होते हैं; ऐसा समझना चाहिए।

आशय यह है कि पुष्करार्ध में ही दो--दो भरत आदि क्षेत्रो का तथा हिमवान् आदि पर्वतो का अस्तित्व कहा है; सम्पूर्ण पुष्करद्वीप में नहीं कहा। इस प्रकार मनुष्यलोक मानुषोत्तर पर्वत से पहले--पहले का ही भाग कहलाता है और उसमें जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और आधा पुष्करद्वीप, ये अढाई द्वीप और लवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र नामक दो समुद्र सम्मिलित है। उसमें पाँच मन्दर पर्वत है, पाँच--पाँच भरतक्षेत्र आदि सातों क्षेत्र होने से ७×५=३५ क्षेत्र है, पाँच--पाँच हिमवन्त आदि पर्वत होने के कारण कुल ६×५=३० पर्वत है, पाँच देवकुरु है, पाँच उत्तरकुरु हैं, १६० चक्रवर्त्ती-विजय हैं, **दो सौ पचपन जनपद हैं,** और छप्पन अन्तर्द्वीप है।

मनुष्यलोक की सीमा निर्धारित करने वाला, महानगर के प्राकार के समान, स्वर्णमय, पुष्करद्वीप के आधे--आधे दो विभाग करने वाला, सत्तरह सौ इक्कीस योजन ऊँचा, चार सौ सवा तीस योजन पृथ्वीतल में धँसा हुआ और ऊपरी भाग में विस्तीर्ण मानुषोत्तर पर्वत है।

मनुष्य दो प्रकार के है, संमूर्च्छिम और गर्भज, संमूर्च्छिम चौदह प्रकार के हैं, उच्चा-

कारकोऽस्ति समूर्च्छिमो गर्भजश्च, संमूर्च्छिमः चतुर्दशप्रकारकः–उच्चारेस्वादिः गर्भजस्त्रिप्रकारकः, कर्मभूमिजः अकर्मभूमिजोऽन्तरद्वीपजश्च, कर्मभूमिजमनुष्यः पञ्चदशप्रकारकः, पञ्चभरताः, पञ्च-ऐरवताः, पञ्चविदेहाश्च, । अकर्मभूमिः त्रिंशत्प्रकारिका, पञ्च हैमवताः, पञ्च हैरण्यवता., पञ्च हरिवर्षाणि, पञ्च रम्यकवर्षाणि, पञ्च देवकुरवः, एते त्रिंशति अकर्मभूमिकाः मनुष्याः सन्ति, षट्पञ्चाशद् अन्तर्द्वीपका मनुष्याः सन्ति, तीर्थकरचक्रवर्त्यादयः, अनृद्धि प्राप्ता अनेके सन्ति–कलाचार्यशिल्पाचार्यादयः ॥ सू. ३२ ॥

मूलसूत्रम्—"**कम्मभूमी भरह–एरवय–विदेहा, ता इयरा अकम्मभूमी—**" ॥३३॥

छाया—कर्मभूमयो भरतैरवतविदेहा, तदितरेऽकर्मभूमय —" ॥ ३३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—तावत्–कर्मभूमिजा म्लेच्छाः इत्युक्तम्, तत्र–काः खलु कर्मभूमय. सन्तीति जिज्ञासायामाह–"**कम्मभूमीभरह–एरवय–विदेहा ताइयरा अकम्मभूमी—**" इति । कर्मभूमयस्तावद् भरतै–रवत–विदेहाः, सन्ति, तदितरे–तेभ्यः खलु भरतैरवतविदेहेभ्यः इतरे–ऽन्ये हैमवत–१ हरिवर्ष–२ रम्यकवर्ष–३ हैरण्यबत–४ देवकुरू–५ त्तरकुरवश्च–६ षट् क्षेत्राणि–अकर्मभूमयो भोगभूमयः सन्तीतिभावः ।

तथाच—पञ्चभरतवर्षाः, पञ्च- ऐरवताः, पञ्च महाविदेहाश्चेत्येवं पञ्चदशक्षेत्राणि कर्मभूमयो व्यपदिश्यन्ते पञ्च हैमवता -पञ्च हरिवर्षाः–पञ्च रम्यकवर्षा–पञ्च हैरण्यवताः–पञ्च देवकुरवः-पञ्चोत्तरकुरव., षट्पञ्चाशद् अन्तर्द्वीपाश्च भोगभूमयस्ते व्यपदिश्यन्ते इति ॥ ३२ ॥

रेस्वाआदि । गर्भज तीन प्रकार के है कर्मभूमि अकर्मभूमि और अन्तर द्वीपज कर्मभूमि मनुष्य पन्द्रह प्रकार के है, पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह, अकर्मभूमि तीस प्रकार की है, पाँच हैमवत, पाँच हैरण्यवत पाँच हरिवास पाँच रम्यकवास पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ये तीस अकर्मभूमि के मनुष्य है, छप्पन अन्तर्द्वीप के मनुष्य है, ऋद्धि प्राप्त अनेक प्रकार के हैं, तीर्थंकर चक्रवर्त्ती आदि अनृद्धि प्राप्त अनेक प्रकार के है कलाचार्य शिल्पाचार्य आदि ॥सू० ३२॥

'कम्मभूमीभरह' इत्यादि ॥ सू० ३३ ॥

सूत्रार्थ—भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र कर्मभूमि हैं । इनके सिवाय अन्य सब क्षेत्र अकर्मभूमि है ॥३३॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पहले कर्मभूमिज म्लेच्छो का उल्लेख किया गया है, सो वह कर्मभूमियाँ क्या हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कहते है—

भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र कर्मभूमियाँ है, इनके अतिरिक्त हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष, देवकुरु और उत्तरकुरु, ये छह क्षेत्र अकर्मभूमियाँ–भोगभूमियाँ हैं।

इस प्रकार अढ़ाई द्वीप के पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह, ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहलाती है । पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यकवर्ष, पाँच हैरण्यवतवर्ष, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु, इस प्रकार तीस तथा छप्पन अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि या भोगभूमि हैं ॥३३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे कर्मभूमिजानां म्लेच्छानां प्ररूपणं कृतम्, तत्र–कर्मभूमि प्ररूपयितुमाह–"**कम्मभूमी भरह–एरवय-विदेहा-ता इयरा अकम्मभूमी**—" इति कर्मभूमयः–कर्मणो निर्वाणाय-क्षपणाय सिद्धिभूमयः, सकलकर्माऽग्ने र्विध्यापनाय सिद्धिप्राप्त्यै भूमयः कर्मभूमयस्तावद् भरतैरवतविदेहाः सन्ति । तत्र–जम्बूद्वीपे एकैके भरतैरवतविदेहाः,

धातकीखण्डे च–द्वौ द्वौ, पुष्करद्वीपार्धे चाऽपि द्वौ द्वौ–इति पञ्च भरतवर्षाः पञ्च–ऐरवताः पञ्च महाविदेहाश्च पञ्चदशक्षेत्राणि कर्मभूमयः सन्ति । तदितरे– तेभ्यो भरतैरवतविदेहेभ्यो ऽतिरिक्ताः ये हैमवतहरिवर्षरम्यकवर्षहैरण्यवतास्ते प्रत्येकं पञ्च पञ्च भेदात् विंशतिर्वर्षाः पञ्च-देवकुरवः पञ्चोत्तरकुरवः, एकोरुकादिषट्पञ्चाशद् अन्तर्द्वीपाश्चा-ऽकर्मभूमयो भूमिभूमयः सन्ति तत्र–नरकादि संसारकान्तारदुर्गान्त प्रापकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपस्य मोक्षमार्गस्याव गन्तारः प्रणेतारः प्रदर्शयितारश्च परमर्षयो भगवन्त स्तीर्थकराः पञ्चदशसंख्यक भरतैरवतमहा विदेहक्षेत्रेषु समुत्पद्यन्ते । एतेष्वेव सकलकर्मक्षयं विधाय सिद्धिधामव्रजन्ति, न तु–हैमवतादि-क्षेत्रेषु, तेषां तीर्थकरजन्मरहितत्वादकर्मभूमित्वमवसेयम् ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १ पदे ३२ सूत्रे से **किं तं कम्मभूमगा ? कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता, तं जहा पंचहिं भरहेहिं, पंचहिं एरवएहिं, पंचहिं महाविदेहेहिं । से किं तं अकम्मभूमगा ? अकम्मभूमगा तीसइविहा पण्णत्ता, तं जहा–पंचहिं हेमवएहिं पंचहिं**

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में कर्मभूमिज म्लेच्छो का प्ररूपण किया गया है, अतएव यहाँ कर्मभूमियो की प्ररूपणा की जाती है—

कर्मों का क्षपण करने में अनुकूल जो भूमियां है, वे कर्मभूमियां कहलाती हैं। समस्त कर्मरूपी अग्नि को बुझाने के लिए या सिद्धि प्राप्त करने के लिए उपयुक्त भूमियां कर्मभूमियां है । वे भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जम्बूद्वीप में एक भरत एक ऐरवत और एक विदेह क्षेत्र हैं। धातकीखंड में और अर्धपुष्कर द्वीप में दो–दो भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र है । इस तरह पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच विदेह, ये पन्द्रह क्षेत्र कर्मभूमि कहलाते है । इनके सिवाय हैमवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष और हैरण्यवतवर्ष पाँच–पाँच होनेसे बीस, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु तथा छप्पन अन्तर्द्वीप, ये सब अकर्मभूमियाँ हैं। इन पन्द्रह भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रो में नरकादि रूप दुर्गम संसार–अटवी के अन्त करने वाले सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप मोक्षमार्ग के ज्ञाता, प्रणेता और प्रदर्शक, परमर्षि भगवान् तीर्थंकर उत्पन्न होते है । इन्ही कर्मभूमियो में उत्पन्न भव्यजीव सकल कर्मों का क्षय करके मोक्षधाम प्राप्त करते हैं । हैमवत आदि क्षेत्रो में उत्पन्न जीव मोक्ष नहीं प्राप्त करते, क्योकि वे अकर्मभूमि है । वहां तीर्थंकर नहीं होते ।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद के ३२ वे सूत्र में कहा है—

हरिवासेहिं, पंचहिं रम्मगवासेहिं, पंचहिं एरण्णवएहिं, पंचहिं देवकुरुहिं पंचहिं उत्तरकुरुहिं सेत्तं अकम्मभूमगा--" इति ।

अथ किं तावत् कर्मभूमयः ? कर्मभूमयः पञ्चदशविधाः प्रज्ञप्ता', तद्यथा-पञ्चभिर्भरतैः, पञ्चभिरैरवतैः पञ्चभिर्महाविदेहैः, । अथ किं तावद् अकर्मभूमयः ? अकर्मभूमय स्त्रिशद् विधाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-पञ्चभिर्हिमवतैः, पञ्चभिर्हरिवर्षै पञ्चभीरम्यकवर्षैः, पञ्चभिर्हैरण्यवतै', पञ्चभिर्देवकुरुभिः, पञ्चभिरुत्तरकुरुभि' ता एता अकर्मभूमयः इति ॥३३॥

मूलसूत्रम्--"तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाण य ठिई तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसजहण्णिया--" ॥३४॥

छाया -- "तत्र-मनुष्याणां तिर्यग्योनिकानाञ्च स्थिति स्त्रीणि पल्योपमानि अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टजघन्यिका--" ॥३४॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वं जम्बूद्वीपादि सार्धद्वयद्वीपस्थ भरतादिक्षेत्रेषु मनुष्याणामुत्पत्तिः प्ररूपिता, सम्प्रति-तासु भूमिषु मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्च कियती स्थितिरायुः प्रमाणरूपा भवतीति जिज्ञासायामाह-**"तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाणं य ठिई तिण्णि पलिओवमाइं अंतो मुहुत्तं उक्कोसजहण्णिया -"** इति ।

तत्र तासु पूर्वोक्तासु भरतादिभूमिषु मनुष्याणां तिर्यग्योनिकानाञ्च गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पद स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्चेत्यर्थः स्थितिरायुः परिमाणरूपा, उत्कृष्टेन पल्योपमानि, जघन्येन चाऽन्तर्मुहूर्तं भवतीतिभावः ॥३४॥

प्रश्न--कर्मभूमियाँ कितने प्रकार की है ?

उत्तर कर्मभूमियाँ पन्द्रह प्रकार की है-पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह ।

प्रश्न--अकर्मभूमियाँ कितने प्रकार की है ?

उत्तर--अकर्मभूमियाँ तीस प्रकार की है-पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यकवर्ष, पांच हैरण्यवत, पांच देवकुरु, और पाँच उत्तरकुरु । ये अकर्मभूमियां है । ॥ ३३ ॥

'तत्थ मणुस्साण' इत्यादि । सू. ३४--

सूत्रार्थ--भरत आदि क्षेत्रो में मनुष्यो और तिर्यंचो को स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ ३४ ॥

तत्त्वार्थदीपिका--इससे पहले जम्बूद्वीप आदि अढाई द्वीपो में विद्यमान भरत आदि क्षेत्रो में मनुष्यो की उत्पत्ति की प्ररूपणा की गई है । अब इन क्षेत्रो के मनुष्यो और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की आयु कितनी होती है, इस जिज्ञासा का समाधान करते है--

पूर्वोक्त भरत आदि क्षेत्रो में मनुष्यो की और गर्भज चतुष्पद स्थलचर तिर्यंचो की आयु प्रमाण रूप स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ॥ ३४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः —पूर्वं तावद् भरतादि क्षेत्रेषु मनुष्याणामुत्पत्तिः प्ररूपिता, सम्प्रति-तेषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्च कियन्तं कालं स्थिति भवतीति शङ्कां समाधातुमाह—"**तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाणं य ठिई तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तं उक्कोसजहण्णिया—**" इति ।

तत्र तेषु भरतादिक्षेत्रेषु मनुष्याणां तिर्यग्योनिकानाञ्च गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पदस्थलचर-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां स्थितिः आयुःपरिमाणं त्रीणि पल्योपमानि अन्तर्मुहूर्तञ्च उत्कृष्टजघन्यिका भवति । तत्रोत्कृष्टा स्थिति स्त्रिपल्योपमा जघन्या च स्थितिरन्तर्मुहूर्तपरिमाणा भवतीति भावः । तत्र मनुष्याणां तिर्यग्योनिकानाञ्च द्विविधा स्थितिः प्रज्ञप्ता, भवस्थितिः कायस्थितिश्च । तत्र भवस्थिति स्तावद् मनुष्यजन्म प्राप्य—तिर्यग्जन्म वा लब्ध्वा कियन्तं कालं जीवति जीवो जघन्येन उत्कृष्टेन वा इत्येवं रूपा बोध्या ।

कायस्थिति· पुनर्मनुष्यो भूत्वा तिर्यग्योनिर्वा भूत्वा मरणञ्च प्राप्य भूमौ मनुष्येष्वेव मनुष्यः, तिर्यग्योनिष्वेव तिर्यग्योनिश्च निरन्तरतया कतिवारं समुत्पद्यते इत्येवं रुपाऽवगन्तव्या तत्र—मनुष्याणां त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते परापरे भवस्थिती बोध्ये कायस्थितिस्तु—सप्ताष्टौवा भवग्रहणानि नैरन्तर्येण-उत्कृष्टतो बोध्या ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले भरत आदि क्षेत्रो में मनुष्यो की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। अव उन क्षेत्रो में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचो की आयु कितनी होती है, इस शंका का समाधान करने के लिये कहते है —

उन भरन आदि क्षेत्रो में मनुष्यो की तथा गर्भज चतुप्पद स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की होती है।

मनुष्यो और तिर्यंचो की स्थिति दो प्रकार की कही गई है—भवस्थिति और काय-स्थिति। मनुष्य का, या तिर्यंच का जन्म पाकर जीव उस जन्म मे जितने काल तक जीवित रहता है, वह उसकी भवस्थिति कहलाती है। कोई जीव मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होकर जीवित रहता है, फिर मृत्यु होने पर मरता है और पुनः मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होता है। इस प्रकार जितने काल तक वह लगातार मनुष्य भव करता है, उस कालमर्यादा को कायस्थिति कहते है। इसी प्रकार तिर्यंच जितने भवो तक लगातार तिर्यचपर्याय में बना रहता है, वह उसकी कायस्थिति कहलाती है। यह कायस्थिति मनुष्यो और तिर्यंचो की ही होती है, क्योंकि इन्हीं के लगातार अनेक भव हो सकते है। देवों और नारकों के लगातार अनेक भव नहीं होते है अर्थात् देव मरकर पुन· देव और नारक मरकर पुनः नारक नहीं होता, अतएव उनकी भवस्थिति से भिन्न कोई कायस्थिति नहीं है। जितनी भवस्थिति है उतनी ही इनकी कायस्थिति समझनी चाहिए।

तत्र–पूर्वकोटयायुर्मनुष्यो मृत्वा पुन. पुनः पूर्वकोटयायुरेव मनुष्य सप्तवारं प्रादुर्भवति अष्टमभवे पुनर्देवकुरूत्तरकुरुषु समुत्पद्यते पश्चात् - देवलोकं गच्छति तिर्यग्योनिजानाञ्च–उत्कृष्टजघन्ये-भवे स्थिती त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते सक्षेपेणाऽवगन्तव्ये । उक्तञ्चोत्तराऽध्ययने ३६-अध्ययने ११८-गाथायाम्— **"पलिओवमा उ तिण्णिय' उक्कोसेण विगाहिया आउट्ठिईमणुस्साणं' अंतोमुहुत्तं जहन्निया--॥ १ ॥** इति " पल्योपमास्तु तिस्रश्च–उत्कृष्टेन व्याख्याताः

आयु स्थितिर्मनुष्याणामन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका–" इति ॥

प्रज्ञापनायां ४–पदेचोक्तम्— **"मणुस्सणं भंते- ! केवइकालं ठिई पण्णत्ता–! गोयमा–! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं–उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं—"** इति मनुष्याणां भदन्त ! कियन्तं-कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता– गौतम- ! जघन्येना-ऽन्तर्मुहूर्तम् ,उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि-" इति । समवायाङ्गे ३ समयाये चोक्तम्— **"असंखिज्जवासाउय सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं-उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता—"** इति । असख्येयवर्षायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानामुत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता—इति. ।

पुनरुत्तराध्ययने ३६-अध्ययने १३८ गाथायाञ्चोक्तम् — **"पलिओवमाइं तिण्णि उ उक्कोसेणवियाहिया–आउट्ठिई थलयराणं अंतोमुहुत्तं जहण्णिया–" ॥** इति ।

"पल्योपमानि-त्रीणितु–उत्कृष्टेन व्याख्याता ।
आयुःस्थितिःस्थलचराणा-मन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका—॥ १ ॥ इति । "

मनुष्य की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, उत्कृष्ट कायस्थिति सात–आठ भवग्रहण प्रमाण समझना चाहिये।

यदि करोड़ पूर्व आयु वाला मनुष्य मरकर करोड़ पूर्व की आयुवाले मनुष्य के रूप मे पुनः पुनः उत्पन्न हो तो लगातार सात वार ही होता है। अठवीं वार देवकुरु–उत्तरकुरु में उत्पन्न होता है और तत्पश्चात् देवलोक में गमन करता है।

तिर्यंचो की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की समझना चाहिये उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन ३६ की गाथा १९८ मे कहा है–
मनुष्यो की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है,

प्रज्ञापनासूत्र के चौथे पद में कहा गया है–'भगवन् ! मनुष्यो की स्थिति कितने काल को कही गई है ? (उत्तर) गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की उत्कृष्ट तीन पल्योपम की। समवायांग सूत्र के तीसरे समवाय में भी कहा गया–'असख्यात वर्ष आयु वाले सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंचो की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की कही है।

उत्तराध्ययन के ३६ वे अध्ययन में भी कहा है– स्थलचर तिर्यंचो की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की कहो गई है।'

पुनःप्रज्ञापनायां ४-पदे चोक्तम्—**गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइं**—" इति । गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां पृच्छा-जघन्येना.ऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि, इति विस्तारेण तु—शुद्धपृथ्वीकायस्य द्वादशसहस्रवर्षाणि-उत्कृष्टेन स्थितिः, खरपृथिवीकायस्य तु—द्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि--उत्कृष्टा स्थितिरवगन्तव्या, अप्कायस्य पुनः--सप्तसहस्रवर्षाणि-उत्कृष्टा स्थितिः वायुकायस्य-त्रिवर्षसहस्राणि उत्कृष्टेन स्थितिः, तेजःकायस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि—उत्कृष्टेन स्थितिः, वनस्पतिकायस्य पुन-र्दशवर्षसहस्राणि-उत्कृष्टा स्थितिः, इत्येवं रूपा भवस्थितिरेषामवसेया कायस्थितिस्तु--एतेषामसंख्येया अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः, वनस्पतिकायस्य पुनरनन्ता कायस्थितिरवगन्तव्या, द्वीन्द्रियाणां भवस्थितिरुत्कृष्टेन द्वादशवर्षाण्यवसेया. ।

त्रीन्द्रियाणां भवस्थितिरुत्कृष्टा एकोनपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि, चतुरिन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिषण्मासा अवगन्तव्या, एतेषाञ्च—द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रियाणां कायस्थितिः संख्येयानि वर्षसहस्राणि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजाः पञ्चविधाः सन्ति मत्स्याः--उरगाः परिसर्पाः--पक्षिणः-चतुष्पदाश्चेति तत्र--मत्स्या-नाम्-उरगाणां-भुजगानाञ्चोत्कृष्टेन पूर्वकोटयेव भवस्थितिः पल्योपमासंख्येयभागरूपा, ।

पुनः प्रज्ञापनासूत्र के चौथे पद में कहा है—'गर्भज चतुष्पद स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के विषय में पृच्छा अर्थात् उनकी आयु कितने काल की है ? (उत्तर) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम ।'

विस्तार में कहा जाय तो शुद्ध पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति बारह हजार वर्ष की, खर पृथ्वीकाय की बाईस हजार की और जलकाय की सात हजार वर्ष की स्थिति कही गई है । वायुकाय की तीन हजार की, तेजस्काय की तीन दिन--रात की तथा वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति है । यह भवस्थिति समझना चाहिए । कायस्थिति इनकी असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की तथा वनस्पतिकाय की अनन्त कायस्थिति द्वीन्द्रिय जीवो की उत्कृष्ट भवस्थिति बारह वर्ष की है, त्रीन्द्रियों की उनपचास दिन की है, चतुरिन्द्रियो की छह मास की है इन द्विन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष की है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच पाँच प्रकार के है—(१) मनुष्य (२) उरग (३) परिसर्प (४) पक्षी और (५) चतुष्पद । इनमें से मत्स्य, उरग और भुजग तिर्यंचो की उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व की होती है । पक्षियों की उत्कृष्ट भवस्थिति एक पल्योपम के असंख्यात भाग की और गर्भज चतुष्पदो की तीन पल्योपम की है । विशेष रूप से असंज्ञी मनुष्यो की भवस्थिति करोड़ पूर्व की, उरगों की त्रेपन हजार वर्ष को भुजगो को बयालिस हजार वर्ष की, स्थलचर संमूर्छिमों की चौरासी हजार वर्ष की और खेचर की बहत्तरहजार वर्ष की भवस्थिति होती है ।

તત્ત્વાર્થટીકાનુવાદ—

મંગલાચરણ

દેવગણ જેમના ચરણોમાં નમસ્કાર કરે છે, જેઓ તન્દ્રાથી મુક્ત છે અર્થાત્ જેમના જ્ઞાનની અનુપયોગ-અવસ્થા દૂર થઈ ગઈ છે- જેઓ સતત ઉપયોગમય ક્ષાયિક કેવળજ્ઞાનથી સંપન્ન છે અથવા મોહજનિત પ્રમાદથી સર્વથા રહિત થઈ ગયા છે તથા જેમણે ભદ્ર કહેતાં કલ્યાણને પૂર્ણ રૂપથી પ્રાપ્ત કરી લીધું છે. તે જિનેન્દ્ર ભગવાન રૂપી ચન્દ્રને પ્રણામ કરીને હૂં મુનિ ઘાસીલાલ નવ તત્વોના વાસ્તવિક સ્વરૂપને પ્રકટ કરવા વાળા ભવ્ય એવા આ તત્ત્વાર્થસૂત્રની રચના કરૂં છું. ૧

'जीवाजीव बंध पुण्णपावासव' ઈત્યાદિ

દીપિકાર્થ—જેઓ સંસારસાગરથી પાર ઉતરવાના અભિલાષી છે. તેમજ તે માટે અર્હંત ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદિત તત્ત્વોનુ જ્ઞાન સંપાદન કરવાની ઈચ્છાવાળા છે. એવા ભવ્ય જનોનાં સ્વાધ્યાય માટે સમસ્ત આગમોના સારનો પોતાની સંશોધનાત્મક પ્રજ્ઞાથી યથાશક્તિ સંગ્રહ કરીને, પ્રાકૃતભાષામાં નવ અધ્યાયોમાં મેં તત્ત્વાર્થસૂત્રની રચના કરી છે. આ રચના પોતાની બુદ્ધિથી તત્વોની નવીન કલ્પના કરીને નહીં પરંતુ ક્યાંક ક્યાંક આગમોનો શબ્દશ સંગ્રહ કરીને અને ક્યાંય-ક્યાંક આગમના અર્થને સંક્ષિપ્ત કરીને કરેલ છે ક્યાંક ક્યાંક આગમોમાં વિસ્તૃત રૂપથી પ્રતિપાદિત કરેલ વિષયોનું સુભગરૂપથી વર્ણન કરવામાં આવેલ છે. આ રીતે જૈનાગમોના સમન્વયરૂપ આ તત્ત્વાર્થસૂત્ર નામના ગ્રંથનું નિર્માણ કરવામાં આવેલ છે.

આ તત્ત્વાર્થસૂત્ર નામના ગ્રન્થનો આશય સ્પષ્ટ કરવા માટે શાસ્ત્રોને અનુકૂળ મારી બુદ્ધિ અનુસાર તત્ત્વાર્થદીપિકા નામની ટીકાની રચના કરૂં છું

પ્રથમ ઉત્તરાધ્યયન-એવં સ્થાનાંગસૂત્ર અનુસાર પ્રાકૃતગ્રન્થમાં કહેવામાં આવનારા નવ તત્ત્વોનો ઉલ્લેખ કરીએ છીએ —

(૧) જીવ (૨) અજીવ (૩) બન્ધ (૪) પુન્ય (૫) પાપ (૬) આશ્રવ (૭) સંવર (૮) નિર્જરા અને (૯) મોક્ષ આ નવ તત્ત્વ છે.

(૧) જીવ ઉપયોગ લક્ષણ ચૈતન્ય સ્વભાવ બોધસ્વરૂપ એવં જ્ઞાનમય છે. જેવી રીતે દીવાનો પ્રકાશ નાની જગ્યામાં પણ સમાઈ જાય છે અને વિસ્તૃત ક્ષેત્રમાં પણ ફેલાઈ જાય છે એવી જ રીતે જીવ જ્યારે કીડીના પર્યાયમાં ઉત્પન્ન થાય છે તો તેના નાનકડા શરીરમાં સમાઈ જાય છે. અને હાથીરૂપે જો પેદા થાય છે તો મોટેરૂપે થઈ તે મુજબ શરીરને વ્યાપ્ત થઈને રહે છે. આવા ત્રસ અને સ્થાવર વગેરે પ્રાણીયોને જીવ કહેવામાં આવે છે.

(૨) ચેતના રહિત, અજ્ઞાન સ્વરૂપ (જ્ઞાનશૂન્ય) ધર્માસ્તિકાય વગેરે અજીવતત્ત્વ છે.

(૩) લાખ તથા લાકડા જેવા અથવા દૂધ અને પાણી જેવા જીવ તથા કર્મપુદ્ગલોનું એકાકાર થઈ જવું યાની કાર્મણ વર્ગણા ના પુદ્ગલોના આદાનને બંધ કહેવાય છે.

(૪) શુભ કર્મ પુણ્ય કહેવાય છે. પુણ્ય શબ્દની વ્યુત્પત્તિ, આ પ્રમાણે છે—જે આત્માને પવિત્ર કરે તે પુણ્ય છે.

(૫) આત્માનું દુર્ગતિમાં પતન થવાના કારણરૂપ અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે.

(૬) શુભ અને અશુભ કર્મોના આગમનનો માર્ગ, ભવભ્રમણના કારણ પ્રાણાતિપાત વિગેરે ક્રિયારૂપ આશ્રવ છે. અર્થાત્ જેનાથી કર્મ આવે તે આશ્રવ છે.

(૭) આશ્રવનું રોકાઈ જવું તે સંવર તત્ત્વ છે. તાત્પર્ય એ છે કે આત્મામાં પ્રવેશવા જતાં કર્મ જે આત્મપરિણામ દ્વારા અટકી જાય છે તે ત્રણ ગુપ્તિ, પાંચ સમિતિ વગેરેને સંવર કહે છે. જે આશ્રવના પ્રવાહ દ્વારને રોકી દે છે. હાંકી દે છે. તે સંવર છે. વળી કહ્યું છે કે આશ્રવ સંસારનું કારણ છે તો સંવર મોક્ષનું કારણ છે.

(૮) અગાઉ જેઓ કર્મ કરી ચૂકેલ છે તે કર્મોનું તપ સંયમ, વગેરેથી બળી જવું અથવા આંશિક રૂપથી ક્ષય થઈ જવું તેને નિર્જરા કહે છે અથવા પહેલાના કર્મો યથા સમયે પોતાનું ફળ આપીને અથવા તપ વિગેરે દ્વારા નાશ પામે તે નિર્જરા તત્ત્વ કહેવાય. છે. અભિપ્રાય એ છે કે પહેલાના બંધાયેલા કર્મોનુ તપ ધ્યાન વગેરે દ્વારા એકદેશથી નાશ થવું અર્થાત્ આત્મપ્રદેશોથી જુદા પડવું તે નિર્જરા છે.

(૯) કાયમને માટે સઘળાં કર્મોનો ક્ષય થઈ જવો તે મોક્ષ છે ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮માં અધ્યયનમાં કહ્યું છે.

જીવ, અજીવ, બન્ધ, પુણ્ય, પાપ, આશ્રવ, સંવર નિર્જરા અને મોક્ષ આ નવ તત્ત્વો છે. ૧

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ:—બત્રીસ આગમોની ટીકા રચ્યા બાદ મેં સંસારસાગર પાર કરવા ઈચ્છતા તથા. જિનપ્રતિપાદિત તત્વોની જાણકારીના અભિલાષી મુમુક્ષુઓના સ્વાધ્યાય માટે મારી શકિત તથા બુદ્ધિ અનુસાર આગમોનો સાર સંગ્રહ કરીને નવ અધ્યાયોમાં તત્વાર્થસૂત્રનું નિર્માણ કર્યું છે. પ્રસ્તુત તત્વાર્થસૂત્રમાં કોઈક–કોઈક સ્થળે આગમોના શબ્દોને જેમ છે તેમ જ ગ્રહણ કરવામાં આવેલ છે અને કયારેક–કયારેક આગમના અર્થનું ટુંકમાં વર્ણન કરેલ છે. આ રીતે આ ગ્રન્થ આર્હત આગમનો એક સમન્વયાત્મક ગ્રંથ છે. ટુંકમાં રચેલ આ તત્વાર્થસૂત્રના રહસ્યને સ્પષ્ટ કરવા માટે મારી બુદ્ધિ અનુસાર નિર્યુક્તિની રચના કરવામા આવે છે.

(૧) જીવ (૨) અજીવ (૩) બંધ (૪) પુણ્ય (૫) પાપ (૬) આશ્રવ (૭) સંવર (૮) નિર્જરા અને (૯) મોક્ષ, આ નવ તત્વ છે. સ્થાનાંગસૂત્રમાં ૬૬૫માં સૂત્રમા નવમાં સ્થાનમાં કહ્યુ છે કે–નવ સદ્ભાવરૂપ પદાર્થ અર્થથી તિર્થંકરોએ અને શબ્દથી ગણધરોએ કહ્યા છે. તે આ પ્રમાણે છે–જીવ, અજીવ, પુણ્ય, પાપ, આશ્રય, સંવર, નિર્જરા બન્ધ અને મોક્ષ.

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રનાં ૨૮મા અધ્યયનમાં પણ આજ નવ તત્વોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવેલ છે તેમાં પહેલું તત્વ જીવ જે ચૈતન્ય સ્વરૂપ એટલે જ્ઞાનમય છે જેવી રીતે દીપકના પ્રકાશમાં સંકુચન–વિસ્તરણનો ગુણ છે, તેવી રીતે જીવમાં પણ છે. આ ગુણના કરણે જીવ હાથી અને કીડી–કુંથવા વગેરેના નાના મોટા શરીર અનુસાર સંકુચીત અને વિસ્તૃત થઈ જાય છે. સાંસારિક અવસ્થામા તે પોતાના વડે ઉપાર્જીત નામ કર્મ અનુસાર, ત્રસ–સ્થાવર, દેવ નારક, એકેન્દ્રિય–દ્વિઈન્દ્રિય વગેરે કહેવાય છે. અથવા જીવ ઔપશમિક, ક્ષાયોપશમિક વગેરે ભાવોથી યુકત હોય છે. સાકાર ઉપયોગ (જ્ઞાન) તથા અનાકાર ઉપયોગ (દર્શન) રૂપ છે. શબ્દ રૂપ વગેરે વિષયોના

જાણકાર, પુણ્યપાપનાં કર્તા અને તેમના ફળના સાક્ષાત્ ભોક્તા અને સ્વભાવતઃ અમૂર્ત અર્થાત્ રૂપ રસ ગંધ અને સ્પર્શથી રહિત છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૦માં અધ્યયન ગાથા ૩૭માં કહ્યું છે– આત્મા, પોતે જ પોતાના સુખદુ:ખનો કર્તા હર્તા છે. જીવનાં ભેદ–પ્રભેદનું વર્ણન અગળ કરવામાં આવશે.

જેમાં ચેતના ન હોય જે જડ હોય તે અજીવ તત્વ છે. તેના ચાર ભેદ છે. (૧) ધર્માસ્તિકાય (૨) અધર્માસ્તિકાય (૩) આકાશાસ્તિકાય (૪) પુદ્‌ગલાસ્તિકાય.

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮માં અધ્યયનમાં કહ્યું છે. ધર્મ અધર્મ આકાશ આ પ્રમાણે જીવ અને અજીવ આ બે તત્વોને જાણવા પરમઆવશ્યક હોવાના કારણે બીજે પણ કહ્યુ છે. જે ઉપાદેય–ગ્રાહ્યને ગ્રહણ કરવા ઈચ્છે છે અને હેયનો ત્યાગ કરવા ઈચ્છે છે. તેના માટે બે મૂળભૂત તત્વો છે જીવ અને અજીવ.

રાગ દ્વેષ વગેરે અને તેમાંથી ઉત્પન્ન થતાં અજ્ઞાન વગેરે હોય છે જ્યારે ઉપયોગ રૂપ પરમ જ્યોતિ તે ઉપાદેય છે. અગ્નિ અને લોઢાના ગોળાની જેમ અથવા ક્ષીર અને નીરની જેમ કાર્મણવર્ગણાઓના આત્મપ્રદેશની સાથે એકમેક થઈ જવું તે “બન્ધ” કહેવાય છે આગળ કહેવામાં આવનાર આશ્રવના કારણોથી ગૃહીત કર્મ પુદ્‌ગલોના પ્રકૃતિ, સ્થિતિ વિગેરે વિશેષણોથી વિશિષ્ટ સંયોગ થવો તે બન્ધ છે.

શુભકર્મ પુણ્ય કહેવાય છે. અન્ન પુણ્ય વગેરેના ભેદ થી તેના નવ પ્રકાર છે આ ભેદો આગળ ઉપર કહેવાશે. પુણ્ય શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે–પુનાતિ એટલે જે આત્માને પવિત્ર કરે તે પુણ્ય છે.

અશુભ કર્મ પાપ છે. પ્રાણાતિપાત વગેરે ૧૮ તે પ્રકારોથી છે તેનું સ્પષ્ટીકરણ આગળ કરવામાં આવશે. જે આત્માને દુર્ગતિમાં પતનનું કારણ હોય તે પાપ છે આ પાપની વ્યુત્પત્તિમાંથી કરેલો અર્થ છે.

જેના દ્વારા કર્મો આવે છે તે આશ્રવ છે એટલે કે શુભાશુભ કર્મોના ઉપાર્જનનો હેતુ આશ્રવ કહેવાય છે જેનાથી જીવનું સંસારમાં પરિભ્રમણ થાય છે.

આશ્રવનું રોકાઈ જવું તે સંવર છે. આશય એ છે કે આત્મામાં પ્રવેશતા કર્મ જેનાથી રોકાઈ જાય છે તે ત્રણ ગુપ્તિ અને પાંચ સમિતિ વગેરે પરિણામને સંવર કહેવાય છે આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર સંવર શબ્દનો અર્થ છે–જે આશ્રવરૂપ પ્રવાહને રોકી દે એટલે કે અટકાવી દે તે સંવર છે કહ્યુ પણ છે–આશ્રવ ભવભ્રમણનુ કારણ છે અને સંવર મોક્ષનુ કારણ છે. આમાં સંપૂર્ણ તત્વની સમાપ્તી થઈ જાય છે શેષ કથન તો આનો જ વિસ્તાર છે. અથવા પ્રાણાતિપાત આદિ આશ્રવો મનોગુપ્તિ વગેરે દ્વારા અટકી જાય તે સંવર છે પૂર્વોપાર્જિત કર્મનુ તપ અને સંયમ વગેરે કારણોથી જીર્ણ થઈ જવુ–ક્ષય થઈ જવો તે નિર્જરા છે અથવા ઉપાર્જિત કર્મોનો વિપાક અથવા તપ વગેરે દ્વારા નષ્ટ થઈ જવું તે નિર્જરા છે સારાંશ એ છે કે તપસ્યા, ધ્યાન વગેરે કારણોથી પ્રથમ બાંધેલા કર્મોનું આંશિક રૂપથી અલગ થઈ જવું તે નિર્જરા છે.

પૂર્ણ રૂપથી સર્વ કર્મોનો ક્ષય થઈ જવો તે મોક્ષ કહેવાય છે – બોધ, શમ, વીર્ય, દર્શન અને આત્યંતિક તથા એકાંતિક અનાબાધ અને સર્વોત્તમ સુખ સ્વરૂપ આત્માનુ પોતાના શુદ્ધ સ્વરૂપમાં અવસ્થિત થઈ જવું તે મોક્ષ છે.

જો કે વાચકવર્ય ઉમાસ્વાતિ સ્વામીએ પુણ્ય અને પાપને છોડીને સાત જ તત્વને તત્વાર્થ-સૂત્રમાં પ્રતિપાદિત કરેલ છે તેમ છતાં સ્થાનાંગ વગેરે સૂત્રોમાં અગાઉ કહેલાં નવ પદાર્થનું જ કથન કરવામાં આવેલ છે આથી અહીં પણ તે જ નવ તત્વોને લેવામાં આવેલ છે. જેવી રીતે હેય ઉપાદેય રૂપથી સાત તત્વોનું પરિજ્ઞાન થવું ખાસ જરૂરી છે તેવી જ રીતે પુણ્ય અને પાપનું પરિજ્ઞાન થવું એટલું જ જરૂરી છે. આથી નવ તત્વોનું વિવરણ કરવું જ યોગ્ય ગણાશે. પુણ્ય અને પાપનો આશ્રવ તથા બંધ તત્વમાં સામાવેશ થઈ જાય છે આથી તેમને જુદા ગણવા યોગ્ય નથી એવું કહીએ તો પછી આશ્રવ વગેરે પાંચ તત્વોને પણ જીવ અને અજીવ તત્વોમાં મેળવી દઈ માત્ર બે જ તત્વ કહેવા જોઈતા હતા આમ આશ્રવ મિથ્યાદર્શન વગેરે રૂપ જીવના પરિણામ વિશેષ છે. તે આત્મા અને પુદ્‌ગલ સિવાય બીજું કશું જ નથી. આ રીતે આત્મપ્રદેશો સાથે બંધાયેલ કર્મ પણ પુદ્‌ગલ હોવાથી ભિન્ન નથી. સંવર આશ્રવનો વિરૂદ્ધ શબ્દ છે. તે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ રૂપ આત્માનું પરિણામ જ છે.

એક દેશથી કર્મોનું જુદું પડવું એ નિર્જરા છે. જીવ પોતાની શક્તિથી કર્મોને જુદા પાડે છે. તે પણ જીવ અને અજીવથી ભિન્ન નથી. સર્વ કર્મોથી રહિત આત્મા જ મોક્ષ છે. આ રીતે આશ્રવ વગેરે પાંચે તત્વોનો જીવ અને અજીવ તત્વમાં જ અન્તર્ભાવ થઈ જાય છે. આવી સ્થિતીમાં "જીવાજીવાસ્તત્વમ્" અર્થાત્ જીવ અને અજીવ એ બે તત્વ છે એવી સૂત્રરચના જ યોગ્ય હતી તો પછી એવું સૂત્ર કેમ ન રચાયું ? કદાચ એવી દલીલ કરવામાં આવે કે શિષ્યો તથા અન્ય જિજ્ઞાસુઓને હેયઉપાદેયનું શિક્ષણ આપવા માટે આશ્રવ અને બંધ સંસારના કારણ-રૂપ હોઈ હેય છે અને સંવર તથા નિર્જરા મોક્ષના કારણરૂપ હોઈ ઉપાદેય છે તથા મોક્ષતો મુખ્ય સ્વરૂપે ઉપાદેય છે જ એવું સમજાવવા માટે ઉપર કહેલ પાંચ તત્વોનું અલગ નિદર્શન કરવામાં આવ્યું છે જો આ પ્રમાણે હોય તો આ દલીલ પુણ્ય–પાપના વિષયને પણ લાગુ પડે છે. ટુંકમાં પુણ્ય ઉપાદેય અને પાપ હેય (છાંડવા યોગ્ય) છે. એ કારણે તેમનો પણ પ્રસ્તુત સૂત્રમાં ઉલ્લેખ કરવો આવશ્યક છે.

આ નવ તત્વોના લક્ષણ તથા ભેદનું સમ્યક્ વિવેચન સવિસ્તર આગળ કરવામાં આવશે જેમ કે જીવનું લક્ષણ ઉપયોગ છે આ ભાવજીવનું લક્ષણ કહ્યું છે. ભેદ–પ્રભેદની વિવક્ષાથી જીવ અનેક પ્રકારના છે. દાખલાતરીકે પ્રથમ તો જીવ, દ્રવ્ય અને ભાવની અપેક્ષાથી બે પ્રકારના છે. પછી તો સાકાર અનાકાર, સંસારી અસંસારી, ત્રસ સ્થાવર, સૂક્ષ્મ બાદર, પર્યાપ્ત અપર્યાપ્ત વગેરે ભેદોથી અનેક પ્રકારના છે આવી જ રીતે અજીવ વગેરેના ભેદ અને લક્ષણ પણ આગળ ઉપર કહીશું ૧

'उवओगलक्खणो जीवो ।'

મૂલસૂત્રનો અર્થ–જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે ॥ ૨ ॥

તત્વાર્થદીપિકાનો અર્થ—પ્રથમ સૂત્રમાં જીવ વગેરે નવ તત્વોનું સામાન્ય રૂપથી કથન કરવામા આવેલ છે. નવ અધ્યાયોમાં નવ તત્વોનું વિવેચન કરવું છે. આથી પ્રથમ અધ્યાયમાં પહેલા જીવ તત્વની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહે છે–જીવ, ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે.

વસ્તુનાં સ્વરૂપને જાણવા માટે વસ્તુની તરફ જે ઉપયુક્ત અર્થાત્ પ્રેરિત કરાય તેને ઉપયોગ કહે છે. આનો અર્થ એ છે કે અંતરંગ અને બહિરંગ કારણોથી ઉત્પન્ન થવાવાળું ચૈતન્યરૂપ પરિણામ ઉપયોગ છે. આ રીતનો ઉપયોગ જેનું લક્ષણ છે તે જીવ છે.

ઉપયોગના બે ભેદ છે — જ્ઞાનોપયોગ અને દર્શનોપયોગ સામાન્ય, વિશેષ ધર્માત્મક વસ્તુનાં વિશેષ ધર્મને જાણવાવાળો જ્ઞાનોપયોગ અને સામાન્ય ધર્મને વિષય કરવાવાળો દર્શનોપયોગ કહેવાય છે. જ્ઞાનોપયોગ ૮ પ્રકારનો છે, (૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મનઃપર્યવજ્ઞાન, (૫) કેવળજ્ઞાન, (૬) મત્યજ્ઞાન, (૭) શ્રુત-અજ્ઞાન અને (૮) વિભંગજ્ઞાન. દર્શનોપયોગ ચાર પ્રકારનાં છે. ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શન.

અથવા—જીવ ઉપયોગલક્ષણવાળો છે. ત્યાં ઉપયોગનો અર્થ છે—કોઈ પદાર્થને નિશ્ચય રૂપથી જાણવો. આ ઉપયોગ જેનો અસાધારણ ગુણ છે તે જીવ ભાવજીવ કહેવાય છે. જીવનાં બે ભેદ છે. ભાવજીવ અને દ્રવ્યજીવ. ઔપશમિક, ક્ષાયિક, ક્ષાયોપશમિક ઔદયિક અને પારિણામિક ભાવથી યુકત જે ભાવજીવ છે તે ઉપયોગલક્ષણવાળો કહેવાય છે.

જે ગુણ અને પર્યાયથી રહિત હોય, બુદ્ધિ દ્વારા કલ્પિત અને અનાદિ પારિણામિક ભાવથી યુકત હોય તે દ્રવ્યજીવ છે.

આ રીતે ઉપયોગલક્ષણવાળા જીવના જ્ઞાનરૂપ તેમ જ દર્શનરૂપ બંને પ્રકારના વ્યાપારમાં ચૈતન્યરૂપ જે સ્વાભાવિક પરિણામ છે તે તો સરખાં જ હોય છે જીવમાં જ્ઞાન અથવા દર્શનરૂપ સ્વાભાવિક ચૈતન્ય પરિણામ રહે છે જ.

જો કે કર્મપુદ્ગલ આત્મ પ્રદેશોની સાથે એવી રીતે એકમેક થઈ જાય છે કે જેમ તપાવેલો લોખંડનો ગોળો અને અગ્નિ. તો પણ જેવી રીતે ઉષ્ણતા ગુણનાં કારણે અગ્નિ અને ગુરુતાગુણના કારણે લોખંડનો ગોળો અલગ ઓળખી શકાય છે તે જ રીતે પોતાના અસાધારણ ઉપયોગગુણથી જીવ જુદી રીતે ઓળખી કઢાય છે.

કાર્મણ વર્ગણાનાં અનન્તાનન્ત પ્રદેશ યોગ અને કષાયનું નિમિત્ત પામી આત્મપ્રદેશો સાથે જોડાઈ જાય છે. તે સમયે જીવના પ્રદેશો અને કર્મપ્રદેશો એકબીજામાં મિશ્રણ થઈ જાય છે. જેમ દૂધ અને પાણીનુ મિશ્રણ કરવાથી બંને એકમેક થઈ જાય છે. તેવી જ રીતે આત્મા અને કર્મ પણ એકમેક થઈ રહ્યા છે. અનાદિ કાળથી બંનેની મિશ્રિત સ્થિતી હોવા છતાં ઉપયોગ ગુણના કારણે જીવને જુદો સમજવામાં આવે છે કારણ કે ઉપયોગ રૂપ પરિણતી જીવમાં જ હોય છે. કર્મ ભલે જીવની સાથે મળી ગયેલ હોય તો પણ તેમનું ચૈતન્ય ઉપયોગ રૂપ પરિણમન કદાપી થતું નથી. આજ ભાવજીવ છે જ્યારે આ શરીરમાં સ્થિત જીવની જ્ઞાન વગેરે ભાવોથી રહિત રૂપમાં વિવક્ષા કરાય ત્યારે તે દ્રવ્યજીવ કહેવાય છે. ॥ સૂ૦ ૨ ॥

તત્વાર્થ નિર્યુકિત—શાસ્ત્રની પ્રવૃત્તિ ત્રણ રીતે થાય છે ઉદ્દેશ્યથી, લક્ષણથી અને પરીક્ષાથી વસ્તુઓના નામમાત્રને કહી દેવુ ઉદ્દેશ્ય કહેવાય છે તેમના અસાધારણ ધર્મનું કથન એટલે લક્ષણ અને જેનું લક્ષણ કહ્યુ હોય તે લક્ષણ યોગ્ય છે કે નહીં એ બાબત વિચાર કરવો પરીક્ષા છે

પ્રથમ સૂત્રમાં જીવાદિ પદાર્થોના નામનો ઉલ્લેખ થઈ ગયો છે હવે જીવાદિ નવ પદાર્થોના અનુક્રમે લક્ષણ બતાવવા માટે સર્વપ્રથમ જીવના લક્ષણનું કથન કરવામાં આવે છે.

જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે. અને ઉપયોગનો અર્થ છે કોઈ પદાર્થને ઓળખવારૂપ વ્યાપાર આ ઉપયોગ જેનો અસાધારણ ધર્મ છે અને બીજે કોઈનાંમાં પણ ન મળી શકે તેવો ગુણ છે તે જ ભાવજીવ કહેવાય છે.

જીવના પ્રથમ બે ભેદ છે. દ્રવ્યજીવ અને ભાવજીવ. જે ગુણ અને પર્યાયથી રહિત હોય, પ્રજ્ઞામાં સ્થાપિત કરેલો હોય અર્થાત્ હકીકતમાં ન હોવા છતાં પણ જે કેવળ કલ્પનાથી સ્વીકારી લેવામાં આવ્યો હોય, એવા પારિણામિક ભાવથી યુક્ત જીવ દ્રવ્યજીવ કહેવાય છે. (હકીકતમાં કોઈ પણ જીવ, પછી ભલે તે સંસારી હોય અગર મુક્ત હોય પરંતુ કદાપી તે પોતાના ગુણ અને પર્યાય થી અલગ હોઈ શકતો નથી.) કોઈને કોઈ ગુણ અને પર્યાય તેમાં હમેશાં વિદ્યમાન રહે છે. તેમ છતાં દ્રવ્યનો ભંગ શૂન્ય ન રહે એ પ્રયોજન થી એવી કલ્પના કરવામાં આવે છે જે જીવ ઔપશમિક ભાવોથી યુક્ત છે તેમજ જેમા ઉપયોગ લક્ષણ મળી આવે છે તે ભાવજીવ કહેવાય છે. તેના બે ભેદ છે. સસારી અને મુક્ત.

ઉપયોગ લક્ષણવાળા જીવના જ્ઞાનરૂપ અને દર્શનરૂપ બંને પ્રકારના વ્યાપારમાં ચૈતન્ય રૂપની જેમ સ્વાભાવિક પરિણમન થાય છે કારણકે જ્ઞાન અને દર્શન જીવના ચૈતન્ય રૂપમાં સ્વાભાવિક પરિણામ છે. આ પૈકી જ્ઞાન સાકાર અથવા વિશેષ ધર્મોનો જ્ઞાપક છે અને દર્શન નિરાકાર અર્થાત્ સામાન્ય ધર્મનો જ બોધક હોય છે.

સ્વાભાવિક ચૈતન્યરૂપ પરિણતીને પ્રાપ્ત હોવા થકા જ્ઞાન–દર્શન રૂપ ઉપયોગ કર્મોની સાથે મળેલ હોવાના કારણે એકમેક હોવા છતાં પણ આત્માની ભિન્નતાનું જ્ઞાન કરાવે છે.

અભિપ્રાય એવો છે કે કર્મ જ્યારે યોગ અને કષાયના કારણે આત્મપ્રદેશોની સાથે બંધાયેલા હોય છે ત્યારે એકમેક થઈ જાય છે. બન્ધના કારણે જીવ જુદો રહેતો નથી–કર્મની સાથે એકરૂપ થઈ જાય છે – જુદો જણાતો નથી. જેવી રીતે પાણીની સાથે મેળવેલ દૂધ પાણી સાથે એકાકાર થઈ જાય છે. જુદું જણાતું નથી તે જ રીતે બન્ધ થવાથી જીવ અને કર્મ પણ જુદા જુદા જણાતા નથી. પરંતુ એકાકાર થઈ જાય છે. આમ છતાં ઉપયોગરૂપ લક્ષણના કારણે જીવની કર્મોથી જુદાઈ જાણી શકાય છે. જીવની સાથે મળી જવા છતાં પણ કર્મપુદ્ગલોની ચૈતન્યરૂપ પરિણતી થતી નથી તે તો માત્ર જીવમાં જ સંભવી શકે છે.

જ્યારે શરીરમાં સ્થિત જીવ જ્ઞાનાદિ ભાવોથી રહિત વિવક્ષા કરવામાં આવે છે ત્યારે તે દ્રવ્ય જીવ કહેવાય છે. લોકમાં જોઈ શકાય છે કે ભવિષ્યમાં રાજા થનાર રાજપુત્ર પણ રાજા જ કહેવાય છે, આ સંજોગોમાં તે માત્ર દ્રવ્ય છે અથવા જેવી રીતે મુનિજીવનું શરીર પૃથ્વી અગર શિલા ઉપર અથવા સંસ્તારક ઉપર રહેલ હોય તો તે મુનિ કહેવાય છે.

આ રીતે જીવના ચાર પ્રકાર છે – નામજીવ, સ્થાપનાજીવ, દ્રવ્યજીવ તથા ભાવજીવ, નામનો અર્થ છે સંજ્ઞા. કોઈ સચેતન અથવા અચેતન દ્રવ્યનું જીવ એવુ નામ રાખવામાં આવે તો તે દ્રવ્ય નામ જીવ કહેવાય છે. કાષ્ટ, પુસ્તક, ચિત્ર, કર્માક્ષ નિક્ષેપ વગેરેમાં જીવના આકારને સ્થાપિત કરવો સ્થાપના જીવ કહેવાય છે. દ્રવ્યજીવ તથા ભાવજીવ અગાઉ કહેવાઈ ગયેલ છે. આ પૈકી દ્રવ્યજીવ અને ભાવજીવ યુક્તિથી સંપન્ન છે જ્યારે નામજીવ તથા સ્થાપનાજીવ સર્વથા જ્ઞાન વગેરે ગુણોથી પર હોવાના કારણે અનુપાદેય છે તેઓ ક્યારેય પણ ઉપાદેય નથી. પદાર્થનું **નામ રૂપ** નામનિક્ષેપ અને આકૃતિ વિશેષરૂપ સ્થાપનાનિક્ષેપ છે. આ બંને તુચ્છ હોવાના કારણે લગીર પણ વસ્તુના જ્ઞાપક નથી.

આ બંને નિક્ષેપ જ્ઞાન ક્રિયા વગેરે ગુણોથી શૂન્ય હોવાના કારણે તથા ભાવશૂન્ય હોવાના કારણે .... કોઈ ભરવાડના બાળકનું ઈન્દ્ર આદિ નામ રાખવામાં આવે તો પણ તે ઈન્દ્ર શબ્દને અનુરૂપ અર્થક્રિયા કરી શકતો નથી. બરાબર આ વાત સ્થાપનાનિક્ષેપમાં પણ છે. તેમાં પણ મૂળવસ્તુને અનુરૂપ અર્થક્રિયા કરવાનું સામર્થ્ય હોતું નથી એ પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ થયેલ છે. કોઈનું મંતવ્ય છે કે જેવી રીતે મૂર્તિમાં રૂપ સ્થાપના જોવાથી ભાવમાં ઉલ્લાસ થાય છે તેમ નામ સાંભળવાથી ઉલ્લાસ થતો નથી આ જ નામ અને સ્થાપનાનો તફાવત છે. આ જ કારણ છે કે ઈન્દ્ર વગેરેની પ્રતિમા રૂપ સ્થાપનામાં લોકોની ભાવનાની પ્રબળતાથી પૂજાની પ્રવૃત્તિ અને ઇચ્છિતની પ્રાપ્તિ દેખાવ છે તેવું નામ ઈન્દ્ર વગેરેમાં હોતું નથી. આ પણ નામ અને સ્થાપનાનો ભેદ છે. આવી જ રીતે બીજા ભેદો પણ સમજી લેવા જોઈએ આ કથન સૂત્ર વિરૂદ્ધ પ્રરૂપણાથી ઉત્પન્ન થનારા અનંતા સંસારનુ કારણ છે.

આગમમાં જે કહેલું છે કે તથારૂપ અરિહંતોના નામગોત્રના શ્રવણમાત્રથી પણ મહાન ફળની પ્રાપ્તિ થાય છે તેમાં નામનિક્ષેપનો વિષય કોઈ પણ રીતે આવતો નથી "અરિહંત ભગવંતોના" એમ કહેવાથી તેજ અર્થમાં પ્રયુકત નામના શ્રવણથી જ મહાન ફળ મેળવી શકાય છે. ગોપાલક (ભરવાડ)ના બાળક વગેરેમાં પ્રયુકત નામના સાંભળવાથી તો ભારવાડ–પુત્ર વગેરે વગેરે વસ્તુઓનો જ બોધ થાય છે તે આત્મપરિણામનો હેતું નથી. નામનિક્ષેપના સ્થળે ભગવાન અરિહંતનું સ્મરણ થવું અસંભવ છે કારણકે નામ નિક્ષેપ ભાવશૂન્ય હોય છે.

ભાવ જિનના બોધક નામનું શ્રવણ જ મહાન ફળ આપનાર છે એવી રીતે સ્થાપના પણ ભાવરૂપ અર્થથી શૂન્ય હોય છે. સ્થાપનાનો ભાવરૂપ અર્થથી કોઈ જ સંબંધ નથી, ભાવજિનના દેહની જે આકૃતિ હતી તેના આશ્રય–આશ્રયી ભાવ સંબંધ ભાવજિન સાથે તે સમયે વિદ્યમાન હતી જેવી રીતે ભાવજિનનું દર્શન કરનાર કોઈ પુરુષને તે સમયે ભાવોલ્લાસ પણ માનો. કે થયો તેવી જ રીતે ભકિતપૂર્વક તે આકૃતિનું સ્મરણ કરનાર પુરુષને પણ તેવો જ ભાવોઉલ્લાસ સંભવી શકે છે કારણ કે તે સમયે પેલી આકૃતિનો સંબંધ ભાવજિન સાથે હોય છે. પરંતુ સ્થપનાનો ભાવજિનની સાથે સંબંધ હોતો નથી. આવી સ્થિતીમાં પ્રતિમા રૂપ સ્થાપના ભાવજિન સાથે સંબંધ ન હોવાના કારણે ભાવજિનનું અથવા તેમના ગુણનું સ્મરણ કેવી રીતે કરાવી શકે ! આથી તેમાં ભાવજિનની સ્થાપના કરવી તે જીનેશ્વરની આજ્ઞાથી ત્યાજ્ય છે તેમ જ પ્રવચનથી વિરૂદ્ધ છે. આમ કરવું ઉચિત નથી.

સર્વથા કુપ્રાવચનિકોના દ્રવ્યાવશ્યકની જેવી મૂર્તિનું પૂજન કરનાર તથા કરાવનાર મિથ્યાદૃષ્ટિપણું જ પ્રાપ્ત કરતા હોય છે. તેઓ સમ્યક્ત્વને પ્રાપ્ત નથી જ કરતા. અનુયોગદ્વારમાં કથિત ટીકા અનુસાર અત્રે પણ નામ તથા સ્થાપના નિક્ષેપ તુચ્છ હોવાના કારણે વસ્તુના સાધક થઈ શકતા નથી એવું સમજી લેવુ જોઈએ ॥ સૂ૦ ૨ ॥

'समणायाऽमणाया'

મૂલસૂત્રનો અર્થ.– સંસારી જીવ બે પ્રકારના છે– સમનસ્ક અને અમનસ્ક ॥ ૩ ॥

પૂર્વસૂત્રમાં જીવના લક્ષણનું નિરૂપણ કરવામાં આવેલ છે. હવે ભેદ વગેરે દ્વારા જીવના વિશેષ સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ–"**समणाया** ઈત્યાદિ સંસારી જીવ સંક્ષેપથી

બે પ્રકારના છે. સમનસ્ક અને અમનસ્ક. મન બે પ્રકારના છે. દ્રવ્યમન અને ભાવમન, પુદ્ગલ-વિપાકી કર્મના ઉદયની અપેક્ષાથી દ્રવ્યમન કહેવાય છે અને વીર્યાન્તરાય તથા નોઈન્દ્રીયાવરણુ કર્મના ક્ષયોપશમની અપેક્ષાથી આત્માની વિશુદ્ધતાને ભાવમન કહે છે.

આ પ્રકારના દ્રવ્યમન અને ભાવમનથી જોડાયેલા જીવો સમનસ્ક કહેવાય છે. અગાઉ કહેલા દ્રવ્યમનથી રહિત, માત્ર ભાવમનથી જ ઉપયોગ માત્રથી યુકત જીવ અમનસ્ક કહેવાય છે. આ રીતે દ્રવ્યમન હોવાથી અથવા ન હોવાથી સંસારી જીવ અનુક્રમે બે પ્રકારના હોય છે. સમનસ્ક અને અમનસ્ક.

આશય આ છે કે-મનની નિષ્પત્તિ માટે વસ્તુના સ્વરૂપને ઓળખવા માટે આત્મા દ્વારા ગ્રહણુ કરેલ સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમાં રહેલા દલિકદ્રવ્ય રૂપ મનપર્યાપ્તીકરણુ દ્વારા જીવ ચિંતન કરવા માટે જે અનન્તપ્રદેશી મનોવર્ગણાના યોગ્ય પુદ્ગલસ્કંધોને ગ્રહણુ કરે છે તે મનઃપર્યાપ્તિ રૂપ કરણુવિશેષ વડે ગ્રહણુ કરાયેલા પુદ્ગલસ્કન્ધ દ્રવ્યમન કહેવાય છે.

ચિત્ત, ચેતના, યોગ અધ્યયસાન, અવધાન સ્વાન્ત તથા મનસ્કાર રૂપ જીવનો ઉપયોગ ભાવમન કહેવાય છે. આ મન રૂપ કરણને અરિહંત ભગવાન શ્રુત જ્ઞાનાવરણના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થવાં વાળા માને છે. તાત્પર્ય આ છે કે મન વાળા જીવને જ ધારણા જ્ઞાન હોય છે બીજાને હોતું નથી આ રીતે દ્રવ્યમન અને ભાવમનથી યુકત જીવ જ સમનસ્ક અથવા સંજ્ઞી કહેવાય છે. જે જીવો મન· પર્યાપ્તિ રૂપ પ્રકારથી રહિત છે. પરન્તુ ફકત ઉપયોગ રૂપ ભાવમનથી યુકત છે, તે જીવો અમનસ્ક કહેવાય છે. આ અમનસ્ક જીવોની મન·પર્યાપ્તિ રૂપ કરણુની પ્રાપ્તિ થવા પર ચેતના અત્યન્ત ક્ષણિક હોય છે જેવી રીતે કોઈ ઘરડા માણુસને લાકડીનો સહારો મળે તેમ દ્રવ્યમનની મદદથી સંજ્ઞી જીવ સ્પષ્ટ રૂપથી ચિંતન કરે છે.

(૩) નારક, દેવ, ગર્ભજમનુષ્ય તથા પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ સમનસ્ક હોય છે. આ સિવાયના બીજા જીવ અમનસ્ક કહેવાય છે. ઈહા, અપોહથી યુકત અને સમ્પ્રધારણુ સંજ્ઞાથી સંજ્ઞી જીવ સમનસ્ક કહેવાય છે.

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત —પૂર્વસૂત્રમાં જીવના લક્ષણનું નિરુપણુ કરવામાં આવ્યું છે. હવે ભેદ વગેરે કહીને તેના વિશેષ સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ "**समणायाऽमणाया** સંસારી જીવ સંક્ષેપથી બે પ્રકારના છે સમનસ્ક અને અમનસ્ક. અત્રે સમનસ્કામનસ્ક એવા સમાસયુકત પદના પ્રયોગ દ્વારા એ પ્રગટ કરમાં આવ્યું છે. કે અહીં સંસારી જીવોનો જ સમ્બન્ધ છે, મુકત જીવોનો નહીં સમનસ્ક તથા અમનસ્કનો ભેદ સંસારી જીવોમાં જ હોય છે, મુકત જીવોમાં નહીં.

સિદ્ધજીવ નોઅમનસ્ક કહેવાય છે બારમાં ગુણસ્થાનવર્તી જીવ સંજ્ઞી જ માનેલા છે. તેરમાં અને ચૌદમાં ગુણસ્થાનવર્તિ જીવ તથા સિદ્ધનોસંજ્ઞી નોઅસંજ્ઞી કહેવાય છે. બીજા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશામાં કહ્યું છે પહેલું નરક, ભવનપતિ, વાનવ્યંતર ત્યાં સુધી અસંજ્ઞીતિર્યંચ પંચેન્દ્રિય જીવ ઉત્પન્ન થાય છે, કેટલાક સમય સુધી અસંજ્ઞી રહી પાછા તે સંજ્ઞી થઈ જાય છે. ॥ સૂ૦ ૩ ॥

संसारिणो मुक्ताय

મૂલાર્થ—જીવ બે પ્રકારના છે સંસારી અને મુક્ત ॥ ૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં સંસારી જીવોના સમનસ્ક તથા અમનસ્ક એ બે ભેદ જોઈ ગયા હવે સામાન્ય જીવોના બે ભેદ કહીએ છીએ–સંસારી અને મુક્ત. સંસરણ એટલે સંસાર. અર્થાત્ જેના કારણે જીવ એક ભવથી બીજા ભવમાં ગમન કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ કર્મ સંસાર કહેવાય છે. તે આઠ કર્મ આ પ્રમાણે છે. જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ ગોત્ર અને અન્તરાય

આ રીતે સંસારમાં ભ્રમણ કરવાવાળા જીવ સંસારી કહેવાય છે. ક્રોધ, માન, માયા, લોભ વગેરે કષાય અથવા બળવાન મોહ રૂપ સંસાર જેમનામાં વિદ્યમાન છે તેઓ સંસારી કહેવાય છે. જેઓ આ પ્રકારના સંસારથી છૂટી ગયા હોય તે મુક્ત કહેવાય છે સમસ્ત કર્મોથી રહિત જીવ સંસારથી મુક્ત હોવાના કારણે મુક્ત કહેવાય છે

અથવા દ્રવ્યપરિવર્તન, ક્ષેત્રપરિવર્તન, કાલપરિવર્તન ભવપરિવર્તન અને ભાવપરિવર્તન, આ પાંચ પ્રકારના પરિવર્તન રૂપ સંસારથી યુક્ત જીવ સંસારી કહેવાય છે અને જે એનાથી મુક્ત થઈ ગયા છે તે મુક્ત જીવો કહેવાય છે.

આ પૈકી દ્રવ્યપરિવર્તન બે પ્રકારનાં છે–કર્મદ્રવ્યપરિવર્તન તથા નોકર્મ દ્રવ્યપરિવર્તન એક સમયમાં એક જીવે જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્મોનાં જે પુદ્ગલોને ગ્રહણ કર્યા તે કર્મપુદ્ગલ એક સમય વધુ આવલિકાનો ત્યાગ કરી બીજા સમયોમાં નિર્જીર્ણ થઈને તેજ પૂર્વોક્ત ક્રમથી તે જીવના કર્મરૂપમાં પ્રાપ્ત થાય છે. એટલો સમય દ્રવ્યકર્મપરિવર્તન સમજવો.

એક જીવે ઔદારિક વૈક્રિય આહારક એ ત્રણ શરીરો તથા છ પર્યાપ્તિઓને અનુરૂપ જે પુદ્ગલોને એક સમયમાં ગ્રહણ કર્યા હોય તે પુદ્ગલો સ્નિગ્ધ રૂક્ષ વર્ણ, ગંધ રસ તીવ્રતા-મન્દતા અગર મધ્યમ રૂપથી સ્થિત થયા. ત્યારબાદ બીજા વગેરે સમયોમાં નિર્જરાને પામેલા, નહીં ગ્રહણ કરેલા મિશ્ર તથા ગૃહીત પુદ્ગલોને અનંત વાર છોડીને તેજ રીતે, તે જીવના, જેટલા કાળમાં નો કર્મપણાને પ્રાપ્ત થાય છે તેટલો કાળ નો કર્મદ્રવ્યપરિવર્તન કહેવાય છે. આજ રીતે ક્ષેત્રપરિવર્તન વગેરે માટે પણ સમજી લેવું જોઈએ. ॥સૂ૦ ૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં સમનસ્ક તથા અમનસ્કના ભેદથી જીવોના બે ભેદોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે એ જ જીવોના બીજા પ્રકારથી ભેદ બતાવવામાં આવે છે.

અગાઉ કહેલ ઉપયોગ લક્ષણવાળા જીવ સંક્ષેપથી બે પ્રકારના છે–સંસારી અને મુક્ત. જેના કારણે આત્માનુ સંસરણ અર્થાત્ એક ભવથી બીજા ભવમાં ગમન થાય છે–તે આઠ કર્મ સંસાર કહેવાય છે કર્મ આઠ પ્રકારના છે–જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય. વેદનીય, મોહનીય, આયુ, નામ, ગોત્ર અને અંતરાય. જે જીવો આવા સંસારને વશીભૂત છે, તેઓ સસારી કહેવાય છે.

અથવા–બળવાન મોહ રૂપ સંસારવાળા જીવ સંસારી કહેવાય છે અથવા–નારક આદિ અવસ્થા રૂપ સંસારવાળા જીવ સંસારી કહેવાય છે.

જે જીવો આ પ્રકારના સંસારથી નિવૃત્ત થઈ ગયા હોય તે મુક્ત કહેવાય છે અર્થાત્ સમસ્ત કર્મોથી રહિત જીવ સંસારથી મુક્ત કહેવાય છે.

અહીં સમાસ રહિત નિર્દેશ કરવાથી-એવું સૂચિત કરવામાં આવે છે કે આગળ ઉપર કહેવામાં આવનાર ઔપશમિક ક્ષાયિક, ક્ષાયોપશમિક ઔદયિક, પારિણામિક તથા સાન્નિપાતિક સ્વભાવવાળા, સંસારી જીવ હોય છે.

મુક્ત જીવ ક્ષાયિક અને પારિણામિક ભાવો શિવાયના અન્ય ભાવોથી રહિત હોય છે. બહુવચનના પ્રયોગથી એવું સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે કે સંસારી જીવ પણ અનન્ત છે અને મુક્ત જીવ પણ અનન્ત છે. "ચ" પદના પ્રયોગથી એમ સૂચિત થાય છે કે સંસારી જીવોનાં સંજ્ઞી-અસંજ્ઞી વગેરે અનેક પ્રકારના ભેદ હોય છે.

સ્થાનાંગ સૂત્રના બીજા સ્થાન, પ્રથમ ઉદ્દેશક, સૂત્ર ૧૦૧માં કહ્યું છે. સર્વ જીવ બે પ્રકારના કહેલા છે. સિદ્ધ અને અસિદ્ધ. મુક્તજીવ અનન્તરસિદ્ધ, પરમ્પરસિદ્ધ વગેરેના ભેદથી જુદાં છે. ।।સૂ૦ ૪।।

संसारिणो दुविहा तसा थावरा य ।।५।।

મૂલાર્થ:—સંસારી જીવ બે પ્રકારના છે–ત્રસ અને સ્થાવર

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જીવોના ટુંકમાં સંસારી અને મુક્ત, એ બે ભેદ. કહેવાઈ ગયા છે. હવે સંસારી જીવોનાં ભેદ કહીએ છીએ. અગાઉ કહેવાયેલા સંસારી જીવો બે પ્રકારના છે- ત્રસ અને સ્થાવર. જે જીવ ત્રસ નામકર્મના ઉદયથી સ્પષ્ટ સુખ દુઃખ, ઈચ્છા દ્વેષ વગેરેથી જોડાયેલા છે તે ત્રસ કહેવાય છે. સ્થાવર નામકર્મના ઉદયથી જે જીવોના દુઃખ વગેરેનો અનુભવ અસ્પષ્ટ હોય છે તે સ્થાવર કહેવાય છે. બેઇન્દ્રિયવાળા જીવોથી શરૂ કરી દેવપર્યન્તના તમામ જીવો ત્રસ છે પૃથ્વીકાયથી લઈને વનસ્પતિકાય સુધીનાં એકેન્દ્રીય જીવો સ્થાવર કહેવાય છે. અત્રે સરળતાથી સમજવામાં આવે તે માટે પ્રથમ ત્રસ લેવામાં આવ્યા છે કારણકે તેમના માં જીવના લક્ષણ, સુખ વગેરે સ્પષ્ટ પ્રતીત થાય છે.–ચ શબ્દના પ્રયોગથી એમ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે કે આ બંને પ્રકારનાં જીવો બદલાતા રહે છે. અર્થાત્ ત્રસ જીવો મરીને સ્થાવરમાં અને સ્થાવર જીવો ત્રસમાં ઉત્પન્ન થાય છે, જ્યારે બહુવચનો પ્રયોગ કરીને એવું કહેવાનો પ્રયત્ન કરવામાં આવ્યો છે કે ત્રસ જીવો પણ ઘણાં છે અને સ્થાવર પણ તેટલાં જ છે ।।સૂ૦ ૫।।

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આના પહેલાના સૂત્રમાં સંસારી અને મુક્તના ભેદથી જીવોના બે પ્રકાર દર્શાવ્યા હતા અત્રે પ્રથમ નિર્દિષ્ટ સંસારી જીવોના ભેદ દર્શાવવા માટે કહે છે–સંસારી જીવ બે પ્રકારના છે–ત્રસ અને સ્થાવર. જે જીવ ત્રસનામકર્મને આધીન છે તેઓ ત્રસ અને જે સ્થાવર નામકર્મને આધીન છે તે સ્થાવર જીવો કહેવાય છે. બેઈન્દ્રીય, તેઈન્દ્રીય, ચતુરિન્દ્રીય વગેરેથી લઈને અયોગી કેવળી પર્યન્ત ત્રસ જીવ છે.

પૃથ્વીકાય અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય તથા વનસ્પતિકાય એ પાંચ પ્રકારના એકેન્દ્રીય જીવો સ્થાવર છે. આ રીતે ત્રસત્વ અને સ્થાવરત્વ ત્રસનામકર્મ તથા સ્થાવર નામકર્મના ઉદયથી થાય છે. ચાલવા ન ચાલવા પર ત્રસ સ્થાવરપણું નિર્ભર નથી. કદાચ માની લઈએ કે જે ગતિ કરે તે ત્રસ અને જે જડ હોય તે સ્થાવર તો આ માન્યતા આગમથી વિરુદ્ધ ગણાશે કારણ કે આગમમાં બેઇન્દ્રિયથી લઈને અયોગિકેવળી પર્યન્તના જીવોને ત્રસ કહેલા છે. આથી ત્રસત્વ કર્મોદયની અપેક્ષાથી જ સ્વીકારવુ જોઈએ અને નહીં કે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તની અપેક્ષાથી.

ત્રસ જીવોમાં બાર ઉપયોગ મળી આવે છે આથી મુખ્ય હોવાના કારણે સૂત્રમાં તેમનો ઉલ્લેખ પ્રથમ કરવામાં આવેલ છે. સ્થાવર જીવોમાં ત્રણ જ ઉપયોગ હોય છે આથી તેઓ મુખ્ય ગણાય નહીં એ કારણથી જ તેમને પાછળથી ગ્રહણ કરવામાં આવ્યા છે. સ્થાનાંગ સૂત્રના બીજા સ્થાન-પ્રથમ ઉદ્દેશના પાંચમાં સૂત્રમાં કહ્યું છે-સંસાર સમાપન્ન જીવ બે પ્રકારના હોય છે-ત્રસ અને સ્થાવર—

"જીવાભિગમ" સૂત્રની પ્રથમ પ્રતિપત્તિના ૨૭માં સૂત્રમાં કહ્યું છે-ઉદાર-સ્થૂળ ત્રસ પ્રાણી કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉત્તર-ચાર પ્રકારના છે-બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રીય, ચતુરિન્દ્રય અને પંચેન્દ્રિય ॥ સૂ૦ ૫ ॥

तं दुविहा सुहुमा बायराय सू० ६

મૂલાર્થ—સંસારી જીવ પુન બે પ્રકારના છે-સૂક્ષ્મ અને બાદર ॥સૂ૦ ૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં સંસારી જીવોનાં ત્રસ તથા સ્થાવર એ બે ભેદ કહેવાયા છે હવે તેજ સંસારી જીવોનાં પ્રકારાન્તરથી બે ભેદ બતાવીએ છીએ—

સંસારી જીવ પુન બે પ્રકારના છે-સૂક્ષ્મ અને બાદર. આ પૈકી સૂક્ષ્મ જીવ આઠ પ્રકારનાં છે—

(૧) સ્નેહ સૂક્ષ્મ (૨) પુષ્પસૂક્ષ્મ (૩) પ્રાણિસૂક્ષ્મ (૪) ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ (૫) પનકસૂક્ષ્મ (૬) બીજસૂક્ષ્મ (૭) હરિતસૂક્ષ્મ (૮) અણ્ડસૂક્ષ્મ. આથી ભિન્ન પૃથ્વીકાય વગેરે બાદર જીવ છે તે અનેક પ્રકારના છે મુકતજીવો નથી સૂક્ષ્મ, નથી બાદર કે નથી ત્રસ અથવા સ્થાવર ॥સૂ૦ ૬॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમાં સંસારી જીવોનાં ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી બે પ્રકાર કહ્યાં છે હવે એમનાં જ પ્રાકારાન્તરથી બે ભેદોનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ-સંસારી જીવો બે પ્રકારના છે-સૂક્ષ્મ અને બાદર દશવૈકાલિક સૂત્રના આઠમાં અધ્યયનની ૧૫મી ગાથામાં કહ્યું છે-આઠ સૂક્ષ્મ આ રીતે છે-સ્નેહસૂક્ષ્મ, પુષ્પસૂક્ષ્મ, પ્રાણિસૂક્ષ્મ, ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ, પનકસૂક્ષ્મ, બીજ-સૂક્ષ્મ હરિતસૂક્ષ્મ તથા અણ્ડસૂક્ષ્મ.

(એ વાત ધ્યાનમાં રાખવી જોઈએ કે અત્રે જે આઠ સૂક્ષ્મ બતાવવામાં આવ્યા છે તે સૂક્ષ્મ નામકર્મના ઉદયની અપેક્ષાથી નથી, પરંતુ પરિણામની અપેક્ષાથી છેઃ આ આઠ સૂક્ષ્મ સામાન્યતયા દૃષ્ટિગોચર થતાં નથી માટે જ એમને સૂક્ષ્મ કહ્યાં છે)

બાદર જીવ પૃથ્વીકાય વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે. શુદ્ધ પૃથિવી, શર્કરા પૃથિવી, વાલુકા-પૃથિવી-એવી જ રીતે ઉપલ, શિલા, લવણ, ત્રપુ તામ્ર સીસુ ચાંદી સોનુ, હડતાળ, હિંગુલ, મૈનસિલ, સસ્યક, અંજન, પ્રવાળ, અભ્રપટલ, અભ્રવાલુકા, ગોમેદ, રુચકાંગ, સ્ફટિક, લોહિતાક્ષ મરકત, મસારગલ્લ, ભુજગેન્દ્ર, નીલ, ચન્દન, ગૈરિક, હંસગર્ભ, પુલક, સૌગન્ધિક, ચન્દ્રકાન્ત, સૂર્યકાન્ત, વૈડૂર્ય, જલકાન્ત વગેરે બાદર પૃથ્વીકાયિક જીવોનાં ભેદો છે.

એમના સ્થાન આઠ પૃથ્વીઓ, પાતાલ વન; નરક. પ્રસ્તર વગેરે જાણવા જોઈએ.

સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક જીવો કાજળથી ભરેલી કુપ્પીની જેમ સંપૂર્ણ લોકમાં પ્રસરેલાં છે.

બાદર પૃથિવીકાયિક જીવોમાં ચાર લેશ્યાઓ કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત અને તેજો લેશ્યા-હોય છે.

આજ પ્રમાણે હિમ, અવશ્યાય મિહિકા ધૂવર કરક (ઓળા) હરતનુ (પૃથ્વીને ભેદીને નિકળતા જળબિન્દુ). શુદ્ધપાણી, ઠંડુ પાણી, ગરમ પાણી, ક્ષારનું પાણી, ખાટું પાણી, ખારું પાણી ક્ષીરજળ તથા ઘૃતજળ-ઘીનાજેવું પાણી વગેરે બાદર અપ્કાયિક જીવો છે.

સમુદ્ર તળાવ નદી વગેરે બાદર જળકાયિક જીવોનાં સ્થાન છે. સૂક્ષ્મ જળકાયિક જીવોનાં સ્થાન સમ્પૂર્ણ લોક છે.

એવી જ રીતે અંગાર, અર્ચિ, ઉલ્મુક શુદ્ધ અગ્નિ વગેરે બાદર તેજસ્કાયિક જીવ મનુષ્યક્ષેત્ર અર્થાત્ અઢીદ્વીપમાં જ હોય છે એથી આગળ હોતા નથી. સૂક્ષ્મ તેજસ્કાયિક સમ્પૂર્ણ લોકમાં વ્યાપ્ત છે.

પૂર્વી પશ્ચિમી, ઓતરાદી વગેરે હવાઓ તથા ઉત્કાલિકા, મણ્ડલિકા વગેરે હવાઓ બાદર વાયુકાયિક જીવો છે. બાદર વાયુકાયના સ્થાન ઘનવાત તનુવાતવલય. અધોલોકના ભવન વગેરે છે સૂક્ષ્મ વાયુકાયિકોનું સ્થાન સમસ્ત લોક છે.

એવી જ રીતે શેવાળ, અવક, પનક, હળદર, આદુ મૂળા બટાકા, ગુચ્છ, ગુલ્મ, લતા, વિતાન વગેરે વનસ્પતિકાયિક જીવો છે. એમનાંથી જે જુદા છે તે સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાયિક છે. બાદર વનસ્પતિકાયિકોનાં સ્થાન દ્વીપસમુદ્ર વગેરે છે. સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય સમ્પૂર્ણ લોકવ્યાપી સમજવા જોઈએ.

અત્રે એવું સમજવું જોઈએ કે ત્રસત્વ બે પ્રકારનું છે—ક્રિયાથી અને લબ્ધિથી ક્રિયાનો અર્થ છે કર્મ—ચલન એક સ્થળેથી બીજે સ્થળે પહોંચવું અર્થાત્ ગતિ કરવી. આ ક્રિયાની અપેક્ષાથી તેજસ્કાયિક અને વાયુકાયિક જીવો પણ ત્રસ છે. લબ્ધિનો અર્થ છે ત્રસનામ કર્મનો ઉદય એની અપેક્ષાથી તથા ગનમરૂપ ક્રિયાની અપેક્ષાથી બેઇન્દ્રિય વગેરે જીવો જ ત્રસ કહેવાય છે.

સ્થાવરનામકર્મના ઉદય રૂપ લબ્ધિની અપેક્ષાથી બધા પૃથ્વીકાયિક, અપ્કાયિક તેજસ્કાયિક, વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિક જીવો સ્થાવર કહેવાય છે.

મુક્ત જીવો નથી ત્રસ કે નથી સ્થાવર. આથી તેઓ બાદર કે સૂક્ષ્મ કહેવાતા નથી. ત્રસ, સ્થાવર, સૂક્ષ્મ તથા બાદરનો વ્યવહાર માત્ર સંસારી જીવોમાં જ હોઈ શકે છે. ॥સૂ૦ ૬॥

पुणो दुविहा पज्जत्तिया अपज्जत्तिया

મૂલાર્થ—વળી પાછા જીવના બે પ્રકાર બતાવે છે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત ॥સૂ૦ ૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં કહેવાઈ ગયું છે કે સૂક્ષ્મ અને બાદરના ભેદથી સંસારી જીવો બે પ્રકારનાં હોય છે. હવે તેમનાં જ બીજી રીતે બે ભેદ બતાવવામાં આવે છે સંસારી જીવ આ રીતે પણ બે પ્રકારના છે પર્યાપ્ત તથા અપર્યાપ્ત પર્યાપ્તિના ૬ ભેદ છે—(૧) આહારપર્યાપ્તિ (૨) શરીરપર્યાપ્તિ (૩) ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ (૪) શ્વાસોચ્છવાસપર્યાપ્તિ (૫) ભાષાપર્યાપ્તિ (૬) મનઃપર્યાપ્તિ. તૈજસ અને કાર્મણ શરીરવાળા આત્માની કોઈ ક્રિયાથી પૂર્તિ થવી તે પર્યાપ્તિ છે. કર્તા આત્મા છે.

જે કરણ દ્વારા આત્મામાં આહાર વગેરે ગ્રહણ કરવાની શક્તિ પેદા થાય છે, તે કરણ જીવ પુદ્ગલોથી ઉત્પન્ન થાય છે. પુદ્ગલ આત્મા વડે ગૃહીત થઈને અમુક રીતે પરિણમન કરે છે તેજ પર્યાપ્તિ, કહેવાય છે. આહારને ગ્રહણ કરવા માટે સમર્થ, કરણની નિષ્પત્તિ થઈ જવી

તે આહારપર્યાપ્તિ છે શરીર રૂપ કરણુની નિષ્પત્તિ થવી તે શરીરપર્યાપ્તિ છે એજ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ વગેરે પણ જાણી લેવા જોઈએ જે જીવો આ પ્રકારની પર્યાપ્તિઓથી યુક્ત હોય છે તે પર્યાપ્ત કહેવાય છે. જે જીવો આહાર વગેરે પર્યાપ્તિઓથી રહિત હોય છે તેમને અપર્યાપ્ત કહે છે ॥સૂ૦ ૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં સૂક્ષ્મ અને બાદરના ભેદથી જીવોનાં બે ભેદ કહેવામાં આવેલ છે. હવે તેમનાજ પ્રકારાન્તરથી બે ભેદ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ–તે જીવો પર્યાપ્ત તથા અપર્યાપ્તના ભેદથી પુનઃ બે પ્રકારના છે પર્યાપ્તિ અર્થાત્ શકિત ૬ પ્રકારની છે (૧) આહારપર્યાપ્તિ (૨) શરીરપર્યાપ્તિ (૩) ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ (૪) શ્વાસોચ્છવાસપર્યાપ્તિ (૫) ભાષા-પર્યાપ્તિ અને (૬) મન પર્યાપ્તિ કોઈ જીવો આહાર વગેરે પર્યાપ્તિથી યુક્ત હોય છે અને કોઈ–કોઈ તેનાથી રહિત હોય છે તેઓ જ્યાંસુધી પૂર્ણ પર્યાપ્તિ નથી બાંધતા ત્યાંસુધી અપર્યાપ્ત કહેવાય છે. આ કારણથી કોઈ જીવ પર્યાપ્ત અને કોઈ અપર્યાપ્ત કહેવાય છે ॥સૂ૦ ૭॥

बेइंदिय तेइंदिय इत्यादि

મૂલાર્થ—બે ઇન્દ્રિય, ત્રણઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય જીવ ત્રસ છે. ॥સૂ૦ ૮॥

તત્વાર્થદીપિકા—ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી સંસારી જીવ બે પ્રકારના કહેવાઈ ગયા છે. હવે તે ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનું સ્વરૂપ ક્રમશઃ વિસ્તારપૂર્વક કહીએ છીએ.

બે ઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય ચઉરિન્દ્રિય, પંચેન્દ્રિય અને ચ શબ્દને ગ્રહણ કરવાથી બાદર તેજસ્કાયિક તથા વાયુકાયિક જીવ ત્રસ કહેવાય છે.

આ પૈકી જે જીવો સ્પર્શ અને જીભ એ બે ઇન્દ્રિયોથી યુક્ત હોય છે તે બેઇન્દ્રિય કહેવાય છે । જેવા કે–શંખ, છીપ, કોડી વગેરે । જેઓને સ્પર્શ, જીભ તથા નાક એ ત્રણ ઇન્દ્રિયો છે તે ત્રણઇન્દ્રિયવાળા જીવ કહેવાય છે જેવા કે–કંથવા, **વિંછી શતપદી** ઇન્દ્રગોપ, જૂ લીખ, માંકડ, કીડી વગેરે । સ્પર્શ જીભ, નાક તથા આંખ, ધારણ કરનારા ચતુરિન્દ્રય જીવો છે જેવા કે–ડાંસ, મચ્છર, પતંગીયા, ભમરો વીછી વગેરે । અંડજ (ઇંડામાંથી ઉત્પન્ન થનારા) પોતજ, તથા જરાયુજ ચામડાની પાતળી કોથળીમાંથી ઉત્પન્ન થનાર જીવ-પંચેન્દ્રિય કહેવાય છે ॥સૂ૦ ૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી સંસારી જીવોના બે ભેદ કહેવાઈ ગયા છે. હવે તેમનું વિસ્તારથી પ્રતિપાદન કરવા માટે બે સૂત્ર કહીએ છીએ.

બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચઉરિન્દ્રય અને પંચેન્દ્રિય તથા "ચ" શબ્દના ગ્રહણથી બાદર તેજસ્કાયિક અને વાયુકાયિક જીવ ત્રસ કહેવાય છે. એમાં કૃમિ વગેરે બેઇન્દ્રિય કીડિ વગેરે તેઇન્દ્રિય ભ્રમર વગેરે ચઉઇન્દ્રીય તથા મનુષ્ય વગેરે પંચેન્દ્રિય જાણવા જોઈએ. "જીવાભિગમ"ની પહેલી પ્રતિપત્તિના, ૨૭માં સૂત્રમાં કહ્યુ છે–ઉદાર ત્રસ પ્રાણી કેટલા પ્રકારનાં છે–બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રીય ચઉરીન્દ્રીય તથા પંચેન્દ્રિય. જે જીવોમાં સ્પર્શન તથા જીભ બે ઇન્દ્રીયો હોય તે બેઇન્દ્રીય એવી જ રીતે જેઓ સ્પર્શન જીભ તથા નાક એ ત્રણ ઇન્દ્રિયોવાળા હોય તે તેઇન્દ્રિય કહેવાય છે. તેમાં આંખ ઉમેરાતાં ચાર ઇન્દ્રિયવાળા જીવો તથા સ્પર્શન જીભ, નાક આંખ તથા કાનવાળા જીવો પંચેન્દ્રિય કહેવાય છે.

શંખ, છીપ, કોડી વગેરે બેઇન્દ્રિય જીવો છે; કંથવા, **વીંછી શતપદી** જૂં ઇન્દ્રગોપ, લીખ, માંકડ, વગેરે તેઇન્દ્રિય છે, ડાંસ, મચ્છર, પતંગીયા, ભમરો, માખી વગેરે ચતુરિન્દ્રિય છે જ્યારે માણસ, ગાય, ભેંસ, સાપ, ગરોળી વગેરે પંચેન્દ્રિય છે ॥સૂ૦ ૮॥

एगिंदिया पुढवीकाइया पंचथावरा सू० ९

મૂલાર્થ—પૃથિવીકાયિક આદિ પાંચ સ્થાવર એકેન્દ્રિય છે. ॥સૂ૦ ૯॥

તત્વાર્થદીપિકા—આપણે પ્રથમ સંસારી જીવોનો એક પ્રકાર–સ્થાવર કહ્યો–હવે તેના પાંચ ભેદના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવા માટે કહે છેઃ—

જે જીવોમાં ફક્ત એક–સ્પર્શન ક્રિયા દેખાય છે તે પૃથ્વીકાયિક આદિ સ્થાવર કહેવાય છે. આદિ શબ્દથી અપ્કાયિક તેજસ્કાયિક, વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિકનું ગ્રહણ થાય છે એ પાંચ પ્રકારનાં સ્થાવર જીવો છે પરંતુ દેશાન્તર પ્રાપ્તિરૂપ ગતિક્રિયાની અપેક્ષાથી તેજસ્કાયિક તથા વાયુકાયિક પણ ત્રસ કહેવાય છે ॥સૂ૦ ૯॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—હવે પૂર્વોક્ત સ્થાવરોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહે છે. એક સ્પર્શેન્દ્રિયવાળા જીવો સ્થાવર કહેવાય છે. પૃથ્વીકાયિક, અપ્કાયિક, તેજસ્કાયિક, વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિક પાંચ સ્થાવર છે. સ્થાનાંગસૂત્રનાં પાંચમાં સ્થાનના પ્રથમ ઉદ્દેશકના ૩૯૪માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—

સ્થાવરકાય પાંચ કહેવાય છે–(૧) પૃથ્વીસ્થાવરકાય (૨) અપ્સ્થાવરકાય (૩) તેજસ્થાવરકાય (૪) વાયુસ્થાવરકાય અને (૫) વનસ્પતિસ્થાવરકાય ॥સૂ૦ ૯॥

तसा अणेगविहा अंडयाइया

મૂલાર્થ—ત્રસજીવ, અંડજ વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે ॥સૂ૦ ૧૦॥

તત્વાર્થદીપિકાઃ—પહેલા સામાન્યરૂપથી કહેવાઈ ગયેલા ત્રસજીવોના વિશેષ સ્વરૂપ અને ભેદ બતાવવા માટે કહે છે—

ત્રસનામકર્મના ઉદયને આધીન દ્વીન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય પંચેન્દ્રિય વગેરે અયોગિ કેવળી પર્યન્ત છે. તે અનેક પ્રકારના હોય છે તેઓ આ પ્રમાણે છે–અણ્ડજ, જરાયુજ, રસજ, સંસ્વેદજ, સંમૂર્છિમ ઉદ્ભિજ્જ અને ઔપપાતિક જીવોનો જન્મ ત્રણ પ્રકારનો છે–ગર્ભ, સમ્મૂર્છિમ અને ઉપપાત આમાંથી અન્ડજ, પોતજ તથા જરાયુજ જીવ ગર્ભજન્મથી ઉત્પન્ન થાય છે. ઈંડાથી ઉત્પન્ન થનાર સાપ, ગરોળી વગેરે અંડજ છે. જે વગર આવરણથી પેદા થાય છે. એવા સિંહ વાઘ, ચિત્તો વગેરે જરાયુજ છે. ચામડાના પાતળા–આવરણમાં ઉત્પન્ન થનાર ગાય ભેસ. મનુષ્ય વગેરે પણ જરાયુજ કહેવાય છે. દારૂ વગેરે રસમાં પેદા થનાર કૃમિ વગેરે કીડા રસજ કહેવાય છે. પરસેવામાં ઉત્પન્ન થનાદ જૂં વગેરે સંસ્વેદજ જીવ છે. સ્ત્રી પુરુષના સમાગમ વગર ઉત્પન્ન થનાર જીવ સમ્મૂર્છિમ કહેવાય છે સાપ દેડકા મનુષ્ય વગેરે પણ સમ્મૂર્છિમ જન્મથી ઉત્પન્ન થવાના કારણે સમ્મૂર્છિમ કહેવાય છે તો–શુ તેઓ ત્રસજીવ છે. ? પતંગીયા વગેરે ઉદ્ભિજ્જ કહેવાય છે. જ્યારે દેવ તથા નારક ઔપપાતિક હોય છે. ॥સૂ૦૧૦॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વોક્ત ત્રસજીવના ભેદ કહીને હવે તેનું વિગતવાર રૂપથી પ્રતિપાદન કરવા માટે સૂત્રકાર કહે છે ત્રસ અર્થાત્ બે, ત્રણ ચાર પાંચ ઇન્દ્રિયવાળા જીવ અનેક પ્રકારના છે. જેમકે–અન્ડજ પોતજ જરાયુજ, રસજ, સંસ્વેદજ સંમૂર્છિમ ઉદ્ભિજજ, અને ઔપપાતિક–આગળ ઉપર કહેવામાં આવનાર ગર્ભથી, સમ્મૂર્છિમ અને ઉપપાત–આ ત્રણ પ્રકારનાં જન્મોપૈકી અન્ડજ, પોતજ, જરાયુજ જીવોનો ગર્ભથી જન્મ થાય છે.

સાપ ઘો ગરોળી, મચ્છ, કાચબો, શિશુમાર વગેરે તથા હંસ, પોપટ, ગીધ, બાજ, કબૂતર, કાગડો મોર, જળકુકડી, બગલો, બતક મેના વગેરે અન્ડજ જીવો છે.

હાથી, કુતરો, બિલાડી, સસલુ, નોળિયો, ઉંદર, વાગોળ ઘૂવડ તથા ભારંડ પક્ષી તથા વિરાલ વગેરે પોતજ છે.

મનુષ્ય, ગાય, ભેંસ, બકરી ઘેટું, ઉંટ, હરણ, ચમરીગાય, સૂવર, સિંહ, વાઘ, દીપડો, કુતરો, ગીધ, બીલાડો, વગેરે જરાયુજ છે. આ અંડજ, પોતજ અને જરાયુજ જીવોનો ગર્ભજન્મ થાય છે.

બગડી ગયેલા દૂધ વગેરે રસોમાં ઉત્પન્ન થનાર કૃમિ વગેરે રસજ કહેવાય છે. માકડ વિગેરે જીવો પરસેવાથી ઉત્પન્ન થાય છે તેથી તેને સંસ્વેદજ કહે છે માતા–પિતાના સંયોગ વગર જ ઉત્પન્ન થાય છે તેમજ જેઓ ગર્ભજોથી ભિન્ન હોય છે, તે સમ્મૂર્છિમ છે. પૃથ્વીને ભેદીને ઉત્પન્ન થનારા જીવ ઉદ્ભિજજ કહેવાય છે. નારક, ભવનપતિ વાણવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક વૈમાનિક વિગેરે સિદ્ધોને છોડીને બીજા તમામ ઔપપાતિક કહેવાય છે. આ સઘળાં ત્રસ છે. સિદ્ધ ભગવાન નથી ત્રસ કે નથી સ્થાવર બેઇન્દ્રિય વગેરે તિર્યંચ અને કેટલાક મનુષ્ય સમ્મૂર્છિમ હોય છે.

ગર્ભને લપેટનાર ચામડાની પાતળી કોથળીને જડ–જેર કહે છે તેથી ઉત્પન્ન થનારા જીવ જરાયુજ કહેવાય છે. પોતનો અર્થ થાય છે. શાવક જે જરાયુથી ઢંકાયેલા હોતા નથી તેમજ જન્મતાની સાથે જ ચાલવા–ફરવા લાગે છે. તે જીવ પોતજ છે.

જે પક્ષી તથા સાપ વગેરે ઇંડામા પેદા થાય છે તે અન્ડજ કહેવાય છે. જેઓ પોત રૂપ જ જન્મ લે છે, જરાયુથી ઢંકાયેલા નથી જન્મતા, યોનિથી બહાર આવતા જ ચાલવા–ફરવા લાગે છે તેવા હાથી વગેરે પોતજ કહેવાય છે.

અથવા પોતનો અર્થ છે ચામડું, તેનાથી વિટાંયેલા હોય છે. આથી પોત અર્થાત્ ગર્ભના ઢંકાયેલી ચામડીથી જુદા પડવાના કારણે કપડાથી લુંછેલા શરીરથી જે પેદા થાય છે. તે પોતજ કહેવાય છે

જે જરા પ્રાપ્ત કરે તે જરાયુ છે. અર્થાત્ ગર્ભને લપેટવાવાળી ચામડી તેનાથી જન્મ લેનાર મનુષ્ય, ગાય, ભેસ વગેરે જરાયુજ કહેવાય છે.

રસ અર્થાત્ દારૂ અગર વિકૃત મીઠાં રસ વગેરેમાં જન્મનાર જીવ રસજ કહેવાય છે. હૈમકોષમાં કહ્યુ છે–દારૂનોકીડો રસજ કહેવાય છે. પરસેવાથી ઉત્પન્ન થનાર જૂં, લીખ, માંકડ વગેરે સસ્વેદજ કહેવાય છે.

જે જીવ માત–પિતાના સંયોગ વગર જ પેદા થાય છે. તે અમનસ્ક જીવ સંમૂર્છિમ છે.
અથવા આમ તેમથી શરીરનુ બની જવું અવયવોનો સંયોગ થઈ જવો 'મૂર્ચ્છન' કહેવાય

છે તેનાથી જે ઉત્પન્ન થાય તે પણ સમ્મૂર્છિમ કહેવાય છે. કિડી, માખી, માંકડ વગેરે જીવ માતા-પિતાના સંયોગ વગર જ જન્મ લે છે. પૃથ્વીને ભેદીને ઉત્પન્ન થનાર પતંગીયા જેવા જીવો ઉદ્ભિજ્જ કહેવાય છે.

જે ઉપપાતથી જન્મ લે છે. તે ઔપપાતિક છે. ઉપપાતનો અભિપ્રાય છે. દેવતા અને નારકોનો ગર્ભ અને સંમૂર્છન જન્મથી જુદા જ પ્રકારનો જન્મ હોય છે. દેવ સેજમાં (પથારીમાં) ઉત્પન્ન થાય છે અને નારક કુંભ વગેરેમાં જાતે જ ઉત્પન્ન છે.

દશવૈકાલિકસૂત્રના ચોથા અધ્યયનમાં કહ્યું છે કે—"અંડજ, પોતજ જરાયુજ રસજ સંસ્વેદજ, સંમૂર્છિમ ઉદ્ભિજ્જ અને ઔપપાતિક-ગર્ભજ અને સમ્મૂર્છિમ —પ્રજ્ઞાપનાના પ્રથમ પદમાં કહ્યું છે કે—બે પ્રકારના જીવોનો ઔપપાતિક જન્મ થાય છે. દેવોનો તથા નારકોનો—"સ્થાનાંગના ૨-સ્થાન ૩, ઉદ્દેશકમાં ૮૫ મા સૂત્રમાં કહેલ છે.

દારૂ વગેરે રસમાં જે જીવો ઉત્પન્ન થાય છે. તે રસજ કહેવાય છે. મજજા અને શુક્ર, સંસ્વેદ અથવા પરસેવાથી ઉત્પન્ન થનારા સંસ્વેદજ જીવ છે. આમ તેમથી પુદ્ગલોના ભેગા થઈ જવાથી ઉત્પન્ન થનાર જીવો સમ્મૂર્છિમ છે સાપ, દેડકો અને મનુષ્ય વગેરે પણ સમ્મૂર્છિમ જન્મથી પેદા થાય છે.

ભૂમિ લાકડું પથ્થર વગેરેને ભેદીને ઉપર આવી જવું તેને ઉદ્ભેદ કહેવાય છે. તેનાથી જે જીવ ઉત્પન્ન થાય છે. તેને ઉદ્ભિજ્જ કહેલા છે જેમ કે એ પ્રસિદ્ધ છે. કે કોઈએ પથ્થરને ખોદીને દેડકો કાઢેલો. ॥સૂ૦ ૧૦॥

अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया, सू० ११

મૂલાર્થ—સ્નેહકાય, આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ છે. ॥સૂ૦ ૧૧॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા સંસારી જીવોનાં બે ભેદ-સૂક્ષ્મ તથા બાદર કહેવાઈ ગયા. હવે સૂક્ષ્મ જીવોના ભેદ અને તેમના સ્વરૂપની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ-સ્નેહકાય આદિ આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ છે (૧) સ્નેહકાયસૂક્ષ્મ (૨) પુષ્પસૂક્ષ્મ કાય સૂક્ષ્મ (૩) પ્રાણિસૂક્ષ્મ (૪) ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ (૫) પનકસૂક્ષ્મ (૬) બીજ સૂક્ષ્મ (૭) હરિત સૂક્ષ્મ અને (૮) અન્ડજ સૂક્ષ્મ.

આનો અર્થ આ પ્રમાણે છે. ઝાકળ, બરફ ધુમ્મસ વગેરે સ્નેહસૂક્ષ્મ કહેવાય છે. અહીં "સ્નેહ" શબ્દથી પાણી એ અર્થ લેવાનો છે. ગુલર વગેરેના સૂક્ષ્મ ફૂલ પુષ્પસૂક્ષ્મ કહેવાય છે. જે પ્રાણી હલન ચલનથી જ દેખાય છે અને સ્થિત હોવાથી ન દેખાય તેઓ પ્રાણી સૂક્ષ્મ કહેવાય જેવા કે કંથવા વગેરે નાની નાની 'કીડીઓનો' સમૂહ-કીડી નગર-ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ છે. આ પ્રાણી ઘનીભૂત હોવા છતાં પૃથ્વી વગેરે જેવા હોવાથી સહેજમાં દેખી શકાતા નથી. વર્ષાકાળમાં ભૂમિ અને લાકડા વગેરેની ઉપર જે પાંચ વર્ણોની લીલ-ફૂગ ઉત્પન્ન થાય છે તે પનકસૂક્ષ્મ છે. શાલિ આદિ તુપના મોઢા જેનાથી અંકુર ઉત્પન્ન થાય છે તે બીજસૂક્ષ્મ કહેવાય છે. નવું ઉત્પન્ન થનાર અને રૂપરંગનું હોવાના કારણે જે સહેલાઈથી દેખાતું નથી તે હરિતસૂક્ષ્મ છે માખી, કીડી, ગરોળી વગેરેના નાના નાના ઈંડા અન્ડસૂક્ષ્મ કહેવાય છે ॥સૂ૦ ૧૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ કહેવાઈ ગયું છે કે સૂક્ષ્મ તથા બાદરના ભેદથી જીવ બે પ્રકારના છે-હવે એમાંથી સૂક્ષ્મ જીવોનાં ભેદોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ તીર્થંકર વગેરેએ સ્નેહસૂક્ષ્મ વગેરે પર્વોક્ત આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ જીવો કહેલા છે. તીર્થંકર વગેરેએ

આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ નાના નાના જીવો કહેલા છે તે આ પ્રમાણે છે–(૧) સ્નેહસૂક્ષ્મ (૨) પુષ્પ-સૂક્ષ્મ (૩) પ્રાણિસૂક્ષ્મ (૪) ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ (૫) પનકસૂક્ષ્મ (૬) બીજસૂક્ષ્મ (૭) હરિતસૂક્ષ્મ અને (૮) અન્ડજસૂક્ષ્મ કહ્યુ પણ છે આઠ સૂક્ષ્મ છે જેમકે–સ્નેહસૂક્ષ્મ પુષ્પસૂક્ષ્મ પ્રાણીસૂક્ષ્મ ઊત્તિંગસૂક્ષ્મ પનકસૂક્ષ્મ બીજસૂક્ષ્મ, હરિતસૂક્ષ્મ અને અન્ડજસૂક્ષ્મ.

અહીં "સ્નેહ" પદથી અપ્‌કાય વિશેષ ગ્રહણ કરવામાં આવેલ છે.

કુંજટિકા–ધુમ્મસ (ઝાકળનું પાણી) હીમ વિગેરે સ્નેહસૂક્ષ્મ કહેવાય છે.

ગૂલર (એક જાતનું ઝાડ) ના ફૂલની જેમ જે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ પુષ્પ છે. તેઓ પુષ્પ સૂક્ષ્મ કહેવાય છે. જે પ્રાણીઓ એટલા નાના છે કે જે હાલતા–ચાલતા હોય ત્યારે જ દેખાય છે. સ્થિર હોય ત્યારે દેખાતા નથી તે કંથવા વગેરે પ્રાણિસૂક્ષ્મ કહેવાય છે. નાની–નાની કીડીઓ વગેરેનો સમૂહ–કીડીયારા ઉત્તિંગ સૂક્ષ્મ કહેવાય છે. આ જીવ એટલા નાના હોય છે કે ઘણી સંખ્યામાં ભેગા થવા છતાં પણ પૃથ્વીના રૂપ–રંગ ના જેવા હોવાથી જીવ રૂપે દેખાતાં નથી ચોમાસામાં જમીન તથા લાકડા વગેરે ઉપર પંચવર્ણી જે કોઈ લીલ–ફૂલ કૃમી થાય છે. તે જ્યારે સહજ પણ દેખાતા નથી ત્યારે પનકસૂક્ષ્મ કહેવાય છે. ડાંગર વગેરેના પુષ્પના મુખ જેનાથી અકુંરની ઉત્પત્તિ થાય છે તેને બીજસૂક્ષ્મ કહેવાય છે નવા–નવા ઉત્પન્ન થનાર જમીનના રંગના હરિતકાય હરિત સૂક્ષ્મ કહેવાય છે, જે સાધારણતયા દેખાતા નથી, માખી કીડી ખીસકોલી, વગેરેના ઘણા જ નાના–નાના અન્ડોને અન્ડસૂક્ષ્મ કહે છે ॥સૂ૦ ૧૧॥

बायरा अणेगविहा पुढवीकाइया, सू० १२

મૂલાર્થ—બાદર જીવ પૃથ્વિકાય વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે. ॥સૂ૦ ૧૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સંસારી જીવોનો એક ભેદ બાદર કહેવાય ગયો–પૃથ્વીકાયિક આદિ બાદર જીવ અનેક પ્રકારના છે. જેમ કે–પૃથ્વિકાયિક અપ્‌કાયિક વાયુકાયિક તેજસ્કાયિક અને વનસ્પતિકાયિક. એમાં સૂક્ષ્મતા હોવા છતા પણ બાદરતા પણ દેખાઈ શકે છે ॥૧૨॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં સૂક્ષ્મજીવોનોં આઠ પ્રકારનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે હવે બાદર જીવોના ભેદ બતાવીએ છીએ–પૃથ્વીકાય આદિ બાદર જીવ અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે. અહીં આદિ શબ્દથી અપ્‌કાયિક વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિક આદિ સમજી લેવા જોઈએ.

આ જીવ સૂક્ષ્મ હોવા થકા બાદર પણ હોય છે અર્થાત્ એમાં જે અત્યન્ત નાના હોય છે. તે સૂક્ષ્મ, અને જે અનાયાસે જ દૃષ્ટિગોચર થઈ જાય છે તે બાદર કહેવાય છે.

એ પહેલા પણ કહેવાઈ ગયું છે કે અહીં સૂક્ષ્મ અને બાદરના જે ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે તે જીવોના શરીરની સૂક્ષ્મતા અને સ્થૂળતાની અપેક્ષા એ છે. સૂક્ષ્મ નામકર્મનાં ઉદય અને બાદર નામકર્મના ઉદયવાળા જે સૂક્ષ્મ અને બાદર જીવ શાસ્ત્રોમાં કહેવામાં આવ્યા છે અત્રે તેમનો ઉલ્લેખ નથી. ॥૧૨॥

मुत्ता अणेगविहा तित्थसिद्धाइया.

મૂલસૂત્રાર્થ—મુક્તજીવ તીર્થસિદ્ધ આદિના ભેદથી અનેક પ્રકારના હોય છે.

તત્વાર્થદીપિકા—સંસારી અને મુક્તના ભેદથી બે પ્રકારના જીવોનું કથન કરવામાં આવ્યું છે તેમાંથી અહીં મુક્તજીવોનું સ્વરૂપ કહીએ છીએ—સમસ્ત કર્મોના ક્ષય રૂપ મોક્ષને પ્રાપ્ત થવાવાળા મુક્ત જીવ અનેક પ્રકારના છે. તે આ મુજબ છે.—તીર્થસિદ્ધ અતીર્થસિદ્ધ આદિ નન્દીસૂત્રના ૨૧ સૂત્રમાં કહેલા છે. આ રીતે અનન્તરસિદ્ધ પરમ્પરા સિદ્ધ આદિ ભેદ પણ જાણી લેવા જોઈએ ॥૧૩॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—સંસારી અને મુક્તના ભેદથી બે પ્રકારના જીવોમાં સંસારી જીવોની આઠ સૂત્રોમાં પ્રરૂપણા કરેલ છે. હવે કર્મપ્રાપ્ત મુક્ત જીવોનું પ્રતિપાદન કરવામાં છે—

સઘળા કર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ મેળવનારા જીવો મુક્ત કહેવાય છે તે અનેક પ્રકારના છે. એમા અનન્તરસિદ્ધ જીવ પંદર પ્રકારના છે–(૧) તીર્થસિદ્ધ (૨) અતીર્થસિદ્ધ (૩) તીર્થંકરસિદ્ધ (૪) અતીર્થંકરસિદ્ધ (૫) સ્વયંબુદ્ધ (૬) પ્રત્યેકબુદ્ધ (૭) બુદ્ધબોધિતસિદ્ધ (૮) સ્ત્રીલિંગસિદ્ધ (૯) પુરુષલિંગસિદ્ધ (૧૦) નપુંસકલિંગસિદ્ધ (૧૧) સ્વલિંગસિદ્ધ (૧૨) અન્યલિંગસિદ્ધ (૧૩) ગૃહસ્થલિંગસિદ્ધ (૧૪) એકસિદ્ધ અને (૧૫) અનેકસિદ્ધ.

આ ભેદ નન્દીસૂત્રના ૨૧ માં સૂત્રમાં કહેલ છે, એનો અર્થ સુસ્પષ્ટ છે. તીર્થંકર દ્વારા તીર્થની સ્થાપના થઈ જવા પર જેઓ સિદ્ધ થાય તેઓ તીર્થસિદ્ધ કહેવાય છે. વળી કહ્યું પણ છે સમસ્ત કર્મોનો ક્ષય થવાથી જીવ ઉપર નિર્વાણ તરફ જાય છે. જેવી રીતે બળતણ બળી જવાથી અને નવુ બળતણ ન મળવાથી અગ્નિ નિર્વાણને પ્રાપ્ત કરે છે તેમ. ॥સૂ૦ ૧૩॥

जीवस्स छ भावा ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—જીવના છ ભાવ હોય છે. ઔદયિક ઔપશમિક, ક્ષાયિક, મિશ્ર (ક્ષાયોપશમિક) પારિણામિક અને સાન્નિપાતિક ॥સૂ૦ ૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સંસારી અને મુક્તના ભેદથી તથા સૂક્ષ્મ–બાદર સમનસ્ક–અમનસ્ક વગેરેના ભેદથી જીવોનું નિરૂપણ કરવામાં આવેલ છે. હવે, તે જીવોનાં સ્વરૂપભૂત ઔદયિક વગેરે છ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ–બોધમય, ઉપયોગવાન જીવના તીર્થંકરોએ છ ભાવ કહ્યા છે. (૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪) મિશ્ર (ક્ષાયોપશમિક) (૫) પારિણામિક અને (૬) સાન્નિપાતિક.

જીવની ભવન અથવા થવા વાળી પરિણતિને ભાવ કહે છે. દ્રવ્યક્ષેત્ર કાળ, ભાવના નિમિત્તથી કર્મોના ફળની પ્રાપ્તિ થવી ઉદય કહેવાય છે. જેવી રીતે પાણીમાં કાદવનું ઉભરાવું.

એ રીતે કર્મોદયથી ઉત્પન્ન **થવા વાળો** ભાવ ઔદયિક ભાવ કહેવાય છે.

આત્મામાં કર્મની શક્તિનો કારણવશ અનુદ્ભવ થવો તે ઉપશમ કહેવાય છે જેવી રીતે ફટકડી વગેરે દ્રવ્યોના ઉપયોગથી પાણીમાં કચરાનું તળીયે બેસી જવું.

કર્મોનુ કાયમ માટે શાન્ત થઈ જવુ તે ઔપશમિક છે. જેવી રીતે કાચ વગેરે પાત્રમાં સ્થિત અગર વાદળમાં સ્થિત પાણીમાં મેલનો અત્યંત અભાવ હોય છે. તેમ કર્મોનો સર્વથા નાશ થવો એ ક્ષાયિક ભાવ છે. બને અવસ્થાઓનું મિશ્રણ મિશ્ર અગર ક્ષયોપશમ કહેવાય

છે. જેવી રીતે કુવા અગર તળાવનાં પાણીમાં કચરાલું થોડું થોડું ઓછું થવું અગર ન થવું તે ક્ષાયોપશમિક ભાવ છે. જે ભાવ સ્વતઃ રહે છે કર્મના ઉદય વગેરેની **અપેક્ષા** રાખતો નથી તે પારિણામિક ભાવ છે.

આ રીતે કર્મના ફળ-વિપાકના પ્રગટ થવા રૂપ ઉદયથી જન્મનાર ભાવ ઔદયિક છે. રખ્યાથી ઢંકાયેલ અગ્નિની જેમ કર્મની અનુત્પાદ અવસ્થાને ઉપશમ કહે છે ઉપશમથી ઉત્પન્ન ભાવ ઔપશમિક કહેવાય છે.

કર્મના ક્ષયથી નિષ્પન્ન થવાવાળો ભાવ ક્ષાયિક છે. કર્મના ક્ષય અને ઉપશમથી થવાવાળો ભાવ મિશ્રભાવ કહેવાય છે. જે ભાવ કોઈ કર્મના ઉદય, ઉપશમ, ક્ષય અગર ક્ષયોપશમથી નહી પરંતુ સ્વભાવથી જ થાય છે તે પારિણામિક ભાવ છે અને ઔદયિક વગેરે ભાવોના સમ્મિલનથી ઉત્પન્ન થવાવાળો ભાવ સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે.

આમાં ઔદયિક વગેરે પાંચ ભાવ કર્મનિ અપેક્ષાથી થાય છે. આથી તેઓ નૈમિત્તિક છે. પરંતુ પારિણામિક ભાવ કર્મના ઉદય વગેરેથી થતા નથી આથી તેઓ સ્વાભાવિક કહેવાય છે. આ છ પ્રકારના ભાવ યથાયોગ્ય ભવ્ય અથવા અભવ્ય જીવના સ્વરૂપ છે મિથ્યાદષ્ટિ અને અભવ્ય જીવોને ઔપશમિક તથા ક્ષાયિક ભાવની પ્રાપ્તિ કદાપી થતી નથી. આ બંને ભવ્ય જીવોને જ થાય છે. પારિણામિક ભાવ બંને પ્રકારના જીવોને થાય છે.

સાન્નિપાતિક ભાવ એક સાથે એક જીવમાં પ્રાપ્ત થાય છે. ઔપશમિક આદિ ભાવોમાંથી બે કે ત્રણ વગેરેના સંયોગથી ઉત્પન્ન થાય છે. મિશ્રભાવમાં તેનો અન્તર્ભાવ થઈ શકે છે. તેમ છતાં આગમસાખીતિના કારણે તેને જુદુ ગ્રહણ કરવામાં આવેલ છે અને ઔદયિક વગેરે સાન્નિપાતિકનો મિશ્રમાં અન્તર્ભાવ થતો પણ નથી ॥સૂ૦ ૧૪॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પ્રથમ જીવોનાં સંસારી તથા મુકતના ભેદ બતાવી તથા તેમના અવાન્તર ભેદોનું પ્રતિપાદન કરીને વિશદ નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે. હવે તે જીવોના સ્વરૂપ ભૂત ઔદયિક વિગેરે છ ભાવોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ ચેતના લક્ષણવાળા જીવના છ ભાવ કહેવામાં આવ્યા છે. જેમકે-(૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪) મિશ્ર (૫) પારિણામિક (૬) અને સાન્નિપાતિક.

કોઈ પદાર્થને ગ્રહણ કરવાના વ્યાપારરૂપ લક્ષણવાળા જીવના જ્ઞાન અને દર્શન બને પ્રકારના વ્યાપારમાં ચૈતન્યરૂપથી સ્વાભાવિક પરિણામ સરખુ જ હોય છે, જ્ઞાન તથા દર્શન ચૈતન્ય કહેવાય છે.

આ જીવનનું સ્વાભાવિક પરિણામ છે એમા જ્ઞાન સાકાર છે જ્યારે દર્શન નિરાકાર હોય છે.

સ્વાભાવિક ચૈતન્યરૂપ પરિણતિને પ્રાપ્ત કરતો થકો જ્ઞાન દશન રૂપ ઉપયોગ કર્મની. સાથે આત્માના અયોગોલક (લોખંડના ગોળા) ની જેમ પરસ્પર પ્રદેશબન્ધ હોવા છતાં પણ ભિન્નતાનું જ્ઞાન કરાવે છે તાત્પર્ય એ છે કે આત્મા જો કે કર્મોથી બધાયેલ છે-એક મેક થઇ રહ્યો છે તો પણ પોતાના ચૈતન્ય સ્વભાવથી તેમનાથી જુદા તરીકે ઓળખાય છે અવયવ રૂપ પ્રદેશ જીવાવયવોનો પરસ્પર સંયોગ કદી-કદી દઢ હોય છે અને કદી-કદી શિથિલ હોય છે.

પોતાનું ફલ પ્રદાન કરવા માટે ઉન્મુખ, ઉદયમાં આવેલા કર્મના અવયવ જીવાત્માના અવયવ-સંયોગને શિથીલ કરીને અંદર પ્રવેશ કરી જાય છે. જીવ અને કર્મના પરસ્પર મિશ્રણ રૂપ પ્રવેશ બન્ધના કારણે જીવ કર્મની સાથે એકરૂપ થઈ જાય છે. તે લોઢાના પિન્ડાની જેમ ભિન્ન થતો નથી.

સારાંશ એ છે કે જેમ દૂધ અને પાણી એકબીજામાં મળી જવાથી અલગ–અલગ પ્રતીત થતાં નથી તેવી જ રીતે આત્મા અને કર્મ એક મેક થઈ જાય છે તો બંને પૃથક્–પૃથક્ જણાતા નથી; તો પણ ઉપયોગ રૂપ લક્ષણ ના કારણે જીવ પોતાની સાથે આવેલા કર્મદળોથી પૃથક્ ઓળખાય છે. ઉપયોગની અવસ્થામાં કર્મ પુદ્ગલોના ચૈતન્ય રૂપથી પરિણતી થતી નથી આથી જીવ પણામાં સમાન રૂપથી મળતાં ચૈતન્ય, ઉપશમ, ક્ષય અને ક્ષયોપશમથી ઔપશમિક ક્ષાયિક ક્ષાયોપશમિક ભાવથી તથા કર્મોદયના વશથી કલુષિત આકારથી પરિણત જીવપર્યાયની વિવક્ષામાં જીવના સ્વરૂપ હોય છે.

ભવત્ અર્થાત્ થવાને "ભાવ" કહે છે. અહીં ભાવમાં ઘઞ્ પ્રત્યય થયો છે. એવી રીતે જીવ ભવન રૂપ પરિણામને ભાવ કહે છે.

દ્રવ્યાદિનું નિમિત્ત મેળવીને કર્મોના ફળની પ્રાપ્તિ થવી ઉદય કહેવાય છે જેમ પાણીમાં કાદવનું આવવું તેમ કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનાર ભાવ ઔદયિક ભાવ કહેવાય છે. કર્મની શકિતનુ આત્મામાં કારણવશાત્ દબાઈ રહેવું ઉપશમ છે, જેમ ફટકડી આદિ દ્રવ્યોના સંયોગથી પાણીમાં કચરો નીચે બેસી જાય છે. કર્મોની આત્યન્તિક નિવૃત્તિને ક્ષય કહે છે, ક્ષય અને ઉપશમના મિશ્રણને ક્ષાયોપશમ કહેવાય છે જેવી રીતે કુવામાં રહેલા પાણીમાં કાદવની થોડી ક્ષીણતા અને થોડી અક્ષીણતા હોય છે. દ્રવ્યનું સ્વાભાવિક રૂપ પરિણામ કહેવાય છે. કર્મના વિપાકનુ પ્રકટ થવું ઉદય છે અને ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા ભાવને ઔદયિક ભાવ કહેવામાં આવેલ છે. જેમ અગ્નિને રખ્યાથી ઢાંકી દઇએ તો તેની શકિત પ્રકટ થતી નથી તેવી જ રીતે કર્મની શકિતનું દબાયેલ અવસ્થામાં રહેવું ઉપશમ કહેવાય છે અને ઉપશમથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ઔપશમિકભાવ છે. આ પણ જીવની એક અવસ્થા છે.

આવી જ રીતે કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ક્ષાયિક અને ઉપશમથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ક્ષાયોપશમિક અને આત્માનું પરિણામ જ પારિણામિક ભાવ છે. પરિણામ જેનું પ્રયોજક હોય અથવા પરિણામથી જે ઉત્પન્ન થાય તે પારિણામિક ભાવ એમ સમજવું ન જોઈએ હકીકતનાં પારિણામિક ભાવ તેજ કહેવાય છે. જે કોઈપણ કર્મના ઉદય ક્ષય, ક્ષયોપશમ અગર ઉપશમની અપેક્ષા રાખતો નથી–બલ્કે સ્વભાવથી જ હોય છે. પારિણામિક કર્મના નિમિત્તથી માનવામાં આવે તો જીવત્વ, ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ સમ્યક્દર્શન આદિની જેમ સાદિ થઈ જશે.

પરિણામ જેનું પ્રયોજન હોય તે પારિણામિક ભાવ છે એવી વ્યુત્પત્તિ માની લઈએ. તો તેનાથી પહેલી અવસ્થામાં જીવનોઅભાવ હોવાથી તેની આદિ થઈ જશે એવી જ રીતે પરિણામથી ઉત્પન્ન થનારા ભાવને જો પારિણામિક ભાવ માનીએ તો ઉત્પત્તિથી પહેલા તેની અનુત્પત્તિ માનવી પડશે કારણ કે જે ઉત્પન્ન થતું નથી તેની જ અનુત્પત્તિ હોય છે. આમ માનવાથી પણ પૂર્વોકત દોષની પ્રાપ્તિ થાય છે આ જ વાત ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વતા વિષયમાં પણ સમજવી જોઈએ.

એટલા માટે એજ માનવું યોગ્ય છે. કે પારિણામિક ભાવ અનાદિ કાળથી પ્રસિદ્ધ છે અને તેજ સમસ્ત ભાવોનો આધાર છે. તેના વગર કોઈ પણ ભાવની નિષ્પત્તિ થતી નથી. સિદ્ધ થવા યોગ્ય ભાવ ભવ્યત્વ અને સિદ્ધ ન થવાયોગ્ય ભાવ અભવ્યત્વ કહેવાય છે.

સન્નિપાત જેનું પ્રયોજન હોય તે સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે. આ છ એ ભાવો જીવ પર્યાયની વિવક્ષા થવા પર જીવના સ્વરૂપ કહેવાય છે.

ક્રમથી થનારી અવસ્થાઓ પર્યાય કહેવાય છે. જેમ માટીનો ઘડો, ઠીંકરા કપાલિકા–શકોરા વિગેરે પર્યાય છે, જે એકની પછી બીજા પર્યાયને પ્રાપ્ત થાય છે. તે દ્રવ્ય છે. દાખલા તરીકે–માટી એવી રીતે કર્મનો ઉદય થવાથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ઔદયિક કહેવાય છે. તપ, સંયમ, વૈરાગ્ય વગેરેના કારણે અનુદય રૂપ કર્મના ઉપશમથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ઔપશમિક કહેવાય છે. જેમ પાણીમાં ગંદકી ઉત્પન્ન કરનાર કાદવ જયારે ફટકડી આદિ રસાયણિક દ્રવ્યોના સંબંધથી તળીએ બેસી જાય છે. તો પાણી સ્વચ્છ થઈ જાય છે.

અર્હંત ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદિત તત્ત્વોનાં અનુસંધાનથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મમળનો ક્ષય થઈ જવાથી નિર્મળતા ઉત્પન્ન કરવા વાળો ભાવ ક્ષાયિક કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે કર્મના ક્ષયથી જે ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે તે ક્ષાયિક ભાવ કહેવાય છે. જેમ કચરો જુદો પાડેલ, નિર્મળ તથા સ્ફટિક પાત્રની અંદર રાખેલા જળમાં મલીનતાનો અત્યંત અભાવ થઈ જાય છે

જે ભાવ કર્મના ઉપશમ વિગેરેની અપેક્ષા રાખતો નથી પરંતુ સ્વભાવથી જ થાય છે તે ચૈતન્ય આદિ પારિણામિક ભાવ કહેવાય છે એવી જ રીતે ઔદયિક વગેરે ભાવોના સન્નિપાતથી અર્થાત્ ગંદકીથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે.

આમાં ઔદયિક આદિ પાંચ ભાવો કર્મોદય આદિની અપેક્ષાથી થવાના કારણે નૈમિત્તિક છે, પરંતુ ચૈતન્ય આદિ રૂપ પારિણામિક ભાવ સ્વાભાવિક હોય છે તેમાં કર્મના ઉદય આદિની અપેક્ષા રહેતી નથી. આ જ છ પ્રકારના ભાવ ભવ્ય અથવા અભવ્ય જીવોનું સ્વરૂપ કહેવાય છે.

આ છ પ્રકારના ભાવોમાંથી મિથ્યાદૃષ્ટિ અને અભવ્ય જીવોને ઔપશમિક અને ક્ષાયિક ભાવ કદાપી થતાં નથી. આ બંને ભાવ ભવ્ય જીવોને જ પ્રાપ્ત થાય છે. પારિણામિક, ઔદયિક, ક્ષાયોપશમિક અને સાન્નિપાતિક ભાવ ભવ્યો અને અભવ્યો–બંનેમાં જ મળે છે.

મિશ્રભાવ ક્ષય અને ઉપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે તે કંઈક–કંઈક ઓલવાયેલી અને કંઈ–કંઈ શાંત અગ્નિના જેવો છે. ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ (પેસેલા) કર્મનો ક્ષય થઈ જવાથી તથા ક્ષેત્ર કર્મનો અનુદ્રેક થવા પર–આ રીતે બંનેની અવસ્થામાં ક્ષયોપશમિક (મિશ્ર) ભાવની ઉત્પતિ થાય છે.

શંકા–ઔપશમિક ભાવ અને ક્ષાયોપશમિક ભાવમાં કોઈપણ તફાવત નથી કારણ કે ઔપશમિક ભાવમાં પણ ઉદિત–ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ કર્મનો ઉદય થતો નથી અને અનુદિત કર્મ ઉપશાન્ત રહે છે.

સમાધાન–ક્ષયોપશમભાવમાં કર્મનો ઉદય પણ રહે છે. ત્યાં પ્રદેશ પણાથી કર્મનું વેદન સ્વીકાર કરવામાં આવ્યું છે પરંતુ તે વિધાનકારી હોતું નથી અર્થાત્ ત્યાં વિપાકની વેદના થતી નથી–ઉપશમ–અવસ્થામાં કર્મનો પ્રદેશોદય પણ થતો નથી. આ જ આ બંનેમાં અન્તર છે.

જો કે ઉમાસ્વાતિકૃત તત્ત્વાર્થસૂત્રમાં ઔપશમિક આદિ પાંચ જ ભાવ કહ્યા છે, સાન્નિપાતિક ભાવ કહેલ નથી તો પણ આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારા આગમપ્રમાણ અનુસાર સાન્નિપાતિક ભાવને પણ પૃથક્ કહેવો જરૂરી છે. સ્થાનાંગસૂત્રના છઠ્ઠા સ્થાનના પ૩૭માં સૂત્રમાં કહ્યું છે–છ પ્રકારના ભાવ કહેવામાં આવ્યા છે તે આ મુજબ છે–(૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪ ક્ષાયોપશમિક (૫) પારિણામિક અને (૬) સાન્નિપાતિક. એવી સ્થિતીમાં મિશ્રનું ગ્રહણ કરવાથી એક જીવમાં ઉત્પન્ન થનારા સાન્નિપાતિક ભાવનો, કે જે ઔપશમિક આદિ ભાવોમાંથી બે, ત્રણ ચાર વગેરેના સંયોગથી ઉત્પન્ન થાય છે, અન્તર્ભાવ થવા પર પણ ઉપરબતાવેલ આગમના પ્રમાણથી તેને જુદો ગ્રહણ કરવો જ યથાયોગ્ય છે ॥૧૪॥

एगवीसइ बेनोट्ठादसतिनेगसेया जहाकमं

મૂળસૂત્રાર્થ—પૂર્વોક્ત છ ભાવોના અનુક્રમથી ૨૧, ૨, ૯, ૧૮, ૩ અને અનેક ભેદ છે ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જીવના ઔદયિક વગેરે છ ભાવોના સ્વરૂપ અને લક્ષણનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે તેમનામાંથી પ્રત્યેકના ભેદ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

અનુક્રમથી ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ છે, ઔપશમિક ભાવના ૨ ભેદ છે, ક્ષાયિક ભાવના ૯ ભેદ છે, મિશ્રરૂપ ક્ષાયોપશમિક ભાવના ૧૮ ભેદ છે, પારિણામિક ભાવના ૩ ભેદ છે અને સાન્નિપાતિકભાવના અનેક ભેદો છે.

ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ—(૧–૪) નરકગતિ, તિર્યંચગતિ, મનુષ્યગતિ અને દેવગતિના ભેદથી ચાર પ્રકારની ગતિ, (૫–૮) ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભના ભેદથી ૪ કષાય, (૯–૧૧) સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, અને નપુંસકવેદના ભેદથી ૩ લીંગ, (૧૨) મિથ્યાદૃષ્ટિ (૧૩) અજ્ઞાન (૧૪) (૧૫) અસિદ્ધત્વ અને (૧૬–૨૧) કૃષ્ણલેશ્યા, નીલલેશ્યા, કપોતલેશ્યા, તેજોલેશ્યા, પદ્મલેશ્યા, અવિરતિ શુકલલેશ્યા આ ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ છે.

જે જોડાયેલ હોય તેને લેશ્યા કહે છે. મનોયોગના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારાં પરિણામ વિશેષ લેશ્યા કહેવાય છે અથવા જે કર્મપુદ્ગલ લિશ્યન્તે અર્થાત્ આત્માની સાથે એકમેક થઈ જાય તેને લેશ્યા કહે છે. લેશ્યા બે પ્રકારની છે–દ્રવ્યલેશ્યા અને ભાવલેશ્યા. કાળા વગેરે રંગવાળા દ્રવ્યવિશેષકોને દ્રવ્યલેશ્યા અને કાળા વગેરે દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા–અધ્યવસાયને ભાવલેશ્યા કહે છે. આ ભાવલેશ્યા કર્મબન્ધના કારણે થાય છે.

કાળા વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી જે અશુદ્ધ પરિણામ વિશેષ ઉત્પન્ન થાય છે તે કૃષ્ણલેશ્યા કહેવાય છે "જે લેશ્યાવાળા દ્રવ્યોને જીવ ગ્રહણ કરે છે તેજ લેશ્યાને અનુરૂપ તેના પરિણામ થાય છે" એમ પ્રજ્ઞાપના સૂત્રનાં લેશ્યાપદમાં કહ્યું છે. એવી જ રીતે વાદળી દ્રવ્યના નિમિત્તથી નીલલેશ્યા થાય છે. નીલ અને રકત બંને વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી કપોતલેશ્યા, રકતવર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી તેજોલેશ્યા, પીત વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી પદ્મલેશ્યા અને શુકલ વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી શુકલ લેશ્યા ઉત્પન્ન થાય છે. ત્યાં અન્તિમ ત્રણે લેશ્યાઓ ક્રમિક ઈષ્ટ, ઇષ્ટતર ઈષ્ટતમ હોય છે આદિની ત્રણે લેશ્યાઓ ક્રમશઃ અનિષ્ટતમ, અનિષ્ટતર, અનિષ્ટ હોય છે.

આ રીતે બધા મળીને ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ હોય છે, જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રમાં છ ભાવોના પ્રકરણમાં ઔદયિકભાવના ઘણા ભેદ બતાવવામાં આવ્યા છે, જેમનું કથન આગળ કહેવાશે. તો પણ તે બધા ઔદયિક ભાવોનો સૂત્રમાં કહેલા ૨૧ ભેદોમાંજ સમાવેશ થઈ જાય છે આથી કોઈ દોષ સમજવો ન જોઈએ. અનુયોગદ્વાર સૂત્રનું કથન આ પ્રકારે છે—

"ઔદયિકભાવ કેટલા પ્રકારના છે ? બે પ્રકારના–ઔદયિક અને ઉદય નિષ્પન્ન. ઔદયિક ભાવ શું છે ? ઔદયિક ભાવ આઠ કર્મપ્રકૃતિઓના ઉદયથી થાય છે તેજ ઔદયિક છે. ઉદય નિષ્પન્ન શું છે ? ઉદય નિષ્પન્ન બે પ્રકારનાં છે–જીવોદયનિષ્પન્ન અને અજીવોદય નિષ્પન્ન.

જીવોદયનિષ્પન્ન કોને કહે છે ? તે અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમ કે–નૈરયિક તિર્યંચ, મનુષ્ય, દેવ, પૃથિવીકાયિક–ત્રસકાયિક, ક્રોધકષાયી–લોભકષાયી–સ્ત્રીવેદક, પુરુષવેદક, નપુંસકવેદક, કૃષ્ણલેશ્યાવાળો યાને શુકલલેશ્યાવાળો, મિથ્યાદષ્ટિ, અવિરત, અસંજ્ઞી, અજ્ઞાની, આહારક. છદ્મસ્થ. સયોગી, સંસારમાં રહેલ જે સિદ્ધ થએલ નથી તે જીવોદય નિષ્પન્ન છે.

હવે અજીવોદયનિષ્પન્ન શું છે ? તે પણ અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમ કે–ઔદારિક શરીર, ઔદારિકશરીરપ્રયોગપારિણામિક દ્રવ્ય, વૈક્રિય શરીર, વૈક્રિયશરીર પ્રયોગપારિણામિક દ્રવ્ય આજ રીતે આહારક શરીર, તૈજસ શરીર કાર્મણ શરીર પણ કહી લેવું જોઇએ. પ્રયોગપરિણામિક વર્ણ ગંધ રસ સ્પર્શ એ બધા અજીવોદયનિષ્પન્ન છે. આ ઉદયનિષ્પન્નનું વર્ણન પુરૂ થયું અને તેની સાથે ઔદયિકભાવનું પ્રતિપાદન પણ સંપૂર્ણ થયું.

ઔપશમિકભાવ સંક્ષેપથી બે પ્રકારના છે–સમ્યક્ત્વ અને ચારિત્ર. અનુયોગદ્વારસૂત્રમાં ઔપશમિક ભાવના પણ અનેક ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે પરંતુ આ સૂત્રમાં ટુંકમાં જ વર્ણન છે આથી સમ્યક્ત્વ તથા ચારિત્ર આ બંને ભેદોમાં જ તે સઘળાનો અન્તર્ભાવ સમજી લેવો. જોઈએ. અનુયોગદ્વારમાં કહ્યું છે—

ઔપશમિક ભાવ કેટલા પ્રકારના છે ? ઔપશમિક ભાવ બે પ્રકારના છે–ઔપશમિક તથા ઉપશમનિષ્પન્ન. ઔપશમિક ભાવ શું છે ? મોહનીય કર્મના ઉપશમથી ઔપશમિક ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. ઉપશમનિષ્પન્ન ભાવ શું છે ? ઉપશમનિષ્પન્નના અનેક ભેદ છે જેવા કે—ઉપશાન્તક્રોધ, ઉપશાન્તલોભ, ઉપશાન્તરાગ, ઉપશાન્તદ્વેષ, ઉપશાન્તદર્શનમોહનીય, ઉપશાન્તચારિત્રમોહનીય, ઉપશાન્ત સમ્યક્ત્વલબ્ધિ, ઉપશાન્ત ચારિત્રલબ્ધિ, ઉપશાન્તકષાય છદ્મસ્થવીતરાગ અહીં ઉપશમનિષ્પન્ન અને ઔપશમિકભાવોનું નિરૂપણ સમાપ્ત થયું.

જેનું સ્વરૂપ પહેલા કહેવાઈ ગયુ તે ક્ષાયિક ભાવના નવ ભેદ છે—(૧) જ્ઞાન (૨) દર્શન (૩) દાન (૪) લાભ (૫) ભોગ (૬) ઉપભોગ (૭) વીર્ય, (૮) સમ્યક્ત્વ તથા (૯) યથાખ્યાત ચારિત્ર. સમસ્ત જ્ઞેય પદાર્થોને જાણવાવાળા અર્થાત્ સમ્પૂર્ણ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થનાર કેવળજ્ઞાન જ આહીં "જ્ઞાન" શબ્દથી ગ્રહણ કરવું જોઈએ. કેવળજ્ઞાન સિવાયના બાકીનાં ચાર જ્ઞાન ક્ષાયિક નહીં પરંતુ ક્ષાયોપશમિક છે કારણ કે તેઓ જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે. દર્શન શબ્દથી અત્રે સમ્પૂર્ણ દર્શનાવરણકર્મના ક્ષયથી અસ્તિત્વમાં આવનાર કેવળદર્શન જ સમજવું જોઈએ, ચક્ષુદર્શનાદિ નહીં. ચક્ષુદર્શનાદિ ક્ષાયિક થઈ શકે, નહીં. તે ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે. સ્વને ત્યજી દેવું તેને દાન કહે છે. આ દાન સમ્પૂર્ણ

દાનાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી પેદા થાય છે, તે ત્રણેય લોકોના જીવોને નવાઈમાં ડૂબાડનારા હોય છે અને યાચક જનો દ્વારા તેનો કદી પણ પ્રતિષેધ થતો નથી.

બીજાથી સમસ્ત સાધનોની પ્રાપ્તિ થવી તે લાભ છે. તે સમ્પૂર્ણ લાભાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી અચિન્તનીય માહાત્મ્ય અર્થાત્ વિભૂતિ સ્વરૂપે ઉત્પન્ન થાય છે. જેની પણ વાંચના કરવામાં આવે છે, આના વડે તે બધાની પ્રાપ્તિ થાય છે, ક્યારે પણ કોઈ ઠેકાણે તેનો નિષેધ હોતો નથી.

શુભ વિષયક સુખાનુભવ ભોગ કહેવાય છે. આ સમ્પૂર્ણ ભોગાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે. એનો કોઈ પ્રત્યાઘાત થતો નથી અર્થાત્ ઇષ્ટની પ્રાપ્તિ ન થાય એવું કદાપી બનતું નથી.

વિષય–સમ્પત્તિની વિદ્યમાનતામાં ઉત્તર ગુણોમાં પ્રકર્ષથી વિષય–સમ્પત્તિનો અનુભવ કરવો તે ઉપભોગ છે. સમ્પૂર્ણ ઉપભોગાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી યથેષ્ટ ઉપભોગની પ્રાપ્તિ થાય છે.

આત્માની ક્યારેય પણ નીરુદ્ધ ન થવાવાળી શકિતને વીર્ય કહે છે. સમ્પૂર્ણ વીર્યાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી અપ્રતિહત સામર્થ્યની પ્રાપ્તિ થાય છે.

અનન્તાનુબંધી કષાય મિથ્યાત્વ મોહનીય મિશ્રમોહનીય અને સમ્યકત્વ મોહનીય વગેરે આ સાત પ્રકૃતિઓનો સર્વથા ક્ષય થઈ જવાથી જીવાદિ તત્વોનું શ્રદ્ધાન ઉત્પન્ન થાય તે ક્ષાયિક સમ્યકત્વ છે. આ સમ્યકત્વ એકવાર ઉત્પન્ન થયા પછી કદી પણ નાશ પામતુ નથી કહેવાનું એ કે ચાર અનન્તાનુબંધી કષાય મિથ્યાત્વ મોહનીય મિશ્રમોહનીય અને સમ્યકત્વ મોહનીય આ સાત પ્રકૃતિઓનાં ક્ષયથી ક્ષાયિક સમ્યકત્વની ઉત્પત્તિ થાય છે. સમસ્ત મોહનીય કર્મના ક્ષયથી ક્ષાયિક ચારિત્ર પ્રકટ થાય છે. આ નવ ક્ષાયિક ભાવ છે.

જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રમાં છ ભાવોનાં પ્રકરણમાં ક્ષાયિક ભાવના ઘણા બધાં ભેદ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યા છે પરંતુ અહીં તો ટુંકનાં જ વર્ણન કરવામાં આવેલું છે. આથી તે બધાનો નવ ભેદોમાં સમાવેશ થઈ જાય છે. વળી કહ્યું પણ છે–

ક્ષાયિકભાવ શું છે ? ક્ષાયિક ભાવ બે પ્રકારના કહેલા છે–ક્ષાયિક અને ક્ષય નિષ્પન્ન. ક્ષાયિક શું છે ? ક્ષાયિક આઠ કર્મપ્રકૃતિઓથી ઉત્પન્ને થાય છે. ક્ષયનિષ્પન્ન શું છે ? ક્ષય નિષ્પન્ન અનેક પ્રકારના છે જેમ ઉત્પન્ન જ્ઞાન દર્શનધર, અર્હન, જિન કેવળી, ક્ષીણાભિનિબોધિક જ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણશ્રુતજ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણાવધિજ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણમનઃપર્યવજ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણકેવળજ્ઞાનાવરણ, નિરાવરણ, ક્ષીણાવરણ, જ્ઞાનાવરણીય, કર્મવિપ્રમુકત, કેવળદર્શી, સર્વદર્શી ક્ષીણનિદ્ર ક્ષીણનિદ્રાનિદ્ર, ક્ષીણપ્રચલ, ક્ષીણપ્રચલાપ્રચલ, ક્ષીણસ્ત્યાનર્ધિ ક્ષીણ ચક્ષુદર્શનાવરણ, ક્ષીણાચક્ષુદર્શનાવરણ ક્ષીણાવધિદર્શનાવરણ, ક્ષીણકેવળદર્શનાવરણ, અનાવરણ,

નિરાવરણ, ક્ષીણાવરણ, દર્શનાવરણીયકર્મવિપ્રમુકત, ક્ષીણસાતાવેદનીય, ક્ષીણ–અસાતાવેદનીય અવેદન, નિર્વેદન, ક્ષીણવેદન, શુભાશુભવેદનીય, કર્મ વિપ્રમુકત ક્ષીણક્રોધ યાવત્ ક્ષીણલોભ, ક્ષીણરાગ, ક્ષીણદ્વેષ, ક્ષીણદર્શનમોહનીય, ક્ષીણચારિત્રમોહનીય, અમોહ, નિર્મોહ, મોહનીયકર્મવિપ્રમુકત,

ક્ષીણનૈરયિકાયુ ક્ષીણ તિર્યંચાયુ ક્ષીણમનુષ્યાયુ, ક્ષીણદેવાયુ, અનાયુ, નિરાયુ, ક્ષીણાયુ આયુકર્મવિપ્રમુકત,

ગતિ–જાતિ–શરીર–અંગોપાંગ–બંધન–સંઘાતન–સંહનન–સંસ્થાન–અનેકશરીરવૃન્દસંઘાત-વિપ્રમુક્ત ક્ષીણશુભનામ, ક્ષીણ–અશુભનામ, નિર્નામ, ક્ષીણનામ, શુભાશુભનામ કર્મવિપ્રમુક્ત ‘ક્ષીણ ઉચ્ચગોત્ર, ક્ષીણનીચગોત્ર, અગોત્ર નિગોત્ર, ક્ષીણગોત્ર, ગોત્રાકર્મવિપ્રમુક્ત

ક્ષીણદાનાન્તરાય, ક્ષીણલાભાન્તરાય, ક્ષીણભોગાન્તરાય, ક્ષીણોપભોગાન્તરાય, ક્ષીણવીર્યાન્તરાય અનન્તરાય, નિરન્તરાય, ક્ષીણાન્તરાય અનન્તરાયકર્મવિપ્રમુક્ત સિદ્ધ, બુદ્ધ, મુક્ત, પરિનિર્વૃત્ત અન્તકૃત, સર્વદુઃખ પ્રક્ષીણ, આ બધાં ક્ષય નિષ્પન્ન છે.

અગાઉ કહેલા સ્વરૂપવાળા ક્ષાયોપશમિક ભાવના અઢાર ભેદ છે—ચાર પ્રકારનું જ્ઞાન અર્થાત્ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન અને મનઃપર્યવજ્ઞાન ત્રણ પ્રકારનુ અજ્ઞાન–મત્યજ્ઞાન, શ્રુતઅજ્ઞાન, અને વિભંગજ્ઞાન, ત્રણ પ્રકારના દર્શન, ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન અવધિ દર્શન—પાંચ પ્રકારની લબ્ધિઓ દાનલબ્ધિ લાભલબ્ધિ, ભોગલબ્ધિ ઉપભોગલબ્ધિ અને વીર્યલબ્ધિ સમ્યક્ત્વચારિત્ર તથા સંયમાસંયમ. આ બધા ભેગા મળીને ક્ષાયોપશમિકના અઢાર ભેદ થાય છે.

મતિજ્ઞાનાવરણીય, શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, અવધિજ્ઞાનાવરણીય, અને મનપર્યવજ્ઞાનાવરણીય, કર્મોના સ્પર્ધક સર્વ ઘાતી પણ હોય છે અને દેશઘાતી પણ હોય છે જ્યારે સમસ્ત સર્વઘાતી સ્પર્ધક નાશ પામે છે અને આત્માની વિશુદ્ધિના કારણે સમયે સમયે દેશઘાતી પણ સ્પર્ધકોના અનન્ત ભાગ ક્ષયને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે અને તેના ભાગ ઉપશાન્ત થઈ જાય છે ત્યારે સમ્યક્ દર્શનના સાહચર્યથી જીવ જ્ઞાની થાય છે

ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનાર મતિજ્ઞાન વગેરે જ્યારે મિથ્યાત્વની સાથે હોય છે ત્યારે અજ્ઞાન અથવા મિથ્યાજ્ઞાન કહેવાય છે અહીં “અજ્ઞાન” શબ્દથી કુત્સિત અર્થમાં નગ્ન્ સમાસ કરવામાં આવ્યો છે જેમ કે કુપુત્રને “અપુત્ર” કહે છે મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવનું અવધિજ્ઞાન વિભંગ કહેવાય છે ભંગનો અર્થ ‘પ્રકાર’ છે. ‘વિ’ ઉપસર્ગ કુત્સિત અર્થમાં છે. અર્થાત્ અપ્રશસ્ત ભંગને વિભંગ કહે છે વિભંગ રૂપજ્ઞાન વિભંગજ્ઞાન કહેવાય છે આ પ્રકારના અજ્ઞાન જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી જ ઉત્પન્ન થાય છે ચક્ષુદર્શન શ્રોત્રાદિ રૂપ અચક્ષુદર્શન અને અવધિદર્શન આ ત્રણેય દર્શનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે દાન ઇત્યાદિપાંચ લબ્ધિઓ પાંચ પ્રકારના અન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમથી થાય છે. સમ્યક્ત્વ અનન્તાનુબંધી કષાય મિથ્યાત્વીય મિશ્રમોહનીય અને સમ્યક્ત્વમોહનીય એ સાત કર્મપ્રકૃતિઓનાં ક્ષયોપશમથી ક્ષયોપશમિક સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન થાય છે.

સર્વવિદિત ચારિત્ર, દર્શન મોહનીય અને બાર કષાયોના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે સંયમાસંયમ અર્થાત્ દેશવિરતિ જેમાં સંકલ્પપૂર્વક કરવામાં આવનારી હિંસાનો ત્યાગ કરવામાં આવતો નથી તે દર્શન મોહનીય તથા અનન્તાનુબંધી કષાય અને અપ્રત્યાખ્યાની કષાયના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે-

જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રનાં છ ભાવોના પ્રકરણમાં ક્ષાયોપશમિક ભાવના પણ ઘણા ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે તેમ છતાં ટુંકમાં પ્રતિપાદિત આ અઢાર ભેદોમાં જ તે સઘળાનો સમાવેશ થઇ જાય છે એ પૂર્વોક્ત કથન આ રીતે છે

ક્ષાયોપશમિક ભાવ શું છે? ક્ષાયોપશમિક ભાવ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-ક્ષયોપશમિક અને ક્ષયોપશમ નિષ્પન્ન ક્ષયોપશમિક શું છે? ચાર ઘાતી કર્મોના અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણીય મોહનીય અને અન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમથી ક્ષયોપશમિક ભાવ થાય છે.

ક્ષયોપશમનિષ્પન્ન ભાવ શું છે? તે અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-ક્ષાયોપશમિક આભિનિબોધિક જ્ઞાનલબ્ધિ જેવા કે ક્ષયોપશમિક મનઃ પર્યવજ્ઞાનલબ્ધિ ક્ષયોપશમિક મત્યજ્ઞાન-લબ્ધિ ક્ષયોપશમિક શ્રુતાજ્ઞાનલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક વિભંગજ્ઞાનલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક ચક્ષુદર્શન-લબ્ધિ અવધિદર્શન લબ્ધિ આ રીતે સમ્યગ્દર્શન લબ્ધિ મિથ્યા દર્શનલબ્ધિ સમ્યક્ મિથ્યાદર્શન લબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક ચારિત્ર લબ્ધિ છેદોપસ્થાપનીય લબ્ધિ પરિહાર વિશુદ્ધિ લબ્ધિ સૂક્ષ્મ સાંપરાયિક લબ્ધિ ચારિત્રાચારિત્રલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક દાનલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક લાભલબ્ધિ ભોગલબ્ધિ ઉપભોગલબ્ધિ વીર્યલબ્ધિ પંડિતવીર્યલબ્ધિ બાળવીર્યલબ્ધિ બાળપંડિતવીર્યલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક શ્રોત્રેન્દ્રિયલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક સ્પર્શેન્દ્રિયલબ્ધિ.

ક્ષાયોપશમિક આચારાંગધર, એવી જ રીતે સૂત્રકૃતાંગધર, સ્થાનાંગધર, સમવાયાંગધર, વિવાહપ્રજ્ઞપ્તિધર, જ્ઞાતાધર્મકથાધર, ઉપાસકદશાંગધર, અન્તકૃત્દશાંગધર, અનુત્તરૌપપાતિકદશાંગ-ધર, પ્રશ્નવ્યાકરણધર, વિપાકશ્રુતધર, ક્ષાયોપશમિક દૃષ્ટિવાદધર, ક્ષાયોપશમિક નવપૂર્વિ ક્ષાયોપશમિક અને ચતુર્દશપૂર્વી ક્ષાયોપશમિક ગણી ક્ષાયોપશમિક વાચક આ તમામ ક્ષયોપશમ-નિષ્પન્નના ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે.

પારિણામિક ભાવ ત્રણ પ્રકારના હોય છે—જીવત્વ, ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ. જીવનો ભાવ અર્થાત્ જીવપણું, જીવત્વ કહેવાય છે અર્થાત્ અસંખ્યાતા પ્રદેશમય ચૈતન્ય. જે જીવ સિદ્ધિગમન ને પાત્ર હોય તે ભવ્ય અને જે સિદ્ધિગમનને યોગ્ય ન હોય ને અભવ્ય કહેવાય છે. એમના ભાવને ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ કહેવામાં આવ્યા છે. જીવના આ ત્રણેય ભાવો સ્વાભાવિક જ છે, કર્મકૃત નહીં અર્થાત્ કોઈ કર્મના ઉદય, ઉપનામ, ક્ષય અગર ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થતાં નથી. આત્મા પોતાના સ્વભાવથી જ જીવત્વ, ભવ્યત્વ, અગર અભવ્યત્વ રૂપથી પરિણતશીલ થાય છે.

જો કે અસ્તિત્વ અન્યત્વ, કર્તૃત્વ, ભોક્તૃત્વ, ગુણત્વ, અસર્વજ્ઞત્વ અનાદિકર્મસન્તાન બદ્ધત્વ, પ્રદેશત્વ, અરૂપિત્વ નિત્યત્વ વગેરે પણ જીવના અનાદિ પારિણામિક ભાવ છે અને અનુયોગદ્વાર સૂત્રમાં, છ ભાવોના પ્રકરણમાં અન્ય ઘણા જ ભેદો પણ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યા છે તેમ છતાં અત્રે સંક્ષેપમાં જ પારિણામિક ભાવનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે. આથી આ આ ત્રણ ભેદોમાં જ એ સર્વનો સમાવેશ થઈ જાય છે અનુયોગદ્વારમાં કહ્યું છે.—

પારિણામિક ભાવ એટલે શું? પારિણામિક ભાવ બે પ્રકારના છે—સાદિ પારિણામિક અને અનાદિ પારિણામિક સાદિ પારિણામિક ભાવ શું છે? તે અનેક પ્રકારના છે જેવા કે- ઉલ્કાપાત, દિશાદાહ ગર્જના, વિદ્યુત-નિર્ઘાત જૂપદા, યક્ષાદિત્ય, ધૂમિકા, મિહિકા, રજ ઉદ્ઘાત, ચન્દ્રગ્રહણ. સૂર્યગ્રહણ, ચન્દ્રપરિવેષ, સૂર્યપરિવેષ, પ્રતિચન્દ્ર, પ્રતિસૂર્ય ઈન્દ્રધનુષ્ય ઉદકમત્સ્ય, કપિહસિત, અમોઘવર્ષ, વર્ષધારા, ગ્રામ, નગર, ગ્રહ, પર્વત, પાતાળ, ભવન, નરક, રત્નપ્રભા, શર્કરાપ્રભા, વલુકાપ્રભા, પંકપ્રભા, ધૂમપ્રભા, તમઃપ્રભા, તમસ્તમઃપ્રભા, સૌધર્મ યાવત્ અચ્યુત, ગ્રૈવેયક. અનુત્તર વિમાન, ઈષત્ પ્રાગ્ભારા પૃથ્વી પરમાણુપુદ્ગલ, દ્વિપ્રદેશિકસ્કંધ અનન્તપ્રદેશિક સ્કંધ આ સર્વ આદિ પારિણામિક ભાવ છે.

અનાદિ પારિણામિક ભાવ શું છે? ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય અદ્ધાસમય લોક અલોક ભવસિદ્ધિક એ બધાં અનાદિ પરિણામિક ભાવ છે.

છઠ્ઠો ભાવ સાન્નિપાતિક પણ અનેક પ્રકારનો છે એક જીવાત્મામાં એકી સાથે ઉત્પન્ન થનારો ભાવ સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે. આ સાન્નિપાતિક ભાવ પૂર્વોકત ઔદયિક ઔપશમિક વગેરે ભાવોમાંથી યથાયોગ્ય બે ત્રણ વગેરેના સંયોગથી બને છે. જો કે એના ભેદ ઘણા છે પરંતુ અત્રે મુખ્યરૂપથી પંદર પ્રકારના દર્શાવવામાં આવે છે–ઔદયિક ક્ષાયોપશમિક અને પારિણામિક એ ત્રણ ભાવો એકી સાથે એક જીવમાં ઉત્પન્ન થાય છે

નારક, તિર્યંગ્યોનિક, મનુષ્ય તથા દેવગતિના ભેદથી ચાર (૪) ભેદ થાય છે. એવી જ રીતે ઔદયિક. ઔપશમિક, ક્ષાયોપશમિક, પારિણામિક, કયારેક ત્રણપુંજ ન કરવાવાળા જીવના ઉપનામ સમ્યનો સદ્ભાવ હોવાથી, ગતિના ભેદથી ચાર (૪) ભેદ થઈ જાય છે–ઔદયિક, ક્ષાયિક, ક્ષયોપશમિક અને પારિણામિક તો વળી કયારેક ક્ષાયિકનો સદ્ભાવ હોવાથી, શ્રેણિક વગેરેની જેમ ગતિભેદથી થાય છે. ઔદયિક, ઔપશમિક, ક્ષાયિક ક્ષાયોપશમિક અને પારિણામિકનો એક ભેદ મનુષ્ય ગતિમાં ઉપનામ શ્રેણીના સદ્ભાવમાં જ થાય છે. આ ભાવ દર્શન સપ્તકથી રહિત સમ્પૂર્ણ મોહનીય કર્મના ઉપશમથી, શેષ કર્મોના ક્ષયોપશમ વગેરે થવાથી થાય છે (૧)

એવી જ રીતે ઔદયિક, ક્ષાયિક અને પારિણામિકનો એક જ ભંગ થાય છે જેમકે કેવળીમાં ઔદયિક મનુષ્યત્વ, ક્ષાયિક કેવળજ્ઞાન અને પારિણામિક ભાવ જીવત્વ મળી આવે છે. (૧)

એવી જ રીતે ક્ષાયિક અને પારિણામિકનું એક અંગ છે જેવી રીતે સિદ્ધમા કેવળજ્ઞાન સમ્યકૃત્વ આદિ ક્ષાયિક તથા જીવત્વ પારિણામિક ભાવ હોય છે. એવી જ રીતે મતભેદ માટે પણ સમજવું અત્રે આ વાત સમજવા જેવી છે–ઔપશમિક, ક્ષાયિક અને ક્ષાયોપશમિક, એ ત્રણ ભાવ કર્મના નાશથી ઉત્પન્ન થાય છે જેવી રીતે રજકણોના સમૂહનો નાશ થવાથી સૂર્યના કિરણોનો સમૂહ ઉત્પન્ન થાય છે. તે નાશ બે પ્રકારે થાય છે–સ્વવીર્યની અપેક્ષાથી કર્મના એક ભાગનો ક્ષય અને સર્વક્ષય તથા પોતાના વડે ઉપાર્જિત કર્મના ઉદયથી આત્માથી નરકગતિ વગેરે ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે દાખલા તરીકે દારૂના નામ વગેરે વિકારો ઉત્પન્ન થાય છે, રોવે છે, ગાય છે, ક્રોધ કરે છે એવી જ રીતે ગતિ વગેરે કર્મોના ઉદ્રેકથી જીવ ગતિ કષાય વગેરે વિકારોને પ્રાપ્ત થાય છે પરંતુ પારિણામિક ભાવ સ્વાભાવિક છે તે કોઈ પણ નીમિત્તકરણથી ઉત્પન્ન થતો નથી ॥૧૫॥

'उवओगो दुविहो सागारो अणागारोय' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—ઉપયોગ બે પ્રકારનો છે. સાકાર અને અનાકાર

તત્ત્વાર્થ દિપીકા—પહેલાં કહેવામાં આવ્યું હતું કે જીવનું લક્ષણ ઉપયોગ છે. હવે ઉપયોગનું સ્વરૂપ તથા ભેદ દર્શાવવા કહે છે –ઉપયોગ બે પ્રકારના છે–સાકારોપયોગ અને નિરાકારોપયોગ

જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રવૃત્તિને અર્થાત્ પોતપોતાના વિષયની તરફ અભિમુખ થવું તેને 'યોગ' કહે છે ઉપ અર્થાત્ જીવનું સમીપવર્તી યોગ તે 'ઉપયોગ' કહેવાય છે ઉપયોગને નિત્ય સંબંધ પણ કહી શકાય.

તાત્પર્ય એ છે કે કોઈ પદાર્થને ઓળખવા માટે જીવનો જે વ્યાપાર હોય છે તે ઉપયોગ કહેવાય છે. એમાં જે ઉપયોગ સાકાર હોય તે જ્ઞાનોપયોગ અને જે ઉપયોગ નિરાકાર હોય તે

દર્શનોપયોગ કહેવાય છે ઇંદ્રિયોની પ્રણાલીથી જ્ઞાનનું વિષયાકાર પરિણત થવાથી સાકાર વ્યાપાર થાય છે. પરંતુ દર્શન, વિષયાકાર પરિણત થતું નથી, આથી તે નિરાકાર અગર અનાકાર કહેવાય છે. જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારના છે મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન, મનઃપર્યવજ્ઞાન, કેવળજ્ઞાન, મત્યજ્ઞાન, શ્રુતાજ્ઞાન અને વિભંગજ્ઞાન.

દર્શનોપયોગ ચાર પ્રકારના છે.—ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શન જે આકારથી યુક્ત હોય તે સાકાર જ્ઞાન. અને એનાથી વિપરીત હોય તે અનાકાર દર્શન કહેવાય છે. અથવા જે ઉપયોગ પ્રકાર યુક્ત હોય તે જ્ઞાન અને એથી રહિત હોય તે દર્શન છે. "કંઈક છે." બસ એટલું માત્ર જ પ્રતીત થાય છે. ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ઉપયોગ જીવનું લક્ષણ છે તે પહેલાં કહેવાઈ ગયું. ઉપયોગને ઉપલભ પણ કહે છે અને તેનો અર્થ છે પોતપોતાની હદનુ ઉલ્લંઘન ન કરીને જ્ઞાન અને દર્શનનો વ્યાપાર થવો અથવા જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રવૃત્તિ અગર વિષયના નિર્ણય માટે અભિમુખ થવુ. ઉપયોગ છે. ઉપ અર્થાત્ જીવનો સમીપવતી યોગ ઉપયોગ અથવા નિત્ય સંબંધી પણ કહેવાય છે. સાર એ નીકળ્યો કે કોઈ પણ પદાર્થને ગ્રહણ કરવા માટે આત્માનો વ્યાપાર થવો ઉપયોગ કહેવાય છે.

ઉપયોગના ભેદ બતાવતાં પ્રકારાન્તરથી તેની વિશેષતાનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહે છે–ઉપયોગ બે પ્રકારના છે–સાકાર અને નિરાકાર. જ્ઞાન સાકાર ઉપયોગ છે. દર્શન નિરાકાર છે. જે ઉપયોગ પ્રતિનિયત હોય છે યાની જાતિ, વસ્તુ વગેરે વિશેષને ગ્રહણ કરે છે તે સાકાર ઉપયોગ જ્ઞાન કહેવાય છે. કહ્યુ પણ છે–આકાર વિશેષને કહે છે. જે ઉપયોગમાં વસ્તુના વિશેષ અંશનું ગ્રહણ થતું નથી. તે અનાકાર ઉપયોગ છે. તાત્પર્ય એ છે કે દર્શન વિશેષ રહિત સામાન્ય માત્રનું જ ગ્રાહક હોય છે. કહ્યું પણ છે. જ્ઞાન સાકાર અને દર્શન નિરાકાર હોય છે. મતિ, શ્રુત, અવધિ, મનઃપર્યય, કેવળજ્ઞાન અને વિભંગજ્ઞાન, કુમતિજ્ઞાન તથા કુશ્રુતજ્ઞાન સાકાર હોય છે. ચાર પ્રકારના દર્શન અનાકાર છે.

કોઈએ આઘેથી વૃક્ષોનો સમૂહ જોયો પરંતુ તેને સાલ, તમાલ, બકુલ, અશોક, ચંપક, કદંબ, જાંબુ, લીમડો વગેરે વિશેષનું જ્ઞાન થયુ નહિ–સામાન્ય રૂપથી ઝાડ માત્રની જ પ્રતીતિ થઈ. "કંઈક છે." એવી અપરિપકવ પ્રતીતિ થઈ તો પછી તે દર્શન છે કેમકે જે ઉપયોગમાં વિશેષનું ગ્રહણ થતું નથી તે જ દર્શનોપયોગ કહેવાય છે. જયારે તે જ વ્યક્તિ નજીક આવે છે ત્યારે તાલ, તમાલ, સાલ આદિ આદિ વિશેષ રૂપમાં નિશ્ચય કરે છે ત્યારે તે પરિસ્કુટ પ્રતિભાસ જ્ઞાન કહેવાય છે. મતલબ એ છે કે વિશેષ ધર્મોને ગ્રહણ કરવાવાળો ઉપયોગ જ્ઞાનોપયોગ છે.

જ્ઞાનોપયોગને સાકાર અને દર્શનોપયોગને નિરાકાર કહેવામાં આવે છે. ઈંદ્રિયોની પ્રણાલી દ્વારા વિષયના આકારમાં પરિણામ થવાનુ કારણ જ્ઞાન સાકાર કહેવાય છે

હકીકતમાં આકારનો અર્થ છે–વિકલ્પ જે જ્ઞાન વિકલ્પ સહિત હોય તે સવિકલ્પ અને એથી વિપરીત હોય તે નિર્વિકલ્પ તેજ અનાકાર કહેવાય છે. આથી પ્રકારયુક્ત જ્ઞાન સવિકલ્પ અને પ્રકારતાથી શૂન્ય હોય તે નિર્વિકલ્પ કહેવાય છે એટલે પ્રકાર સહિત વિશિષ્ટની વૈશિષ્ટતાને જમાવવાવાલા જ્ઞાનને સવિકલ્પ અથવા સાકાર કહેવામાં આવે છે અને જે પ્રકારતાથી શૂન્ય હોય છે. તે. "કંઈક છે" આ પ્રકાર નો આભાસ માત્ર જ હોય તે નિર્વિકલ્પ અથવા અનાકાર કહેવાય છે.

સાકારોપયોગ ઉપરોક્ત પ્રમાણે મતિજ્ઞાનોપયોગ વગેરે આઠ પ્રકારનો છે.

અનાકાર, દર્શનોપયોગ ના ચાર ભેદ છે-ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, આવધિદર્શન કેવળદર્શન તેના ભેદથી ચક્ષુદર્શનોપયોગ, અચક્ષુદર્શનોપયોગ, અવધિદર્શનોપયોગ અને કેવળદર્શનોપયોગ.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ઓગણત્રીસમાં પદમાં કહ્યું છે :-

ભગવન્ ! ઉપયોગ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

જવાબઃ-ઉપયોગ બે પ્રકાનના કહ્યા છે.-સાકારોપયોગ અને અનાકારોપયોગ.

પ્રશ્નઃ-ભગવન્ ! **સાકારઉપયોગ** કેટલા પ્રકારના છે ?

જવાબ —ગૌતમ ! સાકારોપયોગ આઠ પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે. જેમકે-મતિજ્ઞાનોપયોગ, શ્રુતજ્ઞાનોપયોગ, અવધિજ્ઞાનોપયોગ મન:પર્યવજ્ઞાનોપયોગ, કેવળજ્ઞાનોપયોગ, મતિ-અજ્ઞાનોપયોગ, શ્રુતઅજ્ઞાનોપયોગ તથા વિભંગજ્ઞાનોપયોગ.

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ ! અનાકારોપયોગ કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉ૦—ગૌતમ ! તે ચાર પ્રકારનાં છે. જેવાકે—ચક્ષુદર્શનોપયોગ, અચક્ષુદર્શનોપયોગ, અવધિદર્શનોપયોગ અને કેવલદર્શનોપયોગ ॥ ૧૬ ॥

इन्दियं पंचविहं

મૂલાર્થ—ઇન્દ્રિયો પાંચ પ્રકારની છે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા :—આની પહેલાં જીવનું લક્ષણ જ્ઞાન-દર્શન ઉપયોગ કહેલ છે. તે ઉપયોગ સંસારી જીવોને ઇન્દ્રિયો દ્વારા જ ઉત્પન્ન થાય છે આથી તેના ભેદ બતાવતા ઇન્દ્રિયની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

ઇન્દ્રિયો પાંચ છે. ઇન્દ્ર અર્થાત્ આત્મા દ્વારા જે અધિષ્ઠયુકત હોય અથવા ઇન્દ્ર નામ-કર્મદ્વારા જેની રચના કરવામાં આવી હોય અથવા ઇન્દ્ર કહેતા આત્માનું જે ચિહ્ન-લિંગ હોય તેને ઇન્દ્રિય કહે છે. તાત્પર્ય એ છે કે ઇન્દ્ર અર્થાત્ જીવ જો કે સ્વભાવથી જ જ્ઞાનમય છે પરંતુ આવરણોના કારણે જાતે અર્થોને ગ્રહણ કરવા માટે સમર્થ નથી આથી પદાર્થોને ગ્રહણ કરવામાં જે મદદરૂપ-નિમિત્ત હોય તે ઇન્દ્રિય છે આ રીતે ઇન્દ્ર-જીવનુ લિગ હોવાથી ઇન્દ્રિય કહેવાય છે.

અથવા-છૂપાયેલા પદાર્થ (આત્મા) ને જે જ્ઞાન કરાવે છે તેને ઇન્દ્રિય કહે છે આત્મા અતિ સૂક્ષ્મ છે તેનું અસ્તિત્વ ઇન્દ્રિયોની દ્વારા જ જાણી શકાય છે. જેવી રીતે ધુમાડો અગ્નિ વગર ન હોવાથી જ અગ્નિને જાણવા માટે કારણ હોય છે તેજ રીતે સ્પર્શન વગેરે કરણ કર્તા અર્થાત્ આત્માનાઃ જ્ઞાપક હોય છે, કેમકે જો સ્પર્શન આદિ કરણ છે તો કર્તા જરૂર હોવો જોઈએ ! કર્તાના અભાવમા કરણ હોતું નથી. આ રીતે સ્પર્શનાદિ કરણોથી કર્તા-આત્માનું અસ્તિત્ત્વ જાણી શકાય છે.

સ્પર્શન, રસના, ઘ્રાણ, ચક્ષુ અને શ્રોત્રના ભેદથી ઇન્દ્રિયો પાંચ પ્રકારની છે. અત્રે ઉપ-યોગનું પ્રકરણ હોવાથી પરિકલ્પિત વાક્ (વચન), પાણિ (હાથ) પાદ (પગ) પાયુ (ગુદા) અને ઉપસ્થ (મૂત્રેન્દ્રિય) ને ઇન્દ્રિય માનવામા આવતા નથી અહીં જ્ઞાનના કારણો નેજ ઇન્દ્રિય કહેવામાં આવે છે. મન અનિન્દ્રિય છે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ જીવના જ્ઞાન દર્શનઉપયોગ રૂપ લક્ષણ કહેવામાં આવેલ છે. છદ્મસ્થ જીવોનો તે ઉપયોગ ઇન્દ્રિયો દ્વારા જ થાય છે આથી ભેદ બતાવીને ઇન્દ્રિયોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ.

અથવા પહેલા પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રીય, બેઇન્દ્રિય વગેરે જીવોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે. આથી એવી જિજ્ઞાસા સ્વાભાવિક રીતે જ થાય કે ઇન્દ્રિયો કેટલી હોય છે ? કેટલા પ્રકારની ? કયા ઉપયોગવાળા જીવને કઈ ઇન્દ્રિય હોય છે ? અહીં આ તમામ સવાલોના જવાબ આપવામાં આવે છે.

અથવા સંસારી જીવોનું જ્ઞાન ઇન્દ્રિયો મારફતે જ થાય છે પરંતુ બધી જ ઇન્દ્રિયો બધા જીવોને પ્રાપ્ત હોતી નથી. આથી ઇન્દ્રિયોનો ભેદ દર્શાવી એની સંખ્યાનું નિયમન કરવા માટે કહીએ છીએ.

અથવા અગાઉ બતાવવામાં આવેલ છે કે ઉપયોગ જીવોનું અન્વયી લક્ષણ છે આથી હવે તે ઉપયોગના જે નિમિત્ત છે તે દર્શાવવા માટે કહે છે-ઇન્દ્રિયો પાંચ પ્રકારની છે.

સમસ્ત દ્રવ્યોમાં ઐશ્વર્યનું ભાજન હોવાથી જીવ ઈન્દ્રિય કહેવાય છે અથવા પરમૈશ્વર્યનો ઉપયોગ કરવાના કારણે પણ જીવને ઇન્દ્ર કહેવામાં આવે છે. રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ આદિ વિષયોમાં પરમૈશ્વર્યવાન હોવાના કારણથી પણ જીવ ઇન્દ્ર કહેવાય છે. વ્યાકરણ અનુસાર-ઈદિ ધાતુ પરમૈશ્વર્યભોગના અર્થમાં છે. આ કારણે ઇન્દ્રિયનો અર્થ થયો-ઇન્દ્ર (જીવ) દ્વારા અધિષ્ઠિત ઇન્દ્રિયોના પાંચ ભેદ છે-(૧) સ્પર્શન (૨) રસના (૩) ઘ્રાણ (૪) ચક્ષુ અને (૫) શ્રોત્ર. સ્પર્શન ઇન્દ્રિય સ્પર્શને, રસના રસને, ઘ્રાણ ગંધને, ચક્ષુ રૂપને અને શ્રોત્રેન્દ્રિય શબ્દને મુખ્ય રૂપે ગ્રહણ કરે છે. મન, ચક્ષુ વગેરે ઇન્દ્રિયો દ્વારા નિર્ધારિત રૂપ વગેરે પદાર્થોને ગ્રહણ કરે છે. તે સાક્ષાત્ અર્થાત્ ઇન્દ્રિય નિરપેક્ષ હોઈ પદાર્થોને ગ્રહણ કરી શકતું નથી. કેમકે જો આંખ વગેરે બંધ હોય તો રૂપ આદિ વિષયનું મનથી ગ્રહણ થઈ શકતું નથી આ કારણે મન ચક્ષુ વગેરેની જેમ ઇન્દ્રિય નહીં પરંતુ અંતીન્દ્રિય કહેવાય છે.

વચન, હાથ, પગ, ગુદા અને મૂત્રેન્દ્રિય ઇન્દ્રિય કહેવાતી નથી કારણકે જેવી રીતે ચક્ષુ વગેરે દ્વારા જાણેલું જ્ઞાન રૂપ વગેરે પદાર્થોના ગ્રહણ કરવામાં પરિણત થાય છે તેવી રીતે વચન વગેરે દ્વારા ઉત્પન્ન થનાર વાણી વગેરેની પરિણતિ જ્ઞાનમાં થતી નથી. અહીં તો પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવામાં સાધન રૂપ હોય તેને જ ઇન્દ્રિય કહેલ છે.

ઉત્કૃષ્ટ નવ યોજન દૂર દેશ થી આવેલા સ્પર્શ, રસ તથા ગંધને સ્પર્શન, રસના અને ઘ્રાણ ઇન્દ્રિય ગ્રહણ કરી શકે છે. આ ઈન્દ્રિયો પ્રાપ્યકારી છે અર્થાત્ પોતપોતાના વિષયને સ્પર્શ કરીને જાણે છે. આ ઇન્દ્રિયોનો અગ્નિ આદિથી ઉપઘાત અને ચન્દન વગેરેથી અનુગ્રહ જોઈ શકાય છે આથી એમની પ્રાપ્યકારિતા પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી સિદ્ધ છે. શબ્દ જો પોતાના પરિણામને ત્યાગ ન કરી દે તો બાર યોજન છેટેથી આવેલા શ્રવણ દ્વારા ગ્રહણ થાય છે આથી શ્રોત્રેન્દ્રિય પણ પ્રાપ્યકારી છે.

ચક્ષુ ઈન્દ્રિય તથા આગળ કહેવામાં આવનાર ઈન્દ્રિય રૂપ મન એ બંને અપ્રાપ્યકારી છે. તેઓ વિષયને પ્રાપ્ત થયા વગર જ ગ્રહણ કરી લે છે. ચક્ષુની અપ્રાપ્યકારિતા પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે કેમકે તે વિષયકૃત ઉપઘાત અને અનુગ્રહથી રહિત છે. જયારે આપણે આંખ વડે પાણી,

અગ્નિ અથવા કાંટા વગેરે જોઈએ છીએ ત્યારે દાહ, ભીનાશ અગર ભેદન વગેરે હોતા નથી. શરીર દેશ સ્થિત નેત્રમાં યોગ્ય દેશમાં સ્થિત રૂપ વગેરેને ગ્રહણ કરવાની યોગ્યતા સ્વભાવથી જ સિદ્ધ છે. નેત્ર ઢાંકેલા પદાર્થને જાણતુ નથી આથી એને પણ પ્રાપ્યકારી માનવું જોઈએ, એમ કહી શકાય નહીં. એવું કહેવામાં આવે કે જેમ દિવાલ વગેરે દ્વારા વ્યવહિત પદાર્થને નેત્ર-ગ્રહણ કરી શકતું નથી તેજ રીતે કામ વગેરે દ્વારા વ્યવહિત પદાર્થને પણ નેત્ર ગ્રહણ કરી શકતું નથી પરંતુ તેને તો નેત્ર ગ્રહણ કરી લે છે આ શિવાય આ દલીલથી તો મન પણ, જેને સમસ્તવાદી નિર્વિવાદ રૂપથી અપ્રાપ્યકારી માને છે, તે અપ્રાપ્યકારી રહેશે નહીં કારણ કે તે દિવાલ વગેરેથી ઢંકાયેલી વસ્તુને ગ્રહણ કરતુ નથી.

શંકા-જેમ આંખ વગેરે ઇન્દ્રિયો છે તે રીતે સુખ, દુઃખ અને ઇચ્છા વગેરે પણ જીવનું લક્ષણ હોવાથી ઈન્દ્રિય હોવી જોઈએ

સમાધાન—એવો નિયમ નથી કે જે જીવનું લિંગ હોય તે બધી ઇન્દ્રિય જ છે આથી સુખ વગેરે કદાચિત્ જીવના લિંગ હોઈ શકે છે તો પણ તેમને ઈન્દ્રિય કહી શકાય નહીં. પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પંદરમાં ઈન્દ્રિયપદમાં કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! ઇન્દ્રિયો કેટલી કહી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ ઇન્દ્રિયો કહી છે જેમકે શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુઇન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસનેન્દ્રિય તથા સ્પર્શનેન્દ્રિય ॥૧૭॥

'पुणा दुविहं भाविंदियं दव्विंदियया'

મૂલાર્થ—ઈન્દ્રિયના બીજા બે પ્રકાર છે જેમકે—ભાવેન્દ્રિય અને દ્રવ્યેન્દ્રિય ॥૧૮॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ઈન્દ્રિયો પાંચ પ્રકારની કહી છે તેજ ઈન્દ્રિયોના પ્રકારાન્તરથી પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ-ઇન્દ્રિયો બે પ્રકારની છે. ભાવેન્દ્રિય અને દ્રવ્યેન્દ્રિય આ રીતે સ્પર્શન્ વગેરે પાંચે ઈન્દ્રિયો દ્રવ્યેન્દ્રિય અને ભાવેન્દ્રિયના ભેદથી બે-બે પ્રકારની છે. સાધારણ રીતે જે ઈન્દ્રિયો પુદ્ગલની પરિણતિ છે તે દ્રવ્યેન્દ્રિય અને જે આત્માની પરિણતિરૂપ છે તે ભાવેન્દ્રિય કહેવાય છે ॥૧૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વ સૂત્રમાં ઈન્દ્રિયોની સંખ્યાનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું. હવે બીજી રીતે ફરીવાર તેમની સંખ્યાનુ નિરૂપણ કરવા માટે કહ્યુ છે-ઈન્દ્રિયો પુન બે પ્રકારની છે-ભાવેન્દ્રિય અને દ્રવ્યેન્દ્રિય સામાન્ય રૂપથી પૌદ્ગલિક ઈન્દ્રિયો જે નામ કર્મ દ્વારા નિર્મિત છે તે દ્રવ્યેન્દ્રિયો છે અને જે ઈન્દ્રિયાવરણ કર્મ તથા વીર્યાન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમ નામથી આત્માની પરિણતિ રૂપ ઉત્પન્ન થાય છે તે ભાવેન્દ્રિય છે પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૧૫માં ઈન્દ્રિયપદમા કહ્યુ છે-

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઈદ્રિયો કેટલા પ્રકારની છે ?

જવાબ—ગૌતમ ! બે પ્રકારની છે દ્રવ્યેન્દ્રિય અને ભાવેન્દ્રિય

તાત્પર્ય એ છે કે દ્રવ્યેન્દ્રિય અનન્ત પ્રદેશાત્મક પુદ્ગલોનો સ્કંધ તે નિવૃત્તિ તથા ઉપકરણના ભેદથી બે પ્રકારની છે અસંખ્યાત આત્મપ્રદેશ તેમનામાં રહે છે ભાવેન્દ્રિય આત્માનું પરિણમન વિશેષ છે, તેમનું સ્વરૂપ હવે પછીના સૂત્રમાં જ દર્શાવવામા આવશે ॥૧૮॥

'पुणो दुविहं भावेंदियं दव्वेंदियं च'

મૂલાર્થ—ભાવેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-લબ્ધિ અને ઉપયોગ ॥૧૯॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં દ્રવ્યેન્દ્રિય અને ભાવેન્દ્રિયના ભેદથી બે પ્રકારની ઈન્દ્રિયો કહી. હવે ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ-ભાવેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-લબ્ધિ અને ઉપયોગ.

જ્ઞાનાવરણ કર્મના એક વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમને લબ્ધી કહે છે. મૂળમાં તો ઇન્દ્રિયાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ગતિ–જાતિ વગેરે નામ કર્મથી તથા મતિજ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થવાવાળુ સામર્થ્ય અથવા ઇન્દ્રિયાશ્રય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થવાવાળું સામર્થ્ય અગર અંતરાયકર્મના ક્ષયોપશમની અપેક્ષાથી થનારા ઇન્દ્રિય વિષયના ઉપયોગની તથા જ્ઞાનની શક્તિને લબ્ધી કહે છે

જેના સન્નિધાનથી આત્મા આગળ પર કહેવામાં આવનાર દ્રવ્યેન્દ્રિયની નિષ્પત્તિની તરફ વ્યાપાર કરે છે–તે કારણે આત્માનું પરિણામ ઉપયોગ કહેવાય છે. ઉપયોગ શ્રોત્રોપયોગ આદિના ભેદથી પાંચ પ્રકારનો છે. જોકે ઉપયોગ ઇન્દ્રિયનુ કાર્ય છે પરંતુ કાર્યકર્મ કારણનો ઉપચાર કરીને તેને ઇન્દ્રિય કહી છે. સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરેના ભેદથી લબ્ધિ પણ પાંચ પ્રકારની છે. ટાઢુ, ઉનુ વગેરે સ્પર્શને જાણવાની શક્તિ, જે ઉપયોગના રૂપમાં અભિવ્યક્ત ન થઈ હોય, તે સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ કહેવાય છે એવી રીતે રસનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરે પણ સમજવા જોઈએ. ॥૧૯॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આના આગાઉના સૂત્રમાં ભાવેન્દ્રિય તથા દ્રવ્યેન્દ્રિયના ભેદથી ઇન્દ્રિયોનાં બે–બે ભેદોનું કથન કરવામાં આવેલ છે. હવે તેમાંથી ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ દર્શાવીને તેનું સ્વરૂપ કહે છે. ભાવેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે–લબ્ધિ અને ઉપયોગ.

પોત—પોતાના ઇન્દ્રિયાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન ગતિ જાતિ વગેરે નામકર્મ દ્વારા ઉત્પન્ન મતિજ્ઞાનાવરણ તથા દર્શનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન તે આત્માની શક્તિ છે.

ઉપયોગ શ્રોત્રોપયોગ વગેરેના ભેદથી પાંચ પ્રકારના છે. જો કે ઉપયોગ ઇન્દ્રિયનું કાર્ય છે તો પણ અહી કાર્યમાં કારણનો ઉપચાર કરી તેને ઇન્દ્રિય કહી છે. એવી જ રીતે લબ્ધિ પણ સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરેના ભેદથી પાંચ પ્રકારની છે ટાઢા અગર ગરમ સ્પર્શને ગ્રહણ કરવાની શક્તિ જે ઉપયોગ રૂપમાં પ્રકટ ન થઈ હોય તે સ્પશનેન્દ્રિય લબ્ધિ કહેવાય છે એવી જ રીતે રસનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરે પણ સમજવા

અથવા ઇન્દ્રિયાશ્રય કર્મના ઉદયથી જીવમાં સામર્થ્ય ઉદય થાય છે. અન્તરાયકર્મના ક્ષયોપશમની અપેક્ષાથી ઇન્દ્રિયોના વિષયોના ઉપભોગ અથવા જ્ઞાનની જે શક્તિ હોય છે તે લબ્ધિ કહેવાય છે તે લબ્ધિ પાંચ પ્રકારની છે—(૧) સ્પર્શનેન્દ્રિય લબ્ધિ (૨) રસનેન્દ્રિયલબ્ધિ (૩) ઘ્રાણેન્દ્રિયલબ્ધિ (૪) ચક્ષુરિન્દ્રિયલબ્ધિ (૫) શ્રોત્રેન્દ્રિયલબ્ધિ ઠંડા, ગરમ વગેરે સ્પર્શોના પરિજ્ઞાનનું–સામર્થ્ય જે ઉપયોગ રૂપથી વ્યક્ત ન થયુ હોય તે સ્પર્શનેન્દ્રિય લબ્ધિ કહેવાય છે, એજ પ્રમાણે રસનેન્દ્રિય લબ્ધિ વગેરે પણ કહી લેવી જોઈએ.

પોતાના વિષયમાં વ્યાપાર હોવો તે ઉપયોગ કહેવાય છે તે આત્માનું વીર્ય રૂપ છે.

અથવા હવે પછી કહેવામાં આવનારીનિવૃત્તિ તથા ઉપકરણના કર્મથી, લબ્ધીન્દ્રિય હોવાથી ઉપયોગ થાય છે તો અતીન્દ્રિય ઉપયોગનો અભાવ થઈ જશે કારણકે તેમાં નિવૃત્તિ વગેરેની આવશ્યકતા નથી રહેતી અવધિજ્ઞાન વગેરેનો અભાવ થઇ જશે કારણકે તેઓ અતીન્દ્રિય છે

અર્થાત્ ઇન્દ્રિયોથી જન્મતાં નથી. આ આશંકાનું સમાધાન આ છે કે–એવો કોઈ નિયમનથી કે બધા ઉપયોગ નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ ઇન્દ્રિયથી જ ઉત્પન્ન થાય પરંતુ એક મતિજ્ઞાનનો ઉપયોગ થાય છે. તે ઉપયોગ–પ્રાણિઘાત રૂપ વ્યાપાર વિશેષ છે.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૧૫માં ઇન્દ્રિયપદના બીજા ઉદ્દેશ્યમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવાન્ ! ઇન્દ્રિયલબ્ધિ કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારની ઇન્દ્રિયલબ્ધિ કહી છે, જેમ કે- સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ, જીહ્વેન્દ્રિયલબ્ધિ ઘ્રાણેન્દ્રિયલબ્ધિ, ચક્ષુરિન્દ્રિયલબ્ધિ, શ્રોત્રેન્દ્રિયલબ્ધિ.

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઇન્દ્રિયઉપયોગદ્ધારના કેટલા પ્રકાર છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારના છે—શ્રોત્રેન્દ્રિય–ઉપયોગદ્ધા–સ્પર્શનેન્દ્રિય–ઉપયોગદ્ધા ॥૧૯॥

'दुविहं दव्विदियं निवत्ति उवगरणं च'

દ્રવ્યેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે–નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ ॥ ૨૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ કહેવાઈગયા હવે દ્રવ્યેન્દ્રિયની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહે છે–દ્રવ્યેન્દ્રિયના બે ભેદ છે–નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ વિભિન્ન ઇન્દ્રિયોના જુદા જુદા આકારનું ઉત્પન્ન થવું નિવૃત્તિરૂપ ઇન્દ્રિયને નિવૃત્તિ–ઇન્દ્રિય કહે છે. નિવૃત્તિ બે પ્રકારની હોય છે—આભ્યંતર અને બાહ્ય. ધનરૂપ વ્યવહારઆંગળના અસંખ્યાતમાં ભાગ પરિમિત, આંખ વગેરે ઇન્દ્રિયોનાં આકારમાં સ્થિત શુદ્ધ જીવપ્રદેશોની આભ્યંતરવૃત્તિથી યુકત આભ્યંતર નિવૃત્તિ ઇન્દ્રિય કહેવાય છે. તે આત્મપ્રદેશોમાં જેઓ ઇન્દ્રિય કહેવાય છે નામકર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન અવસ્થા વિશેષરૂપ નિયત આકારવાળા પુદ્ગલોનો સમૂહ બાહ્યનિવૃત્તિ છે. આશય એ છે કે શ્રોત્ર વગેરે ઇન્દ્રિયોના–આકારમાં પુદ્ગલોની જે રચના છે તે બાહ્યનિવૃત્તિ કહેવાય છે. આ રચના નામકર્મના ઉદયથી થાય છે.

જે ઉપકાર કરે છે તેને ઉપકરણ કહે છે અભિપ્રાય એવો છે કે નિવૃત્તિ ઇન્દ્રિયનો ઉપકાર કરનારને ઉપકરણેન્દ્રિય કહે છે ઉપકરણના પણ બે ભેદ છે–આભ્યંતર અને બાહ્ય. આંખનો કાળો તથા ધોળો જે ડોળો છે તે–આભ્યંતર ઉપકરણ છે અને ભ્રમર તથા પાંપણ વગેરે બાહ્ય ઉપકરણ છે. એવી રીતે આ બન્ને નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ ઇન્દ્રિયો પૌદ્ગલિક છે અને પૂર્વોકત ભાવ ઇન્દ્રિયની સહાયક હોય છે. એમને દ્રવ્યેન્દ્રિય કહેવાનું કારણ એ છે કે આત્મપરિણામ રૂપ ઉપયોગ ભાવેન્દ્રિયને મદદ કરવામાં સમર્થ છે તેમજ દ્રવ્ય છે.

મૂળગુણ નિર્વર્ત્તના નિર્વૃત્તિને નિર્વૃત્તિ–દ્રવ્યેન્દ્રિય કહે છે. તે અંગોપાંગનામકર્મ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે, ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયનુ છિદ્ર છે. કર્મવિશેષ દ્વારા સંસ્કૃત શરીરનો પ્રદેશ રૂપ છે તથા નિર્માણનામકર્મ તથા અંગોપાંગકર્મની નિમિત્ત હોય છે.

બંને પ્રકારની ઉપકરણેન્દ્રિય શ્રોત્રેન્દ્રિય વગેરે નામની નિર્વૃત્તિદ્રવ્યેન્દ્રિયની અનુપઘાત તથા અનુગ્રહ દ્વારા ઉપકારક હોય છે. અર્થાત્ ઉપકરણેન્દ્રિય, નિર્વૃત્તિ–ઇન્દ્રિયનો ઉપઘાત ન થઈ જાય તેમજ અનુગ્રહ થાય, એ રૂપે સહાયક હોય છે. ॥ ૨૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમાં ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ કહેવાઈ ગયા હવે દ્રવ્યેન્દ્રિયોના ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ–દ્રવ્યેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે–નિર્વૃત્તિ અને ઉપકરણ૦

સ્વરૂપ અને ભેદથી જે રચના થાય તેને નિવૃત્તિ કહે છે. નિવૃત્તિનો અર્થ છે જુદી જુદી ઇન્દ્રિયોનો પોત પોતાનો આકાર ઉત્પન્ન થવો તે જે ઉપકાર કરે–મદદ કરે તે ઉપકરણ છે- નિવૃતિઇન્દ્રિય અને ઉપકરણેન્દ્રિય, બંને હકીકતમાં પુદ્‌ગલના પરિણમન છે છતાં પણ તેઓ ઇન્દ્રિય કહેવાય છે. એનું કારણ એ છે કે બે ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયનું કારણ છે. કહેવાનો હેતુ એ છે કે જે દ્રવ્ય ઉપયોગ ભાવેન્દ્રિયની મદદ કરવામાં સમર્થ હોય છે એને દ્રવ્યેન્દ્રિય કહે છે.

નિવૃત્તિ–ઇન્દ્રિય અંગોપાંગનામકર્મથી ઉત્પન્ન થાય છે, ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયનું છિદ્ર છે-નિર્માણનામકર્મ અને અંગોપાંગ નામકર્મના કારણે જે ઉત્પન્ન થાય છે તે મૂળગુણનિર્વત્તિ-રૂપ છે.

ઉપકરણેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-બાહ્ય અને આભ્યંતર. શ્રોત્રાદિ દ્રવ્યેન્દ્રિયને ઉપઘાતથી બનાવવા તથા તેમના અનુગ્રહ કરવામાં ઉપકરણેન્દ્રિય મદદરૂપ થાય છે.

તાત્પર્ય એ છે કે નિર્માણ નામનું નામકર્મ અંદર રહેલા સુથાર જેવું છે જે કર્ણશષ્કુલી વગેરે અવયવોની આકૃતિ બનાવવામાં કુશળ છે. એવી રીતે ઔદારિક. વૈક્રિય અને આહારક એ ત્રણે શરીરોના અંગોપાંગ નામ કર્મ પણ અવયવોની રચના કરનાર છે. એનાથી પેટ માથું આદિ અંગો અને આંગળી આદિ ઉપાંગોની રચના થાય છે. આ બન્ને કર્મ નિવૃત્તિ ઉપકરણ રૂપ બન્ને દ્રવ્યેન્દ્રિયોના નિર્માણ કરવામાટે પ્રયત્ન કરે છે. અંગોપાંગ નામક અત્યંત વિશિષ્ટ કર્મ છે તે ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયને અવધાન આપવા માટે જે માર્ગ રૂપ છિદ્રો ઉત્પન્ન કરે છે. તેજ કર્ણ શષ્કુલી આદિ જે રૂપ છિદ્ર જે રૂપ બહારથી જણાય છે તેમને એક નિવૃતિ કહે છે, બીજી આભ્યંતર નિવૃત્તિ કહેવાય કે અથવા અંગોપાંગ નામકર્મ અને નિર્માણનામ કર્મના વડે વિશિષ્ટ પ્રકારની અવયવરચનાથી રચિત ઔદારિક વગેરે ત્રણ શરીરોનાં કર્ણશષ્કુલી વગેરે પ્રદેશ નિર્માણ નામક અને અંગોપાંગ નામકર્મ નિમિત્તક ઉત્તર ગુણ નિર્વર્ત્તનાની અપેક્ષા મૂલગુણનિર્વ-ત્તના રૂપ નિવૃત્તિ ઉત્પન્ન થાય છે.

કાનો વિંધવા તથા તેમાં લંબાઈ ઉત્પન્ન કરવી આંખનું કાજળથી તથા સુગંધીનું નાક દ્વારા ઉપકાર થયો, ઔષધ પ્રદાન કરી જીભની જડતા દૂર કરવી, તથા જુદા જુદા પ્રકારના ચૂર્ણ પટવાત તથા ગંધદ્રવ્યોનું ઘસવાથી સ્પર્શનેન્દ્રિયનું સ્વચ્છ થવું આ તમામ ઉત્તરગુણ નિર્વત્તના છે.

એવી જ રીતે જુદા જુદા વિશેષોથી નિરપેક્ષ જેવી ઉત્પન્ન થઈ હોય તેવી જ રહેલી, ઔદારિક શરીરના યોગ્ય દ્રવ્યવર્ગણા મૂળકારણવ્યવસ્થિત ગુણનિર્વર્તના કહેવાય છે. તલવારની ધાર જેવી નિવૃત્તિ રૂપ દ્રવ્યેન્દ્રિયનું અસ્તિત્વ હોવા છતાં તેના પાછલા ભાગની જેમ ઉપકરણે-ન્દ્રિયની અપેક્ષા તો રહે જ છે. પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવાની શક્તિથી યુક્ત છેદન કરવા માટે સમર્થ તલવારની ધારની જેમ શકિત રૂપ ઇલાયદી ઈન્દ્રિયનો સ્વીકાર કરવો જોઈએ. અથવા નિવૃત્તિ હોવા છતા પણ શકિતનો ઉપઘાત થવાથી ઈન્દ્રિય પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરી શકતી નથી. આથી નિવૃત્તિ રૂપ શ્રવણાદિ સંજ્ઞાવાળા દ્રવ્યેન્દ્રિયની વિદ્યમાનતાંક જે અનુ-પઘાત અને અનુગ્રહના દ્વારા ઉપકારક થાય છે તેને ઉપકરણેન્દ્રિય કહે છે ઉપકરણેન્દ્રિયના બે ભેદ છે–બાહ્ય અને આભ્યંતર જ્યાં નિવૃત્તિ દ્રવ્યેન્દ્રિય હોય છે. ત્યાં ઉપકરણેન્દ્રિય હોય છે. તે તેનાથી ભિન્ન ભાગમાં રહેતી નથી હવે ઈન્દ્રિયોનો આકાર કહેવામાં આવે છે સ્પર્શને-ન્દ્રિયનો આકાર કોઈ એક નિશ્ચીત નથી તેના આકાર વિવિધ પ્રકારનાં હોય છે. રસનેન્દ્રિયનો

આકાર લાંબો અને ત્રિકોણ છરા જેવો હોય છે. અતિ મુકતકના પુષ્પ-દાર ચન્દ્રકના આકાર જેવી કંઈક કંઈક કેસર સહિત ગોળાકાર અને મધ્યમાં કઈક વિનત ઘ્રાણેન્દ્રિય હોય છે. મધ્યમાં કિંચિત્ ઉંચી ઉઠેલી ગોળાકાર મસૂરની દાળ નામના અનાજ જેવી ચક્ષુ ઈન્દ્રિય છે શ્રોત્રેન્દ્રિયનો આકાર કદંબના પુષ્પ જેવો છે. પ્રજ્ઞાપનસૂત્રના ઇન્દ્રિયપદમાં કહ્યું પણ છે.

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઇંન્દ્રિય-ઉપચય કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ઇન્દ્રિય-ઉપચય પાંચ પ્રકારનાં છે તે આ પ્રમાણે છે-શ્રોત્રેન્દ્રિય-ઉપ-ચય ચક્ષુ-ઇન્દ્રિય-ઉપચય ઘ્રાણેન્દ્રિય-ઉપચય જિહ્વેન્દ્રિય-ઉપચય અને સ્પર્શનેન્દ્રિય-ઉપચય.

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઇંન્દ્રિયનિર્વર્ત્તના કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારની ઇન્દ્રિયનિર્વર્ત્તનાં કહી છે જેમકે-શ્રોત્રઇન્દ્રિનિર્વર્તના ચક્ષુ-રિન્દ્રિય નિર્વર્ત્તના ઘ્રાણેન્દ્રિયનિર્વર્ત્તના જિહ્વેન્દ્રિય નિર્વર્ત્તના અને સ્પર્શેન્દ્રિયનિર્વર્ત્તનાં.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! સ્પર્શેન્દ્રિય કેવા આકારની કહેવામાં આવી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! વિવિધ આકારની કહેવાય છે.

પ્રશ્ન—હે ભગવન જીહ્વા ઇન્દ્રિય કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! છરાના આકારની કહી છે.

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ ઘ્રાણેન્દ્રિય કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! અતિમુકતકના ચન્દ્રકના આકાર જેવી છે

પ્રશ્ન—હે ભગવંત ! ચક્ષુરિન્દ્રિય કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! મસુરની દાળ જેવા આકારની કહી છે.

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ શ્રોત્રેન્દ્રિય ! કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ કદમ્બપુષ્પનાં આકારની જેમ છે.

આ રીતે પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પંદરમાં પદમાં ૧૯૧માં સૂત્રમાં કહેવામાં આવેલ છે. ॥૨૦॥

इंदियविसए पंचविहे फासे रसे गंधे वण्णे सद्दे य ॥२१॥

ઇન્દ્રિયોના વિષય પાંચ પ્રકારના છે- સ્પર્શ રસ ગંધ વર્ણ તથા શબ્દ ॥૨૧॥

તત્વાર્થદીપિકા— પ્રથમ કહેવાઈ ગયું છે કે શ્રોત્ર વગેરે પાંચ ઈન્દ્રિયો દ્રવ્ય અને ભાવના ભેદથી બે-બે પ્રકારની છે-હવે તેમના વિષય બતાવવા માટે કહીએ છીએ-ઇન્દ્રિયોના વિષય પાંચ છે-સ્પર્શ, રસ ગંધ વર્ણ અને શબ્દ

જે ઇન્દ્રિયો દ્વારા જાણી શકાય છે, તે ઇન્દ્રિયોનો વિષય કહેવાય છે તેના પાંચ ભેદ છે. (૧) સ્પર્શ-જેને અડકીને જાણી શકાય (૨) રસ-જે ચાખવાથી જાણી શકાય (૩) ગંધ-જે સુંઘવાથી માલમ પડે (૪) વર્ણ-જોવાથી જેનુ જ્ઞાન થાય અને (૫) શબ્દ-જે કાનથી પ્રતીત થાય.

સ્પર્શ આઠ પ્રકારના છે-(૧) કર્કશ (૨) મૃદુ (૩) ભારે (૪) હલકો (૫) ઠંડો (૬) ઉનો (૭) ચિકણો અને (૮) સૂકો રસ પાચ પ્રકારના છે (૧) તીખો (૨) કડવો (૩) કસેલો (૪) ખાટો (૫) મીઠો ગંધના બે ભેદ છે-સુગંધ અને દુર્ગંધ વર્ણના પાંચ ભેદ છે-કાળો, નિલો, રાતો, પીળો અને ધોળો શબ્દ ત્રણ પ્રકારના છે-જીવશબ્દ, અજીવશબ્દ અને મિશ્રશબ્દ.

વચનયોગથી નિકળેલો, અનન્તાનંદ પ્રદેશી પુદ્ગલ દ્રવ્યોનો સ્કંધ અગર પુદ્ગલ દ્રવ્યના સંધાનથી ઉત્પન્ન ધ્વનિને શબ્દ કહે છે.

આ સ્પર્શ વગેરે પાંચે વિષય ક્રમશ સ્પર્શન વગેરે ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણ કરવામાં આવે છે. જીવ તેમની અભિલાષા કરે છે આથી તેમને અર્થ પણ કહે છે ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા સ્પર્શન. જીભ, નાક, ચક્ષુ અને કાન એ પાંચ ઇન્દ્રિયો કહેવાઈ ગઈ. હવે એમના પાંચ વિષયોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ–ઈન્દ્રિયોનાં વિષય પાંચ છે–સ્પર્શ,-રસ,-ગંધ,-વર્ણ તથા શબ્દ.

ઇન્દ્રિયો વડે જેનું જ્ઞાન થાય તે ઇન્દ્રિયોનો વિષય કહેવાય છે તેના પાંચ ભેદ છે-સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણ અને શબ્દ. જેને અટકાય તે સ્પર્શ જે આઠ પ્રકારનો છે—કઠોર, કોમળ, ભારે, હલકો, ઠંડો, ગરમ, ચિકણો તથા લુખો.

જીભ વડે જે ચાખી શકાય તે રસ કહેવાય. તીખો, મધુર, કટુ, કષાય તથા ખાટાના ભેદથી રસના પાંચ ભેદ છે. મીઠું મીઠા રસમાં આવી જાય છે. ગંધના–સુગંધ તથા દુર્ગંધ–એ પ્રકાર છે. વર્ણ પાંચ પ્રકારના હોય છે–કાળો, લીલો, રાતો, પીળો તથા સફેદ. વમનયોગથી નિકળેલ અનન્તાનન્દ પ્રદેશી પુદ્ગલસ્કંધનું એક વિશિષ્ટ પરિણમન શબ્દ કહેવાય છે શબ્દ ક્યારેક પુદ્ગલ દ્રવ્યોથી અથડાઈ જવાને અને જુદા જુદા થવાને કારણે ઉત્પન્ન થાય છે તેના ત્રણ ભેદ છે.- જીવશબ્દ અજીવશબ્દ તથા મિશ્રશબ્દ–એમ ત્રણ ભેદ છે.

આ સ્પર્શ વગેરે પાંચ વિષયો અનુક્રમે, સ્પર્શન જીભ, ઘ્રાણ, ચક્ષુ તથા શ્રોત્રેન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રાહ્ય હોય છે આથી એમને–અર્થ વર્ણ કહે છે કારણ કે જીવ તેમની અભિલાષા કરે છે. આ બધા મળીને ૨૩ વિષય છે. સ્થાનાંગસૂત્રનાં પાંચમાં સ્થાનમાં, ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૪૪૩માં સૂત્રમાં કહ્યું છે-ઇન્દ્રિયોનાં પાંચ વિષય કહેલા છે–શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસનેન્દ્રિય તથા સ્પર્શનેન્દ્રિયના વિષયો ॥ ૨૧ ॥

णो इंदियं मणे ता विसए सुअं ॥२२॥

મૂળસૂત્રાર્થ—મન નો ઇન્દ્રિય છે અને તેનો વિષય શ્રુત છે ॥ ૨૨ ॥

તત્વાર્થદિપિકા—પહેલા ઇન્દ્રિયોનું અને એમના વિષયોનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું શ્રોત્ર વગેરે ઉપયોગનું કારણ હોવાથી ઇન્દ્રિય છે અને શબ્દ વગેરે એમના વિષય નિશ્ચીત છે, અર્થાત્ શ્રોત્ર શબ્દને જ જણાવે છે, ચક્ષુ રૂપને જ ગ્રહણ કરે છે એ રીતે પ્રત્યેક ઇન્દ્રિયનો પોત પોતાનો વિષય ચોક્કસ છે. પરંતુ મનનો વિષય નિશ્ચીત નથી.–તે શબ્દ રૂપ રસ વગેરે બધા વિષયોમાં પ્રવૃત્ત થઈ શકે છે એથી એને ઇન્દ્રિય માનવામાં આવ્યું નથી. મનને નો ઇન્દ્રિય કહેવું જ યોગ્ય છે આ માટે કહે છે—

મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે કારણકે તેનો વિષય શબ્દ વગેરે નિશ્ચીત નથી તો પણ તે શ્રોત્ર આદિની જેમ ઉપયોગમાં નિયત હવે થાય જ છે. એમના વિના શ્રોત્ર વગેરે ઇન્દ્રિયોની શબ્દ વિગેરે વિષયોમા સ્વપ્રયોજનભૂત પ્રવૃત્તિ હોતી નથી.

આ રીતે મન બધી ઇન્દ્રિયોનું તેમજ સાથે સાથે ઉપયોગનું પણ મદદરૂપ સાબીત થાય છે. પરંતુ મન માત્ર ઇન્દ્રિયોના સહાયક માત્ર નથી પરંતુ સ્વતંત્ર રૂપથી શ્રુત જ્ઞાનના વિષયને પણ જાણે છે આથી સૂત્રમાં કહ્યું છે- મનનો વિષય શ્રુત છે–અર્થાત્ મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે.

અહીં શ્રુતજ્ઞાન શબ્દથી શ્રુતજ્ઞાનનો વિષય સમજવો જોઈએ અર્થાત્ શ્રુતજ્ઞાનનો જે વિષય છે. તેજ મનનો વિષય છે. જે આત્માને શ્રુતજ્ઞાનાવરણ કર્મનો ક્ષયોપશમ છે તે શ્રુતજ્ઞાનના વિષયમાં મનની મદદથી જ પ્રવૃતિ કરે છે. મતલબ શ્રુતજ્ઞાનનો જે વિષય છે તે મનનો સ્વતંત્ર વિષય છે.

આ પ્રકરણમાં શ્રુત શબ્દનો અર્થ ભાવશ્રુતજ્ઞાન સમજવો જોઈએ. આ ભાવશ્રુતજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાનાવરણના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, દ્રવ્ય શ્રુતને અનુસરણ કરે છે તેમજ આત્માનું જ એક વિશિષ્ટ પરિણમન છે. અથવા અર્થઅવગ્રહની પછી મતિજ્ઞાન જ શ્રુતજ્ઞાન રૂપમાં પરિણત થાય છે પરંતુ બધી ઇન્દ્રિયોથી થનાર અર્થાવગ્રહ ના અંતર મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન રૂપ પરિણમન ન થવું. વચન અને મનથી થનાર અર્થ વિગ્રહની પછી જ શ્રુતજ્ઞાન રૂપ હોય છે.

ચોકકસ રીતથી શ્રુતજ્ઞાન શ્રુતશાસ્ત્ર અનુસાર હોય છે મનનો વિષય જે શ્રુતજ્ઞાન છે તે બે પ્રકારનો છે-અંગબાહ્ય અને અંગપ્રવિષ્ટ આવશ્યક વગેરે અગબાહ્યશ્રુતજ્ઞાન અનેક પ્રકારના છે. અગપ્રવિષ્ટ બાર પ્રકારના છે, જેમ આચારાંગાદિ—

આંખની જેમ મન પણ અપ્રાપ્યકારી છે કારણ કે જ્યારે મનથી અગ્નિનું ચિંતન કરવામાં આવે છે ત્યારે મનમાં જલન થતું નથી અને જ્યારે પાણીનુ ચિંતવન કરે છે ત્યારે ઠંડુ થતું નથી મનના બે ભેદ છે—દ્રવ્યમન અને ભાવમન—દ્રવ્યમન પોતાના શરીરની બરાબર છે જ્યારે ભાવમન આત્મા જ છે તે ભાવમન રૂપ આત્મા ત્વચા પર્યન્ત દેશમાં વ્યાપ્ત રહે છે.

ભાવમન દ્રવ્યમનનું અવલમ્બન કરીને પણ ઇન્દ્રિયોના વિપયોનું મનન કરે છે આથી તે દ્રવ્યમનના વ્યાપારનું જ અનુસરણ કરે છે—તાત્પર્ય એ છે કે શ્રોત્રની પ્રણાલીથી ગ્રહણ કરવામાં આવેલા શબ્દોનાં વાકયનો વિચાર કરવાવાળા મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે. શ્રુતજ્ઞાન પ્રયોગ વિશેષ અને સસ્કારજ્ઞાનથી ઉત્પન્ન થાય છે વર્ણ, પદ, વાકય, પ્રકરણ અધ્યયન વગેરેના જ્ઞાનરૂપ છે. તેને મન શિવાય બીજી કોઈ ઇન્દ્રિય ગ્રહણ કરવા માટે સમર્થ નથી. આથી મનનો અવશ્ય સ્વીકાર કરવો જોઈએ ॥ ૨૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં સ્પર્શન વગેરે ઇન્દ્રિયોના સ્પર્શ વગેરે વિષયોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવેલ છે. હવે મનનું વિજ્ઞાપન કરીને તેના વિષયનું પ્રજ્ઞાપન કરીએ છીએ—મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે. તેનો વિષય શ્રુત છે. શ્રુતજ્ઞાનાવરણના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થઈને દ્રવ્યશ્રુતનું અનુસરણ કરવાવાળા પોતાના અર્થથી ઉપસંગત આત્મપરિણુતિનો પ્રમાદ તથા તત્વાર્થને જાણવાવાળા સ્વરૂપવાળો મતિશ્રુતજ્ઞાન કહેવાય છે અથવા અર્થાવગ્રહના સમય પછી મતિજ્ઞાન જ શ્રુતજ્ઞાન બની જાય છે પરતુ બધી ઇન્દ્રિયોથી થનાર અર્થાવગ્રહની પછી થતું નથી પરતુ માનસિક અર્થાવગ્રહના અનન્તર જ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન બને છે, વિશેષ રૂપથી તો શ્રુતશાસ્ત્રના અનુસાર શ્રુતજ્ઞાન થાય છે. મનનો વિષય તે શ્રુતજ્ઞાન બે પ્રકારનું છે—અંગબાહ્ય અને અંગપ્રવિષ્ટ—

આવશ્યક વગેરેના ભેદથી અંગબાહ્ય અનેક પ્રકારના છે તે મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે કારણકે રૂપ વગેરેને ગ્રહણ કરવામાં તે સ્વતત્ર નથી, અપૂર્ણ છે અને ઇન્દ્રિયોનું કાર્ય કરતું નથી.

જેમ ચક્ષુ અપ્રાપ્યકારી છે તેવી જ રીતે મન પણ અપ્રાપ્યકારી છે કારણ કે પાણી તથા અગ્નિનું ચિંતન કરતી વખતે ન તો તેનો ઉપકાર હોય છે કે ન તો ઉપઘાત

મન બે પ્રકારના છે. દ્રવ્યમન અને ભાવમન દ્રવ્યમન શરીર છે તો ભાવમન આત્મા. ભાવમન દ્રવ્યમનનું અવલંબન કરીને ઇન્દ્રિયપરિણામનું મનન કરે છે તે દ્રવ્યમનનું જ અનુસરણ કરે છે.

આ રીતે શ્રોત્રની પ્રણાલી દ્વારા ગ્રહીત શબ્દોના અર્થનો વિચાર કરનાર અતીન્દ્રીય થયેલ રૂપ મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે પ્રયોગ–વિશેષથી સંસ્કૃત તે શ્રુતનો વર્ણ, પદ, વાકય, પ્રકરણ, અધ્યયન વગેરે ભેદવાળો છે. મન શિવાય અન્ય કોઈ ઇન્દ્રિય જાણવા માટે સમર્થ નથી. આ કારણે આત્માની પરિણતી વિશેષ રૂપ શ્રુતજ્ઞાન જ મનનો વિષય છે શબ્દ સ્વરૂપ શ્રુત મનનો વિષય હોઈ શકે નહીં

શબ્દાત્મક શ્રુત પ્રતિઘાત અને અભિભવથી જોડાયેલા હોવાથી તેમજ મૂર્તિક હોવાથી શ્રોત્ર દ્વારા જ ગ્રાહ્ય હોય છે મન દ્વારા નહીં આ રીતે મન ઇન્દ્રિય હોઈ શકતું નથી કારણકે તેમાં ઇન્દ્રિયનુ પૂર્વોકત લક્ષણ ઘટિત હોતું નથી આથી જ મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે ॥૨૨॥

पोग्गल जीवगइ दुविहा अणुसेढीय विसेढीय

મૂળસૂત્રાર્થ:—પુદ્ગલ અને જીવની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે અનુશ્રેણિગતિ અને વિશ્રેણિગતિ ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ જીવોનું સ્વરૂપ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યું એજ પ્રસંગને લઈને એ બતાવીએ છીએ કે જીવોની ભવાન્તરને પ્રાપ્ત કરાવવા વાળી જે ગતિ હોય છે તે અનિયત અર્થાત્ ગમે તેવી હોય છે કે તેનો કોઈ નિયમ છે ? આ જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરવા માટે પ્રથમ ગતિનું સ્વરૂપ કહે છે–પુદ્ગલો અને જીવોની ગતિ અર્થાત્ એક જગ્યાએથી બીજી જગ્યાએ પહોંચવાના બે પ્રકાર હોય છે–અનુશ્રેણિ અને વિશ્રેણિ.

પરમાણુપુદ્ગલોની દ્વિપ્રદેશી વગેરે સ્કંધોની તરફ જીવોની દેશાન્તરપ્રાપ્તિ ગતિ રૂપ ગતિ એક પ્રકારની હોય છે–અનુશ્રેણિરૂપ પરમાણુપુદ્ગલોની સાથે દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કંધોની ગતિ અનુશ્રેણિ હોય છે.

જીવોને પણ અનુશ્રેણિ જ ગતિ હોય છે લોકના મધ્યભાગથી શરૂ કરીને ઉપર નીચે અને તીછેં અનુક્રમે રહેલા આકાશપ્રદેશોની હરોળને શ્રેણિ કહે છે. આ શ્રેણી અનુસાર જીવો અને પુદ્ગલોની જે ગતિ થાય છે તે અનુશ્રેણિ ગતિ કહેવાય છે.

આ પૈકી અનુશ્રેણિ ગતિ પુદ્ગલો અને જીવોની હોય છે. પુદ્ગલોમાં પણ જીવ મરીને જ્યારે બીજા ભવમા જાય છે અને મુકત જીવ જ્યારે ઉર્ધ્વગમન કરે છે ત્યારે તેની અનુશ્રેણિગતિ થાય છે

પરપ્રયોગ વગર પુદ્ગલોની પણ સ્વાભાવિક ગતિ શ્રેણી અનુસાર જ થાય છે, પરપ્રયોગથી અર્થાત્ બાહ્ય દબાણથી પુદ્ગલોની અનુશ્રેણિગતિ થાય છે, એ વસ્તુસ્થિતિ છે ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—જીવોના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ પ્રથમ કરવામાં આવ્યું હવે જીવોની ભવાન્તરમા જે ગતિ થાય છે તે ગમે તેવી થઈ જાય છે અથવા તો શું તેનો કોઈ નિયમ છે ? આ રીતની શંકા હોવાથી પ્રથમ ગતિનુ નિરૂપણુ કરે છે

પુદ્ગલો અને જીવોની ગતિ એક પ્રકારની છે અનુશ્રેણિ ગમન કરવું તેને ગતિ કહે છે અને ગમનનો અર્થ છે એક સ્થાનેથી બીજા સ્થાને પહોંચવું.

પરમાણુપુદ્ગલોની, દ્વિપ્રદેશી વગેરે સ્કંધોની અને જીવોની ગતિ એક પ્રકારની હોય છે– અનુશ્રેણિરૂપ, એમાંથી પરમાણુપુદ્ગલો અને દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કંધોની અનુશ્રેણિ ગતિ જ હોય છે.

જીવોની ગતિ એક પ્રકારની હોય છે– અનુશ્રેણિ રૂપ પોતાના શરીરની અવગાહના જેટલા આકાશના પ્રદેશોની હરોળને શ્રેણિ કહે છે–અમૂર્ત્ત ક્ષેત્રને પરમાણું પ્રદેશ કહેવાય છે. તે ઘણાંજ બારીક હોય છે અને નિરન્તર વ્યાપ્ત રહે છે આકાશના પ્રદેશોની પંક્તિ અર્થાત્ શ્રેણી જીવગતિની અપેક્ષાથી અસંખ્યાતા પ્રદેશોવાળી હોય છે. પુદ્ગલગતિની અપેક્ષાથી મોતીના હાર જેવી એક–એક આકાશપ્રદેશની રચના વાળી પણ સમજી લેવી જોઈએ

પરમાણુપુદ્ગલોનું તેટલી જ શ્રેણીમાં અવસ્થાન હોય છે પરંતુ દ્વિપ્રદેશી વગેરે પુદ્ગલોનુ તેટલું અને તેથી વિશિષ્ટ શ્રેણીમાં અવસ્થાન હોય છે. આ રીતે અપ્રદેશી સ્કંધ પર્યન્ત પુદ્ગલદ્રવ્યના વિષયમાં પણ કહીદેવું જોઈએ,

શ્રેણી અનુસાર જે ગતિ થાય તે અનુશ્રેણિ કહેવાય છે—

જેમાં મિલન અને વિયોગ જોવામાં આવે તેને પુદ્ગલ કહે છે તે પુદ્ગલોની તથા સંસારી જીવોની ઉંચી નીચી અથવા તિર્છી જે ગતિ થાય છે તે આકાશના પ્રદેશોની શ્રેણી અનુસાર થાય છે.

પુદ્ગલોનો અવગાહ લાંબો હોય છે એવી જ રીતે ઉપર–નીચે પણ ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાય પર્યન્ત જે શ્રેણિઓ છે તે શ્રેણિઓમાં જ ગતિ થાય છે–તેમને ભેદીને કદાપી પુદ્ગલો ગમન કરતા નથી.

આ રીતે જીવો અને પુદ્ગલોના અવગાહરૂપ આકાશના પરમાણુરૂપ અમૂર્ત્ત પ્રદેશોની લાંબી શ્રેણી અસંખ્યાત પ્રદેશોની હોય છે પરંતુ તે જીવોના ગમનમાં જ હોય છે. પુદ્ગલોના ગમનમાં તો સંખ્યાત પ્રદેશવાળી શ્રેણી પણ હોય છે આ પ્રકારની શ્રેણીમાં જ ગમન થાય છે. આકાશના પ્રદેશોની જે શ્રેણી છે તે પ્રમાણે જ જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ થઈ શકે છે.

સ્વત ગતિ પરિણામને પામેલા જીવની દેશાંતર પ્રાપ્તિ રૂપ ગતિ આકાશશ્રેણીનુ ઉલ્લંઘન નહી કરીને, ગતિના કારણભૂત તથા સમસ્ત લોકમાં વ્યાપ્ત ધર્મદ્રવ્યના નિમિત્તથી થાય છે. પરભવમાં જવા માટે અભિમુખ થયેલો જીવ મનક્રિયાવાળુ હોવાથી જે આકાશપ્રદેશોની મદદ લઈને શરીરનો ત્યાગ કરે છે, તેનુ ભેદન ન કરતો થકો, ઉપર, નીચે અથવા મધ્ય દેશાન્તરમાં ગતિ કરે છે તેની અનુશ્રેણી ગતિ હોય છે.

આગળ જતા ધર્માસ્તિકાયનો અભાવ હોવાથી લોકના પર્યન્ત ભાગમાં ગતિ એક થઈ જાય છે. લોકના નિષ્કુટ–' ' I જેવા નિશ્ચલ ઉપપાતન ક્ષેત્રના વશથી જીવ ધર્માસ્તિકાયની સહાયતાથી વાંકી ગતિ કરે છે પુદ્ગલોની પણ પરપ્રેરણા વગર જે સ્વાભાવિક ગતિ હોય છે તે અનુશ્રેણી રૂપ જ હોય છે. જેવી રીતે પરમાણુ પૂર્વદિશાના લોકાન્તથી પશ્ચિમ દિશાના લોકાન્ત સુધી એક સમયમા પ્રાપ્ત થાય છે વસ્તુગતિના અનુરોધથી સૂત્ર દ્વારા પ્રતિબન્ધન કરવામાં આવેલ છે

બીજાની પ્રેરણાની અપેક્ષાથી પુદ્ગલોની પણ અનુશ્રેણી રૂપ પણ ગતિ હોય છે. વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિના ૨૫માં શતકમાં, બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—

પ્ર૦—ભગવાન્ ! પરમાણુપુદ્ગલોની ગતિ અનુશ્રેણિ–શ્રેણી અનુસાર થાય છે ?

જવાબ—ગૌતમ ! અનુશ્રેણી ગતિ હોય છે, વિશ્રેણી ગતિ હોતી નથી.

પ્ર૦—ભગવાન્ ! દ્વિપ્રદેશી સ્કંધોની અનુશ્રેણી ગતિ હોય કે વિશ્રેણી ગતિ ?

જ.—આ પ્રશ્નનો જવાબ પૂર્વવત્ છે. આવીજ રીતે અનંતપ્રદેશી સ્કંધો સુધી સમજવાનું છે.

પ્ર.—ભગવન્ નારકી જીવોની ગતિ અનુશ્રેણી હોય છે કે વિશ્રેણી.

જ—આનો જવાબ પણ પૂર્વવત્ જ છે આ જ રીતે વૈમાનિક દેવો સુધી સમજવું ॥૨૩॥

'जीवगई य दुविहा विग्गहा अविग्गहा य'

મૂળસૂત્રાર્થ :—જીવની ગતિ બે પ્રકારની છે–સવિગ્રહ અને અવિગ્રહ ॥ ૨૪ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિની પ્રરૂપણા કરી તેમાં જીવોની તે ગતિ ભવાન્તર પ્રાપિણી અને પુદ્ગલોની ગતિદેશાન્તર પ્રાપિણી હોય છે એવું સમજી લેવું. શું જીવ અગર પુદ્ગલ સીધા જ આવીને રોકાઈ જાય છે અથવા વાંકા–ચુંકા જઈને પણ ઉત્પન્ન થાય છે અથવા રોકાઈ જાય છે ? એવા પ્રકારની જિજ્ઞાસાનું સમાધાન એ છે કે પુદ્ગળો માટે નિયમો ન હોવાથી પરપ્રયોગના અભાવમાં તેમની સીધી જ ગતિ હોય છે; પરંતુ પરપ્રયોગના નિમિત્તથી બંને પ્રકારની ગતિ હોય છે.

સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરવાવાળા જીવોની ગતિ નિયમથી વગર-વિગ્રહ (વળાંક) ની સરલ હોય છે આ સિવાયના સંસારી જીવોની ગતિ વાંકી પણ હોય છે અને સીધી પણ હોય છે આ પ્રકારની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

જીવોની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે-સવિગ્રહ ગતિ અને અવિગ્રહ ગતિ.

એક ભવથી બીજા ભવને પ્રાપ્ત કરાવનાર જીવની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે–વિગ્રહવાળી અર્થાત્ વક્રગતિ અને અવિગ્રહવાળી અર્થાત્ સરળગતિ વિગ્રહરહિત–સીધી ગતિ એક સમયની જ હોય છે મોક્ષગામી સિદ્ધજીવની અવિગ્રહ ગતિ હોય છે અવિગ્રહ ગતિ એક સમય બે સમય અને ત્રણ સમયની હોય છે જઘન્ય એક સમયની અને ઉત્કૃષ્ટા ત્રણ સમયની જાણવી આ રીતે એકેન્દ્રિય બેઇન્દ્રિય વગેરે જાતિયોની અંદર સંક્રમણ કરવામાં અથવા સ્વજાતિમાં સંક્રમણ કરવામાં સંસારી જીવની ગતિ સવિગ્રહ અર્થાત્ વક્ર અને અવિગ્રહ અર્થાત્ સરળ–સીધી ગતિ.

ક્યારેક વક્રગતિ અને ક્યારેક સરળગતિ હોવાનું કારણ ઉપપાત ક્ષેત્રની અનુકૂળતા તથા પ્રતિકૂળતા છે. જે ક્ષેત્રમાં જીવ જન્મ લેનાર છે, તે ક્ષેત્રની અનુકૂળતા હોવાથી, મધ્યમાં, ઉપર અગર નીચે, દિશાઓમાં અથવા વિદિશાઓમાં મરતો થકો, જેટલી આકાશશ્રેણીમાં અવગાહના હોય છે, તેટળી જ પ્રમાણવાળી શ્રેણીનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો, ચારવિગ્રહથી પહેલા વિગ્રહગતિથી ઉત્પન્ન થતો થકો એક વિગ્રહવાળી, બે વિગ્રહવાળી અગર ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિથી ઉત્પન્ન થાય છે પરંતુ અન્તર્ગતિ તો ચોક્કસ જ ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે એવા નિયમનો સ્વીકાર ન કરવો જોઈએ પરંતુ જે જીવોની ગતિ વિગ્રહવાળી હોય છે, ઉપપાત ક્ષેત્રના કારણે તેની વિગ્રહવાળી ગતિ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે.

એજ રીતે વિગ્રહની દૃષ્ટિથી ચાર ગતિ છે–એક વિગ્રહવાળી, બે વિગ્રહવાળી, ત્રણ વિગ્રહવાળી ને ચાર સમયની હોય છે. આમા વિગ્રહરહિત ગતિ એક સમયની હોય છે. અને વિગ્રહ-

વાળી ગતિ ત્રણ પ્રકારની છે-એક સમયની, બે-સમયની અને ત્રણ સમયની એથી વિશેષ હોતી નથી કારણકે તેનો સ્વભાવ જ એવો છે, પ્રતિઘાતનો અભાવ છે અને વિગ્રહના નિમિત્તનો અભાવ છે. જે જીવનું ઉપપાતક્ષેત્ર સમશ્રેણીમાં રહેલ છે તે જીવ ઋજુશ્રેણીથી જઈને ઉત્પન્ન થાય છે.

વક્રગતિ નહીં કરનાર જીવ એક જ સમયમાં ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અર્થાત્ પોતાના ઉપપાતક્ષેત્ર સુધી પહોંચી જાય છે પરંતુ તેનું ઉપપાતક્ષેત્ર જો વિશ્રેણીમાં હોય છે ત્યારે એક સમય અને ત્રણ સમયવાળી પણ વિગ્રહ ગતિ હોય છે.

અત્રે "વિગ્રહ" શબ્દ 'વિરામ' અર્થમાં લેવો જોઈએ અને નહીં કે 'કુટિલ' અર્થમાં આથી ફલિતાર્થ એ થયો કે એક સમયમાં ગતિના અવચ્છેદથી અર્થાત્ વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે, બે સમયમાં ગતિના અવચ્છેદથી યાની વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે અથવા ત્રણ સમયમાં ગતિના અવચ્છેદ અર્થાત્ વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે.

અહીં એવું સમજવું જોઈએ-અવિગ્રહ ગતિ ઈષુગતિ (બાણ જેવી સીધી ગતિ) કહેવાય છે જેવી રીતે બાણનું પોતાનું લક્ષ્ય સીધી ગતિ હોય છે એવી જ રીતે સિદ્ધો તથા સંસારી જીવોની અવિગ્રહગતિ એક સમય જેવી સરખી જ હોય છે. સવિગ્રહગતિ સંસારી જીવોની જ હોય છે. તેના ત્રણ ભેદ છે-હસ્તપ્રક્ષિપ્ત, લાંગલિકા અને ગોમૂત્રિકા.

જેમ હાથને એકબાજુ વાંકો વીંઝવામાં આવે તો એક તરફ તિરછી ગતિ હોય છે એવી જ રીતે સંસારી જીવની હસ્તપ્રક્ષિપ્ત ગતિ એક વિગ્રહવાળી બે સમયની હોય છે. લાંગલિકા ગતિ બંને તરફથી વાંકી હોય છે જેવી રીતે હળ બંને તરફથી વાંકું હોય છે તેજ રીતે સંસારી જીવોની જે ગતિ બંને તરફથી વાંકી હોય તે લાંગલિકા કહેવાય છે, તે ગતિ ત્રણ સમયની હોય છે. ગોમૂત્રિકા ગતિ ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે. તે ગતિ ચાર સમયની હોય છે. આ રીતે ભવાન્તરમાં ઉત્પન્ન થનારા સસારી જીવોની વિગ્રહવાળી વક્રગતિ ચોથા સમયથી પહેલા જ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે. ચોથા સમયમાં અગર ચોથા સમયના અન્તમાં વક્રગતિ હોતી નથી.

વિગ્રહવાળી ગતિ ચોથા સમયમાં કેમ થતી નથી ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે સહુથી અધિક વિગ્રહના નિમિત્તભૂત લોકાગ્રના ખુણારૂપ નિષ્કુટ ક્ષેત્રમાં ઉત્પન્ન થનારો જીવ નિષ્કુટ ક્ષેત્રને અનુકૂળ શ્રેણી ન હોવાના કારણે ઈષુગતિ કરી શકતો નથી આથી નિષ્કુટ ક્ષેત્રમાં જવા માટે પણ વિગ્રહવાળી ગતિનો આરંભ કરવો છે તેથી અધિક વિગ્રહવાળી ગતિ કરતો નથી કારણકે એવું કોઈ પણ ઉપપાત ક્ષેત્ર નથી કે જ્યાં જવા માટે ત્રણથી વધારે વિગ્રહ કરવા પડે ॥ ૨૪ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં કહેવામાં આવેલી જીવોની ભવાન્તર પ્રાપિણીગતિ તથા પુદ્ગલોની દેશાન્તર પ્રાપિણી ગતિ શું સીધી જઈને વિરત થઈ જાય છે અથવા વિગ્રહ કરીને પણ ફરી ઉત્પન્ન થાય છે ? એવી આશંકાના સમાધાન માટે કહે છે-પુદ્ગલો માટે કોઈ નિયમ નથી, સિદ્ધિગમન કરવાવાળા જીવોની ગતિ નિયમ રૂપે અવિગ્રહ-સરળ જ હોય છે.

સિદ્ધોથી જુદા જે સંસારી જીવો છે તેમની ગતિ સવિગ્રહ અને અવિગ્રહ બંને પ્રકારની હોય છે. આ આશયને પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

જીવોની ગતિ બે પ્રકારની છે સવિગ્રહ અને અવિગ્રહ સામાન્યતયા જીવની બે પ્રકારની ગતિ હોય છે–વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતાવાળી અને અવિગ્રહ અર્થાત્ સીધી–સરળ. આમાં જે અવિગ્રહગતિ છે તે નિયમથી એક સમય વાળી જ હોય છે આવી ગતિ મોક્ષગામી જીવની જ હોય છે વિગ્રહવાળી ગતિ એક સમયની બે સમયની અગર તો ત્રણ સમયની હોય છે. જઘન્ય એક સમયની અને ઉત્કૃષ્ટ ત્રણસમયની સમજવી જોઈએ ! આથી એકેન્દ્રિય વગેરે બીજી જાતિયોમાં સંક્રમણ સમયે અથવા પોતાની જ જાતિમાં સંક્રમણ કરતી વેળાએ સંસારી જીવની વિગ્રહવાળી વક્ર અથવા વગર વિગ્રહની અવક્રગતિ હોય છે.

આ રીતે કયારેક વાંકી અને કયારેક સીધી જે ગતિ હોય છે તેનું કારણ ઉપપાતક્ષેત્રની–વિશેષતા જ છે જે ક્ષેત્રમાં જઈને જીવને જન્મ લેવો છે તે જો અનુકૂળ હોય તો વચ્ચે ઉપર અગર નીચે, દિશા અગર વિદિશામાં મરીને જેટલી આકાશશ્રેણીમાં અવગાહ હોય તેટલા જ પ્રમાણવાળી શ્રેણીનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો, ચાર વિગ્રહોથી પહેલા–પ્રથમ એક બે અગર ત્રણ વિગ્રહ કરીને ઉત્પન્ન થઈ જાય છે પરંતુ એવો નિયમ સમઝવો જોઈએ નહી કારણ અંતર્ગતિ નિશ્ચિત રૂપથી વિગ્રહવાળી હોય છે પરંતુ જે જીવોની ગતિ વિગ્રહવાળી હોય છે તેમની તે વિગ્રહવાળી ગતિ ઉપપાત ક્ષેત્ર મુજબ વધારેમાં વધારે ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે. આ રીતે સમયની અપેક્ષાથી ચાર (૪) પ્રકારની ગતિ હોય છે–એક સમયની અવિગ્રહગતિ, એક વિગ્રહવાળી, બે વિગ્રહવાળી અને ત્રણ વિગ્રહવાળી આનાથી વધુ વિગ્રહવાળી ગતિની શકયતા નથી કારણકે જીવનો એવો જ સ્વભાવ છે, પ્રતિઘાતનો અભાવ હોય છે અને અધિક વિગ્રહ કરવા માટે જ કોઈ કારણ રહેતું નથી.

વિગ્રહનો અર્થ છે વક્રતા, અવગ્રહ અથવા એક આકાશશ્રેણીથી બીજી શ્રેણીમાં જવું આ તમામ પર્યાયવાચક શબ્દ છે અભિપ્રાય એવો છે કે ભવાન્તરમાં ઉત્પન્ન થનારા જીવનું ઉપપાતક્ષેત્ર જો સમશ્રેણીમાં રહેલું હોય તો તે એજ શ્રેણી અનુસાર કયાય ફંટયા વગર–સીધો જઈને એકજ સમયમાં ઉત્પન્ન થઈ જાય છે પરંતુ જ્યારે ઉપપાતક્ષેત્ર વિશ્રેણીમાં અર્થાત્ કોઈ બીજી શ્રેણીમાં હોય છે ત્યારે ત્યાં સુધી પહોચવા માટે એક, બે અગર ત્રણવાર ફંટાય છે. જ્યારે તેને વળવું પડે છે ત્યારે વળાંક મુજબ વધુ સમય લાગે છે. આગમમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક જીવે આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના પૂર્વ ચરમાન્તમાં સમુદ્‌ઘાત કર્યો અને તે આજ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના પશ્ચિમ ચરમાન્તમાં અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક રૂપે ઉત્પન્ન થનાર છે તો હે ભગવન્ ! તે જીવ કેટલા સમયનો વિગ્રહ કરીને ઉત્પન્ન થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક સમયનો બે સમયનો અથવા ત્રણ સમયનો વિગ્રહ કરીને ઉત્પન્ન થાય છે.

પ્રશ્ન:—ભગવન્ ! કયા હેતુથી આપે એવું કહેલ છે ?

ઉ૦—ગૌતમ, મેં સાત શ્રેણીયોની પ્રજ્ઞાપના કરી છે.

(૧) ઋજવાયતાશ્રેણી (સીધી-લાંબી શ્રેણી), (૨) એક તરફથી વાંકી, (૩) બને બાજુથી વાંકી (૪) એક તરફથી બહા-એક બાજુ ત્રસ નાડી સીવાયના આકાશ વાળી-(૫) બંને તરફથી બહા બન્ને બાજુ ત્રસ નાડી સીવાયના આકાશ વાળી (૬) ચક્રવાલા-ગોળાકાર (૭) અર્ધચક્ર-વાલાઅર્ધગોળાકાર. જે જીવ સીધી લાંબી શ્રેણીથી ઉત્પન્ન થાય છે તે એક સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે-જે જીવ એક વક્ર શ્રેણીથી ઉત્પન્ન થાય છે તે બે સમય વાળા વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે, જે બે તરફ વાંકી શ્રેણીથી ઉત્પન્ન થાય છે તે ત્રણ સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે આ હેતુથી જ હે ગૌતમ ! મેં આ પ્રમાણે કહેલ છે.....

ભગવતીસૂત્ર શ. ૩૪. ઉ, ૧, સૂત્ર ૧ અહીં "વિગ્રહ"નો અર્થ 'વિરામ' છે, વક્રતા નહીં આથી સાર એ નીકળ્યો કે એક સમયની ગતિના વિરામથી અર્થાત્ એક સમય પરિમાણ ગતિકાળ પછી થનારા વિરામથી જીવ પેદા થાય છે. એ રીતે વક્રશ્રેણીથી ઉત્પન્ન થતો થકો જીવ બે પરિમાણવાળી ગતિની પછીથી થનારા વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે.

જો કે ગતિનું પરિમાણ દર્શાવનારા સૂત્રમાં ત્રિવક્રા ગતિનું કથન કરવામાં આવ્યું નથી તો પણ તેનું કથન ઉપર કહેવાઈ જ ગયું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક જીવ, અધોલોક-ક્ષેત્રની નાલ.. થી બહારના ક્ષેત્રથી ઉર્ધ્વલોકના ક્ષેત્રની નાલ... થી બહારના ક્ષેત્રમાં અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિકના રૂપમાં ઉત્પન્ન થનાર છે, તે કેટલા સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ત્રણ અગર ચાર સમયનાં વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે.

આ રીતે ત્રિવક્રા ગતિમાં જ ચાર સમય થઈ શકે છે આથી કોઈ દોષ નથી. એ રીતે ચક્રવાલા વગેરે પણ આ ચાર સમયોમાં અન્તર્ગત થઈ જાય છે, આથી જ તેમનું સ્વતંત્ર કથન કરવામાં આવ્યું નથી,

આ રીતે ઋજુ વગેરે ચાર પ્રકારની ગતિઓ ચાર સમયપર્યન્ત જ હોય છે. કોઈ પણ ગતિ એવી હોતી નથી કે ચારથી વધુ-પાંચ વગેરે સમયોની હોય આ ચાર ગતિમાંથી નારક વગેરેની અવિગ્રહા (સરળ) તથા એક અગર બે વિગ્રહવાળી ગતિ જ હોય છે, ત્રણ વિગ્રહવાળી નહીં. એકેન્દ્રિય જીવોની ત્રણ વિગ્રહવાળી તથા બીજી ગતિઓ પણ હોય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રનાં ત્રીજા સ્થાનના ચોથા ઉદ્દેશકના ૨૨માં સૂત્રમાં કહ્યું છે-નારકજીવ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ સમયવાળા વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે. એકેન્દ્રિયોને છોડી, વૈમાનિકો સુધી આજ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ.

એવી જ રીતે ભગવતીસૂત્રના ૩૪માં શતક પ્રથમ ઉદ્દેશકના પહેલા સૂત્રમાં કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—નારક જીવ કેટલા સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે ?

ઉ૦—ગૌતમ ! એક સમય, બે સમય, ત્રણ સમય અથવા ચાર સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે.

સ્વાભાવિક પ્રશ્ન થઈ શકે કે અવિગ્રહગતિ એક સમયની જ કેમ હોય છે ? બે અગર ત્રણ સમયની કેમ નહીં ? કાળના અવસરે કાળ કરીને કોઈ જીવ બે અગર ત્રણ સમય સુધી સીધું ગમન કેમ કરતો નથી ? પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે ત્રીજીગતિમાં પ્રતિઘાત નથી અને વિગ્રહનું કોઈ કારણ હોતું નથી. આ ઉપરાંત શાસ્ત્રની એજ માન્યતા છે. જે જીવ ત્રીજીગતિથી પોતાના ઉપપાતક્ષેત્રમાં જાય છે, તે વચ્ચે કોઈ પણ જગ્યાએ રોકાયા વગર એક જ સમયમાં તેને પ્રાપ્ત કરી લે છે. ત્યાં બે અગર બેથી વધારે સમય થવાનું કોઈ કારણ નથી આથી તેની આ ગતિ એકજ સમયની હોય છે. ઔપપાતિકસૂત્રના સિદ્ધપ્રકરણમાં ૯૨માં સૂત્રની અમારા દ્વારા કરવામાં આવેલી પીયૂષવર્ષિણી ટીકામાં કહ્યું છે-ત્રીજીગતિને પ્રાપ્ત અસ્પર્શમાનગતિ વાળો જીવ એક સમયના અવિગ્રહથી જઈને સાકાર ઉપયોગથી યુકત થઈને સિદ્ધ થશે.

જેવી રીતે સંસારી જીવોની ચાર ગતિ સંભવિત છે તેજ રીતે પરમાણુ વગેરે પુદ્‌ગલોની પણ વિસ્રસા તથા પ્રયોગ દ્વારા સમજી લેવી જોઈએ. કાળનો તથા 'વિગ્રહનો 'આ નિયમ અન્તરાલ ગતિ માટે દર્શાવવામાં આવેલ છે. ભવસ્થ તથા ઔદારિક શરીરવાળા જીવોની પ્રયોગ-પરિણામના વશથી સવિગ્રહક અવિગ્રહક બંને પ્રકારની ગતિ થાય છે-તેના માટે કોઈ નિયમ નથી ઔદારિક વગેરે શરીરધારીઓ માટે વિગ્રહોનો નિયમ નથી-તે થોડા પણ હોય છે અને ઘણાં પણ હોઈ શકે છે ॥ ૨૪ ॥

'कम्मजोगा विग्गहगई' ॥ सू० २५ ॥

મૂળસૂત્રાર્થ:—વિગ્રહગતિ કાર્મણકાયયોગથી થાય છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ વિશિષ્ટ સંસારી જીવોના જ મનોયોગનો નિયમ બતાવવામાં આવ્યો હવે ભવાન્તરગમનના માર્ગમાં અન્તર્ગતિમાં વર્તમાન જીવોનો કયો યોગ હોય છે એ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ—

જીવની વિગ્રહગતિ કર્મયોગથી અર્થાત્ કાર્મણશરીરના નિમિત્તથી થાય છે. જે ગતિ વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતાથી યુકત હોય તે વિગ્રહગતિ કહેવાય છે. જે શરીર સમસ્ત શરીરોની ઉત્પત્તિમાં બીજની સમાન–કારણ–રૂપ હોય તે કાર્મણ શરીર કહેવાય છે મનોવર્ગણા કાય વર્ગણા અને વચનવર્ગણાના નિમિત્તથી થનારા આત્માના પ્રદેશોનું પરિસ્પન્દન–હલન ચલન–યોગ કહેવાય છે. એવી રીતે વિગ્રહગતિમાં કાર્મણકાયયોગ થાય છે તેનાથી નવીન કર્મોનું ગ્રહણ અને દેશાન્તરમાં ગમન થાય છે.

જ્યારે આત્મા એક શરીરને છોડી બીજું શરીર ધારણ કરવા માટે જાય છે, ત્યારે તે કાર્મણ શરીરની સાથે હોય છે. આનો ફલિતાર્થ એ છે કે જીવ કાર્મણ શરીરના આધારથી ભવાન્તરમાં ગમન કરે છે–આનો પરમાર્થ એ છે કે ભવાન્તરમાં ગમનના માર્ગમાં સ્થિત તથા વિગ્રહગતિને પામેલા જીવની અન્તરાલ ગતિમાં કાર્મણ કાયયોગ થાય છે. અન્તરાલગતિ સિવાય બીજા સમયમાં આગમના કથન અનુસાર કાયયોગ વચનયોગ અને મનોયોગ ત્રણે યોગ હોઈ શકે છે એમ સમજી લેવું ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત:—અગાઉ ખાસ ખાસ સંસારી જીવોનાં જ મનોયોગનો નિયમ પ્રતિપાદન કર્યો પરંતુ અન્તર્ગતિમાં જીવોનો કયો યોગ હોય છે ? આ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—વિગ્રહગતિ કર્મયોગ અર્થાત્ કાર્મણ કાયયોગથી થાય છે. જેમાં કાર્મણ શરીર દ્વારા ચેષ્ટા થાય તે ગતિ–કર્મયોગ કહેવાય છે. વિગ્રહગતિ કર્મયોગ છે.

વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતા અગર વળાંકથી યુક્ત જે ગતિ હોય તે 'વિગ્રહગતિ' અથવા ઘોડાના રથ જેવા વિગ્રહની પ્રધાનતાવાળી ગતિ વિગ્રહગતિ કહેવાય છે. જે જીવ વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત છે, ભાવાન્તર ગમનના માર્ગમાં સ્થિત છે, તે જીવનો કાર્મણકાયયોગ જ હોય છે. બીજા સમયમાં આગમના અનુસાર કાયયોગ વચનયોગ અને મનોયોગ એ ત્રણ યોગ હોઈ શકે છે—

આ રીતે નારકી, ગર્ભજ, તિર્યંચ અને મનુષ્ય તથા જીવોમાં ત્રણે યોગ મળે છે સમ્મૂર્છિમ જન્મવાળા તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાં કાયયોગ અને વચનયોગ જ હોય છે અથવા અન્તરાલગતિ સિવાય બીજા સમયમાં ભિન્ન ભિન્ન પર્યાયોમાં સ્થિત દેવોનાં યથાયોગ્ય કાયયોગ વગેરે પંદર જ યોગ હોય છે.

એ પૈકી મનોયોગ ચાર પ્રકારના છે. (૧) સત્ય મનોયોગ (૨) અસત્ય મનોયોગ (૩) સત્યાસત્ય (મિશ્ર) મનોયોગ અને (૪) અસત્યામૃષા (વ્યવહાર) મનોયોગ. વચનયોગ પણ આ રીતે ચાર પ્રકારના છે (૧) ઔદારિક (૨) ઔદારિક મિશ્ર (૩) વૈક્રિય (૪) વૈક્રિયમિશ્ર. (૫) આહારક (૬) આહારમિશ્ર (૭) કાર્મણયોગ તૈજસ કાર્મણની સાથે જ હોય છે આથી કાર્મણથી ભિન્ન નથી આથી યોગ પંદર જ પ્રકારનાં છે, સોળ પ્રકારના નથી.

સત્યમનોયોગ અને વ્યવહાર મનોયોગ સંજ્ઞી મિથ્યાદષ્ટિથી લઈને સયોગ કેવળીપર્યન્ત હોય છે. સત્ય વચનયોગ પણ આ સ્થાનોમાં મળી આવે છે. ચોથો વચનયોગ બેઇન્દ્રિયથી લઈને સયોગ કેવળી પર્યન્ત રહે છે. બીજો અને ત્રીજો વચનયોગ સંજ્ઞી ભાવદષ્ટિથી લઈને ક્ષીણ કષાય વીતરાગ છદ્મસ્થ પર્યન્ત મળી આવે છે.

આવી જ રીતે બીજો તેમજ ત્રીજો કાયયોગ જ ભવાન્તરની પ્રાપ્તિ પર્યંત હોય છે અન્તરાલમાં—ભવાન્તર ગમનના માર્ગમાં યથાસંભવ ઔદારિક અને વૈક્રિય કાયયોગ હોય છે. વક્રગતિમાં ઔદારિક તથા વૈક્રિય કાયયોગોની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે. નારક અને દેવ વૈક્રિયયોગ વાળા હોય છે. તિર્યંચ અને મનુષ્ય ઔદારિક તથા વૈક્રિયયોગવાળા હોય છે. આહારયોગનો પ્રમત્ત અનગાર જ પ્રારંભ કરે છે, પછી તો અપ્રમત્તને પણ આહારકયોગ હોય છે. આજ નારક વગેરે જીવ જ્યારે અપર્યાપ્ત અવસ્થામાં હોય છે ત્યારે તેઓ મિશ્રયોગવાળા હોય છે.

જીવ આગામી ભવમાં ઔદારિક શરીર ધારણ કરશે. તેનો આહાર ગ્રહણ જ ઔદારિક મિશ્ર હોય છે. અને જે જીવ વૈક્રિય શરીર ધારણ કરે છે તેનો વૈક્રિય મિશ્ર હોય છે.

કેવલીસમુદ્ઘાતના સમય ત્રીજા ચોથા અને પાંચમાં સમયોમા કાર્મણ' કાયયોગ જ હોય છે. બીજા, છઠા અને સાતમા સમયમાં કાર્મણ યોગ ઔદારિક મિશ્ર હોય છે તથા પ્રથમ અને આઠમા સમયમાં ઔદારિક યોગ જ હોય છે ઔદારિક બીજી અવસ્થાયોમાં અગાઉ કહેલ કાયયોગ વગેરેની યોજના કરી લેવી જોઈએ

શંકા:—જે વિગ્રહગતિમાં કર્મણયોગ થાય છે તો એ કાયગ્રહણવાળી ગતિમાં પણ કાર્મણયોગ જ કેમ થતો નથી ? તે પણ વિગ્રહગતિ જ છે.

સમાધાન:—વિગ્રહગતિમાં કાર્મણ કાયયોગની વ્યાપ્તિ તલ અને તેલની જેમ વિવક્ષિત નથી પરંતુ વિષ્કંપમાત્રની વિવક્ષા કરવામાં આવી છે. જેવી રીતે આકાશમાં પક્ષી અને જળમાં

માછલાની વિવક્ષા કરવામાં આવે છે તે રીતે વિગ્રહગતિમાં કાર્માણ કાયયોગ કહેવામાં આવે છે. અન્યથા બે અગર ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિમાં આદિ અને અંત ના સમયમાં પણ કાર્માણયોગની પ્રાપ્તિ થતિ પરંતુ બે વિગ્રહવાળી ગતિમાં મધ્યમ સમયમાં અથવા ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિમાં બે મધ્યના સમયોમાં જ કાર્માણ કાયયોગ માનવામાં આવે છે.

શંકા—એમ માની લઈયે તો પણ તાત્પર્ય તો એ નિકળ્યું કે વિગ્રહગતિવાળો જીવ કાર્માણ કાયયોગ દ્વારા જ ભવાન્તરમાં સંક્રમણ કરે છે તો પછી વિગ્રહગતિમાં નિરૂપભોગતાનુ પ્રતિપાદન કેમ કરવામાં આવ્યું ? ભવાન્તરમાં સંક્રમણ કરવું એ ઉપભોગ જ છે.

સમાધાન —અહીં ઉપભોગનો જે નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે તે સુખ અને દુઃખનાં વિશિષ્ટ ઉપભોગનો, કર્મબન્ધનો અનુભવ અને નિર્જરાનો નિષેધ કરવામાં આવેલ છે. ચેષ્ટારૂપ કાર્માણયોગનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો નથી.

શંકાઃ—એવું માનવામાં પણ આગમની વિરૂદ્ધ ગણાય કારણકે આગમમાં પ્રશ્ન કરવામાં આવે છે કે—ભગવન્ ! આ જીવ જ્યાંસુધી હાલતો ડોલતો, ગમન સ્પન્દન કરે છે ત્યાંસુધી તે જ્ઞાનાવરણીય અને .. અન્તરાય કર્મનો બંધ કરે છે ? આનો જવાબ આપવામાં આવ્યો છે કે હા, ગૌતમ ! જ્યાંસુધી જીવ હાલતો, ડોલતો ગમન અગર સ્પન્દન કરે છે ત્યાંસુધી તે જ્ઞાનાવરણીયથી અન્તરાય કર્મનો બંધ કરે છે. ઉક્ત કથનમાં આ સૂત્રમાં મુશ્કેલી આવે છે કાર્માણયોગના સમય ચલન હોય તો પછી બન્ધ વગેરે રૂપ ઉપભોગનો નિષેધ કેમ કરવામાં આવ્યો છે?

સમાધાન —ભવસ્થ જીવની અપેક્ષાથી જ ભગવાને ઉક્ત સૂત્રમાં પ્રણયન કર્યું છે કારણકે ભવસ્થ અવસ્થામાં જ જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોનો આશ્રવ થાય છે આના ઉપરાંત બે સમય એટલો તો અલ્પકાળ છે કે તેમાં ઉપભોગ વગેરેનો સંબંધ થઈ શકે છે.

અથવા—કાયયોગ નિમિત્તક બન્ધનો સમય હોવા છતાં પણ અહીં તેની વિવક્ષા કરવામાં આવી નથી એટલે આ કારણે કોઈ દોષ નથી આ રીતે કહેવાનું એ છે કે વિગ્રહગતિ કાર્માણકાયયોગવાળી જ હોય છે ॥ ૨૫ ॥

'सिद्धस्स अविग्गहा'

સૂત્રાર્થ—સિદ્ધજીવની અવિગ્રહ ગતિ હોય છે ॥ ૨૬ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા કહેવામાં આવ્યું છે કે સાધારણ તથા ભવાન્તરમાં જતી વખતે જીવોની ગતિ વિગ્રહવતી હોય છે. હવે સિદ્ધિ–મુક્તિમાં ગમન કરવાવાળા સિદ્ધ પુરુષની ગતિ કેવી હોય છે ? એ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ—

સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરનારા–મોક્ષગામી–પુરુષની ગતિ–અવક્ર–સીધી હોય છે તે વિગ્રહવાળી હોતી નથી એવી રીતે સિદ્ધ થનારા જીવની એકાન્ત રૂપથી વિગ્રહ રહિત ગતિ જ હોય છે. સિદ્ધ થનારા સિવાયના બીજા જીવોની સવિગ્રહ અને અવિગ્રહબંને પ્રકારની ગતિ હોય છે. વિગ્રહનો અર્થ છે વ્યાઘાત અગર કુટિલતા અથવા વક્રતા. આ જેમાં ન હોય તે ગતિ અવિગ્રહા કહેવાય છે. સિદ્ધજીવની આવી અવિગ્રહા ગતિ હોય છે. અવિગ્રહા ગતિ એક સમયની હોય છે જ્યારે સવિગ્રહા ગતિ બે અથવા ત્રણ સમયની હોય છે એ પ્રથમ કહેવાઈ ગયું છે. ॥ ૨૬ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ:—પૂર્વસૂત્રમાં સાધારણતયા જીવોની વિગ્રહગતિનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે સિદ્ધજીવોની ગતિનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

સિદ્ધગતિમાં ગમન કરનારા સિદ્ધજીવોની ગતિ ઋજુ-સરળ જ હોય છે, વાંકી નહીં તે ગતિ પ્રયોગ વગેરે ચાર કારણોથી ઉત્પન્ન થાય છે-ભગવતી સૂત્રમાં કહ્યું છે... .

મુક્તજીવની ગતિ કર્મ-અકર્મનો સંસર્ગ દૂર થવાના કારણે નિર્લેપ (બન્ધહીન) હોવાથી, જીવનું ઉર્ધ્વગમન સ્વભાવના કારણે, બન્ધનોનો છેદ થવાથી અને (નિરિન્ધન) કર્મરૂપી બળતણથી મુક્ત થવાના કારણે ...ભગ૦ શ-૭ ઉ૦ ૧) હોવાના કારણે તથા પૂર્વપ્રયોગના કારણે થાય છે.

તાત્પર્ય એ છે કે સિધ્યમાન જીવની ગતિ એકાન્તતઃ વિગ્રહ રહિત જ હોય છે સિધ્યમાન જીવ સિવાયના બીજા જીવોની ગતિ વિગ્રહવાળી પણ હોય છે અને વિગ્રહરહિત પણ હોય છે. ઔપપાતિક સૂત્રના સિદ્ધાધિકારમાં, ૯૩માં સૂત્રની અમારી બનાવેલી પીયૂષવર્ષિણી ટીકામાં કહ્યું છે-ઋજુ શ્રેણીને પ્રાપ્ત મુક્તજીવ અફુસમાન ગતિ કરતો થકો, ઉપર એકજ સમયમાં, વિગ્રહ વગર સાકારોપયોગથી યુક્ત થઈને સિદ્ધ થાય છે ॥ ૨૬ ॥

तिसमयं सिया अणाहारगो ॥ सू० २७ ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વિગ્રહગતિવાળા જીવ વધારેમાં વધારે ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે ॥૨૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં સવિગ્રહા ગતિનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું, એ જ પ્રસંગને લઈને હવે અવિગ્રહ ગતિને પ્રાપ્ત જીવની અનાહારકતાનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત જીવ એક સમય સુધી બે સમય સુધી અથવા ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે. આ સિવાયના બીજા સમયોમાં જીવ નિરંતર આહારક રહે છે બે વિગ્રહવાળી ગતિમાં એક સમય સુધી અનાહારક રહે છે જ્યારે ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિમાં બે સમય સુધી અનાહારક રહે છે.

કેવળી સમુદ્ઘાતના કાળમાં ત્રીજા, ચોથા સમય સુધી અનાહારક રહે છે ॥૨૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ:—પ્રથમ વિગ્રહગતિની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત જીવની અનાહારકતાની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

વિગ્રહ ગતિને પ્રાપ્ત જીવ એક, બે અથવા ત્રણ સમય સુધી અનાહારક હોય છે બાકીના કાળમાં પ્રત્યેક સમય આહારક જ બનેલો હોય છે.

બે વિગ્રહવાળી ગતિમાં એક સમય અનાહારક હોય છે અને ત્રણ વિગ્રહવાળીગતિમાં બે સમય પર્યન્ત અનાહારક રહે છે. સમુદ્ઘાત કરવાના સમયે કેવળી ત્રીજા ચોથા અને પાંચમાં સમયમાં આ રીતે ત્રણે સમયોમાં અનાહારક હોય છે. કોઈ કોઈ કહે છે કે અહીં વિગ્રહગતિનું જ પ્રકરણ હોવાથી કેવળી સમુદ્ઘાત અપ્રસ્તુત છે આથી સ્થાયિ અનાહારક એક અગર બે સમય સુધી જ જીવ અનાહારક રહે છે તેઓ ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે એવું માનતા નથી પરંતુ તેમની આ માન્યતા સાચી નથી આ સૂત્રમાં સામાન્યરૂપથી અનાહારકનું જ પ્રકરણ છે આથી કેવલી સમુદ્ઘાતના સમયે થનારી અનાહારકતાનો પણ સમાવેશ થઈ જાય છે. હકીકતમાં તો પાંચ સમયવાળી વિગ્રહગતિમાં જીવ ત્રણ સમય સુધી તેમાં અનાહારક રહે છે, આ અભિપ્રાયથી ત્રણ સમયની અનાહારક અવસ્થા કહેવામાં આવી છે

શંકા—પાંચ સમયની વિગ્રહગતિથી કોઈ જીવ ઉત્પન્ન જ થતો નથી ?

સમાધાન—પાંચ સમયની વિગ્રહગતિ પણ પ્રમાણથી સિદ્ધ છે, આથી કોઈ જીવની તેનાથી પણ ઉત્પત્તિનો સંભવ છે.

શૈલેશી અવસ્થા અર્ધ અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અનાહારક અવસ્થા રહે છે આવી સ્થિતિમાં અર્ધ અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અનાહારક રહેવાનું કેમ કહેવામાં ન આવ્યું ? આ શંકાનું પણ નિવારણ આનાથી થઈ જાય છે કે અત્રે વિગ્રહગતિનું જ પ્રકરણ છે અને શૈલેશી અવસ્થાનું પ્રકરણ નથી આથી શૈલેશી અવસ્થામાં થનારી અનાહારક અવસ્થાને અત્રે ગ્રહણ કરવી વાજબી નથી.

પ્રશ્નઃ—અહીં કોઈ ખાસ આહારની અપેક્ષાથી અનાહારક કહે છે અથવા સમ્પૂર્ણ આહારના નિષેધની અપેક્ષાથી ?

ઉત્તરઃ—અહીં સમ્પૂર્ણ આહારનો નિષેધ જ પ્રસ્તુત છે. આહાર ત્રણ પ્રકારના છે—

(૧) ઓજ આહાર (૨) લોમાહાર (૩) પ્રક્ષેપાહાર ઓજઆહાર અપર્યાપ્તક અવસ્થામાં કાર્મણ શરીર દ્વારા કરવામાં આવે છે જેવી રીતે અગ્નિમાં તપાવેલ પાત્રને પાણીમાં નાખવામાં આવે તો તે સમ્પૂર્ણ અવયવોથી પાણી ગ્રહણ કરે છે તેજ રીતે પોતાની આપત્તિના પ્રથમ સમયમાં જન્મ સ્થાનમાં પહોંચતાના પ્રથમ સમયમાં સમસ્ત આત્મપ્રદેશો દ્વારા પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે અથવા તે જેવી રીતે તવામાંના ગરમ તેલ અગર ઘીમાં માલપુવા નાખીએ તો તે સર્વાંગથી તેલ તથા ઘીને ચુસી લે છે, આ પુદ્ગલોનું ગ્રહણ કરવું એ જ ઓજ આહાર કહેવાય છે. ઓજઆહાર અન્તર્મુહૂર્ત પર્યન્ત જ હોય છે.

પર્યાપ્ત અવસ્થાથી લઈને ભવના ક્ષય પર્યન્ત ત્વચા દ્વારા પુદ્ગલોનું ગ્રહણ કરવું તે લોમાહાર છે. પ્રક્ષેપાહારનો અર્થ છે. કવલાહાર–ચોખા વગેરેના કોળીયાઓને ખાવું પીવું વગેરે.

વિગ્રહમાં ગતિમાં આ ત્રણ પ્રકારના આહારોનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે. આ ત્રણે આહાર ભવ–અવસ્થામાં જ પ્રથમ સ્વીકારાયાં છે.

વિગ્રહગતિના પ્રથમ સમયમાં જીવ ત્યાગ કરવામાં આવનારા દેશમાં અને અન્તિમ સમયમાં જન્મદેશમાં રહેવાના કારણે આહારક હોય છે. કારણકે તે સમયે તે ત્યજી દેનારા અને નવા ગ્રહણ કરવામાં આવનારા પૂર્વ તથા ઉત્તર શરીરથી સંબદ્ધ હોય છે.

યોગ તથા કષાયના નિમિત્તથી થનારા કર્મ પુદ્ગલોનું ગ્રહણ તો વિગ્રહગતિમાં પણ પ્રત્યેક સ્થાન પર થતું જ રહે છે. જેવી રીતે પાણી વરસતું હોય ત્યારે સળગતું બાણ છોડવામાં આવે તો તે પાણીને ગ્રહણ કરતું થકુ જાય છે તેવી જ રીતે સંસારી જીવ કર્મોથી ઉષ્ણ હોવાના કારણે કાર્મણ શરીર દ્વારા નિરન્તર કર્મપુદ્ગલોને ગ્રહણ કરતો થકો જ આગામી જન્મ માટે ગમન કરે છે. પ્રકૃત સૂત્રમાં આ પ્રકારના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરવાનો કોઈ નિષેધ કરવામાં આવ્યો નથી પરંતુ ઔદારિક અને વૈક્રિય શરીરનુ પોષણ કરનાર આહારનો જ નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે અથવા અનાહાર દશામાં જીવ ઔદારિક, વૈક્રિય તથા આહારક શરીરના તથા છ પર્યાપ્તિયોને અનુરૂપ પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરતો નથી આ કારણથી જ વિગ્રહ ગતિમાં એક બે અથવા ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે. અગાઉ કહેલા એક બે અગર ત્રણ સમયને છોડીને બાકીના

તમામ સમયોમાં નિરન્તર આહારક જ રહે છે ઉત્પત્તિના પ્રથમ સમયમાં આરંભ કરી અન્ત-મુહૂર્ત પર્યન્ત ઓજ આહાર કરે છે, ત્યારબાદ ભવપર્યન્ત લોમાહાર કરે છે ચાર-પાંચ વિગ્રહ વાળી ગતિમાં કવલાહારની દૃષ્ટિએ અનાહારક રહે છે, ભગવતી સૂત્રનાં સાતમાં શતકમાં પ્રથમ ઉદ્દેશના ૨૬૦માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન.- ભગવન્ ! જીવ કયા સમયે અનાહારક હોય છે ?

ઉત્તર.- ગૌતમ ! પ્રથમ સમયમાં કવચિત્ આહારક અને કવચિત્ અનાહારક હોય છે. બીજા તથા ત્રીજા સમયમાં પણ આવી જ સ્થિતિ હોય છે પરંતુ ચોથા સમયમાં નિયમથી આહારક હોય છે. આવી જ રીતે સમ્પૂર્ણ દન્ડક માટે સમજી લેવાનું છે ઘણા જીવ અને એકે-ન્દ્રિય ચોથા સમયમાં અને બાકીના તમામ જીવ ત્રીજા સમયમાં કહેવા જોઈએ ॥૨૭॥

'तिविहं जम्मं गब्भ संमुच्छिणोववाया' ॥सूत्र २८॥

મૂળસૂત્રાર્થ—જન્મ ત્રણ પ્રકારના છે-ગર્ભજન્મ સમ્મૂર્છિમજન્મ અને ઉપપાત જન્મ.

તત્વાર્થદીપિકા— પહેલા કહેવામાં આવ્યું કે સંસારી જીવ પૂર્વગૃહીત ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરનો ત્યાગ કરીને સવિગ્રહ અથવા અવિગ્રહ ગતિથી પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમાં પહોંચે છે. હવે એ બતાવીએ છીએ કે તેમનો ઉત્પાદ કેવા પ્રકારનો હોય છે ? જીવોનો જન્મ ત્રણ પ્રકારનો હોય છે.- (૧) ગર્ભ (૨) સમ્મૂર્ચ્છન (૩) ઉપપાત સ્ત્રીની યોનિમાં ભેગા થયેલા શુક્ર તથા લોહીના જીવ માતા દ્વારા કરવામાં આવેલા આહારના રસને પરિપોષણની અપેક્ષાથી ગ્રહણ કરે છે તે ગર્ભજન્મ કહેવાય છે. ગર્ભ રૂપ જન્મને ગર્ભજન્મ કહે છે

સ્ત્રીની યોનિ, આવનારા શુક્ર (વીર્ય) અને લોહીને ગ્રહણ કરે છે આથી ને ફક્ત શુક્ર-શોણિત રૂપ નથી. જન્મ બંને શરીરોથી સંબન્ધ રાખવાવાળો હોવાથી આત્માનુ પરિણમન વિશેષ સમજવું જોઈએ.

સમ્યક્ પ્રકારથી વૃદ્ધિ થવાને સમ્મૂર્ચ્છા અથવા સમ્મૂર્છન કહે છે જે જગ્યાએ જીવ જન્મ લેનાર છે ત્યાંના પુદ્ગલોનો સંગ્રહ કરીને શરીર બનાવતો થકો વીર્ય તથા લોહી વગર જ વૃદ્ધિ પામવી ને સંમૂર્ચ્છન જન્મ છે.

ત્રણ લોકમાં ઉપર નીચે અને વચલા શરીરનું બધી બાજુથી વધવું અથવા અવયવોની રચના થવી તે સમ્મૂર્છન જન્મ છે સ્ત્રીના પેટમાં વીર્ય અને લોહીનુ મિશ્રણ થવું તે ગર્ભ કહેવાય છે. સમ્મૂર્છન જન્મ ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં રહેલા પુદ્ગળ સમૂહો ગ્રહણ કર્યા વગરનો હોતો નથી લાકડાં વગેરેમાં જે કીડા વગેરે ઉત્પન્ન થાય છે તેમનો સમૂર્ચ્છન જન્મ કહેવાય છે. લાકડાની છાલ તથા પાકા ફળો વગેરેમાં ઉત્પન્ન થનારા કૃમિ વગેરે જંતુ તે લાકડાની છાલ અગર ફળ વગેરેના પુદ્ગલોને જ પોતાના શરીરના રુપમાં પરિણત કરી લે છે આ રીતે જીવતાં ગાય ભેંસ મનુષ્ય વગેરેના શરીરમાં ઉત્પન્ન થનારાં કૃમિ (કરમીયાં) વગેરે જીવ તેજ ગાય ભેંશ વગેરેના શરીરના અવયવોને ગ્રહણ કરીને પોતાના શરીરના રૂપમાં પરિણત કરે છે

આવી જ રીતે ઉપપાતક્ષેત્રમાં પહોંચવાનું જ જે જન્મનું કારણ હોય તે ઉપપાત કહેવાય છે. પાથરેલા વસ્ત્રની ઉપર અને દેવદૂષ્યની નીચે વચમાં વિદ્યમાન પુદ્ગલોને વૈક્રિય શરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરીને દેવ-ઉત્પન્ન થાય છે. આ જન્મ પૂર્વોક્ત બંને પ્રકારના જન્મથી વિલક્ષણ છે આ ન તો શુક્ર-શોણિત વગેરેથી થાય છે. કે ન દેવદૂષ્ય તથા પાથરેલા વસ્ત્રોના પુદ્ગલોથી

આથી પ્રતિનિયત ઉપપાતક્ષેત્રમાં પ્રાપ્ત થવું જ આ જન્મનું કારણ છે આ જન્મ દેવો તથા નારકોનો હોય છે. ॥૨૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિઃ—પ્રથમ કહેવામાં આવ્યું કે પૂર્વગ્રહીત ઔદારિક અગર વૈક્રિય શરીરનો ક્ષય થવાથી સંસારી જીવ ઋજુગતિ અગર વક્રગતિ કરીને પરભવ સમ્બન્ધી ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં જાય છે. પરંતુ ત્યાં જઈને કઈ રીતે ઉત્પન્ન થાય છે. તે વિષે કંઇજ કહેવામાં આવ્યું નથી, આથી તેનું કથન કરવામાં આવે છે-જન્મ ત્રણ પ્રકારના હોય છે- ગર્ભ સમ્મૂર્ચ્છન અને ઉપપાત સ્ત્રીની યોનિમાં ભેગા થયેલા શુક્રને જીવ ગ્રહણ કરે છે અને માતા દ્વારા લેવાયેલ આહારના રસથી પુષ્ટ થાય છે તે જીવનો જન્મ ગર્ભજન્મ કહેવાય છે. તેનો ગર્ભ જ જન્મ સમજવો જોઈએ. આગળ પર કહેવામાં આવનાર સંમૂર્ચ્છન જન્મના લક્ષણથી આ લક્ષણ ભિન્ન છે. આ જન્મમાં આગન્તુક (અન્ય જગ્યાએથી આવેલા) શુક્ર તથા શોણિતને ગ્રહણ કરવામાં આવે છે. સ્ત્રીની યોનિ શુક્ર-શોણિત સ્વરૂપવાળી હોતી નથી. જન્મ બે શરીરોથી સંબંધિત હોવાથી આત્માની પરિણતી વિશેષ છે.

સંમૂર્ચ્છા ને સંમૂર્ચ્છન કહે છે. જે સ્થાનમાં જીવ ઉત્પન્ન થનારો હોય છે. ત્યાંના એકત્રિત પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરીને શુક્ર શોણિત વગર જ પોતાના શરીરનું નિર્માણ કરે તે સંમૂર્ચ્છન જન્મ કહેવાય છે. આ રીતે સમૂર્ચ્છન જન્મ પોતાના ઉત્પત્તિ સ્થાનમાં રહેલાં પુદ્ગલોનાં સમૂહને ગ્રહણ કર્યા વિના થતો નથી જેવી રીતે લોટ દારુના બીજ પાણી વગેરેના સંમિશ્રણથી સુરાની ઉત્પત્તિ થાય છે. તેવી જ રીતે બાહ્ય તથા અંદરમાં પુદ્ગલોના ગ્રહણથી જે જન્મ થાય છે તે સંમૂર્ચ્છન જન્મ કહેવાય છે.

બાહ્ય પુદ્ગલોના ગ્રહણથી લાકડા વગેરેમાં ઘુણુ-કીડાઓનો જન્મ થાય છે તે જાણીતું છે જ લાકડાની છાલ તથા પાકા ફળ વગેરેમાં કૃમિ વગેરે જે જીવ ઉત્પન્ન થાય છે તે તેજ છાલ તથા ફળ વગેરેમાં રહેલા પુદ્ગલોને પોતાનું શરીર બનાવી લે છે. એવી રીતે જીવંત ગાય, ભેંસ, માણસ વગેરેના શરીરોમા ઉત્પન્ન થવા વાળા કીડા આદિ જીવ તેજ ગાય ભેંસ આદિના શરીરના અવયવોને ગ્રહણ કરીને પોતાના શરીર રૂપમાં પરિણત કરી લે છે. આ કૃમિ વગેરેનો સંમૂર્ચ્છન જન્મ અંદરના પુદ્ગલોના ગ્રહણથી થાય છે તે પણ જાણીતી વાત છે.

એવી જ રીતે પોતાના ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં પહોંચવાથી જ જે જન્મ થાય છે તે ઉપપાત જન્મ કહેવાય છે જેવી રીતે દેવ. પાથરેલા વસ્ત્ર ઉપર અને દેવદુષ્યની નીચે-બંનેની વચમાં વિદ્યમાન પુદ્ગલોને વૈક્રિય શરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરતો થકો ઉત્પન્ન થાય છે. આ જન્મ પહેલાં કહેવામાં આવેલાં બંને જન્મોના લક્ષણથી વિલક્ષણ છે કારણકે આનું કારણ ન તો નીચે અગર ઉપરના વસ્ત્રના પુદ્ગલો છે અથવા ન શુક્ર-શોણિતના પુદ્ગલો આ રીતે આ જન્મનું કારણ અમુક સ્થાનમાં પહોંચે જ છે.

નારક જીવ નરક ભૂમિઓમા સ્થિત કુંભીમાં ઉત્પન્ન થાય છે. કુંભી ઘણુંજ સાંકડા મોઢાની ગવાક્ષ જેવી હોય છે. તેમ આકાર પણ ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારના હોય છે. નારક જીવ ત્યાંના વૈક્રિય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરતો થકો વજ્રમય નરકતલમાં પાણીની વચ્ચે ફેંકાયેલા પથ્થરની જેમ, ઘણા વેગથી જઈને પડે છે અર્થાત્ ઉત્પન્ન થાય છે.

આ જીવોના ત્રણ પ્રકારનાં જન્મ છે. એ વાત સમજી લેવી ઘટે કે, સંસારી જીવોના વર્તમાન જીવનનો જ્યારે અંત થાય છે અને પૂર્વગ્રહીત ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરનો વિચ્છેદ

થાય છે અર્થાત્ વર્તમાનભવનો ક્ષય થાય છે ત્યારે તે જીવ જે ક્ષેત્રમાં પુનર્જન્મ લેવાવાળો છે, તે ક્ષેત્રમાં તે પોતાના પૂર્વભવનાં કર્મના સામર્થ્યથી જ જાય છે, ભગવાન વગેરેની પ્રેરણાથી જતો નથી. તે ઋજુ અગર વક્ર ઉત્પત્તિસ્થાનમાં જાય ડાબા રસ્તે જાય, અમુક સમયમાં જાય અમુક યોનિમાં ઉત્પન્ન થાય, બીજે નહીં. આ બધી વાતોના નિયામક અચિન્ત્ય સામર્થ્યશાળી નામકર્મ વગેરે જ છે. મરણ બાદ સમયની પ્રતીક્ષા કરતો થકો કોઈ સ્થળે રોકાઈ રહેતો નથી.

આ પ્રકારે કર્મના પ્રભાવથી પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમાં પહોંચી જઈ જીવ પોતાને યોગ્ય ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરની નિષ્પત્તિ માટે શરીરના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે.

પ્રશ્ન—શરીરના યોગ્ય પુદ્ગલોનો કયા કારણે સંબન્ધ થાય છે ?

ઉત્તર—કષાયયુકત હોવાથી જીવ કર્મના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે. તે પુદ્ગલ એવી જ રીતે ચોંટીં જાય છે કે જેવી રીતે ચીકાશ લાગેલા શરીર અગર વસ્ત્ર ઉપર રેત ચોંટી જાય છે તેમ, કાય, વચન મન અને પ્રાણ પુદ્ગલોના ઉપકારક છે એ કથન અનુસાર પાંચે શરીર પુદ્ગલોના ઉપકારક છે—પુદ્ગલોનાં નિમિત્તથી ઉત્પન્ન કરે છે આથી ગ્રહણ કરવામાં આવેલા તે પુદ્ગલ વિશેષ પ્રકારથી શ્લેષને પ્રાપ્ત થઈને શરીરના રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે.

તે પુદ્ગલો ચારે બાજુથી, યોગની વિશેષતા અનુસાર ગૃહીત, સૂક્ષ્મ, એક જ ક્ષેત્રમાં અવગાઢ અર્થાત્ જે આકાશપ્રદેશોમાં જીવ રહેલો હોય તેજ આકાશપ્રદેશોમાં સ્થિત તથા અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા હોય છે. આવી રીતે બન્ધ નામકર્મના ઉદયથી કર્મપુદ્ગલોનું ગ્રહણ થવું પ્રથમ ઉત્પત્તિ છે, ઉપકારભેદની વિવક્ષા દ્વારા મધ્યમ ઉત્પત્તિ છે અને પ્રદેશબન્ધના પ્રસ્તાવથી આકૃષ્ટ અન્તિમ ઉત્પત્તિ થાય છે. આનાથી ત્રણે ઉત્પત્તિયોની સૂચના થાય છે આ ત્રણે ઉત્પત્તિઓ અભિન્ન એક વસ્તુ વિષયક નથી. આમ હોવાથી પુનરૂક્તિ દોષનો પ્રસંગ આવે છે. કહેવાનું એ છે કે આવી રીતે પુદ્ગલોનું ગ્રહણ જન્મ કહેવાય છે.

કેવા પ્રકારના સ્થાને સૌ પ્રથમ ઉત્પન્ન થતો થકો જીવ શુક્ર અને શોણિતનું ગ્રહણ કરે છે ? સમ્મૂર્છિત કરે છે અથવા વૈક્રિયશરીરને ગ્રહણ કરે છે ? નારક તથા દેવ કેવા પ્રકારના ગુણવાળા અને વિશેષતાવાળા સ્થાનમાં ઉત્પન્ન થાય છે ? આ શંકાનુ સમાધાન કરવા માટે પૂર્વોક્ત જન્મોનાં વિશેષ સ્થાનની પ્રરૂપણા કરવાના હેતુથી યોનિઓનાં સ્વરૂપનુ કથન કરીએ છીએ—

સંસારી જીવોનાં ઉપર કહેલાં ત્રણ પ્રકારનાં જન્મોમાં નવ યોનિઓ કહેલી છે તે આ પ્રકારે છે. (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત (૩) સચિત્તાચિત (મિશ્ર) (૪) શીત, (૫) ઉષ્ણ (૬) શીતોષ્ણ (મિશ્ર) (૭) સંવૃત (૮) વિવૃત અને (૯) સંવૃતવિવૃત્ત (મિશ્ર). આ પૈકી નારકી અને દેવતાઓની અચિત્ત યોનિ હોય છે. ગર્ભજ મનુષ્યો અને તિર્યંચોની સચિત્તાચિત યોનિ હોય છે. સમ્મૂર્છિમ મનુષ્યો અને તિર્યંચોની ત્રણે પ્રકારની યોની હોય છે—સચિત, અચિત અને સચિત્તાચિત્ત.

ગર્ભજ તિર્યંચો તથા મનુષ્યોની તથા દેવતાઓની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે. સમ્મૂર્છિમ તિર્યંન્ચો તથા મનુષ્યોમાં કોઈની શીત, કોઈની ઉષ્ણ અને કોઈની શીતોષ્ણયોનિ હોય છે. નારકીના જીવોની પ્રારંભની ત્રણ પૃથ્વીઓમાં શીત યોનિ હોય છે. ચોથી અને પાંચમી પૃથ્વીમાં કોઈ કોઈ નરકાવાસમાં શીત અને કોઈ કોઈમાં ઉષ્ણ હોય છે છઠી અને સાતમી નરકભૂમિમાં ઉષ્ણયોનિ હોય છે—

નારકી, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય અને દેવતાઓની યોનિ સંવૃત્ત અર્થાત ઢાંકેલી હોય છે. ગર્ભજ તિર્યંચો અને મનુષ્યોની સંવૃત–વિવૃત અર્થાત્ ઢાંકેલી–ઉઘાડેલી યોનિ હોય છે આ સિવાયના સમ્મૂર્છિમ, બેઇન્દ્રિલ વગેરે તિર્યંચો અને મનુષ્યોની વિવૃત યોનિ કહેવામા આવી છે, કારણકે તે તદ્દન ઉઘાડી–ખુલ્લી હોય છે.

જે સ્થાને જન્મના કારણભૂત દ્રવ્ય કાર્મણશરીરની સાથે મિશ્રિત હોય છે તેને યોનિ કહે છે અથવા જે સ્થાન આશ્રયના રૂપમાં મિશ્રિત કરવામાં આવે છે તે યોનિ છે. જીવનાં પ્રદેશોથી જોડાયેલ હોવાના કારણે કોઈ યોનિ સચિત કહેવાય છે અને એથી ઉલ્ટું હોય તેને અચિત કહેવાય છે. બન્ને પ્રકારની સચિત્તાચિત કહેવાય છે ટાઢી યોનિ શીત, એથી વિપરીત હોય તો ઉષ્ણ જ્યારે બન્ને સ્વાભાવવાળી શીતોષ્ણ કહેવાય છે જે ઢાંકેલી હોય તે સંવૃત, ઉઘાડી હોય તે વિવૃત જ્યારે બન્ને પ્રકારની હોય તે સંવૃત વિવૃત કહેવાય છે.

પાથરેલા વસ્ત્ર અને દેવદુષ્યના વચ્ચેનું સ્થાન જીવપ્રદેશોથી જોડાયેલું ન હોવાના કારણે દેવોની યોનિ અચિત માનવામાં આવી છે. નારકીના જીવોની વજ્રમય નરકક્ષેત્રમાં ગવાક્ષ જેવી, અનેક આકારોની કુંભી યોનિ અચેતન હોય છે. તિર્યંચ અને મનુષ્ય સ્ત્રીયોની નાભિથી નીચે પુષ્પમાળા વૈકક્ષ્યના આકારની બે શિરાઓ હોય છે એની હેઠળ અધોમુખ કોશના આકારની યોનિ હોય છે તેની બહાર આંબાની કળીના આકારની માંસની મંજરિયો હોય છે. તે ઋતુ-કાળ વખતે ફૂટી જાય છે અને તેમાંથી લોહી વહે છે. તેમાંથી કેટલાંક લોહીના કણ કોશાકાર યોનિમાં પ્રવેશ કરીને સ્થિત થઈ જાય છે. પાછળથી વીર્યથી મિશ્રીત તે લોહીકણોને જીવ ગ્રહણ કરે છે જે લોહીકણ પોતાના સ્વરૂપમાં રહેતા નથી તે અચિત થઈ જાય છે સમ્મૂર્છિમ તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાથી ગાય કૃમિ વગેરે જીવોની યોનિ સચિત હોય છે અને લાકડાના કીડા વગેરેની યોનિ અચિત હોય છે. પૂર્વકૃત ઘાવમાં પેદા થનારા કોઈ કોઈ કીડાની યોનિ સચિતઅચિત (મિશ્ર) હોય છે ગર્ભજ, તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવોની શીતોષ્ણયોનિ હોય છે.

સમ્મૂર્છિમ તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાં કોઈની શીત કોઈની ઉષ્ણ અને કોઈની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે. સ્થાન વિશેષના પ્રભાવથી આ યોનિભેદ થાય છે. પ્રથમ ત્રણ નરકોમાં યોની શીત અને કુંભીથી બહાર આવવા પર ક્ષેત્રવેદના ઉષ્ણ છે ૬ ઠી ૭મીમાં યોનિ ઉષ્ણ છે, અને કુંભીથી બહાર આવવા પર ક્ષેત્રવેદના શીત છે કુંભીમાં તો થોડો વખત જ રહે છે અને શેષ આયુષ્ય બહાર જ પુરૂં થાય છે અને તે ક્ષેત્ર તેમને પ્રતિકૂળ હોય છે. ઉષ્ણ વેદનાથી શીત વેદના ભયંકર હોય છે.

આગમમા ૮૪ લાખ યોનિઓ કહેવાઈ છે. આ રીતે–પૃથ્વી અપ તેજ અને વાયુકાય દરેકની ૭ લાખ મુજબ કુલ ૨૮ લાખ પ્રત્યેક વનસ્પતિની ૧૦ લાખ અને સાધારણ વનસ્પતિની ૧૪ લાખ બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય અને ચતુરિન્દ્રીય દરેકની ૨ લાખ ઉપર મુજબ ગણતા ૬ લાખ થાય છે બાકીના તિર્યંચો નારકી અને દેવનાની દરેકની ચાર ચાર લાખ મુજબ કુલ ૧૨ લાખ અને મનુષ્યોની ૧૪ લાખ મળી કુલ્લે ૮૪ લાખ યોનિ થાય છે.

આશંકા સહેજે થાય કે જો ૮૪ લાખ યોનિઓ છે તો અહી માત્ર નવ યોનિઓનું જ નિરૂપણ કેમ કર્યું ? આનું સમાધાન એ છે કે શાસ્ત્રમા પ્રતિપાદિત ૮૪ લાખ યોનિઓનો કહેલી નવ યોનિમાજ સંગ્રહ થઈ જાય છે. ૮૪ લાખનુ કથન વિસ્તારની અપેક્ષાથી છે દાખલા તરીકે પૃથ્વીકાયની જે યોનિ કહી છે તે જ જાતિ ભેદની અપેક્ષાથી સાત લાખ પરિમાણવાળી છે.

શર્કરા વાલુકા વગેરે પૃથ્વીની જે જાતિઓ કહેવામાં આવી છે પૃથ્વીકાયની યોનિઓ પણ તેટલી જ સમજવી તે યોનિઓ પોતાની મૂળયોનિથી જુદી નથી પરંતુ જાતિભેદથી તેમાં ભેદ પડી જાય છે. આથી આ વચન સંગ્રાહકવચન સમજવું જોઈએ. આવી જ રીતે અન્ય જીવોની યોનિઓ પણ જાતિભેદની અપેક્ષાથી બહુ સંખ્યક છે. ॥૨૮॥

सरीरा पंच ओरालियवेउव्विय आहारग तेयकम्माइं ॥२९॥

મૂળસૂત્રાર્થ:- શરીર પાંચ છે-ઔદારિક, વૈક્રયિક આહારક તૈજસ તથા કાર્મણ ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા—પહેલા સંસારી જીવોના ગર્ભ, ઉપપાત અને સંમૂર્ચ્છનના ભેદથી ત્રણ પ્રકારના જન્મ બતાવેલા છે. હવે એવુ બતાવીએ છીએ કે તે જન્મોમાં જીવોના કયા શરીર હોય છે? કેટલાં હોય છે? તે શરીરોનાં લક્ષણ કયા છે?

જે પ્રતિક્ષણ વિનષ્ટ થતા રહે છે તે શરીર કહેવાય છે. વિશિષ્ટ નામકર્મના ઉદયથી તેમની રચના થાય છે તે પાંચ છે ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક તૈજસ તથા કાર્મણ આ શરીર યથા સંભવ નરકાદિ ચાર ગતિઓનાં જીવોને જ હોય છે. સિદ્ધ જીવોને નહીં આ બતાવવા માટે સૂત્રમાં સર્વ પ્રથમ શરીર શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે. શરીર નાશવંત છે અને સિદ્ધોમાં તેનુ હોવુ સભવિત નથી "શરીર" શબ્દની અપેક્ષા "કાય" શબ્દ નાનો છે તો પણ અત્રે કાયશબ્દનો પ્રયોગ નહીં કરતા શરીર શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે તેનો હેતુ શરીરની ક્ષણભંગુરતા દર્શાવે છે. "શરીર"નો વ્યુત્પત્યર્થ જ એ છે કે જે નાશવંત છે. આ રીતે સસારી જીવોના ઉપર્યુક્ત પાંચ શરીર હોય છે.

આ પાંચ શરીરોમાં પ્રથમ-પ્રથમ શરીરની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ હોય છે. ઔદારિક શરીર સ્થૂળ છે તેની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર સૂક્ષ્મ છે, વૈક્રિય શરીરની અપેક્ષા આહારક સૂક્ષ્મ છે, આહારકની અપેક્ષા તૈજસ અને તૈજસની અપેક્ષા કર્મણ શરીર સૂક્ષ્મ છે.

ઉદાર અર્થાત્ સ્થૂળ તથા અસાર દ્રવ્યથી બનેલુ શરીર ઔદારિક કહેવાય છે. આ શરીરની ઉત્પત્તિ ઔદારિકને યોગ્ય પુદ્ગલોના ગ્રહણના કારણભૂત પુદ્ગલવિચારી ઔદારિક શરીર નામકર્મનાં ઉદયથી થાય છે અર્થાત્ જે શરીર સ્થૂલ અથવા જેનું પ્રયોજન સ્થૂલ હોય તે ઔદારિક.

એક, અનેક, નાના, મોટા ઈત્યાદિ દરેક પ્રકારના શરીર કરવા તે વૈક્રિય કહેવાય છે. વિક્રિયા કરવી જેનુ પ્રયોજન છે તે વૈક્રિય શરીર અથવા વિક્રિયાશકિત દ્વારા ઉત્પન્ન કરવામાં આવેલું શરીર વૈક્રિય શરીર કહેવાય છે.

દેવોનુ મૂળ શરીર તીર્થંકર ભાગવંતોના જન્મકલ્યાણક વગેરે સમયે પણ વૈક્રિય શરીર ધારણ કરીને જન્મ ઉત્સવના સ્થળે આવે છે. મૂળ રૂપથી નહીં એક અથવા અનેક રૂપ ઉત્તર શરીર જ તેમના જન્મોત્સવ વગેરેમાં સમ્મિલિત થાય છે. વિક્રિયા, વિકાર, બહુરૂપતા અગર એકને અનેક બનાવવું, આ તમામ સમાનાર્થક શબ્દ છે. ટુંકમાં જે શરીર વિક્રિયાથી બનેલું હોય, અનેક આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરનાર હોય, જુદા જુદા પ્રકારના ગુણોથી યુકત હોય, એવા વૈક્રિયવર્ગણાના પુદ્ગલોથી બનેલું શરીર વૈક્રિય કહેવાય છે.

સૂક્ષ્મતત્ત્વને જાણવા માટે અથવા અસંયમનું નિવારણ કરવા માટે વગેરે કારણોથી પ્રમત્તસયત દ્વારા જે શરીર નિષ્પાદિત કરવામાં આવે છે તે આહારક કહેવાય છે. આ શરીર

અત્યન્ત શુભ, શક્તિ, તથા વિશુદ્ધ દ્રવ્યોથી નિર્મિત હોય છે. વિશેષ પ્રયોજનથી બનાવાય છે તેમજ અન્તમૂહૂર્તની સ્થિતિવાળું હોય છે. પ્રમતસંયત મુનિ જ આ શરીરને નિષ્પન્ન કરે છે.

જ્યારે પ્રમત્તસંયતને કોઈ ઊંડા તત્ત્વમાં અથવા સંયમના વિષયમાં શંકા ઊભી થાય છે, ત્યારે તીર્થંકર તથા કેવળી ભગવાનની પાસે શંકાને દૂર કરવા અર્થે તાલુપ્રદેશના છિદ્રથી નિકળીને એક હાથનું પુતળું ત્યાં જાય છે, જઈને તીર્થંકર વગેરેને પૂછી કરીને પાછું ફરે છે અને તેજ તાલુના છિદ્રથી પ્રમત્તસંયતના શરીરમાં પેસી જાય છે. આવું કરવાથી તેની શંકા દૂર થઈ જાય છે.

તેજથી જે શરીર ઉત્પન્ન થાય છે તે તૈજસ કહેવાય છે. કર્મ દ્વારા નિષ્પન્ન શરીરને કાર્મણ શરીર કહે છે. જેવી રીતે બોર વગેરેનો આધાર કુંડ હોય છે તેજ પ્રકારે આ કાર્મણ શરીર સમસ્ત કર્મરાશિનો આધાર છે અથવા જે શરીર કર્મોનું કાર્ય છે તે કાર્મણ કહેવાય છે. તે સમસ્ત કર્મોને ઉત્પન્ન કરવામાં સમર્થ હોય છે. ॥ ૨૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિઃ—પૂર્વોક્ત જન્મોમાં, પૂર્વોક્ત યોનિઓવાળા જીવોના કયા અને કેટલા શરીર હોય છે ? તે શરીરોના લક્ષણ કયા છે ? આ બતાવવા માટે કહીએ છીએ- શરીર પાંચ છે. ઔદારિક વૈક્રિય-આહારક-તૈજસ અને કાર્મણ.

ક્ષણે ક્ષણે શીર્ણ-જીર્ણ, નાશવંત હોવાથી તેમજ ચય અને અપચય વાળું હોવાથી 'શરીર' સંજ્ઞા પ્રદાન કરવામાં આવી છે. શરીર ઉપર મુજબ પાંચ છે.

આ પાંચ શરીર નરક વગેરે ચાર ગતિના જીવોને જ હોય છે, સિદ્ધ જીવોને હોતા નથી. સિદ્ધ જીવ સમસ્ત કર્મોથી રહિત હોવાથી સમસ્ત શરીરોથી પણ રહિત હોય છે. આ સત્યને પ્રકટ કરવા માટે સૂત્રની શરૂઆતમાં "શરીર" શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે. શરીરશબ્દનો અર્થ છે-જે નાશવંત હોય, પળે-પળે બદલાતું રહે. આવું નાશવંત શરીર સિદ્ધોમાં મળી આવતું નથી. આજ કારણ છે કે શરીર શબ્દની અપેક્ષા "કાય" શબ્દ નાનો છે અને જો તેનો પ્રયોગ કર્યો હોત તો સૂત્રમાં લઘુતા આવત આમ છતાં અત્રે કાય શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો નથી. શરીર શબ્દનો મોટા હોવાના કારણેજ પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે તે તેની વિનશ્વરતા પ્રકટ કરવા માટે જ.

તાત્પર્ય એ છે કે સંસારી જીવોનાં ઔદારિક વૈક્રિય. આહારક તૈજસ અને કાર્મણ વગેરે પાંચ પ્રકારના શરીર હોય છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રનાં ૨૧માં શરીરપદમાં કહેલ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! શરીર કેટલા કહેલાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ શરીર છે. (૧) ઔદારિક (૨) વૈક્રિય (૩) આહારક (૪) તૈજસ (૫) કાર્મણ.

જે શરીર સ્થૂળ અને અસાર પુદ્ગલદ્રવ્યોથી બન્યું હોય તે ઔદારિક કહેવાય છે. વિક્રિયા શક્તિથી ઉત્પન્ન થયું હોય તે વૈક્રિય કહેવાય છે. વિક્રિયા. વિકાર અનેક રૂપતા અથવા એકના અનેક રૂપો બનાવવા એ સર્વ સમાન અર્થવાલા શબ્દો છે જે શરીર વિક્રિયાથી બનેલ હોય નાનાપ્રકારના રૂપ અને અદ્ભૂત હોય. નાના પ્રકારના ગુણોથી યુક્ત પુદ્ગલવર્ગણાથી બનેલ હોય તે વૈક્રિય કહેવાય છે.

જે શરીર અત્યન્ત શુભ, શુભ્ર, અને વિશુદ્ધ દ્રવ્યવર્ગણાઓથી ઉત્પન્ન થાય તથા એક વિશેષ પ્રયોજનથી જ બાનાવાય તથા જેની સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત માત્રા હોય તે આહારક શરીર કહેવાય છે.

જે તૈજસ ગુણવાળા દ્રવ્યોથી નિર્મિત હોય, તેજનો વિકાર હોય અગર તેજ રૂપ જ હોય તે તૈજસ શરીર છે. આ શરીર ઉષ્ણ ગુણવાળું તથા શાપ અને અનુગ્રહના સામર્થ્યવાળું પણ હોઈ શકે છે.

આ શરીર જેને મળે છે અને જો તે તેજોલેશ્યા લબ્ધિવાળો હોય તો તે જ્યારે ક્રોધથી ભભુકી ઉઠે છે ત્યારે બીજા જીવને, બાળી મુકવા માટે તેને બહાર કાઢે છે જેવી રીતે ગોશાળકે કાઢી હતી તેમ. અને જ્યારે ખુશ હોય છે ત્યારે શીત તેજથી ઉપકાર પણ કરે છે. જે જીવને ઉત્તરગુણપ્રત્યયક લબ્ધિ પ્રાપ્ત થતી નથી તેનું જ તૈજસ શરીર ખાધેલા અન્નને પચાવવાનું કાર્ય કરે છે, આ પ્રમાણે જે શરીર ખોરાક પચાવવાની શક્તિવાળું હોય તે પણ તૈજસ કહેવાય. આવીજ રીતે કર્મદ્વારા નિષ્પન્ન શરીર કાર્મણ કહેવાય છે. આ શરીર સમસ્ત કર્મરાશિનું એવી રીતે આધાર ભૂત છે જેવી રીતે બોર વગેરેનો આધાર કુંડ વગેરે હોય છે. અથવા આ શરીર બીજની જેમ બધાં કર્મોનો પિતા છે. આ શરીરનામકર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિ છે અર્થાત્ શરીરનામકર્મનો એક ઉપભેદ છે આથી આઠ કર્મોથી થોડુંક ભિન્ન છે. કર્મ જ કાર્મણ કહેવાય છે. હકીકતમાં તે કર્મો દ્વારા નિષ્પન્ન, કર્મોમાં થનારૂં અથવા કર્મ જ કાર્મણ શરીર કહેવાય છે.

ઔદારિક વગેરે શરીર પોતાને ગમે તે પુદ્ગલોથી બનતાં નથી પરંતુ એમને યોગ્ય પુદ્ગલોની વર્ગણા જુદી જુદી હોય છે. ઔદારિક વર્ગણાના પુદ્ગલોથી ઔદારિક શરીર, વૈક્રિય વર્ગણાના પુદ્ગલોથી વૈક્રિય શરીર, આહારક વર્ગણાના પુદ્ગલોથી આહારક શરીર, તૈજસવર્ગણાના પુદ્ગલોથી તૈજસશરીર અને કાર્મણવર્ગણા ના પુદ્ગલોથી કાર્મણ શરીરનું નિર્માણ થાય છે.

પુદ્ગલોનાં સમૂહને વર્ગણા કહે છે. આનું વર્ગિકરણ અનેક પ્રકારથી કરવામાં આવેલ છે. જેવી રીતે દ્રવ્યની અપેક્ષાથી સમસ્ત પરમાણુદ્રવ્યોની એક વર્ગણા યાને (રાશિ) છે. દ્વિપ્રદેશી સ્કંધોની એક વર્ગણા છે. એવી જ રીતે એક-એક પરમાણુની વૃદ્ધિ કરીને સંખ્યાત વર્ગણાઓ છે, અસંખ્યાત પ્રદેશી સ્કંધોની અસંખ્યાત વર્ગણાઓ છે. અનન્તપ્રદેશી સ્કંધોની અનન્ત, વર્ગણાઓ હોય છે.

અલ્પ પુદ્ગલોવાળી કેટલીક એવી વર્ગણા હોય છે કે જેનાથી ઔદારિક શરીર બની શકતું નથી અર્થાત્ તે ઔદારિક શરીર માટે અયોગ્ય હોય છે તેમની આગળની અનન્ત વર્ગણાઓ ઔદારિક શરીરને યોગ્ય હોય છે આ યોગ્ય વર્ગણાઓની આગળની તેમનાથી પણ અનન્તગણી એવી વર્ગણા છે જે (વધારે દ્રવ્યવાળી હોવાને કારણે) ઔદારિક શરીર માટે યોગ્ય નથી આવી રીતે ઔદારિક વર્ગણાઓ ત્રણ પ્રકારની છે. (૧) અલ્પ પુદ્ગલોવાળી હોવાથી અયોગ્ય (૨) યોગ્ય પરિણામવાળી હોવાના કારણે યોગ્ય તથા (૩) બહુપુદ્ગલોવાળી હોવાથી અયોગ્ય. આવી જ રીતે વૈક્રિય આહારક, તૈજસ ભાષા, આણા પાણુ મન તથા કાર્મણમાથી પ્રત્યેક જાતિની ત્રણ પ્રકારની વર્ગણાઓ કહેલી છે-અયોગ્ય, યોગ્ય,...

તાત્પર્ય એ છે કે ઔદારિક વગેરે શરીરોનાં તથા ભાષા આદિના નિર્માણ માટે યોગ્ય પરિમાણવળી વર્ગણાઓ જ યોગ્ય હોય છે. આ ઉચિત પરિમાણવાળી વર્ગણાઓથી ઓછા

પરિમાણવાળી જે વર્ગણાઓ છે. તે અયોગ્ય હોય છે અને અધિક પરિમાણવાળી હોય તો પણ અયોગ્ય હોય છે. ઓછા પરિમાણવાળી વર્ગણાઓમાં પુદ્દગલદ્રવ્યોની ઉણપ હોવાથી તેમને અયોગ્ય કહેવામાં આવી છે અને વધુ પરિમાણવાળી વર્ગણાઓમાં જરૂરથી વધુ પુદ્દગલો હોવાથી અયોગ્ય કહેલ છે. પ્રથમ વર્ગણાઓ અલ્પદ્રવ્યવાળી હોવાથી, અયોગ્ય છે જ્યારે છેવટની વધુ દ્રવ્યવાળી હોવાથી અયોગ્ય છે અર્થાત્ તે યોગ્ય વર્ગણાઓથી જ ઔદારિક-શરીરની નિષ્પત્તિ થાય છે.

અહીં એક બાબત ધ્યાનમાં રાખવી ઘટે કે વધારે દ્રવ્યવાળી ઔદારિક વર્ગણામાં, જે ઔદારિક શરીર માટે અયોગ્ય હોય છે તેમાં એક પુદ્દગળ જો ભેળવી દેવામાં આવે તો તે વૈક્રિય શરીરને અયોગ્ય પ્રાથમિક વૈક્રિયવર્ગણા જેવી થઈ જાય છે. આજ રીતે આહારક વગેરે બધી આગળની વર્ગણાઓની બાબતમાં સમજી લેવું જોઈએ.

જો કે અહીં ભાષાવર્ગણા, અણાપાણુવર્ગણા તથા મનોવર્ગણાનો ઉલ્લેખ કરવાનું કોઈ પ્રરકરણ નથી તો પણ કાર્મણશરીરને યોગ્ય વર્ગણાઓને દેખાડવાના હેતુથી તેમનો પણ નિર્દેશ કરવામાં આવેલ છે. આવી જ રીતે આ ઔદારિક વગેરે શરીર જુદા જુદા—ઔદારિક વર્ગણા વગેરેથી બનેલાં છે.

પાંચ શરીરેમાં ઔદારિક શરીરનું સર્વપ્રથમ નિદર્શન કરવામાં આવેલ છે. એનું કારણ એ છે કે તે બધાથી વધુ સ્થૂળ છે, અલ્પપ્રદેશી છે અને તેમના સ્વામી બધાથી વધારે છે. ત્યારબાદ વૈક્રિય શરીરનો ઉલ્લેખ કરવાનું કારણ પૂર્વસ્વામીનું સામર્થ્ય છે અર્થાત્ જેને પહેલા ઔદારિક શરીર પ્રાપ્ત હોય તેજ વૈક્રિય શરીરને મેળવી શકે છે જેવી રીતે વૈક્રિયશરીર લબ્ધિથી પણ હોય છે તેવી જ રીતે આહારક શરીર પણ લબ્ધિથી પ્રાપ્ત થાય છે. આ સમાનતાથી વૈક્રિય શરીરની પછી આહારક લેવામાં આવ્યું છે—આહારકની અપેક્ષા પણ વધુ સૂક્ષ્મ હોવાથી તેની પછી તૈજસનું તથા તૈજસ અધિક સૂક્ષ્મ હોવાથી તેની પછી કાર્મણ શરીરનું ગ્રહણ કરેલ છે. આહારક શરીરની અપેક્ષા તૈજસમાં અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણશરીરમાં અનન્ત પ્રદેશ અધિક હોય છે. ॥ ૨૯ ॥

'उत्तरोत्तरं सुहुमं आदिओ चत्तारि भयणिज्जाइं' ॥३०॥

મૂળસૂત્રાર્થ—પૂર્વોકત શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે અને એક જીવમાં એકી સાથે ચાર શરીરોની ભજના છે ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ઔદારિક વગેરે પાંચ શરીરોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે. તે શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે અને કોઈ જીવનાં બે કોઈનાં ત્રણ તથા કોઈ કોઈના ચાર સુધી એકી સાથે હોઈ શકે છે એ માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોકત પાંચ શરીરોમાંથી પૂર્વ શરીરની અપેક્ષા આગળ-આગળના શરીર સૂક્ષ્મ છે અર્થાત્ સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા પુદ્દગળદ્રવ્યોથી બને છે. સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે જ વૈક્રિય વગેરે ચાર શરીર આપણને સામાન્યતયા દેખાતાં નથી.

શંકા—શાસ્ત્રમાં ઔદારિક શરીરનું ઉત્કૃષ્ટ પરિમાણ એક હજાર યોજનથી કિંચીત આધક કહેલ છે જ્યારે વૈક્રિય શરીરનું ઉત્કૃષ્ટ પરિમાણ એક લાખ યોજનથી થોડુંક વધુ કહેવામાં આવેલ છે. આવી સ્થિતિમાં ઔદારિકની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર સૂક્ષ્મ કઈ રીતે હોઈ શકે ?

સમાધાન—સાચી વાત છે. પરિમાણની અપેક્ષાથી જો કે ઔદારિક શરીરની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર મોટું હોય છે તેમ છતાં આદશ્ય હોવાથી તેને સૂક્ષ્મ જ કહેવામાં આવે છે આ

પ્રશ્ન બીજો જ છે કે વિક્રિયા કરવાવાળાની ઈચ્છાથી તેનું વૈક્રિય શરીર દષ્ટિગોચર પણ હોઈ શકે છે આવી રીતે ઔદારિકથી વૈક્રિય વૈક્રિયથી આહારક–આહારકથી તૈજસ તૈજસથી કાર્મણ-શરીર સૂક્ષ્મ છે.

જો કે શરીર અનુક્રમથી ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે તો પણ પુદ્ગલપ્રદેશોની અપેક્ષા એ ઔદારિક શરીરથી વૈક્રિય અને વૈક્રિયથી આહારક શરીર અસંખ્યાતગણાં છે આહારકની અપેક્ષા તૈજસ શરીરમાં અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણશરીરમાં અનન્તગણા પ્રદેશો છે. આવી રીતે બહુતર દ્રવ્યોથી ઉત્પન્ન થવા છતાં પણ તેમનું ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ પરિણમન છે આથી જ તે સૂક્ષ્મ કહેવાયા છે.

આ પાંચ શરીરોમાંથી કોઈ જીવને એક સાથે ચાર શરીર હોઈ શકે છે. કોઈને બે, કોઈને ત્રણ અને કોઈને ચાર શરીર સુધી પ્રાપ્ત થઈ શકે છે. (૧) એકી સાથે એક જીવને બે શરીર હોય તો તૈજસ અને કાર્મણ હોય છે. બે શરીર માત્ર વિગ્રહગતિના સમયે જ હોય છે. (૨) ત્રણ શરીર એક સાથે હોય તો તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક હોય છે. આ ત્રણ શરીર ઋદ્ધિવગરના તિર્યંચ તથા મનુષ્યોમાં હોય છે. (૩) અથવા ત્રણ શરીર તૈજસ, કાર્મણ અને વૈક્રિય હોય છે જે દેવગતિ અને નારકીના જીવોને પ્રાપ્ત હોય છે (૪) ચાર હોય તો તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય અથવા (૫) તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા આહા-રક હોય આ ચાર શરીર વૈક્રિય લબ્ધિ અથવા આહારક લબ્ધિવાળા જીવને હોય છે.

એક જીવમાં એકી સાથે પાંચ શરીર હોતા નથી અને વૈક્રિય અને આહારક શરીર એકી સાથે મળી શકતા નથી કારણ કે એકી સાથે બંને–વૈક્રિય અને આહારક લબ્ધિઓ હોતી નથી. કાર્મણશરીર તો પ્રત્યેક સંસારી જીવને હોય જ છે. ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ઔદારિક વગેરે શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે જેમકે—ઔદારિકથી વૈક્રિય સૂક્ષ્મ છે વૈક્રિયથી આહારક. આહારકથી તૈજસ-તૈજસથી કાર્મણશરીર સૂક્ષ્મ છે આવિ-રીતે ઔદારિક પાંચેશરીરોમાં એક બિજાની અપેક્ષા એ ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ છે.

આવી રીતે ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ દ્રવ્યોથી બનેલા હોવાથી સૂક્ષ્મ છે અને આ કારણે ઔદારિક શરીર સિવાયના ચાર વૈક્રિય વગેરે શરીર પ્રાયઃ જોઈ શકાતાં નથી. પુદ્ગલોનું પરિણ-મન વિવિધ પ્રકારનું છે. કોઈ–કોઈ પુદ્ગલ થોડા હોવા છતાં પણ પોલા–પોલા હોવાથી સ્થૂળ દેખાય છે જેમ ભીંડા અગર લાકડાનાં પુદ્ગલ. કોઈ આથી ઉલ્ટુ, પણ અત્યંત સઘનરૂપમાં પરિણત થાય છે. તે ઘણાં વધારે હોવા છતાંપણ સૂક્ષ્મ–પરિણત હોવાથી અલ્પ દેખાય છે દાખલાતરીકે. હાથી દાંતના પુદ્ગલ—

આ વાત ચોકકસ છે કે લંબાઈ–પહોળાઈમાં સરખાં ભીંડા અને હાથીદાંતના ટુકડાને જો ત્રાજવામાં જોખવામાં આવે તો તેમના વજનમાં ઘણો તફાવત હોય છે. આથી સાબીત થાય છે કે કોઈ પુદ્ગલ સઘન એવાં સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા અને કોઈ શિથિલ પરિણમનવાળા હોય છે નહીંતર જો તેમનું પ્રમાણ તુલ્ય છે એ લઘુતા અને ગુરુતા કેમ થાય ? આ કારણે પહેલા–પહે-લાંના શરીર ઉત્તરોત્તર શરીરોની અપેક્ષા સ્થૂળ દ્રવ્યોથી બનેલા અને શિથિલ પરિણમનવાળા હોય છે અને ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ દ્રવ્યોથી નિર્મિત, સઘન પરિણતિવાળા અને સૂક્ષ્મ હોય છે. આ પુદ્ગલ દ્રવ્યોની પરિણમનની વિચિત્રતા છે, આ રીતે ઔદારિક શરીર અલ્પદ્રવ્યવાળું,

સ્થૂળ અને પોલું હોય છે અને તેની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર બહુતર દ્રવ્યોવાળું, સૂક્ષ્મ અને સઘન પરિણમનવાળું હોય છે આ કારણે તેને ઔદારિકની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ કહેલ છે.

પ્રશ્ન—ઔદારિક શરીર શાસ્ત્રમાં વધુમાં વધુ એક હજાર યોજનથી થોડુંક વધારે પરિમાણવાળું કહેવામાં આવેલું છે પરંતુ વૈક્રિય શરીર કંઈક વધુ એક લાખ યોજન પરિમાણવાળું હોય છે તો પણ તેને સૂક્ષ્મ કઈ રીતે કહ્યું ?

ઉત્તર—જો કે પ્રમાણની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર ઘણું મોટું હોય છે તો પણ અદૃશ્ય હોવાથી તે સૂક્ષ્મ જ કહેવાય છે હા, જો વૈક્રિય શરીર બનાવનાર ધારે તો તે દૃષ્ટિગોચર પણ થઈ શકે છે આથી તેને સૂક્ષ્મ કહેવામાં કોઈ દોષ નથી.

આવી જ રીતે વૈક્રિયની અપેક્ષા આહારક શરીર સૂક્ષ્મ હોય છે. તે બહુસંખ્યક દ્રવ્યોથી ઉત્પન્ન થવા છતાં પણ સૂક્ષ્મતર પરિમાણવાળું હોવાથી સૂક્ષ્મ છે. આહારકની અપેક્ષા તૈજસ શરીર ઘણું સૂક્ષ્મ અને ઘણા દ્રવ્યોથી બનેલું છે. તૈજસ શરીરની અપેક્ષા કાર્મણ શરીર બહુ અધિક દ્રવ્યોથી બનેલું હોવા છતાં પણ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ હોય છે. અહીં ઉત્તરોત્તર શરીરોમાં જે સૂક્ષ્મતાનું વિધાન કરવામાં આવેલુ છે તે આપેક્ષિક છે, સૂક્ષ્મતા કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન સૂક્ષ્મતા નથી.

પ્રશ્ન—કારણોની સૂક્ષ્મતા હોવાથી બહુસંખ્યક પુદ્‌ગલો દ્વારા રચિત હોવા છતાં પણ પ્રચયની વિશેષતાને કારણે આગળ-આગળના શરીર ભલે સૂક્ષ્મ હોય પરંતુ તે શરીર બહુસંખ્યક પુદ્‌ગલોથી બનેલા છે, તેની સાબીતી શી ?

ઉત્તર —ઔદારિક આદિ શરીરોનું નિર્માણ ક્રમશઃ અસંખ્યાતગણા અધિક પ્રદેશોથી થાય છે અર્થાત્ ઔદારિક શરીરની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીરના પ્રદેશ અસંખ્યાતગણા વધારે છે અને વૈક્રિય શરીરના પ્રદેશોથી આહારક શરીરના પ્રદેશ અસંખ્યાતગણા વધારે હોય છે. આહારકની અપેક્ષા તૈજસના અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણ શરીરના પ્રદેશ અનન્તગણા વધારે હોય છે. પ્રવૃદ્ધદેશ પ્રદેશ કહેવાય છે આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર જ્યારે અનન્તગુણ સ્કન્ધ અન્ય અનન્તાણુક સ્કંધોથી અસંખ્યાતવાર ગુણવામાં આવે ત્યારે તે વૈક્રિય શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય બને છે.

આવીજ રીતે વૈક્રિય શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય એક અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધ જ્યારે અનન્તાણુક સ્કંધોથી અસંખ્યાત વખત ગુણવામાં આવે છે ત્યારે તે આહારક શરીર માટે યોગ્ય બને છે પરંતુ તૈજસ અને કાર્મણ શરીરના વિષયમાં આ નિયમ લાગુ થતો નથી. એમના માટે બીજો નિયમ છે જે હવે પછી કહેવામાં આવશે આવી રીતે ઔદારિક શરીરને યોગ્ય સ્કંધ અનન્તાણુક હોવા છતાં પણ ઉત્તર સ્કંધોની અપેક્ષા સહુથી નાનુ છે કારણકે અનન્ત સંખ્યાના અનન્ત ભેદ છે.

આનો સારાંશ એ છે કે ઔદારિક શરીરને યોગ્ય એક સ્કંધ જ્યારે અન્ય અનન્તપ્રદેશી સ્કંધો સાથે અસંખ્યવાર ગુણાય ત્યારે જ તે વૈક્રિય શરીરને યોગ્ય બને છે. આવી જ રીતે વૈક્રિય શરીરના યોગ્ય સ્કંધોથી આહારક શરીરના યોગ્ય સ્કંધ અસંખ્યગણા છે. આનો ફલિતાર્થ એ છે કે વૈક્રિય શરીરને યોગ્ય સ્કંધ જ્યારે અન્ય અનન્તપ્રદેશી અસંખ્યાત સ્કંધોથી ગુણાય છે ત્યારે તે આહારક શરીરને અનુરૂપ બને છે

તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પૂર્વ-પૂર્વના શરીરની અપેક્ષા પ્રદેશોથી અનન્તગણા હોય છે. આ રીતે આહારક શરીરથી તૈજસમાં અનન્તગણા પ્રદેશ છે અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણ

શરીર અનન્તગણા પ્રદેશવાળા છે. તારણ એ થયું કે આહારક શરીરને યોગ્ય અનન્તાણુક સ્કંધ જ્યારે બીજાં અનન્ત અનન્ત પ્રદેશોવાળા સ્કંધોથી ગુણવામાં આવે ત્યારે તે તૈજસ શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય બને છે. આવીજ રીતે તૈજસ શરીરને યોગ્ય અનન્તાણુક સ્કંધ અન્ય અનન્તાણુક સ્કંધોથીગુણવામાં આવે-ત્યારે કાર્મણ શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય બને છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના શરીરપદના ૨૧માં પદમાં કહે છે--

દ્રવ્યની અપેક્ષા આહારક શરીર બધાથી ઓછા છે, વૈક્રિય શરીર તેથી અસંખ્યાતગણા વધારે છે, ઔદારિક શરીર તેથી પણ અસંખ્યાતગણા છે. તૈજસ અને કાર્મણ શરીર બંને દ્રવ્યની અપેક્ષાએ સરખાં છે પરંતુ અનન્તગણા છે, પ્રદેશોની અપેક્ષા સહુથી ઓછા આહારક શરીર છે, વૈક્રિય શરીર પ્રદેશોની અપેક્ષા તેમનાથી અસંખ્યાતગણા છે, ઔદારિક શરીર પ્રદેશોની અપેક્ષા અસંખ્યાતગણા છે તૈજસશરીર પ્રદેશોની અપેક્ષા અનન્તગણા છે, વગેરે ...

અન્ય શરીરોથી તૈજસ અને કાર્મણ શરીરની એક ધ્યાન ખેંચતી બાબત એ છે કે આ બંને લોકાન્ત સિવાય બધે જ અપ્રતિહત હોય છે, હા, લોકના અન્તમાં આ બંને પણ નાશ પામે છે. કહેવાનું એ છે કે જીવો અને અજીવોનું આધારભૂત ક્ષેત્ર લોક કહેવાય છે. લોકને અન્ત થાય છે. ત્યારે તૈજસ-કાર્મણ શરીરની ગતિને પણ અન્ત થઈ જાય છે. લોકની બહાર ગતિને કારણ ધર્મદ્રવ્ય અને સ્થિતિને કારણ અધર્મદ્રવ્ય હોતું નથી ધર્મદ્રવ્યના નિમિત્તથી જ જીવો અને પુદ્દગલોની ગતિ થાય છે આથી જ્યાં ધર્મદ્રવ્યને અભાવ છે ત્યાં ગતિને પણ અભાવ હોય છે.

જેમ માછલાં વગેરે જળચરોની ગતિ પાણીની મદદથી થાય છે તેવી જ રીતે સમસ્ત જીવો અને પુદ્દગલોની ગતિ ધર્મદ્રવ્યની મદદથી જ થાય છે.

લોકાન્તને છોડીને સમ્પૂર્ણ લોકમાં કયાંય પણ તેમને પ્રતિઘાત થતો નથી-ગતિમાં રુકાવટ આવતી નથી જો કે આ બંને શરીર પણ આકારવાળા છે તોપણ અત્યંત સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે અપ્રતિહત છે-ભલે પર્વત હોય કે દરિયો, રણ દ્વીપ પાતાળ નરક અથવા વૈમાનિક લોક આદિ તો પણ તેને ભેદીને તેઓ સર્વત્ર અપ્રતિહત ગતિમાં હોય છે જેવી રીતે લાલચોળ તેજના અવયવ લોઢાના પિન્ડની અંદર પેશી જાય છે અને કોઈ પણ પ્રકારે રોકી શકાતા નથી કારણ કે તે સૂક્ષ્મ હોય છે તેજ રીતે તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પણ રાજાના પ્રિય પુરુષની જેમ સર્વત્ર પ્રવેશ કરે છે અને નિકળે છે, રાજપ્રશ્નીય સૂત્રનાં ૬૯માં સૂત્રમાં તેમને 'અપ્પડિહયગઈ' અર્થાત્ વગર કોઈ રોકટોક ગતિ કરનાર કહેવામાં આવ્યા છે.

તૈજસ અને કાર્મણ શરીરથી સંસારી જીવ કદાપી રહિત હોતો નથી-સમસ્ત સંસારી જીવોની સાથે તેમને સંબન્ધ અનાદિકાળથી છે-જેવી રીતે સુવર્ણ અને પાષાણને સંયોગ અનાદિ છે તથા આકાશ અને પૃથ્વી વગેરેને સંયોગ અનાદિકાલીન છે તેવી જ રીતે જીવની સાથે આ બંને શરીરોને સંબન્ધ અનાદિકાલીન છે-પરંતુ આ અનાદિ સમ્બન્ધ એકાંત રૂપથી ન સમજવો જોઈએ પરંતુ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષાથી જ સમજવો જોઈએ-બંને શરીર પ્રવાહ સ્વરૂપે અનાદિકાલીન છે-તાત્પર્ય એ છે કે આ બંને શરીરોની પરંપરા અનાદિકાળથી અવિચ્છિન રૂપમાં ચાલતી આવી છે અને જ્યાં સુધી જીવને મુક્તિ મળતી નથી ત્યાં સુધી ચાલતી જ રહે છે. પરંતુ પર્યાયની અપેક્ષા તેમને સંબન્ધ આદિમાન પણ છે.

દ્રવ્યથી અનાદિ સમ્બન્ધ હોવા છતાંપણ આ તૈજસ અને કાર્મણ શરીર શું બધાં સંસારી જીવોને હોય છે-અથવા કોઈ કોઈને જ હોય છે ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે બધાં સંસારી જીવોનાં તૈજસ-કાર્મણ શરીર હોય છે, એવું નથી કોઈને હોય અને કોઈને ન હોય.

પ્રશ્ન—જેમ તૈજસ અને કાર્મણ શરીર અનાદિકાલીન સંબન્ધ હોવાથી બધા સંસારી જીવોને સાથે-સાથે હોય છે તેવી જ રીતે શું અન્ય શરીર પણ એકી સાથે એક જીવને હોય છે નહીં ?

ઉત્તર—ભજનાથી એક જીવને એકીં સાથે ચાર શરીર સુધી હોઈ શકે છે-(૧) એક જીવને એકી સાથે તૈજસ અને કાર્મણ-એ શરીર હોય છે (૨) કોઈને તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક હોય છે (૩) કોઈને તૈજસ, કાર્મણ અને વૈક્રિય હોય છે (૪) કોઈને તૈજસ કાર્મણ ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય છે (૫) કોઈને તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા આહારક હોય છે (૬) કોઈને માત્ર કાર્મણ જ હોય છે (૭) કોઈને કાર્મણ અને ઔદારિક (૮) કાર્મણ અને વૈક્રિય (૯) કાર્મણ, ઔદારિક અને વૈક્રિય (૧૦) કાર્મણ, ઔદારિક, આહારક (૧૧) કોઈને કાર્મણ, તૈજસ, ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય છે. (૧૨) કોઈને કાર્મણ તૈજસ અને ઔદારિક હોય છે—

એક જીવને પાંચ શરીર કદી પણ હોઈ શકે નહીં કારણ કે આહારક અને વૈક્રિય શરીર સાથે-સાથે હોતા નથી, બંને લબ્ધિઓ એક જીવને એકી સાથે હોતી નથી.

આ બંને લબ્ધીઓ એકી સાથે એક જીવમાં વ્યકત રૂપમાં હોઈ શકતી નથી. જે કાળમાં વૈક્રિયલબ્ધિનો પ્રયોગ કરવામાં આવે છે તે સમયે આહારક લબ્ધિનો પ્રયોગ થતો નથી-હા, આગળ પાછળ પ્રયોગ કરી શકાય પહેલા વૈક્રિય શરીર બનાવી તેના વ્યાપારથી નિવૃત્ત થઈ જાય પછી આહારક શરીર બનાવી શકે છે. આવી સ્થિતિમાં એક જીવનાં એકી સાથે પાંચ શરીર હોઈ શકે નહીં પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૧માં શરીર પદમાં કહ્યું છે કે—

પ્રશ્ન—હે ભગવંત ! જે જીવને ઔદારિક શરીર છે તેમને વૈક્રિય અને વૈક્રિય શરીર હોય તેને ઔદારિક શરીર હોય છે કે નહીં ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! જેને ઔદારિકશરીર છે તેને વૈક્રિય શરીર કોઈવાર હોય છે, કોઈ-વાર હોતું નથી જેને વૈક્રિય શરીર છે તેને ઔદારિક શરીર હોય અગર ન પણ હોય.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! જેને ઔદારિક શરીર છે તેને આહારક અને આહારકવાળાને ઔદારિક શરીર હોય છે ?

જવાબ—ગૌતમ ! જેને ઔદારિક શરીર હોય તેને આહારક શરીર કદાચિત્ હોય છે કદાચિત્ નથી પણ હોતું જેને આહારક શરીર છે તેને ઔદારિક શરીર નિયમથી હોય છે.

પ્રશ્ન—ઔદારિક શરીરવાળાને તૈજસ અને તૈજસવાળાને ઔદારિક શરીર હોય છે ?

જવાબ—જેને ઔદારિક શરીર છે તેને તૈજસ શરીર નિયમથી હોય છે પરંતુ તૈજસવાળાને ઔદારિક શરીર હોય પણ ખરૂં અને ન પણ હોય આવુંજ કાર્મણ શરીર માટે સમજવાનું છે.

પ્રશ્ન—વૈક્રિય શરીરવાળાને આહારક અને આહારક શરીરવાળાને વૈક્રિય શરીર હોય છે ?

જવાબ—ગૌતમ, વૈક્રિયવાળાને આહારક શરીર હોતું નથી અને આહારકવાળાને વૈક્રિય શરીર પણ હોતું નથી તૈજસ અને કાર્મણ શરીરના વિષયમાં ઔદારિક શરીર માટે જે કહ્યું તેજ સમજવાનું છે અને આહારક શરીરના વિષયમાં પણ તેજ પ્રમાણે કહેવું જોઈએ અર્થાત્ જેને વૈક્રિય અને આહારક શરીર હોય છે તેમને તૈજસ અને કાર્મણ શરીર નિયમથી હોય છે

પ્રશ્નઃ—ભગવંત, ! જેમને તૈજસ શરીર હોય છે તેમને કાર્મણ અને કાર્મણવાળાને તૈજસ શરીર હોય છે ?

ઉત્તરઃ—ગૌતમ, જેને તૈજસ શરીર હોય છે તેમને કાર્મણ શરીર નિયમથી હોય છે અને જેને કાર્મણ શરીર હોય તેમને તૈજસ શરીર નિયમથી હોય છે ॥ ૩૦ ॥

'कम्मगं उवभोगवज्जिए'

મૂળસૂત્રાર્થ:—કાર્મણશરીર ઉપભોગથી રહિત છે ॥ ૩૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ઔદારિક વૈક્રિય આહારક તૈજસ અને કાર્મણ ના ભેદથી પાંચ પ્રકારના શરીરોનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે કાર્મણનું પ્રકરણ આવવાથી તેના વિષયમાં થોડી વિશિષ્ટતાનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

કર્મથી ઉત્પન્ન થનાર, પૂર્વોકત સ્વરૂપવાળું કાર્મણ શરીર ઉપભોગથી રહિત છે. ઇન્દ્રિયો-દ્વારા શબ્દ, રૂપ, ગંધ રસ અને સ્પર્શ વગેરેની ઉપલબ્ધિ થાય તેને ઉપભોગ કહેવાય છે. કાર્મણ શરીર આ ઉપભોગથી રહિત છે. વિગ્રહગતિમાં કાર્મણશરીરનું અસ્તિત્વ હોવા છતાંપણ લબ્ધિરૂપ ભાવેન્દ્રિયનું વિદ્યમાનપણું હોવા છતાંપણ દ્રવ્યેન્દ્રિયોનો અભાવ હોવાથી શબ્દ વગેરે ભોગ, ઉપભોગ થતો નથી.

ઔદારિક વગેરે શરીરોના સદ્ભાવમાં સુખ દુઃખ રૂપ વિષયોનો ઉપભોગતો પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે પરંતુ જ્યારે વિગ્રહગતિમાં કાર્મણશરીર હોય છે ત્યારે આ શરીરથી શબ્દ વગેરે વિષયોનો ઉપભોગ થઈ શકતો નથી. આથી જ કાર્મણ શરીરને ઉપભોગથી રહિત કહેવામાં આવ્યું છે. ॥ ૩૧ ॥

'ओरालिए दुविहे सम्मुच्छिमे गब्भवक्कंतिए य' ।

મૂળસૂત્રાર્થ—ઔદારિક શરીર બે પ્રકારના છે–સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભવ્યુત્ક્રાન્તિક ॥૩૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ત્રણ પ્રકારના જન્મ કહેવામાં આવ્યા છે તેમાંથી કયા જન્મમાં ઔદારિક આદિ પાંચે શરીરોમાંથી કયું શરીર હોય છે, આવીજિજ્ઞાસા થવાથી કહેવામાં આવે છે કે–ઉદાર અર્થાત્ સ્થૂળ પુદ્ગલોથી બનનારૂં શરીર ઔદારિક કહેવાય છે તેના બે ભેદ છે–સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભવ્યુત્ક્રાન્તિક. આ રીતે સમ્મૂર્ચ્છિમ જન્મ અને ગર્ભજન્મથી ઉત્પન્ન થનારા જીવોને ઔદારિક શરીર હોય છે. અહીં એવી અટકળ કરવાની નથી કે તેમને માત્ર ઔદારિક શરીર જ હોય છે કારણકે તેમને તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પણ હોય છે. લબ્ધિનિમિત્તક વૈક્રિય અને આહારક શરીર પણ ગર્ભજ જીવોને આગળ જતાં હોઈ શકે છે. ઔદારિક શરીર જઘન્યથી આંગળીના અસંખ્યાત ભાગ પ્રમાણ અને ઉત્કૃષ્ટથી હજાર યોજન પ્રમાણથી કંઈક વધારે હોય છે

ઔદારિક શરીર, જેમ-જેમ આયુષ્ય વધતું જાય છે તેમ–તેમ વધતું જાય છે અને જ્યારે આયુષ્યનો ક્ષય થવા લાગે છે ત્યારે જીર્ણ થવા માંડે છે. પછીથી જ્યારે ગાત્રો ઢીલા પડી

જાય છે અને ચામડી લટકવા માંડે છે તો શીર્ણ થઈ જાય છે. ॥ ૩૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વોકત ઔદારિક વગેરે પાંચ શરીરોમાંથી કયું શરીર સમ્મૂર્ચ્છિમ વગેરે ત્રણ જન્મોમાંથી કયાં હોય છે ? આ જાતની શંકા થવાથી કહીએ છીએ—

ઔદારિક શરીર—સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભજ એમ બે પ્રકારનાં છે. આથી સમ્મૂર્ચ્છન જન્મવાળાં તથા ગર્ભજન્મવાળા પ્રાણીઓને ઔદારિક શરીર હોય છે પરંતુ એવો નિયમ નથી કે તેમને ઔદારિક શરીર જ હોય છે, કારણકે તેમને તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પણ પ્રાપ્ત થાય છે. આ શિવાય ગર્ભજન્મવાળાને આગળ જતાં લબ્ધિ જનિત વૈક્રિય અને આહારક શરીર પણ હોઈ શકે છે. ઔદારિક શરીરની અવગાહના જન્મથી આંગળીના અસંખ્યાતા ભાગ અને જો ઉત્કૃષ્ટા હોય તો એક હજાર યોજનથી થોડી વધારે હોય છે.

ઉદાર અર્થાત્ ઉદ્ગમ, ઉદ્ગમનનો અર્થ છે પ્રદુર્ભાવ જે શરીર ઉત્પત્તિથી લઈને પ્રત્યેક સમયે ઉદ્ગમ કરે છે અર્થાત્ વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થતુ રહે છે, પછી જીર્ણ અને શીર્ણ થાય છે તે ઔદારિક શરીર કહેવાય છે. આ શરીર ઉમરના પરિણમન અનુસાર પુષ્ટ થતું જાય છે અને પાકી ઉમર થતાં નાશ પણ પામે છે. એના સાંધા જ્યારે ઢીલા પડી જાય છે અને ચામડી લટકવા માંડે છે તો શીર્ણ પણ થઈ જાય છે. ઘડપણના ભારના કારણે વાંકું પણ વળી જાય છે. ઇન્દ્રિયોનાં વિષયને ગ્રહણ કરવાની શકિત નબળી–અને વધુ નબળી થવા લાગે છે અને કરચળીઓ પડી જાય છે. આ રીતે ક્રમશ આ કંઈનું કંઈ થઈ જાય છે. ઓળખી પણ શકાતું નથી કે આ તેજ સુંદર અને તાજુમાજુ શરીર છે. આ પ્રકારનું પરિણમન પ્રત્યક્ષથી સાબીત થયેલું છે. આ ઔદારિક શરીરમાં આ જે વિશેષતા છે તે વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ અથવા કાર્મણ શરીરમાં નથી. આ શરીર શરૂઆતથી છેવટ સુધી જેમનું તેમ રહે છે તેનામાં ઔદારિક શરીરની જેમ પળે–પળે પરિવર્તન થતું નથી તે ઘડપણને લીધે ક્ષીણ થતું નથી અથવાતો વિશિષ્ટ પ્રયોગોથી વૃદ્ધિને પણ પ્રાપ્ત થતું નથી. આહારક શરીરમાં પણ આવું પરિવર્તન થતું નથી. તૈજસ તથા કાર્મણ શરીરમાં તો તેની શકયતા જ નથી કારણકે તેમનામાં સાંગોપાંગોનું નિર્માણ હોતું નથી.

આ સિવાય ઔદારિક શરીર ગ્રાહ્ય હોવાના કારણે ગ્રહણ કરી શકાય છે. હાથ વગેરે અવયવો દ્વારા પણ ગ્રહણ કરી શકાય છે તેમજ ઇન્દ્રિયો દ્વારા પણ ગ્રહણ કરી શકાય છે પશુ વગેરે દ્વારા તેનું છેદન થઈ શકે, બાણ અગર ભાલા વગેરે દ્વારા ભેદન થઈ શકે, અગ્નિ અને સૂર્ય વગેરે દ્વારા બાળી શકાય છે, મહાવાયુના વેગથી અપહરણ કરી શકાય વગેરે અનેક પ્રકારના વિદારણ શકય હોવાથી આ શરીર ઉદાર–ઔદારિક કહેવાય છે આ સિવાય માંસ, હાડકાં, નસો વગેરેથી બનેલું હોવાના કારણે પણ એને ઔદારિક કહે છે. વૈક્રિય આદિ બીજાં શરીર ન તો માંસ, હાડકાં વગેરેનાં બનેલા હોય છે અથવા ન તો તેમનું ગ્રહણ, વિદારણ છેદન ભેદન વગેરે થઈ શકે છે.

અથવા જે સ્થૂળ છે તે ઉદાર કહેવાય છે થોડાં પ્રદેશોથી બનેલું હોવા છતાં પણ આ મોટું હોય છે અથવા ઉદારનો અર્થ પ્રધાન પણ થાય છે. પ્રધાન એ માટે કે આ શરીર દ્વારા સકલ સંયમ, તીર્થંકરત્વ, મુકિત વગેરેની પ્રાપ્તિ થઈ શકે છે અથવા તો ભીંડાની જેમ પોલું હોવાથી પણ આને ઉદાર કહેવામાં આવે છે. ઉદારનો અર્થ ઉંચો પણ થાય છે–આ શરીર મોટા પરિણામ (પરિમાણ) વાળું હોય છે અથવા ઉદાર અર્થાત્ પુષ્ટ, કારણકે તે વીર્ય–લોહીથી યુકત છે. ક્ષણે ક્ષણે તેની વૃદ્ધિ થાય છે. ઉદારનો અર્થ મોટો પણ થાય છે કેમકે તે એક હજાર યોજ-

નની અવગાહનાવાળું હોય છે. જે ઉદાર છે તેજ ઔદારિક કહેવાય છે. વૈક્રિય આદિ શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ હોય છે આથી એમનામાં આ પ્રકારની ઉદારતાની શકયતા નથી. પ્રજ્ઞાપના-સૂત્રમા ૨૧માં શરીરપદમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્નઃ—ભગવંત ! ઔદારિકશરીર કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉત્તરઃ—ગૌતમ ! બે પ્રકારનાં છે-સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભવ્યુત્ક્રાન્તિક. ॥ ૩૨ ॥

'वेउव्वियं दुविहं उववाइयं लद्धिपत्तयं च'

મૂળસૂત્રાર્થ:—વૈક્રિય શરીર બે પ્રકારનાં છે–ઔપપાતિક અને લબ્ધિપ્રત્યય. ॥ ૩૩ ।

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ ઔદારિક શરીરનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે વૈક્રિય શરીરનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ વૈક્રિયશરીરના બે ભેદ છે–ઔપપાતિક અને લબ્ધિપ્રત્યય. જે શરીર વિક્રયાથી ઉત્પન્ન થાય છે તેને વૈક્રિય કહે છે તે બે પ્રકારના છે ઔપપાતિક અને લબ્ધિ-પ્રત્યય. જે ઉપપાત જન્મમાં હોય તે ઔપપાતિકશરીર કહેવાય છે અને જે શરીર લબ્ધિ અર્થાત્ વિશિષ્ટ તપસ્યા વગેરેથી ઉત્પન્ન–ઋદ્ધિવિશેષથી જન્મે છે તે લબ્ધિપ્રત્યય કહેવાય છે.

લબ્ધિપ્રત્યય વૈક્રિયશરીર કોઈ–કોઈ મનુષ્ય અને તિર્યંચોને હોય છે. તે ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની જઘન્ય અને ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્તની હોય છે. તીર્થંકરના જન્મ વગેરે અવસરો પર દેવોને એવા કાર્ય કરવા પડે છે જે ઘણા સમયમાં સંપન્ન થઈ શકે છે, ત્યારે તે કાર્યો કરવા માટે તેઓ વૈક્રિય શરીર બનાવે છે.

કમળના કન્દને તોડી નાખવામાં અવે ત્યારે તેના કકડાઓમાં જે તાંતણા લાગેલા હોય છે, તે દ્વારા તે કકડા એકબીજાથી જોડાયેલા રહે છે તેજ રીતે ઉત્તર શરીરોમાં અન્તર્મુહૂર્ત્તમાં તેઓ આત્મપ્રદેશોને પૂરા કરે છે આમ કરવાથી ઉત્તરવૈક્રિયશરીર યોગ્ય સમય સુધી ટકી રહે છે.

અહીં ઉપપાતનો આશય ઉપપાતજન્મથી છે. જે વૈક્રિય શરીર ઉપપાતજન્મમાં હોય તે ઔપપાતિક વૈક્રિય શરીર કહેવાય છે આ શરીર ઔપપાતિક જન્મની સાથે જ ઉત્પન્ન થાય છે. કારણકે તેનું કારણ ઉપપાતજન્મ જ છે. નારકી અને દેવતાઓને જ ઔપપાતિક વૈક્રિય શરીર હોય છે, કોઈપણ બીજા પ્રાણીને હોતું નથી. આના પણ બે ભેદ છે-ભવધારણીય અને ઉત્તરવૈક્રિય.

ભવધારણીય વૈક્રિય શરીરની અવગાહના જઘન્ય આંગળીના અસંખ્યાત ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ ૫૦૦ ધનુષ્યોની હોય છે. ઉત્તર વૈક્રિયની જઘન્ય અવગાહના આંગળીનાં સંખ્યાત ભાગ અને ઉત્કૃષ્ટ ૧,૦૦,૦૦૦ યોજનની હોય છે.

લબ્ધિ પ્રત્યય વૈક્રિય શરીર તિર્યંચો અને મનુષ્યોને હોય છે. લબ્ધિ, તપસ્યા વગેરેથી ઉત્પન્ન થનારી એક પ્રકારની વિશિષ્ટ શકિત છે. જેને ઋદ્ધિ પણ કહે છે. એને કારણે જે વૈક્રિ શરીર ઉત્પન્ન થાય છે તે લબ્ધિ પ્રત્યય કહેવાય છે આ શરીર જન્મજાત હોતું નથી. પણ પાછળથી ઉત્પન્ન થાય છે. વિશિષ્ટ તપ વગેરેનાં અનુષ્ઠાનથી ઘણાં ગર્ભજતિર્યંચો તેમ જ મનુષ્યોને લબ્ધિ પ્રત્યય વૈક્રિય શરીર હોય છે. તિર્યંચોમાં બીજા કોઈને હોતું નથી. આમાં અપવાદ એક જ છે અને તે એ કે વાયુકાયને લબ્ધિ પ્રત્યય વૈક્રિય શરીર પણ હોય છે. સ્થાનાંગ સૂત્રનાં પ્રથમ સ્થાનનાં પ્રથમ ઉદ્દેશકનાં ૫ચોતેરમાં સૂત્રમાં કહ્યું છે—

નારક જીવોને બે શરીર હોય છે. આભ્યંતર અને બાહ્ય. આભ્યંતર કાર્મણ શરીર અને બાહ્ય વૈક્રિય શરીર. આવીજ રીતે દેવોને પણ આજ બે શરીર હોય છે.

ઔપપાતિક સૂત્રનાં ૪૦માં સૂત્રમાં કહ્યું છે-વૈક્રિય લબ્ધિથી થનારું શરીર વૈક્રિય કહેવાય છે. ॥ ૩૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં ઔપપાતિક અને લબ્ધિ પ્રત્યય એમ બે પ્રકારનાં વૈક્રિય શરીર કહ્યા. હવે પહેલાં અવયવાર્થ કહે છે.-વિક્રયા. વિકાર, વિકૃતિ, વિકરણ આ બધાં સમાનાર્થક છે. વિવિધ પ્રકારની અથવા વિશિષ્ટ પ્રકારની ક્રિયાને વિક્રિયા કહે છે. તેમાં જે ઉત્પન્ન થાય તે વૈક્રિય. જે વસ્તુની જે પ્રકૃતિ છે તેમાં ભિન્નતા આવવી તે વિકાર છે. વિચિત્ર કૃતિને વિકૃતિ કહે છે. વિવિધ પ્રકારથી કરવું વિકરણ છે. જે શરીર અનેક પ્રકારનું બનાવાય તે વૈક્રિય કહેવાય છે.

વિક્રિયા લબ્ધિ જેને પ્રાપ્ત થાય છે તેની ઇચ્છા મુજબ જે શરીર એક થઈ અનેક થાય છે. અનેકમાંથી એક, નાનાથી મોટું અને મોટાથી નાનું, એક આકૃતિ થઈ અનેક આકૃતિવાળું, અનેક આકૃતિથી એક આકૃતિ, દૃશ્ય થઈ અદૃશ્ય, અદૃશ્ય થઈ દૃશ્ય, ભૂમિચર થઈ ખેચર અને ખેચર થઈ ભૂમિચર, સબળ ગતિવાળું થઈ અબળગતિ પ્રતિઘાતી થઈ અપ્રતિઘાતી અને અપ્રતિઘાતી થઈ પ્રતિઘાતી થઈ જાય છે. આ બધાં ભાવોનો જે એકી સાથે અનુભવ કરે છે તે વૈક્રિય શરીર છે વૈક્રિય સિવાયનાં બીજાં શરીર એકીસાથે આ ભાવોનો અનુભવ કરતાં નથી. પહેલા સ્થૂલ હોવાનાં કારણે પ્રતિઘાતી હોય છે. પછી સૂક્ષ્મ અવસ્થાને પ્રાપ્ત કરીને અપ્રતિ ઘાતી થઈ જાય છે. ભગવતી સૂત્રનાં બીજા શતકનાં પાંચમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, ભાવિતાત્મા, અનગાર બદ્ધ પુદ્ગલોને ગ્રહણકરીતે એક મહાન સ્ત્રીરુપની જેમ પાલખીનાં રૂપની વિક્રિયા કરવામાં સમર્થ છે? ઉત્તર-હા, સમર્થ છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, ભાવિતાત્મા, અનગાર કેટલાં સ્ત્રીરૂપોની વિક્રિયા કરવામાં સમર્થ હોય છે.

ઉત્તર—ગૌતમ, જેમ કોઈ યુવાન પુરૂષ કોઈ યુવતીના હાથને પોતાનાં હાથમાં ગ્રહણ કરે અથવા ચક્રની નાભિ આરાથી યુક્ત હોય એ જ રીતે હે ગૌતમ, ભાવિતાત્મા, અણગાર વૈક્રિય સમુદ્ઘાત કરીને સંખ્યાત યોજનોનો દંડ કાઢે છે એવી રીતે બીજી વાર વૈક્રિય સમુદ્ઘાત કરીને સંપૂર્ણ જંબૂદ્વીપને ઘણી સ્ત્રીરૂપોથી વ્યાપ્ત કરી શકે છે. આ ભાવિતાત્મા અનાગારની વિક્રિયા કરવાની શક્તિ બતાવી છે. પરંતુ કોઈ અનગાર આટલી વિક્રિયા કરતો નથી. તેમ કરશે પણ નાહીં.

એ રીતે ચૌદમા શતકના આઠમા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, શું દેવ અવ્યાબાધ છે?

ઉત્તર—હા, છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, ક્યા હેતુથી દેવ અવ્યાબાધ છે એમ કહેવાય છે.

ઉતર—ગૌતમ, એક-એક અવ્યાબાધ દેવ એક-એક પુરુષને એક-એક પળમાં દિવ્ય દેવ ઋદ્ધિ, દિવ્યદેવદ્યુતિ, દિવ્યદેવાનુભાવ અને દિવ્ય બત્રીસ પ્રકારની નાટ્યવિધિ દેખાડવામાં સમર્થ છે. પરંતુ તે દેવ તે પુરુષને કોઈપણ બાધા કે મુશ્કેલી ઉત્પન્ન કરતો નથી. ન તેની ચામડીનું છેદન કરે છે. તે સૂક્ષ્મ રૂપથી આ બધું દેખાડે છે. આ અભિપ્રાયથી દેવ અવ્યાબાધ છે એમ કહેવાયું છે,

આવી જ રીતે ભગવતી સૂત્રનાં ૧૮માં શતકનાં સાતમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! મહાન ઋદ્ધિના ધારક અને યાવત્ મહેશ આ પ્રકારની આખ્યાવાળા દેવ શું પોતાના એક હજાર રુપોની વિક્રિયા કરીને આપસમાં એક બીજા સાથે સંગ્રામ કરવામાં સમર્થ છે ?

ઉત્તર—હા, સમર્થ છે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! તેના તે એક હજાર શરીર શું એક જ જીવથી યુક્ત છે ? અર્થાત્ તે હજાર શરીરોમાં એક જ જીવ વ્યાપ્ત છે ? અથવા તેઓ અનેક જીવોથી યુક્ત છે ? ભગવંત ! તે જીવોનાં મધ્ય ભાગ એક જીવથી વ્યાપ્ત છે અથવા અનેક જીવોથી વ્યાપ્ત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક જ જીવથી યુક્ત છે, અનેક જીવોથી યુક્ત નથી.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! શું પુરુષ પોતાના હાથથી પગથી અગર તલવારથી ને અન્તરોનું વિચ્છેદ કરવામાં સમર્થ છે ?

ઉત્તર—ના આ અર્થ સમર્થ નથી–એવું થઈ શકતું નથી. ત્યાં શસ્ત્ર કામ કરતું નથી ॥૩૩॥

'तेयगं दुविहं, लद्धिपत्तत्र' सहजं च । ॥सू० ३४॥

મૂળસૂત્રાર્થ—તૈજસ શરીર બે પ્રકારના છે—લબ્ધિપ્રત્યય અને સહજ ॥૩૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ક્રમપ્રાપ્ત વૈક્રિય શરીરનું સ્વરૂપ બતાવવામાં આવ્યું હવે પ્રસંગથી પ્રાપ્ત તૈજસ શરીરનું સ્વરૂપ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ.

તૈજસ અર્થાત્ તેજથી ઉત્પન્ન કરેલાં શરીરના પ્રકાર બે છે-લબ્ધિપ્રત્યય અને સહજ.

વિશિષ્ટ પ્રકારની તપસ્યાથી ઋદ્ધિથી પ્રાપ્તિ થવી લબ્ધિ છે. આ લબ્ધિ જે શરીરનું કારણ હોય તે શરીર લબ્ધિપ્રત્યય કહેવાય છે. સહજનો અર્થ થાય છે સ્વાભાવિક આવી રીતે તૈજસ શરીરના બે ભેદ છે-નિઃશરણાત્મક અને અનિઃશરણાત્મક કોઈ ઉગ્ર ચારિત્રવાળો સાધુ કોઈનાથી અપમાનિત થવાથી જ્યારે ગુસ્સે થાય છે ત્યારે તેની ડાબી ભુજાથી તૈજસ શરીર જીવના પ્રદેશોની સાથે બહાર નિકળે છે. તે પ્રજ્વલિત અગ્નિના પુંજ જેવું હોય છે તે જેને બાળવું છે તેને ઘેરીને રહી જાય છે. જ્યારે ત્યાં લાંબા સમય સુધી રોકાય છે તો તે બાળવા યોગ્ય વસ્તુને ભસ્મીભૂત કરી નાખે છે.

એવી રીતનું તૈજસ શરીર નિઃશરણાત્મક કહેવાય છે. બીજું જે અનિઃશરણાત્મક તૈજસ શરીર છે તે ઔદારિક, વૈક્રિય અને આહારક શરીરની અંદર રહે છે અને ત્રણે શરીરોની દીપ્તિનું કારણ હોય છે. ॥૩૪॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—તેજોમય અથવા તેજનું પિંડ તૈજસ શરીર બે પ્રકારનું કહેવામાં આવ્યું છે-લબ્ધિપ્રત્યય અને સહજ વિશિષ્ટ પ્રકારનાં તપથી જે શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે તે લબ્ધિ કહેવાય છે. તેના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનાર શરીર ને લબ્ધિ પ્રત્યય તૈજસ શરીર કહેવામાં

આવે છે આવું શરીર કોઈ-કોઈ મહાત્માઓને કોઈ-કોઈ વાર જ પ્રાપ્ત થાય છે. બધાંને પ્રાપ્ત થતું નથી.

સ્થાનાંગસૂત્રના ત્રીજા સ્થાનક, બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે-નિર્ગ્રન્થ શ્રમણ ત્રણ કારણોથી પોતાની વિપુલ તેજોલેશ્યાને સંક્ષિપ્ત કરે છે (૧) આતાપના લઈને (૨) ક્ષમાભાવ ધારણ કરીને અને ચઉવિહાર તપસ્યા કરીને.

બીજું સહજ તૈજસ શરીર સમસ્ત સાંસારી પ્રાણીઓને પ્રાપ્ત થાય છે અને રસ વગેરે આહારના પરિપાકને કારણે હોય છે અર્થાત્ આપણે જે ભોજન કરીએ છીએ તેને પચાવવું તે જ આ તૈજસ શરીરનું કામ છે. ॥૩૪॥

'आहारगं एगविहं पमत्तसंजयस्स चेव' ॥सू० ३५॥

મૂળસૂત્રાર્થ:—આહારક શરીર એક જ પ્રકારનું છે અને તે પ્રમત્ત સંયતને જ પ્રાપ્ત થાય છે. ॥૩૫॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા:—પૂર્વ સૂત્રમાં તૈજસ શરીરની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે ક્રમ-પ્રાપ્ત આહારક શરીરનું કથન કરવામાં આવે છે

આહારક શરીર એક જ પ્રકારનું હોય છે અને તે ૧૪ પૂર્વોના ધારક પ્રમત્તસંયતને જ પ્રાપ્ત થાય છે.

પ્રમત્ત સંયત અર્થાત્ ૬ ગુણસ્થાનવર્તી સાધુના મનમાં જ્યારે હવે પછીથી કહેવામાં આવનારા પ્રાણિદયા, તત્ત્વજિજ્ઞાસા વગેરેમાંથી કોઈ કારણ ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે તે વિચારે છે-પરમદેવ તીર્થંકર ભગવંતના દર્શન વગર આ શંકાનું નિવારણ થવાનું નથી અને આ ક્ષેત્રમાં તો તીર્થંકર ભગવાન વિદ્યમાન નથી: આ સંજોગોમાં મારે શું કરવું જોઈએ ? આવું ચિંતન કરવાવાળા પ્રમત્તસંયતના શરીરથી તાલુપ્રદેશથી વિદ્યમાન વાળના અગ્ર ભાગના આઠમાં ભાગ બરાબર નાના એવા છિદ્રથી એક હાથ બરાબર બનેલું સ્ફટિકમણિ જેવું સ્વચ્છ એક પુતળું નીકળે છે તે પુતળુ તે સ્થળે જાય છે જ્યાં તીર્થંકર ભગવંત અગર કેવળી સ્થિત હોય, ત્યાં તેમના શરીરને સ્પર્શ કરી પોતાનું પ્રયોજન પૂરું કરીને પાછા આવી જાય છે અને પાછું તેજ સાધુના શરીરમાં પેસી જાય છે આ પ્રમાણે થવાથી તે સાધુનો સંશય-શંકા દૂર થઈ જાય છે. આ આહારક શરીર આ ચાર કારણોથી ચાર વાર ધારણ કરી શકાય છે અને પછી તે સાધુને મોક્ષ પ્રાપ્ત થઈ જાય છે આને જ આહારક લબ્ધિ પ્રકટ કરવી એમ કહે છે. જે ચાર પ્રયોજનથી આહારક શરીરનું નિર્માણ કરવામાં આવે છે તે આ પ્રકારે છે- (૧) પ્રાણીદયા (૨) તીર્થંકર ભગવાનની ઋદ્ધિનું દર્શન (૩) છદ્મસ્થનું અવગ્રહણ અર્થાત્ નવું જ્ઞાન ગ્રહણ કરવું તે અને (૪) સંશયનું નિવારણ આ ચાર પ્રયોજનથી મુનિ આહારક લબ્ધિ પ્રકટ કરીને આહારક શરીરનુ નિર્માણ કરે છે.

મુનિએ આહારક શરીરનું નિર્માણ કરીને તેને તીર્થંકર પાસે મોકલવું અને કદાચ જો ત્યાં તીર્થંકર ન મળે તો તે એક હાથ પ્રમાણ વાળા આહારક શરીરમાંથી બંધમુટ્ઠી હાથની બરાબર બીજુ આહારક શરીર નીકળે છે અને તે તીર્થંકર પાસે જાય છે. ત્યાં પોતાના મનનું સમાધાન કરી ફરી પાછું આવે છે અને એ એક હાથ પ્રમાણ પ્રથમ શરીરમાં પેસી જાય છે અને તે પ્રથમ શરીર મુનિના અસલ શરીરમા પેસી જાય છે. વળી કહ્યું પણ છે—

"પ્રાણીની દયા માટે તીર્થંકરની ઋદ્ધિનું દર્શન કરવા માટે સંશયને દૂર કરવા માટે, છદ્મસ્થના અવગ્રહણ માટે જીનેન્દ્ર ભગવાનની પાદમૂળમાં ગમન કરે છે."

આહારક શરીર શુભકર્મના આહારક કાયયોગનું કારણ હોવાથી શુભ કહેવાય છે. આ વિશુદ્ધ નિર્દોષ કર્મનું કાર્ય હોવાથી વિશુદ્ધ પણ કહેવાય છે આહારક શરીર કોઈને રુકાવટ કરતું નથી અથવા તેને રોકી પણ શકાતું નથી. આ માટે તેને અપ્રતિઘાતિ કહે છે. મુનિ જ્યારે આહારક શરીરનું નિર્માણ કરવાને પ્રારંભ કરે છે ત્યારે પ્રમાદયુકત હોય છે. આથી પ્રમત્તસંય મીને જ આહારક શરીર હોય છે. બીજા કોઈને નહીં. પ્રમત્તસંયત્તને બીજુ ઔદારિક શરીર તો હોય છે જ એ વાત લક્ષમાં રાખવી જોઈએ ॥૩૫॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિઃ—આહારક શરીરના ભેદ-પ્રભેદ નથી. તે એકજ પ્રકારનું હોય છે. પ્રમત્તસંયતને જ હોય છે અને તેના સમય અન્તર્મુહૂર્ત્ત માત્ર જ છે।

આહારકશરીર શુભ દ્રવ્યોથી અર્થાત્ પ્રશસ્ત વર્ણ ગંધ રસ સ્પર્શવાળા દ્રવ્યોથી બને છે અને શુભ પરિણામ વાળું અર્થાત્ સમચતુરસ્ર સંસ્થાનવાળું હોય છે.

આ રીતે આહારકશરીર વિશુદ્ધ પુદ્ગલોથી ઉપચિત હોવાથી નિરવદ્ય હોય છે અર્થાત્ નિરવદ્ય આહાર-પાણીથી તેનું નિર્માણ થાય છે. આહારક શરીર વિશુદ્ધ દ્રવ્યોથી બને છે એનો અર્થ એ છે કે તે સ્વચ્છ સ્ફટિકમણિના કકડાની જેમ સમસ્ત પદાર્થોના પ્રતિબિમ્બના આધારભૂત હોય છે અથવા તે પાપમય હોતું નથી-તેનાથી પ્રાણિવધ વગેરે પાપોમાં પ્રવૃત્તિ થતી નથી આથી તે નિરવદ્ય હોય છે.

આહારક શરીર ન તો હિંસા આદિ પાપકર્મોમાં કદી પ્રવૃત્ત થાય છે અથવા ન હિંસા વગેરે કરવાથી ઉત્પન્ન થાય છે આથી તે વિશુદ્ધ-અસાવદ્ય હોય છે.

આહારક શરીર અવ્યાઘાતી પણ હોય છે-અર્થાત્ ન તો તે કોઈને રોકાણ ઉત્પન્ન કરે છે અથવા ન કોઈ બીજી વસ્તુ તેમાં રુકાવટ ઉત્પન્ન કરી શકે છે. આ શરીર ચૌદપૂર્વોના ધારક મુનિને લબ્ધિના નિમિત્તથી જ પ્રાપ્ત થાય છે.

ચૌદપૂર્વધારી બે પ્રકારના હોય છે-ભિન્નાક્ષર અને અભિન્નાક્ષર. જે ચૌદપૂર્વધારીને શ્રુતજ્ઞાનનો એક એક અક્ષર અસંદિગ્ધ હોય છે અર્થાત્ જેને કોઈ પ્રકારનો સંશય નથી હોતો તે ભિન્નાક્ષર કહેવાય છે. ભિન્નાક્ષરને શ્રુતજ્ઞાન સંબન્ધી સંશય નિવૃત્ત થઈ જવાથી પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થતો નથી અભિન્નાક્ષર આહારક લબ્ધિનો પ્રયોગ કરે છે કારણકે તેને સમ્પૂર્ણ શ્રુતજ્ઞાન પ્રાપ્ત થતું નથી અને તે વીતરાગ હોતો નથી.

આ પ્રકારે ચૌદપૂર્વધારી જ આહારકલબ્ધિ પ્રાપ્ત કરીને આહારક શરીર બનાવે છે તે પ્રમત્તસંયત કહેવાય છે.

પ્રમત્તસંયત અને ચૌદપૂર્વધારક મુનિ આહારક લબ્ધિનો આશ્રય કેમ લે છે ? એનું કારણ એજ જણાય છે કે-શ્રુતજ્ઞાનના ગોચર કોઈ અત્યન્ત ગૂઢ પદાર્થમાં તેને સંશય ઉત્પન્ન થાય

છે ત્યારે તેનું સમાધાન મેળવવા માટે તેને તીર્થંકર ભગવંતના ચરણકમળોમાં જવું અનિવાર્ય બની જાય છે પરંતુ વિદેહ વગેરે દૂરવર્તી ક્ષેત્રમાં ઔદારિક શરીરથી જવું શકય હોતું નથી. આ પરિસ્થિતિમાં તે પોતાની પૂર્વ પ્રાપ્ત લબ્ધિનો ઉપયોગ કરે છે અને તેની મદદથી આહારક શરીરનું નિર્માણ કરીને તેને તીર્થંકરના ચરણારવિન્દોમાં મોકલે છે અથવા એમ કહેવું યોગ્ય લેખાશે કે તે પેલા શરીર દ્વારા સ્વયં ભગવંતના ચરણકમળોમાં હાજર થાય છે.

હવે ત્યાં પહોંચ્યા બાદ એવા સમાચાર મળેકે તીર્થંકર ભગવંત વિહાર કરીને અન્ય સ્થળે ચાલ્યા ગયા છે તો તે આહારક શરીરથી મુઠીબાંધેલા હાથ જેટલું બીજું શરીર નિકળે છે, અને આ બીજું શરીર તીર્થંકર ભગવંતની પાસે જાય છે, ત્યાં પહોંચી તુર્ત જ ભગવાનના દર્શન કરીને, તેમને નમસ્કાર કરીને અને પ્રશ્ન પૂછી સંશય રહિત થઈ જાય છે. સંશય ટળી જતાં તે પાછું ફરે છે. બીજુ આહારક શરીર પ્રથમ આહારકશરીરમાં વિલીન થઈ જાય છે અને પ્રથમ આહારક શરીર મૂળ શરીરમાં સમાઈ જાય છે. આવી રીતે પોતાંના પ્રયોજનને પ્રાપ્ત કરીને તે મુનિરાજ હતા તેવા થઈ જાય છે.

કોઈ કઠણ અને અત્યન્ત સૂક્ષ્મ અર્થમાં શંકા ઉપસ્થિત થવાથી તેનો નિર્ણય કરવા માટે દૂર દેશવર્તી અર્હન્ત ભગવંતના ચરણકમળમાં ઔદારિક શરીરથી જવાનું અસંભવિત સમજીને લબ્ધિ નિમિત્તક શરીરને ઉત્પન્ન કરે છે. ભગવાનથી પ્રશ્નોત્તરી થયા બાદ સંશય રહિત થઈ પાછા આવી તે શરીરનો ત્યાગ કરી દે છે. આ બધું એક અન્તર્મુહૂર્તમાં જ થઈ જાય છે. ભાષ્યનું આ કથન પણ આનાથી સંગત થાય છે. પ્રજ્ઞાપનાના ૨૧માં શરીરપદમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! આહારકશરીરનું સંસ્થાન કેવું હોય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! સમચોરસ સસ્થાન હોય છે

આ રીતે ભાવાર્થ એ થયો કે જે શરીર કોઈ વિશિષ્ટ પ્રયોજનની સિદ્ધિ માટે ઉત્પન્ન કરવામાં આવે છે અને તે પ્રયોજનની પ્રાપ્તી થઈ જવા પર–ઉછીના લીધેલા દાગીનાની જેમ ત્યાગ કરવામાં આવે છે તે આહારક શરીર છે. સંશયનું નિવારણ કરવું, નવું જ્ઞાન સંપાદન કરવુ, ઋદ્ધિદર્શન વગેરે તેના પ્રયોજનો છે આ શરીર માત્ર અન્તર્મુહૂર્ત્ત સુધી જ રહે છે. અન્તર્મુહૂર્ત સમયમાં જ ઇચ્છિત પ્રયોજનની સિદ્ધિ થઈ જાય છે. પ્રયોજન સિદ્ધિ થઈ જવા પર આહારક શરીરનો ત્યાગ કરવામાં આવે છે. **"ત્યારબાદ તે મુનિ તે લબ્ધિનો પ્રયોગ કરતા નથી."**

આહારકશરીરથી જે પ્રયોજનની સિદ્ધિ થાય છે તેને ઔદારિક વગેરે અન્ય કોઈપણ શરીર સિદ્ધ કરી શકતાં નથી. અન્ય શરીર નિયમથી અન્તર્મુહૂર્ત માત્રની સ્થિતિવાળાં જ હોય એવો કોઈ નિયમ નથી.

તૈજસ શરીર તેજના વિકાર રૂપ તેજોમય, તેજ. સ્વભાવ હોય છે. તેનુ પ્રયોજન શાપ અને અનુગ્રહ કરવાનું છે. અત્રે તેનો અધિકાર નથી. તેજનું લક્ષણ ઉષ્ણતા છે. તે સમસ્ત

શરીરોમાં અનાજને પચાવનાર, જઠરાગ્નિના રૂપે પ્રસિદ્ધ છે. આ તૈજસ શરીર આહારકથી જુદું છે.

કાર્મણ શરીર કર્મનો વિકાર જ્ઞાનાવરણીય વગેરે કર્મોની વિકૃત્તિ કર્મમય અગર કર્માત્મક હોય છે જ્યારે ઔદારિક વગેરે શરીર આ પ્રકારનાં હોતા નથી જેવી રીતે ઉદારતા—સ્થૂલતા—ઔદારિક શરીરનું લક્ષણ છે તેવી જ રીતે આ પાંચે શરીરનાં લક્ષણ જુદાં જુદાં છે અને જુદાં જુદાં લક્ષણો હોવાથી એમનામાં ભિન્નતા હોય છે. જેમ ઘટ અને પટમાં ભિન્નતા હોય છે તેમ. હા ઉકતવ્યુત્પત્તિના ભેદથી જ ઔદારિક વગેરે શરીરોમાં ભેદ નથી જો કે નિચે લખેલાં કારણોથી પણ તેમનામાં ભેદ સિદ્ધ થાય છે.

સર્વપ્રથમ ઔદારિક વગેરે શરીરોનાં કારણ ભિન્ન—ભિન્ન છે ઔદારિક શરીર સ્થૂલ પુદ્ગલોથી બને છે, વૈક્રિય વગેરે શરીરો એ મુજબના નથી, તેઓ ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ હોય છે કારણકે તેમનું નિર્માણ તે પુદ્ગલોથી થાય છે તે ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ હોય છે.

વિષય અર્થાત્ ગતિક્ષેત્રની અપેક્ષાથી પણ શરીરોમાં ભેદ હોય છે. વિદ્યાધરોના ઔદારિક શરીર નન્દીશ્વરદ્વીપ સુધી જ જઈ શકે છે. જંઘાચરણ મુનિ તિર્છા સમકપર્વત સુધી અને ઉપર પાન્ડુકવન સુધી જઈ શકે છે. વૈક્રિય શરીરનો વિષય અસંખ્યાત દ્વીપ—સમુદ્ર છે. અર્થાત્ વૈક્રિય શરીર ધારી અસંખ્યાત દ્વીપ—સમુદ્રો સુધી જઈ શકે છે. આહારક શરીર મહાવિદેહ ક્ષેત્ર સુધી જઈ શકે છે અને તૈજસ તથા કાર્મણ શરીરનો વિષય સમ્પૂર્ણ લોક છે. સ્વામીની અપેક્ષાથી પણ શરીરોમાં ભેદ છે. તે આ રીતે ઔદારિક શરીર મનુષ્યો અને તિર્યંચોને, વૈક્રિય દેવો અને નારકોને અને કોઈ કોઈ મનુષ્ય તથા તિર્યંચને પણ હોઈ શકે છે. આહારક ચૌદપૂર્વધારી મુનિઓને જ હોય છે. તૈજસ અને કાર્મણ બધાં સંસારીજીવોને હોય છે.

પ્રયોજનની અપેક્ષાથી પણ શરીરોમાં ભેદ છે—ધર્મ, અધર્મ, સુખ, દુઃખ તથા કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ વગેરે ઔદારિક શરીરનું પ્રયોજન છે. સ્થૂલતા, સૂક્ષ્મતા, એકતા, અનેકતા, આકાશગમન પૃથ્વીગમન વગેરે અનેક વિભૂતિઓની પ્રાપ્તિ વૈક્રિય શરીરનું પ્રયોજન કરે છે. સૂક્ષ્મ, ગહન, દુર્જ્ઞેય અર્થના વિષયકર્મ સમાધાન પ્રાપ્ત કરવું તે આહારક શરીરનું પ્રયોજન છે આહારને પચાવવો વગેરે તૈજસ શરીરનું પ્રયોજન છે અને ભવાન્તરમાં ગતિ થવી તે કાર્મણ શરીરનું પ્રયોજન છે.

પ્રમાણની અપેક્ષાએ પણ શરીરમાં ભેદ છે-ઔદારિક શરીરનું પ્રમાણ થોડું વધારે એક હજાર યોજન, વૈક્રિયનું એક લાખ યોજન આહારનું એક હાથ અને તૈજસ તથા કાર્મણ લોકની બરાબર છે.

પ્રદેશોની સંખ્યાની અપેક્ષા એ-ઔદારિકથી વૈક્રિય અને વૈક્રિયથી આહારક શરીરના પ્રદેશ અસંખ્યાત ગણા છે. આહારકથી તૈજસ અને તૈજસથી કાર્મણ શરીરના પ્રદેશ અનંતગણા છે.

અવગાહનાથી—કિંચિત્ અધિક એક હજાર અધિક યોજન પ્રમાણવાળું ઔદારિક શરીર લોકના અસંખ્યાતમાં ભાગમાં અવગાઢ થાય છે. એક લાખ યોજન પ્રમાણવાળું વૈક્રિય શરીર તેની અપેક્ષા અધિક પ્રદેશમાં અવગાઢ થાય છે—આહારક શરીર આ બંનેથી ઓછા પ્રદેશોમાં અવગાઢ થાય છે કારણકે તેનુ પ્રમાણ એક હાથનું જ હોય છે. તૈજસ અને કાર્મણ શરીર લોક

પર્યંત લાંબી આકાશ શ્રેણીમાં અવગાહન કરે છે–સ્થિતિની દૃષ્ટિથી પણ શરીરોમાં ભેદ છે. ઔદારિક શરીરની સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્ત અને ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમની છે. વૈક્રિય શરીર તેત્રીસ સાગરોપમ સુધી રહે છે. આહારકની સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્ત માત્રની છે. તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પ્રવાહની અપેક્ષા અનાદિ અને અભવ્યની અપેક્ષા અનન્ત તથા ભવ્યની અપેક્ષા સાંત હોય છે.

અલ્પબહુત્વની અપેક્ષાથી પણ ભેદ છે– આહારક શરીર સહુથી ઓછાં છે કદાચિત્ હોય છે, અને કદાચિત્ નથી પણ હોતાં તેમનું અન્તર જઘન્ય એક સમયનું અને ઉત્કૃષ્ટ બેમાસનું છે. આહારક શરીર જો હોય તો જઘન્ય એક હોય અને વધારેમાં વધારે એક સાથે નવ હજાર સુધી હોઈ શકે છે–આહારકની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર અસંખ્યાતા છે–અસંખ્યાતા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોની સમય રાશિની બરાબર છે અને બધાં નારક તથા દેવને વૈક્રિય શરીર જ હોય છે. વૈક્રિયની અપેક્ષા ઔદારિક શરીર અસંખ્યાત અસંખ્યાતા ઉત્સર્પિણી–અવસર્પિણી કાળોની સમય રાશિ બરાબર છે.

શંકા—તિર્યંચ અનન્ત છે, એવી સ્થિતિમાં તેમના શરીર અસંખ્યાત જ કેમ કહેવામાં આવ્યા ?

સમાધાન—પ્રત્યેક શરીરી તિર્યંચોને અસંખ્યાત શરીર હોય છે. જો કે સાધારણ નિગોદકાયના તિર્યંચ અનન્ત સંખ્યક છે, પરંતુ તેમના જુદાં જુદાં શરીર હોતા નથી પરંતુ અનન્ત સાધારણ જીવોને એક શરીર જ હોય છે. આથી જીવ અનન્ત હોવાં છતાં પણ તેમના શરીર અસંખ્યાતા જ હોય છે, અનન્ત નહીં.

ઔદારિક શરીરની અપેક્ષા તૈજસ અને કાર્મણ શરીર અનન્તગણા છે. કારણકે એ બંને શરીર સમસ્ત સંસારીજીવોને હોય છે અને બધાને અલગ અલગ હોય છે ઔદારિક શરીરની જેમ અનન્ત જીવોને એક જ તૈજસ અથવા કાર્મણ શરીર હોતું નથી.

આ રીતે ઔદારિક વગેરે શરીરોમાં ઉકત નવ આધારોથી ભેદ હોય છે.

અહીં સમજી લેવું જોઈએ કે–વિગ્રહ ગતિ સમછે માત્ર તૈજસ અને કાર્મણ બે શરીર હોય છે, ભવસ્થ દશામાં તૈજસ, કાર્મણ અને ઔદારિક એ ત્રણ અથવા તૈજસ કાર્મણ અને વૈક્રિય હોય છે. તિર્યંચો અને મનુષ્યોને તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક શરીર સાથે જ્યારે લબ્ધિનિમિત્તક વૈક્રિય શરીર પણ પ્રાપ્ત થાય છે તો એકી સાથે ચાર શરીર પણ હોઈ શકે છે. ચૌદપૂર્વધારિ મુનિને આહારકલબ્ધિ પ્રાપ્ત હોય અને તે આહારક શરીર બનાવે ત્યારે તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક શરીરની સાથે આહારકશરીરના હોવાથી પણ ચાર શરીર હોઈ શકે છે.

જ્યારે એક જીવમાં ચાર શરીર એકી સાથે હોય છે તો જીવના પ્રત્યેક પ્રદેશની સાથે ચારે શરીરનો સંબંધ હોય છે. આ પ્રકારે લબ્ધિરહિત સંસારી જીવને ત્રણ શરીર હોય છે- તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક અગર તે જો દેવ અગર નારક હોય તો ઔદારિકની જગ્યાએ વૈક્રિય શરીર હોય છે. વૈક્રિય લબ્ધિથી રહિત અને આહારક લબ્ધિથી યુકત ચૌદ પૂર્વધારી મનુષ્યને તૈજસ, કાર્મણ ઔદારિક તથા આહારક એ ચાર શરીર હોય છે. જો એક મનુષ્ય અથવા તિર્યંચને વૈક્રિય લબ્ધિ પ્રાપ્ત હોય તો તેના તૈજસ, કાર્મણ ઔદારિક તથા વૈક્રિય એ ચાર

શરીર એકી સાથે મળી આવે છે. આ રીતે વધુમાં વધુ એક જીવમાં ચાર શરીરનો સંભવ છે, પાંચનો નહીં કારણકે જ્યારે વૈક્રિય શરીર હોય છે તો આહારક શરીર ન હોય અને આહારક હોય તો વૈક્રિય શરીર હોતું નથી એનું પણ કારણ એ છે કે એકી સાથે આ બંને લબ્ધિઓ હોતી નથી. ॥૩૫॥

'कम्मए सव्वेसिं' ॥सू० ३६॥

મૂળસૂત્રાર્થ—કાર્મણ શરીર બધાં શરીરોનું કારણ છે ॥૩૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલાં આહારક શરીરનું નિરૂપણ કર્યું હવે છેલ્લા કાર્મણ શરીરનું નિરૂપણ કરીને છીએ.

કર્મ દ્વારા નિર્મિત અથવા કર્મનું કાર્ય કાર્મણ શરીર, ઔદારિક વગેરે બધાં શરીરોનું કારણ છે.

જીવ જ્યારે એક શરીરનો ત્યાગ કરીને બીજા શરીરને પ્રાપ્ત કરવા માટે ગમન કરે છે યાનિ વિગ્રહ ગતિમાં હોય છે તે સમયે કાર્મણ શરીર દ્વારા જ તેનો યોગ અર્થાત્ પ્રયત્ન હોય છે. કાર્મણ શરીર દ્વારા થનારા પ્રયત્નથી જ તે બીજી ગતિમાં જાય છે.

આ રીતે કાર્મણ શરીર અન્ય બધાં શરીરોને ઉત્પન્ન કરનાર બીજ સમાન છે. તે જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મો સિવાય તેનું બીજું કોઈ કારણ નથી હકીકતમાં કાર્મણ શરીર કર્મ સ્વરૂપ જ છે. આ શરીર સમસ્ત સંસારી જીવોને પ્રાપ્ત થાય છે. યોગનો અર્થ છે–વચન, મન, કાયાના નિમિત્તથી આત્માના પ્રદેશોમાં થનારું હલનચલન ॥૩૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિઃ—કાર્મણ શરીર ઔદારિક વગેરે બધાં શરીરોનું કારણ છે. જેમ ચિત્રકાર્યનો આધાર દિવાલ હોય છે તેમ આ કર્મ સકળ શકિતનો આધાર છે ભવપરંપરાનાં કારણભૂત આ કર્મનો જ્યારે સમૂળગો ઉચ્છેદ થઈ જાય છે જ્યારે બધાં પાપો ધોવાઈ જાય છે અને જીવ પછી કોઈપણ શરીરને ધારણ કરતો નથી આ કાર્મણ શરીર જ્ઞાનાવરણીય કર્મોથી ઉત્પન્ન થાય છે એનું બીજું કોઈ કારણ નથી

જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મ કાર્મણ શરીર રૂપ હોવાથી કાર્મણ શરીરનાં કારણ છે. તેમનામાં સૂર્યનાં પ્રકાશની જેમ અંદરોઅંદર ક્રિયાનો વિરોધ નથી. જેમ સૂર્ય પોતાનાં મંડળને પણ પ્રકાશિત કરે છે અને ઘટ પટ વગેરે બીજા પદાર્થોને પણ પ્રકાશિત કરે છે–સૂર્યમંડળને પ્રકાશિત કરવા માટે કોઈ અન્ય પ્રકાશની જરૂર પડતી નથી. જો સૂર્યમંડળને પ્રકાશિત કરવા માટે બીજા પ્રકાશની આવશ્યકતા સ્વીકારીએ તો અનવસ્થાદોષનો પ્રસંગ આવે છે. આમ માનીએ તો કયાંય પણ વિરામ જ રહે નહિ.

આ રીતે જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોથી ભિન્ન કાર્મણ શરીરનું કોઈ કારણ નથી. કાર્મણ શરીર કર્મસ્વરૂપ જ છે, કર્મસમુદાયરૂપ જ છે. ॥૩૬॥

'वेए तिविहे' ॥सू० ३७॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વેદ ત્રણ પ્રકારનાં છે ॥૩૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ ઔદારિક વગેરે પાંચ શરીરોની પ્રરૂપણા કરી હવે એ કહીએ છીએ કે તે શરીરોને ધારણ કરનારા જીવો પૈકી કોઈ સ્ત્રીવેદવાળું. તો કોઈ પુરુષવેદવાળું હોય છે. પહેલા વેદના ભેદ બતાવવામાં આવે છે.

એક પ્રકારની વેદનાને વેદ કરે છે. વેદ એક પ્રકારની અભિલાષા છે અને લિંગને પણ વેદ કહે છે.

વેદનાં ત્રણ ભેદ છે—પુંવેદ, સ્ત્રીવેદ નપુંસકવેદ, લિંગ બે પ્રકારનાં છે. દ્રવ્યલિંગ અને ભાવલિંગ, યોનિનામ કર્મ અને લિંગનામકર્મનાં ઉદયથી દ્રવ્યલિંગ ઉત્પન્ન થાય છે. ભાવ-લિંગની ઉત્પત્તિ કષાય મોહનીય કર્મનાં ઉદયથી થાય છે.

પુંવેદનાં ઉદયથી પુરુષ થાય છે. સંસ્કૃત ભાષા અનુસાર આ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ "છે. "સૂતે અપત્યમ્-ઈતિ પુમાન્" અર્થાત્ જે સંતાનને ઉત્પન્ન કરે (૨) સ્ત્રીવેદનાં ઉદયથી જેમાં ગર્ભ બંધાય છે તેને સ્ત્રી કહે છે (૩) નપુંસકવેદનાં ઉદયથી જે જીવ પૂર્વોકત બંને શકિતઓથી રહિત હોય છે અર્થાત્ ન સંતાન ઉત્પન્ન કરી શકે અથવા ન ગર્ભ ધારણ કરી શકે તે નપુંસક કહેવાય છે.

આ રીતે હાસ્ય રતિ અરતિ વગેરે નવ પ્રકારનાં નોકષાય વેદનીયનાં ભેદોમાં એક જે વેદ છે તેનાં ત્રણ પ્રકાર છે. (૧) પુરુષવેદ (૨) સ્ત્રીવેદ અને (૩) નપુંસક વેદ,

પુરુષવેદનાં ઉદયથી સ્ત્રીની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે. જેમ કફનાં પ્રકોપવાળા પુરુષને કેરી ખાવાની ઈચ્છા થાય છે તેમ આ જ રીતે **સંકલ્પની વિષયભૂત સ્ત્રીઓમાં પણ અભિલાષા** સમજી લેવાની છે. આજ સ્ત્રીવેદનાં ઉદયથી પુરુષો પ્રત્યે અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે. સંકલ્પજનિત પુરુષો પ્રત્યે પણ આ જ કારણે અભિલાષા થાય છે. નપુંસકવેદના ઉદયથી કોઈને પુરુષ અને સ્ત્રી-બંનેની અર્થાત્ બંનેની સાથે ક્રીડા કરવાની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે. જેમ બે ધાતુઓના ઘર્ષણથી માર્જિત આદિ દ્રવ્યોની અભિલાષા થાય છે. કોઈ-કોઈને માત્ર પુરુષોની સાથે કામક્રીડા કરવાની ઈચ્છા થાય છે ॥૩૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—હાસ્ય રતિ અરતિ, શોક, ભય, જુગુપ્સા, સ્ત્રીવેદ પુરુષવેદ, અને નપુંસક વેદ; આ નોકષાયવેદનીય કર્મના નવ ભેદ છે. આ નવભેદોમાં ત્રણ વેદોની ગણના કરવામાં આવી છે. એક વિશેષ પ્રકારની વેદના અથવા અભિલાષાને વેદ કહે છે. આશય આ છે. મોહનીય કર્મ બે પ્રકારના છે-દર્શનમોહનીય. અને ચારિત્રમોહનીય (૨) દર્શનમોહનીયના ત્રણ ભેદ છે. (૧) મિથ્યાત્વમોહનીય સમ્યકૃત્વમોહનીય અને (૩) સમ્યગ્મિથ્યાત્વમોહનીય મિશ્રમોહનીય. ચારિત્રમોહનીય કર્મના બે ભેદ છે-કષાય મોહનીય અને નો કષાય મોહનીય. આમાથી કષાયમોહનીયના ૧૬ ભેદ છે-ક્રોધ માન માયા અને લોભ, આ માટેનાં અનન્તાનુબંધી, અપ્રત્યાખ્યાન અને સંજવલનના ભેદથી ચાર ચાર ભેદ હોવાથી સોળ ભેદ થઈ જાય છે.

નો કષાય મોહનીયના નવ ભેદ છે-હાસ્યાદિ પૂર્વોકત ત્રણ વેદોની ગણત્રી આની જ અન્ત-ર્ગત છે. આ પૈકી પુરુષ વેદમોહકર્મના ઉદયથી સ્ત્રીની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે. જેમ કફનો પ્રકોપ થનારને આમ્રફળ ખાવાની ઈચ્છા થાય છે. તેમ આવી જ રીતે સ્ત્રી વિષયક સંકલ્પ જનિત સ્ત્રીઓની તરફ પણ અભિલાષા જન્મે છે જ્યારે સ્ત્રીવેદનો ઉદય થાય છે. તે પુરુષ તરફ આકર્ષણ ઉત્પન્ન થાય છે. સાથે જ સંકલ્પજનિત પુરુષોની પણ અભિલાષા થાય છે.

નપુંસકવેદનો ઉદય થવાથી કોઈ કોઈને સ્ત્રી અને પુરુષ, બંનેની ઈચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે જેવીરીતે છે વાતાદિ બે ધાતુઓના ઘર્ષણથી માર્જિત દ્રવ્યની ઈચ્છા થાય છે. કોઈ કોઈને પુરુષો પ્રત્યે જ ઈચ્છા જાગ્રત થાય છે સંકલ્પજનિત વિષઓમાં પણ અનેક પ્રકારની અભિલાષા થાય છે. સમવાયાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે.—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! વેદ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ, ! ત્રણ પ્રકારનાં–સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુંસકવેદ ॥ ૩૭ ॥

'देवे दुवेए इत्थिवेए पुरिसवेएय'

મૂળસૂત્રાર્થ—દેવો બે વેદવાળા જ હોય છે-સ્ત્રીવેદવાળા અને પુરુષવેદવાળા ॥ ૩૮ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ વેદના ત્રણ ભેદ કહ્યાં હવેના ત્રણ સૂત્રોમાં એ બતાવીશું કે દેવ, નારક, તિર્યંચ, મનુષ્ય, ગર્ભજ, સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ઔપપાતિક જીવોમાં કોના કેટલા વેદ હોય છે? સર્વપ્રથમ દેવોના વેદનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારોનાં દેવોમાં બે જ વેદ હોય છે–સ્ત્રીવેદ અને પુરુષવેદ. તાત્પર્ય એ છે કે ચારે નિકાયોના દેવ નપુંસકવેદી હોતા નથી, માત્ર સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી જ હોય છે. ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક તથા સૌધર્મ અને ઈશાન વિમાનના વૈમાનિકોમાં બંને વેદવાળાની ઉત્પત્તિ થાય છે. જેવી રીતે અસુરકુમાર, અને અસુરકુમારીઓ, નાગકુમાર અને નાગકુમારીઓ વગેરે પ્રકારથી અસુરકુમારથી લઈને ઈશાન દેવલોક સુધી કોઈ–કોઈ પુરુષવેદી દેવ હોય છે અને સ્ત્રીવેદવાળી દેવીઓ હોય છે. તેમનામાં શુભગતિ નામકર્મના ઉદયથી નિરતિશય સુખવિશેષ રૂપ પુરુષ અને સ્ત્રીવેદનો અનુભવ થાય છે. સનત્કુમાર દેવલોકથી પાંચ અનુત્તર વિમાનો સુધી માત્ર પુરુષવેદવાળા જ દેવ ઉત્પન્ન થાય છે, ન સ્ત્રીવેદી અને ન નપુંસકવેદી.

દેવોમાં નપુંસકવેદ કેમ નથી હોતો ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે ચારે પ્રકારનાં દેવોમાં શુભગતિ આદિ નામ ગોત્ર વેદ્ય અને આયુષ્કથી સાપેક્ષ મોહના ઉદયથી અભિલષિતમાં પ્રીતિ ઉત્પન્ન કરનાર, માયા આર્જવથી યુક્ત, છાણાની અગ્નિ સમાન એક સ્ત્રીવેદનીય અને બીજો પુરુષવેદનીય હોય, જે પહેલા નિકાચિત રૂપમાં બંધાયેલો છે હવે ઉદયમાં આવ્યો છે. આ બંનેથી ભિન્ન નપુંસક વેદનીયનો કદાપી ઉદય થતો નથી કેમકે તેઓએ પૂર્વભવમાં નપુંસક વેદમોહનીય કર્મનો બંધ કર્યો નથી. સનત્કુમાર વગેરે દેવલોકોનાં દેવોએ પૂર્વભવમાં સ્ત્રીવેદમોહનીય કર્મનો પણ બંધ નહીં કરેલો હોવાથી ત્યાં સ્ત્રીવેદ પણ હોતો નથી. ॥ ૩૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચારે નિકાયોના દેવ બે વેદવાળા હોય છે-સ્ત્રીવેદવાળા અને પુરુષવેદવાળા આ રીતે ચારે નિકાયોના દેવ નપુંસકવેદી હોતા નથી માત્ર સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી જ હોય છે અર્થાત્ કોઈ પુરુષવેદી અને કોઈ સ્ત્રીવેદી હોય છે.

ભવનપતિ, વ્યન્તર જ્યોતિષ્ક, સૌધર્મ ઈશાન દેવલોકમાં ઉપપાતની અપેક્ષાથી બંને વેદ હોય છે. તેમનાથી આગળ પુરુષવેદ જ હોય છે. દેવોમાં નપુસકવેદ કેમ નહીં ? આ શંકાનું સમાધાન એ છે કે ચારે પ્રકારના દેવોમાં શુભગતિ વગેરે નામ ગોત્ર વેદ્ય આયુષ્કની અપેક્ષા રાખનાર મોહકર્મના ઉદયથી અભિલષિત પ્રીતિજનક, માયા આર્જવથી ઉપચિત છાણાની અગ્નિ

જેવાં સ્ત્રીવેદનીય અને ઘાસના પૂળાની અગ્નિ સમાન પુરુષવેદનીય જે અગાઉ નિકાચિત રૂપમાં બંધાયેલા હતાં, તે ઉદયને પ્રાપ્ત થાય છે. આ બંનેથી ભિન્ન નપુંસકવેદનીયનો કદાપી ઉદય થતો નથી કારણકે પૂર્વભવમાં તેનો બંધ કરવામાં આવ્યો ન હતો

અહીં નપુંસકવેદની અપેક્ષા સ્ત્રીવેદ શુભ કહેવાય છે, હકીકતમાં તે શુભ છે એમ સમજવું ન જોઈએ. સમવાયાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! શું અસુરકુમાર સ્ત્રીવેદી પુરુષવેદી અગર નપુંસકવેદી હોય છે?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી હોય છે, નપુંસક વેદી હોતા નથી. સનત્કુમારો સુધી આ પ્રમાણે જ કહેવું જોઈએ. જેવું અસુરકુમારોના સંબન્ધમાં કહે છે તેવું જ વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકોબાબતમાં પણ સમજવું જોઈએ ॥ ૩૮ ॥

'नारगे समुच्छिमेय नपुंसगवेए'

મૂળસૂત્રાર્થ—નારક અને સમ્મૂર્ચ્છિમ જીવ નપુંસકવેદી જ હોય છે ॥ ૩૯ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ચારે નિકાયોના દેવોમાં સ્ત્રીવેદ અને પુરુષવેદનું વિધાન કરવામાં આવ્યું હવે નારકી અને સમ્મૂર્ચ્છિમ જીવોમાં માત્ર નપુંસકવેદ જ હોય છે એ પ્રરૂપણા કરવા માટે કહે છે—

રત્નપ્રભા વગેરે સાતે નરકભૂમિમાં રહેનારાં નારક જીવ અને પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા સંમૂર્છિમ જીવો માત્ર નપુંસકવેદી જ હોય છે. તેમનામાં ન પુરુષવેદ હોય છે કે ન સ્ત્રીવેદ. આ રીતે બધાં નારક, પૃથ્વીકાય અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચઉરિન્દ્રિય અને કોઈ-કોઈ પંચેન્દ્રિય મનુષ્ય તથા તિર્યંચ સંમૂર્છિમ હોય છે અને તે તમામને નપુંસકવેદી જ સમજવા જોઈએ કારણકે નારકી તથા સંમૂર્છિમજીવોમાં ત્રણ વેદોમાંથી ફક્ત નપુંસકવેદ જ પૂર્વકાળમાં નિકાચીત રૂપમાં બંધાયેલા હોવાથી તેમાં જ તેમનો ઉદય થાય છે. તેઓએ પૂર્વકાળમાં પુરુષવેદમોહનીય અને સ્ત્રીવેદમોહનીય કર્મો કે જે શુભ છે, તે બાંધ્યા ન હતાં. ॥ ૩૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—સાત નરકભૂમિમાં રહેલા નારક જીવો તથા બધાં સંમૂર્છિમ જીવો અર્થાત્ પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય તથા કોઈ-કોઈ પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ તથા મનુષ્ય નપુંસક જ હોય છે. તેઓ ન તો સ્ત્રીવેદી હોય છે કે ન પુરુષવેદી કારણકે ચારિત્રમોહનીય કર્મનો ભેદ જે નોકષાયવેદનીય છે તેના હાસ્યાદિ નવ ભેદોમાંથી જે ત્રણવેદ છે તેમાંથી એક નપુંસકવેદનો જ ઉદય થાય છે. સ્ત્રીવેદ અગર પુરુષવેદનો ઉદય થતો નથી. આ કારણે બધાં નારક તથા સંમૂર્છિમ જીવ અશુભ નગરદાહની જેમ મૈથુનની અભિલાષાવાળા હોય છે.

આશય એ છે કે નારકી તથા સંમૂર્છિમ જીવોએ અનન્તર પૂર્વભવમાં નપુંસકવેદને યોગ્ય કર્મોનો આશ્રવ (આપાત) કર્યો, તે કર્મોને દૂધ અને પાણીની જેમ એક-મેક કરીને નિકાચીત બંધ-ગ્રહણ કરેલ છે વળી તે કર્મો આત્મપ્રદેશો સાથે ભળી ગયા છે-જુદાં જણાઈ આવતાં નથી. વિશેષ પ્રકારનાં અધ્યવસાયથી તે કર્મનો બધ કર્યો છે. તેજ કર્મ આ વર્તમાનભવમાં પકિપકવ થઈ ઉદયાવસ્થામાં આવ્યા છે આથી જ નારક અને સંમૂર્છિમ જીવ દુઃખની વિપુલતાવાળા હોવાથી નપુંસક જ હોય છે, તેઓ કદાપી સ્ત્રી અગર તો પુરુષ વેદવાળા હોતા નથી.

સમવયાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે-ભગવંત ! નારક જીવ શું સ્ત્રીવેદી, પુરુષવેદી અથવા નપુંસકવેદી હોય છે ? હે ગૌતમ ! તેઓ ન સ્ત્રીવેદી ન પુરુષવેદી પણ નપુંસકવેદી હોય છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, સમૂર્છિમ, પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ અને સંમૂર્છિમ પુરુષ નપુંસકવેદવાળા જ હોય છે. ॥ ૩૯ ॥

'सेसा तिवेया'

મૂળસૂત્રાર્થ—શેષ જીવ ત્રણ વેદવાળા હોય છે ॥ ૪૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું કે નારક અને સંમૂર્છિમ જીવ ફક્ત નપુંસકવેદવાળા જ હોય છે હવે તે સિવાયના અર્થાત્ નારકો અને સંમૂર્છિમ સિવાયના જે ગર્ભજ પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ અને મનુષ્ય છે તે ત્રણવેદોવાળા હોય છે આ માટે કહીએ છીએ—

શેષજીવ અર્થાત્ નારકો અને સંમૂર્છિમોથી ભિન્ન ગર્ભજન્મથી ઉત્પન્ન થનારા પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ તથા મનુષ્ય ત્રણ વેદોવાળા હોય છે. જે જીવોમાં પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ અને નપુંસકવેદ ત્રણે હોય તે ત્રણવેદવાળા કહેવાય છે. આવી રીતે ગર્ભજ પંચેન્દ્રિય તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાં કોઈ પુરુષવેદી, કોઈ સ્ત્રીવેદી અને કોઈ નપુંસકવેદી હોય છે. ॥ ૪૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—શેષ અર્થાત્ નારકો અને સમ્મૂર્છિમથી ભિન્ન ગર્ભજ મનુષ્ય અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ ત્રિવેદી અર્થાત્ ત્રણે વેદવાળા હોય છે એટલે કે તેમાં સ્ત્રીવેદવાળા પણ હોય, પુરુવેદવાળા પણ હોય છે અને કોઈ નપુંસકવેદવાળા પણ હોય છે—

આ કથનનો ફલિતાર્થ એ છે કે જરાયુજ, અન્ડજ તથા પોતજ પ્રાણી ત્રણે પ્રકારના હોય છે. સ્ત્રી. પુરુષ અને નપુસક સમવાયાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે કે-ગર્ભથી ઉત્પન્ન થનારા મનુષ્ય અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ ત્રણવેદ વાળા હોય છે. ॥ ૪૦ ॥

'आऊ दुविहे सोवक्कमे निरुवक्कमेय'

મૂળસૂત્રાર્થ—આયુષ્ય બે પ્રકારના છે. સોપક્રમ અને નિરૂપક્રમ ॥ ૪૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા નરકગતિ, દેવગતિ, તિર્યંચગતિ અને મનુષ્યગતિ રૂપ સંસારી જીવોનું કથન કર્યું હવે તેમના આયુષ્યનું નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

આયુ અર્થાત્ જીવનકાળ બે પ્રકારના છે-સોપક્રમ અને નિરૂપક્રમ. જે આયુષ્ય ઉપક્રમ અર્થાત્ ક્ષયથી યુક્ત હોય તે સોપક્રમ કહેવાય છે દીર્ઘકાળ પર્યન્ત ભોગવવા યોગ્ય આયુષ્ય અધ્યવસાન વગેરે જે કારણે અલ્પકાળમાં જ ભોગવવા યોગ્ય બની જાય છે તે કારણે ઉપક્રમ કહેવાય છે અર્થાત્ આયુષ્યના ક્ષયને નજીક લઈ આવનાર કારણ ઉપક્રમ કહેવાય છે. જે આયુષ્ય ઉપક્રમ સહિત હોય તે સોપક્રમ કહેવાય છે.

ઝેર, અગ્નિ, જળસમાધી વગેરે આત્મહત્યાના બાહ્યકારણ મળવાથી દીર્ઘાયુ પણ ઓછું થાય છે અર્થાત્ જે આયુષ્ય ધીમે-ધીમે લાંબા સમયમાં ભોગવવાનુ હતું તે અલ્પસમયમાં જ ભોગવી લેવાય છે આ પ્રકારનું આયુષ્ય અપવર્ત્ય આયુષ્ય પણ કહેવાય છે આથી ઉલ્ટું જે આયુષ્ય ઉપક્રમથી રહિત હોય તે નિરૂપક્રમ કહેવાય છે. તેમાં અધ્યવસાન વગેરે કારણ હોતાં નથી. તાત્પર્ય એ છે કે જે આયુષ્ય જે રૂપમાં બંધાયેલું હોય છે તેજ રૂપે ભોગવી શકાય—દીર્ઘ બંધાયેલું હોય તો હ્રસ્વ ન થાય તે નિરૂપક્રમ કહેવાય છે.

આવી રીતે જે ઘણા દીર્ઘકાલિક આયુષ્ય ઝેર, અગ્નિ, પાણી, ફાંસા વગેરે કારણોથી અલ્પ-કાલિક થઈ જાય છે તે સોપક્રમ-અપવર્ત્ય આયુષ્ય કહેવાય છે પરંતુ પૂર્વોક્ત કારણોથી જે દીર્ઘકાલીન આયુષ્ય અલ્પકાલીન થતું નથી તે નિરૂપક્રમ કહેવાય છે તેને અપવર્ત્ય આયુષ્ય પણ કહે છે ॥ ૪૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—નરક તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવગતિ રૂપ સંસારમાં આયુષ્યની સ્થિતિ શું વ્યવસ્થિત છે ? અથવા શું અકાળ મરણ પણ થાય છે ? આ જાતની શંકા થવાથી કહે છે–

આયુષ્ય બે પ્રકારનાં હોય છે–અપવર્તનીય અને અનપવર્ત્તનીય–અનપવર્તનીય આયુષ્યના-પણ બે પ્રકાર છે–સોપક્રમ અને નિરૂપક્રમ. જે આયુષ્ય ઉપક્રમણ અથવા ક્ષયવાળું હોય તે સોપક્રમ કહેવાય છે. લાંબા સમય સુધી ભોગ્ય આયુષ્ય જે કારણ વિશેષથી–અધ્યવસાન વગેરે નિમિત્તથી અલ્પકાલીન થઈ જાય છે તે કારણ ઉપક્રમ કહેવાય છે, તેને સ્વલ્પકરણ અથવા પ્રત્યાસન્નીકરણ પણ કહી શકાય કારણકે તેનાથી આયુષ્ય સ્વલ્પ થાય છે અથવા તેનો અંત નજીકમાં આવી જાય છે. જે આયુષ્ય આ પ્રકારના ઉપક્રમથી સહિત હોય તેને સોપક્રમ આયુષ્ય કહે છે.

જે આયુષ્યમાં ઝેર, અગ્નિ જળસમાધિ વગેરે ઉપક્રમ લાગુ ન થઈ શકે તે નિરૂપક્રમ કહે-વાય છે ત્યાં અધ્યવસાન વગેરે કારણ હોતા નથી.

શંકા––જેવી રીતે દીર્ઘકાળની સ્થિતિવાળું આયુષ્ય કારણ મળવાથી અલ્પકાલીન થઈ જાય છે તેવી જ રીતે શું અલ્પકાલીન આયુષ્ય રસાયણ વગેરેના સેવનથી વૃદ્ધિ પ્રાપ્ત કરી દીર્ઘકા. લીન પણ થાય છે. ?

સમાધાન -જે આયુષ્ય દીર્ઘકાલીન રૂપે બંધાયેલું નથી એવા અલ્પ આયુષ્યની વૃદ્ધિ થવી શકય નથી. હકીકત એ છે કે પૂર્વજન્મમાં જે આયુષ્ય જેટલું બંધાયું હોય આગલા જન્મમાં તે બધુ ભોગવવુ જ પડશે તેમાં કોઈ ઘટાડો અગર તો વધારો થતો નથી. માત્ર ઝેર, શસ્ત્ર વગેરે કારણ ઉપસ્થિત થવાથી દીર્ઘકાળ સુધી ભોગવાનારા આયુષ્ય અલ્પસમયમાં જ ઝટ–ઝટ ભોગવી લેવાય છે, દાખલા તરીકે એક મહીનામાં પાકનારા, ઝાડમાં લાગેલા ફળને તોડીને જો પાકમાં નાખવામાં આવે તો તે બે કે ત્રણ દિવસમાં પાકી જાય છે અને એક માસમાં થનારા ફળની પરિપકવતાની વિભિન્ન અવસ્થાઓ પાકમાં દબાયેલા ફળમાં પણ હોય છે પરંતુ તે જલ્દી-જલ્દી થઈ જાય છે. એવી જ રીતે જીવે આયુષ્યકર્મના જેટલા પ્રદેશોના બન્ધન કર્યા છે તે તમામ તો ઉદયમાં આવ્યા વગર નાશ પામી શકતા નથી, પછી ભલે સોપક્રમ આયુષ્ય હોય કે નિરૂપક્રમ, સંપૂર્ણ આયુષ્ય ભોગવવું જ પડે છે. ફરક માત્ર એટલો જ છે કે ઝેર, અગ્નિ વગેરે ઉપક્રમ મળવાથી દીર્ઘકાળમાં જે આયુષ્ય ભોગવવાનું હતું, તે જલ્દી ઉદયમાં આવી જાય છે અને ભોગવી લેવાય છે. આવી સ્થિતિમાં આયુષ્યની વૃદ્ધિ કઈ રીતે થઈ શકે ?

અમૃત––રસાયણનું સેવન કરવાથી પણ બાંધેલું આયુષ્ય વધતુ નથી લાંબા પથરાયેલા વસ્ત્રને સંકેલીને થોડી જગ્યામાં સમાવી શકાય છે પરંતુ વધુ લાંબુ કરી શકતું નથી એવી જ રીતે જે આયુષ્યના દલિક થોડા બંધાયા હોય તેને લાંબા કરવાનું શકય નથી. જે અયુષ્ય અપ-

વર્ત્તનીય હોય છે તે નિયમથી સોપક્રમ હોય છે. આથી સિદ્ધ થયું કે અપવર્તનીય આયુષ્ય સર્વદા - સોપક્રમ જ હોય છે કારણકે અધ્યવસાન વગેરે નિમિત્ત સિવાય અપવર્ત્તનીય થઈ શકતું નથી

આ રીતે આયુષ્યની અપવર્ત્તના જ લોકમાં અકાલમરણના રૂપમાં પ્રસિદ્ધ છે. હકીકતમાં કોઈ પણ પ્રાણી અધુરું આયુષ્ય ભોગવીને મરતું નથી.

સાર એ છે–ભોગવવા યોગ્ય આયુષ્યના ત્રણ ભાગોમાંથી બે ભાગ જ્યારે વ્યતીત થઈ જાય છે અને ત્રીજો ભાગ બાકી રહે છે ત્યારે પરભવનું આયુષ્ય બંધાય છે. કદાચિત તે સમયે ન બંધાયું હોય તો નવમો ભાગ શેષ રહેવા પર બંધાય છે અને જો તે સમયે પણ ન બધાય તો ભોગવનાર આયુષ્ય અન્તર્મુહૂર્ત શેષ રહે ત્યારે તો ચોકકસ બંધાય જ છે. અન્ય સાત કર્મોની જેમ આયુષ્યનું નિરન્તર બંધન થતું નથી જીવનમાં એકજ વાર આયુષ્યકર્મ બંધાય છે. પૃથ્વીકાય, અપ્કાય તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રિય અને નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ અને મનુષ્ય નિયમથી વર્ત્તમાન આયુષ્યનો ત્રીજો ભાગ શેષ રહેવા પર નવીન આયુષ્યનો બંધ કરે છે. સોપક્રમ આયુષ્યવાળા પંચેન્દ્રિયો માટે એવો નિયમ નથી. તેઓ ત્રીજા ભાગમાં, નવમાં ભાગમાં અગર ૨૭માં ભાગમાં આગામી ભવનું આયુષ્ય બાંધે છે. જીવ જ્યારે આયુષ્ય બાંધે છે તો અધ્યયસાયની વિશેષતાથી કોઈ અપવર્ત્તના યોગ્ય આયુષ્ય બાંધે છે અને કોઈ અનપવર્ત્તનીય આયુ બાંધે છે. તીવ્ર પરિણામ દ્વારા જે ગાઢ આયુષ્ય બાંધે છે તે અપવર્તનીય હોય છે.

અપવર્ત્તનીયનો અર્થ છે–પૂર્વજન્મમાં બાંધેલા. આયુષ્યની સ્થિતિનું અધ્યવસાન વગેરે કારણોમાંથી કોઈ કારણ દ્વારા અલ્પ થઈ જવું અને આયુષ્યના અનપવર્ત્તનનો અર્થ એ થાય કે જેટલા સમયનું આયુષ્ય બાંધવું હોય તેટલાં જ સમયમાં ભોગવવા યોગ્ય હોવું તે આ આયુષ્ય તેની સમય મર્યાદા અનુસાર જ ભોગવાય છે, હ્રાસને, પ્રાપ્ત થતું નથી. જેમ કોઈ પ્રકારનું વિઘ્ન નડે નહી તો તેલ અને વાટનો ક્ષય થવાથી દીવાનું ઓલવાઈ જવું આ આયુષ્ય પ્રબલતર વીર્ય–પરાક્રમથી બાંધવામાં આવતું હોવાથી અપવર્તનીય હોતું નથી.

આ રીતે ગાઢ બંધનના કારણે–નિકાચિત રૂપે બંધાયેલું હોવાથી આયુષ્ય અનપવર્ત્તનીય હોય છે. અથવા એક નાડિકા દ્વારા પરિગૃહીત આયુષ્ય સમુદાયરૂપ હોવાથી એકત્રિત થયેલા પુરુષોનાં સમુદાય જેવું અથવા એક નાડિકાના વિવરમાં નાખેલા બીજથી ઉત્પન્ન ધાન્ય સમૂહની જેમ અભેદ્ય હોય છે પરંતુ છિદ્રથી બહાર પડેલા બીજથી ઉત્પન્ન ધાન્ય સઘન ન હોવાથી તે ગાય ભેંસ વગેરે પશુઓ માટે ઉપયોગમાં લેવાય છે.

આ રીતે આયુષ્યનો બંધ કરતો થકો આ જીવ અનેક આત્મલબ્ધ પરિણામ સ્વભાવ હોવાથી શરીર વ્યાપી હોવાથી નાડિકામાર્ગ પરિમાણવાળો હોય છે. ત્યારબાદ તે અવસ્થાને પ્રાપ્ત કરીને જીવ જે આયુષ્યના પુદ્ગળોને બાંધે છે તે આયુષ્ય પુદ્ગળ નાડિકા પ્રવિષ્ટ હોવાથી સંહતિ (સઘન) રૂપે હોય છે આથી ઝેર, શસ્ત્ર, અગ્નિ વગેરે માટે અભેદ્ય હોય છે. મન્દ તીવ્ર પરિણામ હોવાથી તે જીવ તે આયુષ્યને જન્માંતરમાં જ બાંધે છે, આ જન્મની વ્યાધિની જેમ.

જરાક ધાતુ વિષમતાના કારણભૂત અપથ્ય સેવનથી ઉત્પન્ન થયેલો રોગ બેદરકારીથી કાલાન્તરમાં ઘણો વધી જાય છે અને શરીરનો સમૂળગો નાશ કરી નાખે છે તથા નિષ્ણાત વૈદ્ય દ્વારા ઉપદિષ્ટ રોગ–નિરોધી ક્રિયા કલાપના સેવનથી તે વ્યાધિ એકદમ નાશ પામે છે. આજ પ્રમાણે જે આયુષ્ય મંદ પરિણામ–પ્રયત્નના કારણે પાછલા ભવમાં ગાઢ રીતે બંધાયું ન હતું, તે અપવર્ત્તનાને યોગ્ય હોય છે.

આથી ઉલ્ટુ જે વ્યાધિ અત્યંત તીવ્ર ધાતુક્ષોભને આશ્રિત કરીને અપથ્ય સેવન વગેરેથી ઉત્પન્ન થયો છે અને કોઢ અથવા ક્ષયના જેવા દીર્ઘકાલીન રોગ થઈ જવાથી શરીરના બધા અંગોપાંગોમાં પ્રસરી ગયા છે તેની ચિકિત્સા થવી ઘણી મુશ્કેલ છે વિવિધ પ્રકારના ઔષધોનું સેવન કરવા છતાં પણ તે ઉત્તરોત્તર વધતાં જાય છે અને રોગીને અકાલે જ ઝડપી લે છે. વધુમાં વધુ પ્રયત્ન કરીને ધન્વન્તરિ પણ તે રોગનો નાશ કરી શકતો નથી. આ રીતે જે આયુષ્ય તીવ્ર પરિણામ—પ્રયોગથી પ્રગાઢ રૂપમાં બાંધેલું હોય છે તેનું અપવર્ત્તન થઈ શકતું નથી તે જલ્દીથી સમાપ્ત થઈ શકતું નથી તે અપવર્તનીય આયુષ્ય કહેવાય. છે

આયુષ્યના યથાકાળ અને અકાળમાં સમાપ્ત થવાથી અનેક દ્રષ્ટાંત વિદ્યમાન છે. સબળ હોવાથી શ્રોતાની પ્રતીતિ ઉત્પન્ન થાય છે. આથી આયુષ્ય બંને પ્રકારના છે અપવર્ત્તનીય અને અનપવર્ત્તનીય.

કયા જીવ અપવર્ત્તનીય આયુષ્ય વાળા હોય છે અને કયા અનપવર્ત્તનીય આયુષ્ય વાળા હોય છે ? આ પ્રકારની જિજ્ઞાસા થવાથી કહીએ છીએ.

ઉપપાત જન્મવાળા નારક અને દેવ ચરમ શરીરી મનુષ્ય (જે તેજ શરીરથી સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરવા વાળા છે) ઉત્તમ પુરુષ અર્થાત્ તીર્થંકર, ચક્રવર્તી, બળદેવ, વાસુદેવ, અને અસંખ્યાત વર્ષની આયુષ્યવાળા મનુષ્ય તથા તિર્યંચ નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા હોય છે

જે તેજ શરીરથી સમસ્ત કર્મ–જાળને નષ્ટ કરીને સમસ્ત કર્મક્ષય રૂપ સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરે છે તે ચરમ શરીરિ મનુષ્ય જ હોય છે. નારક તિર્યંચ અગરદેવ નહીં કારણ કે તેઓ સિદ્ધિને યોગ્ય હોતા નથી

જેમને તીર્થંકર નામ કર્મનો ઉદય થઈ ચુકયો છે તેઓ તીર્થંકર કહેવાય છે. નવ નિધિ અને ચૌદ રત્નોના અધિપતિ પોતાના પુરૂષાર્થથી મહાન ભોગશાળી તથા સંપૂર્ણ ભરત ક્ષેત્રના સ્વામી ચક્રવર્તી કહેવાય છે અર્ધ ચક્રવર્તી બળદેવ વાસુદેવ કહેવાય છે. ગણધર આદિ ચરમ શરીરીની શ્રેણીમાં ગણાય છે

અસંખ્યાત વર્ષની આયુષ્યવાળા મનુષ્ય અને તિર્યંચ નિરૂપક્રમવાળા હોય છે. મનુષ્યો અને તિર્યંચોમાં જ અસંખ્યાત વર્ષનું "જીવન જોવામાં આવે છે, નારકો અને દેવોમાં નહી" દેવકુરૂ, ઉત્તરકુરૂ, અન્તર્દ્વીપો સહિત અકર્મ ભૂમિઓમાં તથા સુષમ સુષમાકાળ, સુષમાકાળ અને સુષમદુષમાકાળમાં અસંખ્યાત વર્ષોના આયુષ્યવાળા મનુષ્ય હોય છે. તેજ દેવકુરૂ વગેરેમાં તથા મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહારનાં દ્વીપો અને સમુદ્રોમાં અસંખ્યાત વર્ષની આયુષ્યવાળા તિર્યંચ નથી. ઔપપાતિક નારક અને દેવ તથા અસંખ્યાત વર્ષના આયુષ્યવાળા તિર્યંચ અને મનુષ્ય નિરૂપક્રમ—અનપવર્ત્ય આયુષ્યવાળા હોય છે. તેમના પ્રાણાપાન નિરોધ, આહારનિરોધ અધ્ય-

વસાન, નિમિત્ત વેદના પરાઘાત તથા સ્પર્શ આદિ વેદના વિશેષ, જે આયુષ્યના ભેદનો ઉપક્રમ છે, તે હોતા નથી. આથી તે નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા ગણાય છે.

અસંખ્યાત વર્ષના આયુષ્યવાળાથી ભિન્ન મનુષ્યો અને તિર્યંચોમાં કોઈ કોઈ પ્રાણવાન નિરોધ આદિ કોઈ કારણ, મળવાથી સોપક્રમ આયુષ્ય વાળા કહેવાય છે. કોઈ કોઇ એવા પણ હોય છે જેમના આયુષ્યનો ઉપક્રમ થતો નથી આથી તેઓ અપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળા અને અનપવર્તનીય આયુષ્યવાળા એમ બંને પ્રકારના હોય છે, જે મનુષ્ય અને તિર્યંચ અપવર્ત્ય આયુષ્યવાળ હોય છે. તેઓ નિયમથી સોપક્રમ આયુષ્યવાળા હોય છે અને જે અનપવર્ત્ય આયુષ્યવાળા હોય તેઓ નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા હોય છે.

જે જીવ અપવર્ત્ય આયુષ્યવાળા હોય છે તેમનું આયુષ્ય ઝેર, શસ્ત્ર, કાંટા, અગ્નિ, પાણી, સર્પ, અજીર્ણ સન્નિપાત, સંજ્ઞી, હિંસક પશુ, ભૂખ, તરસ, ઠંડી અને ગરમી વગેરે ઉપક્રમોથી અપવર્તિત થઈ જાય છે. અપવર્તિત થવાનો અર્થ છે જલ્દી જ અંતર્મુહૂર્ત કાળમાં આયુષ્યનાં દલિકોને ભોગવી લેવાં, આયુષ્યનું સ્વલ્પ થઇ જવું અને અપવર્તનનું કારણ પૂર્વોકત નિમિત્ત હોય છે.

શંકા—જો અપવર્તનનો અર્થ કર્મનો વિનાશ થાય છે તો કૃતનાશનો પ્રસંગ આવે છે. કેમકે આયુષ્યકર્મ પોતાનું ફળ આપ્યા વગર જ નાશ પામે છે. બાંધવા છતાં પણ તેનું ફળ ભોગવી શકાતું નથી કેમકે બાંધેલું કર્મ કર્તાને પોતાનું યોગ્ય ફળ આપીને જ નાશ પામે છે. ફળ આપ્યા વગર નહિ શાસ્ત્રમાં પણ કહ્યું છે **"कडाणकम्माण न मोक्खअत्थि"** અર્થાત્ કરેલા કર્મોના ફળ ભોગવ્યા વગર છુટકારો થતો નથી. આ રીતે જો આયુષ્યનો અનુભવ કર્યા વગર જ મૃત્યુ થાય તો કૃતનાશ અને અકૃતાગમ દોષોનો પ્રસંગ આવે છે કેમકે આયુષ્યની વિદ્યમાનતામાં પણ મરણ થાય છે. આવી જ સ્થિતિમાં આયુષ્યની નિષ્ફળતાનો પણ પ્રસંગ આવે છે તે અનિષ્ટ ગણાય. જૈન સિદ્ધાંતમાં એવું છે પણ નહિ કે ઉપાર્જિત કરેલાં કર્મ ફળ આપ્યા વગર જ નષ્ટ થઇ જાય. અને જે કર્મ ઉપાર્જન નથી કર્યાં તે ભોગવાય.

આ સિવાય એકજ ભવની સ્થિતિવાળું આયુષ્ય કર્મ બીજા ભવ સુધી રહી શકતું નથી તેનો ઉપભોગ એકજ ભવમાં થાય છે. ભવાન્તરમાં નહિ. જો તમારી માન્યતા મુજબ આયુષ્યનાં રહેવા છતાં પણ જીવ મરી જાય છે તો પછી અવશિષ્ટ આયુષ્ય બીજાં જન્મમાં ભોગવવું જ પડશે. આનાથી સાબિત થયું કે આયુષ્યનું અપવર્તન થતું નથી.

સમાધાન—ધીમે ધીમે દીર્ઘકાળ સુધી ભોગવવા યોગ્ય આયુષ્યને જલ્દીથી થોડા સમયમાં ભોગવી લેવું તેને જ અપવર્તન કહેવાય છે અપવર્તનનો અર્થ એ નથી કે બાંધેલું આયુષ્ય ફળ આપ્યા વગર જ નષ્ટ થઇ જાય. આ કારણે આયુષ્યના વેદનકાળમાં અલ્પતાં થઇ જવા છતાં કૃતનાશ અને અકૃતાભ્યાગમ દોષોનાં પ્રસગ આવતાં નથી. આયુષ્ય બીજા ભવમાં ભોગવાય એવું પણ હોતું નથી. પણ થાય છે એ કે પૂર્વોકત વિષ શસ્ત્ર વગેરે ઉપક્રમોથી ઉપલિપ્ત જીવનાં પુણ્યરૂપથી આયુષ્ય ઉદયમાં આવી જાય છે. અને જલ્દીથી પોતાનું ફળ આપે છે. અને પ્રદેશ ઉદય દ્વારા જલ્દીથી તેનો પરિપાક થઈ જાય છે. આજ અહીં અપવર્તન માનવામાં આવ્યું છે.

જેમ એકજ કરેલા સૂકા ઘાસનાં ઢગલાને એક તરફથી સળગાવવામાં આવે તો ક્રમથી બળતો થકો તે ઢગલો લાંબા સમયમાં ભસ્મ થાય છે અને જો તેજ ઢગલો જો પોલો હોય અને ચારે બાજુથી એકી સાથે અગ્નિ પેટાવવામાં આવે, અને તેજ હવા ચાલતી હોય તો જલ્દીથી સળગી જાય છે અને શીઘ્ર જ ભસ્મ થઇ જાય છે. આયુષ્યના ભોગના વિષયમાં પણ આ દૃષ્ટાંત જ સમજવું જોઇએ.

જે આયુષ્ય બંધના સમયે અત્યન્ત ગાઢ રૂપમાં નિકાચિત્ રૂપમાં બાંધવામાં આવે છે તે ધીમે ધીમે લાંબાકાળમાં ભોગવાય છે પરંતુ જે આયુષ્ય કર્મબન્ધના સમયે જ શિથિલ રૂપમાં બાંધેલું છે તે શિથિલ ઘાસના ઢગલાના દાહની જેમ અપવર્ત્તિત થઇને જલ્દી વેદન કરી શકાય છે. ॥૪૧॥

જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્ય શ્રીઘાસીલાલજી મહારાજ
વિરચિત તત્ત્વાર્થ સૂત્રના ગુજરાતી અનુવાદના દીપિકા
નિર્યુક્તિ નામક વ્યાખ્યાનો પ્રથમ અધ્યાય
સમાપ્ત ॥૧॥

દ્વિતીય અધ્યાયનો પ્રારંભ

'धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा'

મૂળસૂત્રાર્થ—ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ અજીવ છે ॥ ૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ અધ્યાયમાં જીવ આદિ નવ તત્ત્વોમાંથી જીવ તત્ત્વનું ૪૧ સૂત્રો દ્વારા સાંગોપાંગ વર્ણન કરવામાં આવ્યું. હવે ક્રમપ્રાપ્ત બીજા અજીવતત્ત્વનું આ અધ્યાયમાં નિરૂપણ કરવા અર્થે કહીએ છીએ--

ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ આ પાંચ અજીવ અર્થાત્ જીવથી અલગ તત્ત્વ છે. ॥ ૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા યથાયોગ્ય દ્રવ્ય અને ભાવપ્રાણોથી યુક્ત જીવોના, તેના, દેવ, તિર્યંચ, મનુષ્ય અને નારકીના ભેદોનું, સાકાર અને અનાકાર ઉપયોગરૂપ ચૈતન્ય શક્તિનું વિવરણ કરવામાં આવ્યું છે. હવે ધર્મ વગેરે પાંચ અજીવોના ભેદ અને લક્ષણ બતાવીને તેમનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

અજીવ અર્થાત્ જીવ દ્રવ્યથી વિપરીત, ધર્મ, અધર્મ આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ એ પાંચ અજીવ તત્વ છે

જે જીવ નથી તે અજીવ, અહીં પર્યુદાસ નામનો નઞ્સમાસ છે આ સમાસથી અજીવ એકાન્ત નિષેધ રૂપ નહીં પરંતુ વિધિરૂપ જ તત્ત્વ સાબીત થાય છે, કારણકે પર્યુદાસમાં વિધિની પ્રધાનતા હોય છે. તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ વગેરે પાંચ તત્ત્વ અસ્તિત્ત્વની દૃષ્ટિથી જીવની માફક જ છે પરંતુ તેમનામાં ચૈતન્યનો સદ્ભાવ નથી આથી જ તેમને અજીવ કહ્યા છે. વળી કહ્યું પણ છે-'જે નઞ્સમાસમાં વિધિની પ્રધાનતા તથા નિષેધની ગૌણતા હોય છે તે પર્યુદાસ નઞ્સમાસ કહેવાય છે.' એવી જ રીતે—જે નઞ્સમયમાં વિધિ અપ્રધાન અને નિષેધ પ્રધાન હોય તે પ્રસહ્ય (પ્રસજ્ય) નઞ્સમાસ કહેવાય છે-જેમાં ક્રિયાની સાથે નઞ્સમાસ હોય છે.

આમાંથી જે જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિના ઉપકાર કરવાના કાર્ય દ્વારા જાણી શકાય તે ધર્મદ્રવ્ય છે. જીવો અને પુદ્ગલોની સ્થિતિમાં ઉપગ્રહ કરવાથી જેનું અનુમાન કરવામાં આવે છે તે અધર્મદ્રવ્ય છે. અહીં ધર્મ અને અધર્મ પદોથી શુભ ફળ આપનારા અને અશુભ ફળ આપનારા ધર્મ-અધર્મને સમજવા ન જોઈએ.

અહીં આ દ્રવ્યનું પ્રકરણ ચાલી રહ્યું છે આથી દ્રવ્યરૂપ ધર્મ અને અધર્મ જ અત્રે અભિપ્રેત છે. અદૃષ્ટ-પુણ્ય-પાપ-રૂપ ધર્મ અધર્મ અભિપ્રેત નથી કારણકે તે દ્રવ્ય નહીં પણ ગુણ છે.

અવગાહના રૂપ કાર્યથી જેનું અનુમાન કરવામાં આવે છે, તે આકાશ છે. અહીં પ્રશ્ન થઈ શકે કે અલોકાકાશ અવગાહના રૂપ ઉપકાર કરતો નથી તો તેને આકાશ કેવી રીતે કહી શકાય ? આનો જવાબ એ છે કે અલોકાકાશમાં જીવો તથા પુદ્ગલોની સ્થિતિના નિમિત્તભૂત ધર્મ-અધર્મ દ્રવ્ય નથી, આથી અલોકાકાશમાં અવગાહના ગુણ વિદ્યમાન હોવા છતાં પણ પ્રગટ

થતાં નથી. અગર જો ત્યાં ધર્મ અને અધર્મ હોત અને જીવ-પુદ્ગલ ત્યાં જતાં-રોકાતાં હોત તો આલોકાકાશ તેમને અવગાહન આપત, પરંતુ ત્યાં તેઓ નથી આ કારણે અલોકાકાશમાં વિદ્યમાન પણ અવગાહન ગુણ પ્રગટ થતો નથી.

કાળનું લક્ષણ વર્ત્તના છે. નવાને જુનું કરવું અને જુનાનો નાશ કરવો તે વર્ત્તના કહેવાય કાળદ્રવ્યના કારણે જ મોટાપણું, નાનાપણું વગેરેનો વ્યવહાર થાય છે. તે કાળસમય આવલિકા આદિ રૂપ છે. ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮માં અધ્યયનની ગાથા ૧૦મીમાં કહ્યું છે-'કાલવર્ત્તના' લક્ષણવાળો છે. જીવાદિ પદાર્થ અમુક-અમુક રૂપમાં વર્ત્ત-રહે છે તેમનાં વર્ત્તનોમાં જે નિમિત્ત કારણ છે, તે વર્ત્તના છે આ વર્ત્તના જ કાળનું લક્ષણ છે.

જેમાં-મીલન અને વિયોગ દેખાય તે પુદ્ગલ છે. એક પુદ્ગલ સિવાય એવું કોઈ દ્રવ્ય નથી જે વિખેરાઈ શકાય અને જોડાઈ પણ શકે પુદ્ગલ વિખરાઈને અનેક રૂપે બની શકે છે અને અનેક પુદ્ગલ મળીને એક સ્કંધ રૂપ પરિણામ થઈ શકે છે પરંતુ પુદ્ગલ સિવાય કોઈ અન્ય દ્રવ્યમાં આ પ્રકારનો સ્વભાવ નથી આથી મીલન અને વિયોગ પુદ્ગલ દ્રવ્યનું અસાધારણ લક્ષણ છે.

અથવા પુરુષ જે જે ગ્રહણ કરી લે છે-મિથ્યાદર્શન વગેરે કારણોથી ગ્રહિત પુરુષને બાંધે છે અથવા કષાય અને યોગવાળા પુરુષ દ્વારા કર્મ રૂપમાં જેમને ગ્રહણ કરવામાં આવે છે તે પુદ્ગલ છે. આ રીતે ધર્મ આદિ પાંચ અજીવ કહેવાય છે.

અધ્ધા રૂપ કાળ એક સમય રૂપ હોવાથી અસ્તિકાય હોઈ શકતો નથી આથી જીવાસ્તિકાય, ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય અને પુદ્ગલાસ્તિકાય, આ પાંચ અસ્તિકાયોમાં કાળને ગ્રહણ કરવામાં આવ્યો નથી તો પણ ધર્માદિની જેમ કાળમાં પણ અજીવતત્ત્વની સત્તા હોવાથી અજીવ દ્રવ્યોમાં તેને ગ્રહણ કરવું અનુપયુકત નથી.

આ કારણથી અહીં 'અજીવ' એમ જ કહેવામાં આવ્યું છે. 'અજીવકાય' એમ અથવા 'અજીવાસ્તિકાય, એમ કહેવામાં આવ્યું નથી.

'અસ્તિ' શબ્દનો અર્થ અહીં પ્રદેશ છે અને 'કાય' શબ્દનો અર્થ 'સમૂહ' છે. તાત્પર્ય એ છે કે જે દ્રવ્યપ્રદેશોના સમૂહ રૂપ હોય તેજ અસ્તિકાય કહેવાય છે. કાળપ્રદેશોનો સમૂહ નથી એક સમય રૂપ કારણ કે અતીતકાળનો નાશ થઈ જવાથી સત્તા નથી અને ભવિષ્યકાળ અનુત્પન્ન હોવાથી સત્તા નથી.

ફક્ત વર્તમાનકાળને સત્તા હોય છે અને વર્તમાનકાળ એક સમય જ છે. આ કારણે કાળની અસ્તિકાયોમાં ગણત્રી કરવામાં આવી નથી.

સમય આદિ રૂપ કાળ અઢીદ્વીપની અંદર જ હોય છે. (અઢી દ્વીપની બહાર ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરે સ્થિર હોવાથી ત્યાં કાળની કલ્પના કરી શકાતી નથી). તે એક સમયરૂપ છે, જે અત્યંન્ત સૂક્ષ્મ છે, નિર્વિભાગ છે તેને 'કાય' કહી શકતા નથી કારણકે 'કાય' શબ્દ સમૂહવાચક છે.

અગર ધર્મ વગેરેને 'અજીવકાય' કહેવામાં આવે તો કાળ તેમનામાં ગ્રહણ થઈ શકતો નથી પરંતુ પ્રાકૃત સૂત્રમાં કેવળ અજીવ દ્રવ્યોનો જ ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે આથી જીવથી ભિન્ન હોવાના કારણે કાળનો પણ તેમનામાં સમાવેશ થાય છે.

આમાંથી ધર્મ અને અધર્મના અસંખ્યાતા-અસંખ્યાતા પ્રદેશ છે અને આકાશના અનન્ત-પ્રદેશ છે વાસ્તવમાં લોકપરિમિત આકાશ અસંખ્યાતપ્રદેશી છે અને લોકાલોક રૂપ સમ્પૂર્ણ આકાશ અનન્ત પ્રદેશવાળું છે અડધો સમય એક સમય રૂપ કાળને ન તો અસંખ્યાત પ્રદેશ છે કે નથી અનન્ત પ્રદેશ.

પુદ્ગલ દ્રવ્ય ઘણા અવયવોવાળું હોય છે. કોઈ પુદ્ગલ ઘણા અવયવોવાળું, કોઈ સંખ્યાત પ્રદેશોવાળું કોઈ અસંખ્યાત પ્રદેશવાળું કોઈ અનન્તપ્રદેશોવાળું અને કોઈ અનન્તાનન્તપ્રદેશો-વાળું હોય છે.

શંકા—પરમાણુ પણ પુદ્ગલદ્રવ્ય હોવાથી ઘણા અવયવોવાળું હોવું જોઈએ. તેમાં એક રસ, એક ગંધ, એક વર્ણ અને બે સ્પર્શોનું હોવું જાણીતું છે.

સમાધાન—પરમાણુ ભાવ- અવયવોની અપેક્ષાએ એક અવયવ છે અને દ્રવ્ય-અવયવોની અપેક્ષા નિરવયવ છે ભગવતી સૂત્રના શતક ૨૦, ઉદ્દેશક પાંચમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભાવપરમાણું કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ચાર પ્રકારના ભાવપરમાણું કહ્યા છે-વર્ણવાન. રસવાન, ગંધવાન અને સ્પર્શનવાન.

આ રીતે વર્ણાદિ રૂપ અવયવોની અપેક્ષા પરમાણુ પુદ્ગલ દ્રવ્ય પણ ઘણા અવયવોવાળું સમજવું જોઈએ. અજીવોમાં અસ્તિકાય ચાર છે – (૧) ધર્માસ્તિકાય (૨) અધર્માસ્તિ-કાય (૩) આકાશાસ્તિકાય અને (૪) પુદ્ગલાસ્તિકાય. આમાં જીવાસ્તિકાયને ભેળવી દેવામાં આવે તો પાંચ અસ્તિકાય થઈ જાય છે. કોઈપણ શાસ્ત્રકારે કાલાસ્તિકાયનું પ્રતિપાદન કર્યું નથી સ્થાનાંગસૂત્રનાં ચોથા સ્થાનકના પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે-ચાર અસ્તિકાય અજીવકાય કહેવામાં આવ્યા છે તે આ છે-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય.

પ્રસ્તુત સૂત્રમાં કેવળ 'અજીવા' એટલું જ કહ્યું છે આથી 'અજીવ' પદથી કાળનું પણ ગ્રહણ થઈ જાય છે. ફલિતાર્થ એ છે કે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ એ પાંચ અજીવ છે. એમનામાં પ્રશસ્ત નામ હોવાથી સર્વપ્રથમ ધર્મને ગ્રહણ કરવામાં આવેલ છે, પછી ધર્મથી વિરૂદ્ધ અધર્મને, ત્યારબાદ લોક હોવાથી તેમના દ્વારા ઘેરાયેલા આકાશને અને તેની પછી અમૂર્ત્તત્વ સમાન હોવાથી કાળનું-ગ્રહણ કરવામાં આવ્યું છે. આ સૂત્રના વિશિષ્ટ ક્રમ સન્નિવેશનું પ્રયોજન સમજી લેવું જોઈએ. ॥ ૧ ॥

'छयाणि दव्वाणि'

મૂળસૂત્રાર્થ—આ જ છ દ્રવ્ય છે. ॥ ૨ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—આ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ અને "ચ" શબ્દથી જીવ બધાં મળીને છ દ્રવ્ય કહેવાય છે અર્થ એ છે કે ધર્મ વગેરે પાંચ અને જીવ એ છ દ્રવ્ય છે. અનુયોગદ્વારમાં દ્રવ્યગુણ પ્રકરણમાં કહ્યું છે—

દ્રવ્ય છ કહેવામાં આવ્યા છે-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય અને અદ્ધાસમય આ દ્રવ્યનામનું નિરૂપણ થયું ॥ ૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ, અજીવ છે. એમ કહેવામાં આવેલ છે. આ ધર્મ વિગેરેનું જો દ્રવ્યગુણ અને પર્યાયરૂપથી નિરૂપણ ન કરવામાં આવે તો શંકા ઉપસ્થિત થાય છે કે-તેનું નિરૂપણ પૂર્વસૂત્રમાં કેમ કરવામાં આવેલ નથી ? આથી એ શંકાના નિવારણાર્થે કહેવામાં આવે છે—

જે યથાયોગ્ય પોતાના પર્યાયો દ્વારા મેળવાય છે. તે દ્રવ્ય કહેવાય છે. વાસ્તવમાં જે ગુણોને પ્રાપ્ત થાય છે અથવા ગુણો દ્વારા જાણી શકાય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે. "જે ગુણો અને પર્યાયવાળું હોય તે દ્રવ્ય છે" એ મુજબ દ્રવ્યનું લક્ષણ કહેવાયું છે. મૂળે તો પોત-પોતાનાં સ્વભાવમાં અવસ્થિત રહેવું એજ દ્રવ્યનું લક્ષણ છે. ધર્માદિ છ દ્રવ્યોની દ્રવ્ય સંજ્ઞા દ્રવ્યત્વના નિમિત્તથી દ્રવ્યાર્થિક નયના અભિપ્રાયથી છે તે દ્રવ્યત્વ હકીકતમાં ભિન્ન અને અભિન્ન એ બંને પક્ષોનું અવલમ્બન કરે છે. તે ધર્માદિથી ન તો સર્વથા ભિન્ન જ છે અથવા ન તો અભિન્ન જ છે. આ કારણે મોરના ઈંડાના રસની જેમ જેમાં બધા ભેદ-પ્રભેદ સમ્મિલિત છે તેમજ જે દેશ કાળ, ક્રમ બ્યગભેદ તથા સમાસ અવસ્થા રૂપ છે, એવાં આ ધર્મ આદિ દ્રવ્ય કહેવાય છે. તે અભિન્ન હોવા છતાં પણ ગુણ પર્યાય કલા તથા પરિણામના મૂળ કારણ હોવાથી ભિન્ન જણાવાથી ભિન્ન હોવાનો આભાસ થાય છે.

'द्रव्यग्रच भव्ये' આ પાણિનીયના સૂત્ર અન્વયે દ્રુ ધાતુથી ભાવ અને કર્તાના અર્થમાં દ્રવ્ય શબ્દનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે. આ પ્રકારે દ્રવ્ય ભવ્ય અને ભવન આ બધાંનો સમાન અર્થ છે. ગુણ અને પર્યાય ભવનરૂપ જ છે, ઉભેલા બેસેલા ઉકડા આસને બેઠેલાં અથવા સૂતેલા પુરૂષની જેમ અર્થાત્ જેવી રીતે પુરૂષની આ અવસ્થાઓ ભિન્ન-ભિન્ન હોય છે, પણ બધી અવસ્થાઓમાં પુરૂષ જેમની તેમ તેજ રહે છે એવી જ રીતે પર્યાયોના બદલાવા છતાં પણ મૂળ દ્રવ્ય એક રૂપ જ બન્યું રહે છે. આ કથન આ રીતે પણ કહી શકાય—"ઉત્પન્ન થાય છે—બદલાય છે-વધે છે ઘટે છે અને નાશ પણ પામે છે"

પિણ્ડ સિવાય વૃત્યન્તર-અવસ્થા-પ્રકાશતાની દશામાં **'जायते'** (ઉત્પન્ન થાય છે) એવો વ્યવહાર થાય છે. વ્યાપાર સહિત હોવા છતાં પણ ભવનવૃત્તિ થાય છે. **'अस्ति'** (છે) એનાથી વ્યાપાર શૂન્ય સત્તા કહેવામાં આવે છે, ભવનવૃત્તિ ઉદાસીન છે. **'विपरिणा मत्ते'** (બદલાય છે) એના દ્વારા અનુવૃત્તિવાળી વસ્તુનુ રૂપાંતરથી થવું એમ કહેવામાં આવે છે.

જેમ દૂધ દહી રૂપથી પરિણત થાય છે, અહીં વિકારાન્તર વૃત્તિથી 'ભવન' કાયમ રહે છે. જે વ્યક્ત્યન્તર વ્યકિતવૃત્તિ થાય અગર હેતુભાવવૃત્તિ થાય તે પરિણામ કહેવાય છે. **'वर्धते'**—ઉકત સ્વરૂપવાળું પરિણામ ઉપચય રૂપમાં પ્રવૃત્ત થાય છે જેવી રીતે અંકુર વધે છે અર્થાત્ ઉપચયશાળી પરિણામ રૂપથી 'ભવન'ની વૃત્તિ વ્યકત થાય છે. **'अपचीयते'** (ઘટે છે) આ શબ્દથી પૂર્વોકત સ્વરૂપવાળા પરિણામની અપચયવૃત્તિ પ્રકટ કરવામાં આવે છે—નબળાઈને પ્રાપ્ત થનાર પુરૂષની જેમ અપચય ભવન રૂપ નવીન વૃત્તિનું પ્રગટ થવું કહેવાય છે. **'विनश्यति'** આ પદ દ્વારા ભવનવૃત્તિને આવિર્ભૂત કહેવામાં આવે છે. જેવી રીતે "ઘડો નાશ પામ્યો." આ વાકયનો અર્થ એજ છે કે વિશિષ્ટ સમવસ્થાન રૂપ ભવનવૃત્તિ અદશ્ય થઈ ગઈ—એનો આશય એવો નથી કે કોઈ સ્વભાવહીનતા ઉત્પન્ન થઈ ગઈ—શૂન્યતા આવી ગઈ, કારણ કે ઘટ આકારની પછી કપાલ વગેરે રૂપ નવીન ભવનવૃત્તિ દેખાય છે. વગેરે આકારો દ્વારા દ્રવ્ય જ ભવન લક્ષણ વાળું કહેવાય છે.

મતિજ્ઞાન અને શ્રુતજ્ઞાન દ્વારા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ પુદ્ગળ અને જીવ રૂપ બધા દ્રવ્યોને જીવ જાણે છે પરંતુ ધર્મ અધર્મ વગેરે બધા દ્રવ્યોના સઘળા ઉત્પાદ આદિ પર્યાયોને જાણતો નથી. મતિજ્ઞાની શ્રુતજ્ઞાનિ દ્વારા જાણેલા પદાર્થોમાં જ્યારે અક્ષર પરિપાટી વગર જ વિધાનો સારી પેઠે અભ્યાસ કરીને દ્રવ્યોનું ચિંતન કરે છે, ત્યારે ધર્મ અધર્મ આદિ સમસ્ત દ્રવ્ય મતિજ્ઞાનના વિષય રૂપ પ્રતિભાસિત થાય છે, પણ મતિજ્ઞાની તેમના બધા પર્યાયોને જાણતો નથી એનું કારણ છે કાળની અલ્પતા તથા મનની અશક્તિ એવી જ રીતે શ્રુતજ્ઞાન અનુસાર ધર્મ આદિ બધાં દ્રવ્યોને જાણે છે પરંતુ બધા પર્યાયોને જાણતો નથી. અવધિજ્ઞાન દ્વારા રૂપી દ્રવ્યોને—પુદ્ગળ દ્રવ્યોને જ જાણે છે પણ બધાં પર્યાયોને નહીં. અવધિજ્ઞાન અત્યંત નિર્મળ હોય તો પણ તેના દ્વારા રૂપી-દ્રવ્ય પુદ્ગલ જ જાણી શકાય છે અને તે રૂપી દ્રવ્ય પણ બધાં પર્યાયોથી નહીં જ.

સાર એ છે કે અતીત અનાગત અને વર્તમાનકાળ સંબન્ધી ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય આદિ અનન્ત પર્યાયોથી જાણે છે અને જે શુષ્ક વગેરે ગુણોથી યુકત પુદ્ગલ રૂપ રૂપી દ્રવ્યોને અવધિજ્ઞાનથી જાણે છે તેમના અનન્તમાં ભાગને મનઃપર્યય જ્ઞાનથી જાણે છે તે અનન્તમાં ભાગવર્તી રૂપી દ્રવ્યોને પણ દીવાલના આધારે રહેવાને નહીં પણ મનોગતોને જાણે છે તે દ્રવ્યોને પણ સમ્પૂર્ણ લોકમાં રહેલાઓને નહીં પણ મનુષ્ય ક્ષેત્રની અંદર જ જાણે છે અને અવધિજ્ઞાનીની અપેક્ષા વિશુદ્ધતર અને બહુતર પર્યાયોને જાણે છે

અભિપ્રાય એ છે કે પાંચ જ્ઞાનોમાંથી મતિજ્ઞાન અને શ્રુતજ્ઞાન બધાં દ્રવ્યોને જાણે છે પરંતુ તેમના કેટલાંક પર્યાયો જ તેમનો વિષય હોય છે. કારણ કે એ બંને જ્ઞાન ક્ષાયોપશમિક છે અને ક્ષાયોપશમિક જ્ઞાન પરિપૂર્ણ હોતા નથી. આના સિવાય આ બને જ્ઞાન ઈન્દ્રિયજન્ય અને મનોજન્ય છે અને એ કારણે પણ તેઓ સમ્પૂર્ણ નથી.

અવધિજ્ઞાન અને મન પર્યવજ્ઞાન ઈન્દ્રિય-મનો જન્ય નથી આથી તેઓ પ્રત્યક્ષજ્ઞાનની કોટિમાં ગણાય છે તો પણ ક્ષાયોપશમિક હોવાથી અપૂર્ણ છે આથી તેમને વિકલ પ્રત્યક્ષ પણ કહે છે, આ બંને જ્ઞાન રૂપી દ્રવ્યોને જ જાણે છે તો પણ તેમનામાં વિષયકૃત ભિન્નતા છે. અવધિજ્ઞાન સમ્પૂર્ણ લોકના સમસ્ત રૂપી દ્રવ્યોને જાણી શકે છે જ્યારે મન.પર્યયજ્ઞાન ફકત મનોવર્ગણાના પુદ્ગલોને જ જાણે છે આ કારણથી જ અવધિજ્ઞાનના વિષયનો અનન્તમો ભાગ જ મનઃપર્યયનો વિષય કહેવાયો છે મનઃપર્યયજ્ઞાન અઢીદ્વીપની અન્તર્ગત જે સંજ્ઞી જીવ છે તેમની મનો વર્ગણાને, જાણે છે આવું હોવા છતાં પણ મનઃપર્યયજ્ઞાન અવધિજ્ઞાનની અપેક્ષા અત્યન્ત વિશુદ્ધ છે અને જે રૂપી દ્રવ્યોને જાણે છે તેમના બહુતર પર્યાયોને જાણે છે.

કેવળજ્ઞાન દ્વારા સમસ્ત દ્રવ્ય અને તેમના બધાં પર્યાયો જાણી શકાય છે. પ્રશ્ન થઈ શકે કે કેવળજ્ઞાન બધાં દ્રવ્યો અને બધાં પર્યાયોને કેવી રીતે જાણે છે? એનો જવાબ એ છે કે કેવળ-જ્ઞાન સમસ્ત ભાવોનું અવભાસક છે તથા સમ્પૂર્ણ લોક અને અલોકને જાણે છે. ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યોથી વ્યાપ્ત લોકમાં અને તેનાથી રહિત અલોકમાં જે કંઈ પણ હોય છે, તે બધાને જાણે છે.

કેવળજ્ઞાનથી મોટું બીજું કોઈ જ્ઞાન નથી અને કેવળજ્ઞાનની વિષય મર્યાદાની બહાર કોઈ વસ્તુ જ્ઞેય નથી. આનું મુખ્ય કારણ એ છે કે કેવળજ્ઞાન જ્ઞાનાવરણીય કર્મના સમ્પૂર્ણ ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે જ્ઞાનને ઢાંકવાવાળા કર્મ સમૂળગા નાશ થાય છે. ત્યારે આત્માની જ્ઞાન-

શક્તિ પોતાના વિશુદ્ધ પરિપૂર્ણ અને સ્વાભાવિક રૂપમાં પ્રગટ થઈ જાય છે. આ વખતે એવો કોઈ જ્ઞેય પદાર્થ હોતો નથી કે જે કેવળજ્ઞાનનો વિષય ન હોય.

ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ આ બધાં દ્રવ્યોમાં પ્રતિક્ષણે ઉત્પાદ, વ્યય તથા ધ્રૌવ્ય રહે છે. જે પણ સત્ પદાર્થ છે તે ઉત્પાદ, વ્યય અને ધ્રૌવ્યાત્મક જ હોય છે. કોઈ વસ્ત્રનો શ્વેતવર્ણ નાશ થાય છે તેમાં ત્રણ વર્ણનો ઉત્પાદ હોય છે પરંતુ વસ્ત્ર દ્રવ્ય બંને અવસ્થાઓમાં કાયમ રહે છે. આવી જ રીતે પૂર્વ પર્યાયનો વિનાશ અને ઉત્તર પર્યાયનો ઉત્પાદ થવાથી પણ દ્રવ્ય–ધ્રુવ–જેવું ને તેવું જ—રહે છે. જેમ જીવ દેવ પર્યાય રૂપે ઉત્પન્ન થાય છે, મનુષ્ય પર્યાય રૂપે વિનાશ પામે છે પરંતુ જીવના રૂપે હમેશાં અવસ્થિત રહે છે. આ બધાં પર્યાયોને કેવળજ્ઞાન સાક્ષાત જાણે છે. આવી જ રીતે આકાશ અને કાળ જેવા અપૂર્વ દ્રવ્ય પણ કેવળજ્ઞાન દ્વારા જાણી શકાય છે. આથી કેવળજ્ઞાન પરિપૂર્ણ સમગ્ર અસાધારણ, નિરપેક્ષ વિશુદ્ધ સર્વભાવોનો જ્ઞાપક, લોકાલોકને વિષય કરવાવાળું અને અનન્ત પર્યાયોવાળું છે.

એક–એક જ્ઞેયની સ્વ–પર પર્યાયોની ગણના કરવામાં આવે તો તે અનન્તાનન્ત છે. એવા અનન્તાનન્ત પર્યાયવાળા અનન્તાનન્ત જ્ઞેય પદાર્થ કેવળજ્ઞાનનો વિષય છે. એવી સ્થિતિમાં કેવળજ્ઞાનના અનન્તાનન્ત પર્યાયો છે, આ સમજવું મુશ્કેલ નથી.

અનુયોગ દ્વારના ૧૪૧માં સૂત્રમાં કહ્યું છે

પ્રશ્ન—ભગવંત ! દ્રવ્ય કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે !

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્ય બે પ્રકારના કહ્યા છે. જીવ દ્રવ્ય અને અજીવ દ્રવ્ય.

ઉત્તરાધ્યયનના અધ્યયન ૨૮ ની આઠમી ગાથામાં કહે છે—

ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય અને આકાશ એ ત્રણ દ્રવ્યો એક–એક રૂપ છે અને કાળ, પુદ્ગલ તથા જીવ એ ત્રણ દ્રવ્ય અનન્ત–અનન્ત છે. ॥૨॥

'निच्चावट्ठियाणि अरूवाणि य'

મૂળસૂત્રાર્થ—પૂર્વોક્ત દ્રવ્ય નિત્ય, અવસ્થિત અને અરૂપી છે ॥૩॥

તત્વાર્થદીપિકા—ધર્મ' અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છએ દ્રવ્યો નિત્ય અને અવસ્થિત છે. આમાંથી કયારેય પણ કોઈ ન હોય એવું નથી. અર્થાત્ એ હમેશા રહે છે અને એક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યના રૂપમાં પરિણત થતું નથી. આમાંથી ધર્મ, અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ એ પાંચ દ્રવ્ય અરૂપી છે અર્થાત રૂપ–રસ આદિથી રહિત છે. આ રીતે છ એ દ્રવ્ય નિત્ય અને અવસ્થિત છે તથા પુદ્ગલ સિવાયના શેષ પાંચ દ્રવ્યો અરૂપી છે ॥૩॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં ધર્માદિ ૬ દ્રવ્યો કહ્યાં હવે આ દ્રવ્યો શું પોતપોતાના સ્વભાવથી કયારે ચ્યુત થાય છે ? શું કયારે પણ વધે ઘટે છે ? તેઓ મૂર્ત્ત છે કે અમૂર્ત્ત ? આ ત્રણ પ્રશ્નોના સમાધાન માટે કહીએ છીએ—

ધર્મ આદિ છ એ દ્રવ્યો નિત્ય અને અવસ્થિત છે નિત્યનો અર્થ એ છે કે આ દ્રવ્ય કોઈ વાર પણ પોતપોતાના સ્વભાવનો ત્યાગ કરતા નથી અને અવસ્થિતનો ભાવ એ છે કે એમની સંખ્યા કયારે પણ વધતી–ઘટતી નથી અર્થાત્ આ તમામ દ્રવ્ય અનાદિ નિધન છે અને નિયત સંખ્યાવાળા છે કયારેય પણ પોતાના સ્વરૂપનો ત્યાગ કરતા નથી. આમાં પુદ્ગલ સિવાયના પાંચ, દ્રવ્યો અરૂપી છે.

જેમાં રૂપ નથી તેને અરૂપી કહે છે. અહીં રૂપ શબ્દ ઉપલક્ષણ છે તેનાથી રસ, ગંધ અને સ્પર્શનું પણ ગ્રહણ થાય છે. સૂત્રમાં અરૂપ શબ્દના ગ્રહણથી ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને જીવ દ્રવ્યની અમૂર્ત્તતા પ્રગટ કરવામાં આવી છે આથી પુદ્‌ગલને છોડીને શેષ પાંચ, ધર્મ આદિ દ્રવ્ય રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શથી રહિત હોવાના કારણે અમૂર્ત્ત કહેવાય છે. **'पोग्गला रूपिणो'** આગળ પર કહેવામાં આવનાર સૂત્ર અનુસાર પુદ્‌ગલ સિવાય ધર્મ આદિ પાંચ દ્રવ્યો જ અરૂપી છે પરંતુ નિત્ય અને અવસ્થિત તો પુદ્‌ગલ દ્રવ્ય પણ છે.

નન્દીસૂત્રનાં ૧૮માં સૂત્રમાં કહ્યું છે.–'પાંચ અસ્તિકાય ક્યારેય પણ ન હતાં એવું નથી, ક્યારેય પણ નથી એમ પણ નથી અને ક્યારેય પણ હશે નહીં એવું પણ નથી. તે હમેશાં હતાં, છે અને રહેશે. તેઓ ધ્રુવ છે, નિયત છે, શાશ્વત છે, અક્ષય છે, અવ્યય છે, અવસ્થિત છે, નિત્ય છે અને અરૂપી છે.

આ રીતે ધર્મ વગેરે છએ દ્રવ્યો દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષાથી નિત્ય છે, પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષાથી નહીં. દ્રવ્યાર્થિક નય વસ્તુના ધ્રૌવ્યનું જ પ્રતિપાદન કરે છે, ઉત્પાદ અને વિનાશનું નહીં. આ કારણે દ્રવ્યાર્થિકનયના અભિપ્રાયથી જ ધર્મ આદિ દ્રવ્ય નિત્ય સમજવા જોઈએ દ્રવ્યાર્થિકનયથી નિરપેક્ષ રૂપમાં નિત્યતા સ્વીકાર કરવા છતાં પણ એકાન્તવાદનો પ્રસંગ આવશે અને એકાન્તવાદ અનેક પ્રકારના દોષોથી દૂષિત છે.

જૈનદર્શન અનુસાર એકનયથી વસ્તુની પ્રરૂપણા કરવી તે પુરતું નથી, દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક-બંનેમાંથી એકને પ્રધાન અને બીજાને ગૌણરૂપથી વિવરણ કરીને જ વસ્તુતત્ત્વનું પ્રતિપાદન કરી શકાય છે. આમ કર્યા વગર વસ્તુસ્વરૂપની પ્રરૂપણા કરવી ઘણી મુશ્કેળ છે આથી અને દ્રવ્યાર્થિકનયને પ્રધાન અને પર્યાયાર્થિકનયને ગૌણ ગણીને ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની નિત્યતા કહેલી છે.

દ્રવ્યાર્થિકનય દ્વારા પ્રજ્ઞાપ્ય ધ્રૌવ્ય અંશની અપેક્ષાથી ધર્મ આદિ દ્રવ્ય નિત્ય અર્થાત્ ઉત્પાદ અને વિનાશથી રહિત ધ્રુવ છે. નિત્ય કહીને એ પ્રગટ કરવામાં આવ્યું છે કે ધર્મ વગેરે દ્રવ્યોની સત્તા સમસ્ત કાળમાં અવિકારિણી છે. એવી જ રીતે ધર્મ આદિ બધાં દ્રવ્ય અવસ્થિત છે અર્થાત્ તે પોતાની છની સંખ્યાને તથા ભૂતાર્થતાને કદી પણ છોડતાં નથી અને ક્યારેય પણ છોડશે નહીં.

'અવસ્થિત' શબ્દના ગ્રહણથી એવું નિર્ધારિત કરવામાં આવ્યું છે કે આ દ્રવ્યો પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ કરતાં નથી આથી છના છ જ રહે છે. ન કદી ઓછા થાય છે અને ન તો વધે. છે. જગત સદા પંચાસ્તિકાયાત્મક છે અને કાળપર્યાય હોવા છતાં પણ ભિન્ન રૂપથી પ્રતીત થાય છે આથી છ જ દ્રવ્ય છે, પાંચ નહીં. આ ધર્મ આદિ દ્રવ્ય એકબીજાને મળીને રહે છે તો પણ પોતપોતાના સ્વરૂપનો અને ભૂતાર્થતાનો ત્યાગ કરતા નથી અથવા પોતાના વિવિધ અસાધારણ લક્ષણપણાનું ઉલ્લંઘન પણ કરતાં નથી.

ધર્મદ્રવ્યનું સ્વરૂપ ગતિમાં અને અધર્મદ્રવ્યનું સ્વરૂપ સ્થિતિમાં નિમિત્ત થાય છે. આકાશનું સ્વરૂપ અવગાહ પ્રદાન કરે છે. જીવનુ સ્વરૂપ સ્વ–પર પ્રકાશક ચૈતન્યરૂપ પરિણામ છે. પુદ્‌ગલનું સ્વરૂપ શરીર, વચન મન, પ્રાણાપાન, જીવન મરણમાં નિમિત્ત થવું તથા મૂર્ત્તત્વ વગેરે છે.

ધર્માદિ દ્રવ્ય અનાદિસિદ્ધ પોતપોતાના આ સ્વરૂપમર્યાદાનું અતિક્રમણ કરતાં નથી. કોઈ-પણ દ્રવ્ય પોતાના સ્વાભાવિક ગુણનો પરિત્યાગ કરીને બીજા દ્રવ્યના ગુણને ધારણ કરતાં નથી આથી એ દ્રવ્ય અવસ્થિત કહેવાય છે. એતો પહેલાં જ કહેવાઈ ગયું છે કે છ દ્રવ્યોમાંથી પુદ્ગલને છોડીને બાકીના પાંચ દ્રવ્ય અરૂપી–અમૂર્ત્ત છે.

પુદ્ગલ સિવાય ધર્મ આદિ પાંચ દ્રવ્ય અમૂર્ત્ત હોવાથી અરૂપી છે–તેમનામાં રૂપ નથી અને રૂપી ન હોવાના કારણે તેઓ આંખ વડે જોઈ શકતા નથી.

ધર્માદિ દ્રવ્યોના નેત્ર ગ્રાહ્ય ન હોવામાં અરૂપિત્વને હેતુ કહેલ નથી અન્યથા પુદ્ગલ પરમાણું પણ નેત્રગોચર ન હોય તો તેને પણ અરૂપી માનવું પડે પણ તે અરૂપી નથી. આ રીતે ધર્મ આદિ પાંચ દ્રવ્યોમાં જ અરૂપત્વનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવેલ છે.

રૂપનો અર્થ મૂર્તિ–મૂર્ત્તિ જ રૂપાદિ શબ્દો દ્વારા કહેવામાં આવે છે. તે મૂર્તિ રૂપાદિ આકારવાળી હોય છે. વૈશેષિક, દ્રવ્યનું સર્વવ્યાપક ન હોવું તેને મૂર્ત્તત્વ માને છે અર્થાત્ તેમના કથન અનુસાર મૂર્તિ તે છે જે સર્વવ્યાપિ પરિણામવાળી ન હોય, પરંતુ આ માન્યતા અહીં સ્વીકારાઈ નથી કારણકે એમ માનવાથી આત્મા પણ મૂર્તિક થઈ જાય. લોક બધી તરફથી પરિમિત છે આથી આત્મા પણ પરિમિત જ છે.

લોક પરિમિત છે એનો વૈશેષિકોએ પણ સ્વીકાર કરવો જોઈએ કારણ કે તેનો એક વિશિષ્ટ આકાર છે. આ કારણથી રૂપને મૂર્તિ માનવું જ નિર્દોષ છે.

શંકા—જો રૂપને જ મૂર્તિ માનીએ તો મૂર્તિ શબ્દનો વાચ્ય એકલું ગુણ જ થશે આથી રૂપ જ મૂર્તિ નથી.

સમાધાન—દ્રવ્યાર્થિકનયના અભિપ્રાયે રૂપને મૂર્તિ કહેવામાં આવ્યું છે. દ્રવ્યના રૂપ આદિ તેનાથી ભિન્ન જણાતા નથી. આ કારણથી એજ મૂર્તિ દ્રવ્યસ્વભાવના આનયન ગ્રહણ વગે-રેને પ્રાપ્ત કરીને રૂપ કહેવાય છે આથી સ્પર્શ વગેરે મૂર્તિના આશ્રિત કહેવાય છે સ્પર્શ આદિ મૂર્તિનો પરિત્યાગ કરતા નથી કારણકે તેઓ એકબીજાના સહચર છે. જ્યાં રૂપ હોય છે ત્યાં સ્પર્શ રસ અને ગંધ પણ અવશ્ય રહે છે. આથી સ્પર્શ આદિ ચારે ય સહચર છે.

પરમાણુમાં પણ રૂપ આદિ ચારે ગુણ વિદ્યમાન રહે છે પરંતુ તે બધાં એકરૂપ થઈને રહે છે આથી પરમાણું ચતુર્ગુણ વગેરે જાતિભેદવાળા હોતા નથી. વિશેષતા માત્ર એજ છે કે કોઈ દ્રવ્ય ઉત્કટ ગુણપરિણતિને પ્રાપ્ત થઈને તેને ત્યજી દે છે દાખલા તરીકે મીઠું અને હીંગ લો. જ્યારે તેઓ મિશ્ર રૂપે હોય છે તો નેત્ર, નાક તથા સ્પર્શેન્દ્રિયના વિષય હોય છે પરંતુ જ્યારે પાણીમાં પ્રવેશે છે ત્યારે માત્ર જીભ અને નાકના જ વિષય રહે છે. વર્ણ અને સ્પર્શ તો તેમનામાં એ સમયે પણ રહે છે પણ તે ઇન્દ્રિય વડે ગ્રહણ કરી શકાતાં નથી. આ તેમના પરિણમનની વિશેષતા છે.

એવી જ રીતે એક જાતીય પાર્થિવ, પાણીના, તેજના અને વાયુના પરમાણું પણ ક્યારે કોઈ પરિણમનને પ્રાપ્ત થઈને બધી ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રાહ્ય હોતા નથી. આથી રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ જ વિશેષ પરિણામથી યુક્ત થઈને મૂર્તિ કહેવાય છે. ॥ ૩ ॥

'पोग्गला रूविणो'

મૂળસૂત્રાર્થ—પુદ્ગલ દ્રવ્ય રૂપી હોય છે ॥ ૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પુદ્ગલ વર્ણ, ગંધ રસ અને સ્પર્શથી યુક્ત હોવાના કારણે, આંખ દ્વારા ગ્રાહ્ય હોવાના કારણે અને મૂર્ત્ત હોવાથી રૂપી છે-તેઓ અરૂપી નથી પુદ્ગલ જો અરૂપી હોત તો નેત્ર દ્વારા તેમને જોવું શકય ન હોત સ્થાનાંગસૂત્રના પાંચમાં સ્થાન ત્રીજા ઉદ્દેશકના પ્રથમ સૂત્રમાં કહ્યું છે-'પુદ્ગલાસ્તિકાય રૂપીકાય છે, ભગવતી સૂત્રના સાતમાં શતકનાં દશમાં ઉદ્દેશકમાં પણ કહ્યું છે-પુદ્ગલાસ્તિકાય રૂપીકાય છે ॥ ૪ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં સામાન્ય રૂપથી દ્રવ્યોને અરૂપી કહેવામાં આવ્યા હતા પરંતુ વિશેષરૂપથી પુદ્ગલાસ્તિકાયની અરૂપતાનો નિષેધ કરીને તેમને રૂપી પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પુદ્ગલ રૂપી છે-અરૂપી નહીં નિત્યતા અને અવસ્થિતતા તો પુદ્ગલોમાં જ હોય છે કારણ કે તે પોતાના પુદ્ગલ સ્વભાવનો કયારેય પણ ત્યાગ કરતાં નથી. સર્વદા રૂપાદિમાન જ રહેવાના કારણે તે અવસ્થિત પણ છે. માત્ર અરૂપીપણું તેમનામાં હોતું નથી.

શંકા—પુદ્ગલદ્રવ્ય ઉત્પન્ન અને વિનાશ પામતા હોવાથી તેમને અનિત્ય માનવું જ યોગ્ય લેખાશે તેમનામાં અનિત્યતાથી વિરૂદ્ધ નિત્યતા હોઈ શકતી નથી.

સમાધાન—નિત્યતા બે પ્રકારની કહેવામાં આવી છે (૧) અનાદિ અનન્તતા અર્થાત્ આદિ પણ ન હોય અને અન્ત પણ ન હોય (૨) સાવધિનિત્યતા-અવધિયુક્ત નિત્યતા. પ્રથમ પ્રકારની નિત્યતા લોકની જ છે. તેને આદિ પણ નથી કે નથી અન્ત. તેના પ્રવાહનો કદી પણ વિચ્છેદ થતો નથી તે પોતાના સ્વભાવનો કયારેય પણ ત્યાગ કરતો નથી વિવિધ પ્રકારના પરિણમનો ને ઉત્પન્ન કરવાની શકિતથી યુકત છે-આ જ અનાદિ-અનન્ત નિત્યતા છે.

બીજા પ્રકારની નિત્યતા શ્રુતોપદેશની છે શ્રુતનો ઉપદેશ ઉત્પત્તિમાન અને પ્રલયવાન છે તો પણ તે અવસ્થિત રહે છે. પર્વત, સમુદ્ર વલય વગેરેનું અવસ્થાન પણ સાવધિ નિત્યતામાં પરિગણિત છે.

એવી જ રીતે અનિત્યત્વ પણ બે પ્રકારના છે (૧) પરિણામાનિત્યત્વ (૨) ઉપરમાનિત્યત્વ માટીનો પિન્ડો સ્વભાવથી અને પ્રયત્નથી પોતાની પૂર્વ-અવસ્થાને ત્યજી દઈ નવીન અવસ્થાને પ્રત્યેક સમયે પ્રાપ્ત થતો રહે છે. આ પ્રકારની અનિત્યતાને પરિણામા નિત્યતા કહે છે.

ઉપરમાનિત્યત્વ ભવોચ્છેદ-સંસારનો અંત આવવો તેમ છે ચારે ગતિઓમાં પરિભ્રમણનો અંત થયા પર પર્યન્તવર્ત્તી જે અવસ્થાન છે તે ઉપરમાનિત્યત્વ છે અત્યન્તાભાવવર્ત્તી નથી.

આમાંથી પરિણામનિત્યત્વની દૃષ્ટિથી પુદ્ગલ દ્રવ્ય અનિત્ય કહેવાય છે અને પોતાના પુદ્ગલપણાનો ત્યાગ ન કરવાના કારણે નિત્ય પણ માનવામાં આવે છે. બંને પ્રકારનો વ્યવહાર જોવામાં આવે છે આથી કોઈ વિરોધ આવતો નથી. પ્રત્યેક વસ્તુમાં ઉક્ત બંને જ પ્રકારની અર્થાત્ નિત્યતા અને અનિત્યતાની વ્યવસ્થા છે અને એજ પ્રકારની પ્રતીતિ થાય છે. હા, કદી અનિત્યતાને ગૌણ કરીને નિત્યતાની પ્રધાનતાથી વિવક્ષા કરવામાં આવે છે અને કયારેક નિત્યતાની પ્રધાનતા કરીને અનિત્યતાને ગૌણ કરી દેવામાં આવે છે. આ રીતે પુદ્ગલમાં અનિત્યતા અને નિત્યતા બંને જ ધર્મ રહે છે એવું માનવામાં લગીર પણ મુશ્કેલી નથી.

તે પુદ્ગલ રૂપી અર્થાત્ રૂપવાળા છે પૂરણ અને ગલન સ્વભાવવાળા હોવાથી તે પરમાણું થી લઈને અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કંધ સુધી જાણવા જોઈએ. પુદ્ગલ અનેક રૂપ પરિણમનના પોતાના સામર્થ્યના કારણે સૂક્ષ્મ, સ્થૂળ, વિશેષ, અવિશેષ, પ્રકર્ષ, અપકર્ષ રૂપ અસાધારણ રૂપવત્તાને ધારણ કરે છે. ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોમાં આ હેતું નથી એ કારણથી પુદ્ગલોમાં રૂપવત્વનું અવધારણ કરવામાં આવ્યું છે. પુદ્ગલ ભલે પરમાણું હોય અગર દ્વયણુક આદિ રૂપમાં વધીને મોટો સ્કંધ બની જાય પરંતુ રૂપવત્વ પુદ્ગલનો ત્યાગ કરતો નથી અને પુદ્ગલ-દ્રવ્ય કદીપણ રૂપવત્તાનો પરિત્યાગ કરતું નથી આથી એ યોગ્ય જ કહેવામાં આવ્યું છે કે પુદ્-ગલ રૂપી હોય છે.

ચક્ષુગ્રાહ્ય રૂપ જે પરમાણુ દ્વયણુક વગેરે પુદ્ગલોના હોય તે રૂપી કહેવાય છે એ પ્રકારનો વિગ્રહ કરીને છઠ્ઠી વિભકિત બતાવવાથી એવુ સૂચિત કરવામાં આવે છે કે ભેદ વિવરણથી દ્રવ્ય અને ગુણમાં ભિન્નતા છે. જો બંનેમાં અભેદનું વિવરણ કરીએ તો અભેદ, પણ છે. આ અભિપ્રાય છે "રૂપ જેમનામાં છે તે રૂપી એમ સાતમી વિભકિત લઈને વિગ્રહ કરવામાં આવ્યો છે. અથવા દ્રવ્ય અને ગુણમાં પર્યાયાર્થિકનયની અપેક્ષાથી ભેદ અને દ્રવ્યાર્થિકનયની અપેક્ષાથી-અભેદ સમજવો જોઈએ. રૂપાત્મક મૂર્ત્તિથી ભિન્ન પુદ્ગલ કોઈ સ્થળે ઉપલબ્ધ થતાં નથી–બંને ભિન્ન ભિન્ન દેશોમાં મળતાં નથી આથી તેમનામાં અભેદ છે. એવી જ રીતે એવો જે વ્યવહાર થાય છે કે ચન્દ્રનું રૂપ શ્વેત છે, રસ તીખો છે, ગંધ સુરભિ છે, સ્પર્શ શીતળ છે, એ ભેદ હોવા પર જ સંભવિત છે.

'આ મુનિની આ મુહપત્તિ છે' એમાં જેમ મુનિ અને મુહપત્તિમાં ભેદ હોવાથી જ છઠ્ઠી વિભકિત દેખાય છે એજ રીતે દ્રવ્ય અને ગુણમાં પણ ભેદ છે.

શંકા—જેવી રીતે એક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યથી ભિન્ન મળી આવે છે તે જ રીતે રૂપ આદિ ગુણ દ્રવ્યથી જુદાં મળી આવતા નથી તેમજ ન તો દ્રવ્ય જ રૂપ વગેરે ગુણોથી ભિન્ન ઉપ-લબ્ધ હોય છે.

સમાધાન—જો દ્રવ્ય અને ગુણમાં ભેદ ન હોત તો ચન્દનનું શ્વેત રૂપ, તીખો રસ, સુર-ભિગંધ એ મુજબ છઠ્ઠી વિભકિત ન હોત. ભેદ થવાથી જ છઠ્ઠી વિભકિત થાય છે, અભેદમાં નહીં. આથી દ્રવ્ય અને ગુણમાં ભેદ અવશ્ય માનવો જોઈએ—

કદાચિત્ કહેવામાં આવે છે સેના, વન આદિની જેમ અન્ય અર્થોમાં પણ છઠ્ઠી વિભકિત દેખાય છે દાખલા તરીકે સેનાનો હાથી-વનનો આંબો (જંગલની કેરી) હાથી વગેરે પદાર્થોનો સમૂહ જ સેના પદનો અર્થ છે અને આંબા વગેરે વૃક્ષોનો સમૂહ જ વન હોય છે. એનો જવાબ એ છે કે સેનાનો હાથી અને વનનો આંબો તેમાં કોઈ ભેદ નથી. અનિશ્ચિત દિશાઓ તથા દેશોમા રહેલાં હાથી, પુરુષ ઘોડા અને રથોમાં, જે સમ્બન્ધ વિશેષથી વિશિષ્ટ છે. જેમની સંખ્યા નિશ્ચિત–અનિશ્ચિત છે તે બધાની જે બહુત્વ સંખ્યા છે, તેજ સેનાપદનો અર્થ છે. એકલો હાથી જ એવો શબ્દનો વાચ્ય નથી

એવી જ રીતે સહકાર, આંબો, જાંબુ જબીર–લીંબૂ દાડમ વગેરેના વૃક્ષોનો સમૂહ જ કાનન શબ્દનો વાચ્ય છે માત્ર સહકારજ વન શબ્દનો અર્થ નથી આથી તે બંને પણ ભિન્ન છે.

એવી જ રીતે યૂષ અને પંક્તિ વગેરે પણ અર્થાન્તર જ સમજવા જોઈએ બીજા બીજા દ્રવ્યોના સંસર્ગથી યુકત સમુત્પન્ન પાકજ દ્રવ્યોના કાલ વિશેષનો અનુગ્રહ થવાથી પાકજની ઉત્પત્તિ થવા પર સંજોગ વિશેષ રૂપ થાય છે તે ઓદનથી ભિન્ન છે એવી જ રીતે પંક્તિ પણ એક દિશા અને દેશમાં સ્થિત, પ્રત્યાસત્તિથી ઉપકૃત નિયતઅનિયત સંખ્યાવાળા ભિન્ન અભિન્ન જાતિવાળા આધારોમાં વિદ્યમાન બહુસંખ્યા જ કહેવાય છે. એ કારણે બંને દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિકનય પરસ્પર સાપેક્ષ થઈને જ વાસ્તવિકતાનુ પ્રતિપાદન કરે છે, એકાન્ત રૂપથી નહીં. આથી તાત્પર્ય એ છે કે વિવરણ અનુસાર રૂપાત્મિકા મૂર્ત્તિ પુદ્‌ગલોમાં કથંચિત્ ભિન્ન અને કથંચિત્ અભિન્ન છે ॥ ૪ ॥

"आइमाणि तिन्नि एगदव्वाणि अकिरियाणि अन्तिमाणि अणंताणि"

મૂળસૂત્રાર્થ—આદિના ત્રણ દ્રવ્ય એક-એક છે અને અન્તના ત્રણ દ્રવ્ય અનન્ત-અનન્ત છે ॥૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલાના ત્રણ દ્રવ્ય અર્થાત્ ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ એક-એક દ્રવ્ય છે. તેઓ કાળ, જીવ અને પુદ્‌ગલની જેમ ભિન્ન-ભિન્ન ઘણાં નથી દ્રવ્યની અપેક્ષા આમાંથી પ્રત્યેક દ્રવ્ય એક-એક સમજવું જોઈએ પરંતુ ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાથી અસંખ્યાત તથા અનન્ત સમજવા જોઈએ.

ધર્મ, અધર્મ અને અકાશ આ ત્રણ દ્રવ્યો ક્રિયારહિત છે. એવી રીતે જેમ જીવદ્રવ્ય જુદા-જુદા જીવોની અપેક્ષાથી ભિન્ન છે, પુદ્‌ગલદ્રવ્ય પણ પ્રદેશ અને સ્કંધની અપેક્ષાથી ભિન્ન છે. એવી જ રીતે કાલદ્રવ્ય પણ અધ્ધા સમય વગેરેની અપેક્ષાથી ભિન્ન છે. તેવીજ રીતે ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્ય ભિન્ન-ભિન્ન નથી તાત્પર્ય એ છે કે અન્તના ત્રણ દ્રવ્ય કાળ, પુદ્‌ગળ અને જીવ અનન્ત છે ॥ ૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જેવી રીતે પુદ્‌ગલ દ્રવ્ય પરમાણુ દ્વયણુક આદિના ભેદથી, પ્રદેશ અને સ્કંધ આદિની અપેક્ષાથી અનેક પ્રકારના છે કાલદ્રવ્યપણ અદ્ધા સમય આવલિકા આદિના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે અને જેવી રીતે જીવદ્રવ્ય નારકી, દેવતા, તિર્યંચ અને મનુષ્ય વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારનાં છે તેવી જ રીતે ધર્મ આદિ દ્રવ્યો પણ શું અનેક છે ? એવી આશંકા થવાથી કહે છે—

આદિના ત્રણ દ્રવ્ય અર્થાત્ ધર્મ અધર્મ અને આકાશ એક-એક દ્રવ્ય જ છે તેમની સરખી જાતીવાળું બીજું દ્રવ્ય નથી અર્થાત્ જેમ એક જીવથી બીજા જીવનું પૃથક્ અસ્તિત્વ છે અને એક જીવ સ્વયં જ પરિપૂર્ણ દ્રવ્ય છે, તેવી રીતે ધર્મદ્રવ્ય પૃથક્ પૃથક્ નથી તે અસંખ્યાત પ્રદેશોનો એક જ સમૂહ છે જે અખન્ડ રૂપથી સમ્પૂર્ણ લોકાકાશ વ્યાપ્ત છે અધર્મ દ્રવ્ય પણ એવુ જ એક અખંડ દ્રવ્ય છે આકાશ પણ વ્યકિતશ પૃથક્ નથી તે અનન્તાનંત પ્રદેશોનોએક જ અખંડ પિન્ડ છે

ધર્મ, અધર્મ અને આકાશની ક્રમશ સ્થિતિ અને અવગાહ રૂપ ઉપકાર છે સમસ્તગતિ પરિણત જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિમાં સહાયક થનારુ દ્રવ્ય-ધર્મદ્રવ્ય છે. એજ રીતે સ્થિતિ પરિણત બધાની સ્થિતિમાં સહાયતા કરનાર અધર્મદ્રવ્ય છે જેમાં બધાં દ્રવ્ય પ્રકાશિત થાય છે અગર જે સ્વયં જ પ્રકાશિત થાય છે તે આકાશ કહેવાય છે. આ પ્રકારની વ્યુત્પત્તિ અનુ-

સાર ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહન ઉપકાર છે. ગતિ વગેરે ત્રણેથી યુક્ત વસ્તુ અર્થક્રિયા કરવામાં સમર્થ હોય છે એમ અનેકાન્તવાદી સ્વીકારે છે.

પ્રાકૃત સૂત્રમાં "એક" શબ્દ અસહાયક અર્થમાં ગ્રહણ કરવામાં આવ્યો છે આથી જેમ પરમાણુ રૂપ પુદ્ગલ દ્રવ્ય બીજા પરમાણુથી સદ્વિતીય છે અર્થાત્ એક પરમાણું બીજા પરમાણુથી ભિન્ન સ્વતંત્ર અસંયુકત અસ્તિત્વ રાખે છે અને જેમ એક આત્મા બીજા આત્માથી ભિન્ન અસ્તિત્વવાળો છે અને તે બધાના ચૈતન્ય સુખ, દુઃખ આદિ ગુણ યથાર્થ ભિન્ન-ભિન્ન છે અને જેમ કાળદ્રવ્યનો કાળાંતરથી ભેદ છે તેવો ભેદ ધર્મ આદિ દ્રવ્યોમાં નથી. એક ધર્મદ્રવ્યથી ભિન્ન બીજા ધર્મદ્રવ્યની પૃથક્ સત્તા નથી. અધર્મ દ્રવ્ય પણ પરસ્પર ભિન્ન બે અગર વધારે નથી. આકાશ પણ વ્યક્તિશઃ અનેક નથી આ કારણથી ધર્મ આદિ ત્રણ દ્રવ્યોને એક-એક કહેવામાં આવ્યા છે.

કાળ પુદ્ગલ અને જીવ અનેક દ્રવ્ય છે. કાલ દ્રવ્ય સમય આવલિકા, નિમેષ ક્ષણ લવ આદિ રૂપથી અનેક દ્રવ્ય છે. પુદ્ગલ પણ અનેક દ્રવ્ય છે કારણ કે પરમાણુઓ તથા દ્વયણુકોથી લઈને અનન્તાનન્તાણુક સ્કંધોની સત્તા સ્વતંત્ર છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, પંચેન્દ્રિય આદિ જીવોની પોત-પોતાની સ્વતંત્ર સત્તા છે.

એવી જ રીતે ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્ય અક્રિય અર્થાત્ ગમન રૂપ ક્રિયાથી રહિત છે. ક્રિયા રૂપ પરિણમનથી યુકત દ્રવ્ય આભ્યંતર કારણ છે અને પ્રેરણા આદિ બાહ્ય કારણ છે. આ બંને કારણોથી દ્રવ્યની દેશાંતર પ્રાપ્તિ (એક સ્થળેથી બીજે સ્થળે પહોંચવું) રૂપ પર્યાય ક્રિયા કહેવાય છે. આ ક્રિયા ધર્મ આદિ ત્રણ દ્રવ્યોમાં થઈ શકતી નથી.

આ પ્રકારે પુદ્ગલ અને જીવમાં થનારી દેશાંતર પ્રાપ્તિ રૂપ જે વિશેષ ક્રિયા છે તેનો જ ધર્મ આદિ ત્રણ દ્રવ્યોમાં નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે એવું નહીં સમજી લેવું જોઈએ કે એમનામાં ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય રૂપ ક્રિયા પણ નથી. જો એમનામાં સત્તા છે તો ઉત્પાદ અને વ્યયનું હોવું પણ અનિવાર્ય છે. ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય વગર કોઇ પણ વસ્તુ સત્ થઈ શકતી નથી. આથી દ્રવ્ય હોવાના કારણે જેમ મુકતાત્માઓમાં ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય માનવામાં આવે છે તેવી જ રીતે ધર્મ આદિ દ્રવ્યોમાં પણ મનાય છે.

આ રીતે અવગાહ દેવું આકાશનું લક્ષણ છે અને તેજ તેનો ઉપકાર છે. તે ઉપકાર અવગાહ્ય જીવ આદિ વગર અભિવ્યકત થતો નથી આથી અવગાઢ જીવાદિના સંયોગમાત્ર જ અવગાહ છે. સંયોગ ઉત્પન્ન થનારી બે વસ્તુઓમાં થાય છે, જેમ બે આંગળીઓનો સંયોગ એ રીતે અવગાહ દેવું તે આકાશનો ઉપકાર છે તેવી જ રીતે ધર્મ અને અધર્મનો ઉપકાર ગતિ અને સ્થિતિમાં સહાયક હોવાનો છે. તે પણ ગતિમાન અને સ્થિતિમાન દ્રવ્યોનો સંયોગમાત્ર છે. આ કારણથી ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્ય પણ ઉત્પાદ વ્યય વગેરે સ્વભાવવાળા છે વગેરે પ્રશ્નોનું સમાધાન થઈ જાય છે.

આ સૂત્રનો આશય એ છે કે જેમ જીવ અને પુદ્ગળમાં એક જગાએથી બીજી જગાએ જવાની વિશેષ ક્રિયા થાય છે, તેવી ક્રિયા ધર્મ આદિ ત્રણ દ્રવ્યોમાં થતી નથી પરંતુ ઉત્પાદ આદિ સામાન્ય ક્રિયા તેમનામાં માનવામાં કોઈ પણ દોષ નથી.

શંકા—જો ધર્મ વગેરે ત્રણ દ્રવ્યો નિષ્ક્રિય છે તો તેમનામાં ઉત્પાદ ઘટિત થતો નથી કારણ કે ઘટ આદિમાં જે ઉત્પાદ દેખાય છે તે ક્રિયાપૂર્વક જ થાય છે, ઉત્પાદના અભાવમાં વ્યય પણ થઇ શકતો નથી. આવી સ્થિતિમાં બધા દ્રવ્ય ઉત્પાદ વ્યય ધ્રૌવ્યાત્મક છે એ માન્યતા ખંડિત થઈ જાય છે.

સમાધાન—ધર્મ આદિ ત્રણ દ્રવ્યોમાં ઘડાની જેમ ક્રિયા નિમિત્તક ઉત્પાદ થતો નથી ત્યાં બીજી જ રીતે ઉત્પાદની કલ્પના કરવામાં આવી છે.

ઉત્પાદ બે પ્રકારના છે—સ્વનિમિત્તક અને પરનિમિત્તક અનન્ત અગુરુલઘુ ગુણોનો જે આગમની પ્રમાણતાના આધાર પર વિચાર કરવામાં આવે છે અને જે ષટ્સ્થાન પતિત વૃદ્ધિ અને હાનિથી પ્રવૃત્ત હોય છે, સ્વભાવથી જ ઉત્પાદ અને વ્યય થાય છે તેને સ્વનિમિત્તક ઉત્પાદ કહે છે અશ્વ આદિની ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહનમાં કારણ હોવાથી ધર્માદિ દ્રવ્યોમાં ક્ષણે ક્ષણે ભેદ થતો રહે છે અર્થાત્ ધર્મ દ્રવ્ય ક્યારેક અશ્વની કદી મનુષ્યની અને કદી કોઈ પુદ્ગલની ગતિમાં સહાયક થાય છે એજ રીતે અધર્મ દ્રવ્ય તેમની સ્થિતિમાં સહાયક થાય છે જ્યારે ઘડાને એક જગાએથી ખસેડી બીજી જગ્યાએ મુકવામાં આવે છે ત્યારે પહેલાનાં આકાશ પ્રદેશોથી તેનો વિભાગ અને બીજી જગ્યાના આકાશ પ્રદેશોથી સાથે સંયોગ થાય છે. આ સંયોગ–વિભાગની ઉત્પત્તિ અને વિનાશ જ આકાશનો ઉત્પાદ–વિનાશ છે. આ પરનિમિત્તક ઉત્પાદ–વિનાશ કહેવાય છે. ધર્માદિ દ્રવ્ય જો નિષ્ક્રિય છે તો તે જીવો અને પુદ્ગળોની ગતિ આદિમાં કારણભૂત કેવી રીતે હોઈ શકે ? એમ કહેવું ઉચિત નથી, ધર્માદિ દ્રવ્ય આંખની જેમ માત્ર સહાયક જ હોય છે આથી એ દોષ નથી. તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ દ્રવ્ય સ્વયં ગતિમાં પરિણત જીવ–પુદગલોની ગતિમાં, અધર્મ દ્રવ્ય સ્વયં સ્થિતિમાં પરિણત જીવ–પુદગલોની સ્થિતિમા અને આકાશ સ્વયં આકાશરૂપ પરિણત અન્ય દ્રવ્યોના અવગાહનમાં સહાયક થાય છે. ગતિ આદિની પ્રેરણા કરવી તેમનો સ્વભાવ નથી.

જેમ રૂપની ઉપલબ્ધિમાં ચક્ષુ નિમિત્ત હોય છે, તો પણ વિક્ષિપ્ત ચિત્ત વાળા માટે તે નિમિત્ત હોતી નથી, એવી જ રીતે ધર્મ, અધર્મ અને આકાશને ક્રિયાહીન માનવા છતાં પણ જીવો અને પુદગલો સક્રિય હોવાથી તેમનામાં પણ સક્રિયતાની સિદ્ધિ થઈ જાય છે. એવી જ રીતે કાલ પણ સક્રિય સિદ્ધ થાય છે. આ દ્રવ્યોનો સાથેનું પ્રકરણ નથી.

આગમમાં કહ્યું છે—પ્રત્યેક વસ્તુ ઉત્પન્ન થાય છે, નષ્ટ પણ થાય છે અને કાયમ પણ રહે છે. અન્યત્ર પણ કહેલું છે.

જેમ અવગાહ આદિ ગુણ હોવાના કારણે ઉત્પાદ વ્યય, ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળા છે તેજ રીતે જીવના ગુણ જો ઉત્પાદ આદિ સ્વભાવવા છે તો શુ દોષ આવે ? ॥૧॥

અવગાહક વગર અવગાહન કેવી રીતે થઈ શકે ? ગતિ આદ ઉપકાર પણ આ પ્રકારના છે ? ॥૨॥

દ્રવ્ય, પર્યાયથી સર્વથા ભિન્ન નથી અર્થાત્ કથંચિત અભિન્ન છે આવી સ્થિતિમાં પર્યાયનો નાશ થવાથી આકાશ આદિ દ્રવ્યોને સર્વદા નિત્ય કેવી રીતે માની શકાય ? ॥૩॥૫॥

'धम्माधम्मलोगागासेगजीवाणसंखेज्जा पएसा'

મૂળસૂત્રાર્થ—ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવનાં અસંખ્યાત-અસંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે. ॥૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે તેના પ્રદેશોની સંખ્યા દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ.

ધર્મ અધર્મ લોકાકાશ અને એક જીવમાં પ્રત્યેકના અસંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે. ॥૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પરમાણુને બાદ કરતાં શેષ બધાં જ મૂર્ત અને અમૂર્ત દ્રવ્યોના પ્રદેશ હોય છે. અવયવ સ્કંધોમાં જ હોય છે. વ્યવહાર માટે જે કલ્પિત કરવામાં આવે છે, તે પ્રદેશ છે અથવા પ્રકૃષ્ટ દેશને કોઈ સ્કંધના બધાંથી નાના અવયવને, જેનાથી નાનું કોઈ અવયવ ન હોઈ શકે તેને પ્રદેશ કહેવાય છે જે જુદાં પાડી શકાય અગર ભેગા થઈ શકે તે અવયવ કહેવાય છે. આ કારણે અમૂર્ત ધર્મ અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોમાં અવયવોનો વ્યવહાર હોતો નથી એજ પ્રમાણે અન્ય પરમાણુઓમાં પણ અવયવોનો વ્યવહાર હોતો નથી. પરમાણું શિવાય મૂર્ત પુદ્ગલોમાં જ અવયવનો વ્યવહાર થાય છે.

પ્રદેશોનો વ્યવહાર પરમાણુને છોડીને, બધાં દ્રવ્યોમાં હોય છે.

તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ, અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોનો પરમાણુનો મૂર્તિ વ્યવચ્છિન્ન પ્રદેશ છે. પુદગળ દ્રવ્યનો નિરંશ દ્રવ્યરૂપ ભાગ પ્રદેશ કહેવાય છે તેનો કોઈ અન્ય પ્રદેશ હોતો નથી. આથી જે કદીપણ વસ્તુથી ભિન્ન ઉપલબ્ધ હોતો નથી તે પ્રદેશ કહેવાય છે. અને જે ઈલાયદા થઈને પૃથક્ પ્રતીત થાય છે તેમને અવયવ કહેવામાં આવે છે. વાસ્તવમાં સ્પષ્ટ રૂપથી પ્રતીત થનારા તથા સ્નિગ્ધતા આદિના કારણે સંયોગ અને વિભાગવાળા તે અંશ અવયવ છે જેમના દ્વારા દ્રવ્ય ભિન્ન કરવામાં આવે છે. તેઓ સ્કંધોમાં જ હોય છે.

સ્વભાવથી અથવા પ્રયોગથી જે પૃથક્ કરવામાં આવે છે તે અવયવ કહેવાય છે. તે અવયવ દ્વયણુકાદિથી લઈને અન્ય જે રૂપી સ્કંધ છે તેમાં જ હોય છે. ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, જીવ અને પરમાણુમાં હોતા નથી. જુદા-જુદા અવયવોનું જ્યારે પિન્ડરૂપ પરિણમન થાય છે. ત્યારે સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે અને જે એકત્ર છે તેમનો ભેદ થવાથી દ્વયણુક વગેરેની ઉત્પત્તિ થાય છે પરંતુ પરમાણું, ભેદ થવાથી જ ઉત્પન્ન થાય છે. આ પ્રકારે અવયવોનો વ્યવહાર પુદ્ગલ દ્રવ્યના વિષયમાં જ થાય છે.

આ રીતે ૬ છ દ્રવ્યોમાંથી ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવના અસંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે. જે સહુથી સૂક્ષ્મ હોય નિરવયવ હોય અને સ્કંધની સાથે મળેલા હોય તે પ્રદેશ કહેવાય છે. સર્વજ્ઞ ભગવાન તેને સાક્ષાત્ જુએ છે, જાણે છે. પરંતુ આપણે અલ્પ જ્ઞાનવાળા તેમનો સાક્ષાત્કાર કરી શકતા નથી માત્ર એ પ્રકારના ઉપાયથી તેની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ.

દ્રવ્ય પરમાણું લઈને પ્રદેશના પરિમાણને સમજી લેવું જોઈએ. એક પરમાણુથી આક્રાન્ત દેશ અવગાહ રૂપ પ્રદેશ છે. કહી શકાય કે અવગાહ રૂપ પ્રદેશ આકાશનો જ હોય છે, ધર્મ વગેરેનો નહીં કારણ કે અવગાહના આકાશનું લક્ષણ છે પરંતુ એનાથી આપણને કોઈ નુકશાન નથી. અવગાહરૂપ પ્રદેશ જ લક્ષણ જાણી લીધા પછી એ પણ જાણી શકાય છે કે લોકાકાશમાં આકાશના એક પ્રદેશમાં જેટલો ધર્માસ્તિકાયનો પ્રદેશ અવગાહ છે, તે એટલો જ છે. અર્થાત્

લોકાકાશના એક પ્રદેશ સૂક્ષ્મતમ અંશમાં ધર્માસ્તિકાયનો જે સૂક્ષ્મતમ અંશ વ્યાપ્ત છે, તે જ ધર્માસ્તિકાયનો એક પ્રદેશ કહેવાય છે. એવી જ રીતે અધર્માસ્તિકાયના પ્રદેશ સંબંધી પણ જાણી લેવું જોઈએ.

આકાશ અવકાશ આપવામાં કામ આવે છે, ધર્મ દ્રવ્ય ગતિમાં ઉપકારક થાય છે, અધર્મ દ્રવ્ય સ્થિતિમાં નિમિત્ત થાય છે. આ રીતે બધા પ્રદેશો નું આ અવગાહન લક્ષણ સમજી લેવું જોઈએ.

પ્રત્યેક જીવના અસંખ્યાત-અસંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે આ સત્યને પ્રગટ કરવા માટે સૂત્રમાં "એક" શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે. માત્ર જીવ પદનો જ પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો હોત તો જ્ઞાન-દર્શન-ઉપયોગ સ્વભાવ વાળા જીવ સમૂહના અર્થાત્ બધા જીવોનો ભેગા મળીને અસંખ્યાત પ્રદેશ સમજી લેવામાં આવત, એક જીવના નહીં. આમ સ કરતા થઈ જાત "એક" પદનો પ્રયોગ કરવાથી એક-એક જીવના અસંખ્યાત પ્રદેશોનો બોધ થાય છે.

આ રીતે જીવના અસંખ્યાત પ્રદેશ તુલ્ય છે તથાપિ ચામડા વગેરેની જેમ તે સંકોચ અને વિસ્તાર સ્વભાવવાળા હોવાના કારણે તે જ જીવપ્રદેશ કદાચિત્ સહુથી નાના કંથવા વગેરેના શરીરમાં સમાઈ જાય છે અને કદાચિત્ વિસ્તાર પામીને, સંખ્યામાં તેટલા ને તેટલાં જ રહેવા છતાં પણ વિશાળ હાથીના શરીરને વ્યાપ્ત કરી લે છે.

એજ પ્રકારથી જીવો અને અજીવોના આધાર ક્ષેત્રરૂપ લોકાકાશના પણ અસંખ્યાત જ પ્રદેશ હોય છે, ન તો સંખ્યાતા હોય કે ન તો અનન્ત પરંતુ સંપૂર્ણ લોક આલોક રૂપ આકાશના અનન્ત પ્રદેશ હોય છે, ન સંખ્યાતા કે ન અસંખ્યાત પ્રદેશ આ વાત આગલા સૂત્રમાં કહીશું.

અહીં એટલું સમજી લેવું જોઈએ. જે સંખ્યાથી બહાર હોય તે અસંખ્યેય કહેવાય છે. અસંખ્યાતના ત્રણ ભેદ છે—(૧) જઘન્ય (૨) ઉત્કૃષ્ટ અને (૩) અજઘન્યોત્કૃષ્ટ અથવા મધ્યમાં આ સૂત્રમાં જઘન્યોત્કૃષ્ટ અસંખ્યાત ગ્રહણ કરેલ છે

જેટલા ક્ષેત્રને પરમાણુ ઘેરે છે, તેટલું ક્ષેત્ર આકાશનો એક પ્રદેશ કહેવાય છે. ધર્મ, અધર્મ લોકાકાશ અને એક જીવના અસંખ્યાતા પ્રદેશ બરાબર બરાબર છે. સ્થાનાંગસૂત્રના ચોથા સ્થાનનાં ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૩૩૪માં સૂત્રમાં કહ્યુ છે-પ્રદેશોના પરિમાણની અપેક્ષાથી ચાર દ્રવ્ય સમાન છે-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, લોકાકાશ અને એક જીવ.

આમાંથી ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્ય ક્રિયારહિત છે અને સમ્પૂર્ણ લોકાકાશને વ્યાપ્ત કરીને સ્થિત છે. પ્રત્યેક જીવ અસંખ્યાત પ્રદેશી હોવા છતાં પણ સંકોચ-વિસ્તાર સ્વભાવ હોવાના કારણે નામકર્મ દ્વારા નિષ્પન્ન નાના અગર મોટા શરીરમાં રહેતો થકો તેને જ અવગાહન કરીને રહે છે. કેવલી સમૂદ્ઘાતના સમયે ચાર સમયોમાં અર્થાત્ ચોથા સમયમાં સમ્પૂર્ણ લોકને વ્યાપ્ત કરી લે છે અને પછી ચાર સમયોમાં ફેલાયેલા પ્રદેશોને સંકોચી લે છે. એવી રીતે-કેવલી સમૂદ્ઘાતમાં આઠ સમય લાગે છે. ॥ ૬ ॥

'अलोगागासजीवाणमणंता'

મૂળ સૂત્રાર્થ—અલોકાકાશ અને જીવોનાં અનન્ત પ્રદેશ હોય છે. ॥ ૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—જીવ અને અજીવનો આધાર ક્ષેત્ર લોકાકાશ કહેવાય છે લોકાકાશથી આગળ બધી તરફ જે શૂન્ય આકાશ છે તે અલોકાકાશ કહેવાય છે. અહીં સમ્પૂર્ણ આકાશ અભિપ્રેત છે અર્થાત્ સમ્પૂર્ણ આકાશના અને જીવોનાં અર્થાત્ જ્ઞાન, દર્શન રૂપ ઉપયોગવાળા સકળ નારકી, દેવતા, તિર્યંચો અને મનુષ્યોના અનન્ત જેમનો અંત નથી, પ્રદેશ હોય છે અર્થાત્ તેમના ન તો સંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે અથવા ન અસંખ્યાતા જ હોય છે.

જે લોક અને અલોકમાં સમ્પૂર્ણ રીતે પ્રકાશમાન હોય છે તે આકાશ કહેવાય છે. ॥ ૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવના અસંખ્યાત પ્રદેશ કહ્યાં છે હવે સમસ્ત આકાશના અને સમસ્ત જીવોનાં અનન્ત પ્રદેશોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ-અલોક શબ્દ અહીં ઉપલક્ષણ છે આથી તેનો અર્થ છે સમસ્ત આકાશ જેમાં લોક અને અલોક-બંનેનો સમાવેશ થઈ જાય છે. આ રીતે સમ્પૂર્ણ આકાશના તથા નારકી આદિ સમસ્ત જીવસમૂહના અનન્ત પ્રદેશ હોય છે.

શંકા—અવગાહ આપવું આકાશનો ઉપકાર છે; આનો ફલિતાર્થ એ છે કે અવગાહ આપવાના કારણે જ તે આકાશ કહેવાય છે, આ આકાશનું લક્ષણ લોકાકાશમાં જ મળી આવે છે, અલોકાકાશમાં નહીં કારણ કે અલોકાકાશમાં કોઈ જીવ અગર પુદ્ગલાદિ અવગાઢ નથી આથી ત્યાં અવગાહ થવું અશકય છે.

સમાધાન—જેવી રીતે ધર્મ આદિ સંજ્ઞામાત્ર છે તેવી જ રીતે "આકાશ" પણ એક દ્રવ્યની અનાદિકાળથી ચાલી આવેલી સંજ્ઞા માત્ર જ છે.

અથવા—લોકાકાશમાં પણ અવગાહ આપવાની શક્તિ તો વિદ્યમાન જ છે પરંતુ ત્યાં જીવ પુદ્ગલ આદિ કોઈ અવગાહક નહીં હોવાથી તે શક્તિ પ્રગટ થતી નથી. જો ત્યાં કોઈ અવગાહક હોત તો તે પણ અવગાહ પરિણામથી થાત અર્થાત્ જગ્યા આપત પરંતુ ત્યાં કોઈ અવગાહક છે જ નહીં. આ રીતે અલોકાકાશ પણ અવકાશ આપવાની શકિતવાળું હોવાથી તે આકાશ જ કહેવાય છે.

અથવા—અલોકાકાશની જેમ હોવાથી ઉપચારથી આકાશ કહેવાય છે કારણ કે ત્યાં પોલાણ દેખાય છે

ભાવાર્થ એ છે કે લોકાકાશ અને અલોકાકાશ કોઈ બે જુદાં જુદાં દ્રવ્ય નથી. આકાશ એક અખંડ દ્રવ્ય છે જે સર્વવ્યાપી છે પરંતુ તેના જે ભાગમાં ધર્માદિ દ્રવ્ય અર્થાત્પંચાસ્તિકાય અવસ્થિત છે, તે ભાગ લોક, અને, જે ભાગમાં ધર્માદિ દ્રવ્ય નથી તે અલોકાકાશ કહેવાય છે. આ રીતે આકાશના જે બે ભેદ કરવામાં આવ્યા છે તે પરનિમિત્તક છે, સ્વનિમિત્તક નથી આકાશ પોતાના સ્વરૂપથી એક અને અખંડ છે.

શંકા—નિત્ય હોવાના કારણે આકાશમાં ઉત્પાદ, વ્યય અને ધ્રૌવ્ય કેવી રીતે ઘટીત થઇ શકે છે ? આ લક્ષણ ન હોવાથી તે વસ્તુ પણ થઈ શકે નહીં. કારણકે જેમાં ઉત્પાદ વગેરે હોય તેને જ વસ્તુ કહી શકાય છે.

સમાધાન—આકાશમાં સ્વાભાવિક પરિણમન થાય છે આથી તેમાં પણ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય ઘટીત થાય છે. જીવો અને પુદ્ગલોમાં પ્રયોગ–પરિણામથી પણ ઉત્પાદ આદિ થાય છે. પ્રજ્ઞાપનાના ત્રીજા પદનાં ૪૧માં સૂત્રમાં કહ્યું છે–

આકાશસ્તિકાય પ્રદેશોની અપેક્ષાએ અનન્તગણા છે. ॥ ૭ ॥

पोग्गलाणं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता य नो परमाणूण

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્ગલોના સંખ્યાતા અસંખ્યાતા અને અનન્ત પ્રદેશ હોય છે, પરંતુ પરમાણુઓનાં પ્રદેશ હોતાં નથી. ॥ ૮ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂરણ અને ગલન સ્વભાવવાળા પરમાણુથી લઇને અચિત્ત મહાસ્કંધ સુધીના વિવિધ પ્રકારનાં રૂપ રસ આદિથી યુકત પુદ્ગલોનાં પૂર્વોકત સ્વરૂપવાળા પ્રદેશ યથા-સંભવ સંખ્યાતા, અસંખ્યાતા તેમજ અનન્ત હોય છે. જે પુદ્ગલ સ્કંધ સંખ્યાતા પરમાણુ-ઓના મિલનથી બન્યું છે તે સંખ્યાતપ્રદેશી। જે અસંખ્યાત પરમાણુઓનાં સંયોગથી બન્યું હોય તે અસંખ્યાત પ્રદેશી તથા જે પુદ્ગલસ્કંધની ઉત્પત્તિ અનન્તપ્રદેશોથી થઇ હોય તે અનન્તપ્રદેશી કહેવાય છે પરંતુ પરમાણુમાં પ્રદેશ હોતા નથી આથી તે નથી સંખ્યાતપ્રદેશી નથી અસંખ્યાતપ્રદેશી અથવા નથી અનન્તપ્રદેશી. ॥ ૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમાં ધર્મ વગેરે અમૂર્ત્ત દ્રવ્યોનાં પ્રદેશોનું પરિમાણ બતા-વવામાં આવ્યું હવે મૂર્ત્ત પુદ્ગલોનાં પ્રદેશોનું પરિમાણ દર્શાવવા અર્થે કહીએ છીએ-

દ્વયણુકથી લઈને મહાસ્કંધ સુધીના પુદ્ગલોમાં યથાયોગ્ય સંખ્યાતા અસંખ્યાતા અને અનન્ત પ્રદેશ હોય છે.

કોઈ કોઈ દ્વયણુક આદિ પુદ્ગલસ્કંધના સંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે, કોઈ-કોઈ પુદ્ગલને અસંખ્યાતા તો કોઈ કોઇને અનન્ત પ્રદેશ હોય છે. અહી શંકા થઇ શકે કે કોઈ-કોઈ પુદ્ગલને અનન્તાનન્ત પ્રદેશ પણ હોય છે તો તેમનું પણ ઈલાયદું વિધાન કરવું જોઈતું હતું પરતું આવું કરેલ નથી. અનન્તાનન્ત પણ અનન્તનો જ એક ભેદ છે. આથી સામાન્ય રૂપથી અનન્ત કહેવાથી અનન્તાનન્તનું પણ ગ્રહણ થઇ જાય છે. અનન્તના ત્રણ ભેદ છે-પરિતાનન્ત, યુકતાનન્ત અને અનન્તાનન્ત. આ બધાનું અનન્તમાં જ ગ્રહણ થઇ જાય છે.

પ્રશ્ન—લોકાકાશના પ્રદેશ અસંખ્યાતા જ છે, એવી સ્થિતિમાં તેમા અનન્તપ્રદેશી અને અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કંધ કેવી રીતે સમાઈ શકે છે? આનાથી તો પ્રતીત થાય છે કે પ્રદેશ અનન્ત નથી અથવા લોકાકાશ પણ અનન્ત પ્રદેશી છે.

ઉત્તર—પુદ્ગલોમાં સૂક્ષ્મ રૂપથી પરિણત થઈ અવગાહન કરવાની શકિત છે આથી સૂક્ષ્મ રૂપમાં પરિણત થઈને તેઓ એક જ આકાશપ્રદેશમાં અનન્તાનન્ત સુધી સમાઇ જાય છે. આથી અસંખ્યાત પ્રદેશી લોકાકાશમાં અનન્ત પ્રદેશી સ્કધોનો સમાવેશ થવામાં કોઈ વિરોધ નથી.

સામાન્ય રૂપથી પુદ્ગલોના પ્રદેશ કહેવાથી પરમાણુંના પણ પ્રદેશ હોવાની શકયતા હોઈ શકે છે આથી તેનું નિવારણ કરવા માટે કહીએ છીએ-"**नो परमाणूनाम्**" અર્થાત્ પરમાણુરૂપ પુદ્ગલોના પ્રદેશ હોતા નથી, તે સ્વય એક પ્રદેશવાળુ હોય છે. જેવી રીતે આકાશના એક પ્રદેશમાં પ્રદેશ ભેદ હોતો નથી તેવી જ રીતે પરમાણુંમાં પણ પ્રદેશ ભેદ હોતો નથી-તે જાતે જ એક પ્રદેશ માત્ર જ છે.

પરમાણુ, પુદ્ગલનું સહુથી નાનું દ્રવ્ય છે. તેનાથી નાનો અન્ય કોઇ પુદ્ગલ નથી આથી પરમાણુંમાં પ્રદેશભેદની કલ્પના જ કરી શકાતી નથી. જેમ આકાશના એક પ્રદેશમાં પ્રદેશભેદનો અભાવ છે અને તે સ્વયં જ અપ્રદેશી છે, તેવી જ રીતે અંશરહિત એક પરમાણુંમાં પણ પ્રદેશ હોતા નથી. એક પરમાણુનો વિભાગ કોઇ કરી શકતો નથી. કહ્યું પણ છે-"પરમાણુથી નાનો અને આકાશથી મોટો કોઈ પદાર્થ નથી"

આવી સ્થિતિમાં જ્યારે અણુથી નાનું કોઈ દ્રવ્ય હોઇ જ શકતું નથી તો અણુમાં પ્રદેશભેદ કઇ રીતે સંભવી શકે ?

વાસ્તવમાં અણુમાં પૂર્તિ કરનાર, પરિણામિકારણ મૂળ દ્રવ્ય હોતાં નથી અથવા પરમાણુના પણ પ્રદેશ હોત તો તે અન્ત્ય ન કહેવાત અર્થાત્ તેને નિર્વિભાગ કહેવામાં ન આવત. પ્રજ્ઞાપના સૂત્રનાં પાંચમાં પદમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! રૂપી અજીવદ્રવ્ય અર્થાત્ પુદ્ગલ કેટલાં પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! ચાર પ્રકારનાં (૧) સ્કંધ (૨) સ્કંધદેશ (૩) સ્કંધપ્રદેશ અને (૪) પરમાણુ. પુદ્ગલ અનન્ત છે, દ્વિપ્રદેશી સ્કંધ અનન્ત છે એવી જ રીતે દશ પ્રદેશી સ્કંધ અનન્ત છે, સંખ્યાત પ્રદેશી સ્કંધ અનન્ત છે, અસંખ્યાત પ્રદેશી સ્કંધ અનન્ત છે, અનન્ત પ્રદેશી સ્કંધ અનન્ત છે. ॥ ૮ ॥

'धम्माधम्मागास कालपोग्गलजीवा लोगो'

મૂળ સૂત્રાર્થ—ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ એ દ્રવ્ય લોક કહેવાય છે. ॥ ૯ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા લોકનું કથન કર્યું હવે તેનો અર્થ કહીએ છીએ-ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યને લોક એ પ્રમાણે કહેવામાં આવે છે. જીવ-અજીવનું આધારક્ષેત્ર લોક કહેવાય છે કારણકે જ્યાં ધર્મ આદિ પદાર્થ લોક તરીકે દેખી શકાય તે લોક. આ લોક શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે ॥ ૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવનાં અસંખ્યાત પ્રદેશ છે એ સૂત્રમાં લોક પદ ગ્રહણ કરેલ છે આથી તેના અર્થનું પ્રજ્ઞાપન કરવા માટે કહીએ છીએ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છએ દ્રવ્ય લોક કહેવાય છે.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮માં અધ્યયનની ગાથા ૮મીમાં કહ્યું છે-સર્વદર્શી જિનેન્દ્રોએ ધર્મ; અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવને લોક કહ્યાં છે.

આનાથી એવું સાબિત થાય છે કે જીવોનું તથા અજીવ ધર્મ અધર્મ આકાશ કાળ, પુદ્ગલનું જે-આધારક્ષેત્ર છે, તે લોક છે. લોકથી આગળ અલોક છે. જીવ આદિ દ્રવ્ય લોકમાં જ હોય છે, અલોકમાં આકાશ સિવાય બીજી કોઈ વસ્તુ નથી. અલોક અન્ય દ્રવ્યોથી શૂન્ય છે.

આ સૂત્રમાં એ પણ પ્રગટ કરવામાં આવ્યું છે કે ધર્માદિ દ્રવ્ય સ્વયં પણ લોક કહેવાય છે. આ અર્થમાં લોક શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આમ થાય છે-" **लोक्यते इति लोक**" અર્થાત્ જે જોઈ શકાય તે લોક. ॥ ૯ ॥

ओगाहो लोगागासे नो अलोगागासे

મૂળસૂત્રાર્થ—અવગાહ લોકાકાશમાં થાય છે. અલોકાકાશમાં નહીં.

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વોકત ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનાં અવગાહન, અવગાહ પ્રવેશ, પ્રતિષ્ઠા અગર વ્યાપના લોકાકાશમાં જ થાય છે, લોકાકાશથી બહાર અલોકાકાશમાં નહીં. જ્યાં ધર્મ આદિ પદાર્થ જોઈ શકાય છે તે લોક કહેવાય છે અને લોક સંબંધી આકાશ લોકાકાશ કહેવાય છે ॥ ૧૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનો અવગાહ અથવા સ્થિતિ લોકાકાશમાં છે. તે લોકાકાશ ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયથી વ્યાપ્ત છે. આ બંને દ્રવ્ય અનાદિકાળથી એક બીજા સાથે મળેલાં લોકમાં અવસ્થિત છે પુદ્ગલો અને જીવોની અવગાહના પણ લોકાકાશમાં અનાદિકાલીન છે પરંતુ તેમનામાં ગતિક્રિયા હોવાથી તે ધર્મ, અધર્મની માફક અવસ્થિત નથી. તેમની અવગાહના કયારેક કોઈ આકાશપ્રદેશો સાથે હોય છે. અને કદી કોઈ અન્ય પ્રદેશની સાથે.

લોકથી ભિન્ન અલોકાકાશમાં જીવાદિ હોતાં નથી કારણ કે ત્યાં અધર્મ દ્રવ્ય નથી અને તે જ ગતિ તથા સ્થિતિનાં નિમિત્ત હોય છે.

શંકા—અલોકાકાશમાં ગતિનો ઉપગ્રાહક ધર્મ તથા સ્થિતિનો ઉપગ્રાહક અધર્મ કેમ નથી ?

સમાધાન—ધર્મ અને અધર્મનો સ્વભાવ જ એવો છે કે તેઓ અલોકાકાશમાં રહેતાં નથી. સ્વભાવના વિષયમાં પ્રશ્નનો કંઈ અવકાશ જ અત્રે નથી. આથી જ કહ્યું છે ધર્મ આદિનો અવગાહ લોકાકાશમાં જ છે.

શંકા—ધર્માદિ દ્રવ્યનો લોકાકાશમાં અવગાહ હોવાથી જો લોકાકાશ ધર્માદિનો આધાર છે તો લોકાકાશનો આધાર કયો ?

સમાધાન—લોકાકાશ પોતે જ પોતાના સહારે ટકેલો છે તેના માટે બીજા કોઇ આધારની આવશ્યકતા નથી.

શંકા—જેમ આકાશ પોતે જ પોતાના સહારે રહેલ છે તેવી જ રીતે ધર્માદિ પણ પોતાના સહારે રહી શકે છે તેમનો આધાર આકાશ માનવાની શુ જરૂરીયાત છે ? જો ધર્માદિનો જુદો આધાર-આકાશ સ્વીકાર કરવામાં આવે તો આકાશનો પણ બીજો આધાર માનવો જોઈએ નહીં ? આવી સ્થિતિમાં અનવસ્થા દોષનો પ્રસંગ થશે.

સમાધાન—આકાશથી અધિક પરિમાણવાળુ અન્ય કોઈ દ્રવ્ય નથી કે જેને આકાશનો આધાર માની શકાય આકાશ ચારે તરફથી અન્તરહિત છે આથી વ્યવહારનય અનુસાર આકાશ ધર્માદિ દ્રવ્યોનો આધાર મનાયો છે પરંતુ-નિશ્ચયનયરૂપ તથા ભૂતનયની અપેક્ષાએ બધાં જ દ્રવ્ય સ્વપ્રતિષ્ઠિત છે અર્થાત્ બધાં પોત-પોતાનાં પ્રદેશોમાં રહી ગયા છે આ કારણે જ જ્યારે "આપ કયાં રહો છો ?" એવો કોઈ પ્રશ્ન કરે તો જવાબમાં કહીએ છીએ. "અમારી અંદર જ" ધર્માદિ દ્રવ્ય લોકાકાશથી બહાર રહેતા નથી પરંતુ લોકાકાશમાં જ રહે છે. બસ આ કારણથી જ તેમનામાં આધાર-આધેયભાવની કલ્પના કરવામાં આવે છે

શંકા—લોકમાં એવું દેખી શકાય છે કે જેઓ પૂર્વોત્તર કાળભાવી હોય છે તેમનામાં જ આધાર–આધેયભાવ હોય છે જેવી રીતે કુંડ અને બોર અહીં એવું તો નથી જ કે આકાશ પહેલેથી હતું અને ધર્માદિ પછીથી. આથી વ્યવહારનય અનુસાર પણ આકાશ અને ધર્માદિમાં આધાર, આધેયાભાવની કલ્પના કરવામાં આવતી નથી.

સમાધાન—પૂર્વોત્તરકાલીન પદાર્થોમાં જ આધારાધેયભાવ હોય એવો કોઈ નિયમ નથી. ઘડામાં રૂપ છે, શરીરમાં હાથ વગેરે છે, અહીં એક સાથે હોવાવાળા પદાર્થોમાં પણ આધારાધેય ભાવ જોઈ શકાય છે. આથી આકાશ અને ધર્માદિ યુગપદ્ભાવી પદાર્થોમાં પણ આધારાધેયભાવ સંગત છે.

આ રીતે ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્ય જ્યાં દેખાય તે લોક છે. અહીં અધિકરણમાં ધર્મ પ્રત્યય થયો છે. જ્યાં એવો લોક છે તે લોકાકાશ છે અને તેનાથી બહાર ચારે બાજુ અનન્ત અલોકાકાશ છે. ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયના સદ્ભાવ અને અસદ્ભાવના કારણે જ લોકાકાશ અને અલોકાકાશના વિભાગ છે–હકીકતમાં તો આકાશ ખન્ડરહિત એક દ્રવ્ય છે

ધર્માસ્તિકાય ન હોત તો જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિનું નિયામક કારણ ન રહેવાથી આ વિભાગ પણ ન હોત એવી જ રીતે અધર્માસ્તિકાયના અભાવમાં સ્થિતિનું નિમિત્ત કારણ ન હોત તો સ્થિતિનો જ અભાવ થઈ જાત. આવી દશામાં લોક–અલોકના વિભાગ પણ ન હોત આથી જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ અને સ્થિતિના નિયામક ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયના સદ્ભાવ અને અસદ્ભાવના કારણે જ લોક અને અલોકના વિભાગ થાય છે.

શંકા—સ્થિતિમાં સહાયક અધર્માસ્તિકાય માત્ર લોકમાં જ છે, આગળ નથી, તો અલોકાકાશની સ્થિતિ કેવા પ્રકારની છે ? આજ પ્રકારે કાલના અભાવમાં અલોકાકાશ કેવી રીતે વર્ત્તના કરે છે ?

સમાધાન—તેમની સ્થિતિ અને વર્ત્તના પોત–પોતાના સ્વભાવથી જ થાય છે.

આથી ધર્મ, અધર્મ પુદ્ગલ કાલ અને જીવ દ્રવ્યોની અવગાહના લોકાકાશમાં જ છે. તેનાથી આગળ અલોકાકાશમા તેમની અવગાહના નથી શ્રી ભગવતી સૂત્ર શતક ૨, ઉદ્દેશક ૧૦માં માં કહ્યું છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! આકાશ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે. ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના–લોકાકાશ અને અલોકાકાશ.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! લોકાકાશમાં શું જીવ જીવદેશ, જીવપ્રદેશ, અજીવ–અજીવદેશ અથવા અજીવપ્રદેશ છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જીવ પણ છે, જીવદેશ પણ છે, જીવપ્રદેશ પણ છે, અજીવ પણ છે. અજીવદેશ અને અજીવપ્રદેશ પણ છે જે જીવ છે. તે નિયમથી એકેન્દ્રિય બેઈન્દ્રિય તેઈન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય પચેન્દ્રિય અને અનિન્દ્રિય હોય છે જે જીવદેશ છે તે નિયમથી એકેન્દ્રિયદેશ છે યાવત્ અનિન્દ્રિયદેશ છે, જે જીવપ્રદેશ છે તે નિયમથી એકેન્દ્રિયપ્રદેશ છે યાવત્ અનિન્દ્રિય પ્રદેશ છે.

જે અજીવ છે તે બે પ્રકારના છે-રૂપી અને અરૂપી રૂપી ચાર પ્રકારનાં છે જેવાં કે સ્કંધ સ્કંધદેશ સ્કંધપ્રદેશ અને પરમાણુપુદ્ગલ.

જે અરૂપી છે તે પાંચ પ્રકારના છે જેવાં કે-ધર્માસ્તિકાય નોધર્માસ્તિકાયદેશ ધર્માસ્તિકાયપ્રદેશ અધર્માસ્તિકાય નોઅધર્માસ્તિકાય દેશ અધર્માસ્તિકાય પ્રદેશ અને અદ્ધાસમય

ત્યારબાદ તે જ ભગવતીસૂત્રના બીજા શતકના દશમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—

ભગવન્ ! અલોકાકાશ શું જીવ છે ? વગેરે પ્રશ્નો પૂર્વવત્ કરવા તેનો જવાબ પણ તે જ પ્રકારે છે કે હે ગૌતમ ! અલોકાકાશ જીવ નથી તેમજ અજીવપ્રદેશ નથી અજીવ દ્રવ્ય આકાશનો એક દેશ છે, તે અગુરુલઘુ છે, અનન્ત અગુરુલઘુ ગુણોથી સંયુક્ત છે, સર્વાકાશથી અનન્ત ભાગ ન્યૂન છે.

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮માં અધ્યયનની ૭ મી ગાથામાં કહ્યું છે-"સર્વદર્શી જિનેન્દ્રોએ ધર્મ અધર્મ, આકાશ કાળ પુદ્ગલ અને જીવને લોક કહ્યાં છે. જ્યાં એ દ્રવ્ય નથી ફક્ત આકાશનો દેશ છે તેને અલોક કહેલો છે. ॥ ૧૦ ॥

धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे'

મૂળસૂત્રાર્થ—ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયની અવગાહના સંપૂર્ણ લોકાકાશમાં છે. ॥ ૧૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં બતાવાયું કે લોકાકાશમાં ધર્મ આદિ દ્રવ્યોના પ્રદેશરૂપ અવગાહ છે પરંતુ તે અવગાહ દૂધ અને પાણીની જેમ અને ઝેર અને લોહીની માફક સમસ્ત લોકાકાશના બધાં પ્રદેશોને વ્યાપ્ત કરીને હોય છે અથવા તળાવમાં ત્રસજીવ અગર પુરુષ વગેરેની જેમ એક દેશથી હોય છે આ આશંકાનુ સમાધાન કરવા માટે અહીં કહેવામાં આવ્યું છે કે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્યનો લોકાકાશમાં અવગાહ સમ્પૂર્ણ પણાથી તલમાં તેલની જેમ છે એક દેશથી નહીં. ॥ ૧૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધર્માદિ દ્રવ્યોનો લોકાકાશમાં અવગાહ છે, એ અગાઉ કહેવાઈ ગયું છે, પરંતુ તે અવગાહ કેવા પ્રકારનો છે એ દર્શાવવા માટે કહ્યું છે-ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયનો સંપૂર્ણ લોકાકાશમાં અવગાહ છે લોકાકાશના કોઈ એક દેશમાં નહીં.

સૂત્રમાં 'કૃત્સ્ન' પદનો પ્રયોગ કરીને ધર્મ-અધર્મદ્રવ્યનુ સપૂર્ણ દેશમાં વ્યાપ્ત હોવાનું સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે આથી એ સ્પષ્ટ થઈ ગયુ કે જેમ ઘરના કોઈ એક ખુણામાં ઘર રહે છે તેવી રીતે લોકાકાશમાં ધર્મ અને અધર્મનો અવગાહ નથી બલ્કે તલમાં તેલની જેમ અને દૂધમાં ઘીની માફક સપૂર્ણ લોકાકાશમાં અવગાહ છે આ રીતે અવગાહન શક્તિના કારણે સમસ્ત લોકાકાશમાં ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્ય પ્રદેશોનુ પરસ્પર વ્યાઘાત રહિત અવસ્થાન સમજવુ જોઈએ. તાત્પર્ય એ છે કે લોકાકાશનો જે એક પ્રદેશ છે તે જ ધર્મદ્રવ્યનો પણ એક પ્રદેશ છે અને તે જ અધર્મદ્રવ્યનો પણ પ્રદેશ છે આ બધાં પ્રદેશ વ્યાઘાત વગર જ સ્થિત છે—કોઈના અવસ્થાનમાં અવરોધ કરતા નથી.

આ પ્રકારે લોકાકાશમાં સર્વત્ર ધર્મ, અધર્મનો અવગાહ છે તેનાથી આગળ નથી. જેમ ચેતનનું કાર્ય શરીરમાં જ દેખી શકાય છે, બહાર નહી એ કારણે ચેતના શરીરવ્યાપી જ છે-એવી જ રીતે ધર્મ-અધર્મનો ઉપકાર લોકાકાશમાં જ દેખી શકાય છે, બહાર નહીં આથી તે દ્રવ્ય પણ બહાર નથી.

ફલિતાર્થ એ છે કે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય દૂધ અને પાણીની જેમ પરસ્પર અવગાહન કરીને સમસ્ત લોકાકાશમાં વ્યાપ્ત છે, એવુ નહી કે તળાવમાં પુરુષની જેમ અગર ઘરમાં ઘડાની માફક કોઈ એક ભાગમાં હોય એ કૃત્સ્ન શબ્દથી પ્રકટ કરવામાં આવ્યું છે. ઉત્તરાધ્યયનના ૩૬માં અધ્યયનની ગાથા ૭ મી માં કહ્યું છે—

ધર્મ, અને અધર્મ આ બે દ્રવ્ય લોકાકાશમાં જ કહેવામાં' આવ્યા છે. આકાશ લોકાલોકવ્યાપી છે અને કાળ માત્ર સમયક્ષેત્રમાં અર્થાત્ અઢી દ્વીપમાં જ છે. ॥ ૧૧ ॥

पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसेसु'

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્‌ગલદ્રવ્યના એક પ્રદેશ વગેરેમાં ભજના છે. ॥ ૧૨ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં એ દર્શાવી દેવામાં આવ્યુ છે કે ધર્મ અને અધર્મની લોકાકાશમાં કેવા પ્રકારની અવગાહના છે? હવે લોકાકાશમાં પુદ્‌ગલોનો અવગાહ બતાવવા માટે કહીએ છીએ. પરમાણુ આદિ પુદ્‌ગલ દ્રવ્યોનો અવગાહ લોકાકાશના એક આદિ પ્રદેશોમાં થાય છે.

એવી જ રીતે અપ્રદેશી પરમાણુના સખ્યાતા અસખ્યાતા તથા અનન્ત પ્રદેશવાળા સ્કંધ દ્રવ્યોનું એકાદિ આકાશપ્રદેશોમાં ભજનાથી અવગાહ સમજવો જોઈ એ. આમાંથી પરમાણુંનો તો એક જ આકાશપ્રદેશમાં અવગાહ થાય છે, દ્વયણુકનો એક અગર બે પ્રદેશોમાં ત્ર્યણુકનો એક, બે અથવા ત્રણ પ્રદેશોમાં ચતુરણુક તથા પંચાણુક આદિ સખ્યાતા-અસંખ્યાતા પ્રદેશી સ્કંધનો એક આદિ સખ્યાતા અગર અસંખ્યાતા પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય છે. ત્યાં સુધી કે અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધનો પણ એક, બે સંખ્યાતા અથવા અસંખ્યાતા પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય છે. ॥ ૧૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં અમૂર્ત્ત ધર્મ—અધર્મ દ્રવ્યોનું સંપૂર્ણ લોકાકાશમાં અવગાહ હોવાનું પ્રતિપાદન કર્યું. હવે તેમનાથી વિપરીત મૂર્તિમાન્ અપ્રદેશી, સંખ્યાતપ્રદેશી અસંખ્યાતપ્રદેશી અને અનન્તપ્રદેશી પરમાણુ આદિ પુદ્‌ગલોનો લોકાકાશમાં—અવગાહનું નિરૂપણ કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-

પરમાણુ આદિ પુદ્‌ગલદ્રવ્યોનો અવગાહ ભજનાથી એક આદિ આકાશપ્રદેશોમાં થાય છે અર્થાત્ કોઈ પુદ્‌ગલનો એક પ્રદેશમાં, કોઈનાં બે પ્રદેશોમાં તથા કોઈનો સંખ્યાતા અસંખ્યાતા પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય છે.

પરમાણુંનો એક આકાશ પ્રદેશમાં, બદ્ધ અગર અબદ્ધ દ્વયણુકનો એક અગર બે આકાશ-પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય છે બદ્ધ અગર અબદ્ધ ત્ર્યણુકનો એક, બે અગર ત્રણ પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય છે. એવી જ રીતે સંખ્યાતા, અસંખ્યાતા તથા અનન્તપ્રદેશવાળા પુદ્‌ગલ સ્કંધોનો લોકાકાશના એક, સખ્યાતા અથવા અસંખ્યાતા પ્રદેશોમાં અવગાહ સમજવો જોઈએ.

શંકા—અમૂર્ત્ત હોવાના કારણે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યોનું એક જ આકાશપ્રદેશમા વિના વિરોધ અવસ્થાન હોવું તો શકય છે પરંતુ રૂપી પુદ્ગલદ્રવ્ય એક જ સ્થાન ઉપર કઈ રીતે રહી શકે છે? મૂર્ત્ત દ્રવ્ય પરસ્પર પ્રતિઘાતી હોય છે.

સમાધાન—પોતાના અવગાહન સ્વભાવના કારણે તથા સૂક્ષ્મ રૂપમાં પરિણત થવાના કારણે મૂર્ત્તિમાન પુદ્ગલોનો પણ એક જગ્યાએ અવગાહ થવામાં કોઈ વિરોધ નથી. જેમ એક ઓરડામાં અનેક દીવાઓના પ્રકાશનું હોવું પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે તેવી જ રીતે એક જ આકાશ-પ્રદેશમાં અનેક પરમાણુ સમૂહ રૂપ સ્કંધ પણ રહી શકે છે. આ શિવાય આગમની પ્રમાણતાથી પણ આનો સ્વીકાર કરવો ઘટે.

નિર્વિભાગ હોવાના કારણે પરમાણુ પ્રદેશવિહીન હોય છે તેમાં કોઈ પ્રદેશ હોતો નથી, તે સ્વતંત્ર અને અખંડ હોય છે. સંખ્યાત પરમાણુઓના પ્રચયથી સંખ્યાતપ્રદેશી સ્કંધ બને છે. અસંખ્યાત પરમાણુઓના મીલનથી અસંખ્યાત પ્રદેશી સ્કંધનું નિર્માણ થાય છે અને અનંતપ્રદેશી સ્કંધના મિલનથી અનન્તપ્રદેશી સ્કંધની ઉત્પત્તિ થાય છે

પરમાણુમાં પ્રદેશોનો અભાવ હોવાથી તે આકાશના એક જ પ્રદેશમાં અવસ્થિત થાય છે. બે પરમાણુઓથી બનેલ દ્વયણુક જો બદ્ધ હોય તો એક જ આકાશ પ્રદેશમાં સમાઈ જાય છે અને જો બદ્ધ ન હોય તો બે આકાશપ્રદેશોમાં સમાય છે. એવી જ રીતે ત્રણ પરમાણુઓથી નિર્મિત ત્ર્યણુક જો બદ્ધ હોય તો એક જ આકાશપ્રદેશમાં રહી શકે છે અને જો અબદ્ધ હોય તો બે અગર ત્રણ પ્રદેશોને ઘેરે છે. એવી જ રીતે બદ્ધ અને અબદ્ધ ચતુરણુક આદિની અવગાહના એક, બે આદિ સંખ્યાત–અસંખ્યાત પ્રદેશોમાં યથાયોગ્ય સમજવી ઘટે. અલબત્ત એટલું યાદ રાખવું જોઈએ કે લોકાકાશના પ્રદેશ અસંખ્યાત જ છે, અનન્ત નહીં, આથી અનન્ત તથા અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા સ્કંધ પણ એક, સંખ્યાત અગર અસંખ્યાત આકાશ-પ્રદેશોમાં જ અવગાઢ થાય છે. આ પુદ્ગલના પરિણમનની વિચિત્રતા છે. ॥ ૧૨ ॥

'जीवाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे' इत्यादि

મૂળસૂત્રાર્થ—જીવદ્રવ્યનો અવગાહ લોકનાં અસંખ્યાતમાં ભાગમાં થાય છે. જેમ દીપકનો પ્રકાશ પથરાય છે અને સંકોચાય પણ છે તેવી જ રીતે જીવપ્રદેશ પણ પ્રસરે છે અને સંકોચાય છે. ॥ ૧૩ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—જીવોનો અવગાહ કેટલા ક્ષેત્રમાં થાય છે એવી જિજ્ઞાસા થવા પર કહીએ છીએ—

જીવોનો અવગાહ લોકાકાશના અસંખ્યાતમાં ભાગમાં થાય છે કદાચિત્ લોકાકાશના એક અસંખ્યાતમાં ભાગમાં કદાચિત્ બે અસંખ્યાત ભાગોમાં અને કદાચિત્ ત્રણ અસંખ્યાત ભાગોમાં અવગાહ થાય છે.

શંકા—સરખા પરિમાણવાળા પટ આદિના અવગાહમાં વિષમતા જણાતી નથી તો પછી બધાં જીવોનાં પ્રદેશોમાં સરખાપણુ હોવા છતાંપણ કોઈ જીવની અવગાહના લોકના એક અસંખ્યાતમાં ભાગમાં, કોઈની બે તો કોઈની ત્રણ ભાગોમાં અવગાહના થાય છે. આ વિષમતાનું શું કારણ છે?

સમાધાન—દીપકના પ્રકાશની જેમ સરખાં જીવનાં પ્રદેશોમાં સંકોચ અને વિસ્તાર થાય છે આથી કોઈ જીવ થોડા પ્રદેશોમાં અને કોઈ ઘણાં પ્રદેશોમાં અવગાહે છે. ॥ ૧૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં પુદ્ગલોના અવગાહન પ્રકાર પ્રદર્શિત કરીને હવે જીવોની અવગાહનાનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ—

જીવોનો અવગાહ લોકાકાશના અસંખ્યાત ભાગ વગેરેમાં થાય છે. તાત્પર્ય એ છે કે કદાચિત્ એક જીવનો અવગાહ લોકાકાશના અસંખ્યાત ભાગોમાંથી એક ભાગમાં થાય છે, કોઈનું બે અગર ત્રણ ભાગોમાં થાય છે. જુદાં જુદાં જીવોનો અવગાહ સંપૂર્ણ લોકમાં છે.

એમ કહી શકાય કે જો લોકાકાશના અસંખ્યાતમાં ભાગમાં એક જ જીવ અવગાહન કરી લે તો અનન્તાનન્તસંખ્યક જીવ શરીરસહિત કઈ રીતે આ લોકમાં સમાઈ શકે છે-? આનો જવાબ એ છે કે લોકાકાશમાં સૂક્ષ્મ અને બાદરના ભેદ હોવાથી અવગાહના અશક્ય નથી. જે જીવ બાદર છે તેમના શરીર પ્રતિઘાતયુક્ત હોય છે પરંતુ જે સૂક્ષ્મ છે તે શરીરસહિત હોવા છતાં પણ સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે એક જ આકાશપ્રદેશમાં અનન્તાનન્ત સમાઈ જાય છે તેઓ એક બીજાના અવસ્થાનમાં પણ અવરોધ કરતાં નથી. આ રીતે લોકાકાશના અસંખ્યાત પ્રદેશોમાં અનન્તાનન્ત જીવોની અવગાહના હોવી વિરુદ્ધ નથી.

આ રીતે કદાચિત્ લોકાકાશના એક અસંખ્યાતમાં ભાગમાં કદાચ બે અસંખ્યાત અને કદાચિત્ ત્રણ અસખ્યાત ભાગોમાં જીવોનો અવગાહ હોય છે. આ પ્રકારે બધા લોકાકાશના અસંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે તે અસંખ્યાત આંગલીના અસંખ્યેય ભાગ પ્રમાણ પ્રદેશોથી કલ્પના દ્વારા વિભક્ત થાય છે. તેમાંથી જઘન્ય એક જીવના અસંખ્યાતપ્રદેશવાળા એક આકાશખંડમાં અવગાહ થાય છે, કાર્મણ શરીરના અનુસારી હોવાથી કોઈ જીવ બે અસંખ્યાતપ્રદેશ પરિમિત આકાશખડમાં અવગાહન કરે છે, કોઈ જીવ ત્રણ અસંખ્યાતપ્રદેશ પરિમિત આકાશખંડમાં અવગાહન કરે છે, કોઈ ચાર આકાશખંડોમાં વ્યાપ્ત થઈને રહે છે ઈત્યાદિ રૂપથી કોઈ જીવ સંપૂર્ણ લોકાકાશમાં વ્યાપ્ત થઈને રહે છે પરંતુ સંપૂર્ણ લોકાકાશને કેવળી જ કેવલિસમુદ્ઘાતના સમયમાં વ્યાપ્ત કરે છે, અન્ય કોઇ જીવ નહીં. તે લોકથી બહાર અલોકાકાશના એક પણ પ્રદેશમાં જતા નથી.

શંકા—એક જીવના પ્રદેશ લોકાકાશની બરાબર અસખ્યાત છે, આવી સ્થિતિમાં લોકના અસંખ્યાતમાં ભાગમાં તેનો સમાવેશ કેવી રીતે થઇ શકે ? તેને તો સંપૂર્ણ લોકાકાશમાં જ વ્યાપ્ત થવું જોઇએ.

સમાધાન—જીવના પ્રદેશોમાં દીપકના પ્રકાશની માફક સંકોચ-વિસ્તાર થાય છે આથી લોકાકાશના અસંખ્યાત ભાગ આદિમાં તેનો સમાવેશ થઈ જાય છે. જેવી રીતે મોટા ઓરડામાં દીવો રાખવામાં આવે તો તેનો પ્રકાશ તે સંપૂર્ણ ઓરડામાં પ્રસરેલો રહે છે અને જો તેને નાના ઓરડામાં (જગ્યામાં) રાખવામાં આવે તો પ્રકાશ સંકોચાઈને નાના સ્થાનમાં સમાઈ જાય છે તેવી જ રીતે જીવના પ્રદેશ પણ નામ કર્મ દ્વારા પ્રાપ્ત શરીર અનુસાર સંકુચિત અને વિસ્તૃત થઈ જાય છે કોઇ જીવ લોકના એક અસખ્યાત ભાગમાં સમાઇ જાય છે અને કોઈ જીવ કેવળિસમુદ્ઘાતના સમયે વિસ્તારને પ્રાપ્ત થઈને સમસ્ત લોકાકાશને વ્યાપ્ત કરી લે છે. આ બંનેની વચ્ચે મધ્યમ અવગાહના પણ અનેક પ્રકારની થાય છે.

આ કથનથી આ આશંકાનુ પણ સમાધાન થઇ જાય છે કે જ્યારે જીવના અસંખ્યાત પ્રદેશ છે અને ઔદારિક શરીરની સાથે તેનો સબંધ છે તો કોઇના થોડા પ્રદેશોમાં અને

કોઈના ઘણા પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય આ વિષયમાં કોઇ હેતુ નથી, સમાન પરિમાણવાળા પટ આદિના અવગાહમાં કોઇ પ્રકારની વિષમતા જોવામાં આવતી નથી કારણ કે જીવના પ્રદેશોમાં સંકુચિત અને વિસ્તૃત થવાનો સ્વભાવ છે જેમ વસ્ત્રમાં સંકોચ–વિસ્તાર જોવામાં આવે છે, પ્રદીપના પ્રકાશમાં તથા ચામડામાં પણ સંકોચ–વિસ્તાર થાય છે તેવી જ રીતે જીવના પ્રદેશોમાં પણ સંકોચ વિસ્તારનો સ્વભાવ વિદ્યમાન છે.

જીવ પોતાના સ્વભાવથી અમૂર્ત્ત છે પરંતુ મૂર્ત્ત કર્મોની સાથે બંધાયેલ હોવાના કારણે મૂર્ત્ત થઈ ગયો છે કાર્મણ શરીર ને લીધે તે મોટુ અગર નાનું શરીર ધારણ કરી શકે છે તેના જ કારણે તેના પ્રદેશોમાં સંકોચ–વિસ્તાર થાય છે આ કારણથી લોકના અસંખ્યાતમાં ભાગ વગેરેમાં, લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર પ્રદેશ હોવા છતાં પણ એક જીવનો અવગાહ સંભવિત થાય છે.

શંકા—જો જીવ પ્રદીપની સમાન સંકોચ-વિસ્તાર સ્વભાવવાળો છે તો પ્રદીપની જેમ અનિત્ય પણ હોવો જોઈએ.

સમાધાન—અનેકાન્તવાદી જૈનોના મતમાં કોઇ પણ વસ્તુ ન તો એકાન્ત નિત્ય છે અથવા ન તો–એકાન્ત અનિત્ય જ છે. પ્રત્યેક વસ્તુ દ્રવ્ય–પર્યાયાત્મક છે આથી દ્રવ્યરૂપથી નિત્ય અને પર્યાયરૂપથી અનિત્ય હોવાના કારણે બધાંમાં નિત્યતા તથા અનિત્યતા છે. આત્મા પણ દ્રવ્યાર્થિકનયની અપેક્ષાથી નિત્ય છે કારણ કે તેનું આત્મત્વ શાશ્વત છે તે પોતાના ચૈતન્ય સ્વભાવનો કદાપી પરિત્યાગ કરતો નથી પરંતુ પોતાના જ્ઞાનપર્યાયો અને શરીરપર્યાયોની અપેક્ષા અનિત્ય છે. આ કથનથી આ આરોપનું નિરાકરણ પણ થઈ જાય છે કે ભલે વર્ષા હોય, તડકો હોય આકાશનું શું બગડે છે ? વર્ષા અને તડકાની અસર તો ચામડી ઉપર જ થાય છે. જો આત્મા ચામડા જેવો છે તો અનિત્ય થઇ જશે અને જો આકાશની માફક નિત્ય છે તો સુખ દુઃખનો ભોગ કરી શકે નહીં.

સ્યાદ્વાદવાદી ન તો આકાશનો એકાંત નિત્ય સ્વીકાર કરે છે અથવા ન તો ચામડાને એકાન્ત અનિત્ય કારણ કે પ્રત્યેક વસ્તુ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત છે. આત્માને એકાન્ત નિત્ય અથવા એકાન્ત અનિત્ય માનવાથી કર્મફળનો સંયોગ પણ ઘટિત થઈ શકતો નથી.

આ રીતે જેમ તેલ, વાટ અગ્નિ આદિ સામગ્રીથી વૃદ્ધિને પામીને બળતો દીવો વિશાળ કુટાગારશાળાને પ્રકાશિત કરે છે અને શરાવ ઢાકણું ઉલંચન તથા માણિકા આદિથી આવૃત્ત થઈને તેમને જ પ્રકાશિત કરે છે, આવી જ રીતે દ્રોણુથી ઢંકાઇને દ્રોણને જ આઢકથી ઢંકાઈને, આઢકને પ્રસ્તથી ઢંકઈને પ્રસ્ત (શેર)ને હાથથી ઢકાઈને હાથને જ પ્રકાશિત કરે છે એવી રીતે જીવ પણ પોતાન પ્રદેશોને સંકોચ અને વિસ્તારથી મોટા અને નાના-પાંચ પ્રકારના શરીર-સ્કંધના તથા ધર્મ અધર્મ અને પુદ્ગલ અને જીવના પ્રદેશોના સમૂહને વ્યાપ્ત કરે છે યાનિ તેમને અવગાહન કરીને રહે છે

આ રીતે લોકાકાશમાં ધર્મ આકાશ અને પુદ્ગલ અવશ્ય હોય છે જીવપ્રદેશ વિભાજનથી થાય છે. જ્યાં એક જીવનો અવગાહ થાય છે ત્યાં બીજા જીવના અવગાહનો કોઈ વિરોધ નથી,

આ પ્રકારે લોકાકાશના એક પ્રદેશમાં અનેક જીવોના અનેક પ્રદેશોનાં અવગાહ છે. ઢાંકણા વગરનો દીવો તેટલા જ આકાશપ્રદેશોને વ્યાપ્ત કરે છે જેટલાં તેના અવયવ હોય તે સંપૂર્ણ લોકને પ્રકાશિત કરી શકતો નથી પરંતુ આત્મા સમુદ્દઘાતના સમયે સમસ્ત લોકમાં વ્યાપ્ત થઈ જાય છે. સિદ્ધ થયા પછી જીવની અંતિમ શરીરથી ત્રિભાગે ન્યૂન અવગાહના રહે છે, ત્રીજો ભાગ શરીરના છિદ્રોની પૂર્તિમાં લાગી જાય છે પરંતુ સિદ્ધ જીવોનો આકાર તે જ રહે છે જે આકાર મુક્તિના સમયે શરીરનો હોય છે.

આ રીતે ધર્મ, અધર્મ આકાશ તથા જીવોનો પરસ્પરમાં તથા પુદ્‌ગલોમાં અવગાહનાનો વિરોધ નથી કારણ કે તે અમૂર્ત્ત છે. આથી ધર્મ, અધર્મ આકાશ અને જીવનું અમૂર્ત્ત હોવાના કારણે પરસ્પરમાં રહેવું વિરુદ્ધ નથી અને ન તો ધર્માદિનું પુદ્‌ગલોમાં રહેવું વિરુદ્ધ છે કારણ કે તેમના જ નિમિત્તથી ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહના જોઈ શકાય છે અને આત્મા કર્મપુદ્‌ગલોને વ્યાપ્ત કરે છે ફલિતાર્થ એ છે કે જીવ સંકોચવિસ્તાર સ્વભાવના કારણે મોટા અથવા નાના શરીરને ધારણ કરે છે.

શંકા—જો જીવના પ્રદેશોમાં સંકોચ–વિસ્તારનું સામર્થ્ય છે તો સંપૂર્ણ કારણ મળવાથી જીવ સમસ્ત પ્રદેશોને સંકોચી લઈ આકાશના એક જ પ્રદેશમાં કેમ સમાઈ જતો નથી? અવરોધ કરનારી કોઇ વસ્તુ તો છે જ નહી. આ સંજોગોમાં જીવોનો અવગાહ લોકાકાશના અસંખ્યાતમાં ભાગ આદિમાં કેમ થાય છે? એક પ્રદેશ વગેરેમાં કેમ થતો નથી?

સમાધાન—પ્રત્યેક સંસારી જીવનો કાર્મણ શરીરની સાથે સંબંધ છે અને કાર્મણ શરીર અનન્તાનન્ત પુદ્‌ગલોના સંચયથી બનેલું છે. આથી લોકના અસંખ્યાતા પ્રદેશોમાં જ જીવનો અવગાહ થઈ શકે છે, એકાદિ પ્રદેશમાં નહીં. એટલું ચોક્કસ છે કે સિદ્ધ જીવ ચરમ શરીરના ત્રીજા ભાગમાં અવગાહન કરે છે તેનું કારણ એ છે કે શરીરનો ત્રીજો ભાગ છિદ્રમય–પોલો છે. તે પોલાણની પૂર્તિમાં ત્રીજોભાગ ઓછો થઇ જાય છે. આ ત્રિભાગન્યૂનતા યોગનિરોધના સમયે જ થઈ જાય છે આથી સિદ્ધજીવ પણ ત્રિભાગન્યૂન અવગાહનાવાળા હોય છે. જો કે સિદ્ધજીવોનું સહેજ વીર્ય નિરાવરણ થાય છે તો પણ તેમનામાં એ સામર્થ્ય નથી કે તેઓ તેથી અધિક અવગાહનાનો સંકોચ કરી શકે. સંસારી જીવોનું તો કહેવું જ શું? જીવનો સ્વભાવ જ એવો છે કે આનાથી વધું સંકોચ થઈ શકતો નથી. અને સ્વભાવના વિષયમાં કોઈ પ્રશ્ન કરી શકાતો નથી. આ શિવાય સંસારી જીવ કર્મયુક્ત હોવાથી વધુ સંકોચ થઈ શકતો નથી,

શંકા—કર્મયુક્ત જીવ કેમ અધિક સંકોચ કરી શકતો નથી?

સમાધાન—કારણકે તેઓ પ્રયત્ન કરતા નથી

શંકા—શા માટે તેઓ પ્રયત્ન કરતા નથી?

સમાધાન—પ્રયત્ન કરવાનું કોઇ કારણ વિદ્યમાન નથી.

અહીં એટલું સમજી લેવાની જરૂર છે કે–સંકુચિત આત્મપ્રદેશ જ્યારે વિકાસ પામે છે ત્યારે તેમનો સમ્બન્ધ પરસ્પર તૂટી જતો નથી પરંતુ કમળની નાળના તંતુઓની જેમ તેઓ આપસમાં જોડાયેલા રહે છે. સમ્બન્ધ ન તૂટવાનું કારણ એ છે કે પ્રથમ તો તેઓ અમૂર્ત્ત છે, બીજું તેઓ વિકાસશીળ છે અને ત્રીજું એકત્વ રૂપ પરિણામમાં પરિણત થાય છે. જીવની

વૃદ્ધિ જોવાથી આત્મપ્રદેશોનો વિકાસ સિદ્ધ થાય છે. ઢેડગરોલી ની પૂંછડી જ્યારે કપાય જાય છે ત્યારે થોડા સમય સુધી તે તરફડે છે અને પછી શાંત થઈ જાય છે આથી અનુમાન કરી શકાય કે ઢેડગરોલી નો થોડો જીવપ્રદેશ તેની કપાયેલી પૂંછડીમાં કેટલાક સમય સુધી રહે છે અને પછીથી રહેતો નથી. તે પ્રદેશ ક્યાં ચાલ્યા જાય છે ? ઢેડગરોલીના શરીરમાં જ ચાલ્યા જાય છે કારણ કે તેમનો સમ્બન્ધ સર્વથા તૂટયો ન હતો, કમળની નાળના તન્તુઓની જેમ તેઓ પરસ્પરમાં સમ્બદ્ધ હતાં.

શંકા—જો આ પ્રમાણે જ હોય તો માથુ કપાઈ ગયા પછીથી માથામાં સ્થિત પ્રદેશ શેષ શરીરમાં કેમ ચાલ્યા જતા નથી ? અને માણસ પેલી કપાયેલી પૂંછડીવાલી ઢેડગરોલીની જેમ જીવીત કેમ નથી રહેતો ?

સમાધાન-વેદન આયુનો ભેદ થઇ જવાથી આ દોષ આવતો નથી. જ્યાં બહુસંખ્યક જીવ-પ્રદેશ એકત્ર થઇને રહે છે તેને મૂર્ત્ત કહે છે. મસ્તક ઘણા મર્મવાળું છે. મર્મદેશોમાં ભયંકર વેદના થાય છે. અધ્યવસાન આદિ ૭ કારણોથી આયુષ્યનું ભેદન થઈ જાય છે એ વાત જાણીતી છે.

આ કારણે આત્માનો કર્મોદય અનુસાર સંકોચ અને વિસ્તાર થાય છે પરંતુ નાશ થતો નથી કારણ કે તે અમૂર્ત્ત છે. ભાવાર્થ એ છે કે જૈનમતમાં કોઈપણ વસ્તુનો સંપૂર્ણ વિનાશ થતો નથી અને પ્રદેશોનો સંકોચ-વિસ્તાર થવા છતાં પણ આત્માની વૃદ્ધિ અથવા ઘટાડો થતો નથી. હા ક્ષેત્રની અપેક્ષા વધ-ઘટ થયા કરે છે પ્રદેશોની અપેક્ષાએ નહી પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના બીજા પદમાં જીવસ્થાન પ્રકરણમાં કહ્યું છે, "જીવ લોકના અસંખ્યાતમા ભાગમાં રહે છે." રાજપ્રશ્નીય સૂત્રમાં પણ-કહ્યું છે—"પોતાના પૂર્વાર્જીત કર્મ અનુસાર જીવ-જેવા શરીરને મેળવે છે તેને જ પોતાના અસંખ્યાતા પ્રદેશોથી વ્યાપ્ત કરી લે છે-સજીવ બનાવી લે છે, પછી ભલે તે નાનું હોય અગર તો મોટું ॥ ૧૩ ॥

'मणुस्स खेत्ते ओगाहो कालस्स

મૂળ સૂત્રાર્થ—મનુષ્ય ક્ષેત્રમાં કાલદ્રવ્યનો અવગાહ છે ॥ ૧૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—ધર્મ અધર્મ આકાશ પુદ્ગળ અને જીવ દ્રવ્યનો અવગાહ લોકાકાશમાં છે એ વાત કહેવાય ગઈ હવે કાલદ્રવ્યનો અવગાહ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ-કાલદ્રવ્યનો અવગાહ મનુષ્ય-ક્ષેત્રમાં જ છે, અન્યત્ર નહીં. ॥૧૪॥

'गइठिई ओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा

મૂલસૂત્રાર્થ—ધર્મ અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્ય ક્રમથી ગતિ, સ્થિતિ અને અવગાહના ના નિમિત્ત કારણ છે. ॥સૂ૦ ૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—ધર્મ અધર્મ આકાશ કાલ પુદ્ગલ અને જીવ આ છ દ્રવ્યોના લક્ષણ ક્રમશઃ પ્રતિપાદન કરવા માટે પ્રથમ ધર્મ અધર્મ આકાશનું લક્ષણ કહીએ છીએ-ધર્મદ્રવ્ય ગતિનું અધર્મદ્રવ્ય સ્થિતિનુ અને આકાશદ્રવ્ય અવગાહનાના નિમિત્ત છે. ॥ ૧૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સામાન્ય રૂપથી ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો હવે તેમનાં લક્ષણ બતાવીએ છીએ અથવા ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના અસંખ્યાત પ્રદેશ સરખાં હોવા છતાં પણ તેઓ સંપૂર્ણ લોકમાં વ્યાપ્ત છે, અસંખ્યાતમાં ભાગ વગેરેમાં નહીં. એ રીતે

તેમનો અવગાહ લોકમાં જ છે, અલોકમાં નહીં એમ શા માટે ? આ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ–છ દ્રવ્યોમાંથી માત્ર જીવ અને પુદ્‌ગલદ્રવ્યમાં જ ગતિક્રિયા થાય છે, બીજા કોઈ દ્રવ્યમાં નહીં તે ગતિક્રિયા પ્રયોગ પરિણામથી પણ થાય છે અને સ્વભાવ પરિણામથી પણ થાય છે. આ ગતિક્રિયામાં ધર્મ અને અધર્મ તેવી જ રીતે સહાયક થાય છે જેમ સૂર્યના કિરણો આંખોને જોવામાં મદદરૂપ થાય છે તેમ ગતિક્રિયા સમસ્ત લોકમાં જોઈ શકાય છે આથી અનુમાન પ્રમાણથી એ ચોક્કસ થઇ જાય છે કે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય પણ સંપૂર્ણ લોકમાં વ્યાપ્ત છે.

આ રીતે લોકમાં જ જીવોનું તથા ધર્મ, અધર્મ, પુદ્‌ગલ આદિ અજીવ દ્રવ્યોનું અસ્તિત્વ છે અલોકાકાશ સુનો છે ત્યાં કોઈ અન્ય દ્રવ્યનો અવગાહ નથી આ રીતે ધર્મ અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્યનું અસાધારણ કાર્ય બતાવવા માટે કહીએ છીએ–ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહનાનો નિમિત્ત કારણ ધર્મ, અધર્મ તથા આકાશ દ્રવ્ય છે.

એક દેશથી બીજા દેશમાં પ્રાપ્તિ રૂપ પરિણામને ગતિ કહે છે તેનાથી વિરુદ્ધ પરિણામને સ્થિતિ કહે છે. અવકાશ દેનારા કારણ રૂપ પરિણામને અવગાહ કહેવામાં આવેલ છે આ રીતે દેશાન્તર પ્રાપ્તિ રૂપ પરિણામવાળા જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિમાં જે નિમિત્ત થાય છે તે ધર્મદ્રવ્ય કહેવાય છે.

આ રીતે દેશાન્તર પ્રાપ્તિથી વિપરીત પરિણામ રૂપ સ્થિતિવાળા જીવ તથા પુદ્‌ગલો દ્રવ્યની સ્થિતિનું જે નિમિત્ત છે તે અધર્માસ્તિકાય કહેવાય છે. જીવ પુદ્‌ગલ આદિ અવગાહન કરનારા દ્રવ્યોના અવકાશદાન પરિણામ રૂપ અવગાહમાં જે નિમિત્ત કારણ હોય તે આકાશ કહેવાય છે. આથી ગતિપરિણમનવાળા જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિમાં સહાયતા પહોંચાડવી ધર્મદ્રવ્યનો ઉપકાર છે જેમ માછલાં વગેરેની ગતિમાં પાણી સહાયતા પહોંચાડે છે તેમ આ રીતે સ્વય સ્થિતિમાં પરિણત થનારા જીવો અને પુદ્‌ગલોની સ્થિતિમાં સહાયક થવું અધર્મ-દ્રવ્યનો ઉપકાર છે જેમ ઘોડા વગેરેની સ્થિતિમાં ભૂમિ આદિ નિમિત્ત થાય છે.

આવી જ રીતે અવગાહન કરનારા જીવો પુદ્‌ગલો વગેરેના અવકાશદાન રૂપ અવગાહ કરવામાં આકાશનો ઉપકાર સમજવો જોઈએ તે સાબિત્ત થયું. આ રીતે ગતિમાન જીવ પુદ્‌ગલોની ગતિમાં ધર્મદ્રવ્યનો સ્થિતિમાન જીવ–પુદ્‌ગલોની સ્થિતિમાં અધર્મદ્રવ્યનો તથા અવગાહનશીલ ધર્મ, અધર્મ પુદ્‌ગલ અને જીવ દ્રવ્યનાં અવગાહનમાં આકાશનો ઉપકાર છે એ સિદ્ધ થયું.

જીવ અને પુદ્‌ગલ દ્રવ્ય જ ગતિક્રિયાવાળા છે અને જ્યાં ગતિ હોય છે ત્યાં સ્થિતિ પણ અવશ્ય હોય છે અને જેમનામાં ગતિ તથા સ્થિતિ છે તેમનો અવકાશ પણ જરૂરી છે.

શંકા—ગતિ સહાયક ધર્મદ્રવ્ય જ્યારે હમેશા વિદ્યમાન રહે છે તો પછી નિરન્તર ગતિ જ કેમ થતી રહેતી નથી ? કેમકે કારણના હોવાથી કાર્યની ઉત્પત્તિ અવશ્ય દેખી શકાય છે એવી જ રીતે સદા અધર્મદ્રવ્ય સન્નિહિત રહેવાથી હમેશાં સ્થિતિ જ કેમ રહેતી નથી ?

સમાધાન—ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય ગતિ અને સ્થિતિના જનક નહીં પણ સહાયક છે. જ્યારે જીવ અને પુદ્‌ગલ સ્વયં ગતિ કરે છે ત્યારે તેઓ સહાયક માત્ર બની જાય છે. ધર્મ-દ્રવ્ય કોઈને ફરજીઆત ચલાવતું નથી અને અધર્મદ્રવ્ય કોઈને જબરદસ્તીથી રોકતું નથી.

ઉપાદાન કારણ તો જીવની ગતિમાં સ્વયં પુદ્ગલ જ છે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય તો સહાયક માત્ર છે. ઉપકારી છે, નિમિત્ત છે. જેવી રીતે નદી, તળાવ, સમુદ્રોમાં સ્વયં જ ગમન કરનાર માછલી માટે પાણી સહાયક થઈ પડે છે, પાણી માછલીને ચલાવતું નથી, એ રીતે ધર્માસ્તિકાય ગતિક્રિયામાં મદદરૂપ થાય છે, પ્રેરક નહીં. અથવા તો જેમ ઘડા વગેરે રૂપમાં પરિણત થનારી મૂર્તિ માટે દંડ વગેરે સહાયક થઈ જાય છે તેવી જ રીતે ઉપર જણાવેલા દ્રવ્યો સહાયક થાય છે–કંહ્યુ પણ છે–

કારણ ત્રણ પ્રકારના હોય છે–નિર્વર્ત્તક નિમિત્ત અને પરિણામી આજ અત્રે બતાવીએ છીએ–ઘડામાં ત્રણ કારણ માનવામાં આવે છે–નિર્વર્ત્તક નિમિત્ત અને પરિણામી કારણ. ઘડાનું નિર્વર્ત્તક કારણ કુંભાર છે, નિમિત્ત કારણ દોરી અને ચાક આદિ છે તથા પરિણામી કારણ માટી છે,

પાણી માછલીની ગતિનું કારણ તો છે પરંતુ ગમન કરનાર માછલીને બળજબરીથી ચલાવતું નથી. ભૂમિ સ્થિતિમાં સહાયક છે પણ ગમન કરનારને ફરજીયાત ઉભા રાખતી નથી આકાશ અવગાહનામાં કારણ રૂપ છે પણ સ્વયં અવગાહ દ્રવ્યોના અવગાહમાં તે નિમિત્ત થાય છે જબરદસ્તીથી અવગાઢ કરતું નથી જેવી રીતે સ્વયં ખેતર ખેડનાર ખેડુત માટે વરસાદ નિમિત્ત કારણ થાય છે. ખેતર ન ખેડનારા ખેડુતોને વરસાદ જાતે જ બળજબરીથી તેમ કરવામાં ખેડુતને પ્રવૃત્ત કરતો નથી. વર્ષાકાળમાં નવા વાદળાઓનો ગડગડાટ સાંભળીને બકમાદા સ્વયં ગર્ભ ધારણ કરીને પ્રસવ કરે છે, પ્રસવ કરનારી બકમાદાને નવીન વાદળા જબરદસ્તી પ્રસવ કરાવતાં નથી કોઈ ઉપદેશકનું નિમિત્ત મેળવીને મનુષ્ય પ્રતિબોધહેતુક વિરતિને ધારણ કરતો થકો પાપથી વિરત થતો જોવામાં આવે છે. પરંતુ વિરત ન થનાર પુરુષને ઉપદેશ બળજબરીથી વિરત કરતો નથી.

શંકા—જો આવું જ છે તો ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહમાં ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ નિમિત્ત કારણ જ હોવા જોઈએ, અપેક્ષા કારણ નહીં આવા સંજોગોમાં અપેક્ષા કારણનું જ નુકશાન થશે. કારણ કે અપેક્ષા કારણ વ્યાપારરહિત હોય છે.

સમાધાન—આમ ન કહો. કોઈપણ કારણ વ્યાપારરહિત હોતું નથી વ્યાપાર કરનાર જ કારણ કહી શકાય છે. ધર્માદિને એ કારણથી અપેક્ષાકારણ કહેવામાં આવે છે કે જીવાદિ દ્રવ્ય ધર્માદિગત ક્રિયાપરિણામની અપેક્ષા રાખતા થકા જ ગતિ આદિ ક્રિયા કરે છે.

શંકા—જો એ પ્રમાણે છે તો પછી નિમિત્તકારણ અને અપેક્ષાકારણમાં કોઈ તફાવત રહેતો નથી.

સમાધાન—દંડ આદિમાં પ્રાયોગિકી તથા વૈસ્રસિકી બંને પ્રકારનીક્રિયા થાય છે. ધર્મ અધર્મ અને આકાશમાં વૈસ્રસિકી જ ક્રિયા થાય છે. બંનેમાં આ તફાવત છે આ રીતે ગતિમાં સહાયક થવું. અવગાહ લક્ષણવાળા આકાશમાં ઘટિત થતું નથી પરંતુ ગતિમાં સહાયક થવું ધર્મદ્રવ્યનો જ ઉપકાર છે. એવી જ રીતે સ્થિતિમાં સહાયક થવુ અધર્મદ્રવ્યનો જ ઉપકાર છે અવગાહ લક્ષણવાળા આકાશનો નહીં અવગાહરૂપ ઉપકાર આકાશનો જ છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો નહીં.

એક દ્રવ્યનો બીજા દ્રવ્યથી ભિન્ન કોઈ વિશિષ્ટ ગુણ અવશ્ય સ્વીકારવો જોઈએ. ધર્મ અધર્મ તથા આકાશ દ્રવ્ય પરસ્પર ભિન્ન છે. એ સત્ય બુદ્ધિથી અથવા આગમથી સમજવું ઘટે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! દ્રવ્ય કેટલાં કહ્યાં છે. ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! છ દ્રવ્ય કહ્યાં છે જેમ કે-ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય જીવાસ્તિકાય અને અધ્ધા સમય.

શંકા—ધર્માસ્તિકાયના ગતિ-ઉપકાર વગર જ પક્ષીઓનું ઉડવું, અગ્નિનું ઉચે જઈ બળવું તથા વાયુનું ફ્ટાઈને વહેવું અનાદિ કાલીન સ્વભાવથી જ દેખી શકાય છે.

સમાધાન—ધર્મદ્રવ્યના ઉપકાર વગર જ, કાગડા વગેરે પક્ષીઓની સ્વાભાવિક ગતિમાનવામાં ઉકત હેતુ અને દૃષ્ટાંત સુસંગત નથી કારણ કે અનેકાન્તવાદી ગતિપરિણામને પ્રાપ્ત સઘળાં જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમાં ધર્મદ્રવ્યને અનુગ્રાહક સ્વીકાર કરે છે એવી જ રીતે અનેકાન્તવાદી આર્હત સ્વયં સ્થિતિપરિણામમાં પરિણત બધાં જીવો અને પુદગલોની સ્થિતિમાં અધર્મદ્રવ્યને સહાયક માને છે અને એવી જ રીતે જૈન સિદ્ધાંતના અનુયાયી જૈન બધા અવગાહપરિણામમાં પરિણત જીવ પુદ્ગળ આદિના અવગાહમાં આકાશને સહાયક માને છે. ધર્મ અધર્મ અને આકાશ એ ત્રણ દ્રવ્યો જીવ અને પુદ્ગલની ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહને ઉત્પન્ન કરતાં નથી પરંતુ માત્ર મદદરૂપ જ થાય છે.

જીવો અને પુદ્ગલોની જે ગતિ, સ્થિતિ અને અવગાહના થાય છે તે સ્વતઃ પરિણામનો અભાવ હોવાથી પરિણામી કર્તા અને નિમિત્ત એ ત્રણે કારણોમાંથી ભિન્ન અલગ ઉદાસીન કારણથી ઉત્પન્ન સમજવા જોઈએ. કારણ કે તે સ્વાભાવિક પર્યાય ન હોઈ કવચિત્ જ થાય છે, જેમ માછલીની ગતિ ઉદાસીન કારણ જળની સહાયતાથી થાય છે આ રીતે જો કે ધર્માદિ દ્રવ્ય અમૂર્ત્ત છે તો પણ ગતિ આદિ કાર્ય તેમના સહાયક હોય છે કારણ કે તેમના અભાવમાં આ કાર્ય થઈ શકતા નથી અને એકનું કામ બીજું કોઈ પણ કરી શકતું નથી.

આ કથનનો ફલિતાર્થ એ છે કે ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહ રૂપમાં પરિણત જીવ અને પુદ્ગલ દ્રવ્યના સામીપ્યથી ધર્માદિનો વ્યાપાર થવો એ જ તેમનો ઉપકાર કહેવાય છે.

શંકા—કરી શકાય કે આવુ માનવા છતાં પણ ધર્મ, અધર્મ, પુદ્ગલ અને જીવ દ્રવ્યનો પ્રવેશ અને નિષ્ક્રમણ રૂપ અવગાહ આકાશનું લક્ષણ સિદ્ધ થાય છે એ બરાબર નથી કારણ કે ઉક્ત લક્ષણવાળા અવગાહ પુદ્ગલ-જીવ સમ્બન્ધી તથા આકાશ સંબંધી હોવાથી બંનેમાં રહે છે અને બંને દ્વારા ઉત્પન્ન થવાના કારણે બે-આંગળીઓના સંયોગની જેમ કોઈ એકનું લક્ષણ કહી શકાતું નથી અર્થાત્ બે આંગળીઓના જોડાણને એક આંગળીનો ધર્મ કહી શકતા નથી તેવી જ રીતે ઉક્ત અવગાહ પણ માત્ર આકાશનાં જ કહી શકાય નહીં.

ઉપરની શંકા સારી છે પરંતુ અહીં લક્ષ્ય હોવાના કારણે આકાશની જ મુખ્યતયા ચર્ચા કરાઈ આ કારણથી એવું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે કે જ્યાં અવગાહન-અનુપ્રદેશ હોય તે આકાશ છે. આ રીતે આકાશનું લક્ષણ અવગાહના કહેવામાં આવ્યું છે. અવગાહક જે જીવ અને પુદ્ગલ છે. તે પણ જો કે સંયોગના જનક છે તો પણ તેમનું અત્રે વિવરણ કરવામાં આવ્યું નથી આ કારણથી અવગાહને આકાશનું લક્ષણ માનવું યોગ્ય જ છે. અવગાહમાન જીવ અને પુદ્ગલ વગેરે દ્રવ્યોને અવગાહ આપવામાં આકાશ જ અસાધારણ કારણ છે પરંતુ તે અવકાશ આપવામાં જોરજુલમ કરતું નથી.

આ રીતે આકાશ જો કે અમૂર્ત છે તો પણ જીવાદિને અવગાહ દેવા રૂપ ઉપકારથી તેનું અનુમાન કરી શકાય છે ! જેમ કે આત્મા અથવા ધર્મના વિષયમાં અનુમાન કરવામાં આવે છે. એવી જ રીતે પુરુષના હાથ લાકડી તથા વાજીંત્રના આઘાતથી ઉત્પન્ન થનારો શબ્દ પણ ભેરીનો શબ્દ કહેવાય છે. પૃથ્વી પાણી વગેરે કારણો હોવા છતાં પણ યવ વિશિષ્ટ કારણ હોવાથી જેવી રીતે–યવાંકુર, યવાંકુર કહેવાય છે તેવી જ રીતે અવગાહનમાં જો કે જીવ અને પુદ્‌ગલ વગેરે ત્રણ કારણો છે તો પણ અસાધારણ કારણ હોવાથી આકાશનું જ તે લક્ષણ કહેવાય છે.

આમ હોવા છતાં પણ પરમાણુ અવગાહના છે, અથવા જીવ અવગાહના છે, એ પ્રકારને સમાનાધિકરણ વ્યવહાર દૃષ્ટિગોચર થાય છે આથી અવગાહક જીવ પુદ્‌ગલ આદિ દ્રવ્ય સંબન્ધી જ અવગાહ થવો જોઈએ આકાશ સંબન્ધી નહીં, દા. ત. "દેવદત્ત બેસે છે" આ વાક્યમાં બેસવું દેવદત્તનું જ માનવામાં આવે છે એ કથન બરાબર નથી. જેમ "आस्ते देवदत्तोऽस्मिन् આ પ્રકારનો વિગ્રહ કરવાથી આસન ભૂમિ વગેરે કહેવાય છે તેવી જ રીતે "अवगाहतेऽस्मिन्" એવો વિગ્રહ કરીએ તો અવગાહ નો વ્યવહાર આકાશમાં જ ઉપયુક્ત થાય છે.

શંકા—જો અવગાહનાને આકાશનું લક્ષણ માનીએ તો અલોકાકાશમાં આ લક્ષણ ઘટિત ન હોવાથી અવ્યાપ્તિ નામક દોષ આવે છે. અલોકમાં જીવ વગેરેની અવગાહનાની શકયતા નથી.

સમાધાન—અવગાહના લક્ષણ લોકાકાશનું જ છે આથી તે જો અલોકાકાશમાં ન દેખાય તો પણ અવ્યાપ્તિ દોષ નથી.

પોલાર રૂપ આકાશતો સર્વત્ર એક જ છે, માત્ર ધર્મ આદિ દ્રવ્યોના સદ્‌ભાવ અને અસદ્‌ભાવના કારણે જ લોકાકાશ અને અલોકાકાશનો ભેદ–વ્યવહાર થાય છે. અહીં સામાન્ય રૂપથી ' આકાશ" પદનો પ્રયોગ કરવા છતાં પણ લોકાકાશનું જ ગ્રહણ સમજવું જોઈએ. કારણ કે લોકાકાશમાં જ અવગાહ લક્ષણ ઘટિત થાય છે. ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના પ્રદેશ લોકાકાશના પ્રદેશોની સાથે જ મળેલા રહે છે અને તેઓ અલોકપર્યન્ત સમ્પૂર્ણ લોકાકાશમાં ભરેલાં છે. આથી લોકાકાશ પોતાની અંદર અવકાશ દઈને ધર્મ–અધર્મનો ઉપકાર કરે છે. પુદ્‌ગલ અને જીવ સ્વલ્પતર અસંખ્યાતમાં ભાગમાં વ્યાપ્ત હોવાથી તેમજ ક્રિયાવાન હોવાથી સંયોગ અને વિભાગ દ્વારા તેમનો ઉપકાર કરે છે.

આ રીતે એક સ્થળે અવગાહના કરેલાં માણસ, માટી, લોખંડનો ટુકડો વગેરે બીજી જગ્યાએ પણ મળી આવે છે. સર્વત્ર અંદર અવકાશ દેવાના કારણે એક અવગાહ પણ અવગાહરૂપ ઉપાધિના ભેદથી અનેક જેવો ભાસે છે આથી જીવ પુદ્‌ગલ આદિનો અંદર પ્રવેશ થવાથી તથા સંયોગ–વિભાગ દ્વારા તે ઉપકાર કરે છે.

શંકા—જીવો અને પુદ્‌ગલોના ગતિરૂપ ધર્મનો ઉપકાર તથા સ્થિતિરૂપ અધર્મનો ઉપકાર આકાશનો જ સ્વીકાર કરવો જોઈએ કારણ કે આકાશ સર્વવ્યાપી છે.

સમાધાન—આકાશનો ઉપકાર અવગાહ છે આથી ગતિ અને સ્થિતિને આકાશનો ઉપકાર માનવાની કલ્પના કરી શકાતી નથી ધર્મ આદિ સમસ્ત દ્રવ્યોને અવગાહ આપવું તે આકાશનું પ્રયોજન છે. એક દ્રવ્યના અનેક પ્રયોજન માનવામાં આવશે તો લોક અને અલોકનો વિભાગ થશે નહીં.

શંકા—પૃથ્વી પાણી વગેરે જ જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિ તથા સ્થિતિરૂપ પ્રયોજનમાં સમર્થ છે તેમના માટે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યની કલ્પના કરવી અનાવશ્યક છે.

સમાધાન—જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિ તથા સ્થિતિના નિયામક થવામાં ધર્મ અને અધર્મ જ અસાધારણ કારણ છે. એક કાર્ય અનેક કારણો દ્વારા સાધ્ય થાય છે. આથી ગતિ તેમજ સ્થિતિ માટે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો સ્વીકાર કરવો પરમાવશ્યક છે.

શંકા—ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો સસલાના શિંગડાની જેમ અનુપલબ્ધ હોવાથી સદ્દભાવ જ નથી.

સમાધાન—જો એમ હોત તો બધા પ્રતિવાદિયોનો વિવાદ જ ન રહેત. બધા પ્રતિવાદિ પ્રત્યક્ષ અને અપ્રત્યક્ષ પદાર્થોનો સ્વીકાર કરે છે. આ શિવાય આપનો હેતુ અમારા માટે અસિદ્ધ છે. સર્વજ્ઞ કેવળી પોતાના સર્વશ્રેષ્ઠ કેવળજ્ઞાનરૂપી નેત્રોથી ધર્મ અધર્મ વગેરે બધાં દ્રવ્યોને પ્રાપ્ત કરી શકે છે. જાણી શકે છે તેમના ઉપદેશથી શ્રુતજ્ઞાની પણ તેમને જાણી શકે છે.

ભગવતી સૂત્રનાં ૧૩માં શતકના ચોથા ઉદ્દેશકમાં કહે છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! ધર્માસ્તિકાયથી જીવોનું શું પ્રવૃત્ત થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ધર્માસ્તિકાયથી જીવોના આગમન ગમન ભાષણ, મનોયોગ વચનયોગ, કાયયોગ તથા એવા જ પ્રકારના જે બીજાં ચલભાવ છે તે સઘળાં ધર્માસ્તિકાયથી પ્રવૃત્ત થાય છે કારણ કે ધર્માસ્તિકાય ગતિ લક્ષણવાળાં છે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! અધર્માસ્તિકાયથી જીવોને શું પ્રવૃત્ત થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! અધર્માસ્તિકાયથી જીવોના સ્થાન નિષિદન સુઈ જવું મનનું સ્થિરીકરણ તથઃ આવા જ પ્રકારનાં જે અન્ય સ્થિર ભાવ છે તે સઘળાં અધર્માસ્તિકાયથી પ્રવૃત્ત થાય છે કારણ કે અધર્માસ્તિકાય સ્થિતિ લક્ષણવાળું છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! આકાશાસ્તિકાયથી જીવો અને અજીવોને શું પ્રવૃત્ત થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! આકાશાસ્તિકાય, જીવદ્રવ્યો અને અજીવદ્રવ્યોનો આધાર છે. તે એકથી પણ પૂર્ણ થઇ શકે છે, બેથી પણ પૂર્ણ થાય છે, તેમાં સેંકડો પણ સમાઈ જાય છે, હજારો કરોડો પણ સમાઈ જાય છે. આકાશાસ્તિકાયનું લક્ષણ અવગાહ છે ॥ ૧૫ ॥

सरीरवय मणो पाणापाणाणं सुहदुहजीविय मच्चूणं च निमित्ता पोग्गला ।

મૂળસૂત્રાર્થ—પુદ્‌ગલદ્રવ્ય, શરીર, વચન, મન; પ્રાણ, અપાન સુખ દુઃખ જીવન અને મરણના કારણ છે ॥ ૧૬ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ધર્મ, અધર્મ અને આકાશનાં લક્ષણોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે પુદ્‌ગલોનું લક્ષણ કહીએ છીએ—

પુદ્‌ગલ ઔદારિક, વૈક્રિયિક, આહારક, તૈજસ અને કાર્મણ આ પાંચ શરીરોનાં વચનના, મનના, પ્રાણના, અપાનના સુખના દુઃખના, જીવનના અને મરણનાં ઉપકારક હોવામાં નિમિત્ત થાય છે આથી શરીર વગેરે રૂપ ઉપકાર કરવો તે પુદ્‌ગલોનું લક્ષણ સમજવું જોઈએ ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—નાશવંત ઔદારિક આદિ પાંચ શરીરોનાં વચન, મન, પ્રાણ, અપાન સુખ દુઃખ જીવન અને મરણના ઉપગ્રાહક હોવાથી પરમાણુથી લઈને મહાસ્કંધ સુધી

પુદ્દગલ ઉપકારક હોય છે. આ પ્રકારે ઔદારિક આદિ પાંચ શરીરો પ્રત્યે, મન, વચન તથા પ્રાણાપાન તરફ તથા સુખ દુઃખ જીવન અને મરણ પ્રતિ પુદ્દગલોનો ઉપકાર સમજવો જોઇએ.

તાત્પર્ય એ છે કે પુદ્દગલ શરીર વગેરેના કારણે થાય છે. ઔદારિક આદિ પાંચે શરીર પુદ્દગલનાં બનેલાં હોય છે આથી પુદ્દગલ ઉપકારક હોવાથી તેમનું કારણ છે. એવી જ રીતે વચન પણ પૌદ્દગલિક છે. તે ભાષાપર્યાપ્તિવાળા પ્રાણીઓનાં જોવામાં આવે છે. વીર્યાન્તરાય તથા જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમથી તથા અંગોપાંગ-નામક નામકર્મના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થાય છે અને ગૂંજન-ધ્વનિ થવો તેમનો સ્વભાવ છે. તાત્પર્ય એ છે કે ભાષાપર્યાપ્તિથી પર્યાપ્ત વીર્યવાન્ જીવ ભાષાના યોગ્ય પુદ્દગલ સ્કંધોને કાયિક વ્યાપારથી ગ્રહણ કરીને અને ભાષાના રૂપમાં પરિણત કરીને વચનયોગ દ્વારા સ્વ પરનાં ઉપકાર માટે કાઢે છે. વચન પૌદ્દગલિક હોવાથી જો કે અમૂર્ત્ત છે તો પણ પાણીમાં ઘોળેલા મીઠા અથવા સાકરની જેમ આંખેથી દેખી શકાતાં નથી. એવો કોઇ નિયમ નથી કે પ્રત્યેક રૂપી વસ્તુ નેત્રગ્રાહ્ય હોવી જ જોઇએ. પુદ્દગલદ્રવ્ય પરમાણુ આદિ અનેક પર્યાયોને ધારણ કરે છે. આથી વચન અમૂર્ત્ત નથી કારણ કે તે પૂર્વીય વાયુવેગથી પ્રેરિત થઈને પશ્ચિમ દિશામાં સ્થિત શ્રોતાને સંભળાય છે આ સિવાય તેનો પ્રતિઘાત પણ થાય છે અને અભિભવ પણ થાય છે.

દ્રવ્યમન પણ પૌદ્દગલિક છે, તે અનન્ત-પુદ્દગલસ્કંધોથી જે મનોવર્ગણાના પુદ્દગલ કહેવાય છે. આથી મૂર્ત્તિમાન્ છે. મન પર્યાપ્ત પંચેન્દ્રિય જીવોને જ હોય છે. છદ્મસ્થ જીવોને શ્રુતજ્ઞાનાવરણનો ક્ષયોપશમ ઉત્પન્ન કરવામાં કારણભૂત તેમની સહાયતાથી ઉત્પન્ન થનાર ગુણદોષની વિચારણાસ્વરૂપ સમ્પ્રધારણસંજ્ઞા તથા ધારણજ્ઞાન જેનાથી થાય છે, તે ભાવમન કહેવાય છે. કહ્યું પણ છે-ચિત્ત ચેતન, યોગ. અધ્યવસાન, ચેતનાપરિણામ તથા ભાવમન એ બધાં ઉપયોગવાચક શબ્દ છે પરંતુ પ્રાકૃતમાં આ ભાવમનના કારણે પૌદ્દગલિક, સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમાં રહેલા દ્રવ્યમનને જ ગ્રહણ કરવું જોઈએ.

એવી જ રીતે ઉચ્છ્વાસ રૂપ કોષ્ઠવાયુ જે પ્રાણ છે તેને પણ પૌદ્દગલિક સમજવો જોઈએ. કારણ કે પુદ્દગલ જ પ્રાણ રૂપમાં પરિણત થાય છે બહારના વાયુને અંદર લઈ જવું તે અપાન કહેવાય છે. તે પણ પૌદ્દગલિક છે કારણ કે પુદ્દગલ જ અપાન રૂપમાં પરિણત થાય છે. આ પ્રાણ અને અપાન પણ આત્માના અનુગ્રાહક હોય છે. આ બંને રૂપી દ્રવ્યના પરિણામ છે અને દ્વારોનું અનુસરણ કરે છે અર્થાત્ નાકના નસકોરાથી પ્રવેશે છે-નીકળે છે આથી એમને પણ મૂર્ત્ત સમજવા જોઈએ. આવી રીતે બેઈન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રીય અને પંચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત જીવ રસનેન્દ્રિયના સંયોગથી ભાષા પરિણામના યોગ્ય અનન્તપ્રદેશી સ્કંધોને કાયયોગથી ગ્રહણ કરે છે અને ભાષાપર્યાપ્તિ કરણ દ્વારા ત્યાગે છે જ્યાં રસનેન્દ્રિય હોય છે તે જ ભાષાપર્યાપ્તિ હોય છે કારણ કે તે રસનેન્દ્રિયને આશ્રિત છે આ કારણથી જ પૃથ્વીકાયથી લઈને વનસ્પતીકાય સુધીના એકેન્દ્રિય જીવ ભાષાવર્ગણાના પુદ્દગલોને ગ્રહણ જ કરતી નથી. આ કારણે જીભનો અભાવ હોવાથી તેમનામાં ભાષાનો પણ અભાવ છે.

બેઈન્દ્રિય વગેરે જીવ રસનેન્દ્રિયથી યુક્ત થઈને ભાષાપુદ્દગલોને પોતાની ભાષાના રૂપમાં પરિણત કરીને આર્ય મ્લેચ્છ આદિ ભાષાઓની જેમ નિયત-નિયત ભાષાઓનો જ વ્યવહાર કરે છે.

ગુણ—દોષની વિચારણા રૂપ સમ્પ્રધારણ સંજ્ઞાના યોગથી સંજ્ઞી પ્રાણી જ મનોયોગ્ય મનોવર્ગણાના પુદ્ગલોને સર્વાંગથી ગ્રહણ કરે છે અને તેમને મનના રૂપમાં પરિણત કરીને તેમનાથી ગુણ–દોષની વિચારણા કરે છે.

એકેન્દ્રિયથી લઈને અસંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય સુધીના જીવ તે સંપ્રધારણ સંજ્ઞાથી યુક્ત હોતા નથી. મનપર્યાપ્તિનો અભાવ હોવાથી તેમનામાં મનન કરવાની શક્તિ હોતી નથી જે અસંજ્ઞી બેઇન્દ્રિય પ્રાણી પોતાના દરની તરફ જતાં–ભાગતા દેખાય છે અથવા કૃમિ, કીડી વગેરે ચોખાના કણોનો સંગ્રહ કરે છે. તે મન વગર જ અવગ્રહની પુટતાને કારણે એવું કરે છે તેમનામાં એવી જ લબ્ધિ હોય છે તેઓ ગુણ–દોષની વિશિષ્ટ વિચારણા કરી શકતાં નથી.

શંકા—જીવ ઔદારિક આદિ શરીરોને યોગ્ય પુદ્ગલોને કેવી રીતે ગ્રહણ કરે છે ? અને ગ્રહણ કરવામા આવેલા તે પુદ્ગલ ભેગાં જ કેવી રીતે રહે છે ? વિખેરાઈ કેમ જતાં નથી ?

સમાધાન—જીવ ક્રોધાદિ કષાયથી યુક્ત થઈને જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મો અને નોકર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલોને સમસ્ત આત્મપ્રદેશોથી ગ્રહણ કરે છે, ગ્રહણ કરેલાં તે પુદ્ગલ બંધના કારણે મળેલાં જ રહે છે, વિખેરાઈ જતા નથી કહ્યું પણ છે—

ઉષ્ણતા ગુણવાળો દીપક વાટ વડે તેલને ગ્રહણ કરે છે તેવી જ રીતે રાગાદિની ઉષ્ણતાથી યુક્ત થઈને યોગ રૂપી વાટ દ્વારા આત્મા રૂપી દીપક કર્મસ્કંધ રૂપી તેજને ગ્રહણ કરીને તેમને કર્મરુપમાં પરિણત કરે છે.'

એ રીતે પુદ્ગલ જ ઔદારિક વગેરે શરીરોનાં રુપમાં જીવોને ઉપકારક થાય છે. પ્રકૃત, વિજ્ઞાન, સ્વભાવ પરમેશ્વર, નિયતિ, અદૃષ્ટપુરુષ અથવા કાળ આદિ શરીર વગેરે આકાર રૂપમાં પરિણમતા નથી. તેમનો સ્વીકાર કરવા માટે કોઈ દલીલ નથી. આ રીતે જીવોની તરફ પુદ્ગલોનો ઉપકાર પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યો. છે.

હવે બીજા પ્રકારથી એ બતાવીએ છીએ કે નિમિત્ત બનીને પુદ્ગલ કંઈ રીતે જીવોનો ઉપકાર કરે છે ? જીવોથી સુખ, દુ.ખ જીવન અને મરણ રૂપ ઉપગ્રહમાં પણ પુદ્ગલ કારણ હોય છે. શાતા અને અશાતાવેદનીય કર્મના ઉદયમાં પુદ્ગલ નિમિત્ત કારણ હોય છે.

એવી જ રીતે ઇષ્ટ સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણ અને શબ્દ રૂપ પુદ્ગલ સુખના નિમિત્ત કારણ હોય છે અને અનિષ્ટ સ્પર્શ આદિ દુઃખના કારણ હોય છે સ્થાન, આચ્છાદાન, લેપન ભોજન આદિ સબંધી પુદ્ગલ જીવનના ઉપકારક છે અને આયુષ્યના અનપવર્ત્તક હોય છે એમનાથી વિપરીત, વિષ, શસ્ત્ર, અગ્નિ આદિના પુદ્ગલ મરણના કારણ બની જાય છે—આયુષ્યનું અપવર્તન કરવાવાળા હોય છે. ઔદારિક શરીર આદિના રૂપમાં પરિણત થયેલા પુદ્ગલ આત્માનો સાક્ષાત્ ઉપકાર કરે છે

સુખ-દુઃખ પર્યાયમાં આત્મા સ્વયં પરિણત થાય છે, પુદ્ગલ તેમાં નિમિત્ત થઈ જાય છે. બાહ્યદ્રવ્યોના સંબંધ રુપ નિમિત્તથી શાતાવેદનીયનો ઉદય થવાથી સંસારી જીવને ઇષ્ટ સ્ત્રી, પુત્ર, માળા, ચન્દન, અન્નપાણી આદિ પુદ્ગલોથી પ્રસાદ પરિણામરૂપ સુખની ઉત્પત્તિ થાય છે. આ પ્રકારે આત્માની પરિણતીમા પુદ્ગલ નિમિત્ત બનીને ઉપકાર કરે છે.

અશાતાવેદનીય કર્મના ઉદય અનિષ્ટ બાહ્યપુદ્ગલોના કારણ આત્મામાં સંકલેશ રૂપ પરિણતિ થવું દુઃખ કહેવાય છે. આમાં પણ પુદ્ગલ નિમિત્ત હોય છે.

ભવસ્થિતિના કારણભૂત આયુષ્ય કર્મના સંબંધવાળા પુરુષની શ્વાસોચ્છવાસ ક્રિયાનું, સંપૂર્ણ રીતે બંધ થઈ જવું મરણ કહેવાય છે.

શંકા—મરણ આત્મા માટે પ્રતિકૂળ છે આથી તેને અનુગ્રાહક ઉપકારક કેવી રીતે કહી શકીએ ?

સમાધાન—પંડિતમરણ સદ્ગતિને પ્રાપ્ત કરાવનાર છે આથી તે મરણ પ્રિય હોય છે આવી રીતે વિરક્ત પુરુષને પણ મરણ પ્રિય હોય છે. સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણ અને શબ્દનું ઇષ્ટ અથવા અનિષ્ટ થવાનું જીવની પોતાની ચિત્તવૃત્તિ પર નિર્ભર છે કહ્યુ પણ છે-નિશ્ચય નયથી અર્થાત્ વાસ્તવિક રૂપથી ન કોઈ પદાર્થ ઇષ્ટ હોય છે કે ન અનિષ્ટ, પરંતુ જે પદાર્થ પર દ્વેષ ઉત્પન્ન થાય છે તેજ અનિષ્ટ બની જાય છે અને જેના પર રાગવૃત્તિ ઉત્પન્ન થાય છે તે ઇષ્ટ પ્રતિત થવા લાગે છે.

શંકા—જે જીવ સોપક્રમ આયુષ્યવાળા છે, અનશન અગર રોગ આદિના કારણે જેમનું આયુષ્ય ક્ષીણ થઈ જાય છે, જેમનું આયુષ્ય અપવર્ત્તનીય છે, એવા જીવો માટે પુદ્ગલ ઉપકારક ભલે હોય પરંતુ અનપવર્તનીય આયુષ્યવાળા અર્થાત્ દેવતા અને નારકી, ચરમ શરીરધારીઓ, ઉત્તમ પુરુષો તથા અસંખ્યાત વર્ષોના આયુષ્યવાળા માટે પુદ્ગલ મરણોપકારક કેવી રીતે હોઈ શકે ?

સમાધાન-સાંભળો ભલે કોઈ અપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળો હોય અગર તો અનપવર્ત્તનીયવાળો; બધાનું જીવન અને મરણ પુદ્ગલોને જ આધીન છે. અનપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળા જીવોના આયુષ્યને નથી કોઈ વધારી શકતું કે નથી ઘટાડી શકતું આવી સ્થિતિમાં તેમના જીવન અને મરણને પુદ્ગલકૃત ઉપગ્રહ કેવી કહી શકાય ? એનો જવાબ એ છે કે પૌદ્ગલિક આયુષ્ય કર્મ જ્યાં સુધી બન્યુ રહે છે ત્યાં સુધી જીવન રહે છે અને જ્યારે તેનો ક્ષય થઈ જાય છે તો મરણ થાય છે. આ રીતે સઘળાં જીવોનું જીવન તથા મરણ પુદ્ગલોને આધીન છે.

અનપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળાઓનું જીવન પણ આયુષ્ય કર્મ વગર ટકી શકતું નથી અને આયુષ્યકર્મના ક્ષય વગર મરણ થઈ શકતું નથી આ કારણથી અનપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળાનું જીવન-મરણ પણ પુદ્ગલને આધીન છે. ભગવતીસૂત્રના શતક ૧૩ ઉદ્દેશક ૪ માં કહે છે કે—

પ્રશ્ન—પુદ્ગલાસ્તિકાયના વિષયમાં પ્રશ્ન ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પુદ્ગલાસ્તિકાયના નિમિત્તથી જીવોના ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, કાર્મણ શરીર શ્રોત્રેન્દ્રીય, ચક્ષુરિન્દ્રીય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, જિહ્વેન્દ્રિય, સ્પર્શેન્દ્રિય, મનોયોગ, વચનયોગ, કાયયોગ તથા શ્વાસોચ્છવાસનું ગ્રહણ પ્રવૃત્ત થાય છે. પુદ્ગલાસ્તિકાય ગ્રહણ લક્ષણવાળું છે ॥૧૬॥

'परोप्परनिमित्ता जीवा'

મૂળસૂત્રાર્થ—જીવ પરસ્પરમાં નિમિત્ત હોય છે ॥૧૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—જીવ પરસ્પર એક બીજાના ઉપકારક હોય છે રાજા અને સેવક, આચાર્ય અને શિષ્ય જેવી રીતે એક બીજાના ઉપકારક છે તેવી જ રીતે જીવોનો પણ પરસ્પર ઉપકાર

સમજવો જોઈએ. રાજા દ્રવ્ય આદિ આપીને નોકરનો ઉપકાર કરે છે, સેવક હિત સાધીને અને અહિત રોકીને રાજાનો ઉપકાર કરે છે. આચાર્ય આ લોક તથા પરલોકમાં ઉત્તમ ફળ આપનાર ઉપદેશ અનુસાર ક્રિયા કરાવીને શિષ્યનો ઉપકાર કરે છે. શિષ્ય આચાર્ય માટે અનુકૂળ કાર્ય કરીને આચાર્યનો ઉપકારક થાય છે.

આવી રીતે જીવોના સુખ, દુઃખ, જીવન તથા મરણ પણ જીવકૃત ઉપકાર છે. જે જીવ બીજા જીવને સુખ પહોંચાડે છે તે તેને અનેકવાર સુખી બનાવે છે આથી ઉલ્ટું જે જીવ જેને દુઃખ આપે છે તે બદલામાં તેને વારંવાર દુઃખી બનાવે છે. જે જેનો ઘાત કરે છે તેને તેની દ્વારા ઘણીવાર મરવું પડે છે વળી કહ્યું પણ છે કે—

અરે જીવ ! તુ તારા પુત્ર-પત્ની વગેરે પરિવાર માટે જીવોની જો હિંસા કરીશ, તેના ટુકડે-ટુકડા કરીશ, દુઃખ ઉપજાવીશ તો યાદ રાખજે કે તારે એકલાને જ તેનું ફળ ભોગવવું પડશે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, અને પુદ્‌ગલ દ્રવ્યના ઉપકારક રૂપમાં લક્ષણ કહેવામાં આવ્યું છે. જીવો માટે ધર્મ અધર્મ આદિ બધાં ઉપકારક હોય છે; ધર્મ, અધર્મ તથા આકાશપુદ્‌ગલોના ઉપકારક હોય છે, આકાશ ધર્મ, અધર્મ અને પુદ્‌ગલોનો ઉપકારક હોય છે. ઈત્યાદિ રૂપથી કથન કરવામાં આવ્યું છે હવે જીવ કોનો ઉપકારી હોય છે એ માટે કહીએ છીએ—જીવ પરસ્પર એક બીજાનો ઉપકાર કરવામાં નિમિત્ત બને છે.

એક જીવ બીજા જીવને ભલાઈનો ઉપદેશ આપીને તથા અહિતથી રોકીને ઉપકાર કરે છે. એવી જ રીતે ભવિષ્યમાં અથવા વિદ્યમાન કાળમાં જે હિત છે, યોગ્ય ક્ષેમ અગર ન્યાય્ય છે તેનું પ્રતિપાદન કરીને તથા હિતથી વિપરીત અહિતનો પ્રતિષેધ કરીને પરસ્પર ઉપકારક થાય છે. એક જીવ બીજાનો, બીજો ત્રીજાનો, ત્રીજો ચોથાનો ઉપકાર કરે છે અને આવી રીતે ઉપકારની પરમ્પરા ચાલુ રહે છે.

જેમ ધર્મ, અધર્મ આકાશ કાળ અને પુદ્‌ગલ દ્રવ્યમાં સ્વભાવથી જ ઉપકારકતા છે તેવી જીવોમાં સ્વભાવથી ઉપકારકતા નથી. જીવોની ઉપકારકતા તો અનુગ્રહ બુદ્ધિથી જ સમજવી જોઈએ. આ પ્રકારે પરસ્પર હિતાહિતનો ઉપદેશ આપીને જીવ બીજા જીવનો અનુગ્રહ કરે છે, પુદ્‌ગલ આદિ એવું કરતા નથી.

અથવા જીવના સુખ આદિના સાધક-એક-એક પુદ્‌ગલ વગેરે થઈ શકે છે. હમેશાં બે વગેરેનો ઉપકારક થાય છે, એક-એકનો નહીં. આ રીતે પહેલા પુદ્‌ગલ આદિનો ગૌણ ઉપકાર પ્રતિપાદિત કર્યો અહીં જીવ દ્વારા થનારો મુખ્ય ઉપકાર સમજવો જોઈએ. જીવ જેટલો અધિક ઉપદેશ દ્વારા જીવોનો ઉપકારક થાય છે તેટલો ધન વગેરે દ્વારા ઉપકાર કરતો નથી.

શંકા—પહેલા જીવનું લક્ષણ ઉપયોગ બતાવ્યુ તો પછી તેનું બીજું લક્ષણ બતાવવું નકામું છે.

સમાધાન—ઉપયોગ જીવનું અન્તરંગ લક્ષણ છે. અહીં જે પરસ્પર ઉપકાર કરવાનું લક્ષણ કહેલ છે તે તેનું બહિરંગ લક્ષણ છે.

શંકા—એવું છે તો ધર્મ આદિનું પણ બીજું લક્ષણ કેમ ન બતાવ્યું ?

સમાધાન—ધર્મ અધર્મ તથા આકાશના સ્વાભાવિક ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહ જ અસાધારણ લક્ષણ છે ભગવતીસૂત્ર (વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્ર) શતક ૧૩ ઉદ્દેશક ૪ ના ૪૮ માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! જીવાસ્તિકાયથી જીવોને શું થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જીવાસ્તિકાયથી જીવ અનન્ત—આભિનિબોધિકજ્ઞાનના પર્યાયોને અનન્ત શ્રુતજ્ઞાનનાં પર્યાયોને પ્રવૃત્ત કરે છે વગેરે જેવું બીજા શતકનાં અસ્તિકાય ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે તે જ અહીં સમજી લેવું જોઈએ. જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે.

તે જ ભગવતીસૂત્રના બીજા શતકના દશમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—

જીવ અનન્ત આભિનિબોધિકજ્ઞાનના પર્યાયોને તેવી જ રીતે શ્રુતજ્ઞાનના પર્યાયોને, અવધિજ્ઞાનના, મનઃપર્યવજ્ઞાનના, કેવલજ્ઞાનના, મતિઅજ્ઞાનના, શ્રુતઅજ્ઞાનના, વિભંગજ્ઞાનના, ચક્ષુદર્શનના, અચક્ષુદર્શનના, અવધિદર્શનના, કેવલદર્શનના—આ તમામ પર્યાયોને અર્થાત્ બધાના ઉપયોગને પ્રાપ્ત કરે છે.

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮ માં અધ્યયનની ૧૨ મી ગાથામાં કહ્યું છે. જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે. જ્ઞાનથી, દર્શનથી, સુખથી અને દુઃખથી. ॥ ૧૭ ॥

'वट्टणा परिणाम किरियापरत्तापरत्ताणं निमित्तं कालो'

મૂળસૂત્રાર્થ—કાલદ્રવ્ય વર્ત્તના, પરિણામ, ક્રિયા, પરત્વ અને અપરત્વનું નિમિત્ત કારણ છે. ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જીવોના લક્ષણનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ. હવે કાળનું લક્ષણ પ્રતિપાદિત કરીએ છીએ.

કાળ, ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની વર્ત્તના અર્થાત્ વર્ત્તનવ્યવહારનો ઉપકારક થઈને નિમિત્ત થાય છે. એવી જ રીતે દ્રવ્યના પર્યાય રૂપમાં જીવના ક્રોધ રૂપમાં પુદ્ગલના વર્ણ રસ ગંધ અને સ્પર્શ રૂપમાં ધર્મ અધર્મ અને આકાશના અગુરુ લઘુ ગુણને વૃદ્ધિ હાનિ રૂપમાં થનારા પરિણામનો ઉપકારક થઈને નિમિત્ત થાય છે. આવી રીતે પરિસ્પન્દન રૂપ ક્રિયાનો તથા જ્યેષ્ઠતા અને કનિષ્ઠતાના વ્યવહારનું નિમિત્ત થાય છે. ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ ધર્મ અધર્મ આકાશ તથા પુદ્ગલ જીવોનાં ઉપકારક પ્રકટ કરીને તેમના સ્વરૂપનું કથન કરવામાં આવ્યું છે હવે કાળનું સ્વરૂપ પ્રકટ કરવા માટે "વટ્ટણા" ઈત્યાદિ રૂપ.... આગળના સૂત્રનું કથન કરીએ છીએ-ધર્મ અધર્મ આકાશ તથા પુદ્ગલ જીવોના દ્રવ્યોનાં સ્વપર્યાય નિવૃત્તિ પ્રતિ આત્મરૂપથી વર્તમાન બાહ્ય ઉપકાર વગર તેમની વૃત્તિનો સંભવ થઈ શકતો નથી તેમની પ્રવૃત્તિથી કાલ ઉપલક્ષિત થાય છે-જાણી શકાય છે—આથી દ્રવ્ય અને પર્યાયની વર્ત્તના કાળ કૃત ઉપકાર જાણવા જોઈએ. આ રીતે દ્રવ્યપર્યાય વર્ત્તનારૂપ છે અને કાળ તેમને વર્ત્તન કરાવનાર છે.

શંકા—જો આમ જ હોય તો શિષ્ય ભણે છે, ઉપાધ્યાય તેને ભણાવે છે વગેરેના સમાનકાળમાં સક્રિયતાનો પ્રસંગ ઉપસ્થિત થાય છે.

સમાધાન—જેવી રીતે રસ્તે ચાલનારાને પ્રકાશ ઉપકારક થાય છે. છાણાની અગ્નિ શિષ્યને ભણાવે છે એ પ્રકારના વ્યવહારમાં છાણાનો અગ્નિ જો કે શિષ્યના અધ્યયનમાં નિમિત્ત માત્ર

છે તો પણ તેમાં હેતુકર્તૃત્વનુ કથન કરવામાં આવે છે એવી જ રીતે દ્રવ્ય અને પર્યાય આદિના વર્ત્તનવ્યવહારમાં કાળ જો કે નિમિત્ત માત્ર છે તો પણ એમાં હેતુકર્તૃત્વનું કથન હોવું શક્ય છે.

શંકા—સમય આદિથી જ ઉક્ત વ્યવહાર થઈ શકે છે એવી સ્થિતિમાં કાળના અસ્તિત્વનું શું પ્રમાણુ છે ?

સમાધાન—સમય આદિ ક્રિયાવિશેષોની તથા સમય આદિ દ્વારા નિષ્પન્ન થનારા પાક આદિની "સમયઃ પાકઃ" એવી સંજ્ઞાની પ્રસિદ્ધિ હોવા છતાં પણ "સમય કાલઃ" "ઓદનપાક-કાલ" એવી રીતે કાળનું જે કથન કરવામાં આવે છે તેથી મુખ્ય કાલની સત્તાનુ અનુમાન થાય છે કારણુ કે મુખ્યની અપેક્ષાથી જ ગૌણુ વ્યવહાર થાય છે.

આ રીતે દ્રવ્યના પર્યાય–પરિણુમનમાં અર્થાત્ એક પર્યાયનો વિનાશ થવાથી બીજા પર્યાયની ઉત્પત્તિ રૂપ પરિણામમાં, અપરિસ્પન્દ રૂપ પરિણામમાં, જીવના ક્રોધાદિ રૂપ પરિણામમાં પુદ્ગલના વર્ણ, ગંધ, રસ, સ્પર્શ આદિ રૂપ પરિણામમાં તથા ધર્મ અધર્મ અને આકાશના અગુરુ લઘુ ગુણને વૃદ્ધિ તથા હાનિ રૂપ પરિણામમાં કાળ ઉપકારક રૂપથી હેતુ થાય છે.

હલન–ચલન રૂપ ક્રિયા બે પ્રકારની કહેવામાં આવી છે. પ્રાયોગિકિ અર્થાત્ પ્રયત્નજનિત અને વૈસસિકિ અર્થાત્ સ્વાભાવિકી શકય વગેરેની પ્રાયોગિકી અને મેઘ વગેરેની સ્વાભાવિકિ ક્રિયા હોય છે. બંને પ્રકારની ક્રિયામાં કાલ નિમિત્ત કારણુ છે.

પરત્વ અને અપરત્વ બે–બે પ્રકારનાં છે દેશકૃત અને કાલકૃત. દેશકૃત પરત્વનો અર્થ છે દૂર અને અપરત્વનો અર્થ છે પાંસે. આ બંને પરસ્પર સાપેક્ષ છે. કાલકૃત પરત્વનો અભિપ્રાય છે જ્યેષ્ઠતા અને અપરત્વનો અભિપ્રાય છે કનિષ્ઠતા. આ સૂત્રમાં જે પરત્વ અને અપરત્વનું ગ્રહણુ કરેલ છે તે કાલકૃત સમજવા જોઈએ. કાલના આધાર પર જ જ્યેષ્ઠતા–કનિષ્ઠતાનો વ્યવહાર થાય છે આથી પરત્વ અને અપરત્વ પણુ કાળના ઉપકારક છે. આ બંને પણ પરસ્પર સાપેક્ષ હોય છે.

આનો ફલિતાર્થ એ છે કે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય પર્યાયોના વર્ત્તન આદિનો વ્યવહાર કાલકૃત હોવાથી કાલ જ તે બધાનું નિમિત્ત કારણુ છે.

શંકા—વર્ત્તનાનું ગ્રહણુ કરવાથી જ તેના ભેદ પરિણામ, ક્રિયા આદિનું પણ ગ્રહણુ થઈ શકે છે આથી પરિણામ આદિનું પૃથક્ગ્રહણુ કરવું વ્યર્થ છે.

સમાધાન—કાલ બે પ્રકારના છે–પરમાર્થકાલ તથા વ્યવહારકાલ. આ બંને પ્રકારનાં કાળોને ગ્રહણુ કરવા માટે પરિણામ આદિને વર્ત્તનાથી જુદા કહ્યાં છે.

વર્ત્તના લક્ષણુવાળો કાળ પરમાર્થકાળ છે અને પરિણામ ક્રિયા આદિ લક્ષણુવાળો કાળ વ્યવહાર કાળ કહેવાય છે આ પ્રકારે અન્ય પદાર્થો દ્વારા પરિચ્છિન્ન અને અન્ય પદાર્થોના પરિચ્છેદનું કારણુ જે ક્રિયાવિશેષ છે, તે કાલ કહેવાય છે. તેના ત્રણુ ભેદ છે–ભૂત, ભવિષ્ય, વર્ત્તમાન. આમાંથી વર્ત્તમાન રૂપ પરમાર્થ, કાળનો વ્યવહાર થવો મુખ્ય અને ભૂત આદિનો વ્યવહાર ગૌણુ છે.

પરિણામ ક્રિયા આદિ રૂપ વ્યવહાર કાલમાં ભૂત, ભવિષ્ય તથા વર્ત્તમાનનો વ્યપદેશ મુખ્ય છે, કાળના વ્યપદેશમાં ગૌણુ છે કારણુ કે તે ક્રિયાવાન દ્રવ્યની અપેક્ષા રાખે છે અને કાલકૃત હોય છે.

શંકા—કાલદ્રવ્ય તો સિદ્ધ છે પરંતુ સમય વગેરેની સત્તામાં શું પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—ચોખાનું રંધાવું રાંધણુ કહેવાય છે. ચઢતા ચોખા ધીમે-ધીમે ભાત રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે કારણ કે તેમના સખ્ત અવયવ શિથિલ થતાં જોવાય છે આથી સાબીત થાય છે કે સમય સમયની પ્રતિ સૂક્ષ્મ કાળનું અસ્તિત્વ છે. જો એક એક સમયમા ચોખા થોડા થોડા ન રંધાત તો તેમાં સ્થૂળ પાક ન જોવામાં આવત. આ રીતે બધા દ્રવ્યોમાં પ્રતિ સમય સ્થૂલ પર્યાય જોવામાં આવે છે આથી જાતે જ વર્ત્તન સ્વભાવ હોવાથી બાહ્ય નિશ્ચયકાળ જે પરમાણુરૂપ છે તેની અપેક્ષા રાખીને ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ પર્યાયોમાં જે વર્ત્તન પરિણમન થાય છે તે વર્ત્તના છે એવું નક્કી હોત તો દ્રવ્યોનું સમયે-સમયે પરિણમન થાત પછી તો દ્રવ્યોના સ્થૂળ પર્યાય પણ ન હોત આથી તે વર્ત્તના પરમાણુરૂપ મુખ્ય કાળને સમજવામાં કારણ છે. આ કારણથી વર્ત્તના દ્વારા અણુરૂપ મુખ્ય કાળનું અસ્તિત્વ નિશ્ચિત હોય છે આ રીતે વર્ત્તના નિશ્ચય કાળનો ઉપકાર સમજવો જોઈએ.

આ પ્રકારના કાળનું અસ્તિત્વ મનુષ્યલોકમાં જ કેમ સ્વીકારવામાં આવે છે ? મનુષ્યલોકથી બહાર કેમ નથી સ્વીકારાતું ? મનુષ્યલોકથી બહાર પણ કાળનું લક્ષણ ઘટિત થાય છે જેવી રીતે વર્ત્તના રૂપ કાળનું હોવું મનુષ્યલોકથી બહાર પણ પ્રતિત થાય છે. "પ્રાણાપાન" શ્વાસોચ્છ્વાસ નિમેષ, ઉન્મેષ, આયુષ્યનું પ્રમાણુ આદિ કાળ તથા પરત્વ અપરત્વ આદિ લિંગ મનુષ્યલોકથી બહાર પણ મળી આવે છે. આનું સમાધાન એ છે કે ત્યાં ભાવોની વૃત્તિ હોવા છતાં પણ તે વૃત્તિ કાળનું કારણ માનવામાં આવતી નથી પરંતુ સત્ પદાર્થ સ્વયં જ ઉત્પન્ન થાય છે. સ્વયં જ નષ્ટ થાય છે. એ સ્વયં જ સ્થિર રહે છે. પદાર્થોનું અસ્તિત્વ કોઈ બીજા પદાર્થની અપેક્ષા રાખતું નથી.

મનુષ્યલોકથી બહાર જે પ્રાણાપાન આદિ વ્યવહાર છે તે કાળની અપેક્ષા રાખતા નથી કારણ કે સમાનજાતીય બધાં એકી સાથે જ ઉત્પન્ન થતાં નથી સમાન જાતીયવાળાઓના કાળની અપેક્ષા રાખનારા અર્થ એક કાળમાં થાય છે, વિજાતીયોના નહીં તુલ્ય જાતીઓના પ્રાણ આદિ વ્યાપાર એક જ કાળમા ઉત્પન્ન થતાં નથી તેમજ બન્ધ પણ થતો નથી આથી પ્રાણ આદિ વૃત્તિઓ કાલાપેક્ષ નથી તેમજ મનુષ્યલોકથી બહાર જે પરત્વ અને અપરત્વ છે તેમને કાળની અપેક્ષા હોય છે.

પરત્વ અને અપરત્વ સ્થિતિવિશેષની અપેક્ષાથી થાય છે. જેમ ૭૦ વર્ષવાળાની અપેક્ષા ૧૦૦ વર્ષવાળો "પર" કહેવાય છે અને ૭૦ વર્ષવાળો "અપર" કહેવાય છે. આ વ્યવહાર પદાર્થોના અસ્તિત્વથી જ થાય છે. અને કોઇનું અસ્તિત્વ કોઈ બીજી વસ્તુની અપેક્ષા રાખતું નથી તે કહેવાઈ ગયું છે.

શંકા—જો એવું છે તો મનુષ્યલોકમાં પણ વર્ત્તના, પરિણામ, ક્રિયા આદિ કાળ વગર જ થઈ જશે ત્યાં કાળના અસ્તિત્વનો સ્વીકાર કરવાથી શો ફાયદો ?

સમાધાન—મનુષ્ય લોકમાં કાળને જો વર્ત્તના આદિના જનક કારણ તરીકે માન્યુ હોત અગર તો ઉપાદાન કારણ માન્યું હોત તો આવી કલ્પના કરવાની આવશ્યકતા ન હતી. પરંતુ એવું તો માન્યું નથી. વર્ત્તના આદિમાં કાળ અપેક્ષા કારણ જ કહેવામાં આવેલ છે જેમ કુંભાર માટી લઈને ઘડો બનાવે છે તેમ કાળ પુદ્ગલ વગેરેને લઈને તેમની વર્ત્તના વગેરે કરતો

નથી. કાળ માટી આદિની જેમ ઉપાદાન કારણ પણ હોતું નથી પરંતુ જાતે જ થનારા પુદ્ગલ આદિ પદાર્થ આ કાળમાં હોય અન્ય કાળમાં નહીં એ રીતે કાળ માત્ર અપેક્ષા કારણ છે જેમ પુદ્ગલાદિ દ્રવ્યોની ગતિમાં ધર્મદ્રવ્ય અપેક્ષા કારણ છે તેવી જ રીતે મનુષ્યલોકમાં પુદ્ગલાદિ દ્રવ્યોની વર્ત્તનામાં કાળને અપેક્ષા કારણ માનવું તે અતિ જરૂરનું છે એવી રીતે મનુષ્યલોકમાં કાળનું અસ્તિત્વ સ્વીકારવામાં કોઇ દોષ નથી.

જો તિર્છા લોકના પદાર્થોનો ઉપકાર ચન્દ્ર–સૂર્ય આદિની ગતિ ક્રિયાથી થાય છે તો તે સૂર્ય આદિની ગતિક્રિયાથી તિર્છાલોકમાં તેમનો ઉપકાર સ્પષ્ટ જ છે. દેવલોક આદિમાં ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરેની ગતિક્રિયા થતી નથી તેનાથી તેમનો ઉપકાર થતો નથી. આ રીતે અન્યત્ર તેમનો ઉપકાર સ્પષ્ટ જ છે. આથી મનુષ્યલોકવર્ત્તી કાળ દ્વારા જ અન્યત્ર પણ કાળનો વ્યવહાર સમજી લેવો જોઇએ. સહુથી નાનો જે સમય છે તે પણ સૂર્ય આદિની ક્રિયાથી પ્રગટ થનારા દિવસ વગેરેના પરમ લવ જ જાણવા જોઈએ.

સૂર્ય આદિની ગતિમાં પણ પ્રાચીન કાળગતિ કારણ હોય છે આથી મનુષ્યલોકમાં જ કાળ દ્રવ્યનો સદ્ભાવ માનવો યોગ્ય છે અન્યથા લોક અને અલોકમાં વર્ત્તના આદિનો સદભાવ હોવાથી સર્વત્ર જ તેની સત્તા કેમ ન મનાય? કહેવાનું એ છે કે આનાથી કાળની પર્યાયિતા પણ સંગત થઈ જાય છે.

આ રીતે વર્ત્તના કાળાશ્રિત વૃત્તિ કહેવાય છે વર્ત્તના, ઉત્પત્તિ સ્થિતિ અને ગતિ છે જે પ્રથમ સમય આશ્રિત છે. વર્ત્તના આદિ સમસ્ત ભાવરૂપ પદાર્થોમાં વ્યાપક છે. પદાર્થ સ્વયં જ વર્ત્તના કરે છે તે વર્ત્તનશીલ પદાર્થો માટે કાળાશ્રયવૃત્તિ નિમિત્ત થઈ જાય છે. તેના દ્વારા પદાર્થ વર્ત્તના કરે છે તે વર્ત્તના; એવી વર્ત્તના શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે. કાલાશ્રયવૃત્તિ જ વર્ત્તના અગર વર્ત્તનશીલતા કહેવાય છે. વૃત્તિ, વર્ત્તન અગર વર્ત્તનશીલતા આ બધાં એક જ અર્થ સૂચવે છે. **'अनुदात्तेतश्च हलादेः'** આ સૂત્રથી યુચ્ પ્રત્યય થાય છે તેને **"युवोरनाकौ"** આ સૂત્રથી આદેશ થતો નથી પ્રથમ વ્યુત્પત્તિમાં **"ण्यासश्रन्थो युच्"** એ સૂત્રથી યુચ્ પ્રત્યય થાય છે. તે વર્ત્તના પ્રત્યેક દ્રવ્ય અને પર્યાયમાં એક સમય સમ્બન્ધી સત્તાનું અનુભવ રૂપ છે. ઉત્પાદ્ય અગર તેનાથી બીજા પદાર્થના પ્રથમ સમયનો વ્યવહાર અનુમાન ગમ્ય છે ચોખા વગેરેના પાકની જેમ અગ્નિ અને જળ હેતુક પ્રાથમિક વિક્રિયા અતીત અને અનાગત વિશેષોથી રહિત જાણવા જોઇએ.

તે વર્ત્તના અત્યન્ત કુશળ બુદ્ધિમાન પુરુષની જ સમજમાં આવે છે કહ્યું પણ છે—

—विसस्य बाला............વગેરે.

શંકા—વર્તમાન સૂર્યના ઉદયથી પ્રતીત થનારા ભાવરૂપ પદાર્થોની વિશિષ્ટ ક્રિયા જ વર્ત્તના કરે છે એમ વ્યવહારનો વિષય હોય છે તેનાથી ભિન્ન કોઈ કાળ વ્યવહારનો વિષય હોતો નથી. એવી જ રીતે "હ્ય" (વીતેલો દિવસ) અને "શ્વ" (આવનારો દિવસ) આ પ્રકારે અતીત અને અનાગત ઉદયરૂપ, સૂર્યમંડળના ભ્રમણથી અનુમાન કરનારી વસ્તુની ક્રિયા જ વર્તશે વગેરે રૂપે વ્યવહાર કરાય છે.

સમાધાન—કાળ ભલે ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું પરિણમન માત્ર હોય અગર ભલે તેનાથી કંઈ જુદો જ હોય, બંને પક્ષોમાં કોઇ દોષ નથી પણ સૂર્યની ગતિથી પ્રતીત થનારી વસ્તુની ક્રિયા—

વર્ત્તતે એવા વ્યવહારનો વિષય હોતી નથી. કારણ કે સૂર્યની ગતિમાં પણ તેનો સદ્ભાવ છે આથી વર્ત્તતે એ પ્રકારના વ્યવહારના વિષય બનનારા તમામ પદાર્થોની વર્ત્તના આદિનો નિર્વાહક કાળ કોઈ જુદો જ હોવો જોઈએ. જો કાળનું અસ્તિત્વ ન માનીએ તો કાલાશ્રિત વૃત્તિ પણ ન મનાય. કાળ નિશ્રીત હોવાથી જ કાલાશ્રિત વૃત્તિ કહી શકાય છે. આ રીતે સકળ પદાર્થોમાં થનારી વર્ત્તના કાળ વગર ઘટિત થઈ શકતી નથી આથી પદાર્થોનાં પરિણમનના કારણ કાળનું કાર્યથી અનુમાન થાય જ છે. કાળ દ્રવ્યના વાચક ઘણાં શબ્દો પણ લોકમાં પ્રસિદ્ધ છે તેઓ વસ્તુની ક્રિયામાત્રના વાચક હોઈ શકતા નથી. તે શબ્દો આ પ્રમાણે છે–યુગપદ્ (એક સાથે) અયુગપદ્ (અક સાથે નહીં) ક્ષિપ્ર (શીઘ્ર) ચિર (મોડું) ચિરેણ (મોડેથી) આ પર છે. આ અપર છે, આ વર્તશે, આ વર્તશે નહીં આ વર્તી રહ્યું છે આ અંદર વર્તે છે વગેરે બધા શબ્દો કાળની અપેક્ષા રાખે છે. આમ પુરુષ આ જ રીતે વ્યવહાર કરે છે. આવી જ રીતે વીતેલો કાળ આવનારો કાળ આજ, હવે, અત્યારે પરમ દિવસે ત્રીજા દિવસે સવાર પ્રાતઃ વગેરે વ્યવહાર કાળવાચક પ્રયોગ કાળના અભાવમાં થઇ શકતા નથી આથી કાળદ્રવ્યનો અવશ્ય સ્વીકાર કરવો જોઇએ.

પરિણામ પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્યોનો એક પર્યાય છે જે પોતાની જાતિનો ત્યાગ ન કરતા હલન–ચલનથી ભિન્ન પ્રયોગ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે જેવી રીતે અંકુર અવસ્થાવાળા વનસ્પતિકાયના મૂળ ડાળી થડ પાંદડા, શાખા ફુલ ફલનો સદ્ભાવ રૂપ પરિણામ થાય છે. આ અંકુર હતું, હવે સ્કંધવાન થઈ ગયું આ વર્ષમાં આ ફુલશે ફાલશે. પુરુષ જીવદ્રવ્યના પરિણામ શૈશવ બાલ્ય પૌગંડ, યૌવન, વૃદ્ધાવસ્થા આદિ છે.

પરિણામ બે પ્રકારના છે–અનાદિ અને સાદિ. અમૂર્ત્તધર્મ અધર્મ આકાશ, કાળ અને જીવમાં અનાદિ પરિણામ થાય છે જ્યારે મૂર્ત્ત વાદળ, ઈન્દ્રધનુષ્ય આદિમાં તથા સ્તંભ કુંભ વગેરેમાં સાદી પરિણામ છે.

એવી જ રીતે (૧) હેમન્ત (૨) શિશિર (૩) વસન્ત (૪) ગ્રીષ્મ (૫) વર્ષા અને (૬) શરદ્ નામની છ ઋતુઓ પણ કાળના જ શક્તિભેદ રૂપ પરિણામ વિશેષ છે જેમનું વિભિન્ન કાર્યોની ઉત્પત્તિથી અનુમાન કરવામાં આવે છે. જેમ કે હેમન્ત ઋતુમાં કપાસ આદિના ફુલ હિમવર્ષાથી બળી જાય છે, વટેમાર્ગુઓના હાથ સંકોચાઈ જાય છે, તેમના દાંત કડકડે છે. શરીર થર–થર કાંપવા લાગે છે અને તેઓ પતંગીયાની જેમ અગ્નિ તરફ ઉમટી પડે છે ઝાકળ બિન્દુના સંપર્કથી અત્યન્ત શીતળ વાયુ જીવોને ક્લેશ ઉત્પન્ન કરે છે.

શિશિર ઋતુમાં ચંદ્રના કિરણો અત્યન્ત ધુમ્મસથી ઢકાઈ જાય છે બોરડીના વૃક્ષોની શાખાઓ ફળોના ભારથી ઝુકી જાય છે અને બાળકો તેની હેઠળ હરે ફરે છે, હવા બરફના કણોથી વિશદ્ કુન્દ તથા માલતી વગેરેના પુષ્પોથી સુવાસિત થાય છે.

વસંતમાં ચારે બાજુ કુંજલતાઓના ફૂલ કિંચિત્ વિકસિત થાય છે, કેસર તિલક કુરબક શિરીષ વગેરેના ફળોની સુગંધથી યુક્ત તથા તરુણ જનોના મનને હરણ કરનાર પવન ધીમે ધીમે વાય છે. આંબોની મંજરીના રજ તથા પરાગથી ખરડાયેલા શરીરવાળા ભમરાં મનોહર ગુંજન કરે છે. કોયલ પોતાના કુહૂ–કુહૂ'ના કલરવથી આમ્રવનોને શોભાયમાન કરે છે. મલયા-

ચલના પવનના વેગથી કમ્પિત ચમ્પાના પરાગસમૂહથી પોતાના નયન-પાંપણોને બંધ કરીને પથિક જન પોત પોતાની પ્રેયસીઓના ઘરની તરહ જવા લાગે છે.

ગ્રીષ્મ ઋતુમાં સૂર્ય પોતાના પ્રચંડ કિરણોથી ભૂતળને એટલું બધું તપાવે છે કે જાણે પૃથ્વી ઉપર અંગારાનો સમૂહ પાથરી દીધો હોય પથિક જનોનું મન અત્યન્ત વ્યાકુલ થઈ જાય છે. તેઓ યેન કેન પ્રકારેણ ઘણાં લાંબા દિવસોને પૂરાં કરે છે. ભોગાવિલાસી લોકો પોતાના શરીર પર ચન્દનનો લેપ કરે છે. નોકરો પાસે વીંઝણા ઝુલાવે છે અથવા વીજળીના પંખાથી મળતા અત્યન્ત ચંચળ વાયુથી પોતાના દેહને ઠંડક બક્ષે છે. શીતળ ગૃહો ઉપવનો સરિતા અગર સરોવર કાંઠે વિવિધ પ્રકારનાં ફુવારાઓની અંદર રહીને પોતાની ગરમી દૂર કરે છે. હાથીદાંતના જેમ શ્વેતવર્ણ મલ્લિકાની કળિઓ, પુષ્કળ સુવાસથી સમ્પન્ન પાટલ-પુષ્પ અને સાયંકાળ તથા પ્રાતઃકાળની સુવાસિત હવા વિલાસી માણસોના જંગમ શરીરને સુવાસિત કરે છે.

વર્ષાઋતુમાં ભૂતળ વીજળીના ચમકારાથી પ્રકાશિત થઇ જાય છે મેઘમાળાના આડમ્બરથી આકાશ આચ્છાદિત થઈ જાય છે મેઘધનુષ્ય પોતાની અનુપમ છટા દેખાડે છે. મૂશળધાર વારિવર્ષાથી પૃથ્વી ઉપરની બધી ધૂળ બેસી જાય છે. કદમ્બ કેતકીના સૌરભમય પરાગથી યુક્ત સુગંધિત વાયુ વિલાસી જનોનાં અંગોને પ્રકમ્પિત કરવા લાગે છે. વર્ષાના જળના પ્રવાહથી સુન્દર કાંઠાવાળી નદિઓ પ્રવાહિત થાય છે. પર્વતોની ખીણો ખીલેલાં કુટજ પુષ્પોથી તથા શિલીન્ધ્રોથી-સુશોભિત થઈ જાય છે.

વાદળાની ઘોર ઘટાની ગર્જના સાંભળીને પ્રવાસી જનોના મનમાં તીવ્ર ઉત્કંઠા જાગૃત થઈ જાય છે. તેઓ મંત્ર-મુગ્ધ થઈ જાય છે. મોર, ચાતકો તથા દેડકાંનો અવાજ સાંભળવાથી સ્ત્રીઓના મનમાં કામ સતેજ થઈ જાય છે અને તેઓ ક્ષણભર માટે વિદ્યુત રૂપી પ્રદીપ દ્વારા પ્રકાશિત રજનીમાં પોતાના પ્રિયતમના ઘર તરફ પ્રસ્થાન કરવા લાગે છે. રસ્તો કાદવની બહુલતાવાળો અને કોઈ કોઈ ઠેકાણે જળબંબાકાર દેખાય છે.

શરદ ઋતુમાં સૂર્યનાં કિરણો કાદવને શોષતાં તીવ્ર સન્તાપને ધારણ કરે છે. વનોમાં કમળ અને કુમુદ વિકસીત થઈ જાય છે. સરોવર હંસો અને સારસોથી સુશોભિત તથા સ્ફટિક મણિની દીવાળની માફક શ્વેત પાણીથી પરિપૂર્ણ થાય છે. વેલાના-નિયમથી પ્રાપ્ત પાંખડીવાળા કમળોનો સમૂહ પ્રાત.કાળના સૂર્યના કિરણોનો સમ્પર્ક પામીને ખીલે છે. ચન્દ્રમાના કિરણોના સમૂહથી સ્પૃષ્ટ કુમુદો અને કુવલયોના વન સૌરભનું વમન કરે છે.

આ રીતે છ ઋતુઓનો વિભાગ અને વેલાનો નિયમ નિયામક કારણ કાળ વગર, અન્ય કારણો હોવા છતાં પણ ઘટિત થઇ શકતાં નથી. અનેક પ્રકારની શક્તિઓથી સમ્પન્ન કાલદ્રવ્યનું કારણુ જ પૂર્વોક્ત ઋતુવિભાગ આદિ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે આથી આ બધાં કાર્યોથી કાળદ્રવ્યનું અનુમાન કરી શકાય છે.

અન્યથા કોઇ પણ નિયામક હેતુના અભાવમાં એક જ સાથે પૂર્વોક્ત બધા ભાવ થઇ જવા જોઈએ કારણુ કે તેઓ પરાધીન નહીં હોય! પરંતુ એમ થતું નથી. આ બધાં પરિણામ પોતાના નિયત કાળમાં જ થાય છે. આથી અનેક શક્તિસમૂહથી યુક્ત કાળ જ એમનું કારણ

છે. કાળમાં રહેલી શકિતઓ કદી કદી જ પરિપાકને પ્રાપ્ત થઈને પોતાનું કાર્ય કરવા માટે પ્રવૃત્ત થાય છે, હમેશાં નહીં.

ક્રિયાગતિ ત્રણ પ્રકારની છે–પ્રયોગગતિ, વિસ્રસાગતિ અને મિશ્રગતિ જીવના પરિણામથી શરીર આહાર વર્ણ ગન્ધ રસ સ્પર્શ અને સંસ્થાન વિષયક ગતિ પ્રયોગગતિ કહેવાય છે. વિસ્રસાગતિ વગર પ્રયોગે જ થાય છે અને તે જીવથી ભિન્ન દ્રવ્યોનું પરિણમન છે. પરમાણુ ઈન્દ્રધનુષ્ય મેઘપરિવેષ આદિ, તેના વિવિધ આકાર પ્રકાર હોય છે. મિશ્રગતિ પ્રયોગ અને સ્વભાવ બંનેથી થાય છે. તે જીવના પ્રયોગની સાથે અચેતનના પરિણામથી કુંભ સ્તંભ વગેરેમાં ઉત્પન્ન થાય છે. કુમ્ભ આદિ તે તે રૂપમાં સ્વયં જ ઉત્પન્ન થવામાં સમર્થ થતા થકાં કુંભારના સાન્નિધ્યથી તે રૂપમાં પરિણત થઇ જાય છે.

પરત્વ અને અપરત્વ ત્રણ પ્રકારનાં છે–પ્રશંસાકૃત ક્ષેત્રકૃત અને કાલકૃત. પ્રશંસાકૃત–દા. ત. ધર્મ પર અર્થાત્ શ્રેષ્ઠ છે. જ્ઞાન પર–શ્રેષ્ઠ છે અને અજ્ઞાન અપર છે.... ....વગેરે.

એક જ દિશા અને એકજ કાળમાં સ્થિત બે પદાર્થોમાંથી જે દૂર હોય છે તે પર કહેવાય છે અને જે નજીક–નિકટ હોય તે અપર કહેવાય છે.

કાલકૃત પરત્વ અને અપરત્વ જ્યેષ્ઠતા અને કનિષ્ઠતા છે. જેમ ૧૬ વર્ષવાળાની અપેક્ષાએ સો વર્ષવાળો પર કહેવાય છે જ્યારે ૧૦૦ વર્ષવાળાની અપેક્ષાએ ૨૬ વર્ષવાળો અપર કહેવાય છે આમાથી પ્રશંસાકૃત અને ક્ષેત્રકૃત પરત્વ–અપરત્વને છોડીને તેમના સિવાય બધાં વર્ત્તના પરિણામ ક્રિયા પરત્વ અને અપરત્વ કાલકૃત છે. કારણ કે કાળ તે બધામાં અપેક્ષા કારણ છે તેમનાથી કાળદ્રવ્યની સિદ્ધિ થાય છે. ॥ ૧૮ ॥

'पोग्गलेसु वण्णगंधरसफासा' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્દગલોમાં વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શ હોય છે. ॥ ૧૯ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલાં ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, પુદ્દગલ તથા જીવોના ઉપકાર વગેરે દર્શાવીને સામાન્ય રૂપથી સ્વરૂપ–નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે વિશેષ રૂપથી પુદ્દગલ આદિના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

જેમાં પૂરણ અને ગલન અર્થાત્ મિલન અને વિયોગ હોય છે તે પુદ્દગલ કહેવાય છે. પુદ્દગલમાં વર્ણ, ગંધ રસ તથા સ્પર્શ હોય છે. પુદ્દગલ પરમાણુંથી માંડીને મહાસ્કંધ સુધીના હોય છે.

આથી કાળો વાદળી વગેરે વર્ણ, સુરભિ અને અસુરભિ ગંધ, તીખો, ખાટો, મીઠો વગેરે રસ, કોમળ, કઠોર વગેરે સ્પર્શ પુદ્દગલોના વિશેષ લક્ષણ જાણવા જોઈએ. આ રીતે જે વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શવાન હોય તે પુદ્દગલ છે. ॥ ૧૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પુદ્દગલના વિષયમાં અન્ય તીર્થિકોની વિવિધ પ્રકારની વિરોધી માન્યતાઓ છે. દા. ત. સૌત્રાન્તિક પુદ્દગલ શબ્દનો અર્થ જીવ કહે છે કારણ કે તે ફરી ફરી ગતિને ગ્રહણ કરે છે. બૌદ્ધોનો એક સમ્પ્રદાય જે યોગાચાર કહેવાય છે તે વિજ્ઞાનના પરિણામને પુદ્દગલ કહે છે–કહ્યું પણ છે–આત્મધર્મનો જે ઉપકાર વિવિધ પ્રકારથી પ્રવૃત્ત થાય છે તે વિજ્ઞાનનું પરિણામ છે. તે પરિણામ ત્રણ પ્રકારનું છે.

આ માન્યતા અયોગ્ય છે આથી તેનું નિરાકરણ કરવા માટે કહીએ છીએ-પુદ્‌ગલોમાં વર્ણ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ હોય છે આ રીતે પુદ્‌ગલોમાં શુકલ આદિ વર્ણ ગંધ રસ અને સ્પર્શનો સદ્‌ભાવ હોવાથી જીવને પુદ્‌ગલ કહી શકાય નહીં. વર્ણ આદિથી યુકત હોવાના કારણે પુદ્‌ગલ મૂર્ત્ત હોય છે અને જીવ વર્ણ આદિથી રહિત હોવાના કારણે અમૂર્ત્ત છે એવી રીતે જે મૂર્ત્ત છે તે અમૂર્ત્ત કેવી રીતે હોઈ શકે ?

પૃથ્વીની જેમ પાણી વગેરે પણ વર્ણ ગંધ રસ અને સ્પર્શવાળા છે મન પણ સ્પર્શ આદિથી યુકત છે કારણ કે તે સર્વવ્યાપી નથી જેમ કે પાર્થિવ પરમાણું.

વર્ણના પાંચ પ્રકાર છે-કાળો, વાદળી, પીળો શ્વેત તથા લાલ. ગંધના બે ભેદ છે-સુગંધ અને દુર્ગંધ. રસ પાંચ જાતના છે-તીખો, કડવો, કસાયલો, ખાટો તથા મધુર. સ્પર્શના આઠ ભેદ છે (૧) કર્કશ (૨) મૃદુ (૩) ગુરૂ (૪) લઘુ (૫) શીત (૬) ઉષ્ણ (૭) ચિકણો અને (૮) લુખો જો કે સમરસનો (મીઠું) પણ બધાને જ અનુભવ છે પરંતુ તેનો સમાવેશ મધુર રસમાં થઇ જાય છે અથવા પાંચેય રસોમાં તેનો અન્તર્ભાવ સમજી લેવો જોઈએ કારણ કે તે બધા રસોનો રાજા હોય છે. પાણી વગેરે જે પુદ્‌ગલોમાં પ્રગટ રૂપથી ગન્ધ વગેરેની પ્રતીતિ થતી નથી તેમા પણ સ્પર્શ હોવાના કારણે અપ્રકટ ગન્ધ આદિનો સ્વભાવ સમજી લેવો જોઈએ કારણ કે આ વર્ણ વગેરે ચારેય નિયમથી સાથે રહે છે જ્યાં એક હોય છે ત્યાં ચારે ચોકકસ હોય છે. પરમાણું આદિ પુદ્‌ગલોના રૂપ આદિ ગુણ તેમનાથી કવચિત્ ભિન્ન અને કવચિત્ અભિન્ન છે, એકાન્ત ભિન્ન અથવા અભિન્ન નથી. ભગવતી સૂત્ર (વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્ર) ના શતક ૧૨ ઉદ્દેશક ૫ માં કહ્યુ છે-પુદ્‌ગળ પાંચ વર્ણવાળા પાંચ રસવાળા બે ગન્ધ તથા આઠ સ્પર્શ વાળું કહેવામા આવ્યું છે.

શંકા—વિજ્ઞાનથી ભિન્ન સ્પર્શ, રૂપ રસ તથા ગંધવાળા કોઈ પુદ્‌ગલદ્રવ્યનું અસ્તિત્વ નથી વિજ્ઞાન જ ઘટ પટ આદિ વિવિધ પુદ્‌ગલોના આકારમાં પ્રતિભાસિત થાય છે જેમ સ્વરૂપમા અનેક પદાર્થોની પ્રતીતિ થાય છે પરંતુ વાસ્તવમાં તેમનું અસ્તિત્વ હોતુ નથી, તે બુદ્ધિકલ્પિત જ હોય છે, એવી જ રીતે વિજ્ઞાન જ ઘટ પટ આદિના રૂપમાં પ્રતીત થાય છે. તેમની કોઇ પરમાર્થિક સત્તા નથી.

સમાધાન—એવું ન કહેશો. આપનું આ વિધાન અનુભવથી વિરુદ્ધ છે જ્ઞાન અન્ત સ્થિત પ્રતીત હોય છે, ઘટ આદિ પદાર્થ બાહ્ય રૂપમાં પૃથક્ દેશમાં પ્રતીત થાય છે આથી જ્ઞાનથી પૃથક્ વાદળી પીળા વગેરે જુદા જુદા આકારોમાં પ્રતિભાસિત ઘણા બાહ્ય પદાર્થોનો અપલાપ કરી શકાતો નથી. જે બાહ્ય પદાર્થ પ્રતીત થાય છે તેમની સત્તાનો નિષેધ કઈ રીતે કરી શકાય ? આપે સ્વપ્નાનો જે દાખલો આપ્યો છે તે પણ અનુરૂપ નથી. કારણ કે સ્વપ્નામાં વિપર્યય અને જાગૃત અવસ્થામા અવિપર્યય જોવામા આવે છે.

આપના વિધાન મુજબ પ્રમાણ અને પ્રમાણાભાસમાં કાઈ અંતર રહેશે નહીં. વસ્તુના સ્વરૂપને ગ્રહણ કરનાર જ્ઞાન પ્રત્યક્ષ પ્રમાણ છે અને અર્થાન્તરના વિકલ્પ દ્વારા પ્રવૃત્ત થનારા પ્રત્યક્ષપ્રમાણાભાસ છે આ રીતનો ભેદ બાહ્ય પદાર્થનુ અસ્તિત્વ સ્વીકાર્યા વગર હોઈ શકે નહિં.

જ્ઞાન બાહ્ય પદાર્થના સ્વરૂપને અનુકરણ કરીને જ સાકાર થાય છે જો તે બાહ્ય પદાર્થનું અનુકરણ ન કરે તો બધા પદાર્થો માટે સમાન હોય છે. આવી સ્થિતિમાં તે ગ્રહણ કરે તો

બધાને જ ગ્રહણ કરે અને જો ન ગ્રહણ કરે તો કોઈ પણ પદાર્થને ગ્રહણ ન કરે આથી ગ્રાહકના વિશેષથી જ ગ્રાહ્યની દૃષ્ટિ જ કારણ હોય છે.

અન્યથા અર્થજ્ઞાન એવો વ્યવહાર પણ ન હોવો જોઈએ કારણ કે વ્યવહાર ઉપકારથી પ્રભાવિત થાય છે.નિમિત્ત નૈમિત્તિકભાવ રૂપ ઉપકાર અવિનાભાવ હોવાથી અન્યથા અનુપપન્ન છે.

આ રીતે વર્ણ ગંધ રસ અને સ્પર્શથી યુકત હોવાના કારણે પુદ્ગલ જીવથી ભિન્ન છે અને જીવના જ્ઞાનાદિ પરિણામોથી પણ ભિન્ન છે. તાત્પર્ય એ છે કે પુદ્ગલ જીવ અગર તો વિજ્ઞાનનું પરિણામ નથી. ॥ ૧૯ ॥

सद्दंधयार उज्जोय पभा छायातपबंध सुहुमबायरसंठाणभेया ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—શબ્દ, અન્ધકાર, ઉદ્યોત, પ્રભા, છાયા, આતપ,

સૂક્ષ્મત્વ, બાદરત્વ, સંસ્થાન અને ભેદ પણ પુદ્ગલરૂપ છે. ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પુદ્ગલ કેવળ વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શાત્મક જ નહીં પરંતુ શબ્દ આદિ પણ પુદ્ગલ જ છે. એ નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

શબ્દ, અન્ધકાર, ઉદ્યોત, પ્રભા, છાયા, આતપ, બન્ધ.

સૂક્ષ્મત્વ, બાદરત્વ, સંસ્થાન અને ભેદ પણ પુદ્ગલના જ પર્યાય છે. આથી પુદ્ગલ શબ્દાદિ વાળા હોય છે. ॥ ૨૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પહેલા કહેવાઇ ગયું છે કે પુદ્ગલ રૂપ, રસ, ગન્ધ, અને સ્પર્શ પર્યાયવાળા હોય છે. હવે એ કહે છે કે શબ્દ વગેરે પર્યાયો પણ પુદ્ગલના જ છે.

શબ્દ બે પ્રકારના છે ભાષાત્મક અને અભાષાત્મક. ભાષાત્મક શબ્દના બે ભેદ છે સાક્ષર અને અનક્ષર શબ્દ. જે શબ્દ વર્ણ પદ તથા બાહ્યાત્મક હોય છે. શાસ્ત્રનો અભિવ્યંજક હોય છે, સંસ્કારયુકત અને સસ્કારહીનના ભેદથી આર્ય અને અનાર્યજનોના વ્યવહારનું કારણ હોય છે તે અક્ષરાત્મક કહેવાય છે. અનક્ષરાત્મક શબ્દ બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય ચને પંચેન્દ્રિય પ્રાણિઓના જ્ઞાનાતિશયના પ્રતિપાદનનો હેતુ હોય છે. તેમનો જ્ઞાનાતિશય એકેન્દ્રિય જીવોની અપેક્ષાથી જાણવો જોઈએ. એકેન્દ્રિય જીવોને સામાન્ય જ્ઞાન હોય છે અતિશયજ્ઞાન હોતું નથી. અતિશય જ્ઞાનવાન સર્વજ્ઞ એકેન્દ્રિયોના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરે છે તે તીર્થંકર ભગવાન પરમાતિશયજ્ઞાની હોય છે. આ શબ્દો પ્રાયોગિક હોય છે.

અભાષાત્મક શબ્દ પણ બે પ્રકારના છે પ્રાયોગિક અને વૈસ્રસિક. પ્રાયોગિક શબ્દના ચાર ભેદ છે—તત વિતત ઘન અને સુષિર પુષ્કર ભેરી, દુન્દુભિ દર્દુર આદિ ચર્મવેષ્ટિત વાદ્યોનો શબ્દ તત કહેવાય છે. વીણા સુઘોષા વગેરેના શબ્દ વિતત કહેવાય છે તાલ ઘંટ વગેરે વગાડવાથી ઉત્પન્ન થનારો શબ્દ ઘન કહી શકાય છે, તથા વાસળી અને શંખ વગેરેથી ઉત્પન્ન શબ્દ સૌષિર છે. વૈસ્રસિક શબ્દ મેઘ આદિનો કહેવાય છે જે ગર્જનાત્મક હોય છે.

આ બધા શબ્દ પુદ્ગલના પર્યાય હોવાથી પૌદ્ગલિક છે જોવામા અવરોધ ઉભો કરનાર પ્રકાશના વિરોધી તમના નામથી પ્રસિદ્ધ અન્ધકાર પણ પૌદ્ગલિક છે ચન્દ્ર, સૂર્ય, અગ્નિ, મણિ પતંગીયા વગેરેથી ઉત્પન્ન થનારો પ્રકાશ ઉદ્યોત છે તે પણ પૌદ્ગલિક છે. પ્રભા જેને દીપ્તિ

અગર ચમક કહે છે. તે પણ પૌદ્‌ગલિક છે. છત્રી આદિના નિમિત્તથી પ્રતિનિયત દેશમાં પ્રકાશના રોકાવાથી ઉત્પન્ન થનારી છાયા પણ પૌદ્‌ગલિક છે. તે દર્પણ આદિના સંસ્થાન રૂપ પણ હોય છે.

સૂર્યના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન ઉષ્ણ પ્રકાશને આતપ કહે છે તે પણ પુદ્‌ગલાત્મક જ છે. બન્ધ બે પ્રકારનાં છે—પ્રાયોગિક અને વૈસ્રસિક. પુરુષના પ્રયત્નથી ઉત્પન્ન થનારા પ્રાયોગિક બંધ બે પ્રકારના છે અજીવ વિષયક અને જીવાજીવ વિષયક. લાખ અને લાકડીનું બંધન અજીવવિષયક છે. જીવાજીવવિષયક બન્ધ જીવની સાથે કર્મ અને નોકર્મનો હોય છે. જે બંધમાં કોઈ પુરુષના પ્રયોગની અપેક્ષા હોતી નથી તે સ્વાભાવિક બંધ કહેવાય છે.

વૈસ્રસિક (સ્વાભાવિક) બંધ ચીકાસ અને લુખાપણાના કારણે થાય છે. વિદ્યુત, ઉલ્કા જળધારા, અગ્નિ અને ઇન્દ્રધનુષ્ય વગેરે તેના દૃષ્ટાંતો છે. આ બધા પ્રકારના બન્ધ પૌદ્‌ગલિક સમજવા જોઈએ.

સૂક્ષ્મત્વ બે પ્રકારના છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક અન્ત્ય સૂક્ષ્મત્વ પરમાણુમાં હોય છે. આપેક્ષિક વેલ, આંબળા બોર વગેરેમાં. આ બંને જાતના સૂક્ષ્મત્વ પુદ્‌ગલના જ વિકાર છે.

એવી જ રીતે બાદરત્વ અર્થાત્‌ સ્થૂલતાના પણ બે ભેદ છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક અન્ત્ય બાદરત્વ સમગ્ર લોકવ્યાપી મહાસ્કંધમાં છે. આપેક્ષિક બાદરત્વ બોર, આમળા, બિલ્વ, તાલફળ વગેરેમાં હોય છે આ બંને પ્રકારના બાદરત્વ પણ પૌદ્‌ગલિક છે.

આકૃતિ અગર આકારને સંસ્થાન કહે છે તેના પણ બે ભેદ છે ઇત્થંસ્થ અને અનિત્થંસ્થ. જે આકારના વિષયમાં કહી શકાય કે આ એવું છે તે ઇત્થંસ્થ આકાર કહેવાય છે. વર્તુળ, ત્રિકોણ ચતુષ્કોણ, દીર્ઘ પરિમંડપ વગેરે આકાર ઈત્થંસ્થ સંસ્થાનના અન્તર્ગત છે. જે આકારમાં કોઇ પ્રકારની નિયતતા ન હોય અને જેને પૂર્વોક્ત કોઈ આકારની સંજ્ઞા ન દઇ શકાય તે અનિત્થંસ્થ આકાર કહેવાય છે તે મેઘ વગેરેમાં અનેક પ્રકારથી દેખાય છે. આ બંને પ્રકારના સંસ્થાન પૌદ્‌ગલિક છે.

ભેદના પાંચ પ્રભેદ છે (૧) ઉત્કરભેદ (૨) ચૂર્ણભેદ (૩) ખન્ડભેદ (૪) ચૂર્ણિકાભેદ (૫) પ્રતરભેદ કરવત વગેરેથી લાકડાં વગેરેને ચીરવા તે ઉત્કર ભેદ, ઘઉ જવ વગેરેને દળીને લોટ બનાવવો ચૂર્ણ ભેદ. ઘટ, પટ આદિના ટુકડે ટુકડા થવા તે ખન્ડભેદ છે. અડદ્‌ મગ વગેરેનો ઝીણો ચૂરો થવો ચૂર્ણિકાભેદ અભ્રપટલ વગેરેના પડ ના પડ જુદા થવા પ્રતરભેદ છે.

આ રીતે શબ્દ આદિ પૂર્વોકત બધા પુદ્‌ગલ દ્રવ્યના વિકાર છે. સૂત્રમાં પ્રયુકત 'ચ' શબ્દથી પ્રેરણા અભિધાન આદિ આગમ ઉકત પુદ્‌ગળ દ્રવ્યના પરિણામોને ગ્રહણ કરી લેવા જોઈએ.

આ કારણથી શબ્દ ભલે ધ્વન્યાત્મક હોય, ભલે વર્ણાત્મક તે પુદ્‌ગલનો જ પરિણામ–પર્યાય છે મૂર્ત્ત હોવાના કારણે તેને પુદ્‌ગળદ્રવ્યનુ પરિણામ સમજવું જોઈએ. અને શબ્દ મૂર્ત્ત છે કારણ કે તે અન્ય દ્રવ્યોમાં વિકાર ઉત્પન્ન કરવામાં સમર્થ છે જેમકે પિપળો વગેરે.

શંખ વગેરેનો અત્યંત તીવ્ર શબ્દ કાનોને બહેરા કરી દે છે. અમૂર્ત્ત આકાશ આદિમાં એવું સામર્થ્ય હોઈ શકતું નથી એવી જ રીતે શબ્દ મૂર્ત છે કારણ કે પર્વતથી ટકરાયેલા પથ્થરની જેમ પાછો ફેંકાય છે. પ્રતિધ્વનિત થાય છે ! આતપની જેમ દ્વારનું અનુસરણ કરે

છે. ઘાસ તથા પાંદડાની જેમ વાયુ દ્વારા પ્રેરિત થાય છે. દીપકની જેમ બધી દિશાઓમાં ગ્રહણ કરી શકાય છે, તારાગણની જેમ અભિભૂત થાય છે અને સૂર્યમન્ડલની જેમ બીજાના અભિભવ કરે છે. તાત્પર્ય એ છે કે જેમ સૂર્યના પ્રકાશથી તારાઓના પ્રકાશ સંતાઈ જાય છે આથી તે મૂર્ત્ત છે એવી જ રીતે મંદ શબ્દ તીવ્ર શબ્દ દ્વારા અભિભૂત થઈ જાય છે એથી શબ્દ મૂર્ત્ત છે.

આ બધા હેતુઓથી એ સાબીત થાય છે કે શબ્દ પુદ્ગલ દ્રવ્યના પર્યાય છે. પુદ્ગલ-દ્રવ્યને પર્યાય હોવાના કારણે તેનું મૂર્ત્તત્વ પણ સિદ્ધ છે આવી સ્થિતિમાં વૈશેષિકોએ શબ્દને આકાશના જે ગુણ માન્યો છે તે યોગ્ય નથી, મૂર્ત્ત શબ્દ અમૂર્ત્ત આકાશના ગુણ હોઇ શકે નહીં જેમ કે રૂપ આદિ આકાશના ગુણ નથી.

સત્ય એ જ છે કે શબ્દ પુદ્ગલનું જ પરિણામ છે. પરિણામ પરિણામીથી અર્થાત્ પર્યાય દ્રવ્યથી કથંચિત્ ભિન્ન અને કવચિત્ અભિન્ન હોય છે આથી શબ્દને પણ પુદ્ગલ દ્રવ્યથી કવચિત્ ભિન્ન અને કવચિત્ અભિન્ન માનવો જોઈએ.

આનાથી એ સાબિત થયું કે ધ્વનિ રૂપ પરિણામથી અગર શ્રોત્રગ્રાહ્યરૂપથી પરિણામ પુદ્ગળ જ શબ્દ કહેવાય છે.

પૌદ્ગલિક બન્ધ ત્રણ પ્રકારના છે પ્રયોગબન્ધ વિસ્રસાબન્ધ અને મિશ્રબન્ધ. એક વસ્તુનું બીજી વસ્તુ સાથે મળી જવું ચોંટી જવું તેને બંધ કહે છે. જીવના વ્યાપારથી ઉત્પન્ન થનારો બંધ પ્રાયોગિક બન્ધ કહેવાય છે જેમ ઔદારિક શરીર અથવા લાખ અને કાષ્ઠનો બંધ સ્વભાવથી જીવના પ્રયોગ વગર જ થનાર બંધ વિસ્રસા બન્ધ કહેવાય છે.

વિસ્રસાબંધ બે પ્રકારના છે સાદિ અને અનાદિ વિદ્યુત્. ઉલ્કા, મેઘ, અગ્નિ, ઈન્દ્રધનુષ્ય વગેરેમાં વિષય ગુણવાળા પરમાણુઓનાં કારણે જે સ્કન્ધ રૂપ પર્યાયોની ઉત્પત્તિ થાય છે તે સાદિ વિસ્રસાબંધ છે. ધર્મ અધર્મ અને આકાશદ્રવ્ય અનાદિ કાળથી સ્વભાવથી જ પરસ્પર સમ્બદ્ધ છે. તેમનો બંધ અનાદિ વિસ્રસાબન્ધ કહેવાય છે. મિશ્રબન્ધ ઉપર્યુક્ત બંને કારણોથી અર્થાત્ જીવના વ્યાપાર અને સ્વભાવથી થાય છે. તે જીવના વ્યાપારથી સહચરિત અચેતન દ્રવ્યની પરિણતિ છે. સ્તંભ આદિ કુંભ આદિ મિશ્રબન્ધના અન્તર્ગત છે. મિશ્રબન્ધમાં બંનેની પ્રધાનતા હોય છે. એવી રીતે પહેલાં જો કે બન્ધના બે ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે તો પણ કિંચિત્ વિશેષ દર્શાવવા માટે અત્રે ત્રણ ભેદોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે.

એવી જ રીતે સૂક્ષ્મત્વ પણ પુદ્ગલનું જ પરિણામ છે તે બે પ્રકારનું હોય છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક તેનું કથન પહેલા કરી દેવામાં આવ્યું છે અહીં કંઈક વિશેષતા કહીએ છીએ– જે સૂક્ષ્મત્વ અન્તિમ હોય તે અન્ત્ય કહેવાય છે. અન્ત્ય સૂક્ષ્મત્વ પરમાણુમાં જ મળી આવે છે કારણ કે પરમાણુ જ બધાથી અધિક સૂક્ષ્મ છે તેથી વધુ સૂક્ષ્મત્વ કોઈ અન્ય વસ્તુમાં હોતું નથી. જે સૂક્ષ્મત્વ કોઈ બીજી વસ્તુની અપેક્ષાથી માનવામાં આવે છે તે આપેક્ષિક કહેવાય છે જેવી રીતે દ્વયણુક સ્કન્ધ ત્ર્યણુક સ્કન્ધની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ છે. ત્ર્યણુક ચતુરણુકની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ છે એવી રીતે આપેક્ષિક સૂક્ષ્મત્વ અનેક પ્રકારનું હોય છે. આ બંને જ પ્રકારના સૂક્ષ્મત્વ પૌદ્ગલિક જ છે.

સ્થૂલત્વ પણ એ જ પ્રકારે બે જાતના છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક, અન્ત્ય સ્થૂલત્વ સર્વ લોકવ્યાપી અચિત્ત મહાસ્કંધમાં જ મળે છે કેમકે આનાથી વધારે બીજા કોઈ પુદ્ગલ હોતા

નથી. આપેક્ષિક-સ્થૂલત્વ બોરની અપેક્ષાએ આમળામાં અને આમળાની અપેક્ષાએ દાડમમાં હોય છે. પરમાણુઓના પ્રથમ પરિણામના અને અવયવોના વિકાસને સ્થૂલત્વ કહે છે આ બન્ને પ્રકારના સ્થૂલત્વ પૌદ્ગલીક છે.

સંસ્થાનનો અર્થ આકૃતિ છે. આકૃતિ અવયવોની અમુક પ્રકારની રચનાથી બને છે. સંસ્થાન બે પ્રકારના છે જીવનું અને અજીવનું પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય અને વનસ્પતિકાય એ એકેન્દ્રિય જીવ છે અને બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચઉરિન્દ્રિય તથા પંચેન્દ્રિય જીવ અનેક ઇન્દ્રિય છે આ પૃથ્વી, અપ્ તેજસ્કાય આદિ જીવોના શરીરનું સંસ્થાન ક્રમથી મસૂરની સમાન, સ્તિબુક-ની સમાન, સૂચીકલાપની સમાન ધજાની જેમ તથા અનિત્થંસ્થ હોય છે. આમા જે બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય અને ચઉરિન્દ્રિય નામના ત્રણ વિકલેન્દ્રિય જીવ છે તેમનું સંસ્થાન હુંડક હોય છે. પંચેન્દ્રિયોના યથાયોગ્ય નામકર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા છ પ્રકારના સંસ્થાન હોય છે. સમચતુરસ્ત્ર, ન્યગ્રોધ, સાદિ, કુબ્જક, વામન અને હુન્ડક, કહ્યું પણ છે- જે સંસ્થાન સમચોરસ હોય અર્થાત્ જેને ચારે બાજુથી માપવાથી સરખું હોય તે સમચતુરસ્ર કહેવાય છે. જેમાં ઉપરના અવયવ મોટા હોય તે ન્યગ્રોધ સંસ્થાન જેમાં નીચેના અવયવ મોટા હોય તે સાદિ જેમાં પેટ અંદર જતું રહ્યું હોય અર્થાત્ જે કુબડો હોય તે કુબ્જક સંસ્થાન જે વેંતીયો હોય તે વામન અને જે બધી જગ્યાએ વિષમ હોય-બેઢંગો હોય તે હુંડક સંસ્થાન કહેવાય છે.

અજીવનું સંસ્થાન પાંચ પ્રકારનું હોય છે, વૃત્ત, ત્રિકોણ, ચતુષ્કોણ આયત (લાંબુ) અને પરિમન્ડલ. વૃત્ત સંસ્થાન યુગલ અને અયુગલના ભેદથી બે પ્રકારનું હોય છે. યુગ્મ સંસ્થાન પણ બે પ્રકારનું છે. પ્રતર અને ઘન એવી રીતે અન્ય સંસ્થાન પણ સમજી લેવા જોઈએ. જે સંસ્થાન વૃત્ત આદિ કોઈ રૂપમાં પણ ન કહી શકાય તે અનિત્થંસ્થ કહેવાય છે. આ બધાં જ સંસ્થાન પૌદગલિક છે.

કોઇ વસ્તુના એકત્વનો ભંગ થઈ જવો ભેદ કહેવાય છે. ભેદ પાંચ પ્રકારના છે. ઔત્કરિક, ખન્ડ, ચૌર્ણિક, પ્રતર અને અનુત્તર ભેદ, વિભકત થનારા પુદગલદ્રવ્યમાં જ થાય છે આથી તે પૌદ્ગલિક છે. તે પુદગલ સિવાય કોઈ પણ અન્ય દ્રવ્યમાં હોતો નથી.

ચીરવાવાળા લાકડા વગેરેમાં ઔત્કરિક ભેદ હોય છે. કોઇ વસ્તુના ચૂરે ચૂરા થઇ જવા તે ચૌર્ણિક ભેદ છે માટીના પીંડાનિ જેમ ટુકડા-ટુકડા થવા તે ખન્ડભેદ છે. અબરખ અગર ભોજપત્ર વગેરેની માફક પડના પડ જુદા જુદા થાય તે પ્રતર ભેદ છે. વાંસ અગર શેરડીની માફક કોઇની છાલ જુદી થઇ જાય તે અનુત્તર ભેદ છે. પૂર્વોકત યુકિત મુજબ આ બધા ભેદ પૌદ્ગલિક છે. એવી જ રીતે અન્ધકાર, છાયા, તાપ તથા ઉદ્યોત પણ પુદ્ગલદ્રવ્યના જ પરિણામ છે.

અન્ધકાર પુદ્ગલનું જ પરિણામ છે કારણ કે તે જોવામાં અવરોધ નાખે છે જેમ દિવાલ અથવા આવરણ કર્તા હોવાના કારણે તે પટ વગેરેની જેમ પૌદ્ગલિક છે. છાંયડો પણ પુદ્ગલનું પરિણામ છે કારણ કે તે શીતલ અને સંતોષદાયક હોય છે જેમ પાણી અને હવા. એવી જ રીતે તાપ પણ સંતાપજનક હોવાથી પરસેવો ઉત્પન્ન કરનાર હોવાથી અને ઉષ્ણ હોવાથી અગ્નિ આદિની માફક પૌદ્ગલિક છે. એવી જ રીતે ચન્દ્રિકા આદિનો પ્રકાશરૂપ ઉદ્યોત પણ પુદ્ગલદ્રવ્યનુ પરિણામ છે, કેમકે તે આલ્હાદક હોય છે જેમ અગ્નિ વગેરે.

એ જ પ્રમાણે પદ્મરાગ, નીલમ, હીરા વગેરે મણિઓનો ઉદ્યોત પણ પુદ્ગલદ્રવ્યનો જ પર્યાય છે કારણ કે તે અનુષ્ણ–અશીત (ન ગરમ ન શીતળ) હોય છે. દાખલા તરીકે પાણી વિગેરે એવી રીતે અન્ધકાર અને છાંયડો વગેરે મૂર્ત્ત દ્રવ્યનું કાર્ય હોવાથી તે પૌદ્ગલિક છે.

શંકા—અન્ધકાર પૌદ્ગલિક નથી કારણ કે તે દ્રવ્ય ગુણ અને કર્મથી વિલક્ષણ છે, તે ભાવાભાવ રૂપ છે અન્ધકાર જો દ્રવ્ય હોત તો અનિત્ય હોવાના સંબંધે ઘડા આદિની જેમ તેની ઉત્પત્તિ થવી જોઈતી હતી પરંતુ દ્રવ્યની જેમ ઉત્પન્ન ન થવાના કારણે, અમૂર્ત્ત હોવાથી સ્પર્શથી રહિત હોવાથી, પ્રકાશથી, વિરૂદ્ધ હોવાથી અને પરમાણુઓ દ્વારા ઉત્પન્ન ન થવાના કારણે તે પુદ્ગલ, દ્રવ્યનું પરિણામ હોઈ શકે નહીં.

અન્ધકાર ગુણ પણ ન હોઇ શકે કારણ કે તેનો આધાર ઉપલબ્ધ થતો નથી. ગુણ દ્રવ્યને આશ્રીત જ હોય છે. પ્રકાશનું વિરોધી હોવાથી પણ અન્ધકાર ગુણ થઇ શકે નહીં

અન્ધકાર કર્મ પણ નથી કારણ કે કર્મ પણ કોઈને કોઈ દ્રવ્યને આશ્રિત જ હોય છે અને અન્ધકારનો કોઈ આશ્રય ઉપલબ્ધ થતો નથી. જો અન્ધકાર ક્રિયારૂપ હોત તો તેનો કોઈ આશ્રય પણ પ્રતીત થાત પરંતુ તેનો કોઇ આશ્રય ઉપલબ્ધ થતો નથી તેને ક્રિયાં માની શકાય નહીં. જ્યાં તેજનો અભાવ હોય છે ત્યાં જ અન્ધારાની પ્રતીતિ થાય છે. તેજ જ્યારે બીજા કોઈ દ્રવ્યથી ઢંકાઈ જાય છે ત્યારે અન્ધકાર હોય છે આથી એ સાબીત થાય છે કે અન્ધકાર પુદ્ગલનું પરિણામ નહીં પરંતુ તેજનો અભાવ જ છે.

સમાધાન—આમ કહેવું એ ન્યાયબદ્ધ નથી. અન્ધકાર પૌદ્ગલિક છે કારણ કે તે વ્યવધાન ક્રિયામાં સમર્થ હોય છે, મૂર્ત્ત છે, સ્પર્શવાન્ છે અને પરમાણુઓથી ઉત્પન્ન થાય છે જેમ દિવાળ. આથી અન્ધકાર ને અપૌદ્ગલિક સિદ્ધ કરવા માટે પ્રયુક્ત આપના અમૂર્તત્વ સ્પર્શરહિતત્વ અને પરમાણુ–અકૃતકત્વ, આ ત્રણે હેતુ અસિદ્ધ છે.

શંકા—જો અન્ધકાર મૂર્ત્ત છે તો આપણને તેના સ્પર્શ આદિની પ્રતીતિ કેમ થતી નથી ?

સમાધાન—જેમ ગવાક્ષમાં રજકણ દેખાય છે પરંતુ તેમનો સ્પર્શ પ્રતીત થતો નથી તેવી જ રીતે અન્ધકારનું પરિણમન એવું વિલક્ષણ છે કે આપણને તેના સ્પર્શની ખાત્રી થતી નથી. જેવી રીતે અગ્નિને પાણી સાથે તેવી જ રીતે પ્રકાશ સાથે અન્ધકારને વેર છે. કોઇ વરંડામાં રાખેલા દીપકના કિરણોનો ઉપઘાત પુષ્કરાવર્ત્ત મેઘની મૂશળ તેવી ધારાઓ પણ નથી કરી શકતી આથી જળ તથા અગ્નિનો સર્વથા જ વિરોધ હોય એમ નથી તો પણ ઉદ્ગમ સ્થાનમાં જ તેમનો વિરોધ હોય છે.

અગર અન્ધકાર પૌદ્ગલિક ન હોત તો તેની સાથે પ્રકાશનો વિરોધ પણ ન થઇ શકત. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮માં અધ્યયનમાં કહ્યું છે—

શબ્દ અન્ધકાર ઉદ્યોત પ્રભા, છાયા, આતપ, વર્ણ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ આ બધાં પુદ્ગલોનાં લક્ષણ છે. પૃથકત્વ સંખ્યા સંસ્થાન, સંયોગ અને વિભાગ આ બધાં પર્યાયોનાં લક્ષણ છે. ॥ ૨૦ ॥

पोग्गला दुविहा परमाणुणो खंधा ॥

મૂલસૂત્રાર્થ—પુદ્ગલ બે પ્રકારના હોય છે. પરમાણુ અને સ્કંધ. ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વોક્ત રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શવાળા–પુદ્ગલ બે પ્રકારનાં કહેવાયા છે–પરમાણુ અને સ્કન્ધ. જો કે આ બંનેમાં પુદ્ગલત્વ જાતિ સમાન છે તો પણ અવયવરહિત હોવાથી અણુ સૂક્ષ્મ છે અને સાવયવ હોવાથી સ્કંધ સ્થૂળ હોય છે. આ જ બંનેમાં અંતર છે. પરમાણુ આપણી ઇન્દ્રિયોથી અગોચર છે, માત્ર અનુમાન અને આગમથી જાણી શકાય છે. તે નિરવયવ અને સૂક્ષ્મ હોય છે.

સ્કંધરૂપ પુદ્ગલ આપણા ગ્રહણમાં આવી શકે છે કારણ કે તે સાવયવ અને સ્થૂળ હોય છે. સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનકના ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૮૨માં સૂત્રમાં કહે છે—

પુદ્ગલ બે પ્રકારના છે–પરમાણુ પુદ્ગલ તથા નોપરમાણુ પુદ્ગલ ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં પુદ્ગલોનું પ્રતિપાદન કર્યું, હવે ટુંકમાં તેમના ભેદોનું નિરૂપણ કરીએ છીએ–પુદ્ગલ બે પ્રકારના છે–પરમાણુ અને સ્કંધ.

પરમ અણુને પરમાણુ કહે છે. પરમાણુ એટલા સૂક્ષ્મ હોય છે કે તે આપણી ઈન્દ્રિયોના વિષય થઈ શકતાં નથી તેમને અનુમાન અને આગમના પ્રમાણથી જ જાણી શકાય છે.

કહ્યું પણ છે—પરમાણુ કારણ જ હોય છે કાર્ય નહીં તથા સૂક્ષ્મ અને નિત્ય હોય છે તેમાં એક રસ, એક ગંધ, એક વર્ણ અને બે સ્પર્શ હોય છે. કાર્ય જ તેનું લિંગ છે અર્થાત્ સ્કંધથી તેનું અનુમાન કરી શકાય છે.

જેટલાં પણ દ્વયણુકથી લઇને અચિત્ત મહાસ્કંધ પર્યંત સ્કંધ છે તેમનું કારણ પરમાણું છે, કેમકે પરમાણુઓના મિલનથી જ તેમની નિષ્પત્તિ થાય છે તે અન્ત્ય છે કારણ કે સમસ્ત ભેદોના અંત સુધી વ્યાપ્ત રહે છે.

દ્વયણુકથી લઈને મહાસ્કન્ધ સુધીની મૂર્ત્ત વસ્તુઓનું કારણ પરમાણું છે. અમૂર્ત્ત જ્ઞાનાદિનું કારણ આત્મા આદિ છે આ બંને કારણોનો સર્વથા વિનાશ થતો નથી જો એમ હોત તો તેની અસત્તાની પ્રાપ્તિ થઈ જાય અને તે સૂલ્લોગોમાં કોઈને ઉત્પન્ન ન કરી શકે. દા. ત. આકાશપુષ્પ કોઇને ઉત્પન્ન કરી શકતું નથી.

પરમાણુ સૂક્ષ્મ, નિરવયવ અને નિત્ય છે. પ્રત્યેક પરમાણુમાં એક રસ, એક ગંધ એક વર્ણ તથા બે સ્પર્શ હોય છે. કાર્યથી પરમાણુઓનુ અનુમાન કરી શકાય છે. પરમાણુ દ્વયણુક આદિનું ઉપાદાન કારણ છે અને આત્મા જ્ઞાનનો ઉપાદાન કારણ છે. પરમાણુ અને આત્માના અસ્તિત્વમાં દ્વયણુક આદિ અને જ્ઞાન આદિ કાર્ય થાય જ છે જો પરમાણુનો તથા આત્માનો અભાવ માનવામાં આવે તો તેમના પૂર્વોક્ત કાર્ય ઉત્પન્ન થઇ શકે નહીં.

જેના અસ્તિત્વથી જે થાય છે અને જેના અભાવમાં જે થતું નથી, તે તેનું કાર્ય–કારણ કહેવાય છે.

અમુકના હોવા પર જ અમુકનુ થવું–જેમ અગ્નિનું હોવાથી જ ધુમાડાનું હોવું–અને અમુકના ન હોવા પર અમુકનુ ન હોવુ–જેમ અગ્નિના અભાવમાં ધુમાડાનુ ન હોવું–આ અન્વયવ્યતિરેક કહેવાય છે આના જ આધારે કાર્ય કારણભાવનો નિશ્ચય કરાય છે અર્થાત્ આનાથી આપણે જાણીએ છીએ કે અગ્નિ કારણ અને ધુમાડો કાર્ય છે.

જેના હોવાથી કાર્ય થાય છે અને જેના અભાવમાં નથી જ થતું એ પ્રકારની અટકળ કરવી અનુગતી છે કારણ કે કણેરની ઉત્પત્તિ લાલ કમળના ફળથી પોતાની શાખાથી અને પોતાના બીજથી પણ જોઈ શકાય છે. દૂબ (ઘાસ વિશેષ)ની ઉત્પત્તિ ગાયના રૂંવાડાથી અને ઘેટાંના રૂંવાડાથી થાય છે અને છાણ આદિથી વીંછીની ઉત્પત્તિ જોઈ શકાય છે એનું સમાધાન થઈ જાય છે.

કારણના હોવા પર જ કાર્યની ઉત્પત્તિ થાય છે આ નિયમ સર્વત્ર લાગુ પડે છે તે–તે કાર્યોના જનક હોવાથી લાલ કમલ આદિ અને છાણ આદિ પણ કારણ જ સિદ્ધ થાય છે. એવી જ રીતે અહીં પણ પરમાણુઓના હોવા પર જ દ્વયણુકાદિ થાય છે અને આત્માના હોવા પર જ જ્ઞાન થાય છે આ અભાવ છે

કારણના અભાવમાં અગર વિકલતામાં કાર્યની–ઉત્પત્તિ થતી નથી, જેમ ઝેરમાં મારણ શકિત હોવા છતાં પણ જો તે શકિત મંત્ર દ્વારા પ્રતિબદ્ધ થઈ ગઈ હોય તો તેના દ્વારા મારણ કાર્ય થતું નથી. કર્ત્તા રૂપ નિમિત્તની અપેક્ષા રાખનાર કુંભાર દંડ આકાશ આદિ કારણોનું નિરૂપણ પણ પૂર્વોકત પ્રકારથી જ કરી લેવું જોઈએ.

આપણે પરમાણુની સૂક્ષ્મતા આગમથી જાણી લઈ દ્રવ્યાર્થિકનયની અપેક્ષાથી નિત્યતા સમજવી જોઈએ. પરમાણુથી અધિક નાનું કોઈ દ્રવ્ય નથી એ કારણે જ તે પરમાણુ કહેવાય છે. એવો આ પરમાણુ તીખો ખાટો, મધુર કડવો તથા કસાયેલા રસોમાંથી કોઈ એક રસથી યુકત હોય છે સુરભિ અને દુરભિ ગંધોમાંથી એક ગંધવાળો હોય છે, સફેદ, કાળો, લીલો પીળો અને રાતો–આ પાંચ રંગોમાંથી એક રંગવાળો હોય છે અને ચાર સ્પર્શયુગલોમાંથી અવિરોધી બે સ્પર્શોથી યુકત હોય છે.

બાદર પરિણામવાળા અનેક પ્રકારના પુદ્ગલ આદિ કાર્યોથી જે આપણને પ્રત્યક્ષ દેખાય છે, પરમાણુનું અનુમાન કરવામાં આવે છે. આથી તે કાર્યલિંગ કહેવાય છે સ્કન્ધપુદ્ગલ સાવયવ બાદર અને પ્રત્યક્ષ દ્રશ્ય હોય છે પરમાણુ અબદ્ધ હોય છે સ્કંધમાં આઠે સ્પર્શ મળી શકે છે અને તે પરમાણુઓના પિન્ડ હોવાથી બદ્ધ જ હોય છે.

સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા સ્કંધ ચાર સ્પર્શવાળા હોય છે તથા પરમ સંહતિથી વ્યવસ્થિત હોય છે આ રીતે પ્રદેશમાત્ર ભાવી સ્પર્શ આદિ પર્યાયોના ઉત્પત્તિસામર્થ્યથી પરમાગમમાં જે કાર્યરૂપ લિંગ દ્વારા મેળવાય છે–સતરૂપમાં પ્રતિપાદન કરવામાં આવે છે–તે અણુ કહેવાય છે પરમ અણુને પરમાણુ કહે છે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ હોવાને લીધે તે જાતે જ પોતાનો આદિ મધ્ય અને અન્ત છે. કહેવાનું એ છે કે એક અપ્રદેશી હોવાના કારણે તેમાં આદિ મધ્ય અને અન્તના વિભાગ હોતા નથી વળી કહ્યું પણ છે—

જે દ્રવ્ય આદિ મધ્ય અને અન્તના વિભાગથી રહિત હોય જે ઈન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રાહ્ય નથી તથા જે નિર્વિભાગ છે તેને પરમાણુ સમજવા જોઈએ"

જે પુદ્ગલ સ્થૂળ હોવાને લીધે ગ્રહણ કરી શકાય, રાખી શકાય અન્યાન્ય વ્યવહારોમાં આવી શકે તે સ્કન્ધ કહેવાય છે, જો કે દ્વયણુક આદિ કોઈ–કોઈ સૂક્ષ્મ સ્કન્ધ ગ્રહણ નિક્ષેપ આદિ વ્યવહારોને યોગ્ય હોતા નથી તથાપિ રૂઢિ અનુસાર તે પણ સ્કન્ધ કહેવાય છે પુદ્ગલોના

આમ તો અનન્ત ભેદ છે પણ પરમાણું અને સ્કંધના ભેદથી તે બે પ્રકારના જ છે. આ બે ભેદોમાં જ તે સર્વેનો સમાવેશ થઈ જાય છે. વ્યક્તિશઃ આમ પરમાણું પણ અનન્ત છે અને સ્કન્ધ પણ અનન્ત છે, એવું સૂચિત કરવા માટે બહુવચનનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે.

આમાંથી પુદ્ગલપરમાણુ સ્પર્શ રસ ગંધ અને વર્ણ વાળા હોય છે અને સ્કન્ધપુદ્ગલ શબ્દ અન્ધકાર, ઉદ્યોત પ્રભા છાંયડો તાપ સૂક્ષ્મત્વ, બાદરત્વ સંસ્થાન અને ભેદવાળા હોય છે અને સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણવાળા પણ. આથી એ કથન સંગત થઈ જાય છે કે—

અણુ પોતાના કાર્ય (ઘટ આદિ) દ્વારા જ જાણી શકાય છે, બે સ્પર્શવાળા એક વર્ણ એક રસ અને એક ગંધવાળા હોય છે. દ્રવ્યની અપેક્ષાથી નિત્ય અને પર્યાયની અપેક્ષાએ અનિત્ય પણ હોય છે. ॥ ૨૧ ॥

एगत्तपुहुत्तेहिं कंधा पुहुत्तेण परमाणू य ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ એકત્વથી, પૃથક્ત્વથી તથા એકત્વપૃથક્ત્વથી થાય છે, પરમાણુ માત્ર પૃથક્ત્વથી જ ઉત્પન્ન થાય છે.

તત્વાર્થદીપિકા—પરમાણુ અને સ્કન્ધના ભેદથી પુદ્ગલના બે ભેદ પ્રથમ કહેવાઈ ગયા હવે પરમાણુ અને સ્કન્ધની ઉત્પત્તિના કારણો બતાવીએ છીએ—

સ્કન્ધ એકત્વથી પૃથક્ત્વથી તથા એકત્વ–પૃથક્ત્વ બંનેથી ઉત્પન્ન થાય છે પરમાણુઓની ઉત્પત્તિ માત્ર પૃથક્ત્વથી જ થાય છે.

જે પરમાણુ અગર સ્કન્ધ અલગ–અલગ હોય તેમને એકબીજામાં મળી જવું એકત્વ કહેવાય છે. આથી વિપરીત કોઈ અન્ય નિમિત્ત મળવાથી મળેલા પુદ્ગલોનું જુદા–જુદા થઈ જવું પૃથક્ત્વ કહેવાય છે. સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ આ બંને કારણોથી થાય છે. જેમ બે પરમાણુઓના મળવાથી દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ અને એક પરમાણુ ના મળવાથી અથવા ત્રણ પરમાણુઓના મળવાથી ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ બની જાય છે. બે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધોના મળવાથી અથવા એક ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ અને એક પરમાણુના મળવાથી અથવા ચાર પરમાણુઓના મળવાથી ચતુપ્રદેશી સ્કન્ધ બની જાય છે.

એવી જ રીતે સંખ્યાત, અસંખ્યાત, અનન્ત, અને અનન્તાનન્ત પરમાણુઓ અથવા નાના નાના સ્કન્ધો અગર સ્કન્ધો અને પરમાણુઓના મીલનથી તેટલા જ પ્રદેશવાળા સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે.

એવી રીતે જેમ એકત્વથી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે, તેવી જ રીતે પૃથક્ત્વ અર્થાત્ ભેદથી ઉત્પન્ન થાય છે. જ્યારે કોઈ કોઈ સ્કન્ધમાંથી એ, પરમાણુ પૃથક્ થઈ જાય છે તો તે નાનો સ્કન્ધ રહી જાય છે. આ પણ સ્કન્ધની ઉત્પત્તિ છે. જ્યારે એક મોટો સ્કન્ધ બે ભાગોમાં અગર અનેક ભાગોમાં વહેંચાઈ જાય છે ત્યારે અપેક્ષાકૃત નાના–નાના અનેક સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ થાય છે અથવા તે નાના નાના સ્કન્ધોમાં પણ પૃથક્ત્વ પેદા થઈ જાય તો અધિક બીજા નાના અનેક સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે. આ રીતે દ્વિપ્રદેશી સ્કંધ સુધી ભેદથી ઉત્પન્ન થઇ શકે છે.

ક્યારેક ક્યારેક એવું થાય છે કે એક મોટા સ્કન્ધનો એક ભાગ જુદો થયો અને બીજા સ્કન્ધનો ભાગ તેમાં મળી ગયો આમાં એકત્વ પણ થવું અને પૃથક્ત્વ પણ થવું. આ એકત્વ પૃથકત્વથી પણ સ્કંધ બને છે.

પરંતુ પરમાણુની ઉત્પત્તિ એકત્વ અર્થાત્ સંઘાતથી થતી નથી. તે ભેદ પૃથક્ત્વથી જ ઉત્પન્ન થાય છે. જ્યારે કોઈ સ્કંધમાં એક પ્રદેશ પૃથક્ થઈને સ્વતંત્ર થઈ જાય છે ત્યારે પરમાણુ કહેવાય છે. આ રીતે પરમાણુ પૃથક્ત્વથી જ ઉત્પન્ન થાય છે ॥ ૨૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં પુદ્‌ગલોનું પરમાણુ રૂપ અને સ્કંધરૂપ પરિણમન બતાવવામાં આવ્યું છે પરંતુ તે પરિણમન શું અનાદિ છે અથવા સાદિ ? આ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે–તે પરિણમન સાદિ છે, અનાદિ નથી, કારણ કે તે ઉત્પત્તિમાન્ છે–પરમાણુઓ અને સ્કંધોની ઉત્પત્તિનું કારણ કહીએ છીએ–એકત્વ અને પૃથક્ત્વથી પુદ્‌ગલો. ઉત્પન્ન થાય છે અને પૃથત્ક્વથી પુદ્‌ગલોના પરમાણુ ઉત્પન્ન થાય છે.

હકીકતમાં સંઘાતરૂપ એકત્વથી ભેદરૂપ પૃથક્ત્વથી અને સંઘાતભેદરૂપ એકત્વ–પૃથક્ત્વથી પુદ્ગલોના દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે. જેમ–બે પરમાણુ પુદ્‌ગલોના સંઘાત રૂપ એકત્વથી અર્થાત્ મિલનથી દ્વિપ્રદેશી પુદ્‌ગલસ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે.

એક દ્વિપ્રદેશી સ્કંધ અને એક પરમાણુના સંઘાતથી અથવા ત્રણ પરમાણુઓના સંઘાતથી ત્રિપ્રદેશીસ્કંધની ઉત્પત્તિ થાય છે. એવી જ રીતે એક ત્રિપ્રદેશીસ્કંધ અને એક પરમાણુથી અથવા બે દ્વિપ્રદેશી સ્કંધોથી અથવા ચાર પરમાણુથી ચાર પ્રદેશી સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે સંખ્યાત અસંખ્યાત, અનન્ત અને અનન્તાનન્ત પ્રદેશોના સંઘાત રૂપ એકત્વથી સંખ્યાત અસંખ્યાત અનન્ત અને અનન્તાનન્ત પ્રદેશોવાળા સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે.

એવી જ રીતે આ જ દ્વયણુકથી લઈને અનન્તાનન્તપ્રદેશી સ્કધોમાં જે સંઘાતરૂપ એકત્વથી ઉત્પન્ન થયા છે. જ્યારે ભેદ થાય છે અર્થાત્ એક પરમાણુ ભિન્ન થઈને અલગ થઈ જાય છે ત્યારે તે એક પરમાણુથી હીન સ્કંધના રૂપમાં ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે જો તેમાંથી બે પરમાણુ નીકળી જાય અગર ત્રણ પરમાણુ જુદાં થઈ જાય તો ક્રમશઃ નાનો થતો થકો તે અન્તત દ્વિપ્રદેશી સ્કંધના રૂપે ઉત્પન્ન થઇ જાય છે.

આ દ્વયણુક આદિ સ્કધ સંઘાત અને ભેદ અર્થાત્ એકત્વ અને પૃથક્ત્વ–બંનેથી પણ ઉત્પન્ન થાય છે કાળના સૌથી નાના નિરંશ અંશને સમય કહે છે તે એક જ સમયમાં કોઈ પરમાણુ કોઇ દ્વયણુંકથી છુટો થવો અથવા તેજ સમયે બીજા કોઈ પરમાણુ તેમાં મળી ગયા તો આ ભેદ અને સંઘાતથી પણ દ્વયણુંક સ્કંધની ઉત્પત્તિ થઈ

પરંતુ પરમાણુની ઉત્પત્તિ સઘાતથી અગર ભેદ સઘાતથી નહીં પણ ભેદથી જ થાય છે.

અહીં એ સમજી લેવું જોઈએ–બે પરમાણુઓનાં પારસ્પરિક મિલન રૂપ એકત્વ પરિણામથી એક દ્રવ્યાણુક સ્કન્ધ બની જાય છે. સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૮૨માં સૂત્રમાં કહ્યું છે–બે કારણોથી પુદ્‌ગલોનુ મિલન થાય છે. અગર તો પુદ્‌ગલ જાતે જ સંહત થઇ જાય છે અગર બીજાની દ્વારા સહત કરવામાં આવે છે. એવી જ રીતે પુદ્‌ગલોમાં

બે પ્રકારથી ભેદ (પૃથક્ત્વ) ઉત્પન્ન થાય છે. કાં તો તે સ્વયં જ પૃથક્ થઈ જાય છે અગર બીજાની દ્વારા જુદા કરવામાં આવે છે.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૬માં અધ્યયનની ૧૧મી ગાથામાં કહ્યું છે-એકત્વ અને પૃથક્ત્વના કારણે સ્કંધ અને પરમાણુ ઉત્પન્ન થાય છે

શંકા—નિરંશ બે પરમાણુઓના એકત્વથી દ્વયણુક સ્કંધની નિષ્પત્તિ કેવી રીતે થઈ શકે? તે બે પરમાણુઓના સંયોગ સર્વાત્મના અર્થાત્ એક પરમાણુમાં બીજા પરમાણુના પૂર્ણ રૂપમાં સમાઈ જવાથી થાય છે. અથવા એક દેશથી થાય છે ?

જો સર્વાત્મના સંયોગ માની લઈએ તો આખું જ જગત એક પરમાણુ માત્ર જ હશે કારણ કે એક પરમાણુમાં જ્યારે બીજા પરમાણુ સંપૂર્ણ રીતે સમાઇ જાય તો બે પરમાણુ-ઓના મળી જવાથી તે પહેલાની માફક એક પરમાણુ માત્ર રહ્યો. એવી જ રીતે જ્યારે તેમાં ત્રીજો પરમાણુ મળે તો પણ તે પરમાણુ માત્ર જ રહ્યો એવી રીતે અનન્ત પરમાણુઓના મળવાથી તે પરમાણુ માત્ર જ રહેશે. આ દોષથી બચવા માટે જો પરમાણુઓનો સંયોગ એક દેશથી માનવામાં આવે તો પરમાણુ સાવયવ અર્થાત્ અવયવવાળો માનવો પડશે. જ્યારે તેમાં એક દેશથી સંયોગ થાય છે તો સાવયવ થયા વગર તે કઇ રીતે રહી શકે છે ? આ રીતે અહીં કુવા ઉપર ખાઈની કહેવત ચરિતાર્થ થાય છે અર્થાત્ બંને પક્ષોમાં દોષ આવે છે. આવી સ્થિતિમાં પરમાણુઓનો સંયોગ બની જ શકતો નથી

સમાધાન—પરમાણુ રૂપ રસ, ગંધ અને સ્પર્શવાળા હોય છે આથી સંયોગ સમયે વ્યવધાનયુક્ત પરસ્પરમાં વ્યાપ્ત થઈને રહે છે કારણ કે તેમનામાં રૂપ આદિ અવયવ હોય છે જેમ સ્તંભ કુંભ વગેરે. એવી રીતે પરમાણુ ક્વચિત્ નિરવયવ અને ક્વચિત્ સાવયવ પણ છે. દ્રવ્યથી નિરવયવ અને ભાવથી સાવયવ છે

આના શિવાય દ્રવ્યની અપેક્ષા જ્યારે પરમાણુ એક છે અને તેમાં કોઇ પ્રકારનો ભેદ નથી તો તેના માટે સર્વાત્મના કહીને સર્વ શબ્દનો પ્રયોગ કેવી રીતે કરી શકાય ? સર્વ શબ્દ તો નિરવશેષ અનેકનો વાચક છે. એ હકીકત સર્વત્ર પ્રસિદ્ધ છે આથી સર્વ શબ્દનો પ્રયોગ કરવો અશક્ય છે. એવી જ રીતે જુદા જુદા રૂપમાં પ્રસિદ્ધ વસ્તુના કોઈ એક ભાગનો પ્રતિપાદક એકદેશ શબ્દ ભેદરહિત પરમાણુના વિષયમાં કેવી રીતે વાપરી શકાય ?

આ કારણથી ઉપર્યુક્ત સર્વાત્મના અને એકદેશેન આ બંને વિકલ્પોને પ્રગટ કરવાવાળા વાક્ય પ્રયોગ તે જ લોકો કરી શકે છે જેઓ અત્યન્ત પ્રસિદ્ધ લોકવ્યવહારથી પણ વિમુખ છે ક્ષુદ્ર છે અને અર્થથી અથવા શબ્દના અર્થથી અજ્ઞાન છે, અને અત્યન્ત જ જડ છે. વિચાર-શીળ વિદ્વાન એવો પ્રયોગ કરી શકતા નથી. જેમના મગજમાં એકાન્તવાદનું ભૂત સવાર છે તેઓ જ બે વિકલ્પોને પ્રગટ કરનારા વચનનો પ્રયોગ કરી શકે છે સમસ્ત વાદોમાં શિરોમણિ સ્યાદ્વાદ સિદ્ધાંતનો આશ્રય લેવાથી જેમનામાં અનુપમ સામર્થ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયું હોય તેવા અનેકાન્તવાદી આવા અર્થહીન વાક્યોનો પ્રયોગ કરતા નથી

એક પરમાણું જ્યારે બીજા પરમાણુની સાથે મળે છે તો એક દેશથી નહીં. કારણ કે તેમાં દેશ અર્થાત્ અવયવ હોતા જ નથી પરંતુ સ્વયં જ અવયવ દ્રવ્યાંતરના અવયવદ્રવ્યોથી

રહિત થઈને બીજા પરમાણુની સાથે ભેદથી સંયોગને પ્રાપ્ત થાય છે. તે બીજા પરમાણુમાં સમાઈ શકતો નથી. પરમાણુ સક્રિય હોય છે અને પોતાના અવગાહનાના સ્થાન રૂપ આકાશમાં જ સમાયેલો રહે છે.

શંકા—જો પરમાણુનો બીજા પરમાણુની સાથે એક દેશથી પણ પ્રદેશ નથી થતો તો તેમનો સંયોગ જ થઈ શકે નહીં. કારણ કે તેઓ પરસ્પરમાં આશ્રિત નથી જેમ બે આંગળીઓના જુદા જુદા રહેવાથી સંયોગ થતા નથી તેમ.

સમાધાન—આપણે એક બીજામાં પેસવાથી સંયોગ કહેતા નથી પરંતુ નિરવયવ હોવાથી જ તેમનો સંયોગ થાય છે. બે આંગળીઓના માફક પરમાણુ નો બીજો કોઇ સંયુક્ત જુદો પ્રદેશ હોતો નથી પરંતુ તે જાતે જ સંયુકત થઈ જાય છે એટલું જ અમારું વિધાન છે આપનું પરસ્પરમાં આશ્લિષ્ટ ન થવું, હેતુ અનેકાન્તિક છે. સૂક્ષ્મ છેદનથી. જુદી જુદી થયેલી બે આંગળીઓના અન્તના બે પ્રદેશ જો એક બીજાથી છૂટા હોય તો પરસ્પરમાં આશ્લિષ્ટ ન હોવા છતાં પણ તેમનો સંયોગ થાય છે. બે આંગળિઓ આપસમાં જોડાયેલી હોય છે કારણ કે વચમાં અંતર હોતું નથી તો પણ એક આંગળી બીજામાં પેસતી નથી.

શંકા—પરમાણુ સંસ્થાનવાન હોવાથી સાવયવ જ હોવા જોઈએ નિરવયવ નહીં.

સમાધાન—સંસ્થાન દ્રવ્ય અવયવોથી ઉત્પન્ન થાય છે. અવયવોના હોવાથી ઘટ આદિ અવયવી વસ્તુઓમાં સંસ્થાન થાય છે. પરમાણુમાં અવયવ હોતા નથી આથી પરમાણુમાં સંસ્થાન પણ હોતા નથી.

શંકા—જો પરમાણુમાં સંસ્થાન નથી તો તે અસાર થઇ જશે.

સમાધાન—જેમાં સંસ્થાન ન હોય તેની સત્તા જ હોતી નથી, એવો કોઇ નિયમ નથી. આકાશ સંસ્થાનથી રહિત હોવા છતાં પણ અસત્ નથી, સત્ જ છે.

શંકા—આકાશ પણ સંસ્થાનવાન છે કારણ કે તેની પરિધિ જોઈ શકાય છે, દા. ત. દડો.

સમાધાન—આ વિધાન સંપૂર્ણ લોક અને શાસ્ત્રોથી પ્રતિકુળ છે સાથે જ અનુભવથી પણ વિરુદ્ધ છે.

યોગ અગર સંયોગનો અર્થ છે-સમ્પ્રાપ્તિ અર્થાત્ સારી રીતે મેળાપ થઇ જવો. આ યોગ પ્રદેશોથી જ થાય છે તેમ નથી.. જે પ્રદેશરહિત છે તેની સ્વયં જ સંપ્રાપ્તિ થઈ જાય છે.

આ રીતે બધા સ્થૂળપદાર્થ જો વિભકત કરવામાં આવે છે. નિ:સંદેહ અન્તમાં તે નિરંશ હશે. સ્થૂળવસ્તુ સૂક્ષ્મપૂર્વક જ હોય છે કહ્યું પણ છે-"બધી સવિભાગ વસ્તુ અવિભાગમાં પ્રવિષ્ટ છે" અનન્ત પરમાણુઓનો એક જ આકાશપ્રદેશમાં જે અવગાહ થાય છે તેનું કારણ એ છે કે તે અપ્રતિઘાતી રૂપમાં પરિણત થાય છે-તે અનન્ત પરમાણુઓમાંથી કોઈ કોઈના અવગાહમાં અવરોધ નાખતો નથી જેમ એક ઓરડો દીવાના પ્રકાશથી વ્યાપ્ત હોય અને તેમાં બીજો દીપક રાખવામાં આવે તો તેનો પ્રકાશ પણ તેમાં સમાઈ જાય છે અને સાથે જ શીત શબ્દ આદિના પુદ્દગલ પણ સમાયેલાં રહે છે; તેમાંથી કોઈ પુદ્દગલ બીજા પુદ્દગલની અવગાહનાનો પ્રતિરોધ કરતો નથી એવી જ રીતે આકાશના એક જ પ્રદેશમાં અનન્ત પરમાણુ વગર વિરોધે સમાયેલા રહે છે.

શંકા—જો પરમાણુ પ્રતિઘાતરહિત છે તો સ્થૂળ દ્રવ્યની નિષ્પત્તિ કેવી રીતે થશે ? યોગ થવાથી મીલન થાય છે અને સંયોગનો અર્થ છે અપ્રાપ્તની પ્રાપ્તિ અને નહીં કે એકબીજામાં સમાઈ જવું.

સમાધાન— સ્થૂળ દ્રવ્યની ઉત્પત્તિ વખતે પરમાણુઓનું અપ્રતિઘાતિ હોવું અમને સિદ્ધ નથી. પરમાણુઓના પ્રતિઘાત ભગવાન ત્રણ પ્રકારના માને છે. બન્ધપરિણામ ઉપકારાભાવ અને વેગ. બન્ધપરિણામ પ્રતિઘાત સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતાના કારણે થાય છે. ઉપકારાભાવ પ્રતિઘાત, ધર્મ, અધર્મ અને આકાશની ગતિ, સ્થિતિ અને અવગાહ રૂપ ઉપકારના પ્રકરણમાં પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે. લોકની બહાર જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિનો પ્રતિઘાત થઈ જાય છે કારણ કે ત્યાં ગતિનું નિમિત્ત કારણ હાજર નથી; જેમ માછલા અને મગર વગેરેની ગતિ પાણીથી બહાર નિમિત્ત કારણ (પાણી)ના અભાવમાં થતી નથી. આથી જ લોકના અન્તમાં પરમાણુનો પ્રતિઘાત થઈ જાય છે, એજ રીતે જ્યારે કોઈ પરમાણુ સ્વાભાવિક ગતિ કરતો થકો વેગમાં હોય છે અને તે વચ્ચે આવી જાય છે તો તેના વેગના કારણે પરમાણુનો પ્રતિઘાત થાય છે.

વેગયુક્ત ગતિ કરતો થકો પરમાણુ. વેગવાન પરમાણુનો જ પ્રતિઘાત કરે છે કારણ કે તે વેગવાન હોવાસાથે સ્પર્શવાન અને મૂર્તિમાન હોય છે, જેમ પ્રબળ વેગવાળો પવન બીજા પવનનો સામનો કરે છે આનાથી પરમાણુના વેગના કારણે પ્રતિઘાત થાય છે તેમ પ્રતિત થાય છે.

ઉપર કહેલા પ્રકારથી પરમાણુના વિષયમાં પ્રતિઘાતિત્વ અને અપ્રતિઘાતિત્વનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે. પરિણમનની વિશેષતાના કારણે પુદ્ગલોમાં આ બંને જ ઘટિત થઈ જાય છે. દા. ત. શબ્દ દીવાળ વગેરે દ્વારા પ્રતિહત થઈ જાય છે અથવા જો પ્રતિહત (પડઘો) ન પડે તો કાને સાંભળી શકાય છે અને તે જ શબ્દ કદી–કદી પવન દ્વારા પ્રેરિત થઈને પ્રતિહત થઈ જાય છે કારણ કે જે પ્રતિકૂળ વાયુની દિશામાં સ્થિત થાય છે તેને તે સંભળાતો નથી અને અનુકૂળ વાયુની દિશામાં બેઠેલાને સંભળાય છે. આથી એ સાબીત થાય છે કે જેમ ગન્ધને વાયુ પ્રેરિત કરે છે તેવી જ રીતે શબ્દને પણ પ્રેરિત કરે છે.

આવી જ રીતે પરમાણુઓના સંઘાત રૂપ એકત્વથી સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ થાય છે એમ જે કહ્યું તે યોગ્ય જ કહ્યું છે. ત્રણ પરમાણુઓનો સંઘાત થવા પર અથવા દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધની સાથે એક પરમાણુનો સંઘાત થવાથી ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ (ત્ર્યણુક)ની ઉત્પત્તિ થાય છે. આ જ સત્ય સંખ્યાત પ્રદેશી અને અસંખ્યાત પ્રદેશી સ્કન્ધની ઉત્પત્તિના વિષયમાં સમજી લેવું જોઈએ. અસંખ્યાતથી પણ આગળ ઘણા વધારે ઘણા અને વધુમાં વધુ પરમાણુઓના પ્રચય રૂપ અનન્ત પ્રદેશીમાં પણ એકત્વરૂપ સંઘાતની વાત સમજી લેવાની છે તાત્પર્ય એ છે કે જેટલા પ્રદેશવાળા પુદ્ગલોનો સંઘાત થશે તેટલા પ્રદેશવાળા જ સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થશે. એ રીતે અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા પુદ્ગલોના સંઘાતથી અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે.

પરંતુ પરમાણુઓની ઉત્પત્તિ સંઘાતથી નહીં પૃથક્ત્વથી જ થાય છે.

શંકા—સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતા દૂર થવાથી, સ્થિતિનો ક્ષય થવાથી જ્યારે કોઈ દ્રવ્યથી ભેદ થાય છે અને સ્વભાવ ગતિથી દ્વયણુક આદિ સ્કન્ધોનો ભેદ થાય છે અને તે વખતે ઉત્પન્ન થનાર પરમાણુ, કાર્ય હોવા જોઈએ. જ્યારે પરમાણુ દ્વયણુક આદિમાં મળેલા હતા ત્યારે તે પરમાણુના રૂપમાં હતા નહીં પરંતુ સ્કન્ધના રૂપમાં હતાં. જ્યારે તેના સ્કન્ધરૂપ પૂર્વ પર્યાયનો

વિનાશ થયો ત્યારે જ તેમાં પરમાણુરૂપ ઉત્તર પર્યાયનું ઉત્પન્ન થવું. ઉત્તરકાલીન પર્યાયમાં પૂર્વ કાલીન પર્યાયનું રહેવું શકય નથી કારણ કે પરિણામનો અર્થ જ છે ભવાન્તરનું હોવું. આથી સૂક્ષ્મ પરિણામથી બાદર પરિણામ ભિન્ન છે; આથી સ્કન્ધ પરિણામમાં પરમાણુ પરિણામ હોતો નથી.

જેમ ગોળ, પાણી અને મહુડાના પુષ્પના સંયોગથી સરક (દારુ) દ્રવ્યરૂપ પરિણમન ઉત્પન્ન થાય છે તેજ વિભિન્ન દ્રવ્યોના સંયોગ વિશેષથી કાલાન્તરમાં એક નવીન રૂપ ધારણ કરી લે છે જેમાં તેમના ભેદને સમજવું મુશ્કેલ થઇ પડે છે પરંતુ તે દ્રવ્યો વગર તે સમયે પોતાના પૂર્વ રૂપમાં રહે છે. જો તે સમયે પણ તે દ્રવ્યો પોતાના પૂર્વ રૂપમાં જ રહે તો પૂર્વકાળની માફક તે સમયે પણ તે પરિણામ ન હોવું જોઈએ.

એ રીતે બાદર પરિણામના રૂપમાં પરિણત મહાદ્રવ્યમાં પરમાણુ પોતાના રૂપમાં અર્થાત્ પરમાણુના રૂપમાં હોતા નથી કારણ કે તે બીજા પરિણામમાં પરિણત થાય છે જેમ દારુ પર્યાયના હોવાથી ગોળ વગેરે પોતાના રૂપમાં રહેતાં નથી આથી પરમાણુ દ્વયણુક વગેરેના કારણ 'જ' છે અહીં "જ"નો પ્રયોગ કરવો યોગ્ય નથી.

સમાધાન—કોઈ પણ સ્થૂળ મૂર્તદ્રવ્યનું જો પૃથકકરણ કરવામાં આવે તો પરમાણુઓના રૂપમાં જ તેનો અંત થશે જેમનું પુનઃ પૃથકકરણ થઈ જ શકતું નથી તે દ્રવ્યનું આકાશપુષ્પની જેમ સર્વથા શૂન્ય રૂપ થશે નહીં. અથવા એમ કહીએ કે દ્રવ્યમયની અપેક્ષાથી દ્વયણુક આદિ દ્રવ્યોના કારણ પરમાણુ જ છે અને પર્યાયની અપેક્ષાથી તેમની ઉત્પત્તિ થાય છે. એવી રીતે કોઇ અપેક્ષાથી ઉત્પન્ન થવાના કારણે પરમાણુંને કાર્ય પણ કરી શકાય છે. તે પરમાણું સ્વયં કોઇ પણ દ્રવ્યના અવયવ દ્વારા ભેદી શકાતા નથી.

હા, રૂપ રસ આદિ પરિણામ તેમનામાં ગળી આવે છે એ અપેક્ષાથી તે ભેદવાન્ પણ હોય છે-તેમનામાં ભેદ કરી શકાય છે. ?

શંકા—પરમાણુ પ્રદેશહીન હોવાના કારણે શશકવિષાણની સમાન અસત્ છે ?

સમાધાન—પરમાણુ સાવયવ દ્રવ્ય નથી, સાવયવ દ્રવ્યનું પ્રતિપક્ષી છે અને સાવયવ દ્રવ્યના પ્રતિપક્ષી હોવાથી અવશ્ય જ સત્ હોવું જોઈએ. અને નિરવયવ હોવું જોઈએ. તે તે પ્રદેશ રહિત છે. આ દલીલ અને આગમ પ્રમાણથી દ્રવ્ય પરમાણુની સિદ્ધી થાય છે. દ્રવ્ય પરમાણુની સિદ્ધી થઈ જવા પર ક્ષેત્રપરમાણુ અને ભાવપરમાણુની પણ સિદ્ધી થઈ જાય છે તે જાતે સમજી લેવું જોઈએ. ॥ ૨૨ ॥

एगत्त पुहुत्तेहिं चक्खुसा ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—સંઘાત અને ભેદથી સ્કંધ ચક્ષુગ્રાહ્ય થઈ જાય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અનન્તાનન્ત પરમાણુઓના સમૂહથી નિષ્પન્ન થયેલો કોઈ પણ સ્કંધ ચક્ષુ દ્વારા ગ્રાહ્ય હોય છે અને કોઈ હોતા નથી આ સંજોગોમાં જે ચક્ષુગ્રાહ્ય નથી તે ચક્ષુગ્રાહ્ય કેવી રીતે થઈ જાય છે ? આ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

એકત્વ અર્થાત્ સંઘાત અને પૃથકત્વ અર્થાત્ ભેદથી સ્કંધ ચાક્ષુષ પ્રત્યક્ષના વિષય બની જાય છે, ભેદથી ચાક્ષુષ હોતા નથી. અચાક્ષુસ પૂર્વોકત સંઘાતથી, ભેદથી અને સંઘાત ભેદથી હોય છે. ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—ભેદ અને સંઘાતથી ચક્ષુ ઇન્દ્રિય દ્વારા ગ્રાહ્ય સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે. એવું ન સમજવું જોઈએ કે ભેદ અને સંઘાતથી ઉત્પન્ન થનારા બધા સ્કંધ ચાક્ષુષ જ હોય છે. ભેદ અને સંઘાતથી તો ચાક્ષુષ સ્કંધોની પણ ઉત્પત્તિ દેખી શકાય છે આથી નિયમ એ છે કે સ્વતઃ જ પરિણમનની વિશિષ્ટતાના કારણે ચક્ષુઇન્દ્રિયના ગોચર થનારા બાદર સ્કન્ધ સંઘાત અને ભેદ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે.

આ રીતે બધાં સ્કન્ધ ચક્ષુગ્રાહ્ય હોતા નથી, પરંતુ અનન્તાનન્ત પરમાણુઓના સંઘાતથી બનનારા પુદ્ગલસ્કંધ પણ જો બાદર પરિણામવાળા હોય છે તો તે નેત્રગોચર થઈ શકે છે, સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા નહીં. બાદર પરિણામ ત્યારે ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે સૂક્ષ્મ પરિણામ દૂર થઈ જાય છે. બાદર પરિણામ થવાથી જેમ કેટલાંક પરમાણુ તેમાં મળે છે. તે જ રીતે કેટલાંક જુદા પણ થાય છે આ કારણે સંઘાત અને ભેદ દ્વારા જ ચાક્ષુષ સ્કન્ધોની નિષ્પત્તિ થાય છે, ન તો એકલા સંઘાતથી અથવા ન એકલા ભેદથી સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા સ્કન્ધનો ભેવ થવા છતાં પણ તે અચાક્ષુષ જ બન્યા રહે છે અને તે કારણે તે અચાક્ષુષ જ રહે છે. પરંતુ બીજા કોઈ સૂક્ષ્મ સ્કંધ ભેદ થવાથી બીજા સ્કધમાં મળી જાય છે, તે વખતે તેનું સૂક્ષ્મ પરિણામ ચાલ્યું જાય છે, તેમાં બાદર પરિણામ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને તે ચક્ષુગ્રાહ્ય બની જાય છે.

શંકા—અચાક્ષુષ પરમાણુઓનો સમુદાય ત્રણ પરમાણુમાત્ર જ હોય છે. તે કોઈ પ્રકારની વિશેષતા ઉત્પન્ન થયા વગર કઈ રીતે ચાક્ષુષ થઈ શકે છે ?

સમાધાન—બધી વસ્તુઓના હાજર પરિણામથી કોઇ બીજું પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તો તે જુદું જ હોય છે. આ રીતે પરમાણુ રૂપ પરિણમનથી ચાક્ષુષ પરિણમન ભિન્ન જ છે. પરમાણું પોતાના પરમાણુત્વ–પરિણામનો ત્યાગ કરીને સ્નિગ્ધતા–રુક્ષતાથી સ્થૂળ પરિણમનને પ્રાપ્ત કરી લે છે. સ્કન્ધોમાં યથાસંભવ આઠે પ્રકારના સ્પર્શ કહેવામાં આવ્યા છે. પરમાણુઓમાં સ્નિગ્ધ, રુક્ષ, શીત અને ઉષ્ણ આ ચાર સ્પર્શ જ હોય છે એમાંથી પણ પરસ્પર અવિરોધી બે સ્પર્શ જ એક પરમાણુમાં હોય છે.

બન્ધ રૂપ પરિણતિ માટે સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતા એ બંને સ્પર્શોની જ જરૂરીયાત છે, કોઈ પરમાણુ સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા તો કોઇ સ્નિગ્ધ પરિણામવાળા હોય છે સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતા પરસ્પર વિરોધી ધર્મ છે તેઓ એક પરમાણુમાં રહી શકતાં નથી. તેમાં પણ કોઇ પરમાણુ એક ગુણ સ્નિગ્ધ હોય છે, કોઇ બે ગુણ સ્નિગ્ધ હોય છે તેવી જ રીતે કોઇ અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ ચિકણા પણ હોય છે. આવું જ રુક્ષતાના વિષયમાં પણ સમજવું જોઈએ.

સામાન્ય રૂપથી બધાં પરમાણું સજાતીય જ હોય છે. કોઇ વિજાતીય હોતાં નથી. કારણ કે બધાં રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ ગુણવાળા હોય છે. એ રીતે રુક્ષતા અને સ્નિગ્ધતા ગુણના કારણે પરમાણુઓનો કોઇ અન્ય દ્રવ્યની સાથે બન્ધ થાય છે અને તે બન્ધ વિશેષથી ઘટ

આદિ સ્થૂળની ઉત્પત્તિ થાય છે. જો પરમાણુ માત્ર જ રહે તેમાં કોઇ વિશેષતા ઉત્પન્ન હોય તો સ્થૂળની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી.

આ રીતે સ્વગત ભેદનો સ્વીકાર કરવાથી કોઈ પણ વસ્તુઓમાં સર્વથા અભેદની શકયતા રહેતી નથી તેમજ ન તો તેમનામાં સર્વથા ભેદ જ છે, પરંતુ કંઇક સમાનતા પણ છે.

ઇંદ્રિયજનિત પ્રત્યક્ષના વિષય થવા રૂપ પરિણામમાં જ માત્ર કારણ હોતું નથી પરંતુ વિશિષ્ટ પ્રકારના અનન્ત સંખ્યક પરમાણુઓના સંઘાતથી ઉત્પન્ન થનારી સ્થૂળ પરિણતિ અમુક-અમુક ઇંદ્રિયોનો વિષય બને છે આથી ઇંદ્રિયજન્ય પ્રત્યક્ષનો વિષય થવામાં કેવળ સંઘાત જ કારણ નથી તેમજ ન તો કેવળ પરિણામ જ કારણ છે. વરન્ ભેદ અને સંઘાત બંને જ્યારે એક જ કાળમાં હોય છે ત્યારે જ સ્કંધ ચાક્ષુષ હોય છે. અહીં ચક્ષુ શબ્દથી બધી ઇન્દ્રિયોને ગ્રહણ કરી લેવી જોઇએ અને એ પણ સમજી લેવું જોઇએ કે સ્પર્શ, રસ, ગંધ અને શબ્દ પણ પૂર્વોક્ત પરિણતિથી યુક્ત, થઇને જ સ્પર્શના, રસના (જીભ ઘ્રાણ (નાક) અને શ્રોત્ર (કાન) ઇન્દ્રિય દ્વારા જાણવામાં આવે છે.

જે દ્વયણુકથી લઇને અનન્ત પરમાણુ સુધી સૂક્ષ્મ સ્કંધ અચાક્ષુષ છે તે પૂર્વોક્ત ત્રણ પ્રકારનાં કારણથી અર્થાત્ સંઘાતથી ભેદથી અને સંઘાત-ભેદ (બંને)થી ઉત્પન્ન થાય છે.

શંકા—જે સ્કન્ધ બાદર છે, તેઓ જ સૂક્ષ્મ કેવી રીતે કહી શકાય?

સમાધાન—પુદ્ગલોનું પરિણમન ઘણું વિચિત્ર હોય છે. તે જ પુદ્ગલ કદાચિત્ મેઘ ઇંદ્રધનુષ્ય, વીજળી વગેરે બાદર પરિણામને ધારણ કરે છે અને કયારેક તે એવું સૂક્ષ્મ રૂપ પણ ધારણ કરી લે છે કે ઈંદ્રિય દ્વારા ગ્રાહ્ય હોતાં નથી. કદી-કદી તેમનામાં એવું પરિણમન થઈ જાય છે કે એક ઇંદ્રિયને બદલે કોઈ બીજી ઇન્દ્રિય દ્વારા ગ્રાહ્ય બની જાય છે. દા. ત. મીઠું હીંગ વગેરે. મીઠું તથા હીંગ પહેલા ચક્ષુગ્રાહ્ય હોય છે પરંતુ પાણીમાં મળી જવાથી ચક્ષુગ્રાહ્ય રહેતાં નથી, રસનાગ્રાહ્ય જ રહી જાય છે. કોઈ-કોઇ સૂક્ષ્મ રૂપમાં ઉત્પત્તિ થઈને એવા જળધરનો આકાર ધારણ કરી લે છે કે જે આકાશમાં બધી દિશાઓમાં ફેલાઇ જાય છે આ રીતે પુદ્ગલોના પરિણમનની વિચિત્રતાના કારણે સ્થૂળનું સૂક્ષ્મ અને સૂક્ષ્મનું સ્થૂળ થઇ જવું લગીર પણ આશ્ચર્યજનક અથવા અસંગત નથી ॥ ૨૩ ॥

मूलसूत्र—'सद् दव्वलक्खणं' ॥२४॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—દ્રવ્યનું લક્ષણ સત્ હોય છે ॥ ૨૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ધર્મ અધર્મ આકાશ, કાળ, પુદ્ગળ અને જીવ આ છ દ્રવ્યોના વિશેષ લક્ષણોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે હવે તેમના સામાન્ય લક્ષણ કહીએ છીએ—

દ્રવ્યનું લક્ષણ સત્ છે અર્થાત્ જે સત્ છે તે જ દ્રવ્યનું લક્ષણ છે એ રીતે સત્વ દ્રવ્ય સામાન્યનું-સ્વરૂપ છે વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ-(ભગવતી) સૂત્રમાં કહ્યું પણ છે-સત્ દ્રવ્ય કહેવાય છે. ૨૪

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની ગતિ-ઉપગ્રહ સ્થિતિ ઉપગ્રહ અવગાહ-ઉપગ્રહ આદિ વિશેષ લક્ષણ કહેવાઇ ગયા છે હવે સમસ્ત દ્રવ્યવ્યાપક લક્ષણ કહીએ છીએ—

દ્રવ્ય સામાન્યનું લક્ષણ સત્ છે. આ કથનથી શું વિકારની ગ્રન્થિથી રહિત સત્તા માત્ર (ધ્રૌવ્ય) ધર્માદિનું લક્ષણ છે ? અથવા ઉત્પાદ અને વિનાશ રૂપ વિકાર જ તેમનું લક્ષણ છે ? આ તમામ વિપ્રતિપત્તિઓનું પણ નિવારણ થઈ જાય છે. કારણ કે સત્તા જ ધર્મ આદિનું સામાન્ય લક્ષણ છે. એ રીતે ગતિ, સ્થિતિ, અવગાહ આદિ ઉપકાર દ્વારા તેમનું અસ્તિત્વ નક્કી થાય છે.

શંકા—ગતિ સ્થિતિ આદિમાં નિમિત્ત થવાવાળા ધર્માદિ કોઈ અપ્રસિદ્ધ સત્તાવાળા છે ?

સમાધાન—ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય રૂપ સત્ત્વ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, પુદ્ગલ અને જીવદ્રવ્યોમાં ઉપલબ્ધ થાય છે આથી તેમની સત્તા પ્રસિદ્ધ છે. તેઓ સત્ત્વથી જુદા થઈ શકતા નથી.

અહીં એ હકીકત સમજી લેવાની જરૂર છે કે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યો જગતનું સ્વરૂપ છે. આમાં જીવદ્રવ્ય જ ધર્મ અધર્મ વગેરેના અને પોત પોતાના સ્વરૂપના ગ્રાહક છે. સંક્ષેપથી શબ્દ, અર્થ અને જ્ઞાન બધામાં સત્ત્વ લક્ષણ જડી આવે છે,—આથી આ લક્ષણ સર્વવ્યાપી છે. તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું સામાન્ય લક્ષણ સત્ત્વ જ સંગત હોય છે. ભગવતીસૂત્રના ૮માં શતકના ૯માં ઉદ્દેશકમાં સત્પદ દ્વારમાં કહ્યું છે–દ્રવ્યનું લક્ષણ સત્ છે ॥ ૨૪ ॥

'उप्पायवय धौव्वजुत्तंस' ॥૨૫॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—જે સત્ છે, ઉત્પાદ્ વ્યય તથા ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે. ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં દ્રવ્ય સામાન્યનું લક્ષણ સત્ કહેવામાં આવ્યું છે. પરંતુ "સત્" કોને કહેવું જોઈએ ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી સત્નું સ્વરૂપ કહીએ છીએ—

જે વસ્તુ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે તે જ સત્ કહેવાય છે.

જીવ અથવા ધર્મ વગેરે અજીવ દ્રવ્યોમાં પોતાની મૂળ જાતિનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા અન્તરંગ અને બહિરંગ નિમિત્તોથી નૂતન પર્યાયનું ઉત્પન્ન થવું ઉત્પાદ કહેવાય છે જેમ માટીના પિન્ડામાંથી ઘડાનું સર્જન થાય છે એવી જ રીતે પૂર્વ પર્યાયનો વિનાશ થઈ જવો વ્યય કહેવાય છે જેમ ઘડા પર્યાયની ઉત્પત્તિ થવાથી માટીના પિન્ડ પર્યાયનું ના રહેવું વ્યય છે. આજ રીતે અનાદિ અનાદિ પારિણામિક ભાવથી વ્યય અને ઉત્પાદ ન થવો અર્થાત્ મૂળભૂત દ્રવ્યનું જેમને તેમ સ્થિર રહેવું ધ્રૌવ્ય ધ્રુવતા સ્થિરતા આદિ સમાનાર્થક શબ્દ છે જેમ સોનાનો ટુકડો, કડા, કાનની વેલી, હાર આદિ સોનાની એકની પછી બીજી થનાર અનેક સ્થિતિઓમાં સુવર્ણ દ્રવ્ય કાયમ રહે છે. (અંતે તો હેમનું હેમ હોય છે) એજ રીતે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત વસ્તુ સત્ કહેવાય છે.

'युज् समाधौ' ધાતુથી "યુક્ત" શબ્દ નિષ્પન્ન થયો છે આથી યુક્તનો અર્થ થાય–સમાહિત જે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી સમાહિત છે, ઉત્પાદ–વ્યયધ્રૌવ્યાત્મક છે ઉત્પાદ–વ્યય–ધ્રૌવ્યમય છે અગર ઉત્પાદ–વ્યય–ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી હોય છે તે જ સત્ કહેવાય છે.

આ પ્રકારે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સદ્રૂપ દ્રવ્યના લક્ષણ છે. સદ્રૂપ દ્રવ્ય લક્ષ્ય છે. પર્યાયાર્થિકનયની અપેક્ષાથી ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય પરસ્પર ભિન્ન છે અને દ્રવ્યથી પણ

ભિન્ન છે, પરંતુ દ્રવ્યાર્થિક નયથી જુદા જુદા ઉપલબ્ધ ન હોવાથી ભિન્ન નથી બલ્કે તન્મય જ છે. ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું સામાન્ય લક્ષણ સત્ કહેવામાં આવ્યું છે પરંતુ સત્ કોને કહે છે એ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુકત વસ્તુ સત્ કહેવાય છે. ઉત્પત્તિ, સ્થિતિ અને વિનાશ સ્વભાવવાળું સત્ હોય છે. નિયમથી ઉત્પત્તિ, સ્થિતિ અને વિનાશ એ ત્રણે ભેગા થઈ ને જ સત્ત્વના બોધક હોય છે સાર વસ્તુથી જ ઉત્પત્તિ વગેરે થાય છે. જે સર્વથા અસત્ છે, આકાશ પુષ્પની જેમ નિઃસ્વરૂપ છે તેમાં ઉત્પત્તિ વગેરે થતાં નથી કારણ કે આકાશફૂલ આદિ કોઈ પણ સ્વરૂપથી કરી શકાતાં નથી. જે કવચિત્ ધ્રુવ નથી તે ન તો ઉત્પન્ન થાય છે કે ન તો નાશ તેનો થાય છે, તે સત્ પણ હોતું નથી, અસત્ હોય છે દા. ત. સસલાનું શિંગડું, વાંઝણીનો પુત્ર, આકાશ પુષ્પ તથા કાચબાનું દૂધ વગેરે.

આ રીતે આ સૂત્ર દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષાથી સમજવું જોઈએ. દ્રવ્યાર્થિક નય સામાન્યનું ગ્રાહક અને પર્યાયાર્થિક નય વિશેષનું ગ્રાહક છે. આ બંને નય નૈગમ સંગ્રહ અને વ્યવહાર નયોના મૂળ છે કારણ કે નૈગમનય સામાન્ય અને વિશેષ બંનેના ગ્રાહક હોવાથી સંગ્રહ અને વ્યવહારનયમાં જ અન્તર્ગત થઈ જાય છે.

દ્રવ્યાર્થિકનય ઉત્સર્ગ વિધિ, વ્યાપકતા અપ્રતિષેધ સામાન્ય અથવા દ્રવ્યને જ ગ્રહણ કરે છે. તે વિશેષ અગર ભેદનો સ્વીકાર કરતા નથી. વિશેષમાં બીજાનો નિષેધ કરીને કોઈ વસ્તુની ભિન્નતાનું પ્રતિપાદન કરે છે. અભાવ કેવળ નિષેધ–માત્રશૂન્યરૂપ નથી જેમ–ઘડાનો પ્રાગ્ભાવ માટીનો પિન્ડ છે ઘડાની ઉત્પત્તિ પહેલા જે ઘડાનો અભાવ છે તે માટીનો પીંડો જ છે જેમાં ઘડા પર્યાયની ઉત્પત્તિ થઈ નથી. ઘડાનો વિનાશભાવ–તેના ઠીંકરા થઈ જાય છે–વિનાશ-ભાવ પણ વસ્તુ સ્વરૂપ જ છે, ઘડાની કપાલ અવસ્થા થઈ જવી જ તેનો વિનાશ છે. એ રીતે થાંભલો કુંભ વગેરે એક જ દ્રવ્યની વિભિન્ન પર્યાયોમાં જે પરસ્પર ભિન્નતા હોય છે. તે અન્યોન્યાભાવ છે. જેમ થાંભલો, ઘડો નથી અને ઘડો થાંભલો નથી. આ પણ અવસ્તુરૂપ–શૂન્ય નથી કારણ કે જેટલાં વસ્તુપર્યાયો છે. બધાં અન્યોન્યાભાવ રૂપ છે. એવી જ રીતે એક દ્રવ્યનું બીજું દ્રવ્યરૂપ ન હોવું અત્યન્તાભાવ છે. આ પણ એકાન્ત નિરૂપાખ્ય નથી, જેમ ચેતન અચેતન નથી અને અચેતન ચેતન નથી.

બધી વસ્તુઓ દ્રવ્ય, ક્ષેત્રકાળ અને ભાવની અપેક્ષા રાખે છે. તેઓ કદી પ્રત્યક્ષ આદિ પ્રમાણોથી ઉપલબ્ધ થાય છે અને કદી ઉપલબ્ધ થઈને પણ દ્રવ્ય આદિના વિપ્રકર્ષના કારણે ઉપલબ્ધ હોવા યોગ્ય રહેતી નથી. મતિજ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમ રૂપ કારણ સમૂહના હાજર રહેવા છતાં પણ આત્મા પરમાણું દ્વયણુક આદિ તથા વૈક્રિય શરીર આદિ વિદ્યમાન રહેતા હોવા છતાં પણ ઉપલબ્ધ હોતા નથી એનું કારણ તે વસ્તુનું પરિણમન છે.

દિવસે તારા દેખાતા નથી. અનાજના ઢગલામાં નાખેલું બીજ ઉપલબ્ધ થતું નથી. કોઈ–કોઈ વસ્તુ ક્ષેત્રની આઘે હોવાના કારણે અત્યન્ત નજીકના કારણે અથવા આડ આવી જવાના કારણે પણ ઉપલબ્ધ થતી નથી.

કોઈ વસ્તુ કાળના વિપ્રકર્ષના કારણે આવિર્ભૂત રહેતી નથી. તે તિરોભાવ હોવાના કારણે ઉપલબ્ધિને યોગ્ય રહેતી નથી. કોઇ–કોઈ ભાવ સંબંધી વિપ્રકર્ષના કારણે ઉપલબ્ધિને ગોચર હોતી નથી જેમ પરકીય આત્મામાં રહેલું મતિજ્ઞાન આદિ તથા પરમાણુ આદિમાં રહેલાં રૂપ, રસ ગંધ, અને સ્પર્શ વગેરે પર્યાયોનો સમૂહ હાજર હોવા છતાં પણ ઉપલબ્ધ થતુ નથી. કોઈ એક ઉપલબ્ધિથી ભિન્ન બીજી ઉપલબ્ધિ જ અનુપલબ્ધિ કહેવાય છે, ઉપલબ્ધિનો અભાવ અનુપલબ્ધિ નથી કારણ કે પહેલા જ કહેવાઈ ગયુ છે કે અભાવ કોઇ શૂન્ય રૂપ–નિ સ્વરૂપ વસ્તુ નથી બલ્કે ભાવ જ કવચિત્ અભાવ શબ્દ દ્વારા પ્રકટ કરવામાં આવે છે. આ રીતે જેની ઉપલબ્ધિનું કારણ વિદ્યમાન હોય, તેની ઉપલબ્ધિ થાય છે જેની ઉપલબ્ધિનું સમસ્ત કારણ ન હોય અને એથી જે ઉપલબ્ધિને યોગ્ય ન હોય, તેની ઉપલબ્ધિ થતી નથી. આથી સાબિત થાય છે કે અભાવ કેવળ પ્રતિષેધ રૂપ નથી બલ્કે ભાવાન્તર રૂપ જ હોય છે

ધ્રૌવ્યનો અર્થ છે દ્રવ્યનુ હોવું. મોરના ઇડાના રસની જેમ તેમાં ભેદોનું બીજ વિદ્યમાન રહે છે, પણ તે જાતે તો ભેદવિહીન છે. દેશ–કાળ–ક્રમથી તેમાં ભેદ વ્યક્ત હોવા યોગ્ય છે. તે સ્વયં સમરસ અવસ્થામાં રહે છે, અને અભિન્ન હોવા છતાં પણ ભેદ પ્રતિભાસી હોવાના કારણે ભિન્ન જેવું પ્રતીત થાય છે. ભવનનો આશ્રય હોવાથી ભાવિ વિશેષમાં ભાવત્વ છે. અન્યથા ભાવી વિશેષ ભાવ જ ન કહેવાય કારણ કે તે ભવનથી ભિન્ન છે. ભાવિ વિશેષ તેનાથી અભિન્ન રૂપ છે આથી તેના સ્વરૂપની જેમ ભાવ જ છે એથી અભિન્ન રૂપવાળો છે. એ રીતે આ જે કંઇ પણ છે તે બધું ભવન માત્ર જ છે. ભેદ રૂપમાં પ્રતીત થવાવાળી સમસ્ત વૃત્તિઓ તેની પણ છે, ભિન્ન જાતિની નહીં.

પર્યાયાર્થિક નય અપવાદ સ્વભાવવાળું છે કારણ કે અન્ય નિષેધ અપવાદ છે. પર્યાયાર્થિક નય કોઇ વસ્તુનું પ્રતિપાદન બીજીવસ્તુઓનો નિષેધ કરીને કરે છે કારણ કે તેનું સ્વરૂપ નિષેધ કરવાનું છે.

જે ઘડો નથી તે ઘડો છે, એ રીતે પર્યાયોનું જ અસ્તિત્વ છે. પર્યાયોથી પૃથક્ દ્રવ્યની કોઇ સત્તા નથી. આ રીતે દ્રવ્યાર્થિક નય દ્વારા સમર્થિત ધ્રૌવ્યનો નિષેધ કરીને ભેદોનો જ સ્વીકાર કરવામાં આવે છે. આથી પર્યાયાર્થિક નયનું અસ્તિત્વ છે. ઉપલબ્ધિ થનારા લોખંડના સળીયાઓની જેમ ભેદ–સમૂહને છોડીને દ્રવ્યની ઉપલબ્ધિ થતી નથી પરંતુ માટી દ્રવ્ય રૂપ આદિથી ભિન્ન એક વસ્તુ છે એ રીતે એક વસ્તુને વિષય કરવાવાળી ચક્ષુજન્ય પ્રતીતિનો અપલાપ કરી શકાતો નથી.

ઘોર અન્ધકારના સમૂહથી વ્યાપ્ત કોઈ પ્રદેશમાં રહેલા માટી દ્રવ્યનું જે સ્પર્શેન્દ્રિયજનિત જ્ઞાન થાય છે. તે મૃત્તિ અદ્રવ્યને જ વિષય કરે છે તેને કઇ રીતે અસત્વ કહી શકાય ? આથી એક અભિન્ન દ્રવ્યનું અસ્તિત્વ અવશ્ય સાબીત થાય છે. અભિન્ન દ્રવ્યનું અસ્તિત્વ ન હોત તો અભેદનુ જ્ઞાન પણ ન થાત. અભેદનું આ જ્ઞાન ભ્રમાત્મક હોઇ શકતું નથી કારણ કે બુદ્ધિમાન્ મનુષ્યોને વારંવાર એવું જ્ઞાન થાય છે. આ કારણે ઉત્પાદ અને વ્યયથી ભિન્ન એક ધ્રૌવ્ય અંશ પણ છે જેના કારણે દ્રવ્ય એક અગર અભિન્ન પ્રતીતિનો વિષય હોય છે.

આ ધ્રૌવ્ય રૂપ દ્રવ્ય અને ઉત્પાદ–વ્યય રૂપ પર્યાય પરસ્પર નિરપેક્ષ થઇને સતનું લક્ષણ કહેવાય નહીં. દ્રવ્યાર્થિક નય ધ્રૌવ્યને વિષય કરે છે અને પર્યાયાર્થિક નય ઉત્પાદ અને વ્યયને

ગ્રહણ કરે છે. આ બંને પરસ્પર સાપેક્ષ હોઇને જ વસ્તુના સ્વરૂપ છે. દ્રવ્યાંશ-અથવા પર્યાયાંશ કોઇ વાસ્તવિક નથી, આ બંને અંશ તો કલ્પિત છે. વસ્તુ પોતે જ પોતાનામાં એક અખન્ડ રૂપ છે, ફક્ત નિત્ય અનિત્ય હોવાના કારણે તેમાં બે અંશોનો વ્યવહાર થાય છે. કહ્યું પણ છે.

એકલા અન્વયને અર્થાત્ અભેદનો સ્વીકાર કરવો ઉચિત નથી કારણ કે ભેદની પણ ખાત્રી થાય છે અને ફક્ત ભેદનો સ્વીકાર કરવો પણ ન્યાયસંગત નથી કરણ કે અભેદની પણ પ્રતીતિ થાય છે. આ રીતે ઘડો માટીથી ભેદ અને અભેદવાળો હોવાથી એક જુદા જ પ્રકારનો છે.

આથી એકાન્તવાદિયો દ્વારા કલ્પિત વસ્તુથી અનેકાન્તવાદિયો દ્વારા સમ્મત વસ્તુ સ્વરૂપ ભિન્ન પ્રકારનું છે, કારણ કે તેમાં નિત્યતા અને અનિત્યતા બંને મળી આવે છે જેમ નર અને સિંહથી "નરસિંહ"નું રૂપ ભિન્ન છે તેવી જ રીતે એકાન્ત નિત્યતા અને અનિત્યતાથી નિત્યા-નિત્યતા ભિન્ન છે–કહ્યું પણ છે–

'નરસિંહ એકલો નર નથી કારણ કે તેમાં સિંહનું પણ રૂપ મળી આવે છે અને તે સિંહ પણ નથી કારણ કે તેમાં નરનું પણ રૂપ મળી આવે છે. આ પ્રકારે શબ્દ જ્ઞાન અને કાર્યથી ભિન્નતા હોવાથી નૃસિંહ ભિન્ન જ જાતિ છે. ॥ ૧ ॥

આ રીતે ઘટાદિ પ્રત્યેક વસ્તુ કલ્પિત દ્રવ્યરૂપ અને પર્યાય રૂપથી વિલક્ષણ પ્રકાનું છે આ રીતે નિત્યાનિત્યતાનો સ્વીકાર કરવાથી એકાન્તવાદમાં આવનારા સમસ્ત દોષોનો કોઇ સંબંધ નથી. ભેદાભેદ સ્વભાવવાળી વસ્તુમાં પણ કદી કદિ અભેદની જે પ્રતીતિ થાય છે તેનું કારણ સંસ્કારનો આવેશ માત્ર છે એ રીતનો આવેશ ભેદ અંશનો અપલાપ કરીને અથવા સંગોપન કરીને પ્રવૃત્ત થાય છે.

કદી–કદી તે જ વિષયમાં ભેદવિષયક પ્રતીતિ ઉત્પન્ન થાય છે. એવી પ્રતીતિ ભેદવાદીની થાય છે અને તેમાં અભેદનો અપલાપ થાય છે.

પરંતુ અનેકાન્તવાદી દ્રવ્ય અને પર્યાય અગર અભેદ અને ભેદ બંનેનો સ્વીકાર કરે છે. કેવળ બધા દ્રવ્યને પ્રધાન અને પર્યાયને ગૌણ વિવક્ષિત કરીને દ્રવ્યને ગૌણતા પ્રદાન કરે છે. તે બંને અંશો પૈકી કોઇ પણ એક અંશનો નિષેધ કરતો નથી આ પ્રકારે અનેકાન્તવાદના મતે પદાર્થો અનેકધર્માત્મક છે કહ્યું પણ છે—

આ વિશ્વ સર્વ અશાત્મક છે, અર્થાત્ સંસારના બધા પદાર્થ અનેક ધર્મોથી યુક્ત છે. તોપણ કયારેક કોઈ ધર્મની વિવક્ષા કરવામાં આવે છે. વળી કહ્યુ પણ છે—

આ જંગમ અને સ્થાવર જગત્ પ્રતિક્ષણે ધ્રૌવ્ય ઉત્પાદ અને વિનાશથી યુક્ત છે અર્થાત જગત્ના પ્રત્યેક પદાર્થમાં આ ત્રણે ધર્મ એક સાથે રહે છે હે જિનેશ્વર ! વકતાઓમાં શ્રેષ્ઠ આપના આ વચન આપની સર્વજ્ઞતાના ચિહ્ન છે.

રૂપાદિથી ભિન્ન 'મૃત્તિકાદ્રવ્ય' એ રીતે એક વસ્તુ રૂપથી જે ચાક્ષુષ પ્રતીતિ થાય છે, તેનો નિષેધ કરી શકાતો નથી, એવો જે કોઈનો મત છે તે ખંડિત થઇ જાય છે, કારણ કે તે કેવળ દ્રવ્યનું જ સાધક છે. તેઓએ અનેકાન્તવાદની પ્રક્રિયાને સમજી નથી અનેકાન્તવાદમાં રૂપ વગેરે ગુણોથી સર્વથા ભિન્ન દ્રવ્ય કશું પણ નથી. ત્યા તો ભેદ અને અભેદ–બંને જ સ્વીકારાયા છે–વળી કહ્યું પણ છે—

પર્યાયોથી રહિત દ્રવ્ય અને પર્યાયોથી રહિત પર્યાય. ક્યાં, ક્યારે, ક્યા સ્વરૂપે, ક્યા પ્રમાણુથી જોયાં છે ? અર્થાત્ કદી જોઇ જ શકાતા નથી જ્યાં દ્રવ્ય છે ત્યાં પર્યાયોની સત્તા અને જ્યાં પર્યાય છે ત્યાં દ્રવ્યની સત્તા અવશ્ય હોય છે.

વિશેષોથી રહિત, સામાન્ય રૂપ ધ્રૌવ્ય અંશ એકલુ ગ્રહણુ કરી શકાતુ નથી અને ન તો સામાન્ય અંશ વગર વિશેષ અંશ જ કશે પણુ ગ્રહણુ કરી શકાય છે. આથી ધ્રૌવ્યરૂપ સામાન્ય અવશ્ય સ્વીકારવો જોઇએ અને વિશેષ અંશનો પણુ અવશ્ય અંગીકાર કરવો જોઇએ.

બધાં પદાર્થો હંમેશ સરખા હોતાં નથી. જો તે સરખાં હોત તો તેમનામાં કોઈ પણુ પ્રકારની અસમાનતા થઈ જ ન શકે, આંવી પરિસ્થિતિમાં એક વસ્તુ બીજી વસ્તુથી જુદી કેવી રીતે પ્રતીત થશે ? તેમનામાં કોઈ પણુ રૂપમાં ભેદ તો છે નહીં તો પછી ભેદ પ્રતીતિનું કારણુ શું છે ?

આથી જે વિદ્વાન ભેદનો સ્વીકાર કરે છે તેણે કોઈ, ન કોઈ રૂપમાં વિરૂપતા, ઉત્પાત અને બીજા પણુ અવશ્ય અંગિકાર કરવા જોઈએ અને બધા પદાર્થો હમેશા સામાન્ય વિશેષાત્મક જ છે એવું માનવું જોઇછે.

સામાન્ય અને વિશેષના લક્ષણુમાં ભેદ હોવા છતાં પણુ બંનેમાં સર્વથા ભેદ નથી કારણુ તેઓ વસ્તુથી અભિન્ન છે. એક વસ્તુને જો વસ્તુત્વની અપેક્ષાએ પણુ બીજી વસ્તુથી સમાન ન મનવામાં આવે તો એક વસ્તુ અવસ્તુ થઈ જાય અને તદવિનાભાવી હોવાથી બીજી વસ્તુનો પણુ અભાવ થઇ જશે.

આવા સંજોગોમાં સર્વશૂન્યતાની મુશ્કેલી આવશે અર્થાત્ કોઈપણુ વસ્તુંની સત્તા સાબીત થશે નહીં સર્વશૂન્યતા અભીષ્ઠ નથી આથી સર્વશૂન્યતાના ભયથી સામાન્ય અને વિશેષમાં કથંચિત્ વસ્તુત્વની દૃષ્ટિથી પણુ સરખામણી સ્વીકારવી જોઇએ. આથી એ સાબીત થયું કે બધાં પદાર્થ સામાન્ય વિશેષ સ્વભાવવાળા છે સામાન્ય અને વિશેષમાં પરસ્પર સ્વભાવ વિરહનો અભાવ હોવાથી, એકરૂપતા હોવાથી પણુ ધર્મભેદની સિદ્ધિ હોવાનું કારણુ સમસ્ત વ્યવહારોની સિદ્ધિ થઈ જાય છે.

આવી રીતે એ સાબિત થયું કે ઉત્પાદ. વ્યય અને ધ્રૌવ્યરૂપ સત્ દ્રવ્યનું લક્ષણુ છે.

સ્થાનાંગસૂત્રમાં સ્થાન ૧૦માં કહ્યું છે–'વસ્તુ ઉત્પન્ન પણુ થાય છે, નાશ પણુ પામે છે અને કાયમ પણુ રહે છે ॥ ૨૫ ॥

'तब्भावव्वयं निच्चं' ॥२६॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વસ્તુનું પોતાના મૂળસ્વરૂપથી નષ્ટ ન થવું નિત્યત્વ છે.

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં કહેવામાં આવ્યુ છે કે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી વસ્તુ જ સત છે. અહીં ધ્રૌવ્યનો અર્થ નિત્યત્વ છે આથી નિત્યનું લક્ષણુ કહીએ છીએ જે વસ્તુ જે સ્વભાવમાં પહેલા જોવાય છે તે જ સ્વભાવમાં તે પુનઃ પણુ જોઈ શકાય છે. "આ તે જ વસ્તુ છે" એ પ્રકારનું પ્રત્યભિજ્ઞાન થાય છે.

પહેલા દેખાએલી વસ્તુ જ્યારે પુનઃ આંખોની સામે આવે છે ત્યારે "તે આ જ છે" એ પ્રકારનું પ્રત્યક્ષ અને સ્મરણુના જોડાણુ રૂપ જે જ્ઞાન ઉત્પન્ન થાય છે, તે પ્રત્યભિજ્ઞાન કહેવાય

છે. તે પ્રત્યભિજ્ઞાન નિર્હેતુક થઇ શકાતું નથી આથી પ્રત્યભિજ્ઞાનનું જે કારણ છે તે 'સદ્ભાવ' કહેવાય છે દા ત. ઘડો, દારૂ ઉદંચન વગેરેનો મૃત્પિન્ડભાવ; કટક; વલય, કુંડળ આદિનું સુવર્ણદ્રવ્ય તદ્ભાવ અર્થાત્ મૃત્પિન્ડ અગર સુવર્ણ આદિ રૂપથી વ્યય-વિનાશ ન થવો અવ્યય અર્થાત્ નિત્ય કહેવાય છે.

ઘડા વગેરેમા તથા કુંડળ વગેરેમાં માટીનો પિન્ડો તથા સોનું વગેરે નિત્ય છે એ ચોક્કસ થાય છે. માટીના પિન્ડથી ઉત્પન્ન થનાર ઘટ પર્યાય ગૌણ છે અને મૃત્પિન્ડભાવ પ્રધાન છે આથી મૃત્તિકાપિન્ડભાવથી ઘડો વગેરે વસ્તુ નિત્ય કહેવાય છે. તેની નિત્યતા દ્રવ્યાર્થિક નયથી જ કદાચિત્ જાણવી જોઇએ. હંમેશાં નિત્યતાનો સ્વીકાર કરવાથી તો અન્યથારૂપ થવાનો-પર્યાયનો અભાવ જ થઈ જશે. આવી સ્થિતિમાં આત્માને સર્વથા નિત્ય માની લેવાથી નર, નારકી, આદિ રૂપથી સંસાર અને તેની નિવૃત્તિરૂપ મોક્ષ પણ ઘટિત થઇ શકશે નહીં પછી તો સંસારના સ્વરૂપનું કથન અને મોક્ષના સ્વરૂપનું કથન પણ વિરુદ્ધ થઇ જશે. આથી વસ્તુને કથંચિત્ નિત્ય જ માનવી જોઈએ. ॥ ૨૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં, સત્ ઉત્પાદ્ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે એ બતાવ્યું તેમાંથી આકાશ આદિ સત્ વસ્તુ નિત્ય છે અને ઘટ આદિ સત્ અનિત્ય છે આ રીતે સત્ પદાર્થોમાં નિત્યતા અને અનિત્યતા-બંને જોવાથી ઉત્પન્ન થનાર સંદેહનું નિવારણ કરવા માટે કહીએ છીએ-અથવા આ જ બીજા અધ્યાયના ત્રીજા સૂત્ર **"णिच्चा वट्ठिया रूवाइं"** માં 'નિત્ય' કહેલ છે, ત્યાં સર્વ સત્ નિત્ય નથી કારણ કે સ્વરૂપનું ગ્રહણ કરેલ છે. આવી સ્થિતિમાં રૂપી વસ્તુની અનિત્યતા પ્રતીત થવા લાગે છે આથી સમસ્ત સત્ પદાર્થ ન નિત્ય અથવા ન અનિત્ય કહી શકાય છે આથી ધ્રૌવ્ય રૂપ અંશની અપેક્ષાથી રૂપી વસ્તુ પણ કથંચિત્ નિત્ય છે એ આશયને પ્રકટ કરવા માટે કહે છે—

'तब्भाववयं निच्चं' આ સૂત્રમાં તત્ શબ્દથી-સતનું ગ્રહણ કરવું જોઈએ. સત્ વસ્તુનો ભાવ 'તદ્ભાવ' કહેવાય છે. તે સત્ વસ્તુ માટી જ શરાવ. ઉદંચન કપાલ-ઘડા વગેરે રૂપમાં અને સુવર્ણ જ કટક વલય કુંડળ આદિ રૂપમાં તથા જીવ જ દેવ વગેરેના રૂપમાં હોય છે. એવું કદી થતું નથી કે પોતાના મૂળ સ્વભાવ મૃત્તિકા-પિન્ડત્વ સુવર્ણત્વ અને જીવત્વનો ત્યાગ કરીને તે બીજા રૂપમાં પરિણત થઈ જાય કારણ કે ઘટ કુન્ડલ અને દેવ વગેરેમાં મૃત્પિન્ડ સુવર્ણ અને જીવ તત્વનો-અન્વય જોવાય છે આથી ઘટ આદિ સદ્ વસ્તુ પોતાના મૌલિક સ્વભાવથી વિનષ્ટ થતી નથી. આ જ તેની નિત્યતા છે.

જો એવું ન માનીએ તો સત્ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુકત હોય છે, આ સતનું લક્ષણ અવ્યાપક થઇ જાય. કારણ કે ઘટ આદિમાં ઉત્પાદ અને વ્યય રૂપ પર્યાય જ માનવાથી ધ્રૌવ્ય અંશનું ગ્રહણ થશે નહીં. આ કારણે રૂપાદિમાન ઘટ આદિ સત્ વસ્તુ પણ માટી વગેરેનો અન્વય હોવાથી ધ્રૌવ્ય અંશવાળી છે અને ઉત્પાદ્ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય લક્ષણથી યુકત છે. આથી ધ્રૌવ્ય અંશની અપેક્ષાથી કથંચિત્ નિત્ય કહેવાય છે. આ સૂત્રમાં ગૃહીત નિત્ય શબ્દથી પૂર્વસૂત્રમાં કથિત ધ્રૌવ્ય અંશ સમજવાં જોઈએ. દ્રવ્યનો તે અન્વયી અંશ કદાપી અને કયાંય પણ નષ્ટ થતો નથી.

કોઇ પણ વસ્તુ સત્ રૂપથી ઉત્પન્ન થતી નથી તેમજ નાશ પણ થતી નથી આથી સૂત્રમાં ભાવ શબ્દના ગ્રહણથી પરિણામી નિત્યતા જ સમજવી જોઇએ, કૂટસ્થનિત્યતા નહીં. જો કૂટસ્થ નિત્યતા જ ગ્રહણ કરવાની હોત તો **"तदव्ययं नित्यम्"** એવું સૂત્ર હોત.

જે વસ્તુમાં કોઈ પણ રૂપમાં વિકાર થતો નથી તે નિત્યત્વરૂપ જ હોય છે એવી જ રીતે બધી અન્વયી મૃત્પિન્ડ તથા સુવર્ણ આદિનું ઉપલક્ષણ જાણવું જોઈએ. સત્ત્વ છએ દ્રવ્યોમાં વ્યાપક સત્ત્વ જ છે. જીવ સત્ છે તે પોતાના ચૈતન્ય અમૂર્ત્તત્વ અસંખ્યાતપ્રદેશત્વ સ્વભાવનો પરિત્યાગ કરતો નથી. પોતાના આ ગુણધર્મોથી તેનો કોઇ કાળે નાશ થયો નથી, નાશ પામતો નથી અને નાશ પામશે નહીં. આથી જ જીવ અવિનાશી, નિત્ય અને અવ્યય કહેવાય છે. પરંતુ એમ સમજવાની ભૂલ ન કરવી કે જીવ દેવ નારક આદિ પર્યાયની દૃષ્ટિથી પણ નિત્ય છે એવી જ રીતે પુદ્ગલ દ્રવ્ય સત્વ મૂર્ત્તત્વ, અચેતનત્વ ધર્મોનો પરિત્યાગ કરતું નથી અથી તેમાં નિત્યતા છે. ઘટ આદિ પર્યાયોની અપેક્ષાથી નિત્યતા નથી.

ધર્મદ્રવ્ય સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ અસખ્યેય પ્રદેશત્ત્વ લોકવ્યાપિત્ત્વ વગેરે ધર્મોનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો હમેશાં સ્થિર રહે છે, પર્યાયની દૃષ્ટિથી નહીં, અર્થાત્ પરમાણુ અગર યજ્ઞદત્તની ગતિમાં નિમિત્ત હોવા રૂપ પર્યાયની અપેક્ષાથી તેમા નિત્યતા નથી. ગમનકર્તાના ભેદથી ગતિ ઉપકારિત્વ પણ ભિન્ન થતું રહે છે, અર્થાત્ તેના પૂર્વાપર પર્યાયોમાં પરિવર્તન થતું રહે છે. એવી જ રીતે અધર્મ દ્રવ્ય પણ સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ આદિ ધર્મોનો કદી પરિત્યાગ ન કરવાના કારણે નિત્ય છે. પરંતુ વિભિન્ન પદાર્થોની સ્થિતિમાં નિમિત્ત બનવા રૂપ પર્યાયોની અપેક્ષાથી અનિત્ય છે.

આકાશ સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ અનન્તપ્રદેશિત્વ અવગાહના આદિ ગુણોને કારણે નિત્ય છે પરંતુ અવગાહક વસ્તુઓના ભેદના કારણે તેના અવગાહમાન પરિણામમાં પણ ભેદ થતો રહે છે. એ દૃષ્ટિએ તે અનિત્ય છે અલોકાકાશમાં જીવપુદ્ગલ વગેરે અવગાહક નથી તો પણ ત્યાં અગુરુ-લઘુ વગેરે પર્યાય ભિન્નાભિન્ન હોય છે. જો એવું ન માનીએ તો અલોકાકાશમાં સ્વત ઉત્પાદ તથા વ્યય થશે નહીં તેમજ ન પરાપેક્ષ થશે. આવી સ્થિતિમાં ત્યાં ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય ન હોવાથી સત્નું લક્ષ્ય પણ ઘટિત થશે નહીં આથી જે પદાર્થ સત્ ભાવથી નષ્ટ થયો નથી, થતો નથી અને થશે નહીં તે જ નિત્ય કહેવાય છે,

અથવા—ક્ષણ-ક્ષણમાં વિવિધ પ્રકારના પરિણમન થતા રહેવા છતાં પણ વસ્તુનું પોતાના મૂળ અસ્તિત્વથી અર્થાત્ ધ્રૌવ્ય રૂપ અંશથી ન ખસવું નિત્યત્વ કહેવાય છે

શંકા—ઉત્પત્તિ અને વિનાશ પર્યાય દ્રવ્યથી અભિન્ન છે આથી પર્યાયનો વિનાશ થવાથી દ્રવ્યનો પણ વિનાશ થઈ જવો જોઈએ

સમાધાન—જો ઘટ પર્યાયનો વિનાશ થવા પર માટીનો પણ વિનાશ જોઈ શકાત અને માટીનો વિનાશ થવા પર પુદ્ગલ દ્રવ્યનો પણ નાશ થઈ જાત તો આ પ્રમાણે કહી શકાત પરંતુ એવું તો દેખાતું નથી અન્વયી માટીનો અથવા પુદ્ગલજાતિનો કોઈ પણ અવસ્થામાં અભાવ જોઈ શકાતો નથી કારણ કે તેનું તો હતું તે જ નામ કાયમ રહે છે, તેનું જ્ઞાન પણ થતું રહે છે અને મૃત્તિકાસાધ્ય વ્યવહાર પણ થતો રહે છે જો ઘડાનો અભાવ થયા પછી કશું પણ ઉપલબ્ધ ન થાત તો બુદ્ધિમાન પુરુષ વિશ્વાસ કરી લેત કે પર્યાયનો અભાવ થવાથી

દ્રવ્યનો પણ અભાવ થઈ જાય છે પરંતુ પર્યાયની નિવૃત્તિ થઈ જવા છતાં પણ માટીનો સદ્ભાવ કાયમ રહે છે આથો દ્રવ્યનો વિનાશ હોવાનું સ્વીકારી શકાય નહીં. જ્યાં પ્રત્યક્ષથી વિરોધ આવતો હોય ત્યાં દલીલ માટે કોઈ અવકાશ રહેતો નથી. આ રીતે યુક્તિ (દલીલ) અને આગમ પ્રમાણથી **'तद्भावव्ययं नित्यम्'** એ સાબીત થયું.'

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ—(ભગવતી) સૂત્રના શતક ૧૪, ઉદ્દેશક ૪માં કહ્યું છે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! પરમાણુ પુદ્ગલ શાશ્વત છે કે અશાશ્વત ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્યની અપેક્ષાથી કવચિત્ શાશ્વત છે. અને વર્ણ પર્યાય અને સ્પર્શ પર્યાયથી કવચિત્ અશાશ્વત છે. આ પ્રકારે જીવાભિગમ ના. ૩. ત્રીજી પ્ર. ઉ. ૧. સૂત્ર ૭૭માં પણ કહ્યું છે-

પ્રશ્ન—ભગવંત ? પરમાણું પુદ્ગલ શું શાશ્વત છે અથવા અશાશ્વત છે—

ઉત્તર—ગૌતમ-દ્રવ્યની અપેક્ષાથી શાશ્વત છે-અથવા નિત્ય છે અને વર્ણ પર્યાય રસ પર્યાય, ગંધ પર્યાય, અને સ્પર્શ પર્યાયની અપેક્ષાથી અશાશ્વત અનિત્ય છે ભગવતી સૂત્ર શ. ૭ ઉ૦ ૨ માં પણ કહ્યું છે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! જીવ શાશ્વત છે અથવા અશાશ્વત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ-કવચિત-શાશ્વત્ છે કવચિત્ અશાશ્વત છે-

પ્રશ્ન—ભગવંત ! કયા હેતુથી એવું કહેવામાં આવ્યું છે કે જીવ કવચિત્ શાશ્વત અને કવચિત્ અશાશ્વત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્યની દૃષ્ટિથી શાશ્વત છે અને ભાવ અર્થાત્ પર્યાયની દૃષ્ટિથી અશાશ્વત છે. હે ગૌતમ ! આ હેતુથી એમ કહેવામાં આવ્યું છે કે જીવ કવચિત્ શાશ્વત કવચિત્ અશાશ્વત છે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! નૈરયિકજીવ શું શાશ્વત છે ? કે અશાશ્વત ?

ઉત્તર—જેવું જીવોના વિષયમાં કહેવામાં આવ્યું છે તે રીતે નૈરયિકોના વિષયમાં સમજવું એવી જ રીતે વૈમાનિકો તથા ચોવીસે દંડકોના જીવોના સંબંધમાં સમજી લેવું જોઇએ કે બધા કથંચિત્ નિત્ય અને કથંચિત્ અનિત્ય છે. ॥ ૨૬ ॥

'अप्पियणप्पियएहिं अणेगंतं' ॥२७॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—પ્રધાનતા અને અપ્રધાનતાની વિવક્ષા કરવાથી અનેકાન્તની સિદ્ધિ થાય છે. ॥ ૨૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં એ પ્રતિપાદન કર્યું કે ઘટ વગેરે પ્રત્યેકવસ્તુ પર્યાયાર્થિક નયથી ઉત્પાદ અને વ્યયથી યુક્ત હોવાના કારણે અનિત્ય હોવા છતાં પણ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષા મૃતિકા દ્રવ્યનો અન્વય હોવાના કારણે નિત્ય પણ છે પરંતુ આ કથન પરસ્પર વિરુદ્ધ જેવું પ્રતીત થાય છે જે વસ્તુ અનિત્ય છે તે જ નિત્ય કેવી રીતે હોઇ શકે ભલા ? જો નિત્ય છે તો વિનાશ અને ઉત્પાદનું હોવું અસંભવ છે અને જો અનિત્ય છે તો કાયમ ન રહેવાના કારણે નિત્યતામા વિરોધ આવે છે આ આ શંકાનું સમાધાન કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-

કોઈ ધર્મની મુખ્ય રૂપથી વિવક્ષા કરવાથી અને કોઇ ધર્મની અપ્રધાન રૂપથી વિવક્ષા કરવાથી અનેકાન્તની સિદ્ધિ થાય છે.

પ્રત્યેક વસ્તુ અનેક ધર્મોનો અખન્ડ પિન્ડ છે. તેમાંથી પોતાની વિવક્ષા અનુસાર જે કોઈ ધર્મને વિવક્ષિત કરે છે તે ધર્મ અર્પિત કહેવાય છે અને બાકીનો ધર્મ વિદ્યમાન હોવા છતાં પ્રયોજન ન હોવાને કારણે કહેવામાં ન આવે ત્યારે તે અનર્પિત કહેવાય છે. આ રીતે અર્પિત અને અનર્પિતથી અર્થાત્ ધર્મોને મુખ્ય અને ગૌણ કરવાથી વસ્તુ અનેક ધર્માત્મક સિદ્ધ થાય છે. આ કારણથી જ તે નિત્ય પણ છે અને અનિત્ય પણ છે. આથી પૂર્વોકત વિરોધનું ખંડન થઇ જાય છે.

તે આ રીતે છે—કોઈ પુરુષ બાપ કહેવાય છે. તે પોતાના પુત્રની અપેક્ષાથી 'બાપ' છે પરંતુ તે બાપનો પણ કોઈ બાપ હોય છે તેની અપેક્ષાથી તે બાપ પુત્ર પણ કહેવાય છે. આની સાથે જ પિતા અને પુત્ર કહેવરાવવાળો પુરુષ પોતાના ભાઇની અપેક્ષાથી ભાઈ પણ કહેવાય છે. એ જ રીતે પોતાના દાદાથી અપેક્ષાથી પૌત્ર મામાની અપેક્ષાથી ભાણીયો અને દાદીમાની અપેક્ષાથી દોહિત્ર કહેવાય છે-આમ એક જ પુરુષમાં જનક અને જન્મ વગેરેનો આ વ્યવહાર પરસ્પર વિરૂદ્ધ જેવો ભાસે છે તો પણ હકીકતમાં તે વિરૂદ્ધ નથી...

આવી જ રીતે એક જ ઘડો અગર પાટલો વગેરે માટી વગેરે સામાન્યની વિવક્ષા કરવાથી નિત્ય કહેવાય છે, પણ ઘડો વગેરે પર્યાયોની વિવક્ષા કરવાથી પર્યાયાર્થિક—નયની અપેક્ષાથી અનિત્ય પણ કહેવાય છે. આત્મા નિત્ય હોવા છતાં પણ પર્યાયનયથી અનિત્ય પ્રતીત થાય છે. આ કારણથી જ તેમાં 'મૃત' જેવો વ્યવહાર થાય છે.

તે સામાન્ય અને વિશેષ જે ક્રમશઃ દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયના વિષય છે, કથંચિત્ અભેદ અને ભેદ દ્વારા વ્યવહારના હેતુ હોય છે. કહ્યું પણ છે—

પરિણમનનો અર્થ છે અર્થાન્તર થવો અર્થાત્ એક પર્યાયનો નાશ થઈ બીજા પર્યાયનું ઉત્પન્ન થવું. પરિણમનના સ્વરૂપના જ્ઞાતા વિદ્વાન વસ્તુનું હમેશાં જેમનું તેમ ટકી રહેવું અથવા સર્વથા વિનષ્ટ થઈ જવાને પરિણામ માનતા નથી.

આ રીતે અર્પિત અને અનર્પિતની સિદ્ધિ થવાથી એક જ પદાર્થમા નિત્યતા વગેરે ઘણા ધર્મો જે પરસ્પર વિરુદ્ધ જેવા પ્રતીત થાય છે. પરંતુ હકીકતમાં વિવક્ષાભેદના કારણે વિરુદ્ધ નથી, પ્રતિભાસિત થાય છે ॥ ૨૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા બતાવ્યું કે સમસ્ત વસ્તુઓ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી છે આ સંબંધમાં પ્રશ્ન એ ઉપસ્થિત થાય છે કે જે વસ્તુ ઉત્પાદ અને વિનાશવાળી છે તે ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી અર્થાત્ નિત્ય કેવી રીતે હોઈ શકે ? અગર વસ્તુ સત્ છે તો અસત્ થઇ શકતી નથી અને જો નિત્ય છે તો અનિત્ય થઈ શકતી નથી. આથી વસ્તુનું પૂર્વોક્ત સ્વરૂપ સિદ્ધ કરી શકાતું નથી અને આ કારણે તે સંગત નથી—

ઉત્પાદ અને વ્યયનો નિત્યતા સાથે વિરોધ છે અને નિત્યતાનો ઉત્પાદ અને વ્યય સાથે વિરોધ છે. જેમ પાણી અને અગ્નિ અથવા છાંયડો અને તડકો પરસ્પરમાં અત્યન્ત વિરુદ્ધ છે તે જ રીતે ધ્રૌવ્યની સાથે ઉત્પાદ—વ્યયનો વિરોધ છે. તેઓ એક જગ્યામાં રહી શકતા નથી.

આ સંજોગોમાં વસ્તુનું લક્ષણ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય કહેવું વિદ્વત્ જનો માટે મનોરંજક હોઈ શકતું નથી આ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે દ્રવ્યાર્થિક તથા પર્યાયાર્થિક નય અનુસાર કોઈ ધર્મને પ્રધાન અને કોઈને અપ્રધાન વિવક્ષિત કરીને એક જ વસ્તુમાં સત્તા, અસત્તા, નિત્યતા અને અનિત્યતાનો સદ્ભાવ બતાવીને ઉકત વિરોધનું ખંડન કરીએ છીએ.

પ્રધાન અને અપ્રધાન રૂપથી વિવક્ષા કરવાથી અર્થાત્ કોઇ ધર્મને પ્રધાન રૂપમાં અને કોઈને ગૌણુ રૂપમાં વિવક્ષિત કરવાથી એક જ વસ્તુ અનેકાન્તાત્મક–થોડી નિત્ય અને થોડી અનિત્ય થઈ જાય છે તે આ રીતે–ઘટાદિ વસ્તુઓમાં દ્રવ્યાર્થિકનયની પ્રધાનતાથી વિવક્ષા કરીને, મૃત્તિકા દ્રવ્યનો અન્વય જોવાથી ધ્રૌવ્ય રૂપ સ્થિતિ–અંશને અર્પિત–ગ્રહણ કરવાથી તેનાથી સાક્ષાત્ વિરૂદ્ધ અનર્પિત ઉત્પાદ અને વ્યયનું પણ ગ્રહણ થઇ જાય છે.

ધ્રૌવ્ય દ્રવ્ય ઉત્પાદ રૂપ, વ્યય રૂપ પૂર્વોત્તર પર્યાયને ધારણ કરે છે, ઉત્પાદ પર્યાય અગર વ્યયપર્યાય પૂર્વોત્તર પર્યાયોમાં અનુગમન કરતાં નથી આથી ઉત્પાદ અને વ્યય વિભિન્ન અને વિલક્ષણ છે એ સ્વાભાવિક રીતે જ જ્ઞાત થઇ જાય છે આ રીતે અર્પણ અને અનર્પણ દ્વારા ઉત્પાદ, વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સ્વરૂપ વસ્તુ નિત્ય અને અનિત્ય સિદ્ધ થાય છે.

પ્રયોજન અનુસાર કદાચિત્ કોઈ ધર્મ વચનથી અર્પિત વિવક્ષિત કરવામાં આવે છે અને બીજો ધર્મ અધિકાર હોવા છતાં પણ પ્રયોજન ન હોવાથી અનર્પિત–અવિવક્ષિત હોય છે. પરંતુ આટલાથી એમ ન સમજવું જોઈએ કે તે વસ્તુમાં વિવક્ષિત ધર્મ જ છે તેમાં અવિવક્ષિત ધર્મ પણ રહે જ છે. આથી જ્યારે નિત્યતાને પ્રધાનતા આપવામાં આવે છે ત્યારે પણ વસ્તુમાં પર્યાયની અપેક્ષાથી અનિત્યતા રહે છે અને પ્રયોજનવશાત્ જ્યારે પર્યાયની મુખ્યતાથી અનિત્યતાનું વિધાન કરવામાં આવે છે ત્યારે વસ્તુમાં નિત્યતા પણ વિદ્યમાન રહે છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના ૧૦માં સ્થાનમાં કહ્યું છે અર્પિત અને અનર્પિત. ॥સૂ. ૨૭॥

'वेमायणिद्ध लुक्खत्तणेण संघाणं बंधो' । ॥सू० २८॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વિસદશ પરિમાણુમા સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા હોવાથી સ્કંધોનો બન્ધ થાય છે.

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા કહેવાયું કે ભેદ અને સંઘાત રૂપ પૃથક્ત્વથી પરમાણું પુદ્ગલોનો સ્કંધ રૂપમાં ઉત્પાદ થાય છે. તો શું બે પરમાણુઓનો સંયોગ થવાથી જ દ્વયણુક આદિ સ્કંધ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અથવા અન્ય કોઈ વિશેષતાથી ઉત્પન્ન થાય છે ? એવી શંકા થવા પર એકત્વ પરિણામ રૂપ બન્ધથી સ્કંધની નિષ્પત્તિ થાય છે એવું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે આમાં પણ આ શંકા ઉત્પન્ન થાય છે કે પુદ્ગલ જાતિની સમાનતા હોવા છતાં પણ કોઈ પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે અને કોઈનો કેમ બન્ધ થતો નથી ? આ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

વિસદશ અંશવાળા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ પુદ્ગલોનો બંધ થાય છે આથી એ સાબીત થયું કે જો કે સમસ્ત પુદ્ગલોમાં પુદ્ગલપણું સરખું છે તો પણ અનન્ત પર્યાયવાળા કોઇ પુદ્ગલોનો વિલક્ષણ પરિણામથી પ્રાપ્ત સ્નિગ્ધત્વ અને રૂક્ષત્વનાં સામર્થ્યથી બન્ધ થાય છે. જે પુદ્ગલોમાં પૂર્વોકત પ્રકારનું પરિણમન થતું નથી, તેનો બન્ધ થતો નથી.

જે પુદ્ગલમાં બાહ્ય અને આભ્યંતર કારણોનો સંજોગ મળવાથી સ્નેહ પર્યાય પ્રકટ થઈ જાય છે, તે સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ કહેવાય છે. તે ચિકણો હોય છે તેનાથી વિપરીત પરિણામને રૂક્ષત્વ

કહે છે. વિમાત્રનો અર્થ છે-અસમાન અંશોવાળા આ રીતે અસમાન અંશવાળા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ બે પરમાણુઓનો પરસ્પર સંશ્લેષ રૂપ એકત્વ પરિણામાત્મક બન્ધ હોવા પર દ્વયણુક સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે.

આ જ રીતે ક્રમથી ત્ર્યણુક સ્કંધ પણ, દ્વયણુક અને પરમાણુનો કે જે વિસદૃશ માત્રામાં સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ હોય, પરસ્પરમાં સંશ્લેષ થવાથી ઉત્પન્ન થાય છે

સ્નેહ કોઇ પુદ્ગલમાં એક ગુણ (અંશ)વાળો કોઈમાં બે વાળો કોઇમાં ત્રણ, કોઈમાં ચાર, કોઈમાં સંખ્યાત અસંખ્યાત અનન્ત અંશવાળો સમજવો જોઈએ. આવી જ રીતે કોઈ પુદ્ગલમાં રૂક્ષતાનો કોઈમાં બે ગુણ એવી રીતે કોઇમાં અનન્ત ગુણ હોય છે. જેમ પાણી, બકરીનું દૂધ, ગાયનું દૂધ, ભેંશનું દૂધ, ઊંટડીનું દૂધ અને ઘેટીના દૂધમાં તથા ઘીમાં સ્નિગ્ધતા ગુણનું ઓછા વત્તાપણુ રહે છે અને પાંશુ ધૂળ, રજકણ તથા રેતી વગેરેમાં રૂક્ષતા ગુણ ઓછા વધતા રૂપમાં દેખાય છે એવી જ રીતે પરમાણુઓમાં પણ સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ગુણના પ્રકર્ષ અને અપ્રકર્ષનું અનુમાન કરવામાં આવે છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૧૩માં પદના ૧૮૫માં સૂત્રમાં કહ્યું છે- પ્રશ્ન- ભગવંત્ ! બન્ધન પરિણામ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ? ઉત્તર-ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યાં છે જેમ કે સ્નિગ્ધબન્ધન પરિણામ અને રૂક્ષબન્ધન પરિણામ.

સમાન સ્નિગ્ધતાથી અને સમાન રૂક્ષતાથી બન્ધન થતું નથી; પરંતુ સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા જ્યારે વિસદૃશ પરિમાણમાં થાય છે ત્યારે જ સ્કંધોનો બન્ધ થાય છે.

સ્નિગ્ધ પુદ્ગલના બે અંશ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે અને રૂક્ષના બે અંશ અધિક રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે સ્નિગ્ધનો રૂક્ષ સાથે બન્ધ થાય છે, પરંતુ જઘન્ય ગુણવાળા પુદ્ગલનો કોઈની સાથે પણ બન્ધ થતો નથી. ॥૨૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા કહેવાઈ ગયું છે કે એકત્વ રૂપ સંઘાતથી દ્વયણુક આદિ સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ થાય છે, પણ તે સંઘાત સંયોગસામાન્યથી થાય છે અથવા વિશેષ પ્રકારના સંયોગથી થાય છે ? આ પ્રશ્નનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ-સંયોગ થયાથી બદ્ધનો સંઘાત થાય છે અને સંઘાત થવા પર બદ્ધનું સ્કન્ધ રૂપ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે.

એકત્વપરિણામ રૂપ બન્ધ બે પરમાણુઓનો અથવા ઘણાં પરમાણુઓનો કઈ રીતે થાય છે ? શુ એક પરમાણુમાં બીજા પરમાણુનો પ્રવેશ હોવાથી થાય છે અથવા સંપૂર્ણ રીતે પ્રવેશ ન થવા પર પણ બન્ધ થઈ જાય છે ? પરમાણુઓમાં પોલાપણું તો હોતું નથી એથી તેઓ એક બીજામાં પેસી શકતાં નથી પરંતુ પરમાણુઓના પરિણમન વિશેષથી જ સર્વથા સર્વાત્મતા બન્ધ થઇ જાય છે,

આથી એવું સાબિત થયું કે લોખંડના ગોળામાં અગ્નિ જેમ સમાઈ જાય છે તેવી રીતે એક પરમાણુ બીજા પરમાણુમાં સમાતો નથી તો પણ ગુણની વિશેષતાના કારણે સર્વાત્મતા પૂર્ણ રૂપથી એકત્વપરિણામ રૂપ બન્ધ થઈ જાય છે પરન્તુ ગુણની વિશેષતાના કારણે બન્ધ કઈ રીતે થઈ જાય છે ? એ જાતની આશંકા થાય માટે કહીએ છીએ—

અસમાન અંશોમાં સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા હોવાથી બંધ થાય છે. સ્નેહનો અર્થ છે ચિકાસપણું જ્યારે રૂક્ષતાનો અર્થ છે લૂખાપણું. આ બંને, પુદ્ગલોના સ્પર્શનામના ગુણની

અવસ્થાઓ છે. પરમાણુઓમાંથી એક સ્નિગ્ધ અને બીજું રૂક્ષ હોય છે અને તે સ્નિગ્ધતા તથા રૂક્ષતા જ્યારે વિસદ્દશ માત્રામાં થાય છે ત્યારે તેમનો પરસ્પર બંધ થઇ જાય છે.

આ રીતે વિભિન્ન માત્રા (અંશ) વાળા પરસ્પરમાં સંયુકત સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલોના એકત્વ પરિણમન રૂપ બન્ધનથી દ્વયણુક આદિ સ્કંધ ઉત્પન્ન થઇ જાય છે. આ રીતે એક જગ્યાએથી વિજોગ પામે છે અને બીજી જગ્યાને પૂરે છે. બીજામાં મીલન થાય છે, આ રીતે પૂરણ અને ગલનનું કારણ તે પુદ્ગલ કહેવાય છે. પૂરક થઈને તે સ્કંધોને ઉત્પન્ન કરે છે અને ગલન કરીને સ્કંધમાં ભેદ ઉત્પન્ન કરે છે. જેટલાં પણ બન્ધન છે. બધા સંયોગ-પૂર્વક જ થાય છે. સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતાની વિશેષતાના કારણે પરમાણુનો બીજા પરમાણુ સાથે સંશ્લેષરૂપ બંધ થાય છે.

બધા પરમાણુઓમાં સ્નિગ્ધતા એક સરખી હોતી નથી. કોઇમાં એક ગુણ (ડિગ્રી) સ્નિગ્ધતા હોય છે, કોઈમાં અસંખ્યાત ગુણ અને કોઈમાં અનન્તા ગુણ પણ સ્નિગ્ધતા હોય છે.

પાણીમાં થોડી સ્નિગ્ધતા છે તેની અપેક્ષા બકરીના દૂધમાં વધારે છે અને પછી ગાય ભેંસ ઊંટડી તથા ઘેટીના દૂધમાં ક્રમશઃ વધુ-વધુ સ્નિગ્ધતા (ચિકાસપણું) જોવામાં આવે છે. ઘીમાં તેથી પણ વિશેષ હોય છે. એવી જ રીતે રૂક્ષતા પણ ઓછા વધુ માત્રામાં વિદ્યમાન રહે છે. કોઇ પુદ્ગલહીન રૂક્ષતાવાળો કોઇ મધ્યમ રૂક્ષતાવાળો કોઈ ઉત્કૃષ્ટ રૂક્ષતાવાળો હોય છે.

કોઈમાં સંખ્યાત, કોઈમાં અસંખ્યાત અને કોઇમાં અનન્ત ગુણ રુક્ષતા હોય છે. આ રીતે સ્નિગ્ધતા (ચિકણાપણું) અને રુક્ષતા (લૂખાપણું)ના કારણે પરમાણુઓમાં સંશ્લેષ થાય છે અને તેઓ એકમેકની સાથે બંધાઈ જાય છે બદ્ધ થવા પર સ્કંધની ઉત્પત્તિ થાય છે પુદ્ગલદ્રવ્યોનો આ રીતે બન્ધ થવો પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે.

સ્થૂળ જે ઘટ પટ આદિ પુદ્ગલ સ્કંધ છે અને જે પ્રત્યક્ષથી પ્રતીત થાય છે તે જ પરમાણુઓના બન્ધના અનુમાપક છે અર્થાત્ તેમને જોવાથી પરમાણુઓના બન્ધનું અનુમાન કરી શકાય છે કારણ કે પરમાણુઓનો સંઘાત થવા વગર મહાન્ આકાર ઉત્પન્ન થઇ શકતો નથી. આ રીતે પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ ઘટ આદિ પિન્ડોથી પરમાણુઓના સંજોગ બન્ધનું અનુમાન થાય છે આથી એવું સમજવું જોઈએ કે સ્નેહ ગુણવાળા અને રુક્ષ ગુણવાળા-પરમાણુઓનો બન્ધ થાય છે.

પરંતુ એવો નિયમ નથી કે બધા સ્નિગ્ધતા ગુણવાળા પુદ્ગલોનો બધા રુક્ષ પુદ્ગલોની સાથે બન્ધ થઈ જ જાય છે. જો કોઈ પુદ્ગલમાં એક ગુણ સ્નિગ્ધતા છે તો એક ગુણ રુક્ષતા-વાળા પુદ્ગલની સાથે તેનો બન્ધ થતો નથી કારણ કે બંને જ પુદ્ગલ જઘન્ય ગુણવાળા છે આથી તેમનામાં ગુણની વિસદ્દશતા અર્થાત્ વિષમ પરિમાણ નથી. સ્વસ્થાનની અપેક્ષાથી સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ રુક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી એક ગુણ સ્નિગ્ધ અને એક ગુણ રુક્ષ પુદ્ગલોનો સંયોગ થવા છતાં પણ તથા તેમાં સ્નિગ્ધતા તથા રુક્ષતા હોવા છતાં પણ પરસ્પર બન્ધ થતો નથી

આ પુદ્ગલોનો બન્ધ ન થવાનુ કારણ તો તેમાં તે રૂપમાં પરિણત થવાની શક્તિનો અભાવ જ પ્રતીત થાય છે. પુદ્ગલોમાં પરિણમન કરવાની શકિતઓ ક્ષેત્ર અને કાળ અનુસાર

વિચિત્ર પ્રકારની હોય છે તેમાંથી કોઈ સ્વાભાવિક અને કોઇ-કોઈ પ્રયત્નસાપેક્ષ થયા કરે છે. જઘન્ય અર્થાત્ એક ડીગ્રી (અંશ)નો સ્નેહ ગુણ અલ્પમાત્રામાં હોવાને લીધે જઘન્ય ગુણવાળા રુક્ષ પુદ્ગલને પરિણત કરવામાં સમર્થ હોતો નથી એવી જ રીતે જઘન્ય રુક્ષ ગુણવાળો પણ અલ્પ હોવાના કારણે જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ પુદ્ગલોનો પોતાના રૂપમાં પરિણત કરી શકતો નથી.

જઘન્યનો અર્થ છે—એક ગુણ સ્નિગ્ધ અગર એક ગુણ રુક્ષ. સ્નિગ્ધતા રુક્ષતા વગેરે ગુણોનું પરિમાણ ઓછું વધતું હોય જ છે, જેમ પાણીની અપેક્ષા બકરીનું દૂધ વધારે સ્નિગ્ધ હોય છે, બકરીના દૂધથી ગાયનું દૂધ વધારે સ્નિગ્ધ હોય છે એવી જ રીતે ગાયના દૂધથી ભેંસનું, ભેંસના દૂધથી ઊંટડીનું અને ઊંટડીના દૂધની અપેક્ષા ઘેટીનું દૂધ અધિક સ્નિગ્ધ હોય છે. એમાં ઉત્તરોત્તર સ્નિગ્ધતા અધિક છે અને પૂર્વ પૂર્વમાં રુક્ષતાનો અંશ અધિક છે. એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો જેમ એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી તેવી જ રીતે બે સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે પણ બન્ધ થતો નથી.

એવી જ રીતે એક ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલનો એક ગુણ રુક્ષતાવાળા તથા સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલોની સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ અને જઘન્ય ગુણવાળા રુક્ષ પુદ્ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થતો નથી.

બે ગુણ સ્નિગ્ધતાવાળા પુદ્ગલનો એક ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી અને તે જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધતાવાળાનો બે ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી કારણ કે એક ગુણ જઘન્ય ગુણ હોય છે. જેમ જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ અને રુક્ષ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી તેવી જ રીતે ગુણોની સમાનતા હોવાથી સદૃશ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી.

તે આ રીતે છે—તુલ્યગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો તુલ્યગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી. એ જ રીતે તુલ્યગુણ રુક્ષપુદ્ગલનો તુલ્યગુણ રુક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી. સરખાં બળ અને ગુણવાળા બે મલ્લોની કુસ્તીની જેમ તેમા પરિણત કરવાની શક્તિ હોતી નથી, પરંતુ પંચગુણ સ્નિગ્ધનો પંચગુણરુક્ષ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થાય છે. સ્નિગ્ધતા ગુણની વિષમતા અગર રુક્ષતા ગુણની વિષમતા થવાથી સદૃશ પુદ્ગલોનો પણ બન્ધ થાય છે.

આ પ્રકારે દ્વિગુણ સ્નિગ્ધનો ચતુર્ગુણ સાથે ત્રિગુણ સ્નિગ્ધનો પંચગુણ સ્નિગ્ધ સાથે ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધનો ષડ્ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બન્ધ થાય છે એવી જ રીતે અનન્તગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ સમજી લેવો જોઈએ. આ રીતે રૂક્ષ ગુણની વિષમતા થવાથી પણ બન્ધ થાય છે તે જાતે જ સમજી લેવું જોઈએ.

શંકા—આવું થવા છતાં પણ એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થવો જોઈએ કેમકે ગુણની વિષમતા ત્યાં પણ વિદ્યમાન છે.

સમાધાન—આમ ન કહેશો. બે ગુણ અધિક વિગેરે સદૃશ પુદ્ગલોનો જ પરસ્પર બન્ધ સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે આથી એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો બે અધિક ગુણવાળા સ્નિગ્ધની સાથે દ્વિગુણ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ સ્નિગ્ધ સાથે એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનો દ્વિગુણ અધિક રૂક્ષ સાથે દ્વિગુણ અધિક રૂક્ષનો એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી. એક આદિ ગુણ અધિક સદૃશ બે સ્નિગ્ધ પુદ્ગલો અથવા રૂક્ષ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી.

તે એકાદિગુણ અધિક પુદ્‌ગલોમાં સદૃશ સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલોમાં તથા સદૃશ રૂક્ષ પુદ્‌ગલોમાં વિશિષ્ટ પરિણમનની શકિતનો અભાવ હોય છે.

એક ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ આદિ પુદ્‌ગલની અપેક્ષા દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્‌ગલ એક ગુણ અધિક કહેવાય છે, બે ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્‌ગલની અપેક્ષા ત્રણ ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્‌ગલ એકગુણાધિક કહેવાય છે, ત્રણ ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્‌ગલની અપેક્ષા ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્‌ગલ એક ગુણાધિક કહેવાય છે એવી જ રીતે અનન્તગુણ પુદ્‌ગલ એક બીજાની અપેક્ષા એક ગુણાધિક સમજી લેવા જોઈએ.

પૂર્વોક્ત દલીલ મુજબ આ સદૃશ પુદ્‌ગલોનો પરસ્પર બંધ થતો નથી. આ રીતે 'જઘન્યને છોડીને' આ વચન અનુસાર એક ગુણને છોડીને દ્વિગુણ પરમાણુ પુદ્‌ગલનો ત્રિગુણ પરમાણુ પુદ્‌ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી. એ જ રીતે ત્રિગુણનો ચતુર્ગુણ સાથે બન્ધ થતો નથી, ઈત્યાદિ પ્રકારથી શેષ વિકલ્પોની યોજના સ્વયં કરી લેવી જોઈએ.

આમ એક ગુણ રૂક્ષ પરમાણુ પુદ્‌ગલ આદિની અપેક્ષા દ્વિગુણ રૂક્ષ પરમાણુપુદ્‌ગલ એક ગુણાધિક કહેવાય છે, બે ગુણ રૂક્ષતાવાળાની અપેક્ષા ત્રણ ગુણ રૂક્ષતાવાળા એક ગુણાધિક કહેવાય છે, ત્રણ ગુણ રૂક્ષની અપેક્ષા ચાર ગુણ રૂક્ષ એક ગુણાધિક કહેવાય છે એવી જ રીતે અનન્તગુણ રૂક્ષ એક ગુણાધિક હોય છે આ બધાં સદૃશ પુદ્‌ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થતો નથી. એમનો બન્ધ ન થવાના સંબંધમાં પૂર્વોકત દલીલ સરખી છે–તે જ તર્ક અત્રે પણ લાગુ પડે છે.

અહીં પણ જઘન્યવર્જ આ કથન અનુસાર દ્વિગુણનો ત્રિગુણ સાથે બન્ધ થતો નથી, ત્રિગુણનો ચતુર્ગુણ સાથે બન્ધ થતો નથી ઈત્યાદિ શેષ વિકલ્પોની યોજના સ્વયં કરી લેવી જોઇએ પરંતુ પૂર્વોકત પ્રકારથી દ્વિગુણ સ્નિગ્ધનો ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધ સાથે બન્ધ થાય છે. ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલનો પંચગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલની સાથે બન્ધ થાય છે ઈત્યાદિ રૂપથી આગળ પણ સમજી લેવું જોઇએ. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં કહ્યું છે—

સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલના બે અંશ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલ સાથે અને રૂક્ષના બે અંશ અધિક રૂક્ષ પુદ્‌ગલ સાથે બન્ધ થાય છે સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલનો રૂક્ષ પુદ્‌ગલ સાથે બન્ધ થાય છે ભલે તેઓ સમગુણવાળા હોય અગર વિષમ ગુણવાળા આમા અપવાદ એ જ છે કે જઘન્ય ગુણવાળાનો બન્ધ થઈ શકતો નથી.

આ ગાથાના પૂર્વાર્ધમાં પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યું છે કે જ્યારે સ્નિગ્ધ અગર રૂક્ષ–અસદૃશ પુદ્‌ગલ હોય તો બે અંશ અધિક આદિની સાથે બન્ધ થાય છે. આમ સ્નિગ્ધનો બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ સાથે અને રૂક્ષનો બે ગુણ અધિક રૂક્ષની સાથે બન્ધ થવાનું સિદ્ધ થાય છે અને આ જ ગાથાના ઉત્તરાર્ધથી એ ફલિત થાય છે કે જઘન્ય ગુણથી વર્જિત સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ પુદ્‌ગલોનો તેઓ વિષમ ગુણવાળા હોય કે સમ ગુણવાળા પરસ્પરમાં બન્ધ થઇ જાય છે.

પ્રશ્ન—જ્યારે પરમાણુ એક બીજામાં મળે છે તો શું દ્વિપ્રદેશી વિગેરે સ્કન્ધોના આકારમાં પરિણત થાય છે, અથવા પરિમંડળ આદિ પાંચ પ્રકારના આકારમાં પરિણત થાય છે ? જો પરમાણુઓમાં સ્પર્શ આદિ પરિણામ વ્યવસ્થિત જ હોય, અગર સ્કન્ધોમાં સ્પર્શ આદિ

પરિણામ વ્યવસ્થીત હોય, તો તેમનું ત્યાં હુમેશાં રહેવાનું કારણ ન ઉત્પાદ હશે, ન વિનાશ હશે. જ્યારે ઉત્પાદ અને વિનાશ થશે નહીં તો સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ ગુણવાળા પરમાણુઓના પરિણમનના અભાવમાં કેવી રીતે દ્વયણુક વગેરે સ્કન્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન થશે ?

સ્પર્શ આદિ તથા શબ્દ પરિણામવાળા સ્કંધોમાં એક જ કોઈ પરિણામને નિત્ય રૂપથી અંગિકાર કરવાના કારણે શેષ સ્પર્શ આદિ તથા શબ્દ આદિ પરિણામોના અભાવમાં આપત્તિ (મુશ્કેલી) આવશે.

જો તમે સ્કન્ધોમાં સ્પર્શ આદિ પરિણામોને અવ્યવસ્થિત કહો છો તો બધુ બરાબર છે કારણકે પૂર્વ પરિણામનો ત્યાગ થવાથી ઉત્તર પરિણામનો સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે. સ્પર્શ આદિ ભિન્ન છે અને શબ્દ આદિ ભિન્ન છે. જે દ્રવ્ય ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવ સંબંધી પરિણામ વિશેષ હોય છે. આવી રીતે પરિણામ અનુસાર વસ્તુનું જ્ઞાન થઈ જશે તો આ વિષયનો સિદ્ધાંત શું છે એ ખબર પડતી નથી થોડા અવ્યવસ્થિતત્વ પક્ષનો સ્વીકાર કરવાથી પણ શું સમગુણવાળા સમગુણ રૂપથી જ પરિણત થાય છે ? અગર વિષમ ગુણ રૂપથી પણ પરિણત થાય છે ?

ઉત્તર—પરમાણુઓમાં અથવા સ્કંધોમાં સ્પર્શ અને શબ્દાદિ પરિણામ અવસ્થિત અને અનવસ્થિત જ હોય છે કારણ કે તેઓ પરિણામી હોય છે. પરમાણુ–પુદ્ગલ અગર સ્કંધ દ્રવ્ય આદિ જાતિસ્વભાવનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા બીજા સ્પર્શ આદિ ગુણ અગર શબ્દાન્તર વગેરે ગુણને પ્રાપ્ત થાય છે. પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ સ્પર્શ આદિ સામાન્યનો ત્યાગ ન કરતા થકા સ્પર્શ આદિ વિશેષોને પ્રાપ્ત થાય છે.

'આ રીતે સ્પર્શ આદિ અવસ્થિત પણ છે અને અનવસ્થિત પણ છે. મરચું અને હિંગ વગેરે પોતાની શક્તિની પાવરધાવાળા હોવાથી પરિણામયોગ્ય વસ્તુને સડેલા શાકભાજી વગેરે અગર સ્વાદિષ્ટ વગેરે રૂપથી આત્મસાત્ કરતાં જોવાય છે, કોઈ કોઈ દહીં અથવા ગોળ વગેરે પદાર્થ પરિણમન શકિત સ્વભાવવાળા હોવાથી એકબીજાનાં પરિણમનનાં કારણ હોય છે. પટુતાની અતિશયોક્તિને કારણે પૂર્વવાળામાં પરિણમનની શક્તિ હોય છે. આથી એ સાબિત થયું કે સ્પર્શ આદિ શબ્દાદિ અનવસ્થિત હોય છે કારણકે તેમનામાં પરિણમન થાય છે.

પ્રશ્ન—પરિણમનની વિશેષતાને કારણે ગુણવત્ત્વ અનવસ્થિત હોવા છતાં પણ બદ્ધ થનારાં બે પરમાણુ પુદ્ગલોમાં ગુણવત્ત્વ હોવાથી બે સરખાં ગુણવાળા અથવા વિષમ ગુણવાળાનાં દ્વિગુણ, સ્નિગ્ધ અથવા દ્વિગુણરૂક્ષનો એવી જ રીતે દ્વિગુણસ્નિગ્ધ અને ચતુર્ગુણરૂક્ષનું પરિણમન કેવી રીતે થાય છે ? શું બે ગુણ સ્નિગ્ધતાવાળા પુદ્ગલ બે ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલને સ્નિગ્ધ રૂપમાં પરિણમત્વ કરી લે છે અથવા બે ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગળ બે ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલને રુક્ષના રૂપમાં પરિણત કરે છે ? એવી જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલને પોતાના રૂપમાં પરિણત કરી લે છે ?

ઉત્તર—બંધ થવાથી તુલ્ય ગુણવાળા પુદ્ગલને પોતાનાં રૂપમાં પરિણત કરે છે અને જે અધિક ગુણવાળા પુદ્ગલ હોય છે તે ઓછા ગુણવાળા પુદ્ગલને પોતાનાં રૂપમાં પરિણત કરી લે છે આથી સંગઠરૂપ પરસ્પર બંધ હોવાથી સ્વભાવથી તુલ્ય ગુણવાળા બે ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ

તુલ્ય ગુણવાળા બે ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનું પરિણમત્વ થઈ જાય છે. અર્થાત્ પોતાનાં રૂપમાં પરિણત કરી લે છે તાત્પર્ય એ છે કે પોતાની અંદર રહેલા સ્નેહ ગુણ દ્વારા રૂક્ષતા ગુણને આત્મસાત્ કરી લે છે.

આ રીતે તુલ્ય ગુણવાળા દ્વિગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલ સ્વભાવથી જ તુલ્ય ગુણ અથવા તેનાથી દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલને પરિણત કરી લે છે. અર્થાત્ પોતાનામાં રહેલા રૂક્ષતા ગુણથી સ્નેહ ગુણને આત્મસાત્ કરી લે છે.

ગુણોની સમાનતા થયા પછી સદૃશ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી. ઉપરના પુદ્ગલ વિસદૃશ હોય છે. અર્થાત્ એક પુદ્ગલ દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ અને બીજો દ્વિગુણ રૂક્ષ હોય છે. સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ભિન્ન જાતીય હોવાના કારણે તેમનામાં સદૃશતાનો અભાવ છે.

પરંતુ ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાધક ગુણવાળા હોવાથી એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલને પોતાના સ્વરૂપમાં પરિણત કરે છે તે અવસ્થામાં એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ બની જાય છે. જેમ કસ્તૂરીના અંશથી યુકત વિલેપન આ સમાન ગુણવાળાના અને વિષમ ગુણવાળાના બન્ધ સમજવા આવી જ રીતે સમ ગુણ અને વિષમ ગુણવાળાના પરિણમત્વ પણ જાણી લેવા જોઈએ.

જે બીજાને પોતાના રૂપમાં પરિણત કરી લે છે અર્થાત્ સમાવી લે છે તે પરિણામક કહેવાય છે અથવા પરિણત થનારા પુદ્ગલની ગુણ સંખ્યાને દૂર કરી પોતાની ગુણ સંખ્યાને ન ત્યાગતો થકો જે પરિણત થાય છે, તે પરિણામક કહેવાય છે.

અથવા પરિણમન અથવા પરિણામને જે ઉત્પન્ન કરે છે તે પરિણામક કહેવાય છે તે બીજાને પોતાના સ્વરૂપમાં બદલે છે.

એમ સમજવાનું છે-સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ગુણવાળા પુદ્ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થાય છે પરંતુ જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી જેમ એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ સ્નિગ્ધ સાથે તથા દ્વિગુણ, ત્રિગુણ ચતુર્ગુણ.. સંખ્યાત અને અસંખ્યાત તેમજ અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી.

એવી જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ રૂક્ષની સાથે તથા બે, ત્રણ, ચાર, સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત ગુણવાળા રૂક્ષ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી. એવી જ રીતે એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનો એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે તથા બે ત્રણ ચાર સંખ્યાત, અસંખ્યાત અને અનન્ત ગુણવાળા રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનો એક ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે તથા બે વગેરે સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત ગુણવાળા સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી

ગુણ શબ્દના અનેક અર્થ થાય છે. પરંતુ અહી તેનો 'ભાગ' અર્થ છે આથી જે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલોમાં જઘન્ય અર્થાત્ બધાથી ઓછો ગુણ-ભાગ હોય તે જઘન્ય કહેવાય છે. જેમાં એક ગુણ સ્નિગ્ધતા અગર એક ગુણ રૂક્ષતા હોય તે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ જઘન્ય ગુણવાળા કહેવાય છે તેમનો બન્ધ થતો નથી. આવી જ રીતે દ્વિભાગ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલોનો દ્વિભાગ સ્નિગ્ધ

પુદ્‌ગલો સાથે, ત્રિભાગનો ત્રિભાગ સાથે......અનન્ત ભાગ સ્નિગ્ધ સદૃશ પુદ્‌ગલોના અનન્ત ભાગ સદૃશ પુદ્‌ગલો સાથે બન્ધ થાય છે.

આવી જ રીતે દ્વિભાગ રૂક્ષ પુદ્‌ગલોનો દ્વિભાગ રૂક્ષ પુદ્‌ગલોની સાથે, ત્રિભાગ રૂક્ષોનો ત્રિભાગ રૂક્ષોની સાથે બન્ધ થતો નથી આ મુજબ અનન્ત ભાગ રૂક્ષ પુદ્‌ગલોનો સદૃશ... અનન્ત રૂક્ષ પુદ્‌ગલોની સાથે બન્ધ થતો નથી જો ગુણ (ભાગ) ની વિષમતા હોય તો જઘન્ય ગુણને છોડીને સદૃશ પુદ્‌ગલોનો પણ બન્ધ થઈ જાય છે ।।૨૮।।

'गुणपज्जायासवो दव्वं' ।।

મૂળસૂત્રાર્થ—જે ગુણો અને પર્યાયોનો આશ્રય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે ।।૨૯।।

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જો કે **"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"** આ દ્રવ્યનું લક્ષણ કહેવાઈ ગયા હોવા છતાં પણ કંઈક વિશેષ પ્રતિપાદન કરવા માટે બીજા પ્રકારના દ્રવ્યનું લક્ષણ કહીએ છીએ–ગુણો અને પર્યાયોનો જે આશ્રય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે.

એક દ્રવ્યને બીજા દ્રવ્યોથી પૃથક્ કરનારા વિશેષને ગુણ કહે છે. રૂપ વગેરે તથા જ્ઞાન વગેરે ગુણ છે. જે સ્વભાવ અને વિભાગ રૂપથી બદલાતા રહે છે તેને પર્યાય કહે છે. જેમ ઘડો, શકોરૂ, કોશ વગેરે મૃત્તિકા દ્રવ્યના પર્યાય છે અને જ્ઞાન, ક્રોધ, માન માયા લોભ વગેરે જીવ દ્રવ્યના પર્યાય છે.

આ ગુણો અને પર્યાયોનો જે આધાર છે તે જ દ્રવ્ય છે ગુણ અને પર્યાયનો તફાવત એ છે કે ગુણ અન્વયી અને પર્યાય વ્યતિરેકી હોય છે.

જીવ પોતાના જ્ઞાન વગેરે ગુણોથી પુદ્‌ગલ વગેરે દ્રવ્યોથી પૃથક્ છે આ કારણથી જ જ્ઞાનાદિ જીવના ગુણ કહેવાય છે અને તેમનો આશ્રય જીવ કહેવાય છે એવી જ રીતે પુદ્‌ગલ આદિ દ્રવ્ય પોત–પોતાના રૂપ રસ ગન્ધ સ્પર્શ આદિ ગુણોને લીધે જીવાદિ અન્ય દ્રવ્યોથી પૃથક્ કરવામાં આવે છે આથી જ રૂપ વગેરે પુદ્‌ગલ વગેરેના ગુણ કહેવાય છે અને પુદ્‌ગલ આદિ દ્રવ્ય કહેવાય છે જો જીવમાં જ્ઞાનાદિ વિશિષ્ટ ગુણ ન હોત અને પુદ્‌ગલમાં રૂપ વગેરે વિશિષ્ટ ગુણ ન હોત તો જીવ અને પુદ્ગલ વગેરેમાં દ્રવ્યત્વ સમાન હોવાથી કોઈ ભેદ ન રહેત–બધાં દ્રવ્યો એકમેક થઈ જાત ગુણ જો કે દ્રવ્યની જેમ નિત્ય છે પરંતુ તેમના પર્યાયોમાં પરિવર્તન થતું રહે છે. આ અવસ્થા–પરિવર્તન પર્યાયો કહેવાય છે. આ રીતે પર્યાય જેવા દ્રવ્યના હોય છે તેવા જ ગુણના પણ હોય છે. આ રીતે ગુણો અને પર્યાયોનો સમૂહ, જે તેમનાથી થોડોક જુદો છે, દ્રવ્ય કહેવાય છે. ।।૨૯।।

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્‌ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યોનું સામાન્ય રૂપથી પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ પરંતુ સામાન્ય માત્ર કથનથી જ ધર્મ વગેરે દ્રવ્યોના વિશેષ સ્વરૂપનું પરિજ્ઞાન થઈ શકતું નથી આથી તેમના સ્વરૂપનું જ્ઞાન કરાવવા અર્થે વિશેષ લક્ષણ કહીએ છીએ.

જે ગુણો અને પર્યાયોનો આધાર છે તે દ્રવ્ય છે. રૂપ આદિ અને જ્ઞાન આદિ ગુણ કહેવાય છે. સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત સંખ્યા દ્વારા તેમની ગણત્રી કરવામાં આવે છે આથી તેમને ગુણ કહે છે. દ્રવ્યની વિશિષ્ટ અવસ્થા પર્યાય કહેવાય છે. દ્રવ્ય શાશ્વત છે.

પર્યાયનો ઉત્પાદ અને વિનાશ થતો રહે છે. માટીને જો દ્રવ્ય માની લઈએ તો ઘટ કપાલ વગેરે તેના પર્યાય છે. વ્યવહાર નયની અપેક્ષા ગુણ સહભાવી અને પર્યાય ક્રમભાવી હોય છે.

સમભિરૂઢ નયની અપેક્ષાથી ઇન્દનશકન અને પૂરદ્દાહ આદિ (નગરનો નાશ) વગેરે અર્થ વિશેષ અને રૂપ આદિ ભાવાન્તર ભાવભેદ ઇન્દ્ર, શક્ર, પુરન્દર વગેરે સંજ્ઞાની પ્રવૃત્તિમાં નિમિત્તભૂત અર્થભેદ અને સંજ્ઞાભેદ ગુણ-પર્યાયના નિમિત્તથી થાય છે. આવી રીતે જે ગુણો અને પર્યાયોથી યુક્ત છે અર્થાત્ ગુણ-પર્યાયમય છે તે જ દ્રવ્ય કહેવાય છે.

દ્રવ્ય ધ્રૌવ્ય—અંશ છે અને પરિણામી છે, પર્યાય ઉત્પાદ અને વ્યય રૂપ હોય છે તે પરિણામ છે. ગુણ દ્રવ્યનો અંશ કહેવાય છે આ રીતે સ્થિતિરૂપ દ્રવ્યના રૂપ વગેરે અને જ્ઞાનાદિ તથા પિન્ડ, ઘટ કપાલ વગેરે ગુણ અને પર્યાય છે. કોઈપણ દ્રવ્ય કદીપણ પરિણામ રહિત હોતું નથી. ગુણ અને પર્યાય દ્રવ્યથી કથંચિત્ ભિન્ન અને કથંચિત્ અભિન્ન છે, ન એકાન્ત ભિન્ન છે અને ન એકાન્ત અભિન્ન છે તો પણ કદી કદી દ્રવ્યથી ગુણ પર્યાયના ભેદનું વિવરણ કરવામાં આવે છે.

આ ભેદ વિવક્ષા અનુસાર જ કહેવામાં આવે છે કે આત્મામાં ચૈતન્ય છે આત્મા જ્ઞાનાદિ રૂપમાં સ્વયં પરિણત થાય છે આથી ચૈતન્ય અને આત્મામાં ભેદ ન હોવા છતાં પણ આત્મા માં ચૈતન્ય છે એ રીતે ભેદ રૂપથી વ્યવહાર થાય છે. તે જ પુદ્ગલ દ્રવ્ય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો વિશેષરૂપ આદિ અને ઘટ આદિના વ્યવહારમાં કારણ બને છે. આ રીતે કથંચિત્ ભિન્ન અને અભિન્ન ગુણ અને પર્યાયવાળા દ્રવ્ય કહેવાય છે. ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોના વિષયમાં પણ એમજ સમજવું જોઈએ કે તેઓ પણ ગુણ અને પર્યાયવાળા છે.

દ્રવ્ય સહભાવી ગુણો અને ક્રમભાવી પર્યાયોને યોગ્ય હોય છે. એમાં અગુરૂલઘુત્વ તથા રૂપ વગેરે ગુણ સહભાવી છે અને પિન્ડ, ઘટ, કપાલ વગેરે પર્યાય ક્રમભાવી છે. એવી જ રીતે ધર્માસ્તિકાયમાં ગતિ હેતુત્વ અધર્માસ્તિકાયમાં સ્થિતિ હેતુત્વ આકાશમાં અવગાહ હેતુત્વ જીવમાં જ્ઞાન દર્શન આદિ ગુણ તથા નારક આદિ પર્યાયોનો યથાયોગ્ય પૂર્વોક્ત પ્રકારથી વિચાર કરવો.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનાં ૨૮ માં અધ્યયનની ૬ ઠી ગાથામાં કહે છે જે ગુણોનો આધાર છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે. જે ફક્ત દ્રવ્યમાં આશ્રિત છે તે ગુણ છે પરંતુ પર્યાયોનું લક્ષણ બંનેનું આશ્રિત હોય છે. તાત્પર્ય એ છે કે ગુણ અને પર્યાય બંને જ દ્રવ્યના અંશ છે પરંતુ બંનેમાં તફાવત એ છે કે ગુણ ફક્ત દ્રવ્યમાં રહે છે અને પર્યાય દ્રવ્યો તથા ગુણો બંનેને આશ્રિત હોય છે, જેમ જીવ દ્રવ્ય છે, ચૈતન્ય તેનો ગુણ છે. મનુષ્ય પશુ પક્ષી આદિ જીવ દ્રવ્યના પર્યાય છે. અને મતિજ્ઞાન વગેરે ચૈતન્ય ગુણના પર્યાય છે. આમ જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય તે ગુણ અને દ્રવ્ય તથા ગુણ બંનેને આશ્રિત હોય તેને પર્યાય કહે છે ॥૨૯॥

'दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—જે દ્રવ્યને આશ્રિત છે, સ્વયં નિર્ગુણ હોય તે ગુણ છે. ॥૩૦॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં કહેલું છે કે ગુણ અને પર્યાયનો આશ્રય દ્રવ્ય કહેવાય છે પરંતુ ગુણ કોને કહે છે ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી તેનું સમાધાન કરીએ છીએ.

જે દ્રવ્યમાં રહેતા હોય અને ગુણોથી રહિત હોય તે ગુણ કહેવાય છે. અહીં નિર્ગુણ એવું કહેવાથી દ્વયણુક વગેરે પુદ્ગલ સ્કંધોની વ્યાવૃત્તિ થઈ જાય છે જો નિર્ગુણ વિશેષણનો પ્રયોગ ન કર્યો હોત તો દ્વયણુક આદિ પરમાણુ દ્રવ્યોના આશ્રિત હોવાથી ગુણ કહેવાત. પરંતુ દ્વયણુક વગેરેમાં રૂપાદિ ગુણોનું અસ્તિત્વ છે તેઓ નિર્ગુણ નથી આથી ગુણનું ઉક્ત લક્ષણ તેમનામાં ઘટિત થતું નથી. આ કારણથી લક્ષણમાં અતિવ્યાપ્તિ દોષ પણ આવતો નથી. આથી એ સાબિત થયું કે જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય, સ્વયં નિર્ગુણ હોય અને જેમાં ગુણત્વ દેખાય તે જ ગુણ છે. ક્રિયા જો કે દ્રવ્યાશ્રિત હોય છે. નિર્ગુણ પણ હોય છે. પરંતુ તેમાં ગુણત્વનો અભાવ હોવાથી અતિવ્યાપ્તિ દોષ આવતો નથી ॥૩૦॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં કહેવાઈ ગયું કે દ્રવ્ય ગુણ અને પર્યાયનો આધાર હોય છે પરંતુ ગુણ કેવા હોય છે કે જેના લીધે દ્રવ્ય ગુણવાન કહેવાય છે ? આ પ્રકારની જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરવા માટે કહેવામાં આવ્યુ છે.

જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય સ્વયં નિર્ગુણ હોય તેમને ગુણ કહે છે. દ્રવ્યને આશ્રિત હોય અર્થાત્ દ્રવ્યના પરિણામ વાળુ હોય અગર દ્રવ્યવર્ત્તી હોય ગુણોથી રહિત હોય. નિર્ગુણ–ગુણ-શૂન્ય હોય તે ગુણ કહેવાય છે.

અહીં દ્રવ્ય અને ગુણોનો જે આશ્રય—આશ્રયિભાવ કહેવાયો છે તે પરિણામિ–પરિણામ ભાવ સમજવો જોઈએ દ્રવ્ય પરિણામી છે અને ગુણ પરિણામ છે. આધારાધેય ભાવ અહીં વિવક્ષિત નથી કારણ કે જેમ કુન્ડ અને બોર–બંનેની સત્તા જુદી જુદી છે તેજ રીતે દ્રવ્ય અને ગુણ ભિન્ન ભિન્ન નથી આથી દ્રવ્યને આધાર અને ગુણને આધેય કહી શકાય નહીં.

અન્ય મત અનુયાયિઓએ દ્રવ્ય અને ગુણમાં સમવાય સંબંધનો સ્વીકાર કર્યો છે તે પણ બરાબર નથી જો ગુણોનો દ્રવ્યની સાથે સમવાય સંબંધ માનવામાં આવે તો સમવાય અને ગુણોમાં પણ કોઈ સંબંધ માનવો પડશે. તે સમવાયનો પણ બીજો સમવાય સંબંધ માનવામાં આવે તો અનવસ્થા દોષ આવે. બીજો સમવાય માનવામાં આગમથી વિરોધ આવે છે.

સમવાયથી દ્રવ્ય અને ગુણમાં જો સમવાય નામનો સંબંધ છે તો તે સમવાય કયા સંબંધથી તેમનામાં રહે છે ? સંયોગ સંબંધથી અથવા સમવાય સંબંધથી ? સંયોગ સંબંધ તો માની શકાય નહી કારણ કે સંયોગ બે દ્રવ્યોનો જ થાય છે અહીં ગુણ દ્રવ્યરૂપ નથી. જો સમવાય—સમવાય સંબંધથી રહે છે તો આ બીજા સમવાયમાં પણ ત્રીજા સમવાયની આવશ્યકતા રહેશે અને ત્રીજા સમવાય માટે પુનઃ ચોથા સમવાયની આવશ્યકતા રહેશે આવી સ્થિતિમાં અનવસ્થા દોષ આવે છે.

જો સમવાય સંબંધ આક્ષિપ્ત થયા વગર સ્વતંત્ર જ રહે છે તો પછી દ્રવ્યમાં ગુણોને રહેવા માટે પણ સમવાયની આવશ્યકતા ન રહેવી જોઇએ તો પછી એવું પણ ન માનવું જોઈએ કે દ્રવ્ય સમવાય સંબંધ દ્વારા ગુણોની સાથે સંબદ્ધ છે કારણ કે આપના કથન મુજબ ઘટ તથા પટની જેમ સમવાય દ્રવ્ય અને ગુણમાં આશ્રિત નથી. ઘટ અને પટમાં સમવાય

સંબંધનો સંભવ નથી. આથી સત્ય એ છે કે સ્થિતિઅંશ રૂપ દ્રવ્ય ગુણો અને પર્યાયોના રૂપમાં પરિણત થતા રહે છે. ગુણ પર્યાય તેમના પરિણમન વિશેષ છે તેમનામાં જે ગુણ રૂપ પરિણામ છે તે નિર્ગુણ છે અર્થાત્ ગુણમાં ગુણ હોતો નથી.

શુકલ આદિ રૂપ આદિ તથા ઘટ કપાલ વગેરે ગુણો અને પર્યાયોના બીજાં કોઇ ગુણ પર્યાય હોતા નથી. પરંતુ પરિણામી દ્રવ્ય દ્રવ્યનો જ શુકલ વગેરે રૂપ વગેરે ગુણ પરિણામી થાય છે અને ઘટ કપાલ સંસ્થાન વગેરે પર્યાય પરિણામ હોય છે બંને શુકલ આદિ ગુણ રૂપ આદિના બીજા કોઇ શુકલ આદિ હોતા નથી અને ન ઘટ આદિ આકારના બીજા કોઇ સંસ્થાન વિગેરે પર્યાય હોય છે.

આ કારણે ગુણ નિર્ગુણ હોય છે. પર્યાય ગુણોથી એકાન્ત ભિન્ન નથી કારણ કે ગુણો અને પર્યાયોની કથચિત્ એકતા સ્વીકારવામાં આવી છે

અત્રે એ સમજી લેવું જોઈએ કે દ્રવ્ય–યુગપદ ભાવિની શુકલ આદિ રૂપ આદિ જ્ઞાન વગેરે ગુણ પરિણતિને તથા ક્રમ ભાવિની પિન્ડ ઘટ કપાલ વગેરે પર્યાય પરિણતિને યોગ્ય હોય છે. તે પરિણામી અને ધ્રુવ–અંશ રૂપ છે, આશ્રય છે. ઉત્પાદ અને વ્યય સ્વરૂપ રૂપ રસ ગંધ સ્પર્શ તથા જ્ઞાન દર્શન રૂપ ગુણોનો તથા ઘટ કોશ આદિ રૂપ પર્યાયોનો આશ્રય દ્રવ્ય છે.

દ્રવ્ય જ સામાન્યાત્મક રૂપ રસ આદિ તથા જ્ઞાનાદિ ગુણોના રૂપમાં તથા પિન્ડ ઘટ વગેરે પર્યાયોના રૂપમાં પરિણમન કરે છે. પછી તે તે આકારોથી નિવૃત્ત થાય છે અને દ્રવ્ય રૂપથી અવસ્થિત રહે છે. પરિણામ અને પરિણામીમાં દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષા કથંચિત્ અભિન્નતા અને કથંચિત્ ભિન્નતા જાણવી જોઈએ. આ શુકલ આદિ રૂપ આદિ તથા જ્ઞાન આદિ ગુણોના બીજાં કોઈ ગુણ નથી આથી તે નિર્ગુણ છે આમ આ વિધાન ત્યારે જ શકય હોઈ શકે જ્યારે ગુણ અને ગુણીમાં ભેદ માનવામાં આવે.

તે ભેદ કથંચિત્ જ સ્વીકારાય છે, એકાન્ત રૂપથી નહીં કારણ કે બધી વસ્તુઓ ભેદ અને અભેદ રૂપ છે. જ્યારે દ્રવ્ય જ શુકલ રસ આદિના રૂપમાં અગર જ્ઞાન દર્શન આદિના રૂપમાં પરિણત થાય છે એટલે દ્રવ્યની સાથે તાદાત્મ્ય સંબધ હોવાના કારણે ગુણ દ્રવ્યથી જુદાં થઈ શકતાં નથી. આ પ્રકારે તેમનામાં કથંચિત્ અભિન્નતા છે. આ અભિન્નતા કેવળ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષાથી જ સમજવી જોઇએ અને ગુણોને નિર્ગુણ સમજવા જોઈએ.

પર્યાયાર્થિક નયથી ગુણોની પ્રધાનતા હોવાથી દ્રવ્યથી ગુણ કથંચિત્ ભિન્ન પણ છે.

શંકા—દ્રવ્યાર્થિક નયના મતે ગુણોનું અસ્તિત્વ જ નથી તો પછી અભિન્નતા કેવી રીતે માની શકાય ?

સમાધાન—દ્રવ્યાર્થિક નયના મતે પણ ગુણોનું અસ્તિત્વ તો છે પણ તે દ્રવ્યથી ભિન્ન છે.

દ્રવ્ય જ્યારે શુકલ રૂપમાં પરિણત થાય છે ત્યારે તેમાં નીલાકાર આદિ પરિણમન થતું નથી આથી ગુણોની નિર્ગુણતા સ્પષ્ટ જ છે.

જેમ દ્રવ્યમાં ગુણ રહે છે તેમ ગુણમાં ગુણ રહેતો નથી શંખમાં સફેદાઇનો ગુણ છે પણ તેની સફેદાઇમાં પુનઃ સફેદાઈ રહેતી નથી–તે સ્વયં શુકલતા સ્વરૂપ જ છે.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮માં અધ્યયનની ૬ઠી ગાથામાં કહ્યું છે-ગુણ દ્રવ્યોને આશ્રિત હોય છે અહીં દ્રવ્યના-આશ્રિત કહેવાથી ઉપલક્ષણથી ગુણોને નિર્ગુણ પણ સમજવા જોઈએ. ॥૩૦॥

'तब्भावो परिणामो' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું પોત-પોતાના સ્વરૂપમાં હોવું તે જ પરિણામ કહેવાય છે ॥૩૧॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા પરિણામનો અનેક સ્થળો પર ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે, પરંતુ પરિણામનો અર્થ શું છે ? એ જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

ધર્મ અધર્મ આકાશ આદિ દ્રવ્ય જે સ્વરૂપથી હોય છે તે સ્વરૂપનું હોવું અર્થાત્ સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ પરિણામ છે તે પરિણામ બે પ્રકારના છે અનાદિ તથા સાદિ.

ધર્મ અધર્મ અને આકાશ આદિ દ્રવ્યોની ગતિ-ઉપગ્રહ સ્થિતિ-ઉપગ્રહ અને અવગાહ ઉપગ્રહ વગેરે સામાન્ય રૂપથી અનાદિ પરિણામ કહેવાય છે તે જ પરિણામ વિશેષની અપેક્ષાથી સાદિ હોય છે, જેમ માટી દ્રવ્યના પિન્ડ ઘટ, કપાલ, કપાલિકા સ્થાસ કોશ શકોરૂં અને ઉદંચન વગેરે પરિણામ થાય છે ॥૩૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા અનેકવાર પરિણામનો ઉલ્લેખ કર્યો જ છે જેમ સમગુણ સમગુણવાળાના પરિણામ ને ધારણ કરે છે અને વધારે ગુણોવાળા પુદ્ગલ ઓછા ગુણવાળા પુદ્ગલને પોતાના રૂપમાં પરિણત કરી લે છે.. તો પરિણામ શબ્દનો અર્થ શો છે ? શું ધર્માસ્તિકાય તથા અધર્માસ્તિકાય વગેરે દ્રવ્ય અર્થાન્તર ભૂત પરિણામને ઉત્પન્ન કરે છે ? અથવા તે દ્રવ્ય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા પણ કોઇને કોઈ વિશિષ્ટતાને પ્રાપ્ત થઇને પરિણત થતાં રહે છે ? આ શંકાનું નિવારણ કરવા માટે પરિણામ શબ્દની વ્યાખ્યા કરાય છે.

ધર્મ અધર્મ આદિ ૬ દ્રવ્યોનો તે તે આકારથી અર્થાત્ ગતિસહાયકત્વ, સ્થિતિસહાયકત્વ, અવગાહસહાયકત્વ, પરત્વ અપરત્વ, શરીર આદિ તથા જ્ઞાનાદિ રૂપથી થવું-આત્મલાભ-ભાવ જ પરિણામ કહેવાય છે ધર્મ આદિ દ્રવ્ય જ વિભિન્ન આકારોમાં પરિણત થતાં રહે છે, તેઓ અચલ અગર કૂટસ્થ નિત્ય નથી. તેમનો ન તો સર્વથા ઉત્પાદ થાય છે અથવા ન તો સર્વથા વિનાશ જ થાય છે.

આ રીતે ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની એક અવસ્થાથી બીજી અવસ્થાની પ્રાપ્તિ થવી પરિણામ છે. તેમાં ધર્મ દ્રવ્ય જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમાં તેવી જ રીતે મદદરૂપ થાય છે જેમ પાણી જળચરજીવોની ગતિમાં સહાયક થાય છે. અધર્મદ્રવ્ય તેમની સ્થિતિમાં નિમિત્ત થાય છે જેમ વટેમાર્ગુઓને રોકાવામાં છાંયડો સહાયક થાય છે. આ બંને દ્રવ્યો સમસ્ત લોકાકાશમાં ફેલાયેલા છે. આવી જ રીતે છએ દ્રવ્યોનો જે સ્વભાવ છે, સ્વરૂપ છે, તે જ પરિણામ કહેવાય છે.

પરિણામ શબ્દનો વાચ્યાર્થ આ રીતે છે-પરિણામ-અહીં 'પરિ શબ્દનો અર્થ છે વ્યાપ્તિ જેમ ગુણથી પરિણતનો અર્થ થાય છે-ગુણથી વ્યાપ્ત નમ્ર ધાતુનો અર્થ થાય છે-નમ્રીભાવ, ઋજુતા અથવા અવસ્થાન્તરની પ્રાપ્તિ બંને-શબ્દાંશોનો આશય નિકળ્યો-સર્વત્ર અનુવર્ત્તન કરવું. આ જ પરિણામ શબ્દનો અર્થ છે જેમ માટીનો પિન્ડો, ઘટ કપાલ વગેરે બધી અવ-

સ્થઓમાં અનુવર્ત્તન જોવામાં આવે છે અને સુવર્ણદ્રવ્યના કટક, કુંડળ વલય રૂપક વગેરે બધી અવસ્થાઓમાં અન્વય-પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવે છે.

આવી જ રીતે ઘટ આદિ તથા કુંડળ આદિ માટીથી અને સુવર્ણ દ્રવ્યથી વ્યાપ્ત રહે છે. ધર્માદિ દ્રવ્ય પણ આવી જ રીતે પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ ગતિ સહાયકત્વ વગેરેમાં અનુવર્ત્તન કરે છે. અનુવૃત્તિ રૂપ હોવાથી આ સામાન્ય સ્થિતિ-અંશથી વ્યાપ્ત રહે છે. કોઈ પણ દ્રવ્યના ઉત્પાદ અગર વ્યાપ્તિ સામાન્ય સ્થિતિ-અંશથી અવ્યાપ્ત હોતાં નથી.

આજ પ્રમાણે ધર્મદ્રવ્યનું જ પોતાની એક અવસ્થાથી બીજી અવસ્થામાં પરિણત થવું પરિણામ છે, એવુ નથી કે ધર્મદ્રવ્ય કોઈ બીજા અધર્મદ્રવ્ય વગેરેની અવસ્થામાં પરિણત થઈ જાય આવી જ રીતે અધર્મદ્રવ્ય પોતાની જ એક અવસ્થાથી બીજી અવસ્થામાં પરિણત થાય છે. તે ધર્મ વગેરે કોઈ અન્ય દ્રવ્યની અવસ્થા રૂપમાં પરિણત થતા નથી. આ જ રીતે આકાશ વગેરે દ્રવ્યોનો પણ પોત-પોતાની અવસ્થાઓમાં પરિણમન થતું રહે છે અર્થાત્ એકથી બીજી અને બીજીથી ત્રીજી અવસ્થા થતી રહે છે. આને જ પરિણામ સમજવું જોઈએ.

ધર્માસ્તિકાય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો જ ગમન કરનારની ગતિમાં સહાયક રૂપથી પરિણત થાય છે અધર્માસ્તિકાય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો સ્થિત થનારાની સ્થિતિમાં સહાયક રૂપથી પરિણત થાય છે. આકાશ પણ પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો જ અવગાહ કરનારને અવગાહના આપે છે. કાળ જ્યેષ્ઠ અને કનિષ્ઠ આદિમાં પરત્વ અને અપરત્વ ઉત્પન્ન કરીને ગત કાળ ભવિષ્ય કાળ, સમય, ક્ષણ પલકારો, દિવસ, રાત્રિ, પખવાડીયુ મહીનો, અયન વર્ષ વગેરેના વ્યવહાર કારક રૂપથી પરિણત થાય છે,

પુદ્ગલ પણ ઔદારિક આદિ શરીર આદિ રૂપ, રસ ગંધ સ્પર્શ આદિ રૂપથી પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો પણ પરિણત થાય છે. જીવ-જ્ઞાન-દર્શન-ઉપયોગ રૂપથી તથા નારકી દેવતા મનુષ્ય તિર્યંચ રૂપથી પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો જ પરિણમન કરે છે.

આવી જ રીતે શુકલ વગેરે ગુણ વર્ણ આદિ સામાન્ય સ્વરૂપનો ત્યાગ ન કરતા થકા જ કૃષ્ણ આદિ રૂપથા પરિણત થાય છે. ઘટ પર્યાયમાં પોતાના સામાન્ય મૃત્તિકા સ્વભાવનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ ઠીકરા અવસ્થાને પ્રાપ્ત કરે છે આવી જ રીતે ઠીકરા વગેરે પર્યાય પણ નાની ઠીકરીઓ ટુકડા શકોરુ સ્થાસ કોશ કુશૂલ શરાવ ઉદંચન વગેરે રૂપથી સામાન્ય મૃત્તિકા સ્વભાવનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ પરિણત થાય છે.

આવી જ રીતે પરમાણુ પણ, રસ ગંધ-સ્પર્શ આદિ રૂપથી અગર દ્વયણુક વિગેરે સ્કન્ધ રૂપથા પોતાના સ્વરૂપનો ત્યાગ ન કરતા થકા જ પરિણત થાય છે. આમ બધાં દ્રવ્ય સદૈવ સૂક્ષ્મ બાદર ઉત્પાદ વ્યયરૂપથી સ્થિતિ અંશ રૂપ સામાન્યનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ પરિણત થાય છે.

પરિણામ બે પ્રકારના છે અનાદિ અને સાદિ અરૂપી ધર્મ અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ આ પાંચ દ્રવ્યોમાં અનાદિ પરિણામ જણવા જોઇએ.

અસંખ્યાત પ્રદેશવત્ત્વ, લોકાકાશવ્યાપિત્વ, અમૂર્ત્તત્વ, ગમનનિમિત્તત્વ, અગુરુલઘુત્વ વગેરે ધર્માસ્તિકાયના અનાદિ પરિણામ છે. અસંખ્યાત પ્રદેશવત્ત્વ, લોકાકાશવ્યાપિત્વ, સ્થિતિનિમિત્તત્વ, અધર્માસ્તિકાયના અનાદિ પરિણામ છે. અનન્ત પ્રદેશબન્ધ, અમૂર્ત્તત્વ, અગુરુલઘુપર્યાયત્વ, અવગાહ હેતુત્ત્વ વગેરે આકાશના અનાદિ પરિણામ છે. આવલિકા આદિ ભૂતકાળ, ભવિષ્યકાળ, વર્ત્તમાનતા આદિ પરત્વ–અપરત્વ આદિ, અમૂર્ત્તત્વ, અગુરુલઘુત્વ આદિ કાળના અનાદિ પરિણામ છે. જીવત્વ ભવ્યત્વ આદિ અમૂર્ત્તત્વ તથા જ્ઞાન–દર્શન આદિ જીવના અનાદિ પરિણામ છે.

રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમાં સાદિ પરિણામ અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે દા ત. દ્વયણુક આદિ સ્કંધ રૂપ શબ્દાદિ શુકલ, કૃષ્ણ, રાતો, પીળો વગેરે રસ આદિ જ્યારે બે પરમાણુ સ્વભાવથી દ્વયણુક સ્કંધને ઉત્પન્ન કરે છે ત્યારે બંને પરમાણુઓમાં જે સ્કંધ રૂપ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે. તે સાદિ પરિણામ છે.

આવી જ રીતે રૂપી અને ઉત્પાદ–વ્યયવાળા દ્રવ્યોમાં રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ આદિ રૂપ અનેક પ્રકારના સાદિ પરિણામ હોય છે.

સ્પર્શ આઠ પ્રકારના છે—(૧) કર્કશ (કઠોર) મૃદુ (૩) ગુરુ (ભારે) (૪) લઘુ (હલકો) (૫) ઠંડો (૬) ઉનો (૭) સુંવાળો અને (૮) ખરબચડો આમા કર્કશતર કર્કશતમ આદિ સાદિ પરિણામ છે. રસ પાંચ પ્રકારના છે—(૧) તીખો (૨) કડવો (૩) તુરો (૪) ખાટો અને (૫) મીઠો. તિક્તતર તિક્તતમ વગેરે સાદિ પરિણામ છે. ગંધ બે પ્રકારની છે—સુગંધ અને દુર્ગંધ સુરભિતર આદિ સાદિ પરિણામ છે.

વર્ણ, કૃષ્ણ વગેરે પાંચ પ્રકારના છે. કૃષ્ણતર આદિ સાદિ પરિણામ જાણવા જોઈએ પરંતુ પુદ્ગલ દ્રવ્યમાં દ્રવ્યત્વ, મૂર્ત્તત્વ, સત્ત્વ આદિ પરિણામ અનાદિ જ હોય છે સાદિ નહીં. આમ જેવી રીતે રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમાં સાદિ અને અનાદિ બંને પ્રકારના પરિણામ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યા છે તેવી જ રીતે અરૂપી દ્રવ્યોમાં પણ સાદિ પરિણામ પણ હોઈ શકે છે જેમ યોગ અને ઉપયોગરૂપ પરિણામ જીવોમાં સાદિ હોય છે.

આજ પ્રકારે ધર્મ આદિ અરૂપી દ્રવ્યોમાં પણ સાદિ પરિણામની શકયતા છે. જેમ, ગતિ કરવાની ઇચ્છાવાળો કોઈ પુરૂષ જ્યારે ગતિની શરૂઆત કરે છે ત્યારે ધર્મદ્રવ્ય તેની ગતિમાં નિમિત્ત બની જાય છે. આ નિમિત્તત્વ બની જવુ ધર્મ દ્રવ્યનો પર્યાય છે. જે પહેલા ન હતો હવે ઉત્પન્ન થયો છે આથી આ ગતિ નિમિત્તત્વ પરિણામ સાદિ જ હોઇ શકે છે, અનાદિ નહીં. તે મૈત્ર નામનો પુરુષ ગતિથી સ્થિર થઈ જાય ત્યારે તે ગતિ નિમિતત્ત્વ પણ રહી જતો નથી આમ ઉત્પાદ અને વિનાશવાન હોવાથી તે સાદિ છે. ઉપગ્રાહ્યના અભાવમાં ઉપગ્રાહકત્વ પણ હોતો નથી.

આકાશ દ્રવ્ય પણ અવગાહના કરનાર માટે—અવગાહદાન રૂપ પર્યાયથી પરિણત થાય છે. તે અવગાહદાન પર્યાય હમણાં હમણાં ઉત્પન્ન થવાથી સાદિ જ હોઈ શકે છે અનાદિ નહીં.

કાલદ્રવ્ય પણ વૃત્ત વર્તમાન આદિ પરિણમનથી યુકત હોય છે આ પ્રકારે આ પરિણામ દ્રવ્યાર્થિકનયના વ્યાપારથી ધર્મ વગેરેનો સ્વભાવ છે, ધર્માદિથી ભિન્ન નથી.

આમ પરિણામ ક્યાંક સ્વાભાવિક હોય છે તો ક્યાંક પ્રયોગિક અને કોઈવાર બંને પ્રકારના હોય છે. કારણ કે સદ્વસ્તુ તેજ છે જે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય લક્ષણવાળી હોય.

આવી રીતે અનેકાન્તવાદમાં રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમાં પ્રધાન રૂપથી સાદિ પરિણામ હોવા છતાં પણ કવચિત્ અનાદિ પરિણામ પણ ઘટિત થાય છે અને તેવી જ રીતે અરૂપી ધર્માદિ દ્રવ્યોમાં પ્રધાન રૂપથી અનાદિ પરિણામ હોવા છતાં પણ કથંચિત્ સાદિ પરિણામ પણ ઘટિત થાય છે.

કોઈ—કોઈએ કહ્યું છે કે રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમાં જ સાદિ પરિણામ થાય છે અરૂપી ધર્મ આદિ દ્રવ્યોમાં થતું નથી, તેમનું કથન યથાર્થ નથી તેમના મત અનુસાર અરૂપી દ્રવ્યોમાં પર્યાયાશ્રયી વ્યવહારના અભાવની મુશ્કેલી હોય છે અને આમ હોવાથી ઉત્પાદ-વ્યય આદિ લક્ષણની સંગતિ બેસતી નથી. આથી પરિણામના અભાવનો જ પ્રસંગ થઈ જાય છે.

ધર્મ આદિ અરૂપી દ્રવ્યોને અપરિણામી માની લેવાથી તેમના સ્વરૂપ અચોક્કસ થઈ જશે, કારણ કે તેઓ સ્વતઃ ઉત્પાદ અને વ્યય પરિણામથી રહિત છે, આથી મૂર્ત્ત અને અમૂર્ત્ત બધાં દ્રવ્યોમાં કોઈ પરિણામ સાદિ હોય છે. કોઈ અનાદિ હોય છે, એવું સ્વીકારવું જોઈએ.

અરૂપી જીવોમાં જેમાં જીવત્વ ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ એ અનાદિ પરિણામ છે તેવી જ રીતે યોગ તથા ઉપયોગ આદિમાન્ પરિણામ પણ છે.

પુદ્ગલ દ્રવ્યના સંબંધથી આત્માના વીર્યનું સ્ફુરણ થવું યોગ કહેવાય છે. તે કાયા વચન અને મન રૂપથી આત્માની શકિત વિશેષની ઉત્પત્તિ છે. ચૈતન્ય સ્વરૂપ આત્માનો જ્ઞાન દર્શન દ્વારા પ્રણિધાન આદિ રૂપ પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવાનો જે વ્યાપાર છે તે ઉપયોગ કહેવાય છે. સમાધિને પણ ઉપયોગ કહે છે. તેના દ્વારા થનારા પદાર્થનો પરિચ્છેદ પણ ઉપયોગ કહેવાય છે. આ ઉપયોગના રૂપમાં આત્માનું પરિણામ થાય છે.

ઉપયોગ બાર પ્રકારના છે. જીવનો સ્વભાવ જે ઉપયોગ છે તે મૂળમાં બે પ્રકારનો છે— સાકાર અને અનાકાર બંનેના મળીને બાર ભેદ થાય છે—(૧) મતિજ્ઞાન (૨) શ્રુતજ્ઞાન (૩) અવધિજ્ઞાન (૪) મનઃ પર્યયજ્ઞાન (૫) કેવળજ્ઞાન (૬) મતિ-અજ્ઞાન અર્થાત્ કુમતિજ્ઞાન (૭) શ્રુત-અજ્ઞાન (૮) વિભંગજ્ઞાન અર્થાત્ કુઅવધિજ્ઞાન (૯) ચક્ષુદર્શન (૧૦) અચક્ષુ દર્શન (૧૧) અવધિદર્શન તથા (૧૨) કેવળદર્શન.

યોગના ૧૫ ભેદ આ છે—(૧) ઔદારિક કાયયોગ (૨) વૈક્રિય કાયયોગ (૩) આહારક કાયયોગ (૪) ઔદારિક મિશ્ર કાયયોગ (૫) વૈક્રિયમિશ્ર કાયયોગ (૬) આહારક મિશ્રકાયયોગ (૭) કાર્મણ કાયયોગ (૮) સત્યવચનયોગ (૯) અસત્યવચનયોગ (૧૦) મિશ્રવચનયોગ (૧૧) વ્યવહાર-અસત્યા મૃષાવચનયોગ (૧૨) સત્યમનોયોગ (૧૩) અસત્ય મનોયોગ (૧૪) મિશ્રમનોયોગ અને (૧૫) અસત્યામૃષા મનોયોગ.

આત્મા કાયા વગેરે સેંકડો પ્રકારના પુદ્ગલોની સાથે સંબંધ હોવાનો કારણે અનેક પ્રકારની ગતિકથન તથા ચિંતન વગેરે ક્રિયાઓ કરે છે. તે સમયે તેની તેજ રૂપમાં પરિણુતિ થઈ જાય

છે. તે દૂધ તથા પાણીની જેમ અથવા માટી અને ઘડાની જેમ એકાકાર થઈ જાય છે. તદ્ રૂપમાં પરિણત થાય છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૧૩માં પરિણામ પદના ૧૮૧માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—પરિણામ બે પ્રકારના કહ્યાં છે. તે આ મુજબ છે—

જીવ પરિણામ અને અજીવ પરિણામ ॥૩૧॥

શ્રી જૈન શાસ્ત્રાચાર્ય જૈન ધર્મદિવાકર પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી
મહારાજ વિરચિત તત્ત્વાર્થ સૂત્રની દીપિકા તથા
નિર્યુક્તિ નામની વ્યાખ્યાના ગુજરાતી
ભાષાંતરનો બીજો અધ્યાય
સમાપ્ત ॥૨॥

ત્રીજો અધ્યાય

'सकसाय जीवस्स कम्मजोगा पोग्गलाणं बन्धो'.

મૂળસૂત્રાર્થ:—કષાયયુકત જીવ કર્મયોગ પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે તે જ બન્ધ કહેવાય છે. ॥૧॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સૂત્રમાં કથિત નવ તત્ત્વોમાંથી ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮માં અધ્યયન અનુસાર ક્રમપ્રાપ્ત ત્રીજા બન્ધતત્ત્વની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ.

જે જીવોને ખેંચીને દુર્ગતિમાં ફેંકે છે તેમને કષાય કહે છે અથવા જે જીવોને કષે છે અર્થાત્ પીડા પહોંચાડે છે તેમને કષાય કહે છે. 'કષ'નો અર્થ થાય છે. જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ પ્રકારના કર્મ અથવા સંસાર, તેમનો જેનાથી આય—લાભ થાય અર્થાત્ જેના કારણે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોનો બંધ થાય અગર જન્મ-મરણ રૂપ સંસારની પ્રાપ્તિ થાય તે કષાય છે. ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ આ ચાર કષાય છે.

કષાયયુકત જીવ સકષાય કહેવાય છે. સકષાય જીવ કર્મના યોગ્ય પુદ્ગલોને અર્થાત્ કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે અર્થાત્ અન્ય પ્રદેશોની સાથે એકમેક કરી લે છે, તે બંધ કહેવાય છે.

જીવ અને કર્મનો સંબંધ અનાદિ કાળથી ચાલ્યો આવે છે કર્મના ઉદયના કારણે જીવ કષાયયુકત થાય છે. જ્યારે જીવ કર્મથી સર્વથા રહિત થઈ જાય છે ત્યારે કષાયના લેપનો સંભવ નથી. આથી જીવ અને કર્મના અનાદિ કાળના સંબંધના કારણે જ સ્વભાવથી અમૂર્ત્ત જીવ પણ મૂર્ત્ત કર્મ દ્વારા બંધાઇ રહ્યો છે.

જો બન્ધનું આદિ માનીએ તો તેનાથી પૂર્વ જીવને સિદ્ધની માફક અત્યંત શુદ્ધ માનવો પડશે અને એમ કરવાથી બંધના અભાવનો પ્રસંગ આવી ઉભો રહેશે

જેમ કોઇ વિશિષ્ટ પાત્રમાં રાખેલા વિવિધ પ્રકારના રસ, બીજ, પુષ્પો તથા ફળાદિનું દારુના રૂપમાં પરિણમન થઇ જાય છે તેવી જ રીતે કર્મ વર્ગણાના પુદ્ગલોનો યોગ કષાયના કારણે કર્મરૂપમાં પરિણમન થઇ જાય છે. (૧)

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રારંભમાં પ્રતિપાદિત જીવ અજીવ, બંધ વગેરે નવ તત્ત્વોમાંથી પ્રથમ અને દ્વિતીય અધ્યયનમાં ક્રમથી જીવ અને અજીવ તત્ત્વનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું. ત્યારબાદ ક્રમથી પ્રાપ્ત બંધ તત્ત્વની પ્રરૂપણા અર્થે કહીએ છીએ—

અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ, માન, માયા તથા લોભ વગેરેના ભેદથી કષાય સોળ પ્રકારના છે. જે કષાયથી જોડાયેલા હોય તે સકષાય કહેવાય છે કષાયયુકત જીવ કર્મને યોગ્ય અર્થાત્ કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે. આ જ બંધ કહેવાય છે.

આત્મપ્રદેશોનું અને કાર્મણજાતિના પુદ્ગલોનું પરસ્પરમાં બંધાવું. એકમેક થઈ જવું એવો બંધ શબ્દનો અર્થ થાય છે. બંધ થવાથી આત્મપ્રદેશ અને કર્મ પુદ્ગલ દૂધ તથા પાણીની જેમ ભળી જાય છે પ્રકૃતિ બંધ વગેરેના ભેદથી બંધના ચાર પ્રકાર છે.

અથવા જેના વડે આત્મા બંધાય-પરાધીન કરાય તે પુદ્ગલનું પરિણમન બંધ કહેવાય છે. રાગદ્વેષ વગેરેથી યુક્ત આત્મપ્રદેશોમાં કાર્મણ-પુદ્ગલોનો આશ્લેષ થવો બંધ છે.

જે આત્માને દુર્ગતિમાં નાખીને તેનો ઘાત કરે છે તે કષાય છે. આ કષાય શબ્દ **'कष-हिंसायाम्'** ધાતુથી બન્યો છે. કષાયના ક્રોધ. માન, માયા તથા લોભ એ ચાર મુખ્ય ભેદ છે.

હેમકોશ અનુસાર કષાય શબ્દના અનેક અર્થ છે, જેમકે સુરભિ, રસ, રાગ, વસ્તુ, નિર્યાસ, ક્રોધદિ તથા વિલેપન.

જીવનો અર્થ છે આત્મા જે સ્થિતિ, ઉત્પત્તિ, તથા વ્યય રૂપ પરિણામથી યુક્ત છે તે જીવ કર્તા છે તે કર્તા હોવાથી જ કર્મના બંધ તથા ફળનો અનુભવ સંભવીત થઈ શકે છે

કર્મ શબ્દનો અર્થ છે—જે કરવામાં આવે તે કર્મ કર્મના આઠ ભેદ છે. જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ, ગોત્ર, અન્તરાય,

ઔદારિક વગેરે આઠ પ્રકારની પુદ્ગલની વર્ગણાઓ છે તે પૈકી કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલ જ કર્મરૂપમાં પરિણત થવાને યોગ્ય હોય છે. અનન્તાનન્ત પ્રદેશી અને ચાર સ્પર્શ વાળા જ પુદ્ગલ આત્મપ્રદેશોમાં ભળી જાય છે જેમ તેલથી ચિકણા શરીર પર રજકણ ચોંટી જાય તેમ. આને જ બંધ કહેવામાં આવે છે.

મિથ્યાદર્શન આદિના આવેશથી આત્મા તદ્ રૂપમાં પરિણત થાય છે આ પરિણમન ક્રિયા જ કર્મોના લાગવાનું કારણ છે તે ક્રિયાનો કર્તા આત્મા છે. આત્માની ક્રિયાથી ઉત્પન્ન થનારા કર્મ આઠ પ્રકારના છે. હવે પછી કહેવામાં આવનારા મિથ્યાદર્શન આદિ કર્મબન્ધના સામાન્ય કારણ છે તેમનું મુખ્ય કારણ તો ક્રોધ વગેરે કષાય જ છે આથી જ અત્રે કષાયને ગ્રહણ કરવામાં આવ્યા છે.

ક્રોધન અર્થાત્ કોપ થવો ક્રોધ છે અથવા જેને લીધે જીવ ગુસ્સે થઈ જાય તે ક્રોધ કહેવાય છે આ ક્રોધ અક્ષમારૂપ અર્થાત્ ક્ષમાનો વિરોધી છે, સ્વાત્મા અને પરમાત્મા પ્રત્યે અપ્રીતિરૂપ છે અને ક્રોધ મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા જીવનું એક પ્રકારનું પરિણમન છે. તે કૃત્ય અને અકૃત્યના વિવેકનો નાશ કરનાર છે, અગ્નિરૂપ હોય છે.

પોતાનાથી અન્યને હલકો માનવો તે માન છે. આ અહંકારરૂપ આત્માની એક પરિણતિ છે.

જેના વડે છેતરાવાય છે અથવા જેના દ્વારા લોકોને નરક વગેરેમાં નાખવામાં આવે છે તે માયા છે અથવા જેમાં સઘળાં અવગુણ આવી જાય છે-સમાઈ જાય છે-તે માયા છે. બીજાને છેતરવા માટે જે અશુદ્ધ પ્રયોગ અર્થાત્ છદ્મ પ્રયોગ કરવામાં આવે છે તે સઘળી માયા છે.

જેના દ્વારા આત્મા વ્યાકુળ કરાય છે તે લોભ કહેવાય છે તેના બે ભેદ છે-આકાંક્ષા અને ગૃદ્ધિ. અપ્રાપ્ત વસ્તુની કામના થવી આકાંક્ષા છે અને પ્રાપ્ત વસ્તુ પરત્વે આસક્તિ થવી તે ગૃદ્ધિ છે. લોભને તૃષ્ણા પિપાસા, અભિષ્વંગ આસ્વાદ ગાર્ધ્ય વગેરે પણ કહે છે

ઉપર જણાવેલા ક્રોધ આદિ એક-એક કષાય પણ અનન્ત સંસાર ભ્રમણનું કારણ હોય છે. આ ચારે કષાયો અત્યન્ત પાપમય છે, સંસારના કારણ છે, ભવની પ્રાપ્તિના મૂળ કારણ છે, જન્મ-જરા રૂપ સંસાર સ્થિતિના નિદાન છે, પ્રાણીઓ માટે અત્યન્ત કષ્ટજનક છે અને

નિરપરાધ વેરી છે. દશવૈકાલિક સૂત્રના ૮માં અધ્યયનના બીજા ઉદ્દેશકની ૪૦ મી ગાથામાં કહ્યું છે—

ક્રોધ અને માન જો નિગૃહીત ન કરવામાં આવે તેમજ માયા તથા લોભ જો વધતાં ગયા તો આ ચારેય કષાયો પુનર્ભવના મૂળનું જ સિંચન કરે છે. વળી કહે છે—

લોકમાં જે અત્યન્ત દુઃખ છે અને ત્રણે લોકમાં જે ઉત્તમ સુખ છે તે કષાયોની વૃદ્ધિ અને ક્ષયના કારણે જ જાણવા જોઈએ. તાત્પર્ય એ છે કે કષાયોની વૃદ્ધિથી દુઃખ અને ક્ષયથી ઉત્તમ સુખની ઉપલબ્ધિ થાય છે.

આત્મામાં કષાય-પરિણામ ત્યારે જ શક્ય છે જ્યારે તેને પરિણમનશીલ માનવામાં આવે. જો આત્માને અપરિણામી, સર્વવ્યાપી અને નિષ્ક્રિય માનવામાં આવે તો તેમાં કષાય-પરિણામ થઈ શકતું નથી આથી પરિણામશીલ આત્મામાં જ કષાયપરિણામક સંભવીત છે—કહ્યું પણ છે—

ભગવાન મહાવીરના મતાનુસાર જીવ કર્મબન્ધનથી બદ્ધ છે અને કર્ત્તા આત્માની સાથે કર્મપ્રવાહની અપેક્ષા અનાદિ કાળથી લાગેલા પડયા છે.

સંસાર અનાદિ કાળથી છે આથી કર્મબન્ધ પણ અનાદિકાલીન જ સિદ્ધ થાય છે આ કારણે જ કર્મ મૂર્ત્ત છે, જે અમૂર્ત્ત હોય છે તે બન્ધકર્ત્તા હોતા નથી ॥ ૨ ॥

મનુષ્ય પ્રારંભમાં જે દેહ ધારણ કરે છે તે હેતુરહિત નથી. તેનું કોઈને કોઈ કારણ તો હોવું જ જોઇએ. જો કારણ વગર જ દેહનું ગ્રહણ માનવામા આવે તો સંસારથી કદી પણ મોક્ષ જ થઇ શકત નહીં.

અર્હન્ત ભગવંત કર્મને મૂર્ત્ત માને છે કારણકે કર્મનું ફળ (શરીર વગેરે) મૂર્ત્ત જોવામાં આવે છે અને તેની ઉદીરણા તથા ઉપનામનું થવું પણ જોવામાં આવે છે ॥ ૪ ॥

જો કર્મ રૂપી ન હોત તો આત્માની સાથે બદ્ધ ન હોવાથી આત્માની સાથે રહી ન શકત. જો કર્મ બદ્ધ છે તો તેમનું રૂપપણુ પણ સિદ્ધ થઈ શકે છે ॥ ૫ ॥

આમ કર્મનું મૂર્ત્ત થવું સિદ્ધ થઈ જાય છે પરન્તુ બધાં પુદ્ગલ કર્મને યોગ્ય હોય છે એવું સમજી લેવું ન જોઈએ. માત્ર કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલ જ જે અન્ય સમસ્ત વર્ગણાઓની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ હોય છે તે જ કર્મ રૂપમાં ગ્રહણ કરવામાં આવે છે. જે આત્માએ કર્મોના આગમનના દ્વારોને–આશ્ર-મિથ્યાત્વ, અવિરતિ વગેરેને રોકયા નથી તે અતિ સૂક્ષ્મ અને અતિ સ્થૂળ, પુદ્ગલોને, જેઓ બન્ધને યોગ્ય હોતા નથી, તેમને છોડી દઈને અનન્તપ્રદેશી કર્મ યોગ્ય પુદ્ગલસ્કન્ધોને જ કર્મના રૂપમાં ગ્રહણ કરે છે. કહ્યું પણ છે—

જીવ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ અને અત્યન્ત બાદર પુદ્ગલ સ્કન્ધોને ગ્રહણ કરવામાં સમર્થ હોતો નથી અણુ અને શર્કરા કદી આ રૂપથી જીવની સાથે બદ્ધ થતાં નથી.

કોઈ પુદ્ગલ અણુરૂપ અને કોઈ સ્કન્ધરૂપ હોય છે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા કોઈ-કોઈ પુદ્ગલ એક-એક પ્રદેશની વૃદ્ધિ થતા-થતા અનન્તપ્રદેશી થઈ જાય છે. જિનેન્દ્ર ભગવન્તોકહ્યુએ છે કે કેટલાંક અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધ પણ અગ્રાહ્ય હોય છે. ॥ ૨ ॥

તે સ્કન્ધોમાં પણ એક-એક પ્રદેશની વૃદ્ધિ થઈને, જે પાંચ રસ, પાંચ વર્ણ બે ગંધ અને ચાર સ્પર્શવાળા અગુરૂ લઘુ અવસ્થિત અને જીવપ્રદેશોની સાથે એક જ ક્ષેત્રમાં અવગાહ હોય અને કર્મરૂપમા પરિણત થવાને યોગ્ય હોય તે જ પુદ્ગલકર્મરૂપમાં ગ્રહણ કરવામાં આવે છે. ॥ ૪ ॥

અભવ્ય જીવોની રાશિથી અનન્તગુણ અને સિદ્ધોથી અનન્તમાં ભાગ પરમાણુ મળીને એક સ્કન્ધ (પિન્ડ)ના રૂપમાં પરિણત થયા હોય,-આ સ્કન્ધોનુ પરિણામ છે ॥ ૫ ॥

ઔદારિક આદિ શેષ પુદ્ગલદ્રવ્યોને ગ્રહણ કરવાની પણ આવી જ વિધિ કહેવામાં આવી છે. ઔદારિક વર્ગણાના બધા સ્કન્ધ અલ્પ પ્રદેશોવાળા હોય છે ॥ ૬ ॥

તે ઔદારિક શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધોની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધ પ્રદેશોની અપેક્ષા અસંખ્યાતગણા અધિક હોય છે અને વૈક્રિય શરીરની અપેક્ષા આહારક શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધ પ્રદેશોની અપેક્ષા અસંખ્યાતગણા હોય છે ॥ ૭ ॥

આહારક શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધોની અપેક્ષા ક્રમશ અનન્તગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ તૈજસ્ શરીરને યોગ્ય હોય છે તૈજસ શરીરના યોગ્ય સ્કન્ધોથી અનન્તગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ ભાષાના તેમનાથી અનન્તગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ પ્રાણાપાનના, તેમનાથી અનંત ગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ કર્મને યોગ્ય હોય છે ॥ ૮ ॥

કષાયયુકત જીવ ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ભાષા, પ્રાણાપાન મન અને કર્મ-વર્ગણાના ભેદથી આઠ પ્રકારનાં, પરમાણુ દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ આદિથીલઈને સર્વલોકવ્યાપી અચિત્ત મહાસ્કન્ધ સુધી પુદ્ગલોમાંથી જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય નામ ગોત્ર આયુ અને અન્તરાય કર્મવર્ગણાના અનુરૂપ સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા પુદ્ગલોને જ ગ્રહણ કરે છે, બાદર પરિણમનને યોગ્ય પુદ્ગલોને નહીં આત્મા જ્ઞાનના આવરણમાં સમર્થ તે પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે.

જે કર્મ જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે. એવી જ રીતે જે દર્શન ગુણને ઢાંકી દે છે તેને દર્શનાવરણ કર્મ કહેવાય છે. આવી જ રીતે જ્ઞાન વગેરે ગુણોને ઢાંકી દેવા માટે સમર્થ કર્મ પુદ્ગલોની જ્ઞાનાવરણ આદિ સંજ્ઞાઓ પ્રસિદ્ધ છે.

આમ આત્માના પ્રદેશો સાથે કર્મપુદ્ગલોનું એકમેક થઈ જવું બન્ધ કહેવાય છે.

કાર્મણ શરીર આત્માની સાથે એકમેક થઈ રહ્યુ છે, યોગ અને કષાયથી યુકત આત્મા જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે. આથી કાર્મણ શરીર દ્વારા કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોનું ગ્રહણ કરવું તે બંધ કહેવાય છે. જેમ દીવો પોતાની ઉષ્ણતાને લીધે વાટ વડે તેલ ગ્રહણ કરીને જ્યોતિના રૂપમાં પરિણત કરે છે ઠીક તેવી જ રીતે આત્મારૂપી દીવડો રાગ દ્વેષ વગેરે ગુણોના યોગથી કષાય અને યોગરૂપી દીવાથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલ સ્કન્ધોને ગ્રહણ કરીને જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોના રૂપમાં પરિણત કરે છે.

જેવી રીતે તેલથી ચોળાયેલા શરીર પર તથા પાણીથી ભીંજાયેલા વસ્ત્રોમાં ધૂળ તથા રેતીના કણ ચોંટી જાય છે. અને શરીર અગર વસ્ત્રને ગંદા બનાવે છે તેવી જ રીતે રાગાદિની સ્નિગ્ધતાથી (ચિકાશ) ચીકણો બનેલો આત્મા નવીન કર્મોને ગ્રહણ કરવાને યોગ્ય હોય છે.

કહેવાનું એ છે કે આત્મા અને શરીરના એકમેક થવાથી, આભોગવીર્ય દ્વારા, કર્મનો બંધ થાય છે. કહ્યું પણ છે—

આ પ્રાયોગિક બંધ કર્ત્તાના સામર્થ્યથી ઉત્પન્ન થાય છે અને તેના અનાભોગિક વીર્યથી માનેલ છે ॥૧॥

અનાભોગિક વીર્ય દ્વારા રસને પચાવીને તે અનાભોગિક વીર્ય દ્વારા જ તેને ધાતુરૂપમાં પરિણત કરે છે. ॥૨॥

જેમ ઘડા વગેરેમાં થનારા માટીના અવયવ પિન્ડમાં સમાયેલા હોય છે તેવી જ રીતે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોના દેશ (અવયવ) પણ સમજી લેવા જોઈએ.

કર્મ જો કે સમાહિત તથા અવિભકત છે—કાર્મણ વર્ગણા દ્રવ્યની અપેક્ષાથી એક રૂપ છે તો પણ જિનેન્દ્રોએ પ્રકૃતિના ભેદથી તેને આઠ પ્રકારના જોયા છે અર્થાત્ કર્મની પ્રકૃતિઓ આઠ હોવાથી કર્મના આઠ ભેદ માન્યા છે. ॥૪॥

જેમ પુદ્ગલત્વની અપેક્ષાથી બધા પુદ્ગલ દ્રવ્ય સરખા છે તો પણ તેમના વિપાકમાં તફાવત જોવામાં આવે છે. કોઈ દ્રવ્ય પિત્તકારી, કોઈ કફજનક તો કોઈ વાયુવર્ધક હોય છે એવી રીતે ગુણ ભેદ હોવાથી તે-તે દ્રવ્યોમાં પણ ભેદ માનવામાં આવે છે આવી જ રીતે કર્મોમાં પણ પ્રકૃતિના ભેદથી ભેદ માનવામાં આવ્યા છે.

જે કર્મની જેવી પ્રકૃતિ (ગુણ સ્વભાવ) છે તેના ફળ પણ તેવાજ હોય છે. જાંબુના વૃક્ષમાં લીંબોળી લાગતી નથી અને લીમડાના વૃક્ષમાં જાંબુ થઈ શકતા નથી.

ઠીક આવી જ રીતે જુદા જુદા પ્રકારના પોતાના પ્રયોગ રૂપી જળથી સીંચેલ કર્મ રૂપી વૃક્ષ પણ પોતપોતાના સ્વભાવ અનુસાર જુદા જુદા પ્રકારના ફળોને ઉત્પન્ન કરે (૭)

સમવાયાંગ સૂત્રના પાંચમાં સમવાયમાં કહે છે—
યોગથી થનારો બંધ અને કષાયથી થનારો બંધ.

આવી જ રીતે સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—પાપકર્મોનો બન્ધ બે કારણોથી થાય છે—રાગદ્વેષથી રાગ બે પ્રકારના છે—માયા અને લોભ. દ્વેષ પણ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—ક્રોધ અને માન પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩ માં પદમાં આવી જ રીતનું પ્રરુપણ કરવામાં આવ્યું છે. (સૂ. ૧)

'सो चउव्विहो पगइ-ठिइ-अणु-भाग पपसमेयओ' ઇત્યાદિ

મૂળસૂત્રાર્થ—બન્ધ ચાર પ્રકારના છે—પ્રકૃતિબન્ધ, સ્થિતિબન્ધ, અનુભાગબન્ધ અને પ્રદેશબન્ધ.... ॥૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં કથિત બન્ધ એકજ પ્રકારનો છે કે અનેક પ્રકારનો ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી કહીએ છીએ. બન્ધના ચાર ભેદ છે. (૧) પ્રકૃતિબન્ધ (૨) સ્થિતિબન્ધ (૩) અનુભાગબન્ધ તથા (૪) પ્રદેશબન્ધ.

૧. પ્રકૃતિબન્ધ—પ્રકૃતિનો અર્થ છે—અંશ અથવા ભેદ તેના જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ ભેદ છે તેમનું બન્ધ થવું પ્રકૃતિબન્ધ કહેવાય છે અથવા અવશિષ્ટ-સાધારણ જે કર્મદ્રવ્ય છે તેમાં

જુદા જુદા પ્રકારની પ્રકૃતિઓ અર્થાત જ્ઞાનાદિ ગુણોને આવૃત્ત કરવાના વિભિન્ન સ્વભાવોનુ ઉત્પન્ન થઇ જવું પ્રકૃતિબન્ધ છે.

૨ સ્થિતિબન્ધ--પરિણામ વિશેષ દ્વારા ગ્રહણ કરેલા કર્મના દલિકોની આત્માની સાથે બંધાયેલા રહેવાની કાળ મર્યાદાને સ્થિતિબન્ધ કહે છે અથવા જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મ-પ્રકૃતિઓના જઘન્ય આદિ ભેદથી ભિન્ન અવસ્થાનનું નિર્વર્તન સ્થિતિબન્ધ કહેવાય છે.

૩. અનુભાગબન્ધ--અનુભાગ અર્થાત્ ગૃહીત કર્મ દલિકોમાં ઉત્પન્ન થનારા તીવ્ર અગર મંદ રસ, તેનો બન્ધ અનુભાગબન્ધ કહેવાય છે.

૪. પ્રદેશબન્ધ—જીવપ્રદેશોમાં, કર્મપ્રદેશોમાં અનન્ત કર્મપ્રદેશોનું પ્રત્યેક પ્રકૃતિમાં નિયત પરિમાણના રૂપમા સંબંધ થવો પ્રદેશબન્ધ છે. કર્મદલિકોનો સંચય પ્રદેશબન્ધ કહેવાય છે. આથી સ્થિતિ અને રસની અપેક્ષા ન રાખતા દલિકોની સંખ્યાની પ્રધાનતાથી જ જે બન્ધ થાય તેને પ્રદેશબન્ધ સમજવો જોઈએ. કહ્યું પણ છે.

પરિણામને પ્રકૃતિ કહે છે કાળની અવધિને સ્થિતિ કહે છે, રસને અનુભાગ અને દલિકોના સમૂહને પ્રદેશ કહે છે.

આ ચાર પ્રકારના બન્ધોમાં પ્રકૃતિ અને પ્રદેશબન્ધ યોગના નિમિત્તથી થાય છે તથા સ્થિતિબન્ધ તથા અનુભાગબન્ધ કષાયના નિમિત્તથી થાય છે. યોગ અને કષાયની તીવ્રતા અને મન્દતાના ભેદથી બન્ધમાં જુદાઈ થઈ જાય છે કહ્યું પણ છે—યોગથી પ્રકૃતિ અને પ્રદેશબન્ધ તથા કષાયથી સ્થિતિ અને અનુભાગબન્ધ જીવ કરે છે. જે જીવનો યોગ અને કષાય અપરિણત હોય છે અથવા નાશ પામે છે, તેને વિશેષ સ્થિતિબન્ધનું કારણ રહેતું નથી.

ઉપશાન્ત કષાય વીતરાગ અર્થાત્ ૧૧ માં ગુણસ્થાનકના જીવ અપરિણત યોગ કષાયવાળા કહેવાય છે અને ક્ષીણ કષાય આદિ જીવ વિનષ્ટ યોગ–કષાયવાળા કહેવાય છે. આવા જીવોનો જે કર્મબન્ધ થાય છે તેમાં બે સમયથી અધિક સ્થિતિ પડતી નથી. ॥ સૂ ૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રોમાં પ્રતિપાદિત બન્ધ શું એક પ્રકારનો છે કે અનેક પ્રકારનો ? એવી આશંકા થવા પર કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત કર્મબન્ધ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે (૧) પ્રકૃતિબન્ધ (૨) સ્થિતિબન્ધ (૩) અનુભાગબન્ધ (૪) પ્રદેશબન્ધ પ્રકૃતિનો અર્થ છે—મૂળ કારણ અહીં તેનો આશય સ્વભાવ છે. જેમ–શીતળતા એ પાણીનો સ્વભાવ છે અથવા આ પુરૂષ દુષ્ટ પ્રકૃતિ છે એનો અર્થ છે આ પુરૂષ નઠારા સ્વભાવવાળો છે એવી ઉક્તિ લોકમાં પ્રસિદ્ધ છે.

જ્ઞાનાવરણ કર્મની પ્રકૃતિ અથવા સ્વભાવ જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરે છે આ કારણે જ્ઞાનાવરણ કર્મના ઉદયથી પદાર્થોના જ્ઞાનનો અભાવ હોય છે ! દર્શનાવરણ કર્મના ઉદયથી પદાર્થોના આલોચન (સામાન્ય જ્ઞાન)નો અભાવ હોય છે, એજ પ્રકારે વેદનીય આદિ કર્મોની પણ વિભિન્ન પ્રકૃતિઓ સમજી લેવી જોઈએ સ્વભાવનો વાચક પ્રકૃતિ શબ્દ સ્વભાવનો સાધક છે. પ્રકૃતિરૂપ બંધને પ્રકૃતિ બંધ કહેવાય છે.

જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોનો આત્મપ્રદેશોની સાથે એકમેક થવું તે બન્ધ છે તેનો પોતાના સ્વભાવથી ચ્યુત ન થવું સ્થિતિ છે તાત્પર્ય એ છે કે આત્મપ્રદેશોની સાથે કર્મ પુદ્ગલોના બદ્ધ રહેવાના કાળની જે અવધિ છે, તે સ્થિતિબન્ધ છે. સ્થિતિ શબ્દ પણ ભાવસાધન છે અર્થાત્ રોકાવું તેને સ્થિતિ કહે છે. ગૃહીત વસ્તુને રોકાવવાના સમયની મર્યાદા સ્થિતિ કહેવાય છે જેમ ગાય વગેરેના દૂધની મીઠાશ—સ્વભાવથી વેગળા ન થવું તે સ્થિતિ છે તેજ પ્રકારે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોથી જ્ઞાનાચ્છાદન આદિ સ્વભાવથી અલગ ન બનવું તે સ્થિતિ છે તારણ એ છે કે આત્મા દ્વારા ગ્રહણ કરેલી કર્મ—પુદ્ગલોની રાશિનું આત્મપ્રદેશોમાં અવસ્થિત રહેવું સ્થિતિ છે. તેના દ્વારા અગર તેના રૂપમાં થનાર બન્ધ સ્થિતિબન્ધ છે.

અનુભાગ અર્થાત્ અનુભાવ. કર્મ પુદ્ગલોમાં રહેલું એક વિશેષ પ્રકારનું સામર્થ્ય અનુભાગ છે. તાત્પર્ય એ છે કે ગ્રહણ કરવામાં આવતા કર્મ પુદ્ગલોમાં તીવ્ર, તીવ્રતર, તીવ્રતમ અથવા મંદ, મંદતર અને મંદતમ ફળ પ્રદાન કરવાની જે શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે તેને અનુભાગ બન્ધ કહે છે કર્મોનો અનુભાવ કષાયની તીવ્રતા—મન્દતા અનુસાર થાય છે અને આ કારણથી જ તે અનેક પ્રકારનો છે. કોઈ અનુભાગ દેશઘાતી તો કોઈ સર્વઘાતી હોય છે કોઈ એક સ્થાનક, કોઈ દ્વિસ્થાનક, કોઈ ત્રિસ્થાનક તો કોઈ ચતુઃસ્થાનક હોય છે.

આત્માના પ્રદેશોમાં કર્મ પુદ્ગલ દ્રવ્યના પરિણામનો પરિચ્છેદ પ્રદેશબન્ધ છે.

આમ આત્માના અધ્યવસાયોના કારણે પુદ્ગલોનું પરિણમન વિચિત્ર પ્રકારનું થાય છે. જેમ લાડવો વાયુ અને પિત્તને હરવાવાળો. બુદ્ધિવર્ધક, સંમોહકારી હોય છે, વગેરે રૂપથી જીવના સંયોગથી તે જુદા જુદા આકારોમાં પરિણત થાય છે એવી જ રીતે કર્મ વર્ગણાના પુદ્ગલોની કોઈ રાશિ આત્માના સંબંધથી જ્ઞાનનું આવરણ કરે છે, કોઈ દર્શનનું આવરણ કરે છે કોઈ સુખ—દુખની અનુભૂતિનું કારણ હોય છે, કોઈ તત્ત્વોના વિષયમાં અશ્રદ્ધા ઉત્પન્ન કરે છે વગેરે કહ્યું પણ છે—

આવી રીતે કર્મની મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી છે તેમની સ્થિતિના કાળનું જે કારણ છે તે સ્થિતિબન્ધ કહેવાય છે. ॥૧॥

તે પ્રકૃતિઓના વિપાક—ફળનું જે કારણ છે. જે તેમના નામ અનુસાર ભિન્ન—ભિન્ન પ્રકારના છે તે રસને અનુભાવ કહે છે. તેમાં કોઈ તીવ્ર, કોઈ મન્દ અને કોઈ મધ્યમ હોય છે. ॥૨॥

તે પૂર્વોક્ત કર્મ સ્કન્ધોનો જીવ દ્વારા સંપૂર્ણ પ્રદેશોથી યોગ વિશેષ દ્વારા ગ્રહણ થવું પ્રદેશબન્ધ છે. ॥૩॥

આત્માનો પ્રત્યેક પ્રદેશ અનન્ત—અનન્ત કર્મપ્રદેશોથી બંધાયેલો છે. આ જીવ નિરન્તર યોગના કારણે કર્મોનો બન્ધ કરે છે અને તેમની નિર્જરા પણ કરતો રહે છે. ॥૪॥

સમવાયાંગ સૂત્રનાં ચોથા સમવાયમાં કહ્યું છે. બન્ધ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે તે આ પ્રકારે છે—

(૧) પ્રકૃતિબન્ધ (૨) સ્થિતિબન્ધ (૩) અનુભાવબન્ધ અને (૪) પ્રદેશબન્ધ ॥૨॥

'बंधहेउणो पंच मिच्छादंसणाविरइ' ઇત્યાદિ

મૂળ સૂત્રાર્થ—કર્મબન્ધના પાંચ કારણ છે. (૧) મિથ્યાદર્શન (૨) અવિરતિ (૩) પ્રમાદ (૪) કષાય અને (૫) યોગ. ॥૩॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા કર્મબન્ધના પ્રકાર પ્રદર્શિત કરવામાં આવ્યા હવે તેમના હેતુઓનું પ્રતિપાદન કહીએ છીએ, મિથ્યાદર્શન અવિરતિ, પ્રમાદ, કષાય અને યોગ–આ સઘળાં કર્મબન્ધના કારણ છે. તેમનો અર્થ આ મુજબ છે—

૧. મિથ્યાદર્શન–તત્ત્વાર્થને અર્થાત્ કુદેવ, કુગુરુ અને કુધર્મ પ્રત્યેની શ્રદ્ધાને મિથ્યાદર્શન કહે છે. તત્ત્વાર્થ શ્રદ્ધાન રૂપ સમ્યગ્ દર્શનનું આ વિરોધી છે.

૨. અવિરતિ–પ્રાણાતિપાત વગેરે પાપસ્થાનોથી નિવૃત્ત ન થવું. આ અવિરતિ વિરતિ રૂપ પરિણતિથી વિપરીત છે.

૩. પ્રમાદ–પ્રમદન, પ્રમત્તતા, સમીચીન ઉપયોગનો અભાવ પુણ્ય કૃત્યોમાં અનાદર—આ સઘળાં પ્રમાદ છે.

૪. કષાય–અનન્ત સંસારની પરમ્પરાને ભમાવવાવાળા ક્રોધ, માન, માયા અને લોભને કષાય કહે છે.

૫. યોગ–મન. વચન અને કાયાનો વ્યાપાર યોગ છે.

આ પાંચે કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલ-સ્કન્ધો અને આત્મ પ્રદેશોના પરસ્પર સંબંધ રૂપ બંધના કારણ છે. આ પાંચેય સમસ્ત કર્મોના બંધના સામાન્ય કારણ તરીકે લેખવા જોઈએ.

જ્ઞાનાવરણ વગેરેના બન્ધના વિશેષ હેતુ હવે પછી કહેવામાં આવશે.

મિથ્યાદર્શન બે પ્રકારના છે—નૈસર્ગિક અને પરોપદેશ નિમિત્ત જે મિથ્યાદર્શન પરોપદેશ વગર જ મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થઈ જાય છે તે નૈસર્ગિક કહેવાય છે.

પરોપદેશથી ઉત્પન્ન થનાર મિથ્યાદર્શન ચાર પ્રકારના કહેવાયાં છે. (૧) ક્રિયાવાદી (૨) અક્રિયાવાદી (૩) અજ્ઞાનિક અને (૪) વૈનયિક.

અથવા મિથ્યાદર્શન પાંચ પ્રકારના છે—(૧) એકાન્ત મિથ્યાદર્શન (૨) વિપરીત મિથ્યાદર્શન (૩) સંશય મિથ્યાદર્શન (૪) વૈનયિક મિથ્યાદર્શન (૫) અજ્ઞાન મિથ્યાદર્શન.

અવિરતિ બાર પ્રકારની છે–છકાય અને છ ઇન્દ્રિયોના વિષય અર્થાત્ છકાયના જીવોની હિંસાથી નિવૃત્ત થવું અને મન સહિત છએ ઇન્દ્રિયોના વિષયમાં રાગદ્વેષ ધારણ કરવું. પ્રમાદ ઘણા પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે, પાંચ સમિતિઓમાં પ્રમાદ કરવો, ત્રણ ગુપ્તિઓમાં પ્રમાદ કરવો, શુદ્ધિઅષ્ટકમાં જાગૃત ન રહેવું, ઉત્તમ ક્ષમા વગેરે દશ પ્રકારના ધર્મોમાં પ્રમાદ સેવવો વગેરે. સોળ કષાય અને નવ નો કષાય મળીને પચીસ કષાય છે. ચાર મનોયોગ, ચાર વચનયોગ, પાંચ કાયયોગ એમ તેર જાતના યોગ છે. આહારક શરીરના ધારક પ્રમત્ત સંયતમાં આહારકકાય યોગ અને આહારક મિશ્ર કાયયોગ પણ હોય છે. આ ભેગા કરીએ તો યોગના પંદર ભેદ થઈ જાય છે.

મિથ્યાદર્શન વગેરે પૂર્વોકત પાંચ મળેલા પણ કર્મબન્ધના કારણ હોય છે અને જુદા જુદા પણ કારણ હોય છે. મિથ્યાદૃષ્ટિમાં પાંચ મળેલાં કારણ હોય છે. સાસાદન સમ્યગ્ દૃષ્ટિ સમ્યગ્ મિથ્યાદૃષ્ટિ (મિશ્રદૃષ્ટિ) અસંયત સમ્યગ્ દૃષ્ટિમાં અવિરતી પ્રમાદ કષાય અને યોગ એ ચાર બન્ધના કારણ મળી આવે છે. સંયતાસંયત (દેશવિરત)માં વિરતિમિશ્રિત અવિરતિ, પ્રમાદ અને યોગ કારણ હોય છે. પ્રમત્ત સંયતમાં પ્રમાદ કષાય અને યોગ કારણ હોય છે. અપ્રમત્ત

આદિ ચાર ગુણસ્થાનોમાં યોગ અને કષાય કારણ છે. ઉપશાંત કષાય, ક્ષીણ કષાય તથા સયોગી કેવળીમાં એકલો યોગ જ બન્ધનું કારણ હોય છે. અયોગી–કેવળીમાં બન્ધનું કોઈ કારણ ન રહેવાથી બન્ધ જ થતો નથી. ॥૩॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમાં કર્મભાવબન્ધનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે. હવે બન્ધના પાંચ હેતુઓનું નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ–બન્ધના પાંચ કારણ છે–મિથ્યાદર્શન અવિરતિ, પ્રમાદ, કષાય અને યોગ.

કર્મબન્ધના આ સામાન્ય કારણોમાં પહેલું મિથ્યાદર્શન છે. તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાન રૂપ સમ્યક્-દર્શનથી ઉલ્ટું તત્ત્વાર્થનું અશ્રદ્ધાન મિથ્યાદર્શન કહેવાય છે. પાપસ્થાનોથી નિવૃત્તિને વિરતિ કહે છે તેનાથી જે ઉલ્ટું હોય અર્થાત્ પાપસ્થાનોથી નિવૃત્ત ન થાય, તેને અવિરતિ કહે છે. ઈન્દ્રિયોના વિષયોમાં રાગ–દ્વેષપૂર્વક–પ્રવૃત્તિ કરવી વિકથાઓ કરવી ગાઢી તથા લાંબી ઉંઘ લેવી ઈન્દ્રિયોના દોષથી મોક્ષમાર્ગમાં–શિથિલતા થવી અથવા સારા કાર્યોમાં આદરભાવ ન હોવો–પ્રમાદ કહેવાય છે. અનન્તાનુબન્ધી વગેરેના ભેદથી ચાર–ચાર પ્રકારના ક્રોધ માન માયા લોભ એ કષાય છે. માનસિક વાચનિક અને કાયિક વ્યાપાર યોગ કહેવાય છે. આ મિથ્યાદર્શન વગેરે પાંચ કર્મબન્ધના સામાન્ય કારણ છે.

મિથ્યા અર્થાત્ અયથાર્થ–ખોટું દર્શન અથવા દૃષ્ટિ કહેવાનો અભિપ્રાય એ છે કે અયથાર્થ શ્રદ્ધાન મિથ્યાદર્શન છે હિંસા આદિ પાપમય કૃત્યોથી વિરત થવું વિરતિ અર્થાત સંયમ છે. વિરતિ ન થવી તે અવિરતિ અર્થાત્ અસંયમ છે જેનાથી કહેવા માગે છે કે હિંસા વગેરે નિંદવા યોગ્ય કર્મોનો ત્યાગ ન કરવો. સાવધ ન રહેવું પ્રમાદ કહેવાય છે. કષની જેનાથી આયાત થતી હોય તે કષાય જીવ જ્યાં શારીરિક અને માનસિક વિટંબણાઓથી કસાય છે–દુખિત કરવામાં આવે છે તે સંસાર કષ છે અને તેના 'આય' અર્થાત્ આગમનના જે આભ્યન્તર કારણ છે તેમને કષાય કહે છે. ક્રોધ માન માયા અને લોભ કષાય છે.

જે મન વચન તથા કાયાના વ્યાપાર દ્વારા નોકર્મથી યોગદ્રવ્યથી અગર વીર્યાન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન વીર્ય પર્યાય દ્વારા જે યુક્ત કરવામાં આવે, તે યોગ છે.

આમાથી મિથ્યાદર્શન બે પ્રકારના છે–અભિગૃહીત તથા અનભિગૃહીત. સંદિગ્ધ અનભિ-ગૃહીત. મિથ્યાદર્શનનો ભેદ છે. મતિજ્ઞાન વગેરે કોઈ પણ વિષયને દૃષ્ટિમાં રાખીને અસમ્યગ્ દર્શનનો સ્વીકાર કરવો દા. ત. "આ જ સાચુ છે" આ અભિગૃહીત મિથ્યાદર્શન કહેવાય છે, તેથી ભિન્ન મિથ્યાદર્શન અનભિગૃહીત કહેવાય છે. કહેવાનું એ છે કે સંદિગ્ધ પણ અનભિ-ગૃહીત મિથ્યાદર્શન જ છે.

પ્રમાદના ત્રણ ભેદ છે—સ્મૃતિનું અનવસ્થાન સુભ કાર્યો પ્રત્યે અનાદર થવો તથા યોગોનું દુષ્પ્રણિધાન થવો.

અગાઉ અનુભવેલી કોઈ વસ્તુના વિષયમાં યાદગીરી ન રહેવી સ્મૃતિ અનવસ્થાન કહેવાય છે. વિકથા વગેરેમાં મનડું રમતું રહેવાના કારણે યાદ રહેતું નથી કે આ કર્યા બાદ આ કરવાનું છે. એવી જ રીતે આગમવિહીત ક્રિયાકલાપ અર્થાત્ અનુષ્ઠાનોમાં અનાદર–અનુત્સાહ અથવા પ્રવૃત્તિ ન હોવી એ પણ પ્રમાદ જ છે. મન વચન તથા કાયાનો દૂષિત વ્યાપાર થવો, જેવી

રીતે મનથી આર્ત્તધ્યાન અથવા રૌદ્રધ્યાન કરવું અસત્ય વચનોનો પ્રયોગ કરવો અને કાયાથી હિંસા ઈત્યાદિમાં પ્રવૃત્ત થવું એ તમામ પ્રમાદ છે

કષાય મુખ્યતયા ચાર પ્રકારના છે–ક્રોધકષાય માનકષાય માયાકષાય અને લોભ કષાય આ પૈકી ક્રોધ વગેરે ચારે કષાયના ચાર–ચાર ભેદ છે અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ પ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ અને સંજવલન ક્રોધ આવી જ રીતે માન વગેરેના પણ ભેદ સમજવા આમ સોળ કષાય તથા નવ નોકષાય મળીને કુલ ૨૫ કષાય હોય છે જેમાંથી તેર કષાય બન્ધના કારણરૂપ છે.

મન વચન અને કાયાના ભેદથી યોગ ત્રણ પ્રકારના છે–મનોયોગના ચાર ભેદ છે સત્યમનોયોગ અસત્યમનોયોગ, ઉભય મનોયોગ અને અનુભય મનોયોગ વચનયોગ પણ ચાર પ્રકારના છે સત્યવચનયોગ, અસત્યવચનયોગ ઉભયવચનયોગ અને અનુભયવચનયોગ ઔદારિક કાયયોગ વૈક્રિય કાયયોગ આહારક કાયયોગ, કાર્મણ કાયયોગ આ ચાર તથા ઔદારિકમિશ્ર કાયયોગ વૈક્રિયમિશ્ર કાયયોગ અને આહારક મિશ્રકાયયોગ આ ત્રણ, મળીને સાત કાયયોગ હોય છે. એકંદરે પંદર પ્રકારના યોગ કહ્યા છે.

આમાંથી આહારક અને આહારકમિશ્રને બાદ કરતાં બાકીના બધા યોગ કર્મભાવબન્ધના કારણ હોય છે

મિથ્યાદર્શન આદિ પાંચ બન્ધના કારણોમાંથી પૂર્વ–પૂર્વના વિદ્યમાન હોવાથી પછી–પછીનો સદ્ભાવ અવશ્ય થાય છે જેમ મિથ્યાદર્શનનો સદ્ભાવ થવાથી અવિરતિ આદિ ચારે અવશ્ય હોય છે, અવિરતિ થવાથી પ્રમાદ વગેરે ત્રણ જરૂર હોય છે, પ્રમાદ થવાથી કષાય તથા યોગ પણ અવશ્ય હોય છે અને કષાય થવાથી યોગ અવશ્ય થાય છે પરંતુ એ જરૂરી નથી કે પ્રથમ કારણ હોવાથી પાછલું કારણ પણ અવશ્ય હોય જ જેમ યોગનું હોવાથી પ્રથમના ચાર કારણોનું હોવું આવશ્યક નથી, યોગ અને કષાયના હોવાથી બાકી ત્રણ અવશ્ય હોય એવું નથી, યોગ કષાય અને પ્રમાદની હાજરીમાં બાકી બેનું હોવું નિયત નથી એવી જ રીતે જ્યાં અવિરતિ, પ્રમાદ કષાય અને યોગ છે ત્યાં મિથ્યાદર્શન અવશ્ય હોય જ એવો નિયમ નથી.

સમવયાંગસૂત્રના પાંચમાં સમવાયમાં કહ્યું છે–આસ્રવદ્વાર પાંચ કહેલા છે–મિથ્યાત્વ અવિરતિ, પ્રમાદ કષાય તથા યોગ.

સમવાયાંગસૂત્રમાં મિથ્યાત્વ અવિરતિ પ્રમાદ કષાય અને યોગ એ પાંચ આશ્રવદ્વાર કહેલા છે. ॥૩॥

'अट्ठ कम्मपगडीओ णाणदंसणा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—કર્મપ્રકૃતિઓ આઠ છે–જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય મોહનીય આયુ, નામ ગોત્ર અને અન્તરાય ॥૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વોક્ત બન્ધના બે પ્રકાર છે–મૂળ પ્રકૃતિબન્ધ અને ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધ આમાથી આઠ પ્રકારના મૂળપ્રકૃતિ બન્ધના નિરૂપણ અર્થે કહીએ છીએ–મૂળપ્રકૃતિ બન્ધ આઠ પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે–(૧) જ્ઞાનાવરણ (૨) દર્શનાવરણ (૩) વેદનીય (૪) મોહનીય (૫) આયુષ્ય (૬) નામ (૭) ગોત્ર અને (૮) અન્તરાય. જેના વડે જીવનો જ્ઞાનગુણ ઢંકાઈ જાય અથવા જે જ્ઞાનગુણને ઢાંકી દે છે તે જ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે. જે કર્મ દર્શન ગુણને ઢાંકી દે છે

તે દર્શનાવરણ કહેવાય છે. જેના કારણે સુખ દુઃખનો અનુભવ કરવામાં આવે છે તે વેદનીય કહેવાય છે જે વડે જીવ મોહિત થાય છે અથવા જે જીવને મૂઢ બનાવે છે તે મોહનીય છે. જેના ઉદયથી જીવ નારકી વગેરે ભવોને પ્રાપ્ત કરીને ત્યાં ચોંટયો રહે છે તે આયુ કર્મ છે જે કર્મ આત્માને જુદી જુદી યોનિઓમાં નારકી વગેરે પર્યાયો દ્વારા નિમિત્ત કરે છે અર્થાત્ જેના લીધે જીવ નારકી વગેરે કહેવાય છે તે નામ કર્મ છે. જેના ઉદયથી જીવ ઉંચો અથવા નીચો કહેવાય છે તેને ગોત્ર કહે છે. જે દાતા, દાન અને દાનપાત્રની વચ્ચે આવી જાય છે, આવીને વિઘ્ન નાખી દે છે તેને અન્તરાય કહે છે.

જેવી રીતે એકી સાથે આરોગેલો આહાર રસ લોહી માંસ મજ્જા વીર્ય વગેરે અલગ અલગ ધાતુઓના રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે તે જ રીતે આત્માના એક જ પરિણામથી ગ્રહણ કરવામાં આવેલા કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય આદિ જુદા જુદા ભેદોને પ્રાપ્ત થાય છે. પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૧માં પદમાં પ્રથમ ઉદ્દેશકના ૨૮૮માં સૂત્રમાં કહ્યું છે-કર્મની આઠ પ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી છે. જ્ઞાનાવરણીય દર્શનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, આયુ નામ, ગોત્ર અને અન્તરાય. ॥ સૂ. ૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં કથિત પ્રકૃતિ, સ્થિતિ. અનુભાગ અને પ્રદેશબન્ધ-આ ચાર પ્રકારના બન્ધોમાંથી પ્રથમ પ્રકૃતિબન્ધ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-(૧) મૂળપ્રકૃતિબન્ધ અને (૨) ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધ. આ બે ભેદોમાંથી પ્રથમ મૂળપ્રકૃતિબન્ધ આઠ પ્રકારના છે, તે દર્શાવવા કાજે કહીએ છીએ—

કર્મની મૂળ પ્રકૃતિઓ આઠ છે, જેમને આઠ કર્મ પણ કહે છે. તેમના નામ આ મુજબ છે—(૧) જ્ઞાનાવરણ (૨) દર્શનાવરણ (૩) વેદનીય (૪) મોહનીય (૫) આયુ (૬) નામ (૭) ગોત્ર અને (૮) અન્તરાય.

જ્ઞાન આત્માનો એક અસાધારણ બોધાત્મક ગુણ છે જેના વડે પદાર્થના વિશેષ અંશનું પરિજ્ઞાન થાય છે. દર્શન આત્માનો તે અસાસાન્ય ગુણ છે જે દ્વારા વસ્તુનો સામાન્ય અંશ જાણી શકાય છે. જે કર્મ પ્રવૃતિ, જ્ઞાન અને પદાર્થને ઢાંકી દે છે તેને ક્રમશઃ જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કહે છે.

"આવરણ" શબ્દ ભાવસાધન પણ છે તેમજ કરણસાધન (આચ્છાદન) પણ છે. આવૃત્તિને પણ આવરણ કહે છે અને જેના વડે આવૃત્તિ કરાય તેને પણ આવરણ કહે છે. સંસ્કૃત ભાષા અનુસાર લ્યુટ્ પ્રત્યય કરવાથી 'આવરણ' શબ્દ નિષ્પન્ન થાય છે.

જેના કારણે સુખ અને દુઃખ રૂપ વેદન-અનુભૂતિ થાય તેને વેદનીય કહે છે. જીવને જે મૂઢ અર્થાત્ તત્ત્વાતત્ત્વના વિવેકથી વ્યાકુળ બનાવી દે છે અગર જેના દ્વારા જીવ મોહિત કરાય છે તે મોહનીય છે મોહિત થવું પણ મોહનીય છે. 'મોહનીય' શબ્દ કરણસાધન, કર્તુસાધન અને ભાવસાધન પણ છે. જેના કારણે જીવ નરકગતિ આદિને પ્રાપ્ત કરીને ત્યાં સ્થિત રહે છે તે આયુ છે. 'આયુ'ને આયુષ્ય પણ કહે છે. જે કર્મપ્રવૃતિ આત્માને જુદી જુદી યોનિઓમાં ગતિ આદિની સામે નમાડે છે અર્થાત્ જેના કારણે આત્મા નમે છે. તે નામ છે. આ નામ શબ્દ કર્તૃસાધન તેમજ કરણસાધન છે.

ગોત્રના બે ભેદ છે-ઉચ્ચ અને નીચ : આત્મા જેને પ્રાપ્ત કરે છે તે ગોત્ર છે. આત્માના વીર્યમાં તથા લાભ આદિમાં જે અન્તરાય વિઘ્ન નાખે છે તે અન્તરાય છે.

આવી રીતે જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણના ઉદયથી ઉત્પન્ન થવાવાળી ભવવ્યથા સમસ્ત સંસારી જીવોને થાય છે. તે ભવવ્યથાનો વેદન કરતો થકો પણ જીવ મોહથી પીડીત હોવાના કારણે વિરક્ત થઈ શકતો નથી અને જ્યારે વિરક્ત થતો નથી તો નારકી, તિર્યંચ, દેવતા તથા મનુષ્ય ગતિમાં રખડે છે. જ્યારે કોઈ આયુષ્યમાં રહે છે. તો તેનું નારકી આદિ કોઈ ન કોઈ નામ અવશ્ય હોય છે કારણ કે નામ વગર જન્મ હોતો નથી. જન્મધારી પ્રાણી હમેશાં ઉંચ અથવા નીચ ગોત્રથી યુક્ત હોય જ છે. સંસારી જીવોને ત્યાં જે સુખનો અનુભવ થાય છે તે પણ અન્તરાયવાળું અર્થાત્ વિઘ્નોથી પરિપૂર્ણ હોય છે. આ આઠ પ્રકારના મૂળપ્રકૃતિબંધ સમજવા જોઈએ. ॥ ૪ ॥

'पण पंच नवदुअट्ठावीस चउ' ઇત્યાદિ

મૂળસૂત્રાર્થ:—મૂળ કર્મપ્રકૃતિઓના ક્રમશઃ પાંચ નવ બે, અઠયાવીસ ચાર બેંતાળીશ બે અને પાંચ ભેદ છે. ॥ ૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં આઠ પ્રકારના મૂળપ્રકૃતિબંધ કહેવામાં આવ્યા છે. હવે સત્તાણું (૯૭) પ્રકારના ઉત્તરપ્રકૃતિ બન્ધની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ કર્મ પાંચ પ્રકારના છે. દર્શનાવરણના નવ ભેદ છે. વેદનીયના બે, મોહનીયના અઠયાવીસ, આયુષ્યના ચાર, નામકર્મના બેંતાળીશ ગોત્રકર્મના બે અને અન્તરાયના પાંચ ભેદ છે. ॥ ૫ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં મૂળપ્રકૃતિબન્ધનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે. આત્માના પ્રદેશો અને કર્મવર્ગણાના પુદ્દગલસ્કન્ધોનું એકમેક થઈ જવું એ તેનું લક્ષણ છે. આ બન્ધના કારણે આત્મા અને કર્મ, અગ્નિ અને લોખંડના ગોળાની જેમ એકબીજામાં મળી ગયા હોય એવું પ્રતીત થાય છે એ તો કહેવાઈ ગયું છે કે બન્ધ આઠ પ્રકારના હોય છે—

હવે ઉત્તરપ્રકૃતિબંધની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ. તેના સત્તાણુ (૯૭) ભેદ આ રીતે થાય છે.

જ્ઞાનાવરણપ્રકૃતિબન્ધના પાંચ ભેદ છે, દર્શનાવરણ પ્રકૃતિબન્ધના નવ (૯) ભેદ છે [૧૪] વેદનીય પ્રકૃતિબન્ધના બે (૨) [૧૬], મોહનીયપ્રકૃતિબંધના અઠયાવીસ (૨૮) [૪૪], આયુષ્યપ્રકૃતિબંધના ચાર (૪) [૪૮] નામપ્રકૃતિબંધના બેંતાળીશ (૪૨) [૯૦] ગોત્રપ્રકૃતિબંધના બે (૨) [૯૨] અને અન્તરાયપ્રકૃતિબંધના પાંચ (૫) એમ કુળ [૯૨+૫=૯૭] ભેદ છે.

જ્ઞાનાવરણીયના પાંચ ભેદ છે. સ્થાનાંગસૂત્રના પાંચમાં સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે-જ્ઞાનાવરણીય કર્મ પાંચ પ્રકારના કહેવાયા છે જેમકે—આભિનિબોધિકજ્ઞાનાવરણીય, શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય અવધિજ્ઞાનાવરણીય, મનઃપર્યવજ્ઞાનાવરણીય, અને કેવળ જ્ઞાનાવરણીય.

દર્શનાવરણીય કર્મના નવ ભેદ છે. સ્થાનાંગસૂત્રના નવમાં સ્થાનમાં કહ્યું છે—દર્શનાવરણીય કર્મ નવ પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેવા કે— (૧) નિદ્રા (૨) નિદ્રાનિદ્રા (૩) અચલા (૪) પ્રચલાપ્રચલા (૫) સ્ત્યાનદ્ધિ (૬) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૭) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૮) અવધિદર્શનાવરણ અને (૯) કેવળદર્શનાવરણ.

વેદનીયકર્મના બે ભેદ છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૨૩મા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે–સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય.

મોહનીયકર્મ અઠ્યાવીસ પ્રકારના છે–પ્રજ્ઞાપનામાં ઉપર કહેલા સ્થળ પર જ કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! મોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યાં છે જેમકે–દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! દર્શન મોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ત્રણ પ્રકારના કહ્યાં છે–સમ્યક્ત્વ વેદનીય, મિથ્યાત્વ વેદનીય અને સમ્યક્ મિથ્યાત્વવેદનીય.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! ચારિત્રમોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારનાં કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યાં છે–કષાયવેદનીય અને નોકષાયવેદનીય.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! કષાયવેદનીય કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! સોળ પ્રકારના છે–અનન્તાનુબંધી ક્રોધ, અનન્તાનુબંધી માન, અનન્તાનુબંધી માયા અને અનન્તાનુબંધી લોભ. અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ અપ્રત્યાખ્યાન માન અપ્રત્યાખ્યાન માયા અને અપ્રત્યાખ્યાન લોભ.

પ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ. પ્રત્યાખ્યાન માન, પ્રત્યાખ્યાન માયા અને પ્રત્યાખ્યાન લોભ તથા સંજ્વલન ક્રોધ સંજ્વલન માન, સંજ્વલન માયા અને સંજ્વલન લોભ.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! નોકષાયવેદનીય કર્મ કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! નવ પ્રકારના છે જેમકે–સ્ત્રીવેદવેદનીય, પુરુષવેદ વેદનીય. નપુંસકવેદ વેદનીય, હાસ્ય, રતિ, અરતિ ભય શોક અને જુગુપ્સા.

આયુષ્ય કર્મના ત્યાં જ ચાર ભેદ કહ્યાં છે જેમકે–

પ્રશ્ન—ભગવંત ! આયુષ્યકર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ચાર પ્રકારન કહ્યાં છે–નૈરયિકાયુ, તિર્યગાયુ, મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ.

તે જ સ્થાને નામકર્મના બેંતાળીશ ભેદ કહ્યાં છે–

પ્રશ્ન—ભગવંત ! નામકર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બેંતાળીશ પ્રકારના કહ્યાં છે જેવા કે–(૧) ગતિનામ (૨) જાતિનામ (૩) શરીરનામ (૪) શરીરયોગનામ (૫) શરીર બન્ધનનામ (૬) શરીર સંહનન નામ (૭) સંઘાત નામ (૮) સંસ્થાન નામ (૯) વર્ણનામ (૧૦) ગંધનામ (૧૧) રસનામ (૧૨) સ્પર્શનામ (૧૩) અગુરુલઘુનામ (૧૪) ઉપઘાતનામ (૧૫) પરાઘાતનામ (૧૬) આનુપૂર્વીનામ (૧૭) ઉચ્છ્વાસનામ (૧૮) આતપનામ (૧૯) ઉદ્યોતનામ (૨૦) વિહાયોગતિનામ (૨૧) ત્રસનામ (૨૨) સ્થાવરનામ (૨૩) સૂક્ષ્મનામ (૨૪) બાદરનામ (૨૫) પર્યાપ્તનામ (૨૬) અપર્યાપ્તનામ (૨૭) સાધારણ શરીરનામ (૨૮) પ્રત્યેક શરીરનામ (૨૯) સ્થિરનામ (૩૦) અસ્થિરનામ (૩૧) શુભનામ (૩૨) અશુભનામ (૩૩) સુભગનામ (૩૪) દુર્ભગનામ (૩૫) સુસ્વરનામ (૩૬) દુઃસ્વરનામ (૩૭) આદેયનામ (૩૮) અનાદેયનામ (૩૯) યશોકીર્તિનામ (૪૦ અયશોકીર્તિ નામ (૪૧) નિર્માણ નામ અને (૪૨) તીર્થંકર નામ.

ગોત્રકર્મ બે પ્રકારના કહ્યાં છે.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! ગોત્રકર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે. ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યાં છે–ઉચ્ચ ગોત્ર, નીચ ગોત્ર.

અન્તરાય કર્મ પાંચ પ્રકારના છે. કહ્યું પણ છે–

પ્રશ્ન—ભગવંત ! અન્તરાય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારના છે–(૧) દાનાન્તરાય (૨) લાભાન્તરાય (૩) ભોગાન્તરાય (૪) ઉપભોગાન્તરાય અને (૫) વીર્યાન્તરાય ॥ ૫ ॥

'णाणावराणिज्जं पचविहं मइआइ भेयओ' ઇત્યાદિ

મૂળ સૂત્રાર્થ—જ્ઞાનાવરણીય કર્મ પાંચ પ્રકારના હોય છે મતિજ્ઞાનાવરણીય વગેરે ભેદથી ॥ ૬ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ મૂળ કર્મપ્રકૃતિબંધની ઉત્તર પ્રકૃતિઓના પાંચ, નવ, બે, અઠયાવીસ, ચાર, બેંતાળીશ, બે અને પાંચ ભેદ કહ્યો છે. હવે તે ભેદોનું ક્રમશઃ પ્રતિપાદન કરવા માટે સૌ પ્રથમ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના પાંચ ભેદોનો ઉલ્લેખ કરીએ છીએ—

મતિ, શ્રુત અવધિ મન પર્યવ અને કેવળજ્ઞાનના આવરણ પણ પાંચ છે–મતિજ્ઞાનાવરણ શ્રુતજ્ઞાનાવરણ, અવધિજ્ઞાનાવરણ મનઃપર્યવજ્ઞાનાવરણ અને કેવળજ્ઞાનાવરણ ॥ ૬ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં કહેલી આઠ મૂળપ્રકૃતિબન્ધની સત્તાણુ (૯૧) ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ. તેમાંથી પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ કર્મપ્રકૃતિના ભેદોનું કથન કરીએ છીએ.

મતિ, શ્રુત, અવધિ, મન.પર્યવ અને કેવળજ્ઞાન, આ પાંચ જ્ઞાનોના આવરણ પણ પાંચ હોય છે—(૧) મતિજ્ઞાનાવરણ (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણ (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણ (૪) મનઃપર્યવજ્ઞાના-વરણ (૫) કેવળજ્ઞાનાવરણ આ પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ નામની મૂળ પ્રકૃતિની પાંચ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ છે—

જ્ઞાન સ્વભાવવાળા-પ્રકાશરૂપ આત્માના જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષય અને ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનારા પ્રકાશ વિશેષરૂપ મતિજ્ઞાન વગેરે ઘણા બધાં ભેદ હોય છે જેવાં કે–અવગ્રહ, ઈહા, અવાય ધારણા વગેરે મતિજ્ઞાન ઇન્દ્રિયો અને મનના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થાય છે આથી મતિજ્ઞાનના અનેક ભેદ છે. અંગપ્રવિષ્ટ અને અંગબાહ્ય એ બે, શ્રુતજ્ઞાનના ભેદ છે. ભાવ પ્રત્યય અને ક્ષયોપશમ પ્રત્યય આ બે અવધિજ્ઞાનના ભેદ છે. ક્ષયોપશમ પ્રત્યયના પણ પ્રતિપાતી, અપ્રતિ-પાતી વગેરે છ ભેદ હોય છે ઋજુમતિ અને વિપુલમતિ એ બે મનઃપર્યવજ્ઞાનના ભેદ છે સયોગિ કેવળજ્ઞાન, અયોગિકેવળજ્ઞાન વગેરે કેવળજ્ઞાનના ભેદ છે.

જે શ્રોત્ર આદિ પાંચ ઇન્દ્રિયોથી ઉત્પન્ન થાય છે–ક્ષયોપશમ રૂપ અન્તરંગ કારણથી પેદા થાય છે. તે જ્ઞાન યોગ્ય દેશમાં સ્થિત પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવાનું જાણે છે. અનિન્દ્રિય મનોવૃત્તિ અને ઓઘજ્ઞાન છે. આ મતિજ્ઞાન જેના વડે ઢંકાય છે તે મતિજ્ઞાનાવરણ કર્મ કહેવાય છે. આ કર્મ દેશઘાતિ છે. ચક્ષુપટળ જેવું છે અથવા ચંદ્રમાના પ્રકાશને રોકવાવાળા વાદળ જેવું છે. શ્રોત્રેન્દ્રિયથી થનારી ઉપલબ્ધિને શ્રુત કહે છે, બાકીની ઇન્દ્રિયોથી અને મનથી થનારૂં જ્ઞાન જે શ્રુત–શાસ્ત્રનું અનુસરણ કરે છે અને પોતાના વિષયના પ્રતિપાદનમાં સમર્થ હોય તે શ્રુતજ્ઞાન કહેવાય છે. શ્રુતજ્ઞાન અનેક પ્રકારના છે. કહ્યું પણ છે–લોકમાં જેટલાં અક્ષર છે અને અક્ષરોના સંયોગ છે તેટલી શ્રુતજ્ઞાનની પ્રકૃતિઓ જાણવી જોઈએ

શ્રુતજ્ઞાનને આવૃત્ત કરવાવાળા કર્મ શ્રુતજ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે. આ કર્મ પણ દેશઘાતિ છે.

અન્તર્ગત ઘણા પુદ્‌ગલદ્રવ્યોના અવધાનથી અવધિ કહેવાય છે અથવા પુદ્‌ગલદ્રવ્યોને જ જાણવાની મર્યાદાના કારણે અવધિ કહેવાય છે. આ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે આમાં ઇન્દ્રિયોના વ્યાપારની અપેક્ષા રહેતી નથી, સાક્ષાત્ જ્ઞેય પદાર્થોને જાણે છે અને લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર અસંખ્યાત ભેદ છે.

આ અવધિજ્ઞાનને ઢાંકવાવાળા કર્મ અવધિજ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે. આ કર્મ પણ દેશઘાતિ જ છે.

જે જ્ઞાન આત્માના મનોદ્રવ્યના પર્યાયોનું અવલમ્બન લઇને ઉત્પન્ન થાય છે, મનુષ્યક્ષેત્ર અઢીદ્વીપ સુધી જ જેનો વ્યાપાર હોય છે, પલ્યોપમના અસંખ્યાત ભાગ પરિમિત આગળ પાછળ ભૂત-ભવિષ્યકાળના પુદ્‌ગલોને સામાન્ય તેમજ વિશેષ રૂપથી જાણે છે તે મનઃપર્યવ જ્ઞાન કહેવાય છે; આ જ્ઞાનને ઢાંકવાવાળા કર્મ મનઃપર્યવજ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે. આ કર્મ પણ દેશઘાતિ છે.

જે જ્ઞાન સમસ્ત આવરણોના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે અને સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને જાણે છે તે કેવળજ્ઞાન કહેવાય છે તેને ઢાંકવાવાળા કર્મ જ્ઞાનાવરણ છે. કેવળજ્ઞાનાવરણ કર્મ સર્વઘાતી છે ॥ ૬ ॥

'दंसणावरणिज्जं नवविहं' चक्खुमाइमेओ ॥ सू. ७॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—દર્શનાવરણીય કર્મ નવ પ્રકારના હોય છે ચક્ષુદર્શનાવરણીય વગેરે ભેદથી ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણકર્મ રૂપ મૂળપ્રકૃતિબન્ધની મતિજ્ઞાનાવરણ આદિ પાંચ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ દર્શાવવામાં આવી છે. હવે દર્શનાવરણ કર્મ રૂપ મૂળપ્રકૃતિબન્ધની નવ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ કહીએ છીએ—ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શનના ચાર આવરણ તથા નિદ્રા, નિદ્રાનિદ્રા પ્રચલા પ્રચલાપ્રચલા અને સ્ત્યાનર્દ્ધિ આ દર્શનાવરણ કર્મની નવ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ છે. આવી રીતે દર્શનાવરણ કર્મ નવ પ્રકારના છે—(૧) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૨) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૩) અવધિદર્શનાવરણ (૪) કેવળદર્શનાવરણ (૫) નિદ્રા (૬) નિદ્રાનિદ્રા (૭) પ્રચલા (૮) પ્રચલાપ્રચલા અને (૯) સ્ત્યાનર્દ્ધિ ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણ કર્મની મતિજ્ઞાનાવરણ આદિ પાંચ પ્રકૃતિઓનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું, અત્રે દર્શનાવરણના નવ ભેદ કહેવામાં આવે છે-દર્શનાવરણ નામની જે કર્મની બીજી મૂળ પ્રકૃતિ છે, તેના નવ ભેદ છે. તે આ મુજબ—(૧) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૨) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૩) અવધિદર્શનાવરણ (૪) કેવળદર્શનાવરણ (૫) નિદ્રા (૬) નિદ્રા નિદ્રા (૭) પ્રચલા (૮) પ્રચલાપ્રચલા અને (૯) સ્ત્યાનર્દ્ધિ.

જે ઉંઘ સહેલાઇથી તુટી જાય તે નિદ્રા કહેવાય છે. નિદ્રારૂપ-અનુભવ કરવા લાયક-ને નિદ્રા કહે છે. જે ઉંઘ મુશ્કેલીથી ઉડે તે ગાઢી ઉંઘ નિદ્રાનિદ્રા છે. ઉભા ઉભા અથવા બેઠા-બેઠા આવતી ઉંઘ પ્રચલા છે, જે ઉંઘમાં વિચારેલું કાર્ય કરી નાખવામાં આવે છે તે સ્ત્યાનર્દ્ધિ નિદ્રા કહેવાય છે. આમ પાંચ નિદ્રાઓ તથા ચાર ચક્ષુદર્શનાવરણ વગેરે મળીને દર્શનાવરણના નવ ભેદ હોય છે.

જેના દ્વારા આત્મા જોવે છે તેને ચક્ષુ કહે છે બધી ઇન્દ્રિઓ સામાન્ય-વિશેષ બોધ સ્વરૂપ આત્માને માટે કારણ છે-રૂપાદિને ગ્રહણ કરવાના દ્વાર છે. ચક્ષુરૂપી દ્વારથી થનારુ

દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય-બોધ ચક્ષુદર્શન કહેવાય છે તે આત્માની જ એક વિશિષ્ટ પરિણતિ છે. ચક્ષુ દર્શનાવરણ ચક્ષુદર્શન લબ્ધિનું ઘાતક હોય છે.

ચક્ષુ સિવાયની બાકીની ઇન્દ્રિઓથી તથા મનથી થનાર સામાન્ય બોધ અચક્ષુદર્શન છે. તે પણ આત્માની જ પરિણતિ છે. તેની લબ્ધિનો ઘાત કરવાવાળું અચક્ષુદર્શનાવરણ કહેવાય

અવધિજ્ઞાનના ઉપયોગથી પ્રથમ જે સામાન્ય જ્ઞાન થાય છે તે અવધિદર્શન છે. આ પણ આત્માની પરિણતિ છે. એનો ઘાત કરનાર કર્મ અવધિદર્શનાવરણ કહેવાય છે.

કેવળદર્શન પણ સામાન્ય ઉપયોગ છે. આને ઢાંકવા વાળુ કર્મ કેવળદર્શનાવરણ કહેવાય છે. બીજી મૂળ કર્મપ્રવૃતિની આ નવ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે ॥૭॥

'वेयणिज्जं दुविहं' सायासायभेयओ ॥सू. ८॥

સૂત્રાર્થ—વેદનીય કર્મ બે પ્રકારના છે-સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય ॥૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં દ્વિતીય મૂળ કર્મપ્રકૃતિ દર્શનાવરણની નવ ઉત્તરપ્રકૃતિઓનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે ત્રીજી મૂળપ્રકૃતિ વેદનીયના ભેદોનું કથન કરીએ છીએ-વેદનીય નામક ત્રીજી મૂળ કર્મપ્રકૃતિના બે ભેદ છે-સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય. ॥૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આગલા સૂત્રમાં દર્શનાવરણકર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓનું કથન કર્યું છે હુવે વેદનીય કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

વેદનીય કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બે છે. સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય. જેના ઉદયથી આત્માને મનુષ્ય અને દેવ વગેરે જન્મોમાં ઔદારિક આદિ શરીર તથા મન દ્વારા આગન્તુક વિવિધ મનોરથ દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાળ ભાવ તથા ભવના સમ્બન્ધથી અનેક પ્રકારના સુખનો અનુભવ થાય છે તે સાતાવેદનીય કહેવાય છે તેને સાતાવેદનીય અથવા સદ્વેદ્ય પણ કહે છે. આનાથી જે વિપરીત હોય તે અસાતાવેદનીય અસદ્વેદ્ય કહેવાય છે. તાત્પર્ય એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી અનિષ્ટ સામગ્રી પ્રાપ્ત થવા પર અશાતા-દુઃખરૂપ અનુભૂતિ થાય તે અસદ્વેદ્ય કર્મ છે ॥૮॥

'मोहणिज्जं अट्ठावीइसविहं दंसणचारित्तादि भेयओ ॥ सू ९॥

સૂત્રાર્થ—દર્શનમોહનીય અને ચારિત્ર મોહનીય આદિના ભેદથી મોહનીય કર્મ અઠયાવીશ પ્રકારના છે ॥૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં વેદનીય નામક મૂળ કર્મપ્રકૃતિની બે ઉત્તરપ્રકૃતિઓનું નિરૂપણુ કરવામાં આવ્યું, હવે મોહનીય નામની ચોથી મૂળ કર્મ-પ્રકૃતિની અઠયાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ-મોહનીયકર્મ બે પ્રકારના છે-દર્શનમોહનીય તથા ચારિત્રમોહનીય.

આમાંથી દર્શનમોહનીય કર્મ ત્રણ પ્રકારના છે-(૧) મિથ્યાત્વમોહનીય (૨) સમ્યક્ત્વમોહનીય અને (૩) સમ્યગ્ મિથ્યાત્વમોહનીય અર્થાત્ મિશ્રમોહનીય. ચારિત્રમોહનીય બે પ્રકારના છે-કષાય મોહનીય અને નોકષાયમોહનીય. આમાંથી કષાયમોહનીયના સોળ ભેદ છે. ક્રોધ માન માયા અને લોભ આ ચારેય કષાય અનન્તાનુબંધી, અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન અને સંજ્વલનના ભેદથી ચાર ચાર પ્રકારના હોવાથી સોળ પ્રકારના થઈ જાય છે.

નોકષાયમોહનીયના નવ ભેદ છે. (૧) હાસ્ય (૨) રતિ (૩) અરતિ (૪) શોક (૫) ભય (૬) જુગુપ્સા (૭) પુરુષવેદ (૮) સ્ત્રીવેદ અને (૯) નપુંસકવેદ આવી રીતે દર્શનમોહનીયના ત્રણ ભેદોની સાથે ચારિત્રમોહનીયના સોળ કષાયમોહનીય અને નોકષાયમોહનીયના નવ એ પચીશ ભેદોને ઉમેરતા મોહનીય નામની મૂળ પ્રકૃતિની અઠયાવીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ થઇ જાય છે. ॥૯॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં વેદનીય નામની મૂળ કર્મપ્રકૃતિની બે ઉત્તર પ્રકૃતિઓ દર્શાવાઈ ગઈ છે. હવે ચોથી મોહનીય મૂળપ્રકૃતિની અઠયાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓની પ્રરૂપણા કરવાના હેતુથી કહીએ છીએ—મોહનીય નામની મૂળપ્રકૃતિ દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય વગેરેના ભેદથી અઠયાવીશ પ્રકારની છે—

ત્રણ પ્રકારના દર્શન મોહનીય-મિથ્યાત્વમોહનીય સમ્યક્ત્વ મોહનીય તથા મિશ્રમોહનીય અનન્તાનુબન્ધી અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન અને સંજવલનના ક્રોધ માન, માયા, લોભ એમ સોળ કષાય મોહનીય તથા નવ નોકષાયમોહનીય અર્થાત્ હાસ્ય, રતિ અરતિ શોક, ભય જુગુપ્સા સ્ત્રીવેદ પુરુષવેદ અને નપુંસકવેદ, એ બધાં મળીને મોહનીય કર્મની અઠયાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે.

તત્ત્વાર્થના વિષયમાં સમ્યક્-શ્રદ્ધા ન હોય-વિપરીત શ્રદ્ધા હોવી મિથ્યાત્વ કહેવાય છે જે કર્મના ઉદયથી મિથ્યાત્વની ઉત્પત્તિ થાય છે, તે મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મ કહેવાય છે. જેના ઉદયથી સમ્યક્ત્વનો નાશ ન થાય પરંતુ તે કલંકિત બનેલું રહે તે સમ્યક્ત્વ મોહનીય કર્મ કહેવાય છે જેના ઉદયથી સમ્યક્ત્વ અને મિથ્યાત્વ રૂપ સેળભેળ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય તે સમ્યક્-મિથ્યાત્વ અગર મિશ્રમોહનીય કહેવાય છે. આ ત્રણ દર્શનમોહનીયની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે.

પ્રાણાતિપાત અર્થાત્ પ્રાણિવિરાધના આદિની નિવૃત્તિને ચારિત્ર કહે છે. તેને જે મોહિત મૂર્છિત કરે અર્થાત્ જે ચારિત્ર પરિણામને જાગૃત ન થવા દે, તે ચારિત્રમોહનીય કર્મ કહેવાય છે.

જો કે દર્શનમોહનીય કર્મના ત્રણ ભેદ છે, અને ત્રણેમાં બન્ધ હોય છે-કહ્યું પણ છે—

મિથ્યાત્વનો ઉદય થવા પર જીવની દૃષ્ટિ (રુચિ...પ્રતીતિ, શ્રદ્ધા) વિપરીત થઈ જાય છે તેને વાસ્તવિક ધર્મ ગમતો નથી જેમ પિત્તનો પ્રકોપ થવા પર ઘી પણ કડવું લાગવા માંડે છે ॥૧॥

મિથ્યાત્વની શુદ્ધિ થવા પર ગ્રંથિભેદને પાછળથી સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ થાય છે. ત્યારબાદ જીવ પોતાના સમ્યક્ત્વ ગુણ દ્વારા મિથ્યાત્વ કર્મનું વિશોધન કરે છે જેવી રીતે માદક કોદ્રવ ને છાશ વગેરેથી શુદ્ધ કરવામાં આવે છે. શુદ્ધીકરણ કરવાથી જે કર્મ વિશુદ્ધ થઈ જાય છે તે સમ્યક્ત્વ મોહનીય કર્મ કહેવાય છે. અને જે સંપૂર્ણતયા અશુદ્ધ રહે છે તે મિથ્યાત્વ કર્મ કહેવાય છે ॥૧॥ જે અડધો શુદ્ધ હોય છે અર્થાત્ કંઈક શુદ્ધ અને કંઈક અશુદ્ધ હોય છે તે મિશ્ર કહેવાય છે મદન-કોદ્રવની ત્રણ અવસ્થાઓ હોય છે—અવિશુદ્ધ વિશુદ્ધ અને અર્ધ-વિશુદ્ધ. આથી અહીં તેનું દૃષ્ટાંત ચલવામાં આવ્યું છે. મિથ્યાત્વ, સમ્યક્ત્વમોહ અને મિશ્ર-મોહમાંથી મિથ્યાત્વના ઉદયથી તત્ત્વાર્થમાં અશ્રદ્ધા થાય છે કારણ કે મિથ્યાત્વના ઉદયથી જીવ વિપરીત દૃષ્ટિવાળા થઈ જાય છે-કહ્યું પણ છે—

મદનકોદ્રવ . ....ને ખાઈને મનુષ્ય પોતાના વશમાં રહેતો નથી શુદ્ધ કરેલા કોદ્રવ ને ખાવાવાળો મોહિતમૂઢ હોતો નથી-અને અર્ધશુદ્ધ કોદ્રવને ખાનારો અર્ધ મૂર્છિત થાય છે.

જેમ દારૂ પીવાથી અથવા ધંતૂરાના ભક્ષણથી અથવા પિત્તપ્રકોપથી જેની ઇન્દ્રિઓ વિક્ષિપ્ત થઈ જાય છે, એવો પુરુષ વાસ્તવિકતા અવાસ્તવિકતાનો વિવેક કરી શકતો નથી એવી જ રીતે મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવ યથાર્થ. તત્ત્વરૂપિતું વિધાન કરવાવાળા મિથ્યાત્વના ઉદયથી વિપરીત જ શ્રદ્ધા કરે છે. કહ્યું પણ છે—

જેમની દૃષ્ટિ મિથ્યાત્વરૂપી અંધકારથી આચ્છાદિત થઈ ગઈ છે, જેઓ રાગ અને દ્વેષથી યુક્ત છે, એવા જીવ ભવ્ય હોવા છતાં પણ જિનેન્દ્રે ભાખેલા ધર્મ પર રુચિ રાખતા નથી ॥૧॥

મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવ ઉપદિષ્ટ પ્રવચન પર તો શ્રદ્ધા રાખતો નથી પરંતુ ઉપદિષ્ટ અથવા અનુપદિષ્ટ અસદ્ભાવ પર અર્થાત્ વિપરીત તત્ત્વ પરત્વે શ્રદ્ધા રાખે છે.

જે જીવ સૂત્ર–આગમમાં કથિત એક પણ પદ અગર એક પણ અક્ષર પ્રત્યે અશ્રદ્ધા રાખે છે, તે કદાચ શેષ સમગ્ર આગમ પર શ્રદ્ધા રાખતો હોય તો પણ તેને મિથ્યાદૃષ્ટિ જ સમજવો જોઈએ ॥ ૩ ॥

તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધા રૂપ આત્માનું પરિણામ સમ્યક્ત્વ કહેવાય છે. સમ્યક્ત્વ પાંચ પ્રકારના છે– (૧) ઔપશમિક (૨) સાસ્વાદન (૩) વેદક (૪) ક્ષાયોપશમિક તથા (૫) ક્ષાયિક.

અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ, માન, માયા, લોભ અને દર્શન મોહનીયની ત્રણ એમ સાતે પ્રકૃતિઓનો ઉપશમ થવાથી ઔપશમિક સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન થાય છે આ સમ્યક્ત્વ અન્તર્મુહૂર્ત માત્ર જ રહે છે. ત્યારબાદ અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય થઈ જાય છે અને અનન્તાનુબન્ધી કષાયના ઉદયથી–સમ્યક્ત્વનો ચોક્કસપણે નાશ થઈ જાય છે. કહ્યું પણ છે–

અગર સંયોજનનો અર્થાત્ અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય હોત તો સાસ્વાદન સમ્યક્ત્વ પણ થઈ જાય છે અને જો તેનો અભાવ થાય છે તો નિર્દોષ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત થાય છે ॥ ૧ ॥

ક્ષાયોપશમિક સમ્યક્ત્વના અંતિમ પુદ્ગલોનો અનુભવ કરવાના કાળમાં વેદક સમ્યક્ત્વ થાય છે. ઉદયમાં ન આવેલા મિથ્યાત્વના પુદ્ગલોનો ક્ષય, અને ઉદયમાં ન આવેલા મિથ્યાત્વનો ઉપશમ થવાથી ક્ષાયોપશમિક સમ્યક્ત્વ થાય છે. સંપૂર્ણ દર્શનમોહનીયનો ક્ષય થવાથી ક્ષાયિક સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ થાય છે. એવું નથી કે વિશુદ્ધ પુદ્ગલોનો નાશ થવાથી તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધા રૂપ પરિણામનો અભાવ થઈ જાય. કહ્યું પણ છે–

સમ્યક્ત્વ મોહનીયને પુદ્ગલોનો નાશ થઈ જવાથી સમ્યગ્દૃષ્ટિ કેવી રીતે માનવામાં આવે છે? એનો જવાબ એ જ છે કે ત્યાં દ્રવ્યનો ક્ષય માનવામાં આવ્યો છે, પરિણામનો ક્ષય નહીં ॥ ૧ ॥

સમ્યગ્–મિથ્યત્વ વેદનીય પહેલા સમ્યક્ત્વ ને ઉત્પન્ન કરતો થકો, ત્રણ કરણ કરીને, ઉપશમ સમ્યક્ત્વને પ્રાપ્ત કરે છે. ત્યારબાદ મિથ્યાત્વના દળને શુદ્ધ, મિશ્ર અને અશુદ્ધ એ રીતે ત્રણ ઢગલાના રૂપમાં પરિણત કરે છે. કહ્યું પણ છે–

ત્યારબાદ સમ્યક્ત્વગુણ દ્વારા મિથ્યા કર્મનું તેવી જ રીતે વિશોધન કરે છે, જેમ છાશ વગેરેથી મદનકોદ્રવ ને શુદ્ધ કરવામાં આવે છે ॥ ૧ ॥

આ રીતે દર્શનમોહનીય કર્મની ત્રણ ઉત્તર–પ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન કરીને હવે પચીશ પ્રકારના ચારિત્રમોહનીય કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિ રૂપ બન્ધનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ.

ચારિત્ર મોહનીય કર્મ બે પ્રકારના છે–કષાયમોહનીય અને નોકષાયમોહનીય. કષાયમોહનીયના સોળ ભેદ છે; જેવા કે–ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભ. આ ચારેય કષાયોના અનન્તાનુબંધી અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન અને સંજવલનના ભેદથી ૪×૪=૧૬=સોળ ભેદ થાય છે

નારકી તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવ રૂપ ચાર ગતિ તથા જન્મ જરા મરણરૂપ અનન્ત સંસાર નો અનુબન્ધ કરવાવાળો કષાય અનન્તાનુબન્ધી કહેવાય છે. ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભ એના ચાર ભેદ હોય છે.

આમાંથી ક્રોધનું લક્ષણ અપ્રીતિ છે. માનનું લક્ષણ ગર્વ છે, માયાનું લક્ષણ લુચ્ચાઈ છે અને લોભનું લક્ષણ લોભ–આસક્તિ છે. કહ્યું પણ છે—

જે કષાય જીવને અનન્ત ભવોથી સંયોજિત કરે છે તેને અનન્તાનુબંધી અથવા સંયોજના કષાય કહે છે ॥ ૨ ॥

અનન્તાનુબન્ધી કષાયોના પર્વતમાં પડેલી ફાટ, પથ્થર, વાંસની જડ અને કરમીઓ રંગ એ ચાર ઉદાહરણો છે. કહેવાનું એ છે કે જેમ પર્વતની ફાટ કદી પણ સંધાતી નથી તેમ જે ક્રોધ જીવનપર્યંત ક્યારે પણ ન મટે તેને અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ સમજવો જોઈએ. જેમ પથ્થર કદી પણ નમતો નથી તેવી રીતે જે માન આજીવન દૂર ન થાય તે અનન્તાનુબન્ધી માન છે જેવી રીતે વાંસની જડમાં અત્યન્ત વક્રતા હોય છે તેવી જ રીતની વક્રતા અનન્તાનુબન્ધી માયામાં હોય છે. જેમ વસ્ત્રમાં લાગેલો કરમીઓ રંગ અન્ત સુધી દૂર થતો નથી તેવી જ રીતે જે લોભ જીવનના અન્ત સમય સુધી ન છૂટે તે અનન્તાનુબન્ધી લોભ કહેવાય છે અર્થાત્ અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધનો સ્વભાવ પથરાની લકીર બરાબર, માનનો સ્વભાવ વજના થાંભલા, માયાનો સ્વભાવ વાંસની જડ તથા લોભનો સ્વભાવ કરમીઆ રંગ જેવો હોય છે.

અપ્રત્યાખ્યાન કષાય પણ ક્રોધ આદિના ભેદથી ચાર પ્રકારના છે. પ્રત્યાખ્યાન બે પ્રકારના હોય છે—દેશવિરતિ રૂપ અને સર્વવિરતિરૂપ. આમાંથી દેશવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન અલ્પ હોવાના કારણે અપ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે તેને આવૃત કરનાર અર્થાત્ ઉત્પન્ન ન થવા દેનાર કષાય અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કહેવાય છે. જે કષાય સ્વલ્પ પ્રત્યાખ્યાન પણ થવા દેતું નથી તે સર્વવિરતિપ્રત્યાખ્યાન ને પણ અટકાવે છે એમાં કોઈ આશ્ચર્યની બાબત નથી. કહ્યું પણ છે–જે કષાય જીવના સ્વલ્પ (એકદેશીય) પ્રત્યાખ્યાન ને પણ રોકે છે તે સામાન્યતયા અત્યાખ્યાનાવરણ કષાય કહેવાય છે. ॥૧॥

આ અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાયોનો ઉદય થવાથી સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ થવા છતાં પણ સર્વવિરતિ અથવા દેશવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન થતું નથી.

જે કષાય સર્વવિરતિ પ્રત્યાખ્યાનનું આવરણ કરે છે અર્થાત્ સર્વવિરતિ ચરિત્ર થવા દેતું નથી તે પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય કહેવાય છે. હું કોઈ પણ જીવની આજીવન, મન, વચન અને કાયાના યોગથી હીંસા કરીશ નહીં, કરાવીશ નહીં તેમજ કોઈ, કરતું હશે તેને અનુમોદન (ટેકો) આપીશ નહીં આ પ્રકારનું પ્રત્યાખ્યાન (પચ્ચખાણ) સર્વવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે. આને જે ઉત્પન્ન ન થવા દે તે પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય છે. કહ્યું પણ છે–જેમાં કષાયના ઉદયથી જીવ ઇચ્છવા છતાં પણ સર્વવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન કરી શકતો નથી, તે સામાન્યતયા પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

સંજ્વલન કષાય સમસ્ત પાપસ્થાનોથી વિરત સર્વવિરતિથી સમ્પન્ન સાધુને પણ દુષ્કર પરીષહ આવવાથી એકદમ સંજ્વલિત (કષાયાવિષ્ટ) કરી નાખે છે આથી તેને—સંજ્વલન કષાય કહે છે–કહ્યું પણ છે—

જે કષાય સંસારથી વિરક્ત અને સમસ્ત પાપોથી રહિત સાધુને પણ સંજ્વલિત કરે છે અર્થાત્ મુનિ–અવસ્થામાં પણ જેમની સત્તા રહે છે તેમને સંજ્વલન કષાય કહે છે.

સંજ્વલન રૂપ કષાયોને સંજ્વલન કષાય કહે છે. આવી રીતે અપ્રત્યાખ્યાન પ્રત્યાખ્યાન અને સંજ્વલન કષાયના ક્રોધ આદિ ચાગ્ચાર ભેદ થવાથી બાર ભેદ થાય છે. એમાં અનંતાનુબંધી ના પહેલાના ચાર ભેદ મેળવવાથીને કષાય મોહનીયના સોળ ભેદ થાય છે. અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ, માન, માયા અને લોભના ઉદાહરણ આ રહ્યાં–ક્રોધનો સ્વભાવ તળાવની ફાંટ જેવો (૨) માનનો સ્વભાવ હાડકાના થાંભલા જેવો (૩) માયાનો સ્વભાવ ઘેટાના શિંગડા જેવો તથા (૪) લોભનો સ્વભાવ કર્દમ રાગ જેવો હોય છે અર્થાત્ અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધનો સ્વભાવ તળાવની તડ, માનનો સ્વભાવ હાડકાના થાંભલા માયાનો સ્વભાવ ઘેટાના શિંગડા તથા લોભનો સ્વભાવ કર્દમ રાગ જેવો હોય છે.

પ્રત્યાખ્યાન કષાયના ક્રોધ માન વગેરેના ઉદાહરણ છે–ક્રોધનો સ્વભાવ રેતીમાં આંકેલી લીટી, માનનો સ્વભાવ લાકડાનો થાંભલો માયાનો સ્વભાવ ચાલતા બળદના મૂત્ર, લોભનો સ્વભાવ ખંજન રાગ જેવો હોય છે. સંજ્વલન ક્રોધ પાણીમાં દોરેલી રેખા, માનનો સ્વભાવ ઘાસનો થાંભલો, માયાનો સ્વભાવ વાંસની છોલેલી પાતળી ચામડી, લોભનો સ્વભાવ પતંગીઆના રંગ જેવો હોય છે. આ રીતે કષાય વેદનીયના સોળ ભેદોનું નિરૂપણ કર્યું.

હવે નવ પ્રકારના નોકષાય કર્મનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—(૧) હાસ્ય (૨) રતિ (૩) અરતિ (૪) શોક (૫) ભય (૬) જુગુપ્સા (૭) પુરુષવેદ (૮) સ્ત્રીવેદ અને (૯) નપુંસકવેદ.

કષાયનો એક દેશ હોવાથી અથવા કષાય વિશેષ હોવાથી હાસ્ય આદિને અકષાય કહેવામાં આવે છે અથવા "અ" શબ્દ અત્રે મિશ્રઅર્થમાં લેવામાં આવેલ છે. આનો આશય એ છે કે કષાયની સાથે મળીને જ હાસ્ય વગેરે પોતાના કાર્ય કરવામાં સમર્થ થાય છે. કષાયના અભાવમાં હાસ્ય વગેરે પોતાનું કાર્ય સંપાદન કરવામાં સ્વતંત્રપણે શક્તિમાન થતા નથી.

કષાય જે દોષવાળો હોય છે તેના મિત્ર હાસ્ય વગેરે પણ તે જ દોષને ઉત્પન્ન કરે છે આવી સ્થિતીમાં અનન્તાનુબન્ધી આદિથી સહચરિત હાસ્ય વગેરે પણ તેના જેવાજ સ્વભાવવાળા હોય છે.

આથી આ હાસ્ય વગેરેને પણ ચારિત્રના ઘાતક હોવાના કારણે કષાયોની બરાબર જ સમજવા જોઈએ બીજાઓએ પણ કહ્યું છે—આ હાસ્ય નોકષાયોના સાથી હોવાના કારણે તથા કષાયોને પ્રેરણા કરનાર અર્થાત્ ભડકાવવાવાળા હોવાથી નોકષાય કહેવામાં આવ્યા છે ॥ ૧ ॥

હાસ્ય નોકષાય મોહનીયના ઉદયથી બાહ્ય તેમજ આભ્યંતર વસ્તુઓમાં આસક્તિ પ્રીતિ ઉત્પન્ન થાય છે અથવા ઈષ્ટ રૂપ–રસ આદિમાં આસક્તિરૂપ પ્રીતિ થાય છે. અરતિ નોકષાય મોહનીયના ઉદયથી ધર્મ પ્રત્યે અરૂચિ ઉદ્ભવે છે. શોક નોકષાયમોહના ઉદયથી મનુષ્ય વિલાપ કરે છે પોતાના માથા વગેરે અવયવોને કુટે છે, ટાઢી શ્વાસ લે છે, રડે છે અને ધરતી પર આળોટે છે.

ભય નોકષાયમોહનીયના ઉદયથી ઉદ્વિગ્ન થાય છે—ગભરાય છે, પીડાય છે, કાંપવા લાગે છે. જુગુપ્સા નોકષાયમોહના ઉદયથી શુભ અને અશુભ દ્રવ્યોના વિષયમાં નફરત જાગે છે પુરુષવેદ નોકષાયમોહનીયના ઉદયથી સ્ત્રીઓની અભિલાષા થાય છે જેવી રીતે કફના પ્રકોપવાળાને કેરી

ખાવાની ઈચ્છા થાય છે. આવી જ રીતે સંકલ્પની વિષયભૂત સ્ત્રીઓમાં પુરુષવેદ નોકષાય મોહના ઉદયથી અભિલાષા થાય છે.

સ્ત્રીવેદ નોકષાય મોહના ઉદયથી સ્ત્રીને પુરુષની ઈચ્છા થાય છે અને આ વેદના ઉદયથી સંકલ્પના વિષયભૂત પુરુષોમાં પણ અભિલાષા થાય છે. નપુંસકવેદ નોકષાય મોહનીયના ઉદયથી સ્ત્રી અને પુરુષ, બંનેની સાથે કામક્રીડા કરવાની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે. જેવી રીતે બે ધાતુઓનો ઉદય થવાથી સમ્માર્જિત આદિ દ્રવ્યોની અભિલાષા થાય છે. કોઈ–કોઈને પુરુષોની જ અભિલાષા થાય છે તથા સંકલ્પજનિત વિષયોમાં અનેક પ્રકારની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે.

પુરુષવેદ વગેરે ત્રણ નોકષયો માટે ઘાસની અગ્નિ લાકડાની અગ્નિ અને છાણાની અગ્નિના દાખલાઓ પ્રસિદ્ધ છે. પુરુષવેદ–મોહનીય રૂપી અગ્નિ જ્યારે તીવ્રતાની સાથે પ્રજ્વલિત થાય છે ત્યારે તેનો પ્રતિકાર થવાથી વડવાની જેમ શમી જાય છે જેમ ઘાસનો પૂળો જલદી જ સળગી જાય છે તેમ પુરુષવેદની અસર પણ શીઘ્ર સમાપ્ત થઈ જાય છે. લાંબા સમય સુધી સળગતું નથી. સ્ત્રીવેદમોહરૂપી અગ્નિ લાંબા સમય બાદ શાન્ત થાય છે તે એકદમ સળગી પણ ઉઠતી નથી બલ્કે સંભાષણ સ્પર્શન આદિ સૂકા લાકડા (બળતણ)થી ક્રમશઃ ક્રમશઃ વધતી જાય છે. સ્ત્રીવેદનો અગ્નિ અત્યન્ત મજબૂત બાવળના લાકડાની ઘણી વધી ગયેલી જ્વાલાઓના સમૂહ જેવો હોય છે. તેને શમાવવામાં સમય લાગે છે.

નપુંસકવેદ મોહનીય રૂપી અગ્નિ ઉક્ત બંનેથી અધિક ઉગ્ર હોય છે તે કોઈ મહાનગરમાં લાગેલ અગ્નિકાંડની જેમ અથવા છાણાની માફક અંદરને અંદર જ ઘણી ભભકતી રહે છે તેનું શમન ઘણાં લાંબા સમય પછી થાય છે.

આવી રીતે પચીસ પ્રકારના ચારિત્રમોહનીય કર્મનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. ત્રણ પ્રકારના દર્શન મોહનીયકર્મનું નિરૂપણ અગાઉ કરવામાં આવ્યું છે આમ મોહનીય કર્મની અઠયાવીસ પ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન થઈ ગયું.

અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય સમ્યક્દર્શનનો નાશ કરે છે જ્યાંસુધી તેનો ઉદય રહે છે ત્યાંસુધી સમ્યક્દર્શનની ઉત્પત્તિ થતી નથી સમ્યક્દર્શન જો પહેલાં ઉત્પન્ન થઈ ગયું હોય અને પાછળથી અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય થાય તો તે નાશ પામી જાય છે. અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાયના ઉદયથી દેશવિરતિ પણ ઉત્પન્ન થઈ શકતી નથી તો પછી સર્વવિરતિ તો થાય જ કેવી રીતે ? પ્રત્યાખ્યાન કષાયના ઉદયથી દેશવિરતિમાં તો અવરોધ થતો નથી પરંતુ સર્વવિરતિ રૂપ ઉત્તમ ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થતી નથી. કહેવાનું એ છે કે બધા પ્રકારના પ્રાણાતિપાતથી વિરત થાય છે એ જાતના સકલસંયમનો લાભ થતો નથી.

સંજ્વલન કષાયના ઉદયથી વીતરાગ ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થતી નથી.

અનન્તાનુબન્ધી, અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન, અને સંજ્વલન એ ચારેના ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ એમ ચાર–ચાર ભેદ છે અનન્તાનુબન્ધી આદિ ચાર પ્રકારના ક્રોધમાં એવી જ રીતે માન, માયા અને લોભમાં પરસ્પર જે તારતમ્ય છે અર્થાત્ તીવ્રભાવ, મધ્યભાવ વિમધ્યભાવ અને મન્દભાવ છે, તે હવે દર્શાવીએ છીએ—

ચારે પ્રકારના ક્રોધમાં અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ ઉગ્ર હોય છે. તે પહાડમાં પડેલી ફાંટ (તીરાડ) જેવો છે જેમ પર્વતમાં પથ્થરશીલા વગેરેમાં જે તિરાડ પડી જાય છે, તે જ્યાં સુધી શિલા છે ત્યાંસુધી

રહે છે, સંધાઈ શકતી નથી એવી જ રીતે અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ ઉત્પન્ન થાય છે તો તે જીવન-પર્યન્ત કદી પણ શાન્ત થતો નથી. તેના સંસ્કાર જીવનવ્યાપી હોય છે. તેના સંસ્કારનો નાશ કરવાનો કોઈ ઉપાય નથી. અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધથી મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરનાર જીવો પ્રાયઃ નરકગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે

અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ મધ્ય શ્રેણીનો હોય છે તે જમીનમાં પડેલી તડ જેવો છે જેના સંસ્કાર એક વર્ષ સુધી અસ્તિત્વમાં રહે છે અર્થાત્ જેમ જમીનમાં જે ફાટ પડી જાય છે તે વર્ષાઋતુમાં ચોકકસ જ ભુંસાઈ જાય છે એવી જ રીતે જે ક્રોધ એકવાર ઉત્પન્ન થઈને એક વર્ષની અંદર-અંદર પ્રશાંત થઈ જાય છે, તે અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ કહેવાય છે. આ ક્રોધવાળા જીવો મરણ પછી તિર્યંચગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે.

પ્રત્યાખ્યાનાવરણનો ક્રોધ વિમધ્ય કહેવાયો છે તે રેતીમાં દોરેલી રેખા જેવો હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે રેતીના ઢગલામાં લાકડીથી અગર કોઇ સળીથી જો રેખા બનાવી દેવામાં આવે તો તે વધુમાં વધુ ચાર માસની અંદર ભુંસાઈ જાય છે એવી જ રીતે જે ક્રોધ નિયમથી ચાર માસમાં શાન્ત થઈ જાય તે પ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ કહેવાય છે. આ ક્રોધવાળા જીવ મરીને મનુષ્યયોનિમાં જન્મ લે છે.

સંજવલન ક્રોધ મંદ હોય છે. તેને પાણીમાં ખેંચેલી રેખાની ઉપમા આપવામાં આવી છે કહેવું એ છે કે લાકડી શલાકા અથવા આંગળી વડે પાણીમાં જો રેખા ખેંચીએ તો પાણીનો સ્વભાવ તરલ હોવાથી તે રેખા તેજ વખતે અદૃશ્ય થઇ જાય છે એવી જ રીતે જે અપ્રમત્ત જ્ઞાનીપુરુષનો ક્રોધ ઉત્પન્ન થતાની સાથે જ ઉપશાન્ત થઈ જાય છે તેનો ક્રોધ સંજવલનક્રોધ કહેવાય છે અને આ જાતના ક્રોધવાળા જીવો દેવગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે,

આવી જ રીતે માન પણ ચાર પ્રકારના છે. અનન્તાનુબન્ધી માન તીવ્ર અપ્રત્યાખ્યાની માન મધ્ય પ્રત્યાખ્યાની માન વિમધ્ય અને સંજ્વલન માન મન્દ હોય છે. આ ચાર પ્રકારના માન અનુક્રમે શૈલસ્તમ્ભની સમાન, અસ્થિસ્તંભની જેમ દારુસ્તંભની જેમ અને તૃણસ્તંભની માફક સમજવા જોઈએ. જેવી રીતે શૈલસ્તંભ અર્થાત્ પર્વત કદાપી નમતો નથી તેવી જ રીતે કોઈ નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થયેલ જે માન જીવન પર્યન્ત જતું નથી તે અનન્તાનુબન્ધી માન કહેવાય છે. આ માનને વશ થઈને મરનારા પ્રાણી નરકગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે તે અસ્થિસ્તંભ (હાડકાં) વગેરેની જેમ માન પણ પૂર્વોકત ક્રોધની જેમ ઘટિત કરી લેવો જોઈએ તેમના ફળસ્વરૂપ થવાવાળી ગતિ પણ પૂર્વવત્ જ જાણી લેવી.

એવી જ રીતે માયા પણ ચાર પ્રકારની છે—અનન્તાનુબન્ધી માયા, અપ્રત્યાખ્યાની માયા પ્રત્યાખ્યાની માયા અને સંજ્વલન માયા ક્રોધ અને માનની જેમ માયા પણ અનુક્રમથી તીવ્ર મધ્ય વિમધ્ય અને મન્દ હોય છે. અનન્તાનુબન્ધી માયા વાંસની ગાંઠની જેમ અપ્રત્યાખ્યાની માયા ઘેટાના શિંગડાની જેમ પ્રત્યાખ્યાની માયા ગોમૂત્રિકા (ચાલતા-ચાલતાં મૂતરનાર બળદના મૂત્રની વાંકી-ચુંડી રેખાઓ)ની જેમ અને સંજ્વલન માયા અવલેખનિકાની જેમ હોય છે. તાત્પર્ય એ છેકે જેમ વાંસની ગાંઠ અત્યન્ત કુટિલ-વક્ર હોય છે અને હજાર પ્રયત્નો કરવા છતાં પણ સીધી થઈ શકતી નથી એવી રીતે તીવ્ર અનન્તાનુબન્ધી માયા પણ જીવનપર્યન્ત કદાપી દૂર કરી શકાતી નથી. આ માયાને વશ થઈને મરનાર જીવો મરણની અનન્તર નરક-

ગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે પૂર્વોક્ત ક્રોધની જેમ ઘેટાના શીંગડાની જેમ ત્રણ પ્રકારની માયા: માટે પણ યથાયોગ્ય સમજી લેવાનું છે માયાના અનેક પર્યાયવાચક શબ્દ છે દા. ત. નિકૃતિ વંચના, દંભ દગો, પ્રપંચ, વગેરે આ શબ્દોથી માયાના અનેક રૂપોને પણ સમજી શકાય છે.

લોભ પણ ચાર પ્રકારનો છે—અનન્તાનુબન્ધી લોભ, અપ્રત્યાખ્યાની લોભ, પ્રત્યાખ્યાની લોભ અને સંજવલન લોભ આ ચારેય પ્રકારના લોભ ક્રમશઃ તીવ્ર મધ્ય વિમધ્ય અને મન્દ હોય છે. એ કરમીઆ રંગની જેમ કર્દમરાગની જેમ ખંજનરાગની જેમ અને હળદરના રંગ જેવા છે કરંજી રંગની સમાન તીવ્ર અનન્તાનુબન્ધી લોભ મરણપર્યન્ત દૂર થતો નથી. આ લોભને અનુસરનાર પ્રાણી મૃત્યુ પછી નરકગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે. કર્દમરાગની જેમ અપ્રત્યાખ્યાની લોભ એક વર્ષ સુધી રોકાય છે. આ લોભને વશ થઈને મરનાર પ્રાણી તિર્યંચયોનિમાં ઉત્પન્ન થાય છે. ખંજનરાગની જેમ વિમધ્ય પ્રત્યાખ્યાની લોભ ચાર માસ સુધી રહે છે આ લોભનું અનુસરણ કરીને મરનારા પ્રાણી મૃત્યુ બાદ મનુષ્યગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે આવી જ રીતે હળદરના રંગના જેવો મન્દ સંજ્વલન લોભ ઉત્પત્તિ બાદ શીઘ્ર જ દૂર થઈ જાય છે. આ લોભને વશ થઈને મરનારા જીવો મરણાંતરે દેવગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે આ ક્રોધ માન માયા અને લોભ કષાયોના વિરોધી ભાવ અનુક્રમથી ક્ષમા મૃદુતા ઋજુતા અને સન્તોષ છે. ક્ષમા આદિ વિરોધી ભાવોનું અવલમ્બન કરીને ક્રોધ વગેરે કષાયોનો પ્રતિઘાત કરી શકાય છે.

તાત્પર્ય એ છે કે ક્રોધના પ્રતિઘાતનું કારણ ક્ષમા છે. માનના પ્રતિઘાતનું કારણ માર્દવ છે. માયાના પ્રતિઘાતનું કારણ આર્જવ (સરળતા) છે. લોભના પ્રતિઘાતનું કારણ સન્તોષ છે.

અહીં સમજવા યોગ્ય વસ્તુ એ છે કે આ બધાં કર્મ મોહ પ્રધાન છે, અર્થાત્ આઠે કર્મોમાં મોહનીય કર્મ જ પ્રધાન છે. આ કર્મોમાં કોઈ–કોઈ સર્વઘાતી અને કોઈ-કોઇ દેશ-ઘાતી છે અર્થાત્ કોઈ આત્માના ગુણનો પૂર્ણ રૂપથી ઘાત કરે છે તો કોઇક આંશિક રૂપથી ઘાત કરે છે. આ કર્મો જ નરકભવ આદિના પ્રપચને પ્રાપ્ત કરાવવામાં કારણભૂત છે મોહ કષાયથી ઉત્પન્ન થાય છે કષાયની વિશેષતાથી કર્મની સ્થિતિમાં વિશેષતાથાય છે. કષાયથી જ સઘળાં દુઃખોની પ્રાપ્તિ થાય છે આથી જે મુમુક્ષુ કર્મોનો ઘટાડો ઇચ્છે છે તેને ક્રોધ વગેરે કષાયોનો સંવર કરવાના ઉપાય ક્ષમા આદિ સદ્ગુણોનો નિરંતર અભ્યાસ કરવો જોઇએ વળી કહ્યું પણ છે—

આ લોકમાં જેટલું પણ ઘોર દુઃખ છે અને ત્રણે લોકોમાં જે પણ ઉત્તમ સુખ છે તે બધા કષાયોની વૃદ્ધિ અને નાશના કારણો જ સમજવા જોઈએ તાત્પર્ય એ છે કે જેમ જેમ કષાયોની વૃદ્ધિથાય છે તેમ તેમ દુઃખની વૃદ્ધિ થાય છે અને જેમ જેમ કષાયોનો નાશ થાય છે તેમ તેમ દુઃખનો નાશ થાય છે. આથી કષાયોના વિનાશ માટે નિરંતર પ્રયત્નશીલ રહેવું જોઇએ ॥૯॥

'आउए चउव्विहे, नारगतिरिक्खमणुस्सा देवमेयओ ॥ १० ॥

આયુષ્ય કર્મ ચાર પ્રકારના છે—(૧) નારકાયુ (૨) તીર્યંચાયુ (૩) મનુષ્યાયુ અને (૪) દેવાયુ ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં કર્મની ચોથી મૂળ-પ્રકૃતિ મોહનીયકર્મની અઠયાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યુ હવે પાંચમી મૂળ પ્રકૃતિ આયુની ચારે ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બતાવીએ છીએ—

આયુષ્યકર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ ચાર છે-નારકાયુ તિર્યંચાયુ મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમાં ચોથી મોહનીય રૂપ મૂળ કર્મપ્રકૃતિની અઠયાવીસ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે આયુ નામક પાંચમી મૂળકર્મપ્રકૃતિની ચાર ઉત્તરપ્રકૃતિઓ કહીએ છીએ-ઉત્તરપ્રકૃતિરૂપ આયુષ્યકર્મ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-નરકાયુ તિર્યંચાયુ મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ.

જે કર્મના ઉદયથી-આત્મા નારક્ તિર્યંચ મનુષ્ય અથવા દેવના રૂપમાં જીવીત રહે છે અને જે કર્મના ક્ષયથી મરી જાય છે તેને આયુષ્ય કર્મ કહે છે. કહ્યું પણ છે—

પોતાને અનુરૂપ આસ્રવની દ્વારા ગ્રહણ કરેલા અનાજ આદિ ને પ્રથમ બાંધેલા આયુષ્યના ઉપકારક હોય છે. તે આયુ નામક મૂળ પ્રકૃતિની ચાર ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે—(૧) નારકાયુષ્ય (૨) તૈર્યંચયોનિકાયુષ્ય (૩) માનુષ્યાયુષ્ક (૪) દેવાયુષ્ય 'આયુષ્ય' પદની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે-આનીયન્તે અર્થાત્ લાવવામાં આવે છે. શેષ કૃતિઓ ઉપભોગને માટે જીવની દ્વારા જેમાં તેને આયુ કહે છે. કાંસાના પાત્ર રૂપ આધારે ભોજન કરનાર માટે જ ચોખા અને ભાત વગેરે જુદી જુદી શાકભાજી રાખવામાં આવે છે અથવા આનીયન્તે અર્થાત્ લાવવામાં આવે છે. તે ભવનીઅંદર થનારી પ્રકૃતિઓ જેની મદદથી તેને આયુ કહે છે; દોરડાથી બાંધેલા શેરડીના ભારાની જેમ કહેવાનું એ છે કે જેમ દોરડું—શેરડીને ભેગી રાખે છે તેવી જ રીતે આયુષ્ય-કર્મ અમુક ભવ સમ્બંધી સમસ્ત પ્રકૃતિઓને એકઠી કરી રાખે છે અથવા બેડી વગેરેની જેમ શરીર ધારણ પ્રતિ જે યત્નશીલ હોય છે. તે આયુષ્ય કહેવાય છે. આયુને જ આયુષ્ય કહે છે. આયું ચાર પ્રકારના છે કારણ કે સંસાર ચાર ગતિ રૂપ છે.

નરક પૃથ્વીનું એક વિશેષ પ્રકારનું પરિણમન છે. નરક એ યાતનાઓનું સ્થાન છે નરકમાં રહેવાવાળાં પ્રાણી પણ નરક કહેવાય છે; નરક સંબંધી (આયુ)ને, નારકી કહે છે એકેન્દ્રિય બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચયોનિકોની આયુને તિર્યંગ્યોનિક કહે છે. સમ્મૂર્છિમ અને ગર્ભજ મનુષ્યોના આયુને માનુષાયુ કહે છે. ભવનપતિ વાનવ્યંતર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકોની આયુને દેવાયુ કહી શકાય છે. આ રીતે આયુષ્ય મૂળ પ્રકૃતિની ચાર પ્રકૃતિઓ સાબીત થઈ. ॥૧૦॥

णामे बायालीसविहे गइ-जाइ-सरीराइ भेयओ ॥ ११ ॥

સૂત્રાર્થ—ગતિ જાતિ શરીર આદિના ભેદથી નામ કર્મ બેંતાળીશ પ્રકારના છે. ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પાછલા સૂત્રમાં પાંચમી મૂળ કર્મ પ્રકૃતિ આયુષ્યની ચાર પ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી. હવે ક્રમપ્રાપ્ત છઠી મૂળ કર્મપ્રકૃતિ-નામકર્મની બેંતાળીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ કહીએ છીએ—

ઉત્તર પ્રકૃતિઓની અપેક્ષાથી નામકર્મના બેંતાળીશ ભેદ છે તે આ મુજબ છે—(૧) ગતિનામ (૨) જાતિનામ (૩) શરીરનામ (૪) શરીરાંગોપાંગ નામ (૫) શરીર બંધન નામ (૬) શરીર સંઘાત નામ (૭) સંહનન નામ (૮) સંસ્થાન નામ (૯) વર્ણ નામ (૧૦) ગંધનામ (૧૧) રસનામ (૧૨) સ્પર્શનામ (૧૩) અગુરુલઘુ નામ (૧૪) ઉપઘાત નામ (૧૫) પરાઘાત (૧૬) આનુપૂર્વી નામ (૧૭) ઉચ્છ્વાસ નામ (૧૮) આતપ નામ (૧૯) ઉદ્યોત નામ (૨૦) વિહાયોગતિ નામ (૨૧) ત્રસનામ (૨૨) સ્થાવર નામ (૨૩) સૂક્ષ્મ નામ (૨૪) બાદર નામ (૨૫) પર્યાપ્ત નામ (૨૬) અપર્યાપ્ત નામ (૨૭) સાધારણ શરીર નામ (૨૮) પ્રત્યેક શરીર

નામ (૨૯) સ્થિર નામ (૩૦) અસ્થિર નામ (૩૧) શુભ નામ (૩૨) અશુભ નામ (૩૩) સુભગ નામ (૩૪) દુર્ભગ નામ (૩૫) સુસ્વર નામ (૩૬) દુઃસ્વર નામ (૩૭) આદેય નામ (૩૮) અનાદેય નામ (૩૯) યશઃ કીર્ત્તિ નામ (૪૦) અયશઃ કીર્ત્તિ નામ (૪૧) નિર્માણ નામ અને (૪૨) તીર્થંકર નામ; આ નામ કર્મની બેંતાળીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે. ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમાં આયુષ્ય કર્મની ચાર ઉત્તર પ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી, ક્રમપ્રાપ્ત નામકર્મની બેંતાળીશ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ હોય છે તેમના નામ આ રીતે છે—(૧) ગતિ (૨) જાતિ (૩) શરીર (૪) શરીરાંગોપાગ (૫) શરીરબન્ધન (૬) શરીર સંઘાત (૭) સંહનન (૮) સંસ્થાન (૯) વર્ણ (૧૦) ગંધ (૧૧) રસ (૧૨) સ્પર્શ (૧૩) અગુરુ લઘુ (૧૪) ઉપઘાત (૧૫) પરાઘાત (૧૬) આનુપૂર્વી (૧૭) ઉચ્છ્વાસ (૧૮) આતપ (૧૯) ઉદ્યોત (૨૦) વિહાયોગતિ (૨૧) ત્રસ (૨૨) સ્થાવર (૨૩) સૂક્ષ્મ (૨૪) બાદર (૨૫) પર્યાપ્ત (૨૬) અપર્યાપ્ત (૨૭) સાધારણ શરીર (૨૮) પ્રત્યેક શરીર (૨૯) સ્થિર (૩૦) અસ્થિર (૩૧) શુભ (૩૨) અશુભ (૩૩) સુભગ (૩૪) દુર્ભગ (૩૫) સુસ્વર (૩૬) દુઃસ્વર (૩૭) આદેય (૩૮) અનાદેય (૩૯) યશઃકીર્તિ (૪૦) અયશઃકીર્તિ (૪૧) નિર્માણ અને (૪૨) તીર્થંકર નામ

આ બેંતાળીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓના ૯૩ ત્રાણું ભેદ હોય છે, તે આ પ્રમાણે છે—

(૧) ગતિ નામ કર્મના ચાર ભેદ છે—નરકગતિ. તિર્યંચગતિ. મનુષ્યગતિ અને દેવગતિ. (૨) જાતિનામ કર્મના પાંચ ભેદ છે—એકેન્દ્રિયજાતિ, બેઇન્દ્રિયજાતિ, તેઇન્દ્રિયજાતિ, ચતુરિન્દ્રીય જાતિ અને પંચેન્દ્રિયજાતિ [૪+૫=૯] (૩) શરીરનામ કર્મ પાંચ પ્રકારના છે—ઔદારિક શરીર નામ કર્મ, વૈક્રિય શરીરનામ કર્મ, આહારક શરીરનામ કર્મ, તૈજસ શરીરનામ કર્મ અને કાર્મણ શરીરનામ કર્મ [૯+૫=૧૪] (૪) અંગોપાંગ કર્મના ત્રણ ભેદ છે—ઔદારિક અંગોપાંગ, વૈક્રિય અંગોપાંગ, આહારક અંગોપાંગ [૧૪+૩=૧૭] (૫) શરીરબન્ધનામ કર્મના પાંચ ભેદ છે-ઔદારિક શદીરબન્ધન. વૈક્રિયશરીરબન્ધન, આહારકશરીરબન્ધન, તૈજસશરીરબન્ધન, કાર્મણશરીરબન્ધન [૧૭+૫=૨૨] (૬) શરીર સંઘાત નામ કર્મના પાંચ ભેદ છે-ઔદારિક શરીર સંઘાત, વૈક્રિયશરીરસંઘાત, આહારક શરીરસંઘાત, તૈજસ શરીર સંઘાત. કાર્મણશરીરસંઘાત [૨૨+૫=૨૭] (૭) સંહનન નામ કર્મના છ ભેદ છે-વજ્રઋષભનારાચસંહનન, ઋષભનારાચસંહનન, નારાચસંહનન, અર્ધનારાચસંહનન, કીલિકાસંહનન, સેવાર્ત્તસંહનન નામકર્મ [૨૭+૬=૩૩] (૮) સંસ્થાનનામકર્મના છ ભેદ છે-સમચતુરસ્રસંસ્થાન ન્યગ્રોધપરિમંડળ, સાદિસંસ્થાન, કુબ્જકસંસ્થાન, વામનસંસ્થાન, અને હુન્ડસંસ્થાન નામકર્મ. [૩૩+૬=૩૯] (૯) વર્ણ, (૧૦) ગંધ, (૧૧) રસ અને (૧૨) સ્પર્શના વીસ ભેદ હોય છે-વર્ણ નામકર્મના પાંચ ભેદ છે-કાળો, ભૂરો, લાલ, પીળો, અને સફેદ [૩૯+૫=૪૪] ગંધના બે ભેદ-સુરભિ ગંધ અને દુરભિગન્ધ [૪૪+૨=૪૬] રસના પાંચ ભેદ-તીખો, કડવો, કસાયલો, ખાટો, મીઠો [૪૬+૫=૫૧] સ્પર્શ નામના આઠ ભેદ-ગુરુ, લઘુ, કર્કશ, કોમળ, ટાઢો, ઉનો, લુખો, ચિકણો [૫૧+૮=૫૯] (૧૩) અગુરુલઘુ પણ એક પ્રકારનો છે [૬૦] (૧૪) ઉપઘાત અને (૧૫) પરાઘાતનો પણ એક એક ભેદ છે [૬૨] (૧૬) આનુપૂર્વી નામકર્મના ચાર ભેદ છે-નરકાનુપૂર્વી, તિર્યંગાનુપૂર્વી, મનુષ્યાનુપૂર્વી અને દેવાનુપૂર્વી [૬૬] (૧૭) ઉચ્છ્વાસ (૧૮) ઉદ્યોત (૧૯) આતપ નામકર્મના એક-એક ભેદ છે [૬૯] ૨૦) વિહાયોગતિ નામકર્મના બે ભેદ છે-પ્રશસ્ત-

વિહાયોગતિ અને અપ્રશસ્તવિહાયોગતિ નામ [૭૧] નામકર્મના બેંતાળીશ ભેદોમાંથી અહીં ૨૦ ભેદોનું વર્ણન થયું. બાકીના ૨ ભેદ આ પ્રમાણે છેઃ—

૨૧ ત્રસ, ૨૨ સ્થાવર ૨૩ સૂક્ષ્મ ૨૪ બાદર ૨૫ પર્યાપ્ત, ૨૬ અપર્યાપ્ત ૨૭ સાધારણશરીર ૨૮ પ્રત્યેકશરીર ૨૯ સ્થિર ૩૦ અસ્થિર ૩૧ શુભ ૩૨ અશુભ ૩૩ સુભગ ૩૪ દુર્ભગ ૩૫ સુસ્વર ૩૬ દુઃસ્વર ૩૭ આદેય ૩૮ અનાદેય ૩૯ યશઃકીર્તિ ૪૦ અયશઃકીર્તિ ૪૧ નિર્માણ અને ૪૨ તીર્થંકર નામ કર્મ-દરેકના એક એક જ ભેદ છે આવી રીતે [૭૧+૨૨=૯૩] અગાઉ જણાવેલા. એકોતર અને આ બાવીસ બધાં મળીને નામકર્મની બેંતાળીશ પ્રકૃતિઓના ત્રાણું ભેદ થાય છે.

હવે અત્રે નામકર્મનું સવિસ્તર વર્ણન કરવામાં આવે છે—

જે કર્મ જીવને નરકભવ વગેરેમાં લઈ જાય છે અથવા જે કર્મ જીવપ્રદેશોથી સંબદ્ધ પુદ્ગલદ્રવ્યના વિપાકના સામર્થ્યથી જીવને નમાવે છે તે નામકર્મ કહેવાય છે. 'નામ' આ યથાર્થ સંજ્ઞા છે અર્થાત્ જેવું આ કર્મનું નામ છે તેવી જ રીતે તેનો સ્વભાવ પણ છે. જેમ, શુકલ આદિ ગુણોથી યુક્ત દ્રવ્યોમાં-ચિત્રપટ એવો વ્યવહાર થાય છે, આ નિયત સંજ્ઞાનું કારણ છે.

ગતિ નામક પિન્ડપ્રકૃતિના ચાર ભેદ છે—નરકગતિ આદિ. જે કર્મના ઉદયથી જીવ નારકી કહેવાય છે તે નરકગતિનામકર્મ કહેવાય છે આ પ્રમાણે બાકીના પણ સમજી લેવા જોઈએ.

જાતિનામક પિન્ડપ્રકૃતિના પાંચ ભેદ છે—એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, દ્વિન્દ્રીયજાતિનામકર્મ, તેઈન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિનામકર્મ અને પંચેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મના ઉદયથી જીવ, એકેન્દ્રિય કહેવાય છે અર્થાત્ એકેન્દ્રિય એવા વ્યવહારનું કારણ એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ છે. એવી જ રીતે એકેન્દ્રિય જાતિનામકર્મ વગેરેના વિષયમાં પણ જાણવું જોઈએ.

એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ પણ અનેક પ્રકારના છે—પૃથિવકાયિક-એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, અપ્કાયિક-એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, તેજસ્કાયિક એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, વાયુકાયિક-એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, વનસ્પતિકાયિક-એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ એવી જ રીતે દ્વીન્દ્રિયજાતિનામકર્મ શંખ અને છીપો વગેરેના ભેદથી ત્રિઇન્દ્રિયજાતિનામકર્મ ઉધઇ કીડી કંથવા વગેરેના ભેદથી ચતુરિન્દ્રિય જાતિનામ ભમરા તથા મધમાખી વગેરેના ભેદથી અને પંચેન્દ્રિયજાતિનામ મનુષ્ય વિગેરે જાતિનામના ભેદથી અનેક પ્રકારના સમજી લેવા જોઈએ.

શરીરનામકર્મના પાંચ ભેદ છે—ઔદારિક શરીરનામકર્મ વૈક્રિયશરીરનામકર્મ, આહારકશરીરનામકર્મ, તૈજસશરીરનામકર્મ, કાર્મણશરીરનામકર્મ.

ઔદારિક-અંગોપાંગ, વૈક્રીય-અંગોપાંગ અને આહારક-અંગોપાંગના ભેદથી ત્રણ પ્રકારના અંગોપાંગનામકર્મમાંથી પણ દરેકના અનેક ભેદો હોય છે. શિરોનામકર્મ, ઉરોનામકર્મ, પૃષ્ઠનામકર્મ, બાહુનામકર્મ ઉદરનામકર્મ, ચરણનામકર્મ, હસ્તનામકર્મ આ અંગનામકર્મના ભેદ છે. એવી જ રીતે ઉપાંગનામકર્મ પણ અનેક પ્રકારના હોય છે જેમકે—સ્પર્શન ઉપાંગનામકર્મ, રસના ઉપાંગનામકર્મ, ઘ્રાણઉપાંગનામકર્મ, ચક્ષુઉપાંગનામકર્મ શ્રોત્ર-ઉપાંગનામકર્મ ઇત્યાદિ.

એકેન્દ્રિયજાતિ વગેરે પાંચ પ્રકારની જાતિઓમાં સ્ત્રી, પુરુષ, નપુંસક લિંગની વ્યવસ્થાનું નિયમન કરવાવાળા અને અમુક પ્રકારનાં અવયવોની રચનાની વ્યવસ્થાનું નિયામક નિર્માણ નામકર્મ છે. નિર્માણનામકર્મના ઉદયથી જ સઘળાં જીવોને પોત પોતાના ઢંગના શરીર અવયવોની રચના હોય છે આ નિર્માણ નામ કર્મ મહેલ મકાન વગેરે બનાવનાર કુશળ કારીગર જેવું છે.

શરીર નામ કર્મના ઉદયથી શરીરે યોગ્ય પુદ્‌ગલોને ગ્રહણ કરી લીધાં, તેઓ આત્મપ્રદેશોમાં સ્થિત પણ થઈ ગયા અને શરીરના આકારમાં પરિણત થઈ ગયા પરંતુ તેમને લાખ અને લાકડાની જેમ અરસપરસ અવિયોગ (એકમેક રૂપ) કરનાર બન્ધન નામ કર્મ વગેરે ન હોત તો રેતીથી બનેલા પુરુષની જેમ શરીર વિખરાઈ જાત. તાત્પર્ય એ છે કે જેવી રીતે રેતીના કણ એકબીજામાં મળેલા હોવા છતાં પણ જુદા જુદાં રહે છે તેવી જ રીતે શરીરના પુદ્‌ગલ પૃથક્–પૃથક્ જ ન રહી જાય એ માટે બન્ધન નામનો સ્વીકાર કરવામાં આવેલ છે. બન્ધન નામ કર્મ પણ ઔદારિક આદિ શરીરોની જેમ પાંચ પ્રકારના છે.

લાખ અને લાકડાની માફક પરસ્પર બદ્ધ પુદ્‌ગલોની જે પ્રગાઢ રચના વિશેષ છે તેને સંઘાત કહે છે. તાત્પર્ય એ છે કે આત્માની દ્વારા ગૃહીત પુદ્‌ગલોનો બન્ધન નામ કર્મ દ્વારા પરસ્પરમાં બન્ધ તો થઈ જાય છે પરંતુ તે બન્ધનમાં પ્રગાઢતા લાવનાર સંઘાત નામ કમ છે આથી જે કર્મના ઉદયથી ઔદારિક વગેરે શરીરોની ગાઢી રચના થાય છે તે સંઘાત નામકર્મ કહેવાય છે. જેમ લાકડામાં અથવા માટીના પિન્ડમા એક પ્રકારની સઘનતા હોય છે તે પ્રકારની સઘનતા શરીરપુદ્‌ગલોમાં પણ જોવામાં આવે છે. આ સઘનતા સંઘાત લોભ કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થાય છે સંઘાત નામ કર્મ પણ શરીર નામ કર્મની માફક ઔદારિક વગેરેના ભેદથી પાંચ પ્રકારનું છે

અગર સંઘાત નામ કર્મ ન હોત તો શરીરમાં જે મજબુતાઈ જોવામાં આવે છે તે ન હોત.

સંહનન નામ કર્મ છ પ્રકારના છે—વજ્ર,-ઋષભનારાચ–સંહનન, વજ્રનો અર્થ કીલિકા ઋષભનો અર્થ પરિવેષ્ટન પટ્ટ છે, નારાચનો અર્થ બંને બાજુ મર્કટ બન્ધ છે આવી રીતે આ પદોનો અર્થ થયો. સંહનનનો અર્થ કરવામાં આવે છે. જેમાં બે હાડકાઓ બંને તરફ મર્કટ બન્ધથી બાંધેલા હોય અને પછી પાટાની આકૃતિવાળું બીજું હાડકું તેને વીંટાયેલું હોય, તેની ઉપર તે ત્રણ હાડકાઓને, ખીલીના આકારની વજ્ર નામની ત્રીજી હાડકી લાગેલી હોય તે બન્ધન વિશેષને વજ્ર ઋષભનારાચ સંહનન કહેવામાં આવે છે. (૧) જેમાં હાડકાઓ બધાં ઉપર જણાવવા મુજબના હોય પરંતુ વજ્રાકાર ખીલી માત્ર ન હોય તે–બન્ધન વિશેષને ઋષભનારાચ સંહનન કહે છે. (૨) જેમાં બંને બાજુએ મર્કટબન્ધ હોય તેને નારાચસંહનન કહે છે. (૩) જેમાં એક બાજુએ તો મર્કટબન્ધ હોય, બીજી બાજુએ ખીલી હોય તો તેને અર્ધનારાચસંહનન કહે છે, (૪) જેમાં બે હાડકાઓનો સાંધો ખીલીથી બાંધેલો હોય તેને કીલિકા સંહનન કહે છે. (૫) જેમાં હાડકાઓનો ટોચ ભાગ પરસ્પરમાં સ્પર્શ માત્રથી મળેલા હોય તેને સેવાર્ત્ત સંહનન કહે છે (૬)

સંસ્થાન નામ કર્મના છ ભેદ છે—સમચતુરસ્રસંસ્થાન આદિ અહીં સસ્થાનનો આશય છે–આકાર અર્થાત્ અમુક આકારમા શરીરની રચના હોવી. તાત્પર્ય એ છે કે શરીરને અનુકૂળ

બાંધવામાં આવનારા પુદ્ગલોમાં જે કર્મના ઉદયથી કોઈ વિશિષ્ટ આકૃતિ ઉત્પન્ન થાય છે તે સંસ્થાનકર્મ કહેવાય છે. જે સંસ્થાન સમચોરસ હોય તે સમચતુરસ્ર કહેવાય છે (૧) માન, ઉન્માન તથા પ્રમાણની અપેક્ષાથી તેમાં ન તો ઓછાપણું હોય છે કે ન વધુપણું.

જેમાં નાભિ (ડૂંટી)ના ઉપરના ભાગમાં બધા અવયવ ચતુરસ્ર સમચતુષ્કોણ અર્થાત્ યોગ્ય લક્ષણવાળા હોય પરંતુ ડૂંટીની નીચેના ભાગ ઉપર એ પ્રમાણે ન હોય તેને ન્યગ્રોધ પરિમંડળ સંસ્થાન કહે છે (૨) જેમાં ડૂંટીથી નીચેના ભાગમાં બધા અવયવ સમચતુરસ્ર સમચતુષ્કોણ અર્થાત્ યથાયોગ્ય લક્ષણવાળા હોય પરંતુ ડૂંટી ઉપરનો ભાગ નીચેના ભાગ જેવો ન હોય તેને સાદિ સંસ્થાન કહે છે. (૩) જેમાં ડોક, મસ્તક, હાથ અને પગ સમચતુષ્કોણ અર્થાત્ યથાયોગ્ય લક્ષણવાળા હોય પરંતુ શરીરનો મધ્યભાગ-હૃદય, પીઠ આદિ થોડા વિકૃત હોય તેને કુબ્જસંસ્થાન કહે છે. (૪) જેમાં શરીરનો મધ્યભાગ તથા મસ્તક-ગર્દન, હાથ તથા પગ સમચતુષ્કોણ અને યથારૂપ લક્ષણવાળા હોય પરંતુ પ્રમાણમાં નાના હોય તેમને વામન-સંસ્થાન કહે છે. (૫) જેમાં હાથ પગ આદિ અવયવો પ્રમાણસરના હોતાં નથી તેમને હુંડ સંસ્થાન કહે છે (૬).

વર્ણ નામ કર્મ પાંચ પ્રકારના છે—કૃષ્ણવર્ણનામકર્મ , નીલવર્ણન.મકર્મ, રક્તવર્ણનામકર્મ પીતવર્ણનામકર્મ, શુકલવર્ણનામકર્મ

ગન્ધ નામકર્મના બે ભેદ છે—સુરભિગંધનામકર્મ અને દુરભિગંધ નામકર્મ.

રસ નામકર્મના પાંચ ભેદ છે—તિક્તરસ નામકર્મ, કટુકરસ નમકર્મ, કષાયરસ નામકર્મ, અમ્લરસ નામકર્મ અને મધુરરસ નામકર્મ.

સ્પર્શ નામકર્મ આઠ પ્રકારના છે—કર્કશસ્પર્શ નામકર્મ. મૃદુસ્પર્શ નામકર્મ, ગુરુસ્પર્શનામકર્મ, લઘુસ્પર્શ નામકર્મ, શીતસ્પર્શ નામકર્મ, ઉષ્ણસ્પર્શ નામકર્મ, સ્નિગ્ધસ્પર્શ નામકર્મ અને રૂક્ષસ્પર્શ નામકર્મ.

આ વર્ણ-ગન્ધ-રસ-સ્પર્શ નામક નામકર્મ શરીરમાં અમુક-અમુક પ્રકારનાં વર્ણ ગંધ આદિને ઉત્પન્ન કરે છે—

અગુરુલઘુ નામ કર્મ તે છે જે શરીરની અગુરુલઘુતાનો નિયામક હોય છે. ગુરુતા, લઘુતા અને ગુરુ-લઘુતા આ ત્રણ પ્રકારના પરિણામોના નિષેધક જે પરિણામ છે તે અગુરુ લઘુ કહેવાય છે. સારાંશ એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી બધાં જીવોના શરીર ન તો ઘણા મોટા હોય છે, ન ઘણા નાના હોય છે પરંતુ અગુરુલઘુ પરિણામવાળા હોય છે તે અગુરુવઘુ નામ કર્મ કહેવાય છે. બધાં દ્રવ્ય, સ્થિતિ આદિ અનેક સ્વાભાવોથી પરિણત થાય છે તેમાથી અગુરુ લઘુ-પરિણામનો નિયામક અગુરુ લઘુ નામ કર્મ છે.

જે નામ કર્મના ઉદયથી પોતાના જ શરીરના અવયવ પોતાને જ દુઃખદાયક હોય છે તે ઉપઘાત નામ કર્મ છે. બીજાને ત્રાસ અથવા પ્રતિઘાત આદિ ઉત્પન્ન કરવાવાળું એ પરાઘાત નામ કર્મ છે. જે કર્મના ઉદયથી કોઈ વિદ્વાન દર્શનમાત્રથી ઓજસ્વી પ્રતીત થાય છે અને કોઈ સભામાં પહોંચી જઈને વાક્ ચાતુર્યથી અન્ય શ્રોતાઓને ત્રાસ ઉત્પન્ન કરે છે અથવા બીજાની પ્રતિભાને પ્રતિઘાત કરે છે તે પરાઘાત નામ કર્મ છે.

જીવ જ્યારે વર્તમાન દેહનો ત્યાગ કરી નવીન જન્મ ધારણ કરવા માટે વિગ્રહ ગતિ કરે છે તે વખતે આ કર્મનો ઉદય થાય છે. આ આનુપૂર્વી નામ કર્મના ઉદયથી જીવ પોતાના નિયત ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં પહોંચે છે.

ક્ષેત્રના સન્નિવેશ ક્રમને આનુપૂર્વી કહે છે જે કર્મના ઉદયથી અતિશયની સાથે ગમનની અનુકૂળતા હોય છે તેને પણ આનુપૂર્વી કહે છે તે અન્તરાળગતિ બે પ્રકારની છે—ઋજુગતિ અને વક્રગતિ. જીવ જ્યારે એક સમય પ્રમાણુ ઋજુગતિથી ગમન કરે છે ત્યારે આગલા આયુષ્ય કર્મનો અનુભવ કરતો થકો જ આનુપૂર્વી નામ કર્મ દ્વારા ઉત્પત્તિ સ્થાનને મેળવી આગલું આયુષ્ય પ્રાપ્ત કરે છે. બે ત્રણ અથવા ચાર સમયવાળી વક્રગતિથી જે વાણિમુકતા, લાંગલિકા અને ગોમુત્રિકા લક્ષણુવાળી હોય છે, ગતિ કરે છે તો વળાંક શરૂ થવાના સમયે આગામી આયુષ્યને પ્રાપ્ત કરી લે છે. તે જ સમયે આનુપૂર્વી નામ કર્મનો ઉદય થાય છે

શંકા—જેમ ઋજુગતિમાં આનુપૂર્વી નામ કર્મના ઉદય વગર જ જીવ પોતાના ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં પહોંચી જાય છે તેવી જ રીતે વક્રગતિ કરીને પણ આનુપૂર્વી નામ કર્મ વગર જ ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં કેમ પ્રાપ્ત થઈ જતો નથી ?

સમાધાન—ઋજુગતિમાં પૂર્વ ભવ સંબંધી આયુષ્યના વ્યવહારથી જ જીવનું ગમન થાય છે જ્યાં પૂર્વભવના આયુષ્યનો ક્ષય થઇ જાય છે ત્યાં જ આનુપૂર્વી નામકર્મનો, જે રસ્તામાં પડેલી લાકડી જેવું છે તેનો ઉદય થાય છે. આ રીતે વક્રગતિમાં વર્તમાન ભવના આયુષ્ય કર્મનો ક્ષય થવાથી આનુપૂર્વી નામ કર્મનો ઉદય થાય છે.

પ્રાણાપાન અર્થાત્ ઉચ્છ્વાસ અને વિશ્વાસને યોગ્ય પુદ્ગલોને ધારણ કરવાની શક્તિ ઉત્પન્ન કરનાર કર્મ ઉચ્છ્વાસ નામ કર્મ કહેવાય છે. આતપના સામર્થ્યનો જનક કર્મ આતપ નામકર્મ છે. પ્રકાશની શક્તિ ઉત્પન્ન કરનાર ઉદ્યોત નામ કર્મ છે. લબ્ધિ શિક્ષા (શિક્ષણ) અગર ઋદ્ધિના પ્રભાવથી આકાશમાં વિહાર કરવાની શક્તિ ઉત્પન્ન કરનાર કર્મ વિહગગતિ અથવા વિહાયોગતિ નામ કર્મ કહેવાય છે. પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ હંસ આદિની મોહક ચાલ અને અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ ઉંટ વગેરેની વાંકી ચાલ સમજવા, બેઇન્દ્રિય, તેઈન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય જીવ ત્રસ કહેવાય છે. જે કર્મના ઉદયથી ત્રસ પર્યાયની પ્રાપ્તિ થાય છે તે ત્રસ નામ કર્મ છે.

જે કર્મના ઉદયથી સ્થાવર પર્યાયની પ્રાપ્તિ થાય તે સ્થાવર નામકર્મ છે-સૂક્ષ્મ શરીરનો પિંતા સૂક્ષ્મ નામ કર્મ છે જેના ઉદયથી બાદર શરીર ઉત્પન્ન થાય તે બાદરનામ કર્મ કહેવાય છે.

પર્યાપ્ત નામ કર્મનું વિવેચન-જે કર્મના ઉદયથી પોત-પોતાને યોગ્ય પર્યાપ્તિઓની પૂર્ણતા થાય તે પર્યાપ્તિ નામ કર્મ કહેવાય છે પર્યાપ્તિઓ પાંચ છે—આહારપર્યાપ્તિ, શરીર-પર્યાપ્તિ, ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ, ભાષામણવજ્જત્તિ અને ભાષામનઃપર્યાપ્તિ, આત્માની ક્રિયાની સમાપ્તિને પર્યાપ્તિ કહે છે. આવી રીતે પર્યાપ્તિ આત્માનું એક પ્રકારનું કરણુ છે તે કરણુથી આત્મામાં આહાર વગેરેને ગ્રહણ કરવાની શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે, તે કરણુ જે પુદ્ગલોથી ઉત્પન્ન થાય છે તે પુદ્ગલ આત્મા મારફતે ગૃહીત થઇને અને વિશિષ્ટ પરિણામથી પરિણત થઈને પર્યાપ્તિ કહેવાય છે. મનઃ પર્યાપ્તિ ઈન્દ્રિય પર્યાપ્તિમાં સમાયેલી છે આથી તેની જુદી ગણત્રી કરવામાં આવી નથી.

જે કર્મના ઉદયથી જીવ પોતાને અનુરૂપ પર્યાપ્તિઓને પૂર્ણ ન કરી શકે તેને અપર્યાપ્તિ-નામકર્મ કહે છે.

જે કર્મના ઉદયથી એવા શરીરનું નિર્માણ થાય કે જે અનન્ત જીવો માટે સાધારણ હોય, તે સાધારણ નામકર્મ કહેવાય છે અનન્ત જીવોનું જે એક જ શરીર હોય છે તેને સાધારણ શરીર કહે છે. એવું શરીર કુંપળ વગેરે નિગોદમાં જ જોવામાં આવે છે ત્યાં એક જીવનો આહાર અનન્ત જીવોનો આહાર હોય છે, એકનો શ્વાસોચ્છવાસ જ અનંત જીવોનો શ્વાસોચ્છવાસ હોય છે. આવું સાધારણ શરીર જે કર્મના ઉદયથી નિષ્પન્ન થાય છે, તે સાધારણ શરીર નામ કર્મ છે.

સ્થિરતા ઉત્પન્ન કરવાવાળું કર્મ સ્થિરનામ કર્મ છે. આનાથી જે ઉલટું હોય તે અસ્થિર નામ કર્મ છે એવી જ રીતે શુભ, અશુભ, સુભગ, દુર્ભગ સુસ્વર અને દુઃસ્વર નામ કર્મ પણ સમજી લેવા જોઈએ. આદેયતા ઉત્પન્ન કરનાર આદેય નામ કર્મ કહેવાય છે અને જે એનાથી વિરુદ્ધ હોય તે અનાદેયનામ કર્મ છે જેના ઉદયથી યશ તથા કીર્તિ ફેલાય તે યશઃ કીર્તિ નામ-કર્મ અને જેના ઉદયથી અપજશ અને અપકીર્તિ થાય તે અયશઃકીર્તિનામ કર્મ કહેવાય છે. જે કર્મના ઉદયથી તીર્થંકરત્વની પ્રાપ્તિ થાય તેને તીર્થંકર નામ કર્મ કહે છે આ કર્મના ઉદયથી જીવ દર્શનજ્ઞાન–ચારિત્ર રૂપ તીર્થની પ્રવૃત્તિ કરે છે, મુનિઓના સર્વવિરતિ અને શ્રાવકોના દેશ વિરતિ ધર્મનો ઉપદેશ કરે છે, આક્ષેપિણી–સંવેગિના તથા નિર્વેદિની કથાઓ દ્વારા ભવ્ય-જનોની સિદ્ધિ–મોક્ષ માટે મોક્ષમાર્ગ પ્રદર્શિત કરે છે અને જે કર્મના પ્રભાવથી સુરેન્દ્રો, અસુરેન્દ્રો અને નરેન્દ્રો દ્વારા પૂજાય છે તે તીર્થંકરનામ કર્મ કહેવાય છે:

આમ નામકર્મની ઉત્તર તથા ઉત્તરોત્તર પ્રકૃતિઓ અનેક પ્રકારની કહેવામાં આવી છે ॥ ૧૧ ॥

'गोए दुविहे उच्चे नीए'

સૂત્રાર્થ—ગોત્રકર્મની બે ઉત્તરપ્રકૃતિ છે—ઉચ્ચગોત્ર તથા નીચગોત્ર ॥ ૧૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં નામકર્મ નામક મૂળ પ્રકૃતિની બેંતાળીશ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું: હવે ગોત્રકર્મની બે ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ કથન કરીએ છીએ—ગોત્ર-કર્મની ઉત્તર પ્રકૃતિઓ બે છે—ઉચ્ચગોત્ર તથા નીચગોત્ર

ઉચ્ચગોત્ર દેશ–જાતિ–કુળ–સ્થાન–માન–સત્કાર–ઐશ્વર્ય આદિનો ઉત્કર્ષ ઉત્પન્ન કરે છે. નીચગોત્ર આનાથી ઉલ્ટું હોય છે એના ઉદયથી ચાંડાળ, શિકારી માછીમાર દાસ, દાસીઓ વગેરે જેવી અવસ્થાઓ પ્રાપ્ત થાય છે. ॥ ૧૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમાં નામ કર્મની બેંતાળીશ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે ગોત્ર નામક જે મૂળ પ્રકૃતિ છે તેની બે પ્રકૃતિઓનું કથન કરીએ છીએ—

ગોત્રકર્મના બે ભેદ છે—ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર

જે કર્મના ઉદયથી જીવ ઉચ્ચ જાતિને મેળવે છે તે ઉચ્ચગોત્રકર્મ, અને જેના ઉદયથી નીચ જાતિને પ્રાપ્ત કરે છે તે નીચગોત્રકર્મ કહેવાય છે. ઉચ્ચગોત્ર કર્મ મગધ, અંગ, કલિંગ, બંગ આદિ આર્યદેશોમાં જન્મ લેવામાં હરિવંશ, ઈક્ષ્વાકુ વગેરે પિતૃવંશ રૂપ જાતિઓમાં તથા ઉગ્રકુળ ભોગકુલ વગેરે માતૃવંશ રૂપ ઉત્તમ કુળોમાં જન્મ લેવાનું કારણ હોય છે આવી જ રીતે પ્રભુ પ્રભાવશાળીની પાસે એકદમ પાસે બેસવાથી આદિ રૂપ સ્થાન, પોતાના

હાથે વસ્ત્રપ્રદાન આદિ રૂપ માન, અભ્યુત્થાન, આસન, અંજલિપ્રગ્રહ વગેરે સત્કારનો તથા હાથી ઘોડા, રથ તથા પદાતિ આદિ જાહોજલાલી સર્જન કરનાર ઉચ્ચગોત્ર કર્મ કહેવાય છે.

નીચગોત્ર કર્મના ઉદયથી ચાંડાળ, ગારૂડી, શિકારી માછીમાર, જલ્લાદ, શૂદ્ર, કચરો-વાસીદુ વાળનાર વગેરે હોય છે. જેના ઉદયથી અખિલ વિશ્વમાં આદરણીય ઈક્ષ્વાકુવંશ, સૂર્ય-વંશ, ચન્દ્રવંશ, કુરુવંશ, હરિવંશ તથા તથા ઉગ્રવંશ આદિ ઉત્તમ કોઈ વંશમાં જન્મ થાય છે. તેને ઉચ્ચ ગોત્ર કહે છે આનાથી ઉલ્ટું, જે કર્મના ઉદયથી નિન્દિત, ગરીબ ભ્રષ્ટાચારી, અસત્યભાષી ચોરી કરનાર, વ્યભિચારી હિંસક ચાંડાળ આદિ 'કુળોમાં જીવોનો જન્મ થાય છે; તે નીચ ગોત્ર કહેવાય છે ॥ ૧૨ ॥

'अंतराए पंचविहे, दाण-लाभ-भोग-उवभोग-वीरियंतराय भेयओ'

સૂત્રાર્થ—અન્તરાય પાંચ પ્રકારના છે—દાનાન્તરાય લાભાન્તરાય ભોગાન્તરાય ઉપભોગા-ન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય ॥ ૧૩ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં ગોત્રકર્મ રૂપ મૂળ પ્રકૃતિની બે ઉત્તર પ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ. હવે આઠમી મૂળપ્રકૃતિ અન્તરાય કર્મની પાંચ ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ-અન્તરાય કર્મની ઉત્તર-પ્રકૃતિઓ પાંચ કહેવામાં આવી છે-જેવી કે દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય ઉપભોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય

આ કર્મ, દાન, લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્ય પરિણામમાં વિઘ્ન નાખવાના કારણ રૂપ હોય છે. આ કારણે દાનાન્તર આદિના નામથી કહેવામાં આવ છે. તાત્પર્ય એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી જીવ દાન દેવાની અભિલાષા રાખવા છતાં પણ દાન આપી શકતો નથી, લાભ મેળવવાની ઈચ્છા હોવા છતાં લાભ પ્રાપ્ત કરી શકતો નથી, ભોગવવાની ઈચ્છા હોવા છતાં ભોગ કરી શકતો નથી, ઉપભોગ કરવાની મનોકામના હોવા છતાં ઉપભોગ કરી શકતો નથી અને ઉત્સાહ પ્રકટ કરવાની તીવ્ર અભિલાષા છતાં ઉત્સાહ દેખાડી શકતો નથી તે અન્તરાય કર્મ કહેવાય છે. દાનાન્તરાય આદિ તેની પાંચ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે. ॥ ૧૩ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વ સૂત્રમાં સાતમી મૂળકર્મ પ્રકૃતિ ગોત્રની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ દર્શાવીને હવે આઠમી મૂળપ્રકૃતિ અન્તરાય કર્મની પાંચ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બતાવીએ છીએ—

ઉત્તરપ્રકૃતિઓના રૂપમાં અન્તરાય કર્મ પાંચ પ્રકારના છે—દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય, અન્તરાયકર્મની આ જ પાચ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે.

દેય વસ્તુનો ત્યાગ કરવો દાન કહેવાય છે તેમાં થનાર અન્તરાય અર્થાત્ વિઘ્ન દાનાન્તરાય કહેવાય છે. કહેવાનું એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી દેય દ્રવ્યની સગવડતા હોવા છતાં દાતા દાન કરી શકતો નથી-જે દાનમાં અવરોધ-અડચણ ઉભી કરે છે તે દાનાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે. આપવા લાયક દ્રવ્ય હાજર છે, લેનાર પણ સન્મુખ છે અને દાતા એ પણ જાણે છે કે જો આને ધન આપવામાં આવશે તો મહાન ફળની પ્રાપ્તિ થશે તો પણ દાનાન્તરાય કર્મના ઉદયથી દાતા દાન આપી શકતો નથી.

આવી જ રીતે પ્રાપ્ત વસ્તુની હાજરી હોવા છતાં પણ અને લાભની ઈચ્છા હોવા છતાંપણ જે કર્મના ઉદયે લાભ ન થઇ શકે તે લાભાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે. ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય કર્મ પણ આ પ્રમાણે સમજી લેવા જોઈએ કોઈ ઉદારચરિત પુરુષ સમભા-

વથી. યાચકોની ઇચ્છા અનુસાર ગજાસંપત પ્રમાણે દાન આપી રહ્યો હોય પરંતુ કોઈ એવો યાચક હોય જેને માગવા છતાં પણ, થોડું પણ દ્રવ્ય ન આપે તો સમજવું જોઈએ કે તે યાચકને લાભાન્તરાય કર્મનો ઉદય છે.

જે વસ્તુ એક વખત ભોગવવામાં આવે તે ભોગ કહેવાય છે જેમ માળા, ચન્દન વગેરે. ભોગને અનુકૂળ વસ્તુ હાજર હોય તો પણ જે કર્મના ઉદયથી તેને ભોગવી ન શકાય તે ભોગાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે. વસ્ત્ર, શય્યા, આસન, પાત્ર વગેરેને ઉપભોગ કહેવાય છે કારણ કે તેમનો વારંવાર ભોગ કરી શકાય છે. આ વસ્ત્ર વગેરે વસ્તુઓના હોવા છતાં પણ જે કર્મના ઉદયથી પરિભોગ ન કરી શકાય તેને ઉપભોગાન્તરાય કર્મ કહે છે.

વીર્યનો અર્થ છે ઉત્સાહ, ચેષ્ટા અથવા શક્તિ. કોઇ માનવી બળવાન છે, પુષ્ટ શરીરવાળો છે, યુવાન છે, તો પણ ધર્મ કર્મ વગેરે કરવામાં શક્તિ પ્રદર્શિત કરતો નથી, ઉમંગ બતાવતો નથી તો માની લેવું કે તેને વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય વાયુકાય અને વનસ્પતિકાયના જીવોમાં વીર્યાન્તરાય કર્મનો ક્ષયોપશમ જનિત તરતમતા અનુસાર પૂર્ણરૂપથી ઉદય માનવો જોઈએ. આની અપેક્ષા બેઇન્દ્રિય જીવોમાં, બેઇન્દ્રિયોની અપેક્ષા તેઇન્દ્રિય જીવોમાં ઓછું વીર્યાન્તરાય જોવામાં આવે છે. આ મુજબ છદ્મસ્થઅવસ્થાના પરાકાષ્ઠા સમયમાં અર્થાત્ બારમાં ક્ષીણ કષાય નામક ગુણસ્થાનના અંતિમ સમયમાં વીર્યાન્તરાય કર્મ સહુથી ઓછું દેખાય છે કેવળજ્ઞાન લાધવાથી (મળવાથી) ભલે તીર્થંકર કેવળી હોય કે સામાન્ય-કેવળી, વીર્યાન્તરાય કર્મથી સર્વથા રહિત થઈ જાય છે. તેમનામાં સર્વોત્કૃષ્ટ વીર્ય હો છે. ॥ ૧૩ ॥

'णाणदंसणावरणिज्जवेयणिज्जंतरायाणं, इत्यादि

સૂત્રાર્થ—જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીશ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—આનાથી પૂર્વ પ્રકૃતિબંધનું પ્રરૂપણ કરવા માટે કહેવામાં આવે છે. જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય અને અંતરાય આ ચાર કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછળના સૂત્રોમાં મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધની પ્રરૂપણા કરવામાં આવેલ છે હવે સ્થિતિબન્ધની પ્રરૂપણા કરતા થકા પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની સ્થિતિ બતાવીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે. બન્ધના સમયથી શરૂ કરીને અત્યાર સુધી તે કર્મ પૂર્ણરૂપથી નિર્જીર્ણ થાય છે ત્યાં સુધીનો સમય સ્થિતિકાળ કહેવાય છે. સ્થિતિકાળને જ અહીં સ્થિતિ શબ્દથી કહેલો છે.

આવી રીતે પૂર્વોક્ત ચાર મૂળપ્રકૃતિઓનો સ્થિતિબન્ધ ઉત્કૃષ્ટ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનો સમજવો જોઈએ. આ ચારે કર્મોનો અબાધાકાળ ત્રણ હજાર વર્ષનો છે. બન્ધ થયા બાદ જેટલા કાળ સુધી કર્મનો ઉદય થતો નથી, તેટલો કાળ અબાધાકાળ કહેવાય છે. અબાધાકાળ પુરો થઈ ગયા બાદ જ્ઞાનાવરણ વગેરે કોઈ કર્મ જ્યારે ઉદયાવલીકામાં પ્રવેશ થાય છે ત્યારથી પ્રારંભ કરીને તેનો પૂર્ણરૂપથી નાશ થવાના કાળને બન્ધકાળ કહે છે. પરિણામ એ આવ્યું કે જ્ઞાના-

વરણુ વગેરે કહેલાં ચારે કર્મબન્ધકાળથી લઈને ત્રણ હજાર વર્ષ પુરાં થઈ ગયા બાદ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય છે.

જ્ઞાનાવરણુ. દર્શનાવરણુ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બતાવવામાં આવી છે તે સંજ્ઞી, મિથ્યાદૃષ્ટિ પંચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત જીવની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ. ઉત્તરાધ્યયનના ૩૩માં અધ્યયનમાં કહેવામાં આવ્યું છે—

બે આવરણોની અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણની, વેદનીયની તથા અન્તરાય કર્મની ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે. આ ચારેયની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્તની છે ॥૧૯-૨૦॥ ॥૧૪॥

'मोहणिज्जस्स सत्तरि कोडाकोडीओ' ॥१५॥

સૂત્રાર્થ-મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે ॥૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની સ્થિતિ દર્શાવાઈ છે હવે મોહનીય કર્મની સ્થિતિનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ--

મોહનીય કર્મની જેનું સ્વરૂપ પહેલા કહેવાઇ ગયુ છે, ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ૭૦ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે. આ કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ જ્ઞાનાવરણ આદિ ચાર કર્મપ્રકૃતિઓનો સ્થિતિ કાળ વિસ્તારપૂર્વક બતાવાઈ ગયો છે હવે મોહનીય કર્મનો સ્થિતિ કાળ બતાવીએ છીએ—

મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની તથા જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે.

મોહનીય કર્મનો અબાધાકાળ સાત હજાર વર્ષનો છે. આબાધાકાળની સમાપ્તિથી લઈને સંપૂર્ણ કર્મનો ક્ષય થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહેવાય છે અર્થાત્ જે સમયે મોહનીય કર્મ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થયો તે સમયથી શરુ કરીને તેના પૂર્ણ રૂપથી નાશ થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહી શકાય છે. ફલિતાર્થ એ છે કે સીત્તર હજાર વર્ષ વ્યતીત થઈ જવા પર સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની સ્થિતિવાળા મોહનીય કર્મનો ઉદયાવલીકામાં પ્રવેશ થાય છે.

મોહનીય કર્મની આ ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય મિથ્યાદષ્ટિ પર્યાપ્ત જીવની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ અર્થાત્ મિથ્યાદષ્ટિ સંજ્ઞી પર્યાપ્ત પંચેન્દ્રિય જીવ જ સીત્તેર ક્રોડક્રોડી સાગરોપમની સ્થિતિનો બંધ કરી શકે છે.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩માં અધ્યયનમાં કહ્યું છે—

મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સિત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૫॥

'नामगोत्ताणं वीसईकोडाकोडीओ' ॥१६॥

સૂત્રાર્થ—નામ અને ગોત્ર કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે. એમનો જઘન્ય સ્થિતિકાળ આઠ મુહૂર્ત્તનો સમજવો જોઈએ ॥૧૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં મોહનીય કર્મનો સ્થિતિકાળ પ્રરૂપિત કરવામાં આવ્યો છે. હવે નામ અને ગોત્ર નામક મૂલ પ્રકૃતિઓનો સ્થિતિકાળ પ્રતિપાદિત કરવા માટે કહીએ છીએ.

નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનો ઉત્કૃષ્ટ કાળ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે, એમનો જઘન્ય સ્થિતિકાળ આઠ મુહૂર્ત્ત સમજવો જોઈએ. ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉના સૂત્રમાં મોહનીય કર્મની સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે. હવે નામ અને ગોત્ર કર્મના સ્થિતિ કાળનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ.

નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મ નામક મૂળ પ્રકૃતિઓની ઉત્કૃષ્ટા સ્થિતિ-વીસ-વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે. આ બંનેનો આ બાધાકાળ બબ્બે હજાર વર્ષનો છે. ત્યારબાદ બાધાકાળ પ્રારંભ થઈ જાય છે. ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થવાના સમયેથી આરંભ થઈને પૂર્ણતયા ક્ષય થઈ જવાના સમયને બાધાકાળ કહે છે.

આવી રીતે બન્ધકાળથી લઈને બે હજાર વર્ષ વ્યતીત થઈ જવા પર નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય છે. નામ કર્મ અને ગોત્રકર્મ બન્ધના સમયથી લઈને જેટલા વખત સુધી અનુભવમાં આવતા નથી તેટલો સમય તેમનો અબાધાકાળ કહેવાય. છે.

નામ અને ગોત્ર કર્મની વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે તેનો બન્ધ સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવ જ કરી શકે છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનાં ૩૩માં અધ્યયનની ૨૩મી ગાથામાં કહ્યું છે—નામ કર્મ અને ગોત્રકર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે. ॥૧૬॥

'आउकम्मस्स तेत्तीससागरोवमा ठिई उक्कोसा' ॥१७॥

સૂત્રાર્થ—આયુષ્ય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ તેંત્રીસ સાગરોપમની છે ॥૧૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં નામ અને ગોત્ર નામક મૂળ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે આયુષ્ય નામની મૂલ પ્રકૃતિની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કરીએ છીએ.

આયુષ્ય નામની મૂળપ્રકૃતિની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ પૂર્વ કોટિના ત્રિભાગથી અધિક તેત્રીશ સાગરોપમની જાણવી જોઈએ એની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે તે આગળ ઉપર કહીશું ॥૧૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—નામ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનો કાળ બતાવાઈ ગયો. હવે આયુષ્ય નામક મૂળપ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિકાળ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ,

આયુષ્ય કર્મ નામક મૂળપ્રકૃતિની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કરોડ પૂર્વના ત્રીજા ભાગથી અધિક તંત્રીશ સાગરની ઉત્કષ્ટ સ્થિતિ સમજવી જોઈએ. જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત પ્રમાણ છે જે, આગળ ઉપર કહેવાશે અત્રે-સાગરોપમ લેવાથી, 'ક્રોડાક્રોડી' પદનો નિષેધ થઈ જાય છે. 'તેત્રીશ' પદ ગ્રહણ કરવાથી પણ 'ક્રોડાક્રોડી'ની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે. તાત્પર્ય એ છે કે આયુષ્ય કર્મની સ્થિતિ ફક્ત તેંત્રીશ સાગરોપમની છે, તેંત્રીશ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની નથી.

અહીં કરોડ પૂર્વનો વિભાગ આબાધાકાળ સમજવાનો છે તેની પછી બાધાકાળની શરૂઆત થાય છે જે કાળમાં આયુષ્ય કર્મ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય તેને લઈને પૂર્ણ રૂપથી તેના ક્ષય થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહેવાય છે. આવી રીતે આયુષ્ય બન્ધની પછી કરોડ પૂર્વનો ત્રીજો ભાગ વીત્યા બાદ આયુષ્ય કર્મનો ઉદય થાય છે. જેટલા કાળ સુધી તેનો અનુભવ, થતો નથી તેટલો સમય અબાધાકાળ કહેવાય છે. આયુષ્ય કર્મની તેંત્રીશ સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે તે સંજ્ઞી પર્યાપ્ત પંચેન્દ્રિયની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩માં અધ્યયનની ૨૩મી ગાથામાં કહ્યું છે—'આયુષ્ય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ તેંત્રીશ સાગરોપમની અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની કહેવામાં આવી છે. ॥૧૭॥

'वेयणिज्जस्स बारसमुहुत्ता ठिई जहन्निया

સૂત્રાર્થ—વેદનીયની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૮॥

તત્વાર્થદીપિકા આની પહેલાં જ્ઞાનાવરણીય વગેરે આઠે મૂળ પ્રકૃતિઓનું સામાન્ય રૂપથી ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય સ્થિતિબંધ કહેવામાં આવ્યો છે હવે વેદનીય કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ કહીએ છીએ.

વેદનીય રૂપ (સાંપરાઈકિ સાતાવેદનીય) મૂળ પ્રકૃતિની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્ત્તની છે. ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ પંદર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની કહેવામાં આવી છે ॥ ૧૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા મૂળ કર્મપ્રકૃતિઓનો સામાન્ય રૂપથી સ્થિતિકાળ કહેવામાં આવ્યો છે. હવે વેદનીયની સ્થિતિનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવે છે—

વેદનીય કર્મ (સાંપરાઈકિ સાતાવેદનીય)ની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્તની છે. આનો અબાધાકાળ અન્તર્મુહૂર્ત્તનો છે ॥ ૧૮ ॥

'नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहण्णिया' ॥१९॥

સૂત્રાર્થ—નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠ મુહૂર્ત્તની હોય છે. ॥૧૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં વેદનીય કર્મની સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે હવે નામ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—નામ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠમુહૂર્ત્તની જે. આનો અબાધાકાળ અન્તર્મુહૂર્ત્ત પ્રમાણ છે. ॥ ૧૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા વેદનીય કર્મની સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે નામ અને ગોત્ર રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

નામ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠ મુહૂર્ત્ત પ્રમાણ છે.

ભગવતી સૂત્ર શતક ૬ ઉદ્દેશક ૩ માં કહ્યું છે—નામ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠ મુહૂર્ત્તની છે ॥ ૧૯ ॥

'सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहण्णिया' ॥२०॥

સૂત્રાર્થ—શેષ પ્રકૃતિઓની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે. ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આનાથી અગાઉના બે સૂત્રોમાં વેદનીય, નામ અને ગોત્ર કર્મ રૂપ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિનું બયાન કરવામાં આવ્યું છે હવે શેષ પાંચ જ્ઞાનાવરણ આદિ રૂપ મૂળ-પ્રકૃતિઓની સ્થિતિ કહીએ છીએ—

શેષ અર્થાત્ પૂર્વોક્ત વેદનીય, નામ અને ગોત્ર કર્મથી અતિરિક્ત જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ, મોહનીય, આયુષ્ય અને અન્તરાય કર્મ રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્ત પ્રમાણ છે ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા વેદનીય નામ અને ગોત્ર રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિ પ્રતિપાદન કરવામાં આવી છે હવે બાકીની જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મ રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

શેષ અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ મોહનીય આયુષ્ય અને અન્તરાય કર્મોની મૂળ પ્રકૃતિઓની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્ત માત્ર છે. અબાધાકાળ પણ અન્તર્મુહૂર્ત્તનો હોય છે.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩ મા અધ્યયનની ગાથા ૧૯–૨૨ માં કહ્યું છે. જઘન્ય સ્થિતિ-અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥ ૨૦ ॥

'कम्माणं विवागो अणुभावो' ॥२१॥

સૂત્રાર્થ—કર્મોના વિપાક-ફળ અનુભાવ કહેવાય છે ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મ, ૩૫ મૂળ પ્રકૃતિઓનું તથા તેમના સ્થિતિ બન્ધ કાળનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું, હવે અનુભાવબન્ધનું નિરૂપણ કરીએ છીએ--

જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વગેરે મૂળ પ્રકૃતિઓનો તથા મતિજ્ઞાનાવરણ વગેરે ઉત્તર પ્રકૃતિઓનો જે વિપાક અર્થાત્ ફળ છે, તે અનુભાવ કહેવાય છે ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉના પાંચ સૂત્રોમાં જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ તથા જઘન્ય સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે, હવે અનુક્રમથી પ્રાપ્ત અનુભાવબન્ધનું વિશિષ્ટ લક્ષણ બતાવીને પ્રરૂપણ કરીએ છીએ જ્ઞાનાવરણ આદિ મૂળ પ્રકૃતિઓના અને મતિજ્ઞાનાવરણ આદિ ઉત્તર પ્રકૃતિઓના સર્વ કર્મોના વિપાક ફળ અથવા ઉદયાવલિકામાં પ્રવેશ અનુભાવ કહેવાય છે. જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોનો વિશિષ્ટ અથવા વિવિધ પ્રકારનો પાક વિપાક કહેવાય છે અથવા દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ, ભાવ અને ભવરૂપ નિમિત્તકારણોના ભેદથી ઉત્પન્ન જુદા જુદા પ્રકારના પાક–વિપાક અનુભવરૂપ અનુભાવ કહેવાય છે. પ્રશસ્ત અને અપ્રશસ્ત પરિણામોનો તીવ્ર મન્દ વગેરે વિપાક, જે પૂર્વોક્ત જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોની મારફત જન્મેલા સુખ–દુઃખ આદિ ફળ રૂપ હોય છે, તેનો અનુભવ કરવો અનુભાવ છે.

શુભ પરિણામોનો ઉત્કર્ષ–અધિકપણું થવાથી શુભ કર્મ પ્રકૃતિઓમાં ઉત્કૃષ્ટ અનુભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. અને અશુભ કર્મ પ્રકૃતિઓમાં નિકૃષ્ટ ઓછો અનુભાવ ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે અશુભ પરિણામોમાં ઉત્કર્ષ થાય છે ત્યારે અશુભ કર્મપ્રકૃતિઓ તીવ્ર અનુભાવ અને શુભ પ્રકૃતિઓમાં મન્દ અનુભાવ ઉત્પન્ન થાય છે.

અથવા જેના કારણે આત્મા બન્ધનો અનુભવ કરે છે તેને અનુભાવ કહે છે અથવા અનુગત ભાવ અનુભાવ કહેવાય છે જ્યારે પૂર્વે બંધાયેલા કર્મો ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય છે ત્યારે જીવને ઈચ્છાથી કે અનિચ્છાથી અનુસમય–પ્રતિસમય તેને ભોગવવો જ પડે છે.

જ્ઞાનાવરણ કર્મનું ફળ જ્ઞાનનો અભાવ હોય છે દર્શનાવરણનું ફળ દર્શનશક્તિની રુકાવટ છે. આ રીતે સર્વ કર્મો દ્વારા ઉત્પન્ન થનારા સુખ દુ:ખ રૂપ અનુભૂતિ થાય છે. તે કર્મવિપાક અમુક–અમુક પ્રકારના હોય છે. જે પ્રકારના અધ્યવસાયથી જે કર્મ જે રૂપમાં બંધેલા છે તે તે રૂપમાં ફળ પ્રદાન કરે છે તે જ કર્મફળ જીવને ભોગવવું પડે છે. કદી–કદી અન્ય રીતે પણ ભોગવાય છે.

કર્મનો વિપાક કોઈ તીવ્ર કોઈ મન્દ તો કોઈ મધ્યમ હોય છે. ક્યારે–ક્યારેક શુભ રૂપમાં બાંધેલા કર્મનું ફળ અશુભ રૂપમાં ભોગવાય છે અને અશુભ રૂપમાં બાંધેલ કર્મનું ફળ શુભરૂપમાં ભોગવવામાં આવે છે આવી જ રીતે કર્મ ફળ–વિપાકમાં દ્વિરૂપતા સમજવી જોઈએ. કહ્યું પણ છે—

જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ કર્મ પ્રકૃતિઓમાંથી કોઈ કર્મ પુદ્‌ગલવિપાકી હોય છે તેનું ફળ પુદ્‌ગલોમાં જ મળે છે અથાત્ તે કર્મ પુદ્‌ગલોમા જ વિવિધ પ્રકારના પરિણમન ઉત્પન્ન કરે છે. કોઈ કર્મ પ્રકૃતિ ભવવિપાકી હોય છે તેનું ફળ ભવાન્તરની પ્રાપ્તિ થવા પર દેહધારી જીવ જ ભોગવે છે કોઈ–કોઈ કર્મપ્રકૃતિ ક્ષેત્રવિપાકી હોય છે તેનું ફળ ક્ષેત્ર પ્રાધાન્યથી ભોગવાય છે. કોઈ કર્મ જીવ-વિપાકી હોય છે તેનું ફળ આત્માને જ ભોગવવું પડે છે અર્થાત્ આત્માના ગુણોને તે પ્રભાવિત કરે છે. કહ્યું પણ છે—

સંહનન, સંસ્થાન, વર્ણ, સ્પર્શ, રસ, ગંધનામકર્મ, અંગોપાંગનામકર્મ, સર્વશરીર નામ કર્મ, અગુરુ લઘુ પરાઘાત, ઉપઘાત, આતપ, ઉદ્યોત, પ્રત્યેકશરીર, સ્થિર, શુભનામ કર્મ, તથા એમનાથી વિપરીત અર્થાત્ સાધારણ શરીર અસ્થિર અને અશુભ નામ કર્મ આ બધી કર્મ-પ્રકૃતિઓ પુદ્દગલ વિપાકિની છે. આયુષ્યકર્મની ચારેય પ્રકૃતિઓ ભાવવિપાકી છે, અનુપૂર્વી કર્મ ક્ષેત્રવિપાકી છે અને બાકીની બધી પ્રકૃતિઓ જીવવિપાકી છે.

પ્રશ્ન—અન્ય પ્રકારથી બાંધેલા કર્મ અન્ય પ્રકારથી કંઈ રીતે ભોગવાય છે ?

ઉત્તર—ઉકત કારણોથી ઉત્પન્ન થયેલ વિપાકરૂપ અનુભાવ બે પ્રકારથી પ્રવૃત્ત થાય છે સ્વમુખે અને પરમુખે જ્ઞાનાવરણ આદિ બધી મૂળ પ્રકૃતિઓનો અનુભાવ સ્વમુખે જ થાય છે, પરમુખે નહીં. જ્ઞાનાવરણ કર્મ, દર્શનાવરણ કર્મના રૂપે ફળ આપતું નથી; એવી જ રીતે કોઈ પણ મૂળ પ્રકૃતિનું બીજી મૂળ પ્રકૃતિમાં સંક્રમણ થતું નથી પરંતુ એક જ કર્મની ઉત્તર-પ્રકૃતિઓ સજાતીય અન્ય પ્રકૃતિઓના રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે એવી જ રીતે તેમનો વિપાક પરમુખે પણ થાય છે જેમ કે મતિ—જ્ઞાનાવરણનો શ્રુતજ્ઞાનાવરણના રૂપમાં વિપાક થઈ જાય છે અને શ્રુતજ્ઞાનાવરણનું મતિજ્ઞાનાવરણના રૂપમાં સક્રમણ થઈ શકે છે. આમ જ્ઞાનાવરણ કર્મની પાંચે ય પ્રકૃતિઓ પરમુખે અર્થાત્ રૂપાંતરથી પણ ફળ પ્રદાન કરે છે.

પરંતુ ઉત્તર પ્રકૃતિઓના સંક્રમણમાં પણ થોડો અપવાદ છે. ચાર પ્રકારની આયુષ્યકર્મની પ્રકૃતિઓનું પરસ્પરમાં સંક્રમણ થતું નથી અર્થાત્ કોઈ પણ એક આયુષ્ય બીજા આયુષ્યના રૂપમાં પરિવર્તન કરી શકાતુ નથી એવી જ રીતે દર્શન મોહનીય અને ચારિત્ર મોહનીય, છે તો એક મોહનીય કર્મની જ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ પરંતુ તેમનું પણ એક બીજામાં સંક્રમણ થઈ શકતું નથી, દા. ત. નરકાયુ તિર્યંચાયુના રૂપમાં બદલી શકાતું નથી અને દર્શન મોહનીય ચારિત્ર મોહનીયના રૂપમાં પોતાનું ફળ આપતું નથી તથા ચારિત્ર મોહનીયનો દર્શનમોહનીયના રૂપમાં પરિપાક થઈ શકતો નથી.

આવી રીતે કર્મ વિપાકફળનો અનુભવ કરતો થકો જીવ કર્મના કારણે જ અનાભોગ વીર્યપૂર્વક કર્મનું સંક્રમણ કરે છે.

આવી જ રીતે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય પરિણતિવાળો આત્મા જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોના વિપાકનો અનુભવ કરતો થકો કર્મના કારણે, અન્ય નિમિત્તો વગર જ અનાભોગ વીર્ય પૂર્વક કર્મનું સંક્રમણ કરે છે. નિમિત્તહીન અનાભોગ જ્ઞાનાવરણ વગેરેનો ઉદય કહેવાય છે. આભોગ કરવાવાળા અર્થાત્ કર્મફળ વિપાકને ભોગવવાવાળા આત્માની વિશેષ ચેષ્ટા આભોગવીર્ય કહેવાય છે. તાત્પર્ય એ છે કે ઇરાદાપૂર્વક જે પ્રયત્ન કરવામાં આવે છે તેને આભોગવીર્ય કહે છે અને વગર વિચાર્યે, અજાણતામાં જે ચેષ્ટા થાય છે તે અનાભોગ વીર્ય કહેવાય છે.

જીવ અનાભોગ વીર્યપૂર્વક જ કર્મ સંક્રમણ કરે છે. આવી રીતે કોઈ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનો પોતાની સજાતીય ઉત્તરપ્રકૃતિઓમાં સંક્રમણ થાય છે, બધાંનો નહીં. તે સંક્રમણ માત્ર સજા-તીય ઉત્તર પ્રકૃતિઓમાં જ થાય છે, વિજાતીય પ્રકૃતિઓમાં નહીં. જેમ જ્ઞાનાવરણ કર્મની મતિજ્ઞાનાવરણ કર્મ આદિ પાંચ પ્રકૃતિઓનું શ્રુતજ્ઞાનાવરણ વગેરે ચાર પ્રકૃતિઓના રૂપમાં સંક્રમણ થાય છે, દર્શનાવરણની વિશિષ્ટ પ્રકૃતિ ચક્ષુદર્શનાવરણ વગેરેમાં નહીં.

જ્ઞાનાવરણ પણ દર્શનાવરણ વગેરે બીજી મૂળ પ્રકૃતિઓમાં સંક્રાન્ત થતું નથી એવી જ રીતે દર્શનાવરણનું કોઈ બીજી મૂળ પ્રકૃતિના રૂપમાં સંક્રમણ થતું નથી કારણ કે તેના બન્ધના કારણ ભિન્ન જાતિના હોય છે.

બન્ધના કારણ આ રીતે છે-જ્ઞાનાવરણના બંધના કારણ નિહ્નવ વગેરે છે, અસાતાવેદનીયના બંધના કારણ દુઃખ શોક વગેરે છે જો કે જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણના બન્ધના કારણ સરખાં છે તો પણ હેતુમાં જુદાઈ હોવાથી તેમના પરિણામમાં પણ ભિન્નતા થઈ જાય છે. જ્ઞાનાવરણ કર્મ વિશેષગ્રાહી બોધનો નિરોધ કરે છે. અને દર્શનાવરણ સામાન્ય ઉપયોગ (દર્શન) ને ઢાંકી દે છે આમ ભિન્ન ભિન્ન બંધના કારણ હોવાથી તથા ભિન્ન-ભિન્ન ફળવાળા હોવાથી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ ગોત્ર અને અન્તરાય પ્રકૃતિઓનું પરસ્પર—સંક્રમણ થતું નથી.

સંક્રમણ ઉત્તર પ્રકૃતિઓમાં જ થાય છે પરંતુ તેમનામાં પણ કોઈ-કોઈ જ ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનો કોઈ-કોઈ ઉત્તર પ્રકૃતિઓમાં જ સંક્રમણ થાય છે, બધાનું બધામાં સંક્રમણ થતું નથી, દા. ત. દર્શનમોહનીય કર્મનું ચારિત્ર મોહનીયના રૂપમાં સંક્રમણ થતું નથી અને-ચારિત્ર મોહનીયનું દર્શન મોહનીયના રૂપમાં સંક્રમણ થતું નથી એવી જ રીતે સમ્યક્ત્વ પ્રકૃતિ—સમ્યગ્-મિથ્યાત્વ રૂપથી સંક્રાન્ત થતી નથી પરંતુ સમ્યગ્ મિથ્યાત્વ અર્થાત્ મિશ્રપ્રકૃતિનો બન્ધ ન થવા છતાં પણ સમ્યક્ત્વમાં બધી જ સંક્રમણ થાય છે અને એવી જ રીતે સમ્યક્ત્વ પ્રકૃતિ અને મિશ્રપ્રકૃતિનું મિથ્યાત્વમાં સંક્રમણ થાય છે. આયુષ્ય કર્મની ચાર ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનું પરસ્પર સંક્રમણ થતું નથી—નરકાયુ બદલીને તિર્યંચાયુ વગેરેમાં ફેરવી શકાતું નથી એવી જ રીતે કોઈ પણ અન્ય આયુષ્ય કોઈ બીજા આયુષ્ય પ્રકૃતિના રૂપમાં પ્રાપ્ત થઈ શકતું નથી.

તાત્પર્ય એ છે કે ઉત્તર પ્રકૃતિઓમાં પણ દર્શનમોહનીય અને ચારિત્ર મોહનીયનો સમ્યગ્—મિથ્યાત્વવેદનીયનો તથા આયુષ્ય કર્મની પ્રકૃતિઓનું એકબીજામાં સંક્રમણ થતું નથી કારણ કે તેમના બન્ધના કારણોમાં ભિન્નતા છે એથી તેઓ ભિન્ન જાતીય છે. કહ્યું પણ છે—

આત્મા અમૂર્ત્ત હોવાના કારણે પોતાના અધ્યવસાયની વિશેષતાથી મૂળ પ્રકૃતિઓથી અભિન્ન ઉત્તર પ્રકૃતિઓમા સંક્રમણ કરે છે અર્થાત્ એક મૂળ પ્રકૃતિની ઉત્તર મૂળ પ્રકૃતિઓમાં ફેર-બદલો કરી લે છે આવી જ રીતે ગાઢા બાંધેલા કર્મને અધ્યવસાયની વિશેષતાથી શિથીલ કરી લે છે અને શિથીલ બાંધેલા કર્મને દૃઢ પણ કરી લે છે અને જઘન્ય સ્થિતિને ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિના રૂપમાં બદલી શકે છે.

સંક્રમણ, સ્થિતિ અને ઉદીરણા, આ ત્રણેના વિષયમાં ત્રણ દૃષ્ટાંતો રજુ કરીએ છીએ,

સંક્રમણનું દ્દષ્ટાંત છે તાંબાને તારના રૂપમાં બદલવા—તાંબુ પ્રયોગ દ્વારા તારના રૂપમાં પરિવર્તિત થઇ જાય છે. સ્થિતિનું ઉદાહરણ છે- માટીનું શોષણ અને તેને ભીની કરવી ઉદીરણાનું ઉદાહરણ છે, કેરીને જલદીથી પકાવવી આ ક્રમશઃ ત્રણ ઉદાહરણો છે.

આ પ્રમાણે જ જીવ પોતાના પ્રયોગથી અનુભાવમાં પણ સંક્રમણ કરે છે અર્થાત્ કોઇ કર્મ પ્રકૃતિનો તીવ્ર અનુભાવ બન્ધ કર્યો હોય તો અપવર્તનાકરણ દ્વારા તેને મન્દ રૂપમા બદલી શકાય છે અને બાંધેલા મન્દ અનુભાવને ઉદ્વર્તનાકરણ દ્વારા તીવ્ર અનુભાવમાં બદલી શકાય છે.

જેમ મન્દ અનુભાવવાળુ ચૂર્ણ હલદર વડે જલદ કરી દેવામાં આવે છે અને જલદ ચૂર્ણ વાયુ અને તાપ દ્વારા મન્દ બનાવી દેવાય છે.

મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિનો અનુભાવ તીવ્ર હોય છે, સમ્યક્ત્વ-પ્રકૃતિનો અનુભાવ મન્દ હોય છે અને મિશ્ર પ્રકૃતિનો અનુભાવ મિશ્ર-મધ્યમ હોય છે'

આ રીતે દર્શનમોહનીય, ચરિત્રમોહનીય અને આયુષ્યકર્મની ઉત્તર પ્રકૃતિઓનું સંક્રમણ થતું નથી એનુ કારણ એ છે કે એમના બન્ધના કારણો આગમમાં ભિન્ન-ભિન્ન બતાવવામાં આવ્યા છે અને ભિન્ન કારણોથી બાંધેલા હોવાથી એ પ્રકૃતિઓ ભિન્ન જાતિની છે એમનું ફળ પણ ભિન્ન છે. એટલું ચોક્કસ છે કે અપવર્તન બધી પ્રકૃતિઓનું થઈ શકે છે, ભલે પછી તે મૂળ પ્રકૃતિ હોય અથવા ઉત્તર પ્રકૃતિ. દીર્ઘકાલીન સ્થિતિનું અલ્પકાલીન થઈ જવું તે અપ· વર્ત્તન કહેવાય છે. પરિણામની વિશેષતા અનુસાર બધી પ્રકૃતિઓનું અપવર્ત્તન થઈ શકે છે.

આ જે અનુભાવ-વિપાક છે, તે નામ અનુસાર થાય છે જે કર્મનું જે નામ છે તેને જ અનુરૂપ તેનું ફળ પણ હોય છે. જ્ઞાનાવરણ વગેરે બધાં કર્મોના વિષયમાં આ પ્રમાણે જ સમજવાનું છે. જેમ કે જે કર્મ જ્ઞાનને આવત-આચ્છાદિત કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે. જ્ઞાનાવરણ કર્મ જે ફળ પ્રદાન કરે છે તેનો પર્યવસાન જ્ઞાનના અભાવમાં થાય છે અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણ કર્મ પોતાના નામ મુજબ જ્ઞાનનો નિરોધ કરે છે.

એવી જ રીતે દર્શનાવરણ કર્મનું ફળ દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધને આવૃત્ત કરવાનું છે. દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય ઉપયોગ, તેને જે આવૃત્ત કરે છે તે દર્શનાવરણ. આમ નામને અનુરૂપ જ તેનું ફળ હોય છે.

સાતાવેદનીયનું ફળ સુખનું વેદન કરાવે છે અસાતાવેદનીય અસાતા અર્થાત્ દુઃખનું વેદન-અનુભવ કરાવે છે. દર્શન મોહનીય કર્મ જ્યારે ફળ આપે છે તો દર્શન અર્થાત્ તત્ત્વાર્થ શ્રદ્ધાનને મોહિતકલુષિત અથવા નષ્ટ કરે છે. ચારિત્રમોહનીય કર્મ ચારિત્રને ઉત્પન્ન થવા દેતું નથી.

એવી જ રીતે જે કર્મના વિપાકથી આયુષ્ય કહેતાં પ્રાણધારણ થાય છે તે આયુષ્ય કર્મ કહેવાય છે આમ આયુષ્ય કર્મનું ફળ-વિપાક પ્રાણધારણ છે એવી જ રીતે ગતિ, જાતિ વગેરે પ્રશસ્ત અગર અપ્રશસ્ત ભાવોને જે કર્મ પ્રાપ્ત કરાવે છે તે નામકર્મ પણ ગતિનામ વગેરે કહેવાય છે. એનું ફળ પણ નામ અનુસાર જ સમજવું જોઈએ ગોત્ર કર્મનું ફળ પણ તેવા નામને અનુકૂળ હોય છે. 'ગુઙ્' ધાતુ શબ્દના અર્થમાં છે. ષ્ટ્રન્ પ્રત્યય હોવાથી 'ગોત્ર' શબ્દ સિદ્ધ થાય છે. ગોત્ર બે પ્રકારના છે—ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર જે કર્મના ફળસ્વરૂપ જીવ ઉંચો કહેવાય છે. એ પૂજ્ય છે. ઉગ્રકુલ, ભોગકુલ અથવા ઈક્ષ્વાકુકુળનો છે એ પ્રકારના શબ્દોથી સંબોધવામાં આવે છે તે ઉચ્ચગોત્ર. કર્મ પણ પોતાના નામ અનુસાર જ ફળ પ્રદાન કરે છે. જે કર્મના ઉદયથી આ દરિદ્ર છે, તરછોડાયેલો-તુચ્છ છે, ચાંડાળ છે ઇત્યાદિ હલકા શબ્દોથી શબ્દિત થાય છે તે નીચગોત્ર કહેવાય છે. આનું ફળ નીચ વંશ વગેરેની પ્રાપ્તિ છે.

જે કર્મના ઉદયથી દેય, દાન, દાતા વગેરેની વચ્ચે અન્તરાય-વિઘ્ન ઉપસ્થિત થાય છે તે અન્તરાય કર્મ કહેવાય છે. અન્તરાય કર્મ જ્યારે તેનું ફળ આપે છે ત્યારે તે દાન વગેરેમાં વિઘ્ન નાખવાના રૂપમાં જ હોય છે એવી રીતે જ્ઞાનાવરણ આદિ સમસ્ત કર્મોનું ફળ જેમને

તેમને પોત-પોતાના નામ મુજબ જ થાય છે સમવાયાંગસૂત્રમાં વિપાકશ્રુતના વર્ણનમાં કહ્યું છે- 'અનુભાગ-ફળ-વિપાક બધાં કર્મોનો હોય છે.'

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પદ ૨૩ માં તથા ઉત્તરાધ્યયન અધ્યયન ૩૩ માં પણ આવું જ કહેવાયુ છે.

શંકા-જો કર્મોનું ફળ ઉપર કહ્યા મુજબનું હોય છે તો ફળ પ્રદાન કર્યા બાદ તે કર્મ આભૂષણની જેમ રહે છે અથવા નિઃસાર થઈને ચ્યુત થઈ જાય છે- ખરી પડે છે ?

સમાધાન-બાંધેલા કર્મ જ્યારે ભોગવી લેવામાં આવે છે તો આત્માને પીડા અગર કૃપા પ્રદાન કરીને, ખાધેલા ભોજન વગેરેના વિકારની માફક નીકળી જાય છે; કારણ કે તે સમયે તેને રોકાવા માટે કોઈ કારણ રહેતું નથી.

આ રીતે જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોના વિપાક પછી તેની નિર્જરા થઈ જાય અર્થાત્ તે આત્મ-પ્રદેશોથી જુદો થઈ જાય છે.

કર્મની નિર્જરા બે પ્રકારની છે-વિપાકજન્ય અને અવિપાકજન્ય. અહીં વિપાકનો અર્થ છે ઉદય અને અવિપાકનો અર્થ છે ઉદીરણા. આ ચતુર્ગતિરૂપ અને અનેક પ્રકારના જન્મોવાળા સંસારસમુદ્રમાં ડૂબતા જીવના શુભ અશુભ કર્મ જ્યારે વિપાકકાળના સમયે સ્વયં ઉદયમાં આવે છે ત્યારે તેમના ફળ ભોગવી લીધા બાદ તેમની સ્થિતિનો ક્ષય થઈ જાય છે. સ્થિતિક્ષય થઈ જવા પર તેઓ નિવૃત્ત થઈ જાય છે. આ વિપાકજન્ય નિર્જરા છે.

જો કર્મના વિપાકનો સમય પ્રાપ્ત ન થયો હોય તો પણ કોઈ ઔપક્રમિક ક્રિયા દ્વારા તેને બળજબરીથી ઉદયમાં લઈ આવવો ઉદીરણા છે. ઉદીરણા દ્વારા કર્મફળ ભોગવી લીધા બાદ તેની નિર્જરા થઈ જાય છે તે અવિપાકજન્ય નિર્જરા કહેવાય છે જેવી રીતે ફણસ અગર કેરીના ફળને ઘાસ વગેરેમાં દબાવી રાખવાથી સમયથી વહેલા પાકી જાય છે તેવી જ રીતે કોઈ કોઈ કર્મ પણ પોતાના નિયત સમયથી પહેલા જ ઉદીરણા દ્વારા પોતાનું ફળ આપી દે છે અને ફળ પ્રદાન કર્યા પછી નષ્ટ પામે છે. આને અવિપાકજન્ય નિર્જરા કહે છે. કહ્યું પણ છે—

તાંબાના તાર બનાવવા, માટીનું શોષણ અથવા ભીની કરવી અને કેરીને પકાવવી આ ત્રણ ઉદાહરણ સંક્રમ, સ્થિતિ અને ઉદીરણાના વિષયમાં યથાક્રમ સમજી લેવા જોઈએ

આ અવિપાકજન્ય નિર્જરા તપહેતુક હોય છે કારણ કે આ તપથી થાય છે આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારા બાર પ્રકારના તપથી નિર્જરા સિવાય સંવર પણ થાય છે આ વાત આગળ સંવરના પ્રકરણમાં કરવામાં આવશે. ભગવતીસૂત્રના પ્રથમ શતકમાં કહ્યું છે કર્મોની ઉદીરણા થાય છે, વેદન થાય છે અને છેવટે તેમની નિર્જરા થઈ જાય છે. ॥૨૧॥

'सव्वकम्माणं अणंताणंता पएसगा' । ઈત્યાદિ

મૂળ સૂત્રાર્થ—સમસ્ત કર્મોના પ્રદેશ અનન્તાનન્તઅભવ્યોથી અનંતગણા અને સિદ્ધોના અનંતમાં ભાગ છે. ॥૨૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રોમાં કર્મોના અનુભાવનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે હવે સામાન્ય રૂપથી નિર્દિષ્ટ પ્રદેશબન્ધનું વિશેષ રૂપથી પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ-જ્ઞાના-વરણ વગેરે આઠે કર્મોના અનન્તાનન્ત પ્રદેશો હોય છે-સંખ્યાતા અગર અસંખ્યાતા હોતા નથી.

અનન્તાનન્ત સંખ્યા અનન્ત પ્રકારની છે, આથી તેમને નિયત કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-તેઓ અનન્તાનન્ત પ્રદેશ અભવ્ય જીવોની રાશિથી અનન્તગણા વધુ સમજવા જોઈએ અને સિદ્ધજીવ રાશિના અનન્તમાં ભાગ સમજવા જોઈએ.

જીવ કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોના કેટલા ભાગ બાંધે છે ? એવી જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરવા માટે કર્મને યોગ્ય પુદ્ગલોનું પરિમાણ-પરિચ્છેદ રૂપ પ્રદેશબંધનું અગાઉ પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું; પરંતુ પ્રદેશબંધના સ્વરૂપનું વિશેષ રૂપથી જ્ઞાન કરાવવા માટે અહીં એ બાબતો પરત્વે પ્રકાશ નાખવો આવશ્યક છે-પ્રદેશબંધનું કારણ શું છે ? તે ક્યારે થાય છે ? ક્યાંથી થાય છે ? તેનો સ્વભાવ શું છે ? તે કોનામાં હોય છે ? તેનું પરિમાણ ?

સમસ્ત કર્મપ્રકૃતિહેતુક પ્રત્યેક જીવના ભૂતકાલીન અનન્ત ભવોમાં તથા આગામી સંખ્યાત, અસંખ્યાત અથવા અનન્ત ભવોમાં, કાયયોગ, વચનયોગ અને મનોયોગના નિમિત્તથી આ યોગની તીવ્રતા અગર મન્દતા અનુસાર કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલ ગ્રહણ કરવામાં આવે છે તે પુદ્ગલ સૂક્ષ્મ હોય છે, સ્થૂળ નહીં. જે આકાશપ્રદેશોમાં આત્મપ્રદેશોની અવગાહના હોય છે તે જ આકાશપ્રદેશોમાં રહેલા તે પુદ્ગલો ધારણ કરવામાં આવે છે. ભિન્નક્ષેત્રમાં રહેલાં પુદ્ગલો ધારણ કરવામાં આવતાં નથી. સ્થિત પુદ્ગલો જ ધારણ કરી શકાય છે-જે ગતિરૂપમાં પરિણત હોય-ચાલતા હોય, તેમને ધારણ કરતાં નથી.

ઉપર વર્ણવવામાં આવેલી સઘળી વિશેષતાઓ હોવા છતાં પણ જો તેમના પ્રદેશોની સંખ્યા અભવ્ય જીવોની સમગ્ર રાશિથી અનન્તગણી અને સિદ્ધ જીવોની રાશિના અનન્તમો ભાગ હોય તો જ તેમને ધારણ કરવામાં આવે છે, અન્યથા નહીં. એવી જ રીતે તે ઘનાંગુલના અસંખ્યાતમાં ભાગ ક્ષેત્રમાં સ્થિત હોવા જોઈએ, પાંચ વર્ણવાળા, પાંચ રસવાળા, બે ગન્ધવાળા અને ચાર સ્પર્શવાળા હોવા જોઈએ. પછી તેની સ્થિતિ ભલે એક સમયની હોય, ભલે બે, ત્રણ, ચાર, સંખ્યાતા અથવા અસંખ્યાતા સમયની હોય. આવા પુદ્ગલોને આત્મા પોતાના કાય, વચન અને મનના વ્યાપારથી ધારણ કરે છે. ॥૨૨॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા કર્મોના અનુભાવબંધનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે સામાન્ય રૂપથી પૂર્વકથિત પ્રદેશબન્ધનું વિશેષ રૂપથી પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ પ્રકૃતિઓને અનુરૂપ પુદ્ગલ જે અનન્તાનન્ત પ્રદેશોવાળા હોય છે તેમને જ આત્મા ગ્રહણ કરે છે. સંખ્યાત અસંખ્યાત અથવા અનન્તપ્રદેશોવાળા પુદ્ગલોને ધારણ કરતો નથી.

કર્મયોગ પુદ્ગલસ્કંધોનું નિયત પરિમાણમાં બંધાવું પ્રદેશબન્ધ કહેવાય છે. પ્રદેશબન્ધના સ્વરૂપને સ્પષ્ટ રૂપથી સમજવા માટે આઠ પ્રશ્નોના ઉત્તરોને સમજવા આવશ્યક છે તે આ પ્રમાણે છે.

(૧) તે પુદ્ગલોના બન્ધનું કારણ શું છે ?

(૨) આત્મા કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોને જ્યારે બાંધે છે ત્યારે એક દિશાથી બાંધે છે અથવા સર્વ દિશાઓથી ?

(૩) શું પ્રદેશબન્ધ બધાં જીવોને એક સરખો હોય છે ? અથવા કોઈ કારણથી તેમાં અસમાનતા હોય છે ?

(૪) કયાં ગુણોવાળા પુદ્દગલોનો બન્ધ થાય છે ?

(૫) જે આકાશપ્રદેશોમાં કર્મવર્ગણાના પુદ્દગલ અવગાહે છે તે જ આકાશપ્રદેશોમાં સ્થિત આત્મા, ત્યાંને ત્યાં જ, તેને બાધી લે છે અથવા બાહ્ય આકાશપ્રદેશોમાં સ્થિત પુદ્દગલોને ખેંચીને ધારણ કરે છે ?

(૬) શું ગતિપરિણત પુદ્દગલ બાંધેલા હોય છે ? અથવા સ્થિતિ-પરિણત-સ્થિર પુદ્દગલોનો બન્ધ થાય છે ?

(૭) બંધાવાવાળા પુદ્દગલો સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમાં બંધાય છે અથવા આત્માના એક-એક પ્રદેશમાં બંધાય છે ?

(૮) કાર્મણવર્ગણાના તે પુદ્દગલો સંખ્યાતપ્રદેશી અથવા અસંખ્યાતપ્રદેશી હોય તો બંધાય છે અગર અનન્તપ્રદેશી હોય તો જ તેમનો બન્ધ થાય છે ?

આ આઠ પ્રશ્નોના જવાબ ક્રમશ આ રીતે છે—

(૧) કાર્મણવર્ગણાના તે પુદ્દગલ નામ-પ્રત્યય બાંધે છે અર્થાત્ જે પ્રકૃતિનું જે નામ છે તેને અનુસાર જ બાધે છે.

(૨) બધી દિશાઓથી-બધી બાજુથી બંધાય છે.

(૩) બધાં જીવોના યોગનો વ્યાપાર સમાન હોતો નથી કોઈ જીવના યોગનો વ્યાપાર તીવ્ર હોય છે તો કોઈના યોગનો વ્યાપાર મન્દ હોય છે. તીવ્રતા અને મન્દતામાં પણ અનેક શ્રેણીઓ હોય છે આથી બધા જીવોનો પ્રદેશબન્ધ સરખો હોતો નથી પરંતુ યોગની અસમાનતાના કારણે અસમાન હોય છે. યોગની પ્રવૃત્તિ તીવ્ર હોય તો અધિક પુદ્દગલપ્રદેશોનો બંધ થાય છે અને જો મન્દ હોય છે તો ઓછા પ્રદેશ બંધાય છે.

(૪) સૂક્ષ્મ પુદ્દગલોનો જ બન્ધ થાય છે.

(૫) એક ક્ષેત્ર અવગાઢ પુદ્દગલ જ બંધાયેલા હોય છે અર્થાત્ જ્યાં આત્માના પ્રદેશ છે ત્યાં જ અવગાઢ પુદ્દગલ આત્મપ્રદેશોની સાથે શ્લિષ્ટ થઈ જાય છે; આમ-તેમથી આકર્ષિત થઈને બંધાતા નથી.

(૬) જે કર્મપુદ્દગલ સ્થિત હોય અર્થાત્ ગમન ન કરતાં હોય તેમનો જ બન્ધ થાય છે.

(૭) તે પુદ્દગલોનો બન્ધ આત્માના બધાં જ પ્રદેશોમા થાય છે. જેમ અગ્નિમાં તપેલા લોખંડના-ગોળાને પાણીમાં છોડી દેવામાં આવે તો તે પોતાના બધાં પ્રદેશોથી પાણીને ગ્રહણ કરે છે તેવી જ રીતે આત્મા પોતાના બધાં જ પ્રદેશોથી કર્મપુદ્દગલોને ધારણ કરે છે.

(૮) અનન્તાનન્ત પ્રદેશી પુદ્દગલ જ બંધાય છે.

આ પૂર્વોક્ત આઠ પ્રશ્નોના ઉત્તર છે. એનો આશય એ છે કે આત્માની સાથે બંધાનારા પુદ્દગલ નામ પ્રત્યય હોય છે અર્થાત્ પોત-પોતાના અર્થ અનુસાર નામવાળા કર્મોના કારણ હોય છે. આવા પુદ્દગલો વગર જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોનો ઉદય વગેરે થઈ શકતો નથી જેમ મુક્તાત્માનો ઉદય વગેરે થતાં નથી તેમ. અથવાં નામ જેમનો પ્રત્યય અર્થાત્ કારણ છે તે નામ પ્રત્યય કહેવાય છે. ગતિ, જાતિ વગેરે નામ કર્મ-ઔદારિક શરીર આદિ યોગ કર્મના કારણ

હોય છે અને પરંપરાથી ગતિ વગેરે પણ કારણ હોય છે આથી નામ કર્મ હેતુક પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે અથવા નામ કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિ શરીર નામ કર્મની અન્તર્ગત જે બન્ધન નામ કર્મ છે તેના કારણથી પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે.

જે કર્મના ઉદયથી પૂર્વે ધારણ કરેલા શરીરના પુદ્ગલોનો સંબંધ હોય છે, તે બન્ધન નામ કર્મ કહેવાય છે. આ કર્મ લાકડાના બે ટુકડાઓને સાંધનારી લાખ જેવું છે.

અથવા જે પ્રકારના પુદ્ગલ પ્રદેશબન્ધના કારણ હોય છે તે પુદ્ગલ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વગેરે નામથી જ જાણી શકાય છે. જ્ઞાનાવરણ વગેરે નામોથી તે પુદ્ગલોના સ્વરૂપનું કથન કરવામાં આવે છે કારણ કે જ્ઞાનના આવરણ અને દર્શનના આવરણ વગેરેમાં શક્તિશાળી-જ પુદ્ગલોના બન્ધ થાય છે.

પ્રશ્ન-એક સરખા સ્વરૂપવાળા પુદ્ગલોને આત્મા ધારણ કરે છે, એવા સંજોગોમાં તેઓ પુદ્ગલ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વગેરે વિશેષ સ્વરૂપોમાં આત્માની સાથે કઈ રીતે જોડાય છે? અર્થાત્ જ્યારે કર્મપુદ્ગલ મૂળે એક સરખા છે તો તેમના સ્વભાવમાં આત્માની સાથે તે હોવા છતાં પણ કેવી રીતે અન્તર પડી જાય છે?

ઉત્તર-જ્ઞાનાવરણ આદિ સમસ્ત મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિને યોગ્ય પુદ્ગલ જો કે ધારણ કરાતાં અગાઉ એક જેવા હોય છે, તેમનામાં જ્ઞાનાવરણ વગેરેના ભેદ હોતા નથી તો પણ આત્મા પોતાના અધ્યવસાયની વિશેષતાના કારણે તે સામાન્ય પુદ્ગલોને પણ જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વગેરે ભિન્ન-ભિન્ન રૂપમાં પરિણત કરી લે છે. તાત્પર્ય એ છે કે સામાન્ય કર્મપુદ્ગલોમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરે જે અલગ-અલગ પ્રકૃતિઓ ઉત્પન્ન થાય છે તેનું કારણ આત્માનો અધ્યવસાય છે આ પ્રથમ પ્રશ્નોત્તરનો આશય સમજવો જોઈએ.

બીજા પ્રશ્નોત્તરનો આશય આ છે—આત્મા સમસ્ત અર્થાત્ દશે દિશાઓમાં સ્થિત પુદ્ગલોને જે કર્મરૂપમાં પરિણત થવા યોગ્ય હોય, ધારણ કરે છે. તિર્છિ દિશાઓ આઠ છે—ચાર પૂર્વ વગેરે દિશાઓ, ચાર ઈશાન આદિ વિદિશાઓ; અને ઉર્ધ્વદિશા તથા અધોદિશા. આ પ્રમાણે દશે દિશાઓમાં સ્થિત પુદ્ગલ સ્કંધોને આત્મા ધારણ કરે છે; કોઈ એક જ દિશામાં સ્થિત પુદ્ગલોને નહીં.

અથવા આત્મા સમસ્ત આત્મપ્રદેશોથી કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલોને ધારણ કરે છે' સંસારી જીવના આ આત્મપ્રદેશો કોઈ ઉપર તો કોઈ નીચે હોય છે. આ સંદર્ભમાં આગળ કહેવામાં આવનાર સાતમા પ્રશ્નોત્તરથી પુનરૂક્તિ દોષ નથી. ત્યાં 'सर्वात्मप्रदेशेषु'નો અર્થ 'अनन्तानन्त प्रदेशेषु' એ મુજબનો અર્થ થાય છે.

હવે ત્રીજા પ્રશ્નોત્તરનો આશય પ્રગટ કરીએ છીએ—બધાં જીવોનો કર્મબન્ધ સરખો હોતો નથી બલ્કે બધાના કર્મબન્ધમાં ભિન્નતા હોય છે એનું કારણ છે યોગની વિશેષતા અર્થાત્ મન, વચન અને કાયાની ચેષ્ટા-અનુષ્ઠાન ભાષણ અને ચિન્તન વગેરેની વિચિત્રતા બધાં જીવોના યોગની પ્રવૃત્તિ સરખી ન હોવાથી કર્મબન્ધ પણ સરખાં હોતા નથી કોઇને તીવ્ર, કોઇને તીવ્રતર, કોઇને તીવ્રતમ અને કોઇને મન્દ, મન્દતર અને મન્દતમ બન્ધ હોય છે.

ચોથા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—સૂક્ષ્મ પરિણમન, વાળા કાર્મવર્ગણાના પુદ્ગલોનો જ બન્ધ થાય છે, બાદર પરિણમનવાળા પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી. સૂક્ષ્મ શબ્દનો અર્થ અપેક્ષિત હોવાથી અનેક પ્રકારનો થાય છે પરમાણુથી લઇને અનન્તપ્રદેશી વર્ગણામાં પણ સૂક્ષ્મ શબ્દનો પ્રયોગ કરી શકાય છે, ને અનન્તપ્રદેશી—વર્ગણાઓમાં કોઈ-કોઇ કર્મ રૂપમાં ગ્રહણ કરવા યોગ્ય હોય છે, કોઇ ગ્રહણ કરવા યોગ્ય નથી હોતી.

આથી 'સૂક્ષ્મ' શબ્દને ગ્રહણ કરવા પાછળનો આશય એ છે કે ક્રમશઃ ઔદારિક વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ભાષા શ્વાસોચ્છવાસ અને મનોવર્ગણાને ઉલ્લંઘીને કાર્મણવર્ગણાને યોગ્ય સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા પુદ્ગલોનો જ બન્ધ થાય છે ઉક્ત ક્રમથી કોઇ-કોઈ પુદ્ગલ સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા હોય છે.

પાંચમા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—એક ક્ષેત્રમાં અવગાઢ પુદ્ગલોનો જ બન્ધ થાય છે, અન્ય ક્ષેત્રમાં અવગાઢ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી. જે પુદ્ગલ જીવ પ્રદેશોની સાથે અભિન્ન ક્ષેત્રમાં રહેલા હોય છે, તેઓ જ બંધાયેલા હોય છે. ભિન્ન ક્ષેત્રમાં રહેલાં કર્મ પુદ્ગલ ભિન્નક્ષેત્રમાં સ્થિત જીવ-પ્રદેશોની સાથે બંધાતાં નથી,

છઠા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—કાર્મણવર્ગણાના જે પુદ્ગલો સ્થિત હોય છે—અર્થાત્ ગમન કરતા નથી તેમનો જ બન્ધ થાય છે. જે પુદ્ગલો ગમન કરતા હોય છે તેમનો આત્માની સાથે બંધ થતો નથી કારણ કે તેઓ વેગવાન્ હોય છે.

સાતમા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—એક આત્માના અસંખ્યાત પ્રદેશ હોય છે તે બધા પ્રદેશોમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરેના યોગ્ય કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલ આત્માના પ્રત્યેક પ્રદેશની સાથે બંધાયેલા હોય છે એવી જ રીતે આત્માના એક-એક પ્રદેશ અનન્ત-અનન્ત જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલોથી બંધાયેલો છે એજ હકીકત દર્શનાવરણ વગેરે કર્મોના વિષયમાં પણ સમજવી જોઇએ.

અંતિમ આઠમાં પ્રશ્નોત્તરનો અભિપ્રાયકર્મને અનુરૂપ અનન્તાનન્તપ્રદેશી પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે સંખ્યાતપ્રદેશી, અસંખ્યાત પ્રદેશી અથવા અનન્તપ્રદેશી પુદ્ગલ સ્કંધોમાં આત્માની સાથે બન્ધ થવાની યોગ્યતા જ નથી આથી તેમનું બન્ધ થવું પણ શક્ય નથી. અનન્તપ્રદેશો વાળા પુદ્ગલસ્કંધમાં ફરી અનન્ત પ્રદેશ વળી ભેળવી દેવામાં આવે તો તે સ્કન્ધ અનન્તાનન્ત પ્રદેશી કહેવાય છે. આવા અનન્તાનન્ત પ્રદેશી કર્મપુદ્ગલોના સ્કંધ. એક-એક આત્મપ્રદેશમાં બંધાયેલા હોય છે. અયોગ્ય પુદ્ગલોનો બંધ થતો નથી.

આ થયું પ્રદેશબંધનુ નિરૂપણ. જે પુદ્ગલમાં ઘણા બધાં પ્રદેશ અને દેશ હોય છે તે સ્કંધ કહેવાય છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર અધ્યયન ૩૩ની ગાથા ૧૭-૧૮માં કહ્યું છે—

બધાં કર્મોના પ્રદેશોના પરિમાણ અનન્ત હોય છે.

બધાં જીવ છએ દિશાઓ તરફથી આવતા કર્મ પુદ્ગલોને ધારણ કરે છે અને સમસ્ત આત્મપ્રદેશોથી ધારણ કરે છે આવી રીતે જીવની સાથે કર્મપુદ્ગલોનો 'સર્વથી સર્વેનો' બંધ થાય છે. ॥૧-૨॥

જ્યાં છએ દિશાઓમાં લોક હોય છે, ત્યાં છએ દિશાઓથી કર્મ ધારણ થાય છે અને જ્યાં ત્રણ ચાર અથવા પાંચ દિશાઓમાં લોક હોય ત્યાં ક્રમશઃ ત્રણ ચાર અને પાંચ દિશાઓથી જ કર્મોનું ગ્રહણ થાય છે. બાકીની દિશાઓમાં અલોક હોવાથી પુદ્ગલો નથી આથી કર્મોને ગ્રહણ કરવાનો કોઇ પ્રશ્ન જ રહેતો નથી ॥ ૨૨॥

શ્રી જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય, જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી
મહારાજ વિરચિત તત્ત્વાર્થસૂત્રની દીપિકા અને
નિર્યુક્તિ નામક વ્યાખ્યાના ગુજરાતી
ભાષાંતરનો ત્રીજો અધ્યાય
સમાપ્ત ॥૩॥

અધ્યાય ચોથો

सुभकम्मं पुण्णं'

સૂત્રાર્થ—શુભ કર્મ પુણ્ય કહેવાય છે ॥૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—જીવ અજીવ બંધ પુણ્ય, પાપ,—આસ્રવ, સંવર, નિર્જરા અને મોક્ષ, નવ તત્ત્વોમાંથી જીવ, અજીવ અને બન્ધ તત્ત્વોનું પ્રથમ, દ્વિતીય અને તૃતીય અધ્યાયોમાં ક્રમશઃ વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે હવે પ્રસંગ પ્રાપ્ત 'પુણ્ય' તત્ત્વનું વિવેચન કરવામાં આવે છે.

શુભ કર્મને પુણ્ય કહે છે. જે આત્માને પુનિત (પવિત્ર–શુભ) બનાવે છે અથવા જેના વડે આત્મા પવિત્ર બને છે, તે પુણ્ય છે. 'પુઞ્', ધાતુનો અર્થ થાય છે, પવિત્ર કરવું. આ ધાતુથી **'पुञो यण्णुक ह्रस्वश्च'** આ ઉણાદિ સૂત્રથી યત્ પ્રત્યય, 'ણુક્' આગમન અને હ્રસ્વ થવાથી 'પુણ્ય' શબ્દનું સર્જન થયું છે.

કલ્યાણ અથવા સુખને 'શુભ' કહે છે અને તેમને ઉત્પન્ન કરનાર કર્મ પણ 'શુભ' કહેવાય છે પુણ્યના પિતા, અહિંસા વગેરે શુભ કર્મ પણ કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરવાથી પુણ્ય કહેવાય છે. આ શુભ કર્મ ઘણા પ્રકારના છે જેમ કે—સાતાવેદનીય, સમ્યક્ત્વ, પાંચ મહાવ્રત પાંચ અણુવ્રત, શુભ આયુ શુભ નામ, શુભ ગોત્ર, સત્યભાષણ ઇત્યાદિ ॥૧॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જો કે સ્થાનાંગસૂત્રના નવમાં સ્થાનમાં જીવ અજીવ, પુણ્ય, પાપ, આસ્રવ, સંવર, નિર્જરા બન્ધ અને મોક્ષ, એ ક્રમથી નવ તત્ત્વોની આલોચના કરવામાં આવી છે એ મુજબ ત્રીજું તત્ત્વ પુણ્ય છે પરંતુ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના કથન પ્રમાણે ત્રીજું તત્ત્વ બન્ધ છે. ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮માં અધ્યયનમાં કહ્યું છે—

'જીવ અજીવ બન્ધ પુણ્ય, પાપ આસ્રવ, સંવર નિર્જરા તથા મોક્ષ આ નવ તત્ત્વ છે'

અત્રે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પ્રરૂપિત ક્રમાનુસાર જ પ્રથમ અધ્યાયમાં જીવનું, બીજામાં અજીવનું અને ત્રીજામાં બન્ધના સ્વરૂપની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે હવે ક્રમ પ્રાપ્ત ચોથા પુણ્ય તત્ત્વનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહેવામાં આવ્યું છે—

'શુભ કર્મ પુણ્ય છે'

તાત્પર્ય એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી શુભ–ઉજ્જવળ કર્મના બન્ધ દ્વારા આત્માને અનુકૂળ ફળનો ઉપભોગ થાય છે તે પુણ્ય તત્ત્વ કહેવાય છે. એવી રીતે જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ, ગોત્ર અને અન્તરાય એ આઠ મૂળપ્રકૃતિઓ છે તથા એમની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બે પ્રકારની છે–પુણ્યરૂપ તથા પાપરૂપ. આમાંથી જે કર્મ શુભ છે તે પુણ્ય છે. પ્રાણિઓની અનુકમ્પા વ્રતિજનોની અનુકંપા, તથા સરાગ સંયમ આદિ કારણોથી બંધાનાર સાતાવેદનીય (૧) શુભ આયુષ્ય અર્થાત્ તિર્યંચ, આયુષ્ય, મનુષ્ય આયુષ્ય અને દેવઆયુષ્ય (૨) સાડત્રીશ પ્રકારના શુભનામ (૩) અને ઉચ્ચ ગોત્ર (૪) આ ચાર પ્રકારના શુભ કર્મો પુણ્ય છે. આ શિવાયના બધાં અશુભ કર્મો પાપ છે. પાપ તત્ત્વની પ્રરૂપણા પાંચમા અધ્યાયમાં કરવામાં આવશે.

શુભ આયુ કર્મના ત્રણ ભેદ છે—તિર્યંચસંબંધી, મનુષ્યસંબંધી તથા દેવતાસંબંધીશુભ નામકર્મ સાડત્રીસ પ્રકારના છે— (૧) મનુષ્યગતિ (૨) દેવગતિ (૩) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૪-૮) ઔદારિક વગેરે પાંચ શરીર (૯) સમચતુરસ્ર સંસ્થાન (૧૦) વજ્ર-ઋષભનારાચસંહનન (૧૧) ઔદારિકઅંગોપાંગ (૧૨) વૈક્રિય અંગોપાંગ (૧૩) આહારકઅંગોપાંગ (૧૪) પ્રશસ્ત વર્ણ (૧૫) પ્રશસ્ત ગંધ (૧૬) પ્રશસ્ત રસ (૧૭) પ્રશસ્ત સ્પર્શ (૧૮) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૧૯) દેવાનુપૂર્વી (૨૦) અગુરુ લઘુ (૨૧) પરાઘાત (૨૨) ઉચ્છ્વાસ (૨૩) આતપ (૨૪) ઉદ્યોત (૨૫) પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૨૬) ત્રસ (૨૭) બાદર (૨૭) પર્યાપ્ત (૨૯) પ્રત્યેક (૩૦) સ્થિર (૩૧) શુભ (૩૨) સુભગ (૩૩) સુસ્વર (૩૪) આદેય (૩૫) યશઃકીર્તિ (૩૬) નિર્માણ અને (૩૭) તીર્થંકર નામ કર્મ ॥૧॥

'नवविहे पुण्णे'

મૂળસૂત્રાર્થ—પુણ્ય નવ પ્રકારના છે ॥૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં પુણ્યનું સ્વરૂપ દર્શાવવામાં આવ્યું છે હવે તેના ભેદોનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

પુણ્યના નવ ભેદ છે. તે આ રીતે— (૧) અન્નપુણ્ય (૨) પાનપુણ્ય (૩) વસ્ત્રપુણ્ય (૪) લયનપુણ્ય (૫) શયનપુણ્ય (૬) મનઃપુણ્ય (૭) વચનપુણ્ય (૮) કાયપુણ્ય અને (૯) નમસ્કારપુણ્ય.

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉના સૂત્રમાં અનુક્રમથી પ્રાપ્ત ચોથા તત્ત્વ પુણ્યના સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું. પ્રસ્તુત સૂત્રમાં તેના નવ ભેદોનું પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

પુણ્ય નવ પ્રકારના છે. સ્થાનાંગસૂત્રના નવમાં સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—પુણ્યના નવ ભેદ કહ્યાં છે તે આ રીતે—(૧) અન્નપુણ્ય (૨) પાનપુણ્ય (૩) લયનપુણ્ય (૪) શયનપુણ્ય (૫) વસ્ત્રપુણ્ય (૬) મનઃપુણ્ય (૭) વચનપુણ્ય (૮) કાયપુણ્ય અને (૯) નમસ્કારપુણ્ય.

યોગ્ય સુપાત્રને અન્નનું દાન કરવાથી તીર્થંકર નામકર્મ અથવા યશઃકીર્તિ નામ કર્મ વગેરે પુણ્ય કર્મો બંધાય છે તેને અન્નપુણ્ય કહે છે, અનુકમ્પાપૂર્વક અન્નનું દાન દેવાથી પણ બંધાનાર શુભ કર્મ અન્નપુણ્ય કહેવાય છે.

જે કર્મના ઉદયથી દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્ર રૂપ તીર્થની પ્રવૃત્તિ કરે છે. સાધુધર્મ અને શ્રાવકધર્મનું આક્ષેપણી, વિક્ષેપણી, સંવેગની અને નિર્વેદની ધર્મકથાઓ દ્વારા ભવ્ય જીવોની સિદ્ધિ અર્થે ધર્મકરણી કરે છે અને સુરેન્દ્રો, અસુરેન્દ્રો તથા નરેન્દ્રો દ્વારા પૂજાય છે—સન્માનીત થાય છે તે તીર્થંકર નામ કર્મ કહેવાય છે એવી જ રીતે યશઃકીર્તિ નામ કર્મ વગેરેના સ્વરૂપ પૂર્વવત્ જ જાણી લેવા.

(૨) આ જ પ્રમાણે સુયોગ્ય પાત્રને એષણીય કલ્પનીય ઈચ્છિત પાન (પાણી વગેરે) આપવાથી તીર્થંકર નામ કર્મ આદિ શુભ પ્રકૃતિઓ જે બંધાય છે તે પાનપુણ્ય કહેવાય છે.

(૩) સુપાત્રને કપડાંનું દાન કરવાથી પણ તીર્થંકર નામકર્મ આદિ શુભ પ્રકૃતિઓ બંધાય છે આથી તેને વસ્ત્રપુણ્ય કહે છે.

(૪) યોગ્ય પાત્રને લયન અર્થાત્ ઘર (આશ્રય) આપવાથી પણ તીર્થંકર નામ આદિ શુભ કર્મ પ્રકૃતિઓ બંધાય છે તે લયનપુણ્ય કહેવાય છે.

(૫) આવી જ રીતે શ્રમણ આદિ યોગ્ય પાત્રને શય્યા–સંથારો દાન કરવાથી પણ તીર્થંકર પ્રકૃતિ વગેરે બંધાય છે આથી તે શયનપુણ્ય છે.

(૬) આ જ પ્રમાણે ગુણીજનોને જોઈને મનથી સંતોષ પામવો–મનમાં પ્રમોદભાવ જાગૃત થવાથી વચન દ્વારા તેમની પ્રશંસા કરવાથી અને કાર્ય દ્વારા વંદના વગેરે કરીને, ભક્તિ કરવાથી અને મુનિજનોને નમસ્કાર કરવાથી પણ શુભ નામાદિ કર્મપ્રકૃતિઓ બંધાય છે તે અનુક્રમે મનઃપુણ્ય, વચનપુણ્ય, કાયપુણ્ય અને નમસ્કાર પુણ્ય કહેવાય છે. કહ્યું પણ છે—

અનાજ, પાણી, રહેઠાણ, પથારી, વસ્ત્ર, મન, વચન કાયાના શુભ યોગથી વંદણા અને સંતોષ વગેરે નવ પ્રકારના પુણ્ય છે. ॥૧॥

આનાથી એવું પ્રતિપાદિત થયું કે તીર્થંકર, મુનિજન વગેરે યોગ્ય પાત્રોની શુશ્રૂષા, વૈયાવચ, આરાધના, ભાવવંદણા અને સેવાભક્તિ વગેરે કરવાથી શુભ કર્મ બંધાવાથી પુણ્ય થાય છે. ॥૨॥

'तब्भोगो बायालीसमेयपणं।

મૂળસૂત્રાર્થ—પુણ્યનો ભોગ બેંતાળીશ પ્રકારે થાય છે. ॥૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં અન્નપુણ્ય વગેરે નવ પ્રકારના પુણ્યનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે પુણ્યના બેંતાળીશ પ્રકારના ભોગ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—પૂર્વોપાર્જિત શુભ કર્મરૂપ પુણ્યનો સુખાનુભવ રૂપ ભોગ બેંતાળીશ પ્રકારથી થાય છે. તે આ પ્રમાણે—(૧) સાતાવેદનીય (૨) તિર્યંચાયુ (૩) મનુષ્યાયુ (૪) દેવાયુ (૫) મનુષ્યગતિ (૬) દેવગતિ (૭) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૮–૧૨) ઔદારિક આદિ પાંચ શરીર (૧૩) સમચતુરસ્ર સંસ્થાન (૧૪) વજ્ર ઋષભનારાચસંહનન (૧૫–૧૮) ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારકના અંગોપાંગ (૧૮) પ્રશસ્તવર્ણ (૧૯) પ્રશસ્તગંધ (૨૦) પ્રશસ્તરસ (૨૧) પ્રશસ્ત સ્પર્શ (૨૨) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૨૩) દેવાનુપૂર્વી (૨૪) અગુરુલઘુ (૨૫) પરાઘાત (૨૬) ઉચ્છ્વાસ (૨૭) આતપ (૨૮) ઉદ્યોત (૨૯) પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૩) ત્રસ (૩૧) બાદર (૩૨) પર્યાપ્ત (૩૩) પ્રત્યેક શરીર (૩૪) સ્થિર (૩૫) શુભ (૩૬) સુભગ (૩૭) સુસ્વર (૩૮) આદેય (૩૯) યશઃકીર્તિ (૪૦) નિર્માણ (૪૧) તીર્થંકર ગોત્ર અને (૪૨) ઉચ્ચગોત્ર.

આ બેંતાળીશ પ્રકારના પુણ્યના સુખરૂપ ભોગ હોય છે. એમ સમજવું જોઈએ. ॥૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા દર્શાવવામાં આવ્યું છે કે પુણ્ય નવ પ્રકારના હોય છે હવે એ બતાવીએ છીએ કે પુણ્ય બેંતાળીશ પ્રકારથી ભોગવાય છે અર્થાત્ પુણ્યના ફળસ્વરૂપ બેંતાળીશ ભાવોની પ્રાપ્તિ થાય છે—

શુભ કર્મ રૂપ પુણ્યના સુખાનુભાવ રૂપ ફળ બેંતાળીશ પ્રકારે પ્રાપ્ત થાય છે. તે બેંતાળીશ પ્રકાર આ રીતે છે—(૧) સાતાવેદનીય (૨) ઉચ્ચગોત્ર (૩) મનુષ્યાયુ (૩) તિર્યંચાયુ (૫) દેવાયુ (૬) મનુષ્યગતિ (૭) દેવગતિ (૮) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૯) ઔદારિક શરીર (૧૦) વૈક્રિયશરીર (૧૧) આહારકશરીર (૧૨) તૈજસ શરીર (૧૩) કાર્મણશરીર (૧૪) ઔદારિક અંગોપાંગ

(૧૫) વૈક્રિયઅંગોપાંગ (૧૬) આહારક અંગોપાંગ (૧૭) વજ્ર ઋષભનારાચસંહનન (૧૮) સમચતુરસ્રસંસ્થાન (૧૯) શુભવર્ણ (૨૦) શુભગંધ (૨૧) શુભરસ (૨૨) શુભસ્પર્શ (૨૩) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૨૪) દેવાનુપૂર્વી (૨૫) અગુરુલઘુ (૨૬) પરાઘાત (૨૭) ઉચ્છવાસ (૨૮) આતપ (૨૯) ઉદ્યોત (૩૦) સુપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૩૧–૪૦) ત્રસદશક અર્થાત ત્રસ, બાદર પર્યાપ્ત, પ્રત્યેકશરીર, સ્થિર, શુભ, સુભગ, સુસ્વર, આદેય, યશ કીર્તિ તથા (૪૧) તીર્થંકર પ્રકૃતિ અને (૪૨) ઉચ્ચગોત્ર નિર્માણ—આ બેંતાળીશ પુણ્યપ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી છે.

આશય એ છે કે પૂર્વોપાર્જિત પુણ્યના ફળ સ્વરૂપ સાતાવેદનીયની પ્રાપ્તિ થાય છે એવી જ રીતે તિર્યંચાયુ મનુષ્યાયુ, દેવાયુ, મનુષ્યગતિ, દેવગતિ, પંચેન્દ્રિયજાતિ, ઔદારિકશરીર, વૈક્રિયશરીર, આહારકશરીર, તૈજસ શરીર, કાર્મણ શરીર, ઔદારિકશરીરાંગોપાંગ, વૈક્રિયશરીરાંગોપાંગ,—આહારક શરીરાંગોપાંગ, વજ્ર ઋષભનારાચ સંહનન, સમચતુરસ્રસંસ્થાન, શુભ (ઇષ્ટ) વર્ણ શુભગંધ, શુભરસ, શુભસ્પર્શ, મનુષ્યાનુપૂર્વી દેવાનુપૂર્વી, અગુરુ લઘુનામ, 'પરાઘાતનામ, ઉચ્છ્વાસનામ, આતપનામ, ઉદ્યોતનામ, પ્રશસ્તવિહાયોગતિ, નિર્માણનામ, તીર્થંકર નામ ત્રસનામ, બાદરનામ, પર્યાપ્તનામ, પ્રત્યેકશરીરનામ, સ્થિરનામ, શુભનામ, સુભગનામ, સુસ્વરનામ, આદેયનામ યશઃ કીર્તિનામ અને ઉચ્ચગોત્ર નામ—આ ભેદોથી પુણ્યનું ફળ ભોગવી શકાય છે. ॥૩॥

'सायावेयणिज्ज पाणाणुकंपाइएहिं'

સૂત્રાર્થ—પ્રાણાનુકમ્પા આદિ કારણોથી સતાવેદનીય કર્મ બંધાય છે ॥૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સૂત્રમાં પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે કે સાતાવેદનીય વગેરે બેંતાળીશ પ્રકારના પુણ્યના ફળ ભોગવી શકાય છે. હવે એવું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ કે તે બેંતાળીશ–ભેદોમાં સહુપ્રથમ ગણેલા સાતાવેદનીય કર્મનું સ્વરૂપ શું છે ? અને તેનું કારણ શું છે ?

સાતાવેદનીય કર્મની પ્રાપ્તિ પ્રાણિઓની અનુકમ્પા વગેરે કારણોથી થાય છે. તેનું ફળ કર્ત્તા તેમજ ભોક્તા આત્માને ઇષ્ટ—મનોજ્ઞ થાય છે મનુષ્યજન્મ અથવા દેવાદિ જન્મોમાં શરીર તથા મન દ્વારા સુખ–પરિણતિ રૂપ થાય છે આવનારા સમયમા અનુકૂળ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ ભાવના નિમિત્તથી તેનો મનોજ્ઞ પરિપાક થાય છે. અર્થાત્ જે કર્મના પરિપાકથી અનુકૂળ અને અભિષ્ટ સુખ રૂપ અનુભૂતિ થાય છે તે સાતાવેદનીય કર્મ કહેવાય છે.

પ્રાણિઓ પ્રત્યે અનુકમ્પા દાખવવાથી, ભૂતો પર અનુકમ્પા કરવાથી, જીવો પર અનુકમ્પા કરવાથી, સત્ત્વો પર અનુકમ્પા કરવાથી તથા પ્રાણભૂત જી। સત્ત્વોને દુઃખ ન આપવાથી, (૧) શોક નહીં પહોંચાડવાથી (૨) શરીર શોષાઈ જાય તેવા પ્રકારનો શોક ન પહોંચાડવાથી (૩) આંખમાંથી આંસુ સરી પડે તેવો શોકન કરાવવાથી (૪) લાકડી વગેરે આયુધોથી નહીં મારીને (૫) શારીરિક માનસિક વ્યથા નહીં પહોંચાડવાથી (૬) આવી રીતે ચાર પ્રકારની અનુકમ્પા અને ૬ (છ) પ્રકારની અવેદનીયતા આદિ એવા દશ કારણોથી સાતાવેદનીય કર્મ બંધાય છે. ॥૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પુણ્ય શુભ કર્મ છે એ પહેલા કહેવાઈ ગયું છે. સાતાવેદનીય આદિ બેંતાળીશ પ્રકારથી તેના ફળ ભોગવાય છે એવું પણ દર્શાવાયું છે. હવે પહેલા ગ્રહણ કરેલા સાતાવેદનીય કર્મની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

સાતાવેદનીય કર્મ પ્રાણાનુકમ્પા આદિ કારણોથી બંધાય છે. અહીં પ્રાણાનુકમ્પાની સાથે સંકળાયેલા આદિ શબ્દથી ભૂતાનુકમ્પા, જીવાનુકમ્પા સત્ત્વાનુકમ્પા એ ત્રણ પદોનો. તથા આ જ પ્રાણભૂત જીવ સત્ત્વોના વિષયમાં અદુખનતા આદિ છ પદોનો સંગ્રહ સમઝી લેવો જોઈએ તે છ પદ આ પ્રકારે કહેવામાં આવે છે અદુ.ખનતા (૧) અશોચનતા (૨) અજૂરણતા (૩) અતેપનતા (૪) અપિટ્ટનતા (૫) અને અપરિતાવનતા (૬), અહીં પ્રાણ શબ્દથી બેઈન્દ્રિય, તેઈન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, ભૂતશબ્દથી વનસ્પતિકાય, જીવ, શબ્દથી પંચેન્દ્રિય અને સત્ત્વ શબ્દથી બાકીના પૃથ્વી પાણિ, અગ્નિ, અને વાયુકાય સમજવા. આ જ વિષયમાં વળી કહ્યુ પણ છે—**"प्राणा द्वि-त्रि-चतुःप्रोक्ता'** ઈત્યાદિ. એમની અથવા એમનામાં અનુકમ્પા-કરૂણા અર્થાત્ દયાભાવ રાખવો, એમના દુ.ખમાં દુખ પ્રકટ કરવું, મરતા અથવા કોઈ દ્વારા હણાતા હોય તો રક્ષણ કરવું તથા તેમના દુઃખમાં સમવેદના પ્રકટ કરવી એ અનુકમ્પા કહેવાય છે. આ ચાર પ્રકારની અનુકમ્પાથી તથા આ જ ચારેના વિષયમા અદુ.ખનતા—દુઃખ ન પહોંચાડવું (૧) અશોચનતા શોક ન પમાડવો (૨) અજૂરણતા-જેનાથી શરીર સુકાઈ જાય એવો શોક ન પમાડવો (૩) અતેપનતા-જેના નિમિત્તથી અશ્રુપાત થવા લાગે, મુખમાથી લાળ ઝરવા લાગે એ જાતનો શોક ન પહોંચાડવો (૪) અપિટ્ટનતા—લાકડી વગેરેથી માર ન મારવો (૫) અપરિતાપનતા--શારીરિક માનસિક કોઈ પ્રકારનો સંતાપ ન પમાડવો (૬) આ રીતે પૂર્વોક્ત ચાર પ્રકારની અનુકમ્પા રૂપ કારણ તથા આ છ કારણ એ દશ પ્રકારના કારણોથી જીવ સાતાવેદનીય કર્મ બાંધે છે. આ વિષય પર વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ અર્થાત્ ભગવતી સૂત્ર શતક ૭ ઉદ્દેશક ૬માં કહ્યું છે—**"कहं णं" भंते ! जीवाणं सायावेणिज्जं कम्मा कज्जंति** ઈત્યાદિ ॥૪॥

'अप्पारंभ अप्पपरिग्गहाइएहिं मणुस्साउए'

સૂત્રાર્થ—અલ્પ આરમ્ભ અને અલ્પ પરિગ્રહ આદિ કારણોથી મનુષ્યાયુ બંધાય છે ॥૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં સાતાવેદનીય રૂપ પુણ્ય કર્મના કારણોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

અલ્પ આરંભ અને અલ્પ પરિગ્રહ વગેરે કારણોથી મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બંધાય છે.

આરંભનો અર્થ છે પ્રાણિઓના પ્રાણોનો નાશ કરવાવાળુ કાર્ય—તેની અલ્પતા અર્થાત સ્થૂળપ્રાણાતિયાતાદિજનક વ્યાપારનો ભાગ, અલ્પ પરિગ્રહનો અર્થ છે. આભ્યન્તર રાગદ્વેષાદિ આત્મપરિણામ તથા બાહ્યક્ષેત્ર (ખેતર-ઉઘાડી જમીન) વાસ્તુ (મકાન વગેરે) ધન-ધાન્યસુવર્ણ વગેરે પર મમત્વનો ભાગ (૨) સૂત્રમાં યોઝાયેલ 'આદિ' શબ્દથી સ્વભાવની મૃદુતા અર્થાત્ કોમળતા અને ઋજુતા અર્થાત્ સરળતા ધારણ કરવી જોઈએ. આમ અલ્પઆરંભ, અલ્પપરિગ્રહ, સ્વભાવથી મૃદુતા તથા ઋજુતા એ ચાર કારણોથી મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બંધાય છે ॥૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ સર્વભૂતાનુકમ્પા આદિ સાત સાતાવેદનીય કર્મ બંધાવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે હવે મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્ય કર્મના--કારણોનું પ્રરૂપણ કરીએ છીએ.

અલ્પઆરંભ (૧) અને અલ્પપરિગ્રહ (૨) વગેરે કારણોથી મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બંધાય છે—

અલ્પારંભ એ છે જેમાં સ્થૂળ પ્રાણાતિપાતાદિજનક વ્યાપારનો ત્યાગ કરવો. પરિગ્રહનો અર્થ છે મોહ અથવા લોભ. તેમાં અલ્પતા અર્થાત્ આન્તરિક રાગદ્વેષાદિ આત્મપરિણામ તથા બાહ્યક્ષેત્ર, વાસ્તુ (મહેલ–મકાન) ધન, ધાન્ય, સુવર્ણ આદિ પદાર્થોમાં રહેલ મમત્વનો ત્યાગ કરવો.

'આદિ' શબ્દથી સ્વભાવ માર્દવ અને આર્જવનું ગ્રહણ કરવામાં આવ્યું છે સ્વભાવથી અર્થાત્ પ્રકૃતિથી જ મૃદુતા હોવી અર્થાત્ જાતિ, કુળ બળ રૂપ, લાભ, તપ, શ્રુત તથા ઐશ્વર્યના (જાહોજલાલીના) વિષયમાં અભિમાન ન હોય તે સ્વભાવમાર્દવ કહેવાય છે (૩) પ્રકૃતિભદ્રતા, (૪) પ્રકૃતિ વિનીતતા (૫) અમત્સરતા (૬) દયાળુતા (૭) વગેરે પણ આના જ અન્તર્ગત છે. એવી જ રીતે સ્વભાવથી ઋજુતા, સરળતા હોવી અથવા મન, વચન, કાયાની કુટિલતાનો ત્યાગ કરવો આર્જવ કહેવાય છે.

પૂર્વોક્ત કથનનો ફલિતાર્થ આ પ્રમાણે છે—અલ્પ આરંભ કરવાથી અર્થાત્ ઓછામાં ઓછી હિંસાજનક પ્રવૃત્તિ કરવાથી શબ્દ વગેરે વિષયોમાં રાગની અલ્પતા હોવાથી, ઇચ્છાની ન્યૂનતાથી, સ્વાભાવિક ભદ્રતાથી સ્વાભાવિક સરળતાથી, સુખ પ્રજ્ઞાપનીયતાથી રેતીમાં દોરેલી લીંટીની જેમ અલ્પ ક્રોધ હોવાથી, સ્વાગત કરવા વગેરેની અભિલાષાથી, સ્વભાવની મધુરતા હોવાથી, ઉદાસીન ભાવની સાથે લોકયાત્રાનો નિર્વાહ કરવાથી, ગુરુ તથા દેવને વંદન કરવાથી, અતિથિસંવિભાગશીલ હોવાથી, ધર્મધ્યાનમાં ઉજમાળ હોવાથી, અને મધ્યમ પ્રકારના પરિણામોને ધારણ કરવાથી મનુષ્યાયુકર્મ બંધાય છે. ઔપપાતિકસૂત્રમાં કહ્યું છે—

"અલ્પ આરંભવાળા, અલ્પ પરિગ્રહવાળા, ધાર્મિક તથા ધર્માનુસારી જીવ મનુષ્યાયુ કર્મ બાંધે છે"

સ્થાનાંગસૂત્રના ચોથા સ્થાન, ચોથા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—ચાર કારણોથી જીવ મનુષ્યાયુ કર્મનું ઉપાર્જન કરે છે; તે ચાર કારણો આ પ્રકારે છે (૧) પ્રકૃતિથી ભદ્ર હોવું (૨) પ્રકૃતિથી વિનીત હોવું (૩) દયાળુ હોવું અને (૪) અમત્સરી હોવું.

આ જ હકીકત ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના સાતમાં અધ્યયનની ૨૦ મી ગાથામાં કહેલી છે—

જે મનુષ્ય વિવિધ પ્રકારના શિક્ષણ દ્વારા સુવ્રતોને ધારણ કરે છે, તેઓ મનુષ્યયોનિ મેળવે છે બધાં પ્રાણીઓને પોત–પોતાના કર્મ અનુસાર ફળની પ્રાપ્તિ થાય છે. ॥૫॥

'सरागसंजमाइएहिं देवाउए'

સૂત્રાર્થ—સરાગ સંયમ આદિ કારણોથી દેવાયુ કર્મ બંધાય છે. ॥૬॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં મનુષ્યાયુ કર્મ બંધાવાના કારણોનું વિવરણ કર્યું હવે દેવાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બંધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

સરાગસંયમ આદિ દેવાયુ કર્મ બાંધવાના કારણ છે. સરાગસંયમ પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાંચ મહાવ્રત રૂપ સંયમ જ્યારે સંજ્વલન કષાયથી જોડાયેલા હોય છે ત્યારે તે સરાગસંયમ કહેવાય છે

આદિ શબ્દથી અણુવ્રત રૂપ દેશવિરતિ અગર સંયમાસંયમ સમજવા જોઈએ તથા પરાવલંબીત થઈને અથવા બીજાના અનુરોધથી અકુશળ કૃત્યથી નિવૃત્ત થવા રૂપ અકામનિર્જરા અને બાળતપ આ ચાર કારણે દેવાયુ કર્મ બંધાય છે. ॥૬॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા બતાવાયું છે કે—અલ્પારંભ, અલ્પપરિગ્રહ, સ્વભાવની મૃદુતા વગેરે કારણોથી મનુષ્યાયુ કર્મ બંધાય છે હવે સરાગસંયમ વગેરેનું દેવાયુ કર્મ બાંધવાના કારણો કહીએ છીએ–સરાગસંયમ વગેરે કારણોથી દેવાયુ કર્મ બંધાય છે.

હિંસા, અસત્ય, ચોરી, મૈથુન અને પરિગ્રહ આ પાંચ પાપોથી પૂર્ણ રૂપથી વિરત થવું પંચમહાવ્રત રૂપ સંયમ કહેવાય છે. આ સંયમ જ્યારે સંજ્વલનકષાય રૂપ રાગથી યુક્ત હોય છે ત્યારે સરાગસંયમ કહેવાય છે.

સૂત્રમાં પ્રયુક્ત 'આદિ' શબ્દથી સયમાસંયમ, અકામનિર્જરા અને બાળતપ સમજવા જોઈએ. આમાંથી સંયમાસંયમનો અર્થ છે-સ્થૂળપ્રાણાતિપાત વગેરેથી નિવૃત્તિરૂપ દેશવિરતિ અર્થાત્ અણુવત્ત આદિનુ પાલન કરવું. દેશવિરતિ, સર્વવિરતિનું અંશિકરૂપ છે, આથી તેને અણુવત્ત પણ કહે છે આવી રીતે પૂર્ણરૂપથી અર્થાત્ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી હિંસા વગેરેનો ત્યાગ કરવો મહાવત્ત છે. અને બે કરણ ત્રણ યોગ આંશિક રૂપથી તેજ પાપોનો ત્યાગ કરવો અણુવ્રત આને જ દેશવિરતિ અથવા સંયમાસંયમ પણ કહે છે.

ત્રીજું કારણ છે અકામનિર્જરા વગર ઈચ્છા એજ જે કર્મનિર્જરા થાય છે તે અકામ-નિર્જરા કહેવાય છે. કામ અર્થાત્ ઇચ્છા અથવા સમજી–વિચારીને કોઈ કાર્ય કરવું. વગર કામનાએ જ જે નિર્જરા થાય છે તેને અકામનિર્જરા કહે છે. પરાધીનતાના કારણે અથવા તો કોઈના અનુરોધ–આગ્રહને વશ થઈ આહાર વગેરેનો ત્યાગ કરવાથી ભૂખ સહન કરી લેવા વગેરેથી થાય છે

મિથ્યાદર્શનના સહવર્ત્તી રાગ તથા દ્વેષથી જે યુક્ત છે, જે તત્ત્વજ્ઞાનથી વિમુખ છે, મૂઢ કે, કુતત્ત્વના આગ્રહને તાબે થઈને પ્રવૃત્તિ કરે છે, જે વસ્તુસ્વરૂપથી ઊંધું જ્ઞાન સંપાદન કરે છે અને ધર્મ સમજીને ઠંડી, ગરમી વગેરેને સહન કરે છે અને અજ્ઞાતકષ્ટસહન કરે છે અથવા આવી જ જાતના અન્ય વિપરીત કૃત્યો કરે છે, તે પુરુષની તપસ્યાને બાલ તપ અર્થાત્ અજ્ઞાનતપ કહે છે.

આશય કહેવાનો એ છે કે સરાગસંયમ, સંયમાસંયમ અકામનિર્જરા અને બાલતપ આ ચાર કારણોથી દેવાયુષ્ય કર્મ બંધાય છે આવી જ રીતે ધર્મશ્રવણ કરવાથી, તપકરવાથી બાર પ્રકારની ભાવનાઓને ચિંતવવાથી અથવા તપમાં ભાવના રાખવાથી, યોગ્ય પાત્રને દાન આપવાથી તથા સમ્યક્દર્શન આદિ કારણોથી પણ દેવાયુષ્ય કર્મ બંધાય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના ચોથા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—'ચાર કારણોથી જીવ દેવાયુ કર્મ બાંધે કે— (૧) સરાગસંયમથી (૨) સંયમાસંયમથી (૩) બાલતપનું આચરણ કરવાથી (૪) અકામનિર્જરાથી

સમ્યક્ત્વથી પણ દેવાયુ કર્મ બંધાય છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૬ ઠા પદમાં કહ્યું છે—

જો વૈમાનિક દેવ. સમ્યગ્દૃષ્ટિ, પર્યાપ્ત, સંખ્યાત વર્ષના આયુષ્યવાળો, કર્મભૂમિજ, ગર્ભજ મનુષ્યોથી આવીને ઉત્પન્ન થાય છે તો શું સંયતસમ્યક્દૃષ્ટિઓથી આવીને ઉત્પન્ન થાય છે અથવા અસંયત સમ્યક્દૃષ્ટિઓથી આવીને અથવા સંયતાસંયત સમ્યક્દૃષ્ટિઓને આવીને ઉત્પન્ન થાય છે ? આના જવાબમા પ્રભુશ્રી કહે છે કે–હે ગૌતમ ! ત્રણેથી જ આવીને ઉત્પન્ન થાય

છે. આ કથનનો ભાવ એ છે કે અસંયતસમ્યક્દષ્ટિ પણ વૈમાનિક દેવના રૂપમાં ઉત્પન્ન થઈ શકે છે, સંયતાસંયત પણ અને સંયત પણ વૈમાનિક દેવના રૂપમાં ઉત્પન્ન થઈ શકે છે. આ કથનથી સ્પષ્ટ છે કે સમ્યક્દર્શન પણ દેવાયુષ્યનું કારણ હોઈ શકે છે. ॥૬॥

'कायभाव भासुज्जुय अविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं' ।

સૂત્રાર્થ—કાય ભાવ–મન, ભાષા–વચનની સરળતાથી તથા અવિસંવાદન પ્રતારણ–ઠગાઈ ન કરવાથી શુભનામ કર્મ બંધાય છે. ॥૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં દેવાયુ રૂપ પુણ્યકર્મના બંધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે. હવે શુભનામ કર્મ બંધાવાના કારણ કહીએ છીએ— (૧) કાયની ઋજુતા (૨) ભાવ અર્થાત્ મનની ઋજુતા (૩) ભાષા અર્થાત્ વચનની ઋજુતા અને (૪) અવિસંવાદન-કપટરહિત યથાર્થ પ્રવૃત્તિ આ ચાર કારણોથી શુભ નામકર્મ બંધાય છે. કાયની સરળતાને કાયઋજુતા કહે છે. તથા ભાવ અર્થાત્ મનની સરળતાને ભાવ ઋજુતા કહે છે. ભાષા અથવા વચનની સરળતાને ભાષા ઋજુતા કહે છે તથા દગો કરવો અથવા ઠગાઈ કરવી વિસંવાદન છે, આનો અભાવ અવિસંવાદન હોય છે આના યોગ-સંબંધને અવિસંવાદનયોગ કહે છે. તાત્પર્ય એ છે કે આ ચારે કારણોથી શુભનામ• કર્મ બંધાય છે જે સાડત્રીશ (૩૭) શુભપ્રકૃતિઓથી ભોગવી શકાય છે. ॥૭॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ બતાવાયું કે સરાગસંયમ, સંયમાસંયમ, અકામ-નિર્જરા અને બાલતપસ્યા વગેરે દેવાયુ રૂપ પુણ્ય કર્મ બાંધવાના કારણ છે. હવે શુભનામ કર્મના ચાર કારણોનું કથન કરીએ છીએ—

(૧) કાયામાં વક્રતા ન હોવી કાયની ઋજુતા કહેવાય છે. (૨) ભાવ અર્થાત્ મનમાં કુટિલતા ન હોવી ભાવની ઋજુતા ભાષા અર્થાત્ વચનમાં કુટિલતા ન હોવી ભાષાની ઋજુતા તથા (૩) ઠગવું, ધૂંતવું, દગો દેવો–અન્યની સાથે છળકપટ કરવું વિસંવાદન કહેવાય છે. આ પ્રમાણે ન કરવું તે અવિસંવાદન કહેવાય છે અર્થાત્ કાયા સંબંધી કુચેષ્ટાનું ન હોવું કાયની ઋજુતા છે, કાયાની કુચેષ્ટાનો આશય એ છે કે—શરીરના કોઈ અંગને વિકૃત કરવું જેમકે કુબડા થઈ જવું, ઠીંગણા (વેંતીયા) બનવું, અંગોપાંગના ખરાબ ચેનચાળા કરવા–આંખો મારવી મોઢું બગાડવું, નાક ચઢાવવું, સ્ત્રી, ભૃત્ય–નોકરચાકરની મશ્કરી કરવી વગેરે અસદ્ભાવોને પ્રદર્શિત કરીને બીજાની સાથે દગો ન કરવો કાયની ઋજુતા કહેવાય છે. ભાવ અર્થાત્ મનમાં કપટ ન હોવું ભાવની ઋજુતા છે, વચનથી કોઈને છેહ ન દેવો ભાષાની ઋજુતા છે.

તાત્પર્ય એ છે કે મનમાં જે વિચાર આવ્યો હોય તેને વચન દ્વારા તે જ રૂપમાં પ્રકટ કરવો અને તેને જ અનુરૂપ શારીરિક પ્રવૃત્તિ કરવી મન, વચન કાયાની સરળતા કહેવાય છે. (૩) તથા જે વસ્તુ જેવી છે તેને તે જ રૂપે કહેવી અન્યથા સ્વીકાર કરીને અન્યથા ન કરવું તે જ રૂપે તેનું આચરણ કરવું અવિસંવાદ યોગ કહેવાય છે (૪) આ ચાર પ્રકારની પ્રવૃત્તિથી શુભનામ કર્મ બંધાય છે, તે શુભ નામ કર્મના વિષયમાં ભગવતીસૂત્રના આઠમાં શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમા કહ્યું છે—

પ્રશ્ન-શુભનામ કર્મના વિષયમાં પૃચ્છા-અર્થાત્ હે ભદન્ત ! શુભનામ કર્મ કયા કારણે બંધાય છે ?

ઉત્તર-હે ગૌતમ ! (૧) કાયની ઋજુતાથી (૨) ભાવની ઋજુતાથી (૩) ભાષાની ઋજુતાથી અને (૪) અવિસંવાદન યોગથી શુભ નામકર્મ બંધાય છે.

આ શુભનામ કર્મ દેવગતિ મનુષ્યગતિ વગેરે સાડત્રીશ પ્રકારથી ભોગવી શકાય છે. જેમકે-

(૧) દેવગતિ (૨) મનુષ્યગતિ (૩) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૪) દેવાનુપૂર્વી (૫) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૬-૧૦) ઔદારિક વગેરે પાંચ શરીર (૧૧-૧૩) ત્રણ અંગોપાંગ અર્થાત્ (ક) ઔદારિક અંગોપાંગ (ખ) વૈક્રિય અંગોપાંગ (ગ) આહારક અંગોપાંગ (૧૪) વજ્ર ઋષભનારાચ સંહનન (૧૫) સમચતુરસ્ર સંસ્થાન (૧૬-૧૮) પ્રશસ્ત વર્ણ ગન્ધ રસ (૧૯) સ્પર્શ ત્રસ આદિ અર્થાત્ (૨૦) ત્રસ (૨૧) બાદર (૨૨) પર્યાપ્ત (૨૩) પ્રત્યેકશરીર (૨૪) સ્થિર (૨૫) શુભ (૨૬) સુભગ (૨૭) સુસ્વર (૨૮) આદેય (૨૯) યશઃકીર્તિ (૩૦) અગુરુલઘુ (૩૧) ઉચ્છવાસ (૩૨) આતપ (૩૩) ઉદ્યોત (૩૪) પ્રશસ્તવિહાયોગતિ (૩૫) પરાઘાત (૩૬) તીર્થંકર અને (૩૭) નિર્માણ નામકર્મ.

આ સાડત્રીશ પ્રકારથી શુભનામકર્મના ભોગ થાય છે. આમાં જે અંગોપાંગનામ કર્મનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે, ત્યાં (૧) મસ્તક (૨) વક્ષસ્થળ-(છાતી) (૩) પીઠ (૪-૫) બંને હાથ (૨) પેટ અને (૭-૮) બંને પગ આ આઠ અંગ કહેવાય છે આંગળીઓ, જીભ, આંખ, કાન, નાક વગેરે ઉપાંગ કહેવાય છે ।।૭।।

'वीसईठाणाराहणेण तित्थयरत्तं'

સૂત્રાર્થ—વીસ સ્થાનોની આરાધનાથી તીર્થંકર નામકર્મ બંધાય છે ।।૮।।

તત્ત્વાર્થદીપિકા—વીસ સ્થાનો અર્થાત્ બોલનું આરાધન કરવાથી તીર્થંકર નામક શુભનામ કર્મ બંધાય છે આ વીસ સ્થાનક નિમ્નલિખિત છે—

(૧) અર્હન્ત ભગવાન પ્રત્યે વાત્સલ્યભાવ હોવો, અરિહંત ભગવાનના ગુણગ્રામ કરવા. ૨) સિદ્ધ ભગવાન પ્રત્યે પ્રેમભાવ હોવો (૩) પ્રવચન પ્રત્યે વાત્સલ્ય (૪) ગુરુ પ્રત્યે પ્રેમ (૫) ઘરડાં પ્રત્યે આદર-પ્રેમ (૬) બહુશ્રુત અર્થાત્ વિવિધશાસ્ત્રોના જ્ઞાતા પ્રત્યે વાત્સલ્ય (૭) તપસ્વીજનો પ્રત્યે વત્સલતા અર્થાત્ એમનાં વાસ્તવિક ગુણોનું કીર્ત્તન કરવા રૂપ ભક્તિ હોવી, તથા (૮) એમના જ્ઞાનમાં નિરન્તર ઉપયોગ રાખવો (૯) દર્શન અથવા નિર્મળ તત્ત્વશ્રદ્ધા હોવી (૧૦) દેવ તથા ગુરુની પ્રતિ વિનયભાવ હોવો (૧૧) બંને સમયમાં આવશ્યક ક્રિયા કરવી (૧૨) શીલવ્રત પ્રત્યાખ્યાનને નિર્મળપણે પાળવા (૧૩) ક્ષણ લવ વગેરે કાળોમાં પ્રમાદનો ત્યાગ કરી શુભ ધ્યાન ચિંતવવું (૧૪) બાર પ્રકારની તપશ્ચર્યા આરાધવી (૧૫) દાન આપવું બીજા કોઈને ભયભીત કરી રહ્યા હોય અથવા માર મારતા હોય અથવા કોઈ કારણે કોઈ મરી રહ્યો હોય તો તેની રક્ષા કરવી. આ અભયદાન અને કરુણાદાનનુ ઉપલક્ષણસૂચક છે. સુપાત્રોને દાન આપવુ અર્થાત્ મહાવ્રતધારી તથા પ્રતિમાધારી શ્રાવકોને દાન આપવું અર્થાત શ્રમણ, શ્રમણી, શ્રાવક અને શ્રાવિકા રૂપ ચતુર્વિધસંઘને સુખશાતા ઉપજાવવી (૧૬) વૈયાવૃત્ય આચાર્ય વગેરેની સુશ્રૂષા કરવી (૧૭) સમાધિ-સમસ્ત જીવોને સુખશાંતિ ઉપજાવવી (૧૮) નિત્ય નવું શીખવું. (૧૯) શ્રુતભક્તિ-જિનપ્રતિપાદિત આગમોમાં અનુરાગ રાખવો (૨૦) પ્રવચન-પ્રભાવના-પ્રચુર ભવ્ય

જીવોને દીક્ષા આપવી, સંસારરૂપી કુવામાં પડતા અને સંસારસમુદ્રમાં ડૂબતા પ્રાણીઓ માટે આશ્વાસનરૂપ જિનશાસનનો મહિમા વધારવો, સમસ્ત જગતને જિનશાસનના ચાહક બનાવવા મિથ્યાત્વ-અંધકારનો નાશ કરવો અને મૂળોત્તર ગુણોને ધારણ કરવા.

સર્વ જીવો માટે સાધારણ આ વીસ સ્થાન તીર્થંકર નામકર્મ બંધાવવાના કારણ છે અર્થાત્ આ વીસ કારણોથી જીવ તીર્થંકરત્વ પ્રાપ્ત કરે છે. વ્યસ્ત એક અને સમસ્ત બંને રૂપથી આને કારણો સમજવા જોઈએ અર્થાત્ એમાંથી એક કારણ વડે પણ તીર્થંકર નામકર્મ બાંધી શકાય છે અને અનેક કારણો વડે પણ. પરંતુ સ્મરણમાં રાખવું જોઈએ કે ઉત્કૃષ્ટતમ રસાયણ આવવાથી જ આ મહાન સર્વોત્તમ પુણ્યપ્રકૃતિ બાંધી શકાય છે.

અહીં સ્થાનનો અર્થ વાસના છે આથી પૂર્વોક્ત અર્હદ્વાત્સલ્ય આદી વીસ સ્થાનોનો અર્થ વીસ કારણો સમજવા જોઈએ ॥૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જો કે સામાન્ય રૂપથી અવિસંવાદન કાય, વચન અને મનની ઋજુતાને સાડત્રીશ પ્રકારના શુભ નામ કર્મ પછીના કારણો બતાવવામાં આવ્યાં છે, આ પ્રકારોમાં તીર્થંકર પ્રકૃતિનો પણ સમાવેશ થઈ જાય છે પરંતુ તીર્થંકર એક વિશિષ્ટ પ્રકૃતિ છે તે અનન્ત અને અનુપમ પ્રભાવવાળી, અચિન્ત્ય આત્મિક અને બાહ્ય વિભૂતિનું કારણ અને ત્રણે લોકમાં સર્વોત્કૃષ્ટ છે; આથી તેમના કારણ પણ વિશિષ્ટ છે આથી જ તેમના વિશિષ્ટ કારણોનો પૃથક્ રૂપથી નિર્દેશ કરવામાં આવ્યો છે—

વીસ સ્થાનોની ઉત્કૃષ્ટ આરાધનાથી તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે. જ્ઞાતાધર્મકથાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે—

(૧) અરિહંત (૨) સિદ્ધ (૩) પ્રવચન (૪) ગુરુ (૫) વૃદ્ધ (૬) બહુશ્રુત અને (૭) તપસ્વી પર વત્સલતા રાખી (૮) તેમના જ્ઞાન-પ્રવચનમાં ઉપયોગ રાખવો. (૯) સમ્યક્ત્વ (૧૦) વિનય (૧૧) આવશ્યક (૧૨) નિરતિચાર શીલ અને વ્રતોનું પાલન (૧૩) ક્ષણ લવ (૧૪) તપ (૧૫) ભાગ (૧૬) વૈયાવૃત્ય (૧૭) સમાધિ (૧૮) અપૂર્વજ્ઞાનગ્રહણ (૧૯) શ્રુતભક્તિ (૨૦) પ્રવચન-પ્રભાવના; આ વીસ કારણોથી જીવ તીર્થંકરત્વ પ્રાપ્ત કરે છે.

જ્ઞાતાસૂત્રની આ ત્રણ ગાથાઓમાં વીસ સ્થાનોનું નિદર્શન કરવામાં આવ્યુ છે આ મુજબ (૧-૭) અર્હંત, સિદ્ધ, પ્રવચન, ગુરુ, સ્થવિર, બહુશ્રુત અને તપસ્વી વાત્સલ્ય હોવાથી તથા એની ભક્તિ અર્થાત્ યથાવસ્થિત ગુણોનું કીર્ત્તન કરવાથી (૮) જ્ઞાનોપયોગ-આના જ્ઞાન-પ્રવચનમાં નિરન્તર ઉપયોગ ચાલુ રાખવો (૯) દર્શન અર્થાત્ અત્યન્ત ઉત્કૃષ્ટ દર્શનવિશુદ્ધિ-નિરતિચાર સમ્યક્ત્વની નિર્મળતાથી-ક્ષાયોપશમિક, ક્ષાયિક અથવા ઔપશમિક સમ્યક્દર્શનની યથાયોગ્ય ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિ હોવાથી, (૧૦) વિનયસમ્પન્નતાથી-જેના વડે આઠ પ્રકારના કર્મ દૂર કરવામાં આવે તે વિનય છે. તેના ચાર ભેદ છે— (૧) જ્ઞાન વિનય (૨) દર્શનવિનય (૩) ચારિત્રવિનય અને (૪) ઉપચારવિનય. જ્ઞાન અને જ્ઞાની પ્રત્યે બહુમાન હોવું જ્ઞાનવિનય છે; નિઃશંક અને નિરાકાંક્ષ વગેરે ભેદોવાળું દર્શનવિનય છે, આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારી સમિતિ ગુપ્તિની પ્રધાનતાવાળો ચારિત્રવિનય છે, ઉઠીને ઉભા થઈ જવું, આસન આપવું, હાથ જોડવા વગેરે ઉપચાર વિનય છે આ પ્રકારના વિનય રૂપ પરિણામવાળો આત્મા વિનયસમ્પન્ન કહેવાય છે. આ વિનયસમ્પન્નતા પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બાંધવાનું કારણ છે—

આવશ્યક:—અહીં આવશ્યક પદથી આવશ્યક ક્રિયાનું કરવું એમ સમજવું જોઈએ. સામાયિક આદિ આવશ્યકોનું ભાવપૂર્વક અનુષ્ઠાન કરવું—સવારે અને સાંજે આવશ્યક ક્રિયાનું આચરણ કરવું, આથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે. રાગદ્વેષ વગરના સમની પ્રાપ્તિને—સમાય કહે છે. સમાય અર્થાત્ જ્ઞાન આદિનો લાભ જેનું પ્રયોજન હોય તે સામાયિક છે. સાવદ્ય–પાપકારી—કર્મોથી વિરત થવું પ્રતિક્રમણ વગેરે છે. 'આદિ' શબ્દથી અહીં ચતુર્વિંશતિસ્તવ (ચોવીસ જીનેશ્વરોની સ્તુતિ) વગેરે સમજવું. જે દિવસ અને રાત્રીના છેવટના ભાગથી અવશ્ય કરવા યોગ્ય હોય તે આવશ્યક છે આ આવશ્યકો ૧૭ પ્રકારના સંયમ વિષયક વ્યાપાર રૂપ હોવાથી વિવિધ પ્રકારના છે જેવા કે—ઈચ્છાકાર, મિથ્યાકાર, તથાકાર આદિ. એમનું અનુષ્ઠાન સદ્ભાવપૂર્વક કરવાથી, યથાકાળ વિધિપૂર્વક, ન્યૂનતા અને અધિકતા વગેરે દોષોનો પરિત્યાગ કરીને સંયમપૂર્વક આચરણ કરવાથી તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે.

(૧૨) શીલ તથા વ્રત—આનું નિરતિચાર પાલન કરવાથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે. અત્રે શીલનો અર્થ છે—પિણ્ડવિશુદ્ધિ, સમિતિ, ભાવના આદિ ઉત્તર ગુણ અને જુદા જુદા પ્રકારના અભિગ્રહ, કારણ કે આનાથી મુમુક્ષુને સમાધિની પ્રાપ્તિ થાય છે. પાંચ મહાવ્રત અને રાત્રિભોજનનો ત્યાગ એને વ્રત શબ્દથી ગ્રહણ કરવામાં આવે છે. એમનું પૂર્ણ રૂપથી નિરતિચાર પાલન કરવું અર્થાત્ સંયમનો સ્વીકાર કરવાથી લઈને જીવતા પર્યંત અપ્રમત્તભાવથી સેવન કરવું નિરતિચાર શીલ—વ્રત પાલન કહેવાય છે અર્થાત્ સર્વજ્ઞ શ્રી તીર્થંકર ભગવાન દ્વારા પ્રણીત સિદ્ધાંત અનુસાર શીલ અને વ્રતોનું અનુષ્ઠાન કવું નિરતિચાર શીલવ્રતપાલન કહેવાય છે આનાથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે.

(૧૩) ક્ષણલવ—આ કાળનું સૂચક છે. ક્ષણભર અથવા લેશમાત્ર પણ પ્રમાદ ન કરતાં શુભ ધ્યાન ધરવું.

(૧૪) તપ—પોતાની શક્તિ અનુસાર તપસ્યા કરવાથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે. જે કર્મોને બાળી નાખે—શોષી લે તે તપ, તપ બે પ્રકારના છે—બાહ્ય અને આભ્યન્તર. બાહ્ય તપ છ પ્રકારના છે અને આભ્યન્તર તપ પણ છ પ્રકારના છે પ્રાયશ્ચિત્ત વગેરે આભ્યન્તર તપ છે જ્યારે ઉપવાસ વગેરે બાહ્ય તપ છે. આ તપોનો જો લૌકિક પૂજા—પ્રતિષ્ઠા, સત્કાર—સન્માન વગેરેની ઈચ્છા વગર માત્ર કર્મનિર્જરાના આશયથી જ અનુષ્ઠાન કરવામાં આવે તો તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે.

(૧૫) ત્યાગ—ત્યાગનો અર્થ દાન છે. દાન બે પ્રકારના છે—અભયદાન અને સુપાત્રદાન પોતાની તરફથી ભય ઉત્પન્ન ન કરવો, બીજો કોઈને જો ભયભીત કરી રહ્યો હોય, મારતો હોય અથવા કોઈ મરી રહ્યો હોય ત્યારે તેનું રક્ષણ કરવું અભયદાન છે. અભયદાન અહીં કરુણાદાનનું ઉપલક્ષણ છે. મહાવ્રતધારી મુનિઓને તથા પ્રતિમાધારી શ્રાવકોને દાન આપવું સુપાત્રદાન કહેવાય છે. આ કથન ઉપલક્ષણ માત્ર છે આથી ચતુર્વિધ સંઘને સુખશાતા ઉપજાવવી એ જ સુપાત્રદાન સમજવું જોઈએ.

(૧૬) વૈયાવૃત્ય-આચાર્ય, ઉપાધ્યાય વગેરેની નિર્મળ ભાવથી સેવા ચાકરી કરવી વૈયાવૃત્ય છે

(૧૭) સમાધિ—બધાં જીવોને સુખ ઉપજાવવું તથા સંઘ અને શ્રમણોની સમાધિ અને વૈયાવૃત્ય કરવાથી પણ તીર્થંકરનામ કર્મ બંધાય છે. સંઘનો અર્થ છે સમ્યક્ દર્શન જ્ઞાન અને

ચારિત્રનો સમૂહ. શ્રમણ, શ્રમણી શ્રાવક અને શ્રાવિકામાં આ સમ્યક્દર્શન વગેરે મળી આવે છે આથી એમનો સમૂહ પણ સંઘ કહેવાય છે. એમને શાતા પમાડવી અર્થાત્ કોઇ પ્રકારનો ઉપદ્રવ થવા ન દેવો, શાન્તિ પ્રદાન કરવી સંઘસમાધિ છે.

(૧૮) અપૂર્વજ્ઞાનગ્રહણ—હમેશ નવું નવું જ્ઞાન સંપાદન કરવું.

(૧૯) શ્રુતભક્તિ—જીનેન્દ્ર ભગવંત દ્વારા ભાખેલા આગમોમાં પરમ સદ્ભાવ હોવો. સુરેન્દ્રો, અસુરેન્દ્રો તથા નરેન્દ્રો વગેરેને પ્રભાવિત કરનાર, મહામહિમાશાળી અને અચિન્તનીય સામર્થ્યથી સમ્પન્ન, સન્માર્ગનો ઉપદેશ કરવાના કારણે, પરોપકાર કરવામાં તત્પર, પરમ યોગ્ય આચાર્યોની ઉત્કૃષ્ટ માનસિક શુદ્ધિપૂર્વક ઉપાસના કરવી એ શ્રુતભકિત છે. ભકિતનો આશય છે—તેમાં રહેલાં ગુણોનું કીર્ત્તન કરવુ વંદન કરવું, ઉપાસના કરવી આ શ્રુતભક્તિ પણ તીર્થંકર નામકર્મ બાંધવાનું કારણ છે.

(૨૦) પ્રવચનપ્રભાવના—ઘણાબધાં-ભવ્ય જીવોને દીક્ષા આપવી—સંસાર રૂપી કુવામાં પડતા પ્રાણીઓને તારનારા તેમજ તેમને આશ્વાસન આપનારા, જિનશાસનનો મહિમાં વધારનારા, સમસ્ત સંસારને જિનશાસનના રસીયા બનાવનારા, મિથ્યાત્ત્વરૂપી અંધકારનું અપહરણું કરવું તથા ચરણ અને કરણને શરણ કરવા અર્થાત્ એમનું નિર્દોષ પાલન કરવું, આ બધાં પ્રવચન-પ્રભાવનાના અન્તર્ગત છે.

તીર્થંકરત્વની પ્રાપ્તિના આ વીસ કારણો છે અર્થાત્ આ સઘળાનો અથવા એ પૈકી કોઈ એક બે અથવા અધિકનું ઉત્કૃષ્ટ રૂપથી સેવન કરવાથી જીવ તીર્થંકરનામકર્મ બાંધે છે ॥ ૮ ॥

'आयणिंदा परप्पसंसाइहिं उच्चगोए'

સૂત્રાર્થ—આત્મનિંદા અને પરપ્રાશંસા આદિ—કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બંધાય છે ॥ ૯ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં દર્શન વિશુદ્ધિ આદિ આત્માની પરિણતિવિશેષોને તીર્થંકર નામ કર્મ બાંધવાના કારણ ગણ્યા છે હવે ઉચ્ચગોત્ર કર્મબાંધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

પોતાની નિન્દા અને બીજાની પ્રશંસા કરવાથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બંધાય છે.

પોતાની નિન્દા કરવી આત્મનિન્દા છે અને બીજાની પ્રશંસા કરવી પરપ્રશંસા છે. આદિ શબ્દથી બીજાનાસદ્ગુણોને પ્રકાશિત કરવા અને દોષોનું આવરણ કરવું તથા પોતાના સદ્ગુણો ઢાંકવા અને દોષો પ્રકટ કરવા, નમ્રતા ધારણ કરવી, નિરભિમાન થવું, આ છ કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બંધાય છે ॥ ૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમા દર્શનવિશુદ્ધિ આદિ વીસ આત્મપરિણામોને તીર્થંકર નામ કર્મ બાંધવાના કારણ કહ્યા હવે ઉચ્ચગોત્રકર્મ બાંધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ,

આત્મનિન્દા અને પરપ્રશંસા આદિ—કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બંધાય છે

જાતિ, કુળ, રૂપ, બળ, શ્રુત, આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય વગેરેનું અભિમાન ન કરતા થકા પોતાના દોષોની નિન્દા કરવી આત્મનિન્દા છે અને બીજાના સદ્ગુણોની પ્રશંસા કરવી પરપ્રશંસા છે સૂત્રમાં ગ્રહણ કરેલ આદિ શબ્દથી એવું સમજવું જોઈએ—પોતાના સદ્ગુણોને ઢાંકવા અને દોષોને જાહેર કરવા નમ્રતા ધારણ કરવી અને નિરભિમાન થવું, આ છ કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ

બંધાય છે. ઉચ્ચગોત્ર કર્મના ઉદયથી ઇક્ષ્વાકુવંશ, હરીવંશ ભોજરાજવંશ આદિ જેવા ઉચ્ચગોત્રોમાં જન્મ પ્રાપ્ત થાય છે વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ અર્થાત્ ભગવતીસૂત્રના શતક ૮, ઉદ્દેશક ૯મા કહ્યું છે-

જાતિનો મદ ન કરવાથી, કુળનું અભિમાન ન કરવાથી, બળનો મદ ન કરવાથી, રૂપનું અભિમાન ન કરવાથી, તપ, શ્રુત, લાભ તથા ઐશ્વર્યનું અભિમાન ન કરવાથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બંધાય છે ॥ ૯ ॥

સૂત્રાર્થ—પ્રાણાતિપાત આદિથી પૂર્ણરૂપમાં નિવૃત્ત થવું પાંચમહાવ્રત છે ॥૧૦॥

'पाणाइवायाइ हिंतो' ઇત્યાદિ

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રાણાતિપાતની સાથે સંકળાયેલા આદિ શબ્દથી મૃષાવાદ, અદત્તાદાન, અબ્રહ્મચર્ય અને પરિગ્રહનું ગ્રહણ થાય છે. તાત્પર્ય એ છે કે પ્રાણાતિપાદ આદિ પાચ પાપોથી, ત્રણ કરણ અને ત્રણયોગથી નિવૃત્ત થઇ જવું પાંચ મહાવ્રત છે પ્રાણાતિપાત અર્થાત્ જીવોની હિંસા, મૃષાવાદ અર્થાત્ અસત્યભાષણ, અદત્તાદાન અર્થાત્ સ્તેય (ચોરી) અબ્રહ્મચર્ય અર્થાત્ મૈથુન અને પરિગ્રહ અર્થાત્ મોહ—મમતા, આ બધાંથી પૂર્ણરૂપથી વિરત થવું મહાવ્રત છે. ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—બેંતાળીશ પ્રકારની પુણ્યપ્રકૃતિના બંધાવાથી સદ્‌ગતિની પ્રાપ્તિ થાય છે તથા સદ્ ધર્મ થાય છે આ પ્રસંગથી અત્રે પાંચ મહાવ્રતોનું કથન કરીએ, છીએ,—

પ્રાણાતિપાત અને 'આદિ' શબ્દથી મૃષાવાદ, અદત્તાદાન, અબ્રહ્મચર્ય અને પરિગ્રહથી, પૂર્ણરૂપમા અર્થાત્ સંપૂર્ણ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવની અપેક્ષાથી, ત્રણ કરણો અને ત્રણ યોગોથી—નિવૃત્ત થવું પાંચ મહાવ્રત છે

કષાય અને પ્રમાદ રૂપ પરિણત આત્મા દ્વારા મન વચન અને કાયા રૂપ યોગના વ્યાપારથી તથા કરવું કરાવવું અને અનુમોદન રૂપ ત્રણ કરણો દ્વારા દ્રવ્ય અને ભાવ પ્રાણોનું વ્યપરોપણ અર્થાત્ હિંસા કરવી પ્રાણાતિપાત કહેવાય છે. અસત્ય ભાષણ કરવું અસત્ય વચન કહેવું અથવા જુઠું બોલવું સાવદ્ય વચન બોલવું મૃષાવાદ કહેવાય છે માલિકના આપ્યા વગર કોઈ વસ્તુ લઇ લેવી અદત્તાદાન છે. સ્ત્રીગમન અથવા મૈથુનને અબ્રહ્મચર્ય કહે છે. સચેત્ત અચેત્ત અને મિશ્ર દ્રવ્યોમાં મોહ રાખવો તેનું નામ પરિગ્રહ છે મમત્વ રાખવું પરિગ્રહ છે આ પાંચે પાપોથી પૂર્ણરૂપથી અર્થાત્ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી નિવૃત્ત થવું પાચ મહાવ્રત છે.

પ્રાણિહિંસા આદિથી નિવૃત્તિ વ્રત છે. એનો આશય એ છે કે અમુક પુરુષ હિંસા આદિ ક્રિયાઓનું આચરણ કરતો નથી પરંતુ અહિંસાદિ ક્રિયાઓનું આ આચરણ કરે છે. જે પ્રાણાતિપાત આદિથી વિરત થઈ જાય છે તે શાસ્ત્રમાં પ્રરૂપેલી સત્ ક્રિયાઓમાં—પ્રવૃત્તિ કરે છે અને અસત્ ક્રિયાથી નિવૃત્ત થાય છે આથી તેના કર્મોનો ક્ષય થાય છે અને કર્મક્ષયથી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે.

અહીં એ સ્મરણમાં રાખવું જોઈએ કે પ્રાણાતિપાતનો અર્થ છે પ્રાણિઓને પ્રાણથી જુદાં પાડવા. પ્રાણ ઇન્દ્રિય વગેરેને કહે છે. પ્રાણ જેમાં હોય તે પ્રાણી અર્થાત્ જીવ કહેવાય છે પ્રાણી ઘણી જાતના હોય છે. પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય આ જીવોના સ્વરૂપને સમજીને અને તેના પર શ્રદ્ધા રાખીને તેમના પ્રાણોનો વિયોગ ન કરવો એ જ્ઞાન શ્રદ્ધાનપૂર્વક ચારિત્ર કહેવાય છે સત્‌માં પ્રવૃત્તિ કરવી અને અસત્‌થી નિવૃત્તિ

કરવી ચારિત્રનું લક્ષણ છે. મન, વચન કાયા દ્વારા કરેલું, કરાવેલું અને અનુમોદન—આપવાના ભેદથી તે અનેક પ્રકારના છે.

સ્થાનાંગ સૂત્રના પાંચમા સ્થાનના પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—મહાવ્રત પાંચ કહેવામાં આવ્યા છે તે આ મુજબ છે—સમસ્ત—પ્રાણાતિપાતથી વિરત થવું અર્થાત્ સમસ્ત પરિગ્રહથી વિરત થવું.

આવશ્યક અને દશવૈકાલિકસૂત્રમાં પણ મહાવ્રત પાંચ જ કહેવામાં આવ્યા છે ॥૧૦॥

'पाणाइवायाइहितो देसओ' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—પ્રાણાતિપાત આદિ એકદેશથી વિરત થવું પંચ અણુવ્રત છે ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં પ્રાણાતિપાત આદિથી પૂર્ણ રૂપથી વિરત થવા રૂપ પાંચ મહાવ્રતોનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે એ બતાવવા માગીએ છીએ કે તે જ પ્રાણાતિપાત આદિથી આંશિક રૂપથી વિરત થવું પાંચ અણુવ્રત છે—

પ્રાણાતિપાત આદિ પાંચ પાપોથી દેશથી વિરત થવું પાંચ અણુવ્રત છે પ્રાણવ્યપરોપણ—અથવા જીવહિંસાને પ્રાણાતિપાત કહે છે. સૂત્રમાં વાપરેલ 'આદિ' શબ્દથી અસત્યભાષણ, સ્તેય, મૈથુન અને પરિગ્રહ સમજવાના છે આ પાંચમાંથી એક દેશથી વિરત થવું પાંચે અણુવ્રત છે અર્થાત્ સ્થૂળ પ્રાણાતિપાત વિરમણ અને સ્થૂળ પરિગ્રહવિરમણ અર્થાત્ પરિગ્રહ પરિમાણ આ પાંચ અણુવ્રત છે ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સંપૂર્ણ પ્રાણિઓની જીવહિંસાથી નિવૃત્તિ સંપૂર્ણ મૃષાવાદથી, સંપૂર્ણ અદત્તાદાનથી, સંપૂર્ણ અબ્રહ્મચર્યથી તથા સંપૂર્ણ પરિગ્રહથી નિવૃત્તિ રૂપ પાંચ મહાવ્રતોનું–નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે સ્થૂળ પ્રાણાતિપાત આદિથી નિવૃત્તિ રૂપ પાંચ અણુવ્રતોનું કથન કરીએ છીએ.

પ્રાણાતિપાત આદિનો આંશિક રૂપથી ત્યાગ કરવો પાંચ અણુવ્રત કહેવાય છે. હિંસા બે પ્રકારની છે સંકલ્પની અને આરમ્ભની અથવા સૂક્ષ્મ અને સ્થૂળના ભેદથી પણ હિંસાના બે ભેદ છે. સંપૂર્ણ પ્રાણાતિપાતથી વિરત ન થવું પરંતુ એકદેશથી જ વિરત થવું કેવળ સ્થૂળ રૂપ સંકલ્પની હિંસાનો ત્યાગ કરવો સ્થૂળપ્રાણાતિપાત વિરતિ નામનું અણુવ્રત છે.

આવી જ રીતે બધાં પ્રકારના મૃષાવાદનો ત્યાગ ન કરતાં માત્ર એકદેશથી અર્થાત્ જુઠી સાક્ષી આપવી વગેરે રૂપ અસત્યભાષણથી નિવૃત્ત થવું સ્થૂળ મૃષાવાદવિરતિ અણુવ્રત છે આ અણુવ્રતમાં સ્થૂળ અસત્યનો જ ત્યાગ કરવામાં આવે છે, સૂક્ષ્મ મૃષાવાદનો નહીં. એ જ પ્રમાણે સ્થૂળ અદત્તાદાનનો ત્યાગ કરવો અદત્તાદાન વિરમણ અણુવ્રત કહેવાય છે. આ અણુવ્રતમાં બધાં પ્રકારના અદત્તાદાનનો ત્યાગ થતો નથી પરંતુ સ્થૂળ અદત્તાદાનનો જ ત્યાગ કરવામાં આવે છે. જે અદત્તાદાનથી આ લોક તથા પરલોકમાં ચોરીનો દોષ લાગે છે જેનાથી સામાન્યતયા ચોરી કહી શકાય છે અને જે ચોરી રાજ્ય દ્વારા દણ્ડનીય હોય છે જે કારણથી કારાગૃહ અને નરકના પાત્ર બનવું પડે છે તેને સ્થૂળ ચોરી સમજવી. ઠઠ્ઠા—મશ્કરીમાં કોઈની ચીજ લઈ લેવી અથવા સંતાડી દેવી સ્થૂળ ચોરી નહીં પણ સૂક્ષ્મ ચોરી છે. ગૃહસ્થો આવી ચોરીનો ત્યાગ કરતા હોતાં નથી.

આવી જ રીતે એક દેશથી મૈથુનનો ત્યાગ કરવો બ્રહ્મચર્યાણુવ્રત કહેવાય છે. એક દેશથી મૈથુનના ત્યાગનું તાત્પર્ય છે પરસ્ત્રીસંયોગનો ત્યાગ કરવો. જે પોતાની સ્ત્રીમાં સંતુષ્ટ રહીને પરસ્ત્રીને માતા સમાન લેખે છે તે સ્વદાર સંતોષવ્રતી કહેવાય છે.

પરિગ્રહનો અર્થ છે-મોહ, લોભ અથવા મમત્વ પરિગ્રહના બે ભેદ છે—બાહ્ય અને આન્તરિક શરીર વગેરે પ્રત્યે મમતા હોવી આન્તરિક પરિગ્રહ છે. ક્ષેત્ર, વાસ્તુ (મહેલ–મકાન) સોનું, ધન, ધાન્ય વગેરે બાહ્ય વસ્તુઓ પર મમતા હોવી બાહ્ય પરિગ્રહ છે. પરિગ્રહ પરિમાણુ નામક અણુવ્રતમાં સમસ્ત--વસ્તુઓનો ત્યાગ કરવામાં આવતો નથી પરંતુ તેમની મર્યાદા કરી લેવામાં આવે છે. આને સ્થૂળપરિગ્રહ ત્યાગ પણ કહે છે.

આમ સ્થૂળપ્રાણાતિપાતવિરમણ, સ્થૂળમૃષાવાદવિરમણ, સ્થૂળઅદત્તાદાનવિરમણ, સ્થૂળમૈથુનવિરમણ અને પરિગ્રહપરિમાણ નામના પાંચ અણુવ્રત હોય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના પાંચમા સ્થાનકના પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે---અણુવ્રત પાંચ કહેવામાં આવ્યા છે-સ્થૂળપ્રાણાતિપાતવિરમણ સ્થૂળમૃષાવાદવિરમણ, સ્થૂળઅદત્તાદાનવિરમણ સ્થૂળમૈથુનવિરમણ, (સ્વદારસંતોષ) અને ઇચ્છાપરિમાણ ॥૧૧॥

'तत्थेज्जट्ठं इरियाइया पणवीसं भावणाओ'

મૂળ સૂત્રાર્થ—વ્રતોની સ્થિરતા અર્થે પચ્ચીશ ભાવનાઓ હોય છે ॥૧૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉ સ્થૂળ રૂપથી હિંસાનો ત્યાગ કરવો વગેરે પાંચ અણુવ્રતોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે તે વ્રતોમાં સ્થિરતા લાવવા માટે ઈર્યા આદિ પચ્ચીશ ભાવનાઓનું કથન કરીએ છીએ–પૂર્વોક્ત

(૧) પ્રાણાતિપાતવિરમણ મહાવ્રતની પાંચ ભાવનાઓ—(૧) ઈર્યા–સંભાળીને ચાલવું (૨) (૨) મનની પ્રશસ્તતા (૩) વચનની પ્રશસ્તતા (૪) એષણા અને (૫) આદાન નિક્ષેપ.

(૨) સત્યમહાવ્રતની પાંચ ભાવનાઓ—(૧)સમજી વિચારીને બોલવું (૨) ક્રોધનો ત્યાગ (૩) લોભનો ત્યાગ (૪) ભયનો ત્યાગ (૫) હાસ્યનો ત્યાગ કરવો

(૩) અદત્તાદાનવિરમણવ્રતની પાંચ ભાવનાઓ—(૧)અઢાર પ્રકારથી વિશુદ્ધ વસતી (ઉપાશ્રય–સ્થાન)ની યાચના કરીને સેવન કરવું (૨) વિશુદ્ધ પીઠ–ફલક આદિની યાચના કરવી વૃક્ષ વગેરેનું છેદન ન કરવુ (૪) સાધારણ પિણ્ડ (ભોજન)નું અધિક સેવન કરવું અને (૪) સાધુઓની વૈયાવચ્ચ કરવી.

બ્રહ્મચર્યવ્રતની પાંચ ભાવનાઓ—(૧) સ્ત્રી, પશુ અને પંડક (નપુંસક) વગરની જગ્યાએ વાસ કરવો (૨) સ્ત્રીઓ સબંધી કથા ન કરવી (૩) સ્ત્રીના અંગોપાંગોનું અવલોકન ન કરવું (૪) પૂર્વાવસ્થામાં અર્થાત્ ગૃહસ્થાવસ્થામાં ભોગવેલાં કામભોગોનું સ્મરણ ન કરવું અને (૫) દરરોજ મિષ્ટ–ઉન્માદક ભોજનનો પરિત્યાગ કરવો.

(૫) પરિગ્રહત્યાગમહાવ્રતની પાંચ ભાવનાઓ—(૧) મનોજ્ઞ શબ્દોમાં રાગ અને અમનોજ્ઞ શબ્દોમાં દ્વેષ ન કરવો (૨) મનોજ્ઞ તથા અમનોજ્ઞ રૂપમાં રાગ–દ્વેષ ન કરવા (૩) મનોજ્ઞ અમનોજ્ઞ રસમાં રાગ-દ્વેષ ન કરવો (૪) મનોજ્ઞ–અમનોજ્ઞ ગંધમાં રાગ–દ્વેષ ન કરવો અને (૫) મનોજ્ઞ–અમનોજ્ઞ સ્પર્શમાં રાગદ્વેષ ન કરવો.

પાંચ વ્રતોની કુલ આ પચ્ચીશ પ્રકારની ભાવનાઓ છે ॥૧૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાંચ મહાવ્રતોનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું, તે વ્રતોને દૃઢ કરવા કાજે પ્રત્યેક વ્રતની પાંચ-પાંચ ભાવનાઓ કહીએ છીએ—

તે પૂર્વોક્ત વ્રતોને સ્થિર રાખવા માટે ઈર્યા વગેરે પચ્ચીશ ભાવનાઓ કરવી જોઈએ.

સર્વથા પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાંચ મહાવ્રતોની તથા એકદેશ પ્રાણાતિપાતવિરમણ રૂપ અણુવ્રતોની સ્થિરતા-દૃઢતા માટે નીચે લખેલી ભાવનાઓનું સેવન કરવું જોઈએ.

(૧) ઈર્યાસમિતિ (૨) મનોગુપ્તિ (૩) વચનગુપ્તિ (૪) એષણા (૫) આદાન નિક્ષેપણ (૬) આલોચ્યસંભાષણ-સમજી વિચારીને બોલવું (૭) ક્રોધનો ત્યાગ (૮) લોભનો ત્યાગ (૯) ભયનો ત્યાગ (૧૦) હાસ્યનો ત્યાગ (૧૧) અઢાર પ્રકારથી વિશુદ્ધ વસતી (સ્થાન)નું સેવન (૧૨) દરરોજ અવગ્રહની યાચના કરીને ઘાસ લાકડાં વગેરે એકઠા કરવા (૧૩) પીઠ-ફલક વગેરે માટે વૃક્ષ વગેરે કાપવા નહીં (૧૪) સાધારણ ભોજનનું વધારે પ્રમાણમાં સેવન ન કરવું (૧૫) સાધુઓની સેવા કરવી (૧૬) સ્ત્રી, પશુ અને પંડક (નપુંસક-ફાતડા)ના સંસર્ગવાળા શયન આસન સ્થાનનું સેવન ન કરવું (૧૭) રાગપૂર્વક સ્ત્રિઓની કથા ન કરવી (૧૮) સ્ત્રીઓની મનોહર ઈન્દ્રિયોનું અવલોકન ન કરવું (૧૯) ભૂતકાળમાં ભોગવેલા ભોગો યાદ ન કરવા (૨૦) દરરોજ ભારે ભોજનનો ત્યાગ કરવો (૨૧-૨૫) મનોજ્ઞ સ્પર્શ-રસ-ગન્ધ-વર્ણ અને શબ્દમાં રાગ અને અમનોજ્ઞ સ્પર્શ આદિમાં દ્વેષ ન કરવો. આ પચ્ચીશ ભાવનાઓ છે આમાંથી પ્રારંભની પાંચ પ્રાણાતિપાતવિરતિની છે. બીજી પાંચ અસત્યવિરમણમહાવ્રતની, ત્રીજી પાંચ અદત્તાદાન મહાવ્રતની ચોથી પાંચ બ્રહ્મચર્યમહાવ્રતની અને છેલ્લી પાંચ પરિગ્રહપરિત્યાગમહાવ્રતની છે એનું સ્પષ્ટીકરણ આ રીતે છે—(૧) ઈર્યાસમિતિ-ઈર્યાનો અર્થ છે ગતિ કરવી ગમનમાં સમિતિ અર્થાત્ સંગતતા અથવા શાસ્ત્રોક્ત પ્રવૃત્તિ હોવી ઈર્યાસમિતિ છે, તાત્પર્ય એ છે કે ઉપયોગ સાથે ચાર હાથ જમીનને જોતા થકા, સ્થાવર અને ત્રસ જીવોને બચાવતા થકા અપ્રમત્ત થઈને ચાલવું જોઈએ.

મનોગુપ્તિ-મનની રક્ષા કરવી આર્ત્તધ્યાન અને રૌદ્રધ્યાન ન થવા દેવું, ધર્મધ્યાનમાં મનને લગાવવું.

(૩) વચનગુપ્તિ-વચનનો નિરોધ કરીને મૌનવ્રત ધારણ કરવું અથવા જરૂરત પડયે સમજી વિચારી હિત-મિત ભાષણ કરવું.

(૪) એષણાસમિતિ-શુદ્ધ આહાર આદિની ગવેષણા કરવી. એષણા ત્રણ પ્રકારની છે ગવેષણા, ગ્રહણૈષણા, ગ્રાસૈષણા. જે એષણામાં જતના રાખતો નથી તે છ કાયના જીવોનો ઘાત કરે છે આથી તેનાથી બચવા માટે સર્વે ઈન્દ્રિયોથી ઉપયોગ લગાવીને એષણાસમિતિનું પાલન કરવું જોઈએ.

(૫) આદાનનિક્ષેપણાસમિતિ-સાધુવેશ ઔઘિક અને ઔપગ્રાહિક કારણ પડવાથી જે લેવામાં આવે બંને પ્રકારની ઉપધિને રાખવા તથા ઉઠાવવામાં જતના કરવી અર્થાત્ આગમોક્ત વિધિથી તેમનું પ્રતિલેખન કરીને અને પ્રમાર્જન કરીને રાખવી તથા ઉપાડવી જોઈએ.

આલોક્તિપાન ભોજન—દરેક ઘરમાં વાસણોમાં પડેલા આહારને આંખો વડે જોઈ-તપાસી

લેવો જોઈએ. જેથી તેમાં ઉત્પન્ન થયેલ અથવા આમતેમથી આવી પડેલાં જીવોની રક્ષા થાય. ઉપાશ્રયમાં આવીને અજવાળાવાળી જગ્યાએ બેસીને ફરીવાર ભોજન-પાણીને સારી પેઠે જોઈ જવા જોઈએ તેમજ ઉજાશવાળી જગ્યાએ જ તેમનું સેવન કરવું જોઈએ. આ પાંચ ભાવનાઓને પુનઃ પુનઃ ભાવનારા અહિંસાવ્રતની રક્ષા કરવામાં સમર્થ થાય છે.

અસત્યવિરમણ વ્રતની દૃઢતા માટે કહેવામાં આવેલી પાંચ ભાવનાઓમાંથી પહેલી અનુવીચિભાષણનું કથન કરીએ છીએ—

(૧) અનુવીચિભાષણ-અહીં 'અનુવીચિ' શબ્દ દેશ્ય છે અને તેનો અર્થ છે-આલોચના-અર્થાત્ સમજી-વિચારીને વચનોનો પ્રયોગ કરવો અનુવીચિભાષણ કરવું એમ કહેવાય છે. વગર સમજ્યે-વિચાર્યે બોલનાર વક્તા કદાચિત્ મિથ્યા (અસત્ય) ભાષણ પણ કરી બેસે છે તેથી પોતાની લઘુતા થાય છે તથા વૈર, પીડા વગેરે આલોક સંબંધી-અનર્થ ઉત્પન્ન થાય છે. તેનાથી બીજા પ્રાણોનો ઘાત પણ થાય છે આથી અનુવીચિભાષણથી જે પોતે-પોતાને જ ભાવિત કરે છે તે મૃષાભાષણના દોષનો ભાગીદાર બનતો નથી.

(૨) ક્રોધપ્રત્યાખ્યાન—મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા દ્વેષરૂપ ક્રોધ કષાયનો ત્યાગ કરવો જોઈએ અને પોતાના આત્માને ક્રોધપ્રત્યાખ્યાનથી ભાવિત કરવો જોઈએ જે ક્રોધા-ત્યાગની ભાવના ભાવે છે, તે મોટાભાગે સત્યનું ઉલ્લંઘન ન કરીને તેનું પાલન કરવામાં સમર્થ થાય છે.

(૩) લોભપ્રત્યાખ્યાન—લોભનો અર્થ છે તૃષ્ણા તેનો ત્યાગ કરવો લોભપ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે જે લોભનો ત્યાગ કરી દે છે તેને અસત્યભાષણ કરવાની જરૂર પડતી નથી.

(૪) ભયપ્રત્યાખ્યાન—ભય, અસત્ય ભાષણનું કારણ છે. જે વ્યક્તિ પોતાના આત્માને નિડરતાથી ભાવિત કરે છે, તે અસત્ય ભાષણ કરતો નથી. ભયશીલ મનુષ્ય મિથ્યાભાષણ પણ કરે છે દા. ત. આજે રાત્રે મને ચોર દેખાયો, પિશાચ જોયો વગેરે. આથી અસત્યથી બચવા માટે પોતાના આત્મામાં નિર્ભયતાની ભાવના જાગૃત કરવી જોઈએ.

(૫) મોહના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા પરિહાસથી યુક્ત વ્યક્તિ ઠઠ્ઠા-મશ્કરીમાં અસત્ય-ભાષણ કરે છે. આથી ઠઠ્ઠા-મશ્કરીને ત્યાગની ભાવનાથી ભાવિત કરવી જોઈએ. જે પરિહાસનો ત્યાગ કરી દે છે તે સત્યવ્રતનું પાલન કરવામાં સમર્થ થાય છે (૧૦)

(૧૧) એવી જ રીતે સમજી-વિચારીને અવગ્રહની યાચના કરવી જોઈએ એ અનુવીચિ અવગ્રહયાચના નામની ભાવના છે. અવગ્રહ-(આજ્ઞા) પાંચ પ્રકારની છે-(૧) દેવની (૨) રાજાની (૩) ઘરના માલિકની (૪) શય્યાતરની અને (૫) સાધર્મિકની જે જેનો માલિક હોય તેના માટે તેની જ રજા લેવી જોઈએ જે સ્વામી ન હોય-તેનાથી અગર યાચના કરવામાં આવે તો અનેક પ્રકારના દોષોની ઉત્પત્તિ થાય છે આથી સમજી—વિચારીને જ આજ્ઞાની યાચના કરવી જોઈએ જે આ ભાવનાથી યુક્ત હોય છે તે અદત્તાદાનની કોઈ પ્રવૃત્તિ કરતો નથી.

(૧૨) અભીક્ષ્ણ અવગ્રહયાચના—માલિકે એકવાર કોઈ વસ્તુ પ્રદાન કરી દીધી હોય તો પણ વારંવાર તેની યાચના કરવી અભીક્ષ્ણ અવગ્રહયાચના છે પૂર્વ પ્રાપ્ત વસ્તુ માટે—અર્થાત્

માંદગી અવસ્થા આદિમાં મળ-મૂત્ર એકઠો કરવા માટેના પાત્રો રાખવા માટે, હાથ વગેરે ધોવાના સ્થાન આદિ માટે ફરીવાર યાચના કરવી જોઈએ જેથી તેના સ્વામીના મનમાં કોઈ દુઃખ ન ઉપજે. આવી જ રીતે બધી બાજુએથી આટલી—આટલી જગ્યા અમો વાપરીશું એવું નક્કી કરીને તેની આજ્ઞા લેવી જોઈએ.

(૧૩) પીઠ-ફલક અર્થાત્ પાટો તથા ઓઠીંગણ વગેરે માટે પણ વૃક્ષ વગેરેનું છેદન ન કરવું અદત્તાદાનવ્રતની ત્રીજી ભાવના છે.

(૧૪) જે આહાર સાધારણ હોય અર્થાત્ અનેક સાધુઓ માટેનો હોય, તેમાંથી લઈને વધારે ખાવું ન જોઈએ. જે અને જેટલા આહારને લેવાની ગુરુની આજ્ઞા હોય તેટલું જ ગ્રહણ કરવું જોઈએ. ગુરુની આજ્ઞાથી ગ્રહણ કરવામાં આવેલા આહારપાણીનો સૂત્રોક્ત વિધિ અનુસાર ઉપભોગ કરવો જોઈએ. આવી જ રીતે ઔધિક અને ઔપગ્રાહિક ઉપધિ-વસ્ત્ર વગેરે બધું જ ગુરુની આજ્ઞાથી, વન્દનપૂર્વક, ગુરુના કહેવા મુજબ જ કામમાં લેવા જોઈએ. આ પ્રકારની ભાવનાવાળા અદત્તાદાનવિરમણ વ્રતનું ઉલ્લંઘન કરતા નથી.

(૧૫) હમેશાં સાધુની વૈયાવચ્ચ કરવી જોઈએ.

(૧૬) બ્રહ્મચર્યવ્રતની પૂર્વોક્ત પાંચ ભાવનાઓમાંથી સ્ત્રી--પશુ-નપુંસક (ફાતડા)થી રહિત સ્થાનનો ઉપયોગ કરવાનો આશય છે દેવ-મનુષ્ય સ્ત્રી, તિર્યંચજાતિ—ઘોડી, ગાય, ભેંસ, બકરી, ઘેટાં વગેરેના સંપર્કવાળા આસન—શયન વગેરેનો ત્યાગ કરવો. જે સ્થાનમાં આ બધાં હોય તેમાં નિવાસ કરવાથી અનેક હાનિઓ થાય છે. આથી બ્રહ્મચર્યવ્રતનું પાલન કરવા માટે આ ભાવનાથી આત્માને વાસિત કરવો જોઈએ

(૧૭) સ્ત્રી, પશુ, નપુંસકનો સદ્ભાવ ન હોય તો પણ રાગયુક્ત થઈને સ્ત્રીકથા અર્થાત્ સ્ત્રીઓ સંબંધી વાર્તાલાપનો ત્યાગ કરવો જોઈએ. મોહજનિત રાગ રૂપ પરિણતિથી યુક્ત સ્ત્રીકથા જેમાં દેશ, જાતિ, કુળ, વેશભૂષા બોલ ચાલ, ગતિ, વિલાસ, વિભ્રમ, ભ્રમરો મટકાવવી, કટાક્ષ, હાસ્ય, લીલા, પ્રણયકલહ આદિ શૃંગાર રસ સમ્મિલિત છે તેનાથી પરિપૂર્ણ હોવાના કારણે વંટોળીઆ જેવા ચિત્તરૂપી સમુદ્રને ક્ષુબ્ધ કરી નાખે છે આથી રાગ સંબંધિત સ્ત્રીકથાનો ત્યાગ કરવો જ શ્રેયસ્કર છે.

(૧૮) સ્ત્રીઓની મનોહર ઇન્દ્રિયોના અવલોકનથી પણ બચવું જોઈએ. તેમના મનોરમ સ્તન આદિના-અવલોકનથી વિરત થવું જ શ્રેયસ્કર છે એવી ભાવના ભાવવી જોઈએ.

(૧૯) પૂર્વકાળમાં ભોગવેલા ભોગોનું સ્મરણ ન કરવું જોઈએ સાધુ-અવસ્થામાં ગૃહદશામાં ભોગવેલા ભોગોનુ સ્મરણ કરવાથી કામાગ્નિ પ્રજ્વલિત થાય છે આથી તેમનુ સ્મરણ છોડી દેવામાં જ કલ્યાણ છે.

(૨૦) પ્રતિદિન કારણ વગરપૌષ્ટિક ભોજન પણ ન કરવું જોઈએ. બળ-વીર્યવર્ધક સ્નિગ્ધ મધુર આદિ રસોનું સેવન કરવાથી તથા દૂધ, દહીં, ઘી, ગોળ તેલ વગેરેના સેવનથી મેદ, મજ્જા તથા વીર્ય વગેરે ધાતુઓનો સંગ્રહ થાય છે અને એનાથી મોહની ઉત્પત્તિ થાય છે

આથી હમેશા અભ્યાસ રૂપમાં પૌષ્ટિક રસોના સેવનનો ત્યાગ કરવો જોઈએ. બ્રહ્મચર્યની રક્ષા માટે આ બધાનો ત્યાગ આવશ્યક છે.

(૨૧-૨૫) આવી જ રીતે બાહ્ય તથા આભ્યંતર પરિગ્રહથી રહિત શ્રમણે મનોજ્ઞ રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ અને શબ્દની પ્રાપ્તિ થવાથી રાગ અને અમનોજ્ઞ રૂપ આદિની પ્રાપ્તિ થવાથી દ્વેષ કરવો જોઈએ નહીં. આ ભાવનાઓથી અપરિગ્રહમહાવ્રતમાં દઢતા આવે છે.

સમવાયાંગસૂત્રના પચીસમાં સમવાયમાં કહે છે—પાંચ મહાવ્રતોની પચ્ચીસ ભાવનાઓ કહી છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) ઈર્યાસમિતિ (૨) મનોગુપ્તિ (૩) વચનગુપ્તિ (૪) આલોકિત-પાનભોજન (૫) આદાનભાણ્ડમાત્રનિક્ષેપણા સમિતિ (૬) અનુવીચિભાષણ (૭) ક્રોધવિવેક (૮) લોભવિવેક (૯) ભયવિવેક (૧૦) હાસ્યવિવેક (૧૧) અવગ્રહાનુજ્ઞાપનતા (૧૨) અવગ્રહસીમાજ્ઞાનતા (૧૩) સ્વયમેવાવગ્રહાનુગ્રહણતા (૧૪) સાધાર્મિકોની અનુમતિ લઈને આહાર વગેરે ભોગવવો (૧૫) સામાન્ય આહાર પાણીની અનુમતિ લઈને ભોગવવા (૧૬) સ્ત્રી-પશુ-પંડકરહિત શયનાસનનો ત્યાગ કરવો (૧૭) સ્ત્રીકથાનો ત્યાગ (૧૮) પૂર્વે ભોગવેલા ભોગોનું સ્મરણ ન કરવું (૧૯) સ્ત્રીઓની ઈન્દ્રિયોના અવલોકનનો ત્યાગ કરવો (૨૦) પ્રણીતાહારવર્જન (૨૧) શ્રોત્રેન્દ્રિયરાગોપરિત-શબ્દના વિષયમાં રાગ ન કરવો (૨૨) ચક્ષુરિન્દ્રિયના વિષયમાં રાગ ન કરવો (૨૩) ઘ્રાણેન્દ્રિયના વિષયમાં રાગ ન કરવો (૨૪) જીભઈન્દ્રિયના વિષયમાં રાગ ન કરવો અને (૨૫) સ્પર્શનેન્દ્રિયના વિષયમાં રાગ ન કરવો. ॥૧૨॥

'हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं चउग्गइभमणं च'

સૂત્રાર્થ—હિંસાદિ પાપ કરવાથી આ લોકમાં અને પરલોકમાં ઘોર દુઃખ થાય છે અને ચારે ગતિમાં પરિભ્રમણ કરવું પડે છે ॥૧૩॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાંચ મહાવ્રતોમાંથી દરેકની પાંચ-પાંચ ભાવનાઓની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે—આવી ભાવનાઓનું નિરૂપણ કરીએ છીએ જે બધાં જ વ્રતોની સ્થિરતા માટે સમાન છે—

પ્રાણાતિપાત મૃષાવાદ, સ્તેય, અબ્રહ્મચર્ય, અને પરિગ્રહ એ પાંચ આસ્રવોનું સેવન કરવાથી બંને લોકોમાં અર્થાત્ આ લોકમાં અને નરક આદિ પરલોકમાં ભયંકર પરિતાપના ભોગવવી પડે છે. આ આસ્રવના ફલ સ્વરૂપ નરક આદિમાં ભયંકર યાતનાઓ ભોગવવી પડે છે એ પ્રકારની ભાવના ભાવવી જોઈએ અર્થાત્ વારવાર એવો વિચાર કરવો જોઇએ.

આશય એ છે કે જે જીવ જ્ઞાનપૂર્વક ક્રિયાનું અનુષ્ઠાન કરે છે અને હિંસા આદિ પાપોના આચરણથી આ લોક અને પરલોક સંબંધી અનર્થો થવાનું ચિંતન કરે છે નરક વગેરેમાં થનારા અત્યંત તીવ્ર યાતનાઓનો વિચાર કરે છે તેની હિંસા આદિ કાર્યોમાં પ્રવૃત્તિ થતી નથી આથી એવી ભાવના કરવી જોઈએ કે હિંસા આદિ પાપોમાં સર્વત્ર દુઃખ જ દુઃખ છે. આ પાપોનું સેવન કરવાવાળા નારકી, તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવતા—આ ચાર ગતિઓમાં ભ્રમણ કર્યા કરે છે. ॥૧૩॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં પૂર્ણરૂપથી હિંસા આદિથી વિરમવા રૂપ પાંચ મહાવ્રતો અને દેશવિરતિ રૂપ પાંચ અણુવ્રતોમાંથી દરેકની સ્થિરતા માટે પાંચ-પાંચ ભાવનાઓનું

કથન કરવામાં આવ્યું. હવે એવી કેટલીક ભાવનાઓનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવી રહ્યું છે જે બધાં વ્રતો માટે સમાન છે.

હિંસા, અસત્ય, ચોરી, મૈથુન અને પરિગ્રહ. એ પાંચ આસ્રવોનું સેવન કરનારને આ લોકમાં અને નરક વગેરે પરલોકમાં તીવ્ર દુઃખોનો અનુભવ કરવો પડે છે. હિંસા—વગેરેના ફળસ્વરૂપ ઘોર યાતનાઓ સહન કરવી પડે છે. કદી એવું ન થાય કે મારે પણ આ દુઃખોને સહન કરવા પડે એ પ્રકારે વારંવાર વિચાર કરનાર વ્રતી પુરુષ હિંસા આદિ થાય તેવી પ્રવૃત્તિ કરતો નથી.

જેવી રીતે પ્રાણાતિપાત, અસત્યભાષણ અને ચોરી કરનારાઓને સંખ્યાબંધ અનર્થોનો સામનો કરવો પડે છે, તેવી જ રીતે અબ્રહ્મનું સેવન કરવાવાળાઓને પણ જુદા જુદા પ્રકારનાં દુઃખો ભોગવવા પડે છે. સ્ત્રીના હાવ ભાવને જોઈને જેમનું મન પાગલ થઈ જાય છે, જેમની ઇન્દ્રિઓ કાબૂમાં રહેતી નથી અને હલકા વિષયોમાં પ્રવૃત્ત થાય છે જે મનોજ્ઞ શબ્દ રૂપ ગંધ રસ અને સ્પર્શમાં જે રાગના કારણો છે, અનુરકત થઈને મદોન્મત્ત હાથીની જેમ નિરંકુશ થઈ જાય છે, ઇષ્ટ પ્રવૃત્તિ અને અનિષ્ટ નિવૃત્તિના વિચારથી શૂન્ય છે તેમને કશે પણ ઠેકાણે સુખ શાન્તિ પ્રાપ્ત થતી નથી. તેઓ મોહથી પીડાઈને કૃત્ય-અકૃત્યના વિવેકથી રહિત હોવાના કારણે પોતાના દરેક કાર્યને સારૂં જ સમજતા હોય છે એમની દશા એવી થઈ જાય છે માનો તેમને ભૂત ન વળગ્યું હોય ।

જે પુરુષો પરસ્ત્રીલંપટ હોય છે તેઓ આ લોકમાં ઘણા માણસોની સાથે દુશ્મનાવટ બાંધે છે અને ઇન્દ્રિય છેદન, વધ-બન્ધન, સર્વસ્વ લુંટાઈ જવા વગેરે અનર્થોને વહોરે છે.

હિંસા આદિ પાપોનું આચરણ કરનારને પ્રથમ તો આ લોકમાં અનેક પ્રકારની મુશ્કેલીઓ સહન કરવી પડે છે અને આગામી જન્મોમાં જઈને ભયાનક કષ્ટો સહેવા પડે છે આ જાતનું પુન પુનઃ ચિન્તવન કરવું જોઈએ. હિંસા કરવાથી કઈ રીતે ઘોર દુઃખો સહન કરવા પડે છે એનું દિગ્દર્શન અહીં કરાવાય છે—

હિંસક જન હમેશાં ત્રાસદાયક અને ભયંકર હોય છે તે ભયાનક વેષ પરિધાન કરે છે, પોતાની ભ્રમરો કપાળ ઉપર ચઢાવે છે, તેના ચિત્તપ્રદેશમાં ઈર્ષ્યા અને દ્વેષનો વાસ હોય છે આથી તેની આકૃતિ ભીષણ હોય છે. તે દાંત પીસે છે, હોઠ બીડે છે અને તેની આંખોમાંથી ક્રૂરતા વરસતી હોય છે. પ્રાણીઓ માટે તે ઘણો જ ત્રાસજનક હોય છે. હમેશા તેમની સાથે દુશ્મનાવટ બાંધેલી રાખે છે તેને આ જન્મમાં જ લાઠીઓ તથા કોરડાઓ વડે ફટકારવામાં આવે છે, હાથકડી અને જંજીરોથી બાંધવામાં આવે છે અને વિવિધ પ્રકારની લાકડીઓ તથા ઈંટો વગેરે દ્વારા તેને કષ્ટો અપવામાં આવે છે.

પરલોકમાં તેને નરક વગેરે દુર્ગતિ પ્રાપ્ત થાય છે. તે લોકમાં ગર્હિત અને નિન્દાને પાત્ર બને છે. આ વખતે તેને આ સત્યનું ભાન થાય છે કે—મને પાપીને પૂર્વજન્મમાં કરેલાં પાપોનું જ ફળ ભોગવવું પડે છે. આ જાતની ભાવના કરતો થકો તે વિચારે છે કે હિંસાથી વિરત થવું એ જ મારા માટે શ્રેયસ્કર છે.

આવી જ રીતે હિંસા આદિ કુકૃત્યોના આચારથી નરકગતિ, તિર્યંચગતિ, મનુષ્યગતિ અને દેવગતિ રૂપ સંસારમાં પરિભ્રમણ કરવુ પડે છે. નરક અને નિગોદ આદિમાં અનન્ત–અનન્ત જન્મ–મરણ કરીને ઘોરાતિઘોર દુઃખ સહન કરવા પડે છે.

જેમ હિંસકને અનેક અનર્થોનો સામનો કરવો પડે છે તેવી જ રીતે અસત્યવાદી જન પણ દુઃખોનો ભાગી થાય છે. લોકમાં તેના વચન પર કોઇ વિશ્વાસ કરતો નથી અસત્ય ભાષણ કરનારની જીભ કાપી લેવામાં આવે છે, કાન અને નાકનું છેદન કરવામાં આવે છે. આ રીતે અસત્યવાદી અસત્યથી નિન્દનીય ફળ ભોગવે છે. પરલોકમાં તેને નરક આદિની તીવ્ર યાતનાઓ અને દુઃખ સહન કરવા પડે છે, આ રીતે અસત્ય ભાષણથી જીવ જુદા જુદા પ્રકારના દુઃખોથી યુક્ત થાય છે. બીજાની સાથે તેને વેર બંધાય છે. જીભ–છેદન વગેરેના કષ્ટ તેને પ્રાપ્ત થાય છે. આ બધાં પૂર્વોક્ત દોષોની અપેક્ષાએ પણ તેને વધ–બન્ધન આદિ દુઃખોના વિશેષ કારણ પ્રાપ્ત થાય છે જેનો અધ્યવસાય તીવ્ર હોય છે તે દીર્ઘસ્થિતિ અને તીવ્ર અનુભાવ (રસ)વાળા કર્મો બાંધે છે ફળસ્વરૂપ પરલોકમાં તીવ્ર અશુભ વેદના સહન કરે છે. અસત્યભાષણના આ પ્રકારના ફળ–વિપાકની વિચારણા કરનારના ચિત્તમાં તેનાથી અરુચિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને તે વિચારે છે કે અસત્યભાષણથી વિરત થવામાં જ શ્રેય છે. આ જાતના વિચારના ફળસ્વરૂપ તે અસત્યભાષણથી વિરત થઈ જાય છે.

જેવી રીતે પ્રાણાતિપાત અને અસત્ય ભાષણ કરનારને અનર્થોનો સામનો કરવો પડે છે તેવી જ રીતે પારકાની માલિકીનું દ્રવ્ય અપહરણ કરવામાં આસક્ત ચોરને પણ અનર્થ ભોગવવા પડે છે તે બધાંને માટે ત્રાસદાયક હોય છે તે જેના ધનને ચોરે છે તેને ઘણો જ ઉદ્‌વેગ ઉત્પન્ન થાય છે આ પાપકૃત્યનું સેવન કરવાથી ચોરને તાડન, પીડન ચાબુકોનો માર, હાથકડી–જંજીરોનું બન્ધન હાથ–પગ કાન નાક હોઠ આદિ અવયવોનું છેદન–ભેદન, સર્વસ્વહરણ વગેરે વગેરે દુષ્પરિણામ ભોગવવા પડે છે. પરલોકમાં પણ તેને નરક વગેરેની તીવ્ર યાતનાઓ ભોગ-વવી પડે છે આથી ચોરીથી વિરત થઈ જવું એ જ કલ્યાણકારક છે. આ જાતની ભાવના ભાવનાર ચોરીથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે. પરલોકમાં નરક આદિ ગતિમાં જઈને દુઃખ ભોગવે છે આથી મૈથુનથી નિવૃત્તિ લઇ લેવી શ્રેયસ્કર છે આ પ્રકારની ભાવના ભાવનાર પુરુષ મૈથુનથી–વિરક્ત થઈ જાય છે

આ જ પ્રમાણે પરિગ્રહવાળા મનુષ્ય પર ચોર લુંટારા આક્રમણ કરે છે. જેવી રીતે કોઈ પક્ષી માંસનો કકડો ચાંચમાં પકડીને ઉડી રહ્યું હોય તો માંસ ભક્ષણ કરવાવાળા બાજ વગેરે બીજા પક્ષીઓ તેના પર ત્રાટકે છે તેવી જ રીતે પરિગ્રહી પુરુષને ચોર વગેરે સતાવે છે. તેમને પ્રથમ તો ધન આદિ પરિગ્રહના ઉપાર્જન માટે દુઃખો સહન કરવા પડે છે પછીથી તે ધનની રક્ષા માટે પરિશ્રમ કરવો પડે છે; આ બધું કરવા છતાં પણ અન્તમાં જ્યારે તેનો વિનાશ થઈ જાય છે ત્યારે અપાર–શોકનો અનુભવ કરવો પડે છે.

જેવી રીતે સૂકાં ઇંધણથી અગ્નિને તૃપ્તિ થતી નથી તેવી જ રીતે લાલચુ પરિગ્રહીને ધનથી સંતોષ થતો નથી, પછી ભલે ગમે તેટલું જ કેમ પ્રાપ્ત ન થઈ જાય ! જે લોભથી અભિભૂત હોય છે, તે કર્તવ્ય–અકર્તવ્યના વિવેકથી રહિત થઈ જાય છે અને એ કારણે મહાન અનિષ્ટને

નોતરે છે. પરલોકમાં નારકી સંબંધી તીવ્ર યાતનાઓ તેને ભોગવવી પડે છે. દુનિયા લાલચુ કહીને તેની નિન્દા કરે છે આથી પરિગ્રહથી ફારેગ થઈ જવું જ કલ્યાણકારી છે. આ જાતની ભાવના કરવાથી જીવ પરિગ્રહથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે.

લોભના અંગ જેવી આ જે તૃષ્ણા રૂપી ડાકણ છે, એને તાબે થઈ જનારા પુરુષો કોઈ પ્રકારના અનર્થોની ફિકર કરતાં નથી ! તેમને આમાં કોઈ અનર્થ જ દેખાતો નથી. લોભગ્રસ્ત માનવી ધન કાજે પોતાના પિતાના પણ પ્રાણ હરી લેવાથી ખચકાતો નથી અરે તે પોતાની જનેતાને પણ મારે છે અરે મારી નાખે છે પોતાના દિકરાનો વધ કરવા પણ તત્પર થઇ જાય છે. એક માતાના ખોળિએ જન્મેલા સગા ભાઈનો પણ નાશ કરવાનો વિચાર કરે છે. આ માટે વિશેષ શું કહી શકાય; પોતાની પ્રાણવલ્લભા પત્નીના પ્રાણો પણ હરી લેવાની હદ સુધી જાય છે અને આવી જ જાતના અન્યાય અનર્થો પણ કરવામાં સંકોચ અનુભવતો નથી. લોભી મનુષ્ય કાર્ય અને અકાર્યને કશું જ ગણતો નથી.

આ રીતે જે પુરુષો લોભજન્ય અનર્થોનું ચિંતન કરે છે તે પરિગ્રહથી વિરત થઈ જાય છે.

આ સિવાય એવી ભાવના પણ ભાવવી જોઈએ કે આ હિંસા આદિ પાંચે પાપો દુઃખ સ્વરૂપ જ છે.

જેમ હિંસા આદિ પાંચે દુઃખજનક હોવાના કારણે મને અપ્રિય છે તેવી જ રીતે અન્ય સઘળાં પ્રાણિઓને પણ વધ, બન્ધન છેદન ભેદન આદિથી થનારી હિંસા આદિ અપ્રિય છે. આવી રીતે પોતાના સ્વાનુભવથી જે હિંસાને દુઃખમય વિચારે છે, તે પ્રાણાતિપાત આદિથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે.

એવી જ રીતે જેમ અસત્યભાષણથી મને મહાન દુઃખ ઉત્પન્ન થાય છે તેવી જ રીતે સમસ્ત પ્રાણિઓને અસત્યભાષણથી તથા મિથ્યાદોષારોપણ આદિથી ઘોર કષ્ટ પહોંચે છે. આ જાતનો વિચાર આ જ લોકને ધ્યાનમાં રાખીને કરવો જોઈએ.

અસત્યભાષી પુરુષ મૃત્યુની પછી જ્યાં જન્મ ધારણ કરે છે ત્યાં તેને અસત્ય ભાષણ, મિથ્યા દોષારોપણ વગેરેનો એવી જ રીતે પ્રતિકાર કરવો પડે છે જેવો તેને પૂર્વે જાતે કર્યો હતો: આથી તેને મહાન દુઃખનો અનુભવ કરવો પડે છે.

આવી જાતની ભાવના સેવનાર મિથ્યાભાષણથી નિવૃત્ત થઇ જાય છે જેવી રીતે ચોર-લુંટારાઓ દ્વારા અગાઉ મારા ધનના અપહરણથી મને દુઃખ થયું હતું તેવી રીતે જ અન્ય જીવોને પણ તેમના ધનનું અપહરણ થવાથી દુઃખ થાય છે આ જાતના આત્માનુભવના આધારે જે પુરુષ ભાવના ભાવે છે તે અદત્તાદાનથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે.

આવી જ રીતે જે વ્યક્તિ મૈથુનને રાગ-દ્વેષના મૂળ તરીકે, હિંસા વગેરેની દુઃખજનક તથા લોક અને સમાજમાં ધિક્કાર-પાત્ર હોવાના કારણોને દુઃખજનક રૂપે હોવાની ચિંતવણા કરે છે તે મૈથુનથી વિમુખ થઇ જાય છે.

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષા રાખનારા કર્મોના ક્ષયોપશમ આદિ આત્યન્તિક સુખ ઉત્પન્ન કરવામાં સમર્થ થતાં નથી તે તો થોડા સમય માટે દુઃખનો પ્રતિકાર માત્ર કરે છે આથી મૂઢ જનો તે અવસ્થા-વિશેષને, દુઃખરૂપ હોવા છતાંપણ સુખમય માને છે.

જેવી રીતે ખરજવું થયું હોય તે પુરુષ અજ્ઞાનવશ, ખજવાળવાથી થતાં દુઃખને પણ તે સમયે સુખ માની લે છે તેવી જ રીતે મૈથુન સેવન કરનારા પણ મોક્ષના વિરોધી તેમજ અનન્તાનન્ત સંસાર પરિભ્રમણનાકારણે, આપાતરમણીય ભોગો–દુઃખને પણ સ્પર્શસુખ સમજી બેસે છે. આમ મૈથુનમાં દુઃખની ભાવનાથી જેનું ચિત્ત ભાવિત થાય છે તે મૈથુનથી મુક્ત થાય છે.

આ પ્રકારે જ દ્રવ્ય વગેરે પર મમત્વ ધારણ કરનાર મનુષ્ય ધન પ્રાપ્ત ન થાય તો તે મેળવવાની લાલસા કરે છે, પ્રાપ્ત થઇ જાય તો તેના રક્ષણ કરવાનું દુઃખ ભોગવે છે અને નષ્ટ થઈ જાય તો શોકજનિત દુઃખનો ભાગી થાય છે વસ્ત્ર આદિ વસ્તુઓને મેળવવાની અભિલાષા થાય અને તે પ્રાપ્ત ન થઈ શકે તો દુઃખનો અનુભવ થાય છે કદાચીત્ તેની પ્રાપ્તિ થઈ જાય તો રાજા, ચોર, અગ્નિ, ભાગીદાર અને ઉંદરો વગેરેથી તેને બચાવવા માટે હમેશાં સજાગ રહેવું પડે છે. આ રીતે ઉદ્વેગજન્ય દુઃખનો અનુભવ કરવો પડે છે જ્યારે રક્ષણ કરતાં કરતાં પણ તે પરિગ્રહ ચાલ્યો જાય છે તો તેના વિયોગથી ઉત્પન્ન થનાર અસહ્ય શોકરૂપી અગ્નિ તેને અત્યન્ત સન્તપ્ત બનાવે છે આમ પરિગ્રહ પ્રત્યેક અવસ્થામાં દુઃખરૂપ જ છે જે આવી ભાવના ભાવે છે તે પરિગ્રહથી વિમુખ થાય છે.

પૂર્વોક્ત પ્રકારથી પ્રાણાતિપાત, અસત્યભાષણ, સ્તેય, અબ્રહ્મચર્ય અને પરિગ્રહમાં દુઃખ જ દુઃખ છે એવી ભાવના ભાવનાર વ્રતીને પાંચે વ્રતોમાં દૃઢતા ઉત્પન્ન થાય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશકના સૂત્ર ૨૮૨ માં કહ્યું છે—

સંવેગિની અર્થાત્ વૈરાગ્યવર્ધક કથા ચાર પ્રકારની કહેવામાં આવી છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) ઇહલોકસંવેગિનિ (૨) પરલોકસંવેગિની (૩) આત્મશરીરસંવેગિની અને (૪) પરશરીરસંવેગિની નિર્વેદિની કથા ચાર પ્રકારની કહેવામાં આવી છે તે આ પ્રમાણે છે : (૧) આ લોકમાં દુશ્ચીર્ણ કર્મ આ લોકમાં દુઃખરૂપ ફળ–વિપાકથી સંયુક્ત હોય છે. (૨) આ લોકમાં દુશ્ચીર્ણ કર્મ પરલોકમાં દુઃખરૂપ ફળ–વિપાકથી સંયુક્ત હોય છે (૩) પરલોકમાં દુશ્ચીર્ણ કર્મ આ લોકમાં દુઃખરૂપ ફળવિપાકથી સંયુક્ત હોય છે (૪) પરલોકમાં દુશ્ચીર્ણ કર્મ પરલોકમાં દુઃખરૂપ ફળવિપાકથી સંયુક્ત હોય છે.

(૧) આ લોકમાં સુચીર્ણ કર્મ આ લોકમાં સુખરૂપ ફળવિપાકથી સંયુક્ત હોય છે અર્થાત્ સુખરૂપ ફળ પ્રદાન કરે છે. (૨) આ લોકમાં સુચીર્ણ કર્મ પરલોકમાં સુખરૂપ ફળ પ્રદાન કરે છે વગેરે ચારેય ભંગ પૂર્વવત્ સમજવા, અર્થાત્ પરલોકમાં સુચીર્ણ કર્મ આ લોકમાં સુખરૂપ વિપાકથી સંયુક્ત હોય છે અને પરલોકમાં સુચીર્ણ કર્મ પરલોકમાં સુખરૂપ ફળવિપાકથી સંયુક્ત હોય છે આ બંને ભંગ પણ સમજી લેવાની જરૂર છે.

જે કથા સંવિદ્રને અર્થાત્ સંસારની અસારતા પ્રદર્શિત કરીને મોક્ષની અભિલાષા ઉત્પન્ન કરે તે સંવેગની અથવા સંવેદિની કથા કહેવાય છે જેવી રીતે રાજકુમારી મલ્લીએ પોતાની ઉપર અનુરાગી છ રાજાઓને સંસારની અસારતા બતાવીને તેમનામાં મોક્ષની અભિલાષા ઉત્પન્ન કરી દીધી હતી–વળી કહ્યું પણ છે—

જે કથાના સાંભળવા માત્રથી મોક્ષની અભિલાષા ઉત્પન્ન થઈ જાય છે તે સંવેદિની કથા કહેવાય છે જેમ મલ્લીકુમારીએ છ રાજાઓને પ્રતિબોધ આપ્યો તેમ ॥૧॥

જે કથા દ્વારા શ્રોતા વિષયભોગોથી વિરક્ત થાય છે તે નિર્વેદની કથા કહેવાય છે. કહ્યું પણ છે—

જે કથાના શ્રવણથી વૈરાગ્ય જન્મે તે નિર્વેદિની કથા છે જેમ ભગવાન મહાવીરે શાલિભદ્રને પ્રતિબોધ આપ્યો હતો. ॥૧૩॥

'सव्वभूए गुणाहिय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—સમસ્ત પ્રાણીઓ પર મૈત્રીભાવના, અધિક ગુણવાનોના પ્રત્યે પ્રમોદ ભાવના, દુઃખી પ્રાણીઓ પરત્વે કરુણાભાવના અને અવિનીતો પર માધ્યસ્થભાવના રાખવી જોઈએ ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં હિંસા આદિ પાંચે પાપોની નિવૃત્તિરૂપ પાંચ મહાવ્રતોની સામાન્ય પ્રાણાતિપાત આદિમાં આલોક-પરલોકમાં અપાર દુ ખભાવનાનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું; હવે તેજ મહાવ્રતોની દઢતા માટે સર્વ પ્રાણિઓ પર મૈત્રી આદિ ભાવનાઓની પ્રરૂપણા કાજે કહીએ છીએ—

સર્વ પ્રાણિઓ, ગુણાધિકો, કિલશ્યમાન જીવો અને અવિનીતો પર ક્રમશઃ મૈત્રી, પ્રમોદ, કારૂણ્ય અને મધ્યસ્થ ભાવના હોવી જોઈએ અર્થાત્ બધાં પ્રાણિઓ પર મૈત્રી ભાવના ધારણ કરે, જે પોતાની અપેક્ષા અધિક ગુણવાન છે તેમના પ્રત્યે પ્રમોદ-હર્ષાતિશયની ભાવના ધારણ કરે જે જીવ દુઃખનો અનુભવ કરી રહ્યાં છે તેમના પર કરૂણા ભાવના રાખે અને જે અવિનીત કહેતાં શઠ છે, પોતાનાથી વિરુદ્ધ વિચાર તેમજ વ્યવહાર કરે છે તેમના પ્રતિ મધ્યસ્થ ભાવ ધારણ કરે. તાત્પર્ય એ છે કે આ રીતે મૈત્રી વગેરે—ભાવનાઓથી બધાની તરફ વેર-વિરોધ નષ્ટ થઈ જાય છે કહ્યું પણ છે—**सत्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदः** ઇત્યાદિ'

હે દેવ ! મારો આત્મા પ્રાણિમાત્ર પર મૈત્રીભાવ ધારણ કરે, ગુણીજનોને જોઈને પ્રમોદનો અનુભાવ કરે, દુઃખી જનો પર કરુણાભાવ ધારણ કરે અને વિપરીત વ્યવહાર કરનારા પ્રત્યે મધ્યસ્થભાવ ધારણ કરે. ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ પ્રાણાતિપાત—વિરતિ આદિ પાંચ વ્રતોની સ્થિરતાને માટે સામાન્ય રૂપથી બધાં વ્રતોથી સંબંધ રાખનારી દુઃખભાવનાનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું જેમાં એ બતાવવામાં આવ્યું કે હિંસા વગેરેનું આચરણ કરવાથી આ લોક તેમજ પરલોકમાં દુઃખની પ્રાપ્તિ થાય છે હવે તે જ વ્રતોની પરંપરાથી સ્થિરતા માટે મૈત્રી આદિ ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

બધાં પ્રાણિઓ પર મૈત્રી, અધિક ગુણવાનો પર પ્રમોદ, દુઃખી જનો પર દયા અને અવિનીતો પર માધ્યસ્થભાવ ધારણ કરવો જોઈએ.

જે **मेद्यति–स्निह्यति** અર્થાત્ સ્નેહ કરે છે તે મિત્ર કહેવાય છે. મિત્રના ભાવને મૈત્રી કહે છે. બીજાનાં હિતનો વિચાર કરવો મૈત્રી છે. પ્રત્યેક પ્રાણી પર મૈત્રીભાવ હોવો જોઈએ. પ્રમાદથી અથવા અન્ય કોઈ કારણથી કોઈએ કદાચ અપકાર કર્યો હોય તો તેના તરફ પણ મૈત્રીભાવ ધારણ કરીને એવો વિચાર કરવો જોઈએ—"હું તેનો મિત્ર છું, આ મારા મિત્રો છે, હું મારા મિત્ર સાથે દ્રોહ કરીશ નહી, મિત્રથી દ્રોહ—વિશ્વાસઘાત કરવો એ તો દુર્જનોનું કામ છે—સત્પુરુષોનું નહીં. આ કારણથી હું સમસ્ત પ્રાણિસૃષ્ટિ પર ક્ષમાભાવ ધારણ કરું છું. આ

પ્રકારની ભાવના નિરન્તર ધારણ કરવાથી વાસ્તવિક મૈત્રીભાવની પ્રાપ્તિ થાય છે. જેઓએ મારા ઉપર ઉપકાર કર્યો છે તેઓ પણ મારા મિત્ર છે તેમના તરફ પણ મારા મનમાં ક્ષમાભાવ છે. બધાં પ્રાણિઓ સાથે મારી મૈત્રી છે. કોઈની પણ સાથે મારે વેર અથવા વિરોધ નથી.

વૈરાનુબન્ધ ઘણો જ વિષમ છે. તેનાથી અનેક પ્રકારના અનર્થોની સેંકડો શાખાઓ ફૂટી નિકળે છે. ઈર્ષ્યા--અદેખાઈ વગેરેની ઉત્પત્તિ થાય છે. વારંવાર કાપવા છતાં પણ તેની જડ વળી પાછી લીલી છમ થઇ જાય છે. બીજાંકુરની માફક તેની પરંપરા ચાલતી રહે છે આથી તેને જડમૂળ સાથે ઉખેડવા માટે તીવ્ર પ્રજ્ઞા અને વિવેકરૂપી તલવારની ધારનો ઉપયોગ કરવો જોઇએ મૈત્રીભાવનાથી જ વિરોધનો સમૂળગોનાશ થઈ શકે છે.

જે જીવ સમ્યક્ત્વ વગેરે ગુણોમાં પોતાનાથી વધારે ચઢિયાતો છે, વિશિષ્ટ વ્રતી છે તેમના પર પ્રમોદ અર્થાત્ હર્ષની અધિકતાની ભાવના રાખવી જોઈએ.

સમ્યક્ત્વ, જ્ઞાન, ચારિત્ર અથવા તપની અપેક્ષાથી જે પોતાનાથી વિશેષ છે તેમને વંદન કરવું; તેમના ગુણો ગાવા, તેમની પ્રશંસા કરવી, વૈયાવૃત્ય વગેરે કરવી; સન્માન કરવું; અને સમસ્ત ઇન્દ્રિયોથી આનંદના અતિરેકને પ્રકટ કરવો પ્રમોદ કહેવાય છે.

આમાંથી તત્ત્વાર્થની શ્રદ્ધાને સમ્યક્ત્વ કહે છે. ઇષ્ટમાં પ્રવૃત્તિ અને અનિષ્ટથી નિવૃત્તિ વિષયક બોધ જ્ઞાન કહેવાઈ છે. મૂળગુણોને તથા ઉત્તરગુણોને ચારિત્ર કહે છે બાહ્ય અને આભ્યંતરના ભેદથી તપ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે--

આ સમ્યક્ત્વ આદિ શ્રાવકોની અપેક્ષા શ્રમણોમાં વિશિષ્ટ રૂપથી જોવામાં આવે છે આથી તેમને જોઇને વંદન વગેરે કરવું, તેમના ગુણોનું ઉત્કીર્તન કરવું, એકાગ્ર થઇને તેમના પ્રવચનો સાંભળવા, આંખોનું નાચી ઉઠવું, હર્ષથી રોમાચ ઉત્પન્ન થઇ જવો વગેરે ચિહ્નોથી પ્રકટ થનાર હર્ષ પ્રમોદ કહેવાય છે. તેની ભાવના કરવી જોઇએ.

આવી જ રીતે જે જીવો ક્લેશના પાત્ર બનેલાં છે, ગરીબ છે, અનાથ છે, બાળક અથવા સ્થવિર છે તેમના ઉપર કરુણાભાવ ધારણ કરવો જોઈએ. કરુણાનો અર્થ છે અનુકમ્પા. દીન-દુઃખીઓ પર અનુગ્રહ અર્થાત્ દયાની દૃષ્ટિ રાખવી જોઈએ.

જે પ્રાણીઓ માનસિક અથવા શારીરિક બાધાઓથી પીડિત છે તેમને દીન કહે છે

જેઓ દયાને પાત્ર છે, મિથ્યાદર્શન અને અનન્તાનુબન્ધી આદિ ત્રણ મોહથી પીડિત છે, કુબુદ્ધિ, કુશ્રુત અને વિભંગ જ્ઞાનથી યુક્ત છે, જેઓ ઇષ્ટ પ્રાપ્તિ અને અનિષ્ટ પરિહરથી રહિત છે, અનેક વ્યાધિઓથી ગ્રસ્ત છે, દીન, દરિદ્ર, અનાથ, બાળ-વૃદ્ધ છે તેમના પ્રતિ અવિચ્છિન્ન કરુણાભાવના ધારણ કરવી જોઈએ. કરુણાભાવના ધારણ કરીને તેમને મોક્ષનો ઉપદેશ આપવો જોઈએ તથા દેશ અને કાળ અનુસાર કપડાં, અનાજ પાણી, આશ્રય ઔષધ વગેરે આપીને તેમનો અનુગ્રહ કરવો જોઈએ

જેઓ અવિનીત છે-લુચ્ચા છે એવા લોકો તરફ ઉદાસીનતાનો ભાવ રાખવો જોઈએ જેમને શિક્ષણ આપી શકાતું હોય, જેઓ તેને પાત્ર હોય, તેઓ વિનીત કહેવાય છે. જેઓ શિક્ષણને પણ લાયક ન હોય તેઓ અવિનીત છે તેઓ ચેતન હોવા છતાં પણ લાકડા અથવા

દિવાલની જેમ જડ હોય છે. ગ્રહણ, ધારણ, ઈહા, અપોહથી શૂન્ય, મિથ્યાત્વથી ગ્રુપ્ત અને દુષ્ટો દ્વારા છકેલા હોય છે. આવા લોકો પ્રતિ પણ દ્વેષ ન ધારણ કરતા ઔદાસીન્ય રાખવું જોઈએ.

જમીનની ઉપર વાવેલું શુદ્ધ બીજ પણ જેમ ફળદાયી નીવડતું નથી તે જ પ્રમાણે આવા લોકોને આપવામાં આવેલો સદુપદેશ સફળ થતો નથી આથી તેમના પ્રતિ ઉપેક્ષા રાખવી જ ઉચિત છે., કહ્યું પણ છે—**परहित चिन्तामैत्री** ઈત્યાદિ.

બીજાના હિતનું ચિંતન કરવું મૈત્રી છે, બીજાના દુઃખોનુ નિવારણ કરવું એ કરુણા છે બીજાનાં સુખે સુખી થવું પ્રમોદ છે અને બીજાનાં દોષોની ઉપેક્ષા કરવી મધ્યસ્થતા છે.

સૂત્રકૃતાંગસૂત્રનાં પ્રથમ શ્રુતસ્કંધના ૧૫માં અધ્યયનમાં, બીજી ગાથામાં કહ્યું છે-'પ્રાણીમાત્ર પર મૈત્રીભાવ ધારણ કરવો જોઈએ.'

ઔપપાતિકસૂત્રના પ્રથમ સૂત્રના ૨૦માં પ્રકરણમાં કહ્યું છે-**'सुप्पडियाणंदा'** અર્થાત્ બીજાનાં સુખ જોઈને આનંદનો અનુભવ કરવો જોઈએ.' આજ સૂત્રમાં ભગવાનના ઉપદેશના પ્રકરણમાં કહ્યું છે—**'साणुक्कोसयाए'** અર્થાત્ દયા યુક્ત થઈ ને—

આચારાંગસૂત્રના. પ્રથમ શ્રુતસ્કંધમાં, આઠમાં અધ્યયનના સાતમાં ઉદ્દેશકની પાંચમી ગાથામાં કહ્યું છે-'અનગાર-મધ્યસ્થ-સમભાવી થઈ ને કેવળ કર્મનિર્જરાની જ ઈચ્છા કરતો થકો સમાધિનું પાલન કરે.' ॥૧૪॥

'संवेगणिव्वेयणट्ठं जगकायसभावा य' ॥सू. १५॥

સૂત્રાર્થ—સંવેગ અને નિર્વેદની વૃદ્ધિ માટે જગતના અને શરીરના સ્વભાવનું ચિંતન કરવું જોઈએ. ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાના સૂત્રમાં અહિંસા આદિ વ્રતોની સ્થિરતા માટે સામાન્ય રૂપથી અર્થાત્ બધાં વ્રતો માટે સમાન રૂપથી ઉપયોગી મૈત્રી, પ્રમોદ, કરુણા તથા માધ્યસ્થ ભાવનાઓનું કથન કરવામાં આવ્યું. હવે તેના તે જ પાંચ મહાવ્રતાદિની દૃઢતા માટે સમાન રૂપથી ઉપયોગી અન્ય ભાવનાઓનું નિરૂપણ કરીએ છીએ.

સંવેગ અને નિર્વેદ માટે સંસારના તેમજ શરીરના સ્વાભાવનું ચિંતન વારંવાર કરવું જોઈએ. સંસારથી ભયભીત થવું સંવેગ છે અને વિષયોથી વિરક્તિ થવી નિર્વેદ છે આ બંનેની વૃદ્ધિ અને પુષ્ટિ માટે અનુક્રમથી સંસાર અને શરીરના સ્વભાવનો વિચાર કરવો જોઈએ. અર્થાત્ જગતના સ્વભાવનું પુનઃ પુનઃ ચિંતન કરવાથી સંવેગની વૃદ્ધિ થાય છે અને કાયાના સ્વરૂપનો વિચાર કરવાથી વૈરાગ્યની વૃદ્ધિ થાય છે.

વિભિન્ન મનુષ્ય, તિર્યંચ, નારકી અને દેવતા પર્યાયોને જે પ્રાપ્ત થતા રહે છે તેને જગત કહે છે. આ વ્યુત્પત્તિ મુજબ જગતનો અર્થ થાય છે-જીવસમૂહ અથવા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ અને પુદ્ગલ-આદિને રહેવાનું જે ક્ષેત્ર-સ્થાન-છે તે પણ જગત્ કહેવાય છે જેને સંસાર કહે છે.

જેનો ઉપચય થાય છે તે 'કાય' કહેવાય છે. અથવા જેમાં વ્યવસ્થા આદિનો ઉપચય

થાય છે તેને કાય કહે છે. કાયનો અર્થ 'શરીર' છે. સંવેગ અને નિર્વેદને વધારવા માટે જગત્ અને શરીરના સ્વરૂપનું વારંવાર ચિંતન કરવું જરૂરી છે. ॥ ૧૫ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં હિંસાપરિત્યાગ આદિ પાંચે વ્રતોની દૃઢતા માટે પાંચે મહાવ્રત આદિ માટે સાધારણ મૈત્રી વગેરે ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે હિંસા આદિ અશુભ નવીન કર્મબંધનની નિવૃત્તિમાં તત્પર પંચમહાવ્રતધારી સાધુઓની ક્રિયાવિશેષના પ્રણિધાનના હેતુ માટે અન્ય ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પંચમહાવ્રતાદિના ધારણ કરનારા જીવ સંવેગ તથા નિર્વેદ માટે જગતના અને શરીરના સ્વરૂપનું ચિન્તન કરે, અર્થાત્ સંવેગને માટે જગત્‌ના સ્વભાવનું અને નિર્વેદન માટે શરીરના સ્વભાવનું ચિંતન કરે.

સંસારની પ્રતિ કાયરતા હોવી સંવેગ છે અર્થાત્ જુદા જુદા પ્રકારના ઉચ્ચ તથા નીચ પ્રાણીઓના જન્મ, મરણ ઘડપણ દુઃખ કલેશ અને કર્મવિપાકથી પરિપૂર્ણ સંસારના ત્રાસનો વિપાક કરવો તે જ સંવેગ છે.

વૈરાગ્યને નિર્વેદ કહે છે. એનો આશય છે શરીરની સજાવટ-શૃંગાર વગેરે ન કરવા. આગળ પર કહેવામાં આવનારા ક્ષેત્ર વાસ્તુ આદિ દશ પ્રકારની બાહ્ય ઉપધિમાં અને રાગ દ્વેષ વગેરે ચૌદ પ્રકારની આન્તરિક ઉપધિમાં આસક્તિ મમતા ન હોવી કહેવાનો ભાવાર્થ એટલો જ છે કે નિર્લોભતારૂપ આત્માનું પરિણામ નિર્વેદ કહેવાય છે.

વહાલી વસ્તુનો વિયોગ થઈ જવો, ન ગમતી વસ્તુનો સંયોગ થવો મનગમતી વસ્તુ ન મળવી, ગરીબાઈ હોવી, કમનસીબી હોવી, દુર્મનસ્કતા હોવી, વધ, બન્ધન, આરોપ, અસમાધિ તથા દુઃખનો અનુભવ થવો એવો જગતનો સ્વભાવ છે. સંસારના સર્વ સ્થાન નાશવંત છે. કોઈ પણ જીવ અથવા અજીવનો એવો કોઈ જ પર્યાય નથી જે કાયમી હોય. ધર્મ અને અધર્મ આદિ સઘળાં દ્રવ્ય પરિણમનશીલ છે. તેમનામાં નિરન્તર પરિવર્તન થતાં રહે છે. ભૂતકાળમાં એકે-એક દ્રવ્યની અનન્ત અવસ્થાઓ થઈ ચુકી છે અને આ ક્રમ એક પળવાર પણ કયારેય અટકતો નથી આવી રીતે ધર્મ આદિ છ એ દ્રવ્યોમાં પરિણતિ નિત્યતાની ભાવના કરે, અર્થાત્ એવો વિચાર કરે કે આત્મદ્રવ્ય અજર અમર અવિનાશી અને નિત્ય હોવા છતાં પણ પર્યાયો ની અપેક્ષાથી ક્ષણે ક્ષણે રૂપાન્તરિત થતાં રહે છે કોઈવાર દેવતા કોઈવાર મનુષ્ય તો વળી કોઈવાર તિર્યંચ અને નારકીના પર્યાયોને ધારણ કરે છે અને ત્યાં વિવિધ પ્રકારની આધિ વ્યાધિ એ ઉપાધિઓ-ત્રિવિધ તાપોને-ભોગવે છે. આ જ પ્રમાણે અન્ય દ્રવ્યોની નિત્યાનિત્યતાનું પણ ચિન્તન કરે.

કાયાના સ્વભાવનો આ પ્રકારે વિચાર કરે-માતા અને પિતાના રજ અને વીર્ય જયારે મિશ્રિત થાય છે ત્યારે તે ગર્ભજ પ્રાણિઓના રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે. સંમૂર્ચ્છિમ અને ઉપપાત જન્મવાળા જીવોના શરીર ઉત્પત્તિક્ષેત્રમાં રહેલા પુદ્‌ગલસ્કન્ધોને ગ્રહણ કરવાથી નિર્મિત થાય છે તે શરીર વિવિધ આકારો તેમજ અશુભ પરિણમનવાળા હોય છે તેમનામાં અપચય અને ઉપચય અર્થાત વિયોગ અને મિલન થતાં રહે છે અને તે સઘળાં વિનશ્વર હોય છે.

હકીકતમાં તો જગત્ શબ્દ જીવ અને અજીવ દ્રવ્યોનો અભિપ્રેત થાય છે તે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્યોના સ્વભાવ અનાદિ-સાદિ યુક્ત હોય છે. પ્રાદુર્ભાવ (પ્રગટ) થવું અને તિરોભાવ (સંતાઈ જવું) થવા છતાં દ્રવ્ય રૂપથી સ્થિતિ રહેવી, અન્યનો અનુગ્રહ કરવો અને પર્યાયથી વિનષ્ટ થવું, આ બધાં દ્રવ્યોના સ્વભાવ છે.

અસંખ્યાતપ્રદેશત્વ, જ્ઞાનવત્ત્વ આદિ જીવના અનાદિ પરિણામ છે, તેમાં કોઈ-કોઈ પરિણામ, જેમ કે દેવત્વ, મનુષ્યત્વ આદિ, સાદિ પણ હોય છે.

આ જ પ્રકારે પુદ્ગલદ્રવ્યનું મૂર્ત્તત્વ રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શવત્ત્વ પરિણામ અનાદિ છે, ઘટ-પટ આદિ પર્યાય રૂપ પરિણામ સાદિ છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના લોકાકાશવ્યાપકત્વ આદિ પરિણામ અનાદિ છે. આ દ્રવ્ય જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ અને સ્થિતિના નિયામક છે, આથી ગતિશીલ અને સ્થિતિશીલ જીવ-પુદ્ગલોના પરિણમનથી ઉત્પન્ન થનારા ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યનું તે પરિણામ સાદિ છે.

એ જ રીતે લોકાકાશનું અમૂર્ત્તત્વ અને અસંખ્યાતપ્રદેશવત્વપરિણામ અનાદિ છે, પરંતુ અવગ્રાહક દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા અવગાહ પરિણામ સાદિ છે.

દ્રવ્યોમાં પૂર્વપર્યાયોનો વિનાશ અને ઉત્તર પર્યાયના ઉત્પાદ રૂપ સાદિ પરિણામ થવો એ જ પ્રાદુર્ભાવ અને તિરોભાવ છે અર્થાત્ નવીન પર્યાયની ઉત્પત્તિને પ્રાદુર્ભાવ કહે છે અને પૂર્વ-પર્યાયના વિનાશને તિરોભાવ કહે છે. આ પ્રમાણે બધાં દ્રવ્યોમાં નિરંતર થતું રહે છે. વસ્તુ સંતાન (દ્રવ્ય) રૂપથી અવસ્થિત રહે છે તો પણ તેમનામાં સ્વાભાવિક અને કારણજન્ય વિનાશ થતો રહે છે.

સ્થિતિ અથવા ધ્રૌવ્ય બધાં દ્રવ્યોનું અનાદિ પરિણામ છે આવી જ રીતે છએ દ્રવ્યોમાં પરસ્પર અનેકતા રૂપ જે પરિણામ છે તે પણ અનાદિ છે અર્થાત્ અનાદિ કાળથી પ્રત્યેક દ્રવ્યને એવું સ્વરૂપ છે કે તે અન્ય કોઇ દ્રવ્યના રૂપમાં પરિણત થતું નથી. પરસ્પરમાં ઉપકાર કરવો, આ જ જીવ દ્રવ્યનુ પરિણામ છે, તે પણ અનાદિ કાલીન છે જીવનુ સાદિ પરિણામ તો પર્યાયોના રૂપમાં સ્પષ્ટ જ છે.

આ પ્રકારે વારંવાર-નિરન્તર-જગતના સ્વભાવને ચિંતન કરવામાં આવે તો તેથી સંવેગની પ્રાપ્તિ થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે અજ્ઞાન અને હિંસા આદિ કૃત્યોના અનન્ત સંસાર રૂપ ફળ-દોષ જોવામાં આવતા હોવાથી તેમના ત્યાગને માટે રાત-દિવસ સંવેગની જ ભાવના થાય છે. સંવેગવાન્ વ્યક્તિ જ્યારે એવો અનુભવ કરે છે કે અચેતન પદાર્થોની પણ નિત્ય-અનિત્ય, મૂર્ત-અમૂર્ત, રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ, શબ્દ સંસ્થાન આદિ પરિણામની શુભ-અશુભ પરિણતિ થાય છે.

રાગ-દ્વેષથી વિમુખ થઇને અન્યાયપૂર્ણ ચેષ્ટાઓ ભયયુક્ત છે અને ન્યાયસન્મુખ ચેષ્ટાઓ અભય રૂપ છે, એ જાતની ભાવનાવાળો સવેગવાન્ હોય છે--

કાયના સ્વભાવનો વિચાર આ રીતે કરવો જોઇએ---આ શરીર અનિત્ય છે જન્મકાળથી લઇને જ વિનાશશીલ છે. આમાં કદી બાલ્યાવસ્થા, કયારેક કુમારાવસ્થા, કયારેક યુવાવસ્થા, કદી પ્રૌઢાવસ્થા અને કોઇવાર વૃદ્ધાવસ્થા ઉદ્ભવે છે પૂર્વ-પૂર્વ અવસ્થાનો વિનાશ કરીને ઉત્તર-ઉત્તર

અવસ્થાઓ ઉત્પન્ન થાય છે. આવી રીતે આ શરીર આયુષ્યની સમાપ્તિ પર્યન્ત અનિત્ય છે ત્યાર પછી ક્રોધથી, અગ્નિથી કુતરા અથવા ગીધડાં વગેરે પક્ષીઓના નિમિત્તથી, પવન તથા તાપથી સુકાઈ જઈને શરીરના આકારમાં પરિણત થયેલા પુદ્ગલસ્કન્ધો છિન્ન ભિન્ન થઈ જાય છે. અને છિન્ન-ભિન્ન દ્વયણુક આદિ રૂપ ધારણ કરતા થકાં છેવટે પરમાણુઓના રૂપમાં વિભક્ત થઈ જાય છે આ રીતે આ શરીર અનિત્ય છે.

દીર્ઘકાળ સુધી આ શરીરનું કુંકુમ, અગર, કપૂર કસ્તુરી વગેરેનું લેપન કરીને, મિષ્ટાન્ન, પાન, વસ્ત્રાચ્છાદન વગેરેથી લાલન-પાલન કરવામાં આવે છે તો પણ અકાળે જ તે વિનાશને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે.

આવી રીતનું ચિંતન કરવાથી શરીરની પ્રતિ જે મમત્વ થાય છે તે ચાલ્યું જાય છે આથી સંવેગ અને વૈરાગ્યની ઉત્પત્તિ થાય છે.

આના સિવાય આ શરીર દુઃખોનું કારણ છે પીડારૂપ બાધાને દુખ કહે છે. આ બાધા બે પ્રકારની હોય છે--શરીરના આશ્રયથી અને મનના આશ્રયથી આ શરીરનું જ્યાં સુધી અસ્તિત્વ રહે છે ત્યાં સુધી દુઃખમાંથી મુક્તિ મળી શકતી નથી કર્મના પુદ્ગલ અને આત્માના પ્રદેશો જ્યારે એકત્ર થાય છે અને દૂધ અને પાણીની જેમ એકાકાર થઈને રહે છે ત્યારે કર્મ-પુદ્ગલોના નિમિત્તથી દુખનો અનુભવ થાય છે. આમ આ શરીર દુખનું કરણ છે એવી ભાવના કરતો થકો ભવ્ય જીવ શરીરના અત્યન્ત વિનાશ માટે પ્રયત્ન કરે છે અર્થાત્ એવી સાધના કરે છે. જેથી શરીરની સાથેનો સંબન્ધ હમેશના માટે નષ્ટ થઈ જાય.

વળી આ શરીર અસાર પણ છે ત્વચા (ચામડી) માંસ, મજ્જા આદિથી વિંટાયેલુ આ શરીરકે જેમાં મેદ, હાડપિંજર, આંતરડા, પાણી, મળ, મૂત્ર, કફ પિત્ત, મજ્જા વગેરેનો સમુદાય છે, કદલી સ્તંભની જેમ નિઃસાર છે, એમાં કોઈ જ સાર નથી.

માટે અકાળમાં જ આ શરીર કે જેનો નાશ અચૂક થવાનો છે જ તે નિઃસાર ભાસે છે. એવી ભાવના ભાવનારના મનમા શરીર પ્રત્યે આસક્તિ રહેતી નથી.

આ શરીર અશુચિ અર્થાત્ અપવિત્ર પણ છે લોકમાં તે અશુચિના રૂપથી પ્રસિદ્ધ છે, શરીરની અંદર જ તેની વિવિધતા જોવામાં આવે છે. ગર્ભજ મનુષ્યના શરીરનું મૂળ કારણ શુક્ર તથા શોણિત છે. ત્યારબાદ તે જ શુક્ર અને શોણિતના કલકલ, બુદ બુદ માંસ પેસી આદિના રૂપમાં પરિણમન થાય છે. કેટલાંક મહિનાઓ બાદ શરીર, હાથ, પગ વગેરે અવયવ પ્રગટ થાય છે ગર્ભમાં રહેલો જીવ માતા દ્વારા આરોગેલા ભોજનના રસને રસહરણી નાડી મારફતે ગ્રહણ કરે છે અને તેનાથી પોતાનું પોષણ કરે છે. તે ગંદકીમાં નિવાસ કરે છે. જ્યારે અવયવો પરિપૂર્ણ થઈ જાય છે ત્યારે પરિપકવ થઈને માતાના ગર્ભમાંથી બહાર નિકળે છે. પછી માતાના દૂધનું પાન કરીને તેમાં લોહી માંસ આદિ ધાતુઓનો સંચય થાય છે. મળમૂત્રથી યુક્ત થાય છે. અરે! પિત્ત અને વાયુરુપ ધાતુઓની વિષમતાના પ્રકોપથી તેમાં સૂજન ઉત્પન્ન થઈ જાય છે?

ગંડ, હોઠ, તાળવા વગેરેના સ્પર્શથી લોહી વહેવા માંડે છે, પરુ નીકળે છે. આ રીતે શરીર બધી અવસ્થાઓમાં અપવિત્ર જ બન્યું રહે છે એવી ભાવના કરવી જોઈએ આનાથી

સંવેગ-વૈરાગ્યની ઉત્પત્તિ અને વૃદ્ધિ થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે આરંભ પરિગ્રહ વગેરેમાં દોષ જોવાથી તેમના પ્રતિ અરુચિ અને ધર્મમાં બહુમાન ઉત્પન્ન થાય છે. શરીર-ભોગ અને સંસારથી વિરક્તિ થાય છે, વિમુખતા થાય છે અને ઉદ્વેગ ઉત્પન્ન થાય છે ॥૧૫॥

'देवा चउव्विहा, भवणवई' ઇત્યાદિ ॥સૂ. ૧૬॥

સૂત્રાર્થ—દેવ ચાર પ્રકારના છે-ભવનપતિ, વાણવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ॥૧૬॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—જીવ વગેરે નવ તત્ત્વોમાંથી ક્રમપ્રાપ્ત ચોથા પુણ્યતત્ત્વની પ્રરૂપણા કરીને પુણ્યના ફળથી પ્રાપ્ત થનારી દેવગતિની પ્રરૂપણા કરવાના આશયથી સર્વપ્રથમ દેવોના ભેદ કહીએ છીએ—

દેવ ચાર પ્રકારના છે—ભવનપતિ વાણવ્યંતર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આભ્યન્તર કારણે દેવગતિ નામ કર્મનો ઉદય થવાથી બાહ્ય વિભૂતિઓથી દ્વીપ પર્વત સમુદ્ર આદિ પ્રદેશોમાં ઇચ્છાનુસાર જે ક્રીડા કરે છે તેઓ દેવ કહેવાય છે (પચાદિ ગણ)માં પાઠ હોવાથી દેવ શબ્દમાં અમ્ પ્રત્યય થયો છે. દેવોના પૂર્વોક્ત ચારે પ્રકાર છે.

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ વિસ્તારપૂર્વક પુણ્યતત્ત્વની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી. હવે પુણ્યકર્મના ફળ દેવગતિની પ્રરૂપણા કરવા માટે સર્વપ્રથમ દેવોના ભેદ કહેવામાં આવે છે.

દેવગતિ નામક પુણ્ય નામકર્મના ઉદયની દ્વીપ પર્વત વગેરે પ્રદેશોમાં જેઓ ક્રીડા કરે છે તેઓ દેવ કહેવાય છે. સ્વૈરવિહારી સ્વભાવવાળા હોવાથી તેમનું મન હમેશા ક્રીડામાં આસક્ત રહેલું હોય છે.

અથવા **दीव्यन्ति**નો અર્થ છે-**द्योतन्ते**. અત્યન્ત તેજવાન હોવાથી અને હાડકાં, માંસ, લોહી, મજ્જા આદિથી રહિત હોવાના કારણે જેમના બધાં અંગોપાંગ અત્યન્ત નયનરમ્ય હોય છે તેઓ દેવ કહેવાય છે. અથવા વિદ્યા, મંત્ર અને વશીકરણ વગર જ પૂર્વે કરેલાં તપનો પ્રભાવથી તેઓ જન્મકાળથી જ વગર આધારે આકાશમાં વિચરે છે તેઓ દેવ કહેવાય છે. વ્યાકરણશાસ્ત્ર અનુસાનુર 'દિવુ' ધાતુના અનેક અર્થ થાય છે જેવાં કે-ક્રીડા, વિજિગીષા (વિજયની આકાંક્ષા), વ્યવહાર, દ્યુતિ, સ્તુતિ, મોદ, મદ, સ્વપ્ન, કાન્તિ અને ગતિ.

દેવોની વિશિષ્ટ ગતિનું વર્ણન આગમોમાં કરવામાં આવ્યુ છે. વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ-ભગવતી-સૂત્રના અગીયારમાં શતકના દશમાં ઉદ્દેશકમાં કહેવામાં આવ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવાન્ ! લોક કેટલો મોટો છે ?

ઉત્તમ—ગૌતમ ! આ જંબૂદ્વીપ નામનો દ્વીપ સંમસ્ત દ્વીપો અને સમૂદ્રોની અંદર છે અને બધાથી નાનો છે. કોઈ કાળ અને કોઈ સમયમાં છ મહાન રિદ્ધિના ધારક દેવ જમ્બૂદ્વીપમાં, મેરૂપર્વતના શિખરને ચારે બાજુથી ઘેરીને ઉભા હોય આ બાજુ ચાર મોટી દિક્કુમારિઓ ચાર બાલિપિણ્ડો ને પકડીને જમ્બૂદ્વીપના ચારે દ્વારોએ બહારની બાજુએ મુખ રાખીને ઉભી થઈને તે ચારેય બલિપિણ્ડોનો એકી સાથે છોડી દે ત્યારે હે ગૌતમ ! તે છ દેવમાંથી એક-એક દેવ તે ચારે બલિપિણ્ડોને ધરતી પર પડતાં પહેલા જ શીઘ્રતાપૂર્વક ઝીલી શકે છે,

પકડી શકે છે. દેવોની ગતિ એટલી તીવ્ર હોય છે. આવી ઝડપી ગતિથી એક દેવ પૂર્વ દિશા ભણી ચાલ્યો અને એ જ રીતે છએ દેવો છએ દિશાઓ તરફ રવાના થયા.

તે કાળ અને તે સમયમાં એક હજાર વર્ષની આયુષ્યવાળો એક બાળક જન્મ્યો. તેના માતા-પિતા મૃત્યુ પામ્યા તો પણ તે ઉત્કૃષ્ટ ગતિથી જતા થકાં તેઓ દેવલોકના સીમાડા સુધી પહોંચી શકયા નહીં ત્યારબાદ તે બાળકનું આયુષ્ય પૂર્ણ થઈ ગયું ત્યાસુધી દેવ તે જ તીવ્ર ગતિથી ચાલતા જ ગયા પરંતુ તેઓ લોકના છેડા સુધી પહોંચી શકયા નહીં.

ત્યારપછી સમય વીતવાની સાથે તે બાળકના નામ-ગોત્ર પણ ભુંસાઈ ગયા ત્યાંસુધી સતત ચાલવા છતાં પણ તે દેવ, લોકનો અન્ત પામી ન શકયા.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! તે દેવોએ જે અંતર કાપ્યું તે અધિક છે કે જે અંતર હજુ કાપવાનું બાકી રહ્યું તે વધારે છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! કાપેલું અંતર વધુ છે, નહીં કાપેલું (બાકી રહેલું) અંતર વધુ નથી. કાપેલા અંતરથી ન કાપેલું અંતર અસંખ્યાતમો ભાગ છે. ન કાપેલા અંતરથી કાપેલું અંતર અસંખ્યાતગણું છે. હે ગૌતમ ! લોક એટલો બધો વિશાળ છે; અર્થાત્ આનાથી કલ્પના કરી શકાય કે લોક કેટલો મહાન છે.

આવું જ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રનાં બીજા પદમાં દેવોના વિમાનોની વિશાળતા પ્રદર્શિત કરવા માટે કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! વિમાન કેટલા મોટા કહેવાયા છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! આ જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપ સર્વ દ્વીપો તથા સમુદ્રોની વચ્ચે છે અને સૌથી નાનો (એક લાખ યોજન વિસ્તારવાળો) છે. કોઈ મહાન રિદ્ધિના ધારક અર્થાત્ મહાન પ્રભાવવાળા દેવ "આ લ્યો" એ પ્રમાણે કહીને ફક્ત ત્રણ તાળીઓમાં અર્થાત્ ત્રણવાર તાળી વગાડવામાં જેટલો સમય લાગે છે એટલા સ્વલ્પકાળમાં એકવીસ વાર સંપૂર્ણ જમ્બૂદ્વીપની પ્રદક્ષિણા કરીને એકદમ પાછા આવી ગયા, આવા અતિશય વેગવાન ઝડપવાળા હોય તે દેવ પોતાની તે જ ઉત્કૃષ્ટ, ત્વરાયુક્ત, પ્રચંડ, ચપળ, શીઘ્ર, ઉદ્ધત, વેગયુક્ત (અથવા યાતનામય) અને દિવ્યગતિથી, એક દિવસ, બે દિવસ, ત્રણ ચાર અને વધારેમાં વધારે છ માસ સુધી વણ-થંભે ચાલતા રહે તો કોઈ એકાદ વિમાનને પાર કરી લે અને કોઈ વિમાનને છ માસમાં પણ પાર ન કરી શકે. હે ગૌતમ ! દેવવિમાન એટલા વિશાળ હોય છે ! તાત્પર્ય એ છે કે જે દેવ ત્રણ તાળીના સમયમાં એકવીસ વખત સમગ્ર જમ્બૂદ્વીપનો ફેરો કરી શકે છે તે જ દેવ છ માસ સુધી નિરન્તર ચાલીને પણ કોઈ-કોઈ વિમાન સુધી પહોંચી શકતા નથી આના ઉપરથી જ દેવવિમાનોની વિશાળતાની કલ્પના થઈ શકે છે.

આ તો દેવોની મધ્યમ ગતિઓ છે. બીજા દેવોની ગતિ તેથી પણ વધારે હોય છે. આમ દેવગતિઓ પુણ્ય નામકર્મના ઉદયથી જન્મે છે. દેવ વિશિષ્ટ ક્રીડા, ગતિ અને દ્યુતિ સ્વભાવ વાળા વિશિષ્ટ-વિશિષ્ટ સ્થાનોમાં રહેવાવાળા તથા સુખની વિપુલતાવાળા હોય છે. આ દેવ ચાર પ્રકારના છે—ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક. ઉક્ત ચાર પ્રકારના દેવો-માંથી ભવનપતિ અધોલોકમાં નિવાસ કરે છે, વાનવ્યંતર અને જ્યોતિષ્ક મધ્યલોકમાં (તીર્છા લોકમાં) રહે છે અને વૈમાનિક ઉર્ધ્વલોકમાં નિવાસ કરે છે.

ભવનપતિ દેવ રત્નપ્રભા પૃથ્વીમાં ઉપર અને નીચેના એક એક હજાર યોજન ક્ષેત્રને છોડીને જન્મ લે છે. વાનવ્યંતર આ જે રત્નપ્રભાપૃથ્વીની ઉપર છોડી દીધેલા એક એક હજાર યોજન ક્ષેત્રમાંથી ઉપર–નીચે એક–એક સો યોજન છોડીને મધ્યના આઠસો યોજનોમાં ઉત્પન્ન થાય છે. જ્યોતિષ્ક દેવ આ સમતલ ભૂમિભાગથી સાતસો નેવુ યોજન ઉપરથી લઇને એકસો દશ યોજનમાં અર્થાત્ સાતસો નેવું યોજનની ઉંચાઇથી લઇને નવસો સુધીના એકસો દશ યોજનોમાં ઉત્પન્ન થાય છે.

વૈમાનિક દેવ જ્યોતિષ્ક દેવોથી દોઢ રજ્જુ ઉપર સૌધર્મ દેવલોકથી લઇને સર્વાર્થ સિદ્ધ વિમાન પર્યન્તમાં જન્મ ધારણ કરે છે.

આ પ્રકારે ઉત્પાદ અને નિવાસ સ્થાનના ભેદથી દેવ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવે છે. ભવનપતિ આદિ દેવ પોત–પોતાના સ્થાનોમાં ઉત્પન્ન થઈ અન્યત્ર લવણસમુદ્ર, મન્દરાચલ, હિમવાન્, પર્વત તથા તરૂગહન આદિમાં પણ પૂર્વોક્ત સ્થાનોને છોડીને નિવાસ કરે છે. 'હા, આ સ્થાનોમાં તેમનો જન્મ થતો નથી—

અત્રે શંકા કરી શકાય કે ભગવતી સૂત્રના બારમાં શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમાં, પાંચ પ્રકારના દેવ કહેવામાં આવ્યા છે. ભગવતી સૂત્રનું તે કથન નીચે લખ્યા મુજબનું છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત ! દેવ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે. ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારના દેવ કહેવામાં આવ્યા છે; જેમ કે (૧) ભવ્યદ્રવ્યદેવ (૨) નરદેવ (૩) ધર્મદેવ (૪) દેવાધિદેવ અને (૫) ભાવદેવ

(૧) ભવ્યદ્રવ્યદેવ—જે પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ અથવા મનુષ્યે દેવાયુષ્ય કર્મ બાંધવું હોય તેમજ જે ઉત્તર જન્મમાં દેવના રૂપમાં ઉત્પન્ન થવાના હોય,તે આગામી દેવપર્યાયની અપેક્ષાથી ભવ્ય-દ્રવ્યદેવ કહેવાય છે. આ કથન લાકડા કાપવાના ઉદાહરણથી નૈગમનયની અપેક્ષા સમજવું જોઇએ.

(૨) નરદેવ—ચૌદ રત્નોના અધિપતિ ચક્રવર્તી નરદેવ કહેવાય છે કારણ કે અન્ય મનુષ્યોની અપેક્ષા તેઓ ઉત્કૃષ્ટ હોય છે.

(૩) ધર્મદેવ—સાધુ ધર્મદેવ છે કારણ કે તેઓ પ્રવચનમાં પ્રતિપાદિત અર્થનું અનુષ્ઠાન કરે છે અને તેમના વ્યવહારમાં સમીચીન ધર્મનું પ્રાધાન્ય હોય છે

(૪) દેવાધિદેવ—જેમને તીર્થંકર નામકર્મનો ઉદય છે જેઓ કૃતાર્થ થઈ ચુકયા છે અને અર્હન્ત છે તેઓ દેવાધિદેવ કહેવાય છે કારણ કે તેઓ ધર્મોપદેશ દ્વારા ભવ્ય જીવો પર અનુગ્રહ કરે છે અને અન્ય દેવો દ્વારા પણ પૂજનીય હોય છે.

(૫) ભાવદેવ—ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવ જેમને દેવગતિ નામકર્મનો ઉદય છે, ભાવદેવ કહેવાય છે કારણ કે તેઓ અતિશય ક્રીડામાં રચ્યાપચ્યા રહે છે.

આ રીતે જો દેવ પાંચ પ્રકારના છે તો આપે ચાર પ્રકારના કેમ કહ્યાં ?

આ પ્રશ્નનો ઉત્તર આ છે—અહીં માત્ર ભાવદેવોની જ વિવક્ષા–વિવરણ–કરવામાં આવ્યું છે આથી જ દેવોના ચાર ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે આ સિવાય પૂર્વોક્ત પાંચ પ્રકારના દેવોમાં

શરૂઆતના ત્રણ વાસ્તવમાં મનુષ્ય છે અને ભવ્યદ્રવ્યદેવ મનુષ્ય અથવા તિર્યંચ છે—કેટલીક વિશેષતાઓના કારણે જ તેમને દેવ કહેવામાં આવ્યા છે આથી ભાવદેવોના ભેદ ચાર જ સમજવા જોઈએ.

ભગવતી સૂત્રના પ્રથમ શતકના સાતમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—દેવ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—ભવનપતિ, વાણવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ॥ ૧૬ ॥

'तत्थ भवणवइ दसविहा' ઈત્યાદિ ॥ ૧૭ ॥

સૂત્રાર્થ—ભવનપતિદેવ દશ પ્રકારના છે—અસુરકુમાર નાગકુમાર, સુવર્ણકુમાર, વિદ્યુત્કુમાર, અગ્નિકુમાર, દ્વીપકુમાર. ઉદધિકુમાર. દિશાકુમાર, વાયુ—પવનકુમાર અને સ્તનિતકુમાર ॥ ૧૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક, અને વૈમાનિકના ભેદથી ચાર પ્રકારના દેવોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ છે; હવે તેમાં સૌથી પહેલા ગણવામાં આવેલા ભવનપતિના દશ અવાન્તર ભેદોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

તેમાંથી અર્થાત્ ચાર પ્રકારના ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોમાંથી ભવનપતિ દશ પ્રકારના હોય છે—(૧) અસુરકુમાર (૨) નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત્કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) પવનકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર દ્વન્દ્વ સમાસને છેડે જોડાયેલ પદ બધાની સાથે લગાવી શકાય છે એ નિયમાનુસાની 'કુમાર' શબ્દ અહીં બધાની સાથે જોડવામાં આવે છે આ ભવનપતિ દેવ 'ભવનવાસી' પણ કહેવાય છે ॥ ૧૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકના ભેદથી ચાર પ્રકારના દેવોનું પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યું છે. હવે તેમાંથી સૌ પ્રથમ ગણાવેલા ભવનવાસિઓના દશ વિશેષ ભેદ બતાવીએ છીએ—

પર્વોક્ત ભવનવાસી, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારના દેવોમાંથી—ભવનપતિ દેવ દશ પ્રકારના છે. તેમના નામ આ છે–(૧) અસુરકુમાર (૨) નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત્ કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) પવનકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર

અસુર—નાગ આદિમાં મૂળસૂત્રમાં દ્વન્દ્વ સમાસ છે અને દ્વન્દ્વ સમાસને છેડે જોડેલું પદ દરેક શબ્દની સાથે જોડી શકાય છે એ નિયમના અનુસાર અહીં દશે ભેદોની સાથે કુમાર શબ્દનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે. આ દશે ભવનોમાં નિવાસ કરવાના સ્વભાવવાળા છે આથી તેઓ ભવનવાસી પણ કહેવાય છે તેમના નિવાસ ભૂમિમાં હોવાથી ભવન કહેવામાં આવે છે તે ભવનોમાં જે વાસ કરે છે તેઓ ભવનવાસી કહેવાય છે.

આ બધાં કુમારની જેમ જોવામાં કમનીય હોય છે. સુકુમાર હોય છે. તેમની ગતિ ઘણી લલિત, કલિત, કોમળ અને મધુર હોય છે સુંદર શૃંગાર રૂપ અને વિક્રિયાથી યુક્ત હોય છે કુમારોના જેવું રૂપ, વેશભૂષા, ભાષા આયુધ, યાન, વાહન અને ચરણન્યાસવાળા, કુમારોની માફક જ રાગવાન્ તથા ક્રીડાપરાયણ હોય છે આ કારણે જ એમને કુમાર કહે છે.

અસુરકુમાર અસુરકુમારાવાસમાં નિવાસ કરે છે. તેમના આ વાસ વિશાળ મંડળોવાળા અને વિવિધ પ્રકારના રત્નોના તેજથી ચમકીલા હોય છે. પ્રાયઃ અસુરકુમાર આવા આ વાસોમાં રહે છે અને કદાચિત્ ભવનોમાં પણ નિવાસ કરે છે.

નાગકુમાર આદિ પ્રાયઃ ભવનોમાં જ રહે છે અને જુદા જુદા વાસોમાં રહે છે. આ ભવનો બહાર ગોળાકાર અને અંદર ચોરસ હોય છે. હેઠળથી કમળની પાંદડી જેવા હોય છે આ આવાસ અને ભવન ક્યાં હોય છે એવી જિજ્ઞાસાં થવા પર કહીએ છીએ—

એક હજાર યોજન અવગાહવાળા મહામન્દર પર્વતથી દક્ષિણ દિશામાં મધ્યે ઘણી બધી ક્રોડાક્રોડી લાખ યોજનોમાં આવાસ હોય છે. ભવન દક્ષિણાર્ધના અધિપતિ ચમરઇન્દ્ર આદિના તથા ઉત્તરાર્ધના અધિપતિ બલિ વગેરે અસુરોને લાયક હોય છે. હકીકતમાં તો એક લાખ એંશી હજાર યોજન મોટી રત્નપ્રભા પૃથ્વીના એક-એક હજાર ઉપરના તથા નીચેના ભાગને છોડી દઈને એકલાખ ઇઠ્યોતેર હજાર યોજનોમાં ફૂલોની માફક પથરાયેલાં આવાસ હોય છે. ભવન સમતલ ભૂમિભાગથી ચાલીશ હજાર યોજન નીચે ગયા પાછી શરૂ થાય છે

આ અસુરકુમાર આદિના નામકર્મના નિયમ અનુસાર અને ભવનોના કારણથી પોતપોતાની જાતિમાં નિયતવિક્રિયા થાય છે. અંગોપાંગ નામકર્મના ઉદયથી, અને નિર્માણ નામકર્મના ઉદયથી, પ્રત્યેક જાતિમાં અલગ અલગ વિક્રિયાઓ થાય છે.

અસુરકુમાર ગંભીર આશયવાળા, હૃષ્ટપુષ્ટ શરીરવાળા, શ્રીમન્ત, સુન્દર સમસ્ત અંગોપાંગવાળાં, પીળા રંગવાળા, સ્થૂળ શરીરવાળા, રત્નજડિત મુગુટથી શોભાયમાન અને રાખડીના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે. અસુરકુમારોને આ બધાં નામકર્મના ઉદયથી સાંપડે છે.

નાગકુમારોના માથા અને મોઢાં અધિક સુન્દર હોય છે. તેઓ પાન્ડુવર્ણી કોમળ તથા લલિત ગતિવાળા અને માથા ઉપર સર્પના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે.

સુવર્ણકુમારોની ડોક અને વક્ષઃસ્થળ વધારે સુન્દર હોય છે. સોનેરી રંગવાળા સુન્દર હોય છે તેમના મુગટ પર ગરૂડનું ચિહ્ન હોય છે.

વિદ્યુત્કુમાર સ્નિગ્ધ (ચિકણા) દેદીપ્યમાન રક્તવર્ણવાળા, સુન્દર અને વજ્રના ચિહ્નયુક્ત હોય છે.

અગ્નિકુમાર માન, ઉન્માન અને પ્રમાણથી યુક્ત ભાસ્વર, સુન્દર, રક્તવર્ણ અને પૂર્ણ કલશના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે.

દ્વીપકુમાર વક્ષ, ખભે, હાથ અને ભુજાના અગ્ર ભાગમાં અધિક સુન્દર હોય છે, રક્ત વર્ણ, સલૌના હોય છે અને સિંહના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે.

ઉદ્દધિકુમારોની જાંઘ અને કમરનો ભાગ ઘણો સુન્દર હોય છે. પાન્ડુવર્ણી હોય છે. ઘોડો તેમનુ ચિહ્ન છે.

દિશાકુમારોની જાંઘો તથા પગોનો અગ્રભાગ અધિક સુન્દર હોય છે. તેઓ સોનેરી વર્ણવાળા અને હાથીના ચિહ્નવાળા હોય છે. વાયુકુમાર સ્થિર, સ્થૂળ અને ગોળ ગાત્રોવાળા, આગળ

નીકળેલા પેટવાળા, નીલવર્ણ, સુન્દર અને માછલીના ચિહ્નવાળા હોય છે. સ્તનિતકુમાર સ્નિગ્ધ અને ગંભીર તથા મોટા અવાજવાળા, સોનેરી વર્ણ તથા મોટાચાપવાળા, દારૂપાત્રના ચિહ્નવાળા હોય છે. આ બધાં જુદા જુદા પ્રકારના વસ્ત્રો અને આભૂષણોવાળા હોય છે જે નારકીના જીવોના અસુ–પ્રાણોનું હરણ કરે છે અર્થાત્ તેમને અંદરો અંદર લડાવીને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે તેઓ અસુર કહેવાય છે અસુર મોટા ભાગે સંક્લિષ્ટ પરિણામવાળા હોય છે. અસુર રૂપ કુમારોને અસુરકુમાર કહે છે. જે ગતિ ન કરે તેમને નગ કહે છે અર્થાત્ પર્વત અથવા ચન્દન વગેરે વૃક્ષો. તે નગોમાં થનારા કુમારોને નગકુમાર કહે છે. જેમના પગ અર્થાત્ પાંખો સુન્દર હોય તે સુપર્ણ જેઓ વિદ્યોતિત–દીપ્ત હોય તે વિદ્યુત જે પોતાના અંગોને પાતાળલોકમાં છોડીને ક્રીડા કરવા માટે ઉપર આવે તે અગ્નિ. ઉદક (જળ) એકઠું થાય છે જેમાં તે ઉદધિ અર્થાત્ સમુદ્ર અને ઉદધિમાં ક્રીડા કરનારા દેવ પણ ઉદધિ કહેવાય છે. પાણી (અપ્) જેમની બે તરફ હોય તે દ્વીપ અને દ્વીપમાં ક્રીડા કરનારા દેવ પણ દ્વીપ કહેવાય છે. જે અવકાશ આપે છે તે દિશાઓ કહેવાય છે દિશાઓમાં ક્રીડા કરવાવાળા દેવ પણ દિશા કહેવાય છે. જે વાય છે— ચાલે છે અર્થાત્ તીર્થંકરના વિહાર માર્ગને સ્વચ્છ કરે છે તે વાયુ. જેઓ સ્તનન્તિ અર્થાત્ શબ્દ કરે છે તે સ્તનિત અથવા જેઓએ સ્તન અર્થાત શબ્દ કર્યો હોય તે સ્તનિત આવા કુમારો અસુર કુમાર આદિ કહેવાય છે.

અસુરકુમાર આદિના ભવનોની સંખ્યા સામાન્ય રૂપથી સાત કરોડ, બોંતેર લાખ (૭, ૭૨,૦૦૦૦૦) છે. વિશેષ રૂપથી દક્ષિણ દિશાના અસુરકુમારોના ભવન ચોત્રીશ લાખ અને ઉત્તર દિશાવાળાના ત્રીસ લાખ છે. બંને દિશાઓના મળીને ચોસઠ લાખ ભવન છે.

દક્ષિણ દિશાના નાગકુમારોના ભવન ચુંમાળીશ લાખ અને ઉત્તરદિશાના નાગકુમારોના ભવન ચાળીશ લાખ છે. બનેના મળીને ચોરાસી લાખ છે

દક્ષિણ દિશાના દ્વીપકુમારો દિશાકુમારો, ઉદધિકુમારો વિદ્યુત્કુમારો સ્તનિતકુમારો અને અગ્નિકુમારો એ છના પ્રત્યેકના ચાળીશ–ચાળીશ લાખ ભવન છે અને ઉત્તર દિશામાં રહેનારાં દ્વીપકુમારો, દિશાકુમારો, ઉદધિકુમારો, વિદ્યુત્કુમારો સ્તનિતકુમારો અગ્નિકુમારો એ છએના પ્રત્યેકના છત્રીસ છત્રીશ લાખ છે. બંને દિશાઓના મળીને પ્રત્યેકના છોંતેર–છોંતેર લાખ ભવન છે.

દક્ષિણ દિશાના સુવર્ણકુમારોના આડત્રીશ લાખ ભવન છે, ઉત્તરદિશાના સુપર્ણકુમારોના ચોત્રીશ લાખ છે બંનેના મળીને બોંતેર લાખ છે.

દક્ષિણ દિશામાં નિવાસ કરનારા વાયુકુમારોના, પચાસ અને ઉત્તરદિશાના વાયુકુમારોના છેંતાળીશ લાખ; બંનેના મળીને છન્નું લાખ ભવન છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમાં દેવોના પ્રકરણમાં કહ્યું છે—

ભવનપતિદેવ દશ પ્રકારના છે જેમકે—(૧) અસુરકુમાર (૨) નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત્કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) વાયુકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર ॥ ૧૭ ॥

'वाणमंतरा अट्ठविहा ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—વાણવ્યંતર દેવ આઠ પ્રકારના છે ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ-દેવોના દસ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે ક્રમપ્રાપ્ત વાનવ્યંતર દેવોના આઠ વિશેષ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—(૧) કિન્નર (૨) કિમ્પુરૂષ (૩) મહોરગ (૪) ગંધર્વ (૫) યક્ષ (૬) રાક્ષસ (૭) ભૂત અને, (૮) પિશાચ

જે વનમાં હોય તે 'વાન' કહેવાય છે અને જે વિવિધ દેશાન્તરોમાં નિવાસ કરતા હોય તે વ્યન્તર કહેવાય છે. વાન જે વ્યન્તર છે તેમને વાનવ્યન્તર કહે છે. આ એક પ્રકારની દેવયોનિ છે. તેઓ આઠ પ્રકારના હોય છે—કિન્નર, કિંપુરૂષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ, અહીં જે ક્રમનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો છે તે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર અનુસાર છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનો ક્રમ આ પ્રકારે છે—વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારનાં છે—પિશાચ, ભૂત, યક્ષ, રાક્ષસ, કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ અને ગંધર્વ.

આ આઠે પ્રકારના દેવોની જે પિશાચ આદિ સંજ્ઞાઓ છે તે પોતપોતાના નામકર્મના ઉદય વિશેષથી સમજવી જોઈએ.

વાનવ્યન્તરોના આવાસ—આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના એક હજાર યોજન મોટા રત્નમય કાણ્ડની ઉપર સો યોજન અવગાહન કરીને અને નીચે પણ એકસો યોજન છોડી દઈને વચ્ચેના આઠસો યોજનમાં તિર્છા અસંખ્યાત હજાર ભૌમેય નગરાવાસ છે, આ નગરાવાસ બહારથી ગોળ, અંદરથી ચતુષ્કોણ અને નીચેથી ભમરાના કાનના આકારના છે. આ નગરાવાસોમા વાનવ્યંતર દેવ નિવાસ કરે છે ॥૧૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ દેવોના દસ વિશેષ ભેદ કહેવામાં આવ્યા હવે ક્રમ પ્રાપ્ત વાનવ્યન્તર દેવોના આઠ વિશેષ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ,

વનમાં રહેનારા વાન કહેવાય છે અને વિવિધ દેશાન્તરોમાં રહેનારા વ્યન્તર કહેવાય છે વાનવ્યન્તર યોનિના આ દેવો આઠ પ્રકારના છે-કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ; રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ.

આ દેવ અધોલોક, મધ્યલોક, (तिरछालोक) ઉર્ધ્વલોકમાં-ત્રણે લોકમાં-સ્વતંત્રતાપૂર્વક ઈચ્છાનુસાર વિચરણ કરે છે અને દેવેન્દ્રશક્ર તથા ચક્રવર્તીની આજ્ઞા અનુસાર પણ વિચરણ કરે છે.

એમનો ગતિપ્રચાર અનિયત હોય છે કોઈ—વ્યન્તર સેવકની જેમ માણુસની પણ સેવા કરે છે. તિર્છાલોકમાં અનેક પ્રકારની ટેકરી, ગુફા, જંગલ અને દર વગેરે સ્થાનોમાં નિવાસ કરે છે, આ કારણથી જ તેમની સંજ્ઞા વાનવ્યન્તર છે.

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર અનુસાર આ આઠ ભેદોનો ક્રમ આ મુજબ છે—પિશાચ ભૂત, યક્ષ, રાક્ષસ, કિન્નર, કિંપુરુષ મહોરગ અને ગન્ધર્વ

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમાં દેવાધિકારમાં કહ્યું છે.

વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના કહેવામાંઆવ્યા છે જેવા કે—કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગન્ધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ ॥ ૧૮ ॥

'**जोइसिया पंचविहा चंदसूरगहनक्खत्तमेयओ** १९ ॥

સૂત્રાર્થ—જ્યોતિષ્ક દેવ પાંચ પ્રકારના છે ॥ ૧૯ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સામાન્ય રૂપથી—ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકના ભેદથી ચાર પ્રકારના દેવોની—પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હતી એ પૈકી ભવનપતિ અને વાનવ્યંતર દેવોની વિશેષ રૂપથી પ્રરૂપણા કરવામાં આવી. હવે ક્રમથી પ્રાપ્ત જ્યોતિષ્ક દેવોની વિશેષ પ્રરૂપણા કરવામાં આવે છે—

તેજોમય જ્યોતિષ્ક નામક દેવ પાંચ પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-(૧) ચન્દ્ર (૨) સૂર્ય (૩) ગ્રહ (૪) નક્ષત્ર અને (૫) તારા ચન્દ્ર-સૂર્યાદિ નામકર્મના ઉદયથી ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા નામક જ્યોતિષ્ક દેવ હોય છે આ બધાનો પ્રભાવ ભિન્ન-ભિન્ન પ્રકારનો હોય છે.

આ ભૂમિના સમતલ ભાગથી સાતસો નેવું યોજનની ઊંચાઈ પર બધાં જ્યોતિષ્ક દેવોની નીચે તારક દેવ બીરાજે છે. એમનાથી દશ યોજન ઉપર અર્થાત્ આઠસો યોજનની ઉંચાઇએ સૂર્ય દેવ હોય છે. સૂર્યથી એંશી યોજન ઉપર ચન્દ્ર દેવ વિચરે છે અર્થાત્ ૮૮૦ યોજન ઉપર ચન્દ્ર છે. ચન્દ્રથી ચાર યોજન ઉપર નક્ષત્રોનો વાસ હોય છે અને એનાથી પણ ચાર યોજનની ઉંચાઈ પર બુધ હોય છે. બુધથી ત્રણ યોજન ઉપર શુક્રનું વિમાન છે, તેનાથી ત્રણ યોજન ઉપર બૃહસ્પતિનું વિમાન છે અને એથી પણ ત્રણ યોજન ઉપર મંગળ હોય છે એનાથી પણ ત્રણ યોજન ઉપર શનિશ્ચરનું વિમાન છે. આ રીતે સમસ્ત જ્યોતિષ્ક દેવોનો સંપૂર્ણ વિસ્તાર ક્ષેત્ર એકસો દશ યોજનનો છે. તિર્છામાં અસંખ્યાત દ્વીપસમુદ્ર પ્રમાણ ઘનોદધિ પર્યંત સમજવો જોઇએ ॥ ૧૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સામાન્ય રૂપથી ભવનપતિ, વાનવ્યંતર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારના દેવોનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે. ત્યારબાદ ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તર દેવોના ભેદોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે હવે અનુક્રમથી આવતા જ્યોતિષ્ક દેવોની વિશેષ રૂપથી પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

જે દ્યોતિત હોય તેને જ્યોતિ કહે છે અર્થાત્, વિમાન, પૃષોદરાદિ, ગણમાં પાઠ હોવાથી 'દ' ની જગ્યાએ 'જ' આદેશ થાય છે આથી જ્યોતિ શબ્દ નિષ્પન્ન થાય છે. તે જ્યોતિ અર્થાત્ વિમાનમાં જે ઉત્પન્ન થાય તે જ્યોતિષ્ક દેવ કહેવાય છે અથવા જે દેવ જ્યોતિસ્વરૂપ હોય તે જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે. આ જ્યોતિષ્ક દેવ મસ્તક પર મૌલિ-મુગટ ધારણ કરે છે, પ્રભામંડળની જેમ ઉજ્જવલ ચન્દ્ર, સૂર્ય અને તારામંડળના ચિહ્નોથી યથાયોગ્ય સુશોભિત હોય છે કાંતિમાન હોય છે એમના પાંચ પ્રકાર છે (૧) ચન્દ્ર (૨) સૂર્ય (૩) ગ્રહ (૪) નક્ષત્ર અને (૫) તારા.

આ જ્યોતિષ્ક દેવોમાં ચન્દ્ર દેવોની પ્રધાનતા છે એથી તેમની ગણત્રી શરૂઆતમાં કરવામાં આવી છે.

આ સમતલ ભૂમિભાગથી સાતસો નેવું યોજન ઉપર સર્વપ્રથમ તારાવિમાનોનો પ્રદેશ છે. તેનાથી દશ યોજન ઉપર સૂર્યવિમાન આવે છે-તેનાથી એંશી યોજનની ઉંચાઈ પર ચન્દ્ર વિમાન આવે છે તેનાથી વીસ યોજન તારા, નક્ષત્ર, બુધ, શુક્ર બૃહસ્પતિ, મંગળ અને શનિશ્ચરના વિમાન આવે છે.

સૂર્યથી થોડા યોજન નીચે કેતુના વિમાન છે અને ચન્દ્રથી થોડા યોજન નીચે રાહુનું વિમાન છે. ચન્દ્ર સૂર્ય અને ગ્રહો સિવાય બાકીના નક્ષત્ર અને પ્રકીર્ણક તારા પોત-પોતાના એક જ માર્ગમાં વિચરણ કરે છે. તારા અને ગ્રહ અનિયત રૂપથી ચાલે છે આથી કોઈ વખતે ચન્દ્ર અને સૂર્યથી ઉપર અને કોઇ વાર નીચે ચાલે છે. આ પ્રમાણે સહુથી નીચે સૂર્ય, સૂર્યની ઉપર ચન્દ્રમા, ચન્દ્રમાથી ઉપર ગ્રહ ગ્રહોની ઉપર નક્ષત્ર અને નક્ષત્રોની ઉપર પ્રકીર્ણક તારા ચાલે છે પરંતુ તારા અને ગ્રહ અનિયત રૂપથી ગતિ કરવાના કારણે સૂર્યથી નીચે પણ ગતિ કરે છે. સંપૂર્ણ જ્યોતિર્લોક એકસોદસ યોજનના વિસ્તારમાં છે. એક હજાર એકસો એકવીસ યોજનોમાં, જમ્બૂદ્વીપના મેરૂપર્વતનો સ્પર્શ ન કરતા થકા બધી દિશાઓમાં ગોળાકાર રૂપથી સ્થિત છે. એકહજાર એકસો અગીયાર યોજનથી સ્પર્શ ન કરતો થકો બધી બાજુએ લોકાન્ત સમજવો જોઈએ.

મંગલ આદિ તારા, ગ્રહ, ઉપર નીચે અને મધ્યમાં ચાલે છે આથી અનિયત રૂપથી ચાલે છે આ કારણે નીચે લંબાયેલા હોય છે એવી રીતે સૂર્યથી દશ યોજનોમાં મળી આવે છે.

જ્યોતિષ્કોમાં સહુથી ઉપર સ્વાતિ નક્ષત્ર છે અને નક્ષત્ર મંડળની સહુથી નીચે ભરણી નક્ષત્ર છે. બધાથી દક્ષિણમાં મૂળનક્ષત્ર છે અને બધાથી ઉત્તરમાં અભિજિત નક્ષત્ર. છે.

ઘણો જ પ્રકાશ કરનારા હોવાના કારણે જ્યોતિ નામક વિમાનોમાં જે દેવ છે તેઓ જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે. અથવા વિમાનો સંબંધી જ્યોતિના કારણે તે દેવ જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે. આ દેવો ક્રીડા કરતા નથી, ફક્ત દ્યોતિત-પ્રકાશમાન હોય છે અથવા આમ પણ કહી શકાય કે તેઓ શરીર સંબન્ધી જ્યોતિ દ્વારા પ્રકાશમાન થાય છે કારણ કે એમના શરીર જ્યોતિપુંજની જેમ ઝગઝગાટવાળા અત્યન્ત દેદીપ્યમાન હોય છે, અથવા તે દેવોને સમસ્ત દિશામંડળ પ્રકાશિત કરવાના કારણે જ્યોતિષ્ક કહે છે. 'જ્યોતિષ્ક' શબ્દમાં સ્વાર્થમાં 'કન્' પ્રત્યય થયો છે અર્થાત્ 'જ્યોતિષ્' શબ્દમાં 'કન્' પ્રત્યય કરવા છતાં પણ તેના અર્થમાં કોઈ પરિવર્તન થતું નથી—જે અર્થ 'જ્યોતિષ્' શબ્દનો છે તે જ 'જ્યોતિષ્ક' શબ્દનો પણ છે.

તે દેવોના મુગટોમાં પ્રભામંડળસ્થાનીય ચન્દ્ર-સૂર્ય આદિના ચિહ્ન જ હોય છે ચન્દ્રદેવના મુગટમાં ચન્દ્રાકારનું અને સૂર્યદેવના મુકુટમાં સૂર્યાકારના ચિહ્ન હોય છે આ જ હકીકત ગ્રહો અને નક્ષત્રો સંબંધી પણ લાગુ પડેલી સમજવી.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદમાં દેવોના પ્રકરણમાં કહ્યું છે—જ્યોતિષ્ક દેવ પાંચ પ્રકારના છે—ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા ॥૧૯॥

कप्पोववण्णगा वेमाणिया ઈત્યાદિ ॥ ૨૦ ॥

સૂત્રાર્થ—કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવ બાર પ્રકારના છે—(૧) સૌધર્મ (૨) ઈશાન (૩)

સનત્કુમાર (૪) માહેન્દ્ર (૫) બ્રહ્મલોક (૬) લાન્તક (૭) મહાશુક્ર (૮) સહસ્રાર (૯) આનત (૧૦) પ્રાણત (૧૧) આરણ અને (૧૨) અચ્યુત ॥૨૦॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારના દેવો પૈકી પહેલા ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર અને જ્યોતિષ્ક દેવોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે બાર પ્રકારના કલ્પોપપન્ન દેવોનું કથન કરવા માટે કહીએ છીએ—

કલ્પોમાં અર્થાત્ બાર દેવલોકમાં જે ઉત્પન્ન થયા હોય તે દેવો કલ્પોપપન્નક કહેવાય છે. જે પોતાની અંદર રહેનારાઓને જેઓએ વિશેષ રૂપથી દાન, શિયળ, તપ અને ભાવનાનું આસેવન કરીને પૂર્વભવમાં પુણ્યરાશિ પ્રાપ્ત કરી છે તેમને સુકૃતી-પુણ્યાત્મા માને છે તેમનો આદર કરે છે તથા તેમને આલંબન પ્રદાન કરે તેમને વિમાન કહે છે. વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થનારા વૈમાનિક કહેવાયા છે અને તેઓ બાર પ્રકારના છે—(૧) સૌધર્મ (૨) ઈશાન (૩) સનત્કુમાર (૪) માહેન્દ્ર (૫) બ્રહ્મલોક (૬) લાન્તક (૭) મહાશુક્ર (૮) સહસ્રાર (૯) આનત (૧૦) પ્રાણત (૧૧) આરણ અને (૧૨) અચ્યુત આ કલ્પો વક્ષ્યમાણ પ્રકારથી વ્યવસ્થિત છે જેમ કે—જ્યોતિષ્ચક્રની ઉપર અસંખ્યાત કરોડાકરોડ યોજન જઈએ ત્યારે સૌધર્મ અને ઈશાન દેવલોક આવે છે. જે પ્રદેશમાં સૌધર્મ કલ્પ દક્ષિણદિગ્વર્તી છે તે જ પ્રદેશની નજીક ઉત્તરદિગવર્તી ઈશાન કલ્પ પણ છે. આ બંને જ કલ્પ પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકારે સમશ્રેણીમાં આવેલા છે. એમની ઉપર અસંખ્યાતા કરોડાકરોડ યોજન જવાથી એવી જ રીતે સનત્કુમાર કલ્પ અને માહેન્દ્ર કલ્પ-એ બંને પણ અર્ધચન્દ્રાકારથી સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે એમની ઉપર બ્રહ્મ, લાન્તક, મહાશુક્ર અને સહસ્રાર એ ચાર કલ્પ એક એકના પ્રત્યેક અસંખ્યાત અસંખ્યાત યોજન જવાથી આવે છે અને સહસ્રાર કલ્પની ઉપર આનત-પ્રાણત એ બે દેવલોક તથા એમની ઉપર આરણ અને અચ્યુત એ ચારે કલ્પો—બે-બે યુગલ રૂપથી સૌધર્મ અને ઈશાન દેવલોકની જેમ અર્ધચન્દ્રાકારથી સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે. આ પ્રમાણે બારે દેવલોક વ્યવસ્થિત છે ॥૨૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સામાન્યથી પ્રતિપાદિત ચાર પ્રકારના જે ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર-જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક છે તેમાં વિશેષતઃ ક્રમથી ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક દેવોની પ્રરૂપણા કરી દેવામાં આવી છે. હવે વૈમાનિક દેવોની વિશેષ રૂપથી પ્રરૂપણા કરવા માટે કલ્પોપપન્ન અને કલ્પાતીતના ભેદોને લઈને બે પ્રકારના વૈમાનિકોમાં પ્રથમ ગ્રહણ કરેલા કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવોનું પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

કલ્પોપપન્ન દેવ-સૌધર્મ-ઈશાન-સનત્કુમાર-માહેન્દ્ર-બ્રહ્મ-લાન્તક-મહાશુક્ર-સહસ્રાર-આનત-પ્રાણત-આરણ-અચ્યુતના ભેદથી બાર પ્રકારના હોય છે. કલ્પોમાં અર્થાત્ બાર પ્રકારના દેવલોકોમાં જે ઉત્પન્ન થાય છે તેઓ કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવ કહેવાય છે, વૈમાનિકનો અર્થ થાય છે વિમાનોમાં રહેનારા દેવ, વિશેષ રૂપથી પોતાનામાં રહેલાં પૂર્વોપાર્જિત પુણ્યશાળી પ્રાણિઓને માને છે અર્થાત્ આદર-સન્માન કરે છે, ધારણ કરે છે તેમને વિમાન કહે છે અને વિમાનોમાં થનારા દેવ વૈમાનિક કહેવાય છે. આ વૈમાનિક દેવ સૌધર્મ આદિ બાર કલ્પોમાં હોવાથી દેવ પણ બાર પ્રકારના કહેવામાં આવે છે. બાર કલ્પ આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારા પ્રકારથી વ્યવસ્થિત છે—

જ્યોતિશ્ચક્રની ઉપર અસંખ્યાત કરોડાકરોડ યોજનો પાર કરવાથી અહીં મેરુ પર્વતને આશ્રય બનાવીને દક્ષિણાર્ધ તથા ઉત્તરાર્ધ ભાગમાં વ્યવસ્થિત, પૂર્વપશ્ચિમથી લાંબા અને દક્ષિણઉત્તરથી પહોળા ઉગતા સૂર્યની જેમ - દેદીપ્યમાન અસંખ્યાત યોજન આયામ વિષ્કંભ-પરિક્ષેપવાળા-સર્વ રત્નમય મધ્યસ્થિત સર્વરત્નવાળા અશોક સપ્તપર્ણ ચમ્પક, સહકાર સુશોભિત શક્રેન્દ્ર અને ઇશાનેન્દ્રના આવાસથી યુક્ત બે પ્રથમ અને બીજા અનુક્રમે સૌધર્મ અને ઇશાન દેવલોક એક એક અર્ધ ચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપ દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં વ્યવસ્થિત છે (૧-૨) તેમની ઉપર અસંખ્યાત યોજન જવાથી અહીં ત્રીજો તથા ચોથો સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર આ બે દેવલોક પણ પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપથી દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં વ્યવસ્થિત છે (૩-૪) એમની ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી અહીં બ્રહ્મ દેવલોક છે. આ બ્રહ્મ દેવલોકમાં લોકાન્તક દેવ રહે છે જેઓ જિનેન્દ્ર જન્માદિના મહોત્સવને નિરખવા માટે ઉત્સુક શુભ અધ્યવસાયવાળા ભક્તિભાવમાં વશીકૃતચિત્તવાળા હોય છે હવે બ્રહ્મલોકથી લઈને આઠમાં સહસ્રાર દેવલોક પર્યન્ત ચાર દેવલોક એક એકની ઉપર અસંખ્યાત અસંખ્યાત યોજનોના અન્તરથી વ્યવસ્થિત છે જેમ સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર આ દેવયુગલ લોકથી ઉપર અસંખ્યાત યોજન જવાથી પાંચમું બ્રહ્મ દેવલોક છે. (૫) તેની ઉપર અસંખ્યાત યોજન જવાથી છઠ્ઠું લાન્તક દેવલોક છે. (૬) તેના ઉપર અસંખ્યાત યોજન જવાથી સાતમું મહાશુક્ર દેવલોક આવે છે. (૭) તેની ઉપર અસંખ્યાત યોજન જવાથી આઠમું સહસ્રાર દેવલોક છે. (૮) એની ઉપર અસંખ્યાત યોજર જવાથી નવમા અને દશમા આનત અને પ્રાણુત દેવલોક પણ પહેલા અને બીજા સૌધર્મ ઇશાનની જેમ પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપથી દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે (૯-૧૦) આવી જ રીતે એમનાથી ઉપર અસંખ્યાત યોજન જવાથી અગીયારમું તથા બારમુ આરણ અને અચ્યુત દેવલોક, એ બંને દેવલોક પણ પૂર્વના આનત-પ્રાણતની માફક પ્રત્યેક અર્ધ ચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપથી દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે (૧૧-૧૨) આ બાર દેવલોકની સ્થિતિનું સ્વરૂપ છે.

બારમા કલ્પની ઉપર નવ ગ્રૈવેયક વિમાન છે જે એક બીજાની ઉપર અવસ્થિત છે તેમની ઉપર પાંચ અનુત્તર નામના મહાન વિમાન છે આ વૈમાનિક દેવોની-અવસ્થિતિનો ક્રમ છે.

સૌધર્મ કલ્પના કારણે ત્યાંનો ઇન્દ્ર પણ સૌધર્મ કહેવાય છે. ઇશાન નામનો દેવ સ્વભાવતઃ નિવાસ કરે છે તેનો નિવાસ હોવાથી તે કલ્પ ઐશાન કહેવાય છે અને ઐશાન કલ્પના સહચર્યથી ત્યાંના ઇન્દ્ર ઐશાન ઇન્દ્રના નામથી પ્રસિદ્ધ છે. આવી જ રીતે પછીના કલ્પો અને ઇન્દ્રોની બાબતમાં સમજવું જોઈએ. સૌધર્મ આદિ કલ્પોમાં નિવાસ કરનારા દેવોના દસ ઇન્દ્ર હોય છે કારણ કે નવમાં અને દશમાં આ બે દેવલોકોના પણ એક જ ઇન્દ્ર હોય છે.

હવે અત્રે સૌધર્માદિ દેવલોક—સમતલ ભૂમિથી કેટલા ઉંચા છે એ બતાવવામાં આવે છે-પહેલું અને બીજું જે સૌધર્મ અને ઇશાન કલ્પ છે તેઓ યુગલરૂપથી સ્થિત બંને કલ્પ સમતલ ભૂમિથી દોઢ રાજુ. ત્રીજું અને ચોથુ જે સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર એ યુગલ રૂપથી સ્થિત બંને કલ્પ સમતલ ભૂમિથી અઢી રાજુ ઉપર છે આવી જ રીતે પાંચમો કલ્પ સવા ત્રણ રાજુ ઉપર છે છઠ્ઠો કલ્પ સાડા ત્રણ રાજુ ઉંચો છે સાતમો કલ્પ પોણ્યાર રાજુ ઉંચો છે અને આઠમો

સહસ્રાર કલ્પ ચાર રાજુ સમતલ ભૂમિથી ઉંચો છે એવી જ રીતે નવમાં અને દશમાં યુગલ રૂપથી સ્થિત આ બંને કલ્પ સમતલ ભૂમિથી સાડાચાર રાજુ ઉપર છે. ત્યાર પછી અગ્યારમો અને બારમાં યુગલ રૂપથી સ્થિત બન્ને કલ્પ સમતલ ભૂમીથી પાંચ રાજુ ઉંચા છે. આ કલ્પોપપન્ન બાર દેવલોકનું સમતલ ભૂમિથી ઉપર હોવાનું પ્રમાણ જાણવું જોઈએ.

એમની આગળ ત્રણ ત્રણ કરીને ત્રણ ત્રિકોમાં કલ્પાતીત નવ ગ્રૈવેયક દેવ છે. એ ત્રણ ત્રિકોમાંથી પહેલું ત્રિક સમતલ ભૂમિથી પાંચ રાજુ અને એક રાજુના ત્રણ ભાગોમાંના એક ભાગ જેટલું ઉંચું છે. બીજુ ત્રિક પાંચ રાજુ અને એક રાજુના ત્રણભાગોમાંના બે ભાગ જેટલું ઉંચું છે અને ત્રીજુ ત્રિક પૂરા છ રાજુ સમતલ ભૂમિથી ઉંચું છે. આ નવ પુરુષાકાર લોકની ડોક-સ્થળે હોવાથી ગ્રૈવેયક કહેવાય છે.

એમની આગળ પાંચ અનુત્તર વિમાન છે જેમની પછી અર્થાત્ આગળ કોઈ વિમાન ન હોવાથી એ અનુત્તર વિમાન કહેવાય છે. આ પાંચ પ્રત્યેક ચારે દિશાઓમાં સમશ્રેણિથી સ્થિત છે. એ સમીપ ભૂમિથી થોડા ઓછાં સાત રાજુ ઉંચે છે. આ પાંચે અનુત્તર વિમાન એક રાજુના થોડા ઓછા પાંચ ભાગ કરવામાં આવે તેમાંથી એક-એક ભાગના અન્તરથી સ્થિત છે. આ પાંચ અનુત્તર વિમાનોનું વર્ણન થયું. આવાં, આ નવ ગ્રૈવેયક અને પાંચ અનુત્તર વિમાનવાસી આ રીતે ચૌદ કલ્પાતીત દેવ કહેવાય છે આ ચૌદ પ્રકારના કલ્પાતીત દેવોનું વર્ણન આગળના સૂત્રમાં કરવામાં આવશે

જમ્બૂદ્વીપનો મહામન્દર પર્વત એક હજાર યોજન પૃથ્વીની અંદર છે. નવ્વાણુ હજાર યોજનની એની ઉંચાઈ છે, એની નીચેના ભાગમાં અધોલોક છે. તિર્યક્ અર્થાત્ વાંકો ફેલાયેલો તિર્યગ્ લોક છે-એની ઉપર ઉર્ધ્વલોક છે. આ મેરૂની ચૂલિકા ચાલીસ યોજનની ઉંચાઈવાળી છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમાં દેવાધિકારમાં કહ્યું છે—વૈમાનિક દેવ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમકે—કલ્પોપપન્નક અને કલ્પાતીત કલ્પોપપન્નક કેટલા પ્રકારના છે ? તેઓ બાર પ્રકારના હોય છે—સૌધર્મ, ઈશાન, સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રનાં છઠાં પદમાં તથા અનુયોગદ્વારમાં અને ઔપપાતિક સૂત્રના સિદ્ધાધિકારમાં કહ્યું છે—

સૌધર્મ ઈશાન, સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક, મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણત આરણ અને અચ્યુત ॥ ૨૦ ॥

'कप्पाइयात वेमाणिया' ઇત્યાદિ ॥ **सू. २१** ॥

સૂત્રાર્થ—કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવ ચૌદ પ્રકારના છે—નવગ્રૈવેયક દેવ અને પાંચ અનુત્તરોપપાતિક દેવ ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવોના સૌધર્મ આદિ બાર વિશેષ ભેદોનું નિરૂપણ કરી ગયા હવે કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવોના ચૌદ પ્રકારના અવાન્તર ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવ ચૌદ પ્રકારના છે—નવગ્રૈવેયક અને પાંચ અનુત્તરોપપાતિક,

જે દેવ બાર કલ્પોથી અતીત–બહાર છે તે કલ્પાતીત કહેવાય છે. અથવા જે દેવોમાં ઇન્દ્ર, સામાનિક આદિની કલ્પના થતી નથી–જેમાં સ્વામી–સેવક ભાવ હોતો નથી, જેઓ સઘળાં અહમિન્દ્ર છે, તે દેવોને કલ્પાતીત કહે છે. આ દેવ બાર દેવલોકથી ઉપર રહે છે. વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થવાના કારણે તેમની વૈમાનિક સંજ્ઞા છે. તેઓ ચૌદ પ્રકારના છે–નવગ્રૈવેયક વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થનારા અને પાંચ અનુત્તર વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થનારા ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા સૌધર્મ, ઇશાન આદિ બાર પ્રકારના કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે ચૌદ પ્રકારના કલ્પાતીત વૈમાનિકોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ––

કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવ ચૌદ પ્રકારના છે–નવગ્રૈવેયક અને પાંચ અનુત્તરૌપપાતિક

સૌધર્મ આદિ પૂર્વોક્ત બાર કલ્પોથી જે અતીત હોય અર્થાત્ તેનાથી પણ ઉપરના ક્ષેત્રમાં જે હોય તે કલ્પાતીત કહેવાય છે અથવા જે ઈન્દ્ર સામાનિકના ભેદ કલ્પનાથી અતીત હોય–બધા સરખી શ્રેણીના હોય, તે કલ્પાતીત કહેવાય છે–કલ્પાતીત દેવોના પૂર્વોક્ત ચૌદ ભેદ છે–

ગ્રૈવેયક વિમાન નવ છે. પ્રરૂપણાની અનુકૂળતાની દૃષ્ટિએ તેમનું ત્રણ ભાગોમાં વિભાજન કરવામાં આવ્યું છે–ત્રણ અધસ્તન અર્થાત્ નીચેના, ત્રણ મધ્યમ અર્થાત્ વચ્ચેના અને ત્રણ ઉપરિતન અર્થાત્ ઉપરના જે વિમાન સર્વોત્કૃષ્ટ છે, જેમનાથી ઉત્તમ કોઈ વિમાન નથી તે અનુત્તર વિમાન કહેવાય છે. ને પાંચ છે–વિજય વૈજયન્ત, જયન્ત, અપરાજિત અને સર્વાર્થસિદ્ધ.

નવ ગ્રૈવેયકવાસી અને પાંચ અનુત્તર વિમાનવાસી, આ બંને મળીને કલ્પાતીત દેવો ચૌદ પ્રકારના છે.

આ લોક પુરુષાકાર છે. લોક–પુરુષની ડોકના સ્થાને જે વિમાનો આવેલા છે તે ગ્રૈવેયક કહેવાય છે તે વિમાનોમાં રહેનારા દેવો પણ ગ્રૈવેયક કહેવાય છે.

પાંચ અનુત્તર વિમાન બધા વિમાનોની ઉપર અવસ્થિત છે આથી તેમને અનુત્તર કહેવામાં આવ્યા છે. જેનાથી બીજું કશું જ તેમજ શ્રેષ્ઠ નથી તે અનુત્તર કહેવાય છે. વિજય વૈજયન્ત આદિ દેવોના નામ છે અને દેવોના નામથી વિમાનોના પણ એ જ નામ છે.

જેઓએ સ્વર્ગ સંબંધી અભ્યુદયની પ્રાપ્તિમાં વિઘ્ન નાખનારા બધાં કારણોને વિજિત કરી લીધા છે અર્થાત્ તેમના પર વિજય પ્રાપ્ત કરી લીધો છે તે ત્રણ દેવો વિજય, વૈજયન્ત અને જયન્ત કહેવાય છે તે દેવો અભ્યુદયનો નાશ કરનારા કારણોને દૂર કરીને અમન્દ (તીવ્ર) આનંદ રૂપ સ્વર્ગસુખના સમૂહને આત્મસાત્ કરીને ભોગવે છે આવી જ રીતે સ્વર્ગીય સુખમાં અડચણો ઉભી કરનારા કારણોથી જેઓ પરાજિત ન થયા હોય તેઓ અપરાજિત કહેવાય છે. જે દેવ અભ્યુદય સંબંધી સમસ્ત અર્થોમાં સિદ્ધ (સફળ) હોય તેઓ સર્વાર્થસિદ્ધ દેવ સ્વર્ગના સુખોની ચરમ સીમા સુધી પહોંચી ચૂકયા છે આથી સર્વ પ્રયોજનોમાં તેમની શક્તિ અવ્યાહત હોય છે.

અથવા જે દેવ સર્વ અર્થો અર્થાત પ્રયોજનોથી સિદ્ધ છે તેઓ સર્વાર્થસિદ્ધ કહેવાય છે. સમસ્ત અતિશયશાળી અને અત્યન્ત રમણીય શબ્દ, રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ આદિથી જે સિદ્ધ અર્થાત્ પ્રખ્યાત છે તેનો સર્વાર્થસિદ્ધ સમજવા જોઈએ.

અથવા જ્યાં સર્વ અર્થ સિદ્ધ થઈ જાય છે તેઓ સર્વાર્થસિદ્ધ આનો અર્થ એ થયો કે ત્યાં (સર્વાર્થસિદ્ધ વિમાન)ના દેવ એક મનુષ્યભવ કરીને મોક્ષ પ્રાપ્ત કરી લે છે અને સિદ્ધ થઈ જાય છે વિજય આદિ ચાર વિમાનોના કોઈ-કોઈ દેવ બે મનુષ્યભવ કરીને પણ સિદ્ધ થાય છે જ્યારે સર્વાર્થસિદ્ધ વિમાનના દેવ નિયમથી એક જ ભવ ધારણ કરીને-સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરી લે છે. આ સર્વાર્થસિદ્ધ વિમાનની અન્ય ચાર વિમાનોથી વિશેષતા છે.

વિજય આદિ દેવોના નામનો બીજા પ્રકારથી પણ અર્થ કરી શકાય છે. જેઓએ કર્મોને લગભગ જીતી લીધા છે તે વિજય આદિ દેવ કહી શકાય છે તેમના કર્મ ઘણા હળવાં થઈ જાય છે એ કારણે સિદ્ધિ-મુક્તિની નિરવદ્ય સુખમય વિભૂતિ તેમની સમીપ આવી જાય છે આથી તેઓ પરમકલ્યાણને પ્રાપ્ત કરી ચૂકયા છે ભૂખ તરસ વગેરે બાવીસ પરિષહોથી પોતાના પૂર્વ મુનિજીવનમાં પરાજિત ન થઈને; મૃત્યુના અનન્તર પણ તેઓ અપરાજિત દેવોના રૂપમાં ઉત્પન્ન થાય છે.

અથવા હમેશાં તૃપ્ત રહેતા હોવાના કારણે તે દેવ ભૂખ વગેરેથી પરાજિત થતાં નથી એ કારણે તેમને અપરાજિત કહ્યાં છે. આવી જ રીતે સંસાર સંબંધી સમસ્ત કર્તવ્યોને પરિપૂર્ણ કરવાના કારણે તેમને સર્વાર્થસિદ્ધ કહેવામાં આવે છે. અથવા સમસ્ત કર્મોના ક્ષય સ્વરૂપ મોક્ષ રૂપ ઉત્તમ અર્થ લગભગ સિદ્ધ થઈ ચૂકયો હોય તેઓ સવાર્થસિદ્ધ કહેવાય છે કારણ કે હવે પછીના બીજા જ ભવમાં તેમને મોક્ષની પ્રાપ્તિ થવાની છે.

આ પ્રકારની વ્યુત્પત્તિઓ અનુસાર જો કે વિજય આદિ ચાર અનુત્તર વિમાનોના દેવ પણ સર્વાર્થસિદ્ધ કહી શકાય છે, પરંતુ 'ગો' પદની જેમ સર્વાર્થસિદ્ધ પદ પણ સર્વાર્થસિદ્ધ નામક વિમાનના નિવાસી દેવોને માટે રૂઢ છે. તાત્પર્ય એ છે કે "ગૌ" શબ્દનો અર્થ થાય છે-ગમન કરવાવાળો આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર જે કોઈ ગમન કરે છે તે મનુષ્ય, અશ્વ આદિ બધાંને "ગૌ" કહી શકાય છે. પરંતુ "ગૌ" શબ્દ ગાય નામના પશુના અર્થમાં રૂઢ થઈ ગયો છે આથી બધાં ચાલતા-ફરતાનો વાચક માનવામાં આવતો નથી એવી જ રીતે સર્વાર્થસિદ્ધ પદથી જો કે વિજય આદિ દેવોને પણ કહી શકાય છે પરન્તુ કહેવામાં આવતો નથી કારણ કે તે પાંચમાં અનુત્તર વિમાનના દેવો માટે રૂઢ છે.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રનાં છઠાં પદમાં, અનુયોગદ્વારમાં અને ઔપપાતિકસૂત્રના સિદ્ધાધિકારમાં કહ્યું છે—

અધસ્તન ગ્રૈવેયક, મધ્યમ ગ્રૈવેયક, ઉપરિતન ગ્રૈવેયક, વિજય, વૈજયન્ત, જયન્ત, અપરાજિત અને સર્વાર્થસિદ્ધ દેવ. ॥૨૧॥

'भवणवइ वाणमंतरा णं' ઈત્યાદિ ॥ સૂ. ૨૨ ॥

સૂત્રાર્થ—ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તર દેવોમાં પ્રારંભની ચાર લેશ્યાઓ, જ્યોતિષ્કોમાં તેજોલેશ્યા અને વૈમાનિકોમાં અન્તની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય છે ॥૨૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાં ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોના સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે એ બતાવીએ છીએ કે તે દેવોમાં કેટલી અને કયી કયી લેશ્યાઓ હોય છે—

અસુરકુમાર આદિ દસ ભવનપતિ દેવોમાં તથા કિન્નર આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તર દેવોમાં પ્રારંભની ચાર લેશ્યાઓ-કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત અને તેજો હોય છે ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરે જ્યોતિષ્ક દેવોમાં એક માત્ર તેજોલેશ્યા—હોય છે અને બાર કલ્પોપપન્ન નવ ગ્રૈવેયક અને પાંચ અનુત્તરૌપપાતિક દેવોમાં અન્તિમ ત્રણ લેશ્યાઓ—તેજ, પદ્મ અને શુક્લ જોવામાં આવે છે ॥ ૨૨ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા દેવોના સામાન્ય રૂપથી ચાર ભેદ કહેવામાં આવ્યા—ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ત્યારબાદ ભવનપતિઓના અસુરકુમાર આદિ દસ ભેદ, વાનવ્યન્તરોના કિન્નર આદિ આઠ ભેદ, જ્યોતિષ્કોના ચન્દ્ર-સૂર્ય આદિ પાંચ ભેદ અને કલ્પોપપન્ન વૈમાનિકોના બાર ભેદ, ગ્રૈવેયકોના નવ ભેદ અને અનુત્તરૌપપાતિકોના પાચ ભેદ દર્શાવી દેવામાં આવ્યા છે હવે એવું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ કે તે દેવોમાં કેટલી-કેટલી ભાવ લેશ્યાઓ હોય છે. ?

ભવનપતિઓ અને વાનવ્યન્તરોમાં શરૂઆતની ચાર લેશ્યાઓ જ્યોતિષ્કોમાં તેજોલેશ્યા અને વૈમાનિકોમાં છેવટની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય છે ભવનપતિઓ અને વાનવ્યન્તરોમાં કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત અને તેજોલેશ્યા—એ ચાર લેશ્યાઓ છે.

સૌધર્મ આદિ બાર પ્રકારનાં કલ્પોપપન્નક અને કાલ્પાતીત નવ ગ્રૈવેયક અને પાંચ અનુત્તરૌપપાતિક વૈમાનિક દેવોમાં છેવટની ત્રણ અર્થાત્ તેજ, પદ્મ અને શુકલ નામની લેશ્યાઓ હોય છે.

વૈમાનિકોમાં સૌધર્મ અને ઈશાનમાં તેજોલેશ્યા જોવામાં આવે છે સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર અને બ્રહ્મલોકમા પદ્મ લેશ્યા, લાન્તક, મહાશુક્ર સહસ્રાર આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુતમાં તથા નવ ગ્રૈવેયકો અને પાંચ અનુત્તરૌપપાતિકમાં શુકલ—લેશ્યા હોય છે આ શુકલ લેશ્યા ઉપર-ઉપર વધારે વિશુદ્ધ હોય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના પ્રથમ સ્થાનમાં કહ્યું છે—ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તરોમાં ચાર લેશ્યાઓ હોય છે, જ્યોતિષ્કોમાં એક તેજોલેશ્યા હોય છે. અને વૈમાનિકોમાં અન્તની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય છે.

આ પૈકી પ્રારંભની ચાર, કૃષ્ણ નીલ, કાપોત અને તેજોલેશ્યા ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તરોમાં હોય છે. ચન્દ્ર સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર, તારા નામના પાંચ જ્યોતિષ્કોમાં એક તેજોલેશ્યા હોય છે સૌધર્મ તથા ઈશાનમા તેજોલેશ્યા, સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર અને બ્રહ્મલોકમાં પદ્મલેશ્યા અને શેષ વૈમાનિકોમાં ઉત્તરોત્તર વિશુદ્ધ શુકલલેશ્યા હોય છે.

જીવાભિગમની ત્રીજી પ્રતિપત્તિના પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં તથા પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૧૭માં પદના પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—સૌધર્મ અને ઈશાન દેવોમાં કેટલી લેશ્યાઓ હોય છે ? ગૌતમ ! એક તેજોલેશ્યા હોય છે સનત્કુમાર અને માહેન્દ્રમાં પદ્મલેશ્યા, બ્રહ્મલોકમાં પણ પદ્મલેશ્યા અને શેષ વૈમાનિકોમાં શુક્લલેશ્યા તથા અનુત્તરોપપાતિકોમાં પરમ શુકલલેશ્યા હોય છે. ॥ ૨૨ ॥

'कप्पोववन्नगदेवाणं' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોમાં ઇન્દ્ર સામાનિક ત્રાયસ્ત્રિંશ આત્મરક્ષક લોકપાલ, પારિષદ્ અનીકાધિપતિ, પ્રકીર્ણક, આભિયોગ્ય અને કિલ્બિષક એ દશ ભેદ હોય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલાં ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોના સામાન્ય અને વિશેષ રૂપે સ્વરૂપ બતાવ્યા, ત્યાર બાદ ચારે પ્રકારના દેવોમાં જોવાતી કૃષ્ણ નીલ વગેરે લેશ્યાઓનું નિરૂપણ કીધું હવે એ બતાવીએ છીએ કે ચારે નિકાયોમાંથી કોનામાં ઈન્દ્ર, સામાનિક આદિ કેટલાં ભેદ હોય છે ? આ પ્રશ્નનું સમાધાન કરવા માટે સૌ પ્રથમ કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોના ઈન્દ્રાદિ દશ ભેદોનું પ્રતિપાદનક કરીશું—

સૌધર્મથી લઈને અચ્યુત પર્યન્ત બાર કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોમાં આજ્ઞા ઐશ્વર્ય આદિ તથા ભોગોપભોગ વગેરેના સમ્પાદક રૂપથી ઈન્દ્ર આદિ દસ પરિવાર હોય છે.

(૧) ઈન્દ્ર—અન્ય દેવોને પ્રાપ્ત ન થઈ શકનારા અણિમા આદિ ગુણોના યોગથી જે સંસ્કૃત અર્થાત્ પરમ ઐશ્વર્યને પ્રાપ્ત હોય છે તે ઇન્દ્ર કહેવાય છે. તે રાજાના જેવો હોય છે

(૨) સામાનિક—જે ઇન્દ્ર તો ન હોય પરન્તુ ઇન્દ્રના જેવો હોય અર્થાત ઇન્દ્રના જેવા જ જેમના મનુષ્ય, વીર્ય, પરિવાર ભોગ અને ઉપભોગ હોય પરન્તુ ઈન્દ્રની માફક આજ્ઞા અને ઐશ્વર્ય ન હોય, તે, સામાનિક દેવ કહેવાય છે. તેમને 'મહત્તર' પણ કહે છે. આ દેવ રાજાના પિતા ગુરૂ અથવા ઉપાધ્યાય જેવા હોય છે.

(૩) ત્રાયસ્ત્રિંશ—આ મંત્રી અને પુરોહિત સ્થાનીય છે. મિત્ર, પીઠ મર્દ વગેરે સમજવા

(૪) આત્મરક્ષક—આ ઇન્દ્રની રક્ષા કરનારા અંગરક્ષક જેવા છે.

(૫) લોકપાલ—લોક-જનતાની રક્ષા કરવાવાળા, ખજાનચીની માફક અર્થચર, કોટવાલની જેમ દેશરક્ષક, દુર્ગપાળની જેમ મહાતલવર દેવ લોકપાળ કહેવાય છે.

(૬) પારિષદ- સદસ્યો (સભ્યો) જેવાં.

(૭) અનીકાધિપતિ—પાયદલ, ગજદળ, હયદળ. રથદળ વગેરે સાત પ્રકારની સેનાઓનાં અધિપતિ-એમને દણ્ડસ્થાનીય પણ કહી શકાય.

(૮) પ્રકીર્ણક—નાગરિક-જનતા જેવા.

(૯) આભિયોગિક—સેવકની જેવા જે વાહન વગેરેના કામમાં આવે છે.

(૧૦) કિલ્બિષિક—દિવાકીર્ત્તિ નાપિતની જેવા ચાણ્ડાળની જેવા ભિન્ન કોટિના દેવ.

ઈન્દ્ર આદિ આ દસ ભેદ સૌધર્મ આદિ અચ્યુત દેવલોક સુધી બાર વૈમાનિકોમાં આ દસે ભેદો જોવામાં આવે છે-કોઈ, કોઈ સ્થળે—બબ્બે દેવલોકોમાં આ ભેદ હોય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોની કૃષ્ણ, નીલ વગેરે છ લેશ્યાઓનું યથાયોગ્ય પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું; હવે તેજ દેવોના આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય, ભોગ, ઉપભોગ આદિના સમ્પાદન માટે ઈન્દ્ર આદિ દસ ભેદ હોય છે તેમનું પ્રતિપાદન કરવા માટે પ્રથમ ભવનપતિ અને કલ્પોપપન્ન—વૈમાનિક દેવોમાં થનારા દશ ભેદોનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—કલ્પોપપન્નક દેવોના ઈન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિંશક, આત્મરક્ષક, લોકપાલ, પરિષદુપપન્નક (પારિષદ), અનીકાધિપતિ, પ્રકીર્ણક આભિયોગિક અને કિલ્બિષિક આ દસ-દસ દેવ હોય છે. એમનું સ્વરૂપ આ પ્રકારે છે-

(૧) ઈન્દ્ર : જે પરમ ઐશ્વર્યથી યુક્ત હોય તેમજ સામાનિક વગેરે દેવના અધિપતિ હોય.

(૨) સામાનિક : જેમના આજ્ઞા-ઐશ્વર્ય ઈન્દ્રની જેવા ન હોય પરન્તુ આયુ, વીર્ય(પરાક્રમ) ભોગ, ઉપભોગ આદિ તેના જેવા જ હોય. તાત્પર્ય એ છે કે ઈન્દ્ર શાસક હોય છે—તેની આજ્ઞા ચાલે છે, તે સમ્પૂર્ણ કલ્પનો અધિપતિ હોય છે, આ વિશેષતા સામાન્ય દેવોમાં જોવામાં આવતી નથી પરંતુ આયુષ્ય વગેરેમાં તેઓ ઈન્દ્ર સમાન જ હોય છે, ઇન્દ્ર રાજા જેવો છે તો આ બધાં તેના પ્રધાન, પિતા, ગુરૂ, ઉપાધ્યાય અથવા મહત્તર જેવાં છે.

(૩) ત્રાયસ્ત્રિંશ—આ મંત્રી તથા પુરોહિત જેવા છે. જે રાજ્યના કારભારની ચિન્તા કરે છે—શાસન સૂત્રનું સંચાલન કરે છે તેઓ મંત્રી કહેવાય છે. શાન્તિ કર્મ પુષ્ટિ કર્મ વગેરે કરનારા પુરોહિત કહેવાય છે.

(૪) આત્મરક્ષક—જે ઇન્દ્રના રક્ષક હોય, હથિયારથી સજ્જ થઈ પાછળ ઉભા રહેતા હોય અને રૌદ્ર હોય

(૫) લોકપાલ—જે લોકોનું પાલન કરે તે લોકપાલ. આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર એ આત્મ-રક્ષક સ્થાનીય હોય છે. આત્મરક્ષક તે કહેવાય જે દેશના સીમાડાઓનું રક્ષણ કરે છે.

(૬) પારિષદ-મિત્રો જેવા સભાસદો જેવાં.

(૭) અનીકાધિપતિ—સેનાપતિ અથવા દણ્ડનાયક જેવા સેનાઓ અનેક પ્રકારની હોય છે. ગજસેના, અશ્વસેના, રથસેના પાયદળ વગેરે.

(૮) પ્રકીર્ણક—પ્રજા જેવા.

(૯) આભિયોગિક—ભૃત્યો-નોકરોની જેવા. જે બીજાનાં કામ કરવા માટે તૈયાર રહે તે.

(૧૦) કિલ્બિષિક—કિલ્બિષનો અર્થ છે. પાપ જે દેવને ચાન્ડાલો જેવા હડધૂત સમજ-વામાં આવે છે તેઓ કિલ્બિષિક કહેવાય છે. ॥૨૩॥

'**वाणमंतरजोइसियाण**' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—વાનવ્યંતર અને જ્યોતિષ્કોમાં (૧) ઈન્દ્ર (૨) સામાનિક (૩) પારિષદુપપન્નક (૪) આત્મરક્ષક (૫) અનીકાધિપતિ આ પાંચ દેવ હોય છે. કલ્પાતીત દેવ બધા અહમિન્દ્ર હોય છે. ॥૨૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં બાર કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોના ઈન્દ્ર આદિ દસ-દસ ભેદ, આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય ભોગ ઉપભોગ આદિના સમ્પાદક રૂપમાં પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે હવે એ દર્શાવીએ છીએ કે વાનવ્યન્તરો અને જ્યોતિષ્કોમાં ઈન્દ્રાદિ પાંચ હોય છે. નવ ગ્રૈવે-યક દેવ તથા પાંચ અનુત્તરૌપપાતિક દેવ સઘળાં અહમિન્દ્ર હોય છે. તેમનામાં ઇન્દ્ર વગેરેનો કોઈ ભેદ હોતો નથી. વાનવ્યંતર અને જ્યોતિષ્ક દેવોમાં આ પાંચ-પાંચ ભેદવાળા દેવ હોય છે. (૧) ઈન્દ્ર (૨) સામાનિક (૩) પારિષદ (૪) આત્મરક્ષક (૫) અનીકાધિપતિ કલ્પાતીત દેવ અહમિન્દ્ર હોય છે.

કિન્નર, કિંપુરૂષ આદિ આઠ વાનવ્યન્તરો તથા ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ પાચ જ્યોતિષ્કોમાં (૧) ઇન્દ્ર (૨) સામાનિક (૩) પારિષદુપપન્નક (૪) આત્મરક્ષક (૫) અનીકાધિપતિ (૬) પ્રકીર્ણક (૭) આભિયોગિક અને (૮) કિલ્બિષિક એ આઠ ભેદ હોય છે.

કલ્પાતીત દેવ અર્થાત્ નવ ગ્રૈવેયક તથા પાંચ અનુત્તરૌપપાતિક અહમિન્દ્ર હોય છે. તેમનામાં શાસ્ય–શાસકભાવ નથી, સ્વામિ–સેવકનો ભેદ નથી, તેઓ સ્વયં જ પોતાના સ્વામિ ભર્ત્તા અગર પોષક છે. તેઓ કોઇની આજ્ઞા હેઠળ હોતાં નથી, કોઇના ઐશ્વર્યના વિધાયક હોતા નથી એ કારણે જ તેમને અહમિન્દ્ર કહે છે. ॥૨૪॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા સૌધર્મ ઈશાન વગેરે બાર પ્રકારના વૈમાનિકોના આજ્ઞા ઐશ્વર્ય ભોગ ઉપભોગોના વિધાયક રૂપથી ઈન્દ્ર આદિ દસ દસ ભેદ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યા હવે કિન્નર આદિ વાનવ્યંતરો અને ચન્દ્ર–સૂર્ય આદિ પાંચ જ્યોતિષ્કોમાં ઈન્દ્રાદિ દેવોના ભેદ બતાવીએ છીએ. અહીં ઈન્દ્ર વગેરે પાંચ ભેદવાળા દેવ હોય છે.

કિન્નર કિંપુરૂષ આદિ આઠ પ્રકારના—વાનવ્યંતરોમાં તથા ચન્દ્ર–સૂર્ય ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા આ પાંચ જ્યોતિષ્ક વિમાનોમાં ઈન્દ્ર સામાનિક પારિષદ્ય આત્મરક્ષક અનીકાધિપતિ આ પાંચ પ્રકારની આજ્ઞા–ઐશ્વર્ય ભોગોપભોગના વિધાયક રૂપમાં જ હોય છે—

આ રીતે વાનવ્યન્તરો અને જ્યોતિષ્કોમાં આ પાંચ પ્રકારોમાંથી.

(૧) ઈન્દ્ર તે કહેવાય જે બાકી ચારના અધિપતિ છે અને પરમ ઐશ્વર્યથી સમ્પન્ન હોય છે.

(૨) સામાનિક—જે ઈન્દ્રની જેવા સ્થાને હોય તે સામાનિક આયુ વીર્ય પરિવાર ભોગ અને ઉપભોગ આદિની અપેક્ષા તેઓ ઈન્દ્રની બરાબર હોય છે. તેમને મહત્તર, ગુરૂ, પિતા અગર ઉપાધ્યાયની માફક સમજવા જોઈએ.

(૩) પારિષદ્ય—જે મિત્રો જેવા હોય.

(૪) આત્મરક્ષક—જે પોતાના શસ્ત્ર, અસ્ત્રોમે તૈયાર રાખે છે, રૌદ્ર હોય છે અને ઈન્દ્રની રક્ષા માટે તેમની પાછળ ઉભા રહે છે.

(૫) અનીકાધિપતિ—આ સેનાપતિએ જેવા હોય છે.

ભવનપતિ દેવોના ઈન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિંશક, લોકપાલ પારિષદ્ય, અનીકાધિપતિ અને આત્મરક્ષક એ સાત આજ્ઞા ઐશ્વર્ય ભોગોપભોગના વિધાયક હોય છે.

કલ્પાતીત દેવ કોણ છે ? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર એ છે કે જે દેવ પહેલાં કહેવાયેલા સૌધર્મ આદિ બાર કલ્પોથી દૂર છે ઉપર છે તે નવ પ્રકારના ગ્રૈવેયક દેવ અને પાંચ પ્રકારના અનુત્તરૌપપાતિક દેવ કલ્પાતીત કહેવાય છે—પોતે જ પોતાના ઈન્દ્ર છે તેમનો બીજો કોઈ ઈન્દ્ર હોતો નથી એ કારણે જ તેઓ અહમિન્દ્ર કહેવાય છે તેમનામાં સામાનિક આદિ–વિભાગ હોતા નથી એવા કલ્પાતીત દેવોમાં નવ ગ્રૈવેયક દેવ નીચે મધ્ય અને ઉપર એવી ત્રણ ત્રિકોમાં ત્રણ ત્રણ સંખ્યાથી રહે છે અનુત્તરૌપપાતિક દેવ વિજય–વૈજયન્ત, જયન્ત, અપરાજિત અને સર્વાર્થસિદ્ધ નામક પાંચ અનુત્તર વિમાનોમાં રહે છે. તેઓ સ્વયં પોતાના આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય, અધિપતિત્વ ભર્તૃત્વ, પોષકત્વના વિધાયક હોય છે. ભવનપતિ દેવોના ઈન્દ્ર સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિંશક, લોકપાલ પારિષદ્ય—અનીકાધિપતિ અને આત્મરક્ષક એ સાત આજ્ઞા ઐશ્વર્યના વિધાયક હોય છે.

પ્રજ્ઞાપનાના બીજા સ્થાનપદના ૩૮ માં સૂત્રમા "**कहि णं भंते वाणमंतराणं**" એ સૂત્રમાં કહ્યું છે કે—પોત-પોતાના સહસ્રો સામાનિક દેવોનો પોત-પોતાની અગ્રમહિષિઓનું પોત-પોતાના પારિષદ્ય દેવોનું પોત-પોતાનાં અનીક દેવોનું પોત-પોતાના અનીકાધિપતિઓનું, પોત-પોતાના આત્મરક્ષક સેનાના દેવોનુ અને બીજા ઘણા બધા વાનવ્યન્તર દેવોનું અધિપતિત્વ, પૌરપત્ય, સ્વામિત્વ, ભર્તૃત્વ મહત્તરત્વ, આજ્ઞા-ઐશ્વર્ય સેનાપતિત્વ કરતા થકા વિચરે છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રમાં આ જ સ્થાન પદના ૪૨ માં સૂત્રમાં "**कहि णं भंते जोइसियाणं**" આ સૂત્રમા કહેવામાં આવ્યું છે—તેઓ પોત-પોતાના હજારો વિમાનાવાસોનું પોત-પોતાના હજારો સામાનિક દેવોનું પોત-પોતાની સપરિવાર પટ્ટરાણીઓનુ પોત-પોતાની પરિષદોનું પોત-પોતાના અનીકોનું પોત-પોતાના અનીકાધિપતિઓનુ પોત-પોતાના હજારો આત્મરક્ષક દેવોનું તથા દેવીઓનું અધિપતિત્વ કરતાં થકાં આ પ્રમાણે વિચરે છે.

ભવનપતિ દેવોની બાબતમાં આ જ પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના બીજા પદમાં "**कहि णं भंते भवणवासीणं**" એ ૨૮માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—પોત-પોતાના લાખો ભવનાવાસોમા, પોત-પોતાના હજારો સામાનિક દેવોનું, પોત-પોતાના ત્રાયસ્ત્રિંશક દેવોનું પોત-પોતાના લોકપાલોનું, પોત-પોતાની પટ્ટરાણીઓનું પોત-પોતાના પારિષદ્ય દેવોનું, પોત-પોતાની સેનાઓનુ પોત-પોતાના અનીકાધિપતિઓનું પોત-પોતાના આત્મ-રક્ષક દેવોનું તથા બીજા પણ ઘણાં દેવોનું આધિપત્ય કરતાં થકા રહે છે ા૨૪ા

'**भवणवइ वाणमंतराणं पाडिएक्कं**' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભવનપતિઓ અને વાનવ્યન્તરોની પ્રત્યેક જાતિમાં બબ્બે ઈન્દ્ર છે, જ્યોતિષ્કોમાં કુલ બે ઈન્દ્ર છે અને વૈમાનિકોમાં (એક-એક કલ્પમાં) એક એક ઇન્દ્ર છે ા૨૫ા

તત્ત્વાર્થદીપિકા—ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકોમાં ઈન્દ્ર વગેરે કેટલા કેટલા પ્રકારના હોય છે એ બતાવી દેવામાં આવેલ છે હવે અસુરકુમાર આદિ દસ પ્રકારના ભવનપતિઓમાં તથા કિન્નર, કિંપુરૂષ આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તરોમાં પ્રત્યેક જાતિમાં બબ્બે—ઈન્દ્ર હોય છે, જ્યોતિષ્કોમાં જાતિવાચક કુલ બે ઈન્દ્ર છે અને વૈમાનિકોમાં એક-એક ઇન્દ્ર છે એ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

અસુરકુમાર આદિ દસ પ્રકારના ભવનવાસિઓમાં અને કિન્નર આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તરોમાં પ્રત્યેક જાતિમાં બે-બે ઈન્દ્ર હોય છે. ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા એ પાંચ પ્રકારના જ્યોતિષ્કોમાં માત્ર જાતિવાચક બે ઈન્દ્ર—ચન્દ્ર તથા સૂર્ય હોય છે. સૌધર્મ આદિ પ્રત્યેક વૈમાનિક દેવોમા એક-એક ઈન્દ્ર હોય છે સૌધર્મ કલ્પમાં શક્ર ઇન્દ્ર છે, ઈશાન કલ્પમાં ઈશાન ઇન્દ્ર છે; યાવત્ આનત-પ્રાણતમાં પ્રાણતર ઈન્દ્ર છે, આરણ-અચ્યુત કલ્પોમાં અચ્યુત નામક ઈન્દ્ર છે ા૨૫ા

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ભવનપતિ વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ પૂર્વોક્ત ચાર પ્રકારના દેવોમાંથી કોના એક-એક ઈન્દ્ર છે અને કોના બે-બે ઈન્દ્ર છે એ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ કે ભવનવાસી અને વાનવ્યંતરોમાં પ્રત્યેક જાતિના બે-બે ઈન્દ્ર હોય છે, જ્યોતિષ્કોમાં જાતિવાચક બે જ ઈન્દ્ર છે અને વૈમાનિકોમાં પ્રત્યેક કલ્પમાં એક-એક ઇન્દ્ર છે.

અસુરકુમાર આદિ દસ પ્રકારના ભવનવાસીઓમાં બે-બે ઇન્દ્ર છે, કિન્નર આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તરોમાં પણ બે-બે ઈન્દ્ર છે

અસુરકુમારોમા ચમર અને બલિ નામના બે ઇન્દ્ર છે નાગકુમારોમાં ધરણ અને ભૂતાનંદ નામક બે ઈન્દ્ર છે વિદ્યુત્કુમારોમાં હરિ અને હરિસહ સુવર્ણકુમારોમાં વેણુદેવ અને વેણુદાલી, અગ્નિકુમારોમાં અગ્નિશિખ અને અગ્નિમાણવ. વાયુકુમારોમાં વેલમ્બ અને પ્રભંજન, દ્વીપકુમારોમા પૂર્ણ અને વિશિષ્ટ, ઉદધિકુમારોમાં જલકાન્ત અને જલપ્રભ, દિક્કુમારોમાં અમિતગતિ અને અમિતવાહન નામના ઈન્દ્ર છે. સ્તનિતકુમારોમાં ઘોષ અને મહાઘોષ નામક બે ઇન્દ્ર છે.

વાનવ્યન્તરોમાં—કિન્નરોમા કિન્નર અને કિંપુરૂષ, કિંપુરૂષોમાં સત્પુરૂષ અને મહાપુરુષ મહોરગોમાં અતિકાય અને મહાકાય ગન્ધર્વોમાં ગીતરતિ અને ગીતયશ, યક્ષોમાં પૂર્ણભદ્ર અને મણિભદ્ર રાક્ષસોમાં ભીમ અને મહાભીમ ભૂતોમાં પ્રતિરૂપ અને અતિરૂપ તથા પિશાચોમાં કાળ અને મહાકાળ નામના બે ઇન્દ્ર છે.

જ્યોતિષ્કોમાં—ચન્દ્ર, સૂર્ય અને ગ્રહ આદિમાં ચન્દ્ર અને સૂર્ય નામના બે ઇન્દ્ર છે અને સૂર્ય ઘણા જ છે આથી જાતિવાચક બે ઈન્દ્ર છે

કલ્પોપપન્નક વૈમાનિકોમા પ્રત્યેક કલ્પમાં એક-એક ઈન્દ્ર છે. સૌધર્મ શક્ર, ઐશાનમાં ઈશાન સનત્કુમારમાં સનત્કુમાર, માહેન્દ્રમાં માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોકમાં 'બ્રહ્મ' લાન્તકમાં લાન્તક, મહાશુક્રમાં મહાશુક્ર, સહસ્રારમા સહસ્રાર આનત—પ્રાણુત નામક બંને કલ્પોમાં એક પ્રાણુત આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમાં એક અચ્યુત નામક ઈન્દ્ર છે.

અચ્યુતકલ્પથી આગળ નવ ગ્રૈવેયકોમા અને પાંચ અનુત્તર-વિમાનોમાં ઈન્દ્ર આદિના ભેદ નથી, તેઓ કલ્પાતીત છે. ત્યાંના બધા દેવ સ્વતંત્ર હોવાથી અહમિંદ્ર છે અને પ્રાયઃગમન-આગમનથી રહિત છે. આમતેમ આવાગમન કરતાં નથી.

સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યું છે—

બે અસુરકુમારેન્દ્ર કહેવામાં આવ્યા છે ચમર અને બલિ. બે નાગકુમાર કહેવાયા છે. ધરણ અને ભૂતાનન્દ બે સુવર્ણકુમારેન્દ્ર કહેવામાં આવ્યા છે—વેણુદેવ અને વેણુદાલી બે વિદ્યુત્કુમારેન્દ્ર કહેવામાં આવ્યા છે—હરિ અને હરિસહ બે અગ્નિકુમારેન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે. અગ્નિશિખ અને અગ્નિમાણવ. બે દ્વીપકુમારેન્દ્ર પૂર્ણ અને વિશિષ્ટ. બે ઉદધિકુમારો છે—જલકાન્ત અને જલપ્રભ બે દિશાકુમારેન્દ્ર અમિતગતિ અને અમિતવાહન. વાયુકુમારોના બે ઇન્દ્ર કહેવામાં આવ્યા છે—વેલમ્બ અને પ્રભંજન સ્તનિતકુમારોના બે ઇન્દ્ર કહેવામાં આવ્યા છે. ઘોષ તથા મહાઘોષ વાનવ્યંતરોમા પિશાચોના બે ઈન્દ્ર છે કાળ અને મહાકાળ; ભૂતોના બે ઈન્દ્ર છે સુરૂપ અને પ્રતિરૂપ, યક્ષોના બે ઇન્દ્ર છે. પૂર્ણભદ્ર અને માણિભદ્ર, રાક્ષસોના બે ઈન્દ્ર છે ભીમ અને મહાભીમ; કિન્નરોના બે ઈન્દ્ર છે. કિન્નર અને કિંપુરૂષ, કિંપુરૂષોના બે ઈન્દ્ર છે સત્પુરૂષ અને મહાપુરૂષ, મહોરગોના બે ઈન્દ્ર છે. ગીતરતિ અને ગીતયશ. ॥૨૫॥

'ईसाणंता देवा कायपरियाणा' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ઈશાનકલ્પ સુધીના દેવ કાયાથી પરિચારણા કરે છે, અચ્યુતકલ્પ સુધીના દેવ સ્પર્શ, રૂપ, શબ્દ અને મનથી પરિચારણા કરે છે, કલ્પાતીત દેવ પરિચારણા રહિત હોય છે. ॥ ૨૬ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ પર્યન્તના દેવોમા યથા યોગ્ય ઈન્દ્રોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે. હવે દેવોમાં વિષયસુખને ભોગવવાનો પ્રકાર બતાવીએ છીએ—

અસુરકુમાર આદિ દસ ભવનપતિ, કિન્નર આદિ આઠ વાનવ્યંતર, ચન્દ્ર–સૂર્ય વગેરે પાંચ જ્યોતિષ્ક તથા સૌધર્મ અને ઇશાન દેવલોકના દેવો કાયાથી મનુષ્યોની માફક પ્રવિચાર અર્થાત્ મૈથુનસેવન કરે છે. સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક, મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત પર્યન્ત દસ દેવલોકોનાં વૈમાનિકો સ્પર્શ, રૂપ, શબ્દ અને મનથી મૈથુન સેવે છે—અર્થાત્ સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પના દેવ–દેવાંગનાઓનાં સ્પર્શમાત્રથી વિષયભોગના સુખનો અનુભવ કરીને પરમ પ્રીતી પ્રાપ્ત કરે છે એવી જ રીતે આ બંને કલ્પોમાં આવનારી દેવીઓ દેવોના સ્પર્શથી જ વિષય–સુખનો અનુભવ કરે છે. બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પના દેવ દેવાંગનાઓના શૃંગાર–પરિપૂર્ણ વિલાસને, મનોજ્ઞ વેષભૂષાને તથા રૂપને નિરખવા માત્રથી રતિજન્ય સુખની અનુભૂતિ કરે છે મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પમાં સ્થિત દેવ–દેવિઓના મનોહર તથા મધુર સંગીત, મૃદુ મંદ મુસ્કરાહટથી યુક્ત આભૂષણોનો અવાજ તથા વાણિનોઆલાપ સાંભળીને જ કામની તૃપ્તિ પ્રાપ્ત કરી લે છે.

આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોના દેવ પોત–પોતાની દેવિઓના મનના સંકલ્પ માત્રથી જ કામભોગ–સંબંધી પરમ સુખનો અનુભવ કરે છે.

નવ ગ્રૈવેયકો તથા પાંચ અનુત્તર વિમોનાના કલ્પાતીત દેવ મૈથુન રહિત હોય છે અર્થાત્ તેઓ મનથી પણ મૈથુન સેવન કરતાં નથી.

તે કલ્પાતીત દેવોને કલ્પોપપન્નક દેવોની અપેક્ષાએ પણ પરમોત્કૃષ્ટ હર્ષ રૂપ સુખ પ્રાપ્ત રહે છે જે વિષયજનિત સુખથી પણ ઉત્તમકોટિનુ અને વિલક્ષણ હોય છે. તેમનું વેદમોહનીય એટલા ઉપશાન્ત રહે છે કે તેમનામાં કામવાસના ઉત્પન્ન જ થતી નથી અને જ્યારે કામવાસના જ ઉત્પન્ન થતી નથી તો કામવેદનાનો પ્રતિકાર કરવા માટે મૈથુનનો વિચાર પણ કઈ રીતે ઉદ્ભવી શકે ? એ અહમિન્દ્ર દેવોને સદા સંતોષમય સુખ જ થતું રહે છે ॥ ૨૬ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં ભવનપતિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના ચાર પ્રકારના દેવોના યથાયોગ્ય ઈન્દ્ર આદિનો વિચાર કરવામાં આવ્યો છે. હવે એ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ કે બધાં દેવ ત્રણ પ્રકારના હોય છે. કોઈ–કોઈ દેવિઓવાળા અને મૈથુનસેવનારા કોઈ અદેવિક અને મૈથુનસેવનારા અને કોઈ–કોઇ અદેવિક અને અપ્રવીચાર—(મૈથુન ન સેવનારા). આ ત્રણ પ્રકારના દેવોની ક્રમશઃ પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

અસુરકુમાર આદિ દસ ભવનપતિઓથી લઈને ઈશાન સુધીના પચ્ચીસ પ્રકારના દેવો કાયાની પ્રવીચાર કરે છે અર્થાત્ શરીરથી મૈથુનક્રિયા કરે છે. તેઓ સંક્લિષ્ટ કર્મોવાળા હોય છે આથી મનુષ્યની જેમ મૈથુનસુખનો અનુભવ કરતા થકા, તીવ્ર આશયવાળા થઈને શારીરિક સંક્લેષથી ઉત્પન્ન સ્પર્શસુખને પ્રાપ્ત કરીને પ્રીતિ પ્રાપ્ત કરે છે. આજ ભવનવાસિઓ, વાનવ્યતરો જ્યોતિષ્કો અને સૌધર્મ તથા ઇશાન કલ્પમા જ દેવિઓ ઉત્પન્ન થાય છે. બીજા કલ્પથી ઉપર દેવિઓ ઉત્પન્ન થતી નથી આથી આ દેવલોકોને સદેવિક અને સપ્રવીચાર કહે છે.

સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક, મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણત, આરણ, અચ્યુત—આ દસ કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવ સ્પર્શ, રૂપ, શબ્દ અને મનથી પ્રવીચાર અર્થાત્ મૈથુનસેવન કરે છે.

સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પમાં દેવિઓ પોતાના દેવોને–મૈથુન–સુખના અભિલાષી જાણીને તથા પોતાના તરફ આદર ઉત્પન્ન થયો સમજીને વગર બોલાવ્યે જ સ્વયં ઉપસ્થિત થઇ જાય છે.

બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પમાં દેવિઓ જ્યારે પોતાના દેવોને મૈથુનસુખના ઇચ્છુક જાણે છે ત્યારે તેઓ જાતે હાજર થઇને પોતાના દિવ્ય સર્વાંગસુન્દર હાવ-ભાવ-વિલાસ-ઉલ્લાસથી પૂર્ણ પરમ મનોહર વેષ–પરિધાન તથા સૌન્દર્યને પ્રદર્શિત કરે છે. તેને જોઇને દેવોની કામ-પિપાસા શાન્ત થઈ જાય છે તેમજ તેઓ ઘણા પ્રેમનો અનુભવ માણે છે.

મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પના દેવોને જ્યારે કામવાસના ઉત્પન્ન થાય છે તો તેમની નિયોગિની દેવિઓ આ જાણીને કાનોને સુખ પહોંચાડનાર એવા મનોહર સંગીતનુ ગાન કરે છે. સંગીતશબ્દ તથા તેમના નુપૂર–મંજરી વગેરે અલંકરોના શબ્દોને સાંભળીને અને મધુર હાસ્ય–ઉલ્લાસથી પરિપૂર્ણ વચનોને સાંભળીને તે દેવ તૃપ્ત થઇ જાય છે. અને તેમની કામેચ્છા શાંત થઇ જાય છે.

આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમાં સ્થિત દેવ કામભોગના અભિલાષી થઇને પોતાની દેવિઓનો સંકલ્પ–ચિન્તન કરે છે. દેવિઓના સંકલ્પ કરવા માત્રથી જ તેઓ પરમ પ્રીતિ પ્રાપ્ત કરી લે છે અને કામતૃપ્તિનો અનુભવ કરે છે. આ દેવ અદેવિક અને સપ્રવીચાર કહેવાય છે.

આનાથી ઉપર—ગ્રૈવેયકો અને અનુત્તર વિમાનોના દેવ કામભોગની ઇચ્છાથી પર હોય છે. તેમના ચિત્તમાં દેવિઓનો સંકલ્પ પણ ઉદ્ભવતો નથી તો પછી કામ વગેરેથી પ્રવીચાર કરવાનો તો પ્રશ્ન જ ક્યાં રહે છે ? વેદમોહનીયનું ઉપશમન થઈ જવાથી તેઓ એટલા તો સુખીયા હોય છે કે કામસેવનની ઇચ્છા જ તેમના મનમાં ઉઠતી નથી.

રૂપ, રસ, સ્પર્શાદિ પાંચ પ્રકારના વિષયનું સેવન કરવાથી જે સુખ ઉત્પન્ન થાય છે તેની અપેક્ષા તેમને અસંખ્યગણા સુખનો અનુભવ થાય છે તે પરમસુખમાં તેઓ સંતુષ્ટ રહે છે આ રીતે તે કલ્પાતીત દેવ આત્મસમાધિજનિત સુખનો ઉપભોગ કરતા રહે છે તેમને જે સુખાનુભવ થાય છે તે આ સંસારમાં અન્યત્ર અત્યન્ત દુર્લભ છે આ કારણથી તેઓ ઇન્દ્રિય-જનિત સ્પર્શ શબ્દ આદિ વિષયોના સુખની અપેક્ષા કરતા નથી અને હમેશા તૃપ્ત રહે છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૩૪મા પદમાં પ્રવીચારણાના વિષયમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! પ્રવીચારણા (કામસેવન) કેટલા પ્રકારની કહેવામાં આવી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારની કહેવામાં આવી છે—કાયપરિચારણા, સ્પર્શપરિચારણા, રૂપપરિચારણા, શબ્દપરિચારણા અને મન પરિચારણા. "ભવનવાસિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક સૌધર્મ તથા ઈશાન કલ્પમાં દેવ કાયાથી પરિચારણા કરે છે; સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પોનાં દેવ સ્પર્શથી પરિચારણા કરે છે, બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પોમાં રૂપથી પરિચારણા થાય છે,

મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પોમાં દેવ શબ્દથી પરિચારણા કરે છે, આનત, પ્રાણુત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમા દેવ મનથી પરિચારણા કરે છે, ગ્રૈવેયક અને અનુત્તરૌપપાતિક દેવ પરિચારણા રહિત હોય છે"—

કલ્પોપપન્ન અને કલ્પાતીત દેવોના પ્રવીચારના વિષયમાં કહ્યું છે કે—

બે દેવલોકોમાં કાયાથી, બેમાં સ્પર્શથી, બેમાં રૂપથી અને બેમાં શબ્દથી અને ચારમાં મનના સંકલ્પથી પ્રવીચાર થાય છે બાકીનાં દેવ પરિચારણા રહિત હોય છે ॥ ૧ ॥

દેવોના શરીર સાત ધાતુઓથી રહિત હોય છે આથી તેમનું વીર્ય સ્ખલિત થતું નથી જ્યારે વેદની ઉદીરણા હઠી જાય છે ત્યારે તેમને સંકલ્પ–સુખ ઉત્પન્ન થાય છે ॥ ૨૬ ॥

'जोइसिआ मेरुपयाहिणा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—જ્યોતિષ્ક દેવ મેરૂ પર્વતની પ્રદક્ષિણા કરે છે, દિવસ રાત્રી વગેરે કાળના વિભાગના કારણ છે, મનુષ્યક્ષેત્રમાં અર્થાત્ અઢી દ્વીપમાં નિરન્તર ગમન કરે છે અને મનુષ્યથી બહાર સ્થિત છે. ॥ ૨૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ બતાવી દેવામાં આવ્યું છે કે ભવનવાસિઓથી લઇને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના દેવ કાયાથી સ્પર્શથી રૂપથી શબ્દથી અને મનથી મૈથુન સેવે છે અને કોઈ–કોઈ દેવ પ્રવીચાર રહિત પણ હોય છે હવે જ્યોતિષ્ક દેવોની ગતિ તેમજ કાળ વિભાજનકત્વ વગેરેની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા એ પાંચ પ્રકારના જ્યોતિષ્ક મેરૂ પર્વતની પરિક્રમા કરે છે આ જ કાળના વિભાજનના કારણો છે અર્થાત્ તેમની ગતિના કારણે જ સમય, આવલિકા આદિ કાળના ભેદ થાય છે તેઓ નિત્ય અર્થાત્ અનવરત ગતિશીલ રહે છે—એક ક્ષણ માટે પણ તેમની ગતિને કોઈ રોકી શકતું નથી–પરન્તુ મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહાર અર્થાત્ માનુષોત્તર પર્વતથી આગળ તેઓ ભ્રમણ કરતાં નથી—સ્થિર રહે છે ॥ ૨૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા ભવનપતિઓથી લઇને સર્વાર્થસિદ્ધ પર્યન્તના દેવોના વિષયભોગ વગેરેનું યથાયોગ્ય વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે હવે જ્યોતિષ્ક દેવોની ગતિ આદિના વિષયમાં કહીએ છીએ—

ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા એ પાંચ પ્રકારના જ્યોતિષ્ક દેવ મનુષ્ય–ક્ષેત્રમાં અર્થાત્ માનુષોત્તર પર્વત પર્યન્તના પીસ્તાળીશ લાખ યોજન લંબાઈ, પહોળાઈવાળા અઢી દ્વીપોમાં મેરૂ પર્વતની પ્રદક્ષિણ કરતા થકા નિરન્તર ગતિ કરતા રહે છે. આ જ જ્યોતિષ્ક દેવો કાળના વિભાગના કારણ છે અર્થાત્ સમય આવલિકા, શ્વાસોચ્છવાસ, સ્તોક લવ અને મુહૂર્ત્ત આદિ કાળના ભેદોના કારણ હોય છે ચન્દ્ર, સૂર્ય આદિના સંચારથી જ ઘડી, પળ, ક્ષણ, પ્રહર, દિવસ, રાત, પક્ષ માસ, અયન, વર્ષ, કલ્પ વગેરેનો વ્યવહાર થાય છે અન્યથા વ્યવહાર થઈ શકતો નથી. આ રીતે ચન્દ્ર, સૂર્ય આદિ જ્યોતિષ્ક દેવ કાળવિભાગના કારણરૂપ છે.

એટલું ચોક્કસ છે કે આ જ્યોતિષ્કદેવ મનુષ્ય–ક્ષેત્રથી બહાર સંચાર કરતા નથી પરન્તુ સ્થિર રહે છે.

આ પ્રકારે જમ્બૂદ્વીપમાં ધાતકીખન્ડ દ્વીપમાં તથા અર્ધા પુષ્કરદ્વીપમાં, એમ અઢી દ્વીપ પરિમિત મનુષ્ય–ક્ષેત્રમાં, માનુષોત્તર પર્વતની અંદર–અંદરના વિસ્તારમાં જ ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરે ચાલે છે તેનાથી આગળ ભ્રમણ કરતા નથી–અવસ્થિત રહે છે.

ધ્રુવ નામનો તારો અવિચળ છે. તે મેરૂની પ્રદક્ષિણા કરતો થકો સંચાર કરતો નથી પરન્તુ તેના સિવાયના બીજા બધાં તારા અને ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ મેરૂની પરિક્રમા કરતા થકા જ સંચાર કરે છે, તેમને જ કેન્દ્રમાં રાખીને ગતિની પ્રરૂપણા કરી છે.

અથવા—ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ કોઈ–કોઈ જ્યોતિષ્ક મેરૂની પ્રદક્ષિણા કરતા થકાં નિરન્તર ગતિશીલ છે તથા કોઈ–કોઈ ધ્રુવતારા વગેરે જ્યોતિષ્ક મેરૂની પ્રદક્ષિણા ન કરતા થકા જ નિત્ય ગતિશીલ છે કારણ કે તે પણ પોતાની પરિધિમાં સંચાર કરતા રહે છે.

જમ્બૂદ્વીપમાં બે સૂર્ય છે, લવણસમુદ્રમાં ચાર સૂર્ય છે, ધાતકીખંડ દ્વીપમાં બાર સૂર્ય છે અને કાલોદધિ સમુદ્રમાં બેતાળીસ, સૂર્ય છે. અર્ધપુષ્કર દ્વીપમાં બોંતેર સૂર્ય છે આમ બધાં મળીને મનુષ્યલોકમાં ૧૩૨ સૂર્ય છે મનુષ્યલોકમાં ચન્દ્રમાઓની પણ એટલી જ સંખ્યા છે. ભસ્મરાશિ આદિ ગ્રહ ૮૮ છે નક્ષત્ર ૨૮ છે. એક એક ચન્દ્રમાના–પરિવાર રૂપ તારા (૬૬૯૭૫૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦) છાસઠ હજાર નવસો પંચોતેર કોડાકોડી છે.

સૂર્ય, ચન્દ્ર, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા આ બધાં જ્યોતિષ્ક તિર્છાલોકમાં જ રહેલાં છે. સૂર્ય પોતાના તાપથી પ્રકાશિત થતો તેમજ મેરૂની પ્રદક્ષિણા કરતો થકો સંચાર કરે છે. પ્રત્યેક સૂર્યનું તાપક્ષેત્ર અન્દરની બાજુ સંકોચાયેલું અને બહારની તરફ વિશાળ કલંબુ નામના ફુલના આકારનું હોય છે. જમ્બૂદ્વીપમાં સૂર્યનું વધુમાં વધુ તાપક્ષેત્ર પરિમાણ સુડતાળીશ હજાર બસો તેંસઠ યોજન—અને યોજનનો એકવીસ સાઇઠાશ ભાગ (૪૭૨૬૩$\frac{૨૧}{૬૦}$) હોય છે.

સૂર્યના એકસોચોરાશી મંડળ છે. સૂર્યનો સર્વ ઉત્તરમા અને સર્વ દક્ષિણમા ઉદય થવાથી પાંચસોદશ (૫૧૦) યોજનનું અંતર થાય છે. આ અંતર એકસો એંશી (૧૮૦) યોજન જમ્બૂદ્વીપમા અને ૩૩૦ યોજન લવણસમુદ્રમાં દેખી શકાય છે.

ચન્દ્રમાના મંડળ પંદર (૧૫) છે જમ્બૂદ્વીપમાં સૂર્ય અને ચન્દ્ર જ્યારે સૌથી અંદરના મંડળમાં હોય છે ત્યારે તેમનામા નવ્વાણુ હજાર છસો ચાળીશ (૯૯,૬૪૦) યોજનનું અંતર હોય છે સૂર્યના મંડળની લંબાઈ–પહોળાઈ એક યોજનના એકસઠ ભાગમાંથી અડતાળીશ ભાગ છે. ($\frac{૪૮}{૬૧}$) મનુષ્યલોકની બહારના સૂર્યના વિમાન–મંડળનો વિસ્તાર ચોવીસ યોજન અને એકસઠ ભાગ ($\frac{૨૪}{૬૧}$) છે મનુષ્યલોકની બહાર સૂર્યના વિમાન મંડળનો વિસ્તાર બાર યોજન અને એક યોજનનો એકસઠ ભાગ (૧૨$\frac{૧}{૬૧}$) છે.

ચન્દ્રમાના વિમાનમંડળનો વિસ્તાર $\frac{૫૬}{૬૧}$ છપ્પન્ન એકસાઠાંશ ભાગ છે. ગ્રહોના વિમાન-મંડળનો વિસ્તાર અર્ધા યોજનનો છે. નક્ષત્રોના વિમાનમંડળનો વિસ્તાર એક ગાઉનો હોય છે. સૌથી મોટા તારાના વિમાનમંડળનો વિસ્તાર અર્ધા ગાઉનો છે અને સહુથી નાના તારાના વિમાનમંડળનો વિસ્તાર પાંચસો ધનુષ્ય છે.

પરંતુ મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહાર અર્થાત્ માનુષોત્તર પર્વતના બ્રહદ્ દેશમાં જે સૂર્ય વગેરે જ્યોતિષ્ક છે તેઓ અવસ્થિત હોય છે, ભ્રમણ કરતાં નથી. તેમના વિમાનપ્રદેશ પણ અવસ્થિત

છે અને તેમની લેશ્યા–પ્રકાશ પણ અવસ્થિત જ છે જેવી રીતે મનુષ્યલોકમાં ગ્રહણ વગેરે થાય છે. એવું ત્યાં થતુ નથી. ત્યાં કદી પણ તેમનામા મલિનતા આવતી નથી. ત્યાં ગ્રહણ(ગ્રાસ)નું કોઈ કારણ જ નથી. ત્યાં સૂર્ય અને ચન્દ્રના સુખદાયી શીતોષ્ણ કિરણો હોય છે. ત્યાં ચન્દ્રમાં ન તો અત્યન્ત શીતલ છે. અથવા સૂર્ય ન અતિ ઉષ્ણ છે.

ત્યાં બધાં ચન્દ્રમાં અભિજિત્ નક્ષત્રના યોગથી જોડાયેલા હોય છે અને સૂર્ય પુષ્ય નક્ષત્રનો યોગથી યુક્ત હોય છે અને તેઓ કયારેય પણ રોકાતાં નથી. ॥૧॥

ચન્દ્ર, સૂર્ય અને ગ્રહ વગેરે પાંચે પ્રકારનાં જ્યોતિષ્ક દેવ મનુષ્યલોકની અંદર સંચારશીલ હોય છે નિરન્તર ગતિ કરતાં રહે છે. ॥૨॥

મનુષ્ય ક્ષેત્રની બહાર જે ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ; તાગ અને નક્ષત્ર છે તેમાં ગતિ થતી નથી, તેઓ સંક્રમણ નહીં કરતા અવસ્થિત જ રહે છે ॥૩॥

ભગવતી સૂત્રના શતક ૧૨, ઉદ્દેશક ૬ મા પણ આ જ કહે છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! કયા કારણથી એવું કહેવામાં આવે છે કે સૂર્ય આદિત્ય સૂર્ય છે?

ઉત્તરઃ—ગૌતમ ! સમય આવલિકા—ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી આદિનું વિભાજન સૂર્ય વડે જ થાય છે એ કારણે સૂર્યને આદિત્ય એ પ્રમાણે કહેવાય છે.

આગળ પણ વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિના અગીયારમાં શતકના બારમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે.

પ્રમાણકાળના કેટલા ભેદ છે ?

જવાબ—પ્રમાણકાળ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—દિવસ પ્રમાણકાળ અને રાત્રિપ્રમાણકાળ વગેરે.

એ તો અગાઉ જ કહેવાઈ ગયું છે કે જમ્બૂદ્વીપની ઉપર બે સૂર્ય છે, છપ્પન્ન નક્ષત્ર છે, એકસો છોંત્તેર ગ્રહ છે લવણસમુદ્રની ઉપર ચાર દિનમણિઓ છે, એકસો બાર નક્ષત્ર છે, ત્રણસો બાવન ગ્રહ છે, ધાતકીખંડ દ્વીપની ઉપર બાર સૂર્ય ત્રણસો છત્રીસ નક્ષત્ર અને છપ્પન ગ્રહો છે. કાલોદધિ, સમુદ્રની ઉપર બેંતાળીશ સૂર્ય એક હજાર એકસો છોંતેર નક્ષત્ર અને ત્રણ હજાર છસો છન્નું ગ્રહ છે

પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમાં બોંતેર સૂર્ય છે, બે હજાર સોળ નક્ષત્ર છે અને ત્રણ હજાર ત્રણસો છત્રીશ ગ્રહ છે જે જગ્યાએ જેટલા સૂર્ય છે તે જગ્યાએ તેટલી જ સંખ્યામાં ચંદ્રમા પણ સમજી લેવા અને તેના આગળ સ્વયં યથાવત સમજવું. ॥૨૭॥

'देवाणं उत्तरमुत्तर आउप्पभावसुहज्जुई' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—દેવોમાં ઉત્તરોત્તર આયુ, પ્રભાવ, સુખ દ્યુતિ લેશ્યાવિશુદ્ધિ ઈન્દ્રિયોના વિષય અને અવધિના વિષયો અધિક છે. પરન્તુ ગતિ, શરીર, પરિગ્રહ અને અભિમાન ઓછા છે. ૨૮

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ ચારેય નિકાયોના દેવોના પ્રવીચારનો તથા ઈન્દ્ર વગેરેના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે ભવનવાસિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના દેવોના આયુષ્ય, પ્રભાવ, સુખ, કાન્તિ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ વગેરેના વિષયમા અધિકતા અને ન્યૂનતાનું પ્રરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

વાનવ્યન્તરોની અપેક્ષા જ્યોતિષ્કના, જ્યોતિષ્કની અપેક્ષા ભવનપતિના, ભવનપતિની અપેક્ષા વૈમાનિક આદિના આયુ પ્રભાવ અનુભાવ સુખ, દ્યુતિ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ યથા 'યોગ્ય શુદ્ધિ' ઈન્દ્રિયોના 'વિષય અને અવધિ જ્ઞાનના' વિષય અધિક-અધિક છે પરન્તુ ઉપરના દેવોમાં ગતિ અર્થાત્ દેશાન્તરમાં ગમન શરીર પ્રમાણુ અર્થાત્ ઉંચાઈ પરિગ્રહ મૂર્ચ્છા અને અભિમાન અહંકાર આ બધાં ઉત્તરોત્તર અલ્પ હોય છે. ।।૨૮।।

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ ભવનપતિઓથી લઇને સર્વાર્થસિદ્ધ પર્યન્ત બધાં દેવોના યથા યોગ્ય વિષયભોગ, ઉપભોગ, તથા ઇન્દ્ર આદિના સ્વરૂપનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે એ નિરૂપણ કરીએ છીએ કે પૂર્વે કહેલાં બધાં દેવોમાં પહેલાવાળાની અપેક્ષા પછીના દેવોમાં આયુ, પ્રભાવ, સુખ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ ઈન્દ્રિય વિષય અને અવધિજ્ઞાનના વિષય અધિક-અધિક હોય છે પરંતુ ગતિ, શરીરપ્રમાણુ પરિગ્રહ અને અભિમાન ઓછા હોય છે—

અસુરકુમાર આદિ ભવનપતિ, કિન્નર આદિ વાનવ્યન્તર, ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ જ્યોતિષ્ક અને સૌધર્મ-ઈશાનથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના વૈમાનિક દેવોમાં પૂર્વ-પૂર્વ દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર અર્થાત્ પછી-પછીના દેવોમા આયુ અર્થાત્ સ્થિતિ, પ્રભાવ અર્થાત્ અનુભાવ, સુખ, દ્યુતિ અર્થાત્ કાન્તિ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ અર્થાત્ કાળી, નીલી, કાપોત, પીળી, પદ્મ અને શુક્લ લેશ્યાઓની શુદ્ધિ ઇન્દ્રિયોના વિષય અને અવધિજ્ઞાનના વિષય અધિક-અધિક હોય છે. આ રીતે પહેલા-પહેલાં દેવોની સરખામણીએ પછી-પછીના દેવ આયુમાં અધિક છે.

નિગ્રહ કરવો—અનુગ્રહ કરવો, વિક્રિયા કરવી તથા પરાભિયોગ કરવો, આ બધાં પ્રભાવ' કહેવાય છે. પૂર્વ-પૂર્વના દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર દેવોમાં પ્રભાવ વધારે હોય છે. આવી જ રીતે સુખ, કાન્તિ, લેશ્યાની વિશુદ્ધતા ઇન્દ્રિયો દ્વારા પોત-પોતાના વિષયોને ગ્રહણ કરવાની શક્તિ અને અવધિજ્ઞાન એ બધાં પણ પહેલા-પહેલાના દેવોની અપેક્ષા પછી-પછીના દેવોમાં વિશેષ હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે પૂર્વવર્ત્તી દેવ પોતાની ઇન્દ્રિયો વડે જેટલી દૂરની વસ્તુઓનું ગ્રહણ કરે છે, ઉત્તરોત્તર દેવ તેમની અપેક્ષા અધિક દૂરના પદાર્થો-વિષયોને જાણે છે આનું કારણ એ છ કે ઉત્તરોત્તર દેવ ઉત્કૃષ્ટ ગુણોવાળા અલ્પતર સંક્લેશવાળા હોય છે.

અવધિજ્ઞાન પણ પૂર્વ-પૂર્વ દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર દેવોમાં વિશેષ જોવા મળે છે. દા.ત. સૌધર્મ અને ઈશાન કલ્પના દેવો અવધિજ્ઞાન દ્વારા નીચે રત્નપ્રભાના ચરમાન્ત—છેવટના ભાગ સુધી જોઈ—જાણી શકે છે. તિર્છી દિશામાં અસંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રો પર્યન્ત જાણે-જુએ છે અને ઉપર પોત-પોતાના વિમાનો સુધી અર્થાત્ વિમાનોની ધજા સુધી જાણે દેખે છે. સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પના દેવ નીચે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વીના અન્તિમ ભાગ સુધી જુએ જાણે છે, તિર્છી દિશામાં અસંખ્યાતદ્વીપ સમુદ્રોને જાણે જુવે અને ઉપર ઉપર પોત-પોતાના વિમાનોની ધ્વજા સુધી જાણે-જુવે છે.

આ રીતે અવધિજ્ઞાનના ક્ષેત્ર પછી-પછીના દેવોના અધિક-અધિક હોય છે.

વિજય, વૈજયન્ત આદિ પાંચ અનુત્તર વિમાનોના દેવ પોતાના અવધિજ્ઞાન દ્વારા એક દેશ તે લોકને જાણે—જુવે છે પરંતુ દેશાન્તરમાં ગમન રૂપ ગતિ શરીરની લંબાઈ પરિગ્રહ અને

અભિમાન એ બધાં પૂર્વ-પૂર્વ દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર દેવોના ઓછા હોય છે જેવી રીતે બે સાગરની જઘન્ય સ્થિતિવાળા દેવ નીચે સાતમી પૃથ્વી સુધી જાય છે અને તિર્છી દિશામાં અસંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રો સુધી જઈ શકે છે. અસુરકુમાર દેવ ત્રીજી પૃથ્વી સુધી જાય છે આ દેવ તેમના પૂર્વભવના સાથી-મિત્રને શાતા ઉપજાવવા માટે અને પૂર્વભવના વૈરીને વંદના પહોંચાડવા આશયથી ત્યાં જાય છે. (ભગ૦ શ૦ ૩ ઉ૦૨ સૂ૦ ૧) તેનાથી આગળ ભૂતકાળમાં ક્યારેય પણ ગયા નથી. વર્તમાનકાળમાં ક્યારેય પણ જતાં નથી અને ભવિષ્યમા ક્યારેય પણ જશે નહીં. ઉપર દેવોમાં મહાનુભાવતા અધિક હોય છે અને માધ્યસ્થ-ભાવ પણ અધિક હોય છે આમ—તેમ જવામાં તેમને રુચિ થતી નથી.

અસુરકુમારોથી લઈને સૌધર્મ-ઈશાન કલ્પ સુધીના દેવોના શરીર સાત હાથ ઉંચા હોય છે એથી આગળના બે-બે કલ્પોમા સહસ્રાર કલ્ય પર્યન્ત, એક-એકની ઉંચાઈ ઓછી થતી જાય છે. સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પમા દેવોની ઉંચાઇ છ હાથની હોય છે બ્રહ્મ અને લાન્તક કલ્પમાં દેવોની ઉંચાઈ પાચ હાથની હોય છે. મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પમા દેવોની ઉંચાઈ ચાર હાથની હોય છે.

આનત, પ્રાણુત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમાં દેવોના શરીર ત્રણ હાથ ઉંચા હોય છે. ગ્રૈવેયક વિમાનોના દેવોના શરીરની ઉંચાઈ બે હાથની છે. પાંચ અનુત્તરોપપાતિક દેવોમાં વિજયાદિ ચાર વિમાનોના દેવોના શરીર એક હાથના હોય છે અને સર્વાર્થસિદ્ધ દેવોના શરીર થોડા ઓછા-એક હાથના જ હોય છે.

હવે વૈમાનિકોના વિમાનોની સંખ્યા બતાવીએ છીએ—

સૌધર્મ દેવલોકમા બત્રીસ લાખ વિમાન છે. ઈશાન દેવલોકમાં અઠયાવીસ લાખ, સનત્કુમારમાં બાર લાખ, માહેન્દ્રમાં આઠ લાખ, બ્રહ્મલોકમા ચાર લાખ, લાન્તકમા પચાસ હજાર, મહાશુક્રમાં ચાળીસ હજાર, સહસ્રારમાં છ હજાર તથા આનત પ્રાણુત આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમા સાતસો વિમાન છે તે પૈકી આનત પ્રાણુત, બે દેવલોકોમા ચારસો વિમાન છે અને આરણ અચ્યુત આ બે દેવલોકમાં ત્રણસો વિમાન છે એમ સાતસો વિમાન છે. ગ્રૈવેયક ત્રિકમાં ક્રમશઃ એકસો અગીયાર, એકસો સાત અને એકસો વિમાન હોય છે. પાચ અનુત્તરોમા પાંચ જ વિમાન છે.

એવી જ રીતે સ્થાન, પરિવાર શક્તિ, વિષય સમ્પત્તિ અને સ્થિતિ આદિનું અભિમાન પછી પછીના દેવોનું પહેલાં-પહેલાના દેવોની અપેક્ષાએ ઓછું હોય છે. પછી—પછીના દેવો ઉત્કૃષ્ટ સુખના ભાગી હોય છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૧માં શરીરપદમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! ભવનવાસિઓમાં જે અસુરકુમાર દેવ છે તેમના વૈક્રિય શરીરની અવગાહના કેટલી મોટી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! અસુરકુમાર દેવોની અવગાહના બે પ્રકારની કહેવામાં આવી છે-પહેલી ભવધારણીય શરીરની અર્થાત્ તે ભવમાં હમેશાં રહેનારી મૂળ શરીરની અવગાહના અને બીજી

ઉત્તર વૈક્રિય અર્થાત્ કદી-કદી વિક્રિયા લબ્ધિથી બનાવવામાં આવનારા શરીરની અવગાહના. તેમના ભવધારણીય શરીરની અવગાહના જઘન્ય આંગળીના અસંખ્યાતમાં ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ સાત હાથની હોય છે. ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની જઘન્ય અવગાહના આંગળીના સંખ્યાતમાં ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ એક લાખ યોજનની હોય છે.

એવી જ રીતે સ્તનિતકુમારો સુધી સમજવું. સામાન્ય રૂપથી વાનવ્યન્તરોની જ્યોતિષ્કોની તથા સૌધર્મ અને ઇશાન દેવોની અવગાહના પણ પૂર્વોક્ત જ છે. અચ્યુત કલ્પ સુધીના દેવોના ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની અવગાહના આવી જ રીતે અર્થાત્ એક લાખ યોજનની છે. સનત્કુમાર કલ્પના દેવોના ભવધારણીય શરીરની અવગાહના જઘન્ય આંગળીના અસંખ્યાતમાં ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ છ હાથની છે. માહેન્દ્ર કલ્પમાં પણ એટલી જ અવગાહના છે. બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પોમાં પાંચ હાથની મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પમાં ચાર હાથની તથા આનત પ્રાણત આરણ અને અચ્યુત કલ્પમાં ત્રણ હાથની અવગાહના હોય છે.

પ્રશ્ન—ગ્રૈવેયક કલ્પાતીત વૈમાનિક પંચેન્દ્રિય દેવોના વૈક્રિય શરીરની અવગાહના કેટલી મોટી છે?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ગ્રૈવેયક દેવોમા એક ભવધારણીય શરીરની અવગાહના હોય છે. (ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની અવગાહના હોતી નથી કારણ કે તે દેવ ઉત્તર વૈક્રિય શરીર બનાવતાં નથી—તેમનામાં એવી ઉત્સુકતા-ઉત્કંઠા હોતી નથી.) ભવધારણીય શરીરની જઘન્ય અવગાહના આગળીના અસંખ્યાતમાં ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ બે હાથની હોય છે. અનુત્તર વિમાનોના દેવોના વિષયમા પણ આવું જ સમજવાનું છે અર્થાત્ તેમનામાં પણ ભવધારણીય શરીરની જ અવગાહના હોય છે અને તે એક હાથની જ હોય છે. ઉત્તર વૈક્રિય શરીર તેઓ પણ બનાવતા નથી.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૩૩ માં અવધિપદમા કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અસુરકુમાર અવધિજ્ઞાન દ્વારા કેટલાં ક્ષેત્રને જાણે-દેખે છે?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્ય પચીસ યોજન, ઉત્કૃષ્ટ અસંખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રોને અવધિજ્ઞાનથી જાણે—જુવે છે. નાગકુમાર અવધિજ્ઞાનથી જઘન્ય પચીસ યોજન અને ઉત્કૃષ્ટ-સંખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રોને જાણે-જુવે છે. એજ રીતે સ્તનિતકુમારોની સુધી સમજવું. વાનવ્યન્તર નાગકુમારોની માફક જાણે જુએ છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! જ્યોતિષ્ક દેવ અવધિ જ્ઞાનથી કેટલાં ક્ષેત્રને જાણે-જુવે છે?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્યથી સંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રોને અને ઉત્કૃષ્ટથી પણ સંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રોને અવધિજ્ઞાનથી જાણે-દેખે છે.

પ્રશ્ન—સૌધર્મ કલ્પના દેવ અવધિજ્ઞાનથી કેટલા ક્ષેત્રને જાણે-જુવે છે?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્ય આગળીના અસંખ્યાતમા ભાગને ઉત્કૃષ્ટ નીચે આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના નીચલા અંતિમ ભાગ સુધી, તિર્છા અસંખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રો સુધી, ઉપર પોત-પોતાના વિમાનો સુધી અવધિજ્ઞાન દ્વારા જાણે જુવે છે.

ઈશાન કલ્પના દેવ પણ એટલું જ જાણે-જુવે છે. સનત્કુમાર નીચે બીજી શર્કરા પ્રભા પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી જાણે છે. માહેન્દ્ર દેવ પણ એટલું જ જાણે-જુવે છે, બ્રહ્મ-લોક અને લાન્તક કલ્પના દેવ ત્રીજી પૃથ્વીના ચરમાન્ત સુધી જાણે-જુવે છે. મહાશુક્ર અને સહ-સ્રાર કલ્પના દેવ ચોથી પંકપ્રભા પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી જાણેજુવે છે. આનત, પ્રાણુત, આરણુ અને અચ્યુત દેવ નીચે પાંચમી ધૂમપ્રભાના નીચલા ચરમાન્તક સુધી, અધસ્તન અને મધ્યમ ગ્રૈવેયકોના દેવ નીચે છઠ્ઠી તમા નામની પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી જાણે-જુવે છે.

પ્રશ્ન—ઉપરિતન ગ્રૈવેયકોના દેવ અવધિજ્ઞાનથી કેટલા ક્ષેત્રને જાણે-જુવે છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્ય આગળીના અસંખ્યાતમા ભાગને, ઉત્કૃષ્ટ નીચે સાતમી પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી, તિર્છા અસંખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રો સુધી, ઉપર પોતપોતાના વિમાનોની ધજા-પતાકા સુધી અવધિજ્ઞાનથી-જાણે-જુવે છે ?

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અનુત્તરૌપપાતિક દેવ કેટલા ક્ષેત્રને અવધિજ્ઞાનથી જાણે-જુએ છે ?

ઉત્તર—ગૌત્તમ ! સંભિન્ન (થોડાં ઓછા) લોકને જાણે-જુવે છે ॥ ૨૮॥

શ્રી જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ
વિરચિત તત્ત્વાર્થ-સૂત્રની દીપિકા—અનેનિર્યુક્તિ નામક
વ્યાખ્યાનો ચોથો અધ્યાય સમાપ્ત ॥ ૪ ॥

પંચમ અધ્યાય

'असुभकम्मे पावे'

સૂત્રાર્થ—અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—ચતુર્થ અધ્યાયમાં ક્રમપ્રાપ્ત પુણ્યતત્ત્વના સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે. હવે અનુક્રમથી આવતા પાપતત્ત્વનું વિવેચન સદરહુ પાંચમાં અધ્યાયમાં કરવામાં આવશે. સર્વ પ્રથમ પાપતત્ત્વનું લક્ષણ કહીએ છીએ.

અશુભ અર્થાત્ અકુશળ અથવા પીડાકારી કર્મને પાંપ કહે છે. પાપના અઢાર ભેદ છે તે આ મુજબ છે—(૧) પ્રાણાતિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) અદત્તાદાન (૪) મૈથુન (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ (૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અભ્યાખ્યાન (૧૪) પૈશુન્ય (૧૫) પરપરિવાદ (૧૬) રતિ–અરતિ (૧૭) મષામૃષા અને (૧૮) મિથ્યાદર્શન-શલ્ય ॥ ૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જીવ અજીવ આદિ નવ તત્ત્વો પૈકી પહેલાના ચાર અધ્યાયોમાં ક્રમથી જીવ, અજીવ, બન્ધ અને પુણ્ય તત્ત્વનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે ક્રમ પ્રાપ્ત પાંચમાં પાપ તત્ત્વનું વિવેચન કરવા માટે પાચમો અધ્યાય શરૂ કરવામાં આવે છે. તેનું પ્રથમ સૂત્ર આ પ્રમાણે છે—**'असुभकम्मे पावे'**

અશુભ અર્થાત્ અકુશળ કર્મ પાપ કહેવાય છે. પાપ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે-પં—પંકિલ અર્થાત્ મલિનતાને **आपयति**—જે પ્રાપ્ત કરાવે છે તે પાપ અથવા પં-ક્ષેમને, આ—બધી તરફથી, સંપૂર્ણ રીતે જે, **पिबति**-પી જાય છે-નાશ કરી નાખે છે તે પાપ અથવા પાનં—પા અર્થાત્ પ્રાણિઓના આત્માનન્દરસના પાનને જે **आप्नोति**—ગ્રહણ કરી લે છે અર્થાત જેના કારણે જીવ આત્માનન્દના રસપાનથી વંચિત થઈ જાય છે તેને પાપ કહે છે અથવા નરક આદિ દુર્ગતિઓને જે પ્રાપ્ત કરે છે તે પાપ કહેવાય છે અથવા આત્માને કર્મ-રજથી જે **पांशयति**—મલીન કરે છે તે પાપ છે.

પાપ અઢાર પ્રકારના છે—(૧) પ્રાણાતિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) સ્તેય (૪) અબ્રહ્મચર્ય (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ (૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અભ્યાખ્યાન (૧૪) પૈશૂન્ય (૧૫) પરપરિવાદ (૧૬) રતિ–અરતિ (૧૭) માયામૃષા અને (૧૭) મિથ્યાદર્શનશલ્ય. એમના અર્થ નીચે મુજબ છે.

(૧) પ્રાણાતિપાત :—પ્રાણોનો નાશ કરવો.

(૨) મૃષાવાદ .—અસત્ય ભાષણ કરવું

(૩) સ્તેય—અદત્તાદાન :—ચોરી

(૪) અબ્રહ્મચર્ય .—મૈથુન–કુશીલ

(૫) પરિગ્રહ સમત્વ, તૃષ્ણા

(૬) ક્રોધ ·—મનમાં બળવું

(૭) માન :—અહંકાર—ગર્વ

(૮) માયા :—કપટ

(૯) લોભ :—ગૃદ્ધિ

(૧૦) રાગ :—પ્રેમ

(૧૧) દ્વેષ :—અપ્રીતિ.

(૧૨) કલહ :—પારસ્પરિક વૈમનસ્યજનક શબ્દયુદ્ધ

(૧૩) અભ્યાખ્યાન :—કોઈ પર જુઠું દોષારોપણ કરવું

(૧૪) પૈશૂન્ય :—બીજાની ચાડી ખાવી

(૧૫) પરપરિવાદ .—બીજાની નિન્દા—કુથલી કરવી

(૧૬) રતિ-અરતિ :....સાંસારિક વિષયોમાં રાગ, ધર્મમાં અપ્રીતિ

(૧૭) માયામૃષા :—કપટપૂર્વક મિથ્યા ભાષણ કરવું

(૧૮) મિથ્યાદર્શનશલ્ય :—કુદેવ, કુગુરૂ, કુધર્મ પર શ્રદ્ધા રાખવી એ ત્રણ શલ્ય છે. ॥૧॥

'तब्भोगो वासीइ भेयणं'

સૂત્રાર્થ—પાપનું ફળ બ્યાંશી પ્રકારથી ભોગવાય છે ॥ ૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં પાપકર્મના સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યું હવે તેના ઉપભોગના બ્યાંશી પ્રકારોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા, અઢાર પ્રકારથી બાંધેલા પાપ કર્મના ભોગ અર્થાત્ દુઃખ રૂપ ફળનો-અનુભવ બ્યાંશી પ્રકારથી થાય છે અર્થાત્ પાપના ફળભોગ સાધન બ્યાશી પ્રકારના છે. તે આ પ્રમાણે છે—

જ્ઞાનાવરણ (૫) દર્શનાવરણ (૯), આસાતાવેદનીય (૯), મોહનીય (૨૬—મોહનીયની સમ્યકત્વ પ્રકૃતિ અને સમ્યગ્, મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિને છોડીને—કારણ કે આ બે પ્રકૃતિઓનો બન્ધ થતો નથી. એક માત્ર મિથ્યાત્વનો બન્ધ થાય છે, તે જ ઉદયના સમયે ત્રણ રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે), નરકાયુ (૧), નીચગોત્ર (૧), અન્તરાય (૫), નરકગતિ (૧), નરકગતિ-આનુપૂર્વી (૧), એકેન્દ્રિય-જાતિ વગેરે જાતિઓ (૪) દસ સંહનન અને સંસ્થાન (૧૦) અપ્રશસ્ત વર્ણ, ગંધ, રસ, સ્પર્શ (૪) ઉપઘાત (૧) અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ સ્થાવર સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત સાધારણ અસ્થિર-અશુભ, દુર્ભગ, દુઃસ્વર, અનાદેય અને અયશ કીર્તિ નામ કર્મ એ બધા (૧૧) મળીને એંશી ભેદ થયા એમા સમ્યકત્વ મોહનીય અને મિશ્રમોહનીય ભેદોને આમેજ કરવાથી પાપ કર્મના ફલોપભોગના બ્યાંશી પ્રકાર થાય છે ॥ ૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાપકર્મનું સ્વરૂપ બતાવવામાં આવ્યું છે હવે પાપકર્મના દુઃખ રૂપ ફળ ભોગવવાના બ્યાશી પ્રકાર કહીએ છીએ—

પાપકર્મના ફળભોગ બ્યાંશી પ્રકારથી થાય છે આ બ્યાંશી પ્રકાર આ પ્રમાણે છે—પાંચ જ્ઞાનાવરણ, નવ દર્શનાવરણ, અસાતાવેદનીય, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાય, નવ નો કષાય નરકાયુ

નરકગતિ તિર્યંચગતિ, એકેન્દ્રિયજાતિ, દ્વીન્દ્રિયજાતિ, ત્રિઈન્દ્રિય જાતિ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિ, સમચતુરસ્ર સંસ્થાન સિવાયના પાંચ સંસ્થાન, વજ્રર્ષભનારાચ સંહનન સિવાયના પાંચ સંહનન અપ્રશસ્ત વર્ણ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ, નરકગત્યાનુપૂર્વી, તિર્યંચગત્યાનુપૂર્વી ઉપઘાત, પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ, સ્થાવર, સૂક્ષ્મ, અપર્યાપ્ત, સાધારણ શરીર અસ્થિર, અશુભ, દુર્ભગ, દુઃસ્વર, અનાદેય, અયશ:કીર્તિ, નીચગોત્ર અને પાંચ અન્તરાય.

પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય આ છે—(૧) આભિનિબોધિક જ્ઞાનાવરણીય (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય (૩) અવધિ જ્ઞાનાવરણીય (૪) મન.પર્યવજ્ઞાનાવરણીય અને (૫) કેવળ જ્ઞાનાવરણીય.

સ્થાનાંગસૂત્રના પાંચમા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય કર્મ કહેવામાં આવેલ છે—આભિનિબોધક જ્ઞાનાવરણીય, શ્રુત જ્ઞાનાવરણીય, અવધિજ્ઞાનાવરણીય મન:પર્યવજ્ઞાનાવરણીય, અયશ:કીર્તિ નીચગોત્ર અને પાચ પ્રકારના અન્તરાય અને કેવળજ્ઞાનાવરણીય.

દર્શનાવરણીયના નવ પ્રકાર છે—ચક્ષુદર્શનાવરણ અચક્ષુદર્શનાવરણ અવધિ દર્શનાવરણ, કેવળદર્શનાવરણ નિદ્રા, નિદ્રા--નિદ્રા, પ્રચલા, પ્રચલા–પ્રચલા અને સ્ત્યાનર્ધિ.

સ્થાનાગસૂત્રના નવમાં સ્થાનમા કહ્યું છે—દર્શનાવરણીય કર્મ નવ પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—(૧) નિદ્રા (૨) નિદ્રા–નિદ્રા (૩) પ્રચલા (૪) પ્રચલા–પ્રચલા (૫) સ્ત્યાનર્દ્ધિ (૬) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૭) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૮) અવધિદર્શનાવરણ અને (૯) કેવળદર્શનાવરણ.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રનાં ૨૩ માં પદના બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—'અસાતાવેદનીય' સાતાવેદનીય કર્મ પુણ્યપ્રકૃતિમાં પરિગણિત કરવામાં આવ્યા છે. મિથ્યાત્વવેદનીય રૂપ મિથ્યાત્વ એકજ પ્રકારનું છે. પ્રજ્ઞાપનામાં ૨૩માં કર્મબંધપદના બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મોહનીય કર્મ કેટલાના પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યા છે--દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! દર્શનમોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! ત્રણ પ્રકારના છે—સમ્યક્ત્વવેદનીય મિથ્યાત્વવેદનીય અને સમ્યગ્મિથ્યાત્વવેદનીય.

અત્રે જો કે દર્શનમોહનીય કર્મ ત્રણ પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે તો પણ સમ્યક્ત્વવેદનીય અને સમ્યગ્ મિથ્યાત્વવેદનીય પ્રકૃતિઓ પુણ્યરૂપ પરિણત હોય છે, પાપકર્મ રૂપ નહીં. આથી પાપકર્મમા કેવળ મિથ્યાત્વ કર્મની જ ગણતરી કરવામાં આવી છે.

સોળ કષાય આ મુજબ છે – અનન્તાનુબંધી ક્રોધ અનન્તાનુબન્ધી માન, અનન્તાનુબન્ધી માયા, અનન્તાનુબન્ધી લોભ, અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ, અપ્રત્યાખ્યાન માન, અપ્રત્યાખ્યાન માયા, અપ્રત્યાખ્યાન લોભ, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ ક્રોધ, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ માન, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ માયા, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ લોભ, સંજ્વલન ક્રોધ, સંજવલન માના, સંજવલન માયા અને સંજ્વલન લોભ, આ વર્ણનપ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩માં કર્મબન્ધ પદમાં બીજા ઉદ્દેશકમાં આ જ પ્રમાણે કહ્યાં છે—

નવ નોકષાય આ પ્રકારે છે--(૧) સ્ત્રીવેદ (૨) પુરૂષવેદ (૩) નપુંસકવેદ (૪) હાસ્ય (૫) રતિ (૬) અરતિ, (૭) ભય (૮) શોક (૯) જુગુપ્સા.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩ માં કર્મબંધ નામના પદ બીજા ઉદ્દેશકમાંકહ્યું છે.

પ્રશ્ન--ભગવંન્ ! ચારિત્રમોહનીય કેટલાં પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! બે પ્રકારના છે—કષાયવેદનીય તથા નોકષાયવેદનીય.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! નોકષાયવેદનીય કર્મ કેટલાં પ્રકારના છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! નવ પ્રકારના છે—જે ઉપર બતાવી દેવામાં આવ્યા છે. આયુકર્મની પ્રકૃતિઓમાં એક નરકાયુ જ પાપમાં પરિગણિત છે.

જો કે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૨૩ માં પદના બીજા ઉદ્દેશકમાં આ પ્રમાણે કહ્યું છે—

પ્રશ્ન--ભગવન્ ! આયુષ્યકર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! ચાર પ્રકારના છે—નૈરયિકાયુ તિર્યક્આયુ મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ અહીં આયુકર્મના ચાર ભેદ બતાવવામાં આવ્યા છે. તોપણ અન્તના ત્રણ આયુ જીવોને પ્રિય હોવાને લીધે પુણ્યકર્મની ગણતરીમાં લેવામાં આવ્યા છે. આથી બાકી રહેલા એક નરકાયુની જ પાપ-કર્મમાં ગણતરી કરવામા આવી છે.

નરકગતિ અને તિર્યંચગતિ આ બંને પાપકર્મની અન્તર્ગત છે.

પૃથ્વીકાયિક આદિની એકેન્દ્રિય જાતિ, શંખ છીપ આદિની દ્વીન્દ્રિય જાતિ, કીડી, માંકણ વગેરેની તેન્દ્રિય, જાતિ, માખી વગેરેની ચૌઇન્દ્રિય જાતિ આ ચાર જાતિઓ પાપકર્મમાં સમ્મિલિત છે. પચેન્દ્રિય જાતિનો પુણ્યકર્મમાં સમાવેશ છે.

વજ્રઋષભ નારાચસંહનનને છોડીને શેષ પાંચ સંહનન કીલિકા સંહનન અને સેવાર્ત્ત સંહનન પાપકર્મના અન્તર્ગત છે.

એવી જ રીતે સમચતુરસ્રસંસ્થાનને બાદ કરતાં શેષ પાંચ સંસ્થાન પાપકર્મમાં અન્તર્ગત છે તે આ રીતે છે. ન્યગ્રોધપરિમંડળ, સાદિ કુબ્જ, વામન અને હુન્ડક

અપ્રશસ્ત રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ પણ પાપકર્મમાં ગણાય છે એવી જ રીતે નરક ગત્યાનુપૂર્વી અને તિર્યંગ્ગત્યાનુપૂર્વી પણ પાપકર્મમાં સમ્મિલિત છે.

વિગ્રહ---અન્તરાલ ગતિમાં વર્તમાન જીવના ક્ષેત્રસન્નિવેશક્રમને આનુપૂર્વી કહે છે અન્ત-રાલગતિ બે પ્રકારની છે—ઋજવી (સીધી--જેમાં વળવું ન પડે) અને વક્રા (વળાંકવાળી) બંનેમાં આનુપૂર્વી નામકર્મનો ઉદય હોય છે.

ઉપઘાત નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ છે કારણ કે તે પોતાના જ શરીરના અંગોપાગોના ઉપઘાતના કારણરૂપ છે. અપ્રશસ્તવિહાયોગતિ પણ પાપકર્મ છે અને સ્થાવર નામકર્મ પણ પાપમાં જ પરિગણિત છે કારણ કે તેના ઉદયથી સૂક્ષ્મ શરીરની ઉત્પત્તિ થાય છે.

અપર્યાપ્ત નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ છે કારણ કે તેના ઉદયથી પર્યાપ્તિઓની પૂર્ણ રૂપથી પ્રાપ્તિ થતી નથી. જે કર્મના ઉદયથી યથાયોગ્ય પર્યાપ્તિઓ પૂરી થઈ શકતી નથી અને અપર્યાપ્ત અવસ્થામાં જ મૃત્યુ થઈ જાય છે તે અપર્યાપ્ત નામકર્મ કહેવાય છે.

સાધારણ શરીર નામકર્મ પણ પાપ છે કારણ કે તેના ફળસ્વરૂપ આવા શરીરની પ્રાપ્તિ થાય છે જે અનન્ત જીવો માટે સાધારણ (એક જ શરીર) હોય છે. કિસલય (કુંપળ) નિગોદ અને વજ્રકંદ વગેરેના આવી જ જાતના સાધારણ શરીર હોય છે. ત્યાં જેમ પરિભોગ એક જીવનો હોય છે તેવા જ અનેક જીવોના હોય છે.

અસ્થિર નામકર્મ પણ પાપકર્મ જ છે, કારણ કે તેના ઉદયથી શરીરના અસ્થિર અવયવ ઉત્પન્ન થાય છે જેમને આ કર્મનો ઉદય થાય છે. તેના શરીરના અવયવોમાં સ્થિરતા હોતી નથી.

અશુભ નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ છે. કારણ કે એના ઉદયથી શરીરના ચરણ વગેરે અવયવ અશોભિત થાય છે. જે કર્મના ઉદયથી શરીરના મસ્તક વગેરે અવયવ સુશોભિત થાય તે શુભકર્મ પુણ્યમાં પરિગણિત છે. એવી જ રીતે દુર્ભાગ્યનો પિતા દુર્ભગ નામકર્મ પણ પાપકર્મ છે તે મનની અપ્રિયતા જનક છે.

અનાદેય નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિરૂપ છે એના ઉદયથી મનુષ્યના વચન માન્ય થતાં નથી પૂર્વ યોજિત વ્યવસ્થા મુજબની વાતો કહેવા છતાં પણ લોકો તેની વાત માનતા નથી તેમજ તેના આગમન પ્રસંગે તેનું સન્માન-સત્કાર પણ કરતા નથી કોઈ રુચિ દર્શાવતા નથી.

દુઃસ્વર નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ રૂપ છે આના ઉદયથી જીવનો સ્વર કાનનેઅપ્રિય થઈ પડે છે જેવી રીતે ગધેડાનો અવાજ, સાંભળનારાઓને અપ્રિય પ્રતીત થાય છે.

અયશ કીર્ત્તિ નામકર્મ પણ પાપકર્મ કહેવાય છે કારણ કે એના ઉદયથી સત્કૃત્ય કરવા છતાં પણ જગતમાં અપયશ અને અપકીર્ત્તિ ફેલાય છે.

નીચગોત્ર કર્મ પણ પાપરૂપ છે કારણ કે તેના ઉદયથી ચાંડાળ, શિકારી, માછીમાર દાસી વગેરેના રૂપમાં પણ જન્મ ધારણ કરવો પડે છે.

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ—ભગવતી સૂત્રના આઠમાં શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—જાતિનો ગર્વ કરવાથી, કુળનું અભિમાન રાખવાથી, રૂપમદ, લાભમદ, તપમદ, સૂત્રમદ ઐશ્વર્ય મદ કરનાર નીચ ગોત્ર બાંધે છે.

આવી રીતે પાંચ અન્તરાયકર્મ પણ પાપકર્મ છે. દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય ઉપભોગાન્તરાય તેમજ વીર્યાન્તરાય એ પાંચ પ્રકારના અન્તરાયકર્મ છે.

ભગવતી (વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ) સૂત્રમાં આઠમાં શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—દાનમાં અન્તરાય (વિઘ્ન-મુશ્કેલી) નાખવાથી લાભમાં અન્તરાય નાખવાથી ભોગમાં અન્તરાય નાખવાથી અને વીર્યમાં અન્તરાય નાખવાથી અન્તરાય કર્મ બંધાય છે. ॥૨॥

'णाणदंसणाणं पडियाइहिं णाणदंसणावरणं'

સૂત્રાર્થ—જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા વગેરેથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવારણ કર્મ બંધાય છે. ॥૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં પાપકર્મ બ્યાંશી પ્રકારે ભોગવાય છે એ બતાવવામાં આવ્યું હવે જ્ઞાનાવરણ કર્મ બંધાવાનું કારણ દર્શાવીએ છીએ—

'णाणदंसणाण'—જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા વગેરે કરવાથી પંચવિધ જ્ઞાનાવરણ અને નવવિધ દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે પ્રત્યનીકતા આદિ શબ્દથી ભગવતી સૂત્રના આઠમાં શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમાં કહેવામાં આવેલા પદોનું અહીં ગ્રહણ કરવાનું છે તે આ પ્રમાણે છે–જ્ઞાન અને દર્શન પ્રત્યનીકતા (૧) નિહ્નવતા (૨) અન્તરાય (૩) પ્રદ્વેષ (૪) આત્માશાતના (૫) અને વિસંવાદનયોગ (૬) આ છ કારણોથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મો બંધાય છે. ॥૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરે બ્યાંશી પ્રકારના પાપોના સ્વરૂપ કહેવામાં આવ્યા હવે તે પૈકી પ્રથમ પાચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણ અને નવ પ્રકારના દર્શનાવરણ પાપકર્મના બન્ધના કારણો બતાવીએ છીએ—**'णाणदंसणाण'** વગેરે જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા આદિ કરવાથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મો બંધાય છે. જ્ઞાન–મતિ, શ્રુત, અવધિ, મન પર્યવ અને કેવળજ્ઞાનના ભેદથી પાંચ પ્રકારના હોય છે. દર્શન–ચક્ષુ, અચક્ષુ અવધિ અને કેવળદર્શનના ભેદથી ચાર પ્રકારના હોય છે આવી રીતે પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનની અને ચાર પ્રકારના દર્શનની પ્રત્યનીકતા આદિ છ ઉપઘાતક હોય છે. એમના આચરણથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે.

જ્ઞાનના પાચ ભેદ હોવાથી જ્ઞાનાવરણ પણ પાંચ પ્રકારના હોય છે, દર્શનાવરણ નવ પ્રકારના હોય છે—ચક્ષુદર્શનાવરણ, અચક્ષુદર્શનાવરણ, અવધિદર્શનાવરણ અને કેવળદર્શનાવરણ તથા નિદ્રા, નિદ્રા–નિદ્રા, પ્રચલા, પ્રચલા–પ્રચલા અને સ્ત્યાનર્દ્ધિ એમ નવ પ્રકારના છે.

અહીં જ્ઞાનવિષયક પ્રત્યનીકતા આદિ જ્ઞાનાવરણ પાપકર્મના બધના કારણ અને દર્શનવિષયક પ્રત્યનીકતા આદિ દર્શનાવરણ કર્મના બન્ધનરૂપ કારણ હોય છે એવું સમજવું ઘટે. અહીં આદિ શબ્દથી નિહ્નવતા અન્તરાય, પ્રદ્વેષ, અત્યાશાતના અને વિસંવાદનાયોગ, આ પદોને ગ્રહણ કરવા જોઈએ.

અર્થાત્ જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા વગેરે છ કારણોથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ બંધાય છે એ મુજબ કહેવું જોઈએ જેવી રીતે જ્ઞાન પ્રત્યનીકતા (૧) જ્ઞાન નિહ્નવતા (૨) જ્ઞાનાન્તરાય (૩) જ્ઞાનપ્રદ્વેષ (૪) જ્ઞાનની અત્યાશાતના (૫) અને જ્ઞાનનો વિસંવાદનયોગ (૬) એ મુજબ ...એવી જ રીતે દર્શનવિષય પ્રત્યનીકતા વગેરેને પણ દર્શનની સાથે સાંકળી લેવા જોઈએ. અત્રે પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ કર્મ બંધાવાના છ કારણોની વ્યાખ્યા કરવામાં આવે છે, જ્ઞાન–પ્રત્યનીકતા—મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાન અવધિજ્ઞાન, મનઃપર્યવજ્ઞાન અને કેવળજ્ઞાન આ પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનના વિષયમાં અથવા ધર્મ+અધર્મના અભેદથી અર્થાત્ ધર્મથી ધર્મીનુ ગ્રહણ કરવાથી મતિશ્રુતાનિ પાંચ જ્ઞાનવાળાઓની પ્રત્યનીકતા અર્થાત્ શ્રુતજ્ઞાનાદિક વિરુદ્ધ આચરણ કરવાથી અગર શ્રુતજ્ઞાનાદિવાળાઓમાં વિરુદ્ધ આચરણ કરવાની પ્રવૃત્તિ રાખવાથી તથા જ્ઞાનનો નિહ્નવ કરવાથી કોઈ કોઈને પૂછે અથવા શ્રુતજ્ઞાનાદિના સાધન માગે ત્યારે જ્ઞાન અથવા જ્ઞાનના સાધનો પોતાની પાસે હોવા છતાં પણ કલુષિત ભાવે એવું કહેવું કે હું જાણતો નથી અથવા મારી પાસે તે વસ્તુ જ નથી, આ જ્ઞાન નિહ્નવ છે—આ પ્રકારના જ્ઞાન નિહ્નવથી અથવા શ્રુત પ્રદાતા ગુરૂજનોના નિહ્નવથી અપલાપથી તથા જ્ઞાનાન્તરાયથી કલુષિતભાવથી જ્ઞાનપ્રાપ્તિમાં કોઈને અડચણ પહોંચાડવાથી તથા જ્ઞાનપ્રદ્વેષથી શ્રુતાદિકમાં અથવા શ્રુતાદિજ્ઞાનવાળા ગુરુજનોમા

અપ્રીતિ રાખવાથી તથા જ્ઞાનાત્યાશાતનાથી–શ્રુતાદિ જ્ઞાનની અથવા શ્રુતાદિજ્ઞાનશાળી પુરૂષોની અવહેલના કરવાથી તથા 'णाणविसंवायणाजोगेणं' જ્ઞાન અને અજ્ઞાની માણસોને નિષ્ફળ બતાવતી ચેષ્ટા કરતા રહેવાથી, આ છ કારણોથી જ્ઞાનાવરણકર્મ બંધાય છે.

એવી જ રીતે દર્શનના દર્શનવાળાના તથા દર્શનના સાધનોની પણ પ્રત્યનીકતા વગેરે છ, નવ પ્રકારના દર્શનાવરણ કર્મબંધનના કારણ હોય છે. એ જાણી શકાય છે. કારણ કે કારણભૂત અધ્યવસાય વિશેષ અર્થાત્ આત્માનું પરિણામ વિશેષ જે પ્રત્યાનીકતા વગેરે છે. એનાથી નવ પ્રકારના દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે

અહીં ચક્ષુદર્શનાવરણ (૧) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૨) અવધિદર્શનાવરણ (૩) કેવળદર્શનાવરણ (૪) આ ચાર આવરણ તથા નિદ્રા (૧) નિદ્રા–નિદ્રા (૨) પ્રચલા (૩) પ્રચલા–પ્રચલા (૪) અને સ્ત્યાનર્દ્ધિ (૫) એ પાચ પણ ચક્ષુદર્શન આદિ ચાર પ્રકારના દર્શનના વિઘાતક હોવાથી દર્શનાવરણ પદથી કહેવામાં આવે છે.

આ રીતે દર્શનાવરણ કર્મ નવ પ્રકારના કહેવાય છે અત્રે જ્ઞાનાવરણ કર્મ જ્ઞાન સંબંધી પ્રત્યનીકતા આદિ છ કારણોથી બંધાય છે અને તે તે જ્ઞાનના આવરણ રૂપ પાંચ પ્રકારથી ભોગવાય છે. આવી જ રીતે દર્શનાવરણ કર્મ દર્શન સંબંધી પ્રત્યનીકતા વગેરે છ કારણોથી બંધાય છે અને ચક્ષુદર્શનાવરણ વગેરે ચાર અને નિદ્રા વગેરે પાંચ એવા નવ પ્રકારથી ભોગવાય છે.

ભગવતીસૂત્રના ૮ માં શતકના ૯ માં ઉદ્દેશકમાં કહ્યું છે—ભગવન્ ! કયા કર્મના ઉદયથી જ્ઞાનાવરણીય કર્મ બંધાય છે ? ગૌતમ ! જ્ઞાન પ્રત્યનીકતા (દુશ્મનાવટ–વિરોધ)થી જ્ઞાનનો અપલાપ કરવાથી જ્ઞાનસંપાદનમાં અન્તરાય નાખવાથી, જ્ઞાન સંબંધી પ્રદ્વેષથી જ્ઞાનની અશાતના કરવાથી અને જ્ઞાન સંબંધી વિસંવાદના કરવાથી જ્ઞાનાવરણીય કર્મ બંધાય છે જે કારણોથી જ્ઞાનાવરણીય કર્મ બંધાય છે તેજ કારણોથી દર્શનાવરણ કર્મ પણ બંધાય છે. તફાવત એટલો જ છે કે જ્ઞાન સંબંધી પ્રત્યનીકતા વગેરેથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શન સંબંધી પ્રત્યનીકતાથી દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે. ॥૩॥

'असायावेयणिज्जं परदुक्खणयाइहिं'

સૂત્રાર્થ—પરપીડન વગેરેથી અશાતા વેદનીય કર્મ બંધાય છે. ॥૪॥

તત્વાર્થદીપિકા– પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણીય દર્શનાવરણીય કર્મબન્ધના કારણો વર્ણવવામાં આવ્યા હવે પાપ તત્ત્વના પ્રસંગથી અશાતા વેદનીય કર્મબંધનના કારણો રજુ કરીએ છીએ. "असायावेयणिज्जं' વગેરે...

અશાતા વેદનીય કર્મ પરદુઃખનતા આદિ બાર, કારણોથી બંધાય છે, તેનાથી જીવને શારીરિક અને માનસિક અશાતા ઉપજે છે. આદિ શબ્દ વડે સંગૃહીત બાર કારણો આ રહ્યાં—

(૧) પરદુઃખનતા—બીજાને અશાતા પહોંચાડવી.

(૨) પરશોચનતા—બીજાને શોક પહોંચાડવો.

(૩) પરજૂરણતા—બીજાને શરીરશોષણ જનક શોક. પહોંચાડવો

(૪) પરતેપનતા—બીજાને અશ્રુપાત થાય એવો શોક પહોંચાડવો

(૫) પરપિડનતા—બીજાને લાઠી વગેરેથી માર મારવો

(૬) પરપરિતાપનતા—બીજાને શારીરિક માનસિક વ્યથા કરવી.

આવી જ રીતે પ્રાણભૂત જીવસત્ત્વોના વિષયમાં પણ પૂર્વોક્ત દુ.ખનતા આદિ છએનું સમાચરણ કરવું (૬+૬=૧૨) આ બાર પ્રકારના કારણોથી જીવને અશાતા વેદનીય કર્મ બાંધવું પડે છે. ॥૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણીય દર્શનાવરણીય કર્મની પ્રત્યનીકતા વગેરે છ, બન્ધના કારણ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યા છે હવે પાપ તત્ત્વના પ્રસંગથી અશાતા વેદનીય કર્મબન્ધના કારણોનું વિવરણ કરવામાં આવી રહ્યું છે—'**असायावेयणिज्जं**' વગેરે.

જે કર્મના ઉદયથી સુખ દુઃખનો અનુભવ થાય તે વેદનીય કર્મ કહેવાય છે અથવા જે કર્મ સુખઃદુખના રૂપથી વેદન કરવા યોગ્ય હોય તે વેદનીય કહેવાય છે, તે વેદનીય કર્મ શાતાવેદનીય, અશાતા વેદનીયના ભેદથી બે પ્રકારના છે જેમાં શાતા વેદનીય પુણ્યપ્રકૃતિ જન્ય હોવાથી ચતુર્થ પુણ્યતત્ત્વ અધ્યાયમા તેનું વિવેચન થઈ ચુકયું છે અત્રે પાપતત્ત્વનું પ્રકરણ હોવાથી અશાતાવેદનીય કર્મની વ્યાખ્યા કરવામાં આવે છે

જે કર્મના ઉદયથી જીવને અશાતા અર્થાત્ દુઃખ ઉત્પન્ન થાય તો તે કર્મ અશાતા વેદનીય કહેવાય છે. તે અશાતાવેદનીય કર્મનું બન્ધન પરદુઃખનતા આદિ બાર કારણોથી થાય છે જેનાથી જીવ શારીરિક તથા માનસિક અશાતાનો અનુભવ કરે છે આ કારણો આ પ્રમાણે છે—(૧) પરદુઃખનતા—પોતાના સિવાય બીજાને દરેક પ્રકારે દુઃખ ઉપજાવવું (૨) પરશોચનતા બીજાને દીનતાજનક શોકમાં નાખવો (૩) પરજૂરણતા—બીજાને એવો શોક પહોંચાડવો જેનાથી તેનું શરીર શોષાઈ જાય (૪ પરતેપનતા—જેનાથી અશ્રુનો ધોધ વહેવા માંડે લાળ ઝરવા માંડે એ પ્રકારનો દીલદ્રાવક ઉદ્વેગ પહોંચાડવો (૫) પરપિટ્ટનતા—બીજાને લાઠી વગેરે આયુધોથી મારવો (૬) પરપરિતાપનતા—બીજાને શારીરિક તથા માનસિક વ્યથા પહોંચાડવી—આ છ બોલ સમુચ્ચય જીવોને ધ્યાનમા રાખીને કહેવામા આવ્યા છે એવી જ રીતે પ્રાણભૂત જીવ અને સત્વના વિષયમાં પણ આ જ છ બોલોનું આચરણ કરવું એમ ૧૨ બોલ થયા જેનાથી જીવને અશાતા-વેદનીય કર્મ બંધાય છે તે પ્રાણ ભૂત જીવસત્ત્વની વ્યાખ્યા આ પ્રમાણે છે—

વિકલેન્દ્રિય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય પ્રાણ કહેવાય છે જીવ શબ્દથી પંચેન્દ્રિય ગ્રહણ કરવામા આવે છે. ભૂત શબ્દથી વનસ્પતિકાય અને પૃથ્વી, પાણી, અગ્નિ, વાયુ એ સત્ત્વ કહેવાય છે, વળી કહ્યુ પણ છે—'**प्राणा-द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः**" વગેરે

આ ચારેયને સંતાપ પહોંચાડવાથી, શોક પહોંચાડવાથી, જૂરણ-અર્થાત શરીર સુકાઈ જાય એવો શોક પહોંચાડવાથી, તેપન—જેનાથી અશ્રુપાત થાય, બૂમાબૂમ કરવા લાગે એ જાતની ગ્લાની પહોંચાડવાથી, પિટ્ટન—લાઠી વગેરે સાધનોથી માર મારવાથી અને પરિતાપન-શારીરિક માનસિક સન્તાપ પહોંચાડવાથી જીવને અશાતા-વેદનીય કર્મ બાંધવું પડે છે ॥ ૪ ॥

'**तित्थयरायरियोवज्झाय**' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તીર્થંકર, આચાર્ય ઉપાધ્યાય, કુળ, ગણ, સંઘ, શ્રુત, ધર્મ અને દેવોનો અવર્ણવાદ કરવાથી મિથ્યાત્વનો બન્ધ થાય છે ॥ ૫ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—બ્યાંશી પાપકર્મ પ્રકૃતિઓ-પૈકી પૂર્વસૂત્રમા અશાતાવેદનીય કર્મના

બન્ધના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે મિથ્યાત્વ મોહનીય કર્મ બાંધવાના હેતુઓનું વિવેચન કરવામા આવે છે -

તીર્થંકરની આચાર્યોની ઉપાધ્યાયોની, કુળની ગણની, સંઘ, અર્થાત્ શ્રમણ શ્રમણી, શ્રાવક અને શ્રાવિકાઓના સમુદાયની, અર્હન્ત ભગવાન દ્વારા પ્રણીત અંગોપાંગ સહિત આગમોની પાંચ મહાવ્રતોના સાધન ભૂત ધર્મની, ચારે પ્રકારના દેવોની અર્થાત્ ભવનવાસિ વાનવ્યન્તર જ્યોતિષ્ક તેમજ વૈમાનિક દેવોની નિન્દા કરવાથી મિથ્યાત્વ કર્મ બંધાય છે ॥૫॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ જ્ઞાનાવરણીય આદિ જે બ્યાંશી પ્રકારના પાપકર્મ ભોગ કહેવામા આવ્યા હતા તે પૈકી મતિ આદિ પાંચ જ્ઞાનાવરણીયો ચક્ષુ દર્શનાવરણીય આદિ નવ દર્શનાવરણીઓ અને અશાતાવેદનીય પાપકર્મ બાંધવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યું છે, હવે ક્રમપ્રાપ્ત મિથ્યાત્ત્વ દર્શનમોહનીય પાપકર્મના બંધ હેતુઓનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

તીર્થંકર આચાર્ય ઉપાધ્યાય, કુળ ગણ, સંઘ, શ્રુત, ધર્મ અને દેવોનો અવર્ણવાદ કરવાથી— મિથ્યાત્વ કર્મ બંધાય છે.

સમ્પૂર્ણ જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થનારા તેમજ સમસ્ત જ્ઞેય પદાર્થોને જાણવાવાળા કેવળજ્ઞાનથી સમ્પન્ન તીર્થંકરોની અર્થાત્ શ્રી અરિહન્ત ભગવન્તોની, આચાર્યોની ઉપાધ્યાયોની, જેઓ સમ્યગ્જ્ઞાન-દર્શન અને ચારિત્રથી સમ્પન્ન હોય છે, રાગ દ્વેષ અથવા મોહના આવેશથી નિન્દા કરવાના કારણે અર્થાત્ અસત્ ભૂત દોષોને પ્રગટ કરવા રૂપ અવર્ણવાદ કરવાથી

આવી જ રીતે કુળ અને ગણનો અવર્ણવાદ કરવાથી અથવા સમ્યક્ત્વ-જ્ઞાન સંવર અને તપ રૂપ ચાર પ્રકારના સઘનો અવર્ણવાદ કરવાથી,

તે જ રીતે તીર્થંકરો દ્વારા પ્રતિપાદિત આચારાગથી લઈને દષ્ટિવાદ પર્યન્તના, અંગોના અનુવાદ રૂપ ઔપપાતિક વગેરે ઉપાંગો સહિત શ્રુત-પ્રવચન-આગમનો અવર્ણવાદ કરવાથી તથા પંચમહાવ્રતોથી ઉત્પન્ન થનારા ક્ષમા આદિ સ્વરૂપવાળા દશલક્ષણ ક્ષમા આદિ ધર્મનો અવર્ણવાદ કરવાથી,

તપ અને સંયમની આરાધના કરીને દેવગતિ પ્રાપ્ત કરનારા તથા પરિપક્વ તપ અને બ્રહ્મચર્યથી જેઓને દેવાયુની પ્રાપ્તિ થઈ છે એવા ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોનો અવર્ણવાદ કરવાથી મિથ્યાત્વ રૂપ દર્શન મોહનીય પાપકર્મ બંધાય છે.

આ પૈકી તીર્થંકરોનો અવર્ણવાદ આ રીતે થાય છે—અર્હન્ત નથી-હોતાં નથી તેઓ જાણવા છતાં કેવાં ભોગ ભોગવે છે ! સમવસરણ આદિ રૂપ પ્રાભૃતિનો આશ્રય લે છે ! વગેરે આચાર્યો અને ઉપાધ્યાયો વગેરેનો અવર્ણવાદ જેમકે આ બાળક છે ! વગેરે કહેવું એક જ ગુરૂના શિષ્યો જેઓ સાધુ હોય છે તેમનો સમૂહ કુળ કહેવાય છે અને અનેક ગુરૂઓના શિષ્યોનો સમૂહ ગણ કહેવાય છે તેમનો અવર્ણવાદ કરવાથી પણ મિથ્યાત્વ-મોહનીય બંધાય છે. શ્રમણ આદિના સંઘનો અવર્ણવાદ જેમકે--આ સાધુઓમાં તો માત્ર બાહ્ય શૌચનો જ આચાર છે, પૂર્વજન્મમાં તેઓ પાપ ઉપાર્જન કરીને આવ્યા છે, તેને લીધે જ વાળનો લોંચ, આતાપના

વગેરેના દુ.ખો ભોગવે છે, તેઓ કલહપ્રિય છે, અસહનશીલ છે,તેઓએ પૂર્વભવમાં દાન આપ્યું નથી, પછીના જન્મમાં પણ દુ:ખ જ ભોગવશે, વગેરે આ પ્રકારે જ સાધ્વીઓનો અવર્ણવાદ પણ સમજવો અને શ્રાવક શ્રાવિકાઓનો પણ અવર્ણવાદ આ ધોરણે જ સમજવાનો છે.

અથવા સામાન્ય રૂપથી સંઘનો—અવર્ણવાદ કરવો, જેમ—ગધેડા, શિયાળ, કાગડાં અને કુતરાઓનો સમૂહ પણ સંઘ જ ગણાય છે પછી સંઘમાં કોઈ વિશેષતા જ શું છે ? સંઘમાં કંઈ પણ ગૌરવની વાત નથી.

શ્રુતનો અવર્ણવાદ જેવી રીતે—આગમ મૂર્ખાઓની પ્રાકૃતભાષામાં લખાયુ છે ! વ્રત દેહ-દમન પ્રાયશ્ચિત્ત, અને પ્રમાદના ઉપદેશની પુનરૂક્તિઓ તેમાં ખડકેલી છે, ખોટા-ખોટા અપવાદો બતાવ્યાં છે, વગેરે—

પૂર્ણ રૂપથી હિંસા વગેરેથી વિરતિરૂપ પાંચમહાવ્રત હેતુક તથા ક્ષમા આદિ દસ લક્ષણોવાળા ધર્મનો અવર્ણવાદ આવી રીતે થાય છે—સ્વર્ગ અને મોક્ષના કારણ રૂપ કહેવામાં આવતો ધર્મ પ્રત્યક્ષ આદિ પ્રમાણોથી જાણી શકાતો નથી ધર્મ અપ્રાણિક છે એવું કહી શકાતું નથી. પુદ્ગલ ધર્મ આ પદના વાચ્ય હોઈ ન શકે કારણ કે ધર્મ પુદ્ગલ હોઈ શકે નહીં ધર્મ આત્માનું પરિણામ પણ થઈ ન શકે કારણ કે તેને જો આત્માનું પરિણામ કહીશું તો ક્રોધાદિ પરિણામ પણ ધર્મ કહેવાશે.

ભવનપતિ વાનવ્યન્તર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોનો અવર્ણવાદ આ રીતે સમજવો જોઈએ—બીજા બળવાન દેવ અલ્પબળવાળા દેવોને દૂર કરી પોતાના કબ્જે કરી લે છે ? તેમની આંખો સ્થિર રહે છે આંખોની પાંપણ ફરકતી નથી તેઓ અત્યંત અસતભૂત દોષોને પ્રગટ કરાવવાળા હોય છે.

આવી જ રીતે તીવ્ર મિથ્યાત્વરૂપ પરિણામથી ખોટા માર્ગનો બોધ આપવો લોકોની બુદ્ધિમા ભેદ ઉત્પન્ન કરવો અર્થાત્ તેમની શ્રદ્ધાને ઢીલી પાડવી, આવેશને વશ થઈ વગર વિચાર્યે અપકૃત્ય કરી બેસવું, અસંયમી પુરૂષોના ગુણગાન ગાવા—આ બધાં સંસાર-વૃદ્ધિના મૂળ કારણ-અનંત સંસારને વધારવાના દર્શનમોહનીય રૂપ મિથ્યાત્વ પાપકર્મ બાંધવાના કારણો ગણાય.

સ્થાનાગસૂત્રના સ્થાન ૫ ઉદ્દેશક ૨ માં કહ્યુ છે--પાંચ કારણોથી જીવ દુર્લભ બોધિવાળા કર્મોનું ઉપાર્જન કરે છે—(૧) અર્હન્તોનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૨) અર્હન્તે ભાખેલા ધર્મનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૩) આચાર્ય અને ઉપાધ્યાયોનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૪) ચતુર્વિધસઘનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૫) પરિપકવ તપ અને બ્રહ્મચર્યનું ફળ ભોગવનારા દેવોનો અવર્ણવાદ કરવાથી ॥૫॥

'तिव्वकसायजणियत्त परिणामेणं ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તીવ્ર કષાયના ઉદયથી . ઉત્પન્ન આત્માના પરિણામોથી ચારિત્રમોહનીય કર્મ બંધાય છે ॥૬॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા--પૂર્વસૂત્રમાં મિથ્યાત્વરૂપ દર્શનમોહનીય પાપકર્મ બાંધવાના કારણોનું સ્વરૂપ વર્ણવવામા આવ્યું હવે અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ આદિ સોળ કષાયો અને હાસ્ય વગેરે નવ અકષાયો બાંધવાના કારણો જોઈશું—

તીવ્ર કષાયના કારણે આત્મામાં જે પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તેનાથી સોળ પ્રકારના કષાય વેદનીય અને નવ પ્રકારના અકષાય વેદનીય ચારિત્રમોહનીય પાપકર્મ બંધાય છે. તાત્પર્ય એ છે કે ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ આદિ કષાયોના ઉદયથી આત્મામાં જે તીવ્ર પરિણામ-વિશેષ ઉત્પન્ન થાય છે તેનાથી સોળ પ્રકારના કષાયવેદનીય અને નવ પ્રકારનાં અકષાયવેદનીય પાપકર્મ બંધાય છે. ॥૬॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ બ્યાંશી પ્રકારનાં પાપકર્મમાંથી પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય નવ પ્રકારના દર્શનાવરણીય, સાતા-અસાતા વેદનીય અને મિથ્યાત્વ પાપકર્મોના બન્ધના હેતુઓનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું, હવે ક્રમપ્રાપ્ત સોળ પ્રકારના ચારિત્રમોહનીય પાપકર્મ બંધાવવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ.

તીવ્ર કષાયથી ઉત્પન્ન આત્માના પરિણામોથી સોળ કષાય તથા નવ અકષાય રૂપ ચારિત્ર મોહનીય પાપકર્મ બંધાય છે.

कषन्ति અર્થાત્ જીવને નર્કગતિ વગેરે દુર્ગતિમાં જે નાખે છે તેને કષાય કહે છે અથવા **कष्यते** કહેતા જેમની દ્વારા જીવ સંસાર પ્રતિ આકર્ષિત કરાય છે તે કષાય. અથવા **कषति** જે, વિષય રૂપી તલવારથી પ્રાણિઓનો ઘાત કરે તે કષ અર્થાત્ સંસાર તેનો જેનાથી આય-લાભ, થાય તે કષાય અથવા **कष्यते** કહેતાં સંસારરૂપી અટવી (વન)માં ગમન-આગમન રૂપ કાંટાઓમા પ્રાણી જેના વડે ઘસડાય છે તેમને કષાય કહે છે અથવા **कष्यते** અર્થાત્ જેમની દ્વારા કર્મભૂમિ સુખ-દુઃખ આદિ ધાન્ય-ફળને અનુરૂપ બનાવાય છે તે કષાય છે ક્રોધ, માન, માયા તથા લોભ એ ચાર, કષાયોદયથી ઉત્પન્ન થનારાં આત્માના જે તીવ્ર પરિણામ અર્થાત્ અધ્યવસાય છે, જેવી રીતે રૂપ, રસ, ગન્ધ અને સ્પર્શ આદિ વિષયોમાં લોલુપતા, અદેખાઈ, અસત્યભાષણ, વક્રતા, પરસ્ત્રી તરફ પ્રેમભાવ વગેરે, આવા પરિણમન વિશેષથી સોળ કષાય વેદનીય અને નવ અકષાયવેદનીય રૂપ ચારિત્રમોહનીય કર્મ બંધાય છે આમાંથી સોળ કષાય આ છે—

અનન્તાનુબંધી ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪) અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪) પ્રત્યાખ્યાનાવરણ ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪), સંજ્વલન ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪) આ કષાયોના ઉદય રૂપ તીવ્ર પરિણામ ચારિત્રમોહનીય બંધાવાના કારણો છે.

નવ અકષાય આ છે :-(૧) હાસ્ય (૨) રતિ (૩) અરતિ (૪) ભય (૫) જુગુપ્સા (૬) શોક (૭) સ્ત્રીવેદ (૮) પુરુષવેદ અને (૯) નપુંસકવેદ.

(૧) હાસ્યમોહનીય કર્મના ઉદયથી મોઢું પહોળું કરીને હસવું, દીનાભિલાષિત્વ કન્દર્પ, મશ્કરી, અતિપ્રલાપ, હાસશીલતા આદિ હાસ્ય વેદનીય કર્મ બંધાવવાના કારણો છે,

(૨) મોહનીય કર્મના ઉદયથી વિષયો તરફ ચિત્તની અભિરુચિ થવી, વિવિધ પ્રકારથી ક્રીડા કરવી, બીજાના મનને આકર્ષિત કરવું,'અનેકરીતે રમણ કરવું, દુઃખનો અભાવ—દેશાદિનાં વિષયમા ઉત્સુકતા-પ્રીતિ—ઉત્પન્ન કરવી . વગેરે કારણોથી રતિવેદનીય કર્મ બંધાય છે.

(૩) મોહનીય કર્મના ઉદયથી પોતાની જ તરફ ભયના પરિણામનું ઉત્પન્ન થવું, અન્યને ભય ઉપજાવવો, ઉપજવો, હીનતા થવી, ત્રાસ પામવો અગર, પમાડવો વગેરે ભય કર્મ

બાંધવાના કારણ રૂપ હોય છે.

(૪) મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા મનોવિકાર, પરરાજ, પ્રાદુર્ભાવ, રતિવિધ્વંસ પાપશીલતા, અશુભ કૃત્યોમાં પ્રોત્સાહન, ચૌર્ય આદિ અરતિવેદનીય પાપ કર્મ બાંધવાના કારણો છે.

(૫) ધર્મનું આચરણ કરવામાં તત્પર શ્રમણ, શ્રમણી, શ્રાવક શ્રાવિકાના કુશળ ક્રિયાના આચરણ તરફ નફરત રાખવી, તેમની કુથળી કરવી વગેરે કારણોથી જુગુપ્સા કર્મ બંધાય છે.

(૬) ઇચ્છિત વસ્તુનો વિયોગ અને અણગમતી વસ્તુની પ્રાપ્તિ થવાથી મનમાં શોકનો ઉદ્વેગ થયો, શોકમાં ડૂબેલાં રહેવું બીજાને દુઃખ પહોંચાડવું, વગર કારણે શોકાતુર બન્યા રહેવું, વગેરે કારણોથી શોકવેદનીય કર્મ બંધાય છે.

(૭) અદેખાઈ અસત્યભાષણ, વક્રતા, પરસ્ત્રી લંપટતા વગેરેથી સ્ત્રીવેદ બંધાય છે.

(૮) સીધો-સરળ વ્યવહાર કરવાથી, પોતાની સ્ત્રીમાં રતિપ્રિયતા હોવાથી, અદેખાઈનો અભાવ થવાથી પુરૂષ વેદ કર્મ બંધાય છે.

(૯) તીવ્ર ક્રોધ વગેરેથી પશુઓના મુંડનમાં રતિ થવી, સ્ત્રી અને પુરુષ-બંનેની સાથે કામભોગ સેવન કરવાની ઇચ્છા અથવા કુટેવ હોવી, શીલવ્રત તથા ગુણવાળાના તીવ્ર વિષયો પ્રતિ તીવ્ર અભિલાષા થવી આ બધાં નપુંસકવેદ બંધાવાના કારણરૂપ છે.

તાત્પર્ય એ છે કે પરમ ધર્મનિષ્ઠ શ્રમણોની નિન્દા કરવાથી, જેઓ ધર્માચરણ કરવામાં તત્પર છે તેમના ધર્માચરણમાં બાધાઓ નાખવાથી, દેશવિરત જનોના ધર્મકૃત્યમા અન્તરાય નાખવાથી, દારુ, માસ તથા મધના ભાગમા ગુણ સમજવાથી, ચારિત્રગુણને દૂષિત કરવાથી, કુત્સિત-ચારિત્રને સચ્ચરિત્ર સમજવાથી અને બીજાનાં કષાયો તથા અકષાયોની ઉદીરણા કરવાથી મોહનીય કર્મ બંધાય છે

ભગવતીસૂત્રમાં કહ્યું છે—મોહનીય કર્મ—શરીરપ્રયોગની બાબતમા પ્રશ્નોત્તરી હે, ગૌતમ ! તીવ્ર ક્રોધ કરવાથી, તીવ્ર માન કરવાથી. તીવ્ર માયાના સેવનથી, તીવ્ર લોભથી, તીવ્ર દર્શન-મોહનીયથી અને તીવ્ર ચારિત્ર મોહનીયથી મોહનીય કર્મ બધાય છે ॥ ૬ ॥

'महारंभ महापरिग्गहा' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—મહારંભ, મહાપરિગ્રહ. પંચેન્દ્રિયવધ અને માંસભક્ષણથી નરકાયુ બંધાય છે ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં સોળ કષાયવેદનીય અને નવ અકષાયવેદનીય પાપકર્મોના બન્ધહેતુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યા હવે નરકાયુ કર્મના બંધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—મહાન્ આરંભ, મહાન્ પરિગ્રહ, પંચેન્દ્રિય જીવોનો વધ અને માંસાહાર કરવાથી નરકાયુ બંધાય છે.

પ્રાણિઓને દુ ખ ઉપજાવનારી પ્રવૃત્તિ આરંભ કહેવાય છે. ક્ષેત્ર, વાસ્તુ (મકાન) હીરણ્ય (ચાંદી) સોના વગેરે પરપદાર્થમાં મમત્ત્વ હોવો એ પરિગ્રહ છે. પચેન્દ્રિય-જીવોની હિંસા તથા માંસાહાર પ્રસિદ્ધ જ છે. આ ચાર કારણોથી નરકાયુ કર્મ બધાય છે. ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વોક્ત કહેલી પાપકર્મ-પ્રકૃતિઓમાંથી પાચ જ્ઞાનાવરણ નવ દર્શનાવરણ, અસાતાવેદનીય, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાયવેદનીય અને નવ અકષાય-વેદનીય પાપ-

કર્મોનાં બન્ધના કારણો બતાવવામાં આવ્યા છે. હવે ક્રમપ્રાપ્ત નરકાયુ પાપકર્મના બંધહેતુઓનું કથન કરવામા આવે છે—

મહારંભ, મહાપરિગ્રહ, પંચેન્દ્રિયવધ અને માંસાહારથી નરકાયુ કર્મ બંધાય છે. પ્રાણાતિપાત જનક વ્યાપારને આરંભ કહે છે. ધન-ધાન્ય-ક્ષેત્ર-વાસ્તુ વગેરે બાહ્ય પદાર્થોમાં મમતા રાખવી પરિગ્રહ છે મહાન્ આરંભ અને મહાન પરિગ્રહ મહારંભ તથા મહાપરિગ્રહ કહેવાય છે. આનાથી તેમજ પંચેન્દ્રિય જીવોનો વધ અને માંસ ભક્ષણ કરવાથી નરકાયુ કર્મ બંધાય છે.

આ કથનનો સારાંશ એ છે કે હિંસા આદિ ઘાતકી કર્મોથી સદા પ્રવૃત્ત રહેવાથી પારકી થાપણ ઓળવવાથી, ઇન્દ્રિય-વિષયોમાં અત્યન્ત રચ્યાપચ્યા રહેવાથી કૃષ્ણલેશ્યાના કારણે ઉત્પન્ન થનાર રૌદ્ર-ધ્યાનથી, પંચેન્દ્રિય પ્રાણીના વધથી અને માંસાહાર આદિથી નરકાયુ પાપકર્મ બંધાય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના ઉદ્દેશક ચોથામાં કહ્યું છે—'ચાર કારણોથી નરકાયુ કર્મનું ઉપાર્જન થાય છે—મહાઆરંભ-કરવાથી, પંચેન્દ્રિયના વધથી, મહાપરિગ્રહથી અને માંસ-ભક્ષણ કરવાથી. ॥૭॥

'जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—યોગોની વક્રતા અને વિસંવાદથી અશુભ નામ કર્મ બંધાય છે ॥૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આગળના સૂત્રમાં નરકાયુ પાપ કર્મ બાંધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી, હવે ક્રમાનુસાર ચોત્રીશ પ્રકારનાં અશુભ નામ કર્મ બંધાવાના કારણોની ચર્ચા કરીએ છીએ—

યોગની વક્રતા અને વિસંવાદથી અશુભ નામકર્મ બંધાય છે

યોગનો અર્થ થાય છે આત્માની એક વિશેષ શક્તિ જે કરણરૂપ હોય છે તેના ત્રણ પ્રકાર છે—મન, વચન અને કાયા તેની વક્રતાનો અર્થ છે કુટિલતાપૂર્વક પ્રવૃત્તિ જેમકે મનથી કંઈક વિચારવું વચનથી કંઈ બીજું જ કહેવું તથા કાયાથી અન્ય પ્રકારની જ પ્રવૃત્તિ કરવી એને યોગવક્રતા કહે છે.

વિસંવાદનો આશય છે—અન્યથા પ્રવૃત્તિ, કરવી, બીજાને છેતરવા સૂત્રમા—ચ પદનો જે પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે તેનાથી મિથ્યાદર્શન, પૈશુન્ય, ચંચલ-ચિત્તતા, ખોટું જોખવું-માપવું અને બીજાની નિન્દા કરવી વગેરે અર્થ લેવામાં આવ્યા છે. આ યોગવક્રતા અને વિસંવાદ આદિ કારણોથી—નરકગતિ આદિ ચોત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામ કર્મ બંધાય છે ॥૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ બતાવી દેવામાં આવ્યું છે કે મહાઆરંભ, મહાપરિગ્રહ, પંચેન્દ્રિય વધ અને માંસાહારથી નરકની આયુ બંધાય છે હવે અનુક્રમથી પ્રાપ્ત નરકગતિ આદિ ચોત્રીશ પ્રકારના નામ કર્મ બંધાવા રૂપ કારણો રજુ કરીએ છીએ—

યોગોની વક્રતા અને વિસંવાદ કરવાથી અશુભ નામ કર્મ બંધાય છે.

કાયા વચન અને મન આ ત્રણ યોગ છે તેમની વક્રતા કહેતાં કુટિલતા પૂર્ણ પ્રવૃત્તિને યોગવક્રતા કહેવામાં આવેલ છે. અન્યથા પ્રવૃત્તિને વિસંવાદ કહે છે યોગ વક્રતા સ્વગત હોય છે જ્યારે વિસંવાદન પરગત હોય છે.

કાયાની વક્રતા કુબ્જ (કુબડો) વામન (ઠીંગણો નિકૃષ્ટ અંગ-પ્રત્યંગ આંખોનું સંકોચન, મટકા, મળ, વ્યાધિ, વિદૂષક સ્ત્રી-પુરૂષ, મડદાં વગેરેના આકારો દ્વારા અયથાર્થને પ્રકટ કરવું એવો અર્થ થાય છે. કપટયુક્ત બોલવું એ વચનની વક્રતા છે. મનમાં બીજી વાત વિચારીને લોક અથવા સમાજમાં પૂજા-પ્રતિષ્ઠા અથવા આદર-સન્માન વગેરે મેળવવાની અભિલાષાથી વચન વડે કંઈક બીજું જ કહેવું અને શરીરથી બીજા જ પ્રકારનું આચરણ કરવું એ મનની વક્રતા છે આમ કાય યોગ આદિની વક્રતા સ્વવિષયક જ હોય છે.

વિસંવાદનનો સમ્બન્ધ બીજાની સાથે હોય છે. તેનો અર્થ છે અન્યથા પ્રવૃત્તિ જે વાત સાચી છે તેને ખોટી સાબીત કરવી વિસંવાદ છે અથવા અત્યન્ત પ્રેમાળ બાપ અને બેટાની વચ્ચે મનદુઃખ ઉભુ કરવું—તેમનો પ્રેમ નાશ કરી દેવો વિસંવાદ કહેવાય છે.

સૂત્રમાં ગ્રહણ કરવામાં આવેલ 'ચ' પદથી મિથ્યાદર્શન, માયિક પ્રયોગ, પૈશુન્ય, ચંચલ-મનોવૃત્તિ, ખોટાં માપ-તોલ અર્થાત્ ઓછુ-વધારે માપવું-જોખવું, કોઈપણ એક વસ્તુમાં બીજી વસ્તુની ભેળસેળ કરવી અને જુઠી સાક્ષી પુરવી વગેરે સમજવાના છે. આ કારણોથી ચોંત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામકર્મ, બંધાય છે. તે આ રીતે ચોંત્રીશ પ્રકાર છે—(૧) નરક-ગતિ (૨) તિર્યંચગતિ (૩) એકેન્દ્રિયજાતિ (૪) દ્વીન્દ્રિયજાતિ (૫) ત્રીન્દ્રિયજાતિ (૬) ચતુરિન્દ્રિયજાતિ, (૭) ન્યગ્રોધપરિમંડળ (૮) સાદિ (૯) કુબ્જ (૧૦) વામન અને (૧૧) હુન્ડ સંસ્થાન (૧૨) અર્ધવજ્રર્ષભનારાચસંહનન (૧૩) નારાચ સંહનન (૧૪) અર્ધનારાચસંહનન (૧૫) કીલિકાસંહનન (૧૬) સૃપાટિકાસંહનન (૧૭) અપ્રશસ્ત રૂપ (૧૮) અપ્રશસ્ત રસ (૧૯) અપ્રશસ્ત ગન્ધ (૨૦) અપ્રશસ્ત સ્પર્શ (૨૧) નરકગત્યાનુપૂર્વી (૨૨) તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વી (૨૩) ઉપઘાત નામ (૨૪) અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૨૫) સ્થાવર નામ (૨૬) સૂક્ષ્મનામ (૨૭) અપર્યાપ્તક નામ (૨૮) સાધારણ નામ (૨૯) (અસ્થિર નામ) (૩૦) અશુભ નામ (૩૧) દુર્ભગનામ (૩૨) અનાદેયનામ (૩૩) દુઃસ્વરનામ અને (૩૪) અયશઃ કીર્તિનામ.

શ્રી ભગવતિ સૂત્રમાં શતક ૮ ઉદ્દેશક ૯માં કહ્યું છે—અશુભનામ કર્મના વિષયમાં પ્રશ્ન ? તેનો જવાબ એ છે કે—"ગૌતમ" ! કાયાની ઋજુતા ન હોવાથી અર્થાત્ વક્રતા હોવાથી..... વિસંવાદતા યોગથી અશુભ નામ કર્મ બંધાય છે.

આ સ્થળે પહેલા જે 'જીવ' શબ્દ આવ્યો છે તેનાથી ભાષાની ઋજુતા ન હોવી. અર્થાત્ મનની ઋજુતા ન હોવી અર્થાત્ મનની વક્રતા સમજવા. તથા બીજા 'જીવ' શબ્દથી શરીર ઈ. સમજવા. ॥ ૮ ॥

'अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं नीया गोयकम्मं'

સૂત્રાર્થ—આઠ પ્રકારના મદસ્થાનોથી અર્થાત્ મદ કારણોથી નીચગોત્ર બંધાય છે ॥૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ચોંત્રીશ પ્રકારનાં નરકગત્યાદિ અશુભકર્મ બાંધવાના હેતુ રૂપ કાયાદિયોગોની વક્રતા તથા વિસંવાદનાદિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે ક્રમપ્રાપ્ત નીચ ગોત્ર કર્મ બાંધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

આઠ પ્રકારના મદસ્થાનોથી અર્થાત્ જાતિ કુળ, બળ, રૂપ, તપ, શ્રુત, લાભ તથા ઐશ્વર્ય આ આઠેનાં વિષયમાં અહંકાર કરવાથી નીચ ગોત્રકર્મ બંધાય છે ॥ ૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં બ્યાંશી પ્રકારના પાપકર્મોમાં ક્રમથી પાંચ જ્ઞાનાવરણ, નવ દર્શનાવરણ, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાય નવ અકષાય, નરકાયુ નરકગતિ વગેરે ચોત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામકર્મ બંધાવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે અહીં ક્રમાનુસાર નીચ ગોત્ર કર્મ બંધાવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવે છે—

આઠ પ્રકારના જાતિ, મદ આદિ મદસ્થાનોથી અર્થાત્ જાત આદિ આઠેના વિષયમાં અહંકાર કરવાથી નીચ ગોત્રકર્મ બંધાય છે તે આઠ આ પ્રમાણે છે—જાતિ, કુળ, બળ, રૂપ, શ્રુત, લાભ અને ઐશ્વર્ય. દાખલા તરીકે—જાતિ-મદથી—હું સહૂ કરતાં માતૃપક્ષરૂપ જાતિમાં ઉંચો છુ, એવી રીતે જાતિ સમ્બન્ધી અહંકારથી (૧) કુળના મદથી—મારો પિતૃપક્ષ-વંશ સર્વ શ્રેષ્ઠ છે—હું ઉત્તમ વંશજ છું આ જાતના કુળ સમ્બન્ધી અહંકારથી (૨) બળ મદથી—બધા કરતા હું શક્તિશાળી વ્યક્તિ છું એ જાતનો બળનો અહંકાર કરવાથી (૩), રૂપમદથી—મારું રૂપ સૌન્દર્ય દિવ્ય છે એમ રૂપનો અહંકાર કરવાથી (૪) તપ—મદથી . હું ઉગ્રતપસ્વી છું મારા જેવી કઠોર તપસ્યા કોણ કરી શકે છે ? એવો તપનો અહંકાર કરવાથી (૫), શ્રુત મદથી—હું બધાં આગમોનો જાણકાર છું, મારૂં જ્ઞાન વિશાળ છે એ રીતે શ્રુત સમ્બન્ધી અહંકારથી (૬), લાભમદથી ફાયદો જ ફાયદો થાય છે જે વસ્તુની-ઇચ્છા કરૂ છું તે વસ્તુ મને આવી મળે છે એવો લાભનો અહંકાર કરવાથી (૭) આવી જ રીતે ઐશ્વર્યમદથી—અર્થાત્ અધિકાર પદવી પરિવાર, ઋદ્ધિઆદિ સંપત્તિ જે મારી પાસે છે તે અનુપમ અને અઢળક છે એવો ઐશ્વર્ય બાબતનો અહંકાર કરવાથી (૮), અર્થાત્ આ આઠ પ્રકારના મદ—અહંકારથી જીવ નીચ ગોત્રકર્મ બાંધે છે આ જ વિષયમાં ભગવતીસૂત્ર શતક ૮ના ઉદ્દેશક ૯માં ભગવાને આવું જ કહેલ છે ॥૯॥

'दाणादीणं विग्घकरणेणं अंतराइयकम्मं'

સૂત્રાર્થ—દાન વગેરેમાં હરકત પહોંચાડવાથી અન્તરાય કર્મ બંધાય છે ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણ આદિ બ્યાંશી પ્રકારનાં પાપકર્મોમાંથી ક્રમપ્રાપ્ત-નીચ ગોત્ર કર્મ બંધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે અંતિમ કર્મ અન્તરાયકર્મ બાંધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવે છે—

દાન આદિ અર્થાત્ દાન, લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમાં વિઘ્ન નાખવાથી, બાધા પહોંચાડવાથી ...અન્તરાય કર્મ બંધાય છે તાત્પર્ય એ છે કે દાન લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમાં વિઘ્ન નાંખવું એ અન્તરાય કર્મ બાંધવાના કારણો છે ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા જ્ઞાનાવરણીય આદિ બ્યાશી પ્રકારના પાપકર્મ બાંધવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યું છે. હવે અન્તમાં બાકી રહેલા અન્તરાય કર્મના બાંધવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહેવામાં આવ્યું છે—દાન લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમાં વિઘ્ન નાખવાથી અન્તરાય કર્મ બંધાય છે. પોતાની વસ્તુ—પોતાની સત્તાનો ભાગ કરી અન્યને આપવી તેને દાન કહે છે (૧) કોઈ વસ્તુની પ્રાપ્તિ થવી તેને લાભ કહે છે (૨) જે એકવાર ભોગવવામાં આવે તેને ભોગ કહે છે દા. ત આહાર વગેરે (૩) જે વારંવાર ભોગવવામાં આવે છે તે ઉપભોગ છે દા.ત, વસ્ત્રાદિ (૪) ધર્મ—આરાધના વગેરેમાં ઉજમાળ રહેવું એ વીર્ય છે. (૫) આ દાનાદિ પાંચેમાં વિઘ્ન નાખવું એ અન્તરાય કર્મ બાંધવાના કારણો છે.

જે કર્મના ઉદયથી દાન આપવાં યોગ્ય વસ્તુનું પણ દાન દઈ શકાતું નથી તે દાનાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે. જે કર્મના ઉદયથી પ્રાપ્ત કરનાર, પ્રાપ્ય વસ્તુને મેળવવામાં અસમર્થ હોય છે તે લાભાન્તરાય કર્મ છે જે કર્મના ઉદયથી ભોજન વગેરેને ભોગવવા માટે શક્તિમાન હોવા છતાં પણ જીવ તે ભોગવી શકતો નથી તે ભોગાન્તરાય કર્મ છે જે કર્મના ઉદયથી વસ્ત્ર વગેરેનો ઉપભોગ કરવામાં સમર્થ હોવા છતાં જીવ તેનો ઉપભોગ ન કરી શકે તે ઉપભોગાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે જે કર્મના ઉદયથી જીવમાં વીર્ય–ઉત્સાહ–પરાક્રમ ન ઉદ્ભવે તેને વીર્યાન્તરાય કર્મ સમજવું જોઈએ.

સારાંશ એ છે કે દાન, લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમાં વિઘ્ન ઉપસ્થિત કરવાથી અનુક્રમથી દાનાન્તરાય વગેરે કર્મ બંધાય છે.

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ શ્રી ભગવતીસૂત્રના શતક ૮, ઉદ્દેશક ૯માં કહ્યું છે—દાનમાં અન્તરાય નાખવાથી લાભમાં અન્તરાયરૂપ થવાથી, ભોગમાં અન્તરાય કરવાથી ઉપભોગમાં અડચણ રૂપ થવાથી તથા વીર્યમાં અન્તરાય નાખવાથી 'અન્તરાય કર્મ' બંધાય છે.

'અન્તરાય' શબ્દનો અર્થ થાય છે—હરકત પહોંચાડવી આ પ્રકારે દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય આ પાંચ અન્તરાય કર્મ બાંધવાના કારણો છે ॥૧૦॥

रयणसक्कर–वालुया ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—સાત નરકભૂમિઓ છે—જેમકે (૧) રત્નપ્રભા, (૨) શર્કરાપ્રભા, (૩) વાલુકાપ્રભા (૪) પંકપ્રભા, (૫) ધૂમપ્રભા (૬) તમઃપ્રભા (૭) તમસ્તમઃપ્રભા–આ સાતે ભૂમિઓ ઘનોદધિ ઘનવાત, તનુવાત અને આકાશ પર ટકેલી છે નીચે નીચે ઉત્તરોત્તર પહોળી થતી જાય છે અર્થાત્ તમસ્તમ પ્રભા સાતવી પૃથ્વી ઉપરની છે બાકીની છએ પૃથ્વિથી પહોળી છે. ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અત્રે પાપતત્ત્વનું પ્રકરણ હોવાથી પાપના ફળ ભોગ દુઃખવિપાકના સ્થાનભૂત હોવાથી રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવી રહી છે: (૧) રત્નપ્રભા (૨) શર્કરાપ્રભા (૩) વાલુકાપ્રભા (૪) પંકપ્રભા (૫) ધૂમપ્રભા (૬) તમઃપ્રભા (૭) તમસ્તમ. પ્રભા આ સાતે નરકભૂમિઓ ઘનોદધિ, ઘનવાત, તનુવાત આકાશ પર પ્રતિષ્ઠિત છે આ સાત પૃથ્વિઓના નામ રત્નપ્રભા વગેરે જે છે તે આ પ્રમાણે સાર્થક છે, જેમ–રત્નોની પ્રભાથી સહચરિત અર્થાત્ યુક્ત હોવાથી પ્રથમ પૃથ્વિનું નામ રત્નપ્રભા છે (૧) શર્કરા અર્થાત્ નાના નાના કાંકરાના જેવી પ્રભાવાળી હોવાથી બીજી પૃથ્વિનું નામ શર્કરાપ્રભા છે (૨) વાલુકા (રેતી)ની પ્રભાથી યુક્ત હોવાથી ત્રીજી પૃથ્વિનું નામ વાલુકાપ્રભા છે (૩) પંક કહેતાં કાદવથી યુકત હોવાથી ચોથી પૃથ્વિનું નામ પંકપ્રભા છે (૪) જ્યાં આગળ ધૂમાડો હોય એને ધૂમપ્રભા કહે છે (૫) જ્યાં અન્ધકાર છવાયેલો રહે છે તે છઠ્ઠી પૃથ્વીનું નામ તમ.પ્રાભા છે (૬) જ્યાં નિબિડ અર્થાત્ ઘટાટોપ–ઘનઘોર અન્ધકાર પથરાયેલો રહે છે તે સાતમી પૃથ્વિનું નામ તમસ્તમઃ-પ્રભા છે (૭) અહીં. ભૂમિ શબ્દ એ માટે લેવામાં આવ્યો છે કે જેવી રીતે દેવલોક ભૂમિના આશ્રય વગર પોતાના સ્વભાવથી જ ટકેલાં છે તેજ રીતે નરકાવાસ ભૂમિના સહારા વગર ટકેલા હોતા નથી આ સાત ભૂમિઓના આધારભૂત ઘનોદધિ ઘનવાત તનુવાત અને આકાશ એ 'ચાર છે' તે સાતે ભૂમિઓ એક એકથી આગળ આગળ પૃથુલ–પહોળી થતી ગઈ છે. અર્થાત્ સાતમી પૃથ્વિ ઉપરની છએ પૃથ્વિથી પહોળી હોય છે. ॥ ૧૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જીવ અજીવ આદિ નવ તત્ત્વોથી ક્રમપ્રાપ્ત પાપતત્ત્વને આ પાંચમાં અધ્યાયમા પ્રરૂપિત હોવાના પ્રસ્તાવથી દુઃખરૂપ તેના ફળભોગના તીવ્ર વિપાક સ્થાન હોવાથી રત્નપ્રભા આદિ સાત—નરકભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામાં આવે છે—

રત્નપ્રભા, શર્કરાપ્રભા, વાલુકાપ્રભા, પંકપ્રભા ધૂમપ્રભા, તમઃપ્રભા, તમસ્તમઃપ્રભા આ સાત નરકભૂમિઓ ઘનોદધિ, ઘનવાત, તનુવાત અને આકાશના આધારે રહેલી છે અને નીચે નીચે, પછી પછીની પૃથ્વિ પહોળી થતી જાય છે. આ સાતે પૃથ્વિઓ પોત-પોતાના નામને સાર્થક કરે છે જેવી રીતે રત્નોની પ્રભાવાળી રત્નપ્રભા (૧) શર્કરા-તીક્ષ્ણ કાંકરાની પ્રભાવાળી શર્કરાપ્રભા (૨) એવી જ રીતે વાલુકા પંક, ધૂમ, તમઃ, તમસ્તમઃ પ્રભા એ પાંચેના સંબંધમાં સમજી લેવું. આ સાતે પૃથ્વિઓ ઘનોદધિ, ઘનવાત, તનુવાત અને આકાશ ઉપર રહેલી છે જેમકે—સૌથી નીચે પ્રથમ આકાશ છે, તેની ઉપર તનુવાત-સૂક્ષ્મ વાયુ છે, તેની ઉપર ઘનવાત કહેતાં ઘનિષ્ઠ વાયુ છે, તેની ઉપર ઘનોદધિ-ઘન-વજ્ર સમાન જામેલું પાણી છે તેની ઉપર સાતમી તમસ્તમ પ્રભા પૃથ્વિ ટકેલી છે. એવી જ રીતે તેની ઉપર પાછા આ ક્રમથી આકાશ તનુવાત, ઘનવાત ઘનોદધિ છે તે ઘનોદધિ પર છઠી તમઃપ્રભા પૃથ્વિ પ્રતિષ્ઠિત છે. આવી જ રીતે દરેક પૃથ્વિના અન્તરાળમાં આકાશ આદિ ચાર બોલ હોય છે, પ્રત્યેક ચાર બોલની ઉપર ૬ઠી, ૫મી, ૪થી, ૩જી, ૨જીઅને ૧લી રત્નપ્રભા પૃથ્વિ પ્રતિષ્ઠિત છે તથા રત્નપ્રભાથી લઇને ઉત્તરોત્તર પૃથ્વિ ઉપર-ઉપરની અપેક્ષાથી નીચે નીચેની પૃથ્વિઓ પહોળી હોય છે આ સાતે પૃથ્વિઓ એક-એકની નીચે-નીચે હોય છે.

જેવી રીતે રત્નપ્રભાની નીચે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિ રત્નપ્રભાની અપેક્ષા પહોળી છે (૨) અને શર્કરાપ્રભાની અપેક્ષા તેની નીચેની વાલુકા પ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે (૩) તેની નીચે પંકપ્રભા પૃથ્વિ વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિની અપેક્ષા પહોળી છે (૪) પંકપ્રભા પૃથ્વિની અપેક્ષા એની નીચેની ધૂમપ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે (૫) ધૂમપ્રભાની અપેક્ષા એની નીચેની તમઃપ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે (૬) તમઃપ્રભાની અપેક્ષા તેની નીચેની તમસ્તમઃપ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે. (૭)

આવી રીતે સાતે પૃથ્વિઓ ઘનોદધિ વલય પર પ્રતિષ્ઠિત છે. ઘનોદધિવલય ઘનવાતવલય પર પ્રતિષ્ઠિત છે. ઘનવાતવલય તનુવાતવલય પર પ્રતિષ્ઠિત છે. તનુવાતવલય આકાશ પ્રતિષ્ઠિત છે. આ બધા વલયાકાર હોવાથી વલય શબ્દથી કહેવામાં આવ્યા છે.

આ પૃથ્વિઓનો પરસ્પર કેટલો અન્તરાળ છે તે કહીએ છીએ—રત્નપ્રભાની નીચે અસંખ્યાત કરોડ યોજન જવાથી શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિ આવે છે (૨) શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિની નીચે અસંખ્યાત કરોડા કરોડ યોજન જઈએ તો વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ આવે છે. આવી જ રીતે બાકીની પંકપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓ પણ એક-એકની નીચે અસંખ્યાત કરોડા કરોડ યોજનની અન્તરાળથી આવેલી છે—

અહીં ઘન શબ્દના પ્રયોગથી તે પાણી ઘનીભૂત છે નહીં કે દ્રવીભૂત અર્થાત્ તે પાણી વજ્ર માફક જામી ગયેલ ઘનરૂપ છે પરંતુ દ્રવ માફક પ્રવાહી નથી એવો ભાવ સમજવો. એની હેઠળનો વાયુ બંને પ્રકારનો છે પ્રથમ ઘન અને બીજો તનુની માફક પ્રવાહી છે. ઘનોદધિ અસંખ્યાત હજાર યોજનની પહોળાઈવાળા ઘનવાત પર આવેલ છે, ઘનવાત અસંખ્યાત

હજાર યોજનની પહોળાઈવાળા તનુવાત પર ટકેલું છે, તનુવાત પછી અસંખ્યાત કરોડા-કરોડ યોજનવાળું મહા તમોભૂત આકાશ રહેલું છે તે આકાશ ખરકાન્ડ, પંકબહુલકાંડ અબ્બહુલકાન્ડ એ ત્રણ કાન્ડોવાળી તનુવાત સુધીની રત્નપ્રભા પૃથ્વિના પરસ્પર આધારભૂત છે આ પૃથ્વિ આદિ તનુવાત સુધી બધા પેલા આકાશની ઉપર પ્રતિષ્ઠિત છે આકાશ પોતાના સ્વભાવથી પોતાના રૂપથી પ્રતિષ્ઠિત છે એ કોઈના આધારે ટકેલ નથી આથી જ ઘનોદધિ ઘનવાત અને તનુવાત આકાશ પર પ્રતિષ્ઠિત—રહેલાં છે. તે પ્રત્યેક પ્રથ્વિ અસંખ્યાત કરોડા કરોડ-યોજનના વિસ્તારવાળી લોકસ્થિતિના સ્વભાવથી સ્થિત છે.

હવે આ સાતે પૃથ્વિઓનું પ્રમાણ કહીએ—રત્નપ્રભા નામની પહેલી પૃથ્વિ આયામ-વિષ્કમ્ભ-લંબાઈ પહોળાઈથી એક રજ્જુ પ્રમાણની છે (૧), શર્કરાપ્રભા અઢી રજ્જુપ્રમાણ (૨) વાલુકાપ્રભા ચાર રજ્જુપ્રમાણ (૩) પંકપ્રભા પાંચ રજ્જુપ્રમાણ (૪) ધૂમપ્રભા છ રજ્જુ-પ્રમાણ (૫) તમઃપ્રભા સાડા છ રજ્જુપ્રમાણ (૬) અને તમસ્તમઃપ્રભા સાતમી પૃથ્વિ સાત રજ્જુપ્રમાણની છે (૭) એમનું ઉત્કીર્ત્તન નામ અને ગોત્ર બંને પ્રકારથી થાય છે જેમકે પહેલી પૃથ્વિ નામથી ધર્મા અને ગોત્રથી રત્નપ્રભા કહેવાય છે (૧), બીજી પૃથ્વિ નામથી વંશા અને ગોત્રથી શર્કરાપ્રભા (૨) ત્રીજી પૃથ્વિ નામથી શૈલા અને ગોત્રથી વાલુકાપ્રભા (૩) ચોથી નામથી અંજના અને ગોત્રથી પંકપ્રભા (૪) પાંચમી નામથી રિષ્ટા અને ગોત્રથી ધૂમપ્રભા (૫) છઠ્ઠી નામથી મઘા અને ગોત્રથી તમઃપ્રભા (૬) સાતમી પૃથ્વિ નામથી માઘવતી અને ગોત્રથી તમસ્તમઃપ્રભા કહેવાય છે. (૭)

આ સાતે પૃથ્વિઓમાંથી પ્રથમ રત્નપ્રભાપૃથ્વિ પૂર્વાપર આદિ બધા વિભાગોમાં સર્વત્ર એક સરખા ઘનરૂપથી ઉપરથી નીચે સુધી અર્થાત્ પિન્ડરૂપથી એકલાખ એંશી હજાર યોજન મોટી છે (૧,૮૦,૦૦૦) એવી જ રીતે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ બત્રીશ હજાર યોજન (૧,૩૨,૦૦૦) છે (૨) વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ અઠયાવીશહજાર યોજનની છે (૧,૨૮,૦૦૦) (૩) પંકપ્રભાની મોટાઈ એક લાખ વીસ હજાર યોજનની છે (૧,૨૦,૦૦૦) (૪) ધૂમપ્રભાની મોટાઈ એક લાખ અઢાર યોજનની છે (૧,૧૮,૦૦૦) (૫) તમઃપ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ સોળ હજાર યોજનની છે (૧,૧૬,૦૦૦) (૬) તમસ્તમઃ પ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ આઠ હજાર યોજનની છે (૧,૦૮૦૦૦) (૭) ॥૧૧॥

'नरगा तेसु जहाकमं तीसा पण्णावीसा'

સૂત્રાર્થ—રત્નપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમાં યથાક્રમ ત્રીસ લાખ, પચીસ લાખ, પંદરલાખ, દસલાખ, ત્રણલાખ, એકલાખમાં પાંચ ઓછાં અને ફક્ત પાચ નરકાવાસ છે ॥ ૧૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે તેમનામા પ્રત્યેકની અંદર નારકાવાસોની સંખ્યાની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

નરકનો અર્થ અહીં નરકાવાસ અર્થાત્ નારકીના જીવોને રહેવાનું સ્થાન સમજવું અગાઉ કહેલી ભૂમિયોમાં તેમની સંખ્યા આ રીતે છે—(૧) રત્નપ્રભા પૃથ્વિમાં ત્રીસ લાખ (૨) શર્કરાપ્રભામા પચીસ લાખ (૩) વાલુકાપ્રભામાં પંદર લાખ (૪) પંકપ્રભામાં દસ લાખ (૫) ધૂમપ્રભામાં ત્રણ લાખ (૬) તમઃપ્રભામાં એક લાખ ઓછા પાંચ અને (૭) તમસ્તમઃપ્રભામાં માત્ર પાંચ નારકાવાસ છે ॥ ૧૨ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા રત્નપ્રભા આદિ સાતે પૃથ્વિઓના સ્વરૂપનું વિશદ રૂપથી વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે. હવે નારક જીવોનો પ્રસંગ હોવાથી સર્વ પ્રથમ તેમના સ્થાનો અર્થાત્ નારકાવાસોનું નિરૂપણુ કરવામાં આવે છે—

રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓમા અનુક્રમથી નારકાવાસોની સંખ્યા આ મુજબ છે- ત્રીસ લાખ, પચ્ચીસ લાખ, પંદર લાખ, દસ લાખ, ત્રણુ લાખ, એક લાખમાં પાચ ઓછા અને ફક્ત પાંચ નારકાવાસ, છે તાત્પર્ય એ છે કે રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા ત્રીસ લાખ શર્કરાપ્રભામાં પચ્ચીસ લાખ, વાલુકાપ્રભામાં પંદરલાખ, પંકપ્રભામાં દસલાખ, ધૂમપ્રભામાં ત્રણુલાખ તમઃ પ્રભામા એકલાખમાં પાંચ ઓછા અને તમસ્તમઃ પ્રભામાં પાંચ જ નારકાવાસ છે.

નરક શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે—નરાર અર્થાત્ અશુભ કર્મવાળા મનુષ્યોને કાયન્તિ અર્થાત્ જે બોલાવે છે તે 'નરક' કહેવાય છે. મતલબ એ છે કે પાપકર્મવાળા પ્રાણિઓનું અશુભ કર્મનું ફળ ભોગવવાનું સ્થાન નરક કહેવાય છે. તે સીમન્તક આદિ નરક ઉષ્ટ્રિકા, વિષ્ટપચની, લોહી તથા ઘડા વગેરેના આકારના હોય છે. જે જીવ પાપકર્મના ભારથી ભરેલા છે તેઓ ત્યાં ઉત્પન્ન થાય છે.

તમસ્તમ. પ્રભા નામની સાતમી પૃથ્વિની મધ્યમાં રહેલાં પાંચ નારકાવાસોના નામ આ પ્રમાણે છે—કાલ, મહાકાલ રૌરવ મહારૌરવ અને અપ્રતિષ્ઠાન આ પૈકી અપ્રતિષ્ઠાનનામના મુખ્ય નારકાવાસથી પૂર્વ દિશામાં કાલ નામક નારકાવાસ છે, પશ્ચિમમાં મહાકાલ નારકાવાસ છે, દક્ષિણુમાં રૌરવ નામનું અને ઉત્તરમાં મહારૌરવ નામક મુખ્ય નારકાવસ છે ॥૧૨॥

'णिच्चासुभयर लेस्सा परिणामसरीरवेयणा विक्किया नारगा'

સૂત્રાર્થ—નારકી જીવો હમેશાં અશુભ લેશ્યાવાળા વેદનાવાળા અને વિક્રિયાવાળા હોય છે ॥૧૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓમાં અનુક્રમથી નરકાવાસોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે તે નરકોમાં નિવાસ કરવાવાળા 'નારકજીવોના સ્વરૂપનું કથન કરીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત નરકોમાં રહેનારા નારકજીવોની લેશ્યા સદૈવ કહેતાં નિરન્તર અશુભતર જ રહે છે અશુભતરનો અર્થ એ થાય છે કે તિર્યંચ ગતિની અપેક્ષા અશુભ હોય છે અને સ્વગતિ અર્થાત્ નરકગતિની અપેક્ષા પણુ ઉપર-ઉપરની અપેક્ષાથી નીચે-નીચે અધિકાધિક શુભ હોય છે

ત્યાં શબ્દ, વર્ણ, રસ ગંધ અને સ્પર્શનું પરિણુમન પણુ તે ક્ષેત્રના નિમિત્તથી અત્યન્ત અશુભ હોય છે અને તેપરિણુમન નારકીના જીવોના અપરંપાર દુઃખનું કારણુ છે.

અશુભ નામકર્મના ઉદયથી નારકોના શરીર અતીવ અશુભ હોય છે, તેમની આકૃતિ ઘણી જ વિકૃત હોય છે, હુંડક સંસ્થાન હોય છે અને જોવામાં અત્યન્ત જુગુપ્સાપ્રેરક હોય છે.

તે જીવોને હમેશાં અશુભતર વેદના થાય છે તે અશુભતર વેદનાનું અન્તરંગ કારણુ તીવ્ર અસાતાવેદનીય કર્મનો ઉદય અને બહિરંગ કારણુ અનાદિ પારિણુામિક શીત અને ઉષ્ણતા વગેરે

છે. નરકભૂમિઓમાં દસ પ્રકારની ક્ષેત્રજનિત વેદના થાય છે. —(૧) અનન્ત ક્ષુધા (૨) અનન્ત તૃષા (૩) અનન્ત શીત (૪) અનન્ત ઉષ્ણ (૫) અનન્ત પરવશતા (૬) અનન્ત દાહ (૭) અનન્ત ખજવાળ (૮) અનન્ત ભય (૯) અનન્ત શોક અને (૧૦) અનન્ત ઘડપણ.

એવી જ રીતે નારક જીવોની વિક્રિયા પણ હમેશાં અશુભતર જ હોય છે તે જીવો પોતાના ઉત્તરવૈક્રિયરૂપ સુંદર રૂપ સમ્પન્ન બનાવવા ઈચ્છે છે ખરાં પરંતુ ક્ષેત્ર અને કર્મના પ્રભાવથી તે વિદૂષક વગેરેની માફક ઘણા જ કદરૂપા બને છે. ॥૧૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ રત્નપ્રભા આદિ સાત ભૂમિઓમાં ક્રમશ. ત્રીસ પચીસ લાખ, પંદર લાખ, દસ લાખ, ત્રણ લાખ, એક લાખમાં પાંચ ઓછા તથા પાંચ નરકોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે. હવે તે નરકોમાં ઉત્પન્ન થનારાં નારક જીવોના સ્વરૂપ વગેરેની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

નરકોમાં ઉત્પન્ન થનારાં નારકી જીવો નિરન્તર અશુભતર લેશ્યા, પરિણામ, શરીર, વેદના અને વિક્રિયાવાળા હોય છે, અહીં નિત્યનો અર્થ છે સદૈવ અને અશુભતરનો અભિપ્રાય છે અત્યન્ત અશુભ–અનિષ્ટ કૃષ્ણ આદિ લેશ્યાઓ પ્રસિદ્ધ છે. પરિણામનો અર્થ શબ્દ, વર્ણ, રસ, ગન્ધ તથા સ્પર્શ સમજવા જોઈએ. શરીરનો આશય છે ભવધારણીય વૈક્રિય શરીર વેદનાનો અર્થ થાય છે અસાતાવેદનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા તીવ્ર દુ ખ અને વિક્રિયાનો અર્થ છે. વિકૃત ઉત્તરવૈક્રિય શરીરની વિકુર્વણા આ બધાં નારક જીવોમાં સદૈવ અતીવ અશુભ હોય છે.

મૂળ સૂત્રમાં લેશ્યા આદિ પદોમાં દ્વન્દ્વ સમાસ છે. આ સમાસની આદિમાં પ્રયોગ કરવામાં આવેલા 'નિત્યાશુભતર' શબ્દ લેશ્યા આદિ બધાની સાથે સાંકળી શકાય છે. આથી સારાંશ એ તારવી શકાય કે નારકીના જીવો હમેશાં અશુભતર લેશ્યાવાળા, અશુભતર પરિણામ વાળા નિત્ય અશુભતર શરીરવાળા, નિત્ય અશુભતર વેદનાવાળા અને નિત્ય અશુભતર વિક્રિયાવાળા હોય છે. નિત્યપ્રહસિત અથવા નિત્ય પ્રજલિતમાં જેમ નિત્ય શબ્દ સાતત્ય સદાનો વાચક છે તેજ રીતે અહીં પણ સાતત્યનો વાચક છે. તેનો અર્થ હમેશા, સદૈવ, લગાતાર એ પ્રમાણે સમજી લેવો જોઈએ.

રત્નપ્રભા અને શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિઓનાં નારક જીવોમાં કાપોત લેશ્યા હોય છે. વાલુકાપ્રભાના ઉપરી ભાગમાંના નારકોમાં કાપોત અને નીચેના ભાગમાં નીલ લેશ્યા હોય છે. પંકપ્રભાના નારકો નીલ લેશ્યાવાળા, ધૂમપ્રભાના ઉપરી ભાગના નારકો નીલ લેશ્યાવાળા અને નીચલા ભાગના કૃષ્ણ લેશ્યાવાળા હોય છે. તમઃપ્રભાના નારક પણ કૃષ્ણ લેશ્યાવાળા હોય છે. તમસ્તમઃ પ્રભાના નારકોમા પરમકૃષ્ણ લેશ્યા હોય છે. આ નારકીના જીવોના આયુષ્યના અન્ત સુધી રહેનારી લેશ્યાનું પ્રતિપાદન થયું.

નરકભૂમિ રૂપ ક્ષેત્રના પ્રભાવથી તેમના પરિણામ અર્થાત્ શબ્દ, રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ અત્યન્ત અશુભ અને દુ.ખના કારણ હોય છે. અશુભ નામકર્મના ઉદયથી તેમના શરીર પણ અત્યન્ત અશુભ હોય છે. વિકૃત ચહેરાવાળા હુણ્ડ સંસ્થાન વાળા, છેદન–ભેદન કરેલાં પક્ષીના શરીર જેવા જોવા ન ગમે એવા હોય છે. તેમના શરીરની ઉંચાઈ રત્નપ્રભા

પૃથ્વિમાં સાત ધનુષ્ય ત્રણ હાથ અને છ આંગળની હોય છે આ પછીની પ્રત્યેક પૃથ્વિમાં બમણી-બમણી લંબાઈ વધતી જાય છે.

નારક જીવોને અસાતાવેદનીય કર્મનો ઉદય થાય છે. તેમની અશુભતર વેદનાનું અભ્યંતર કારણ આ અસાતાવેદનીય જ છે અને બાહ્ય કારણ અનાદિ પરિણામ ઠંડી, ગરમી વગેરે છે જે ઘણા જ તીવ્ર હોય છે.

પહેલી બીજી અને ત્રીજી નરકમાં ઉષ્ણ વેદના હોય છે. ચોથીમાં ઉષ્ણ વેદના ભોગવનારા ઘણાં અને શીત-વેદનાવાળા થોડા હોય છે. પાંચમીમાં ઉષ્ણવેદનાવાળા થોડા જ્યારે શીત વેદના વાળા ઘણાં હોય છે. છઠીમાં શીતવેદના અને સાતમી નરકમાં પરમશીત વેદના હોય છે. (જીવા૦ ૩ પ્રતિ. ઉદ્દે. ૨ માં)—

નારક જીવોની અશુભતર વિક્રિયા આ પ્રમાણે હોય છે—'સારી વિક્રિયા કરીએ એવી ભાવના છતાં પણ ક્ષેત્ર તથા કર્મના પ્રભાવથી તેઓ અશુભતર વિક્રિયા જ કર્યા કરતાં હોય છે. તેઓ સુખના કારણો ઉત્પન્ન કરવાનું તો બીચારાં ઘણું જ ઈચ્છે છે પરંતુ ક્ષેત્ર અને કર્મના પ્રભાવથી દુઃખના જ હેતુઓ ઉત્પન્ન કરે છે.

સાતે પૃથ્વિઓમાં વિદ્યમાન નરક નીચે-નીચે અનુક્રમથી અધિકાધિક અશુભ હોય છે, ભયંકર હોય છે. દા. ત રત્નપ્રભામા અત્યન્ત અશુભ છે તો શર્કરાપ્રભામાં વળી તેનાથી પણ વધારે અશુભ છે જ્યારે વાલુકાપ્રભામાં તો તેનાથી પણ અધિક અશુભ છે. પંકપ્રભામાં તેનાથી પણ અધિક અને ધૂમપ્રભામાં તેનાથી પણ અધિક અશુભ છે. તમઃપ્રભામાં તેથી વિશેષ અને તમસ્તમઃ પ્રભામાં બધાં કરતાં વધારે અશુભ છે.

સૂત્રમાં નિત્ય શબ્દ જે વાપરેલ છે તેનાથી એ પ્રગટ થાય છે કે નરકગતિમાં ઉપર્યુક્ત લેશ્યા, પરિણામ, શરીર, વેદના અને વિક્રિયા સદૈવ અર્થાત્ નરક ભવની શરૂઆતથી લઈને ભવનો ક્ષય થાય ત્યાં સુધી અશુભતર જ બન્યાં રહે છે. એવું કદી પણ બનતું નથી કે કયારેક તે શુભ થઈ જાય ! પલકારો મારવા જેટલાં અલ્પ સમય માટે પણ નારક જીવોનો અશુભતર લેશ્યા આદિથી વિયોગ થતો નથી.

આવી રીતે રત્નપ્રભા પૃથ્વિમાં નારક જીવોની ઉગ્ર માનસિક પરિણામસ્વરૂપ કાપોત લેશ્યા હોય છે તેની અપેક્ષા અધિક તીવ્ર અધ્યવસાયરૂપ કાપોત લેશ્યા શર્કરાપ્રભામાં હોય છે તેનાથી પણ અધિક તીવ્રતર અધ્યવસાયરૂપ તીવ્રતમ કાપોત લેશ્યા અને તીવ્રનીલલેશ્યા વાલુકાપ્રભામાં હોય છે. વાલુકાપ્રભાની અપેક્ષા તીવ્રતર સંકલેશ સ્વરૂપ નીલલેશ્યા પંકપ્રભામાં જોવા મળે છે. પંકપ્રભાની અપેક્ષા પણ તીવ્રતર સંકલેશમય તીવ્રતમ નીલલેશ્યા અને તીવ્ર કૃષ્ણલેશ્યા તમઃ પ્રભામાં હોય છે અને એથી પણ અધિક તીવ્ર અધ્યવસાયરૂપ તીવ્રતમ કૃષ્ણલેશ્યા તમસ્તમઃ પ્રભામાંના નારકજીવોને હોય છે.

નારકી જીવોમાં દસ પ્રકારના અશુભ પુદ્ગલ પરિણામ જોવામાં આવે છે જે આ પ્રમાણે છે—(૧) અશુભ વર્ણ (૨) અશુભ ગંધ (૩) અશુભ રસ (૪) અશુભ શબ્દ (૫) અશુભ સ્પર્શ (૬) અશુભ સંસ્થાન (૭) અશુભ ભેદ (૮) અશુભ ગતિ (૯) અશુભ બન્ધન અને (૧૦) અશુભ અગુરુલઘુ પરિણામ.

નારકોનાં શબ્દ તીક્ષ્ણ, કઠોર અને નિષ્ઠુર પરિણામવાળા હોય છે. તેમનું રૂપ ભયંકર ગંભીર, રોમાંચજનક અને ત્રાસ તથા દુઃખ ઉત્પન્ન કરે એવું ઘણું જ કાળું હોય છે. નરકના પુદ્‌ગલોના રસ લીમડા જેવો કડવો તથા કડવા તુરીયા જેવો હોય છે. ત્યાંની ગન્ધનું પરિણમન મરી ગયેલાં અને કોહવાઈ ગયેલાં કુતરાં, બીલાડા, શિયાળ, હાથી તેમજ ઘોડાના મડદાં કરતાં પણ અધિક અશુભ હોય છે. સ્પર્શ એવો હોય છે. જાણે વીંછીનો ડંખ, ખરખચડો તથા અંગારા જેવો ધીકતો હોય છે. નરકભૂમિ તથા ત્યાં વસતાં નારકોના ચેહરાં જોતાં જ ગભરાહટ ઉત્પન્ન થાય છે જાણે પિશાચની આકૃતિ હોય, નરકોમાં પુદ્‌ગલોના ભેદ પરિણામ પણ અત્યન્ત અશુભ હોય છે. શરીર અને નરકની દિવાલ આદિથી ભિન્ન થનારા પુદ્‌ગલ સ્પર્શ વર્ણ આદિની અપેક્ષા અશુભ પરિણતિને પ્રાપ્ત થતાં થકાં અત્યન્ત દુઃખજનક હોય છે.

અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ નામકર્મના ઉદયથી નારક જીવોની ગતિ ઉંટ અને પતંગ વગેરેની ગતિની જેમ અતીવ અશુભ હોય છે. શરીર આદિથી સંબદ્ધ પુદ્‌ગલોનું બંધન પણ અશુભતર જ હોય છે. સ્પર્શ, વર્ણ આદિથી અગુરુ લઘુ પરિણમન પણ અશુભતર જ થાય છે. બધાં નારક જીવોના શરીર ન તો મોટા હોય છે અથવા નથી નાના હોતાં.

આવી જ રીતે તેમના અગુરુ લઘુ પરિણામ પણ અનેક પ્રકારના દુઃખોનું આશ્રય હોવાના કારણે ઘણું જ અનિષ્ટ હોય છેઃ

ત્યાં જે નરકાવાસ છે તે તિર્છા ઉપર અને નીચે બધી બાજુથી અત્યન્ત ઘોર અને ભયંકર અન્ધકારથી નિરન્તર અવગાઢિત હોય છે તેમને મોટા ભાગે કફ, મૂત્ર, મળ, લોહી, ચરબી, મજ્જા, મેદ વગેરે લંપટેલાં હોય છે. શ્મશાનભૂમિની માફક દુર્ગન્ધમય માંસ, વાળ, હાડકા, ચામડા દાંત નખ વગેરેથી ત્યાંની ભૂમિ વ્યાપ્ત રહે છે. ત્યાં એવી તો દુર્ગન્ધ આવતી હોય છે કે જાણે મરેલાં કુતરા, શિયાળ, બીલાડાં, નોળિયાં, વીંછી, સાપ, ઉદર, હાથી, ઘોડા, ગાય, ભેંસ અથવા માણસનું સડી ગયેલું મડદું હોય. ત્યાં અત્યન્ત જ હૃદયદ્રાવક, કરૂણાજનક રૂદનના અવાજ સંભળાતાં હોય છે. નારકજીવોની દુઃખમય ધ્વનિ, વિલાપ, આજીજીમય શબ્દો સાંભળવા મળે છે! આંસુઓથી પરિપૂર્ણ, ગાઢી વેદનાથી ઘેરાયલાં, સંતાપપૂર્ણ ઉચ્છ્‌વાસ નિઃશ્વાસના અશાન્ત તથા કોલાહલમય અવાજો ઘણાં ત્રાસ ઉત્પન્ન કરનાર હોય છે.

નારકીય જીવોના શરીર અશુભ નામકર્મના ઉદયથી અત્યન્ત અશુભ હોય છે. તેમના અંગોપાંગોનું નિર્માણ સંસ્થાન, સ્પર્શ. રસ, ગન્ધ, વર્ણ અને સ્વર હુણ્ડ હોય છે, છેદન–ભેદન પક્ષીના શરીરના આકારના બતક પક્ષીના આકારના, અત્યન્ત ઘૃણાજનક તથા બીભત્સ હોય છે. તેમને જોઈને બીજા જીવોને નફરત તથા ભયનો અનુભવ થાય છે. આ કારણે તે શરીરો ક્રૂર, કરૂણા, બીભત્સ તથા અત્યન્ત ભયોત્પાદક જોવામાં આવે છે. તીવ્ર દુઃખો અને યાતનાઓથી પરિપૂર્ણ અને હમેશાં અપવિત્ર હોય છે.

નારકોના શરીર રત્નપ્રભા આદિ સાતે પૃથ્વિઓમાં ક્રમથી નીચે–નીચે અધિકાધિક અશુભ હોય છે. તેમના શરીર બે જાતનાં હોય છે–ભવધારણીય અને ઉત્તરવૈક્રિય આ પૈકી ભવધારણીય શરીર રત્નપ્રભા પૃથ્વિમાં જઘન્ય આંગળીના અસંખ્યાતમા ભાગ પ્રમાણ હોય છે શર્કરાપ્રભા

વગેરેમાં પણ ભવધારણીય શરીરની જઘન્ય અવગાહના એટલી જ હોય છે. ઉત્કૃષ્ટ અવગાહના રત્નપ્રભામાં સાત ધનુષ્ય, ત્રણ હાથ અને છ આંગળની છે. આ પરિમાણ જે બતાવવામાં આવ્યું છે તેને તેનાથી અઠધા આંગળની અપેક્ષાથી સમજવું જોઈએ. પરમાણુ આદિના ક્રમથી આઠ યવમધ્યને એક આંગળ કહે છે. ચોવીસ આંગળનો એક હાથ થાય છે અને ચાર હાથનો એક ધનુષ્ય થાય છે.

રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા શરીરની જેટલી ઉત્કૃષ્ટ અવગાહના દર્શાવાઈ છે તેનાથી બમણી શર્કરાપ્રભામાં હોય છે. શર્કરાપ્રભાથી બમણી વાલુકાપ્રભામાં, એવી રીતે સાતમી પૃથ્વિ સુધી બમણી-બમણી અવગાહના થતી જાય છે.

નારકોના ઉત્તર વૈક્રિય શરીર આ રીતના હોય છે—રત્નપ્રભા પૃથ્વિમાં જઘન્ય આંગળના સંખ્યાતમાં ભાગ પ્રમાણ અને શર્કરાપ્રભા વગેરેમા પછીની છએ પૃથ્વિઓમાં પણ આંગળના સંખ્યાતમા ભાગની જઘન્ય અવગાહના હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે નારક જીવ અગર નાનામાં નાના શરીરની વિક્રિયા કરે તો તે આગળના સંખ્યાતમાં ભાગની હોય છે ॥ ૧૩ ॥

'अण्णमण्णोदीरियदुक्खाय'

સૂત્રાર્થ—નારક જીવો અંદરો અંદર એકબીજાને દુ:ખ ઉત્પન્ન કરતા રહે છે ॥૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા નારકોના સ્વરૂપનું અને તેમને ઠંઠી, ગરમીથી થતાં દુઃખોનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે એ પ્રતિપાદિત કરીએ છીએ કે તેમને બીજી રીતે પણ દુઃખનો અનુભવ થાય છે—

નારક જીવ પરસ્પરમાં પણ એક-બીજાને દુઃખ ઉપજાવતાં રહે છે.

નારક જીવ શા માટે અન્યોન્ય દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે ? એવા પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે તેઓ ભવપ્રત્યયિક અવધિજ્ઞાન દ્વારા અને મિથ્યાદર્શનના ઉદયથી વિભંગજ્ઞાન દ્વારા દૂરથી જ દુઃખના કારણોને જાણીને પરસ્પરમાં એક બીજાને દુ:ખ ઉત્પન્ન કરે છે.

આવી જ રીતે જ્યારે એક નારક બીજા નારકની સમીપ આવે છે ત્યારે એકની બીજા ઉપર નજર પડતાંની સાથે જ તેનો ક્રોધાગ્નિ ભડકે બળવા લાગે છે તેમને પૂર્વભવમાં બાંધેલા વેરનું સ્મ-ણ થઈ આવે છે, તેઓ પરસ્પર તીવ્ર વૈરભાવવાળા થઈ જાય છે અને તેઓ કુતરા અને શિયાળની જેમ તથા ઘોડા અને ભેંસની માફક પરસ્પરમાં આઘાત-પ્રત્યાઘાત ક વા લાગે છે. પોતાની વિક્રિયાશક્તિ દ્વારા તેઓ તલવાર, ભાલા, બરછી, શક્તિ, તોમર કુન્ત તથા અયોઘન વગેરે શાસ્ત્રોની વિક્રિયા કરીને એક-બીજાને માંહોમાહે અત્યન્ત તીવ્ર દુ ખની ઉદીરણા કરે છે—દુ:ખ ઉત્પન્ન કરે છે ॥ ૧૪ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં ના ક જીવોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી. સાત નરકભૂમિઓમાં કેટ-કેટલા નરકાવાસ છે, તેમનામા ક્યાં અને કઈ જાતની અશુભ લેશ્યા હોય છે, તેમના સ્પર્શાદિ પરિણામ ભવધારણીય અને ઉત્તર વૈક્રિય શરીર, તીવ્ર વેદના વિક્રિયા વગેરેનું નિરૂપણ કરી ગયા હવે એ બતાવીએ છીએ કે નારક જીવ પૂર્વભવમાં બાંધેલા વેરનું સ્મરણ કરીને અંદરોઅદર એકબીજાને દુ:ખ ઉત્પન્ન કરે છે—

નારક જીવ આપસ આપસમાં એક બીજાને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે. તાત્પર્ય એ છે કે નરકક્ષેત્રના સ્વાભાવિક અનુભાવથી ઉત્પન્ન થનારા અશુભ પુદ્ગલ પરિણામથી તથા પૂર્વભવમાં બાંધેલાં

પારસ્પરિક વેરનું સ્મરણ થઈ જવાથી નરકોમાં નારક જીવ પરસ્પરમા એકબીજાને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે.

જે નારક જીવ મિથ્યાદષ્ટિ હોય છે તેઓ વિભંગજ્ઞાનથી યુક્ત હોવાના કારણે આપસ આપસમાં એકમેકને જોતાં જ પરસ્પર આઘાત-પ્રત્યાઘાત કરવા લાગે છે અને દુઃખ ઉપજાવે છે પરન્તુ જે નારક સમ્યક્ દષ્ટિ હોય છે તેઓ સંજ્ઞી હોવાથી પૂર્વજન્મમાં અનાચાર કરનારા પોતાના આત્માનું જ ચિંતન કરે છે, તે માટે પશ્ચાત્તાપ કરે છે અને નરકક્ષેત્રના સ્વભાવથી જ ઉત્પન્ન થારા દુઃખોને સહન કરતા રહે છે, તેઓ બીજા નારકોને આઘાત પમાડતાં નથી પરંતુ ફક્ત બીજા વડે ઉત્પાદિત વેદનાને સહન કરે છે અને નિતાન્ત દુઃખી રહેતા થકાં પોતાના નરકાયુ રૂપની રાહ જોતાં હોય છે તેઓ પોતાની તરફથી બીજા નારકોને દુઃખ વેદના ઉત્પન્ન કરતાં નથી કારણ કે તેમને અવધિજ્ઞાન, કુ-અવધિજ્ઞાન (વિભંગજ્ઞાન) હોતું નથી.

નારક જીવોને પરસ્પરમાં ઉદીરિત દુ.ખ જ હોતા નથી પરંતુ થોડું દુઃખ પણ હોય છે કારણ કે નરકભૂમિ સ્વભાવથી જ દુઃખમય હોય છે ત્યાં સુખનો ઈશારો પણ હોતો નથી. ઉપપાત વગેરેના કારણે ત્યા થનારું સુખ પણ બહુતર દુઃખથી મિશ્રિત હોવાના કારણે વિષ-મિશ્રિત મધ અથવા અનાજની જેમ દુઃખરૂપ જ સમજવા જોઈએ.

આ રીતે નરકક્ષેત્રના અનુંભાવથી ઉત્પન્ન પુદ્ગલ પરિણામથી પણ નારક જીવ દુઃખનો અનુભવ કરે છે.

અતિશય શીત, ઉષ્ણ ભૂખ, તરસ વગેરે નરક ક્ષેત્રનાં સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારાં પરિણમન છે. સૂકાં લાકડાં મળતા રહેવાથી જેમ અગ્નિ શાન્ત થતો નથી બલ્કે વધતો જાય છે તેવી જ રીતે નારકજીવોના શરીર તીવ્ર ભૂખરૂપી અગ્નિથી બળતાં જ રહે છે. દરેક સમયે આહાર કરતાં કરતાં નારક જીવ માની લઈએ કે સમસ્ત પુદ્ગલોનું ભક્ષણ કરી લે અને નિરન્તર બની રહે-નારી તીવ્ર તરસના કારણે સુકા ગળા, હોઠ તાળવા તથા જીભવાળા તે નારક કદાચીત બધાં સમુદ્રોનું પાણી પી જાય તો પણ તેમને સંતોષ થતો નથી ઉલ્ટાનુ આ પ્રમાણે કરવાથી તો તેમની ભૂખ અને તરસમાં વધારો જ થશે ! આવી ઉત્કટ ભૂખ તથા તરસ ત્યા હોય છે, આ બધાં પરિણમન નરકક્ષેત્રના પ્રભાવથી થાય છે ?

આ ક્ષેત્રપ્રભાવ દ્વારા ઉત્પન્ન વેદના ઉપરાંત નારક જીવોને પરસ્પર ઉત્પન્ન થયેલી વેદના પણ થાય છે નારક જીવોને અશુભ ભવપ્રત્યય અવધિજ્ઞાન થાય છે જે મિથ્યાદષ્ટિ નારક છે તેમને વિભંગજ્ઞાન થાય છે જ્યારે જેઓ સમ્યક્ દષ્ટિ હોય છે તેમને અવધિજ્ઞાન થાય છે ભાવદોષના કારણે તેમનું તે જ્ઞાન પણ દુઃખનું જ કારણ થાય છે. તે જ્ઞાનથી નારક જીવ ઉપર નીચે અને મધ્યમાં—બધી બાજુ આઘેથી જ દુઃખના કારણોને હમેશાં જુએ છે. જેવી રીતે સાપ અને નોળિયા, અશ્વ અને ભેંસ તથા કાગડા અને ઘૂવડ જન્મથી જ એક બીજાનાં દુશ્મનો હોય છે તેવી જ રીતે નારક પણ સ્વભાવથી જ એક બીજાનાં દુશ્મન હોય છે જેવી રીતે કોઈ અપરિચિત કુતરાને જોઈને બીજાં કુતરા એકદમ ક્રોધથી ભડકી ઉઠે છે અને ઘુરઘુરાતા થકા તેના પર હુમલો કરી બેસે છે તેવી જ રીતે નારકોને, એક બીજાને જોતાની સાથે જ તીવ્ર ભવહેતુક ક્રોધ ઉત્પન્ન થાય છે, ત્યારે ક્રોધથી પ્રજ્વલિત ચિત્ત થઈને, દુઃખ સમુદ્ઘાતથી આર્ત્ત અચાનક તૂટી પડેલાં કુતરાંની માફક ઉદ્ધત તે નારકો અત્યન્ત ભયાનક વૈક્રિય રૂપ બનાવીને,

તેજ જગાએ પૃથ્વિના–પરિણમનથી બનેલા અને નરકભૂમિના અનુભાવથી ઉત્પન્ન કરવામા આવેલા શૂલ, શિલા, શક્તિ, તોમર મુસલ, મુદ્‌ગલ, કુન્ત, તલવાર, પટ્ટા, લાઠી, ફરસી, વગેરે શસ્ત્ર લઈને તથા હાથ પગ અને દાંતોથી પણ પરસ્પર આક્રમણ કરે છે.

આપસના આઘાત—પ્રત્યાઘાતોથી આહત થયેલાં તેઓ આર્ત્તનાદ કરે છે. તેમના અંગ–અંગ વિકૃત થઈ જાય છે. તેમને એટલી અપાર વેદના થાય છે કે તેઓ કતલખાનામાં લઈ જવામાં આવતાં ભેંસ, સુવર અને ઘેટાની માફક તરફડીઆ મારે છે અને લોહીના—કાદવમાં આળોટે છે તાત્પર્ય એ છે કે આ નારકોને નરકમાં પરસ્પર ઉત્પન્ન થનારા આવાં ઘોર દુઃખ સહન કરવા પડે છે ા ૧૪ ા

'तच्चं पुढविं जाव संकिलिट्ठासुरोदीरियदुक्खाय'

સૂત્રાર્થ—ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી સંકિલષ્ટ અસુર (પરમાધાર્મિક) દેવ પણ દુઃખ ઉપજાવે છે ા ૧૫ ા

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું કે નારક જીવો પૂર્વજન્મમાં બાંધેલા વેરનું સ્મરણ કરીને તથા નરકભૂમિઓના પ્રભાવથી પ્રભાવિત થઈને પરસ્પર દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે. અત્રે એ બતાવવામા આવી રહ્યું છે કે વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ સુધી અસુરકુમાર દેવ પણ નારકોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે—ત્રીજી પૃથ્વિ પર્યન્ત અર્થાત્ વાલુકા-પ્રભા પૃથ્વિ સુધી પૂર્વજન્મમાં ઉપાર્જિત અત્યન્ત સંકિલષ્ટ પરિણામો દ્વારા ઉત્પન્ન પાપ કર્મના ઉદયથી પરમાધાર્મિક અસુર પણ નારક જીવોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે.

સૂત્રમાં સંકિલષ્ટ વિશેષણના પ્રયોગ દ્વારા એ પ્રદર્શિત કરવામાં આવ્યું છે કે બધા અસુર નારકોને પીડા પહોંચાડતાં નથી તો પણ કેટલાક પરમાધાર્મિક નામના અમ્બ અમ્બરીષ આદિ અસુર જ પીડા આપે છે.

સંકિલષ્ટ અસુર રત્નપ્રભા, શર્કરાપ્રભા અને વાલુકાપ્રભા આ ત્રણ ભૂમિઓમાં જ નારક જીવોની બાધાના નિમિત્ત બને છે; આનાથી પછીની પંકપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમાં તેઓ બાધા પહોંચાડતા નથી; કારણ કે ત્રીજી પૃથ્વિથી પછી તેમનું ગમન જ થતું નથી.

આ અસુરકુમાર નારક જીવોને અત્યન્ત તપાવેલા લોહરસનું પાન કરાવે છે; ઘણા જ તપાવેલા લોહસ્તંભોનુ આલિંગન કરાવે છે, કૂટશાલ્મલી વૃક્ષ પર કે જેનાં પાંદડા તલવારની ધાર જેવાં અણિદાર હોય છે તેના ઉપર ચઢાવે–ઉતારે છે, લોખંડના હથોડાથી માર મારે છે, રંધા, છરા વગેરેથી છોલે છે, તેમનાં ઘા ઉપર ગરમ કરેલું કકડતું તેલ છાંટે છે, લોહ-મય ઘડાઓમા તેમને બાફે છે, રેતીમાં શેકે છે, વૈતરણી નામની નદીમાં ડુબાડે છે, યંત્રો (ઘાણી...)માં પીલે છે વગેરે અનેક પ્રકારોથી નારકોને તેઓ દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે.

નારક જીવોના શરીરનું છેદન–ભેદન કરવા છતાં પણ અને શરીરના કકડે–કકડા કરી નાખવા છતાં પણ અકાળે તેમના મરણ થતાં નથી તેઓ અનપવર્ત્ય–આયુષ્યવાળા હોય છે.

અસુર શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાંણે સમજવી જોઈએ–અસુરત્વ ઉત્પન્ન કરનારા દેવગતિ નામ કર્મના એક ભેદના ઉદયથી જે બીજાને **अस्यन्ति–क्षिपन्ति** અર્થાત્ દુઃખમા નાખે છે તે 'અસુર' કહેવાય છે ા ૧૫ ા

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ કહેવાઈ ગયું છે કે નારક જીવ પૂર્વજન્મમાં બાંધેલા વેરથી યુક્ત હોય છે. તે વેરનું સ્મરણ થતા જ તેઓ પરસ્પરમા એક બીજાને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે અને પરસ્પર દુઃખ ઉત્પન્ન કરવાની તેમની આ પરંપરા નિરન્તર ચાલુ રહે છે હવે એ બતાવીએ છીએ કે વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ સુધી સંક્લિષ્ટ અસુરો પણ નારક જીવોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે—

પૂર્વભવમાં સંભાવિત અતિ તીવ્ર સંકલેશ પરિણામો દ્વારા ઉપાર્જિત પાપકર્મના ઉદયથી સંપૂર્ણ રીતે ક્લિષ્ટ અસુર ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી અર્થાત્ વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ પર્યન્ત નારક જીવોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે. 'ચ' શબ્દના પ્રયોગથી એ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે કે નારકોને નરકભૂમિઓના પ્રભાવથી પરસ્પર જનિત દુઃખ પણ થાય છે તે પરસ્પર જનિત દુ.ખ ઉપરાંત સંક્લેશયુક્ત ચિત્તવાળા અસુરકુમાર પણ જેમને અશુભાનુબન્ધી બાલ તપ તથા અકામનિર્જરાના કારણે દેવગતિ પ્રાપ્ત થઈ ગઈ છે તેમજ જેઓ સ્વલ્પ વિભૂતિ-સમૃદ્ધિની પ્રાપ્તિ થવાથી ગર્વયુક્ત હોય છે જેઓ આગલા ભવ તરફ આંખો ઉઠાવીને પણ જોતાં નથી અર્થાત્ ભવિષ્યમાં અમારી શું દશા થશે—એ અંગે લગીર પણ વિચાર કરતાં નથી—જે પોતાના સુખને ત્રણે લોકના સુખ સમજે છે અને જેઓ ભવનપતિના દસ ભેદોમાંથી પ્રથમ ભેદના અન્તર્ગત છે—બીજી કોઈ નિકાયમાં હોતાં નથી, તેઓ પણ નારકોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે. છે અસુર ભયાનક હોય છે. તેમના નામ હૃદયમાં કમકમાટ ઉત્પન્ન કરે છે; જોવાની વાત તો એક બાજુ રહી. તે અસુરોના નામ આ છેઃ—(૧) અમ્બ (૨) અમ્બરીષ (૩) શ્યામ (૪) શબલ (૫) રુદ્ર (૬) ઉપરુદ્ર (૭) કાલ (૮) મહાકાલ (૯) અસિ (૧૦) અસિપત્રવન (૧૧) કુંભી (૧૨) વાલુકા (૧૩) વૈતરણી (૧૪) ખરસ્વર (૧૪) મહાઘોષ.

આ પંદર અસુરનિકાયના અનાગતિ દેવો જ, મિથ્યાદૃષ્ટિ, પૂર્વજન્મમા ક્લિષ્ટ કર્મો કરવાવાળા પાપમાં અભિરુચિ રાખનાર અને અસુરગતિને પ્રાપ્ત પરમાધાર્મિક કહેવાય છે. નારકજીવોને જુદી જુદી રીતે દુઃખ ઉત્પન્ન કરવાના કારણે જ તેઓ 'પરમાધાર્મિક' કહેવાય છે. ક્લિષ્ટ કર્મોને લીધે ઉત્પન્ન આ પંદર પ્રકારના અસુર પોતાની જન્મજાત પ્રકૃતિથી જ નારક જીવોને વિવિધ પ્રકારથી વેદનાઓ ઉત્પન્ન કર્યા કરતા હોય છે. વેદનાઓ ઉત્પન્ન કરવાના કેટલાક પ્રકાર નીચે જણાવ્યા મુજબનાં છે—

લોઢાને ખૂબ તપાવીને ટીપાવવું, અત્યન્ત ગરમ કરાયેલાં લોખંડના થાંભલા સાથે આલિંગન કરાવવું—કુટશાલ્મલી વૃક્ષ પર ચઢ ઉતર કરાવવી—લોઢાના હથોડાથી મારવું—રદો, છરા વગેરે શસ્ત્રોથી ચામડી ઉતારવી, ગરમ કરેલ ઉકળતું તેલ છાંટવું, લોખંડના ઘડામા રાંધવું, ભઠ્ઠીમા ચણાની જેમ શેકવું, યંત્રોમાં પીલવા, લોઢાની શૂળો તથા સળીયાથી ભેદન કરવું, કરવતથી વહેરવું, અંગારાની જ્વાલામાં સળગાવવું, તીક્ષ્ણ અણિઓ ઉપર રગદોળવા, સિંહ, વાઘ, દીપડા, શિકારી કુતરા, શિયાળ, વરુ બિલાડા, સાપ, નોળિયા, કાગડા, ગીધડા ઘુવડ તથા બાજ વગેરે પક્ષિઓ દ્વારા ભક્ષણ કરાવવું, ધખધકતી રેતી ઉપર ચલાવવું, તલવારની ધાર જેવા પાંદડાનાં વનમા ઘસડવા, વૈતરણી નામની નદીમા ડુબાડવા અને આપસમા લઢાઈ કરાવવી વગેરે વિવિધ પ્રકારથી તે પરમાધાર્મિક દેવ નારક જીવોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે.

આવી રીતે પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા નરકોમાં નારક જીવોનાં દુઃખ પણ ત્રણ પ્રકારનાં હોય છે—નારકો દ્વારા એકબીજાને અપાતાં દુઃખ (૨) નરક ક્ષેત્રના સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારાં દુઃખ (૩) ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી સંકલેશ પરિપૂર્ણ—અસુરો દ્વારા ઉત્પન્ન કરનારા દુઃખ આથી એ પણ સાબિત થયું કે ચોથી વગેરે પછીની પૃથ્વિઓમાં બે જ પ્રકારનાં દુઃખ હોય છે. આપસમાં ઉત્પન્ન કરેલા અને ક્ષેત્રના સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારા.

પ્રશ્ન થઈ શકે છે કે અમ્બ, અમ્બરીષ આદિ પરમાધાર્મિક દેવ નારકોને જે પૂર્વોક્ત વેદનાઓ ઉત્પન્ન કરે છે તેનું કારણ શું છે ? આનું સમાધાન એ છે કે તે અસુર સ્વભાવગત જ પાપકર્મમાં નિરત હોય છે અને એ કારણે જ તેઓ આ જાતની પ્રવૃત્તિ કર્યા કરે છે જેવી રીતે—ઘોડા, ભેંસ, સુવર, ઘેટાં, કુકડાં, બતક અને લાવક પક્ષિઓને તથા મલ્લોને પરસ્પર લઢતા જોઈને રાગ—દ્વેષથી યુક્ત તથા પાપાનુબંધી પુણ્યવાળા મનુષ્યોને ઘણી ખુશી ઉપજે છે તેવી જ રીતે અમ્બ, અમ્બરીષ આદિ અસુર પરસ્પર યુદ્ધમાં ગરકાવ નારકોને લઢતા જોઈને, તેમના દુઃખો જોઈને, આપસમાં એકબીજા ઉપર હુમલાં કરતાં જોઈને ઘણાં પ્રસન્ન થાય છે. દુષ્ટ મનોભાવનાવાળા તે અસુર તેમને આવી અવસ્થામાં જોઈને અટ્ટહાસ્ય કરે છે અને મોટેથી સિંહનાદ કરે છે. જો કે આ અમ્બ, અમ્બરીષ વગેરે દેવ છે અને તેમની પ્રસન્નતા તથા સન્તુષ્ટિનાં બીજાં અનેક સાધન વિદ્યમાન હોવા છતાં પણ માયાનિમિત્તક મિથ્યાદર્શન શલ્ય અને તીવ્ર કષાયના ઉદયથી પીડિત, ભાવપૂર્વક દોષોની આલોચનાથી રહિત પાપાનુબન્ધી પુણ્યકર્મ બાલતપનું ફળ જ એવું છે કે તેઓ આવી જાતના કૃત્યો કરીને અને જોઈને પ્રસન્નતા સંપાદન કરે છે. પ્રસન્નતા પ્રાપ્ત કરવા માટેના અન્ય અન્ય સાધન વિદ્યમાન હોવા છતાં પણ અશુભ ભાવ જ તેમની પ્રસન્નતાના કારણ હોય છે.

આવી રીતે અપ્રીતિજનક, અત્યન્ત તીવ્ર દુઃખ નિરન્તર અનુભવ કરતા થકાં પણ અને મૃત્યુની કામના કરતા થકાં પણ કર્મ દ્વારા નિર્ધારિત આયુષ્યવાળા તે નારક જીવોનું અકાળે મૃત્યુ થતું નથી ! તેમના માટે ત્યાં કોઈ આશ્રય પણ નથી અગર ન તો તેઓ નરકમાથી નીકળીને અન્યત્ર કોઈ જગ્યાએ જઈ શકે છે. કર્મના ઉદયથી સળગાવેલાં ફાડી નાખેલા છિન્ન—ભિન્ન કરી નાખેલાં અને ક્ષત—વિક્ષત કરેલાં શરીર પણ ફરીવાર તુરન્ત જ પાણીમાં રહેલાં દણ્ડરાજિની માફક પરિપૂર્ણ થઈ જાય છે.

તાત્પર્ય એ છે કે નારક જીવો નરકોમાં ત્રણ પ્રકારના દુઃખોનો અનુભવ કરે છે. ા૧૫ા

'ते नरगा अंते वट्टा, बाहिं चउरंसा, ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તે નરકાવાસ અન્દર ગોળાકાર, બહાર ચોરસ, ખુરપા જેવા આકારવાળા તથા સદૈવ અન્ધકારથી છવાયેલા હોય છે ા૧૬ા

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉના સૂત્રોમાં નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું કે નરકોમાં નરક જીવોને આપસમાં ઉત્પન્ન કરેલા, ક્ષેત્રના સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારા અને પરમાધામિક નામના સંકિલષ્ટ અસુરો દ્વારા ઉદીરિત, એમ ત્રણ પ્રકારના દુઃખ થાય છે. હવે નરકાવાસના આકાર આદિ બતાવવા માટે કહીએ છીએ.

તે નરકાવાસ અંદર ગોળ, બહાર ચાર ખુણીઆ અને નીચે ખુરપાં જેવા આકારવાળા હોય છે. ક્ષુર નામનું એક અસ્ત્ર છે જે છેદન કરવાના કામમા આવે છે તેને જે પ્રતિપૂર્ણ કરે તેને 'ક્ષુરપ્ર' કહેવામાં આવે છે. આ નામનુ એક વિશેષ અસ્ત્ર હોય છે. જેનો આકાર ક્ષુરપ્ર જેવો હોય તેને ક્ષુરપ્રસંસ્થાન કહે છે.

બીજા કયા પ્રકારના નરક હોય છે ? તો કહે છે—નરક નિત્ય અન્ધકારમય છે અર્થાત્ ત્યાં ઉપર, નીચે, મધ્યે સર્વત્ર અનન્ત અને અત્યન્ત ભયાનક અન્ધકાર જ અન્ધકાર ફેલાયેલો રહે છે અને તે હમ્મેશને માટે પથરાયેલો જ હોય છે સૂત્રમાં પ્રયુક્ત 'આદિ' શબ્દથી નરકોના અન્ય વિશેષણ પણ ધ્યાનમાં રાખી લેવા. ।।૧૬।।

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું કે સાતે પૃથ્વિઓની અંદર જે નરક છે તેમાં રહેનારા નારકોને ત્રણ પ્રકારના દુઃખ થાય છે. પરસ્પરમા ઉદીરિત દુઃખ નરકક્ષેત્રના પ્રભાવથી ઉત્પન્ન થનારૂં દુઃખ અને ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી પરમાધાર્મિક અસુરો દ્વારા ઉત્પન્ન કરવામાં આવેલા દુઃખ એ પણ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું કે ચોથી પૃથ્વિથી લઈને સાતમી પૃથ્વિ સુધી પરસ્પર ઉત્પન્ન કરવામાં આવેલા અને ક્ષેત્ર સ્વભાવથી ઉત્પન્ન દુઃખ જ હોય છે.

હવે નરકોનું સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત રત્નપ્રભા આદિ સાત પૃથ્વિઓમાં સ્થિત નરક અંદરથી ગોળાકાર બહારથી ચૌકોર અર્થાત્ સમચતુષ્કોણ અને નીચેના ભાગમાં ક્ષુરપ્ર અર્થાત્ ખુરપાના જેવા આકારના હોય છે. ક્ષુરપ્ર એક નાનુ અસ્ત્ર છે જે છેદન કરવાના ઉપયોગમા આવે છે. ત્યા નિરન્તર ઘોર અન્ધકાર પથરાયેલો રહે છે.

સૂત્રમા આપવામાં આવેલાં 'આદિ' પદથી નરકોના અન્ય અન્ય વિશેષણ સમજી લેવા જોઈએ. તે પૈકી કેટલાંક આ પ્રકારે છે—નરકો ચન્દ્ર સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારાઓની પ્રભાથી રહિત હોય છે., અર્થાત્ ત્યાં ન તો સૂર્ય—ચન્દ્રમાં છે; નથી ગ્રહ—નક્ષત્ર અથવા તારા આ બધાં જ્યોતિષ્ક મધ્યલોકમાં હોય છે. નરકોમાં એમની ગેરહાજરી હોવાથી સદૈવ ગાઢ અન્ધકાર પ્રસરેલો રહે છે.

આ સિવાય નરક કેવા હોય છે—તેમના તળ ભાગ મેદથી અર્થાત્ ચરબીથી જે શુદ્ધ માસના સ્નેહરૂપ હોય છે. પૂયપટલ અર્થાત્ દૂષિત લોહીનો ગઠ્ઠો જેને મવાદ પણ કહે છે, રુધિર અર્થાત્ લોહી, માંસ, ચિખ્ખલ અર્થાત્ કાદવ તથા વાળ, હાડકા અને ચામડી વગેરે અપવિત્ર પદાર્થોથી વ્યાપ્ત હોય છે. તેઓ અત્યન્ત અશુચિ, ભયાનક, ગંદા, માથું ફાટી જાય એવી દુર્ગન્ધથી વ્યાપ્ત, કાપોત અગ્નિ જેવા રંગવાળા ખરબચડા સ્પર્શ વાળા, દુઃસહ અને અશુભ હોય છે. આવા નરકોમાં વેદનાઓ પણ અશુભ જ હોય છે. પ્રજ્ઞાપના સૂત્રનાં બીજા પદમાં નરકના પ્રકરણમા કહ્યું છે—તે નરક અંદરથી ગોળાકાર બહારથી સમચતુષ્કોણ અને હેઠળથી ખુરપાના આકારના હોય છે તેમા સર્વદા અન્ધકાર છવાયેલો રહે છે. ગ્રહ, સૂર્ય, ચન્દ્ર તથા નક્ષત્ર—એ જ્યોતિષ્કની પ્રભાથી રહિત હોય છે. મેદ, ચરબી, મવાદના સમૂહ, રુધિર માસ તથા કાદવ અથવા રુધિર માંસ આદિના કાદવથી

તેના તલભાગ ખરડાયેલા હોય છે. તે અશુભ અને બીભત્સ, ઘોર દુર્ગન્ધથી ભરેલાં, કાપોત અગ્નિ જેવા વર્ણવાળા, કઠોર સ્પર્શવાળા, દુસ્સહ અમે અશુભ હોય છે નરકોની વેદનાઓ પણ અશુભ જ હોય છે. વગેરે ॥૧૬॥

'तेसु नारगाणं उक्कोसेणं ठिई' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તે નરકોમાં નારકજીવોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ યથાક્રમાનુસાર એક, ત્રણ, સાત દસ, સત્તર, બાવીસ અને તેત્રીસ સાગરોપપન્નની હોય છે. ॥૧૭॥

તત્ત્વાર્થદીપીકા—પહેલા નારકજીવોના તથા નરકોના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે તે નારક જીવોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિનું અર્થાત્ આયુના પરિણામનું નિરૂપણ કરીએ છીએ.

પૂર્વોક્ત સાત રત્નપ્રભા પૃથ્વિ આદિ સ્વરૂપવાળા નરકોમાં નિવાસ કરનારાં નારકજીવોની ઉત્કૃષ્ટ અર્થાત્ વધારેમાં વધારે સ્થિતિ અથવા આયુષ્ય અનુક્રમથી અર્થાત્ રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના ક્રમાનુસાર એક, ત્રણ, સાત, દસ, સત્તર, બાવીસ અને તેંત્રીસ સાગરોપમની હોય છે આ અનુક્રમ આ પ્રમાણે છે.–(૧) રત્નપ્રભા નામની ભૂમિમાં જે નરક છે, ત્યાના નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે. અર્થાત્ પહેલી પૃથ્વિના નારક અધિકમાં અધિક એક સાગરોપમ સુધી નારક અવસ્થામાં ત્યાં રહે છે. (૨) શર્કરાપ્રભામાં આ નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રણ સાગરોપમની હોય છે. (૩) વાલુકાપ્રભામાં નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સાત સાગરોપમની હોય છે. (૪) પંકપ્રભામાં નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ દસ સાગરોપમની હોય છે. (૫) ધૂમપ્રભામાં નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની હોય છે, (૬) તમઃપ્રભામાં નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ તેંત્રીસ સાગરોપમની હોય છે. ॥૧૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અત્યન્ત વિષમ દુઃખજનક કર્મો બાંધવાથી અને અનપવર્ત્તનીય આયુષ્ય વાળા હોવાથી જીવ અકાળે જ મૃત્યુની અભિલાષા કરતા હોવા છતાં પણ અકાળે મરણ પામતા નથી. આયુષ્ય પુરૂં થવાથી નિશ્ચિત સમયે જ તેમનું મૃત્યુ થાય છે અત્રે એવી આશંકા ઉદ્ભવે છે કે તેમનું આયુષ્ય કેટલું હોય છે? આ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે તેમના આયુષ્યનું ઉત્કૃષ્ટ પ્રમાણ બતાવવામાં આવે છે.

જેમના સ્વરૂપ પ્રથમ બતાવી દેવામાં આવ્યા છે તે રત્નપ્રભા આદિ સાત નરક ભૂમિઓમાં યથાક્રમ ત્રીસ, પચ્ચીસ પંદર, દસ, ત્રસ લાખ, એક લાખમાં પાંચ ઓછા તથા પાંચ નરકાવાસોમાં નારકજીવોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યનું પ્રમાણ રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના અનુક્રમથી એક સાગરોપમ, ત્રણ સાગરોપમ સાત સાગરોપમ, દસ સાગરોપમ, સત્તર સાગરોપમ, બાવીસ સાગરોપમ અને તેત્રીસ સાગરોપમનું હોય છે.

આવી રીતે રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની, શર્કરાપ્રભામાં ત્રણ સાગરોપમની, વાલુકાપ્રભામાં સાત સાગરોપમની પંકપ્રભામા દસ સાગરોપમની ધૂમપ્રભામાં સત્તર સાગરોપમની તમઃપ્રભામા બાવીસ સાગરોપમની અને તમસ્તમઃપ્રભામાં તેત્રીસ સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ હોય છે.

ઉપમાન અથવા ઉપમાનો અર્થ થાય છે સાદૃશ્ય સાગર અર્થાત્ સમુદ્રની ઉપમા હોવી સાગરોપમ છે. એક સાગર જે આયુષ્યનું ઉપમાન હોય તે સાગરોપમ કહેવાય છે. ત્રિસાગરોપમ આદિમાં પણ આવી જ રીતે વિગ્રહ કરી લેવો.

તે નરકોમાં દારુ પીનારાં, માંસ ભક્ષણ કરનારા, અસત્યવાદી, પરસ્ત્રી, લમ્પટ મહાન લોભથી ગ્રસ્ત પોતાના સ્ત્રી, બાળક વૃદ્ધ તથા મહર્ષિઓની સાથે વિશ્વાસઘાત કરનારા જૈન ધર્મની કુથળી કરનારા રૌદ્ર ધ્યાન કરવાવાળાં તથા આવા જ અન્ય પાપકર્મો કરવાવાળાં જીવો ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે કોઈ જીવ નરકમાં ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે તેના પગ ઉપરની બાજુ તથા મુખ નીચેની તરફ હોય છે અને નીચે પડે છે. ત્યારબાદ તેઓ અનન્ત સમય સુધી દુઃખોનો અનુભવ કરે છે.

અત્રે એટલી વાત ધ્યાનમાં રાખવાની છે કે અસંજ્ઞી જીવ પહેલી નરકમા જ ઉત્પન્ન થાય છે, સરિસૃપ બીજી નરક સુધી જ જાય છે, પક્ષી ત્રીજી નરક સુધી જ જાય છે, સિંહ ચોથી નરક સુધી જ ઉત્પન્ન થાય છે, ભુજંગ પાંચમી નરક સુધી જ પહોંચી શકે છે. સ્ત્રિઓ છઠી સુધી જ જાય છે અને મનુષ્ય–પુરુષ તથા માછલાં સાતમી નરક સુધી ઉત્પન્ન થાય છે.

સાતમી નરકથી નીકળેલો જીવ તિર્યંચ ગતિમાં જ ઉત્પન્ન થાય છે ત્યાં સમ્યકત્વનો નિષેધ નથી અર્થાત્ ત્યાં કોઈ જીવ સમ્યકત્વને પ્રાપ્ત કરી શકે છે. છઠી નરકથી નિકળેલો જીવ જો મનુષ્યગતિમાં ઉત્પન્ન થાય તો તે દેશ વિરતિ અંગીકાર કરી શકે છે. પાંચમી નરકથી નિકળેલ પ્રાણી જો મનુષ્યત્વ પ્રાપ્ત કરે છે તો સર્વવિરતિ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. ચોથી નરકથી નિકળેલ કોઈ જીવ મનુષ્યગતિ પ્રાપ્ત કરી નિર્વાણ પણ સાધી શકે છે. ત્રીજી બીજી તથા પહેલી નરકથી નીકળેલા જીવો મનુષ્યગતિ પ્રાપ્ત કરીને તીર્થંકર પણ થઈ શકે છે. દેવ અને નારક મરીને નરકગતિમાં ઉત્પન્ન થતાં નથી આવી જ રીતે નારક જીવો નરકથી નિકળીને સીધા દેવગતિમાં ઉત્પન્ન થતાં નથી.

નરકથી નિકળેલા જીવ કાં તો તિર્યંચયોનિમાં ઉત્પન્ન થાય છે અથવા મનુષ્યગતિમાં પ્રથમના ત્રણ નરકોમાંથી નિકળીને કોઈ કોઈ મનુષ્ય થઈને તીર્થંકર પદ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. ચોથા નરકથી નિકળીને અને મનુષ્યગતિ પામીને કોઈ કોઈ જીવ નિર્વાણ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. શરુઆતની પાંચ પૃથ્વિઓ (નરકો)માંથી નિકળીને કોઈ–કોઈ જીવ મનુષ્ય થઈને સર્વ વિરતિ સંયમની પ્રાપ્તિ પણ કરી શકે છે. છઠી પૃથ્વિથી નિકળીને કોઈ–કોઈ જીવ મનુષ્ય થઈને સંયમાસંયમ (દેશવિરતિ) પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે પરંતુ સાતમી પૃથ્વિથી નિકળીને જીવ નિર્યંચગતિ નેજ પામે છે ત્યાં કોઈ જીવ સમ્યગ-દર્શન પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. ॥૧૭॥

'जहण्णेणं नारगाणं ठिई जहाकमं' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ અનુક્રમથી દસ હજાર વર્ષ, એક સાગરોપમ અને બાવીસ સાગરોપમ છે, ॥૧૮॥

તત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાના સૂત્રમાં રત્નપ્રભા આદિ સાતે નરકભૂમિઓમાં નિવાસ કરનારા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિનું પ્રરુપણ કરવામાં આવ્યું હવે તેમની જઘન્ય

અર્થાત્ ઓછામાં ઓછી સ્થિતિનું પ્રરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ. રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના ક્રમથી તેમાં રહેનારા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ આ મુજબ છે—દસ હજાર વર્ષ, એક સાગરોગમ, ત્રણ સાગરોપમ, સાત સાગરોપમ દસ સાગરોપમ, સત્તર સાગરોપમ અને બાત્રીસ સાગરોપમ.

રત્નપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યનું પ્રમાણ દસ હજાર વર્ષનું છે. શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે. વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિમાં રહેનારા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ ત્રણ સાપરોપમની છે. પંકપ્રભા પૃથ્વિમાં નિવાસ કરનારાં નારક જીવોની સ્થિતિ સાત સાગરોપમની છે. ધૂમપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ દસ સાગરોપમની છે. તમઃપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની છે. તમસ્તમઃ નામની સાતમી પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ બાવીસ સાગરોપમની છે. ૧૧૮

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ નારક જીવોની ઉત્કૃષ્ટ અર્થાત્ અધિકમાં અધિક સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તેમની જઘન્ય સ્થિતિ કહીએ છીએ રત્નપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમાં નારક જીવોની જઘન્ય સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યનું પ્રમાણ ક્રમાનુસાર આ પ્રમાણે છે—દસ હજાર વર્ષ એક સાગરોપમ ત્રણ સાગરોપમ સાત સાગરોપમ, દસ સાગરોપમ, સત્તર સાગરોપમ અને બાવીસ સાગરોપમ.

આમાં રત્નપ્રભા પૃથ્વિમાં નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ દસ હજાર વર્ષની હોય છે. શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિમાં નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ એક સાગરોપમની હોય છે. વાલુકાપ્રભામાં નારકોની જઘન્યસ્થિતિ ત્રણ સાગરોપમની હોય છે. પંકપ્રભા પૃથ્વિમાં નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ સાત સાગરોપમની હોય છે. ધૂમપ્રભામાં નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ દસ સાગરોપમની હોય છે. તમઃપ્રભા પૃથ્વિમાં નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની હોય છે. તમસ્તમઃ પ્રભા પૃથ્વિમાં નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ બાવીસ સાગારોપમની સમજવી ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૬ માં અધ્યયનમાં કહ્યું છે—

પ્રથમ ભૂમિ અર્થાત્ રત્નપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ દસ હજાર વર્ષની છે. ૧૧૬૦

બીજી પૃથ્વિ અર્થાત્ શર્કરાપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય ત્રણ સાગરોપમનું તથા જઘન્ય આયુષ્ય એક સાગરોપમનું છે. ૧૧૬૧

ત્રીજી પૃથ્વિમાં અર્થાત્ વાલુકાપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય સાત સાગરોપમનું તથા જઘન્ય આયુષ્ય ત્રણ સાગરોપમનું છે. ૧૧૬૨

ચોથી પૃથ્વિ પંકપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય દશ સાગરોપમનું છે અને જઘન્ય આયુષ્ય સાત સાગરોપમનું છે. ૧૧૬૩

પાંચમી પૃથ્વિ ધૂમપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય સત્તર સાગરોપમનું અને જઘન્ય આયુષ્ય દશ સાગરોપમનું છે. (૧૬૪)

છઠી અર્થાત્ તમઃપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય બાવીસ સાગરોપમનું અને જઘન્ય આયુષ્ય સત્તર સાગરોપમનું છે ॥૧૬૫॥

સાતમી પૃથ્વિ તમસ્તમઃપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય તેત્રીસ સાગરોપમનું અને જઘન્ય આયુષ્ય બાવીસ સાગરોપમનું છે ॥૧૬૬॥

સાતે નરકભૂમિઓના નારકોની ઉપર જે ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય સ્થિતિ બતાવવામાં આવી છે તેને ધ્યાનપૂર્વક જોવાથી ખાત્રી થશે કે પૂર્વ-પૂર્વના નરકમાં જેટલી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે, ઉત્તરોત્તરમાં તે જ જઘન્ય બની જાય છે. દા. ત. રત્નપ્રભાપૃથ્વિમા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે તે જ શર્કરાપ્રભામાં જઘન્ય સ્થિતિ છે. શર્કરાપ્રભામાં ત્રણ સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે. તે ત્રણ સાગરોપમ વાલુકાપ્રભામા જઘન્ય સમજવી જોઈએ. વાલુકાપ્રભામા જે સાત સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે તેજ પંકપ્રભામાં જઘન્ય છે. પંકપ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ દસ સાગરોગમની છે તેજ ધૂમપ્રભામાં જઘન્ય છે. ધૂમપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની છે તે જ તમઃપ્રભામાં જઘન્ય સ્થિતિ છે તમઃપ્રભામાં નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બાવીસ સાગરોપમ છે તે જ બાવીસ સાગરોપમ તમસ્તમઃપ્રભામા જઘન્ય છે. રત્નપ્રભામાં જઘન્ય સ્થિતિ દસ હજાર વર્ષની છે ॥૧૮॥

'जंबुद्दीवलवणसमुद्दाइ नामाओ असंखेज्जा दीवसमुद्दा'

સૂત્રાર્થ—જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અને લવણ આદિ સમુદ્ર અસંખ્યાત છે ॥૧૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે પ્રસંગવશ જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપોની અને લવણ આદિ સમુદ્રોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ દ્વીપ અને સમુદ્ર અસંખ્યાત છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપ, લવણોદધિ નામક સમુદ્ર, (૨) ધાતકીખંડ નામક દ્વીપ, કાલોદધિ નામક સમુદ્ર (૩) પુષ્કરવરનામક દ્વીપ, પુષ્કરવરોદ નામક સમુદ્ર, (૪) વારુણીવર નામક દ્વીપ, વારુણીવરોદ નામક સમુદ્ર, (૫) ક્ષીરવર નામક દ્વીપ, ક્ષીરવરોદ નામકસમુદ્ર (૬) ઘૃતવર નામક દ્વીપ, ઘૃતવરોદ નામક સમુદ્ર (૭) ઈક્ષુવર નામક દ્વીપ, ઈક્ષુવર નામક સમુદ્ર (૮) નંદીશ્વર નામક દ્વીપ, નંદીશ્વરવરોદ નામક સમુદ્ર (૯) અરુ વરણનામક દ્વીપ, અરુણવરોદ નામક સમુદ્ર; આ રીતે એક દ્વીપ અને એક સમુદ્ર આ ક્રમથી સ્વયંભૂરમણ દ્વીપ અને સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર સુધી અસંખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્ર સમજવા જોઈએ ॥૧૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં રત્નપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમાં સ્થિત સીમન્તક આદિ નારકાવાસોમાં નિવાસ કરનારા જીવોની સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યના પ્રમાણની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી. હવે આ ભૂમિનું પ્રકરણ હોવાથી જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપોનું તથા લવણોદધિ આદિ સમુદ્રોનું સ્વરૂપ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ અસંખ્યાત દ્વીપ અને સમુદ્ર છે. તાત્પર્ય એ છે કે જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અસંખ્યાત છે તેમ જ લવણોદધિ સમુદ્ર પણ અસંખ્યાત છે. અસંખ્યાતમા તરતમતાના ભેદથી અસંખ્યાત પ્રકાર થઈ શકે છે અત્રે અસંખ્યાત પદથી

અઢી ઉધ્ધાર સાગરોપમની સમયરાશિની બરાબર અસંખ્યાત સમજવું જોઈએ. આ ઉધ્ધાર સાગરોપમ ઉધ્ધાર પલ્યોપમથી નિષ્પન્ન થાય છે. જેમ કે—એક કોઈ પલ્ય આધાર-પાત્ર—જે એક એક યોજન આયામવિષ્કભવાળું અર્થાત્ એક યોજનનું લાંબુ તથા એક યોજનનું પહોળું તથા એક યોજનનું ઊંડું તથા આ માપથી થોડું વધારે ત્રણ ગણી પરિધિ ગોળાઈવાળું હોય, તે પલ્ય એક બે ત્રણ ઉત્કૃષ્ટથી સાત રાત્રિના ઉગેલા બાલાગ્રોથી એવી રીતે ઠાંસી ઠાંસીને ભરવામાં આવે કે જે બાલાગ્રને ન અગ્નિ બાળી શકે, ન વાયુ ઉડાવી શકે અને ન તો પાણી તેને ભીનું કરી શકે. આવી રીતે ઠાંસીને ભરેલા પાલ્યમાંથી પ્રતિ સમય એક એક બાલાગ્ર કાઢવામાં આવે તો જેટલા સમયમાં તે પલ્ય રિક્ત—ખાલી થાય તેટલા કાલ પ્રમાણનો એક ઉધ્ધાર પલ્યોપમ થાય છે આવા દસ કરોડાકરોડ ઉધ્ધાર પલ્યોપમ થાય છે ત્યારે એક ઉધ્ધાર સાગરોપમ થાય છે. આ પ્રકારના અઢી ઉધ્ધાર સાગરોપમોમાં જેટલા સમય હોય છે તેટલાં જ દ્વીપ અને સમુદ્ર છે.

આ દ્વીપો અને સમુદ્રોની અવસ્થિતિ અનુક્રમથી આ પ્રકારે છે—પહેલા દ્વીપની પછી પહેલો સમુદ્ર છે, બીજા દ્વીપની પછી બીજો સમુદ્ર છે, ત્રીજા દ્વીપની પછી ત્રીજો સમુદ્ર છે ઇત્યાદિ ક્રમથી પહેલા દ્વીપ પછી સમુદ્ર પછી દ્વીપ અને સમુદ્ર એવી રીતે અનુક્રમથી દ્વીપ અને સમુદ્ર છે. દાખલા તરીકે—સર્વપ્રથમ જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપ છે તેને ચારે બાજુએથી ઘેરીને લવણોદધિ નામક સમુદ્ર છે; ત્યારબાદ લવણોદધિ સમુદ્રને ચારે તરફથી ઘેરીને ધાતકીખન્ડ નામનો દ્વીપ છે પછી કાલોદધિ નામક સમુદ્ર છે, ત્યાર બાદ પુષ્કરવર નામક દ્વીપ અને પુષ્કરોદધિ સમુદ્ર છે પછી વરૂણવર દ્વીપ અને વરૂણોદધિ સમુદ્ર છે, પછી ક્ષીરવર નામક દ્વીપ અને ક્ષીરોદધિ સમુદ્ર છે પછી ઘૃતવર નામક દ્વીપ અને ઘૃતોદધિ સમુદ્ર છે પછી ઈક્ષુવર નામક દ્વીપ અને ઇક્ષુવરોદધિ સમુદ્ર છે પછી નંદીશ્વર નામક દ્વીપ અને નદીશ્વરોદધિ સમુદ્ર છે પછી અરૂણવર નામક દ્વીપ અને અરૂણવરોદધિ નામક સમુદ્ર છે; આ ક્રમથી સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર પર્યન્ત અસંખ્યાત દ્વીપ અને સમુદ્રો છે.

બધાં જ દ્વીપો અને સમુદ્રોનો નામોલ્લેખ:કરીને ગણતરી કરવાનું શકય નથી કારણ કે તેઓ અસંખ્યેય છે. જમ્બૂદ્વીપ, અનાદિ કાળથી છે અને તેનું જમ્બૂદ્વીપ એ નામ પણ અનાદિ કાળથી છે. જેની ચારે બાજુએ પાણી હોય તે દ્વીપ, આ વ્યુત્પત્તિ મુજબ ચારે તરફ જળથી ઘેરાયેલી જમીનનો જે ભાગ હોય છે તે દ્વીપ કહેવાય છે.

જમ્બૂદ્વીપ તથા લવણસમુદ્ર આદિ અસંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રોનો આ જે સમૂહ છે, બધાં જ આ રત્નપ્રભા પૃથ્વિની ઉપર આવેલા છે. આટલી જ તિર્યક્ લોકની સીમા છે. સ્વયં-ભૂરમણ સમુદ્રથી આગળ તિર્છા લોક નથી.

જીવાભિગમ સૂત્રમાં ત્રીજી પ્રતિપત્તિ, બીજા ઉદ્દેશક સૂત્ર ૧૮૬માં દ્વીપપ્રકરણમાં કહેવામાં આવ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! જમ્બૂદ્વીપ કેટલા કહેવામાં આવ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જમ્બૂદ્વીપ નામથી અસંખ્યાત દ્વીપ કહેવામાં આવ્યા છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! લવણસમુદ્ર કેટલાં કહેવામાં આવ્યા છે ?

ઉત્તર—લવણસમુદ્ર નામના અસંખ્ય સમુદ્રો કહેલાં છે. એવી જ રીતે—ધાતકીખન્ડ નામક દ્વીપ પણ અસંખ્યાત સમજવા જોઇએ. એ પ્રમાણે સૂર્યદ્વીપ નામક દ્વીપ પણ અસંખ્યાત છે. દેવદ્વીપ એક છે, દેવોદધિ સમુદ્ર એક છે એ મુજબ નાગ, યક્ષ, ભૂત—સ્વયંભૂરમણ દ્વીપ એક છે, સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર પણ એક છે.

આગળ જતાં જીવાભિગમ સૂત્રની ત્રીજી પ્રતિપત્તિના બીજા ઉદ્દેશકમાં પણ કહ્યું છે—

'લોકમાં જેટલાં શુભ નામ છે, શુભ વર્ણ. શુભ સ્પર્શ છે તેટલા જ નામવાળા દ્વીપ અને સમુદ્ર પણ કહેવામાં આવ્યા છે. ।। ૧૯ ।।

'ते दीवसमुद्दा दुगुणा' 'दुगुणा' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તે દ્વીપ અને સમુદ્ર બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા, વલયના આકારના તેમજ પહેલા-પહેલા વાળાને ઘેરીને આવેલા છે ।। ૨૦ ।।

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપો તથા લવણોદધિ વગેરે સમુદ્રોનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે તેમની લંબાઈ, પહોળાઈ વગેરેનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ દ્વીપ અને સમુદ્ર બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા છે અર્થાત્ પૂર્વ-પૂર્વની અપેક્ષા ઉત્તર-ઉત્તરનો વિસ્તાર બમણો-બમણો છે.

બધાં દ્વીપ અને સમુદ્ર બંગડીના આકાર જેવા વૃત અર્થાત્ ગોળ છે. તે બધા પૂર્વ-પૂર્વવાળાઓને ઘેરીને સ્થિત છે અર્થાત્ ક્રમાનુસાર પહેલા દ્વીપને પછીનો સમુદ્ર ઘેરી વળેલો છે તે સમુદ્રને ત્યાર પછીનો દ્વીપ એ પ્રમાણે યથાવત્ સમજવું

આ રીતે પહેલા દ્વીપ-જમ્બૂદ્વીપનો જેટલો વિસ્તાર છે તેનાથી બમણો વિસ્તાર લવણસમુદ્રનો છે. લવણસમુદ્રનો જેટલો વિસ્તાર છે તેથી બમણો ધાતકીખન્ડદ્વીપનો વિસ્તાર છે. ધાતકીખન્ડદ્વીપથી કાલોદધિ સમુદ્રનો બેવડો-વિસ્તાર છે, કાલોદધિ સમુદ્રથી પુષ્કરવર દ્વીપનો બમણો વિસ્તાર છે અને પુષ્કરવરદ્વીપની અપેક્ષા પુષ્કરવર સમુદ્રનો બેવડો વિસ્તાર છે. આ જ ક્રમ પછી પણ સર્વત્ર ગ્રહણ કરવો ।। ૨૧ ।।

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપોનું તથા લવણોદધિ આદિ સમુદ્રોનું યથાસંભવ નામનિર્દશન કરવામાં આવ્યું હવે તે જ દ્વીપ-સમુદ્રોની લંબાઈ-પહોળાઈ, આકૃતિ આદિ આદિનું પ્રરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અને લવણોદધિ આદિ સમુદ્ર બમણા-બમણા છે અર્થાત્ પહેલા-પહેલા વાળાની અપેક્ષા ત્યાર પછીના બમણા-બમણા છે. જમ્બૂદ્વીપનો જેટલો વિસ્તાર છે તેથી બમણો લવણસમુદ્રનો વિસ્તાર છે. એવી જ રીતે લવણસમુદ્રના વિસ્તારની અપેક્ષા ધાતકીખન્ડ દ્વીપનો વિસ્તાર બમણો છે ધાતકીખન્ડના વિસ્તારથી કાલોદધિ સમુદ્રનો વિસ્તાર બમણો છે. કાલોદધિની અપેક્ષા પુષ્કરવર દ્વીપનો અને પુષ્કરવર દ્વીપની અપેક્ષા પુષ્કરવર સમુદ્રનો વિસ્તાર બમણો છે.

આ રીતે જમ્બૂદ્વીપથી લઇને સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર પર્યંત જે ક્રમથી દ્વીપ તથા સમુદ્ર આવેલા છે અને જે ક્રમથી તે પૈકીના થોડાના નામનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે તેજ ક્રમાનુસાર તેમનો વિસ્તાર બમણો-બમણો સમજવો.

પૂર્વોક્ત નામોના અનુક્રમથી જ તે દ્વીપ અને સમુદ્ર એક-બીજાને વીંટળાયેલાં છે આ વિધાનને વ્યક્ત કરવા માટે તેમને **"पूर्वपूर्वपरिक्षेपेण"** કહેવામાં આવ્યા છે. કહેવાનો આશય એ છે કે જમ્બૂદ્વીપને વીંટળાઇને લવણસમુદ્ર સ્થિત છે. લવણસમુદ્રને ઘેરીને ધાતકીખન્ડ દ્વીપ-રહેલો છે, ધાતકીખન્ડને ઘેરીને કાલોદધિ સમુદ્ર પથરાયેલો છે અને કાલોદધિ સમુદ્રને વીંટળાઇને પુષ્કરવરદ્વીપ આવેલો છે. આજ પ્રમાણે પછીના દ્વીપ-સમુદ્રો માટે ગ્રહણ કરવું. જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ બધાં દ્વીપ-સમુદ્ર વર્તુળાકાર છે અર્થાત્ હાથમા પહેરવામાં આવતી બગડીની જેમ ગોળાકાર છે. પરંતુ આ બધાં દ્વીપ-સમુદ્રોની મધ્યમાં સ્થિત આ જમ્બૂદ્વીપ કુંભારના ચાકડાની જેમ પ્રતરવૃત્ત અર્થાત્ સપાટ ગોળ છે એ બંગડીની માફક ગોળાકાર નથી.

જીવાભિગમસૂત્રની ત્રીજી પ્રતિપત્તિના બીજા ઉદ્દેશકમા કહેવામાં આવ્યું છે--જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપને વૃત્ત વલયાકાર સંસ્થાનવાળો લવણસમુદ્ર, ચારે બાજુએથી વીંટળાઇને આવેલો છે, પછીથી પણ ફરીવાર તેનુ તે જ કહેવામાં આવ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અને લવણ આદિ સમુદ્ર આકારમા એક જ પ્રકારના છે અર્થાત્ બધા ગોળાકાર છે પરંતુ વિસ્તારમા અનેક પ્રકારનાં છે—કોઇનો પણ વિસ્તાર અન્ય કોઇની બરાબર નથી. બધા એક બીજાથી બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા છે; પન્નાયમાન છે, વિસ્તૃત છે અને અવભાસમાન વીચિઓવાળા છે ॥ ૨૦ ॥

सव्वब्भंतरे वट्टे मेरुणाभिए ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—સમસ્ત દ્વીપની અંદર, ગોળાકાર મધ્યમાં મેરુપર્વત વાળો તથા એક લાખ યોજન વિસ્તારવાળો જમ્બૂદ્વીપ છે ॥૨૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જો કે સામાન્ય રૂપથી સમસ્ત દ્વીપો અને સમુદ્રોનો વિસ્તાર લંબાઈ, પહોળાઈ વગેરેનું નિરૂપણ કરવામા આવ્યું છે તો પણ બીજા દ્વીપોની અપેક્ષા કિંચિત્ વિશેષ રૂપથી જમ્બૂદ્વીપના સ્વરૂપનું પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

આ રત્નપ્રભા પૃથ્વિ ઉપર પહેલાં જે અસંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્ર કહેવામા આવ્યા તે બધાની અંદર જમ્બૂદ્વીપ છે. આ જમ્બૂદ્વીપ કુંભારના ચાકડાની માફક પ્રતરવૃત્ત અર્થાત્ સપાટ ગોળાકાર છે—અથવા પૂનમના ચાંદાની જેમ ગોળ છે; બંગડીના આકારના નથી. જમ્બૂદ્વીપ શિવાય શેષ લવણ સમુદ્ર આદિ સમુદ્ર અને સમસ્ત દ્વીપ વલય અર્થાત બંગડીની માફક ગોળાકાર છે. જમ્બૂદ્વીપની બરાબર મધ્યમાં સુમેરૂ પર્વત છે.

મેરુપર્વતનું બીજું નામ મંદરાચલ પણ છે તે સંપૂર્ણ તિર્છા લોકની મર્યાદા અર્થાત્ હદ બતાવનારો છે એથી મેરુ કહેવાય છે સોનેરી છે. સુમેરુ પર્વત એક હજાર યોજન ભૂમિમાં ઘુસેલો છે અને નવ્વાણુ હજાર યોજન ઉપર છે તેની ઉપર એકની ઉપર એક એવાં ચાર વન છે અને તેની ઉપર પહોળું શિખર છે ચારે વનોનાં નામ આ પ્રમાણે છે-

ભદ્રશાલ વન, નન્દનવન, સૌમનસવન અને પાન્ડુકવન ભદ્રશાલ વનથી પાંચસો યોજનની ઉંચાઈ પર નંદનવન છે નંદનવનથી સાડા બાસઠ હજાર યોજન ઉપર સૌમનસ વન છે અને સૌમનસ વનથી છત્રીસ હજાર યોજન ઉપર પાન્ડુકવન છે. સુમેરૂની ચુલિકા ચાલીશ યોજન ઉચી છે તે ચૂલિકા ચારસો ચોરાણું યોજન મધ્યાન્તર્ગત છે આ રીતે મધ્યમા સુમેરુપર્વતવાળો જમ્બૂદ્વીપ છે. જમ્બૂદ્વીપનો વિસ્તાર કેટલો છે આવી આશંકા થવાથી તેનો જવાબ આપવામાં આવ્યો--તેનો વિસ્તાર એક લાખ યોજનનો છે. જમ્બૂ નામક વૃક્ષથી યુક્ત હોવાના કારણે આ દ્વીપ જમ્બૂદ્વીપ કહેવાય છે. તે જમ્બૂવૃક્ષ ઉત્તર કુરુક્ષેત્રની મધ્યમાં છે અનાદિ-અનંત છે, પાર્થિવ અર્થાત્ પૃથ્વિનું પરિણમન અને સ્વાભાવિક છે. જમ્બૂદ્વીપ આ જ વૃક્ષથી યુક્ત છે. ॥૨૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા કહેવામાં આવ્યું કે દ્વીપ અને સમુદ્ર વલય બંગડી જેવા ગોળ આકારના છે આ કથનથી જમ્બૂદ્વીપ વલયાકાર હોવાનો પ્રસંગ આવે છે; પણ તે વલયના આકારનો નથી; આથી પૂર્વોક્ત કથનનો અપવાદ અહીં પ્રદર્શિત કરવામાં આવે છે—

જમ્બૂદ્વીપ બધાં દ્વીપ-સમુદ્રોની અંદર છે અર્થાત્ સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર પર્યન્ત જેટલાં પણ દ્વીપ અને સમુદ્ર છે તે બધાંની અંદર છે. તે પ્રતરવૃત્ત અર્થાત્ કુંભારના ચાકડાની જેમ ગોળ જરૂર છે પણ બંગડી જેવો નથી. લવણ સમુદ્ર આદિને વલયના આકારના કહેવામાં આવ્યા છે અને જે વલયાકાર હોય છે તે ત્રિકોણ અને ચતુષ્કોણ પદાર્થોને પણ ઘેરી શકે છે. આવી સ્થિતિમાં જમ્બૂદ્વીપને ત્રિકોણ અગર ચતુષ્કોણ સમજવાની ભૂલ ન થઈ જાય એ હેતુથી સૂત્રમાં 'વૃત્ત' શબ્દ લેવામાં આવ્યો છે આથી સઘળાં દ્વીપો અને સમુદ્રો ગોળાકાર હોવા છતાં પણ જમ્બૂદ્વીપ પ્રતરવૃત્ત છે જેવો કુંભારનો ચાકડો હોય છે. તે હાથમાં પહેરવામાં આવતી બંગડીના જેવો ગોળાકાર નથી જ્યારે તેની પછીના લવણ સમુદ્ર આદિ વલયની જેમ ગોળાકાર છે, પ્રતરવૃત્ત નથી.

જમ્બૂદ્વીપ મેરુનાભિક છે. અર્થાત્ તેની મધ્યભાગમાં મન્દરાચલપર્વત છે. જમ્બૂદ્વીપનો એક લાખ યોજનનો વિસ્તાર છે. ભલે પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી માપવામાં આવે અથવા ઉત્તરથી દક્ષિણ સુધી, તેનું માપ સર્વત્ર એક લાખ યોજનનું જ હોય છે.

મેરુપર્વત સોનાના થાળના મધ્યસ્થાન સમાન ગોળાકાર છે તેનો એક હજાર યોજન પરિમિત ભાગ ભૂમિ હેઠળ આવેલ છે જ્યારે નવ્વાણું હજાર યોજન-પરિમિત ભાગ પૃથ્વિની ઉપર છે જે જોઈ શકાય છે. પૃથ્વિમાં સ્થિત જે એક હજાર યોજન છે તેની લંબાઈ અને પ્રહોળાઈ ૧૦૦૯૦ $\frac{૧૦}{૧૧}$ ભાગ છે. ઉપરના ભાગમા જ્યાથી શિખર શરૂ થાય છે ત્યાં એક હજાર યોજન છે તે પર્વત ત્રણ કાન્ડવાળો, ત્રણે લોકને સ્પર્શ કરનારો તથા ભદ્રશાલ, નન્દન સૌમનસ અને પાન્ડુક નામક ચાર વનોથી ઘેરાયેલો છે.

એક વિશિષ્ટ પ્રમાણથી યુક્ત વિચ્છેદ અથવા રચના વિશેષને કાન્ડ કહેવામા આવે છે ત્રણ કાન્ડોમાંથી પ્રથમ કાણ્ડ તે છે જે ભૂમિની અન્દર છે. શુદ્ધ પૃથ્વિ પાષાણ, વજ્ર તથા શર્કરાની વિપુલતાવાળા છે અને એક હજાર યોજન પરિમાણવાળા છે. બીજો કાણ્ડ પૃથ્વિની ઉપરથી શરૂ થાય છે, તે ત્રેંસઠ હજાર યોજનનો છે અને ચાંદી, સોનું, મોતી તથા સ્ફટિક-

રત્નોથી સભર છે. બીજા કાણ્ડની ઉપર ત્રીજો કાણ્ડ શરૂ થાય છે. તે છત્રીસ હજાર યોજનનો છે અને જમ્બૂનદની બહુલતાથી યુક્ત છે ત્રીજા કાણ્ડની ઉપર ચાળીસ યોજન ઉંચી ચૂલિકા છે જેમાં વૈડૂર્યની બહુલતા છે.

મૂળ અર્થાત્ ઉદ્ગમપ્રદેશમાં ચૂલિકાની પહોળાઈ અને લંબાઈ બાર યોજનની છે. મધ્યભાગમાં આઠ યોજન અને ઉપર ચાર યોજનની છે. ભૂમિની ઉપર રહેલ પ્રથમ ભદ્રશાલવન વલયાકાર છે. ભદ્રશાલવનની ભૂમિથી પાંચસો યોજન ઉપર પ્રથમ મેખલામાં પાંચ સો યોજન પથરાયેલ નન્દન નામક બીજું વન છે નન્દનવનથી સાડા બાંસઠ હજાર યોજનની ઉંચાઈ પર પાંચસો યોજન વિસ્તૃત સૌમનસ નામનું ત્રીજું વન બીજી મેખલામાં છે.

સૌમનસ વનથી છત્રીસ હજાર યોજનની ઉંચાઈ પર ચારસો ચોરાણું યોજન વિસ્તાર વાળું પાણ્ડુક નામનું ચોથું વન મેરુના શિખર પર શોભાયમાન છે. આ મેરુ પર્વત બધી જગ્યાએ એક સરખા પરિમાણવાળો નથી પરન્તુ સમ ભૂમિ ભાગ ઉપર મેરુપર્વતની પહોળાઈ દસ હજાર યોજનની છે ત્યાંથી અગીયાર યોજન ઉપર જઈએ તો એક યોજન અને અગીયારસો યોજન જઈએ તો એક સો તથા અગીયાર હજાર યોજન જઈએ ત્યારે એક હજાર યોજન પહોળાઈમાં ઓછો થતો જાય છે: ગણતરી મુજબ ૯૯ નવ્વાણું હજાર યોજન ઉપર જવાથી એક હજાર યોજનની પહોળાઈ રહી જાય છે.

જમ્બૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિના ત્રીજા સૂત્રમાં કહ્યું છે—

જમ્બૂદ્વીપ સમસ્તદ્વીપ–સમુદ્રોની અંદર સૌથી નાનો છે. ગોળાકાર છે અને લંબાઈ પહોળાઈમાં એક લાખ યોજન ફેલાયેલો છે.

આ જગ્યાએ જ વળી પાછું સૂત્ર ૧૦૩માં કહેવામાં આવ્યું છે—'જમ્બૂદ્વીપની બરાબર વચ્ચોવચ્ચ મન્દર નામનો પર્વત કહેવામાં આવ્યો છે તે નવ્વાણું હજાર યોજન જમીન ઉપરથી ઉંચો છે અને એક હજાર યોજન જમીનની અંદર પેસેલો છે. ॥૨૧॥

'तत्थ भरह परवत हेमवत' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—જમ્બૂદ્વીપમાં સાત વર્ષ (ક્ષેત્ર) છે—(૧) ભરત (૨) ઐરવત (૩) હૈમવત (૪) હૈરણ્યવત (૫) હરિ (૬) રમ્યક અને (૭) મહાવિદેહ ॥૨૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉના સૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપની લંબાઈ–પહોળાઈ વગેરેની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી. હવે તેજ જમ્બૂદ્વીપમાં છ કુલપર્વતોના કારણે જુદાં પડેલાં સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવે છે—

જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં (૧) ભારત (૨) ઐરવત (૩) હૈમવત (૪) હૈરણ્યવત (૫) હરિવાસ (૬) રમ્યકવાસ અને (૭) મહાવિદેહ નામના સાત ક્ષેત્ર છે જે 'વર્ષ' કહેવાય છે જેમકે—ભરતવર્ષ, ઐરવત વર્ષ, હૈમવત વર્ષ, હૈરણ્યવત વર્ષ, હરિવર્ષ, રમ્યક વર્ષ, મહાવિદેહવર્ષ, અર્થાત્ જમ્બૂદીપમાં આ સાત ક્ષેત્ર છે. (૧) આ સાત ક્ષેત્રોમાંનું પ્રથમ ભરતવર્ષ હિમવાન્ પર્વતની દક્ષિણમાં છે. વૈતાઢ્ય નામક પર્વત અને ગંગા–સિંધુ નામની બે મહાનદિઓના કારણે વિભક્ત થઈ જવાથી તેના છ વિભાગ થઈ ગયા છે. ભરત વર્ષની ત્રણે બાજુએ લવણ સમુદ્ર છે તે જ્યા (દોરી) સહિત મનુષ્યાકારનું છે.

(૨) ઉપર ઉત્તર દિશામાં શિખરિ, શિખરિ નામક પર્વતથી ઉત્તરમાં અને ત્રણ સમુદ્રોની મધ્યમાં ઐરવત છે તેના પણ વૈતાઢ્ય પર્વત અને રક્તા તથા રક્તોદા નામની નદિઓથી ભાગ પડી જવાના કારણે છ ખન્ડ થઈ ગયા છે.

(૩) ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી દક્ષિણમાં હૈમવત નામક વર્ષ અવસ્થિત છે. તેની પૂર્વ અને પશ્ચિમમાં લવણસમુદ્ર છે.

(૪) રુક્મિ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને શિખરિપર્વતથી દક્ષિણમાં હૈરણ્યવત નામક વર્ષ છે તેની પૂર્વ અને પશ્ચિમમાં લવણસમુદ્ર છે.

(૫) નિષધ પર્વતથી દક્ષિણમાં અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમાં હરિવર્ષ છે એની પૂર્વ તથા પશ્ચિમમાં પણ લવણસમુદ્ર છે.

(૬) નીલ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને રુક્મિ પર્વતથી દક્ષિણમાં પૂર્વ અને પશ્ચિમ સમુદ્રની મધ્યમાં રમ્યકવર્ષ છે.

(૭) નિષધપર્વતથી ઉત્તરમાં અને નીલ પર્વતથી દક્ષિણમાં પૂર્વ તથા પશ્ચિમ સમુદ્રની વચ્ચે મહાવિદેહવર્ષ અવસ્થિત છે ॥૨૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા જમ્બૂદ્વીપના સ્વરૂપની લંબાઇ-પહોળાઈ આદિનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યુ હવે તેજ જમ્બૂદ્વીપમાં પછીથી કહેવામાં આવનારા છ વર્ષધર પર્વતોના કારણે વિભાજિત થયેલા સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા જમ્બૂદ્વીપમાં ભરત. હૈમવત, હરિવાસ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત નામક સાત વર્ષક્ષેત્ર છે. આ રીતે ભરતવર્ષ, હૈમવતવર્ષ, હરિવર્ષ, મહાવિદેહવર્ષ, રમ્યકવર્ષ. હૈરણ્યવતવર્ષ અને ઐરવતર્ષ નામના સાતવર્ષ છે. આ સાતે વર્ષ (ક્ષેત્રો) જમ્બૂદ્વીપના જ એક વિશિષ્ટ સીમાવાળો વિભાગ છે, સ્વતંત્ર દ્વીપ નથી. જગતની સ્થિતિ અનાદિકાલીન છે આથી તેમની સંજ્ઞા પણ અનાદિકાલીન સમજવી ઘટે.

અથવા ભરત નામક દેવના નિવાસના સમ્બન્ધથી તે ક્ષેત્ર પણ ભરત અથવા ભારત કહેવાય છે. જે ક્ષેત્ર હિમવાન્ પર્વતથી દૂર નથી-નજીકમાં છે તે હૈમવત કહેવાય છે. હરિ અને મહાવિદેહ પંચાલની જેમ સમજી લેવા જે ક્ષેત્ર રમ્ય (રમણીય) હોય તે રમ્યક અહીં સ્વાર્થમાં કનિન્ પ્રત્યય લાગ્યો છે. હૈરણ્યવત દેવનું નિવાસ હોવાના કારણે તે ક્ષેત્ર પણ હૈરણ્યવત કહેવાય છે. ઐરવત ક્ષેત્રનું નામ પણ આ પ્રમાણે સમજવું.

આ સાતે વર્ષ ક્ષેત્ર પણ કહેવાય છે. વર્ષધર પર્વતોની નજીક હોવાથી તેમને વર્ષ કહે છે અને મનુષ્યો વગેરેના નિવાસ હોવાથી તેમને ક્ષેત્ર પણ કહે છે **ક્ષિપન્તિ** અર્થાત્ નિવાસ કરે છે પ્રાણી જેમાં-તે ક્ષેત્ર આવી ક્ષેત્ર શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે

આ સાત વર્ષોમાં ભરતથી ઉત્તરમાં હૈમવત છે, હૈમવતથી ઉત્તરમાં હરિવર્ષ છે. હરિવર્ષથી ઉત્તરમાં મહાવિદેહવર્ષ છે, મહાવિદેહથી ઉત્તરમાં રમ્યકવર્ષ છે, રમ્યકવર્ષથી ઉત્તરમા હૈરણ્યવતવર્ષ છે અને હૈરણ્યવતવર્ષથી ઉત્તરમાં અરવતવર્ષ છે.

આ તમામ ભરત-હૈમવત, હરિ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત વર્ષોથી, વ્યવહારનયની અપેક્ષાથી, સૂર્યના કારણે થનારા દિશાઓના નિયમ અનુસાર, મેરુપર્વત ઉત્તરમાં છે, નિશ્ચયનયથી આ પ્રમાણે નથી. અન્યત્ર પણ કહેવામાં આવ્યું છે-મેરુપર્વત બધાં વર્ષોની ઉત્તરમાં છે'- આ કથનથી એવું સાબિત થયું કે વ્યવહારનયથી, સૂર્યની ગતિના કારણે ઉત્પન્ન દિશાઓના નિયમ અનુસાર મેરુપર્વત બધાંની ઉત્તરમાં છે અને લવણસમુદ્ર બધાંની દક્ષિણમાં છે.

વ્યવહારનયની અપેક્ષા જે ક્ષેત્રમાં જે તરફ સૂર્યોદય થાય છે તે દિશા પૂર્વ દિશા કહેવાય છે અને જે દિશામાં સૂર્યાસ્ત થાય છે તે દિશા પશ્ચિમ દિશા કહેવાય છે. કર્કથી લઈને ધનુષૂરાશિ સુધી જે દિશામાં રહીને ક્રમથી સૂર્ય ચાલે છે તે દક્ષિણ દિશા કહેવાય છે. અને મકરરાશિથી લઈને મિથુન રાશિ સુધી જે દિશામાં રહીને સૂર્ય ક્રમથી ચાલે છે તે ઉત્તરદિશા કહેવાય છે.

આવી જ રીતે ચારે દિશાઓની મધ્યની દિશાઓ અર્થાત્ વિદિશાઓ-ઉર્ધ્વદિશા અને અધોદિશા પણ સૂર્યના સંયોગથી થાય છે. આ રીતે સર્વત્ર સૂર્યની અપેક્ષાથી જ દિશાઓનો વ્યવહાર થાય છે. આશય કહેવાનો એ છે કે બધાંની દિશા વ્યવહારિક છે પરન્તુ નિશ્ચયથી એવું કહી શકાય નહીં. સૂર્યોદયની અપેક્ષાથી આપણા માટે જે પૂર્વ દિશા છે તે જ દિશા પૂર્વવિદેહના નિવાસીઓ માટે પશ્ચિમ દિશા છે કારણ કે તેમની અપેક્ષાથી ત્યાં સૂર્ય અસ્ત થાય છે. આ કારણથી આ વ્યવહાર માત્ર છે, નિશ્ચય નહીં. નિશ્ચયનયની અપેક્ષાથી મધ્યલોકમાં સ્થિત મેરુપર્વતના સમતલ ભૂમિભાગમાં રહેલ, આઠ આકાશપ્રદેશોથી નિર્મિત ચતુષ્કોણ જે રુચક છે, તે દિશાઓના નિયમના કારણ છે. તેને જ કેન્દ્ર ગણીને દિશાઓની વ્યવસ્થા કરવી જોઈએ. તે રુચક જ પૂર્વદિશાઓ અને આગ્નેય આદિ વિદિશાઓનું પ્રભવ-ઉદ્ગમ સ્થાન છે.

દિશાઓ બે પ્રદેશોથી પ્રારંભ થાય છે અને બે પ્રદેશોની વૃદ્ધિથી વધતી થકી વિશાળ શકટોદ્ધિના આકાર હોય છે. તેની આદિ છે પણ અન્ત નથી. વિશિષ્ટ આકારમાં તેમનું અવસ્થાન છે અને અનન્ત (અલોકની અપેક્ષા) આકાશ પ્રદેશોથી તેમનું સ્વરૂપ થાય છે આ દિશાઓ ચાર છે.

વિદિશાઓ મુક્તાવલી જેવી હોય છે. એક-એક આકાશપ્રદેશની રચનાથી તેમનું સ્વરૂપ નિષ્પન્ન થાય છે. તેમની આદિ તો છે પરન્તુ છેડો નથી. વિદિશાઓ ચાર છે અને તે અનન્તપ્રદેશોથી નિર્મિત છે.

ઉર્ધ્વદિશા પણ તે જ ચાર પ્રદેશોથી ઉત્પન્ન થાય છે. તેમની આદિ ઉપર સ્થિત ચાર પ્રદેશોથી થાય છે· તેને અનુત્તરા-વિમલા દિશા પણ કહે છે.

અધોદિશાનું નામ તમસ્ છે તે નીચેના ચાર આકાશપ્રદેશોથી ઉત્પન્ન થઈ છે. આ દસે દિશાઓ અનાદિકાલીન છે અને એમના નામ પણ અનાદિકાળથી પ્રસિદ્ધ છે એ પ્રમાણે નિશ્ચયનયના અભિપ્રાયના આધારે સમજવું જોઈએ.

સ્થાનાંગસૂત્રના સાતમા સ્થાનમાં કહ્યું છે—'જમ્બૂદ્વીપમાં સાત વર્ષ-ક્ષેત્ર કહેવામાં આવ્યા છે તે આ પ્રકારે—ભરત, ઐરવત, હૈમવત, હૈરણ્યવત, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ તથા મહાવિદેહ.'

(૧) ભરતવર્ષ હિમવાન્ પર્વની દક્ષિણમાં અવસ્થિત છે તેની દક્ષિણ, પશ્ચિમ અને પૂર્વમાં ત્રણે બાજુ લવણસમુદ્ર છે તે ધનુષ્યના આકારનો છે. વૈતાઢય નામક પર્વત અને ગંગા-સિન્ધુ નામની બે મહાનદિઓથી વિભાજિત હોવાથી તેના છ ટુકડા થઈ ગયા છે.

(૨) હૈમવતવર્ષ-ચુલ્લહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી દક્ષિણમાં હૈમવતવર્ષ છે તેની પૂર્વ તથા પશ્ચિમે લવણસમુદ્ર છે.

(૩) હરિવર્ષ-નિષધ પર્વતથી દક્ષિણમાં અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમાં સ્થિત છે. એની પૂર્વ તથા પશ્ચિમે લવણ સમુદ્ર છે.

(૪) મહાવિદેહવર્ષ-નિષધ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને નીલપર્વતથી દક્ષિણમાં મહાવિદેહ ક્ષેત્ર છે. એની પૂર્વ તથા પશ્ચિમે લવણસમુદ્ર છે.

(૫) રમ્યકવર્ષ-નીલ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને રુકિમ પર્વતથી દક્ષિણમાં, પૂર્વ-પશ્ચિમ લવણસમુદ્રની વચમાં છે.

(૬) હૈરણ્યવત-રુકિમ પર્વતથી ઉત્તરમાં અને શિખરીપર્વતથી દક્ષિણમાં; પૂર્વ-પશ્ચિમ લવણસમુદ્રની મધ્યમાં સ્થિત છે.

(૭) ઐરવતવર્ષ-શિખરીપર્વતથી ઉત્તરમાં છે. આ ત્રણ દિશાઓમાં લવણસમુદ્રથી ઘેરાયેલો છે. વિજયાર્ધ પર્વત તથા રક્તા અને રક્તોદા નામની નદિઓથી વિભક્ત થવાના કારણે એના છ ખણ્ડ થઈ ગયા છે.

સારાંશ એ છે કે આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારા છ કુલ પર્વતોથી વિભક્ત થવાના કારણે ઉક્ત સ્વરૂપવાળા સાત ક્ષેત્ર જમ્બૂદ્વીપમાં છે. ॥૨૨॥

જમ્બૂદ્વીપનું સ્વરૂપ લંબાઈ-પહોળાઈ આદિ પહેલાં જ વર્ણવવામાં આવી ગયેલ છે તેમાં રહેલાં સાત ક્ષેત્રોના સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવા માટે સૂત્ર કહીએ છીએ—

'તવ્વિભાયગા' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ઉક્ત સાત ક્ષેત્રોને વિભાજિત કરનારા, પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાંબા ચુલ્લ-હિમવન્ત, મહાહિમવન્ત, નિષધ, નીલવન્ત, રુકિમ અને શિખરિ નામક છ વર્ષધર પર્વત છે. ॥૨૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપમાં વિદ્યમાન ભરતવર્ષ આદિ સાત ક્ષેત્રોનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે તે ક્ષેત્રોને વિભક્ત કરનારા ચુલ્લહિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર પર્વતોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

જમ્બૂદ્વીપમાં સ્થિત ભરતવર્ષ આદિ ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરવાવાળા, પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાંબા પૂર્વ-પશ્ચિમ લવણસમુદ્ર સુધી ફેલાયેલા, પોતાના પૂર્વ તથા પશ્ચિમ છેડાઓથી લવણસમુદ્રને સ્પર્શ કરવાવાળા ક્ષુદ્રહિમવાન, મહાહિમવાન, નિષધ, નીલ, રુકિમ અને

શિખરી નામક છ વર્ષધર પર્વત છે અર્થાત્ ભરત, હૈમવત, હરિ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત આ સાત ક્ષેત્રોના ધારક આ છ પર્વત છે :

ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરવાના કારણે આ છ પર્વતો વર્ષધર પર્વત કહેવાય છે. આ પર્વતોના જે હિમવાન્ વગેરે નામ છે તે અનિમિત્તક છે અર્થાત્ કોઈ વિશેષ કારણથી નથી; આ પર્વત અને તેમના ઉલ્લિખિત નામ પણ અનાદિકાળથી ચાલતાં આવ્યા છે. હા, ભરત વગેરે વર્ષો (ક્ષેત્રો)ના વિભાજક હોવાથી એમને વર્ષધર કહે છે.

ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત ભરતવર્ષ અને હૈમવતવર્ષની સીમા ઉપર આવેલો છે. તેની ઉંચાઈ સો યોજનની છે. મહાહિમવાન્ પર્વત હૈમવત અને હરિવર્ષને જુદાં પાડે છે તેની ઉંચાઈ બસો યોજનની છે. નિષધ નામક વર્ષધર પર્વત મહાવિદેહથી દક્ષિણમાં અને હરિવર્ષથી ઉત્તરમાં છે, આ બંનેની મધ્યમાં છે આથી બંનેનો વિભાજક છે એની ઉંચાઈ ચારસો યોજનની છે. નીલવાન્ પર્વત મહાવિદેહથી ઉત્તરમાં અને રમ્યકવર્ષથી દક્ષિણમાં છે. તે આ બંને ક્ષેત્રોની મધ્યમા હોવાથી એમને વિભક્ત કરે છે. આ પર્વત પણ ચારસો યોજન ઉંચો છે. રુક્મિપર્વત રમ્યકવર્ષથી ઉત્તરમાં અને હૈરણ્યવતથી દક્ષિણમાં છે. બસો યોજન ઉંચો છે. શિખરિપર્વત હૈરણ્યવતથી ઉત્તરમાં અને ઐરવતવર્ષથી દક્ષિણમાં છે તેની ઉંચાઈ એકસો યોજનની છે. બધાં પર્વતોની ઉંડાઈ તેમની ઉંચાઈનો ચોથો ભાગ છે. ॥૨૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આ પહેલાં ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું. હવે તે સાત ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરનારા હિમવાન્ આદિ છ વર્ષધર પર્વતોની પ્રરૂપણા માટે કહીએ છીએ—

તે ભરત આદિ સાતે ક્ષેત્રોનો પોતાની સ્વાભાવિક રચના દ્વારા વિભાગ કરવાવાળા પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાંબા, પોતાના પૂર્વવર્તી અને પશ્ચિમવર્ત્તી છેડાઓથી લવણસમુદ્રને સ્પર્શ કરવાવાળા ક્ષુદ્રહિમવાન્, મહાહિમવાન્, નિષધ, નીલવાન્, રુક્મિ અને શિખરી નામના છ વર્ષધર પર્વત છે. ભરત આદિ સાત વર્ષોના વિભાજક હોવાના કારણે અર્થાત્ તેમને ઈલાયદા કરનારા હોવાથી તે પર્વત કહેવાય છે તેઓ અનાદિકાળથી ચાલ્યા આવે છે.

ભાવાર્થ એ છે કે અગાઉ કહેલાં ભરત આદિ સાતે ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરવાવાળા હિમવાન્, મહાહિમવાન્, નિષધ, નીલવાન, રુક્મિ અને શિખરી નામક છ વર્ષધર પર્વત છે. ભરતવર્ષ અનેહૈમવત વર્ષની મધ્યમાં હોવાના કારણે ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત ભરત અને હૈમવતવર્ષનું વિભાજન કરે છે. મહાહિમવાન્ પર્વત હૈમવત અને હરિવર્ષના વિભાજક છે. નિષધ પર્વત હરિવર્ષ અને મહાવિદેહની હદ જુદી પાડે છે. નીલવાન્ પર્વત મહાવિદેહ અને રમ્યકવર્ષને વિભક્ત કરે છે. રુક્મિ પર્વત રમ્યકવર્ષ અને હૈરણ્યવત વર્ષને ઈલાયદા કરે છે જ્યારે શિખરીપર્વત હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રની હદોને નોખી પાડે છે આ છ કુલપર્વતોથી જમ્બૂદ્વીપમાં સ્થિત ભરત આદિ સાત વર્ષ વિભક્ત થઈ ગયા છે.

હવે ક્ષુદ્રહિમવાન્ આદિ છએ કુલાચલોની ઉંડાઈ તથા ઉંચાઈનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ-ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત સો યોજન ઉંચો છે. બધાં પર્વતોની ઊંડાઈ તેમની ઉંચાઈના ચતુર્થાંશ જેટલી હોય છે આથી ક્ષુદ્રહિમવાનની ઊંડાઈ પચ્ચીસ યોજન છે.

મહાહિમવાન્ પર્વત ક્ષુદ્રહિમવાનથી બમણી ઉંચાઈ અને ઊંડાઈવાળો છે આ રીતે એની ઉંચાઈ બસો યોજનની અને ઉંડાઈ પચાસ યોજનની છે.

નિષધપર્વત તેથી પણ બમણી ઊંડાઈ અને ઉંચાઈ ધરાવે છે આથી તેની ઉંચાઈ ચારસો યોજનની અને ઉંડાઈ સો યોજનની છે.

નીલવાન્ પર્વત પણ ચારસો યોજન ઉંચો છે આથી તેની ઉંડાઈ સો યોજનની છે.

રુકિમપર્વત બસો યોજન ઉંચો છે આથી તેની ઉંડાઈ પચાસ યોજનની છે.

શિખરીપર્વત એકસો યોજન ઉંચો છે તેની ઉંડાઈ પચ્ચીસ યોજનની છે.

વૈતાઢયપર્વત ભરતક્ષેત્રનો મધ્યમા સ્થિત છે એથી ભરતક્ષેત્ર બે ભાગમાં વહેંચાઈ ગયું છે. વૈતાઢયથી ઉત્તર તરફનો ભાગ ઉત્તર ભરત કહેવાય છે અને દક્ષિણ તરફનો ભાગ દક્ષિણ ભરત: વૈતાઢયપર્વત પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાંબો છે. બંને તરફથી તેનો થોડો ભાગ લવણસમુદ્રને સ્પર્શ કરે છે તે પર્વત ઉપર વિદ્યાધર નિવાસ કરે છે. દક્ષિણમાં પચાસ અને ઉત્તરમાં સાઇઠ નગરોવાળો, દક્ષિણશ્રેણિ અને ઉત્તરશ્રેણિ નામક બે શ્રેણિઓથી અલંકૃત છે. બે ગુફાઓથી સુશોભિત છે. છ યોજન અને એક ગાઉ સુધી પૃથ્વિમાં તેની ઉંડાઈ છે. પચાસ યોજનનો વિસ્તાર છે અને પચ્ચીસ યોજનની ઉંચાઈ છે.

વિદેહક્ષેત્રમાં મેરુપર્વતથી દક્ષિણમાં અને નિષધ પર્વતથી ઉત્તરમાં દેવકુરુ નામનું ક્ષેત્ર છે તે એકસો કાંચનપર્વતોથી તથા ચિત્ર–વિચિત્ર કૂટોથી વિભૂષિત છે–આ રીતે પાંચ હદોના બંને છેડાના કાંઠે આવેલા દસ–દસ કાંચનપર્વતોથી શોભાયમાન છે. શીતોદા નદીથી પૂર્વ અને પશ્ચિમમાં જનારા, નિષધપર્વતથી આઠસો ચોત્રીસ તથા ચારના સાતમા ભાગ ૮૩૪$\frac{4}{7}$ના અન્તરવાળા ચિત્ર–વિચિત્ર કૂટ છે જે એક હજાર યોજત ઉંચા છે, નીચેની તરફ પ્રસરાયેલા છે જેનો ઉપરનો ભાગ તેનાથી અર્ધો છે. દેવકુરુ તેમનાથી સુશોભિત છે. તેનો વિસ્તાર બે ભાગ અધિક અગીયાર હજાર આઠસો બેંતાળીસ યોજનનો છે. ,

આવી જ રીતે મેરુપર્વતથી ઉત્તરમાં ઉત્તરકુરુક્ષેત્ર છે તે પણ સો કાચનપર્વતોથી શોભાયમાન છે પરન્તુ તેમાં ચિત્ર–વિચિત્ર કૂટ નથી તેની જગ્યાએ તેમના જ જેટલાં પ્રમાણુંવાળા કાંચનમય અને શીતા નદીના કાંઠા પર આવેલા બે યમક પર્વત છે.

મહાવિદેહક્ષેત્ર મેરુપર્વત અને દેવકુરુ તથા ઉત્તરકુરુથી વિભક્ત થઈ જવાના કારણે ચાર ભાગોમાં વહેંચાઈ જવા પામેલ છે. મેરુપર્વતથી પૂર્વદિશામાં સ્થિત વિદેહ નોભાગ પૂર્વવિદેહ કહેવાય છે. પશ્ચિમ દિશામાં સ્થિત ભાગ પશ્ચિમવિદેહ કહેવાય છે, દક્ષિણનો એક ભાગ દેવકુરુ અને ઉત્તરનો ભાગ ઉત્તરકુરુના નામથી પ્રસિદ્ધ છે. આ બધાં જો કે એક જ મહાવિદેહ ક્ષેત્રની અન્તર્ગત છે તો પણ જુદા–જુદા ક્ષેત્ર જેવા છે. ત્યાં જે મનુષ્ય આદિ નિવાસ કરે છે, તેમનું એક ક્ષેત્રમાંથી બીજા ક્ષેત્રમાં આવાગમન થતું નથી.

મેરુ પર્વતથી પૂર્વમાં જે પૂર્વવિદેહ છે અને પશ્ચિમમાં જે પશ્ચિમવિદેહ છે તેમા સોળ–સોળ ચક્રવર્તિવિજય છે. આ વિજય નદિઓ તથા પર્વતોથી વહેંચાયેલા છે. ત્યાંના નિવાસી એક વિજયમાંથી બીજા વિજયમાં આવાગમન કરી શકતાં નથી ચક્રવર્તી તેમના ઉપર વિજય પ્રાપ્ત કરે છે અને રાજ્ય કરે છે. આ રીતે બંને દિશાઓના મળીને બત્રીસ વિજય મહાવિદેહમાં છે.

આ પ્રકારે જ સરખી લંબાઈ, પહોળાઈ, ઉંડાઇ તથા ઉંચાઈવાળા દક્ષિણ અને ઉત્તર વૈતાઢચ છે, હિમવાન્ અને શિખરી પર્વત છે, મહાહિમવાન્ અને રુક્મિપર્વત છે; નિષધ અને નીલ પર્વત છે. ક્ષુદ્રમેરૂ પર્વત ચાર છે તેમાનાં બે ધાતકીખન્ડ દ્વીપમાં અને બે પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમાં છે. આ ચારે ક્ષુદ્રમેરૂપર્વત જમ્બૂદ્વીપની મધ્યમાં આવેલા મેરૂપર્વતની અપેક્ષાએ પ્રમાણમાં નાના છે. મહામન્દર પર્વતની અપેક્ષા એમની ઉંચાઈ પંદર હજાર યોજન ઓછી છે આથી એ બધાં ચોરાસી હજાર યોજન ઉંચા છે.

પૂર્વોક્ત ચારક્ષુદ્રમન્દર પર્વત પૃથ્વિમાં નવહજાર પાંચસો યોજન વિષ્કંભવાળા છે. ભૂતળ પર તેમનો વિષ્કમ્ભ (વિસ્તાર) નવ હજાર ચારસો યોજનનો છે. આ ચારે ક્ષુદ્રમન્દર પર્વતોનો પ્રથમ કાન્ડ મહામન્દર પર્વતના પ્રથમ કાન્ડની બરાબર છે અને પૃથ્વિમાં એક હજાર યોજનની ઉંડાઈએ છે. બીજો કાન્ડ મહામન્દર પર્વતના બીજા કાન્ડથી સાત હજાર યોજન ઓછો છે, આથી સાડા પાંચહજાર યોજનનું પ્રમાણ છે. ત્રીજો કાન્ડ મહામન્દર પર્વતના ત્રીજા કાન્ડથી આઠ હજાર યોજન ઓછો હોવાથી અઠયાવીસ હજાર યોજન પ્રમાણ છે.

ચારે ક્ષુદ્રમન્દર પર્વતો પર જે ભદ્રશાલ અને નન્દનવન છે તે બંને મહામન્દર પર્વતના ભદ્રશાલ અને નન્દનવનની બરાબર જ છે. પૃથ્વિતળ ઉપર ભદ્રશાલ વન છે. તેનાથી પાંચસો યોજનની ઉંચાઈ પર નન્દનવન છે તેનાથી સાડા પંચાવન હજાર યોજન ઉપર સૌમનસ વન છે. બીજા કાન્ડના પાંચસો યોજન નન્દનવન વડે ઘેરાયેલા છે આથી સાઢા પંચાવન હજાર યોજન ચાલીને તે પાંચસો યોજન વિસ્તૃત છે તેથી આગળ જઈએ ત્યારે અઠયાવીસ હજાર યોજનની ઉંચાઈએ પાન્ડુકવન આવે જે ચારસો ચોરાણુ યોજન વિસ્તાર વાળું છે આ પ્રકારે ઉપર અને નીચે અવગાહ અને વિસ્તાર મહામન્દર પર્વતની બરાબર જ છે અને તે એકહજાર યોજન પ્રમાણ છે નીચે જે અવગાહ છે તે પણ મહામન્દરની જ બરાબર છે અને તે પણ મહામન્દરની બરાબર એક હજાર યોજન પ્રમાણ જ છે. ચારે ક્ષુદ્રમન્દર પર્વતોની ભૂમિ મહામન્દર પર્વતની ચૂલિકા બરાબર જ થાય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના છઠ્ઠા સ્થાનમાં કહ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપમાં છ વર્ષધર પર્વત કહેવામાં આવ્યા છે તે આ પ્રમાણે છે—ચુલ્લ (ક્ષુદ્ર) હિમવન્ત, મહાહિમવન્ત નિષધ, નીલવન્ત રૂક્મિ, શિખરી.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્ર ૧૫માં કહ્યું છે—વિરાજમાન ત્યાં જ પછીના સૂત્ર ૭૨માં કહ્યું છે—(તે વર્ષધર પર્વત) પૂર્વ–પશ્ચિમમાં લાંબા છે ॥૨૩॥

'ते कणगरयणतवणिज्ज' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—આ પર્વતો ક્રમશઃ કનક–રત્ન–તપનીય–વૈડૂર્ય–રૂપ્ય–હેમમય આદિ છે ॥ ૨૪ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—જમ્બૂદ્વીપમાં સ્થિત ભરતવર્ષ આદિ સાત ક્ષેત્રોને વિભક્ત કરનારા ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર પર્વતોનું પૂર્વસૂત્રમાં પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું, હવે આ વર્ષધર પર્વતોના રંગ, આકાર, તેમની ઉપર બનેલાં પદ્મસરોવર વગેરે છ સરોવર, તેમની અન્દરના પુષ્કર આદિનો વિસ્તાર વગેરે બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

તે ક્ષુદ્રહિમવન્ત, મહાહિમવન્ત, નિષધ, નીલ, રૂકિમ અને શિખરી નામના છ વર્ષધર પર્વતો અનુક્રમથી કનક, રત્ન, તપનીય વૈડૂર્ય રૂપ્ય અને રત્નમય આદિ છે. (૧) ક્ષુદ્રહિમવન્ત પર્વત સ્વર્ણમય છે. ચીનપટ્ટના રંગવાળો છે. (૨) મહાહિમવન્ત પર્વત રત્નમયશુકલવર્ણનો છે (૩) નિષધ પર્વત તપનીયમય મધ્યાહ્નકાલીન સૂર્યના જેવા વર્ણનો છે (૪) નીલવાન્ પર્વત વૈડૂર્યમય–મોરની ડોક જેવો છે (૫) રૂકિમ પર્વત રજતમય–સફેદરંગનો છે અને (૬) શિખરી પર્વત હેમમય–ચીનપટ્ટના રંગનો છે.

કનક–રત્ન–તપનીય–વૈડૂર્ય–રૂપ્ય–હેમમયાઃ અહીં પ્રકૃતિના વિકાર અથવા અવયવ અર્થમાં મયટ્ પ્રત્યય થયો છે. સૂત્રમાં જે 'આદિ' પદનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે તેનાથી આટલુ પણ સમજી લેવું જોઈએ–તે પર્વતોના પાર્શ્વભાગ મણિઓથી ચિત્ર–વિચિત્ર છે અને તેમનો વિસ્તાર ઉપર, મધ્યમાં તથા મૂળમાં છે.

તે છ પર્વતોની ઉપર ક્રમશઃ પદ્મ, મહાપદ્મ તિગિચ્છ કેસરી, પુન્ડરિક અને મહાપુન્ડરિક નામના છ સરોવરો છે.

આ છએ સરોવરોનું તથા તેમાં સ્થિત પુષ્કરોના આયામ (લંબાઈ) વિષ્કંભ (વિસ્તાર) અને અવગાહ આ પ્રમાણે છે–પદ્મ નામક સરોવર એક હજાર યોજન લાંબુ છે, પાંચસો યોજન વિસ્તૃત છે અને દસ યોજન અવગાહ (ઊંડાઈ) વાળું છે. અવગાહનો અર્થ અહીં નિચાઈ લેવાનો છે જેને નિચલો પ્રદેશ પણ કહી શકીએ. મહાપદ્મ તથા તિગિચ્છ સરોવરોનો વિસ્તાર તથા આયામ ઉત્તરોત્તર દ્વિગુણિત છે. અવગાહ તો બધાના દસ યોજન જ છે. બધા સરોવરોની મધ્યમાં સ્થિત પુષ્કરોની લંબાઈ વિસ્તાર એક યોજન આદિ ક્રમથી ઉત્તરોત્તર વધતો થકો સમજવો જોઈએ.

અત્રે એ ધ્યાનમાં રાખવાનું છે કે પદ્મ આદિ સરોવર તથા તેમાં સ્થિત પુષ્કર દક્ષિણ દિશામાં બેગણાં છે અર્થાત્ પદ્મસરોવરથી મહાપદ્મસરોવર બમણા વિસ્તારની લંબાઈવાળો છે અને મહાપદ્મ સરોવરથી તિગિચ્છ સરોવર બમણી લંબાઈ વાળું છે. તેની પછીના ઉત્તર દિશાના ત્રણે સરોવરો તથા પુષ્કરો દક્ષિણજેવાં જ છે અર્થાત્ તિગિચ્છ સરોવરની બરાબર વિસ્તાર આદિવાળા કેસરી સરોવર, મહાપદ્મની બરાબર પુન્ડરિક સરોવર છે અને પદ્મ સરોવરની બરાબર મહાપુંડરિક સરોવર છે ॥૨૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ જમ્બૂદ્વીપમાં સ્થિત હિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર પર્વતોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી. હવે તે પર્વતોના વર્ણ તથા આકારનું તથા તેમાં જે સરોવર પુષ્કર વગેરે છે તેમનું તથા તેમના પુષ્કરોની લંબાઈ વિસ્તાર વગેરેની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

તે ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર કનક, રત્ન, તપનીય, વૈડૂર્ય, રૂપ્યમય અને હેમમય છે તે પૈકી હિમવન્ત પર્વત કનકમય હોવાના કારણે ચીનપટ્ટના વર્ણનો છે મહાહિમવન્ત રત્નમય હોવાના કારણે—શુકલવર્ણનો છે. નિષધ પર્વત તપનીયમય હોવાથી તરુણ સૂર્યના જેવા વર્ણવાળો છે નીલવાન્ પર્વત વૈડૂર્યમય હોવાથી મોરની ડોક જેવા વર્ણનો છે- રૂકિમ પર્વત રૂપ્યમય હોવાથી ચન્દ્રમા જેવા સફેદ વર્ણનો છે. શિખરી પર્વત હેમમય (સ્વર્ણમય) હોવાથી ચીન પટ્ટ (માટીનો) ઘડો) જેવા વર્ણનો છે.

'આદિ' શબ્દથી ક્રમશઃ તેમના વર્ણ આદિ સમજવા જોઈએ. આ છ વર્ષધર પર્વતોનું અર્થાત્ ક્ષુદ્રહિમવાન્, મહાહિમવાન્, નિષધ, નીલવંત, રૂક્મિ અને શિખરી ક્રમશઃ સ્વર્ણવર્ણ રત્નમય તપનીય વૈડૂર્ય, રજત અને હેમના રંગના છે. આ છએ પર્વતોનો પાર્શ્વભાગ મણિઓથી ચિત્ર-વિચિત્ર છે તથા તેમનો વિસ્તાર ઉપર અને નીચે બરાબર-બરાબર છે.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્રમાં ૭૨-૭૯-૮૩-૧૧૦ અને ૧૧૧ માં કહેવામાં આવ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપમાં ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત પૂર્ણરૂપથી સ્વર્ણમય છે, સ્વચ્છ છે, ચિકણો—અર્થાત્ અતિ સુન્દર છે. મહાહિમવાન્ પર્વત સર્વ રત્નમય છે, નિષધ સર્વ તપનીયમય છે, નીલવાન્ પર્વત સર્વવૈડૂર્યમય છે, રૂક્મિ પર્વત, સર્વરૂપ્યમય છે અને શિખરી પર્વત સર્વ રત્નમય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રનાં દ્વિતીય સ્થાન; ત્રીજા ઉદ્દેશક, ૮૭માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—'આ છ એ પર્વત આયામ, વિષ્કંભ, અવગાહ સંસ્થાન (આકાર) તથા પરિધિની અપેક્ષા તદ્દન સમાન છે. તેમનામાં કોઈ ભિન્નતા નથી, જુદાપણું નથી, પરસ્પરમાં વિરોધાભાસી નથી.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના સૂત્ર ૭૨માં કહ્યું છે—'આ પર્વત બંને બાજુએ બે પદ્મવર વેદિકાઓથી તથા બે વનખન્ડોથી ઘેરાયેલા છે.'

તે ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છએ વર્ષધર પર્વતોની ઉપર ક્રમથી છ મહાહ્રદ છે જેમના નામ આ પ્રમાણે છે—પદ્મહ્રદ મહાપદ્મહ્રદ—તિગિચ્છહ્રદ, કેસરીહ્રદ, પુંડરિકહ્રદ અને મહાપુન્ડરિકહ્રદ.

આમાથી પ્રથમ પદ્મહ્રદ એક હજાર યોજન લાંબો છે, પાંચસો યોજન પહોળો છે અને દસ યોજન અવગાહવાળો (ઉંચાઇ) છે.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમાં પદ્મહ્રદના પ્રકરણમાં કહ્યું છે—ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતના સમતલ ભાગની વચ્ચોવચ્ચ એક વિશાળ પદ્મહ્રદ નામનું સરોવર છે તે પૂર્વ-પશ્ચિમમાં લાંબું છે, ઉત્તરદક્ષિણમાં પહોળુ છે. તેની લંબાઈ એક હજાર યોજનની પહોળાઈ પાંચસો યોજનની અને ઊંડાઈ (નીચાઇ) દસ યોજનની છે તે સ્વચ્છ છે તે પદ્મહ્રદની મધ્યમાં એક યોજન લાંબુ અને પહોળું એક પુષ્કર નામનું કમળ છે.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્ર ૭૩ પદ્મહ્રદના પ્રકરણમાં કહ્યું છે— 'તે પદ્મહ્રદની બરાબર મધ્યભાગમાં એક વિશાળ પદ્મ કહેવામા આવ્યું છે. તે એક યોજન લાંબુ-પહોળું છે અડધો યોજન ઉંચું છે અને દસ યોજન ઊંડું છે પાણીથી બે ગાઉ ઉંચું છે તેનું સમગ્ર પરિમાણ થોડું વધારે દસ યોજનનું કહેવામાં આવ્યું છે.

પદ્મહ્રદનું જે પરિમાણ કહેવામાં આવ્યું છે તેની અપેક્ષા મહાપદ્મહ્રદનું અને મહાપદ્મહ્રદની અપેક્ષા તિગિચ્છહ્રદનું પરિમાણ બમણું-બમણું છે એવી જ રીતે તેમાં રહેલાં કમળોનું પરિમાણ પણ બમણુ-બમણુ છે, જે પરિમાણ દક્ષિણ દિશાના આ હ્રદો અને પુષ્કરોનું છે તે જ ઉત્તર દિશાના સરોવરો તથા કમળોનું છે. જેમકે તિગિચ્છની માફક

કેસરીહૃદનું મહાપદ્મની બરાબર પુંડરિકહૃદનું અને પદ્મહૃદની જેમ, મહાપુંડરિકહૃદનું પરિમાણ (આયામ વિષ્કંભ) છે. એમાં રહેલાં કમળોના વિષયમાં પણ આ મુજબ જ સમજવું.

આશય એ છે કે પદ્મહૃદની મધ્યમા સ્થિત પુષ્કરની અપેક્ષા મહાપદ્મહૃદમાં સ્થિત પુષ્કર બમણાં છે, મહાપદ્મહૃદના પુષ્કરની અપેક્ષા તિગિચ્છહૃદ પુષ્કર બમણાં છે ત્યારબાદ ઉત્તરમાં કેસરીહૃદના પુષ્કર તિગિચ્છહૃદના પુષ્કરની બરાબર, પુંડરિકહૃદના પુષ્કર મહાપદ્મહૃદના પુષ્કરની બરાબર અને મહાપુંડરિકહૃદના પુષ્કર પદ્મહૃદના પુષ્કર જેટલાં છે

અવગાહ બધા સરોવરોનો દસ યોજનનો જ છે. જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના મહાપદ્મહૃદના પ્રકરણમાં સૂત્ર ૮૦માં કહ્યું છે—મહાહિમવન્ત પર્વતની ઠીક વચ્ચોવચ્ચ એક મહાપદ્મહૃદ નામનું સરોવર છે તેની લંબાઈ બે હજાર યોજનની છે, અને પહોળાઈ એક હજાર યોજનની અને ઉંડાઈ દસ હજાર યોજનની કહેવામાં આવી છે. તે સ્વચ્છ છે તેના કાંઠાઓ રજતમય છે આ રીતે લંબાઈ-પહોળાઇને છોડીને બાકીનું વર્ણન પદ્મસરોવરની બરાબર સમજી લેવું. તેમાં રહેલા કમળોનુ પ્રમાણ બે યોજન છે અર્થાત્ મહાપદ્મસરોવરના વર્ણની માફક... તે કમળમાં એક પલ્યોપમની સ્થિતિવાળી હ્રી દેવી નિવાસ કરે છે.

પછીથી જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમાં છ હૃદોનાં પ્રકરણમાં સૂત્ર ૮૩થી ૧૧૦ સુધીમાં કહ્યું છે—તિગિચ્છ હૃદ નામક સરોવર છે જે ચાર હજાર યોજન લાબુ છે બે હજાર યોજન પહોળું છે અને દસ હજાર યોજન ઉંડું છે. અહીં ધૃતિ નામની દેવી નિવાસ કરે છે જેની સ્થિતિ એક પલ્યોપમની છે.

ઉત્તરોત્તર વિશાળ તે છ પુષ્કરોની કર્ણિકાના મધ્યભાગમાં બનેલા, શરદ્પૂર્ણિમાનાં ચન્દ્રમાની જ્યોત્સ્ના-કાન્તિને પણ ઝાખી પાડનાર, એક ગાઉ લાંબા, અર્ધા ગાઉના વિસ્તારવાળા તથા એક ગાઉથી થોડાક ઓછા ઉંચા એવા છ પ્રાસાદ (મહેલો) છે તે પ્રાસાદોમાં છ દેવિઓ નિવાસ કરે છે જેમના નામ આ પ્રકારે છે—શ્રી, હ્રી, ધૃતિ, કીર્તિ, બુદ્ધિ અને લક્ષ્મી. આ બધી દેવિઓની સ્થિતિ પલ્યોપમની છે અને તેઓ સામાનિક તથા પારિષદ્યોની સાથે ત્યાં નિવાસ કરે છે. તે પુષ્કરોનાં પરિવારરૂપ અન્ય પુષ્કરોમાં પ્રાસાદોની ઉપર તે દેવિઓના સામાનિક અને પારિષદ્ય દેવ નિવાસ કરે છે

સ્થાનાંગસૂત્રના છઠા સ્થાનમાં કહ્યું છે—ત્યાં છ મહાન ઋદ્ધિની ધારક યાવત્-પલ્યોપમની સ્થિતિવાળી દેવિઓ રહે છે તેઓના નામ આ પ્રમાણે છે—શ્રી, હ્રી, ધૃતિ, કીર્તિ, બુદ્ધિ અને લક્ષ્મી....યાવત્ શબ્દથી મહાન દ્યુતિવાળી, મહાયશવાળી, ઇત્યાદિ અર્થ સમજવો.

આ છ દેવિઓમાથી શ્રી, હ્રી અને ધૃતિ નામની ત્રણ દેવિઓ પોત-પોતાના પરિવાર સહિત સૌધર્મેન્દ્રની સાથે સમ્બન્ધ રાખે છે આથી તે ત્રણે સૌધર્મેન્દ્રની સેવામાં તત્પર રહે છે. કીર્તિ, બુદ્ધિ અને લક્ષ્મી નામની ત્રણ દેવિઓ ઇશાનેન્દ્રથી સમ્બદ્ધ છે આથી તેઓ ઇશાનેન્દ્રની સેવામાં ઉત્સુક રહે છે—

આ રીતે પાંચે મેરુપર્વતોની ઉત્તર અને દક્ષિણમાં જે છ-છ કુલપર્વતો છે તે દરેક ઉપર છ-છ દેવિઓ છે. આ રીતે બધી મળીને કુલ ૭ દેવિઓ હોય છે ॥૨૪॥

'तत्थ गंगाइया सत्त नदीओ' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—જમ્બૂદ્વીપમાં ગંગા આદિ સાત નદિઓ પૂર્વ દિશા તરફ વહે છે જ્યારે સિન્ધુ આદિ સાત નદિઓ પશ્ચિમ બાજુએ વહે છે ॥૨૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપની અંદર ભરત આદિ ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરનારા ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છ કુલપર્વતોના વર્ણ, સંસ્થાન, પદ્મહ્રદ આદિના સ્વરૂપનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું. હવે વિભિન્ન ક્ષેત્રોને વિભક્ત કરનારી ગંગા, સિન્ધુ આદિ ચૌદ નદિઓના સ્વરૂપનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવી રહ્યું છે—

જેનું સ્વરૂપ પહેલા કહેવામાં આવી ગયું છે તે જમ્બૂદ્વીપમાં ગંગા આદિ અર્થાત્ (૧) ગંગા (૨) રોહિતા (૩) હરિતા (૪) સીતા (૫) નરકાન્તા (૬) સુવર્ણકૂલા અને (૭) રક્તા આ સાત સરિતાઓ પૂર્વ ભણી વહે છે અને ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા વહેતી જતી પૂર્વ-લવણ સમુદ્રને ભેટે છે (ફરીવાર નહીં આવવાના આશયથી પતિ-સાગરના ઘરમાં પોતે પોતાને અર્પણ કરી દે છે.)

સિન્ધુ આદિ અર્થાત્ (૧) સિન્ધુ (૨) રોહિતાંશા (૩) હરિકાન્તા (૪) સીતોદા (૫) નારીકાન્તા (૬) રૂપ્યકૂલા (૭) રક્તવતી આ સાત નદિઓ પશ્ચિમ તરફ વહે છે અને પશ્ચિમ ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોમાં વહેતી જતી પશ્ચિમ લવણસમુદ્રને મળે છે.

ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોમાંથી પ્રત્યેક ક્ષેત્રમાં બે-બે નદિઓ વહે છે આથી એક જ સ્થળે બધી નદિઓનો વહેવાનો કોઇ પ્રસંગ નથી ॥૨૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ ભરતવર્ષ આદિ ક્ષેત્રોને જુદા-જુદા કરનારા ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ પર્વતોના સ્વરૂપ, વર્ણ, આકાર, લંબાઇ, વિસ્તાર, અવગાહ વગેરેનું તેમની ઉપર બનેલા પદ્મહ્રદ આદિ તથા પદ્મહ્રદ આદિના મધ્યમાં સ્થિત કમળો આદિનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે હવે પદ્મહ્રદ આદિથી નિકળેલી ગંગા આદિ ચૌદ મહાનદિઓના સ્વરૂપ આદિની પ્રરૂપણા કરવાના આશયથી કહીએ છીએ :—

જમ્બૂદ્વીપમાં ગંગા આદિ અર્થાત્ (૧) ગંગા (૨) રોહિતા (૩) હરિતા (૪) સીતા (૫) નરકાન્તા (૬) સુવર્ણકુલા અને (૭) રક્તા આ સાત મહાનદિઓ પૂર્વદિશા તરફ અભિમુખ થઈને ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં વહેતી વહેતી પૂર્વ લવણસમુદ્રમાં પ્રવેશ કરે છે-સિન્ધુ આદિ અર્થાત (૧) સિન્ધુ (૨) રોહિતાંશા (૩) હરિકાન્તા (૪) સીતોદા (૫) નારિકાન્તા (૬) રુપ્યકૂલા અને (૭) રક્તવતી આ સાત મહાનદિઓ પશ્ચિમની તરફ વહેતી વહેતી પશ્ચિમ લવણ સમુદ્રમાં પ્રવેશ કરે છે એક-એક ક્ષેત્રમાં બે-બે નદિઓ સમજવી જોઇએ. આ પૈકી ગંગા નદિ પદ્મહ્રદથી ઉત્પન્ન થાય છે અને પૂર્વ તોરણ દ્વારથી નીકળે છે. આ જ પદ્મહ્રદથી નિકળવાવાળી અને પશ્ચિમ તોરણદ્વારથી નીકળવાવાળી સિન્ધુ નદી છે આ જ પદ્મહ્રદના ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી રોહિતાંશા નદી નીકળે છે. રોહિતા નદી મહાપદ્મહ્રદથી ઉત્પન્ન થાય છે અને દક્ષિણના તોરણદ્વારથી નીકળે છે. મહાપદ્મહ્રદથી, ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી હરિકાન્તાનો ઉદ્ગમ થાય છે.

હરિતા નદી તિગિચ્છહ્રદથી દક્ષિણના તોરણદ્વારથી નીકળે છે સીતોદા નદી આ જ ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી નીકળે છે સીતા નામક નદી કેસરીહ્રદથી ઉત્પન્ન થઈ, દક્ષિણના તોરણદ્વારથી નીકળે છે. નરકાન્તા પણ કેસરીહ્રદથી નીકળે છે અને ઉત્તરીય તોરણદ્વારે થઈને વહે છે. નારીકાન્તા પુન્ડારિકહ્રદથી ઉદ્ભૂત થઇને દક્ષિણી તોરણદ્વારથી નીકળીને વહે છે આ જ હ્રદ (સરોવર)થી ઉદ્ભૂત થઈને ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી રૂપ્યકૂલા નદી વહે છે.

સૂવર્ણકુલા નદી મહાપુંડરિક હ્રદથી ઉદ્ભૂત થઇને દક્ષિણી તોરણદ્વારથી નીકળી વહે છે. રક્તા અને રકતોદા નામની નદીઓ પણ આ જ સરોવરમાંથી નીકળી છે અને તેઓ ક્રમશઃ પૂર્વ તોરણદ્વાર તથા પશ્ચિમ તોરણદ્વારે થઈને આગળ પ્રસ્થાન કરે છે.

સ્થાનાંગ સૂત્રના સાતમાં સ્થાનકમાં કહેવામાં આવ્યું છે—

જમ્બૂદ્વીપમાં સાત મહાનદિઓ પૂર્વની તરફ અભિમુખ થઇને લવણસમુદ્રમાં જઈને મળે છે આ સાત નદીઓના નામ આ પ્રમાણે છે-ગંગા રોહિતા, હરિતા સીતા નરકાંતા, સૂવર્ણકૂલા અને રકતા. જમ્બૂદ્વીપમાં સાત મહાનદિઓ પશ્ચિમ તરફ અભિમુખ થઇને લવણ સમુદ્રમાં મળે છે તેમના નામ આ પ્રમાણે છે-સિન્ધુ રોહિતાંશા હરિકાન્તા સીતોદા, નારીકાન્તા રૂપ્યકૂલા અને રકતવતી

પૂર્વોકત ચૌદ નદિઓમાંથી ગંગા, સિન્ધુ, રકતા અને રકતવતી નામક ચાર મહાનદિઓ ચૌદ-ચૌદ હજાર નદીઓની સાથે મળીને પૂર્વ અને પશ્ચિમના લવણ સમુદ્રમાં મળે છે. આમાંથી ગંગા અને રકતા નામક બે મહાનદીઓ પૂર્વ લવણ સમુદ્રમાં પ્રવેશ કરે છે. સિન્ધુ અને રકતવતી નામક બે મહાનદીઓ પશ્ચિમ લવણ સમુદ્રમાં પ્રવેશ કરે છે. ગંગા અને સિન્ધુ ભરતક્ષેત્રમાં વહે છે અને રકતા તથા રકતવતી ઐરવત ક્ષેત્રમા વહે છે.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના છઠાં વક્ષસ્કારના સૂત્ર. ૧૨૫માં કહ્યું છે-'જમ્બૂદ્વીપની અંદર ભરતવર્ષ અને ઐરવત વર્ષમાં કેટલી મહાનદીઓ કહેવામાં આવી છે.' ? ઉત્તર-ગૌતમ ચાર મહાનદીઓ કહેવામાં આવી છે તે આ પ્રકારે છે-ગંગા, સિન્ધુ, રકતા અને રકતવતી. આમાંથી પ્રત્યેક મહાનદી ચૌદ હજાર નદીઓથી યુકત થઈને પૂર્વ અને પશ્ચિમ લવણસમુદ્રમાં જઈને મળે છે. ॥૨૫॥

'**भरहवासस्स विक्खंभे**' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરતવર્ષનો વિસ્તાર પાંચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનના ઓગણીસ ભાગમાંથી છ ભાગ છે (૫૨૬ $\frac{6}{19}$) ॥૨૬॥

તત્વાર્થદીપિકાઃ—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપના ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં ગંગા આદિ જે મહાનદીઓ પ્રવાહિત થઈ રહી છે તેમના સ્વરૂપનું આપણે નિરૂપણ કરી ગયા હવે ભરતક્ષેત્રનો વિસ્તાર કહીએ છીએ-પાચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનના $\frac{6}{19}$ ભાગ છે ॥૨૬॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—આની પૂર્વના સૂત્રમાં ગંગા સિન્ધુ આદિ મહાનદીઓનું તથા ભરત આદિ ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરનારા હિમવન્ત આદિ વર્ષધર પર્વતોનું સ્વરૂપ બતાવવામાં આવ્યું છે. હવે ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

ભરતવર્ષ અર્થાત્ ભરતક્ષેત્રનો વિસ્તાર પાંચસો છવ્વીસ-યોજન અને એક યોજનના ઓગણીસમાં ભાગમાંથી છ ભાગ છે (૫૨૬ $\frac{6}{19}$)

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના બારમાં સૂત્રમાં કહેવામાં આવ્યું છે-'જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં ભરત નામક વર્ષ-ક્ષેત્ર છે...... તેનો-વિસ્તાર ૫૨૬ $\frac{6}{19}$ યોજન છે. આશય એ છે કે એક લાખ યોજન લાંબા-પહોળા જમ્બૂદ્વીપના ૫૨૬ $\frac{6}{19}$નો ભાગ ભરતક્ષેત્રનો વિસ્તાર છે ॥૨૬॥

'भरहदुगुणविक्खंभा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ:—ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી લઈને વિદેહક્ષેત્ર પર્યન્ત પર્વતો અને ક્ષેત્રોનો વિસ્તાર ઉત્તરોત્તર બમણો-બમણો છે ॥૨૭॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જમ્બૂદ્વીપના અન્તર્ગત ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું, હવે ચુલ્લ હિમવન્ત પર્વતથી વિદેહ ક્ષેત્ર સુધીના પર્વતો અને ક્ષેત્રોનો વિસ્તાર બતાવીએ છીએ—ભરતક્ષેત્રથી આગળના પર્વતો અને ક્ષેત્રોનો વિસ્તાર ઉત્તરોત્તર બમણો-બમણો છે ભરતક્ષેત્રથી આગળ ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત, પછી મહાહિમવાન્ પર્વત, ત્યારબાદ નિષધ પર્વત અને પછી મહાવિદેહ ક્ષેત્ર છે, આમાં પહેલા ત્રીજા અને પાંચમા સ્થાન ઉપર વર્ષધર પર્વત છે અને બીજા, ચોથા તથા છટ્ઠા સ્થાને ક્ષેત્ર છે આ વર્ષધર પર્વત અને વર્ષ ભરતવર્ષની અપેક્ષા બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા છે. જેમકે ઉપર ભરતક્ષેત્રનો જે વિસ્તાર કહ્યો છે તેનાથી બમણો વિસ્તાર ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતનો જાણવો, ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર હૈમવત ક્ષેત્રનો છે, હૈમવત ક્ષેત્રની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર મહાહિમવાન્ પર્વતનો છે, મહાહિમવાન્ પર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર હરિવર્ષનો છે, હરિવર્ષથી બમણો-વિસ્તાર નિષધ પર્વતનો છે અને નિષધ પર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર મહાવિદેહક્ષેત્રનો છે ॥૨૭॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્ત—આની અગાઉ જમ્બૂદ્વીપની અંદર સ્થિત ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હોઈ ચુલ્લ હિમવન્તથી લઈને વિદેહ સુધીના-વર્ષધર પર્વતો અને વર્ષોના વિસ્તારનું પરિમાણ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી લઇને વિદેહક્ષેત્ર પર્યન્ત જે વર્ષધર અને વર્ષ છે તેમનો વિસ્તાર ઉત્તરોત્તર બમણો-બમણો છે. આ વર્ષધર પર્વત આ પ્રમાણે છે-(૧) ચુલ્લહિમવન્ત (૨) હૈમવત વર્ષ (૩) મહાહિમવન્ત પર્વત (૪) હરિવર્ષ (૫) નિષધ પર્વત (૬) મહાવિદેહ ક્ષેત્ર આમાંથી ભરતક્ષેત્રના, પૂર્વલિખિત પરિમાણની અપેક્ષા ચુલ્લહિમવન્ત પર્વતનું પરિમાણ બમણું છે, ચુલ્લહિમવન્ત પર્વતની અપેક્ષા હૈમવતક્ષેત્રનું પરિમાણ બમણું છે હૈમવતક્ષેત્રના પરિમાણથી બમણું પરિમાણ મહાહિમવન્ત પર્વતનું છે—

મહાહિમવાન્ પર્વતના પરિમાણથી બમણો હરિવર્ષનો વિસ્તાર છે. હરિવર્ષથી બમણો નિષધપર્વતનો વિસ્તાર છે અને નિષધપર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર મહાવિદેહ વર્ષનો છે.

ભરતવર્ષનો વિસ્તાર, જેમકે આગળ (અગાઉ) કહેવામાં આવ્યો છે, પાંચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનનો $\frac{6}{19}$ ભાગ છે આનાથી બમણો એક હજાર બાવન યોજન તથા

$\frac{૧૨}{૧૯}$ ભાગ વિસ્તાર ચુલ્લહિમવાન્ પર્વતનો છે. આથી બમણો ૨૧૦૫$\frac{૫}{૧૯}$ યોજનનો વિસ્તાર હૈમવતવર્ષનો છે. મહાહિમવાન્ પર્વત ચાર હજાર બસોદસ યોજન અને દસનો ઓગણીસમો ભાગ છે (૪૨૧૦$\frac{૧૦}{૧૯}$ યોજન) હરિવર્ષનો વિસ્તાર ૮૪૨૧$\frac{૧}{૧૯}$ યોજન છે નિષધપર્વત ૧૬૮૪૨$\frac{૨}{૧૯}$ યોજન વિસ્તૃત છે મહાવિદેહક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૩૩૬૮૪$\frac{૪}{૧૯}$ યોજન છે

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્રમાં ક્ષુદ્રહિમવન્ત પર્વતના વર્ણનના પ્રકરણમાં કહ્યું છે–જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં ચુલ્લ (ક્ષુદ્ર) હિમવન્ત નામક વર્ષધર પર્વત કહેવામાં આવ્યો છે. આ વર્ષધર પર્વત પૂર્વ અને પશ્ચિમમાં લાંબો છે ઉત્તર દક્ષિણમાં પહોળો છે અને બંને બાજુ લવણ-સમુદ્રથી જોડાયેલો છે—તેનો પૂર્વ કિનારો પૂર્વ લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે. અને પશ્ચિ-મનો કિનારો પશ્ચિમના લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે તે એકસો યોજન ઉંચો છે પચ્ચીસ યોજનની અવગાહના વાળો છે. અને ૧૦૫૨ $\frac{૧૨}{૧૯}$ યોજન વિસ્તાર વાળો છે.

આગળ હૈમવતવર્ષના પ્રકરણમાં જમ્બૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિમાં જ કહેલ છે–જમ્બૂદ્વીપ નામના દ્વીપમાં હૈમવતનામનું વર્ષ કહેલ છે. તે પૂર્વથી પશ્ચિમમાં લાંબુ છે. અને ઉત્તર દક્ષિણમાં પહોળું છે. પલંગના આકારથી કહેલ છે. અને બન્ને બાજુથી લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે. તે પોતાના પૂર્વિય કિનારાથી પૂર્વ સમુદ્રને અને પશ્ચિમ કિનારેથી પશ્ચિમના સમુદ્રનો સ્પર્શ કરે છે, તેનો વિસ્તાર ૨૧૦૫ $\frac{૫}{૧૯}$ યોજનનો છે તે પછી ત્યાજ મહાહિમવન્તના પ્રકરણમાં કહેલુ છે—જમ્બૂદ્વીપ નામના દ્વીપમા મહાહિમવન્ત નામનો વર્ષધર પર્વત કહેલ છે તે પૂર્વ પશ્ચિમમાં લાંબો ઉત્તર દક્ષિણમાં પહોળો છે, અને બન્ને લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે. તેનો પૂર્વભાગ પૂર્વલવણ સમુદ્રને અને પશ્ચિમ ભાગ પશ્ચિમ લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે. તે બસ્સો યોજન ઉંચો છે. અને પચાસ યોજનની અવગાહના વાળો છે અને તેનો વિસ્તાર ૪૨૧૦ $\frac{૧૦}{૧૯}$ યોજન છે

ફરી હરિવર્ષના વિષયમાં જમ્બૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિમાં કહેલ છે કે—જમ્બૂદ્વીપ નામના દ્વીપમાં હરિવર્ષ નામનું ક્ષેત્ર કહેલ છે. તે પૂર્વ–પશ્ચિમમાં લાંબુ, ઉત્તર–દક્ષિણમાં પહોળુ અને બંને બાજુએ લવણસમુદ્રમાં પ્રવિષ્ટ છે પોતાના પૂર્વીય છેડાથી પૂર્વ લવણસમુદ્રથી અને પશ્ચિમી છેડાથી પશ્ચિમ લવણસમુદ્રથી સ્પર્શેલ છે તેનો વિસ્તાર ૮૪૨૧$\frac{૧}{૧૯}$ યોજનનો છે.

ત્યારબાદ ત્યાં જ જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમાં નિષધપર્વતના વિષયમા કહ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક વર્ષધર પર્વત કહેલો છે. તે પૂર્વ–પશ્ચિમમાં લાંબો, ઉત્તર–દક્ષિણમા પહોળો અને બંને તરફ લવણ સમુદ્રથી સ્પર્શેલો છે. તેનો પૂર્વ તરફનો છેડો પૂર્વ લવણસમુદ્રને અને પશ્ચિમ છેડો પશ્ચિમ લવણસમુદ્રને સ્પર્શેલો છે તે ચારસો યોજન ઉચો છે તેની ઉંડાઇ ચારસો ગવ્યૂતિની છે અને વિસ્તાર ૧૬૮૪૨$\frac{૨}{૧૯}$ યોજનનો છે.

પછી જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમાં જ મહાવિદેહના વિષયમા કહ્યું છે—'જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં મહાવિદેહ નામક વર્ષ છે તે પૂર્વ–પશ્ચિમમા લાબુ, ઉત્તર–દક્ષિણમા પહોળુ, પલંગના

આકારનું લંબ-ચોરસ અને બંને બાજુ લવણસમુદ્રથી સ્પર્શાયેલ છે. તેનો પૂર્વી કિનારો પૂર્વના લવણ સમુદ્રથી અને પશ્ચિમી કિનારો પશ્ચિમી લવણસમુદ્રથી સ્પૃષ્ટ છે. તેનો વિસ્તાર ૩૩૬૮૪$\frac{૪}{૧૯}$ યોજનનો છે ॥૨૭॥

'उत्तरा वासाहरवासा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ઉત્તર દિશાના વર્ષધર પર્વત અને વર્ષ અર્થાત્ ક્ષેત્ર દક્ષિણ દિશાના જ વિષ્કમ્ભની માફક છે ॥૨૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી મહાવિદેહ ક્ષેત્ર સુધીના ક્ષેત્રો અને પર્વતોનો વિસ્તાર બતાવવામાં આવ્યો, હવે નીલ, રૂકિમ અને શિખરી નામક પર્વતોનાં તથા રમ્યક્ હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રોનાં વિસ્તારનું પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

ઉત્તર દિશામાં સ્થિત નીલ પર્વત રમ્યક્ ક્ષેત્ર, રૂકિમપર્વત, હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર, શિખરી-પર્વત અને ઐરવત ક્ષેત્ર આ છ ક્ષેત્ર અને પર્વત વિસ્તારમાં દક્ષિણ દિશાના ક્ષુદ્રહિમવાન્ આદિ પર્વતો અને ક્ષેત્રોની બરાબર જ સમજવા જોઈએ.

આ પૈકી નીલ નામક વર્ષધર પર્વત નિષધ પર્વતની બરાબર છે રમ્યક્ ક્ષેત્ર હરિવર્ષ ક્ષેત્રની બરાબર છે અને રૂકિમ નામક વર્ષધર પર્વત મહાહિમવાન્ પર્વત જેટલા વિસ્તા-વાળા છે—

હૈરણ્યવત વર્ષ હૈમન્ત ક્ષેત્રની બરાબર છે અને શિખરી નામક પર્વતનો વિસ્તાર ક્ષુદ્ર-હિમવાન્ પર્વતની બરાબર છે. ઐરવત ક્ષેત્ર ભરતક્ષેત્રની બરાબર વિસ્તારવાળો છે—

આ પ્રકારે જેટલો વિસ્તારભરતક્ષેત્રનો છે. તેટલો જ વિસ્તાર ઐરવતક્ષેત્રનો પણ સમજવો જોઈએ. ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ વિસ્તાર શિખરી પર્વતનો છે. હૈમવત ક્ષેત્રનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ વિસ્તાર હૈરણ્યવત ક્ષેત્રનો છે મહાહિમવાન્ પર્વતનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ રમ્યક ક્ષેત્રનો વિસ્તાર છે નિષધ પર્વતનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ નીલ પર્વનો વિસ્તાર સમજવો એવી જ રીતે શિખરી પર્વત આદિની ઉપર હૃદો અને પુષ્કરો આદિના વિસ્તારની બરાબર સમજવા જોઈએ ॥૨૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રોમાં ક્ષુદ્રહિમવાન્ આદિ નીલ પર્વતોનું તથા ભરત ક્ષેત્ર આદિ ક્ષેત્રોના વિસ્તારની અનુક્રમથી પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે નીલ રૂકિમ તથા શિખરી નામક ત્રણ વર્ષધર પર્વતોનું તથા રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત નામક ત્રણ ક્ષેત્રોના વિસ્તારની પ્રરૂપણા કરીએછીએ—

ઉત્તર દિશામાં અવસ્થિત નીલ વગેરે ત્રણ વર્ષધર પર્વત ઐરવત આદિ ત્રણ ક્ષેત્રો એ રીતે છએ વર્ષધર અને વર્ષ દક્ષિણદિશાના પર્વતો અને ક્ષેત્રોના સમાન વિસ્તારવાળા છે તેમાંથી ઐરવત ક્ષેત્ર ભરત ક્ષેત્રની બરાબર વિસ્તારવાળો છે શિખરી પર્વત ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતની બરાબર વિસ્તારવાળો છે હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર હૈમવત ક્ષેત્રના સમાન વિસ્તારવાળો છે અને રૂકિમ પર્વત મહાહિમવાન્ પર્વતની બરાબર વિસ્તારવાળો છે. રમ્યક ક્ષેત્ર હરિવર્ષની બરાબર વિસ્તારવાળું છે અને નીલ પર્વત નિષધ પર્વતની બરાબર વિસ્તારવાળો છે.

આ રીતે ઐરવત ક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૫૨૬ ૧/૧૯ યોજનનો છે, શિખરી પર્વતનો વિસ્તાર ૧૦૫૨ ૧૨/૧૯ યોજનનો છે, હૈરણ્યવત ક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૨૧૦૫ ૫/૧૯ યોજનનો છે રૂક્મિ પર્વત ....૪૨૧૦ ૧૦/૧૯ યોજન વિસ્તૃત છે અને રમ્યક ક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૮૪૨૧ ૧/૧૯ યોજનનો છે. નીલપર્વતનો વિસ્તાર ૧૬૮૪૨ ૨/૧૯ યોજનનો છે.

આ જ રીતે નીલ પર્વતની ઉપર જે કેસરી નામનું સરોવર છે તેનો વિસ્તાર બે હજાર યોજનનો છે. કેસરી સરોવરમાં ચાર યોજનની લંબાઈ–પહોળાઈવાળું એક પુષ્કર શોભાયમાન છે. રૂક્મિ નામક પર્વતની ઉપર પુંડરીક સરોવર છે જે તેનાથી અડધા વિસ્તાર વાળું છે, વિશાળ છે અને દશ યોજનની ઊંડાઈવાળું છે. પુંડરીક સરોવરની મધ્યભાગમાં પૂર્વોક્ત પુષ્કરની અપેક્ષાથી અડધો લાંબો–પહોળો એક પુષ્કર છે એવી જ રીતે શિખરી પર્વત ઉપર મહાપુંડરીક નામનું સરોવર છે જેનો વિસ્તાર તેનાથી પણ અડધો છે અને અવગાહ દશ યોજનનું છે.

આવી રીતે તેંત્રીસ હજાર છસો ચોરાસી યોજન તથા ચાર ઓગણીશ અંશ મહાવિદેહક્ષેત્રનો વિસ્તાર છે તેનાથી અડધો વિસ્તાર રમ્યક વર્ષનો છે, રમ્યક વર્ષથી અડધો વિસ્તાર રૂક્મિ પર્વતનો છે, રૂક્મિ પર્વતથી અડધો વિસ્તાર હૈરણ્યવત વર્ષનો છે, હૈરણ્યવત વર્ષથી અડધો વિસ્તાર શિખરી પર્વતનો છે અને શિખરી પર્વતથી અડધો વિસ્તાર ઐરવત વર્ષનો છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશકના ૮૭માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપના મન્દર પર્વતથી ઉત્તર અને દક્ષિણમાં બે વર્ષધર પર્વત તદ્દન સરખાં છે તેમનામાં કોઈ વિશેષતા નથી, જુદાંપણું નથી, તેઓ લંબાઈ, પહોળાઈ ઉંચાઈ, અવગાહ આકૃતિ અને પરિધિથી એક બીજાથી ભિન્ન પ્રકારના નથી તે બે પર્વતોના નામ છે—ચુલ્લ હિમવન્ત અને શિખરી આવી જ રીતે મહાહિમવન્ત અને રૂક્મિ પર્વત તથા નિષધ અને નીલવન્ત પર્વત વગેરે ... .॥ ૨૮॥

'भरहेरवएसु छस्समयाहिं' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાં ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓમાં મનુષ્યોના આયુષ્ય વગેરેની વૃદ્ધિ–હાનિ થતી રહે છે બાકીના ક્ષેત્રોમાં વધ–ઘટ થતી નથી ॥ ૨૯ ॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા—આનાથી પહેલાં ભરત આદિ ક્ષેત્રોનું તથા ચુલ્લહિમવન્ત આદિ વર્ષધર પર્વતોના આયામ, વિષ્કંભ આદિનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે તે ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં નિવાસ કરનારા મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય શરીરપ્રમાણ આદિની વૃદ્ધિ તથા હ્રાસની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરતથી લઈને ઐરવત સુધી સાત ક્ષેત્રોમાંથી ભરત અને ઐરવત આ બે ક્ષેત્રોમાં છ આરાવાળા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમાં મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય, શરીરના અવગાહ આદિમાં વૃદ્ધિ અને હાનિ થતી રહે છે. અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓ છે (૧) સુષમસુષમ (૨) સુષમ (૩) સુષમદુષ્ષમ (૪) દુષ્ષમસુષમ (૫) દુષ્ષમ અને (૬)

દુષ્ષમ–દુષ્ષમ ઉત્સર્પિણી કાળના આરાઓના પણ આ જ નામ છે પરન્તુ તેમના નામ વિપરીત હોય છે જેમકે દુષ્ષમ–દુષ્ષમ, દુષ્ષમ વગેરે.

ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાં જ આ વૃદ્ધિ તથા ઘટાડો થાય છે. આ બે ક્ષેત્રો સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ રમ્યક હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોનુ આયુષ્ય વગેરે જેમને તેમ જ રહે છ અર્થાત્ તેમા વધારો અથવા ઘટાડો થતો નથી. તાત્પર્ય એ છે કે હૈમવન્ત આદિ ક્ષેત્રોમા ન તો ઉત્સર્પિણી–અવસર્પિણી રૂપ કાળના વિભાગ હોય છે અથવા ન તો મનુષ્યોના આયુષ્ય ઉંચાઈ વગેરેમાં ફેરફાર થાય છે ત્યા સદા એક સરખો જ કાળ રહે છે આથી કાળની વિષમતાના કારણે આયુષ્ય અવગાહના આદિમાં થનારી વિષમતા ત્યાં નથી ા ૨૯ ા

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા જમ્બૂદ્વીપની અંદર સ્થિત ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે તે ક્ષેત્રોમાં નિવાસ કરનારા મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય, શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમાં સમાનતા હોય છે, અથવા કોઈ પ્રકારની વિશેષતા થતી રહે છે ! એવી આશંકાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરત, હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાંથી ભરત અને ઐરવત નામક ક્ષેત્રોમાં ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમાં મનુષ્યોના ભોગ, ઉપભોગ, આયુષ્ય અને શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમાં વૃદ્ધિ તથા હ્રાસ થતો રહે છે આ ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમાંથી પ્રત્યેકમા છ સમય હોય છે જેને 'આરા' પણ કહેવામાં આવે છે અવસર્પિણી કાળમાં છ આરા આ પ્રકારના હોય છે—(૧) સુષમા સુષમા (૨) સુષમ (૩) સુષમ–દુષ્ષમા (૪) દુષ્ષમસુષમાં (૫) દુષ્ષમા અને (૬) દુષ્ષમ દુષ્ષમ અવસર્પિણી કાળના આ છ આરાઓની સમાપ્તિ પછી ઉત્સર્પિણી કાળનો આરંભ થાય છે જેનો પ્રથમ આરો દુષ્ષમ દુષ્ષમા અને અન્તિમ સુષમસુષમા હોય છે અર્થાત્ અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓથી ઉત્સર્પિણી કાળના આરા એકદમ ઉલ્ટા ક્રમથી હોય છે ઉત્સર્પિણી કાળમાં આયુષ્ય, ઉચાઈ વગેરેમા ક્રમશઃ વૃદ્ધિ થતી રહે છે અને અવસર્પિણી કાળમા અનુક્રમથી હ્રાસ થાય છે.

આ વિષમતા માત્ર ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાં જ હોય છે આ બંને ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યો આદિના ઉપભોગમાં, આયુષ્યમાં તથા શરીરના પ્રમાણ આદિમાં હમેશાં સમાનતા હોતી નથી પરન્તુ ઉત્સર્પિણીકાળમા વૃદ્ધિ અને અવસર્પિણીકાળમાં હ્રાસ થાય છે આનું કારણ એ છે કે આ બંને ક્ષેત્રોમા જ ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી કાળના ભેદ છે.

ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રો સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યક અને હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળ હોતાં નથી. આ કાળભેદ ન હોવાથી મનુષ્યો આદિના આયુષ્ય, અવગાહના આદિમા પણ ભેદ હોતો નથી આયુષ્ય આદિમાં જે વિષમતા હોય છે તેનુ કારણ કાલકૃત વિષમતા છે. કાળને વિષમતાના અભાવમાં તજ્જનિત આયુષ્ય અવગાહના આદિની વિષમતા પણ હોતી નથી.

અનુભાવનો અર્થ છે ભોગ અને ઉપભોગ, આયુષ્યથી તાત્પર્ય છે જીવન અથવા જીવિત રહેવાનું કાળમાન અને પ્રમાણનો અર્થ છે શરીરની ઉંચાઈ આ બધામાં વૃદ્ધિ અને હ્રાસ થતાં રહે છે.

ઉત્સર્પિણીના છ વિભાગ હોય છે તે આ રીતે છે—(૧) દુષ્ષમદુષ્ષમા (૨) દુષ્ષમા (૩) દુષ્ષમસુષમા (૪) સુષમદુષ્ષમા (૫) સુષમા અને (૬) સુષમ સુષમા આનાથી વિપરીત ક્રમવાળો અવસર્પિણીકાળ છે જેમકે—(૧) સુષમ સુષમા (૨) સુષમા (૩) સુષમ દુષ્ષમા (૪) દુષ્ષમ સુષમા (૫) દુષ્ષમા અને (૬) દુષ્ષમદુષ્ષમા.

અમાંથી ઉત્સર્પિણીકાળનુ પ્રમાણ દસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનું છે અને અવસર્પિણી કાળનાં પ્રમાણ પણ દશ ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનું જ છે. બંને નો સમય વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે આને એક કાળચક્ર કહે છે આમાંથી સુષમસુષમાં આરો ચાર ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમના હોય છે. આ આરાની આદિમાં મનુષ્ય હવે પછી કહેવામા આવનાર ઉત્તર કુરુક્ષેત્રના મનુષ્યોની માફક ત્રણ ગાઉના અવગાહવાળા હોય છે. પછી અવસર્પિણી કાળના પ્રભાવથી ક્રમશઃ હ્રાસ થતા–થતા ચાર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ સમાપ્ત થયા પર સુષમાકાળ આરંભ થાય છે.

સુષમાકાળ ત્રણ ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનો છે. આની શરૂઆતમાં મનુષ્ય હરિવર્ષ ક્ષેત્રના મનુષ્યોની માફક બે ગાઉની અવગાહનાવાળા હોય છે. ત્યારબાદ ક્રમશઃ હ્રાસ થતા–થતા ઉક્ત કાળ પુરો થઈ જવાથી સુષમદુષમા કાળ આરંભ થાય છે તેનું કાળમાન બે ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનું છે. તેના પ્રારંભમા મનુષ્ય હૈમવત વર્ષના મનુષ્યોની માફક એક ગાઉની અવગાહનાવાળા હોય છે. ત્યારબાદ અનુક્રમથી હ્રાસ થતા–થતા દુષ્ષમસુષમા કાળ પ્રારંભ થાય છે. આ કાળની શરૂઆતમા મનુષ્ય મહાવિદેહ ક્ષેત્રના મનુષ્યોની સમાન પાંચસો ધનુષ્યની–અવગાહનાવાળા હોય છે. ત્યારબાદ હાનિ થતા–થતા ઉક્ત સમય પૂર્ણ થઈ જવાથી પાંચમો આરો દુષ્ષમા આરંભ થાય છે તેની કાળમર્યાદા એકવીસ હજાર વર્ષની છે તેની શરૂઆતમાં મનુષ્યોના શરીરની ઉંચાઈ સાત હાથની અને આયુષ્ય સવાસો વર્ષનું હોય છે અનુક્રમથી તે આરો સમાપ્ત થઈ જાય છે અને દુષ્ષમ–દુષ્ષમ નામનો છટ્ઠો આરો શરૂ થાય છે તે પણ એકવીસ હજાર વર્ષનો હોય છે તેમાં મનુષ્યોની અવગાહના એક હાથની અને આયુષ્ય વીસ વર્ષનું રહી જાય છે.

ઉત્સર્પિણી કાળ પણ આ પ્રકારે સમજવો જોઈએ પરન્તુ તેના આરાઓનો ક્રમ વિપરીત હોય છે. પ્રથમ આરો એકવીસ–હજાર વર્ષનો હોય છે તેનું નામ દુષ્ષમદુષ્ષમ છે તેની પછી ઉત્સર્પિણીનો બીજો આરો દુષ્ષમ આવે છે તેનુ કાળપ્રમાણ પણ એકવીસ હજાર વર્ષ છે. ત્યારબાદ દુષ્ષમસુષમ નામક ત્રીજો આરો ચાલુ થાય છે જે બેંતાળીશ હજાર વર્ષ ઓછા એક ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનો હોય છે તેની પછી ચોથો આરો બે ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનો આવે છે જેનું નામ સુષમદુષ્ષમ છે પછી પાચમો સુષમા નામક ત્રણ ક્રોડાકોડી સાગરોપમનો આરો આવે છે. અંતમા સુષમા સુષમ નામનો છઠો આરો આવે છે જે ચાર ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનો હોય છે.

ઉત્સર્પિણી કાળના પ્રથમ આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્યોનું આયુષ્ય સોળ વર્ષનું હોય છે અને તેમનુ શરીર એક હાથનું હોય છે. ઉત્સર્પિણીના બીજા આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્યોનું આયુષ્ય વીસ વર્ષનુ અને શરીરનું પ્રમાણ સાડા ત્રણ હાથનું હોય છે. ઉત્સર્પિણી

કાળના ત્રીજા આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્ય એકસોવીસ વર્ષની આયુષ્યવાળા અને સાત હાથ ઉંચા શરીરવાળા હોય છે. ઉત્સર્પિણીના ચોથા આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્ય કરોડ પૂર્વની આયુષ્ય અને પાંચસો ધનુષ્યની શરીરની અવગાહનાવાળા હોય છે.

ઉત્સર્પિણીના પાંચમાં આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્યોનું આયુષ્ય એક પલ્યોપમનું અને શરીરની ઉંચાઈ એક ગાઉની હોય છે. ઉત્સર્પિણીકાળના છઠ્ઠા આરાની શરૂઆતમાં બે પલ્યોપમનું આયુષ્ય હોય છે અને બે ગાઉનું શરીર હોય છે આ છઠ્ઠા આરાના અન્તમાં મનુષ્યોનું આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમનું અને શરીરની ઉંચાઈ ત્રણ ગાઉની હોય છે. ઉત્સર્પિણીકાળના ચોથા પાંચમા અને છઠ્ઠા આરામાં એક પ્રકારની પણ ઈતિ હોતી નથી. મનુષ્ય બધાં પ્રકારના ઉપદ્રવોથી રહિત હોય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના દ્વિતીય સ્થાનના સૂત્ર ૮૯માં કહ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં બંને કુરુક્ષેત્રોમાં અર્થાત્ દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુમાં મનુષ્ય સુષમસુષમા રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો ઉપભોગ કરતા થકાં વિહાર કરે છે. જમ્બૂદ્વીપના બે વર્ષોમાં અર્થાત્ હરિવર્ષ અને રમ્યક વર્ષમાં મનુષ્ય સદા સુષમા રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો ઉપભોગ કરતા થકા રહે છે. જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા બે વર્ષોમાં અર્થાત્ હૈમવત્ અને હૈરણ્યવત નામક ક્ષેત્રોમાં મનુષ્ય સદા સુષમદુષ્ષમ રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો ઉપભોગ કરતા રહે છે જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં બે ક્ષેત્રોમાં અર્થાત્ પૂર્વવિદેહ અને અપર વિદેહમાં મનુષ્ય સદૈવ દુષ્ષમસુષમ રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો પરિભોગ કરતા થકાં વિચરે છે.

જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં બે ક્ષેત્રોમાં મનુષ્ય છ પ્રકારના કાળનો અનુભવ કરે છે આ બે ક્ષેત્ર છે—ભરત અને ઐરવત

ભગવતીસૂત્રના પાંચમાં શતકમા પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં પણ કહ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં સુમેરૂ પર્વતથી પૂર્વ અને પશ્ચિમમાં ન તો ઉત્સર્પિણીકાળ હોય છે કે નથી અવસર્પિણીકાળ. ત્યાં કાળ સદૈવ અવસ્થિત અર્થાત્ એક સરખો રહે છે ॥ ૨૯ ॥

हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—હૈમવત ક્ષેત્રથી લઈને ઉત્તરકુરુ સુધી દક્ષિણ અને ઉત્તરમાં મનુષ્ય એક, બે, ત્રણ પલ્પોયમની સ્થિતિવાળા તથા બંને વિદેહ ક્ષેત્રોમાં સંખ્યાત કાળના આયુષ્યવાળા હોય છે ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ કહેવામાં આવ્યું છે કે ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણીકાળના નિમિત્તથી ભરત અને ઐરવતક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોનાં ઉપભોગ, આયુષ્ય તથા શરીરની અવગાહના આદિમા વૃદ્ધિ, અને હ્રાસ થતાં રહે છે. હવે હૈમવત હરિવર્ષ રમ્યકવર્ષ હૈરણ્વત, દેવકુરુ ઉત્તરકુરુ તથા પૂર્વવિદેહ અને પશ્ચિમ વિદેહમાં મનુષ્યની સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

હૈમવતથી લઈને ઉત્તરકુરુ પર્યન્ત અર્થાત્ હૈમવત, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ,—હૈરણ્યવત દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોમાં યથાક્રમથી મનુષ્ય એક, બે અને ત્રણ પલ્પોપમની આયુષ્ય-

વાળા હોય છે હૈમવત અને હૈરણ્વત ક્ષેત્રમાં મનુષ્યોનુ આયુષ્ય એક પલ્પોપમનું હોય છે હરિવર્ષ અને રમ્યકવર્ષમાં મનુષ્ય ત્રણ પલ્પોપમની આયુષ્યવાળા હોય છે પરંતુ મહાવિદેહક્ષેત્રમાં પૂર્વવિદેહક્ષેત્રમાં અને અપરવિદેહક્ષેત્રમા સંખ્યાત કાળની સ્થિતિવાળા હોય છે ॥ ૩૦ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આનાથી પહેલાં ભરત તથા ઐરવતમાં ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી કાળવિશેષ નિમિત્તક મનુષ્યોના ઉપભોગ આયુષ્ય, શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમાં વૃદ્ધિ–તથા હ્રાસ થતો નથી એ પ્રરૂપિત કર્યું છે.

હવે પાંચ ક્ષેત્રોમાં અને દેવકુરુ ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોમાં કેવળ મનુષ્યોનું ન્યૂનાધિકત્વરૂપ વિશેષ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

हिमवयाइ' ઈત્યાદિ હૈમવતથી લઈને ઉત્તરકુરુ સુધીના અર્થાત્ હૈમવત–હરિવર્ષ–રમ્યકવર્ષ હૈરણ્યવત દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુના દક્ષિણ ઉત્તરક્ષેત્રોમા મનુષ્ય ક્રમથી એક બે ત્રણ પલ્યોપમની સ્થિતિવાળા હોય છે.

તેમા હૈમવત ક્ષેત્રમા હૈરણ્યવત ક્ષેત્રમાં દક્ષિણોત્તર ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોનું આયુષ્ય એક પલ્યોપમનું હોય છે. હરિવર્ષ અને રમ્યકવર્ષમાં બે પલ્યોપમનું આયુષ્ય હોય છે જ્યારે દેવકુરુ તથા ઉત્તરકુરુમાં ત્રણ પલ્યોપમનું આયુષ્ય હોય છે.

પાંચ હૈમવત અને પાંચ હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમાં હમેશાં સુષમદુષ્ષમ જેવો કાળ પ્રવર્તતો હોવાથી ત્યાંના મનુષ્યો એક પલ્યોપમના આયુષ્યવાળા, બે હજાર ધનુષની અવગાહનાવાળા, ચતુર્થ ભત્તાહારી અર્થાત્ એકાન્તરથી ભોજન કરવાવાળા તથા નીલકમળની જેવા વર્ણવાળા હોય છે.

એવી જ રીતે પાંચ હરિવર્ષ તથા પાંચ રમ્યકવર્ષ ક્ષેત્રોમા સદા સુષમા જેવો કાળ રહેતો હોવાથી ત્યાંના–મનુષ્યોનુ આયુષ્ય બે પલ્યોપમનું હોય છે, શરીરની અવગાહના ચાર હજાર ધનુષ્યની હોય છે અને તેઓ ષષ્ઠ ભત્તાહારી હોય છે અર્થાત્ બે દિવસના આંતરે ભોજન કરે છે. તેમનો વર્ણ શંખ જેવો હોય છે.

પાંચ દેવકુરુ અને પાંચ ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોમાં સુષમાસુષમા માફક સદૈવ રહેવાથી ત્યાના મનુષ્યોનું આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમનું હોય છે, અવગાહના છ હજાર ધનુષ્યની હોય છે અને તેઓ અષ્ટમભત્ત—ભોજી આકર્ષ હોય છે—અર્થાત્ ત્રણ ત્રણ દિવસના આતરે ભોજન કરે છે તેમના શરીરનો રંગ સોના જેવો હોય છે પરંતુ પાચ પૂર્વવિદેહી અને પાંચ પશ્ચિમવિદેહોમાં મનુષ્ય સંખ્યાત કાળના આયુષ્યવાળા હોય છે ત્યા સદા દુષ્ષમ–સુષમકાળના પ્રારંભ વખતે હોય છે તેવો કાળ બન્યો રહે છે આથી ત્યાંના મનુષ્યોની ઉંચાઈ પાંચસો ધનુષ્યોની હોય છે, તેઓ દરરોજ ભોજન કરે છે અને તેમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક કરોડ પૂર્વની તથા જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મૂહૂર્ત્તની હોય છે.

જે ક્ષેત્રમાં મુનિઓનો દેહ વિગત–વિનષ્ટ થાય છે. અર્થાત્ જ્યાં સદૈવ ધર્મ–શાસનની પ્રવૃત્તિ રહેવાથી તથા તીર્થંકરોની વિદ્યમાનતા હોવાથી મુનિજન વિદેહ–અવસ્થા પ્રાપ્ત કરે છે, તે ક્ષેત્ર પણ વિદેહ કહેવાય છે. જો કે મધ્યમાં મેરૂ પર્વત આવેલો હોવાથી વિદેહ

હોવાથી ક્ષેત્ર પૂર્વ અપર આદિ ભાગોમાં વિભક્ત છે તેમ છતાં સામાન્ય રૂપથી એક જ છે જમ્બૂદ્વીપમાં એક ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમાં બે તથા પુષ્કરાર્ધમા બે વિદેહ હોવાના કારણે પંચમહાવિદેહ ક્ષેત્ર કહેવામા આવે છે.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના ચોથા વક્ષસ્કારમાં કહેવામાં આવ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં મન્દર પર્વતથી ઉત્તર તથા દક્ષિણ દિશામાં બે વર્ષ કહેવામા આવ્યા છે—હૈમવન્ત અને હૈરણ્યવત હરિવર્ષ અને રમ્યકવર્ષ દેવકુરૂ અને ઉત્તરકુરુ તેમાં એક પલ્યોપમની સ્થિતિ કહેલી છે, બે પલ્યોપમની સ્થિતિ તથા ત્રણ પલ્યોપમની સ્થિતિ કહી છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મહાવિદેહમાં મનુષ્યોની કેટલી સ્થિતિ કહી છે ?

ઉત્તર—ગૌત્તમ ! જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્ત પ્રમાણ અને ઉત્કૃષ્ટ કરોડ પૂર્વનું—આયુષ્ય કહેલું છે ॥ ૩૦ ॥

'धायइसंडे पुक्खरद्धेय दो दो वासकुराय'

સૂત્રાર્થ—ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમાં બે–બે વર્ષ અને બે–બે કુરુ છે ॥ ૩૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જમ્બૂદ્વીપમાં ભરત, હૈમવત હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યકવર્ષ, હૈરણ્યવત અને ઐરવતવર્ષ એ સાત વર્ષોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે હવે એ નિરૂપણ કરીએ છીએ કે ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્થમાં ભરત આદિ ક્ષેત્ર બે–બે–છે—

ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમાં તથા પુષ્કરાર્ધદ્વીપમાં ભરત આદિ પ્રત્યેક ક્ષેત્ર બે–બે છે આથી ત્યાં સાતને બદલે ચૌદ–ચૌદ ક્ષેત્ર હોય છે. કુરુ મહાવિદેહોમાં જ હોય છે આથી જમ્બૂદ્વીપના દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ સિવાયના ચાર દેવકુરુ અને ચાર ઉત્તરકુરુ ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમાં છે આ રીતે જમ્બૂદ્વીપમાં ભરત આદિ ક્ષેત્ર એક–એક છે ધાતકીખણ્ડમાં બબ્બે છે જ્યારે પુષ્કરાર્ધમાં પણ બે–બે છે આ બધાં મળીને પાંચ–પાંચ હોય છે. મેરૂપર્વત પણ પાંચ-પાંચ છે. મહાવિદેહોમાં દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ પણ પાંચ-પાંચ જ હોય છે ॥૩૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જમ્બૂદ્વીપમાં સાત ક્ષેત્રો સંબંધી અગાઉ કથન કરવામાં આવી ગયું છે એટલું જ નહીં પણ જમ્બૂદ્વીપમાં એક–એક ભરત આદિ ક્ષેત્ર છે એ પણ બતાવી દેવાયું છે. હવે એવું નિરૂપણ કરવામાં આવી રહ્યું છે કે ધાતકીખણ્ડ અને અર્ધ પુષ્કર દ્વીપમાં ભરત આદિ ક્ષેત્ર બે–બે છે.

ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધ ક્ષેત્રમાં ભરત આદિ વર્ષ બે–બે છે. કુરુ માત્ર પાંચ મહાવિદેહોમાં જ છે, આથી જમ્બૂદ્વીપના મહાવિદેહને બાદ કરતાં બાકીના ચાર મહાવિદેહ છે જેમાં ચાર દેવકુરુ છે અને ચાર ઉત્તરકુરુ છે આ રીતે બંને કુરુ મળીને ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધ ક્ષેત્રમાં આઠ કુરૂ છે જમ્બૂદ્વીપના બંને કુરૂ ભેગા કરવામાં આવે તો એમની સંખ્યા દશ થઈ જાય છે—પાંચ દેવકુરૂ અને પાંચ ઉત્તર કુરૂ.

દક્ષિણ અને ઉત્તરમાં લાંબા પોતાના છેડાઓથી લવણોદધિ અને કાલોદધિ સમુદ્રોને સ્પર્શ કરનારા બે ઈષુકાર પર્વતોથી ધાતકીખણ્ડ દ્વીપ પૂર્વ અને પશ્ચિમમાં વિભક્ત થયેલો છે. આના પૂર્વ ભાગમાં તથા પશ્ચિમ ભાગમાં એક–એક મેરુ પર્વત છે.

તેના ઉપર કહેલાં બંને વિભાગોમાં ભરત વગેરે બધાં પૂર્વોક્ત ક્ષેત્ર છે અને હિમવન્ત પર્વત છે આથી બે ભરતક્ષેત્ર, બે હિમવન્ત પર્વત, બે હૈમવત ક્ષેત્ર, બે મહાહિમવાન્ પર્વત, બે હરિવર્ષ, બે નિષધ પર્વત, બે મહાવિદેહ, બે નીલવન્ત પર્વત, બે રમ્યકવર્ષ, બે રૂક્મિ પર્વત, બે હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર, બે શિખરી પર્વત અને બે ઐરવતવર્ષ છે.

ચોથા મહાવિદેહ ક્ષેત્રમાં બે દેવકુરૂ અને બે ઉત્તરકુરૂ છે આ રીતે જમ્બૂદ્વીપમાં જે હિમવન્ત આદિ વર્ષધર પર્વત છે તેમના વિસ્તારથી ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમાં સ્થિત હિમવન્ત આદિ પર્વતોનો વિસ્તાર બમણો–બમણો છે આ વર્ષધર પર્વત પૈડાના આકારમાં સ્થિત છે. ધાતકી નામક વૃક્ષના કારણે જ તે દ્વીપ ધાતકીખંડ કહેવાય છે. ધાતકીખણ્ડ દ્વીપને ચારે બાજુએથી ઘેરી વળેલો કાલોદધિ સમુદ્ર છે. તેનો વિસ્તાર આઠ લાખ યોજનનો છે તેમાં પણ બે–બે ભરત આદિ ક્ષેત્ર છે. કાલોદ સમુદ્રની ચારે બાજુ પુષ્કરદ્વીપ છે તેનો વિસ્તાર સોળ લાખ યોજનનો છે.

આ રીતે જમ્બૂદ્વીપની અપેક્ષા પુષ્કરાર્ધ ક્ષેત્રમા બે ભરતક્ષેત્ર છે, બે હિમવન્ત પર્વત છે, બે હૈમવત ક્ષેત્ર છે, બે મહાહિમવાન્ પર્વત છે, બે હરિવર્ષ છે, બે નિષધ પર્વત છે, બે મહાવિદેહ છે બે નીલવન્ત પર્વત છે, બે રમ્યકવર્ષ છે, બે રૂક્મિપર્વત છે, બે હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર છે, બે શિખરી પર્વત છે અને બે ઐરવત ક્ષેત્ર છે. બે દેવકુરૂ અને બે ઉત્તરકુરૂ છે. ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમાં હિમવન્ત વગેરે પર્વતોનો વિસ્તાર જેટલો કહેવામાં આવ્યો છે. તેટલો જ વિસ્તાર પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમાં પણ સમજવો. જેવી રીતે ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા બે ઈક્ષ્વાકાર પર્વત અને બે મન્દર પર્વત છે તે જ રીતે પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમા પણ છે.

જમ્બૂદ્વીપમાં જે સ્થળે જમ્બૂવૃક્ષ છે, પુષ્કરદ્વીપમાં તે સ્થળે પુષ્કર નામક વૃક્ષ સહ-પરિવાર સ્થિત છે. આ વૃક્ષને કારણે જ તેનું નામ પુષ્કરદ્વીપ પ્રચલિત છે. પુષ્કરદ્વીપની મધ્યમાં માનુષોત્તર પર્વત હોવાથી તેના અડધા–અડધા એવા બે ભાગ થઈ ગયા છે આથી તેને પુષ્કરાર્ધ કહે છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં સૂત્ર ૯૨ માં કહે છે—ધાતકીખણ્ડ દ્વીપનાં પૂર્વાર્ધમાં મેરૂપર્વતની ઉત્તર દક્ષિણમાં બે વર્ષ (ક્ષેત્ર) કહેલાં છે જે તદ્દન એક સરખાં છે તે છે ભરત અને ઐરવત, ઈત્યાદિ.... ધાતકીખણ્ડ દ્વીપના પશ્ચિમાર્ધમા મેરૂ પર્વતથી. ઉત્તર અને દક્ષિણમાં બે ક્ષેત્ર કહેવામાં આવ્યા છે, જે તદ્દન એક સમાન છે, તે છે ભરત અને ઐરવત ઈત્યાદિ.

આગળ ચાલતા સ્થાનાંગસૂત્રમાં જ બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉપદેશકના સૂત્ર ૯૩ માં કહ્યું છે—

પુષ્કરવરદ્વીપના પૂર્વાર્ધ ભાગમાં મેરૂપર્વતથી ઉત્તર દક્ષિણમાં બે ક્ષેત્ર કહેવામાં આવ્યા છે જે બિલ્કુલ એક સરખાં છે તે છે ભરત અને ઐરવત ઈત્યાદિ સઘળું પૂર્વવત જ સમજી લેવાનું છે જેમકે બે કુરૂ કહેવામાં આવ્યા છે' ॥૩૧॥

'माणुसोत्तराओ पुव्वं मणुआ' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—મનુષ્ય માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા—પહેલા જ રહે છે અને તેઓ બે પ્રકારના હોય છે—આર્ય અને મ્લેચ્છ ॥૩૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉ ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમાં બે-બે ભરત આદિ ક્ષેત્ર અને બે-બે હિમવન્ત આદિ પર્વત છે એ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું પરન્તુ સંપૂર્ણ પુષ્કર દ્વીપમાં ભરત આદિ ક્ષેત્રોનું તથા હિમવન્ત આદિ પર્વતોનું કથન ન કરતાં 'પુષ્કરાર્ધ'માં જે કથન કરવામાં આવ્યું છે એનું શું કારણ ? એના સમાધાનના સમર્થનમાં કહીએ છીએ—

પુષ્કરદ્વીપની વચ્ચોવચ્ચ સ્થિત માનુષોત્તર પર્વતની પહેલાં-પહેલાં જ મનુષ્યોનો વાસ છે. તેનાથી બહાર મનુષ્ય હોતાં નથી, માનુષોત્તર પર્વત દ્વારા પુષ્કરદ્વીપના બે વિભાગ થઈ ગયા છે. આથી પુષ્કરદ્વીપના પૂર્વાર્ધમાં જ મનુષ્ય હોય છે તેનાથી આગળ હોતાં નથી. આ મનુષ્યો બે પ્રકારના હોય છે— આર્ય અને મ્લેચ્છ ॥૩૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમાં ભરત આદિ ક્ષેત્ર તથા હિમવન્ત આદિ પર્વત બે-બે છે એ અગાઉ બતાવી દેવામાં દેવામાં આવ્યું છે પરંતુ બે-બે ની સંખ્યા પુષ્કરદ્વીપમાં ન કહેતાં પુષ્કરાર્ધમાં કહી છે એનું કારણ શું છે ? તેના જવાબમાં કહીએ છીએ—

પુષ્કરદ્વીપની મધ્યમાં સ્થિત માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા-પહેલા જ મનુષ્યોનો નિવાસ છે; તેની પછીના અર્ધ-ભાગમાં મનુષ્ય હોતા નથી અથવા તેની પછીના બીજા કોઈ દ્વીપમાં પણ મનુષ્યનો વાસ નથી. આશય એ છે કે પુષ્કરદ્વીપની વચ્ચોવચ્ચ વલય (બંગડી) આકારનો એક પર્વત છે જે માનુષોત્તર પર્વત કહેવાય છે. તે પર્વત પુષ્કરદ્વીપને બે વિભાગોમાં વહેંચી નાખે છે આથી તેનો એક ભાગ પુષ્કરાર્ધ કહેવાય છે આવી રીતે તે માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા-પહેલા જ પુષ્કરાર્ધ સુધી મનુષ્ય છે તેનાથી આગળના અડધા-ભાગમાં નથી. તે આગલા ભાગમા પૂર્વોક્ત ભરત આદિ ક્ષેત્રો તથા પર્વતોનો વિભાગ પણ નથી. ચારણ મુનિ મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહાર નન્દી પર્વત અને રુચકવર દ્વીપ સુધી જાય છે એ પ્રમાણે ભગવતીસૂત્ર, શતક ૨૦, ઉદ્દેશક ૯ માં પ્રરૂપેલું છે. ત્યાની નદીઓ પણ પ્રવાહિત હોતી નથી. મનુષ્યક્ષેત્રના ત્રસ જીવ પણ પુષ્કરાર્ધથી આગળ જતા નથી પરન્તુ જ્યારે માનુષોત્તર પર્વત પછીના કોઈ દ્વીપ અથવા સમુદ્રમા મરેલો જીવ—તિર્યંચ અથવા દેવ, મનુષ્ય ક્ષેત્રમાં પાણી લેવા માટે આવે છે અને મનુષ્ય—પર્યાયમા ઉત્પન્ન થનારા હોય છે, ત્યારે મનુષ્યગતિ—આનુપૂર્વીથી આવતો થકો તે જીવ, મનુષ્યના આયુષ્યનો ઉદય થઈ જવાના કારણે મનુષ્ય કહેવાય છે. આથી વિગ્રહગતિની અપેક્ષાથી મનુષ્ય ક્ષેત્રની બહાર પણ મનુષ્યની સત્તા માનવામાં આવે છે. એવી જ રીતે કેવળી જ્યારે સમુદ્ઘાત કરે છે ત્યારે દંડ, કપાટ, પ્રતર અને લોકપૂરણ કરીને સમગ્ર લોકમા પોતાના આત્મપ્રદેશોને ફેલાવી દે છે. તે સમયે પણ માનુષોત્તર પર્વતથી આગળ મનુષ્યની સત્તા સ્વીકારાઈ છે તથા લબ્ધિધારી પણ ત્યા જઈ શકે છે.

આવી રીતે જમ્બૂદ્વીપમાં, ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમાં અને અર્ધપુષ્કરદ્વીપમા અર્થાત્ અઢી દ્વીપોમાં તથા લવણસમુદ્ર અને કાલોદધિ સમુદ્રમા મનુષ્યનો વાસ હોય છે એવું સમજવાનું છે.

તાત્પર્ય એ છે કે પુષ્કરાર્ધમાં બે-બે ભરત આદિ ક્ષેત્રોનું તથા હિમવાન્ આદિ પર્વતોનું અસ્તિત્વ કહેવામાં આવ્યું છે; સમ્પૂર્ણ પુષ્કરદ્વીપમાં કહેલું નથી. આમ મનુષ્ય લોક માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા-પહેલાનો જ ભાગ કહેવાય છે અને તેમાં જમ્બૂદ્વીપ, ધાતકીખણ્ડ દ્વીપ અને અડધો પુષ્કરદ્વીપ. એ અઢી દ્વીપ અને લવણ સમુદ્ર તથા કાલોદધિ સમુદ્ર નામક બે સમુદ્ર સમ્મિલિત છે. તેમાં પાંચ મન્દર પર્વત છે, પાચ-પાંચ ભરત ક્ષેત્ર આદિ સાતે ક્ષેત્રો હોવાથી ૭+૫=૩૫ ક્ષેત્ર છે, પાંચ-પાંચ હિમવન્ત આદિ પર્વત હોવાથી કુલ ૬×૫=૩૦ પર્વત છે, પાંચ દેવકુરુ છે, પાચ ઉત્તરકુરુ છે, ૧૬૦ ચક્રવર્તી-વિજય છે, બસોપંચાવન જનપદ છે અને છપ્પન અન્તર્દ્વીપ છે.

મનુષ્યલોકની સીમા નક્કી કરનારો, મહાનગરના મહેલ જેવો, સોનેરી, પુષ્કરદ્વીપના અડધા-અડધા બે વિભાગ કરનારો, એક હજાર સાતસો એકવીશ યોજન ઉંચો, ચારસો-ત્રીસ પૂર્ણાંક એક ચતુર્થાંશ (૪૩૦¼) યોજન પૃથ્વી તળમાં ઘસેલો અને ઉપરના ભાગમાં વિસ્તીર્ણ એવો માનુષોત્તર પર્વત છે.

મનુષ્ય બે પ્રકારના હોય છે—સંમૂચ્છિંમ અને ગર્ભજ, સંમૂચ્છિંમ ચૌદ પ્રકારના છે. ઉચ્ચારેસ્વા વગેરે ગર્ભજ ત્રણ પ્રકારના છે. કર્મભૂમિ અકર્મભૂમિ અને અન્તર દ્વીપજ કર્મભૂમિ મનુષ્ય પંદર પ્રકારના છે, પાંચ ભરત, પાંચ ઐરવત અને પાંચ મહાવિદેહ અકર્મભૂમિ ત્રીસ પ્રકારની છે, પાચ હૈમવત પાંચ હૈરણ્યવત, પાંચ હરિવર્ષ પાંચ રમ્યકવાસ, પાંચ દેવકુરુ અને પાંચ ઉત્તર કુરુ એ ત્રીસ અકર્મભૂમિના મનુષ્યો છે, છપ્પન અંતર્દ્વીપના મનુષ્ય છે, ઋદ્ધિ પ્રાપ્ત અનેક પ્રકારના છે, તીર્થંકર ચક્રવર્તી આદિ અનૃદ્ધિ પ્રાપ્ત અનેક પ્રકારનાં છે, કલાચાર્ય, શિલ્પાચાર્ય... આદિ ॥૩૨॥

'**कम्मभूमी भरह एरवय**' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત, ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર કર્મભૂમિ છે. આની સિવાયના બધાં ક્ષેત્ર અકર્મભૂમિ છે. ॥૩૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાં કર્મભૂમિજ મ્લેચ્છોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો તો તે કર્મભૂમિઓ ક્યાં છે ? આ જિજ્ઞાસાના સમાધાન અર્થે કહે છે—

ભરત, ઐરવત અને વિદેહક્ષેત્ર કર્મભૂમિઓ છે આ સિવાય હૈમવત વર્ષ, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ, હૈરણ્યવત વર્ષ, દેવકુરુ અને ઉત્તર કુરુ આ છ ક્ષેત્ર અકર્મભૂમિઓ—ભોગ-ભૂમિઓ છે.

આ પ્રકારે અઢી દ્વીપના પાંચ ભરત પાંચ ઐરવત અને પાંચ મહાવિદેહ આ પંદર કર્મભૂમિઓ કહેવાય છે. પાચ હૈમવત, પાંચ હરિવર્ષ, પાંચ રમ્યકવર્ષ, પાંચ હૈરણ્યવત વર્ષ, પાંચ દેવકુરુ તથાં પાંચ ઉત્તર કુરુ એમ ત્રીસ તથા છપન્ન અન્તર્દ્વીપ અકર્મભૂમિ અથવા ભોગભૂમિ છે. ॥૩૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમાં કર્મભૂમિજ મ્લેચ્છોનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે અત્રે કર્મભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી રહી છે—

કર્મોના ક્ષપણ કરવા માટે જે ભૂમિઓ અનુકૂળ છે તે કર્મભૂમિઓ કહેવાય છે. સમસ્ત કર્મરૂપી અગ્નિને શમાવવા માટે અથવા સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરવા માટે ઉપર્યુક્ત ભૂમિઓ કર્મ-ભૂમિઓ છે. તે છે—ભરત, ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર.

અગાઉ કહેવામાં આવ્યું છે તેમ જમ્બૂદ્વીપમાં એક ભરત, એક ઐરવત અને એક વિદેહ ક્ષેત્ર છે. ધાતકીખણ્ડમાં અને અર્ધપુષ્કર દ્વીપમાં બે-બે ભરત ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર છે આ રીતે પાંચ ભરત, પાંચ ઐરવત અને પાંચ વિદેહ, આ પંદર ક્ષેત્ર કર્મ-ભૂમિઓ કહેવાય છે. આ સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ અને હૈરણવત વર્ષ પાંચ-પાંચ હોવાથી વીસ, પાંચ દેવકુરુ અને પાંચ ઉત્તરકુરુ તથા છપ્પન્ અન્તર્દ્વીપ આ બધી અકર્મભૂમિઓ છે. આ પંદર ભરત, ઐરવત અને મહાવિદેહ ક્ષેત્રોમાં નરકાદિ રૂપ દુર્ગમ સંસાર-અટવીનો નાશ કરનારા, સમ્યક્દર્શન-જ્ઞાન-ચરિત્ર રૂપ મોક્ષમાર્ગના જ્ઞાતા પ્રણેતા અને પ્રદર્શક, પરમ ઋષિ ભગવાન તીર્થંકર ઉત્પન્ન થાય છે. આ જ કર્મભૂમિઓમાં ઉત્પન્ન ભવ્યજીવો સકળ કર્મોને ખપાવીને મોક્ષધામ પ્રાપ્ત કરે છે. હૈમવત આદિ ક્ષેત્રોમાં ઉત્પન્ન જીવ મોક્ષ પ્રાપ્ત કરતાં નથી કારણકે તે અકર્મભૂમિ છે. ત્યાં તીર્થંકર હોતા નથી.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદના ૩૨માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—કર્મભૂમિઓ કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—કર્મભૂમિઓ પંદર પ્રકારની છે-પાંચ ભરત, પાંચ ઐરવત અને પાંચ મહાવિદેહ.

પ્રશ્ન—અકર્મભૂમિઓ કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—અકર્મભૂમિઓ ત્રીસ પ્રકારની છે-પાંચ હૈમવંત પાંચ હરિવર્ષ પાંચ રમ્યક-વર્ષ પાંચ હૈરણ્યવત, પાંચ દેવકુરુ અને પાંચ ઉત્તરકુરુ. આ અકર્મભૂમિઓ છે ।।૩૩।।

'तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाणय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યો અને તિર્યંચોની સ્થિતિ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યો-પમની અને જઘન્ય અન્તર્મૂહૂર્ત્તની છે ।। ૩૪ ।।

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉ જમ્બૂદ્વીપ આદિ અઢી દ્વીપોમાં વિદ્યમાન ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોની ઉત્પત્તિની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે હવે આ ક્ષેત્રોના મનુષ્યો અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોનું આયુષ્ય કેટલું હોય છે એવી જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોની અને ગર્ભજ ચતુષ્પાદ સ્થળચર તિર્યંચોના આયુષ્ય રૂપ સ્થિતિ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમનું અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તનું હોય છે ।।૩૪।।

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોની ઉત્પત્તિનું નિરૂપણ કર-વામાં આવ્યું હવે તે ક્ષેત્રોમાં ઉત્પન્ન થનારા મનુષ્યો અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોનું આયુષ્ય કેટલું હોય છે એ શંકાનું સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

તે ભરત વગેરે ક્ષેત્રોમાં મનુષ્યોનું તથા ગર્ભજ ચતુષ્પાદ સ્થળચર પંચેન્દ્રિય તિર્યં-ચોનું આયુષ્ય ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમનું અને જઘન્ય અન્તમૂંહૂર્ત્તનું હોય છે,

મનુષ્યો અને તિર્યંચોની સ્થિતિ બે પ્રકારની કહેવામાં આવી છે–ભવસ્થિતિ અને કાયસ્થિતિ મનુષ્યનો અથવા તિર્યંચનો જન્મ પામીને જીવ તે જન્મના જેટલા કાળ સુધી જીવિત રહે છે તે તેની જીવસ્થિતિ કહેવાય છે. કોઈ જીવ મનુષ્ય પર્યાયમાં ઉત્પન્ન થઈને જીવિત રહે છે. પછી આયુષ્યનો અન્ત આવવાથી મૃત્યુ પામે છે અને પુનઃ મનુષ્ય પર્યાયમાં ઉત્પન્ન થાય છે આ રીતે જેટલા કાળ સુધી તે લગાતાર મનુષ્ય ભવ કરે છે. આ કાળમર્યાદાને કાયસ્થિતિ કહે છે. એવી જ રીતે તિર્યંચ જેટલા ભવો સુધી લગાતાર તિર્યંચપર્યાયમાં ચાલુ રહે છે તે તેની કાયસ્થિતિ કહેવાય છે. આ કાયસ્થિતિ મનુષ્યો અને તિર્યંચોની જ હોય છે કારણ કે એમના જ લગાતાર અનેક ભવ થઈ શકે છે. દેવતા અને નરકોના લગાતાર અનેક ભવો હોતાં નથી અર્થાત્ દેવ મરીને પુનઃ દેવ અને નરકના જીવ મરીને ફરીવાર નારક થતાં નથી આથી તેમની ભવ સ્થિતિથી જુદી કોઈ કાયસ્થિતિ હોતી નથી. જેટલી ભવસ્થિતિ છે તેટલી જ એમની કાયસ્થિતિ હોય એમ કહેવાનું છે.

મનુષ્યની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે. ઉત્કૃષ્ટ કાયસ્થિતિ સાત–આઠ ભવગ્રહણ પ્રમાણ સમજવી જોઈએ.

ધારો કે કરોડ પૂર્વ આયુષ્યવાળો મનુષ્ય મરીને કરોડ પૂર્વ આયુષ્યવાળા મનુષ્યના રૂપમા પુનઃ પુનઃ ઉત્પન્ન થાય તો તે લગાતાર સાત વાર જ થાય છે. આઠમી વાર દેવકુરુ–ઉત્તર કુરુમાં ઉત્પન્ન થાય છે અને ત્યારબાદ દેવલોકમાં ગમન કરે છે

તિર્યંચોની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની સમજવી જોઈએ. ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રના અધ્યયન ૩૬ની ગાથા ૧૯૮મા કહ્યું છે––

મનુષ્યોનું ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમ અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્તનું કહેવામાં આવ્યું છે.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ચોથા પદમાં કહ્યું છે– હે ભગવાન્ ! મનુષ્યોની સ્થિતિ કેટલા કાળની કહેવામાં આવી છે ?

ઉત્તર––હે ગૌતમ ! જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમની.

સમવાયાંગ સૂત્રના ત્રીજા સમવાયમા પણ કહેવામાં આવ્યું છે–'અસંખ્યાત વર્ષ આયુષ્યવાળા સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમની કહેવામાં આવી છે'

ઉત્તરાધ્યયનના ૩૬માં અધ્યયનમા કહ્યું છે–સ્થળચર તિર્યંચોનું ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમનું અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તનું કહેવામાં આવ્યું છે––

પુનઃ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રનાં ચોથા પદમાં કહ્યું છે–ગર્ભજ ચતુષ્પાદ સ્થળચર પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોના વિષયમાં પૃચ્છા અર્થાત્ તેમનું આયુષ્ય કેટળા કાળનું છે ?

ઉત્તર––જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્ત અને ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમ

વિસ્તારમાં કહેવામાં આવે તો શુદ્ધ પૃથ્વીકાયની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બાર હજાર વર્ષની ખર પૃથ્વીકાયની બાવીસ હજારની અને જળકાયની સાત હજાર વર્ષની સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે વાયુકાયની ત્રણ હજારની તેજસ્કાયની ત્રણ દિવસ રાતની તથા વનસ્પતિકાયની દસ હજાર વર્ષની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે આ ભવસ્થિતિ સમજવી જોઈએ. કાયસ્થિતિ એમની અસંખ્યાત ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણીની તથા વનસ્પતિકાયની અનન્ત કાયસ્થિતિ બેઇન્દ્રિય જીવોની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ બાર વર્ષની છે. તેઈન્દ્રિયોની ઓગણપચાસ દિવસની છે, ચતુરિન્દ્રિયોની છ માસની છે. આ બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય અને ચતુરિન્દ્રિય જીવોની કાયસ્થિતિ સંખ્યાત હજાર વર્ષની છે.

પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ પાચ પ્રકારના છે–(૧) મનુષ્ય (૨) ઉરગ (૩) પરિસર્પ (૪) પક્ષી અને (૫) ચતુષ્પાદ આમાંથી મત્સ્ય, ઉરગ અને ભુજગ તિર્યંચોની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ કોટિ પૂર્વની હોય છે. પક્ષિઓની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ એક પલ્યોપમના અસંખ્યાત ભાગની અને ગર્ભજ ચતુષ્પદોની ત્રણ પલ્યોપમની છે. વિશેષ રૂપથી અસંજ્ઞી મનુષ્યોની ભવસ્થિતિ કરોડ પૂર્વની, ઉરગની તેપન હજાર વર્ષની, ભુજગોની બેંતાળીશ હજાર વર્ષની સ્થળચર સંમૂચ્છિમોની ચોરાશી હજાર વર્ષની અને ખેચરની–બોંતેર હજાર વર્ષની ભવસ્થિતિ હોય છે.

પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોની કાયસ્થિતિ મનુષ્યની જેમ સાત–આઠ ભવગ્રહણ પ્રમાણ સમજવી જોઈએ. બધા મનુષ્યો અને તિર્યંચોની જઘન્ય કાયસ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત પ્રમાણ જ છે ॥૩૪॥

શ્રીવિશ્વવિખ્યાત–જગદ્વલ્લભ–પ્રસિધ્ધવાચક પંચદશ ભાષાકલિત લલિતકલાપાલાપક પ્રવિશુધ્ધ ગદ્યપદ્યાનૈક ગ્રન્થનિર્માપક શાહુ છત્રપતિ કોલ્હાપુરરાજ પ્રદત્ત, જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય પદભૂષિત જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલાલ વ્રતિ વિરચિત દીપિકા-નિર્યુક્તિ બે ટીકા યુક્તતત્ત્વાર્થસૂત્રનો પાચમો અધ્યાય સમાપ્ત ॥ ૫ ॥

પહેલો ભાગ સમાપ્ત

સમાપ્ત